भट्टकुमारिलविरचित

मीमांसाश्लोकवार्तिक

हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

प. दुर्गाधर झा

भूतपूर्व प्राध्यापक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय · दरभंगा

भट्टकुमारिलविरचित

मीमांसाश्लोकवार्त्तिक

हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

प० दुर्गाधर झा

भूतपूर्व प्राध्यापक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालय

दरभंगा

प्रथम आवृत्ति १९७९

प्रथम आवृत्ति १९७९
मूल्य : १५०.०० (एक सौ पचास रुपये मात्र)
$ 25.00

व्याख्याकार
प० दुर्गाधर झा

प्रकाशक
कुलसचिव
कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालय, दरभंगा

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

प्रस्तावना

श्री १०८ वाग्देवी की अनुकम्पा तथा गुरुजनों के आशीर्वाद से १९५२ ई० में प्रारब्ध 'मीमांसाश्लोकवार्त्तिक' की अपनी लिखी हुई इस हिन्दी भाषामयी व्याख्या को मूल के साथ इस १९७९ ई० में अत्यन्त दीर्घ काल के बाद प्रकाशित देखकर सांसारिक अनेकविधतापों से घिरे हुए जीवन के सायाह्न में आनन्द के क्षणिक अनुभव से श्री १०८ जगज्जननी जानकी जी के श्रीमुख से निर्गत यह श्लोकांश हठात् स्मृति में आ जाता है :—

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।

(वा० रामायण—सुन्दरकाण्ड-सर्ग ३४ श्लोक ६)

'मीमांसाश्लोकवार्त्तिक' नाम के इस ग्रन्थ के रचयिता भट्ट कुमारिल का नाम वैदिक सनातन धर्मावलम्बियों में 'वैदिक धर्म' के 'उद्धारक' रूप में अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है ।

बौद्धदर्शन के आलोचकों में भी इनका नाम शीर्षस्थान में है । इस ग्रन्थ में बौद्धदर्शन के जितने विषयों की आलोचना तन्मतानुवाद पुरस्सर की गई है, उतनी सम्भवतः अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है । इस ग्रन्थ में निबद्ध बौद्ध दर्शन की आलोचना स्वतन्त्र ही गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखती है ।

इस ग्रन्थ के निरालम्बनवाद के अन्त में भट्ट कुमारिल ने एक बड़ा ही कौतुहल-वर्द्धक श्लोक लिखा है :—

युक्त्याऽनुयेतामसतीम्प्रकटय्य
यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् ।
आस्थानिवृत्त्यर्थमवादिबौद्धै-
र्गाढे गतास्तत्र कथञ्चिदन्ये ।

(निरालम्बनवाद—श्लो० २०१ पृ० ३३६)

इस श्लोक से व्यक्त होता है कि भट्ट कुमारिल भगवान् बुद्ध तथा उनके प्रकृत अनुयायियों के विरुद्ध नहीं हैं। उन्होंने उन लोगों के द्वारा 'असती वासना' की कल्पना के द्वारा बाह्यार्थभङ्ग के निराकरण को सांसारिक विषयों से जन साधारण की आस्था निवृत्ति के लिए अपनाया जाना माना है । जैसे कि 'शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' इत्यादि उक्तियों के द्वारा नीतिविशारदगण जनसाधारण को सद्वृत्ति में उन्मुख करने के लिए प्रयत्न करते रहे हैं ।

बाह्यार्थभङ्ग का खण्डन तो उन बौद्धों के विरुद्ध लिखा गया है जिन्होंने बाह्यार्थ-

भङ्ग को वास्तविक मानकर उसको प्रमाणों के द्वारा लोक में वास्तविक रूप में प्रचार किया है। जिससे होनेवाले दुष्परिणामों को भारतीयजन आज भी भुगत रहे हैं [1]।

वर्तमानकाल में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'वैदिक पंडितों के कुचक्र से तात्कालिक राजाओं ने बौद्धों के ऊपर अत्याचार किया है, जिससे भारत में बौद्धधर्म का ह्रास हो गया। इस प्रसङ्ग में म० म० स्व० महात्मा गोपीनाथ कविराज महोदय ने भारत में बौद्धधर्म के ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए उपसंहार में लिखा है कि :—

"इन सब आभ्यन्तर कारणों से बौद्धधर्म का मूल शिथिल हो गया था, पक्षान्तर में शङ्कर एवं कुमारिल जैसे महापुरुषों के पवित्र जीवन और उन्नत आध्यात्मिक उपदेश से लोगों का चित्त सहज में ही उन लोगों की ओर आकृष्ट हो गया था"।

देखिये—स्व० कविराजजी की शाङ्करभाष्य की भूमिका
अच्युतग्रन्थ माला से प्रकाशित पृ० ४७ पं० २८।

भट्ट कुमारिल का समय ६०० ईशवीय वर्ष के आस-पास सर्वस्वीकृत है (यही समय उनके प्रधान प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का भी समय है)।

भट्टकुमारिल ने अपनी सभी रचनायें जैमिनि सूत्र के शाबरभाष्य की व्याख्याओं के रूप में ही की हैं, फिर भी उनके सभी ग्रन्थ अपनी विशिष्टता के कारण स्वतन्त्र स्थान रखते हैं। उनमें से (१) बृहट्टीका और (२) लघुटीका ये दो ग्रन्थ अभी भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु विविध ग्रन्थों में नामोल्लेख पूर्वक उनके सन्दर्भ मिलते

---

१. कथित 'युक्त्यानुपेताम्' इस श्लोक से पहिले श्लोकवार्तिक में

कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्युपसिच्यते।
तद्रूपस्ययैव सक्रान्तिः फले तस्येत्यवासना।

निरालम्बनवाद—श्लोक-२०० पृ० २६६

यह श्लोक है, इन दोनों श्लोकों के अभिमतार्थ का खण्डन करने के बाद उपसंहार में उन्हीं दोनों श्लोकों को ही कुछ हेर-फेर के साथ 'प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार' में प्रज्ञाकर गुप्त ने इस प्रकार लिखा है :—

कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्युपसिच्यति।
तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येति वासना।
युक्त्योपपन्नां हि सतीं प्रकटय्य यद्वासनामर्थं निराक्रियेयम्।
तथापि बाह्याभिनिवेश एष जगद्ग्रहग्रस्तमिदं समस्तम्।

(श्लो० ३८१, ३८२, प्रमाणवार्त्तिकभाष्य पृ० ३५८, ३५९,
जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट से प्रकाशित एवं
राहुल सांकृत्यायन् के द्वारा सम्पादित संस्करण)

इस प्रकार के खण्डन-मण्डन की सूक्तियां, खण्डनखण्डखाद्य, न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक आदि ग्रन्थों में अनेक सन्दर्भों में देखने को मिलती हैं।

हैं। शावरभाष्य के ही ऊपर उनकी तीन टीकायें अभी उपलब्ध हैं, एवं अनेकशः मुद्रित भी हैं, ये हैं :—

(१) श्लोकवार्तिक (यह शावरभाष्य के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की श्लोकमयी व्याख्या है, यही ग्रन्थ अभी मैं अपनी हिन्दी व्याख्या के साथ विद्वानों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ)।

(२) तन्त्रवार्तिक (यह शावर भाष्य के ऊपर ही उसके प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्यायपर्यन्त की है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त विस्तृत विविध विचारों से परिपूर्ण उत्कृष्ट गद्य और पद्य में लिखा गया है)।

(३) टुप्टीका (यह शावरभाष्य के ऊपर ही चतुर्थ अध्याय से अन्तिम द्वादशाध्यायान्त की संक्षिप्त व्याख्या) है।

इनमें मीमांसकमूर्द्धन्य श्री पार्थसारथि मिश्र ने प्रथम ग्रन्थ के ऊपर 'न्याय-रत्नाकर' नाम की और तृतीय ग्रन्थ के ऊपर 'तन्त्ररत्न' नाम की उत्कृष्ट टीकायें लिखी हैं। मध्यवर्त्ती 'तन्त्रवार्तिक' के ऊपर इनकी टीका कहीं उपलब्ध नहीं है।

श्लोकवार्त्तिक की 'न्यायरत्नाकर' को छोड़कर यह उम्बेक की 'तात्पर्य' व्याख्या और सुचरित मिश्र की 'काशिका' नाम की व्याख्या भी प्रसिद्ध है। मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखते समय इन तीनों ही टीकाओं का उपयोग किया है, फिर भी न्याय-रत्नाकर ही मेरा प्रधान अवलम्बन रहा है। वस्तुतः ऐसी टीका इस ग्रन्थ को दूसरी है भी नहीं। इस ग्रन्थ में श्लोकवार्त्तिक के मूल के साथ अधिकांश 'न्यायरत्नाकर' की भी व्याख्या अत्युपयोगी जानकर लिख दी है।

भाट्टसंप्रदाय के संस्थापन के उद्देश्य से ही अवतार लेनेवाले श्री पार्थसारथि मिश्र 'मैथिल श्रोत्रिय' ब्राह्मण थे (यह बात साधुवेला अश्रम से सद्यः प्रकाशित शास्त्र-दीपिका की भूमिका में मीमांसाशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ने लिखी है, एवं इस तथ्य को समस्त विद्वज्जनानुमोदित लिखा है)।

संस्कृत भाषा में निबद्ध गूढ़ दार्शनिक ग्रन्थों के पठन-पाठन का प्रचार अत्यन्त दयनीय स्थिति में है। अतः यह स्वाभाविक है कि इस प्रकार के स्थूलकाय ग्रन्थ के मुद्रण के लिये उद्यत व्यक्तियों अथवा संस्थाओं की कमी होती। अतः यह ग्रन्थ संपूर्ण लिखकर प्रस्तुत हो जाने के बाद भी प्रकाशक के अभाव से मेरा शिरः-शूल होकर पड़ा रहा।

अन्त में वह माहेन्द्रक्षण भी आया जिस समय कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के वर्तमान कर्मठ कुलपति विद्वन्मूर्द्धन्य श्री रामकरण जी शर्मा ने इस ग्रन्थ को विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान की।

किन्तु 'साधन' के संविधान मात्र से 'साध्य' की निष्पत्ति नहीं हो जाती। उसके लिये 'इतिकर्तव्यता' भी अपेक्षित होती है। जिसके संवलन के अभाव में उक्त स्वीकृति

की प्राप्ति के बाद भी काफी देर से प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ विद्वानों के सम्मुख आ रहा है।

'राम' ही जब असाधरण कारण स्वरूप (करण) रूप संवलित हुये तो इस ग्रन्थ को प्रकाशित होना ही पड़ा। अतः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए श्री १०८ साम्बसदाशिव से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें स्वस्थ एवं प्रसन्न रखें, जिससे अक्षम जनों के प्रति उनके हृदय में सतत प्रवाहित होने वाली करुणा की धारा अविरल प्रवाहित रहे।

विश्वविद्यालीय प्रकाशन विभाग के भारप्राप्त महानुभाव पं० श्री बोधकृष्ण झाजी के इस पद पर आने से ही यह कार्य इतना शीघ्र हो पाया, अतः वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ में छापे की बहुत सी अशुद्धियां रह गयी हैं, जिनमें से यथासंभव कुछ अशुद्धियों को संशोधित कर एक शुद्धि-पत्र इस ग्रन्थ में दे दिया है, पण्डितगण मेरे इस अक्षम्य अपाराध को क्षमा कर पढ़ने के पहिले शुद्धि-पत्र के अनुसार ग्रन्थ को शुद्ध कर लें।

अन्त में विद्वानों से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ को पढ़कर इसके गुणावगुण से इस जन को अवगत कराने का अनुग्रह करें।

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैःप्रसादिभिः ।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः । इति ।

ग्रा० पो० गंगौली,
वाया लोहनारोड
जिला दरभंगा

दुर्गाधर झा

श्लोकवार्त्तिकस्थप्रकरणानां सूचीपत्रम्

बौद्धमतसमर्थकवचनानां सूचीपत्रम्

• • •

मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम्

प्रतिज्ञासूत्रम्

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेय:प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ।।१।।

मीमांसापरिशोधितज्ञानरूप शरीर से युक्त, ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदस्वरूप चक्षु से युक्त (अतएव त्रिनयन) एवं परमकल्याण स्वरूप स्वर्गमोक्षादि की प्राप्ति के निमित्त (कारण) श्री अर्द्धेन्दुशेखर शिव को प्रणाम करता हूँ ।।

अथवा

मीमांसा से परिशोधित वेदार्थज्ञानस्वरूप देह से युक्त एवं तीनों वेदस्वरूप चक्षु मात्र से प्रतिभात होने वाले, एवं 'सोम' नामक याग के 'अर्द्ध' अर्थात् सम्पादक ग्रह-चमसादि को धारण करने वाले 'यज्ञ' स्वरूप भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ ।।१।।

अभिवन्द्य गुरूनादौ शिष्यधीपद्मिनीरवीन् ।
तत्प्रसादात्करिष्येऽहं मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम् ।।२।।

जैसे सूर्य कमलिनी को विकसित करता है, उसी प्रकार शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने वाले गुरुओं का अभिवादन करके ही मैं उन लोगों की कृपा से इस 'मीमांसाश्लोकवार्त्तिक' की रचना करूँगा ।।२।।

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः ।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ।।३।।

इसलिये विद्वद्गण अवहित श्रोत्र और प्रसन्नता से युक्त अन्तःकरण से अनुग्रह करें, क्योंकि सज्जन पुरुष अपने स्नेही जनों के वाक्यों का बिना राग-द्वेष के सुन लेते हैं ।।३।।

न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ।।४।।

इस ग्रन्थ में दोष निकालने के संकल्प से चित्त को तत्पर नहीं रखना चाहिये, क्योंकि दोष न रहने पर भी उसकी खोज में अत्यन्त प्रयत्नशील जन को दोष ही दीख पड़ता है ।।४।।

कुतो वा गृह्णते दोषं सूरयो मद्विधोक्तिषु ।
नेष्यते यः परस्थोऽपि स स्वयं गृह्यते कथम् ।।५।।

अथवा जो (पुरुष) दूसरे के ग्रन्थों को भी दोष देखने की दृष्टि से नहीं देखता (अथवा देखता भी है तो उसे हटाने के लिये ही प्रयत्नशील रहता है, ऐसा मुझ जैसा ग्रन्थकार अपनी रचना में दोषों का संग्रह कर ही कैसे सकता है ? विद्वान् लोग (मुझ जैसे व्यक्ति के ग्रन्थों में अविद्यमान दोषों को) देख ही कैसे सकते हैं ? (मूर्खों को भले ही इस ग्रन्थ में दोष दीख पड़े) ॥५॥

निर्दोषत्वैकवाक्यत्वं कुतो लोकस्य दृश्यते ।
सापवादा यतः केचिन्मोक्षस्वर्गावपि प्रति ॥६॥

(यदि किसी को इस ग्रन्थ में दोष दीख भी पड़े तथापि इस ग्रन्थ की उपादेयता में कोई कमी नहीं आती है), क्योंकि संसार के किसी भी वस्तु में दोष-शून्यता की धारणा सभी पुरुषों की एक जैसी नहीं है; मोक्ष और स्वर्ग जैसे वस्तुओं में भी कुछ लोगों की अश्रेयस्त्व की धारणा है ॥६॥

आगमप्रवणश्चायं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥७॥

वेदानुसारी यह मार्ग सज्जनों का है, सन्मार्ग पर चलने वाले अगर गिरते भी तथापि निन्दनीय नहीं होते । अतः अनेक गुणों से युक्त व्याख्यान स्वरूप मेरे इस ग्रन्थ में यदि थोड़े दोष भी हों तो वे उपेक्षणीय ही हैं ॥७॥

यथाकथञ्चिदारब्धा त्रयीमार्गानुसारिणी ।
वाग्वृत्तिरल्पसारापि श्रद्दधानस्य शोभते ॥८॥

किसी पुरुष की रचना अल्पसार होने पर भी यदि वेदमार्गानुगामिनी है तो फिर वह रचना दोषयुक्त होने पर भी शोभनीय ही है (फिर दोषों से सर्वथा रहित मेरी रचना तो कभी उपेक्षणीय हो ही नहीं सकती) ॥८॥

मीमांसाशास्त्रतेजोभिर्विशेषेणोज्ज्वलीकृते ।
वेदार्थज्ञानरत्ने मे तृष्णाऽतीव विजृम्भते ॥९॥

वेदों की व्याख्या ही मेरा यद्यपि मुख्य उद्देश्य है, तथापि अक्षरशः वेदों के आरम्भ से व्याख्या न कर वेदों की यह मीमांसारूपा व्याख्या लिखने का हेतु यह है कि वेदों के वाक्य मीमांसागत न्याय की दृष्टि से विचारित होने पर अत्यन्त मनोहर हो जाते हैं। अक्षरार्थ-क्रम से उपदिष्ट होने पर उतने मनोहर नहीं रहते। अतः मीमांसारूपा वेदों की व्याख्या में ही मेरी तृष्णा बढ़ रही है ॥९॥

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ॥१०॥

वेदों की भर्तृमित्रादि आचार्यों की लिखत मीमांसानुयायिनी व्याख्याएँ भी पहिले से बहुत सी हैं, उन व्याख्याओं के रहने पर भी यह व्याख्या लिखने का मेरा यह अभिप्राय है कि) मीमांसा आस्तिकों के सभी शास्त्रों में मुख्य है, क्योंकि सभी

पुरुषार्थों के साधनों को समझने में इसकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार की मीमांसा 'लोकायतों' अर्थात् चार्वाकों के मार्ग पर चल ही नहीं सकती। किन्तु 'भर्तृमित्र' प्रभृति पूर्वाचार्यों ने इस 'अलोकायत' मीमांसा को 'प्रायः' लोकायतों के, चार्वाकों के रास्ते पर घसीट ले गये, क्योंकि उन लोगों ने सत्स्मृतियों और सदाचारों के प्रामाण्य का खण्डन किया। एवं नित्य एवं निषिद्ध कर्मों को भी निष्फल करार दिया। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' आस्तिक सम्मत धर्म के इस लक्षण को मानकर केवल इसी अंश में मीमांसा दर्शन को नास्तिक दर्शनों से अलग रखा (इसीलिये श्लोक में 'प्रायः' पद लिखित है)। इस प्रकार असद्व्याख्याताओं की दुश्चेष्टा से असन्मार्ग के गर्त्त में गिरी हुई मीमांसा को फिर आस्तिक पथ में ले आने के लिये ही 'वार्त्तिक' रचना का यह मेरा प्रयास है ॥१०॥

अथाऽतो धर्मजिज्ञासा (जै० सू० १।१।१॥)

"अथाऽतो धर्मजिज्ञासा" सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् ॥११॥

इस शास्त्र के प्रतिपाद्य 'विषय' एवं इस शास्त्र के अध्ययन का 'प्रयोजन' इन दोनों का समझाने के लिये ही भगवान् जैमिनि ने 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र की रचना की है।

कहने का तात्पर्य है कि उक्त पहिले सूत्र का अक्षरार्थ 'धर्मजिज्ञासा की कर्त्तव्यता' ही है। यह सूत्र शास्त्र का पहिला सूत्र है, इसके बाद ही शास्त्र का आरम्भ होता है। अतः यह समझना सहज है कि धर्म-प्रतिपादन के लिये ही इस शास्त्र की रचना हुई है। फलतः 'धर्म ही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है' यह सूचित होता है। शास्त्र का जो 'विषय' प्रतिपाद्य होता है, उस विषय का ज्ञान ही शास्त्र का प्रयोजन होता है। इस प्रकार यह निष्पन्न होता है कि 'अज्ञात धर्म' ही इस शास्त्र का 'विषय' एवं 'ज्ञात धर्म' ही इस शास्त्र का 'प्रयोजन' है ॥११॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥१२॥

सभी शास्त्रों के ही नहीं प्रत्युत सभी कार्यों के प्रयोजनों का जब तक उपपादन न किया जाय तब तक शास्त्रों में या अन्य किसी भी कार्य में कोई प्रवृत्त नहीं होता, (अतः महर्षि ने 'प्रयोजन' की सूचना प्रथम सूत्र से दी है) ॥१२॥

मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता।
न शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुक्त्वा प्रयोजनम् ॥१३॥

जब थोड़े से प्रयत्न से निष्पन्न होने वाले शास्त्रों या साधारण कार्यों में बिना 'प्रयोजन' को समझे हुये कोई प्रवृत्त नहीं होता, तो फिर अनेक शास्त्रों के साथ सम्बन्ध रखने कारण के अतिप्रयत्नसाध्य इस मीमांसा शास्त्र के सम्बन्ध में यह आशा

करना व्यर्थ है कि कोई भी व्यक्ति इसके अध्ययन से होने वाले प्रयोजन को समझे बिना ही इस शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त होगा।

यह मीमांसा दर्शन उन पुरुषों के वाक्यार्थविषयक सन्देह को हटाने के लिये है जिन्हें व्याकरणादि शास्त्रों के द्वारा पद पदार्थों का ज्ञान प्राप्त है। अतः इस मीमांसा का व्याकरणादि अन्य बहुत से शास्त्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये इस मीमांसा को समझने के लिये बहुत प्रयत्नों की आवश्यकता है। अतः इसके प्रयोजन को समझे बिना कोई इसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये प्रथम सूत्र के द्वारा प्रयोजन की सूचना दी गयी है ॥१३॥

विद्यान्तरेषु नाप्येतद् यद्यपीष्टं प्रयोजनम्।
अनर्थप्रापणं तावत्तेभ्यो नाशङ्क्यते क्वचित् ॥१४॥

मीमांसायां त्विहाज्ञाते दुर्ज्ञाते वाऽविवेकतः।
न्यायमार्गे महान् दोष इति यत्नोपचर्यता ॥१५॥

तस्मात् प्रयोजनं पूर्वमुक्तं सूत्रकृता स्वयम्।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा मीमांसा शास्त्र का प्रयोजन कहना अधिक आवश्यक है। अन्य शास्त्रों के आदि में उनके प्रयोजन नहीं कहने से भी अधिक हानि नहीं होगी, क्योंकि अन्य शास्त्रों के विषय थोड़े हैं। अतः उन्हें बिना जाने भी काम चल सकता है। किन्तु मीमांसा तो सभी वाक्यों के अर्थों को निश्चित करने वाले न्याय का निरूपण करती है, उस न्याय को न जानने से या विपरीत रूप में जानने से कुछ भी ठीक से समझ में नहीं आ सकेगा। अतः मीमांसा शास्त्र के आदि में उसके प्रयोजन को न कहने से बहुत बड़ी हानि होगी। अतः सूत्रकार ने सबसे पहले यत्नपूर्वक प्रयोजन की ही सूचना दी है ॥१४--१६ क, ख॥

यत्स्वेनोक्तं वदेयुस्तद्भाष्यकारादयः कथम ॥१६॥

(पूर्वपक्ष—प्रयोजनादि की सूचना देना भाष्यकारादि व्याख्याताओं का काम है, उसके लिये स्वयं सूत्रकार क्यों प्रवृत्त हुये ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि) जिस विषय का उल्लेख सूत्रकार ने स्वयं किया है, उस विषय का उल्लेख भाष्यकारादि व्याख्यातागण क्यों करेंगे ?

कहने का तात्पर्य है कि सूत्रकार यदि अपने अभीष्ट प्रयोजन की सूचना स्वयं न देते तो सम्भव है भाष्यकारादि उनके अभिप्राय के विपरीत ही इस शास्त्र के किसी अन्य प्रयोजन की सूचना दे डालते। इसलिये सूत्रकार ने स्वयं ही प्रयोजन की भी सूचना दे दी। इस स्थिति में भाष्यकारादि प्रयोजन की सूचना देने के काम से विरत रहेंगे कि जब सूत्रकार ने स्वयं प्रयोजन की सूचना दे दी है तो उसके प्रसङ्ग में कुछ भी हम लोगों को लिखना व्यर्थ है ॥१६॥

सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥१७॥

पूर्वपक्ष—जिस शास्त्र का प्रयोजन एवं शास्त्र के साथ उस प्रयोजन का सम्बन्ध दोनों ज्ञात रहते हैं, उसी शास्त्र को सुनने के लिये लोग प्रवृत्त होते हैं। अतः शास्त्र के आदि में प्रयोजन के साथ-साथ शास्त्र के साथ उसके सम्बन्ध की सूचना देना भी आवश्यक है। सूत्रकार ने प्रयोजन की सूचना तो दी और शास्त्र के साथ प्रयोजन के सम्बन्ध की सूचना न दी। इस प्रकार शास्त्र के प्रयोजन के सम्बन्ध की सूचना न देना सूत्रकार की न्यूनता को व्यक्त करता है ॥१७॥

शास्त्रं प्रयोजनञ्चैव सम्बन्धस्याश्रयावुभौ ।
तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्माद्भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात् ॥१८॥

सि० प०—सभी सम्बन्धों के दो आश्रय होते हैं, तदनुसार प्रकृत सम्बन्ध के भी प्रयोजन और शास्त्र ये दो आश्रय हैं। इन दोनों के कहने से ही दोनों का साध्य-साधनभाव सम्बन्ध भी अर्थतः कथित हो जाता है। फलतः शास्त्र और प्रयोजन की उक्ति के अन्तर्गत ही इन दोनों के सम्बन्ध की भी उक्ति है। अतः सूत्रकार ने अलग से दोनों के सम्बन्ध की सूचना नहीं दी। इसलिये सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का आरोप उचित नहीं है ॥१८॥

सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां सम्बन्धकथनाद्यतः ।
तस्मात् सर्वेषु शास्त्रेषु सम्बन्धः पूर्वमुच्यते ॥१९॥

यावत्प्रयोजनेनास्य सम्बन्धो नाभिधीयते ।
असम्बद्धप्रलापित्वाद्भवेत्तावदसङ्गतिः ॥२०॥

श्रोताओं की शास्त्र को सुनने की प्रवृत्ति 'सम्बन्ध' कथन से ही होती है। अतः सभी शास्त्रों के आदि में यह 'सम्बन्ध' कहा जाता है, क्योंकि अभीष्ट प्रयोजन के साथ जब तक शास्त्र का सम्बन्ध नहीं कहा जाता तब तक शास्त्र के ऊपर से 'असम्बद्धप्रलाप' का आरोप नहीं मिटता। असम्बद्धप्रलाप के आरोप से शास्त्र श्रोताओं से तिरस्कृत हो जाते हैं ॥२०॥

इह त्वाक्षिप्य सम्बन्धं भाष्य एवाभिधास्यते ।
धर्मप्रसिद्ध्यसिद्धिभ्यां तस्मान्नान्योऽभिधीयते ॥२१॥

'धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा' इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार शबर स्वामी ने आक्षेपपूर्वक स्वयं इस 'सम्बन्ध' का उपपादन किया है। अतः पृथक् रूप से उस सम्बन्ध से भिन्न किसी सम्बन्ध का उपपादन मैं (वार्त्तिककार) नहीं करता ॥२१॥

(पू० प०—कथित 'सम्बन्ध' के प्रसङ्ग में किसी आचार्य का कहना है कि 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस आदिम सूत्र के घटक 'अथ' शब्द से ही उक्त सम्बन्ध का अभिधान हो जाता है, क्योंकि 'अथ' शब्द का अर्थ है आनन्तर्य। आनन्तर्य का

कोई प्रतियोगी अवश्य होता है। प्रकृत में वह प्रतियोगी है 'वेदाध्ययन'। फलतः वेदाध्ययन के सम्बन्ध से ही इस मीमांसा शास्त्र का आरम्भ सूत्रकार ने स्वयं सूचित कर दिया है। अतः सूत्रकार की कोई न्यूनता इस प्रसङ्ग में नहीं है। अतः 'धर्मः प्रसिद्धो वा स्याद् अप्रसिद्धो वा' यह भाष्यसन्दर्भ सम्बन्धसूचक नहीं है। फलतः कथित प्रश्न और उसका यह समाधान दोनों ही असङ्गत हैं इस पूर्वपक्ष का ही) समाधान 'न चाप्यत्राथशब्देन' इस श्लोक से हुआ है ॥२१॥

न चाप्यत्राथशब्देन शास्त्रसम्बन्ध उच्यते।
सम्बन्धं क्रिययोर्ह्येष ब्रूतेः शास्त्राच्च ते पृथक् ॥२२॥

सूत्रघटक आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द से प्रकृत 'सम्बन्ध' की सूचना नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृत 'अथ' शब्द से वेदाध्ययनक्रिया एवं जिज्ञासारूपा क्रिया इन्हीं दोनों क्रियाओं का सम्बन्ध सूचित हो सकता है, किन्तु ये दोनों ही क्रियायें 'मीमांसा शास्त्र' से सर्वथा भिन्न हैं।

कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि वेदाध्ययन के बाद स्वभावतः धर्म की जिज्ञासा होती है, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वेदाध्ययन के सम्बन्ध से ही धर्म की जिज्ञासा होती है, क्योंकि 'अथ' शब्द के अर्थ आनन्तर्य के प्रतियोगी वेदाध्ययन का सम्बन्ध जिज्ञासा के साथ है। अतः वेदाध्ययन के सम्बन्ध से 'धर्मजिज्ञासा' निरूपित हो सकती है, किन्तु प्रकृत शास्त्र है 'मीमांसा' जो धर्मजिज्ञासा से सर्वथा पृथक् वस्तु है। 'जिज्ञासा' और 'मीमांसा' ये दोनों शब्द जिस लिये समानरूप से 'सन्'-प्रत्ययान्त हैं, इसीलिये पूर्वपक्षवादी को दोनों शब्दों के पर्याय होने की भ्रान्ति है। किन्तु ये दोनों शब्द कभी एकार्थक हो नहीं सकते, क्योंकि 'जिज्ञासा' है ज्ञान की इच्छारूपा क्रिया जो श्रोता में रहती है। 'मीमांसा' है 'विचार' रूपा क्रिया जो वक्ता में रहती है। ये दोनों एक कैसे हो सकती हैं? अतः कथित रीति से 'अथ' शब्द के द्वारा उसके अर्थ आनन्तर्य के प्रतियोगी वेदाध्ययन से शास्त्र-सम्बन्ध की सूचना नहीं मानी जा सकती।

इतना ही नहीं 'अथ' शब्द के अर्थ आनन्तर्य के किसी-किसी भी प्रतियोगी के सम्बन्ध से मीमांसाशास्त्र का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रकृत 'अथ' शब्द का अन्वय 'धर्मजिज्ञासा' शब्द के साथ है, जिसका अर्थ मीमांसाशास्त्र से सर्वथा भिन्न वस्तु है। इस हेतु से भी 'अथ' शब्द से शास्त्रारम्भ के प्रयोजक सम्बन्ध की सूचना नहीं मानी जा सकती।

कुछ लोग 'अथ' शब्द से ही शास्त्रारम्भ-प्रयोजक सम्बन्ध की सूचना के प्रसङ्ग में ऐकमत्य रखते हुये भी उस सम्बन्ध के प्रतियोगी के प्रसङ्ग में भिन्न मत रखते हैं। उनमें से किसी आचार्य का कहना है कि—

(१) शिष्यों के प्रश्न करने पर उसके उत्तर में इस शास्त्र की रचना हुई है। अतः 'शिष्यप्रश्न' स्वरूप क्रिया का आनन्तर्य ही 'अथ' शब्द से सूचनीय है। फलतः 'शिष्यप्रश्न' के सम्बन्ध से ही प्रकृत मीमांसा शास्त्र का प्रारम्भ समझना चाहिये।

(२) किसी आचार्य का कहना है कि इन्द्रादि देवताओं की 'आराधना' से महर्षि जैमिनि को मीमांसास्वरूप इस शास्त्र का ज्ञान मिला। अतः 'देवताराधन' स्वरूप क्रिया के अनन्तर ही इस शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है। अतः 'अथ' से 'देवताराधन' रूप क्रिया का आनन्तर्य ही विवक्षित है। फलतः 'देवताराधन' सम्बन्ध से ही शास्त्र की रचना जाननी चाहिये।

(३) किसी आचार्य का कहना है कि महर्षि जैमिनि को उत्कृष्ट रसायन के सेवन से यह वेदार्थविषयक ज्ञान प्राप्त हुआ। फलतः 'रसायन-सेवन' रूप क्रिया के अनन्तर ही इस शास्त्र का आरम्भ समझना चाहिये।

उक्त (१) शिष्यप्रश्न (२) देवताराधन और (३) रसायन-सेवन स्वरूप तीन 'क्रियायें' 'क्रियानन्तर्यरूपो वा' (२३ श्लो०) इस अंश में प्रयुक्त 'क्रिया' पद से अभीष्ट हैं।

(४) किसी आचार्य का कहना है कि 'गुरुपर्वक्रम' से ही इस शास्त्र की रचना हुई है। 'अविच्छिन्न' धारा को 'पर्व' कहते हैं। अर्थात् गुरुपरम्परा की अविच्छिन्न धारा से प्राप्त ज्ञान के अनुसार उक्त ज्ञान की सुरक्षा के लिये महर्षि जैमिनि ने इस शास्त्र की रचना की। गुरुपरम्परा का यह क्रम इस प्रकार है—

"ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय, स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनये, स च स्वोपदेशादनन्तर-मिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवान्" (न्यायरत्नाकर से उद्धृत) अर्थात् ब्रह्मा ने प्रजापति को इस मीमांसा शास्त्र की शिक्षा दी, प्रजापति ने इन्द्र को, इन्द्र ने आदित्य को, आदित्य ने वसिष्ठ ऋषि को, महर्षि वसिष्ठ ने पराशर को, महर्षि पराशर ने अपने पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास को, व्यास ने महर्षि जैमिनि को इस मीमांसा शास्त्र का उपदेश किया। महर्षि जैमिनि ने उक्त परम्परा से उपदेश पाकर इस मीमांसा स्वरूप न्याय को सूत्रबद्ध किया। फलतः कथित 'गुरुपर्वक्रम' से ही इस शास्त्र की रचना समझनी चाहिये।

(सि० प०) इन सभी मतों का खण्डन पूर्व कथित इस युक्ति से भी हो जाता है कि मीमांसा (शास्त्र) और धर्म की जिज्ञासा विभिन्न वस्तु हैं, क्योंकि इन सभी क्रियाओं का आनन्तर्य धर्मजिज्ञासा के साथ ही किसी प्रकार संभव है, विचार रूप मीमांसा शास्त्र के साथ नहीं ॥२२॥

'योऽप्ययम्' इत्यादि तीन श्लोकों से इस युक्ति से उन मतों का खण्डन किया गया है कि ये सभी सम्बन्ध शास्त्रारम्भ के लिये अनुपयोगी हैं। इनमें से किसी भी सम्बन्ध से इस शास्त्र की रचना नहीं मानी जा सकती। ये तीनों ही श्लोक निम्न-लिखित हैं :—

योऽप्ययं शास्त्रसम्बन्धो वर्ण्यते कैश्चिदादितः।
क्रियानन्तर्यरूपो वा गुरुपर्वक्रमोऽपि वा ॥२३॥

तद्वतद्व्यवयोस्तस्य विशेषो नोपलभ्यते ।
श्रोतुर्विधौ निषेधे वा ज्ञाने वा शास्त्रगोचरे ।।२४।।

तस्माद्व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः ।
शास्त्रावतारसम्बन्धो वाच्यो नान्यस्तु निष्फलः ।।२५।।

(इन श्लोकों का सरलार्थ यह है कि) (शिष्यप्रश्नादि) क्रियाओं के अथवा गुरुपर्वक्रम के अनुसार जो सम्प्रदाय 'अथ' शब्द से शास्त्रारम्भ के प्रयोजक सम्बन्ध की सूचना मानते हैं (वे भ्रान्त हैं, क्योंकि) शिष्यप्रश्नादि के रहने या न रहने में श्रोताओं की 'विधि' अर्थात् विधि-साध्य प्रवृत्ति एवं उनके 'निषेध' अर्थात् निषेध-साध्य निवृत्ति अथवा मीमांसा शास्त्र के अध्ययन से होने वाले ज्ञान में किसी 'विशेष' की उपलब्धि नहीं होती है। तस्मात् व्याख्या के अङ्गभूत 'सम्बन्ध' के उपपादन की इच्छा रखने वालों को प्रामाणिक एवं शास्त्रारम्भ के लिये विशेष उपयोगी सम्बन्ध का ही उपपादन करना चाहिये अप्रामाणिक तथा अनुपयोगी सम्बन्धों का नहीं। शिष्यप्रश्नादि का शास्त्रारम्भ के साथ सम्बन्ध अप्रामाणिक और अनुपयोगी दोनों है। अतः इनके सम्बन्ध शास्त्रारम्भ के प्रयोजक नहीं हो सकते ।।२३-२५।।

'लोके' इत्यादिभाष्यस्य षडर्थान् सम्प्रचक्षते ।
भाष्यकारानुसारेण प्रयुक्तस्यादितः पृथक् ।।२६।।

'लोके' इत्यादि सन्दर्भ भाष्य के सबसे पहले का है। इस सन्दर्भ की व्याख्या के अभिप्राय से वार्तिककार मतभेद से छः अर्थों का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि उक्त भाष्यसन्दर्भ को विभिन्न आचार्य विभिन्न छः रीतियों से लगाते हैं।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस अर्थ में भाष्य की सङ्गति ठीक बैठती हो उसी एक अर्थ में भाष्य की योजना उचित है। एक सन्दर्भ की योजना विभिन्न छः अर्थों में कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के समाधान के लिये श्लोक में 'भाष्यकारानुसारेण' यह पद लिखा गया है। अर्थात् सभी आचार्य अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार कथ्य छः अर्थों में से प्रत्येक में भाष्य की सङ्गति मानते हैं।

'लोके'[1] इत्यादि वाक्य भाष्यग्रन्थ का प्रथम सन्दर्भ है। पहिला सूत्र है 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। इसका पहिला शब्द है 'अथ'। पहिले पूर्वपक्ष का उपपादन करना शास्त्रकारों की युक्त परिपाटी है। कथ्य छः अर्थों में से 'अथशब्ददूषण' भी एक अर्थ है। फिर उक्त भाष्यसन्दर्भ को 'अथशब्ददूषण' परक ही क्यों नहीं मानते ? इसी प्रश्न के उत्तर के लिये श्लोक में 'प्रयुक्तस्यादितः' यह वाक्य है। अर्थात् उक्त सन्दर्भ भाष्य के आदि में है। अतः 'सर्वव्याख्यादि' के लिये भी यही उपयुक्त स्थान है। शास्त्र के आदि में रहने से ही किसी अर्थविशेष का विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हो

१. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्। नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। एवं वेदवाक्यान्येव एभिर्व्याख्यायन्ते। (शा० भा० पृ० १)

जाता। अतः जिस प्रकार 'अथशब्ददूषण' के लिये यह स्थान उपयुक्त है, उसी प्रकार सर्वव्याख्यादि के लिये भी यही स्थान उपयुक्त है। तस्मात् प्राथम्य 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को 'अथशब्ददूषण' परक नहीं स्वीकार किया जा सकता॥२५॥

लोके इत्यादिभाष्यस्य षडर्थान् संप्रचक्षते।
भाष्यकारानुसारेण प्रयुक्तस्यादितः पृथक्॥२६॥

'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय से एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का बोधक हो सकता है। तदनुसार 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के छः अर्थ नहीं हो सकते। इसी आक्षेप का समाधान श्लोक के 'पृथक्' शब्द से किया गया है। अर्थात् ये सभी अर्थ सम्मिलित रूप से भाष्य के नहीं हैं। भाष्य-समय का कोई एक ही अर्थ ठीक है। किन्तु कोई आचार्य किसी एक अर्थ को ठीक मानते हैं, कोई दूसरे अर्थ को। अतः प्रकृत में 'सकृदुच्चरितः' इस न्याय का कोई विरोध नहीं है।

इस प्रसङ्ग में दूसरी युक्ति यह है कि 'सकृदुच्चरितः' यह न्याय अपौरुषेय वाक्यों में ही सङ्गत होता है। पौरुषेय वाक्य तो एक ही उच्चारण से अनेक अर्थों के ज्ञापक हो सकते हैं, जैसे 'श्वेतो धावति' इस एक ही पौरुषेय वाक्य से कोई यह समझता है कि 'कुत्ता यहाँ से दौड़ता है' (श्वा इतो धावति) दूसरा उसी वाक्य के उसी उच्चारण से यह समझता है 'उजला घोड़ा दौड़ता है'। यही बात श्लोक के 'प्रयुक्तस्य' पद से ध्वनित होती है। अर्थात् यह भाष्यसन्दर्भ चूँकि भाष्यकार के द्वारा ग्रन्थ के आदि में प्रयुक्त हुआ है इसलिये 'लोके' इत्यादि भाष्य पौरुषेय वाक्य है। अतः उस सन्दर्भ के अनेक अर्थ हो सकते हैं॥२७॥

सर्वव्याख्यामुपालम्भं प्रत्याख्याने तथाऽपरे।
परिसंख्यास्तुती केचिदथशब्दस्य दूषणम्॥२७॥

'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के जिन छः अर्थों का संक्षेप में कथन हुआ है, उनके ये छः नाम हैं—(१) सर्वव्याख्या (२) उपालम्भ (३) प्रत्याख्यान (४) परिसंख्या (५) स्तुति और (६) अथशब्ददूषण।

इस श्लोक के 'अपरे' और 'केचित्' शब्द से यह सूचित होता है कि ये सभी पक्ष किसी एक आचार्य के द्वारा स्वीकृत नहीं हैं किन्तु विभिन्न आचार्यों के अपनाये गये ये विभिन्न पक्ष हैं।

(१) सर्वव्याख्या

('साधारणी' इत्यादि अठाइसवें श्लोक से लेकर 'व्याख्याङ्गत्वाभिमानेन' इत्यादि बत्तिसवें श्लोक पर्यन्त ५ श्लोकों में सर्वव्याख्या पक्ष का विवरण है)

साधारणी विशिष्टा च सूत्रव्याख्या द्विधा मता।
विशिष्टा प्रतिसूत्रं या सर्वार्था त्वियमुच्यते॥२८॥

सूत्रों की व्याख्या दो प्रकार की होती है (१) साधारणी और (२) विशिष्टा। प्रत्येक सूत्र की अलग-अलग व्याख्या को 'विशिष्टा' व्याख्या कहते हैं। 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ रूपा व्याख्या 'साधारणी' है, क्योंकि यह व्याख्या सर्वसूत्र-साधारण अर्थात् इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा इस शास्त्र के सभी सूत्रों की व्याख्या करने की साधारण नीति दिखलायी गयी है ॥ २८ ॥

'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ में तीन वाक्य हैं—

(१) 'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्'। अर्थात् इस शास्त्र के सूत्रों के जो पद लोक में जिन अर्थों में प्रयुक्त हैं, यथासम्भव उन पदों को इस शास्त्र में भी उन्हीं अर्थों में लेना चाहिये।

(२) 'नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा'। अर्थात् अध्याहारादि के द्वारा इस शास्त्र के पदों का कोई सांकेतिक अर्थ नहीं करना चाहिये।

(३) 'एवं वेदवाक्यान्येभिर्व्याख्यायन्ते'। अर्थात् इस प्रकार इस शास्त्र के सूत्रों से वेद-वाक्यों की ही व्याख्या होती है।

प्रकृत में आदि के दो वाक्य विचारणीय हैं। पहले वाक्य से सूत्र के पदों में लोक-प्रसिद्ध अर्थों के अवगम का 'विधान' है जिसे 'प्रवृत्ति' कहते हैं। दूसरे वाक्य से 'अध्याहारादि के द्वारा सूत्रों के पदों की व्याख्या नहीं करनी चाहिये' यह 'निषेध' है जिसे 'निवृत्ति' कहते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि पहले वाक्य के द्वारा सूत्रस्वरूप वाक्य से पदों में 'प्रवृत्ति' कही गयी है, अतः दूसरे वाक्य से 'निवृत्ति' भी पदोद्देश्य ही होनी चाहिये, क्योंकि दूसरे वाक्य के 'एषाम्' पद से पदों का ही परामर्श संभव है। 'सूत्रेषु पदानि' पहले वाक्य के इस अंश का 'सूत्र' पद में विशेषणविधया प्रयुक्त हुआ है। सर्वनाम शब्द साधारणतः प्रधान-परामर्शक ही होता है। अतः प्रकृत में भी 'एषाम्' पद से पदों का ही परामर्श युक्त मालुम पड़ता है। तदनुसार 'प्रवृत्ति' की तरह 'निवृत्ति' को भी पदोद्देश्यक होना ही उचित है। किन्तु प्रकृत में सो संगत नहीं है। इस असंगति का परिहार यह है कि—

प्रवृत्तिस्तु पदेष्वेव निवृत्तिः सूत्रसंश्रया।
वेदवाक्याविरुद्धेषु न तु सर्वेषु केषुचित् ॥ २९ ॥

अर्थात् उक्त भाष्यग्रन्थ के द्वारा 'प्रवृत्ति' सूत्रों में प्रयुक्त पदों में ही और 'निवृत्ति' सूत्रस्वरूप वाक्यों में ही समझनी चाहिये। वह भी उन्हीं स्थलों में जहाँ वेद का विरोध उपस्थित न हो, सभी स्थलों में नहीं। इसीलिये भाष्य में 'सति संभवे' इस शब्द का उपादान किया गया है ॥ २९ ॥

'लोके' इत्यादि भाष्य के द्वारा प्रवृत्ति की तरह निवृत्ति भी सूत्रस्वरूप-वाक्यघटक पदों में ही स्वरसतः प्रतीत होती है, तो फिर निवृत्ति को पदस्वरूप

अपने स्थान से हटाकर सूत्रस्वरूप वाक्य में लगाने की कौन सी प्रबल युक्ति है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—

अध्याहारस्य वाक्येषु व्यत्यासस्य च सम्भवात् ।
तेनैषामिति सूत्राणां पारार्थ्ये सत्यपि ग्रहः ॥ ३० ॥

अर्थात् अध्याहार और व्यत्यास ये दोनों वाक्यों में ही हो सकते हैं। (पदों में नहीं)। अतः भाष्य के 'एषाम्' पद से गौण (परार्थ) होने पर भी सूत्रस्वरूप वाक्यों को ही समझना चाहिये।

कहने का तात्पर्य है कि भाष्य के 'अध्याहारादि'-पदघटक 'आदि' पद से व्यत्यास, विपरिणाम, गुण प्रभृति ग्राह्य हैं। इनमें अध्याहार और व्यत्यास ये दोनों वाक्यों में ही हो सकते हैं, पदों में नहीं, क्योंकि अश्रुत पद की कल्पना को अध्याहार कहते हैं। जैसे—'देवदत्तो गच्छति' यहीं पर अश्रुत 'ग्रामम्' पद की कल्पना रूप अध्याहार से 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' यह पूर्ण वाक्य निष्पन्न होता है। यह अपूर्णता पदों में संभव ही नहीं है, जिसके लिये पूर्णता के निष्पादक अध्याहार की आवश्यकता पदों में हो। अतः अध्याहार पदनिष्ठ नहीं हो सकता।

इसी प्रकार 'व्यत्यास' के भी पदनिष्ठ होने की संभावना नहीं है, क्योंकि व्यत्यास है 'अन्यथानयन' रूप। पदों के प्रकृति और प्रत्यय ये दो ही अंश होते हैं। इन दोनों के स्थान निर्णीत रहते हैं। उनमें से किसी का भी 'अन्यथानयन' (उलट-फेर) नहीं हो सकता। अतः व्यत्यास भी वाक्यनिष्ठ ही है पदनिष्ठ नहीं। विपरिणामादि यद्यपि पद और वाक्य दोनों में ही संभव हैं तथापि निवृत्तिबोधक उक्त वाक्य से निषेध किये जाने वाले सभी धर्मों का समावेश चूँकि वाक्यों में ही हो सकता है एवं निषेध प्राप्ति पूर्वक होता है तस्मात् अध्याहारादि सभी निषेध्यों की प्राप्ति जिस लिये कि सूत्रस्वरूप वाक्यों में ही संभव है, अतः गौण होने पर भी वाक्य-स्वरूप सूत्रनिष्ठ ही है ॥ ३० ॥

'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से सर्वव्याख्या-रूप साधारणी व्याख्या के बाद इस व्याख्या के प्रयोजन को दिखलाने के लिये भाष्यकार 'एवं वेदवाक्यान्येव एभिर्व्याख्यायन्ते' ने यह पंक्ति लिखी है। अर्थात् इस रीति से ज्ञात सूत्रों के द्वारा वेद-वाक्यों की ही व्याख्या की जाती है, सूत्रों की नहीं। 'सूत्रों की नहीं' यह अंश उक्त भाष्यगत 'एव' शब्द से प्राप्त होता है। किन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि भाष्यकार ने आगे सूत्रों की भी व्याख्या की है। फिर भाष्यकार ने प्रकृत भाष्यसन्दर्भ में 'एव' शब्द का प्रयोग कैसे किया ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

'एव' शब्दोऽल्पवाच्यत्वात्

अर्थात् उक्त रीति से वेद-वाक्यों को समझ लेने के बाद सूत्रों को समझने में थोड़ी ही कसर रह जाती है, इसी 'थोड़े' में 'न रहने' की कल्पना करके 'एव' शब्द

का प्रयोग भाष्य में किया गया है। 'अल्प' अर्थ में असत्त्व का औपचारिक प्रयोग 'अनुदरा कन्या', 'असूर्यम्पश्या राजदारा' इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध है।

उक्त प्रकार से वेदवाक्यों का ही विचार न करने पर आपत्ति का उपपादन भाष्यकार ने 'इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थश्च व्याख्येय इति प्रयत्न-गौरवं प्रसज्येत' इस सन्दर्भ से किया है। भाष्य के इसी सन्दर्भ की व्याख्या

अस्यावृत्तौ तु गौरवम्।

इस द्वितीय चरण से की गयी है। अर्थात् वेदों की व्याख्या ही प्रकृत में मुख्य है, अतः उसे तो छोड़ा ही नहीं जा सकता। इस स्थिति में यदि सूत्रों की व्याख्या में भी पूरी पूरी तत्परता दिखलायी गयी तो उसके लिए बहुत बड़ा प्रयत्न चाहिये। वेदवाक्यों को समझ लेने के बाद सूत्रों को समझने में थोड़ी सी ही कसर रह जाती है। अतः प्रधान रूप से वेदवाक्यों को ही समझना चाहिये।

पुनः प्रश्न होता है कि 'सम्भावना रहने पर लोक में प्रसिद्ध अर्थों को शब्दों के द्वारा बिना अध्याहारादि के ही समझना चाहिये' यह बात भी तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। उसके लिये सर्वव्याख्या-स्वरूप 'लोके' इत्यादि भाष्य का लिखना सङ्गत नहीं है।

इसी प्रश्न का उपपादन

प्रसिद्धत्वादवाच्यं चेत्?

इस तीसरे चरण से हुआ है।

न दोषः पुंभिरामयम् ॥ ३१ ॥

इस चौथे चरण से उक्त प्रश्न का यह समाधान हुआ है कि प्रसिद्ध अर्थों को समझाना लौकिक वाक्यों का गुण है, दोष नहीं। अतः भाष्यस्वरूप लौकिक वाक्य के प्रसङ्ग में उक्त आक्षेप लागू नहीं होता है ॥ ३२ ॥

यदि आक्षेप-कर्त्ता को उस उत्तर से परितोष न हो तो उक्त आक्षेप का यह दूसरा समाधान भी है—

व्याख्याङ्गत्वाभिमानेन योऽध्याहाराद्यपेक्षते।
स्वसंज्ञां वापि तस्येदं शास्त्ररूपं निरूप्यते ॥ ३२ ॥

अर्थात् अन्य शास्त्रों के सूत्रों की व्याख्या के लिए अध्याहार, परिभाषा प्रभृति के उपयोग को देखकर यदि कोई यह धारणा कर ले कि अध्याहारादि सूत्रव्याख्या के अपरिहार्य अङ्ग हैं, तो उसको समझाने के लिए 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा गया है, जिससे उसे ज्ञात हो जाय कि इस शास्त्र के सूत्रों की व्याख्या के लिए अध्याहारादि की अपेक्षा नहीं है। इस श्लोक के 'तस्य' पद का अर्थ है 'तम्प्रति' ॥ ३२ ॥

(२) उपालम्भ-पक्ष में 'लोके' इत्यादि भाष्य की योजना

वृत्त्यन्तरेषु केषाञ्चिल्लौकिकार्थव्यतिक्रमः।
शब्दानां दृश्यते तेषामुपालम्भोऽयमुच्यते ॥ ३३ ॥

साधारण शब्दों में लौकिक अर्थों को समझाने की अभिधावृत्ति में व्यतिक्रम को स्वीकार न करने पर भी कुछ आचार्यों ने (भवदासादि) इस शास्त्र के किसी किसी शब्द की अभिधावृत्ति में लोकप्रसिद्ध रीति का परित्याग किया है। उन्हीं लोगों के 'उपालम्भ' के लिए (उनके मत का खण्डन करने के लिए) 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा गया है॥ ३३॥

अथात इत्ययं लोके नानन्तर्ये प्रयुज्यते।
तस्मात् तादर्थ्यमेतस्य परिभाषादिभिर्भवेत्॥ ३४॥

लोक में यही प्रसिद्ध है कि दो पद दो अर्थों के ही वाचक हैं, एक अर्थ के नहीं। किन्तु मीमांसासूत्र के प्राचीन टीकाकार 'भवदास' ने सूत्र के 'अथ' शब्द और 'अतः' शब्द को एक पद मानकर उस 'अथातः' पद को 'आनन्तर्य' अर्थ का वाचक माना है। किन्तु 'अथातः' यह शब्द-समुदाय आनन्तर्य अर्थ में लोक में प्रसिद्ध नहीं है। अतः 'अथातः' शब्द से आनन्तर्य-स्वरूप अर्थबोध के लिए यह आवश्यक है कि 'परिभाषा' का अवलम्बन किया जाय। आधुनिक सङ्केत को परिभाषा कहते हैं। फलतः 'अथातः' शब्द यद्यपि लोक में आनन्तर्य अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है तथापि महर्षि जैमिनि अपना संकेत अर्थात् परिभाषा उस अर्थ में रख सकते हैं। अतः आचार्य भवदासादिके मत से सूत्र की व्याख्या में परिभाषा की आवश्यकता है। इसी पक्ष का 'उपालम्भ' देने के लिए अर्थात् खण्डन के लिए भाष्यकार ने 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा है॥ ३५॥

प्रसिद्धहानिः शब्दानामप्रसिद्धे च कल्पना।
न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसम्भवे॥ ३५॥
सूत्रार्थे क्लिश्यतश्चैवं दूरे वेदार्थनिर्णयः।
तत्र यत्नस्य भारत्वं वक्तृश्रोत्रोः प्रसज्यते॥ ३६॥

उपालम्भ-पक्ष इस लिए ठीक नहीं है कि उस पक्ष में (१) प्रसिद्धहानि और (२) अप्रसिद्धकल्पना ये दो दोष उपस्थित होते हैं।

(१) केवल 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ में प्रसिद्ध है। उस 'प्रसिद्धि' की 'हानि' होगी। (२) दूसरा दोष यह होगा कि 'अथ' और 'अतः' इन दो पदों में सम्मिलित होकर किसी अर्थ की वाचकता प्रसिद्ध नहीं है, उसकी कल्पना करनी होगी। इन दोनों दोषों के कारण आचार्य भवदास को 'अथातः' शब्द को अनन्तर्यार्थक मानकर व्याख्या नहीं करनी चाहिए, जबकि केवल 'अथ' शब्द के सर्वजनप्रसिद्ध आनन्तर्य अर्थ मानकर भी सूत्र की व्याख्या की जा सकती है।

यदि सूत्र का अर्थ करने में ही इस प्रकार अपरिचित मार्ग से चलना पड़ेगा तो फिर उस रास्ते से वेदों के अर्थ का निर्णय करना बहुत दूर की बात हो जायगी। इससे वक्ता और श्रोता दोनों के प्रयत्न का भार बढ़ जायगा।

इस 'उपालम्भ' का सार यह है कि 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ क्यों लिखे गये—इस प्रश्न के उत्तर में किसी भाष्य-व्याख्याता का कहना है कि वृत्तिकार भवदास ने जो परिभाषा के द्वारा 'अथातः' इस समुदाय को आनन्तर्यार्थक मानकर 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या की है उसके 'उपालम्भ' के लिये अर्थात् खण्डन के लिए ही भाष्यकार ने 'लोके' इत्यादि प्रथम भाष्यसन्दर्भ लिखा है। भाष्यकार का अभिप्राय है कि सूत्रों का या उनके पदों का अर्थ करने में 'परिभाषा' का यथासम्भव परिहार करना चाहिए। अतः परिभाषा के अवलम्बन से भवदास द्वारा की हुई व्याख्या असङ्गत है, क्योंकि परिभाषादि के अवलम्बन के बिना भी काम चल सकता है ॥ ३५–३६ ॥

(३) प्रत्याख्यान-पक्ष में 'लोके' इत्यादि भाष्य की योजना

न व्याख्यास्यति सूत्राणि चोदनार्थपरस्त्वतः ।
यत् तस्य परिहारोऽयं प्रत्याख्यानेन चोच्यते ॥ ३७ ॥
प्रयासो वेदवाक्येषु कार्यः सूत्रेष्वनेन किम् ।
फलवत्त्वाफलत्वाभ्याम् एभिः करणसम्मतैः ॥ ३८ ॥
चोदनार्थं उपेतव्यो नोभयं यत्नगौरवात् ।
पदार्थानां प्रसिद्धत्वाद् व्याख्येयं नावशिष्यते ॥ ३९ ॥
एवंशब्दादिको ग्रन्थः पक्षे चास्मिन् समर्थ्यते ।

('न व्याख्यास्यति' इत्यादि ३८ वें श्लोक से लेकर ४१ वें श्लोक के 'एवं शब्दादिकः' इत्यादि पूर्वार्द्ध तक प्रत्याख्यान-पक्ष का उपपादन और ४१ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से लेकर ४७ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक प्रत्याख्यान-पक्ष का खण्डन है)।

'प्रत्याख्यान'-पक्ष में लोके' इत्यादि भाष्यग्रन्थ को लगाने वालों का अभिप्राय है कि भाष्यकार सूत्रपाठ के बाद विधायक वेदवाक्य का उदाहरण देकर उन्हीं की व्याख्या में प्रवृत्त दीखने, सूत्रों की व्याख्या में नहीं। इससे विविध शङ्कायें उठती हैं (१) भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या इस लिये नहीं की कि सूत्रों के कुछ अर्थ ही नहीं है, (२) या वे सूत्रों का अर्थ नहीं जानते थे, (३) सूत्रों की व्याख्या से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है।

'न व्याख्यास्यति' इस श्लोक के द्वारा इस प्रत्याख्यान-पक्ष का सामान्यरूप से उपपादन किया गया है। अर्थात् विधायक वेदवाक्यों के व्याख्यान में तत्पर होकर सूत्रों की व्याख्या के छोड़ देने से जो भाष्यकार के ऊपर न्यूनता की आपत्ति आती है उसी का समाधान इस प्रत्याख्यान-पक्ष से हुआ है।

३९ वें श्लोक के आदि के तीन चरणों से यह कहा गया है कि वेदों के विधायक वाक्य (चादेना) धर्म का ज्ञापक होने से सफल हैं। अतः उनकी व्याख्या का प्रयास भी सफल है। सूत्रों में इस प्रकार की कोई फलजनकता नहीं है,

अतः सूत्रों की व्याख्या का प्रयास भी विफल है। इसी लिए भाष्यकार ने केवल वेदों के विधायक वाक्यों की व्याख्या की है।

इस श्लोक के चौथे चरण से यह कहा गया है कि तस्मात् वेदव्याख्या के उपायभूत सूत्रों से वेदवाक्यों को ही व्याख्या की जाती है। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने 'वेदवाक्यान्येव (एभिः) व्याख्यायन्ते' यह वाक्य लिखा है। अर्थात् सूत्रों के व्याख्यान का प्रत्याख्यान ही भाष्यकार को इष्ट है।

पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि केवल सूत्रों की व्याख्या निष्फल होने के कारण मत कीजिये। सूत्र और वेदवाक्य दोनों की व्याख्या में क्या दोष है? इसी का समाधान 'नोभयं यत्नगौरवात्' श्लोक के इस वाक्य से हुआ है। अर्थात् वेदवाक्य ही जब धर्म-ज्ञापक होने के कारण सफल है, तो फिर निष्फल सूत्रों की व्याख्या व्यर्थ है। अतः सूत्र और वेदवाक्य दोनों के व्याख्यान को आवश्यक मानने पर व्यर्थ का गौरव बढ़ जायगा। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने 'इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च व्याख्येयाः इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत' यह सन्दर्भ लिखा है। अर्थात् सूत्रों की व्याख्या को भी आवश्यक मानने पर अत्यावश्यक वेदवाक्य के उपयुक्त प्रयत्न से अतिरिक्त सूत्रों के व्याख्यान के लिए भी प्रयत्न करना पड़ेगा। इस व्यर्थ प्रयत्न का भार बढ़ जायगा।

सूत्र वेदवाक्यों की व्याख्या के उपाय हैं, फलतः वेदवाक्य हैं 'उपेय' और सूत्र हैं उपाय। उपाय को समझे बिना उपेय को समझना संभव नहीं है। अतः सूत्र की व्याख्या के बिना वेदों की व्याख्या हो ही कैसे सकती है। इसी प्रश्न का समाधान ४० वें श्लोक के 'पदार्थानाम्' इत्यादि उत्तरार्द्ध से हुआ है। अर्थात् सूत्रों के अर्थ का ज्ञान बहुत ही जरूरी है। किन्तु वह 'ज्ञान' बिना व्याख्या के भी संभव है, क्योंकि सूत्रों में प्रयुक्त पदों के अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अतः सूत्रों की व्याख्या के लिए कुछ बच नहीं जाता।

इस पक्ष में सूत्रों की व्याख्या सर्वथा छोड़ ही देनी पड़ती है। जिससे भाष्य के 'प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत' इस सन्दर्भ का 'प्रयत्न' पद और 'गौरव' पद दोनों पूर्ण उपयुक्त होते हैं। अर्थात् आवश्यक होने पर प्रयत्न की गुरुता यद्यपि दोषावह नहीं है, किन्तु अनावश्यक कार्य के लिये 'अल्प प्रयत्न' भी दोषावह है, फिर उसके लिये 'गुरुप्रयत्न' तो अत्यन्त ही दोषाधायक है। अतः सूत्रों की व्याख्या के लिए अनावश्यक प्रयत्न की गुरुता अतिनिन्दनीय है। 'एवंशब्दादिको ग्रन्थः' श्लोक के इस अंश में प्रयुक्त 'एवम्' शब्द से 'एवं वेदवाक्यान्येव एभिर्व्याख्यायन्ते स्वपदार्थाश्च व्याख्येयाः इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत' इस भाष्य का 'एवम्'-शब्दघटित सन्दर्भ ही अभिप्रेत है। इसी वाक्य में प्रयुक्त 'गौरव' शब्द और 'गौरव' शब्द की सार्थकता दिखलायी गयी है। ३७, ३८, ३९॥

पदच्छेदाद्यभावेन प्रत्याख्यानमतिस्त्वियम् ॥ ४० ॥
ब्रवीत्येव हि सूत्रार्थमतिरिक्तादि चेष्यते ।
नन्वशक्तमिदं सूत्रं सम्यक् सूत्रितमित्यपि ॥ ४१ ॥

४१ वें श्लोक के 'पदच्छेदाद्यभावेन' यहाँ से लेकर ४७ वें श्लोक के 'दुष्टव्याख्यानिषेधेन' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध तक 'प्रत्याख्यान'-पक्ष का खण्डन वार्त्तिककार ने किया है ।

अर्थात् भाष्यकार ने सूत्रों की भी व्याख्या अवश्य की है। किन्तु व्याख्या के पदच्छेदादि आवश्यक तथा अतिप्रसिद्ध एवं असाधारण अङ्गों को न देख कर ही किसी साधारण बुद्धि वाले को यह भ्रान्ति हुई है कि भाष्यकार ने केवल वेदवाक्यों की ही व्याख्या की है । प्रत्याख्यान-पक्ष को लेकर 'लोके' इत्यादि भाष्य की व्याख्या ऐसे किसी साधारण बुद्धिवाले ने की है ।

सूत्रों की व्याख्या के लिये भाष्यकार ने विशेष स्थलों में पदच्छेदादि का भी उल्लेख अवश्य किया है ।

इतना ही नहीं । सूत्रों के कुछ पदों को अनावश्यक समझकर खण्डन करने का भी पूर्वपक्ष किया है। कुछ सूत्रों में अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य को न देखकर अतिरिक्त पद जोड़ने का प्रस्ताव भी रखा है। अतः 'भाष्यकार ने केवल वेदवाक्यों की ही व्याख्या की है, सूत्रों की उन्होंने व्याख्या ही नहीं की है' यह कहना साहस मात्र है । तस्मात् जिस रीति से भी देखें प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्या असंगत है ।

'नन्वशक्तमिदं सूत्रम्' श्लोक के इस अंश के द्वारा यह दिखलाया गया है कि कहाँ किस सूत्र में भाष्यकार ने न्यूनता का आक्षेप किया है ।

इस ग्रन्थ का तात्पर्य है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (१।१।२) सूत्र के भाष्य के अन्त में 'नन्वशक्तमिदं सूत्रम्' इत्यादि सन्दर्भ है। इस सन्दर्भ का अभिप्राय है कि पहले सन्दर्भ से इस सूत्र के दो अर्थ लगाये गये हैं (१) चोदना (वेद के विधायक वाक्य) से निर्दिष्ट ही 'धर्म' है, इन्द्रियादि प्रमाणों से निर्दिष्ट 'अर्थ' नहीं (चोदनालक्षणो धर्मः) और (२) वेदवाक्य से विहित 'अर्थ' ही धर्म है, वैदिक विधिवाक्य के द्वारा श्येनवधादि 'अनर्थ' धर्म नहीं है। किन्तु एक वाक्य एक ही अर्थ को समझा सकता है, दो अर्थों को नहीं। एक वाक्य से दो अर्थों का बोध उस वाक्य की पुनरावृत्ति से ही संभव है। फलतः दो वाक्यों से ही दो अर्थों का बोध हो सकता है। किन्तु इस प्रकार दो वाक्यों की कल्पना 'वाक्यभेद' दोष है ।.तस्मात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह सूत्रस्वरूप वाक्य अभीष्ट उन दोनों अर्थों को समझाने में असमर्थ है, अतः 'न्यून' है। अर्थात् इस सूत्रस्वरूप वाक्य में कुछ और पद चाहिये, जिससे विना वाक्यभेदकल्पना के उक्त दोनों अर्थों का बोध हो सके ।

इस प्रकार उक्त सन्दर्भ से भाष्यकार ने न्यूनत्व का आक्षेप कर 'उच्यते' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा समाधान किया है कि जहाँ वाक्यों से ही स्वतन्त्र रूप से अर्थों का बोध हो वहीं पर 'वाक्यभेद' दोष होता है। यह केवल वैदिक वाक्यों में ही संभव है, सूत्रादिस्वरूप लौकिक वाक्यों में नहीं, क्योंकि अन्य प्रमाणों से ज्ञात अर्थों को ही समेट कर सूत्रस्वरूप छोटे वाक्य के द्वारा कहा जाता है। अतः सूत्रस्वरूप वाक्य स्वतः प्रमाण नहीं हैं। तदनुसार उक्त सूत्र में वस्तुतः 'अर्थो धर्मः' और 'चोदनालक्षणः' ये दो वाक्य हैं। इनमेंदूसरे वाक्य में आकांक्षा रह जाती है 'कः चोदनालक्षणः' इस आकांक्षा की शान्ति पहले वाक्य के 'धर्मः' पद का दूसरे वाक्य में 'अनुषङ्ग' करने से होती है। तस्मात् इस सूत्र में दो वाक्य हैं जिन से उन दोनों अर्थों की प्रतीति होती है। वाक्यभेद दोष वैदिक वाक्यों से भिन्न वाक्यों में लागू भी नहीं होता। अतः सूत्र अपने अभीष्ट अर्थ को समझाने में असमर्थ नहीं है।

जब सूत्र की इस प्रकार ऊहापोहपूर्वक व्याख्या भाष्यकार ने की है, तो भाष्यकार के ऊपर सूत्रों के अव्याख्यान का आरोप नहीं किया जा सकता। अतः तन्मूलक प्रत्याख्यानपक्षीय 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या युक्त नहीं है।

इसी श्लोक के 'सम्यक् सूत्रितमित्यपि' इस अन्तिम चरण से वार्त्तिककार ने भाष्यस्थ सूत्रव्याख्या का वह नमूना पेश किया है जहाँ भाष्यकार ने सूत्र में न्यूनता की तरह 'अधिकता' का आक्षेप कर समाधान किया है।

एक सूत्र है 'अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' (अ. २ पा १ सू. ४६ अधिकरण १४)। यह सूत्र 'यजुःपरिणामाधिकरण' में पठित है। प्रश्न है कि 'प्रश्लिष्टपाठो यजुः' यजुः के इस लक्षण के अनुसार प्रश्लिष्ट-पठित वाक्यरूप यजुः में अनेक यजुः रहते हैं। यह किस प्रकार समझा जाय कि 'इतना एक यजुः' है, क्योंकि एक क्रिया के लिये एक ही 'यजुः' स्वरूप मन्त्र का पाठ 'सकृत्कृते कृतार्थः स्यात्' इस सूत्र के अनुसार उचित है? इसी प्रश्न के समाधान के लिये महर्षि जैमिनि ने उक्त सूत्र लिखा है जिसका यह अर्थ है कि जो शब्दराशि 'एक' विशिष्ट अर्थ का बोधक हो, वह शब्दराशि एक 'वाक्य' है, यदि उस समूह को विभक्त कर देने से वे विभक्त अंश परस्पर साकांक्ष रहें। अर्थात् उन अंशों के सम्मिलित हुये बिना उक्त विशिष्टार्थ-बोध न हो सके।

उक्त सूत्र के दो अंश हैं (१) 'अर्थैक्यादेकं वाक्यम्' (जिसका अर्थ है एक विशिष्टार्थबोधक पद-समूह ही एक वाक्य है)। दूसरा अंश है (२) 'साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' (अर्थात् यदि उस शब्दराशि को दो या दो से अधिक भागों में बाँट दिया जाय तो वे सभी भाग परस्पर साकांक्ष ही रहें, उनमें से कोई भाग अन्य भागों के साहाय्य के बिना किसी एक विशिष्टार्थबोध का उत्पादन न कर सके)।

इस सूत्र की व्याख्या के अन्तिम अंश में भाष्यकार ने 'किमर्थमुभयं सूत्रितम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सूत्र में अधिक शब्द रखने का आरोप लगाते हुये लिखा है कि वाक्य के लक्षण के लिए सूत्र के कथित दोनों अंशों में से एक ही अंश पर्याप्त है। अतः सूत्र में दोनों अंशों का उपादान व्यर्थ है।

इस प्रकार सूत्र में आवश्यकता से अधिक शब्द रखने का आक्षेप कर भाष्यकार ने समाधान किया है कि वाक्य के लक्षणभूत उन दोनों अंशों का वाक्य में रहना आवश्यक है। यदि 'अर्थैक्यादेकं वाक्यम्' सूत्र का केवल यही स्वरूप रहे तो 'भर्गो वां विभाजतु, पूषा वां विभाजतु' (   ) इत्यादि विभिन्न वाक्य भी 'एक वाक्य' हो जायगें, क्योंकि यह सम्पूर्ण शब्दराशि 'विभजन' स्वरूप एक ही 'अर्थ' को प्रकाशित करती है। सूत्र में 'साकांक्षं चेत्' इस अंश के रहने से विभिन्न वाक्यों में एकवाक्यता की एक आपत्ति मिट जाती है, क्योंकि वे विभिन्न वाक्य परस्पर साकांक्ष नहीं हैं।

यदि 'साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' केवल इतने ही अंश को 'एक वाक्य' का लक्षण मानें तो—

"स्योनं ते सदनं कृणोमि, घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि,
तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणाम्मेध सुमनस्यमानः।"

यह सम्पूर्ण अंश एक वाक्य कहलायेगा। क्योंकि 'स्योनं' से 'कल्पयामि' तक अंश को यदि अलग कर लेते हैं तो 'तस्मिन् सीद' वाला अंश उक्त पहले अंश से साकांक्ष रहता है जिस लिए कि यह वाक्य 'तत्' शब्द से आरम्भ हुआ है। किन्तु उक्त शब्दराशि के उक्त विभिन्न दोनों अंश विभिन्न अर्थों का प्रकाश करते हैं। अतः उक्त समग्र शब्दराशि एक वाक्य नहीं है।

भाष्य में सूत्र की इस प्रकार की विशिष्ट व्याख्या के रहते हुए भाष्यकार के ऊपर सूत्रों के अव्याख्यान का आरोप नहीं किया जा सकता। अतः भाष्यकार के ऊपर सूत्र के अव्याख्यानमूलक 'लोके' इत्यादि भाष्य की 'प्रत्याख्यान'-पक्षीय व्याख्या युक्त नहीं है ॥ ४१ ॥

सूत्रे चाऽगमकत्वादि प्रत्याख्याने विरुध्यते।
न चोपायानभिज्ञेन शक्योपेयावधारणा ॥ ४२ ॥

भाष्यकार ने कुछ सूत्रों के ऊपर 'अगमकत्व' का अर्थात् प्रकृतार्थ के अज्ञापकत्व का आक्षेप कर समाधान भी किया है। अतः भाष्यकार के ऊपर सूत्रों के अव्याख्यान का आक्षेप नहीं किया जा सकता। अतः तन्मूलक प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्या सङ्गत नहीं है।

उदाहरण के लिए 'विशये वा प्रायदर्शनात्' (अ० २ पा० ३ सू० १६) इस सूत्र के भाष्य को लिया जा सकता है। इस सूत्र के भाष्य में पूर्वपक्ष है कि यह सूत्र

'अगमक' है, क्योंकि यह सूत्रस्वरूप वाक्य 'असम्पूर्ण' है। सभी सूत्रों से किसी न किसी वेदवाक्य का ही विचार किया जाता है। इस सूत्र में इस विषय का भी कोई सङ्केत नहीं है। अथवा कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिन से वेदार्थ-ज्ञान में सहायक विषयों का विवेचन होता है जिसके लिये सूत्र में प्रतिज्ञात विषय का उल्लेख रहता है। प्रकृत सूत्र में 'प्रायदर्शनात्' यह केवल हेतुवाक्य है। 'विशये' यह पद संशयस्वरूप स्थिति का बोधक है। तदनुसार 'विशये' शब्द का अर्थ है 'संशये सति'। किन्तु साधन है न्यायप्रयोग। न्यायप्रयोग में प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग पहले एवं हेतुवाक्य का प्रयोग उसके बाद होता है। इस सूत्र में तो प्रतिज्ञावाक्य है ही नहीं। तो फिर 'विशये' अर्थात् संशय की स्थिति में 'प्रायदर्शनात्' इस हेतु से किस साध्य का साधन होगा ? तस्मात् यह सूत्र 'अगमक' अर्थात् अभीष्ट अर्थ के साधन में असमर्थ है।

इस 'अगमकत्व' के आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि 'वत्सलभेत' इस वाक्य से विहित वत्स के 'आलम्भन' के प्रसङ्ग में संशय होता है कि उक्त वाक्य से विहित 'आलभेत' क्रिया से कोई स्वतन्त्र याग अभीष्ट है ? अथवा आलम्भन मात्र इष्ट है ? इसी 'विशय' में अर्थात् 'संशय' की स्थिति में प्रतिज्ञा की गई है कि वत्स का प्रकृत आलम्भन स्वतन्त्र याग स्वरूप नहीं है किन्तु संस्कार स्वरूप ही है। इसी प्रतिज्ञातार्थ का साधक हेतुवाक्य है 'प्रायदर्शनात्', अर्थात् 'वत्समालभेत' यह वाक्य उन्हीं वाक्यों के बीच में पठित है जिन वाक्यों से अन्य संस्कार क्रियायें पठित हैं।

किन्तु 'प्रायदर्शन' अर्थात् सदृशक्रियाओं के बीच में पाठ स्वतः प्रमाण नहीं है, किन्तु न्यायतः प्राप्त विषयों को 'प्रायदर्शनादि' से बलमात्र मिलता है। अतः 'वत्समालभेत' इस वाक्य से विहित वत्सालम्भन 'वायव्यं श्वेतछागलमालभेत' इत्यादि वाक्यों से विहित स्वतन्त्र यागस्वरूप नहीं है, जिसमें छागादि पशुओं का वधस्वरूप आलम्भन होता है। किन्तु यह वत्सालम्भन वत्स के स्पर्शरूप आलम्भन संस्कार का ही बोधक है। किन्तु इसके लिए प्रबल प्रमाण चाहिए ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने लिखा है कि वायव्यादि वाक्यों में देवता और द्रव्य का स्पष्ट उल्लेख है। अतः वायुदेवतोद्देश्यक यह छागालम्भनस्वरूप क्रिया अवश्य ही स्वतन्त्र याग-स्वरूप है, क्योंकि देवतोद्देश्यक द्रव्य का त्याग ही याग है। छागादिप्राणिस्वरूप द्रव्यों का सम्बन्ध अग्नि के द्वारा विना छाग-वध के सम्भव नहीं है। इस श्रुतार्थापत्ति के बल से छागादि पशुओं का उस याग में वध होता है।

'वत्समालभेत' यह वाक्य गोदोहन-प्रकरण का है, इसमें देवता का भी कोई उल्लेख नहीं है। गाय के पास बछड़े को ले जाने से गाय दूध सुभीते के साथ देती है। अतः बछड़े को छू कर गाय के पास ले जाने का ही निर्देश उक्त वाक्य से हुआ है। 'आलभेत' प्रधानतः 'स्पर्श' का ही बोधक है। तस्मात् वत्स का उक्त स्पर्शस्वरूप आलम्भन 'संस्कार' स्वरूप ही है, स्वतन्त्र यागस्वरूप नहीं, जिसमें

बछड़े का बधस्वरूप आलम्भन करना पड़े। इस प्रकार न्याय-प्राप्त अर्थ का ज्ञापन 'प्रायोदर्शन' स्वरूप हेतु से हो सकता है। इस प्रकार भाष्यकार के द्वारा सूत्र की इस प्रकार की व्याख्या के रहते हुए भाष्यकार के ऊपर सूत्रों के अव्याख्यान का आरोप नहीं किया जा सकता। अतः तन्मूलक प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्या असङ्गत है।

नान्यतो वेदविद्भ्यश्च सूत्रवृत्तिक्रियेष्यते।

(यह आक्षेप हो सकता है कि सूत्रस्वरूप उपाय को छोड़कर किसी दूसरे उपाय से ही वेदार्थ-विषयक ज्ञान का सम्पादन कर लेंगे ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि) वेदार्थ-विषयक ज्ञान से युक्त पुरुषों को छोड़कर अन्य पुरुषों के लिए सूत्रों की रचना नहीं हुई है। अर्थात् वेदार्थ का सम्यक् ज्ञान सूत्रों के बिना सम्भव ही नहीं है। ऐसा यदि संभव होता तो सूत्रों की रचना ही नहीं होती।

कहने का तात्पर्य है कि प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्यातागण भी सूत्रों की रचना को व्यर्थ नहीं कहते। वे केवल शाबरभाष्य को सूत्रों की व्याख्या नहीं मानते; वेद-वाक्यों की व्याख्या मानते हैं। यदि निश्चित हो जाय कि वेदार्थ-ज्ञान को छोड़कर सूत्ररचना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है तो प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्याताओं सहित सूत्ररचना को सार्थक मानने वालों के लिए यह स्वीकार करने के सिवा कोई रास्ता नहीं रह जाता है कि वेदार्थ-विषयक विचारात्मक विशेषज्ञान सूत्रों के बिना संभव ही नहीं है। तस्मात् उक्त आक्षेप व्यर्थ है।

प्रत्याख्यानस्य हेतुश्च पदार्थानां प्रसिद्धता ॥ ४३ ॥
योक्ता सा वेदवाक्यानां तुल्यार्थत्वान्निवारयेत्।

(प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्याताओं ने भाष्यकार के द्वारा सूत्रों की व्याख्या न करने में सूत्रों के पदों की प्रसिद्धार्थकता को हेतु माना है। इसी पक्ष का अनुवाद श्लोक ४४ के उत्तरार्द्ध से और खण्डन श्लोक ४५ के पूर्वार्ध से हुआ है।)

वार्त्तिककार का अभिप्राय है कि सूत्रघटक पदों के प्रसिद्धार्थक होने के कारण ही यदि सूत्रों की व्याख्या का 'प्रत्याख्यान' भाष्यकार के द्वारा स्वीकार किया जाय तो फिर वेदवाक्यों की व्याख्या का प्रत्याख्यान भी प्राप्त हो जायगा, क्योंकि वेद-वाक्यों के पद भी प्रसिद्धार्थक ही हैं। किन्तु वेदवाक्यों की व्याख्या का प्रत्याख्यान तो 'प्रत्याख्यान'-पक्षीय व्याख्या स्वीकार करनेवालों को भी इष्ट नहीं है।

वाक्यार्थे तत्र सन्देहाद् व्याख्यानं चेत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

(पू० प०) वेदों के पद यद्यपि प्रसिद्धार्थक हैं, किन्तु वाक्य और पद दोनों के भिन्न होने से पदों के अर्थों में किसी सन्देह के न रहने पर भी वाक्यार्थ के सम्बन्ध में सन्देह का गुञ्जाइश है। उसी सन्देह को मिटाने के लिए भाष्यकार ने वेदवाक्यों की व्याख्या की है।

सूत्रेष्वपि समानत्वात् प्रत्याख्यानं न युज्यते ।
न व्याख्यातव्यमित्येवं प्रत्याख्याने च सिध्यति ॥ ४५ ॥

(सि० प०) सूत्रों के बारे में भी यह कहने का अवकाश है कि सूत्रों के पद यद्यपि प्रसिद्धार्थक हैं, तथापि सूत्रस्वरूप वाक्य के अर्थ में सन्देह हो सकता है। उस सन्देह को मिटाने के लिए सूत्रों का व्याख्यान आवश्यक है। अतः सूत्रों के व्याख्यान का प्रत्याख्यान युक्त नहीं है। अतः 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को सूत्रों के व्याख्यान का प्रत्याख्यानपरक मानना अनुचित है।

दूसरी बात यह भी है कि भाष्यकार को अगर सूत्रों की व्याख्या अनभिप्रेत थी तो फिर सीधा यही लिखते कि 'सूत्रं न व्याख्यातव्यम्', यह लिखने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि 'नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः'। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रों की दुष्ट व्याख्या का ही निराकरण भाष्यकार को इष्ट है। सूत्रों की निर्दुष्ट व्याख्या का खण्डन उन्हें अभिप्रेत नहीं है। अत एव

दुष्टव्याख्यानिषेधेन तदपेता न वार्यते ।

फलतः सूत्रों के दुष्टव्याख्यान के निषेध से सूत्रों की निर्दुष्ट व्याख्या का निषेध नहीं होता।

परिसंख्या-पक्ष में 'लोके' इत्यादि भाष्य की योजना

अस्य दृष्टविरुद्धत्वात् फल्गुत्वाच्चापि पूर्वयोः ॥ ४६ ॥
मध्यमे चातिदौर्जन्यात् परिसंख्यैव युज्यते ।

'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को लगानेवाले सर्वव्याख्यादि जिन छः पक्षों का उल्लेख श्लोक २७ में किया गया है, उसमें इस प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्या के विरोध में सूत्रों की व्याख्या करनेवाली भाष्य की उक्त पंक्तियाँ ही खड़ी हैं जिन्हें अभी-अभी दिखला चुके हैं। अतः यह प्रत्याख्यान-पक्षीय व्याख्या 'दृष्टविरुद्ध' होने के कारण ही त्याज्य है। इससे पहले निरूपित 'सर्वव्याख्या' और उपलम्भपक्षीय व्याख्या दोनों ही 'मन्दफल' है, क्योंकि 'सर्वव्याख्या' केवल इसलिये है कि 'सम्भव' होने पर प्रसिद्ध अर्थों को ही लेना चाहिये एवं अध्याहारादि का वर्जन करना चाहिये इस अर्थ में 'लोके' इत्यादि भाष्य को लगावे। किन्तु यह विषय तो अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसके लिए भाष्यसन्दर्भ का लिखना व्यर्थ जैसा है। दूसरे 'उपालम्भ' पक्ष में सूत्र के 'अथ' और 'अतः' इन दोनों शब्दों को एक 'अथातः' पद मानकर उसे 'आनन्तर्यार्थक' स्वीकार कर 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र की व्याख्या करनेवाले आचार्य भवदास के मत का खण्डन करना ही 'लोके' इत्यादि भाष्य का प्रयोजन बतलाना 'उपालम्भ'-पक्षीय व्याख्या का उद्देश्य है। प्रथमतः परमत खण्डन ऐसा कोई बड़ा उद्देश्य नहीं है जिसके लिए भाष्य की प्रथम पंक्ति ही लिखी जाय। दूसरी बात यह भी है कि परमतखण्डन करनेवालों के ऊपर अतिदुर्जनता का आरोप भी लगता है। अतः

'उपालम्भ'-पक्षीय व्याख्या तो अतिनिन्दनीय है। अतः 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ की परिसंख्या-पक्षीय व्याख्या ही सङ्गत है, क्योंकि 'दुर्न्याय' के द्वारा वेदवाक्यों के अपव्याख्यान का निराकरण होता है। यह काम 'परिसंख्या'-पक्ष को स्वीकार किये विना सम्भव नहीं है। इस परिसंख्या को समझाने के लिए ही 'लोके' इत्यादि प्रथम भाष्यसन्दर्भ लिखा गया है। अतः परिसंख्या-पक्षीय भाष्य की व्याख्या ही महान् प्रयोजन का सम्पादक होने के कारण युक्त है।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध से लेकर ५० वें श्लोक के 'नेयम्' पद पर्यन्त के ग्रन्थ से परिसंख्या-पक्ष के विषय और स्वरूप का उपपादन किया गया है।

वैदिकं जैमिनीयं च यत्र वाक्यं विरुध्यते ॥ ४७ ॥
यथाश्रुतगृहीतेऽर्थे तत्रैवमुपविद्यते ।
अध्याहारादिभिः सूत्रं वैदिकं तु यथाश्रुतम् ॥ ४८ ॥
नेयम्,

पदों और सूत्रों के यथाश्रुत अर्थ के लेने पर जहाँ सूत्रों में और वैदिक वाक्यों में 'विरोध' हो वहीं वैदिक वाक्यों की यथाश्रुत पदों के अनुसार व्याख्या करनी चाहिये एवं सूत्रों के पदों में अध्याहारादि की कल्पना कर वेदानुयायी व्याख्यान करना चाहिये।

विरोधेऽन्योन्यस्य वैदिकानां भवन्तु ते ।
यथा धर्मावबोधस्य प्रमाणं वैदिकं वचः ॥ ४९ ॥

(पू० प०) किन्तु कहीं-कहीं तो सूत्रों के बल पर ही वैदिक वाक्यों में लक्षणा देखी जाती है। जैसे कि—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (३।२।२) इस सूत्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने 'ऋक्' शब्द को लक्षणावृत्ति के द्वारा वेदसामान्यपरक माना है। इस आक्षेप का समाधान यह कहा जा सकता है कि उक्त स्थल में सूत्रविरोध के कारण ऋक् शब्द के मुख्यार्थ का त्याग नहीं हुआ है। किन्तु वैदिक उपक्रम वाक्य से ऋक्-शब्दघटित वैदिक ही उपसंहार वाक्य के विरोध के कारण ही वैदिक ऋगादि पदों में लक्षणा का आश्रयण हुआ है। अतः जहाँ वेदवाक्यों में ही परस्पर विरोध उत्पन्न हो वहाँ वैदिक होने पर भी दुर्बल पदों में लक्षणा आदि का आश्रयण भले ही करना पड़े, किन्तु जहाँ सूत्र और वेद में विरोध होगा वहाँ सूत्र में ही लक्षणा-अध्याहारादि का अवलम्बन कर सूत्रों की व्याख्या उचित होगी एवं वेदवाक्यों की व्याख्या अध्याहारादि के विना यथावत् करनी चाहिये।

तदर्थनिर्णये हेतुर्जैमिनीयं तथैव नः ।
वाक्यसामर्थ्यतुल्यत्वात् तथा पदतदर्थयोः ॥ ५० ॥

अध्याहारादिभिर्मुक्ता व्याख्या सर्वत्र युज्यते ।
असम्भवादवश्यं या विरोधेऽन्यतरस्य तु ॥ ५१ ॥
अन्याय्यकल्पना सापि विकल्पेन प्रसज्यते ।

(पू० प०) प्रधान हैं वेदवाक्य और गौण हैं सूत्र । यह मानी हुई बात है कि प्रधान के साथ विरोध होने पर गौण को दबना ही पड़ता है । अतः वेदवाक्य का विरोध रहने पर सूत्रों को व्याख्या इस प्रकार अध्याहारादि के द्वारा करनी चाहिये जिससे वेदवाक्य का विरोध न हो । किन्तु यह बात भी अत्यन्त प्रसिद्ध ही है । इसके लिए 'परिसंख्या' पक्ष का अवलम्बन कर 'लोके' इत्यादि भाष्य की रचना व्यर्थ-सी हो है । इस आक्षेप का समाधान यह है कि यह आक्षेप यद्यपि ठीक-सा लगता है किन्तु न्यायाभास के अवलम्बन से या सूत्रकार के प्रति अतिश्रद्धा के कारण श्रोताओं को यह भ्रान्ति हो सकती है कि जिस प्रकार धर्म को समझने में वैदिक वाक्य स्वतः प्रमाण हैं, उसी प्रकार वेदार्थ-निर्णय में हम लोगों के लिए सूत्र भी स्वतः प्रमाण हैं । सूत्रों में और वेदवाक्यों में और कोई विशेष अन्तर नहीं है जिससे यह निर्णय किया जाय कि सूत्रों की व्याख्या अध्याहारादि के द्वारा भी हो एवं वैदिक वाक्यों की व्याख्या अध्याहारादि से सर्वथा अछूती रहे । अतः जिस प्रकार वेदवाक्यों की व्याख्या में अध्याहारादि का अवलम्बन अनुचित है, उसी प्रकार सूत्रों के व्याख्यान में भी अध्याहारादि का अवलम्बन अनुचित है ।

असम्भवादवश्यम्.... ....विकल्पेन प्रसज्यते ।

किन्तु यदि कहीं वेदवाक्य और जैमिनीय सूत्र दोनों के यथाश्रुत अर्थों का ग्रहण परस्पर विरोध के कारण सम्भव न हो वहाँ तो सूत्रों की व्याख्या अध्याहारादि के आश्रयण से और वेद की व्याख्या यथाश्रुतार्थ के अनुकूल करनी चाहिये, क्योंकि वेद-वाक्य प्रधान हैं एवं सूत्र गौण हैं । प्रधान के अनुसार ही गौण का चलना उचित है । इस आक्षेप का यह समाधान है कि सूत्रों और वेदवाक्यों में परस्पर विरोध के उपस्थित होने पर एक यथाश्रुतार्थ में अन्याय्यत्व की कल्पना कर दूसरे के यथाश्रुतार्थ में न्याय्यत्व की कल्पना यद्यपि अवश्य होगी किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि उक्त अन्याय्यत्व की कल्पना केवल सूत्रार्थ में ही हो वेदार्थ में नहीं । फलतः दोनों में ही विकल्प से अन्याय्यत्व की कल्पना हो सकती है । सूत्रों और वेदवाक्यों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही समान रूप से 'वाक्य' हैं ।

प्राथम्येनावरुद्धत्वादुपायवशतोऽथ वा ॥ ५२ ॥
यथाश्रुतेन सूत्रेण न्याय्यां बाधेत चोदनाम् ।

अथवा सूत्र वेदार्थज्ञान के उपाय हैं । अतः सूत्र प्रथमोपस्थित हैं । वेदवाक्यों की उपस्थिति उसके पीछे होती है । सूत्रों की उपस्थिति के समय उनके विरोधी वेदवाक्य उपस्थित नहीं रहते । अतः सूत्र और वेदवाक्य दोनों में विरोध ही उपस्थित

नहीं रहते। इसलिये सूत्रों की यथाश्रुतार्थ व्याख्या में कोई बाधा नहीं है। यदि वेदवाक्य की व्याख्या के समय सूत्रों के यथाश्रुतार्थ के अनुसार विरोध उपस्थित हो तो फिर सूत्रों के द्वारा व्याख्येय विधिवाक्य-स्वरूप न्याय्य वेदवाक्य ही सूत्र का अनुयायी बनकर बाधित हो जायगा। अतः 'परिसंख्या' के अनुसार ही 'लोके' इत्यादि भाष्य की व्याख्या उचित है।

तेन वेदाविरुद्धस्य 'सति सम्भव' इत्ययम् ॥ ५३ ॥
विधीयतेऽर्थः, शेषं तु यथाप्राप्तमनूद्यते।

'शब्दों के लोकप्रसिद्ध अर्थों का ही ग्रहण करना चाहिये। अध्याहार-परिभाषादि का अवलम्बन यथासम्भव नहीं करना चाहिये' ये सभी बातें अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध हैं। सुतराम् 'लोके' इत्यादि भाष्य से उन अर्थों का अनुवाद भर किया गया है। 'लोके' इत्यादि वाक्य की विधायकता केवल इसी अंश में है कि 'सूत्रों के लोकप्रसिद्ध अर्थों का ही ग्रहण करना, अथवा अध्याहार-परिभाषा आदि का परिवर्ज्जन करना–सो भी वेदवाक्यों का अविरोध रहने पर ही, वेदवाक्यों के विरोध के रहने पर नहीं।

'लोके' इत्यादि भाष्यस्वरूप विधिवाक्य 'परिसंख्या' विधि कैसे है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'सम्भव रहने पर ही अध्याहारादि का वर्जन करना चाहिये' इस वैध अर्थ को 'सम्भव न रहने पर सूत्रों में अध्याहार अथवा परिभाषादि का वर्ज्जन नहीं करना चाहिये' इस निषेध के द्वारा कहा गया है। अतः 'लोके' इत्यादि भाष्य 'परिसंख्या विधि' स्वरूप है, क्योंकि निषेध मुख से विधान करने वाला वाक्य ही 'परिसंख्या' विधि है।

'लोके' इत्यादि भाष्य की परिसंख्या-पक्षीय व्याख्या का सारमर्म यह है कि उक्त भाष्यसन्दर्भ से मुख्यतः यही प्रतिपादन करना इष्ट है कि 'सम्भव होने पर सूत्रों के पदों को लोकप्रसिद्ध अर्थों में ही लेना चाहिये' इस अर्थ के बोधक 'तानि तदर्थान्येव' इस वाक्य के 'एव' शब्द से यह अर्थ निकलता है कि 'सम्भव न होने पर सूत्रों के अर्थों में लौकिकता या अध्याहारादि की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये', अर्थात् यथासम्भव वेदों का विरोध न होने पर सूत्रों के (लौकिक–लोकप्रसिद्ध) अर्थों को ही लेना चाहिये। अगर वेद-विरोध उपस्थित हो अर्थात् वेद-विरोध के कारण सूत्रों को लौकिकार्थपरक मानना संभव न हो तो उस विरोध को मिटाने के लिए अध्याहारादि की यदि अपेक्षा हो तो अध्याहारादि का अवलम्बन कर उस विरोध को मिटाना ही चाहिए। सुतराम् उक्त भाष्यसन्दर्भ का मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि 'असति संभवे तानि न तदर्थान्येवेत्यवगन्तव्यम्'। यह निष्पन्न वाक्य निषेधस्वरूप है, किन्तु जिस वाक्य में दो निषेधार्थक नञ् हों वह वाक्य विध्यर्थक हो जाता है। तदनुसार उक्त कल्पित निषेध वाक्य का फलितार्थ विधिस्वरूप ही भाष्य में 'सति संभवे' इत्यादि से दिखलाया गया है। 'सति संभवे' इत्यादि भाष्यग्रंथ 'असति सम्भवे' इत्यादि

कल्पित निषेध वाक्य के फलितार्थ का बोधक है। अतः उक्त वाक्य परिसंख्या विधि है। 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ इसी परिसंख्या को पुष्ट करता है। तदनुसार 'लोके' इत्यादि भाष्य का अक्षरार्थ निम्न क्रम से समझना चाहिए—

सूत्रों के जितने पद लोक में जिस अर्थ में प्रसिद्ध हों, उनमें अगर वेद-विरोध उपस्थित हो तो फिर प्रसिद्ध होने पर भी उन अर्थों को छोड़ देना चाहिए एवं अध्याहारादि का अवलम्बन कर सूत्रों के पदों का वेदाविरोधी अर्थ करना चाहिए।

शेषभाजां भवेल्लोप इत्यध्याहारकल्पना ॥ ५४ ॥

('लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के परिसंख्यावादी व्याख्याकार के अनुसार किन सूत्रों में अध्याहारादि का अवलम्बन भाष्यकार ने किया है ? इस प्रश्न का समाधान आगे ५९ वें श्लोक तक के सन्दर्भ में वार्तिककार ने किया है, क्योंकि यह परिसंख्या-पक्षीय व्याख्या इसी पर अवलम्बित है कि वेदवाक्यों का विरोध रहने पर सूत्र के पदों में भाष्यकार ने अध्याहारादि का प्रयोग खुल कर किया है।)

(१) अध्याहारमूलक सूत्र का व्याख्यान

अपि वा शेषभाजां स्यात् विशिष्टकारणत्वात्[1] (अ० ६ पा० ४ सू० ३) इस सूत्र में भाष्यकार ने 'लोपः' पद का अध्याहार किया है।

---

१. इस सूत्र के सिद्धान्त भाष्यग्रंथ में भाष्यकार ने लिखा है कि 'एवं प्राप्ते ब्रूमः'—शेषभाजां स्यात् 'लोपः' कुतः ? 'विशिष्टकारणत्वात्'। इस भाष्यग्रन्थ का तात्पर्य है कि प्रधान याग के बाद अवशिष्ट हवि रूप द्रव्य स्विष्टकृत, इडा, प्राशित्रप्रभृति कार्यों में प्रयुक्त होते हैं। इन सब कामों के लिए निर्दिष्ट द्रव्यों का यदि 'अपचार' अर्थात् विनाश हो जाय तो उन द्रव्यों के स्थान पर अन्य प्रतिनिधि हवि का ग्रहण होगा अथवा नहीं ? इस संशय में पूर्वपक्षवादी का कहना है कि 'अवश्य ही अन्य प्रतिनिधि द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इससे पहले के अधिकरण में यह सिद्धान्त किया जा चुका है कि यदि मुख्य हवि का अपचार हो जाय तो घृतादि प्रतिनिधि द्रव्यों के द्वारा कार्य-सम्पादन करना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार प्रकृत में भी स्विष्टकृत प्रभृति के लिए निर्दिष्ट शेषांश का भी अगर अपचार हो जाय तो वहाँ भी घृतादि प्रतिनिधि द्रव्यों से उन कार्यों का सम्पादन कर ही देना चाहिये। 'अन्यथा' पुण्य में बाधा होगी। इसी पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिए 'अपि वा' इत्यादि सिद्धान्त सूत्र लिखित है। अर्थात् अवत्त हवि नष्ट हो जाने पर 'शेषभागी' स्विष्टकृत प्रभृति का 'लोप' ही होगा। यह अर्थ 'शेषभाजाम्' शब्द के आगे और 'स्यात्' शब्द के पहले 'लोप' पद का अध्याहार करने पर ही सम्भव है। तस्मात् यह कहना ही गलत है कि भाष्यकार ने सम्यग् व्याख्यान के लिए अध्याहारादि का अवलम्बन किया ही नहीं है।

(परिसंख्या-पक्षीय व्याख्याताओं के भाष्य के 'अध्याहारादि' पद में प्रयुक्त 'आदि' पद से (१) अध्याहार (२) विप्रकर्ष (३) पदव्यवधि (४) सूत्रव्यवधान (५) सूत्रान्यथाकरण (६) वाक्यभेद और (७) गुणकल्पना ये सात अभिप्रेत हैं। इनमें अध्याहार के अनुसार व्याख्या का उदाहरण दे चुके हैं। क्रमशः और सभी का उदाहरण दे रहे हैं)।

(२) विप्रकर्ष के अवलम्बन से सूत्र का व्याख्यान

विप्रकर्षात् पशोश्चेति विभक्तिः परिणम्यते ॥

"पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् (अ० १२ पा० २ सूत्र० ३३) इस सूत्र के 'विप्रकर्षः' इस प्रथमान्त पद को 'विप्रकर्षात्' इस पञ्चम्यन्त पद में बदलकर एवं इसी सूत्र के 'विधानात्' इस पञ्चम्यन्त पद को 'विधानम्' इस प्रथमान्त में बदल कर भाष्यकार ने व्याख्या की है।

(३) पदव्यवधि का उदाहरण

पदेन व्यवधानं तु लोके संनियमादिति ॥ ५५ ॥

'लोके संनियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्' (अ० १ पा० १ सू० २६) भाष्यकार के मत से इस सूत्र के 'लोके' पद का सम्बन्ध 'संनिकर्ष' शब्द के साथ है, मध्य में यद्यपि 'संनियम' पद और 'प्रयोग' पद का व्यवधान है। इस प्रकार व्यवहित पदों के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करके भी भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या की है।

इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने बहुत ही उलट-फेर किया है। पहिला तो 'लोके' पद का अन्वय अव्यवहितोत्तरवर्त्ती 'संनियमात्' पद के साथ छोड़कर व्यवहित 'संनिकर्ष' शब्द के साथ किया है। दूसरा 'संनियमात्' इस पञ्चम्यन्त पद को 'संनियम' इस प्रथमान्त पद में परिणत किया है। (जिसे विभक्ति-विपरिणाम कहते हैं)। तीसरा 'संनिकर्ष' पद के साथ समस्त 'प्रयोग' पद को अलग (प्रयोगः) ऐसा प्रथमान्त पद माना है। फलतः भाष्यकार के मत से सूत्र का स्वरूप 'लोके संनिकर्षात् प्रयोगः संनियमः' इस प्रकार का होगा।

प्रश्न होता है कि लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्य भी पौरुषेय ही क्यों नहीं हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर है उक्त सूत्र। इस सूत्र के द्वारा महर्षि जैमिनि ने लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य इन दोनों में अन्तर दिखलाया है।

लौकिक वाक्य के विषय गवादि अर्थों में चक्षुरादि प्रमाणों का संनिकर्ष संभव है। चक्षुरादि प्रमाणों के द्वारा गवादि अर्थों को समझ कर ही उन अर्थों को समझाने वाले शब्दों का प्रयोग पुरुष करता है। अतः लौकिक वाक्य का प्रयोग नियमतः अन्य प्रमाणों से गृहीत अर्थों को समझाने के लिए ही होता है। अतः लौकिक शब्दों को उसके अर्थ को दूसरे प्रमाणों से जानने वाले पुरुष के द्वारा उच्चरित होना अनिवार्य है। वैदिक वाक्यों में सो बात नहीं है, क्योंकि वैदिक वाक्यों से जिन ज्योतिष्टोम, स्वर्ग प्रभृति अर्थों का प्रतिपादन होता है उन अर्थों की सिद्धि

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संभव नहीं है। "प्रयोग-विषयीभूत शब्दों के अर्थों को प्रमाणान्तर से ज्ञात होना ही चाहिये" लौकिक वाक्यों का यह न्याय वैदिक वाक्यों में नहीं लग सकता। तस्मात् लौकिक वाक्य की तरह वैदिक वाक्यों को पौरुषेय होना आवश्यक नहीं है ॥ ५५ ॥

(४) सूत्रव्यवधान के द्वारा सूत्रव्याख्या का उदाहरण

सूत्रेण व्यवधानं तु पानव्यापदि कल्पितम्।

पानव्यापदधिकरण (वमनाधिकरण अ० ३ पा० ४ अधि० १६ सू० ३२-३३) के 'पानव्यापच्च तद्वत्' (अ० ३ पा० ४ सू० ३८) इस पूर्वपक्ष सूत्र के 'तद्वत्' शब्द से 'वैदिकाश्वदाननिमित्तताधिकरण' के 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात् (३।४।३४) इस पूर्वपक्ष मे लौकिक पक्ष का परामर्श भाष्यकार ने किया है। यह सूत्र 'पानव्यापच्च तद्वत्' इस सूत्र से तीन सूत्र पहले है। भाष्यकार जब सूत्र-व्याख्यान के लिए इतना पूर्वापर का अनुसन्धान रखते हैं तो फिर सूत्र-व्याख्यान के लिए प्रयत्न नहीं किया है यह कहना साहस-मात्र है।[1]

---

१. इस सन्दर्भ के व्याख्यान मे जिन दो अधिकरणों की चर्चा आयी है, उन दोनों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। इनमें पहला है 'वैदिकाश्वदाननिमित्तताधिकरण' और दूसरा है 'पानव्यापदधिकरण'।

(१) वैदिकाश्वदाननिमित्तताधिकरण

मीमांसासूत्र के तीसरे अध्याय के चौथे पाद के २८ और २९ इन दो सूत्रों से इस अधिकरण की रचना होती है। यह अधिकरण उक्त पाद का १० वाँ अधिकरण है।

श्रुतिपाठ है 'वरुणो वा एतं गृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुः कपालान् निर्वपेत्' (तै० स० २।३।१२) अर्थात् जो व्यक्ति अश्वप्रतिग्रह का निमित्त होता है, वरुण का आक्रमण होता है (अर्थात् उसको जलोदर रोग होता है)। (उसके शमन के लिए) जितने भी अश्व के प्रतिग्रह का वह व्यक्ति निमित्त हो चार कपालों में संस्कृत उतने ही पुरोडाश का वह वरुण देवता के लिए 'निर्वाप करे।' उक्त श्रुति से उपदिष्ट यह 'यज्ञ' ही 'अश्वग्रह-निमित्तक इष्टि' कहलाता है।

यहाँ संशय होता है कि यह 'इष्टि' लौकिक अश्वप्रतिग्रह में करनी चाहिये अथवा वैदिक अश्वप्रतिग्रह में। कुछ यागों में जो अश्वदान की विधि है, तदनुसार अश्वदान वैदिक है। कोई यदि अपनी इच्छा मात्र से किसी को अश्व देता है, वह लौकिक अश्वदान है। उस संशय के उपस्थित होने पर पूर्वपक्षवादी 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्वैदिके न दोषः स्यात् (अ० ३ पा० ४ सू० २८) इस सूत्र के द्वारा अपना पक्ष उपस्थित करते हुये कहते हैं कि—'इष्टिः लौकिके' अर्थात् उक्त इष्टि लौकिक अश्वप्रतिग्रह के बाद ही प्रतिगृहीता को करना चाहिये, क्योंकि 'दोषात्' अर्थात् अश्वप्रतिग्रह में 'दोष' कहा गया है कि 'वरुणो वा एतं प्रतिगृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' इससे व्यक्त होता है कि अश्वप्रतिग्रह चूँकि जलोदर रोग का कारण है, अतः दुष्ट है। यदि

(५) अन्यथाकरण के अवलम्बन से सूत्र-व्याख्यान का उदाहरण

पशुसामान्यविध्यादौ सूत्रमेवान्यथा कृतम् ॥ ५६ ॥

'तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणा विशेषात्' (अ० ३ पा० ६ सू० १८ अधि० ७) इस पूर्वपक्ष सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ने 'अन्यथाकरण' के द्वारा अर्थात् सूत्र के अक्षरार्थक्रम को छोड़ कर की है।

विवादार्थ यह है कि ज्योतिष्टोम याग की 'अग्निष्टोम' नाम की 'संस्था' है, उसमें अग्नीषोमीय, सवनीय, और आनुबन्ध्य इन तीन पशुओं की आवश्यकता होती है। इसका विधान 'यो दीक्षितो अग्नीषोमीयं पशुमालभते' इत्यादि श्रुति-वाक्यों

यह कहें कि वैदिक अश्वप्रतिग्रह में भी यह दोष है, तो इसका यह उत्तर है कि 'वैदिके न दोषः' अर्थात् वैदिक अश्वप्रतिग्रह में यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि 'शास्त्रात्' अर्थात् वैदिक अश्वप्रतिग्रह शास्त्र से विहित है। शास्त्र से विहित क्रिया दोष का कारण नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि 'न केशरिणो ददाति' इस वाक्य में लौकिक अश्वप्रतिग्रह में स्पष्ट दोष कहा गया है। अतः लौकिक अश्वदान के स्थल में ही 'अश्वप्रतिग्रहेष्टि' करनी चाहिये। (पूर्वपक्ष)।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में महर्षि जैमिनि ने इस सिद्धान्त सूत्र की रचना की है 'अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्माद्यज्ञे प्रतीयते' (अ० ३ पा० ४ सू० २९)। 'अर्थवादो वा' अर्थात् कथित श्रुति से अश्वप्रतिग्रह में जो दोष कहा गया है वह 'अर्थवाद' मात्र है, क्योंकि 'अनुपपातात्' अर्थात् 'वरुणो वा एतं प्रतिगृह्णाति' इस वाक्य से कथित 'जलोदर' रोग लौकिक अश्वदान करने पर देखा नहीं जाता। अतः यही कहना पड़ेगा कि 'वैदिक अश्वदान' में ही अर्थात् यज्ञादि क्रियाओं की दक्षिणा रूप में जहाँ अश्वदान होता है, वहीं उक्त 'इष्टि' का अनुष्ठान करना चाहिये। इसीलिये सूत्र का 'तस्माद्यज्ञे प्रतीयते' यह वाक्य है।

यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि अर्थवादवाक्य से वेदविहित क्रियाओं में अनिष्ट-जनकता कैसे सूचित हो सकती है? इसके उत्तर में सिद्धान्तियों का कहना है कि उक्त इष्टि दोषशमन के लिए होती ही कहाँ है? उक्त अर्थवादवाक्य से यहाँ केवल 'सादृश्य' विवक्षित है। वारुणेष्टि केवल वेदविहित होने के कारण ही यहाँ कर्त्तव्य हो जाती है। इन दोनों का फलितार्थ यह हुआ कि जलोदर रोग से युक्त व्यक्ति के लिए उससे मुक्ति पाना जिस प्रकार श्रेयस्कर है, उसी प्रकार उक्त इष्टि का अनुष्ठान भी अश्वदान करनेवाले व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर है। अथवा अश्वदान वरुणग्रह के समान है। अतः 'वारुणेष्टि' जिस प्रकार जलोदर रोग से उद्धार करती है उसी प्रकार अश्वप्रतिग्रह-जनित अनिष्ट से भी उद्धार करती है। किं वा जलोदर रोग से ग्रसित व्यक्ति के लिए जिस प्रकार उससे उद्धृत होने का उपाय कर्त्तव्य है उसी प्रकार अश्वदान करने वाले के लिए भी उक्त इष्टि कर्त्तव्य है। तस्मात् वैदिक अश्वदान के स्थल में ही वारुणेष्टि का अनुष्ठान करना चाहिये।

से हुआ है। एवं उपाकरण, उपानयन, बन्धन, नियोजन, नयन, संज्ञपन और विशसन प्रभृति धर्म अग्नीषोमप्रणयन के बाद पठित हैं। इस से सन्देह पैदा होता है कि ये पशु-संस्कारक धर्म (१) साधारण रूप से अग्नीषोमीय प्रभृति तीनों पशुओं के हैं ? अथवा (२) केवल सवनीय पशु के लिए ? (३) किंवा सवनीय और अग्नीषोमीय इन्हीं दोनों के लिए अथवा (४) केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए ही अनुष्ठित होंगे।

इस सन्देह में किसी का समाधान है कि ये सभी धर्म साधारणतः अग्नीषोमीयादि सभी पशुओं के लिए अनुष्ठित होंगे, क्योंकि उन तीनों ही पशुओं से अग्नीषोमीय याग संपन्न होता है। इसी पक्ष के ऊपर कोई अन्य पूर्वपक्षवादी अपना दूसरा

---

(२) पानव्यापदधिकरण अथवा वमनाधिकरण

श्रुति में उपदेश है कि 'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः' अर्थात् 'सोमवामी' व्यक्ति सोम और इन्द्र देवताओं के उद्देश से श्यामाक से बनाये चरु का उत्सर्ग करे। यही चरु 'सोमवामिचरु' कहलाता है। सोमपान के बाद अगर किसी सोमपायी को वमन हो जाय तो उक्त देवताओं के उद्देश से वह व्यक्ति उक्त चरु का निर्वाप करे।

यहाँ भी सन्देह होता है कि लौकिक सोमपान के बाद वमन के लिए उक्त निर्देश है अथवा वैदिक सोमपान के बाद होने वाले वमन के लिए ? इसी संशय की पूर्वकोटि का अवलम्बन करने वाले पूर्वपक्षी का अभिमत 'पानव्यापच्च तद्वत्' (अ० ३ पा० ४ सू० ३८) इस सूत्र से उपपादित हुआ है। 'तद्वत्' अर्थात् अश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरण के पूर्वपक्ष की तरह यहाँ भी लौकिक सोमपान के बाद वमन करने से ही उक्त चरु का निर्वाप प्राप्त है। तस्मात् 'पानव्यापत्' अर्थात् सोमपान के बाद वमनस्वरूप 'व्यापत्' (विपत्ति) भी 'तद्वत्' अर्थात् अश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरण के पूर्वपक्ष की तरह लौकिक सोमपान के बाद प्राप्त वमनरूप ही समझना चाहिये।

इसी पूर्वपक्ष के समाधान में महर्षि जैमिनि ने 'दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् (अ० ३ पा० ४ सू० ३३) इस सूत्र की रचना की है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि 'लौकिके न दोषः स्यात्' अर्थात् लौकिक सोमपान के बाद होनेवाले 'वमन' से दोष नहीं हो सकता, क्योंकि 'अर्थात्'—लौकिक सोमपान 'अर्थ' ही–प्रयोजन ही वमन करना है जिससे कि 'धातुसाम्य' हो। 'अतः वैदिके स्यात्' अर्थात् सोमवामि चरु का निर्वाप वैदिक सोमपान के बाद वमनस्वरूप 'व्यापत्' अर्थात् विपत्ति में ही करना चाहिये।

प्रकृत प्रसङ्ग के द्वारा वार्तिककार का कहना है कि भाष्यकार ने 'पानव्यापच्च तद्वत्' इस सूत्र के व्याख्यान में उसके पहले के 'दोषात्त्विष्टिः' इत्यादि सूत्र के 'लौकिक' शब्दार्थ का परामर्श 'तद्वत्'-घटक 'तत्' शब्द से किया है। इस प्रकार 'व्यवहितसूत्र' का अनुसन्धान करके भी जब भाष्यकार सूत्र के व्याख्यान में तत्पर हैं, तो उनके ऊपर सूत्र के अव्याख्यान का आरोप नहीं किया जा सकता।

मत रखते हैं जिसका उल्लेख 'तुल्यः' इत्यादि प्रकृत सूत्र से हुआ है। यहाँ ध्यान देना है कि इस सूत्र के अक्षरार्थ के अनुसार यह सूत्र पहले पूर्वपक्षवादी के मत का पोषक मालूम पड़ता हैं जिनके मत से उपाकरणादि सभी क्रियायें अग्नीषोमीय प्रभृति तीनों ही पशुओं के लिए समान रूप से होनी चाहिए। किन्तु ऐसा सूत्र मान लेने पर आगे का 'स्थानाच्च पूर्वस्य (अ० ३ पा० ६ सू० १९) इस सूत्र का विरोध होता है, क्योंकि इस सूत्र से यह पक्ष उपस्थित किया गया है कि उपाकरणादि-संस्कार अग्नीषोमीय पशु के लिए भी हैं। अतः यह आवश्यक है कि इसके पहले 'तुल्यः' इत्यादि सूत्र को अग्नीषोमीय पशु से भिन्न सवनीयादि किसी पशु में उपाकरणादि संस्कारों का विधायक मानें। किन्तु अक्षरार्थ-क्रम स्वीकार करने पर सो संभव नहीं है। अतः भाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या अक्षरार्थक्रम को छोड़कर स्वतन्त्र रीति से की है जिससे 'तुल्यः' यह सूत्र केवल सवनीय पशु में उपाकरणादि संस्कारस्वरूप धर्मों का विधायक हो सके। तदनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी :—

सर्वेषां (पशूनाम्) 'पशुविधिः' पशुसम्बन्धिसंस्कारः 'तुल्यः' स्यात् 'प्रकरणाविशेषात्' सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः समाम्नाताः (प्रकरणस्य अविशेषो भवेत् किन्तु विशेषोऽस्ति तस्मात् न सर्वेषामग्नीषोमीयादिपशूनां पशुविधिः तुल्यः किन्तु सवनीयस्यैव।

शाबर भाष्य के इस सन्दर्भ को देखने से प्रकृत विषय का स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है :—

सवनीयस्य एते धर्मा भवेयुः 'तुल्यः' सर्वेषां पशुविधिः स्यात्, यदि प्रकरणे विशेषो न भवेत्, भवति तु प्रकरणे विशेषः, सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः समाम्नाताः।

तस्मात् भाष्यकार के ऊपर सूत्रों की व्याख्या न करने का आरोप निराधार है॥ ५६॥

(६) वाक्यभेद-कल्पना के द्वारा सूत्र-व्याख्यान का उदाहरण

अग्नयश्च स्वकालत्वाद् वेयधर्मापयातनम्।

व्याख्यानं वाक्यभेदेन,

(इन तीन चरणों से एक ही सूत्र में विभिन्न वाक्यों की कल्पना के द्वारा भाष्यकार के द्वारा किये गये सूत्र-व्याख्यान का उदाहरण दिखाया गया है)।

'ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात्' (अ० ३ पा० ७ सू० ३९) इस सूत्र के पहले के अधिकरणों से यह निश्चय किया गया है कि ज्योतिष्टोम में स्वामी (यजमान) को लेकर १७ ऋत्विक् होते हैं। इस सूत्र के 'ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वात्' इस अंश से एक अधिकरण (अध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरण) की रचना भाष्यकार ने की है जिस अधिकरण का उक्त अंश पूर्वपक्ष का ज्ञापक है। एवं 'अग्नयश्च

स्वकालत्वात्' इस अंश से दूसरे (अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थताधिकरण) अधिकरण की रचना हुई है जिस अधिकरण के सिद्धान्त का वह अंश ज्ञापक है।

इस प्रकार एक ही सूत्र के कल्पित दो वाक्यों को भाष्यकार ने दो अधिकरणों में लगाया है।

इसी प्रकार 'अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मात्स्यात् प्रवृत्तत्वात् (अ० ९-४-४१) एवं 'अपनयो वार्थान्तरे विधानात् चरुपयोवत् (अ० ९ पा० ४ सू० ४३) इन दोनों सूत्रों में आपाततः ज्ञात होने वाली एकवाक्यता का भङ्गकर उन सूत्रों को दो सूत्र मानकर भाष्यकार ने व्याख्या की है।

(७) गुणकल्प-लक्षणा के अवलम्बन से सूत्र की व्याख्या का उदाहरण

गुणकल्पास्त्वमी कृताः ॥ ५७ ॥

औत्पत्तिकस्तु गव्यस्य तयोष्णिक्ककुभोरिति।
दर्शनाच्च विशेषस्य तथाभ्युदय इत्यपि ॥ ५८ ॥

निम्नलिखित स्थलों में भाष्यकार ने 'गुणकल्प' अर्थात् लक्षणास्वरूप गौणी-वृत्ति (अमुख्या वृत्ति) के द्वारा सूत्रों की व्याख्या की है।

(१) 'औत्पत्तिकस्तु' (१।१।५) सूत्र में प्रयुक्त 'उत्पत्ति' शब्द को 'स्वभाव' अर्थ में लक्षणा करके भाष्यकार ने व्याख्या की है।

(२) 'गव्यस्य च तदादिषु' (अ० २ पा० १ सू० १७) इस सूत्र में प्रयुक्त गव्य शब्द के मुख्यार्थ गोदुग्ध-गोघृतादि को छोड़कर 'गवामयन'-स्वरूप 'याग' का ग्रहण भाष्यकार ने लक्षणावृत्ति के द्वारा किया है। (गव्यमिति गवामयनं ब्रूमः गोसम्बन्ध-त्वात्—शाबरभाष्य)।

(३) 'उष्णिक्ककुभोश्चान्ते' दर्शनात् (अ० ५ पा० ३ सू० ६) इस सूत्र के 'उष्णिक्ककुभ' शब्द को तज्जन्य 'त्रिष्टुप्' छन्द में लाक्षणिक मानकर भाष्यकार ने व्याख्या की है।

(४) इसी प्रकार 'दर्शनाच्च विशेषस्य, तथाऽभ्युदये' इस स्थल में अभ्युदय शब्द को अभ्युदय के साधक द्वादशाह याग में लाक्षणिक मानकर भाष्यकार ने व्याख्या की है।

(५) 'लोके' इत्यादि भाष्य की 'स्तुति'-पक्षीय व्याख्या

सूत्रकारप्रशंसा वा लोक इत्यादिनोच्यते।
प्रसिद्धैरभिधानाद्धि न शिष्याः क्लेशिता यतः ॥ ५९ ॥

'लोके' इत्यादि सन्दर्भ लिखकर भाष्यकार ने सूत्रकार की प्रशंसा की है कि इस कठिन विषय को भी बिना अध्याहारादि के प्रसिद्ध शब्दों के द्वारा शिष्यों को समझाना महर्षि जैमिनि जैसे विद्वान् का ही काम है। अन्यथा शिष्यों को इस

विषय को समझने में बड़ा ही क्लेश होता। इस अवश्यप्राप्य क्लेश से शिष्यों को बचाने के कारण वे अवश्य ही 'प्रशंसा' के पात्र हैं। उनकी यही प्रशंसा 'लोके' इत्यादि भाष्य के द्वारा भाष्यकार ने की है।

किन्तु यह स्तुति-पक्षीय व्याख्या भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह कोई इतना बड़ा प्रयोजन नहीं है जिसके लिए भाष्य का प्रथम सन्दर्भ लिखा जाय।

(६) अथशब्द-दूषणपक्षीय 'लोके' इत्यादि भाष्य की व्याख्या

सर्वव्याख्या, उपालम्भ, प्रत्याख्यान, परिसंख्या और स्तुति इन पाँच पक्षों में से कोई पक्ष वार्त्तिककार को इष्ट नहीं है। इन व्याख्याओं में अरुचि का प्रतिपादन किया जा चुका है। 'लोके' इत्यादि भाष्य की 'अथशब्ददूषणपरक' व्याख्या ही सिद्धान्त पक्ष है।

'भवितव्यं तु तेन' इत्यादि ६० वें श्लोक से लेकर 'शक्तितोऽवयवश्चैव' इस ६४ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक के सन्दर्भ से 'अथशब्ददूषण'-परक व्याख्या का उपपादन किया गया है।

भवितव्यं तु तेनेति प्रागस्मादेकवाक्यता।
वेदाध्ययनवाक्याद्वा तेनाथेत्यस्य दूषणम् ॥ ६० ॥

इस पक्ष का अभिप्राय है कि 'लोके' इत्यादि प्रथम भाष्यग्रन्थ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र के 'अथ' शब्द की व्याख्या में ही लिखा गया है। अर्थात् 'भवितव्यन्तु तेन' इस भाष्यग्रन्थ से पूर्व 'न चेह किञ्चिद्वृत्तमुपलभ्यते' इतने पर्यन्त के भाष्यसन्दर्भ की एकवाक्यता से प्रकृत 'अथशब्ददूषण' स्वरूप पूर्वपक्ष का उपपादन किया गया है।

एवं अन्य रीति से भी इस पूर्वपक्ष के उपपादक ग्रन्थ की योजना संभव है जिसका उपपादन उपर्युक्त श्लोक के 'वेदाध्ययनवाक्याद्वा' इत्यादि उत्तरार्द्ध से हुआ है।

अर्थात् 'तत्तु वेदाध्ययनम्' इस वेदाध्ययन-वाक्य से पूर्व 'प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति' यहाँ तक के ग्रन्थों को भी 'अथशब्ददूषण' स्वरूप पूर्वपक्ष का उपपादक माना जा सकता है। उत्तरार्द्ध की इस व्याख्या के लिए पूर्वार्द्ध के 'प्राक्' शब्द का पाठ 'वेदाध्ययनवाक्याद्वा' श्लोक के इस तीसरे चरण के आगे कर देना चाहिये।

फलतः 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ सूत्र के 'अथ' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में ही लिखा गया है ॥ ६० ॥

६० वें श्लोक में भाष्यग्रन्थ की दो अवधियों से 'अथशब्ददूषण' स्वरूप पूर्वपक्ष के उपपादन का संकेत किया गया है। उनमें पहली अवधि के अनुसार भाष्य की योजना निम्नलिखित श्लोक से उपपादित हुई है।

प्रसिद्धार्थपदैः शक्यः सूत्रैर्वेदार्थनिर्णयः।
न च सोऽस्त्यथशब्दस्य विना ते पूर्वकर्मणा ॥ ६१ ॥
प्रसिद्धार्थं पदं युक्तं तच्च नास्तीति दूषणम्।

अर्थात् प्रसिद्ध पदों से युक्त सूत्रों से ही वेदार्थ का निर्णय संभव है। सूत्र का 'अथ' शब्द 'प्रसिद्ध' अर्थात् प्रसिद्धार्थक तभी हो सकता है जब कि उसके अर्थ आनन्तर्य का कोई कर्म प्रतियोगी रहे। प्रकृत में ऐसा कोई नहीं है। प्रसिद्धार्थक पद का प्रयोग ही उचित है। प्रकृत में सो नहीं है। अतः सूत्रकार का प्रकृत 'अथ' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है ॥ ६१½ ॥

प्रसिद्धोऽप्यथशब्दादेः किंपदार्थोऽत्र वर्ण्यते ॥ ६२ ॥

(पू० प०) सूत्र के 'अथ' शब्दादिक के अर्थ तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उसके लिये यह आडम्बर वृथा है। अतः अतिप्रसिद्ध 'अथ' शब्दादिक के अर्थों का वर्णन क्यों करते हैं, क्योंकि 'सर्वव्याख्यादि' के प्रसङ्ग में सभी व्याख्याताओं ने एक स्वर से कहा है कि 'यथासम्भव शब्दों के प्रसिद्ध अर्थों को ही लेना चाहिये' ॥ ६२ ॥

(१) प्रदर्शनार्थमित्येके (२) केचिज्ज्ञानार्थवाचिनः।
समुदायादवच्छिद्य भवदासेन कल्पितात् ॥ ६३ ॥
शक्तितोऽवयवं चैव वर्णयन्त्यष्टमादिवत्।
(३) न चात्र चोदनाव्याख्या गौरवं तत्र चोदितम् ॥ ६४ ॥
(४) यद्वाऽऽक्षेपो यथोक्तस्य वृत्ताभावादसम्भवात्।

(१) किसी आचार्य का कहना है कि भाष्य में 'अथ' जैसे अतिप्रसिद्ध पदों का अर्थ करना केवल अपने पाण्डित्य को दिखाना है।

(२) किसी दूसरे आचार्य का इस प्रसङ्ग में कहना है कि नाना अर्थों के वाचक 'अथ', 'अतः' प्रभृति नाना शब्दों के एकार्थक समुदाय से, जिस एकार्थक समुदाय की कल्पना आचार्य भवदास ने की थी (देखिये ३४ वें श्लोक की व्याख्या), खींचकर उस समुदायस्वरूप अवयवी के अवयवभूत केवल 'अथ' शब्द का 'अथातः शेषलक्षणाम्' इस अष्टमाध्याय के आनन्तर्यार्थक प्रथम सूत्र के दृष्टान्त से एवं अपनी और युक्तियों से आनन्तर्यार्थकत्व दिखाने के लिये ही भाष्यकार ने 'अथ', 'अतः' प्रभृति प्रसिद्ध शब्दों की व्याख्या की है।

(३) अथवा आगे भाष्य में कहा गया है कि 'इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च व्याख्येयाः इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत' अर्थात् वेद-वाक्यों की व्याख्या एवं सूत्रों के पदों की व्याख्या दोनों करने में गौरव बाधक है। अतः उन दोनों में से किसी एक ही काम को करना उचित है। प्रकृत 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से चोदनास्वरूप किसी विधायक वाक्य की व्याख्या नहीं करनी है। यदि इस से सूत्र की व्याख्या भी छोड़ दी जाय तो यह भाष्य 'निर्विषय' अर्थात् निरर्थक

हो जायगा। अतः 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को सूत्रस्थ 'अथ' शब्द की व्याख्या मानना ही उचित है।

(४) 'लोके' इत्यादि भाष्य से कहा गया है कि लोकप्रसिद्ध अर्थों का ही ग्रहण यथासम्भव करना चाहिये। प्रकृत सूत्र के 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ ही लोक में प्रसिद्ध है। किन्तु आनन्तर्य का प्रकृतोपयोगी कोई प्रतियोगी उपलब्ध नहीं होता है। अतः प्रकृत 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक नहीं है। इस आक्षेप के समाधान के लिये अत्यन्त प्रसिद्धार्थ 'अथ' शब्द का भी अर्थ भाष्यकार को करना पड़ा, क्योंकि 'अथ' शब्द के अर्थमूलक आक्षेप का समाधान 'अथ' शब्द के अर्थ करने से ही हो सकता है॥ ६४½ ॥

यदि लोकप्रसिद्धार्थग्रहणं क्रियते पदे॥ ६५ ॥
स नास्त्यत्राथशब्दस्येत्यध्याहारादिकल्पनम्।

(पू० प०) कह चुके हैं कि 'लोके' इत्यादि भाष्य 'अथशब्ददूषण' परक है। आक्षेपस्वरूप इस पक्ष का साक्षात् उपपादन 'तत्र लोकेऽयमथशब्दः' इत्यादि भाष्य-सन्दर्भ से हुआ है। 'लोके' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ तो उस भाष्य की भूमिका मात्र है। अर्थात् सूत्र के पदों से लोकप्रसिद्ध अर्थों का ही ग्रहण किया जाय तो फिर प्रकृत सूत्र में 'अथ' शब्द का उपादान संभव नहीं होगा, क्योंकि 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ ही लोक में प्रसिद्ध है। किन्तु आनन्तर्य का कोई प्रतियोगी चूंकि प्रकृत में उल्लिखित नहीं है अतः प्रकृत सूत्र में 'अथ' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है।

(सि० प०) इस आक्षेप के समाधान के लिये ही प्रकृत श्लोक का 'इत्यध्याहारादिकल्पनम्' यह अंश है। अर्थात् आवश्यक होने पर 'अध्याहारादि की कल्पना भी आवश्यक होती है'। प्रकृत में भी 'वेदाध्ययन' का अध्याहार कर काम चलाया जा सकता है। तदनुसार वेदाध्ययनान्तर्य' ही प्रकृत में 'अथ' शब्द का अर्थ है। तदनुकूल सूत्र का वाक्य 'वेदाध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' इस आकार का होगा॥६५½॥

वेदाध्ययनवृत्तत्वं स्नानस्योत्कर्षकल्पना॥ ६६ ॥
नाव्याख्यातेऽथशब्दार्थे ज्ञायते तेन वर्ण्यते।
अनर्थकेऽथ वान्यार्थे प्रसिद्धिर्बाध्यते ध्रुवम्॥ ६७ ॥
तस्माच्छ्रुतार्थसिद्ध्यर्थं वृत्तं किमपि गम्यते।

अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थ के बोधक 'अथ' शब्द की व्याख्या भाष्यकार ने क्यों की? इस प्रश्न का पाँचवाँ समाधान यह है कि 'लोके' इत्यादि सन्दर्भ से 'अथ' शब्द की व्याख्या भाष्यकार का मुख्य उद्देश्य नहीं है। किन्तु 'अथ' शब्द के व्याख्यान-क्रम में आये हुए आक्षेपों के समाधान-क्रम में (१) धर्मजिज्ञासा पहले वेदाध्ययन का वृत्तत्व (समाप्ति) और (२) समावर्त्तनस्नान का उत्कर्ष ये दोनों भी कहने योग्य की कोटि में आते हैं। इन दोनों को कहने के उद्देश्य से ही भाष्यकार ने 'अथ' शब्द की व्याख्या की है।

यदि 'अथ' शब्द की व्याख्या न करते, आवश्यकता से वशीभूत होकर सीधे ही 'वेदाध्ययनवृत्तत्व' और 'समावर्त्तनस्नान' के उत्कर्ष की व्याख्या करते तो वह असङ्गत हो जाता, क्योंकि स्वतन्त्र रूप से उन दोनों के व्याख्यान का कोई स्थान नहीं है। अतः 'अथ' शब्द की ही व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक न मानने पर दो ही गतियाँ हो सकती है (१) 'अथ' शब्द को अनर्थक मानें अथवा (२) आनन्तर्य से भिन्न ही कोई अप्रसिद्ध अर्थ 'अथ' शब्द का स्वीकार करें। इन दोनों ही पक्षों में 'लोकप्रसिद्धि' का वृथा त्याग स्वीकार करना पड़ता है। अतः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ का ही वाचक है। यही समाधान 'भवितव्यं तु तेन' से लेकर 'तत्तु वेदाध्ययनम्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ के द्वारा भाष्य में किया गया है ॥ ६७३ ॥

विशिष्टलिङ्गविज्ञानाद् विशिष्टे लिङ्गिनीक्षिते ॥ ६८ ॥

नैतदेवम्। अन्यस्यापि कर्म्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता प्रागपि च वेदाध्ययनात् (शा०भा०)

(आक्षेप) 'अथ' शब्द के अर्थ आनन्तर्य का प्रतियोगी वेदाध्ययन को कहा गया है, जिसका फलितार्थ 'वेदाध्ययनान्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' इस प्रकार का होता है। अर्थात् वेदाध्ययन के बाद धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। इसके ऊपर 'नैत-देवम्' इत्यादि पूर्वपक्ष-भाष्य के द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि यह कोई नियम नहीं है कि वेदाध्ययन के बाद ही धर्म की जिज्ञासा की जाय, क्योंकि वेदाध्ययन के पहले भी एवं इससे भिन्न अन्य क्रियाओं के बाद भी धर्म की जिज्ञासा हो सकती है। तस्मात् 'वेदाध्ययनानन्तरमेव धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' ऐसा नियम सङ्गत नहीं है। इसी आक्षेप के ऊपर ६८ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से यह 'प्रत्याक्षेप' किया गया है कि चूंकि धर्म केवल वेद से ही समझा जा सकता है, अतः धर्म की जिज्ञासा उसी को होगी जिसे वेद का ज्ञान होगा। इस प्रकार धर्मजिज्ञासा वेदाध्ययन का ज्ञापक 'लिङ्ग' है एवं वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासास्वरूप लिङ्ग का 'लिङ्गी' है। फलतः वेदाध्ययन साध्य है और धर्मजिज्ञासा उसका ज्ञापक हेतु। इससे यह अनुमान सुलभ होगा कि 'धर्मजिज्ञासा वेदाध्ययनपूर्विका, धर्मजिज्ञासात्वात्'। इस अनुमान से धर्मजिज्ञासा से पहले वेदाध्ययन की सूचना हो जायगी। इसके लिए सूत्र में 'अथ' शब्द का उपादान व्यर्थ है, क्योंकि शब्द के द्वारा उसी अर्थ को कहना उचित है जिसका लाभ अनुमानादि अन्य किसी भी प्रमाण से न हो सके। अतः 'नैतदेवम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया गया यह आक्षेप अयुक्त है कि 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन का वृत्तत्व नियमतः सूचित नहीं होता है ॥ ६८ ॥

सूत्रेणासम्भवं मत्वा नैतदित्यब्रवीत् परः।

उक्त प्रत्याक्षेप सही है। किन्तु अनुमान से सूचित होने वाले उस अर्थ की सूचना केवल 'अथ'-शब्दाघटित सूत्र से सम्भव नहीं है। अतः इस प्रयोजन के लिए जो समुदाय सूत्र में 'अथ' शब्द के उपादान का समर्थन करते हैं, उनके ऊपर यह आक्षेप है कि सूत्र में 'अथ' शब्द के उपादान से भी उक्त अर्थ की सूचना सम्भव नहीं है।

यदि प्रत्याक्षेपकारी अनुमान के द्वारा अभीष्ट की सिद्धि मानकर सूत्र में 'अथ' शब्द के प्रयोग को बिलकुल उड़ा ही देना चाहें तो फिर उक्त आक्षेपकारी को इससे बल ही मिलेगा ॥ ६९ क, ख ॥

आनन्तर्योपदेशेन तद्दृष्टार्थतयापि च ॥ ६९ ॥
वेदाध्ययनमाक्षिप्तं किमसूत्रितचोदना ॥

सूत्र में 'आनन्तर्य' अर्थ में ही 'अथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकृत में आनन्तर्य का प्रतियोगी वही हो सकता है जो दृष्ट उपकार के द्वारा धर्मजिज्ञासा का सहायक हो, क्योंकि दृष्टार्थकत्व के सम्भव रहने पर अदृष्टार्थकता का अवलम्बन उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रकृतसूत्रगत 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन का आक्षेप ही सर्वथा उचित है। अतः 'नैतदेवम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से किया गया असूत्रित चोदना का आक्षेप उचित नहीं है। (यही बात श्लोक के 'किम्' शब्द से ध्वनित होती है) ॥ ६९½ ॥

येन वृत्तेन जिज्ञासा विना नैवोपपद्यते ॥ ७० ॥
तदानन्तर्यमुक्तं हि दृष्टार्थमवकल्पते ॥

जिस क्रिया की समाप्ति के विना धर्मजिज्ञासा उपपन्न न हो उसी का आनन्तर्य सौत्र 'अथ' शब्द से कहा गया है। धर्मजिज्ञासा की इस अनुपपन्नता से ही यह ज्ञात होता है कि धर्मजिज्ञासा का वह कारण दृष्टार्थक है। कहने का तात्पर्य है कि धर्मजिज्ञासा का कारण ही उसका उपपादक है। जिस कारण से दृष्ट व्यापार के विना कार्य सम्भव न हो उस कारण को ही अदृष्टार्थक माना जाता है। वेदाध्ययन-स्वरूप कारण से वेदार्थज्ञानस्वरूप दृष्ट व्यापार के द्वारा ही धर्म की जिज्ञासा हो सकती है, अतः वेदाध्ययन दृष्टार्थक ही है अदृष्टार्थक नहीं ॥ ७०½ ॥

क्रियमाणा च जिज्ञासा नियमाद् यस्य कस्यचित् ॥ ७१ ॥
क्रियेतानन्तरैवेति व्यर्थं तदुपदेशनम् ॥

सभी क्रियायें किसी न किसी क्रिया के बाद ही होती हैं इस नियम के अनुसार धर्मजिज्ञासा भी किसी क्रिया के बाद ही होगी। किन्तु सामान्यतः प्राप्त इस क्रिया का उपदेश निरर्थक है। सूत्र के 'अथ' शब्द से जिस क्रिया के आनन्तर्य का उपदेश किया गया है उस विशेष क्रिया के साथ धर्मजिज्ञासा का सम्बन्ध और घनिष्ठ होना चाहिये। सम्बन्ध की यह घनिष्ठता दृष्ट द्वारा धर्मजिज्ञासा का सम्पादकत्व-रूप ही है ॥ ७१½ ॥

सङ्कल्पादिभिरप्येषा विना सत्यं न सिध्यति ॥ ७२ ॥
साधारण्यात्तु तेऽप्यत्र नोपदेश्याः कथञ्चन ।

यद्यपि यह ठीक है कि संकल्पादि के विना भी सिद्ध नहीं हो सकती। (संकल्पादि का आनन्तर्य भी धर्मजिज्ञासा में अवश्यंभावी है) अतः सुतराम् संकल्पादि का आनन्तर्य भी सूत्र के 'अथ' शब्द का अर्थ हो सकता है तथापि संकल्पादि चूंकि सभी क्रियाओं के साधारण कारण हैं, अतः साधारण बुद्धि से ही विना उपदेश के भी वे समझे जा सकते हैं, इसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है ॥ ७२½ ॥

तस्माद् धर्मबुभुत्सायामसाधारणकारणम् ॥ ७३ ॥
निर्वृत्तं सूत्रकारेष्टं तच्च नाध्ययनादृते ।

'तस्मात्' धर्मजिज्ञासा के असाधारणकारणीभूत क्रिया का आनन्तर्य ही 'अथ' शब्द के अर्थ आनन्तर्य का प्रतियोगी हो सकता है। वह क्रिया वेदाध्ययन को छोड़कर दूसरी नहीं हो सकती ॥ ७३½ ॥

'प्रागपि च वेदाध्ययनात्' इस आक्षेपभाष्य हे ऊपर प्रथम पुनरुक्ति दोष का उपपादन

अन्यस्यापीत्यनेनैव वेदपाठे प्रबाधिते ॥ ७४ ॥
प्रागपीति हि वक्तव्यं तत्राप्यन्यस्य सम्भवात् ।

'अन्यस्यापि कर्म्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता' (वेदाध्ययन से भिन्न दूसरे कर्म के बाद भी धर्म की जिज्ञासा हो सकती है) इस भाष्यग्रन्थ से ही वेदपाठ 'प्रबाधित' हो जाता है। धर्मजिज्ञासा से पहले वेदाध्ययन का नैयत्य दूर हो जाता है। फिर 'अन्यस्यापि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के बाद 'प्रागपि च वेदाध्ययनात्' इस वाक्य को भाष्य में लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस वाक्य का यह अर्थ है कि 'वेदाध्ययन से पहले भी धर्मजिज्ञासा हो सकती है'। फलतः 'धर्मजिज्ञासा वेदाध्ययन के बाद ही हो' यह नियम सङ्गत नहीं है। 'अन्यस्यापि' इस भाष्य-सन्दर्भ का भी यही अभिप्राय है। अतः 'अन्यस्यापि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के लिखने के बाद 'प्रागपि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के लिखने से भाष्यकार 'पुनरुक्ति' दोष के भागी होते हैं ॥ ७४½ ॥

भाष्यकार के ऊपर दूसरी पुनरुक्ति का आक्षेप

पूर्वेणैव हि लब्धार्थे तादृशों त्वित्यनेन किम् ॥ ७५ ॥

'अन्यस्यापि' इत्यादि भाष्य से किये गये आक्षेप का समाधान 'उच्यते' इत्यादि भाष्य से हुआ है।

अपि च नैव वयमिह वेदाध्ययनात्पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं शिष्मः, **परस्ताच्चानन्तर्यम् (शाबरभाष्य) ॥**

अर्थात् हमलोग (सिद्धान्तिगण) वेदाध्ययन से पहले धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध नहीं करते। अतः 'अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता' इस भाष्य-सन्दर्भ से कोई विरोध नहीं है। किन्तु 'परस्ताच्चानन्तर्यम् शिष्मः' अर्थात् वेदाध्ययन के बाद प्रथमतः धर्मजिज्ञासा ही होनी चाहिए, समावर्त्तन नहीं—यही हम लोगों का कहना है।

इसी भाष्यसन्दर्भ के 'उच्यते तादृशीन्तु' इत्यादि से लेकर 'न शिष्मः' इतने पर्यन्त के भाष्यसन्दर्भ के ऊपर 'पुनरुक्ति' का आक्षेप किया गया है। आक्षेप करने वालों का कहना है कि 'तत्तु वेदाध्ययनम्, तस्मिन् सति हि सावकल्पते' इत्यादि भाष्य से कहा गया है कि वेदाध्ययन के रहने पर ही धर्म की जिज्ञासा संभव है।

अतः प्रकृत 'अथ' शब्द के अर्थ आनन्तर्य का प्रतियोगी वेदाध्ययन ही है ! अतः 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन का आक्षेप उचित है।

'न शिष्मः' इत्यादि भाष्य से भी उसी प्रकार वेदाध्ययन के आक्षेप की सूचना होती है। किन्तु प्रकृत ग्रंथ से सिद्धान्ती का कहना है कि मैं वेदाध्ययन से पूर्व एवं अन्य किसी क्रिया के बाद धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध नहीं करता। वेदाध्ययन को छोड़कर अन्य क्रिया के बाद भी धर्म की जिज्ञासा हो सकती है। इससे मेरा कोई विरोध नहीं। मेरा तो इतना ही कहना है कि वेदाध्ययन के बाद धर्म की जिज्ञासा होनी ही चाहिए। यह अवश्यम्भाविनी धर्मजिज्ञासा विना वेदाध्ययन के संभव नहीं है। इसलिए प्रकृत 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन का आक्षेप सुसङ्गत है। किन्तु इस रीति से 'न शिष्मः' इत्यादि परिहारभाष्य पुनरुक्तिदुष्ट हो जाता है, क्योंकि जो अर्थ 'तत्तु वेदाध्ययनम्' इत्यादि से कहा गया है दूसरे शब्दों में वही अर्थ 'न-शिष्मः' इत्यादि से भी कहा गया है। अतः 'तादृशीं तु धर्मजिज्ञासाम्' यहाँ से लेकर 'न शिष्मः' इतने पर्यन्त का सिद्धान्तभाष्य 'तत्तु वेदाध्ययनम्' इत्यादि सन्दर्भ से कथित अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण पुनरुक्ति दोष से दुष्ट है ॥ ७५ ॥

प्रथम पुनरुक्ति दोष का परिहार

वक्ष्यमाणमनालोच्य सम्भवेत्परिचोदना ।

आगे किये जाने वाले उपपादन की आलोचना किये बिना ही ये पुनरुक्तियाँ उठायी गयीं हैं।

'अन्यस्यापि' इत्यादि आक्षेपभाष्य के ऊपर आये हुये पुनरुक्ति दोष के दो परिहार यहाँ दिये गये हैं जिनमें पहले का उपपादन ७६ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से लेकर ७८ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक से हुआ है ॥ ७६ क, ख ॥

न तावत् साध्यतेऽद्यापि चोदना धर्मसाधनम् ॥ ७६ ॥

इह वा कानि वाक्यानि विवरिष्यति जैमिनिः ।

धर्ममात्राभिधानाद्धि बुद्धादिवचनान्यपि ॥ ७७ ॥

पठित्वा धर्मजिज्ञासेत्यन्यस्यापीति चोदना ।

अभी तक यह सिद्ध नहीं हुआ है कि 'चोदना' (वैदिक विधायकवाक्य) ही धर्म का ज्ञापक साधन है। अतः यह भी अनिर्णीत है कि महर्षि किन वाक्यों की व्याख्या न्याय के द्वारा इस ग्रन्थ में करेंगे। ऐसी स्थिति में 'अथाऽतो धर्म-जिज्ञासा' इतना ही लिख देने से बुद्धादि-वाक्यों के पाठ के बाद भी धर्म की जिज्ञासा प्राप्त होती है। यही आक्षेप 'अन्यस्यापि' इत्यादि से उपपादित हुआ है।

कहने का तात्पर्य है कि अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि 'वेदार्थ ही धर्म है' एवं महर्षि जैमिनि वेदवाक्यों का ही विचार इस ग्रन्थ में करेंगे। 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में केवल 'धर्म' शब्द को सुनकर उक्त सूत्र का 'अन्यस्यापि' अर्थात् 'बुद्धवाक्याध्ययनकर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' यह अर्थ भी

समझा जा सकता है, क्योंकि बुद्ध-वाक्य के द्वारा अभिहित 'चैत्यवन्दनादि' को भी कुछ लोग धर्म शब्द से अभिहित करते ही हैं। इस लिए निश्चित रूप से धर्मजिज्ञासा में वेदाध्ययन के आनन्तर्य का लाभ नहीं होता। इस पक्ष में 'प्रागपि वेदाध्ययनात्' इस भाष्य का अर्थ है 'अपि च प्राग्वेदाध्ययनात् धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' अर्थात् 'अन्यस्यापि कर्मणः' से कथित आक्षेप की परिपुष्टि इस से भी होती है कि 'वेदाध्ययन से पहले भी धर्म की जिज्ञासा कर्त्तव्य हो सकती है'। धर्मजिज्ञासा में वेदाध्ययन का आनन्तर्य नहीं है ॥ ७७½ ॥

यद्वा भवतु नामेदृक् सूत्रं वेदमधीत्य तु ॥ ७८ ॥
जिज्ञासानन्तरं कार्येत्यत्रापि द्वयमीप्सितम् ।
नानधीत्य न चाप्यन्यत् कृत्वेत्येतन्न लभ्यते ॥ ७९ ॥
वक्ष्यमाणवचोभङ्ग्योर्वाक्यभेदप्रसङ्गतः ।
अधीत्यैवेति हि विधौ स्नानादेरप्यनन्तरा ॥ ८० ॥
भवेद्धर्मस्य जिज्ञासा नानन्तर्यविधिस्तदा ।
आनन्तर्यविधाने तु या वेदाध्ययने कृते ॥ ८१ ॥
इत्येवमनुवादत्वात्प्रागप्येषा प्रसज्यते ।

(१) वेदाध्ययन का आनन्तर्य यदि धर्मजिज्ञासा में मान ही लें तो सूत्र का निष्पन्न रूप होगा 'वेदमधीत्याथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस प्रकार की सूत्र की कल्पना करके ही 'प्रागपि वेदाध्ययनात्' इत्यादि आक्षेपभाष्य लिखा गया है।

(२) उक्त कल्पित सूत्र के दो ही अर्थ हो सकते हैं (१) 'वेदमधीत्यैव (नानधीत्य) धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' एवं (२) 'वेदाध्ययनान्तरमेव (नान्यत् कृत्वा) धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या'। अर्थात् वेदाध्ययन करके ही (विना वेदाध्ययन के नहीं) धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। एवं वेदाध्ययन के बाद ही (बीच में कोई और काम करने के बाद नहीं) धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

(३) उक्त सूत्रस्वरूप एक वाक्य के दो विभिन्न अर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'वाक्यभेद' स्वरूप दोष उपस्थित हो जायगा।

अतः केवल यही संभव है कि एक का विधान और दूसरे का अनुवाद मानें। तदनुसार सूत्रस्वरूप विधिवाक्य से ऊपर लिखे गये दो अर्थों में से अगर पहले अर्थ का ऐसा विधान मानें कि 'अधीत्यैव नानधीत्य' तो इससे इतना ही प्राप्त हो सकता है कि बिना वेदाध्ययन के धर्म की जिज्ञासा न हो। अर्थात् 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस विधान के अनुसार वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान उसके बाद धर्म की जिज्ञासा मान लेने पर भी 'अधीत्यैव नानधीत्य' सूत्र के इस विधान का उल्लङ्घन नहीं होता है। अतः वेदाध्ययन से भिन्न समावर्त्तनस्नान कर्म के बाद भी धर्म की जिज्ञासा हो सकती है। इसी स्थिति में 'अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता' यह आक्षेपभाष्य लिखा गया है।

यदि सूत्र का दूसरा विधेयांश 'अनन्तरमेव नान्यत्कृत्वा' ऐसा मानें तो फिर वेदाध्ययन के बाद होने वाली धर्मजिज्ञासा में ही वेदाध्ययन का आनन्तर्य विहित होता है। किन्तु इससे वेदाध्ययन के पहले धर्मजिज्ञासा का वारण नहीं होता है। यदि वेदाध्ययन के पहले भी धर्म की जिज्ञासा हो सकती है तो फिर वेदाध्ययन के बाद होने वाली विशेष प्रकार की धर्मजिज्ञासा से वेदाध्ययन का आक्षेप संभव होने पर भी धर्मजिज्ञासा-सामान्य से वेदाध्ययन का आक्षेप संभव नहीं है। इसी आक्षेप की सूचना 'प्रागपि च वेदाध्ययनात्' इस भाष्य-वाक्य से दी गयी है। अतः 'अन्यस्यापि' इत्यादि आक्षेपभाष्य के वाक्य और उसी के 'प्रागपि च' इत्यादि वाक्य दोनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न अर्थ के ज्ञापक हैं। अतः पुनरुक्ति दोष का कोई अवसर नहीं है॥ ८१½॥

बुद्धादिवाक्यपाठस्य तादृशीं त्वित्यपाक्रिया॥ ८२॥
प्रागपीति च चोद्यस्य सामर्थ्याद्वेदलाभतः।

'तादृशीन्तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्याऽथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः या वेदाध्ययन-मन्तरेण न संभवति। कथम्? वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तिष्यते।' (शावरभाष्य)

(इस परिहारभाष्य का अर्थ यह है कि) धर्मजिज्ञासा में बुद्धादि-वाक्य के अध्ययन के आनन्तर्य के आक्षेप का परिहार 'तादृशीम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से हुआ है, एवं 'प्रागपि' भाष्य से किये गये आक्षेप का निराकरण 'सामर्थ्य' से अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक से आक्षिप्त (धर्मजिज्ञासा के नियतपूर्ववर्त्ती) वेदाध्ययन से होता है।

विशदार्थ यह है कि 'तादृशीन्तु' इत्यादि परिहारभाष्य से निम्नलिखित दो आक्षेपों का निराकरण किया गया है—

(१) 'वेदार्थ ही धर्म है' यह समझने के पहले बुद्धादि-वाक्यों के अध्ययन के बाद भी धर्म की जिज्ञासा प्राप्त होती है। इस प्रथम आक्षेप का समाधान इस परिहार-भाष्य से अच्छी तरह से हो जाता है, क्योंकि इस परिहार-भाष्य में स्पष्ट शब्द के द्वारा यह व्यक्त कर दिया गया है कि इस सूत्रग्रन्थ में वेदवाक्यों के ही अनेक प्रकार के विचार किये जायेंगे। यदि यह धर्मजिज्ञासा बुद्धादिवाक्यों के अध्ययनानन्तर भी होती तो बुद्धादि के वाक्यों का विचार भी इस सूत्रग्रन्थ में होता। सो नहीं है। अतः वेदवाक्यों का विचार ही इस ग्रन्थ में है। इसलिए वेदाध्ययन का आनन्तर्य ही धर्म की इस जिज्ञासा में है अन्य कर्मों का नहीं।

(२) दूसरा यह आक्षेप है कि हान और उपादान के लिए होने वाली धर्म-जिज्ञासा वेदाध्ययन के बाद ही होगी पहले नहीं (देखिये श्लो० ७८ की व्याख्या)। अतः वेदाध्ययन का आनन्तर्य धर्मजिज्ञासा में नहीं है।

इस दूसरे आक्षेप का समाधान भी इसी भाष्यसन्दर्भ से हो जाता है, क्योंकि प्रकृत भाष्यसन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह धर्मजिज्ञासा अनेक प्रकार के वेदवाक्यों के विचार के लिए ही है। अनेक प्रकार के वेदवाक्यों के विचार के लिए होने वाली धर्मजिज्ञासा वेदाध्ययन के बिना सम्भव नहीं है।

तब रहा कि वेदार्थ को धर्म समझे विना धर्मार्थी व्यक्ति पहले ही वेदाध्ययन में प्रवृत्त क्यों कर होगा ? इसका यह समाधान है कि विना समझे हुए ही पिता प्रभृति अभिभावकों की आज्ञा की तरह वेदों की आज्ञा से ही प्रवृत्त होगा। वस्तुतः ऐसा ही होता है।

पहले (श्लो० ७९ में) आक्षेप कर आये हैं कि 'वेदमधीत्यानन्तरं धर्म-जिज्ञासा' सूत्र का ऐसा स्वरूप मानने पर इस सूत्र से दो ही विधान सम्भव हैं—(१) 'वेदमधीत्यैव धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' एवं (२) 'वेदाध्ययनानन्तरमेव धर्मजिज्ञासा' कर्त्तव्या। किन्तु वाक्यभेद के भय से इन दोनों में से कोई एक ही विधान मानना होगा। किन्तु किसी भी विधान को मानें, दोष से छुटकारा नहीं।

इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तियों का कहना है कि उक्त सूत्रस्वरूप वाक्य का 'वेदाध्ययनान्तरमेव (नान्यत्कृत्वा)' ऐसा ही अर्थ स्वीकार करिये। इससे 'अन्य-स्यापि कर्मणः' इत्यादि सन्दर्भ से प्रदत्त आक्षेप का समाधान हो जाता है।

'वेदमधीत्यैव—नानधीत्य धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' ऐसा विधान न मानने पर 'प्रागपि च वेदाध्ययनात्' इत्यादि भाष्य से कथित आक्षेप (देखिये श्लो० ७५-७६) का समाधान यह है कि वेदवाक्य का विचार वही व्यक्ति कर सकता है जिसने वेद का अध्ययन किया हो। जिसने वेद का अध्ययन नहीं किया है वह वेदवाक्य का विचार नहीं कर सकता। इस अन्वय-व्यतिरेक से ही वेदवाक्य-विचारार्थ धर्म-जिज्ञासा से पहले वेद का अध्ययन आवश्यक सिद्ध हो जाता है। इसके लिए 'वेदमधीत्यैव' इस विधान की आवश्यकता नहीं है। अतः वेदाध्ययन से पहले धर्मजिज्ञासा की प्रसक्ति ही नहीं है। अतः 'प्रागपि च वेदाध्ययनात्' इस सन्दर्भ से दिया गया आक्षेप सङ्गत नहीं है ॥ ८२½ ॥

नैवैतयोर्वचोभङ्ग्योरेकोऽर्थो विधीयते ॥ ८३ ॥
अपिचेत्यादिकेनोक्तम् किन्त्वियत्येतद्विधीयते।

'अपि च वयमपि वेदाध्ययनात्पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं शिष्मः, परस्ता-च्चानन्तर्यम्। न ह्येतदेकं वाक्यम्, पुरस्ताच्च वेदाध्ययनाद्धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधि-ष्यति, परस्ताच्चानन्तर्यं प्रकरिष्यति, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। अन्या हि वचन-व्यक्तिरस्य पुरस्ताद्वेदाध्ययनाद्धर्म्मजिज्ञासां प्रतिषेधेत, अन्या च परस्तादानन्तर्य-मुपदिशेत। वेदत्येत्येकस्यां विधीयते, अनूद्यानन्तर्यं विपरीतमन्यस्याम्। अर्थैकत्वाच्चैक-वाक्यतां वक्ष्यति।' इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या 'नैवैतयोः' इस श्लोक से की गयी है।

अर्थात् 'वेदमधीत्याथानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' इस सौत्र वाक्य से 'वेदमधीत्यैव' एवं 'अनन्तरमेव नान्यत्कृत्वा' इन दोनों में से एक का भी विधान नहीं किया गया है। इसका विवरण 'अपि च वक्ष्यति' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से किया गया है।

तो फिर उक्त सौत्रवाक्य से किस अर्थ का विधान होता है ? इस प्रश्न का समाधान—

'किन्तु अधीते वेदे द्वयमापतति गुरुकुलाच्च समावर्त्तितव्यम् वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि, तत्र गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट, कथन्तु वेदवाक्यानि विचारयेदित्येव-मर्थोऽयमुपदेशः' (शाबरभाष्य) इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से दिया गया है। अर्थात् वेदा-ध्ययन के बाद 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के अनुसार समावर्त्तनस्नान प्राप्त है। एवं अधीत वेद को अच्छी तरह समझाने के लिए वेदवाक्य का विचार रूप मीमांसा भी प्राप्त है। इन दोनों पक्षों में गुरुकुल से वेदाध्ययन के बाद आकर समावर्त्तनस्नान को छोड़कर ब्रह्मचारी वेदवाक्य का विचार ही करे—इस पक्ष को प्राथम्य देने के लिए 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' यह सौत्र विधान है।

प्रकृत श्लोक का अभिप्राय है कि गुरुकुल में वेदों के शाब्दिक अध्ययन के बाद 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के बल से जो गुरुकुलनिवास की समाप्ति प्राप्त होती है उसके निरास के लिए ही उक्त सूत्रस्वरूप निर्देश है। अर्थात् वेदों के शाब्दिक अध्ययन के बाद भी वेदों के यथावत् अर्थज्ञान के लिए गुरुकुल में ही रहना चाहिए। जब मीमांसा के द्वारा वेदार्थ (रूप धर्म) का ज्ञान हो जाय तभी समावर्त्तनस्नान कर परिग्रहादि के लिए गुरुकुल का निवास छोड़ना चाहिए ॥८३३॥

आनन्तर्यं परस्ताच्च नापि शिष्म इतीह तु ॥ ८४ ॥
केचिदध्याहरन्त्यस्य सूत्रस्यान्यपरत्वतः ।

किसी सम्प्रदाय के मीमांसक 'परस्ताच्चानन्तर्यम्' इस वाक्य में 'नापि' और 'शिष्मः' इन पदों का अध्याहार कर 'नापि परस्तादानन्तर्यं शिष्मः' ऐसा निष्पन्न पाठ मानते हैं। अध्याहार करने में यह कारण देते हैं कि सूत्र चूँकि गुरुकुलवास की निवृत्ति को हटाने के लिए ही है, अतः यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उक्त सूत्र से वेदा-ध्ययन के आनन्तर्य का विधान (अधीत्यैव नानधीत्य) सूत्रकार को इष्ट नहीं है। भाष्यकार ने इसी अर्थ को 'परस्ताच्चानन्तर्यम्' इस वाक्य से कहा है। किन्तु इस वाक्य में 'नापि शिष्मः' इतने शब्दों के अध्याहार के विना उक्त अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः प्रकृत अध्याहार आवश्यक है॥ ८४३ ॥

न वार्य्यतेऽनधीतत्वं नानन्तर्यं विधीयते ॥ ८५ ॥
सामर्थ्यासिद्ध्यदृष्टार्थप्रसङ्गात्तेन लक्षणा ।

(प्रश्न होता है कि प्रकृत सूत्र गुरुकुलनिवास के निषेध का बोधक क्यों है ? किस प्रकार है, सूत्र में इस अर्थ को समझानेवाला कोई शब्द नहीं है ? इन दोनो प्रश्नों का उत्तर उक्त अध्याहारवादी यह देते हैं कि) पहले श्लोक ८२ में कह आये हैं कि—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा 'अधीत्यैव नानधीत्य' यह विधान सम्भव नहीं है। यदि उक्त सूत्र से 'अनन्तरमेव नान्यत्कृत्वा' ऐसा विधान मानें तो इस विधान को अदृष्टार्थक मानना होगा, क्योंकि सभी जिज्ञासायें अपने विषयों के ज्ञान के लिए ही होती हैं। तदनुसार धर्मजिज्ञासा का फल भी धर्मज्ञान ही होगा। अगर वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नानादि के अनुष्ठानों के बाद भी धर्म की जिज्ञासा होगी तथापि उससे धर्मज्ञानस्वरूप फल अवश्य होगा। उसके उत्पादन में कोई

बाधा नहीं आयेगी। अत: 'अनन्तरमेव नान्यत्कृत्वा' इस विधान का धर्मज्ञान के उत्पादन में कोई दृष्ट उपयोग नहीं दीख पड़ता। किन्तु विधान का कोई वैयर्थ्य सम्भव नहीं है। अत: 'अनन्तरमेव नान्यत्कृत्वा' इस विधान का अदृष्ट द्वारा ही धर्मज्ञान में उपयोग स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् यह स्वीकार करना होगा कि वेदाध्ययन के बाद बीच में कोई दूसरा काम न कर धर्मजिज्ञासा करने से एक प्रकार का पुण्य उदित होता है जिससे धर्मज्ञानस्वरूप फल शीघ्र प्राप्त होता है। इस प्रकार 'अनन्तरमेव' यह विधान अदृष्टार्थक हो जाता है। किन्तु मीमांसा है विचार-शास्त्र—न्याय—इसमें यथासम्भव अदृष्टार्थकता से बचना आवश्यक है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा उक्त दोनों विधानों में से एक भी विधान सम्भव नहीं है। अत: इस सूत्र से लक्षणावृत्ति के द्वारा अध्ययन के बाद प्राप्त गुरुकुलवास की निवृत्ति के प्रतिषेध का बोध ही मानना होगा।

अर्थात् विद्यार्थियों को वेद के शब्दों को पढ़कर ही गुरुकुल को छोड़ नहीं देना चाहिये, तब तक वे गुरुकुल में रहें जब तक शब्दश: गृहीत वेदराशि के अर्थ को मीमांसारूप न्याय से परिशुद्ध कर समझ न लें। इसीलिए महर्षि जैमिनि ने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की रचना की। इसका तात्पर्य है कि वेदाध्ययन के बाद वेदार्थस्वरूप धर्म को समझने के लिए धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। धर्म-ज्ञान के पहले समावर्त्तनस्नान या दारपरिग्रह के लिए गुरुकुल से लौटना नहीं चाहिये॥ ८५३॥

आनन्तर्यवचोव्यक्तिराश्रितैवात्र लक्ष्यते॥ ८६॥
श्रुतार्थं त्वपरित्यज्य लक्षणार्थो विधीयते।

'परस्ताच्चानन्तर्यम्' इस वाक्य में 'नापि' शब्द और 'शिष्य:' शब्द का अध्याहार उचित नहीं है, क्योंकि 'अथात:' इत्यादि सूत्र को गुरुकुलवास की निवृत्ति का निषेधक सूत्रस्थ 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक स्वीकार करते हुए ही मानते हैं। सूत्र को उक्त निषेधार्थक मानने का यह अर्थ नहीं है कि सूत्रघटक 'अथ' शब्द को आनन्तर्य अर्थ का वाचक नहीं मानते हैं। उक्त सूत्र से लक्षणावृत्ति के द्वारा ही उक्त निषेध का बोध होगा। लक्षणाओं में अजहत्स्वार्था लक्षणा श्रेष्ठ है, क्योंकि इस लक्षणा में श्रुत (अभिधेय) अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता है। प्रकृत में लक्षणा का अवलम्बन यदि नहीं करेंगे तो सूत्र अदृष्टार्थक हो जायगा। अत: सूत्र को लक्षणा के द्वारा ही उक्त निषेध का बोधक मानते हैं॥ ८६३॥

प्रतीता धर्मजिज्ञासा वेदाध्यायावनन्तरा॥ ८७॥
तत्कालस्यावरुद्धत्वात् स्नानाभावं हि लक्षयेत्।

प्रश्न होता है कि शक्यसम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। 'अथात:' इत्यादि सूत्र के शक्य अर्थ के साथ उक्त निषेधस्वरूप लक्ष्यार्थ का क्या सम्बन्ध है? अर्थात् किस सम्बन्ध से उक्त प्रतिषेध का बोध उक्त सूत्र से होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि समावर्त्तनस्नान और धर्म की जिज्ञासा ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण

एक समय नहीं हो सकते। (यहाँ 'स्नान' शब्द से वेदाध्ययन-काल में ब्रह्मचारी के लिये अस्नान, मधुभक्षण का निषेध आदि जितने नियम कहे गये हैं उन सबकी निवृत्ति से तात्पर्य है) यदि वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान हो तो फिर यह समझना होगा कि गुरुकुलवास भी छोड़ना होगा। किन्तु जिस प्रकार वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासा स्वरूप विचार का साधन है, उसी प्रकार गुरुकुलवास भी उक्त विचार का साधन है, क्योंकि उक्त विचार भी वेदाध्ययन की तरह गुरु के अधीन है। फलतः गुरुकुलवास की निवृत्ति धर्मविचार की विरोधिनी है। यह व्याप्ति निर्णीत है कि दो विरोधियों में से एक की सत्ताकाल में दूसरे की सत्ता नहीं रह सकती। अतः 'अथातः' इत्यादि सूत्र में वेदाध्ययन के अनन्तर ज्ञात धर्म की जिज्ञासा अपने सत्ता-काल में अपने विरोधी समावर्त्तनस्नान एवं गुरुकुलवास-निवृत्ति प्रभृति के अभाव का भी निर्णय करती है।

कहने का तात्पर्य है कि सूत्र के अभिधेय वेदाध्ययनानन्तर्य-विशिष्ट धर्म-जिज्ञासा के साथ गुरुकुलवास-निवृत्ति के निषेध का व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध है। उसी सम्बन्धमूलक लक्षणा के द्वारा उक्त अर्थ का बोध सूत्र से होता है ॥ ८७½ ॥

विरोधो युगपत्प्राप्तेः दौर्बल्यं वेदबाधनात् ॥ ८८ ॥
स्नानस्य तेन बाधः स्याद्धर्मजिज्ञासया बलात्।

प्रश्न होता है कि यह लक्षणा धर्मजिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान इन दोनों में विरोध के ऊपर निर्भर है। किन्तु इन दोनों में 'विरोध' ही कहाँ है, क्योंकि क्रमशः अपने-अपने काल में दोनों ही हो सकते हैं? इस प्रश्न का यह समाधान है कि यह सत्य है कि धर्म की उक्त जिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान यदि ये दोनों क्रमशः उत्पन्न हों तो दोनों में कोई विरोध नहीं है। किन्तु एक ही समय धर्म-जिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान दोनों नहीं हो सकते, क्योंकि समावर्त्तनस्नान के साथ गुरुकुलवास की भी समाप्ति होगी। गुरुकुल के बिना वेदाध्ययन के समान ही धर्म की जिज्ञासा भी नहीं होगी। अतः जिस स्थिति में 'युगपत्' अर्थात् एक ही समय धर्मजिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान दोनों प्राप्त होंगे उस समय दोनों में 'सहानवस्थायित्वरूप' विरोध अवश्य होगा।

धर्मजिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान दोनों की युगपत्प्राप्ति अवश्यम्भावी है, क्योंकि 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के अनुसार वेदाध्ययन के अनन्तर प्राप्त समावर्त्तनस्नान वेदाध्ययन के अव्यवहित उत्तरकाल में ही प्राप्त है। कोई कारण नहीं है कि आनन्तर्यवाची 'वेदमधीत्य' के 'क्त्वा' प्रत्यय से वेदाध्ययन के अव्यव-हितोत्तर समय के बाद का कोई अन्य समय लिया जाय। इसी प्रकार 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से वेदाध्ययन के बाद उसके अव्यवहित उत्तरकाल में ही धर्म की जिज्ञासा भी प्राप्त है। अतः एक ही समय—अध्ययन के अव्यवहितोत्तर काल में ही धर्मजिज्ञासा और समावर्त्तनस्नान दोनों के ही प्राप्त होने के कारण ये दोनों अवश्य परस्पर विरोधी हैं। (यही बात श्लोक के प्रथम चरण से कही गयी है)।

प्रश्न है कि समावर्त्तनस्नान 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन से प्राप्त है। धर्म की जिज्ञासा 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रस्वरूप युक्ति (न्याय) शास्त्र से प्राप्त है। युक्तिशास्त्र से स्मृतिशास्त्र बलवान् होता है। अतः 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस धर्मशास्त्र से अधिक बलशाली होने के कारण उससे प्राप्त समावर्त्तनस्नान ही धर्मजिज्ञासा से बलवान् है, क्योंकि उसका ज्ञापक उक्त सूत्रस्वरूप युक्तिशास्त्र दुर्बल है। समानबल के दो वस्तुओं में विरोध होता है। जहाँ एक बलवान् और दूसरा दुर्बल होता है वहीं बलवान् से दुर्बल पराभूत हो जाता है। अतः प्रकृत में समावर्त्तनस्नान से धर्मजिज्ञासा ही बाधित होगी, समावर्त्तनस्नान धर्मजिज्ञासा से बाधित नहीं होगा। इसी आक्षेप का उपपादन भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से किया है—

'यद्येवं न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते, एवं समामनन्ति 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति। इह च वेदमधीत्य स्नास्यन् धर्मं जिज्ञास्यमानः इममाम्नायमतिक्रामेत। न चाम्नायो नामातिक्रमितव्यः।' (शाबरभाष्य)

अर्थात् यदि ऐसा हो (वेदाध्ययन के बाद धर्म की जिज्ञासा ही हो समावर्त्तनस्नान नहीं) तो सौत्र 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा के पूर्ववर्त्तित्व का बोध नहीं होगा, क्योंकि स्मृतिकारों की आज्ञा है 'वेदमधीत्य स्नायात्', अर्थात् वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान करना चाहिये। ऐसी स्थिति में वेदाध्ययन के बाद जिस पुरुष का समावर्त्तनस्नान प्राप्त है वह यदि उसे छोड़कर धर्म की जिज्ञासा में प्रवृत्त होगा तो उक्त स्मृतिवचन स्वरूप आम्नाय का अतिक्रमण उसे स्वीकार करना होगा। किन्तु 'आम्नाय' की आज्ञा का अतिक्रमण उचित नहीं है।

इस आक्षेप का समाधान निम्नलिखित परिहार-भाष्य की पंक्तियों से हुआ है—

'तदुच्यते, अतिक्रमिष्याम इममाम्नायम्, अनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकमवकल्पयेम, दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम। न तस्याध्ययनमात्रात् तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति। यदपि समामनन्तीव तत्रापि 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' (अ० ४ पा० ३ सू० १) इत्यर्थवादतां वक्ष्यति।'

भाष्यकार कहते हैं कि हमलोग 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिस्वरूप आम्नाय का उल्लङ्घन करेंगे। यदि ऐसा न करें तो अक्षरशः सार्थक वेद को ही अनर्थक बना डालेंगे, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का सम्यक् ज्ञान ही वेदाध्ययन का मुख्य फल है। वेदाध्ययन के इस फल की उत्पत्ति वेदों के शब्दशः अध्ययन मात्र से यज्ञों के ज्ञाता आदरणीय महर्षिगण स्वीकार नहीं करते। कुछ वेदवाक्य यद्यपि शब्दशः अध्ययनमात्र से उक्त 'कर्मावबोध' की उत्पत्ति का विधान करते-से दीख पड़ते हैं तथापि उन वाक्यों को महर्षि जैमिनि 'द्रव्यसंस्कार' इत्यादि सूत्र के द्वारा अर्थवादस्वरूप कहेंगे।

इसी परिहार-भाष्य के द्वारा कथित समाधान की सूचना श्लोक के अन्तिम तीन चरणों से दी गयी है।

श्लोक के उन तीन चरणों का अक्षरार्थ यह है कि धर्मजिज्ञासा वेदविषयक सम्यक् ज्ञान का सहायक होने के कारण सबल है। समावर्त्तनस्नानादि उससे दुर्बल हैं। इसीलिए धर्मजिज्ञासा से 'स्नान' का बाध होता है।

'तदुच्यते' इत्यादि भाष्य के अन्तर्गत 'वेदमर्थवन्तम्' इत्यादि वाक्य से कहा गया है कि यहाँ समावर्त्तनस्नान ही दुर्बल है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के बल से समस्त वेद अध्ययन के लिए विहित हैं। इस अध्ययन से वेदों का यज्ञानुष्ठानोपयोगी सम्यग् ज्ञान ही इष्ट है, केवल शब्द-ग्रहणस्वरूप ज्ञान नहीं। यदि अध्ययन कथित रीति से विशिष्टज्ञानोत्पादन के द्वारा यज्ञादि का सहायक नहीं होता है तो फिर वह अध्ययन व्यर्थ हो जाता। वेदों का उक्त विशिष्ट ज्ञान धर्म की जिज्ञासा के विना सम्भव नहीं है। अतः वेदाध्ययन के वैयर्थ्य को बचाने के लिए वेदाध्ययन के बाद एवं समावर्त्तनस्नान के पहले धर्म की जिज्ञासा ही करनी चाहिये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वेदाध्ययन के बाद यदि समावर्त्तनस्नान ही मानें, धर्म की जिज्ञासा न मानें तो वेदाध्ययन का वेदार्थ-विषयक यज्ञोपयोगी विशिष्टज्ञानस्वरूप दृष्ट प्रयोजन का लाभ भले ही न हो सके, अदृष्ट (पुण्य) स्वरूप फल तो हो ही सकता है; अतः इस स्थिति में भी वेदाध्ययन का वैयर्थ्य नहीं है। इसी प्रश्न का समाधान 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम' इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने दिया है।

अर्थात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य से विहित वेदाध्ययन अदृष्टार्थक नहीं है। उससे अग्निहोत्रादि कर्मों का ज्ञानस्वरूप दृष्ट कार्य ही उत्पन्न होता है। अतः 'कर्मावबोध' स्वरूप दृष्ट कार्य को छोड़कर अदृष्टस्वरूप कार्य के लिए वेदाध्ययन सार्थक नहीं हो सकता। इसलिए वेदाध्ययन के बाद उससे होने वाले कर्मावबोध की सहायिका धर्म की जिज्ञासा ही होगी, समावर्त्तनस्नान नहीं।

एक भी वेदवाक्य का विरोध होने पर स्मृति अप्रमाण हो जाती है। ऐसी स्थिति में जिस स्मृति को प्रमाण मानने से वेदों के सभी भागों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी ऐसी स्मृति में अप्रामाण्य अनिवार्य है। तस्मात् स्मृतिवचन के द्वारा प्राप्त समावर्त्तनस्नान का बाध धर्मजिज्ञासा से होना सर्वथा युक्त है।

कहने का तात्पर्य है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से विहित वेदाध्ययन का प्रयोजन कर्मावबोध ही है। वेदाध्ययन से यह कर्मावबोध विना धर्मजिज्ञासा के संभव नहीं है। अतः वेदाध्ययन से धर्मजिज्ञासा-रूप विचार का आक्षेप होता है एवं इस आक्षिप्त विचार से तद्विरुद्ध समावर्त्तनस्नान का बाध होता है।

'तदुच्यते' यहाँ से लेकर 'वक्ष्यति' पर्यन्त के भाष्य से इस आक्षेप का समाधान हुआ है कि—'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृति के विरोध के कारण वेदाध्ययन के बाद धर्मजिज्ञासा-रूप विचार नहीं करना चाहिए।

समाधान का तात्पर्य है कि धर्मजिज्ञासास्वरूप विचार से उक्त स्मृति का ही बाध होता है, स्मृति से विचार का नहीं।

'नचाधीतवेदस्य स्नानानन्तर्यमेतद्विधीयते। न ह्यत्रानन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पूर्वकालतायां हि क्त्वा स्मर्यते नानन्तर्ये।' (शाबरभाष्य)

इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा इस दृष्टि से उक्त प्रश्न का समाधान किया गया है कि उक्त 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन का 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस विधायक सौत्रविधि के साथ कोई विरोध नहीं है।

अर्थात् 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के द्वारा यह विधान नहीं किया गया है कि वेदाध्ययन के अव्यवहित उत्तर काल में ही समावर्त्तनस्नान करना चाहिए। अर्थात् 'समावर्त्तनम् वेदाध्ययनाऽनन्तरमेव मध्ये नान्यत् कृत्वा' ऐसा विधान नहीं है, क्योंकि स्मृतिवचन में अव्यवहितोत्तरकाल-वृत्तित्वस्वरूप आनन्तर्य का वाचक कोई शब्द नहीं है। 'वेदमधीत्य'-घटक 'ल्यप्' प्रत्यय के आदेशी 'क्त्वा' प्रत्यय से केवल वेदाध्ययन में समावर्त्तनस्नान के पूर्ववर्त्तित्व का बोध होता है। फलतः वेदाध्ययन के बाद धर्मजिज्ञासा के अनन्तर भी समावर्त्तनस्नान मानें तथापि उक्त स्मृतिवचन का उल्लंघन नहीं होता ॥ ८८½ ॥

> दृष्टार्थत्वादिसंयुक्तं वाक्यं लक्षणया त्विति ॥ ८९ ॥
> पुनरुक्तया गतार्थत्वात् त्यक्तं कैश्चित् तदुच्यते।

(१) 'दृष्टार्थता चानन्तर्ये व्याहन्येत' (२) 'लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्' भाष्य के इन वाक्यों में से प्रथम का यह अर्थ है कि—'वेदमधीत्य स्नायात्' इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ यदि आनन्तर्य मानें तो वेदाध्ययन की दृष्टार्थता भङ्ग हो जायगी। किन्तु 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम' इस भाष्य से भी वही बात कही गयी है, अर्थात् इन दोनों ही वाक्यों से वेदाध्ययन में दृष्टार्थता का ही उपपादन किया गया है। अतः पश्चादुक्त 'दृष्टार्थता च' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ 'पुनरुक्ति' दोष से युक्त है।

इसी प्रकार 'लक्षणया तु' यह भाष्यसन्दर्भ भी 'दृष्टो हि' इत्यादि भाष्य से 'गतार्थ' है। इन दोनों ही दोषों के कारण भाष्य के कुछ व्याख्याताओं ने इन दोनों सन्दर्भों को छोड़ दिया है (अर्थात् व्याख्या के अयोग्य करार दिया है)। किन्तु मैं (वार्त्तिककार) इन प्रसङ्गों में समाधान कहता हूँ ॥ ८९½ ॥

> यद्यप्यस्य भवेद् वाच्यमानन्तर्यमसंशयम् ॥ ९० ॥
> तथापि पूर्वतामात्रं लक्षयेदविरोधतः।
> ग्रन्थग्रहणमात्रे च कृते स्नानं विरुध्यते ॥ ९१ ॥
> अधीत्येत्यधिगम्येति व्याख्याने त्वविरोधिता।

यद्यप्यस्य '' ''''''''अविरोधतः

'न चाधीतवेदस्य' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के अन्तर्गत जो 'पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते' यह वाक्य है उस से इतना ही कहा गया है कि—'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य नहीं है। 'दृष्टार्थता च' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार अब कहते हैं

कि—'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ यद्यपि 'आनन्तर्य' ही है फिर भी उक्त अर्थ मानने से चूँकि वेदाध्ययन की 'दृष्टार्थकता' विरुद्ध हो जाती है अतः 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ लक्षणा वृत्ति के द्वारा—'साधारणपूर्वकालता' ही मानते हैं। इस प्रकार पूर्वापर दोनों भाष्यसन्दर्भों को विभिन्न अर्थों के ज्ञापक मान लेने से प्रकृत में 'पुनरुक्ति' दोष नहीं है। एवं च कोई भाष्यसन्दर्भ किसी दूसरे भाष्यसन्दर्भ से गतार्थ नहीं है।

'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' इस पाणिनि-सूत्र से विहित 'क्त्वा' प्रत्यय का केवल इतना ही अर्थ है कि समानकर्त्तृक दो क्रियाओं में पहली क्रियाके वाचक धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय ही होता है। फलतः समानकर्त्तृक दो क्रियाओं में से जो क्रिया पहले होगी उस क्रिया के वाचक धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होगा। जैसे कि भुक्त्वा व्रजति' इत्यादि स्थलों में होता है। इस प्रकार 'क्त्वा' प्रत्यय अपने प्रकृतिभूतधातु के अर्थस्वरूप क्रिया में उत्तर क्रिया के पूर्ववर्त्तित्व का बोधक है। अतः तुल्यन्याय से दूसरी क्रिया 'क्त्वा' प्रत्यय के प्रकृतिभूत धातु के अर्थ क्रिया से उत्तरवर्त्तिनी होगी।

'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ पूर्ववर्त्तित्व यदि अव्यवहितपूर्वत्वस्वरूप होगा तो फिर तुल्यन्याय से प्राप्त द्वितीयक्रियानिष्ठ उत्तरत्व भी 'अव्यवहितोत्तरत्व' स्वरूप ही होगा। किन्तु 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ जब केवल 'पूर्ववर्त्तित्व' है अव्यवहितपूर्वत्व नहीं (अर्थात् दूसरी क्रिया को भी पूर्वकालिक क्रिया के अव्यवहित उत्तर में होना आवश्यक नहीं है) अतः पूर्व क्रिया के बाद कभी भी—तीसरी क्रिया के बाद उत्पन्न होने से भी 'क्त्वा' प्रत्यय के अर्थ साधारणपूर्वत्व और उत्तरत्व का निर्वाह होगा।

प्रकृत में 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्य से इतना ही समझना चाहिए कि समावर्त्तनस्नान वेदाध्ययन के बाद ही हो उसके पहले नहीं। वेदाध्ययन के बाद वेदों के सम्यग् ज्ञान के लिए लिखित 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के अनुसार वेदाध्ययन के अनन्तर धर्मजिज्ञासा के सौत्र निर्देश से उक्त स्मृतिवचन का विरोध नहीं होता, क्योंकि वेदाध्ययन के बाद धर्मजिज्ञासा, एवं धर्मजिज्ञासा के बाद समावर्त्तनस्नान—ऐसा क्रम स्वीकार करने पर भी 'वेदमधीत्य' इस वाक्य के 'क्त्वा' प्रत्यय के अर्थ पूर्वत्व अथवा उत्तरत्व का व्याघात नहीं होता है। तस्मात् 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सौत्र वाक्य से 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्य का कोई विरोध नहीं है।

ग्रन्थग्रहणमात्रे....

उक्त दोनों वाक्यों में दूसरी रीति से भी अविरोध सम्पादित हो सकता है। 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन को यदि यथाक्षर ग्रहण करें तो यह स्नान कथित धर्मजिज्ञासा से विरुद्ध हो जाता। अतः दोनों वाक्यों को यथाक्षर नहीं ग्रहण कर सकते। इन दोनों में से किसी वाक्य का अर्थ बदलना पड़ेगा। इस लिए स्मृतिवचन के 'अधीत्य' पद का अर्थ है 'अधिगम्य' अर्थात् 'सम्यग्ज्ञात्वा'। ऐसी व्याख्या कर देने पर वह विरोध मिट जाता है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रकृत स्मृतिवचन का 'अधीत्य' पद 'इङ अध्ययने' से निष्पन्न नहीं है, किन्तु इण् गतौ' से बना है। अधि-उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक धातु का अर्थ 'सम्यग् ज्ञान' प्रसिद्ध है। जैसे कि 'अधिगत्य, अधिगम्य' प्रभृति पदों में। तस्मात् प्रकृत 'अधीत्य' शब्द का अर्थ है 'अधिगम्य'। तदनुसार 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस वाक्य का अर्थ होता है 'वेदमधिगम्य स्नायात्' अर्थात् वेदों को अच्छी तरह समझने के बाद समावर्त्तनस्नान करना चाहिए। वेद का सम्यग् ज्ञान धर्मजिज्ञासामूलक मीमांसा से करना चाहिए। फलतः यह क्रम निष्पन्न होता है—वेदाध्ययन, धर्मजिज्ञासा, तन्मूलक वेद का सम्यग् ज्ञान, तदन्तर समावर्त्तनस्नान। यह क्रम स्वीकार करने पर उन दोनों वचनों में कोई विरोध नहीं है[1] ॥ ९१½ ॥

यस्त्वेवमविरोधित्वं कुर्वन्नाप्लवनं वदेत् ॥ ९२ ॥
अदृष्टायाथ वाप्यन्यः संस्कारं तस्य चोत्तरम्।
इहास्नानादिनियमो यः कृतो ब्रह्मचारिणः ॥ ९३ ॥
अवधित्वमनाश्रित्य सोऽवसानमपेक्षते।
ततोऽपेक्षावशात् स्नानमस्नानादिनिवर्तनम् ॥ ९४ ॥
विरोधसाहचर्याभ्यां दृष्टार्थत्वेन लक्षयेत्।

'न चेदं स्नानमदृष्टार्थं विधीयते, किन्तु लक्षणया अस्नानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः।' (शाबरभाष्य) उपर्युक्त दोनों श्लोकों से इसी भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या की गई है। ९२–९४½ ॥

तस्मादध्ययनस्नानजिज्ञासाक्रमवाचिनाम् ॥ ९५ ॥
दृष्टार्थत्वाय शब्दानामेवं व्याख्येयमाश्रिता।

इस प्रारब्ध प्रकरण का उपसंहार यह है कि अब तक के ग्रन्थों से (१) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (२) 'वेदमधीत्य स्नायात्' (३) 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इन तीन

---

१. इस दूसरे उत्तर के प्रसङ्ग में व्याख्याकारों में मतभेद है—

(१) उम्वेक भट्ट का कहना है कि यही समाधान वार्त्तिककार का अपना है, क्योंकि पहले समाधान में अव्यवहितपूर्वत्ववाचक 'क्त्वा' प्रत्यय की केवल 'पूर्वत्व' में लक्षणा करनी पड़ती है। देखिये—भट्ट उम्वेककृत तात्पर्यटीका, पृ० २१, मद्रास युनिवर्सिटी संस्करण।

(२) आचार्य पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' यह स्मृति-वचन अध्ययन-प्रकरण का है। तदनुसार एवं 'समुदाय-प्रसिद्धि अवयव-प्रसिद्धि से बलवान् है' इस न्याय से भी 'अधीत्य' शब्द का 'अध्ययनं कृत्वा' यही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है, 'अधिगम्य' अर्थ नहीं।

किन्तु वार्त्तिककार ने 'उक्त रीति से भी यह विरोध मिटाया जा सकता है' इस सम्भावना को दिखाने के लिए दूसरा समाधान लिखा है।

वाक्यों का विचार मुख्यतः किया गया है। इस विचारक्रम में इन तीनों ही वाक्यों में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ी है। इसका तीनों ही स्थलों में अदृष्टार्थकत्व-परिहारस्वरूप एक ही कारण है। लक्षणा के द्वारा यह कार्य निम्न क्रम से होता है—

(१) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य के 'अध्येतव्यः' पद से यद्यपि वेदों का अक्षरग्रहणस्वरूप अध्ययन का विधान ही अभिधावृत्ति के द्वारा आपाततः ज्ञात होता है किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर इस अध्ययन का फल केवल 'अदृष्ट' को ही स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि केवल अक्षरग्रहणस्वरूप अध्ययन का कोई दृष्ट प्रयोजन उपलब्ध नहीं है। न्यायमूलक इस शास्त्र में यथासम्भव अदृष्टार्थकता का परिहार ही किया गया है। तस्मात् उक्त श्रुति से अध्ययन का अर्थ है अध्ययनमूलक वेदों का उस प्रकार का अर्थज्ञान जिससे यज्ञादिकर्मों का अनुष्ठानस्वरूप दृष्ट प्रयोजन का सम्पादन सम्यक् रूप से हो सके।

(२) 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन का मुख्य अर्थ यद्यपि स्नान का विधान ही अभिधावृत्ति से आपाततः ज्ञात होता है, किन्तु इसको स्वीकार कर लेने पर इस स्नान को केवल अदृष्ट प्रयोजन का सम्पादक मानना होगा, जैसा ज्योति-ष्टोम याग या दीक्षित-स्नानादि-स्थलों में माना जाता है। किन्तु दृष्टार्थकत्व सम्भव होने पर अदृष्टार्थकत्व को स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः लक्षणावृत्ति के द्वारा इस स्मृतिवचन से ब्रह्मचारियों के लिए वेदाध्ययन के समय 'अस्नान', 'मधुभक्षण' प्रभृति जितने भी नियम कहे गये हैं उन सभी नियमों की निवृत्ति का निर्देश ही इष्ट है। लक्षणा के द्वारा स्नानमात्र के विधायक उक्त वाक्य से उक्त सभी नियमों की निवृत्ति के निर्देश को स्वीकार करने में भी स्नान के अदृष्टार्थकत्व का भय नहीं है।

(३) 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सौत्रविधिवाक्य में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का 'अभिधेय' अर्थ आनन्तर्य ही है। ऐसा स्वीकार करने पर यह भी आक्षेप से स्वीकार करना होगा कि आनन्तर्यार्थस्वरूप अभिधेय अर्थ का प्रतियोगी वेदाध्ययन ही है। तदनुसार उक्त सूत्र का अर्थ होगा 'वेदाध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।' किन्तु धर्म की जिज्ञासा तो वेदाध्ययन के पहले भी हो सकती है, क्योंकि वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासा का दृष्ट कारण नहीं है। इस स्थिति में अगर सूत्र से वेदाध्ययन के आनन्तर्य का विधान धर्म की जिज्ञासा में करते हैं तो इसका एक ही अर्थ होता है 'वेदाध्ययन अदृष्ट के द्वारा धर्मजिज्ञासा का कारण है'। अर्थात् वेदाध्ययन के द्वारा पुण्य अर्जन किये बिना धर्म की जिज्ञासा नहीं हो सकती है। अतः वेदाध्ययन का आनन्तर्य धर्म-जिज्ञासा में उक्त सूत्र से कहा गया है। किन्तु दृष्टार्थकत्व की सम्भावना रहने पर अदृष्टार्थकत्व को स्वीकार करना अनुचित है। अतः भाष्यकार ने 'अपि च नैव' इत्यादि सन्दर्भ से लक्षणावृत्ति के द्वारा गुरुगृहवास की निवृत्ति का प्रतिषेध ही 'अथ' शब्द का अर्थ माना है। फलतः अदृष्टार्थकत्व के भय से ही 'अथ' शब्द के वाच्यार्थ आनन्तर्य का परित्याग किया गया है। (देखिये श्लोक ८६)

तस्मात् अक्षरग्रहणस्वरूप अध्ययन के वाचक 'इङ् धातु' एवं आप्लावनस्वरूप स्नान के वाचक 'स्ना' धातु, एवं क्रम के वाचक सौत्र 'अथ' शब्द इन तीनों ही

शब्दों के अभिप्रेयार्थ का ग्रहण करने पर यतः अदृष्टार्थक स्वीकार करना पड़ता है अतः लक्षणा के द्वारा उन तीनों शब्दों की उक्त व्याख्यायें की गयीं हैं ॥९५½॥

स्नात्वा जिज्ञासमानोऽपि ननु वेदं न बाधते ॥ ९६ ॥
तेनाविरोधिता तस्येत्येवं वदत उत्तरम् ।

(पू० प०) समावर्त्तनस्नान के बाद भी अगर वेदार्थस्वरूप धर्म की जिज्ञासा करे तथापि वेद का वैयर्थ्य नहीं होता है । एवं 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के साथ 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र का विरोध भी मिट जाता है ।

इस प्रकार का आक्षेप करनेवाले पूर्वपक्षी को (आगे के ९७-९८) दो श्लोकों में उत्तर दिया गया है ॥ ९६½ ॥

यथैवाध्ययनात् स्नानं स्मर्यते समनन्तरम् ॥ ९७ ॥
तथा ततः परोऽप्यन्यः पदार्थोऽन्यः परस्ततः ।
ततश्चावश्यकर्तव्ये बाधे स्मार्तस्य कस्यचित् ॥ ९८ ॥
योग्यत्वादागते काले प्राथम्यात् स्नानबाधनम् ।

जिस प्रकार 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस वाक्य के द्वारा वेदाध्ययन के बाद स्नान का विधान किया गया है उसी प्रकार 'स्नात्वा भार्यामुपगच्छेत्' इस वाक्य से स्नान के बाद दारग्रहण 'गार्हस्थ्य' का विधान है । एवं दारग्रहण के बाद 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इस वाक्य से अग्नि के 'आधान' का विधान है । ऐसी स्थिति में धर्म की जिज्ञासा को सबके पीछे मानें तो वह वेदाध्ययन से बहुत दूर चली जायगी । मध्य में कहीं धर्म की जिज्ञासा मानने से उक्त स्मार्त्तविधानों में से किसी का उल्लङ्घन करना ही होगा । अतः वेदाध्ययन के बाद प्रथमोपस्थित स्नानस्वरूप प्रतिबन्धक का ही बाध धर्मजिज्ञासा से मान लेना उचित होगा ।

दूसरी बात है कि 'अविद्वान्' को कर्म करने का अधिकार नहीं है । अतः कर्मजीवन में प्रवेश करने से पहले विद्या का अर्ज्जन आवश्यक है । किन्तु बिना विचार के वेदार्थ के सम्यग् ज्ञान स्वरूप 'विद्या' की प्राप्ति असम्भव है । अतः समावर्त्तनस्नान से पहले धर्म का विचार ही करना चाहिये ॥ ९७-९८½ ॥

सोऽयं पाठक्रमस्यार्थाद् बाध इत्यवगम्यते ॥ ९९ ॥

स्नान में वेदाध्ययन के आनन्तर्यक का जो बाध कहा गया है उस बाध को 'अधिकरण' के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—

पाठक्रम से आर्थक्रम बलवान् होता है । पाठ है 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इस पाठक्रम के अनुसार पहले अग्निहोत्र होम उसके बाद यवागूपाक प्राप्त है । किन्तु अग्निहोत्र होम यवागूस्वरूप निष्पन्न हवि के बिना सम्भव नहीं है । अतः अग्निहोत्रसम्पादनस्वरूप 'अर्थ' के अनुसार–प्रयोजन के अनुसार–पहले यवागूपाक ही होता है । इस प्रकार आर्थक्रम' से 'पाठक्रम' का बाध होता है । (देखिये मीमांसासूत्र-शाबरभाष्य, अध्याय–५)

प्रकृत में पाठक्रम इस प्रकार है 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वेदमधीत्य स्नायात्, अथाऽतो धर्मजिज्ञासा ।' पाठक्रम के अनुसार पहले वेदाध्ययन, तदनन्तर समावर्त्तन-स्नान, सबसे पीछे धर्मजिज्ञासा—इस प्रकार का क्रम प्राप्त है। किन्तु ऐसा क्रम मान लेने पर अक्षरग्रहणस्वरूप वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान प्राप्त होगा मध्य में पाठक्रम बल से ही दारग्रहणादि प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु ऐसा होने पर वेदाध्ययन का दृष्ट प्रयोजन वेदार्थ का ज्ञान है, यह सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह मीमांसा स्वरूप विचार की अपेक्षा रखता है। फलतः 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस प्रथम विधि-वाक्य का प्रयोजन ही अनिष्पन्न रह जाता है। इसलिए पहले अध्ययन, उसके बाद वेदार्थज्ञान की सहायिका धर्मजिज्ञासा से अभिन्न विचार, उसके बाद समावर्त्तन-स्नानादि ऐसा क्रम मानना चाहिये। यह क्रम 'आर्थक्रम' है। तस्मात् कथित 'पाक-होमन्याय' से यह बाध पाठक्रम का आर्थक्रम से बाध ही है ॥ ९९ ॥

गुणप्रधानयोर्वापि विरोधाद्गुणबाधनम् ।

अन्य अधिकरण के द्वारा भी उक्त बाध का समर्थन किया जा सकता है। पदार्थ हैं मुख्य और उनका क्रम है गौण। तदनुसार वेदाध्ययन और स्नान हैं मुख्य और दोनों का क्रम है गौण। वेदाध्ययन और समावर्त्तनस्नान इन दोनों में यदि आनन्तर्यस्वरूप क्रम मानें तो प्रधानभूत वेदाध्ययन का वेदार्थज्ञानस्वरूप प्रयोजन ही बाधित हो जाता है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि वेदाध्ययन और समा-वर्त्तनस्नान इन दोनों का क्रम ही बाधित हो जाय, अर्थात् 'वेदाध्ययन के बाद समा-वर्त्तन स्नान ही हो' यह नियम हटा दिया जाय ॥ १०० क–ख ॥

स्नानोपलक्षिता चात्र निवृत्तिर्गुरुवेश्मनः ॥ १०० ॥
विरोधित्वेन बाध्येत न तु मध्वादिभक्षणम् ।

स्मार्त्तक्रम के बाध के बाद जिज्ञासा उठती है कि किस प्रकार की क्रम-परम्परा होनी चाहिये। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मार्त्तवचनप्रयुक्त 'स्ना' धातु से लक्षणावृत्ति के द्वारा केवल गुरुकुलवास की निवृत्ति ही विवक्षित है, वेदाध्ययन के समय प्रतिपाल्य मधुप्रभृति के भोजन का निषेध नहीं। अतः 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से वेदाध्ययन के बाद आपाततः प्राप्त गुरुकुल-वास-निवृत्ति का ही केवल बाध होता है, मध्वादिभक्षण का बाध नहीं होता है।

कहने का तात्पर्य है कि वेदाध्ययन के लिए गुरुगृह में वास करने की शास्त्र की आज्ञा है। अतः वेदाध्ययन के समाप्त होने पर साधारणतः गुरुगृह में वास करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु वेद का अध्ययन वेद का केवल अक्षरग्रहण नहीं है, ऊहापोहपूर्वक निर्णीत वेद के अर्थ को जानना तक वेदाध्ययन शब्द का अर्थ है। इसीके लिये 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' यह सौत्र निर्देश महर्षि जैमिनि का है। तदनुसार वेद के अक्षरग्रहण स्वरूप अध्ययन के बाद केवल समावर्त्तनस्नान प्राप्त होता है। किन्तु इस स्नान का कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार स्नान को आपन्न अदृष्टार्थकत्व से बचाने का यह उपाय है कि उक्त स्मृतिवचन के 'स्ना' धातु की प्रकृत में गुरुगृह के वास की निवृत्ति में लक्षणा की जाय जिससे उक्त स्मृति-

वचन का यह् अर्थ होगा कि वेदाध्ययन के वाद गुरुगृह् में वास को छोड़ देना चाहिये। किन्तु महर्षि जैमिनि का उक्त सौत्रनिर्देश इसमें वाधक होता है, क्योंकि उक्त सौत्रनिर्देश के अनुसार वेदाध्ययन के वाद धर्म की जिज्ञासा प्राप्त होती है। महर्षि का तात्पर्य है कि वेद के अक्षरग्रहण की तरह् उसके अर्थों को जानने के लिए भी गुरुगृह् में रहने की आवश्यकता है। अतः वेद के अक्षरग्रहण के वाद तुरत गुरुगृह् को नहीं छोड़ना चाहिये। तब तक गुरुगृह् में रहना आवश्यक है जब तक वेदों के अर्थों को अच्छी तरह् न समझ लिया जाय। इस वलवती युक्ति के कारण 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सौत्रनिर्देश से वेदाध्ययन के वाद प्राप्त गुरुगृहवास की निवृत्ति का वाध होता है। फलतः वेदार्थ के सम्यग् ज्ञान पर्यन्त गुरुगृह् में वास करने की आज्ञा प्राप्त होती है।

वेद के अक्षरग्रहण स्वरूप अध्ययन के लिए आवश्यक गुरुगृहवास को यदि प्रयोजनवश वेदार्थ के सम्यग्ज्ञान पर्यन्त वढ़ा दें तो प्रश्न होता है कि वेदाध्यन के समय गुरुगृहवास की विधि की तरह् मधुमांसादि के भक्षण का निषेध भी वेदार्थ के सम्यग्ज्ञान पर्यन्त चलना चाहिये। इस प्रश्न का यह् उत्तर है कि वेदाध्ययन के वाद भी वेदार्थ के सम्यग्ज्ञान के लिये गुरुगृह् में वास करने की आवश्यकता है। अतः उसकी अवधि को वढ़ाना आवश्यक है। मधुमांसादि के भोजन से भी वेदार्थ के सम्यग्ज्ञान में कोई वाधा नहीं पड़ेगी। अतः मध्वादिभक्षण के निषेध को वेदाध्ययन काल से वढ़ाकर वेदार्थज्ञान पर्यन्त ले आने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १००½ ॥

तस्माद् गुरुकुले तिष्ठन्मधुमांसाद्यवर्जयन् ॥ १०१ ॥
जिज्ञासेताविरुद्धत्वाद् धर्ममित्यवगम्यते ।

इन सभी कारणों से गुरुकुल में रहते हुये मधुमांसादि को छोड़े विना भी अर्थात् मधुमांसादि का भक्षण करते हुये धर्म की जिज्ञासा करे, क्योंकि मधुमांसादि का भक्षण धर्मजिज्ञसा का विरोधी नहीं है ॥ १०१½ ॥

गुरुगेहनिवृत्त्यंशो यावच्च न समाप्यते ॥ १०२ ॥
तावद् सकलवाचित्वात्र स्नानं पर्यवस्यति ।
गुरुगेहावनावृत्तः स्नातको हि न कथ्यते ॥ १०३ ॥
तत्परत्वविधानाच्च न तावद् दारसङ्ग्रहः ।

(पृ० ५०) यदि वेदार्थज्ञान के लिये वेदाध्ययन के समय प्रतिपालनीय नियमों में गुरुगृह् में वास करने भर की आवश्यकता रहे तो फिर मधु-प्रभृति के भक्षणों की तरह् दारग्रहण भी वर्जित नहीं रहना चाहिये। अतः समावर्त्तन के पहले और वेदाध्ययन के वाद दारग्रहण करना चाहिये अथवा नहीं—इस पूर्वपक्ष का यह् समाधान है कि—'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्य से स्नान का विधान नहीं किया गया है किन्तु वेदाध्ययनकाल में गुरुगृहवास, अस्नान प्रभृति ब्रह्मचारियों के लिये जितने भी नियम हैं उन सब का निषेध ही उक्त स्मार्त्तविधान के द्वारा किया गया है।

इस प्रकार 'वेदमधीत्य स्नायात्' यह वाक्य 'परिसंख्या' विधि है, क्योंकि इससे अस्नान की निवृत्ति के द्वारा स्नानादि का विधान प्राप्त होता है। गुरुगृहवास के समय 'अस्नान' का नियम अवश्य प्रतिपाल्य है। सुतराम् जब तक गुरुगृहवास की निवृत्ति नहीं होगी तब तक समावर्त्तनस्नान प्राप्त नहीं है। इसी लिये गुरुगृहवास के समय कोई 'स्नातक' नहीं कहला सकता। अतः उक्त स्मृतिवचन के द्वारा निर्देश्य गुरुगृहनिवृत्ति स्वरूप अंश जब तक निष्पन्न नहीं होता है तब तक उक्त स्मृतिवचन का पर्यवसान स्नान में नहीं हो सकता। अत एव आप्त वृद्ध गण जब तक ब्रह्मचारी गुरुगृह से लौट नहीं आते तब तक उन्हें 'स्नातक' नहीं कहते।

स्नातक के लिये ही दारपरिग्रह का विधान 'स्नात्वा दारमुपगच्छेत्' इस वचन से है। अतः वेदाध्ययन के बाद वेदार्थज्ञान के लिये गुरुगृहवास के समय मध्वादि-भक्षण की तरह दारसंग्रह की छूट नहीं दी जा सकती ॥ १०३ ॥

व्याख्याय कीर्तिता चात्र स्नायादिति पुनः स्मृतिः ॥ १०४ ॥

इस आधे श्लोक से

'वेदमधीत्य स्नायात्, गुरुकुलान्मा समाविर्त्तिष्ट इत्यस्यार्थतापरिहारार्थम्' (शाबरभाष्य पृ० ७ पं० ३)। इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या के लिये आक्षेप किया गया है कि—'वेदमधीत्य स्नायात्' पहला वाक्य पुनरुक्ति दोष से ग्रसित है, क्योंकि इससे पहले भी

'एवं हि समामनन्ति वेदमधीत्य स्नायादिति'

इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने उक्त स्मृतिवचन का उल्लेख किया है। विना किसी प्रयोजन के उसी स्मृतिवाक्य का पुनः उल्लेख करते हैं। अतः दूसरा उल्लेख पुनरुक्ति से दुष्ट है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि भाष्यकार ने उक्त स्मृतिवचन का प्रथम उल्लेख कर यह प्रतिपादन किया है कि उक्त स्मृतिवाक्य वेदाध्ययन के बाद स्नान का विधायक नहीं है। किन्तु वेदाध्ययन के समय अवश्य प्रतिपालनीय अस्नानादि नियमों की उस अवधि का ज्ञापक है जिससे यह ज्ञात हो सके कि वेदाध्ययन के समय तक ही उन नियमों का पालन करना आवश्यक है, उसके बाद नहीं। इस अर्थ का 'अनुवाद' उक्त स्मृतिवचन के पहले उल्लेख से हुआ है। 'अनुवाद' से भिन्न स्थल में ही पुनरुक्ति दोषावह है, क्योंकि प्रयोजन के वशीभूत होकर 'गच्छतु गच्छतु भवान्' इत्यादि प्रयोग लोक में दृष्ट हैं। यहाँ भी उक्त स्मृतिवचन का पुनरुल्लेख पुनरनुसन्धान स्वरूप प्रयोजन के लिये ही है। अतः दोषजनक नहीं है ॥ १०४ ॥

समावर्तिष्ट मेत्यादि स्मृतेर्यद्यप्यनन्तरम् ।
विपरीतार्थमित्यस्मात् तद्वाक्यादपनीयते ॥ १०५ ॥

अथशब्देन यो बाधः पुरस्तादुपवर्णितः।
तन्मात्रस्यैव बाधोऽत्र दृष्टार्थत्वात् प्रदर्शितः॥ १०६॥

उक्त भाष्यसन्दर्भ के 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट' इस वाक्य के प्रसङ्ग में आक्षेप है कि यह वाक्य 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के विरुद्ध है, क्योंकि वेदाध्ययन पर्यन्त गुरुगृह में वास आवश्यक है। वेदाध्ययन के बाद स्नान का अथवा अस्नानादि-निवृत्ति का निर्देश है। फलतः गुरुगृह से ही उक्त स्मृतिवचन के द्वारा समावर्त्तनस्नान प्राप्त है। किन्तु भाष्य के उस वाक्य को उस स्मृतिवाक्य से अलग कर व्याख्या करनी चाहिये।

अलग व्याख्या से अभिप्रेत यह अर्थ है कि भाष्य में लिखित 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस वचन के साथ 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट' इस वाक्य का इतना ही तात्पर्य है कि पहले यह उपपादन किया गया है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृति-वाक्य की 'अस्नानादिकं वर्जयेत्' इस अर्थ में लक्षणा है। इसी प्रसङ्ग में यह भी कहा गया है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से आनन्तर्य का विधान नहीं हुआ है (जो स्वभावतः जान पड़ता है)। आनन्तर्यार्थक अथ' शब्द की भी 'गुरुकुला-न्मा समावर्त्तिष्ट' इस अर्थ में ही लक्षणा है। इन दोनों ही लक्षणाओं को मानने का मूल है स्नान और वेदाध्ययन को अदृष्टार्थकत्व से बचाना।

अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि सौत्र 'अथ' शब्द से गुरुगृहनिवास की निवृत्ति की तरह मध्वादि के अभक्षण की निवृत्ति का भी बाध प्राप्त है। किन्तु उन सभी क्रियाओं का बाध यहीं इष्ट नहीं है। केवल वेदाध्ययन के बाद प्राप्त गुरुगृह-वासनिवृत्ति का ही बाध अभीष्ट है, क्योंकि वेदाध्ययन से वेदार्थज्ञान स्वरूप दृष्ट प्रयोजन के लिये गुरुगृह में रहना आवश्यक है। अतः 'अथ' शब्द से गुरुगृह में वास की निवृत्ति का ही बाध होता है। इस दृष्ट प्रयोजन के लिये मधुमांसादि-भक्षण को त्यागने की आवश्यकता नहीं है। इस विभेद में अदृष्टार्थकत्व का भय ही प्रयोजक है। अतः वेदाध्ययन के बाद मध्वादि के अभक्षण के नियम की निवृत्ति स्वभावतः हो जाती है। यदि ऐसा न मानें तो उन्हें अदृष्टार्थक मानना होगा। उक्त स्मृतिवचन के विपरीत यही बात 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट' वाक्य से भाष्यकार ने कही है॥ १०५–१०६॥

स्मृतिप्राप्तमिदानीं तु मधुमांसाद्यवर्जनम्।
प्रतिषेधन्नदृष्टार्थं सूत्रकारो न शोभते॥ १०७॥

यदि वेदार्थज्ञान के विरोधी गुरुकुलवास की निवृत्ति की तरह उसके अविरोधी मधुप्रभृति के अभक्षण के निषेध में भी व्यर्थ 'अथ' शब्द की लक्षणा करें तो यह सूत्र-कार जैसे न्यायप्रिय व्यक्ति के लिये शोभा की बात नहीं होगी, क्योंकि ऐसा मानने पर ये मध्वादि-अभक्षण के निषेधादि केवल अदृष्टार्थक हो जायेंगे, क्योंकि वेदार्थ में इनका कोई दृष्ट उपयोग नहीं है। अतः वेदार्थज्ञान के समय यदि मधुप्रभृति के अभक्षण का निषेध मानें तो उनका अदृष्ट के द्वारा ही वेदार्थज्ञान में उपयोग मानना होगा। सो अयुक्त है। अतः यही मानना उचित होगा कि महर्षि जैमिनि ने सौत्र

'अथ' शब्द से लक्षणा वृत्ति के द्वारा केवल गुरुगृह में वास की निवृत्ति का ही बाध किया है जिसका दृष्ट उपयोग वेदार्थज्ञान में है ।। १०७ ।।

निवृत्य गुरुगेहाच्च जिज्ञासार्थः पुनर्भवेत् ।
प्रवेशः सोऽप्यदृष्टार्थ इति नैवेह सूत्रितः ।। १०८ ।।

इस प्रसङ्ग में आक्षेप किया जा सकता है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के अनुसार गुरुगृह को छोड़ने के बाद भी पुनः धर्म की जिज्ञासा के लिये वास करना यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वचन के अनुसार प्रारम्भ करे तो उस स्मृतिवचन का भी बाध नहीं होता है। एवं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वाक्य से विहित वेदाध्ययन शब्द से अभीष्ट वेदार्थज्ञान का भी निर्वाह गुरुगृह में रहते हुये हो जाता है। अतः अक्षरग्रहण रूप अध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान के बाद वेदार्थज्ञान स्वरूप वेदाध्ययन के लिये पुनः गुरुगृह में यदि वास आरम्भ करे तो स्नान के विधायक वाक्य में लक्षणा की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि गुरुगृह से एक बार लौटकर उसमें पुनः प्रवेश का कोई दृष्ट प्रयोजन उपलब्ध नहीं है। अतः पुनः प्रवेश को अदृष्टार्थक ही मानना होगा। इसीलिये महर्षि ने वैसा निर्देश नहीं किया।

यद्यपि इस आक्षेप का परिहार श्लो ९७ के द्वारा पहले भी किया जा चुका है, अतः पुनः उसी आक्षेप का परिहार पुनरुक्तिजनक है, किन्तु पहले इस आक्षेप का परिहार दूसरी युक्ति से किया है, इसी अन्तर के कारण प्रकृत में पुनरुक्ति दोष का कथञ्चित् परिहार हो सकता है ।। १०८ ।।

निर्गमो हि कृतार्थस्य दृष्टार्थो गुरुवेश्मनः ।
स्मर्यते तस्य नार्थः स्यादकृतार्थस्य निर्गमे ।। १०९ ।।

'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन के अनुसार यदि अदृष्टार्थ ही गुरुगृह-वास से निवृत्त हो जाय तो इसमें हानि कौन सी है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवचन से गुरुगृहवासादिकी निवृत्ति का निर्देश इस दृष्ट प्रयोजन के लिये ही हुआ है कि जब गुरुगृहवास का प्रधान कार्य वेदाध्ययन समाप्त हो जाता है तब उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'अनाश्रमी न तिष्ठेत' तब इस स्मृतिवचन के अनुसार दूसरे आश्रम का ग्रहण प्राप्त हो जाता है। एक आश्रम को छोड़े विना दूसरे आश्रम का ग्रहण संभव नहीं है। वेदाध्ययन की पूर्त्ति के लिये निर्दिष्ट ब्रह्मचर्याश्रम के अङ्ग गुरुगृहवास की समाप्ति हो जाने (फलतः ब्रह्मचर्याश्रम के समाप्त हो जाने) के कारण वेदाध्ययन के बाद उसे छोड़ देना आवश्यक हो जाता है। किन्तु वेदाध्ययन शब्द का अर्थ वेदों का अक्षरग्रहण मात्र नहीं है। किन्तु अक्षरग्रहण से लेकर वेदार्थज्ञान पर्यन्त वेदाध्ययन शब्द का अर्थ है। अतः वेदों के अक्षरग्रहण के बाद वेदार्थज्ञान से पहले गुरुगृहवास का त्याग ही नहीं प्राप्त है। फिर भी यदि अक्षरग्रहण मात्र के बाद ही गुरुगृहवास को छोड़ दे तो फिर गुरुगृह जाने की आवश्यकता केवल अदृष्ट के लिये ही संभव हो सकती है ।। १०९ ।।

'अथ' शब्द का विवरण समाप्त

'अतः' शब्द का विवरण

अथशब्दप्रसिद्धयैव वेदग्रहणहेतुता ।
आनन्तर्योपदेशित्वादतः शब्देन किं पुनः ॥ ११० ॥

'अतः' शब्द के प्रसङ्ग में यह आक्षेप होता है कि 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'अतः' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है, क्योंकि 'अतः' शब्द से वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा की कारणता मात्र व्यक्त होती है (यतः वेदाध्यनं धर्मजिज्ञासाया हेतुः 'अतः' वेदाध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या) । किन्तु पहले कह आये हैं कि धर्म-जिज्ञासा में वेदाध्ययन के आनन्तर्य का विधान दृष्टार्थक है, अदृष्टार्थक नहीं । इस विधान में दृष्टार्थकता तभी आ सकती है जब कि वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासा का कारण हो । इस प्रकार 'अथ' शब्द से ही वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा की कारणता प्राप्त हो जाती है । जैसा कि भाष्य में कहा भी है कि 'तत्तु वेदाध्ययनम्, तस्मिन् सति साऽव-कल्पते' । इसलिये सूत्र में 'अतः' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है ॥ ११० ॥

योग्यत्वमथशब्देन[1] यद्यपि प्रतिपादितम् ।
तदेव हेतुरत्रेति नातःशब्दाद्विना भवेत् ॥ १११ ॥
लक्षणं पुरुषस्यैव तदा तद्धि प्रसज्यते ।
जिज्ञासायाश्च हेतुत्वे फलार्थत्वादि सम्भवेत् ॥ ११२ ॥

अक्षरार्थक्रम से दोनों श्लोकों का अर्थ है कि केवल 'अथ' शब्द से धर्म-जिज्ञासा के लिए अधिकारी पुरुष का 'लक्षण' अर्थात् योग्यता कही जाती है जिससे 'फलार्थित्वादि' भी अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि कामश्रुतियाँ भी जिज्ञासा का मूल समझी जा सकती हैं । इससे त्रैवर्णिकों से भिन्न को भी याग का अधिकार प्राप्त होगा । इसीलिए 'अतः' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा की अथवा वेदार्थविचार की हेतुता दो प्रकार की होती है—(१) उत्पादकत्व रूप और (२) अनुष्ठापकत्व रूप । इनमें पहली हेतुता 'अथ' शब्द से और दूसरी हेतुता 'अतः' शब्द से कही गयी है । इसलिए 'अतः' शब्द का प्रयोग व्यर्थ नहीं है ।

कहने का तात्पर्य है कि 'अथ' शब्द से केवल इतना ही समझा जाता है कि 'वेदाध्ययन से उक्त पुरुष ही धर्मजिज्ञासा का अधिकारी है' । फलतः इससे सामान्य रूप से वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा की हेतुता प्राप्त होती है । इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से विहित अध्ययन ही धर्मजिज्ञासा का कारण है । इससे यह आपत्ति होगी कि त्रैवर्णिकों से अतिरिक्त जनों को भी याग करने का अधिकार प्राप्त हो जायगा, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों

---

१. उक्त आक्षेप के तीन समाधान १११वें श्लोक से लेकर ११४वें श्लोक पर्यन्त ४ श्लोकों से हुआ है । इनमें पहले समाधान के लिये ये दो श्लोक हैं । इनमें पहले श्लोक में समाधान और दूसरे श्लोक में उसका विवरण है ।

से यह समझा जाता है कि 'स्वर्गकामना से युक्त पुरुष याग करे'। स्वर्ग की कामना सभी जातियों के मनुष्यों को समान रूप से प्राप्त है। किन्तु याग के अनुष्ठान का ज्ञान प्राप्त किये विना याग करना संभव नहीं है। अतः इस विधि से यह भी सिद्ध होता है कि याग करने वाले को अनुष्ठान के उपयुक्त ज्ञान भी चाहिये। यह ज्ञान विना वेदार्थविचार के संभव नहीं है। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' इस विधि वाक्य से आपामरसाधारण सभी जनों के लिये वेदाध्ययन का आक्षेप होता है। इससे त्रैवर्णिक से भिन्न जनों को भी याग का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी निवृत्ति करने के लिए ही 'अतः' शब्द का प्रयोग सूत्र में किया गया है।

'अतः' शब्द के प्रयोग से इस प्रकार का अर्थ सूत्र का निष्पन्न होता है—'अथ' वेदाध्ययनानन्तरम् 'अतः' अधीतवेदत्वात् वेदार्थभूतधर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के द्वारा निर्दिष्ट अध्ययन ही धर्मजिज्ञासा का प्रयोजक है। इस वाक्य से उपनयन-संस्कृत त्रैवर्णिक के लिये ही वेदाध्ययन—वेदार्थविचार का विधान किया गया है जिससे उपनयन संस्कार के अनधिकारी जनों से याग का अधिकार निवृत्त हो जाता है। फलतः धर्मजिज्ञासा के प्रयोजक वेदार्थविचार का आक्षेप प्रकृत में 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि कामश्रुतियों से इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे त्रैवर्णिकेतर जनों को भी याग का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसलिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन के विधायक वाक्य से निर्दिष्ट वेदाध्ययन और वेदार्थविचार ही धर्मजिज्ञासा के प्रयोजक हैं जिससे त्रैवर्णिकों से भिन्न (त्रैवर्णिकेतर) में यागाधिकार की आपत्ति न हो। इसी को दिखाने के लिए 'अतः' शब्द का प्रयोग है ॥ १११–११२ ॥

अतःशब्दगृहीतं वा तत्राध्ययनमाश्रितम्।
हेतावकथ्यमाने हि मङ्गलाद्यप्यसौ वदेत् ॥ ११३ ॥

'अतः' शब्दोपादान की दूसरी युक्ति यह है कि 'अथ' शब्द आनन्तर्य और मङ्गल दोनों का ही वाचक है। प्रकृत में 'अथ' शब्द को जब आनन्तर्यार्थक मानते हैं तभी आनन्तर्य के प्रतियोगी के रूप में उससे वेदाध्ययन का आक्षेप होता है। 'अथ' शब्द 'अतः' शब्द के साथ प्रयुक्त होने पर ही आनन्तर्य अर्थ का बोधक होता है। यदि 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'अतः' शब्द का प्रयोग न करें तो इस सूत्र के 'अथ' शब्द को मङ्गलार्थक भी माना जा सकता है, क्योंकि यह सूत्र ग्रन्थ के आदि में है। अतः 'अथ' शब्द से निश्चित रूप से वेदाध्ययन के आक्षेप के लिये ही 'अतः' शब्द का प्रयोग किया गया है। फलतः प्रकृत में 'अतः' शब्द का प्रयोग 'अथ' शब्द के आनन्तर्यार्थकत्व का नियामक है ॥ ११३ ॥

स्नानबाधस्य वा हेतुरत इत्युच्यते पुनः।
योग्यस्याधीतवेदत्वान्नावस्थातुं हि लभ्यते ॥ ११४ ॥

(३) 'अतः' शब्द की तीसरी व्यावृत्ति यह है कि वेदार्थविचाररूप वेदाध्ययन समावर्त्तनस्नान का बाधक है। 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन में धर्मजिज्ञासा की हेतुता

कही गयी है। किन्तु वही समावर्त्तन का भी बाधक है। यह बात 'अथ' शब्द से नहीं कही जा सकती। वेदाध्ययन में स्नानबाध की इस दूसरी हेतुता को समझाने के लिये ही सूत्र में 'अतः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

कहने का तात्पर्य है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य से विहित 'वेदाध्ययन के उत्तरकाल में वेदार्थविचार करना चाहिये' यह समझने के बाद भी यह जानना अवशेष रहता है कि वेदाध्ययन के बाद समावर्त्तनस्नान करके भी यदि वेदार्थ का विचार किया जाय तब भी वेदार्थविचार वेदाध्ययन के उत्तर काल में ही होगा। किन्तु वेदाध्ययन के अव्यवहितोत्तर काल में ही समावर्त्तनस्नान से पहले ही वेदार्थ का विचार चाहिये यह बात तब तक संभव नहीं है जब तक 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृति का बाध सूत्र से न हो। यही बाध 'अतः' शब्द से सूचित होता है। इससे सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन से वेदार्थ के विचार की क्षमता होती है। इस क्षमता को प्राप्त करने के बाद ज्योतिष्टोमादि यागों में अधिकार की प्राप्ति के लिए आवश्यक वेदार्थज्ञान के लिये जल्द ही तत्पर हो जाना चाहिये, समावर्त्तनस्नानादि के लिये रुकना नहीं चाहिये ॥ ११४ ॥

'धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेत्' इस भाष्यसन्दर्भ का विवरण

> सन्वाच्येच्छान्तरं कर्म ज्ञानं व्याप्नोति तावता।
> ज्ञानोपसर्जना सैव न तु विध्यादि गम्यते ॥ ११५ ॥
> इषेस्तु कर्म बाह्यः स्याद्धर्मः सा वाथ वा द्वयम्।
> समानकर्तृकत्वं तु तुमुनोक्तं लिङा विधिः ॥ ११६ ॥
> एवं विषयनानात्वान्न काचित् पुनरुक्तता।

'धर्मं जिज्ञासितुमिछेत्' इस भाष्यवाक्य में इच्छा अर्थ के द्योतक दो शब्द हैं—(१) 'जिज्ञासितुम्' पदघटक 'सन्' प्रत्यय और 'इच्छेत्' पद का इष् धातु। अतः यह ग्रन्थ पुनरुक्तिदुष्ट है, क्योंकि एक ही इच्छास्वरूप अर्थ को दो शब्दों से दो बार कहा गया है। इस पुनरुक्ति दोष का परिहार इस प्रकार समझना चाहिये कि सन् प्रत्यय के वाच्य इच्छा का कर्म (अर्थात् विषय) 'ज्ञान' आन्तर पदार्थ है, धर्मादि बाह्य पदार्थ नहीं। इष्-धात्वर्थ इच्छा का विषय ज्योतिष्टोमादि धर्म (कर्म) रूप बाह्य पदार्थ अथवा उक्त ज्ञानेच्छा (जिज्ञासा) स्वरूप आन्तर पदार्थ, किं वा जिज्ञासा और धर्म दोनों हैं। इस प्रकार सन् प्रत्ययवाच्य इच्छा और इष्धात्वर्थ इच्छा दोनों विभिन्न-विषयक होने के कारण भिन्न हैं, अतः सन्प्रत्यय और इष् धातु प्रकृत में विभिन्नार्थक हैं एकार्थक नहीं।

इसी प्रकार 'जिज्ञासितुम्' पदघटक 'तुमुन्' प्रत्यय समानकर्तृकत्व का बोधक है और 'इच्छेत्' पदघटक लिङ्लकार विधि का बोधक है। इस प्रकार प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं हैं। अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ में पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ ११५–११६½ ॥

सूत्रितेच्छाभिनिर्वृत्त्यै द्वितीयेच्छाऽत्र सूत्रिता ॥ ११७ ॥

'धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेत्' इस भाष्यपंक्ति के द्वारा दो प्रकार की इच्छायें कही गई हैं। सन्प्रत्ययार्थ इच्छा का विषय है धर्मविषयक ज्ञान। अतः पहली इच्छा वाच्य है ज्ञानेच्छा अथवा जिज्ञासा। इष् धातु के इच्छा का विषय धर्म और ज्ञानेच्छा दोनों हैं। अथवा केवल ज्ञानेच्छा ही इस इच्छा का विषय है। इस प्रकार इष्-धात्वर्थ इच्छा धर्म और ज्ञानेच्छा, एतदुभयविषयिणी अथवा केवल ज्ञानेच्छाविषयिणी है। किन्तु सूत्र में जिज्ञासा को केवल ज्ञानेच्छास्वरूप अर्थात् केवल ज्ञानविषयिणी कहा है। फिर भाष्यकार ने अपनी व्याख्या में दो इच्छाओं का उल्लेख क्यों किया ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि सूत्र में कही गयी 'धर्मज्ञानेच्छा' के सम्पादन के लिए ही दूसरी इच्छा का उल्लेख भाष्य में किया गया है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रकृत सूत्र का अर्थ है 'धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या'। इसके द्वारा सूत्रकार ने शिष्यों से कहा है कि 'धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये'। किन्तु कोई काम विना इच्छा के नहीं होता। तदनुसार धर्मज्ञानेच्छा रूप जिज्ञासा के लिये भी उस जिज्ञासा की इच्छा चाहिये। तदनुसार भाष्यकार ने दूसरी इच्छा का उपादान किया है। तब रहा कि इच्छा इच्छाविषयक हो सकती है या नहीं ? इसके उत्तर में श्री पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि 'हो सकती है', क्योंकि मन्दाग्निरोग से ग्रसित पुरुष को 'भूख' की इच्छा होती है। 'भूख' भोजनेच्छा को छोड़ कर और कुछ नहीं है ॥ ११७ ॥

'धर्मजिज्ञासा' पद का विवरण

प्रकृत्या विकृतिर्यस्माच्चतुर्थ्यन्ता समस्यते।
तादर्थ्ये यूपदार्वादौ तेनास्मिन्नसमासता ॥ ११८ ॥

'धर्मजिज्ञासा' शब्द की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ने लिखा है कि 'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा'। इस व्याख्या के ऊपर किसी का आक्षेप है कि—'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा' यह व्यासवाक्य 'तादर्थ्य' अर्थ के चतुर्थीतत्पुरुष समास का मालुम पड़ता है, यह समास प्रकृतिविकृति-भावस्थल में होता है, अर्थात् चतुर्थ्यन्त पद का अर्थ जहाँ प्रथमान्त पद के अर्थ का विकार होता है। जैसे कि 'यूपाय दारु' इत्यादि स्थलों में। 'यूप' काठ बना हुआ एक प्रकार का खूँटा है। अतः यह 'यूप' दारु (काठ) का विकार है। प्रकृत 'धर्म' जिज्ञासा का विकार नहीं है। अतः 'धर्मजिज्ञासा' पद का उक्त विवरण ठीक नहीं है ॥ ११८ ॥

सा हि तस्येत्यनेनोक्तो धर्मस्येत्येष विग्रहः।
धर्मायेति तु तादर्थ्ये षष्ठी वृत्तेति कथ्यते ॥ ११९ ॥

उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि भाष्यकार ने 'सा हि तस्य जिज्ञासा' इस वाक्य के द्वारा 'धर्मजिज्ञासा' पद का विग्रह दिखलाया है। 'धर्माय जिज्ञासा' यह भाष्यवाक्य 'धर्मजिज्ञासा' पद का विग्रह है ही नहीं। फलतः 'धर्मजिज्ञासा' शब्द 'धर्मस्य जिज्ञासा' इस षष्ठी-समास से ही निष्पन्न है। उक्त षष्ठी विभक्ति का ही अर्थ तादर्थ्य है ॥ ११९ ॥

प्राप्नोत्यत्र चतुर्थ्येव विशेषश्चेद् विवक्षितः।
सामान्यस्य विवक्षायां तादृशं कथ्यते कथम् ॥ १२० ॥

(पू० प०) किन्तु 'तादर्थ्य' अर्थ में तो चतुर्थी विभक्ति होती है षष्ठी नहीं। यदि सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है तो फिर 'तादर्थ्य' के लिए षष्ठी का प्रयोग उचित नहीं है। अतः 'धर्मजिज्ञासा' पद में चतुर्थी समास ही है षष्ठी समास नहीं वह चाहे जिस प्रकार से निष्पन्न हो ॥ १२० ॥

सम्बन्धमात्र एवैषा षष्ठ्युत्पन्ना तथापि तु।
विशेषनिष्ठता तस्या भाष्यकारेण वर्ण्यते ॥ १२१ ॥

उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि उक्त षष्ठी सम्बन्ध-सामान्य में ही है। बिना विशेषों का सामान्य नहीं होता है। सामान्य का पर्यवसान विशेष में अवश्य होता है। तदनुसार इस षष्ठी के सम्बन्ध-सामान्य का पर्यवसान भी किसी विशेष में अवश्य होगा। वह 'विशेष' तादर्थ्य ही है। यही 'धर्मजिज्ञासा' इस भाष्यवाक्य का आशय है ॥ १२१ ॥

साधनाभासता चात्र पूर्वपक्षार्थगोचरा।
अन्यसाधनमन्यस्य साधनाभास उच्यते ॥ १२२ ॥
क्रत्वर्थं पुरुषार्थस्य तदर्थं च क्रतोरिति।

(१) 'स कथं जिज्ञासितव्यः (२) को धर्मः (३) कथं लक्षणः (४) कान्यस्य साधनानि (५) कानि साधनाभासानि (६) किम्परश्चेति' (शाबरभाष्य)

इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने प्रतिज्ञासूत्र में कथित धर्मजिज्ञासा में धर्म-तत्त्व के उपपादक छः प्रश्नों के अन्तर्भाव की सूचना दी है। धर्म के तत्त्वज्ञान के लिए इन छः प्रश्नों का समाधान आवश्यक है।

इस सन्दर्भ के पाँचवें प्रश्न के अन्तर्गत जो 'समाधानाभास' है उसके प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की रीति से विषय का प्रतिपादन हृदयग्राही होने के साथ-साथ विचार-दृढ़ता का भी सम्पादक होता है। अतः सूत्रकार ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में इसी रीति का अवलम्बन किया है। पूर्वपक्ष के साधक जितने भी हेतु होंगे वे सभी सिद्धान्तपक्ष के विरोधी होंगे। अतः पूर्वपक्ष-सूत्रों में उल्लिखित 'साधन' सिद्धान्तपक्ष के लिए 'साधनाभास' होंगे, क्योंकि 'साधन' के समान प्रतीत होने पर भी वास्तव स्वपक्ष-साधन के लिए उपयुक्त न होंगे। अतः एक वस्तु का साधक दूसरी वस्तु के लिए साधनाभास होता है।

जैसे कि जो 'क्रतु' का साधक है, अर्थात् 'क्रत्वर्थ' है वह 'पुरुषार्थ' के लिए साधनाभास है, एवं जो पुरुषार्थ का साधक हेतु है, वह क्रत्वर्थ वस्तु के लिए साधनाभास है ॥ १२२½ ॥

शेषलक्षणशब्दश्च कृत्स्नशास्त्रविवक्षया ॥ १२३ ॥

'तत्र को धर्मः ? कथं लक्षणः ? इति एकेनैव सूत्रेण व्याख्यातम् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किं परश्चेति शेपलक्षणेन व्याख्यातम्, क्व पुरुषपरत्वं, क्व वा पुरुषो गुणीभूतः एतासां प्रतिज्ञानाम् पिण्डितस्य एतत्सूत्रम् 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा इति ।' (शाबरभाष्य प्र० सू०)

इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने सूत्रग्रन्थ के उन सभी स्थलों की ओर सङ्केत किया है जिनसे कथित प्रश्नों का समाधान महर्षि ने किया है। इन प्रश्नों में से 'को धर्मः ? कथं लक्षणम्' इन दोनों प्रश्नों का समाधान 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस एक ही सूत्र से महर्षि ने कर दिया है। 'कान्यस्य साधनानि' इत्यादि तीन प्रश्नों का समाधान 'शेषलक्षण' से किया है। किन्तु शेपलक्षण वाली उक्ति असङ्गत-सी लगती है, क्योंकि 'अथातः शेषलक्षणम्' यह तृतीय अध्याय का पहला सूत्र है, इससे सूत्रकार ने सम्पूर्ण तृतीयाध्याय मात्र को ही व्यक्त किया है। किन्तु कथित तीनों ही प्रश्नों का समाधान केवल तृतीयाध्याय से नहीं होता है। प्रत्युत शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ उक्त तीनों ही प्रश्नों के समाधान के लिए लिखे गये हैं। फिर भाष्यकार की 'शेपलक्षणेन व्याख्यातम्' यह उक्ति कहाँ तक संगत है ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

प्रकृत-भाष्यसन्दर्भ का 'शेपलक्षण' शब्द सम्पूर्ण शास्त्र के लिए है। सूत्रकार के विशेष सङ्केत के अनुसार केवल तृतीय अध्याय के लिए नहीं है। अतः उक्त आक्षेप का कोई अवसर नहीं है ॥ १२३ ॥

प्रसिद्धः शक्यते ज्ञातुम् प्रसिद्धत्वात्तु नेष्यते ।
अप्रसिद्धस्त्वशक्यत्वान्नतरामित्यतोऽब्रवीत् ॥ १२४ ॥

'धर्मः प्रसिद्धो वा स्यात् ? अप्रसिद्धो वा ? स चेत्प्रसिद्धो न जिज्ञासितव्यः, अप्रसिद्धो नतराम् ।' (शाबरभाष्य प्र० सू०)

शास्त्र के साथ धर्मस्वरूप विषय के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने समाधान के लिए आक्षेप व्यक्त किया है कि सूत्रकार ने 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा धर्म ही इस शास्त्र का प्रयोजन है' यह व्यक्त किया है। धर्मस्वरूप विषय के साथ इस शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। किन्तु यह सम्बन्ध शास्त्ररचना का कारण नहीं हो सकता, इसका उपपादन श्लोक १८ के द्वारा पहले ही किया जा चुका है। शास्त्ररचना की यही अनुपपत्ति प्रकृत भाष्यसन्दर्भ से उपपादित हुई है। (तदनुसार श्लोक का अक्षरार्थक्रम से यह अर्थ है कि) प्रसिद्ध वस्तु को सहज में ही समझा जा सकता है। अतः प्रसिद्ध वस्तु को समझने की कोई इच्छा नहीं करता। अप्रसिद्ध वस्तु को कोई जान ही नहीं सकता अतः कोई उसे जानने की इच्छा नहीं करता। यही विशेष दिखाने के लिए धर्म की अप्रसिद्धि के उपपादक सन्दर्भ में 'नतराम्' इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

'धर्मः प्रसिद्धो वा स्यात्' उक्त पूर्वपक्षभाष्य का यह अंश इस आशय से लिखा गया है कि जिस विषय में सन्देह रहे अथवा जिसका कोई प्रयोजन हो उसी विषय की जिज्ञासा होती है। पूर्णप्रकाश में रखे हुए एवं इन्द्रियसंनिकृष्ट घट की जिज्ञासा इस

लिए नहीं होती है कि उस घट के विषय में सन्देह सम्भव नहीं है। एवं काकदन्त की भी जिज्ञासा किसी को नहीं होती है, क्योंकि काकदन्त के ज्ञान से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। धर्म यदि 'प्रसिद्ध' है तो फिर वह निश्चित और निःसन्दिग्ध भी है, अतः उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती। धर्म से किसी प्रयोजन की भी सिद्धि नहीं दीख पड़ती है, अतः धर्म जिज्ञासा के योग्य नहीं है।

इस प्रकार जिज्ञास्यत्व का व्यापक है सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व। व्यापकाभाव व्याप्याभाव का साधक होता है। जैसे कि वह्नि का अभाव धूमाभाव का साधक है। धर्म में सन्दिग्धत्व का अभाव असन्दिग्धत्व है, एवं सप्रयोजनत्व का अभाव निष्प्रयोजनत्व भी है। अतः धर्म में अजिज्ञास्यत्व भी अवश्य है। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है, 'धर्मो न जिज्ञास्यः निःसन्दिग्धत्वात् निष्प्रयोजनत्वाच्च इन्द्रियसंनिकृष्टस्फीतालोकवर्तिघटवत् काकदन्तवच्च।' (देखिये भामती का प्रारम्भ 'अथ यदसन्दिग्धम् यदप्रयोजनम् इत्यादि' सन्दर्भ) ॥ १२४ ॥

जिज्ञास्यः संशयाद्धर्मः श्रेयस्करतयापि च।
असन्दिग्धो ह्यजिज्ञास्यो यो वा स्यान्निष्प्रयोजनः॥ १२५ ॥

इस आक्षेप का समाधान यह है कि धर्म के प्रसङ्ग में चूंकि संशय है एवं धर्म प्रयोजनीय भी है (श्रेयःसम्पादक भी है) अतः धर्म अवश्य ही जिज्ञास्य है। अजिज्ञास्य वही विषय होता है जिसका संशय न हो एवं जो श्रेयःस्वरूप किसी प्रयोजन का सम्पादक भी न हो। इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'धर्मो जिज्ञास्यः सन्दिग्धत्वात् सप्रयोजनत्वाच्च' इस अनुमान के द्वारा कथित धर्म में अजिज्ञास्यत्व का साधक उक्त अनुमान खण्डित हो जाता है। अतः शास्त्रारम्भ उचित है। धर्म में सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व हेतुक अनुमान की सूचना भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से दी है—

'धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमानः कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थञ्च ऋच्छेत तस्माद्धर्म्मो जिज्ञास्य इति।

स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे तदाभिधीयते—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति।' (शाबरभाष्य)

अर्थात् धर्म के प्रसङ्ग में विद्वानों में मतभेद है। कोई किसी वस्तु को धर्म कहते हैं, कोई किसी दूसरी वस्तु को। अतः बिना विचार के ही किसी को धर्म समझ कर प्रवृत्त होने पर इष्ट की हानि ही नहीं होगी, अनिष्ट की प्राप्ति भी। अतः धर्म की जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिये।

वह धर्म निःश्रेयस के साथ पुरुष को सम्बद्ध करता है। इसी लिये महर्षि जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' ऐसा धर्म का लक्षण किया है॥ १२५ ॥

स्वरूपादिषु धर्मस्य द्विधा विप्रतिपद्यते।
पूर्वं प्रमाणरूपाभ्याम् पादेनाद्यस्य निर्णयः॥ १२६ ॥

(धर्म के विषय में विप्रतिपत्तिमूलक जिन संशयों की चर्चा की गयी है, उन के प्रसङ्ग में ज्ञातव्य है कि) धर्म के स्वरूपादि के प्रसङ्ग में प्रथमतः दो विप्रतिपत्तियाँ की जाती हैं कि (१) 'किं प्रमाणको धर्मः ?' (२) 'किं स्वरूपो धर्मः ?' अर्थात् धर्म की सत्ता में प्रमाण क्या है ? एवं धर्म का स्वरूप (लक्षण) क्या है ? महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्रग्रन्थ के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के द्वारा सबसे पहले विप्रतिपन्न इन्हीं दोनों पक्षों में निर्णय किया है।

कहने का तात्पर्य है कि मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय का नाम है 'प्रमाणलक्षण'। इसके पहले पाद में यह साधन किया गया है कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्म के ज्ञापक नहीं हैं' किन्तु 'चोदना' स्वरूप शब्द ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है। अतः चोदनास्वरूप शब्दप्रमाण से बोध्य अर्थ ही धर्म है, तदबोध्य चैत्यवन्दनादि धर्म नहीं है। इस प्रकार धर्म के ज्ञापक प्रमाण के कहने से धर्म का स्वरूप भी कथित हो जाता है। फलतः पहले पाद से धर्म के प्रसङ्ग में उठायी गयी उक्त दोनों विप्रतिपत्तियों का समाधान हो जाता है।

प्रथमाध्याय में इस दृष्टि से भी विचार किया गया है कि केवल चोदनास्वरूप शब्द ही निरपेक्ष (स्वतन्त्र) प्रमाण है।

प्रमाणलक्षण नाम के प्रथमाध्याय के अन्य पादों से यह साधन किया गया है कि—अर्थवादादि विधिवाक्यस्वरूप चोदना के साथ एकवाक्यतापन्न होने पर ही प्रमाण होते हैं। अतः चोदनास्वरूप विधिवाक्यमूलक होने से ही अर्थवादादिवाक्य प्रमाण होते हैं। इस लिये सम्पूर्ण प्रथमाध्याय का 'प्रमाणलक्षण' नाम सर्वथा उपयुक्त है ॥ १२६ ॥

स्थिते वेदप्रमाणत्वे पुनर्वाक्यार्थनिर्णये।
मतिर्बहुविदां पुंसां संशयान्नोपजायते ॥ १२७ ॥
केचिदाहुरसावर्थः, केचिन्नासावयं त्विति।
तन्निर्णयार्थमप्येतत् परं शास्त्रं प्रणीयते ॥ १२८ ॥

वेदों का प्रमाण्य स्थिर हो जाने पर भी वेदों के वाक्य का 'मति' स्वरूप निर्णय नहीं हो पाता है, क्योंकि वेदों को प्रमाण मानने वालों में से अनेक बहुज्ञ व्यक्तियों में से कोई किसी एक वस्तु को धर्म कहते हैं, कोई किसी दूसरी वस्तु को। इस प्रकार उन लोगों के विभिन्न पक्ष अपनाने से कथित 'मति'-विरोधी संशय उत्पन्न हो जाता है। अतः इस विषय में निर्णय करने के लिये भी इस शास्त्र की रचना की गयी है ॥ १२७-१२८ ॥

इति जिज्ञासासूत्रम् ॥

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः १।१।२॥

प्रवर्त्तक (विधिवाक्य) का नाम 'चोदना' है। 'लक्ष्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार (सूत्रस्थ) 'लक्षण' शब्द से 'ज्ञान का करण' अभिप्रेत है। 'अर्थ' शब्द से ऐसे अनुष्ठानों का बोध अपेक्षित है जिससे सुख अधिक मिले और दुःख कम। इस विवरण के अनुसार इस सूत्र का फलितार्थ यह हुआ कि ऐसा अनुष्ठान ही 'धर्म' है जिसका ज्ञापक 'चोदना' (स्वरूप कोई विधिवाक्य) हो एवं वह अनुष्ठान दुःखाधिक सुख का कारण हो।

धर्मे सामान्यतः सिद्धे प्रमाणं चोदनोच्यते।
स्वरूपादेस्ततः सिद्धिः स्वरूपं चेह सूत्र्यते॥ १॥

(इसी सूत्र से शास्त्र का आरम्भ होता है। इस सूत्र का तात्पर्यार्थ यह है कि) प्रथम सूत्र से जिस धर्म के प्रसङ्ग में जिज्ञासा की कर्त्तव्यता का निर्देश हो चुका है उस धर्म के प्रसङ्ग में निम्नलिखित अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठ खड़ी हो जाती हैं (१) धर्म की सत्ता में कोई प्रमाण ही नहीं हैं (२) धर्म की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी हो सकती है (३) धर्म की सिद्धि केवल चोदनास्वरूप शब्दप्रमाण से ही संभव है। इनमें अन्तिम पक्ष का निर्देश ही इस सूत्र से हुआ है। फलतः प्रथम सूत्र के द्वारा साधारण रूप से सिद्ध धर्म का अनुवाद और उस अनूदित धर्म में चोदना-प्रमाणकत्व का विधान इस सूत्र से हुआ है।

इससे ये निष्कर्ष निष्पन्न होते हैं (१) 'चोदनैव तस्य प्रमाणम्, न प्रत्यक्षादि' (अर्थात् विधिवाक्य स्वरूप शब्द ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है, प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण उसके ज्ञापक नहीं हैं)। एवं (२) 'चोदना तत्र प्रमाणमेव नाप्रमाणम्', (अर्थात् विधिवाक्यस्वरूप चोदना उसका ज्ञापक प्रमाण अवश्य है, अप्रमाण नहीं)।

इस प्रकार धर्म का अनुवाद कर प्रमाण का विधान इस सूत्र से होता है। यही श्लोक के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय है।

किन्तु इससे धर्म के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती है। वस्तु की सिद्धि में प्रमाण की तरह उसके 'स्वरूप' अर्थात् लक्षण की भी आवश्यकता होती है। अतः धर्म के लक्षण का प्रतिपादक श्लोक का 'स्वरूपादेस्ततः सिद्धिः' यह अंश है। अर्थात् धर्म में प्रमाण के उक्त विधान से ही धर्म के 'स्वरूपादि' की भी सिद्धि होती है। 'आदि' शब्द से यह ध्वनित होता है कि धर्म के स्वरूप के अतिरिक्त धर्म के अन्य विशेषों की भी सिद्धि इस प्रकार होती है। 'चोदना प्रमाणमेव, नाप्रमाणम्' इस विधान से 'चोदना से विहित धर्मत्व ही है, धर्मत्व नहीं है सो नहीं' धर्म के इस प्रकार के 'स्वरूप' की सिद्धि होती है। 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्, न प्रत्यक्षादि' इस विधान से धर्म के प्रसङ्ग में इस विशेष की सिद्धि होती है कि 'चोदनागम्य अग्नि-होत्रादि ही धर्म है, तदगम्य चैत्यवन्दनादि धर्म नहीं है'।

'स्वरूपं चेह सूत्र्यते' श्लोक के इस चौथे चरण से कहते हैं कि सूत्र से विधान ही इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि धर्म के 'सामान्य स्वरूप' और 'विशेष स्वरूप'

दोनों की साक्षात् ही सिद्धि हो जाती है। इस पक्ष में सौत्र विधान के ये स्वरूप निष्पन्न होते हैं 'यः चोदनालक्षणः अग्निहोत्रादिः स धर्म एव नाधर्मः' अथवा 'अग्निहोत्रादिरेव धर्मः न चैत्यवन्दनादिः'। अर्थात् चोदनास्वरूप विधायकवाक्य जिनके ज्ञापक हैं वे अग्निहोत्रादि धर्म ही हैं अधर्म नहीं। अथवा चोदनागम्य अग्निहोत्रादि ही धर्म हैं तदगम्य चैत्यवन्दनादि नहीं। फलतः 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के प्रधान अर्थ से ही धर्म के स्वरूपादि की सिद्धि होती है, आक्षेपादि से नहीं ॥ १ ॥

द्वयमेकेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते।
स्वरूपेऽपि हि तस्योक्ते प्रमाणं कथ्यतेऽर्थतः ॥ २ ॥

भाष्यकार ने कहा है कि (१) 'को धर्मः ? (२) कथं लक्षणः' ? इन दोनों ही प्रश्नों का समाधान इस एक ही सूत्र से हुआ है। तदनुसार यह मानना होगा कि इस सूत्र के दो अर्थ हैं। किन्तु प्रायः एक वाक्य के दो अर्थ नहीं होते, क्योंकि इससे वाक्यभेद दोष होता है। महर्षि जैमिनि को इस दोष से बचाने के लिए इस श्लोक के द्वारा यह कहा जाता है कि यद्यपि यह ठीक है कि एक वाक्य के दो अर्थ नहीं होते किन्तु उक्त दोनों अर्थ उसके साक्षात् वाच्य नहीं है। इनमें एक है साक्षात् वाच्य और दूसरा आक्षेपलभ्य अर्थ है। वाक्यभेद दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही वाक्य से दो अर्थ अभिहित होते हैं।

प्रकृत में धर्म के स्वरूप की सिद्धि सूत्रस्वरूप वाक्य से अभिधावृत्ति के द्वारा साक्षात् ही होती है। कथितरीति से सूत्र के विधेय अर्थ के द्वारा 'चोदनागम्य ही धर्म है, तदितर अधर्म है' यह सिद्ध हो जाने पर चोदना में धर्मज्ञापक प्रामाण्य एवं प्रत्यक्षादि में तदज्ञापक अप्रामाण्य अर्थतः सिद्ध हो जाते हैं। अतः भाष्यकार की उक्ति से सूत्र में वाक्यभेद दोष की आपत्ति नहीं है ॥ २ ॥

किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ।
तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते ॥ ३ ॥

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' भाष्यकार ने इस वाक्य के द्वारा 'प्रवर्त्तकवचन को चोदना कहा है। इस प्रसङ्ग में ये तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं— (१) 'यजेत' प्रभृति पदों में प्रयुक्त 'विधिलिङ्' स्वरूप प्रत्यय ही उक्त 'प्रवर्त्तक वचन' है ? अथवा (२) केवल प्रत्यय के बोधजनक न होने के कारण 'यजेत' प्रभृति सम्पूर्ण पद ही वह 'प्रवर्त्तकवचन' है ? (३) अथवा 'सोमेन यजेत' इत्यादि वाक्य ही उक्त 'प्रवर्त्तकवचन' है ? इनमें 'उक्त सम्पूर्ण वाक्य' ही उक्त प्रवर्त्तकवचन स्वरूप चोदना है—यही निर्णय प्रकृत श्लोक से किया गया है। श्लोक का अक्षरार्थ यह है कि (१) 'किम्भावयेत् (२) केन भावयेत् (३) कथं भावयेत्' इनमें प्रथम है साध्याकांक्षा, द्वितीय है साधनाकांक्षा, तृतीय है इतिकर्त्तव्यताकांक्षा। इन तीनों ही आकांक्षाओं से परिपूर्ण विधिप्रत्यय ही पुरुष को कार्य में प्रवृत्त कराने में समर्थ हो सकता है। इन तीनों की पूर्ति विधिप्रत्ययान्त पद से युक्त वाक्य से ही सम्भव है। अतः उक्त वाक्य ही प्रवर्त्तक वाक्यस्वरूप चोदना है। केवल विधिप्रत्यय, अथवा विधिप्रत्ययान्त केवल 'पद' उक्त प्रवर्त्तकवाक्य स्वरूप चोदना नहीं है ॥ ३ ॥

चोदनैव प्रमाणं चेत्येतद्धर्मेऽवधारितम् ।
साकाङ्क्षमिति मन्वानो युक्तिलेशं ब्रुयेऽस्पृशत् ॥ ४ ॥

धर्म के प्रसङ्ग में दो अवधारण किये गये हैं (१) 'चोदना प्रमाणमेव एवं (२) चोदनैव धर्मे प्रमाणम् ।' किन्तु ये दोनों ही अवधारण युक्तिसाकांक्ष है यह मानकर ही भाष्यकार ने आगे दो सूत्रों में कथनीय युक्तियों के द्वारा इन दोनों ही अवधारणों को दृढ़ किया है ।

'चोदना हि भूतं भविष्यन्तं, सूक्ष्मं, व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम् ।' (शाबरभाष्य)

उपर्युक्त भाष्यसन्दर्भ से दो विषयों का प्रतिपादन किया गया है । (१) धर्मादि अतीन्द्रिय अर्थों को समझाने की सामर्थ्य 'चोदना' स्वरूप शब्दप्रमाण में ही है । एवं (२) प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण इस प्रकार के अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञापक नहीं हो सकते । किन्तु प्रतिज्ञासूत्र के व्याख्यान में इन अर्थो को कहने की आवश्यकता नहीं है । दूसरी बात यह है कि उक्त दोनों ही अर्थों को कहने के लिये आगे अलग-अलग सूत्र हैं (द्रष्टव्य अ० १ पा० १ सू ४ एवं सू० ५) अतः भाष्यकार का उक्त सन्दर्भ अनावश्यक एवं पुनरुक्ति दोष दोनों से युक्त है । इन्हीं दोनों आक्षेपों को दूर करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है ।

कहने का तात्पर्य है कि संभावित प्रतिज्ञातार्थ ही हेतु के द्वारा साधित होता है, असंभावित प्रतिज्ञातार्थ का हेतु के द्वारा साधन नहीं होता । प्रकृत में जो दो प्रतिज्ञायें की गयी हैं वे दोनों ही असंभावित मालुम पड़ती हैं, क्योंकि लोक में शब्द का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि-प्रमाणों के अधीन ही देखा जाता है । इसी के प्रसङ्ग में प्रकृत प्रतिज्ञा से कहा गया है कि—शब्द में स्वतन्त्र प्रामाण्य ही है । प्रत्यक्षादि अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे धर्म का ज्ञापन करने में असमर्थ हैं । ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने जो (१) 'चोदना प्रमाणमेव एवं (२) चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' ये दो प्रतिज्ञायें की हैं वे दोनों ही असङ्गत मालुम पड़ती हैं । इन दोनों ही प्रतिज्ञाओं को प्रतिज्ञाभास की पंक्ति से हटाने के लिये युक्तियों की अपेक्षा है । इन्हीं युक्तियों का उपपादन 'भूतं भविष्यन्तम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा आगे के कथित दोनों सूत्रों से कथित अर्थ का ही प्रतिपादन किया गया है । फलतः इन दोनों ही प्रतिज्ञाओं की युक्तता दिखाने के लिये आगे कथित दोनों सूत्रों के द्वारा कथित अर्थ का ही परामर्श भाष्यकार ने 'भूतम्, भविष्यन्तम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया है, क्योंकि आगे के दो सूत्रों से जिस प्रपञ्च का अवतार किया गया है वह भी इन्हीं दोनों प्रतिज्ञाओं की रक्षा के लिये है ॥ ४ ॥

सम्भाव्यते प्रमाणत्वं शब्दस्यैवंविधेष्वपि ।
इन्द्रियादेरसामर्थ्यं वक्ष्यमाणमदोदिशत् ॥ ५ ॥

('भूतम्, भविष्यन्तम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ निम्नलिखित रीति से उक्त दोनों ही अवधारणों की युक्तियों का उपपादन है) उक्त भाष्यसन्दर्भ में जिस

प्रकार के अर्थों का उल्लेख है उन विषयों की यथार्थ सिद्धि केवल शब्दप्रमाण से ही संभव है, क्योंकि शब्द ही 'एवम्विध' अर्थों (विषयों) के ज्ञान का उत्पादक हो सकता है। धर्म भी उन्हीं प्रकार के अर्थों में से एक है। अतः धर्म का ज्ञापन केवल शब्दप्रमाण से ही हो सकता है। इन्द्रियादि से युक्त प्रकार के धर्म का ज्ञान संभव नहीं है। इस प्रकार आगे के दो सूत्रों में कही जाने वाली युक्तियों का ही उपपादन 'भूतम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से हुआ है ॥ ५ ॥

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता ॥ ६ ॥

भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, विप्रकृष्ट प्रभृति पदार्थों का ज्ञान केवल शब्दप्रमाण से ही हो सकता है, इन्द्रियादि से नहीं—यही बात आगे प्रत्यक्षसूत्र में भी कही गयी है, किन्तु ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—जो ज्ञान का उत्पादक है वही उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी उत्पादक है, क्योंकि ज्ञान स्वभावतः प्रमात्मक होता है। प्रमा का करण ही प्रमाण है। शब्द से शशविषाणादि प्रभृति ऐसे पदार्थों का भी ज्ञान उत्पन्न होता है, जिनकी किसी काल में भी सत्ता नहीं है। विधिवाक्य स्वरूप चोदना अग्निहोत्रादि धर्म के ज्ञान का (करण) उत्पादक है। इस लिये विधिवाक्य (चोदना) में धर्म प्रमा का करणत्व भी अवश्य है। अतः चोदना में धर्म का प्रामाण्य निर्बाध है ॥ ६ ॥

चोदनेत्यब्रवीच्चात्र शब्दमात्रविवक्षया।
न हि भूतादिविषयः कश्चिदस्ति विधायकः ॥ ७ ॥

'चोदना हि भूतम्' इत्यादि भाष्य के द्वारा चोदना को अतीत अर्थ का भी बोधक कहा है। किन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि चोदना केवल भावी अर्थों का ही बोध करा सकती है, अतीत और वर्त्तमान अर्थों का नहीं। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ आपाततः असङ्गत सा लगता है, किन्तु वास्तव में असङ्गत नहीं है, क्योंकि उक्त भाष्यसन्दर्भ में 'चोदना' शब्द 'विधायक वाक्य' स्वरूप विशेष प्रकार के शब्द के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है। किन्तु इस 'चोदना' शब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा सामान्य प्रकार के सभी शब्द अभिप्रेत हैं, क्योंकि भूत या वर्त्तमान अर्थ का बोधक कोई विधायक वाक्य नहीं होता ॥ ७ ॥

इन्द्रियादिप्युदासेन शब्दो यावन्न साध्यते।
तावच्च तद्विशेषस्य कुतो वावसरो भवेत् ॥ ८ ॥

उक्त भाष्यसन्दर्भ में 'चोदना पद शब्दसामान्यार्थक है' इसमें दूसरी युक्ति यह है कि प्रमाणविशेष स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अतीतादि अर्थों के ज्ञापन के सामर्थ्य के खण्डित होने पर यही स्वभावतः प्राप्त है कि प्रमाण सामान्य के दूसरे विशेष स्वरूप शब्द सामान्य में ही अतीतादि पदार्थों के ज्ञापन का सामर्थ्य दिखाया जाय, शब्दविशेष स्वरूप चोदना में अतीतादि पदार्थों के बोधकत्व का उपपादन साक्षात् प्राप्त नहीं है ॥ ८ ॥

'लक्षण' शब्द की व्याख्या

निमित्तमात्रं चोच्येत प्रमाणं चेह लक्षणम् ।
प्रमाणञ्चापि शब्दो वा तज्ज्ञानं वा निरूप्यते ॥ ९ ॥
पदार्थस्तन्मतिर्वा स्याद्वाक्यार्थाधिगमोऽपि वा ।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्रघटक 'लक्षण' शब्द के अर्थ (१) प्रमिति के साधारण कारण और असाधारण कारण सभी हैं। अथवा (२) प्रमिति का केवल असाधारण कारण (करण) प्रमाण भी उक्त शब्द का अर्थ हो सकता है। द्वितीय पक्ष में 'लक्षण' शब्द के पर्याय 'प्रमाण' पद से विवक्षाभेद से (१) विधायकवाक्य स्वरूप शब्द अथवा (२) उस शब्द का ज्ञान दोनों ही लिये जा सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि प्रकृतसूत्रघटक 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'प्रमाण' ही है। किन्तु 'प्रमाण' यह कारक शब्द है। कारक विवक्षाधीन होते हैं। अतः कारक-वाची 'प्रमाण' शब्द से विवक्षाभेद के अनुसार धर्मप्रमा के सभी कारणों को अथवा उसके 'करण' मात्र को ले सकते हैं। अथवा करणनिष्पन्न प्रमाण शब्द से विधायक वाक्य (चोदना) में प्रयुक्त पद का अर्थ (पदार्थ) (४) अथवा उक्त पदार्थ का ज्ञान (५) कि वा उक्त वाक्यार्थ का ज्ञान ये सभी विवक्षाभेद से 'प्रमाण' के पर्याय 'लक्षण' शब्द के अर्थ हो सकते हैं ॥ ९½ ॥

पूर्वेषां तु प्रमाणत्वे फलत्वं तस्य गम्यते ॥ १० ॥

यदि शब्दादि प्रमाण पद से अभिप्रेत हैं तो उनका ज्ञान उन (प्रमाणों) का फल है। यदि वाक्यार्थादि के ज्ञान प्रमाण हैं तो हेयत्वबुद्धि या उपादेयत्व बुद्धि ही उनके फल हैं।

कहने का तात्पर्य है कि 'प्रमायाः करणम् प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। यथार्थज्ञान ही प्रमा है। विषयों के भेद से ज्ञान भिन्न होते हैं। अतः (ज्ञान की भिन्नता के कारण) प्रमाण भी भिन्न होंगे। इस स्थिति में शब्द को अगर प्रमाण मानें तो उससे उत्पन्न होनेवाला फल होगा शब्द-विषयक प्रमात्मक ज्ञान। यदि वाक्यार्थज्ञान को प्रमाण मानेंगे तो फल होगा वाक्यार्थ में उपादेयत्व का यथार्थ ज्ञान अथवा हेयत्व का यथार्थ ज्ञान। इस प्रकार प्रमा के करण के भेद से विभिन्न फलों की कल्पना करनी चाहिये ॥ १० ॥

देखिये न्यायवार्त्तिक (प्रमाणलक्षण)

ज्ञाने लक्षणशब्दोऽयं यदि नाम प्रयुज्यते ।
चोदनोक्तिस्तदा कार्यं तत्कार्यं चापि लक्षयेत् ॥ ११ ॥

सूत्रगत 'लक्षण' शब्द प्रमाण का बोधक है एवं 'चोदना' शब्द विधायक-वाक्य रूप शब्द का या शब्दसामान्य का बोधक है। एवं श्लोक में कह आये हैं कि 'वाक्यार्थज्ञानादि भी प्रमाण हो सकते हैं'। जिस पक्ष में 'लक्षण' शब्द वाक्यार्थज्ञान रूप प्रमाण का बोधक है उस पक्ष में 'चोदना' शब्द का अभेदान्वय 'लक्षण' शब्द

के साथ संभव नहीं होगा, क्योंकि समानार्थक दो शब्दों में ही अभेदान्वय होता है। विभिन्नार्थक दो शब्दों में अभेदान्वय नहीं होता। प्रमाणवाची 'लक्षण' शब्द वाक्यार्थ ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्ष में उक्तज्ञानार्थक हो जाता है।

'चोदना' शब्द अभिधावृत्ति के द्वारा विधायकवाक्यरूप शब्दविशेष का बोधक है, एवं लक्षणावृत्ति से वही 'चोदना' शब्द शब्दसामान्य का बोधक है। इस प्रकार 'लक्षण' शब्द और 'चोदना' शब्द दोनों विभिन्नार्थक हो जाते हैं। इन दोनों में अभेदान्वय नहीं हो सकता। फिर सूत्र में कर्मधारयनिष्पन्न 'चोदनालक्षणः' इस वाक्य का प्रयोग सूत्रकार ने कैसे किया? इस प्रश्न का यह समाधान है कि

यदि सूत्रस्थ प्रमाणवाची 'लक्षण' शब्द वाक्यार्थज्ञानादि के लिए प्रयुक्त हैं तो सूत्रस्थ 'चोदना' शब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा पदज्ञान अथवा पदार्थज्ञानादि को ही समझना चाहिये।

[1]कहने का तात्पर्य है कि 'लक्षण' शब्द से जो अर्थ चाहे जिस वृत्ति से कल्पित हो 'चोदना' शब्द से भी उसी अर्थ को लेना चाहिए इसके लिये अभिधा या लक्षणा जिस किसी भी वृत्ति का अवलम्बन करना पड़े। इस प्रकार 'लक्षण' शब्द और 'चोदना' शब्द एकार्थक हो सकते हैं। अतः दोनों में अभेदान्वय एवं तन्मूलक कर्मधारय समास अनुपपन्न नहीं हैं ॥ ११ ॥

निमित्तमात्रे शब्दे च प्रमाणे मुख्यवृत्तयोः।
सामानाधिकरण्यं स्याच्चोदनालक्षणस्वयोः ॥ १२ ॥

यदि प्रमाण शब्द का अर्थ प्रकृत में प्रमा के निमित्तमात्र अर्थात् सभी कारणों को मानें तो फिर अभिधास्वरूप मुख्यवृत्ति के द्वारा ही 'चोदना' शब्द और 'लक्षण' शब्द में अभेदान्वय हो सकता है। इसके लिए दोनों में से किसी भी शब्द में गौणवृत्ति का अवलम्बन आवश्यक नहीं है ॥ १२ ॥

द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥ १३ ॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥ १४ ॥

---

१. इस प्रसङ्ग में मीमांसकमूर्द्धन्य पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि भाष्य के अनुसार 'चोदना वाक्य रूप ही है' इस मत को मानकर ही उक्त श्लोक लिखा गया है। इस पक्ष को यदि स्वीकार न करें तो जिस प्रकार 'लक्ष्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभिधावृत्ति से 'लक्षण' शब्द 'प्रमाण' का बोधक होता है, उसी प्रकार 'चोद्यते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'चोदना' शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा ही पदज्ञानादि का भी बोध हो सकता है। अर्थात् चोदना शब्द के मुख्यार्थ ही पदज्ञानादि हो सकते हैं। अतः दोनों में अभेदान्वय के लिए चोदना शब्द में लक्षणावृत्ति का अवलम्बन आवश्यक नहीं है, क्योंकि अभिधा स्वरूप मुख्यवृत्ति से भी 'चोदना' शब्द का अर्थज्ञान हो सकता है।

द्रव्यक्रियागुणादीनाम्..............स्थापयिष्यते

'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' यह अवधारण असङ्गत-सा लगता है, क्योंकि गोदोहनपात्रस्वरूप द्रव्य ऋगादिशब्दनिष्ठ नीचैस्त्वादि गुण, यागादिक्रिया, इन सभी प्रकार की वस्तुओं को भी सुखादि फलों के साधन होने के कारण 'धर्म' शब्द से भाष्य में अभिहित किया गया है। किन्तु गोदोहनादिपात्रस्वरूप द्रव्यात्मक धर्म इन्द्रियादि प्रमाणों के द्वारा भी समझे जा सकते हैं। अतः 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' यह कथन असङ्गत-सा लगता है।

तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि.......नित्यं वेदात्.......नेन्द्रियगोचरः

उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि द्रव्यादि अपने द्रव्यत्वादि रूप से ही इन्द्रियवेद्य हैं। किन्तु इन्द्रियगोचर द्रव्यत्वादि रूप से वे धर्म नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो जिस प्रकार गोदोहनपात्रादि धर्म हैं, उसी प्रकार घटादि भी धर्म होते। अतः 'चोदनागम्यत्व' रूप से ही यागादि की तरह गोदोहनादि श्रेयःसाधन हो तो धर्म है। घटादि द्रव्य चोदनागम्य नहीं है, अतः वे धर्म नहीं हैं। यह चोदनागम्यत्व या वेदबोध्यत्व रूप धर्म इन्द्रियगोचर नहीं हैं। अतः केवल गोदोहनादि द्रव्य इन्द्रियगोचर होने हुए भी चोदनागम्यत्वविशिष्ट गोदोहनादि द्रव्य इन्द्रियगोचर नहीं हैं। इस दृष्टि से भाष्य में कहे गये उक्त गोदोहनादि द्रव्य इन्द्रियादि प्रमाणों के विषय नहीं हैं। अतः 'धर्म केवल चोदनागम्य ही है, इन्द्रियादिगम्य नहीं' भाष्यकार की यह उक्ति असङ्गत नहीं है॥ १३–१४॥

(१) प्रदर्शनार्थमत्रोक्तमिन्द्रियं　　　सूत्रकारवत्।
(२) नान्यत्किञ्चेति वाच्छेदः सामान्यार्थः प्रयुज्यते॥ १५॥
तदसामर्थ्यसिद्ध्यै　च　पुनरिन्द्रियकीर्तनम्।

'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इस अवधारणा की पुष्टि के लिए ही भाष्यकार ने 'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' यह वाक्य लिखा है। जिसका तात्पर्य है कि 'धर्म का ज्ञापक केवल चोदनारूप शब्द ही है, कोई भी इन्द्रिय धर्म का ज्ञापक नहीं है'। किन्तु केवल इन्द्रिय में धर्मज्ञापन के असामर्थ्य से शब्दप्रमाण मात्र में धर्मज्ञापकता की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए यह आवश्यक है कि शब्द से अतिरिक्त अनुमानादि जितने भी प्रमाण हैं, सभी में धर्मज्ञापन का असामर्थ्य दिखलाया जाय, क्योंकि 'धर्म इन्द्रियगम्य नहीं है' इससे यह सिद्ध होता है कि 'धर्म केवल शब्दप्रमाणगम्य है' धर्म का ज्ञान इन्द्रिय से न होने पर भी अनुमानादि प्रमाणों से उसका ज्ञान हो सकता है। धर्म को यदि शब्द से भिन्न किसी भी प्रमाण से ज्ञात होने योग्य मान लें तो धर्म में 'केवल चोदनागम्यत्व' व्याहत हो जाता है। तस्मात् 'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' भाष्यकार की यह उक्ति सङ्गत नहीं है। इस आक्षेप का प्रथम समाधान यह है कि–

प्रदर्शनार्थम्..............सूत्रकारवत्

(१) 'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' यह भाष्य का वाक्य 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारणा का साधक नहीं है किन्तु दृष्टान्तवाक्य है। तदनुसार प्रकृत सन्दर्भ

का यह अर्थ होता है कि जिस प्रकार इन्द्रिय धर्म का ज्ञापक नहीं है, उसी प्रकार चोदनादि से भिन्न अनुमानादि भी धर्म के ज्ञापक नहीं हैं। अतः केवल 'चोदना' ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है। इस प्रकार के दृष्टान्तवाक्य का प्रयोग सूत्रकार ने भी 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस सूत्र में किया है। इस सूत्र के द्वारा भी उक्त अवधारणा को ही दृढ़ किया गया है। किन्तु सूत्र में प्रत्यक्षलक्षण के निरूपण द्वारा यह दिखाया गया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का 'अनिमित्त' है, क्योंकि—प्रत्यक्ष केवल वर्त्तमान काल में विद्यमान वस्तु का ही ग्राहक है। किन्तु इस अवधारणा की पुष्टि के लिये कथित युक्ति से केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में धर्मज्ञापन का असामर्थ्य दिखाना युक्तिसङ्गत नहीं है। अतः सूत्र का यहाँ यही तात्पर्य हो सकता है कि प्रत्यक्ष में उक्त असामर्थ्य का प्रदर्शन केवल दृष्टान्त के लिये है जिससे प्रत्यक्ष स्वरूप दृष्टान्त के द्वारा अनुमानादि अन्य प्रमाणों में भी धर्म प्रमा के असामर्थ्य की सिद्धि के द्वारा 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण को दृढ़ किया जा सके। अतः 'नान्यत्किञ्च-नेन्द्रियम्' भाष्यकार की यह उक्ति असङ्गत नहीं है।

नान्यत् किञ्चनेति.......युज्यते.......तदसामर्थ्य.......कीर्त्तनम्

(२) उक्त आक्षेप का ही दूसरा समाधान यह है कि—'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' भाष्य के इस वाक्य का विभाग निम्न क्रम से करना चाहिये—'नान्यत् किञ्च'—और 'नेन्द्रियम्'। इन दोनों में से पहला वाक्य शब्द से भिन्न अनुमानादि जितने भी प्रमाण हैं, उन सबों में धर्मज्ञापन के असामर्थ्य का बोधक है। एवं 'नेन्द्रियम्' यह दूसरा वाक्य उसके साधक हेतु का बोधक है।

तदनुसार उक्त भाष्यग्रन्थ का तात्पर्य है कि शब्द से भिन्न अनुमानादि जितने भी प्रमाण हैं, उन में से कोई भी प्रमाण धर्म का ज्ञापक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का ज्ञापक नहीं है। अनुमानादि सभी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक हैं एवं धर्म अथवा साधर्म्य प्रभृति में से कोई भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के योग्य नहीं है, तो धर्म अनुमानादि प्रमाणों में से किसी से भी गृहीत कैसे हो सकता है? तस्मात् चोदनास्वरूप शब्द प्रमाण ही केवल धर्म का प्रमापक है, अनुमानादि कोई भी धर्म का ज्ञापक नहीं है। अतः 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' यह अवधारण ठीक है॥ १५३ ॥

किञ्चेति मध्यमच्छेदो हेतुप्रश्ने प्रयुज्यते ॥ १६ ॥

(३) अथवा 'नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम्' इस भाष्यवाक्य का विभाग इस प्रकार करना चाहिये जिससे 'किञ्च' यह अंश मध्यवर्त्ती हो। और उक्त मध्यवर्त्ती 'किञ्च' अंश का अर्थ 'हेतुप्रश्न' करना चाहिये। इस 'हेतुप्रश्न' अर्थ में ही 'किञ्च' शब्द का प्रयोग हुआ है।

कहने का तात्पर्य है कि उक्त भाष्य का विभाग इस प्रकार करना चाहिये नान्यत्–किञ्च–और–नेन्द्रियम्। इस विभाग के अनुसार 'किञ्च' यह अंश मध्यवर्ती है जो 'हेतुप्रश्न' का बोधक है। इनमें 'नान्यत्' शब्द का अर्थ है 'नान्यत् इन्द्रि-

यादि धर्मे प्रमाणम्' अर्थात् चोदना से भिन्न अनुमानादि जितने भी प्रमाण हैं उनमें से कोई भी धर्म का ज्ञापक नहीं है। 'किञ्च' इस मध्यम अंश का अर्थ है 'कुतः ?' अर्थात् कौन सा हेतु है कि अनुमानादि धर्म के ज्ञापक नहीं हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये ही 'नेन्द्रियम्' यह तीसरा अंश है जिसका अर्थ है कि जिसलिये कि इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का ज्ञापक नही है, अतः चोदना से भिन्न अनुमानादि कोई भी प्रमाण धर्म के ज्ञापक नहीं हैं, क्योंकि अनुमानादि सभी प्रमाण किसी न किसी प्रकार प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं ॥ १६ ॥

यद्यपि त्वनुमानस्याप्येवमादौ समर्थता ।

(पृ० ५०) यद्यपि भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, विप्रकृष्ट पदार्थों के बोध को उत्पन्न करने की सामर्थ्य अनुमानादि प्रमाणों में भी है ।

कहने का अभिप्राय है कि 'अनुमानादि प्रमाणों में धर्मज्ञापकता नहीं है' इसके साधक हेतु रूप में ही 'चोदना हि भूतम्, भविष्यन्तम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखित है। (देखिये शाबरभाष्य पृ० ५) किन्तु यह सङ्गत नहीं है। इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से अतीतादि वस्तुओं का प्रत्यक्ष भले ही संभव न हो अनुमान से तो अतीतादि काल की वस्तुओं की प्रतीति होती है। जैसे कि नदी की बाढ़ से भूत, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट वर्षा का अनुमान होता है। एवं गन्ध हेतु से सूक्ष्म द्रव्य का भी अनुमान होता है। अतः यह कहना ही गलत है कि शब्द से भिन्न अनुमानादि कोई भी प्रमाण अतीतादि काल के पदार्थों का ज्ञापक नहीं है। शब्द से भिन्न किसी एक भी प्रमाण में सूक्ष्मादि वस्तुओं की ग्राहकता के सिद्ध हो जाने पर 'नान्यत्' इत्यादि से कथित अवधारण अशुद्ध हो जाता है। इसलिये 'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' भाष्य का यह सन्दर्भ ठीक नहीं है ॥ १७ क, ख ॥

विना सम्बन्धबोधेन न तु तस्योद्भवः क्वचित् ॥ १७ ॥

न सामान्यविशेषाभ्यां धर्मसम्बन्धदर्शनम् ।

लिङ्गस्य कस्यचित्सिद्धं येन स्यादनुमानता ॥ १८ ॥

[1]'तथापि' हेतु में रहनेवाले साध्य के व्याप्तिसम्बन्ध को जाने विना अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है। प्रकृत में धर्मसामान्य स्वरूप साध्य अथवा अग्निहोत्रादि विशेष धर्मस्वरूप साध्य के साथ किसी हेतु की व्याप्ति गृहीत नहीं है। अतः 'धर्मोऽस्ति' यह सामान्यानुमान नहीं हो सकता। एवं 'अग्निहोत्रादिर्धर्मः' यह विशेषानुमान भी नहीं हो सकता। अतः 'धर्म' को अनुमान प्रमाण से नहीं समझा जा सकता।

---

१. यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि 'यद्यपि त्वनुमानस्य' यह श्लोकार्द्ध पूर्वपक्ष का ज्ञापक होने के कारण 'यद्यपि' शब्द से प्रारम्भ किया गया है। 'विना सम्बन्धबोधेन' इत्यादि प्रारब्ध तीन श्लोकार्द्ध उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के लिये लिखा गया है। इसलिये इस समाधानांश को 'तथापि' शब्द से प्रारम्भ होना उचित है। अतः इस सन्दर्भ के आदि में 'तथापि' शब्द को पठित समझना चाहिये ।

कहने का तात्पर्य है कि धर्म इसलिये अनुमानप्रमाण से अगोचर नहीं है कि धर्म भविष्य कालिक है, या सूक्ष्म है, या विप्रकृष्ट है। धर्म तो इसलिये अनुमान से अगम्य है कि उपयुक्त अनुमापक कोई हेतु नहीं है। 'चोदना हि भूतम्' इत्यादि भाष्य के द्वारा अतीतकालवृत्ति, या भविष्यत्कालिक सूक्ष्म अथवा विप्रकृष्ट विषयों की बोधकता मात्र कही गयी है, उसका यह अभिप्राय नहीं है कि अतीतादिकालिक विषय अनुमान प्रमाण के द्वारा समझे नहीं जा सकते। जिस किसी प्रकार धर्म में अनुमानादि प्रमाणागम्यत्व की सिद्धि से धर्म में चोदनामात्रगम्यत्व की सिद्धि सुगम हो जाती है ॥ १७–१८ ॥

ननु शब्दोऽपि सम्बन्धबोधापेक्षे प्रवर्त्तते।
एवं तत्र च तद्वाच्यो धर्मो वाक्यार्थ एव सः ॥ १९ ॥

वाक्यस्यावाचकत्वं च पदार्थानां च हेतुता।
सम्बन्धस्यानपेक्षाणां वाक्यार्थे स्थापयिष्यते ॥ २० ॥

प्रश्न यह है कि जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान संभव नहीं है, उसी प्रकार शब्दप्रमाण से भी धर्म का ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि शब्द प्रमाण से होने वाले बोध में अर्थ में जो शब्द के अभिधा आदि सम्बन्ध हैं, उनका ज्ञान भी अपेक्षित है। यदि उक्त सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा शाब्दबोध में स्वीकार न करें तो सर्वप्रथम सुने गये शब्द से भी शाब्दबोध की आपत्ति होगी। प्रकृत में जिस शब्द के द्वारा धर्मस्वरूप अर्थ का ज्ञान होगा, उस शब्द के जो धर्मस्वरूप अर्थ में अभिधादिवृत्तिस्वरूप सम्बन्ध हैं, उन वृत्तियों में से किसी उपयुक्तवृत्तिस्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होगा। एवं सम्बन्ध के ज्ञान के लिए धर्मस्वरूप अनुयोगी का ज्ञान आवश्यक होगा, क्योंकि सम्बन्धज्ञान के लिए प्रतियोगी एवं अनुयोगी दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु धर्म को शब्द से भिन्न किसी प्रमाण का विषय ही नहीं मानते। इस प्रकार धर्म को शब्द प्रमाण से भी नहीं समझा जा सकता। तस्मात् धर्म किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं हो सकता। इस प्रश्न का यह समाधान है कि पद के द्वारा जो अर्थ का बोध होता है, उसी में अभिधा आदि वृत्तियों का ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु धर्म किसी भी पद का वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु धर्म वाक्य का अर्थ है। कोई भी अर्थ वाक्य का अभिधेय नहीं है, अतः वाक्य 'अवाचक' है। अभिधादि सम्बन्ध से सर्वथा निरपेक्ष होकर पद के केवल अर्थ (पदार्थ) ही वाक्यजनितबोध के सहकारिकारण हैं। इन सभी बातों का उपपत्ति-पूर्वक 'तद्भूताधिकरण' (जैमिनिसूत्र अ० १ पा० १ सू० २५) में विशदपूर्वक निर्णय करेंगे ॥ १९–२० ॥

नित्यत्वादेरसिद्धत्वाद् अभ्युपेत्योच्यतेऽथ वा।
सुतरामप्रमाणत्वं वक्तृप्रामाण्यवर्जनात् ॥ २१ ॥

'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनम्, नद्यास्तीरे फलानि पञ्च सन्तीति, तत्तथ्यमपि भवति वितथमपि भवति'। (शाबरभाष्य)

'धर्म केवल चोदनागम्य है' इस सिद्धान्त पर उक्त भाष्यसन्दर्भ के द्वारा किसी के आक्षेप का उपपादन किया गया है। भाष्यसन्दर्भ का यह अर्थ है कि 'चोदना' अर्थात् 'शब्द' प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द से 'अतथाभूत' अर्थात् मिथ्या अर्थ भी कहे जाते हैं। जैसे कि 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' इत्यादि शब्दों से मिथ्या अर्थ भी कहे जाते हैं। अतः लौकिक वाक्य कभी ठीक भी होते हैं कभी मिथ्या भी।

इससे यह आक्षेप होता है कि वेदवाक्यस्वरूप चोदना चूँकि शब्द है, अतः प्रमाण नहीं है, जैसे कि 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' यह लौकिक वाक्यस्वरूप शब्द, क्योंकि शब्द प्रमाण नियमतः ठीक ही अर्थ को नहीं कहते। अतः शब्दप्रमाण से धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसी आक्षेप के ऊपर किसी श्रद्धालु का प्रत्याक्षेप है कि लौकिक वचन के दृष्टान्त से वेदवाक्यस्वरूप शब्द में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि वेदवाक्य नित्य हैं, अतः अपौरुषेय होने के कारण दोषरहित हैं। लौकिक वाक्य पौरुषेय हैं, अतः पुरुष में सहजतः रहनेवाले प्रमादादि से उनके असत्य होने की सम्भावना है। अतः 'नन्वतथाभूतम्' इत्यादि भाष्य असङ्गत नहीं है।

नित्यत्वादेरसिद्धत्वात्

(१) इस प्रत्याक्षेप का पहला समाधान यह है कि त्रयीबाह्य बौद्धादि के मतों में वेदों का नित्यत्व सिद्ध नहीं है। अतः वेदस्थ विधायकवाक्यस्वरूप चोदना को भी वे अन्य लौकिक वाक्यों की तरह लौकिक ही मानते हैं। अतः लौकिक वाक्य के दृष्टान्त से वेदों में अप्रामाण्य का आपादान उनके लिए असंगत नहीं है। भाष्य का प्रकृत सन्दर्भ बौद्ध या लौकायतिकों के मतों का प्रतिपादक ही है। अतः उनके मत का प्रतिपादक उक्त भाष्यसन्दर्भस्वरूप पूर्वपक्षग्रंथ असंगत नहीं है।

अभ्युपेत्य⋯अथवा⋯सुतराम्⋯वर्ज्जनात्

(२) वेदों को नित्य मानकर भी (तुष्यतु दुर्जनन्याय से) वेदों में अप्रामाण्य का अपादान नास्तिक लोग करते हैं। इस पक्ष के लोगों का कहना है कि वाक्यों का प्रमाण्य वक्ताओं के प्रामाण्य के अधीन है। अतः पौरुषेय वाक्य के जिस वक्ता में प्रामाण्य संभावित होगा उस पौरुषेय वाक्य में तो प्रामाण्य की संभावना ही नहीं है, क्योंकि (आपके मत से) उसका कोई वक्ता नहीं है। इस प्रकार वेदों का नित्यत्व उसके प्रामाण्य का विघातक ही है सहायक नहीं।

इस दृष्टि से लोकायतिकादि कहते हैं कि वेदों को अगर पौरुषेय मानें तो उन में प्रामाण्य की संभावना हो भी सकती है। वेदों को यदि नित्य मान लेते तो वेद 'सुतराम्' अप्रमाण हो जाते हैं, क्योंकि शब्द में प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य के अधीन है। अतः वेदों के नित्य होने से उनमें वक्तृप्रामाण्य के अधीन प्रामाण्य 'वर्ज्जित' हो जाता है॥ २१॥

प्रमाणान्तरदृष्टं हि शब्दोऽर्थं प्रापयेत् सदा ।
[1]स्मृतिवच्च स्वयं तस्य प्रामाण्यं नोपपद्यते ॥ २२ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि शब्द अपने माहात्म्य से ही अर्थविषयक प्रमात्मक बोध को उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् शब्द स्वतः प्रमाण है, वक्ता के प्रामाण्य के अधीन शब्द में प्रामाण्य नहीं है। अतः वेदों का कोई वक्ता रहे या न रहे वेद शब्दस्वरूप होने के कारण ही प्रमाण है। अतः वेदों में वक्ता के अभाव से अप्रामाण्य का अपादान नहीं किया जा सकता। पूर्वपक्षी के इस समाधानाभास का यह उत्तर है कि—

शास्त्रीय शब्दप्रमाण से अर्थबोध के उत्पादन में परीक्षकों को भी लौकिक प्रमाणों की रीति का ही अनुसरण करना होगा। लोक में यही देखा जाता है कि दूसरे प्रमाण के द्वारा निष्पन्न अर्थ का ही प्रमाबोध शब्द प्रमाण से होता है। अतः 'स्मृति' (स्मरण) में जिस प्रकार पूर्वानुभव के माहात्म्य के बिना स्वतः प्रामाण्य होता है, उस प्रकार शब्द में वक्ता के प्रामाण्य के बिना स्वतः प्रामाण्य नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

नूनं तत्रानुभूतोऽसावित्याप्तोक्तिनिबन्धना ।
बुद्धिः साक्षाददृष्टेऽपि युक्तार्थे पुरुषोक्तितः ॥ २३ ॥

प्रत्याक्षेपी कह सकते हैं कि दूसरे प्रमाणों से अनिर्णीत अर्थ की भी प्रतीति पुरुषोच्चरित शब्द से होती है। जैसे किसी पुरुष के द्वारा कहे जाने पर दूर देश में घटित किसी घटना के विवरण में हम विश्वास कर लेते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे से निर्णीत अर्थ का ही बोध शब्दप्रमाण से हो। इस आक्षेप का यह समा-

---

1. श्लोक के 'स्मृतिवच्च' इस अंश की व्याख्या पार्थसारथि मिश्र के अनुसार लिखी गयी है, उन्होंने अपनी न्यायरत्नाकर नाम की व्याख्या में लिखा है कि 'अतोऽस्य स्मृतिवन्न स्वमहिम्ना प्रामाण्यमिति'। किन्तु इस व्याख्या के अनुसार स्मृति में स्वतन्त्र प्रामाण्य मानना होगा। किन्तु यह अयुक्त सा लगता है, क्योंकि तब उसके लिए संस्कार को एक अलग स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से स्मृति की उत्पत्ति मानेंगे तो स्मृति को भी प्रत्यक्षादि प्रमितियों में से एक मानना होगा। इस असामञ्जस्य को श्लोकवार्त्तिक के दूसरे टीकाकार भट्ट उम्बेक ने प्रायः अनुभव किया। वे अपनी तात्पर्यटीका में लिखते हैं कि—यथा स्मृतेर्न पूर्वानुभवनिरपेक्षाया। स्वतएव स्मृतित्वम् एवं न पूर्वानुभवनिरपेक्षस्य शब्दस्य स्वतएव प्रामाण्यं लोके दृष्टम्' अर्थात् जिस प्रकार स्मृति अपने कारणीभूत पूर्वानुभव से निरपेक्ष होकर 'स्मृतित्व' को लाभ नहीं करती है, इसी प्रकार लोक में यह भी देखा जाता है कि शब्द प्रमाण भी बिना दूसरे प्रमाणजनित अनुभव के प्रामाण्य का लाभ नहीं करता है।

कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार कारणीभूत पूर्वानुभव के प्रामाण्य के अधीन ही स्मृति में प्रामाण्य है, उसी प्रकार शाब्दबोधगत प्रमात्व भी वक्तृगत प्रामाण्य के अधीन है। विद्वान् लोग इस व्याख्याभेद के ऊपर ध्यान दें।

धान है कि स्वयं देखे बिना किसी पुरुष के कहे जाने पर किसी वस्तु के प्रसङ्ग में विश्वास करना कठिन नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों में श्रोतागण कल्पना कर लेते हैं कि यह पुरुष जिस विषय को कह रहा है उस विषय का यथार्थ अनुभव इस पुरुष को किसी प्रमाण से अवश्य हुआ है। इस प्रकार दूर देश का संवाद भी वक्ता के अनुभव-मूलक ही है। फलतः यह अर्थ भी दूसरे प्रमाण से परिगृहीत ही है, क्योंकि आप्तपुरुष बिना स्वयं अनुभव के किसी विषय के बोध के लिए शब्द का प्रयोग नहीं करते। अतः दूरदेशस्थ संवाद का भी आप्तोच्चारण हेतु से वक्ता में अनुभव का अनुमान होता है। एवं इस अनुमानस्वरूप प्रमाण से परिपुष्ट दूरदेशसंवादादि रूप अर्थ ही शब्द के द्वारा बोध्य अर्थ है ॥ २३ ॥

नात्मीयादन्यदीयाद्वा प्रत्यक्षादेर्विना क्वचित्।
वचसः सत्यता दृष्टा तथा स्याच्चोदनास्वपि ॥ २४ ॥

वेदों को प्रमाण न माननेवाले अपने कथन को इस प्रकार पुष्ट करते हैं कि किसी वचन को कोई भी व्यक्ति तब तक सत्य नहीं मानता जब तक उस वचन के अर्थ को अपने प्रत्यक्षादि प्रमाणों से या किसी दूसरे पुरुष के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निष्पन्न न समझ ले। इसी प्रकार वैदिक विधायकवाक्य स्वरूप चोदनात्मक शब्द भी तभी प्रमाण हो सकता है जब उसके द्वारा कहे जाने वाले अर्थ को कोई पुरुष अपने या दूसरों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निष्पन्न समझ ले। किन्तु यह जब संभव नहीं है तो यही मानना होगा कि वेदस्वरूप शब्द प्रमाण नहीं है ॥ २४ ॥

तेन सत्यपि विज्ञाने प्रतिज्ञादेर्यथैव हि।
स्वातन्त्र्यान्न प्रमाणत्वं तथा वेदेऽपि दृश्यताम् ॥ २५ ॥

(किन्तु वेदस्वरूप शब्द से जब अर्थ का बोध होता है तो वह बोध अप्रमा कैसे होगा ? फलतः वेद अप्रमाण कैसे होगा ? वेद को अप्रमाण मानने वाले इसका यह उत्तर देते हैं कि) वेद अपने अर्थ के बोध को अवश्य ही उत्पन्न करेगा। उस अर्थ की सत्ता रहे अथवा न रहे। फलतः शब्दजन्य अर्थविषयक बोध होता है, उसमें अर्थ की अपेक्षा नहीं है। इसलिए शब्दजन्य बोध 'स्वतन्त्र' है अर्थपरतन्त्र नहीं। अर्थनिरपेक्ष स्वतन्त्र ज्ञान प्रातिभ ज्ञान की तरह प्रमा नहीं है। वेदजनित वेदार्थविषयक ज्ञान भी अर्थनिरपेक्ष है, अतएव स्वतन्त्र है। अतः वेद प्रमाण नहीं है।

इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि

(१) वेदो न प्रमाणं स्वातन्त्र्यात् प्रतिभावत्[1] ॥ २५ ॥

---

१. यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदों में अप्रामाण्यसाधन के लिए इस सन्दर्भ में अनेक अनुमान दिखलाये गये हैं, जिनमें यह पहला अनुमान है। २१वें श्लोक से लेकर २५वें श्लोक तक के सन्दर्भ से वेदों में अप्रामाण्यसाधन के लिए जिन युक्तियों का उल्लेख किया गया है, उन युक्तियों से निष्पन्न अनुमानों के प्रयोग ही श्लोक २५ से लेकर श्लोक ३० पर्यन्त के सन्दर्भ से दिखलाये गये हैं।

स्वर्गयागादिसम्बन्धविषया चोदना मृषा ।
प्रत्यक्षाद्यगतार्थत्वादीदृग्बुद्धादिवाक्यवत् ॥ २६ ॥

(२) वेदों में अप्रामाण्यसाधक दूसरा अनुमान वाक्य यह है कि 'स्वर्गयागादि-विषया चोदना मिथ्या प्रत्यक्षाद्यगतार्थत्वात् ईदृग्बुद्धादिवाक्यवत्' अर्थात् जिन विधायक वेदवाक्यों से स्वर्गयागादि विषयों का बोध होता है वे सभी चोदनास्वरूप वाक्य इसलिए मिथ्या हैं कि उनसे प्रतिपाद्य स्वर्गादि अर्थों का बोध प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं है, जैसे कि इस प्रकार के बुद्धादिरचित वाक्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य अर्थों के प्रतिपादक होने से मिथ्या होते हैं । (इस अनुमानवाक्य के निर्दुष्ट विस्तृत स्वरूप को भट्ट उम्बेक कृत टीका में देखिये) ॥ २६ ॥

यद्वाऽऽप्तेनाप्रणीतत्वाद् बालोन्मत्तादिवाक्यवत् ।
व्योमादिवच्च नित्यत्वात् प्रामाण्यस्य निराकृतिः ॥ २७ ॥

यद्वाऽप्तेन..................वाक्यवत्

(३) वेदों में अप्रामाण्य का साधक तीसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'स्वर्गयागादिविषया चोदना मृषा आप्तारचितत्वात् बालवाक्यवत्' अर्थात् स्वर्गयागादि-विषयों के बोधक वेदों के विधायक वाक्य (चोदना) इसलिये अप्रमाण हैं कि वे आप्तों के द्वारा रचित नहीं, जैसे बालकों से प्रयुक्त वाक्य प्रमाण नहीं होते ।

(४) व्योमादिवच्च.......निराकृतिः

वेदों में अप्रामाण्य का साधक चौथे अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—'स्वर्गादि-विषया चोदना मृषा नित्यत्वात् आकाशादिवत्' । इस अनुमान वाक्य का अभिप्राय है कि नित्यवस्तु कभी प्रमाण नहीं होती, जैसे कि आकाशादि प्रमाण नहीं होते । स्वर्गादि के विधायक वेदवाक्यों को मीमांसक नित्य मानते हैं । अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता ।

यह ध्यान रखना चाहिये कि लिखित अनुमानों में से शेष तीन अनुमानों के पक्ष और साध्य एक ही हैं केवल हेतु और दृष्टान्त में अन्तर है ॥ २७ ॥

यदि वा पुरुषाधीनप्रामाण्याः सर्वचोदनाः ।
स्वतो वा न प्रमाणं स्युर्वाक्यत्वात् पुरुषोक्तिवत् ॥ २८ ॥

यदि वा ....सर्वचोदनाः

(५) श्लोक के पूर्वार्द्ध से इस अनुमानवाक्य का प्रयोग अभिप्रेत है—'वैदिक्यश्चोदनाः पुरुषाधीनप्रामाण्याः चोदनात्वात् लौकिकचोदनावत्' । इस अनुमानवाक्य का अभिप्राय है कि प्रमाज्ञान के लिए ज्ञान के साधारण कारणों से अतिरिक्त असाधारण कारण की भी आवश्यकता होती है जिसे 'गुण' कहा जाता है । ध्यान रहे कि यह 'गुण' रूपरसादि चौबीस गुणों में अनुगत गुणत्वजातिविशिष्ट का बोधक नहीं है किन्तु अप्रमाज्ञान के उत्पादक 'दोष' का विरोधी एवं प्रमाज्ञान के उत्पादक विशेष प्रकार के कारणों का बोधक है । ये गुण विभिन्न प्रमाणों से उत्पन्न प्रमाज्ञानों के लिए

विभिन्न होते हैं। शब्दज प्रमा के लिए यह गुण है वक्ता में शब्दज प्रमा के समान प्रमाज्ञान का रहना।

प्रकृत में 'चोदना' शब्द से स्वर्गादिबोधक वैदिकवाक्य अभिप्रेत हैं। किन्तु ये वाक्य भी शब्दस्वरूप ही हैं। अतः इन वाक्यों से होनेवाले बोध के प्रमा होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके वक्ता पुरुष में इस वाक्यरचना से पहले एतद्विषयक ज्ञान रहे। किन्तु वैदिकवाक्यों के किसी मूलवक्ता को आप (मीमांसक) स्वीकार नहीं करते। अतः कथित 'गुण' से उत्पन्न होनेवाला प्रामाण्य चोदनाजनित बोध में सम्भव नहीं है।

स्वतो वा न प्रमाणम्..................पुरुषोक्तिवत्

(५) (इस प्रसंग में मीमांसक कह सकते हैं कि उक्त रीति से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि तो भूषण है दूषण नहीं, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है। इसके लिए किसी पुरुष में तत्सामनविषयकज्ञान की अपेक्षा नहीं है। मीमांसकों के इस अभिप्राय का खण्डन निम्नलिखित अनुमान से हो जाता है)—'वैदिकवाक्यानि न स्वतः प्रमाणानि वाक्यत्वात् पौरुषेयवाक्यवत्'। इस अनुमानवाक्य का यह अभिप्राय है कि वैदिक वाक्य भी अन्य लौकिक वाक्यों की तरह 'वाक्य' ही हैं। अतः जिस प्रकार लौकिकवाक्य प्रमाण नहीं हो सकते, उसी प्रकार चोदनास्वरूप वैदिक विधायक वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि वे भी वाक्य ही हैं ॥ २८ ॥[1]

प्रामाण्यं वा नरापेक्षं सर्वशब्देषु गम्यताम्।
शब्दैः सम्बध्यमानत्वादप्रामाण्यं तथैव हि ॥ २९ ॥

(६) 'सर्वशब्दनिष्ठं प्रामाण्यं नरापेक्षम् शब्दैः सह सम्बध्यमानत्वात् अप्रामाण्यवत्' अर्थात् जिस प्रकार मीमांसकों के मत से सभी प्रकार के अप्रामाण्य 'दोष'

---

१. इस अनुमान के प्रसङ्ग में तीक्ष्णधीसम्पन्न किसी जिज्ञासु की शङ्का है कि यह प्रकरण वेदों में अप्रामाण्य-साधन का है। किन्तु इस श्लोक में वेदों में पुरुषाधीन प्रामाण्य का साधन किया गया है। अप्रामाण्य और पुरुषाधीन प्रामाण्य दोनों एक वस्तु नहीं हैं।

इस असामञ्जस्य-वचन के लिए कोई कहते हैं कि इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का लक्षणावृत्ति के द्वारा 'स्वतः प्रामाण्य का साधन' स्वरूप अर्थ ही है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'स्वतो वा न प्रमाणत्वम्' इस सन्दर्भ से स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट है ही।

वस्तुतः इस आक्षेप का यह समाधान है कि यह प्रकरण वेदों में अप्रामाण्यसाधन के लिए नहीं है, किन्तु वेदों में धर्मज्ञापन के असामर्थ्य को दिखलाने के लिए है। यह प्रयोजन वेदों में पुरुषाधीन प्रामाण्य के साधन से भी सम्पन्न हो जाता, क्योंकि पुरुषाधीन प्रामाण्यवाले शब्दों के प्रामाण्य के लिए यह आवश्यक है कि उच्चारण करनेवाले पुरुष में शब्दार्थविषयक ज्ञान किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा पहले से विद्यमान रहे। वह विषय धर्म ही है। धर्म को मीमांसकगण प्रमाणान्तरावेद्य कहते हैं। अतः वेद धर्म का प्रमापक कैसे हो सकता है?

के अधीन हैं, उसी प्रकार सभी लौकिक और वैदिक शब्दों में रहने वाला प्रामाण्य 'पुरुष सापेक्ष है', क्योंकि प्रमाणभूत शब्दों के साथ पुरुषों का अन्वयव्यतिरेकस्वरूप सम्बन्ध है। अतः चोदना (वैदिक विधायक वाक्य) धर्म का ज्ञापक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

यह समझ रखना चाहिये कि शब्द चाहे लौकिक हो चाहे वैदिक सभी शब्दों का प्रामाण्य 'नर' के अधीन है। अर्थात् शब्द में रहने वाले प्रामाण्य का पुरुष कारण है, क्योंकि आप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित होने पर ही शब्द प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं। एवं अन्वय और व्यतिरेक ये ही दोनों मिलकर कारणता के ग्राहक हैं। यदि अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों के रहने पर कारणता न मानी जाय तो दोष में अप्रामाण्य की कारणता भी उत्पन्न नहीं होगी। किन्तु ऐसा आप (मीमांसक) भी मानते हैं। इसमें कोई युक्ति नहीं है कि अप्रामाण्य के प्रति अन्वयव्यतिरेकापन्न दोष में उसको कारणता हो, किन्तु शब्दनिष्ठ प्रामाण्य के प्रति अन्वयव्यतिरेकापन्न भी वक्ता पुरुष शब्दनिष्ठ प्रामाण्य का कारण न हो। इस विवरण से उक्त अनुमान निष्पन्न होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वेद को पौरुषेय मानिये चाहे अपौरुषेय किसी पक्ष में उसे धर्म का ज्ञापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द-प्रामाण्य को पुरुष सापेक्ष कह आये हैं। अतः अपौरुषेय शब्दस्वरूप वेद धर्म का ज्ञापक प्रमाण कैसे हो सकता है, क्योंकि अप्रमाणभूत शब्द तो किसी का भी ज्ञापक प्रमाण नहीं हो सकता ? अतः 'तथाकथित' धर्म का भी ज्ञापक नहीं हो सकता।

यदि वेद को पौरुषेय मानते हैं तब भी वेद में धर्म की ज्ञापकता नहीं आ सकती, क्योंकि इसके लिए यह आवश्यक है कि वक्ता पुरुष में किसी दूसरे प्रमाण से धर्म का ज्ञान उक्त उच्चारण से पहले रहे। किन्तु धर्म को तो आप (मीमांसक) अन्य किसी भी प्रमाण से ज्ञेय नहीं मानते ॥ २९ ॥

न स्याद्वक्तृगुणानाञ्चेद्वचःप्रामाण्यहेतुता।
तद्दोषैरप्रमाणत्वं किमित्यस्य भविष्यति ॥ ३० ॥

इस दूसरी रीति से भी वेदों में धर्मज्ञापकता का खण्डन किया जा सकता है कि यदि शब्दस्वरूप 'वचन' में प्रामाण्य का कारण वक्ता में रहने वाला 'गुण' न हो तो फिर वक्ता में रहने वाले दोष से ज्ञान में अप्रामाण्य की ही उत्पत्ति किस प्रकार होगी ?

कहने का तात्पर्य है कि आप लोग (मीमांसकगण) वक्ता में रहने वाले भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा प्रभृति दोषों को शब्द के अप्रामाण्य का कारण मानते हैं। फिर तुल्य न्याय से शब्दज ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का कारण वक्ता पुरुष में रहने वाले प्रमाज्ञान, अप्रमाद, तत्त्वख्यापनेच्छा प्रभृति गुणों को मानना पड़ेगा, क्योंकि शब्दजप्रमा के साथ उक्त गुणों का भी अन्वय और व्यतिरेक है ही। इससे यह (७) अनुमान निष्पन्न होता है कि "शाब्दज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यं वक्तृगतगुणजन्यं

तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादप्रमावत्"। अतः वेद धर्म का ज्ञापक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ॥ ३० ॥

एवं स्थिते तु वेदस्य सति वाऽसति वा नरे।
प्रामाण्यं दुर्लभं मत्वा नन्वित्येतदचूचुदत् ॥ ३१ ॥

अर्थात् वेदकर्त्ता 'नर' की सत्ता रहे अथवा न रहे दोनों ही स्थितियों में वेदों का प्रामाण्य दुर्लभ है, विशेषतः धर्म के प्रसङ्ग में—इसी पूर्वपक्ष का उपपादन भाष्यकार ने 'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना यथा-यत्किञ्चन लौकिकं वचनम् नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीति तत्तथ्यमपि भवति वितथमपि भवति' (शाबरभाष्य) इस सन्दर्भ से किया है[1] ॥ ३१ ॥

तत्र विप्रतिषिद्धत्वं बुद्धवाक्येऽपि युज्यते।
ततोऽपि प्रत्ययोत्पत्तेस्तस्माज्जात्युत्तरं त्विदम् ॥ ३२ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से किया है—

'विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते, ब्रवीति वितथञ्चेति' (शाबरभाष्य)

(१) वाक्य अर्थों का प्रतिपादन करते हैं किन्तु (२) वे असत्य भी होते हैं। पूर्वपक्षवादियों की ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

इस सिद्धान्तभाष्य के ऊपर पूर्वपक्षवादियों का आक्षेप है कि यदि परस्पर-विरोधी वाक्य भी केवल 'प्रत्यय' जनक होने के कारण प्रमाण हो सकते हैं तो बुद्ध-वाक्य में भी प्रामाण्य स्वीकार करना होगा। अतः 'विप्रतिषिद्धम्' इत्यादि से सिद्धांत भाष्य के द्वारा जो उत्तर दिया गया है वह 'जात्युत्तर' है अर्थात् असदुत्तर है, यथार्थ उत्तर नहीं है ॥ ३२ ॥

सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्परीक्ष्यताम्।
प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किम्परतोऽथवा ॥ ३३ ॥

समाधान भाष्य के ऊपर किये गये उक्त आक्षेप के परिहार के लिए सिद्धान्ती कहते हैं कि सभी विज्ञानों के प्रसङ्ग में (केवल शब्दजनित ज्ञान में ही नहीं) परीक्षा करिये कि ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य 'स्वतः' गृहीत होते हैं अथवा 'परतः' गृहीत होते हैं ?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह प्रकरण चोदनास्वरूप विधायक वाक्य के प्रामाण्य का है। उक्त वाक्यजबोध के प्रामाण्य और अप्रामाण्य ही प्रकृत विचार-कोटि में आ सकते हैं। अतः सभी ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का यह विचार

---

१. यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि २१ वें श्लोक के 'नित्यत्वादेरसिद्धत्वात्' इत्यादि से एक एवं उसी श्लोक के 'अभ्युपेत्योच्यतेऽथवा' इस अंश से दूसरे आक्षेप का उपक्रम हुआ है। इनमें इस श्लोक के 'सति नरे' इस अंश से पहले उपक्रम का उपसंहार हुआ है। एवं 'असति नरे' इस अंश के द्वारा दूसरे उपक्रम का उपसंहार हुआ है।

'अप्रस्तुत' है। इसका यह उत्तर है कि चोदना के प्रामाण्य को निष्कण्टक करने के लिए ही सभी ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार करते हैं। सभी ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के प्रसङ्ग में जो निर्णय होगा उसका उपयोग चोदना स्वरूप प्रमाण के प्रसङ्ग में भी करेंगे। इससे यह लाभ होगा कि विरोधियों को यह अवसर नहीं मिलेगा कि चोदना का धर्म रूप जिस प्रकार अलौकिक है उसी प्रकार उसका प्रामाण्य भी निराले ढंग का होगा। अतः सर्वज्ञान-साधारण प्रामाण्य का विचार 'अप्रस्तुत' नहीं है।

स्वतोऽसतामसाध्यत्वात्केचिदाहुर्द्वयं स्वतः।
अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषावधारणात् ॥ ३४ ॥

इस प्रसंग में चार कोटियाँ हो सकती हैं—

(१) ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः गृहीत होते हैं।

(२) दोनों ही 'परतः' अर्थात् ज्ञान का प्रामाण्य गुण से और अप्रामाण्य दोष से निर्णीत होता है।

(३) अप्रामाण्य तो स्वतः गृहीत होता है, किन्तु प्रामाण्य परतः गृहीत होता है।

(४) प्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है और अप्रामाण्य परतः गृहीत होता है।

इनमें पहला पक्ष है सांख्यशास्त्रियों का, दूसरा है नैयायिकादि तार्किकों का, तीसरा है बौद्धों का और चौथा मीमांसकों का अपना है।

इनमें प्रथम दो पक्षों का युक्तिपूर्वक उपपादन इस श्लोक से हुआ है। आगे ४६ वें श्लोक तक के ग्रन्थ से पूर्वपक्षीभूत तीन पक्षों का उपपादन हुआ है। पश्चात् ४७ वें श्लोक से मीमांसकों ने अपने पक्ष का उपपादन प्रारम्भ किया है।

स्वतोऽसताम्……………द्वयं स्वतः

(१) सांख्यशास्त्री लोग सत्कार्यवादी हैं। उन लोगों का कहना है कि जिस वस्तु की सत्ता पहले जिस वस्तु में नहीं है उसमें उसका उत्पादन कोई भी नहीं कर सकता। अगर ऐसा हो तो फिर अग्नि में भी गन्ध हो, या बालू से भी तेल निकले। अतः ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य पहले से ही है। उसके लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तस्मात् दोनों अर्थात् ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः गृहीत होते हैं।

अपरे कारणोत्पन्न……………अवधारणात्

(२) नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान में रहने वाला प्रामाण्य का अर्थप्रमात्व है अपने विषय की निश्चायकता, क्योंकि जिस ज्ञान से विषय को ज्ञाता निश्चित-रूप से समझ लेता है उस ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। किन्तु कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही अपने विषय को निश्चितरूप से तब तक नहीं समझा सकता जबतक किसी दूसरे प्रमाण से उसकी पुष्टि न हो। उस समय दूसरे प्रमाण विशेष रूप से ज्ञात नहीं

रहते । किन्तु प्रामाणान्तर के विशिष्ट ज्ञान के विना निश्चय सम्भव नहीं है । अतः यही मानना उचित है कि विज्ञान के उत्पादक कारणों में जहाँ 'गुण' निविष्ट रहते हैं वहाँ प्रमाण्य एवं जहाँ दोष प्रविष्ट रहते हैं वहाँ अप्रामाण्य गृहीत होते हैं । इस प्रकार ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही क्रमशः साधारण उत्पादक कारणों से भिन्न गुण और दोष से उत्पन्न होते हैं ॥ ३४ ॥

स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात्परतो न च ।
निःस्वभावत्वमेवं हि ज्ञानरूपे प्रसज्यते ॥ ३५ ॥

स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति

बौद्धगण प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के स्वतस्त्वपक्ष का खण्डन इस प्रकार करते हैं कि—परस्परविरोधिनी दो शक्तियाँ किसी एक वस्तु में स्वाभाविक रूप से नहीं रह सकतीं । ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों भी परस्पर विरुद्ध हैं । इन दोनों को यदि किसी अन्य कारण की अपेक्षा के विना ही ज्ञान का स्वाभाविक धर्म मान लिया जाय तो फिर ज्ञान के उत्पन्न होने के समय ही यह निर्णय कर लेना होगा कि कौन-सा ज्ञान प्रमा है और कौन-सा अप्रमा । किन्तु यह निर्णय कर लेना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमात्व (प्रामाण्य) और अप्रमात्व (अप्रामाण्य) दोनों में से एक के लिए भी किसी विशेष कारण की कल्पना आप नहीं करते । अतः दोनों के स्वतस्त्व की कल्पना ठीक नहीं है । फलतः प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनों का परस्पर विरोध ही दोनों को 'स्वतः' मानने में बाधक है ।

परतो न च..................प्रसज्यते

नैयायिकों के सम्मत कथित द्वितीय पक्ष का खण्डन करने के लिए पहले यह देखना है कि ज्ञान उत्पन्न होने पर गुणदोषावधारण से पहले विषय को निश्चित करता है अथवा नहीं । यदि निश्चित करता है तो फिर ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य 'स्वतः' है । अगर अपने विषय को निश्चित नहीं करता है तो वह ज्ञान प्रमा है ही नहीं, अप्रमा ही है ।

इस स्थिति में गुणदोषावधारण से पहले प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों रूपों से शून्य वह ज्ञान 'निःस्वभाव' होगा । किन्तु सो सम्भव नहीं है । किन्तु यह कहना सम्भव नहीं है कि गुणदोषावधारण से पहले ज्ञान विषय को निश्चित करता है या निश्चित नहीं करता है । दोनों में एक स्थिति स्वीकार करना ही होगा ।

अतः ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को 'परतः' मानें तो गुणदोषा-वधारण से पहले ज्ञान को 'निःस्वभाव' मानना होगा, क्योंकि प्रामाण्य और अप्रा-माण्य ये दोनों ही ज्ञान के स्वभाव हैं । ज्ञान या तो यथार्थ होगा अथवा अयथार्थ होगा । यह सम्भव नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न तो हो किन्तु वह यथार्थ और अयथार्थ इन दोनों में से एक भी न हो । अतः ज्ञानगत प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों का परतस्त्व पक्ष ठीक नहीं है ।

(दूसरे प्रकार से भी श्लोक के इस अंश को लगाया जा सकता है ।)

जो समुदाय प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को गुणदोषवधारणजन्य मानते हैं उनका यह अभिप्राय अवश्य है कि प्रामाण्य गुणजन्य है और अप्रामाण्य दोषजन्य। इस प्रकार प्रामाण्य में गुणजन्यत्व और अप्रामाण्य में दोषजन्यत्व के स्थिर हो जाने पर यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार काष्ठ और अग्नि के संयोग से धूम की उत्पत्ति होती है, बिना काष्ठ और अग्नि के संयोग से नहीं उसी प्रकार यह भी मानना पड़ेगा कि गुणावधारण से प्रामाण्य का अवधारण (निश्चय) और दोषावधारण से अप्रामाण्य का निश्चय होता है। बिना गुणदोषावधारण के प्रामाण्याप्रामाण्य-निश्चय नहीं होता है।

ऐसी स्थिति में जिस समय चक्षु में न गुण है, न दोष, उस समय उस चक्षु से उत्पन्न ज्ञान में न प्रामाण्य संभव है न अप्रामाण्य। उस समय यही कहना होगा कि वह ज्ञान 'निःस्वभाव' अर्थात् बिना स्वभाव के है, क्योंकि ज्ञान या तो 'प्रामाण्यस्वभावक' होता है अथवा 'अप्रामाण्यस्वभावक' होता है। यह संभव ही नहीं है कि ज्ञान उक्त दोनों स्वभावों से शून्य निःस्वभाव होगा। अतः ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को 'परतः' नहीं स्वीकार किया जा सकता ॥ ३५ ॥

कथं ह्यन्यानपेक्षस्य विपरीतात्मसंभवः ।
किमात्मकं भवेत्तच्च स्वभावद्वयवर्जितम् ॥ ३६ ॥

कथं ह्यन्यानपेक्षस्य............संभवः

ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः इसलिए नहीं मान सकते कि एक ही सामग्री से उत्पन्न एक ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों 'स्वतः' नहीं हो सकते।

किमात्मकम्..........वर्जितम्

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः स्वीकार करने के पक्ष में यह मानना आवश्यक है कि उत्पत्तिक्षण में ज्ञान प्रमा अथवा अप्रमा नहीं है। किन्तु यह मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कोई भी ज्ञान 'प्रमा' होगा अथवा अप्रमा। इन दोनों कोटियों से मुक्त तृतीय प्रकार का कोई ज्ञान संभव नहीं है। अतः उत्पत्तिक्षण में प्रामाण्य और अप्रामाण्य इन दोनों ही स्वभावों से रहित ज्ञान किस आकार का होगा ?

अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने का पक्ष असंगत है ॥३६॥

विज्ञानव्यक्तिभेदेन भवेच्चेदविरुद्धता ।
तथाऽप्यन्यानपेक्षत्वे किं क्वेति न निरूप्यते ॥ ३७ ॥

विज्ञानव्यक्तिभेदेन..........अविरुद्धता

(पू० प०) यह सत्य है कि एक वस्तु विरुद्ध दो रूपों की नहीं हो सकती, अतः एक विज्ञानव्यक्ति प्रमा और अप्रमा दोनों नहीं हो सकता। एक विज्ञानव्यक्ति प्रमा और दूसरा विज्ञानव्यक्ति अप्रमा इस प्रकार आश्रयभेद से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में अविरोध हो सकता है। अतः 'स्वतो न द्वयं विरोधात्' यह उक्ति असंगत है।

तथापि .... न निरूप्यते

(उ० प०) सभी ज्ञानों में ज्ञानत्व धर्म समान रूप से है। एक ही प्रकार की सामग्री से सभी ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के लिए विभिन्न कारणों की कल्पना आप नहीं करते। फिर किसी भी ज्ञान में ज्ञानत्व से अतिरिक्त ऐसा कौन सा चिह्न मिलेगा जिससे यह निरूपण संभव होगा कि अमुक ज्ञान प्रमा है और अमुक ज्ञान अप्रमा।

यदि ज्ञानत्व से अतिरिक्त ऐसा कोई चिह्न ज्ञानों में स्वीकार करें जिससे प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था हो सके तो फिर प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का स्वतस्त्व ही व्याहत हो जायगा। अतः ज्ञानत्व-स्वभाव वाले जिस विज्ञान व्यक्ति में प्रामाण्य की संभावना है उसी विज्ञान व्यक्ति में अप्रामाण्य की भी संभावना है। अतः दोनों के स्वतस्त्व पक्ष में एक ही आश्रय में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का अवसर है। अतः विज्ञान-व्यक्तियों के भेद से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में अविरोध का संपादन नहीं किया जा सकता।

यदि विज्ञानव्यक्ति के भेद से अविरोध-संपादन के प्रयास को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उन विज्ञान व्यक्तियों में ज्ञानत्व से अतिरिक्त ऐसा कोई चिह्न नहीं है जिससे यह निरूपण किया जा सके कि अमुक विज्ञान व्यक्ति प्रमा है और अमुक विज्ञान व्यक्ति अप्रमा है। अतः सभी विज्ञानों में प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों की प्रसक्ति है जिससे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का साङ्कर्य दोष अनिवार्य होगा ॥ ३७ ॥

तस्मात्स्वाभाविकं तेषामप्रमाणत्वमिष्यताम्।
प्रामाण्यञ्च परापेक्षमत्र न्यायो निरूप्यते ॥ ३८ ॥

(यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं—यह पक्ष सांख्यशास्त्रियों का है। बौद्धगण इस मत का खण्डन कर अपने पक्ष के अनुसार उक्त विरोध का परिहार इस प्रकार करते हैं कि)—

तस्मात् स्वाभाविकम् .... परापेक्षम्

'तस्मात्' अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को 'स्वतः' मानने के पक्ष में उक्त विरोध स्वरूप दोष है, अतः ज्ञानों के अप्रामाण्य को 'स्वतः' और प्रामाण्य को 'परापेक्ष' अर्थात् परतः मानिये।

अत्र न्यायोऽभिधीयते

इस पक्ष के साधक युक्तियों का उल्लेख मैं आगे करता हूँ ॥ ३८ ॥

अप्रामाण्यमवस्तुत्वान्न स्यात् कारणदोषतः।
वस्तुत्वात्तु गुणैस्तेषां प्रामाण्यमुपजायते ॥ ३९ ॥

अप्रामाण्य है प्रामाण्य का अभाव, अतः अप्रामाण्य 'वस्तु' नहीं है। इसलिए अप्रामाण्य की उत्पत्ति किसी से नहीं हो सकती। इसलिए दोष से भी अप्रामाण्य की

उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार दोष जब अप्रामाण्य का उत्पादक कारण नहीं है तो दोष अप्रामाण्य का ज्ञापक हेतु भी नहीं है। अतः अप्रामाण्य न दोष से उत्पन्न होता है न ज्ञात होता है। तस्मात् ज्ञानगत अप्रामण्य की उत्पत्ति या ज्ञप्ति (ज्ञान) कोई भी 'परतः' नहीं है।

प्रामाण्य 'वस्तु' है अर्थात् 'भाव' पदार्थ है। गुण से उसकी उत्पत्ति को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं है। प्रामाण्य की उत्पत्ति गुण से मान लेने पर प्रामाण्य की अनुमिति (निश्चय) भी गुण से मान लेने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि कारण से कार्य का अनुमान प्रसिद्ध है।

इस प्रसंग में एक बात और है कि घट का ज्ञान घट से भी होता है एवं घट से भिन्न पटादि से भी। अतः केवल घटज्ञान से घट का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए यह मानना होगा कि गुण, प्रवृत्ति का साफल्य स्वरूप संवाद या अर्थक्रियाकारित्व इनमें किसी से भी प्रामाण्य का निश्चय होता है। तस्मात् ज्ञान की यथार्थता स्वरूप प्रामाण्य 'परतः' है ॥ ३९ ॥

प्रामाण्यं हि यदोत्सर्गात्तदभावोऽथ कृत्रिमः।
तदा स्वप्नादिबोधेऽपि प्रामाण्यं केन जायते ॥ ४० ॥

'प्रामाण्य स्वतः' एवं 'अप्रामाण्य परतः' इस मीमांसक पक्ष का खण्डन बौद्धगण इस रीति से करते हैं कि प्रामाण्य को यदि 'औत्सर्गिक' (स्वाभाविक-स्वतः) मानें और अप्रामाण्य को 'कृत्रिम' अर्थात् 'परतः' मानें तो स्वप्नज्ञान में भी प्रामाण्य अनिवार्य होगा। अर्थात् स्वप्नज्ञान को भी प्रमा स्वीकार करना होगा, क्योंकि स्वप्नज्ञान में जो स्वाभाविक प्रामाण्य है, उसका कोई विघातक उपस्थित नहीं है, क्योंकि एक ही प्रकार से इसका बाध संभव है कि दोषाधीन अप्रामाण्य से इसका बाध हो। किन्तु प्रकृत में सो संभव नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्य अभाव स्वरूप होने के कारण 'अवस्तु' है। अतः उसकी उत्पत्ति किसी से भी संभव नहीं है। फिर दोष से ही उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? तस्मात् मीमांसकों का 'प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः' यह पक्ष उचित नहीं है ॥ ४० ॥

मत्पक्षे कारणाभावात्प्रामाण्यं नोपजायते।
हेतुमस्त्वप्रसङ्गोऽतो न भविष्यत्यवस्तुनः ॥ ४१ ॥

किन्तु बौद्धों के ऊपर भी यह आक्षेप होता है कि उनके मत से स्वप्नज्ञान में प्रामाण्य कैसे उपपन्न होगा। दोष से अप्रामाण्य का उत्पादन को तो वे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'अवस्तु' की उत्पत्ति उन्हें माननी होगी जो उनके लिये अपसिद्धान्त होगा। अपने पर आये हुए इस आक्षेप का परिहार वे इस प्रकार करते हैं कि मेरे पक्ष में स्वभावतः ज्ञान अयथार्थ (अप्रमा) ही होता है, उसका अपवादक है प्रामाण्य। जिस ज्ञान में 'गुण' स्वरूप विशेष कारणवश प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है, वहाँ ज्ञान का स्वाभाविक अप्रामाण्य बाधित हो जाता है। स्वाप्नज्ञान में प्रामाण्य का कोई उत्पादक नहीं है। अतः उसका स्वाभाविक अप्रामाण्य निर्बाध रहता है एवं अभाव 'अवस्तु' की उत्पत्ति की आपत्ति भी नहीं होती है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियादिगुणाश्चास्य कारणं तदसद् द्विधा।
दुष्टत्वादिन्द्रियादीनामभावेऽन्यतमस्य वा ॥ ४२ ॥

प्रामाण्य का ऐसा कौन कारण है जिसके न रहने से स्वाप्नज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती है—इस प्रश्न का समाधान बौद्धगण यह देते हैं कि इन्द्रियादि-गत गुण ही प्रामाण्य के कारण हैं। स्वाप्नज्ञान स्थल में ऐसा कोई भी गुण विद्यमान नहीं रहता है। अतः उसमें प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती है।

प्रामाण्य के उत्पादक गुण की असत्ता दो प्रकार से संभव है—(१) ज्ञान के इन्द्रियादि करणों की असत्ता से एवं (२) ज्ञान के इन्द्रियादि करणों में गुण के अभाव से। पहले प्रकार के अनुसार गुण के आश्रयीभूत इन्द्रियादि करणों की सत्ता तो रहती है, किन्तु उनमें गुण नहीं रहते। ऐसे स्थलों में ज्ञान सामान्य की उत्पत्ति होती है, प्रमास्वरूप विशेष प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे दो चन्द्रों के दर्शन स्थल में ज्ञान के सामान्य कारण के रहने से चन्द्रमा का सामान्यज्ञान तो होता है किन्तु इन्द्रिय में विमलता स्वरूप गुण के न रहने से चन्द्रमा का उक्त ज्ञान प्रमात्मक नहीं होता है। स्वाप्नज्ञान स्थल में इन्द्रियादि करण स्वरूप गुण के आश्रय ही नहीं रहते फिर उनमें रहने वाले गुण की सत्ता कहाँ रहेगी ? अतः स्वाप्नज्ञान स्थल में आश्रयाभावप्रयुक्त गुणाभाव रहता है। फिर भी गुणाभाव तो है ही। इसलिए स्वाप्नज्ञान प्रमात्मक नहीं होता।

कहने का अभिप्राय है कि गुणविशिष्ट इन्द्रियादि ही प्रमाज्ञान के कारण हैं, केवल इन्द्रियादि नहीं। जिस प्रकार कार्य कारणप्रयोज्य होता है, उसी प्रकार कार्य का अभाव कारणाभावप्रयोज्य होता है। इस वस्तुगति के अनुसार जैसे कि प्रमाज्ञान गुणविशिष्ट इन्द्रियादिप्रयोज्य है, अप्रमाज्ञान भी गुणविशिष्ट इन्द्रियादि के अभावों का प्रयोज्य है।

गुणविशिष्ट इन्द्रियादि का अभाव 'विशिष्टाभाव' है। विशिष्टाभाव दो प्रकार का होता है (१) विशेषणाभावप्रयुक्त और (२) विशेष्याभावप्रयुक्त। जलविशिष्ट घट की सत्त्व दशा में जलाभाव से युक्त घट का जो अभाव (जलाभावविशिष्ट घटाभाव) रहता है वह विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है, क्योंकि जलाभाव रूप विशेषण वहाँ घट स्वरूप विशेष्य में नहीं है। इसीलिये केवल घट के रहने पर भी जलाभाव विशिष्ट घट का अभाव रहता है।

घटसामान्याभाव स्थल में भी उक्त विशिष्टाभाव है ही, क्योंकि जब कोई भी घट व्यक्ति नहीं है तब जलाभावविशिष्ट घट व्यक्ति भी नहीं है। शुक्तिका में रजत-भ्रमस्थल में इन्द्रिय में दोष रहता है गुण नहीं, फलतः गुणाभाव रहता है। अतः केवल इन्द्रिय के रहते हुए भी गुणविशिष्ट इन्द्रिय का अभाव अवश्य ही है। इस प्रकार शुक्तिका में रजत का ज्ञान इन्द्रियजन्य होते हुये भी प्रमात्मक नहीं है।

स्वाप्नज्ञान स्थल में इन्द्रिय स्वरूप विशेष्य का सामान्याभाव ही है। प्रमा ज्ञान के कारणीभूत गुणविशिष्ट इन्द्रिय विशेष का भी अभाव अवश्य है। इसलिए स्वाप्नज्ञान स्थल में प्रमाज्ञान के कारणीभूत गुणविशिष्ट इन्द्रिय नहीं है, अथ च ज्ञान

सामान्य का कारण है। अतः प्रमा से भिन्न अप्रमा स्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥ ४२ ॥

अत एव च वो भ्रान्तिर्दोषैर्मिथ्यात्वधीरिति ।
तद्व्याप्तेस्तु गुणाभावस्तत्कृता ह्यप्रमाणता ॥ ४३ ॥

तस्मात्कारणशुद्धत्वं ज्ञानप्रामाण्यकारणम् ।
स्वभावतोऽप्रमाणत्वं तदभावेन लभ्यते ॥ ४४ ॥

(किन्तु अप्रमाज्ञान के साथ दोष का अन्वयव्यतिरेक तो है, एवं अन्वय-व्यतिरेक ये ही दोनों कारणता के ग्राहक हैं, फिर दोष में अप्रमाज्ञान की कारणता का प्रतिषेध क्यों ? यदि यह प्रतिषेध संभव नहीं है तो फिर अप्रामाण्य का भी परतस्त्व बना रहेगा। इस आक्षेप का उक्त दोनों श्लोकों से बौद्धगण इस प्रकार समाधान करते हैं कि) आप लोगों (मीमांसकों) को अन्वयव्यतिरेक के दर्शन से ही दोष में अप्रामाण्य की कारणता की भ्रान्ति होती है। किन्तु 'केवल' अन्वयव्यतिरेक कारणता का ग्राहक नहीं है। किन्तु अनन्यथासिद्धिसहकृत अन्वयव्यतिरेक ही कारणता का ग्राहक है। प्रकृत में अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही अन्यथासिद्ध हैं।

कहने का तात्पर्य है कि अप्रामाण्य नैसर्गिक है। गुणस्वरूप कारण के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति उसका अपवाद है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के इन्द्रियादि कारण जिस समय तिमिरादि से दुष्ट हो जाते हैं, उस समय तिमिरादि दोष स्वरूप विरोधियों के रहने से प्रामाण्य के कारणीभूत गुणों की सत्ता नहीं रह पाती है। फलतः वही प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणाभाव से प्रतिरुद्ध होती है। एवं अप्रामाण्य अपने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थिर रहता है।

फलतः अप्रामाण्य की उत्पत्ति में दोष का कोई हाथ नहीं। दोष का व्यापार तो वहाँ केवल गुण की उत्पत्ति को रोकने में है। अर्थात् अप्रामाण्य स्थल में गुण की असत्ता से आप को (मीमांसकों को) दोष में अप्रामाण्य की कारणता का 'भास' होता है। अतः दोष अप्रामाण्य का कारण नहीं है किन्तु 'अन्यथा-सिद्ध' है।

तस्मात् ज्ञान के कारणों की शुद्धता उसके प्रामाण्य का कारण है। अर्थात् प्रामाण्य 'परतः' है। एवं ज्ञानों का अप्रामाण्य 'स्वभावतः' अर्थात् 'स्वतः' उत्पन्न होता है। किन्तु 'तदभाव' से अर्थात् गुणाभाव से लक्षित मात्र होता है। अतः दोष अप्रामाण्य का अन्यथासिद्ध है कारण नहीं ॥ ४४ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामप्रामाण्ये न दोषतः ।
नाज्ञाने दृश्यते ह्येतत्कारणाभावहेतुके ॥ ४५ ॥

ऊपर के सन्दर्भ से अप्रामाण्य के साथ दोष के अन्वयव्यतिरेक को स्वीकार कर 'परतः प्रामाण्य' पक्ष का खण्डन किया गया है। किन्तु वास्तव में दोष के साथ अप्रामाण्य का अन्वयव्यतिरेक है ही नहीं। अतः अन्वयव्यतिरेकवश यह

उपपादन नहीं किया जा सकता कि अप्रामाण्य दोष से उत्पन्न होता है। अर्थात् अन्वयव्यतिरेक से भी दोष में अप्रामाण्य के कारणत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि—'अज्ञान' स्वरूप अप्रामाण्य प्रमा के कारणों के न रहने से ही उत्पन्न होता है अर्थात् प्रमा के कारणाभाव से ही उत्पन्न होता है, दोष स्वरूप कारण से नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि भ्रम स्वरूप अप्रमा (१) संशय (२) अज्ञान और (३) विपर्यय भेद से तीन प्रकार की है। इनमें संशय और विपर्यय ये दोनों 'भाव' रूप हैं। इन दोनों के साथ दोष का अन्वयव्यतिरेक यद्यपि संभव है किन्तु 'अज्ञान' स्वरूप 'अप्रमा' तो 'ज्ञानानुत्पाद' स्वरूप है। अतः उसके लिये स्वतन्त्र कारण की कल्पना अनावश्यक है। केवल प्रमात्मक ज्ञान के उपयुक्त कारणों के अभाव से ही उक्त अज्ञान रूप अप्रमा की उत्पत्ति हो जायगी। अतः अज्ञान अप्रामाण्य के साथ दोष का अन्वयव्यतिरेक भी नहीं है। अतः यह बौद्ध पक्ष ही ठीक है कि—ज्ञानगत प्रामाण्य 'परतः' और अप्रामाण्य 'स्वतः' है ॥ ४५ ॥

ततश्च पुरुषाभावात् सति वा शुद्धयसंभवात् ।
निर्मूलत्वात्प्रमाणत्वं चोदनानां न युज्यते ॥ ४६ ॥

(अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः—बौद्धों के द्वारा इस पक्ष के अवलम्बन का मुख्य उद्देश्य है चोदना स्वरूप वैदिक विधि वाक्यों में अप्रामाण्य का साधन। इस श्लोक के द्वारा उपसंहार के व्याज से इसी का उपपादन किया है)।

वेदों को पौरुषेय मानें या अपौरुषेय–इन दोनों में से किसी भी पक्ष में चोदना (वैदिक विधायक वाक्य) धर्म का ज्ञापक प्रमाण सिद्ध नहीं होती है। अपौरुषेय पक्ष में चोदना में धर्मप्रामाण्य इस लिये संभव नहीं है कि वह अपौरुषेय है। एवं शाब्द प्रमा का कारण वक्ता में रहने वाला यथार्थ ज्ञान है। जो बोध अपौरुषेयवाक्य से उत्पन्न होगा वक्ता में रहने वाले 'गुण' स्वरूप कारण का उसके साथ संवलन संभव नहीं है, क्योंकि उसका कोई वक्ता नहीं है।

वेदों को पौरुषेय मानने पर भी चोदना स्वरूप (वैदिक विधायक) वाक्य से धर्म का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि धर्म के ज्ञापन की सामर्थ्य चोदना में ही मानते हैं, किसी अन्य प्रमाणों में नहीं। फिर वक्ता पुरुष को धर्म का ज्ञान वेदरचना से पहले किस प्रमाण से होगा, क्योंकि धर्म का ज्ञान केवल वेदों से ही आप (मीमांसक) मानते हैं। एवं धर्म के प्रमा ज्ञान में वक्तृगत ज्ञान स्वरूप धर्म का कारण है।

तस्मात् वेदों को पौरुषेय मानें या अपौरुषेय धर्म का प्रमाज्ञान चोदना स्वरूप वैदिक विधायक वाक्य से संभव नहीं है। फलतः चोदना धर्म की ज्ञापक प्रमाण नहीं है ॥ ४६ ॥

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥ ४७ ॥

हम (मीमांसक) अपने स्वतः प्रामाण्य पक्ष का उपपादन इस प्रकार करते हैं कि सभी प्रमाणों का—केवल चोदना स्वरूप शब्द का ही नहीं—प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है और स्वतः गृहीत होता है। यही हम लोगों का पक्ष है।

'क्योंकि ज्ञान में यदि अपने विषय का अवधारण करने की शक्ति 'स्वतः' नहीं है तो वह शक्ति किसी अन्य के द्वारा ज्ञान में उत्पन्न नहीं की जा सकती। ज्ञान के उत्पादक कारणों से यदि ज्ञान में अपने विषयों की अवधारणा करने की शक्ति उत्पन्न नहीं होगी तो फिर और किसी कारण में यह सामर्थ्य नहीं है कि ज्ञान में विषयावधारणा शक्ति को वह उत्पन्न कर दे। इससे संपूर्ण जगत् अन्धकार के समान हो जायगा।

मीमांसको का गूढ़ अभिप्राय यह है कि अगर आप (प्रामाण्य को परतः मानने वाले नैयायिकादि) ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य या प्रमात्व को 'परतः' मानते हैं तो इस 'परतः' शब्द की व्याख्या करनी होगी कि 'पर' कौन है। यदि 'गुण' इस पर शब्द का अर्थ मानेंगे तो यह भी कहना होगा कि 'गुण' क्या है, क्योंकि ज्ञान के चक्षुरादि कारणों में तो 'गुण' नाम की किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं है। यदि चक्षुरादि कि 'विमलता' को 'गुण' कहें तो फिर इसका अर्थ पर्यवसान में 'दोष का अभाव' ही होगा। यदि ऐसी बात है तो हम लोगों (मीमांसकों) को इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वेदों में 'निर्दोषत्व' प्रयुक्त ही प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। अर्थात् ऐसा मानते हैं कि वेद दोषशून्य हैं अतएव प्रमाण हैं।

प्रामाण्य के स्वतस्त्व से हम लोगों का तात्पर्य है कि ज्ञान के साधारण कारणों से भिन्न प्रामाण्य या प्रमात्व का कोई दूसरा 'भाव' स्वरूप कारण नहीं है। अतः दोषाभाव को गुण स्वरूप कारण मानने पर भी प्रामाण्य के स्वतस्त्व में कोई हानि नहीं होती है।

ज्ञान के कारणों का व्यापार केवल ज्ञान को उत्पन्न करने तक ही सीमित नहीं है। उन कारणों का व्यापार ज्ञान में प्रामाण्य या प्रमात्व को उत्पन्न करने तक है। मीमांसकों का यह कहना नहीं है कि ज्ञानगत प्रामाण्य या प्रमात्व किसी से उत्पन्न ही नहीं होता। उनका कहना है कि ज्ञान के जितने उत्पादक कारण हैं उन कारणों से ही प्रामाण्य का भी उत्पादन होता है। प्रामाण्य के उत्पादन में उन कारणों से भिन्न किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं है।

एतदनुसार श्लोक के 'स्वतः' का अर्थ है 'स्वकीयतः' एवं श्लोक का अर्थ है कि सभी ज्ञानों का (केवल शब्दज्ञान का ही नहीं) प्रमात्व उसके आश्रयीभूत ज्ञानों के उत्पादक कारणों से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञान में उसके उत्पादक कारणों के द्वारा जो 'शक्ति' अर्थात् विषय के अवधारण में समर्थ 'प्रामाण्य रूपा शक्ति'—उत्पन्न नहीं होगी वह किसी भी अन्य कारण के द्वारा ज्ञान में उत्पन्न नहीं की जा सकती ॥ ४७ ॥

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ ४८ ॥

वस्तुगति की उपेक्षा नहीं की जा सकती, तदनुसार यह स्वीकार करना होगा कि प्रमा ज्ञान की सामग्री और अप्रमा ज्ञान की सामग्री इन दोनों में अन्तर अवश्य है। प्रमात्मक ज्ञान गुणघटित सामग्री से उत्पन्न होता है। एवं अप्रमाज्ञान दोषघटित सामग्री से होता है। अतः मीमांसकों को यह प्रतिपादन करना आवश्यक है कि प्रमाज्ञान में विषयावधारण शक्ति स्वरूप प्रमात्व है, उसकी उत्पत्ति में गुण की अपेक्षा नहीं है, भले ही प्रमात्व के आश्रयीभूत ज्ञान के उत्पादन में 'गुण' की भी अपेक्षा स्वीकार की जाय।

कार्य स्वरूप भाव पदार्थों की सत्ता में जिन कारणों की अपेक्षा होती है उन पदार्थों से होने वाले कार्यों में उन कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। घट स्वरूप कार्य के उत्पादन में मिट्टी प्रभृति कारणों की अपेक्षा होती। घट से जो पानी लाने का कार्य होता है उसके लिये मिट्टी-प्रभृति कारणों की अपेक्षा नहीं होती है।

प्रकृत में कहना है कि प्रमात्मकज्ञान के उत्पादन में इन्द्रियों (करणों) में रहने वाले वैमल्यादि गुणों की अपेक्षा मान भी लें तब भी प्रमात्मक ज्ञान से होने वाले विषयावधारण स्वरूप कार्य में उक्त गुण की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रमाज्ञान में जो विषयावधारण शक्ति स्वरूप प्रमात्व या प्रामाण्य है वह गुणापेक्षी नहीं है ॥ ४८ ॥

(१) जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत्कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद्भवेत् ॥ ४९ ॥

(२) तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥ ५० ॥

(३) तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात्प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छंश्च न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥ ५१ ॥

'नहि स्वतोऽसती शक्तिः' श्लो० ४७ में प्रामाण्य को स्वतः मानने के लिए जिन युक्तियों की सूचना दी गई है, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) इन्द्रियादि में रहने वाले 'गुण' को यदि प्रमात्व या प्रामाण्य का कारण मानेंगे तो प्रामाण्य के अवधारण की कारणता गुणावधारण में माननी होगी। प्रामाण्य के अवधारण से अर्थ का निश्चय स्वरूप अवधारण होता है। इससे यह निष्पन्न होता है कि विषय का विज्ञान हो जाने पर भी उसके अवधारण के लिए प्रामाण्य के अवधारण की प्रतीक्षा करनी होगी। किन्तु प्रामाण्य के अवधारण के लिए गुणावधारण की अपेक्षा है।

(२) एवं इस गुणावधारण के लिए भी गुणज्ञानगत प्रामाण्य के अवधारण की, इस प्रामाण्यावधारण के लिए दूसरे उपयुक्त गुण के अवधारण की अपेक्षा माननी होगी। इस प्रकार जबतक गुण का अवधारण नहीं होगा तबतक वह 'नहीं' के बराबर है।

(३) इस प्रकार कारणशुद्धि की अपेक्षा प्रामाण्यावधारण की कहीं 'व्यवस्था' नहीं हो पायगी, अर्थात् अनवस्था दोष के कारण किसी विषय का अवधारण ही सम्भव नहीं होगा।

कहने का तात्पर्य है कि प्रामाण्य का अवधारण यदि गुणों के अवधारण से मानें तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि जिस प्रकार घटावधारण के लिए प्रामाण्यावधारण की आवश्यकता है, उसी प्रकार प्रमाण्यावधारण के लिए गुणावधारणमूलक किसी दूसरे प्रामाण्य के अवधारण की अपेक्षा होगी। इस प्रकार कहीं न रुकने वाली प्रामाण्य की अवधारणा की परम्परा चलेगी जिसे अनवस्था कहते हैं ॥४९–५१॥

यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव गृह्यते।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः ॥ ५२ ॥

मीमांसकगण प्रामाण्य को स्वतः इस अर्थ में कहते हैं कि उसका भावरूप कोई अतिरिक्त कारण नहीं है। किन्तु अप्रामाण्य का दोषरूप कारण प्रामाण्य का प्रतिबन्धक है। अतः दोष का अभाव प्रामाण्य के लिए अपेक्षित तो हो सकता है, क्योंकि भाव पदार्थ ही कारण होता है। अतः प्रामाण्य के लिए अपेक्षित रहने पर भी दोषाभाव प्रामाण्य का कारण नहीं होता है। ('अभाव कारण नहीं होता' इस सिद्धान्त का उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथमस्तवक में 'भावो यथा तथाऽभावः' इत्यादि कारिका में खण्डन किया है)।

इस पर 'परतः' प्रामाण्यवादी कहते हैं कि प्रामाण्य को स्वतः मानने पर भी 'अनवस्था' दोष होगा, क्योंकि प्रामाण्य के प्रति दोषाभाव की अपेक्षा है। इसलिये प्रामाण्य के अवधारण में दोषाभाव का प्रमा रूप में अवधारण अपेक्षित होगा। दोषाभाव की इस अवधारण-प्रमा में भी अन्य प्रमात्मक ज्ञानों के समान दोषाभाव का प्रमात्मक अवधारण अपेक्षित होगा। अतः स्वतः प्रामाण्यपक्ष में भी अनवस्था दोष अपरिहार्य है।

इस आक्षेप का उत्तर मीमांसकगण यह देते हैं कि प्रामाण्य का अपवादक अप्रामाण्य या मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वस्वरूप अप्रामाण्य का कारण है दोष। अतः प्रामाण्य के अवधारण के लिए दोषाभाव ही अपेक्षित है उसका ज्ञान नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक को दूर करना ही प्रकृत में अभीष्ट है। प्रतिबन्धक के दूर करने का कार्य दोषाभाव से ही हो जाता है, उसके लिए दोषाभाव के ज्ञान तक जाना उचित नहीं है। फलतः दोष स्वयं ही प्रामाण्य का विघातक है, उसका ज्ञान नहीं।

अतः जिस समय प्रामाण्य 'स्वतः' गृहीत होता है, उस समय अप्रामाण्य गृहीत नहीं होता। उसी समय यदि दोष का अज्ञान रहे तो विना यत्न के ही प्रामाण्यविघातक मिथ्यात्व (अप्रामाण्य) निवृत्त हो जाता है एवं प्रामाण्य निर्बाध हो जाता है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रमात्व (प्रामाण्य) के लिए यदि दोषाभाव का ज्ञान अपेक्षित होता तो गुणावधारणमूलक उक्त अनवस्था दोष की आपत्ति होती। किन्तु

सो नहीं है। अप्रामाण्य के लिए तो दोष का अज्ञानमात्र अपेक्षित है, जिसके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। तस्मात् स्वतः प्रामाण्यपक्ष में अनवस्था दोष नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ ५३ ॥

अतः कोई भी ज्ञान केवल इसीलिये प्रमा है कि वह 'बोधात्मक' है। ज्ञान का यह स्वाभाविक प्रमात्व अथवा विषय के असाधारण धर्मस्वरूप 'तथात्व' के अवधारण की क्षमता केवल दोष के ज्ञान से ही हटती है, क्योंकि दोष का ज्ञान अर्थ के 'अन्यथात्व' का कारण है। अर्थात् दोष के रहने पर ज्ञान अपने विषय को उस रूप में प्रकाशित करता है, जो रूप उस विषय का नहीं है। दूरत्वादि दोषों के रहने से शुक्ति उन रजतत्वादि रूपों से प्रकाशित होती है जो वस्तुतः शुक्ति के धर्म नहीं हैं। तस्मात् ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः है ॥ ५३ ॥

अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः।
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात् ॥ ५४ ॥

अविज्ञाने तु दोषाणाम् व्यापारो नैव कल्प्यते।
कारणाभावतस्त्वेव तत्सिद्धं नरस्त्ववुक्तिवत् ॥ ५५ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि अप्रामाण्य है प्रामाण्य का अभाव। 'वस्तु' न होने के कारण 'अभाव' की किसी से उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः दोष से अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो जिससे उत्पन्न नहीं होगा, वह उसके द्वारा ज्ञात भी नहीं होगा, क्योंकि कारण कार्य का अनुमापक हेतु है। अतः मीमांसकों का यह कहना ठीक नहीं है कि अप्रामाण्य दोष से उत्पन्न होता है और दोष ज्ञान से अवगत होता है। बौद्धों के इस आक्षेप का अप्रामाण्य के विभागमूलक यह समाधान है कि

(१) मिथ्यात्व (विपर्यय) (२) अज्ञान (३) संशय के भेद से तीन प्रकार का 'अप्रामाण्य' है। इनमें विपर्यय और संशय ये दोनों 'भाव' स्वरूप हैं। अतः इनकी उत्पत्ति दोषघटित ज्ञानोत्पादक सामग्री से हो सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों से यह निर्णीत है कि ज्ञानों का अप्रामाण्य अथवा अयथार्थत्व दोष से उत्पन्न होता है। किन्तु अयथार्थज्ञान भी 'ज्ञान' होने के नाते अपनी उत्पत्ति के लिए ज्ञान सामान्य के कारणों की अपेक्षा रखते हैं। ज्ञान सामान्य के जो उत्पादक कारण हैं वे ही प्रमात्व या यथार्थत्व के भी उत्पादक हैं। अतः अप्रमाज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान में भी केवल 'ज्ञान' होने के नाते ही प्रमात्व अथवा यथार्थत्व प्राप्त है। इस प्रकार अयथार्थ ज्ञान में प्राप्त प्रमात्व का बाध दोषजनित अयथार्थत्व के ज्ञान से होता है। इस प्रकार विपर्यय और संशयरूप अप्रमाज्ञान में दोषस्वरूप कारण का व्यापार सर्वथा सम्भव है।

अविज्ञाने तु············त्ववुक्तिवत्

'अविज्ञान' अर्थात् अज्ञानस्वरूप अप्रमा में दोषों का व्यापार जिस प्रकार आप लोग (बौद्धगण) नहीं मानते उसी प्रकार हम लोग (मीमांसकगण) भी अज्ञान-

स्वरूप अप्रमा में दोषों का व्यापार नहीं मानते, क्योंकि अज्ञानस्वरूप अप्रमा की उपपत्ति ज्ञान के सामान्य कारणों के अभाव से ही हो जाती है।

कहने का तात्पर्य है कि अप्रमा केवल अभाव रूप ही नहीं होती, क्योंकि संशय-विपर्यय स्वरूप भावात्मक अप्रमा भी है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अप्रमा चूँकि अभाव रूप है, अतः दोष से उत्पन्न नहीं हो सकती या दोष से ज्ञात नहीं हो सकती। अतः बौद्धों की ये दोनों ही आपत्तियाँ ठीक नहीं हैं ॥ ५४–५५ ॥

दोषतश्चाप्रमाणत्वे स्वतः प्रामाण्यवादिनाम्।
गुणज्ञानानवस्थावन्न दोषेषु प्रसज्यते ॥ ५६ ॥

परतः प्रामाण्य पक्ष में मीमांसकों ने अनवस्था दोष का उद्भावन किया है (देखिये श्लोक ४९ से श्लोक ५१ पर्यन्त)। किन्तु 'परतः' अप्रामाण्य स्वरूप मीमांसक के अपने पक्ष में भी तो वह 'अनवस्था' होगी, क्योंकि परतः प्रामाण्य पक्ष में भी मीमांसकों ने प्रामाण्य के परतस्त्व प्रयुक्त ही अनवस्था का उद्भावन किया है। इस आपत्ति का समाधान मीमांसक इस प्रकार करते हैं कि केवल पराधीनता से ही अनवस्था दोष नहीं होता है। उसके लिये यह आवश्यक है कि सजातीय 'पर' की अधीनता रहे। इस दृष्टि से प्रामाण्य को गुणाधीन मानने में अनवस्था दोष का अवसर रहता है, क्योंकि प्रमात्व के अवधारण के लिए गुणावधारण की अपेक्षा होती है, एवं गुणावधारण स्वरूप प्रमा के लिए दूसरे गुण का अवधारण आवश्यक होता है। इस प्रकार आगे कभी न रुकनेवाला क्रम चलता है। अतः प्रामाण्य को परतः स्वीकार करने पर अनवस्था दोष होता है।

अप्रामाण्य को परतः मानने में अनवस्था की यह स्थिति नहीं रहती है, क्योंकि अप्रामाण्य है दोषाधीन। अतः अप्रामाण्य का अवधारण दोषावधारणजन्य है। दोष का यह अवधारण प्रमा रूप ही है, अप्रमा रूप नहीं। प्रामाण्य को हम लोग 'स्वतः' मानते हैं। अतः दोषावधारण स्वरूप प्रमा भी स्वतः ही होगी। अतः अप्रा-माण्य को परतः मानने में अनवस्था दोष का अवसर नहीं है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि परतः प्रामाण्य पक्ष में अनवस्था दोष केवल इसलिए होता है कि प्रामाण्य को नैयायिकादि परतः मानते हैं। अतः अप्रामाण्यज्ञान के लिये अपेक्षित दोषावधारण प्रमा स्वरूप 'पर' के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि प्रमास्वरूप होने के कारण वह स्वतः उत्पन्न होती है।

श्लोक में जो 'स्वतः प्रामाण्यवादिनाम्' यह अंश है, उसका यही अभिप्रेत अर्थ है। अर्थात् हम मीमांसकगण जिसलिये कि स्वतः प्रामाण्यवादी हैं अतः दोषा-वधारण रूप प्रमा भी स्वतः होगी। इसलिए अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करने में अनवस्था दोष नहीं है।

श्लोक का अक्षरार्थ यह है कि अप्रामाण्य को दोषाधीन मानने पर स्वतः प्रामाण्यवादियों के पक्ष में उस प्रकार अनवस्था दोष नहीं होता है जिस प्रकार प्रामाण्यज्ञान के कारण गुणज्ञानस्थल में अनवस्था दोष होता है ॥ ५६ ॥

साक्षाद्विपर्ययज्ञानाल्लभ्ध्येव त्वप्रमाणता ।
पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति ॥ ५७ ॥

परतः अप्रामाण्यपक्ष में मीमांसकों ने जो अनवस्था दोष का परिहार श्लोक ५६ में दिया है, उसका विशदार्थ यह है कि शुक्तिका में रजत ज्ञान स्थल में जहाँ इस भ्रम का बाधक 'नेदंरजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वहाँ इस बाधक ज्ञान से ही उक्त प्रमात्मक ज्ञान में अप्रामाण्य का ग्रहण बड़ी शीघ्रता के साथ हो जाता है। फलतः यहीं अप्रामाण्य की व्यवस्था हो जाती है। अतः परतः प्रामाण्यपक्ष में अनवस्था दोष नहीं है।

पूर्वाबाधेन ....सिद्धयति

प्रश्न हो सकता है कि शुक्तिका में जो 'इदम् रजतम्' यह भ्रम होता है, उसका बाध बाद में होने वाले 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से क्यों होता है ? इसके विपरीत 'नेदं रजतम्' इसी ज्ञान का बाध प्रथमोत्पन्न 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि जब तक पहले ज्ञान का बाध नहीं होगा, तबतक दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी।

कहने का तात्पर्य है कि शुक्तिका में 'इदं' रजतम्' इस आकार का पहला ज्ञान अप्रमा रूप है, उसके उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाला 'नेदं रजतम्' इस आकार का ज्ञान है। निरन्तर होनेवाले दो ज्ञानों में से पहले ज्ञान का बाध जब तक उत्तरकालिक ज्ञान से नहीं होगा तबतक दूसरा ज्ञान स्थिति लाभ कर ही नहीं सकता। यह स्थिति अविरोधी ज्ञानों के परम्परास्थल में सामान रूप से होती है।

घट और पट परस्पर विरोधी नहीं है। किन्तु पहले यदि घटविषयक ज्ञान होगा, एवं पश्चात् पटविषयक ज्ञान तो पश्चाद्वर्त्ती पटज्ञान से पूर्ववर्त्ती घटज्ञान का बाध अवश्य होगा। जबतक पूर्ववर्त्ती घटज्ञान बाधित नहीं होगा तबतक पश्चात्काल में पटज्ञान की उत्पत्ति ही न हो सकेगी।

ऐसी स्थिति में उक्त 'इदं रजतम्' यह ज्ञान केवल पूर्ववर्त्ती होने से भी उत्तरवर्त्ती 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से बाधित होगा। उस पर से यहाँ विशेष यह भी है कि दोनों ही ज्ञान परस्परविरोधिविषयक भी हैं। समानबल के दो विरोधियों में बाध्यबाधकभाव का निर्णय विना एक में विशेष बलाधान के सम्भव नहीं है। ज्ञानों का बल है 'प्रमात्व'। 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान में सो भी है।

तस्मात् विरोधी ज्ञानों में 'बाधकभाव' अर्थात् बाधकत्व का प्रयोजक है उत्तरवर्त्तित्व। एवं विरोधिविषयक ज्ञानों में बाधकत्व का प्रयोजक है 'प्रमात्व'। ये दोनों ही प्रकृत 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान में है। अतः उत्तरवर्त्ती 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से पूर्ववर्त्ती 'इदं रजतम्' यह भ्रमात्मक ज्ञान बाधित होता है और 'इदं रजतम्' इस भ्रमात्मक एवं पूर्ववर्त्ती ज्ञान से उत्तरवर्त्ती प्रमा रूप 'नेदं रजतम्' यह उत्तरवर्त्ति प्रमात्मक ज्ञान बाधित नहीं होता है ॥ ५७ ॥

दुष्टकारणबोधे तु सिद्धेऽपि विषयान्तरे।
अर्थात्तुल्यार्थतां प्राप्य बाधो गोदोहनादिवत् ॥ ५८ ॥

जहाँ 'शङ्खः पीतः' इत्यादि स्थलों में परवर्त्ती दूसरे ज्ञान (शङ्खः श्वेतः) से पहले ज्ञान के उत्पादक दुष्टकारणविषयक ज्ञान के द्वारा पहले ज्ञान में अप्रामाण्य का बोध होता है, वहाँ यद्यपि दोनों ज्ञानों में स्वरूपतः कोई विरोध नहीं रहता है (अतः दोनों में से किसी एक का किसी दूसरे से बाध अयुक्त-सा दीखता है) फिर भी 'अर्थतः' दोनों में एकविषयक होने के कारण विरोध का सम्पादन हो जाता है। जैसे कि गोदोहन से चमस का बाध होता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि मीमांसकगण प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। मीमांसकों ने प्रामाण्य को परतः स्वीकार करनेवाले नैयायिकादि के पक्ष में अनवस्था दोष का उद्भावन किया है। इसपर परतः प्रामाण्यवादियों ने मीमांसकों के ऊपर प्रत्यारोप लगाये हैं कि यह अनवस्था दोष अप्रामाण्य को 'परतः' स्वीकार करनेवाले मीमांसकों के ऊपर भी समान रूप से लागू होता है। इसका समाधान मीमांसकों ने 'दुष्टकारणबोधे तु' इत्यादि ५८वें इस श्लोक से किया है।

मीमांसकों का कहना है कि अप्रामाण्य का ग्रहण दो प्रकार से होता है। इनमें पहला प्रकार यह है—

(१) जहाँ शुक्तिका में 'इदंरजतम्' इस आकार का ज्ञान पहले उत्पन्न होता है और उसके बाद ही 'नेदं रजतम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलों में अप्रामाण्य का ग्रहण सुलभ होता है, क्योंकि ज्ञान में अप्रामाण्य है विषय का 'अतथात्व' स्वरूप अर्थात् वह ज्ञान जिस अर्थ को जिस रूप में प्रकाशित करता है उस अर्थ का उस रूप का न होना।

प्रकृत में 'इदम्' पदार्थ को रजतत्व रूप से 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से समझा जाता है। किन्तु यह 'इदम्' पदार्थ रजत नहीं है किन्तु शुक्तिका है। इस 'विषयान्यथात्व' स्वरूप अप्रामाण्य को 'नेदम् रजतम्' यह ज्ञान साक्षात् ही बड़ी शीघ्रता से उत्पन्न कर देता है, क्योंकि यह ज्ञान स्वयं किसी के साहाय्य के बिना यह समझा देता है कि रजतत्व इस 'इदम्' पदार्थ का धर्म नहीं है। अतः पहले का 'इदं रजतम्' यह ज्ञान चूँकि जो वस्तु जिस रूप का नहीं है उस वस्तु को उस रूप से समझानेवाला है, अतः 'अप्रमा' है। सुतराम् ऐसे स्थलों में अप्रामाण्य का ग्रहण 'नेदं रजतम्' इस द्वितीय ज्ञान के द्वारा सुलभता से हो जाता है।

(२) अप्रामाण्यग्रहण का दूसरा प्रकार है दोषग्रहण के द्वारा। जैसे कि एक ही शङ्ख में एक पुरुष को पीतिमा का और दूसरे पुरुष को श्वैत्य का अनुभव होता है। इस विभिन्नता के द्वारा पहले पुरुष के चक्षु में 'पित्त' दोष का ज्ञान होता है, एवं चक्षुगत उस पित्त दोष में 'शङ्खः पीतः' इस भ्रम की कारणता गृहीत होती है। उसके बाद उक्त दोषजन्यत्व के ज्ञान से 'शङ्खः पीतः इदं ज्ञानं भ्रमः' यह प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। एवं भ्रान्तत्वप्रयुक्त 'शङ्खः पीतः' इस आकार के ज्ञान में विद्यमान

'अर्थान्यथात्व' स्वरूप अप्रामाण्य का 'शङ्खः पीतः इदं ज्ञानं भ्रमः' इस आकार के ज्ञान से ग्रहण होता है।

अतः 'शङ्खः पीतः' एवं 'शङ्खः पाण्डुर एव' ये दोनों ज्ञान यद्यपि विभिन्न एवं अविरोधिविषयक हैं तथापि उक्त दोषग्रहण के द्वारा उक्त दोनों ज्ञानों के विषयों में विरोध के सम्पादक हैं। अतः 'शङ्खः पीतः' इस अप्रमा ज्ञान में रहने वाले अप्रामाण्य का ग्रहण 'शङ्खः श्वेतः' इस प्रमाज्ञान से हो सकता है। 'शङ्खः श्वेतः' यह ज्ञान चूँकि प्रमा है अतः इसका प्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है। इसलिए परतः प्रामाण्य पक्ष में अनवस्था दोष नहीं है।

दो वस्तुओं में स्वतः साक्षात् विरोध के न रहने पर भी यदि वे दोनों एक विषय में एक ही समय प्राप्त हो जाते हैं तो उन दोनों में भी परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता है। एवं उनमें जो प्रबल होता है, उससे दुर्बल का बाध होता है। इसी न्याय से 'शङ्खः पीतः' इस ज्ञान का बाध 'शङ्खः श्वेतः' इस ज्ञान से होता है। एवं 'शङ्खः पीतः' इस ज्ञान का अप्रामाण्य दोषग्रहण के द्वारा—'शङ्खः श्वेतः' इस ज्ञान से गृहीत होता है।

इस विषय में दृष्टान्त है 'गोदोहन' पात्र; अर्थात् जिस प्रकार 'चमस' का बाध गोदोहन पात्र से होता है। यद्यपि गोदोहनपात्र और चमस में स्वरूपतः कोई विरोध नहीं है फिर भी एक ही याग में एक ही समय विशेषतः 'अप्प्रणयन' स्वरूप एक ही कार्य में दोनों की प्राप्ति होने पर स्वरूपतः विरोध के न रहने पर भी 'अर्थतः' दोनों में विरोध होता है। 'चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य' इस वाक्य के द्वारा बलप्राप्त गोदोहन से दुर्बल चमस का बाध होता है (देखिये मीमांसासूत्र और उसका शाबरभाष्य अ० ५ पा० ६ अधिकरण १—वर्णक २ सूत्र २) ॥ ५८ ॥

तत्र दोषान्तरज्ञानं बाधधीर्वा परा न चेत्।
तदुद्भूतौ द्वितीयस्य मिथ्यात्वाबाध्यमानता ॥ ५९ ॥

क्या यह स्वाभाविक नियम ही है कि पहले ज्ञान का बाध उत्तरवर्त्ती दूसरे ज्ञान से हो? इस प्रश्न के समाधान में यह व्यवस्था जाननी चाहिये कि कहाँ पहले ज्ञान से दूसरे ज्ञान का बाध होता है और कहाँ दूसरे ज्ञान से पहले ज्ञान का बाध होता है—

(१) जहाँ द्वितीय ज्ञान के बाद उसमें अप्रामाण्य का सम्पादक तीसरा कोई दोषज्ञान अथवा 'नेदं तथा' इस आकार का बाधज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ दूसरे ज्ञान से पहले ज्ञान का बाध होता है एवं प्रथम ज्ञान का अप्रामाण्य गृहीत होता है। ऐसे स्थलों में द्वितीय ज्ञान ही यथार्थ रहता है।

(२) यदि उसकी उत्पत्ति हो जाय अर्थात् द्वितीयज्ञान के बाद इस द्वितीयज्ञान के कारणीभूत दोषों का ज्ञान हो जाय, अथवा 'नेदं तथा' इस आकार का साक्षात् बाध करनेवाला ज्ञान ही उत्पन्न हो जाय तो फिर पहले ज्ञान से द्वितीयज्ञान का

बाध और उसी से उसके अप्रमाण्य का ग्रहण होता है। ऐसे स्थलों में पहला ज्ञान ही यथार्थ रहता है।

कहने का तात्पर्य है कि जिस ज्ञान में आप्रमाण्य गृहीत हो जायगा वह ज्ञान न किसी का कारण होगा, न किसी का प्रतिवन्धक ही होगा। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि परस्परविरोधिविषयक दो ज्ञानों में से एक ही ज्ञान प्रमात्मक होता है।

ऐसी स्थिति में यदि द्वितीयज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का भी होगी (वह शङ्का चाहे साक्षात् बाधकज्ञान से हो अथवा दोषज्ञान के द्वारा हो) तो द्वितीयज्ञान से पहले ज्ञान का बाध नहीं होगा। एवं बाधकज्ञान के न रहने से पहले ज्ञान का प्रामाण्य निर्बाध रहेगा।

यदि द्वितीयज्ञान में अप्रामाण्य का कोई भी ज्ञान नहीं होगा, तो फिर उसका प्रामाण्य निर्बाध है। अतः अपने विरोधी ज्ञान को अवश्य ही पराजित कर देगा एवं उसके अप्रामाण्य को प्रकाशित कर देगा।

तस्मात् किसी ज्ञान का पूर्ववर्त्तित्व या परवर्त्तित्व उसके बाधकत्व या बाध्यत्व का प्रयोजक नहीं है, अर्थात् कोई भी ज्ञान केवल परवर्त्ती अथवा पूर्ववर्त्ती होने के कारण बाध्य या बाधक नहीं है॥ ५९॥

स्वत एव हि तत्रापि दोषाज्ञानात् प्रमाणता।

दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शङ्क्या निष्प्रमाणता॥ ६०॥

(किन्तु इससे यह निष्पन्न होता है कि प्रथमज्ञान का प्रामाण्य तृतीयज्ञान के अधीन है। इससे प्रामाण्य का स्वतस्त्व व्याहत हो जाता है। इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

पहला ज्ञान उत्पन्न होते ही अपने स्वाभाविक प्रामाण्य स्वरूप बल के द्वारा अपना 'अर्थपरिच्छेद' स्वरूप कार्य कर लेता है। किन्तु विरोधी द्वितीयज्ञान में प्रामाण्य की भ्रान्ति से पहले ज्ञान के बाध और अप्रामाण्य की प्रसक्ति उत्पन्न हो जाती है। तृतीयज्ञान से उसका केवल निराकरण ही होता है। फलतः पहले ज्ञान में प्रामाण्य के उत्पादन में या ज्ञापन में तृतीयज्ञान का कोई व्यापार नहीं है। जहाँ पहले ज्ञान का प्रामाण्य द्वितीयज्ञान के बाधक या अप्रामाण्य के ग्राहक तृतीयज्ञान के द्वारा कहा गया है—ऐसे स्थलों में भी प्रामाण्य की उत्पत्ति अवश्य ही 'स्वतः' होती है। उसके लिये अतिरिक्त किसी 'भाव' कारण की अपेक्षा नहीं होती है। उसके लिए केवल अप्रामाण्य के उत्पादक दोषों के अज्ञान की अपेक्षा होती है। पहले कह आये हैं कि अभाव की अपेक्षा रहने पर भी स्वतस्त्व का व्याघात नहीं होता है।

तस्मात् जिस ज्ञान के उत्पादक सामग्री में दोष का ज्ञान नहीं निविष्ट रहता उस ज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, वह ज्ञान चाहे पहला हो चाहे और कोई॥ ६०॥

एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६१ ॥

यहाँ आक्षेप होता है कि जिस प्रकार पहले ज्ञान के कारणीभूत दोषों का ज्ञान द्वितीयज्ञान से होता है, एवं द्वितीयज्ञान के कारणीभूत दोषों का ज्ञान तृतीय ज्ञान से होता है, उसी प्रकार यह संभावना भी है कि तृतीय ज्ञान के उत्पादक दोषों का ज्ञान चौथे ज्ञान से एवं चौथे ज्ञान के उत्पादक दोषों का ज्ञान पाँचवें ज्ञान से होगा। इस प्रकार किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य का विश्वास नहीं किया जा सकता। इस आक्षेप का यह समाधान है कि अप्रामाण्य के ग्राहक दोषज्ञान की उक्त परम्परा तीन या चार ज्ञानों से आगे तक नहीं जाती। इसी से किसी एक ज्ञान में प्रामाण्य दृढ़ हो जाता है, जो वस्तुतः स्वतः है।

कहने का तात्पर्य है कि दिशा, काल, अवस्था इन्द्रियगत दोष अथवा विषयगत दोष प्रभृति पदार्थ ही लोक में मिथ्यात्व के कारण प्रसिद्ध हैं। यह कोई नियम नहीं है कि सभी ज्ञानों से पहले इन दोषों में से किसी की सत्ता अवश्य रहे। ज्ञानों के ऐसे भी स्थल संभावित हैं, जहाँ इन दोषों की कोई संभावना नहीं है। जैसे स्वस्थ इन्द्रिय और स्वस्थ मन का कोई पुरुष पूर्ण आलोक में अपने समीपस्थ घट को देखता है। घट के इस चाक्षुष प्रत्यय में मिथ्यात्व के कारणीभूत उक्त दोषों में से किसी की भी संभावना नहीं है। अतः इस प्रकार के ज्ञानों में अप्रामाण्य की कोई संभावना नहीं रहती है। फलतः ज्ञानों के जिन स्थलों में अप्रामाण्य की संभावना है उन्हीं स्थलों में दोषों की भी संभावना है। सुतराम् यह विभीषिका व्यर्थ है कि सभी ज्ञानों में दोषों की संभावना से किसी भी ज्ञान के प्रति प्रामाण्य का विश्वास कठिन हो जायगा, क्योंकि केवल ज्ञानत्व अथवा केवल सदोषत्व संशय का कारण नहीं है। संशय के 'साधारणधर्म' दर्शनादि अन्य कारण भी हैं। अतः जहाँ अप्रामाण्यसंशय के कारण उपस्थित रहेंगे, उन्हीं स्थलों में आगे के ज्ञान में प्रामाण्य-संशय से किसी एक कोटि का निर्णय करना पड़ेगा। जिन ज्ञानों में अप्रामाण्य की कोई संभावना नहीं है उस प्रकार के असन्दिग्धप्रामाण्यक ज्ञान की भी उत्पत्ति हो सकती है। तस्मात् सभी ज्ञानों में अप्रामाण्य की शङ्का से अनाश्वास का भय कुतर्क का ही परिणाम कहा जायगा।

जिन स्थलों में दूरत्वादि दोषों की संभावना से अप्रामाण्य की शङ्का होगी, उन स्थलों में भी समीप जाने भर से ही एक कोटि का निर्णय अवश्य होगा। इसके लिये ज्ञानपरम्परा को बहुत दूर तक ले जाने की आवश्यकता नहीं है। सुतराम् जहाँ तीसरे ज्ञान में दोषजन्यत्व की संभावना नहीं है वहाँ तत्क्षण निर्णय हो जायगा कि पहला ज्ञान ही प्रमात्मक है दूसरा नहीं।

यदि तृतीय ज्ञान में भी कदाचित् सदोषत्व का सन्देह होगा तो चौथे ज्ञान से उसका निर्णय कर प्रथम अथवा द्वितीय ज्ञान में प्रामाण्य स्थिर हो जायगा। अर्थात् चतुर्थ ज्ञान से यदि तृतीय ज्ञान में सदोषत्व का निर्णय होगा तो द्वितीय ज्ञान यथार्थ

होगा। यदि तृतीय ज्ञान दोष की संभावना से रहित होगा तो प्रथम ज्ञान यथार्थ होगा। इससे आगे जाने की संभावना नहीं है ॥ ६१ ॥

शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितिः।
तदभावः क्वचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ ६२ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।

शब्द प्रमाण स्थल में दोष की उत्पत्ति वक्ता के अधीन है। प्रमा के प्रयोजक दोष का अभाव किसी (पौरुषेयवाक्यज) शाब्दप्रमा में गुणयुक्त वक्ता के रहने से होता है। वक्ता के गुणों से निराकृत दोषों का संस्पर्श शब्द में संभव नहीं है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृत विषय है वेदों में अप्रामाण्य का खण्डन और वेदों में प्रामाण्य का समर्थन। 'प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः' इस सिद्धान्त का समर्थन इसी अभिप्राय से उपर्युक्त सन्दर्भ (श्लो० ३३ से श्लो० ६१ पर्यन्त) से किया गया है। अब शब्द प्रमाण स्वरूप वेद में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये यह अनुसन्धान आवश्यक है कि प्रमाज्ञान के उत्पादन में शब्दों का साधारण स्वभाव क्या है ? अर्थात् शब्दप्रमाण से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति किस रीति से होती है ? इसके लिये शब्दप्रमाण को और किस वस्तु की आवश्यकता होती है ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर के लिए जानना आवश्यक है कि—

ज्ञान के उत्पादक कारणों के समूह (सामग्री) में जहाँ दोष का समावेश रहता है, दोषघटित उस सामग्री से अप्रमा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जहाँ उक्त सामग्री में दोष का समावेश नहीं रहता है अर्थात् उक्त सामग्री दोषाभावघटित रहती है, वहाँ उक्त सामग्री से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह वस्तुगति है।

इस वस्तुगति के अनुसार शब्द से जहाँ अप्रमाज्ञान की उत्पत्ति होगी वहाँ भी दोष का रहना आवश्यक होगा। अप्रमारूप शाब्दबोध का उत्पादक दोष साधारणतः वक्ता में ही रहता है, क्योंकि वक्ता के दोष से ही शब्दजज्ञान में यथार्थता आती है। कह आये हैं कि शब्दज प्रमाज्ञान में दोषाभाव आवश्यक होता है। किसी किसी शब्दज प्रमा में दोष का यह अभाव वक्ता में 'गुण' के रहने से सम्पादित होता है, क्योंकि वक्ता के गुणों से निराकृत दोष शब्दज ज्ञान के कारणों से सम्पृक्त नहीं हो सकते। इस दृष्टि से वक्ता का गुण शब्दज प्रमा का साक्षात्कारण नहीं है। किन्तु दोषों को हटाने के लिए ही उसकी अपेक्षा है। यह स्थिति पौरुषेय शब्दों में है ॥ ६२–६३ क–ख ॥

यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥ ६३ ॥

किन्तु उक्त रीति से वेदस्वरूप शब्दजन्य प्रमाज्ञान स्थल में दोषाभाव का सम्पादन सम्भव नहीं है, क्योंकि वेदों का कोई वक्ता पुरुष ही नहीं है। अतः वेदों से होनेवाले प्रमाज्ञान के लिए दोषाभाव का सम्पादन इस रीति से समझना चाहिये—

वक्ता के दोष से ही शब्दज ज्ञान में अप्रमात्व होता है। वेदों का कोई वक्ता ही नहीं है। अतः वेदस्वरूप शब्दजनित ज्ञान में अप्रामाण्य का आपादक दोष रहेगा

ही कहाँ ? इस प्रकार दोषों के आश्रय के अभाव से ही वेदजप्रमाज्ञान स्थल में दोषा-भाव का संवलन निर्बाध है। अतः वेदजनित ज्ञान के प्रमात्व के प्रसङ्ग में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ६३ ॥

पौरुषेयं द्वयं दृष्टं दोषाभावो गुणास्तथा।

प्रामाण्यं तत्र गुणतो नैव स्यादित्युदाहृतम् ॥ ६४ ॥

यहाँ आक्षेप हो सकता है कि शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों के प्रामाण्य के साथ वक्ता में रहने वाले गुण का नियत अन्वयव्यतिरेक है। ऐसी स्थिति में वेद-स्वरूप शब्द से उत्पन्न ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व के स्थल में यदि वक्तृगत गुण की सम्भावना नहीं है तो वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति अनिवार्य है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि पौरुषेयवाक्यज प्रमानिष्ठ प्रामाण्य के साथ केवल गुण का ही अन्वयव्यतिरेक नहीं है, किन्तु गुण और दोषाभाव दोनों के साथ अन्वयव्यतिरेक गृहीत है। पहले कह आये हैं कि दोनों में समान रूप से अन्वय औरव्यतिरेक के रहने पर भी प्रामाण्य का कारण दोषाभाव ही है गुण नहीं। इस रीति से प्रामाण्य का दोषाभावरूप कारण वेदजज्ञान-स्थल में भी है ही। अतः वेदों के प्रामाण्य में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ६४ ॥

तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।

अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ ६५ ॥

(यदि मान भी लें कि प्रामाण्य का कारण दोषाभाव ही है, गुण नहीं। किन्तु दोषाभाव भी तो ज्ञान के साधारण कारणों से 'पर' है ही। अतः प्रामाण्य को दोषाभावजन्य मान लेने पर भी प्रामाण्य के परतस्त्व का निराकरण नहीं होता तो इस आक्षेप का यह समाधान है कि)

गण के रहने से उसके विरोधी दोषों की सत्ता नहीं रह सकती। अतः गुण से दोषाभाव की उत्पत्ति कही जाती है। अप्रामाण्य दो प्रकार के हैं। (१) साक्षात् विपर्ययज्ञान से उत्पन्न और (२) दोषज्ञान से उत्पन्न। अतः दोषाभाव से दोनों ही प्रकार की अप्रमाओं की सत्ता मिट जाती है। अतः दोषाभाव के रहने से प्रामाण्य की स्वाभाविक स्थिति के विघटक 'अपवाद' की स्थिति निराकृत हो जाती है। एवं प्रामाण्य अपवाद की स्थिति से हटकर स्वभावतः प्रकाशित हो जाता है ॥ ६५ ॥

प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात् प्रामाण्यं नापनीयते।

दोषाभावो गुणेभ्यश्चेन्ननु सैवास्थितिर्भवेत् ? ॥ ६६ ॥

ज्ञान के साधारण कारणों के रहते हुए (दोषों के न रहने से) प्रामाण्य का कोई अपनयन नहीं कर सकता।

पहले बार-बार कह आये हैं कि ज्ञानों का प्रामाण्य ही स्वाभाविक धर्म है अप्रामाण्य अपवाद है। ज्ञानों में यह अप्रामाण्यस्वरूप अपवाद दोषों से उत्पन्न होता है। जहाँ गुण से यह दोष निराकृत हो जाता है उन सभी स्थलों में यह प्रत्ययरूप ज्ञान के साधारण कारणों के रहने से उनका प्रामाण्य दृढ़ हो जाता है। दोषों को

छोड़कर अन्य कोई उसे हटा नहीं सकता। अतः गुण से जहाँ दोष का अपनयन हो जाता है अथवा दोष की सत्ता ही नहीं रहती उन सभी स्थलों में प्रामाण्य निर्बाध है। अतः लौकिक शब्दों में भी प्रामाण्य स्वतः ही है। वक्ता में रहनेवाले गुणों से दोषों का अपनयन मात्र होता है।

दोषाभावो ··· ··· अस्थितिर्भवेत्

पौरुषेय शब्द से जहाँ प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, वक्तृगत गुणों से दोषों का अपनयन होता है, उसके बाद लौकिक शब्दजनित बोध में प्रामाण्य स्थिर होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रामाण्य में गुण की अपेक्षा है। किन्तु प्रामाण्य को गुणापेक्ष मानने में मीमांसकगण अनवस्था दोष का उद्भावन कर चुके हैं। (देखिये श्लो० ५१) फिर भी मीमांसक गण प्रामाण्य को गुणापेक्षी कैसे मान सकते हैं ? ॥ ६६ ॥

तदा तु व्याप्रियन्ते हि ज्ञायमानतया गुणाः ।
दोषाभावे तु विज्ञेये सत्तामात्रोपकारिणः ॥ ६७ ॥

'तदा' अर्थात् दोषाभावोत्पत्ति के समय गुण अपने ज्ञान के द्वारा उपयोगी नहीं होता। एवं इस दोषाभाव के अवधारण में भी गण अपनी सत्ता से ही उपकार का साधन करता है।

अर्थात् यदि प्रामाण्य के अवधारण में गुण का अवधारण अपेक्षित होता तो अवश्य ही स्वतः प्रामाण्य पक्ष में भी अनवस्था दोष होता। किन्तु गुण से दोषाभाव की उत्पत्ति मानने में यह अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि गुण से दोषापनयन के बाद ज्ञानगत प्रामाण्य के प्रकाशित होने में किसी की अपेक्षा नहीं है ॥ ६७ ॥

तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति ॥ ६८ ॥

आक्षेप हो सकता है कि पौरुषेय वाक्य स्थल में शाब्दबोध में अप्रामाण्य के आपादक दोषों को हटाने के लिये उपयुक्त गुणों का संवलन संभव है, क्योंकि उक्त गुण वक्तृगत ज्ञानादि रूप हैं। एवं पौरुषेय वाक्यों का वक्ता भी संभव है। किन्तु वेदजनित बोध में अप्रामाण्य के आपादक दोषों का विघटन किन गुणों से होगा, क्योंकि गुणों का आधार कोई वक्ता पुरुष ही वहाँ नहीं हैं, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

शाब्दप्रमा में अपेक्षित दोषापनयन के प्रयोजक गुणों का आश्रय जिस प्रकार वक्ता पुरुष है, उसी प्रकार शाब्दबोध में अप्रामाण्य के आपादक विप्रलिप्सादि दोषों का आश्रय भी वक्ता पुरुष ही है। वेदों का कोई वक्ता पुरुष नहीं है। अतः वेदजन्य ज्ञान में अप्रामाण्य के आपादक दोषों का अभाव वक्ता पुरुष के अभाव से ही अत्यन्त सुलभ है। अतः वेदों में अप्रामाण्य की कोई संभावना ही नहीं है।

कहने का तात्पर्य है जिस प्रकार घटादि द्रव्यों में रूपादि गुणों का नाश विरोधी दूसरे गुण और आश्रय का विनाश दोनों में विकल्पतः स्थल विशेष में होता है उसी प्रकार प्रामाण्य के विघातक दोषों का अभाव भी कहीं अपने विरोधी गुणों से होता है एवं कहीं उसका विनाश अपने आश्रय वक्ता पुरुष के अभाव से होता है। पौरुषेयवाक्यजनित प्रमाबोध स्थल में दोषाभाव का संवलन कथित प्रथमरीति से और अपौरुषेय वेदजनित बोध स्थल में दोषाभाव का संवलन कथित द्वितीय रीति से होगा। अतः वेदों में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं है ॥ ६८ ॥

अतो वक्त्रनधीनत्वात् प्रामाण्ये तदुपासनम्।
न युक्तम् अप्रमाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् ॥ ६९ ॥

शब्द ज्ञान का प्रामाण्य वक्ता के अधीन नहीं। अतः वेदप्रामाण्य के लिये (नैयायिकादि के द्वारा ईश्वर की कल्पना स्वरूप) पुरुष (ईश्वर) की उपासना का कोई प्रयोजन नहीं है। प्रत्युत वेदकर्त्ता पुरुष की कल्पना वेदप्रामाण्य का विरोधी ही है। अतः वेदों के अप्रामाण्य के लिये ही ईश्वर की उपासना (कल्पना) कर्त्तव्य है ॥ ६९ ॥

ततश्चाप्ताप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते।
प्रयोगाणां तु सर्वेषां वक्ष्यामः प्रतिसाधनम् ॥ ७० ॥

तस्मात् वेदों का आप्तपुरुष के द्वारा निर्मित न होना अप्रामाण्य (स्वरूप दोष) का हेतु नहीं हो सकता। वेदों के अप्रामाण्य के साधक अनुमानों के विरोधी अनुमानों का प्रयोग हम आगे (श्लो० १८४) कहेंगे ॥ ७० ॥

पौरुषेये तु वचने प्रमाणान्तरमूलता।
तदभावे हि तद् दुष्येदितरन्न कदाचन ॥ ७१ ॥

प्रश्न हो सकता है कि पौरुषेय वाक्य भी यदि स्वतः प्रमाण ही हैं, तो उनके लिये मूलभूत दूसरे प्रमाण का अनुसन्धान क्यों आवश्यक होता है ?

इस प्रश्न का यह समाधान है कि पौरुषेय वचनों से ज्ञाप्य अर्थों की पुष्टि अन्य प्रमाण से आवश्यक है। यदि ऐसा न मानेंगे तो अप्रामाण्य के प्रयोजक अपवादभूत दोषों का निराकरण नहीं हो सकेगा। अतः अप्रामाण्य के निराकरण के लिये पौरुषेय वचन स्वरूप प्रमाण से ज्ञाप्य अर्थ की परिपुष्टि दूसरे प्रमाण के द्वारा आवश्यक है। पौरुषेय वचन से 'इतर' अर्थात् अपौरुषेय वेदवाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण से ज्ञाप्य अर्थ की परिपुष्टि यदि दूसरे प्रमाण से नहीं भी होती है तथापि वैदिक शब्द स्वरूप प्रमाण दुष्ट नहीं होता है ॥ ७१ ॥

तेनेतरैः प्रमाणैर्या चोदनानामसङ्गतिः।
तयैव स्यात् प्रमाणत्वमनुवादत्वमन्यथा ॥ ७२ ॥

तस्मात् चोदना स्वरूप वैदिक विधायक वाक्य से कथित अर्थों की परिपुष्टि का किसी अन्य प्रमाण से न होना उसके दृढ़ प्रामाण्य का सहायक ही है। 'अन्यथा'

यदि वैदिक विधायक वाक्य (चोदना) से कथित अर्थ किसी दूसरे प्रमाण से भी बोध्य हो तो फिर वैदिक वाक्य विधायक न होकर अनुवादक ही हो जाते। किन्तु प्रमाण तो विधायक वाक्य ही हैं, अनुवादक वाक्य प्रमाण नहीं हैं।

इस प्रकार वैदिक शब्द स्वरूप प्रमाण के द्वारा साधित अर्थ का संवाद दूसरे प्रमाणों के द्वारा स्वीकार करने में हानि का अभाव ही नहीं है प्रत्युत वेदों में अनुवादकता रूप दोष भी है ॥ ७२ ॥

अन्यस्यापि प्रमाणत्वे सङ्गतिर्नैव कारणम्।

एक प्रमाण से प्रमित अर्थ की दूसरे प्रमाण से परिपुष्टि ही प्रमाणों का 'संवाद' है। प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं पौरुषेय शब्द स्वरूप प्रमाण, इन सभी प्रमाणों में उक्त संवाद के अधीन ही प्रामाण्य देखा जाता है। यह संवाद वेद वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण में नहीं है, क्योंकि वेद वाक्यों के द्वारा कथित अर्थ की परिपुष्टि नियमतः अन्य किसी प्रमाण से नहीं होती है। अतः वेदों का प्रामाण्य किस प्रकार संभव है ?

इस प्रश्न का यह समाधान है कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का प्रामाण्य उक्त संवाद के अधीन नहीं है ॥ ७३ क, ख ॥

तुल्यार्थानां विकल्प्यत्वादेकं तत्र हि बोधकम् ॥ ७३ ॥

वस्तुतः एक प्रमाण में दूसरे प्रमाण का संवाद उसके प्रमाणत्व का विघटक ही है सहायक नहीं, क्योंकि यदि अनेक प्रमाणों से किसी एक विषय का ज्ञान हो तो वे सभी प्रमाण परस्पर निरपेक्ष होकर तद्विषयक प्रमा ज्ञान के सम्पादक होने के नाते ही प्रमाण हैं, उन सभी प्रमाणों में से प्रत्येक में निरपेक्ष पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र प्रामाण्य ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि एक विषयक प्रमा के उत्पादक सभी प्रमाणों में सामूहिक एक प्रमाकरणत्व स्वरूप एक ही प्रामाण्य है। तस्मात् किसी भी प्रमाण का प्रामाण्य संवाद के अधीन नहीं है ॥ ७३ ॥

यत्रापि स्यात् परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः।
नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा ॥ ७४ ॥

प्र०—प्रायः देखा जाता है कि यदि कोई दूर से किसी वस्तु को देखता है तो उसी विषय को और अच्छी तरह देखने के लिये समीप जाकर देखता है। यदि एक प्रमाण से ज्ञात अर्थ की परिपुष्टि दूसरे प्रमाण से एकान्ततः अनावश्यक हो फलतः प्रमाण के प्रामाण्य को संवादापेक्ष न मानें तो पुनर्दर्शन की उक्त सार्वजनीन प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायगी। तस्मात् प्रामाण्य अवश्य ही संवादापेक्ष है।

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जिस विषय का परिच्छेद उत्तरवर्ती दूसरे प्रमाण से होता है, वहाँ भी उत्तर प्रमाण का विषय पूर्व प्रमाण से ज्ञात नहीं रहता है।

कहने का तात्पर्य है कि उक्त स्थल में अज्ञातविषयक प्रमाज्ञान की इच्छा से उक्त पुरुष उस विषय को समीप जाकर देखना चाहता है। पूर्व प्रमाण से ज्ञात

जो अंश है उसी को पुनः देखने के लिये वह विषय के समीप नहीं जाता है। अतः प्रामाण्य संवाद के अधीन नहीं है ॥ ७४ ॥

सङ्गत्या यदि चेष्येत पूर्वपूर्वप्रमाणता।
प्रमाणान्तरमिच्छन्तो न व्यवस्थां लभेमहि ॥ ७५ ॥

पूर्व प्रमाणगत प्रामाण्य को यदि उत्तरवर्त्तिप्रामाण्यसाक्षेप मानें तो फिर उस उत्तरवर्त्ति प्रमाण गत प्रामाण्य के लिये तदुत्तरवर्त्ती दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अपेक्षा का न रुकने वाला क्रम चलेगा जो 'व्यवस्था' के अभाव स्वरूप अनवस्था दोष में परिणत होगा। अतः एक प्रमाण का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण के अधीन नहीं है ॥ ७५ ॥

कस्यचित् तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ॥ ७६ ॥

किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य को यदि 'स्वतः' मानना आवश्यक हो तो फिर प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य को ही 'स्वतः' मान लेने में किस कारण द्वेष रखते हो ?

ज्ञान का प्रयोजन है प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति। जो ज्ञान जिस प्रवृत्ति अथवा जिस निवृत्ति का कारण है उस ज्ञान से होने वाली वह प्रवृत्ति या निवृत्ति यदि सफल होती है तो वह ज्ञान प्रमा है। प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वरूप 'अर्थक्रिया' कार्य के जनकत्वविषयक ज्ञान ज्ञानगत प्रामाण्य का कारण है। जिस ज्ञान में यह अर्थक्रियाकारित्व या सफलप्रवृत्तिजनकत्व गृहीत होता है वही ज्ञान प्रामात्मक है। ज्ञानधर्मिक सफलप्रवृत्तिजनकत्व का ज्ञान या अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान स्वतः प्रमाण है। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य को 'परतः' मानने पर भी अनवस्था दोष का परिहार हो सकता है।

बौद्धों का कहना है कि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु की सत्ता है। कार्यत्व को ही अर्थक्रियाकारित्व कहते हैं। फलतः जो किसी कार्य का जनक नहीं है, वह 'सत्' भी नहीं है। ज्ञान भी चूँकि 'सत्' है, अतः वह भी अर्थक्रिया का जनक अवश्य होगा। किसी भी विषय के ज्ञान में इस अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान ही प्रामाण्य का सम्पादक है। किन्तु ज्ञानधर्मिक अर्थक्रियाकारित्व ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' होता है। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य को परतः मानने पर भी अनवस्था दोष नहीं है।

नैयायिक और बौद्ध दोनों ज्ञानगत प्रामाण्य को परतः मानते हैं। इन दोनों पक्षों पर अनवस्थादोष का प्रहार मीमांसकों ने किया था जिसका परिहार ये दोनों परतः प्रामाण्यवादी उक्त रीति से करते हैं। इसको मीमांसकों ने इस श्लोक में कथित युक्ति से अयुक्त बताया है ॥ ७६ ॥

श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गते।
स्याच्चेत्तज्जनितेनैव ज्ञानेनान्येन सङ्गतिः ॥ ७७ ॥

प्रामाण्य को यदि नियमतः संवाद के अधीन मानें तो श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान कभी प्रमात्मक नहीं होगा, क्योंकि उसका विषय शब्द चक्षुरादि अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। शब्द चक्षुरादि प्रमाणों से अगम्य है।

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि चक्षुरादि इन्द्रियों से उसकी परिपुष्टि संभव न होने पर भी श्रोत्रेन्द्रियजन्य उसी शब्दविषयक दूसरे ज्ञान से उसकी परि-पुष्टि हो सकती है। 'क्या आपने उस शब्द को सुना था जिसको मैंने अमुक समय सुना था ?' इस प्रश्न के उत्तर में मैंने भी उस शब्द को सुना था—यह कथन लोक में प्रसिद्ध है। इसका यह अर्थ हुआ कि श्रोत्रेन्द्रियजन्य एक ज्ञान का सम्वाद श्रोत्रेन्द्रिय-जन्य दूसरे ज्ञान से ही हो सकता है, चक्षुरादि अन्य प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा नहीं।

स्याच्चेत्...... ......सङ्गतिः

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञान का संवाद हो भी तो श्रोत्रेन्द्रियजन्य दूसरे ज्ञान से ही होगा, चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि एक प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान का संवाद तज्जातीय दूसरे प्रमाण के द्वारा ही संभव है। अगर ज्ञानप्रामाण्य के लिए संवाद की अपेक्षा मान भी लें तो वह संवाद सजातीयप्रमाणजन्य ज्ञान से ही माना जा सकता है, विजातीयप्रमाणजन्य ज्ञान से नहीं ॥ ७७ ॥

वेदेऽपि शतकृत्वः स्याद् बुद्धिरुच्चारणानुगा ।
साधनान्तरजन्या तु बुद्धिर्नास्ति द्वयोरपि ॥ ७८ ॥
यथा त्वेकेन्द्रियाधीनज्ञानान्तरनिबन्धना ।
सङ्गतिः कारणं प्राप्ता तथा वेदेऽपि कल्प्यताम् ॥ ७९ ॥

उक्त युक्ति का उपयोग वेदप्रमाण स्थल में भी हो सकता है, क्योंकि उच्चारण भेद से शब्द भिन्न हैं। एक ही वेदवाक्य का असंख्य पुरुषों ने उच्चारण किया है। आगे भी असंख्य पुरुष उच्चारण करेंगे। फलतः वर्तमान काल में उच्च-रित वेद के एक वाक्य का संवाद आगे-पीछे के अनेक वाक्यों से हो सकता है।

किसी दूसरे प्रमाण से जो वेदार्थ का संवाद नहीं होता है उसमें कोई बड़ी बात नहीं है, क्योंकि किसी इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान में किसी दूसरी इन्द्रिय से संवाद संभव नहीं है। अतः जिस प्रकार एक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान का संवाद दूसरे विजातीय इन्द्रिय से नहीं हो सकता, सजातीय दूसरे इन्द्रिय से ही हो सकता है, उसी प्रकार वेदों में भी कल्पना की जा सकती है कि एक पुरुष के द्वारा उच्चरित एक वेदवाक्य के अर्थ का संवाद दूसरे पुरुष के द्वारा उच्चरित उसी आनुपूर्वी के दूसरे वेदवाक्य के द्वारा हो सकता है ॥ ७८–७९ ॥

तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति ।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम् ॥ ८० ॥

'तस्मात्' कोई भी संशयभिन्न ज्ञान यदि आगे या पीछे के दूसरे ज्ञान से 'विसम्वाद' अर्थात् बाध को नहीं प्राप्त होता है तो वह ज्ञान अवश्य ही 'प्रमा' है।

(श्लोक के 'दृढम्' पद से ज्ञान में संशयभिन्नता और 'ज्ञानान्तरेण न विसं-वादमृच्छति' इस वाक्य से ज्ञान में 'विपर्ययभिन्नता' अभिप्रेत है)।

कहने का तात्पर्य है कि कोई भी ज्ञान यदि संशयात्मक एवं विपर्ययात्मक नहीं है तो वह ज्ञान अवश्य ही प्रमा है। किसी ज्ञान के प्रमात्व के लिए संशयभिन्नता एवं विपर्ययभिन्नता ये दोनों ही आवश्यक हैं। इसके लिए 'संवाद' अथवा 'गुण' की अपेक्षा नहीं है। इसलिए वेदार्थविषयकज्ञान में यदि संवाद नहीं है, या किसी वक्ता पुरुष के न रहने से गुण का संवलन संभव नहीं है तथापि वेद से होने वाले तदर्थ-विषयक ज्ञान के प्रमात्व में कोई बाधा नहीं है ॥ ८० ॥

न चानुमानतः साध्या शब्दादीनां प्रमाणता ।
सर्वस्यैव हि सा प्राप्त् प्रमाणान्तरसाध्यता ॥ ८१ ॥

किसी आप्त के द्वारा अरचित वाक्य में प्रामाण्य दृष्ट नहीं है, फिर आप्तारचित वेद में प्रामाण्य किस प्रकार संभव है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि संवाद से किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान के द्वारा ही होगी। अनुमान प्रमाण से होने वाले कार्य में दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। शब्द में यदि संवादहेतुक अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की सिद्धि हम करते तो यह आपत्ति उठाना उचित होता कि 'किसी आप्तारचित वाक्य में प्रामाण्य गृहीत नहीं है'। हम लोग तो शब्द प्रमाण में ही नहीं, किसी भी प्रमाण में प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान के द्वारा नहीं करते। तस्मात् उक्त आपत्ति वृथा है ॥ ८१ ॥

ननु प्रमाणमित्येवं प्रत्यक्षादि न गृह्यते ।
न चेत्थमगृहीतेन व्यवहारोऽवकल्पते ॥ ८२ ॥

ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य पक्ष पर कोई आपत्ति करते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान प्रथमतः भी 'घटज्ञानं प्रमा' इत्यादि आकारों से गृहीत नहीं होते, क्योंकि प्रमात्व का ज्ञान घटादिज्ञानधर्मिक होगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न घटादि ज्ञानों में स्वाभिन्न वे ज्ञान प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि प्रमात्व-ज्ञान का आकार होगा 'घटज्ञानं प्रमा'। इस विशिष्ट ज्ञान के लिए आवश्यक है कि 'घटादिज्ञान' स्वरूप विशेष्य पहले से ज्ञात रहे। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से घटादि-विषयक ज्ञानों की उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में 'घटादिज्ञानं प्रमा' इस आकार का प्रामाण्यग्रह संभव नहीं है। एवं जिस ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत नहीं है उससे किसी व्यवहार का चलना संभव नहीं है। तस्मात् स्वतः प्रामाण्य पक्ष असङ्गत है ॥ ८२ ॥

प्रामाण्यं ग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरैः ॥ ८३ ॥
तेनास्य ज्ञायमानत्वं प्रामाण्ये नोपयुज्यते ।

उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि प्रमाणभूत ज्ञान अपने ज्ञान से पहले (अन्य वस्तुओं की तरह) अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है। एवं किसी के साहाय्य से ही अपना कार्य कर जाता है। (इस प्रकार कृतकार्य हो जाने पर) आनुमानिक दूसरे ज्ञान से उसका ग्रहण होता है। अतः किसी ज्ञान के प्रामाण्य के लिए उसके आश्रयीभूत ज्ञान का ज्ञात होना आवश्यक नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान अपने कार्यों का स्वरूपतः कारण है, ज्ञात होकर कारण नहीं है। अतः उक्त आपत्ति उचित नहीं है। फलतः किसी भी ज्ञानगत प्रामाण्य को समझने के लिए प्रामाण्य के आश्रयीभूत ज्ञान को समझने की आवश्यकता नहीं है। उसका रहना ही पर्याप्त है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान बराबर अज्ञात ही रहता है। उसका भी ज्ञान 'प्रत्ययान्तर' से अर्थात् दूसरे ज्ञान से होता है ॥ ८३½ ॥

विषयानुभवो ह्यत्र पूर्वस्मादेव लभ्यते ॥ ८४ ॥

किन्तु यह असङ्गत सा लगता है, क्योंकि प्रामाण्य ज्ञान का धर्म है। धर्मी का ज्ञान किए विना धर्म को नहीं जाना जा सकता। कहीं भी यह नहीं देखा जाता कि धर्मी अज्ञात रहे और धर्म ज्ञात हो जाय। इस असङ्गति का परिहार यह है कि उक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं कि प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान के साथ ही उसके सम्बन्धी रूप में होता है। केवल इतना ही अभिप्रेत है कि 'विषय का तथाभाव या विषयतथात्व' ही 'प्रामाण्य' या प्रमात्व है, क्योंकि विषय के इस तथात्व से ही ज्ञान में प्रमात्व की बुद्धि एवं प्रमा शब्द का व्यवहार होता है। ज्ञान को जाने विना भी विषय का 'तथात्व' आश्रयीभूत ज्ञान से ही स्वतः गृहीत हो जाता है। अतः आश्रयीभूत ज्ञान को समझने के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ॥ ८४ ॥

अप्रमाणं पुनः स्वार्थग्राहकं स्यात् स्वरूपतः।
निवृत्तिस्तस्य मिथ्यात्वे नागृहीते परैर्भवेत् ॥ ८५ ॥

अप्रमा ज्ञान की भी स्थिति कुछ अंशों में प्रमा ज्ञान के समान ही है, किन्तु कुछ अंशों में भिन्न भी है। जैसे कि अप्रमाज्ञान से स्वरूपतः उसके विषय का ज्ञान प्रमाज्ञान के समान ही होता है। किन्तु अप्रमाज्ञान स्वगत अप्रमात्व (अप्रामाण्य) को प्रमाज्ञान से प्रमात्व की तरह स्वतः अवगत कराने में समर्थ नहीं है, क्योंकि पूर्वरीति के अनुसार अप्रामाण्य या अप्रमात्व है विषय का अतथात्व स्वरूप।

शुक्तिका में रजतभ्रम के स्थल में भी ज्ञान का आकार 'इदं रजतम्' यही रहता है, 'नेदं रजतम्' यह आकार नहीं। यदि उक्त अप्रमा ज्ञान 'नेदं रजतम्' इस आकार का होता तो उससे यह आशा की जा सकती थी कि उससे अप्रमाज्ञानगत 'विषयातथात्व' स्वरूप 'अप्रामाण्य' भी प्रकाशित होता है। अतः विषयातथात्व स्वरूप अप्रामाण्य के लिए उसके आश्रयीभूत अप्रमाज्ञान से भिन्न किसी दूसरे ज्ञान का ही अन्वेषण करना होगा। 'तस्मात्' अपने विषय को अप्रमा ज्ञान स्वयं ही प्रकाशित करता है, किन्तु स्वगत अप्रमात्व को समझने के लिए उससे भिन्न किसी 'पर' का ही मुँह देखना पड़ेगा। इसलिये अप्रामाण्य या अप्रमात्व 'परतः' है।

इस अभिप्राय के। अनुसार श्लोक का अक्षरार्थ यह है कि 'अप्रमाण' अर्थात् 'अप्रमाज्ञान' अपने विषय का यद्यपि स्वरूपतः ही ज्ञापक है तथापि उस प्रतीति का बाधस्वरूप 'मिथ्यात्व' तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके मिथ्यात्व का ग्रहण किसी दूसरे प्रमाण से न हो जाय ॥ ८५ ॥

न ह्यर्थस्यातथाभावः पूर्वेणात्तस्तथात्ववत् ।
तत्राप्यर्थाऽन्यथाभावे धीर्यद्वा दुष्टकारणे ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार 'विषयतथात्व' स्वरूप 'प्रमात्व' अपने आश्रयीभूत पूर्व ज्ञान के उत्पादक सामग्री से 'आत्त' अर्थात् प्राप्त रहता है (ज्ञात रहता है)। उसी प्रकार अर्थ का 'अन्यथाभाव' स्वरूप 'अप्रमात्व' अपने आश्रयीभूत पूर्वज्ञान के उत्पादक कारणों से प्राप्त नहीं है।

उसके लिए दूसरे प्रमाण से उत्पन्न' 'अर्थान्यथाभावज्ञान' बाधकप्रत्यय अथवा दूसरे प्रमाण से ही उत्पन्न कारणीभूत दोष के ज्ञान का अवलम्बन आवश्यक है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'अर्थान्यथाभावे' और 'दुष्टकारणे' इन पदों की सप्तमी विभक्ति का अर्थ है 'विषयत्व' ॥ ८६ ॥

तावतैव च मिथ्यात्वं गृह्यते नान्यहेतुकम् ।
उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति मीयते ॥ ८७ ॥

यह जो कहा गया है कि अप्रामाण्य का ग्रहण कारणगतदोषविषयकज्ञान एवं 'अर्थान्यथात्वज्ञान' इन दोनों से होता है, यह सभी स्थलों के लिए है, क्योंकि सभी स्थलों में अप्रामाण्य का ग्रहण इन्हीं दोनों हेतुओं से होता है। कहीं भी अप्रामाण्यग्रहण का कोई दूसरा कारण नहीं है।

उत्पत्त्यवस्थम् ··· ··· ···मीयते

इस प्रसङ्ग में शङ्का हो सकती है कि उत्तरवर्ती बाधकज्ञान यदि यथार्थ होगा तभी वह पहले ज्ञान के अप्रामाण्य का ग्राहक हो सकता है। किन्तु इस बाधक-ज्ञान का प्रामाण्य किससे उत्पन्न होना है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि

पहले (श्लो० ५३) उपपादन कर चुके हैं कि सभी ज्ञान स्वभावतः यथार्थ ही उत्पन्न होते हैं। तदनुसार यह बाधज्ञान भी अपनी उत्पन्नावस्था में स्वभावतः यथार्थ ही रहता है। अतः बाधज्ञान की यथार्थता के लिए अनुमानादि किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है ॥ ८७ ॥

अतो यत्रापि मिथ्यात्वं परेभ्यः प्रतिपाद्यते ।
तत्राप्येतद् द्वयं वाच्यं न तु साधर्म्यमात्रकम् ॥ ८८ ॥

कथित युक्तियों से जिस लिये कि अप्रामाण्य का ग्रहण दोषज्ञान एवं अर्थान्यथात्वज्ञान (बाधज्ञान) इन दोनों ज्ञानों से सिद्ध हो चुका है, अतः जहाँ भी मिथ्यात्व दूसरों को समझाया जाय उन सभी स्थलों में यही कहना चाहिये कि मिथ्यात्व स्वरूप अप्रामाण्य का ग्रहण इन्हीं दोनों कारणों में से किसी से होता है। केवल 'साधर्म्य' से 'अन्यथा' नहीं कहना चाहिये ॥ ८८ ॥

चोदनार्थान्यथाभावं कुर्वतश्चानुमानतः ।
तज्ज्ञानेनैव यो बाधः स कथं विनिवार्यते ॥ ८९ ॥

चोदना स्वरूप विधायक वाक्य से स्वर्ग, अपूर्व, देवता प्रभृति जिन पदार्थों का ज्ञान होता है उनकी सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती। अतः तर्क से असम्मत इन सब अर्थों के प्रमापक चोदना स्वरूप वेद वाक्य फलतः संपूर्ण वेद राशि अप्रमाण है।

इस प्रकार जो समुदाय वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करना चाहते हैं उस अनुमान प्रमाण में चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जो बाधदोष की आपत्ति होगी, उसका निवारण वे किस प्रकार करेंगे ?

कहने का तात्पर्य है कि केवल वेदों से ही प्रमापित होने वाले स्वर्ग, अपूर्व प्रभृति पदार्थों का खण्डन जो अनुमान प्रमाण से करना चाहते हैं, उन लोगों का यही अभिप्राय हो सकता है कि स्वर्गादि पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतः वेद राशि चूँकि असत्यभूत स्वर्गादि पदार्थों का ज्ञापक है, अतः प्रमाण नहीं है। इन लोगों के मत से अनुमानों के प्रयोग इस प्रकार के होंगे—

(१) स्वर्गादिकं नास्ति प्रत्यक्षाद्यगतार्थत्वात्,

(२) चोदना न प्रमाणं स्वर्गाद्यसत्यार्थप्रकाशत्वात्।

किन्तु 'सत्' हेतु से उत्पन्न अनुमान ही साधक अथवा बाधक हो सकता है। हेत्वाभास (असद्धेतु) जनित अनुमान से न किसी वस्तु की सिद्धि हो सकती है, न किसी वस्तु का बाध ही हो सकता है। हेतु में आभासत्व के सम्पादक बाधादि दोषों में से एक भी हेतु में आ जाय तो वह हेतु साधक या बाधक नहीं हो सकता। चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से स्वर्गादि का अस्तित्व सिद्ध है। अतः स्वर्गादि के अस्तित्व का बाधक उक्त अनुमान शब्द प्रमाण से बाधित है, क्योंकि चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से स्वर्गादि का अस्तित्व सिद्ध है, यह सिद्धि प्रकृत अनुमान के साध्य स्वरूप स्वर्गास्तित्वाभाव का बाधक है। अतः उक्त अनुमान से वेदों में अप्रामाण्य का साधन नहीं किया जा सकता ॥ ८९ ॥

तन्मिथ्यात्वादबाधश्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम्।
नानुमानादतोऽन्यद्धि बाधकं किञ्चिदस्ति ते ॥ ९० ॥

इस प्रसङ्ग में वेदों का अप्रामाण्य मानने वाले कह सकते हैं कि चोदना स्वरूप शब्द से उत्पन्न ज्ञान मिथ्या है। एवं अनुमानजनित ज्ञान यथार्थ है। मिथ्या से यथार्थ ज्ञान का बाध नहीं हो सकता, यथार्थ ज्ञान से ही मिथ्या ज्ञान का बाध होता है। अतः चोदना से गम्य अर्थ बाधित है। चोदना स्वरूप शब्द चूँकि बाधित अर्थ का बोधक है, अतः यह शब्द 'अग्निना सिञ्चति' इस वाक्य की तरह अप्रमाण है। इस अभिप्राय के खण्डन के प्रसङ्ग में जानना चाहिए कि चोदना स्वरूप शब्दजनित ज्ञान के मिथ्या होने के कारण यदि आप उक्त बाध दोष का वारण करें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा, क्योंकि उक्त अनुमान छोड़ कर दूसरा कोई साधन आप के पास शब्दजनित ज्ञान को बाधित करने के लिए नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि वेदों को अप्रमाण मानने वाले चोदनाजनित ज्ञान को मिथ्या किस हेतु से कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर उनके पास एक ही है कि अनुमान के द्वारा उससे विरुद्ध अर्थ की सिद्धि होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि चोदना-जनित ज्ञान का मिथ्यात्व उक्त अनुमान प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार उक्त अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान भी तभी उक्त शब्दजनित ज्ञान का बाधक मिथ्यात्व का साधक हो सकता है, जब कि वह यथार्थ प्रमाणित हो। किन्तु उसके मिथ्यात्व को उजागर करने के लिए भी उक्त चोदनास्वरूप प्रमाण विद्यमान है।

इस प्रकार चोदनाजनित ज्ञान से उक्त अनुमान का बाध तब होगा जब कि उक्त शब्दजनित ज्ञान अयथार्थ होगा। उक्त शाब्दज्ञान में अयथार्थता की सिद्धि तभी होगी जब कि अनुमान अबाधित होगा। फलतः अनुमान से शाब्दज्ञान में मिथ्यात्व की सिद्धि एवं शाब्दज्ञान के मिथ्या होने पर अनुमान का प्रामाण्य—इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य होगा। अतः कथित रीति से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ ९० ॥

न चान्यैरग्रहेऽर्थस्य स्यादभावो रसादिवत्।
तेषां जिह्वादिभिर्यस्मान्नियमो ग्रहणेऽस्ति हि ॥ ९१ ॥

(पू० प०) इस प्रसङ्ग में वेदाप्रामाण्यवादी कह सकते हैं कि मीमांसकों के लिए उक्त अन्योन्याश्रय दोष इसलिए हो सका है कि वेदस्वरूप शब्दजनित बोध में कथित मिथ्यात्व के साधक अनुमान को छोड़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। किन्तु तुल्यन्याय से इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि वेदबोधित स्वर्गादि अर्थों का साधक वेदों को छोड़कर कोई दूसरा नहीं है। अतः जिस प्रकार वेदजन्य ज्ञान में मिथ्यात्व की सिद्धि केवल अनुमान स्वरूप एक ही प्रमाणजन्य होने के कारण नहीं हो सकती, उसी प्रकार शब्दस्वरूप एक प्रमाणजन्य होने के कारण स्वर्गादि की भी सिद्धि नहीं हो सकती। तस्मात् 'यश्चोभयोः समो दोषः' इस न्याय से अन्योन्याश्रय दोष का उद्भावन उचित नहीं है। इस आक्षेप का समाधान मीमांसक यह देते हैं कि—

किसी एक प्रमाण से सिद्ध अर्थ की असिद्धि केवल इसलिए नहीं हो सकती कि उसकी सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से संभव नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार करें तो केवल एक इन्द्रिय से गृहीत होने वाले रसादि गुणों की सत्ता लुप्त हो जायगी, क्योंकि उनकी सिद्धि रसनादि तत्तदिन्द्रियों को छोड़कर किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं है।

मीमांसकों का अभिप्राय है कि हम लोग शब्दजनित वेदार्थविषयक ज्ञान को मिथ्या इस लिए नहीं मानते हैं कि मिथ्यात्वसाधक उक्त अनुमान को छोड़ कोई दूसरा प्रमाण मिथ्यात्व का साधक नहीं है। किन्तु बाधितविषयक होने के कारण उस 'एक' बाधक अनुमान की सत्ता को ही हम अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार बाधक के निरस्त हो जाने पर वेदस्वरूप साधक प्रमाण के द्वारा स्वर्गादि वेदार्थों की सिद्धि निर्विघ्न हो जाती है ॥ ९१ ॥

तद्धियैवार्थबोधश्चेत् तादृग्धर्मे भविष्यति।

इस प्रसङ्ग में वेदाप्रामाण्यवादी कह सकते हैं कि रसादि की सिद्धि जिह्वा प्रभृति तत्तत्प्रमाणों से भिन्न किसी अन्य प्रमाण से भले ही संभव न हो किन्तु पुरुष-भेद से जिह्वादि तत्तदिन्द्रिय रूप प्रमाण भी तो भिन्न हैं, अनेक हैं। एक ही रूप को देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों ही अपनी-अपनी आँखों से देख सकते हैं। अतः रसादि की सिद्धि जिह्वा आदि तत्तदिन्द्रिय से भिन्न विजातीय प्रमाणों से भले ही संभव न हो किन्तु सजातीय दूसरे प्रमाणों की तो संभावना है।

मीमांसक इसका उत्तर देते हैं कि स्वर्ग-धर्म-प्रभृति वेदार्थों की सत्ता भी इसी प्रकार प्रतिपादित हो सकती है, क्योंकि 'प्रत्युच्चारण शब्द भिन्न है' इस न्याय से एक वेदवाक्य से ज्ञात धर्म का ही बोध तदानुपूर्वीक दूसरे वेदवाक्य से हो सकता है। अतः उक्त रीति से वेदबोधित धर्मादि में भी दूसरे प्रमाणों का संवाद अवश्य संभव है ॥ ९२ क–ख ॥

ममासिद्धमिदं किन्तु वेदाज्जातेऽवबोधने ॥ ९२ ॥
वक्तुं न द्वेषमात्रेण युज्यते सत्यवादिना।
द्वेषादसम्मतत्वाद्वा न च स्यादप्रमाणता ॥ ९३ ॥
न चात्मेच्छाध्यनुज्ञाभ्यां प्रामाण्यमवकल्पते।
अग्निदाहादिदुःखस्य न ह्यप्रत्यक्षतेष्यते ॥ ९४ ॥
न चाभिलापिकं ज्ञानं प्रामाण्येनावधार्यते।
तस्मादालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति ॥ ९५ ॥
नैवं विप्रतिपत्तव्यम् बौद्धादेर्वक्ष्यतेऽन्तरम्।

ममासिद्धमिदम्

(पू० प०) अनुमान के द्वारा वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति दी गयी थी। किन्तु मीमांसकों ने उस अनुमान को वेद रूप आगम के विरुद्ध होने के कारण बाधित बतलाया। एवं उस अनुमान को वेदों में अप्रामाण्य साधन में असमर्थ करार दिया। इस पर वेदाप्रामाण्यवादियों का कहना है कि उक्त चोदनास्वरूप विधायक वेदवाक्य को मैं प्रमाण नहीं मानता। फिर मेरे मत से अप्रामाणिक शब्द प्रमाण के द्वारा मेरे अनुमान में बाध दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता। अतः मेरा अनुमान बाधितविषयक नहीं है। अतः इस अनुमान से वेदों में अप्रामाण्य के साधन में कोई बाधा नहीं है।

किन्तु वेदाज्जाते'''न च स्यादप्रमाणता'''अप्रत्यक्षतयेष्यते—विप्रतिपत्तव्यम्

मीमांसकगण इसका समाधान करते हैं कि आप लोगों (वेदाप्रामाण्यवादियों) को भी वेदवाक्य को सुनने से वेदार्थविषयक संशय और विपर्यय से भिन्न ज्ञान अवश्य होता है। अतः वेदों का प्रामाण्य आप के मत से भी सिद्ध ही है। केवल द्वेषवश वेदप्रमाण की असिद्धि की बात करना आप जैसे सत्योपासक के लिए उचित नहीं है। आप की असम्मति या आप के द्वेष से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि उसी

प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार मेरी इच्छा मात्र से वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। अग्नि के स्पर्श से होने वाले दुःख की अप्रत्यक्षता किसी की इच्छा मात्र से स्वीकृत नहीं हो सकती। अतः इच्छा मात्र से उत्पन्न ज्ञान में अप्रामाण्य निश्चित नहीं हो सकता।

तस्मात् जिस प्रकार लौकिक वाक्य से प्रमाबोध की उत्पत्ति सर्वसाधारण है उसी प्रकार वेदस्वरूप शब्द से प्रमाबोध की उत्पत्ति सर्वसाधारण ही है।

बौद्धोक्तेर्वक्ष्यतेऽन्तरम्

इस प्रसङ्ग में परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकादि कह सकते हैं कि यदि कोई भी ज्ञान केवल ज्ञान होने के नाते ही प्रमाण हो तो फिर त्रयीबाह्य बौद्धादि के वाक्य भी वेदवाक्यों के समान ही प्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि उन वाक्यों से भी किसी प्रकार का बोध होता ही है।

इस आक्षेप के समाधान के लिए ही वार्त्तिककार ने उपक्रम की सूचना दी है कि बौद्धादिवाक्यों में वेदवाक्यों से अन्तर मैं आगे श्लोक से कहूँगा॥ ९२–९६ क-ख॥

पुरुषाशक्तितस्तत्र सापवादत्वसम्भवः॥ ९६॥

वेदस्यापौरुषेयत्वे सिद्धा त्वेवं प्रमाणता।

'अशक्यं हि तत्पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्' (शाबरभाष्य पृ० १५) कथित रीति से बौद्धादि आगमों में प्रामाण्य की आपत्ति का परिहार भाष्यकार ने ही उक्त सन्दर्भ से सूचित किया है, जिसका उपपादन उपर्युक्त दो श्लोकार्द्धों से वार्त्तिककार ने किया है। इस वार्त्तिकसन्दर्भ का अभिप्राय है कि—

अतीन्द्रिय वस्तु प्रत्यक्षप्रमाण के विषय नहीं हैं। उनके ग्रहण की शक्ति किसी मनुष्य में नहीं है। अतः मनुष्य जब किसी अतीन्द्रिय वस्तु को शब्द के द्वारा प्रकट करना चाहता है तो वह पुरुष या तो स्वयं भ्रान्त रहता है, अथवा उसे लोगों को ठगने की अभिलाषा रहती है। ऐसे पुरुष के किसी वाक्य या उनके रचे हुए शास्त्र से जो ज्ञान उत्पन्न होंगे वे सभी के सभी अप्रमाण होंगे, क्योंकि वे दुष्ट कारण से उत्पन्न होंगे। वे सभी ज्ञान अपने स्वाभाविक प्रामाण्य को भी खो बैठेंगे। बौद्धादि दार्शनिकों के वाक्य भी इसी कोटि में आते हैं। अतः उनके वाक्य वेदवाक्यों की तरह प्रमाण नहीं हैं।

उन दोनों श्लोकार्द्धों का अक्षरार्थ यह है कि बौद्धादि दार्शनिकों ने जिन अर्थों को अपने वाक्य के द्वारा प्रकट किया है उन अर्थों को देखने की शक्ति उन पुरुषों में नहीं थी। अतः उनके वाक्य प्रमाण नहीं हैं।

किन्तु वेदवाक्य तो अपौरुषेय हैं अतः पुरुषों में साधारण रूप से रहने वाले भ्रमप्रमादादिमूलकता की शङ्का भी वेदों में नहीं है॥ ९६॥

कर्तृमत्त्वे तु वेदस्य सम्यङ्मिथ्यात्ववादिभिः॥ ९७॥

कर्ता गुणाश्च दोषाश्च महाजनपरिग्रहः।

एवमादि विना युक्त्या कल्प्यम् मीमांसकैः पुनः ॥ ९८ ॥

इदानीमिव सर्वत्र दृष्टाभ्यधिकमिष्यते ।

वेदों को पौरुषेय मानने वाले आस्तिक और नास्तिक दोनों हैं । इनमें नास्तिक लोग अपने प्रमाणभूत आगम को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उसके कर्त्ता पुरुष में सर्वज्ञत्वादि अलौकिक गुणों की कल्पना करते हैं । इसी प्रकार अपने अन्य महापुरुषों के द्वारा उस आगम के अनुसार चलने को उक्त प्रामाणिकता की परिपुष्टि के लिए उपस्थित करते हैं एवं वेदो को इन युक्तियो से बाहर मानकर अप्रामाणिक या मिथ्या कहते हैं ।

पौरुषेय मानकर भी वेदों को प्रामाणिक माननेवाले नैयायिकादि आस्तिकगण भी युक्त युक्तियों से ही वेदों को प्रमाण मानते हैं । इसके लिए उन लोगों को भी वेदकर्त्ता पुरुष में वेदार्थविषयक ज्ञानादि गुणों की कल्पना करनी पड़ती है जो फलतः सर्वज्ञत्व की कल्पना में ही पर्यवसित होती है ।

किन्तु इस प्रकार की कल्पनाओं में कोई युक्ति नहीं है ।

हम मीमांसकों को तो इस प्रकार की कोई लोकवहिर्भूत कल्पना नहीं करनी पड़ती है । अतः हमलोगों (मीमांसकों) की कल्पना में ही लाघव है ।

वार्त्तिक के उक्त सन्दर्भ 'कल्प्यम्' तक के अंश से वेदों को पौरुषेय माननेवालों के पक्ष में उक्त कल्पनागौरवदोष का उपपादन किया गया है ।

'मीमांसकैः पुनः' इस अन्तिम अंश के द्वारा अपने पक्ष में उक्त 'कल्पनागौरव' दोष के अभाव के उपपादन का उपक्रम किया गया है, अर्थात् मीमांसकों को सर्वज्ञत्वादि कल्पना की तरह कोई सर्वजनविरुद्ध 'दृष्टाधिक' कल्पना नहीं करनी पड़ती है । तस्मात् वेदों के नित्य एवं अपौरुषेय होने के कारण पुरुषगत भ्रमप्रमादादिमूलक दोष की संभावना नहीं है । इसी कारण वे प्रमाण हैं, सर्वज्ञपुरुष-प्रणीत होने के कारण नहीं ॥ ९७-९९ क-ख ॥

एवम्भूतस्य वेदस्य ज्ञानोत्पत्तिं प्रकुर्वतः ॥ ९९ ॥

स्वरूपविपरीतत्वसंशयौ भाष्यवारितौ ।

निवारयिष्यते चापि दुष्टकारणकल्पना ॥ १०० ॥

(पू० प०) फिर भी वेदों में अप्रामाण्य की संभावना है कि त्रयीबाह्य बौद्धादि दार्शनिकों को 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों से यह संशय ज्ञान ही हो सकता है कि 'याग से स्वर्ग होता है या नहीं ?' अथवा विपर्यात्मक ज्ञान भी हो सकता है कि 'याग से स्वर्ग का होना संभव ही नहीं है' । अतः वेदों से याग को स्वर्ग का साधन समझना भूल है ।

आस्तिकों को वेदों से इस प्रकार के संशयादि-स्वरूप ज्ञान नहीं होते, किन्तु बौद्धादि दार्शनिकों को वेदों से उक्त प्रकार संशय या विपर्यय स्वरूप ज्ञान अवश्य होता है । संशय और विपर्यय स्वरूप ज्ञानों के उत्पादक अप्रमाण होते हैं । इस प्रकार वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति रहती है ।

उक्त प्रकार की आपत्तियों का यह समाधान है कि—'एवम्भूत' अर्थात् नित्य होने के कारण निर्दोष वेदों से उत्पन्न ज्ञान में 'स्वरूपसंशय' और 'विपरीतत्वसंशय' का वारण स्वयं भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से किया है—

(१) 'न च स्वर्गकामो यजेत इत्यतो वचनात्सन्दिग्धमवगम्यते भवति वा स्वर्गो न वा भवतीति ।'

(२) 'न च निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात् ।' (शाबरभाष्य—पृ० १५)

एवं वेदों के अप्रामाण्य के साधक दुष्टकारणों की कल्पना का निरास भी आगे (अ० १ पा० १ अधिकरण ८ में) भाष्यकार करेंगे ।[1]

मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य 'स्वतः' है, प्रामाण्य के लिए स्वतन्त्र कारणों की अपेक्षा नहीं है। किन्तु अप्रामाण्य 'परतः' है, इसके लिये स्वतंत्र कारणों की अपेक्षा है। ये कारण चार हैं (१) ज्ञानानुत्पत्ति (२) ज्ञान का संशयरूप होना (३) बाधकज्ञान और (४) दोष ।

(१) ज्ञानानुत्पत्तिलक्षण अप्रामाण्य

जिस अनर्थक शब्दराशि से किसी ज्ञान की उत्पत्ति ही न हो वह शब्दराशि अवश्य ही अप्रमाण है। 'प्रमा' है ज्ञानविशेष। अतः कोई भी कारण ज्ञान सामान्य का उत्पादक होकर ही प्रमाज्ञान स्वरूप विशेष ज्ञान का उत्पादन कर सकता है। अतः जिस शब्दराशि से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति न होगी वह शब्द राशि अवश्य ही अप्रमाण होगा। तदनुसार प्रकृत में 'यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति गम्यते कथमुच्यते न तथा भवतीति' (शाबरभाष्य–पृ० १४) इस भाष्यसन्दर्भ के अनुसार यह कहना है कि वेदों से यदि किसी अर्थ का बोध न हो तो उसे भी अप्रमाण कह सकते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि कोई भी नहीं कह सकता कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों से किसी अर्थ का बोध ही नहीं होता है। अतः वेदों में 'अनुत्पत्ति' लक्षण अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जाती।

(२) ज्ञान का संशयात्मत्वलक्षण अप्रामाण्य

(२) शब्द के अप्रामाण्य का दूसरा कारण है उत्पन्न ज्ञान का संशयरूप होना। जिस वाक्य से संशयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होगी उसका कोई और ही करण होगा प्रमाण नहीं। किन्तु 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्यों से किसी को भी यह संशयरूप ज्ञान नहीं होता है कि 'याग से स्वर्ग होता है या नहीं ?' अतः वेदों में संशयात्मकज्ञानजनकत्वरूप अप्रामाण्य का दूसरा प्रयोजक भी नहीं है। अतः इस रीति से भी वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। यही बात निम्नलिखित भाष्यसन्दर्भ से कही गयी है—

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये यह ग्रन्थ प्रधानतः शाबरभाष्य की टीका है। अतः उसको लगाना और उसकी आलोचना इस टीकाकार का प्रधान कर्त्तव्य है। यह और बात है कि यह ग्रन्थ विवेचना की प्रौढ़ता से स्वतन्त्र ग्रन्थ की सी सत्ता रखता है। तदनुसार ही अपने कथन की पुष्टि वे भाष्यसन्दर्भ से बराबर करते हैं।

'न च स्वर्गकामो यजेत इत्यतो वचनात्सन्दिग्धमवगम्यते, भवति वा स्वर्गो न वा भवतीति।' (शाबरभाष्य पृ० १५)

(३) बाधकज्ञानजनित अप्रामाण्य

जिस शब्द से उत्पन्न ज्ञान का विरोधी बाधकज्ञान दूसरे क्षण में उत्पन्न हो जाता है उस शब्द से उत्पन्न ज्ञान अवश्य अप्रमात्मक होता है। अतः इस अप्रमा ज्ञान का करण अवश्य ही अप्रमाण होगा। 'स्वर्गकामो यजेत' इस वेदवाक्य से उत्पन्न ज्ञान के आगे के क्षण में उस ज्ञान का विरोधी कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है जिससे उक्त वेदवाक्यजनित उस ज्ञान को अप्रमा मानें। अतः इस रीति से भी वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। यही बात निम्नलिखित भाष्यसन्दर्भ से कही गयी है—

'नच निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्। यो हि जनित्वा प्रध्वंसते 'नैतदेवमिति' स मिथ्याप्रत्ययः। न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरे वाऽवस्थान्तरे वा विपर्येति तस्मादवितथः।' (शाबरभाष्य पृ० १५ पं० २)

अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्यों से उत्पन्न यह निश्चयात्मक ज्ञान 'मिथ्या' नहीं हो सकता, क्योंकि जो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद 'नैतदेवम्' (यह इस प्रकार का नहीं है) इस आकार के बाधज्ञान से ध्वंस को प्राप्त होता है वही ज्ञान मिथ्या अथवा अयथार्थ होता है। वेदवाक्यजन्य यह ज्ञान किसी भी काल में, किसी भी दूसरे पुरुष में, किसी दूसरी अवस्था में विपर्यय को प्राप्त नहीं होता है। अतः वेदजन्य ज्ञान 'अवितथ' अर्थात् यथार्थ है।

(४) दोषमूलक अप्रामाण्य का निरास

ज्ञान के कारणों में दोष का होना भी उसके अप्रामाण्य का कारण होता है। शाब्दज्ञान स्थल में यह दोष है वक्ता पुरुष में भ्रमादि दोषों का रहना। किन्तु अपौरुषेयवाक्यजनित ज्ञान के कारणों में उक्त दोषों की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वेदस्वरूप शब्द का कोई रचयिता स्वरूप वक्ता नहीं है। अतः वेद से उत्पन्न शाब्दज्ञान में दोष से भी अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। वेदों में दोषजनित अप्रामाण्य का निराकरण भाष्यकार ने तत्तत्सन्दर्भ से किया है जिनका उल्लेख कर चुके हैं॥ ९९–१०० ॥

पुरुषाभावतस्तेन तद्द्वारेणाप्यशङ्कितौ ।
तथा सत्यतथाभावो बुद्ध्यनुत्पत्तिमाश्रितः ॥ १०१ ॥
तत्र विप्रतिषिद्धत्वं ब्रवीतोत्स्येवमादिना ।

जिस लिये कि वेदों का कोई रचयिता पुरुष नहीं है, अतः पुरुष के द्वारा संशयजनकत्व रूप एवं विपर्ययजनकत्व रूप अप्रामाण्य की आपत्ति वेदों में नहीं दी जा सकती। तब रही बुद्ध्यनुत्पत्ति रूप अप्रामाण्य की आपत्ति—उसी का निराकरण 'ब्रवीति वितथञ्च' इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने किया है॥ १०१–१०२ क–ख॥

'विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते ब्रवीति वितथञ्चेति' इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या

यथादृष्टार्थवादित्वं तच्चेत् प्रत्ययितादिति ॥ १०२ ॥
इन्द्रियेति तु मूलं चेदस्यास्तीत्येवमब्रवीत् ।

'ब्रवीति वितथञ्चेति' इस समाधान भाष्य के द्वारा जिस पूर्वपक्ष का खण्डन किया गया है उसका उपपादक सन्दर्भ भाष्य में निम्न लिखित है—

'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनं, नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीति' (शाबरभाष्य पृ० १३ पं० ४)

इस पूर्वपक्ष भाष्य में लौकिकवचन का दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया गया है। उसका खण्डन भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से किया है—

'यत्तु लौकिकं वचनं तच्चेत्प्रत्ययितात्पुरुषादिन्द्रियविषयम्वाऽवितथमेव तत् । अथाऽप्रत्ययितादनिन्द्रियविषयम्वा तावत्पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम् । अशक्यं हि तत्पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्' । (शाबरभाष्य पृ० १५ पं० ५)

वेदाप्रामाण्यवादियों का अनुमान प्रयोग इस प्रकार है 'वेदाः न प्रमाणं वाक्यत्वात् नद्यास्तीरे इत्यादि लौकिकवाक्यवत्' अर्थात् जिस प्रकार नद्यास्तीरे इत्यादि लौकिक वाक्य केवल वाक्य होने के नाते ही अप्रमाण हैं, उसी प्रकार वेद वाक्य भी चूंकि वाक्य हैं, अतः वे भी अप्रामाण हैं ।

'यत्तु' इत्यादि समाधान भाष्य का अभिप्राय है कि 'लौकिकवचन' स्वरूप दृष्टान्त के सहारे जो वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि की गयी है उस अनुमान वाक्य में 'लौकिकवचन' स्वरूप दृष्टान्त यदि 'प्रत्ययित' सत्यवादी पुरुष के द्वारा उच्चरित है एवं उससे बोध्य अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सकती है तो फिर वह लौकिकवचन स्वरूप वाक्य 'प्रमाण' ही है। अतः 'प्रमाणभूत' लौकिक वाक्य को दृष्टान्त बनाकर वेदस्वरूप वाक्य में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं जा सकती, क्योंकि दृष्टान्त में पहिले से हो साध्य का निश्चित रहना आवश्यक है। सो यहाँ नहीं है, क्योंकि प्रमाणभूत लौकिक वाक्य में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है।

यदि 'अप्रत्ययित' पुरुष के द्वारा उच्चरित वाक्य स्वरूप लौकिक वाक्य दृष्टान्त रूप में विवक्षित है तो वह दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि 'अप्रत्ययित' पुरुष के द्वारा—मिथ्यावादी पुरुष के द्वारा उच्चरित वाक्य के अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से नहीं हो सकती। तथापि इस लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि दृष्टान्तभूत इस लौकिक वाक्य में साध्यस्वरूप अप्रामाण्य के रहने के प्रयोजक हैं इसके उच्चारयिता पुरुष में भ्रम-विप्रलिप्सादि दोषों का रहना एवं उससे बोध्य अर्थ की प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्धि सम्भव न होना। किन्तु अप्रामाण्य के इन दोनों ही प्रयोजकों का नित्य एवं निर्दोष वेदवाक्यों में रहना सम्भव नहीं है। अतः इस दृष्टान्त से भी वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

यथादृष्टार्थवादित्वं तच्चेत् प्रत्ययिताविति ।
इन्द्रियेति तु मूलं चेदस्यास्तीत्येवमब्रवीत् ।

(इन दोनों श्लोकार्द्धों से प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के 'प्रत्ययित' शब्द और 'इन्द्रिय-विषय' शब्द इन दोनों की व्याख्या की गयी है) उक्त भाष्यसन्दर्भ के 'प्रत्ययितात्' इस पञ्चम्यन्त पद का अर्थ है 'यथादृष्टार्थवादित्व' । एवं इसी भाष्यसन्दर्भ के 'इन्द्रिय-विषयत्वा' इस पद से उक्त प्रत्ययित पुरुष से उच्चरित शब्द के अर्थ में प्रत्यक्षादि-प्रमाणमूलकत्व इन दोनों का उपादान हुआ है ।

इस प्रकार उक्त भाष्यसंदर्भ का यह तात्पर्य निष्पन्न होता है कि वेदों में अप्रामाण्य-साधन के लिए जो लौकिक वचन को दृष्टान्त बनाया गया है उस प्रसङ्ग में ज्ञातव्य है कि पौरुषेय वाक्य दो प्रकार के होते हैं (१) प्रत्ययितवाक्य एवं (२) अप्रत्ययित-वाक्य । प्रत्ययित वाक्य भी दो प्रकार के हैं—(१) प्रमाणमूलक और (२) भ्रांतिमूलक ।

प्रत्ययित पुरुष वही है जिसे उस विषय का प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से ज्ञान अवश्य रहे । जिस विषय को वह शब्द के द्वारा प्रकट करे, अर्थात् जो अपने ज्ञान के अनुसार ही दूसरे को समझाने के लिए शब्द का प्रयोग करता है वही 'प्रत्ययित पुरुष' है । किन्तु भ्रान्ति सभी को हो सकती है, अतः कैसा भी विश्वसनीय व्यक्ति हो यदि उसके शब्दप्रयोग का मूलभूत ज्ञान भ्रमरूप है, वह शब्द प्रमाज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकेगा । अतः उस प्रत्ययित पुरुष के द्वारा उच्चरित होने पर भी वह शब्द प्रमाण नहीं होगा । सुननेवाला पुरुष उस व्यक्ति के ऊपर अति विश्वास के कारण भले ही शब्द को प्रमाण समझ ले । यदि प्रत्ययित पुरुष के उक्त शब्दप्रयोग का मूलभूत ज्ञान यथार्थ होगा वह शब्द अवश्य ही प्रमाण होगा ।

इसी प्रकार यदि उक्त लौकिक वचनस्वरूप दृष्टान्त प्रत्ययित पुरुष के द्वारा उच्चरित होने पर भी भ्रान्तिमूलक होगा तो वह शब्द इसलिए अप्रमाण होगा कि उसके उच्चारण करनेवाले पुरुष में भ्रम है । किन्तु वेदस्वरूप प्रकृत पक्ष में इससे अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि उसका कोई वक्ता पुरुष ही नहीं हैं । अतः पुरुषगत भ्रान्तिमूलक अप्रामाण्य की आपत्ति वेदों में नहीं दी जा सकती ।

यदि उक्त दृष्टान्तस्वरूप लौकिक वचन प्रत्ययित पुरुष के द्वारा उच्चरित होने के साथ-साथ प्रमा ज्ञानमूलक भी है अर्थात् उस वचन के अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है तो वह लौकिक वचन प्रमाण ही होगा । अतः इस दृष्टान्त में अयाथार्थ्य या वैतथ्यस्वरूप साध्य ही नहीं रहेगा, फिर साध्यशून्य दृष्टांत के बल से वेदों में वैतथ्य की सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

(२) यदि दृष्टान्तस्वरूप 'लौकिकवचन' अप्रत्ययित पुरुष के द्वारा उच्चरित हो अर्थात् अनाप्तोच्चरित हो, एवं उस शब्द के अर्थ की प्रतीति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सम्भव न हो तब भी इस दृष्टान्तमूलक अनुमान से वेदों में अयथार्थकता की सिद्धि नहीं की जा सकती । यद्यपि अप्रत्ययित पुरुषोच्चारित वाक्य में 'अयथार्थकता'-स्वरूप साध्य तो है, किन्तु यह अयथार्थता अप्रत्ययित पुरुषस्वरूप वक्ता के भ्रम,

प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषों से उत्पन्न होती है। वेद तो अपौरुषेय हैं, अतः वक्तृगत भ्रमप्रमादादि दोषों से उत्पन्न अयथार्थता की आपत्ति वेदों में नहीं दी जा सकती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि अनाप्तपुरुष भी यथादृष्ट अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए करता भी है। नियमतः झूठ ही बोलने से उसका जीना दूभर हो जायगा। वह कभी प्रत्ययित नहीं हो सकता। उसके वाक्य प्रमाण होने पर भी प्रमाण रूप से गृहीत नहीं होंगे। इस प्रकार अप्रत्ययित पुरुषोच्चरित यथार्थवचन को भी यदि उक्त 'लौकिकवचन'-स्वरूप दृष्टान्त रूप में लेते हैं तब भी उससे वेदों में अयथार्थता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि साध्यरूप अयथार्थता दृष्टान्त में नहीं है ॥ १०२–१०३ क–ख ॥

द्रष्टृत्वसत्यवादित्वे तच्चेत् प्रत्ययितादिति ॥ १०३ ॥

(पू० प०) 'ननु लौकिकम् वचनम्' इस भाष्यसन्दर्भ में जो प्रत्ययित शब्द है, उसका अर्थ वह विशेष प्रकार का पुरुष है जो विषय को यथार्थरूप से जानकर उसी रूप में उस अर्थ का प्रतिपादन करे। इस प्रकार यथार्थदर्शी और सत्यवादी पुरुष के द्वारा उच्चरित शब्दस्वरूप लौकिक वचन को अगर दृष्टान्त रूप से लेते हैं तो यह दृष्टान्त अवश्य ही अयथार्थत्वस्वरूप साध्य से रहित होगा, क्योंकि वह यथार्थ ही होगा अयथार्थ नहीं। इस प्रकार से प्रत्ययित शब्द की इस व्याख्या में भी भाष्य-कार का दृष्टान्तानुपपत्तिस्वरूप दोष का उद्भावन ठीक बैठता है ॥ १०३ ॥

दृश्यमानार्थवादित्वे स्यादनाप्तोक्तिसत्यता ।

(सि० प०) किन्तु 'प्रत्ययित' शब्द की उक्त व्याख्या सङ्गत नहीं है, क्योंकि 'यत्तु लौकिकम् वचनम्' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने वेदों में वाक्यत्वहेतुक अय-थार्थत्व साधक अनुमान में 'प्रत्युदाहरण' का उद्भावन किया है। इस प्रत्युदाहरण वाक्य में दो विशेषण दिये गये हैं (१) प्रत्ययितशब्दोच्चरितत्व एवं (२) इन्द्रिय-विषयत्व। यदि प्रत्ययित शब्द का अर्थ यथार्थदर्शी और यथार्थवक्ता करते हैं तो 'इन्द्रियविषयत्व' स्वरूप द्वितीय विशेषण का काम प्रत्ययित शब्द के प्रयोग से ही हो जाता है। अतः इस पक्ष में प्रत्ययितपुरुषोच्चरितत्व और इन्द्रियविषयत्व इन दोनों विशेषणों से उपलक्षित एक ही वाक्य को प्रत्युदाहरण रूप से उपस्थित नहीं किया जा सकता। अगत्या यही कहना होगा कि दोनों विशेषणों में से एक एक से युक्त दो पृथक् वाक्य ही उक्त भाष्यसन्दर्भ के द्वारा उपस्थित किये गये हैं।

इस मत के अनुसार ही प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि—'वेदाः अयथार्थाः वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्' इस अनुमान का दृष्टान्तस्वरूप 'लौकिकवचन' (१) प्रत्ययितपुरुषोच्चरित है ? या फिर (२) इन्द्रियविषय है (अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थों का प्रतिपादन करनेवाला है) ?

इनमें प्रथम प्रकार का लौकिकवचन निर्विवाद रूप से यथार्थ है। अतः इस अनुमान का अयथार्थत्व रूप साध्य उक्त लौकिक वचन में नहीं है। अतः साध्य से रहित होने के कारण उसका प्रत्युदाहरण होना ठीक है।

किन्तु 'इन्द्रियविषयत्व' इस दूसरे विशेषण से जिस प्रत्युदाहरण की तरफ सङ्केत होता है, वह प्रत्युदाहरण दो प्रकार का सम्भव है (१) आप्तोच्चरित एवं (२) अनाप्तोच्चरित। इनमें आप्तोच्चरित रूप इन्द्रियविषय-विषयक जो वाक्य होगा, वह अवश्य ही प्रकृत अनुमान का प्रत्युदाहरण हो सकता है, क्योंकि वह अवश्य ही यथार्थ है। अतः उसमें अयथार्थत्व स्वरूप साध्य के न रहने से उसका प्रत्युदाहरणत्व सर्वथा सङ्गत है।

किन्तु दूसरे प्रकार का जो इन्द्रियविषय (अनाप्तोच्चरित) वाक्य होगा, वह यद्यपि इन्द्रियविषयीभूत अर्थ का प्रतिपादक होने से उक्त विशेषणाक्रान्त है, किन्तु अनाप्तोच्चरित होने के कारण यथार्थत्व का दावा नहीं कर सकता। अतः इस लौकिक वचन को यदि दृष्टान्त रूप से लेते हैं तो वह प्रकृत अयथार्थत्वानुमान का दृष्टान्त ही होता है प्रतिदृष्टान्त या प्रत्युदाहरण नहीं, क्योंकि इसमें अयथार्थस्वरूप साध्य है ही। अतः इस उदाहरणस्वरूप वाक्य का प्रत्युदाहरण वाक्य के रूप में निर्देश करना असङ्गत हो जाता है। अतः प्रत्ययित शब्द की उक्त व्याख्या असङ्गत है एवं वार्त्तिक-कारीय व्याख्या ही ठीक है ॥ १०३–१०४क–ख ॥

एवं त्वेकाङ्गवैकल्यात् प्रत्युदाहरणस्थितिः ॥ १०४ ॥
एकैकाभावमात्रे स्यादाप्तत्वैन्द्रियकत्वयोः।
अप्रत्ययितपक्षे स्यादैन्द्रियस्याप्यसत्यता ॥ १०५ ॥
अनिन्द्रियत्वपक्षे वा सत्प्रत्ययितभाषितम्।
व्याहतग्रन्थतैवं स्यात् तस्मात् पूर्वेण सत्यता ॥ १०६ ॥
परेण मूलसद्भाव इन्द्रियेण तु दर्शितः।

एवं त्वेकाङ्गवैकल्यात्................स्थितिः

प्रत्ययित शब्द का 'यथादृष्टार्थवादित्व' स्वरूप अर्थ करने पर क्या दोष होगा–अब इसे विशेष रूप से समझिये।

विचार उपस्थित है कि 'वेदाः प्रमाणं न वा' इस प्रसङ्ग में बौद्धादि लौकिक-वचन को दृष्टान्त बनाकर निषेध पक्ष को उपस्थित करते हैं—'वेदाः न प्रमाणं वाक्य-त्वात् लौकिकवाक्यवत्'। इस विचार में मीमांसक विधिकोटि के समर्थक हैं। उन लोगों ने अपने पक्ष को दृढ़ करने और बौद्धों के उक्त पक्ष का खण्डन करने के लिये उक्त अनुमान में 'उदाहरणासिद्धि' का उद्भावन किया है। इस उदाहरणासिद्धि का उपपादन 'यत्तु' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने किया है।

इस भाष्यग्रन्थ में 'लौकिकवचन' स्वरूप दृष्टान्त के प्रसङ्ग में विप्रतिपत्ति दिखलायी गई है कि यह 'लौकिकवाक्य' (१) प्रत्ययित पुरुषोच्चरित है और इन्द्रिय-विषय अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थ का उपपादक है? अथवा (२) अप्रत्य-यित पुरुषोच्चरित है और इन्द्रियागोचर अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध अर्थ का प्रतिपादक है?

इनमें प्रथम कोटि का लौकिक वाक्य यथार्थ है। अतः यथार्थत्वानुमान का ही दृष्टान्त हो सकता है, अयथार्थत्वानुमान का नहीं। अयथार्थत्वानुमान का वह प्रतिदृष्टान्त प्रत्युदाहरण अथवा व्यतिरेक दृष्टान्त ही हो सकता है।

द्वितीय कोटि का अप्रत्ययित पुरुषोच्चरित एवं अनिन्द्रियविषय वाक्य अयथार्थत्वानुमान का दृष्टान्त है एवं प्रथमकोटि का वाक्य इसका प्रतिदृष्टान्त या प्रत्युदाहरण है।

दृष्टान्त में या उदाहरण में जितने धर्म अपेक्षित होते हैं उन सभी धर्मों के अभाव से ही प्रतिदृष्टान्त अथवा प्रत्युदाहरण बनता है। तदनुसार ही 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान का दृष्टान्त महानस और प्रतिदृष्टान्त जल है।

प्रकृत में यदि 'प्रत्ययित पुरुषोच्चरित' और 'इन्द्रियविषय' एक ही वाक्य को दृष्टान्त रूप से लेते हैं तो अप्रत्ययित पुरुषोच्चरित और अनिन्द्रियविषय एक ही वाक्य को प्रत्युदाहरण रूप से भी लेना होगा जिसका उल्लेख भाष्य में 'अथाप्रत्ययितपुरुषात्' इस सन्दर्भ से हुआ है।

इस प्रकार वार्त्तिककार के मत में प्रत्ययित पुरुषोच्चरितत्व और इन्द्रियविषयत्व इन दो विशेषणों युक्त एक ही वाक्य 'अथ प्रत्ययितात्' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्य में उदाहरण के रूप में उल्लिखित है। अतः इसका प्रत्युदाहरण भी उन दोनों ही विशेषणों के विरुद्ध 'अप्रत्ययितपुरुषोच्चरितत्व' और 'अनिन्द्रियविषयत्व' इन दोनों विशेषणों से युक्त एक ही वाक्य को होना चाहिये।

इस प्रकार प्रकृत प्रत्युदाहरण के दो अङ्ग हुये (१) अप्रत्ययितपुरुषोच्चरितत्व और (२) अनिन्द्रियविषयत्व।

यदि उदाहरण में विशेषण रूप में प्रयुक्त प्रत्ययित पद का अर्थ 'यथार्थदर्शित्व' और 'सत्यवक्तृत्व' दोनों कर लेते हैं तो 'इन्द्रियविषयत्व' विशेषण अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि आप्तोच्चरित भ्रममूलक वाक्य की व्यावृत्ति के लिये ही तो इन्द्रियविषयत्व रूप विशेषण की आवश्यकता है। वह काम प्रत्ययित शब्द के अर्थ एवं पुरुष में विशेणीभूत 'यथार्थदर्शित्व' से ही हो जाता है।

किन्तु प्रत्युदाहरण के उक्त दोनों ही विशेषणों के अनुसार प्रत्युदाहरण वाक्य दो ही होंगे (१) अनाप्तोच्चरित इन्द्रियविषय वाक्य एवं (२) अनाप्तोच्चरित अनिन्द्रियविषय वाक्य। इन दोनों का क्रमशः एक एक अङ्ग ही होगा, पहिले का अनाप्तोच्चरितत्व और दूसरे का अनिन्द्रियविषयत्व।

एकैकाभावमात्रे·······असत्यता·······प्रत्ययितभाषितम्

उक्त सन्दर्भ से वार्त्तिककार ने यह दिखलाया है कि प्रत्ययिताभाव और इन्द्रियविषयत्वाभाव इन दोनों विशेषणों में प्रत्येक से अगर प्रत्युदाहरण दिया जाय तो कैसी स्थिति हो जायगी।

विशदार्थ यह है कि 'प्रत्ययित' के प्रत्युदाहरण का मूल है प्रत्ययिताभाव, जो 'अथाप्रत्ययितात्' इत्यादि भाष्य से कहा गया है। इस प्रकार अप्रत्ययितपुरुषो-

च्चरित अर्थात् अनाप्तोच्चरित वह वाक्य भी प्रत्युदाहरण के अन्तर्गत आवेगा जिस वाक्य का अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। इस प्रकार के वाक्य का अर्थ इन्द्रियादि प्रमाणों से सिद्ध है, फिर भी वह वाक्य अनाप्तोच्चरित होने के कारण श्रोता के लिये अप्रमाण ही है। प्रत्युदाहरण तो केवल प्रत्ययितपुरुषोच्चरितत्वा-भाव मात्र से देना है, वह प्रकृत इन्द्रियविषय वाक्य में भी है ही। यहाँ यह कोई नियामक नहीं है कि अनाप्तोच्चरित अनिन्द्रियविषय वाक्य को ही प्रत्युदाहरण रूप से लिया जाय, क्योंकि नियमतः अनिन्द्रियविषय वाक्य इन्द्रियविषयत्व का प्रत्युदाहरण होगा। प्रत्ययितत्व के प्रत्युदाहरण को तो अप्रत्ययित मात्र होना आवश्यक है। इन्द्रियविषयत्व और अनिन्द्रियविषयत्व के लिये बस उदासीन है।

इसी प्रकार इन्द्रियविषयत्व का प्रत्युदाहरण केवल इन्द्रियविषयत्वाभाव में ही होगा। किन्तु भ्रान्तिमूलक प्रत्ययित वाक्य भी अनिन्द्रियविषय होने के कारण 'इन्द्रिविषयत्वाभाव' का प्रत्युदाहरण हो सकता है।

उन दोनों श्लोकार्द्धों का अक्षरार्थ क्रम से यह अभिप्राय है—

(१) अप्रत्ययित पक्ष में अर्थात् आप्तोच्चरितत्वाभाव मात्र मे यदि 'प्रत्ययित' का उदाहरण दें तो उसके मध्य में वह अयथार्थवाक्य भी आ जावेगा जिसके अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सकती है, क्योंकि अनाप्तव्यक्ति भी प्रामाणिक वाक्य का प्रयोग करते हैं। यह दूसरी बात है कि उसको प्रमाण न समझे।

(२) इसी प्रकार 'इन्द्रियविषयत्व' के प्रत्युदाहरण के मध्य में 'सत्' वाक्य भी यथार्थवाक्य भी आ सकता है जिसका उच्चारण प्रत्ययित पुरुष ने ही भ्रान्ति के वशीभूत होकर किया हो। इस प्रकार के वाक्य यद्यपि अप्रमाण ही हैं, किन्तु आप्त पुरुष से उच्चरित होने के कारण श्रोता उन्हें प्रमाण मानते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि प्रत्ययित वाक्य में अलग से इन्द्रियविषयत्व विशेषण देने से उदाहरण स्वरूप उस वाक्य में यथार्थता नियमित हो जाती है जिससे वेदों के अयथार्थत्वानुमान के इस उदाहरण में अयथार्थ स्वरूप साध्य का वैकल्य दोष अवश्य होता है। उक्त रूप से किसी पक्ष में भी यदि प्रत्ययित वाक्य भी यथार्थ हो सकता है तो उक्त दोष ठीक नहीं बैठता।

इसी प्रकार प्रत्युदाहरण स्वरूप अनाप्तोच्चरित वाक्य यदि इन्द्रियविषय होने के कारण किसी के लिये भी यथार्थ हो जाता है तो फिर उसमें दोषमूलकत्व नहीं रहता। अतः दोषमूलकत्वाभाव-प्रयुक्त वेदों में इस प्रत्युदाहरण से अयथार्थता की असिद्धि नहीं दिखलायी जा सकती।

व्याहतग्रन्थतैवं स्यात्

भाष्यस्थ 'प्रत्ययित' पद का अर्थ यदि 'यथादृष्टार्थवादी' पुरुष करें तो भाष्य-कार के ऊपर 'व्याहतग्रन्थता' का अर्थात् परस्परविरुद्ध कथक का आरोप लगेगा।

कहने का तात्पर्य है कि प्रकृत में विचारणीय भाष्यसन्दर्भ में दो वाक्य है (१) उदाहरण वाक्य (२) और प्रत्युदाहरण वाक्य। इनमें 'अथ प्रत्ययितात्' इत्यादि वाक्य पहिली कोटिका और 'अथाप्रत्ययितात्' यह वाक्य दूसरी कोटि का है।

पूर्वपक्षी की व्याख्या के अनुसार प्रत्ययित वाक्य स्वरूप उदाहरण वाक्य को यथार्थप्रतिपादक होने के लिये इन्द्रियविषयक होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अनिन्द्रियविषय भी आप्त (प्रत्ययित) वाक्य श्रोता के लिये प्रमाण ही होता है। इसका प्रत्युदाहरण है 'अप्रत्ययित वाक्य' जो इन्द्रियविषयक होने पर भी वास्तव में प्रमाज्ञान का उत्पादक होने पर भी अनाप्तोच्चरित होने के कारण श्रोता के लिये अप्रमाण ही है।

प्रकृत में पूर्वपक्षवादी के मत के अनुसार दूसरे उदाहरण का निर्देशक वाक्य है 'इन्द्रियविषयम्वा'। इसके द्वारा इन्द्रियादि प्रमाणों के विषयीभूत वस्तुओं के प्रतिपादक वाक्य को उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है। इस उदाहरण वाक्य में आप्तोक्तत्व आवश्यक नहीं है।

इस उदाहरण के प्रत्युदाहरण का बोधक वाक्य है 'अनिन्द्रियविषयम्वा'। इस वाक्य से अनिन्द्रियविषय वह वाक्य भी प्रत्युदाहरण के अन्तर्गत आता है जो आप्तोच्चरित होने के कारण श्रोता के लिये प्रमाण है।

इस उपपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदाहरण वाक्य से प्रत्ययितवाक्य को इन्द्रियादि प्रमाणों से निरपेक्ष होकर भी प्रमाण माना गया है। इन्द्रियविषयत्व के प्रत्युदाहरण वाक्य से उसके विपरीत यह कहते हैं कि इन्द्रियविषय के प्रत्युदाहरण में अनिन्द्रियविषय सभी वाक्य (जिन में प्रत्ययित पुरुषोच्चरित वाक्य भी सम्मिलित हैं) अप्रमाण हैं।

इसी प्रकार इन्द्रियविषयत्व के बोधक उदाहरण वाक्य से उस अनाप्त वाक्य को भी लेते हैं जिसके अर्थ की सिद्धि श्रोता के इन्द्रियादि प्रमाणों से हो सके। किन्तु 'अथाप्रत्ययितात्' इत्यादि प्रत्ययित के प्रत्युदाहरण वाक्य से यह कहा जाता है कि अप्रत्ययित पुरुषोच्चरित वह वाक्य भी अप्रमाण ही है जिसके अर्थ की सिद्धि श्रोता के इन्द्रियादि प्रमाणों से भी हो सके।

तस्मात् पूर्वेण·······परेण मूल·······र्दशितः

तस्मात् 'अथ प्रत्ययितात्' इस पहले वाक्य से उक्त प्रत्ययित पुरुषोच्चरितत्व विशेषण से प्रकृत दृष्टान्तवाक्य में केवल सत्यता और 'इन्द्रियविषयम्वा' इस द्वितीय विशेषण से उक्त दृष्टान्त वाक्य का 'मूलसद्भाव' अर्थात् वस्तुतः प्रामाणिकता ही दिखाई गयी है।

कहने का तात्पर्य है कि लौकिकवचन स्वरूप एक ही दृष्टान्तवाक्य में उक्त दोनों ही विशेषणों के देने से उस अयथार्थवाक्य का भी निराकरण हो जाता है जिसका उच्चारण आप्त पुरुष भ्रान्ति के वशीभूत होकर करते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृत में आप्तोच्चरित वाक्य के अर्थ की पुष्टि वक्ता के इन्द्रियादि प्रमाणों से ही लेनी चाहिए। श्रोता के इन्द्रियादि से उसकी पुष्टि अनावश्यक ही नहीं प्रत्युत हानिकारक है, क्योंकि इससे उक्त वाक्य में अनुवादत्व की आपत्ति होगी ॥ १०६–१०७ क–ख ॥

अप्रामाण्यनिवृत्त्यर्थं दोषाभावोपवर्णनम् ॥ १०७ ॥
गुणात् प्रामाण्यमित्येवं तत्पूर्वं सुनिराकृतम् ।
पूर्वश्च प्रतिषिद्धत्वान्नैतत् प्रामाण्यकारणम् ॥ १०८ ॥

प्रश्न है कि प्रकृत लौकिक वाक्य को यदि प्रत्ययितपुरुष के उच्चरित होने के कारण ही प्रमाण मानते हैं, तो यह स्वीकार करना होगा कि प्रामाण्य को मीमांसक भी 'गुण' मूलक मानते हैं, क्योंकि प्रत्ययितत्व गुण स्वरूप ही है। अतः इससे प्रामाण्य में परतस्त्व की आपत्ति होगी। इस प्रश्न का यह समाधान है कि—

'प्रत्ययितत्व' शब्द से प्रामाण्य के प्रयोजक दोष का अभाव ही इष्ट है, गुण नहीं, क्योंकि प्रामाण्य के प्रति गुण में कारणता का खण्डन पहिले (श्लोक ६२) कर चुके हैं। प्रामाण्यस्थल में गुण केवल दोषाभाव का संपादक है, गुण स्वतः प्रामाण्य का कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अनवस्था होगी ॥ १०७–१०८ ॥

समुच्चयार्थो वाशब्दः पूर्वस्मिन्नुत्तरत्र च ।
विकल्पेनोभयोराह प्रत्युदाहरणे पृथक् ॥ १०९ ॥

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्युदाहरण भाष्यगत 'अनिन्द्रिय-विषयम्वा' इस वाक्य का 'वा' शब्द भी समुच्चयार्थक ही है। परवर्त्ती 'वा' शब्द तो 'विकल्पार्थक' ही है।

कहने का अभिप्राय है कि 'पूर्वस्मिन्' अर्थात् 'तच्चेत् प्रत्ययितात् इन्द्रिय-विषयम्वा' इस उदाहरणबोधक 'पूर्व' भाष्यसन्दर्भ का 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है। किन्तु 'उत्तरत्र' अर्थात् 'अथाप्रत्ययितादनिन्द्रियविषयम्वा' इस प्रत्युदाहरणबोधक 'उत्तर'वर्त्ति भाष्यसन्दर्भगत 'वा' शब्द विकल्पार्थक ही है।

इसका फलितार्थ यह है कि प्रत्ययितत्व और इन्द्रियविषयत्व इन दोनों विशेषणों से युक्त एक ही वाक्य को उदाहरण रूप से उपस्थित किया गया है जो प्रत्येक स्थिति में यथार्थ ही होगा। इस उदाहरण का बोधक 'तच्चेत्प्रत्ययितादिन्द्रियविषयम्वा' यह पूर्ववाक्यगत 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है।

किन्तु इन दोनों विशेषणों के विरुद्ध (१) अप्रत्ययितपुरुषोच्चरितत्व और (२) अनिन्द्रियविषयत्व इन दोनों ही धर्मों में से एक-एक से युक्त एक-एक वाक्य फलतः दो वाक्य ही प्रत्युदाहरण रूप से 'अथाप्रत्ययितादनिन्द्रियविषयम्वा' इस भाष्यवाक्य से निर्दिष्ट हुए हैं। इन दोनों विशेषणों से युक्त कोई एक ही वाक्य प्रत्यु-दाहरण रूप से निर्दिष्ट नहीं हुआ है। अतः प्रत्युदाहरणबोधक भाष्य में जो 'वा' शब्द है वह विकल्पार्थक ही है, समुच्चयार्थक नहीं ॥ १०९ ॥

शक्येऽप्यसत्ये मिथ्यात्वं दृष्टं सत्येऽप्यशक्तिके ।

प्रत्युदाहरण भाष्यगत 'वा' शब्द के विकल्पार्थकत्व के अनुसार दोनों प्रत्यु-दाहरण वाक्यों का निर्देश इस श्लोकार्द्ध के निम्नलिखित अन्वय के अनुसार होगा—

असत्ये=असत्यवादिनि पुरुषे, शक्ये अपि अर्थे 'यद् वाक्यम्' तस्य मिथ्यात्वं शक्यते गृहीतुम्। एवं 'सत्ये' सत्यवादिनि पुरुषे 'अशक्तिके' प्रत्याय्यार्थग्रहणसामर्थ्य-रहिते अपि वाक्यस्य मिथ्यात्वम् शक्यते गृहीतुम्।

इस व्याख्या के अनुसार प्रकृत श्लोकार्द्ध का यह अभिप्राय है कि अनाप्तपुरुष यदि 'शक्य' अर्थात् इन्द्रियादि प्रमाणों के वशीभूत अर्थों का भी उपपादन करता है, तथापि वह वाक्य अप्रमाण ही होता है। इस प्रकार प्रत्ययितत्व विशेषण के विरुद्ध अप्रत्ययितत्व विशेषणमूलक वह प्रत्युदाहरण वाक्य निर्दिष्ट है जिसका (१) वक्ता अप्रत्ययित (अनाप्त) पुरुष है। किन्तु उस वाक्य के अर्थ की परिपुष्टि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सकती है। उदाहरण के इन्द्रियविषयत्व रूप दूसरे विशेषण के विरुद्ध अनिन्द्रिय-विषयत्व रूप विशेषण के अनुसार दूसरा प्रत्युदाहरण वाक्य वह है जिसके उच्चारयिता पुरुष के प्रत्ययित होने पर भी जिसके अर्थ की सिद्धि वक्ता के इन्द्रियादि प्रमाणों से सम्भव नहीं है। फलतः उक्त प्रकार के दोनों ही वाक्य अयथार्थ ही होंगे। इस प्रकार प्रत्यु-दाहरण वाक्य की संख्या दो हो जाती है ॥ ११० क–ख ॥

नानेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिराक्रिया ॥ ११० ॥

'अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्' (शाबरभाष्य पृ० १५)

भाष्य की इसी पंक्ति के ऊपर विचार उपस्थित है। इस सन्दर्भ का अक्षरार्थ यह है—

उसको (तत्) कोई पुरुष 'वचन' स्वरूप शब्दप्रमाण के बिना समझ नहीं सकता।

इस भाष्यसन्दर्भ को कोई इस प्रकार लगाते हैं कि इसमें प्रयुक्त 'तत्' शब्द सामान्य रूप से सभी विषयों का बोधक है। तदनुसार 'अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुम्' इस वाक्य का अर्थ है कि विषयों को कोई समझ ही नहीं सकता। फलतः किसी भी विषय का ज्ञान 'पुरुष' को सम्भव नहीं है। जब यत्किञ्चित् विषय का ज्ञान ही किसी को संभव नहीं है तो फिर सभी विषयों का ज्ञान तो नितान्त असम्भव ही है। अतः कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष के खण्डन के लिये ही 'अशक्यं हि' इत्यादि भाष्यसंदर्भ लिखा गया है।

किन्तु उक्त भाष्यसन्दर्भ की यह व्याख्या सङ्गत नहीं है, क्योंकि उक्त सन्दर्भ में सभी विषयों के बोधक 'सर्व' प्रभृति पदों का प्रयोग नहीं है जिससे यह समझ सकें कि 'सभी अर्थ समझ के बाहर हैं'। दूसरी बात यह है कि प्रकृत में 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' यह अवधारण अभिप्रेत है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि धर्म और अधर्म इन दोनों का बोध चोदना स्वरूप धर्मप्रमाण को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण से न हो सके। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी पदार्थों का ज्ञान ही न हो सके। अतः 'अशक्यं हि' इत्यादि भाष्यग्रन्थ सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता के खण्डन के लिए लिखित नहीं है ॥ ११० ॥

वचनादृत इत्येवमपवादो हि संश्रितः ।

भाष्यकार ने 'अशक्यम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा चाहे जिस विषय के ज्ञान का निषेध किया हो, किन्तु वह 'एकान्तनिषेध' नहीं है, क्योंकि उसी सन्दर्भ में 'ऋते वचनात्' इस अपवाद स्वरूप वाक्यशेष के द्वारा उक्त अशक्यज्ञेय विषय के ज्ञान की उत्पत्ति को शब्द प्रमाण से संभव बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे विषयों के ज्ञान की अशक्यता ही भाष्यकार ने बतलायी है जिनका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सम्भव न हो एवं शब्द प्रमाण के द्वारा जिनका ज्ञान सम्भव हो। इससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि विषयों के ज्ञान का निषेध ही प्रकृत भाष्य पंक्ति से किया गया है, सभी विषयों के ज्ञान का निषेध नहीं। तस्मात् प्रकृत भाष्य-सन्दर्भ 'सर्वज्ञत्वनिषेध' परक नहीं है ॥ १११ क–ख ॥

यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते ॥ १११ ॥

दूसरी बात यह है कि सभी प्रमाणों के अपने विषय हैं। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण के अपने-अपने विषय का ज्ञान तत्तत्प्रमाण से किसी विशिष्ट पुरुष को रहे तो वह अवश्य ही सर्वज्ञ होगा। इस प्रकार के उस सर्वज्ञ पुरुष का खण्डन नहीं किया जा सकता जिन्हें तत्तत् प्रमाण से तत्तद् विषयों का विशेष ज्ञान है।

किन्तु इस प्रकार के सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना से 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि उक्त प्रकार के सर्वज्ञ को धर्माधर्मादि का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तो होगा नहीं, क्योंकि चोदनास्वरूप शब्दप्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षादि जितने भी प्रमाण हैं उनमें से किसी में भी धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय विषयों के ज्ञान की सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वज्ञ को भी धर्माधर्मादि का ज्ञान चोदनास्वरूप शब्द प्रमाण से ही होगा। अतः उक्त अवधारण के लिए सर्वज्ञ पुरुष का निराकरण आवश्यक नहीं है। तस्मात् 'अशक्यं हि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ सर्वज्ञ पुरुष के खण्डन के लिए नहीं लिखा गया है ॥ १११ ॥

एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते ॥ ११२ ॥

(इस प्रकार तत्तत्प्रमाण से उत्पन्न तत्तद्विषयक ज्ञान से उक्त सर्वज्ञ पुरुष के समर्थन के बाद किसी ज्ञानमूढ़ को यह लोभ भी हो सकता है कि एक ही प्रमाण से उत्पन्न सभी विषयों के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह मत अत्यन्त अयुक्त है और उपहास के योग्य है, क्योंकि) जो ऐसे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना करता है, वह अवश्य ही आँखों से ही रस शब्द प्रभृति गुणों को भी देखता होगा। अन्यथा 'अमुक विषय अमुक प्रमाण से ही जाना जा सकता है' इस स्वभावनियम को जानते हुए भी जो सभी प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति अथवा सभी वस्तुओं में किसी भी एक प्रमाण की प्रवृत्ति को स्वीकार करता है, उसके प्रसङ्ग में हँसने के सिवाय और क्या किया जा सकता है ? ॥ ११२ ॥

यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
भवेदिदानीं लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ ११३ ॥

(बुद्ध के कोई शिष्य अपने श्रद्धाजाड्य के कारण कह सकते हैं कि अर्वाचीन अस्मदादि का प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप कोई इन्द्रिय यद्यपि सभी विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु बुद्ध के प्रत्यक्ष प्रमाण तो दिव्य हैं, अतः उनमें 'विषयव्यवस्था' का उक्त नियम नहीं लागू हो सकता। अतः बुद्ध को एक ही प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप इन्द्रिय से सभी विषयों का ज्ञान हो सकता है। अतः इन्द्रिय स्वरूप एक ही प्रमाण से उत्पन्न सभी विषयों के ज्ञान से युक्त कोई अन्य पुरुष भले ही सम्भव न हो, किन्तु बुद्ध इस प्रकार से सर्वज्ञ हो सकते हैं। इस आक्षेप का यह समाधान है कि)—

अभी वर्तमान काल में जिस प्रकार के इन्द्रिय से जिस प्रकार के विषयों का 'दर्शन' अर्थात् ग्रहण होता है, भूतकाल में भी उस प्रकार के इन्द्रिय से उसी प्रकार के अर्थों का (विषयों) का ग्रहण होता था। अतः भविष्य में भी उस प्रकार के इन्द्रिय से उसी प्रकार के अर्थ का ग्रहण होगा। यह सम्भव नहीं है कि अभी आँखों से रूप एवं तद्विशिष्ट द्रव्य का ग्रहण होता है तो भूतकाल में इन सभी वस्तुओं का ग्रहण श्रोत्र या त्वक् से होता होगा, या आँख से शब्द का ग्रहण होता होगा।

अतः किसी भी काल में किसी को भी किसी एक प्रमाण से सभी अर्थों का ग्रहण सम्भव नहीं है। इसलिये बुद्ध को भी इस प्रकार से सभी विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। तस्मात् इस रीति से भी बुद्ध के सर्वज्ञत्व का समर्थन नहीं हो सकता ॥ ११३ ॥

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ ११४ ॥

(पू० प०) किन्तु आज भी प्रमाता पुरुष के भेद से प्रत्यक्षादि ज्ञानों में भिन्नता देखी जाती है। कोई पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त दूर की वस्तुओं को देख सकते हैं। सभी पुरुष एक ही प्रकार के सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी नहीं हो सकने। इसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञानों एवं लौकिक ज्ञानों में भी तारतम्य देखा जाता है कि किसी पुरुष को शास्त्रीय ज्ञान या लौकिक ज्ञान अधिक होता है, किसी पुरुष को कम।

न्यूनाधिक्य की सभी परम्परायें विश्रान्त होती हैं। जैसे कि महत्परिमाण का अतिशय आकाशादि में विश्रान्त होता है एवं न्यून परिमाण का तारतम्य परमाणु में। इससे यह अनुमान हो सकता है कि ज्ञान के अतिशय की वह परम्परा भी कहीं पर विश्राम लाभ करती है। ज्ञान का वह अन्तिम सातिशयत्व उसका सर्वविषयकत्व स्वरूप ही होगा। इस प्रकार की परमकाष्ठायुक्त ज्ञान की जब सम्भावना है तो उससे युक्त पुरुष की भी संभावना अवश्य है। अतः असंभावना दोष से बुद्ध के सर्वज्ञत्व का खण्डन नहीं हो सकता। (इस मत को जानने के लिये देखिये विधिविवेक पृ० २०६—२०७ पण्डितपत्र संस्करण)

किन्तु यह पक्ष अयुक्त है, क्योंकि 'अतिशय' की जो बात कही गयी है वह अपने स्वार्थ की सीमा को लाँघ नहीं सकता। आँखों से कितनी दूर की वस्तुओं को

देखी जा सकती है— उसकी भी एक सीमा है। इस अतिशय का यह अर्थ नहीं है कि कोई पुरुष चाहे जितनी दूर में पड़ी हुई सूई को भी देख सकता है।

इसी प्रकार ज्ञान में अधिकविषयत्व का जो अतिशय है, वह भी उसके कारण की सामर्थ्य के भीतर ही है। उस सामर्थ्य को लांघकर कोई भी इन्द्रिय अपने ज्ञान में अधिकविषयत्व का संपादन नहीं कर सकता। कोई पुरुष सुनने में बहुत तेज है इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने कान से रूप का भी ग्रहण कर सकता है। उसके कान की तेजी केवल इतनी ही है कि वह अन्य कम सुनने वालों से अधिक सुनता है। किन्तु वह भी सुनेगा शब्द को ही, रूप को नहीं। अतः इस प्रकार से भी एक प्रमाण से सभी विषयों के ज्ञान की सत्ता का उपपादन नहीं किया जा सकता। तस्मात् इस प्रकार भी बुद्ध की सर्वज्ञता अनुपपन्न ही है ॥ ११४ ॥

भविष्यति न दृष्टं च प्रत्यक्षस्य मनागपि।
सामर्थ्यं नानुमानादेर्लिङ्गादिरहिते क्वचित् ॥ ११५ ॥

किसी का कहना है कि प्रत्यक्ष के लिये विषय का कोई नियम नहीं है, क्योंकि रूपी द्रव्यों की तरह अरूपी द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होता है। 'नीलं घटं पश्यामि' इस आकार के रूपी द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के समान ही 'वायुं स्पृशामि' इस आकार की स्पार्शनप्रत्यक्षस्वरूप प्रतीति भी होती है। इस से यह उपपन्न होता है कि इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से किसी भी विषय का प्रत्यक्ष असम्भव नहीं है। इस लिये सर्वविषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के असम्भव होने के कारण तो सर्वज्ञत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। अतः बुद्ध का सर्वज्ञ होना असम्भव नहीं है।

भविष्यति न·······मनागपि·······सामर्थ्यम्

उक्त कथन असङ्गत है, क्योंकि यह अपवादरहित नियम है कि वर्त्तमान कालिक वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः भविष्यत् कालिक वस्तु का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता। इसी प्रकार अतीतकालिक वस्तुओं को इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं देखा जा सकता। इस रीति से इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सभी विषयों के ग्रहण का उपपादन गलत सिद्ध होता है।

एक भी विषय का अज्ञान सर्वज्ञत्व का विघातक है। इन्द्रिय से किसी एक भी विषय का ज्ञान यदि संभव न हो तो फिर एक इन्द्रिय से सर्वविषयक ज्ञान के आश्रयत्व स्वरूप सर्वज्ञत्व की कल्पना खण्डित हो जाती है। इसी लिये इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से भविष्यकालिक और भूतकालिक असंख्य विषयो के ज्ञान की असंभावना कर देने से उक्त प्रकार की सर्वज्ञत्व की कल्पना और दूर चली जाती है।

इस प्रकार यह प्रदर्शित हो गया कि किस प्रकार के विषयों का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

इसी प्रकार ज्ञान में भी यह नियम है कि जिन विषयों में प्रमाणादि और साधनों का समवधान रहेगा उन्हीं विषयों में ज्ञान प्रवृत्त होगा। अन्य विषयों में

नहीं। इस नियम के अनुसार धर्माधर्म में इन्द्रिय स्वरूप साधन का समवधान न रहने के कारण धर्माधर्म का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है।

नानुमानादेर्लिङ्गादिरहिते क्वचित्

अनुमानादि प्रमाकरणों (प्रमाणों) के प्रसङ्ग में भी विषय का यह नियम है कि जिन विषयों के लिङ्गादि न हों उन विषयों में अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है। धर्माधर्मादि के ज्ञापक लिङ्गादि उपलब्ध नहीं हैं, अतः अनुमानादि प्रमाणों से भी उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। ऐसे और भी विषय हो सकते हैं और हैं, जिनकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणों से सम्भव नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि अनुमानादि प्रमाणों के विषय नियत हैं, अतः अनुमानादि प्रमाणों में से भी किसी एक से सभी विषयों का ज्ञान संभव नहीं है। इस लिये अनुमानादि प्रमाणों से किसी प्रमाण से भी सर्वज्ञता की उपपत्ति नहीं की जा सकती। अतः बुद्ध सर्वज्ञ नहीं हो सकते ॥ ११५ ॥

सर्वज्ञकल्पनान्यैस्तु वेदे चापौरुषेयता।
तुल्यता कल्पिता येन तेनेदं सम्प्रधार्यताम् ॥ ११६ ॥

मीमांसक और बौद्ध इन दोनों के समान रूप से विरोधी लौकायतिक सम्प्रदाय के कुछ लोगों का दोनों के ऊपर आक्षेप है कि बौद्धों की सर्वज्ञता एवं मीमांसकों की वेदापौरुषेयता दोनों ही प्रत्यक्षविरुद्ध होने के कारण समान रूप से अप्रामाणिक हैं। अतः बुद्ध की सर्वज्ञता का समर्थन करने वाले और वेदों को अपौरुषेय मानने वाले बौद्ध और मीमांसक दोनों समान रूप से अप्रामाणिक हैं। उन लौकायतिकों को लक्ष्य कर ही वार्तिककार लिखते हैं कि—जो सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना के साथ वेदों के अपौरुषेयत्व की कल्पना को समान मानते हैं, उन्हें निम्नलिखित श्लोकों का अच्छी तरह अवधारण करना चाहिये[1] ॥ ११६ ॥

---

१. वेदों के अपौरुषेयत्व की कल्पना एवं सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना इन दोनों में अन्तर दिखलाने के लिए यह आवश्यक है कि एक की प्रामाणिकता और दूसरे की अप्रामाणिकता दोनों का उपपादन किया जाय। इसमें सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना की अप्रामाणिकता का उपपादन पहले किया गया है। वेदों के अपौरुषेयत्व का उपपादन सूत्रकार ने और उसकी व्याख्या में भाष्यकार ने एक स्वतन्त्र अधिकरण के द्वारा (अ० १ पा० १ अधि० ८ सूत्र २७–३२) किया है। इसके उपपादन के लिए श्लोकवार्तिक में स्वतन्त्र प्रकरण ही है।

यहाँ ११७ वें श्लोक से लेकर आगे १४० वें श्लोक तक के सन्दर्भ से आचार्य ने बौद्धसम्मत सर्वज्ञत्व का खण्डन किया है। आगे १४१ वें श्लोक और १४२ वें श्लोक इन दोनों से जैनसम्मत सर्वज्ञत्व का खण्डन किया है। आगे १४३ वें श्लोक से आस्तिकसम्मत सर्वज्ञत्व के खण्डन में उन्हीं युक्तियों का अतिदेश किया है।

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥ ११७ ॥

प्रत्यक्षप्रमाण में सर्वविषयक ज्ञान की अक्षमता का प्रदर्शन

वर्त्तमान काल में कोई भी पुरुष सर्वविषयक ज्ञान से युक्त (सर्वज्ञ) नहीं देखा जाता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती।

अनुमान प्रमाण में सर्वविषयकज्ञान के उत्पादन की अक्षमता का प्रदर्शन

निराकरणवत्···· ···· ···· ····कल्पना

अनुमान प्रमाण से भी अतीतकाल में ही सही—सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्युत अनुमान प्रमाण से अतीतकाल में इसका निराकरण ही सुगमता के साथ इस प्रकार किया जा सकता है कि जिस प्रकार वर्त्तमानकाल केवल काल होने के कारण ही सर्वज्ञ पुरुष से रहित है, उसी प्रकार अतीतकाल भी चूँकि काल ही था, अतः वह भी सर्वज्ञ पुरुष से शून्य ही था (१) 'अतीतकालः सर्वज्ञशून्यः कालत्वात् वर्त्तमानकालवत्'।

(२) अथवा अनुमान का यह प्रयोग भी हो सकता है—जिस प्रकार अस्मदादि केवल मनुष्य होने के नाते ही सर्वज्ञ नहीं है, उसी प्रकार बुद्ध भी चूँकि मनुष्य ही थे, अतः वह भी सर्वज्ञ नहीं थे। (बुद्धो न सर्वज्ञः पुरुषत्वात् अस्मदादिवत्)

कहने का तात्पर्य है कि कल्पना में तुल्यता वहाँ होती है जहाँ दोनों ही पक्षों के साधक और बाधक युक्तियाँ बराबर हों। प्रकृत में सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना और वेदों में अपौरुषेयत्व की कल्पना इन दोनों की साधक-बाधक युक्तियाँ बराबर नहीं हैं, क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना में साधक युक्तियों के अभाव के साथ-साथ बाधक युक्तियाँ भी हैं। वेदों के अपौरुषेयत्व की कल्पना में केवल साधक युक्तियाँ ही नहीं हैं, किन्तु बाधक युक्तियों का अभाव भी है[१] ॥ ११७ ॥

न चागमेन सर्वज्ञः तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात्।
नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ ११८ ॥

आगम प्रमाण से भी बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा प्रयास करने पर प्रश्न होगा कि यदि बुद्धप्रणीत बौद्धशास्त्र स्वरूप आगम से

---

१. प्रथमतः सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना में साधक युक्ति के अभाव का प्रदर्शन 'सर्वज्ञो दृश्यते' (श्लोक ११६) इत्यादि से वार्त्तिककार ने किया है। किसी वस्तु की साधक युक्ति का अर्थ है साधक प्रमाण। मीमांसकों के मत में प्रमाण छः हैं। अतः उनको सर्वज्ञ पुरुष की साधक युक्तियों के अभाव के उपपादक के लिए अपने प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों में से प्रत्येक में सर्वज्ञपुरुष की सिद्धि की अक्षमता का प्रदर्शन आवश्यक है। तदनुसार इस श्लोक के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों में सर्वज्ञत्व के साधन की क्षमता नहीं है। आगे शब्द प्रमाण में भी सर्वज्ञत्व के ज्ञापन की अक्षमता का प्रतिपादन किया है।

यदि बुद्ध से सर्वज्ञत्व की सिद्धि चाहते हैं तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा। क्योंकि बौद्धागम प्रमाण इसलिए है कि वह सर्वज्ञ पुरुष की रचना है। बुद्ध सर्वज्ञ इसलिए हैं कि बौद्धागम के अनुसार ही वे सर्वज्ञ हैं। इस परस्परापेक्षत्व स्वरूप दोष के कारण बुद्ध में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं की जा सकती।

'नरान्तरप्रणीत' अर्थात् बुद्ध से अतिरिक्त पुरुष के द्वारा रचित आगम को आप प्रमाण ही नहीं मानते, अतः उन आगमों से बुद्ध की सर्वज्ञता क्या किसी वस्तु की सिद्धि आप के मत से नहीं हो सकती। अतः शब्दप्रमाण से बुद्ध में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं की जा सकती॥ ११८॥

न चाप्येवम्परो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः।
नित्यश्चेदर्थवादत्वं तत्परे स्यादनित्यता॥ ११९॥

न चाप्येवं परः………अर्थवादत्वम्

यह ज्ञातव्य है कि नास्तिक बौद्ध ही केवल सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। आस्तिकों में भी नैयायिक और स्वायम्भुव सम्प्रदाय (पातञ्जल) सम्प्रदाय के लोग सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन्हें वे लोग 'ईश्वर' के नाम से पुकारते हैं। इस ईश्वर की सत्ता में अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि सर्वास्तिक सम्मत वेदों को भी उपस्थित करते हैं। अतः वेदों को सर्वाधिक प्रमाण मानने वाले मीमांसक यह कैसे कह सकते हैं कि आगम प्रमाण सर्वज्ञता का साधक नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

शब्द प्रमाण अपने तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का ही प्रमापक है, अक्षरार्थक्रम से प्राप्त सभी विषयों का नहीं। तदनुसार वेद सर्वज्ञ पुरुष का साधक तभी हो सकता है जबकि उस वेद का तात्पर्य सर्वज्ञ पुरुष स्वरूप अर्थ में हो।

सिद्ध अर्थों के बोधक जितने भी वाक्य हैं, वे सभी विधिवाक्यों के साथ एक-वाक्यतापन्न होकर ही प्रामाण्य को प्राप्त करते हैं। अतः सभी अर्थवादवाक्य 'विधि-शेष' कहलाते हैं।

'यः सर्वज्ञः' इत्यादि वाक्य अक्षरार्थक्रम के अनुसार सिद्ध अर्थ का ही बोधक है। अतः इस वाक्य का भी स्वकीय अर्थस्वरूप सर्वज्ञपुरुष के ज्ञापक रूप में प्रामाण्य संभव नहीं है। अतः 'आत्मा वाऽरे' इत्यादि आत्मज्ञान के विधायक वाक्य का ही शेषभूत यह अर्थवाद है। इसलिए इस वाक्य का तात्पर्य अपने अभिधेयार्थं सर्वज्ञपुरुष में नहीं है। इसलिये इस वाक्य से सर्वज्ञपुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती।

तत्परे स्यादनित्यता

प्रश्न हो सकता है कि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि वेदवाक्यों का तात्पर्य अक्षरार्थ के अनुसार सिद्ध सर्वज्ञ पुरुष में ही क्यों नहीं है? इस प्रश्न का यह समाधान है कि सभी शरीर अनित्य हैं, एवं सभी पुरुष शरीर से युक्त हैं। इस प्रकार सभी पुरुष अवश्य ही अनित्य शरीर से युक्त होंगे। वेद नित्य हैं। अतः यह सम्भव नहीं है कि नित्यवेद अनित्य शरीर से युक्त सर्वज्ञ पुरुष का प्रतिपादन करें। यदि उक्त वेद को अनित्य शरीर का प्रतिपादक मानेंगे तो वेदों को भी अनित्य मानना होगा

अथवा शरीर से युक्त सर्वज्ञ पुरुष को ही नित्य मानिये, किन्तु दोनों ही बातें नहीं हो सकती ॥ ११९ ॥

आगमस्य च नित्यत्वे सिद्धे तत्कल्पना वृथा ।
यतस्तं प्रतिपद्यन्ते धर्ममेव ततो नराः ॥ १२० ॥

यदि 'आगम' को नित्य मानते हैं तो फिर सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि नित्य आगम से ही मनुष्य धर्म को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि यदि अतिन्द्रिय धर्म को समझाने वाले वेद स्वरूप आगम को लौकिक एवं अन्य आगमों की तरह अनित्य मानते हैं, तो फिर यह आवश्यक हो जाता है कि उस अनित्य आगम के रचयिता पुरुष को अतीन्द्रियार्थदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ माना जाय। क्योंकि अनित्य आगम में वक्ता पुरुष गत प्रमाज्ञान के अधीन ही प्रामाण्य हो सकता है। यदि अनित्य वेद के कर्त्ता पुरुष को सर्वज्ञ नहीं मानते हैं तो उक्त वेद अप्रामाणिक हो जांयगे।

किन्तु वेदों को जब आप नित्य मान लेते हैं, तो फिर उसके वक्ता स्वरूप सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। क्योंकि वेद अपने नित्यत्व स्वरूप बल से ही अप्रामाण्य के प्रयोजक दोषों से कोसों दूर रहेगा। वक्ता पुरुष गत भ्रम प्रमादादि से ही आगम अप्रमाण होता है। वेद यदि नित्य हैं तो उनका कोई कर्त्ता नहीं है। एवं कर्त्ता के न रहने से तन्मूलक भ्रम प्रमादादि से होने वाले अप्रामाण्य की संभावना वेदों में नहीं की जा सकती। अतः वेदों की नित्यत्व कल्पना के साथ सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना का योग नहीं बैठता है ॥ १२० ॥

योऽपीन्द्रियार्थसम्बन्धविषये सत्यवादिताम् ।
दृष्ट्वा तद्वचनत्वेन श्रद्धेयेऽर्थेऽपि कल्पयेत् ॥ १२१ ॥

इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि कीट पतङ्गादि से लेकर नदी बालुका समुद्रादि संसार के सभी विषयों के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ पुरुष की आवश्यकता हम लोगों को नहीं है, हम लोगों को तो 'धर्मज्ञ' चाहिये। धर्मज्ञान मात्र से ही हम लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति हो जायगी। बुद्ध में इस प्रकार की 'धर्मज्ञता' अवश्य संभावित है, क्योंकि उनके (सर्वं क्षणिकम्) इत्यादि धार्मिक वाक्यों की परितुष्टि अस्मदादि के प्रमाणों से भी हो सकती है। अतः उनके जिन चैत्यवादनादि के विधायक वाक्यों की परिपुष्टि हम लोगों के प्रमाणों से नहीं भी हो सकती है, उन वाक्यों में भी 'चैत्यवन्दनादिवाक्यमपि प्रमाणम् बुद्धोक्तत्वात् क्षणिकत्वादिवाक्यवत्' इस अनुमान से प्रामाण्य की सिद्धि हो सकती है ॥ १२१ ॥

तेनापि पारतन्त्र्येण बाधिता स्यात् प्रमाणता ।[1]
प्रामाण्यं चेत् स्वयं तस्य कापेक्षान्येन्द्रियादिषु ॥ १२२ ॥

---

१. इस १२२ वें श्लोक से लेकर १३१ वें श्लोक पर्यन्त के १० श्लोकों से बौद्धों के उक्त अनुमान को हेत्वाभास मूलक बतलाया गया है जिससे अनुमान के द्वारा भी बौद्धागम के प्रामाण्य की सिद्धि न हो सके।

उक्त अनुमान से चैत्यवन्दनादि बोधक बौद्धागम में इन्द्रयादि प्रमाणों के बल से ही प्रामाण्य की सिद्धि होगी। स्वतन्त्र प्रामाण्य की सिद्धि उक्त अनुमान से नहीं होगी। यदि वे बौद्धागम स्वतन्त्र रूप से ही प्रमाण हों तो क्षणिकत्वादि के बोधक उस बौद्धागम का दृष्टान्त रूप में निर्देश करना निरर्थक है, जिससे बौद्धागम को प्रामाण्य इन्द्रियादि प्रमाणों के अधीन है।

तस्मात् दृष्टान्त वाक्य में प्रामाण्य का जो प्रयोजक है प्रमाणान्तर संवाद, वही चैत्यवन्दनादि बोधक वाक्य रूप पक्ष में भी प्रामाण्य का साधक होगा। इसलिये उक्त अनुमान का बुद्धोक्तत्व 'अप्रयोजक' है। हेत्वाभास से श्रद्धेयार्थ बोधक चैत्यवन्दनादि के विधायक बौद्धागामो में सत्यता की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ १२२ ॥

यथैवात्रेन्द्रियादिभ्यः परिच्छेदात् प्रमाणता ।
श्रद्धेयेपि तथैव स्यान्न स्वातन्त्र्येण लभ्यते ॥ १२३ ॥

'तेनापि' इत्यादि (१२२ श्लोक) श्लोक की आलोचना से यह स्पष्ट है कि क्षणिकत्वादि के बोधक बौद्धागम स्वरूप दृष्टान्तवाक्य में जिस प्रकार से इन्द्रियादि-प्रमाणपरतन्त्र ही प्रामाण्य है, श्रद्धेयवाक्यस्वरूप चैत्यवन्दनादि के बोधक वाक्य-स्वरूप पक्ष में भी उसी प्रकार से प्रत्यक्षादिप्रमाणपरतन्त्र प्रामाण्य की ही सिद्धि होगी, स्वतन्त्र प्रामाण्य की नहीं।

कहने का अभिप्राय है कि बौद्ध क्षणिकत्वादि के बोधक बुद्ध के वाक्य को इस लिये प्रमाण मानते हैं कि उक्त वाक्य के अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि-प्रमाण से भी हो सकती है। अतः दृष्टान्त स्वरूप उक्त बौद्धागम का प्रयोजक है 'प्रत्यक्षादि-प्रमाणों का संवाद'। अर्थात् वे बौद्धागम बुद्धोक्त होने के कारण प्रमाण नहीं हैं किन्तु उन आगमों के अर्थ की सिद्धि जिस लिये कि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है अतः वे प्रमाण हैं। अत बुद्धोक्तत्व प्रामाण्य का साधक नहीं है ॥ १२३ ॥

यथा च तेषां सत्यत्वं सिध्यत्येतेन हेतुना ।
तथान्यानवबुद्धार्थप्रमाण्याभावसाधनम् ॥ १२४ ॥

आँख मूँदकर उक्त बुद्धोक्तत्व हेतु को यदि चैतन्यवन्दनादि बोधक बौद्धागम में प्रामाण्य प्रयोजक मान भी लें, तथापि अप्रयोजक हेतु के न होने पर भी उस हेतु में 'विरोध' दोष अवश्य होगा। जहाँ हेतु से साध्यसिद्धि के बदले हेतु से साध्याभाव की सिद्धि हो, अर्थात् हेतु में साध्य की व्याप्ति की जगह साध्य के अभाव की ही व्याप्ति रहे उस हेतु में विरोध दोष समझना चाहिये। तदनुसार उक्त बुद्धोक्तत्व हेतु भी 'विरोध' दोष से युक्त होने के कारण विरुद्ध नाम का हेत्वाभास ही है हेतु नहीं, क्योंकि जिस प्रकार उक्त हेतु से चैतन्यवन्दनादिबोधक आगम में प्रामाण्य की सिद्धि की जा सकती है, उसी प्रकार उसके विपरीत यह अनुमान भी किया जा सकता है कि चैतन्यवन्दनादि के बोधक बुद्धागम इन्द्रियादि प्रमाणों से अगम्य अर्थ विषयक प्रमाज्ञान के उत्पादन में असमर्थ हैं, क्योंकि वे बुद्धोक्त हैं, जैसे कि बुद्ध के ही क्षणिकत्वादि के बोधक वाक्य। (चैतन्यवन्दनादिवाक्यं प्रमाणान्तरानवबुद्धेऽर्थे न

प्रमाणम् बुद्धोक्तत्वात् क्षणिकत्वादिवाक्यवत् । अतः उक्त बुद्धोक्तत्व हेतु विरुद्ध है, क्योंकि वह कथित रीति से चैतन्यवन्दनादि बोधक आगम में प्रामाण्य के अभाव का ही साधक है प्रामाण्य का नहीं ॥ १२४ ॥

अश्रद्धेयार्थसत्यत्वं श्रद्धेये चाप्यसत्यता ।
पूर्वज्ञानानुवादित्वं दृष्टान्तवदिहेष्यताम् ॥ १२५ ॥

अश्रद्धेयार्थ···· ···· ····असत्यता

हेतु में उक्त विरोध दोष के उद्भावन से जो स्थिति होगी, उससे 'विशेष-विरोध' भी उपस्थित होगा । अर्थात् (चैतन्यवन्दनादिवाक्यं प्रमाणान्तरावबुद्धेऽर्थे न प्रमाणं बुद्धोक्तित्वात् तदीयक्षणिकत्वादिवाक्यवत्' इससे 'अश्रद्धेयार्थवाक्य' की अर्थात् 'सर्वं क्षणिकम्' इत्यादि वाक्य की सत्यता और 'श्रद्धेयवाक्य' अर्थात् चैतन्यवन्दनादि के बोधक वाक्य की असत्यता की ही सिद्धि होगी । किन्तु यह बौद्धों को इष्ट नहीं है । इतना ही नहीं इससे तो बुद्ध के सभी वचनों में असत्यता की ही सिद्धि होगी, जिसे हम लोग चाहते हैं ।

पूर्वज्ञाना···· ··· ··· ····इहेष्यताम्

उक्त अनुमान में 'विशेषविरोध' दोष भी है । दृष्टान्त में जिस प्रकार के साध्य की सत्ता रहती है, पक्ष में उसी प्रकार के साध्य की अनुमिति होती है । प्रकृत में दृष्टान्त है बुद्ध का 'सर्वं क्षणिकम्' इत्यादि वाक्य । उसमें साध्य स्वरूप 'प्रामाण्य' स्वतन्त्र रूप से नहीं है । उन वाक्यों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन है । अतः क्षणिकादि वाक्यों से उन क्षणिकत्वादि विषयों का ही ज्ञान होता है जो पहले से ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से गृहीत हैं । क्षणिकादि वाक्य अपूर्वज्ञान के उत्पादक नहीं हैं । अतः क्षणिकादि वाक्य अनुवादक मात्र हैं । अनुवादक वाक्य स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है । अतः इस अनुमान में प्रत्यक्षादिपरतन्त्र प्रामाण्य की सिद्धि भले ही हो स्वतन्त्र प्रामाण्य की सिद्धि नहीं हो सकती । चैतन्यवन्दनादि वाक्यों के अर्थ को सिद्धि यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं हो सकती तो वे अप्रमाण ही हैं । इस प्रकार इस अनुमान से पर्यवसान में चैत्यन्यादि वाक्यों में अप्रामाण्य को ही सिद्धि होगी ॥ १२५ ॥

अपि चालौकिकार्थत्वे सति पुंवाक्यहेतुकम् ।
मिथ्यात्वं बौद्धवाक्यानां स्यादन्योन्यं सपक्षतः ॥ १२६ ॥

त्रयीबाह्य कुछ लोग अपने पौरुषेय आगम में प्रामाण्य की सिद्धि इस प्रकार के अनुमानों से करते हैं कि 'चैत्यवन्दनादिवाक्यं प्रमाणम् अलौकिकार्थत्वे सति पुंवाक्यत्वात् दिगम्बरागमवत्' इन अनुमानों में परस्पर के दृष्टान्त से विरोध दोष होगा जिससे इन प्रतिपक्षानुमानों की सृष्टि होगी—'बौद्धागमम् अप्रमाणम् अलौकिकार्थत्वे सति पुंवाक्यत्वात् दिगम्बरागमवत्', 'दिगम्बरागमम् अप्रमाणम् अलौकिकार्थत्वे सति पुंवाक्यत्वात् बौद्धागमवत्' ॥ १२६ ॥

धर्माधर्मातिरिक्तार्थे प्रामाण्यं च प्रसज्यते ।

कुछ लोग केवल 'वुद्धोक्तत्व' केवल 'आर्हतोक्तत्व' हेतु से ही तत्तत् आगम में प्रामाण्य की सिद्धि करना चाहते हैं।

किन्तु उन लोगों का यह प्रयास उचित नहीं है, क्योंकि वही पौरुषेय वाक्य प्रमाण हो सकता है, जिसके अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है। धर्म और अधर्म दोनों ही अतिन्द्रिय हैं। अतः इनकी सिद्धि प्रत्यक्ष अथवा तन्मूलक अनुमानादि प्रमाणों से नहीं हो सकती।

तदनुसार बौद्धादि से स्वीकृत चैत्यवन्दनादि धर्मों की भी सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं हो सकती। अतः बौद्धादि के आगम चैत्यवन्दनादि को धर्म सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि ये आगम भी पौरुषेय हैं। अतः अतीन्द्रिय धर्म अथवा अधर्म को समझाने की सामर्थ्य इन आगमों में नहीं है। अतः बौद्धादि यदि प्रमाण भी होंगे तो धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय अर्थों से अतिरिक्त क्षणिकत्वादि अर्थों में ही। किन्तु उन अर्थों की सिद्धि के लिये आगम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी सिद्धि तो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकती हैं।

यदि अनन्यलभ्य धर्माधर्म की सिद्धि ही आगम प्रमाण से न हो सकी तो फिर दूसरे प्रमेयों के लिये आगम प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी हो सकती है ॥ १२७ क–ख ॥

सांख्यादिषु च जीवत्सु दृष्टांतो दुर्लभोऽस्य च ॥ १२७ ॥

प्रकृत में वुद्ध रचित आगम में प्रामाण्य का साधक जो मूल अनुमान 'चैत्यवन्दनादिबोधका बौद्धागमाः प्रमाणं वुद्धोक्तत्वात् तदीयक्षणिकत्वादिवाक्यवत्' इस आकार का है उसमें सांख्यमत के अनुसार दृष्टान्तासिद्धि दोष भी है, क्योंकि सांख्यमत के अनुसार सभी पदार्थ नित्य हैं, उनको जब तक आप लोग (बौद्धगण) पराजित नहीं कर लेते तब तक 'सर्वं क्षणिकम्' इत्यादि वुद्ध के वाक्यों को प्रामाण्यसाधक उक्त अनुमान के दृष्टान्त रूप में कैसे उपस्थित कर सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि सभी पदार्थों का क्षणिकत्व ही जब असिद्ध है, तो फिर उसके बोधक बौद्धागम को दृष्टान्त रूप से कैसे उपस्थित किया जा सकता है[1] ॥ १२७ ॥

अलौकिकार्थवाचित्वं नृवाक्यत्वे सतीति च।

किसी बौद्ध विद्वान् का कहना है कि बौद्धों का आगम उसी प्रकार प्रमाण है जिस प्रकार जैनागम पुरुषरचित होने पर भी अलौकिक अर्थ के बोधक होने से प्रमाण

---

१. इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सांख्यशास्त्रियों के सर्वनित्यत्ववाद को मीमांसक स्वीकार करते हैं। आगे शब्दाधिकरण में इस पक्ष का बड़े बिस्तार के साथ खण्डन किया गया है। अभी सांख्यमत के अनुसार बौद्धों की आलोचना की गई है।

है। अतः पुरुषरचित होनेपर भी वे चैत्यवन्दनादिवाक्य अलौकिक अर्थों के बोधक हैं। 'बौद्धागमाः सत्याः पौरुषेयत्वे सति अलौकिकार्थत्वात् जैनागमवत्'[1] ।। १२८ क-ख ।।

परस्परमपेक्ष्यैव बौद्धादेः स्यान्मृषार्थता ॥ १२८ ॥

बौद्धों का यह अनुमान भी अन्योन्याश्रय दोष के कारण दुष्ट है, क्योंकि इस अनुमान के पक्ष और दृष्टान्त दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इस परस्पराश्रय दोष का विशद वर्णन श्लोक १२६ की व्याख्या में किया जा चुका है ॥ १२८ ॥

वदेदेवं च यो नाम वादी प्रथमसङ्गतः।

तस्यापि हेतुः स्यादेष भवन्तं प्रत्यसंशयम् ॥ १२९ ॥

कुछ वादी सभा में आने के साथ ही इस अनुमान का प्रयोग करते हैं कि बुद्ध का 'मैं सर्वज्ञ हूँ' यह वाक्य सत्य है, क्योंकि यह बुद्ध के द्वारा उक्त है जैसे कि वह्नि उष्ण है, पानी तरल है इत्यादि वाक्य। (सर्वज्ञोस्मीति बुद्धवचनं सत्यम् बुद्धोक्तत्वात् यथा ज्योतिरुष्णः आपो द्रवाः इत्यादि वाक्यानि) ॥ १२९ ॥

बुद्धादीनामसार्वज्ञ्यमिति सत्यं वचो मम।

मदुक्तत्वाद् यथैवाग्निरुष्णो भास्वर इत्यपि ॥ १३० ॥

उक्त अनुमान के विरोध में यह प्रत्यनुमान उपस्थित किया जा सकता है कि 'बुद्ध सर्वज्ञ नहीं थे' मेरा यह वाक्य 'वह्नि उष्ण है, वह्नि भास्वर है' इत्यादि वाक्यों के समान अप्रमाण हैं (बुद्धो न सर्वज्ञः इत्याकारकं मद्वचनं सत्यं मद्वाक्यत्वात् वह्निरुष्णः भास्वरः इत्यादि मदीयवाक्यवत्) ॥ १३० ॥

प्रत्यक्षं च मदुक्तत्वं त्वया साध्या तदुक्तता।

तेन हेतुर्मदीयः स्यात् सन्दिग्धासिद्धता तव ॥ १३१ ॥

दो परस्पर विरोधी अनुमान ऊपर लिखे गये हैं। इनमें पहिला है बौद्धों का जिस से वे बुद्ध में सर्वज्ञता का साधन करते हैं। दूसरा मीमांसकों का—जिस से बौद्धादि सभी त्रयीबाह्यों में असर्वज्ञत्व का साधन करते हैं। पहिले अनुमान का साधक हेतु है 'बुद्धोक्तत्व' और दूसरे के साधक है 'मदुक्तत्व'। यदि ये दोनों ही हेतु समान बल के होने से समान रूप से अपने अपने साध्य का साधन करेंगे। कोई भी हेतु किसी से दुबल नहीं है कि एक की साध्य सिद्धि से उक्त दूसरे की साध्य सिद्धि में बाधा पड़े। इस स्थिति में बौद्धों के उक्त अनुमान का खण्डन मीमांसकों के उक्त अनुमान से नहीं होता है। इसके लिये आवश्यक है कि मीमांसक अपने हेतु को उनके हेतु से बलवान प्रतिपन्न करें। वह इस प्रकार होगा—

---

१. यद्यपि यही अनुमान श्लो० १२६ से भी प्रयुक्त हुआ है, अतः यह कुछ पुनरुक्त सा लगता है, किन्तु पहले अनुमान में अलौकिकार्थत्वविशिष्ट पौरुषेयत्व हेतु है एवं इस अनुमान में पौरुषेयत्वविशिष्ट अलौकिकार्थत्व हेतु है। इस प्रकार विशेष्यविशेषणभाव के व्यत्यास से दो हेतुओं की कल्पना कर पुनरुक्त दोष से किसी प्रकार त्राण पाया जा सकता है।

मीमांसकों का 'मदुक्तत्व' हेतु अपने पक्ष में प्रत्यक्ष से सिद्ध है, क्योंकि वे सभी के सामने बोल रहे हैं। बौद्धों का बुद्धोक्तत्व हेतु सन्दिग्ध है, क्योंकि पक्षीभूत चैत्यवन्दनादिबोधक वाक्यों का बुद्ध ने ही उच्चारण किया था—यह सन्दिग्ध है। इस लिये बौद्धों के बुद्धोक्तत्व हेतु का साधन पक्ष में अपेक्षित है। पक्ष में सन्दिग्ध हेतु पक्ष में साध्य का साधक न होने से 'हेतु' नहीं है किन्तु 'सन्दिग्धासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है।

इससे निष्कर्ष निकला कि मीमांसकों का हेतु अपने साध्य का वास्तव में साधक हेतु है, एवं बौद्धों का हेतु अपने साध्य का वास्तव में साधक नहीं है। किन्तु सन्दिग्धासिद्ध नाम का हेत्वाभास है। तस्मात् दोनों हेतु समानबलशाली नहीं है। अतः मीमांसकों के हेतु से जो अनुमान बनेगा उससे बौद्धों के उक्त अनुमान का बाध अवश्य होगा ॥ १३१ ॥

प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।

सद्भाववारणे शक्तं को न तं कल्पयिष्यति ॥ १३२ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अत्यन्त प्रसिद्ध प्रमेयत्वादि हेतु भी जिसकी सत्ता को हटाने में समर्थ हैं, उस सर्वज्ञत्व की कोई कल्पना भी कैसे कर सकता है ?

कहने का तात्पर्य है कि संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सभी प्रमेय हैं। बौद्ध गण इनमें से केवल बुद्ध स्वरूप प्रमेय को ही 'सर्वज्ञ' मानते हैं एवं अन्य सभी प्रमेयों को असर्वज्ञ मानते हैं। बुद्ध की सर्वज्ञता का कोई अन्य दृढ़ प्रमाण उनके पास नहीं है। अतः बुद्ध भी अन्य प्रमेयों की तरह असर्वज्ञ ही थे (बुद्धो न सर्वज्ञः प्रमेयत्वात् अस्मदादिवत् घटादिवद्वा) इस प्रकार अत्यन्त सुलभ रीति से बुद्ध में जब असर्वज्ञता की सिद्धि की जा सकती है तब सर्वज्ञता की कल्पना कौन कर सकता है ॥ १३२ ॥

न चापि स्मृत्यविच्छेदात् सर्वज्ञः परिकल्प्यते।

विगानात् छिन्नमूलत्वात् कैश्चिदेव परिग्रहात् ॥ १३३ ॥

बहुत दिनों से जन साधारण में 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार की स्मृति की परम्परा चली आ रही है। इस स्मृति से उत्पन्न दृढ़ बुद्धि से बुद्ध में सर्वज्ञता के ज्ञापक मूल प्रमाण का अनुमान करेंगे जिससे बुद्ध में सर्वज्ञता प्रमित होगी। जैसे कि 'अन्वष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि स्मृतियों से उसके मूलभूत प्रमाण का अनुमान आप (मीमांसक) करते हैं। इस प्रकार से जो बुद्ध में सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है, उसका निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

कथित स्मृति के अविच्छेद से 'बुद्धः सर्वज्ञः' यह अनुमान नहीं कर सकते, क्योंकि 'विगानात्' अर्थात् 'अविगीत' स्मृति ही मूल प्रमाण का अनुमापक है, 'विगीत' स्मृति नहीं।

'परस्परविरुद्धा गीतिर्विगीतिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस स्मृति की विरोधिनी स्मृति वर्त्तमान रहे उसे 'विगीत' स्मृति कहते हैं। अतः जिस स्मृति की

विरोधी कोई स्मृति न रहे वह 'अविगीत स्मृति' है। 'बुद्धः सर्वज्ञः' यह अविगीत स्मृति नहीं है, क्योंकि 'बुद्धो न सर्वज्ञः' इस प्रकार की विरोधी स्मृति अतिरिक्त व्यक्तियों की विद्यमान है। नस्तिक लोगों में भी बुद्ध के सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में अन्ततः उस प्रकार जो मतभेद है, उसको भी 'विगान' ही कहा जायगा।

किन्तु इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि इस प्रकार की 'विगीति' तो मनु आदि की स्मृतियों के प्रसङ्ग में भी विद्यमान है, क्योंकि बौद्ध जैनादि तो उन स्मृतियों के विरुद्ध स्मृति रखते ही हैं। इन विगीतियों के रहने पर भी यदि उन स्मृतियों के मूल का अनुमान हो सकता है तो फिर 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस स्मृति में बुद्ध में सर्वज्ञत्व के साधक मूल प्रमाण का अनुमान केवल आस्तिकों की 'विगीति' के कारण नहीं रोका जा सकता। अतः बुद्ध में सर्वज्ञत्व का साधक उक्त अनुमान सर्वथा युक्त है। बौद्धों के इसी समाधान को दृष्टि में रखकर मीमांसकों ने 'बुद्धो न सर्वज्ञः' अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दूसरे हेतुवाक्य का प्रयोग किया है 'छिन्नमूलत्वात्'।

इस हेतुवाक्य के प्रयोग से मीमांसकों का कहना है कि 'स्मृति' मूलभूत पूर्वानुभव का कार्य है। यह निश्चय हो जाने पर 'कार्य से कारण का अनुमान' होता है। इसी दृष्टि से स्मृति स्वरूप कार्य से कारणीभूत पूर्वानुभव का अनुमान होता है। प्रकृत में वह पूर्वानुभव स्वरूप ज्ञान (बौद्धों के अनुसार) बुद्ध का सर्वविषयक ज्ञान ही होगा। किन्तु कारणों के अभाव से उक्त ज्ञान संभव नहीं है। अतः 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस स्मृति का मूल ही 'च्छिन्न' है अर्थात् असम्भूत है। अतः इस च्छिन्नमूलकत्व हेतु से स्मृति-अविच्छिन्नधारा हेतु से सर्वज्ञ की कल्पना असिद्ध हो जाती है।

'कैश्चिदेव परिग्रहात्' हेतु वाक्य कथित 'विगान' हेतु का ही विवरण है अर्थात् 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस प्रकार की स्मृति यदि सर्वाविरुद्ध होती तो किसी प्रकार बुद्ध के सर्वज्ञत्व में कुछ अंश तक सहायक भी होती। किन्तु सो भी नहीं है, क्योंकि महाजनों का एक अंश ही—जिनमें बुद्ध के कुछ अनुयायी मात्र हैं—उस स्मृति का समर्थन करता है। अतः उस स्मृति से बुद्ध की सर्वज्ञता का समर्थन नहीं किया जा सकता ॥ १३३ ॥

सर्वज्ञोऽसाविति ह्येवं तत्काले तु बुभुत्सुभिः।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥ १३४ ॥

कथित छिन्नमूलत्व हेतु का विवरण

'बुद्धः सर्वज्ञः' इस दृढ़स्मृति से यह कल्पना आवश्यक होगी कि कोई एक पुरुष बुद्ध को अवश्य ही सर्वज्ञ समझता था। किन्तु सर्वज्ञत्वविशिष्ट पुरुष का ज्ञान उसी व्यक्ति को हो सकता है जो विशेषणीभूत 'सर्वज्ञान' के विषय 'सर्व' को जानता हो, क्योंकि जब तक वह पुरुष यह न समझे कि 'ये ही वे सभी विषय हैं, जिनके जानने से बुद्ध सर्वज्ञ कहलाते हैं' तब तक 'बुद्ध सर्वज्ञ हैं' यह ज्ञान उस पुरुष को नहीं हो सकता। अर्थात् विशिष्ट बुद्धि के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण है। 'बुद्धः सर्वज्ञः' यह भी विशिष्ट बुद्धि ही है। इसमें विशेषणविधया सर्वज्ञत्व भासित होता है।

सर्वज्ञत्व सर्व विषयक ज्ञान को छोड़कर और कुछ नहीं है। विशेषणीभूत 'सर्व-विषयक ज्ञान' में 'सर्व' विशेषण है। अतः 'सर्व' को जाने बिना 'सर्वविषयक ज्ञान' स्वरूप सर्वज्ञत्व को नहीं समझा जा सकता। फलतः 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस विशिष्ट ज्ञानवाले पुरुष को स्वयं सर्वज्ञ होना चाहिये।

किन्तु 'बुद्ध' को छोड़कर किसी अर्वाचीन पुरुष को बौद्ध लोग भी सर्वज्ञ नहीं मानते। एवं ऐसे किसी पुरुष में सर्वविषयक ज्ञान का संवलन भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जब किसी पुरुष को 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस प्रकार का अनुभवात्मक ज्ञान ही सम्भव नहीं है तो फिर 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार की स्मृति ही कैसे हो सकती है, क्योंकि स्मृति का मूल पूर्वानुभव ही है। अतः 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार की स्मृति प्रमाण नहीं है।

बौद्धों में से कुछ श्रद्धालु कहते हैं कि बुद्ध से भिन्न केवल एक और पुरुष को सर्वज्ञ मानते हैं जिनको 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार का अनुभवात्मक ज्ञान था। उसी पुरुष के उक्त अनुभवात्मक ज्ञान से 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार की स्मृति की परम्परा चली। अतः उक्त स्मृति अप्रामाणिक नहीं है। किन्तु उक्त श्रद्धालु का उक्त कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार सर्वज्ञत्वविशिष्ट बुद्ध को समझने के लिए दूसरे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना आवश्यक बनायी गयी है, उसी प्रकार उस दूसरे सर्वज्ञ पुरुष को जानने के लिये भी तीसरे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना आवश्यक होगी, क्योंकि बिना सर्वज्ञ हुये किसी सर्वज्ञ को जाना ही नहीं जा सकता। इस प्रकार 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस आकार की स्मृति की अविच्छिन्नता के लिये बौद्धों को अनेक सर्वज्ञ पुरुषों की कल्पना आवश्यक होगी। किन्तु बौद्धों के मत में बुद्ध को छोड़कर दूसरा कोई सर्वज्ञ पुरुष नहीं है।

इस खण्डन ग्रन्थ से मीमांसकों को निम्नलिखित अनुमान अभीष्ट है कि सर्वज्ञ पुरुष में विशेषणीभूत सर्वविषयक ज्ञान के विशेषणीभूत सर्व का ज्ञान किसी को भी नहीं है।

जिस प्रकार हम लोगों को 'अयं सर्वज्ञः पुरुषः' इस आकार का ज्ञान न वर्तमान काल में है, न भूतकाल में था, न भविष्यकाल में होगा उसी प्रकार तीनों कालों में से किसी भी काल में विद्यमान किसी भी पुरुष को 'बुद्धः सर्वज्ञः' यह ज्ञान न है, न था, न होगा। (त्रिकालवर्त्तिनः पुरुषाः कालत्रयेऽपि सर्वज्ञं न गृह्णन्ति तज्ज्ञानज्ञेयरहितत्वात् अस्मदादिवत्) ॥ १३४ ॥

कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥ १३५ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि बुद्ध से भिन्न केवल एक और पुरुष को सर्वज्ञ मानेंगे, जिसमें 'बुद्ध सर्वज्ञः' इस आकार के अनुभवात्मक ज्ञान को स्वीकार करेंगे। उस अनुभवात्मक ज्ञान से 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस स्मृति की परम्परा को स्वीकार करेंगे। अतः 'बुद्धः सर्वज्ञः' यह स्मृति अप्रमाण नहीं है। यह उक्ति इसलिये अयुक्त है

कि जिस प्रकार सर्वज्ञत्वविशिष्ट बुद्ध को समझने के लिये दूसरे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना आवश्यक होती है, उसी प्रकार इस दूसरे सर्वज्ञ पुरुष को समझने के लिये भी तीसरे सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना आवश्यक होगी, क्योंकि विना सर्वज्ञ हुये किसी भी सर्वज्ञ को जाना ही नहीं जा सकता। इस प्रकार 'बुद्धः सर्वज्ञः' इस स्मृति-परम्परा की अविच्छिन्नता के लिए आपको अनेक सर्वज्ञ पुरुषों की कल्पना आवश्यक होगी। बुद्ध ही एकमात्र सर्वज्ञ नहीं रहेंगे ॥ १३५ ॥

सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥ १३६ ॥

सर्वज्ञत्व के खण्डन के प्रसङ्ग में अभी केवल इतना ही कहा है कि 'सर्वज्ञ दुर्ज्ञेय है'। अभी इस श्लोक से यह कहना है कि सर्वज्ञत्व के जाने विना किसी ऐसे आगम का प्रामाण्य ही संभव नहीं है जिसका प्रामाण्य सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा रचित होने के कारण हो। बुद्धागम को उनके अनुयायी केवल इसीलिए प्रमाण मानते हैं कि 'बुद्ध सर्वज्ञ थे' एवं यह रचना उनकी है।

अर्थात् बुद्धागम इसीलिए प्रमाण है कि उसकी रचना सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा हुई है। 'यह सर्वज्ञ पुरुष की रचना है' इसका ज्ञान विना सर्वज्ञ हुए संभव नहीं है। इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष प्रणीतत्व के विना बौद्धागम के प्रामाण्य का ज्ञान असम्भव है। अर्थात् सर्वज्ञ ही बुद्धागम को प्रमाण मान सकते हैं, कोइ भी असर्वज्ञ बौद्धागम को प्रमाण नहीं मान सकता।

ऐसे आगम की आवश्यकता जनसाधारण के लिए नहीं है ॥ १३६ ॥

रागादिरहिते चास्मिन् निर्व्यापारे व्यवस्थिते।
देशनान्यप्रणीतैव स्याद्दते प्रत्यवेक्षणात् ॥ १३७ ॥

इसी प्रसङ्ग में दूसरे दोष ये हैं—

(१) जो बुद्धागम के नाम से प्रसिद्ध हैं, वह बुद्ध की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि रचना के लिए प्रथमतः राग या द्वेष चाहिये। रचना किसी के अनुग्रह के लिए या किसी के निग्रह के लिए ही होती है। इसके लिए अनुग्राह्य के प्रति राग और निग्राह्य के प्रति द्वेष चाहिये। बुद्ध तो राग और द्वेष से रहित थे। अन्ततः उनके अनुयायियों की यही धारणा है। अतः कोई भी देशना या उपदेश बुद्ध की रचना नहीं हो सकती। अतः बुद्ध की 'देशना' या उपदेश जो बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है वह वास्तव में बुद्ध की नहीं है।

(२) (इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि वे परम कारुणिक थे, प्राणियों के दुःखों को देखकर वे द्रवित हो जाते थे। अतः करुणा से वशीभूत होकर ही (रागद्वेष से वशीभूत होकर नहीं) उन्होंने प्राणियों के हित के लिए और अहित की निवृत्ति के लिए उपयुक्त उपदेशों की रचना की है। वही 'उपदेश' 'देशना' के नाम से प्रसिद्ध हैं। महात्माओं के उपदेश करुणा से ही होते हैं, रागद्वेष से नहीं। अतः

बुद्ध में रागद्वेष के अभाव से रचना की अनुपपत्ति नहीं दी जा सकती। इसी के निराकरणार्थ श्लोक का **'निर्व्यापारे व्यवस्थिते'** यह वाक्य है।

कहने का तात्पर्य है कि उपदेश है 'शब्दप्रयोग' स्वरूप। शब्दप्रयोग के लिए यह विकल्पात्मकज्ञान आवश्यक है कि 'अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, एवं उसी शब्द की अभिव्यक्ति के उपयुक्त कण्ठ ताल्वादि स्थानों का व्यापार आन्तरिक और बाह्य प्रयत्नों के साथ करना पड़ता है। बुद्ध के सर्वविषयक ज्ञान को उनके अनुयायी प्रत्यक्षात्मक एवं निर्विकल्पक स्वरूप मानते हैं। ऐसा विकल्परहित ज्ञान कभी कण्ठ ताल्वादि के व्यापारों का प्रयोजक नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार व्यापारों से शून्य सर्वज्ञ पुरुष से उपदेश की रचना नहीं हो सकती। तस्मात् बुद्ध रचित कहकर जो देशनायें या उपदेश प्रचलित हैं, वे बुद्ध के नहीं हैं, किसी दूसरे पुरुष के हैं।

(३) बुद्ध की वे रचनायें नहीं हैं, इसमें तीसरा हेतु है 'प्रत्यवेक्षण का अभाव'। सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यवेक्षण कहते हैं। बुद्ध का समाधिजनित ज्ञान सविकल्पक नहीं है। किन्तु निर्विकल्पक है। रचना के लिए 'अमुक अर्थ का प्रतिपादन इष्ट है, इसके लिए यह उपयुक्त शब्द है अतः इसका प्रयोग करना चाहिए' इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान अपेक्षित हैं, अतः जितनी देशनायें बुद्ध के नाम से प्रचलित हैं वे वस्तुतः बुद्ध की नहीं हैं।

बौद्धों के आगम में बुद्धरचितत्व के अभाव के इस उपादान से 'बौद्धागमाः प्रमाणं बुद्धोक्तत्वात्' इस अनुमान में (देखिये श्लो० १२६) स्वरूपासिद्धि दोष समझना चाहिये। पक्ष में हेतु के अभाव से स्वरूपासिद्धि दोष होता है। उक्त अनुमान में पक्ष है बौद्धागम एवं हेतु है बुद्धोक्तत्व। बौद्धागम रूप पक्ष में बुद्धोक्तत्व हेतु के न रहने से उक्त स्वरूपासिद्धि दोष समझना चाहिये ॥ १३७ ॥

(१) सान्निध्यमात्रतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव।
निःसरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥ १३८ ॥
(२) एवमाद्युच्यमानं तु श्रद्धानस्य शोभते।
कुड्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः ॥ १३९ ॥
(३) किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः।
अदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः ॥ १४० ॥

(१) बुद्ध के कुछ श्रद्धालु शिष्यों का कहना है कि) उपदेश करने के लिए उन्हें किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। उनके विशिष्ट प्रभाव से विना किसी प्रयत्न के दिवाल प्रभृति जड़ वस्तुओं से भी अभीष्ट उपदेश वाक्य निकलते रहते हैं। जैसे कि चिन्तामणि के द्वारा पुरुष के अभिप्राय के अनुसार सभी अभीष्ट पदार्थ निकलते रहते हैं। अतः उनके द्वारा रचित न होने पर भी उनके प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। अतः वे अवश्य ही विश्वास के योग्य हैं।

(२) इस प्रकार की उक्तियाँ केवल बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखनेवालों के लिये ही शोभा देती है, हम लोगों के लिये नहीं। क्योंकि हम लोग वस्तुओं के स्वाभाविक

धर्मों का अतिक्रमण स्वीकार नहीं करते। घट कपालों से ही होगा तन्तुओं से नहीं। पट तन्तुओं से ही बनेगा कपालों से नहीं। इसी प्रकार शब्दरचनास्वरूप उपदेश चेतन पुरुष के द्वारा ही ज्ञानादि उपकरणों के रहते हुए ही उत्पन्न हो सकता है, कुड्यादि अचेतन पदार्थों से नहीं। यदि किसी प्रकार कुड्यादि से उपदेशों का निःसरण स्वीकार भी कर लें तथापि उस उपदेश के ऊपर हम लोगों की कोई आस्था नहीं हो सकती।

(३) इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि ये उपदेश बुद्ध के ही प्रभाव से उनके द्वारा या कुड्यादि अचेतन पदार्थों के द्वारा प्रसारित हुये हैं, अदृश्य पिशाचादि दुरात्माओं के द्वारा लोगों के ठगने के लिये नहीं।

तस्मात् बौद्धों का आगम विश्वास के योग्य नहीं है ॥ १३८–१४० ॥

एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥ १४१ ॥

बौद्धाभिमत सर्वज्ञता के खण्डन के बाद अब जैनभिमत सर्वज्ञता का खण्डन किया जाता है। क्षपणकों (जैनों) का कहना है कि सभी आत्माओं में अतीत अनागत और वर्तमान इन तीनों ही कालों के वस्तुओं को ग्रहण करने की स्वाभाविक शक्ति है। किन्तु धर्म और अधर्म इन दोनों से प्राप्त शरीर उनके आवरण हैं। विषयों को ग्रहण करने के लिये विशेष उपयोगी समझा जाने वाली इन्द्रियाँ भी शरीर के अवयवों की तरह आत्मा के आवरण प्रदेश ही हैं। वास्तव में विषयग्रहण की कोई विशेष अपेक्षा नहीं है। धर्म और अधर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा का शरीर रूप आवरण छूट जाता है। इस प्रकार आवरण के हट जाने पर 'केवल आत्मा' को त्रिकाल के सभी वस्तुओं का ज्ञान स्वाभाविक रूप से होता है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ केवल आत्मा' ही 'अर्हत्' पद को प्राप्त होती है। यह 'अर्हत्' सर्वज्ञ हैं।

इस प्रकार जैन समुदाय इन्द्रियादि प्रमाणों के साहाय्य के विना ही सूक्ष्म, दूरस्थ, विप्रकृष्ट एवं अतीत और भविष्यत् कालिक विषयों का भी ज्ञान जीव में आवरण भङ्ग होने पर मानते हैं ॥ १४१ ॥

नर्ते तदागमात् सिध्येन्न च तेनागमो विना ।
दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते ॥ १४२ ॥

नर्ते तदागमात्……तेनागमो विना

किन्तु उक्त कथन असंगत है, क्योंकि धर्म और अधर्म के आवरण से शून्य पुरुष वस्तुतः 'मुक्त' पुरुष ही हैं। मुक्त पुरुष की सिद्धि केवल शब्द प्रमाण से ही हो सकती है। वह शब्द प्रमाण यदि वेद स्वरूप मानते हैं तो मुक्तावस्था के पुरुष का वेदों में जो वर्णन है तदनुसार मुक्त वस्था के पुरुषों के लिये विषयों की सत्ता ही नहीं है। अतः उस समय का उनका ज्ञान किसी विषय का नहीं हो सकता। फिर उस ज्ञान का सर्वविषयक होना तो दूर की बात होगी। अतः वेद स्वरूप शब्द प्रमाण से सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि नहीं की जा सकती।

यदि सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि के लिये 'अर्हत्' के रचित आगम को प्रमाण के रूप में लेते हैं तो फिर अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है, क्योंकि वे लोग जैनागम को प्रमाण इस लिये मानते हैं कि 'अर्हत्' स्वरूप सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा उसका निर्माण हुआ है। एवं उसी शब्द से 'अर्हत्' स्वरूप पुरुष की सिद्धि करना चाहते हैं। इस परस्पराश्रय रूप दोष से दोनों असिद्ध हो जायेंगे। तस्मात् यह पक्ष असंगत है।

दृष्टान्तोऽपि""""कश्चित्प्रवर्तते

(इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करेंगे। एवं इस प्रकार से सिद्ध 'अर्हत्' स्वरूप सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा रचित आगम (जैनागम) सर्वथा प्रमाण होगा। इस कल्पना में कथित अन्योन्याश्रय दोष की संभावना भी नहीं है। किन्तु यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि) अनुमान के लिये दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। कथित 'अर्हत्' का दृष्टान्त सांसारिक पुरुषों में मिलना दुर्लभ है। अतः अनुमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ १४२ ॥

नित्यागमावबोधोऽपि प्रत्याख्येयोऽनया दिशा।
न हि तत्रापि विस्रम्भो दृष्टोऽनेन कृतोऽथ वा ॥ १४३ ॥

इतने तक के सन्दर्भ से जो सम्प्रदाय किसी विशेष पुरुष में असाधारण ज्ञान-रूपा शक्ति को स्वीकार करके उनके ऊपर अति विश्वास और उनके द्वारा रचित आगम को प्रमाण मानते हैं, उन लोगों के मतों का खण्डन किया गया है।

किन्तु वेदों को प्रमाण मानने वालों में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो वेदस्वरूप आगम को मीमांसकों के समान ही नित्य तो मानते हैं किन्तु सृष्टि की आदि में उनकी प्रथम अभिव्यक्ति किसी महापुरुष के आर्षज्ञान से मानते हैं। किन्तु उनका मत भी युक्त नहीं है। सर्वज्ञ पुरुष के निराकरण के लिये कथित युक्तियों से ही इस पक्ष का भी खण्डन करना चाहिये।

इस मत के खण्डन में पूर्व कथित युक्तियों से अतिरिक्त एक यह भी युक्ति है कि इसके मानने से भी यह सन्देह रह जाता है कि उस महापुरुष ने अपनी दिव्य-दृष्टि से पूर्व से विद्यमान नित्यवेद को केवल जाना था या पूर्व से सर्वथा अज्ञात वेद को अपनी अपूर्व शक्ति से निर्माण किया ?

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इस श्लोक के द्वारा आचार्य ने किस मत का खण्डन किया है। वेदों के नित्यत्व का खण्डन तो वे कर नहीं सकते, क्योंकि वेदों का नित्यत्व उन्हें परम अभीष्ट है। उक्त मत के पोषण करने वाले भी वेदों को नित्य मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि वे लोग परम पुण्यात्मा किसी ज्ञानी महर्षि के द्वारा सृष्टि की आदि में इस वेद की अभिव्यक्ति मानते हैं। तो इसमें खण्डनीय क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिये इस विकल्प के ऊपर ध्यान देना चाहिये कि उक्त महापुरुष का वह वेदप्रतिभास ग्रहण (अनुभव) रूप है ? अथवा स्मरणस्वरूप है ?

यदि ग्रहणस्वरूप है तो फिर यह भी निश्चित होना चाहिये कि वह ग्रहणस्वरूप ज्ञान प्रमा है ? अथवा अप्रमा ? उस प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़कर और किसी प्रमाण से प्रमाज्ञान स्वरूप कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। एवं उस प्रथम ज्ञान से पहलें उस वेद का कोई उच्चारण करने वाला पुरुष नहीं था। अनुच्चारित शब्द साधारणतः इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। इस स्थिति में महापुरुष का उक्त प्रमा रूप ग्रहणात्मक ज्ञान अतीन्द्रियविषयक एवं प्रत्यक्षात्मक ही होगा। इससे यह स्वीकार करना होगा कि कोई पुरुष ऐसा भी हो सकता है जो अतीन्द्रिय अर्थों को भी देख सकता है। अतः धर्म और अधर्म स्वरूप अतीन्द्रिय अर्थों को भी वह देख सकता है। फिर 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' यह महर्षि जैमिनि का अवधारण व्यर्थ हो जाता है। अतः जैमिनि मत के अनुयायियों को इस मत का खण्डन करना भी आवश्यक है। इस श्लोक के द्वारा उक्त महापुरुष के ग्रहण स्वरूप ज्ञान का खण्डन किया गया है। उनके स्मरण रूप ज्ञान का खण्डन श्लोक १४५ के उत्तरार्द्ध से किया जायगा ॥ १४३ ॥

सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः ।
यथाद्यत्वे न विश्रम्भस्तथातीतार्थकीर्त्तने ॥ १४४ ॥

कहा जा सकता है कि अनुच्चरित शब्द के ग्रहण में पुरुष की सत्ता का अनुमान दृष्टान्त के अभाव से भले ही संभव न हो किन्तु उस आदि पुरुष हिरण्य-गर्भ का वाक्य ही उसमें प्रमाण होगा ? किन्तु यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वर्त्तमान काल में देखा जाता है। कि अधिकतर मनुष्य झूठ ही बोलते हैं, उसी प्रकार यह भी समझा जा सकता है कि अतीत काल के पुरुषों में झूठ बोलने की अन्ततः संभावना है ही। किसी भी पुरुष के वाक्य को निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः हिरण्यगर्भ के वाक्य से भी सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ १४४ ॥

स्वप्नादिज्ञानवच्चापि प्रत्ययोऽस्यागमार्थयोः ।
भवेदिति सशङ्कानां प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ १४५ ॥

उक्त पुरुष के सृष्टि की आदि में जो वह आकस्मिक ज्ञान होगा उसमें शङ्का-शील व्यक्तियों को अप्रामाण्य की शङ्का बराबर बनी ही रहेगी, अतः उस ज्ञान के ऊपर उसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता जिस प्रकार स्वाप्नादि ज्ञानों के ऊपर विश्वास नहीं किया जाता। अतः हिरण्यगर्भ के उक्त प्रातिभज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि बौद्धादि सम्प्रदाय के लोग अपने आगम के रचयिता पुरुषों में (बुद्ध या अर्हत् में) जो आगम रचना के अनुकूल ज्ञान मानते हैं वह ज्ञान 'अर्थ' विषयक है। हिरण्यगर्भ पुरुष से वेदों की प्रथम अभिव्यक्ति को मानने वाले वेदान्ती लोग सृष्टि के आदि में जो ज्ञान मानते हैं वह 'आगम' अर्थात् वेदविषयक है। तदनुसार प्रकृत में यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार बुद्ध या अर्हत् का अर्थविषयक ज्ञान अप्रामाण्यशङ्का-कवलित है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ

को सृष्टि के आदि में जो वेदप्रतिभास स्वरूप शब्दविषयक होता है वह भी अप्रामाण्य की शङ्का से दुष्ट ही है ॥ १४५ ॥

पुरुषातिशयश्चेष्टः सैव चागमनित्यता ।

(१४४ वें श्लोक में जिस मत का उपपादन किया गया है उसी में दूसरे दोष का उद्भावन इस श्लोक से हुआ है) ।

जो कोई वेदों को नित्य मानकर भी ।सृष्टि के आदि में उसके प्रथम ज्ञाता सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना करते हैं वे उस पुरुष में अनन्यसाधारण ज्ञानशक्ति को स्वीकार कर लेते हैं जिसके द्वारा अनुच्चारित शब्द स्वरूप वेदों का ज्ञान उन्हें हो सके । इसके अतिरिक्त वे लोग वेदों की नित्यता को भी स्वीकार करते हैं ।

इससे तो बौद्धादि ही अच्छे हैं, क्योंकि वे बुद्धादि पुरुषविशेष के ऊपर अति-विश्वासके कारण ही उनकी रचना को प्रमाण मानते हैं । उन लोगों को अपने आगम के प्रामाण्य के लिये साधारणजन की कल्पना से बहिर्भूत आगम की नित्यता को स्वीकार नहीं करना पड़ता है ।

इस प्रकार पुरुषविशेष में अनन्यसाधारण शक्ति स्वरूप अतिशय की कल्पना एवं आगम की नित्यता की कल्पना दोनों वेदप्रामाण्य स्वरूप एक ही प्रयोजन की सम्पादिका हैं । इससे पुरुष में अनन्यसाधारण शक्ति मात्र की कल्पना से प्रसूत बौद्धादि मत ही श्रेष्ठ मालूम पड़ते हैं ॥ १४६ क-ख ॥

कल्पितं स्मरणं चास्य जन्मान्तरनिबन्धनम् ॥ १४६ ॥

अभी तक सर्वज्ञ पुरुष के सृष्टि के आदिकालिक वेदविषयक ज्ञान को 'ग्रहण' स्वरूप मानकर इस दृष्टि से खण्डन किया गया है कि उक्त ग्रहणात्मक ज्ञान संभव नहीं है । इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि उक्त ज्ञान ग्रहण स्वरूप भले ही न हो 'स्मरण' स्वरूप तो हो सकता है, क्योंकि ग्रहणात्मक ज्ञान का खण्डन इस युक्ति से किया गया है कि वह 'ग्रहण' स्वरूपज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होगा, क्योंकि वर्तमान-कालिक वस्तु ही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय हो सकता है । सृष्टि के आदिकाल से अव्यवहित पूर्वक्षण में ग्राह्य शब्दों की सत्ता संभव नहीं है, क्योंकि उस समय उसका उच्चारयिता पुरुष नहीं है । किन्तु स्मरण में तो यह बात नहीं है । स्मरण तो भूत-कालिक वस्तुओं का भी हो सकता है । अतः सृष्टि के आदिकाल में वेदों का स्मृति-स्वरूप ज्ञान संभव नहीं है ।

किन्तु स्मरण रूप ज्ञानवाला पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त महापुरुष में उस समय स्मृति स्वरूप ज्ञान की 'कल्पना' कोरी कल्पना ही है, वास्तव नहीं, क्योंकि उस समय स्मरणात्मक ज्ञान के कारणों का संबलन संभव नहीं है । सृष्टि के आदि में जो स्मरणात्मक ज्ञान होगा उसके कारणीभूत पूर्वानुभव की सत्ता प्रलय काल से पहिले काल में माननी होगी । प्रलयकाल की अवधि दो परार्द्ध वर्षों तक की है । इतने काल के बाद कोई भी पुरुष इतने बड़े वेद का बिना कुछ व्यत्यास के कैसे

स्मरण रख सकता है ? अतः कथित रीति से वेदों का स्मरणात्मक ज्ञान भी सृष्टि के आदि में संभव नहीं है ॥ १४६ ॥

ग्राह्यत्वे चागमस्यैवं द्वेषोऽर्थग्रहणे वृथा ।
यो ह्यनुच्चारितं शब्दं गृह्णात्यर्थेऽस्य का कथा ॥ १४७ ॥

सृष्टि के आदि में जो आस्तिकम्मन्य हिरण्यगर्भ में अनुच्चारित शब्द स्वरूप वेदों का प्रत्यक्ष-स्वरूप ग्रहणात्मक ज्ञान मानते हैं उनके लिए बुद्ध के सूक्ष्म अतीतादि सर्वार्थविषयक ज्ञान के प्रसङ्ग में द्वेष रखना वृथा है, क्योंकि इस प्रसङ्ग में बौद्ध और वेदान्ती दोनों समान हैं।

योऽह्यनुच्चारितं शब्दम् ''''''का कथा

वेदान्ती लोग कह सकते हैं कि वेद शब्द स्वरूप है । शब्द का इन्द्रिय से ग्रहण होता है । अतः शब्द अतीन्द्रिय नहीं है । धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय नहीं हैं । अतः बुद्ध का सर्वविषयक ज्ञान अतीन्द्रियविषयक होने के कारण अयुक्त है । हिरण्यगर्भ का वेदविषयक ज्ञान इन्द्रियग्राह्यविषयक होने के कारण स्वाभाविक है । अतः दोनों में समता नहीं है । किन्तु वेदान्तियों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उच्चारित अथवा अभिव्यक्त शब्द ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत हो सकता है। अनुच्चरित या अनभिव्यक्त शब्द धर्माधर्मादि के समान ही अतीन्द्रिय है । अतः हिरण्यगर्भ का भी वेदविषयक ज्ञान वस्तुतः अतीन्द्रियविषयक ही है, क्योंकि अनुच्चारित शब्द स्वरूप अतीन्द्रियविषयक है । अतः हिरण्यगर्भ में अनुच्चारित शब्द के ग्रहण करने के कारण बुद्ध के सादृश्य की उक्त आपत्ति ठीक ही दी गयी है ॥ १४७ ॥

पुमांस्तावत् स्वतन्त्रः स्यादर्थग्रहणवादिनाम् ।
आगमप्रतिभाने तु पारतन्त्र्यं द्वयोरपि ॥ १४८ ॥

वेदान्तियों का उक्त मत बौद्धों के समान भी नहीं है, किन्तु उन नास्तिकों के मत से भी गया बीता है, क्योंकि बौद्धों के मत में बुद्ध स्वतन्त्र हैं। उनके ऊपर अतिविश्वास के कारण ही उनके सर्वार्थविषयक ज्ञान को प्रमात्मक मानकर उनके रचित आगमों को प्रमाण मानते हैं ।

वेदान्तियों के मत से हिरण्यगर्भ अपने अर्थविषयक निश्चय में वेदपरतन्त्र हैं एवं वेद भी अपनी सत्ता के लिये हिरण्यगर्भ की अपेक्षा रखते हैं । इस प्रकार वेद और हिरण्यगर्भ दोनों ही वेदान्तियों के मत में परस्पर परतन्त्र है । अतः वेदान्तियों का उक्त मत बौद्धों के मत से भी अधिक अयुक्त है ।

इस वस्तुगति के अनुसार श्लोक का अक्षरार्थ यह है कि अर्थग्रहणवादी (जिस मत में बुद्ध को सभी अर्थों के प्रमाज्ञान से युक्त माना जाता है) के मत में पुरुष (बुद्ध) स्वतन्त्र हैं । किन्तु 'आगमप्रतिभान' वाले पक्ष में (जिसमें वेदान्तियों की सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ में वेदों का प्रतिभान माना गया है) वेद और पुरुष दोनों का पारतन्त्र्य स्वीकार करना पड़ता है ॥ १४८ ॥

अनेकपुरुषस्थत्वादेकत्रैव च जन्मनि।

ग्रहणस्मरणाद् वेदे न स्वातन्त्र्यं विहन्यते॥ १४९॥

(पू० प०) आगम में पुरुष का पारतन्त्र्य तो मीमांसक लोग भी मानते हैं, क्योंकि उनके मत में भी उत्तरवर्त्ती पुरुष में पूर्ववर्त्तिपुरुष के अधीन ही वेदों के स्वरूप का अवधारण होता है। क्योंकि मीमांसक गण गुरु-शिष्य परम्परा की अविछिन्न धारा से वेदों का ज्ञान मानते हैं। इस प्रकार मीमांसकमत में भी वेद में पुरुष का पारतन्त्र्य है ही। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

अनेकपुरुषस्थत्वात्

गुरुशिष्य की परम्परा में अनेक गुरु और अनेक शिष्य होते हैं। अतः मीमांसकों के मत से वेदों का ज्ञान अनेक पुरुषों में हैं, किसी एक ही पुरुष में नहीं। एक पुरुष की परतन्त्रता ही प्रामाण्य का विघातक है, क्योंकि एक पुरुष के पारतन्त्र्य में अनेक संशयों का अवसर रहता है। क्या यह पुरुष पहिले से विद्यमान वेदों का ही ज्ञाता है? अथवा इस पुरुष ने अपने मन से ही इसका निर्माण किया है? इस प्रकार एक पुरुष की परतन्त्रता में ही दोष है, अनेक पुरुषों की परतन्त्रता में नहीं, क्योंकि वेदों के अनेक ज्ञाताओं की सत्ता रहने के कारण अगर कोई ज्ञाता अपने मन से कुछ घटाना या बढ़ाना चाहे तो तत्काल ही उसे दूसरे वेदज्ञाता के विरोध का सामना करना पड़ेगा। अतः मीमांसकों के मत में कोई दोष नहीं है।

एकत्रैव च······विहन्यते

वेदान्तियों के कथन के अनुसार वेदों में पारतन्त्र्य हिरण्यगर्भ के वेदस्मरण से होता है। हिरण्यगर्भ का यह वेदस्मरण दूसरे जन्म में अनुभूत वेदों का ही हो सकता है। इस प्रसङ्ग में यह संशय उपस्थित होगा कि इतने वर्षों के पूर्व अनुभूत वेदों का यथायथभाव से उसी आनुपूर्वी में स्मरण दुर्लभ है। संभव है कि इस पुरुष ने कुछ अपनी रचना भी उसमें जोड़ दी हो। हम लोगों को ठगने के लिये अपनी उस रचना को भी वेद कहकर प्रचार करता हो। इन शङ्काओं से वशीभूत होकर जन-साधारण वेदों के प्रामाण्य के प्रसङ्ग में शङ्काशील हो जायेंगे। हम लोगों (मीमांसकों) के मत में यह दोष नहीं है, क्योंकि हम वेदों का ग्रहण और स्मरण दोनों ही एक ही जन्म में मानते हैं। एक जन्म में अनुभूत विषयों का उसी जन्म में उसी अनुभव के अनुकूल आपेक्षिक विषयों में सर्वजन सिद्ध है। अतः इस युक्ति से भी मीमांसकों के मत में वेदों में पारतन्त्र्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती॥ १४९॥

अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्।

एकस्य प्रतिभानं तु कृतकान्न विशिष्यते॥ १५०॥

वेदों के अनेक ज्ञाताओं का स्वीकार करने से क्या लाभ है? एवं एक ज्ञाता का स्वीकार करने से क्या हानि है? इन दोनों प्रश्नों के समाधान में यह कहना है कि वेदों का कोई एक ज्ञाता यदि वेदों के स्वरूप को बिगाड़ना भी चाहे तो बहुत से अन्य ज्ञाताओं से उसका सुधार हो सकता है। अगर एक ही पुरुष में उसका 'प्रतिभान'

भी मान लेते हैं तो उस एक व्यक्ति की रचना से वेदों के 'प्रतिभान' (सृष्टि के आदि कालिक प्रथम प्रकाश) में कोई अन्तर नहीं आता है। अर्थात् वह एक व्यक्ति जिस रूप में वेद को प्रकाशित करेंगे वेद का वही स्वरूप जगत् को मान्य होगा। इस प्रकार पुरुष सुलभ भ्रान्ति और विप्रलिप्सा से वशीभूत होकर वह पुरुष वेद को बिगाड़कर लोगों को ठगना चाहे तो उसका कुछ भी प्रतीकार नहीं बचता है ॥१५०॥

अतश्च सम्प्रदाये च नैकः पुरुष इष्यते।
बहवः परतन्त्राः स्युः सर्वे ह्यद्यत्ववन्नराः ॥ १५१ ॥

अतः हम (मीमांसक) लोग ऐसा मानते हैं कि 'सम्प्रदाय' में अर्थात् पुराकाल में वेदों का कोई एक कर्त्ता अथवा वेदसम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नहीं था। वर्त्तमान समय के समान ही उन समयों में भी वेदों के बहुत से परतन्त्र (अध्यापक के द्वारा ज्ञानप्राप्त) ज्ञाता ही थे, वेदों का कोई एक कर्त्ता एक प्रवर्त्तक ज्ञाता नहीं था ॥ १५१ ॥

एवं च कल्पयन्त्यन्ये यावदागमसिद्धये।
तावन्न कल्पयत्येतत् समत्वं जैमिनेः परैः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता में प्रमाणों का अभाव एवं विरुद्ध प्रमाणों की सत्ता दोनों का ही उपपादन किया गया है जिससे लौकायतिकों द्वारा बौद्धों की सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना एवं मीमांसकों की वेदापौरुषेयत्व की कल्पना दोनों में साम्य की आपत्ति का परिहार इस हास्योक्ति के द्वारा की जा सकती है।

बौद्धागम की प्रामाण्य की सिद्धि के लिये बौद्ध लोग जितनी कल्पनाओं का अवलम्बन करते हैं, जैमिनि ऋषि के अनुयायी लोग वेदस्वरूप अपने आगम के प्रामाण्य के लिये उतनी ही कल्पनाओं का अवलम्बन करते हैं—क्या यही दोनों में समानता है ? अर्थात् दोनों में कुछ भी साम्य नहीं है ॥ १५२ ॥

न हि दृष्टाधिकं किञ्चित् प्रामाण्ये तेन कल्प्यते।
अप्रामाण्यनिमित्तेषु परस्यादृष्टकल्पना ॥ १५३ ॥
दृष्टप्रामाण्यबाधश्च नास्तिकस्य प्रसज्यते।
उत्पन्ने सति विज्ञाने बलाद् बाधप्रकल्पना ॥ १५४ ॥

इस से पूर्व श्लो० १५२ के द्वारा उपहासपूर्वक बौद्ध और मीमांसकों के मतों में जिस अन्तर की ओर संकेत किया गया है उसका स्पष्ट स्वरूप यह है—

जैमिनि का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार आज वेदों का प्रचार है उसी प्रकार इससे पहिले भी था। यह सिद्धान्त 'दृष्टानुसारी' है। आज कल के वेद के व्यवहार को देखकर तदनुसार ही भूतकाल में भी वेदव्यवहार की कल्पना की गयी है। इस सिद्धान्त के लिये वर्त्तमान सार्वजनिक प्रत्यक्ष को छोड़ कर साधारण जनों की दृष्टि से बहिर्भूत किसी अलौकिक अर्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती है जैसे कि बौद्धों को बुद्ध में सर्वजनातिशायि सर्वज्ञत्वादि गुणों की कल्पना करनी पड़ती है। वेदों में जो निर्णीत प्रामाण्य है उसका परित्याग करना पड़ता है। वेदों में अप्रामाण्य साधन

के लिये अदृष्ट दोषों की कल्पना भी उन्हें करनी पड़ती है, क्योंकि शब्दज्ञान में रहने वाले अप्रामाण्य के लिये कारणीभूत दोष हैं पुरुषगत भ्रम प्रमादादि, किन्तु अपौरुषेय शब्द जनित ज्ञान में इन दोषों से अप्रामाण्य की संभावना नहीं है। अतः वेदों में अप्रामाण्य के लिये बौद्धों को उक्त दोषों से भिन्न विलक्षण प्रकार के दोषों की कल्पना भी करनी पड़ती है।

इस प्रकार मीमांसक और बौद्ध दोनों की कल्पनाओं में अन्तर स्पष्ट है। मीमांसकों को अपने मत की पुष्टि के लिये किसी अलौकिक वस्तु की कल्पना आवश्यक नहीं होती है। किन्तु बौद्धों को अपने आगम के प्रामाण्य के लिये अलौकिक सर्वज्ञत्वादि की कल्पना तो करनी ही पड़ती है, उन्हें इसके अतिरिक्त वेद प्रामाण्य रूप दृष्ट कल्पना का विरोध और वेदों में अप्रामाण्य के प्रयोजक उपयुक्त दोष स्वरूप अदृष्ट वस्तु की कल्पना दोनों ही करनी पड़ती है। इस प्रकार बौद्धों और मीमांसकों की कल्पनाओं में अन्तर स्पष्ट है ॥ १५३-१५४ ॥

साधिते पुरुषाभावे निर्दोषज्ञानजन्मनः।
प्रत्यक्षान्नास्तिकैर्वाच्यो विशेषश्चोदनाधियः ॥ १५५ ॥

बौद्धों ने मीमांसकों के ऊपर आक्षेप किया था कि मीमांसक गण ऐसी शब्दराशि को (वेद को) प्रमाण मानते हैं, जिसके अर्थ की सिद्धि न उनके इन्द्रियों से हो सकती है, न अन्य किसी पुरुष के इन्द्रियों से हो सकती है। बौद्धों के इस आक्षेप का समाधान मीमांसक इस प्रकार देते हैं—

आगे (अ० १ पा० १ अधि० ८) महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्रों से वेदों में अपौरुषेयत्व की सिद्धि की है। यह सिद्ध हो जाने पर वेदात्मक शब्द स्वरूप प्रमाण अपौरुषेय होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही स्वतन्त्र रूप से निर्दुष्ट ठहरते हैं, क्योंकि शब्दों के प्रमाणत्व के विघातक हैं उनके रचयिता पुरुष की भ्रान्ति, प्रमाद, विप्रलप्सा प्रभृति दोष। अपौरुषेय वेदों में अप्रामाण्य के विघातक इन दोषों से कोई आँच नहीं आ सकती। इस प्रकार निर्दुष्ट कारण स्वरूप 'चोदना' (वैदिक विधायक वाक्य) से जो बोध होगा उसमें और प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न बोध में प्रामाण्य के प्रसङ्ग में कोई अन्तर नहीं होगा। दोनों ही समान रूप से स्वतन्त्र प्रमाण होंगे।

अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमिति की सत्यता के लिये उसके विषय की किसी दूसरे प्रमाण से सिद्धि अपेक्षित नहीं होती है, उसी प्रकार अपौरुषेय शब्द से उत्पन्न ज्ञान के प्रमात्व (प्रामाण्य) के लिये उसके विषयों की किसी अन्य प्रमाण से सिद्धि आवश्यक नहीं है। यदि अपौरुषेय शब्द स्वरूप प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण इन दोनों में कोई अन्तर हो तो बौद्धों को उसका उपपादन करना चाहिये। अतः वेदों के प्रामाण्य के ऊपर यह आक्षेप व्यर्थ है ॥ १५५ ॥

उपदेशोऽन्यथा न स्यादतीन्द्रियनिबन्धनः।
तस्य कर्त्रा न वेद दृष्टः सोऽर्थ इत्यर्थकल्पना ॥ १५६ ॥

इतने तक के ग्रन्थों से 'अशक्यं हि तज् ज्ञातुमृते वचनात्' (शाबरभाष्य पृ० १५ पं० ७) पर्यन्त के भाष्यग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। अब निम्न-लिखित भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या आरम्भ होती है—

'नन्वविदुषामुपदेशो न कल्पते, उपदिष्टवन्तश्च मन्वादयः। तस्मात् गुरुषाः सन्तो विदितवन्तश्च। यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यते इति दर्शनादेवावगतमिति' (शाबर भाष्य पृ० १६ पं० ३)

गत सन्दर्भ में अनेक युक्तियों से सर्वज्ञ पुरुष की असंभावना दिखलायी गयी है। बौद्ध गण अर्थापत्ति एवं अनुमान के द्वारा भी सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि करना चाहते हैं। बौद्धों की इसी दृष्टि का उपपादन 'नन्वविदुषाम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से किया गया है। अतः यह भाष्यसन्दर्भ 'पूर्वपक्ष' स्वरूप है।

इस भाष्यसन्दर्भ का अक्षरार्थ यह है कि जो जिस विषय का विद्वान् नहीं होता वह उस विषयका उपदेश नहीं कर सकता। आप (आस्तिगण) मनु प्रभृति ऋषियों के धर्माधर्म के उपदेष्टा होने के नाते ही उन्हें धर्माधर्म का ज्ञाता मानते हैं। जिस प्रकार रूप की उपलब्धि स्वरूप कार्य से चक्षु का अनुमान होता है उसी प्रकार उपदेशकर्तृत्व से विद्वत्ता का भी अनुमान होगा।

बौद्धों का अभिप्राय है—ये मीमांसक मन्वादि ऋषियों के स्मृति ग्रन्थों की सत्यता को स्वीकार करते हैं अतः मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों के द्वारा ही मैं इनसे अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञाता स्वरूप पुरुष की सत्ता स्वीकार करा लूं। इससे बुद्ध में भी आगम के विषयीभूत अतिन्द्रिय अर्थों का द्रष्टृत्व मीमांसकों को भी अगत्या मानना होगा।

कुछ लोग 'नन्वविदुषाम्' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य को अर्थापत्ति प्रमाण का प्रदर्शक मानते हैं। तदनुसार बौद्धगण अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा पुरुष की सिद्धि चाहते हैं। तदनुसार इस श्लोक का अर्थ निम्न क्रम से जानना चाहिये—

यदि कोई अतीन्द्रिय अर्थों को जानने वाला पुरुष न हो तो अतीन्द्रिय अर्थों के जो उपदेश मन्वादि स्मृति ग्रन्थों में किये गये हैं वे उत्पन्न नहीं होंगे। किन्तु हमलोग (बौद्धगण) बुद्ध को और आप लोग मन्वादि ऋषियों को अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा मानते हैं। इससे सिद्ध होता है अतीन्द्रिय अर्थों के द्रष्टा पुरुष अवश्य ही हैं।

कहने का अभिप्राय है कि जिस प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यादि स्थलों में दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की स्थूलता रात्रिभोजन के बिना अनुपपन्न होकर देवदत्त के रात्रिभोजन स्वरूप 'अर्थ' की 'आपत्ति' अर्थात् कल्पना करती है, उसी प्रकार मनु बुद्धादि के अतीन्द्रियविषयक उपदेश ही उनके अतीन्द्रिय-विषयक ज्ञान के बिना अनुपपन्न होकर उनमें अतीन्द्रिय अर्थविषयक ज्ञान की कल्पना में अग्रसर होते हैं। अतः मीमांसकों को भी मानना होगा कि बुद्ध अतीन्द्रिय अर्थों के द्रष्टा थे। 'अन्यथा' उनके माने हुये मन्वादि ऋषियों के उपदेश भी अनुपपन्न हो जायंगे॥ १५६॥

यद्वानुमानमेवेदमुपदेशित्वमुच्यते ।
दृष्टार्थपूर्वताव्याप्तम् व्यतिरेकोऽस्य नन्विति ॥ १५७ ॥

यह 'उपदेशित्व' अनुमान ही है, अर्थात् अनुमिति का साधक हेतु ही है। इस उपदेशित्व हेतु में 'दृष्टपूर्वार्थता' की व्याप्तिस्वरूप बल भी है। इसी (व्यतिरेक) व्याप्ति की सूचना 'नन्वविदुषामुपदेशः' इत्यादि भाष्य से दी गई है।

किसी का कहना है कि 'नन्वविदुषामुपदेशः'······'दर्शनादेवावगतमिति' पूर्व-पक्ष भाष्य अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले पुरुष के साधक अनुमान प्रमाण का प्रदर्शक हैं। तदनुसार यह कल्पना सुलभ है कि अष्टका अथवा चैत्यवन्दनादि के उपदेश देने वाले मनु या बुद्ध को उन अतीन्द्रिय विषयों का भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अवश्य था, क्योंकि वैद्यादि उपदेष्टाओं में देखा जाता है कि उपदेश्य विषयों का ज्ञान उन्हें अवश्य रहता है। इससे यह अनुमान प्रयोग सुलभ हो जाता है कि 'अष्टकाचैत्यवन्दनादि-विषयकाः उपदेशाः तद्विषयकज्ञानविशिष्टपुरुषपूर्वकाः उपदेशत्वात् वैद्योपदेशवत्'।

व्यतिरेकोऽस्य नन्विति

भाष्य की उक्त व्याख्या में यह त्रुटि दिखलायी जा सकती है कि 'नन्वविदुषाम्' इत्यादि भाष्य में तो इतना ही कहा गया है कि तद्विषय ज्ञान से रहित व्यक्ति तद्वि-षयक उपदेश नहीं कर सकता। उक्त भाष्य ग्रन्थ से उक्त उपदेशित्व हेतु में 'विद्वत्ता' अर्थात् तद्विषयक पाण्डित्य की व्याप्ति नहीं कही गयी है। अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का अभिप्रेतार्थ नहीं हो सकता। इसी सम्भावित त्रुटि के मार्जन के लिये 'व्यतिरेको-ऽस्य नन्विति' यह श्लोक का अंश लिखा गया है।

अर्थात् उक्त भाष्यसन्दर्भ से यद्यपि उक्त अनुमान की अन्वयव्याप्ति का प्रदर्शन नहीं हुआ है किन्तु उपदेशित्व हेतु और विद्वत्ता की व्यतिरेकव्याप्ति प्रदर्शित हुई है। 'जो जिस विषय का विद्वान् नहीं है, वह उस विषय का उपदेश नहीं कर सकता' इस उक्ति का फलितार्थ यह है कि तद्विषयक उपदेश के लिये उपदेष्टा पुरुष में तद्विषयक ज्ञान अवश्य चाहिये। व्यतिरेकव्याप्ति से अन्वयव्यतिरेकी हेतु में अन्वयव्याप्ति का उद्भावन होता है। एवं केवलव्यतिरेकी हेतु के द्वारा केवल व्यतिरेकव्याप्ति के सहारे भी काम होता है।

प्रकृत उपदेशित्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। इस हेतु में विद्वत्तारूप साध्य की अन्वयव्याप्ति एवं अन्वयदृष्टान्त दोनों सम्भावित हैं। उक्त व्यतिरेकव्याप्ति के प्रदर्शन के द्वारा उक्त भाष्य से भी उक्त अन्वयव्याप्ति ही अभिप्रेत है। अतः उक्त भाष्य-सन्दर्भ को अन्वयव्यतिरेकिहेतुक उक्त अनुमान का प्रदर्शक माना जा सकता है ॥१५७॥

अन्यथाप्युपपन्नत्वं व्यामोहादिति कथ्यते ।
लिङ्गस्य व्यभिचारो वा बालवाक्यनिदर्शनात् ॥ १५८ ॥

'नन्वविदुषाम्' इत्यादि पूर्वपक्षभाष्य का निराकरण निम्नलिखित सन्दर्भ से भाष्यकार ने किया है—

'उच्यते उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति, असति व्यामोहे वेदादपि भवन्ति। अपि च पौरुषेयाद्वचनात् 'एवमयं पुरुषो वेदेति' भवति प्रत्ययो नैवमयमर्थ इति।' (शाबरभाष्य)

अर्थात् उपदेश व्यामोह (तद्विषक भ्रान्ति) से भी होते हैं। व्यामोह के न रहने से वेद से भी होते हैं। और भी बात है कि पुरुष की उक्ति से केवल इतना ही प्रतिपन्न होता है कि 'यह पुरुष इस विषय को इस प्रकार से जानता है'। उक्त पुरुषोक्ति से यह प्रतिपन्न नहीं होता कि 'यह अर्थ इस प्रकार का है।'

उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति इस भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है—

(१) उक्त भाष्यसन्दर्भ के द्वारा कथित 'अर्थापत्ति' की विरोधी 'अन्यथोपपत्ति' की सूचना दी गई है जिससे बुद्ध में अतीन्द्रियार्थदर्शन की कल्पना का जनक कथित अर्थापत्ति दूषित हो जाती है।

(२) अथवा उक्त सिद्धान्तभाष्य के द्वारा पूर्वभाष्य से जो बुद्ध में अतीन्द्रियार्थदर्शन का अनुमान प्रदर्शित हुआ है उस अनुमान में व्यभिचार दोष का उद्भावन ही बालकवाक्य के दृष्टान्त से किया गया है।

अन्यथाऽप्युपपन्नत्वम्··· ···कथ्यते

'उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति' का तात्पर्य है कि जब 'व्यामोह' अर्थात् अयथार्थज्ञान से युक्त पुरुष को भी उपदेश करते हुये देखा जाता है तब यह कहना ठीक नहीं है कि तद्विषयक यथार्थ ज्ञान के न रहने पर कोई पुरुष उस विषय का उपदेश नहीं कर सकता। अर्थापत्ति में भी उपपाद्य में उपपादक की व्याप्ति का रहना आवश्यक है। प्रकृत में उपपादक है उपदेश एवं उपपाद्य' है 'विद्वत्ता', अर्थात् उपदेश्य विषयक यथार्थ ज्ञान का रहना। यह कहा जा चुका है कि विद्वत्ता के विना भी उपदेश उपपन्न हो सकता है। फलतः उपदेश में विद्वत्ता की व्याप्ति नहीं है। अतः उपदेश से विद्वत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि बिना विद्वत्ता के भी उपदेश हो सकता है। यही है उक्त अर्थापत्ति का बाधक अर्थोपपत्ति।

लिङ्गस्य व्यभिचारो वा

अथवा 'नन्वविदुषाम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को उपदेशित्व हेतु से विद्वत्ता के अनुमान का प्रदर्शक मानने के विरुद्ध 'उपदेशा हि' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने उक्त अनुमान में व्यभिचार दोष का उद्भावन किया है।

उक्त अनुमान में हेतु है उपदेशित्व और साध्य है 'उपदेश्यविषयकयथार्थज्ञानविशिष्टपुरुषनिर्मितत्व'। बालक, अनजान, पागल लोगों को भी बहुधा ऐसे विषयों का उपदेश करते हुए देखा जाता है जिन विषयों के यथार्थ ज्ञान की सम्भावना ही उन लोगों में नहीं की जा सकती। अतः उन्मत्त व्यक्तिकृत उपदेश में या बालककृत उपदेश में उपदेशित्व रूप हेतु तो है, किन्तु उक्त यथार्थज्ञानत्व स्वरूप साध्य नहीं है। अतः उक्त अनुमान से बुद्ध में अतीतार्थविषयक ज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती॥ १५८॥

वेदाज्ज्ञात्वोपदिष्टं चेदित्येवं सिद्धसाधनम् ।
वेदादपीत्यनेनोक्तम् मन्वादेश्चेतदिष्यते ॥ १५९ ॥

असति व्यामोहे वेदादपि भवन्ति

इस भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय यह है कि उक्त अनुमान में सिद्धसाधन दोष है, क्योंकि उपदेश से जिस उपदेश्यविषयक ज्ञान का अनुमान उपदेष्टा में करना चाहते हैं उस ज्ञान की उत्पत्ति यदि वेद से होगी तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि मनु प्रभृति उपदेष्टाओं में वेदजनित उक्त ज्ञान की सत्ता तो हम लोग मानते ही हैं। यही बात 'असति व्यामोहे' इत्यादि भाष्य से कही गयी है।

बौद्धों को मनु प्रभृति स्मृतिशास्त्र के प्रणेताओं में उपदेश्यविषयक ज्ञान की सत्ता से बुद्ध में भी उपदेश्यविषयक ज्ञान का साधन करना अभीष्ट था। इस प्रसङ्ग में उनसे पूछा जा सकता है कि उपदेष्टा में अतीन्द्रिय उपदेश्यविषयक जिस ज्ञान की सत्ता आप चाहते हैं वह ज्ञान प्रमा रूप है? अथवा अप्रमारूप? अप्रमात्मक ज्ञान की सिद्धि से आपका कोई उपकार नहीं होगा, क्योंकि अप्रमाज्ञानमूलक उपदेश या उपदेष्टा के ऊपर कोई भी आस्था नहीं रखता। तब रही प्रमात्मक ज्ञान की बात—उस प्रसङ्ग में कहना है कि बुद्ध के उपदेश्य विषयों में बहुत सारे विषय अतीन्द्रिय हैं। अतः उक्त प्रमात्मक ज्ञान इन्द्रियों से तो उत्पन्न हो ही नहीं सकता। कह आये हैं कि अतीन्द्रिय विषयों को समझाने के लिये केवल शब्द प्रमाण ही समर्थ है। बुद्ध को वेद या वेद के सदृश किसी दूसरे शब्द प्रमाण का सहारा नहीं था। अतः बुद्ध के जिस अतीन्द्रियविषयक ज्ञान की सिद्धि बौद्धगण चाहते हैं, वह संभव नहीं है।

यदि मनु प्रभृति उपदेष्टाओं में उक्त ज्ञान की सिद्धि बौद्धगण चाहते हैं तो वह हो सकती है, किन्तु वह मीमांसकों के अनुसार सिद्ध ही है, क्योंकि आगे स्मृत्यधिकरण में (अ० १ पा० ३ अधिकरण १ सू० १) मन्वादि ऋषियों में इस प्रकार के वेदमूलक अतीन्द्रियविषयकज्ञान का उपपादन है ही। अतः मन्वादि के प्रसङ्ग में उक्त अनुमान सिद्धसाधन दोष से ग्रस्त है। यही बात भाष्य के 'वेदादपि भवन्ति' इस वाक्य से कहा गया है। अतः मनु प्रभृति उपदेष्टाओं के उपदेश की तरह बुद्ध के उपदेश पर विश्वास नहीं किया जा सकता ॥ १५९ ॥

अन्यथा संविदानोऽपि विवक्षत्यन्यथा यतः।
तस्मादेकान्ततो नास्ति पुंवाक्यात् तद्धियां गतिः ॥ १६० ॥

'अपि च पौरुषेयाद्वचनात्' (पृ० १६ पं० ६ शाबरभाष्य) इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को पहिले भी उद्धृत किया जा चुका है। उस भाष्यवाक्य का यह अर्थ है कि लौकिक वाक्य स्वतन्त्ररूप से बाह्य अर्थों के भी प्रमापक नहीं हैं। उनसे केवल इतना ही प्रतिपन्न होता है कि वक्ता में तद्विषयक ज्ञान है, उनसे यह प्रतिपन्न नहीं होता है कि वक्ता जिस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन करता है वह अर्थ उसी प्रकार का है।

इस भाष्यसन्दर्भ का गूढ़ अभिप्राय यह है कि ऐसे भी पुरुष हैं जो समझते कुछ और हैं एवं समझाते कुछ और ही हैं। अतः वाक्य से वक्ता में वाक्यार्थविषयक

ज्ञान का निर्णय निश्चित रूप से नहीं हो सकता। इस वस्तुगति के अनुसार बुद्धादि यदि चैत्यवन्दनादि में कर्त्तव्यत्व का उपदेश करते हैं तो केवल इसीलिये उनमें 'चैत्यवन्दनादिकं पुण्यजनकम्' इस प्रकार का अतीन्द्रियविषयक ज्ञान नहीं माना जा सकता।

अर्थात् तद्विषयकज्ञान का एकान्तसम्बन्ध (व्याप्ति) तद्विषयक वाक्य के साथ नहीं है। अतः तद्विषयक वाक्य के प्रयोग से तद्विषयकज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता॥ १६०॥

भ्रान्तस्यान्यविवक्षायामन्यद् वाक्यं च दृश्यते।
यथाविवक्षमप्येतत् तस्मान्नैव प्रवर्तते॥ १६१॥

अनेक समय ऐसा भी होता है कि विवक्षा के अनुसार वक्ता वाक्य का प्रयोग नहीं कर सकता। इस प्रकार के भी भ्रान्त वक्ता हैं जो अपने विवक्षित अर्थ के यथार्थ उपपादक शब्द से भिन्न शब्द को ही अपने अर्थ का उपपादक मानते हैं। ऐसे स्थलों में अपनी विवक्षा के विपरीत ही वे वाक्य का प्रयोग करते हैं। अतः विवक्षा के साथ भी वाक्य की व्याप्ति नहीं है। यदि साक्षात् सम्बन्ध से युक्त विवक्षा में ही वाक्य की व्याप्ति खण्डित हो जाती है तो फिर विवक्षा से व्यवहित वाक्यार्थज्ञान में वाक्य की व्याप्ति स्वतः खण्डित हो जाती है।

कहने का तात्पर्य है कि जो समुदाय वाक्यार्थज्ञान के साथ वाक्यप्रयोग का अविनाभाव या व्याप्ति मानते हैं उनको भी यही क्रम मानना होगा कि पहिले वक्ता में वाक्यार्थ का ज्ञान, उसके बाद विवक्षा (वाक्यप्रयोग की इच्छा) उसके बाद वाक्य का प्रयोग। इस प्रकार वाक्यप्रयोग की साक्षात् व्याप्ति विवक्षा में ही है वाक्यार्थज्ञान में नहीं। ज्ञान में यदि वाक्यप्रयोग की व्याप्ति है भी तो विवक्षा के द्वारा ही है। अतः विवक्षा में यदि वाक्य की व्याप्ति विघटित होती है तो ज्ञान के साथ उसकी व्याप्ति अपने आप खण्डित हो जाती है।

१६० और १६१ संख्या के ये दोनों ही श्लोक 'अपि च पौरुषेयात्' इस भाष्यसन्दर्भ के व्याख्यास्वरूप हैं॥ १६१॥

वक्तृधीराप्तवाक्येषु गम्यतेऽन्यत्र विप्लुतिः।
तेनोत्सर्गापवादाभ्यां वचसः शक्तिरुच्यते॥ १६२॥

इस प्रकार सभी पौरुषेय वाक्यों में जो अनाश्वास की स्थिति प्राप्त है उसको विषयविभागपूर्वक इस प्रकार सुलझाया जा सकता है :—

आप्तवाक्य से वक्ता में वाक्यार्थविषयक प्रमा-ज्ञान की सिद्धि होती है। 'अन्यत्र' अनाप्तवाक्य स्थल में विप्लुति' अर्थात् वक्ता में वाक्य से वाक्यार्थविषयक भ्रान्ति या संशय की ही सिद्धि होती है। यही बात 'विप्लवते खलु' इत्यादि सन्दर्भ से कही गयी है।

इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ज्ञानमात्र के स्वतः प्रामाण्य नियम के अनुसार वाक्यार्थज्ञान भी स्वतः प्रमात्मक ही हैं। इसलिये आप्तवाक्य से वक्ता में जिन ज्ञानों की सिद्धि कही गयी है वे भी अपने स्वाभाविक नियम (निसर्ग) के

अनुसार प्रमारूप ही हैं। अनाप्त पुरुष से उच्चरित वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान उक्त स्वतः प्रामाण्यनियम के अपवाद हैं। अतः अनाप्त पुरुष से उच्चरित वाक्य से उत्पन्न ज्ञान अप्रमात्मक होते हैं। इस प्रकार अर्थों में पौरुषेयवाक्यों से उत्पन्न दो शक्तियाँ हैं जिनमें एक का नाम है प्रामाण्य और दूसरे का नाम है अप्रामाण्य ॥१६२॥

पदार्थरचनायत्तो वाक्यार्थप्रत्ययोद्भवः।
विवक्षापूर्वविज्ञानवशाच्च रचनाकृतिः ॥ १६३ ॥

वाक्य से वक्तृगत जिस ज्ञानावधारण की चर्चा की गयी है वह अवधारणात्मक ज्ञान शाब्द नहीं है किन्तु अनुमिति स्वरूप है। वाक्य से उत्पन्न शाब्दज्ञान में ही यह नियम है कि वह अभिधेयार्थविषयक ही हो, अनुमिति स्वरूप ज्ञान में उक्त नियम नहीं है। अनुमिति स्वरूप ज्ञान में तो व्याप्ति की आवश्यकता है। वाक्य की व्याप्ति वाक्यार्थज्ञान में है, अतः वाक्यार्थज्ञान का अनुमिति स्वरूप अवधारण अनुपपन्न नहीं है। तब रहा कि उक्त व्याप्ति कैसे है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि वाक्यार्थ का शाब्दज्ञान स्वरूप 'प्रत्यय' का मूल है 'पदपदार्थ की रचना'। रचना विवक्षा के अधीन है एवं विवक्षा वाक्यार्थज्ञान के अधीन है। इस प्रकार वाक्य और वाक्यार्थज्ञान दोनों नियमतः सम्बद्ध हैं ॥ १६३ ॥

विवक्षान्तरयुक्ता हि कुर्वाणा रचनान्तरम्।
आवापोद्वापऽभेदेन दृश्यन्तेऽर्थेषु मानवाः ॥ १६४ ॥

उपर्युक्त उपपादन से यह स्पष्ट हो गया है कि रचना का साक्षात् (व्याप्ति स्वरूप) सम्बन्ध विवक्षा के साथ है। विवक्षा तद्विषयक इच्छा स्वरूप है। इच्छा में तद्विषयकज्ञान कारण है। विवक्षा का कारण वाक्यार्थ का ज्ञान होता है जिससे परम्परया विवक्षा के द्वारा वाक्य की व्याप्ति वाक्यार्थज्ञान में निष्पन्न होती है। किन्तु इसके लिये आवश्यक है कि विवक्षा में रचना की कारणता अवश्य रहे। कारणता अन्वय और व्यतिरेक से ही सिद्ध होती है। प्रकृत में यह अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है :—

घट की जब विवक्षा रहती है तब घट स्वरूप अर्थ के बोधक पद से युक्त वाक्य की ही रचना लोग करते हैं। इसके लिये पट के बोध के उपयुक्त पद से घटित वाक्य की रचना नहीं करते। इस 'आवाप' अर्थात् ग्रहण एवं 'उद्वाप' अर्थात् त्याग (अन्वय और व्यतिरेक) से विवक्षा में रचना की कारणता सिद्ध होती है।

कहने का तात्पर्य है कि एक समय एक विवक्षा है, उसके बाद यदि विवक्षा बदल जाती है तो वाक्य की रचना भी बदल जाती है। अर्थात् द्वितीय विवक्षा के अधीन ही वाक्य की रचना होती है, प्रथम विवक्षा के अनुसार नहीं। इस रीति से जो पहिली विवक्षा के अनुकूल वाक्य का त्याग (उद्वाप) और दूसरी विवक्षा के अनुकूल वाक्य का ग्रहण (आवाप) है इन दोनों से समझते हैं कि रचना विवक्षा के अधीन है। अतः विवक्षा रचना का हेतु है ॥ १६४ ॥

तेनार्थप्रत्ययोत्पादे श्रोतुर्जातेऽपि वाक्यतः।
ज्ञातो नूनमनेनेति वक्तुर्ज्ञाने मतिर्भवेत् ॥ १६५ ॥

श्रोता को जब वाक्य से 'अर्थप्रत्यय' अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान होता है उसके बाद उसी श्रोता को यह अनुमिति स्वरूप ज्ञान भी अवश्य होता है कि 'जिस विषय को मैंने इस पुरुष के वाक्य से समझा है वह विषय इस वक्ता पुरुष को भी अवश्य ही ज्ञात है।' इस प्रकार 'कार्य से कारण का अनुमान' इस नियम के अनुसार वाक्य की रचना से वक्ता पुरुष में वाक्यार्थज्ञान की अनुमिति दुर्लभ नहीं है, क्योंकि विवक्षा जब रचना का कारण है तब विवक्षा का कारण वाक्यार्थज्ञान भी रचना का कारण है, एवं रचना वक्तृज्ञान का कार्य है। कार्य से कारण का अनुमान स्वाभाविक है ॥१६५॥

आप्तोक्तिकारणं कश्चिदनुयुङ्क्ते नरं यदा।
तदा च निर्दिशत्याप्तं स जानात्येतदित्यसौ ॥ १६६ ॥

इस विषय को इस लौकिक व्यवहार से भी समझा जा सकता है—

आप्तोक्तिमूलक किसी अनुष्ठान के कर्त्ता को जब कोई पूछता है कि 'तुम्हारे इस कार्य में क्या प्रमाण है?' तो वह अज्ञ अनुष्ठाता निःसन्दिग्धरूप से उस आप्त-पुरुष की तरफ सङ्केत करके कहता है कि 'मैं इस अनुष्ठान के प्रमाण के बारे में कुछ भी नहीं जानता, इसको 'वे' जानते हैं'। अतः वक्तृज्ञान में रचना की कारणता लोकसिद्ध भी है।

वस्तुतः कोई पुरुष स्वगत बोध के सदृश बोध का उत्पादन जब अन्य पुरुष में करना चाहता है तब कोई दूसरा उपाय न देखकर शब्दों का प्रयोग करता है। अतः ज्ञान के बिना शब्द का प्रयोग सम्भव ही नहीं है ॥ १६६ ॥

तज्ज्ञानान्तरितत्वाच्च शब्दास्तावदुदासते।
प्रामाण्यस्थापनं तु स्याद् वक्तृधीहेतुसम्भवात् ॥ १६७ ॥

मीमांसकों के सिद्धान्त में सभी ज्ञानों का प्रमात्व (प्रामाण्य) 'स्वतः' है। अतः शाब्दज्ञान भी स्वतः प्रमा है। उपर्युक्त उपपादन से यह प्रतीत होता है कि वाक्य से वक्ता में जिस ज्ञान का अनुमान होता है वह ज्ञान यदि प्रमात्मक निष्पन्न होता है तो वक्ता में आप्तोक्तत्व का निश्चय होता है। एवं आप्तोक्त वाक्य से उत्पन्न होने के कारण वाक्य से उत्पन्न शाब्दज्ञान में प्रमात्व होता है। इस प्रकार सभी ज्ञानों के प्रमात्व का स्वतस्त्व व्याहत हो जाता है। इस व्याघात का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है—

शाब्दज्ञान से अर्थप्रामाण्य के प्रसङ्ग में शब्द प्रमाण तब तक उदासीन रहता है जब तक उसके उच्चारण करनेवाले पुरुष में आप्तत्व का निर्णय श्रोता को न हो जाय। आप्तत्व वास्तव में विवक्षितार्थविषयक यथार्थज्ञान स्वरूप ही है। फलतः श्रोताओं को जब तक श्रुतिवाक्य के अर्थविषयकज्ञान की सत्ता वक्ता पुरुष में ज्ञात

नहीं हो जाती तब तक अर्थनिर्णय के प्रसङ्ग में शब्द प्रमाण 'उदासीन' अर्थात् अकृत-कार्य जैसा रहता है।

श्रोता को वक्ता में वाक्यार्थविषयक ज्ञान के अवधारण के बाद शब्द में प्रामाण्य की 'स्थापना' मात्र होती है। अर्थात् शब्द में प्रामाण्य यद्यपि 'स्वतः' है, तथापि वक्ता में वाक्यार्थविषयक ज्ञान के अनवधारण रूप दोष से आपन्न प्रामाण्य से वह अकृतकार्य-सा रहता है। केवल उसका अपसारण वक्ता में वाक्यार्थविषयक ज्ञान के अवधारण से होता है। इससे शब्द के स्वतः प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती है। पहले भी श्लो० १६५ में इस विषय का उपपादन किया जा चुका है ॥ १६७ ॥

अर्थे पूर्वप्रतीतेऽपि निश्चयो हि तदाश्रयः।
तेनार्थज्ञानगम्यापि प्रामाण्ये सैव पूर्वभाक् ॥ १६८ ॥

(पू० प०) पहले कहा जा चुका है कि शब्द प्रमाण स्वजनित शाब्दज्ञान रूप हेतु से वक्ता में अर्थविषयक ज्ञान की अनुमिति से पहले प्रामाण्य के प्रसङ्ग में उदासीन सा रहता है। इस प्रसङ्ग में प्रष्टव्य है कि उक्त अनुमिति से पहले श्रोता में शब्द-प्रमाण से अर्थविषयक ज्ञान होता अथवा नहीं? 'नहीं' तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि उसके बिना तदर्थविषयक ज्ञान का अनुमान कैसे होगा? इसे भाष्य में 'स हि एवं वेद' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'एवम्' शब्द 'प्रकार' का वाचक है। प्रकार शब्द भेद का बोधक है। विषयों से ही ज्ञानों में परस्पर भेद होता है। अतः जब तक विषय को समझ न लें तब तक 'तद्विषयकज्ञानवानयम्' इस आकार की अनुमिति कैसे हो सकती है? अतः यही स्वीकार करना होगा कि ज्ञान की उक्त अनुमिति से पहले श्रोता को अवश्य ही शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है।

यदि उक्त अनुमान से पहले ही शब्द प्रमाण से अर्थ अवगत हो जाता है तो फिर शब्द में तद्विषयक प्रामाण्य को अनुमित वक्तृगतज्ञान के अधीन क्यों मानते हैं, क्योंकि वक्ता में वाक्यार्थविषयक ज्ञान की अनुमिति से पहले भी शब्द प्रमाण से उत्पन्न अर्थविषयक ज्ञान (शाब्दबोध) 'अर्थपरिच्छेद' स्वरूप अपना कार्य कर देता है? इस आक्षेप का यह समाधान है—

अर्थ की प्रतीति यद्यपि (उक्त अनुमान से) पहले ही हो जाती है, किन्तु उसका 'निश्चय' अर्थात् प्रामाणिक रूप से निर्णय 'तदाश्रय' अर्थात् उक्त अनुमान के ही अधीन है। अतः वक्तृगत वाक्यार्थ ज्ञान यद्यपि श्रोतृगत शाब्दज्ञान से ही उत्पन्न होता है, किन्तु श्रोतृगत ज्ञान में रहनेवाले प्रसङ्ग में वही 'पूर्वभाक्' अर्थात् कारण जैसा है। अर्थात् पौरुषेय शाब्दज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति उक्त अनुमान के अधीन न रहने पर भी उस प्रामाण्य की प्रतिष्ठा उसके अधीन अवश्य है। किन्तु इससे प्रामाण्य का स्वतस्त्व व्याहत नहीं होता है।

कहने का तात्पर्य है कि श्रोता को शब्दप्रमाण से वाक्यार्थविषयक शाब्दबोध के बाद ही श्रोता को वक्ता में वाक्यार्थविषयक ज्ञान का अनुमान होता है। किन्तु पहले उत्पन्न शाब्दज्ञान से भी अर्थपरिच्छेदस्वरूप कार्य वक्तृपक्षक वाक्यार्थविषयक

ज्ञान के अनुमान के विना नहीं हो सकता। अतः उक्त शाब्दज्ञान उक्त अनुमिति के विना 'नहीं' के बराबर है। जब वक्तृपक्षक वाक्यार्थविषयक ज्ञान श्रोता को हो जाता है एवं उस अनुमान के हेतु में असद्धेतुत्व की असंभावना से वक्ता में आप्तत्व का निश्चय हो जाता है, उसके बाद ही शाब्दज्ञान का विषय प्रामाणिक माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि शाब्दज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति उक्त अनुमान से पहले ही हो जाती है फिर भी उसकी प्रतिष्ठा उक्त अनुमान के बाद ही होती है ॥ १६८ ॥

अतोऽत्र पुंनिमित्तत्वादुपपन्ना मृषार्थता।
न तु स्यात् तत्स्वभावत्वं वेदे वक्तुरभावतः ॥ १६९ ॥

पौरुषेय वाक्यों में जिस प्रकार से प्रामाण्य की उपपत्ति की गयी है उस प्रकार बुद्धादि के आगम स्वरूप शब्दों में प्रामाण्य की संभावना नहीं है। अतः वे मिथ्या हैं। वेद अपौरुषेय होने के कारण पुरुषगत भ्रम प्रमादादि मूलक अप्रामाण्य की संभावना से सर्वथा दूर है। अतः वेदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है ॥ १६९ ॥

तद्बुद्धयन्तरयोर्नास्तीत्यर्थोऽर्थश्च प्रतीयते।
अतो न ज्ञानपूर्वत्वमपेक्ष्यं नायथार्थता ॥ १७० ॥

वेद यदि पौरुषेय होते तो उनके प्रामाण्य के लिए वक्ता के ज्ञान की अपेक्षा न होती। किन्तु वेद तो अपौरुषेय हैं, अतः उनका प्रमाण अर्थमूलक ही है वक्तृज्ञान-मूलक नहीं है। अर्थात् वेद वास्तविक अर्थ के प्रतिपादक होने के नाते ही प्रमाण हैं, आप्तप्रणीत होने के कारण प्रमाण नहीं हैं। अतः वेदों से उत्पन्न तदर्थविषयक निश्चय में वक्ता की बुद्धि का व्यवधान मध्य में नहीं है। अग्निष्टोमादि स्वरूप अर्थों से साक्षात् ही वेदार्थविषयक ज्ञान में न वक्ता के ज्ञान की अपेक्षा है एवं न अप्रामाण्य की ही कोई सम्भावना है।

'नन्वतथाभूतम्' इत्यादि भाष्य (पृष्ठ १३ पं० ४) सन्दर्भ से वेदों में जो अप्रामाण्य की आपत्ति दी गयी है, उसी का परिहार 'न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति' (पृ० १७ पं० २) इत्यादि परिहारभाष्य से किया गया है। इसी परिहार भाष्य की व्याख्या इन श्लोकों से की गयी है ॥ १७० ॥

अप्रमाणत्वसिद्धौ वा दृष्टान्तो य उदाहृतः।
बुद्धादिवचनं तस्य साध्येनासङ्गतोच्यते ॥ १७१ ॥
तेषामपि हि यत् कार्यं पूर्वत्र प्रतिपादितम्।
तत्र सम्यक्त्वमर्थे तु व्यापारो नैव विद्यते ॥ १७२ ॥

अथवा 'नन्वतथाभूतमपि' इत्यादि भाष्य से वेदों में अप्रामाण्य-साधक अनुमान में बुद्धादिवचन स्वरूप लौकिक वाक्य का दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया गया है उस दृष्टान्त में प्रकृत भाष्य से साध्य की असत्ता दिखलायी गयी है। अर्थात् अप्रामाण्य के उक्त अनुमान से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नही हो सकती, क्योंकि उक्त अनुमान के दृष्टान्त में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है। सदनुमान के लिए यह आवश्यक है कि

दृष्टान्त में साध्य निश्चित रहे, क्योंकि 'पदार्थरचनायत्तः' (श्लो० १६३) इत्यादि श्लोक से यह उपपादन किया जा चुका है कि पौरुषेयवाक्य से वक्ता में रहनेवाले जिस ज्ञान का अनुमान होता है उसी ज्ञान के प्रामाण्य का साधन उक्त वाक्य कर सकता है, उनसे वाक्यार्थ की सत्ता का साधन नहीं हो सकता।

कहने का तात्पर्य है कि वाक्यरचना से रचयिता पुरुष पक्षक उक्त वाक्यार्थ विषयक ज्ञान साध्यक यह अनुमान होता है कि—'अयं वक्ता एतद्वाक्यार्थविषयक-ज्ञानवान् एतादृशवाक्यप्रयोक्तृत्वात् अस्मदादिवत्'। फलतः इस अनुमान से वक्ता पुरुष में उक्त ज्ञान की सत्ता साधित होकर केवल उक्त अनुमान स्वरूप ज्ञान में प्रमात्व का साधन करती है। इससे उक्त अनुमान के साध्य स्वरूप ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् उक्त अनुमान से यह नहीं कह सकते कि वक्ता का उक्त ज्ञान प्रमात्मक है। फिर भी उक्त अनुमिति रूप ज्ञान के प्रमात्व में कोई अन्तर नहीं आता है।

अतः बुद्धादि के आगम भी अपने रचयिता पुरुष विशेष्यक उक्त आगमार्थ विषयक ज्ञानवत्त्व प्रकारक प्रमाज्ञान के उत्पादक होने के कारण प्रमाण ही हैं, अप्रमाण नहीं। सुतराम् 'वेदाः अप्रमाणं वाक्यत्वात् बुद्धादिवाक्यत्' इस अनुमान का दृष्टान्त ही असिद्ध है, क्योंकि बुद्धादि वाक्य स्वरूप दृष्टान्त में उक्त अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है।

'ननु वेदवचनस्य' इत्यादि प्रकृत सिद्धान्तभाष्य का जो सम्प्रदाय उक्त अर्थ करते हैं उनका सिद्धान्त है कि वाक्य केवल रचयिता पुरुष में वाक्यार्थविषयक ज्ञान का साधक है। किन्तु वाक्यार्थ के प्रामाण्य-साधन के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी सम्प्रदाय के मत का उपपादन 'अपि च पौरुषेयाद्वचनादेवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययो नैवमयमर्थ इति' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ (पृ० १७ पं० ६) से किया गया है ॥ १७२ ॥

स्वव्यापारातिरिक्तेऽर्थे वेदस्यापि मृषार्थता।
पूर्वपक्षार्थवत्त्वेन प्रसक्ता सिद्धसाध्यता ॥ १७३ ॥

श्लो० १७१ एवं श्लो० १७२ इन दोनों श्लोकों से यह उपपादन किया गया है कि वाक्य वाक्यार्थ के प्रामाण्य का साधक नहीं है, किन्तु वक्तृपक्षक वाक्यार्थानुमिति के प्रमात्व का साधक है। फलतः इसी अनुमिति के प्रामाण्य के साधन में वाक्य का व्यापार है। वाक्यार्थ के प्रामाण्य के साधन में उसका व्यापार नहीं है। इस प्रकार जहाँ वाक्यत्व का व्यापार ही नहीं है उन स्थलों में भी यदि उससे प्रामाण्य का साधन करें तो फिर वेदों में भी इस प्रकार का अप्रामाण्य है ही, क्योंकि वेद भी ज्योतिष्टोम, स्वर्ग, अपूर्व प्रभृति पदार्थों के विषयों में प्रमाण हैं गवानयनादि लौकिक अर्थों में नहीं। अतः इस प्रकार से वेदों में अप्रामाण्य का साधन वस्तुतः सिद्धसाधन ही है ॥ १७३ ॥

अज्ञात्वैवमभिप्रायं कृतकाकृतकत्वयोः।
सत्यमिथ्यात्वहेतूक्तिमात्रज्ञानात् परोऽब्रवीत् ॥ १७४ ॥

ननु सामान्यतोदृष्टम् नान्यत्वादित्ययदूषणम् ।
एतस्मादेव दृष्टान्तो न हि पक्षे सपक्षता ॥ १७५ ॥

अशास्त्वेवम्...... अब्रवीत्...... ननु सामान्यतोदृष्टम्

'ननु सामान्यतोदृष्टं पौरुषेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते'। (शाबरभाष्य पृ० १७)

इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा किसी ने यह आक्षेप किया है कि साधारणतः पौरुषेय वाक्य अप्रमाण होते हैं। वेद भी वाक्य स्वरूप ही है, अतः उन्हें भी अप्रमाण होना चाहिये।

उक्त भाष्यसन्दर्भ का साधारण रूप से यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि वेद चूँकि वाक्य है अतः अप्रमाण है। अर्थात् उक्त भाष्यसन्दर्भ में वेदों में अप्रामाण्य साधन के लिये वाक्यत्व हेतु का उपन्यास किया गया है। अतः वेदों में अप्रामाण्य का प्रयोजक वाक्यत्व है।

किन्तु यह असङ्गत है क्योंकि—'पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम्' (शाबरभाष्य पृ० १५ पं० ६) इस भाष्य पंक्ति के द्वारा कह आये हैं कि लौकिक वाक्यों में अप्रामाण्य का प्रयोजक पौरुषेयत्व है वाक्यत्व नहीं। तदनुसार उक्त 'ननु सामान्यतो दृष्टम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ असङ्गत सा लगता है, क्योंकि इससे वाक्यत्व हेतु के द्वारा वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति दी गयी है। वाक्यत्व हेतु शब्द में अप्रामाण्य का साधक ही नहीं है। पौरुषेयत्व भी केवल लौकिक शब्दों में ही अप्रामाण्य का साधक है, वेद स्वरूप अपौरुषेय शब्दों में नहीं।

'ननु सामान्यतो दृष्टम्' इस पूर्वपक्ष भाष्य के ऊपर किये गये इस आक्षेप का समाधान ही उक्त वार्त्तिकसन्दर्भ से किया गया है। इसका यह अभिप्राय है—

यह तात्त्विक दृष्टि से 'ननु सामान्यतो दृष्टम्' भाष्य का सन्दर्भ अवश्य ही असंगत है। किन्तु उक्त पूर्वपक्ष के उत्थापक बुद्धिमान्द्य से वशीभूत होकर 'पुरुष-बुद्धिप्रभवम्' इत्यादि भाष्य से केवल इतना ही समझ सके कि पुरुष में रहनेवाला दोष मिथ्यात्व का कारण है, एवं उक्त दोष का अभाव प्रामाण्य का प्रयोजक है। उन्होंने इससे अधिक इतना उस भाष्यसन्दर्भ का आशय नहीं समझा कि वाक्यत्व हेतु अप्रामाण्य का साधक न होने के कारण 'अप्रयोजक' है।

उनका अभिप्राय इस प्रसंग में इस प्रकार का है—शब्दों में अप्रामाण्य का साधक चाहे जो भी हो किन्तु लौकिक वाक्यों में एवं वैदिक वाक्यों में वाक्यत्व स्वरूप धर्म समान रूप से है। अतः लौकिकवाक्यगत मिथ्यात्व के साथ यदि वाक्यत्व की व्याप्ति है तो वाक्यत्व हेतु से वेदों में भी अप्रामाण्य का साधन हो सकता है। इस अभिप्राय के अनुसार उक्त वार्त्तिक का अन्वय इस प्रकार समझना चाहिये—

'कृतकाकृतकत्वयोः शब्दयोः एवमभिप्रायमज्ञात्वैव 'परः' पूर्वपक्षवादी केवलं सत्यमिथ्यात्वहेतूक्तिमात्रज्ञानात् 'सामान्यतोदृष्टम्' इत्यादि भाष्यमब्रवीत्।

नान्यत्वादिति''''''पक्षे सपक्षता

पक्ष में सपक्षता के न रहने से भर से फलतः पक्ष और दृष्टान्त की विभिन्नता मात्र से 'न, अन्यत्वात्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से कथित दोष ठीक नहीं हो सकता। अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ यथाश्रुत स्वरूप में असंगत-सा प्रतीत होता है।

कहने का तात्पर्य है कि 'ननु समान्यतोदृष्टम्' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य का उत्तर 'न, अन्यत्वात्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से दिया गया है। इस समाधान भाष्य का साधारणतः यह अभिप्राय मालुम पड़ता है कि लौकिक वाक्यों में अप्रामाण्य को देखकर उससे वैदिक वाक्यों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि 'अन्यत्वात्' अर्थात् जिस लिये कि लौकिक वाक्य वैदिक वाक्य से भिन्न हैं, अतः जिस प्रकार देवदत्त की श्यामता से यज्ञदत्त में श्यामता का अनुमान नहीं किया जा सकता उसी प्रकार लौकिक वाक्य के अप्रामाण्य से वैदिक वाक्यों में अप्रामाण्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। तदनुसार 'वेदाः अप्रमाणं वाक्यत्वात् लौकिक-वाक्यवत्' यह अनुमान ही ठीक नहीं है।

किन्तु यह समाधान असङ्गत सा लगता है, क्योंकि सपक्ष को पक्ष से भिन्न होना ही उचित है। प्रकृत में पक्ष है वैदिक वाक्य, एवं सपक्ष है लौकिक वाक्य। इन दोनों की विभिन्नता वेदों में अप्रामाण्य के साधन में बाधक नहीं हो सकती। जैसे पर्वत और महानस की विभिन्नता पर्वत में वह्नि के साधन में बाधक नहीं होती। प्रत्युत पक्ष और दृष्टान्त दोनों का विभिन्न होना साध्य के साधन के लिए आवश्यक ही है, क्योंकि पक्ष स्वयं कभी दृष्टान्त नहीं होता। पक्ष उसे कहते हैं जिसमें साध्य सन्दिग्ध रहे। इस प्रकार पक्ष और सपक्ष दोनों के स्वरूपों में अन्तर होने के कारण सभी स्थलों में पक्ष और दृष्टान्त (सपक्ष) भिन्न ही होंगे। अतः पक्ष और दृष्टान्त की विभिन्नता से वेदों में अप्रामाण्य के साधक प्रकृत अनुमान का खण्डन प्रकृत समाधान भाष्य से संभव नहीं है। इसी आक्षेप का उपपादन उक्त वार्त्तिक सन्दर्भ से हुआ है ॥ ७४–७५ ॥

तस्मादयमभिप्रायो भाष्यकारस्य वर्ण्यते।
अभ्युपेत्यार्थविषयं वाक्यव्यापारमुच्यते ॥ १७६ ॥
यदि स्याद् व्यवधानेऽपि वाक्यार्थापेक्षयानृतम्।
दृष्टान्तो नृवचोऽत्रापि हेतुः साधारणो भवेत् ॥ १७७ ॥
सत्येष्वपि हि दृष्टैव पौरुषेयेषु वाक्यता।
अतीन्द्रियेऽपि किञ्चिद्धि सत्यं दृष्टं यदृच्छया ॥ १७८ ॥

तस्माद्''''व्यापारमुच्यते'''यदि स्यात्'''सत्येष्वपि'''वाक्यता

'तस्मात्' उक्त भाष्य का सुसङ्गत आशय इस प्रकार है :—

इससे पहिले कह आये हैं कि पौरुषेय वाक्य पुरुषविशेष्यक वाक्यार्थज्ञान प्रकारक ज्ञान के प्रामाण्य का ही साधन कर सकता है। वाक्यार्थ को प्रामाणिक

सिद्ध करने में इसका कुछ भी हाथ नहीं है। अतः बुद्धादि के लौकिक वाक्यों के दृष्टान्त से जो वेदों में अप्रामाण्य की शङ्का की गयी है वह असङ्गत है, क्योंकि इस अर्थ में बौद्धादि के आगम स्वरूप लौकिक वाक्य भी प्रमाण ही हैं। अतः बौद्धादि के आगमों का दृष्टान्त देना ही अनुचित है।

'न, अन्यत्वात्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ इसको मानकर लिखा गया है कि पौरुषेय वाक्य का व्यापार अपने अर्थ को प्रमाणित करने में भी है। ऐसा मान लेने पर बौद्धागम स्वरूप दृष्टान्त में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस दृष्टि से श्लोक १९१ और १९२ में कथित दृष्टान्तासिद्धि दोष का अवसर नहीं है।

किन्तु दृष्टान्तासिद्धि के न होने पर भी 'वेदवाक्यानि अप्रमाणानि वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्' इस अनुमान में अनैकान्तिकत्व दोष (व्यभिचार दोष) है ही, क्योंकि बौद्धों के वाक्यों में पौरुषेयत्व के साथ वाक्यत्व स्वरूप हेतु है, किन्तु अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि यदि वाक्य से अर्थविषयक ज्ञान होने पर भी अर्थ के अन्यथात्व की दृष्टि से वाक्य को अप्रमाण मान लें तो फिर उक्त अनुमान में साधारण पौरुषेय वाक्य को दृष्टान्त रूप में लिया जा सकता है। किन्तु सभी लौकिक वाक्य अप्रमाण ही नहीं होते, क्योंकि वैद्यादि पुरुषों के वाक्य अपने अर्थों के सम्यक्त्व के कारण यथार्थ ही होते हैं। अतः ऐसे प्रमाणभूत वाक्यों में वाक्यत्व हेतु व्यभिचरित हो जायगा।

अतीन्द्रियेऽपि.........यदृच्छया

इस प्रसंग में वेदों को अप्रमाण माननेवाले कह सकते हैं कि अप्रामाण्य के उक्त अनुमान के वाक्यत्व हेतु का 'अतीन्द्रियविषयत्व' स्वरूप एक और विशेषण देंगे। तदनुसार 'अतीन्द्रियविषयत्वे सति वाक्यत्व' हेतु होगा। वैद्योपदेश स्वरूप वाक्य में यदि अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है तो फिर उक्त हेतु भी नहीं है, क्योंकि वैद्यों का उपदेश अतीन्द्रियविषयक नहीं है। यदि कोई लौकिक वाक्य अतीन्द्रियविषयक है तो फिर वह प्रमाण ही नहीं है। इस प्रकार बौद्धागम को दृष्टान्त बनाकर उक्त विशिष्ट हेतु से वेदों में अप्रमाण्य की सिद्धि की जा सकती है। इस समाधान के विरुद्ध यह कहा जा सकता है—

कुछ वाक्य अतिन्द्रिय अर्थ के बोधक होने पर भी प्रामाणिक हो सकते हैं। जैसे कि किसी ने प्रयोग किया कि 'इन्द्रोऽस्ति' एवं दूसरे ने कहा कि 'इन्द्रो नास्ति'। ये दोनों ही वाक्य अतीन्द्रियविषयक हैं, क्योंकि इन्द्र अतीन्द्रिय हैं। अतः इन्द्र का अभाव भी अतीन्द्रिय ही है। परस्पर विरुद्ध दो अर्थों के बोधक वाक्यों में एक अवश्य ही यथार्थ होता है। अतः उन दोनों वाक्यों में से एक अवश्य ही यथार्थ है। अतः इन दोनों वाक्यों में से एक ही प्रमाण है। प्रमाणीभूत इन अतीन्द्रियबोधक वाक्यों में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है। अथ च 'अतीन्द्रियविषयत्वे सति वाक्यत्व' स्वरूप हेतु है। अतः अतीन्द्रियविषयत्व विशेषण देने से भी उक्त हेतु में व्यभिचार दोष है ही।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि उन दोनों वाक्यों में से एक वाक्य का अर्थ सत्य है—केवल इतना ही कह सकते हैं, किन्तु इससे किसी वाक्य में भी प्रामाण्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त दोनों अर्थों में से किसी एक अर्थ का साधक कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। इस प्रकार उक्त विशिष्टहेतुक अनुमान में व्यभिचार दोष का होना संभव नहीं है। अतः इस अनुमान का खण्डन करने के लिए आगे जिन अप्रयोजकत्व, सत्प्रतिपक्ष एवं आगमविरोधस्वरूप दोषों का उद्भावन किया गया है उन्हीं दोषों पर निर्भर रहना उचित है।। १७६–१७८ ।।

नान्यत्वादिति चानेन परोक्तावन्यतोच्यते।
अन्यो ह्येष तदाभासो विपक्षं वान्यमब्रवीत् ।। १७९ ।।

नान्यत्वात्''''''तदाभासः—'नान्यत्वात्' इस भाष्य की प्रथम प्रकार की व्याख्या

(१) 'नान्यत्वात्' इस समाधान भाष्य का यह तात्पर्य है कि पूर्वपक्षवादी ने 'ननु सामान्यतोदृष्टं पौरुषेयं वचनम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से 'वेदवाक्यानि अप्रमाणानि वाक्यत्वात् बौद्धागमादिपौरुषेयवाक्यवत्' इस अनुमान में वाक्यत्व को 'सामान्यतोदृष्ट' स्वरूप 'सद्धेतु' कहा है। किन्तु वास्तव में यह वाक्यत्वहेतु 'सद्धेतु' से 'अन्य' अर्थात् असद्धेतु है—हेत्वाभास है। अतः उससे वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

विपक्षं वान्यमब्रवीत्—'नान्यत्वात्' इस भाष्य की दूसरी व्याख्या

(२) प्रकृत वाक्यत्व हेतु सद्धेतु नहीं है, किन्तु उससे 'अन्य' असद्धेतु है—हेत्वाभास है, क्योंकि पूर्वपक्षवादी ने प्रकृत हेतु को 'सामान्यतोदृष्ट' कहा है। सामान्यतोदृष्ट हेतु का यह स्वभाव है कि वह अपने 'विपक्ष' में न रहे। वह्नि का साधक धूम हेतु 'सामान्यतोदृष्ट' का प्रसिद्ध उदाहरण है। इस अनुमान के विपक्ष हैं जलादि, उनमें धूम हेतु नहीं रहता। प्रकृत अनुमान का विपक्ष है 'सत्य वाक्य'। वाक्यत्व हेतु उस वाक्य में भी है। अतः यह हेतु 'सामान्यतोदृष्ट' नहीं हो सकता। अतः यह वाक्यत्व हेतु नहीं किन्तु 'हेत्वाभास' है।

'नान्यत्वात्' इस भाष्य की इस व्याख्या में **'न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव'** यह भाष्यसन्दर्भ भी ठीक बैठता है, क्योंकि यह भाष्यसन्दर्भ 'नान्यत्वात्' इस ग्रहणक भाष्य का ही स्वपदवर्णनात्मक व्याख्यास्वरूप है। इस स्वपदवर्णनात्मक भाष्य का अक्षरार्थ यह है कि अनाप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित वाक्य अप्रमाण हैं, इसलिये आप्तपुरुष से उच्चरित वाक्य केवल वाक्य होने के नाते अप्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि हेतु साध्य का साधक तभी हो सकता है जब कि उसकी सत्ता विपक्ष में न रहे (उनमें विपक्षासत्त्व भी रहे)। प्रकृत में सो नहीं है, अतः यह वाक्यत्व हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास है।। १७९ ।।

यद्वान्यस्माद् विसंवादान्मिथ्यात्वं तत्र न त्विह।
विषयस्यापि चान्यत्वात् साधनासङ्गतैव सा ।। १८० ।।

यद्यन्यस्मात्······न त्विह—'नान्यत्वात्' इस भाष्य की तीसरी व्याख्या—

(३) लौकिकवाक्यों के अप्रामाण्य के प्रयोजक हैं वक्ता में रहनेवाले भ्रम-प्रमादादि दोष। ये सभी वाक्यत्व' हेतु से सर्वथा भिन्न हैं। फलतः लौकिक वाक्यों के मिथ्यात्व के प्रयोजक वक्तृगत भ्रमप्रमादादि हैं, वाक्यत्व उक्त मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं है। वैदिकवाक्य लौकिक वाक्यों से सर्वथा भिन्न हैं। अतः जो लौकिक वाक्यों के अप्रामाण्य का प्रयोजक होगा वह उनसे भिन्न वैदिक वाक्यों के अप्रामाण्य का प्रयोजक कैसे होगा? देवदत्त में यदि श्यामता के कारण हैं तो फिर उन कारणों से शून्य यज्ञदत्त में श्यामता के प्रयोजक कैसे होंगे?

यही बात 'न, अन्यत्वात्' इस भाष्यसन्दर्भ से कही गयी है। वैदिक वाक्य जिस लिये लौकिक वाक्यों से 'अन्य' हैं—भिन्न हैं, अतः उनमें दुष्टता के उत्पादकों से वैदिक वाक्यों में दुष्टता नहीं आ सकती। फलतः वेदों में अप्रामाण्य के साधन के लिये प्रयुक्त यह वाक्यत्व हेतु 'अप्रयोजक' है।

'विषयस्यापि······असङ्गतैव सा'—नान्यत्वात् इस भाष्यसन्दर्भ को चौथी व्याख्या

वैदिक वाक्यों के अर्थ से लौकिक वाक्यों के अर्थ ही भिन्न हैं, क्योंकि वैदिक वाक्यों से इन्द्रादि वाक्यार्थों की सिद्धि होती है। अतः वे ही उनके अर्थ हैं। लौकिक वाक्य अपने अर्थों के साथ नियत रूप से सम्बद्ध नहीं रहता, क्योंकि ये जिन अर्थों का प्रतिप्रादन जिस प्रकार से करते हैं उस प्रकार से उन अर्थों की सत्ता नहीं भी रहती है। अतः लौकिक वाक्यों से नियमतः इतना ही कहा जा सकता है कि वक्ता पुरुष को अर्थ का ज्ञान अवश्य है। यह ज्ञान यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। किन्तु वक्ता में जो उक्त अर्थविषयक ज्ञान का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है, वह तो नियमतः यथार्थ ही होता है। इस लिये उक्त अनुमान में कथित दृष्टान्ता-सिद्धि दोष आवश्यक है, क्योंकि लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है। लौकिक वाक्य एवं वैदिक वाक्य इन दोनों की यह भिन्नता इस भाष्यसन्दर्भ से प्रतिपादित हुई है ॥ १८० ॥

न ह्यन्यस्येति नैकस्मिन्मृषार्थेऽन्यमृषार्थता।
विवक्षाया मृषार्थत्वे न च वाक्ये मृषार्थता ॥ १८१ ॥

'न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव', इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या का प्रारम्भ

'न ह्यन्यस्य' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि एक की 'मृषार्थता' से अर्थात् विवक्षा में मिथ्या ज्ञान की प्रयोजकता से 'अन्य' अर्थात् वक्तृज्ञानगत वाक्यार्थज्ञान की 'मृषार्थकता' की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि दोनों परस्पर भिन्न हैं।

कहने का तात्पर्य है कि लौकिक वाक्य स्थल में वाक्य से वक्तृगत विवक्षा एवं वक्तृगत वाक्यार्थज्ञान दोनों का अनुमान होता है। इनमें विवक्षा मिथ्या है,

क्योंकि वस्तुस्थिति उस विवक्षा के विरुद्ध है। एवं वक्तृविशेष्यक उक्त वाक्यार्थ-ज्ञानसाध्यक अनुमिति यथार्थ है। साध्य स्वरूप उस ज्ञान के अयथार्थ होने पर भी वक्ता में उसको वास्तविक सत्ता है ही। अतः 'अन्य' की अर्थात् विवक्षा की मृषा-र्थता से 'अन्य' की अनुमिति की नहीं हो सकती। इस प्रकार लौकिक वाक्य भी प्रमाण ही हैं। इस लिए अप्रामाण्य के प्रकृत अनुमान में जो दृष्टान्तासिद्धि दी गयो है वह सर्वथा उचित है, क्योंकि लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त में अप्रामाण्य स्वरूप साध्य नहीं है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृत में भाष्य के निम्नलिखित चार सन्दर्भों की व्याख्या की गयी है—

(१) 'ननु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चित्प्रमाणमस्ति।'

(२) 'ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषेयवचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमुपलभ्यते।'

(३) 'न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव।'

(४) 'न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति।'

इनमें पहिले सन्दर्भ की व्याख्या उक्त श्लोक से की जा चुकी है, अन्तिम की व्याख्या 'श्यामत्वे' (श्लो० १८२) से वार्तिक में आगे की गयी है। मध्यम दोनों सन्दर्भों के व्याख्यानों में भी प्रकृत श्लोक में कही गई युक्ति का ही उपयोग हो सकता है।

कथित सन्दर्भों में भी द्वितीय सन्दर्भ स्वरूप 'ननु सामान्यतोदृष्टम्' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य के उत्तर में भी 'न ह्यन्यस्य' इत्यादि प्रकृत श्लोकांश का पाठ किया जा सकता है। तदनुसार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का क्रम निम्नलिखित रूप से होगा—

पूर्वपक्ष—पौरुषेय वाक्य साधारणतः अप्रमाण देखे जाते हैं। वेद भी वाक्य रूप हैं, अतः वे भी अप्रामाण हैं—'वेदाः अप्रमाणं वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्।

उत्तरपक्ष—उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि अनाप्त वाक्य के अप्रमाण होने से ही उससे भिन्न आप्त वाक्य भी अप्रमाण नहीं हो जाते। अतः पौरुषेय वाक्यों से सर्वथा भिन्न वेदवाक्यों की तो बात ही छोड़िये, आप्त वाक्य स्वरूप लौकिक वाक्यों में भी उक्त पूर्वपक्षवादी के मत के अनुसार उक्त वाक्यत्व हेतु से अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

तस्मात् उक्त अनुमान का वाक्यत्व हेतु आप्त वाक्य स्वरूप विपक्ष में रहने के कारण अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। अतः इस हेत्वाभास से कुछ होने को नहीं।

'न ह्यन्यस्य वितथभावे' भाष्य का यह सन्दर्भ सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादक है। इस सिद्धान्त भाष्य से 'ननु सामान्यतोदृष्टम्' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य का ही खण्डन किया गया है। इसी सिद्धान्त भाष्य के द्वारा कथित युक्ति का अनुवाद 'न ह्यन्यस्य' इत्यादि श्लोक से वार्तिककार ने किया है। इस प्रकार से भी इस श्लोक को लगाया जा सकता है॥ १८१॥

श्यामत्वे पुंस्त्ववच्चैतत् साधारण्ये निदर्शनम् ।
परोक्तेर्वापि दुष्टत्वाद् विकल्पसममुच्यते ॥ १८२ ॥

श्यामत्वे..........निदर्शनम्

'न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति' । (शाबरभाष्य)

भाष्य के इस सन्दर्भ का यह अभिप्राय है—किसी श्याम पुरुष को दृष्टान्त बना कर केवल पुंस्त्व हेतु से गौरवर्ण के पुरुष में या श्यामवर्ण के पुरुष में भी यदि कोई श्यामत्व का अनुमान करना चाहता है 'स श्यामः पुंस्त्वात् यज्ञदत्तवद्' तो यह मानी हुई बात है कि उक्त अनुमान का पुंस्त्व हेतु अनैकान्तिक होगा, क्योंकि श्यामत्व से रहित गौरवर्ण के पुरुष में भी पुंस्त्व विद्यमान है ।

इसी प्रकार 'वेदवाक्यानि अप्रमाणानि वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्' इस अनुमान का वाक्यत्व हेतु भी अनेकान्तिक है, क्योंकि अप्रमाणत्व स्वरूप साध्य आप्त-प्रणीत वाक्य में नहीं है किन्तु वाक्यत्व हेतु वहाँ भी है । अतः वाक्यत्व हेतु से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

परोक्तेर्वापि..........विकल्पसममुच्यते

कोई कहते हैं कि 'कण्टकेनैव कण्टकम्' इस न्याय से वेदों में अप्रामाण्य के साधक उक्त दुष्ट अनुमान के प्रतिवाद में दुष्ट उत्तर का प्रयोग ही समुचित है । इस दृष्टि के अनुसार 'विकल्पसमा' नाम की 'जाति' स्वरूप असदुत्तर का ही प्रयोग 'न हि श्यामत्वे' इत्यादि से भाष्यकार ने किया है । 'धर्मान्तरविकल्पनात् साध्यधर्मविकल्पा-पादने विकल्पसमा' (न्या० सू० अ० ५ आ० १) ।

प्रकृत में 'विकल्पसमा जाति' का प्रयोग निम्नक्रम से समझना चाहिये :—

कोई वाक्य लौकिक वाक्य से अभिन्न है, जैसे कि लौकिक वाक्य । अतः इससे यह विकल्प उपस्थित होता है कि कुछ वाक्य लौकिक वाक्य से भिन्न हैं और कुछ अभिन्न । इसी प्रकार यह विकल्प भी उपपन्न हो सकता है कि कोई वाक्य लौकिक वाक्य की तरह मिथ्या है जैसे कि लौकिक वाक्य; कोई वाक्य आप्तोच्चरित लौकिक वाक्य की ही तरह सत्य है जैसे कि वैदिक वाक्य । इससे यह विकल्प प्राप्त होता है कि वाक्य सत्य भी होते हैं और मिथ्या भी । अतः वाक्यत्व हेतु से एकान्ततः मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १८२ ॥

यद्वा प्रमाणमेवेदं सम्यक्त्वेऽन्यत्वमुच्यते ।
विरुद्धाव्यभिचारित्वं बाधो वाप्यनुमानतः ॥ १८३ ॥

'न, अन्यत्वात्' इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या श्लो० १७५ से लेकर श्लो० १८२ पर्यन्त से इस दृष्टि से की गयी है कि उक्त भाष्यसन्दर्भ वाक्यत्व हेतु से वेदों में जो अप्रामाण्य का अनुमान 'ननु सामान्यतोदृष्टम्' इत्यादि ग्रन्थ से किया गया है उसी का प्रतिवाद है । अब इस १८३वें श्लोक से २८६ श्लोक पर्यन्त के वार्तिक से 'न, अन्यत्वात्' इस भाष्यसन्दर्भ की इस दृष्टि से व्याख्या की जाती है कि यह सन्दर्भ वेदों के प्रामाण्य के हेतु का निर्देशक ही है ।

अथवा इस भाष्यसन्दर्भ का प्रकृत 'अन्यत्व' हेतु अर्थात् 'न, अन्यत्वात्' इस भाष्यसन्दर्भ में निर्दिष्ट 'अन्यत्व' हेतु वेदों में सत्यत्व का ज्ञापक प्रमाण ही है। अर्थात् वेदों में सत्यत्व के साधक अनुमिति स्वरूप प्रमाज्ञान का 'करण' ही है। इस प्रकार वेदों में मिथ्यात्व के साधक जितने भी अनुमान हैं उनमें से कुछ 'विरुद्धाव्यभिचारी' अर्थात् सत्प्रतिपक्षित और कुछ बाधित हो जाते हैं ॥ १८३ ॥

चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ १८४ ॥

कथित 'अन्यत्व' हेतु से वेदों में सत्यत्व का अनुमान इस प्रकार होता है—

जिस प्रकार आप्तोच्चरितवाक्यजन्य ज्ञान अथवा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान दोषशून्य कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रमात्मक होते हैं, चोदना (विधायक वेदवाक्य) जन्य से ज्ञान भी दोषशून्य कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रमात्मक ही हैं।

पहले उपपादन किया जा चुका है कि दोषों के न रहने पर ज्ञानों के उत्पादक सामान्य कारणों के समूह (ज्ञानसामान्यसामग्री) से ही प्रमात्मक ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। इसी रीति से अनुमिति, लौकिकशब्दजनित ज्ञान, प्रत्यक्षात्मकज्ञान स्वरूप सभी प्रमितियों की उत्पत्ति होती है। अतः 'चोदना' जन्य बोध के उत्पादक सामान्य कारणों में यदि दोष का कोई सम्बन्ध नहीं है तो उससे उत्पन्न ज्ञान भी प्रमात्मक ही होगा। इसलिये इस प्रमात्मक ज्ञान के उत्पादक वेद स्वरूप शब्द अवश्य ही प्रमाण हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि वेदों में अप्रामाण्य के साधक जितने भी हेतु दिये गये हैं उनमें से किसी में भी अप्रामाण्य स्वरूप साध्य की व्याप्ति नहीं है। किन्तु वेदों में प्रामाण्य के साधक इस हेतु में प्रामाण्य स्वरूप साध्य की व्याप्ति है। इस प्रकार वेदों में प्रामाण्य का साधक हेतु वेदों में अप्रामाण्य के साधक हेतुओं से बलवान् है। अतः वेदों में अप्रामाण्य के साधक सभी हेतुओं को सत्प्रतिपक्षित समझना चाहिये ॥ १८४ ॥

तथानाप्तप्रणीतोक्तिजन्यत्वाद् बाधवर्जनात्।
देशकालादिभेदाद्वौ चाप्तोक्तिप्रत्ययो यथा ॥ १८५ ॥

'चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमा' इस अनुमान के दो और हेतु हो सकते हैं (१) अनाप्तप्रणीतत्व और (२) कालत्रयाबाध्यत्व। इन दोनों हेतुओं के अनुमानों में दृष्टान्त होगा 'आप्तोक्तशब्दजन्य ज्ञान'।

(१) विधायकवैदिकवाक्यजन्यज्ञान अवश्य ही प्रमा है, क्योंकि उस ज्ञान का कारण वैदिकवाक्य उसी प्रकार अनाप्तों की रचना नहीं है जिस प्रकार आप्तवाक्य अनाप्तपुरुष की रचना नहीं है। यदि अनाप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित न होने के कारण आप्तवाक्य प्रमाण हैं तो फिर वैदिक विधायकवाक्य भी अनाप्तों के द्वारा उच्चरित न होने के कारण अवश्य ही प्रमाण हैं। तदनुसार यह अनुमान वाक्य निष्पन्न होता है—

'चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमा अनाप्ताप्रणीतवाक्यजन्यत्वात् आप्तोच्चरितशब्द-जन्यज्ञानवत् ।'

(२) जिस प्रकार आप्तपुरुष से उच्चरित वाक्य से उत्पन्न ज्ञान भूत, भविष्य, वर्त्तमान इन तीनों कालों में से किसी भी काल में बाधित न होने के कारण प्रमा है उसी प्रकार वैदिक विधायक वाक्य (चोदना) से उत्पन्न ज्ञान भी उक्त तीनों कालों में से किसी भी काल में बाधित न होने से अवश्य ही प्रमा है। इसलिये इस प्रमाज्ञान का करण वेद अवश्य हो प्रमाण हैं।

ये ही दो अनुमान इस श्लोक के द्वारा प्रदर्शित हुये हैं।

यही ध्यान रखना चाहिये कि इस श्लोक के द्वारा जिन दो अनुमानों का उल्लेख हुआ है उनमें से पहले अनुमान में यद्यपि आप्तवाक्यजन्यज्ञान ही केवल दृष्टान्त हो सकता है, अनुमिति प्रभृति कोई भी अन्यज्ञान दृष्टान्त नहीं हो सकते तथापि दूसरे अनुमान में अनुमिति प्रभृति ज्ञान भी दृष्टान्त रूप में लिये जा सकते हैं, जैसा कि श्लोक १८४ में कथित अनुमानों के लिये कह आये हैं यद्यपि इस श्लोक में विशेष रूप से कहा गया है कि इन दोनों अनुमानों में आप्तवाक्यजन्यज्ञान ही दृष्टान्त है ॥ १८५ ॥

अकर्तृकत्वसिद्ध्या च हेतुत्वं साधयिष्यते ।
एवमाद्यवबुध्यायं नान्यत्वादित्यवोचत ॥ १८६ ॥

यहाँ आक्षेप हो सकता है कि १८४ श्लोक में जिस 'दोषाघटित कारणजन्यत्व' हेतु का एवं १८५वें श्लोक में जिस 'अनाप्ताप्रणीतवाक्यजन्यत्व' हेतु का उल्लेख किया गया है ये दोनों हेतु 'असिद्ध' हैं, क्योंकि सभी वाक्य किसी पुरुष के द्वारा ही प्रणीत देखे जाते हैं। वेद भी वाक्य होने के कारण अवश्य ही किसी पुरुष के द्वारा रचित है। वेदों का यह निर्माता पुरुष अनाप्त भी हो सकता है, उसमें पुरुषसुलभ भ्रम-विप्रलिप्सादि भी रह सकते हैं। रचयिता पुरुष में भ्रमप्रमादादि ही शाब्दज्ञान के कारणों को दुष्ट बनाते हैं। अतः वेदजन्यज्ञान में प्रामाण्य के साधक ये दोनों ही 'असिद्ध' नाम के हेत्वाभास हैं। इस आक्षेप का यह समाधान है—

आगे वेदों में अकर्तृकत्व की सिद्धि दिखलायी गयी है (देखिये शाबरभाष्य) उसी से इन हेतुओं में असिद्धि दोष का निवारण हो जाता है, क्योंकि वेद यदि किसी पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं है तो फिर अनाप्तपुरुषप्रणीत भी नहीं हैं एवं विप्रलिप्सु पुरुष प्रणीत भी नहीं हैं। अतः वे दोनों हेतु असिद्ध नहीं हैं।

यही सब सोचकर भाष्यकार ने 'नान्यत्वात्' यह भाष्यसन्दर्भ लिखा है। इस भाष्यसन्दर्भ के भी छः प्रकार के व्याख्यान (श्लो० १७६ से, श्लो० १८६ पर्यन्त ग्यारह श्लोकों से) वार्त्तिककार ने किया है। 'लोके' इत्यादि प्रथम भाष्यसन्दर्भ की भी छः प्रकार की व्याख्या वार्त्तिककार ने दिखलायी है ॥ १८६ ॥

प्रत्यक्षस्त्वतिवाच्यं वा प्राथम्यं वापि लक्षयेत् ।
स्वरूपतः प्रमाणत्वं मिथ्यात्वं पररूपतः ॥ १८७ ॥

'ननु सामान्यतोदृष्टम्' इस भाष्यगत पूर्वपक्ष का ही उत्तर भाष्य में निम्न-लिखित सन्दर्भ से दिया गया है—

'अपि च 'पुरुषवचनसाधर्म्याद् वेदवचनं मिथ्या' इत्यनुमानं व्यपदेशादवगम्यते प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः। न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रमाणं भवति।'

(शाबरभाष्य)

भाष्य के इस सन्दर्भ का अक्षरार्थक्रम से यह अर्थ प्रतीत होता है कि पौरुषेयवचन के अप्रामाण्य स्वरूप साधर्म्य से जो वेदवाक्यों में अप्रामाण्य की आपत्ति 'ननु सामान्यतोदृष्टम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से दी गयी है वह आपत्ति अनुमिति रूप है। एवं वेदवचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षात्मक है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का बाध परोक्षात्मक अनुमान स्वरूप ज्ञान से नहीं हो सकता। श्लोक १८७ से श्लोक १८९ पर्यन्त के ३ श्लोकों से भाष्य के इस सन्दर्भ को तीन प्रकार से सङ्गत किया गया है।

उक्त समाधान भाष्य के 'प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः' इस वाक्य में प्रत्यक्ष शब्द के प्रसङ्ग में प्रश्न उपस्थित होता है कि इस 'प्रत्यक्ष' शब्द से किस विषय का प्रत्यक्ष अभिप्रेत है ?

'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ है 'इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान'। तदनुसार वेद स्वरूप प्रत्यय से जो 'प्रत्यय' अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। वेदवचन स्वरूप शब्द जो श्रोता के श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होता है, जिससे शाब्दज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष शब्द से अभिहित तो कर सकते हैं किन्तु वेदवचन का यह श्रावणप्रत्यक्ष उससे होनेवाले बोध के वैतथ्य का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष तो अनाप्तवाक्य का भी होता है। इससे अनाप्तवाक्य के अप्रामाण्य में कोई बाधा नहीं होती है। वेदवचन से उत्पन्न शाब्दज्ञान का जो 'शाब्दयामि' इस आकार का अनुव्यवसाय नाम का प्रत्यक्ष होता है उसको इस प्रत्यक्ष शब्द से लेना संभव नहीं है, क्योंकि मीमांसक लोग ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं मानते। प्रकृत सन्दर्भ से मीमांसकों की सम्मति ही प्रगट की गई है। अतः प्रकृत में 'प्रत्यक्ष' शब्द से क्या अभीष्ट है—यह कहना आवश्यक है। प्रत्यक्ष शब्द के अर्थ के प्रसंग में जो यह प्रश्न उपस्थित है उसका पहला समाधान प्रत्यक्ष शब्द को प्रत्यक्षसदृश में लाक्षणिक मानकर किया है। ये सादृश्य चार प्रकार से संभव हैं। अतः इस प्रथम समाधान के अवान्तर चार भेद हैं जो इस १८७वें श्लोक से वर्णित हुये हैं—

प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के प्रत्यक्ष शब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा वेदवाक्य से उत्पन्न शाब्दबोध अभिप्रेत है। अर्थात् प्रकृत में 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ है 'प्रत्यक्ष-सदृश ज्ञान'। इस ज्ञान में प्रत्यक्ष के सादृश्य चार प्रकारों से अभिप्रेत हैं—

(१) दार्ढ्य (दृढ़ता) (२) अनुमानपूर्वत्व (३) स्वतः प्रामाण्य और (४) परतः प्रामाण्य। तदनुसार प्रत्यक्ष शब्द के प्रयोग से उत्पन्न प्रश्न का पहला समाधान यह है—

(१) जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अतिदृढ़ होता है उसी प्रकार वेदजन्य शाब्द-बोध स्वरूप ज्ञान परोक्षात्मक होने पर भी अपनी अतिदृढ़ता के कारण वेदवाक्यों में पौरुषेय वाक्यों के सादृश्य से दी गई अप्रामाण्य की आपत्ति को हटाने में पूर्ण समर्थ है।

(२) जहाँ एक ही विषय के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के उत्पादकों का समूह (सामग्री) एकत्र है, एवं उसी विषय का अनुमान प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अनुमित्यात्मक ज्ञान की सामग्री संवलित है, वहाँ समानविषयक होने के कारण लघु-भूत प्रत्यक्षसामग्री ही बलवती होती है। फलतः वहाँ उस विषय का प्रत्यक्ष होना ही उचित है, उसी विषय की अनुमति नहीं होती, क्योंकि अनुमितिसामग्री गुरुभूत है। इस प्रकार समानविषयक स्थल में प्रत्यक्ष में जो अनुमानबाधकत्व धर्म है उसीका सादृश्य वेदजन्य शाब्दबोध की सामग्री में भी है। फलतः वेदस्वरूप शब्दप्रमाण में भी अनुमानबाधकत्व धर्म है।

कहने का तात्पर्य है कि 'वेदवाक्यानि अप्रमाणानि वाक्यत्वात् लौकिक-वाक्यवत्' इस अनुमान के द्वारा उस प्रामाण्य का बाध नहीं हो सकता जो प्रत्यक्ष के समान ही अनुमानप्राथम्य से युक्त वैदिक वाक्यों से में है।

(३) जिस प्रकार प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा गृहीत होता है उसी प्रकार शब्द स्वरूप प्रमाण का भी प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा गृहीत होता है। इस सादृश्य से भी शाब्दबोध को समझाने के लिए प्रत्यक्ष शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। फलतः वैदिक शब्द स्वरूप प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा गृहीत होता है, उसका बाध अप्रामाण्य के कथित अनुमान से नहीं हो सकता।

(४) जिस प्रकार दुष्ट इन्द्रियजन्य 'शंखः पीतः' इत्यादि ज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य परतः उत्पन्न होता है तथा गृहीत होता है, उसी प्रकार शाब्द ज्ञान में रहने वाला अप्रमात्व भी परतः उत्पन्न तथा गृहीत होता है। इस सादृश्य से भी शाब्द ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया जा सकता है ॥ १८७ ॥

ज्ञानाभावश्च मिथ्यात्वं द्वयस्यासम्भवाद् यदि।
प्रत्यक्षं तत्परेषां च सिद्धमस्यानुमानतः ॥ १८८ ॥

मिथ्यात्व के संशय, विपर्य ज्ञानाभाव (ज्ञानानुत्पत्ति) ये तीन प्रकार हैं। इनमें दो प्रकार के मिथ्यात्व की असंभावना पहिले ही दिखा चुके हैं। वेदों में अप्रामाण्य के अनुमान से यदि वेदों में ज्ञानानुत्पत्ति स्वरूप तृतीय प्रकार का मिथ्यात्व विवक्षित हो तो फिर वेदाप्रामाण्यवादी बौद्धों के मत में प्रत्यक्षविरोध की आपत्ति होगी, क्योंकि मीमांसक ज्ञानों का प्रत्यक्ष भले ही स्वीकार न करें, बौद्धगण तो ज्ञानों का प्रत्यक्ष मानते हैं। अतः और कोई देखे या न देखे वे तो अवश्य देखते हैं कि वेद वाक्यों से ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। बौद्धों के इसी प्रत्यक्ष-विरोध को दिखलाने के लिए प्रकृत भाष्य-सन्दर्भ में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग है।

इस व्याख्या में प्रत्यक्ष शब्द का वाच्यार्थ हीं विवक्षित है। इस अभिप्राय के अनुसार श्लोक के अन्वय में कुछ अध्याहार आवश्यक होते हैं[१]।

ये दोनों ही व्याख्यायें आगमविरोध को दृष्टि में रखकर को गयी हैं ॥ १८८ ॥

यथा च तव मिथ्यात्वं साधनं साधयेदिदम्।
तथा च बाधकाधीनं मिथ्यात्वमपि साधयेत् ॥ १८९ ॥

(यह व्याख्या उक्त समाधान भाष्य को वेदों में कथित अप्रामाण्यानुमान में 'विशेषविरोध' दोष का उद्भावक मानकर लिखी गयी है)।

लौकिक वाक्य को दृष्टान्त बनाकर त्रयीबाह्य बौद्धादि वेद वाक्यों में मिथ्यात्व की सिद्धि करना चाहते हैं। लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त में मिथ्यात्व की सिद्धि इस लिए होती है कि सभी ज्ञानों में निसर्गत: प्राप्त प्रामाण्य के विघातक फलत: अप्रामाण्य रूप मिथ्यात्व के प्रयोजक दोष—जो शब्द ज्ञान में अप्रमात्व के लिए वक्तृगत भ्रम-प्रमादादि हैं—की सत्ता या संभावना आधुनिक पुरुषों में रहती है। लौकिक पुरुषों में भी जहाँ इन प्रामाण्य के विघातक दोषों की संभावना या सत्ता नहीं रहती है वहाँ लौकिक वाक्यों में अप्रामाण्य उत्पन्न या गृहीत नहीं होता है।

अत: लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त में उक्त बाधक स्वरूप दोषों के अधीन ही अप्रामाण्य है, केवल अप्रामाण्य नहीं है। दृष्टान्त में साध्य की सिद्धि जिस रूप की रहती है उसी रूप से उस साध्य की सिद्धि पक्ष में उस दृष्टान्त के साहाय्य से हो सकती है एवं वही होता भी है। इस लिए लौकिक वाक्य स्वरूप दृष्टान्त के द्वारा वैदिक वाक्यों में भी 'वक्तृगत भ्रमप्रमादि स्वरूप दोषाधीनत्वविशिष्ट' अप्रामाण्य की ही सिद्धि होगी, केवल अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं होगी।

किन्तु वेदों का कोई आदि वक्ता पुरुष नहीं। अत: वेदों में अप्रामाण्य को स्वीकार भी कर लें तथापि उक्त बाधकाधीनत्वविशिष्ट अप्रामाण्य की सिद्धि वेदों में नहीं हो सकती। विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव की सिद्धि 'शिखी विनष्ट: पुरुषो न नष्ट:' इत्यादि न्याय से सर्वसिद्ध है। अत: उक्त अनुमान से वेदों में उक्त विशिष्ट साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त विशिष्ट साध्य का अभाव कथित रीति से सिद्ध है। अत: उक्त वाक्यत्व हेतु में विशिष्टाभाव की व्याप्ति के रहने से हेतु में 'विशेषविरोध' स्वरूप दोष होगा। इस लिए वाक्यत्व हेतु हेत्वाभास हो जायगा। अत: वाक्यत्व स्वरूप हेत्वाभास से वेदों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १८९ ॥

धर्म इत्युपसंहार्ये यच्छ्रेयस्करभाषणम्।
तद्धर्मपदवाच्यार्थनिरूपणविवक्षया ॥ १९० ॥

---

१. (संशयविपर्ययस्वरूप) द्वयस्य मिथ्यात्वस्य प्रकृते असंभवात् यदि ज्ञानाभावो मिथ्यात्वम् (तदा) परेषाम् (वेदाप्रामाण्यवादिनां बौद्धानां मते) तत् (ज्ञानं) प्रत्यक्षं (यद्यपि) अस्य मीमांसकस्य मते तत् (प्रत्यक्षम्) अनुमानतः सिद्धम्।

अब 'तस्माच्चोदनालक्षणः श्रेयस्करः' (शाबरभाष्य) इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या की जाती है। सूत्रकार ने उपक्रम में 'चोदनालक्षण' को 'धर्म' की संज्ञा दी है। भाष्यकार 'चोदनालक्षण' को 'श्रेयस्कर' शब्द से अभिहित करते हैं। उपक्रम और उपसंहार में यह भेद क्यों ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि यह सत्य है कि उपक्रम और उपसंहार दोनों की एकता की दृष्टि में 'तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' ऐसा ही उपसंहार वाक्य लिखना उचित था। किन्तु 'धर्म' शब्द और 'श्रेयस्कर' शब्द दोनों एकार्थक हैं, इस वस्तुगति को समझाने के लिये ही उक्त उपसंहार वाक्य में 'धर्मः' पद के स्थान में 'श्रेयस्कर' शब्द का प्रयोग भाष्यकार ने किया है। अपने इसी अभिप्राय की पुष्टि भाष्यकार ने 'य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते' इस वाक्य से की है ॥ १९० ॥

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात् तेष्वेव धर्मता ॥ १९१ ॥

'य एव श्रेयस्करः' इत्यादि भाष्य के द्वारा कौन-कौन सी वस्तुओं को 'धर्म' शब्द से अभिहित किया गया है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि है कि प्रधान रूप से पुरुष की प्रीति ही वस्तुतः 'श्रेयः' शब्द का अभिधेयार्थ है। 'श्रेयः' शब्द से अभिहित होने वाली यह 'प्रीति' विधायक वेद वाक्यों के द्वारा निर्दिष्ट द्रव्य, गुण, और कर्म इन तीनों से ही (समष्टि व्यष्टिभाव से) होती है। अतः यह तीनों ही 'धर्म' हैं।

कहने का तात्पर्य है कि मीमांसक गण नैयायिकादि की तरह यागादि से उत्पन्न व्यापार स्वरूप अपूर्व या अदृष्ट को धर्म नहीं कह कहते। उनके मत से यागादि क्रिया और उनके सम्पादक द्रव्य गुणादि ही धर्म हैं। इसी अभिप्राय से उपर्युक्त श्लोक लिखा गया है ॥ १९१ ॥

अन्यत् साध्यमदृष्ट्वैव यागादीननुतिष्ठतः।
धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते ॥ १९२ ॥

यागादि कर्म ही धर्म शब्द के वाच्य क्यों हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने 'यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकं समाचक्षते' इत्यादि पंक्ति के द्वारा लोकव्यवहार को प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। अर्थात् यागादि के अनुष्ठाताओं को ही लोग 'धार्मिक' कहते हैं। अतः यागादि कर्म ही धर्मशब्द के वाच्य हैं।

इस प्रसङ्ग में नैयायिकादि यागादि से उत्पन्न अपूर्व (अदृष्ट) को ही धर्म शब्द का अभिधेय मानकर इस दृष्टि से उक्त लोकव्यवहार को उपपन्न करना चाहते हैं कि यागादि से ही अनुष्ठाता पुरुष के द्वारा अपूर्वादि व्यापारों का भी सम्पादन होता है, अतः यागादि के कर्त्ता पुरुष में ही ये अपूर्व (या अदृष्ट) भी रहते हैं। इसलिये धार्मिकत्व के व्यवहार को यागादिजन्य अपूर्वमूलक भी मान लें तथापि यागादि का अनुष्ठान न करने वाले पुरुषों में धार्मिकत्व के व्यवहार के लिये यह आवश्यक नहीं है कि यागादि-क्रियाओं को ही धर्म मानें, अपूर्वादि को नहीं। धार्मिकत्व

व्यवहार की यह दूसरे प्रकार से उपपत्ति (अन्यथोपपत्ति) इस प्रकार निराकृत हो सकती है :—

यागादि क्रियाओं को छोड़कर अपूर्वादि किसी साध्य को बिना देखे ही साधारणजन यागादि के अनुष्ठाता पुरुषों में धार्मिकत्व का व्यवहार करते हैं। इससे यह समझना सहज है कि यागादि क्रियाओं के सम्बन्ध से ही 'अयं धार्मिकः' यह व्यवहार होता है। यागादि क्रियाओं से उत्पन्न अपूर्वादि से यह व्यवहार नहीं होता है। अतः यागादि कर्म ही 'धर्म' शब्द के मुख्यार्थ हैं ॥ १९२ ॥

पश्वादीनि च धर्मस्य फलानीति व्यवस्थितम् ।
चित्रागोदोहनादीनां तान्युक्तानि फलानि च ॥ १९३ ॥
तस्मात् तेष्वेव धर्मत्वम् धर्माणीति च दर्शनात् ।
लिङ्गसंख्याविनिर्मुक्तो धर्मशब्दो निदर्शनम् ॥ १९४ ॥

'यागादि कर्म ही 'धर्म' शब्द के मुख्यार्थ हैं' इस लोकप्रसिद्धि में यह व्यवहार ही प्रमाण है—

पश्वादीनि च ···फलानि च तस्मात्तेष्वेव धर्मत्वम्

'पशुप्रभृति फल धर्म से होते हैं' यह सार्वजनीन व्यवहार है। इससे सिद्ध होता है कि पशुप्रभृति जिनके फल हैं वे अवश्य ही 'धर्म' हैं। 'चित्रया यजेत पशुकामः, चमसेनापः प्रणयेत् गोदहनेन पशुकामस्य' इत्यादि विधिवाक्यों से चित्रादि-यागादि स्वरूप क्रियाओं से पशु आदि फलों का विधान किया गया है। इन सभी उपपत्तियों से स्पष्ट है कि यागादि कर्म ही धर्म शब्द के मुख्यार्थ हैं, अपूर्वादि नहीं।

धर्माणीति च ·········निदर्शनम्

पुरुषसूक्त के 'यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस वाक्य के द्वारा भी यही सूचित होता है कि 'धर्म' यागादि क्रियाओं का स्वरूप ही है। प्रकृत-वाक्य में 'तानि' शब्द से 'यज्ञ' का परामर्श है। इस 'तानि' पद का अभेदान्वय 'धर्माणि' पद के साथ है। इस प्रकार बहुवचनान्त 'तत्' शब्द से परामृष्ट 'यज्ञ' शब्द का 'धर्म' शब्द के साथ अभेदान्वय स्पष्ट है। तस्मात् धर्म को यागादि स्वरूप मानने में उक्त वेद वाक्य भी प्रमाण है।

लिंगसंख्याविनिर्मुक्तः·········

किन्तु इस प्रकार की व्याख्या में एक असङ्गति दीख पड़ती है। प्रकृत सूक्त का 'यज्ञम्' पद पुंल्लिङ्ग एवं एक वचनान्त है। एवं 'तानि' और 'धर्माणि' ये दोनों ही पद नपुंसक और बहुवचनान्त हैं। 'तानि' पद से पुंल्लिग और एकवचनान्त 'यज्ञम्' पद से प्रतिपाद्य अर्थ का परामर्श नहीं हो सकता। एवं इसी युक्ति से 'धर्माणि' पद के साथ 'यज्ञम्' पद का अभेदान्वय भी नहीं हो सकता। अतः इस सूक्त के द्वारा यागादि क्रियाओं की धर्मस्वरूपता सिद्ध नहीं हो सकती।

इसी असङ्गति को मिटाने के लिये श्लोक में 'लिङ्गसंख्याविनिर्मुक्तः' यह वाक्य है।

कहने का तात्पर्य है कि 'तानि' पद के 'तत्' शब्द स्वरूप शुद्ध प्रातिपदिक से प्रकृत में 'यज्ञ' का ही परामर्श हो सकता है, किसी अन्य का नहीं, क्योंकि वही उपस्थित है। एवं 'तत्' शब्द के साथ अभेदान्वित है 'धर्म' शब्द। अतः यज्ञ और धर्म दोनों अभिन्न हैं। रही लिङ्ग और संख्या की विभिन्नता, उसे तो छान्दस कहकर भी छुट्टी पालेंगे ॥ १९३–१९४ ॥

अन्तःकरणवृत्तौ वा वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि ॥ १९५ ॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार अपने मत के अनुसार 'धर्म' शब्द के अर्थ का निर्णय कर लेने पर मीमांसकों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अपने विरुद्ध मतों का खण्डन भी करें, क्योंकि वस्तु की सिद्धि के लिये जिस प्रकार साधक प्रमाणों का प्रदर्शन आवश्यक है उसी प्रकार बाधक प्रमाणों का निरसन भी आवश्यक ही है। तदनुसार इन दो श्लोकों से विरोधिमतों का उल्लेख एवं सामान्य रूप से उनका खण्डन किया गया है।

(१) अन्तःकरणवृत्तौ वा

सांख्यशास्त्र के अनुयायियों के मत से यागादि विहित कर्मों से मन रूप अन्तःकरण की एक विशेष प्रकार की 'वृत्ति' ही 'धर्म' शब्द का वाच्यार्थ है।

(२) वासनायाञ्च चेतसः

बौद्धों के मत से चैत्यवन्दनादि विज्ञानों से उत्पन्न विज्ञानों में उन्हीं ज्ञानों से उत्पन्न एक प्रकार की 'शुभा वासना' ही 'धर्म' शब्द का मुख्यार्थ है।

(३) पुद्गलेषु च पुण्येषु

आर्हत (जैन) लोगों के मत से शरीर के उत्पादक परमाणु ही 'धर्म' शब्द के अभिधेयार्थ हैं। इन्हीं परमाणुओं को जैन शास्त्र में 'पुद्गल' भी कहते हैं।

(४) नृगुणे

वैशेषिक दर्शन और न्याय दर्शन के आचार्यगण 'नृगुण' अर्थात् मनुष्य की आत्मा में रहने वाले एक विशेष प्रकार के 'गुण' को ही 'धर्म' कहते हैं।

(५) अपूर्वजन्मनि

मीमांसकों में ही कुछ लोग यागादि से उत्पन्न होने वाले 'अपूर्व' को ही धर्म का मुख्यार्थ मानते हैं।

इन मतभेदप्रदर्शक वाक्यों में मीमांसकैकदेशी के मत का प्रदर्शक 'अपूर्वजन्मनि' यह वाक्य किञ्चिद् विचारणीय है। 'यागात् पूर्वं जन्म यस्य असौ पूर्वजन्मा, न पूर्वजन्मा—अपूर्वजन्मा' इस विग्रह के अनुसार अपूर्व शब्द का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि जिसकी उत्पत्ति यागादि क्रियाओं से पहले न हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति यागादि क्रियाओं से बाद ही हो वही है 'अपूर्वजन्मा', फलतः यागादि जनित अपूर्व। इसी 'अपूर्वजन्मा' को संक्षेप में 'अपूर्व' कहते हैं।

यागादिजन्य अपूर्व की सत्ता सभी मीमांसकों को मान्य है। किन्तु वही 'धर्म' शब्द का अभिधेय है कि नहीं इसी में विवाद है। इस विवाद में भट्ट कुमारिल अपूर्व को धर्म शब्द का मुख्यार्थ न माननेवालों के दल में हैं। अतः जो मीमांसक 'धर्म' शब्द का मुख्यार्थ अपूर्व को मानते हैं उन्हें मीमांसकैकदेशी कहा गया है।

प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टः

इस प्रसंग के सभी प्रतिपक्षियों को दिये गये उत्तर स्वरूप वार्त्तिक के इस अंश का आशय यह है कि कथित अन्तःकरणवृत्ति प्रभृति में कहीं भी लोक में धर्म शब्द का मुख्य प्रयोग दृष्ट नहीं है। अतः इनमें से कोई भी धर्म शब्द का मुख्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि किसी शब्द का मुख्य अर्थ कौन है—इसका नियामक भूरि लोकप्रयोग ही है। धर्म शब्द का जब इस प्रकार का भूरि प्रयोग उन अन्तःकरणवृत्त्यादि अर्थों में नहीं है तो उनमें से कोई भी धर्म शब्द का वाच्य अर्थ नहीं हो सकता।

न च''''''शक्यन्ते चोदनादिभिः

दूसरी बात यह भी है कि लोक में धर्म शब्द श्रेयः के साधन स्वरूप अर्थ में ही प्रयुक्त है। अतः जिस सम्प्रदाय के लोग अन्तःकरणवृत्त्यादि जिस किसी अर्थ को धर्म शब्द का वाच्यार्थ मानें उन लोगों की भी दृष्टि यही है कि वे अन्तःकरणवृत्ति प्रभृति पदार्थ जिस लिये कि श्रेयस् के साधन हैं अतः वे धर्म शब्द के मुख्यार्थ हैं। किन्तु धर्म में श्रेयःसाधनता का ज्ञापक बौद्धादि त्रयीबाह्यों के मतों में भी आगम प्रमाण ही है। उन लोगों के मत में भी चैत्यवन्दनादि अनुष्ठानों को ही धर्म कहा गया है। अन्तःकरणवृत्ति प्रभृति में श्रेयस् की साधनता का ज्ञापक कोई विधायक वाक्य रूप प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः चोदनास्वरूप वैदिक विधायक वाक्य से श्रेयःसाधन के रूप में निर्दिष्ट अर्थ ही धर्म शब्द का मुख्यार्थ हो सकता है। अतः अन्तःकरणवृत्त्यादि धर्मशब्द के मुख्यार्थ नहीं हो सकते ।। १९५–१९६ ।।

न च वस्त्वन्तरं शक्यमपूर्वं स्वर्गयागयोः।
ज्ञातुं साधनभूतं वा साध्यं वा नाप्यतोऽन्यथा ॥ १९७ ॥

नैयायिकादि यागादि से उत्पन्न होनेवाले उस व्यापार को ही 'धर्म' कहते हैं जिससे स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति होती है। यह अवान्तर व्यापार मीमांसकों को भी अभिप्रेत है। किन्तु वे इसको 'अपूर्व' कहते हैं। उनके मत में स्वर्गादि श्रेयस् के साधक यागादि कर्म ही 'धर्म' शब्द से अभिहित होते हैं।

प्रश्न है कि 'श्रेयःसाधनत्व' ही यदि धर्म शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है तो फिर उभयमतसिद्ध उस अवान्तर व्यापार को ही धर्म शब्द का मुख्यार्थ क्यों न माना जाय ? 'तेनापूर्वं कृत्वा नान्यथा' इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने भी इस अवान्तर व्यापार में श्रेयःसाधनत्व का प्रतिपादन किया है। फिर इस प्रसंग में नाम के लिए मतभेद क्यों ?

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' चोदनास्वरूप वैदिक-विधायक वाक्य से ही जाना जा सकता है। 'अपूर्व' को यदि धर्म कहें तो फिर 'अपूर्व' को भी केवल चोदनास्वरूप वैदिक विधायक वाक्य से ही ज्ञात होना उचित है। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वैदिक विधायक वाक्य ही धर्म के ज्ञापक हैं। इन वाक्यों से यदि अपूर्व का बोध भी होगा तो वह 'अपूर्वं यागसाध्यम्' अथवा 'अपूर्वम् स्वर्गसाधनम्' इसी आकार का होगा। अर्थात् यागसाध्यत्वरूप से अथवा तत्साधनत्व रूप से ही अपूर्व का बोध होगा। वेदमात्र से जानने योग्य अपूर्व का भान इनसे भिन्न रूप में होना सम्भव नहीं है।

किन्तु यह उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से 'स्वर्गो यागसाध्यः' अथवा 'यागः स्वर्गसाधनम्' इत्यादि आकार का बोध ही अनुभवसिद्ध है। इस वाक्य से किसी को भी यह बोध नहीं होता कि 'अपूर्वं याग-साध्यम्' अथवा 'यागः अपूर्वसाधनम्'। अतः अपूर्व धर्म शब्द का मुख्यार्थ नहीं हो सकता।

यागसाध्यत्व और स्वर्गसाधनत्व इन दोनों से भिन्न किसी भी रूप से यदि अपूर्व की सत्ता मानेंगे तो फलतः अपूर्व की सत्ता ही उठ जायगी ॥ १९७ ॥

श्रुतसाधनसाध्यत्वत्यागेनाश्रुतकल्पना ।
प्रसज्येतास्य ताद्रूप्ये व्यतिरेके स्वरूपता ॥ १९८ ॥

स्वर्गसाधनत्व रूप से अथवा यागसाध्यत्व रूप से अपूर्व का बोध मानने से अथवा किसी अन्य रूप से ही अपूर्व का बोध मानने से अपूर्व की असत्ता की आपत्ति क्यों होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

यदि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से स्वर्गसाधन के रूप में अथवा यागसाध्य के रूप में अपूर्व का बोध मानें तो 'श्रुतहानि' और 'अश्रुतकल्पना' दोष उपस्थित होंगे। इन दोनों से भिन्न किसी भी रूप में अपूर्व की सत्ता या ज्ञान के सम्पादन का प्रयास अपूर्व की जड़ को ही काटने जैसा है, क्योंकि उन्हीं दोनों रूपों से अपूर्व की सत्ता मानी जा सकती है। सो यदि सम्भव नहीं है तो फिर उसकी सत्ता ही नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से 'यागः स्वर्गसाधनम्' एवं 'स्वर्गो यागसाध्यः' इस प्रकार की प्रतीति ही सर्वजनसिद्ध होने के कारण स्वाभाविक हैं। इस स्वाभाविकता का त्याग ही 'श्रुतहानि' स्वरूप दोष है। सर्वजन-विरुद्ध 'अपूर्वं स्वर्गसाधनम्', 'अपूर्वं यागसाध्यम्' इस प्रकार का बोध यदि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से मानें तो 'अश्रुत' अर्थात् 'सर्वजनविरुद्ध' 'कल्पना' अर्थात् प्रतीति

('अपूर्वम् यागसाध्यः' और 'अपूर्वम् स्वर्गसाधनम्' इन दोनों प्रकार की प्रतीतियाँ) माननी पड़ेगी। इस प्रकार प्रसिद्ध का त्याग और अप्रसिद्ध की कल्पना क्रमशः ये दोनों दोष आ पड़ेंगे।

इन दोनों रूपों से भिन्न किसी भी रूप में अपूर्व को समझा ही नहीं जा सकता, क्योंकि अपूर्व की सत्ता इन्हीं दोनों प्रकारों से सिद्ध हो सकती है, किसी भी अन्य प्रकार से नहीं।

व्यतिरेकेत्वरूपता

अपूर्व की सत्ता में इतना ही प्रमाण है कि स्वर्ग के साधन रूप से सिद्ध यागादि क्रियायें क्षणमात्रस्थायिनी हैं, उनके फल स्वर्गादि उनसे बहुत समय बाद प्रायः दूसरे जन्म में उत्पन्न होने वाले हैं, अतः स्वर्गादि फलों के अव्यवहित पूर्वक्षण में यागादि साधनों की सत्ता नहीं रह सकती, फलतः यागादि में स्वर्गादि फलों की साधनता ही विपन्न हो जाती है। अतः यागादि से एक विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति मानी जाती है जो स्वर्गादि फलों के अव्यवहितपूर्वक्षण तक रह कर स्वर्ग का सम्पादन कर सके। उसी वस्तु का नाम 'अपूर्व' है। फलतः यागजन्यत्व और स्वर्गादिजनकत्व ये दोनों ही अपूर्व की सत्ता के सम्पादक हैं। यदि इन दोनों रूपों से अपूर्व की प्रतीति नहीं हो सकती तो फिर अपूर्व की सत्ता ही विपन्न हो जायेगी॥ १९८॥

तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्॥ १९९॥

यदि स्वर्गसाधनत्व रूप से एवं यागसाध्यत्व रूप से अपूर्व की प्रतीति नहीं होती है एवं उसका कोई उत्पादक स्वरूप नहीं है तो क्या मीमांसकों को अपूर्व की असत्ता ही इष्ट है? इस प्रश्न का समाधान वे यह देते हैं—

पशुस्वर्गादि फलों के लिये प्रवृत्त यागादि क्रियाओं में जो उक्त फलों की उत्पादिका शक्ति है वही अपूर्व है। अथवा उत्पत्ति के लिये आग्रहशील पशुस्वर्गादि फलों की सूक्ष्मावस्था ही 'अपूर्व' है। इन दोनों से सर्वथा पृथक् अपूर्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। यही बात आगे अपूर्वाधिकरण में महर्षि जैमिनि ने स्वयं कही है (देखिये जैमिनि सू० अ० २-पा० १ सू० ५)॥ १९९॥

शक्तयः सर्वभावानां भावशब्दैर्विशेषतः।
नोपाख्यायन्त इत्येवं नापूर्वे धर्मशब्दता॥ २००॥

अपूर्व का स्वरूप चाहे जो भी हो, उसे धर्म शब्द का अभिधेय मान लेने में क्या आपत्ति हो सकती है? इस प्रश्न का यह समाधान है—

पहले ही उपपादन किया जा चुका है कि स्नानयागादि क्रियाओं में ही धर्म शब्द का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है, अपूर्व में नहीं। अभी-अभी कह आये हैं कि अपूर्व

शक्ति रूप है। 'शक्ति' स्वरूप अर्थ को समझाने के लिये शक्ति, सामर्थ्य प्रभृति साधारण शब्द ही लोक में प्रयुक्त होते हैं। 'धर्म' शब्द साधारण शक्ति का वाचक नहीं है, क्योंकि अग्नि की शक्ति में धर्म शब्द का प्रयोग नहीं होता है। अतः केवल यही हो सकता है कि यागादि की जो स्वर्ग को उत्पन्न करने की शक्ति है उसको विशेष रूप से धर्म शब्द का अर्थ मानें। किन्तु श्रेयःसाधन स्वरूप याग में पर्यवसन्न धर्म शब्द याग में रहने वाली जो स्वर्गजनिका शक्ति है—तत्पर्यन्त नहीं आ सकता, क्योंकि किसी 'भाव' स्वरूप अर्थ के वाचक शब्द से उस अर्थ से युक्त किसी दूसरे अर्थ का बोध नहीं हो सकता। घट का वाचक घट शब्द घट में जो जलाहरण शक्ति है उसका वाचक नहीं हो सकता। अतः अपूर्व भी धर्म शब्द का अर्थ नहीं हो सकता॥ २००॥

पुरस्ताच्चोदनाशब्दो विधावेव व्यवस्थितः।
न च तल्लक्षणा हिंसा प्रत्युदाहरणं कथम्॥ २०१॥

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'चोदनालक्षणः' और 'धर्मः' इन दोनों अंशों का विचार निष्पन्न हो चुका। अब इस सूत्र के 'अर्थ' शब्द का विचार प्रारम्भ होता है।

इस प्रसङ्ग में भाष्य की पंक्ति है—

'उभयमिह चोदनया लक्ष्यतेऽर्थोऽनर्थश्च। कोऽर्थः? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय, श्येनो, वज्र इषुरित्येवमादिः। तत्रानर्थो धर्म उक्तो मा भूदित्यर्थग्रहणम् (शा० भा० पृ० ५ पं० १९)।'

इस भाष्यसन्दर्भ का साधारण अर्थ यह है—

'चोदना' शब्द के द्वारा 'अर्थ' (ज्योतिष्टोमादि) और 'अनर्थ' (श्येन, इषु, वज्र प्रभृति) दोनों ही ज्ञात होते हैं। इनमें 'धर्म' शब्द के द्वारा 'अर्थ' ही गृहीत हो 'अनर्थ' नहीं—इसीलिए इस सूत्र में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद की सार्थकता के लिये लिखे गये उपर्युक्त भाष्यसन्दर्भ के 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इस अंश के ऊपर यह आक्षेप होता है—

इस सूत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में भाष्यकार ने सबसे पहला यह वाक्य लिखा है 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' (पृ० १२ पूना सं० प्रथमखण्ड), अर्थात् पुरुष को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले वाक्य को ही 'चोदना' कहते हैं। इस प्रकार क्रिया के विधायक वाक्य में ही 'चोदना' शब्द व्यवस्थित है। विधि के विषय स्वर्गादि के जनक अर्थ स्वरूप 'याग' ही 'चोदनालक्षण' हैं, हिंसा एवं सुरापानादि स्वरूप 'अनर्थ' चोदना लक्षण नहीं हैं।

इस प्रकार यदि 'चोदनालक्षणः धर्मः' इस आकार का अर्थपदाघटित ही धर्म का लक्षण कहते हैं, तथापि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि वाक्यों से विहित अनर्थ स्वरूप श्येनादि यागों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। फिर भाष्यकार ने 'तत्रानर्थो···मा भूदित्यर्थग्रहणम्' इस उपसंहार के लिये 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते'

यह उपक्रम वाक्य कैसे लिखा ? इस आक्षेप के बोधक प्रकृत श्लोक का अक्षरक्रम से यह अर्थ है—

पहले ही भाष्यकार ने चोदना शब्द को विधायक वाक्य में व्यवस्थित कर दिया है। अतः हिंसा 'तल्लक्षणा' अर्थात् 'चोदनालक्षणा' नहीं है। अतः 'हिंसा' अर्थ पद का प्रत्युदाहरण नहीं हो सकती। इसलिये तत्प्रदर्शक 'उभयमिह' इत्यादि भाष्य-सन्दर्भ असङ्गत है ॥ २०१ ॥

चोदनालक्षणो यश्च श्येनादिरिह गम्यते।
निषेधाभावतस्तस्य कथं ब्रूयादनर्थता ॥ २०२ ॥

'कोऽनर्थः ?' इस भाष्य के ऊपर कोई आक्षेप करते हैं कि—भाष्यकार ने 'कोऽनर्थः ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'यः प्रत्यवायाय' यह वाक्य लिखा है। किन्तु 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य के द्वारा उपदिष्ट 'श्येन' अनर्थ कैसे हो सकता है, निषेधवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट ही 'अनर्थ' हो सकता है ? अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ असङ्गत है।

इस श्लोक का अक्षरार्थ यह है—'चोदनालक्षण' विधायक वाक्य के द्वारा यहाँ ज्ञात होने के कारण श्येनादि निषेधवाक्य के विषय नहीं हो सकते। फिर 'श्येन' को भाष्यकार ने 'अनर्थ' कैसे कहा ? ॥ २०२ ॥

यद्यपि स्याद् विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशः।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिवत् ॥ २०३ ॥

उक्त आक्षेप के समाधान में यह कहा जा सकता है कि विधायक वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट वस्तु भी निषेधवाक्य का विषय हो सकती है। जैसे कि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन दोनों ही विधि-निषेधवाक्यों का विषय एक ही 'षोडशिग्रहण' है। अतः 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य से निर्दिष्ट अभिचार स्वरूप श्येनयाग भी निषेध शास्त्र का विषय हो सकता है। पूर्व-पक्षवादी इस समाधानाभास का खण्डन इस प्रकार करते हैं—

विहित विषय में निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब कहीं भी किसी प्रकार से अन्यत्र चरितार्थता संभव ही न हो। प्रकृत श्येन स्वरूप विहित विषय में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य हिंसानिषेधक की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्यशास्त्र से विशेषशास्त्र बलवान् होता है। अतः 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यह विशेष विधि उक्त हिंसा के निषेधक उक्त सामान्य वचन को श्येन हिंसा से अति-रिक्त विषय में प्रवृत्ति के लिये सङ्कुचित होने के लिये बाध्य करेगा। यदि किसी प्रकार श्येन में उसकी प्रवृत्ति मान भी लें तथापि श्येन अनर्थ नहीं हो सकता। जैसे कि विधि का विषय षोडशिग्रहण निषेध का भी विषय होता है तथापि अनर्थ नहीं होता ॥ २०३ ॥

चोदनालक्षणं चोक्त्वा निषिद्धत्वाद् विरुध्यते।
श्येनादावुपदिष्टे च हिंसा हीति न युज्यते ॥ २०४ ॥

भाष्य में 'कथं पुनरसावनर्थः ?' इस वाक्य के द्वारा प्रश्न किया गया है कि 'श्येन अनर्थ क्यों है ?' इस प्रश्न के उत्तर में भाष्य की दूसरी पंक्ति है कि 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा'। उत्तर स्वरूप इस दूसरे भाष्यसन्दर्भ के ऊपर आक्षेप होता है—

श्येन को चोदना लक्षण कहने के बाद फिर उसी को निषिद्ध कहना परस्पर विरोधी दो बातें हैं।

दूसरी बात यह है कि उपदिष्ट हैं श्येन प्रभृति और प्रतिषिद्ध होने के कारण अनर्थ कहते हैं हिंसा को। श्येन और हिंसा ये दोनों एक नहीं हैं॥ २०४॥

हिंसा हि फलमेतेषां भिन्ना तेभ्यः स्वरूपतः।
सा हि प्राणवियोगात्मा श्येनस्तत्रासिवत्पृथक्॥ २०५॥

क्यों दोनों एक नहीं हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि प्राणवियोग अथवा प्राणवियोग के अनुकूल व्यापार ही 'हिंसा' है। यह हिंसा श्येनयाग का फल है। साध्य और साधन एक नहीं हो सकते। अतः जिस प्रकार खड्ग अपने से उत्पन्न हिंसा से भिन्न है उसी प्रकार श्येन भी स्वजनित हिंसा से भिन्न है॥ २०५॥

उपदेशाभिधानं च नाविधेयेऽवकल्पते।
श्येनादेरविधाने च कस्यान्यस्य विधेयता॥ २०६॥

भाष्य में 'कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्येत' ? इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्यतया विज्ञायन्ते' अर्थात् श्येनादि विधेय रूप से निर्दिष्ट नहीं है। इस प्रकार श्येनादि में अविधेयत्व के उपपादन के बाद फिर 'यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः' अर्थात् जो व्यक्ति हिंसा की इच्छा करे उसके लिए 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य से उपाय का उपदेश किया गया है। उपदेश्यत्व और विधेयत्व दोनों फलतः एक ही है। अतः उक्त वाक्य से श्येनादि में विधेयत्व ही कहा गया है। तस्मात् कथित भाष्यसन्दर्भ परस्पर विरोधी हैं। श्लोक का अक्षरार्थ यह है—

जो विधेय नहीं होगा वह कभी भी उपदेश का विषय नहीं हो सकता। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि वाक्यों से यदि श्येनादि में विधेयता की प्राप्ति न हो तो फिर उनका दूसरा विधेय कौन होगा ? अर्थात् कोई नहीं। इससे वाक्य में विधेय-शून्यता की आपत्ति होगी॥ २०६॥

सर्वत्रावस्थितो न्यायो भावनांशद्वये विधिः।
स बाध्येतेह ये चामी ज्योतिष्टोमादयो मताः॥ २०७॥

धर्मत्वेन न तेऽपि स्युर्हिंसासाधनका हि ते।
न चाविधीयमानस्य फलतत्साधनाङ्गता॥ २०८॥

सर्वत्रावस्थितः.........स बाध्येत

भावना के साधन और इतिकर्त्तव्यता दो अंशों में ही विधिवाक्य की विधेयता है। यदि साधन स्वरूप भावना के अंश स्वरूप श्येन याग में विधेयता न मानें तो सभी विधिवाक्यों के प्रसङ्ग में निश्चित इस सिद्धान्त की अवहेलना होगी।

कहने का तात्पर्य है कि विधेयत्व और उपदेश्यत्व दोनों समनियत हैं। अतः इन में एक को छोड़कर दूसरा नहीं रह सकता। अतः श्येन में उपदेश्यत्व है और विधेयत्व नहीं—यह कहना गलत है।

दूसरी बात यह भी है कि श्येनवाक्य का विधेय यदि श्येन न हो तो फिर दूसरा उसका विधेय होगा ही कौन ? वाक्य से निर्दिष्ट फल कभी विधेय नहीं होता। यदि फल के साधनों को भी विधेय न मानें तो वाक्य विना विधेय के हो जायगा।

इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि भावना का जो इतिकर्त्तव्यता रूप अंश है उसी में विधेयता स्वीकार करेंगे। इस प्रकार वाक्य में विधेयरहितत्व दोष का निराकरण हो सकता है।

किन्तु इस उक्ति में भी कुछ सार नहीं हैं, क्योंकि जो साधन को विधेय नहीं मानते उनका स्वरस है कि स्वर्गादि के साधनों में लोग राग से ही उसी प्रकार प्रवृत्त होंगे जिस प्रकार पाकादि में प्रवृत्त होते हैं। फिर उसे 'विधि' का विषय अर्थात् विधेय क्यों मानें ? विधि की प्रवृत्ति सर्वथा अप्राप्त अर्थ में ही होती है। इसी प्रकार साधनों की तरह इतिकर्त्तव्यता में भी राग से ही प्रवृत्ति प्राप्त है। अतः इतिकर्त्तव्यता में भी विधेयत्व को या विधि के व्यापार को स्वीकार करना व्यर्थ है।

इस प्रकार फल कभी विधेय नहीं हो सकता। अतः फल के साधनों को ही विधेय मानना आवश्यक है। अन्यथा फल का कोई विधेय ही नहीं रह जायगा, विधिवाक्य विधेय से रहित हो जायगे। जिस युक्ति से स्वर्गादि फलों के यागादि साधन विधिवाक्य के विधेय हैं, उसी प्रकार इतिकर्त्तव्यता भी विधेय है।

इस लिये सभी आस्तिकों का यह सिद्धान्त है कि विधि के अर्थ भावना के जो साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता ये तीन अंश हैं इनमें से साध्य स्वरूप प्रथम अंश को छोड़कर शेष साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप ही विधिवाक्य के विधेय हैं।

यदि श्येन याग को 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य का विधेय न मानेंगे तो सभी विधिवाक्यों के लिए निश्चित उक्त सिद्धान्त व्याहत हो जायगा। इस लिये श्येन याग विधेय होने के कारण अवश्य 'विहित' है। अतः अर्थ शब्द का प्रत्युदाहरण नहीं हो सकता।

ये चाभी......साधनका हि......साधनाङ्गता

श्येनयाग को यदि विधेय न मानेंगे तो दूसरा दोष भाष्यकार की अपनी उक्ति का विरोध भी होगा, क्योंकि उन्होंने धर्म शब्द के उदाहरण को समझाते हुये लिखा है कि—'को धर्मः ? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः' अर्थात् ज्योतिष्टोमादि याग ही स्वर्गादि निःश्रेयसों के हेतु होने से 'अर्थ' स्वरूप धर्म हैं। किन्तु जिस युक्ति से आप (सिद्धान्ती लोग) श्येनयाग को शत्रुवधरूप हिंसा के सम्बन्ध से 'अनर्थ' मानते हैं उस युक्ति से तो ज्योतिष्टोमादि भी 'अनर्थ' हैं ही, क्योंकि उनमें भी पशुवधादि हिंसाओं का योग है ही। तब रही बात निःश्रेयस-साधनत्व की सो ज्योतिष्टो-

मादि की तरह श्येन याग में भी है, क्योंकि वह भी शत्रुवध स्वरूप निःश्रेयस का साधन है ही।

कहने का तात्पर्य है कि सिद्धान्त रूप से जिन ज्योतिष्टोमादि यागों में 'अर्थत्व' सिद्ध है उनमें भी हिंसा, बीजवधादि स्वरूप अनर्थरूपता किसी अंश में है ही। अतः श्येन याग चूंकि शत्रुवध स्वरूप हिंसा का कारण है इस लिये 'अनर्थ' नहीं हो सकता। अतः श्येनयाग को अर्थ शब्द का प्रत्युदाहरण मानना असङ्गत है।

तीसरी बात यह है कि श्येन याग को यदि श्येनवाक्य का विधेय न मानें (फलतः विधेय न मानने से 'अर्थ' न मानें) तो श्येनयाग में शत्रुवध स्वरूप फल की अङ्गता (कारणता) तथा शत्रुवध स्वरूप फल के सम्पादक 'अपूर्व' स्वरूप साधन की अङ्गता ये दोनों ही अनुपपन्न हो जायगी, क्योंकि विधीयमान वस्तु ही फल एवं उसके साधनों का अंग होती है। अतः श्येन याग को भी विधेय होने के कारण 'विहित' ही मानना होगा। इस लिए विहित होने के कारण श्येन याग 'अर्थ' का अर्थात् धर्म का उदाहरण ही हो सकता है, प्रत्युदाहरण नहीं ॥ २०७-२०८ ॥

साधनत्वेन विहितं न चाविहितमुच्यते।
साध्यत्वेन विधानं तु नैवेष्टं लोकवेदयोः ॥ २०९ ॥

साधनत्वेन……उच्यते

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्यतया विज्ञायन्ते' इस भाष्यवाक्य में 'तव्य' प्रत्यय—कृत्यप्रत्यान्त पद का प्रयोग है। किन्तु इस से तो साध्य रूप में विधान का निवारण नहीं होता। केवल उस से इतना अनुमोदन होता है कि 'श्येन यागादि साधन हैं' यदि श्येनयाग को साध्य मान भी लें तथापि उसमें साधनत्व का व्याघात नहीं होता है। इस आक्षेप का यह उत्तर है—

श्येनयाग का यदि साधन रूप से विधान मान लेते हैं तो भी साध्य रूप से विधान मानने पर श्येनयाग अविहित नहीं होता, क्योंकि 'विहित' होने के लिए साधन रूप से विधेय होना ही पर्याप्त है। इसके लिये साध्य रूप से 'अविहित' होना आवश्यक नहीं है।

साध्यत्वेन……लोकवेदयोः

वस्तुतः लौकिक वाक्य हो चाहे वैदिक वाक्य, सर्वत्र विधान 'साधन' का ही होता है, साध्य का कभी विधान होता ही नहीं।

तस्मात् 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्यतया विज्ञायन्ते……यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ अयुक्त है ॥ २०९ ॥

तेनैवमर्थशब्दस्य प्रयोजनमिहोच्यते।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः ॥ २१० ॥
सा चोदनेति सामान्यं लक्षणं हृदये स्थितम्।
प्रवर्तकगृहीतेस्तु स्यादुदाहरणार्थता ॥ २११ ॥

तात्पर्ये ह्यर्थशब्दस्य नेयं व्याख्योपपद्यते।
अर्थग्रहणलभ्यं वा तत्प्रवर्तकभाषणम् ॥ २१२ ॥

तत्रैव.........श्रवणेन धीः—हृदये स्थितम्

(१) 'उभयमिह.........इत्यर्थग्रहणम्' इस समाधान भाष्य की प्रथम व्याख्या

कथित दोषों के कारण 'अर्थ' पद की व्यावृत्ति के उपपादक इस सिद्धान्त भाष्य को यथाश्रुत अक्षरार्थ क्रम से लगाना चूंकि संभव नहीं हैं अतः आगे कही जाने वाली युक्तियों के अनुसार उक्त सिद्धान्त भाष्य को इस प्रकार तात्पर्यार्थ क्रम से लगाना चाहिये—

जिस समय भाष्यकार ने 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट श्येनयाग में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद की सार्थकता के लिए 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा उस समय उनके मन में 'क्रियायाः प्रवर्त्तकं किञ्चन वचनं चोदना' यह चोदना का सामान्य लक्षण ही था। इसके अनुसार धर्मलक्षण सूत्र में अर्थ' पद का उपादान नहीं करते तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस निवर्त्तनापरक चोदना के द्वारा निर्दिष्ट श्येनयाग स्वरूप अनर्थ (अधर्म) में लक्षण की अतिव्याप्ति ठीक बैठती एवं तदनुसारी 'उभयमिह' इत्यादि भाष्यग्रन्थ भी सुश्लिष्ट हो जाता।

प्रवर्त्तकगृहीतेस्तु..........नेयं व्याख्योपपद्यते

भाष्यकार ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के भाष्य की रचना करते हुये पहला वाक्य यही लिखा है कि 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः', अर्थात् क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले वाक्य को ही चोदना कहते हैं। चोदना का यह लक्षण अपने मुख से कहने के बाद प्रवर्त्तक और निवर्त्तक दोनों ही प्रकार के वाक्यों को चोदनालक्षण का लक्ष्य मानना अन्ततः भाष्यकार के लिए 'स्ववचनविरुद्ध' तो है ही। इस विरोध का परिहार निम्न प्रकार से हो सकता है—

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' इस भाष्य के अनुसार चोदना शब्द का तात्पर्य केवल प्रवर्त्तक वाक्य में ही मानें तो 'इयं व्याख्या' अर्थात् धर्मलक्षणवाक्य में प्रयुक्त 'अर्थ' पद की अनर्थनिवृत्तिमूलक 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' यह व्याख्या उपपन्न नहीं होती है। कथित विरोधजनित इस अनुपपत्ति को हटाने का एक ही मार्ग है कि चोदना वाक्य के उदाहरण के रूप में प्रवर्त्तक वाक्य को दर्शाने का काम 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' इस वाक्य के ऊपर सौंपा जाए।

कहने का तात्पर्य है कि 'प्रवर्त्तकं निवर्त्तकञ्च वाक्यं चोदना' यही चोदना का लक्षण है। तदनुसार यदि अर्थ पद से रहित 'चोदनालक्षणो धर्मः' धर्म का इतना ही लक्षण करें तो निवर्त्तक वाक्य स्वरूप चोदनालक्षण श्येनयाग स्वरूप 'अनर्थ' में (अधर्म में) धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यह अतिव्याप्ति धर्मलक्षण वाक्य में अर्थपद के उपादान से छूट जाती है।

चोदना के इस लक्षण के बाद जो लक्ष्य की जिज्ञासा होगी उस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ही भाष्यकार ने 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं किञ्चन वचनम्' यह वाक्य लिखा है। अर्थात् यह वाक्य चोदनास्वरूप लक्षित वाक्य के उदाहरण का बोधक है, चोदना के लक्षण का प्रतिपादक नहीं है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है।

(२) अर्थग्रहणलभ्यं वा—उक्त विरोध मिटाने का दूसरा प्रकार

अर्थात् 'चोदना' दो प्रकार की है—(१) प्रवर्त्तकवाक्यरूपा और (२) निवर्त्तकवाक्यरूपा। इनमें से प्रवर्त्तक वाक्य स्वरूप चोदना से निर्दिष्ट कर्मकलाप है 'अर्थ' एवं निवर्त्तक वाक्य रूप चोदना से निर्दिष्ट कर्मकलाप है 'अनर्थ'। इस वस्तुगति के अनुसार अर्थविषयक प्रवृत्ति के उत्पादक वाक्य को 'प्रवर्त्तकवाक्यरूपा चोदना' और अनर्थविषयक निवृत्ति के उत्पादक वाक्य को 'निवर्त्तकवाक्यरूपा चोदना' कह सकते हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार चोदना के ही (१) अर्थाविच्छिन्ना और (२) अनर्थाविच्छिन्ना भेद से दो भेद माने जा सकते हैं। इस प्रकार से विभक्त चोदना के प्रथम प्रकार के उदाहरण रूप में ही 'चोदनेति क्रियायाः' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ को लिखा हुआ समझा जा सकता है॥ २१०–२१२ ॥

> **धर्मे प्रमाणभूतायास्तद्वा लक्षणमुक्तवान्।**
> **एवं सति विधिभ्यः स्याद् विधेयार्थावधारणम्॥ २१३ ॥**
> **निषेधेभ्यो निषेध्यानामनर्थत्वेन निर्णयः।**
> **तेनार्थग्रहणेनोक्ता विधेयस्येह धर्मता॥ २१४ ॥**

(३) 'उभयमिह' इत्यादि भाष्य की तीसरी व्याख्या

प्रवर्त्तक वाक्य और निवर्त्तक वाक्य दोनों ही चोदना हैं। इनमें 'विधिरूप' अर्थात् प्रवर्त्तक वाक्य रूप चोदना का 'विधेय' है 'अर्थ' अर्थात् 'धर्म', एवं 'निषेध' रूप अर्थात् निवर्त्तक वाक्य रूप 'चोदना' का निषेध्य है 'अनर्थ' अर्थात् अधर्म। इस प्रकार प्रवर्त्तकवाक्यस्वरूप चोदना ही धर्मज्ञापक प्रमाण है। धर्म में प्रमाणभूता चोदना का ही लक्षण 'चोदनेति क्रियायाः' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने लिखा है। चोदनासामान्य की दृष्टि से यह लक्षण नहीं लिखा गया है। चोदनासामान्य के लक्षण के लक्ष्य तो प्रवृत्तिजनक (प्रवर्त्तक) और निवृत्तिनक दोनों ही वाक्य हैं।

इस स्थिति में धर्म के लक्षणसूत्र में यदि 'अर्थ' पद का पाठ नहीं करते हैं तो श्येनयागादि स्वरूप अनर्थ में अतिव्याप्ति अवश्य होती। अतः अनर्थ की व्यावृत्ति के लिये 'अर्थ' पद का पाठ आवश्यक है। अतः इसके उपपादक 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इत्यादि सन्दर्भ का 'चोदनेति क्रियायाः' इस भाष्यसन्दर्भ के साथ कोई विरोध नहीं है।

इस विवरण के अनुसार इन दोनों श्लोकों का अक्षरार्थ क्रम से यह अर्थ है—

धर्म के ज्ञापक प्रमाणस्वरूप प्रवर्त्तकवाक्यरूपा चोदना का ही लक्षण 'चोदनेति क्रियायाः' इस सन्दर्भ से दिखलाया है। इस लक्षण को समझ जाने के बाद धर्म और अधर्म इन दोनों का अवधारण इस रीति से सुलभ हो जायगा कि विधि-

वाक्य का 'विधेय' ही 'अर्थ' है अर्थात् 'धर्म' है एवं निषेध वाक्य के द्वारा निषेध्य ही 'अनर्थ' है अर्थात् 'अधर्म' है। इस प्रकार 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के द्वारा प्रवर्त्तकवाक्यरूप चोदना के विधेय में धर्मता कथित हो जाती है ।। २१३–२१४ ।।

निषेध्यानामनर्थत्वमर्थसिद्धं न सूत्रितम् ।
तस्मादुभयमित्यत्र विधेयप्रतिषेध्ययोः ।। २१५ ।।
यागादिब्रह्महत्यादिवर्गयोः स्यान्निदर्शनम् ।
श्येनादीनां विधेयत्वादिष्टस्यापि च साधनात् ।। २१६ ।।
उपचारादनर्थत्वं फलद्वारेण वर्ण्यते ।
प्रतिषिद्धा हि सेत्यत्र स्फुटमेतत् करिष्यते ।। २१७ ।।

निषेध्यानाम्‌ ········ सूत्रितम्

जिस प्रकार निःश्रेयस के जनक चोदनालक्षण स्वरूप धर्म अनुष्ठान के लिए जिज्ञास्य है उसी प्रकार चोदनालक्षण स्वरूप अधर्म भी दुःखजनक होने के कारण त्याग के लिये जिज्ञास्य है। इसलिए जिस प्रकार 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के निर्माण से विधेय में धर्मता का ज्ञापन सूत्रकार का कर्त्तव्य था उसी प्रकार श्येनादि-स्वरूप निषेध्यों में अनर्थत्व की सूचना के लिए पृथक् सूत्र को रचना भी उनका कर्त्तव्य था। ऐसा न करने पर सूत्रकार की न्यूनता परिलक्षित होती है। अतः भाष्यकार की इस प्रकार की व्याख्या असमीचीन है जिससे सूत्रकार न्यूनता दोष के भागी बनें। इस आक्षेप का यह समाधान है—

विधिवाक्यस्वरूप चोदना का विधेय ही 'धर्म' है। इस प्रकार से धर्म को समझ लेने के बाद 'धर्म के विपरीत ही अधर्म है' इस दृष्टि के अनुसार 'निषेधवाक्य के द्वारा निषेध्य ही अधर्म है' यह 'अर्थतः' अर्थात् शब्द के द्वारा कहे विना ही समझा जा सकता है। अतः अधर्म के ज्ञापन के लिए अनावश्यक समझकर ही पृथक् सूत्र की रचना महर्षि जैमिनि ने नहीं की। अतः भाष्यकार की इस व्याख्या से सूत्र-कार के ऊपर न्यूनता की आपत्ति का कोई अवसर नहीं है।

तस्मादुभयम्‌ ········ प्रतिषेध्ययोः

तस्मात् 'विधायक वाक्य और निषेधवाक्य दोनों ही चोदना है' इस विचार का उपसंहार यह है कि 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इस भाष्य में 'उभय' शब्द से विधेय और प्रतिषेध्य दोनों को लेना चाहिये। इनमें विधेय इष्ट होने से 'अर्थ' (धर्म) होगा। एवं निषेध अनिष्ट होने के कारण 'अनर्थ' (अधर्म) होगा।

यागादिब्रह्महत्यादि ········ निदर्शनम्

किन्तु ऐसा मानने पर 'कोऽनर्थः' ? य प्रत्यवायाय श्येनादिः' यह भाष्य का सन्दर्भ असम्बद्ध हो जायगा, क्योंकि पूर्वोक्त उपपादन के अनुसार विधेय स्वरूप 'अर्थ' का उदाहरण ज्योतिष्टोमादि यागवर्ग एवं निषेध्यस्वरूप 'अनर्थ' का उदाहरण

ब्रह्महत्यादि निषेध्य वर्ग होना चाहिये। श्येन तो विधेय ही है निषेध्य नहीं, क्योंकि श्येन याग तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य द्वारा ही निर्दिष्ट है।

तस्मात् पूर्वोक्त उपपादन के अनुसार 'कोऽनर्थः ?' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ में जो 'श्येनादिः' पद है उसके स्थान पर 'ब्रह्महत्यादिः' ऐसा पाठ उचित है। अतः पूर्वापर-विरुद्ध होने के कारण 'चोदना'शब्द को विधिवाक्य और निषेधवाक्य दोनों का संग्राहक मानना उचित नहीं प्रतीत होता। इस अनौचित्याक्षेप का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है—

उक्त आक्षेप इतना सत्यांश अवश्य है कि विधायक और निषेधक दोनों वाक्यों को चोदना के अन्तर्गत ले आने से अनर्थ का उदाहरण श्येन याग नहीं होगा, ब्रह्महत्यादि ही होंगे। श्येन याग 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य का विधेय होने के साथ-साथ शत्रुवध स्वरूप इष्ट का साधक भी है। अतः श्येनयाग स्वरूपतः स्वयं अवश्य ही 'अर्थ' है।

तब प्रश्न रहा कि भाष्यकार ने श्येनयाग को अनर्थ का उदाहरण क्योंकर कहा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि श्येनयाग से जो शत्रुवधानुकूल व्यापार स्वरूप फल उत्पन्न होगा वह 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेध शास्त्र का विषय होने के कारण 'अनर्थ' होगा, अधर्म होगा। इस प्रकार श्येनयाग स्वयं यद्यपि 'अनर्थ' नहीं है, तथापि शत्रुवधानुकूल व्यापार स्वरूप अनर्थ का हेतु अवश्य है। अनर्थ के हेतु को भी लक्षणा के द्वारा अनर्थ कहा जा सकता है। इस औपचारिक प्रयोग के द्वारा ही श्येन को अनर्थ का उदाहरण भाष्यकार ने कहा है। श्येनयाग स्वरूपतः अवश्य ही अनर्थ नहीं है।

श्येनादीनाम्''''साधनात्''''वर्ण्यते''''करिष्यते

उक्त विवरण के अनुसार इन श्लोकों का अक्षरार्थ यह है कि श्येन विहित है एवं शत्रुवध स्वरूप इष्ट का साधक भी है। अतः श्येन स्वरूपतः अनर्थ नहीं है। किन्तु शत्रुवधानुकूल पाप का हेतु होने से 'अनिष्ट' है, अनर्थ है। शत्रुवधानुकूल फल में रहने वाली 'अनर्थता' का व्यवहार श्येनयाग स्वरूप उस फल के करण में हो सकता है। तदनुसार ही श्येनयाग को भाष्य के अनर्थ का उदाहरण कहा गया है।

अथवा 'कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय श्येनादिः' इस भाष्यगत श्येन शब्द से श्येनयाग स्वरूप मुख्य अर्थ को न लेकर श्येनयाग से उत्पन्न होने वाले शत्रुवधस्वरूप फल को ही लक्षणावृत्ति के द्वारा समझा जा सकता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। जिस किसी भी प्रकार से देखें, श्येनयाग में अनर्थता का व्यवहार उसके फल शत्रुवधानुकूल व्यापार में जो अनर्थता है तन्मूलक ही है। इससे आगे भाष्यकार ने 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट किया है॥ २१५–२१७॥

हिंसा हीति च यच्चापि ब्रूते नाभिचरेदिति।
श्येनादीनां स्वरूपे तु नोत्तरग्रन्थसङ्गतिः॥ २१८॥
विहितत्वान्निषेधस्य प्रवृत्तिस्तेषु दुर्लभा।

उक्त भाष्यसन्दर्भगत 'श्येनादिः' शब्द से उसका अभिधेयार्थ श्येन याग स्वरूप अर्थ ही विवक्षित रहा तो आगे का (१) 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' एवं (२) 'श्येनेनाभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति नाभिचरित्व्यमिति' ये दोनों ही भाष्यसन्दर्भ असंगत हो जायगे।

(१) 'श्येन' (याग) अनर्थ क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में ही 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' यह भाष्यसन्दर्भ है। अर्थात् श्येन जिस लिए कि हिंसा है, एवं 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि इस निषेध वाक्य के द्वारा 'प्रतिषिद्ध' है अतः श्येन अनर्थ है। यदि कथित भाष्यसन्दर्भगत 'श्येन' शब्द को श्येन याग स्वरूप अर्थ का ज्ञापक मानें तो उसको हिंसा कहकर प्रतिषिद्ध कहना असंगत होगा, क्योंकि श्येन याग तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण 'विहित' ही है, निषिद्ध या प्रतिषिद्ध नहीं है। अतः विशेष रूप से विहित होने के कारण उसमें 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अतः श्येन शब्द से श्येन याग का जो शत्रुवध के अनुकूल व्यापार है वही इष्ट है, इसमे लक्षणा वृत्ति का ही अवलम्बन क्यों न करना पड़े। यही बात भाष्य के 'नाभिचरितव्यम्' इस वाक्य से भी स्पष्ट प्रतीत होती है। 'नाभिचरितव्यम्' यह वाक्य 'नाभिचरेत्' इस वाक्य का ही प्रतिरूप है।

यदि प्रकृत में श्येन शब्द से श्येन याग ही अभिप्रेत होता तो फिर उसी का निषेध 'नाभिचरितव्यम्' इस वाक्य से भाष्यकार कैसे करते ? क्योंकि वह तो 'विहित' ही है, जिस लिए कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत इस विधिवाक्य का विधेय है। अतः श्येन याग से उत्पन्न होने वाला 'अभिचार' नाम का जो शत्रुवध के अनुकूल व्यापार है वह 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेधशास्त्र के द्वारा निषेध्य होने के कारण अनर्थ (अधर्म) है। उसी का निषेध 'नाभिचरितव्यम्' इस कल्पित निषेधवाक्य से भाष्यकार ने किया है।

अतः 'यथा श्येनादिः' इस उदाहरणवाक्य के श्येन शब्द से श्येन याग का बोध अभिप्रेत नहीं है, किन्तु श्येन याग से उत्पन्न होने वाला शत्रुवधानुकूल व्यापार ही विवक्षित है। इसी से 'हिंसा हि सा' एवं 'नाभिचरित्व्यम्' इन उत्तरवर्त्तिभाष्य-ग्रन्थों की उपपत्ति भी ठीक बैठती है ॥ २१८–२१९ क–ख ॥

यदा तु चोदनाशब्दो विधावेव व्यवस्थितः ॥ २१९ ॥
तदोभयादिको ग्रन्थः साध्यसाधनसंश्रितः ।

'तेनैवमर्थशब्दस्य' इत्यादि २१० श्लो० से लेकर २१८ श्लोक पर्यन्त वार्तिक में 'अर्थ' शब्द की व्यावृत्ति से उपपादक भाष्यग्रन्थ का समाधान चोदना शब्द को विधि और निषेध एतदुभयार्थक मानकर किया गया है। अब इन वार्तिकपंक्तियों से 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः' इस भाष्यपंक्ति के अक्षरार्थ क्रम के अनुसार चोदना को केवल प्रवर्त्तक वाक्य स्वरूप मानकर व्याख्या की जाती है।

'चोदना' शब्द को यदि केवल विधिवाक्य का बोधक मानें (विधि और निषेध एतदुभयार्थक न मानें) तब 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इस भाष्यवाक्य का 'उभय' शब्द साध्य और साधन एतदुभयार्थक है (अर्थात् 'उभयमिह' इत्यादि भाष्य के अव्यवहित उत्तर में पठित 'अर्थोऽनर्थश्च' इस वाक्य से कथित अर्थ और अनर्थ ये दोनों उक्त उभय शब्द से अभिप्रेत नहीं है) । फलत: 'उभयमिह' इस इस भाष्यवाक्य का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते साध्यं साधनञ्च ।'

कहने का तात्पर्य है कि याग स्वरूप साधन से स्वर्गादि स्वरूप साध्य (इष्ट) की उत्पत्ति होती है । 'यजेत स्वर्गकाम:' इस विधिवाक्य के द्वारा साध्य की उक्त उत्पत्ति के अनुकूल भावना का 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' इस आकार का बोध होता है । उस बोध में साधनरूप से विषयीभूत यागादि और साध्यरूप से विषयीभूत स्वर्गादि ये ही दोनों साध्य और साधन 'उभयमिह' इत्यादि भाष्यगत 'उभय' शब्द से अभिप्रेत हैं ॥ २१९–२२० क–ख ॥

साध्यसाधनसम्बन्धे विधिना प्रतिपादिते ॥ २२० ॥
लक्ष्यमाणत्वमुभयोर्द्विविधं च फलं क्रतोः ।
स्वर्गादि प्राप्यते तत्र प्रतिषेधानतिक्रमात् ॥ २२१ ॥
अतिक्रमेण हिंसादि शास्त्रान्तरनिरीक्षया ।

साध्यसाधन'''प्रतिपादिते'''उभयो:

इस प्रसंग में प्रश्न होता है कि स्वर्गादि रूप साध्य चोदना का विधेय नहीं है । फिर विधेय स्वरूप याग (साधन) की तरह स्वर्गादि साध्य को चोदना का लक्ष्य या ज्ञाप्य कैसे कहते हैं, क्योंकि साध्य का अविधेयत्व तो एक प्रकार से सर्वतन्त्र-सिद्धान्त ही है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस विधिवाक्य के द्वारा अग्निहोत्र होम में स्वर्ग के साधनत्व का बोध सर्वसम्मत है । फिर तुल्यन्याय से स्वर्गादि में अग्निहोत्रादि साधन का द्वारत्व सिद्ध होने की (साध्य की) प्रतीति भी निरबाध माननी होगी जिस प्रकार 'दण्डेन घट:' इत्यादि स्थलों में दण्ड में घटसाधनत्व की तरह घट में दण्डसाध्यत्व की प्रतीति भी तुल्यन्याय से होती है ।

यह दूसरी बात है कि साध्य में विधेयता न हो । विधेयता है विशेष प्रकार की विषयता । विधेयता और विषयता दोनों बिलकुल एक ही वस्तु नहीं है । इसीलिये 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में विधेयता केवल वह्नि में ही रहती है किन्तु विषयता पर्वतादि पक्ष में एवं संयोगादि सम्बन्धों में भी रहती है । अत: 'चोदनालक्षणत्व' अर्थात् चोदना (वैदिक विधिवाक्य) की विषयता यदि साध्य (स्वर्गादि) में है तो इसमें कौन सी आपत्ति है ?

द्विविधं च फलं क्रतो:

'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते' इस वाक्य में यदि 'उभय' शब्द को साध्य और साधन इन दोनों ही अर्थों का ज्ञापक मान लें तो प्रश्न उपस्थित होगा कि इसके अव्य-

वहित उत्तर में जो 'अर्थोऽनर्थश्च' यह भाष्यवाक्य है उसका क्या अर्थ होगा, क्योंकि पहिले वाक्य का 'उभय' शब्द तो आकांक्षारहित है। अतः 'अर्थोऽनर्थश्च' इस पंक्ति को 'उभय' शब्द का व्याख्यान रूप नहीं मान सकते ? इस प्रश्न का यह समाधान है :—

'उभयमिह' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त उभय शब्द के अर्थों में से एक जो क्रतु (यज्ञ) का फल है वह दो प्रकार का है (१) स्वर्गादि, जिन्हें किसी प्रतिषेध के उल्लंघन के विना भोगा जा सकता है और (२) हिंसादि, जिनको ('मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि) प्रतिषेध वाक्यों का अतिक्रमण करके ही भोगा जा सकता है।

कहने का तात्पर्य है कि 'अर्थोऽनर्थश्च' यह वाक्य उभयपद के लक्ष्य 'साध्य' के द्वैविध्य का ही परिचायक है। तदनुसार प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का आशय इस प्रकार होगा :—

'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते—साध्यं साधनञ्च। तत्र साध्यं द्विविधम् (१) अर्थरूपम् (२) अनर्थरूपञ्च। तत्र अर्थरूपं यागादि यत् खलु प्रतिशेधशास्त्र मनतिक्रम्य भोक्तुं शक्यते। अनर्थरूपं साध्यं हिंसादि यत् खलु प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रम्यैव भोक्तुं शक्यते।'

कहने का तात्पर्य है कि चोदना शब्द से दो वस्तु अभिप्रेत हैं (१) साध्य और (२) साधन। इनमें 'साध्य' दो प्रकार का है (१) अर्थ और अनर्थ। जिसको किसी शास्त्र का उल्लंघन किये विना भोगा जा सके वह है 'अर्थ' एवं जिसे किसी प्रतिषेध-शास्त्र का अतिक्रम करके ही भोगा जा सके वह है अनर्थ। इनमें अर्थ स्वरूप स्वर्गादि को भोगने के लिये किसी शास्त्र का उल्लंघन नहीं होता है। किन्तु 'श्येन-वाक्य' से निर्दिष्ट साध्य स्वरूप शत्रुवधजनित आनन्द को भोगने के लिये 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस शास्त्र का उल्लंघन अवश्य करना पड़ता है॥ २२०–२२२ क–ख॥

फलांशे भावनायाश्च प्रत्ययो न विधायकः॥ २२२॥
वक्ष्यते जैमिनिश्चाह तस्य लिप्सार्थलक्षणा।

श्येन याग से शत्रुवधानुकूल व्यापार स्वरूप 'हिंसा' जिस लिये कि 'श्येनेना-भिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण 'विहित' है अतः उसमें किसी निषेध शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। फिर यह कैसे कहते हैं कि 'प्रतिषेधशास्त्र का अतिक्रमण किये विना उस हिंसाजनित फल का भोग नहीं किया जा सकता, अतः श्येनयाग अनर्थ है ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

जिस विषय की प्रवृत्ति के रागादि से अन्य अन्वयव्यतिरेकसिद्ध कारण न हों उस विषय में विधिवाक्य की प्रवृत्ति होती है। जिसमें रागादि से प्रवृत्ति संभव हो उस विषय में विधि की प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रकृत में शत्रुवधानुकूल व्यापार स्वरूप विषय में लोगों की प्रवृत्ति रागादि (द्वेष) से ही हो सकती है। अतः उसमें विधि का व्यापार स्वीकार करना व्यर्थ है।

यही बात 'जानात्येवासौ मयैतत्कर्त्तव्यम्' इत्यादि वाक्य से भाष्यकार ने भी कही है (अर्थात् शत्रुवध की कामना से श्येनयाग करने वाला पुरुष राग से ही जानता रहता है कि शत्रुवध के अनुकूल प्रयत्न मुझे करना चाहिये)। महर्षि जैमिनि ने स्वयं 'तस्य लिप्सा अर्थलक्षणा' इस सूत्र के द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया है। आगे इसी प्रकरण के २६५ श्लोक के उत्तरार्द्ध 'उद्देशाच्च फलत्वेन श्येनादौ न विधी- यते' इस विषय को और स्पष्ट किया गया है।

अतः भावना का ज्ञापक लिङ् प्रत्यय फलांश में विधायक नहीं है, अर्थात् जिस वाक्य में लिङ् प्रत्यय से युक्त पद का प्रयोग हो उस वाक्य से होने वाले बोध की विषयता फलांश में (साध्य में) यदि किसी प्रकार है भी तथापि 'विधेयता' नाम को जो विशेष प्रकार की विषयता वह विशेषविषयता फलांश में नहीं रहती। इस 'विधेयता' से ही विहितत्व का नियमन होता है। अतः यदि शत्रुवध के अनुकूल व्यापार स्वरूप हिंसा में श्येनवाक्य से उत्पन्न बोध की विषयता किसी प्रकार से है भी तथापि उक्त बोध की विधेयता नाम की विषयता उसमें नहीं है। अतः हिंसा विहित नहीं है। अतः उसमें 'मा हिंस्यात्' इस प्रतिषेध शास्त्र की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है। अतः उसकी प्रवृत्ति हिंसा में अवश्य होगी। अतः श्येन याग के फल को भोगने के लिये 'मा हिंस्यात्' इस प्रतिषेधशास्त्र का अतिक्रमण अवश्य करना होगा, अर्थात् प्रतिषेध्य (अधर्म) जनित दुःख को भोगने के लिये प्रस्तुत रहना पड़ेगा॥ २२२– २२३ क–ख॥

तेन सामान्यतः प्राप्तो विधिना न निवारितः॥ २२३॥
फलांशोपनिपातिन्या हिंसायाः प्रतिषेधकः।
अनर्थप्राप्तिहेतुत्वं बोध्यते तत्र यद्यपि॥ २२४॥
श्येनस्वरूपं नानर्थस्तत्फलस्य त्वनर्थता।

'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य प्रतिषेधवाक्य से श्येन याग के फल में निविष्ट हिंसा का अवश्य ही प्रतिषेध होता है। किन्तु इससे 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य की प्रवृत्ति का प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता है, किन्तु शत्रुवधानुकूल व्यापार रूप फल में निहित जो हिंसा है उसी का प्रतिषेध 'मा हिंस्यात्' इत्यादि प्रतिषेधशास्त्र से होता है। अतः श्येनयाग के फल को भोगने के लिये 'मा हिंस्यात्' इत्यादि प्रतिषेधवाक्य के अतिक्रमण से होने वाले दुःख को सहना अनिवार्य है।

इस प्रकार श्येनयाग से उत्पन्न होनेवाले शत्रुवधानुकूल व्यापार के फल के अन्तर्गत जो हिंसा है उसी में अनर्थत्व का बोधक 'मा हिंस्यात्' यह सामान्य शास्त्र है। अतः इस श्येनवाक्य के विधेय श्येन याग को अर्थ (धर्म) होने में कोई बाधा नहीं आती है।

यहाँ 'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्च' इस भाष्य के निष्पन्न अर्थ पर ध्यान रखना चाहिये। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'चोदना' शब्द से साध्य और साधन दोनों का ग्रहण करना चाहिये। उभय शब्द का अर्थ स्वरूप वह 'साध्य'

(१) अर्थ एवं (२) अनर्थ भेद से दो प्रकार का है। 'अर्थोऽनर्थश्च' इस भाष्य में जो 'अर्थ' शब्द है उससे लक्षणावृत्ति के द्वारा साध्यस्वरूप अर्थ के साधन को समझना चाहिये। ये साधन ज्योतिष्टोमादि याग स्वरूप हैं। तदनुसार ही भाष्य में 'अर्थ' के उदाहरण के रूप में ज्योतिष्टोमादि यागों को 'कोऽर्थो यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः' (शा० भा० पृ० १८) ऐसा लिखा है। किन्तु 'अनर्थ' पद यहाँ का वाच्यार्थ ही अभिप्रेत है। अतः भाष्य में 'अनर्थ' के उदाहरण रूप में जो 'श्येनादिः' यह पद है। उससे श्येनयाग से उत्पन्न होनेवाली 'हिंसा' ही अभिप्रेत है। इस प्रकार श्येन याग से उत्पन्न होनेवाले हिंसारूप साध्य में अधर्मत्व (अनर्थत्व) और उसके विरुद्ध ज्योतिष्टोमादि यागों में धर्मत्व का निर्णय होता है।

अतः श्येन याग में उत्पन्न होनेवाले धर्मत्व की व्यावृत्ति के लिये ही 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र में 'अर्थ' पद का उपादान महर्षि ने किया है।

तात्पर्य यह है कि स्वर्गादि 'अर्थों' के साधक ज्योतिष्टोमादि याग धर्म हैं एवं हिंसादि अधर्म हैं। श्येन याग किसी 'अर्थ' का साधक नहीं है, अतः 'धर्म' नहीं है। स्वयं अनर्थ रूप नहीं है, अतः श्येन याग अधर्म भी नहीं है। आगे 'अतः स्वतो न धर्मत्वम्' (श्लो० २६६) इस श्लोक के द्वारा वार्त्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में स्वतः धर्माधर्मभिन्नत्व का समर्थन किया है। श्येन याग के स्वयं अनर्थरूप न होने पर भी उससे उत्पन्न होने वाला हिंसारूप फल अनर्थ है, इसीलिये श्येन याग में भी कहीं-कहीं 'अनर्थ' शब्द का प्रयोग होता है ॥ २२३–२२५ क–ख ॥

परस्तूभयमित्यादेः   फलस्यापि   विधेयताम् ॥ २२५ ॥
भावनान्तर्गतत्वाद्   वा   मत्वानर्थत्वमाक्षिपत् ।

'उभयमिह' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के उभय पद को यदि साध्य और साधन एतदुभयार्थक मानते हैं तो आगे का 'कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' यह पूर्व-पक्ष भाष्य असङ्गत हो जाता है, क्योंकि इस पूर्वपक्ष भाष्य में श्येनयाग को अनर्थ मानकर यह आक्षेप किया गया है कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य से श्येन याग के कर्त्तव्यत्व का जो 'उपदेश' किया गया है सो असंगत है, क्योंकि वेद-वाक्य के द्वारा 'अर्थ' का ही उपदेश हो सकता है 'अनर्थ' का नहीं। किन्तु श्येन याग को जब 'अनर्थ' मानते ही नहीं हैं, उससे उत्पन्न होने वाले फल को अनर्थ मानते हैं तो फिर उक्त आक्षेप असङ्गत हो जाता है। इस असंगति का परिहार इस प्रकार हो सकता है :—

'पर' अर्थात् 'कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' इस पूर्वपक्ष को उठाने वाले की धारणा थी कि साध्यता और विधेयता ये दोनों नाम एक ही वस्तु के हैं। इस दृष्टि से श्येन याग का फल यदि श्येनवाक्य से उत्पन्न होने वाले बोध में साध्य रूप से भासित होता है तो फिर उस फल को उक्त वाक्य का विधेय भी मानना ही होगा एवं विधेय का ही उपदेश होता है। अतः श्येनयाग के फल अनर्थ स्वरूप हिंसा को भी 'उपदेश्य' मानना होगा, किन्तु सो अयुक्त होगा, क्योंकि अनर्थ का

उपदेश युक्त नहीं है। यही आक्षेप 'पर' अर्थात् पूर्वपक्षवादी ने उक्त भाष्यसन्दर्भ से किया है।। २२५ ।।

नैवेत्येतावता चास्य विधेयत्वनिराक्रिया ।। २२६ ।।
किं विधेयमिदानीं स्यादाह श्येनादवस्थितिः।

'कथं पुनरसौ कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' इस आक्षेपभाष्य को इस प्रकार लगाया गया है कि पूर्वपक्षवादी ने 'उभयमिह' इत्यादि भाष्य के द्वारा श्येन याग स्वरूप साधन की तरह शत्रुवध रूप साध्य में भी चोदनालक्षणत्व के विधान से यह मान लिया था कि उक्त भाष्यग्रन्थ से साध्य में विधेयता ही कथित हुई है। अर्थात् पूर्वपक्षवादी ने साध्य को विधेय मानकर इस युक्ति से आक्षेप 'कथं पुनरसौ' इत्यादि भाष्य से किया है कि जो चोदनालक्षण होगा वह चोदना रूप विधिवाक्य का विधेय भी अवश्य होगा। किन्तु भाष्यकार ने इस आक्षेप का जो उत्तर दिया है वह पूर्वपक्षवादी की उक्त व्याख्या के साथ मेल नहीं खाता है।

भाष्यकार ने उक्त आक्षेप का यह उत्तर दिया है कि 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्यतया विज्ञायन्ते' अर्थात् श्येनविधि से श्येन याग की कर्त्तव्यता की प्रतीति नहीं होती है। एवं 'कथं पुनरसौ' इस पूर्वपक्ष भाष्य के अभिप्राय का वर्णन इस प्रश्नवाक्य रूप में किया गया है—

शत्रुवध रूपा हिंसा का उपदेश श्येनवाक्य से कैसे हुआ ? इस प्रकार आक्षेप है शत्रुवध रूप हिंसा में कर्त्तव्यत्व का और परिहार करते हैं श्येनयाग रूप साधन में अकर्त्तव्यत्व के उपपादन के द्वारा। 'कः केन सम्बन्धः ?' इस पूर्वापरविरोध का परिहार इस प्रकार हो सकता है—

अर्थात् 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्याः विज्ञायन्ते' इस भाष्यसन्दर्भ में 'नैव' शब्द पृथक् वाक्य ही है। उसका अन्वय 'विज्ञायन्ते' क्रिया के साथ नहीं है। एवं 'नैव' शब्द के बाद 'कथं पुनरनर्थः' इत्यादि आक्षेपभाष्य से 'अनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' इस अंश का अध्याहार है। इस प्रकार प्रकृत में उत्तरवाक्य का यह स्वरूप निष्पन्न होता है—'नैवानर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते'। अतः अनर्थस्वरूप हिंसा में कर्त्तव्यत्व के आक्षेप का यह उत्तर ठीक बैठता है कि श्येनवाक्य से शत्रुवध रूपा हिंसा कर्त्तव्य रूप में उपदिष्ट नहीं है।

अब प्रश्न रह जाता है कि 'नैव' इस उत्तरवाक्य के बाद जो 'श्येनादयः कर्त्तव्याः विज्ञायन्ते' यह शेष रहता है उसका प्रकृतोपयोगी अर्थ क्या है ?

इत्येतावता चास्य

इस वार्त्तिकांश के द्वारा उक्त प्रश्न का यह उत्तर दिया गया है कि भाष्य के उक्त अंश का यह अभिप्राय है—शत्रुवध रूप हिंसा में श्येनवाक्य के विधेयत्व का निराकरण। यह निराकरण स्वरूप अभिप्रेत कार्य श्येन याग में कर्त्तव्यत्व के विधान से निष्पन्न हो जाता है, क्योंकि विधेय ही उपदेश्य होता है। यदि श्येन याग से उत्पन्न होने वाली शत्रुवध रूपा हिंसा विधेय होती तो उपदेश्य भी होती। यदि वह

विधेय नहीं है तो उपदेश्य भी नहीं है। यही तात्पर्य 'श्येनादयः' इत्यादि भाष्य का है।

किं विधेयम्·········श्येनादयस्त्विति

यदि 'नैव' यह पृथक् वाक्य है तो फिर 'श्येनादयः कर्त्तव्याः विज्ञायन्ते' यह भाष्यग्रन्थ किस प्रश्न का उत्तर है ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

याग से उत्पन्न जो फल है वह यदि उपदेश्य नहीं है तो फिर विधेय भी नहीं है। तब श्येनवाक्य का विधेय कौन होगा ? इसी प्रश्न का उत्तर 'नैव' के बाद के 'श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते' इस भाष्यवाक्य से दिया गया है ॥२२६ क–ख॥

प्रश्नापाकरणे चात्र तव्यो विधिविवक्षया ॥ २२७ ॥
प्रयुक्तो न तु साध्येऽर्थे द्वयेऽप्यनुपयोगतः ।

'कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतयोपदिश्यते' इस प्रश्नभाष्य में पठित तव्य प्रत्यय एवं 'नैव अनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तव्य' प्रत्यय इन दोनों 'तव्य' प्रत्ययों का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का यह अर्थ है—

कथित प्रश्न वाक्य और अपाकरण रूप उत्तर वाक्य दोनों के तव्य प्रत्ययों का अर्थ 'विधेय' ही है, साध्य नहीं। इस प्रकार श्येनयाग चूंकि श्येनवाक्य का विधेय है, अतः अनर्थ नहीं है, क्योंकि विधिवाक्य (चोदना) के विधेय में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेध वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। एवं श्येनयाग से उत्पन्न शत्रुवध रूपा हिंसा साध्य होने पर भी विधेय नहीं है। अतः कोई असङ्गति नहीं है। इस श्लोक का 'प्रश्नापाकरण' शब्द 'प्रश्नश्चापाकरणञ्च' इस समाहारद्वन्द्व से निष्पन्न है, 'प्रश्नस्यापाकरणम्' इस षष्ठीतत्पुरुष से नहीं।

कथित दोनों ही तव्य प्रत्ययों में से एक भी 'साध्य' स्वरूप अर्थ का बोधक नहीं है। दोनों के दोनों ही 'विधेय' के ही वाचक हैं।

द्वयेऽप्यनुपयोगतः

यदि विधेयता को तव्य प्रत्यय का अर्थ मान भी लें तथापि उसे साध्य स्वरूप अर्थ का बोधक मानने में क्या हानि है ? दोनों तव्य प्रत्यय के अर्थ क्यों नहीं हो सकते ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि तव्य प्रत्यय के दो अर्थ स्वीकार करने का कोई 'उपयोग' नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि 'कथं पुनरसावनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते' इस आक्षेप भाष्य से श्येनयाग के फल शत्रु वध स्वरूप हिंसा के प्रसंग में यह आक्षेप किया गया है कि 'वह' जब श्येन विधि के द्वारा जाना जाता है तो 'अर्थ' क्यों नहीं है ? इस आक्षेप के लिये हिंसा में साध्यता या असाध्यता की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शत्रुवध साध्य है इसलिये उक्त आक्षेप नहीं होता है। इसी आक्षेप के परिहार के लिये शत्रुवध रूप हिंसा में अनर्थत्व की स्थापना की गयी है। इसके लिये भी शत्रुवध का साध्य होना या न होना आवश्यक नहीं है। अतः 'द्वयेऽपि' अर्थात् अनर्थत्व के खण्डन

और समर्थन दोनों में से किसी में भी शत्रुवध में साध्यत्व का या उसका निराकरण अपेक्षित नहीं है ॥ २२७–२२८ क–ख ॥

अनर्थस्यापि साध्यत्वमविधेयस्य हीष्यते ॥ २२८ ॥
साध्यत्वरहिते चेष्टा विधेये नित्यमर्थता ।
शतुश्च लक्षणार्थत्वं तेषां चाप्युपदेशनम् ॥ २२९ ॥

शत्रुवध स्वरूप हिंसा में अर्थत्व या अनर्थत्व का प्रयोजक उसकी साध्यता या उसका निराकरण नहीं है, क्योंकि सुरापानादि अनर्थों में भी साध्यत्व है। अतः अनर्थत्व के आक्षेप के लिये उनका विधिवाक्यों का विधेय न होना ही उपयोगी है। इसी प्रकार गोदोहन विधिवाक्य से उत्पन्न होने वाले किसी भी बोध में साध्य रूप से विषय न होने पर भी विधेय होने से 'अर्थ' है। अतः शत्रुवध स्वरूप हिंसा में अनर्थत्व के समर्थन रूप समाधान के लिये उसमें केवल विधेयत्व का निराकरण ही अपेक्षित है, साध्यत्व का निराकरण नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि अर्थत्व का प्रयोजक विधेयत्व है, साध्यत्व नहीं। इसी प्रकार अनर्थत्व का प्रयोजक अविधेयत्व है, असाध्यत्व नहीं।

शतुश्च लक्षणार्थत्वे

'नैव' इस भाष्यवाक्य से "शत्रुवधाभिन्न हिंसा स्वरूप अनर्थ का विधान श्येनविधि से नहीं हुआ है" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वार्त्तिककार ने अपने मन से नहीं किया है। किन्तु 'नैव' इत्यादि कथित भाष्य के आगे भाष्य की एक दूसरी पंक्ति है 'श्येनेनाभिचरन् यजेत इति समामनन्ति' इसमें 'अभिचरन्' पद शतृप्रत्ययान्त है। लक्षण और हेतु अर्थ में शतृ प्रत्यय होता है। प्रकृत में लक्षण अर्थ में शतृ प्रत्यय हुआ है। जैसेकि 'शयाना भुञ्जते यवनाः' इत्यादि स्थलों में होता है। प्रसिद्ध वस्तु ही लक्षण होती है। 'अभिचार' भी प्रसिद्ध ही है। 'प्रसिद्ध अर्थ' अर्थात् अन्य प्रमाण से प्राप्त 'अर्थ' कभीभी विधिवाक्य का विधेय नहीं होता। इसलिये 'अभिचार' स्वरूप 'अनर्थ' विधि भी के द्वारा उपदिष्ट नहीं है।

भाष्य की 'यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः इति हि तेषामुपदेशः' (शाबरभाष्य) इस पंक्ति से भी उक्त अर्थ की परिपुष्टि होती है। इस पंक्ति का अर्थ है 'जिसको हिंसा करने की इच्छा हो उसके लिये उपाय का उपदेश श्येनविधि से किया गया है।' इस भाष्य के द्वारा श्येन याग में उपदेश्यत्व कहा गया है। उपदेश्य ही विधेय होता है, क्योंकि 'विधि' शब्द और 'उपदेश' शब्द दोनों पर्याय हैं।

इस उपपादन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्येनविधि का विधेय श्येनयाग ही है। श्येनयाग से उत्पन्न होनेवाला साध्य शत्रुवधानुकूल व्यापार रूप फल श्येनविधि का विधेय नहीं है।

तेषां चाप्युपदेशनम्

अतः यह सुनिष्पन्न होता है कि 'नैव' इस भाष्य से शत्रुवधानुकूल व्यापार रूप जो श्येन याग का फल है उसी में श्येनविधि के विधेयत्व का फलतः अनर्थत्व या अधर्मत्व का निराकरण इष्ट है।

अक्षरार्थक्रम से 'शतुश्च लक्षणार्थत्वम्' इस वार्त्तिक के अंश का अभिप्राय यह है कि 'यो हि हिंसितुमिच्छेत्' इत्यादि भाष्य से 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' वाक्य के 'अभिचरन्' पद के शतृ प्रत्यय के 'लक्षणार्थत्व' की सूचना एवं 'इति हि तेषामुपदेशः' इस वाक्य से श्येन याग का 'उपदेश' होने की सूचना देते हुए इस विषय को स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके पूर्ववर्त्ती 'नैव' इत्यादि भाष्य से शत्रुवधानुकूल व्यापार स्वरूप अनर्थ में विधेयत्व का निराकरण ही इष्ट है, क्योंकि 'अन्यथा' अर्थात् विधेयत्व के विना उपदेश उपपन्न नहीं होता है ॥ २२८–२२९ ॥

ब्रुवन् स्फुटीकरोतीष्टमुपदेशो हि नान्यथा।
विधित्वमादिशब्दात् स्यादितिकर्तव्यतास्वपि ॥ २३० ॥
तस्मात् फलांशे या हिंसा वैदिकी सा निषिध्यते।

'श्येनादयः कर्त्तव्याः विज्ञायन्ते' इस भाष्यसन्दर्भ में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से निम्नलिखित अर्थों को समझना चाहिये :—

'विधित्व' शब्द से 'विधिशक्ति' अभिप्रेत है। अर्थात् 'श्येनादयः कर्त्तव्याः विज्ञायन्ते' इस भाष्यसन्दर्भ में जो 'आदि' शब्द है उससे प्रकृत विध्यर्थ भावना का जो 'इतिकर्त्तव्यता' रूप अंश है उसमें भी (करण स्वरूप अंश की तरह) 'विधिशक्ति अर्थात् 'विधेयत्व' इष्ट है। अतः प्रकृत विध्यर्थ भावना का जो 'साध्य' रूप अंश है वह वैदिक होने पर भी 'मा हिंस्यात्' इत्यादि प्रतिषेधवाक्य का विषय है।

कहने का तात्पर्य है कि विध्यर्थ भावना के साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता ये तीन अंश हैं। प्रकृत में 'श्येनेन····यजेत' इस विधिवाक्य से जिस भावना का बोध होता है उसका करण रूप जो यागवाला अंश है, एवं अनुष्ठानवाला जो 'इतिकर्त्तव्यता' रूप अंश है ये दोनों ही विधेय होने के कारण 'अर्थ' हैं। अतः ये दोनों 'कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय, श्येनो वज्र इषु रित्येवमादिः' इत्यादि भाष्य ग्रन्थ से सूचित 'अनर्थ' के उदाहरण नहीं हैं। उक्त भावना का शत्रुवधानुकूल व्यापार वाला 'साध्य' रूप जो अंश है या फल रूप अंश है वही 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेधवाक्य का विषय होने के कारण अनर्थ या अधर्म है। अतः 'अनर्थो धर्मो माभूत्' (शाबरभाष्य पृ० १९) इत्यादि से 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'अर्थ' पद के प्रत्युदाहरण (व्यावर्त्त्य) रूप में 'श्येन' शब्द से उक्त फलरूपा हिंसा का उपादान सर्वथा संगत है ॥ २३०–२३१ क–ख ॥

अंशद्वये तु या नाम तन्निषेधाभिधायिनाम् ॥ २३१ ॥
अविशेषेण यच्छास्त्रं शिरोवदिति चोत्तरम्।

सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि हिंसादि भावनाओं के जो करण और इतिकर्त्तव्यता रूप दोनों अंश हैं वे दोनों भी उक्त भावना के साध्य स्वरूप अंश के समान ही निषेध्य हैं। अर्थात् वे दोनों भी निषेध्य हैं। तदनुसार इस मत के प्रतिपादक 'अंशद्वये···निषेधाभिधायिनाम्' इस वार्त्तिकांश का अक्षरार्थ क्रम से यह अभिप्राय समझना चाहिये :—

हिंसादि भावनाओं के जो करण और इतिकर्त्तव्यता रूप दो अंश हैं उनमें भी जो निषेधाभिधायी अर्थात् 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि वाक्यों की जो प्रवृत्ति मानते हैं उन्हें अग्रिम के 'अविशेषेण' इत्यादि वार्त्तिकांश से सूचित उत्तर देना चाहिये।

अविशेषेण''''उत्तरम्

अर्थात् श्येनादि विधिवाक्यों से निर्दिष्ट भावना के साध्यरूप शत्रुवधानुकूल भावना की तरह उसी भावना के श्येनयाग स्वरूप करणांश एवं अनुष्ठानविशेषरूप इतिकर्त्तव्यतांश इन दोनों को भी जो सांख्यशास्त्र के अनुयायी निषिद्ध मानते हैं उनके लिये मीमांसा दर्शन के (१) अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात् (मीमांसासूत्र अ० १० पा० ८ सू० १६ अधिकरण ९) एवं (२) वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् (मीमांसासूत्र अ० ६ पा० ३-२ अधिकरण १) ये ही दोनों सूत्र उत्तर स्वरूप हैं ॥ २३१-२३२ क-ख ॥

निषेधेनानवष्टब्धे विषये न ह्यनर्थता ॥ २३२ ॥
प्रत्यक्षादेरशक्यत्वात् कल्प्यते निष्प्रमाणिका ।

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिवाक्यों से निर्दिष्ट हिंसाओं को निषिद्ध ठहराने वाले किसी वाक्य की उपलब्धि न होने पर भी अग्नीषोमीय पशुहिंसा 'अनर्थ' क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का यह समाधान है :—

निषेधेन''''''अनर्थता

कौन सी क्रिया अनर्थ (अधर्म) है—इसको प्रमाणित करने में केवल निषेधवाक्य ही समर्थ है। निषेधवाक्य को छोड़ अन्य शब्दप्रमाण से अथवा प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी किसी क्रिया की अनर्थता प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि निषेध शास्त्र को छोड़कर और सभी प्रमाण इस कार्य में सर्वथा अक्षम हैं। अतः किसी प्रतिषेध के न रहने पर भी अग्नीषोमीय हिंसा को अनर्थ मानेंगे तो वह सर्वथा अप्रामाणिक होगा। अतः किसी निषेधवाक्य के द्वारा प्रतिषिद्ध न होने के कारण वैदिक अग्नीषोमीय याग प्रभृति की हिंसायें अनर्थ नहीं हैं ॥ २३२-२३३ क-ख ॥

न हि हिंसाद्यनुष्ठाने तदानीं दोषदर्शनम् ॥ २३३ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाण हिंसा में अनर्थत्व के साधन में क्यों अक्षम हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है :—हिंसा करते हुये किसी को आज तक किसी भी दोष का दर्शन नहीं हुआ है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हिंसा से होने वाले दोष की सिद्धि नहीं हो सकती। एवं प्रत्यक्षागोचर होने के कारण प्रत्यक्षमूलक अनुमानादि प्रमाण भी हिंसा की अनर्थता को प्रमाणित नहीं कर सकते। अतः ज्योतिष्टोमादि की अर्थता की तरह हिंसादि की अनर्थता भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथा अवेद्य ही है। इसलिये हिंसा की अनर्थता को भी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही समझा जा सकता है ॥ २३३ ॥

बाह्येऽपि विचिकित्सा तु शास्त्रादेवोपजायते ।

बाह्य (यज्ञ में की जानेवाली हिंसा से भिन्न) मांसभक्षणादि रागमूलक हिंसाओं में भी अनर्थता का संशय अन्ततः सभी को होता है। इसी प्रकार शास्त्रीय

अर्थात् यज्ञीय हिंसा में भी अनर्थता-निर्णय भले ही न हो, क्योंकि अग्नीषोमीयं पशु-मालभेत' यह विधि वर्त्तमान है, किन्तु वाह्य हिंसाओं की तरह यह संशय तो हो ही सकता है कि 'यज्ञीय हिंसा अनर्थ है, अथवा नहीं।' इस संशय के वल से ही यज्ञीय हिंसा में भी अनर्थता की सिद्धि होगी। यद्यपि संशय से किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है, तथापि प्रकृत में उक्त संशय के रहने से यज्ञीय हिंसा की 'अर्थता' अवश्य ही विघटित हो जायगी। केवल इस विघटन से ही यज्ञीय हिंसा की अनर्थता निरवाध हो जायगी। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

मृगयादिमूलक जो वाह्य हिंसायें हैं उनमें भी अनर्थता का संशय 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस शास्त्र के वल से ही होता है। यज्ञीय हिंसा में अनर्थत्व के संशय का ज्ञापक कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है। अतः यज्ञीय हिंसा में अनर्थत्व के संशय का भी कोई अवकाश नहीं है ॥ २३४ क–ख ॥

हिंस्यमानस्य दुःखित्वं दृश्यते यत्र तावता ॥ २३४ ॥
कर्तुर्दुःखानुमानं स्यात् तदानीं तद्विपर्ययः।

इस प्रसंग में कोई आक्षेप करते हैं अनुमान के द्वारा यज्ञीय हिंसा में अनर्थत्व की स्थापना होगी। यज्ञों में भी जिन पशुओं की हिंसा की जाती है उन्हें भी अत्यन्त वेदनामूलक आर्त्तनाद करते हुए देखा जाता है। अतः 'हिंस्यमान' अर्थात् हिंसन क्रिया के कर्म स्वरूप पशु में जिसलिये कि दुःख देखा जाता है अतः उस हिंसा के कर्त्ता में दुःख का यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि "यज्ञीयहिंसाकर्त्ता हिंसासमये दुःखी, दुःखाश्रयीभूतपशुकर्मकहिंसाकर्तृत्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम् यथा हिंसाविरतः पुरुषः"। इस अनुमान से जिसलिये कि हिंसा में कर्तृगत दुःख की उत्पादकता सिद्ध है अतः यज्ञीय हिंसा में भी अनर्थता की सिद्धि होगी। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

जिस पशु की हिंसा की जाती है उसे दुःखी देखा जाता है केवल इतने से ही हिंसा करने वाले पुरुष में दुःख का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा करने वाले पुरुष के दुःख के साथ हिंस्यमान पशुगत दुःख की व्याप्ति नहीं है। अतः उक्त अनुमान के वल से भी यज्ञीय पशु को हिंसा में अनर्थता की सिद्धि नहीं की जा सकती।

तदानीं तद्विपर्ययः

उक्त अनुमान के हेतु में केवल व्याप्ति का अभाव ही नहीं है, उसमें बाध दोष भी है। हिंसा करते समय हिंसा करने वाले पुरुष में अग्रिम ऐहिक सुख या पारलौकिक सुख का विश्वास इतना प्रवल रहता है कि दुःखी होने के बदले वह अत्यन्त ही आह्लादमान रहता है। अतः हिंसा करते समय हिंसक पुरुष में दुःखविरोधी सुख की ही सत्ता रहती है। उस समय हिंसक पुरुष में दुःख रह ही नहीं सकता। अतः उक्त अनुमान बाधित होने के कारण किसी का भी साधक नहीं हो सकता। अतः यज्ञीय हिंसा में अनर्थता का भी साधक नहीं हो सकता ॥ २३४–२३५ क–ख ॥

विषयेऽस्याः फलं यादृक् प्रेत्य कर्तुस्तथाविधम् ॥ २३५ ॥
हिंसा क्रियाविशेषत्वात् सूते शास्त्रोक्तदानवत् ।

सांख्य दर्शन के आचार्यों का कहना है कि ज्योतिष्टोमादि यागों के अनुष्ठानों से अवश्य ही सुख की प्राप्ति होती है । किन्तु ये यागादि अपनी सम्पूर्णता के लिए हिंसा की अपेक्षा रखते हैं । हिंसा उसी प्रकार 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रतिषेध-शास्त्र का विषय है जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादि याग चोदना स्वरूप विधायक वाक्य के विषय हैं । अतः ज्योतिष्टोमादि यागों के स्वर्गादि इष्ट फलों की तरह तदन्तर्वर्त्तिनी हिंसा से उत्पन्न होनेवाले दुःख की प्राप्ति भी अनिवार्य है । अतः आनुश्रविक यागादि कर्म-कलापों से दुःखासंभिन्न सुख स्वरूप स्वर्ग सुख की प्राप्ति अथवा त्रिविधताप की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वरूप मोक्ष की आशा नहीं की जा सकती ।

अतः केवल प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है जो केवल सांख्यशास्त्रोक्त उपासना के अनुष्ठान से ही सम्भव है ।

इस दृष्टि से सांख्याचार्यगण अनुमान प्रमाण से भी अग्नीषोमीयादि हिंसाओं में अनर्थत्व का साधन करते हैं ।

अनुमानप्रयोग का स्वारस्य यह है कि पुराण-धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों में भूरि निर्देश है कि गो-हिरण्य-प्रभृति वस्तुओं के दान से दान लेने वाले—दान क्रिया के सम्प्रदान कारक स्वरूप प्रतिग्रहीता—को जिस प्रकार सुख होता है, मृत्यु के बाद दानकर्त्ता पुरुष को भी उतना ही उसी प्रकार का सुख मिलता है । इसी प्रकार प्रकृत में भी 'विषय में' हिंसा स्वरूप क्रिया के कर्म स्वरूप पशु में हिंसा से जितना जिस प्रकार का दुःख होता है मरने के बाद हिंसा करने वाले पुरुष को भी उतना एवं उसी प्रकार का दुःख मिलेगा । अतः हिंसा भी अपने कर्त्ता पुरुष में दुःख की उत्पादिका होने के कारण 'अनर्थ' है ।

इस स्वारस्य के अनुसार अनुमान का प्रयोग निम्न क्रम से समझना चाहिये —
'विमता हिंसा विषयतुल्यं फलं ददाति, क्रियाविशेषत्वात् शास्त्रोक्तदानवत् ।'

इस अनुमान का पक्ष है हिंसा, साध्य है हिंसाविषयीभूत (कर्मीभूत) पशुगत दुःखसदृशदुःखजनकत्व, दृष्टान्त है शास्त्रोक्तदानरूपा क्रिया ॥ २३५–२३६ क–ख ॥

य एवमाह तस्यापि गुरुस्त्रीगमनादिभिः ॥ २३६ ॥
सुरापानादिभिश्चापि विपक्षैर्व्यभिचारिता ।

जो सम्प्रदाय उक्त अनुमान के द्वारा यज्ञसम्बन्धिनी हिंसा में अनर्थत्व के साधन का प्रयास करते हैं उनके अनुमान का 'क्रियाविशेषत्व' स्वरूप अभिमत हेतु मद्यपान एवं गुरुस्त्रीगमन स्वरूप साध्यशून्य क्रियाओं में रहने के कारण अनैकान्तिक है ।

कहने का तात्पर्य है कि सांख्याचार्यगण भी यह स्वीकार करते हैं कि गुरुस्त्री-गमनकर्त्ता पुरुष को मृत्यु के बाद नरक रूप दुःख ही मिलता है । किन्तु उस कामान्ध स्त्री को तो तत्काल आपाततः सुख ही मिलता है । अतः गुरुस्त्रीगमन स्वरूप क्रिया में

'क्रियाविशेषत्व' स्वरूप हेतु तो है किन्तु मरने के बाद अपने कर्त्ता पुरुष में स्वकर्मीभूत स्त्रीगत सुख सदृश सुख का उत्पादकत्व स्वरूप साध्य नहीं है। अतः यह हेतु अनैकान्तिक होने के कारण हेत्वाभास है। इससे किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

एवं मद्यपान क्रिया अपने 'विषय' अर्थात् कर्म्मीभूत मद्य में सुखादि किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं करती है। अतः मद्यपानकर्त्ता पुरुष यदि ब्राह्मण हो तो मृत्यु के बाद उसे भले ही नरक की प्राप्ति हो किन्तु नरक स्वरूप उस दुःख में मद्यपान के विषय (कर्म) मद्य में रहने वाले दुःखका सादृश्य नहीं है, क्योंकि मद्य अचेतन होने के कारण दुःख से रहित है। अतः उस मद्यपान के ब्राह्मण कर्त्ता में भी मृत्य के बाद दुःख के रहते हुए भी मद्यपान क्रिया के कर्मीभूत मद्यगतदुःख-सदृश दुःखदातृत्व स्वरूप 'विशिष्ट साध्य' साध्य का अभाव है। अथ च क्रियाविशेषत्व रूप हेतु अवश्य है। इस प्रकार से भी 'क्रियाविशेषत्व' हेतु अनैकान्तिक है॥२३६–२३७ क–ख॥

विरुद्धता च यादृग्धि दानैस्तादृक् फलं भवेत्॥ २३७॥
विधिगम्यफलावाप्तिरदुःखात्मकता तथा।

(विधिवाक्यनिर्दिष्टैर्दानैः यादृक् अदुखात्मकं फलं भवेत् विधिवाक्यनिर्दिष्टाभिः हिंसादिभिरपि तादृगेवादुःखात्मकं फलं भवेत्। दृष्टान्ते साध्यस्य यादृशी सिद्धिः पक्षेऽपि तद्दृष्टान्तबलात् साध्यस्य तादृशी एव सिद्धिर्भवितुमर्हति)।

अर्थात् 'विमता हिंसा विषयतुल्यं फलं ददाति क्रियाविशेषत्वात् शास्त्रोक्तदानवत्' इस अनुमान के हेतु में 'विरोध' दोष भी है।

जहाँ प्रकृत हेतु में प्रकृत साध्य के बदले प्रकृत साध्य के अभाव की ही व्याप्ति रहे उस हेतु को 'विरुद्ध' अर्थात् विरोध दोष से युक्त कहा जाता है।

प्रकृत अनुमान में दृष्टान्त है 'शास्त्रोक्त दान क्रिया' अर्थात् शास्त्रीयविधिवाक्य से निर्दिष्ट दान क्रिया। विधिवाक्य से निर्दिष्ट क्रियाओं से अदुःखात्मक फल ही शास्त्र में कहे गये हैं जो ज्योतिष्टोमादि के विधायक सहस्रों विधिवाक्य से ज्ञात हैं।

दृष्टान्त में जिस प्रकार से साध्य सिद्ध रहता है उस दृष्टान्त के बल से पक्ष में उसी प्रकार के साध्य की सिद्धि हो सकती है। इस वस्तुगति के अनुसार शास्त्रोक्त दानक्रिया रूप दृष्टान्त के बल से यज्ञीय हिंसा रूप पक्ष में अदुःखात्मक फल के दातृत्व की सिद्धि हो सकती है।

अतः इस अनुमान से यज्ञीयहिंसा रूप पक्ष में दुःखजनकत्व की सिद्धि न होकर दुःखविरोधिसुखजनकत्व की ही सिद्धि होगी। अतः किञ्चित् दुःखजनक होने पर भी यज्ञीय हिंसाओं में 'अनर्थत्व' की सिद्धि की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि यज्ञीय हिंसा दुःखविरोधी सुख का हेतु है। अतः उक्त क्रियाविशेषत्व हेतु 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास है॥ २३७–२३८ क–ख॥

न च या सम्प्रदानस्य प्रीतिस्तादृक् फलं श्रुतम्॥ २३८॥
दातुस्तेन हि दृष्टान्तः साध्यहीनः प्रतीयते।

उक्त अनुमान में 'दृष्टान्तासिद्धि' दोष भी है, क्योंकि प्रकृत अनुमान के 'शास्त्रोक्तदान' स्वरूप दृष्टान्त में 'विषयतुल्यफलदातृत्व' रूप साध्य नहीं है।

'सम्प्रदान' अर्थात् दान लेने वाले को देय गवादिद्रव्यों की प्राप्ति से इहलोक में जितना सुख मिलता है, मृत्यु के बाद उस सुख से प्रायः द्विगुण कहीं-कहीं सहस्र-गुण एवं कहीं-कहीं अनन्तगुण फलों की प्राप्ति का निर्देश शास्त्रों में मिलता है। अतः प्रकृत अनुमान के साध्य 'विषयतुल्यफलदातृत्व' के घटक 'विषय' शब्द को प्रकृत दृष्टान्त स्थल के लिए सम्प्रदान कारक का वाचक यदि मान भी लें तथापि शास्त्रोक्त दान स्वरूप दृष्टान्त में साध्य की सत्ता नहीं है, क्योंकि दानकर्त्ता पुरुष में सम्प्रदान रूप विषयतुल्यफलदातृत्व नहीं है। किन्तु द्विगुण, सहस्रगुण या अनन्तगुण फलदातृत्व है। अतः इस अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि दोष भी है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और हेतु दोनों को पहले से सिद्ध रहना चाहिये ॥ २३८–२३९ क–ख ॥

सम्प्रदानं च दाने ते विषयः कर्म हिंसने ॥ २३९ ॥
वैषम्यम् सम्प्रदाने तु पक्षे त्वेतद्विरुद्धता।

सम्प्रदानञ्च···हिंसने···वैषम्यम्

दृष्टान्त स्वरूप दान में साध्यसाधन के समय साध्यघटक विषय शब्द से आप (पूर्वपक्षवादी) सम्प्रदान लेते हैं, एवं पक्षीभूत हिंसन रूप क्रिया में जब आप साध्य की सिद्धि करते हैं तो साध्यबोधक उसी 'विषय' शब्द से आप कर्मकारक को लेते लेते हैं। यह 'वैषम्य' क्यों ?

अर्थात् इस प्रसंग में यह दूसरी बात भी विचारणीय है कि 'सपक्ष' (दृष्टान्त) में जिस साध्य की व्याप्ति हेतु के साथ रहेगी उसी साध्य की सिद्धि पक्ष में भी होगी। प्रकृत में दृष्टान्त या सपक्ष है शास्त्रोक्त दान। उसमें सम्प्रदान रूप विषयगत सुख-सदृश सुखस्वरूप फल के दातृत्व की सिद्धि अभिप्रेत है। किन्तु पक्षस्वरूप यज्ञीय हिंसा में हिंसा के कर्मकारक स्वरूप 'विषय' अर्थात् पशुगतदुःखसदृशदुःखदातृत्व की सिद्धि आप (सांख्याचार्यगण) प्रकृत अनुमान से करना चाहते हैं। किन्तु सो संभव नहीं है।

कहने का तात्पर्य है कि 'विषयतुल्यं फलं ददाति' साध्य के बोधक इस वाक्य में जो 'विषय' शब्द है उससे पक्ष में साध्य की सिद्धि के समय आप (सांख्याचार्य-गण) कर्मकारक लेते है, एवं सपक्ष में उसकी सिद्धि के समय उसी 'विषय' शब्द से 'सम्प्रदान' कारक लेना चाहते हैं। यह 'अर्द्धजरती' असङ्गत है ॥२३९–२४० क–ख॥

प्रीयते सम्प्रदानं हि देवतेति मतं तव ॥ २४० ॥
दृष्टान्ते कर्म दानं चेत् तस्य कीदृक् फलं भवेत्।

सम्प्रदाने···मतं तव···फलं भवेत्

यदि पक्ष में साधन के लिये अभिप्रेत साध्य के बोधक वाक्य (विषयतुल्यं फलं ददाति) के 'विषय' शब्द को सम्प्रदान कारक का बोधक मानें तो पक्ष में साध्य

के साधन के लिये उपन्यस्त यह 'क्रियाविशेषत्व' हेतु देवतास्वरूप सम्प्रदान में रहनेवाले दुःखविरोधी सुख के साधक होने के कारण 'विरुद्ध' हेत्वाभास होगा। आप (सांख्याचार्यों) के मत में यज्ञ केवल देवताओं की आराधना के लिये है। अतः यज्ञीय हिंसा के विधायक वाक्यों के 'सम्प्रदान' देवता ही हैं।

'दान' स्वरूप दृष्टान्त में साध्यसाधन के समय एकरूपता लाने के लिये यदि साध्यबोधक वाक्य के 'विषय' पद को कर्मकारक का बोधक मानें तो दृष्टान्तभूत दान के कर्मकारक हिरण्यादि में किस प्रकार फल उत्पन्न होगा ? अर्थात् किसी प्रकार का नहीं। फलतः इस पक्ष में दृष्टान्त साध्य से रहित होगा। अतः इस दृष्टि से भी सांख्याचार्यों का पक्ष असङ्गत है।

कहने का तात्पर्य है कि इस वैषम्य को छुड़ाने के दो ही रास्ते हैं कि साध्य-घटक 'विषय' पद को पक्षगत सिद्धि के समय और सपक्षगत सिद्धि के समय सम्प्रदान कारकार्थक ही मानें या दोनों ही समय कर्मकारक का बोधक ही मान लिया जाय। ऐसा मान लेने पर उक्त अर्द्धजरती दोष का परिहार हो जायगा। किन्तु ये दोनों ही पक्ष सदोष हैं।

(१) दोनों ही स्थलों में यदि साध्यघटक 'विषय' पद को सम्प्रदान अर्थ का बोधक मानें तो प्रकृत अनुमान का हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी सांख्याचार्यगण 'वायव्यं श्वेतच्छागलमालभेत' इत्यादि स्थलों में उक्त दान स्वरूप आलम्भन क्रिया का सम्प्रदान उस वायुदेवता को ही मानते हैं एवं आलम्भन क्रिया से वायु प्रभृति देवताओं में प्रीति स्वरूप सुख की उत्पत्ति भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में इस अनुमान से यज्ञीय हिंसा रूप पक्ष में दुःखविरोधी सुखदातृत्व की ही सिद्धि होगी, दुःख की नहीं। अतः इस पक्ष में दुःखविरोधी सुख के साधक होने के कारण हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगा।

(२) यदि इस विरोध दोष को छुड़ाने के लिये साध्य के बोधक वाक्य में जो 'विषय' शब्द है उसको पक्ष और दृष्टान्त दोनों में कर्मकारक का बोधक मानें तो दृष्टान्त ही साध्य से रहित हो जायगा, क्योंकि दान क्रिया से कर्मकारक स्वरूप हिरण्यादि द्रव्यों में किसी फल की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः दान क्रिया रूप दृष्टान्त में कर्मकारकीभूत 'विषय' के समान फल का -दातृत्व स्वरूप साध्य ही नहीं रहेगा। जो फल है ही नहीं उसका दातृत्व तो वास्तव में अप्रसिद्ध है। अतः इस प्रकार से भी उक्त वैषम्य का निवारण नहीं हो सकता ॥ २४०–१४१ क–ख ॥

जपहोमादिदृष्टान्तात् परपीडादिवर्जनात् ॥ २४१ ॥
चोदितत्वस्य हेतुत्वाद् विरुद्धाव्यभिचारिता।

सांख्याचार्यों के अभिमत अनुमान में 'विरुद्धाव्यभिचारित्व' दोष भी है, क्योंकि 'अग्नीषोमीयहिंसा अनर्थरूपा हिंसात्वात् इतरहिंसावत्' यह अनुमान होगा। इसी प्रकार 'अग्नीषोमीयहिंसा सुखकरी चोदितत्वात् जपहोमादिवत्' यह अनुमान भी किया जा सकता है।

यद्यपि परस्पर एक दूसरे के विरोध के कारण दूसरे अनुमान में मीमांसकों की इष्टसिद्धि नहीं होगी किन्तु विरुद्धानुमान के उद्भावन से सिद्धान्ती को यहाँ परपक्ष का खण्डन ही केवल इष्ट है। अपने मत के साधन के लिये वे प्रकृत में अनुमान पर निर्भर नहीं हैं। इस प्रसंग में उन्हें तो केवल विधिवाक्य (चोदना) स्वरूप शब्द प्रमाण का ही भरोसा है ॥ २४१–२४२ क–ख ॥

विहितप्रतिषिद्धत्वे मुक्त्वान्यन्न च कारणम् ॥ २४२ ॥
धर्माधर्मादिबोधस्य तेनाप्युक्तानुमानगीः।

तस्मात् धर्म कौन है—इसको समझाने के लिये 'विहितत्व' अर्थात् विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट होने को छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण समर्थ नहीं है। इसी प्रकार 'अधर्म कौन है—इसका परिचय केवल प्रतिषेधवाक्य ही दे सकता है। अर्थात् जो प्रतिषेधवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट हो उसे अधर्म समझिये। इन दोनों के परिचय के लिये अनुमान वाक्यों का प्रयोग व्यर्थ है ॥ २४२–२४३ क–ख ॥

अनुग्रहाच्च धर्मत्वं पीडातश्चाप्यधर्मताम् ॥ २४३ ॥
वदतो जपसीध्वादिपानादौ नोभयं भवेत्।
क्रोशता हृदयेनापि गुरुदाराभिगामिनाम् ॥ २४४ ॥
भूयान् धर्मः प्रसज्येत भूयसी ह्युपकारिता।
अनुमानप्रधानस्य प्रतिषेधानपेक्षिणः ॥ २४५ ॥

जो आस्तिक समुदाय 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' इस व्यासवचन के अनुसार जिस कार्य से दूसरे को उपकार पहुंचे उसे 'धर्म' एवं जिस क्रिया से किसी को दुःख पहुंचे उसे अधर्म मानता उसके मत से गायत्री प्रभृति मन्त्रों के जप से धर्म नहीं होगा, क्योंकि इससे कोई अनुगृहीत नहीं होता जैसे कि सुवर्णादि दान से सम्प्रदानभूत ब्राह्मण उपकृत होते हैं। गायत्र्यादि मन्त्रों के जप से कोई निगृहीत भी नहीं होता, अतः जपादि अधर्म भी नहीं होंगे। इसी प्रकार ब्राह्मणकर्तृक मद्यपान भी अधर्म नहीं होगा, क्योंकि मद्यपान से उस पीनेवाले को छोड़कर और कोई अनुगृहीत नहीं होता एवं इस मद्यपान से कोई निगृहीत भी नहीं होता है, अतः वह अधर्म भी नहीं होगा। किन्तु आस्तिक समुदाय के किसी व्यक्ति को भी यह मान्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि सभी आस्तिकगण गायत्र्यादि मन्त्रों के जप को धर्म और ब्राह्मण-कर्तृक सुरापान को अधर्म मानते ही हैं।

इसी प्रकार यदि कोई दुःख का थोड़ा अनुभव करके भी गुरुदारगमन करे तो उसका यह जघन्य कार्य महान् पुण्यों में गिना जायगा, क्योंकि स्वयं दुःख झेलकर भी उसने परानुग्रह का कार्य किया है। अतः उसे महान् धर्म का भागी मानना होगा, क्योंकि धर्माधर्म के निर्णय के लिये विधिवाक्य और प्रतिषेधवाक्य की चिन्ता किये विना केवल परानुग्रह और परपीड़ामूलक अनुमान मात्र पर धर्म और अधर्म का निर्णय करने वाले आस्तिकों के लिये ये सभी आपत्तियां अकाट्य हैं ॥ २४३–२४५ ॥

हृदयक्रोशनं कस्माद् दृष्टां पीडामपश्यतः ।

'क्रोशता हृदयेनापि' इस वाक्य के द्वारा अगम्यागामी पुरुष के जिस किञ्चिद् दुःख की ओर संकेत किया गया है वह 'किञ्चिद् दुःख' की भी सत्ता धर्माधर्म को केवल अनुमान प्रमाण से वेद्य मानने से प्रामाणिक नहीं रह जाती, क्योंकि जिसके मुखपर पीड़ा का जरा भी चिह्न न देखा जाता हो उस अगम्यागामी पुरुष में उस जघन्यकार्य से किञ्चिन्मात्र भी पीड़ा की सत्ता को मानना धर्माधर्म को अनुमानैकगम्य माननेवालों के लिये अप्रामाणिक ही है। अतः उनके मत में उक्त कार्य विशुद्ध परानुग्रहमूलक होने से विशुद्ध धर्म होगा ॥ २४६ क–ख ॥

पीडातश्चाप्यधर्मत्वं तथा पीडामपश्यतः ॥ २४६ ॥
अन्योन्याश्रयमाप्नोति विना शास्त्रेण साधयन् ।

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अगम्यागमन जिसलिये कि अधर्म है अतः उसमें प्रवृत्त होने वाले को प्रवृत्ति के समय थोड़ा-सा दुःख अवश्य होगा। किन्तु यह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि इससे अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। उस जघन्य क्रिया को अधर्म इसलिये मानते हैं कि प्रवृत्त होने वाले पुरुष में वह दुःख को उत्पन्न करती है। उसे दुःख का हेतु इसलिये मानते हैं कि वह अधर्म है। अधर्म में प्रवृत्त होने से ही उस पुरुष को प्रवृत्ति के समय दुःख होता है। अतः उक्त कथन भी सङ्गत नहीं है ॥ २४६–२४३ क–ख ॥

एवमावावशास्त्रज्ञो म्लेच्छो नोद्विजते क्वचित् ॥ २४७ ॥
तस्य नाधर्मयोगः स्यात् पूर्वोक्ता यदि कल्पना ।
तस्मादनुग्रहं पीडां तदभावमपास्य च ॥ २४८ ॥
धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधिनिषेधकौ ।

मोहान्ध आर्यजनों के गुरुदाराभिगमन में किञ्चित् हृदय के आक्रोश से उस क्रिया के अनर्थत्व का समर्थन अनुमान के द्वारा किसी प्रकार संभव भी हो सकता है। किन्तु अशास्त्रज्ञ होने के कारण म्लेच्छकृत गुरुदाराभिगमन में तो विशुद्ध परानुग्रहप्रयुक्त अनुमान से धर्मत्व की सिद्धि निर्विघ्न है।

अतः परानुग्रह से धर्म और परपीड़ा से पाप यह कल्पना अगर शास्त्र से निरपेक्ष रहकर करें तो म्लेच्छों को उन कार्यों से थोड़ा भी अधर्म नहीं होगा। अतः परानुग्रह और परपीड़ा को छोड़कर कौन धर्म है—इसके लिये विधिवाक्यों का और कौन अधर्म है—इसके लिये निषेधवाक्यों का ही अन्वेषण तत्पर होकर करना चाहिए 'तस्मादनुग्रहं पीडां तदभावमपास्य' इस विषय में यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि इससे परानुग्रह और परपीड़ा को धर्माधर्म की कोटि से बाहर नहीं किया है। केवल इतना ही कहा है कि यतः शास्त्रों में परानुग्रह को कर्त्तव्य कहा गया है, अतः वह धर्म है और परपीड़ा को अकर्त्तव्य कहा गया है इसीलिये वह अधर्म है ॥२४७–२४९ क–ख॥

क्वचिदस्या निषिद्धत्वाच्छक्तिः शास्त्रेण बोधिता ॥२४९॥
प्रत्यवायनिमित्तत्वे विधानान्नापगच्छति।
शास्त्रेण न हि शक्तीनामावापोद्वापनक्रियाः ॥ २५० ॥
विद्यमाना हि कथ्यन्ते शक्तयो द्रव्यकर्मणाम्।
तदेव चेदं कर्मेति शास्त्रमेवानुधावता ॥ २५१ ॥
हिंसादीनामधर्मत्वं कथ्यते नानुमानतः।

सभी हिंसाओं में जो अनिष्ट करने की शक्ति है, उसी का कहीं ब्राह्मणहननादि स्वरूप विशेष प्रकार की हिंसाओं में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निषेधशास्त्रों से बोध होता है।

अग्नीषोमीय आदि यज्ञीय हिंसाओं में भी जो हिंसा होने के कारण स्वाभाविक प्रत्यवायनिमित्तता या अधर्मता है वह 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि वाक्यों से हट नहीं सकती, क्योंकि शास्त्रों से किसी वस्तु की स्वाभाविक शक्ति को हटाने या अन्य स्थान से ले आने का कार्य नहीं हो सकता।

द्रव्यों में एवं क्रियाओं में विद्यमान शक्ति का ही अभिधान शास्त्रों से होता है। इस प्रकार की स्वाभाविक अनिष्टसाधनत्वशक्ति से युक्त ये अग्नीषोमीय पशुहिंसादि क्रियायें हैं। इस प्रकार शास्त्रों का अनुसरण करते हुये ही यज्ञीय अग्नीषोमीय हिंसादि में भी अधर्मत्व हमलोग (सांख्याचार्यगण) मानते हैं, अनुमान के बल से नहीं।

उपर्युक्त सन्दर्भ के अन्तिम श्लोकार्द्ध में पठित 'हिंसादीनाम्' इस पद में जो 'आदि' शब्द है उससे यज्ञ में होने वाले तिलयवादि अन्न स्वरूप बीजों के दाह, कहीं नरकपालादि की स्पर्शक्रिया, (देखिये मीमांसा सूत्र अ० ६ पा० ७ सू० २ का शाबरभाष्य) आदि सभी वैदिक कार्यों में भी उक्त सांख्यमत के अनुसार शास्त्र से ही अधर्मता का ज्ञापन समझना चाहिये, अनुमान से नहीं।

इस प्रसंग को समझने के लिए विज्ञतम सांख्याचार्यों के इस अभिप्राय को स्पष्टरूप से जान लेना चाहिये :—

उन लोगों का कहना है कि विधिवाक्य के द्वारा धर्मत्व की व्यवस्था एवं निषेधवाक्य के द्वारा अधर्मत्व की व्यवस्था होती है। अब देखना है कि ज्योतिष्टोमादि यागों में जो स्वतःसिद्ध धर्मता है जो अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकती उसका ज्ञापन मात्र 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इस विधिवाक्य से होता है अथवा विधिवाक्य से उसमें धर्मता भी उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ब्राह्मणादि के हनन रूप क्रिया में पूर्वसिद्ध अधर्मता का ज्ञापन ही केवल 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस निषेध वाक्य से होता है अथवा उक्त प्रतिषेध वाक्य से उसमें अधर्मता की भी उत्पत्ति होती है।

इन दो विप्रतिपत्तियों में (१) यागादि में स्वतःसिद्ध धर्मता का ज्ञापन मात्र विधिवाक्य से होता है एवं—(२) ब्राह्मणादि के हनन में जो स्वतःसिद्ध अधर्मता

है उसका ज्ञापन मात्र प्रतिषेधवाक्य से होता है ये ही दोनों पक्ष सर्वास्तिक-सम्मत हैं।

इस उपपत्ति के अनुसार हिंसा नाम की एक ही वस्तु है जिसमें सामान्य रूप से 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस एक ही निषेध शास्त्र से साधारण रूप से अनर्थत्व का ज्ञापन होता है एवं विशेष रूप से किसी ब्राह्मण की हत्या में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस विशेषवाक्य से उसी अनर्थत्व का विशेष अनिष्ट-साधनत्व रूप से भात होता है।

अतः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्य से विहित जो हिंसा है उसमें भी 'मा हिंस्यात्' इस प्रतिषेधवाक्य से ज्ञात होने वाली अधर्मत्वस्वरूप अनिष्टसाधन की शक्ति अवश्य है। उसको 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' आदि सैकड़ों विधिवाक्य नहीं मिटा सकते, क्योंकि किसी शक्ति को उत्पन्न करने का सामर्थ्य किसी भी विधि अथवा निषेधवाक्य में नहीं है।

यह मान लेते हैं कि अग्नीषोमीय पश्वालम्भन के विधायक वाक्य से उस पश्वालम्भन क्रिया में इष्टसाधनत्वशक्ति स्वरूप धर्मत्व का ज्ञापन होता है, किन्तु इस पश्वालम्भन में पूर्व से प्राप्त जो अनिष्टसाधनत्वशक्ति रूप अनर्थत्व है उसको यह विधिवाक्य कैसे हटा सकता है ?

विधिवाक्य में इतनी ही सामर्थ्य है कि वह विधेय क्रिया में इष्टसाधनत्वशक्ति धर्मत्व का ज्ञापन करे। उसमें किसी अनिष्टसाधनत्वशक्ति को हटाने की सामर्थ्य नहीं है। अतः 'अग्नीषोमयं पशुमालमेत' इस विधायक वाक्य से अग्नीषोमीय पश्वालम्भन में विद्यमान उस अनिष्टसाधनत्वशक्ति स्वरूप अधर्मता का अनुक्रम नहीं हो सकता जो अनिष्टसाधनत्वशक्ति 'मां हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य निषेधशास्त्र से ज्ञात होती है।

तस्मात् 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेधशास्त्र के बल से ही हिंसाओं में हम (सांख्याचार्य गण) अधर्मत्व की स्थापना करते हैं, किसी अनुमान से नहीं।

इस प्रसङ्ग में सांख्याचार्यों के ऊपर एक आक्षेप यह रह जाता है कि वैदिक यागादि में यदि हिंसायें होती हैं इसलिये वे 'अनर्थ' भी हैं तो अनर्थ रूप यागादि में आर्यशिष्ट आस्तिक गण प्रवृत्त कैसे होते हैं। इस आक्षेप का उत्तर वे इस प्रकार देते हैं कि इन वैषयिक सुखजनक क्रियाओं में लोग राग से ही प्रवृत्त होते होते हैं। रागान्ध व्यक्ति अपने राग की चरितार्थता के लिये उसके मार्ग में आये हुये दुःखों को झेलने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। अतः वेदशास्त्र के अनुयायिगण भी रागमूलक स्वर्गादि की उत्कट उत्सुकता के आगे हिंसादिजनित अधर्मों से होनेवाले दुःखों को सहजता से ही सहन करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी विषय को सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदीटीका में श्रीवाचस्पति मिश्र ने इन शब्दों से व्यक्त किया है :—

मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम् ॥ २४९–२५२ क–ख ॥

एवं ये निपुणं प्राहुस्तैरप्येतत् परीक्ष्यताम् ॥ २५२ ॥
सुरापानादिभिः शूद्रः किं याति नरकं कुतः ।
वैश्यस्तोमेन वा किं स्याद्विप्रराजन्ययोः फलम् ॥ २५३ ॥
पञ्चम्यामिष्टिकरणान्मध्याह्ने चाग्निहोत्रतः ।
तस्माद् यद्यादृशं कर्म यत्फलोत्पत्तिशक्तिकम् ॥ २५४ ॥
शास्त्रेण गम्यते तस्य तादृशस्यैव तत् फलम् ।

सांख्याचार्यों की इस उक्तिके खण्डन में मीमांसकों का कहना है :—

जो विज्ञ सांख्याचार्यगण उपर्युक्त अत्यन्तसूक्ष्म युक्ति के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट रीति से यज्ञीय हिंसाओं में अनर्थत्व का प्रतिपादन करते हैं उन्हें निम्नलिखित युक्तियों द्वारा अपने मत की यह परीक्षा भी करनी चाहिये कि उन युक्तियों उनका सिद्धान्त ठीक उतरता या नहीं :—

(१) सुरापान से क्या शूद्र को भी नरक की प्राप्ति होती है ?

कहने का तात्पर्य है कि क्या आप के मत से सुरापान में जो नरक प्राप्त कराने की शक्ति स्वभावतः है उसकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति ही केवल 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' इस विशेष निषेधवाक्य के द्वारा होती है ?

(२) वैश्यस्तोम नामक याग के अनुष्ठान से क्या ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के लोगों को भी फल मिलेगा ?

कहने का तात्पर्य है कि 'वैश्यस्तोम' नामक याग केवल वैश्यों के लिये विहित है। अतः उसके अनुष्ठान का अधिकार केवल वैश्यों को है। अतः उससे उत्पन्न फल भी वैश्यों को ही मिलेगा। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को न इसके अनुष्ठान का अधिकार है और न बलात् अनुष्ठान से उन्हें कुछ फल ही मिलेगा। इसको सभी आस्तिक संप्रदाय के लोग स्वीकार करते हैं। अतः पूर्वपक्षवादी सांख्याचार्य गण भी आस्तिक होने के नाते इसे अस्वीकार नहीं कर सकते।

किन्तु उनकी युक्ति से इसकी उपपत्ति ठीक नहीं बैठती है, क्योंकि 'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा वैश्यस्तोम याग में जो स्वतः प्राप्त इष्ट-साधन की शक्ति है उस इष्ट की प्राप्ति को वैश्यों के लिये इस वाक्य से समझाया गया है। किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों में उस इष्ट की जो स्वाभाविक उत्पादिका शक्ति है उस शक्ति को विनष्ट करने का अधिकार वैश्यस्तोम के विधायक वाक्य में नहीं है। अतः पूर्वपक्षवादी यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वैश्यस्तोम याग का अनुष्ठान करें तो उन्हें कुछ भी फल नहीं मिलेगा। किन्तु सिद्धान्ततः उन्हें उक्त याग के अनुष्ठान से फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः सांख्याचार्यों का पक्ष ठीक नहीं है।

(३) 'दर्श' नाम की इष्टि का विधान अमावास्या में और 'पौर्णमास' नाम की इष्टि का विधान पूर्णिमा में है। अतः सर्वास्तिकों का यह सिद्धान्त है कि अमावास्या तिथि में अधिकारी के द्वारा अनुष्ठित दर्श नाम की इष्टि से ही अधिकारी को उसका

फल मिलता है एवं पूर्णिमा तिथि में अधिकारी पुरुष के द्वारा पौर्णमास नाम की इष्टि से उसके अधिकारी पुरुष को फल प्राप्त होता है। पञ्चमी प्रभृति तिथियों में दर्श के या पौर्णमास के अनुष्ठान से किसी को भी फल प्राप्त नहीं होता है।

किन्तु पूर्वपक्षवादियों की कथित युक्ति के अनुसार पञ्चमी प्रभृति तिथियों में दर्श या पौर्णमास के अनुष्ठान से यथावत् फल की उत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत' इस वाक्य से अमावास्या और पूर्णिमा में दर्शपौर्णमास के अनुष्ठान से अनुष्ठाताओं के जिस इष्टसाधनशक्ति रूप धर्मत्व का बोध होता है वह धर्मत्व अनुष्ठाताओं में पूर्व से ही स्वतःसिद्ध है। अतः पञ्चमी तिथि में अनुष्ठित दर्श-पौर्णमास यागों में उक्त शक्ति का विनाश उक्त विधायक वाक्य से नहीं हो सकता। अतः पञ्चमी तिथि में क्रमशः अनुष्ठित दर्श और पौर्णमास से भी फल की उत्पत्ति माननी होगी। अतः सांख्याचार्यों की कथित युक्ति असङ्गत है।

(४) 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति' इत्यादि वचनों से उदय होने के बाद ही (प्रथम प्रहर के मध्य) एवं उदय से पूर्व (एक मुहूर्त्त) और समयाध्युषित काल (अनुदित काल से उपलक्षित समय से पूर्व और रात्रि के चतुर्थ प्रहर के बाद का समय) अग्निहोत्र होम के लिये विहित है। यही सिद्धान्त है कि उन्हीं समयों में किये गये अग्निहोत्र होम से यथावत् फल की प्राप्ति होती है।

किन्तु पूर्वपक्षवादी की कथितयुक्ति के अनुसार मध्याह्न में किये गये होम से यथावत् फल की प्राप्ति माननी होगी, क्योंकि उनके कथन के अनुसार अग्निहोत्र-सम्बन्धी होम में से पूर्व से सिद्ध इष्टसाधनत्व शक्ति स्वरूप धर्मत्व का बोध ही 'उदिते जुहोति' इत्यादि वाक्यों से उदितादि होमों में कहा गया है। किन्तु इससे यह नहीं हो सकता कि मध्याह्न समय में किये गये अग्निहोत्र होम में जो इष्टसाधनत्व शक्ति है वह 'उदिते जुहोति' इत्यादि-वाक्यों से हट जाय या विनष्ट हो जाय। अतः उदितादि समयों में अनुष्ठित होमों के समान ही मध्याह्नकाल में अनुष्ठित अग्निहोत्र होम से यथावत् फल की प्राप्ति माननी होगी, किन्तु सो असङ्गत है।

इन सभी स्थलों की स्थिति को दृष्टि में रखते हुये आस्तिक होने के कारण पूर्वपक्षी को यही कहने के लिये बाध्य होना पड़ेगा कि 'यादृश' जो वाक्य यद्विशेषण-विशिष्ट जिस क्रिया से जिस फल को जिस प्रकार के व्यक्ति लिये निर्दिष्ट करे वह क्रिया उसी प्रकार का फल केवल उसी प्रकार के पुरुष को दे सकती है।

इस उपपत्ति के अनुसार निम्नलिखित रीति से सभी आपत्तियां दूर हो जाती हैं :—

(१) ब्राह्मणकर्तृक सुरापान रूप विशेष प्रकार की क्रिया में ही अनर्थत्व या अधर्मत्व या अनिष्टसाधनत्वशक्ति है। इससे भिन्न सुरापान सामान्य में कोई साधारण अनिष्टसाधनत्वशक्ति नहीं है जिसका बोध सांख्याचार्यगण 'ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इस वाक्य से मानते हैं।

अतः 'ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इस निषेधवाक्य से ब्राह्मणकर्तृक सुरापान ही अनर्थ है। शूद्र को सुरापान करने से अनिष्ट नहीं होता।

(२) 'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत' इस वाक्य से वैश्यकर्तृक वैश्यस्तोम याग का ही विधान है। अतः वैश्यकर्तृक याग विशेष ही वैश्यस्तोम है। ब्राह्मणादिकर्तृक कोई भी विशेष प्रकार की क्रिया वैश्यस्तोम नहीं है, क्योंकि वैश्यकर्तृकत्वविशिष्ट याग विशेष को छोड़कर (जो वैश्य के ही इष्ट को साधित कर सकता है) वैश्यस्तोम नाम का कोई याग सामान्य नहीं है।

(३) 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत' इस वाक्य से दर्श (अमावास्या) और पूर्णिमा तिथि को क्रमशः अनुष्ठेय दो यागों का ही विधान है। फलतः इन दोनों तिथियों को छोड़कर पञ्चमी प्रभृति अन्य तिथियों में अनुष्ठित होनेवाली कोई भी क्रिया दर्शपौर्णमास के फल को दे नहीं सकती, क्योंकि दर्शपौर्णमास यागों के जो स्वरूप हैं उनमें क्रमशः 'दर्श' तिथि और पूर्णिमा तिथि ये दोनों भी अधिकरण रूप से निविष्ट हैं। अतः पञ्चम्यादि तिथियों में अनुष्ठित कोई भी क्रिया और जो कुछ भी हो, दर्श और पौर्णमास नहीं कहला सकती। केवल इसी युक्ति से पञ्चमी प्रभृति अन्य तिथियों में अनुष्ठित दर्शपौर्णमास से यथाविहित फलापत्ति का वारण हो सकता है।

(४) 'उदिते जुहोति' इत्यादि वाक्यों से प्रतिज्ञा के अनुसार सूर्य के उदित होने पर एवं अनुदित समय में एवं समयाध्युषित काल में ही अग्निहोत्र होम का विधान है। अतः जिस पुरुष ने उदित समय में आहुति देने की प्रतिज्ञा की है उस पुरुष के लिये उस समय का आहुतिदान ही अग्निहोत्र होम है। इसी प्रकार अनुदित और समयाध्युषित कालों में भी अनुष्ठेय अग्निहोत्रसम्बन्धी आहुतियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। किन्तु इन तीनों ही समयों को छोड़कर मध्याह्नादि समयों में अग्निहोत्रसम्बन्धी आहुतियों को देने का विधान नहीं है। एवं उक्त विहित तीनों समयों में अनुष्ठित होनेवाली आहुतियों को छोड़कर किसी भी सामान्य आहुति को देने का भी विधान नहीं है। अतः मध्याह्नादि समयों में दी हुई कोई भी आहुति अग्निहोत्रहोम से होनेवाले फल को नहीं दे सकती ॥ २५२–२५५ क–ख ॥

हिंसा चांशद्वयादन्या या तस्याः प्रतिषेधकः ॥ २५५ ॥
प्रत्यवायार्थताज्ञानम् विधिनान्यत्र वार्यते।

पूर्वपक्षवादी सांख्याचार्यगण अपने बचाव के लिये कह सकते हैं कि वैश्यस्तोमादि यागों के विधायक वाक्यों से केवल वैश्यजातीय व्यक्तियों के फल का निर्देश किया गया है। अतः उनके अनुष्ठान से क्षत्रियादि जातियों के लोगों को फल न मिलना उचित ही है। किन्तु 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेधशास्त्र से तो सभी हिंसाओं को अधर्म कहा गया है। अग्नीषोमीयादि यागों की हिंसा भी अवश्य ही हिंसा हैं। अतः उक्त निषेधवाक्य से उन यज्ञीय हिंसाओं में भी अनर्थत्व का निर्देश प्राप्त है। अतः ये वैदिक हिंसायें भी अधर्म हैं। उनके इस आक्षेप का यह समाधान है :—

विधिप्रत्यय का अर्थ है भावना। साध्य, साधन, और इतिकर्त्तव्यता-भावना के ये तीन अंश हैं। श्येनादिवाक्यों से या अग्नीषोमीयादिवाक्यों से जिस भावना का बोध होता है उस भावना के भी उक्त तीन अंश हैं। इनमें साधन और इतिकर्त्तव्यता रूप दो अंशों को छोड़कर जो साध्यरूप तीसरा अंश है उसी का प्रतिषेध

'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रतिषेधवाक्य से होता है, क्योंकि श्येनादि विधिवाक्यों से या अग्नीषोमीयादि विधिवाक्यों से साधन रूपा हिंसा और इतिकर्त्तव्यता रूपा हिंसा में अधर्मत्व का वारण हो जाता है। फलतः 'मा हिंस्यात्' इस निषेध वाक्य को इन विहित हिंसाओं से भिन्न हिंसाओं में ही संकुचित होना पड़ता है। अतः वैदिक विधि-वाक्यों के द्वारा विहित हिंसा अधर्म नहीं है। तद्भिन्न हिंसा अवश्य ही अधर्म है।

कहने का तात्पर्य है कि जो हिंसा स्वर्गादि इष्टों के साधक किसी याग के अनुष्ठान के अन्तर्गत है वह 'इतिकर्त्तव्यता' रूप हिंसा है। जैसे कि अग्नीषोमीय पश्वालम्भनरूपा हिंसा। एवं जो हिंसा किसी इष्ट के साधन के रूप में निर्दिष्ट हो वह साधनरूपा हिंसा है, जैसे कि श्येनवध रूपा हिंसा। ये दोनों प्रकार की हिंसायें अधर्म नहीं हैं। इन दोनों से भिन्न जो साध्य रूपा हिंसा है, जैसे कि शत्रुवध रूपा हिंसा, अथवा भोजनार्थ छागादि की हिंसा ये साध्य रूपा सभी हिंसायें 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रतिषेधशास्त्र के विषय होने के कारण अवश्य ही अधर्म हैं॥ २५५–२५६ क–ख॥

ज्ञानमेव च शक्तीनां नावापोद्वापनक्रियाः॥ २५६॥
ज्ञायन्ते शास्त्रतस्तास्तु क्रियाभेदव्यवस्थिताः।
व्यवस्थाः शक्तिभेदानां दृष्टार्थेष्वपि कर्मसु॥ २५७॥
अभिन्नत्वेऽपि दृश्यन्ते भुजेः स्वस्थातुरेष्वपि।

पूर्वपक्षवादी ने श्लो० २५० के उत्तरार्द्ध से जो यह कहा है कि शास्त्र से किसी क्रिया में किसी शक्ति की उत्पादकता सिद्ध नहीं हो सकती, शास्त्र केवल किस क्रिया में कौन सी शक्ति है इसका ज्ञापक मात्र है—इस सिद्धान्त को स्वीकार करके भी सिद्धान्ती मीमांसक अपने पक्ष का समर्थन इस प्रकार कर सकते हैं :—

शास्त्र यज्ञादि क्रियाओं में जो स्वर्गादि के उत्पादन की शक्ति है उसका ज्ञापक मात्र है। इसमें मीमांसकों को कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु ये शक्तियां ही विभिन्न क्रियाओं में विभिन्न रूप में व्यवस्थित हैं। अर्थात् द्वेषमूलक शत्रुवधादि स्वरूप क्रियाओं में जो दुःख देने की शक्ति है, हिंसात्व रूप से समान ही अग्नी-षोमीयादि की हिंसाओं में यह दुःखजनिका शक्ति नहीं है, क्योंकि वे शक्तियाँ केवल शास्त्र से ही जानी जा सकती हैं। एक प्रकार की विभिन्न क्रियाओं में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ देखी जाती हैं। स्वस्थ पुरुष को दुग्ध-पान स्वरूप क्रिया से सुख मिलता है। किन्तु कोई रोगी यदि दूध पी लेता है तो उससे उसको दुःख ही मिलता है॥ २५६–२५८ क–ख॥

रूपाभेदेऽपि हिंसादेर्भेदोऽङ्गानङ्गकारितः॥ २५८॥

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि स्वस्थ एवं आतुर पुरुषों की दुग्ध-पान क्रिया यद्यपि भोजनक्रियात्व रूप एक ही जाति की है, फिर भी उपाधि के भेद से दोनों भोजन क्रियाओं में विभिन्न शक्तियों का रहना अनुपपन्न नहीं है। पूर्वपक्ष-वादी के इस कथन का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है :—

जिस प्रकार भोजन-क्रियाओं में उपाधिकृत भेद से विभिन्न शक्तियों की उपपत्ति की गयी है उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओं में भी उपाधिभेद से विभिन्न शक्तियों की उपपत्ति हो सकती है।

इस दृष्टि से हिंसा के दो भेद किये जा सकते हैं :—

(१) यज्ञाङ्गहिंसा एवं (२) यज्ञानङ्गभूता हिंसा। इनमें दूसरी हिंसा में ही दुःखोत्पादिका शक्ति है। पहिली हिंसा में यह दुःखोत्पादिका शक्ति नहीं है। इस युक्ति से भी यज्ञ की अङ्गभूता हिंसा में दुःखोत्पादिका शक्ति को रोकी जा सकती है ॥२५८॥

तथाप्येकफलत्वं चेत् क्रियात्वात् सर्वसङ्करः।
यजित्वाद्यविशेषाच्च चित्रादिफलतुल्यता ॥ २५९ ॥
भेदात् तत्र व्यवस्था चेदिहाप्येवं भविष्यति।

तथापि……सर्वसङ्करः

'तथापि' अर्थात् यज्ञाङ्गत्व और यज्ञानङ्गत्व रूप विभिन्नता के रहते हुये भी यदि दोनों ही प्रकार की हिंसायें केवल क्रिया होने के कारण एक प्रकार के फलों की उत्पादिका हों तो फिर 'सर्वसाङ्कर्य' दोष होगा। अर्थात् अश्वमेधादिधर्म स्वरूप क्रियाओं से भी दुःख की उत्पत्ति एवं ब्रह्महत्यादि अधर्मात्मक क्रियाओं से भी सुख की उत्पत्ति माननी होगी।

यजित्वात्……भविष्यति

प्रकृत विचार में पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि क्रियात्व स्वरूप सामान्य धर्म के अतिरिक्त किसी अवान्तर रूप से ऐक्य ही समान फल का प्रयोजक है। अतः क्रियात्व-व्याप्य हिंसात्व रूप से सभी हिंसाओं के एक होने के कारण यज्ञीय पशुहिंसा भी अन्य साधारण हिंसाओं की तरह अवश्य ही दुःख का जनक है। किन्तु अश्वमेधादि याग क्रिया और ब्रह्महत्यादि क्रिया में क्रियात्व को छोड़कर अन्य किसी क्रियात्व-व्याप्य धर्म के द्वारा ऐक्य नहीं है। अतः उन दोनों में समान फल की आपत्ति का उद्भावन उचित नहीं है।

इस प्रसङ्ग में इस प्रतिवन्दो का उद्भावन किया जा सकता है कि उक्त रीति से अश्वमेध और ब्रह्महत्या इन दोनों से समान फल की आपत्ति भले ही न हो किन्तु सौर्ययाग और चित्रायाग इन दोनों से समान फल की आपत्ति अवश्य ही हो सकती है, क्योंकि दोनों में क्रियात्व रूप सामान्य धर्म के अतिरिक्त तदवान्तर यजित्व स्वरूप धर्म भी है। किन्तु सो इष्ट नहीं है, क्योंकि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य के द्वारा चित्रायाग से पशुस्वरूप फल ही निर्दिष्ट है एवं 'सौर्यं चरुं निर्वपेद्ब्रह्म-वर्चसकामः' इस वाक्य के द्वारा सौर्ययाग से ब्रह्मवर्चस्व रूप फल ही निर्दिष्ट है। अतः इन दोनों यागों से एक फल की आपत्ति को इष्ट नहीं कहा जा सकता।

यदि इस फलैक्यापत्ति को हटाने के लिये यह कहें कि चित्रायाग रूपा क्रिया एवं सौर्ययाग रूपा क्रिया दोनों भिन्न हैं, अतः इनसे एक फल की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती; किन्तु हिंसा से प्रसङ्ग में भी यह कहा जा सकता है कि यज्ञीय-

पशुहिंसा रूपा क्रिया एवं राग से उत्पन्न होनेवाली पशुहिंसा रूपा क्रिया ये दोनों जिसलिये कि भिन्न हैं, अतः रागप्राप्त पशुहिंसा की तरह यज्ञीय पशुहिंसा से दुःख की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥ २५९–२६० क–ख ॥

विधीनां वापि सर्वेषां साक्षाद् व्यवहितोऽपि वा ॥ २६० ॥
पुरुषार्थः फलं तेन नानर्थोऽतः प्रतीयते ।
न चेषु श्रूयतेऽनर्थो निषेधान्न च कल्प्यते ॥ २६१ ॥

मीमांसकगण यज्ञीय हिंसा को विहित होने के कारण 'अनर्थ' नहीं मानते। किन्तु उनसे यह प्रष्टव्य रह ही जाता है कि विहित है इसलिये 'अनर्थ' क्यों नहीं है। इस प्रश्न का समाधान है :—

साक्षात् अथवा परम्परा से पुरुष जिस अर्थ को चाहता है वह 'पुरुषार्थ' ही विहित क्रिया का 'फल' है। जैसे कि दर्शपौर्णमास साक्षात् ही स्वर्ग स्वरूप 'पुरुषार्थ' का (पुरुष जिसे चाहता है, उसका) सम्पादक है। एवं प्रयाज-अनुयाजादि दर्शपौर्णमास के सम्पादन के द्वारा स्वर्गस्वरूप पुरुषार्थ (पुरुषाभिप्रेतार्थ) के साधक हैं।

इसी प्रकार 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' अथवा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिवाक्यों से निर्दिष्ट क्रियायें भी किसी न किसी 'पुरुषार्थ' की ही सम्पादिका हो सकतीं हैं। अतः हिंसा के विधायक इन वाक्यों से भी किसी 'अनर्थ' रूप क्रिया का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अनर्थरूपा क्रिया कभी भी पुरुषार्थ की साधिका नहीं हो सकती।

हिंसा के विधायक इन वाक्यों से स्वरसतः अनर्थता की प्रतीति कभी नहीं होती। तब रही बात 'मा हिंस्यात्' इस निषेधवाक्य से अनर्थता की कल्पना करने की। सो इस प्रसङ्ग में पहिले ही (श्लो० २५५ में) उपपादन कर चुके हैं कि इस सामान्य निषेधवाक्य से यज्ञीयहिंसाओं में अनर्थता की सिद्धि नहीं की जा सकती। अतः जिस किसी प्रकार से देखें, यज्ञीय हिंसा अनर्थ नहीं है ॥ २६०–२६१ ॥

न च प्रकरणस्थत्वात् पुरुषार्थः फलं भवेत् ।
कर्मोपकारः कल्प्यस्तु दृष्टोऽदृष्टोऽथ वा पुनः ॥ २६२ ॥
कल्पनावसरस्तत्र नानर्थस्यानपेक्षणात् ।

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि यज्ञीय हिंसा के विधायक वाक्य चूंकि 'प्रकरणस्थ' हैं, अर्थात् किसी न किसी प्रधान याग के 'प्रकरण' में पठित हैं, अतः इन वाक्यों से विहित पश्वालम्भनादि स्वरूप क्रियायें कभी भी 'पुरुषार्थ' नहीं हो सकतीं। वे दृष्ट द्वारा अथवा अदृष्ट द्वारा केवल प्रधान क्रतु (प्रधान यज्ञ) का साहाय्य कर सकती हैं।

कहने का तात्पर्य है कि अग्नीषोमीय हिंसा रूपा क्रिया यदि पुरुषार्थ होती तो उसमें किसी प्रकार अनर्थत्व की कल्पना कर भी लेते। किन्तु यज्ञीय वे सभी हिंसायें

'प्रकरणस्य' हैं, अर्थात् 'क्रत्वर्थ' हैं। अतः उनमें अनर्थत्व की कोई भी संभावना नहीं है।

एकवाक्यतापन्न वाक्यों के समूह को 'प्रकरण' कहते हैं (देखिये मीमांसादर्शन अ० ३ पा० ३ ४ सू० ११)। 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य के साथ 'प्रयाजान् यजति, अनुयाजान् यजति' इत्यादि वाक्य पठित हैं। इस प्रसङ्ग में संशय उपस्थित होता है कि ये प्रयाजादि याग स्वतंत्र याग हैं, अथवा दर्शपौर्णमास के अङ्ग हैं। इस संशय की उत्तरकोटि अर्थात् प्रयाजादि दर्शपौर्णमास के अंग ही हैं, स्वतन्त्र याग नहीं यही सिद्धान्त है, क्योंकि 'प्रयाजादयः फलहेतवः पुरुषप्रवृत्तिविषयत्वात् सेवादिवत्' (अर्थात् जिस प्रकार सेवा फल का हेतु है अतः पुरुषप्रवृत्ति का विषय है, उसी प्रकार प्रयाजादि भी फल के उत्पादक होने से ही पुरुषप्रवृत्ति के विषय हैं) इस अनुमान के द्वारा प्रयाजादि को किसी फल का जनक मानना होगा।

इसी प्रकार 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से दर्शपौर्णमास में स्वर्गस्वरूप फल की कारणता यद्यपि निर्णीत है, तथापि 'करण' बिना 'उपकरण' के अपने कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे कि चक्षु आलोक से उपकृत हुये बिना प्रत्यक्ष का उत्पादन नहीं कर सकता। अतः 'दर्शपौर्णमासौ उपकरणसापेक्षकार्यौ करणत्वात् आलोकोपकृतचक्षुर्वत्' इस अनुमान के द्वारा दर्शपौर्णमास से स्वर्ग के सम्पादन में किसी 'उपकरण' की आवश्यकता सिद्ध है।

एवं 'प्रयाजान् यजति' इत्यादि वाक्यों से प्रयाजादि के फल निर्दिष्ट नहीं हैं। अतः उन वाक्यों को समझ लेने के बाद अवश्य ही यह आकांक्षा उत्पन्न होगी कि 'प्रयाजादेः किं फलम् ?' इसी प्रकार कथित रीति से दर्शपौर्णपौर्णमास के फल की आकांक्षा के उदित न होने पर भी 'उपकरण' की आकांक्षा अवश्य ही उत्पन्न होगी। दर्शपौर्णमास के उपकरण किसी वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट नहीं हैं। अतः यह आकांक्षा अवश्य उत्पन्न होगी कि 'दर्शपौर्णमासादेः किमुपकरणम् ?'

यदि दोनों वाक्यों को मिलाकर अभिमत यह वाक्य मान लिया जाय कि 'प्रयाजादिभिरुपकृताभ्यां दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' तो उक्त दोनों ही आकांक्षाओं की शान्ति होगी। अनेक वाक्यों की इस प्रकार की 'एकवाक्यता' ही 'प्रकरण' है।

प्रकृत में जो 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वाक्य है, वह वस्तुतः 'यो दीक्षितो अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वेदवाक्य के द्वारा कल्पित विधिवाक्य है। ज्योतिष्टोम याग की अग्निष्टोम नाम की जो संस्था है उसी के अन्तर्गत यह अग्नीषोमीय पश्वालम्भन होता है (देखिये मीमांसा सूत्र अ० ३ पा० ६ सूत्र और उसका शावरभाष्य एवं धर्मजिज्ञासा सूत्र के ५६वें श्लोक की मेरी व्याख्या)। इनमें उपयुक्त होने वाले उपाकरण, उपानयन, बन्धन, नियोजन, संज्ञपन, विशसनादि अनेक संस्कारों का उल्लेख है। इनमें संज्ञपन स्वरूप मारण ही वस्तुतः 'आलम्भन' है। यह आलम्भन स्वरूप संस्कार पशु में होता है। एतादृश संस्कार से युक्त पशु का विशसन रूप छेदन संस्कार होता है। उसके बाद ही वे छिन्न हृदयादि हवि रूप से अग्निष्टोम याग के

अङ्गीभूत पशुहोम में प्रयुक्त होते हैं। (देखिये मीमांसान्यायप्रकाश और उसकी म० म० चिन्नस्वामिकृत सारविवेचिनी टीका पृ० २७ पं० ४ और ११)

इस विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृत पुरुषार्थ रूपा क्रिया है ज्योतिष्टोम याग रूपा क्रिया। अग्निष्टोम एवं उसके अन्तर्गत पश्वालम्भनादि सभी क्रियायें ज्योतिष्टोम स्वरूप 'क्रतु' सम्पादक मात्र होने से 'क्रत्वर्थ' है। अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले फल कभी पुरुषनिष्ठ हो ही नहीं सकते। अतः वे कभी 'पुरुषार्थ' नहीं हो सकते। जिन क्रियाओं से पुरुष में फल उत्पन्न हों वे ही क्रियायें पुरुषार्थ हैं।

कथित अग्नीषोमीय हिंसा से यदि 'अप्रीति' (दुःख) स्वरूप फल मानें तो वह फल पुरुषनिष्ठ ही होगा। किन्तु जब इन क्रियाओं से पुरुषगत किसी फल की उत्पत्ति संभव ही नहीं है, तो पुरुषगत अप्रीति स्वरूप फल की भी उत्पत्ति इससे नहीं हो सकती। अतः यज्ञ में होने वाली सभी हिंसायें 'क्रत्वर्थ' ही हैं, 'पुरुषार्थ' नहीं। अतः ये अप्रीतिजनक नहीं हो सकतीं। फिर उनके अनर्थत्व की चर्चा कैसी ?

कल्पनावसरः''''''अनपेक्षणात्

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि 'मा हिंस्यात्' इत्यादि वाक्य के बल से ही उक्त हिंसाओं में भी 'अनर्थत्व' की कल्पना करेंगे। इसका यह उत्तर है :—

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्य से पश्वालम्भन रूप क्रिया में अग्निष्टोम स्वरूप क्रतु के उपकारकत्व की कल्पना का ही अवसर है, उन क्रियाओं में अनर्थत्व की कल्पना का कोई अवसर नहीं है, क्योंकि प्रकृत में वह अनपेक्षित है। अपेक्षित वस्तु की ही कल्पना की जाती है, अनपेक्षित वस्तु की नहीं ॥ २६२–२६३ क–ख ॥

क्रत्वर्थश्चापि संस्कारः पशोर्नारादुपक्रिया ॥ २६३ ॥

दृष्टैव त्ववदानानां निष्पत्तिः क्रत्वपेक्षिता।

पशुओं के आलम्भनादि संस्कार क्रत्वर्थ होने पर भी क्रतु के प्रति 'आरादुपकारक' अर्थात् साक्षात् उपकारक भी नहीं हैं, क्योंकि अवत्तहृदयादि रूप हवि द्रव्यों का सम्पादन रूप दृष्ट उपकार ही उनसे होता है। प्रोक्षणादि की तरह अदृष्ट के द्वारा कोई उपकार उनसे क्रतु में नहीं होता। अतः यज्ञीय हिंसाओं से पुरुष में किसी प्रकार के दुःख स्वरूप फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः वे कभी भी पुरुषार्थ नहीं हो सकतीं, सदा क्रत्वर्थ ही होंगी ॥ २६३–२६४ क–ख ॥

अभिचारेऽप्युपायस्था हिंसा नाधर्म उच्यते ॥ २६४ ॥

तस्मादनङ्गभूतायां हिंसायामेतदुच्यते।

'कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय, श्येनो वज्र इषुः इत्यमेवमादिः' इस भाष्यसन्दर्भ में 'श्येन' को अनर्थ के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है। एवं 'श्येन' रूप अनर्थ में (अधर्म में) अतिव्याप्ति को मिटाने के लिये 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र में 'अर्थ' शब्दोपादान का उपपादन किया है। इस प्रकरण के २०१ श्लोक से लेकर २६३–२६४ श्लोक तक इसी प्रसङ्ग में विचार किया गया है। उन सभी विचारों का सार यह है :—

श्येन नाम का याग शत्रुवध की कामना से किया जाता है। इसमें श्येन नाम के पक्षी का आलम्भन (वध) होता है। इस प्रकार श्येनयाग से सम्बन्ध रखने वाली दो हिंसा हैं (१) शत्रुवधात्मक फल रूप एवं (२) श्येनयाग रूप उपाय के अन्तर्गत श्येनवध रूप। इन 'उपायस्था' श्येनपक्षिवधरूपा जो हिंसा है, उस को हम मीमांसक गण भी अधर्म नहीं मानते हैं। किन्तु 'शत्रुवध' स्वरूप फलस्वरूपा जो हिंसा है, उसको हमलोग भी अधर्म मानते ही हैं। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ में जो 'अर्थ' पद के प्रत्युदाहरण का बोधक 'श्येन' शब्द है उससे श्येनयाग स्वरूप उपाय से उत्पन्न होनेवाली जो शत्रुवधरूपा फलस्वरूपा श्येनयाग की अङ्गभूता हिंसा है, वही अभिप्रेत है ॥ २६४–२६५ क–ख ॥

उद्देशाच्च फलत्वेन श्येनादौ न विधीयते ॥ २६५ ॥
भावनाविधिरप्येव फलांशाद् विनिवर्त्तते ।

'कथं पुनरसावनर्थः ?' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा आक्षेप किया गया है कि शत्रुवध रूपा जिस हिंसा को आपने अनर्थ मानकर 'अर्थ' पद के प्रत्युदाहरण रूप में उपस्थित किया है वह 'अनर्थ' क्यों है ? क्योंकि वह तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण 'अर्थ' ही है। अतः वह 'अर्थ' पद का उदाहरण ही है, प्रत्युदाहरण नहीं।

यह आक्षेप यह मानकर किया गया है कि श्येनयाग से उत्पन्न होनेवाली जो शत्रुवधात्मक फल रूपा हिंसा है वह भी श्येनवाक्य का विधेय है। अतः वह भी 'अर्थ' ही है। अथवा श्येनवाक्यगत विधिप्रत्यय का अर्थ जो शत्रुवधानुकूल भावना है उसके अन्तर्गत शत्रुवध भी है। अतः वह भी 'अर्थ' ही है (देखिये श्लोक २२५ और उसकी व्याख्या)।

इस आक्षेप का यह समाधान है :—

यह सत्य है कि श्येनयाग का जब विधान होता है तो शत्रुवधरूपा जो हिंसा है वह भी फल होने के कारण उद्दिष्ट हो जाती है। किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उसमें उद्देश्यता है तो विधेयता भी अवश्य है। 'विधेय' का यदि यह लक्षण करें कि 'विधिवाक्य से उत्पन्न होनेवाले प्रमाज्ञान के जितने भी विषय हों वे सभी विधेय हैं' तब तो वह शत्रुवध रूपा हिंसा भी विधेय हो सकती है। श्येनविधि से उत्पन्न होने वाले बोध का आकार है 'श्येनयागेन शत्रुवधं भावयेत्'। इस बोध की विषयतारूपा विधेयता उक्त हिंसा में भी है। अतः वह भी विधेय हो सकती है।

किन्तु 'विधेय' का यह लक्षण ही नहीं है, किन्तु 'यत्राप्रवृत्तः पुरुषः विधिवशात्प्रवर्त्तते तद्विधेयम्' यही 'विधेय' का लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार शत्रुवध रूप फलात्मक हिंसा में विधेयता नहीं है, क्योंकि शत्रुवध में राग से ही प्रवृत्ति संभव है। इस प्रवृत्ति के लिये विधि की आवश्यकता नहीं है। किन्तु राग से प्राप्त शत्रुवध स्वरूप अभीष्ट के लिये जो श्येनयाग में पुरुष प्रवृत्त होता है वह 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य को छोड़कर किसी दूसरे प्रमाण से संभव नहीं है। अतः

शत्रुवध स्वरूप फल की प्राप्ति के लिये श्येनयाग में केवल उक्त विधिवाक्य के बल से ही प्रवृत्ति हो सकती है। अतः वही उपायस्था श्येनवधरूपा हिंसा विधेय है। शत्रुवध रूपा फलात्मिका हिंसा विधेय नहीं है।

तदनुसार प्रकृत श्लोक का अक्षरार्थक्रम से यह अर्थ है कि श्येनादि यागों के विहित होने पर शत्रुवधात्मक हिंसा अवश्य ही विधिवाक्य से निर्दिष्ट होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वही उस वाक्य का विधेय भी है। उसमें चोदनालक्षणत्व स्वरूप धर्मत्व का व्यवहार इतने भर से होता है कि श्येनयागरूप विधेय साध्यत्व स्वरूप लक्ष्यतावच्छेद धर्मपुरस्सर लक्षणावृत्ति के द्वारा उसका बोध होता है।

अतः 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य के अर्थ स्वरूपा भावना शत्रुवध स्वरूप अपने साध्यांश से हटकर अपने साधनांश और इतिकर्त्तव्यतांश में ही सीमित हो जाती है। फलतः श्येनविधि के अर्थ भावना के साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप दोनों अंशों में ही विधेयता रहती है। साध्यांश में (फलांश में) विधेयता नहीं रहती। अतः फलात्मक शत्रुवधरूपा हिंसा अविधेय होने के कारण 'अर्थ' नहीं है। अतः 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेधवाक्य का विषय होने के कारण 'अनर्थ' है। श्येनवधरूपा हिंसा विधिवाक्य का विधेय है, अतः वह 'अर्थ' है, धर्म है ॥२६५–२६६ क–ख ॥

अतः स्वतो न धर्मत्वं श्येनादेर्नाप्यधर्मता ॥ २६६ ॥
फलानर्थानुबन्धित्वात् तद्द्वारेणोपचर्यते ।

इन सभी कारणों से श्येनयाग न स्वतः धर्म हैं न अधर्म। उनके शत्रुवधादि स्वरूप फल अनर्थानुबन्धी हैं। अतः श्येनादि विहित क्रियाओं में भी अनर्थत्व का व्यवहार होता है ॥ २६६–२६७ क–ख ॥

निराकाङ्क्षस्य चैकेन श्येनस्य न फलद्वयम् ॥ २६७ ॥
तस्मात् क्रियान्तरादेव हिंसातोऽनर्थ उच्यते ।

श्येनयाग को शत्रुवध रूप अनर्थ का अनुबन्धी होने के कारण अधर्म क्यों मानते हैं ? स्वरूपतः ही उसको अधर्म क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न का यह समाधान है :—

श्येनयाग श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा विधेयरूप से निर्दिष्ट है। अतः उसको स्वरूपतः अधर्म कहना उचित नहीं है। उक्त विधिवाक्य से ही श्येनयाग में अनर्थत्व (अधर्मत्व) की कल्पना भी उचित नहीं होगी, क्योंकि श्येनविधिवाक्य एक ही है। वह श्येनयाग में अर्थत्व की अभिव्यक्ति करने के बाद निराकांक्ष हो जाता है। फिर उसी निराकांक्ष वाक्य से श्येनयाग में पूर्वसूचित अर्थत्व के विरुद्ध अनर्थत्व की कल्पना अनुचित होगी ॥ २६७–२६८ क–ख ॥

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ॥ २६८ ॥
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्मत्वेन हीष्यते ।

वही क्रिया धर्म (अथवा अर्थ) कहलाती है जो स्वयं अनर्थ स्वरूप न रहे, एवं उसका फल भी अनर्थ स्वरूप न हो। जो क्रिया केवल प्रीति का ही कारण हो,

(वही क्रिया धर्म कहलाती है)। धर्म की इस परिभाषा के अनुसार श्येन याग को वृद्धगण अनर्थ कहते हैं, क्योंकि श्येनयाग स्वरूपतः अधर्म स्वरूप न होने पर भी शत्रुवध स्वरूप अनर्थ (अधर्म) का उत्पादक है। फलतः उसके द्वारा अप्रीति का भी कारण है ॥ २६८–२६९ क–ख ॥

ननु चेष्टाभ्युपायत्वात् श्येनादेर्धर्मता भवेत् ॥ २६९ ॥

श्येनयाग यदि स्वरूपतः अधर्म नहीं है तो फिर विधिवाक्य के द्वारा विधेयरूप से एवं इष्ट के उपायरूप से निर्दिष्ट होने के कारण धर्म ही क्यों नहीं है ?

उक्त प्रश्न का यह समाधान है कि श्येनयाग शत्रुवध स्वरूप इष्ट का साधक है। एवं यह फलीभूत शत्रुवध प्रत्यवाय का कारण है। इस वस्तुगति के अनुसार श्येनयाग में यह धर्म है अथवा अधर्म—इसका सम्प्रधारण अर्थात् निर्णय करना चाहिये। फिर इससे जो भी स्थिति होगी उसमें हमलोगों (मीमांसकों) को कोई विवाद नहीं होगा ॥ २६९ ॥

फलं तावदधर्मोऽस्य श्येनादेः सम्प्रधार्यते।
(१) यदि येनेष्टसिद्धिः स्यादनुष्ठानानुबन्धिनी ॥ २७० ॥
तस्य धर्मत्वमुच्येत ततः श्येनादिवर्जनम्।
(२) यदा तु चोदनागम्यः कार्याकार्यानपेक्षया ॥ २७१ ॥
धर्मः प्रीतिनिमित्तं स्यात् तदा श्येनेऽपि धर्मता।
(३) यदि त्वप्रीतिहेतुर्यः साक्षाद् व्यवहितोऽपि वा ॥ २७२ ॥
सोऽधर्मश्चोदनार्थः स्यात् तदा श्येनेऽप्यधर्मता।

किस हेतु से कोई श्येनयाग को धर्म कहते हैं ? एवं कोई उसे अधर्म कहते हैं ? इस सम्प्रधारण अर्थात् वृद्धव्यवहार का निर्णय इस रीति से समझना चाहिये :—

यदि येनेष्ट……वर्ज्जनम्

(१) अनिष्ट से असम्बद्ध इष्ट की सिद्धि जिससे हो वही 'धर्म' है। यदि धर्म का यह लक्षण करें तो फिर श्येन याग अधर्म होने के कारण वर्जनीय होगा, क्योंकि इस याग से उत्पन्न होने वाले शत्रुवध स्वरूप फल से अनिष्ट का होना निश्चित है। अर्थात् धर्म के इस लक्षण के अनुसार श्येनयाग अधर्म है।

यदा तु…अनपेक्षया…धर्मता

(२) यदि 'कार्याकार्यानपेक्षया चोदनागम्यः प्रीतिनिमित्तो धर्मः' अर्थात् किसी किसी रीति से अर्थात् शत्रुवधादि स्वरूप अकार्य के उत्पादन के द्वारा भी प्रीति का जो कारण विधिवाक्य के द्वारा विधेयरूप में निर्दिष्ट हो वही 'धर्म' है—यह धर्म का लक्षण करें तो फिर श्येनयाग भी धर्म ही है, क्योंकि श्येनयाग भी शत्रु के वध से ही उत्पन्न होनेवाली प्रीति का कारण है। एवं 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा विधेय रूप में निर्दिष्ट भी है। भले ही वह शत्रुवध रूप 'अकार्य' अर्थात् अधर्म का

जनक हो। धर्म होने के लिये अधर्म का उत्पादकत्व बाधक नहीं है। धर्म होने के लिये केवल प्रीतिजनकत्व एवं चोदनागम्यत्व ये ही दोनों आवश्यक हैं।

यदि त्वप्रीति ......व्यवहितोऽपि वा...श्येनेऽप्यधर्मता

(३) यदि अधर्म का ही लक्षण इस प्रकार करें कि 'साक्षात् अथवा परम्परा से जो अप्रीति का कारण हो वही अधर्म है' तो फिर श्येनयाग भी अधर्म है, क्योंकि शत्रुवध के द्वारा आपाततः प्रीति का उत्पादक होने पर भी शत्रुवध स्वरूप प्रत्यवायात्मक का फल का उत्पादक है। अधर्म के इस लक्षण के अनुसार श्येनयाग अधर्म है। श्येनयाग के धर्माधर्मत्व के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी व्यवहारों को इसी दृष्टि से समन्वित समझना चाहिये[1] ॥ २७०–२७३ क–ख ॥

यस्तु हिंसात्वसाधर्म्याद् बाह्यवच्चोदनास्वपि ॥ २७३ ॥
वदेदनर्थहेतुत्वं तस्याप्यागमबाधनम्।
तमनादृत्य यो ब्रूयाद् यागादेरप्यसौ वदेत् ॥ २७४ ॥
स्वर्गादिसाधनाशक्तिं क्रियात्वाद् भोजनादिवत्।

यदि कोई 'वैदिकी हिंसा अनर्थजनिका हिंसत्वादितरहिंसावत्' इस अनुमान के द्वारा वैदिक हिंसाओं में भी अन्य हिंसाओं की तरह अनर्थजनकत्व सिद्ध करे तो उस अनुमान में 'आगमबाध' दोष होगा, क्योंकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि आगमों के द्वारा वैदिक हिंसाओं में 'अर्थजनकता' पहिले से ही सिद्ध है। तदनुसार यह अनुमान बाधितहेतुक होगा।

इन वैदिक वाक्यों का अनादर कर जो समुदाय उक्त अनुमान का प्रयोग करेंगे वे तो अग्निहोत्र-वाजपेयादियागों में भी स्वर्गसाधन की अशक्ति के साधनार्थ क्रियात्व हेतु से भोजनादि के दृष्टान्त से 'अग्निहोत्रवाजपेयादिकं स्वर्गाजनकं क्रियात्वात् भोजनादिवत्' इस अनुमान का भी प्रयोग कर सकते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि इस पूर्वपक्ष को उठाने वाले सांख्याचार्य हैं। वे वेदों को प्रमाण मानते हैं। तदनुसार अग्निहोत्र-वाजपेयादि में भी स्वर्गादिसाधन की शक्ति को स्वीकार करते हैं। उन्हीं लोगों को उक्त आगमबाध एवं प्रतिवन्दी दिये गये हैं, त्रयोबाह्य बौद्ध-जैनादि को नहीं ॥ २७३–२७५ क–ख ॥

गीतामन्त्रार्थवादैर्या कल्प्यतेऽनर्थहेतुता ॥ २७५ ॥
प्रत्यक्षश्रुतिबाध्यत्वात् सान्यार्थत्वेन नीयते।

---

१. इनमें प्रथम पक्ष द्वारा केवल इतना ही कहा है कि श्येनयाग धर्म नहीं है। अर्थात् इस पक्ष मे 'श्येनयाग' अधर्म है—यह नहीं कहा गया है। द्वितीय पक्ष के द्वारा श्येनयाग को 'धर्म' कहा गया है। तृतीय पक्ष के द्वारा श्येनयाग को 'अधर्म' कहा गया है। 'अधर्म' शब्द पर्युदासनञ्घटित है, अतः उसका अर्थ 'धर्मभिन्न' नहीं है, किन्तु धर्मविरोधी वस्तु विशेष है। तदनुसार धर्म न होने से ही अधर्म नहीं हो जाता। प्रथम पक्ष और तृतीय पक्ष में यही अन्तर समझना चाहिये।

किन्तु विहित हिंसाओं के सम्बन्ध में भी गीतावाक्य, मन्त्रात्मक वेद, अर्थवाद, इतिहास-पुराणादि के बहुत सारे ऐसे वचन हैं जिनके द्वारा विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट हिंसाओं को भी 'अनर्थ' कहा गया है। जैसे :—

(१) श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।

(२) विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।

इन गीतावचनों के द्वारा 'द्रव्यमय' यज्ञ से अर्थात् विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ से ज्ञानयज्ञ और जपयज्ञ में हिंसा के न होने से ही विशिष्टता दिखलायी गयी है।

इसी प्रकार वेदमन्त्र भी वैदिक हिंसाओं को अनर्थ होने का ज्ञापन करते हैं—

'यत्पशुर्मायमकृतोरो वा पद्भिराहते अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसा।'

इत्यादि मन्त्रों से पशुवध रूप संज्ञपन की निन्दा की गयी है। वैदिक हिंसाओं से प्रत्यवाय के न मानने पर ये सभी वचन विरुद्ध हो जायेगें। इस विरोध का परिहार इस प्रकार समझना चाहिये—

उक्त गीता के वाक्य, वेदों के कथित मन्त्र या अर्थवादादि वाक्यों से विधि-वाक्य की कल्पना होनेपर ही परम्परा से उनसे वैदिक हिंसाओं मे अनर्थता की सिद्धि हो सकती है। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि प्रत्यक्षश्रुतिओं से ही यज्ञीय हिंसाओं का 'अर्थ' होना सिद्ध है। अतः उक्त दो प्रकार के वाक्यों में से एक प्रकार के वाक्यों का दूसरा अर्थ करना पड़ेगा। प्रत्यक्षश्रुति को अन्यार्थक मानना संभव नहीं है। अतः गीतादि के उन वाक्यों को ही अन्यार्थक (अर्थात् जपयज्ञादि के स्तुत्यर्थक) मानना उचित है। अतः यज्ञीयहिंसाओं को धर्म मानने में गीतादि स्मृतिवचनों का विरोध नहीं है ॥ २७४–२७६ क–ख ॥

शिष्यान् प्रत्यविशिष्टत्वात् सूत्रवैदिकवाक्ययोः ॥२७६॥
अशक्तेश्चोभयोः साम्यान्न सूत्रेष्वित्यनुत्तरम्।

इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र की तात्पर्यार्थ के अनुसार व्याख्या की गयी है। इसी सूत्र की अक्षरार्थ क्रम के अनुसार व्याख्या के लिए भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ के द्वारा यह पूर्वपक्ष उठाया है :—

'नन्वशक्तमिदं सूत्रमिमावर्थाविभिवदितुम् चोदनालक्षणो धर्मो नेन्द्रियलक्षणः अर्थश्च धर्मो नानर्थः एक हीदं वाक्यम् तदेवं सति भिद्येत।'

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में भाष्यकार ने यह सन्दर्भ लिखा है :—

'उच्यते। यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते तत्रैवम्। तत्तु वैदिकेषु न सूत्रेषु। अन्यतोऽवगतेऽर्थे सूत्रमेवर्थमिदमित्यवगम्यते। तेन चैकदेशः सूत्र्यते इति सूत्रम्। तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोः इमौ एकदेशौ इत्यवगन्तव्यम्' (शाबरभाष्य, पृ० १९)

नन्वशक्तमिदम् ''''''सति भिद्येत

इस पूर्वपक्ष भाष्य का अभिप्राय है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के द्वारा जो 'धर्म' को उद्देश्य बनाकर 'चोदनालक्षणत्व' और 'अर्थत्व' इन दोनों का

विधान किया गया है इस सूत्र स्वरूप एक ही वाक्य से उक्त दोनों का विधान संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'वाक्यभेद' स्वरूप दोष को स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थ की एकता मूलक ही वाक्य में एकत्व का व्यवहार होता है। एवं विधेय के भेद से ही वाक्य भिन्न होते हैं। अतः उक्त सूत्र स्वरूप एक ही वाक्य से (१) चोदनाप्रमाणक ही धर्म है, इन्द्रियादिप्रमाणक धर्म नहीं है। एवं (२) अर्थ ही धर्म है, अनर्थ धर्म नहीं है इन दोनों प्रकार का बोध संभव नहीं। इसके लिये दो विभिन्न वाक्यों की कल्पना आवश्यक है। किन्तु 'वाक्यभेद' अन्याय्य है। तस्मात् प्रकृत एक ही सूत्र से उक्त दोनों अर्थों का बोध संभव नहीं है।

उच्यते। यत्र वाक्यभेदात्……इत्यवगन्तव्यम्

इस समाधानभाष्य का अभिप्राय है कि वैदिक वाक्य से बोध स्थल में ही वाक्यभेद दोष होता है। अतः सूत्र स्वरूप लौकिक वाक्य स्थल में विभिन्न वाक्यों की कल्पना दोषावह नहीं है। अन्य प्रमाण से ज्ञात अर्थ को ही सूत्र के द्वारा समझाया कि 'यह इस प्रकार का है'। इन विभिन्न दो अर्थों के बोधक जो विभिन्नवाक्य हैं उन्हीं के एक अंश की सूचना 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस एक वाक्य से दी गयी है। इसी सूचकत्व हेतु से उक्त वाक्य का 'सूत्र' नाम है। तस्मात् (१) 'धर्मः चोदना-लक्षणः' एवं (२) 'अर्थो धर्मः' इन दो विभिन्न वाक्यों के ही (१) चोदनालक्षण और (२) अर्थ ये क्रमशः एक एक अंश हैं।

इस समाधानात्मक भाष्यसन्दर्भ में जो 'तत्तु वैदिकेषु न सूत्रेषु' यह वाक्य है इसके ऊपर कोई आक्षेप करते हैं :—

लौकिक वाक्यों में वाक्यभेद दोष के लागू न होने का कारण है, उससे प्रति-पादित होने वाले अर्थ का दूसरे प्रमाण से ज्ञात होना। प्रकृत सूत्र स्वरूप लौकिक वाक्य की रचना शिष्यों को समझाने के लिये ही की गयी है। जिस प्रकार वैदिक वाक्य से ज्ञात होनेवाले अर्थ का दूसरे प्रमाण से ज्ञात होना संभव नहीं है, वैसे शिष्यों को सूत्र स्वरूप लौकिक वाक्य से ज्ञात होनेवाले अर्थ का भी ज्ञान दूसरे प्रमाण से संभव नहीं है। अतः शिष्यों के लिए (जिनके लिए सूत्रों की रचना हुई है—लौकिक वाक्य की रचना हुई है) लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः अन्य लौकिक वाक्य में तो वाक्यभेद दोष वैदिक वाक्यों के समान ही अवश्य लागू होगा। अतः भाष्यकार का 'तत्तु वैदिकेषु न सूत्रेषु' यह उत्तर सङ्गत नहीं है ॥ २७६—२७६ क—ख ॥

प्रागुक्तपरिसंख्यायाः फलमेतत् प्रकाश्यते ॥ २७७ ॥
सूत्रेषु ह्यनया युक्त्या गतिरेषापि युज्यते।
तस्मादावर्तते सूत्रं तन्त्रं वा शक्तिभेदतः ॥ २७८ ॥

यह सत्य है कि शिष्यों के लिये वैदिक वाक्य और सूत्रवाक्य दोनों ही समान रूप से अनवगतार्थगोचर हैं। किन्तु सूत्र के व्याख्याता को सूत्रार्थ पहिले से अन्य प्रमाण के द्वारा अवश्य ही ज्ञात रहता है। अतः उनके लिए सूत्र स्वरूप वाक्य वैदिक

वाक्यों की तरह अनवगतार्थगोचर नहीं है। अतः वे सूत्र की व्याख्या वाक्यभेद को स्वीकार करके भी कर सकते हैं। 'लोके येष्वर्थेषु पदानि' इस प्रथम सूत्र के आदिम भाष्य की परिसंख्यापक्षीय व्याख्या में (देखिये जिज्ञासासूत्र के वार्त्तिक का ५७वां श्लोक एवं उसकी मेरी व्याख्या) आवश्यक होने पर वाक्यभेदादि दोषों को स्वीकार करके भी सूत्रों के व्याख्यान की प्रतिज्ञा भाष्यकार का अभिप्रेत बतलाया गया है। अतः प्रकृत सूत्र की अभीष्ट व्याख्या के लिये वाक्यभेद का अवलम्बन दोषावह नहीं है।

तस्मात् सूत्र की यहाँ पुनःपाठरूप आवृत्ति करनी चाहिए। तदनुसार वस्तुतः 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह सूत्र (१) 'चोदनालक्षणः धर्मः' और (२) 'अर्थः धर्मः' इन दो सूत्रों का सूचक है। एवं कल्पित इन दोनों ही सूत्रों में क्रमशः 'अर्थः' और 'चोदनालक्षणः' इन दोनों का अनुवाद है (अनुवाद इसलिये है कि उक्त दोनों ही पद कल्पित इन दोनों सूत्रों में प्रथमपठित होने के कारण पूर्वसिद्ध हैं)। फलतः दोनों ही सूत्रों का अभीष्ट निष्पन्न रूप 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस एक ही आकार का है। इनमें से प्रथमसूत्र में उत्तरसूत्र से सिद्ध 'अर्थ' शब्द का अनुवाद है। एवं दूसरे सूत्र में पूर्वसूत्र से सिद्ध 'चोदनालक्षणः' इस अंश का अनुवाद है।

तन्त्रं वा शक्तिभेदतः

श्लोक के इस अंश के द्वारा इसी प्रसङ्ग में यह दूसरा उत्तर दिया गया है कि प्रकृतसूत्र में 'धर्म' पद 'तन्त्रोच्चरित' है। अनेक कार्यों के लिए एक वस्तु के उपादान को मीमांसाशास्त्र में 'तन्त्र' कहते हैं (देखिए मीमांसासूत्र अ० ११ के प्रथम अंश और उसका शाबरभाष्य)। तदनुसार तन्त्रोच्चरित एक ही 'धर्म' शब्द 'चोदनालक्षणः' और 'अर्थः' इन दोनों ही पदों के साथ सम्बद्ध हो जायगा। इस पक्ष में पूर्ण आवृत्ति के विना ही कथित दोनों वाक्य उपपन्न हो जायेंगे जिससे 'चोदनालक्षणो धर्म एव नाधर्मः' एवं 'धर्मः चोदनालक्षणः अर्थ एव नानर्थः' ये दोनों ही अवधारण भी प्रतिपन्न हो जायेंगे ॥ २७७–२७८ ॥

एकदेशानुमानाद् वा द्वे सूत्रे परिकल्पिते।

भाष्य के उक्त सिद्धान्तसन्दर्भ में जो 'भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेकदेशौ' यह वाक्य है उसके द्वारा भाष्यकार ने आनुमानिक दो सूत्रों की कल्पना की ओर ही संकेत किया है।

तदनुसार 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह एकसूत्रात्मक एक अखण्डवाक्य नहीं है किन्तु कल्पनीय दो सूत्रों के एक-एक अवयव स्वरूप हैं। इन दो अवयवों से दो अवयविस्वरूप दो सूत्रों की कल्पना करनी चाहिए। इनमें से एक अवयव है 'चोदना-लक्षणः' जिससे 'चोदनालक्षणो धर्मः' इस आकार के सूत्र का अनुमान इष्ट है। दूसरा अवयव है 'अर्थ' इस अवयव से 'अर्थो धर्मः' इस आकार के सूत्र का अनुमान अभि-प्रेत है।

किन्तु 'अर्थो धर्मः' यदि धर्मलक्षण सूत्र का यह आकार स्वीकार करते हैं तो 'अचोदनालक्षण' अर्थात् विधिवाक्य के द्वारा अनिर्दिष्ट भोजनशयनादि क्रियाओं

में भी धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अर्थात् इन क्रियाओं को भी धर्म कहना पड़ेगा ॥ २७९ क–ख ॥

इतरेतरसामीप्यादेतावेव परस्परम् ॥ २७९ ॥

यदि 'चोदनालक्षणो धर्मः' यह धर्मलक्षण सूत्र का अभिलापक वाक्य मानेंगे तो इस आकार के अनुमित सूत्र के द्वारा श्येनयागादि अनर्थों में भी धर्मलक्षण के सङ्गत हो जाने से उन्हें भी धर्म कहना होगा। तस्मात् उक्त प्रकार का कोई भी सूत्र अपूर्ण होगा। इस आक्षेप का परिहार निम्नक्रम से समझना चाहिये :—

'अर्थो धर्मः' और 'चोदनालक्षणो धर्मः' ये दोनों ही अनुमित सूत्र अत्यन्त संनिहित हैं। मध्य में कोई व्यवधान नहीं है। इस संनिधान या सामीप्य के कारण ही 'अर्थो धर्मः' इस सूत्र में 'चोदनालक्षणो धर्मः' इस सूत्र के 'चोदनालक्षणः' इस अंश का अनुषङ्ग करना चाहिये। इसी प्रकार 'चोदनालक्षणो धर्मः' इस सूत्र में भी 'अर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'अर्थ' पद का अनुषङ्ग समझना चाहिये।

इस प्रकार उक्त दोनों ही सूत्रों से क्रमशः 'अर्थत्वविशिष्ट चोदनालक्षण क्रिया ही धर्म है' एवं 'चोदनालक्षणत्वविशिष्ट अर्थ स्वरूप क्रिया ही 'धर्म' है, इन प्रकारों के बोध होते हैं। इस रीति से कल्पित उक्त दोनों ही सूत्रों के अतिसामीप्य के कारण उक्त अपरिपूर्णता अथवा अतिव्याप्ति दोष नहीं है ॥ २७९ ॥

कल्प्येते वाक्यशेषाये नान्यावयवकल्पना।
विशिष्टार्थानुवावित्यादथ वेत्यपि भाषिते ॥ २८० ॥
वाक्यभेदः स एवेति संज्ञातन्त्रत्वमुत्तरम्।
अर्थं वा प्रत्युपादानात् संज्ञालक्षणशब्दयोः ॥ २८१ ॥
तन्त्रं लक्षणशब्दो वा वाच्यो धर्मार्थशब्दयोः।

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि यदि धर्म के पूर्ण लक्षण के लिये चोदनालक्षणत्व विशिष्ट अर्थ स्वरूप क्रिया में धर्मत्व के बोधक वाक्य की ही अपेक्षा है तो फिर 'चोदनालक्षणो धर्मः' या 'अर्थो धर्मः' इन दोनों सूत्रों की कल्पना कर इन सूत्रों में क्रमशः 'अर्थ' पद का एवं 'चोदनालक्षण' शब्द का अनुषङ्ग न कर दोनों पदों का पाठ ही क्यों नहीं मान लेते ? इस आक्षेप का यह परिहार है :—

कल्प्येते ....नान्यावयवकल्पना

'अर्थो धर्मः' इस सूत्र में यदि 'चोदनालक्षणः' शब्द का पाठ करते हैं तो 'चोदनालक्षणः धर्मः' ऐसा सूत्र का स्वरूप होगा जिससे 'चोदनालक्षणः' इस अंश में सूत्र का अवयवत्व या एकदेशत्व प्राप्त होता है। किन्तु इससे वाक्यभेद दोष रहता ही है। इसी प्रकार 'चोदनालक्षणः' इस सूत्र में यदि 'अर्थः' इस पद का पाठ करते हैं, तथापि वाक्यभेद होता है।

अतः 'चोदनालक्षणः धर्मः' और 'अर्थो धर्मः' इस प्रकार दो सूत्रों को ही स्वीकार करते हैं। एवं परस्पर संनिधानवश 'चोदनालक्षणः' इस सूत्र में 'अर्थो धर्मः'

इस सूत्र के 'अर्थ' पद का एवं 'अर्थो धर्मः' इस सूत्र में 'चोदनालक्षणः' इस सूत्र के 'चोदनालक्षणः' इस अंश का अनुषङ्ग कर देने से विना पाठ के भी काम चल सकता है। अतः कल्पित दोनों सूत्रों में किसी दूसरे अवयव की कल्पना की (अर्थात् 'चोदनालक्षणः' पद और 'अर्थः' पद के पाठ की) आवश्यकता नहीं रहती है।

विशिष्टार्थानुवादित्वात्'''भाषिते

'अथवाऽर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यते इति एकार्थमेव' (शाबरभाष्य पृ० २० पं० ४)

'अथवा' अर्थ स्वरूप चोदनालक्षण को ही 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के द्वारा 'धर्म' कहा गया है।

'अर्थस्य सतः' इत्यादि भाष्य का अभिप्राय है कि 'अर्थत्व' एवं 'चोदनालक्षणत्व' इन दोनों को उद्देश्यतावच्छेदक मानकर एतद्द्वयविशिष्ट चोदनालक्षण अर्थ में धर्मत्व का विधान ही प्रकृत सूत्र से किया गया है। अर्थात् सूत्र से चोदनालक्षणत्व-विशिष्ट अर्थ का अनुवाद एवं उस विशिष्ट अर्थ में धर्मत्व का विधान किया गया है।

इस पक्ष में सूत्र को उक्त रीति से विशिष्टार्थानुवादक मान लेने से अभिप्रेतार्थ-सिद्धि के लिये वाक्यभेद की कल्पना नहीं करनी पड़ती है।

वाक्यभेदः स एवेति

(पू० प०) इस पक्ष में भी वाक्यभेद दोष है ही, क्योंकि 'चोदनालक्षणोऽर्थः' सूत्र के इस अंश से साधारणतः उक्त विशिष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती है। एवं विना विशिष्टार्थकता माने वाक्यभेद दोष छूटता नहीं है। इसके लिये 'चोदनालक्षणः' इस वाक्य की उक्त विशिष्टार्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी। इस पक्ष में भी लक्षणा का अङ्गीकार स्वरूप वाक्यभेदात्मक गौरव दोष तो है ही, दो वाक्यों की कल्पना से वाक्यभेद दोष भले ही स्वीकार न करना पड़े।

संज्ञातन्त्रत्वमुत्तरम्

उक्त लक्षणाङ्गीकार स्वरूप दोष के परिहार के लिये भी वही श्लोक २७८ में कथित 'संज्ञातन्त्रत्व' वाला उत्तर है। तदनुसार 'संज्ञा' शब्द को अर्थात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'धर्म' पद को 'तन्त्रोच्चरित' मान लें। फलतः 'अर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'धर्म' पद के उपादान के बल से ही अवशिष्ट 'चोदनालक्षणोऽर्थः' इस सूत्रात्मक वाक्य के विना लक्षणा का आश्रयण किये ही चोदनालक्षणत्वविशिष्ट अर्थ को उद्देश्यतावच्छेदक मानकर तद्विशिष्ट में धर्मत्व का विधान संभव होगा। अतः विशिष्टार्थानुवादित्व पक्ष में लक्षणावलम्बन स्वरूप वाक्यभेद दोष नहीं है ॥ २८१ ॥

अर्थं वा संज्ञालक्षणशब्दयोः

अथवा अर्थत्व को उद्देश्यतावच्छेदक मानकर तद्विशिष्ट में धर्मत्व और चोदनालक्षणत्व का विधान किया जा सकता है। तदनुसार दोनों सूत्रों का आकार क्रमशः इस प्रकार का होगा—'अर्थः चोदनालक्षणः' और 'अर्थः धर्मः'। इन दोनों ही सूत्रों के वाक्यभेद को स्वीकार किये विना ही 'यश्चोदनालक्षणः स धर्म एव नान्यः'

एवं 'यः प्रसिद्धः धर्मः अर्थरूपो धर्मः स चोदनालक्षण एव नान्यलक्षणो धर्मः' ये दोनों ही अवधारण उपपन्न होंगे।

तन्त्रं लक्षणशब्दो वा""शब्दयोः

अथवा 'लक्षण' शब्द अर्थात् 'चोदनालक्षण' शब्द को ही 'तन्त्रोच्चरित' मानकर 'धर्म' शब्द के साथ एवं 'अर्थ' शब्द के साथ सम्बद्ध कर देने से ही इन दोनों अभिमत वाक्यार्थों का लाभ हो जाता है। ये दोनों वाक्य ये हैं :—

(१) 'यः धर्मः स चोदनालक्षणः' एवं (२) 'यः अर्थ स चोदनालक्षणः।'

इस प्रकार सूत्र में अशक्ति की आपत्ति एवं वाक्यभेद की कल्पना की आपत्ति दोनों ही आपत्तियां मिट जातीं हैं ॥ २८०–२८२ क–ख ॥

धर्मः सामान्यतः सिद्धे प्रमाणं कथ्यते यदा ॥ २८२ ॥
वृत्तमेव तदार्थत्वे किमर्थं पुनरुच्यते।

(पू० प०) श्येनयागादि अनर्थ भी 'श्येनेन' 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से निर्दिष्ट होने के कारण चूंकि 'चोदनालक्षण' हैं अतः चोदनालक्षण को उद्देश्य बनाकर यदि उसमें धर्मत्व का ही विधान करें अर्थात् 'अर्थ' पद का उपादान न करें तो श्येनयागादि अनर्थों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी जो सूत्र में अर्थपद के उपादन से छूट जायगी, क्योंकि श्येनयागादि अनर्थ हैं, अर्थ नहीं। अतः अर्थपदघटित सूत्र के द्वारा लक्षित लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति की प्रसक्ति नहीं रहेगी। इस पक्ष में कथित रीति से सूत्रस्थ 'अर्थ' पद की सार्थकता होती है।

यदि धर्म का अनुवाद कर उसमें चोदनालक्षणत्व का विधान मानें तो 'यः धर्मः स चोदनालक्षणः' इस प्रकार का अवधारण प्राप्त होता है जिससे 'अर्थ' पद का उपादान व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि इस पक्ष में 'धर्म' पद से जिसका बोध होगा उसे 'अर्थ' स्वरूप होना ही चाहिये। किन्तु श्येनादि याग चूंकि अर्थ नहीं हैं, अतः धर्म भी नहीं है। अतः उनमें चोदनालक्षणत्व का विधान ही प्राप्त नहीं है। इस लिये अर्थपद के अनुपादान से श्येनादि यागों में अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है। इस प्रकार इस पक्ष में सौत्र 'अर्थ' पद का कोई व्यावर्त्य संभव न होने से 'अर्थ' पद व्यर्थ हो जाता है। अतः 'यः चोदनालक्षणः स धर्मः' इसी प्रकार का विधान ठीक है। इसके विपरीत 'यः धर्मः स चोदनालक्षणः' इस आकार का विधान ठीक नहीं है। इस विधान के पक्ष में 'अर्थ' पद व्यर्थ हो जाता है ॥ २८२–२८३ क–ख ॥

चोदनालक्षणत्वस्य धर्मं प्रति विधेयता ॥ २८३ ॥
लभ्यतेऽर्थानुवादेन संशयो ह्यन्यथा भवेत्।
तथा च येऽप्यनर्थस्य साधनत्वेन कल्पिताः ॥ २८४ ॥
निषेधैस्तेऽपि धर्माः स्युश्चोदनालक्षणत्वतः।
तस्मादर्थापरित्यागादेकार्थग्रहणं यथा ॥ २८५ ॥
लभ्यते वचनव्यक्त्या सा स्यादर्थानुवादतः।

विशेषणाद् विना चैतदर्थसामर्थ्यकारितम् ॥ २८६ ॥
कथ्यते भाष्यकारेण फलं हिंसाविवर्जनम् ॥

(समाधान) यह ठीक है कि 'धर्मः चोदनालक्षणः' सूत्र से ऐसा विधान स्वीकार करें तो 'अर्थ' पद बराबर अनुवाद ही रहेगा, अर्थपदघटित किसी विधान वाक्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। फिर भी 'अर्थ' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि सूत्र में अर्थ पद के उपादान के बल से ही नियमतः धर्मानुवादपूर्वक चोदनालक्षणत्व का विधान प्राप्त होता है। यदि सूत्र में 'अर्थ' पद का उपादान न करें तो 'विनिगमनाविरहात्' (१) 'यः धर्मः स चोदनालक्षणः' एवं (२) 'यः चोदनालक्षणः स धर्मः' ये दोनों ही प्रकार के पक्ष उपस्थित होकर धर्म के लक्षण के प्रसङ्ग में इस संशय को उपस्थित कर देंगे कि उक्त दोनों ही पक्षों में से कौन सा धर्म का यथार्थ लक्षण है ?

इनमें से यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं तो श्येन याग में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह भी 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस विधिवाक्य स्वरूप चोदनालक्षण है ही। किन्तु वह 'धर्म' नहीं है, क्योंकि 'अर्थ' नहीं है।

प्रथम पक्ष को स्वीकार करने में यह दोष नहीं रहता है, क्योंकि उसका अभिप्राय है कि जो धर्म है उसे चोदनालक्षण होना चाहिये। श्येन याग धर्म नहीं है, केवल चोदनालक्षण है। इस प्रकार प्रथम पक्ष में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

इस लिये 'य धर्मः स चोदनालक्षणः' यही अवधारण 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस धर्मलक्षण सूत्र से इष्ट है। यह दिखाने के लिये ही 'अर्थ' के अनुवाद के लिये 'अर्थ' शब्द का उपादान सूत्र में किया गया है।

पहिले कह आये हैं कि यदि 'अर्थ' पद को विशेषण का बोधक मानेंगे तो उससे प्राप्त 'अर्थो धर्मः चोदनालक्षणः' एवं 'अर्थश्चोदनालक्षणो धर्मः' ये दोनों ही अवधारण निर्दुष्ट होंगे, क्योंकि इनमें से किसी भी एक पक्ष के अवलम्बन से श्येनादि अनर्थों में अतिव्याप्ति की संभावना छूट जाती है। किन्तु इस पक्ष में दो वाक्यों की कल्पना रूप वाक्यदोष प्राप्त होता है।

दोनों की जहाँ नित्य प्राप्ति रहती है वहाँ नियमतः एक का अनुवाद और दूसरे का विधान मानना पड़ता है। प्रकृत में ऐसा नहीं है। अतः 'अर्थ' अथवा 'धर्म' का अनुवाद कर इन दोनों में से किसी का नियमतः विधान मानना उचित नहीं है।

ऐसी स्थिति में सूत्र में यदि 'अर्थ' पद का उपादान नहीं करेंगे तो जिस प्रकार 'यः धर्मः स चोदनालक्षणः' ऐसा विधान प्राप्त होता है उसी प्रकार 'यः चोदना-लक्षणः स धर्मः' यह विधान भी प्राप्त हो जायगा, जिससे श्येनादि अनर्थों में धर्मता प्राप्त होगी। इसके निवारण के लिए ही सूत्र में अर्थ पद का उपादान किया गया है। तस्मात् अर्थ पद को विशेषणार्थक माने विना भी केवल उसके प्रयोग से अतिव्याप्ति स्वरूप दोष का वारण हो सकता है। भाष्यकार के 'अनर्थो धर्मो माभूदित्यर्थ-ग्रहणम्' इस भाष्यसन्दर्भ का भी यही अभिप्राय है कि 'अर्थ' शब्द के उपादान

मात्र से उसे विशेषणार्थक माने विना भी श्येनयाग में धर्म लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण हो सकता है।

सूत्र में 'अर्थ' शब्द के उपादान के सामर्थ्य (अर्थसामार्थ्य) से ही 'अथवाऽ-र्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यते इति एकार्थकमेव' इत्यादि भाष्य से किये गये आक्षेप का भी समाधान हो जाता है। तदनुससार 'अर्थ' पद के उपादान से ही यह लाभ भी होता है। प्रकृत में 'विशिष्टानुवाद' के विवक्षा की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् अर्थत्वविशिष्ट धर्म का अनुवाद कर चोदनालक्षणत्व के विधान अथवा अर्थत्वविशिष्ट चोदनालक्षण का अनुवाद कर धर्मत्व के विधान से श्येनादि याग स्वरूप अनर्थों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति का वारण आवश्यक नहीं है। यह काम तो सूत्र में केवल अर्थ पद के उपादान से ही (अर्थसामार्थ्य से ही) हो सकता है। इसके लिए अर्थ पद को विशेषणार्थक मानना आवश्यक नहीं है। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने श्येनादि हिंसाओं में धर्मत्व व्यावर्त्तन के लिए 'अर्थ' पद के उपादान का उल्लेख किया है॥ २८३–२८६॥

—:o:—

तस्य निमित्तपरीष्टिः ।१।१।३॥

कथित धर्मविषयक तत्त्वज्ञान के 'निमित्त' (कारण) की 'परीष्टि' (युक्ति-पूर्वक साधक तर्कों से विचार स्वरूप परीक्षा) करनी चाहिये॥

प्रतिज्ञाव्यतिरेकेण भाष्यकारेण यद्यपि।
वक्ष्यमाणा स्वपक्षस्य युक्तिः पूर्वं निदर्शिता॥ १॥
प्रतिज्ञामात्रमित्येतज्जैमिनेर्मतमुच्यते।
वृत्तिकारोऽधिकं वापि भूतादिद्वारमब्रवीत्॥ २॥

इस सूत्र के भाष्य की रचना करते हुये शबरस्वामी ने लिखा है:—

'उक्तमिदानीमस्माभिश्चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानमिति, तत्प्रतिज्ञा-मात्रेणोक्तम्।' (शावरभाष्य पृ० २१ पं० १)

यद्यपि हम लोग धर्मलक्षण सूत्र के भाष्य में 'चोदना ही धर्म का ज्ञापक (निमित्त) है' इस प्रकार के अभिप्राय को व्यक्त कर चुके हैं, फिर भी वह चोदना में धर्मज्ञापकत्व की केवल प्रतिज्ञा है, वहाँ इस प्रतिज्ञा के साधक हेतु प्रदर्शित नहीं हैं। इसी लिये यह सूत्र लिखा गया है। अतः इस सूत्र की रचना सार्थक है।

किन्तु भाष्यकार का उक्त कथन अपनी उक्ति के विरुद्ध है, क्योंकि धर्मलक्षण सूत्र के भाष्य में 'चोदना हि भूतं भविष्यन्तं, सूक्ष्मं, व्यवहितं, विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम्' (शावरभाष्य पृ० १३ पं० २)

इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने 'चोदना ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है' इस प्रतिज्ञातार्थ के साधक हेतुओं को भी दिखाया है। अतः इस सूत्र के भाष्य में जो भाष्यकार ने 'तत्प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्' यह वाक्य लिखा है वह ठीक नहीं है।

इस आक्षेप का यह समाधान है—

भाष्यकार ने 'तत्प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्' इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार महर्षि जैमिनि के मत का प्रतिपादन किया है। तदनुसार 'उक्तम्' इस पद के बाद 'मया' इस कर्त्तृपद का अध्याहार अभिप्रेत नहीं है किन्तु 'जैमिनिना' इस कर्त्तृपद का अध्याहार इष्ट है। तदनुसार 'उक्तम् जैमिना' प्रकृत में यही पूर्ण वाक्य है। 'उक्तं मया' यह वाक्य प्रकृत में इष्ट नहीं है। अर्थात् 'भूतं भविष्यन्तम्' इत्यादि से भाष्यकार ने अपनी युक्ति दिखलायी, सूत्रकार की नहीं।

वृत्तिकारोऽधिकम्वापि.........अब्रवीत्

अथवा इस प्रसङ्ग में यह दूसरा उत्तर भी दिया जा सकता है कि 'चोदनामात्रप्रमाणगम्यो धर्मः' इस प्रतिज्ञा के विषयीभूत अर्थ की सिद्धि के लिए हेतुओं का वास्तविक रूप से प्रतिपादन आगे प्रत्यक्षादि सूत्रों के भाष्य के द्वारा ही किया जायगा। पहिले जो 'भूतम् भविष्यन्तम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा चोदना में भूतादि कालिक वस्तुओं के प्रतिपादन की बात कही गयी है उसके द्वारा उक्त प्रतिज्ञातार्थ की मात्र संभावना व्यक्त की गयी है। अतः भाष्यकार के साधनों का अभिधान इष्ट नहीं है। अतः भाष्यकार के अपने मत का भी प्रतिपादक 'तत्प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्' इस वाक्य को माना जा सकता है[1] ॥ १–२ ॥

—:०:—

---

१. यहाँ 'वृत्तिकार' शब्द से 'भाष्यकार' की ही प्रतीति होती है। यद्यपि भाष्यकार भी 'वृत्तिकार' भी होते ही हैं, किन्तु इससे 'कुछ' अधिक भी होते हैं। किन्तु 'भाष्यकारेण' इस शब्द को छोड़कर वार्त्तिकार ने 'वृत्तिकारोऽधिकं वापि' इस वाक्य में 'वृत्तिकार' शब्द का उपादान क्यों किया ? छन्द की दृष्टि से भी तो 'भाष्यकारोऽधिकं वापि' यह पद ठीक बैठता है। इस प्रसङ्ग में न्यायरत्नाकर में लिखा है कि 'स्वाभिप्रायेणाऽप्युपपन्नं प्रतिज्ञामात्राऽभिधानमिति' इस वाक्य से भी 'वृत्तिकार' शब्द से भाष्यकार का अभिधान ही वार्त्तिककार का अभिप्रेत ज्ञात होता है। किन्तु ऐसा क्यों ?

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ १ । १ । ४ ॥

विद्यमान विषयों के साथ इन्द्रियों के उपयुक्त संनिकर्ष से पुरुष में जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उस ज्ञान का साधन ही 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकृत धर्मविषयकज्ञान का उत्पादक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्त्तमान काल में विद्यमान वस्तुओं का ही ग्रहण होता है ॥

वर्ण्यते सूत्रभेदेन येन प्रत्यक्षलक्षणम् ।
तेन सूत्रस्य सम्बन्धो वाच्यः पूर्वप्रतिज्ञया ॥ १ ॥

आचार्य भवदास ने इस सूत्र को दो भागों में बाँटकर व्याख्या की है। उनका कहना है कि प्रकृत सूत्र के 'प्रत्यक्षम्' इतने तक का अंश प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण का बोधक है। एवं 'अनिमित्तम्' से लेकर सूत्र के अन्त तक का सन्दर्भ लक्षित प्रत्यक्ष-प्रमाणमें धर्मज्ञान की अनिमित्तता (अज्ञापकता) का प्रतिपादक है।

(किन्तु) उक्त प्रकार से सूत्र को दो भागों में बाँटकर सूत्र की व्याख्या करनेवालों को 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' एवं 'चोदना प्रमाणमेव' इन दोनों ही पूर्व-वर्णित प्रतिज्ञाओं के इस विभक्त सूत्र के साथ सम्बन्ध की व्याख्या करनी चाहिये, क्योंकि सूत्र की इस व्याख्या के साथ उन दोनों ही प्रतिज्ञाओं की कोई सङ्गति नहीं बैठती है ॥ १ ॥

लक्षणस्याभिधानं तु केनांशेनोपयुज्यते ।
किमर्थं चानुमानदेर्लक्षणं नात्र कथ्यते ॥ २ ॥

कथित दोनों अर्थों के बोधक प्रकृत सूत्र के साथ उक्त दोनों ही प्रतिज्ञाओं की केवल असंगति ही नहीं है, किन्तु सूत्र के उन दोनों अर्थों का प्रकृत में कोई उपयोग भी उपपन्न नहीं होता है।

प्रकृत 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' एवं 'चोदना प्रमाणमेव' इन दोनों प्रतिज्ञाओं में से किसी प्रतिज्ञा के साथ प्रत्यक्षलक्षण का उपयोग नहीं है। अतः यह सूत्र प्रत्यक्ष-लक्षण का ज्ञापक नहीं है। यदि स्वतन्त्र रूप से प्रमाण का लक्षण ही केवल अभिप्रेत है, तो फिर सूत्रकार ने यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह अनुमानादि अन्य प्रमाणों का भी लक्षण क्यों नहीं कहा ?

न तावदप्रमाणत्वं तेषां नाप्यक्षबुद्धिषु ।
शक्यतेऽन्तर्गतिर्वक्तुं न च लक्षणतुल्यता ॥ ३ ॥

न चापि सिद्धिरेषां स्यादर्थात् प्रत्यक्षलक्षणात् ।
न हि तत्पूर्वकं सर्वं प्रमाणमिति निश्चितम् ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षलक्षणोक्तिश्च नानुमानादिलक्षणात् ।
विना न सिध्यतीत्येवमर्थाक्षेपो न युज्यते ॥ ५ ॥

तदेतत्पूर्वकत्वे धीर्न च तल्लक्षणाद् भवेत् ।
तदुक्तेर्वानुमानादि किं न स्यात् तदपूर्वकम् ॥ ६ ॥
न च लक्षणभेदस्य स्वरूपे यत् तयोरपि ।
प्रत्यक्षलक्षणादेषां कथञ्चिदवधारणा ॥ ७ ॥
प्रसिद्धत्वादवाच्यत्वं प्रत्यक्षेऽपि प्रसज्यते ।
तेनान्यपरिसंख्यार्थं सूत्रं मूढेन वोच्यते ॥ ८ ॥
न त्वेकं लक्षयेदेषु बुद्धिपूर्वं कथञ्चन ।
सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते ॥ ९ ॥

निम्नलिखित स्थितियाँ ही प्रत्यक्षलक्षण की उक्ति और अनुमानादि के लक्षणों की अनुक्ति को उपपन्न सिद्ध कर सकती हैं—

(१) प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है, अनुमानादि अन्य कोई भी प्रमाण नहीं है। किन्तु यह कथन असङ्गत है, क्योंकि अनुमानादि का स्वतन्त्र प्रामाण्य प्रायः सर्वसिद्ध है।

(२) प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अनुमानादि सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु यह भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात न होने वाले अर्थ भी विद्यमान हैं।

(३) प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण और अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण एक ही प्रकार के होते हैं। यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं।

(४) प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से ही अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण अर्थतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि सभी प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक हैं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानादि अन्य प्रमाणों के असाधारण विषय भिन्न हैं।

(५) प्रत्यक्षलक्षण के बिना अनुमानादि प्रमाणों के लक्षणों की उपपत्ति चूँकि संभावित नहीं है, अतः प्रत्यक्ष के लक्षण से ही अनुमानादि के लक्षण 'अर्थतः' आक्षिप्त हो जाते हैं। इसलिए 'शब्दतः' अनुमानादि प्रमाणों के लक्षणों का प्रदर्शन आवश्यक नहीं है।

(६) अनुमानादि सभी प्रमाणों को प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा किसी न किसी प्रकार अवश्य होती है, अतः अनुमानादि सभी प्रमाणों का 'प्रत्यक्षपूर्वकत्व' स्वरूप सामान्य लक्षण हो सकता है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण को समझने के बाद अनुमानादि अन्य सभी प्रमाणों का 'प्रत्यक्षपूर्वकत्व' स्वरूप लक्षण को समझना सुलभ हो जाता है। अतः सूत्रकार ने अनुमानादि प्रमाणों का पृथक् लक्षण नहीं लिखा।

(७) (जिस प्रकार दिवाभोजनाभावविशिष्ट देवदत्त में रात्रिभोजन की सिद्धि 'अर्थतः' हो जाती है, उसी प्रकार) प्रत्यक्ष लक्षण के बिना अनुमानादि प्रमाणों को उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः प्रत्यक्ष के लक्षण से ही अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण

भी 'अर्थतः' सिद्ध हो जाते हैं। इसीलिये सूत्रकार ने अनुमानादि प्रमाणों का अलग से लक्षण नहीं लिखा।

किन्तु ये (५, ६, ७ संख्या की) युक्तियाँ भी निःसार हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण के बिना भी अनुमानादि प्रमाणों के लक्षणों की उपपत्ति हो सकती है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष के लक्षण से यह बात बिलकुल ही मालुम नहीं होती है कि अनुमानादि सभी प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक हैं। हलाँ कि अनुमानादि सभी प्रमाणों को प्रत्यक्ष की किसी न किसी प्रकार की अपेक्षा अवश्य है किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से जब अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्षपूर्वकत्व ज्ञात नहीं होता है तो फिर अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण प्रत्यक्ष के लक्षण से गतार्थ ही कैसे हो सकते हैं? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण के बिना अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण की अनुपपत्ति न भी हो तब भी बिना किसी विशेष युक्ति के ही प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण आक्षिप्त हो जायें तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि अनुमानादि कोई भी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक नहीं है, क्योंकि किसी की सिद्धि के लिए विशेष युक्ति की आवश्यकता पूर्वपक्षवादी स्वीकार नहीं करते।

तीसरी बात यह भी है कि अगर अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्षपूर्वकत्व मान भी लें फिर भी अनुमानादि प्रमाणों के जो असाधारण स्वरूप हैं, अथवा 'इयत्तायें' (नियमित संख्यायें) हैं इन सब की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप और उनकी 'इयत्ता' के अवधारण के लिये यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की आवश्यकता है तो फिर अनुमानादि प्रमाणों के लक्षणों की भी आवश्यकता है। किन्तु महर्षि जैमिनि ने प्रकृत में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लक्षण कहा है, अनुमानादि प्रमाणों का नहीं। अतः सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का आक्षेप रह जाता है। अतः इन युक्तियों के बल से प्रत्यक्षलक्षणोक्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहें कि अनुमानादि प्रमाण लोक में अति प्रसिद्ध हैं, अतः उनके लक्षण नहीं कहने से भी काम चल सकता है तो फिर 'अतिप्रसिद्धत्व' की यह युक्ति तो प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अनुक्ति पर ही सबसे अधिक ठीक बैठती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो अनुमानादि सभी प्रमाणों से अधिक प्रसिद्ध है। अतः उसका भी लक्षण लिखना व्यर्थ हो जायगा।

तस्मात् प्रत्यक्ष अनुमानादि सभी प्रमाणों में से केवल प्रत्यक्षलक्षण के उपपादन से ये ही दो बातें सिद्ध होती हैं कि (१) या तो 'प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि कोई प्रमाण है ही नहीं, ऐसी 'परिसंख्या' है (२) अथवा सूत्रकार 'मूढ़' थे, क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष जान बूझकर प्रत्यक्षादि के सदृश अनुमानादि अन्य प्रमाणों के रहते हुए किसी एक (प्रत्यक्ष) का ही लक्षण नहीं लिख सकता।

चौथी बात है कि आचार्य भवदास की व्याख्या में प्रत्यक्षसूत्र में दो वाक्यों की कल्पना करनी पड़ती है। 'तत्प्रत्यक्षम्' पर्यन्त एक वाक्य, एवं 'अनिमित्तम्' से लेकर सूत्र के अन्त तक दूसरा वाक्य। एकवाक्यता की संभावना के रहते

हुए वाक्यभेद की कल्पना 'अन्याय्य' है। इस प्रकार आचार्य भवदास की व्याख्या में 'वाक्यभेद' दोष अलग से है ॥ ३–९ ॥

न चाप्येतेन सूत्रेण प्रत्यक्षं लक्ष्यते स्फुटम्।
तदाभासेऽपि तुल्यत्वात् स्वप्नज्ञानैकवर्जनात् ॥ १० ॥

न चाप्येतेन ''' स्फुटम् '''' तुल्यत्वात्

प्रकृत सूत्र को यदि प्रत्यक्षलक्षणपरक मानते हैं तो इससे प्रत्यक्ष का परिचय 'स्फुट' रूप से-स्पष्ट रूप से-ज्ञात होना ही चाहिये। वही लक्षणबोधक वाक्य लक्ष्य का स्पष्ट परिचायक हो सकता है जिससे प्रतिपाद्य लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष न हों। ऐसे दोषशून्य लक्षण का ज्ञापक वाक्य ही लक्ष्य का स्पष्ट परिचायक हो सकता है। 'सत्संप्रयोगे इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्' इस सूत्रघटक वाक्य से जो प्रत्यक्ष का लक्षण ज्ञात होता है वह लक्षण 'तदाभास' में, अर्थात् शुक्ति में जो रजत का 'इदं रजतम्' इस आकार का प्रत्यक्षाभास स्वरूप विपर्ययात्मक ज्ञान होता है उसमें, यह लक्षण अतिव्याप्त है, क्योंकि यह भ्रमात्मक ज्ञान भी शुक्ति स्वरूप सत् पदार्थ के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के रहने पर ही होता है। अतः यह लक्षण अतिव्याप्त होने के कारण प्रत्यक्ष का भी 'स्फुट' परिचायक नहीं है।

स्वप्नज्ञानैकवर्जनात्

इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष का यह लक्षण अलक्ष्यों में से केवल स्वप्नज्ञान स्वरूप अलक्ष्य को छोड़कर सभी प्रत्यक्षाभासों में एवं अनुमानादि सभी प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञानों में भी अतिव्याप्त है ॥ १० ॥

तद्धीन्द्रियार्थसम्बन्धव्यापारेण विना भवेत्।
केनचित् सम्प्रयोगे तु भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगतः ॥ ११ ॥

स्वप्नज्ञान को छोड़कर भ्रान्त्यादि (आदि पद से अनुमित्यादि प्रमितियां इष्ट हैं) जितने भी ज्ञान हैं वे यदि इन्द्रियसंप्रयोग से उत्पन्न होते तो प्रत्यक्ष का यह लक्षण कदाचित् उपपन्न भी होता, किन्तु 'नियोगतः' नियमतः कथित भ्रान्त्यादिज्ञान जब इन्द्रियसंप्रयोग के विना उत्पन्न ही नहीं होते तो फिर अलक्ष्यभूत उन सभी ज्ञानों में प्रत्यक्ष का यह लक्षण अतिव्याप्त है।

कहने का तात्पर्य है कि केवल स्वप्नज्ञान ही ऐसा है जिसको विषय और बाह्येन्द्रिय के साथ विषय के संयोग की अपेक्षा नहीं होती है, इससे अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं, वे सब के सब किसी न किसी प्रकार विषय और इन्द्रिय के संयोग की अपेक्षा रखते ही हैं। शुक्ति के साथ चक्षुःसंयोग के विना शुक्ति में रजतज्ञान स्वरूप विपर्यय उत्पन्न नहीं होता है। धूम के साथ चक्षुःसंयोग के विना वह्नि की अनुमिति नहीं होती है। गवयपिण्ड से चक्षुःसंयोग के विना 'गोसदृशो गवयः' इस आकार की उपमिति नहीं होती है। वाक्यश्रवण के विना कोई वाक्यार्थज्ञान स्वरूप शाब्दबोध नहीं होता है। इसी प्रकार अर्थापत्त्यादि प्रमितियों में भी इन्द्रियसम्प्रयोग की अपेक्षा आवश्यक है।

तस्मात् स्वप्नज्ञान को छोड़कर सभी भ्रान्तियों में एवं अनुमित्यादि सभी प्रमितियों में भी प्रत्यक्ष का यह लक्षण अतिव्याप्त है। अतः प्रत्यक्ष का भी 'स्फुट' रूप से परिचायक यह लक्षण नहीं है ॥ ११ ॥

ग्राह्येणान्येन वेत्येतत् कृतं नैव विशेषणम्।
सम्प्रयोगस्य येन स्याद् विशेषो वक्ष्यमाणवत् ॥ १२ ॥

इस प्रसङ्ग में आचार्य भवदास के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि कथित प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में जो 'इन्द्रियसम्प्रयोग' शब्द है उसका अर्थ ग्राह्यविषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है, जिस किसी के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित नहीं है। शुक्तिका में जो रजत की भ्रान्ति होती है उस भ्रान्ति के 'ग्राह्य' विषय के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग नहीं है, क्योंकि उस भ्रान्ति का विषय जो रजत है उसकी सत्ता वहां नहीं है, शुक्तिका के साथ जो इन्द्रिय का सम्बन्ध है वह ग्राह्य विषय के साथ नहीं है, क्योंकि उक्त भ्रान्ति का ग्राह्य रजत है शुक्तिका नहीं। अतः इन भ्रान्तिओं में अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है। एवं अनुमिति स्थल में अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में अनुमिति का विषय वह्नि ही है, किन्तु उसके साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग नहीं है। इन्द्रिय का संप्रयोग है हेतुभूत धूम के साथ, वह अनुमिति का ग्राह्यविषय नहीं है। अतः भ्रान्ति में या अनुमित्यादि में अतिव्याप्ति की कोई संभावना नहीं है। इसलिये अतिव्याप्ति दोष से युक्त होने के कारण इस सूत्र को प्रत्यक्षलक्षण का ज्ञापक न मानने की कोई युक्ति नहीं। भवदासपक्ष की इस युक्ति का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है :—

सूत्र में केवल 'सत्सम्प्रयोगे विषयाणाम्' इतना ही कहा है। इन्द्रियों का यह सम्प्रयोग ग्राह्यविषयों के साथ अथवा किसी अन्य विषयों के साथ हो—यह सूत्र में विशेष रूप से नहीं कहा गया है जिससे कि 'ग्राह्यविषयों के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग' यह विशेष अर्थ सूत्रस्थ उक्त वाक्य का किया जा सके जैसा कि वृत्तिकार भगवान् 'उपवर्ष' ने किया है। अतः सूत्र का कोई भी व्याख्याता यदि 'सत्सम्प्रयोगे इन्द्रियाणाम्' इस सौत्रवाक्य में 'ग्राह्येण सह' इतना अपनी तरफ से जोड़कर व्याख्या करे तो वह व्याख्या यदि निर्दुष्ट भी हो तथापि सूत्रानुयायिनी नहीं कहला सकती। अतः यथावस्थित सूत्र को यदि प्रत्यक्षलक्षण का ज्ञापक मानेंगे तो अतिव्याप्ति अवश्य होगी ॥ १२ ॥

असामर्थ्यं च मत्वास्य वृत्तिकारेण लक्षणे।
तत्सम्प्रयोग इत्येवं पाठान्तरमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

अतएव वृत्तिकार ने सूत्र में प्रत्यक्षलक्षण के ज्ञापन के इस असामर्थ्य को देखकर ही सौत्रवाक्यघटक 'सत्सम्प्रयोगे' के स्थान पर 'तत्सम्प्रयोगे' ऐसा पाठान्तर माना है। एवं इस 'तत्' शब्द को 'बुद्धिस्थपरामर्शक' मानकर उससे 'ग्राह्यविषय' का ग्रहण किया है। इस प्रकार ग्राह्यविषय के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से उत्पन्न बुद्धि को प्रत्यक्ष मानकर कथित प्रत्यक्षाभास और अनुमित्यादि प्रमितिओं में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण किया है।

तस्मात् 'सत्सम्प्रयोगे' इस सौत्रपाठ की स्थिति में केवल 'सम्प्रयोग' शब्द से ग्राह्यविषय के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग का ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा संभव होता तो वृत्तिकार को इसके लिये 'सत्सम्प्रयोगे' इस सार्वत्रिक पाठ के स्थान पर 'तत्सम्प्रयोगे' ऐसे अप्रसिद्ध पाठ की कल्पना की आवश्यकता नहीं होती। अतः इस प्रकार से अतिव्याप्ति का वारण कर सूत्र को लक्षणपरक नहीं माना जा सकता ॥ १३ ॥

तेनान्येनापि संयोगे चक्षुरादेर्यदुत्थितम्।
विषयान्तरविज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रसज्यते ॥ १४ ॥

तस्मात् 'अन्य' के साथ अर्थात् ग्राह्यविषयों से भिन्न विषयों के साथ (शुक्ताविदंरजतम् इत्यादि स्थलों में ग्राह्यविषयीभूत रजत से भिन्न शुक्तिका के साथ) इन्द्रिय के सम्प्रयोग से उत्पन्न विषयान्तरविषयक ज्ञानों में भी इस प्रत्यक्षलक्षण का जाना अनिवार्य है। अतः अतिव्याप्त होने के कारण प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण ठीक नहीं होगा ॥ १४ ॥

सत्सम्प्रयोगनिर्देशो व्यर्थश्चेदेतदेव हि।
प्रतिपाद्यं परस्यापि लक्षणासिद्धिरेव च ॥ १५ ॥

सत्सम्प्रयोग''''एतदेव हि

(पू० प०) सभी ज्ञानों के पहिले किसी न किसी विषय के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग अवश्य रहता है। किन्तु इस प्रकार के साधारण सम्प्रयोग का आगे के ज्ञान के उत्पादन में कोई हाथ नहीं रहता। अतः प्रकृत सौत्र 'सम्प्रयोग' शब्द से यदि ग्राह्यविषयों के साथ सम्प्रयोग को न लें, जिस किसी के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग को लें तो फिर इस प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में 'सम्प्रयोग' शब्द का उपादान ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि इस शब्द का कोई व्यावर्त्त्य नहीं हैं।

अतः सूत्र में 'सम्प्रयोग' शब्द के उपादान के बल से ही उसका अर्थ 'ग्राह्यविषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग' करना आवश्यक है। ऐसा न करने से 'सम्प्रयोग' शब्द का लिखना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः ग्राह्य विषयों के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग के बोधक सम्प्रयोग शब्द से ही भ्रमात्मक प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाओं में अतिव्याप्ति का वारण हो जायगा। अतः अतिव्याप्ति दोष से इस सूत्र को प्रत्यक्ष-लक्षण का विधायक न मानने में कोई युक्ति नहीं है।

प्रतिपाद्यम्''असिद्धिरेव च

(सि० प०) मैंने सूत्र को प्रत्यक्षलक्षणपरक मानने में 'अतिव्याप्ति' दोष का उद्भावन किया है। आप कहते हैं कि उसमें 'सम्प्रयोग' शब्द के वैयर्थ्य का दोष भी है। इसप्रकार मैंने जो अतिव्याप्ति दोष से लक्षणासिद्धि दिखलायी है उसको ही आप (पूर्वपक्षवादी) विशेषणवैयर्थ्यरूप दोष से भी पुष्ट करते हैं। अतः सम्प्रयोग शब्द के वैयर्थ्य से सम्प्रयोग शब्द को ग्राह्यसम्प्रयोगार्थक मानकर सूत्र को प्रत्यक्षलक्षण का विधायक नहीं माना जा सकता ॥ १५ ॥

स्वप्नादीनां निवृत्तिर्वा फलं तस्य भविष्यति ।
तस्माद् विध्यनुवादित्वं नानुक्ते लक्षणे भवेत् ॥ १६ ॥

स्वप्नादीनाम्'' भविष्यति

यदि 'सत्सम्प्रयोग' शब्द के वैयर्थ्य के ऊपर ही आपका भरोसा है तो वह भी शीघ्र ही टूट जायगा, क्योंकि स्वप्नज्ञान में इन्द्रियसम्प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु मन रूप इन्द्रिय की आवश्यकता होती है। यदि इन्द्रियजन्यज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहें तो स्वप्नज्ञान में भी इन्द्रियजन्यत्व के रहने से उसमें अतिव्याप्ति होगी। 'सम्प्रयोग' शब्द के उपादान से इस अतिव्याप्ति का वारण हो जायगा, क्योंकि स्वप्नज्ञान में इन्द्रिय की आवश्यकता तो है, किन्तु इन्द्रियसम्प्रयोग की नहीं। इस प्रकार स्वप्नज्ञान में अतिव्याप्ति वारक के रूप में 'सम्प्रयोग' शब्द के वैयर्थ्य का निवारण हो सकता है। इसलिये अतिव्याप्तिवारण के व्याज से 'सम्प्रयोग' शब्द के द्वारा 'ग्राह्येन्द्रियसम्प्रयोग' को नहीं ले सकते।

तस्मात्'' लक्षणे भवेत्

'तस्मात्' उन अतिव्याप्तिओं के कारण प्रकृत सूत्र का 'सत्सम्प्रयोगे'' तत्प्रत्यक्षम्' यह अंश प्रत्यक्षलक्षण का बोधक नहीं है। अतः इस वाक्य से कथित सौत्रलक्षण को उद्देश्य बनाकर प्रत्यक्ष रूप लक्ष्य का विधान नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जब इस सूत्र से प्रत्यक्ष के लक्षण का अभिधान संभव ही नहीं है, एवं इससे पहले प्रत्यक्ष का लक्षण कहा नहीं गया है तो फिर 'इस सौत्रवाक्य से प्रत्यक्षलक्षण का अनुवाद किया गया है' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्वकथित वस्तु का ही अनुवाद होता है ॥ १६ ॥

तेन नैषा वचोव्यक्तिर्यत्सतीन्द्रियसङ्गमे ।
विज्ञानं जायते तस्य प्रत्यक्षत्वं प्रतीयताम् ॥ १७ ॥

इन सभी विपरीत युक्तियों के कारण कथित सौत्रवाक्य का यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि 'इन्द्रियसंगम से (सम्प्रयोग से या संनिकर्ष से) जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष जानो'। फलतः उक्त सौत्रवाक्य प्रत्यक्षलक्षणपरक नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षं यज्जने सिद्धं तस्यैवन्धर्मकत्वतः ।
विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मे निमित्तता ॥ १८ ॥

इन सभी कारणों से प्रत्यक्षसूत्र का यह अर्थ करना चाहिये कि 'जन में' साधारण जनों में 'प्रत्यक्ष' शब्द से जो वस्तु प्रसिद्ध है वह 'एवंधर्मक' अर्थात् सत्सम्प्रयोगजन्यत्व से युक्त है। इसी 'सत्सम्प्रयोगजन्यत्व' स्वरूप हेतु से प्रत्यक्ष को 'विद्यमानोपलम्भक' अर्थात् वर्त्तमानकालिक वस्तुविषयक समझना चाहिये। प्रत्यक्ष में रहनेवाले इसी 'विद्यमानोपलम्भकत्व' हेतु से प्रत्यक्ष में धर्म के प्रति 'अनिमित्तता' अर्थात् धर्मज्ञापन की अक्षमता समझी जाती है। अतः प्रत्यक्ष का लक्षण समझाने के लिये इस सूत्र का निर्माण नहीं हुआ है ॥ १८ ॥

एवंलक्षणकत्वं च न स्वरूपविवक्षया ।
एवंलिङ्गकमित्येतद् भाष्यकारेण वर्ण्यते ॥ १९ ॥

किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रत्यक्षमनिमित्तमेवंलक्षणकं हि तत्' (शाबरभाष्य पृ० २१ पं० ७) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा स्पष्ट शब्दों में इस सूत्र को प्रत्यक्षलक्षणपरक माना है। अतः इस सूत्र की दूसरी प्रकार की व्याख्या भाष्यविरुद्ध होगी। इस आक्षेप का यह समाधान है—

उक्त भाष्यसन्दर्भ प्रत्यक्ष प्रमाण को समझाने के लिये नहीं लिखा गया है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में धर्मज्ञापन की जो अक्षमता है उसके साधक हेतुभूत 'सत्सम्प्रयोगजत्व' की सत्ता को समझाने के लिये लिखा गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण जिस लिये सत्सम्प्रयोगजन्य है अतः वह धर्म का ज्ञापक नहीं हो सकता। फलतः उक्त भाष्यग्रन्थ से प्रत्यक्षप्रमाण में 'एवंलिङ्गकत्व' अर्थात् धर्मज्ञापन को अनिमित्तता के साधकीभूत सत्सम्प्रयोगजत्व हेतु की सत्ता दिखलायी गयी है ॥ १९ ॥

यतोऽस्ति तत्र धर्मोऽयं विद्यमानोपलम्भनम् ।
तस्मात् तेन प्रसिद्धेन गम्यतामनिमित्तता ॥ २० ॥

तस्मात् जिसलिये कि प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व रूप धर्म है, अतः इस 'धर्म' से प्रत्यक्षप्रमाण में धर्म के प्रति अनिमित्तता अर्थात् ज्ञापन की अक्षमता अनुमित होती है। अतः 'एवंलक्षणकं हि तत्' इस भाष्यसन्दर्भ का तात्पर्य है कि सत्सम्प्रयोगज्ञाप्य जो विद्यमानोपलम्भनत्व रूप धर्म है उसी 'प्रसिद्ध' अर्थात् पूर्वज्ञात उक्त धर्म स्वरूप हेतु से प्रत्यक्ष में धर्म के प्रति अनिमित्तता जाननी चाहिये ॥ २० ॥

प्रत्यक्षत्वमदो हेतुः शेषं हेतुप्रसिद्धये ।
अस्मदादौ प्रसिद्धत्वाद् योग्यर्थमभिधीयते ॥ २१ ॥

प्रत्यक्षत्वम्''प्रसिद्धये

किन्तु 'प्रत्यक्षं धर्मं प्रत्यनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस अनुमान की पक्षधर्मता के लिये जिस प्रकार 'प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनरूपं सत्सम्प्रयोगजत्वात्' इस अनुमान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष में सत्सम्प्रयोगजत्व की सिद्धि के लिये तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। इस तीसरे अनुमान का हेतु कौन होगा ? अथवा प्रकृत में जिन (१) विद्यमानोपलम्नत्व (२) सत्सम्प्रयोगजत्व एवं (३) प्रत्यक्षत्व स्वरूप तीन हेतुओं की चर्चा हो रही है, उनमें कौन किसका साधक है ? स्वरूप हेतु से प्रत्यक्ष में धर्म इन प्रश्नों का समाधान यह है—

इनमें प्रत्यक्षत्व स्वरूप हेतु सत्सम्प्रयोगजत्व का साधक है। 'शेष' बाँकी सत्सम्प्रयोगजत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व ये दोनों हेतु 'प्रसिद्धि' के लिए अर्थात् पक्षधर्मता ज्ञानरूप प्रसिद्धि के लिये हैं। इस प्रकार ये तीन अनुमान निष्पन्न होते हैं—(१) प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् (२) प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनरूपं सत्सम्प्रयोगजत्वात् एवं (३) प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं प्रत्यक्षत्वात् ।

यहाँ 'सत्सम्प्रयोग' शब्द की थोड़ी सी व्याख्या आवश्यक है। 'सता सम्प्रयोगः सत्सम्प्रयोगः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्त्तमानवस्तु के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से उत्पन्न सभी ज्ञान 'सत्सम्प्रयोगज' हैं। वर्त्तमान मेघ के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न मेघ के प्रत्यक्ष से जो भावी वृष्टि का अनुमान होता है वह भी 'सत्सम्प्रयोगज' है किन्तु 'विद्यमानोपलम्भन' रूप नहीं है। इस प्रकार 'सत्सम्प्रयोगजत्व' हेतु विद्यमानोपलम्भनत्व का व्यभिचारी है। अतः 'प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' यह अनुमान व्यभिचरितहेतुक होने के कारण विश्वासार्ह नहीं है। इस आक्षेप के समाधान में सिद्धान्तियों का कहना है—

वर्त्तमानार्थक 'सत्' शब्द का अन्वय सीधे 'सम्प्रयोग' शब्द के साथ अभेद सम्बन्ध से है। तदनुसार 'सत्सम्प्रयोग' शब्द 'संश्चासौ प्रयोगश्चेति' इस प्रकार के कर्मधारय समास से निष्पन्न है, 'सता=सम्प्रयोगः' इस आकार के तृतीया तत्पुरुष से निष्पन्न नहीं है। भावी वृष्टि के अनुमान में मेघ के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग का साक्षात् उपयोग नहीं होता है, किन्तु उक्त सम्प्रयोग से मेघ का प्रत्यक्ष होता है, एवं मेघ के प्रत्यक्ष से भावी वृष्टि का अनुमान होता है। अतः भावी वृष्टि के अनुमान में विद्यमान मेघ के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग का साक्षात् उपयोग नहीं होता है। किन्तु मेघ और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से मेघ का प्रत्यक्ष होता है। मेघ के इस प्रत्यक्ष से भावी वृष्टि का अनुमान होता है। अतः विद्यमान मेघेन्द्रियसंप्रयोग से साक्षात् भावी वृष्टि का अनुमान नहीं होता है। इसलिये भावी वृष्टि का अनुमान यदि विद्यमानोपलम्भन रूप नहीं है तो सत्सम्प्रयोगज भी नहीं है। अतः प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व का साधक 'सत्सम्प्रयोगजत्व' हेतु व्यभिचारी नहीं है।

अस्मावौ '' अभिधीयते

किन्तु इस प्रसंग में एक आपत्ति है। आचार्य भवदास ने इस सूत्र को प्रत्यक्षलक्षणपरक माना है। इस पक्ष में वार्त्तिककार ने उनके प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति दोष अनुमान में दिया है—सो संगत हो जाता है।

सिद्धान्ती इसका यह उत्तर देते हैं कि आचार्य भवदास ने सत्सम्प्रयोग शब्द को तृतीयसमास निष्पन्न माना है, तदनुसार ही अनुमानादि में अतिव्याप्ति दी गयी है। यदि वे भी 'सत्सम्प्रयोग' शब्द को कर्मधारयानिष्पन्न ही मानें तो प्रत्यक्ष का यह लक्षण अनुमान में अतिव्याप्त नहीं होगा। इस स्थिति में उनके लक्षण में 'पीतः शङ्खः' इत्यादि विपर्ययों में अतिव्याप्ति जाननी चाहिये।

अस्मदादौ '' अभिधीयते

प्रश्न होता है कि कथित तीनों अनुमानों में दृष्टान्त कौन है? प्रत्यक्ष तो दृष्टान्त हो नहीं सकता, क्योंकि वह 'पक्ष' है। पक्ष में साध्य को सन्दिग्ध रहना चाहिये। एवं दृष्टान्त में साध्य को निश्चित रहना चाहिये। अतः पक्ष और दृष्टान्त दोनों एक पदार्थ नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि भी दृष्टान्त नहीं हो सकते, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य की तरह हेतु को भी निश्चित रहना चाहिये। इनमें

प्रत्यक्षत्व हेतु तो अनुमानादि में अवश्य ही नहीं है। शेष दोनों हेतुओं में भी कुछ सन्देह है, अतः अप्रत्यक्ष भी दृष्टान्त नहीं हो सकते।

एवं प्रत्यक्षरूप पक्ष के अन्तर्गत हमलोगों के प्रत्यक्ष में प्रकृत अनिमित्तता, विद्यमानोपलम्भनत्व एवं सत्सम्प्रयोगजत्व ये तीनों ही साध्य निश्चित ही हैं। अतः इन तीनों ही अनुमानों में सिद्धसाधन दोष भी अनिवार्य है।

कथित दृष्टान्तासिद्धि और सिद्धसाधन दोषों का यह समाधान है—

जिसलिये हम लोगों के प्रत्यक्ष में धर्मज्ञापन की असमता प्रसिद्ध है, अतः योगियों के प्रत्यक्ष में ही धर्मज्ञापन की अक्षमता का अनुमान प्रकृत में इष्ट है।

कहने का तात्पर्य है कि उक्त तीनों ही अनुमानों के पक्षबोधक 'प्रत्यक्ष' शब्द से योगियों का प्रत्यक्ष ही विवक्षित है। योगिप्रत्यक्ष में भूतभविष्यद्विषयकत्व एवं सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टविषयकत्व आस्तिक नैयायिकादि एवं नास्तिक बौद्धादि दोनों वर्गों में स्वीकृत है। इस मत के अनुसार सभी प्रत्यक्षों में विद्यमानोपलम्भनत्व और सत्सम्प्रयोगजत्व नहीं है। मीमांसक लोग सभी प्रत्यक्षों को सत्सम्प्रयोगज और विद्यमानोपलम्भन स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार योगिप्रत्यक्ष में 'अनिमित्तता' सुतराम् सन्दिग्ध हो जाती है। इस प्रकार योगिप्रत्यक्ष को पक्ष मान लेने से 'सिद्धसाधन' दोष का परिहार हो जाता है।

इसी प्रकार 'दृष्टान्तासिद्धि' दोष का भी परिहार हो जाता है, क्योंकि अस्मदादि प्रत्यक्ष को दृष्टान्त मान लेते हैं। अस्मदादि प्रत्यक्षों में अनिमित्तत्व, विद्यमानोपलम्भनत्व एवं सत्सम्प्रयोगजत्व ये तीनों ही साध्य सभी मतों से सिद्ध हैं। एवं विद्यमानोपलम्भनत्व, सत्सम्प्रयोगजत्व और प्रत्यक्षत्व ये तीनों हेतु भी अस्मदादि प्रत्यक्षों में सर्वसिद्ध ही है। तस्मात् इन अनुमानों में दृष्टान्तासिद्धि और सिद्धसाधन दोषों में से कोई भी नहीं है ॥ २१ ॥

प्रकृतेन च सम्बन्धः शेषाप्रामाण्यदर्शनात् ।
तदप्रामाण्यसिद्धिश्च सम्बन्धादेरनीक्षणात् ॥ २२ ॥

प्रकृत प्रसङ्ग है 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' एवं 'चोदना धर्मे प्रमाणमेव नाप्रमाणम्' इन दोनों अवधारणों का। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के बाद का सूत्र इस सूत्र के द्वारा कथित अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही सार्थक हो सकता है। प्रत्यक्ष सूत्र की भवदास की जो प्रत्यक्षलक्षणपरक व्याख्या है, उसमें यह दोष दिखला आये हैं कि इन दोनों अवधारणों के साथ प्रत्यक्षलक्षण का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अतः यह सूत्र प्रत्यक्षलक्षण का विधायक नहीं हो सकता।

किन्तु यही दोष इस सूत्र की वार्त्तिककार की अपनी व्याख्या के प्रसंग में भी लागू होता है कि कथित दोनों अवधारणों के साथ एतदर्थक सूत्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं दीखता। इस आक्षेप का यह समाधान है—

'चोदना रूप शब्द ही केवल धर्म का ज्ञापक प्रमाण है'। 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि चोदना रूप शब्द प्रमाण

से अतिरिक्त प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों में धर्मज्ञापन की अक्षमता उपपादित हो। अनुमानादि जितने भी प्रमाण हैं वे सभी प्रत्यक्षमूलक हैं। अतः प्रत्यक्ष में यदि धर्मज्ञापन की अक्षमता सिद्ध हो जाती है तो फिर अनुमानादि अन्य सभी प्रमाणों में भी धर्मज्ञापन की अक्षमता सुतराम् उपपादित हो जाती है। प्रत्यक्ष में 'अनिमित्तत्व' (धर्मज्ञापनाक्षमत्व) के उपपादन के साथ 'शेष' अनुमानादि सभी प्रमाणों में धर्म के प्रति अप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण रूप 'प्रकृत' के साथ वार्त्तिककार की इस सूत्र की व्याख्या का सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

तदप्रामाण्य······अनीक्षणात्

किन्तु प्रकृत सूत्र में केवल प्रत्यक्ष में ही 'अनिमित्तता' दिखलायी गयी है, किन्तु 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण की पुष्टि के लिए चोदना रूप धर्म के ज्ञापक प्रमाण से भिन्न अनुमानादि सभी प्रमाणों में धर्म की अनिमित्तता का भी साधन चाहिये। अनुमानादि में 'अनिमित्तता' के साधन के लिये कोई अन्य सूत्र भी नहीं है। इस प्रकार वार्त्तिककार की व्याख्या में भी सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का आक्षेप रह जाता है। इस आक्षेप का यह समाधान है—

'धर्म' में प्रत्यक्षागम्यत्व होने के कारण तद्गत सभी धर्म प्रत्यक्ष से अगम्य हो जाते हैं, धर्म जब प्रत्यक्ष से गृहीत होगा तभी तन्निरूपित व्याप्ति का या तद्गत किसी अन्य पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान हो सकता है। किन्तु जब 'धर्म' ही ज्ञात नहीं है तो धर्म का ज्ञान (सिद्धि) अनुमान प्रमाण से या उपमान प्रमाण से नहीं हो सकता। तस्मात् प्रत्यक्ष में अनिमित्तता के उपपादन से ही 'शेष' अनुमानादि प्रमाणों में भी धर्म के प्रति अप्रामाण्य का भी उपपादन हो जाता है। अतः सूत्रकार के ऊपर कोई न्यूनता प्रकृत में नहीं है।

तदनुसार प्रकृत श्लोक के उत्तरार्द्ध का अक्षरार्थ क्रम से यह अर्थ है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से अगम्य 'धर्म' के व्याप्ति-सादृश्यादि जितने भी सम्बन्ध हैं उनके 'अनीक्षण' अर्थात् अप्रत्यक्ष के कारण 'शेष' प्रमाणों में अर्थात् प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि सभी प्रमाणों में भी धर्म के प्रति 'अप्रामाण्य' की सिद्धि जाननी चाहिये ॥ २२ ॥

शक्यमन्याप्रमाणत्वमिति सूत्रेण पठ्यते।
न च पर्यनुयोगोऽत्र लक्षणानुपयोगतः ॥ २३ ॥
न च न्यूनातिरेकादिप्रसङ्गो लक्षणं प्रति।
सर्वथा लोकसिद्धत्वाद् धर्मोऽयं तावदिष्यते ॥ २४ ॥

शक्यम्······न पठ्यते

आचार्य भवदास की जो इस सूत्र की प्रत्यक्षलक्षणपरक व्याख्या है, उसमें वार्त्तिककार ने दोष दिया है कि (देखिये प्रत्यक्षसूत्रवार्त्तिक का श्लो० २) यदि महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्षलक्षण के लिये सूत्र की रचना की तो फिर अनुमानादि प्रमाणों के लिये भी उन्हें पृथक्-पृथक् सूत्रों की रचना करनी चाहिये। किन्तु प्रकृत में वार्त्तिककार ने जो प्रत्यक्षसूत्र की प्रत्यक्ष में धर्म के अनिमित्तत्वपरक व्याख्या की

है उसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि जिस प्रकार 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारण के लिये प्रत्यक्ष में अनिमित्तता का ज्ञापन आवश्यक है, उसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणों में भी 'अनिमित्तता' का ज्ञापन आवश्यक है। फिर सूत्रकार ने प्रत्यक्ष में अनिमित्तता के ज्ञापन के लिये सूत्र की रचना की और अनुमानादि में 'अनिमित्तता' के ज्ञापन के लिये सूत्रों की रचना नहीं की—इसमें क्या हेतु है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि प्रत्यक्ष में अनिमित्तता के ज्ञापन से ही अनुमानादि प्रमाणों में धर्म के प्रति अनिमित्तता (अज्ञापकता) कथित हो जाती है। (देखिये श्लो० २२) अतः उसके लिये पृथक् सूत्र की रचना आवश्यक नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष लक्षण के कथन से अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण कथित नहीं हो। जाते अतः प्रकृतसूत्र को प्रत्यक्ष लक्षणोद्देश्यक मानने पर युक्तिसाम्य से अनुमानादि प्रमाणों के उपपादन के लिये भी पृथक् सूत्रों की रचना आवश्यक हो जाती है। अतः इस सूत्र को प्रत्यक्षलक्षणपरक माननेवाले आचार्य भवदास के ऊपर अनुमानादि प्रमाणों के लिये पृथक् सूत्ररचना के कर्त्तव्यत्व को आपत्ति ठीक बैठती है। किन्तु वार्तिककार के ऊपर अनुमानादि प्रमाणों में अनिमित्तता के ज्ञापन के लिये पृथक् सूत्र की रचना को आवश्यकता की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष में अनिमित्तता के ज्ञापन से अनुमानादि में अनिमित्तता का ज्ञापन हो जाता है।

न च पर्यनुयोगः......अनुपयोगतः

प्रकृतसूत्र को प्रत्यक्षलक्षणपरक न मानने से ही इस लक्षण का प्रकृत में उपयोग क्या है ? यह प्रत्यक्षलक्षण अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है ? ये सभी आक्षेप समाहित हो जाते हैं, क्योंकि यह सूत्र प्रत्यक्षलक्षण का ज्ञापक है ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण में धर्म के प्रति अनिमित्तता का ज्ञापक है। इस अनिमित्तता के प्रयोजक रूप में ही सत्सम्प्रयोगजत्वादि धर्मों का उल्लेख प्रकृत सूत्र में है।

कहने का तात्पर्य है कि 'प्रत्यक्ष सत्सम्प्रयोगज एवं विद्यमानोपलम्भनरूप है' इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि सत्सम्प्रयोगजत्वविशिष्ट विद्यमानोपलम्भनत्व प्रत्यक्ष का लक्षण है। उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि 'जिसलिये कि प्रत्यक्ष सत्सम्प्रयोगज और विद्यमानोपलम्भनरूप है अतः वह धर्मज्ञान का निमित्त नहीं है।'

न च न्यूनाति ...... तावदिष्यते

सूत्र के द्वारा चूंकि धर्म का लक्षण नहीं कहा गया है, अतः प्रत्यक्षलक्षण का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में न्यूनता (अव्याप्ति), अतिरेक (अतिव्याप्ति) प्रभृति दोषों की चर्चा का कोई अवसर नहीं है। किन्तु लोक में प्रसिद्ध जो यागादि धर्म है उसी धर्म में प्रत्यक्षावेद्यत्व की चर्चा प्रत्यक्ष के सत्सम्प्रयोगजत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व धर्म के द्वारा की गयी है ॥ २३–२४ ॥

ततश्च मृगतृष्णादि न प्रत्यक्षं प्रसज्यते।
अनिमित्तप्रसङ्गस्तु तस्यापि न निवार्यते ॥ २५ ॥

जिसलिये कि प्रकृतसूत्र प्रत्यक्षलक्षण का बोधक नहीं है, अतः सत्सम्प्रयोगज और विद्यमानोपलम्भन स्वरूप मृगतृष्णादि प्रत्यक्षाभासों में प्रत्यक्षलक्षण की अति-

व्याप्ति नहीं होती है (क्योंकि 'इन्द्रियसम्प्रयोगजं विद्यमानोपलम्भनं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्' इस प्रकार का प्रत्यक्ष का लक्षण प्रकृत सूत्र से विवक्षित ही नहीं है)। किन्तु प्रत्यक्ष जिसलिये सत्सम्प्रयोगज एवं विद्यमानोपलम्भन रूप है, अतः धर्म के ज्ञापन में असमर्थ है। मृगतृष्णादि प्रत्यक्षाभास भी सत्सम्प्रयोगज एवं विद्यमानोपलम्भन रूप हैं, इस लिये उनमें भी धर्म के प्रति अनिमित्तता की सिद्धि हो जायगी। किन्तु यह भी इष्ट ही है, क्योंकि सिद्धान्तियों को चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से भिन्न सभी में चाहे अनुमानादि प्रमाण हों या मृगतृष्णादि प्रमाणाभास हों धर्मज्ञापन की अनिमित्तता का ज्ञापन इष्ट है, क्योंकि इससे 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अवधारणा की पुष्टि होगी ॥ २५ ॥

अतीतानागतेऽप्यर्थे सूक्ष्मे व्यवहितेऽपि च।
प्रत्यक्षं योगिनामिष्टं कैश्चिन्मुक्तात्मनामपि ॥ २६ ॥
विद्यमानोपलम्भत्वमसिद्धं तत्र तान् प्रति।
भविष्यत्त्वस्य वा हेतोस्तद्ग्राह्यैर्व्यभिचारिता ॥ २७ ॥
मा भूतामिति तेनाह लोकसिद्धं सदित्ययम्।

प्रत्यक्ष स्वरूप पक्ष में अनिमित्तत्व, विद्यमानोपलम्भनत्व और सत्सम्प्रयोगजत्व इन तीन साध्यों की सिद्धि के लिये जो तीन अनुमान कहे गये हैं, उनमें पक्षीभूत पक्ष के बोधक 'प्रत्यक्ष' शब्द से 'योगिओं का प्रत्यक्ष' ही अभिप्रेत है (देखिये श्लोक २१)

इस प्रसङ्ग में शङ्का उठती है कि क्या योगिप्रत्यक्ष वर्त्तमानोपलम्भन रूप नहीं है अर्थात् केवल वर्त्तमानकालिक अर्थ का ग्राहक नहीं है, जो 'सत्सम्प्रयोगजत्व' हेतु से उसका साधन करना पड़ता है? इस शङ्का का एवं इसी शङ्का की भित्ति पर जो दोष संभावित हैं उन सभी दोषों का समाधान यह है :—

बौद्धों का एवं योगक्रिया में निष्ठा रखनेवाले कुछ वैदिक दार्शनिकों का भी सिद्धान्त है कि लौकिक संनिकर्षों से एवं अतिरिक्त भावना के प्रकर्ष से भी अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्टादिस भी विषयों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान योगियों को होता है। एवं जैन दार्शनिकों का भी कहना है कि सभी जीवों का अन्तःकरण सूक्ष्मादि सभी विषयों के ग्रहण में समर्थ है। किन्तु देह स्वरूप आवरण (प्रतिबन्धक) के वशीभूत जीव चूंकि बद्ध रहता है, अतः उसका प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं तक सीमित रहता है। साधन के द्वारा जो जीव देहावरण को भेदकर मुक्त हो गये हैं, उनको सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टादि सभी विषयों का प्रत्यक्ष अवश्य होता है। इन लोगों के मत से (जैनियों के मत से) प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व (केवल वर्त्तमानकालिक अर्थविषयकत्व) असिद्ध है। इसी असिद्धि को हटाने के लिये योगिप्रत्यक्ष में 'विद्यमानोपलम्भनत्व' की सिद्धि करनी पड़ती है।

एवं महर्षि जैमिनि के मत से प्रत्यक्ष विद्यमानोपलम्भन रूप ही है भूत या भविष्यत्कालिक वस्तुविषयक नहीं है, अतः इनके मत से इष्ट अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है :—'धर्मो न प्रत्यक्षः भविष्यत्वात् अनागतवृष्टिवत्'।

इस अनुमान के हेतु में बौद्धजैनादि व्यभिचार दोष का उद्भावन करते हैं, क्योंकि उन लोगों के मत से भविष्यत्कालिक वस्तु भी प्रत्यक्ष का विषय है। अतः प्रकृत अनुमान के प्रत्यक्षविषयत्वाभाव रूप साध्य का प्रत्यक्षविषयत्व स्वरूप अभाव जिन भविष्यत्कालिक वस्तुओं में है, वहाँ भविष्यत्व रूप हेतु भी है। इस व्यभिचार दोष को मिटाने के लिये भी आवश्यक है कि भविष्यद्वस्तु में प्रत्यक्षविषयत्वाभाव की सिद्धि की जाय। ऐसा हो जाने पर उक्त व्यभिचार दोष का वारण हो जायगा, क्योंकि उक्त सिद्धि (अनुमान) के अनुसार भविष्यद्वस्तुओं में प्रत्यक्षविषयत्वाभाव स्वरूप साध्य ही है, प्रत्यक्षविषयत्व में पर्यवसित साध्याभाव नहीं। अतः भविष्यद्वस्तुओं में भविष्यत्व स्वरूप हेतु के रहते हुये भी व्यभिचार की कोई शङ्का नहीं है। इसलिये भी योगियों के प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व का साधन आवश्यक है। इसीलिये महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्षसूत्र में प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व की सिद्धि के लिये लोक में प्रसिद्ध जो प्रत्यक्षगत सत्सम्प्रयोगजत्व है उसका अभिधान किया है ॥ २६-२८ क-ख ॥

न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि ॥ २८ ॥

'योगिप्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनम् सत्सम्प्रयोगजत्वात्' यह पहिला अनुमान है। किन्तु योगिप्रत्यक्ष को सर्वविषयक माननेवाले उसको भावनाप्रकर्षजन्य मानते हैं सत्सम्प्रयोगजन्य नहीं (इन्द्रियसम्प्रयोगजन्य नहीं)। अतः सत्सम्प्रयोगजन्यत्व हेतु योगिप्रत्यक्ष स्वरूप पक्ष में नहीं रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हो जायगा। इस दोष का परिहार योगिप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व हेतु से सत्सम्प्रयोगजन्यत्व की अनुमिति से किया जा सकता है। उसमें दृष्टान्त होगा लौकिक प्रत्यक्ष। अनुमान का आकार होगा 'योगिप्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं प्रत्यक्षत्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षवत्'।

कहने का तात्पर्य है कि योगिप्रत्यक्ष भी चूंकि लौकिक प्रत्यक्ष की तरह प्रत्यक्ष ही है, अतः प्रत्यक्ष होने के नाते उसे भी इन्द्रियसंयोगजन्य होना ही चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वरूप लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियसंप्रयोगज है ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षत्वेन तस्यापि विद्यमानोपलम्भनम्।
सत्सम्प्रयोगजत्वं वाप्यस्मत्प्रत्यक्षवद् भवेत् ॥ २९ ॥

उसी बात को दूसरी तरह से यों कही जा सकती है—प्रत्यक्षत्व हेतु से योगिप्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व की ही सिद्धि अस्मदादिप्रत्यक्ष के दृष्टान्त के सहारे कर लें। अथवा पहिली रीति से ही सत्सम्प्रयोगजत्व हेतु से विद्यमानोपलम्भनत्व की सिद्धि एवं प्रत्यक्ष हेतु से अनिमित्तत्व की सिद्धि की जा सकती है। किन्तु हर हालत में लौकिक प्रत्यक्ष दृष्टान्त और योगिप्रत्यक्ष पक्ष रहेगा ॥ २९ ॥

तेषामवर्तमानेऽर्थे वा नामोत्पद्यते मतिः।
प्रत्यक्षं सा ततस्त्वेव नाभिलाषस्मृतादिवत् ॥ ३० ॥
लोके वाप्यप्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षत्वप्रमाणतः।
प्रतिभावद् द्वयासत्त्वं सदित्येतेन कथ्यते ॥ ३१ ॥

योगियों को जो अवर्त्तमान विषयों का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षात्मक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का सत्सम्प्रयोगज और विद्यमानोपलम्भन रूप होना आवश्यक है। जैसे कि किसी अभिलषित वस्तु की स्मृति बारबार होने पर भी अतीत-विषयक होने के कारण (योगियों के मत से भी) प्रत्यक्ष रूप नहीं होती।

अतः इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'अतीतानागतविषयकं योगिज्ञानं न प्रत्यक्षं असत्सम्प्रयोगजत्वात् अविद्यमानोपलम्भनरूपत्वाच्च अभिलाषस्मृतिवत्।'

योगिज्ञान को साधारण जन प्रत्यक्ष अथवा प्रमाण नहीं समझते, अतः जिस प्रकार 'प्रातिभ ज्ञान' को जनसाधारण प्रत्यक्ष या कोई भी अन्य प्रमाण नहीं समझते, इसलिये प्रातिभज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत या किसी अन्य प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता है उसी प्रकार योगिज्ञान की प्रसिद्धि लोक में प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में या अन्य प्रमाण के रूप में नहीं है, अतः योगिज्ञान न प्रत्यक्ष है और न कोई अन्य प्रमाण है। इसी विषय की सूचना इस सूत्र के 'सत्सम्प्रयोग' घटक 'सत्' शब्द से सूत्रकार ने दी है।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि वर्त्तमानकालिक विषय के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से प्रत्यक्ष को उत्पन्न होना आवश्यक है। प्रकृत में योगिज्ञान और प्रातिभज्ञान इन दोनों में से कोई भी सत्सम्प्रयोगजन्य नहीं है, अतः दोनों प्रत्यक्ष भी नहीं हैं॥ ३०–३१ ॥

लौकिकी प्रतिभा यद्वत् प्रत्यक्षाद्यनपेक्षिणी।
न निश्चयाय पर्याप्ता तथा स्याद् योगिनामपि ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार 'लौकिकी' अर्थात् हम लोगों का 'प्रतिभा' स्वरूप ज्ञान अपने विषय के निश्चय में इसलिये समर्थ नहीं है कि उसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अनुग्रह प्राप्त नहीं है उसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनपेक्ष लिङ्गाभासादिजनित योगिज्ञान भी अपने विषय का निश्चायक नहीं है। अतः योगियों का भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनपेक्ष ज्ञान प्रामाणिक नहीं है॥ ३२॥

अविद्यमानसंयोगात् स्याच्चेत् प्रत्यक्षधीः क्वचित्।
भविष्यत्यपि धर्मे स्याच्छक्तेत्याह सदित्ययम् ॥ ३३ ॥

यदि अविद्यमान विषयों के साथ सम्प्रयोग से कहीं प्रत्यक्ष का होना संभव हो तो फिर भविष्यद्रूप धर्म का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। फलतः धर्म में प्रत्यक्षावेद्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रकृत स्थिति में 'धर्मः प्रत्यक्षा वेद्यो भविष्यत्त्वात्' इस अनुमान का हेतु अनैकान्तिक होगा। अतः महर्षि जैमिनि ने प्रकृत सूत्र में 'सत्' शब्द का उपादान किया है।

विशदार्थ यह है कि श्लोक २१ के विवरण में तीन अनुमानों का प्रदर्शन हो चुका है। उनमें पहिला अनुमान है 'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'। इस अनुमान के विद्यमानोपलम्भनत्व हेतु में असिद्धि दोष की शङ्का थी, क्योंकि यह विद्यमानोपलम्भनत्व हेतु प्रत्यक्ष स्वरूप पक्ष में नहीं है। इसका हेतु यह है कि जिस

प्रकार योगिप्रत्यक्ष भूतकालिक या भविष्यत्कालिक वस्तुओं का हो सकता है उसी प्रकार अन्य प्रत्यक्ष भी चूंकि भूतकालिक वस्तुओं का या भविष्यत्कालिक वस्तुओं का हो सकता है अतः प्रत्यक्ष में नियमतः वर्त्तमानकालिकवस्तुविषयकत्व स्वरूप विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं रह सकता। इस असिद्धि दोष के परिहार के लिये प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व की सिद्धि सत्सम्प्रयोगजन्यत्व हेतु से आवश्यक हो गयी है। (प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनरूपं सत्सम्प्रयोगजत्वात्) पक्षधर्मता के सम्पादक इसी 'सत्सम्प्रयोगजत्व' हेतु की व्याख्या अभी तक हुई है।

अब 'प्रत्यक्षं धर्मे अनिमित्तम् भविष्यत्वात्' इस अनुमान के भविष्यत्व हेतु की व्याख्या की जा रही है। अर्थात् प्रत्यक्ष वर्त्तमान विषयका ही ग्रहण कर सकता है। यागादि स्वरूप धर्म चूंकि भविष्यत्कालिक हैं, अतः उनका ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति में यदि सूत्र में 'सत्' शब्द का उपादान नहीं करते हैं तो फिर प्रकृत में यह कहना संभव नहीं होगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्म का ज्ञापन नहीं हो सकता, क्योंकि 'सत्' शब्दाघटित लक्षण का लक्ष्य भविष्यद्रूप है (भविष्यत्कालिक है)। अतः प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञापक नहीं है, क्योंकि भविष्यत्कालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष यदि योगियों को होता है तो फिर भविष्यत्कालिक यगादि स्वरूप धर्म भी प्रत्यक्ष के विषय होंगे।

तस्मात् 'धर्मो न प्रत्यक्षवेद्यः भविष्यत्कालिकत्वात्' इस फलीभूत अनुमान में अनैकान्तिक दोष होगा, क्योंकि प्रत्यक्षवेद्यत्वरूप साध्याभाव भविष्यत्कालिक घटादि वस्तुओं में भी है, किन्तु वहाँ भविष्यत्वस्वरूप हेतु भी है। अतः उक्त अनुमान के विद्यमानोपलम्भनत्व हेतु के प्रत्यक्ष स्वरूप पक्ष में न रहने के कारण असिद्धि दोष की शङ्का थी, क्योंकि योगियों के प्रत्यक्ष के समान अन्य प्रत्यक्ष भी भूतकालिक वस्तुविषयक या भविष्यत्कालिक वस्तुविषयक यदि हो सकते हैं तो विद्यमानविषयकत्वरूप विद्यमानोपलम्भनत्व प्रत्यक्ष में नहीं रह सकता। इस असिद्धि दोष के परिहार के लिए सत्सम्प्रयोगजत्व हेतु से प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व की सिद्धि आवश्यक हो गयी। 'प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनं सत्सम्प्रयोगजत्वात्'। इसी सत्सम्प्रयोगजत्व की व्याख्या अभी तक होती रही।

अब 'प्रत्यक्षं धर्मे अनिमित्तं भविष्यत्त्वात्' इस फलीभूत अनुमान के भविष्यत्त्व हेतु का विवरण दिया जाता है। अर्थात् प्रत्यक्ष चूँकि वर्तमानकालिक वस्तु का ही ग्राहक हो सकता है, अतः भविष्यद्रूप यागादि धर्म का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यदि प्रकृत सूत्र में 'सत्' शब्द का उपपादन नहीं करते हैं तो प्रकृत में यह कहना असम्भव हो जायगा कि यागादि धर्म चूँकि भविष्यत् कालिक हैं, अतः प्रत्यक्ष से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि 'सत्' शब्द से रहित प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य भविष्यत् कालिक यागादि धर्म भी हो सकते हैं। क्योंकि योगियों को यदि भविष्यत्कालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है तो फिर भविष्यत्कालिक यागादि धर्म भी प्रत्यक्ष के विषय होंगे।

तस्मात् भविष्यत्त्वहेतुक धर्मपक्षक प्रत्यक्षावेद्यत्व साधक इस फलीभूत अनुमान का भविष्यत्त्व हेतु अनैकान्तिक होगा, क्योंकि साध्य का प्रत्यक्षवेद्यत्व स्वरूप अभाव भविष्यत्कालिक घटादि वस्तुओं में भी है, एवं उनमें भविष्यत्त्व हेतु भी है। अतः मीमांसकों के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष का ऐसा लक्षण बनावें जिससे भविष्यत्कालिक वस्तुओं में प्रत्यक्ष का लक्षण न जाय। अतः महर्षि ने प्रकृत सूत्र में वर्त्तमानार्थक 'सत्' शब्द का उपादान किया है। तदनुसार प्रत्यक्ष का इस प्रकार का लक्षण निष्पन्न होता है—

वर्त्तमान विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्प्रयोग से जिस बुद्धि की उत्पत्ति हो वही प्रत्यक्ष प्रमिति है एवं उसका करण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रकृत में भविष्यत्कालिक यागादि धर्मों का कोई भी ज्ञान प्रकृत सत्सम्प्रयोग से नहीं हो सकता, अतः धर्म स्वरूप पक्ष में प्रत्यक्षावेद्यत्व सुव्यवस्थ है। इसलिए इस सूत्र में 'सत्' शब्द का उपादान आवश्यक है ॥ ३३ ॥

प्रत्यक्षः प्रागनुष्ठानान्न धर्मोऽनुष्ठितोऽपि वा।
फलसाधनरूपेण तदानीं येन नास्त्यसौ ॥ ३४ ॥

प्रश्न है कि भावी धर्म का प्रत्यक्ष भले ही न हो, किन्तु वर्त्तमानावस्था में तो धर्म का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः धर्म सर्वथा प्रत्यक्षावेद्य कैसे है ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

मीमांसकों के मत से यागादिक्रियाकलाप ही धर्म हैं। वे भी स्वरूपतः धर्म नहीं हैं, वे भी स्वर्गादि स्वरूप फलों के साधनत्व से युक्त होकर ही वे धर्म होते हैं। जिस समय यागादि स्वयं वर्त्तमानावस्थ रहते हैं उस समय स्वर्गादि स्वरूप उनके फल भविष्यदवस्थ रहते हैं। इसी प्रकार जिस समय स्वर्गादि फल वर्त्तमानावस्थ रहते हैं उस समय यागादि स्वरूप धर्म विनष्ट हो जाते हैं। विशिष्टप्रत्यक्ष के लिए विशेषण का प्रत्यक्ष भी आवश्यक है। अतः जिस समय यागादि धर्मों के प्रत्यक्ष की संभावना है उस समय स्वर्गादि फलों के प्रत्यक्ष की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि उस समय वे भविष्यत्कालिक होने के कारण सर्वथा प्रत्यक्षावेद्य हैं। एवं जिस समय स्वर्गादि फलों के प्रत्यक्ष की संभावना है, उस समय यागादि विनष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। इस प्रकार स्वर्गादि फलसाधनत्वविशिष्ट यागादिस्वरूप धर्म के प्रत्यक्ष की कभी भी संभावना नहीं है[1] ॥ ३४ ॥

---

१. इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि यागादि से अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा ही स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति होती है। इस अपूर्व की उत्पत्ति के लिए स्वर्गादि फलों की तरह चिरकाल की अपेक्षा नहीं है। यागादि के निष्पन्न होते ही अपूर्व उत्पन्न हो जाता है। अतः याग और अपूर्व दोनों एक समय रह सकते हैं (दोनों का कालघटित सामानाधिकरण्य उत्पन्न हो सकता है)। अतः स्वर्गादिस्वरूप फलविशिष्ट यागादि के प्रत्यक्ष की सम्भावना न भी हो, तथापि अपूर्वस्वरूप फलसाधनत्वविशिष्ट याग का प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि यागादि धर्मों से साक्षात् उत्पत्ति अपूर्वस्वरूप फल की ही होती है। इन अपूर्वों से ही स्वर्गादि चरम फलों की उत्पत्ति होती है। अतः फलसाधनत्व

अस्मत्प्रत्यक्षवच्चापि विद्यमानोपलम्भनम् ।
प्रत्यक्षं ध्यायिनां धर्मे प्रत्यक्षत्यवाच्च नेष्यते ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्ष में विद्यमानोपलम्भनत्व से जो अनिमित्तता अर्थात् ज्ञापनाक्षमता की सिद्धि की गयी है, उसके उपसंहारात्मक अन्य अनुमान ये हैं :—योगिप्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनरूपं प्रत्यक्षत्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षवत् (२) योगिप्रत्यक्षं धर्मे अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षवत् ।

कहने का तात्पर्य है कि योगियों के प्रत्यक्ष भी हम लोगों के प्रत्यक्ष की तरह विद्यमानोपलम्भन रूप ही हैं, वर्तमानकालिकविषयक ज्ञान स्वरूप ही हैं, क्योंकि वे भी प्रत्यक्ष हैं ; अतः धर्म स्वरूप यागादि योगियों के भी प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं ॥ ३५ ॥

अविद्यमानसंयोगात् प्रत्यक्षत्वनिराकृतिः ।
योगिनां केन लभ्येत नेष्टं सद्ग्रहणं यदि ॥ ३६ ॥

से युक्त यागादि को ही यदि धर्म मानें तथापि अपूर्वस्वरूप फलसाधनत्वविशिष्ट याग का प्रत्यक्ष हो सकता है । अतः धर्म को प्रत्यक्षावेद्य कहना ठीक नहीं है ।

श्री पार्थसारथिमिश्र ने अपने न्यायरत्नाकर में इसका समाधान लिखा है कि यद्यपि उक्त रीति से अपूर्वस्वरूप फल के साथ यागादि स्वरूप धर्मों का कालिक सामानाधिकरण्य की उपपत्ति के द्वारा धर्म में प्रत्यक्षवेद्यत्व का समर्थन किया जा सकता है तथापि यह अन्य प्रकार से असम्भावित है, क्योंकि 'अपूर्व' अतीन्द्रिय है । अतीन्द्रिय वस्तुओं से युक्त होकर इन्द्रियवेद्य अर्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । जैसे कि वृक्ष स्वयं इन्द्रियवेद्य है, किन्तु तत्संयुक्त पिशाच चूँकि इन्द्रियवेद्य नहीं है, अतः पिशाचविशिष्ट वृक्ष का प्रत्यक्ष नहीं होता । इसी प्रकार यागादि यद्यपि इन्द्रियवेद्य हैं, किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाले अपूर्व इन्द्रियवेद्य नहीं है । अतः अपूर्वसाधनत्वविशिष्ट याग भी इन्द्रियवेद्य नहीं हो सकते । इसलिए इस प्रकार से भी धर्म में प्रत्यक्षवेद्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।

कुछ लोग अन्य प्रकार से भी धर्म में प्रत्यक्षवेद्यत्व का समर्थन करते हैं । सभी कारण स्वगत कार्यानुकूल शक्ति से युक्त होकर ही कार्यों का उत्पादन करते हैं । तस्मात् यागादि से अपूर्वों की उत्पत्ति मानें अथवा स्वर्गादि चरम फलों की ही उत्पत्ति सीधे यागादि से स्वीकार करें दोनों ही अवस्थाओं में यागादि में तत्तत्कार्यानुकूल शक्ति की सत्ता माननी पड़ेगी । यह शक्ति अपने आश्रयीभूत यागादि की उत्पत्ति क्षण से लेकर उनके स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण तक रहेगी । अतः स्वर्गादिशक्तिविशिष्ट यागादि का अथवा स्वर्गाद्यनुकूलापूर्वजनकत्वविशिष्ट यागादि का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः धर्मस्वरूप यागादि सर्वथा प्रत्यक्षावेद्य नहीं है ।

इस आक्षेप का भी उत्तर पूर्ववत् स्पष्ट है कि सभी शक्तियाँ अतीन्द्रिय होती हैं, अतः स्वयं इन्द्रियवेद्य भी यागादि शक्तिविशिष्ट रूप से प्रत्यक्षवेद्य नहीं हो सकते । अतः धर्म प्रत्यक्षवेद्य नहीं हो सकता ।

महर्षि जैमिनि के इस प्रत्यक्ष सूत्र के ऊपर बौद्धों का आक्षेप है कि इस सूत्र में 'सत्' शब्द का उपादान व्यर्थ है, क्योंकि 'असत्' अर्थात् अविद्यमान अर्थ के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग ही संभव नहीं है। अतः (इन्द्रियसम्प्रयोग के बोधक) 'वर्त्तमान विषयों के साथ इन्द्रिय' सम्प्रयोग ऐसा अर्थ केवल 'सम्प्रयोग' शब्द से ही प्राप्त हो जाता है। फिर किस सम्प्रयोग की व्यावृत्ति के लिये 'सत्' शब्द का उपादान सूत्र में किया जाय ? बौद्धों के इस आक्षेप का यह समाधान है :—

जिन सम्प्रदायों में भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होना स्वीकृत है, उन लोगों के मत से इस प्रकार का विषयविभाग किया जा सकता है कि (१) अनागत विषयों के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से भविष्यत्कालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है एवं (२) अतीतकालिक वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से अतीतविषयक प्रत्यक्ष (योगियों को) होता है। इस प्रकार के योगिप्रत्यक्षों के वारण लिये विषय और इन्द्रिय के केवल वर्त्तमान सम्प्रयोग को ही प्रत्यक्ष का कारण माना जाय। इस दृष्टि से मीमांसकों के मत से विषय और इन्द्रिय का वर्त्तमान सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष का कारण है। अतीत और अनागत सम्प्रयोग से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति ही नहीं होती है। अतः योगियों को भी अतीत और अनागतविषयक प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। अतः भविष्यद्रूप धर्म किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसी की सूचना सूत्र में 'सत्' शब्द के उपादान से सूत्रकार ने दी है।

कहने का तात्पर्य है कि बौद्धों ने प्रत्यक्ष के प्रकृत सौत्रलक्षण में 'सत्' शब्द की निरर्थकता का आक्षेप 'सत्सम्प्रयोग' शब्द में 'सता (विषयेण) सम्प्रयोगः' इस प्रकार तृतीयासमास समझकर किया है। उसका यह अभिप्राय है कि 'असत्' विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग संभव नहीं है। अतः 'असत्' विषयों के साथ इन्द्रियसम्प्रयोग का व्यवच्छेदक 'सत्' शब्द व्यर्थ है।

किन्तु प्रकृत 'सत्सम्प्रयोग' शब्द में सूत्रकार को कथित तृतीयासमास इष्ट ही नहीं है। उनका तो 'संश्चासौ प्रयोगश्चेति' इस प्रकार से कर्मधारय समास अभिप्रेत है। इस समास की सूचना भाष्यकार ने 'सतोन्द्रियार्थसम्प्रयोगे' (शाबर-भाष्य पृ० २१–२२) इस वाक्य से दी है। अतः प्रकृत सूत्र में बौद्धों की 'सत्' शब्द के वैयर्थ्य की शङ्का व्यर्थ है।

सिद्धान्तियों का अभिप्राय है कि विषय और इन्द्रिय का वर्त्तमान सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष का उत्पादक है। यह सम्प्रयोग वर्त्तमान विषयों के साथ ही हो सकता है। अतः अतीत सम्प्रयोग या अनागत सम्प्रयोग से अतीत अथवा अनागत विषय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः भविष्यद्रूप धर्म का प्रत्यक्ष योगियों को भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म की प्रत्यक्षावेद्यता सर्वथा निष्प्रत्यूह है ॥ ३६ ॥

---

१. इस प्रसङ्ग में बौद्धकारिका इस प्रकार है—

सदित्यसद्व्युदासाय न नियोगात्सगंस्पते ।
सम्प्रयोगो हि नियमाद् सत एवोपपद्यते ॥

सम्प्रयोगेऽपि तु लभ्येत सदर्थः, कल्पना पुनः ।
परेषां वारणीयेति यत्नो जैमिनिना कृतः ॥ ३७ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि यदि वर्त्तमान सम्प्रयोग में प्रत्यक्ष की निमित्तता स्वीकार भी कर लें तथापि 'सत्' शब्द के उपादान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'सत्सम्प्रयोगे' पद में जो सप्तमी विभक्ति है वह 'निमित्त' अर्थ का बोधक है। अतः निमित्तार्थक सप्तमी विभक्ति से ही अनिमित्तभूत अतीत और अनागत सम्प्रयोग व्यावृत्त हो जायेंगे। इसके लिये 'सत्' शब्द के उपादान की कोई आवश्यकता नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

यह सत्य है कि 'सत्' शब्द के उपादान से कथित प्रयोजन की सिद्धि 'सत्सम्प्रयोगे' पद में विद्यमान निमित्तार्थक सप्तमी विभक्ति से हो जाती है। किन्तु पूर्वपक्षवादियों को जो यह कल्पना है कि अनागत सम्प्रयोग से अनागतविषयक प्रत्यक्ष योगियों को होता है, अतः भविष्यत्कालिक होने के कारण धर्म सर्वथा प्रत्यक्षावेद्य नहीं हो सकता—इस कल्पना को हटाने के लिये ही यह विशेषरूप से दिखाना आवश्यक है कि 'वर्त्तमान सम्प्रयोग' में ही प्रत्यक्षजनकता है। यह विशेष कार्य ही सूत्र में 'सत्' शब्द के उपादान से किया गया है ॥ ३७ ॥

सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥ ३८ ॥
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात् ।
एवं सत्यनुवादत्वं लक्षणस्यापि सम्भवेत् ॥ ३९ ॥

सम्प्रयोगशब्दघटक 'सम्' शब्द की व्याख्या

प्रकृत सूत्रघटक 'सम्' शब्द 'सम्यक्' अर्थ का बोधक है। इससे 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ होता है 'सम्यक् प्रयोग'। अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ 'सम्यक् प्रयोग' ही प्रत्यक्षलक्षणघटक है 'दुष्प्रयोग' नहीं। इस दुष्प्रयोग के वारण के लिये ही 'सम्' शब्द का उपादान है।

इन्द्रिय से प्रत्यक्ष के उत्पादन में सहायक 'व्यापार' ही 'प्रयोग' अर्थानुयोगिक इन्द्रियप्रतियोगिक 'सम्बन्ध' स्वरूप है। यह प्रयोग (१) सम्यक्प्रयोग और (२) दुष्टप्रयोग भेद से दो प्रकार का है। घट और चक्षु का जो 'प्रयोग' (व्यापार या सम्बन्ध) घटप्रत्यक्ष का उत्पादक है वह 'सम्यक्प्रयोग' अर्थात् 'सम्प्रयोग' एवं शुक्तिका में जो रजतप्रत्यक्ष का प्रयोजक शुक्तिका और चक्षु का संनिकर्ष रूप व्यापार या प्रयोग है, वह भ्रान्तिज्ञान का उत्पादक होने के कारण 'दुष्प्रयोग' है। अगर प्रत्यक्षलक्षण में सत्सम्प्रयोगजत्व न देकर सामान्यतः प्रयोगजत्व दें तो 'शुक्ताविदं रजतम्' इस भ्रान्ति में अतिव्याप्ति होगी। अतः 'सम्' शब्द का उपादान आवश्यक है। तस्मात् दुष्प्रयोग के निवारण के लिये 'सम्प्रयोग' शब्दघटक 'सम्' शब्द है।

प्रकृत सूत्र की इसी प्रकार की व्याख्या से प्रत्यक्षलक्षणानुवाद पुरस्सर प्रत्यक्ष में धर्म की अनिमित्तता का विधान हो सकता है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष का लक्षण प्रकृत सूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण में धर्मज्ञापन की अक्षमता का ज्ञापन ही मुख्य प्रतिपाद्य है। इस मुख्य प्रतिपादन के लिये ही लोकसिद्ध प्रत्यक्षलक्षण का अनुवाद सूत्र के 'सत्प्रत्यक्षम्' इस अंश से किया गया है। अनुवाद भी निष्प्रयोजन नहीं होता। उसका भी उपयोग विधेयप्रतिपादन की परिपुष्टि के लिये होता है। यह उपयोग तभी हो सकता है जब अनुवादांश से अनुवाद्य का प्रकृत रूप परिस्फुट हो सके। यह कार्य प्रकृत सूत्र की वार्त्तिककारीय व्याख्या से ही हो सकता है, क्योंकि इस पक्ष में सौत्र 'सत्' (वर्त्तमानार्थक) सम्प्रयोग शब्द के साथ कर्मधारय निष्पन्न है। एवं 'सम्' शब्द दुष्प्रयोगभिन्न सम्यक् प्रयोग को समझाने के लिये है जिससे प्रत्यक्षाभासों एवं अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

आचार्य भवदासीय 'अन्यथ व्याख्या' में यह बात नहीं है, क्योंकि उन्होंने सौत्र सम्प्रयोग' शब्द को 'सता सम्प्रयोगः' इस प्रकार तृतीयानिष्पन्न माना है एवं सम्प्रयोग शब्द को दुष्प्रयोग-सम्प्रयोग-साधारण सकल सम्बन्ध का बोधक माना है जिससे कि प्रत्यक्षाभासों और अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। अतिव्याप्त लक्षण से प्रत्यक्ष में धर्म की अनिमित्तता स्वरूप प्रकृत विधेय का परिपोष नहीं हो सकता। अतः वार्त्तिककारीय व्याख्या ही श्रेष्ठ है ॥ ३८–३९ ॥

ततश्चाप्राप्यकारित्वाद् यद् बौद्धैः श्रोत्रचक्षुषोः ।
लक्षणाव्याप्तिसिद्ध्यर्थं संयोगो नेति कीर्त्यते ॥ ४० ॥

यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्यक्षलक्षणघटक 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ वार्त्तिककार के मत में 'व्यापार' सामान्य है, इन्द्रियों और विषयों का 'प्राप्ति' स्वरूप सम्बन्ध नहीं।

बौद्धों ने उक्त सम्प्रयोग शब्द को प्राप्त्यर्थक मानकर इस लक्षण के ऊपर आक्षेप किया है कि श्रोत्र और चक्षु ये दोनों इन्द्रियां 'अप्राप्यकारी' हैं, अर्थात् अपने विषयों के साथ 'प्राप्ति' स्वरूप सम्बन्ध के बिना ही अपने विषयों के प्रत्यक्ष का उत्पादन करती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के इस अप्राप्यकारित्व स्वभाव के अनुसार प्राप्त्यर्थ सम्प्रयोग शब्द के उपादान के पक्ष में चाक्षुषप्रत्यक्ष और श्रावणप्रत्यक्ष में यह प्रत्यक्ष अव्याप्त होगा, क्योंकि इन प्रत्यक्षों में इन्द्रियों का प्राप्तिरूप इन्द्रिय सम्प्रयोगजन्यत्व नहीं है।

इस आक्षेप पर वार्त्तिककार का समाधान है कि प्रकृत 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' स्वरूप सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सामान्यतः इन्द्रिय का व्यापार मात्र है। जो सम्प्रदाय चक्षुरादि इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत से भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के उत्पादन में किसी व्यापार की अपेक्षा अवश्य होती है। अन्यथा इन्द्रियों और विषयों के रहते हुये सतत प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। किन्तु उनके मत से भी घट और चक्षु के सत्त्वकाल में सदा ही घट का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के उत्पादन में उनके मत से भी किसी व्यापार की

कल्पना आवश्यक है। इन्द्रियव्यापार स्वरूप इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्व चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रावण प्रत्यक्ष में उनके मत से भी निर्बाध है। तस्मात् उक्त अव्याप्ति दोष प्रत्यक्ष लक्षण में नहीं है ॥ ४० ॥

ततश्चाप्राप्यकारित्वाद् यद् बौद्धैः श्रोत्रचक्षुषोः।
लक्षणाव्याप्तिसिद्ध्यर्थं संयोगो नेति कीर्त्यते ॥ ४० ॥

बौद्धों का कहना है कि श्रोत्र और चक्षु ये दोनों 'अप्राप्यकारी' हैं। अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रावण प्रत्यक्ष इन दोनों में लक्षण की 'व्याप्ति' के लिये अर्थात् समन्वय के लिये जैमिनि ने जो संयोगार्थक सम्प्रयोग शब्द का उपादान किया है सो अयुक्त है। अर्थात् प्राप्त्यर्थक सम्प्रयोग शब्द के उपादान से उन दोनों प्रत्यक्षों में अतिव्याप्ति होगी ॥ ४० ॥

प्राप्यग्रहणपक्षे हि सान्तराग्रहणं किल।
अधिष्ठानाधिकश्चार्थो न गृह्येत त्वगादिवत् ॥ ४१ ॥

श्रोत्र और चक्षु इन दोनों इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने में बौद्धों की यह उक्ति है—

'प्राप्यग्रहणपक्ष' में अर्थात् चक्षु और श्रोत्र ये दोनों इन्द्रिय अपने विषयों को प्राप्त कर ही अर्थात् अपने विषयों के साथ सम्बद्ध होकर ही प्रत्यक्ष के उत्पादक हैं—इस पक्ष में 'सान्तराग्रहण' अर्थात् यह वृक्ष बहुत दूर है, या यह शब्द बहुत दूर से आ रहा है इस प्रकार के प्रत्यक्षस्वरूप 'ग्रहण' नहीं हो सकेंगे। एवं चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठान स्वरूप गोलकादि से परिणाम में बहुत बड़े पर्वतादि का भी प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्राप्यकारी त्वगिन्द्रिय से किसी वस्तु के उतने ही अंशों के साथ प्राप्ति स्वरूप सम्बन्ध रहता है। तस्मात् श्रोत्र और चक्षु अप्राप्यकारी हैं।

चक्षु और श्रोत्र इन दोनों इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने वाले बौद्धों का अभिप्राय है कि दूरस्थ वृक्ष और निकटस्थ वृक्ष के प्रत्यक्षों में तारतम्य अवश्य है। यदि ऐसा स्वीकार करें कि चक्षु अपने विषयों को प्राप्त कर (सम्बद्ध होकर) ही प्रत्यक्ष का उत्पादक है तो फिर दूरस्थ वृक्षों और निकटस्थ वृक्षों की प्राप्ति में (सम्बन्ध में) कोई अन्तर नहीं है। एवं दूरस्थ शब्द और निकटस्थ शब्द इन दोनों के प्रत्यक्षों में भी अन्तर अवश्य है। यदि दूरस्थ शब्द और निकटस्थ शब्द दोनों श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर ही प्रत्यक्ष के विषय होते हैं तो फिर दोनों के सम्बन्धों में कोई अन्तर न रहने के कारण दोनों के प्रत्यक्षों में जो अन्तर वह अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि विषयों का दूरत्व सम्बन्ध के कारण अन्यथासिद्ध हो जायगा। विषय दूर रहे या निकट—इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध हो जाने पर वास्तव में दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। तस्मात् चक्षु और श्रोत्र दोनों अप्राप्यकारी हैं। अतः प्राप्त्यर्थक सम्प्रयोग से युक्त जैमिनि के प्रत्यक्ष का लक्षण चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रावण प्रत्यक्ष इन दोनों प्रत्यक्षों में अव्याप्त होने के कारण ठीक नहीं है ॥ ४१ ॥

व्यापारमात्रवाचित्वाद्विरुद्धं तदत्र नः।
यदि वार्थार्जवस्थानं सम्प्रयोगोऽत्र वर्ण्यते ॥ ४२ ॥

व्यापारमात्र······तदत्र नः

चक्षु और श्रोत्र इन दोनों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व इन दोनों के ऊपर अभी ध्यान न देकर प्रत्यक्षलक्षणघटक सम्प्रयोग शब्द को प्राप्तिस्वरूप सम्बन्ध का बोधक न मानकर केवल व्यापारसामान्यवाची मान लेने से ही उक्त दोनों ही प्रत्यक्षों में अव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि जो भी सम्प्रदाय जिस किसी इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत से भी अप्राप्यकारी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष के उत्पादन में किसी व्यापार की अपेक्षा अवश्य माननी होगी। अन्यथा इन्द्रियों और विषयों की सत्त्वदशा में सतत प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। किन्तु वे भी ऐसा स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार उन लोगों के मत से भी इन्द्रियव्यापार रूप इन्द्रिय सम्प्रयोगजन्यता चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रावण प्रत्यक्ष इन दोनों में निर्बाध है। अतः 'सम्प्रयोग' घटित प्रत्यक्ष का लक्षण अव्याप्त होने के कारण दुष्ट नहीं है।

यदि वा······वर्ण्यते (इसी प्रसङ्ग में दूसरा समाधान)

चक्षुरादि इन्द्रियों के सामने रहने वाले घटादि का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः विषयों का इन्द्रियों के सामने रहना भी प्रत्यक्ष का प्रयोजक है। विषयों का इन्द्रियों के सामने रहना ही विषयों की 'आर्जव स्थिति' है। (ऋजु का अर्थ है 'सीधा' ऋजोः भावो आर्जवम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आर्जवस्थिति' शब्द से विषयों का इन्द्रियों के सीधे सामने रहना ही इष्ट है) इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने वाले भी इन्द्रियों की कुछ विशेष स्थिति को अवश्य ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक मानेंगे जिससे कि सम्मुखस्थ घट का ही प्रत्यक्ष हो सके, पृष्ठस्थ घट का नहीं। अतः 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ यदि 'अर्थों की आर्जवस्थिति' कर देते हैं तो फिर चक्षु और श्रोत्र इन दोनों को प्राप्यकारी मानें या अप्राप्यकारी दोनों ही मतों से उपपत्ति ठीक बैठती है ॥ ४२ ॥

योग्यतालक्षणो वाच्यः संयोगः कार्यलक्षितः।
सांख्यादीन् वा विनिर्जित्य प्राप्तिपक्षोऽत्र दूष्यताम् ॥४३॥

योग्यतालक्षणः······कार्यलक्षितः

इसी प्रसङ्ग में तीसरा उत्तर है कि किसी इन्द्रिय में किसी वस्तुविशेष का ग्रहण करने की ही सामर्थ्य होती है एवं उस विशेष वस्तु को भी किसी विशेष इन्द्रिय ही किसी अवस्था विशेष में ही ग्रहण करती हैं, सभी अवस्थाओं में नहीं। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि 'किस इन्द्रिय में किस वस्तु के ग्रहण की क्षमता किस समय रहती है' यह इन्द्रियों के कार्य से ही जाना जा सकता है। अर्थात् जिस इन्द्रिय से जिस समय जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होगा—उस प्रत्यक्ष से उस इन्द्रिय में उस समय उस विषय के प्रत्यक्षजनक शक्ति की कल्पना करनी होगी। प्रत्यक्षस्वरूप कार्य से लक्षित यही 'शक्ति' या प्रत्यक्ष की 'योग्यता' रूप संयोग (सम्बन्ध) इन्द्रियों का विषयों के साथ है। इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हों अथवा अप्राप्यकारी—इससे इस 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं आती है।

सांख्यादीन्……अत्र बुध्यताम्

आप लोग (बौद्धगण) इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानकर तब तक प्रत्यक्ष सूत्र में अव्याप्ति दोष का उद्भावन नहीं कर सकते जब तक कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने वाले साख्यादि दर्शनों के अनुयायियों को परास्त नहीं कर लेते ।

इतने पर्यन्त के समाधान ग्रन्थ से इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानकर भी सम्प्रयोगशब्दघटित प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण में आये हुए अव्याप्ति दोष का परिहार सिद्धान्ती ने किया है । अब वे अप्राप्यकारी पक्ष के समर्थक बौद्धों से कहते हैं कि जब तक आप इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने वाले सांख्यादि शास्त्रों के अनुयायियों को पराजित कर 'प्राप्तिपक्ष' अर्थात् इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व मानने वाले सिद्धान्त के अनुयायियों को (सांख्यादि दर्शनों के अनुयायियों को) पराजित नहीं कर लेते तब तक इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्याप्ति दोष का उद्भावन आपके लिए उचित नहीं है ॥ ४३ ॥

तयोश्च प्राप्यकारित्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत् ।
केचित् तयोः शरीराच्च बहिर्वृत्तिं प्रचक्षते ॥ ४४ ॥

तयोश्च……त्वगादिवत्

'इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं' यह सिद्धान्त अनुमान से भी सिद्ध है । अनुमानप्रयोग का आशय है कि जिस प्रकार त्वगिन्द्रिय विषयों के साथ संयुक्त होकर ही उनके प्रत्यक्ष का उत्पादन करती है उसी प्रकार श्रोत्र और चक्षु भी इन्द्रिय होने के कारण विषयों के साथ सम्बद्ध होकर ही अपने-अपने विषय के प्रत्यक्ष का उत्पादन करती हैं । अतः श्रोत्र और चक्षु दोनों ही प्राप्यकारी हैं । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—

श्रोत्रचक्षुषी स्वस्वविषयम्प्राप्यैव तद्विषयकप्रत्यक्षमुत्पादयतः इन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ।

केचित्तयोः……प्रचक्षते

किन्तु यह अनुमान 'प्रत्यक्षविरुद्ध' मालुम पड़ता है, क्योंकि चक्षुर्गोलक और कर्णशष्कुली ये दोनों शरीर में ही देखे जाते हैं, घट और शब्दादि देशों में नहीं । अतः यह कहना इस प्रत्यक्ष के विरुद्ध है कि प्रत्यक्ष के समय चक्षु प्रत्यक्षविषयीभूत घटादि में है अथवा श्रोत्र शब्दप्रत्यक्ष के समय उस शब्द में है । अतः चक्षु और श्रोत्र में प्राप्यकारित्व का उक्त अनुमान 'प्रत्यक्षविरुद्ध' होने के कारण 'वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्' इत्यादि अनुमानों की तरह दुष्ट है ।

इस 'विरोध' दोष का कुछ लोग (सांख्याचार्यगण) चक्षु और श्रोत्र इन दोनों इन्द्रियों की शरीर से बाहर घटशब्दादि के देशों में 'वृत्ति' को स्वीकार कर समाधान करते हैं ।

उन लोगों का तात्पर्य है कि चक्षु और श्रोत्र ये दोनों इन्द्रिय होने के कारण आहङ्कारिक हैं, भौतिक नहीं । इनसे प्रत्यक्ष के उत्पादन का यह प्रकार है कि इन्द्रियाँ सत्त्वगुणप्रधानक होने के कारण लघु हैं । अतः प्रत्यक्ष से पूर्व शरीर को न छोड़ते

हुए ही प्रदीप की तरह शरीर से निकल कर घटादि विषयों के साथ सम्बद्ध होकर घटादि आकारों में परिणत हो जाती हैं। घटादि आकारों में इन्द्रियों का यह परिणाम ही उनकी 'वृत्ति' है। इन्द्रियों की यह विषयाकार परिणाम रूपा 'वृत्ति' अतीन्द्रिय है। अतः घटादि में इन्द्रियों की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि न होने के कारण 'विरोध' का प्रयोजक नहीं है, इसलिए प्रकृत अनुमान में 'विरोध' दोष नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि शरीर के अवयवीभूत 'गोलक' या 'कर्णशष्कुली' चक्षु या श्रोत्र नहीं हैं। ये दोनों उन दोनों इन्द्रियों के क्रमशः अधिष्ठानमात्र हैं। अतः जिस प्रकार वर्त्तिका में प्रदीप के रहते हुए ही वह घटादि अन्य विषयों के साथ सम्बद्ध हो सकता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्वर्त्ति गोलकादि में चक्षुरादि के रहते हुए ही वह घटादि अन्य विषयों के साथ सम्बद्ध हो सकता है ॥ ४४ ॥

चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते ।
सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारकः ॥ ४५ ॥

इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप हो सकता है कि गोलक एवं कर्णशष्कुली ये ही क्रमशः चक्षु और श्रोत्र हैं। इनसे भिन्न उन अधिष्ठानों के अधिष्ठेय चक्षु एवं श्रोत्र नाम की कोई इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि चक्षु या श्रोत्र में कोई विकार उत्पन्न होने पर गोलक में एवं कर्णशष्कुली में किये गये चिकित्सा के प्रयोगों से ही लाभ होता है। शरीर के जिस अवयव में अनुपपत्ति रहती है, उसी अवयव में चिकिसा के प्रयोग से वह अनुपपत्ति दूर होती है। पैर के घाव को हाथ में की गयी चिकित्सा से लाभ नहीं होता है। अतः गोलक ही चक्षु है एवं कर्णशष्कुली ही श्रोत्र है। इन अधिष्ठानों के अतिरिक्त इनके अधिष्ठेय स्वरूप कोई अतिरिक्त वस्तु इन्द्रिय नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है—

गोलकादि अधिष्ठानों में जो चिकित्सा स्वरूप संस्कार किया जाता है वह वस्तुतः उनमें रहने वाले चक्षुरादि इन्द्रियों का ही संस्कार है। अतः गोलकादि में किये गये चिकित्सा स्वरूप संस्कार से चक्षुरादि आधेयों को ही उपकार पहुँचता है ॥ ४५ ॥

तद्देशश्चापि संस्कारः सर्वव्याप्त्यर्थ उच्यते ।
चक्षुराद्युपकारश्च पादादावपि दृश्यते ॥ ४६ ॥
तस्मान्नैकान्ततः शक्यं संस्कारास्तत्र वर्तनम् ।

अधिष्ठानगत संस्कार से अधिष्ठेय में उपकार कैसे होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि पूर्वकथित युक्ति से चक्षुरादि इन्द्रियाँ अपने अधिष्ठानों को बिना छोड़े हुए ही घटादि विषयों के साथ सम्बद्ध होती हैं। जैसे कि प्रदीप वर्त्तिका स्वरूप अपने अधिष्ठान को छोड़े विना ही घटादि अर्थों के साथ सम्बद्ध होता है। अतः गोलकादि अधिष्ठानों में किये गये संस्कारों से घटादि विषयों के साथ सम्बद्ध भी चक्षुरादि का यदि उपकार होता है तथापि घट में किये गये संस्कार से पट में उपकार की तरह वैयधिकरण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। पाँव में किये गये तैलमर्दनादि संस्कारों

से चक्षु में उपकार देखा भी जाता है। तस्मात् 'चक्षुरादि में उपकार के लिए गोलकादि में चिकित्सात्मक संस्कार होता है' केवल इसलिए ऐसा नहीं कह सकते कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ नियमतः गोलकादि अधिष्ठानों में ही रहें, घटादि अर्थों के साथ सम्बद्ध ही न हो सकें ॥ ४६–४७ क–ख ॥

बहिर्वृत्तिस्तयोश्चेष्टा पृथ्वग्रा सन्ततापि च ॥ ४७ ॥
अधिष्ठानाधिकं तेन गृह्यते यत्र यादृशम् ।
पृथुत्वं वृत्तिभागे स्याद् दूरेऽपि ग्रहणं तथा ॥ ४८ ॥

बहिर्वृत्तिः···अपि च···यत्र यादृशम्···वृत्तिभागे स्यात्

श्लो० ४१ में 'प्राप्यग्रहण' पक्ष में यह आक्षेप प्रतिपादित है कि इस पक्ष में 'सान्तरग्रहण' और 'दूरग्रहण' दोनों अनुपपन्न हो जाँयगे। इन दोनों आक्षेपों का यह समाधान है—

जिस प्रकार दीप की प्रभा अपने से सम्बद्ध द्रव्यों को उनकी दैर्घ्यविस्तृति के अनुसार उन्हें प्रकाशित करती है, अपनी दैर्घ्यविस्तृति के अनुसार नहीं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपनी वृत्ति के द्वारा सम्बद्ध द्रव्यों को उनकी लम्बाई और चौड़ाई के अनुसार ही प्रकाशित कर सकती हैं अपनी दैर्घ्यविस्तृति के अनुसार नहीं। अतः यह आपत्ति नहीं दी जा सकती कि चक्षुरादि इन्द्रियों को यदि प्राप्यकारी मानें तो उनसे अधिक परिमाण वाले द्रव्यों का ग्रहण उनसे नहीं हो सकेगा[1]।

दूरेऽपि ग्रहणं तथा

इन्हीं युक्तियों से इन्द्रियों की पृथुता से अधिक पृथुता वाले पदार्थों का भी ग्रहण होता है। घटादि अर्थों के जिस अंश में वृत्ति के द्वारा इन्द्रियों का संयोग रहता है उससे अधिक अंशों का भी ग्रहण होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रियाँ यदि गमनशील हैं तो फिर अत्यन्त दूर की वस्तुओं का भी ग्रहण क्यों नहीं करतीं? इस प्रश्न का यह समाधान है कि इन्द्रियों की गतियाँ अतीन्द्रिय हैं। अतः उनकी सीमाओं का निर्णय उनके कार्यों से ही हो सकता

---

१. इस प्रसङ्ग में कोई आपत्ति करते हैं कि इन्द्रियाँ यदि बहिर्गमनशील हैं तो फिर अत्यन्त दूर तक भी जा सकती हैं। इससे अतिदूर ग्रामान्तर में विद्यमान वस्तुओं का भी उनसे ग्रहण होना चाहिए। किन्तु अत्यन्त दूर की वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता है। तस्मात् इन्द्रियाँ बहिर्गमनशील नहीं हैं, अतः प्राप्यकारी भी नहीं हैं।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्री पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है कि इन्द्रियाँ कितनी दूर जा सकती हैं—इसका ज्ञान केवल इससे ही हो सकता है कि कितनी दूरी के वस्तुओं का ग्रहण इन्द्रियों से होता है। वस्तुओं के स्वभाव के प्रसङ्ग में यह अभियोग नहीं किया जा सकता कि इससे अमुक कार्य ही होता है, दूसरा क्यों नहीं। अतः जिस इन्द्रिय से जितनी दूर की वस्तुओं का ग्रहण स्वरूप कार्य उत्पन्न होता है, उस ग्रहण स्वरूप कार्य से ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि अमुक इन्द्रिय इतनी ही दूर तक जा सकती है। अतः अतिदूरस्थ वस्तुओं के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

है। इसलिए जितनी दूर की वस्तुओं का ग्रहण अन्वयव्यतिरेक मूलक अनुभव से इन्द्रियों में सिद्ध होगा उतनी ही दूर की वस्तुओं का ग्रहण इन्द्रियों से स्वीकार करना होगा। इस प्रसङ्ग में भी कथित दीपप्रभा को ही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि यह भी कुछ ही सीमा तक वस्तुओं के ग्रहण में सहायक हो सकती है। अतः अत्यन्त दूर की वस्तुओं का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता है। वस्तुतः अत्यन्त दूर की वस्तुओं के ग्रहण की यह आपत्ति इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व वाले पक्ष में ही है, क्योंकि विषयों के साथ इन्द्रियों के संयोग का अभाव समीपस्थ एवं दूरस्थ दोनों ही प्रकार की वस्तुओं में समान रूप से है।। ४७–४८ क–ख ।।

दीपप्रभा यथा तस्मिन् विनश्यति विनश्यति।
तथा बहिर्गताप्येषा मूलच्छेदाद् विनश्यति ।। ४९ ।।

इस प्रसङ्ग में प्रश्न होता है कि चक्षुरादि इन्द्रियों की वृत्तियां यदि विषयों में रहकर ही उन्हें प्रकाशित करती हैं तो गोलकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर भी वे उन्हें क्यों नहीं प्रकाशित करतीं ? इस प्रश्न का समाधान है कि :—

वर्त्तिकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार दीप की ज्योति भी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार बाहर घटादि विषयों में रहने पर भी इन्द्रियों की वृत्तियां गोलकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर विनष्ट हो जातीं हैं।

कहने का तात्पर्य है कि दीप की प्रभा घटादि वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होकर ही उन्हें प्रकाशित करती हैं। इसको सभी स्वीकार करते हैं। एवं ये दोनों भी सर्वजनसिद्ध है कि तैलवर्त्तिकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर प्रभा का भी नाश हो जाता है जिससे प्रभा से होने वाले घटादि विषयों के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इसी दृष्टान्त के बल से इन्द्रियां अपनी रश्मियों के द्वारा विषयों के साथ सम्बद्ध होकर ही विषयों को प्रकाशित करतीं हैं—इस पक्ष में भी इन्द्रियों के गोलकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर रश्मियों का विनाश मान लेंगे। इस प्रकार ऐसे स्थलों में प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति भी ठीक बैठती है ।। ४९ ।।

अधिष्ठानपिधाने तु सत्यप्युच्छिन्नयत्नया।
तयार्थोऽनुपनीतत्वादात्मना नानुभूयते ।। ५० ।।

चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियां पुरुषप्रयत्न के सम्बन्ध से रहित हो जाती हैं। अतः पुरुषप्रयत्न में शून्य रश्मियां आत्मा को अर्थ का समर्पण नहीं कर पातीं। अतः चक्षु के अधिष्ठान गोलक के ढँके रहने पर या विनष्ट हो जाने पर चक्षु के रहते हुये भी विषय का भान नहीं हो पाता है ।। ५० ।।

विच्छिन्न इति बुद्धिः स्यादधिष्ठानमपेक्ष्य च।
शब्दे त्वाधिक्यविच्छेदो भ्रान्त्यैवोक्तावसम्भवात् ।। ५१ ।।

विच्छिन्न इति'''असम्भवात्

श्लोक ४१ में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व पक्ष में जो 'अन्तराग्रहण' की आपत्ति दी गयी है उसका यह समाधान है :—

साधारणजन जिस प्रकार आत्मा के सर्वगत होने पर भी समझते हैं कि 'आत्मा शरी में ही है' एवं शरीर से आत्मा का विच्छेद होने पर आत्मा में निच्छेदबुद्धि होती उसी प्रकार साधारणजन गोलकादि अधिष्ठानों को ही चक्षुरादि इन्द्रिय स्वरूप मानते हैं एवं गोलकादि से विच्छेद होने पर—अर्थात् दूर होने पर इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व पक्ष में 'अन्तराग्रहण' की आपत्ति नहीं है। दूरस्थ शब्द और समीपस्थ शब्द के प्रत्यक्षों में 'अन्तर' का भी उपपादन सांख्याचार्यगण इसी प्रकार करते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय के अधिष्ठान स्वरूप कर्णशष्कुली और शब्दोत्पत्ति के देश की दूरी और सामीप्य से ही दूरस्थ शब्द के ग्रहण में और समीपस्थ शब्द के ग्रहण में अन्तर होता है।

शब्दे त्वाधिक्य···भ्रान्त्यैवोक्तावसम्भवात्

किन्तु मीमांसक के मत से शब्दों के उक्त ग्रहणों में अन्तर के उपपादन के लिये उक्त रीति के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके मत से श्रोत्रप्रदेश में रहनेवाले शब्दों का ही ग्रहण होता है। अतः जितने भी शब्दों का ग्रहण होता है, वे सभी श्रोत्र स्वरूप समान देश में ही रहते हैं। अतः उनमें दूरत्व एवं समीपत्व का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः शब्दों में दूरत्व या सामीप्य की प्रतीति भ्रान्ति स्वरूप ही है। इसी प्रकार शब्दों में बड़े छोटे का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व पक्ष में शब्दों में भी 'अन्तराग्रहण' की आपत्ति नहीं है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रकृत में सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन किया गया है जिस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियाँ अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं, एवं वे पृथक् 'तत्त्व' ही हैं। किन्तु मीमांसक इन्हें नहीं मानते। वे श्रोत्र को छोड़कर सभी बाह्येन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। एवं श्रोत्र को दिङ्मय स्वीकार करते हैं। आगे शब्दाधिकरण में (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० ६ से २३ तक) इसका उपपादन करेंगे ॥ ५१ ॥

> **पुरुषेन्द्रियशब्दौ च व्यवधानेन कल्पितौ।**
> **पुरुषो लौकिको वा स्याद् यो वास्मिन् साधयिष्यते ॥ ५२ ॥**
> **विक्रिया ज्ञानरूपास्य न नित्यत्वे विरोत्स्यते।**
> **बुद्धिजन्मेति चाप्याह जायमानप्रमाणताम् ॥ ५३ ॥**

पुरुषेन्द्रियशब्दौ च····कल्पितौ

इस सूत्र का 'सम्प्रयोगे पुरुषस्य' यह वाक्य व्यर्थ है, क्योंकि सभी ज्ञान सम्प्रयोग के रहने पर ही उत्पन्न होते हैं। चूंकि आत्मा नित्य है और विभु है, अतः सभी विषयों के साथ उसका 'सम्प्रयोग' बना रहता है। अतः उक्त दोनों पदों के न देने से अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है, क्योंकि उन पदों के न देने से भी लक्षण अव्यभिचरित ही रहेगा।

इसी प्रकार 'इन्द्रियाणाम्बुद्धिजन्म' यह वाक्य भी असङ्गत है, क्योंकि इन्द्रियां अचेतन हैं, अतः उनमें बुद्धि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन सभी वैयर्थ्यों का परिहार निम्नक्रम से समझना चाहिये :—

प्रकृत सूत्र के 'पुरुषस्य' और 'इन्द्रियाणाम्' इन दोनों पदों का व्यवहित पाठ की कल्पना के अनुसार वाक्यार्थ अभिप्रेत है।

कहने का तात्पर्य है कि 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म' इस सौत्र-वाक्य के 'पुरुषस्य' पद का अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ति 'सत्सम्प्रयोगे' पद के साथ ही अन्वय आपाततः भासित होता है एवं 'इन्द्रियाणाम्' इस पद का उसके अव्य-वहितोत्तरवर्त्ति 'बुद्धिजन्म' पद के साथ ही अन्वय प्रतिभात होता है। तदनुसार ही उक्त 'पुरुष' पद के और 'इन्द्रिय' पद के वैयर्थ्य की उक्त आपत्ति दी गयी है। किन्तु 'इन्द्रियाणाम्' इस पद का 'सत्सम्प्रयोगे' पद के साथ अन्वय है। एवं 'पुरुषस्य' इस पद का 'बुद्धिजन्म' इस पद के साथ अन्वय है। भाष्यकार ने 'सतीन्द्रियार्थसम्प्रयोगे पुरुषस्य या बुद्धिः' (शाबरभाष्य पृ० २१ पं० ८) इस वाक्य के द्वारा उक्त रीति से व्यवहित अन्वय की कल्पना की ओर संकेत किया है। इस प्रकार के व्यवहितान्वय के अनुसार सूत्र में पठित 'सत्' प्रभृति पदों की व्यावृत्ति दिखलाई जा चुकी है।

पुरुषो लौकिको' 'विरोत्स्यते

इस सूत्र में पठित 'पुरुष' शब्द के प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठता है कि इस 'पुरुष' शब्द से लोक में प्रसिद्ध 'काय' अर्थात् शरीर रूप अर्थ इष्ट है? अथवा आत्मा अभिप्रेत है? इनमें प्रथम पक्ष तो शरीर के अचेतन होने के कारण ही इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि अचेतन वस्तु में बुद्धि की उत्पत्ति संभव ही नहीं है। दूसरे पक्ष में यह आपत्ति आती है कि आत्मा में अगर बुद्धि का जन्म होता है तो इस बुद्धिजन्म स्वरूप विकृति से आत्मा में अनित्यता की आपत्ति आती है। जैसे कि दूध दही रूप से विकृत होने के कारण अनित्य होता है। यदि बुद्धि के जन्म से आत्मा की कोई दूसरी अवस्था नहीं होती है तो फिर बुद्धि के जन्म से पहिले की तरह आत्मा में अप्रमातृत्व की आपत्ति होगी जिससे आत्मा 'असत्तुल्य' हो जायगी क्योंकि प्रमातृत्व से शून्य आत्मा तो जड़ तुल्य ही होगी, जिससे आकाशकुसुमादि असद् वस्तुओं की तरह किसी प्रयोजन का सम्पादन नहीं होगा। इस विषय को बौद्धों ने निम्नलिखित श्लोकों से व्यक्त किया है :—

> **बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृतिर्यद्यनित्यता।**
> **अथाऽविकृतिरात्माऽयं प्रमातेति न युज्यते॥**
> **वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।**
> **चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः॥**

अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति से यदि पुरुष (आत्मा) विकृत होता है तो फिर उसको अनित्य मानना पड़ेगा। यदि बुद्धि के जन्म से आत्मा में कोई विकृति नहीं आती है तो फिर उसको 'प्रमाता' मानना उचित नहीं।

जैसे कि वर्षा और धूप से आकाश में कोई अन्तर नहीं होता है, किन्तु चमड़े में उन दोनों से अन्तर आता है। आत्मा को यदि चमड़े की तरह मानें तो वह अनित्य होगा। यदि आत्मा को आकाश की तरह मानें तो वह 'असत्' के समान (निष्प्र-योजन) होगा।

बौद्धों के इस आक्षेप का यह समाधान है कि सूत्र में प्रयुक्त 'पुरुष' शब्द लोक में व्यवहृत पुरुष शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अथवा उक्त 'पुरुष' शब्द से उस 'आत्मा' को भी लिया जा सकता है जिसका साधन आगे किया जायगा।

विक्रिया.......विरोत्स्यते

आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति से जो विकृति के द्वारा अनित्यत्व की आपत्ति दी गयी है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति स्वरूप विकृति से उसके नित्यत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती है। क्योंकि किसी प्रकार की विकृति के आ जाने से उसका नाश ही नहीं हो जाता। सुवर्ण में कुण्डल स्वरूप विकृति के आ जाने से उसका विनाश नहीं हो जाता।

बुद्धिजन्मेति....प्रमाणताम्

प्रकृत सूत्र के 'बुद्धि' और 'जन्म' इन दोनों शब्दों के प्रसङ्ग में विचार उपस्थित है कि 'बुद्धिजन्म' शब्द यदि 'बुद्धेः जन्म' इस प्रकार के षष्ठीसमास से निष्पन्न है तो फिर 'बुद्धि' और 'जन्म' ये दोनों विभिन्न पदार्थ होंगे। अतः इस पक्ष में स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि 'बुद्धि' से भिन्न उसका 'जन्म' कौन सी वस्तु है? यदि वैशेषिकों की तरह उसको कारणों में कार्य का समवाय रूप मानेंगे तो फिर नित्य होने के कारण (वैशेषिक गण समवाय को नित्य मानते हैं) उस सत्सम्प्रयोगजन्यत्व का अन्वय नहीं होगा। इससे इन्द्रिय जन्य न होने के कारण वह प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। सूत्र में तो 'बुद्धिजन्म' को ही प्रत्यक्ष कहा गया है। अतः 'बुद्धिजन्म' शब्द की षष्ठीतत्पुरुषमूलक व्याख्या ठीक नहीं है।

यदि 'बुद्धिजन्म' शब्द में 'बुद्धिरेव जन्म' इसप्रकार का कर्मधारय समास मानें तो 'बुद्धि' और 'जन्म' ये दोनों अभिन्न होंगे तो फिर 'बुद्धि' शब्द के बाद 'जन्म' शब्द का उच्चारण पुनरुक्ति के कारण व्यर्थ होगा। इन दोनों विप्रतिपत्तियों का यह समाधान है :—

प्रकृत सूत्र का 'जन्म' शब्द कर्तृप्रत्यान्त है, वह अभेद सम्बन्ध से ही बुद्धिशब्द के साथ अन्वित है। तदनुसार बुद्धिजन्म शब्द का अर्थ है 'जायमाना बुद्धिः' अर्थात् जननक्रिया की कर्तृभूता बुद्धि। जननक्रिया का किस प्रकार का कर्तृत्व बुद्धि में है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि उपादान कारण की एक विशेष प्रकार की अवस्था ही उक्त कर्तृत्व है। उपादान कारण में जन्म को उसकी विशेष प्रकार की अवस्था ही सभी स्वीकार करते हैं। तदनुसार अतीता या भाविनी बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु 'जायमाना' अर्थात् वर्त्तमाना बुद्धि ही प्रमाण है। 'बुद्धिजन्म' शब्द से यही बात कही गयी है। अतः बुद्धि का जन्म प्रकृत में बुद्धि का समवाय स्वरूप नहीं है।

दूसरी बात यह है कि समवाय नित्य भी नहीं है। अतः बुद्धि के जन्म को बुद्धि का समवाय स्वरूप मान भी लें तथापि इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्व न रहने के कारण जो अव्याप्ति दी गयी है, उसकी कोई संभावना नहीं है। इस विवरण के अनुसार प्रकृत श्लोकार्द्ध का अक्षरार्थ क्रम से यह अर्थ है :—

सौत्र 'बुद्धिजन्म' शब्द से बुद्धि में 'जायमान प्रमाणता' अर्थात् वर्त्तमानकाला-वच्छिन्ना बुद्धि में प्रमाणता कही गयी है। (अर्थात् वर्त्तमानकालावच्छिन्ना प्रमाण-भावसम्पन्ना बुद्धि का जन्म इन्द्रियसम्प्रयोग से होता है) ॥ ५२–५३ ॥

व्यापारः कारकाणां हि दृष्टो जन्मातिरेकतः ।
प्रमाणेऽपि तथा मा भूदिति जन्म विवक्ष्यते ॥ ५४ ॥

'बुद्धि' शब्द और 'जन्म' शब्द दोनों को एक ही अर्थ का बोधक मानने में जिस 'पुनरुक्ति' दोष का उद्भावन किया गया है उसका यह समाधान है :—

'करण' से भिन्न कर्मादि अन्य कारकों के कार्य के जन्म स्वरूप व्यापार से भिन्न व्यापार भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु 'करण' स्वरूप कारक का कार्य के 'जन्म' स्वरूप 'व्यापार' को छोड़कर अन्य कोई व्यापार उपलब्ध नहीं होता है। अतः प्रमा के 'करण' स्वरूप 'प्रमाण' में 'बुद्धिजन्म' के अन्य कारकों की तरह कोई अन्य व्यापार न समझे जांय इसीलिये 'बुद्धि' शब्द के रहते हुये भी तदभिन्नार्थक 'जन्म' शब्द का उपादान किया गया है ॥ ५४ ॥

न हि तत् क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम् ।
येनार्थग्रहणे पश्चाद् व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ॥ ५५ ॥

न हि तत्क्षणमप्यास्ते

प्रमाण स्वरूप 'करण' कारक में एवं कर्मादि अन्य कारकों में यह है कि जन्म स्वरूप व्यापार के क्षणिक होने के कारण सभी करणों की करणता वस्तुतः क्षणिक है।

जायते वा ''इन्द्रियादिवत्

किन्तु इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि प्रमाज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी चक्षुरादि करण उपलब्ध होते हैं, फिर करणों को क्षणिक कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का यह समाधान है :—

ज्ञान अप्रमात्मक तो उत्पन्न होता नहीं कि अर्थज्ञान के बाद भी उसके प्रमात्व के लिये करण (प्रमाण) अपने कार्य में प्रवृत्त होगा। जैसे कि इन्द्रियादि एवं ज्ञान के अन्य कारण अर्थज्ञान के बाद भी व्यापृत होते रहते हैं।

कहने का अभिप्राय है कि प्रत्येक प्रमाज्ञान का करण अलग-अलग होता है। एक ही प्रमाज्ञान का करण रूप इन्द्रियसम्प्रयोग उसी विषय के दूसरे ज्ञान का उत्पादक नहीं होता। एक ही ज्ञान की पुनः उत्पत्ति भी नहीं होती है। अतः प्रमा-ज्ञान की तरह उसका प्रमाण भी क्षणिक ही है।

यदि यह होता कि सामान्यरूप से ज्ञान अप्रमात्मक ही उत्पन्न होता है एवं बाद में प्रमाण से उसमें प्रमात्व की उत्पत्ति होती है तो ऐसा कह सकते थे कि 'ज्ञान की उत्पत्ति के बाद प्रमाण उसमें प्रमात्व के उत्पादन के लिये व्यापृत होता है। अतः

उसका अनेक क्षणों तक रहना आवश्यक है, अतः प्रमाण क्षणिक नहीं हैं। किन्तु बात इससे विपरीत है, क्योंकि ज्ञान प्रमात्मक ही उत्पन्न होता है। कभी भी अप्रमा स्वरूप नहीं उत्पन्न होता जिससे कि उसकी उत्पत्ति के बाद प्रमाणों को व्यापृत होने की आवश्यकता हो।

इस श्लोक के आदि में पठित जो 'न' शब्द है उसे 'जायते वा' के आगे भी और पहिले भी पठित समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः ॥ ५६ ॥

कारक को क्रिया से युक्त होना आवश्यक है। किन्तु क्षणिक वस्तु में क्रिया का होना संभव नहीं है। फिर प्रमा के करण में 'कारक' इस सामान्य शब्द का प्रयोग अथवा 'प्रमाण' स्वरूप इस विशेष शब्द का प्रयोग कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि विषय में बुद्धि का जन्म ही वह क्रिया है जिससे प्रमाण सक्रिय होता है। बुद्धि का जन्म ही अर्थप्रकाशन स्वरूप फल का जनक होने से 'प्रमाण' है। एवं 'जन्म' रूप क्रियायुक्त बुद्धि ही करण है। यह बुद्धि प्रमात्मक ही होती है ॥ ५६ ॥

जन्म वाव्यतिरेकेण भाष्यकारेण वर्णितम्।
तच्च भूतभविष्यत्त्वात् कृतं बुद्धेर्विशेषणम् ॥ ५७ ॥

जन्म वा""""वर्णितम्

भाष्यकार ने 'या बुद्धिर्जायते' (शाबरभाष्य पृ० २२ पं० १) इस वाक्य के द्वारा 'बुद्धि' और 'जन्म' के अभेद का स्वयं प्रतिपादन किया है।

तच्च""बुद्धेर्विशेषणम्

प्रमाणभूत बुद्धि में 'जायमानत्व' विशेषण के बोधक 'जन्म' शब्द का दूसरा फल यह भी हो सकता है कि केवल बुद्धि शब्द से अतीत और अनागत बुद्धियां भी समझीं जा सकतीं हैं। अतः 'बुद्धि' के 'जायमानत्व' विशेषण के बोधक 'जन्म' शब्द का उपादान सूत्र में किया गया है।

कहने का तात्पर्य है कि 'वर्त्तमानकालिक बुद्धि ही प्रमाण है, भविष्यकालिक या भूतकालिक बुद्धि नहीं' यह समझाने के लिये भी सूत्र में 'जन्म' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है ॥ ५७ ॥

यदाप्यौलूक्यसिद्धान्तात् समवायस्य जन्मता।
बुद्धिस्तत्रेन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षमश्नुते ॥ ५८ ॥

यदि वैशिषिकों के अनुसार 'जन्म' को उपादान में उपादेय का समवाय स्वरूप मानें तथापि सूत्र में कथित जन्म के उपयोग का उपपादन इस प्रकार किया जा सकता है :—

जन्मस्वरूप समवाय के नित्य होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति इन्द्रिय से हो सकती है जिसके द्वारा उसमें प्रत्यक्षता प्राप्त होगी ॥ ५८ ॥

प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यताम् ।
सर्वथाप्यनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात् ॥ ५९ ॥

'बुद्धिधर्वा जन्म वा' (पृ० २२ पं० ३) इस भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या

अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिसको भी फल मान लें एवं जिसको भी 'करण' मान लें, किन्तु सभी पक्षों में प्रत्यक्ष प्रमाण में 'अनिमित्तता' (धर्म की अज्ञापकता) समान रूप से रहनी चाहिये, क्योंकि सभी व्याख्याओं के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान विषय का ही ग्राहक होगा ।

महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्षलक्षण के लिये इस सूत्र की रचना नहीं की है एवं भाष्यकार ने भी प्रत्यक्ष को विशेष रूप से समझाने के लिये भाष्य की रचना नहीं की है । उन दोनों आचार्यों का अभिप्राय केवल इस प्रसङ्ग में इतना ही है कि 'धर्म केवल चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से समझा जा सकता है, अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं' इस त''य को स्थिर करना । इस अवधारण को स्थिर रखने के लिये यह समझाना भी आवश्यक है कि 'धर्म प्रत्यक्ष के द्वारा भी ज्ञात नहीं हो सकता' । प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञापक प्रमाण क्यों नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में ही सूत्र का 'विद्यमानोपलम्भनत्वात्' यह वाक्य है । अर्थात् प्रत्यक्ष चूँकि विद्यमान विषय का ही बोधक हो सकता है अतः नियत रूप से भविष्य धर्म का वह ज्ञापक नहीं हो सकता ।

तस्मात् जिसको भी प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाय किन्तु उसका स्वरूप ऐसा रखना होगा कि उससे वर्त्तमानविषयक प्रमिति ही उत्पन्न हो जिससे धर्म में प्रत्यक्षगम्यत्व की आपत्ति न हो सके । इतना होने के बाद 'प्रमाणफलभाव' की जैसी इच्छा हो व्यवस्था की जा सकती है ॥ ५९ ॥

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन सङ्गतिः ।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा ॥ ६० ॥

प्रत्यक्षप्रमाण और उसके फल इन दोनों की यथेच्छ कल्पना के विस्तार को इस प्रकार समझा जा सकता है :—

(१) इन्द्रिय को प्रमाण मानें या (२) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को प्रमाण मानें (३) किंवा मन और इन्द्रिय के सम्बन्ध को प्रमाण मानें (४) अथवा आत्मा और मन के संयोग को प्रमाण स्वीकार करें (५) अथवा सभी को प्रमाण मानें—प्रत्यक्ष प्रमाण में धर्म की अनिमित्तता स्वरूप जो सूत्रकार का प्रकृत अभिप्राय है वह सभी पक्षों में उपपन्न होता है ।

कहने का अभिप्राय है कि प्रमा के असाधारण कारण को ही प्रमाण कहते हैं । वह असाधारण कारण 'करण' कहलाता है जिसके व्यापृत होने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य हो । इस दृष्टि से (१) इन्द्रिय (२) इन्द्रिय और अर्थ का संयोग (३) मन एवं इन्द्रियों का संयोग (४) आत्मा और मन का संयोग (५) इन सभी वस्तुओं का समुदाय इन पाँच में से किसी को भी प्रमाण माना जा सकता है ॥ ६० ॥

तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता ।
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ॥ ६१ ॥

तदा ज्ञानं.......प्रमाणता

इन्द्रियादि को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर उनसे उत्पन्न होनेवाले घटादिज्ञान ही फल हैं। कथित इन्द्रियादि के व्यापृत होने पर ही कथित फलीभूत घटादिविषयक ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। इसी से इन्द्रियादि में प्रामाण्य है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन्धन में विशेष प्रकार की क्रिया रूप व्यापार के द्वारा ओदन स्वरूप फल की उत्पत्ति से इन्धन में करणता आती है, उसी प्रकार इन्द्रियादि के व्यापारों से प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रियादि प्रमाज्ञान के करण (प्रमाण) हैं, एवं घटादिविषयक प्रमाज्ञान उनके फल हैं। इसी व्यापार के नाते इन्द्रियादि प्रमाण हैं।

व्यापारो न यदा.......नोत्पद्यते फलम्

जिस समय इन्द्रियादि में व्यापार की सत्ता नहीं रहती है, उस समय ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है (अतः ज्ञान के उत्पन्न होने पर समझते हैं कि इन्द्रियादि व्यापारशील हैं)।

कहने का अभिप्राय है कि सुषुप्ति प्रभृति अवस्थाओं में इन्द्रियादि के व्यापार नहीं रहते, अतः उन अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। जागने पर जब इन्द्रियादि से उन्मीलन प्रभृति व्यापार उत्पन्न होते हैं तभी उनसे ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। अतः समझते हैं कि इन्द्रियादि प्रमाणों के व्यापार से ही ज्ञान स्वरूप फल की निष्पत्ति होती है॥ ६१ ॥

न च सर्वात्मनाक्षेण सम्बन्धोऽर्थस्य विद्यते ।
येन सर्वार्थबोधः स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम् ॥ ६२ ॥

कोई कहते हैं कि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु उससे उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग को प्रमाण माना जाय तो फिर त्वगिन्द्रिय से रूप का भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि त्वगिन्द्रिय का स्वसंयुक्त सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष का उत्पादक है। वह सम्बन्ध जैसे कि स्पर्श के साथ है, वैसे ही पृथिव्यादि तीनों द्रव्यों में रहने वाले रूपादि के साथ भी है, क्योंकि रूपादि में भी स्पर्श की तरह त्वचा से संयुक्त पृथिव्यादि द्रव्यों का समवाय है ही। अतः इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष प्रमा का 'कारण' अवश्य है, 'करण' नहीं है। किन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ के साथ इन्द्रियों के सभी सम्बन्ध प्रत्यक्षलक्षणघटक 'सम्प्रयोग' शब्द से अभिप्रेत नहीं है, अतः इन्द्रिय और अर्थ के सम्प्रयोग को प्रमाण मानने के पक्ष में सभी इन्द्रियों से सभी अर्थों के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती॥ ६२ ॥

प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो नेन्द्रियस्याभ्युपेयते ।
मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम् ॥ ६३ ॥

प्राप्तिमात्रम् ... अभ्युपेयते

अर्थों के साथ इन्द्रियों के सभी सम्बन्धों को प्रत्यक्ष का उत्पादक नहीं स्वीकार करते।

माभूत् ... रूपावधारणम्

यदि ऐसा मानेंगे तो त्वगिन्द्रिय से भी रूप का अवधारण (प्रत्यक्ष) मानना पड़ेगा, क्योंकि स्पर्श की तरह रूप में भी त्वगिन्द्रिय का स्वसंयुक्तसमवाय स्वरूप सम्बन्ध समान रूप से है ॥ ६३ ॥

यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वादिन्द्रियार्थयोः।
नियता सङ्गतिर्हेतुः फलेऽप्येवं भविष्यति ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष को प्रमाण मानने के पक्ष में 'योग्यत्व' विशेषण के देने से कुछ नियत सम्बन्धों में ही प्रमाणता आती है, उसी प्रकार इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के फलस्वरूपज्ञान को प्रमाण मानने के पक्ष में भी उक्त योग्यत्व के द्वारा त्वगिन्द्रिय से रूपावधारण की आपत्ति को मिटायी जा सकती है।

कहने का अभिप्राय है कि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष को प्रमाण मानने के पक्ष में भी त्वगिन्द्रिय से रूपावधारण की आपत्ति के निरास के लिये यही कहना पड़ता है कि 'इन्द्रिय और अर्थ का जो संनिकर्ष प्रकृत प्रत्यक्ष के उत्पादन में समर्थ है वही इन्द्रियार्थसंनिकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है'। इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में भी यही बात समान रूप से कही जा सकती है कि 'इन्द्रिय और अर्थ के उपयुक्त संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।' इसी से चक्षु से रूपावधारण की आपत्ति दूर हो जायगी ॥ ६४ ॥

योगस्य द्वयाश्रयत्वेऽपि भवत्यन्यतराश्रयः।
व्यपदेशोऽस्य चाप्यक्षं तत्रासाधारणं भवेत् ॥ ६५ ॥

योगस्य ... व्यपदेशः

सभी सम्बन्ध अपने दोनों ही सम्बन्धियों में रहते हैं। सम्बन्धों के इस उभयाश्रितत्व नियम के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप इन्द्रिय और अर्थ इन दोनों का सम्बन्ध भी इन्द्रिय और अर्थ इन दोनों में समान रूप से है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप उक्त संनिकर्ष को जैसे 'अक्ष'शब्दघटित 'प्रत्यक्ष' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार 'अर्थ' शब्द से युक्त 'प्रत्यर्थ' शब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। अतः प्रश्न होता है कि प्रमाणभूत इन्द्रियार्थसंनिकर्ष अथवा उससे उत्पन्न ज्ञानस्वरूप प्रमाण का नाम 'प्रत्यक्ष' ही क्यों ? 'प्रत्यर्थ' क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का प्रथम समाधान यह है :—

'योग' अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध के यद्यपि दो आश्रय अवश्य हैं, फिर भी उन दोनों में से एक 'अक्ष' भी (इन्द्रिय भी) उसका आश्रय अवश्य है। अतः उसके एक आश्रय इन्द्रिय के वाचक 'अक्ष' शब्द से भी उसका व्यवहार हो सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है।

अथवा ''असाधारणं भवेत्

उक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि इन्द्रिय और अर्थ ये दोनों ही इन दोनों के संनिकर्ष के आश्रय अवश्य हैं। किन्तु इन दोनों सम्बन्धियों में से 'इन्द्रिय' स्वरूप सम्बन्धी 'असाधारण' है ('अर्थ' स्वरूप सम्बन्धी तो 'साधारण' है, क्योंकि 'अर्थ' का सम्बन्ध संनिकर्ष स्वरूप इस प्रमाण के समान ही अन्य प्रमाणों के साथ भी है, किन्तु इन्द्रिय का सम्बन्ध इस प्रमाण के साथ ही है) इसीलिये असाधारण 'अर्थ' शब्द के द्वारा ही इसका व्यवहार प्रत्यक्ष शब्द से ही किया जाता है ॥ ६५ ॥

संयोगे त्वात्ममनसोः स्याच्चेद् विषयभिन्नता।
प्रमाणफलयोर्नासावर्थे हि व्यापृतं द्वयम् ॥ ६६ ॥

संयोगे तु''''''भिन्नता'''नासौ

कोई आक्षेप करते हैं कि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु आत्मा और मन के संयोग को प्रमाण मानने के पक्ष में एक बाधा है। यह नियम है कि प्रमाण और फल इन दोनों को एकविषयक होना चाहिये। जैसे कि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष में है, क्योंकि उक्त संनिकर्ष अर्थ में है, एवं तज्जनित प्रमिति भी विषयता सम्बन्ध से अर्थ में ही है। किन्तु आत्मा और मन के संयोग को प्रत्यक्ष मानने के पक्ष में यह बात नहीं है, क्योंकि इस संयोग से उत्पन्न होनेवाला प्रमाज्ञान स्वरूप फल घटादि अर्थों में है। अतः उक्त 'विषयैक्य' न होने के कारण 'आत्ममनःसंयोग' को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

अर्थे हि व्यापृतं द्वयम्

उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि आत्ममनःसंयोग को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में भी उक्त 'विषयैक्य' का सम्पादन किया जा सकता है, क्योंकि घटादि किसी एक ही अर्थ में आत्मा और मनः स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यापार होता है। एवं तज्जनित ज्ञान का भी विषयत्व स्वरूप व्यापार उस एक ही अर्थ में होता है। प्रमाण और फल के विषयैक्य के लिये इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि लोक में भी यही देखा जाता है कि कुल्हाड़ी जिस काठ में व्यापृत होती है उसी में छेदन क्रिया स्वरूप फल भी उत्पन्न होता है। अतः आत्ममनःसंयोग को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में भी उक्त विभिन्नविषयता दोष नहीं है ॥ ६६ ॥

अथाप्याश्रय इष्टस्ते न योगाद् विषयान्तरम्।
आत्मस्थत्वेन विज्ञानं न भिन्नविषयं ततः ॥ ६७ ॥

यदि प्रमाण और फल इन दोनों का एक आश्रय में रहना ही 'विषयैक्य' है तो फिर यह विषयैक्य आत्मा और मन के संयोग स्वरूप फल इन दोनों में अत्यन्त सुलभ है, क्योंकि उक्त संयोग एवं उससे उत्पन्न ज्ञान दोनों आत्मा में ही रहते हैं ॥ ६७ ॥

प्रकृष्टसाधनत्वाच्च प्रत्यासत्तेः स एव नः।
करणं तेन नान्यत्र कारके स्यात् प्रमाणता ॥ ६८ ॥

आत्मा और मन का संयोग ही प्रत्यक्षप्रमिति का सबसे उत्कृष्ट कारण है, अतः वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः उक्त प्रमिति के दूसरे हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं। प्रत्यक्ष प्रमिति आत्मा में समवाय सम्बन्ध से है, एवं आत्मा और मन का संयोग भी उसी आत्मा में है। इस प्रकार एकार्थसमवाय रूप सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उक्त संयोग स्वरूप प्रमाण एवं उसके फलस्वरूप प्रमाज्ञान दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण परस्पर अत्यन्त संनिकट हैं। अतः आत्मा और मन का संयोग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥ ६८ ॥

प्रमाणे सर्वसंयोगे दोषो नैकोऽपि विद्यते।
प्रमाणं त्विन्द्रियं यस्य तस्यैको विषयः स्फुटः ॥ ६९ ॥

प्रमाणे''''विद्यते

नैयायिकों ने आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ संयोग, एवं इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग इन तीनों ही संयोगों को प्रत्यक्ष-प्रमिति का हेतु कहा है (देखिये न्यायभाष्य प्रत्यक्षसूत्र)। इन सभी संयोगों को समान रूप से (प्रत्येकशः) प्रत्यक्ष प्रमाण मान लेते है, तथापि कोई भी (विभिन्न-विषयत्वादि) दोष प्राप्त नहीं होगा।

प्रमाणं त्विन्द्रियम्''स्फुटः

जिन लोगों के मत में इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इस पक्ष में तो प्रमाण और फल का 'विषयैक्य' स्पष्ट है, क्योंकि जिस विषय की प्रमिति उत्पन्न होती है, उसी विषय में इन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का संयोग स्वरूप व्यापार भी होता है। अतः इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार इन्द्रिय और मन के संयोग को प्रत्यक्ष मानने के पक्ष में आत्मा और मन के संयोग के समान ही विषयैक्य का इसप्रकार उपपादन करना चाहिये कि मनःसंयुक्त इन्द्रिय का भी संयोग स्वरूप व्यापार घटादि विषयों में ही होता है, जिसमें विषयता सम्बन्ध से ज्ञान भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन और इन्द्रिय के संयोग को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में दोषशून्यता का उपपादन करना चाहिये ॥ ६९ ॥

प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्ययोः।
यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिराक्रिया ॥ ७० ॥

(इस प्रकार इन्द्रिय या इन्द्रियों के विविध प्रकार के संनिकर्षों को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में फल और प्रमाण दोनों में विषयैक्य का उपपादन किया गया। अब) जिस पक्ष में 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षजनित विशेषण का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है एवं उक्त संनिकर्षजनित विशेष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमिति स्वरूप फल है' इस पक्ष में भी कथित रीति से ही 'विषयविभिन्नता' का खण्डन करना चाहिये, क्योंकि विशेषण के ज्ञान से विशेष्य का ज्ञान उत्पन्न होता है। उक्त विशेष्यज्ञान की सिद्धि के लिये ही विशेषणज्ञान का संपादन करना पड़ता है। अतः विशेष्यज्ञान भी विषयता सम्बन्ध से विषय में है, एवं विशेषणज्ञान भी स्वजन्यज्ञानविषयत्व सम्बन्ध से

विशेष्य में है। अतः इन्द्रियार्थसंनिकर्षादि के समान ही इस पक्ष में भी विषयैक्य का सम्पादन करना चाहिये ॥ ७० ॥

विशेषणे तु बोद्धव्ये यदालोचनमात्रकम् ।
प्रसूते निश्चयं पश्चात् तस्य प्रामाण्यकल्पना ॥ ७१ ॥
निश्चयस्तु फलं तत्र नासावालोचिते तदा ।
तदा नैव प्रमाणत्वं स्यादर्थानवधारणात् ॥ ७२ ॥

विशेषणे तु ''मात्रकम्'''कल्पना''''फलं तत्र

जहाँ इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के द्वारा उत्पन्न विशेषणज्ञान स्वरूप प्रमिति ही उत्पन्न होती है, उससे विशेष्यज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमिति उत्पन्न नहीं होती है ऐसे स्थलों में कौन प्रत्यक्ष प्रमाण होगा ? एवं कौन प्रत्यक्ष प्रमाण का फल होगा ? इन प्रश्नों का यह समाधान है :—

इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के द्वारा जो अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है वही बाद में निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतः ऐसे स्थलों में इन्द्रियार्थसंनिकर्षजनित विशेषण का अनिश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, एवं उससे उत्पन्न होनेवाली विशेषण की निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रत्यक्ष प्रमिति स्वरूप फल है।

नासावालोचिते''''अर्थाऽनवधारणात्

जिस समय इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के द्वारा विशेषण का आलोचन (निर्विकल्पक) ज्ञान उत्पन्न होकर भी विशेष्यविषयक निश्चयात्मक ज्ञान स्वरूप फल को उत्पन्न नहीं करता है ऐसे स्थलों में किसी भी अर्थ का अवधारण नहीं होता है, अतः अर्थ का किसी प्रकार प्रकाशन होने पर भी न कोई प्रमाण होता है न कोई प्रमाण का फल ही होता है। (जैसेकि उतेक्षात्मक ज्ञान से अर्थ का प्रकाशन होने पर भी उससे प्रवृत्ति या निवृत्ति कोई भी फल उत्पन्न नहीं होता है) ॥ ७१-७२ ॥

हानादिबुद्धिफलता प्रमाणं चेद् विशेष्यधीः ।
उपकारादिसंस्मृत्या व्यवायश्चेदियं फलम् ॥ ७३ ॥

हानादिबुद्धि''''विशेष्यधीः

जो इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से घटादि स्वरूप विशेष्यों के ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, उनके मत से उस विशेष्य के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कथित विशेष्य स्वरूप घटादि विषयों में ग्राह्यबुद्धि (उपादानबुद्धि) त्याज्यबुद्धि (हानबुद्धि) अथवा उपेक्षाबुद्धि (औदास्यबुद्धि) प्रभृति बुद्धियां ही कथित प्रत्यक्ष प्रमाण के कथित प्रमिति रूप फल हैं।

घटादि विषयों का ज्ञान होनेपर यदि उन विषयों से प्राप्त उपकार का स्मरण होता है तो घटादि विषयों में उपादेयत्व (ग्राह्यत्व) की बुद्धि होती है। यदि उस विषय से प्राप्त हुये अपकार का स्मरण होता है तो इस स्मरण के सहारे घटादि विषयों में हेयत्व की (त्याज्यत्व की) बुद्धि उत्पन्न होती है। इसीप्रकार इन्द्रिय और

अर्थ के संनिकर्ष से जब किसी ऐसे विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे न कभी सुख ही प्राप्त किया हो न दुःख ही, ऐसे विषय में उक्त इन्द्रियसम्प्रयोगज ज्ञान से उपेक्षा-बुद्धि ही उत्पन्न होती है।

इस क्रम के अनुसार इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न होने के बाद उपकार-जनकत्वादि की उक्त स्मृतियां उत्पन्न होती हैं। उसके बाद उन विषयों में उपादेयत्व हेयत्वादि के ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इन्द्रियार्थसंनिकर्षजनित ज्ञान एवं हानादि बुद्धि इन दोनों के मध्य में उपकारकत्वादि की स्मृतियां आ जाती हैं। स्मृतियों का 'व्यवाय' या व्यवधान के कारण उक्त ज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के फल उपकार-कत्वादि की स्मृतियां ही हो सकतीं हैं, तज्जनित हेयत्वादि के ज्ञान नहीं, क्योंकि फल को करण के अव्यवहित उत्तरकाल में ही उत्पन्न होना चाहिये। अतः इन्द्रियार्थ-संनिकर्षजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने के पक्ष में हेयत्वादि बुद्धियों को प्रत्यक्ष प्रमिति नहीं माना जा सकता। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

इन्द्रियार्थसंनिकर्षजनित ज्ञान एवं हेयत्वादि बुद्धियां इन दोनों के बीच में यदि उपकारादि की स्मृतियां व्यवधान उत्पन्न करती हैं तो फिर इन्द्रियार्थसंनिकर्ष-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में उन उपकारादि की स्मृतियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल स्वीकार करना चाहिये ॥ ७३ ॥

विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणं फलं वदेत्।
साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः ॥ ७४ ॥

बौद्धगण 'प्रमाण और उसके फल दोनों एक ही विषय के हों' इस इच्छा से वशीभूत होकर इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण और उसका फल दोनों मानते हैं। उनके मत में साध्य और साधन का जो नियमतः भिन्न होने का सर्वसिद्ध अनुभव है वह व्याहत हो जायगा ॥ ७४ ॥

छेदने खदिरप्राप्ते पलाशे न च्छिदा यथा।
तथैव परशोर्लोके च्छिदया सह नैकता ॥ ७५ ॥

क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि खदिर के वृक्ष के साथ सम्बद्ध क्रिया से पलाशवृक्ष में छेदन (द्वैधीभाव) स्वरूप फल उत्पन्न नहीं होता है। यह भी लोक में देखा जाता है कि परशु (कुल्हाड़ी) स्वरूप साधन और छेदन स्वरूप साध्य दोनों एक नहीं हैं ॥ ७५ ॥

भवते भेदहानेन रुचिता विषयैकता।
तत्त्यागेन परेभ्यस्तु भेदो रुचिमुपागतः ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार आपलोगों (बौद्धों) को (सभी वस्तुओं को अभिन्न मानने के क्रम में) प्रमाण और उसके फल में अभेद का साधन अत्यन्त 'रुचिकर' है, उसी प्रकार आपके प्रतिपक्षी नैयायिकादि को भी संसार के वस्तुओं में अनुभवसिद्ध भेद के लिये ही प्रमाण और उसके फल इन दोनों में भेद भी रुचिकर हो सकता है ॥ ७६ ॥

करणत्वोपचारस्तु फले चेत् कल्प्यते त्वया ।
कथञ्चिद् विषयैकत्वं परैर्वा किं न कल्प्यते ॥ ७७ ॥

यदि आपलोग (बौद्धगण) यह कहें कि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान वस्तुतः फल ही है, करण नहीं, किन्तु उसमें करणत्व या प्रमाणत्व का भी गौण व्यवहार होता है (इस प्रकार साध्य और साधन के भेद की किसी प्रकार उपपत्ति होती है) तो फिर आपके प्रतिपक्षी नैयायिकादि भी करण और फल में विषयैक्य की उपपत्ति भी किसी प्रकार (सम्बन्धभेद से) कर ही लेते हैं। (इस प्रकार नैयायिकादि के पक्ष में करणत्व और फलत्व इन दोनों में से किसी की भी उपपत्ति के लिये उपचार का अवलम्बन नहीं करना पड़ता है) ॥ ७७ ॥

परिच्छेदफलत्वेन वृत्तस्यानन्तरस्य नः ।
प्रमाणत्वं भवेज्ज्ञाने प्रमाणे तु परं फलम् ॥ ७८ ॥

तस्मात् हमलोगों का यही पक्ष ठीक है कि इन्द्रियादि ही प्रमाण हैं, क्योंकि उन्हीं के संबलन के बाद 'परिच्छेद' अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान स्वरूप फल उत्पन्न होता है। यदि इन्द्रियादिजनित विशेषणविषयक ज्ञान को ही फल मानें तो तज्जनित विशेष्य-विषयक ज्ञान ही फल है ॥ ७८ ॥

स्वसंवित्तिफलत्वं तु तन्निषेधान्न युज्यते ।
प्रमाणे विषयाकारे भिन्नार्थत्वान्न युज्यते ॥ ७९ ॥

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बौद्धों का सिद्धान्त है कि नीलपीतादि अर्थों के द्वारा ज्ञान में उनके 'आकारों' का आधान होता है। ज्ञान में विषयों के द्वारा आहित यह 'आकार' ही प्रमाण है एवं विज्ञान की स्वसंवित्ति ही फल है। बाह्य नीलादि पदार्थ उसके प्रमेय हैं। किन्तु यह मत ठीक नहीं है :—क्योंकि 'स्वसंवित्ति किसी का भी फल नहीं हो सकता' शून्यवाद में कथनीय इस सयुक्ति सिद्धान्त के अनुसार ही प्रथमतः स्वसंवित्तिघटित प्रमाणफलभाव असङ्गत है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान में आहित विषय के आकार को प्रमाण मानने पर प्रमाण और फल में विषयैक्य की हानि होगी। इसलिये भी यह पक्ष अनुचित है, क्योंकि बौद्धों के मत से विषय का आकार ही प्रमाण है। प्रमाण को प्रमेयविषयक होना चाहिये। नीलादि बाह्यपदार्थ ही विषयीभूत प्रमेय हैं। इस प्रकार विषयाकार स्वरूप प्रमाण तो नीलादिविषयक होता है, किन्तु स्वसंवित्ति स्वरूप फल विज्ञानविषयक होता है, अतः इस पक्ष में प्रमाण और फल की विभिन्नविषयता स्पष्ट है ॥ ७९ ॥

स्वाकारश्च स्वसंवित्तिमुक्त्वा नान्यः प्रतीयते ।
प्रामाण्यं यस्य कल्प्येत स्वसंवित्तिफलं प्रति ॥ ८० ॥

योगाचार सम्प्रदाय के बौद्धगण विज्ञान की ही यथार्थ सत्ता को स्वीकार करते हैं। घटादि बाह्यवस्तुओं की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उन लोगों के मत से वस्तुसत् विज्ञान में अनादिवासना से नीलादि वस्तुओं का जो आकार

भासित होता है, वही 'प्रमेय' है। विज्ञान का अपना आकार ही प्रमाण है। विज्ञान की संवित्ति ही प्रमाण का फल है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वसंवित्ति को छोड़कर स्वाकार नाम की किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती है जिसको स्व-संवित्ति स्वरूप फल का करण (प्रमाण) मानें ॥ ८० ॥

स्वाकारस्य परिच्छेदो न चाकारान्तराद् विना ।
तस्याप्येवं तथा च स्यान्नाकारान्तः कदाचन ॥ ८१ ॥

योगाचार सम्प्रदाय के बौद्धों से प्रष्टव्य है कि (१) जिस स्वाकार को वे प्रमाण मानते हैं, वह क्या ज्ञात होकर प्रमाण है ? अथवा अज्ञात होकर ही प्रमाण है ? इन दोनों पक्षों में से पहिला पक्ष इसलिये असङ्गत है कि संवित्ति के अपने आकार का ज्ञान (परिच्छेद) तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इस आकार का ग्राहक कोई दूसरा आकार न रहे। उस ज्ञापक आकार के प्रसङ्ग में यह प्रश्न उपस्थित होकर तीसरे आकार की कल्पना के लिये विवश करेगा जो अन्त में अनवस्था दोष में परिणत हो जायगी। अतः कथित प्रथम आकार से द्वितीय आकार की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थात् आकार की स्वाकार स्वरूप सत्ता ही तबतक स्वीकृत नहीं हो सकती जबतक कि वह ज्ञात न हो। इस प्रकार विषयाकार की अपनी सत्ता ही जब विपन्न है तो फिर स्वसंवित्ति उसका फल ही कैसे हो सकता है ? ॥ ८१ ॥

न चासञ्ज्ञेतितः सत्तां स्वाकारः प्रतिपद्यते ।
ग्राह्ये च विषयाकारे ग्राहकोऽन्यो न लभ्यते ॥ ८२ ॥

'आकार अज्ञात होकर ही प्रमाण है' यह दूसरा पक्ष इसलिये असङ्गत है कि संवित्ति के उस आकार का कोई आकार ही नहीं है, क्योंकि जब तक संवित्ति का आकार किसी दूसरे आकार के ज्ञान से ज्ञात नहीं हो जाता तब तक उस पहिली संवित्ति की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ८२ ॥

मनसस्त्विन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षा धीः सुखादिषु ।
मनसा सम्प्रयुक्तो हि तान्यात्मा प्रतिपद्यते ॥ ८३ ॥

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है कि स्वसंवित्ति के प्रथम आकार का जबतक किसी दूसरे स्वाकार के ज्ञान से ग्रहण नहीं होता है, तब तक उसकी सत्ता स्वीकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सुख-दुःख इच्छा प्रभृति आत्मा के कुछ गुणों को विना तद्विषयक ज्ञान के भी नैयायिकादि भी वेदनीय मानते ही हैं। अतः उक्त आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि हमलोग (बौद्धगण) स्वसंवित्ति के आकार को इच्छादि की तरह स्वयं ग्राह्य मानते हैं। बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि (चक्षुरादि की तरह) मन भी इन्द्रिय है। अतः मनः स्वरूप इन्द्रिय से सुखादि का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी (इन्द्रियार्थसंनिकर्षजनित होने के कारण) प्रत्यक्ष ही है। अतः हम लोग सुखादि को स्वसंवेद्य नहीं मानते।

(मनः स्वरूप इन्द्रिय का सुखादि विषयों के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि) मन का अन्य पुरुषीय आत्मा के साथ सम्बन्ध के रहने पर भी दूसरे की आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः समझते हैं कि अपनी आत्मा में मनका संयोग ही उसके प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। जो संयोग जिस द्रव्य के प्रत्यक्ष का प्रयोजक होगा, उस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले योग्य वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होता है, जिसके लिये 'संयुक्तसमवाय' नाम की भी प्रत्यक्ष के लिये एक संनिकर्ष की कल्पना करनी होगी। तदनुसार अपनी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले सुखादि में उक्त स्वसंयुक्तसमवाय नाम का प्रत्यक्ष का प्रयोजक संनिकर्ष है। इसी सम्बन्ध से सुखादि का प्रत्यक्ष होता है ॥ ८३ ॥

सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुराविना।
सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते ॥ ८४ ॥

बौद्धगण घटादि के पृथुबुध्नोदरादि विशेष धर्मों को ही प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। वेदान्ती लोग विषयों के सामान्य धर्म को ही प्रत्यक्षवेद्य मानते हैं। इस सूत्र के द्वारा जो प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है उसमें किस प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है इसका कोई उल्लेख नहीं है। इससे सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का दोष आता है। उसका परिहार यह है :—

(प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण योग्य) कथित सामान्य अथवा विशेष जो कोई भी वस्तु हो, वह यदि इन्द्रियों के साथ उचित सम्बद्ध है, और वर्त्तमान है तो वे सभी वस्तुयें चक्षुरादि इन्द्रियों से गृहीत हो सकतीं हैं। अतः प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में उसके विषय का उल्लेख नहीं है। अतः इस प्रसङ्ग में हमलोगों को कोई विशेष अभिनिवेश नहीं है कि वस्तुओं के विशेष रूप ही प्रत्यक्ष से गृहीत होते हैं अथवा वस्तुओं के सामान्य रूप का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः इस प्रसङ्ग में सूत्रकार की कोई न्यूनता नहीं है ॥ ८४ ॥

लक्षणं यच्च यैरुक्तं प्रत्यक्षे लौकिके सति।
विद्यमानोपलम्भित्वात् सर्वस्यैवानिमित्तता ॥ ८५ ॥

लौकिक प्रत्यक्ष में ही विषय को वर्त्तमान रहना आवश्यक है, क्योंकि योगियों को भूत और भविष्य वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः लौकिक प्रत्यक्ष के प्रसंग में यह भले ही कहा जा सके कि वह धर्म का ज्ञापक नहीं है (अनिमित्त है) किन्तु योगिप्रत्यक्ष के लिये यह बात नहीं है। अतः उसके द्वारा धर्म का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः सभी प्रत्यक्षों को धर्म का अनिमित्त कहना ठीक नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

जो समुदाय सभी प्रत्यक्षों को लौकिक ही मानते हैं उनके मतों में प्रत्यक्ष में धर्म की अनिमित्तता निर्बाध है, क्योंकि योगियों के भावनाप्रकर्षज उस ज्ञान को वे लोग स्मृति कहते हैं। इसलिये योगियों का उक्त ज्ञान प्रमाण ही नहीं है, फिर प्रमाण विशेष स्वरूप प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

निर्विकल्पकपक्षे तु सुतरामनिमित्तता ।
साध्यसाधनसम्बन्धो नाविकल्प्य हि गृह्यते ॥ ८६ ॥

बौद्ध लोग 'कल्पनापोढ़' एवं 'अभ्रान्त' ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उन लोगों के मत से इन्द्रियजनित निर्विकल्पकज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस पक्ष में प्रत्यक्ष की धर्मानिमित्तता और भी सुलभ है, क्योंकि कार्य और कारण के सम्बन्ध का ग्रहण सविकल्पकज्ञान के विना संभव नहीं है। कल्याण का 'साधन' ही धर्म है। इस 'कल्याणसाधनत्व' को 'धर्म कल्याण का साधन है' इस सविकल्पक ज्ञान से ही समझा जा सकता है। किसी भी निर्विकल्पक ज्ञान से 'धर्म' के उक्त 'साधनत्व' का ज्ञान संभव ही नहीं है। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के पक्ष में धर्म का प्रत्यक्ष से ग्रहण न हो सकना अत्यन्त सुलभ है ॥ ८६ ॥

कथं प्रत्यक्षपूर्वत्वमनुमानादि नो भवेत् ।
यदा स्मृत्यसमर्थत्वान्निर्विकल्पेन्द्रियस्य धीः ॥ ८७ ॥
न चाविकल्प्य लिङ्गस्य लिङ्गिसम्बन्धयोस्तथा ।
गृहीतिरुपमानेऽपि सादृश्यग्रहणात् स्मृतेः ॥ ८८ ॥

'प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति' (शाबरभाष्य पृ० २२ पं० ५)। उपर्युक्त भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि धर्म चूंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना नहीं जा सकता, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होनेवाले अनुमान, उपमान एवं अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों से भी धर्म को नहीं समझा जा सकता।

कथं प्रत्यक्ष''''भवेत्''''इन्द्रियस्य धीः''''तथा''''गृहीतिः

इस अभिप्राय के ऊपर आक्षेप किया गया है कि 'अनुमानादि' अर्थात् अनुमान, उपमान और अर्थापत्ति ये तीनों ही प्रमाण प्रत्यक्षमूलक कैसे हो सकते हैं? (अर्थात् नहीं हो सकते)

प्रत्यक्ष प्रमाण को इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न होना चाहिये। सविल्पकज्ञान अर्थगत जाति-नाम के स्मरण से उत्पन्न होता है। इस उत्पादन के द्वारा ही इन्द्रिय और अर्थ का कथञ्चित् उपयोग संभव होने के कारण सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहला सकता है। किन्तु इन्द्रिय में अथवा अर्थ में किसी भी जाति-नाम की स्मृति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। अतः इन्द्रिय और अर्थ के संप्रयोग से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः—

अनुमान प्रमाण इसलिये प्रत्यक्षमूलक नहीं हो सकता कि निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है, सविकल्पक ज्ञान नहीं। एवं सविकल्पक ज्ञान के द्वारा ही साधन के व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। वही ज्ञान अनुमान को उत्पन्न करता है। निर्विकल्पज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान के उत्पादन में कोई उपयोग नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अनुमान प्रत्यक्षमूलक है।

उपमानेऽपि·········स्मृते:

इसी प्रकार उपमान प्रमाण को भी प्रत्यक्षमूलक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति इस प्रकार होती है—गाय को देखने के बाद वन में जाने पर जब ग्रामीण पुरुष गवय को देखता है, तो उसे पहिले देखी हुई अपनी गाय में सादृश्यविषयक इस आकार का सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है कि 'एतेन सदृशी मदीया गौः' (मेरी गाय इसी गवय के समान है)। अतः सादृश्यज्ञान रूप उपमान प्रमाण भी सविकल्पक ज्ञान से ही उत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण रूप निर्विकल्पक ज्ञान से नहीं। सुतराम् उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक नहीं है ॥ ८७–८८ ॥

अर्थापत्तिः पुनः प्रायो नान्यदृष्टेऽर्थ इष्यते ।

प्रवर्तते च यं दृष्ट्वा सोऽप्यर्थः सविकल्पकः ॥ ८९ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण से ऐसे ही अर्थों का बोध होता है जिनका अन्य किसी भी प्रमाण से बोध ही नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक नहीं है।

अनुपपन्न अर्थ के जिस ज्ञान से अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, वह ज्ञान भी सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही उत्पन्न होता है, निर्विकल्पकज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं। अतः अर्थापत्तिज्ञान में प्रत्यक्षमूलकत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥८९॥

यत्र चानुमितं लिङ्गं सूर्यगत्यादि लिङ्गि च ।

तत्र प्रत्यक्षपूर्वत्वं कथमध्यवसीयते ॥ ९० ॥

(उदयाचल में स्थित सूर्य के अस्ताचल के साथ सम्बन्ध रूप) देशान्तर-प्राप्ति स्वरूप हेतु से अनुमित सूर्य की गतिरूप लिंग से जहाँ उक्त गति के कारण का अनुमान होता है—उस 'अनुमितानुमान' में प्रत्यक्षपूर्वकत्व कैसे समझा जा सकता है ? (अर्थात् अन्य अनुमानों में जिस किसी प्रकार प्रत्यक्षपूर्वकत्व का उप-पादन संभव होने पर भी अनुमितानुमान में प्रत्यक्षपूर्वकत्व की सिद्धि किसी प्रकार संभव नहीं है) इस प्रकार प्रत्यक्षावेद्य धर्म का ज्ञान अन्य अनुमानों से किसी प्रकार सम्भव न भी हो, अनुमितानुमान से तो धर्म का ग्रहण हो सकता है ॥ ९० ॥

प्रत्यक्षावगते चार्थे कुतस्तेषां प्रमाणता ।

तैर्यदा स प्रतीयेत तदा नाक्षस्य गोचरः ॥ ९१ ॥

(यदि अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्षपूर्वकत्व का यह अर्थ है कि) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात अर्थों का ही ग्रहण अनुमानादि प्रमाणों से होता है तो फिर प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात अर्थों का ज्ञापक होने से अनुमानादि प्रमाण ही नहीं रह पायेंगे, क्योंकि प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना चाहिए।

(यदि कथित प्रत्यक्षपूर्वकत्व का यह अर्थ है कि जिस किसी समय अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञेय अर्थ को ज्ञात होना ही चाहिए तो फिर) जिस समय जिस अर्थ का ज्ञान अनुमानादि प्रमाणों से होगा उस समय वह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं रहेगा। अतः इस रीति से भी अनुमानादि प्रमाणों में प्रत्यक्ष-पूर्वकत्व अनुपपन्न है ॥ ९१ ॥

अथ कस्यचिदर्थस्य ज्ञानात् तत्पूर्वता भवेत् ।
तदार्थस्य भविष्यत्त्वं न स्यादज्ञानकारणम् ॥ ९२ ॥

यदि अनुमानादि में प्रत्यक्षपूर्वकत्व का यह अर्थ है कि जिस किसी भी वस्तु की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति के द्वारा ही अनुमानादि प्रमाण प्रवृत्त होते हैं तो फिर धर्म-स्वरूप अर्थ को इस हेतु से अनुमानादि प्रमाणों से अज्ञेय नहीं माना जा सकता कि वह भविष्य है। अर्थात् भविष्यत्वस्वरूप हेतु के द्वारा धर्म में अनुमानादि प्रमाणों की अगम्यता के कथन से यही ध्वनित होता है कि धर्मस्वरूप प्रधान ज्ञेय चूंकि विद्यमान नहीं है, अतः प्रत्यक्ष की तरह प्रत्यक्षमूलक अनुमानादि प्रमाणों से भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता ॥ ९२ ॥

वर्तमाने हि कस्मिंश्चिद् विज्ञातेऽर्थेऽक्षबुद्धिभिः ।
लिङ्गादविद्यमानोऽपि धर्मो गम्येत तैस्तदा ॥ ९३ ॥

क्योंकि ऐसी स्थिति में विद्यमान जिस किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने के बाद अविद्यमान धर्म का भी लिङ्गादि से अनुमित्यादिस्वरूप ज्ञान हो सकता है ॥ ९३ ॥

प्रत्यक्षेण गृहीत्वा च वर्णान् वेदेऽपि बुध्यते ।
प्रमेयमिति सोऽपि स्यात् तत्पूर्वत्वादकारणम् ॥ ९४ ॥

अनुमान, उपमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों की तरह शब्द प्रमाण में भी उक्त प्रकार की प्रत्यक्षपूर्वकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से जब वर्णों का ज्ञान होता है, तभी वेदों के द्वारा भी ज्ञाप्य विषयों का ज्ञान हो सकता है। अतः जिस प्रकार धर्म को प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानादि प्रमाणों से अगम्य मानना पड़ता है, उसी प्रकार उक्त रीति से प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक शब्द प्रमाण से भी धर्म को अगम्य मानना पड़ेगा। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ ठीक नहीं है ॥ ९४ ॥[1]

केचित् तत्पूर्वकत्वं तु हेतुर्नैवेति मन्वते ।
तत्पूर्वकत्वाद् यत् तावत् प्रामाण्यं तदसम्भवः ॥ ९५ ॥

भाष्य पर आये हुए इस आक्षेप का कोई यह समाधान कहते हैं कि लिखित भाष्यसन्दर्भ के 'तत्पूर्वकत्वात्' इस वाक्य के द्वारा धर्म में अनुमानादि प्रमाणों के भविष्यत्व के साधक हेतु का अभिधान नहीं किया गया है। किन्तु जो कोई अनुमान को प्रत्यक्षमूलक होने के कारण प्रमाण मानते हैं उनके मत का खण्डन किया गया है ॥ ९५ ॥

प्रत्यक्षेण गृहीत्वा च लिङ्गाद्यन्यतमं ध्रुवम् ।
प्रवृत्तिरनुमानादेर्न च धर्मेऽस्ति कारणम् ॥ ९६ ॥

---

१. श्लो० ८७ से लेकर श्लो० ९४ तक 'प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति' इस भाष्यसन्दर्भ के ऊपर आक्षेप का प्रतिपादन ही किया गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा लिङ्गसादृश्यादि में से किसी एक विषय को ग्रहण करने के बाद ही अनुमान, उपमानादि प्रमाण विषय को समझाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा धर्म का इस प्रकार से ज्ञान सम्भव नहीं है, अतः अनुमानादि प्रमाणों को धर्म का निमित्त अर्थात् ज्ञापक नहीं स्वीकार किया जा सकता। कहने का तात्पर्य है कि धूमादि जब तक वह्नि का ज्ञापक हेतु न समझा जाय या गवय को जब तक गवयसदृश न समझा जाय तबतक अनुमान या उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। उक्त ज्ञानों के बिना धूम से वह्नि की अनुमिति या गो की उपमिति नहीं हो सकती। इस प्रकार अनुमानादि के वह्नि प्रभृति विषयों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होना आवश्यक दीख पड़ता है। धर्म का चूँकि प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है अतः यह अनुमान प्रमाण या उपमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। यही बात 'प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्' इस भाष्यसन्दर्भ से कही गयी है ॥ ९६ ॥

अनुमानानुमानादेर्न चाप्यस्तीह सम्भवः।
सम्बन्धलिङ्गिलिङ्गानां पूर्वसिद्धेरसम्भवात् ॥ ९७ ॥

अनुमितानुमान से भी धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष-पूर्वक है ही। जब तक कार्य और कारण एवं उन दोनों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत नहीं होते तब तक अनुमित हेतु से भी साध्य की अनुमिति नहीं हो सकती। जब तक सूर्य का दो स्थानों में प्रत्यक्ष न हो तब तक देशान्तर प्राप्ति के हेतुभूत गति की अनुमिति भी नहीं होगी। फिर उस गति से उसके कारण का अनुमितानुमान कैसे होगा? अतः 'अनुमानानुमान' भी प्रत्यक्षमूलक है, अतः उससे भी धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है ॥ ९७ ॥

सत्ता च नानुमानेन कस्यचित् प्रतिपद्यते।
धर्मेणान्यद् विशेष्यं चेत् पक्षोऽसिद्धविशेषणः ॥ ९८ ॥

किसी वस्तु की सत्ता अनुमान के द्वारा ज्ञात नहीं होती है। किन्तु अन्य प्रमाण से सिद्ध किसी एक वस्तु में प्रमित किसी दूसरी वस्तु की सत्ता ही अनुमान से ज्ञात होती है। अतः 'अनुमान धर्म का ज्ञापक प्रमाण नहीं है' इस आकार का अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि धर्म के ज्ञापक प्रमाण को पक्ष बनाकर उसमें अनुमानत्वाभाव का अनुमान करेंगे तो 'धर्मज्ञापक' प्रमाणस्वरूप पक्ष 'असिद्धविशेषणक' हो जायगा, क्योंकि पक्ष का धर्मस्वरूप विशेषण अभी सिद्ध नहीं है ॥ ९८ ॥

तस्माददृष्टपूर्वत्वात् केनचिद् वस्तुना सह।
धर्मस्य नानुमेयत्वमसाधारणवस्तुवत् ॥ ९९ ॥

चूँकि धर्म स्वयं प्रत्यक्षवेद्य न होने के कारण किसी अन्य वस्तु के साथ देखा नहीं जाता है अतः धर्म अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं समझा जा सकता। जैसे कि सपक्ष और विपक्ष में न रहनेवाली एवं केवल पक्ष में ही रहनेवाली असाधारण वस्तु स्वरूप हेतु के अनुमान से किसी वस्तु का ग्रहण नहीं होता है ॥ ९९ ॥

अदृष्टसदृशत्वाच्च स्वयं चानुपलम्भनात् ।
धर्मस्य नोपमेयत्वमसाधारणवद् भवेत् ॥ १०० ॥

स्वयं धर्म की उपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती है। अतः उसके सादृश्य से युक्त किसी अन्य वस्तु का भी ग्रहण नहीं होता है। इसलिए असाधारण (सजातीय विजातीय रहित) किसी वस्तु की तरह उपमान प्रमाण से भी धर्म का ग्रहण संभव नहीं है ॥ १०० ॥

नन्वर्थापत्तिरेवं स्याज्जगद्वैचित्र्यदर्शनात् ।
सुखिदुःख्यादिभेदो हि नादृष्टात् कारणादृते ॥ १०१ ॥

अनुमान और उपमान ये दोनों भले ही धर्म के ज्ञापक न हो सकें, किन्तु अर्थापत्ति प्रमाण तो धर्म का ज्ञापक हो सकता है, क्योंकि कोई प्राणी सुखी देखा जाता है, कोई दुखी। इसकी उपपत्ति अदृष्ट स्वरूप कारण की आपत्ति (कल्पना) के बिना सम्भव नहीं है ॥ १०१ ॥

दृष्टस्य व्यभिचारित्वात् तदभावेऽपि सम्भवात् ।
सेवाध्ययनतुल्यत्वे दृष्टा च फलभिन्नता ॥ १०२ ॥

जिस कार्य के जितने दृष्ट कारण हैं, उनके रहते हुए भी कभी वह कार्य नहीं हो पाता है एवं उन सभी कारणों के न रहने पर भी वह कार्य हो जाता है। देखा जाता है कि कुछ पुरुषों का अध्ययन एवं सेवा दोनों बराबर रहते हुए भी उनमें प्रत्येक पुरुष को मिलनेवाले फल विभिन्न प्रकार के होते हैं। इस अर्थापत्ति प्रमाण से समझते हैं कि दृष्ट कारणों के अतिरिक्त कार्यों का अदृष्टस्वरूप कारण भी है ॥ १०२ ॥

स्यादेवं यदि शक्येत स्वाभाविकनिवारणा ।
कर्मशक्तेश्च वैचित्र्ये हेतुरन्यो भवेद् यदि ॥ १०३ ॥

उक्त रीति से धर्म को अर्थापत्ति प्रमाण से ग्रहण योग्य तभी कहा जा सकता है जब कि कर्म में (धर्म में) विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने की विभिन्न-विभिन्न शक्ति को स्वीकार कर लेने में उनके स्वभाव को कारण मानने में कोई बाधा हो ॥ १०३ ॥

यथा च फलवैचित्र्ये कर्मणा शक्तता स्वतः ।
तथा च चित्रता लोके स्वभावादुपपत्स्यते ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार कर्मों (धर्मों) में विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने की स्वाभाविक शक्ति स्वीकृत हो सकती है, उसी प्रकार दृष्ट कारणों में ही विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने की स्वाभाविक शक्ति को मान लेने पर भी लोक में दृष्ट कार्यों की विचित्रता की उपपत्ति हो सकती है। (फल के वैचित्र्य के लिए अदृष्ट को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।)

मीमांसकगण इस आक्षेप को इस प्रकार दूर कर सकते हैं कि अदृष्ट में विद्यमान विभिन्न प्रकार की शक्ति में जो कारणता है, उसमें कहीं भी व्यभिचार उपलब्ध नहीं है। किन्तु दृष्ट कारणों में जो विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकृत होती है, उसमें व्यभिचार भी उपलब्ध होता है, क्योंकि एक ही पुरुष कभी धनी और कभी दरिद्र देखा जाता है। अगर दरिद्र होना या सम्पन्न होना उस पुरुष का स्वभाव ही मान लिया जाय तो दारिद्य और धनसम्पन्नता के उक्त क्रम की उपपत्ति नहीं होगी। अतः अदृष्ट स्वरूप कारण को स्वीकार करना पड़ता है ॥ १०४॥

अधर्मे धर्मरूपे वा ह्यविभक्ते फलं प्रति।
किमप्यस्तीति विज्ञानं नराणां क्वोपयुज्यते ॥ १०५ ॥

ब्रह्महत्यादि अधर्म दुःख के साधन हैं, एवं अश्वमेधादि धर्म सुख के साधन हैं अथवा अमुक धर्म स्वर्ग को देने वाला है अथवा अमुक धर्म से केवल पशु हिरण्यादि ही मिल सकते हैं, इस प्रकार धर्म और अधर्म के प्रसङ्ग में जबतक विभागपूर्वक स्फुटज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक पुरुषों को इस प्रकार के अस्फुट ज्ञान से कोई लाभ नहीं कि अमुक सुख का कोई धर्मस्वरूप कारण है अथवा अमुक दुःख का कोई अधर्म स्वरूप कारण है ॥ १०५ ॥

किं नु यागादितो दुःखं हिंसादेः किं सुखोद्भवः।
स्वर्गपुत्रादिभेदश्च कीदृशात् कर्मभेदतः ॥ १०६ ॥
इति यावदविज्ञानं तावन्नैव प्रवर्त्तते।
प्रवृत्त्यङ्गं च यज्ज्ञानं तस्य मूलं प्रतीक्ष्यते ॥ १०७ ॥

किं नु ....हिंसादेः कर्मभेदतः..........प्रवर्त्तते

यागादि धर्मों में मनुष्यों की प्रवृत्ति एवं ब्रह्महत्यादि अधर्मों में निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक इस प्रकार का विभक्त ज्ञान न हो कि यागादि से दुःख ही क्यों नहीं मिलता, सुख ही क्यों एवं हिंसादि अधर्मों से सुख ही क्यों नहीं प्राप्त होता, दुःख ही क्यों प्राप्त होता है। इसी तरह 'वाजपेयादि' से ही स्वर्ग मिलता है एवं चित्रायाग से पशु मिलता है यही विभाग क्यों ? इसके विपरीत यह विभाग क्यों नहीं कि वाजपेयादि से ही पश्वादि मिलते हैं और चित्रादि से ही स्वर्ग मिलता है ?

प्रवृत्त्यङ्गं च ...... प्रतीक्ष्यते

धर्मविषयक ज्ञान का वही मूल विवक्षित है जिससे यागादि स्वरूप धर्मों में प्रवृत्ति की उत्पत्ति हो सके। (धर्मज्ञान का इस प्रकार का मूल 'चोदना' स्वरूप शब्द प्रमाण ही है, अर्थापत्ति नहीं) ॥ १०६–१०७ ॥

तस्मात् सिद्धेऽपि सामान्ये विशेषो नागमादृते।
विशेषस्य तु जिज्ञासा सूत्रकारेण सूत्रिता ॥ १०८ ॥

अतः अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा धर्म का साधारण अस्फुटज्ञान संभव होने पर भी कथित धर्म की प्रवृत्ति के लिये उपयोगी धर्म का विशेष प्रकार का ज्ञान चोदना

स्वरूप आगम प्रमाण के विना संभव नहीं है। धर्म के इस विशेष प्रकार की जिज्ञासा का ही उल्लेख महर्षि जैमिनि ने 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा की है ॥१०८॥

गम्यमाने विशेषे च तदन्तर्भावकारितः।
सामान्यप्रत्ययोऽपि स्याच्छास्त्रादेवेत्यकारणम् ॥ १०९ ॥

इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि धर्म का विशेष ज्ञान यद्यपि आगम प्रमाण से ही हो सकता है फिर भी धर्म का सामान्यज्ञान तो अर्थापत्ति प्रमाण से भी हो सकता है। इस प्रकार 'धर्म का ज्ञान केवल आगम प्रमाण से ही हो सकता है' यह बात सर्वांश में ठीक नहीं बैठती है। इससे यह निष्पन्न होता है कि धर्म का सामान्यरूप अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञात होता है एवं धर्म का विशेषरूप चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है। इससे भी धर्म का शास्त्र मात्र प्रमाण से ज्ञात होना (धर्म का शास्त्रैकसमधिगम्यत्व) विपन्न हो जाता है। इस आक्षेप का यह समाधान है :—

विशेष चूंकि सामान्य को छोड़ नहीं सकता, अतः सामान्य विशेष के अन्तर्गत ही है। अतः चोदना रूप शब्द से जब विशेष का ज्ञान होगा तो तदन्तर्गत सामान्य का भी ज्ञान अवश्य होगा। अतः चोदना रूप शब्द प्रमाण चूंकि धर्म के विशेष रूप का ज्ञापक है तो फिर सामान्य रूप का ज्ञापक अवश्य है। तस्मात् 'चोदना' धर्म के सामान्य रूप और विशेष रूप दोनों का ग्राहक है। प्रवृत्ति के लिये धर्म के सामान्य और विशेष दोनों रूपों का ज्ञान आवश्यक है। प्रवृत्ति के लिये अवश्य अपेक्षणीय धर्म के उक्त दोनों रूपों का ज्ञान चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से ही संभव है, अर्थापत्ति प्रमाण से नहीं। अतः अर्थापत्ति धर्म का ज्ञापक प्रमाण नहीं है ॥ १०९ ॥

यथार्थापत्तिरेवं च नानुमानोपमेष्यते।
शास्त्रं चेत् तदपेक्षेत तस्यैव स्यात् प्रमाणता ॥ ११० ॥

जिस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण प्रवृत्ति के उपयोगी धर्मज्ञान के लिये शास्त्र की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार अनुमान भी उक्तज्ञान के लिये शास्त्र की ही अपेक्षा रखता है। अतः अर्थापत्ति की तरह उक्त अनुमान भी धर्म के उपयुक्त ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति की तरह अनुमान भी धर्म के ज्ञापन के लिये शास्त्र की ही अपेक्षा रखता है। अतः शास्त्र ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है, अनुमान नहीं।

'निर्विकल्पकपक्षे तु' इस ८६वें श्लोक के द्वारा कहा गया है कि चूंकि निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अतः अनुमानादि के अङ्गभूत लिङ्गादि का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। अतः अनुमानादि प्रत्यक्षमूलक नहीं हैं। अतः अनुमानादि की प्रत्यक्षमूलकता के द्वारा प्रत्यक्षावेद्य धर्म में अनुमानादि से अगम्यत्व का भाष्यकारीय कथन असङ्गत है ॥ ११० ॥

प्रत्यक्षाग्रहणं यत्तु लिङ्गादेरविकल्पनात्।
तत्रेष्टत्वाद् विकल्पस्याप्यर्थरूपोपकारिणः ॥ १११ ॥

अर्थात् यह जो कहा गया है कि जिसलिये कि प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्पक ज्ञान रूप है, अतः (अनुमानादि के) अंगभूत लिङ्गादि का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हो सकता

(क्योंकि अनुमानादि में लिङ्गादि के जिस ज्ञान का उपयोग होगा वह सविकल्पक ज्ञान रूप ही हो सकता है)। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रमाण मानना ही होगा। जिसलिये कि इस सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण से जो लिङ्गादि का ज्ञान होगा वह तद्वति तत्प्रकारक होने से प्रमात्मक होगा, अतः उसका करण रूप उस सविकल्पक ज्ञान भी अवश्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥१११॥

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिसदृशं विज्ञानं शुद्धवस्तुजम् ॥ ११२ ॥

(किन्तु इन्द्रियजनित सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय से निर्विकल्पक ज्ञान भी उत्पन्न होता है, जिसलिये कि) इन्द्रियपात के बाद पहिले 'केवल' वस्तुविषयक ज्ञान ही उत्पन्न होता है (उसमें विशेषण, नाम प्रभृति विषय नहीं होते) जैसे कि छोटे बालकों या गूंगे प्रभृति मनुष्यों का जो ज्ञान होता है जिसका विषयादि के द्वारा विवरण नहीं दिया जा सकता ॥ ११२ ॥

न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते ।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ॥ ११३ ॥

'सामान्य' अर्थात् जिससे विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति हो, 'विशेष' अर्थात् जिससे समान विभिन्न व्यक्तियों में भी परस्पर भिन्नत्व की प्रतीति हो—इन स्वरूपों के सामान्य और विशेष इन दोनों में से कोई भी निर्विकल्पक ज्ञान में भासित नहीं होता। इन दोनों का आश्रयीभूत धर्मिस्वरूप वस्तु ही केवल निर्वि-कल्पक ज्ञान में भासित होती है।

अतः निर्विकल्पकज्ञान अथवा आलोचनज्ञान शुद्धवस्तुविषयक ही है, विशेषण-विषयक या नामविषयक नहीं ॥ ११३ ॥

महासामान्यमन्यैस्तु द्रव्यं सदिति चोच्यते ।
सामान्यविषयत्वं च प्रत्यक्षस्यैवमाश्रितम् ॥ ११४ ॥

विशेषास्तु प्रतीयन्ते सविकल्पकबुद्धिभिः ।
ते च केचित् प्रतिद्रव्यं केचिद् बहुषु संश्रिताः ॥ ११५ ॥

तानाकल्पयदुत्पन्नं व्यावृत्तानुगतात्मना ।
गव्यश्वे चोपजातं तु प्रत्यक्षं न विशिष्यते ॥ ११६ ॥

महासामान्यम्……आश्रितम्……बुद्धिभिः

वेदान्तियों का कहना है कि केवल 'महासामान्य ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होता है जिसका ज्ञान 'द्रव्यम्' 'सत्' इत्यादि आकार का होता है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य स्वरूप विषय का ही ग्राहक है (घटत्व-पृथिवी-त्वादि विशेष धर्मों का ग्रहण सविकल्पक ज्ञान से होता है)।

ते च""संश्रिता""तानाकल्पयत्""विशिष्यते

(वे विशेष धर्म दो प्रकार के हैं) कुछ विशेष धर्म तो केवल एक ही व्यक्ति में रहते हैं (जैसे कि वैशेषिकों का 'विशेष' पदार्थ, या तद्व्यक्तित्वादि धर्म)। कुछ विशेष धर्म ऐसे भी होते हैं, जो अनेक आश्रयों में रहते हैं (जैसे गोत्व अश्वत्वादि) ये सत्तादि महासामान्यों की अपेक्षा विशेष धर्म हैं। किन्तु इनमें से बहुत से आश्रयों में विशेष धर्म सामान्य धर्म भी होते हैं, क्योंकि आश्रयीभूत विभिन्न व्यक्तियों में अनुवृत्तिप्रत्यय को अर्थात् एकाकारक प्रतीति को भी उत्पन्न करते हैं। किन्तु उन धर्मों को व्यावृत्तिबुद्धि के अर्थात् अपने आश्रयों को औरों से भिन्न रूप में समझाने के कारण ही उनकी विशेष धर्म रूप में भी कल्पना की गयी है। किन्तु 'सत्' इस एक आकार की प्रतीति ही चूंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गो अश्व प्रभृति विभिन्न व्यक्तियों में होती है, अतः सत्ता प्रभृति केवल सामान्य या महासामान्य ही कहे जाते हैं ॥ ११४–११६ ॥

तदयुक्तम् प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपोपलम्भनात् ।
न ह्याख्यातुमशक्यत्वाद् भेदो नास्तीति गम्यते ॥ ११७ ॥

किन्तु उक्त कथन संगत नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य (वस्तु) की उपलब्धि भिन्न-भिन्न रूपों में निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा होती है। लेकिन वह भेद शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता तथा यह भी नहीं समझा जा सकता कि निर्वि-कल्पकज्ञान में भासित होने वाली वस्तुओं में परस्पर भेद हैं ही नहीं।

अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षुःपात के बाद नील और पीत दोनों वस्तुओं का जो निर्विकल्पक होता है वह एक ही प्रकार का होता है। इसी तरह तिक्त और मधुर का, शीत और उष्ण का तथा गो और अश्व का जो चक्षुःपात के बाद निर्विकल्पक बोध होता है उसे एक ही प्रकार का नहीं कहा जा सकता। अतः निर्विकल्पकज्ञान में भी 'विशेष' का भान होता है ॥ ११७ ॥

निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः ।
ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते ॥ ११८ ॥

सविकल्पकज्ञान की तरह निर्विकल्पकज्ञान में भी सामान्य और विशेष एत-दुभयात्मक वस्तु ही भासित होती है। वस्तु को उभयात्मक कहने का इतना ही अर्थ है कि वस्तु अपने में रहनेवाले सामान्य धर्म और विशेष धर्म-एतदुभयात्मक है। निर्विकल्पकज्ञान से ज्ञाता तो केवल सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों के आश्रयीभूत वस्तु को ही समझता है। वस्तुतः निर्विकल्पकज्ञान में केवल वस्तु ही भासित होती है, उसमें रहने वाला सामान्य धर्म या विशेष धर्म नहीं ॥ ११८ ॥

न चासाधारणत्वेन परव्यावृत्त्यकल्पनात् ।
विशेषानुगमात् क्लृप्तेः सामान्यमिति नापि तत् ॥ ११९ ॥

क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान में जो विषय भासित होता है वह स्वभिन्न-भिन्नत्व रूप "विशेष" व्यावृत्ति प्रत्यय कारण स्वरूप से भी नहीं और अपने समानशील

वस्तुओं में रहनेवाले सामान्य (अर्थात् अनुवृत्तिप्रत्यय कारण रूप से ही नहीं) अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान में केवल विषय स्वयं भासित होता है अपने सामान्य धर्म और विशेषधर्म के साथ नहीं ॥ ११९ ॥

ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥ १२० ॥

निर्विकल्पकज्ञान के बाद उसी वस्तु का (निर्विकल्पक ज्ञान में गृहीत) जाति-नामादि के साथ जिस सविकल्पक बुद्धि के द्वारा ग्रहण होता है; उस सविकल्पकज्ञान को भी हमलोग प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं ॥ १२० ॥

करणं चेन्द्रियं बुद्धेर्न तत्र ज्ञानमाहितम् ।
ततः स्मृत्यसमर्थत्वाद् विकल्पोऽतो न वार्यते ॥ १२१ ॥

इन्द्रियाँ बुद्धि में करण हैं, कर्त्ता नहीं; इन्द्रियों में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सविकल्पकज्ञान, पूर्वज्ञातविषयक होने के कारण स्मृति रूप है एवं स्मृति को उत्पन्न करने की शक्ति इन्द्रियों में नहीं है। सुतराम् स्मृतिरूप-सविकल्पकज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता ॥ १२१ ॥

आत्मन्येव स्थितं ज्ञानम् स हि बोद्धात्र गम्यते ।
स्मरणे चास्य सामर्थ्यं सन्धानादौ च विद्यते ॥ १२२ ॥

इन्द्रियादि करणों से ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है, क्योंकि समझनेवाला आत्मा स्व-स्वरूप आत्मा में ही विषयों को जान लेता है। आत्मा में ही स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा प्रभृति को उत्पन्न करने का भी सामर्थ्य है। इन्द्रियादि में स्मरणादि ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है ॥ १२२ ॥

तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धे विद्यमाने स्मरन्नपि ।
विकल्पयन् स्वधर्मेण वस्तुप्रत्यक्षवान् नरः ॥ १२३ ॥

अतः इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के रहते हुए आत्मा अगर स्मृतिरूप सहायक के द्वारा भी नाम-जात्यादि के साथ वस्तुओं के सविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करता है तो वह प्रत्यक्षत्व से युक्त ही है अर्थात् इस प्रकार इन्द्रियजनित उक्त सविकल्पकज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है ॥ १२३ ॥

तच्चैतदिन्द्रियाधीनमिति तैर्व्यपदिश्यते ।
तदसम्बन्धजातं तु नैव प्रत्यक्षमिष्यते ॥ १२४ ॥

इस प्रकार का (स्मृति की सहायता से उत्पन्न) वह सविकल्पकज्ञान चूंकि इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रियों के द्वारा उसका "व्यपदेश" होता है अर्थात् वह 'प्रत्यक्ष' शब्द से व्यवहृत होता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में सविकल्पक होते हुए भी इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसे हम मीमांसक भी प्रत्यक्ष नहीं मानते। (अर्थात् इन्द्रियजन्यत्व ही 'प्रत्यक्ष' का लक्षण है, इन्द्रिय-

मात्रजन्यत्व नहीं। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष स्मृति से उत्पन्न होते हुए भी इन्द्रियों से उत्पन्न होने से "प्रत्यक्ष" है ॥ १२४ ॥

पुनः पुनर्विकल्पेऽपि सतो जातिः प्रतीयते ।
तत्सम्बन्धानुसारेण सर्वं प्रत्यक्षमिष्यते ॥ १२५ ॥

इस प्रकार इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से एवं जाति-प्रभृति से युक्त होकर विषयों का ज्ञान वारबार होता रहेगा तथापि वे सभी ज्ञान "सविकल्पक प्रत्यक्ष" ही कहलायेंगे, क्योंकि सभी ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न हैं ॥ १२५ ॥

न हि प्रविष्टमात्राणामुष्णाद् गर्भगृहादिषु ।
अर्था न प्रतिभान्तीति गृह्यन्ते नेन्द्रियैः पुनः ॥ १२६ ॥

(अगर जिस किसी प्रकार इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने से ज्ञान, प्रत्यक्ष कहलाये, तो फिर इन्द्रियपात होने से ही वह क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? अतः केवल इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध का पूर्व में रहना ही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं है। इसी आक्षेप का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है) अगर किसी को घर के भीतरी भाग में प्रवेश करते ही गर्मी के कारण वहाँ की वस्तु ज्ञात नहीं हो पाती, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे ही विषय बाद में इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते ॥ १२६ ॥

यथा त्वाभासमात्रेण पूर्वं ज्ञात्वा स्वरूपतः ।
पश्चात् तत्रावबुध्यन्ते तथा जात्यादिधर्मतः ॥ १२७ ॥

(यदि इसका यह उत्तर दें कि उक्त स्थल में उस पुरुष को घर के भीतरी भाग में प्रवेश करते ही वहाँ के जिन विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, उन विषयों का तत्क्षण ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान अस्फुट रहता है, कुछ समय के बाद पुनः इसी विषय का स्फुट ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु इस प्रकार तो प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि) विषय के ऊपर इन्द्रियपात होते ही केवल विषय का अस्फुट ज्ञान ही उत्पन्न होता है, बाद में उसी विषय को नाम जात्यादि से युक्त रूप से अच्छी तरह समझा जा सकता है ॥ १२७ ॥

यदि त्वालोच्य संमील्य नेत्रे कश्चिद् विकल्पयेत् ।
न स्यात् प्रत्यक्षता तस्य सम्बन्धाननुसारतः ॥ १२८ ॥

(अगर स्मृति के बाद उत्पन्न होने वाले सविकल्पकज्ञान को केवल इन्द्रिय-व्यापार के न रुकने के कारण ही प्रत्यक्ष माना जाय तो फिर निर्विकल्पक ज्ञान के बाद आँखों को मुँद रखने वाले पुरुष के सविकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसी पूर्व-पक्ष का समाधान 'यदि त्वालोच्य' इस श्लोक से किया गया है।) निर्विकल्पकज्ञान के बाद इन्द्रियों को समेट लेने पर किसी को उस विषय का सविकल्पकज्ञान होता भी है तो वह सविकल्पकज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता, क्योंकि उस सविकल्पकज्ञान से पहले इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध नहीं है ॥ १२८ ॥

असम्बन्धविकल्पेऽपि तुल्यमात्मादि कारणम् ।
तेनासाधारणत्वं स्यादत्राक्षस्यैव कल्पने ॥ १२९ ॥

यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमानादिज्ञान इन सबों के प्रति आत्माप्रभृति समानरूप से कारण हैं किन्तु विषय और इन्द्रिय का संनिकर्ष केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही विशेषरूप से कारण है। अतः इन्द्रियबोधक 'अक्ष' शब्द से युक्त "प्रत्यक्ष" शब्द से प्रकृत सविकल्पक साक्षात्काररूप ज्ञान का ही व्यवहार होता है ॥ १२९ ॥

निर्विकल्पकबोधेऽपि नाक्षं केवलकारणम् ।
तत्पारम्पर्यजाते वा रूढिः स्यात् पङ्कजादिवत् ॥ १३० ॥

इसी प्रकार निर्विकल्पकज्ञान में भी 'केवल' इन्द्रिय कारण नहीं है किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष की तरह विषय के साथ संबद्ध इन्द्रिय ही निर्विकल्पकज्ञान का भी कारण है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग इन्द्रिय-सम्बन्ध-मूलक ही है।

अथवा निर्विकल्पकज्ञान की उत्पत्ति, इन्द्रिय-संनिकर्ष-रूप-व्यापार के विना मान लेने पर भी इन्द्रिय में जो निर्विकल्पकज्ञान का परम्परया कारणत्व है, उसी से उसमें "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग उपपन्न हो सकता है। किन्तु इन्द्रियाँ तो अनुमानादिज्ञानों के प्रति भी परम्परया कारण हैं ही। अतएव इस प्रकार उनमें में भी "प्रत्यक्ष" शब्द के प्रयोग की आपत्ति हो सकती है, अतः "प्रत्यक्ष" शब्द को साक्षात्कारात्मक ज्ञान में "रूढ़" भी मानते हैं—जैसेकि "पंकज" शब्द का "पंकाज्जातः" इस प्रकार का 'योग' कमल एवं पंक से उत्पन्न कुमुदादि में साधारणरूप से रहने पर भी कमल में "पंकज" शब्द को रूढ़ भी मान लेते हैं जिससे कुमुदादि में पंकज शब्द का प्रयोग नहीं हो पाता। उसी प्रकार प्रत्यक्ष शब्द के योगार्थ अनुमानादि भी है, किन्तु वे प्रत्यक्ष शब्द के रूढ्यर्थ नहीं हैं। अतः उनमें "प्रत्यक्ष" क्षब्द का प्रयोथ नहीं हो पाता है ॥ १३० ॥

अनिमित्तैव वा रूढिः सुतरां सविकल्पकम् ।
प्रत्यक्षं सम्मतं लोके न तथा निर्विकल्पकम् ॥ १३१ ॥

अथवा "प्रत्यक्ष" शब्द को सविकल्पक प्रत्यक्ष में केवल रूढ़ ही मानें (प्रत्यक्ष शब्द को पङ्कज शब्द की तरह "योगरूढ़" न मानें) तदनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष शब्द का मुख्य व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि साधारणजन जिस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष शब्द का भूरिप्रयोग करते, उस रीति से उतनी मात्रा में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में साधारणजन प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं करते ॥ १३१ ॥

वृद्धप्रयोगगम्याश्च शब्दार्थाः सर्व एव नः ।
तेन यत्र प्रयुक्तोऽयं न तस्मादपनीयते ॥ १३२ ॥

किस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हो—इस प्रसंग में सभी को वृद्धव्यवहार के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है। अतः वे जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करते उस शब्द के प्रयोग को हटाया नहीं जा सकता ॥ १३२ ॥

सिद्धानुगममात्रं हि कर्तुं युक्तं परीक्षकैः।
न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्तनम् ॥ १३३ ॥

क्योंकि "परीक्षक" अर्थात् पण्डितगण केवल लोक से सिद्ध अर्थों का परीक्षण ही कर सकते है, वे लक्षणादि का निर्माण कर सर्वजनसिद्ध अर्थों में उलट फेर नहीं कर सकते ॥ १३३ ॥

कल्पनायाः स्वसंवित्तावीन्द्रियाधीनता कथम्।
मनस्तत्रेन्द्रियं चेत् स्याद् गोत्वादावपि तत्समम् ॥ १३४ ॥

(जिन ज्ञानों में प्रत्यक्ष शब्द की प्रसिद्धि वृद्धानुमत हो, उनमें यदि प्रत्यक्ष पद की रूढ़ि न मानें तो बौद्धों के मत में भी) स्वसंवित्तिरूप ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का व्यवहार किस रूप में उपपन्न होगा ?

अगर मन रूप इन्द्रिय के सम्बन्ध द्वारा उस "स्वसंवित्तिरूप" ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का सम्पादन करें तो फिर मन का यह सम्बन्ध गोत्वादि विषयों के साथ भी उसी प्रकार है। अतः मन रूप इन्द्रिय से गोत्वादि का प्रत्यक्ष भी मानना होगा ॥ १३४ ॥

स्वसंवित्तौ तदिष्टं चेल्लोको न ह्येवमिच्छति।
तस्माद् रूढत्वमेष्टव्यं पारिभाषिकताऽपि वा ॥ १३५ ॥

(अगर इसका यह समाधान करें कि) मन चूंकि इन्द्रिय है, अतः उसमें प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति अवश्य है, किन्तु यह शक्ति घटत्वादि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष के लिए उपयोगी नहीं है। मन से केवल "स्वसंवित्ति" रूप आन्तर-विषय का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः मन से गोत्वादिविषयक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती। (लेकिन यह समाधान भी ठीक नहीं है) क्योंकि साधारणजन तो मन से भी बाह्य विषयों का ही प्रत्यक्ष मानते हैं, स्वसंवित्ति प्रभृति आन्तरविषयों का नहीं। अतः साधारणजनों के व्यापार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए साधारणजनों को अनुभव के अनुसार बाह्यविषयक इन्द्रियजनित सविकल्पकज्ञान में "रूढ़ि" और "परिभाषा" इन दोनों में से किसी एक को मानना ही होगा। केवल इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान में ही प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार लोकविरुद्ध होगा, क्योंकि इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान में जनसाधारण "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग नहीं करते ॥ १३५ ॥

मनसस्त्विन्द्रियत्वेन सुखदुःखादिबुद्धिषु।
यथा प्रत्यक्षतैवं नस्तदधीना भविष्यति ॥ १३६ ॥

अथवा जिस विषय का निर्विकल्पकज्ञान होगा उस विषय में मन भी इस निर्विकल्पकज्ञान के साहाय्य से गोत्वादि बाह्य विषयों में प्रवृत्त होकर तद्विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष का संपादन कर सकता है। इस प्रकार मन से उत्पन्न अनुमानादि-स्वरूप सविकल्पक ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति का वारण हो सकता है। बाह्य इन्द्रियों के साहाय्य के विना भी केवल मन से सुख-दुःखादि विषयों के प्रत्यक्ष का होना सभी मानते ही हैं ॥ १३६ ॥

तदधीनत्वसाम्येऽपि कल्पनापोढशब्दनात् ।
प्रत्यक्षं किञ्चिदेवेष्टं यथा तत्र तथैव नः ॥ १३७ ॥

जैसे आप (बौद्धों) के मत में 'स्वसंवित्ति' रूप ज्ञान और "गोत्वादि-विषयक सविकल्पकज्ञान" दोनों ही समान रूप से मन से उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में चूँकि "कल्पनापोढ़" शब्द का उपादान है अतः 'कल्पनारूढ़' गोत्वादि-संवेदनों में 'प्रत्यक्ष' शब्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु "कल्पनापोढ़" स्वसंवित्तिरूप ज्ञान में ही प्रत्यक्षत्व का व्यवहार होता है उसी प्रकार हम लोगों के मत में भी प्रत्यक्षलक्षण के लक्ष्य को इन्द्रियजन्य होने के समान "अपरोक्षावभासी" भी होना चाहिए। ऐसा मान लेने पर वही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलायेगा, जिसका अनुव्यवसाय "साक्षात्करोमि" इस आकार का होगा। अतः अनुमानादि सविकल्पक ज्ञानों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ॥ १३७ ॥

लिङ्गाद्यभावतश्चापि नानुमानादिधीरियम् ।
बाधकप्रत्ययासत्त्वान्नाप्रामाण्यं च युज्यते ॥ १३८ ॥

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष के बाद जो सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है वह चूँकि लिङ्गज्ञान, सादृश्यज्ञान प्रभृति करणों से उत्पन्न नहीं होता है अतः उसे अनुमान प्रभृति में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। इसलिए परिशेषात् उसे प्रत्यक्ष ही कहना पड़ेगा। (इस प्रकार परिशेषानुमान से भी इन्द्रियजनित सविकल्पकज्ञान में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि अबाधित है।) यतः उसके प्रामाण्य की बाधा के लिए कोई भी दोषरूप बाधक उपस्थित नहीं है, अतः उसे अप्रमाण भी कहना ठीक नहीं है ॥ १३८ ॥

न च पूर्वमदृष्टत्वात् स्मृतित्वमुपपद्यते ।
तस्मात् प्रत्यक्षमेवेवम् व्यवहारस्तथैव च ॥ १३९ ॥

एवं उसका विषय पहले से ज्ञात नहीं है, अतः इन्द्रियजनित सविकल्पकज्ञान स्मृति-स्वरूप भी नहीं है (फलतः अनुभव रूप ही है)। अतएव वह "प्रत्यक्ष प्रमाण" ही है, तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमानादिबाध के जितने भी "व्यवहार" होते हैं वे सभी इन्द्रियजनित सविकल्पकज्ञान में समान रूप से होते हैं। अतः यह भी अवश्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥ १३९ ॥

जात्याद्यर्थान्तरं यस्मादतद्रूपेऽपि वस्तुनि ।
भवत्यध्यस्य धीस्तस्मान्मृगतृष्णादिभिः समा ॥ १४० ॥

सविकल्पक प्रत्यक्ष में चूँकि नाम, जाति, क्रिया प्रभृति पदार्थ द्रव्यादि विषयों से अभिन्न रूप में भासित होते हैं अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जात्यादि के भेदों से युक्त द्रव्यादि पदार्थ उसमें भासित होते हैं। अतः जिस प्रकार मृगमरीचिका में जल की बुद्धि अध्यासमूलक होने से प्रमाण नहीं होती है, उसी प्रकार जात्यादि से भिन्न द्रव्यादि पदार्थों में जात्यादि के अभेद का अध्यासरूप सविकल्पक प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं हो सकता ॥ १४० ॥

नैतदश्वादिबुद्धीनामध्यारोपाद्यसम्भवात् ।
स्थितं नैव हि जात्यादेः परत्वं व्यक्तितो हि नः ॥ १४१ ॥

(यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि) "अश्वोऽयम्" इत्यादि आकार के सविकल्पक प्रत्यक्ष अश्वत्वादि जाति से अभिन्नरूप में अश्वादि को विषय करते हुए भी "अध्यास" रूप नहीं है। हम मीमांसकों के मत में जाति और व्यक्ति परस्पर भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही हैं। (अतः अश्वत्वादि से अभिन्न ही अश्वादि चूंकि उक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय हैं इसलिए उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता) ॥१४१॥

यदि ह्येकान्ततो भिन्नं विशेष्यात् स्याद् विशेषणम् ।
स्वानुरूपां सदा बुद्धिं विशेष्ये जनयेत् कथम् ॥ १४२ ॥

अगर जाति क्रिया प्रभृति विशेषण द्रव्यादि अपने विशेष्यों से सर्वथा भिन्न होते तो फिर वे विशेषण सर्वदा स्व से अभिन्न रूप में अपने विशेष्यों के साथ भासित नहीं होते। (अथवा सर्वदा स्वतः भिन्न रूप से विशेष्यविषय की बुद्धि को उत्पन्न नहीं करते) ॥ १४२ ॥

स्फटिकादौ तु लाक्षादिस्वरूपा या मतिर्भवेत् ।
अव्युत्पन्नस्य सा मिथ्या व्युत्पन्नानां हि भेदधीः ॥ १४३ ॥

लाह के समीप में रहने वाले स्फटिक में जो "रक्तोऽयम्" इस आकार की रक्त के अभेद को विषय करने वाली बुद्धि साधारणजनों को होती है, वह वस्तुतः भ्रम है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों के लिए स्फटिक रक्त रूप से युक्त द्रव्य नहीं है वस्तुतः इस आकार के भेद की प्रतीति होती है ॥ १४२ ॥

न तु जात्यादिनिर्मुक्तं वस्तु दृष्टं कदाचन ।
तद्विमोकेन वा तानि लाक्षादिस्फटिकादिवत् ॥ १४४ ॥

किन्तु जाति को छोड़कर केवल व्यक्ति की न तो कभी सत्ता ही है और न कभी जाति को छोड़कर व्यक्ति की ही प्रतीति होती है। जैसे—लाह की रक्तिमा के साथ स्फटिक कभी रहता है, कभी नहीं, कभी प्रतीत होता है, कभी नहीं। लेकिन ऐसी स्थिति जाति और व्यक्ति की नहीं है ॥ १४४ ॥

तत्रापि चेन्न दृश्येत भेदः कैश्चित् कदाचन ।
रक्तादिबुद्धिसम्यक्त्वं विनिवार्येत केन वा ॥ १४५ ॥

अगर स्फटिक में कभी रक्त के भेद की प्रतीति किसी को न हो तो फिर स्फटिक में भी उक्त "रक्तोऽयम्" इस प्रतीति के अभाव को कौन हटा सकता है ? ॥ १४५ ॥

न चाप्ययुतसिद्धानां सम्बन्धित्वेन कल्पना ।
नानिष्पन्नस्य सम्बन्धो निष्पत्तौ युतसिद्धता ॥ १४६ ॥

(वैशेषिकगण जाति और व्यक्ति दोनों को परस्पर अत्यन्त भिन्न मानते हैं और तदनुसार दोनों 'अयुतसिद्धों' में 'समवाय' नाम के सम्बन्ध की कल्पना करते हैं

अतः जाति और व्यक्ति में भेद के साधक इस वैशेषिकसिद्धान्त का खण्डन ही इस श्लोक से १५० श्लोक पर्यन्त किया गया है)।

अयुतसिद्ध पदार्थ किसी सम्बन्ध के सम्बन्धी अर्थात् प्रतियोगी और अनुयोगी नहीं हो सकते क्योंकि सम्बन्ध के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों को सम्बन्ध से पहले वर्तमान रहना आवश्यक है। अगर समवाय के पहले जाति और व्यक्ति दोनों पदार्थों की सत्ता मानेंगे तो वे 'अयुतसिद्ध' न होकर 'युतसिद्ध' ही होंगे। अगर समवाय से पहले उनकी सत्ता नहीं मानेंगे तो वे समवाय के अनुयोगी या प्रतियोगी ही नहीं हो सकेंगे।

अतः जाति और व्यक्ति इन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं है किन्तु अभेद ही है ॥ १४६ ॥

तथा च सति सम्बन्धे हेतुः कश्चिन्न विद्यते।
तस्माच्चापि न सम्बन्धः पदार्थानां प्रतीयते ॥ १४७ ॥

अगर जाति या व्यक्ति इन दोनों की पृथक् सत्ता समवाय सम्बन्ध से पहले मान लेते हैं अर्थात् दोनों की 'युतसिद्धि' स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर दोनों में "समवाय नाम का कोई अतिरिक्त सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। (क्योंकि दोनों की साथ-साथ नियत प्रतीति की उपपत्ति दोनों में अभेद सम्बन्ध को मान लेने से भी हो जाती है)।

इस प्रकार समवाय की सिद्धि न होने पर द्रव्य से लेकर विशेष पर्यन्त छः पदार्थों में जो समवायमूलक "एकार्थसमवाय" नाम के सम्बन्ध की बात कही जाती है वह भी ठीक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि समवाय का जातिरूप धर्म और व्यक्तिरूप धर्मी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। (जैसे कि संयोग का अपने धर्मियों के साथ रहता है) अतः फिर उक्त धर्म और धर्मी दोनों परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकेंगे ॥ १४७ ॥

समवायवियोगाच्च विश्लेषः स्यात् परस्परम्।
तत्सम्भावव्यवस्था स्यात् तस्य तस्यान्यसङ्गते ॥ १४८ ॥

अगर समवायी के साथ अर्थात् जातिरूप धर्म और व्यक्तिरूप धर्मी के साथ समवाय का धर्मधर्मिभाव नाम का कोई सम्बन्ध मानते हैं तो फिर उस धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध के लिए भी किसी और सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार समवाय को स्वीकार करने में अनवस्था दोष होगा ॥ १४८ ॥

अथ तस्यात्मरूपत्वान्नान्यसम्बन्धकल्पना।
अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः ॥ १४९ ॥

अगर ऐसा कहें कि समवाय स्वयं सम्बन्धरूप है, इसलिए अपने प्रतियोगी और अनुयोगी के साथ उसे सम्बद्ध होने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक नहीं है। सुतराम् प्रकृत में अनवस्था दोष नहीं है।

तो इसका यह परिहार है कि, अगर आप समवाय का सम्बन्ध के साथ अभेद मानते ही हैं तो फिर धर्म और धर्मी इन दोनों में ही अभेद को स्वीकार कर उसी अभेद को समवाय की संज्ञा दी जा सकती है ॥ १४९ ॥

न हि स व्यतिरिक्तः सन् सम्बन्धं प्रतिपद्यते ।
तस्मिंस्ताभ्यामभिन्ने तु न नानात्वं तयोर्भवेत् ॥ १५० ॥

क्योंकि समवाय को धर्म और धर्मी से भिन्न मानकर सम्बन्ध नहीं माना जा सकता (इस प्रसंग में अनवस्थादोष कह ही चुके हैं) । अगर धर्म और धर्मी इन दोनों के साथ समवाय का अभेद मानते हैं तो फिर धर्म और धर्मी इन दोनों में भी अभेद को स्वीकार करना ही होगा । ऐसा सम्भव नहीं है कि धर्म और धर्मी के साथ समवाय का अभेद हो और वे दोनों परस्पर भिन्न भी हों ॥ १५० ॥

ननु धर्मातिरेकेण धर्मिणोऽनुपलम्भनात् ।
तत्सङ्घमात्र एवायं गवादिः स्याद् वनादिवत् ॥ १५१ ॥

गत १२० श्लोक में यह कहा गया है कि निर्विकल्पक ज्ञान के बाद जो जात्यादि धर्म से युक्त होकर गवादि धर्मियों का सविकल्पकज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष है । इसी प्रसंग में इस श्लोक के द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि—चक्षु से रक्त श्वेतादि धर्म ही प्रतीत होते हैं, उनसे भिन्न कोई वस्तु भासित नहीं होती है जिसको धर्मी कहा जाय । अतः जात्यादि धर्मों से युक्त होकर किसका भान होगा ? सुतरां चक्षुरादि इन्द्रियों से दीखने वाले रूपादिविषयों के समूहरूप ही गवादि धर्मी हैं । जैसे वृक्षों का समूह ही "वन" शब्द से व्यवहृत होता है (वृक्षों के समूह से भिन्न "वन" नाम की किसी अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं मानी जाती) ॥ १५१ ॥

आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनुयायि यत् ।
तद्धर्मि यत्र वा ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद् भवेत् ॥ १५२ ॥
अतो जात्यादिरूपेण धर्मि यद् गृह्यते नरैः ।
पाररूप्यं न तस्यास्तीत्यप्रामाण्यं न युज्यते ॥ १५३ ॥

बदरादि एक ही धर्मी में हरित वर्ण और पकने पर रक्त-पीतादि वर्ण क्रमशः देखे जाते हैं । किन्तु बदरादि धर्मीमें हरितलादि वर्णों के आविर्भाव और तिरोभाव दोनों समय जो पिण्ड अनुस्यूत रहता है वही धर्मी है । अथवा बक-पंक्ति को देखने के समय प्रथम पंक्तिरूप धर्मी ही देखी जाती है, उसमें रहनेवाला शुक्लरूप पीछे दृष्टिगोचर होता है । यह प्रथम भासित होनेवाली वस्तु हीं धर्मी है जो रूपादि धर्मों से भिन्न है । अतः जात्यादि धर्मों के साथ धर्मी का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अप्रमा नहीं है, क्योंकि उसमें 'पाररूप्य' अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारकत्व नहीं है ॥ १५२–१५३ ॥

यस्यापि व्यतिरेकः स्याद्धर्मेभ्यो धर्मिणः स्फुटः ।
नित्यं तस्यापि ताद्रूप्यान्न मिथ्यात्वं प्रसज्यते ॥ १५४ ॥

यो ह्यसद्रूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथा पुनः ।
स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमवगम्यते ॥ १५५ ॥

जो वैशेषिकादि संप्रदाय धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानते हैं, उनके अनुसार भी धर्म और धर्मिविषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष अप्रमा नहीं होगा, क्योंकि धर्मी में धर्म की सत्ता बराबर रहती है ।

यद्यपि भिन्न दो पदार्थों में अभेद की प्रतीति अवश्य ही मिथ्या प्रतीति है, किन्तु वह प्रतीति मिथ्या नहीं है जिस धर्मी में धर्म की बराबर प्रतीति होती रहती है । धर्म और धर्मी को भिन्न मानने वालों का कहना है कि "अयं गौः" अथवा "गौरेवायम्" यह प्रतीति गोत्व जाति और गोरूप व्यक्ति दोनों के अभेद की प्रतीति नहीं है, किन्तु गोरूप धर्मी में गोत्वजाति के समवाय की प्रतीति है । अतः इसमें मिथ्यात्व का कोई भी प्रसंग नहीं है ॥ १५४–१५५ ॥

न चानेकेन्द्रियग्राह्यं भिन्नतां प्रतिपद्यते ।
मा भूद् भिन्नशरीरस्थग्राह्यत्वाद्भिन्नरूपता ॥ १५६ ॥

जिस प्रकार रूप और रस क्रमशः चक्षु और रसना इन दो विभिन्न इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण भिन्न हैं, उसी प्रकार घट शरीरादि द्रव्य भी चक्षु और त्वक् इन दो इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण प्रत्येकशः भिन्न हैं । इससे यह अनुमान निष्पन्न हुआ कि "एकत्वेन प्रतीयमानं शरीरादिकं वस्तुतोऽनेकम् अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपरसादिवत् ।" किन्तु यह अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी वस्तु अनेक इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण अनेक नहीं हो सकती । अगर अनेक इन्द्रियों से गृहीत होने वाले पदार्थ परस्पर भिन्न न हों तो फिर यज्ञदत्त और देवदत्त के शरीरों में भेद नहीं रहना चाहिये ॥ १५६ ॥

जात्यभेदादभेदश्चेदिन्द्रियत्वेन तत्समम् ।
तुल्यबुद्धेरतो भिन्ना न सत्तेन्द्रियभेदतः ॥ १५७ ॥

अगर यह कहें कि उक्त दोनों शरीरों में रहने वाली शरीरत्व जाति एक है, केवल इसलिए दोनों शरीर भिन्न नहीं है, तो फिर रूप, रस इन दोनों में भी भेद का मानना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इन दोनों के ग्राहक चक्षु और रसना इन दोनों में भी एक ही इन्द्रियत्व जाति है । फलतः दोनों एकजातीय इन्द्रियग्राह्य होने के कारण एक हो जायेंगे । अतः एकत्वबुद्धि के द्वारा गृहीत होना ही एकत्व का प्रयोजक है । वह एक वस्तु अपनी योग्यता के अनुसार एक ही इन्द्रिय से भी गृहीत हो सकती है या अनेक इन्द्रियों से भी गृहीत हो सकती है । सुतरां ग्राहक इन्द्रियों का नियामक नहीं है ॥ १५७ ॥

बुद्धिभेदाच्च नैकत्वं रूपादीनां प्रसज्यते ।
एकानेकत्वमिष्टं वा सत्तारूपादिरूपतः ॥ १५८ ॥

एक ही चक्षुःस्वरूप इन्द्रिय से गृहीत होने पर भी नील-पीतादि रूप चूँकि विभिन्न प्रकार की बुद्धियों के द्वारा गृहीत होते हैं, अतः उनमें भेद की प्रतीति में कोई

बाधा नहीं है। सत्ता जाति की दृष्टि से द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों ही यद्यपि एक हैं तथापि द्रव्यत्व गुणत्वादि की दृष्टि से उनमें अनेकत्व का व्यवहार भी मानना ही होगा ॥ १५८ ॥

क्वचिच्च सङ्कराशाक्षमेकमित्यवसीयते।
दार्ढ्यदौर्बल्यभेदेन व्यवस्थापि यतः क्वचित् ॥ १५९ ॥

कहीं घटादि विषयों में चक्षु और त्वक् प्रभृति अनेक इन्द्रियों का वृत्तिरूप सांकर्य देखा जाता है अतः सभी इन्द्रियाँ वस्तुतः एक ही हैं—ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि सबलता और दुर्बलता के अनुसार कहीं-कहीं 'व्यवस्था' भी देखी जाती है। जैसे बधिर रूप को देखता है, किन्तु शब्द उसे सुनाई नहीं देता है, अन्धे को शब्द सुनाई पड़ता किन्तु वह रूप को देख नहीं सकता। अतः इन्द्रियाँ एक नहीं अपितु अनेक हैं ॥ १५९ ॥

यथा हि मनसः सार्धं रूपादौ चक्षुरादिना।
प्रवृत्तिः सुखदुःखादौ केवलस्यैव दृश्यते ॥ १६० ॥

अगर इन्द्रियाँ अनेक हों, उनमें एक विषय में प्रवृत्तिरूप सांकर्य भी मानें, तो फिर घटादि द्रव्यों की तरह रूपादि गुणों का भी अनेक इन्द्रियों से ग्रहण मानना होगा। किन्तु यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि रूपादि बाह्य वस्तुओं में मन की प्रवृत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के सहारे ही होती है (अर्थात् वहाँ दोनों का सांकर्य है) और वही मन सुख दुखादि आन्तर विषयों को समझाने के लिए अकेले ही प्रवृत्त होता है। यही मन की 'व्यवस्था' है ॥ १६० ॥

न क्वचित् सङ्कराभावात् सर्वत्रैव निवर्तते।
क्वचिच्च सङ्करं दृष्ट्वा सङ्करोऽन्यत्र कल्प्यते ॥ १६१ ॥

अतः किसी स्थल में सांकर्य नहीं है (व्यवस्था है) केवल इसीलिए सभी स्थलों में सांकर्याभाव की निवृत्ति अर्थात् व्यवस्था की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह भी संभव नहीं है कि किसी स्थल में इन्द्रियों का सांकर्य है, केवल इसीलिये सर्वत्र सांकर्य ही मान लें ॥ १६१ ॥

श्रोत्रादेरुपघातेऽपि शब्दादिस्मृतिदर्शनात्।
वर्तमानस्य चाज्ञानाद् व्यवस्था सम्प्रतीयते ॥ १६२ ॥

व्यवस्था इसलिये स्वीकार करते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी शब्द की स्मृति होती है, एवं बधिर विद्यमान शब्द को भी नहीं सुन सकता है। शब्द को सुनने में श्रोत्र के शब्दादियों की स्मृति और सुखादि के अनुभव में 'मन' की 'व्यवस्था' अर्थात् अन्य इन्द्रियों के साथ असामानाधिकरण्य दोनों को ही मानना पड़ता है ॥ १६२ ॥

एकं यदि भवेदक्षं सर्वैर्गृह्येत वा नवा।
कल्प्यते शक्तिभेदश्चेत् शक्तिरेवेन्द्रियं भवेत् ॥ १६३ ॥

अगर (त्वक्रूप) एक ही इन्द्रिय मान लें तो या तो सभी को सभी विषयों का प्रत्यक्ष होगा या फिर किसी को किसी भी विषय का प्रत्यक्ष नहीं होगा। अगर इसके कारण के लिए एक ही त्वगिन्द्रिय में रूप, रस आदि विभिन्न विषयों के ग्रहण करने की विभिन्न शक्तियों को स्वीकार कर लें तो फिर वे विभिन्न शक्तियाँ ही इन्द्रिय होंगी जिससे इन्द्रियों का अनेकत्व ही सिद्ध हो जायगा ॥ १६३ ॥

शृणुयाद् बधिरः शब्दं सङ्करे चक्षुरादिना।
मनसो वा स्वतन्त्रत्वे वर्त्तमानार्थबुद्धिषु ॥ १६४ ॥

अगर घटादि कुछ वस्तुओं में अनेक इन्द्रियों की प्रवृत्ति को देखकर रूपादि को भी अनेक इन्द्रियों से ग्राह्य मानेंगे, तो फिर बधिर को श्रवणेन्द्रिय से शब्द सुनने की योग्यता न रहने पर भी उसमें विद्यमान चक्षु से ही शब्द को सुनने की आपत्ति होगी।

अगर वर्त्तमान बाह्य विषयों को ग्रहण करने की स्वतन्त्र क्षमता मन में स्वीकार करेंगे तो फिर बहरे व्यक्ति को भी शब्द का प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, क्योंकि मन तो उसे भी है ही। उसी से वर्त्तमान शब्द का प्रत्यक्ष होगा ॥ १६४ ॥

न स्मरेद् बधिरः शब्दं श्रोत्रं चेत् स्मृतिकारणम्।
स्मृतिवद् वा भवेदस्य वर्त्तमानार्थधीरपि ॥ १६५ ॥

इस तरह मन को अगर स्मृति उत्पन्न करने में स्वतन्त्र न मानें तो बहरे व्यक्ति को पहले सुने हुए शब्द का स्मरण न हो सकेगा एवं बधिर पुरुष की स्मृति को बिना मन के ही स्वीकार करें तो फिर उसी व्यक्ति को वर्त्तमान अर्थ का प्रत्यक्ष भी मानना होगा। करणों का अभाव तो दोनों स्थितियों में समान है ॥ १६५ ॥

स्मृतिश्च न भवेत् पश्चाद् गृह्णीयात् तन्न चेन्मनः।
श्रोत्रग्रहणवेलायाम् न च सर्वा स्मृतिर्भवेत् ॥ १६६ ॥

मन से स्मरण भी उसी वस्तु का होता है जिसके अनुभव में भी मन का व्यापार सहायक होता है। यह बात सुखादि के स्मरण से सिद्ध है। अतः श्रोत्र के द्वारा शब्दादि ग्रहण के समय यदि मन का भी साहाय्य स्वीकार न करें तो फिर आगे श्रोत्र का व्यापार न रहने पर शब्द की स्मृति न हो सकेगी। अतः श्रोत्रादि इन्द्रियों का वर्त्तमान अपने-अपने विषयों के प्रत्यक्ष के उत्पादन में भी मन सहायक होता है। अर्थात् मन के साथ सम्बद्ध श्रोत्रादि इन्द्रियाँ ही शब्दादिप्रत्यक्ष को उत्पन्न करतीं हैं।

जिस समय शब्द का प्रत्यक्ष होता है, उस समय और किसी विषय का स्मरण नहीं होता है। इससे समझते हैं कि उस समय श्रोत्र के साथ मन भी शब्द के प्रत्यक्ष में ही लगा हुआ है। अगर ऐसा न मानें तो शब्द के अनुभव के समय ही मन के द्वारा और विषयों के स्मरण की आपत्ति होगी ॥ १६६ ॥

बोधात्मकतया पुंसः सर्वत्र ग्रहणं भवेत्।
युगपद्विषयेऽप्यस्य करणापेक्षिता न चेत् ॥ १६७ ॥

पुरुष या आत्मा स्वयं बोधस्वरूप है। विषयों को ग्रहण करने के लिए उसे चक्षुरादि बाह्य इन्द्रिय की अपेक्षा है न कि अन्तरिन्द्रियरूप मन की। अगर ऐसा मानें तो फिर प्रत्येक पुरुष के द्वारा सर्वदा सभी विषयों का ग्रहण मानना पड़ेगा, क्योंकि आत्मा स्वयं ही बोधस्वरूप है। अतः पुरुष के द्वारा बोध के उत्पादन में चक्षुरादि करणों की भी अपेक्षा माननी ही होगी ॥ १६७ ॥

तस्माज्ज्ञानानुसारेण व्यवस्थासङ्करौ क्वचित् ।
ग्राह्यग्राहकशक्तिभ्यः कार्यद्वारेण कल्पितौ ॥ १६८ ॥
चक्षूरूपादिभेदस्तु पञ्चधैव व्यवस्थितः ।
तेन नीलादिभेदेऽपि नेन्द्रियानन्त्यकल्पना ॥ १६९ ॥

अतः ज्ञानरूप कार्य से विषयों में गृहीत होने की और करणों में ग्रहण के उत्पादन करने की विभिन्न प्रकार की शक्तियों के अनुसार किसी विषय में इन्द्रिय की प्रवृत्ति की "व्यवस्था" और किसी विषय में इन्द्रियवृत्तियों का 'सांकर्य' स्वीकार करना पड़ता है। जैसे कि रूपरसादि के प्रत्यक्ष के लिये चक्षु-रसनादि विभिन्न इन्द्रियाँ नियत हैं, उसी रीति से नीलपीतादि विभिन्न रूपों के लिये विभिन्न इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है। अतः चक्षुरादिभेद से बाह्य इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, एवं चाक्षुष-रासनादिभेद से तन्मूलक प्रत्यक्ष भी पाँच है। सुतरां नीलपीतादि या मधुर-लवणादि विषयों के आनन्त्य से अनन्त इन्द्रियों की कल्पना का कोई अवसर नहीं है ॥ १६८–१६९ ॥

तस्मात् पञ्चभिरप्यक्षैर्बोधः सत्तागुणत्वयोः ।
द्रव्यमूर्तौ पुनर्द्वाभ्यां रूपादावेकशः स्थितिः ॥ १७० ॥

तस्मात् सत्ता और गुणत्व का प्रत्यक्ष चक्षुरादि पाँचो इन्द्रियों से होता है। मूर्त्तद्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् इन दोनों इन्द्रियों से होता है (ये इन्द्रियों के सांकर्य का स्थल हैं)। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन विषयों का प्रत्यक्ष चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रवणेन्द्रिय इनमें से क्रमशः एक-एक से ही होता है। ये इन्द्रिय की 'व्यवस्था' के उदाहरण हैं ॥ १७० ॥

ननु जात्यादिरूपेऽपि शब्दाभेदोपचारतः ।
प्रवर्तमाना मिथ्या स्याद् बुद्धो रूपेषु बुद्धिवत् ॥ १७१ ॥
न शब्दाभेदरूपेण बुद्धिरर्थेषु जायते ।
प्राक् शब्दाद् यादृशी बुद्धिः शब्दादपि हि तादृशी ॥ १७२ ॥

कदाचित् जाति और व्यक्ति दोनों को अभिन्न मानकर कथित उन सविकल्पक प्रत्यक्षों का प्रमात्व उपपन्न किया जा सकता है जिनमें जात्यादि का अभेद विषय होता है, किन्तु शब्द से उत्पन्न जो जाति क्रियादि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको 'प्रमा' कहना दुष्कर है, क्योंकि उन बुद्धियों में शब्द से अभिन्नरूप में ही अर्थ

भासित होता है। अर्थात् पहले घटादि अर्थों में घटादि शब्दों से घट-घटत्व आदि अर्थों की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति प्रमा नहीं हो सकती; क्योंकि घटत्वादि अर्थों में घटादि शब्दों का अभेद बाधित है।

परन्तु यह आक्षेप भी उचित नहीं है। इसलिए कि शब्द से उत्पन्न होने के पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिस तरह घटत्वादि की प्रतीति (शब्दाभेदाविषयक प्रतीति) होती है, शब्द मात्र से उसकी प्रतीति उस प्रकार नहीं होती अर्थात् शाब्द-बोध में अर्थ शब्द से अभिन्न रूप में भासित नहीं होते ॥ १७१–१७२ ॥

ननु गोत्वादिरूपेण गवाकारादिबुद्धयः।
न प्राक् शब्दार्थसम्बन्धज्ञानात् सन्ति कदाचन ॥ १७३ ॥
जात्यादेस्तत्स्वरूपं चेदशब्दज्ञोऽपि लक्षयेत्।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दरूपस्तनिश्चयः ॥ १७४ ॥

(पूर्वपक्ष) गोत्वादि से अभिन्नरूप में गवादि अर्थों की प्रतीति तभी होती है, जबकि उससे पहले शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान रहता है। इसप्रकार शब्द और अर्थविषयक ज्ञान न रहने से गोत्वादि जातियों से अभिन्न रूप में गवादि अर्थों की प्रतीति नहीं होती है।

अगर ऐसी बात न हो तो फिर जिस पुरुष को शब्द और अर्थविषयक ज्ञान नहीं है उस पुरुष को भी जात्यादि में (जो व्यक्तियों का अभेद है) उसकी प्रतीति होती। किन्तु, चूँकि ऐसे पुरुषको उक्त प्रतीति नहीं होती है, अतः समझते हैं कि जाति से अभिन्न व्यक्ति-विषयक प्रतीतियाँ नियमतः शब्दाभेदविषयक ही होतीं हैं ॥ १७३–१७४ ॥

यथा रूपादयो भिन्नाः प्राक् शब्दात् स्वात्मनैव तु।
गम्यन्ते तद्वदेवैतत् संज्ञित्वं केवलं परम् ॥ १७५ ॥

(ऐसी बात नहीं है, क्योंकि) जिस प्रकार शब्दार्थज्ञान से पहले घटादि में रूपादि अपने स्वरूप से ही भासित होते हैं, उसी प्रकार घटत्वादि जातियाँ भी अपने स्वरूप से ही शाब्दबोध में भी भासित होतीं है। अन्तर इतना ही है कि घटत्वादि अर्थों में घटादि पदों के अभिधेयत्व का भी भान शाब्दबोध में होता है ॥ १७५ ॥

न चाविकल्पितः शब्दादिति वाच्यो न गृह्यते।
तेनागृहीतशब्दोऽपि गोत्वादीन् प्रतिपद्यते ॥ १७६ ॥

यह बात नहीं है कि शब्द के द्वारा उपस्थित हुए बिना शब्द के वाच्य अर्थ किसी प्रकार गृहीत ही नहीं होते। अतः जिस पुरुष को जिस अर्थ के बोधक शब्द का ज्ञान नहीं रहता है, उस पुरुष को भी अर्थ का बोध प्रत्यक्षादि के द्वारा होता ही है ॥ १७६ ॥

श्रुतिसंस्पर्शबोधेऽपि नैवाभेदोपचारता।
विवेकादर्थशब्दानां चक्षुःश्रोत्रधिया कृतात् ॥ १७७ ॥

शब्द से जो अर्थविषयकज्ञान होता है, उसमें भी अर्थ में शब्द के अभेद का भान नहीं होता है, क्योंकि घटादि अर्थ और घटादि शब्द क्रमशः इन दोनों के ग्राहक चक्षु और श्रवण ये दोनों भिन्न हैं (अर्थ और शब्द ये दोनों अगर अभिन्न होते तो फिर उक्त दोनों इन्द्रियों से दोनों का ग्रहण होता) ॥ १७७ ॥

न चोपेयेऽप्युपायस्य रूपाध्यासः प्रसज्यते ।
न हि दीपेन्द्रियादीनां रूपाध्यारोप इष्यते ॥ १७८ ॥

घटादि धर्मी के घटत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, तद्व्यक्तित्वादि अनन्त धर्म हैं। घट प्रमेयादि शब्द उन धर्मों में से किसी एक धर्म के अवधारणात्मक ज्ञान का उपायमात्र है, शब्द और अर्थ में अपने अभेद के आरोप का कारण नहीं है। घटादि अर्थविषयक शाब्दबोधस्वरूप उपेय को शब्दरूप उपाय का अध्यासरूप मानना सम्भव नहीं है। अगर ऐसा हो, तो घटादि के प्रत्यक्ष रूप उपेयों में भी दीप एवं इन्द्रिय प्रभृति उपायों की अध्यासस्वरूपता माननी होगी ॥ १७८ ॥

नित्यं यदि च गोत्वादि शब्दरूपेण गृह्यते ।
रूपान्तरं न दृष्टं चेद् भेदाध्यासौ कुतो न्विमौ ॥ १७९ ॥

जिस प्रकार घटादि अर्थ बराबर घटत्वादि रूप से ही प्रकाशित होते हैं अतएव जाति और व्यक्ति को अभिन्न मानते हैं, उसी तरह अगर जाति भी शब्द से अभिन्न रूप में ही नियमतः प्रतीत हो तो, जात्यभिन्न व्यक्तिविषयक प्रतीति एवं शब्दाभिन्न जातिविषयक प्रतीति इन दोनों को "अध्यास" रूप क्यों मानें? अर्थात् यथार्थ ही क्यों न मानें? फलतः जाति और शब्द के अभेद को भी वास्तविक ही मानना होगा जिससे उक्त शाब्दबोध में अप्रमात्व की कोई शङ्का ही नहीं रहेगी ॥ १७९ ॥

यद्यभेदो न मिथ्यात्वम् भेदश्चेत् स्यात् स्वरूपतः ।
नाध्यारोपप्रसङ्गः स्याद् भ्रान्त्या त्वध्यासकल्पना ॥ १८० ॥

अगर शब्द और उसके अर्थ जात्यादि, इन दोनों में वास्तविक अभेद है तो फिर जात्यादि शब्द की अभेदबुद्धि को 'मिथ्या' नहीं कहा जा सकता। अगर शब्द और उसके अर्थ जात्यादि वास्तव में अत्यन्त भिन्न हैं, तो फिर जात्यादि अर्थों में शब्द का 'आरोप' ही सम्भव नहीं, क्योंकि भ्रान्ति से ही आप लोगों के मत से अध्यास होता है। अत्यन्त भिन्न दो वस्तुओं में परस्पर अध्यास सम्भव नहीं है। जैसे कि तम और प्रकाश परस्पर अध्यस्त नहीं होते ॥ १८० ॥

शब्देनैव च निर्देशो गृहीतेऽर्थेऽवकल्पते ।
गौरित्येव च निर्देशो वाच्यतद्बुद्धिवादिनाम् ॥ १८१ ॥

कोई भी ज्ञात वस्तु शब्द के द्वारा ही दूसरे को समझाया जा सकता है। तदनुसार वाच्य (गोरूप अर्थ) तत् अर्थात् गो शब्द और गोविषयक ज्ञान ये तीनों "गौः" इस शब्द के द्वारा ही समझाये जाते हैं। अतः उनमें शब्दाभेद की भ्रान्ति होती है ॥ १८१ ॥

निर्देशतुल्यतायां च श्रोत्रा वक्तृस्वरूपता ।
शब्दज्ञानप्रमेयेषु विज्ञानस्यावसीयते ॥ १८२ ॥

इस 'निर्देशतुल्यता' से अर्थात् गोरूप अर्थ, गो शब्द एवं गोविषयकज्ञान इन तीनों का समान रूप से 'गौः' इस शब्द से अभिधान होने के कारण गवादि शब्द, इस शब्द से उत्पन्न ज्ञान और इस ज्ञान के विषय गोत्वादि अर्थ इन तीनों को सुनने वाला पुरुष शब्द से अभिन्न रूप में समझ लेता है ॥ १८२ ॥

भ्रान्तिहेतुसमानत्वेऽप्युपायत्वान्मतिश्रुती ।
मन्यतेऽर्थे समध्यस्ते नार्थाध्यासं तयोः पुनः ॥ १८३ ॥

यद्यपि उक्त निर्देशतुल्यता के कारण ज्ञान और अर्थ इन दोनों में ही शब्द को श्रोता अध्यस्त समझता है, क्योंकि वह उपाय है। फिर भी ज्ञान और शब्द इन दोनों में अर्थ को अध्यस्त नहीं समझता ॥ १८३ ॥

गोत्वे सास्नादिभङ्गयाङ्गादिरूपाभिधायके ।
निराकारोभयज्ञाने संवित्तिः परमार्थतः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार गोत्वजाति में स्नानादि के आश्रयरूप व्यक्ति की संवित्ति होती है और उसके अभिधायक शब्द में "ग" प्रभृति वर्णाकार की संवित्ति होती है, किन्तु दोनों ज्ञानों में अनुस्यूत संवित्ति का वास्तव में कोई भी आकार नहीं है। अतः शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों की संवित्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं ॥ १८४ ॥

यदि चाभेदरूपेण शब्देनार्थः प्रतीयते ।
एकरूपत्वमक्षादौ देवनादेः प्रसज्यते ॥ १८५ ॥

शब्द से अर्थ की प्रतीति शब्द से अभिन्न रूप में ही होती है, जात्यादि से अभिन्न रूप में नहीं। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक ही "अक्ष" से प्रतीत होने वाले "देवन" (क्रीड़ा) इन्द्रिय और विभीतक (बहेड़ा) इन तीनों को एक ही स्वरूप का मानना पड़ेगा, चूँकि अक्ष शब्द का अभेद तीनों में है ॥ १८५ ॥

स्यादनक्षनिवृत्त्या चेन्न प्राक् शब्दात् प्रतीयते।
गवादिष्वपि तुल्यं चेन्नैकरूपस्य दर्शनात् ॥ १८६ ॥

'अनक्षव्यावृत्ति' रूप अपोह स्वरूप धर्म से युक्त इन्द्रिय; देवन और विभीतक ये सभी 'अक्ष' शब्द के तीनों ही समान अर्थ हैं, अतः तीनों की एकस्वरूपता में कोई बाधा नहीं है। अगर ऐसा कहें तो सो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अक्ष' शब्द के द्वारा तीनों की प्रतीति होने के पहले तीनों में समानरूप से रहनेवाली उक्त "अनक्षव्यावृत्ति" का ज्ञान नहीं होता ।

किन्तु यह बात तो गवादि में भी है कि गो शब्द से उनका ज्ञान होने के पहले गोत्वादि का ज्ञान नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गो शब्द से गोत्व-

विषयक ज्ञान होने के पहले भी सभी गो व्यक्तियों में एकरूपता का दर्शन होता है ॥ १८६ ॥

त्रये विभीतकादीनां नैकधर्मान्वयोऽस्ति हि ।
शब्दः साधारणस्तेषां जातिशब्दाद् विलक्षणः ॥ १८७ ॥

किन्तु 'अक्ष' शब्द से बोध्य इन्द्रिय, देवन और विभीतक इन तीनों में किसी एक रूप की अनुस्यूति नहीं है। केवल तीनों में इतना ही साम्य है कि वे एक 'अक्ष' शब्द से व्यवहृत होते हैं जो एक उच्चारण से उनमें रहने वाले इन्द्रियत्व विभीतकत्वादि जातियों के बोधक नहीं है ॥ १८७ ॥

परस्परविभिन्नं तु ज्ञायतेऽत्राकृतित्रयम् ।
तदध्यासे न युज्येत तद्रूपस्याविभागतः ॥ १८८ ॥

किन्तु 'गो' शब्द से होने वाले बोध परस्पर भिन्न गो प्रभृतिशब्द, गो आदि रूप अर्थ और गोत्वादि जाति विभिन्न आकारों के होते हैं। अगर इन तीनों का परस्पर अध्यास मान लें तो फिर एक ही गवादि शब्द से बोधों की उक्त विभिन्नाकारता उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि वे विभिन्न आकार परस्पर अध्यस्त होने के कारण अपनी विभिन्नाकारता को खो बैठेंगे ॥ १८८ ॥

भिन्नाः स्युरक्षशब्दाश्चेन्नार्थे संशयदर्शनात् ।
न सामान्यादृते स स्याद् रूपाभेदश्च गम्यते ॥ १८९ ॥

इन्द्रिय, विभीतक (बहेड़ा) और देवन (क्रीड़ा-जूआ) इन तीनों का बोध करानेवाले 'अक्ष' शब्द भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा मान लेने पर शब्दाध्यास पक्ष में जो 'अक्ष' शब्द को लेकर आपत्तियाँ दी गयीं हैं वे सभी हट जातीं है। किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि अगर एक ही 'अक्ष' शब्द इन्द्रियादि के बोधक न हों तो फिर "अक्ष" शब्द के प्रयोग के बाद इससे जो विभीतकादि का संशय होता है—वह उपपन्न नहीं होगा चूँकि संशय की दोनों कोटियों में समान रूप से रहनेवाले "धर्म" को जाने विना संशय नहीं हो सकता। प्रकृत में यह साधारण धर्म एक ही अक्षशब्द से तीनों का गृहीत होना ही है। दूसरी बात यह है कि "अभी जिस अक्ष शब्द से हमें इन्द्रिय का बोध होता है, उसी से पहले देवन और विभीतक का भी बोध हुआ था" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। अतः विभिन्न अर्थों के बोधक अक्षादि शब्द भिन्न नहीं हो सकते ॥ १८९ ॥

भवत्यादौ च भिन्नेऽपि नामाख्यातत्वसंज्ञया ।
रूपैकत्वेन चाध्यासे तुल्यार्थत्वं प्रसज्यते ॥ १९० ॥

'भवति' प्रभृति आख्यात शब्द और "घटः" इत्यादि नाम शब्द क्रमशः अपने आख्यातत्व और नामत्व धर्म के द्वारा भिन्न हैं। अगर शब्दत्वरूप धर्म के द्वारा उनको अपने अर्थों में अध्यस्त मान लिया जाय तो फिर "आख्यात" और "नाम" दोनों को एकार्थक मानना होगा। किन्तु यह उचित नहीं है ॥ १९० ॥

शब्दनिष्पत्त्यभेदाच्च तिङन्तार्थस्य साध्यता ।
कथं कथं च मूर्त्तार्थो वाचके मूर्त्तिवर्जिते ॥ १९१ ॥

'शब्द' स्वयं 'निष्पन्न' अर्थात् सिद्ध वस्तु है । किन्तु आख्यातरूप शब्द यद्यपि स्वयं शब्द होने के नाते निष्पन्न है, परन्तु उस शब्द का अर्थ निष्पन्न नहीं है, अपितु साध्य है । अगर तिङन्त पद के अर्थ को उसके वाचक शब्द से अभिन्न मानेंगे तो फिर उसकी 'साध्यता' कैसे उपपन्न होगी ?

दूसरी बात यह है कि शब्द है 'अमूर्त्त' किन्तु घटादि शब्द के अर्थ घटादि "मूर्त्त" हैं । सुतराम् अमूर्त्त शब्दों के परिणाम या विवर्त्त भी घटादि नहीं हो सकते । अर्थों को शब्द का परिणाम या विवर्त्त मानकर भी अर्थ और शब्द के अध्यास की उपपत्ति नहीं की जा सकती ॥ १९१ ॥

गवाश्वशुक्लशब्दादेर्वाच्यरूपानपेक्षणे ।
वाचकत्वव्यवस्थानं कथं जातिगुणादिषु ॥ १९२ ॥

अगर सभी अर्थों में शब्द का अध्यास मानलें तो फिर गो, अश्व प्रभृति के अभेद शब्दों में "यह जातिवाचक है" एवं "शुक्ल प्रभृति यह गुणवाचक है" इत्यादि जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे अनुपपन्न हो जायेंगे ।

फलतः विभिन्न अर्थों के वाचक होने से शब्दों में विभिन्नता की जो प्रतीति होती है, वह किस प्रकार से होगी ? ॥ १९२ ॥

वृक्षप्लक्षादिशब्दानां तुल्ये भेदे घटादिभिः ।
विशेषणविशेष्यत्वं कथमर्थानपेक्षया ॥ १९३ ॥

"वृक्ष" शब्द और "प्लक्ष" शब्द इन दोनों शब्दों में घटादि पदार्थों का भेद बराबर है, फिर "प्लक्षोऽयं वृक्षः" इत्यादि वाक्यों से जो प्लक्ष में विशेषणता और वृक्ष में विशेष्यता की प्रतीति होती है, वह किस प्रकार होगी ? क्योंकि उन शब्दों से तो स्व से अभिन्न शब्द का ही बोध होता है, उसमें जाति प्रभृति किसी और अर्थ की अपेक्षा नहीं है ॥ १९३ ॥

समानाधिकरण्यं च न स्याद् वाचकबुद्धिवत् ।
एकत्र चोपसंहारो न बुद्ध्योर्निर्विकल्पके ॥ १९४ ॥

"नीलोत्पलम्" इत्यादि स्थलों में नील और उत्पल रूप वाच्यों में (अभेद रूप) सामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है, किन्तु उनके वाचक 'नील' शब्द और "उत्पल" शब्द इन दोनों में अभेद की प्रतीति नही होती है क्योंकि वे भिन्न हैं । अगर इन दोनों शब्दों को भी वाच्य मान लें तो फिर वाच्य अर्थों में होनेवाली उक्त अभेद की प्रतीति भी नहीं होगी ।

अगर ऐसा कहें कि जैसे जाति को वाच्य मानने वाले उक्त अभेद रूप सामानाधिकरण्य की उपपत्ति दोनों शब्दों से "एकस्वलक्षण" विषयक बोध की उत्पत्ति से करते हैं, उसी प्रकार शब्द को ही शब्द का वाच्य मानने के पक्ष में भी करेंगे, तो वह

सम्भव नहीं होगा, क्योंकि एक ही निर्विकल्पक बुद्धि में दो बुद्धियों का उपसंहार नहीं हो सकता।

अतः नील शब्द और उत्पल शब्द इन दोनों वाचक शब्दों में जैसे अभेद रूप सामानाधिकरण्य की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार उनके अर्थों में भी उक्त सामानाधिकरण्य की प्रतीति नहीं होगी ॥ १९४ ॥

वस्तुमात्रे स चेदेवं सर्वेषामेकवाच्यता।
भवेद् गवादिशब्दानां सर्वैर्वस्तु हि गम्यते ॥ १९५ ॥

अगर जिस किसी वस्तु में प्रयोग करके भी उक्त अभेद रूप सामानाधिकरण्य की प्रतीति की उत्पत्ति करेंगे तो सभी शब्द किसी न किसी वस्तु के बोधक अवश्य हैं। अतः जिस तरह "नीलमुत्पलम्" इत्यादि स्थलों में सामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है उसी तरह सभी गवादि शब्दों से एकवाच्यता अर्थात् उक्तरूप से अभेद की प्रतीति माननी पड़ेगी, क्योंकि सभी शब्दों से किसी न किसी वस्तु का बोध तो होता ही है ॥ १९५ ॥

न चासाधारणे भेदे नीलोत्पलमितीष्यते।
न हि शब्दप्रवृत्तिः स्यादन्यत्रान्यत्र चेष्यते ॥ १९६ ॥

अगर ऐसा कहें कि जिस असाधारण वस्तु में पहले से "नीलोत्पल" शब्द का प्रयोग देख रहे हैं, उसी विशेष प्रकार के अर्थ में उक्त विशेष शब्द का प्रयोग करेंगे, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक स्थान में प्रयोग देखकर ही दूसरे स्थान में प्रयोग नहीं होता। अगर ऐसा मानेंगे तो शब्द का प्रथम प्रयोग ही अनुपपन्न हो जायगा ॥ १९६ ॥

न च नीलोत्पलं नाम वस्त्वेकं किञ्चिदिष्यते।
शब्दार्थयोर्यतो भेदो गम्यतेऽवयवानुगः ॥ १९७ ॥

आप "नीलोत्पल" नाम की कोई जाति भी नहीं मानते जिसके बलसे नीलोत्पल शब्द के उपयुक्त प्रयोग की उपपत्ति कर सकें। (इतना ही नहीं, अपितु नीलोत्पल नाम के किसी जाति की कल्पना सम्भव भी नहीं है) क्योंकि नील शब्द और उत्पल शब्द इन दोनों के क्रमशः गुण और जाति रूप अर्थों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है ॥ १९७ ॥

शब्दद्वयस्य चाध्यासः पर्यायेष्वपि दृश्यते।
एकाधिकरणस्तेन स्युस्ते नीलोत्पलादिवत् ॥ १९८ ॥

अर्थ में शब्द का अध्यास मानने से "नीलोत्पलम्" इत्यादि वाक्यों की तरह "करहस्तौ" इत्यादि पर्याय दो शब्दों से भी अभेद स्वरूप सामानाधिकरण्य की प्रतीति माननी पड़ेगी। चूंकि "कर" शब्द और "हस्त" शब्द दोनों भिन्न हैं, अतः एक ही हस्त रूप अर्थ में दो शब्दों के अभेद की प्रतीति का जनक होने से "करहस्तौ" इत्यादि वाक्यों को पुनरुक्ति दोष कह कर शाब्दबोध के उत्पादन में अक्षम नहीं कहा जा सकता ॥ १९८ ॥

न चानवगते पूर्वं पदमर्थे प्रयुज्यते ।
तत्र सम्बन्धवेलायां कीदृशोऽर्थः प्रतीयते ॥ १९९ ॥

दूसरी बात यह भी है कि जब तक पद में अर्थ के ग्रहण की शक्ति गृहीत नहीं होती है, तब तक अर्थबोध के लिये उसका प्रयोग नहीं होता। अतः यह प्रश्न होता है कि जिस समय शब्द में अर्थग्रहण की शक्ति गृहीत होती है, उस समय किस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होती है ? ॥ १९९ ॥

तदानीं नार्थरूपे हि शब्दरूपस्य सम्भवः ।
न चासाधारणांशेन सम्बन्धानुगमः क्वचित् ॥ २०० ॥

क्योंकि उस समय शब्द से अभिन्नरूप में अर्थ की प्रतीति सम्भावित नही है एवं उस समय अर्थ अपने जिस असाधारणरूप से गृहीत होता है, उस रूप से अर्थ में शब्द के सम्बन्ध का ग्रहण भी सम्भव नहीं है ॥ २०० ॥

तत्र पूर्वानपेक्षत्वे यद्यात्माध्यासशक्तता ।
शब्दस्य प्रथमेऽपि स्याच्छ्रवणेऽध्यस्तरूपता ॥ २०१ ॥

अगर अर्थ में अपनी शक्ति के ज्ञान के बिना भी शब्द को उसमें अध्यस्त होने की क्षमता को स्वीकार किया जाय, तो फिर शब्द को सुनते ही उस शब्द का अर्थ में अध्यस्त होना मान लेना पड़ेगा ॥ २०१ ॥

मम वाच्यानभिज्ञत्वान्न भवेत् स्मरणं ततः ।
भवतस्त्वर्थरूपस्य वाचकेष्वपि दर्शनात् ॥ २०२ ॥

शब्दाध्यास को न मानने वाले चूँकि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, अतः उनके पक्ष में भी "शब्द को सुनते ही अर्थ की स्मरणरूप आपत्ति" है ही। किन्तु ऐसी बात है नहीं, क्योंकि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने पर भी प्रथमतः शब्द को सुनते ही या सुनने के समय "इस शब्द का यह वाच्य अर्थ है" यह ज्ञान नहीं रहता, अतः शब्द से अर्थ की स्मरणरूप उपस्थिति मेरे मत में उस समय सम्भव नहीं होती है। परञ्च आप के मत में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस समय अर्थ से अभिन्न वाचक रूप शब्द का ज्ञान तो आपको रहता ही है। अतः उस समय भी शब्द से अर्थ की उपस्थितिरूप स्मृति में आपके मत से कोई बाधा नहीं है ॥ २०२ ॥

यथा त्वज्ञातशब्दानां वाच्ये तद्धीर्न जायते ।
तथैवाज्ञातवाच्यानामुपलब्धेऽपि वाचके ॥ २०३ ॥

किन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जिस शब्द की शक्ति जिस अर्थ में ज्ञात नहीं है उस अर्थ का ज्ञान शब्द से नहीं होता है उसी प्रकार जिस अर्थ का वाचकत्व जिस शब्द में गृहीत नहीं है उस शब्द को स्वरूपतः उपलब्धि होने पर भी उससे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है ॥ २०३ ॥

तस्मान्नातीव वाच्यानां वाचकाधीनता भवेत् ।
स्मारकत्वाच्च तेष्वेव पारतन्त्र्यं प्रतीयते ॥ २०४ ॥

अतः यह स्वीकार करना होगा कि वाच्य अर्थों की स्वरूपसत्ता वाचक शब्दों के ऊपर अधिक निर्भर नहीं है, प्रत्युत वाचक शब्द ही चूँकि वाच्य के स्मारक हैं, अतः वे ही वाच्य अर्थ के अधीन हैं ॥ २०४ ॥

तेन सम्बन्धवेलायामर्थात्मा योऽवसीयते ।
शब्दादपि स एवेति नार्थरूपं प्रणश्यति ॥ २०५ ॥

अतः शब्द और अर्थ इन दोनों के ग्रहण के समय स्वरूपतः (शब्द से भिन्न रूप में) जिस अर्थ की उपलब्धि होती है, उसी अर्थ की उपलब्धि शक्तिग्रहण के बाद शब्द से भी होती है । उस समय भी अर्थ का अपना स्वरूप विनष्ट नहीं हो जाता । अर्थात् 'शब्द' स्वरूप नहीं हो जाता ॥ २०५ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा यां शब्दः कुरुते मतिम् ।
तादात्म्यं तस्य शब्दस्य न कथञ्चित् प्रतीयते ॥ २०६ ॥

शब्दाध्यास न मानने में यह युक्ति भी है कि प्रवृत्ति के लिये या निवृत्ति के लिये शब्द से जिस किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसमें शब्द का अभेद प्रतिभात नहीं होता ॥ २०६ ॥

करहस्तादिशब्देभ्यः शब्दरूपस्य भेदतः ।
भिन्नोऽर्थः सम्प्रतीयेत तदध्यारोपकल्पते ॥ २०७ ॥

(अर्थ में शब्द का अध्यास मानने में यह दोष भी होगा कि) "कर" शब्द से और "हस्त" शब्द से एक अर्थ की प्रतीति सभी मानते हैं) किन्तु चूँकि दोनों शब्द भिन्न हैं, अतः दोनों के अभेद भी भिन्न होंगे । फलतः उक्त अभेदविषयक दोनों प्रतीतियों को भिन्न विषय का होना स्वीकार करना पड़ेगा ॥ २०७ ॥

आत्माध्यासस्तु सादृश्यादुपरागाच्च दृश्यते ।
न तावदर्थसादृश्यं शब्दस्येह प्रतीयते ॥ २०८ ॥

किसी वस्तु में किसी वस्तु का अध्यास दो कारणों में से किसी एक से होता है । (१) सादृश्य और (२) उपराग । सादृश्य से शुक्ति में रजत का अध्यास होता है । स्फटिक में जपाकुसुम के लाल रङ्ग का अध्यास उपराग से होता है । शब्द में अर्थ का सादृश्य नहीं है, अतः अर्थ में शब्द का अध्यास सादृश्यमूलक नहीं हो सकता ॥ २०८ ॥

न चानुरागः शब्देन भिन्नदेशस्य युज्यते ।
दूरस्थप्रतिबिम्बं च नारूपस्य प्रतीयते ॥ २०९ ॥

शब्द और अर्थ चूँकि विभिन्न देशों में रहते हैं अतः एक का दूसरे में 'उपराग' भी सम्भव नहीं है । (जल में दूरस्थ चन्द्र की तरह) अर्थ में दूरस्थ शब्द का उपराग सम्भव नहीं है, क्योंकि दूर में रहने पर रूप से युक्त वस्तु का ही "उपराग" होता

है। शब्द रूप से युक्त नहीं है, अतः शब्द का प्रतिबिम्बरूप उपराग भी सम्भव नहीं है ॥ २०९ ॥

शब्दसर्वगतत्वेन यद्यर्थप्राप्तिरुच्यते।
सर्वार्थानां भवेच्छब्दैः सर्वैरेवानुरञ्जनम् ॥ २१० ॥

अगर शब्द को व्यापक मानकर दूरस्थ अर्थ के साथ उपराग के उपयोगी सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो फिर सभी शब्दों का उपराग सभी अर्थों में मानना पड़ेगा। फलतः सभी अर्थों के लिये सभी शब्दों के प्रयोग में कोई बाधा न रह जायगी ॥ २१० ॥

न च भिन्नेन्द्रियग्राह्यं किञ्चिदस्त्यनुरागकृत्।
न हि लाक्षानुरक्तेऽपि स्फटिके धीस्त्वगादिभिः ॥ २११ ॥

विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होनेवाली दो वस्तुओं में परस्पर उपराग नहीं होता है। अगर ऐसा होता, तो फिर स्फटिक में जो जपाकुसुम का उपराग है, उसकी प्रतीति त्वगादि इन्द्रियों से भी होती। अतः विभिन्न इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले शब्द और अर्थ इन दोनों में से किसी में भी किसी का उपराग सम्भव नहीं है।

उपरागवश जिस वस्तु की प्रतीति जिस इद्रिन्य से होगी, उस उपराग से युक्त वस्तु की प्रतीति भी उसी इन्द्रिय से होगी। ऐसा सम्भव नहीं है कि जिस इन्द्रिय से उपरक्त वस्तु की प्रतीति जिस इन्द्रिय से सम्भव न हो एवं उसी इन्द्रिय से केवल अधिष्ठान की प्रतीति भी सम्भव हो। तथापि उपराग से युक्त अधिष्ठान की प्रतीति केवल अधिष्ठान के ग्राहक इन्द्रिय से नहीं होती ॥ २११ ॥

अनुमानागमौ मिथ्या स्यातामध्यासकल्पने।
निरूपणस्य मिथ्यात्वात् सर्वाभावः प्रसज्यते ॥ २१२ ॥

शब्द से होनेवाले सभी बोधों को अगर अध्यासरूप (फलतः मिथ्या) मान लें तो अनुमान और आगम ये दोनों ही प्रमाण मिथ्या हो जायेंगे। इतना ही नहीं, जब शब्दज्ञानरूप सभी निरूपण मिथ्या होंगे तो फिर किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध न हो सकेगी ॥ २१२ ॥

तथास्त्विति यदि ब्रूयात् मिथ्या स्ववचने सति।
कथमेवं वदेदर्थो नानृताद्धि प्रतीयते ॥ २१३ ॥

अगर ऐसा कहें कि "ऐसा ही हो" तो ऐसी स्थिति में कहनेवाले का उक्त अर्थ के बोधक "तथास्तु" यह अपना वचन भी अनृत (मिथ्या) होगा। तथा मिथ्या वचन से किसी अर्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है।

फलतः पूर्वपक्षवादी के "सर्वं मिथ्या" इस वाक्य के मिथ्या हो जाने पर और वस्तुओं की अमिथ्यात्व निर्बाध हो जायेगी ॥ २१३ ॥

शून्यवादोत्तराच्चापि यथार्थं बुद्धिशब्दयोः।
प्रवृत्तिर्न तु तत् तन्त्रमर्थरूपं कदाचन ॥ २१४ ॥

शून्यवाद के उत्तर में कही गयी युक्तियों से भी यह सिद्ध होता है कि अर्थ की स्वरूपसत्ता जिस प्रकार की रहती है, उसी के अनुसार तद्विषयक बुद्धि की और तद्वाचक शब्द की प्रवृत्ति होती है। अर्थ कभी भी बुद्धि और शब्द का अनुसरण नहीं करता ॥ २१४ ॥

तस्मात् प्रागपि ते शब्दाद्भिन्नैकत्वादिबुद्धिभिः।
गृह्यन्ते सर्वदा तेषां परमार्थोऽस्तिता भवेत् ॥ २१५ ॥

तस्मात् शब्द के द्वारा ज्ञात होने के पहले अर्थ जिस तद्भिन्नभिन्नत्व या एकत्वादिरूप से प्रतीत होते हैं, उस रूप में उनकी परमार्थसत्ता है ही ॥ २१५ ॥

शब्दाभ्युपायकेऽप्यर्थे तदभावे च यद्यपि।
अर्थबुद्धिर्न जायेत नार्थे रूपं प्रणश्यति ॥ २१६ ॥

जो अर्थ केवल शब्द के द्वारा ही जाना जा सकता है, यद्यपि उसका ज्ञान शब्द की प्रवृत्ति से पहले सम्भव नहीं है, तथापि इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उसकी स्वरूपसत्ता ही शब्द की प्रवृत्ति से पहले उसमें नहीं मानते ॥ २१६ ॥

चक्षुरादेरभावे हि रूपाद्यात्मा न गृह्यते।
स्वरूपनाशो रूपादेस्तावन्मात्रेण नेष्यते ॥ २१७ ॥

चक्षु से रहित पुरुष को रूप के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। इससे यह नहीं माना जाता कि स्वरूप का स्वरूपतः विनाश हो जाता है।

फलतः शब्द का अर्थ कभी भी अपने शब्दभिन्नत्व स्वरूप से विच्युत नहीं होता ॥ २१७ ॥

सम्बन्धस्य च नित्यत्वान्नार्थस्य स्यादरूपता।
युगपन्न हि सर्वेषामन्याकारार्थवेदनम् ॥ २१८ ॥

अगर शब्द से अभिन्न रूप में ही नियमतः सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थ की प्रतीति मान भी लें, तथापि उस सविकल्पक प्रत्यक्ष को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थ में शब्द का वह अभेद रूप सम्बन्ध (उक्त मत के अनुसार) बराबर रहता ही है। सुतराम् शब्दाभेदविशेषणक और घटादि अर्थविशेषणक सविकल्पक प्रत्यक्ष चूँकि तद्वति तत्प्रकारक है, अतः उसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान से पहले जो अर्थ की प्रतीति होती है, वह शब्द से अभिन्नरूप में नहीं होती। अतः अर्थ में शब्द के अभेद रूप सम्बन्ध को नित्य नहीं कहा जा सकता। सुतराम् सम्बन्ध की उक्त नित्यता के द्वारा सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रमात्व की उपपत्ति नहीं की जा सकती। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्बन्धग्रहण के बाद भी कुछ लोगों को अर्थ का स्वरूपतः ज्ञान होता है, क्योंकि ऐसा कोई भी समय नहीं है, जिसमें किसी अर्थ का ज्ञान सभी पुरुषों को (शब्दाभेदादि) अन्य रूपों से ही होता है ॥ २१८ ॥

तदाकारेऽपि तद्वच्चेद् द्वये सति परीक्ष्यताम् ।
किं न्वर्थस्यातथाभावो ग्रहीतुः किं न्वशक्तता ॥ २१९ ॥

इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि सम्बन्धग्रहण से पूर्व यद्यपि अर्थ की स्वरूपाकार से ही प्रतीति होती है (शब्दाभिन्न रूप से नहीं) फिर भी अर्थ में 'तद्वत्ता' अर्थात् शब्दाभेदवत्ता है ही। किन्तु इस उत्तर में यह परीक्षा कर देखिये कि उस समय जो अर्थ की प्रतीति शब्दाभिन्न रूप से नहीं होती है, उसका हेतु क्या उस समय अर्थ का शब्द से अभिन्न न होना है ? या अर्थ में शब्द के अभेद के रहते हुए भी ग्रहण करने वाले पुरुष की अशक्ति है ? ॥ २१९ ॥

सदसद्भावयोरर्थे　विरोधित्वादसम्भवः ।
ग्रहीतृभेदाच्छक्तत्वमशक्तत्वं　च　युज्यते ॥ २२० ॥

इन दोनों पक्षों में से पहला पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि सत्त्व और असत्त्व ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, एक ही अर्थ में शब्द के अभेद की सत्ता और असत्ता दोनों नहीं रह सकतीं। अतः सम्बन्धग्रहण से पूर्व शब्दाभिन्न रूप से अर्थ के अग्रहण को शब्द में शब्दाभेद के न रहने से नहीं माना जा सकता। अतः उक्त दूसरा पक्ष ही स्वीकार करना होगा कि पुरुष में उस समय शब्द से अभिन्नरूप में अर्थ को समझने की शक्ति नहीं है ॥ २२० ॥

यथान्धानन्धयोः पार्श्वे　रूपग्रेत्यभिधास्यते ।
तेनार्थे ध्वन्युपायस्य　तद्धीर्नान्यस्य　जायते ॥ २२१ ॥

जैसे कि अन्धे और आँखवाले दोनों ही के पास रूप को ग्रहण करने की और शक्ति ही स्वीकार की जाती है (रूप की असत्ता और सत्ता नहीं)। (यह आगे सम्बन्धाक्षेपपरिहारप्रकरण में श्लोक सं० ३७–३८ में कहेंगे) अतः प्रकृत में भी यही मानना होगा कि अर्थ में शब्द का अभेद बराबर अर्थात् सम्बन्धग्रहण से पहले भी रहता ही है। किन्तु वृक्ष-व्यवहार के द्वारा जिस पुरुष को अर्थ में शब्द का यह अभेद ज्ञात है उसी पुरुष के लिए ध्वनि अर्थ में शब्द की अभेदबुद्धि का कारण है, दूसरे पुरुष के लिए नहीं। अर्थात् जिस पुरुष को उक्त सम्बन्ध के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है उसके लिए ध्वनि अर्थ में शब्द के अभेद बुद्धि का कारण नहीं ॥ २२१ ॥

देवदत्तादिशब्दे　तु　सम्बन्धाद्यत्वदर्शनात् ।
अर्थस्यानित्यतायां च　ताद्रूप्यस्याप्यनित्यता ॥ २२२ ॥

देवदत्तादि शब्द का अभेद सम्बन्ध देवदत्तादि रूप अर्थ में नहीं देखा जाता (अनित्यता के कारण देवदत्तादि के विनष्ट हो जाने पर भी केवल देवदत्त शब्द की सत्ता रहती है)। अतः देवदत्तादि अर्थों की अनित्यता के कारण "अयं देवदत्तः" इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्ष शब्दाभेदविषयक होने से मिथ्या है ॥ २२२ ॥

तत्राप्यौत्पत्तिकी　शक्तिस्तद्रूपप्रत्ययं　प्रति ।
ग्राह्यग्राहकयोरिष्टा　नियोगस्य　त्वनित्यता ॥ २२३ ॥

कोई इसका परिहार इस रीति से करते हैं कि अर्थ की सत्ता जब तक रहती है, तब तक उसमें "ताद्रूप्य" अर्थात् शब्दरूपता या शब्द का अभेद अवश्य रहता है। यही शब्द और अर्थ के अभेद की नित्यता है। फलतः ग्राहक शब्द में उस अर्थ के अभेद को ग्रहण करने की शक्ति एवं अर्थ में उक्त शब्दाभेदविषयक बुद्धि के द्वारा गृहीत होने की शक्ति ये दोनों ही नित्य हैं। उक्त सम्बन्धग्रहण के पहले जो देवदत्तादि-शरीरों में पिण्डादि शब्दों का प्रयोग होता है, उसका जनकीभूत (समवाय) सम्बन्ध केवल अनित्य है ॥ २२३ ॥

तत्र सर्वैरताद्रूप्यं प्राङ्नियोगात् प्रतीयते ।
तेनेष्टमेव मिथ्यात्वं कैश्चिदध्यासकल्पने ॥ २२४ ॥

किसी सम्प्रदाय के लोग ऐसा कहते हैं कि अर्थ में शब्दरूपता (ताद्रूप्य) अर्थात् शब्द का अभेद कभी भी नहीं रहता। किन्तु शब्दार्थ के 'समय' अर्थात् शक्ति के ज्ञान से अर्थ में न रहनेवाले शब्दाभेद का ही बोध उक्त शक्तिज्ञान के बाद होता है।

अतः अर्थ में शब्दाभेद के सभी अध्यासों के (चाहे वह सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप हो अथवा अन्य कोई) अर्थ में—शब्द के अध्यासपक्ष में—मिथ्यात्व इष्ट है ही ॥ २२४ ॥

यदा तु यादृशः पिण्डः पूर्वं शब्दात् प्रतीयते ।
तादृशस्मरणे हेतुः शब्दस्तत्र यथार्थता ॥ २२५ ॥

किन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि शब्द के प्रयोग से पूर्व जो वस्तु जिस रूप में प्रतीत होती है उस शब्द से उस वस्तु की उसी रूप में स्मरणरूप उपस्थिति होती है। अतः अर्थ में शब्द का अध्यास न होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष यथार्थ ही है ॥ २२५ ॥

नियोगात् परतो वापि शब्देन व्यज्यतामियम् ।
तद्ग्राह्यशक्तिरर्थस्य, पाररूप्यं न तावता ॥ २२६ ॥

अर्थ में जो शब्द से गृहीत होने की शक्ति पहले से विद्यमान है (शब्द प्रयोग के पहले से); उसे "नियोग" से (अर्थात् शक्तिज्ञान से) अभिव्यक्त मान लें या शब्द से उत्पन्न ही मान लें। दोनों ही स्थितियों में अर्थ को शब्द से अभिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है ॥ २२६ ॥

सर्वाकारपरिच्छेद्यशक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा ।
सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थे नियमः कुतः ॥ २२७ ॥

जिस शब्द का संकेत जिस अर्थ में किया जाता है, उसी शब्द से उस अर्थ का स्मरण होता है, फिर यह कैसे कहते हैं कि अर्थ में शब्द से स्मृत होने की शक्ति शब्दप्रयोग के पहले से ही है ?

इस आक्षेप का उत्तर यह है कि सभी आकारों से ज्ञात होने वाले सभी अर्थों में 'परिच्छेद्य' शक्ति अर्थात् सभी शब्दों के द्वारा ज्ञात होने की शक्ति है एवं सभी

वाचक शब्दों में सभी आकार के विज्ञानों को उत्पन्न करने की शक्ति (ग्राहक शक्ति) है, यह नियम मानकर ही उक्त बातें कहीं गयीं हैं ॥ २२७ ॥

तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमातुः स्मरतोऽपि या ।
बुद्धिः पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते ॥ २२८ ॥
चक्षुषा सन्निकृष्टेऽर्थे नाप्रत्यक्षमसौ भवेत् ।
विविक्ता एव तेऽप्यर्थाः स्मृतिप्रत्यक्षगोचराः ॥ २२९ ॥

सविकल्पक प्रत्यक्ष चूँकि संस्कारमूलक है, अतः स्मृतिरूप होने के कारण मिथ्या है । इस आक्षेप का समाधान यह है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का स्मृति-रूप ज्ञान के द्वारा अथवा उक्त सम्बन्ध के अन्य अनुभवात्मक प्रमा के द्वारा अर्थ की उपस्थिति से पुरुष को जो भी चक्षु के साथ सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है, वह "प्रत्यक्ष" के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकता ।

इस ज्ञानपरम्परा से यह स्पष्ट है कि कौन-सा विषय स्मृति का विषय है और कौन-सा विषय प्रत्यक्ष का विषय है ॥ २२८–२२९ ॥

स्मर्येते शब्दसम्बन्धौ मा भूत् प्रत्यक्षता तयोः ।
तदप्रत्यक्षभावेन न त्वर्थस्यापि बार्यते ॥ २३० ॥

(इनमें) शब्द और (अर्थ के साथ उसका) सम्बन्ध इन दोनों का स्मरण ही होता है । अतः इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है । ये दोनों प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं केवल इससे "अर्थ" के प्रत्यक्षत्व को हटाया नहीं जा सकता ।

"अर्थात् संस्कार और इन्द्रिय इन दोनों से एक ही सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें शब्द, उसका सम्बन्ध और अर्थ ये तीनों भासित होते हैं । इनमें से पहले दो में स्मृति की विषयता है और अर्थरूप अन्तिम विषय चूँकि इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध है अतः वह प्रत्यक्ष का विषय है ॥ २३० ॥

गृहीतमपि गोत्वादि स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि ।
तथापि व्यतिरेकेण पूर्वबोधात् प्रतीयते ॥ २३१ ॥

यद्यपि सविकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होनेवाली गोत्वादि जातियाँ स्मृति के द्वारा पहले से ज्ञात हैं सुतराम् "अयं गौः" इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्ष में नियमतः पहले से ज्ञात गोत्वादि जातियाँ भी विषय होती हैं, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष नियमतः ज्ञातविषयक होने से प्रमा नहीं हो सकता तथापि स्मृतिरूप पूर्वबोध में गोत्वादि जिस रूप में भासित होते हैं, उससे भिन्न रूप में वे सविकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होते हैं । अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्ष में जिस रूप से गोत्वादि जातियाँ भासित होती हैं उस रूप से युक्त गोत्वादि जातियाँ पहले से ज्ञात नहीं हैं ॥ २३१ ॥

व्यक्तिकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मितेः ।
यः पूर्वावगतोंऽशोऽत्र स न नाम प्रमीयते ॥ २३२ ॥

जिस व्यक्ति में गोत्वादि जातियाँ जिस काल के सम्बन्ध से युक्त होकर पहले से ज्ञात हैं, सविकल्पक प्रत्यक्ष में उस से भिन्न व्यक्ति में और भिन्न काल से युक्त होकर भासित होती हैं। यह पहले से ज्ञात नहीं है। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है। इनमें जो अंश पहले से ज्ञात हैं, उसका भान सविकल्पक प्रत्यक्ष में नहीं होता ॥ २३२ ॥

इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्।
न हि स्मरणतो यत्प्राक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम् ॥ २३३ ॥

गोत्वादि जातियों का जो वर्त्तमान काल में अस्तित्व है, वह पहले से ज्ञात नहीं है। क्योंकि इस शक्तिज्ञानजनित स्मरण से पहले गोत्वादि जातियां का निर्विकल्पक अनुभव हुआ था उसका आकार वर्त्तमान कालिक इस प्रत्यक्ष के समान नहीं था ॥ २३३ ॥

वचनं राजकीयं वा वैदिकं वापि विद्यते।
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् ॥ २३४ ॥

अगर निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान की तरह स्मरण के बाद न होकर स्मरण के पहले ही हो तो फिर उसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है? इस शङ्का का यह समाधान है कि न तो राजा की ऐसी आज्ञा है और न वेदों का ही ऐसा कोई विधान है जिससे यह समझा जा सके कि (शब्द और अर्थ के प्रसङ्ग में) स्मरण के बाद ही इन्द्रिय की प्रवृत्ति हो। फलतः उक्त स्मरण से पहले ही विषय में इन्द्रिय के पात से निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और इन्द्रियजन्य होने के नाते उसे प्रत्यक्ष कहने में कोई बाधा नहीं है ॥ २३४ ॥

वार्यते केनचिन्नातस्तत् तदानीं प्रदुष्यति।
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं वापि यत्स्मृतेः ॥ २३५ ॥

अतः उस समय इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्षता को कौन हटा सकता है?

सुतराम् निर्विकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने में कोई दोष नहीं है। तस्मात् यह जानिये कि शब्दार्थसम्बन्ध स्मरण से पहले या पीछे इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले जितने भी ज्ञान होंगे वे सभी प्रत्यक्ष हैं ॥ २३५ ॥

विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्।
विमनस्का यथा केचित् सम्बद्धमपि चेन्द्रियैः ॥ २३६ ॥

फिर भी गवादि अर्थों में जाति प्रभृति वास्तविक सत्ता के रहते हुए भी जिन साधारण जनों को उन रूपों से अर्थ का ज्ञान या अर्थ का भान नहीं होता है, उसका कारण है जाति और व्यक्ति में उन लोगों के अत्यन्त सादृश्य का ज्ञान। इस से मूढ़ होकर ही जात्यादि उन रूपों से अर्थों को नहीं समझ पाते।

उदाहरण स्वरूप–किसी अन्य विषय को सोचता हुआ पुरुष आगे रक्खी हुई वस्तु को भी नहीं देख पाता है। सुतराम् सविकल्पक ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है ॥२३६॥

न बुध्यन्ते तथा चान्ये सादृश्यादिविमोहिताः ।
तत्र योऽर्थं विवेकेन कौशलात् सदृशेष्वपि ॥ २३७ ॥
सूक्ष्मं वापि प्रपद्येत तस्य भ्रान्तिर्न तावता ।
यथा षड्जादिभेदेन गाने लौकिकवैदिके ॥ २३८ ॥
विवेकेनावगच्छन्ति येषां तत्संस्कृता मतिः ।
गानमात्रं विजानन्ति तत्रानधिकृतास्तु ये ॥ २३९ ॥
तदज्ञानान्न मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यं विवेकिनाम् ।
ते हि षड्जादिशब्देभ्यो विनाप्येषां विविक्तताम् ॥२४०॥

(कथित प्रकार के सादृश्यादि से विमूढ़ पुरुषों को जात्यादिरूप से अर्थों का ज्ञान नहीं होता है, केवल इसी कारण) अपनी पटुता के कारण अत्यन्त सदृश वस्तुओं को भी जो उनके सूक्ष्म असाधारण रूपों से समझते हैं, उनके ज्ञान को भ्रम नहीं कहा जा सकता ।

जैसे कि षड्ज, ऋषभ, गान्धारादि स्वरों के विशेष ज्ञान के द्वारा जिनकी बुद्धि संस्कृत है, वे सभी गानों को चाहे वह लौकिक गान हो अथवा वैदिक गान हो–षड्जादि स्वरों—जो विलक्षण हैं–के साथ समझते हैं। किन्तु जिन पुरुषों को स्वरों का ज्ञान नहीं है, वे केवल "गान हो रहा है" इतना ही समझते हैं। किन्तु स्वरों के वैशिष्ट्य को न जानने वाले पुरुष की अज्ञता से स्वर के सूक्ष्म भेदों के जानने वाले पुरुषों को जो विशेष प्रकार से ज्ञान की प्रतीति होती है उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता ॥ २३७–२४० ॥

यथावदधिगच्छन्ति तद्वद् गोत्वादिवस्त्वपि ।
सङ्कीर्णमर्थमात्रं तु बुध्यन्तेऽभ्यासवर्जिताः ॥ २४१ ॥

इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि–गान को सामान्य रूप से समझने वाले भी षड्जादि स्वरों को भी स्वरूपतः समझते ही हैं। (क्योंकि स्वरों की विशेष प्रकारक आनुपूर्वी को छोड़ कर गान कोई अलग वस्तु नहीं है) अन्तर केवल इतना ही है कि उन स्वरों को वे षड्जादि नाम से नहीं जानते। किन्तु इसी प्रकार जिन व्यक्तियों को गो प्रभृति अर्थों के वाचक गो प्रभृति शब्दों का स्मरणरूप "अभ्यास" नहीं है उन्हें गोत्वादि जातियों से सम्बद्ध अर्थों का अविविक्त ज्ञान ही होता है ॥२४१॥

विवेकं प्रतिपद्यन्ते ये शब्दस्मृतिसंस्कृताः ।
यथा रूपादिमत्यर्थे यस्यैवास्ति यदिन्द्रियम् ॥ २४२ ॥

जिनकी बुद्धि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न अर्थ की स्मृति-रूप उपस्थिति से संस्कृत है वे सविकल्पक ज्ञान के द्वारा उसमें भासित होने वाले जाति प्रभृति विषयों और गो प्रभृति अर्थों में जो भेद है उसको भी जानते हैं ॥ २४२ ॥

स तन्मात्रं गृहीत्वान्यन्न गृह्णात्यनुमानतः ।
तथा विवेकहेतूनां यदा यं प्रतिपद्यते ॥ २४३ ॥

तदुपेये तदा ज्ञानं वर्तते तदनुग्रहात् ।

जैसे कि एक द्रव्य में रहने वाले रूप रसादि में से उस पुरुष को उसी वस्तु का प्रत्यक्ष रूप ग्रहण होता है, जिसके ग्राहक इन्द्रिय जिसके पास होते हैं—(द्रव्य में रूप और स्पर्श दोनों के रहते हुए भी अन्धे को रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है) वह पुरुष रूपादि अन्य वस्तुओं को अनुमान से ग्रहण नहीं करता ।

इसी प्रकार गवादि अर्थ और उसमें रहनेवाले गोत्वादि जात्यादि इन दोनों को पृथक्‌रूप से ज्ञात होने का शब्दस्मरण रूप हेतु जिस पुरुष के पास जिस समय होता है, उस समय उस पुरुष को अर्थ का जात्यादि से विविक्तरूप में भान होता है ॥ २४३–२४४ क–ख ॥

तेन यावत् प्रमातॄणां विवेकोपायदर्शनम् ॥ २४४ ॥
न स्यात्तावद् भवेत्तेषां विज्ञानं निर्विकल्पकम् ।
तस्माद् यत्र प्रकल्प्येत वस्तु वस्त्वन्तरात्मना ॥ २४५ ॥

अतः प्रमाता पुरुषों को जात्यादि से विविक्तरूप में अर्थ को देखने का (शब्दः स्मरणरूप) उपाय जबतक प्राप्त नहीं होता है, तब तक उन्हें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही होता है ॥ २४४–२४५ ॥

प्रमाणाभासता तत्र न स्वधर्मविकल्पने ।
प्रत्यक्षत्वमतः सिद्धं सामान्यस्य तथैव च ॥ २४६ ॥

तस्मात् जहाँ एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु से अभिन्न रूप में गृहीत हो, वहीं उस ग्रहण का प्रयोजक (प्रमाण न होकर) प्रमाणाभास होगा । किन्तु जहाँ किसी अर्थ में उस अर्थ में रहने वाले धर्म का ग्रहण होगा, उस ग्रहण का प्रयोजक प्रमाण प्रमाणाभास नहीं होगा ॥ २४६ ॥

सम्बन्धस्येति तत् पूर्वमनुमानादि जायते ।
सर्वं चाप्यनुमानादि प्रत्यक्षे निर्विकल्पके ॥ २४७ ॥
न प्रवर्तेत इत्येतदनुमानेऽभिधास्यते ।

तस्मात् "अयं गौः" इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्ष की विषयता उसमें भासित होनेवाले गोत्वादि सामान्य एवं उन सामान्यों तथा गवादि अर्थों के साथ सम्बन्ध इन तीनों में भी अवश्य है । चूँकि अनुमानादि सभी प्रकार के प्रमाणों में उक्त सवि-कल्पक प्रत्यक्ष की ही आवश्यकता होती है, अतः अनुमानादि को "तत्पूर्वक" कहा जाता है ।

आगे अनुमान परिच्छेद में इस बात को विशेष रूप से कहूँगा कि केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने से, जैसा कि बौद्धलोग मानते हैं, अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ॥ २४७–२४८ क–ख ॥

नन्वेवं सति याप्यग्नेर्दूराद‍ष्यौष्ण्यकल्पना ॥ २४८ ॥
सापि प्रत्यक्षमेव स्याद् यथा गोत्वादिबुद्धयः ।
प्रत्यासन्नतरं गोत्वं प्रत्यक्षत्वेन सम्मतम् ॥ २४९ ॥

"अगर ऐसी बात हो—सविकल्पकज्ञान शब्दादिमूलक होने हुए भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की भी अपेक्षा रखता है, इसो हेतु से उसको प्रत्यक्ष माना जाय" तो फिर अग्नि को दूर से देखने पर जो उसमें "यह गरम है" इस प्रकार का भान होता है, अग्नि में होनेवाले इस उष्णता के ज्ञान को भी कथित गोत्वादि प्रत्यक्ष की तरह हमें प्रत्यक्ष मानना होगा, क्योंकि उसमें अग्नि और चक्षु के सन्निकर्ष की अपेक्षा है ही ॥ २४८–२४९ ॥

विज्ञानं नान्यदस्तीति प्रत्यक्षमिदमेव नः ।
तत्राप्यक्षैरसम्बन्धं मन्वानस्योपजायते ॥ २५० ॥
यदा बुद्धिः तदा नैव प्रत्यक्षत्वेन कल्प्यते ।
स्पर्शनेन तु सम्बन्धे प्रत्यक्षत्वेन जायते ॥ २५१ ॥

जैसे चक्षु से उत्पन्न अग्नित्वरूप से अग्नि का ज्ञान उष्णस्पर्श की अनुमितिरूप ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए वहाँ मौजूद है, उसी प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष को छोड़कर गोत्वविषयक ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये दूसरा कोई कारणीभूत ज्ञान वहाँ विद्यमान नहीं है। अतः गोत्व ज्ञान को इन्द्रियजनित होने के कारण अगत्या हमलोगों को प्रत्यक्ष ही मानना पड़ता है।

कथित गोत्वविषयक ज्ञान को ही अगर कोई इन्द्रियसन्निकर्ष के विना ही (शब्दादिजनित) माने, तो फिर उनके लिये उक्त गोत्वविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा।

वह्नि में उसी उष्णस्पर्श का ज्ञान जब त्वगिन्द्रिय से होता है तो उसको प्रत्यक्ष मानते ही हैं। केवल दूर में चक्षु से वह्नि का ज्ञान होने पर जो उसमें विना त्वगिन्द्रिय-सम्बन्ध के ही स्पर्श का ज्ञान होता है, वही परोक्षज्ञान है ॥ २५०–२५१ ॥

मतिरौष्ण्ये परोक्षेयं चक्षुषाग्नौ प्रकाशिते ।
तस्माद् यदिन्द्रियं यस्य ग्राहकत्वेन कल्पितम् ॥ २५२ ॥
तेनैव सति सम्बन्धे प्रत्यक्षं नान्यथा भवेत् ॥ २५३ ॥

तस्मात् जिस इन्द्रिय में जिस विषय को ग्रहण करने की क्षमता निश्चित है, उस इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला उस विषय का ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। अन्यथा—जिस किसी प्रकार इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता ॥ २५२–२५३ ॥

एवं समानेऽपि विकल्पमार्गे यत्राक्षसम्बन्धफलानुसारः ।
प्रत्यक्षता तस्य तथा च लोके विनाप्यदो लक्षणतः प्रसिद्धम् ॥२५४॥

कथित गोत्व और उष्णस्पर्श, इन दोनों में यद्यपि विशिष्ट ज्ञान की विषयता बराबर है, अर्थात् दोनों का विशिष्ट ज्ञान ही होता है, फिर भी जिसका विशिष्टज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसी विषय को लोग अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके लिये प्रत्यक्षलक्षण के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यक्षलक्षण का अनुसन्धान के विना भी अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष कहते हैं। एवं जिस विषय के ज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होती है, उस विषय को "परोक्ष" कहते हैं, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहते ॥ २५४ ॥

प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या सम्पूर्ण ॥

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशः, अव्यतिरेकश्चार्थे, अनुपलब्धे तत्प्रमाणम्, बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ जै. सू., अ. १, पा. १, सू. ५ ॥

'सत्सम्प्रयोगे' इत्यादि चतुर्थ सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्म के ज्ञापक नहीं हो सकते एवं प्रत्यक्ष में ही जब धर्म के ज्ञापन का सामर्थ्य नहीं, तब फिर प्रत्यक्षमूलक अनुमानादि एवं लौकिक शब्द भी धर्म के ज्ञापन में अवश्य ही असमर्थ हैं—यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है।

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इस सूत्र के द्वारा जो "चोदनैव धर्मे प्रमाणम्" एवं (२) "चोदना प्रमाणमेव"। ये दो नियम किये गये हैं, उनमें से पहले नियम की उपपत्ति कथित प्रत्यक्ष सूत्र के द्वारा की गयी है।

इस "औत्पत्तिक" सूत्र के द्वारा "चोदना प्रमाणमेव" इस दूसरे नियम की उपपत्ति दिखलायी गयी है। इस नियम का प्रतिपक्ष यह संशय है कि "चोदना" धर्म का ज्ञापक प्रमाण हो सकता है ? या नहीं ? इस संशय में "चोदना धर्म का ज्ञापक नहीं हो सकता" इस उत्तर कोटि के मानने वाले पूर्वपक्षवादियों का कहना है कि सभी शब्दों का प्रामाण्य दूसरे किसी प्रमाण से समर्थन की अपेक्षा रखता है। चोदनारूप शब्द के प्रामाण्य का समर्थन किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होता है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह शब्द भी धर्म का ज्ञापक नहीं हो सकता। जिस वस्तु की उपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सम्भव नहीं होती है, उस वस्तु में अनुपलब्धिरूप "अभाव" प्रमाण प्रवृत्त होकर उस वस्तु के अभाव को सिद्ध करता है। सुतराम् प्रकृत में भी जब धर्म का ज्ञापक प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षमूलक शब्दादि भाव के ज्ञापक प्रमाण नहीं है, तो मानना पड़ेगा कि 'धर्म' का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है। फलतः धर्म नहीं है।

इसी पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिये भाष्यकार ने "अभावोऽपि नास्ति" यह वाक्य लिखकर इस वाक्य के अर्थ की सिद्धि के हेतु को समझाने के लिए "औत्पत्तिक" सूत्र उपस्थित किया है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रत्यक्षादि या लौकिक वाक्य "धर्म" का ज्ञापक नहीं है, किन्तु "तस्य" अर्थात् धर्म का "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि "चोदना" रूप (धर्म का), उपदेश अर्थात् शब्द ज्ञापक है, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ "सम्बन्ध" अर्थात् ज्ञाप्यज्ञापकभावरूप सम्बन्ध "औत्पत्तिक" है अर्थात् नित्य है, एवं उसका अर्थ के साथ "अव्यतिरेक" है अर्थात् उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान कभी बाधित नहीं होता एवं उससे ज्ञात होनेवाला धर्म रूप अर्थ किसी अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं हो सकता अर्थात् उक्त शब्द अज्ञात का ज्ञापक है–तथा उक्त शब्द रूप प्रमाण "धर्म" रूप अर्थ के ज्ञापन में किसी और प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है, वह अनपेक्ष है। सुतराम् धर्म चूँकि चोदनारूप शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है; अतः "अभाव" प्रमाण की प्रवृत्ति वहाँ नहीं हो सकती। सुतराम् "चोदना प्रमाणमेव" इस नियम को मानने में कोई बाधा नहीं है॥

प्रत्यक्षादौ निषिद्धेऽपि ननु लोकप्रसिद्धितः।
धर्माधर्मौ प्रमास्येते ब्राह्मणादिविवेकवत्॥ १॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है, केवल इसीलिए "धर्म के प्रसङ्ग में "अनुपलब्धि"रूप "अभाव" प्रमाण की प्रवृत्ति होगी और उससे धर्म के अभाव की सिद्धि होगी, यह उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि के द्वारा ज्ञात न होने पर भी धर्म और अधर्म को "लोकप्रसिद्धि" के द्वारा ही यथार्थरूप से समझा जा सकता है। जैसे कि लोकप्रसिद्धि से "यह ब्राह्मण है" या "यह क्षत्रिय है" इत्यादि प्रकार से ब्राह्मणादि का विवेकपूर्वक यथार्थ ज्ञान होता है। सुतराम् प्रत्यक्षादि के द्वारा धर्म और अधर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसीलिये उसमें "अभाव" मात्र प्रमाण की प्रवृत्ति प्राप्त नहीं होती है॥ १॥

धार्मिकाधार्मिकत्वाभ्यां पीडानुग्रहकारिणोः।
प्रसिद्धौ हि तथा चाह पाराशर्योऽत्र वस्तुनि॥ २॥

जनसाधारण में यह प्रसिद्ध है कि दूसरों को सुख पहुँचानेवाला "धार्मिक" है और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाला "अधार्मिक" है। यही बात व्यासदेव ने भी इस प्रसङ्ग में—"परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्" इत्यादि वाक्यों से कही है। अर्थात् जन साधारण में यह प्रसिद्ध है कि ये कूप-तडागादि कार्य धर्म हैं और घर में आग लगाना आदि कार्य अधर्म है॥ २॥

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥ ३॥

अतः 'पुण्य' पद और 'पाप' पद इन दोनों पदों के अर्थ चूँकि सभी मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं, अतः इन दोनों पदों के अर्थ के निर्णय के लिये मीमांसा शास्त्र की रचना का कोई अधिक प्रयोजन नहीं है। अर्थात् कोई प्रयोजन है ही नहीं॥ ३॥

निर्मूलासम्भवादत्र प्रमाणैः सैव मृग्यते।
कुतः पुनः प्रवृत्तेति प्रत्यक्षादि तु वारितम्॥ ४॥

न चैतानि परित्यज्य पृथग् लोके प्रमाणता ।
संसारमोचकादेश्च हिंसा पुण्यत्वसम्मता ॥ ५ ॥
न पश्चात् पुण्यमिच्छन्ति केचिदेवं विगानतः ।
म्लेच्छार्याणां प्रसिद्धत्वं न धर्मस्योपपद्यते ॥ ६ ॥
न चार्याणां विशेषोऽस्ति यावच्छास्त्रमनाश्रितम् ।
तन्मूलार्थप्रसिद्धिस्तु तत्प्रामाण्ये स्थिते भवेत् ॥ ७ ॥

निर्मूलत्वान्...वारितम्...न चैतानि...संमता

(लोकप्रसिद्धि से अर्थ का निर्णय अवश्य होता है, किन्तु 'प्रसिद्धि' चूंकि प्रमाज्ञान ही है, अतः) वह विना प्रमाण के नहीं हो सकती । अतः उसके मूलभूत प्रमाण का अन्वेषण किया जा रहा है । अर्थात् उक्त लोकप्रसिद्धि क्या भ्रान्तिमूलक है ? या प्रत्यक्षादि प्रमाण उसके मूल हैं ? अथवा वह चोदनामूलक है ? इन में से किसके द्वारा धर्म शब्द 'परानुग्रह' अर्थ में और अधर्म शब्द 'परपीड़ाजनक' अर्थ में प्रसिद्ध हैं ।

इन विप्रतिपत्तिओं में प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणों के धर्म का मूल होना 'प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वम्' इस भाष्यसन्दर्भ से प्रतिपादित हो चुका है । अव केवल अनुपलब्धिमूलकत्व का खण्डन अवशिष्ट है, जिसके लिये 'धर्म को समझाने की सामर्थ्य केवल चोदनारूप शब्द प्रमाण में ही है' यह दिखलाना आवश्यक है ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न प्रमाज्ञान को छोड़कर 'लोकप्रसिद्धि' नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है । (आगे कहेंगे कि कथित ब्राह्मणादि का विवेक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकता है) ।

संसारमोचकादेश्च ...... स्थिते भवेत्—

'संसारमोचक' सम्प्रदाय के लोगों के अनुसार 'हिंसा' धर्म है । कुछ लोग किसी भी अनुष्ठान के वाद पुण्य का होना ही स्वीकार नहीं करते । इस प्रकार 'विगान' अर्थात् परस्परविरुद्ध लोकप्रसिद्धियों के कारण धर्म की कोई सर्वसम्मत प्रसिद्धि नहीं मानी जा सकती जिसको म्लेच्छ और आर्य दोनों स्वीकार कर सकें ।

शास्त्रों की स्वीकृति को छोड़ कर आर्यों में म्लेच्छों से कोई अन्तर नहीं है । अतः (आर्यों के अनुमत) शास्त्रमूलक उस लोकप्रसिद्धि की उपपत्ति शास्त्रों में प्रामाण्य की सिद्धि से ही हो सकती है जिससे धर्म और अधर्म का निर्णय हो सके ॥ ४–७ ॥

तस्मादभाववक्त्रस्थौ धर्माधर्मौ न शक्नुयात् ।
चोदना चेत् समुद्धर्तुं ग्रस्तौ तेनैव पश्यताम् ॥ ८ ॥

तस्मात् अभाव प्रमाण (स्वरूप ग्राह) के मुख में गिरे हुये धर्म और अधर्म का यदि चोदना स्वरूप प्रमाण भी उद्धार न कर सके (तो फिर कौन सा प्रमाण यह काम करेगा ?) इसको आप (पूर्वपक्षवादी ही) देखें ? ॥ ८ ॥

उपदेशो हि भवति ज्ञानं तस्येति योज्यते।

ज्ञायते येन तज्ज्ञानमेकाधिकरणस्वतः॥ ९॥

प्रकृत सूत्र की योजना इस प्रकार की है :—'तस्य' अग्निहोत्रादिलक्षणस्य, धर्मस्य शब्दस्यार्थेन प्रत्याय्यप्रत्यायकभावलक्षणः सम्बन्धः निमित्तं भवितुमर्हति।

प्रकृत सूत्र में 'उपदेश' और 'ज्ञान' ये दोनों ही पद समानार्थक हैं। 'उपदेश' पद में अन्वित 'ज्ञान' पद का अन्वय 'तस्य' पद के साथ है। (एवं 'निमित्त' पद अध्याहृत है)। प्रकृत में 'ज्ञान' पद 'ज्ञायते येन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान-करणीभूत शब्द का बोधक है। (अर्थात् ज्ञान शब्द करणल्युडन्त है, भावल्युडन्त नहीं) अतः 'उपदेश' पद के साथ 'सामानाधिकरण्य' अर्थात् 'अभेदान्वय' होने में कोई बाधा नहीं है॥ ९॥

औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते।

अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता॥ १०॥

प्रकृत सूत्र में पठित 'औत्पत्तिक' शब्द के द्वारा कथित 'उपदेश' अर्थात् शब्द में (वक्ता स्वरूप उसके) कारण के दोष से अप्रामाण्य की शङ्का निवारित होती है। एवं सूत्र के 'अव्यतिरेक' शब्द से उक्त उपदेशस्वरूप शब्द प्रमाण से उत्पन्न धर्माधर्म-विषयक ज्ञान में 'अबाध' अर्थात् भ्रमभिन्नत्व का प्रतिपादन किया गया है जिससे चोदना स्वरूप शब्द का स्वतःप्रामाण्य समर्थित होता है॥ १०॥

सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।

चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः॥ ११॥

सूत्र में पठित 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस अंश का यह प्रयोजन है कि अन्य सभी प्रमाणों से अज्ञात अर्थ की उपपत्ति पर ही सभी प्रमाणों का प्रामाण्य निर्भर है (अग्रहीतग्राही ज्ञान ही प्रमा है एवं उसका करण ही प्रमाण है) 'अन्यथा' (अर्थात् पूर्व से किसी प्रमाण से ज्ञात अर्थ का ज्ञान चूंकि) स्मृति स्वरूप है (अतः उसका करण प्रमाण ही नहीं हो सकता। प्रकृत में चोदना स्वरूप शब्द प्रमाण से ज्ञाप्य अग्निहोत्रादि अर्थों का ज्ञान चूंकि किसी दूसरे प्रमाण से संभव नहीं है अतः अज्ञात का ज्ञापक होने से उक्त 'ज्ञान' रूप उपदेश अर्थात् चोदना रूप शब्द प्रमाण है॥११॥

वाक्यान्तरे समर्थेऽपि किमर्थं विधिराश्रितः।

साध्यसाधनसम्बन्धः सर्वाख्यातेषु विद्यते॥ १२॥

सर्ववाक्येषु चाख्यातं तेनाकाङ्क्षानिवर्तनात्।

प्रवृत्तिसिद्धिरिच्छातः प्रतिषेधात्तु वर्जनम्॥ १३॥

सभी आख्यातों से 'भावना' की प्रतीति होती है। 'विधि' से भी भावना के द्वारा ही धर्म में श्रेयःसाधनता की सिद्धि होती है। कोई भी वाक्य विना आख्यात के नहीं होता। इस प्रकार जिस किसी भी आख्यात से स्वर्ग और यज्ञादि में कार्यकारण-सम्बन्ध का बोध हो सकता है। फिर 'विधि' स्वरूप विशेष आख्यात को ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण क्यों कहा जाता है ?

चूंकि सभी वाक्यों में अवश्य रहनेवाले किसी न किसी आख्यात पद से भी भावना के स्वर्गादि 'साध्यों' की आकांक्षा और उन साध्यों के साधनों की आकांक्षा दोनों ही निवृत्त हो जायगी (अतः यागादि कार्यों में प्रवृत्ति और मद्यपानादि कार्यों से निवृत्ति के लिये भी विशेष रूप से विधि को धर्म और अधर्म का ज्ञापक प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) इच्छा से ही किसी कार्य में प्रवृत्ति और किसी कार्य में 'प्रतिषेध' (द्वेष) से ही निवृत्ति होती है ॥ १२–१३ ॥

विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते ।
श्रुतस्वर्गादिबाधेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत् ॥ १४ ॥

उक्त प्रश्न का यह समाधान है कि सभी वाक्यों को धर्म और अधर्म इन दोनों सामान्य रूप से ज्ञापक प्रमाण न मान कर विशेषरूप से विधि वाक्य स्वरूप चोदना को ही प्रमाण मानने का यह हेतु है कि विधि का अवलम्बन न करने से 'यागादि धर्म साधन हैं, एवं पुरुषों के परम इष्ट स्वर्गादि ही उनके यागादि धर्मों के साध्य हैं' इस अर्थ का लाभ नहीं होता है। क्योंकि 'यजति' प्रभृति पदों में प्रयुक्त अन्य आख्यातों से जिस (शाब्दी) भावना का बोध होगा, उसके संनिहित होने के कारण यागादि धात्वर्थ ही साध्य रूप से अन्वित होंगे। स्वर्गादि पुरुषार्थ विप्रकृष्ट होने से साध्य रूप से अन्वित नहीं हो सकेंगे (जिससे यागादि में स्वर्गादि पुरुषार्थों के साधनत्व की प्रतीति न हो सकेगी) ॥ १४ ॥

विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादेः साध्यतेष्यते ।
तत्साधनस्य धर्मत्वमेवं सति च लभ्यते ॥ १५ ॥

विधिवाक्य को ही धर्म और अधर्म का ज्ञापक मानने से 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों में प्रयुक्त 'विधि' प्रत्ययस्वरूप विशेष आख्यात के अर्थ (पुरुष-प्रयत्न रूप आर्थी) भावना में स्वर्गादि पुरुषार्थों का साध्य रूप से अन्वय संभव होता है, क्योंकि वे यागादि धात्वर्थों से भी संनिहित हैं। बाद में धात्वर्थ यागादि साधन रूप से भावना में अन्वित होते हैं जिससे 'यागेन स्वर्ग भावयेत्' यह अभीष्ट बोध उपपन्न होता है। अतः यागादि-क्रियाओं में स्वर्गादि इष्टों को साधनता की प्रतीति के द्वारा धर्मत्व की उपपत्ति होती है ॥ १५ ॥

स्वप्रत्ययान्तरापेक्षा　　स्यादनाप्तनरोक्तिषु ।
आप्तोक्तिषु नरापेक्षा नोभयं चोदनासु नः ॥ १६ ॥

(सूत्र में पठित 'अनपेक्षत्वात्' इस पद के प्रयोग से चोदना रूप विधिवाक्यों में स्वतः प्रामाण्य की सूचना दी गयी है। क्योंकि) अनाप्त पुरुषों द्वारा उच्चरित वाक्यों से उत्पन्न बोध के प्रामाण्य के लिये दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होती है। एवं आप्त वाक्य से उत्पन्न बोध के प्रामाण्य के लिये उस वक्ता पुरुष के प्रामाण्य की अपेक्षा होती है। किन्तु हम लोग जिस अपौरुषेय चोदना को प्रमाण मानते हैं, उसके प्रामाण्य के लिये उन दोनों में से किसी की भी अपेक्षा नहीं होती है। अतः अपौरुषेय चोदना रूप वाक्य स्वतः प्रमाण है। (यही बात सूत्र में प्रयुक्त 'अनपेक्ष' पद से ध्वनित होती है) ॥ १६ ॥

औत्पत्तिक सूत्र की व्याख्या समाप्त ॥

अथ वृत्तिकारग्रन्थः

वृत्तिकार ने (१) तस्य निमित्तपरीष्टिः (२) सत्सम्प्रयोगे'''विद्यमानोपलम्भनत्वात् (३) औत्पत्तिकस्तु—अनपेक्षत्वात् इन तीनों ही सूत्रों की व्याख्या भाष्यकार की व्याख्या से कुछ भिन्न रीति से की है जिसका उल्लेख भाष्यकार ने 'वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार' यहाँ से लेकर 'तस्मादविरोधः' इतने पर्यन्त के (शा० भा० पृ० २५) सन्दर्भ से किया है।

वृत्तिकार की योजना के अनुसार 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इस सूत्र में 'नञ्' का अध्याहार करके उस सूत्र का यह अर्थ करना चाहिये कि 'धर्म' के 'निमित्त' की अर्थात् चोदना स्वरूप प्रमाण की परीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा नहीं की जाती है, उसी प्रकार शब्द की परीक्षा भी नहीं करनी चाहिये। फलतः 'परीक्षा नहीं करनी चाहिये' इस वक्रोक्ति के द्वारा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के द्वारा चोदना में प्रतिज्ञात धर्मप्रामाण्य का स्वतस्त्व ही 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इस सूत्र के द्वारा अभिहित हुआ है।

इस प्रकार 'तस्य'''परीष्टिः' इस पूर्वपक्ष सूत्र के द्वारा 'प्रमाणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिये' इस पूर्वपक्ष के उत्तर में वृत्तिकारीय पक्ष के प्रतिपादक भाष्य का यह सन्दर्भ है—

'अत्रोच्यते, व्यभिचारात्परीक्षितव्यम्!' (शा० भा० पृ० २६) अर्थात् सभी प्रमाणों का प्रामाण्य यद्यपि 'स्वतः' है, फिर भी प्रमाणों की परीक्षा करनी ही चाहिये, क्योंकि कभी-कभी अप्रमाण को भी प्रमाण समझ लिया जाता है॥ १६॥

आदिशब्दो मकारान्तो लुकि क्लेशेन सङ्गतिः।
नञध्याह्रियते सूत्रे सङ्करात् परिचोदना॥ १७॥
प्रमाणलक्षणाज्ञानाद् व्यभिचारात् परीक्षणम्।
नैतत् प्रत्यक्षमित्येवमपरीक्ष्योपसंहृता॥ १८॥

वृत्तिकारस्तु'''इत्येवमादिम् इस भाष्यसन्दर्भ के 'आदिम्' शब्द को कुछ लोग मकारान्त पुंल्लिग न मानकर लुगन्त (नपुंसक) लिंग मानते हैं, किन्तु सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में विशेष्यबोधक पुंल्लिग 'ग्रन्थ' पद के साथ 'आदिम्' पद के अन्वय में कुछ कठिनाई होगी। वृत्तिकार के मत से 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इस सूत्र में 'नञ्' का अध्याहार अभिप्रेत है। सुतराम् सभी प्रमाणों का प्रामाण्य चूँकि स्वतः है अतः प्रमाणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—प्रमाणाभासों से उत्पन्न ज्ञानों में भी प्रामाण्य का व्यवहार स्वरूप साङ्कर्य देखा जाता है। अतः प्रमाणों के लक्षण को न जानने से 'व्यभिचार' होता है, अर्थात् प्रमाणभासों को भी प्रमाण समझा जाता है। अतः प्रमाणों की परीक्षा करनी चाहिये।

'नैतदेवम्, यत्प्रत्यक्षं न तद्व्यभिचरति, यद्व्यभिचरति न तत्प्रत्यक्षम्' (शाबर-भाष्य पृ० २६) इतने पर्यन्त का भाष्यसन्दर्भ 'प्रमाणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिये' इस पूर्वपक्ष का उपसंहार स्वरूप है।

अर्थात् प्रत्यक्ष का जो प्रकृत लक्षण है, वह व्यभिचरित नहीं होता (प्रत्यक्षाभासों में अतिव्याप्त नहीं होता) जो लक्षण व्यभिचरित (अतिव्याप्त) होता है, वह प्रत्यक्ष का लक्षण ही नहीं है। तो फिर प्रत्यक्ष का ऐसा कौन सा लक्षण है जो व्यभिचरित नहीं होता ? इसी प्रश्न के उत्तर में 'तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत् प्रत्यक्षम्' यही 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्द इन दोनों के व्यत्यास से बनने वाला प्रत्यक्ष का प्रकृत लक्षण है। यथाश्रुत 'सत्सम्प्रयोगे' ......'तत् प्रत्यक्षम्' यह सूत्र प्रकृत प्रत्यक्ष के लक्षण का बोधक नहीं है ॥ १७-१८ ॥

तत्रान्यस्यायथार्थत्वं प्रत्यक्षे तु यथार्थता।
यदाभासं हि विज्ञानं तत्संयोगे तदिष्यते ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण के अनुसार जो ज्ञान इस लक्षण से युक्त नहीं है वह अयथार्थ है अर्थात् प्रत्यक्षाभास है। जो ज्ञान इस लक्षण से युक्त है वह यथार्थ है। प्रकृत प्रत्यक्ष में अयथार्थत्व की यह शङ्का ही प्रमाणों की परीक्षा का हेतु है। वस्तुतः प्रमाण परीक्षणीय नहीं हैं।

प्रत्यक्ष का ऐसा कौन सा लक्षण है जिसके रहने से ज्ञान यथार्थ ही होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'यदाभास' जिस आकार का (जिस विषय का) ज्ञान उत्पन्न हो उस 'आकार' अर्थात् 'विषय' के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग से पुरुष में जिस बुद्धि की उत्पत्ति हो वही प्रत्यक्ष है। यही प्रत्यक्ष का प्रकृत लक्षण है ॥ १९ ॥

सम्पूर्णं लक्षणं ह्येतत् तत्सतोर्व्यत्ययः कृतः।
शोभनार्थस्तु सच्छब्दो यद्वाध्याहारकल्पना ॥ २० ॥

प्रत्यक्ष का यह 'सम्पूर्ण' लक्षण अर्थात् प्रत्यक्षाभासों में अतिव्याप्ति के दोष से रहित लक्षण सूत्र में प्रथम पठित 'सत्' शब्द के स्थान में पश्चात् पठित 'तत्प्रत्यक्षम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' शब्द के व्यत्यय से अर्थात् 'सत्' शब्द के स्थान में 'तत्' शब्द के एवं पश्चात् पठित 'तत्' शब्द के स्थान में 'सत्' शब्द के पाठ से निष्पन्न होता है।

अथवा सूत्र में पठित 'सत्' शब्द और 'तत्' शब्द दोनों को यथावस्थित ही रहने दें, इन दोनों से अतिरिक्त ही 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्द का अध्याहार करलें[1] ॥ २० ॥

---

1. २० वें श्लोक के 'यद्वाऽध्याहार' इस अन्तिम चरण का अनुवाद सुचरित मिश्र की टीका के अनुसार लिखा गया है। श्रीपार्थसारथि मिश्र और श्री भट्ट उम्वेक इन दोनों ही टीकाकारों ने श्लोक के इस अंश को केवल 'तत्' शब्द का अध्याहारपरक ही माना है। किन्तु इन दोनों टीकाकारों ने इस प्रकार की व्याख्या के लिये किसी युक्ति का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु सुचरित मिश्र ने युक्ति का उल्लेख किया है।

अर्थापत्त्येतरेषां च प्रत्यक्षाभासलक्षणम् ।
बाधकज्ञानलाभो हि पूर्वाऽबाधे न सम्भवेत् ॥ २१ ॥

प्रत्यक्ष का इस प्रकार का लक्षण निर्दुष्ट होने पर प्रत्यक्षाभास का लक्षण अर्थापत्ति प्रमाण से ही ज्ञात हो जाता है। (फलतः 'जो वस्तुतः इस प्रकार का नहीं है, एवं इसके समान है वही प्रत्यक्षाभास है) यह सिद्ध हो जाता है।

उत्तरवर्त्ति ज्ञान चूँकि पहिले ज्ञान को बाधित किये विना उत्पन्न ही नहीं हो सकता अतः समझते हैं कि उत्तरवर्त्ति ज्ञान से बाधित होने वाला पूर्व ज्ञान मिथ्या है। सुतराम् 'बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते' (शाबरभाष्य पृ० २७) भाष्य का यह सन्दर्भ ठीक है, क्योंकि उक्त युक्ति के अनुसार उत्तर ज्ञान ही पूर्वज्ञान का बाधक है। पहिला ज्ञान बाद में उत्पन्न हुये ज्ञान का बाधक नहीं है[1] ॥ २१ ॥

स[2] चास्तीत्यवबोधत्वे सति नान्योन्यसंश्रयम् ।
न चानागतबाधे च पूर्वेणात्मा हि लभ्यते ॥ २२ ॥

इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप किया जाता है कि पहिला ज्ञान चूँकि मिथ्या है, इसीलिये उत्तरज्ञान से बाधित होता है ? अथवा पहिला ज्ञान चूँकि उत्तरवर्त्तिज्ञान से बाधित होता है, इसीलिये मिथ्या है ? इस प्रकार इस विकल्प से पूर्वज्ञान का मिथ्यात्व एवं उत्तरज्ञानबाध्यत्व इन दोनों के परस्पर सापेक्ष होने के कारण प्रकृत में अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति होती है।

इस आपत्ति का यह परिहार है कि उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान में रहने वाले मिथ्यात्व का 'अवबोधक' अर्थात् ज्ञापक हेतु है, उत्पादक हेतु नहीं है। वह ज्ञान मिथ्या तो इसलिये है कि दोष से युक्त कारणों से उत्पन्न होता है। एवं उत्तरवर्त्तिज्ञान की उत्पत्ति में पूर्ववर्त्ति ज्ञान का मिथ्यात्व भी कारण नहीं है। अतः प्रकृत में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

यह प्रश्न हो सकता है कि पहिला ज्ञान ही आगे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को बाधित क्यों नहीं करता ? उत्तरवर्त्तिज्ञान ही पूर्ववर्त्तिज्ञान को बाधित क्यों करता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जिस समय पूर्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस समय उत्तर ज्ञान की सत्ता नहीं रहती है, अतः पूर्वज्ञान अपनी उत्पत्ति के समय किसको बाधित करेगा ? जिस समय उत्तरज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय उत्तरज्ञान से बाधित होने के कारण पूर्वज्ञान की अपनी ही सत्ता नहीं रहती है, फिर पूर्वज्ञान उस समय किसी को भी कैसे बाधित कर सकता है ? उत्तरज्ञान तो पूर्वज्ञान के

---

१. परस्पर निरपेक्ष दो ज्ञानों में से उत्तरज्ञान पहिले ज्ञान का बाधक होता है। (देखिये मीमांसा सूत्र का अध्याय–६)। जहाँ उत्तरवर्त्ति ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखता है, वहाँ पूर्ववर्त्तिज्ञान से ही उत्तरवर्त्तिज्ञान का बाध होता है (देखिये मीमांसासूत्र अ० १)।

२. इस श्लोक के 'स चास्ति' इस पहिलेवाले अंश का अन्वय श्लो० २१ के उत्तरार्द्ध के साथ है, अतः उसकी व्याख्या श्लो० २१ के साथ ही कर दी गयी है।

पश्चात् उत्पन्न होता है, अतः पूर्वज्ञान को बाधित किये बिना वह उत्पन्न ही नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

निमित्तदोषबोधेन पश्चाद् यत्राप्यबाधनम् ।
भवत्येव हि तत्रापि नरान्तरविपर्ययः ॥ २३ ॥

जहां कहीं (दिग्भ्रमादि स्थलों में) विशेष प्रकार के दोष के कारण बाद में भी बाधकज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, वहाँ पर भी कारणीभूत विशेष प्रकार के दोष के ज्ञान से उन ज्ञानों का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। (यदि भ्रमज्ञान के बाधकज्ञान की सत्ता अवश्य मानी जाय तो वह भी कथित दिग्भ्रमादि स्थलों में भी दोषों से विहीन) दूसरे पुरुषों को उन भ्रमों के बाधक विपरीत ज्ञान अवश्य ही होते हैं। अतः भाष्य-कार ने 'यस्य च दुष्टं कारणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः' (शाबरभाष्य पृ. २८) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा ज्ञानों के मिथ्यात्व को जानने के जिन दो उपायों का निर्देश किया है, उनमें पहिला है बाधकज्ञान से प्रतिहृत होना एवं दूसरा है, उसके कारणों में दोषों का समावेश ॥ २३ ॥

सर्वेषां सर्वदा यत्र धीः स्यात् तत्र न बाधनम् ।
न हि कारणदुष्टत्वबुद्धिस्तत्र बलीयसी ॥ २४ ॥

'अयं गौः' इत्यादि आकारों के जाति और व्यक्ति के अभेदविषयक प्रत्यक्ष के बाद किसी दूसरे पुरुष को भी बाध का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु जाति और व्यक्ति की भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही अनिर्णीत हैं, अतः जाति विषयक प्रत्यक्ष को अवश्य ही मिथ्या मानना होगा। किन्तु उसके बाद चूंकि किसी को भी विपरीत दूसरा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः इस प्रकार के ज्ञानों का मिथ्यात्व कैसे गृहीत होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि सभी को जिस धर्मी में जिस धर्म का ज्ञान ही होता है (कभी भी विपरीतज्ञान नहीं होता) उस ज्ञान का बाध कभी नहीं होगा। अतः वह ज्ञान यथार्थ ही है।

(जाति और व्यक्ति में भेद और अभेद की अनुपपत्ति से जो) बाधबुद्धि उत्पन्न होगी, वह परोक्ष होने के कारण अपने से प्रबल उक्त प्रत्यक्ष को बाधित नहीं कर सकती ॥ २४ ॥

जात्यादिषु यदा जाता बुद्धिः पश्चादसम्भवात् ।
नाश्यते युक्तिभिस्तत्र व्यक्तमन्योन्यसंश्रयम् ॥२५॥

२२ वें श्लोक में जिस अन्योन्याश्रय दोष की चर्चा की गयी है, उसका प्रसङ्ग यहाँ भी उपस्थित होगा। यदि जात्यादिविषयक प्रत्यक्ष को कथित अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न बाधक बुद्धि के द्वारा मिथ्या प्रतिपन्न करें, क्योंकि जाति में नास्तित्व-बुद्धि स्वरूप बाधक बुद्धि का उदय तभी होगा जब कि उक्त जातिविषयक प्रत्यक्ष मिथ्या हो। उक्त प्रत्यक्ष मिथ्या तभी होगा जब कि उक्त बाधकज्ञान का उदय हो। (तस्मात् उस प्रकार के प्रत्यक्ष यथार्थ ही हैं, जिनके आगे किसी को भी उसके बाध का प्रत्यक्षात्मक प्रत्यय नहीं होता)॥ २५ ॥

स्वतः प्रामाण्यतश्चात्र निर्णयोऽस्तित्वबोधनात् ।
तद्रूपप्रत्ययोत्पत्तेस्तदसद्वादिनामपि ॥ २६ ॥

यदि उक्त प्रकार के प्रत्यक्षों को 'अमिथ्या' मानते हैं, तथापि अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष 'अमिथ्या' इसलिये है कि उसको बाधित करनेवाला कोई दूसरा ज्ञान नहीं है। बाधकज्ञान इसलिये नहीं है कि क्योंकि बाध्यज्ञान अमिथ्या है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि सभी ज्ञानों का अमिथ्यात्व (प्रामाण्य) स्वतः गृहीत होता है। फलतः जातियों के अस्तित्व का कथित बोध जिन कारणों से होता है, उन्हीं कारणों से उस बोध में प्रामाण्य भी गृहीत होता है। जिस सम्प्रदाय के लोग जाति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं भी करते हैं, उनको भी उसका (जाति का अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों को समान रूप से समझाने वाले धर्म का) बोध तो अवश्य ही होता है। वे यदि उस बोध का अपलाप नहीं कर सकते तो जाति का भी अपलाप नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

वृत्तिकारग्रन्थ की व्याख्या समाप्त ॥

अथ निरालम्बनवादः

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे पुण्यपापादि तत्फलम् ।
विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ॥ १ ॥
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः ।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता ॥ २ ॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलौक्यैहलौकिके ।
सर्वमित्याद्ययुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु ॥ ३ ॥
तस्माद् धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति ॥ ४ ॥

भाष्यकार ने 'ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत् प्रत्ययः' (शाबरभाष्य पृ. २८) इस सन्दर्भ के द्वारा घटादि बाह्य वस्तुओं की सत्ता का प्रतिपादन आरम्भ किया है। धर्मविचारशास्त्रस्वरूप इस मीमांसाशास्त्र में इस विचार का क्या उपयोग है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि :—(यदि सभी ज्ञान स्वांशविषयक ही हों, घटादि बाह्य विषय यदि उनमें भासित न हों तो फिर) प्रमाण और अप्रमाण का विभाग (अर्थात् चोदना ही धर्म का ज्ञापक प्रमाण है, अन्य कोई धर्म का ज्ञापक प्रमाण नहीं है एवं विषय और इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, इससे भिन्न कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है) एवं ज्योतिष्टोमादि याग धर्म है, और ब्रह्महत्यादि कर्म पाप हैं, विधि से प्रवृत्ति होती है निषेध से निवृत्ति होती है, अर्थवाद प्ररोचक हैं मन्त्रों से अनुष्ठान में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों का स्मरण होता

है। नामधेय से गुणविधि प्रभृति के जितने भी विचार इस शास्त्र में किये गये हैं, वे सभी अयुक्त हो जायंगे। अगर यह सिद्ध हो जाय कि कोई भी ज्ञान बाह्यार्थविषयक नहीं है, सभी ज्ञान केवल 'ज्ञान' मात्र विषयक ही हैं। फलतः ज्ञान से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। तस्मात् धर्म को लोकसिद्ध मानने वालों एवं उनके अनुष्ठानों की इच्छा रखनेवालों के लिये यह आवश्यक है कि प्रमाणों के द्वारा बाह्य अर्थों की सत्ता का प्रतिपादन करें॥ १–४॥

यदा संवृतिसत्येन सर्वमेतत् प्रकल्प्यते।
ज्ञानमात्रेऽपि कस्माद्वो वृथाग्रहोऽर्थकल्पने॥ ५॥

(बौद्धों का कहना है कि) 'सत्य' दो प्रकार का है (१) संवृतिसत्य और (२) परमार्थसत्य। इनमें से 'संवृतिसत्य'विषयक ज्ञान से ही कथित प्रमाणत्व अप्रमाणत्वादि के सभी व्यवहार उपपन्न हो जायंगे। इसके लिये बाह्य अर्थों की पारमार्थिक सत्ता के लिये आग्रह करना व्यर्थ है॥ ५॥

संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥ ६॥

(किन्तु बौद्धों का उक्त कथन असङ्गत है, क्योंकि) 'संवृतिसत्य' शब्द 'संवृति' एवं 'सत्य' इन दो शब्दों के अभेदान्वय से बना है। किन्तु यह अभेदान्वय संभव नहीं है, क्योंकि मिथ्या के वाचक संवृतिशब्द का अर्थ कभी 'सत्य' नहीं हो सकता। अतः सत्य शब्द के साथ मिथ्या के वाचक संवृति शब्द का अभेदान्वय नहीं हो सकता, क्योंकि जो 'सत्य' है (अर्थात् परमार्थ है) वह संवृति अर्थात् मिथ्या नहीं हो सकता एवं जो मिथ्या है वह कभी सत्य नहीं हो सकता। अतः सत्य शब्द के साथ (मिथ्या-वाचक) संवृति शब्द का अभेदान्वय संभव ही नहीं है, क्योंकि जो 'सत्य' है (अर्थात् परमार्थ है) वह 'संवृति' अर्थात् मिथ्या नहीं हो सकता एवं जो मिथ्या है वह सत्य नहीं हो सकता॥ ६॥

सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्न हि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः॥ ७॥

(यह कहना भी संभव नहीं है कि) मिथ्यार्थ और परमार्थ इन दोनों ही में रहनेवाला 'सत्यत्व' नाम का एक सामान्य धर्म है जिससे सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकार के अर्थों में सत्यत्व का व्यवहार होता है (तदनुसार ही 'संवृतिसत्य' और 'परमार्थसत्य' इन दोनों शब्दों का व्यवहार होता है, क्योंकि) सत्यत्व और मिथ्यात्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं अतः इन दोनों में सामान्यविशेषभाव नहीं हो सकता। जैसे कि वृक्षत्व वृक्ष और सिंह इन दोनों का सामान्यधर्म नहीं हो सकता॥ ७॥

तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैषां मिथ्यासंवृतिशब्दयोः।
वञ्चनार्थ उपन्यासो लालावक्त्रासवादिवत्॥ ८॥
नास्तिक्यपरिहारार्थं संवृतिः कल्पनेति च।
कल्पनापि त्वभिज्ञस्य नैव निर्वस्तुके भवेत्॥ ९॥

मिथ्या शब्द और संवृति शब्द ये दोनों यद्यपि एक ही अर्थ के बोधक हैं तथापि बौद्धों ने लोक में अपनी नास्तिकता की प्रसिद्धि को हटाने के लिये 'संवृति' एवं 'कल्पना' प्रभृति शब्दों का प्रयोग कर लोगों को ठगने की दुश्चेष्टा की है। जैसे कि 'लाला' (मुंह से निकलनेवाले झाग) को समझाने के लिये 'वक्त्रासव' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि कल्पनाप्रसूत बाह्य वस्तुओं से ही सभी व्यवहारों की उपपत्ति होगी, क्योंकि मिथ्याज्ञान स्वरूप कल्पना भी विभिन्न वस्तुओं की सत्ता के बिना एक मात्र विज्ञान की सत्ता मानने से संभव नहीं है। (रजत और शुक्तिका इन दोनों की वास्तविक सत्ता रहने पर ही दोष से शुक्तिका में रजत का अवभास होता है) ॥ ८-९ ॥

तस्माद् यन्नास्ति नास्त्येव यस्त्वस्ति परमार्थतः।
तत् सत्यमन्यन्मिथ्येति न सत्यद्वयकल्पना ॥ १० ॥

'तस्मात्' जिसकी सत्ता नहीं है, वह कभी भी नहीं है एवं जिसकी वस्तुतः सत्ता है वही 'सत्य' है, तद्भिन्न पदार्थ मिथ्या हैं—इस वस्तुगति के अनुसार 'संवृति सत्य' और 'कल्पनासत्य' स्वरूप दो सत्यों की कल्पना युक्त नहीं है ॥ १० ॥

स्वप्नादिभोगवच्चापि योपभोगत्वकल्पना।
तन्निवृत्त्यर्थमेवेह परमार्थे प्रयत्यते ॥ ११ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में भासित होनेवाले कुछ असत् विषय भी हर्षशोकादि व्यवहार के हेतु होते हैं उसी प्रकार सभी शुभ और अशुभ कर्मों का स्वर्ग नरकादि उपभोगों को भी स्वप्न में होनेवाले उपभोगों की तरह सांवृतसत्य विषयों से भी कदाचित् उपपन्न होने की कल्पना को हटाने के लिये ही भाष्यकार ने बाह्यविषयों की स्वतन्त्र सत्ता के प्रतिपादन का प्रयास किया है ॥ ११ ॥

न हि स्वप्नसुखाद्यर्थं धर्मे कश्चित् प्रवर्तते।
याद्दच्छिकत्वात् स्वप्नस्य तूष्णीमास्येत पण्डितैः ॥१२॥

चूँकि स्वप्न में होनेवाले सुखादि 'यदृच्छा' से बिना प्रयत्न के प्राप्त होते हैं, अतः स्वर्गादि सुख भी अगर स्वाप्न सुख की तरह याद्दच्छिक होता तो पण्डितगण (याज्ञिकगण) चुपचाप बैठे रहते (अर्थात् स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये यज्ञादि का अनुष्ठान न करते) ॥ १२ ॥

परमार्थफलावाप्तिमिच्छद्भिस्तेन यत्नतः।
प्रतिपत्तिर्विधातव्या युक्तिभिर्बाह्यवस्तुषु ॥ १३ ॥

तस्मात् जिन्हें वास्तविक फलों की इच्छा हो, उन्हें अवश्य ही प्रमाणों के द्वारा बाह्यवस्तुओं का यथार्थज्ञान लाभ करना चाहिये। (इसी प्रयोजन से भाष्यकार ने बाह्यवस्तुओं की वास्तविक सत्ता का प्रतिपादन किया है) ॥ १३ ॥

तत्रार्थशून्यं विज्ञानं योगाचाराः समाश्रिताः।
तस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः ॥ १४ ॥

तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं तुल्यं तावद् द्वयोरपि।
निवृत्त्यास्य ततो ज्ञाने तद्वत् संवृतिकल्पना ॥ १५ ॥
तस्मात् साधारणत्वेन तन्मूलत्वेन चाप्ययम्।
बाह्यार्थसदसद्भावे यत्नो भाष्यकृता कृतः ॥ १६ ॥

बौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के पण्डितगण बाह्यपदार्थों की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं करते। किन्तु ज्ञान की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। बौद्धों के ही माध्यमिक सम्प्रदाय के लोग घटादि बाह्य विषयों के साथ साथ ज्ञान की वास्तविक सत्ता का भी अस्वीकार करते हैं। किन्तु बाह्यविषयों की अस्वीकृति योगाचार और माध्यमिक दोनों सम्प्रदायों में समान है। एवं माध्यमिक संप्रदाय के लोग ज्ञान का अपलाप भी बाह्य अर्थों की असत्ता के द्वारा इस प्रकार करते हैं कि ज्ञान बिना विषय के नहीं होता। अतः विषयों की सत्ता ही जब संभव नहीं है तो ज्ञान भी वस्तुतः नहीं है।

सुतराम् माध्यमिकों की ज्ञान की अपह्नुति भी योगाचारों की विषयापह्नुति के अधीन है। अतः भाष्यकार ने ज्ञानापह्नुतिवादी (माध्यमिक-शून्यवादी) के मत के स्वतन्त्र रूप से निराकरण का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि बाह्यविषयों की सत्ता के सिद्ध हो जाने पर विषयापह्नुतिवादी योगाचारों के साथ साथ ज्ञानापह्नववादी माध्यमिक भी स्वतः पराभूत हो जायगे। अतः भाष्यकार ने बाह्यविषयों की सत्ता एवं असत्ता का ही विचार किया है ॥ १४–१६ ॥

बाह्यार्थापह्नवेऽद्वैतमेकार्थस्य परीक्षणात्।
प्रमाणमाश्रितश्चैकस्तत्रास्तां यः प्रमेयतः ॥ १७ ॥
प्रमाणस्थस्तु मूलत्वादिहेदानीं परीक्ष्यते।
प्रस्तुतः स द्विधा चात्र प्रथमं त्वनुमानतः ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षबाधने चोक्ते पश्चात् तच्छक्त्यवेक्षणात्।
तत्रानुमानमाहेदं नन्वित्यस्य च सङ्गतिः ॥ १९ ॥

योगाचारियों ने बाह्य अर्थों की अनुपपत्ति दो प्रकारों से दिखलायी है (१) प्रमेय की दृष्टि से एवं (२) प्रमाण की दृष्टि से। उनमें प्रमेय वाली दृष्टि को छोड़ कर प्रमाणवाली दृष्टि की ही परीक्षा भाष्यकार अभी करते हैं। (क्योंकि प्रमेय की स्थिति प्रमाण के अधीन है।[1] अतः वही मुख्य है)।

---

1. बौद्धों का कहना है कि परमाणु चूँकि अतीन्द्रिय हैं, अतः प्रमाण के द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता। परमाणुओं का समूह चूँकि परमाणु से अभिन्न है, अतः वह भी अतीन्द्रिय है, सुतराम् उसका भी प्रमाण से ग्रहण नहीं हो सकता। अवयवों से अतिरिक्त अवयवी नाम की कोई वस्तु नहीं है, अतः कौन सा ऐसा प्रमेय है जिसको प्रमाणों के द्वारा ग्राह्य बाह्य विषय कहा जाय। इसी को प्रमेय की दृष्टि से बाह्यार्थों की अपह्नुति कहते हैं।

प्रस्तुतः"""""""अनुमानतः—

प्रमाण के द्वारा बाह्यपदार्थों का खण्डन दो प्रकारों से प्राप्त है (१) प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा एवं (२) अनुमान प्रमाण के द्वारा। इनमें (यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा खण्डन का उपन्यास ही पहिले उचित था तथापि) भाष्यकार ने पहिले अनुमान के द्वारा बाह्यपदार्थों के खण्डन को इसलिये उपस्थित किया कि जिस प्रत्यक्ष प्रमाण-विरोध रूप शक्ति के द्वारा उपन्यस्त अनुमान का खण्डन होता है वही बाह्य अर्थों के साधक प्रत्यक्ष के खण्डन के लिये भी अपेक्षित है।[1]

तत्सम्प्रयोगजं नाम प्रत्यक्षमिति भाषितम्।
तत्रेन्द्रियार्थसम्बन्धभेदो न परमार्थतः॥ २०॥
कल्पितः सम्प्रयोगस्तु स्वप्नादावपि विद्यते।
तवतद्योगजन्यस्य विभागस्तेन दुर्लभः॥ २१॥

'ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत्प्रत्ययः' (शाबरभाष्य पृ. २८ पं. ७) इत्यादि पूर्वपक्ष स्वरूप भाष्यसन्दर्भ के द्वारा बाह्यार्थ-निराकरणपरक अनुमान प्रदर्शित हुआ है।

(प्रत्यक्षलक्षण के बाद 'ननु सर्व एव' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा बाह्यार्थ की अपह्नुति का विचार करने में) यह सङ्गति है कि सूत्रकार ने विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा है। उसी के ऊपर यह आक्षेप है कि इन्द्रिय और अर्थ एवं इन दोनों के सम्प्रयोग ये सभी चूँकि काल्पनिक हैं, अतः उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है, अतः इनके द्वारा प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षाभास से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि काल्पनिक इन्द्रिय और अर्थ के सम्प्रयोग से तो स्वप्नज्ञान स्वरूप भ्रम भी उत्पन्न होता है। सुतराम् इन्द्रिय और अर्थ के सम्प्रयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, एवं जो ज्ञान प्रत्यक्ष में भासित होनेवाले विषय या 'आकार' से भिन्न विषय या आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से उत्पन्न होते हैं वे सभी प्रत्यक्षाभास या भ्रम रूप हैं—यह विभाग असंभव-सा है॥ २०–२१॥

मिथ्यात्वं यद् द्विधैवोक्तं नान्यथेत्यत्र चोच्यते।
सर्वस्यैव च मिथ्यात्वे किं विशिष्याभिधीयते॥ २२॥
स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या प्रत्ययत्वात् तथा हि यः।
प्रत्ययः स मृषा दृष्टः स्वप्नादिप्रत्ययो यथा॥ २३॥

अथवा 'यस्य च दुष्टं कारणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्यः' (शाबरभाष्य पृ. २८ पं. ५) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा जो दुष्ट-कारणजन्यत्व एवं बाधकप्रत्ययबाध्यत्व इन दो धर्मों के द्वारा मिथ्याज्ञान के दो भेद किये गये हैं, उनके ऊपर 'ननु सर्व एव निरालम्बनः' (शा. भा. पृ. २८ पं. ७) इस

---

१. उन्नीसवें श्लोक के उत्तरार्द्ध का 'तन्त्रानुमानमाहेदं नन्विति" यह अंश ही 'ननु सर्व एव' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ का अवतारक है।

पूर्वपक्ष भाष्य के द्वारा आक्षेप किया गया है कि जब सभी ज्ञान समान रूप से मिथ्या ही हैं तो फिर उन विशेषणों के द्वारा उनका विभाग अनुचित है ॥ २२ ॥

'ननु सर्वं एव' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से अभिप्रेत अनुमान वाक्य का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नादि ज्ञान केवल ज्ञान होने के नाते मिथ्या ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों के जाग्रदवस्था के सभी ज्ञान भी चूंकि ज्ञान हैं अतः वे भी सभी मिथ्या हैं (जाग्रदवस्थायामुत्पन्नाः स्तम्भादि-प्रत्यया मिथ्या प्रत्ययत्वात् स्वप्नादिप्रत्ययवत्) । इस वाक्य का 'स्तम्भादिप्रत्ययाः' यह अंश पक्ष का बोधक है । 'मिथ्या' यह पद साध्य का बोधक है । 'प्रत्ययत्वात्' यह पद हेतु का ज्ञापक है । 'स्वप्नादिप्रत्ययवत्' यह वाक्य दृष्टान्त का बोधक है ॥ २३ ॥

सिद्धसाधनभावांऽशे दृष्टान्ताभाव एव च ।
मा भूतामेवशब्दश्च व्यर्थोऽशेषप्रसाधने ॥ २४ ॥
सर्व एवेति तेनात्र जाग्रद्बुद्धिपरिग्रहः ।
स्वांशाभ्युपगमाच्चापि बाह्यग्राह्यनिवारणम् ॥ २५ ॥

यद्यपि 'सर्वं एव निरालम्बनः' इत्यादि भाष्य के द्वारा स्वप्नादिज्ञान सहित सभी प्रकार के ज्ञानों में 'निरालम्बनत्व' अर्थात् बाह्यार्थानालम्बनत्व साधन ही प्रतीत होता है । किन्तु ऐसा मानने पर (अर्थात् पक्ष के बोधक भाष्यस्थ 'सर्वः एव प्रत्ययः' इन दोनों पदों को अखिल ज्ञानों का बोधक मानने पर) 'सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्' इस प्रकार का जो अनुमान होगा वह अंशतः (१) सिद्धसाधन से दूषित होगा, क्योंकि पक्ष के अन्तर्गत स्वप्नज्ञान को तो मीमांसक भी निरालम्बन मानते ही हैं । (२) दूसरा दोष यह होगा कि इस अनुमान के लिये जो 'स्वप्नप्रत्यय' को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया है वह न हो सकेगा । फलतः दृष्टान्तासिद्धि दोष होगा, क्योंकि दृष्टान्त को पक्ष से भिन्न होना चाहिये । किन्तु स्वप्नप्रत्यय भी पक्ष के अन्तर्गत ही आ जाता है । (३) तीसरा दोष यह होगा कि 'सर्वं एव' इस भाष्य-सन्दर्भ का 'एव' शब्द व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि स्वप्नादि प्रत्यय को पक्ष के अन्तर्गत मानने से वे उभयवादिसिद्ध नहीं रह जाते । स्वप्नादि प्रत्ययों के उभयवादिसिद्ध रहने पर ही यह कहना संभव होता है कि 'जाग्रदवस्था के ज्ञानों को आप ज्ञान होने के नाते बाह्यार्थविषयक कैसे कहते हैं ? क्योंकि स्वप्नादि ज्ञान प्रत्ययस्वरूप होने पर भी 'निरालम्बन' हैं । अतः जाग्रदवस्था के ज्ञानों में (प्रत्ययों में) निरालम्बनता की सिद्धि उक्त सन्दर्भ से अभिप्रेत मानना होगा । तदनुसार 'सर्वं एव निरालम्बनः' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि 'स्वप्नादि कुछ प्रत्यय ही निरालम्बन नहीं हैं, किन्तु सभी प्रत्यय निरालम्बन हैं' । अतः 'सर्वं एव' इत्यादि सन्दर्भ के 'प्रत्यय' शब्द से जाग्रदवस्था के ज्ञानों का ही ग्रहण करना चाहिये ।

स्वांशाभ्युपगम''''''निवारणम्—

एवं 'सर्वं एव निरालम्बनः' इस भाष्यसन्दर्भ के 'निरालम्बन' शब्द का अर्थ 'बाह्य अर्थों की शून्यता' है, क्योंकि योगाचारो बौद्धलोग भी सभी प्रत्ययों को घटादि

बाह्यविषयक नहीं मानकर केवल स्वविषयक ही मानते हैं, इसलिये अक्षरार्थ क्रम के अनुसार यदि निरालम्बन शब्द से सर्वथा विषयशून्यत्व मानें तो बौद्धों के मत से भी उक्त अनुमान बाधित होगा, क्योंकि पक्षीभूत जाग्रदवस्था का कोई भी ज्ञान निरालम्बन नहीं है। सभी ज्ञान अन्ततः स्वांशरूपज्ञानविषयक हैं ही ॥ २५ ॥

प्रत्ययस्येति साध्यांशव्याप्तिहेतुनिदर्शनम् ।
हेतुश्चोपनयेनात्र जाग्रतोऽपीति दर्शितः ॥ २६ ॥

'प्रत्ययस्य निरालम्बनता स्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने' (शाबरभाष्य पृ. २८) भाष्य के इस सन्दर्भ के द्वारा कथित 'प्रत्ययत्व' हेतु में 'निरालम्बनत्व' स्वरूप साध्य की जो 'व्याप्ति' है, उसका उपसंहार स्वप्नरूप दृष्टान्त में किया गया है। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ 'मिथ्यात्वव्याप्यप्रत्ययत्ववान् स्वप्नः' इस उपनयवाक्य का प्रतिरूप है। (स्पष्टतः पञ्चम्यन्त हेतुवाक्य का उल्लेख भाष्य में न रहने पर भी) कथित उपनय-बोधक वाक्य से ही 'प्रत्यत्व' हेतु सूचित हो जाता है। 'जाग्रतोऽपि स्तम्भ इति वा' (शाबरभाष्य पृ. २८) इस सन्दर्भ के द्वारा प्रत्ययत्व हेतु की वृत्तिता 'स्तम्भोयम्' इत्यादि आकारों के जाग्रदवस्था के ज्ञानों में दिखलायी गयी है। फलतः पक्षधर्मता प्रदर्शित हुई ॥ २६ ॥

विपक्षाभावतश्चात्र व्यतिरेको न कथ्यते ।
सामान्यस्य च हेतुत्वात् कस्मात् पक्षैकदेशता ॥ २७ ॥

कथित भाष्यसन्दर्भ के 'प्रत्ययस्य हि निरालम्बनता स्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने' (शाबरभाष्य पृ. २८) इस वाक्य के द्वारा जो साधर्म्योदाहरण और अन्वय-व्याप्ति दी गयी है, एवं किसी भी वाक्य से वैधर्म्योदाहरण एवं व्यतिरेकव्याप्ति की सूचना नहीं दी गयी है उसका यह हेतु है कि सभी ज्ञानों को निरालम्बन मानने वालों के पक्ष में सालम्बन ज्ञान ही विपक्ष या वैधर्म्योदाहरण होगा, किन्तु उस सिद्धान्त में कोई सालम्बन ज्ञान नहीं है। अतः 'व्यतिरेकव्याप्ति' एवं 'वैधर्म्योदा-हरण' का उल्लेख भाष्य में नहीं है।

(सभी प्रत्ययों में निरालम्बनत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त प्रत्ययत्व हेतु चूंकि-'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस प्रतिज्ञा में संनिविष्ट है, (क्योंकि–प्रत्ययत्व रूप हेतु एवं प्रत्ययरूप पक्ष एक ही हैं) अतः इस हेतु में पक्षधर्मता नहीं रह सकती, क्योंकि 'स्व' स्व का धर्म नहीं हो सकता। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि) प्रतिज्ञा में जाग्रदवस्था के विशेष प्रकार के प्रत्यय पक्ष रूप से निविष्ट हैं। किन्तु हेतु है सभी प्रत्ययों में रहने वाला प्रत्ययत्व, अतः पक्षधर्मता की अनुपपत्ति नहीं है ॥ २७ ॥

इति पूर्वपक्षः ॥

जाग्रज्ज्ञाने विशेषोऽयं यतः सुपरिनिश्चयः ।
बाह्यालम्बनसम्बन्धो न प्रसिद्धः परं प्रति ॥ २८ ॥

तस्माद् यद् भाष्यकारेण दत्तमुत्तरमत्र तु ।
विकल्पसमता वा स्याद् वैधर्म्यसमतापि वा ॥ २९ ॥

"उच्यते, स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्यसिष्यतीति' (शाबरभाष्य पृ. २९) इस सिद्धान्त के द्वारा जाग्रदवस्था की बुद्धि में सुपरिनिश्चितत्व हेतु से सालम्बनत्व की सिद्धि की गयी है (जाग्रत्प्रत्ययाः सालम्बनाः सुपरिनिश्चितत्वात्) किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि बाह्यालम्बनत्व के साथ ही रहनेवाले सुपरिनिश्चितत्व को भी पूर्वपक्षवादी स्वीकार नहीं करते। अतः सुपरिनिश्चितत्व हेतु से बौद्धों के द्वारा समर्थित निरालम्बनत्व का अनुमान बाधित या सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार का उक्त उत्तर 'विकल्पसम' या 'वैधर्म्यसम' नाम का जात्युत्तर (असदुत्तर) ही होगा।

अर्थात् निरालम्बन स्वप्नावस्था के ज्ञानों से जाग्रदवस्था के 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकार के ज्ञानों में सालम्बनत्व रूप से अन्तर दिखलाने के लिये जिस 'सुपरिनिश्चय' रूप वैशिष्ट्य को दिखलाया गया है, उसमें सालम्बनत्व की व्याप्ति बौद्धों के द्वारा समर्थित नहीं है। अतः व्याप्ति से निरपेक्ष केवल स्वप्न के वैधर्म्य के द्वारा सुपरिनिश्चितत्व हेतु से जाग्रदवस्था के ज्ञानों में सालम्बनत्व का साधन 'वैधर्म्यसमा' जाति नाम का असदुत्तर है।

अथवा उक्त 'सुपरिनिश्चितत्व' हेतु के द्वारा इस रीति से जाग्रदवस्था के ज्ञानों में 'सालम्बनत्व' साधन करें कि जाग्रदवस्था के प्रत्यय और स्वप्नावस्था के प्रत्यय दोनों ही 'प्रत्ययत्व' रूप से यद्यपि समान हैं, तथापि जिस प्रकार उनमें से एक 'सुपरिनिश्चित' है दूसरा नहीं उसी प्रकार कोई सालम्बन होगा कोई नहीं। अतः स्वाप्नज्ञान के निरालम्बन होने पर भी जाग्रदवस्था के ज्ञान सालम्बन हैं। किन्तु इस प्रकार का उत्तर 'विकल्पसमा' नाम का जात्युत्तर (असदुत्तर) होगा (देखिये न्यायसूत्र और वात्स्यायनभाष्य अ. ५ आ. १ सू. ४) ॥ २८-२९ ॥

दुष्टत्वात् पूर्वपक्षस्य जात्युक्तिः कैश्चिदाश्रिता ।
प्रतिज्ञादोषमेवाहुः केचित् प्रत्यक्षबाधनम् ॥ ३० ॥

भाष्यकार के ऊपर लगाये गये असदुत्तर देने के इस आक्षेप का समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि पूर्वपक्षवादी का पक्ष मूलतः जिस लिये अयुक्त है, अतः भाष्यकार ने जात्युत्तर से भी उसे हटाने का प्रयास किया है।

किन्तु उक्त आक्षेप का वार्त्तिककार स्वयं यह समाधान करते हैं कि भाष्यकार ने 'उच्यते' इत्यादि से जो समाधान किया है वह 'जात्युत्तर' नहीं है, क्योंकि उस भाष्यग्रन्थ से जाग्रदवस्था की बुद्धि में सुपरिनिश्चितत्व हेतु से निरालम्बनत्व की सिद्धि को बाधित करना अभिप्रेत नहीं है। किन्तु 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों की जाग्रदवस्था की बुद्धियां चूंकि 'सुपरिनिश्चित' प्रत्यक्षरूप हैं, अतः स्तम्भादि बाह्य अर्थ भी 'सुपरिनिश्चित' होते हैं। इस प्रकार सुपरिनिश्चितत्व निरालम्बनत्वविषयक प्रतिज्ञा को ही बाधित करता है। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ प्रतिज्ञा में प्रत्यक्षबाध (फलतः सर्वप्रमाणबाध) का ही उद्भावक है ॥ ३० ॥

शक्ष्यामो यदि विस्पष्टं स्वांशग्राह्यनिवारणम् ।
तदा ते शुद्ध एव स्यात् पक्षो ग्राह्यनिवारणः ॥ ३१ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष से जिन नीलादि विषयों का भान होता है, वे ज्ञानस्वरूप भी हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे बाह्य ही हों। अतः कथित 'सुपरिनिश्चित' प्रत्यक्ष से 'निरालम्बनत्व' साध्य की प्रतिज्ञा बाधित नहीं हो सकती। बौद्धों के इस समाधान के खण्डन में बाह्यपदार्थों की सत्ता माननेवाले हमलोगों का कहना है कि) यदि हमलोग इस पक्ष का समीचीन खण्डन कर सकें कि 'सभी ज्ञान 'स्व'रूपज्ञानविषयक ही हैं (बाह्यस्तम्भादिविषयक नहीं, तो फिर तुम लोगों का पक्ष इस रूप में रह जायगा कि 'ज्ञान का कोई विषय ही नहीं है'।) फलतः 'सर्वः प्रत्ययः निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञा में 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकार के 'सुपरिनिश्चित' प्रत्यक्ष का बाध सुस्पष्ट है ॥ ३१ ॥

प्रत्यक्षादेश्च विषयो बाह्य एवावतिष्ठते ।
तन्निषेधकृतस्तस्य तैर्भवेत् पक्षबाधनम् ॥ ३२ ॥

(प्रतिज्ञा में कथित 'प्रत्यक्षबाध' की उपपत्ति इस प्रकार भी हो सकती है कि 'ज्ञानों से 'स्व' स्वरूप ज्ञानों का ही ग्रहण होता है' इस पक्ष के खण्डित हो जाने पर) यह स्थिर हो जाता है कि स्तम्भादि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है। ऐसा स्थिर हो जाने पर 'सर्वोऽपि प्रत्ययः निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष का बाध सुस्पष्ट है ॥ ३२ ॥

सुनिश्चयेन चैतेषां बाधकप्रत्ययाद् ऋते ।
प्रमाणाभासता नास्तीत्येतस्मात् कथ्यते बलम् ॥ ३३ ॥

सुतराम् 'बुद्धिः सुपरिनिश्चिता' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से जाग्रदवस्था की 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकार की बुद्धियों में बाह्यालम्बनत्व की सिद्धि के लिये 'सुपरिनिश्चितत्व' को हेतु रूप में उपस्थित नहीं किया गया है। उक्त भाष्यसन्दर्भ से केवल इतना कहा गया है कि जाग्रदवस्था में 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों की बुद्धियां सुपरिनिश्चित एवं प्रत्यक्षात्मक होने के कारण कथित निरालम्बनत्व के अनुमान से बलवती हैं, अतः इस अनुमान से उक्त प्रत्यक्ष बाधित होकर 'प्रमाणाभास' नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधो हि युज्यते ।
गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति ॥ ३४ ॥

प्रमाणाभास के द्वारा गृहीत अर्थ का ही खण्डन उचित है। ज्ञानों से गृहीत होनेवाली सभी वस्तुओं का यदि खण्डन कर दिया जाय तो खण्डन करनेवालों के अपने पक्ष की सिद्धि भी संभव नहीं होगी ॥ ३४ ॥

अग्राह्यत्वाच्च भेदेन विशेषणविशेष्ययोः ।
अप्रसिद्धोभयत्वं वा वाच्यमन्यतरस्य वा ॥ ३५ ॥

(प्रकृत में बौद्धगण 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि प्रत्ययों से सुपरिनिश्चित स्तम्भादि विषयों का भी अपलाप करते हैं, किन्तु इस रीति से 'सभी ज्ञानों का निरालम्बनत्व' रूप अपना पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि) उनकी 'प्रत्ययः निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञा का 'प्रत्यय' स्वरूप 'विशेष्य' (पक्ष) एवं "निरालम्बनत्वरूप विशेषण (साध्य) दोनों की सिद्धि जिन ज्ञानों से होगी वे सभी 'प्रत्यय' स्वरूप होने के कारण 'निरालम्बन' होंगे। अतः उनसे कथित पक्ष की और साध्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इससे 'सर्वः प्रत्ययः निरालम्बनः' यह स्थापना (१) अप्रसिद्धपक्षक' (२) अप्रसिद्धसाध्यक एवं (३) अप्रसिद्धोभयक (पक्षाप्रसिद्धि एवं साध्याप्रसिद्धि दोनों दोषों से ग्रसित) होंगी, अर्थात् उक्त स्थापनापक्ष में पक्षाप्रसिद्धि, साध्याप्रसिद्धि एवं पक्षसाध्य एतदुभयाप्रसिद्धि ये तीन दोष उपस्थित हो जायगे ॥ ३५ ॥

वक्तृश्रोत्रोश्च यज्ज्ञानं विशेषणविशेष्ययोः।
तन्निरालम्बनत्वेन स्ववाग्बाधो द्वयोरपि ॥ ३६ ॥

एवं 'सर्वः प्रत्ययो निरालम्बनः' यह स्थापना 'स्ववचनविरोध' रूप दोष से भी ग्रसित है, क्योंकि 'सर्वः प्रत्ययः' पक्ष के बोधक इन दोनों पदों से एवं 'निरालम्बनः' साध्य के बोधक इस पद से वक्ता में रहनेवाला कारणीभूत ज्ञान और श्रोता में उत्पन्न होने वाला कार्यस्वरूप ज्ञान दोनों चूंकि निरालम्बन होने के कारण समान हैं, अतः दोनों के विषयों में भी कोई अन्तर संभव नहीं है। सुतराम् उक्त स्थापना में एक (प्रत्यय) विशेष्य हो एवं दूसरा (निरालम्बनत्व रूप प्रत्यय) साध्य हो—यह संभव नहीं है, क्योंकि पक्ष और साध्य दोनों को भिन्न होना ही चाहिये। तस्मात् अभिन्न दो वस्तुओं में से ही एक को पक्ष कहना एवं दूसरे को साध्य कहना 'निरालम्बन'वादियों के लिये 'स्ववचनविरुद्ध' है ॥ ३६ ॥

सम्भवो न च भेदस्य विशेषणविशेष्ययोः।
तस्मान्निरूपणं नास्ति प्रतिज्ञार्थस्य शोभनम् ॥ ३७ ॥

तस्मात् कथित युक्ति के अनुसार विशेषण (साध्य) और 'विशेष्य' (पक्ष) इन दोनों में भेद की उपपत्ति (चूँकि सभी ज्ञानों को निरालम्बन मानने से) संभव नहीं है, अतः इस प्रतिज्ञा की स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती ॥ ३७ ॥

निरालम्बनता नाम न किञ्चिद् वस्तु गम्यते।
तेन यद्व्यतिरेकादौ प्रश्नो नैवोपपद्यते ॥ ३८ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि) 'निरालम्बनता' नाम की कोई वास्तविक वस्तु नहीं है (वह स्वयं भी काल्पनिक ही है) अतः उसके प्रसङ्ग में भेद और अभेद का प्रश्न कहां उपस्थित होता है ? (जिस वस्तु की वास्तविक सत्ता रहती है, उसी में यह व्यतिरेक (भेद) और अव्यतिरेक (अभेद) का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। अतः व्यतिरेक और अव्यतिरेकमूलक कोई भी दोष स्थापना में संभव ही नहीं है ॥ ३८ ॥

यद्यवस्तु कथं त्वस्मांस्त्वं बोधयितुमिच्छसि।
बुध्यसे वा स्वबुद्ध्या त्वम् कल्पिता त्वय साध्यते ॥ ३९ ॥

(बौद्धों के इस समाधान का निराकरण उनसे यह पूछ कर किया जा सकता है कि) यदि 'निरालम्बनत्व' अवस्तु है ? (उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है) तो फिर तुम हम लोगों को उसको समझाने की अभिलाषा ही कैसे करते हो ? उस (निरालम्बनता) का ज्ञान तुमको ही कैसे होता है ? क्योंकि अवस्तु को बुद्धि के द्वारा समझा नहीं जा सकता। यदि ऐसा हो तो फिर वह 'अवस्तु' ही नहीं रह जायगी, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही (तुम्हारे मत से) 'सत्ता' का लक्षण है एवं सत्त्व और वस्तुत्व दोनों एक ही पदार्थ हैं।

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि यद्यपि निरालम्बनत्व नाम की कोई पारमार्थिक वस्तु नहीं है, तथापि काल्पनिक 'निरालम्बनत्व' के द्वारा ही अनुमानादि का व्यवहार हमलोग करते हैं। जैसे कि आप (मीमांसक लोग) प्रतिमा में देवतात्व की कल्पना के द्वारा आराधनादि का व्यवहार करते हैं। इसी रीति के अनुसार हम लोग भी प्रकृत अनुमान से कल्पित निरालम्बनत्व का साधन कर लेते हैं। अतः इससे निरालम्बनत्व को पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता ।। ३९ ।।

असतः कल्पना कीदृक् त्वत्पक्षे वस्तु प्रसज्यते।

कथमिष्टमभावे चेद् वस्तु सोऽपीति वक्ष्यते ।। ४० ।।

किन्तु बौद्धों का यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि सर्वथा अविद्यमान वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक स्थान में प्रसिद्ध वस्तु के अन्यत्र आरोप को ही कल्पना कहते हैं (वैकुण्ठादि में प्रसिद्ध विष्णु आदि का आरोप ही प्रतिमाओं में भी होता है)। सुतराम् गगनकुसुमादिवत् सर्वथा अप्रसिद्ध 'निरालम्बनत्व' की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यदि 'निरालम्बनत्व' की कल्पना को स्वीकार करेंगे तो फिर निरालम्बन की यथार्थसत्ता की आपत्ति होगी। अर्थात् बाह्यविषयों का सर्वथा असत्त्व बाधित हो जायगा, क्योंकि 'कल्पना' को ज्ञानरूप ही स्वीकार करना होगा। फिर प्रश्न होगा कि उस कल्पना से कौन सा विषय ज्ञात होता है ? यदि इस प्रश्न का यह उत्तर दें कि उस कल्पना से निरालम्बनत्व ज्ञात होता है, तो फिर 'कल्पना' को 'असत्' कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है, इस प्रकार का सत्त्व तो कल्पना में भी है ही।

(इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि) यदि 'अवस्तु' किसी का साध्य नहीं हो सकता तो आप (मीमांसक) भी मेघ के न रहने से वर्षा के अभाव रूप 'अवस्तु' का साधन कैसे करते हैं ? (अतः अवस्तु होने के कारण निरालम्बनत्व के साधन में कोई बाधा नहीं है)।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि हम आगे (अभावपरिच्छेद में) कहेंगे कि 'अभाव' भी 'अवस्तु' नहीं 'वस्तु' ही है ।। ४० ।।

तथा प्रत्यय इत्येष कर्म भावादि वा भवेत्।

भावादिषु विरोधः स्यात् कर्म चेत्सिद्धसाधनम् ।। ४१ ।।

प्रत्याय्यस्य हि रूपादेर्निरालम्बनतेष्यते ।
अविज्ञानात्मकत्वेन किञ्चिन्नालम्बते ह्यसौ ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार 'प्रत्ययः निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञा के पक्षबोधक 'प्रत्यय' पद के प्रसङ्ग में भी यह विकल्प उपस्थित होगा कि यह 'प्रत्यय' शब्द (१) 'प्रतीयते यः स प्रत्ययः' इस प्रकार कर्मसाधन है ? अथवा (२) 'प्रतीतिरेव प्रत्ययः' इस प्रकार भावसाधन है ? किं वा (३) 'प्रत्येति यः स प्रत्ययः' इस क्रम से कर्तृसाधन है ? अथवा (४) 'प्रतीयते अनेन' इस क्रम से करणनिष्पन्न है ?

इन चारों ही पक्षों में से अन्तिम तीन पक्षों में 'प्रत्यय'शब्दघटित 'प्रत्ययः निरालम्बनः' यह प्रतिज्ञा 'स्ववचनविरुद्ध' होगी।[1]

एवं 'प्रत्यय' शब्द को कर्मनिष्पन्न मानने पर 'सिद्धसाधन' दोष होगा, क्योंकि उस पक्ष में प्रत्यय के विषयों में निरालम्बनत्व का साधन ही प्रतिज्ञावाक्य का अर्थ होगा, सो पहले से सिद्ध ही है, क्योंकि प्रतीत होनेवाले रूपादिविषयों को हम मीमांसक भी निरालम्बन मानते हैं। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप न होने के कारण किसी को भी अपना विषय नहीं बनाते ॥ ४२ ॥

कर्तृत्वे करणत्वे वा पक्षत्वं शब्दयोरपि ।
तन्निरालम्बनत्वेन पक्षाभावः प्रसज्यते ॥ ४३ ॥

'प्रत्यय' शब्द को कर्तृनिष्पन्न और करणनिष्पन्न मानने से दोनों प्रत्यय शब्दों में भी (कर्त्ता और करणस्वरूप अर्थ के समान) पक्षता प्राप्त होगी। उन दोनों प्रत्यय शब्द के अर्थों में यदि निरालम्बनत्व का साधन करेंगे तो साधन के समय 'पक्षानुक्ति' दोष होगा, क्योंकि शब्दों की निरालम्बनता उनकी अभिधेयशून्यतास्वरूप होगी। तदनुसार प्रकृत प्रतिज्ञावाक्य का यही अर्थ होगा कि उक्त दोनों शब्दों से किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता है। जिस प्रतिज्ञावाक्य का ऐसा अर्थ हो उससे किसी भी पक्ष का प्रतिपादन सम्भव नहीं है ॥ ४३ ॥

---

१. 'प्रत्यय' शब्द को भावनिष्पन्न मानने में 'स्ववचनविरोध' इस प्रकार होगा कि कोई भी सकर्मक क्रिया कर्म के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रतीति भी सकर्मक क्रिया है। उसमें विषय होनेवाला पदार्थ ही उसका कर्म होगा। फलतः 'प्रतीति तो है' किन्तु उससे ज्ञात होनेवाला कोई कर्म (विषय) नहीं है ये दोनों बातें परस्पर-विरुद्ध हैं। किन्तु 'प्रतीतिः निरालम्बना' इस प्रतिज्ञावाक्य का यही अर्थ होता है। अतः यह प्रतिज्ञा 'स्ववचनविरुद्ध' है।

एवं 'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' इस न्याय से यदि प्रत्यय शब्दार्थ एक ही ज्ञान को कर्त्ता और करण दोनों मानें तथापि उन दोनों पक्षों में भी 'स्ववचनविरोध' होगा, क्योंकि कर्त्ता और करण इनमें से भी कोई कर्म कारक के बिना क्रिया का उत्पादन नहीं कर सकता। अतः इन दोनों के साथ विषयस्वरूप कर्मकारक का नियत सम्बन्ध है। सुतराम् उन दोनों में निरालम्बनत्व का साधन नहीं किया जा सकता।

प्रत्याय्येन च भिन्नेन विना कर्त्राद्यसम्भवः ।
प्रत्यये तन्निमित्ते वा बाधः स्ववचनेन ते ॥ ४४ ॥

भावादिषु विरोधः स्यात् (श्लोक ४१) इस वाक्य के द्वारा कथित 'स्ववचन-विरोध' इस प्रकार होता है कि भावप्रत्ययनिष्पन्न प्रत्यय का अभिधेय 'प्रतीति' का यह स्वरूप है कि 'वह अपने से भिन्न वस्तुओं को प्रकाशित करे' । अतः प्रतीति के बोधक प्रत्यय शब्द के द्वारा 'धर्मी' (अर्थात् पक्ष) के अभिधान मात्र से उसमें निरालम्बनत्व का बाध हो जाता है ।

इसी प्रकार प्रत्यय शब्द को कर्तृनिष्पन्न और करणनिष्पन्न मानने पर भी अपनी उक्ति से ही बाध उपस्थित हो जायगा, क्योंकि प्रतीति चूँकि 'सालम्बना' है, अतः उसके द्वारा उसका कर्त्ता और करण ये दोनों भी सालम्बन होंगे । अतः उनमें भी निरालम्बनत्व बाधित हो जायगा ॥ ४४ ॥

अथापि रूढिरूपेण प्रत्ययः स्यात् तथापि तु ।
ग्राहकं वस्तु सिद्धं नः प्रत्ययोऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ४५ ॥

यदि (प्रकृत प्रतिज्ञावाक्य के) 'प्रत्यय' शब्द को रूढ़ मानें तथापि 'स्ववचन-विरोध' होगा, क्योंकि हम लोगो के मत से (प्रत्यय शब्द का रूढ़्यर्थ) ज्ञान स्व से अन्य घटादि वस्तुओं का ग्रहण करने वाला पदार्थ है । उसमें निरालम्बनत्व के बाधित होने से भी 'स्ववचनविरोध' होगा ॥ ४५ ॥

तमभ्युपेत्य पक्षश्चेदभ्युपेतं विरुध्यते ।
विशेष्यस्याप्रसिद्धिश्च तवास्माकमताहृशे ॥ ४६ ॥

यदि (हम लोगों के समान प्रत्यय शब्द को अन्य वस्तु का ग्राहक) मानकर उसमें निरालम्बनत्व का साधन रूप अपना पक्ष उपस्थित करें तो 'स्वाभ्युपगम-विरोध' दोष भी होगा । (क्योंकि आप लोग प्रत्यय को अन्य वस्तुओं का ग्राहक नहीं मानते) ।

अगर (अन्यग्राहकत्वविशिष्ट) प्रत्यय को पक्ष करोगे तो तुम्हारे मत से पक्षासिद्धि (आश्रयासिद्धि) होगा । (क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार प्रत्यय निरालम्बन हैं, अतः उनमें 'अन्यग्राहकत्व' रूप पक्षतावच्छेदक नहीं है ।) अगर 'अताहृश' को अर्थात् अन्यग्राहकत्व से रहित प्रत्यय को पक्ष करोगे तो हम लोगों के मत से 'आश्रयासिद्धि' दोष होगा । (क्योंकि पक्ष को दोनों ही मतों में पक्षतावच्छेदक रूप से ज्ञात होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

आत्मधर्मस्वतन्त्रत्वकल्पनेऽपि तथा भवेत् ।
न च प्रत्ययमात्रत्वं किञ्चिद्वस्त्यनिरूपणात् ॥ ४७ ॥

यदि (हम लोगों के अनुसार) आत्मा में रहनेवाले 'प्रत्यय' को पक्ष करोगे तो तुम्हारे मत से 'पक्षाप्रसिद्धि' होगी । (क्योंकि तुम लोग प्रत्यय को आत्मा का धर्म नहीं मानते अतः आत्मधर्मत्व रूप से उसकी सिद्धि सम्भव नहीं होगी ।)

'प्रत्यय' स्वरूप किसी स्वतन्त्र पदार्थ को यदि पक्ष करोगे तो मेरे मत से 'पक्षाप्रसिद्धि' दोष होगा। (क्योंकि मेरे मत से अन्यानाश्रितत्व रूप स्वातन्त्र्य प्रत्यय में नहीं है)।

इस पक्षाप्रसिद्धि को हटाने के लिए बौद्धगण कह सकते हैं कि 'प्रत्ययमात्र' ही पक्ष है। (अर्थात् आत्मधर्मत्व स्वातन्त्र्य प्रभृति धर्मों से अनिश्चित केवल 'प्रत्यय' ही पक्ष है।) एवं इसमें रहनेवाला प्रत्ययत्व ही पक्षतावच्छेदक है। अतः उक्त पक्षाप्रसिद्धियों की कोई सम्भावना नहीं है। बौद्धों के इस समाधान का निराकरण यह है कि प्रत्ययत्व या प्रत्ययमात्रत्व नाम के किसी भी धर्म का निर्वचन चूँकि सम्भव नहीं है, अतः उन रूपों से प्रत्यय को पक्ष कर इन पक्षाप्रसिद्धियों से बचा नहीं जा सकता ॥ ४७ ॥

शब्दार्थमात्ररूपेण यथान्येषां निरूपणम्।
तथा च भवतो न स्याद् वाच्यभेदमनिच्छतः ॥ ४८ ॥

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि जिस प्रकार आप (मीमांसक गण) शब्द में नित्यत्वसाधन के समय 'शब्द' पद से बोध्य अर्थ को पक्ष मानकर उसमें नित्यत्वादि का साधन करते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी 'प्रत्यय' शब्द के अर्थ को ही पक्ष बनाकर उसी में निरालम्बनत्व की सिद्धि करेंगे, किन्तु हम लोगों की तरह आप (बौद्ध) लोगों के लिए यह सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सभी प्रत्ययों में रहने वाले 'प्रत्ययशब्दबोध्यत्व' नाम के किसी सामान्य धर्म की सत्ता आप नहीं मानते। आप तो तत्तद्व्यक्तियों में रहनेवाले 'अपोह' स्वरूप असाधारण धर्मों की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं ॥ ४८ ॥

निरालम्बनता चापि सर्वथा यदि साध्यते।
विशेषणाप्रसिद्धिश्च दृष्टान्तश्च न विद्यते ॥ ४९ ॥

'प्रत्ययः निरालम्बनः प्रत्ययत्वात्' इस अनुमान के प्रत्यय स्वरूप पक्ष के प्रसङ्ग में विचार की तरह निरालम्बनत्वस्वरूप साध्य के प्रसङ्ग में विचार करने पर भी उक्त अनुमान ठीक नहीं मालुम होता है, क्योंकि यदि सर्वथा 'निरालम्बनत्व' का साधन करेंगे तो अर्थात् प्रत्यय में किसी को भी विषय होना स्वीकार नहीं करेंगे तो 'विशेषणाप्रसिद्धि' दोष होगा (क्योंकि सभी ज्ञानों का कोई न कोई विषय अवश्य होता है)। स्वप्नादि भ्रान्तियाँ भी एकान्त रूप से निरालम्बन नहीं हैं। अतः 'निरालम्बन' स्वरूप साध्य का विशेषणीभूत 'निरालम्बनत्व' किसी भी ज्ञान में प्रसिद्ध नहीं है।

दूसरा दोष यह होगा कि इस अनुमान के लिए कोइ दृष्टान्त नहीं मिलेगा। यदि स्वप्नादि को उपस्थित भी करेंगे तो वह भी 'साध्यशून्य' होगा, क्योंकि उनका कोई आलम्बन (आप के मत से) नहीं है। किन्तु दृष्टान्त में साध्य का रहना आवश्यक है ॥ ४९ ॥

केनचिच्चेत् प्रकारेण निरालम्बनतोच्यते।
रसज्ञानस्य रूपादिशून्यत्वात् सिद्धसाधनम् ॥ ५० ॥

यदि जिस किसी आलम्बन के अभाव को ही साध्य करें तो 'सिद्धसाधन' दोष होगा, क्योंकि रूपविषयक ज्ञान में रसादि आलम्बनों का न होना (रसानालम्बनत्व) तो हम लोग भी मानते ही हैं ॥ ५० ॥

अर्थबुद्धिर्यदाकारा तदालम्बनवारणम् ।
स्वाकारस्याभ्युपेतत्वात् तदभावो विरुध्यते ॥ ५१ ॥

यदि प्रत्यय (स्वरूप बुद्धि) जिस आकार की होती है, उस बुद्धि में उस आकार के आलम्बनत्व का निषेध 'निरालम्बनत्व' स्वरूप साध्य का अर्थ है तो भी 'स्वाभ्युपगमविरोध' दोष होगा, क्योंकि आप लोग यह स्वीकार करते हैं कि बुद्धि में स्वयं उसका आकार ही विषय होता है ॥ ५१ ॥

बाह्यानालम्बनत्वेऽपि बाह्य इत्याग्रहो यदि ।
स्तम्भादौ नैव तद्बुद्धिरित्येवं सिद्धसाधनम् ॥ ५२ ॥

यदि बुद्धि में बाह्य आलम्बन के अभाव का साधन ही आप (बौद्धों) को अभीष्ट हो (अर्थात् बुद्धियाँ स्व से अतिरिक्त किसी बाह्य विषय को 'अयं बाह्यः' इस आकार से ग्रहण नहीं करतीं) तो 'सिद्धसाधन' दोष होगा, क्योंकि स्तम्भादि बाह्य विषयों का भी 'अयं स्तम्भः' इस आकार से ग्रहण होता है, 'अयं बाह्यः' इस आकार से नहीं ॥ ५२ ॥

अथ स्तम्भादिरूपेण निरालम्बनतोच्यते ।
संवेदनस्य दृष्टत्वात् तद्विरोधः प्रसज्यते ॥ ५३ ॥

यदि स्तम्भादि का 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों से ग्रहण न होने को ही 'निरालम्बनता' मानें तो 'दृष्टविरोध' दोष होगा, क्योंकि स्तम्भादि 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों के ज्ञानों से ही गृहीत देखे जाते हैं ॥ ५३ ॥

द्विचन्द्रादिषु तुल्यश्चेत् नेन्द्रियाप्राप्तितो हि नः ।
तत्रानालम्बनोक्तिः स्यान्नार्थसंवित्त्यभावतः ॥ ५४ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि चन्द्रमा आदि में जो द्वित्वादिका ज्ञान होता है, उन्हें तो मीमांसक भी निरालम्बन मानते हैं फिर भी उन स्थलों में 'संविद्विरोध' वे लोग भी नहीं मानते। उसी प्रकार 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों के अन्य 'संवित्' के स्थलों में भी विरोध का परिहार किया जा सकता है। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि हम (मीमांसक) लोग चन्द्र आदि में जो द्वित्वादि की भ्रान्ति होती है, उसे निरालम्बन इसलिये कहते हैं कि उसमें भासित होनेवाले द्वित्वादि विषयों में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता है। जैसे कि 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि यथार्थ ज्ञानों के स्तम्भादि विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध रहता है। भ्रान्तियों को इसलिए निरालम्बन नहीं कहते कि वे सर्वदा प्रतिभासरहित होते हैं ॥ ५४ ॥

सर्वत्रार्थेन्द्रियाणां नः संयोगसदसत्तया ।
संवित्तौ विद्यमानायां सदसद्ग्राहिका स्थितिः ॥ ५५ ॥

सभी ज्ञानों के प्रसङ्ग में हम लोगों का यह सिद्धान्त है कि जिन ज्ञानों के विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग है, वे ज्ञान प्रमा हैं एवं जिन ज्ञानों में भासित होनेवाले विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग नहीं है वे सभी ज्ञान भ्रान्ति स्वरूप हैं। फलतः प्रमाज्ञान 'सद्ग्राही' अर्थात् सालम्बन है, भ्रान्तियाँ 'असद्ग्राहिणी' अर्थात् निरालम्बना हैं ॥ ५५ ॥

भवतस्त्विन्द्रियादीनामभावाद् ग्रहणादृते ।
नालम्बनस्य हेतुः स्यान्निषेधोऽतो न युज्यते ॥ ५६ ॥

किन्तु आप (बौद्धगण) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप लोगों के मत से विज्ञान से अतिरिक्त न इन्द्रियों की सत्ता है, न विषयों की, न उनके सम्प्रयोगों की। अतः ग्रहण को छोड़कर अन्य किसी को भी आप 'सालम्बनत्व' का प्रयोजक नहीं कह सकते। अतः किसी ज्ञान को आप निरालम्बन नहीं कह सकते। (अतः 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि ज्ञानों मे निरालम्बनत्व का यदि साधन करेंगे तो उसमें 'संविद्विरोध' दोष अवश्य होगा) ॥ ५६ ॥

बहिर्भावाप्रसिद्धत्वात् तेनानालम्बना मतिः ।
कथञ्चित् साध्यते नैव पक्षो हि ज्ञायते तदा ॥ ५७ ॥

यदि 'बाह्यनालम्बनत्व' शब्द का 'बाह्यः' इस आकार से 'अग्रहण' ऐसा अर्थ करें तो 'सिद्धसाधन' दोष होगा, जिसका उपपादन श्लोक ५२ में किया जा चुका है। बौद्धगण यदि ये कहें कि 'जो 'वस्तुतः' बाह्य हैं, उसका आलम्बन न होना ही 'बाह्यानालम्बनत्व' है। इसी का साधन हम प्रत्ययों में करते हैं, किन्तु उनके लिए यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर 'विशेषणाप्रसिद्धि' दोष होगा जिसका पर्यवसान साध्य में साध्यतावच्छेदक रूप विशेषण की अप्रसिद्धि में होगी, क्योंकि 'बहिर्भाव' अथवा 'बाह्य' नाम की कोई वस्तु आपके मत में नहीं है। अतः इस अप्रसिद्ध 'बाह्य' को ही 'अनालम्बनत्व' स्वरूप विशेषण में (साध्य में) यदि विशेषण मानें तो 'विशेषण' के 'विशेषण' की अप्रसिद्धि होगी जिससे 'प्रत्ययः बाह्यानालम्बनः' इस (प्रतिज्ञातार्थ स्वरूप) पक्ष का ज्ञान ही असम्भव हो जायगा। अतः उक्त 'बाह्यानालम्बनत्व' का भी साधन नहीं किया जा सकता ॥ ५७ ॥

यथान्यबोधनाशक्तेर्नाप्रसिद्धे विशेषणे ।
पक्षसिद्धिस्तथैव स्याद् विशेषणविशेषणे ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार 'विशेषणाप्रसिद्धि' के रहने पर प्रतिज्ञावाक्य में साध्यविशिष्टपक्ष-विषयक बोध के उत्पादन की क्षमता नहीं रह जाती—इस हेतु से 'विशेषणाप्रसिद्धि' प्रतिज्ञा का दोष कहा जाता है, उसी प्रकार साध्यस्वरूप विशेषण में उसके विशेषण (अर्थात् साध्यतावच्छेदक) न रहने से भी प्रतिज्ञावाक्य से कथित विशिष्टबोध न हो सकेगा। इसी हेतु से 'विशेषणाप्रसिद्धि' की तरह 'विशेषणविशेषणाप्रसिद्धि' को को भी प्रतिज्ञा का दोष स्वीकार करना होगा ॥ ५८ ॥

नाप्रसिद्धे पदार्थे हि वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
तत्पूर्वकत्वात् पक्षश्च वाक्यार्थः स्थापयिष्यते ॥ ५९ ॥

विशेषणविशेषणाप्रसिद्धि के रहने पर प्रतिज्ञारूप वाक्य के अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ के प्रति पदार्थ कारण हैं। (प्रतिज्ञावाक्य का अर्थ स्वरूप) पक्ष चूँकि पदार्थपूर्वक है, अतः उसके विना कथित पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। (पदार्थों से अतिरिक्त) वाक्यार्थ की सिद्धि आगे वाक्याधिरण में करेंगे। अर्थात् प्रत्ययगत निरालम्बनत्वस्वरूप पक्ष में बाह्यत्व का वैशिष्ट्य है, वह चूँकि वाक्यार्थ रूप है, अतः पदार्थों की प्रसिद्धि के विना उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः विशेषणविशेषणाप्रसिद्धि या साध्याप्रसिद्धि भी प्रतिज्ञा का दोष है ॥५९॥

पर्युदासे निषेधे वा व्यतिरिक्तस्य वस्तुनः।
प्रमेयत्वाद्यभेदेन जगतः सिद्धसाधनम् ॥ ६० ॥

'प्रत्ययाः स्वव्यतिरिक्तानालम्बनाः' यही स्थापना पक्ष का स्वरूप है। इस स्थापनावाक्य में जो 'नञ्' पद है, उसका अर्थ यदि प्रसज्यप्रतिषेध मानें तो उस प्रतिज्ञावाक्य का स्वरूप 'प्रत्ययाः स्वव्यतिरिक्तं नालम्बन्ते' इस आकार का होगा। यदि उक्त प्रतिषेध को पर्युदास रूप मानें तो उक्त स्थापनावाक्य का 'प्रत्ययाः स्वव्यतिरिक्तादन्यदालम्बन्ते' यह स्वरूप होगा। दोनों ही स्थितियों में 'सिद्धसाधन' दोष होगा।

प्रसज्यप्रतिषेध पक्ष में सिद्धसाधन दोष इसलिए होगा कि प्रमेयत्व रूप से सभी पदार्थ अभिन्न हैं, अतः प्रत्यय जिस किसी भी विषय का हो वह प्रमेय होने के कारण प्रत्ययाभिन्न अवश्य होगा, क्योंकि प्रत्यय भी प्रमेय है। अतः प्रत्यय के कभी भी स्वभिन्नालम्बनक न होने से सिद्धसाधन होगा।

(पर्युदासपक्ष में सिद्धसाधन इसलिए होगा कि) प्रमेयत्व रूप से सभी पदार्थ अभिन्न हैं, अतः प्रत्यय जिस किसी विषय का हो सभी के मत से वह 'स्वव्यतिरिक्तान्यविषयक' (फलतः स्वभिन्नविषयक) अवश्य होगा ॥ ६० ॥

यदि चात्यन्तभेदेन निरालम्बनतोच्यते।
कथञ्चिच्चेद् विरुध्येत प्राक्पक्षः कल्पितेन ते ॥ ६१ ॥

यदि निरालम्बनत्व का 'स्व' से अत्यन्त भिन्न किसी पदार्थ का आलम्बन न होना अर्थ करें तो (आपके मत से सिद्धसाधन होगा,) क्योंकि 'स्व' रूप विज्ञान से भिन्न आप के मत से कोई पदार्थ है ही नहीं।

इसके श्लोकार्द्ध में गत सन्दर्भों में आये हुए 'सिद्धसाधन' पद की अनुवृत्ति जाननी चाहिये।

'प्रत्यय 'स्व' से जिस किसी प्रकार से भिन्न पदार्थ को अवलम्बन (विषय) नहीं करता' यह यदि 'निरालम्बनत्व' का अर्थ करें तो 'स्वाभ्युपगमविरोध' दोष होगा, क्योंकि ज्ञानों में विषय होनेवाले नीलादि विषयों के साथ विज्ञान का काल्पनिक भेद तो विज्ञानवादी बौद्धगण भी मानते ही हैं ॥ ६१ ॥

वस्त्वाद्याकारतश्चापि धीर्निरालम्बनेष्यते।
ग्राहकाच्चेदभिन्नत्वं शक्तिभेदो विरुध्यते ॥ ६२ ॥

विज्ञान के दो रूप हैं, एक 'वस्तुत्व' जो गगनादि जड़ वस्तुओं में भी समान रूप से है। यह विज्ञान का साधारण धर्म है। दूसरा धर्म है 'संवित्त्व' जो केवल चेतन विज्ञान में ही है। यह विज्ञान का असाधारण धर्म है। अपने इसी असाधारण रूप के बल से विज्ञान नीलादि जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है, वस्तुत्व स्वरूप साधारण धर्म के बल से नहीं। इस वस्तुगति के अनुसार भी प्रकृत में 'सिद्धसाधन' दोष होगा, क्योंकि विज्ञान में उक्त वस्तुत्वस्वरूप बलमूलक आलम्बनशून्यता तो सर्वसिद्ध ही है।

यदि ग्राह्य नीलादि वस्तुओं को ही पक्ष बनाकर उनमें ग्राहक विज्ञान के अभेद का साधन ही 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस प्रतिज्ञा से अभीष्ट हो, तो फिर एक ही विज्ञान में 'ग्राह्यत्वशक्ति' एवं 'ग्रहणत्वशक्ति' इन दो विरुद्ध शक्तियों की सत्ता माननी होगी जिससे 'स्वाभ्युपगमविरोध' दोष होगा ॥ ६२ ॥

निरालम्बनबुद्धेश्च यद्युत्पत्तिः प्रसाध्यते ।
दृष्टत्वात् सेष्यतेऽस्माभिर्बाह्यग्राह्यविवर्जिता ॥ ६३ ॥

यदि 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा आलम्बनशून्य ज्ञान की उत्पत्ति का साधन ही इष्ट हो तो फिर हम लोग भी उसको मान लेंगे, क्योंकि 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस वाक्य से प्रत्ययधर्मिक निरालम्बनत्वप्रकारक ज्ञान तो उपलब्ध होता ही है। केवल इतना होगा कि उस ज्ञान को 'बाह्य' विषय से शून्य होने के कारण 'मिथ्या' अर्थात् भ्रमात्मक कहेंगे ॥ ६३ ॥

सम्यक्त्वं पुनरेतस्यास्त्वं नेच्छसि कथञ्चन ।
आत्मांशेऽवसिता ह्येषा मृगतृष्णादिबुद्धिवत् ॥ ६४ ॥

कथित 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस ज्ञान को तुम (बौद्धलोग) भी यथार्थ नहीं मान सकते, क्योंकि तुम लोग किसी भी ज्ञान को यथार्थ नहीं मान सकते। ऐसा मानने पर प्रत्ययत्व हेतु अनैकान्तिक होगा, क्योंकि प्रत्ययत्व हेतु भ्रमप्रमासाधारण है। एवं निरालम्बन स्वरूप साध्य केवल भ्रमात्मक ज्ञान में ही है। अतः प्रत्यय में निरालम्बनत्व का यह ज्ञान मृगतृष्णादि बुद्धियों की तरह मिथ्या ही है ॥ ६४ ॥

चैत्रादिप्रत्ययानां च निरालम्बनता यदि ।
धर्मभूता न गृह्येत साधनोत्थितया धिया ॥ ६५ ॥
ततो विषयनानात्वात् प्रतियोग्यनिराकृता ।
रूपात् सालम्बनप्राप्तिः सती केन निवार्यते ॥ ६६ ॥

प्रत्ययत्व हेतु से जो प्रत्यय में निरालम्बनत्व की अनुमिति होगी वह 'स्वांश-विषयक' ही अर्थात् विज्ञानविषयक ही होगी। किन्तु चैत्रादिविषयक इन ज्ञानों में 'निरालम्बनता' (अथवा 'स्वांशविषयकत्व) प्राप्त नहीं होगी। सुतराम् चैत्रादि-विषयक बोधों में सालम्बनत्व का विरोध कौन करेगा ? क्योंकि 'प्रत्ययाः निराल-म्बनाः' एवं 'चैत्रो गच्छति' ये दोनों ज्ञान चूंकि भिन्नविषयक हैं, अतः दोनों में प्रति-रोध्यप्रतिरोधकभाव नहीं हो सकता। सुतराम् 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस अनुमिति

के द्वारा 'चैत्रो गच्छति' इत्यादि बुद्धियों का 'सालम्बनत्व' निराकृत नहीं हो सकता। अतः इस अनुमान में आंशिक बाध दोष भी है।[1] ॥ ६५–६६ ॥

यदि प्रत्ययशब्दोऽपि प्रत्ययत्वेन गृह्यते।
संवित्त्यालम्बनत्वं च बाध्यते, सिद्धसाधनम् ॥ ६७ ॥

यदि प्रत्ययत्व रूप से 'प्रत्यय' शब्द को भी लें एवं उस शब्द में निरालम्बनत्व की अनुमिति से चैत्रादिविषयक बोधों में सालम्बनत्व का निवारण करें (क्योंकि प्रत्ययशब्दपक्षक निरालम्बनत्वसाध्यक अनुमिति की विषयता चैत्रादि में नहीं है) तो सो भी संभव नहीं है, क्योंकि अनुमिति सिद्धसाधन दोष से ग्रसित है, क्योंकि शब्द जड़ है, अतः उसका कोई भी आलम्बन (विषय) नहीं हो सकता) ॥ ६७ ॥

बुद्ध्युत्पादनशक्तिश्चेद् बाध्या, साध्यं न सिध्यति।
साधनस्य प्रयोगोऽत्र बोधकत्वाद् विना न ते ॥ ६८ ॥

यदि 'प्रत्ययशब्दो निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञावाक्य का निरालम्बनत्वविषयक बुद्धि के उत्पादन की क्षमता का अभाव अर्थ करें (अर्थात् उक्त प्रतिज्ञावाक्य का यह अर्थ करें कि 'शब्द किसी भी बुद्धि का उत्पादन नहीं कर सकता') तो उक्त प्रतिज्ञा-वाक्य से बौद्धों का 'साध्य' अर्थात् अभिमतार्थ ही प्रतिपादित नहीं होगा। एवं पक्ष-बोधक शब्द में बोध कराने की शक्ति के बिना तुम्हारा (बौद्धों का) उसकी सिद्धि के लिये 'हेतुवाक्य' का प्रयोग भी संभव नहीं होगा ॥ ६८ ॥

न चाभिधास्त्यसम्बन्धाहते भेदाच्च नास्त्यसौ।
न चासौ तद्गतं भेदं बोधयन्त्या धिया विना ॥ ६९ ॥
प्राश्निकैरगृहीते च वाक्यस्यावयवे पृथक्।
पक्षे हेतौ च दृष्टान्ते वादिनि प्रतिवादिनि ॥ ७० ॥
साधनस्याप्रयोगः स्यादभ्युपेत्योच्यते यदि।
पूर्वाभ्युपगमेनैव प्रतिज्ञा बाध्यते ततः ॥ ७१ ॥

'प्रत्यय शब्द' को पक्ष बनाकर उसमें निरालम्बनत्व का साधन करनेवाले बौद्धों के लिये 'स्वाभ्युपगमविरोध' स्वरूप दोष भी है, क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य के पदों का अर्थों के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध के बिना हेतुवाक्य का प्रयोग संभव नहीं है। शब्द और अर्थ इन दोनों में भेद के बिना उनमें उक्त सम्बन्ध की संभावना नहीं है। यह भेद तब तक नहीं हो सकता, जब तक शब्द और अर्थ के भेद का बोध न

---

१. अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का प्रतिरोध 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से होता है उस प्रकार प्रकृत में प्रतिरोध उपस्थित नहीं होगा, क्योंकि चैत्रादि-प्रत्ययों का काम है अपने विषयों का स्थापन करना, निरालम्बनत्वबुद्धि को हटाना उनका काम नहीं है, क्योंकि 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस अनुमिति का स्वांश रूप विज्ञान ही 'विषय' है। एवं चैत्रादि प्रत्ययों के विषय चैत्रादि हैं, इस प्रकार दोनों के विषय भिन्न हैं, अतः उनमें प्रतिरोध्यप्रतिरोधकभाव नहीं हो सकता।

हो । अतः 'प्रत्ययशब्दो निरालम्बनः' इस प्रतिज्ञातार्थ की सिद्धि के लिये बौद्धों को भी शब्द और अर्थ इन दोनों के भेद को स्वीकार करना ही होगा । इन भेदों के विना 'प्राश्निक' (मध्यस्थ) को वादी और प्रतिवादी इन में से कोई भी न्यायवाक्य के प्रतिज्ञादि अवयवों को अलग अलग नहीं समझा सकेंगे जिससे 'हेतुवाक्य' स्वरूप अवयव का प्रयोग नहीं हो सकेगा । अगर उन सभी ज्ञानों को सालम्बन मान कर हेतुवाक्य का प्रयोग करें तो 'स्वाभ्युपगम विरोध' होगा, क्योंकि आप (बौद्ध) लोग ज्ञानों की सालम्बनता को अस्वीकार कर चुके हैं ॥ ६९–७१ ॥

धर्माधर्मादिभेदे च नासिद्धे परमार्थतः ।
शिष्यात्मनोश्च धर्मादिरुपदेशोऽवकल्पते ॥ ७२ ॥

जब तक धर्म और अधर्म, शिष्य और गुरु ये सभी वास्तविक रूप से परस्पर-भिन्न न हों तब तक 'उपदेश' की उपपत्ति नहीं हो सकती । किन्तु बुद्ध ने उपदेश किया है । अतः समझते हैं कि वस्तुओं की यह भेदबुद्धि बुद्ध को भी इष्ट था । अतः यह विज्ञानाभेदपक्ष आप लोगों के परम आप्त बुद्ध के अभिप्राय के भी विरुद्ध है ॥ ७२ ॥

तदनुष्ठानतो बुद्धेरिष्टो भेदः, स्फुटं च तैः ।
सूत्रान्तरेऽभ्युपेतत्वाद् भवेदागमबाधनम् ॥ ७३ ॥

उन्होंने कुछ सूत्रों के द्वारा स्पष्ट शब्द में बाह्य अर्थों की सत्ता को स्वीकार किया है । (बुद्ध के इस अभिप्राय के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बौद्ध गण बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । अतः ''प्रत्ययः निरालम्बनः' यह प्रतिज्ञा बौद्धागम से भी बाधित है) ॥ ७३ ॥

सर्वलोकप्रसिद्ध्या च पक्षबाधोऽत्र ते ध्रुवम् ।
कृत्स्नसाधनबुद्धिश्च यदि मिथ्येष्यते ततः ॥ ७४ ॥
सर्वाभावो यथेष्टं वा न्यूनता वाभिधीयते ।
तेषां सालम्बनत्वे वा तैरनैकान्तिको भवेत् ॥ ७५ ॥

'प्रत्ययः निरालम्बनः' यह प्रतिज्ञा सर्वजनसिद्ध अनुभव के विरुद्ध भी है, क्योंकि यह प्रतिज्ञा लोक में प्रसिद्ध नदी पर्वतादि सभी वस्तुओं का निषेध करती है । अतः लोकप्रसिद्धि से भी यह प्रतिज्ञा बाधित है ।

यदि सभी बुद्धियां निरालम्बन हैं तो प्रत्ययों में निरालम्बनत्व का साधक जो आप का 'प्रत्ययत्व' हेतु है, उसमें 'त्रैरूप्य' की (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व स्वरूप त्रैरूप्य की) उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि पक्षसत्त्वादि के ज्ञान भी निरालम्बन होंगे जिससे उन तीनों ही रूपों का हेतु में रहना सिद्ध न हो सकेगा। प्रत्ययत्व हेतु में त्रैरूप्य के न रहने से उससे प्रत्ययों में निरालम्बनत्व की सिद्धि न हो सकेगी । फलतः संसार की किसी भी वस्तु की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि सभी हेतुओं की यही दशा होगी । यदि हेतु में त्रैरूप्यविषयक ज्ञान को सालम्बन मानें तो

कथित प्रत्ययत्व हेतु अनैकान्तिक होगा, क्योंकि उन ज्ञानों में प्रत्ययत्व हेतु है, किन्तु निरालम्बनत्व स्वरूप साध्य नहीं है ॥ ७४–७५ ॥

तदन्यस्य प्रतिज्ञा चेत्, तदन्यप्रत्ययो मृषा ।
तन्मिथ्यात्वप्रसङ्गे च सर्वं पूर्वं न सिध्यति ॥ ७६ ॥

यदि ऐसा कहो कि केवल 'प्रत्ययत्व' को हेतु न कहकर साधन में 'त्रैरूप्य' के ग्राहक वुद्धि से भिन्न वुद्धियों में रहने वाले 'प्रत्ययत्व' हेतु को ही जाग्रदवस्था के प्रत्ययों में निरालम्बनत्वसाधक हेतु होने की 'प्रतिज्ञा' करते हैं (अर्थात् स्तम्भादयः प्रत्ययाः निरालम्बनाः साधनत्वग्राहकवुद्धयन्यत्वे सति प्रत्ययत्वात्' ऐसा अनुमान का आकार मानते हैं जिससे कथित 'अनैकान्तिकत्व' दोष हट जाता है)। क्योंकि त्रैरूप्य के साधक जिन ज्ञानों में व्यभिचार दिखलाया गया है, उनमें साध्य और नवीन हेतु दोनों ही नहीं है। किन्तु व्यभिचार का यह वारण भी ठीक नहीं है, क्योंकि पक्षीभूत स्तम्भादि प्रत्ययों में प्रत्ययत्व हेतु के त्रैरूप्य के साधनीभूत बुद्धियां की भिन्नता जिन ज्ञानों के द्वारा गृहीत होगी वे मिथ्या हैं ? (अथवा सत्य ? इस विकल्प के अनुसार यदि) 'मिथ्या' कहेंगे तो कथित स्तम्भादि प्रत्ययों में कथित तद्भिन्नता नहीं आवेगी। फलतः हेतु में तदन्यत्व रूप हेतुतावच्छेदक के न रहने से 'हेत्वसिद्धि' दोष होगा। यदि उक्त भिन्नता के ग्राहक ज्ञान को यथार्थ मानोगे, तो वह 'सालम्बन' भी अवश्य होगा, अतः उसमें भी निरालम्बनत्व साध्य के न रहने से उक्त हेतु अंशतः बाधित होगा। इस प्रकार के उद्भावन से हेतु में विशेषणीभूत 'तदन्यत्व' की परम्परा में पूर्व पूर्व के ज्ञानों में तदन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी ॥ ७६ ॥

स्तम्भादिसाधनज्ञानभेदो न हि तथा भवेत् ।
यावद् यावत् प्रतिज्ञेयं तदन्यस्य प्रतीयते ॥ ७७ ॥
तावत्तावत् परेषां स्यान्मिथ्यात्वादन्यबाधनम् ।
विरुद्धाव्यभिचारित्वं बाधो वाप्यनुमानतः ॥ ७८ ॥

यदि पहिले पहिले के ज्ञानों में उक्त 'तदन्यत्व' हेतु की सिद्धि नहीं होगी तो फिर 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' यह मूल अनुमान ही न हो सकेगा, क्योंकि हेतु में त्रैरूप्य के साधक ज्ञानों में निरालम्बनत्व रूप मिथ्यात्व की सिद्धि के द्वारा हेतु में त्रैरूप्य बाधित हो जायगा। सुतराम् त्रैरूप्यरहित हेतु से अनुमिति नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार हेतु में जितने वस्तुओं के भेद को विशेषण मान कर सभी प्रत्ययों में निरालम्बनत्व के साधन का प्रयत्न करोगे, उनके ग्राहक प्रमाणभूत ज्ञानों को अगर मिथ्या मानोगे तो कथित युक्ति से 'हेत्वसिद्धि' होगी। यदि हेतु में कथित भेद रूप 'अन्यत्व' को सिद्धि नहीं होगी तो 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः' इस पहिली प्रतिज्ञा से उत्पन्न होने वाला सभी प्रत्ययों में मिथ्यात्व का अनुमान बाधित होने के कारण नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्' एवं 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः साधनत्वग्राहकबुद्धयन्यत्वे सति प्रत्ययत्वात्' इत्यादि जितने भी अनुमानों की चर्चा की

गयी है, उनके हेतु या तो 'विरुद्धाव्यभिचारी' या 'बाधित' हेत्वाभास हो जायंगे ॥ ७७–७८ ॥

इत्थं सर्वेषु पक्षेषु वक्तव्यं प्रतिसाधनम् ।
बाह्यार्थालम्बना बुद्धिरिति सम्यक् च धीरियम् ॥ ७९ ॥
बाधकापेतबुद्धित्वाद् यथा स्वप्नादिबाधधीः ।
सापि मिथ्येति चेद् ब्रूयात् स्वप्नादीनामबाधनात् ॥ ८० ॥

निम्नलिखित रीति के अनुसार कथित सभी पक्षों के अनुमानों में 'सत्प्रति-साधन' अर्थात् सत्प्रतिपक्ष दोषका उद्भावन भी करना चाहिये । जैसे कि 'बाह्यार्थाना-लम्बना बुद्धिः' इस प्रतिज्ञावाक्य को पक्ष बनाकर 'बाधकरहितत्वविशिष्टबुद्धित्व' हेतु से 'सम्यकत्व' साध्यके विरोधी अनुमान को उपस्थित करना चाहिये । एवं स्वप्नादि प्रत्ययों के बाधक (जाग्रदवस्था की) बुद्धि को दृष्टान्त बनाना चाहिये । (अर्थात् 'बाह्यार्थानाऽलम्बना बुद्धिः' एतद्वाक्यजन्या बुद्धिः, प्रमा, बाधकरहितत्वे सति बुद्धि-त्वात् स्वप्नादिबाधकजाग्रत्प्रत्ययवत्)[१] ।

तस्मात् साधर्म्यदृष्टान्तो भवतः साधने नहि ।
विज्ञानास्तित्वभिन्नत्वक्षणिकत्वादिधीस्तथा ॥ ८१ ॥

यदि दृष्टान्त स्वरूप उक्त जाग्रदवस्था की बुद्धि को भी मिथ्या कहें जिससे कि स्वप्नप्रत्यय का बाध होता है, तो फिर स्वप्न प्रत्ययों को 'सत्य' मानना होगा जिससे आपको साधर्म्य दृष्टान्त का मिलना दुर्लभ हो जायगा । (क्योंकि साधर्म्य दृष्टान्त में साध्य और हेतु दोनों का रहना आवश्यक है । मूल अनुमान का 'निराल-म्बनत्व' मिथ्यात्व का अपरपर्याय ही है । अतः स्वप्नप्रत्यय में यदि मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो निरालम्बनत्व रूप साध्य भी नहीं रहेगा ॥ ८१ ॥

सम्यक् चेदभ्युपेयेत तदानैकान्तिको भवेद् ।
तन्मिथ्याभ्युपपत्तौ च पक्षबाधः प्रसज्यते ॥ ८२ ॥

इसी प्रकार विज्ञानों के अस्तित्व, विज्ञानों के भेद, विज्ञानों का क्षणिकत्व प्रभृति के ज्ञानों को यदि 'सालम्बन' या 'सम्यक्' मानें तो प्रकृत अनुमान का प्रत्ययत्व हेतु इन्हीं ज्ञानों में व्यभिचरित हो जायगा (क्योंकि उन ज्ञानों में निरालम्बनस्वरूप साध्य के न रहने के साथ साथ प्रत्ययत्व स्वरूप हेतु भी है) । यदि उन ज्ञानों को भी निरालम्बन मानेंगे तो 'ज्ञानानि भिन्नानि, ज्ञानमस्ति, ज्ञानं क्षणिकम्' इत्यादि

---

१. इस विरोधी अनुमान वाक्य का अभिप्राय है कि स्वप्नप्रत्ययों का बाध जाग्रदवस्था के जिन प्रत्ययों से होता है, वे प्रत्यय जिस प्रकार किसी बाधक प्रत्यय के न रहने से एवं स्वयं प्रत्यय रूप होने के कारण यथार्थ होते हैं, उसी प्रकार 'बाह्यार्थानाऽलम्बना बुद्धिः' इस वाक्य से जो बाह्यार्थालम्बनत्वविशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होगी, वह भी प्रमा होगी, क्योंकि कोई बाधक नहीं है एवं वह स्वयं बुद्धि रूप है ।

सभी प्रतिज्ञायें विपन्न हो जांयगी (क्योंकि प्रतिज्ञा में विषय होने वाले पक्ष और साध्य को पक्ष से भिन्न किसी आश्रय में पहिले से प्रसिद्ध रहना चाहिये) ॥ ८२ ॥

तथा च बद्धमुक्तादिव्यवस्था न प्रकल्पते ।
ततश्च मोक्षयत्नस्य वैफल्यं वः प्रसज्यते ॥ ८३ ॥

ऐसा होने पर 'बन्ध' और 'मुक्ति' की व्यवस्था भी विघटित हो जायगी जिससे 'निर्वाण' के लिये तुमलोगों के सारे प्रयत्न विफल हो जांयगे ॥ ८३ ॥

विकल्पोत्पद्यमाना च ज्ञानास्तित्वाविधीर्यदि ।
मृषेष्टा, न च दृष्टात्र प्रमाणान्तरतो गतिः ॥ ८४ ॥
प्रमाणाभावतस्तेन ज्ञानास्तित्वादि दुर्लभम् ।
सर्वं चाप्यस्मदादीनां मिथ्या ज्ञानं विकल्पनात् ॥ ८५ ॥
सान्निध्यविप्रकृष्टत्वे सत्त्वासत्त्वे च दुर्लभे ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि सांख्यादिपरिवर्जनात् ॥ ८६ ॥
बौद्धदर्शन एकस्मिन् पक्षपातो न युज्यते ।
मृषात्वं यदि बुद्धेः स्याद् बाधः किं नोपलभ्यते ॥ ८७ ॥

यदि यह कहो कि ज्ञान में अस्तित्वादि के जिन ज्ञानों में सम्यक्त्व एवं असम्यक्त्व का विकल्प किया गया है, वे चूँकि सविकल्पक ज्ञान से उत्पन्न होते हैं, उन्हें मिथ्या मानना मुझे इष्ट है तो इसका यह उत्तर है कि ज्ञानों का अस्तित्व उनके भेद एवं क्षणिकत्वादि 'किसी दूसरे प्रमाण से' अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान रूप प्रमाण से गृहीत नहीं होते हैं। फलतः प्रमाण न रहने के कारण ज्ञानों के अस्तित्व क्षणिकत्वादि की सत्ता ही दुर्लभ हो जायगी। एवं तुम लोगों के मत से सांसारिक पुरुषों के सभी ज्ञान चूँकि सविकल्पक ज्ञान स्वरूप प्रमाण से ही उत्पन्न होते हैं अतः अप्रमाण हैं। सुतराम् (सर्वानुभवसिद्ध) किसी भी वस्तु का किसी वस्तु में सामीप्य, दूरत्व एवं किसी भी वस्तु की सत्ता ये सभी पदार्थ दुर्लभ हो जांयगे।

मिथ्याज्ञानाऽविशेषेऽपि ··· पक्षपातो न युज्यते—

ऐसी स्थिति में 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि गीता के वाक्यों से प्रसिद्ध सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों में एवं 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादि से प्रसिद्ध बौद्धों के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि दोनों ही मिथ्या होने के कारण समान हैं। अतः सांख्यादि के सिद्धान्तों को पर्युदस्त कर केवल बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति आप का यह पक्षपात उचित नहीं है।

मृषात्वं यदि ··· उपलभ्यते—

(स्वप्नादि प्रत्ययों को इसलिये मिथ्या मानते हैं कि नियमतः उनका बाध होता है। तदनुसार) यदि 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों के जाग्रदवस्था के ज्ञानों को भी मिथ्या कहें तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि (स्वप्नादि मिथ्या ज्ञानों के समान) इन ज्ञानों के भी बाधकज्ञान क्यों नहीं उपलब्ध होते ? ॥ ८४–८७ ॥

बाधाद्विनापि तच्चेत् स्याद्व्यवस्था न प्रकल्पते।
प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् ॥ ८८ ॥
स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तव भेदोऽपि किङ्कृतः।
न चान्यत् प्रतियोग्यस्ति जाग्रज्ज्ञानस्य शोभनम् ॥ ८९ ॥
यद्दर्शनेन मिथ्यात्वं स्तम्भादिप्रत्ययो व्रजेत्।
स्वप्नादिप्रतियोगित्वं सर्वलोकप्रसिद्धितः ॥ ९० ॥

यदि बाधकज्ञान के विना भी मिथ्यात्व को स्वीकार करें तो फिर (मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की) कोई व्यवस्था न हो सकेगी। (अर्थात् ज्ञानादि में जो क्षणिकत्वादि की बुद्धियां होती हैं, उनको भी मिथ्या मानना होगा। किन्तु बौद्धगण तो क्षणिकत्वादि के उन ज्ञानों को 'सम्यक्' स्वीकार करते हैं) जाग्रदवस्था के ज्ञान रूप प्रतियोगी (विरोधी) की सत्ता से हम लोगों के मत से स्वप्नज्ञान में मिथ्यात्व की उपपत्ति होती है। (अर्थात् जाग्रदवस्था के ज्ञानों से जो बाधित हों वे स्वप्नादिज्ञान 'मिथ्या' हैं, एवं जिन ज्ञानों का बाध किसी ज्ञान से संभव न हो वे 'सम्यक्ज्ञान' हैं— इस प्रकार की व्यवस्था हम लोगों के मत से हो सकती है)। तुम्हारे सिद्धान्त में इस प्रकार से सम्यक् और मिथ्या का भेद किस हेतु से होगा ?

न चान्यत्प्रतियोग्यस्ति ··· शोभनम्—

जाग्रद् अवस्था के 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि प्रत्ययों का कोई प्रामाणिक (शोभन) बाधक उपलब्ध नहीं है जिस ज्ञान के बल से उन ज्ञानों को मिथ्या कह सकें।

स्वप्नादि ··· प्रतियोगित्वम्—

जैसे कि स्वप्नज्ञान का बाध सोकर उठे हुये पुरुष को 'नैतदेवम्' इस आकार के ज्ञान से तुरत हो जाता है, जाग्रदवस्था के 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि ज्ञानों के बाद उस प्रकार का बाधकज्ञान किसी को भी नहीं होता। जाग्रदवस्था के ज्ञानों में इस वैपरीत्य के कारण समझते हैं कि जाग्रदवस्था के ज्ञान अबाध्य होने के कारण मिथ्या नहीं हैं, किन्तु वे 'सम्यक्' ज्ञान हैं। इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'स्तम्भोऽयम् इत्याद्याकारकं ज्ञानम् सम्यक् अबाध्यत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा स्वप्नादिज्ञानम्' ॥ ८८–९० ॥

तदीयधर्मवैधर्म्याद् बाधकप्रत्ययो यथा।
योगिनां जायते बुद्धिर्बाधिका प्रतियोगिनी ॥ ९१ ॥
जाग्रत्स्तम्भादिबुद्धीनां ततः स्वप्नादितुल्यता।
प्राप्तानां तामवस्थां च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ९२ ॥
बाधोऽयं भविता तेन सिद्धा सप्रतियोगिता।

योगिनाम् ··प्राणभृताम् ··सप्रतियोगिता—

इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि जाग्रवस्था की बुद्धियों को बाधित करने वाली बुद्धियां (अस्मदादि को भले ही न हों किन्तु) योगियों को वे होती हैं। अतः

जाग्रदवस्था के ज्ञान भी योगिज्ञान से बाधित होने के कारण स्वप्नादिज्ञानों के समान मिथ्या हैं।

जिस अवस्था में योगियों को जाग्रदवस्था के ज्ञानों को भी बाधित करनेवाला विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, उस अवस्था में जाने पर सभी प्राणियों को हो सकता है (अतः यह शङ्का व्यर्थ है कि योगिसदृश कुछ ही व्यक्तियों को हो सकने वाले ज्ञानों से सर्वसिद्ध ज्ञान का बाध क्या संभव है ?)।

चूँकि जाग्रदवस्था के ज्ञानों का बाध योगिज्ञानों से हो सकता है, अतः जाग्रदवस्था के ज्ञानों में भी 'सप्रतियोगित्व' एवं 'बाध्यत्व' सिद्ध है। फलतः जाग्रदवस्था के ज्ञानों में 'सम्यक्त्व' का साधक 'अबाध्यत्व' हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है ॥९१-९२॥

इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते ॥ ९३ ॥
योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ।
योगिनां चास्मदीयानां त्वदुक्तप्रतियोगिनी ॥ ९४ ॥
त्वदुक्तिविपरीता वा बाधबुद्धिर्भविष्यति ।
ईदृक्त्वे योगिबुद्धीनां दृष्टान्तो न तवास्ति च ॥ ९५ ॥
दृष्टान्तस्त्वस्मदादीनां यो गृहीतः स विद्यते ।
अथ स्तम्भादिबुद्धीनां वदेत् सप्रतियोगिताम् ॥ ९६ ॥

इह ''उपलभ्यते—

वर्त्तमानकाल के इस जन्म में इस प्रकार के योगिज्ञानों की उपलब्धि नहीं होती है जिससे वर्त्तमान काल की जाग्रदवस्था के ज्ञानों का बाध हो सके। अतः वर्त्तमानकालिक इस प्रकार के योगिज्ञान की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। अतः बौद्धों का यह समाधान ग्रहण के योग्य नहीं है।

योग्यवस्था ''भविष्यति—

भविष्य में योगी की अवस्था प्राप्त होने पर भी यह निश्चित नहीं है कि 'क्या तुमलोग जैसा कहते हो उस प्रकार जाग्रदवस्था की बुद्धियों को बाधित करने वाले 'नायं स्तम्भादिः' इत्यादि आकारों के ज्ञान उत्पन्न होंगे ? अथवा जिस प्रकार हमलोग कहते हैं, उसी प्रकार 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों के 'अबाधित ज्ञान ही उत्पन्न होंगे ?

इतना ही नहीं किन्तु मेरे पक्ष में यह विशेष भी है कि तुम लोग जिस आकार की जाग्रदवस्था के ज्ञानों को बाधित करने वाले ज्ञानों की बात करते हो, उसका कोई उदाहरण नहीं है। हम लोग योगियों में जिस प्रकार के बाह्य स्तम्भादिविषयक ज्ञानों की सत्ता स्वीकार करते हैं उसका दृष्टान्त (साधारण पथिक भी) सुलभ है, जिसको 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि प्रकार के ज्ञान हैं ॥ ९३-९६ ॥

बाध्यत्वं चापि बुद्धित्वान्मृगतृष्णादिबुद्धिवत् ।
इष्टं सप्रतियोगित्वं मृगतृष्णादिबुद्धिभिः ॥ ९७ ॥

तदात्मना च बाध्यत्वं ग्राह्यान्तरतयापि च ।
बाधकेश्चाप्यनेकान्तस्तदन्यत्वे च पूर्ववत् ॥ ९८ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि जिस प्रकार मृगतृष्णादि बुद्धियां 'केवल बुद्धि हैं' इसीलिये उनको बाधित करने वाला कोई ज्ञान अवश्य है, उसी प्रकार जाग्रदवस्था की 'स्तम्भोऽयम्' इत्यादि आकारों की बुद्धियों का भी कोई बाधकज्ञान अवश्य है। यह बाधकज्ञान योगियों का ही है। इस प्रकार प्रकृत में दो अनुमान उपस्थित होते हैं (१) स्तम्भादिबुद्धयः सप्रतियोगिकाः बुद्धित्वात् मृगतृष्णादिबुद्धिवत्। (२) स्तम्भादिबुद्धयः केनचिज्ज्ञानेन बाध्यन्ते बुद्धित्वात् मृगतृष्णादिबुद्धिवत् (फलतः योगियों के जिन ज्ञानों से जाग्रदवस्था के ज्ञान बाधित होते हैं, उनकी सत्ता इन अनुमानों से सिद्ध है)।

किन्तु बौद्धों का उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णादि बुद्धियों का सप्रतियोगित्व (बाधकत्व) यथार्थ ज्ञानों में है ही, क्योंकि मृगतृष्णादि मिथ्या बुद्धियों की अपेक्षा से ही वे यथार्थ हैं। अतः उक्त अनुमानों में 'सिद्धसाधन' दोष स्पष्ट है। एवं सत्य बुद्धि और मिथ्या बुद्धि दोनों ही बुद्धि होने के नाते अभिन्न हैं। अर्थात् विषयों के भिन्न होने से भिन्न होते हुये भी बुद्धित्व रूप से दोनों प्रकार की बुद्धियां अभिन्न हैं। सुतराम् अगर मिथ्याज्ञान में बाध्यत्व है तो फिर हम लोगों के मत से भी तदभिन्न यथार्थज्ञान में बाध्यत्व है ही। इस रीति से भी उक्त अनुमान सिद्धसाधन दोष से ग्रसित है। (तीसरे प्रकार से भी उक्त अनुमान में सिद्धसाधन दोष है, क्योंकि) मिथ्याज्ञान के द्वारा 'ग्राह्य' विषयों से यद्यपि यथार्थज्ञान के 'ग्राह्य' विषय भिन्न हैं, फिर भी दोनों ही 'ग्राह्य' होने के कारण अर्थात् ग्राह्यत्व रूप से अभिन्न हैं। अतः मिथ्याज्ञान के 'ग्राह्य' मृगतृष्णादि अगर बाध्य हैं, तो फिर यथार्थज्ञान के विषय स्तम्भादि भी ग्राह्य होने के नाते बाध्य हैं ही। इस प्रकार यथार्थज्ञान में भी बाध्यत्व स्वरूप साध्य सिद्ध ही है। अतः इस रीति से भी इस अनुमान में सिद्धसाधन दोष है।

एवं उक्त अनुमान का 'बुद्धित्व' हेतु 'अनैकान्तिक' भी है, क्योंकि योगियों के जिन बुद्धियों से स्तम्भादि प्रत्ययों का बाध होता है, उन बुद्धियों में भी बुद्धित्व हेतु है, किन्तु बाध्यत्व (या सप्रतियोगित्व) साध्य नहीं है। यदि योगिज्ञान से भिन्न ज्ञानों में रहने वाले बुद्धित्व को हेतु बनाकर इस अनैकान्तिक दोष के वारण का प्रयास करें तो (श्लो. ७६ में) कथित युक्ति के अनुसार अनवस्था होगी ॥ ९७-९८ ॥

मिथ्याघीप्रतियोगित्वं स्वप्नादाविव ते भवेत् ।
रागादिक्षययोगित्वनिमित्ताधिगतिस्तथा ॥ ९९ ॥
यावान् विशेष इष्टश्चेत् सर्वाभावाद् विरुद्धता ।
महाजनस्य धा बाधाविदानीम्बाधबुद्धिवत् ॥ १०० ॥
वाच्योऽनुमानबाधो वा यदि वा प्रतिसाधनम् ।
पूर्वसाधनदोषाश्च सन्धेयाः तस्य चाधुना ॥ १०१ ॥

यदि जाग्रदवस्था की सभी बुद्धियों को केवल बुद्धि होने के कारण ही मिथ्या मानें तो यह नियम मानना होगा कि स्वप्नादि बुद्धियों का बाध जिन बुद्धियों से होता है, वे सभी रागद्वेषादिजनित एवं मिथ्या ही उपलब्ध होती हैं। इस व्याप्ति के बल से जाग्रदवस्था की बुद्धियों में बुद्धित्व हेतु से सामान्यतः जिस 'सप्रयोगितिगित्व' का साधन करेंगे, उसका पर्यवसान 'मिथ्याबुद्धिप्रतियोगित्व' एवं रागद्वेषादिमूलकत्वादि विशेषों में ही होगा। अर्थात् उस अनुमान से यह निष्पन्न होगा कि जाग्रदवस्था की बुद्धियां सत्प्रतियोगिनी एवं रागद्वेषमूलक हैं, अतः मिथ्याज्ञानस्वरूप हैं। इससे जाग्रदवस्था के ज्ञानों में सामान्यतः सप्रतियोगित्व की सिद्धि के द्वारा प्रतियोगिभूत योगिज्ञानों में जिन सत्यत्व एवं रागक्षयनिमित्तत्वादि उत्कृष्ट विशेष धर्मों की सिद्धि अभिप्रेत है, उन सभी विशेष धर्मों का बाध हो जायगा। सुतराम् कथित बुद्धित्व हेतु विशेष बाध का भी प्रयोजक है। इसलिये वह विशेषविरुद्ध भी है।

एवं योगिज्ञान के साधक इस अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्ष एवं बाध दोष से भी ग्रसित है, क्योंकि इस अभिप्राय से भी अनुमानवाक्य का प्रयोग किया जा सकता है कि जाग्रदवस्था की बुद्धियों की बाधबुद्धि वर्त्तमान काल के महाजनों को नहीं होती है, अतः वे सत्य हैं। जैसे कि बौद्धों के मत से उन स्तम्भादिप्रत्ययों को बाधित करनेवाली योगियों की बुद्धियां सत्य होती हैं। अनुमान का यह आकार होगा कि 'जाग्रद्बुद्धयः सत्याः इदानीं महाजनस्याबाधात् पराभिमतयोगिबाधबुद्धिवत्'। विरोधी अनुमान का यह हेतु अगर योगिज्ञान के साधक अनुमान के हेतु से समानबल का प्रतिपक्ष हो तो सत्प्रतिपक्ष होगा। अगर अधिकबलशाली सिद्ध हो तो बाध होगा।

एवं 'भाष्यकार' ने प्रत्ययों में निरालम्बनत्व के साधन के लिए जिस प्रत्ययत्व हेतु का उल्लेख किया है, उस हेतु के प्रसङ्ग में जिन रीतियों से जिन दोषों का उद्भावन किया गया है, उन सभी दोषों का अनुसन्धान इस अनुमान के हेतु में करना चाहिये।

भाष्यकार के द्वारा निर्दिष्ट 'प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' इस अनुमान के प्रसङ्ग में अन्य दोषों का भी अनुसन्धान किया जाता है, क्योंकि इस अनुमान के पक्ष और साध्य इन दोनों के प्रसङ्ग में ही फलतः प्रतिज्ञा के प्रसङ्ग में ही मुख्यतः दोष दिखलाये गये हैं। हेतु के प्रसङ्ग में दोषों का प्रदर्शन अवशिष्ट है, अतः विशेषतः प्रत्ययत्व हेतु के प्रसङ्ग में विकल्प को उपस्थित कर दोष दिखलाया जा रहा है ॥ ९९–१०१ ॥

साध्याभेदादवाच्यत्वाद् हेतोर्नोभयसिद्धता।
प्रत्ययत्वं सामान्यं भिन्नाभिन्नं न विद्यते ॥ १०२ ॥
अथतोऽत्यन्तभिन्नं च मत्पक्षेऽपि कथञ्चन।
सारूप्यान्यनिवृत्ती च नेत्येतत् साधयिष्यते ॥ १०३ ॥

'जाग्रत्प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' इस अनुमान के हेतुवाक्य में जिस 'प्रत्ययत्व' शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे क्या (१) जाग्रत्प्र-

त्ययों में रहनेवाला 'प्रत्ययत्व' विवक्षित है (२) अथवा स्वप्नप्रत्ययों में रहनेवाला प्रत्ययत्व ही इष्ट है कि वा (३) दोनों ही प्रत्ययों में रहनेवाला प्रत्ययत्व सामान्य ही अभिप्रेत है ?

(१) इनमें से प्रथम पक्ष को स्वीकार करने से दृष्टान्त में 'हेत्वसिद्धि' स्वरूप दोष होगा (हेतु को दृष्टान्त में सिद्ध रहना चाहिये) क्योंकि निरालम्बनत्व विशिष्ट प्रत्ययत्व ही साध्य है, उसी के अन्तर्गत 'जाग्रत्प्रत्ययत्व' स्वरूप हेतु भी है (प्रत्ययत्व और प्रत्यय अभिन्न हैं) अतः जाग्रत्प्रत्ययत्व स्वरूप हेतु के स्वप्नप्रत्यय स्वरूप दृष्टान्त में न रहने के कारण कथित प्रत्ययत्व हेतु का कथित निरालम्बनत्व रूप साध्य के साथ दृष्टान्त में सामानाधिकरण्य (अन्वय) का दिखलाना संभव नहीं होगा। अतः 'प्रत्ययत्वात्' इस हेतुवाक्य में प्रयुक्त 'प्रत्ययत्व' शब्द का वाच्य 'जाग्रत्प्रत्ययत्व नहीं हो सकता।

(२) स्वप्नप्रत्ययत्व भी हेतुवाचक प्रत्ययत्व शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि पक्ष के बोधक 'प्रत्ययाः' शब्द से जाग्रदवस्था के प्रत्यय ही विवक्षित हैं, अतः जाग्रदवस्था के प्रत्ययों में स्वप्नप्रत्ययत्व स्वरूप हेतु के न रहने से उक्त हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रसित हो जायगा।

(३) स्वप्नप्रत्यय और जाग्रत्प्रत्यय दोनों में समान रूप से रहनेवाली 'प्रत्ययत्व' नाम की 'जाति' नाम की कोई वस्तु वादी (बौद्ध) और प्रतिवादी (मीमांसक) दोनों के मतों से सिद्ध नहीं है, क्योंकि जाति में व्यक्ति की भिन्नता और अभिन्नता दोनों को आप (बौद्ध) अस्वीकार करते हैं। एवं व्यक्ति से अत्यन्त भिन्न जाति की सत्ता को हम दोनों में से कोई भी नहीं मानता। अतः उक्त प्रत्ययत्व सामान्य भी हेतुबोधक प्रत्ययत्व शब्द का अर्थ नहीं हो सकता।

जाति के स्थान पर आप के द्वारा स्वीकृत सादृश्य एवं अपोह स्वरूप प्रत्ययत्व भी प्रकृत प्रत्ययत्व शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों का प्रकरणशः खण्डन करेंगे ॥ १०२–१०३ ॥

तस्माद्धेतुर्न सामान्यमस्ति सिद्धं द्वयोरपि।
विशेषयोश्च हेतुत्वं पक्षतत्तुल्यसंस्थयोः ॥ १०४ ॥

'तस्मात्' स्वप्नप्रत्यय और जाग्रदवस्था के प्रत्यय इन दोनों में समान रूप से रहनेवाली कोई प्रत्ययत्व नाम की जाति (सामान्य) उभयमतसिद्ध नहीं है, अतः उसको प्रकृत अनुमान का हेतु नहीं माना जा सकता। एवं जाग्रत्प्रत्ययत्व हेतु चूँकि केवल पक्ष में ही है, दृष्टान्त में नहीं है, अतः साध्य के साथ उसका दृष्टान्त में अन्वय (सामानाधिकरण्य) संभव नहीं है, अतः जाग्रत्प्रत्ययत्वरूप विशेष को भी हेतु नहीं माना जा सकता। स्वप्नप्रत्ययत्व स्वरूप विशेष धर्म चूंकि 'पक्षतुल्य' में ही (दृष्टान्त में ही) है पक्ष में नहीं, अतः 'अपक्षधर्म' होने से अर्थात् स्वरूपासिद्ध होने से स्वप्नप्रत्ययत्व स्वरूप विशेष धर्म भी हेतु नहीं हो सकता ॥ १०४ ॥

न स्यादन्वयहीनत्वादतद्धर्मतयापि च।
न चार्थहीना तद्बुद्धिर्हेतुत्वेन भविष्यति ॥ १०५ ॥

आश्रयासिद्धिता चोक्ता विशेष्यस्याप्रसिद्धितः।
तथा हेतोर्विरुद्धत्वं दृष्टान्ते साध्यहीनता ॥ २०६ ॥
विशेषणाप्रसिद्धत्वविकल्पेनैव बोधिते।
स्वप्नादिप्रत्यये बाह्यं सर्वथा न हि नेष्यते ॥ १०७ ॥

न चार्थहीना" "आश्रयासिद्धिता" बोधिते

इस प्रसङ्ग में बौद्धलोग कह सकते हैं कि 'प्रत्ययत्वात्' इस हेतुबोधक पद से अर्थविषयक जिस बोध की उत्पत्ति होती है, तत्स्वरूप निरालम्बना बुद्धि में रहने वाला 'प्रत्ययत्व' ही हेतु है। किन्तु यह कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि उक्त पद से निरालम्बना बुद्धि की उत्पत्ति मान लेने पर भी उसमें किसी की हेतुता को स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि उसका किसी साध्य के साथ अन्वय एवं पक्ष में रहना (पक्षधर्मता) ये दोनों ही संभव नहीं होंगे।

'विशेष्यस्याप्रसिद्धिश्च' (श्लो. ४६) के द्वारा विशेष्य की अप्रसिद्धि का उद्भावन जिस प्रणाली से किया गया है, उसी प्रणाली से इस (प्रत्ययत्वपदजन्य निरालम्बनबुद्धिगत प्रत्ययत्वस्वरूप) हेतु में भी आश्रयासिद्धि, विरोध, एवं दृष्टान्त में साध्य का अभाव प्रभृति दोषों का उद्भावन करना चाहिये। एवं 'निरालम्बनता चोक्ता' (श्लो. ४९) इस श्लोक के द्वारा जो 'विशेषणाप्रसिद्धि' दोष का उद्भावन किया गया है, उसका अतिदेश इस विशेष प्रकार के प्रत्ययत्व हेतु में भी करना चाहिये ॥ १०५-१०७ ॥

सर्वत्रालम्बनं बाह्यं देशकालान्यथात्मकम्।
जन्मन्येकत्र भिन्ने वा तथा कालान्तरेऽपि वा ॥ १०८ ॥
तद्देशो वान्यदेशो वा स्वप्नज्ञानस्य गोचरः।
अलातचक्रेऽलातं स्याच्छीघ्रभ्रमणसंस्कृतम् ॥ १०९ ॥

क्योंकि हम लोग यह स्वीकार ही नहीं करते कि स्वप्नज्ञान में बाह्य विषय भासित ही नहीं होते, क्योंकि सभी भ्रमात्मक ज्ञानों में भी बाह्य पदार्थ अवश्य ही विषय होते हैं। (प्रमाज्ञान में भासित होनेवाले बाह्यत्व से भ्रमात्मक ज्ञान में भासित होनेवाले बाह्यविषयत्व में अन्तर इतना ही है कि) जिस देश का या जिस काल का उन बाह्य पदार्थों के साथ वास्तविक सम्बन्ध है, उस काल या उस देश से भिन्न काल और देश के सम्बन्ध से युक्त रूप में वे भ्रमात्मक ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। (फलतः स्वप्नज्ञानरूप दृष्टान्त में 'बाह्यानालम्बनत्व' रूप साध्य नहीं है)।

जन्मन्येकत्र" "कालान्तरेऽपि वा" "गोचरः

यद्यपि स्वप्नज्ञान स्मृति रूप है, फिर भी जो कदाचित् इस जन्म में सर्वथा अननुभूत विषयों का भान स्वप्न ज्ञान में होता है, उन्हें दूसरे जन्मों में अनुभूत विषयों को समझना चाहिये। इस प्रकार स्वप्नज्ञान में इस जीवन के द्वारा या परजन्म के द्वारा अनुभूत देशान्तरीय या कालान्तरीय बाह्य विषयों का ही भान होता है, अतः स्वप्नज्ञान बाह्यानालम्बनत्वसाध्यक अनुमान में दृष्टान्त नहीं हो सकता।

अलातचक्रे.......संस्कृतम्

(मनोमात्रजन्य स्वप्नज्ञान की तरह बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न जाग्रदवस्था के) अलातचक्रभ्रम में भी अत्यन्त तीव्र गति स्वरूप दोष से युक्त अलातचक्र (स्वरूप बाह्य वस्तु) ही विषय है ॥ १०८–१०९ ॥

गन्धर्वनगरेऽभ्राणि पूर्वदृष्टं गृहादि च ।
पूर्वानुभूततोयं च रश्मितप्तोषरं तथा ॥ ११० ॥
मृगतोयस्य विज्ञाने कारणत्वेन कल्प्यते ।
द्रव्यान्तरे विषाणं च शशस्यात्मा च कारणम् ॥ १११ ॥

गन्धर्वनगरे.......कल्प्यते

एवं आकाश में मेघों के विशेष प्रकार के संनिवेश से जो नगर का भ्रम होता है (जिसे गन्धर्वनगर का ज्ञान कहते हैं) उसमें भी विशेष प्रकार के संनिवेश (विशेष प्रकार के संयोग से युक्त) मेघ ही पहिले से ज्ञात घर के रूप में भासित होते हैं ।

मृग को मरीचिका में तृष्णा से दूषित चक्षु के द्वारा जो जल का विपर्यय होता है, उसमें भी सूर्य की रश्मियों से चमकती हुई ऊषर (बालुकामयी) भूमि ही भासित होती है ॥ ११०–१११ ॥

शशशृङ्गधियो मौण्ड्यं निषेधे शिरसोऽस्य च ।
वस्त्वन्तरैरसंसृष्टः पदार्थः शून्यताधियः ॥ ११२ ॥

शशविषाण (खरहे की सींग) के भ्रम में भी (किसी मानस दोष के कारण) गो प्रभृति दूसरे द्रव्यों (पशुओं) में रहनेवाले पूर्वानुभूत सींग और शश स्वरूप 'आत्मा' ये दोनों बाह्य विषय ही भासित होते हैं ।

इसी प्रकार 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादि आकारों की जो अभावविषयक बुद्धियाँ होती हैं, उनमें भी शश के शिर की मुण्डता स्वरूप बाह्य विषय ही भासित होता है । अर्थात् शश के शिर का अवयव ही शृङ्ग के रूप में परिणत होकर शृङ्गा-भाव रूप से ज्ञात होता है । अतः शशशृङ्गाभाव नाम का कोई स्वतन्त्र अभाव पदार्थ नहीं है ।

केवल 'शून्य' प्रभृति शब्दों से भी जो 'शून्यत्व' विषयक बुद्धि होती है, वह भी किसी एक भाव पदार्थ से असम्बद्ध किसी दूसरे भाव पदार्थस्वरूप बाह्य वस्तु-विषयक ही होती है । अतः इन प्रतीतियों को भी बाह्यानालम्बनक या ज्ञानमात्रा-लम्बनक नहीं कह सकते ।

इसी प्रकार असदर्थविषयक सभी वाक्यार्थविषयक बोधों में बाह्य पदार्थ ही विषय होते हैं, ज्ञान विषय नहीं होते ॥ ११२ ॥

कारणत्वं पदार्थानामसद्वाक्यार्थकल्पने ।
अत्यन्ताननुभूतोऽपि बुद्ध्या योऽर्थः प्रकल्प्यते ॥ ११३ ॥

तस्योत्पत्तौ कथञ्चित्स्युः पृथिव्यादीनि कारणम् ।
एष प्रत्यक्षधर्मश्च वर्तमानार्थतैव या ॥ ११४ ॥

पहिले से सर्वथा अननुभूत 'प्रकृति' प्रभृति अर्थों के जिन बोधों की कल्पना (सांख्य शास्त्र के अनुयायी गण) कहते हैं, उन बोधों में भी दृष्ट पदार्थों के मूलकारण ही किसी प्रकार विषय होते हैं। अर्थात् पृथिव्यादि के मूलकारणीभूत परमाणुओं में ही उपयुक्त शब्द को न जानने से 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग वे लोग करते हैं[1] ॥ ११३–११४ ॥

सन्निकृष्टार्थवृत्तिश्च न तु ज्ञानान्तरेष्वियम् ।
कथमुत्पादयेज्ज्ञानं तत्रासंश्चेत् कुतोन्वियम् ॥ ११५ ॥
अर्थस्याविद्यमानस्य विज्ञानोत्पत्त्यशक्तता ।
बाह्यालम्बनतायां नौ विवादोऽर्थस्य साधने ॥ ११६ ॥
यदि नास्ति किमेवं स्यादस्मत्पक्षनिवर्तनम् ।

(स्वप्नज्ञान तो साक्षात्कारात्मक है, फिर उसमें कालान्तरीय अर्थात् अवर्त्तमान एवं देशान्तरीय अर्थात् उस देश से असंनिहित विषय कैसे अवभासित होते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप ज्ञान में ही यह नियम है कि वह वर्त्तमान एवं संनिकृष्टदेशवृत्तिविषयक ही हो। दूसरे ज्ञानों के लिये यह नियम नहीं है। स्वप्नज्ञान तो प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षाभास है, अतः उक्त प्रश्न ठीक नहीं है।

दूसरे देशों में अवस्थित विषय से इस देश में अवस्थित ज्ञाता में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी, क्योंकि आलम्बन ज्ञान का उत्पादक कारण भी तो है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि आलम्बन होने से ही विषय को ज्ञान का उत्पादक कहा जाता है। ज्ञान का आवलम्बन वही है जो ज्ञान में भासित हो। इस युक्ति के अनुसार यदि असंनिहित वस्तु भी स्वप्न में भासित होती है, तो फिर उस वस्तु में स्वप्नज्ञान की (प्रतिभासमानता स्वरूप) कारणता क्यों नहीं रहेगी ?

दूसरी बात यह है कि हमलोगों का यह कहना है कि जाग्रदवस्था के ज्ञानों के समान ही स्वप्नावस्था के ज्ञानों में केवल ज्ञान ही स्वरूप से भासित नहीं होते, अतः स्वप्नादि अवस्थाओं के ज्ञान भी 'बाह्यालम्बनक' ही हैं (स्वांशज्ञानमात्रालम्बनक नहीं)। इस प्रसङ्ग में हमलोगों का आप लोगों (बौद्धों) से विवाद है। ऐसी स्थिति में देशान्तर एवं कालान्तर की परोक्ष वस्तुओं का अपरोक्ष रूप से ग्रहण स्वप्नज्ञान के द्वारा होता है तो इससे इतना ही होगा कि स्वप्नज्ञान को भ्रान्ति माना जायगा। इससे

---

१ इसी दृष्टि से उदयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तबक के अन्तिम उपसंहारात्मक 'इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा' इत्यादि श्लोक में 'मूलत्वात्प्रकृतिः' इस के द्वारा संसार के 'मूलकारण' स्वरूप 'अदृष्ट' में 'प्रकृति' शब्द के प्रयोग का उपपादन किया है।

स्वप्नज्ञान में ज्ञानालम्बनत्व तो नहीं स्वीकार किया जा सकता (अतः स्वप्नज्ञान में असंनिहितविषयत्व की मूल आपत्ति से इस विवाद का पर्यवसान आप के पक्ष में नहीं होगा) । अतः स्वप्नज्ञान में अगर विषय का सांनिध्य नहीं भी है, तथापि हम लोगों का बाह्यालम्बनत्व पक्ष खण्डित कैसे होगा ? ॥ ११५–११६ ॥

तस्माद् यदन्यथासन्तमन्यथा प्रतिपद्यते ॥ ११७ ॥

तन्निरालम्बनं ज्ञानमभावालम्बनं च तत् ।

भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात् ॥ ११८ ॥

'तस्मात्' यही ठीक है कि स्वप्नज्ञान भी (जाग्रदवस्था के विपर्ययात्मक ज्ञानों की तरह) जो जिस रूप का नहीं है, उस वस्तु को उसी रूप में ग्रहण करता है (एक प्रकार की वस्तु का अन्य प्रकार से ग्रहण ही) 'निरालम्बनता या 'अभावालम्बनता' कही जाती है ।

भावान्तर''''''''अनिरूपणात्

एक भाव पदार्थ से वियुक्त दूसरा भाव पदार्थ ही 'अभाव' है । उस अधिकरण से भिन्न अभाव नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र अभाव पदार्थ का निर्वचन संभव नहीं है ॥ ११७–११८ ॥

भवता द्वयमप्येतद् दुर्निरूपं सहेतुकम् ।

प्रतिज्ञादोषवच्चापि योज्या हेतोर्विरुद्धता ॥ ११९ ॥

आप (बौद्धों) के लिये कथित 'निरालम्बनता' एवं 'अभावालम्बनता' इन दोनों का प्रामाणिक निरूपण कठिन है (क्योंकि आप के मत से सभी ज्ञान 'स्वांशज्ञानालम्बन' ही हैं) । तस्मात् स्वप्नज्ञान रूप दृष्टान्त चूंकि बाह्यविषयक ही है अतः उसमें 'बाह्यानालम्बनत्व' रूप साध्य के न रहने से दृष्टान्त में साध्यशून्यत्व दोष सहज है ।

'सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्यत्वात्' इस अनुमान में जिस प्रकार 'विशेष्यासिद्धि' प्रतिज्ञा का दोष दिखलाया गया है, उसी प्रकार इस अनुमान के हेतु में 'विरोध' दोष का उद्भावन भी करना चाहिये अर्थात् यह प्रत्ययत्व हेतु अगर सभी प्रत्ययों में मिथ्यात्वपर्यवसायी निरालम्बनत्व का साधन करेगा, तो फिर पक्षविषयक ज्ञान को भी मिथ्या प्रतिपन्न करेगा जिससे प्रकृत पक्ष में मिथ्यात्व के विरुद्ध सत्यत्व के साधन के द्वारा यह प्रत्यत्व हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होगा ॥ ११८–११९ ॥

समस्तव्यस्तधर्मादिस्वरूपादिविपर्ययात् ।

दृष्टान्तदोषाः सर्वे च योज्या न ह्येकवस्तुनि ॥ १२० ॥

तत्र साध्यांशहेत्वंशव्याप्तधर्मादिसम्भवः ।

केचिद् वैधर्म्यदृष्टान्तो नास्तीत्यप्यनुयुञ्जते ॥ १२१ ॥

स्वप्नज्ञान में बाह्यालम्बनत्व की सिद्धि के द्वारा दृष्टान्त में निरालम्बनत्व स्वरूप साध्य का वैकल्य दिखलाया जा चुका है । किन्तु दृष्टान्तगत साध्यवैकल्य रूप

दोष ही केवल नहीं है, दृष्टान्त के और भी जितने दोष संभावित हैं उन सबों का भी उद्भावन करना चाहिये, क्योंकि विश्व में एक मात्र ज्ञान पदार्थ की ही सत्ता मानने पर दृष्टान्त वाक्य के साध्यबोधक पद के द्वारा निरालम्बनत्व का एवं हेतुबोधक पद के द्वारा प्रत्ययत्व का बोध नहीं होगा। एवं हेतु में साध्य की व्याप्ति एवं साध्य और हेतु इन दोनों की दृष्टान्तवृत्तिता प्रभृति भी उपपन्न नहीं होंगी जो कि दृष्टान्तवाक्य के आवश्यक कार्य हैं।

केचिद्वैधर्म्य.......अनुयुञ्जते

कुछ लोग बौद्धों के साधर्म्य दृष्टान्तवाले अनुमान में भी वैधर्म्यदृष्टान्त का रहना आवश्यक समझते हैं। वे उक्त अनुमान के प्रसंग में यह अभियोग भी करते हैं कि निरालम्बनत्व के साधक इस अनुमान में वैधर्म्यदृष्टान्त संभव ही नहीं है (क्योंकि इस मत के अनुसार ज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है।) एवं यह ज्ञान किसी बाह्यवस्तुविषयक भी नहीं है, सुतराम् निरालम्बनत्व रूप साध्य का अभाव सालम्बनत्व संसार में कहीं है ही नहीं। फिर इस अनुमान का विपक्ष कौन होगा? विपक्ष ही वैधर्म्योदाहरण होता है। अतः वैधर्म्यदृष्टान्त के न रहने से न्यूनता दोष से ग्रसित रहने के कारण भी यह अनुमान संभव नहीं है॥ १२०–१२१॥

तदभावप्रवृत्तेश्च नास्त्यत्रावसरस्तव।
विधिरूपप्रतिज्ञायामेतद् वक्तुं हि शक्यते॥ १२२॥
यत्रावस्तुविपक्षेऽपि प्रयोगस्य हि सम्भवः।
यस्मिन्ननित्यता नास्ति कार्यतापि न विद्यते॥ १२३॥
तस्मिन् यथा खपुष्पादाविति शक्यं हि भाषितुम्।
अत्र त्ववस्तुसाध्यत्वं वस्तुनश्च विपक्षता॥ १२४॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इस अनुमान में चूंकि कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, जिसको अनित्यत्व का विपक्ष बनाया जाय, फिर भी गगनकुसुमादि सर्वथा अप्रसिद्ध पदार्थों को विपक्ष मानकर उनमें कृतकत्व हेतु के न रहने में 'त्रैरूप्य' रहता है, उसी प्रकार प्रकृत में गगनकुसुमादि को विपक्ष बनाकर अर्थात् वैधर्म्य दृष्टान्त मानकर उससे व्यावृत्ति के द्वारा प्रकृत हेतु में 'त्रैरूप्य' का संपादन किया जा सकता है।

शब्द में अनित्यत्व के साधक कृतकत्व हेतु के विपक्षासत्त्व की उपपत्ति के प्रसंग में ही बौद्ध वृद्धों का यह वाक्य है 'तदभावात्तत्राऽवृत्तेर्नायं दोषः' अर्थात् गगनकुसुमादि की सत्ता नहीं, अतः उसमें कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता। इसलिये गगनकुसुमादि वैधर्म्य दृष्टान्तों में कृतकत्व हेतु नहीं है, अतः उसमें पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व के समान 'विपक्षासत्त्व' भी निर्बाध है। (अतः त्रैरूप्य की अनुपपत्ति नहीं है)।

किन्तु प्रकृत में इस प्रकार से भी त्रैरूप्य का संपादन संभव नहीं है। अर्थात् गगनकुसुमादि को वैधर्म्य दृष्टान्त मानकर उसमें प्रत्ययत्व हेतु के न रहने से त्रैरूप्य का सम्पादन नहीं किया जा सकता। फलतः 'तदभावादवृत्तेश्च' इस कथित न्याय से प्रकृत में वैधर्म्य दृष्टान्त की अनुपपत्ति को नहीं मिटाया जा सकता, क्योंकि अप्रसिद्ध गगनकुसुमादि को वैधर्म्य दृष्टान्त मानने की उक्त प्रक्रिया उन्हीं अनुमानों के लिये उपयोगी है जिनमें भाव पदार्थ साध्य हों। क्योंकि उन स्थलों में गगकुसुमादि 'अवस्तुओं' को भी विपक्ष मानकर विपक्ष दृष्टान्त वाक्य (वैधर्म्योदाहरण वाक्य) का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है कि 'जिस प्रकार 'खपुष्पादि' में अनित्यत्व रूप और कार्यता रूप हेतु दोनों ही नहीं हैं, उसी प्रकार जिसमें अनित्यता नहीं उसमें कार्यता भी नहीं है ॥ १२२–१२४ ॥

तेन स्याद् व्यतिरेकोऽस्य वाच्यो यश्चापि दर्शयेत्।
प्रतिषेधद्वयात् तेन विधिरेव प्रदर्शितः ॥ १२५ ॥
न च शक्यो विधिर्वक्तुं वस्तुन्यसति केनचित्।
एवं स्थिते च सर्वज्ञनिषेधादावियं गतिः ॥ १२६ ॥

प्रकृत में 'बाह्यालम्बनत्वाभाव' रूप 'अवस्तु' साध्य है। अतः कोई 'वस्तु' ही अर्थात् भाव पदार्थ ही उसका विपक्ष होगा। उसी विपक्ष से हेतु में व्यावृत्ति का प्रदर्शन करना होगा। जो कोई भी इस प्रकार के भाव पदार्थ स्वरूप विपक्ष से व्यतिरेक का प्रदर्शन करेगा, उससे वस्तुतः विधि ही प्रदर्शित होगी, क्योंकि दो 'प्रतिषेधों' का पर्यवसान विधि में ही होता है। अर्थात् 'यत् निरालम्बनं न भवति घटादिः स प्रत्ययोपि न भवति' इस व्यतिरेक दृष्टान्तवाक्य का पर्यवसान 'यत् प्रत्ययं भवति तत् सालम्बनमपि भवति' इस अन्वय के प्रदर्शन में ही होगा। किन्तु इस प्रकार की 'विधि' अर्थात् अन्वय दृष्टान्त वाक्य का प्रयोग किसी सालम्बन वस्तु को माने बिना किसी के लिये भी संभव नहीं है, अतः निरालम्बवादी बौद्ध भी ऐसा नहीं कर सकते ॥ १२५–१२६ ॥

प्रत्यक्षादेरसामर्थ्यं तदीयस्यास्मदादिवत्।
वैधर्म्यासम्भवेऽप्येतदन्ये स्याहुरदूषणम् ॥ १२७ ॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कहते हैं कि अगर वैधर्म्य वाक्य का प्रयोग संभव न होने पर अनुमान संभव ही न हो तो फिर 'बुद्धोऽसर्वज्ञः पुरुषत्वात् अस्मदादिवत्' यह अनुमान आप लोगों (मीमांसकों) के लिये भी संभव नहीं होगा, क्योंकि उक्त स्थल में 'सर्वज्ञ पुरुष' ही विपक्ष होंगे। सर्वज्ञ पुरुष की सत्ता विश्व में आप (मीमांसक) स्वीकार नहीं करते। फलतः हेतु में भी 'विपक्षव्यावृत्ति' के न रहने से इस हेतु में भी 'त्रैरूप्य' कैसे होगा ? अतः सभी अनुमानों के लिये 'वैधर्म्योदाहरण' का रहना आवश्यक नहीं है।

इस प्रसंग में हम लोगों (मीमांसकों) का कहना है कि बुद्ध में असर्वज्ञत्व का साधन हम लोग दूसरी रीति से करेंगे। बुद्ध के प्रत्यक्ष प्रमाण को पक्ष बनाकर

उसमें प्रत्यक्षत्व हेतु के द्वारा अतीतानागतविषयत्वाभाव का साधन करेंगे। एवं अस्मदादिप्रत्यक्ष को अन्वय दृष्टान्त एवं शब्द प्रमाण को व्यतिरेक दृष्टान्त बनावेंगे। अर्थात् जो प्रमाण अतीतानागतविषयक होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न होता है जैसे कि शब्द प्रमाण। प्रत्यक्ष अपनी प्रत्यक्षता का कारण ही अतीतानागतविषयक नहीं है। इस रीति से व्यतिरेक दृष्टान्त से युक्त होने के कारण बुद्ध में असर्वज्ञत्वसाधन उक्त अनुमान से हो सकता है॥ १२७॥

विनैव तत्प्रयोगेण हेतुरैकान्तिको यतः।
सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते॥ १२८॥
अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः।

किसी सम्प्रदाय के मीमांसक लोग बुद्ध में असर्वज्ञत्व के साधक उक्त पुरुषत्व-हेतुक अनुमान में वैधर्म्योदाहरण की असंभावना को दोष नहीं मानते, क्योंकि वैधर्म्योदाहरण प्रयोग की संभावना के न रहने पर भी उक्त अनुमान का हेतु 'ऐकान्तिक' अर्थात् व्याप्ति से युक्त है ही। व्यतिरेकोदाहरण से व्याप्ति की असंभावना ही निराकृत होती है, किन्तु वैधर्म्योदाहरण के न रहने पर भी जब व्याप्ति है ही तो वैधर्म्योदाहरण का रहना और न रहना बराबर है।

सर्वथा.......प्रवर्त्तते.......शून्यवादिनः

(वाद, जल्प और वितण्डा इन तीन कथाओं में से) वादमार्ग में वे ही प्रवृत्त हो सकते हैं जिनके पास पक्ष दृष्टान्तादि विविध 'सदुपाय' हों किन्तु 'शून्यवादियों के लिये अर्थात् बाह्यार्थशून्य ज्ञानाद्वयवादियों के लिये वादकथा में प्रवृत्त होना संभव नहीं है, क्योंकि हेतु पक्ष प्रभृति सदुपाय उनके पास नहीं है॥ १२८–१२९ क–ख॥

ननु सर्वं भवत्सिद्धं मयेदं साधनं कृतम्॥ १२९॥
किमर्थं तदसिद्ध्या त्वं विकल्प्यात्रास्य दूषणम्।
विप्रलिप्सुरिवाहैवं किमर्थं न्यायविद् भवान्॥ १३०॥
नाश्रौषीः साधनत्वं किं प्रसिद्धस्य द्वयोरपि।

ननु सर्वम्.......दूषणम्

इस प्रसंग में बौद्धगण कहते हैं कि तुम लोगों (मीमांसकादि) के मत से सिद्ध हेतु दृष्टान्तादि के द्वारा ही हम निरालम्बनत्व के साधन में प्रवृत्त हुये हैं। अतः उनकी 'असिद्धि' के द्वारा विकल्प उपस्थित कर तुम मेरे पक्ष में दोषों का उद्भावन क्यों करते हो ?

विप्रलिप्सुः.......भवान्.......द्वयोरपि

मीमांसक इसका यह उत्तर देते हैं कि ऐसी बात तो कोई ठग ही कह सकता है, न्याय (अनुमान) से अभिज्ञ आप ऐसी बात क्यों करते हैं। (क्या आपने दिङ्नाग का 'यो वादिप्रतिवादिनोर्निश्चितो हेतुः स साधनम्' यह 'साधन' का लक्षण

नहीं सुना है ?) अर्थात् अनुमिति के हेतु को वादी और प्रतिवादी दोनों से ही सिद्ध होना चाहिये ॥ १२९–१३१ क–ख ॥

योऽपि तावत् परासिद्धः स्वयं सिद्धोऽभिधीयते ॥ १३१ ॥
भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धे तु का क्रिया ।
तं साधयन् विरुन्ध्याद्धि पूर्वाभ्युपगतं नरः ॥ १३२ ॥
असाधिते तु साध्यार्थो न तेन प्रतिपद्यते ।
परासिद्धो न पर्याप्तः परेषां प्रतिपत्तये ॥ १३३ ॥

यदि कोई प्रतिवादी के द्वारा असिद्ध किन्तु अपने मत से सिद्ध हेतु का प्रयोग करे तो उसका किसी प्रकार समाधान किया भी जा सकता है। किन्तु जो अपने ही मत से असिद्ध हेतु के द्वारा साध्य के साधन में प्रवृत्त होगा, उसका कौन सा उपाय है ? क्योंकि ऐसा करके वह अपने स्वीकृत सिद्धान्त के साथ ही विरोध प्रगट करेगा। अतः जो हेतु स्वयं प्रयोग करनेवाले के मत से सिद्ध नहीं है, उस हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ १३१–१३३ ॥

तेनासाधनता युक्ता स्वतोऽसिद्धे तु किङ्कृता ।
द्वयोः सिद्धस्य हेतुत्वं नादृष्टायोपदिश्यते ॥ १३४ ॥

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कहते हैं कि न्याय का प्रयोग दूसरों को समझाने के लिए ही किया जाता है। अतः 'हेतु' के लिये इतना ही आवश्यक है कि जिस 'पर' को समझाने के लिए उसका प्रयोग किया जायगा, उस 'पर' के मत से वह हेतु सिद्ध हो, क्योंकि उसके मत से असिद्ध हेतु उसको साध्य का बोध नहीं करा सकता। इस लिए 'परासिद्ध' में हेतुत्व स्वीकार नहीं करते। फलतः हेतु को परमतसिद्ध होना ही आवश्यक है, उसका स्वमतसिद्ध होना आवश्यक नहीं है। अतः 'स्वमत' से असिद्ध होने के कारण उसको 'अहेतु' क्यों मानेंगे ? (दिङ्नागादि वृद्धों ने जो) हेतु को उभयमतसिद्ध होने का उपदेश किया है, उसका तात्पर्य हेतु के 'परसिद्धत्व' मात्र में है। अन्यथा निष्प्रयोजन होने से हेतु की उभयमतसिद्धता का उपदेश अदृष्टार्थक हो जायगा ॥ १३४ ॥

प्रत्येष्यन्ति स्वसिद्धेन साधनेन स्वयं यतः ।
वदेत् कथमसिद्धं चेदित्यनेनापि किं तव ॥ १३५ ॥
गृहीतमगृहीतं वा साध्यं वा साधनादि वा ।
मयोच्यते चेत्स्वसिद्धं किं त्वं न प्रतिपद्यसे ॥ १३६ ॥

(यदि मीमांसक यह कहें कि) वादी स्वयं अपने मत से सिद्ध हेतु के द्वारा ही साध्य को समझ सकते हैं, अतः अपने मत से असिद्ध साध्य या हेतु का प्रयोग वे कैसे कर सकते हैं .तो उसका यह उत्तर है कि) इससे तुम (मीमांसक) को क्या ? साध्य या साधन मेरे मत से सिद्ध हो ? या असिद्ध ? किन्तु तुम्हारे मत से उसे सिद्ध होना ही यथेष्ट है। फिर हमलोग (बौद्धगण) अगर ऐसा साध्य या साधन का प्रयोग करें तो क्या तुम लोग (मीमांसकगण) उसे नहीं समझोगे ? ॥ १३५–१३६ ॥

यत्र स्यात् पुरुषाधीना बुद्धिस्तत्रैवमुच्यते।
कुतोऽस्य पूर्वविज्ञानमित्यत्रैतन्न युज्यते ॥ १३७ ॥
यदि चैवं भवेदत्र प्रतिज्ञामात्र एव हि।
मद्दोषाज्ञानमात्रेण प्रतिपत्तिर्भवेत् तव ॥ १३८ ॥
यतस्तु साधनापेक्षा तेनास्यैव प्रमाणता।
तत्स्मृत्युत्पत्तिमात्रे तु वाक्यव्यापार इष्यते ॥ १३९ ॥

(दूसरी बात यह भी है कि) जहाँ एक पुरुष के अधीन दूसरे पुरुष में बुद्धि की उत्पत्ति हो (अर्थात् शब्द के द्वारा एक पुरुष दूसरे पुरुष को समझाना चाहता हो) उस स्थल में ही यह कहा जा सकता है (कि उस विषय का बोध समझानेवाले पुरुष में पहिले से अवश्य रहना चाहिये) किन्तु यह तो अनुमान का प्रसङ्ग है, इस स्थल में अनुमान का प्रयोग करनेवाले पुरुष में हेतु प्रभृति का पहिले से ज्ञान रहना क्योंकर आवश्यक होगा ?

यदि चैवम्

शब्दजनित बोध की तरह ·अनुमानप्रयोग स्थल में भी केवल प्रतिज्ञा वाक्य से ही साध्य का बोध क्यों नहीं मान लेते ? इसके लिए हेतु की अपेक्षा क्यों मानते हैं ? इसका यह उत्तर है कि यदि ऐसा हो तो फिर मुझसे विप्रलिप्सादि दोषों के अज्ञान मात्र के रहने से केवल प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा ही साध्य की अनुमिति क्यों नहीं हो जाती ? उसके लिए प्रतिज्ञा से अतिरिक्त हेतु ज्ञान की अपेक्षा क्यों स्वीकार करते हैं ? अतः हेतु की अपेक्षा साध्य की अनुमिति लिये अवश्य होती है।

यतस्तु

अतः यह समझना चाहिये कि हेतु (का ज्ञान) ही प्रकृत अनुमिति का साधक प्रमाण है। उसके लिये प्रयुक्त हेतुवाक्य स्वरूप शब्द तो केवल हेतुविषयक स्मृति रूप उपस्थिति का ही कारण है। इसलिए हेतु का वादी के मत से सिद्ध होना आवश्यक नहीं है ॥ १३९ ॥

तस्माद् यथैव साध्यांशव्याप्तहेतुनिदर्शनात्।
साध्यं गृह्णन्न वक्तारमपेक्षेत तथा भवान् ॥ १४० ॥

(चूँकि हेतुवाक्य से हेतु का स्मरणमात्र होता है) 'तस्मात्' जिस प्रकार स्वार्थानुमान में साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली अनुमिति के लिये आपको वक्ता के प्रमाण्य की अपेक्षा नहीं होती है, उसी प्रकार प्रकृत में भी मेरे (वक्ता के) प्रमाण्य की अपेक्षा नहीं होगी ॥ १४० ॥

यच्चापि भवतो ज्ञानं प्रत्यक्षादिः किमत्र ते।
मत्प्रसिद्धास्ति युक्तिर्वा साध्यं वात्र यथेच्छसि ॥१४१ ॥

जैसा कि आप (मीमांसक) प्रकृत अनुमान में चाहते हैं, वैसा ही क्या प्रत्यक्षात्मक आपके ज्ञान के प्रसङ्ग में भी हम लोगों (बौद्धों) के द्वारा स्वीकृत

युक्तियाँ अथवा प्रत्यक्ष के विषय हैं ? (अर्थात् अनुमान की तरह प्रत्यक्ष के कारणों में एवं प्रत्यक्ष के विषयों में मेरी स्वीकृति आवश्यक होगी ॥ १४१ ॥

तस्मान्न विदुषामेतदुत्तरं युज्यते यतः ।
तव हेतुरसिद्धोऽयं मम तेन न साधनम् ॥ १४२ ॥

'तस्मात्' विद्वानों के लिये यह युक्ति उपयुक्त नहीं है कि 'चूँकि इस हेतु को तुम स्वीकार नहीं करते हो, अतः उसके द्वारा मुझे अनुमिति नहीं होगी' ॥ १४२ ॥

सत्यं यदि ममैवात्र प्रतिपत्तिः फलं भवेत् ।
तदा त्वदप्रसिद्धेऽपि हेतौ मां प्रति हेतुता ॥ १४३ ॥
यदा तु ज्ञानमात्रत्वप्रतिपत्तौ भवान् मया ।
पृष्टः को हेतुरत्रेति तदैवं नोपपद्यते ॥ १४४ ॥

(बौद्धों की इस उक्ति पर मीमांसकों का कहना है कि) यह बात सत्य होती अगर उक्त 'हेतु' स्वरूप प्रमाण का फल केवल मेरी ही अनुमिति होती। ऐसी स्थिति में उक्त हेतु में अनुमिति की कारणता स्वीकार भी की जा सकती थी। किन्तु जब 'ज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है' तुम्हारे इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग में पूछा जाता है कि 'इसमें हेतु क्या है ?' तो उस प्रश्न का तुम्हारा यह उत्तर उचित नहीं होगा कि 'मैं उस हेतु को नहीं जानता' ॥ १४३–१४४ ॥

स्वयं न ह्यगृहीतेन मत्प्रसिद्धेन वा भवान् ।
हेतुना साध्यमेतत् तु प्रतिपन्नः कथञ्चन ॥ १४५ ॥

क्योंकि जिस हेतु को आप नहीं जानते, वह हेतु यदि मुझे ज्ञात भी है, तथापि उस हेतु से आप अपने निरालम्बनत्व रूप साध्य को नहीं समझा सकते ॥ १४५ ॥

न च व्याप्रियतेऽन्यत्र वचनं प्राश्निकान् प्रति ।
स्वनिश्चयाय यो हेतुस्तस्यैव प्रतिपादनात् ॥ १४६ ॥

किन्तु बौद्धवृद्धों ने 'परार्थानुमानन्तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम्' इस वाक्य के द्वारा अनुमान करनेवाले पुरुष के साध्यनिश्चय में समर्थ वस्तु को ही 'हेतु' कहा है। अतः स्वमत से असिद्ध हेतु का प्रयोग मध्यस्थ एवं वादी इन दोनों के लिए उचित नहीं है ॥ १४६ ॥

मत्प्रसिद्धत्वमेतस्य कुतश्चावगतं त्वया ।
कथं चेत्थं विवक्षा ते स्वयमर्थमजानतः ॥ १४७ ॥
मयि जिज्ञासमानेऽपि बुद्धिपूर्वाभिधायिनः ।
इति ज्ञात्वा च वो वृद्धैर्भाषितोभयसिद्धता ॥ १४८ ॥

दूसरी बात यह भी है कि "तुम्हारा प्रत्ययत्व हेतु मेरे मत से सिद्ध वस्तु है" यह तुम कैसे जानते हो ? मुझ प्रतिवादी को यदि 'जिज्ञासु' मान भी लिया जाय,

तथापि जिस अर्थ को तुम स्वयं नहीं जानते उसको मुझे (हेतुवाक्य रूप) शब्द के द्वारा समझाने की इच्छा ही तुमको कैसे उत्पन्न हुई ? क्योंकि 'विवक्षा' के लिए तो वक्ता में विवक्षणीय विषय का ज्ञान आवश्यक है। इस अनुपपत्ति को समझ कर ही तुम्हारे आचार्यों ने हेतु को उभयमतसिद्ध होने को आवश्यक कहा है ॥१४७–१४८॥

तेन यद्वन्ममैतेन त्वमाधित्ससि हेतुना।
साध्यज्ञानम् तथैवाहमज्ञानं तव दूषणैः ॥ १४९ ॥

अतः जिस प्रकार मेरे सिद्धान्त से सिद्ध प्रत्ययत्व हेतु के द्वारा निरालम्बनत्व रूप साध्य का ज्ञान तुम मुझे कराना चाहते हो, उसी प्रकार (तुल्य युक्ति से) तुम्हारे मत से असिद्ध किन्तु मेरे मत से सिद्ध कथित दोषों के कारण निरालम्बनत्व की असिद्धि को समझाने की इच्छा मैं भी कर सकता हूँ ॥ १४९ ॥

यथैव च भवानीदृक् साध्यमुक्त्वास्य साधनम्।
साध्यानुरूपमज्ञात्वा विहतः प्रतिपादनात् ॥ १५० ॥
तथैव प्रतिपाद्योऽपि तादृक्साध्यबुभुत्सया।
मन्वानः साधनं दुष्टं ततः साध्यं न बुध्यते ॥ १५१ ॥

जिस प्रकार आप हेतु को अपने साध्य के साधन के लिए उपयुक्त न समझकर भी उसी हेतु का प्रयोग अपने अभिमत साध्य की सिद्धि के लिए करते हैं, उसी प्रकार हम (प्रतिपाद्य) भी उस साध्य को समझने की इच्छा के रहते हुए भी उस हेतु को दुष्ट समझने के कारण उस साध्य को नहीं समझ पाते हैं ॥ १५०–१५१ ॥

संवित्त्या साधनं मत्वा तत्सद्भावे दृढे स्थिते।
साध्यस्यासम्भवादेव त्वदुक्तं नावबुध्यते ॥ १५२ ॥

यदि कथित प्रत्ययत्व हेतु को आप 'संवित्ति' से अर्थात् विज्ञान से अतिरिक्त रूप में समझकर कहते हैं तो फिर उस साधन से प्रकृत निरालम्बनत्व रूप साध्य को समझना ही संभव नहीं है ॥ १५२ ॥

तेनाशेयं न कर्तव्या मोहादपि मयेरिते।
साधने साधनं ज्ञात्वा पर एवावभोत्स्यते ॥ १५३ ॥

अतः आपको भूलकर भी यह आशा नहीं करनी चाहिये कि 'हम जिस साधन का प्रयोग करते हैं, उस हेतु को हेतु रूप में समझकर स्वयं साध्य को न समझते हुए भी केवल प्रतिवादी को ही उसे समझा पायेंगे' ॥ १५३ ॥

विस्पष्टश्चाक्षपादोक्तो विरोधो हेतुसाध्ययोः।
यमदृष्ट्वा परैरुक्तमदूषणमिदं किल ॥ १५४ ॥

'स्वव्यतिरिक्तशून्याः प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्' आपका (बौद्धों का) यह अनुमान उस 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक हेत्वाभास का स्पष्ट उदाहरण है जिसको महर्षि अक्षपाद ने प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध के रहने पर बतलाया है। इस स्पष्ट उदाहरण को न

देखने के कारण ही दिङ्नाग ने 'नित्यः शब्दः सर्वस्यानित्यत्वात्' इस सांख्यशास्त्रीय अनुमान के 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान को अनुपयुक्त उदाहरण ठहराकर उस 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान का ही खण्डन 'स हि दृष्टान्त एवोक्तो वैधर्म्येणासुशिक्षितैः' इस श्लोक से खण्डन कर डाला है, क्योंकि यदि उक्त अनुमान को प्रतिज्ञाविरोध के उदाहरण के अनुपयुक्त मान भी लें तथापि प्रत्ययमात्र में निरालम्बत्वसाधक यह अनुमान ही प्रतिज्ञाविरोध का स्पष्ट उदाहरण विद्यमान है[1] ॥१५४॥

---

१. 'प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः' इस सूत्र के द्वारा भगवान् अक्षपाद ने 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक 'निग्रहस्थान' का लक्षण दिखाया है। कुछ लोगों ने (वात्स्यायन उद्योतकरादि नहीं) इस निग्रहस्थान के उदाहरण के रूप में सांख्यानुयायियों के 'नित्यः शब्दः सर्वस्यानित्यत्वात्' इस न्यायवाक्यांश को उपस्थित किया था। उन लोगों का अभिप्राय था कि हेतुवाक्यघटक 'सर्व' पदार्थ के अन्तर्गत शब्द भी है, वह भी अनित्य होगा जिससे हेतुवाक्य से शब्दगत अनित्यता का भी बोध होगा। यह बोध 'नित्यः शब्दः' इस प्रतिज्ञावाक्यजन्य बोध का विरोधी होगा, क्योंकि दोनों के विषय क्रमशः शब्दगत नित्यत्व और अनित्यत्व हैं। प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार यदि शब्द को नित्य मान लेते हैं तो हेतुवाक्य से कथित 'सर्व' की अनित्यता ही अनुपपन्न हो जायगी। अतः 'नित्य शब्दः सर्वस्यानित्यत्वात्' इस न्यायवाक्यांश का प्रयोग करने वाले को 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान स्वरूप दोष प्राप्त होगा।

किन्तु दिङ्नाग ने 'दृष्टान्तोऽभिहितो ह्येष वैधर्म्येणासुशिक्षितैः' इस वाक्य के द्वारा 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान का ही खण्डन कर डाला है। उनका कहना है कि उक्त स्थल में उक्त सूत्र से कथित 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान का कोई अवसर नहीं है, क्योंकि 'नित्य शब्दः' इस प्रतिज्ञावाक्य के अनन्तर 'निरवयवत्वात्' यह हेतुवाक्य ही इष्ट है। 'सर्वस्यानित्यत्वात्' यह पञ्चम्यन्त वाक्य तो शब्दपक्षक नित्यत्वानुमान के वैधर्म्योदाहरण वाक्यांश का एक अशुद्ध अंश है। प्रकृत अनुमान के वैधर्म्योदाहरण का शुद्ध रूप इस प्रकार होना चाहिये 'यद्यदनित्यं न भवति तत् सर्वं निरवयमेव [न] भवति न कदाचिदपि सावयवम् यथाऽकाशादिः' इस वैधर्म्योदाहरणवाक्य के सहारे शब्द में नित्यत्व का अनुमान इष्ट है। निरवयवत्व स्वरूप हेतु के साथ नित्यत्वस्वरूप साध्य का कोई विरोध नहीं है। अतः गौतमोक्त प्रतिज्ञाविरोध के लक्षण के अनुसार यह प्रतिज्ञाविरोध का लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः लक्ष्य के अभाव से ही उक्त लक्षण का 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक कोई निग्रहस्थान नहीं है।

दिङ्नाग के इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही वार्त्तिककार ने 'विस्पष्टमक्षपादोक्तः' इत्यादि श्लोक लिखा है। वार्त्तिककार ने श्लोक के 'किल' शब्द से दिङ्नाग के उस कथन पर अस्वरस व्यक्त किया है। वार्त्तिककार का अभिप्राय है कि सांख्यानुयायियों का अनुमान भले ही 'प्रतिज्ञाविरोध' का उदाहरण न हो, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि दूसरा कोई उसका उदाहरण हो ही नहीं सकता। वात्स्यायनभाष्यादि गौतमीय न्यायदर्शन के ग्रन्थों में इसके अन्य उदाहरणों को देखा जा सकता है।

ननु लोकप्रसिद्धेन पूर्वमेतेन हेतुना ।
साध्यसिद्धिर्ममाप्यासीत् परमार्थोऽस्य नास्ति-ा ॥ १५५ ॥

(बौद्धगण कहते हैं कि) पहिले (संसारावस्था में) 'लोकप्रसिद्ध' अर्थात् सांवृत सत्य हेतु के द्वारा ही मुझे भी साध्य का ज्ञान होता था। किन्तु हेतु प्रभृति सभी बाह्य पदार्थों की 'नास्तिता' अर्थात् अभाव 'परमार्थिक' है। फलतः संसारावस्था में ही अनुमान-अनुमेयादि के व्यवहार होते हैं। परामर्थतः कोई भी बाह्यपदार्थ नहीं है ॥ १५५ ॥

योऽधुना परमार्थेन नास्तीत्येवं प्रकाशते ।
कथं पूर्वमसावासीदसंश्चेत् साधनं कथम् ॥ १५६ ॥

बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो हेत्वादि अभी परमार्थतः 'नास्ति' इस आकार से प्रकाशित होते हैं, पहले भी उनकी किसी प्रकार की सत्ता कैसी थी ? अगर उनकी किसी प्रकार की सत्ता नहीं थी, तो फिर वह असत् पदार्थ किसी का हेतु कैसे होगा ? ॥ १५६ ॥

साधनं चेदवश्यं च परमार्थास्तितः भवेत् ।
सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते ॥ १५७ ॥

अगर 'सर्वनास्तिता' का कोई साधन है, तो फिर वह 'पारमार्थिक' भी अवश्य है, क्योंकि अवास्तविक हेतु से 'सर्वनास्तिता' स्वरूप परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १५७ ॥

न दृष्टा शशशृङ्गादेः सम्यग्ज्ञानादिहेतुता ।
बाष्पादिनाप्यधूमेन मिथ्या वह्न्यादिबोधनम् ॥ १५८ ॥

क्योंकि शशशृङ्ग प्रभृति असत् पदार्थों से किसी भी यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि जब पारमार्थिक धूम से भिन्न वास्तविक ही वाष्प को धूम समझकर भी वह्नि की सिद्धि नहीं होती है, तो फिर सर्वथा अविद्यमान हेतु से किसी भी साध्य की अनुमिति कैसे होगी ? ॥ १५८ ॥

तस्मादसत्यहेतोर्या परमार्थे मतिस्तव ।
साप्यसत्या न सत्यं हि सत्याभासेन गम्यते ॥ १५९ ॥

अतः असत्य हेतु के द्वारा तुम्हें निरालम्बनत्व रूप वास्तविक विषय का जो ज्ञान होता है, वह अवश्य ही असत्य है, क्योंकि 'सत्याभास' से कभी भी 'सत्य' का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १५९ ॥

येऽपि रेखादयो दृष्टा वर्णानां प्रतिपादकाः ।
न ते स्वेनापि रूपेण परमार्थत्ववर्जिताः ॥ १६० ॥

यदि बौद्धगण उन ग्रन्थों को देखने का क्लेश स्वीकार न करें तो 'सर्वोऽपि प्रत्ययो निरालम्बनः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' इस अनुमान को ही प्रतिज्ञाविरोध के रूप में देख सकते हैं। फलतः निरालम्बनत्व के इस अनुमान में प्रतिज्ञाविरोध दोष भी है।

'क' प्रभृति वर्णों को समझाने के लिए जो रेखायें खींची जाती हैं, वे यद्यपि 'क' प्रभृति वर्णों के रूप में असत्य हैं, फिर भी अपने रेखारूप में वे अवश्य ही सत्य होती हैं। अतः उन रेखाओं को सर्वथा परमार्थशून्य नहीं कहा जा सकता। अतः अपारमार्थिक वर्णज्ञान के दृष्टान्त से सर्वथा असत्य प्रत्ययत्व हेतु के द्वारा निरालम्बनत्व रूप परमार्थ सत्य के ज्ञान का समर्थन नहीं किया जा सकता ॥१६०॥

वर्णात्मना न सत्याश्चेत् सर्वभावेष्वयं विधिः।
पदार्थान्तररूपेण न सत्यं किञ्चिदिष्यते ॥ १६१ ॥

(अगर ऐसा कहें कि) रेखाओं में गकारादि वर्णों के अभेद की प्रतीति होती है, किन्तु वर्ण और रेखा दोनों एक नहीं हो सकते। अतः यह मानना होगा कि रेखायें अपने स्वरूप से सत्य होने पर भी वर्णरूप से असत्य हैं। किन्तु यह भी कोई बड़ी बात नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ अपने स्वरूप से सत्य और अपने से भिन्न रूप से असत्य होते हैं ॥ १६१ ॥

स्वरूपे विद्यमाने तु यदन्येवं प्रकाशते।
स्वरूपाभाववत्स्वपौ तु न सत्यं नाप्यसत्यता ॥ १३२ ॥

अपने स्वरूप से विद्यमान ही एक वस्तु दूसरी उस वस्तु के द्वारा ज्ञात हो सकती है, जिसकी अपनी भी स्वतन्त्र सत्ता रहे। शशविषाणादि, जिनका कोई अपना कोई सत्य स्वरूप नहीं, वे सत्य भी नहीं हैं, मिथ्या भी नहीं हैं ॥ १६२ ॥

हेत्वादीनां तु भवतः स्वरूपेणाप्यसत्यता।
तेन बाष्पादिवत् तेषामुपायत्वम् न[1] लेख्यवत् ॥ १६३ ॥

आपके (बौद्धों के) मत में तो हेतु प्रभृति की किसी प्रकार की सत्ता ही नहीं है, फिर जिस प्रकार वह्निज्ञान की हेतुता धूमत्व रूप से ज्ञायमान बाष्प में है, न उसी प्रकार प्रमेयत्वादि हेतुओं में निरालम्बनत्व ज्ञान की हेतुता संभव है, न उसी प्रकार रेखाओं में वर्णज्ञान की हेतुता है, न उसी प्रकार प्रत्ययत्व हेतु में हेतुता संभव है ॥ १६३ ॥

उपायानां स्वरूपं हि संवृत्यात्मकमेव नः।
तथा च सत्यतेष्टैव स्वरूपासत्यता कथम् ॥ १६४ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि) हेत्वादि पदार्थों की (पारमार्थिक सत्ता न मानने पर भी) सांवृतसत्यता हम लोग भी मानते हैं। फिर हेतु प्रभृति की स्वरूपतः असत्ता क्यों कर होगी ? ॥ १६४ ॥

संवृत्या यत् स्वरूपं हि तद्वाङ्मात्रनिबन्धनम्।
हेतुत्वं परमार्थस्य प्रतिपत्तुं न शक्नुयात् ॥ १६५ ॥

---

१. इस श्लोक में एक ही 'न' पद का अन्वय 'बाष्पादिवत्तेषामुपायत्वम्' एवं 'लेख्यवदुपायत्वम्' इन दोनों के साथ समझना चाहिये।

(किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि) संवृति के द्वारा वस्तुओं का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह केवल वाचनिक है, उससे किसी पारमार्थिक वस्तु का ज्ञान संभव नहीं है ॥ १६५ ॥

परमार्थाच्च लोकस्य न भेदे हेतुरस्ति ते ।
लौकिकोपायगम्यस्य केन स्यात् परमार्थता ॥ १६६ ॥

एक तो वास्तविक पदार्थों से लौकिक (सांवृत) पदार्थों में भेद का कोई भी कारण तुम्हारे (बौद्धों के) पास नहीं है । (दूसरी बात यह भी है कि) लौकिक हेतु से ज्ञात होने वाली 'निरालम्बनता' वास्तविक होगी कैसे ? ॥ १६६ ॥

नन्वसत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारूढे न सिध्यति ।
वासनाशब्दभेदोऽर्थविकल्पप्रविभागतः ॥ १६७ ॥

(बौद्धों का कहना है कि) जिस प्रकार स्वप्नावस्था में घटादि वस्तुओं की वास्तविक सत्ता न रहने पर भी बुद्धि के द्वारा कल्पित घटादि से ही जलाहरणादि का व्यवहार होता है उसी प्रकार 'वासना' के भेद से या (व्यवहार के प्रयोजक केवल शब्द के भेद से) हेतु एवं हेत्वाभासादि का विभाग उत्पन्न हो जाने से निरालम्ब-नत्वादि वास्तविक वस्तुओं की सिद्धि या व्यावहारिक वस्तुओं की सिद्धि होगी। (अतः प्रमाण-प्रमेयादि-व्यवहार वासनामूलक ही हैं), जिससे संसार के सभी व्यव-हार चलते हैं, इसके लिए हेतु प्रभृति का परमार्थ सत् होना आवश्यक नहीं है ॥ १६७ ॥

न्यायविद्भिरिदं चोक्तं धर्मादौ बुद्धिमाश्रिते ।
व्यवहारोऽनुमानादेः कल्प्यते न बहिःस्थितेः ॥ १६८ ॥

जैसा कि न्यायशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (दिङ्नाग) ने कहा है कि बुद्धि के द्वारा कल्पित धर्म (एवं धर्मी) से ही (पक्ष और साध्य से ही) अनुमानादि प्रमाणों की कल्पना की जाती है । इसके लिए धर्म (साध्य) धर्मि (पक्ष) प्रभृति बाह्य वस्तुओं की पारमार्थिक सत्ता अपेक्षित नहीं है ॥ १६८ ॥

अस्तीदं वचनं तेषामिदं तत्र परीक्ष्यताम् ।
भेदोऽसतः कथं हि स्याद् बुद्धिशब्दप्रकल्पनात् ॥ १६९ ॥
निर्वस्तुके कथञ्चिन्नु प्रसवो बुद्धिशब्दयोः ।
शब्दभेदोऽपि भवतस्तदभावान्न सिध्यति ॥ १७० ॥

(इस प्रसङ्ग में मीमांसकगण कहते हैं कि) दिङ्नागादि न्यायवृद्धों की इस प्रकार की उक्तियों पर ही यह विचार करिये कि 'कल्पना' रूप (भ्रमात्मक) बुद्धि के द्वारा या शब्द मात्र के द्वारा 'असत्' अर्थात् सर्वथा अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति किस प्रकार होगी एवं 'वस्तुओं' से (वास्तविकसत्ताशून्य पदार्थों से) रहित जगत् की 'कल्पना' स्वरूप बुद्धि या शब्द-व्यवहार भी कैसे उपपन्न होगा ?

एवं जो जगत् में केवल विज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं, उनके मत से विभिन्न प्रकार के शब्दों की भी सिद्धि नहीं हो सकती, जिससे कि विभिन्न प्रकार की कल्पना रूप विभिन्न प्रकार की बुद्धियाँ उत्पन्न हों ॥ १६९–१७० ॥

यदि वा विद्यमानोऽपि भेदो बुद्धिप्रकल्पितः ।
साध्यसाधनधर्मादिर्व्यवहाराय कल्प्यते ॥ १७१ ॥
ततो भवत्प्रयुक्तेऽस्मिन् साधने यावदुच्यते ।
सर्वत्रोत्पद्यते बुद्धिरिति दूषणता भवेत् ॥ १७२ ॥

यदि विभिन्न प्रकार की बाह्यवस्तुओं की सत्ता को काल्पनिक मानकर ही आप (बौद्धगण) साध्यसाधनव्यवहार या प्रमाणप्रमेयव्यवहार की उत्पत्ति करें तो इस काल्पनिकता से हम लोगों का (मीमांसकों का) दूष्यदूषणभाव भी सिद्ध होगा। इससे आपकी स्थापना पर मेरे सभी दोष सिद्ध माने जायंगे, क्योंकि अगर वे असत्य भी हों तथापि उनकी बुद्धियाँ तो उत्पन्न होती हैं ॥ १७१–१७२ ॥

यश्च मन्त्रस्त्वयोक्तोऽयं धर्म्यादौ बुद्धिमाश्रिते ।
न बाह्यापेक्षया स स्यादसिद्ध्यादौ मयेरिते ॥ १७३ ॥

"बुद्धि के द्वारा कल्पित धर्मधर्मिभाव से ही जगत् के सभी व्यवहार चलते हैं, इसके लिये धर्म एवं धर्मि आदि की वास्तविक सत्ता आवश्यम्भाविनी नहीं है" दिङ्नाग के इस 'मन्त्र' का 'ऊह' (निरालम्बनत्व के आपके अनुमान पर) असिद्धि प्रभृति दोषों के मेरे उद्भावन के समय भी (इस प्रकार किया जा सकता है कि) किसी अनुमान को दूषित करने के लिये दूष्य और दूषण की वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि काल्पनिक दूष्य और दूषण से ही अनुमान दूषित हो सकते हैं ॥ १७३ ॥

बुद्धिप्रकल्प्तिसिद्धिश्च भवतां व्यवहारिणाम् ।
मदुक्तं दूषणं सिद्धं त्वदुक्तं तु न साधनम् ॥ १७४ ॥

आप लोग (बौद्धगण) तो केवल बुद्धि के द्वारा गृहीत होने से ही वस्तु में कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता मान लेते हैं, अतः हम लोगों के द्वारा दोषों की सत्ता को आप अस्वीकार नहीं कर सकते। हम (मीमांसकगण) तो आप के द्वारा प्रयुक्त हेतु या साध्य को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक उनकी वास्तविक सत्ता सिद्ध न हो जाय। अतः प्रकृत में आप यह नहीं कह सकते कि "हम दोनों इस प्रसंग में समान है, क्योंकि आपके दूषण का ज्ञान अगर उत्पन्न होता है, मेरे साधन का भी ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः मीमांसकों के इन दूषणों से उनकी विजय नहीं हो सकती" ॥ १७४ ॥

बाह्यार्थव्यवहारित्वाज्ज्ञानोत्पादे स्थितेऽपि नः ।
कथञ्चिन्न हि कल्प्येत व्यवहारोऽर्थवर्जितः ॥ १७५ ॥

चूंकि हम लोग व्यवहार के लिये बाह्य अर्थों की अपेक्षा मानते हैं, अतः ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी वास्तविक सत्ता से युक्त अर्थ से शून्य व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती ।। १७५ ।।

ननु यद्वन्मया हेतुर्नेष्यते दूषणं तथा।
तेन मे दूषणाभावाददुष्टं साधनं भवेत् ॥ १७६ ॥

(इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि) हम लोग जिस प्रकार हेतु की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उसी प्रकार हेत्वाभासादि दोषों की वास्तविक सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं। अतः दोषों के न रहने से हम लोगों का कल्पित हेतु अदुष्ट होकर अपना कार्य कर ही सकता है ।। १७६ ।।

नेदानीं दूषणैः कार्यम् साधनाभावतो यदि।
त्वयैवास्मदभिप्रेता स्वपक्षासिद्धिराश्रिता ॥ १७७ ॥

अगर (मेरे दूषणों की तरह) अपने हेतु की वास्तविक सत्ता को भी आप (बौद्धगण) अस्वीकार करते हैं तो फिर हम लोगों के अन्य दोषों के उद्भावन का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, क्योंकि हेतु की वास्तविक सत्ता की अस्वीकृति के द्वारा आप अपने पक्ष की असिद्धि को स्वयं स्वकार कर लेते हैं ।। १७७ ।।

न चास्ति वासनाभेदो निमित्तासम्भवात् तव।
ज्ञानभेदो निमित्तं चेत्, तस्य भेदः कथं पुनः ॥ १७८ ॥

तुम जो वासनाओं की विभिन्नता के द्वारा हेतु पक्षादि की काल्पिनक सत्ता की उत्पत्ति करना चाहते हो, वह भी संभव नहीं हैं, क्योंकि वासनाओं के परस्पर भेद का कोई कारण उपलब्ध नहीं। अगर ज्ञानों के परस्पर भेद से वासनाओं में परस्पर भेद की उपपत्ति करोगे, तो फिर (यह प्रश्न उपस्थित होगा कि) ज्ञान ही परस्पर भिन्न क्यों हैं ? ।। १७८ ।।

वासनाभेदतश्चेत् स्यात् प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम्।
स्वच्छस्य ज्ञानरूपस्य न हि भेदः स्वतोऽस्ति ते ॥१७९॥

अगर वासनाओं से भेद से ज्ञानों में भेद मानोगे तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि तुम वासनाओं को ज्ञानभेदमूलक मानते हो, एवं ज्ञानों में परस्पर भेद को वासनाओं के भेद के अधीन मानते हो, क्योंकि 'स्वच्छ' (विषयसम्बन्ध से रहित) ज्ञानों में स्वतः कोई भेद नहीं है। अर्थात् ज्ञानों में परस्पर भेद उन विषयों से ही होगा जिनकी सत्ता को तुम स्वीकार नहीं करते ।। १७९ ।।

प्रमाणं वासनास्तित्वे भेदे वापि न विद्यते।
कुर्याद् ग्राहकभेदं सा ग्राह्यभेदस्तु किङ्कृतः ॥ १८० ॥

एक तो 'वासना' नाम की न कोई वस्तु ही है, न कोई उसका ज्ञापक प्रमाण ही है, एवं न वासना के विविध भेदों में ही कोई प्रमाण है। दूसरी बात यह

है कि वासना अगर मानी भी जाय तो वह पूर्वाऽनुभव से होने वाले संस्कार स्वरूप ही होगी। इससे विविध प्रकार के उक्त संस्कारो के प्रयोजक (ग्राहक) विविध पूर्वानुभव रूप विज्ञान की सिद्धि नहीं भी हो सकती है, किन्तु इससे नीलपीतादि विविध ग्राह्यों (विषयों) की सिद्धि कैसे होगी ? ॥ १८० ॥

संवित्त्या जायमाना हि स्मृतिमात्रं करोत्यसौ।
क्षणिकेषु च चित्तेषु विनाशे च निरन्वये॥

चूँकि संवित्ति (पूर्वानुभव) से उत्पन्न होने वाली संस्काररूपा वासना पूर्वानुभव में जितने विषय भासित हो चुके हैं, उनसे अनधिक विषयों की स्मृति को ही केवल उत्पन्न कर सकती है, अर्थात् अत्यन्त असत् नीलादि भाव पदार्थ तो कभी भी अनुभव के द्वारा गृहीत ही नहीं हैं, अतः उस अनुभव में भासित होनेवाले विषयों की स्मृतिरूपा वासना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?

(१) विज्ञान चूंकि क्षणिक हैं, अतः उनसे 'वासनाओं' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। एवं (२) एक ही क्षण में समूल विनष्ट हो जाने वाले विज्ञानों से वासनाओं की उत्पत्ति ही संभव नहीं है ॥ १८१ ॥

वास्यवासकयोश्चैवमसाहित्यान्न वासना।
पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो वास्यते नोत्तरः क्षणः॥ १८२॥

(३) 'वास्य' (घटादि विषय) एवं 'वासक' (विज्ञान) ये दोनों एक समय नहीं रहते। 'अतः 'वासना' की सत्ता ही अनुपपन्न है, क्योंकि एक ही समय रहने वाले वह्नि और अगुरु से उसी समय विद्यमान धूम ही वासित होता है। अतः पूर्ववर्त्ति विज्ञान उत्तरवर्त्ति विज्ञान से वासित हो ही नहीं सकता ॥ १८२ ॥

उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य वासना।
साहित्येऽपि तयोर्नैव सम्बन्धोऽस्तीत्यवासना॥ १८३ ॥

एवं उत्तरवर्ति विज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ववर्त्ति विज्ञान विनष्ट हो जाता है, अतः पूर्ववर्त्ति ज्ञान मे भी उत्तरवर्त्ति ज्ञान की वासना संभावित नहीं है, क्योंकि वासना का आश्रय ही विनष्ट हो चुका है।

एवं एक ही क्षण में स्थित दो ज्ञानों में भी कोई किसी से वासित नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनों में कोई (असाधारण) सम्बन्ध नहीं है। अतः 'वासना' वाली बात ही निरर्थक है ॥ १८३ ॥

क्षणिकत्वाद् द्वयस्यापि व्यापारो न परस्परम्।
विनश्यच्च कथं वस्तु वास्यतेऽन्येन नश्यता॥ १८४॥

यह जो कह आये हैं कि सभी वस्तुओं के क्षणिक होने के कारण 'वासना' की उपपत्ति नहीं हो सकती, उसका यह अभिप्राय है कि 'वास्य' और 'वासक' दोनों ही चूंकि क्षणिक हैं, अतः कोई भी किसी में (वासनादि किसी भी) वस्तु की उत्पत्ति के लिये व्यापृत नहीं हो सकता। (क्योंकि संयोग समवायादि स्वाभाविक सम्बन्धों

के द्वारा ही 'वासना' की उत्पत्ति देखी जाती है। उन सम्बन्धों के लिये आश्रय का अनेक क्षणों तक रहना आवश्यक है। अतः क्षणिक वस्तुओं में से कोई भी किसी को वासित नहीं कर सकती)। इसलिये 'वासना' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।

सभी वस्तुओं को बौद्धगण 'निरन्वय विनाशी' मानते। इस लिये भी वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'विनश्यदवस्थ' कोई भी पदार्थ विनष्ट होती हुई किसी दूसरी वस्तु को वासित नहीं कर सकता।

किसी विद्यमान पदार्थ को ही दूसरा पदार्थ अपनी स्थिति काल में अथवा अनवस्थिति काल में वासित कर सकता है। जैसे अगुरु धूम अपनी सूक्ष्मावस्था में रहकर प्रासाद को सुगन्धित करता है अथवा चम्पक पुष्प का संक्रमण तेल में होता है ॥ १८४॥

अवस्थिता हि वास्यन्ते भावाभावैरवस्थितैः।

अवस्थितो हि पूर्वस्माद्भिद्यते नोत्तरो यदि ॥ १८५ ॥

विद्यमान पदार्थों का विद्यमान पदार्थों के साथ संक्रमण को ही 'वासना' कहते है। निरन्वय विनष्ट हुये (जड़ मूल से विनष्ट हुये) किसी पदार्थ का अपने पूर्ववर्त्ति अथवा परवर्त्ती पदार्थों के साथ संक्रमण हो ही नहीं सकता। मेरे सिद्धान्त के अनुसार आत्मा स्थिर पदार्थ है, अतः दो अथवा तीन क्षणों तक ही रहने वाले ज्ञानों की वासना उसमें हो सकती है ॥ १८५ ॥

पूर्ववद् वासना तत्र न स्यादेवाविशेषतः।

भङ्गुरे पूर्वसादृश्याद् भिन्नत्वाच्चास्ति वासना ॥१८६॥

बौद्धों का कहना है कि श्लो० १८५ से मीमांसकों ने जो कुछ कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उनके मत से एक पदार्थ की जो 'वासना' दूसरे पदार्थ में होती है, वह पदार्थों की 'अवस्थिति' अथवा स्थिरता पूर्वापरकालसम्बन्ध रूप ही है। अतः यदि घटादि पदार्थों को चिरस्थायी मानना है, तो एक ही क्षणसमूहात्मक काल को उनका अधिकरण भी मानना होगा, उनमें से कोई क्षण किसी क्षण का पूर्व या पश्चात् नहीं। अतः पूर्वकालवर्त्ति घट और पश्चात्कालवृत्ति घट दोनों एक ही रूप के हैं, अतः इनमें से कोई भी किसी का वास्य अथवा वासक नहीं हो सकता।

यदि सभी पदार्थों को 'भङ्गुर' अर्थात् क्षणभङ्गुर मानते हैं तो यह वासना उपपन्न होती है। पूर्वक्षणवर्ति घट एवं उत्तरक्षणवर्त्ति घट दोनों ही परस्पर भिन्न होने के साथ-साथ अत्यन्त सदृश भी हैं, अतः दोनों में वास्यवासकभाव हो सकता है, क्योंकि भिन्नता (भेद) के साथ साथ 'तद्रूपता' अर्थात् 'सादृश्य' ही 'वासना' है। अतः सभी पदार्थ चूँकि क्षणिक है, अतः 'वासना' भी है। पूर्वक्षणवर्त्ति घट उत्तरक्षण में अपने सदृश घट को उत्पन्न करने के कारण ही 'वासक' कहलाता है एवं उत्तरक्षणवर्त्ति घट उक्त घट से उत्तरक्षण में उत्पन्न होने के कारण ही 'वासित' कहलाता है। इस वास्यवासकभाव के लिये किसी अन्य व्यापार की अपेक्षा नहीं है। अतः क्षणिक पदार्थों में किसी व्यापार के संभव न होने से जो वासना की अनुपपत्ति दी थी सो भी नहीं है ॥ १८६ ॥

नैतदस्त्यनुरूपं तु क्षणिकत्वे धियां तव।
पूर्वज्ञानं त्वनुत्पन्नं कार्यं नारभते क्वचित् ॥ १८७ ॥
न विनष्टं न तस्यास्ति निष्पन्नस्य क्षणं स्थितिः।
तेनोत्पन्नविनष्टत्वान्नास्त्यारम्भक्षणोऽपि हि ॥ १८८ ॥

(बौद्धों का यह कथन भी ठीक) नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थों में किसी की भी कारणता सम्भव नहीं है। सदृश कार्यों की कारणता तो सर्वथा असम्भव ही है, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व कोई भी किसी कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता एवं विनष्ट हो जाने पर भी कोई कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता जिस लिए कि दोनों ही अवस्थाओं में उसकी स्वयं की ही सत्ता नहीं है। उत्पन्न वर्त्तमानावच्छिन्न कोई वस्तु भी कार्य का उत्पादन नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं क्षणिक है। सुतराम् उत्पन्न होने के साथ ही विनष्ट हो जाने के कारण क्षणिक पदार्थों से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ १८७, १८८ ॥

निरन्वयविनष्टत्वादानुरूप्यं कुतः पुनः।
न तयोरस्ति कश्चिच्च धर्म उत्तरबुद्धिषु ॥ १८९ ॥

उत्पत्तिक्षण में ही जड़मूल से विनष्ट हो जानेवाले पदार्थों से किसी ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति संभव नहीं है, जिसमें कि उसका 'आनुरूप्य' (सादृश्य) हो, क्योंकि उत्तरवर्त्ति किसी भी विज्ञान का कोई भी धर्म नहीं हो सकता ॥ १८९ ॥

समानधर्मतां मुक्त्वा नानुरूप्यं च विद्यते।

जिस आनुरूप्य की चर्चा की गयी है, वह समानधर्मता (सादृश्य) को छोड़ कर और कुछ नहीं है ॥ १९० क–ख ॥

यदि स्यादानुरूप्याच्च वासना गोधियो यदा ॥ १९० ॥
हस्तिबुद्धिर्भवेत् तत्र वैलक्षण्यान्न वासना।
ततः परं च गोज्ञानं निर्मूलत्वान्न सम्भवेत् ॥ १९१ ॥
सर्वं विलक्षणं ज्ञानं न स्यादेव विलक्षणात्।
बाह्यार्थानुग्रहाभावात् पारार्थ्येनावशीकृता ॥ १९२ ॥

यदि गोविषयक ज्ञान से उसके सदृश गोविषयक वासना ही उत्पन्न होती है, एवं उस गोविषयक वासना से ही समानविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तो फिर जहाँ गोविषयक ज्ञान के बाद हस्तिविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उस स्थल में गोविषयक ज्ञान से गोविषयक वासना उत्पन्न नहीं होगी। फिर उसके बाद कभी गोविषयक ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि गोविषयक ज्ञान की हेतुभूत गोविषयक वासना की धारा हस्तिविषयक ज्ञान से विनष्ट हो चुकी रहेगी। इस प्रकार एक-विषयक ज्ञान के बाद कभी दूसरे विषयक ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी ॥१९०-१९२॥

निरन्वयविनाशिन्यः कुर्युः कार्यं कथं क्रमात्।
विनाशे कारणस्येष्टः कार्यारम्भश्च नान्यथा ॥ १९३ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कहते हैं कि) यह सत्य है कि वासना अपने सजातीय ज्ञान को ही उत्पन्न करती है। किन्तु यह नियम नहीं है कि अपनी उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही उसको उत्पन्न करे, क्योंकि मध्य में कुछ विजातीय ज्ञानों की उत्पत्ति के बाद भी सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति में कोइ बाधा नहीं है। अतः गो आकार का ज्ञान अपने अव्यवहित उत्तर क्षण में हस्तिविषयक ज्ञान को उत्पन्न करने के बाद भी स्वजनित वासना के द्वारा गोविषयक ज्ञान को उत्पन्न कर सकता है। उसी प्रकार नीलपीतादिविषयक जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी स्वसदृश ज्ञान एवं स्वविसदृश ज्ञान दोनों के उत्पादन में समर्थ हैं। फलतः सभी आकारों के ज्ञान सभी आकारों की वासनाओं से युक्त हैं। एक ही ज्ञान कभी उस विषय से भिन्न दूसरे विषयक विजातीय ज्ञान को उत्पन्न करता है, कभी समानविषयक सजातीय ज्ञान को। जैसे कि आप (मीमांसक) के मत से पूर्वानुभूत सहस्रों विषयक वासनायें (संस्कार) पुरुष (आत्मा) में रहने पर भी स्वप्नावस्था में अथवा जाग्रदवस्था में आत्मा में किसी विशेषविषयक ज्ञान को ही उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार हम (बौद्ध) लोगों के मत में भी समझना चाहिये।

(किन्तु बौद्धों का यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि) आप (बौद्ध) लोगों के मत से वासनाओं का अथवा स्व से भिन्न (पर) आत्माओं के प्रयोजन का साहाय्य प्राप्त नहीं है। अतः हम (मीमांसक) लोगों के समान आप स्मृति की उपपत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि हम मीमांसकों के मत से बाह्य अर्थ सत्य हैं, अतः नित्य आत्मा में सभी अनुभवों से उत्पन्न वासनायें स्थायिनी हैं, क्षणिक नहीं। अतः बाह्य अर्थों के 'अनुग्रह' अर्थात् सदृश वस्तुओं का दर्शन, अदृष्ट, कालविशेष प्रभृति उद्बोधकों को प्राप्त कर वासनायें अनियमित ज्ञान स्वरूप स्मृतियों का उत्पादन कर सकती हैं। किन्तु आप (बौद्धों) के मत से ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि आपलोग बाह्य अर्थों की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करते जिनके साहाय्य से निरन्वयविनाशिनी (जड़मूल से विनष्ट हो जाने वाली) क्षणिक वासनायें क्रमशः कार्यों को उत्पन्न कर सकतीं।

दूसरी बात यह भी है कि आप (बौद्धगण) तो कारण के अनन्तर क्षण में विनाश से ही कार्यों को उत्पत्ति मानते हैं, किसी दूसरे प्रकार से कार्यों की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते ॥ १९३ ॥

तत्रैव ज्ञाननाशेन विनष्टाः सर्ववासनाः।
तेन सर्वाभ्य एताभ्यः सर्वाकारं यदुत्थितम् ॥ १९४ ॥
ज्ञानमेकक्षणेनैव विनाशं गन्तुमर्हति।
यच्चाश्रयविनाशेऽपि शक्त्यनाशोऽभ्युपेयते ॥ १९५ ॥

वासनाओं के आधार ज्ञान हैं, अतः एक भी ज्ञान के नाश से सभी वासनाओं का विनाश हो जायगा। सुतराम् सर्वविषयक एक वासना से सभी विषयों का एक ही ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। क्रमशः ज्ञानों की उत्पत्ति बौद्धमत में संभव नहीं है।

एकक्षणमात्रवृत्ति इस सर्वविषयक ज्ञान का भी विनाश अगले उत्तरक्षण में ही हो जाना चाहिये ॥ १९४–१९५ ॥

क्षणिकत्वं च हीयेत न चारम्भोऽन्यथा भवेत् ।

यदि ज्ञान स्वरूप आश्रय के विनष्ट हो जाने पर भी 'शक्ति' अर्थात् वासना का विनाश न स्वीकार करें तो सभी पदार्थों के क्षणिकत्व वाला आपका सिद्धान्त व्याहत हो जायगा एवं क्षणिकत्व के टूट जाने पर (आपके मत से) कार्यों की उत्पत्ति ही न हो सकेगी ॥ १९६ क–ख ॥

वासनानां प्रवाहोऽपि यदि ज्ञानप्रवाहवत् ॥ १९६ ॥

वासनातस्ततो ज्ञानं न स्यात्तस्माच्च वासना ।

कुर्यातां तुल्यमेवैते नान्योन्यं तु कदाचन ॥ १९७ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान एवं तज्जनित वासनायें दोनों ही क्षणिक हैं, तथापि दोनों के प्रवाह हैं। अतः क्षणिक ज्ञानों के प्रवाह से एवं क्षणिक वासनाओं के प्रवाह से क्रमशः कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है।

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि बौद्धों के मत से 'कारण से उसके सजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है' इस नियम के अनुसार वासनाओं से वासनाओं की ही उत्पत्ति हो सकती है एवं ज्ञानों से ज्ञानों की ही उत्पत्ति हो सकती है। ज्ञान से वासना और वासना से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी। जैसे पूर्वक्षणवृत्ति घट से परक्षणवर्ति घट की ही उत्पत्ति होती है पट की नहीं ॥ १९६–१९७ ॥

नान्यो विलक्षणो हेतुर्येनान्यादृक् फलं भवेत् ।

तस्मात् संवृतिसत्यैषा कल्पिता नास्ति तत्त्वतः ॥ १९८ ॥

कोई भी ऐसा हेतु नहीं है जिसके बल से घट से तो सजातीय घट की ही उत्पत्ति हो किन्तु ज्ञान से विजातीय वासना की एवं वासना से उसके विजातीय ज्ञान की उत्पत्ति हो। अतः 'संवृतिसत्य' रूप से कल्पित वासना नाम को कोई भी वस्तु वास्तव में है ही नहीं ॥ १९८ ॥

न चेदृशेन भावेन कार्यमुत्पद्यते क्वचित् ।

यस्य त्ववस्थितो ज्ञाता ज्ञानाभ्यासेन युज्यते ॥ १९९ ॥

स तस्य वासनाधारो वासनापि स एव वा ।

(यह पहले कहा जा चुका है कि) इस प्रकार किसी कल्पित वस्तु से किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिन (मीमांसकों) के मत से ज्ञाता पुरुष की 'अवस्थिति' (अस्तित्व) अनेक समयों तक (अथवा बराबर) है, उनके मत से ज्ञानों के अभ्यास से वासनाओं की उपपत्ति हो सकती है। अथवा वासना को आधारभूत ज्ञाता पुरुष से अभिन्न मान लेने से भी वासना की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होगी ॥ १९९ ॥

कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्युपसिच्यते ।
तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येत्यवासना ॥ २०० ॥

बौद्धों ने पहले जो दृष्टान्त रूप से यह कहा था कि लाह के रस से सिक्त बीज-पूर के बीज के द्वारा उत्पन्न वृक्ष से लाल पुष्प उत्पन्न होता है, इसकी उपपत्ति वासना को माने बिना भी हो सकती है, क्योंकि लाक्षा के रूप का ही संक्रमण बीजपूर के बीज में होता है, फिर उस रक्तबीज के द्वारा उसके फूल की रक्तता की उपपत्ति हो सकती है । अतः इस दृष्टान्त से भी वासना की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ २०० ॥

युक्त्यानुपेतामसतीं प्रकल्प्य यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् ।
आस्थानिवृत्त्यर्थमवादि बौद्धैर्ग्राह्यं गतास्तत्र कथञ्चिदन्ये ॥ २०१ ॥

युक्तियों से सर्वथा रहित इस 'असती' वासना की कल्पना के द्वारा बाह्य-वस्तुओं का खण्डन करने में बुद्ध का यह अभिप्राय था कि बाह्यवस्तुओं में लोगों की अनादर बुद्धि हो । किन्तु उनके कुछ अनुयायियों ने लोगों को ज्ञानों के इस बाह्या-नालम्बनत्व (बाह्यार्थभङ्ग) के सिद्धान्त को यथार्थ रूप से ही समझाने का प्रयत्न किया ॥ २०१ ॥

इति निरालम्बनवादः ॥

अथ शून्यवादः

एवमुक्तेऽनुमानस्य ज्ञानमाश्रित्य दूषणे ।
ज्ञानप्रवृत्त्यशक्त्या तु परः प्रत्यवतिष्ठते ॥ १ ॥

योगाचारों के कथित निरालम्बनत्व के अनुमान में 'ज्ञान' अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के सहारे उसके 'विरोध' (प्रत्यक्षविरोध) के द्वारा जितने भी दोष दिये गये हैं, वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि स्तम्भादि बाह्य वस्तुओं में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही संभव नहीं है । इस युक्ति से बौद्धों के प्रतिवाद का उपक्रम 'शून्यस्तु कथम्' इत्यादि सन्दर्भ (शाबरभाष्य पृ० ३१ पं० १) से भाष्यकार ने किया है ॥ १ ॥

यत् तावन्मन्यमानेन प्रत्यक्षं भवतोच्यते ।
दूषणं तद्विरोधादि तदिदानीं परीक्ष्यताम् ॥ २ ॥

आप (मीमांसकों) ने बाह्यविषयक प्रत्यक्ष को स्वीकार कर प्रत्यक्षविरोध के द्वारा निरालम्बनत्व के सिद्धान्तों पर जितने भी दोष दिये हैं, उनकी ही पहले परीक्षा की जाय (कि प्रत्यक्षप्रमाण की प्रवृत्ति बाह्यविषयों में संभव है ? अथवा नहीं ?) ॥२॥

प्रवर्तितुं हि किं शक्तं स्तम्भाद्यर्थे बहिः स्थिते ।
अथ वात्मांश एवैतद् ग्राह्ये क्षीणं न वस्तुनि ॥ ३ ॥

क्या स्तम्भादि बाह्यविषयों में प्रवृत्त होने की शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण में है? अथवा स्तम्भादि विषय के जितने भी ज्ञान है, वे सभी 'आत्मांश' को अर्थात् 'विज्ञानांश' को ही ग्रहण करते हैं, बाह्य वस्तुओं को ग्रहण ही नहीं करते ? ॥ ३ ॥

तद्यद्येतेन बाह्योऽर्थो गृह्यते दूषणं ततः।
त्वदुक्तं सर्वमात्मांशे ग्राह्ये तन्नोपपद्यते ॥ ४ ॥

इन दोनों ही पक्षों में से 'प्रत्यक्ष प्रमाण स्तम्भादि बाह्यवस्तुओं का ही ग्रहण करता है' तुम्हारा यह पक्ष यदि सत्य हो तभी निरालम्बनत्व के विरोध में कथित युक्तियाँ ठीक हो सकती हैं। यदि 'स्तम्भादिविषयिणी सभी प्रतीतियाँ 'आत्मांश' अर्थात् 'विज्ञानाकार' का ही ग्रहण करतीं हैं' यह पक्ष स्थापित किया जा सके तो 'निरालम्बनवाद' के ऊपर दिये गये वे प्रत्यक्षादिविरोधादि दोष उत्पन्न नहीं हो सकने ॥ ४ ॥

तत्र तावदिदं सिद्धं सर्वप्राणभृतामपि।
ग्राह्यत्वं नीलपीतादिदीर्घाद्याकारवस्तुनः ॥ ५ ॥

इस प्रसङ्ग में इतना तो सभी प्राणियों के अनुभव से सिद्ध है कि नील, पीत, ह्रस्वादि आकार ज्ञानों के द्वारा गृहीत होते हैं ॥ ५ ॥

न चाप्याकारभेदेन ज्ञानज्ञेयावधारणा।
न चान्यतरधर्मत्वं निस्पष्टं तत्र गृह्यते ॥ ६ ॥

नील, पीतादि आकारों की विभिन्नता के रहते हुए भी यह निर्णय नहीं होता कि 'वे आकार नीलादि वस्तुओं के ही हैं ?' अथवा 'ज्ञानों के ही हैं ?' उक्त निर्णय से बाह्याकारत्व एवं ज्ञानाकारत्व इन दोनों में से एक का स्पष्ट निर्णय नहीं होता ॥६॥

गृह्यमाणस्य चास्तित्वं नाग्राह्यस्याप्रमाणकम्।
तस्मादाकारवद् वस्तु ग्राह्यत्वादिष्यते ध्रुवम् ॥ ७ ॥

यह निश्चित है कि जिसका ग्रहण होता है, उसकी सत्ता अवश्य है, एवं जिसका ग्रहण ही नहीं होता उसकी सत्ता नहीं है। किसी आकार की ही वस्तुओं का ग्रहण होता है, अतः यह निश्चित है कि 'आकारवान्' कोई पदार्थ अवश्य है ॥ ७ ॥

अतः परीक्षमाणानां ज्ञानमाकारवद् यदि।
तन्मात्रे च प्रमा क्षीणा ततो नास्त्यर्थकल्पना ॥ ८ ॥

यदि परीक्षा से यह सिद्ध हो जाय कि भासित होने वाला 'आकार' ज्ञान का ही होता है तो फिर यथार्थज्ञान केवल उसी में चरितार्थ होकर बाह्य अर्थों का प्रतिषेध कर देगा ॥ ८ ॥

यदि वाकारवत्ता स्याद् बाह्यस्यैवेह वस्तुनः।
तदस्ति गृह्यमाणत्वात् तत्सिद्धैवास्ति धीरपि ॥ ९ ॥

यदि यह निश्चित हो जाय कि ज्ञानों में भासित होने वाले आकार नीलादि वस्तुओं के ही हैं, तो फिर बाह्य वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। किन्तु साथ-साथ 'ज्ञान' की सत्ता को भी स्वीकार करना होगा ।। ९ ।।

किं तावदत्र युक्तं स्याज्ज्ञानमाकारवत् कुतः ।
एकमाकारवद् वस्तु ग्राह्यमित्यध्यगीष्महि ।। १० ।।

(१) ये आकार नीलादि बाह्य वस्तुओं के ही हैं? अथवा (२) ये आकार नीलादिज्ञानों के ही विशेष आकार हैं? इन दोनों पक्षों में से भासित होने वाले 'नीलादि ज्ञानों के ही विशेष आकार हैं' यह पक्ष ही ठीक है, क्योंकि यह निश्चित है कि आकार से युक्त ही कोई वस्तु गृहीत होती है ।। १० ।।

तद् यद्याकारवानर्थो बाह्यः कल्प्येत तस्य च ।
ग्राह्यत्वमन्यथा न स्यादिति ग्राहककल्पना ।। ११ ।।

गृहीत होने वाला यह 'आकारवान्' पदार्थ यदि बाह्यनीलादि में से किसी स्वरूप का है, तो फिर उससे भिन्न 'ग्राहक' ज्ञान की कल्पना भी आवश्यक होगी, क्योंकि उसके बिना उस बाह्य वस्तु की ग्राह्यता अनुपपन्न हो जायगी ।। ११ ।।

तेनाकारवतः कल्प्याद् ग्राह्याद्याकारवर्जितम् ।
वस्त्वन्तरं प्रकल्प्यं स्याद् ग्राहकं निष्प्रमाणकम् ।।१२।।

इससे यह अवश्य स्वीकर्त्तव्य हो जाता है कि गृहीत होने वाले नीलादि आकारों से अतिरिक्त 'ज्ञान' स्वरूप एक ऐसे ग्राहक की कल्पना करनी होगी, जिसमें कोई प्रमाण नहीं है (अर्थात् एक ही आकार का अवभास होता है, वह यदि बाह्य ग्राह्याकार स्वरूप है तो ग्राहकाकार रूप ज्ञान की कल्पना अप्रामाणिक है) ।। १२ ।।

तस्याकल्पनमिच्छँश्चेदर्थे ग्राहकतां वदेः ।
संज्ञामात्रे विसंवादः सिद्धा त्वेकार्थकल्पना ।। १३ ।।
ग्राह्यग्राहकयोरैक्यं सर्वथा प्रतिपाद्यते ।
बाह्याभ्यन्तररूपश्च परिकल्प्यो मृषेष्यते ।। १४ ।।

यदि नीलादि बाह्य आकारों के ग्राहक स्वरूप ज्ञान की कल्पना आप (बाह्यार्थवादी मीमांसकादि) न करें तो फिर नीलादि अर्थों में ही ग्राहकता माननी होगी। फलतः कल्पनीय वस्तु के नाम के प्रसङ्ग में ही विवाद रह जायगा कि उस ग्राहक को 'ज्ञान' कहें? अथवा अर्थ 'कहें'? परमार्थतः 'दोनों एक ही पदार्थ हैं' यह सिद्ध हो ही जाता है, क्योंकि हम (बौद्धगण) तो यही प्रतिपादन करना चाहते हैं कि ज्ञाप्य और ज्ञापक दोनों वास्तव में एक ही हैं। आप (मीमांसक) लोग तो बाह्य और आभ्यन्तर भेद से व्यर्थ ही दो अर्थों की कल्पना करते हैं ।। १३–१४ ।।

मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः ।
तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः ।। १५ ।।

चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद् वासनाभिरुपप्लवात् ।
स्वानुरूप्येण नीलादि ग्राह्यग्राहकदूषितम् ॥ १६ ॥
प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते ।
अन्योन्यहेतुता चैव ज्ञानशक्त्योरनादिका ॥ १७ ॥

यद्यपि हम लोगों (बौद्धों) के मत से 'ज्ञान' स्वरूप एक ही वस्तु संसार में है, किन्तु वह विचित्र वासनाओं से उपद्रुत होकर कभी नीलादि बाह्य आकारों से एवं कभी 'अहम्' इत्यादि आन्तरिक आकारों से उत्पन्न होता है जो ग्राह्याकार और ग्राहकाकार भेद से भिन्न रूपों में व्यवहृत सा दीखता है। यह संसार अनादि है, अतः आद्य विज्ञानाकार की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। इसलिए नीलादिआकारों के विज्ञानों की उत्पत्ति में किसी बाह्यवस्तु की सत्ता अपेक्षित नहीं है। ज्ञान एवं शक्ति (वासना) इन दोनों में परस्पर एक दूसरे की कारणता अनादि काल से चली आ रही है ॥ १५–१७ ॥

अनेककल्पनायाश्च ज्यायसी ह्येककल्पना ।
शक्तिमात्रस्य भेदश्च वस्तुभेदाद् विशिष्यते ॥ १८ ॥

एवं नीलादि 'अनेक' ग्राह्यों की कल्पना एवं ज्ञान स्वरूप 'एक' ग्राहक की कल्पना इन दोनों ही कल्पनाओं के बीच अनेक नीलादि बाह्य पदार्थों की कल्पना की अपेक्षा एक ज्ञान मात्र की कल्पना में लाघव भी है, क्योंकि ज्ञानमात्र की कल्पना पक्ष में उसमें नीलादि विविध अर्थों एवं विविध शक्ति स्वरूप धर्मों की ही कल्पना करनी पड़ती है। ग्राहक और ग्राह्य रूप दो स्वतन्त्र अर्थों की कल्पना की अपेक्षा एक ही पदार्थ में विविध शक्तियों की कल्पना में लाघव है ॥ १८ ॥

तस्मादुभयसिद्धत्वाज् ज्ञानस्याकारकल्पना ।
ज्यायसी भवतस्त्वर्थं कल्पयित्वा भवेदियम् ॥ १९ ॥

अतः ज्ञान के आकारों की ही कल्पना श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान को आप और हम दोनों ही स्वीकार करते हैं। आपके मत में अर्थ की कल्पना के बाद ज्ञान की कल्पना भी करनी पड़ती है ॥ १९ ॥

(१) तदसिद्धावशक्तत्वात् (२) तेनैवं विप्रकृष्टता ।
(३) प्रत्यासन्नं च (४) सम्बद्धं ग्राह्यं मम भविष्यति ॥ २० ॥

(१) ज्ञान के यदि नीलादि आकार न मानें जायें, तो केवल संविद्रूपज्ञान नीलादि विविध अर्थों को उपस्थित नहीं कर सकता।

(२) एवं नील को यदि अर्थाकार ही मानें, ज्ञानाकार न मानें तो ज्ञान से वह 'विप्रकृष्ट' अर्थात् भिन्न हो जायगा जिससे उसका प्रकाशन ही रुक जायगा।

(३) जब नीलादि को ज्ञान का ही आकार मानते हैं तो वह ज्ञान के 'प्रत्यासन्न' हो जाता है अर्थात् अभेद स्वरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से युक्त हो जाता है। अतः नीलादि का ग्रहण संभव होता है।

(४) क्योंकि 'सम्बद्ध' अर्थात् ज्ञान के साथ अभेद सम्बन्ध से युक्त वस्तु का ग्रहण होता है। इस प्रकार मेरे मत से चूँकि ज्ञान का अभेद ही अर्थों की ग्राह्यता है, अतः नीलादि को ज्ञानाकार मानने से ही वे प्रकाशित हो सकते हैं॥ २०॥

इतश्चाकारवज्ज्ञानम् यस्मात् तद्वत् प्रकाशकम्।
स्वयम्प्रकाशहीनस्य बाह्यस्योपासनं मतम्॥ २१॥

(ज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षण में ही गृहीत होता है, अतः) नीलादि अर्थ वास्तव में ज्ञानों के ही एक विशेष प्रकार हैं। ज्ञान अपने उत्पत्तिक्षण में ही इस लिए प्रकाशित होता है चूँकि वह (ज्ञान) स्व से युक्त अर्थ का ही प्रकाशक है, क्योंकि प्रकाश स्वभाव का ज्ञान प्रकाश स्वभाव से रहित वस्तुओं के प्रकाश का ही उपाय है। मीमांसकों के मत से भी ज्ञान ही अर्थों का प्रकाशक है॥ २१॥

न चागृहीते ज्ञानाख्ये प्रकाश्योऽर्थोऽवधार्यते।
तदधीनप्रकाशत्वाद् दीपाभासे यथा घटः॥ २२॥

प्रकाशक जब तक स्वयं गृहीत नहीं हो जाता, तब तक वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे कि दीप स्वयं प्रकाशित होने पर ही घट को प्रकाशित करता है॥ २२॥

उत्पन्नेष्वपि चार्थेषु प्रकाशाभावतः क्वचित्।
प्रतिबन्धकयोगाद् वा संवित्तिर्नोपजायते॥ २३॥

'ज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षण में ही अर्थ को भी प्रकाशित कर देता है' इसमें यह युक्ति भी है कि नीलादि अर्थों के उत्पन्न हो जाने पर भी कभी 'प्रकाश' के न रहने पर एवं कभी किसी अन्य प्रतिबन्धक के रहने से संवित्ति की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। (जैसे कि अन्धकार में या कुड्यादिव्यवधान के रहने पर घटादि का प्रत्यक्ष नहीं होता है)॥ २३॥

ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन।
न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्॥ २४॥

ज्ञान की उत्पत्ति के समय उसके स्वयं गृहीत होने में कोई बाधा नहीं है। एवं न वह स्वयं अप्रकाश रूप है, अतः उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान के गृहीत होने में न किसी कारण का अभाव है, न कोई प्रतिबन्धक ही है। अतः उत्पत्तिक्षण में ही ज्ञान स्वयं भी गृहीत हो जाता है॥ २४॥

प्राक् चार्थग्रहणादिष्टा तस्योत्पत्तिस्तदैव च।
संवेदनं भवेदस्य न चेत् कालान्तरेऽपि न॥ २५॥

(यदि उत्पत्तिक्षण में ज्ञानों का ग्रहण नहीं होगा तो फिर कभी भी ज्ञानों का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि) नीलादि अर्थों के ग्रहण से पहले ही ज्ञानों की उत्पत्ति होनी चाहिये। उसी क्षण में यदि ज्ञान का 'संवेदन' अर्थात् ग्रहण नहीं होगा तो फिर आगे कभी भी ग्रहण नहीं हो सकेगा॥ २५॥

किं हि तस्य भवेदूर्ध्वं प्राक् च नासीन्न येन तत् ।
पूर्वं गृहीतं पश्चाच्च गृहीतमिति भाष्यते ॥ २६ ॥

यदि उत्पत्तिक्षण में ही ज्ञान का ग्रहण नहीं होगा तो फिर या तो उत्पत्ति के बाद ही ग्रहण होगा, या उत्पत्ति के पहले ही ग्रहण हो जाता। पूर्व में इसलिये ग्रहण संभव नहीं है कि उस समय उसकी अपनी ही सत्ता नहीं है। यदि उत्पत्ति के बाद उसका ग्रहण होता तो 'ज्ञानं गृहीतम्' यही व्यवहार होता, 'ज्ञानं गृह्यते' इस आकार का व्यवहार नहीं होता ॥ २६ ॥

ज्ञानान्तरस्य चोत्पत्तिं प्रकाशो न प्रतीक्षते ।
तस्य तस्यापि चान्येन संवित्तावस्थितिर्भवेत् ॥ २७ ॥

कोई भी प्रकाश अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाश की 'प्रतीक्षा' नहीं रखता। अतः यह कहना भी संभव नहीं है कि ज्ञान चूँकि किसी दूसरे ज्ञान से ही प्रकाशित होगा, अतः उत्पत्तिक्षण में उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश के लिये भी किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखें तो 'अस्थिति' अर्थात् 'अनवस्था' हो जायगी ॥ २७ ॥

ज्ञानपृष्ठेन योऽप्यूर्ध्वमर्थाभावेऽपि दृश्यते ।
परामर्शोऽर्थरूपस्य स कथं वोपपद्यते ॥ २८ ॥

((१) ज्ञान से युक्त अर्थ का ही प्रकाशन होता है। एवं (२) अर्थ ज्ञान का ही एक विशेष आकार है। इन दोनों ही स्थापनाओं में यह हेतु है कि) कोइ पुरुष जब अपने ज्ञात अर्थ को किसी दूसरे पुरुष को समझाना चाहता है तो 'ज्ञातोऽयं मया घटः' इस प्रकार ज्ञान से युक्त अर्थ का स्मरण करके ही अपने पूर्वानुभव के अनुसार समझाता है। अर्थ को यदि ज्ञान स्वरूप न मानें तो इसकी उपपत्ति नहीं होगी ॥२८॥

तद्रूपमार्थमालिख्य यदि धीर्नोपजायते ।
भूतकाले च यद्यर्थस्तत्पूर्वं नोपलक्षितः ॥ २९ ॥

इसी प्रकार अतीत अर्थ का जो 'ज्ञातोऽयं मया नीलादिरर्थः' इस आकार का परामर्श होता है एवं भावी अर्थ का जो 'ज्ञास्यते मयाऽसौ नीलाद्यर्थः' इस आकार की प्रतीति होती है, इनकी उपपत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि नीलादि अर्थों को ज्ञानों का ही एक विशेष आकार न माना जाय।

इसलिये मानना होगा कि भूतकाल में अर्थ की सत्ता के न रहने पर भी अर्थ का व्यवहार होता है एवं भविष्यत्काल में भी अर्थ के न रहने पर अर्थ का परामर्श होता है ॥ २९ ॥

वक्तारश्चापि दृश्यन्ते वर्त्तमानार्थबुद्धिषु ।
नीलोऽर्थोऽयं यतो मेऽत्र तद्रूपा जायते मतिः ॥ ३० ॥

इसी प्रकार वर्त्तमानकालिक नीलादि अर्थविषयक बोध के प्रसङ्ग में लोग यह कहते देखे जाते हैं 'कि 'यह नील है, क्योंकि नीलविषयक बुद्धि ही मुझे हो रही है' ॥ ३० ॥

तस्मात् पूर्वंगृहीतासु बुद्धिष्वर्थोपलम्भनम् ।
न चोपलब्धिरस्तीह निराकारासु बुद्धिषु ॥ ३१ ॥

'तस्मात्' पहले से ज्ञात बुद्धि से ही अर्थ की उपलब्धि होती है। अतः नीलादि अर्थ ज्ञानों के ही आकार हैं। नीलादि अर्थों का अपना कोई स्वतन्त्र आकार नहीं है, क्योंकि (१) विना नीलादि आकारों की बुद्धि की उपलब्धि नहीं होती है। अतः ज्ञान अवश्य ही साकार है ॥ ३१ ॥

विवेकबुद्धयभावाच्च साकारस्य च दर्शनात् ।
आकारवत्तया बोधो ज्ञानस्यैव प्रसज्यते ॥ ३२ ॥

(२) यह निर्विवाद है कि 'नीलमिदम्' इत्यादि आकारों से नीलादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। आकार से रहित किसी वस्तु का प्रकाशन नहीं होता। जिन नीलादि आकारों से नीलादि वस्तुओं का प्रकाशन होता है, उन वस्तुओं का एक एक प्रकार का आकार एवं तद्भिन्न ज्ञानों का एक एक प्रकार का आकार, इन दो प्रकारों के आकारों का ग्रहण नहीं होता है।

(३) यदि कोई पदार्थ किसी भी आकार से गृहीत नहीं होता तो यह कहा जा सकता था कि आकार से युक्त (साकार) कोई वस्तु ही नहीं है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि आकार से युक्त वस्तु का ही ग्रहण होता है।

अतः यही सत्य है कि नीलादि वस्तु ज्ञानों के ही एक विशेष प्रकार के 'आकार' हैं। अर्थात् ज्ञान ही साकार है, नीलादि पदार्थ साकार नहीं हैं ॥ ३२ ॥

न ह्येवं कल्पना शक्या निराकारादितो मतिः ।
गृह्यतेऽर्थस्ततः पश्चात् साकारः सम्प्रतीयते ॥ ३३ ॥

'नचोपलब्धिरस्तीह' (शून्यवाद श्लो० ३१) इस श्लोक के द्वारा 'निराकारासु बुद्धिषु अनुपलब्धेः' यह प्रथम हेतुवाक्य अभिप्रेत है। इसका यह अभिप्राय है कि यह कहना संभव नहीं है कि आदि में बुद्धि विना आकार के ही रहती है, जब उससे अर्थ का ग्रहण होता है तो ज्ञान 'अर्थाकार' का मालुम देता है ॥ ३३ ॥

आकारवत्त्वभेदो हि ज्ञात्वा शक्येत भाषितुम् ।
प्राग्बुद्धिगृहणादर्थे संवित्तिर्नेति साधितम् ॥ ३४ ॥

यदि ज्ञान का आकार एवं विषय का आकार इन दोनों आकारों की प्रतीति भिन्न भिन्न रूपों से होती तो यह कह सकते थे कि ज्ञानों के आकार भिन्न हैं, एवं विषयों के आकार भिन्न हैं। अतः ज्ञान और अर्थ इन दोनों में से किसी एक का ही आकार संभव है।

यदि पहले स्वयं अज्ञात होकर ही बुद्धि अर्थ को ग्रहण करती तो यह कहना संभव होता कि बुद्धि निराकार है एवं नीलादि अर्थ ही आकारवान् है। किन्तु ऐसा कहना संभव नहीं है, क्योंकि पहले ही यह साधन कर चुके हैं कि बुद्धि के ग्रहण से पूर्व अर्थ का ग्रहण नहीं होता (देखिये शून्यवाद श्लो० २२) ॥ ३४ ॥

न चार्थाकार एवायं ज्ञानारूढः प्रतीयते।
न हि सोऽन्तःप्रवेशाय पर्याप्तो भार्थहानये ॥ ३५ ॥

किसी का कहना है कि यह सत्य है कि नीलादि आकारों से बुद्धियों का ग्रहण होता है। किन्तु ये आकार बुद्धि के नहीं हैं किन्तु नीलादि अर्थों के ही हैं। ये अर्थाकार ही ज्ञान के अन्दर बैठ जाते हैं। अतः नीलादि आकारों से युक्त बुद्धियों के ग्रहण से यह नहीं कहा जा सकता कि "बुद्धि ही साकार है, अर्थ का कोई आकार नहीं है"। किन्तु यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानारूढ़ अर्थाकार में बुद्धि के अन्तर बैठने की शक्ति एवं अपनी सत्ता को खो देने की शक्ति नहीं है ॥ ३५ ॥

इत्थम्भावे प्रमाणं च तस्य वक्तुं न शक्यते।
तदीयप्रतिबिम्बत्वमेतस्मादेव नेष्यते ॥ ३६ ॥

निश्चन्द्रे बिम्बरूपं हि दृष्टं येन दिवा जलम्।
स रात्रौ खे च तं दृष्ट्वा जानाति प्रतिबिम्बताम् ॥ ३७ ॥

क्योंकि 'इत्थंभाव' में अर्थात् ज्ञान से जिस आकार का ग्रहण होता है वास्तव में वह आकार अर्थ का ही है—यह मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

कदाचित् यह कहें कि अर्थ का आकार ज्ञान में प्रविष्ट भले ही न हो, किन्तु अर्थ का जो आकार है उसी का प्रतिबिम्ब दर्पण के समान स्वच्छ ज्ञान में प्रकाशित (प्रतिबिम्बित) होता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है।

जो पुरुष दिन में आकाशस्थ चन्द्र को नहीं देखता, किन्तु चन्द्रशून्य जल को देखता है वही पुरुष जब रात में आकाश और जल दोनों में ही चन्द्रमा को देखता है तो समझता है कि जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है ॥ ३६–३७ ॥

विज्ञाने न कदाचित् तु प्राङ् निराकारदर्शनम्।
बाह्ये वाकारवत्ताधीर्येनैवं कल्पना भवेत् ॥ ३८ ॥

विज्ञान तो पहले कभी विना आकार के गृहीत नहीं होता, एवं ज्ञान ग्रहण के बिना बाह्याकार के किसी वस्तु का ग्रहण नहीं होता है, जिससे यह कल्पना की जा सके कि नीलादि बाह्य वस्तुओं के आकार ही ज्ञानों में प्रतिबिम्बित होते हैं ॥३८॥

शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता।
ज्ञाने च गृह्यमाणस्य कथं स्यादर्थधर्मता ॥ ३९ ॥

(नीलादि आकारों का प्रतिबिम्ब संभव होने पर भी) शब्द, गन्ध एवं रस इन आकारों का प्रतिबिम्ब तो संभव ही नहीं है। एवं ज्ञानों के द्वारा गृहीत नीलादि आकार अर्थों के धर्म कैसे हो सकते हैं ? वे तो ज्ञानों के ही धर्म हो सकते हैं ॥ ३९ ॥

बाह्याभ्यन्तरदेशत्वान्न चार्थज्ञानयोर्मिथः।
सम्पर्कोऽस्ति यतो मोहादविवेकमतिर्भवेत् ॥ ४० ॥

कोई कहते हैं कि ज्ञान और अर्थ दोनों में जो 'विवेक' है, उसीसे मोहवश (अज्ञानवश) उस भेदयुक्त उन दोनों ही वस्तुओं को अविविक्त (अभिन्न) समझ लिया जाता है। इसी अविवेकबुद्धि के कारण नीलादि बाह्यवस्तुओं के धर्म 'आकार' का बोध ज्ञान में होता है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि नीलादि हैं बाह्य पदार्थ, ज्ञान है आन्तर पदार्थ। परस्पर विरुद्ध इन दोनों वस्तुओं में कोई ऐसा सम्बन्ध (सम्पर्क) ही संभव नहीं है जिससे दोनों में अविवेकबुद्धि हो सके ॥४०॥

असम्मूढस्य चादृष्टे न सम्मोहप्रकल्पना।
कल्प्यमानेऽथ वाप्येवं तद् द्वयोरवतिष्ठते ॥ ४१ ॥

एक तो सभी ज्ञानवान् पुरुषों को 'संमूढ़' (भ्रान्त) मान लिया जाय यही साहस का कार्य है। दूसरी बात यह भी है कि जब कोई संमूढ़ एवं कोई असंमूढ़ हो तो एक पुरुष में संमोह की कल्पना की जा सकती है। जब कोई 'असंमूढ़' है ही नहीं तो फिर 'संमोह' की कल्पना ही निराधार है।

यदि संमोह की कल्पना कर भी लें तो वह 'ज्ञान' एवं नीलादि कोई एक 'अर्थ'—इन दोनों के अविवेकमूलक संमोह तक ही सीमित नहीं रहेगा, क्योंकि यह कल्पना भी की जा सकती है कि हजारों अर्थों के ये आकार अविवेक के कारण संमूढ़ों को एक ही दीखते हैं ॥ ४१ ॥

संसर्गधर्म आकारस्तस्मादेव न युज्यते।
देशभेदादसंसर्गो मूर्तामूर्ततया तथा ॥ ४२ ॥

किसी का कहना है कि 'आकार' न ज्ञान के धर्म हैं, न नीलादि अर्थों के ही धर्म हैं किन्तु ज्ञान और अर्थ दोनों के संसर्ग का धर्म ही 'आकार' है। किन्तु यह पक्ष भी ('तस्मादेव') अर्थ और ज्ञान दोनों के संसर्ग की अनुपपत्ति के कारण ही अयुक्त है, क्योंकि (१) एक देश में रहने वाली दो वस्तुओं में ही परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। ज्ञान और अर्थ दोनों ही चूँकि अन्तर देश और बहिर्देश इन दोनों विभिन्न देश में रहते हैं, अतः दोनों में सम्बन्ध संभव नहीं है। (२) एवं यह नियम है कि दो मूर्त्त पदार्थ ही परस्पर संनिकृष्ट होकर एक दूसरे का आकार धारण करते हैं। ज्ञान है अमूर्त्त पदार्थ, अतः नीलादि बाह्य पदार्थ मूर्त्त हों चाहे अमूर्त्त, दोनों ही प्रकार से ज्ञान और अर्थ दोनों में संसर्ग संभव नहीं है, क्योंकि अर्थ और ज्ञान इन दोनों में से एक ज्ञान के अमूर्त्त रहने के कारण अर्थ और ज्ञान दोनों मूर्त्त नहीं हो सकते ॥ ४२ ॥

त्रैलोक्येन प्रसङ्गाच्च संसर्गो नैककालता।
न चाप्यार्जवतः स्थानं ज्ञाने नार्थस्य विद्यते ॥ ४३ ॥

इस प्रसङ्ग में कोई यह समाधान करते हैं कि ज्ञान और विषय यद्यपि विभिन्न देशों में रहते हैं, तथापि दोनों में 'एककालवृत्तित्व' स्वरूप सम्बन्ध तो हो ही सकता है, क्योंकि दोनों की सत्ता एक समय रहती है। अतः दोनों में संसर्ग संभव न होने के कारण जो आकार को दोनों का संसर्ग मानने से अस्वीकार किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर ज्ञान के समय त्रैलोक्य के जितने भी पदार्थ हैं, उन सबों के साथ ज्ञान का यह कालिक सम्बन्ध हो सकता है जिससे एक ही ज्ञान में उस समय के सभी आकार की उपलब्धि माननी पड़ेगी।

एवं यह भी कहना संभव नहीं है कि जो बाह्य वस्तु ज्ञान के 'संमुख' विद्यमान रहती है, (जिसकी ज्ञान के सामने 'आर्जवस्थिति' रहती है) उसी के साथ ज्ञान का संसर्ग होता है, ज्ञान के साथ विषय की 'आर्जवस्थिति' ही विषय का ज्ञान के साथ संसर्ग है। इस संसर्ग का ही 'आकार' धर्म है जिसका ज्ञान से ग्रहण होता है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान चूँकि अमूर्त है, अतः उस का 'मुख' होना सम्भव नहीं है ॥ ४३ ॥

सर्वथा कल्पनायां च चक्षुषापि रसादयः।
गृह्येरन् सर्वभावानामण्वाकाराश्च तद्गताः ॥ ४४ ॥

यदि विषय के साथ ज्ञान का किसी प्रकार का सम्बन्ध मान भी लिया जाय तो वह संसर्ग विषय के साथ 'सर्वथा' अर्थात् विषय के सभी अंशों के साथ होगा, किसी एक अंश के साथ नहीं। किन्तु ऐसा मानने से चक्षु से घटके ग्रहण के साथ-साथ उसमें रहने वाले रसादि गुण एवं अतीन्द्रिय परमाणु प्रभृति का भी ग्रहण मानना होगा। अतः ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध संभव नहीं है ॥ ४४ ॥

न चापि विषयत्वेन स्याने संसर्गकल्पना।
विषयत्वं हि कीदृक् स्यात् प्रागाकारोपलम्भनात् ॥ ४५ ॥

यदि यह कहें कि ज्ञान के साथ विषय का विषयतारूप सम्बन्ध है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषय के आकार की उपलब्धि के बिना विषय में ज्ञान की विषयता नहीं आ सकती ॥ ४५ ॥

न ह्यसञ्चेतितो भावो विषयत्वेन कल्प्यते।
विषयत्वात् तदाकार आकाराद् विषयश्च सः ॥ ४६ ॥

एवं अज्ञात 'भाव' अर्थात् विषय में ज्ञान की विषयता नहीं आ सकती। इस प्रकार जब तक विषयों में विषयता रूप संसर्ग नहीं आवेगा, तब तक विषयों का आकार ही नहीं बनेगा एवं विषयों का जब तक आकार नहीं होगा, तब तक उनमें विषयता नहीं आवेगी। अतः इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है ॥४६॥

द्वयोराकारनिर्मुक्तं सत्त्वं संसृष्टता तथा।
स्वरूपतः परिच्छिद्य वक्तुमित्यादि युज्यते ॥ ४७ ॥

यदि ज्ञान और अर्थ इन दोनों की आकारों से रहित सत्ता एवं इन दोनों के संसर्ग इन दोनों का पहले से स्वरूपतः ज्ञान रहे तो यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और अर्थ इन दोनों के संसर्ग से आकार की उत्पत्ति होती है ॥ ४७ ॥

न चाप्यस्येह सद्भावः प्राग् गृहीतो न चोपरि ।
न ह्याकारविनिर्मुक्तं ग्राह्यमस्तीति भाषितम् ॥ ४८ ॥

आकारविनिर्मुक्त (रहित) ज्ञान की सत्ता का ज्ञान वर्त्तमान काल में संभव नहीं है। एवं ज्ञान की उत्पत्ति से पहले भी उक्त सत्ता का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि पहले कह चुके हैं कि आकार से रहित ज्ञान की उपलब्धि संभव नहीं है। फलतः आकार के विना ज्ञान ग्राह्य ही नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

तस्मादर्थेन संसर्गो निष्प्रमाणक एव ते ।
ज्ञानवैचित्र्यसिद्ध्यर्थं न चारत्यर्थस्य कल्पना ॥ ४९ ॥

'तस्मात्' अर्थ के साथ ज्ञान का सम्बन्ध मानना ही तुम्हारा (मीमांसकों का) अप्रामाणिक है। एवं यह कहना भी अयुक्त है कि ज्ञानों में वैचित्र्य की सिद्धि के लिये नीलादि अर्थ एवं ज्ञान के संसर्ग की कल्पना की जाती है ॥ ४९ ॥

तद्धीनं हि वैचित्र्यं क्व दृष्टं येन कल्प्यते ।
निराकारेण चोत्पत्तिर्वैचित्र्याकारयोः कथम् ॥ ५० ॥

यदि ज्ञान में अर्थ के संसर्ग से वैचित्र्य की उत्पत्ति पहले कहीं हो गयी रहती तो यह कहा जा सकता था कि वैचित्र्य के दर्शन से उक्त संसर्ग की कल्पना करेंगे।

एवं जो ज्ञान और अर्थ के संसर्ग से आकार की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें स्वीकार करना होगा कि उक्त संसर्ग से पहले ज्ञान और अर्थ दोनों ही आकारों से रहित थे। फिर निराकारों के संसर्ग से आकारों की उत्पत्ति क्यों कर होगी ? एवं उक्त संसर्ग से ज्ञानों में वैचित्र्य की उत्पत्ति तो सर्वथादुर्लभ ही है ॥ ५० ॥

निराकाराच्च विषयाद् बुद्ध्याकारोऽतिविस्मयः ।
स्मृतिस्वप्नादिबोधे च स्यादनाकारता तव ॥ ५१ ॥

साकार पदार्थों के संसर्ग से ही आकारों की उत्पत्ति देखी जाती है। आकारों से रहित सभी पदार्थ तो एक ही प्रकार के हैं। फिर उनसे 'विचित्राकारों' की (विविध आकारों की) उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि समान प्रकार की वस्तु से भी 'विचित्रा-कार' की उत्पत्ति मानें तो फिर उनकी उत्पत्ति 'समनन्तरप्रत्यय' स्वरूप 'वासना' से ही क्यों न मान ली जाय ? अतः आकारों से रहित विषयों से बुद्धि में आकार की उत्पत्ति को स्वीकार करना अत्यन्त आश्चर्य का विषय होगा।

यदि बुद्धि एवं विषय के संसर्ग के धर्म से ही आकार की उत्पत्ति मानें तो इस प्रसंग में दूसरा दोष यह होगा कि अतीत एवं अनागतविषयक अनुमिति, स्मृति, और स्वप्न प्रभृति सभी परोक्ष ज्ञान विना आकार के हो जायंगे, क्योंकि इन ज्ञानों में भासित होने वाले आकार जिन विषयों के संसर्ग के धर्म होंगे उन विषयों की सत्ता

ही उन स्थलों में नियमतः नहीं रहती। अतीत एवं अनागत विषयों के साथ किसी का संसर्ग ही संभव नहीं है ॥ ५१ ॥

न हि तत्रार्थसंसर्गः केवला वासनैव तु।
हेतुत्वेनोपपन्नेति सैव जाग्रद्धियामपि ॥ ५२ ॥

यह कहना भी संभव नहीं है कि कथित स्मृति स्वप्नादि ज्ञानों की कारणता अर्थसंसर्ग में नहीं है किन्तु 'केवला' अर्थात् अर्थसंसर्गरहिता (समनन्तरप्रत्ययरूपा) 'वासना' ही स्वप्नादि ज्ञानों के कारण हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर जाग्रत् अवस्था के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की कारणता भी केवल वासना में स्वीकार कर लेने से काम चल जायगा। फलतः आकाराधान के लिये अर्थसंसर्ग की चर्चा ही छोड़ देनी होगी। अतः यह पक्ष भी सर्वथा असङ्गत है ॥ ५२ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवं ज्ञानस्य गम्यते।
आकारो न हि बाह्यस्य ज्ञानापेतो निवर्त्यते ॥ ५३ ॥
बाह्यापेतो मया यद्वत् तस्मात् संसर्गवागियम्।
निराकारेऽपि विज्ञाने वासनास्वेव युज्यते ॥ ५४ ॥

(दूसरी युक्ति यह है कि ज्ञान के रहने से ही स्वप्नादि ज्ञानों में बाह्य नीलादि आकारों की सत्ता होती है एवं ज्ञान के न रहने से आकारों की सत्ता की प्रतीति कहीं नहीं होती है। इस) अन्वय-व्यतिरेक से भी यह सिद्ध होता है कि नीलादि आकार वस्तुतः विज्ञान के ही हैं। ज्ञानों से अतिरिक्त आकारों की कोई सत्ता नही है।

जिस प्रकार (बौद्धगण) बाह्य वस्तुओं से निरपेक्ष ज्ञान की सत्ता (स्वप्नादि-ज्ञानों के दृष्टान्त से) स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानों से निरपेक्ष केवल वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करने के लिये कोई उपयुक्त दृष्टान्त (अर्थात् निदर्शन) बाह्यार्थ-सत्तावादियों के मत में नहीं है। तस्मात् बाह्य वस्तुओं के साथ ज्ञान के संसर्ग की जो बात कही गयी है वह केवल 'वासनाओं' (समनन्तरप्रत्ययों) से ही उत्पन्न हो सकती है ॥ ५३-५४ ॥

द्वयोरप्येक आकार इत्येतच्चाप्रमाणता।
देशभेदादसंसर्गो द्वयोश्चानवधारणात् ॥ ५५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि 'ज्ञान एवं उसमें विषयीभूत अर्थ दोनों में एक ही आकार अनुभूत होता है' किन्तु यह कथन भी अप्रमाणिक है, क्योंकि (१) ज्ञान है अन्तर में रहनेवाली वस्तु एवं 'अर्थ' है उससे बहुत दूर बाहर रहने वाली वस्तु। अतः अत्यन्त विप्रकृष्ट इन दो वस्तुओं में रहने वाला कोई आकार कैसे संभव है ? (२) एवं 'ज्ञान' और 'अर्थ' ये दो पदार्थ स्वतन्त्र वास्तविक नहीं है। 'ज्ञान' ही एक वास्तविक वस्तु है। अर्थ तो वासना से कल्पित ज्ञान का ही एक प्रकार है। इन हेतुओं से कथित ज्ञान और अर्थ इन दोनों में रहने वाला एक आकार वाला पक्ष असङ्गत है ॥ ५५ ॥

एवमेवार्थबुद्ध्योः स्यात् सादृश्यान्नाविभक्तता ।
भेदे ज्ञाते हि सादृश्यं नाज्ञाते स्यात् खपुष्पवत् ॥ ५६ ॥

जो कोई यह कहते हैं कि ज्ञान और अर्थ दोनों ही दो पृथक् आकार के ही हैं, किन्तु दोनों चूँकि अत्यन्त सदृश हैं, अतः दोनों के आकारों में एकता की प्रतीति होती है। किन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं, क्योंकि सादृश्य भिन्न दो वस्तुओं में ही हो सकता। ज्ञान और अर्थ तो कभी भी भिन्न रूपों में प्रतिभात नहीं होते। एवं सर्वथा अज्ञात वस्तुओं में सादृश्य उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार आकाशकुसुम के साथ किसी का सादृश्य असंभव है ॥ ५६ ॥

तथा द्विचन्द्रमायादावन्यथार्थे व्यवस्थिते ।
या स्यादाकारसंवित्तिर्नासावर्थनिबन्धना ॥ ५७ ॥

एवं यह अत्यन्त स्पष्ट है कि द्विचन्द्रादि के विपर्ययों में अवास्तविक द्वित्वादि प्रतिभासित होते हैं। उन विपर्ययात्मक ज्ञानों को अपने अर्थ की वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं होती। अतः यह कहना सर्वथा प्रामाणिक है कि यथार्थाऽयथार्थ साधारण जितनी भी आकारविषयक संवित्तियाँ होती हैं, उनमें से किसी के लिये भी बाह्य आकारों की वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं है ॥ ५७ ॥

नक्षत्रं तारका तिष्यो दारा इत्येवमादिषु ।
नैकत्रार्थे विरुद्धत्वाल्लिङ्गानेकत्वसम्भवः ॥ ५८ ॥

एक ही नक्षत्र में नक्षत्राकारक 'अयं नक्षत्रः', इयं तारका, अयं तिष्यः, इयं (दक्षस्य) दाराः' इत्यादि अनेक आकारों की बुद्धियाँ होती हैं। यदि आकार बाह्यविषयसापेक्ष हों तो एक ही नक्षत्रस्वरूप अर्थ में विरुद्ध नाना आकार की बुद्धियाँ कैसे उत्पन्न होंगी ? अतः ज्ञानों के आकार बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखते। ज्ञानों के आकार 'वासना' से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ५८ ॥

परिव्राट्कामुकशुनां कुणपादिमतिस्तथा ।
दीर्घह्रस्वत्वबुद्धिश्च ह्येकस्मिन्नप्यपेक्षया ॥ ५९ ॥
घटत्वात् पार्थिवद्रव्यप्रमेयादिमतिस्तथा ।
युगपद्ग्राहकाणां च न स्यादेकात्म्यवत्तथा ॥ ६० ॥
नार्थे ह्येकत्र युगपद् विरुद्धाकारसम्भवः ।
प्रत्ययानां तु भिन्नत्वाद् भवेच्छक्त्यनुसारतः ॥ ६१ ॥

एवं स्त्रीशव रूप एक ही वस्तु में संन्यासी को शव मात्र की बुद्धि होती है एवं कामुक पुरुष को 'यह कामिनी है' इस आकार की बुद्धि होती है एवं कुत्ते को 'यह भोजन है' इस आकार की बुद्धि होती है। यदि ज्ञान बाह्यवस्तुसापेक्ष हों तो एक ही शव में ये विभिन्न बुद्धियाँ कैसे उत्पन्न होंगी ? अतः ज्ञानों के आकार बाह्यवस्तुसापेक्ष नहीं हैं, किन्तु वासनासापेक्ष ही हैं।

इसी प्रकार एक ही आँवले में बेर की अपेक्षा दीर्घाकारत्व की प्रतीति एवं नारिकेल की अपेक्षा ह्रस्वत्व की प्रतीति होती है। यदि बुद्धि को आकारसापेक्ष मानें तो एक ही वस्तुविषयक उक्त विभिन्नाकार की प्रतीतियाँ भी उपपन्न नहीं होंगी।

एवं एक ही घर में एक ही पुरुष को जो 'इदं पार्थिवम्, इदं द्रव्यम्, संज्ञेयम्' इत्यादि नाना प्रकार की प्रतीतियाँ उत्पन्न होती हैं, सो भी नहीं हो सकेंगी यदि ज्ञान को वासनासापेक्ष न मानकर बाह्यवस्तुसापेक्ष मानें, क्योंकि एक ही वस्तु के वास्तविक विभिन्न अनेक आकार संभव ही नहीं। प्रत्ययों में यह विभिन्नाकारता संभव है, क्योंकि वे विभिन्न हैं एवं उनकी शक्तियाँ (वासनायें) भी भिन्न हैं ॥ ५९–६१ ॥

निरपेक्षं स्वरूपेण तस्माज् ज्ञानं यदाकृति ।
तथार्थो न यथार्थे तु ज्ञानमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ६२ ॥

तस्मात् बाह्य वस्तुओं से सर्वथा अनपेक्ष केवल ज्ञान ही वासना के वशीभूत होकर जिस समय जिस आकार को धारण करता है, उस प्रकार के अर्थ की सत्ता प्रतीत होती है। अर्थात् अर्थों के विभिन्न आकार ही ज्ञानसापेक्ष हैं, ज्ञानों की विभिन्नाकारता बाह्यवस्तुसापेक्ष नहीं है ॥ ६२ ॥

इत्थं विज्ञानतन्त्रत्वे को न्वर्थं कल्पयिष्यति ।
धीरनारोपिताकारा स्वात्मन्येवोपयोक्ष्यते ॥ ६३ ॥

इस प्रकार 'विज्ञानतन्त्र' (विज्ञानवाद) के स्थिर हो जाने पर कौन ऐसा अप्रामाणिक होगा जो विज्ञान से अतिरिक्त अर्थ की कल्पना करेगा। इस अनारोपिताकारा अर्थसम्बन्धशून्या बुद्धि का पर्यवसान केवल 'बुद्धि' में ही होता है, अर्थात् विज्ञान से अतिरक्त कोई वस्तु नहीं है ॥ ६३ ॥

इति पूर्वपक्षः[1] ॥

अथ सिद्धान्तपक्षः

नैतदस्ति, त्वयैकं हि ग्राह्यं ग्राहकमिष्यते ।
न चैकस्यैवमात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति ते ॥ ६४ ॥

तुम लोगों (बौद्धों) का यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में 'ग्राह्य' (घटादि आकारों की वस्तुओं) को एवं 'ग्राहक' (ग्रहण करने वाले ज्ञान) को एक

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये कि यह 'शून्यवाद' वस्तुतः 'निरालम्बनवाद' ही है। इस शून्यवाद का उपपादन इन ६३ श्लोकों से वार्त्तिककार ने किया है। इस सन्दर्भ में स्थापना है बौद्धों की एवं खण्डन है मीमांसकों का। आगे ६४ वें श्लोक से प्रकरण के अन्त तक वार्त्तिककार ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा उक्त शून्यवाद का खण्डन किया है।

मानते हो। किन्तु कभी भी एक क्रिया (धात्वर्थ) का कर्त्ता (ग्रहणकर्त्ता) एवं कर्म (ग्राह्य) एक पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है॥ ६४॥

अग्न्यादयो घटादीनां प्रसिद्धा ये प्रकाशकाः।

न ते प्रकाश्यरूपा हि प्रकाशस्यानपेक्षणात्॥ ६५॥

ग्राह्यत्वं तु यदा तेषां तदाक्षं ग्राहकं मतम्।

अक्षग्रहणकाले तु ग्राहिका धीर्भविष्यति॥ ६६॥

यदि यह कहो कि अग्नि प्रकाश क्रिया का कर्त्ता और कर्म दोनों ही है, अतः एक क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों एक ही वस्तु में रहें—इस पक्ष में दृष्टान्त का अभाव नहीं है। किन्तु सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि जो अग्नि घटादि वस्तुओं के प्रकाश का कर्त्ता है वह स्वयं अपने स्वरूप का प्रकाशक नहीं है। क्योंकि घटादि के प्रकाश के लिये जिस प्रकार की वह्नि की अपेक्षा होती है, वह्नि के प्रकाश के लिये वह्नि की या किसी प्रकाशयुक्त वस्तु की अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् वह्नि जिस प्रकाश क्रिया का कर्म (ग्राह्य) होता है, उस प्रकाश क्रिया के कर्त्तादि चक्षुरादि अन्य पदार्थ ही होते हैं।

चक्षुः स्वरूप तैजस इन्द्रिय का जहाँ ग्रहण होता है वहाँ तैजस पदार्थ ही कर्म और बुद्धि ही उस ग्रहणक्रिया का कर्तृकारक होती है॥ ६५–६६॥

तस्यां तु गृह्यमाणायामन्या धीर्ग्राहिकेष्यते।

नन्वात्मा ग्राहको ग्राह्यो भवताभ्युपगम्यते॥ ६७॥

जिस समय चक्षुरादि ज्ञान का ग्रहण होगा उस समय 'चक्षुरादिविषयकज्ञानवानहम्' इत्यादि आकारों की ग्रहणात्मक बुद्धियाँ ही ग्राहिका होंगी एवं चक्षुरादिविषयक ज्ञान ही ग्राह्य होगा॥ ६७॥

कथञ्चिद्धर्मरूपेण भिन्नत्वात् प्रत्ययस्य तत्।

ग्राहकत्वं भवेत् तत्र ग्राह्यं द्रव्यादि चात्मनः॥ ६८॥

(किन्तु 'अहं जानामि, अहं करोमि' इत्यादि स्थलो में आत्मा ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों ही होता है। अतः यह नियम नहीं किया जा सकता कि एक ही पदार्थ एक क्रिया का कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। इस आक्षेप का उत्तर है कि) बौद्धों के मत में ज्ञान और ज्ञेय दोनों अभिन्न हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। किन्तु हमलोगों (मीमांसकों) के मत से धर्म के भेद से एक ही पदार्थ कुछ अंशों में ही सही भिन्न हो सकता है। तदनुसार ज्ञान स्वरूप धर्म से युक्त आत्मा ग्राहक है, एवं द्रव्य स्वरूप आत्मा अर्थात् द्रव्यत्व रूप धर्म से युक्त केवल आत्मा ग्राह्य है॥ ६८॥

यस्तु नात्यन्तभेदोऽत्र क वासाविष्यते मया।

प्रत्यासत्तिनिमित्ता तु प्रत्यगात्मप्रवर्त्तिता॥ ६९॥

यह आक्षेप किया जाता है कि ग्राह्य और ग्राहक में उक्त रीति से विभिन्न धर्मों के द्वारा थोड़ा सा भेद मानने पर भी ग्राह्य और ग्राहक में अत्यन्त भेद नहीं

स्वीकृत हो सकता, क्योंकि कथित आत्मा स्वरूप धर्मी के 'ज्ञान' एवं 'द्रव्यत्व' इन दोनों धर्मों के भिन्न होते हुये भी आत्मा स्वरूप धर्मी एक ही है। अतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों के एकत्व नियम की अनुपपत्ति आत्मज्ञान में नहीं है। किन्तु यह आक्षेप भी व्यर्थ ही है, क्योंकि पदार्थों में अत्यन्त भेद हमलोग (मीमांसकगण) स्वीकार ही कहाँ करते हैं ?

यदि आत्मज्ञान स्थल में ग्राह्य और ग्राहक की एकता को स्वीकार किया जाय तो फिर आत्मवाद में भाष्यकार ने जो यह लिखा है कि 'प्रत्यगात्मनि चैतद्भ-वति' (शाबरभाष्य पृ० ६६ पं० ४ आनन्दाश्रम सं० प्र० ख०) अर्थात् अहम् प्रत्यय का विषय 'प्रत्यगात्मा' स्वकीय आत्मा ही है, अतः स्वकीयआत्मविषयक ज्ञान स्थल में ही ग्राहक और ग्राह्य दोनों एक होते हैं। भाष्यकार का उक्त कथन स्वकीय आत्मज्ञान स्थल में भी ग्राह्य और ग्राहक को इस प्रकार भिन्न मानने से असङ्गत हो जाता है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि भाष्यकार ने जो 'प्रत्यगात्म' विषयक (स्वात्मविषयक) 'अहम्' इस आकार के ज्ञान में भास्य और भासक को एक कहा है—उसका यह अभिप्राय है कि 'केवल ज्ञान अथवा केवल आत्मा गृहीत नहीं होता। इस नियम के अनुसार 'अहम्' पद के अर्थ से असम्पृक्त केवल ज्ञान ग्राहक नहीं है। किन्तु ज्ञान से युक्त अर्थात् ज्ञानविषयीभूत 'अहम्' शब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा ही ग्राहक है एवं वही ज्ञानविशिष्ट प्रत्यगात्मा 'अहम्' इस आकार की प्रतीति में गृहीत भी होता है, क्योंकि ज्ञानोपहित आत्मा का ही भान 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीतियों में होता है। आत्मा की प्रतीति केवल 'अहम्' इस आकार की नहीं होती। इस प्रकार 'जानामि' क्रिया का कर्ता और कर्म आत्मा में कथञ्चिद् भेद है। इस दृष्टि से भाष्यकार ने 'प्रत्यगात्मनि चैतद् भवति' यह वाक्य लिखा है। अर्थात् कर्मीभूत ज्ञानविशिष्ट आत्मा एवं कर्तृभूत द्रव्यत्वविशिष्ट आत्मा दोनों वस्तुतः एक ही हैं, किन्तु कर्मतावच्छेदक 'ज्ञान' एवं कर्तृतावच्छेदक 'द्रव्यत्व' इन दोनों के भेद से कर्म और कर्ता दोनों में कथञ्चिद् भेद का उपपादन किया जा सकता है ॥ ६९ ॥

अस्मत्प्रयोगसम्भिन्ना ज्ञानस्यैव तु कर्तरि ।
भवन्ती तत्र संवित्तिर्युज्येताप्यात्मकर्तृका ॥ ७० ॥

इस प्रकार अस्मत् शब्द से निष्पन्न 'अहम्' शब्द के द्वारा अभिलाप योग्य 'अहं जानामि' इस आकार को जो प्रतीति होती है, वह अनुभव के अनुसार आत्मकर्तृक होने पर भी आत्मा में ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उक्त प्रतीति में अस्मच्छब्दार्थ आत्मा ही कर्ता और आश्रय दोनों रूपों से भासित होता है। अतः कर्ता और अधि-करण स्वरूप आत्मा को यदि सर्वथा अभिन्न मानें तथापि एक ही पदार्थ में एक ही क्रिया के विभिन्न कारकत्व का विरोध नहीं है, क्योंकि अनुभव के अनुसार एक ही वस्तु एक ही क्रिया का विभिन्न कारक हो सकता है ॥ ७० ॥

न चात्र करणज्ञानग्राहकाकारवेदनम् ।
ग्राह्यत्वं येन बुद्धेः स्यादभिन्नत्वेऽपि पूर्ववत् ॥ ७१ ॥

'नीलम्' इस आकार की प्रतीति में 'ज्ञानाकार' की किसी वस्तु का भान नहीं होता है, नील स्वरूप बाह्याकार का ही भान होता है। इसलिये ग्राहक और ग्राह्य

दोनों अभिन्न भी हों तथापि उक्त प्रतीति का 'ग्राह्य' अर्थात् विषय ज्ञान नहीं है ॥ ७१ ॥

अन्यरूपापि संवित्तिर्यद्यन्यविषयेष्यते ।
ज्ञानाकारापि संवित्तिः कस्मान्नार्थस्य कल्प्यते ॥ ७२ ॥

यह स्थिर सत्य है कि ज्ञान अपने ग्राह्य विषय का अवभासक है। उसको 'ग्राह्य' से भिन्न 'स्व' स्वरूप का भी ग्राहक (अवभासक) मान लें तो फिर यह मानना होगा कि अन्य (अर्थात् एक ग्राहक) स्वरूपा संवित्ति अन्य (दूसरे ग्राहक) विषयक भी हो सकती है। तो फिर यही स्वीकार क्यों नहीं कर लेते कि ज्ञान स्वरूपा संवित्ति स्वभिन्न बाह्य अर्थविषयिका है ? अर्थात् यह आग्रह कि चूंकि संवित्ति स्वयं ज्ञानरूपा है अतः वह ज्ञानस्वरूप विषय को ही प्रकाशित कर सकती है, तद्भिन्न बाह्य नीलपीतादि विषयों को नहीं प्रकाशित कर सकती, क्योंकि दो ग्राहकों में भेद की अपेक्षा ग्राह्य और ग्राहक का भेद और भी परिस्फुट है ॥ ७२ ॥

अभिन्नत्वं यदा चेष्टं ग्राह्यग्राहकवस्तुनोः ।
तदान्यतरसंवित्तौ द्व्याकारं ग्रहणं भवेत् ॥ ७३ ॥

दूसरी बात यह भी है कि ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् भास्य और भासक, फलतः ज्ञान और उसके विषय इन दोनों, का अभिन्न होना यदि अनिवार्य हो तो फिर ज्ञान और विषय इन दोनों में किसी एक ज्ञान के नियमतः ज्ञानाकार और विषयाकार ये दोनों ही आकार होंगे। किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है ॥ ७३ ॥

यदा तु ग्राह्यमाकारं नीलादि प्रतिपद्यते ।
न तदा ग्राहकाकारा संवित्तिर्दृश्यते क्वचित् ॥ ७४ ॥

क्योंकि जिस समय 'नीलम्' इस आकार के ज्ञान द्वारा 'नील' स्वरूप विषय प्रतिभासित होता है, उस समय उस ज्ञान में ज्ञान प्रतिभासित नहीं होता ॥ ७४ ॥

तस्मादभिन्नता चेत् स्यात् तस्याप्यनुभवो भवेत् ।
ग्राह्यो वा नानुभूयेत ग्राहकाननुभूतिवत् ॥ ७५ ॥

'तस्मात्' ज्ञान और विषय यदि अभिन्न होते तो ज्ञान में विषय की उक्त एकता अथवा भेद भी प्रतिभासित होता। अथवा यदि ज्ञान में ग्राहक स्वरूप 'स्व' का प्रतिभास नहीं होता तो उस अप्रतिभास के समान 'स्व' स्वरूप ज्ञान से अभिन्न विषय का भी अप्रतिभास ही क्यों नहीं होता ? ॥ ७५ ॥

ग्राहकग्रहणेऽप्येवं ग्राह्यसंवेदनं भवेत् ।
शुद्धमेव निराकारं ग्राहकं संविदन्ति हि ॥ ७६ ॥
ग्राह्यादभिन्नतायाञ्च सा संवित्तिर्न युज्यते ।
ग्राहको वा न गृह्येत तद्ग्राह्याननुभूतिवत् ॥ ७७ ॥

यदि ग्राह्य और ग्राहक अभिन्न हों तो जिस संवित्ति में निराकार शुद्धज्ञान ही प्रतिभासित होता है (क्योंकि घटादि आकारों के ज्ञानों के समान ही विषयासम्बद्ध केवलज्ञानविषयक ज्ञान भी प्रामाणिक है) उस शुद्ध ज्ञान के भासक ज्ञान में भी ग्राह्य स्वरूप घटादि विषयों का भान होना चाहिये। ज्ञान (ग्राहक) यदि 'ग्राह्य (घटादि विषयों) से अभिन्न हों तो केवल ज्ञानविषयक उक्त संवित्ति उपपन्न नहीं हो सकती। अथवा यह आपत्ति भी दी जा सकती है कि जिस प्रकार केवल ज्ञानविषयक ज्ञान (स्वरूपग्राहक) में घटादि ग्राह्य विषय भासित नहीं होते, उसी प्रकार ग्राह्य से अभिन्न होने के कारण ग्राहक का भी भान न हो ॥ ७६–७७ ॥

यथावद् ग्राह्यसंवित्तौ ग्राहकग्रहणेऽपि वा।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिर्नास्त्येव स्याद् द्वयोरपि ॥ ७८ ॥

अतः ग्राह्यविषयक ज्ञान (घटादि ज्ञान) एवं ग्राहकज्ञान (केवल ज्ञान-विषयक ज्ञान) ये दोनों ही कभी ग्राह्य एवं ग्राहक (विषय एवं) एतदुभयविषयक न हो सकेंगे ॥ ७८ ॥

'स बहिर्देशसम्बद्ध' इत्यनेन निरूप्यते।
ग्राह्याकारस्य संवित्तिर्ग्राहकानुभवादृते ॥ ७९ ॥

भाष्यकार शबरस्वामी ने 'स बहिर्देशसम्बद्धः' (शाबरभाष्य पृ० ३१ पं० ४ आनन्दाश्रमसं०) इत्यादि सन्दर्भ से इसी अभिप्राय को व्यक्त किया कि ग्राहक (ज्ञान) विषयक अनुभव के विना भी ग्राह्यविषयक अनुभव होता है, अतः ग्राह्य और ग्राहक एक नहीं हैं ॥ ७९ ॥

परं प्रति हि साध्यत्वादर्थस्याकारसिद्धये।
बहिर्देशेन सम्बन्धो न हेतुत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥
तस्माद् बहिरितीहेदं निष्कृष्टं ग्राहकांशतः।
संवेद्यं नीलपीतादि प्रत्यक्षादेरुदाहृतम् ॥ ८१ ॥

उक्त भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या कोई इस प्रकार करते हैं कि नीलादि चूंकि बाह्य प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतः वे ज्ञानाकार नहीं, किन्तु अर्थविषयक ज्ञानों से भिन्न स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार 'नीलादिकं वार्थाकारं बहिर्देशसम्बद्धत्वात्' इस अनुमान में 'बहिर्देशसम्बद्धत्व' हेतु है। इसी अभिप्राय से भाष्य का उक्त सन्दर्भ लिखा गया है।

किन्तु भाष्य का उक्त अभिप्रायवर्णन उचित नहीं है, क्योंकि 'बहिर्देश' नाम की कोई वस्तु बौद्धों के मत में नहीं है। हेतु को उभयमतसिद्ध होना चाहिये। अतः 'बहिर्देशसम्बद्धत्व' अर्थाकारत्वसाध्यक अनुमान का हेतु नहीं हो सकता।

अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का यही अभिप्राय ठीक है कि ग्राहक (ज्ञान) से भिन्न ज्ञेय नीलादि स्वतन्त्र पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रदर्शन ही उक्त भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है, अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन नहीं ॥ ८०–८१ ॥

न पूर्वं ज्ञायते बुद्धिरित्यत्रैतद्विदिष्यते ।
ग्राहकस्यैव संवित्तिर्लक्ष्यते ग्रहणे क्वचित् ॥ ८२ ॥

किसी संवित्ति में (विषय से असंस्पृष्ट) केवल 'ज्ञान' (ग्रहण) ही भासित होता है यह बात भाष्यकार ने 'न पूर्वं ज्ञायते बुद्धिः' (शाबरभाष्य पृ० ३३ पं० १ आनन्दश्रमसं०) इत्यादि सन्दर्भ से कही है ॥ ८२ ॥

न स्मरामि मया कोऽपि गृहीतोऽर्थस्तदेति हि ।
स्मरन्ति ग्राहकोत्पादग्राह्यरूपविवर्जितम् ॥ ८३ ॥

लोगों से यह कहते हुये सुना जाता है कि 'उस समय मैंने जिस व्यक्ति को देखा था उस व्यक्ति का मुझे स्मरण नहीं हो रहा है' यह ज्ञान अवश्य ही उस ग्राह्य व्यक्ति से सम्बद्ध केवल ग्रहणस्वरूप ज्ञानविषयक है ॥ ८३ ॥

तस्मादभिन्नतायां च ग्राह्येऽपि स्मरणं भवेत् ।
ग्राहकस्मृतिनिर्भासात् [1]तत्राप्येवैव गृह्यते ॥ ८४ ॥

'तस्मात् ग्राह्य और ग्राहक को यदि अभिन्न मानें तो कथित केवल ग्राह्य नीलादिविषयक प्रतीतियों में भी ग्राहकसंवित्ति का नियमतः भान होगा, एवं केवल ग्राहकविषयक उक्त प्रतीति भी नियमतः ग्राह्यविषयक भी होगी, किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि केवल ग्राह्य विषयक उक्त प्रतीति एवं केवल ग्राहकविषयक प्रतीति इन दोनों प्रकार की प्रतीतियों की सत्ता दिखलायी जा चुकी है ॥ ८४ ॥

तदत्यन्ताविनाभावान्नैकाकारं हि ज्ञायते ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धैवं भिन्नता तयोः ॥ ८५ ॥

ग्राह्य और ग्राहक दोनों परस्पर भिन्न तो हैं ही, दोनों नियमित व्याप्ति से रहित भी हैं। वे यदि 'अत्यन्ताविनाभावी' हों अर्थात् पूरी पूरी व्याप्ति से युक्त हों तो कभी भी एक को छोड़कर दूसरे का भान नहीं होता। किन्तु केवल ग्राह्य की एवं केवल ग्राहक की प्रतीति की सत्ता दिखलायी जा चुकी है (देखिये श्लो० ७९ से श्लो० ८२ पर्यन्त) ।

'तस्मात्' नीलादि ग्राह्य विषयों के विना भी केवल ग्राहक का स्मरण होता है, एवं ग्राहक के परामर्श से रहित केवल ग्राह्य का भी ग्रहण होता है—इस अन्वय और व्यतिरेक से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि 'नील' एवं 'नीलविषयक' बुद्धि दोनों भिन्न हैं ॥ ८५ ॥

ग्राह्यांशो ग्राहकांशेन गृह्यते, ग्राहकः पुनः ।
गृह्येतेति न वक्तव्यम्, ग्राहकान्तरवर्जनात् ॥ ८६ ॥

---

१. इस श्लोक के 'एवैव' शब्द से अनुपद कथित केवल ग्राहकविषयक स्मृति स्वरूप 'संवित्ति ही विवक्षित है ।

(पूर्वपक्ष) विविक्तग्रहण (पृथग् ग्रहण) को जो ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों में भेद का साधक बतलाया गया है सो ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय ग्राहक से ग्राह्य की संवित्ति होती है, उस समय संवित्ति का कोइ ग्राहक नहीं रहता है। अतः ग्राह्य से अभिन्न होने पर भी ग्राहक का भान नियमतः ग्राह्यविषयक संवित्ति में नहीं होता है ॥ ८६ ॥

ग्राह्यांशेनाप्यशक्तत्वान्न तस्य ग्रहणं भवेत् ।
ग्राहकत्वेन चैतस्य हीयेतैव द्विरूपता ॥ ८७ ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि नीलादि ग्राह्यांश ही स्वाभिन्न ग्राहक-विषयक संवित्ति का भी ग्राहक होगा, क्योंकि नीलादि ग्राह्य स्वरूप हैं, अतः वे ग्राहक नहीं हो सकते। यदि ग्राह्यांश को भी ग्राहक ही मान लें तो विज्ञान के जो ग्राह्य और ग्राहक ये दो स्वरूप मानें जाते हैं वे उपपन्न नहीं होंगे, फलतः विज्ञानों की (ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व एतदुभय स्वरूप) 'द्विरूपता' ही भङ्ग हो जायगी, क्योंकि ग्राह्य को ही ग्राहक मान लिया गया है ॥ ८७ ॥

ग्राहके गृह्यमाणे च ग्राह्यमात्रप्रसञ्जनम् ।
न स्यादाकार एकश्चेदितरस्यापि नास्तिता ॥ ८८ ॥

इसी प्रकार यदि ग्राहक (संवित्ति) को नीलादि ग्राह्य विषयों से अभिन्न मान लें तो फिर ग्राहक भी ग्राह्य ही हो जायगा जिससे ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों में से एक की भी सत्ता स्थिर न रह सकेगी। दोनों में से किसी एक की सत्ता के विना भी दोनों की सत्ता विपन्न हो जायगी, क्योंकि दोनों में से प्रत्येक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित है ॥ ८८ ॥

उद्भवाभिभवाभ्यां च ग्राह्याग्राह्यत्वदर्शनम् ।
यथा दीपप्रभादीनां रूपमात्रोपलम्भनम् ॥ ८९ ॥

ग्राह्य और ग्राहक को भिन्न मानने में जो यह युक्ति दी जाती है कि 'दोनों का नियमतः एक साथ भान नहीं होता, अतः वे भिन्न हैं' सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ग्राह्यत्व का प्रयोजक है 'उद्भव' अर्थात् उद्भूतत्व, एवं अग्राह्यत्व का प्रयोजक है 'अभिभव' अर्थात् अनुद्भूतत्व। फलतः जहाँ नीलादि विषयों का भान होता है, वहाँ वे उद्भूत रहते हैं, जिस संवित्ति में ग्राहक का भान नहीं होता, वहाँ वह अनुद्भूत रहता है, जिस ग्राह्यविषयक संवित्ति में ग्राहक का भान नहीं हो पाता है। इससे ग्राह्य और ग्राहक में भेद की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे कि दीपप्रभा के तैजस होने पर भी उसका रूप ही उपलब्ध होता है, स्पर्शादि नहीं ॥ ८९ ॥

दिवा चाग्नेः समीपस्थैः स्पर्श एवोपलभ्यते ।
गन्धवद्द्रव्यवृत्तौ च गन्धस्यैवोपलम्भनम् ॥ ९० ॥

एवं दिन में वह्नि का केवल स्पर्श ही उसके समीप रहने वाले पुरुष को भी उपलब्ध होता है, रूपादि उपलब्ध नहीं होते। एवं दूरस्थ सुगन्धित द्रव्य का केवल गन्ध ही गृहीत होता है ॥ ९० ॥

न गुणान्तरसंवित्तिर्यथात्राभिभवात् तथा।
नाकारान्तरसंवित्तिर्ग्राह्यग्राहकबुद्धिषु ॥ ९१ ॥

(जिस प्रकार दीपप्रभादि स्थलों में रूपादि किसी विशेष की ही उपलब्धि उनकी उद्भूतता के कारण होती है, एवं) उन द्रव्यों में विद्यमान अन्य गुणों की उपलब्धि 'अभिभव' (अनुद्भूतता) के कारण नहीं होती उसी प्रकार ग्राह्यविषयक संवित्ति में तदभिन्न ग्राहक का भान इसलिए नहीं होता कि 'उस समय ग्राहक अभिभूत रहता है' एवं केवल ग्राह्य (ज्ञान) विषयक संवित्ति में तदभिन्न ग्राहक का भान इसलिए नहीं होता कि उस समय ग्राहक 'अनुद्भूत' रहता है। इसी रीति से नीलादि ग्राह्य विषयों का भान केवल ग्राहकविषयक स्मृति में नहीं होता कि उस समय वे अनुद्भूत रहते हैं ॥ ९१ ॥

ग्राह्याद्यनन्यभूतोऽपि कश्चिन्नैवोपलभ्यते।
नित्यानित्यादयो धर्माः शब्दादिग्रहणे यथा ॥ ९२ ॥

जिस प्रकार शब्दादि से अभिन्न उनके नित्यत्वादि धर्मों का भान शब्दादि-प्रतीतियों के साथ नहीं होता है, उसी प्रकार ग्राह्य और ग्राहक यद्यपि अभिन्न हैं फिर भी एक की संवित्ति में दूसरे का भान नहीं होता है ॥ ९२ ॥

अभेदं वाभ्युपेत्यायं प्रसङ्गो यदि गीयते।
एकस्मिन् गृह्यमाणेंऽशे न गृह्येतापरः कथम् ॥ ९३ ॥

यदि तुम (मीमांसक) ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों को अभिन्न मानने में यह आपत्ति देते हो कि एक के ग्रहण के समय अवश्य ही दूसरे का ग्रहण होना चाहिये तो इसका यह उत्तर है कि दोनों का साथ साथ ग्रहण ही होता है, क्योंकि जिस प्रकार तुम लोगों के मत से घटादि द्रव्यों के गृहीत होने पर उनका कोई भी अंश अगृहीत नहीं रहता, उसी प्रकार ग्राह्यांश और ग्राहकांश इन दोनों में से किसी एक के गृहीत होने पर दूसरा अगृहीत नहीं रह सकता ॥ ९३ ॥

तस्माद्यत् स्याद् यदा योग्यं तस्यैव ग्रहणं तदा।
द्वयं च त्वदुपन्यस्तं शक्त्यभावान्न गृह्यते ॥ ९४ ॥

अतः यह मानना होगा कि जिस समय जो ग्रहण के योग्य रहता है, उस समय वही गृहीत होता है। तुम (मीमांसक) ने जो यह एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण एवं एक के अग्रहण से दूसरे के अग्रहण की आपत्ति दी है, उसका उद्धार इस युक्ति से हो सकता है कि एक के ग्रहण के समय जिस दूसरे में गृहीत होने की 'शक्ति' अर्थात् योग्यता नहीं रहती उस समय वह गृहीत नहीं होता ॥ ९४ ॥

कुतोऽप्येकवस्तुत्वे योग्यायोग्यत्वसम्भवः।
उद्भवाभिभवात्मत्वं कथं चैकस्य कल्पितम् ॥ ९५ ॥

मीमांसकपक्ष

ग्राह्य और ग्राहक यदि अभिन्न हैं तो फिर यह कहना ही सम्भव नहीं है कि एक समय कोई ग्रहण के योग्य है और दूसरा अयोग्य है। एवं एक ही (ग्राह्य-

ग्राहकोभयस्वरूप) संवित्ति में तुम (बौद्ध) ने परस्पर विरुद्ध 'उद्भव' एवं 'अभिभव' की कल्पना कैसे की ? ॥ ९५ ॥

एकांशाभिभवे च स्यादितराभिभवोऽपि ते ।
तथा तस्याभिभूतत्वाद् ग्राह्यत्वं न च युज्यते ॥ ९६ ॥
अयोग्यता विकल्प्यैवम् दृष्टान्ता येऽत्र कीर्तिताः ।
रूपादिभेदात् तत्र स्यादुद्भवाभिभवाद्यपि ॥ ९७ ॥

क्योंकि यदि कोई अंश अभिभूत होगा तो उसके दूसरे अंश का भी अभिभव अवश्य होगा । एवं जो अंश 'अभिभूत' होगा वह गृहीत न होने के कारण ग्राह्य स्वरूप ही न रह सकेगा । इसी प्रकार जो अंश ग्रहण के अयोग्य होगा, वह भी गृहीत न हो सकने के कारण 'ग्राह्य' स्वरूप न हो सकेगा । 'उद्भव' और अभिभव' के प्रसङ्ग में जो दीपप्रभादिगत रूप का दृष्टान्त देते हो, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन स्थलों में गृहीत होनेवाले रूपादि गृहीत न होनेवाले स्पर्शादि से भिन्न ही हैं । अतः एक के ग्रहण के समय दूसरे का अग्रहण अयुक्त नहीं है ॥ ९६–९७ ॥

यद्याप्येकान्ततो भेदो रूपादेर्न परस्परम् ।
तदापि द्रव्यरूपस्य परिणामस्तथा तथा ॥ ९८ ॥
अभिन्नत्वेऽपि न ग्राह्यमिति यच्चाब्रवीद्भवान् ।
कृतकत्वादिधर्माणां धीभेदेऽनन्यता कथम् ॥ ९९ ॥
न ह्यन्यत्प्रत्ययादस्ति भिन्नाद् ग्राह्यस्य भेदकम् ।
न चेयत्तैव भेदस्य देशतो मूर्तितोऽपि वा ॥ १०० ॥

आप लोगों का (बौद्धों का) यह कहना भी ठीक नहीं है कि शब्द से अभिन्न उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म शब्दग्रहण में भासित नहीं होते अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य दोनों अभिन्न होने पर भी नियमतः एक साथ भासित नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि शब्द और उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म जब भिन्न-भिन्न बुद्धियों से गृहीत होते हैं तो शब्द को अपने अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्मों से भिन्न कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि विभिन्न बुद्धियों से गृहीत होना ही वस्तुओं में परस्पर भेद का नियामक है । शब्द और उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म यदि नियमतः एक ही बुद्धि से गृहीत नहीं होते हैं तो वे अवश्य ही परस्पर भिन्न हैं । अतः उन धर्मों को शब्द से अभिन्न मानकर कही हुई आप (बौद्धों) की बातें संगत नहीं हैं ।

(शब्द एवं उसके अनित्यत्वादि धर्म, इन दोनों के स्वरूप एवं दोनों के स्थितिदेश ये दोनों ही एक हैं । अतः शब्द एवं उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म दोनों भिन्न नहीं हैं, क्योंकि 'मूर्ति' (आकार-संस्थान) एवं 'स्थितिदेश' ये दोनों ही वस्तुओं में परस्पर भेद के नियामक हैं । अतः शब्द और उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म ये सभी अभिन्न ही हैं । बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह 'इयत्ता' (सीमा) नहीं की जा सकती कि 'देशभेद' और 'संस्थानभेद' केवल ये

दोनों ही भेद के नियामक हैं, क्योंकि यह प्रमाण से सिद्ध है कि देशभेद एवं संस्थानभेद के न रहने पर भी वस्तुओं में परस्पर भेद हो सकता है ॥ ९८–१०० ॥

कारणानां हि सम्बन्धः कार्ये कृतकतोच्यते ।
विभागोऽवयवानां च भवेत् क्वचिदनित्यता ॥ १०१ ॥
बुद्ध्यादेरात्मरूपादिस्थानं नाशित्वमुच्यते ।
नित्यत्वं सर्वदा सत्ता वस्तुत्वं सैव कीर्त्यते ॥ १०२ ॥

शब्द के अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म शब्द से भिन्न ही हैं, क्योंकि कार्यों में कारणों का सम्बन्ध ही 'कृतकत्व' है। कुछ वस्तुओं की (सावयव वस्तुओं की) 'अनित्यता' उनके आश्रयीभूत आत्मा की स्वरूपावस्थिति स्वरूप है। एवं सभी कालों में वस्तुओं की सत्ता ही उनकी 'नित्यता' है। पदार्थों की यह सर्वदा स्थिति ही उनका 'वस्तुत्व' है ॥ १०१–१०२ ॥

प्रमाणज्ञानसम्बन्धः प्रमेयज्ञेयतोच्यते ।
सर्वत्र चात्र भिन्नत्वमस्ति केनचिदात्मना ॥ १०३ ॥

प्रमा अप्रमा साधारण केवल ज्ञान का सम्बन्ध ही वस्तुओं की 'ज्ञेयता' है। एवं प्रमाणजनित (प्रमा) ज्ञान का सम्बन्ध ही 'प्रमेयत्व' है। इस प्रकार शब्दादि के कृतकत्वादि धर्म अपने आश्रयीभूत शब्दादि से अवश्य ही किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं ॥ १०३ ॥

तस्माद् यथैव रूपादेर्देशभेदादिभिर्विना ।
बुद्धिभेदेन भेदोऽस्ति तथैवात्र प्रतीयताम् ॥ १०४ ॥

'तस्मात्' यह निश्चित जानिये कि जिस प्रकार रूप-स्पर्शादि समान देशों में रहते हुये भी भिन्न आकार की बुद्धियों से गृहीत होने के कारण परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार शब्दादि के अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म भी विभिन्न आकार की बुद्धियों के द्वारा गृहीत होने के कारण भिन्न ही हैं ॥ १०४ ॥

अत्यन्तभिन्नतास्माभिर्नैव कस्यचिदिष्यते ।
सर्वं हि वस्तुरूपेण भिद्यते न परस्परम् ॥ १०५ ॥

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि ग्राह्य और ग्राहक भिन्न होते हुये भी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। उनकी इस आंशिक भिन्नता से भी उनमें कथित उद्भव-अभिभवादि की उपपत्ति हो सकती है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) हम लोग किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु से अत्यन्त भिन्न नहीं मानते, क्योंकि अन्ततः वस्तुत्व रूप से सभी पदार्थ अभिन्न हैं ही। फलतः जिन दो वस्तुओं में से एक अभिभूत होता है, और दूसरा अनुद्भूत, उन दोनों वस्तुओं में किसी प्रकार अभेद के रहने पर भी अन्य प्रकार से भेद भी अवश्य रहता है ॥ १०५ ॥

सर्वं च कृतकत्वादि क्रियाहेत्वाद्यपेक्षया ।
गृह्यते तदसंवित्तावभेदेऽपि न गृह्यते ॥ १०६ ॥

(फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि शब्द के कृतकत्वादि धर्म यदि शब्द से अभिन्न हों तो वे शब्दग्रहण में नियमतः भासित क्यों नहीं होते ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) कृतकत्वादि क्रियादिघटित हैं। शब्दग्रहण से अव्यवहित पूर्वक्षण में क्रियादि के ग्रहण की सामग्री (करणों का समूह) का संवलन नहीं रहता है। उस समय केवल शब्दग्रहण की सामग्री ही संवलित रहती। इस लिये शब्दग्रहण के साथ साथ उसके कृतकत्वादि धर्मों का ग्रहण नहीं होता ॥ १०६ ॥

ज्ञाने नैवंविधो भेदो नापेक्षान्यत्र विद्यते।
परस्परेण चापेक्षा स्याच्चेत् सन्निहितश्च सः॥ १०७॥

ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों में यदि न किसी प्रकार ज्ञानगत कोई भेद है, न उत्पादक सामग्रियों में कोई अन्तर है, इस लिये यदि दोनों अभिन्न हैं तो दोनों को नियमतः साथ गृहीत होना ही होगा। अतः प्रकृत में शब्दादि का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है।

बौद्धगण यह कह सकते हैं कि 'ग्राह्य' उसी को कहते हैं कि जिसका ग्रहण हो, एवं 'ग्रहण' उसे कहते हैं जो नीलादि ग्राह्य विषयों का प्रकाशक हो। इस प्रकार ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों में से प्रत्येक परस्परसापेक्ष हैं, अतः एक साथ दोनों का ग्रहण नहीं होता। किन्तु उन लोगों का यह समाधान भी इस लिये युक्त नहीं है कि दोनों में परस्परसापेक्षता के रहने पर भी दोनों के संनिधान (सामीप्य) को नहीं रोका जा सकता। इस लिये ज्ञान और विषय इन दोनों का साथ-साथ ग्रहण बौद्धों के पक्ष में नहीं रोका जा सकता ॥ १०७ ॥

ननु ग्राहकमित्येवं ग्राह्यमित्यपि वा मतिः।
नीलादिग्रहणे नास्तीत्यपेक्षा कथमुच्यते ॥ १०८ ॥

(पू० प०) नीलादि ग्राह्य विषयों की प्रतीति 'इदं नीलम्' इत्यादि आकारों की होती है, 'इदं ग्राह्यम्' अथवा 'इदं ग्राहकम्' इत्यादि आकारों की नहीं होती है। संवित्तिस्वरूप ग्राहक के सम्बन्ध से नीलादि में उसी समय ग्राह्यता की उत्पत्ति होती है। 'ग्राह्यत्व' ग्रहण स्वरूप क्रिया (धात्वर्थ) का कर्मत्वस्वरूप है। इस ग्राह्यता का भान नीलादि के ग्रहण के समय नहीं होता। फिर नीलादि के ग्रहण को ग्राहकापेक्षी कैसे कहते हैं ? अतः नीलादि का ग्रहण ग्राहक एवं ग्राह्य एतदुभयाकारक नहीं होता ॥ १०८ ॥

मा भूदेवं तथाप्यत्र द्व्याकारे ग्रहणं भवेत्।
एवंचागृह्यमाणे वा ज्ञाने द्व्याकारता कथम् ॥ १०९ ॥

यद्यपि 'नीलम्' इसी आकार की बुद्धि होती है, 'इदं ग्राह्यम्' अथवा 'इदं ग्राहकम्' इत्यादि आकारों की नीलादिविषयों की बुद्धियाँ नहीं होती हैं फिर भी ग्राह्यत्व रूप से ग्राह्य की अथवा ग्राहकत्व रूप से ग्राहक की प्रतीति भले ही न हो फिर भी स्वरूपतः ग्राह्य और ग्राहक का भान नीलादिप्रत्ययों में अवश्य होता है। एवं यदि ग्राह्य और ग्राहक दोनों का साथ-साथ भान न हो तो फिर 'नीलम्' इस

प्रतीति के बाद होने वाले 'नीलं जानामि' इन दो आकारों की दो प्रतीतियाँ नियमतः एक ही सामग्री से कैसे उपपन्न होंगी ? ॥ १०९ ॥

उत्तरोत्तरविज्ञानविशेषाद् या प्रकल्प्यते ।
ग्राहकाकारसंवित्तिः स्मरणाच्चानुमानिकी ॥ ११० ॥

ज्ञान एवं अर्थ दोनों में अभेद मानने पर मीमांसकों ने आपत्ति दी थी कि यदि दोनों को अभिन्न मानेंगे तो घटग्रहण के साथ-साथ घट से अभिन्न घटज्ञान का भी ग्रहण अवश्य होना चाहिये। इस पर बौद्धगण कह सकते हैं कि घटविषयक पहला ज्ञान केवल ग्राह्यस्वरूप घटविषयक 'घटः' इस आकार का होता है। एवं तदुत्तर उसी घटविषयक ज्ञान का ज्ञान 'घटं जानामि' इस आकार का होता है। आगे घट और घटज्ञान दोनों की स्मृतियाँ होती हैं। इस स्मृति के यह अनुमान होता है कि घट और घटज्ञान एक हैं ॥ ११० ॥

एकाकारं किल ज्ञानं प्रथमं यदि कल्प्यते ।
ततस्तद्विषयाप्यन्या तद्रूपैव मतिर्भवेत् ॥ १११ ॥

बौद्धों के इस आक्षेप का यह समाधान है कि यदि प्रथमोत्पन्न 'घटः' इस आकार के ज्ञान को एतज्ज्ञानविषयक एवं दूसरे ज्ञान को भी तद्विषयक ही मानें अर्थात् घटस्वरूपविज्ञान ही मानें तो यह दूसरा ज्ञान भी 'तद्रूप' ही होगा। अर्थात् 'घटः' एतदाकारक ही होगा, 'घटं जानामि' एतदाकारक नहीं। इसके आगे जो 'मम घटज्ञानमासीत्' इस आकार की घटज्ञानज्ञानविषयक स्मृति होती है, उसका भी 'घटः' यही आकार मानना होगा। फलतः 'घटः' इस आकार के ज्ञान के बाद जो 'घटं जानामि—मम घटज्ञानमासीत्' इत्यादि ज्ञानों की परम्परा में 'विशेष' अर्थात् अन्तर की उपलब्धि होती है, वह न हो सकेगी। अतः ज्ञान और अर्थ एक नहीं हैं ॥ १११ ॥

घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽस्तो न सिध्यति ।
ग्राहकाकारसंवित्तौ स्वाकारप्रचयो भवेत् ॥ ११२ ॥

यदि 'ज्ञान' और 'अर्थ' को भिन्न मानते हैं तो 'ग्राहकाकारक' अर्थात् घट के ग्राहक ज्ञान के आकार के 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान में 'आकारप्रचय' की उपपत्ति होती है, अर्थात् 'घटः' इस आकार के ज्ञान की अपेक्षा 'घटं जानामि' इस आकार के ज्ञान में आकारवृद्धि की उपपत्ति होती है। ज्ञान और अर्थ को अभिन्न मानने में 'आकारप्रचय' स्वरूप इस विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ११२ ॥

जायते पूर्वविज्ञानं द्व्याकारं यत्र तत् पुनः ।
तस्यात्मीयश्च पूर्वो च विषयस्यानुपप्लुतौ ॥ ११३ ॥
परेष्वाकारवृद्धयैवं पूर्वेभ्यो भिन्नता तथा ।
ग्राह्यवत् स्मरणात् पश्चाद् संवित्तौ ग्राहकः पुरा ॥ ११४ ॥

यदि प्रथम ज्ञान के ही 'घटः' एवं 'ज्ञानम्' ये दो आकार होंगे तो तद्विषयक द्वितीय ज्ञान में कथित 'विषय' और 'ज्ञान' ये दोनों एवं स्व—स्वरूप तृतीय ज्ञान में ये तीनों ही भासित होंगे। अर्थात् यह तीसरा ज्ञान घट, ज्ञान एवं घटज्ञान एतत्त्रितयाकारक होगा। इस प्रकार आगे-आगे के ज्ञानों में पूर्व-पूर्व विज्ञान की अपेक्षा उत्तरोत्तर विज्ञानों में 'आकारप्रचय' की (विषयवृद्धि की) उपपत्ति होगी। इस प्रकार की आकारवृद्धि से पूर्वोत्तर विज्ञानों की परस्पर भिन्नता की सिद्धि होती है।

एवं 'ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थलों में ज्ञान और घट (विषय) दोनों साथ ही स्मृति स्वरूप इन ज्ञानों में भासित होते हैं। पूर्वानुभव के बिना स्मृति नहीं हो सकती। अतः यह मानना होगा कि इस स्मृति से पहले ज्ञान भी अनुभूत हो चुका है॥ ११३–११४॥

न तावदेवमाकारान् पश्यामः प्रचयान्वितान्।
विषयव्यपदेशाच्च नर्ते ज्ञाननिरूपणम्॥ ११५॥

'उत्तरोत्तरविज्ञानविशेषात्' (श्लो० ११०) इत्यादि श्लोक से जो 'आकार-प्रचय' की बात कही गयी है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकारवृद्धि स्वरूप 'आकरप्रचय' की उपलब्धि ज्ञानपरम्पराओं में नहीं होती। संवित् स्वरूप ज्ञान तो केवल 'स्व–स्वरूप' ही है। घटादि विषयाकार तो बाह्यविषयस्वरूप स्वतन्त्र ही हैं। ज्ञानों का परिचय जो 'नीलम्, नीलज्ञानम्' इत्यादि आकारों के द्वारा दी जाती है, उसका यह हेतु है कि विषयों के बिना ज्ञानों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान और विषय अभिन्न हैं। फलतः 'नीलाकारकं ज्ञानम्' इस वाक्य का 'नीलविषयकं ज्ञानम्' यह अर्थ है। उस वाक्य का 'नीलाभिन्नं ज्ञानम्' यह अर्थ नहीं है॥ ११५॥

तस्माज्ज्ञानात्मनैकत्वे ग्राह्यभेदनिबन्धनः।
संवित्तिभेदः सिद्धोऽत्र किमाकारान्तरेण नः॥ ११६॥

इससे यह निष्पन्न होता है कि ज्ञानत्व स्वरूप अपने स्वभाव (धर्म) के कारण सभी ज्ञान एक हैं एवं अपने विषयों की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं। यह कल्पना निरर्थक है कि ज्ञान ही स्वाकारक एवं विषयाकारक दोनों हैं॥ ११६॥

निराकारत्वसाम्येऽपि यथाकारवतां ध्रुवम्।
भेदः स्वाभाविकस्तद्वज्ज्ञानानां किं न सिध्यति॥ ११७॥

जिस प्रकार आकार से युक्त घटादि वस्तुओं में 'आकारयुक्तत्व' रूप समता के रहने पर भी भेद 'स्वभावतः' सिद्ध है, उसी प्रकार सभी ज्ञानों में 'निराकारत्व' स्वरूप साम्य के रहने पर भी उनके परस्पर भेद की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है॥ ११७॥

स्मृतेरुत्तरकालं चेत्येतन्मिथ्यैव गीयते ।
तदैव ह्यस्य संवित्तिरर्थापत्त्योपजायते ॥ ११८ ॥

'ज्ञातो मया घटः' इस स्मृति के द्वारा जो ज्ञान के पूर्वानुभव की कल्पना की गयी है, वह भी ठीक नहीं है, उस स्मृति में तो ज्ञान का विषयविधया भान अर्थापत्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है ॥ ११८ ॥

गृहीतमेव यच्चोक्तं तदभेदान्न सत् यतः ।
नास्माभिर्विषयवृत्तेस्त्वं निमित्तमनुयुज्यसे ॥ ११९ ॥
ग्राह्यग्राहककतैवास्य केनचिन्नोपलभ्यते ।
प्रत्यक्षज्ञानपक्षे च नैषा स्यादानुमानिकी ॥ १२० ॥

हम लोगों के (मीमांसकों के) द्वारा ज्ञान और विषय के अभेदपक्ष में दिये गये 'ग्राह्यज्ञान में तदभिन्न ग्राहक (संवित्ति) का भी ग्रहण होना चाहिये' इस आपत्ति को आप (बौद्धों) ने दोनों की वास्तविक अभिन्नता के कारण इष्ट कह कर जो 'अनापत्ति' करार दिया है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि हम लोग इस आपत्ति-बोधक वाक्य का प्रयोग करते कि 'चूँकि ग्राह्य ओर ग्राहक अभिन्न हैं, अतः एक के गृहण से दूसरे का भी गृहण अवश्य होना चाहिये' तो इस 'अनापत्ति' की बात ठीक हो सकती थी । किन्तु हम (मीमांसक) ने इस वाक्य का प्रयोग ही नहीं किया है। हम लोगों ने तो यह कहा है कि 'ग्राह्य (विषय) एवं ग्राहक (संवित्ति) इन दोनों में से किसी एक के गृहण से दूसरा गृहीत नहीं होता । यदि दोनों अभिन्न होते तो ऐसा नहीं होता । अतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों भिन्न ही हैं ।

एवं ज्ञान को यदि प्रत्यक्षवेद्य मान लेते हैं, तो फिर स्मृति के द्वारा ज्ञान के अनुमान की बात ही अयुक्त हो जाती है ॥ ११९–१२० ॥

एकाकारे च विज्ञाने यद्यन्योऽप्यत्र कल्प्यते ।
सहस्राकारतैकस्य कस्मान्न परिकल्प्यते ॥ १२१ ॥

इस प्रकार यदि भिन्नविषयक ज्ञानों को भी विभिन्न न मानें तो एकविषयक ज्ञान 'सहस्राकारक' भी माना जा सकता है, किन्तु सो संभव नहीं है ॥ १२१ ॥

ग्राह्यग्राहकयोर्भेदो नन्वस्त्येव परस्परम् ।
सिद्धो न पक्ष एवं स्यात् न ज्ञानत्वादभेदतः ॥ १२२ ॥
भिन्नाभिन्नत्वमेकस्य कुतोऽत्र परिकल्पितम् ।
त्वया सांख्यमतेनैवमुक्त्वा बुद्धस्य शासनम् ॥ १२३ ॥
एकं चेद् ग्राहकं ग्राह्यं कुतो भिन्नत्ववागियम् ।
भिन्नं चेत् कथमुच्येत तस्यैकत्वं पुनस्त्वया ॥ १२४ ॥

यदि आप (बौद्धगण) यह कहें कि एक ही ज्ञान के ग्राह्य और ग्राहक ये दो अंश हैं । अतः एक के ग्रहण से दूसरे का अग्रहण उचित ही है, इससे दोनों के अभेद

में बाधा नहीं आती है तो इस पर हम लोगों का कहना है कि ऐसी स्थिति में हम लोगों का ग्राह्य और ग्राहक का भेदपक्ष ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि दोनों एक होते तो एक के गृहण से दूसरा अवश्य ही गृहीत हो जाता।

यदि दोनों के विज्ञानस्वरूप होने के कारण उन्हें अभिन्न मानते हैं तो फिर इसका यह अर्थ हुआ कि विज्ञान गृाह्यत्व और गृाहकत्व रूप से यद्यपि भिन्न हैं, किन्तु ज्ञानत्व रूप से अभिन्न हैं। इस प्रकार दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु परस्पर भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं हो सकती।

किन्तु भिन्नाभिन्नत्व का सिद्धान्त तो सांख्यशास्त्रियों का है। बौद्धों का सिद्धान्त तो गृाहक और गृाह्य को एक मानने का है। तो फिर आप (बौद्धों) के द्वारा भिन्नाभिन्नत्व की यह कैसी बात, क्योंकि वे यदि (गृाह्य और गृाहक) भिन्न हैं तो दोनों को एक मानने की चर्चा कैसी ?॥ १२२–१२४ ॥

एकज्ञानादनन्यत्वाद् ग्राह्यग्राहकयोर्मिथः।
एकत्वेन भवेज्ज्ञानं ग्राह्यं ग्राहकमेव वा॥ १२५॥

आप (बौद्धगण) तो यही कह सकते हैं कि गृाह्य और गृाहक चूँकि अभिन्न हैं, एवं एक ही ज्ञान से गृहीत होते हैं, अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसलिये दोनों का ज्ञान 'नीलम्' अथवा 'ज्ञानम्' इन दोनों में से किसी एक ही आकार का हो सकता है॥ १२५॥

तत्र चान्यतरापाये द्वितीयापायतः पुनः।
ज्ञानस्यांशद्वयासत्त्वान्निःस्वाभाव्यावभावता ॥ १२६॥

इस प्रकार गृाह्य और गृाहक दोनों में से एक की सत्ता दूसरे पर आश्रित हो जाती है, क्योंकि ज्ञान न गृाह्यस्वभाव का रह सकेगा न ग्राहकस्वभाव का जिससे ज्ञान के निःस्वभावत्व की आपत्ति होगी। किसी भी निःस्वभावत्व से युक्त वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती॥ १२६॥

भिन्नाभ्यां वाप्यभिन्नत्वाद्भेदो ज्ञानात्मनो भवेत्।
तत्स्वात्मनः ततश्चैवं सिद्धं वस्तुद्वयं हि नः॥ १२७॥

यदि ज्ञान के ग्राहकांश और ग्राह्यांश दोनों को भिन्न मानेंगे तो तदभिन्न ग्राह्यविषयक ज्ञान और ग्राहकविषयक ज्ञान ये दोनों भी भिन्न हो जायेंगे। इस प्रकार 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' नाम की दो वस्तुओं की सत्ता हम लोगों के मत के अनुसार मान लेनी होगी॥ १२७॥

तयोश्च यदि संज्ञेयं ज्ञानमित्यस्त्वयापि वा।
ज्ञानं ज्ञायत इत्यर्थो धीर्भावे करणेऽपि वा॥ १२८॥
सर्वथा वस्तुभेदो नः सिद्धः शब्दो यथारुचि।
प्रवर्ततां न नस्तत्र काचिद् विप्रतिपन्नता॥ १२९॥

ग्राह्य और ग्राहक इन दो वस्तुओं की सत्ता के सिद्ध हो जाने पर यदि दोनों को 'ज्ञान' स्वरूप एक ही संज्ञा दें (एक ही नाम रखें) तथापि कोई क्षति नहीं है, क्योंकि विष्णु-इन्द्रप्रभृति विभिन्न वस्तुओं के भी 'हरि' स्वरूप एक हो नाम की उपलब्धि होती है। अथवा व्युत्पत्ति भेद से एक ही ज्ञान शब्द को यदि ग्राह्य और ग्राहक दोनों का वाचक मानें तथापि ग्राह्य और ग्राहक इन दो स्वतन्त्र वस्तुओं की सत्ता में कोई आँच नहीं आती है, क्योंकि 'ज्ञायते यत् तद् ज्ञानम्' इस कर्मव्युत्पत्ति के अनुसार विषय में ज्ञान शब्द की प्रवृत्ति होगी एवं 'ज्ञायते येन' इस करणव्युत्पन्न अथवा भावव्युत्पन्न 'ज्ञान' शब्द की प्रवृत्ति 'ज्ञान' स्वरूप अर्थ में होगी। इस प्रकार ग्राह्य और ग्राहक दोनों (विभिन्न होने पर भी) एक ही ज्ञान शब्द से अभिहित हो सकते हैं। इससे दोनों के भिन्न होने में कोई बाधा नहीं आती है। अथवा दोनों के अभेद की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार दोनों को यदि एक ही 'ज्ञान' शब्द का अभिधेयार्थ मान भी लें तथापि इसमें हम लोगों को कोई विरोध नहीं है॥ १२८–१२९॥

अथ सत्यपि भिन्नत्वे ग्राह्यं ज्ञानान्तरं भवेत्।
ज्ञानत्वे तस्य का युक्तिः पूर्वोक्ता यदि सेष्यते॥ १३०॥
ज्ञानं ज्ञानमितीवं तु न द्वयोरनुवर्तते।
व्यतिरिक्तं च सामान्यं त्वया नाभ्युपगम्यते॥ १३१॥

वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धगण कहते हैं कि ग्राहक और ग्राह्य दोनों यद्यपि भिन्न हैं, फिर भी वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। किन्तु यह मत भी निर्युक्तिक होने के कारण ठीक नहीं है, क्योंकि घटादि बाह्य वस्तुओं को ज्ञानस्वरूप मानने में कोई युक्ति नहीं है।

कथित व्युत्पत्तिभेद से दोनों को 'ज्ञान' स्वरूप मानें, क्योंकि दोनों 'ज्ञान' शब्द के अभिधेयार्थ हैं, किन्तु ऐसा मानना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि एक व्युत्पत्ति से निष्पन्न अथवा एकप्रवृत्तिनिमित्तक शब्द का अभिधेय एक ही होता है। एवं आप लोग (बौद्धगण) दोनों में अनुस्यूत दोनों से भिन्न 'ज्ञानत्व' नाम की कोई 'जाति' भी स्वीकार नहीं करते जो दोनों में समान रूप से रहकर दोनों विभिन्न विज्ञान व्यक्तियों में 'विज्ञानम्' इस एक आकार की प्रतीति (अनुवृत्ति-प्रत्यय) को उत्पन्न कर सके॥ १३०–१३१॥

व्यतिरेके तयोर्ज्ञानान्न ज्ञानात्मकता भवेत्।
तद्रूपरहितत्वे च ज्ञानाभावः प्रसज्यते॥ १३२॥

यदि मान भी लें कि विज्ञान के ही ग्राह्य और ग्राहक दो आकार हैं, तथापि यह प्रष्टव्य रह जाता है कि—वे दोनों आकार ज्ञान से भिन्न हैं? अथवा अभिन्न? यदि दोनों को 'व्यतिरिक्त' मानें अर्थात् ज्ञान से भिन्न मानें तो फिर वे 'ज्ञान' स्वरूप न रह जायेंगे। एवं ज्ञान के उक्त आकार की ज्ञानभिन्नता के कारण 'ज्ञान' की सत्ता ही विभिन्न हो जायगी॥ १३२॥

ताभ्यां च तस्य सम्बन्धे प्रत्येकं व्यतिषज्य च।
भेदसावयवत्वादिदोषो वैशेषिकादिवत् ॥ १३३ ॥
यथा हि तेषां जात्यादौ दोषा ह्युक्ताः परैरमी।
तथैवैषा प्रसज्यन्ते भिन्नाभिन्नार्थसङ्गतौ ॥ १३४ ॥

आकारों से व्यतिरिक्त ज्ञान में यदि दोनों आकारों में से प्रत्येक का अलग-अलग सम्बन्ध मानें तो वे दोनों आकार भी परस्पर भिन्न हो जायँगे। जैसे भौतिक द्रव्य में प्रत्येकशः विद्यमान गुण और कर्म परस्पर भिन्न ही होते हैं। यदि ज्ञान में दोनों का एक ही सम्बन्ध मानें तो आकारों को सावयव मानना होगा। इस प्रकार वैशेषिक लोगों के सामान्यस्वीकार के पक्ष में जितने भी दोष उनके बौद्धविपक्षियों द्वारा उद्भावित होते हैं वे सभी दोष प्रकृत में—आकार ज्ञान से भिन्न हैं अथवा अभिन्न—इन दोनों पक्षों में उपस्थित हो जायंगे।

यदि ज्ञानत्व जाति को ज्ञान के ग्राह्य और ग्राहक दोनों आकारों से अभिन्न मानें तो वह भी उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि इस पक्ष में आकारों की भिन्नता के साथ दोनों में ज्ञानत्व रूप से अभेद की बात परस्पर विरुद्ध हो जाती है ॥१३३–१३४॥

ताभ्यामव्यतिरेके वा भेदः पूर्वोक्त एव ते।
सादृश्यापोहसामान्यकल्पना वारयिष्यते ॥ १३५ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि ज्ञानत्व को जाति मानने के पक्ष में ये दोष भले हों किन्तु ज्ञानत्व को यदि 'सादृश्य' रूप अथवा 'अपोह' रूप मान लें तो ये सभी दोष मिट जाते हैं। बौद्धों के इस समाधानाभास के प्रसंग में यह कहना है कि) 'सामान्य की सादृश्यस्वरूपता का एवं 'अपोह'स्वरूपता का खण्डन आगे (अपोहवाद, और आकृतिवाद के प्रकरणों में विस्तृत रूप से किया जायगा) ॥१३५॥

वस्त्वन्तरस्य चाभावात् त्वयापोहोऽपि दुष्करः।
नाज्ञानं नाम किञ्चित् स्यादपोह्यं ज्ञानवादिनः ॥ १३६ ॥

'अपोह' अतद्व्यावृत्तत्व स्वरूप है। आप (बौद्धों) के मत से ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। फिर अज्ञानव्यावृत्तिस्वरूप ज्ञानापोह ज्ञान में ज्ञान से भिन्न किसकी व्यावृत्ति का प्रयोजक होगा? यदि यह कहें कि ज्ञान में अज्ञानव्यावृत्ति का ही संपादन ज्ञानापोह से होगा तो यह कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि अज्ञान नाम का कोई 'अपोह्य' अर्थात् व्यावर्त्य नहीं है ॥ १३६ ॥

अपोहो न ह्यभावस्य कथञ्चिदुपपद्यते।
वस्त्वन्तरमभावः स्यादपोह्यत्वाच्च वस्तुता ॥ १३७ ॥

यदि यह कहें कि ज्ञान से भिन्न किसी वस्तु के न रहने पर भी ज्ञानाभाव (अवस्तु) से ही ज्ञान को व्यावृत्त 'अज्ञानापोह' से समझा जा सकता है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि बौद्धों के मत से ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं

है, अतः ज्ञानाभावस्वरूप अज्ञान भी ज्ञानस्वरूप ही होगा। ज्ञान से ज्ञान की ही व्यावृत्ति कैसे होगी? इस प्रकार प्रकृत में ज्ञानत्वस्वरूप अपोह अपोह्यव्यावृत्ति स्वरूप हो ही नहीं सकता।

यदि ज्ञानत्वस्वरूप अपोह के अपोह्य (व्यावर्त्य) को ज्ञानाभावस्वरूप मानें तो इस अपोह्य का अपोह (ज्ञानत्व) 'वस्तुनिवृत्ति' स्वरूप न होकर 'वस्तु-स्वरूप' ही होगा। अर्थात् कथित अभाव (ज्ञानाभाव) स्वरूप अपोह्य का अपोहस्वरूप ज्ञानसामान्य (ज्ञानत्व) वस्तुस्वरूप (भावपदार्थ) ही होगा, क्योंकि 'अवस्तु' की 'निवृत्ति' (अभावाभाव) अभावस्वरूप न होकर ज्ञानत्वस्वरूप। अपोह (अज्ञानव्यावृत्ति) अभाव स्वरूप से भिन्न कोई भाव स्वरूप कोई दूसरा ही पदार्थ होगा। इससे यह अनुमान निष्पन्न होगा कि जिस प्रकार गोभिन्नभिन्नत्व स्वरूप गोत्वात्मक अपोह का अपोह्य अश्वादि भावात्मक ही होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानत्वस्वरूप अभावात्मक अपोह का अपोह्य अज्ञान भी वस्तुस्वरूप भावात्मक ही है। (अज्ञानं 'वस्तु' अभावात्मकज्ञानत्वसामान्यस्य अपोह्यत्वात् अश्वादिवत्) ॥ १३७ ॥

तेनाज्ञाननिवृत्तौ हि ज्ञानेऽन्यार्थः प्रसज्यते।
कल्पितं स्यादपोह्यं चेत् नात्यन्तासत्यकल्पना ॥ १३८ ॥
बुद्धिरज्ञाननिर्भासा तत्राज्ञानं प्रकल्पितम्।
ततश्च ज्ञानमेवैकमपोह्यत्वेन सम्मतम् ॥ १३९ ॥
न चात्मापोह एवास्ति क्वचित् सामान्यकल्पने।
वृक्षस्य न ह्यपोह्यत्वं वृक्षेणैव कदाचन ॥ १४० ॥

तेनाऽज्ञान.........कल्पितं स्यात्

इस प्रकार अपोह्य चूंकि अभावस्वरूप न होकर भावस्वरूप ही होगा, अतः ज्ञानत्वस्वरूप अपोह को (अज्ञाननिवृत्ति को) अभावात्मक होना आवश्यक है। अतः उसका अपोह्य ज्ञान से अन्य कोई भाव पदार्थ ही होगा, ज्ञान उसका अपोह्य नहीं हो सकता। फलतः 'ज्ञानाऽद्वैत' का बौद्धसिद्धान्त व्याहत हो जायगा, क्योंकि ज्ञान से भिन्न अज्ञान नाम के भावपदार्थ की सत्ता माननी पड़ेगी।

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि) 'कल्पना' स्वरूप 'ज्ञान' अर्थात् मिथ्याज्ञान ही 'अज्ञान' है। अर्थात् प्रकृत 'अज्ञान' शब्द में प्रयुक्त 'नञ्'शब्द 'विरोधी' अर्थ का बोधक है। अतः प्रमाज्ञानभिन्नभिन्नत्व स्वरूप ज्ञानत्व ही प्रकृत में ज्ञानत्वस्वरूप अपोह है एवं 'कल्पनाज्ञान' अर्थात् मिथ्याज्ञान ही उसका अपोह्य (व्यावर्त्य) है।

अत्यन्तासत्यकल्पना

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी संगत नहीं होगा, क्योंकि विशेष प्रकार की बुद्धि को ही 'कल्पना' कहते हैं। सर्वथा असत् पदार्थ का भी बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं

हो सकता। आप लोगों (बौद्धों) के मत से ज्ञान के द्वारा 'ज्ञानात्मा' अर्थात् ज्ञान स्वरूप कोई दूसरा ज्ञान ही गृहीत हो सकता है। सर्वथा असत्पदार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः आप के मत से अत्यन्तासत्पदार्थविषयक यह कल्पना भी (अज्ञान भी) बुद्धि स्वरूप ही निष्पन्न होती है। फलतः ज्ञान ही ज्ञानत्व स्वरूप अपोह का अपोह्य हो जाता है। किन्तु सो संभव नहीं है, क्योंकि 'स्व' स्व का अपोह्य नहीं हो सकता। जैसे कि वृक्षत्व (अवृक्षव्यावृत्ति) स्वरूप अपोह का अपोह्य (व्यावर्त्य) वृक्ष कभी नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानत्वस्वरूप अपोह का अपोह्य ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १३८–१४० ॥

अपोह्ये चैव विज्ञाने ज्ञानत्वं न भवेत् तव।
वृक्षत्वं न ह्यपोह्येषु कलशादिषु युज्यते ॥ १४१ ॥

कथित युक्ति के अनुसार आप (बौद्धों) के मत से ज्ञानत्व स्वरूप अपोह का अपोह्य कभी भी 'ज्ञान' स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वृक्षत्व के अपोह्य (वृक्ष से भिन्न) घटादि वस्तुओं में वृक्षत्व की सत्ता नहीं रह सकती ॥ १४१ ॥

ततश्चाज्ञानमेवार्थ इत्यभिन्नार्थता भवेत्।
अज्ञानप्रत्ययश्चायं किमालम्बन इष्यते ॥ १४२ ॥

यदि अज्ञान स्वरूप अपोह्य में ज्ञानत्व नहीं रहेगा तो फिर ज्ञान से भिन्न होने के कारण 'अज्ञान' शब्द और 'अर्थ' शब्द दोनों पर्याय (एकार्थक) हो जाँयगे ॥ १४२ ॥

न तावज्ज्ञाननिर्मुक्तमज्ञानं ग्राह्यमस्ति ते।
न च वस्तु निषिद्धं तदभावः किं न गृह्यते ॥ १४३ ॥
भावो न गृह्यते येन तस्याभावेषु का कथा।
स्वांशपर्यवसानं च तुल्यमत्रापि कारणम् ॥ १४४ ॥

(बौद्धगण कदाचित् यह कहें कि हम लोग ज्ञान से भिन्न 'वस्तु' अर्थात् भाव पदार्थ का खण्डन करते हैं, अभाव पदार्थ का नहीं। अतः 'ज्ञानाभाव' स्वरूप अपोह्य को ज्ञान का विषय मान लेने पर भी 'विज्ञानाद्वैतवाद' में कोई बाधा नहीं आती है। किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि) जिस विज्ञान के द्वारा (स्वात्मविज्ञान से भिन्न) घटादि भाव पदार्थों का ग्रहण नहीं हो सकता उसके द्वारा विज्ञान से भिन्न अभाव के ग्रहण की चर्चा ही व्यर्थ है। क्योंकि विज्ञान में घटादि की ग्राहकता का निराकरण इस युक्ति से किया जाता है कि विज्ञान केवल स्वात्म-स्वरूप विज्ञान का ही ग्राहक हो सकता है, किसी अन्य वस्तु का नहीं। विज्ञान के द्वारा अभाव के ग्रहण में यह युक्ति समान रूप से लागू होती है, क्योंकि अभाव आत्म-विज्ञान स्वरूप नहीं है ॥ १४३–१४४ ॥

तेन ज्ञानान्तरं वा स्याद् ग्राह्यमात्मांश एव वा।
स्वरूपविपरीतं च कथं ग्राह्यं प्रतीयते ॥ १४५ ॥

तस्मात् ज्ञान के द्वारा 'स्व' स्वरूप विज्ञान अथवा कोई दूसरा विज्ञान ही गृहीत हो सकता है, विज्ञान से भिन्न अभाव का गृहण विज्ञान से कैसे होता है ? अर्थात् जो बौद्धादि विज्ञान से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता को अस्वीकार करने के आगृह में सर्वजनसिद्ध घटादि पदार्थों की सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं, वे ज्ञान से भिन्न अज्ञान स्वरूप अभाव की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? ॥ १४५ ॥

यथोष्णेऽनुष्णधीर्नास्ति ज्ञानेऽप्यज्ञानधीस्तथा ।
तेन न ज्ञानमात्रत्वे स्यादपोह्यं कथञ्चन ॥ १४६ ॥

जिस प्रकार उष्ण पदार्थ में 'अयमनुष्णः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञान पदार्थ में 'इदमज्ञानम्' इस आकार की प्रतीति नहीं हो सकती । अर्थात् ज्ञान से भिन्न किसी वस्तु के रहने के कारण किसी भी वस्तु में 'इदमज्ञानम्' यह प्रतीति नहीं हो सकती । अतः विज्ञानवाद में ज्ञानत्वस्वरूप अपोह का कोई 'अपोह्य' नहीं हो सकता ॥ १४६ ॥

ग्राह्यग्राहकयोश्चातो न ज्ञानात्मसमानता ।
तस्मादन्यतरत्रैवं ज्ञानत्वं सम्प्रतीयते ॥ १४७ ॥

इस प्रकार ज्ञानत्व जाति के रहने से ग्राह्य और ग्राहक (अर्थात् विषय एवं ज्ञान ये दोनों) ज्ञानत्व रूप से अभिन्न नहीं हो सकते । 'तस्मात्' ग्राह्य और ग्राहक इन दोनो में से किसी एक में ही ज्ञानत्व की सम्यक् प्रतीति होती है ॥ १४७ ॥

तत्राप्युभयसिद्धत्वाद् ग्राहकस्येति गम्यते ।
वस्तुभेदे प्रसिद्धे च व्यपदेशो यथारुचि ॥ १४८ ॥
ज्ञानमस्तूभयं वार्थो ग्राहको वार्थ उच्यताम् ।
बुद्ध्योरयुगपद्भावान्न द्वयोर्मेयमानता ॥ १४९ ॥
क्षणिका हीत्यनेनोक्तमर्थो ह्येकः प्रसज्यते ।
अन्योन्यनिरपेक्षत्वाद् युगपच्चापि जन्मनि ॥ १५० ॥
मानमेयत्वनास्तित्वम् क्रियाकारकवर्जनात् ।
अर्थविज्ञानयोरत्र या मितिं प्रति सङ्गतिः ॥ १५१ ॥
कार्यकारणभावोऽयम् नान्यत्रैवं च दृश्यते ।
नियमश्च न लभ्येत सव्यदक्षिणशृङ्गवत् ॥ १५२ ॥
इदं कार्यमयं हेतुर्द्वयं नान्योन्यसंश्रयात् ।
तद्भावभावितामात्रं हेतुः केनैव कल्प्यते ॥ १५३ ॥
पौर्वापर्यविनिर्मुक्तं कार्यकारणलक्षणम् ।
गवाश्वस्य यथा नास्ति पौर्वापर्येऽपि तत् तथा ॥ १५४ ॥

युगपज्जायमानेऽपि सन्तत्यन्तरजे क्षणे।
रूपादिषु घटे यद्वत् तस्मात् पूर्वमवस्थिते ॥ १५५ ॥
यो यस्माज्जायते पश्चात् स तत्कार्यमितीष्यते।
हेतुहेतुमतां सिद्धं यौगपद्यनिदर्शनम् ॥ १५६ ॥
यत् प्रदीपप्रभाद्युक्तं सूक्ष्मः कालोऽस्ति तत्र नः।
दुर्लक्षस्तु यथा बेधः पद्मपत्त्रशते तथा ॥ १५७ ॥

कथित दोनों में से वह 'एक' ग्राहक (ज्ञान) ही है, जिस में ज्ञानत्व की सम्यक् प्रतीति होती है, क्योंकि ग्राहक (ज्ञान) में ज्ञानत्व उभयमतसिद्ध है अर्थात् हम (मीमांसक) और बौद्ध दोनों ही स्वीकार करते हैं। घटादि ग्राह्य वस्तुओं को केवल बौद्ध ही ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार ग्राहक और ग्राह्य दोनों के भिन्न हो जाने पर व्यवहार के लिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वातन्त्र्य है कि दोनों को एक ही 'ज्ञान शब्द' से अथवा दोनों को 'अर्थ शब्द' के द्वारा ही अभिहित करें किंवा ग्राहक को 'अर्थ शब्द' के द्वारा ही व्यक्त करें।

किन्तु इतना निश्चित है कि ग्राहक और ग्राह्य दोनों जिस लिये कि 'अयुगपद्भावी' अर्थात् विभिन्न कालों में उत्पन्न होते हैं, अतः दोनों में से प्रत्येक प्रमाण और प्रमेय दोनों नहीं हो सकते, उनमें से एक प्रमाण और दूसरा प्रमेय अवश्य होगा। यही बात **'क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थाप्यते'** (शाबरभाष्य–शून्यवाद पृ० ३२ पं० १ आनन्दाश्रम संस्करण) इस भाष्य के सन्दर्भ से कही गयी है।

अर्थो ह्येषः

यदि पूर्ववर्त्ती बुद्धि की सत्ता उत्तरकाल में उत्पन्न बुद्धि पर्यन्त मानेंगे तो उक्त पूर्ववर्त्ती बुद्धि 'अर्थ' ही होगी, ज्ञान नहीं, क्योंकि ज्ञान को क्षणिक होना अनिवार्य है।

कहने का तात्पर्य है कि विज्ञानवादी ,वैभाषिकों के मत से सभी ज्ञान क्षणिक हैं। अतः उत्तरविज्ञान कभी भी पूर्वविज्ञानविषयक प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्त्तमानकालिक वस्तु का ही होता है। अतः 'नीलम्' इस आकार का ज्ञान 'इदंकारास्पद' बाह्यनीलविषयक ही है, विज्ञानस्वरूप (स्वात्म)विषयक नहीं।

इसी प्रकार 'युगपत्' अर्थात् एक ही काल में उत्पन्न दो ज्ञानों में से एक को ग्राहक और दूसरे को ग्राह्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि युगपदुत्पन्न उक्त दोनों ही ज्ञान परस्पर निरपेक्ष हैं। अतः इन में से कोई किसी का कार्य अथवा कारण नहीं है। अतः इनमें से कौन ग्राहक होगा एवं कौन ग्राह्य होगा ? इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।

क्रियाकारकवर्जनात्

उत्पादन स्वरूप क्रिया (धात्वर्थ) का कर्म कारक ही 'कार्य' है। एवं उक्त क्रिया का ही कर्त्ता अथवा करण ही 'कारण' कहलाता है। एक ही काल में उत्पन्न

(युगपदुत्पन्न) दो वस्तुओं में से किसी एक वस्तु में उत्पादन क्रिया का कर्मत्व एवं कर्तृत्व दोनों संभव नहीं हैं, क्योंकि 'सिद्ध' पदार्थ ही कर्त्ता होता है एवं कर्म असिद्ध पदार्थ ही होता है। एक ही समय उत्पन्न दो वस्तुओं में से एक 'सिद्ध' (कर्त्ता) और दूसरा 'असिद्ध' (कर्म) नहीं हो सकता। इस लिये विज्ञानों में चूँकि कार्यकारणभाव संभव नहीं है, अतः दोनों ग्राह्य-ग्राहक संभव नहीं है। इस लिये 'नीलम्' इत्यादि प्रतीतियों में नीलादि बाह्य वस्तु ही विषय हैं, नीलादि-विज्ञान नहीं।

नान्यत्रैवम्

एक ही काल में उत्पन्न हुई दो वस्तुओं में कहीं अन्यत्र कार्यकारणभाव दृष्ट नहीं है। इस लिये प्रकृत में भी कार्यकारणभाव की उपपत्ति संभव नहीं है।

नियमश्च न........अयम् हेतुः

जिस प्रकार एक ही समय उत्पन्न पशु के दोनों शृङ्गों में से किसी एक में 'यह इसका कार्य है' अथवा 'यह इसका कारण है' इस प्रकार के किसी नियम की उपपत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार आप (बौद्धों) के ज्ञानयौगपद्य पक्ष में भी एक ही समय उत्पन्न दो ज्ञानों में भी कथित कार्यकारणभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती।

द्वयम्

(बौद्धपक्ष) दोनों ही विज्ञानों के 'तत्कालोत्पन्नत्व' एवं 'अपरकालोत्पन्नत्व' स्वरूप 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म जब तक ज्ञात रहते तब तक दोनों में से एक में 'यह कारण है' एवं दूसरे में 'यह कार्य है' इस प्रकार के नियम में कोई बाधा तो नहीं है।

नान्योन्यसंश्रयात्

बौद्धों का उक्त समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है। क्योंकि पहले विज्ञान की कारणता परवर्त्तिविज्ञान की कार्यता के अधीन है एवं परवर्त्तिविज्ञान की कार्यता पूर्ववर्त्तिविज्ञान की कारणता के अधीन है।

तद्भावभावितामात्रम्........वर्ण्यते

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि जिस प्रकार क्रमशः उत्पन्न बीज और अङ्कुर इन दोनों में कार्यकारणभाव इसलिए है कि बीज की सत्ता (भाव) से ही अङ्कुर 'सत्ता' को प्राप्त होता है, इस प्रकार का 'तद्भावभावित्व' अर्थात् बीजसमाधीन सत्ता का रहना ही अङ्कुर में कार्यत्व का एवं बीज में कारणत्व का नियामक है। इसी प्रकार युगपदुत्पन्न होने पर भी दो विज्ञानों में भी यह 'तद्भावभावित्व' विद्यमान है। अतः युगपदुत्पन्न दो वस्तुओं में भी कथित तद्भावभावित्वमूलक कार्यकारण-भाव हो सकता है। अतः एक ही समय उत्पन्न होना (युगपदुत्पन्नत्व) कार्यकारण-भाव का बाधक नहीं हो सकता।

बौद्धों के इस कथन के प्रतिवाद में हम मीमांसकों का कहना है कि 'हैतुक' अर्थात् कार्यकारणभाव को स्वीकार करनेवाले हम मीमांसकगण पौर्वापर्य से रहित केवल 'तद्भावभावित्व' को कार्यकारणभाव का लक्षण ही नहीं मानते हैं। अर्थात् केवल 'तद्भावभावित्व' ही 'कार्यकारणभाव' का लक्षण नहीं है, किन्तु 'पौर्वापर्य' से युक्त 'तद्भावभावित्व' ही कार्यकारणभाव का लक्षण है। इसके लक्षण के लिये 'नियम' और 'पौर्वापर्य' दोनों प्रयोजक हैं। अर्थात् कार्यनियतपूर्ववर्त्ति ही कारण है एवं कारण नियतोत्तरवर्त्ति ही कार्य है। यदि केवल पूर्ववर्त्ति ही कारण हो अथवा उत्तरवर्त्तित्व ही कार्य का लक्षण हो तो गो और अश्व इन दोनों में भी कार्यकारण-भाव स्वीकार करना होगा।

सन्तत्यन्तरजे……घटे वद्वत्

एवं यदि केवल पूर्ववर्त्तित्व ही कारणत्व हो, तद्भावभावित्व उसका प्रयोजक न हो तो घटादि में रूपोत्पत्तिक्षण के बाद उत्पन्न होनेवाले रसादि में भी कार्यकारण-भाव स्वीकार करना होगा। अतः केवल पूर्ववर्त्तित्व कारणत्व के लिए आवश्यक है।

तस्मात् पूर्वम्……तत्कार्यमितीष्यते

'तस्मात्' पूर्ववर्त्तिपदार्थों में से जिस वस्तु से जो कार्य उत्पन्न होता है वही पूर्ववर्त्तिपदार्थ उस कार्य का कारण है एवं वही उत्तरवर्त्तिपदार्थ उस कारण का कार्य है, सभी उत्तरवर्त्ति पदार्थ नहीं।

हेतुहेतुमताम्

युगपत् (एक ही समय) उत्पन्न वस्तुओं में कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए बौद्धगण जो प्रदीप और प्रभा का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि दीप जलाने के बाद ही प्रभा की उत्पत्ति होती है। अन्तर केवल इतना है कि दीप जलाने के बाद इतनी शीघ्रता से प्रभा (उजाले) की उत्पत्ति होती है कि उस सूक्ष्म काल का स्थूल दृष्टि से भान नहीं हो पाता है। अतः प्रदीप और प्रभा में जो यौगपद्य (एक ही समय उत्पन्न होने) की बात कही जाती है, उसको 'उत्पलशतभेद' की तरह अतिशीघ्रतामूलक ही समझना चाहिए ॥ १४८–१५७ ॥

भागयोर्यौगपद्येन तथैव स्यान्निराक्रिया।
न च शक्त्यर्पणद्वारं क्रमेणालम्बनं भवेत् ॥ १५८ ॥
ग्राह्यं तदा ह्यतीतं स्यात् ताद्रूप्यं चाप्रमाणकम्।
अतीत्वानुविद्धो हि स्मृत्या ग्राह्योऽनुभूयते ॥ १५९ ॥
तद्वदेव भवेदत्र स्वप्ने न स्याद् विपर्ययात्।
तत्र ह्यवर्तमानोऽपि गृह्यते वर्तमानवत् ॥ १६० ॥
बाधज्ञानादिदं भ्रान्तं न त्वत्रैवं विपर्ययः।
तस्मात् प्रत्यक्षबुद्धीनां नातीतो विषयो भवेत् ॥ १६१ ॥

अतीतत्वाद् यथैवासां वृत्तौ जन्मान्तरेषु यः ।
तद्रूपत्वेन वा ज्ञानं हेतुर्भावविवदुच्यते ॥ १६२ ॥
अतीतत्वेऽपि नार्थोऽयं धीरेवेत्यत्र का प्रमा ।
अतीतं यच्च विज्ञानं ग्राह्यत्वेन प्रकल्पितम् ॥ १६३ ॥
तस्माद् ग्राहकरूपं वा ग्राह्यं वोभयथापि वा ।
ग्राह्याकारत्वमात्रे स्यादयं शब्दान्तरेण ते ॥ १६४ ॥
स्वकाले चाप्यसंवित्तेर्न स्याच्छक्त्यर्पणं ततः ।
यथैवानागताज् ज्ञानात् सन्तत्यन्तरजादपि ॥ १६५ ॥
दृढत्वेनाप्यविज्ञातात् तथोत्पन्नाद् विनश्यतः ।
केवलग्राहकत्वे तु विषयत्वं न युज्यते ॥ १६६ ॥
किमपेक्ष्य च तस्येदं ग्राहकत्वं प्रकल्प्यते ।
द्वयाकारता निरस्तैव संवेद्येत तदेव च ॥ १६७ ॥

बौद्धगण एक बात यह भी कहते हैं कि एक ही विज्ञान के दो भाग हैं, एक भाग के द्वारा वह ग्रहण करता है, और दूसरे भाग के द्वारा वह गृहीत होता है। इनमें पहला भाग 'ग्राहक' कहलाता है, एवं दूसरा भाग 'ग्राह्य'। इस प्रकार एक ही क्षण में उत्पन्न एक ही विज्ञान 'ग्राह्य' और 'ग्राहक' दोनों ही हैं।

'एक क्षण में उत्पन्न दो वस्तुओं में परस्पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकता' इस प्रकृत प्रसङ्ग के द्वारा बौद्धों के उक्त कथन का भी खण्डन इस अभिप्राय से किया गया है कि 'ग्राह्यग्राहकभाव' चूंकि कार्यकारणभाव का ही एक स्वरूप है, अतः युगपदुत्पन्न वस्तुओं में कार्यकारणभाव के खण्डन से युगपदुत्पन्न विज्ञान के दो भागों में ग्राह्यग्राहकभाव को भी खण्डित समझना चाहिये।

न च शक्त्यर्पणम्

(पू० प०) ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों की उत्पत्ति एक ही काल में (युगपत्) मानने से उन दोनों में कार्यकारणभाव या ग्राह्यग्राहकभाव भले ही सम्भव न हो, किन्तु क्रमशः उत्पन्न अनेक विज्ञानों में से पहला विज्ञान दूसरे विज्ञान के द्वारा गृहीत हो सकता है। फलतः कथित प्रथम विज्ञान ग्राहक और द्वितीय विज्ञान ग्राह्य हो सकता है।

एवं यह जो कहा है कि पूर्वविज्ञान उत्तरक्षण में चूंकि अतीत है, अतः उस क्षण में उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा अतीत वस्तु का ग्रहण नहीं होता।

एवं (शक्त्यर्पण) के द्वारा उत्तरविज्ञान के द्वारा अतीत वस्तु का भी ग्रहण हो सकता है। जिस प्रकार पूर्वानुभव के द्वारा संस्कारस्वरूप शक्ति का अर्पण करने पर स्मृति में अतीत पूर्वानुभव का भान होता है उसी प्रकार पूर्वविज्ञान के द्वारा

उत्तरविज्ञान में अर्पित 'वासना' स्वरूप 'शक्ति' के द्वारा अतीत पूर्वविज्ञान का भान हो सकता है।

(सि० प०) बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तरविज्ञान के समय पूर्वविज्ञान चूंकि अतीत हो जाता है इसलिए वर्त्तमानत्व रूप से उसका गृहण अप्रामाणिक हो जायगा।

(पू० प०) अतीतत्वानुविद्धो हि········भवेत्तत्र

यदि पूर्वविज्ञान से वासनास्वरूप शक्ति के अर्पण द्वारा ही उत्तरविज्ञान पूर्व-विज्ञान का गृाहक हो तो फिर जिस प्रकार पूर्वानुभव से संस्काररूप शक्त्यर्पण के कारण स्मृति में अतीतत्व से युक्त विषय भासित होता है, उसीर प्रकार उत्तर-विज्ञान के द्वारा अतीतत्वरूप से पूर्वविज्ञान का भी गृहण होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता।

स्वप्ने न स्यात्

एवं स्वप्न में भी तो पूर्वाऽनुभूत वस्तु का ही गृहण होता है, वहाँ भी अतीतत्व रूप से ही वस्तु का भान होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यह नहीं माना जा सकता कि पूर्वाऽनुभूत वस्तु का भान अतीतत्वरूप से ही हो।

नत्वत्रैवम्

(सि० प०) ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि स्वप्न विपर्ययात्मक भ्रमरूप है। जो जिस प्रकार का नहीं है, उस प्रकार से उसका गृहण ही 'विपर्यय' है। अतः स्वप्न में अवर्त्तमान पदार्थ का ही वर्त्तमानत्वरूप से भान होता है। 'कौन सा गृहण भ्रान्तिस्वरूप है ?' इसका निर्णय उत्तरकाल में उत्पन्न 'यह इस प्रकार का नहीं है' इस आकार के बाधज्ञान से होता है। उत्तरविज्ञान के द्वारा घटात्मक पूर्वविज्ञान का बाधक उक्त प्रकार का कोई बाधज्ञान उपस्थित नहीं होता। अतः उसे विपर्ययात्मक नहीं माना जा सकता। इसलिये स्वप्न का दृष्टान्त अयुक्त है।

तस्मात्······

इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है :—

(१) 'अनन्तरातीतविज्ञानं प्रत्यक्षस्यालम्बनं न भवति, अतीतत्वात्, जन्मान्तरा-तीतविज्ञानवत्' अर्थात् जिस प्रकार दूसरे जन्म का अतीत विज्ञान केवल अतीत होने के नाते ही प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, उसी प्रकार एतत्कालिक विज्ञान के अव्य-वहित पूर्ववर्त्तिविज्ञान भी चूंकि एतत्काल में अतीत हो चुका है, अतः प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।

तद्रूपत्वेन वा ज्ञानम्

(२) अथवा हेतु एवं दृष्टान्त को बदल कर उसी पक्ष में उसी साध्य का दूसरा अनुमान भी हो सकता है कि 'अनन्तरातीतविज्ञानं प्रत्यक्षस्यालम्वनं न भवति, अतीततया प्रतिभासभानत्वात् भाविविज्ञानवत्' अर्थात् जिस प्रकार भविष्यद्वस्तु कभी

भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं होती, उसी प्रकार उक्त पूर्वविज्ञान उत्तर विज्ञान के द्वारा इस लिये गृहीत नहीं होगा कि वह अतीतवस्तुविषयक है।

अतीतत्वेऽपि

यह मान भी लें कि प्रथमक्षणवर्त्ति उक्त अतीत वस्तु वर्त्तमान विज्ञान में भासित तो होती है किन्तु अतीतत्व रूप से नहीं तथापि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि वह अतीत वस्तु विज्ञान स्वरूप ही है, अर्थ स्वरूप नहीं।

अतीतं यच्च.......उभयथापि वा

आप लोग (बौद्धगण) जिस अतीत विज्ञान को 'ग्राह्य' कहते हैं, वह (१) केवल ग्राह्याकार है ? (२) अथवा तदभिन्न होने के कारण ग्राहकाकार ही है ? किं वा (३) ग्राह्य एवं गृाहक एतदुभयाकारक भी है ? यदि उसे केवल ग्राह्याकार मानें तो फिर वह दूसरे शब्द में 'अर्थ' ही अभिहित होता है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न ज्ञान का विषय 'अर्थ' ही 'ग्राह्य' कहलाता है।

स्वकाले चाथ

'ग्राह्याकार' विज्ञान ही 'वासना' के प्रभाव से उत्तरक्षण में 'ग्राहकाकार' उत्पन्न होता है' इस बौद्धपक्ष की उपपत्ति भी 'प्रथमविज्ञान केवल ग्राह्यस्वरूप ही है' इस प्रथम पक्ष में नहीं होती है, क्योंकि उत्तरवर्त्ति ग्राहकाकार विज्ञान पूर्ववर्त्ति ग्राह्याकारजनित वासना के द्वारा ही पूर्ववत्ति ग्राह्य विज्ञान का ग्रहण करता है, किन्तु 'स्वकाल' में अर्थात् प्रथम क्षण में उक्त ग्राह्य विज्ञान वासनास्वरूप 'शक्ति' का अर्पण ग्राहकाकार विज्ञान में नहीं कर सकता। फलतः ग्राहकाकार विज्ञान में ग्राह्यविषयकत्व की उपपत्ति नहीं होगी।

यथैवानागतम्.......तयोत्पन्नाद्विनश्यतः

एवं जिस प्रकार भविष्यत्कालिक विज्ञान में से वर्तमानकालिक विज्ञान में शक्त्यर्पण (वासना का संक्रमण) नहीं होता है एवं जिस प्रकार घटविज्ञानधारा (सन्तति) के बीच घटविज्ञान से पटविज्ञान में शक्ति का समर्पण नहीं होता है उसी प्रकार दृढत्व रूप से अज्ञात एवं क्षण मात्र में विनष्ट होने वाले विज्ञान से शक्त्यर्पण स्वरूप कार्य संभव नहीं हो सकता। (विवादाध्यासिताद्विज्ञानात् शक्त्यर्पणं न संभवति, दृढत्वेनाज्ञातत्वात् उत्पन्नमात्रविनष्टत्वाच्च अनागतविज्ञानवत् सन्तत्यन्तर-विज्ञानवच्च)।

केवलग्राहकत्वे तु.......किमपेक्ष्य च

(१) उसको यदि केवल ग्राहक स्वरूप मानें तो फिर वह 'ग्राह्यविज्ञान' ग्राहक-विज्ञान का विषय नहीं हो सकता। (२) यदि कथित 'ग्राह्य' वस्तु को केवल ग्राहका-कार मानेंगे तो निर्देश करना होगा कि किस ग्राह्य का वह ग्राहक है, क्योंकि ग्राहकत्व ग्राह्यसापेक्ष है।

द्व्याकारता निरस्तैव

जिस प्रकार वह केवल ग्राहकाकार अथवा केवल ग्राह्याकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह एक ही 'ग्राह्यवस्तु' ग्राह्य एवं ग्राहक एतदुभयाकार भी नहीं हो

सकती । एक द्व्याकारता (दो आकारों का होने) का खण्डन हम (श्लो० ८७ में) कर चुके हैं ।

संवेद्येत तथैव च

यदि ग्राह्य ही ग्राहकाकार भी हो तो फिर जिस क्षण में वह उत्पन्न होगा, उसी क्षण मे उसे ज्ञान भी होना चाहिये । किन्तु ऐसा आप (बौद्धगण) भी स्वीकार नहीं करते ।। १५८–१६७ ।।

> **ततश्चोत्तरविज्ञानं न प्रतीक्षेत बोधकम् ।**
> **द्व्याकारकल्पनायां च परस्यात्मांश एव ते ।। १६८ ।।**
> **प्रमापर्यवसानेन नातीतो विषयो भवेत् ।**
> **पूर्वग्राह्यसरूपत्वे ग्राहकत्वं प्रहीयते ।। १६९ ।।**
> **ग्राहकाकारमात्रे स्याद् विषयो नासरूपतः ।**
> **न च शक्त्यर्पणस्यात्र व्यापार उपलभ्यते ।। १७० ।।**

ततश्चोत्तरविज्ञानम्

यदि कथित पूर्वविज्ञान केवल ग्राहकाकार हो तो वह अपने ज्ञान के लिये उत्तर विज्ञान की अपेक्षा ही नहीं रखेगा, क्योंकि वह स्वयं गृाहक है । जैसे कि दीप अपने प्रकाश के लिये दूसरे दीप की अपेक्षा नहीं रखता है ।

द्व्याकारकल्पनायाञ्च

ग्राह्य विज्ञान के प्रसङ्ग में कथित त्रिविध विकल्पों के प्रत्येक पक्ष के खण्डित हो जाने पर अब प्रथम विज्ञान के ग्राहक द्वितीय विज्ञान के प्रसङ्ग में भी कथित ये तीन पक्ष उपस्थित होते हैं कि क्या वह द्वितीय विज्ञान (१) ग्राहक रूप है ? (२) अथवा केवल ग्राह्य स्वरूप है ? (३) कि वा ग्राह्य एवं ग्राहक एतदुभयस्वरूप है ? इनमें 'द्व्याकारता' स्वरूप तृतीय पक्ष को यदि स्वीकार करें तो ग्राह्य विज्ञान को ग्राहक स्वरूप भी मानना होगा । इस प्रकार यदि (आत्मांश) अर्थात् स्वस्वरूपग्राहक विज्ञान ही ग्राह्य होने से गृहीत हो जायगा तथापि उस ग्राहक (प्रमाण) से उत्पन्न स्वविषयक ज्ञान यथार्थ ही होगा, प्रथम विज्ञान उसका विषय नहीं होगा । यदि उस ग्राहकविज्ञान से उस अतीत विज्ञान की उत्पत्ति भी होगी, तो वह ज्ञान अयथार्थ ही होगा, क्योंकि बौद्धमत में स्वाभिन्नप्रमाणजन्यत्व ही प्रमाज्ञान का लक्षण होगा ।

(२) यदि द्वितीय विज्ञान को केवल ग्राह्याकारक ही मानेंगे तो उसका ग्राहकत्व अर्थात् प्रथमविषयकग्राहजनकत्व ही भङ्ग हो जायगा, क्योंकि ग्राह्य ही ग्राहक नहीं है ।। १६८–१७० ।।

> **शक्त्यर्पणस्य चाभावो युष्मत्पक्षे प्रसाधितः ।**
> **सन्तानान्तरवच्चैषां निषेध्या हेतुसाध्यता ।। १७१ ।।**

वास्यवासकभावश्च ज्ञानत्वादेकसन्ततौ ।
तस्मात् तद्भासकं रूपं तद्ग्राह्यात् तस्य भिन्नता ॥१७२॥
तत्संवित्तावसंवित्ते रसादिग्राहकं यथा ।
ग्राह्यं तद्ग्राहकाच्चैव तत्परामृशता यतः ॥ १७३ ॥
न परामृश्यतेऽवश्यं रसादिग्राहकं यथा ।
द्वयं परस्परेणैवं भिन्नं साध्यं रसादिवत् ॥ १७४ ॥

आपके (बौद्धों के) शक्त्यर्पण (वासनासंक्रम) सिद्धान्त का खण्डन पहले (निरालम्बनवाद में अवस्थिता हि वास्यन्ते श्लो० १८५ में) भी किया जा चुका है।

सन्तानान्तरवत्……वास्यवासकभावश्च……एकसन्ततौ

एक सन्तान के अन्तर्गत दो ज्ञानों में ग्राह्यग्राहकभाव जिस अनुमिति के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, उन दोनों में से एक ज्ञान को साध्य और दूसरे ज्ञान को हेतु होना आवश्यक है। एवं 'वासना' के द्वारा भी ग्राह्यग्राहकभाव की सिद्धि के लिये दोनों में वास्यवासकभाव सम्बन्ध आवश्यक है। किन्तु एक समूह (सन्तान) के अन्तर्गत दोनों ज्ञानों में हेतुसाध्यभाव अथवा वास्यवासकभाव का होना संभव नहीं है (एक सन्ततिपतितानां ज्ञानानां न मिथो हेतुमत्त्वं साध्यवत्त्वं वा वास्यवासकभावो वा संभवति ज्ञानत्वात् सन्तानद्वयवर्त्तिज्ञानवत्) इन दोनों अनुमानों के द्वारा क्रमशः एक सन्तानवर्त्ति दो ज्ञानों में ग्राह्यग्राहकभाव एवं वास्यवासकभाव का खण्डन किया जा सकता है।

तस्माद्भासकं……रसादिग्राहकं यथा

(उक्त प्रथम विज्ञान केवल 'ग्राहक' रूप है, इस पक्ष का प्रतिरोध इस अनुमान से होता है कि) ग्राहक ग्राह्य से भिन्न ही होता है—'ग्राहकविज्ञानं ग्राह्यविज्ञानाद्भिन्नम् विज्ञानत्वात् सन्तानान्तरवर्त्तिविज्ञानवत्'। अर्थात् जिस प्रकार सन्तानान्तर्वत्ति दो विज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं, उसी प्रकार ग्राह्यविज्ञान और ग्राहकविज्ञान केवल विज्ञान होने के नाते ही परस्पर भिन्न हैं, अतः उक्त ग्राह्य विज्ञान केवल ग्राहक विज्ञान स्वरूप भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार जो 'रूप' स्वलक्षणग्राहक है, वह अवश्य ही 'स्वग्राह्यलक्षण' से भिन्न है, एवं जो 'रूप' स्वलक्षणग्राह्य है वह स्वग्राहक से भिन्न है, क्योंकि ये सभी विज्ञान हैं। जिस प्रकार रसग्राहक विज्ञान रूपग्राहक विज्ञान से भिन्न होता है। क्योंकि जिस प्रकार रसग्राहक विज्ञान के द्वारा रूपग्राहक विज्ञान नियमतः उल्लिखित नहीं होता, उसी प्रकार ग्राहक विज्ञान के द्वारा ग्राह्य विज्ञान नियमतः उल्लिखित नहीं होता, क्योंकि 'किमपि न स्मरामि' इस प्रकार की स्मृति भी होती है।

द्वयं परस्परेणैवम्

जिस प्रकार ग्राह्यविज्ञान में ग्राहकविज्ञानभिन्नत्व का अनुमान एवं ग्राहकविज्ञान में ग्राह्यविज्ञानभिन्नत्व का अनुमान दिखलाया गया है उसी प्रकार ग्राह्यविज्ञान एवं ग्राहकविज्ञान इन दोनों को एक साथ पक्ष बनाकर दोनों में परस्परभिन्नत्व

का भी अनुमान किया जा सकता है। हेतु और दृष्टान्त पूर्वानुमानों के ही रहेंगे। (विमत्यधिकरणभावापन्नं ग्राह्यग्राहकद्वयं परस्परभिन्नं विज्ञानत्वात् सन्तानान्तरवर्त्तिविज्ञानवत्) ॥ १७९–१७४ ॥

ऐकरूप्येण चाज्ञानात् सन्तानान्तरबुद्धिवत् ।
ज्ञानं स्वांशं न गृह्णाति ज्ञानोत्पत्तेः स्वशक्तिवत् ॥ १७५ ॥
ग्राह्यत्वप्रतिषेधश्च द्वयहीना हि वासना ।
चैत्रज्ञानं तदुद्भूतज्ञानांशग्राह्यबोधकम् ॥ १७६ ॥

ऐकरूप्येण

ग्राह्य और ग्राहक में भेद का साधक यह एक और अनुमान है। इस अनुमान में नील (ग्राह्य) एवं नीलविषयक बुद्धि (ग्राहक) ये दोनों पक्ष हैं, इन दोनों में परस्पर भेद साध्य है एवं 'ऐकरूप्येणाज्ञान' अर्थात् 'भेदोपलम्भन' हेतु है। कथित 'सन्तानान्तरवर्त्ति' दृष्टान्त है। (नीलतद्विषयकज्ञाने परस्परं भिन्ने एकरूप्येणाज्ञानात् सन्तानान्तरबुद्धिवत् ।)

इस अनुमान के द्वारा 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' बौद्धों के इस श्लोकांश के द्वारा निर्दिष्ट नील और नीलविषयक बुद्धि में अभेद के साधक 'सहोपलम्भनियम' स्वरूप हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष का उद्भावन किया गया है।

ज्ञानं स्वांशं न गृह्णाति······स्वशक्तिवत्······द्वयहीना हि वासना

जिस प्रकार ज्ञान की 'शक्ति' स्वरूपा वासना' अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा वासनात्व के कारण न स्वकीय अंश को ग्रहण करती है, न स्व के किसी भी अंश से गृहीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा ज्ञान होने के नाते (ज्ञानत्व के कारण) ही न अपने किसी अंश को ग्रहण करता है, न अपने किसी अंश से गृहीत ही होता है (ज्ञानं स्वांशं न गृह्णाति, नापि स्वांशेन गृह्यते ज्ञानात्, उत्पद्यमानत्वाद्वा वासनावत् । सा हि स्वांशं न गृह्णाति न वा स्वांशेन गृह्यते 'द्वयहीना' स्वांशग्राहकत्व–स्वांशग्राह्यत्वैतद्द्वयहीनेत्यर्थः) ॥ १७५–१७६ ॥

ज्ञानत्वान्न भवेद् यद्वत् तस्य देहान्तरोद्भवम् ।
एतयैव दिशा वाच्या शक्तिद्वयनिराक्रिया ॥ १७७ ॥
प्रमाणान्तरसिद्धत्वाद् अन्यत्रानेकशक्तिता ।
न त्वत्र कारणं तादृक् शक्तिभेदकृदस्ति ते ॥ १७८ ॥

चैत्रज्ञानम्······देहान्तरोद्भवम्

जिस प्रकार एक देह के द्वारा उत्पन्न ज्ञान दूसरे देह से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होता है, उसी प्रकार चैत्र का ज्ञान चूंकि ज्ञान ही है, अतः अपने ही से उद्भूत किसी दूसरे ज्ञानांश के द्वारा गृहीत होने वाली वस्तु का ग्राहक नहीं है। (चैत्रज्ञानं तदुद्भूतज्ञानांशग्राह्यबोधकं न भवति ज्ञानत्वात् देहान्तरोद्भवज्ञानवत्) ।

एतयैव ...... निराक्रिया

इसी रीति से ग्राह्य और ग्राहक में अभेद का भी खण्डन करना चाहिये (तदनुकूल अनुमान का प्रयोग इस प्रकार का होगा—ज्ञानमात्मानं न गृह्णाति ज्ञानात् उत्पद्यमानाद्वा वासनावत्)। अर्थात् जिस प्रकार वासना अपने विषय से अभिन्न नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने विषय से अभिन्न नहीं है।

('ग्राह्य और ग्राहक नियमतः भिन्न हैं' इस मीमांसकमत के ऊपर यह आक्षेप हो सकता है कि—'अहं जानामि' इत्यादि स्थलों में एक ही आत्मा ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही है, क्योंकि आत्मा सभी ग्रहणों का (ज्ञानों का) जनक होने के कारण 'ग्राहक' है। इस वस्तुगति के अनुसार यह अनुमान हो सकता है कि 'आत्मनो न ग्राह्यग्राहकशक्ती: वस्तुत्वाद् घटादिवत्'। इस आक्षेप का यह समाधान है कि ज्ञान से 'अन्यत्र' अर्थात् आत्मा में 'अहं जानामि' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों सिद्ध हैं। अतः उक्त अनुमान के द्वारा उक्त दोनों शक्तियों के अभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष से अनुमान दुर्बल है। किन्तु एक ही विज्ञान में उक्त दोनों शक्तियों की सत्ता को स्वीकार करने के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। अतः विज्ञानस्थल में उक्त 'शक्तिभेद' अर्थात् विभिन्नशक्तियों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा से भिन्न नीलादि विषयों का प्रतिभास 'इदम्' पद के साथ ही होता है, 'अहम्' पद के साथ नहीं। अर्थात् 'इदं नीलम्' इसी आकार की प्रतीति होती है, 'अहं नीलम्' इस आकार की नहीं ॥ १७७–१७८ ॥

तस्मादुभयसिद्धत्वाल्लाघवाद् यः परिग्रहः।
उपायत्वाच्च यत् तस्य पूर्वग्रहणकल्पनम् ॥ १७९ ॥
चक्षुरादीन्द्रियैरत्र तदनैकान्तिकं भवेत्।
यदप्यप्रतिबद्धत्वादुत्पत्तौ गृह्यतामिति ॥ १८० ॥
तत्रात्मना न शक्यं तत्रान्योत्पत्तिस्तदस्ति वा।
तेनैतत् कारणाभावात् तदानीं नानुभूयते ॥ १८१ ॥

तस्मादुभय ...... परिग्रहः

इस प्रकार चूंकि नीलादि विषयों के साथ ज्ञानों का अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता अतः 'ज्ञानाद्वैत' के विरुद्ध 'ज्ञानविषयद्वैत' ही स्वीकार करना होगा। इस पक्ष में जो बौद्धगण ज्ञान की उभयमतसिद्धता एवं लाघव को उपस्थित करते हैं (देखिये श्लोक १८ और १९) वह ठीक नहीं है, क्योंकि लाघव की बात कहकर प्रमाण से सिद्ध 'ज्ञानविषयद्वैत' पक्ष का खण्डन नहीं किया जा सकता।

उपायत्वाच्च ...... अनैकान्तिकं भवेत्

बौद्धों ने पहले यह भी कहा है कि 'प्रकाश' है फल एवं 'प्रकाशक' है 'उपाय', अतः उपाय को (कारण को) फल (कार्य) से पहले रहना उचित है (ज्ञानग्रहणं विषयग्रहणपूर्ववर्त्ति उपायत्वात्)। किन्तु बौद्धों का यह अनुमान भी

रूपादिग्रहण स्वरूप फलों के उपायस्वरूप चक्षुरादि इन्द्रियों में व्यभिचरित है, क्योंकि रूपादिग्रहण के बाद उसी से चक्षुरादि इन्द्रियों का अनुमान होता है।

यदप्यप्रति······गृह्यताम्

बौद्धों ने यह कहा है कि उत्पत्तिक्षण में ही ज्ञानों के गृहीत होने में कोई बाधा नहीं है (देखिये श्लोक २१) इसलिए उत्पत्तिक्षण में ही उसका ग्रहण होना भी उचित है।

तत्रात्मना न शक्यम्······नाऽनुभूयते

बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिक्षण में ज्ञान किसके द्वारा गृहीत होगा ? अभी-अभी कह आये हैं कि स्व के द्वारा स्व का ग्रहण नहीं हो सकता। उस क्षण में किसी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, जिसके द्वारा वह गृहीत हो सके। इसलिये यही मानना होगा कि उत्पत्तिक्षण में ज्ञान का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः उत्पत्तिक्षण में ज्ञान का ग्रहण नहीं होता ॥ १७९–१८१ ॥

नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ॥ १८२ ॥

नान्यथाह्यर्थसद्भाव······उपजायते

प्रश्न यह होता है कि ज्ञान का वह कौन सा ग्राहक प्रमाण है जो उसके उत्पत्तिक्षण में नहीं रहता और उसके बाद ही उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अर्थापत्ति प्रमाण ही ऐसा ज्ञानग्राहक है। ज्ञान की उत्पत्ति के बाद ही 'ज्ञातोऽयमर्थः' यह प्रतीति होती है। प्रतीत इस 'ज्ञातत्व' की उपपत्ति पूर्व में उत्पन्न अर्थज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। घटादि अर्थों के ज्ञातत्व की यह 'अन्यथाऽनुपपत्ति' ही ज्ञान का ग्राहक है। इसलिए यह ठीक है कि पूर्व (उत्पत्तिक्षण) में ज्ञान गृहीत नहीं होता एवं बाद के क्षणों में होता है ॥ १८२ ॥

न चाप्यप्रतिबन्धेन केवलेन ग्रहो भवेत् ।
विशिष्टकारणाभावेऽप्यर्थो नैवानुभूयते ॥ १८३ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि (देखिये शून्यवाद श्लोक २४) उत्पत्तिक्षण में ज्ञान ग्राहक भले ही न रहे, किन्तु ज्ञानग्रहण का कोई प्रतिबन्धक भी तो नहीं है, इस 'प्रतिबन्धकाभाव' से ही ज्ञान प्रथम क्षण (उत्पत्तिक्षण) में ही गृहीत हो जायगा। किन्तु उन लोगों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध नहीं होती, विशिष्टकारण के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होती है। प्रकृत में ज्ञान प्रथम क्षण में ग्रहणविशिष्ट कारण के अभाव से ही प्रतिरुद्ध होता है, प्रतिबन्धक से नहीं। अतः प्रतिबन्धकाभाव के द्वारा उत्पत्तिक्षण में ज्ञानग्रहण की बात निरर्थक है ॥ १८३ ॥

व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति ।
तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत् प्रतीक्ष्यते ॥ १८४ ॥

(ज्ञानान्तरस्य चोत्पत्तिम् श्लोक २७ में बौद्धों ने यह कहा है कि ज्ञान चूँकि स्वयंप्रकाश रूप है, अतः अपने प्रकाश के लिये उसको किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं है, अतः प्रथम क्षण में अन्य विशिष्ट कारणों के न रहने पर भी उसके ग्रहण में कोई बाधा नहीं है। बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि) उत्पत्ति-क्षण में ज्ञान नीलादि विषयों के प्रकाशन में लगा (व्यापृत) रहता है, उस समय 'स्व' का ग्रहण नहीं हो सकता। कोई भी कारण एक कार्य के उत्पादन के समय (एक कार्य में व्यापृत रहने के समय) दूसरे का उत्पादन नहीं कर सकता। अतः ज्ञान स्वप्रकाशस्वरूप रहने पर भी अपनी प्रतीति के लिए उसको दूसरे (ज्ञान) की अपेक्षा अवश्य होती है। अतः उत्पत्तिक्षण में तो वह 'स्व' का ग्रहण कर ही नहीं सकता। उसके बाद तो वह स्वयं ही विनष्ट हो जाता है, इसीलिये 'स्व' का ग्रहण नहीं कर सकता ॥ १८४ ॥

ईदृशं वा प्रकाशत्वं तस्यार्थानुभवात्मकम् ।
न चात्मानुभवोऽस्त्यस्येत्यात्मनो न प्रकाशकम् ॥ १८५ ॥
सति प्रकाशकत्वे च व्यवस्था दृश्यते यथा ।
रूपादौ चक्षुरादीनां तथात्रापि भविष्यति ॥ १८६ ॥
प्रकाशकत्वं बाह्येऽर्थे शक्त्यभावात् तु नात्मनि ।
अन्येन वानुभावेऽसावनवस्था प्रसज्यते ॥ १८७ ॥
तत्र तत्र स्मृतिं दृष्ट्वा सर्वानुभवकल्पना ।
एकेन त्वनुभूतत्वे सर्वं तत्रैव सम्भवेत् ॥ १८८ ॥

ईदृशं वा

अथवा ज्ञान में अर्थ को प्रकाशित करने का ही सामर्थ्य है, क्योंकि उसमें सर्वदा अर्थ की ही अनुस्यूति देखी जाती है, 'स्व' की नहीं। अतः उत्पत्तिक्षण में 'स्व' से ज्ञान का ग्रहण सम्भव नहीं है।

सति प्रकाशकत्वे

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि ज्ञान में यदि अर्थ को प्रकाशित करने की सामर्थ्य है तो 'स्व' स्वरूपज्ञान को प्रकाशित करने की सामर्थ्य क्यों नहीं है? इस 'व्यवस्था' (नियम) का कौन सा प्रयोजक है कि ज्ञान केवल अर्थ का ही प्रकाशक है, 'स्व' का नहीं ? इस आक्षेप का यह उत्तर है कि जिस प्रकार चक्षु में रूपप्रकाशन की सामर्थ्य व्यवस्थित है, उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान में विषय मात्र के प्रकाशन की व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था के अनुसार कहा जा सकता है कि ज्ञान में बाह्यविषयों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य है, स्व को प्रकाशित करने की सामर्थ्य नहीं है।

अन्येन वाऽनुभावे ...... तत्रैव सम्भवेत्

बौद्धगण कहते हैं कि (ज्ञानान्तरेणानुभवोऽनिष्टस्तत्रापि हि स्मृतिः) ज्ञान में स्वप्रकाशकत्व या स्वप्रकाश्यत्व को स्वीकार न करने से 'अनवस्था' होगी, क्योंकि

घट के ज्ञात होने पर जो स्मृत उत्पन्न होती है उसमें घट और ज्ञान दोनों ही भासित होते हैं। स्मृत को पूर्वानुऽभूत होना आवश्यक है, अतः उस स्मृति से पूर्व जिस प्रकार घट ज्ञात है, उसी प्रकार ज्ञान को भी ज्ञात होना चाहिये। फलतः उत्पत्तिक्षण में ही ज्ञान का ग्रहण मानना होगा।

यदि स्मृति में भासित होने वाले उस ज्ञान का ग्रहण किसी दूसरे ज्ञान से मानें तो इस दूसरे ज्ञान के प्रसङ्ग में तीसरे ज्ञान से ग्रहण की बात आ पड़ेगी जिसका पर्यवसान अनवस्था में होगा। यदि एक ही ज्ञान को घटाकारक और विषयाकारक दोनों मान लेते हैं तो इसी से कथित सभी स्मृतियों की उपपत्ति हो जायगी। अतः ज्ञान अपने उत्पत्तिक्षण में हो 'स्व' से ही गृहीत हो जायगा ॥१८५–१८८॥

तत्रापि स्मृतिरित्येतन्न लोकानुमतं वचः।
न हि विज्ञानसन्तानं कश्चित् स्मरति लौकिकः ॥ १८९ ॥

उक्त अनवस्था के परिहार के लिये बौद्धों से पूछना चाहिये कि कथित बौद्धों के 'तत्रापि हि स्मृतिः' इस वाक्य में यदि 'तत्र' शब्द की वीप्सा हो तो उसका अर्थ होगा 'तत्र तत्र स्मृतिः'। यदि वीप्सा नहीं है तो उसका अर्थ होगा 'प्रथमज्ञाने स्मृतिः'। इनमें यदि प्रथम पक्ष मानें अर्थात् यह कहें कि पूर्वज्ञान उत्तरवत्ति जिन दूसरे ज्ञानों से गृहीत होंगे उन सभी विज्ञानों का अर्थात् विज्ञानसन्तति का स्मरण होता है। किन्तु यह लौकिक अनुभव के विपरीत है, क्योंकि 'विज्ञानसन्तति स्मरामि' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती है ॥ १८९ ॥

घटादावगृहीतेऽर्थे यदि तावदनन्तरम्।
अर्थापत्त्यावबुध्यन्ते विज्ञानानि पुनः पुनः ॥ १९० ॥
यावच्छ्रमं ततः पश्चात् तावत्येव स्मरिष्यति।
तदा त्वकल्पितेऽप्येवं स्मृतिर्वन्ध्यासुतादिवत् ॥ १९१ ॥

घटादावगृहीतेऽर्थे···तावत्येव स्मरिष्यति···सुतादिवत्

यदि किसी को कथित ज्ञानप्रवाह का ही स्मरण हो तो उसकी उपपत्ति कैसे होगी? इस प्रश्न का यह समाधान है कि जिस पुरुष को घटज्ञान क्षण में ही अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ज्ञान को कल्पना होगी, उसे आगे के क्षण में घट के साथ ज्ञान का स्मरण होगा। तथापि इस पक्ष में अनवस्था दोष की सम्भावना नहीं है, क्योंकि 'यावच्छ्रम' अर्थात् जहाँ तक ज्ञान की अर्थापत्तिजनित कल्पना का क्रम चलेगा तभी तक यह परम्परा चलकर आगे बन्द हो जायगी। यदि अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अकल्पित ज्ञानविषयक स्मृति भी करें तो बन्ध्यापुत्रादि सर्वथा अप्रसिद्ध वस्तु की भी स्मृति माननी होगी ॥ १९०–१९१ ॥

स्मृतिभ्रान्तिश्च याप्यत्र पश्चाज्ज्ञानेषु जायते।
तदैवार्थस्मृतेरेषां तज्ज्ञानादिप्रमाणता ॥ १९२ ॥
यावच्छ्रमं च तद्बुद्धिस्तत्प्रबन्धे महत्यपि।
श्रमाद् रुच्यान्यसम्पर्काद् विच्छेदो विषयेष्विव ॥ १९३ ॥

बौद्धगण कहते हैं कि हम लोग ज्ञानसन्तान के ग्रहण एवं स्मरण की बात नहीं करते। हम लोगों का इतना ही कहना है कि जो भी ज्ञान उत्पन्न होगा वह अवश्य ही अपने उत्पत्तिक्षण में 'स्व' के द्वारा गृहीत होगा, क्योंकि बाद में उसकी स्मृति देखी जाती है। इस स्थिति में यदि ज्ञान का ग्रहण 'स्व' के द्वारा न मानकर किसी दूसरे ज्ञान से मानें तो अनवस्था होगी। इस आक्षेप का यह समाधान है कि यदि घटादिविषयक ज्ञान के बाद ज्ञानविषयक स्मृति होती तो यह अनवस्था हो भी सकती थी। किन्तु घटादिविषयक ज्ञान के बाद जो स्मृति होती है, वह घटादि-विषयक ही होती है, ज्ञानविषयक नही। आप लोग उस स्मृति को जो ज्ञानविषयक कहते हैं वह भ्रान्तिमूलक है। भ्रान्ति का कारण यह है कि ज्ञात घट का ही स्मरण होता है। ज्ञान के साथ घटादिविषयों के इस सम्बन्ध के कारण ही स्मृति में ज्ञान-विषयकत्व की भ्रान्ति होती है। 'ज्ञातो मया घटः' यह घटविषयक स्मरण चूँकि घटविषयक अनुभव के बिना सम्भव नहीं, अतः पूर्व में अनुभव की कल्पना करनी पड़ती है। यह कल्पना चूँकि अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न होती है अतः वह कल्पनात्मक ज्ञान अनुभव रूप ही है, स्मृतिरूप नहीं है। ज्ञानानुभवजनित स्मृति की परम्परा 'यावच्छ्रम' चलेगी। अतः अनवस्था की भी सम्भावना नहीं है।

इस प्रसङ्ग में 'विषयान्तरसंचारस्तथा न स्यात्स चेष्यते' इत्यादि उक्तियों द्वारा बौद्धगण यह कहते हैं कि यदि एक ज्ञान के उत्पत्तिक्षण में उसी ज्ञान के द्वारा उस का ग्रहण न मानें तो एक ही ज्ञानसन्तान में संपूर्ण आयु का क्षय हो जायगा, किसी दूसरे विषय का ज्ञान ही न हो पायेगा। इस कथन का यह प्रत्युत्तर है कि जिस प्रकार घटादि किसी एक विषय का चक्षु से जब ग्रहण होता है, उसके बाद श्रम, रुचि अथवा अन्य विषय के साथ चक्षु के सम्बन्ध के कारण पहले ज्ञान का प्रवाह टूट जाता है उसी प्रकार उक्त श्रमादि कारणों से घटादि किसी एकविषयक कल्पना का प्रवाह टूट जायगा। अतः एक ही ज्ञान के प्रवाह से आयुक्षय का दोष देना उचित नहीं है ॥ १९२–१९३ ॥

तत्रापि स्मृतिरित्येवा प्रथमे प्रत्यये यदि।
तन्मात्रग्रहणादेवं नानवस्था प्रसज्यते ॥ १९४ ॥

'ज्ञानन्तरेणाऽनुभवोऽनिष्टस्तत्रापि हि स्मृतिः' इस बौद्धगाथा में जो 'तत्र' पद है, उसमें वीप्सा स्वीकार करने पर दोष का उद्भावन श्लोक १८८–१९३ पर्यन्त किया गया है। अब उक्त 'तत्र' पद में वीप्सा के अनालम्बनपक्ष में दोष दिखलाया जा रहा है। 'तत्रापि हि स्मृतिः' इस वाक्य से यदि प्रथम ज्ञान की ही स्मृति अभिप्रेत हो तो फिर अनवस्था की कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि प्रथम ज्ञान की स्मृति के बाद ही परम्परा अवरुद्ध हो जायगी ॥ १९४ ॥

स्मरणं त्वथ सर्वेषु तत्सिद्ध्यै ग्रहणं तथा।
प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ १९५ ॥
अथ तान्याद्यविज्ञानविषयाणीति कल्प्यते।
नोत्तरोत्तरबुद्धीनां विशेष उपपद्यते ॥ १९६ ॥

यदि प्रत्येक ज्ञान के अव्यवहित उत्तरक्षण में उसका स्मरण अवश्य होता है, तो फिर उन स्मृतियों की सिद्धि के लिए अनन्त ग्रहणात्मक (अनुभवात्मक) ज्ञान भी अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा मानने ही होंगे। किन्तु इस प्रकार से जो अनवस्था प्राप्त होगी, वह चूँकि प्रामाणिक होगी, अतः उसे स्वीकार करना ही होगा।

यदि यह कहें कि कथित ज्ञानसन्तान का प्रत्येक ज्ञान चूँकि प्रथमज्ञानविषयक ही है (अतः हम लोगों के मत में अनवस्था दोष नहीं है) तो फिर ज्ञानसन्तान के प्रत्येक ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होगा। किन्तु सो उचित नहीं है, क्योंकि घटज्ञान से जो स्मरण उत्पन्न होगा सो घटज्ञानविषयक होगा। एवं अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जो तत्कारणीभूत ग्रहणों की कल्पना होगी उनमें भी यह अन्तर अवश्य होगा। अतः ज्ञानपरम्परा के प्रापक ज्ञान को प्रथमज्ञानमात्रविषयक मानना उचित नहीं है ॥ १९५–१९६ ॥

विज्ञानविषयत्वं च यस्य सर्वासु बुद्धिषु।
घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषस्तेन दुर्लभः ॥ १९७ ॥

घटादिविषयक ज्ञानों को स्वविषयक न होने में एक युक्ति यह भी है कि घटज्ञान भी यदि ज्ञानविषयक ही हो तो फिर घटविषयकज्ञान एवं घटज्ञानविषयक-ज्ञान इन दोनों में कौन सा अन्तर रह जायगा ? ॥ १९७ ॥

स्मरन् यथैव विज्ञानं निराकारं स्मरत्ययम्।
तथा स्मरन् गृहीतार्थं निराकारतया स्मरेत् ॥ १९८ ॥

यदि घटज्ञान भी घटाकारक न होकर ज्ञानाकारक ही हो तो जिस प्रकार घटाकारनिर्मुक्त निराकार ज्ञान का स्मरण 'न स्मरामि मया कोऽपि गृहीतोऽर्थः' इस आकार का होता है, उसी प्रकार घटादि अर्थविषयक अनुभव के बाद भी उक्त निराकार स्मरण केवल विज्ञानविषयक ही होना चाहिये। किन्तु सो उचित नहीं है। अतः वे घटादि बाह्य विषयक अवश्य हैं, जिनका भान ज्ञान में होता है ॥ १९८ ॥

ज्ञानदृष्टेन योऽप्यूर्ध्वं परामर्शो भवत्यसौ।
तस्यार्थेष्वभ्युपायत्वान्न तु ग्राह्यत्वकारितः ॥ १९९ ॥

यह जो (श्लो. २८) कहा गया है कि विषय ज्ञान से युक्त होकर ही (ज्ञातो मया घटः) लोगों से कथित होते हैं, अतः विषय के साथ ज्ञान का भान अवश्य होता है—सो कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'ज्ञातो मया घटः' यह वाक्य घटस्मरण का ही अभिलाप है। किन्तु घट का स्मरण चूँकि घटानुभव के बिना संभव नहीं है अतः अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाण से ज्ञान का अनुभव उसी समय होता है।

ज्ञानपूर्वक ही अर्थ की आलोचना को यदि स्वीकार भी कर लें तथापि विषय-ग्रहण के समय विषयग्रहण के साथ-साथ ज्ञानग्रहण की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि ज्ञानपूर्वक विषयस्मरण की उपपत्ति 'अन्यथा' भी अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से उसी समय ज्ञान का अनुभव मान लेने पर भी हो सकती है। फलतः 'ज्ञातो मया घटः'

इस ज्ञान में घटांश का स्मरण होता है, एवं ज्ञानांश का अनुभव। तस्मात् ज्ञान चूँकि घटस्मरण के अभिलाप का उपाय है, इसी लिये ज्ञानपूर्वक घट का अभिधान होता है। घटज्ञान के पूर्वक्षण में गृहीत होना उसका प्रयोजक नहीं है ॥ १९९ ॥

प्रत्यासन्नत्वसम्बन्धौ ग्राह्यत्वासम्भवाच्च्युतौ।

विषयत्वेन वाप्येतौ स्तः किं देशाविभागतः ॥ २०० ॥

(श्लो. २० के द्वारा जो) यह कहा गया है कि नीलादि यदि ज्ञान से भिन्न हों तो दोनों के विप्रकृष्ट हो जाने के कारण ज्ञान के साथ उनका भान न हो सकेगा, क्योंकि साथ-साथ प्रकाशन के लिये दोनों का प्रत्यासन्न होना आवश्यक है। अतः नीलादि ज्ञान से अभिन्न हैं।

किन्तु बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि नीलादि विषय चूंकि विज्ञानों से भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं, अतः उनमें 'अभेद' स्वरूप प्रत्यासन्नि संभव नहीं है। नीलादि से विज्ञान का विषयत्वस्वरूप सम्बन्ध मानने से ही ज्ञान से पुरस्कृत होकर विषयाभिलाप की उपपत्ति हो जायगी। इसके लिये विषय और ज्ञान का 'देशाविभाग' (अभेद) स्वरूप सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं है ॥ २०० ॥

अर्थाकारस्य योऽप्युक्तो मिथ्याज्ञानेष्वसम्भवः।

देशकालान्यथामात्रसम्भवः केषुचित् कृतः ॥ २०१ ॥

विषय को विज्ञान से अभिन्न मानने में जो यह युक्ति दी गयी है (निरालम्बनवाद श्लो. ११७) कि यद्यपि स्वप्नादि मिथ्याज्ञानों में विषय की सत्ता नहीं रहती है फिर भी उनमें नीलादि आकार प्रतिभासित होते हैं, अतः नीलादि ज्ञानाकार ही हैं इसका भी उत्तर यह है कि कुछ विपर्ययों में बाह्यार्थों की सत्ता उनके अपने देश और अपने काल से भिन्न देश कालों में प्रतीत होते हैं। इससे बाह्य वस्तुओं की सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है ॥ २०१ ॥

प्रत्यक्षादन्यविज्ञानमतीतानागतैरपि ।

जन्यतेऽर्थे भवन्तीषु वासनास्वसतीषु वा ॥ २०२ ॥

यदि बाह्यवस्तुओं की अपनी स्वतन्त्र सत्ता हो तो फिर असंनिहित एवं अविद्यमान वस्तुओं का जो स्वप्नविभ्रमादि प्रत्यय होते हैं वे कैसे हो सकेंगे ? बौद्धों के इस आक्षेप का उत्तर 'एष प्रत्यक्षधर्मश्च' (निरालम्बनवाद श्लो. ११४) इत्यादि श्लोक द्वारा यह दिया जा चुका है कि प्रत्यक्ष विज्ञान के लिये ही विषयों का सांनिध्य अथवा सत्ता अपेक्षित है, किसी भी परोक्षज्ञान के लिये उन दोनों में से किसी की अपेक्षा नहीं है। स्मृति, स्वप्नादि एवं अतीतानागत वस्तुओं का अनुमानादि प्रमाणजनित ज्ञान तो वासना अथवा लिङ्गादि के द्वारा असंनिहित एवं अवर्त्तमान वस्तुओं का भी होता है, क्योंकि वे सभी परोक्षज्ञान हैं ॥ २०२ ॥

यः पुनर्नानुभूतोऽर्थो न वाप्यनुभविष्यते।

वासनाभावतस्तत्र तवाप्यनुभवः कथम् ? ॥ २०३ ॥

जो वस्तु कभी अनुभव के द्वारा गृहीत नहीं हुई है, अथवा कभी गृहीत ही नहीं होगी, उस विषय की वासना भी नहीं उत्पन्न हो सकती, फिर उस विषय का स्वप्नादि में भान आप लोगों (बौद्धों) के मत से कैसे होगा ? ॥ २०३ ॥

विनापि वासनात्तश्चेद् बुद्धिरुत्पद्यते ततः ।
वासनाया निमित्तत्वमभ्युपेतं विरुध्यते ॥ २०४ ॥

यदि विना वासना के भी उन विषयों की बुद्धि को स्वीकार करेंगे तो वासना और विभ्रम का जो कार्यकारणभाव आप (बौद्धों) के द्वारा स्वीकृत है, वह भग्न हो जायगा ॥ २०४ ॥

वासना चेद् भवेत् तत्र सा च संवित्तिपूर्विका ।
तथा सति च पूर्वत्र गृहीतः क्वाप्यसौ ध्रुवम् ॥ २०५ ॥

यदि विभ्रादिस्थलों में वासना की सत्ता को अस्वीकार करेंगे तो विभ्रमादि में भासित होने वाले विषयों का पूर्वानुभव मानना होगा, क्योंकि वासना (संस्कार) तो पूर्वानुभव से ही उत्पन्न होती है ॥ २०५ ॥

एवं च नैव वक्तव्यमत्यन्ताभवनं क्वचित् ।
अन्यथानुपपत्त्या हि सिद्धा जन्मान्तरेऽस्तिता ॥ २०६ ॥

अतः यह मानना होगा कि ज्ञान में किसी प्रकार भासित होने वाले पदार्थों की सत्ता प्रमाता के इस जन्म में न सही दूसरे जन्मों में भी अवश्य थी । अन्यथा उनका ज्ञानों में प्रतिभासित होना ही अनुपपन्न हो जायगा ॥ २०६ ॥

दुष्टत्वेन च विज्ञानमन्यथापि व्यवस्थितम् ।
पृथिव्यादिषु गृह्णीयादाकारं तन्निबन्धनम् ॥ २०७ ॥

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कहते हैं कि स्वप्नादि में प्रतिभासित होनेवाले विषयों की सत्ता यदि अवश्य है, तो फिर जिस रूप में उनकी सत्ता है उसी रूप में वे ज्ञानों में भासित भी होंगे । अतः आकार कल्पनाप्रसूत ही हैं वास्तविक नहीं । इसका यह समाधान है कि नीलादि आकारों को वास्तविक मानने पर भी स्वप्नादि की दुष्टता (भ्रमत्व) की उपपत्ति 'अन्यथापि' अर्थात् अन्य प्रकार से भी हो सकती है, अर्थात् शुक्ति प्रभृति वास्तविक पदार्थ ही 'अन्यथा' रजतत्वादि प्रकार से भासित होते हैं, इसके लिये उन्हें काल्पनिक अथवा विज्ञानस्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं है ॥ २०७ ॥

तान्यपास्य तु नैवार्थे क्वचिदाकारकल्पना ।
न ज्ञानं ह्यनवष्टम्भमात्मानं लब्धुमर्हति ॥ २०८ ॥

पृथिव्यादि वाह्य पदार्थों के विना कहीं आकार की कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति स्वरूप ज्ञान भी रजत के सदृश चाकचिक्यादि से युक्त शुक्तिकादि के विना उत्पन्न नहीं होता है । यदि अत्यन्तासत् पदार्थ का ही भान होता अथवा ज्ञानाकारक पदार्थ का ही भान होता तो उक्त भ्रान्ति के लिये शुक्ति-

कादि अधिष्ठानों की अपेक्षा नहीं होती। अतः शुक्तिकादि बाह्य पदार्थ ही बाह्य-पदार्थगत रजतत्वादि रूप से भ्रान्ति में भासित होते हैं ॥ २०८ ॥

विज्ञानस्यैव वा कार्यं यद्येषोऽन्ये च कल्पिताः।
विशेषः कोऽत्र येनायमत्यन्तासन्निहतीष्यते ॥ २०९ ॥

यदि स्वप्नादि विपर्ययों में अथवा जाग्रदवस्था के विपर्ययों में भासित होनेवाले पदार्थ एवं घटादि के प्रमाप्रत्ययों में भासित होनेवाले सभी सत् पदार्थ कल्पना-प्रसूत ही हों तो फिर विपर्यय में भासित होनेवाले पदार्थों में एवं प्रमाज्ञान में भासित होनेवाले पदार्थों में कौन सा 'विशेष' अर्थात् अन्तर है जिससे एक को 'अत्यन्तासत्' एवं दूसरे को सत् कहा जाय ॥ २०९ ॥

तस्माद् भ्रान्तिरपि त्वेषां कल्पयन्त्यर्थमेव नः।
कल्पयत्यन्यथा सन्तं न त्वात्मानं व्यवस्यति ॥ २१० ॥

जिस लिये कि उक्त उपपादन के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि 'बाह्यपदार्थों की सत्ता है'। अतः यह सिद्ध है कि उक्त भ्रान्तियों के कल्पनास्वरूप होने पर भी उनमें वास्तविक बाह्य सत् पदार्थ 'अन्यथा' अर्थात् अन्य बाह्यपदार्थ स्वरूप में अथवा अत्यन्तासत् पदार्थ रूप में प्रतिभासित होते हैं ॥ २१० ॥

ततश्च बाधकज्ञानाद् वाच्योयुक्तिरियं भवेत्।
अर्थेऽन्यथापि सत्येष धियाकारः प्रतीयते ॥ २११ ॥

इस प्रकार की उपपत्ति से बाधकज्ञान से बाधित होने के कारण उक्त कल्पनाओं को भ्रान्तिस्वरूप मानने की बात सङ्गत होती हैं, क्योंकि जिस वस्तु की वास्तविक सत्ता रहती है वही अपने वास्तविक रूप से भिन्न रूप में 'कल्पना' के द्वारा ज्ञात होती है ॥ २११ ॥

द्विचन्द्रादिमतिष्वेवम् तारकादिमतौ तथा।
स्त्रीत्वाद्यन्यत्र दृष्टं स्यात् कथञ्चिद्देह सम्भवेत् ॥ २१२ ॥
शब्दमात्रप्रतीत्या वा दृष्टैर्वा कैश्चिदिङ्गनात्।
संस्त्यान-प्रसव-स्थानैर्यथा पातञ्जले मते ॥ २१३ ॥
तेन लिङ्गत्रयस्यात्र सद्भावः स्यात् प्रमाणवान्।
अपेक्षाभेदतश्चात्र विरोधोऽपि न विद्यते ॥ २१४ ॥

द्विचन्द्रादि……'स्त्रीत्वाद्यन्यत्र'……दृष्टं स्यात्

इसी प्रकार कथित (शून्यवाद श्लो. ५७) द्विचन्द्रादिविषयक एवं एक ही नक्षत्र में तीनों लिङ्गों के भ्रमस्थल में (शून्यवाद श्लो. १८) में भी 'अन्यथाभान' की उपपत्ति करनी चाहिये अर्थात् अन्यत्र वास्तविक सत्ता से युक्त द्वित्व का ही भान होता है एवं विभिन्न प्राणियों में विद्यमान स्त्रीत्वादि लिङ्गों का ही 'एकत्र' नक्षत्र में भान होता है।

कथञ्चिद्वा·······प्रतीत्या वा

'नक्षत्र स्वरूप एक ही वस्तु में तीनों लिङ्गों की प्रमाप्रतीति 'नक्षत्रम्, तारका, तिष्यः' इन तीनों पद स्वरूप शब्द प्रमाण से किसी प्रकार हो भी सकती है' इस पक्ष में एक ही नक्षत्र में तीनों लिङ्गों को प्रतीति प्रमास्वरूप ही है।

दृष्टेर्वा·······पातञ्जले·······विरोधोऽपि न विद्यते

(किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल 'पद' प्रमाण नहीं है, किन्तु 'वाक्य' प्रमाण है। अतः नक्षत्र में तीनों लिङ्गों के उक्त तीनों पदों के प्रयोग के प्रसङ्ग में यह समाधान है कि जिस प्रकार योगदर्शन में एक अन्तःकरण में सत्त्वादि गुणों के तारतम्य के कारण 'मन' (नपुंसक) 'बुद्धि' (स्त्रीलिङ्ग) एवं 'अहङ्कार' (पुंलिङ्ग) इन तीनों ही लिङ्गों के शब्दों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार एक ही नक्षत्र में जब स्त्रीत्व के साथ दृष्ट रजोबाहुल्य स्वरूप 'संस्त्यान' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब नक्षत्र में स्त्रीलिंगक 'तारका' शब्द का प्रयोग होता है, जब उसी नक्षत्र में पुंस्त्व के साथ दृष्ट प्रसव (सत्त्वबाहुल्य) धर्म विवक्षित रहता है तो पुंल्लिग 'तिष्य' शब्द का प्रयोग होता है और जिस पुरुष को उसी नक्षत्र में नपुंसकत्व के साथ दृष्ट 'स्थान' (तमोबाहुल्य) का प्राधान्य विवक्षित रहता है, वह पुरुष नक्षत्रविषयक बोध के लिये नपुंसकान्त 'नक्षत्र' शब्द का प्रयोग करता है। स्त्री प्रभृति में रहनेवाले स्त्रीत्वादि धर्म वास्तव में नक्षत्र में नहीं हैं। इस प्रकार एक वस्तु में अनेक लिङ्गों के अनेक शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। चूंकि ये नपुंसकत्वादि धर्म प्रयोगसापेक्ष हैं इस लिये उनमें कोई विरोध भी नहीं है। अतः जिस प्रकार एक ही वस्तु में अनेक प्रमाणों का संप्लव विरुद्ध नहीं है, उसी प्रकार एक ही वस्तु में अनेक लिङ्गों के शब्दों के प्रयोग में भी कोई विरोध नहीं है ॥ २१२–२१४ ॥

कुणपादिमतौ चैवं सार्वरूप्ये व्यवस्थिते।
वासनाः सहकारिण्यो व्यवस्थाकारदर्शने ॥ २१५ ॥

यह जो (शून्यवाद श्लो. ५९. के द्वारा) कहा गया है कि यदि नीलादि को विज्ञानाकार न मानें तो स्त्रीशव रूप एक ही वस्तु में परिव्राजक को केवल 'कुणप' (स्त्रीशव) की बुद्धि, अतिकामुक को 'कामिनी' की बुद्धि एवं शृगालादि को 'भक्ष्य' की बुद्धि नहीं होगी। बौद्धों यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री के मृत शरीर में 'कुणपत्व', स्त्रीशव 'कामिनीत्व' एवं 'भक्ष्यत्व' ये तीनों ही धर्म विद्यमान हैं। संन्यासी प्रभृति विविध प्राणी अपनी-अपनी वासना के अनुसार स्त्रीशवत्वादि धर्मों में से अपनी-अपनी वासना के अनुकूल किसी एक धर्म को जान पाते हैं, सभी धर्मों को नहीं ॥ २१५ ॥

स्वप्रत्ययानुकारो हि बह्वाकारेषु वस्तुषु।
निर्धारणे भवेद्धेतुर्नापूर्वाकारकल्पने ॥ २१६ ॥

तथा दीर्घघटत्वादौ भिन्नापेक्षानिबन्धना ।
आकारभेदसम्पत्तिरविरुद्धा भविष्यति ॥ २१७ ॥

उक्त वासनाओं से स्त्रीशव में कुणपादि आकारों के विज्ञानों की उत्पत्ति क्यों मानते हैं ? तद्धर्मविशिष्टधर्मिस्वरूप वस्तु की ही उत्पत्ति क्यों नहीं मान लेते ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि जो वासना यद्विषयक ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह 'वासना' (या संस्कार) तद्विषयक ज्ञान (स्मृति) को ही उत्पन्न कर सकती है। वासना में जो स्वजनक ज्ञानाकार के सदृश आकार के ज्ञान की जनकता है, वही उसका 'स्वप्रत्ययानुकार' है। स्त्रीशवादि जिन वस्तुओं के कुणप-कामिनीत्वादि अनेक आकार हैं, उनमें से स्वजनकीभूत ज्ञान में भासित होनेवाले आकार सदृश आकार के निर्द्धारण की सामर्थ्य ही वासनाओं में है, किसी अपूर्व वस्तु के उत्पादन की क्षमता वासनाओं में नहीं है। अतः वासना से कुणपादि वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार पूर्वकथित (शून्यवाद श्लो. ५९) एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व-दीर्घत्व बुद्धि के प्रसङ्ग में यह जानना चाहिये कि एक ही वस्तु में अपने से बड़ी वस्तु की अपेक्षा ह्रस्वत्व की बुद्धि एवं अपने से छोटी वस्तु की अपेक्षा दीर्घत्व की बुद्धि होती है। इस प्रकार एक ही वस्तु में आपेक्षिक ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व के समावेश में कोई विरोध नहीं है ॥ २१६-२१७ ॥

नानेकाकारसंवित्तेर्निराकारत्वकल्पना ।
युक्ता प्रतीतिभेदात् तु बह्वाकारत्वसम्भवः ॥ २१८ ॥

(शून्यवाद श्लो. ६१ के द्वारा जो) यह कहा गया है कि एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादि अनेक आकारों की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः आकार अलीक है—बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु की अनेक आकारों में प्रतीति हो सकती है। अतः एक ही वस्तु की अनेकाकारक प्रतीतियों को वास्तव आकार से रहित मानना उचित नहीं है ॥ २१८ ॥

संवित्तेश्च विरुद्धानामेकस्मिन्नपि सम्भवः ।
एकाकारं भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम् ॥ २१९ ॥
तथैव तदुपेतव्यं यद् यथैवोपलभ्यते ।
न चाप्यैकान्तिकं तस्य स्यादेकत्वं च वस्तुनः ॥ २२० ॥
तस्माद् देशादिसद्भावनिमित्तैः प्रत्ययैः पृथक् ।
वस्त्वाकाराः प्रतीयेरन्नुद्भवाभिभवात्मकाः ॥ २२१ ॥
युगपद्ग्राहकाणां च यो यदाकारवाचिनम् ।
शब्दं स्मरति तेनासावाकारः सम्प्रतीयते ॥ २२२ ॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि अविरुद्ध अनेक आकारों की बुद्धि एक वस्तु में भले ही संभव हो, विरुद्ध अनेकाकारों की बुद्धि एक वस्तु में नहीं हो सकती। जैसे कि एक ही वस्तु में परस्परविरुद्ध दीर्घत्व-ह्रस्वत्व की प्रतीति कही जाती है।

यह प्रतीति आकार की यथार्थसत्ता मानने से संभव नहीं है। अतः आकार अलीक ही है। इस आक्षेप का समाधान है कि 'संवित्' अर्थात् यथार्थ ज्ञान ही वस्तुसत्ता का नियामक है। इस वस्तुगति के अनुसार यदि एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों को प्रतीति होती है तो वे दोनों परस्परविरुद्ध ही नहीं हैं। एक ही वस्तु में अविरुद्ध अनेक प्रकार की प्रतीति होने में कोई विरोध नहीं है।

एकाकारम्

प्रतीतियों की विभिन्नता से एक ही वस्तु के अनेक आकार हो सकते हैं, क्योंकि 'एक वस्तु एक ही आकार की हो' इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः जिस वस्तु के जितने भी विभिन्न आकार उपलब्ध हों, तदनुसार उस वस्तु को एकाकारक अथवा अनेकाकारक समझना चाहिये। ईश्वर की यह आज्ञा नहीं है कि 'एक वस्तु एक आकार की ही हो। अतः ज्ञायमान अनेक धर्मों के कारण एक ही वस्तु अनेक आकार की हो सकती है।

न चाप्यैकान्तिकम्......वस्तुनः

उक्त रीति से प्रतिपादित वस्तुओं की अनेकाकारता से एक ही वस्तु में अनेकाकारक प्रतीति की व्यवस्था दृढ़ होगी।

तस्मात्

देश एवं काल के अनुसार वस्तुओं के अनेक आकारों में से किसी आकार का उद्भव एवं किसी आकार का अभिभव होता है। जैसे कि जङ्गल में हथियारबन्द पुरुष को देखकर उसके हिंस्र आकार का उद्भव होता है एवं उसी पुरुष को नगर में देखकर उसके हिंस्र आकार को अभिभूत कर उसका 'पालन करने वाले' (पालक) का आकार उद्भूत होता है।

युगपद्ग्राहकाणाम्

किसी भी वस्तु के एक ही समय जितने ग्राहक आकार रहते हैं, उनमें से जिस ग्राहक आकार के बोधक शब्द का स्मरण होता है उसी आकार का ग्रहण होता है ॥ २१९–२२२ ॥

> नित्यं सत्सु तथा लोके रूपादिषु घटे पृथक् ।
> चक्षुराद्यनुरोधेन संवित्तिर्व्यवतिष्ठते ॥ २२३ ॥
> एवमेव घटत्वादौ सर्वान् प्रति भवत्यपि ।
> वाचकस्मृतिभेदेन संवित्तिर्व्यवतिष्ठते ॥ २२४ ॥

घट में सर्वदा ही रूपादि पदार्थों की सत्ता रहती है, उनमें से जिस वस्तु के ग्रहण के सहकारी की स्थिति रहती है, उसी आकार की वस्तु का ग्रहण होता है : चक्षु के उपस्थित रहने पर रूप का ग्रहण होता है एवं त्वक् के उपस्थित रहने पर स्पर्श ग्रहण होता है।

इसी प्रकार घटादि में घटत्व-प्रमेयत्वादि धर्मों की सत्ता के समान रूप से रहने पर भी जिस धर्म के वाचक शब्द का स्मरण होता है, उसी के अनुसार तदाकारक ही संवित् होती है ॥ २२३–१२४ ॥

तस्माद् बहिः स्थितोऽप्यात्मा नराणां चक्षुरादिभिः ।
प्राप्य वाऽप्राप्य वा बुद्धेर्विषयत्वेन कल्प्यते ॥ २२५ ॥

कथित वस्तुओं के कारण चूँकि किसी प्रकार में स्वविषयकत्व की सम्भावना नहीं है, अतः विज्ञान बहिर्वर्त्ती पदार्थों का ही प्रकाशक है, किन्तु चक्षु प्रभृति सहकारियों के कारण कोई विज्ञान किसी विशेष वस्तु का ही प्रकाशक होता है सभी विज्ञानों से सभी विषयों का प्रकाश नहीं होता ॥ २२५ ॥

वदन्ति लौकिका यच्च यादृग् ज्ञानं तथा बहिः ।
ते पुनर्ज्ञानसंवित्त्या तथार्थं प्रतिजानते ॥ २२६ ॥
ग्राहकत्वेन विज्ञानं यथार्थं नः समर्पयेत् ।
तादृगर्थः स इत्येवं तेषां वा तदुपायतः ॥ २२७ ॥

'नीलोऽर्थोऽयं यतो मेऽत्र तद्रूपा जायते मतिः' (शून्यवाद श्लोक ३०) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा नीलादि विषयों के नीलाकारत्व का जो समर्थन बौद्धों ने किया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'वक्ता' गण ज्ञानों को साकार जानकर ऐसा नहीं कहते कि 'यह ज्ञायमान अर्थ 'नील' इसलिए है कि मुझे नीलाकारक ज्ञान होता है। ज्ञान चूँकि तदुपाय है अर्थात् नीलादि अर्थों के प्रकाशन का उपाय है इसलिये बाह्यार्थवादी मीमांसकादि यह निर्णय करते हैं कि नीलादि बाह्य पदार्थ ही नीलादि विज्ञानों के विषय हैं ॥ २२६–२२७ ॥

लैङ्गिकासत्त्वमप्राप्तैरेतैर्बाह्यार्थवादिभिः ।
ज्ञानानुभवमुत्क्रम्य बाह्य एव प्रतीयते ॥ २२८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण से नीलादि बाह्य पदार्थ निर्णीत हैं, अतः ज्ञानधर्मिक निरालम्बनत्वसाध्यक सभी अनुमान बाधित होने के कारण बाह्यार्थ की सत्ता का खण्डन नहीं कर सकते। इससे बाह्यार्थवादी मीमांसकादि यह निर्णय करते हैं कि नीलादि बाह्य पदार्थ ही नीलादि विज्ञानों के विषय हैं ॥ २२८ ॥

यथा लोके च तद्बुद्धिर्वाच्यमेवं परीक्षकैः ।
न यादृगन्तराकारस्तादृग् बाह्योऽवकल्पते ॥ २२९ ॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्यपदार्थों का समर्थन भले ही हो किन्तु 'परीक्षकों' के लिये उसको मानना उचित नहीं है। अतः हम (परीक्षक) लोगों के द्वारा निर्णीत निरालम्बनत्व का सिद्धान्त ही ठीक है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि लोकसिद्ध पदार्थों का समर्थन करना ही 'परीक्षकों' का काम है। लोक में आन्तर पदार्थ की प्रतीति 'अहम्' शब्द के साथ होती है। किन्तु नीलादि पदार्थों की प्रतीति लोक में 'इदम्' शब्द के साथ ही होती

है। अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानादि आन्तर पदार्थों की प्रतीति 'अहं जानामि' इत्यादि आकारों की होती है, उसी प्रकार नीलादि बाह्य पदार्थों की प्रतीति 'अहं नीलम्' इत्यादि आकारों की नहीं होती। अतः नीलादि बाह्य पदार्थ विज्ञानस्वरूप आन्तर पदार्थ नहीं हैं ॥ २२९ ॥

उत्पद्यमाना गृह्येत चोरर्थग्रहणे यदि।
पूर्वपक्षस्य किं सिद्धं कथं चार्थान्तरं वदेत् ॥ २३० ॥

इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से 'स्यादेतदेवम्' (पृ० ३१ शाबरभाष्य) यहाँ से लेकर 'न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थाप्यते' इतने पर्यन्त के भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या की गयी है। अब 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते ज्ञापयति चार्थान्तरम् प्रदीपवदित्युच्यते' (शा० भा० ३१) इस पूर्वपक्षभाष्य पर आक्षेप किया जाता है।

इस भाष्यसन्दर्भ का अक्षरार्थ यह है कि उत्पन्न होते ही विज्ञान स्वयं ज्ञात हो जाता है, एवं नीलादि अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, जैसे कि प्रदीप उत्पन्न होते ही घटादि अर्थों को भी प्रकाशित करता है एवं स्वयं भी प्रकाशित होता है।

पूर्वपक्षभाष्य होने के कारण इस सन्दर्भ को बाह्यार्थ की अपह्नुति का समर्थक होना चाहिये, किन्तु सो सम्भव नहीं है, क्योंकि अर्थग्रहण के समय ज्ञानग्रहण से बाह्यार्थ की सत्तामें कोई बाधा नहीं आती है। प्रत्युत 'अर्थान्तरं ज्ञापयति' इस कथित भाष्यसन्दर्भ का उक्त वाक्य भी पूर्वपक्षवादी के विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि इस वाक्य से विज्ञान से भिन्न अर्थ की बात ही कही गयी है। अतः प्रश्न होता है कि प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का क्या अभिप्राय है ? अर्थात् उत्पद्यमाना धी यदि 'अर्थ' का अर्थात् नीलादि बाह्य अर्थान्तरों का ग्रहण कर ले तो इस निरालम्बनत्वपक्ष के समर्थक पूर्वपक्ष पर कौन-सा अनुकूल प्रभाव पड़ेगा ? प्रत्युत पूर्वपक्षवादियों के विरुद्ध 'अर्थान्तर' (ज्ञान से भिन्न अर्थ) का ही समर्थन होगा। इसलिये उक्त भाष्यसन्दर्भ प्रकृतानुपयुक्त होने के कारण अयुक्त है ॥ २३० ॥

बाह्यार्थवादिनं ब्रूते भवान् किं नैवमिच्छति।
प्रतिबन्धो न तस्यास्ति गृह्णात्यर्थान्तरं यदा ॥ २३१ ॥

भाष्य के ऊपर उक्त आक्षेप का यह समाधान है कि शून्यवादियों ने (आलम्बनशून्यतावादियों ने) उक्त भाष्यसन्दर्भ के द्वारा अपने पक्ष को उपस्थित नहीं किया है। किन्तु उन्होंने बाह्यार्थवादी मीमांसकों से पूछा है कि अर्थग्रहण के समय ज्ञान के द्वारा 'स्व' के ग्रहण में जब कोई प्रतिबन्धक नहीं है तो फिर अर्थग्रहण के समय आप (मीमांसक) ज्ञानग्रहण को क्यों अस्वीकार करते हैं ? यदि प्रतिबन्धक के न रहने से उत्पत्ति के समय ही ज्ञान से 'स्व' का ग्रहण उपपन्न हो तो उससे वक्रगत्या अर्थाभावस्वरूप हमलोगों के अभीष्ट की ही सिद्धि हो जायगी ॥ २३१ ॥

उत्तरं ग्राहकाभावाल्लिङ्गाभावाच्च नास्ति नः।
तदा ग्रहणमित्येतदन्यतर्केषु चोच्यते ॥ २३२ ॥

तेषु तर्केषु विज्ञानमर्थकालेऽवगम्यते ।
तथा सत्यर्थनाशः स्यादित्येतदुपविश्यते ॥ २३३ ॥

उत्तरं ग्राहकाभावात् ...... तदा ग्रहणम्

उक्त पूर्वपक्षभाष्य का निराकरणपरक सिद्धान्त भाष्यसन्दर्भ निम्नलिखित है 'तन्न, न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति, तत्र यौगपद्यमनुपपन्नम्' (शा० भा० पृ० ३२)। इस सिद्धान्तभाष्य का यह अभिप्राय है कि यह सत्य है कि ज्ञान की उत्पत्ति के समय ज्ञान के ग्रहण में कोई बाधा नहीं है। किन्तु ज्ञानग्रहण का कारण वहाँ उपस्थित नहीं है। इसलिये ज्ञान का ग्रहण उस समय नहीं होता। बौद्धों के मत से अर्थ का ज्ञान स्वरूप ही होना ज्ञान के ग्रहण का हेतु है, अर्थग्रहण के समय अर्थ की सत्ता उसका हेतु है। हम लोगों के मत से ज्ञातता-लिङ्गक अनुमान से बुद्धि का ग्रहण होता है। ज्ञाततालिङ्गक उक्त अनुमिति ज्ञान-ग्रहण के बाद होगी। अतः ज्ञानोत्पत्ति के समय ज्ञानग्रहण की उत्पत्ति किसी प्रतिबन्धक के न रहने पर भी अन्य कारणों के अभाव से ही नहीं होगी। इसलिये ज्ञानोत्पत्ति एवं ज्ञानग्रहण दोनों का 'यौगपद्य' अर्थात् एक ही काल में सत्त्व सम्भव नहीं है।

इत्येवन्यतर्केषु चोच्यते ...... अवगम्यते

अथवा 'स्यादेतदेवम् ...... न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थाप्यते' इस पूर्वपक्षभाष्य-सन्दर्भ को वैशेषिकादि (वृद्धनैयायिकादि) मतों के अनुसार दूसरे प्रकार से भी लगाया जा सकता है। वे घटादि बाह्यवस्तुओं की ज्ञान से भिन्न पृथक् सत्ता ही मानते हैं, किन्तु घटादिविषयक ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में ही घटादिविषय एवं तद्विषयक ज्ञान दोनों का ही ग्रहण नहीं मानते। किन्तु इस मत में जब ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य वस्तु की सत्ता स्वीकृत है तो फिर इसको सिद्धान्तवादी के विरुद्ध पूर्वपक्षवादी का मत कैसे समझा जाय ? एवं तब इस पक्ष का खण्डन ही क्यों ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—

तथा सत्यर्थनाशः स्यात् ...... उपविश्यते

अगर ज्ञान एवं विषय दोनों का ग्रहण एक ही समय स्वीकार करें तो 'अर्थ-नाश' का प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात् ज्ञान से भिन्न अर्थ की सत्ता नहीं मानी जा सकेगी, क्योंकि निराकार विज्ञान का ग्रहण संभव नहीं है। उत्पत्तिक्षण में गृहीत होने वाले ज्ञान को ही विषयाकार मानना होगा जिससे ज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ की सत्ता विपन्न हो जायगी। किन्तु यह वैशेषिकादि को इष्ट नहीं है। अतः इस पक्ष का खण्डन 'न ह्यज्ञाते' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से किया गया है। (तथा सत्यर्थ-नाशः स्यात् इस श्लोक में 'नाश' शब्द 'ध्वंस' का वाचक नहीं है किन्तु सत्त्वाभाव का बोधक है) ॥ २३२–२३३ ॥

नन्वित्येतदसम्बद्धं परेष्टस्यैव चोदनात् ।
पौर्वापर्यविभागोऽपि प्रागुक्तेन विरुध्यते ॥ २३४ ॥

'ननूत्पन्नायामेव बुद्धौ 'ज्ञातोऽर्थ' इत्युच्यते नानुत्पन्नायाम्' (शाबरभाष्य पृ३२) इस पूर्वपक्षभाष्य के द्वारा आक्षेप किया गया है कि बुद्धि के उत्पन्न होने के बाद ही 'ज्ञातोऽर्थः' यह प्रतीति होती है, बुद्धि के उत्पन्न होने के पहले नहीं। किन्तु यह तो सिद्धान्ती मीमांसकों को इष्ट ही है, क्योंकि वे भी यही कहते हैं कि बुद्धि के उत्पन्न होने पर अर्थ गृहीत होता है। चूँकि बौद्धों के द्वारा किया गया उक्त आक्षेप प्रतिवादी मीमांसकों को इष्ट है अतः यह आक्षेप अयुक्त है।

एवं 'पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, बाद में अर्थ ज्ञात होता है' यह पूर्वापर का अभिधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते ज्ञापयति चार्थान्तरम्' (शा० भा० पृ० ३२ पं० २) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा स्वग्रहण एवं विषयज्ञापन दोनों का यौगपद्य अनुपद ही कह आये हैं। अतः कथित पूर्वपक्षीय भाष्यसन्दर्भ ठीक नहीं है ॥ २३४॥

क्षणिकत्वेन युक्तं स्याज् ज्ञातत्वमथ चेत् तदा।
भूतकालाश्रयाद् ब्रूयाद् वृथोक्तस्य पुनर्वचः ॥ २३५ ॥

क्षणिकत्वेन""""ब्रूयात्

'ननूत्पन्नायामेव' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा ज्ञानग्रहण एवं विषयग्रहण का यौगपद्य ही विवक्षित है, 'पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते' इस वाक्य के द्वारा पूर्वकाल में बुद्धि की उत्पद्यमानता कही गयी है। 'पश्चाज्ज्ञातोऽर्थः' इस वाक्य में प्रयुक्त भूतकाल के ज्ञापक निष्ठाप्रत्यय के द्वारा पश्चात्काल में अर्थ का होना कहा गया है। इस प्रकार उक्त दोनों वाक्यों से ज्ञानग्रहण एवं विषयग्रहण का यौगपद्य ही पर्यवसित होता है। अतः उक्त भाष्यसन्दर्भ ठीक ही है।

वृथोक्तस्य पुनर्वचः

कथित रीति से भाष्यसन्दर्भ की उपयुक्तता का उपपादन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'ननूत्पन्नायामेव' (शा० भा० पृ० ३२१) इत्यादि भाष्य-सन्दर्भ के द्वारा ज्ञानग्रहण एवं विषयग्रहण इन दोनों के यौगपद्य का अभिधान व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि यह यौगपद्य तो 'उत्पद्यमानैवासौ' इत्यादि से पहले ही उपपादित हो चुका है। एक बार कथित विषय का पुनः कथन तो पुनरुक्ति दोष है ॥ २३५ ॥

अत्रापि न स्वसिद्धान्तमूके व्याजात् परस्य तु।
भ्रान्तत्वादन्यथा पक्षं गृहीत्वेति स्म पृच्छति ॥ २३६ ॥

इस स्थल में भी पूर्वपक्षवादी बौद्धों ने अपने इस सिद्धान्त के अनुसार विषय को उपस्थित नहीं किया है। अतः उसके ऊपर 'परपक्षाङ्गीकार' का आरोप नहीं किया जा सकता। किन्तु 'ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति' इस सिद्धान्तभाष्य के द्वारा भ्रान्तिवश सिद्धान्तियों के पक्ष को अन्यथा समझकर 'ननूत्पन्नायामेव' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सिद्धान्तपक्ष पर आक्षेप किया है ॥ २३६ ॥

सहोत्पत्त्युपलब्ध्या हि ज्ञानस्यैकान्ततः स्थितिः।
प्रागूर्ध्वं वार्थसंवित्तेर्युगपद् वेति चिन्त्यते ॥ २३७ ॥

एवं चार्थस्य संवित्तेः पश्चाज् ज्ञानावबोधनम् ।
ब्रवीतु नूनमेतस्य पश्चादुत्पद्यतेऽपि तत् ॥ २३८ ॥
न चैतच्छक्यते तस्मादुत्पत्तेरपकर्षणम् ।
करोमि तावत् तत्काला संवित्तिरपि सेत्स्यति ॥ २३९ ॥
प्राक् च तद्ग्रहणे सिद्धे बाह्याभ्यन्तरयोर्ध्रुवम् ।
विवेकादर्शनन्तस्मादिदम् पूर्वं च चोदितम् ॥ २४० ॥

शून्यवादियों को यह भ्रम है कि ज्ञान की उत्पत्ति एवं ज्ञान की उपलब्धि युगपत् उत्पन्न होती है। इसमें कोई विवाद नहीं है। इसमें चिन्तनीय यह है कि युगपदुत्पन्न होनेवाली (ज्ञानोत्पत्ति एवं ज्ञानोपलब्धि) ये दोनों (१) अर्थोपलब्धि से पूर्व होती हैं ? (२) अथवा अर्थोपलब्धि के बाद उत्पन्न होतीं हैं ? अथवा (३) एक ही समय अर्थोपलब्धि, ज्ञानोपलब्धि, एवं ज्ञानोत्पत्ति ये तीनों ही उत्पन्न होती हैं ?

मीमांसकगण कहते हैं कि 'ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति' अर्थात् अर्थसंवित्ति के बाद ज्ञानसंवित्ति होती है। इससे यह भान होता है कि अर्थसंवित्ति के बाद ही ज्ञान की उपलब्धि मानते हैं। किन्तु सो युक्त नहीं है। इसीलिए अर्थसंवित्ति से पहले ज्ञानोत्पत्ति को ले जाने के अभिप्राय से 'ननूत्पन्नायामेव' यह पूर्वपक्षभाष्य लिख गया है। अर्थसंवित्ति से पहले यदि ज्ञानोत्पत्ति सिद्ध हो जाती है तो तदभिन्न ज्ञानसंवित्ति भी अर्थोपलब्धि से पहले प्राप्त हो जाती है।

प्राक् च तद्ग्रहणे विवेकादर्शनम् पूर्वं च चोदितम्

अर्थोपलब्धि से पहले यदि ज्ञानसंवित्ति प्राप्त हो जाती है तो चूँकि कोई भी उपलब्धि विना आकार के नहीं हो सकती, एवं अर्थ और ज्ञान का कोई अलग-अलग आकार उपलब्ध नहीं होता, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि अर्थ ज्ञान का ही एक विशेष आकार है, अर्थ नाम की स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। पूर्वपक्षियों का कथित आक्षेप उनके पक्ष का परिपोषक होने से अयुक्त नहीं है। इसलिए 'पूर्वं' अर्थात् पहले 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति चार्थान्तरम्' यह यौगपद्य के आक्षेप का कथन किया गया है। एवम् **'इदम्'** यह अभी जो 'ननूत्पन्नायामेव' इत्यादि से आक्षेप का उत्थापन किया गया है, इनमें से कोई भी आक्षेप असंगत नहीं है ॥ २३७–२४० ॥

युगपद् गृह्यमाणेऽपि नाकारोऽर्थस्य लक्ष्यते ।
तस्मादर्थस्य संवित्तिः पूर्वं यत्नेन साध्यते ॥ २४१ ॥

'तस्मात्' ज्ञान से पहले यदि अर्थ को संवित्ति मानते हैं तो अर्थ में ज्ञानाकारता प्राप्त हो जाती है। अतः बाह्यार्थ की सिद्धि के लिये सिद्धान्तवादी 'सत्यं पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते' इत्यादि सन्दर्भ से सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं ॥ २४१ ॥

यस्त्वेतस्योत्तरो ग्रन्थः प्रागेवासौ निरूपितः ।
न त्वेतत् साधनं साक्षात् पूर्वं बुद्धेरबोधने ॥ २४२ ॥

न परामृश्यतेऽर्थात्मा ज्ञातोऽप्यज्ञातवद् यतः ।
तस्मान्न ग्रहणं पूर्वं बुद्धेः किं केन सङ्गतम् ॥ २४३ ॥

यत्त्वेतस्य······निरूपितः

ज्ञान की उत्पत्ति से पहले अर्थ इसलिए ज्ञात होता है कि विषयविनिर्मुक्त केवल ज्ञान का ही स्मरण होता है। यह बात 'भवति हि कदाचित्' इत्यादि भाष्य-सन्दर्भ से कही गई है जिसकी व्याख्या 'न स्मरामि मया कोऽपि' (शून्यवाद श्लोक ८३) में की जा चुकी है।

मत्वेत्साधनम्

'सत्यं पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते पश्चाज्ज्ञानम्, न तु पूर्वं ज्ञायते, भवति हि कदाचिदेतत्' (शाबरभाष्य–शून्यवाद पृ० ३३) इस सिद्धान्तभाष्य पर यह आक्षेप है—उक्त भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि जिसलिए कि उत्तरकाल में नीलादि बाह्य विषयों से विनर्मुक्त केवल ग्राहक का स्मरण 'न स्मरामि कोऽपि' इत्यादि स्थलों में होता है और एक ही साथ अनुभूत दो वस्तुओं में से एक का स्मरण एवं दूसरे का विस्मरण होता है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि विषयविनिर्मुक्त केवल ज्ञान के स्मरण एवं विषयविस्मरण से यह सिद्ध नहीं होता कि अर्थसंवित्ति के समय ज्ञान की संवित्ति नहीं होती है। फलतः ज्ञानस्मरण के साथ विषयस्मरण का अनैयत्य ज्ञान और विषय दोनों के नियमतः साथ-साथ गृहीत होने का प्रयोजक नहीं है।

न परामृश्यते

'तस्मात्' यह कहना असंगत सा लगता है कि ज्ञानस्मरण में अर्थ कदाचित् नहीं भी भासित होता है, इसीलिये बुद्धि का ग्रहण पहले नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-स्मरण में अर्थ का अभान और अर्थग्रहण के समय बुद्धि का अग्रहण इन दोनों में कोई कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं बैठता, क्योंकि पूर्व में अनुभूत होने पर भी सभी विषयों का आगे स्मरण होना निश्चित नहीं है ॥ २४२–२४३ ॥

अतः पूर्वोपलब्ध्या यो बुद्ध्याकारोऽत्र वाञ्छितः ।
तन्निराकरणेनैव फलत्वाद् ग्रन्थवर्णना ॥ २४४ ॥

यह सत्य है कि ज्ञानस्मरण में अर्थ के कदाचित् अभान का साक्षात् कारण अर्थ-ग्रहण के समय बुद्धि का अग्रहण नहीं है। किन्तु 'फलद्वारा' दोनों में कार्यकारणभाव का वर्णन किया जा सकता है। प्रकृत भाष्यग्रन्थ में सो ही किया गया है।

फलद्वारा कार्यकारणभाव की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है। बौद्धगण अर्थग्रहण के समय बुद्धिग्रहण को सिद्धि इस लिये करते हैं कि इसके द्वारा ग्राह्य-नीलादि वस्तुओं में ज्ञानाकारत्व की सिद्धि की जा सके। ग्राह्यनीलादि वस्तुओं में ज्ञानाकारत्व की यह सिद्धि ही उसका 'फल' है। इसका निराकरण ही उक्त भाष्य-सन्दर्भ से इस अभिप्राय से किया गया है कि नीलाकार विज्ञान कभी-कभी नील स्वरूप अपने विषय को छोड़कर स्मृत नहीं होता। अतः ज्ञान नीलाकार नहीं है।

एवं पहले अर्थात् अर्थोपलब्धि के समय उसका ग्रहण भी नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का ग्रहण अर्थोपलब्धि के समय नहीं होता है। इसी अभिप्राय से उक्त भाष्यसन्दर्भ लिखित है॥ २४४॥

कामं बुद्धेरिति त्वेतदर्थाधीनत्वमुच्यते।
न चार्थरूपाद् भेदेन धियामस्ति निरूपणम्॥ २४५॥
पररूपनिरूप्यं च न मेयं मृगतोयवत्।
असद्ग्राह्यानुसारेण ज्ञानसंवेद्यता तव॥ २४६॥
स्वच्छत्वात्तु स्वरूपस्य कल्पिता ग्राह्यता धियाम्।
वासनोपप्लवात् तेन न मेयं पारमार्थिकम्॥ २४७॥

कामं बुद्धेः·······उच्यते

'काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः, न त्वर्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः' (शावरभाष्य शून्यवाद पृ. २४.) यह सिद्धान्तभाष्य ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि इससे ज्ञानाऽद्वैत में भले ही बाधा हो तथापि 'अर्थाऽद्वैत' की सिद्धि हो जायगी। मीमांसकों को दोनों प्रकारों के 'अद्वैत' अमान्य हैं। दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि की सत्ता ही यदि विपन्न होगी तो जिस प्रत्यक्षात्मक बुद्धि के द्वारा अर्थ की सत्ता अनिवार्य होती है, वह विपन्न हो जायगी। तस्मात् भाष्य का उक्त सिद्धान्तसन्दर्भ ठीक नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

उक्त भाष्यसन्दर्भ 'अतिशयोक्तिमूलक' है, परमार्थमूलक नहीं है। अतः ज्ञान और अर्थ इन दोनों में से यदि किसी एक की अपह्नुति आवश्यक हो तो फिर ज्ञान की अपह्नुति भले ही कर लें अर्थ की अपह्नुति नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञान अर्थप्रकाश के अधीन है एवं अर्थप्रकाश के द्वारा ही अनुमेय है। अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान की सत्ता की अस्वीकृति सिद्धान्तियों को अभिप्रेत है। अत एव इसके उपसंहार में आगे भाष्यकार ने लिखा है कि 'न चैकरूप्यम्' (शाबरभाष्य पृ. ३५ पं. २) अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों का अभेद नहीं है।

न चार्थरूपात्·····निरूपणम्·····संवेद्यता तव·····पारमार्थिकम्

'न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम्, तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिः, अव्यपदेश्यञ्च न प्रत्यक्षम्, तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः' (शाबरभाष्य पृ० ३४) इस भाष्यसन्दर्भ का आशय है कि विज्ञान स्वप्रकाश होने पर भी स्वरूप से प्रकाश नहीं होता किन्तु नीलादि विषयों के आकारों के द्वारा ही प्रकाशित होता है। आप लोगों (बौद्धों) के मत से विज्ञान की नीलाद्याकारता वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार 'पर' रूप से प्रकाशित होनेवाला 'मृगतोय' वास्तव में 'प्रमेय' नहीं होता, उसी प्रकार नीलादि पररूपों से प्रकाशित होने वाला विज्ञान भी अवास्तविक ही होगा।

बौद्धों के मत से विषयोपप्लवरहित ज्ञान का चिन्मात्र स्वच्छ ही 'स्व' रूप है। वासना के उपप्लव से वस्तुतः अविद्यमान नीलादि आकार ही भासित होते हैं

जैसे कि मरीचिका में अवास्तविक जल ही प्रकाशित होता है। विज्ञान का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है ॥ २४५–२४७ ॥

निमित्तनियतत्वं तु समानमुभयोरपि ।
निजशक्त्यनुसारित्वाज् ज्ञानबाह्यार्थवादिनोः ॥ २४८ ॥
तन्त्वर्थैरपि कस्माद् वः क्रियते केवलः पटः ।
नारभ्यते घटः किं तैर्मृत्पिण्डार्थैन वा पटः ॥ २४९ ॥
तन्तुमृत्पिण्डविज्ञाने ह्यनुयोज्ये मते यदि ।
अर्थपर्यनुयोगोऽपि तद्वदेव प्रसज्यते ॥ २५० ॥
अर्थारम्भव्यवस्था चेत् सामर्थ्यनियमाश्रया ।
ज्ञानारम्भव्यवस्थायां सामर्थ्यं केन वार्यते ॥ २५१ ॥
तस्माद् यत्रोभयोर्दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ २५२ ॥

'अपि च नियतनिमित्तस्तन्तुष्वेवोपादीयमानेष्वेव पटप्रत्ययः, तन्त्वाऽदानेऽपि कदाचिद् घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात्, न चैतदस्ति, अतो न निरालम्बनः प्रत्ययः, अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षम्' (शाबरभाष्य, शून्यवाद पृ० ३९ पं० ४) ।

इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा सिद्धान्तवादो कहते हैं कि तन्तुस्वरूप उपादान कारण से उत्पन्न कार्य में ही पटबुद्धि होती है। यदि ऐसा नियम न हो तो तन्तुस्वरूप उपादान कारण से उत्पन्न कार्य में भी कदाचित् निर्दुष्टेन्द्रिय से युक्त को भी घट-प्रत्यय होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अवश्य ही प्रत्ययों के आलम्बन बाह्य पदार्थ हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण व्यभिचरित नहीं होता।

इस सिद्धान्तभाष्य के ऊपर बौद्धगण आक्षेप करते हैं कि जिस प्रकार अर्थ-वादी मीमांसकों के मत में भी तन्तुओं से ही घट की उत्पत्ति होती है, मृत्पिण्डों से नहीं इसका कारण तन्तुओं में पटोत्पादिका शक्ति की सत्ता और मृत्पिण्डों में उक्त शक्ति की असत्ता ही है उसी प्रकार विज्ञानवादियों के मत में भी समान रूप से यह कहा जा सकता है कि तन्तुज्ञान में ही पटज्ञान के उत्पादन की शक्ति है, अतः उसी से पटज्ञान की उत्पत्ति होती है। मृत्पिडविज्ञान में पट के उत्पादन की शक्ति नहीं है, अतः उससे पटविज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार तन्तु-विज्ञान से घटविज्ञान की उत्पत्ति की आपत्ति दी जाती है, उसी प्रकार तन्तुओं से घट की उत्पत्ति की आपत्ति भी दी जा सकती है। तस्मात् जिस प्रकार 'अर्थारम्भ-व्यवस्था' अर्थात् तन्तुस्वरूप 'अर्थ' से पटस्वरूप 'अर्थ' ही उत्पन्न होता घटस्वरूप अर्थ नहीं, इस प्रकार की 'व्यवस्था' शक्ति के भरोसे ही की जा सकती है, उसी प्रकार 'ज्ञानारम्भव्यवस्था' में भी शक्ति का उपयोग समान रूप से किया जा सकता है।

'तस्मात्' जिस विचार के दोनों ही पक्षों में जो दोष समान रूप से आपन्न हो उस विचार में उस दोष के कारण एक पक्ष को पराजित नहीं किया जा सकता ॥ २४८–२५२ ॥

देशकालनिमित्तानि व्यञ्जकान्यर्थवादिनः ।
शक्तीनां कारणस्थानां स्वकार्यनियमं प्रति ॥ २५३ ॥

(अर्थवादी मीमांसक इसका समाधान करते हैं कि) पटादि के उत्पादक तन्तु प्रभृति में पटोत्पादक शक्ति के सर्वदा रहते हुये भी सर्वदा जो पटादि की उत्पत्ति नहीं होती है, एवं कदाचित् ही पटादि की उत्पत्ति होती है, कार्यों के इस कादाचित्कत्व का प्रयोजक हम लोगों के मत से देश, काल, कुविन्द प्रभृति सहकारि कारण हैं, जिनसे तन्तु प्रभृति में शक्ति अभिव्यक्त होती है। अभिव्यक्त शक्ति से युक्त कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, 'विज्ञानाद्वैत' वादियों के मत से वासनाख्य शक्ति को छोड़कर दूसरा कोई कार्यों का सहकारि कारण नहीं है जिसके बल से उक्त व्यवस्था की उपपत्ति वे कर सकेंगे ॥ २५३ ॥

शक्तयोऽपि च भावानां कार्यार्थापत्तिकल्पिताः ।
प्रसिद्धाः पारमार्थिक्यः प्रतिकार्यं व्यवस्थिताः ॥ २५४ ॥

हम (मीमांसक गण) अर्थवादियों के मत में भी कार्यान्यथानुपपत्ति स्वरूप अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कारणों में कार्यानुकूल शक्ति की सत्ता सिद्ध है ही। किन्तु हम लोगों के मत से वह 'शक्ति' पारमार्थिक है, बौद्धों की वासनाख्य शक्ति की तरह सांवृत नहीं। उसी पारमार्थिक शक्ति से 'प्रतिकार्यव्यवस्था' की उपपत्ति होती है ॥ २५४ ॥

भवतस्तु न विज्ञानाद् भिन्नाभिन्ना निरूप्यते ।
शक्तिः संवृतिसद्भावमुत्सृज्य परमार्थतः ॥ २५५ ॥
वासनैव च युष्माभिः शक्तिशब्देन गीयते ।
निमित्तनियतत्वं च वासनाया यदुच्यते ॥ २५६ ॥
तस्याश्चासम्भवेनैतदपारार्थ्याच्च दुर्लभम् ।
देशकालनिमित्तादि न च तेऽस्ति नियामकम् ॥ २५७ ॥
मत्वैतदपि चेत्याह भाष्यकारः परं प्रति ।
तस्मादपरिहारोऽयं तन्तुभ्यस्ते यथा पटः ॥ २५८ ॥
तथा मे तन्तुबुद्धिभ्यः पटबुद्धिरितीदृशः ।
एवमाद्यप्रमाणाभ्यां न तावद् बाह्यशून्यता ॥ २५९ ॥

आप (बौद्धगण) वासना रूपा जिस शक्ति को स्वीकार करते हैं, वह न ज्ञान से भिन्न ही उपपन्न होती है न अभिन्न ही। अतः उसकी सांवृतसत्ता को छोड़कर उसकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकते। अतः कथित वासना स्वरूप असत् पदार्थ के द्वारा कार्यों का नियतत्व उपपन्न नहीं हो सकता। हम लोगों की वासना तो आत्मा के लिये होती है, अतः 'परार्थ' है (अर्थात् दूसरे के लिये होती है) इस लिये वासना से जो कार्य होगा, उसमें केवल वासना की ही नहीं किन्तु 'आत्मप्रणिधान' की भी आपेक्षा होगी। इसीसे कार्य की उत्पत्ति के

लिये अपेक्षित विलम्ब की उपपत्ति होगी। आप (बौद्धों) के मत में उक्त वासना का जहां आधान होगा, क्षणिक होगा। एवं उसे कार्योत्पादन के लिये दूसरे की अपेक्षा नहीं होगी। अतः सतत कार्योत्पत्ति की आपत्ति होगी जिससे कार्यों का कादाचित्कत्व अनुपपन्न हो जायगा।

आप (बौद्धों) के मत से देशकालादि पदार्थ भी नहीं हैं, जिससे कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब हो सके। अतः भाष्यकार का कथन सर्वथा सत्य है। इस लिये आप (बौद्धों) ने जो दोनों पक्षों में समानता का उपपादन करते हुये कहा है कि जिस प्रकार तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार तन्तुबुद्धि से पटबुद्धि की भी उत्पत्ति होगी यह कथन भी सङ्गत नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा बाह्यार्थशून्यता का उपपादन नहीं किया जा सकता ॥ २५५–२५९ ॥

आगमस्य तु नैवेह व्यापारोतोऽन्यथापि वा।
नोपमा सदृशाभावात् नार्थापत्तिर्विपर्ययात् ॥ २६० ॥
तस्मादभावगम्यत्वं शून्यतायाः स्थितं हि नः।
एवं प्रमाणतोऽसिद्धा यैः प्रमेयाश्रयोच्यते ॥ २६१ ॥
बाह्यस्याणुसमूहादेर्ग्राह्यस्यासम्भवेक्षणात् ॥ २६२ ॥

आगमस्य······अन्यथाऽपि वा

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा बाह्यार्थ-भङ्ग की उपपत्ति भले ही संभव न हो, किन्तु 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस वेदवाक्य रूप शब्द के द्वारा 'अद्वैत' का समर्थन किया जा सकता है जिसका पर्यवसान 'ज्ञानाद्वैत' में होगा। इसका यह समाधान है कि) उक्त शब्द प्रमाण का 'इह' अर्थात् बाह्यार्थाभाव की सिद्धि में व्यापार नहीं है। उसका तात्पर्य तो आत्मा के उत्कर्ष का प्रतिपादन करना है। अतः उक्त वाक्य से बाह्यार्थभङ्ग की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण से तो विविध प्रकार के कर्मों का विधान किया गया है। अतः शब्द प्रमाण से बाह्यार्थभङ्ग की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

नोपमा सदृशाभावात्

उपमान प्रमाण से भी बाह्यार्थभङ्ग की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उपमिति सादृश्यज्ञान से उत्पन्न होती है। ज्ञान से भिन्न 'शून्य' नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है जिसकी उपमा 'ज्ञानशून्यता' के साथ दी जाय।

नार्थापत्तिर्विपर्ययात्

अर्थापत्ति प्रमाण से तो बाह्यार्थभंग की सिद्धि सम्भव नहीं है, किन्तु 'तद्विपर्यय' अर्थात् जगद्वैचित्र्य की सिद्धि ही होगी, क्योंकि घटपटादि विविध प्रकार के व्यवहारों की उपपत्ति विविध प्रकार के बाह्यपदार्थों की सत्ता के बिना सम्भव नहीं है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से भी 'बाह्यार्थभंग' की सिद्धि नहीं हो सकती।

'तस्मात्' जिसलिए कि प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों में से किसी से भी 'बाह्यार्थ-भंग' की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः 'अभाव' स्वरूप छठा प्रमाण ही 'बाह्यार्थ-शून्यता' के लिए उपयुक्त है। किन्तु इससे 'बाह्यार्थभङ्ग' की अर्थात् 'बाह्यार्थ' को ही सिद्धि होगी जो हम (मीमांसकों) को अभिप्रेत है।

एवं प्रमाणतोऽसिद्धा······क्षणात्

इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से 'प्रमाणस्थस्तु मूलत्वात्' (निरालम्बनवाद श्लोक १७–१८) आदि श्लोकों से प्रतिज्ञात प्रमाण के द्वारा उपस्थापित बाह्यार्थभंग का खण्डन किया गया है।

बौद्धों के जो सम्प्रदाय 'प्रमेय' की दृष्टि से बाह्यार्थभंग का समर्थन करते हैं (देखिये निरालम्बनवाद के श्लोक १७ की टिप्पणी) उनका संक्षेप में कहना है कि जिनको आप 'ग्राह्य' मानते हैं, वे परमाणुस्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं। 'ग्राह्य' पदार्थ अवयविस्वरूप भी नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणुओं से उनका भेद और अभेद दोनों ही अनुपपन्न हैं। अतः 'बाह्यार्थ' वस्तु है ही नहीं ॥ २६२ ॥

तैरान्तरासम्भवतो यथोक्ताद् ज्ञेयत्वमन्यस्य बलादुपेयम्।

ग्राह्या न चेष्टाः परमाणवोऽतः सत्यः समूहः प्रतिपादनीयः॥ २६३ ॥

कथित प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि 'ज्ञान' चूंकि आन्तरिक पदार्थ है अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि 'बाह्यपदार्थ' का ही प्रत्यक्ष होता है, एवं जिसलिए कि परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिये 'अवयवी' और उनमें रहनेवाली जातियों को ही 'ग्राह्य' मान लें। आगे 'आकृतिवाद' में इन सबों की सत्ता का अच्छी तरह प्रति-पादन किया जायगा ॥ २६३ ॥

इति बहिर्विषयप्रतिपादनाद् तदभावकृता मतिसंवृतिः।

उभयतत्त्वविदां परमार्थतः, क्षममिदं धुरि धर्मविचारणे ॥ २६४ ॥

माध्यमिक सम्प्रदाय के 'सर्वशून्यतावादी' बौद्धगण बाह्यार्थभङ्ग की सिद्धि के बाद जो 'सर्वशून्यता' का समर्थन करते हैं 'बाह्यार्थभङ्ग'वाद के खण्डन से ही उन लोगों को भी पराजित समझना चाहिये, क्योंकि बाह्य अर्थों की सत्ता के प्रतिपादन से नीलादि वस्तुओं की ज्ञानाकारता ही खण्डित हो जाती है।

'धर्म' स्वरूप 'रथ' के विचारस्वरूप भार को वहन करने में समर्थ शब्द और अर्थ स्वरूप दोनों युग्यों (बैलों) को जानने में समर्थ (पुरुष—मीमांसक) से 'धर्म' का विचार किया जा सकता है। अन्यथा बाह्यार्थभंग सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों को विज्ञानस्वरूप ही समझानेवाले पुरुषों (बौद्धों) के द्वारा 'मीमांसा' शास्त्र को समझना ही दुष्कर है। इसलिए भाष्यकार श्री शबरस्वामी ने अपने ग्रन्थ में निरालम्बनवाद का खण्डन किया है ॥ २६४ ॥

इति शून्यवादः ॥

अनुमानपरिच्छेदः प्रारभ्यते

प्रत्यक्षाव्यभिचारित्वादेवंलक्षणकं च यत् ।
प्रसिद्धमनुमानादि न परीक्ष्यं तदप्यतः ॥ १ ॥

निमित्तसूत्र (अ० १ पा० १ सू० ५) के भाष्य में कहा गया है कि प्रमाण परीक्षणीय नहीं हैं, क्योंकि वे 'अर्थाऽव्यभिचारी और 'एवंलक्षणक' हैं। प्रमाणों के अव्यभिचारित्व के प्रयोजक इस 'एवंलक्षणकत्व' को समझाने के लिए प्रमाणों का लक्षण प्रारम्भ किया गया है। तदनुसार प्रत्यक्षलक्षण के बाद भाष्यकार ने क्रम-प्राप्त 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इत्यादि से अनुमान का लक्षण किया है। अर्थात् अनुमान चूँकि 'प्रत्यक्षाऽव्यभिचरी' है, तथा **'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे-बुद्धिः'** इस आकार के निर्दुष्ट लक्षण से युक्त है अतः अनुमान भी प्रत्यक्ष के समान ही अपरीक्षणीय है ॥ १ ॥

प्रमाता ज्ञातसम्बन्ध एकदेश्यथवोच्यते ।
कर्मधारयपक्षो वा सम्बन्धिन्येकदेशता ॥ २ ॥

प्रमाता ज्ञातसम्बन्धः

कथित अनुमानलक्षण के बोधक वाक्य में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्धस्य' पद के समास के भेद से चार अर्थ हो सकते हैं :—

(१) 'ज्ञातः सम्बन्धो येन' इस समास के अनुसार ज्ञातसम्बन्ध पद से अनुमिति स्वरूप प्रमिति का कर्त्ता (ज्ञाता) अभिप्रेत है। तदनुसार उक्त अनुमानलक्षणवाक्य की संस्कृत व्याख्या इस प्रकार की होगी "ज्ञातसम्बन्धस्य प्रमातुः पुरुषस्य हेतुस्वरूपैक-देशस्य सम्बन्धाद् वह्निस्वरूपैकदेशान्तरे चक्षुषाऽसंनिकृष्टे या बुद्धिरुत्पद्यते सा अनुमितिः, तत्करणमनुमानं प्रमाणम्"। अर्थात् जिस पुरुष को हेतु में साध्य के व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान है, उस पुरुष में उस सम्बन्ध के एकदेश अर्थात् एक सम्बन्धी स्वरूप हेतु के ज्ञान से चक्षु से असंनिकृष्ट उसी सम्बन्ध के दूसरे सम्बन्धी वह्नि के विषय जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको 'अनुमिति' कहते हैं।

एकदेश्यथवोच्यते

(२) अथवा उक्त 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से सपक्ष (दृष्टान्त) स्वरूप 'एकदेशी' ही विवक्षित है। 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इस समस्त पद का यह विग्रह अभिप्रेत है : 'ज्ञातः सम्बन्धो यस्मिन्' अर्थात् 'यस्मिन् सपक्षे महानसादौ एकदेशिनि वह्निधूमयोरेकदेशयोः 'सम्बन्धः' व्याप्तिस्वरूपः ज्ञातः तस्यैकदेशिनः एकदेशिनोर्मध्ये धूम(हेतु)स्वरूपैक-देशस्य पर्वते ज्ञानात् चक्षुषा असंनिकृष्टे अपरस्मिन्नेकदेशे वह्नौ या बुद्धिरुदेति सा अनुमितिः।' अर्थात् महानसादि सपक्षों में धूम एवं वह्नि का नियत सामाना-धिकरण्य स्वरूप व्याप्तिसम्बन्ध ज्ञात होता है। उस व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध का एक एकदेश (सम्बन्धी) है धूम और दूसरा एकदेश (सम्बन्धी) है वह्नि। चूँकि इन दोनों का सम्बन्ध महानस में ही ज्ञात होता है, अतः महानस (सपक्ष) इन दोनों ही एकदेशों का

सन्धिस्थल है। अतः 'सपक्ष' ही 'एकदेशी' शब्द से अभिप्रेत है। इस सपक्षस्वरूप एकदेशी के धूम स्वरूप एकदेश के ज्ञान से चक्षु से असंनिकृष्ट दूसरे वह्नि स्वरूप एकदेश में (विधेयता सम्बन्ध से) जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसको 'अनुमिति' कहते हैं। इस अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है।

कर्मधारयपक्षे वा ... एकदेशता

...(३) अथवा 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से 'ज्ञातश्चासौ सम्बन्धश्चेति ज्ञातसम्बन्धः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा सपक्ष में ज्ञात वह्नि और धूम का व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। सभी सम्बन्ध द्विनिष्ठ होते हैं। इसलिए अपने दोनों ही सम्बन्धियों में एक ही एक सम्बन्ध के रहने से प्रकृत में 'सम्बन्ध' ही 'एकदेशी' है। सम्बन्ध रूप एकदेशी का जो 'हेतु' स्वरूप प्रथम एकदेश, उसके ज्ञान से सम्बन्धस्वरूप एकदेशी के हीचक्षु से असंनिकृष्ट दूसरा साध्यस्वरूप एकदेश में (विधेयतासम्बन्ध से) उत्पन्न होनेवाली बुद्धि अनुमिति है ॥ २ ॥

द्वयं वा ज्ञातसम्बन्धमुपलब्धं परस्परम्।
तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ॥ ३ ॥

(४) किं वा हेतु एवं साध्य इन दोनों का समुदाय ही प्रकृत में 'ज्ञातसम्बन्ध' शब्द से अभिप्रेत है। तदनुकूल समास इस प्रकार है—'ज्ञातः सम्बन्धो ययोः (साध्यहेत्वोः) तयोः समुदाय एव ज्ञातसम्बन्धशब्दार्थः।' हेतु और साध्य इन दोनों के समुदाय का जो 'समुदायी' अर्थात् एकदेश (हेतु) उसके ज्ञान में इन्द्रियासंनिकृष्ट जो उसके दूसरे समुदायी अर्थात् साध्यस्वरूप एकदेशान्तर उसमें विधेयता सम्बन्ध से होनेवाली बुद्धि ही अनुमिति प्रमा है एवं उसका करण ही अनुमान प्रमाण है ॥ ३ ॥

सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना।
व्याप्योस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ॥ ४ ॥

अनुमान के उक्त लक्षण में उपात्त 'सम्बन्ध' शब्द से लिङ्ग (हेतु) स्वरूप 'धर्म' का लिङ्गि (साध्य) के साथ 'व्याप्ति' स्वरूप सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। इस सम्बन्ध में व्याप्य (हेतु) ही अनुयोगी एवं गमक (ज्ञापक) है, एवं व्यापक (साध्य) ही प्रतियोगी है एवं गम्य (ज्ञाप्य) है ॥ ४ ॥

यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत्।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाभ्यधिकोऽपि वा ॥ ५ ॥

जो जिस पदार्थ से न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल अथवा समकाल में रहे, वही उस वस्तु का 'व्याप्य' है। एवं (तुल्यन्याय से) जो जिससे अधिक देश एवं अधिककाल में रहे किंवा समकाल में भी रहे, वही उसका 'व्यापक' है। फलतः जो जिससे अधिक देश अथवा अधिक काल में न रहे, वही उस वस्तु का व्याप्य है। एवं जो जिससे न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल में न रहे वही उसका 'व्यापक' है ॥ ५ ॥

तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते।
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः ॥ ६ ॥

व्याप्य और व्यापक के कथित लक्षण के कारण ही क्रमशः व्याप्य यदि कालतः एवं देशतः व्यापक की अपेक्षा न्यून अथवा समकाल का होता है तो व्यापकीभूत वस्तु के देश और काल का अतिक्रमण नहीं करता, इसलिये उक्त लक्षण से युक्त व्याप्य के गृहीत होने पर व्यापक गृहीत हो जाता है। यदि उक्त रूप की वस्तु (व्याप्य) के गृहीत होने पर भी वह (व्यापक) गृहीत नहीं होगा तो फिर दोनों में व्याप्यव्यापकभाव ही भंग हो जायगा। धूमादि ज्ञापक वस्तुओं की सत्ता यदि ज्ञाप्य वह्नि प्रभृति वस्तुओं के देशकाल के अतिरिक्त देशकालों में भी मानें तो ज्ञापक वस्तुओं की 'व्याप्यता' ही भंग हो जायगी, क्योंकि वह व्यापकीभूत वस्तुओं का 'अधिकवृत्ति' हो जायगा एवं 'तद्भिन्न' ज्ञाप्य पदार्थ व्यापक नहो रह जायगा। व्यापक पदार्थ से अधिक देश में न रहने वाली वस्तु में व्याप्य पदार्थ की गमकता (ज्ञापकता) बराबर अक्षुण्ण रहेगी। व्यापक पदार्थ व्याप्य-पदार्थ के समान अधिकरण में रहे अथवा या अधिक अधिकरणों में रहे कभी भी व्याप्य पदार्थ का ज्ञापक नहीं होगा, क्योंकि वह (व्याप्य पदार्थ) के देश और काल को छोड़कर भी रहता है ॥ ६ ॥

व्यापकत्वगृहीतस्तु व्याप्यो यद्यपि वस्तुतः।
आधिक्येऽप्यविरुद्धत्वाद् व्याप्यं न प्रतिपादयेत् ॥ ७ ॥

यद्यपि व्यापक का अनुमान 'घटोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यादि स्थलों में होता है तथापि उक्त व्यापकीभूत वस्तु अपने व्यापकत्व के बल से उक्त व्याप्यानुमान का हेतु नहीं है। किन्तु वह चूँकि ज्ञाप्य (साध्य) का व्याप्य है, इसीलिये वह उस साध्य का ज्ञापक हेतु है।

कहने का तात्पर्य है कि कृतकत्व एवं अनित्यत्व ये दोनों समदेश और सम-काल में रहने वाले हैं। अतः इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे का व्याप्य और व्यापक दोनो है। किन्तु उनमें ज्ञापकता अपने व्याप्यत्व के कारण ही है भले ही वह व्यापक भी हो। इस प्रकार ज्ञाप्यता भी उनमें व्यापकता के कारण ही है, व्याप्यता के कारण नहीं, भले ही वह व्याप्य भी हो ॥ ७ ॥

विस्पष्टं दृष्टमेतच्च गोविषाणित्वयोर्मितौ।
व्याप्यत्वाद् गमिका गावो व्यापिका न विषाणिता ॥ ८ ॥

यह बात गोत्व एवं विषाणित्व (विषाण) के प्रसङ्ग में स्पष्ट है। गोत्व न्यून-देशवृत्ति होने के कारण विषाण का व्याप्य ही है, व्यापक नहीं। गोत्व में विषाण की व्याप्यता उसकी व्यापकता के साथ नहीं है। अर्थात् गोत्व में विषाण की असङ्कीर्ण व्याप्यता है। अतः यहाँ गोत्व से विषाण का ही अनुमान होता है, व्यापकीभूत विषाणित्व से गोत्व का अनुमान नहीं होता ॥ ८ ॥

तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ।
तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता पुनः ॥ ९ ॥

चूंकि व्याप्यत्व (व्याप्ति) ही हेतु में साध्यज्ञापकत्व का प्रयोजक है, अतः जिन दो वस्तुओं में समान रूप से एक दूसरे की व्यापकता और व्याप्यता दोनों ही हैं ऐसे स्थलों में भी अनुमिति का प्रयोजक ज्ञाप्य (साध्य) की व्याप्यता ही होगी। भले ही उसमें ज्ञाप्य (साध्य) की वस्तुतः व्यापकता भी रहे। अतः उसमें (हेतु में) साध्य की व्यापकता के रहते हुये भी वह व्यापकता साध्य की अनुमिति की प्रयोजिका नहीं होगी ॥ ९ ॥

तेन धर्म्यन्तरेष्वेषा यस्य येनैव यादृशी।
देशे यावति काले वा व्याप्यता प्राङ् निरूपिता ॥ १० ॥
तस्य तावति तादृक् स दृष्टो धर्म्यन्तरे पुनः।
व्याप्यांशो व्यापकांशस्य तथैव प्रतिपादकः ॥ ११ ॥

तस्मात् 'एषा' साध्य के न्यूनस्थानों में अस्तित्वमूलक अथवा साध्य के समान अधिकरणों में अस्तित्वमूलक हेतु की 'व्याप्यता' जिस प्रकार के अविराम रेखा से युक्त धूमादि हेतुओं मे जिस प्रकार के आर्द्रेन्धनसंयोगादिविशिष्ट वह्नि के साथ 'धर्म्यन्तर' में अर्थात् पक्ष से भिन्न महानसादि धर्मियों में ज्ञात है, उसी प्रकार का व्याप्यांश (अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतु) उसी प्रकार के तात्तद्देशकालवर्त्ति साध्य की अनुमिति को उत्पन्न करता है। व्यापक से व्याप्य की अनुमिति नहीं होती है। 'धर्म्यन्तरेषु' पद से यह ध्वनित होता है कि सपक्ष में साध्य के साथ हेतु के सामानाधिकरण्य का दर्शन ही व्याप्यत्व का या व्याप्ति का प्रयोजक है। इसके लिये साध्य के सभी आश्रयों में हेतु के सामानाधिकरण्य का दर्शन प्रयोजक नहीं है ॥ १०-११ ॥

भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ॥ १२ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि सपक्ष भी तो बहुत से हो सकते हैं, उन सभी सपक्षों में किसी एक प्रमाण से व्याप्ति का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण किसी काल और किसी विशेष देश के साथ नियमित है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि व्याप्ति किसी एक प्रमाण से निश्चित नहीं होती। बहुत से प्रमाण के द्वारा महानसादि अनेक सपक्षों में धूम और अग्नि का जब साहचर्य देखा जाता है, एवं कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जाता तब कहीं जाकर व्याप्ति निर्णीत होती है।

जो धूम पर्वत में देखा जाता है महानस में उसी का साहित्य अग्नि के साथ तो देखा नहीं जाता। इस प्रकार गोष्ठादि में भी पर्वतीय धूम से भिन्न दूसरे धूम का ही साहचर्य वह्नि के साथ देखा जाता है। अतः प्रश्न होता है कि किस धूम में किस वह्नि की व्याप्ति है ? किस धूम के साथ किस वह्नि का साहचर्य किस धूम में किस वह्नि की व्याप्ति का प्रयोजक है ? इस प्रश्नों का यह उत्तर है—

उक्त 'भूयोदर्शन' से अर्थात् बारबार साथ देखे जाने से धूमसामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति ही गृहीत होती है। सामानाधिकरण्य में जो महानसोयत्वादि

विशेष धर्म हैं, उनका व्याप्ति में 'हान' अर्थात् 'प्रमोष' हो जाता है अर्थात् वे विशेष धर्म व्याप्ति से छंट जाते हैं ॥ १२ ॥

कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत् ।
व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद् धर्मः प्रयोजकः ॥ १३ ॥
'अस्मिन् सत्यमुना भाव्यम्' इति शक्त्या निरूप्यते ।
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः ॥ १४ ॥
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ।
ये तु तानपि विस्रब्धं साध्यसिद्ध्यै प्रयुञ्जते ॥ १५ ॥
सुलभैः प्रतिहेत्वादिदोषैर्भ्राम्यन्ति ते चिरम् ।
तेष्वागमविरुद्धत्वं स्वयं चेष्टविघातिता ॥ १६ ॥
अलौकिकविवादाश्च वर्ण्यास्ते हेतुकैस्ततः ।
निषिद्धत्वेन हिंसानामधर्मत्वं प्रयुज्यते ॥ १७ ॥
तदभावे न तत्सिद्धिर्हिंसात्वस्याप्रयोजकात् ।
हेतुद्वयप्रयुक्ते च मिथ्यात्वे सर्वबुद्धिषु ॥ १८ ॥
ज्ञानत्वोत्पत्तिमत्त्वादिसाधको नाप्रयोजकः ।
त्रैवर्णिकप्रयुक्ता च यागादेः स्वर्गहेतुता ॥ १९ ॥
न मनुष्यत्वमात्रेण शूद्रस्येन प्रयुज्यते ।
कृतसावयवत्वादिप्रयुक्ता च विनाशिता ॥ २० ॥
प्रयत्नानन्तरज्ञानसदृशैर्न प्रयुज्यते ।
जातिमत्त्वेन्द्रियत्वादि वस्तुसन्मात्रबन्धनम् ॥ २१ ॥
शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं को वदेद् यो न तार्किकः ।
तस्माद् य एव यस्यार्थो दृष्टः साधनशक्तितः ॥ २२ ॥
स एव गमकस्तस्य न प्रसङ्गान्वितोऽपि यः ।
उपात्तश्चैकदेशाभ्यां धर्म्यप्यत्रैकदेशवान् ॥ २३ ॥

कृत्तिकोदय······वृत्तिवत्

कहीं-कहीं विशेषव्यक्ति के साथ विशेषव्यक्ति की भी व्याप्ति गृहीत होती है। जैसे कि कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर उस देश में रोहिणी नक्षत्र के सम्बन्ध में व्याप्ति गृहीत होती है।

व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः······व्यापकांशाऽवधारणा

यदि यह मान लें कि व्याप्य से व्यापक का अनुमान होता है तो फिर अग्नीषोमीयपशु प्रभृति की यज्ञीयहिंसा में भी हिंसात्व हेतु से अधर्मत्व के अनुमान की आपत्ति होगी (अग्नीषोमीयपशुहिंसा अधर्मरूपा हिंसात्वात् लौकिकहिंसावत्) ।

किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि अधर्म में हिंसात्व की व्याप्ति के रहते हुये भी हिंसात्व अधर्मत्व का प्रयोजक नहीं है। अधर्मत्व का प्रयोजक है निषिद्धत्व। अर्थात् हिंसा केवल हिंसा होने के नाते ही अधर्म नहीं है किन्तु हिंसा चूँकि निषिद्ध है, इस लिये अधर्म है। अग्नीषोमीय हिंसा चूंकि निषिद्ध नहीं है अतः हिंसा होते हुये भी अधर्म नहीं है।

'तस्मात्' 'अन्य' अर्थात् अधर्म का व्याप्य अथ च अधर्म का अगमक केवल हिंसात्व धर्म चूँकि निषिद्धत्वस्वरूप 'अन्य' धर्म के कारण व्याप्य है, अतः केवल हिंसात्व व्याप्यत्व रूप से ज्ञात होने पर भी व्यापकीभूत अधर्म का ज्ञापन नहीं कर सकता।

जिस हेतु में साध्य के अन्वय के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा न हो वही 'प्रयोजकहेतु' है। जिस हेतु में साध्य का अन्वय किसी दूसरे वस्तु के अधीन हो, उस के न रहने से साध्य का अन्वय न रहे, वही हेतु 'अप्रयोजक' है। निषिद्धत्व तो सुरापानादि में भी है, किन्तु हिंसात्व नहीं है। फिर भी उनमें अधर्मत्व है। हिंसात्व निषिद्धत्व को साथ लेकर ही अधर्मत्व के साथ रहता है। अतः हिंसात्व अधर्मत्व का साधक 'प्रयोजक' हेतु नहीं है।

जो दो धर्म नियमतः साथ साथ रहकर भी साध्यान्वय के प्रयोजक होते हैं, वे दोनों साथ ही व्यापकीभूत साध्य के अनुमितिस्वरूप ज्ञान को उत्पन्न भी करते हैं, प्रत्येक नहीं। प्रत्येकशः तो वे अप्रयोजक ही हैं।

ये तु तानपि ...... हेतुकैस्ततः

जो कोई बड़े ही आदरपूर्वक 'अप्रयोजक' हेतु का भी साध्य की सिद्धि के लिये प्रयोग करते हैं, उस हेतु में अप्रयोजकत्व दोष के अतिरिक्त सत्प्रतिपक्षादि दोषों की भी आपत्ति होगी।

जैसे कि 'अग्नीषोमीयादिहिंसा अधर्मरूपा हिंसात्वात्' इस अनुमान का प्रयोग करने पर 'अग्नीषोमीयादिहिंसा धर्मरूपा विहितत्वात् अग्निहोत्रादिवत्' इस विरोधी अनुमान के प्रयोग से प्रथमानुमान का हेतु सत्प्रतिपक्षित हो जायगा।

एवं अग्नीषोमीयादि हिंसाओं में अधर्मत्व का अनुमान 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विधिवाक्य स्वरूप आगम प्रमाण से भी 'विरुद्ध' होगा। एवं 'इष्टविघात' दोष भी प्राप्त होगा, क्योंकि उक्त रीति से ही 'यागादिरधर्मः क्रियात्वात् सुरापानादिवत्' यह अनुमान उपस्थित होकर यागादि में 'इष्ट' जो 'धर्मत्व' उसको ही 'व्याहृत' कर देगा। इस प्रकार के अप्रयोजकादि हेतुओं द्वारा सर्वथा लोकविरुद्ध विचारों की उपेक्षा विद्वानों को करनी चाहिये।

निषिद्धत्वेन ...... प्रयुज्यते

(१) निषिद्ध होने के कारण ही हिंसा अधर्म है। स्वयं हिंसात्व अधर्मत्व का प्रयोजक नहीं है। अतः 'हिंसा अधर्मरूपा हिंसात्वात्' इस आकार के अनुमान में 'हिंसात्व' के अप्रयोजक होने के कारण दोष नहीं है किन्तु 'हिंसा अधर्मस्वरूपा निषिद्धत्वात् सुरापानादिवत्' इस प्रकार अधर्मत्व के प्रयोजक निषिद्धत्व हेतु से ही हिंसा में अधर्मत्व की सिद्धि हो सकती है।

(२) यदि कोई 'सर्वा बुद्धयो मिथ्या बुद्धित्वात्, उत्पत्तिमत्त्वाद्वा शुक्तिरजतादि-बुद्धिवत्' इस प्रकार के अनुमानों से सभी बुद्धियों में मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये कथित 'बुद्धित्व' हेतु एवं कथित 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु का प्रयोग करे तो ये दोनों ही हेतु 'अप्रयोजक' होंगे, क्योंकि अप्रमात्व (मिथ्यात्व) के साथ बुद्धित्व का या उत्पत्तिमत्त्व का कोई प्रयोज्यप्रयोजकभाव सम्बन्ध नहीं है। किसी भी बुद्धि के मिथ्यात्व का प्रयोजक है 'बाधकप्रत्यय' अर्थात् 'नेयं तथा' इस आकार का बाधक-ज्ञान। अतः जिन प्रत्ययों का बाध आगे उत्पन्न होनेवाले बाधक प्रत्यय से होगा वे ही प्रत्यय मिथ्या होंगे। तस्मात् मिथ्यात्व का साधक बाधकप्रत्ययबाध्यत्व ही है, उसी से किसी भी बुद्धि में मिथ्यात्व की सिद्धि हो सकती है।

(३) 'शूद्रानुष्ठितो यागः स्वर्गजनकः मनुष्यकर्तृकयागत्वाद् ब्राह्मणानुष्ठितयाग-वत्' इस अनुमान का मनुष्यकर्तृकयागत्व हेतु स्वर्गजनकत्व का प्रयोजक नहीं है। अतः 'अप्रयोजक' होने के कारण सद्धेतु नहीं है, क्योंकि 'त्रैवर्णिकप्रयुक्तत्व' ही याग में स्वर्गहेतुत्व का प्रयोजक है। अतः 'ब्राह्मणादिकर्तृको यागः स्वर्गजनकः त्रैवर्णिक-कर्तृत्वात्' इत्यादि अनुमान ही सही हो सकते हैं, क्योंकि यागों का त्रैवर्णिकों द्वारा अनुष्ठित होना ही उनके स्वर्गजनकत्व का प्रयोजक है। ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों द्वारा अनुष्ठित होने पर ही याग से स्वर्ग का उत्पादन हो सकता है।

(४) इसी प्रकार 'प्रयत्नानन्तरज्ञान' हेतु से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। एवं 'जातिमत्त्व' एवं 'ऐन्द्रियकत्व' प्रभृति हेतुओं से भी शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ये सभी हेतु वस्तुसत्तामूलक होने के कारण अनित्यत्व के प्रयोजक नहीं हैं। अतः ये यदि शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए प्रयुक्त हों तो इन्हें 'अप्रयोजक' हेतु समझना चाहिये।

कृतकत्व, सावयवत्वादि हेतु ही अनित्यत्व के प्रयोजक हैं। इन दोनों में भी कृतकत्व ही अनित्यत्व का मुख्य प्रयोजक है, क्योंकि निरवयव होते हुए भी क्रियाओं का विनाश होता है। वस्तुतः सावयवत्व से कृतकत्व का अनुमान और कृतकत्व से अनित्यत्व का अनुमान होता है।

तस्माद्‌ एव

'तस्मात्' जिस हेतु में साध्य का साधन करने की शक्ति ज्ञात हो वही (प्रयोजक) हेतु साध्य का साधक हो सकता है। साध्य की व्याप्ति से युक्त होने पर भी यदि साध्य का साधन करने की 'प्रयोजकत्व' रूपा शक्ति किसी हेतु में ज्ञात नहीं है तो फिर उस हेतु से साध्य का साधन नहीं हो सकता।

[1]उपात्तश्चैकदेशाभ्याम् ...... एकदेशवान्

प्रश्न होता है कि 'एकदेशस्यैकदेशान्तरे ज्ञानम्' इस वाक्य से धूम स्वरूप 'एकदेश' का किसी भी दूसरे देश में ज्ञान अपेक्षित है ? अथवा पर्वत स्वरूप 'एकदेशी'

१. गत सन्दर्भ से भाष्यस्थ अनुमानलक्षण के 'ज्ञातसम्बन्ध' पद की व्याख्या की गयी है। अब उसी लक्षण के 'एकदेशस्यैकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' इस अंश की व्याख्या आरम्भ होती है।

में ही विशेष रूप से ज्ञान अपेक्षित है ? किसी दूसरे देश में उसका ज्ञान तो उक्त वाक्य से विवक्षित नहीं माना जा सकता, क्योंकि देशान्तर इन्द्रियसंनिषं से युक्त नहीं है। पर्वत स्वरूप एकदेशी में हेतु के ज्ञान को भी विवक्षित नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका उपपादक कोई पद लक्षणवाक्य में नहीं है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'एकदेशादेकदेशान्तरे' इन दोनों पदों से 'एकदेशी' भी लक्षणवाक्य में ही उपात्त है, तदनुसार अनुमान के लक्षणबोधक वाक्य का ऐसा निष्पन्न स्वरूप उपपन्न होता है—'एकदेशिन्येकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टे बुद्धिः' ॥१३–२३॥

अपारार्थ्ये हि धूमादेः स्वरूपेणैकदेशता ।
स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक एव च ॥ २४ ॥
असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः ।

लक्षणवाक्य के दोनों 'एकदेश' शब्द का अर्थ है क्रमशः धूम (हेतु) और वह्नि (साध्य)। केवल धूमत्व रूप से धूम एवं केवल वह्नित्व रूप से वह्नि उक्त 'एकदेश' शब्दों के अर्थ नहीं हैं, किन्तु 'एकदेशि' स्वरूप धर्मी के धर्मत्व रूप से ही वे दोनों 'एकदेश' शब्द से अभिप्रेत हैं। धर्म में धर्मी का चूँकि अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) है, अतः एकदेश स्वरूप धर्म के द्वारा पर्वतादि धर्मियों का आक्षेप हो सकता है।

स चोभयात्माऽयम्''''''गमक एव च

पक्षैकदेशी एक पर्वत ही लिङ्गि (साध्य)देशवत्त्व रूप से 'गम्य' अर्थात् 'साध्य' है। वही पक्षैकदेशी पर्वत लिङ्गवत्त्व रूप से 'हेतु' है, क्योंकि केवल 'एकदेशी' (पर्वत) पहिले से ज्ञात ही है। फलतः ज्ञात धूमवत्त्व रूप से पर्वत ही हेतु है। अज्ञात वह्निमत्त्व रूप से वही पर्वत साध्य है ॥ २४–२५ क–ख ॥

अतः पृथगभिन्नो वा प्रयोक्तॄणां विवक्षया ॥ २५ ॥
अनित्यः कृतको यस्माद् धूमवानग्निमानिति ।
धर्म्यभिन्नमुपादानम् भेदोऽत्राग्निरितीदृशे ॥ २६ ॥

अतः पृथगभिन्नः

अतः साधनवाक्य में सामानाधिकरण्यमूलक एवं वैयधिकरण्यमूलक दोनों ही प्रकारों से एकदेशी (धर्मी) का प्रयोग होता है। सामानाधिकरण्यमूलक प्रयोग जैसे कि—'यस्मात् शब्दः कृतकः तस्मादनित्यः' एवं 'यस्मात् पर्वतो धूमवान् तस्मादग्निमान्' इत्यादि। वैयधिकरण्यमूलक प्रयोग जैसे कि—'अत्र अग्निः' इत्यादि ॥२५-२६॥

एकदेशविशिष्टश्च धर्म्येवात्रानुमीयते ।
न हि तन्निरपेक्षत्वे सम्भवत्यनुमेयता ॥ २७ ॥
नधर्ममात्रं सिद्धत्वात्, तथा धर्मी, तथोभयम् ।
व्यस्तं वापि समस्तं वा स्वातन्त्र्येणानुमीयते ॥ २८ ॥

एकदेशविशिष्टश्च

'साध्य' स्वरूप 'एकदेश' से युक्त (साध्यविशिष्ट) पक्ष ही अनुमेय है। केवल पक्ष अथवा केवल साध्य अनुमेय नहीं है, क्योंकि व्याप्तिग्रहण के समय दोनों ही (साध्य और पक्ष) स्वतन्त्र रूप से ज्ञात ही रहते हैं। किन्तु वह्निविशिष्ट पर्वत ही गृहीत नहीं रहता। अतः वही 'अनुमेय' है। वैशिष्ट्य से अनपेक्ष केवल साध्य अथवा केवल पक्ष अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही पूर्वगृहीत हैं। इसी प्रकार परस्परासम्बद्ध केवल पक्ष एवं केवल साध्य एवं सम्मिलित दोनों (तदुभय) भी पूर्वज्ञात होने के कारण ही अनुमेय नहीं हो सकते, क्योंकि समस्त रूप से या व्यस्त रूप से दोनों ही पहले से ज्ञात हैं॥ २७, २८॥

एकदेशस्य लिङ्गत्वं साध्येनाऽनुगमोऽस्य च।
द्वयं च न स्यादिष्टं सत् पक्षेष्वेषु यथाक्रमम्॥ २९॥
अनित्यत्वादयो धर्माः कृतकत्वादयो न हि।
ध्वनिनानुगमो नैषां नोभयस्योभयेन वा॥ ३०॥
सम्बन्धोऽप्यनुपादानान्नाम्ना षष्ठ्यापि वा मितौ।
न चाप्यनुगमस्तेन लिङ्गस्येह निदर्श्यते॥ ३१॥

केवल साध्य (अनित्यत्व) अथवा केवल पक्ष (शब्द) इन दोनों में से केवल अनित्यत्व को अनुमेय मानें तो कृतकत्व स्वरूप हेतु की पक्षधर्मता नहीं बनेगी। यदि केवल शब्द स्वरूप धर्मी (पक्ष) को ही अनुमेय मानें तो कृतकत्व हेतु में उसकी व्याप्ति ही उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि कृतकत्व में शब्द की व्याप्ति नहीं है। इस प्रकार यदि दोनों को अलग अलग अनुमेय मानें तो न व्याप्ति ही बनेगी न पक्षधर्मता ही, क्योंकि कृतकत्व हेतु न शब्द का धर्म है न अनित्यत्व का।

विशदार्थ यह है कि 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यादि स्थलों में केवल अनित्यत्व को यदि अनुमेय मानें तो प्रतिज्ञावाक्य इस स्वरूप का होगा—'अनित्यत्वमस्ति'। ऐसी स्थिति में पक्षस्वरूप एकदेशी का हेतु स्वरूप एकदेश उसका लिङ्ग नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'वह' अनित्यत्व स्वरूप एकदेशी का धर्म नहीं है। यदि शब्द को अनुमेय मानें तो प्रतिज्ञावाक्य का स्वरूप होगा 'शब्दोऽस्ति'। ऐसी स्थिति में घटादि में कृतकत्व के साथ शब्द का सामानाधिकरण्य नहीं दिखलाया जा सकेगा, क्योंकि घटादि में शब्द नहीं है। शब्द और अनित्यत्व इन दोनों को यदि अनुमेय मानें तो कृतकत्व उसका साधक हेतु ही नहीं होगा, क्योंकि वह केवल शब्द का ही धर्म है, अनित्यत्व का नहीं। अतः स्वतन्त्र रूप से धर्म या धर्मी अनुमेय नहीं हो सकते।

इसी प्रकार धर्म और धर्मी इन दोनों का 'सम्बन्ध' भी स्वतन्त्र रूप से अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य में षष्ठी विभक्ति के साथ साध्यबोधक नाम शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता, क्योंकि कोई व्युत्पन्न पुरुष 'पर्वतस्याग्निरस्ति' अथवा 'अग्निपर्वतसम्बन्धोऽस्ति' इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग नहीं करता। सपक्ष (उदाहरण) में भी हेतु का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध के साथ प्रदर्शित नहीं

होता। तस्मात् पक्ष और साध्य का 'सम्बन्ध' भी स्वतन्त्र रूप से अनुमेय नहीं हो सकता ॥ २९–३१ ॥

न चाकारद्वयं तस्य साध्यसाधनभाग् भवेत्।
तस्मादर्थगृहीतत्वान्मतुबर्थस्य गम्यता ॥ ३२ ॥
न स्वातन्त्र्येण मन्तव्या यथा दण्ड्यादिशब्दतः।
विशिष्टार्थप्रतीतौ स्यात् सम्बन्धो नान्तरीयकः ॥ ३३ ॥

न चाकारद्वयम्

पक्ष एवं साध्य इन दोनों के सम्बन्ध की 'सत्ता' भी अनुमेय नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनुमिति से पूर्व ही सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि जिस पर्वत स्वरूप एकदेशी में धूम स्वरूप एकदेश एवं वह्नि स्वरूप दूसरा एकदेश दोनों परस्पर आलिङ्गनबद्ध हैं, उस प्रकार 'सम्बन्ध' कथित दोनों एकदेशों के साथ सम्बद्ध नहीं है। अतः 'सम्बन्धो वह्निमान्' इस आकार की अनुमिति भी नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्य रूप से केवल सम्बन्ध में अग्निमत्ता (अग्नि) बाधित है। वह्निप्रतियोगिक सम्बन्ध को पक्ष बनाकर वह्नि को साध्य एवं 'पर्वतानुयोगिकवह्निसम्बन्धवान्' इस आकार की अनुमिति मानना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि अनुमिति से पहले पक्षतावच्छेदकविशिष्ट पक्ष का निश्चय आवश्यक है; किन्तु अनुमिति से पहले सम्बन्ध में वह्निप्रतियोगिकत्व निश्चित नहीं है। एवं सम्बन्ध में पहले से धूमवत्ता भी सिद्ध नहीं है। अतः इस पक्ष में धूम में हेतुता की भी सिद्धि नहीं होगी।

तस्मात्......मन्तव्या

'तस्मात्' धर्म (साध्य) विशिष्टधर्मी (पक्ष) ही अनुमेय है। किन्तु सम्बन्ध के बिना पक्षविशिष्ट साध्य की अनुमिति नहीं हो सकती, अतः पक्ष और साध्य इन दोनों का सम्बन्ध भी गौणरूप से अनुमिति का विषय है। स्वतन्त्र रूप से 'सम्बन्ध' अनुमिति का विषय नहीं है।

यथा दण्ड्यादिशब्दतः...विशिष्टार्थप्रतीतौ...नान्तरीयकः

जैसे कि 'दण्डि'शब्दघटक प्रकृतिभूत 'दण्ड' शब्द से 'दण्ड' स्वरूप अर्थ का बोध होता है, एवं प्रत्यय स्वरूप 'इन्' प्रत्यय का अर्थ 'सम्बन्ध' एवं दण्डाश्रयीभूत पुरुष इन दोनों का भी बोध अनिवार्यतः (नान्तरीकतया) हो जाता है इसी प्रकार सभी विशिष्टार्थविषयक (विशेषणविशिष्टविशेष्यविषयक) प्रतीतियों में भी 'नान्तरीकतया' (अनिवार्यतः) 'संसर्ग' का भी भान हो जाता है ॥ ३२–३३ ॥

विशेषणविशेष्यत्वमापन्नौ द्वाविमावतः।
गम्यावङ्गाङ्गिभावस्तु कैश्चिदिष्टो विकल्पतः ॥ ३४ ॥
सर्वथा धर्मिणो धर्मो धर्मेण स्ववगम्यते।
विशेषणविशेष्यत्वे न विशेषोऽवधार्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सभी विशिष्ट प्रतीतियों में धर्म और धर्मी ये दोनों विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर ही भासित होते हैं।

अङ्गाङ्गिभावस्तु ... न विशेषोऽवधार्यते

कोई कहते हैं कि अवश्य ही नान्तरीयकतया 'सम्बन्ध' का भान होता है, किन्तु धर्म और धर्मी इन दोनों में से कौन विशेषण होगा ? अथवा कौन विशेष्य होगा ? इन दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष का ग्रहण किया जा सकता है। अतः धर्मिगत धर्म (शब्दगत अनित्यत्व) कृतकत्व स्वरूप हेतु के द्वारा ज्ञात होता है। धर्म (साध्य) के द्वारा धर्मी का (पक्ष का) भान नहीं होता है। किन्तु उक्त धर्म (साध्य) का भान विशेषण रूप से हो अथवा विशेष्य रूप से इसमें कोई आग्रह नहीं ॥ ३४–३५ ॥

तत्रोत्तरं वदन्त्यन्ये यदि धर्मी विशेषणम्।
हेतुधर्मेण सम्बन्धस्तस्याप्राधान्यतः स्फुटः ॥ ३६ ॥
प्रधानत्वाद्धि धर्मेण सम्बन्धो वाक्यतो भवेत्।
तत्रासम्भवतः पश्चात् कल्प्योऽसौ धर्मिणा सह ॥ ३७ ॥
ध्वनेरित्यथ वा वाच्यम् अन्वयस्य तु दर्शने।
भेदोपात्तस्य धर्मस्य गुणभावो न दुष्यति ॥ ३८ ॥

इसी प्रसङ्ग में दूसरे सम्प्रदाय के लोग यह उत्तर देते हैं कि (साध्य का विशेषण रूप से भान हो अथवा विशेष्य रूप से यह ऐच्छिक विकल्प वाला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि) यदि अनित्यत्व स्वरूप धर्म (साध्य) को विशेषण मानेंगे तो प्रतिज्ञावाक्य 'अनित्यत्वं शब्दगतम्' इस आकार का होगा। किन्तु ऐसा मानने पर इसके आगे जो 'कृतकत्वात्' यह हेतुवाक्य प्रयुक्त होगा, उसके अन्वय में कठिनाई होगी, क्योंकि उसका अन्वय तो सीधे शब्द के साथ ही उचित है, किन्तु उक्त प्रतिज्ञावाक्य में शब्द विशेषणविधया उपात्त होने के कारण अप्रधान है, अतः उसके साथ हेतु का सीधे अन्वय नहीं होगा। प्रधान है अनित्यत्व, सहसा उसी के साथ अन्वय प्रतीत होता है, जब अनित्यत्व के साथ अन्वय में अनुपपत्ति प्रतीत होगी तो एकदेशान्वय रूप क्लेश को सह कर अप्रधानीभूत शब्द में अन्वय मानना होगा। अथवा हेतुवाक्य में ही शब्द का पुनः उपादान कर 'शब्दस्य कृतकत्वात्' ऐसा हेतुवाक्य मानना होगा। अतः अनित्यत्वविशिष्ट शब्द ही साध्य है (धर्मविशिष्ट धर्मी ही साध्य है), शब्दगत अनित्यत्व (धर्मिगत धर्म) साध्य नहीं है। अतः यह अवधारण पक्ष ही ठीक है, उक्त ऐच्छिक विकल्पवाला पक्ष ठीक नहीं है।

अन्वयस्य तु दर्शने ... न दुष्यति

इस प्रसंग में यह आक्षेप किया जा सकता है कि सर्वत्र प्रधान के साथ ही अन्वय आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा हो तो प्रकृत अनुमान के 'यद्यत्कृतकम् तत्तदनित्यम्' इस अन्वयसहचार के प्रदर्शक वाक्य में भी कृतकत्व का अन्वय प्रधानभूत

शब्द के साथ ही होता, किन्तु ऐसा कोई भी नहीं मानता। प्रकृत अन्वयसहचार-वाक्य में कृतकत्व का अन्वय अनित्यत्व स्वरूप गौण अर्थ के साथ ही सर्वसम्मत है। अतः कथित अवधारणवाला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रतिज्ञावाक्य में शब्द स्वरूप धर्मी के उपसर्जन रूप में ही अनित्यत्व का उल्लेख होता है, तदनुसार 'यो यः कृतकः शब्दः सोऽनित्यः' ऐसा अन्वयबोधक वाक्य होगा, 'यद्यत्कृतकम् तदनित्यम्' इस आकार का नहीं। अतः धर्मविशिष्ट धर्मी अनुमेय नहीं है, किन्तु धर्मिगत धर्म ही अनुमेय है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि प्रतिज्ञावाक्य में धर्मिस्वरूप शब्द के उपसर्जन रूप में अनित्यत्व का उल्लेख होने पर भी प्रकृत व्याप्तिबोधक वाक्य से कृतकत्व का अन्वय विना किसी बाधा के होगा, क्योंकि अनित्यत्व का पुनः उल्लेख 'अनित्यम्' इस शब्द के द्वारा व्याप्तिबोधक वाक्य में होता है। अतः कोई दोष नहीं है ॥ ३६–३८ ॥

अग्नेर्देशविशिष्टत्वे न चैतत् पक्षलक्षणम्।
विशिष्टतास्य देशेन भवेदेवम्प्रकारिका ॥ ३९ ॥
योऽग्निः सोऽस्ति क्वचिद्देशे यो दृष्टो यत्र तत्र वा।
अग्निः पूर्वानुभूतो वा देशमात्रेण सङ्गतः ॥ ४० ॥
योऽग्निः सोऽनेन युक्तो वा यो दृष्टोऽनेन सोऽथ वा।
योऽयं स देशमात्रेण युक्तः, पूर्वेण वाप्ययम् ॥ ४१ ॥
एतद्देशविशिष्टो वा योऽयमग्निरितीह तु।
पूर्वयोः सिद्धसाध्यत्वं परेषु स्याद् विरुद्धता ॥ ४२ ॥
व्याप्तिरेतेन देशेन सर्वाग्नीनां न युज्यते।
नापि पूर्वस्य नाप्येष वह्निः सर्वैर्विशिष्यते ॥ ४३ ॥
देशैः पूर्वेण वाप्यस्य न देशेन विशेष्यता।
'एतद्देशविशिष्टोऽयम्' इत्येतत् कथ्यते कथम् ॥ ४४ ॥
यदा देशानपेक्षोऽग्निर्नायमित्यवधार्यते।
अग्नेः पूर्वतरं चात्र देश एवावधार्यते ॥ ४५ ॥
तज्ज्ञानकालबुद्धश्च न देशः स्याद् विशेषणम्।
देशस्य पर्वतादेस्तु स्वरूपे पावकाद् ऋते ॥ ४६ ॥
गृहीतेऽग्निविशिष्टस्य पुनर्ज्ञानं न दुष्यति।
तस्माद् धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता ॥ ४७ ॥
सा देशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता।
ननु शब्दवदेव स्याल्लिङ्गगम्यं विशेषणम् ॥ ४८ ॥

नैवम् नह्यत्र लिङ्गस्य शक्त्यनेकत्वकल्पना।
न च तस्यानुमेयत्वम् विशेष्यस्यावधारितः ॥ ४९ ॥
विशिष्टत्वेन चाज्ञानात् तन्मात्रस्यानुमेयता।
ननु धूमविशेष्यत्वे हेतोः पक्षैकदेशता ? ॥ ५० ॥
नैतदस्ति विशेषे हि साध्ये सामान्यहेतुता।

अग्नेर्देशविशिष्टत्वम्

पर्वतविशिष्ट वह्नि को साध्य मानने में अन्य कई दोष भी हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर वह्नि में पर्वतवैशिष्ट्य के बोधक प्रतिज्ञावाक्य निम्नलिखित रूपों के ही होंगे—

(१) योऽग्निः सोऽस्ति क्वचिद्देशे

जितने भी अग्नि हैं एवं जितने भी देश हैं, उन सभी देशों के साथ सम्बद्ध सभी वह्नि अनुमेय हैं।

(२) यो दृष्टो यत्र तत्र वा

व्याप्तिज्ञान के विषयीभूत विशेष प्रकार का कोई वह्नि ही किसी देश विशेष स्वरूप पक्ष में साधनीय है।

(३) अग्निः पूर्वाऽनुभूतो वा ''सङ्गता

वही (द्वितीयपक्षोक्त) वह्निविशेष सभी देशों में अनुमेय है।

(४) योऽग्निः सोऽनेन युक्तो वा

सभी अग्नि प्रत्यक्ष दीखनेवाले पर्वत में साध्य हैं।

(५) यो दृष्टोऽनेन सोऽथवा

व्याप्तिग्रहणकालिक विशेष प्रकार का वह्नि ही प्रत्यक्ष दीखनेवाले समीपस्थ पर्वत में साध्य है।

(६) योऽयं स देशमात्रेण

पर्वत में रहनेवाला वह्नि ही सभी देशों में साध्य है।

(७) युक्तः पूर्वेण वाऽप्ययम्

पर्वत में रहनेवाला वह्नि ही महानस में साध्य है।

(८) एतद्देशविशिष्टो वा

संनिहित-असंनिहित-साधारण सभी पर्वतों में रहनेवाला वह्नि ही साध्य है।

इह तु ''स्याद्विरुद्धता

विशेषण (एकदेशस्वरूप साध्य) को अनुमेय स्वीकार करनेवाले इन सभी पक्षों में से कोई भी पक्ष ठीक नहीं है, अतः पक्षगत साध्य अनुमेय नहीं है, किन्तु साध्यविशिष्ट पक्ष ही अनुमेय है।

इनमें आदि के दो पक्ष 'सिद्धसाधन' दोष से ग्रसित हैं। शेष छः पक्ष किसी न किसी प्रकार के 'विरोध' दोष से ग्रसित हैं। आदि के दोनों पक्षों में सिद्धसाधन दोष क्रमशः इस प्रकार प्राप्त है कि—(१) कोई वह्नि किसी देश में सिद्ध है ही (२) व्याप्ति-ग्रह में विषयीभूत वह्नि भी कहीं न कहीं सिद्ध है ही।

'योऽग्निः सोऽनेन (श्लोक ४०) से उल्लिखित तृतीय पक्ष में 'विरोध' स्पष्ट है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान में विषयीभूत विशेष वह्नि व्यक्ति का सभी देशों में रहना प्रत्यक्ष से ही बाधित है। यही बात कुछ हेर-फेर के साथ षष्ठ पक्ष के खण्डन के लिए भी कही गयी है। अतः पृथक् रूप से आचार्य ने तृतीय पक्ष के खण्डन को लिपिबद्ध नहीं किया है।

(४) व्याप्तिरेतेन वेशेन' ' 'न युज्यते

'योऽग्निः सोऽनेन युक्तो वा' (श्लोक ४१) इत्यादि से कथित चतुर्थ पक्ष में संनिहितपर्वत के संयोग से युक्त वह्नि को अनुमेय कहा गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'संनिहितपर्वतसंयोगविशिष्टो वह्निः' इस वाक्य में उद्देश्य है वह्नि 'उपादेय' (विधेय) है 'संनिहितपर्वतसंयोग'। 'असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वयो भवति' इस न्याय के अनुसार सभी वह्नियों में से संनिहितपर्वतसंयोग का अन्वय उचित है, किन्तु सो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि महानसादिगत वह्नियों में स्पष्ट ही पर्वतसंयोग प्रत्यक्ष से बाधित है।

(५) नापि पूर्वस्य

'यो दृष्टोऽनेन सोऽथवा' (श्लोक ४१) के द्वारा उत्थापित पञ्चम पक्ष इस अभि-प्राय से उपस्थित किया गया है कि व्याप्तिग्रहणकालिक विशेष प्रकार का वह्नि ही पर्वत में साध्य है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि महानसगत वह्नि में ही व्याप्ति गृहीत है। वह (महानसगत वह्नि) स्पष्ट ही पर्वत में बाधित है।

(६) नाप्येष' ' ' 'देशैः

'योऽयं स देशमात्रेण' (श्लो० ४१) इत्यादि से जो यह षष्ठ पक्ष उपस्थित किया गया है, कि पर्वत में रहनेवाला वह्नि सभी देशों में साध्य है इस पक्ष में बाध दोष स्पष्ट है, क्योंकि सभी देशों में पर्वत में रहनेवाला वह्नि बाधित है।

(७) पूर्वेण वाऽप्यस्य' ' 'विशेष्यता' ' 'कथम्

'युक्तः पूर्वेण वाऽप्ययम्' (श्लोक ४१) इस वाक्य के द्वारा यह सप्तम पक्ष उपस्थित किया गया है कि पर्वत में रहनेवाला वह्नि ही महानस में साध्य है। इस पक्ष में भी स्पष्ट ही बाध दोष है, क्योंकि महानस में पर्वतीय वह्नि अवश्य ही बाधित है।

---

१. 'व्याप्तिरेतेन' इत्यादि से लेकर 'देशैः पूर्वेण' इत्यादि ४४ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक कथित चतुर्थ पक्ष से लेकर सातवें पक्ष तक का निराकरण हुआ है। तृतीय पक्ष के खण्डन को अत्यन्त स्पष्ट समझकर विशेष रूप से वार्तिककार ने नहीं लिखा है।

(८) यदा देशानपेक्षः

'एतद्देशविशिष्टो वा' (श्लोक ४२) में जो अष्टम पक्ष उपस्थित किया गया है, उसका यह आशय है कि पर्वतस्वरूप एतद्देशविशिष्ट 'अग्नि' ही 'साध्य' शब्द से अभिप्रेत है, तदनुसार 'अग्निरेतद्देशविशिष्टः' इस आकार का प्रतिज्ञावाक्य होगा। जिस समय किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा संनिहित देश का सम्बन्ध वह्नि में ज्ञात नहीं रहेगा, उसी समय 'अग्निरयम्' इस आकार की इदन्त्वविशिष्टबुद्धि उत्पन्न होगी। उसी समय 'संनिहितदेशविशिष्टवह्नि' अनुमेय हो सकता है। अतः अनुमिति से पहले संनिहित देश के सम्बन्धविषयक ज्ञान से रहित 'अयमग्निः' यह ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि संनिहित देश का सम्बन्ध ही प्रकृत में 'इदन्त्व' है। संनिहित देश के सम्बन्ध से युक्त वह्नि का ही निर्देश प्रकृत में 'अयम्' शब्द से किया गया है। तस्मात् जिस समय 'अयमग्निः' इस बुद्धि के द्वारा संनिहित देश ज्ञात होता रहेगा उस समय तद्विशिष्ट वह्नि अनुमेय नहीं होगा, क्योंकि उस समय संनिहित देश का सम्बन्ध वह्नि में बाधित है। इसलिये उस समय अन्ततः 'नायं वह्निः संनिहितदेशविशिष्टः' इस बाध-बुद्धि की स्वरूपयोग्यता (सम्भावना) अवश्य है। उस समय वह्नि में 'एतद्देश-विशिष्टोऽयम्' यह बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती।

अग्नेः पूर्वरतम्

वह्निसम्बन्ध से रहित केवल 'एतद्देश' तो प्रत्यक्ष से पहले ही ज्ञात है, अतः वह अनुमेय नहीं हो सकता। किन्तु उस समय 'एतद्देश' में वह्नि का सम्बन्ध ज्ञात नहीं है, अतः 'वह्नि विशिष्ट' एतद्देश पहले से ज्ञात न होने के कारण अनुमेय हो सकता है। तस्मात् 'अग्निमान् एतद्देश' पदार्थ ही अनुमेय है, एतद्देशविशिष्ट अग्नि अनुमेय नहीं है।

तज्ज्ञानवुद्धश्च''विशेषणम्

वह्निस्वरूप साध्य का 'एतद्देश' को विशेषण होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह पहले से ज्ञात नहीं है। 'तत्काल' अर्थात् अनुमिति काल में ही ज्ञात होकर वह विशेषण नहीं हो सकता।

देशस्य''पावकावृते

प्रत्यक्ष के द्वारा वह्नि से असंपृक्त पर्वतादिदेश ही ज्ञात हैं (फलतः इन्द्रिय-संनिकृष्ट हैं)। वह्निविशिष्ट पर्वत प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है। इसलिए अज्ञात है। एवं चक्षु से असंनिकृष्ट भी है। अतः वह्निविशिष्ट पर्वत पहले से ज्ञात न होने के कारण अनु-मेय हो सकता है। (इसलिए इंद्रियासंनिकृष्ट होने के कारण भाष्यस्थ 'इन्द्रियासंनि-कृष्टेऽर्थे' यह उक्ति भी संगत होती है)।

तस्माद् धर्मविशिष्टस्य''अग्नियुक्तस्य

'तस्मात्' वह्नि से असंपृक्त केवल पर्वत के ज्ञात रहने पर भी वह्निविशिष्ट पर्वत को अनुमेय होने में कोई बाधा नहीं है। 'तस्मात्' साध्यविशिष्टपक्ष ही (वह्नि-विशिष्ट पर्वत ही) अनुमिति प्रमा का प्रमेय (अनुमेय) है।

धूमस्यान्यैश्च कल्पिता

कुछ लोग वह्निविशिष्ट धूम (साध्यविशिष्ट हेतु) को ही अनुमिति का प्रमेय मानते हैं, तदनुसार धूमहेतुक वह्निसाध्यक अनुमिति 'सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन वह्निविशिष्टधूमवान् पर्वतः' इस आकार की होती है।

ननु शब्दवदेव'''विशेषणम्

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार घटादिशब्दों से घटत्वादि-विशिष्ट घटादि व्यक्तियों का बोध होने पर भी घटादि पदों की शक्ति (अभिधा) शाब्दबोध में विशेषणविधया भासित होनेवाली घटत्वादि जातियों में ही मानी जाती है, उसी प्रकार हेतु से साध्यविशिष्ट हेतु की अनुमिति भले ही हो किन्तु अनुमेयता केवल वह्नि अथवा केवल वह्निसम्बन्ध में ही मानी जा सकती है। वह्निविशिष्ट धूम को अनुमेय मानना अनावश्यक है।

नैतदेवम्'''नह्यत्र'''कल्पना

किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि केवल वह्नि महानस में व्याप्तिग्रहण के समय ज्ञात ही है। अभी तन्मूल स्वस्मरण के द्वारा ही अपने धूम स्वरूप विशेष्य को अन्य से व्यावृत्त कर विशेषण का कार्य कर सकता है। इसके लिए घटत्व में घटपद की अभिधा की तरह धूम में किसी शक्ति की कल्पना अनावश्यक है। केवल धूम-स्वरूपविशेष्य तो प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञात है। अतः केवल हेतु अथवा केवल साध्य कोई भी पूर्वज्ञात होने के कारण अनुमेय नहीं हो सकता। इस प्रकार हेतु में केवल साध्य के ज्ञापन की शक्ति एवं केवल धर्मी के ज्ञापन की शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। वह्नि और धूम का सम्बन्ध ही सर्वथा अज्ञात रहने के कारण अनुमेय हो सकता है। अथवा साध्यविशिष्ट हेतु ही पूर्व में ज्ञात न होने के कारण अनुमेय हो सकता है। अतः हेतु में केवल कथितसम्बन्ध के ज्ञापन की शक्ति अथवा साध्यविशिष्ट पक्ष के ज्ञापन की शक्ति इन दोनों में से किसी एक शक्ति की कल्पना ही की जा सकती है।

ननु धूमविशेष्यत्व

इस प्रसंग में यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वह्निविशिष्ट धूम ही अनुमेय हो तो 'वह्निमान् धूमः' इस आकर की प्रतिज्ञा होगी। तदनुसार 'धूम' प्रतिज्ञा का ही एक अंश हो जायगा। फिर 'हेतु' स्वरूप स्वतन्त्र अवयव के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जायगी। अतः साध्यविशिष्ट हेतु अनुमेय नहीं हो सकता।

नैतदस्ति''' सामान्यहेतुता

यह आक्षेप भी संगत नहीं है, क्योंकि वर्त्तमान कालिक वह्नि विशेष ही धूम-स्वरूप अनुमेय का विशेषण है। एवं धूम सामान्य ही हेतु है। इस प्रकार प्रतिज्ञाघटक 'हेतुविशेष' एवं हेतु स्वरूप 'हेतुसामान्य' दोनो भिन्न है। अतः विशिष्ट हेतु को अनुमेय मानने से हेतु में प्रतिज्ञैकदेशिता को आपत्ति नहीं दी सकती ॥ ३९–५१ क–ख ॥

धूमतज्ज्ञानसम्बन्धस्मृतिप्रामाण्यकल्पने ॥ ५१ ।

धूमतज्ज्ञान ··· कल्पने

(कथित सन्दर्भ के द्वारा अनुमान प्रमाण के प्रमेय के निरूपण के बाद कौन अनुमान प्रमाण है एवं तदनुसार कौन सी उसकी फलस्वरूपा प्रतिति होती है—इस प्रमाणफलभाव का निरूपण किया जाता है) ।

(१) धूम (२) धूमज्ञान (३) धूमगतवह्नि की व्याप्ति (मतभेद से) इनमें से कोई भी अनुमान प्रमाण है एवं अनुमिति प्रमिति है । यदि कथित प्रमेय-विषयक अनुमिति ही अनुमान प्रमाण है तो कथित प्रमेयधर्मिक उपादेयत्व, हेयत्व, उपेक्ष्यत्वादि-विषयक बुद्धियाँ प्रमिति हैं ॥ ५१ ॥

फलेन विषयैकत्वं तद्व्यापारात् पुरोदितम् ।
प्रमेयधीप्रमाणत्वं भाष्यकारस्तु मन्यते ॥ ५२ ॥
प्रत्यक्षानियमोक्तिश्च सर्वत्रैवानुषज्यते ।
अनुमानगृहीतस्य तेनैव प्रतिपादनम् ॥ ५३ ॥
परेभ्यो वाञ्छता वाच्यः पूर्वपक्षो यथोदितः ।
तत्र धर्मिणमुद्दिश्य साध्यधर्मो विधीयते ॥ ५४ ॥

फलेन विषयैकत्वम् ·· पुरोदितम्

'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' इस न्याय के अनुसार जिस समय अग्नि-ज्ञानस्वरूप फल आकांक्षित हो, उस समय धूम, धूमज्ञान, धूमनिष्ठव्याप्ति, इस व्याप्ति का ज्ञान इन चारों में से कोई भी प्रमाण हो सकता है । चूँकि वे सभी 'करण'कारक व्यापृत होकर अनुमिति स्वरूप एक ही फल के उत्पादक हैं, अतः वे सभी 'अनुमान' प्रमाण हैं । यह बात पहले भी प्रत्यक्षनिरूपण के श्लोक ५९ के द्वारा कही जा चुकी है ।

प्रमेयधीप्रमाणत्वम् ··· मन्यते

(इस प्रसंग में यह आक्षेप हो सकता है कि 'अनुमानमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने प्रमेयविषयक बुद्धि को ही अनुमान प्रमाण कहा है, अतः विकल्प से ही धूमादि में प्रमाणत्व का कथन भाष्यकार के कथन के विरुद्ध है । इस आक्षेप का यह समाधान है कि) यद्यपि भाष्यकार ने उक्त सन्दर्भ के द्वारा प्रमेय-विषयक ज्ञान को ही अनुमान प्रमाण कहा है, किन्तु उनके इस कथन को 'उपलक्षण' समझना चाहिये । प्रत्यक्षसूत्र के भाष्य में 'बुद्धिर्वा जन्म वा' (पृ० २२ पं० ३) इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने प्रमाण के प्रसंग में 'अनियम' का प्रतिपादन किया है । वस्तुस्थिति के अनुकूल होने के कारण उसी को भाष्यकार का मुख्य अभिप्रेत समझना चाहिये । तदनुसार सभी प्रमाणों के प्रसंग में 'बुद्धिर्वा जन्म वा' इस अनियमोक्ति का अनुषङ्ग समझना चाहिए ।

'अनुमानगृहीतस्य' 'प्रतिपादनम्' 'परेभ्यो' 'यथोदितः'

यहाँ 'साधन' शब्द से 'न्याय' विवक्षित है। प्रकृत में 'साधन' को एक 'अवयवि' स्वरूप मानकर उसके प्रतिज्ञा, हेतु दृष्टान्तादि अनेक 'अवयव' स्वीकार किये हैं। स्वयं ज्ञात विषय को अनुमान के द्वारा दूसरों को समझाने के लिए यह 'साधन' अर्थात् यह 'न्याय' ही एकमात्र मार्ग है। इन अवयवों में 'प्रतिज्ञा' स्वरूप अवयव 'साध्यनिर्देश' स्वरूप है। इस 'साध्यनिर्देश' घटक 'साध्य' शब्द धर्म (साध्य) विशिष्ट पक्ष का बोधक है। इसलिए न्याय (साधन) प्रयोग करने वाले पुरुष को 'पूर्वपक्ष' अर्थात् साधन स्वरूप प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' का ही प्रयोग पहले करना चाहिये।

तत्र धर्मिणम्

प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा पक्ष स्वरूप धर्मी को उद्देश्य बनाकर उसमें साध्य स्वरूप धर्म का विधान ही 'योऽयं पर्वतः सोऽग्निमान्' इस आकार के वाक्य से किया जाता है ॥ ५२–५४ ॥

नियमस्तद्विपक्षाच्च कल्प्यते नाविरोधिनः ।
असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ॥ ५५ ॥
ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्ययतोऽपि च ।
प्रमितस्य प्रमाणे हि नापेक्षा जायते पुनः ॥ ५६ ॥
ताद्रूप्येण परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम् ।
वैपरीत्यपरिच्छिन्ने नावकाशः परस्य तु ॥ ५७ ॥

('सर्वं हि वाक्यं सावधारणं भवति' इस न्याय के अनुसार पर्वत स्वरूप उद्देश्य में अग्नि के विधायक वाक्य के द्वारा 'पर्वतो वह्निमानेव' इस प्रकार का नियम (अवधारण) प्राप्त होगा जिससे पर्वत में अन्य धर्मों के साथ साथ 'धूमवत्त्व' (धूम) भी व्यावृत्त हो जायगा। फिर आगे 'धूमात्' इस हेतुवाक्य का प्रयोग ही अनुपपन्न हो जायगा। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) उक्त नियम के द्वारा वह्निमत्त्व (वह्नि) के विरोधी जलादि धर्मों की ही व्यावृत्ति होती है, वह्निमत्त्व के अविरोधी धर्मों की नहीं। जैसे कि 'शुक्ल एव पटः' इस नियम के द्वारा शुक्लता के विरोधी शौक्ल्याभाव एवं कृष्णादि रूपों की ही व्यावृत्ति होती है, पट में रहने वाले दैर्घ्य-विस्तृति (लम्बाई-चौड़ाई) प्रभृति धर्मों की नहीं।

असंनिकृष्टवाचा च

भाष्यकार ने अनुमान प्रमाण के लक्षण में जो (पृ० ३६ पं० १) में 'असनिकृष्ट' पद का उपादान किया है, उसके द्वारा पहले से ज्ञात साध्यविशिष्ट पक्ष में एवं साध्य के विपर्यय से युक्त पक्ष में अनुमेयत्व की ही व्यावृत्ति होती है अर्थात् सिद्धिदशा में एवं बाध की दशा में अनुमिति का न होना ही दिखलाया है।

१ इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से अनुमान प्रमाण, उसके प्रमेय एवं अनुमान प्रमाण के फल स्वरूप प्रमिति इन तीनों का प्रतिपादन किया गया है। अब 'अनुमानगृहीतस्य' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'साधन' की चर्चा की जाती है।

प्रमितस्य प्रमाणे

क्योंकि एक प्रमाण से प्रमित विषय में दूसरे प्रमाण की प्रवृत्ति व्यर्थ होने के कारण नहीं होती है। एवं 'साध्य' और 'विपरीत' अर्थात् साध्य का विरुद्ध धर्म इन दोनों के निश्चय की दशा में साध्य के साधक प्रमाण की प्रवृत्ति संभव नहीं है ॥ ५५–५७ ॥

मूले तस्य ह्यनुत्पन्ने पूर्वेण विषयो हृतः ।
प्रत्यक्षादेय षट्कस्य येनैवार्थोऽवधारितः ॥ ५८ ॥
तेनैवोत्तरबाधः स्याद् विकल्पादेरसम्भवात् ।
अग्राह्यता तु शब्दादेः प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार अनुमेय का अनुमेयतावच्छेदक रूप से ज्ञान रहने पर (अर्थात् सिद्धि के रहने पर) पुनः उस प्रकार के ज्ञान के लिए अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार अनुमान प्रमाण की अपेक्षा साध्य के विपरीत विषयक ज्ञान को शीघ्र उत्पन्न करनेवाले प्रमाण (बाधकप्रमाण) की सत्त्वदशा में भी अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नही होती है, क्योंकि अनुमानप्रमाण के 'मूल' हैं लिङ्गदर्शन-व्याप्तिस्मरणादि। मूलभूत इन व्याप्तिस्मरणादि के संवलन के पहिले ही उसके विषयीभूत 'अनुमेय' का प्रत्यक्षादि झटिति कार्यजनक अन्य प्रमाण 'अपहरण' कर लेते हैं। अर्थात् पक्ष में साध्याभावविषयक (या अन्य किसी विषयक) ज्ञान को उत्पन्न कर पक्ष से साध्य की सत्ता की संभावना को ही उखाड़ फेंकते हैं। अतः बाधक प्रमाण के रहने पर भी अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। फलतः 'मन्थर' गतिवाले (अर्थात् देर से प्रमा को उत्पन्न करनेवाले) प्रमाण की अपेक्षा 'क्षिप्रगति' वाला प्रमाण प्रबल होता है। इसलिए मन्थरगति वाले प्रमाण बाध्य हैं, एवं क्षिप्रगतिवाला प्रमाण बाधक है।

प्रत्यक्षादेश्च····स्यात्

यह बाध्य-बाधकभाव केवल अनुमान के ही प्रसंग में नहीं समझना चाहिये, किन्तु प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों में यह जानना चाहिये कि क्षिप्र गति वाला प्रमाण बाधक होता है एवं मन्थरगति वाला प्रमाण बाध्य होता है। अर्थात् पूर्व में यदि क्षिप्रगतिवाले प्रमाण का संवलन हो तो उत्तरवर्त्ति मन्थरगतिवाले प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होगी।

विकल्पादेरसंभवात्

दो वस्तुओं की प्राप्ति की संभावना के रहने पर (१) विकल्प (२) समुच्चय और (३) बाध ये तीन ही गतियाँ संभव हैं। तदनुसार प्रकृत में जहाँ दो प्रमाणों की प्रवृत्ति की संभावना है, इच्छानुसार किसी भी एक की प्रवृत्ति स्वरूप 'विकल्प' संभव नहीं है, क्योंकि विकल्प सिद्ध वस्तुओं में होता है। जैसे यवव्रीह्यादि में। प्रकृत में दो विरोधी प्रमाणों से दो परस्पर विरुद्ध ज्ञान सिद्ध नहीं हैं, किन्तु 'साध्य' हैं, अतः यहाँ विकल्प की संभावना नहीं है। इसी प्रकार 'समुच्चय' भी प्रकृत में संभव नहीं

है, क्योंकि 'एकत्र सम्मिलन' स्वरूप समुच्चय दो विरोधी वस्तुओं में संभव ही नहीं है। अतः प्रबल से दुर्बल का 'बाध' ही केवल दो विरोधी प्रमाणों की प्रवृत्तिदशा में संभव है, क्योंकि दो विरोधियों की सत्त्व दशा में प्रबल के द्वारा दुर्बल को परास्त कर अपना काम बना लेना ही स्वाभाविक है।

एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का बाध दो प्रकार का है—पूर्वप्रत्यय में 'मिथ्यात्व-स्थापन' रूप एवं (२) उत्पत्तिनिरोध स्वरूप।

(१) जब प्रत्यक्ष के द्वारा शुक्ति में रजतत्व प्रकारक ज्ञान प्राप्त हो उस स्थिति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को बाधित किये बिना 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतः प्रकृत स्थल में ज्ञान तो दोनों ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु परवर्तिज्ञान पूर्ववर्त्ति ज्ञान में 'मिथ्यात्व' गृहीत कर उसमें संभावित प्रमात्व को मिटा डालता है, अर्थात् प्रमात्व की संभावना को मिटा देता है।

(२) किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों की जहाँ दो विरोधिविषयों में प्राप्ति होगी, वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान उत्पन्न हो जायगा, अनुमिति की उत्पत्ति ही न हो सकेगी, क्योंकि अनुमान प्रमाण अपने कार्य के उत्पादन के लिए लिंगदर्शन-व्याप्तिस्मरणादि अनेक सहायकों की अपेक्षा रखता है, अतः वह प्रत्यक्ष की अपेक्षा देर से कार्य का उत्पादन करेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष को अन्य सहायकों की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रत्यक्ष अनुमान की अपेक्षा शीघ्र अपना काम करेगा। उसके बाद जब प्रत्यक्ष से अभीष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो जायगी तो उसके विरुद्ध विषय में अनुमान की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। अतः विरोधिविषयक अनुमिति की उत्पत्ति न हो सकेगी।

इसी प्रकार प्रत्यक्षादि सभी छः प्रमाणों में ही यह जानना चाहिये कि क्षिप्र-गति वाला प्रमाण विलम्बगति वाले प्रमाण का बाधक है।

मन्थरगति वाले प्रमाण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि अपेक्षाकृत किसी क्षिप्रगति वाले प्रमाण से उसका विषय बाधित न हो। इसी लिये उष्णत्व के विरुद्ध शैत्य का अनुमान वह्नि में किसी को भी नहीं होता।

अनुमान प्रमाण के सहायक हेतु को व्यभिचार दोष से सर्वथा रहित होना भी आवश्यक है। इसीलिये 'अग्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् पृथिवीवत्' यह अनुमान नहीं होता है, क्योंकि द्रव्यत्व हेतु में अनुष्णत्व का व्यभिचार वह्नि में ही स्पष्ट है।

जहाँ क्षिप्रगति वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण दूरत्वादि दोषों से ग्रसित होने के कारण निश्चयात्मक ज्ञान के उत्पादन में असमर्थ होते हैं, अथवा संशय को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उन स्थलों में मन्थरगति वाले प्रमाण का प्रतिरोध वे विरोधी प्रमाण क्षिप्रगति के होने पर भी नहीं कर पाते। अतः उन स्थितियों में मन्थरगति वाले अनुमानादि प्रमाणों से कार्य के होने में कोई बाधा नहीं आती है।

अग्राह्यता तु शब्दादेः······विरुद्ध्यते

शून्यवादी बौद्धगण अथवा मायावादी वेदान्तिकगण यदि शब्दादि विषयों में अग्राह्यत्व (अविद्यमानत्व) की सिद्धि (अनुमिति) के लिये 'अविद्यमानः शब्दादिः'

इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करें तो वह प्रतिज्ञा 'प्रत्यक्षविरुद्ध' होगी, क्योंकि शब्दादि की अविद्यमानता सर्वजनसिद्ध प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणित है ॥ ५८-५९ ॥

तेषामश्रावणत्वादि विरुद्धमनुमानतः ।
न हि श्रावणता नाम प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ ६० ॥
सान्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यते बधिरादिषु ।
त्रिधा शब्दविरोधः स्यात् प्रतिज्ञादिविभागतः ॥ ६१ ॥
प्रतिज्ञापूर्वसञ्जल्पसर्वलोकप्रसिद्धितः ।
यावज्जीवमहं मौनीत्युक्तिमात्रेण बाध्यते ॥ ६२ ॥
सर्ववाक्यमृषात्वे तु धर्मोक्त्यैवात्मबाधनम् ।
धर्म्युक्त्याहं यतो जातः सा वन्ध्या जननी मम ॥६३॥

तेषामश्रावणत्वादि ...... अनुमानतः

(२) शब्दादि में अश्रावणत्वादि की सिद्धि के लिये यदि कोई 'अश्रावणः शब्दः' अथवा 'अचाक्षुषं रूपम्' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्यों का प्रयोग करे तो वह प्रतिज्ञा 'अनुमानविरुद्ध' होगी, क्योंकि शब्दादि में श्रावणत्वादि धर्म अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं[1]।

सान्वयव्यतिरेकाभ्याम् ...... बधिरादिषु

शब्द की श्रावणता अन्वयव्यतिरेकमूलक व्याप्ति से ही जानी जाती है। कहने का तात्पर्य है कि 'शब्दज्ञान चूँकि कार्य है, अतः इस कार्यत्व हेतु से उसके कारणों का अनुमान होता है। शब्दोच्चारण प्रभृति कारणों के रहते हुये भी कभी कभी शब्द नहीं भी सुना जाता है। अतः शब्दोच्चाराणादि से भिन्न किसी कारण का अनुमान होता है। एवं कान के मुंद लेने पर अथवा वातादि दोषों से उसके दूषित होने पर भी शब्द का श्रवण नहीं होता है। एवं कर्णशष्कुली के न मुंदने पर अथवा उक्त दोषों के न रहने पर शब्द का श्रवण होता है। कर्णशष्कुलोगत आकाश ही 'श्रोत्र' है (अथवा श्रवणेन्द्रिय है)। अतः शब्द का श्रावणत्व अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है। फलतः जो कोई 'अश्रावणः शब्दः गुणत्वाद्रूपवत्' इस आकार के अनुमानवाक्य का प्रयोग करेगा, उसकी प्रतिज्ञा अनुमानविरुद्ध ही होगी, प्रत्यक्षविरुद्ध नहीं।

प्रश्न होता है 'श्रावणत्वानुमान अश्रावणत्वानुमान से बलवान् क्यों है ? दोनों समान रूप से अनुमान ही हैं, अतः समानगति वाला कोई भी किसी से मन्दगतिवाला या क्षिप्रगतिवाला नहीं। अतः श्रावणत्वानुमान से अश्रावणत्वानुमान के बाध की तरह तुल्य युक्ति से अश्रावणत्वानुमान से श्रावणत्व के अनुमान का बाध ही क्यों नहीं ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि श्रवणेन्द्रिय में शब्दज्ञान की करणता का निषेध करने के लिये पहले कार्यकारणभाव का अन्यत्र ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि कहीं

---

१. दिङ्नाग 'अश्रावणः शब्दः' इस प्रतिज्ञावाक्य को 'प्रत्यक्षविरोध' का उदाहरण मानते हैं, किन्तु सो ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द में श्रावणत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु अनुमान ही होता है। कथित युक्ति से दिङ्नाग की यह आलोचना भी ध्वनित होती है।

ज्ञात वस्तु का ही अन्यत्र निषेध किया जाता है। सर्वथा अज्ञात वस्तु का कहीं निषेध नहीं होता। तत्सत्त्वमूलकतत्सत्त्वस्वरूप 'अन्वय' ही सर्वत्र कार्यकारणभाव का ज्ञापक है। यह 'अन्वय' शब्दज्ञान स्वरूप कार्य और श्रोत्र स्वरूप कारण के प्रसङ्ग में आवश्यक है। इस प्रकार शब्द में श्रावणत्व के निषेधानुमान से पहले ही श्रोत्र में शब्दज्ञान के कारणत्व का अनुमान प्राप्त हो जाता है जिससे पश्चाद्वर्ति शब्द में अश्रावणत्व का अनुमान बाधित हो जाता है। फलतः दो अनुमानों में जो भी क्षिप्रगति वाला होगा, वही प्रबल होगा, अत एव बाधक होगा एवं जो मन्थरगति वाला होगा वह दुर्बल होगा अत एव 'बाध्य' भी होगा। अतः प्रकृत दो अनुमानों में भी जो बाधक है वह क्षिप्रगति के कारण ही प्रबल भी है।

त्रिधा शब्दविरोधः""""प्रसिद्धितः

प्रतिज्ञा में शब्द प्रमाण का विरोध तीन प्रकार का होता है (१) प्रतिज्ञा-विरोध (उक्तिमात्रविरोध) (२) पूर्वसंजल्पविरोध एवं (३) सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध।

(१) प्रतिज्ञाविरोध (उक्तिमात्रविरोध) का उदाहरण

(क) 'यावज्जीवमहं मौनी' इस वाक्य के द्वारा उपस्थित प्रतिज्ञा 'उक्तिमात्र-विरोधिनी' प्रतिज्ञा है। उच्चारण स्वरूप उक्ति के द्वारा ही प्रतिज्ञात मौनित्व का बाध हो जाता है।

(ख) 'सर्वं वाक्यं मृषा' इस प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा मृषात्व (मिथ्यात्व) की उक्ति से ही सर्वान्तर्गत उक्त प्रतिज्ञा वाक्य भी मिथ्या हो जाता है। मिथ्यावाक्य से 'मिथ्यात्व' धर्म के द्वारा ही यह प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है।

(ग) धर्म्युक्त्याऽहम्""""जननी मम

'मम जननी बन्ध्या' यह प्रतिज्ञा 'जननी' स्वरूप धर्मी की उक्ति मात्र से बाधित हो जाती है, क्योंकि जननीत्व और बन्ध्यात्व दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं। यही 'स्ववचनविरोध' है या 'उक्तिमात्रविरोध' है। (ये तीनों ही उदाहरण प्रतिज्ञा-विरोध, उक्तिमात्रविरोध या स्ववचनविरोध के हैं। वस्तुतः ये तीनों एक ही हैं) ॥ ६०–६३ ॥

बौद्धस्य शब्दनित्यत्वं पूर्वोपेतेन बाध्यते।
चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति ॥ ६४ ॥
स सर्वलोकसिद्धेन चन्द्रज्ञानेन बाध्यते।
ज्ञातगोगवयाकारं प्रति यः साधयेदिदम् ॥ ६५ ॥
न गोर्गवयसादृश्यं तस्य बाधोपमानतः।
गेहावगतनास्तित्वो जीवंश्चैत्रो यदा बहिः ॥ ६६ ॥
नास्तीति साध्यते बाधस्तत्रार्थापत्तितो भवेत्।
अग्नावदाहके साध्ये शब्दे चानभिधायके ॥ ६७ ॥

श्रोत्रादिनास्तितायां च शब्दानित्यत्वसाधने ।
श्रुतार्थापत्तिबाधोऽत्र यदाप्तोक्तिनिवारिते ॥ ६८ ॥
दिवाऽभुजो निषिध्येत हेतुना रात्रिभोजनम् ।
शशश्रृङ्गादिसद्भावविरोधोऽनुपलब्धितः ॥ ६९ ॥

(२) पूर्वसंजल्पविरोध का उदाहरण

सभी पदार्थों को क्षणिक मानने वाले बौद्ध यदि 'शब्दः नित्यः' इस आकार के प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करें तो उनके लिये इस प्रतिज्ञा में 'पूर्वसंजल्पविरोध' दोष प्राप्त होगा, क्योंकि वे पहले ही सभी पदार्थों को क्षणिक कह चुके हैं।

(३) सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध दोष का उदाहरण—चन्द्रशब्दाभि ' 'बाध्यते

यदि कोई 'शशी न चन्द्रशब्दाऽभिधेयः' इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करे तो उसे 'सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध' दोष प्राप्त होगा, क्योंकि चन्द्र शब्द उच्चरित होते ही सभी जनों में शशिविषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है। सर्वलोकनिष्ठ यह चन्द्र शब्द से उत्पन्न होने वाला शशिविषयक ज्ञान ही शशि में चन्द्र शब्द की अभिधा वृत्ति के अभाव को (अनभिधेयत्व को) बाधित करेगा।

कथित तीनों ही प्रकार के विरोधों में प्रतिज्ञावाक्य स्वरूप 'शब्द' का किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध है, केवल इसीलिये वे 'शब्दविरोध' शब्द से कहे गये हैं (श्लो० ६१)। वस्तुतः ये शब्दविरोध 'आगमप्रमाणविरोध' स्वरूप नहीं हैं। वे सभी अनुमान, अर्थापत्ति अथवा प्रत्यक्ष इन तीनों ही प्रमाणों के विरोध स्वरूप ही हैं।

'आगमविरुद्ध' जिसके द्वारा श्रुतिस्मृत्यादि आगम प्रमाणों का 'विरोध' उपस्थित होता है। जैसे कि—नरशिरः कपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शुक्तिवत्, अग्निहोत्रम् न स्वर्गसाधनम् क्रियात्वात् भोजनवत्, अग्नीषोमीयहिंसा प्रत्यवायकरी हिंसात्वाद् ब्रह्महत्यादिवत्—इत्यादि। ऐसे ही स्थलों में 'आगमविरोध' या 'शब्दविरोध' दोष होता है।

शब्द से जिन अर्थों का एक साथ बोध होता है, उसमें परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती है। अनुमिति में व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा होती है। अतः आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण की अपेक्षा शीघ्र अपने प्रमाज्ञान को उत्पन्न करता है। इसीलिये उक्त स्थलों में आगम प्रमाण से अनुमान प्रमाण बाधित होता है।

वेद स्वरूप आगम प्रमाण के विषय में यह और भी विशेष है कि वे सर्वथा निर्दोष हैं एवं उनसे कथित अर्थों की उपपत्ति दूसरे प्रकार से नहीं हो सकती। अनुमानादि प्रमाणों में दोषों की भी संभावना है एवं उनसे ज्ञात होने वाले विषयों की उपपत्ति 'अन्यथा' भी (दूसरे प्रकारों से भी) हो सकती है। अतः वेद स्वरूप शब्द प्रमाण इन युक्तियों से भी अनुमानादि प्रमाणों से बलवान् हैं।

उपमानविरोध का उदाहरण—इदम् ' 'बाधोपमानतः

जिस पुरुष को उपमान प्रमाण के द्वारा गो में गवयाकारत्व का ज्ञान है, उसके लिये यदि कोई 'गोर्न गवयसादृश्यम्' इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करे तो उसे कथित उपमान प्रमाण के द्वारा बाधा उपस्थित होगी।

(क) दृष्टार्थापत्तिविरोध का उदाहरण—गेहावगतः'''अर्थापत्तितो भवेत्

जिस पुरुष को यह ज्ञात है कि 'चैत्र' गृह में नहीं है, उस पुरुष के लिए यदि कोई इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करे कि 'जीवंश्चैत्रो बहिर्नास्ति' तो उसे अनुपलब्धि-मूलक दृष्टार्थापत्ति प्रमाण से बाधा उपस्थित होगी।

(ख) अग्नावदाहके साध्ये

यदि कोई 'अग्निरदाहकः' इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करे तो उसे प्रत्यक्ष-मूलक दृष्टार्थापत्ति के विरोध का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि वह्नि से दाह की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से सिद्ध है। एवं इस प्रत्यक्षमूलक अर्थापत्ति के द्वारा अग्नि में दाहा-नुकूला शक्ति की कल्पना होती है। प्रतिज्ञावाक्योक्त 'अदाहकत्व' दाहानुकूला शक्ति का अभाव ही है।

(ग) शब्दे चाऽनभिधायके

यदि कोई 'शब्दोऽर्थजनकशक्तिरहितः' इस प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग करे तो यह प्रतिज्ञा शक्ति के ग्राहक अनुमानप्रमाणमूलक अर्थापत्ति के द्वारा बाधित होगी।

(घ) श्रोत्रादिनास्तितायाञ्च

कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश में शब्दप्रत्यक्ष की कारणता अथवा शब्दश्रवण की शक्ति अन्वयव्यतिरेकमूलक अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। इसलिये यदि कोई 'आकाशः शब्दश्रावणशक्तिरहितः' इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करे तो उक्त प्रतिज्ञा कथित श्रोत्रानुमानमूलक अर्थापत्ति से बाधित होगी।

(ङ) शब्दाऽनित्यत्वसाधने

शब्दजनित अर्थबोध की अनुपपत्ति से शब्द में अभिधा वृत्ति की कल्पना होती है। इस अभिधा शक्ति की उपपत्ति शब्द को नित्य माने बिना संभव नहीं है। अर्थापत्तिमूलक अर्थापत्ति के द्वारा 'शब्दोऽनित्यः' यह प्रतिज्ञा बाधित होती है। ये सभी दृष्टार्थापत्तिजनित बाध के उदाहरण हैं।

(च) श्रुतार्थापत्तिबाधोऽत्र'''रात्रिभोजनम्

जहाँ आप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के द्वारा देवदत्त का रात्रिभोजन निषिद्ध है, वहाँ यदि कोई किसी हेतु के द्वारा रात्रि-भोजन के निषेध का अनुमान करे तो उस अनुमान की 'देवदत्तो रात्रौ न भुंक्ते' यह प्रतिज्ञा 'रात्रौ भुंक्ते' इस श्रुतार्थापत्ति प्रमाण से बाधित होगी।

अनुपलब्धिप्रमाणमूलकबाध—शशश्रृङ्गादिसद्भाव'''अनुपलब्धितः

यदि कोई पशुत्व हेतु से शश में शृंग का अनुमान करे तो उस अनुमान की प्रतिज्ञा अनुपलब्धि प्रमाण से बाधित होगी ॥ ६४–६९ ॥

एवं च धर्मसम्बन्धबाधस्तावदुदाहृतः।
धर्मधर्म्युभयेषां च स्वरूपस्वविशेषयोः ॥ ७० ॥

श्रुत्यर्थाक्षिप्तयोर्वाक्ये वाच्यः सर्वप्रमाणकः ।
तृणादिविक्रियाहेतोरग्निमद्धिमसाधने ॥ ७१ ॥
प्रत्यक्षावगताच्छैत्यात् तद्विशेषोत्थबाधनम् ।
अधर्मो विहितो दुःखं करोत्यल्पमितीह तु ॥ ७२ ॥
विहितत्वादधर्मस्य स्वरूपस्यैव बाधनम् ।
तथा दुःखनिमित्तत्वं विशेषस्तस्य बाध्यते ॥ ७३ ॥

एवञ्च ''''''उदाहृतः

इस प्रकार 'अग्राह्यता तु शब्दादेः' (श्लो० ५९) से लेकर 'शशशृंगादि-सद्भावः' (श्लो० ६९) पर्यन्त के सन्दर्भ से 'धर्म' (साध्य) सम्बन्ध के बाध का उदाहरण के साथ निरूपण किया गया।

धर्मधर्म्युभयेषाञ्च

धर्म (साध्य) के स्वरूप के बाध की तरह 'श्रुति' अर्थात् (साक्षात् शब्द-प्रमाण) के द्वारा प्राप्त धर्म के द्वारा एवं 'आक्षेप' के द्वारा प्राप्त धर्म के 'विशेष' एवं धर्मी एवं उसके विशेष इन सब का भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों के द्वारा प्राप्त बाधों का उचित उदाहरणों के साथ करना चाहिये।

'धर्मधर्म्युभयेषां च' इस वाक्य में 'धर्म' पद उदाहरण का बोधक है, क्योंकि साध्य स्वरूप धर्म का बाध पहले ही कहा जा चुका है। तदनुसार प्रकृत सन्दर्भ का अभिप्राय है कि जिस प्रकार धर्मबाध कथित हो चुका है, उसी प्रकार (१) आक्षिप्त धर्म विशेष का बाध (२) साक्षात् शब्द (श्रुति) के द्वारा कथित धर्मी का बाध एवं (३) आक्षिप्त 'धर्मि विशेष' का बाध (४) साक्षात् शब्द के द्वारा कथित 'धर्मिधर्म' इन दोनों का बाध एवं (५) आक्षेप से प्राप्त 'धर्मधर्मि' इन दोनों का बाध इन पाँच प्रकार के बाधों का उद्भावन करना चाहिये।

(१) प्रत्यक्ष के द्वारा धर्म विशेष के बाध का उदाहरण —

तृणादिविक्रिया हेतोः''तद्विशेषोत्थबाधनम्

यदि कोई तार्णत्व हेतु से 'हिमम् अग्निमत्' इस प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग करेगा तो उसमें प्रत्यक्ष के द्वारा 'धर्मविशेष' के बाध का उद्भावन करना चाहिये, क्योंकि उक्त प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा उपस्थित वह्नि के व्याप्य उष्णता स्वरूप 'विशेष' का आक्षेप होता है। आक्षिप्त उष्णता स्वरूप वह्नि के धर्म का विशेष शैत्य हिम में प्रत्यक्ष से सिद्ध है। प्रत्यक्षावगत इस शैत्य से उष्णत्व बाधित होकर स्वव्यापकीभूत वह्नि को भी बाधित कर देगा। अग्नि में उष्णत्व की व्याप्ति है, अतः वह्नि से उष्णत्व का आक्षेप होगा। आक्षिप्त यह उष्णत्व हिम में अवगत शैत्य से बाधित होकर (उष्णत्व) अपने व्याप्य अग्नि के बाध को भी उपस्थित करेगा।

(२) धर्मिस्वरूप एवं (३) उसके विशेष का आगम के द्वारा बाधों का उदाहरण—

अधर्मो विहितः''विशेषस्तस्य बाध्यते

'विहितो अग्नीषोमाद्यधर्मः अल्पं दुःखं करोति' इस प्रतिज्ञावाक्य का अग्नीषो-मीयादि हिंसारूपा क्रिया स्वरूपा धर्मी (पक्ष) चूँकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'

इस आगम के द्वारा विहित है, अतः अधर्म ही नहीं है। अतः कथित हिंसादि क्रियाओं में अधर्मत्व ही बाधित है। अधर्म की व्याप्ति दुःखकरत्व में है। अतः अधर्म से आक्षिप्त (तद्व्याप्य) दुःखकरत्व अधर्म के बाध से ही बाधित हो जाता है। इन बाधों का मूल है अग्नीषोमीयादि हिंसाओं का विहित होना। अतः ये सभी बाध आगममूलक ही हैं ॥ ७०-७३ ॥

'अयथार्था धियः सर्वाः' इत्युक्ते ह्यबाधनम्।
स्वरूपस्वविशेषाभ्याम् तद्धीमिथ्यात्वसाधनात् ॥७४॥
क्षणिकात्यन्तमिथ्यात्वे विशेषौ च द्वयोरिह।
दर्शनादेकदेशस्येत्यनेनैतद् व्युदस्यते ॥ ७५ ॥
यत्रैकस्योभयोर्वापि संशयाऽधीविपर्ययधाः।
शैत्याग्न दाहको बह्निश्चाक्षुषत्वादनित्यता ॥ ६७ ॥
शब्दस्येत्येवमादौ तु द्वयोः सिद्धो विपर्ययः।
कृतकत्वगुणत्वादौ परोक्ते याज्ञिकं प्रति ॥ ७७ ॥
स्वोक्ते चैवम्प्रकारे स्यादसिद्धोऽन्यतरस्य तु।
बाष्पादिभावसन्दिग्धो द्वयोरन्यतरस्य वा ॥ ७८ ॥
धूमस्त्रिधाप्यसिद्धः स्यादेवं तावत् स्वरूपतः।
एत एव प्रकाराः स्युराश्रयासिद्धिकल्पने ॥ ७९ ॥

(४-५) धर्म और धर्मी (साध्य और पक्ष) इन दोनों का साथ-साथ बाध एवं इन दोनों से आक्षिप्त धर्मों का बाध—

अयथार्था धियः सर्वाः''द्वयोरिह

'सर्वा धियः अयथार्थाः' इस प्रतिज्ञावाक्य में धर्मि है 'बुद्धि' एवं धर्म है 'अयथार्थत्व'। ज्ञान स्वरूप धर्मी का विशेष है 'क्षणिकत्व' एवं अयथार्थत्व स्वरूप साध्य का विशेष है 'आत्यन्तिकत्व'। चूँकि सभी ज्ञानों का अयथार्थत्व प्रतिज्ञात है, अतः इस प्रतिज्ञा वाक्य से उत्पन्न बुद्धि में भी अयथार्थत्व की सिद्धि होगी। फलतः बुद्धि स्वयं बाधित हो जायगी। उसका अयथार्थता धर्म भी बाधित हो जायगा। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप धर्मि (पक्ष) का व्याप्य क्षणिकत्व एवं अयथार्थत्व स्वरूप धर्म (साध्य) इन दोनों से आक्षिप्त आत्यन्तिकत्व भी बाधित हो जायगा। प्रतिज्ञा स्वरूप अपने (स्व) वचन के द्वारा ही बुद्धि स्वरूप धर्मी एवं अयथार्थत्व स्वरूप धर्म (साध्य) दोनों का 'विरोध' (बाध) होता है। अतः धर्म और धर्मी का कथित बाध 'स्ववचनविरोध' स्वरूप है। एवं क्षणिकत्व रूप धर्मिविशेष एवं आत्यन्तिकत्व स्वरूप धर्म विशेष इन दोनों का बाध 'पूर्वाऽभ्युपगमबाध' स्वरूप होगा, क्योंकि बौद्धगण ज्ञानों का क्षणिकत्व एवं उसका आत्यन्तिकत्व दोनों को पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। भाष्यकार ने अनुमानलक्षण में 'असंनिकृष्टेऽर्थे' इस पद के उपादान से ही इन्हीं सभी प्रतिज्ञाविरोधों परिहार किया है।

दर्शनादेकदेशस्य ... व्युदस्यते ... विपर्ययः

(इस प्रकार 'प्रतिज्ञाभासों' के निरूपण के बाद क्रमप्राप्त हेत्वाभासों का निरूपण प्रारम्भ होता है)। अनुमानलक्षणभाष्य में 'एकदेशस्य दर्शनात्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द 'निश्चयात्मक' ज्ञान का वाचक है। निश्चय के बोधक इस 'दर्शन' शब्द के प्रयोग से ही भाष्यकार ने उन 'असिद्ध' नाम के हेत्वाभासों में हेतुत्व का खण्डन किया है, जिनसे वादी, प्रतिवादी इन दोनों में से किसी एक में अथवा दोनों में ही हेतु के संशय, अज्ञान अथवा विपर्यय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'असिद्धि' हेत्वाभास के (१) संशयासिद्धि (२) अज्ञानासिद्धि एवं (३) विपर्ययासिद्धि ये तीन भेद निष्पन्न होते हैं। इनमें से प्रत्येक के (१) अन्यतरगत एवं (२) उभयगत भेद से दो दो प्रकार निष्पन्न होते हैं।

(१) वादी और प्रतिवादी एतदुभयगत विपर्ययजनक असिद्धि–शैत्यात् दाहको वह्निः

'वह्निः न दाहकः शैत्यात्' इस प्रकार के प्रयोगों में प्रयुक्त शैत्यादि हेतु का अभाव वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा ही पक्षों में सिद्ध हैं। अतः वह्नि स्वरूप पक्ष शैत्य स्वरूप हेतु का ही विपर्यय (अभाव) उभयमत सिद्ध है। इस लिये उक्त शैत्य 'विपर्ययासिद्ध' नामक असिद्ध हेत्वाभास है।

चाक्षुषत्वादनित्यता—शब्दस्य .... विपर्ययः

इसी प्रकार 'शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्' इस अनुमान का चाक्षुषत्व हेतु भी 'उभयमतसिद्ध' नाम का 'विपर्ययासिद्ध' ही है, क्योंकि शब्द में अचाक्षुषत्व (चक्षु से गृहीत न होना) भी उभयमतसिद्ध ही है।

(२) अन्यतरमतसिद्ध विपर्ययासिद्ध

यदि वैशेषिकादि शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिये 'कृतकत्व' अथवा 'गुणत्व' हेतु का प्रयोग करें (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, गुणत्वाद्वा) ते ये हेतु भी प्रतिवादी मीमांसक के मत से चूँकि शब्द स्वरूप पक्ष में नहीं हैं (विपर्यस्त हैं) अतः ये हेतु 'प्रतिवाद्यन्यतरासिद्ध' हेत्वाभास होंगे।

यदि ये ही प्रयोग मीमांसक के द्वारा उपस्थित किये जाँय तो वे हेतु 'वाद्यन्यतरासिद्ध' हेत्वाभास होंगे, क्योंकि 'वादी' मीमांसक के मत से ये हेतु पक्ष में विपर्यस्त हैं। मीमांसकगण शब्द को नित्य (अकृतक) एवं द्रव्य मानते हैं। अतः स्वरूपतः असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) हेत्वाभास (१) उभयमतसिद्ध एवं (२) अन्यतरासिद्ध भेद दो प्रकार के हैं। इनमें अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास (१) वाद्यन्यतरासिद्ध एवं (२) प्रतिवाद्यन्यतरासिद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार यह स्वरूपासिद्ध तीन प्रकार का निष्पन्न होता है।

सन्दिग्धासिद्ध

वह्नि की सिद्धि के लिये प्रयुक्त धूम हेतु यदि वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा सन्दिग्ध हो तो वह 'उभयमतसिद्ध सन्दिग्धासिद्ध' हेत्वाभास होगा। यदि वही

घूम हेतु किसी एक पक्ष के द्वारा बाष्पादि रूप में सन्दिग्ध हो तो वह अन्यतरासिद्ध नाम का सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होगा।

एत एव……कल्पने

जिस युक्ति से जितने प्रकार 'स्वरूपासिद्ध' के दिखलाये गये हैं, उसी युक्ति से उतने ही प्रकार 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास के भी जानने चाहिये। अर्थात् आश्रय-मूलक हेतु की असिद्धि (आश्रयासिद्धि) भी संशय, अज्ञान, एवं विपर्यय भेद से तीन प्रकार के हैं। एवं उनमें से प्रत्येक वादिगत, प्रतिवादिगत, एवं वादिप्रतिवादी उभयगत भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं—

(१) वादिगत— संशयजनक, विपर्ययजनक, अज्ञानजनक =
(२) प्रतिवादिगत—संशयजनक, विपर्ययजनक, अज्ञानजनक =
(३) उभयगत— संशयजनक, विपर्ययजनक, अज्ञानजनक =

॥ ७४–७९ ॥

ज्ञातेऽपि हि स्वरूपेण नातद्धर्मेऽस्ति हेतुता।
सर्वत्र दृष्टकार्यत्वादात्मा सर्वगतस्त्विति ॥ ८० ॥
बौद्धं प्रत्याश्रयासिद्धो लौकिकादेस्तु संशयः।
वाङ्मात्रासिद्धिमात्रेण व्यवहाराप्रकल्पनात् ॥ ८१ ॥
द्वाभ्यां योऽसत्त्वतो ज्ञातस्तद्वचो दूषणं मतम्।
इतरत् साधनं तु स्याद् वादिना यदि साध्यते ॥ ८२ ॥
निराकरणसिद्धौ वा दूषणं प्रतिवादिनः।
सन्देहविपरीतत्वहेतू चात्र निराकृतौ ॥ ८३ ॥
ज्ञातसम्बन्धवचनात् त्रयः संशयहेतवः।
सन् साध्ये तदभावे वा द्वाभ्यां व्यावृत्त एव च ॥ ८४ ॥

ज्ञातेऽपि हि स्वरूपेण……हेतुता

(इस प्रसङ्ग में प्रश्न हो सकता है कि 'आश्रय' की 'असिद्धि' से हेतु में असिद्धत्व का व्यवहार क्यों होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) धूमादि स्वरूपतः (अपने आप) वह्नि के अनुमापक 'हेतु' नहीं हैं, किन्तु 'पक्षवृत्ति' होने के कारण (पक्ष में रहने के कारण) ही वे 'हेतु' हैं। अतः आश्रय स्वरूप पक्ष की असिद्धि से तद्गत हेतु भी असिद्ध होगा। इसीलिये हेतु में आश्रयासिद्ध का व्यवहार होता है।

सर्वत्र दृष्टः……सर्वगतस्त्विति……लौकिकादेस्तु संशयः

'आत्मा सर्वगतः सर्वत्र (सुखदुःखस्वरूप) तत्कार्योपलब्धेः' यदि इस आकार के अनुमान का प्रयोग (बौद्धगण) करें तो उनके लिये यह 'सर्वत्रकार्योपलब्धि' हेतु आश्रयविपर्ययमूलक 'विपर्ययासिद्ध' होगा, क्योंकि बौद्धों के मत से 'आत्मा' रूप आश्रय (पक्ष) ही असिद्ध है।

साधारणजन यदि इसी अनुमान का प्रयोग करें तो उनके लिये यही हेतु सन्देहमूलक 'आश्रयासिद्ध' होगा, क्योंकि साधारणजन शरीर को ही आत्मा मानते हैं। तद्भिन्न सर्वगत आत्मा उनके मत से सन्दिग्ध है।

वाङ्मात्रात्ऽसिद्धिमात्रेण ······ दूषणं प्रतिवादिनः

(इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप हो सकता है कि यदि अन्यतरासिद्ध भी दोष हो अर्थात् वादी एवं प्रतिवादी इन दोनों में से किसी एक के सन्देह-विपर्ययादि मानने से भी हेतु दुष्ट हो तो वाद, जल्प, वितण्डा ये तीनों ही कथायें अनुपपन्न हो जायँगी, क्योंकि वादी एवं प्रतिवादी इन दोनों में से कोई भी अपने अनभिमत हेतु को दुष्ट कह सकता है। मीमांसक यदि 'चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणम् निर्दुष्टकारणजन्यत्वात्' इस हेतु का प्रयोग करें तो 'चोदनाजनित बुद्धि का कारण वेद अनाप्त पुरुष से रचित होने के कारण दोषरहित नहीं है' केवल इतना भर कह देने से उक्त 'निर्दुष्टकारण-जन्यत्व' हेतु 'असिद्ध' हो जायगा। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि)—

वाङ्मात्रासिद्धिमात्रेण ··· दूषणं प्रतिवादिनः

केवल किसी के दुष्ट कह देने भर से कोई हेतु दुष्ट नहीं हो सकता। प्रतिवादी के द्वारा किसी हेतु में असिद्धि दोष का उद्भावन होने पर यदि उक्त उद्भावन प्रतिपन्न हो तभी हेतु असिद्ध होगा। यदि वादी का सद्धेतुत्वपक्ष ही प्रतिपन्न होगा तो हेतु में दोष प्रतिपन्न न होने के कारण स्थापनापक्ष ही प्रबल होगा। यदि वादी और प्रतिवादी दोनों ही अति आग्रह के कारण सद्धेतुत्व और हेत्वाभासत्व दोनों पक्षों में से किसी पक्ष से सहमत न हो पायेंगे तो यह काम मध्यस्थ के द्वारा सम्पन्न होगा।

सन्देहविपरीतत्वहेतू ········ सम्बन्धवचनात्

अनुमान के लक्षणवाक्य में जो 'ज्ञातसम्बन्ध' पद है, उससे साध्यसन्देह-जनक एवं साध्यविपरीत (साध्याभाव) की अनुमिति के जनक 'अनैकान्तिक' एवं 'विरुद्ध' हेतु निराकृत हुये हैं।

(१) त्रयः संशयहेतवः ··· व्यावृत्त एव च ··· तत्साध्ये ··· तदभावे च

जो हेतु साध्य के अधिकरण एवं साध्याभाव के अधिकरण में क्रमशः साध्याभाव के साथ एवं साध्य के साथ हो वह साध्यसन्देहजनक 'साधारण' नाम का हेत्वाभास है।

(२) द्वाभ्यां व्यावृत्त एव च

जो हेतु साध्य के निश्चित अधिकरण (सपक्ष में) एवं 'विपक्ष' (साध्याभाव के निश्चित अधिकरण) दोनों में ही न रहे वह साध्यसन्देहजनक होने के कारण 'असाधारण' नाम का हेत्वाभास है॥ ८०–८४॥

द्वौ विरुद्धार्थसम्बद्धौ यावेकत्रैकदेशिनि।
प्रमेयानित्यतामूर्तिधर्माः साधारणा द्वयोः॥ ८५॥

नित्यायत्नोत्थयत्नोत्थानित्येषु द्विरनित्यतः ।
नित्या भूर्गन्धवत्त्वेन स्यादसाधारणस्त्वयम् ॥ ८६ ॥
निश्चयैकाङ्गवैकल्यादेष संशयकारणम् ।
साधारणो यथा दृष्टो बुद्धिद्वयनिमित्तकः ॥ ८७ ॥
विरुद्धैकान्तवाप्तेश्च संशये कारणं मतम् ।

द्वौ विरुद्धार्थ···एकदेशिनि

विरुद्ध दो साध्यों की व्याप्ति से युक्त दो हेतु यदि किसी एक धर्मी में रहकर संशय का उत्पादन करे तो वे दोनों हेतु 'विरुद्धाऽव्यभिचारी' नाम के हेत्वाभास होंगे।

साधारण हेत्वाभास के उदाहरण–प्रमेयानित्यता···द्विरनित्यतः

(१) प्रमेयत्व (१) अनित्यत्व (३) और अमूर्त्तत्व हेतुओं का प्रयोग यदि क्रमशः शब्द में नित्यत्व, प्रयत्नानन्तरीयकत्व, अप्रयत्नानन्तरीयकत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि के लिए किये जाँय तो ये सभी हेतु 'साधारण' हेत्वाभास होंगे।

विशदार्थ यह है कि (१) 'शब्दःनित्यः प्रमेयत्वात्' इस अनुमान का प्रमेयत्व हेतु चूँकि अनित्य घट में एवं नित्य आकाश दोनों में समानरूप से है, अतः शब्द में नित्यत्व के संशय का ही उत्पादक हो सकता है, शब्द में नित्यत्व के निश्चय का नहीं। अतः पक्ष में साध्य के संशय का हेतु होने से उक्त प्रमेयत्व साधारण हेत्वाभास है।

(२) 'शब्दोऽप्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात्' इस अनुमान का अनित्यत्व हेतु अप्रयत्नजनित एवं अनित्य विद्युत् प्रभृति वस्तुओं में भी है, एवं प्रयत्नजनित एवं अनित्य घटादिवस्तुओं में भी है। अतः यह (प्रथम) अनित्यत्व हेतु शब्द में अप्रयत्नानन्तरीयकत्व के 'शब्दः अप्रयत्नानन्तरीयको न वा' इस संशय का ही कारण होगा। 'शब्दोऽप्रयत्नानन्तरीयक एव' इस निश्चय का नहीं। अतः अप्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु पक्ष में साध्य संशय का उत्पादक होने से 'साधारण' हेत्वाभास है।

(३) 'शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात्' इस अनुमान का यह (दूसरा) अनित्यत्व हेतु प्रयत्नजनित घटादि में एवं अप्रयत्नजनित विद्युत् दोनों है, अतः 'शब्दः प्रयत्नाऽनन्तरीयको न वा' इस संशय का कारण होने से 'साधारण' नाम का हेत्वाभास है।

(४) 'शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात्' इस अनुमान का 'अमूर्त्तत्व' हेतु नित्यस्वरूप आकाश में एवं अनित्यस्वरूप कर्मपदार्थ दोनों में समान रूप से है, अतः 'शब्दो नित्यो न वा' इस संशय का कारण होने से उक्त अमूर्त्तत्व हेतु भी 'साधारण' नाम का हेत्वाभास ही है।

असाधारण हेत्वाभास – नित्या भूः···असाधारणस्त्वयम्,

'पृथिवी नित्या गन्धवत्त्वात्' इस अनुमान का गन्ध हेतु (गन्धवत्त्व हेतु) चूँकि पक्षीभूत पृथिवी को छोड़कर न किसी नित्य (सपक्ष) में है, न किसी (विपक्षी-

भूत) अनित्यपदार्थ में है, अतः 'पृथिवी नित्या न वा' इस संशय का हेतु है। इसलिए यह गन्धवत्त्व हेतु 'असाधारण' नाम का हेत्वाभास है।

निश्चयैकाङ्ग ··· संशयकारणम्

इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप हो सकता है कि साधारण धर्म चूँकि साध्य एवं साध्य के अभाव दोनों के साथ क्रमशः सपक्ष और विपक्ष में देखे जाते हैं, अतः 'साधारण' धर्म में साध्य-तदभावविषयक संशय की जनकता तो ठीक है। किन्तु कथित गन्धवत्त्व रूप 'असाधारण' धर्म तो पक्ष से भिन्न किसी आश्रय में न साध्य के साथ उपलब्ध है, न साध्याभाव के साथ ही उपलब्ध है, अतः असाधारण धर्म कहीं भी साध्य-तदभावविषयक संशय को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। इसलिए 'असाधारण' हेतु को संशय का जनक होने से हेत्वाभास मानना ठीक नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

जो हेतु सपक्ष में रहता है, एवं विपक्ष में नहीं रहता वही हेतु पक्ष में साध्य-निश्चय का प्रयोजक होता है। इस प्रकार हेतु में जो साध्यनिश्चय की जनकता है, उसके दो अंग हैं (१) सपक्षान्वय और (२) विपक्षव्यतिरेक। साधारण हेतु में सपक्षान्वय के रहने पर भी विपक्षव्यतिरेक नहीं रहता है, अतः उससे साध्य का निश्चय न होकर साध्य का संशय ही होता है।

इसी प्रकार असाधारण हेतु में विपक्षव्यतिरेक रूप निश्चय के एक अङ्ग के रहने पर भी (क्योंकि नित्यत्वाभावाधिकरणीभूत जलादि में गन्ध नहीं है) सपक्षान्वय रूप निश्चय का दूसरा अंग नहीं है। सुतराम् तुल्य युक्ति से जिस प्रकार साधारण हेतु में निश्चय के विपक्षव्यतिरेक रूप एक अंग के न रहने से वह संशय का कारण होता है, उसी प्रकार असाधारण हेतु भी सपक्षान्वयस्वरूप निश्चय के एक अंग से रहित है, अतः वह भी संशय का उत्पादक हो सकता है।

साधारणो यथा····निमित्तकः····संशये कारणम्····मतम्

इस प्रसङ्ग में विशेष रूप से किसी का कहना है कि सपक्षान्वय और विपक्ष-व्यतिरेक इन दोनों में किसी एक के अभाव में किसी ज्ञान की कारणता स्वीकृत नहीं है। संशय भी चूँकि ज्ञान ही है, अतः उसकी भी कारणता उन दोनों अभावों में नहीं मानी जा सकती है। अर्थात् निश्चय के किसी एक अंग के अभाव से संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस आक्षेप का यह समाधान है कि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहनेवाला 'साधारण' हेत्वाभास साध्य एवं साध्य की स्मृति के उत्पादन के द्वारा पक्ष, साध्य एवं साध्याभाव के संशय का कारण नहीं है। किन्तु साध्य के साथ सपक्ष में एवं साध्याभाव के साथ विपक्ष में ज्ञात होने के बाद ही वही जब पक्ष में भी देखा जाता है, तो पक्ष में साध्य एवं साध्याभाव की दो अनुमितियों को उत्पन्न करता है, किन्तु एक धर्मी में चूँकि विरुद्धविषयक एक निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, अतः उक्त दोनों अनुमितियों से एक पक्ष में विरुद्ध भावाभावविषयक एक संशय स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस वस्तुगति के अनुसार प्रकृत सन्दर्भ में जो 'बुद्धिद्वयनिमित्तकः' यह समस्त-पद है, उसका विग्रह इस प्रकार का होगा—'संशयनिमित्तानुमानद्वयं यस्य कार्यतया विद्यते स बुद्धिद्वयनिमित्तकः' ॥ ८५–८८ क–ख ॥

यत्रासाधारणो नास्ति तदभावमुखेन तु ॥ ८८ ॥
द्वयासत्त्वविरोधाच्च मतः संशयकारणम् ।
सन्दिग्धहेतुता चैषां विषयापेक्षयोच्यते ॥ ८९ ॥
निर्णयस्यापि हेतुत्वं दृष्टं साध्यान्तरे यतः ।
व्यवच्छेदान्वयौ लब्ध्वा निष्क्रियादावमूर्तिवत् ॥ ९० ॥

यत्रासाधारणो नास्ति····संशयकारणम्

इसी प्रकार 'असाधारण' भी 'नित्या भूः गन्धवत्त्वात्' इस स्थल में न सपक्ष स्वरूप नित्य आकाशादि में है, न विपक्ष स्वरूप अनित्य कर्म है, इसलिये पक्ष में अपने ज्ञान के द्वारा नित्यत्व और अनित्यत्व के अनुमानों को ही उत्पन्न करता है। किन्तु एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान संशय रूप ही हो सकता है। इसीलिये 'असाधा-रण' हेत्वाभास भी संशय का कारण है[1]।

सन्दिग्धहेतुता चैषाम्····उच्यते····लब्ध्वा

इन साधारणादि हेत्वाभासों में जो 'सन्दिग्धहेतुता' कही गयी है अर्थात् इन्हें साध्यसन्देहजनक 'हेतु' कहा गया गया है वह 'विषयविशेष' के लिये ही है, क्योंकि कुछ दूसरे विषयों में वे ही साधारणादि हेतु विपक्षव्यतिरेक एवं सपक्षसत्त्व दोनों के प्राप्त होने के कारण निर्णय का भी उत्पादन करते हैं।

---

१. मीमांसकमूर्द्धन्य श्रीपार्थसारथि मिश्र ने अपनी न्यायरत्नाकर नाम की श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या में 'साधारण' की उक्त रीति से संशयजनकता की आलोचना की है, एवं 'असाधारण' के संशयजनकत्व को बिलकुल ही अस्वीकार कर दिया है। वार्त्तिककार के उक्त कथन को इन्होंने बौद्धमत के अनुसार लिखा बतलाया है।

'साधारण' के प्रसङ्ग में इन्होंने लिखा है कि साधारण हेतु में साध्य एवं साध्याभाव का सहचार भले ही रहे, उसमें दोनों की व्याप्ति नहीं है। अतः साधारण साध्य और साध्याभाव दोनों का अनुमापक नहीं हो सकता। सहचार से 'एकसम्बन्धिज्ञानमपर-सम्बन्धिस्मारकम्' इस न्याय से साधारण के द्वारा साध्य एवं साध्याभाव का स्मरण भर हो सकता है। उक्त दोनों कोटियों की स्मृति की दशा में किसी भी एक कोटिका निर्णायक उपस्थित नहीं रहता, अतः उस समय उक्त दोनों उपस्थितियों से (स्मृतियों से) संशय की उत्पत्ति होने में कोई भी बाधा नहीं है।

किन्तु 'असाधारण' हेतु तो पक्ष से अन्यत्र सपक्ष या विपक्ष कहीं भी साध्य एवं साध्याभाव के साथ उपलब्ध नहीं है, अतः इससे कहीं भी साध्यसंशय की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

निष्क्रियत्वादमूर्तिवत्

जैसे—शब्द में नित्यत्व के साधन के लिये प्रयुक्त अमूर्त्तत्व हेतु चूँकि कर्मादि विपक्षों में रहने के कारण संशय का हेतु है। किन्तु वही अमूर्त्तत्व हेतु यदि शब्द में निष्क्रियत्व (क्रियाशून्यत्व) की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हो (शब्दो निष्क्रियः अमूर्त्तत्वादाकाशवत्) तो वह सपक्षान्वय एवं विपक्षव्यतिरेक दोनों से युक्त होने के कारण 'शब्दो निष्क्रियः' इस निर्णय का जनक होता है। तदनुसार कथित शब्द स्वरूप पक्ष में निष्क्रियत्व स्वरूप साध्य की सिद्धि का प्रयोजक हेतु ही है, सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास नहीं ॥ ८८–९० ॥

क्षित्येकदेशसिद्धत्वे गन्धवत्त्वस्य हेतुता।
यत्राप्रत्यक्षता वायोररूपत्वेन साध्यते ॥ ९१ ॥
स्पर्शात् प्रत्यक्षता वासौ विरुद्धाव्यभिचारिता।
केचिज्जात्यन्तरं चैनां वर्णयन्त्यपरे पुनः ॥ ९२ ॥
साधारणत्वमंशेन समस्तं चाप्यनन्वयम्।
प्रतिज्ञा यत्र बाध्येत पूर्वोक्तैर्यस्य साधनैः ॥ ९३ ॥
तत् पराजयतः कार्यो निर्णयो बाधवर्जनात्।

क्षित्येकदेशसिद्धत्वे····हेतुता

इसी प्रकार (अवच्छेदकावच्छेदेन) सभी पृथिवियों में नित्यत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'गन्ध' (गन्धवत्त्व) हेतु असाधारण नाम का सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि उसमें सपक्ष नहीं है (सभी पृथिवी व्यक्तियों के पक्षान्तर्गत होने के कारण कोई सपक्ष ही नहीं है) किन्तु वही गन्धवत्त्व हेतु यदि कुछ ही पार्थिव व्यक्तियों में (अर्थात् कुछ ही पार्थिव-परमाणुओं में) नित्यत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हो तो पक्षान्य कुछ अन्य पार्थिव-परमाणु ही सपक्ष हो जायँगे और गन्धवत्त्व हेतु में सपक्षान्वय का लाभ हो जायगा। विपक्षव्यतिरेक तो जलान्तर्भावेण प्राप्त ही है। इस प्रकार कथित गन्धवत्त्व स्वरूप 'असाधारण सन्दिग्धासिद्ध' हेत्वाभास भी स्थलविशेष के लिये निर्णायक हेतु ही है।

(३) विरुद्धाऽव्यभिचारी 'असिद्ध' हेत्वाभास—यत्राऽप्रत्यक्षता····अव्यभिचारिता

'वायुरप्रत्यक्षः द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात्'–'वायुः प्रत्यक्षः महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' एक ही वायु में परस्पर विरुद्ध प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्व के साधन के लिये जहाँ उक्त प्रकार के प्रयोग हैं, वे दोनों ही हेतु 'विरुद्धाव्यभिचारी' नाम के 'सन्दिग्धासिद्ध' हेत्वाभास हैं, क्योंकि दोनों हेतुओं से वायु में प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व का संशय ही होता है, प्रत्यक्षत्व का या अप्रत्यक्षत्व का निर्णय नहीं।

केचिज्जात्यन्तरम्····पुनः

कुछ लोग इस 'विरुद्धाव्यभिचारी' को साधारण एवं असाधारण इन दोनों से भिन्न एक भिन्नजातीय हेत्वाभास ही मानते हैं।

साधारणत्वमंशेन

कुछ लोग इस 'विरुद्धाव्यभिचारी' को 'साधारण' हेत्वाभास का ही एक प्रकार मानते हैं, क्योंकि कथित 'द्रव्यत्वे सति अरूपवत्त्व' हेतु के केवल 'अरूपवत्वांश' में सपक्ष वृत्तित्व है (अप्रत्यक्ष आकाशादि में रूप नहीं है)। एवं 'महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' इस हेतु के 'स्पर्शवत्त्व' रूप अंश में विपक्षवृत्तित्व है (क्योंकि अप्रत्यक्ष साध्य के विपक्ष हैं घटादि, उनमें स्पर्शवत्त्व है) अतः साधारण का ही एक प्रकार है।

समस्तं वाप्यनन्वयम्

कोई कहते है कि यह (विरुद्धाव्यभिचारी) 'अनन्वय' अर्थात् 'असाधारण' नाम का 'सन्दिग्धासिद्ध' ही है, क्योंकि कथित दोनों ही हेतु सम्मिलित होकर न सपक्ष में ही हैं, न विपक्ष में ही हैं।

प्रतिज्ञा यत्र""साधनैः

('विरुद्धाव्यभिचारी' दो हेतुओं के प्रयोग से पक्ष में साध्यसंशय की स्थिति में किस कोटि का निर्णय किस प्रकार हो ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि) जिस साधन (हेतु) की प्रतिज्ञा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा बाधित होगी, उस साधन का प्रयोग करने वाले पक्ष को पराजित कर जिस साधन की प्रतिज्ञा प्रत्यक्षादि से अबाधित होगी उस प्रतिज्ञातार्थ का ही निर्णय मानना होगा ॥ ९१–९३ ॥

क्वचित् संशयहेतू यौ प्रत्येकत्वेन लक्षितौ ॥ ९४ ॥
सङ्गते निर्णयस्ताभ्यामूर्ध्वताकाकवत्त्ववत् ।
प्रत्येकं संहतौ वापि गमकावविरोधिनौ ॥ ९५ ॥
तस्माद् भिन्नौ विरुद्धार्थौ हेतू चात्र निदर्शितौ ।

क्वचित् संशयहेतू यौ""अविरोधिनौ""निदर्शितौ

प्रश्न होता है कि 'विरुद्धाव्यभिचारी' नाम के 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास का जो उदाहरण 'यत्राऽप्रत्यक्षता वायोः""""विरुद्धाऽव्यभिचारिता' (श्लो० ९२) से दिया गया है, तदनुसार उसका उदाहरण वायु की अप्रत्यक्षता का साधक 'अरूपवत्व' हेतु वायु में ही प्रत्यक्षता का साधक 'स्पर्शवत्त्व' हेतु इन दोनों में से प्रत्येक है ? अथवा सम्मिलित रूप से दोनों उसके उदाहरण हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि सम्मिलित रूप से वे दोनों उसके उदाहरण हैं, स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक नहीं। 'विरुद्धाऽव्यभिचारी' चूँकि 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास है, अतः उसको सन्देहजनक होना आवश्यक है। उन दोनों हेतुओं में से प्रत्येक स्वतन्त्र रूप से सन्देह का कारण नहीं है, किन्तु दोनों के सन्देह में ही सन्देह की जनकता है। प्रत्येक तो व्याप्ति से युक्त होने के कारण अपने-अपने साध्य का निर्णायक ही है।

फिर भी प्रश्न रह जाता है कि प्रत्येक में यदि सन्देह की जनकता नहीं है तो विशिष्ट में सन्देहजनकता क्यों मान रहे हैं ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि जिस प्रकार स्थाणुपुरुषसाधारण उच्चैस्तरत्व (ऊँचाई) में स्थाणुत्व के निर्णय की

क्षमता नहीं है, किन्तु 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इस सन्देह की जनकता है एवं जिस प्रकार स्थाणु एवं स्थलसाधारण काकनिलयत्व हेतु से स्थाणुत्व का निर्णय नहीं किन्तु सन्देह ही होता है, एवं 'उच्चैस्तरत्वविशिष्ट काकनिलयत्व' के द्वारा 'अयं स्थाणुरेव' इस प्रकार का निर्णय होता है, उसी प्रकार शब्द में 'अप्रत्यक्षत्व' के निर्णायक 'अरूपवत्त्व' हेतु से अथवा शब्द में ही 'प्रत्यक्षत्व' के निर्णायक 'स्पर्शवत्त्व' हेतु से 'शब्दः प्रत्यक्षो न वा' इस संशय की उत्पत्ति भले ही न हो, तथापि प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति से युक्त स्पर्शवत्त्वविशिष्ट जो अप्रत्यक्षत्व की व्याप्ति से युक्त अरूपवत्त्व हेतु उससे (इस विशिष्ट हेतु से) संशय हो सकता है।

फलतः जिस हेतु में अपने साध्य की विरोधिनी व्याप्ति नहीं रहेगी एवं अपने साध्य की व्याप्ति रहेगी, वह हेतु अकेले ही अथवा दूसरे अविरोधी हेतु के साथ मिलकर भी साध्य का 'गमक' अर्थात् निर्णायक होगा। इसलिए परस्पर विरुद्ध दो साध्यों की व्याप्ति से युक्त कथित दोनों हेतुओं के संघात को ही 'विरुद्धाव्यभिचारी' नाम के 'सन्दिग्धासिद्ध' का उदाहरण समझना चाहिये ॥ ९४–९६ क–ख ॥

षोढा विरुद्धतामाहुश्चतुर्द्धा वैकधापि वा ॥ ९६ ॥

षोढा विरुद्धताम्

कथित (१) असिद्ध (२) अनैकान्तिक एवं (३) विरुद्ध हेत्वाभासों में अन्तिम 'विरुद्ध' हेत्वाभास को (१) धर्मविरोध (२) धर्मविशेषविरोध (३) धर्मिविरोध (४) धर्मिविशेषविरोध (५) धर्मधर्म्युभयविरोध (६) धर्मधर्म्युभयविशेषविरोध भेदों से छः प्रकार का मानते हैं।

चतुर्द्धा वा

कुछ लोग कहते हैं कि धर्म और धर्मी इनमें से प्रत्येक से भिन्न 'उभय' नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, तदनुसार (१) धर्मविरोध (२) धर्मविशेषविरोध (३) धर्मिविरोध और (४) धर्मिविशेषविरोध ये चार ही प्रकार के विरोध हैं।

एकधाऽपि वा

कोई कहते हैं कि हेतु से प्रतिज्ञात अर्थ का बाधित होना ही 'विरोध' है, फलतः हेतु से प्रतिज्ञातार्थबाध स्वरूप 'विरोध' एक ही प्रकार का है। इसमें किसी अवान्तर विरोध की कल्पना व्यर्थ है ॥ ९६ ॥

श्रुत्यर्थोक्तस्य बाधायां प्रतिज्ञार्थस्य हेतुना।
नित्यत्वे कृतकत्वस्य धर्मबाधाद् विरुद्धता ॥ ९७ ॥

श्रुत्यर्थोक्तस्य···हेतुना

जिस हेतु से प्रतिज्ञावाक्य स्वरूप शब्द (श्रुति) के द्वारा कथित अर्थ का बाध हो, उसको 'विरोध' हेत्वाभास कहते हैं।

(१) धर्मबाधमूलक विरोध का उदाहरण—नित्यत्वे कृतकत्वस्य···विरुद्धता

(१) 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इस अनुमान के कृतकत्व हेतु के द्वारा शब्द स्वरूप पक्ष में नित्यत्व स्वरूप साध्य (प्रतिज्ञातार्थ) बाधित है, क्योंकि नित्य

पदार्थ कभी 'कृतक' अर्थात् कृतिजन्य नहीं होता। अतः उक्त कृतकत्व हेतु 'धर्म-स्वरूपबाध' का उदाहरण है ॥ ९७ ॥

बाधो धर्मविशेषस्य यदा त्वेवं प्रयुज्यते।
अर्थवच्छब्दरूपं स्यात् प्राक्सम्बन्धावधारणात् ॥ ९८ ॥
विभक्तिमत्त्वात् पश्चाद्वत् स्वरूपेणेति बाध्यते।
अस्वरूपार्थयोगस्तु पश्चाच्छब्दस्य दृश्यते ॥ ९९ ॥
तेन प्रागपि सम्बन्धादस्वरूपार्थता भवेत्।
इहप्रत्ययहेतुत्वाद् द्रव्यादेर्व्यतिरिच्यते ॥ १०० ॥
समवायो यथेहायं घट इत्यादिसङ्गतिः।
अत्राप्यसमवायत्वं संयोगस्यैव सिध्यति ॥ १०१ ॥
तेन धर्मिस्वरूपस्य वैपरीत्याद् विरुद्धता।
यच्च सत्तावदेकत्वं समवायस्य कल्पितम् ॥ १०२ ॥
तत्र संयोगवद्भेदात् स्याद् विशेषविरुद्धता।

(२) धर्मविशेषबाध का उदाहरण—बाधो धर्मविशेषस्य······अस्वरूपार्थता भवेत्

'शब्दः सङ्केतग्रहणात्पूर्वमप्यर्थं बोधयति विभक्तिमत्त्वात् सङ्केतग्रहणपरवर्त्ति-शब्दवत्' कोई यदि इस प्रकार का अनुमान करे तो इससे शब्द में 'स्व' स्वरूप अर्थ-विषयकबोधजनकत्व की ही सिद्धि होगी, क्योंकि स्वभिन्न अभिधेयार्थ का बोध तो सङ्केतग्रहण के बाद ही होगा। शब्द स्वरूप अर्थ के बोध के लिये सङ्केत ग्रहण की अपेक्षा नहीं है। अतः उक्त अनुमान से जिस अर्थ के बोध की जनकता की सिद्धि होगी, वह अर्थ 'स्व' रूप (शब्द स्वरूप) ही होगा। इस प्रकार के हेतु के प्रयोग में ही 'धर्मविशेषबाध'प्रयुक्त विरोध दोष का उद्भावन करना चाहिये।[1]

धर्मिबाधमूलक 'विरोध' हेत्वाभास का उदाहरण—

इह प्रत्ययहेतुत्वात्······वैपरीत्याद्विरुद्धता

'समवायो द्रव्यादेर्व्यतिरिच्यते इहप्रत्ययहेतुत्वात् इहायं घट इति प्रतीति-विषयसङ्गति(संयोग)वत्' इस अनुमान के 'इहप्रत्ययहेतुत्व' स्वरूप हेतु के द्वारा जिस प्रकार दृष्टान्तभूत संयोग में द्रव्यादिव्यतिरिक्तत्व की तरह समवायभिन्नत्व की सिद्धि होती है उसी प्रकार समवाय स्वरूप पक्ष में भी द्रव्यादिव्यतिरिक्तत्व की

---

१. इस बाध के उद्भावकों का अभिप्राय है कि विभक्तिमत् शब्द से भिन्न घटादि अर्थों का बोध ही होता है, वह भी सङ्केतग्रहण के बाद ही। अत विभक्तिमत्त्व हेतु सङ्केतग्रहण के पूर्व भी शब्द से भिन्न घटादि अर्थों के बोध को भी उत्पन्न करेगा। किन्तु सङ्केतग्रहण से पूर्व शब्द के द्वारा शब्द से भिन्न अभिधेयार्थविषयकबोध अन्य प्रमाण से बाधित है। अतः उक्त हेतु 'धर्मविशेषबाध'मूलक विरोध हेत्वाभास है।

तरह समवायभिन्नत्व की सिद्धि होगी, किन्तु समवायभिन्नत्व समवाय में बाधित है, अतः समवायभिन्नत्वविशिष्ट समवाय रूप धर्मी के बाधित होने से उक्त हेतु 'धर्मि-बाध'मूलक 'विरोध' हेत्वाभास का उदाहरण होता है।

धर्मिविशेषबाधमूलक 'विरोध' हेत्वाभास का उदाहरण—

यच्च सत्तावदेकत्वम्.... विशेषविरुद्धता

'इहप्रत्ययहेतुत्व' हेतु से सिद्ध समवाय में जो 'वैशेषिकगण' लाघव की दृष्टि से 'सत्ता' के दृष्टान्त से एकत्व की कल्पना करते हैं (अर्थात् समवाय को सत्ता जाति की तरह एक मानते हैं) यह एकत्व दृष्टान्तभूत संयोग में आक्षिप्त 'अनेकत्व' से बाधित होने के कारण (धर्मी के 'विशेष' अनेकत्व से बाधित होने के कारण) 'धर्मिविशेषबाधमूलक विरोध' दोष का प्रकृष्ट उदाहरण है। फलतः कथित 'इहप्रत्यय-हेतुत्व' ही धर्मिविशेषबाधमूलक विरुद्ध हेत्वाभास का भी उदाहरण है[1] ॥९८–१०२॥

नित्यमात्मास्तिता कैश्चिद् यदा सौत्रान्तिकं प्रति ॥१०३॥
साध्यतेऽवयवाभावाद् व्योमवद् द्वयबाधनम्।
तदोभयविशेषस्य बाधोऽयं साध्यते यदा ॥ १०४ ॥
पारार्थ्यं चक्षुरादीनां सङ्घाताच्छयनादिवत्।
शयने सङ्घपारार्थ्यं भौतिकव्यामहेतुके ॥ १०५ ॥
आत्मानं प्रति पारार्थ्यमसिद्धमिति बाधनम्।
असंहतपरार्थत्वे दृष्टे संहततापि च ॥ १०६ ॥
अनहङ्कारिकत्वं च चक्षुरादेः प्रसज्यते।

धर्मधर्मिबाधमूलक 'विरोध' का उदाहरण—नित्यमात्माऽस्तिता.... द्वयबाधनम्

यदि सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बौद्धगण यह अनुमान उपस्थित करें कि (१) 'आत्मा नित्योऽस्ति अवयवाभावाद्व्योमवत्' (अर्थात् आत्मा जिस लिये कि आकाश के समान ही अनवयव है, अतः उसी के समान नित्य भी है) तो धर्मधर्मि एतदुभयबाध-मूलक विरोध दोष होगा, क्योंकि सौत्रान्तिकगण व्योम को शून्य (अभाव स्वरूप) मानते हैं। अभाव चूँकि 'तुच्छ' है अर्थात् भाव पदार्थ नहीं है अतः उसका कोई भी स्वरूप नहीं है, अतः वह नित्य भी नहीं है। इसलिये आत्मा में व्योम के समान ही आत्मा का 'स्वरूप' अर्थात् भावरूपता एवं नित्यत्व दोनों ही बाधित हो जायेंगे।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि दृष्टान्त में जिस प्रकार के साध्य के साथ हेतु दृष्ट रहता है, पक्ष में भी उसी प्रकार के साध्य की सिद्धि होगी। प्रकृत में दृष्टान्त है संयोग, साध्य है द्रव्यादिव्यतिरिक्तत्व, यह द्रव्यादिव्यतिरिक्तत्व अनेकत्व के साथ ही संयोग स्वरूप दृष्टान्त में दृष्ट है। अतः समवाय में भी अनेकत्वविशिष्ट द्रव्यादिव्यतिरिक्तत्व की ही सिद्धि होगी जिससे समवाय में अनेकत्व की कल्पना बाधित हो जायगी।

धर्मधर्मि एतदुभयविशेषबाधमूलक विरोध का उदाहरण—

तदोभयविशेषस्य'''शयनादिवत्

उक्त विशेष बाध उस समय उपस्थित होगा, जब सांख्याचार्यगण संघातत्व हेतु से शय्यादि दृष्टान्तों के सहारे चक्षुरादि इन्द्रियों में पारार्थ्य की सिद्धि के द्वारा प्रकृति से भिन्न असंहत पुरुष की सिद्धि एवं इन्द्रियों में आहङ्कारिकत्व की सिद्धि का प्रयोग करेंगे।

शयने संघपारार्थ्यम्'''इति बाधनम्

क्योंकि शय्या प्रभृति संघातात्मक जितने भी पदार्थ हैं वे सभी संघात्मक शरीर के लिये ही सृष्ट हैं। एवं वे सभी भौतिक ही होते हैं, अतः उक्त दृष्टान्त के द्वारा इन्द्रियों में जिस 'पारार्थ्य' की सिद्धि होगी, वह पारार्थ्यघटक 'पर' भी 'संहत' एवं 'भौतिक' ही सिद्ध होगा जिससे सांख्याचार्यों का इष्ट जो असंहत चिन्मात्र आत्मा स्वरूप 'पर' की उपभोग्यता (परार्थता) स्वरूप धर्मविशेष' अर्थात् 'असंहतपारार्थ्य' स्वरूप 'धर्मविशेष' एवं चक्षुरादि धर्मियों का जो धर्मविशेष 'आहङ्कारिकत्व' ये दोनों ही बाधित हो जायँगे। अर्थात् इन्द्रियादि में भी शयनादि की तरह 'भौतिकता' ही माननी होगी। फलतः उक्त अनुमान के द्वारा सांख्याचार्यगण का इष्ट प्रकृति से भिन्न चिन्मात्र आत्मा की एवं इन्द्रियादि में आहङ्कारिकत्व की सिद्धि नहीं हो पायगी ॥ १०३–१०६ ॥

> गमकस्यैकदेशस्य व्याप्तिर्गम्येति भाषितुम् ॥ १०७ ॥
> साध्यसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तः प्रतिपाद्यते ।
> तत्र हेत्वर्थमुद्दिश्य साध्योपादानमिष्यते ॥ १०८ ॥
> उद्देश्यो व्याप्यते धर्मो व्यापकश्चेतरो मतः ।
> यद्वृत्तयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम् ॥ १०९ ॥
> तद्वृत्तमेवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम् ॥ ११० ॥
> वक्त्यर्थं स्वशक्त्या च शब्दो वक्त्रनपेक्षया ।

[1]गमकस्यैकदेशस्य'''प्रतिपाद्यते

अनुमानलक्षण वाक्य के 'एकदेश' शब्द के द्वारा 'गमक' (हेतु) में 'गम्य' की (साध्य की) व्याप्ति को दर्शाने के लिये ही 'साधर्म्यदृष्टान्त' और वैधर्म्यदृष्टान्त इन दोनों का प्रतिपादन किया जाता है।

तत्र हेत्वर्थमुद्दिश्य'''इष्यते

उन दोनों दृष्टान्तों में से साधर्म्यदृष्टान्त के बोधक वाक्य में हेतु को 'उद्देश्य' मानकर साध्य को 'उपादेय' (विधेय) मानना चाहिए। जैसे कि 'यत् कृतकं तद-नित्यमेव यथा घटादिः' इत्यादि।

---

१. 'हेतु' स्वरूप अवयव के दोषों (हेत्वाभासों) को दर्शाने के बाद 'गमकस्यैकदेशस्य' (श्लो० १०७) से लेकर 'अत्रापि भविष्यति' (श्लो० १३७) पर्यन्त के सन्दर्भ से 'दृष्टान्त' स्वरूप अवयव के दोषों का (दृष्टान्ताभासों) का निरूपण किया गया है।

जिस उद्देश्य में जिसका विधान किया जाता है, उस (उद्देश्य) के साथ विधेय की व्याप्ति कथित हो जाती है। अतः 'लिंग' (हेतु) में 'लिंगी' (साध्य) की व्याप्ति (व्याप्यता) और लिङ्गी (साध्य) में हेतु की व्यापकता भी व्यक्त होती है।

यद्वृत्तयोगः'''उद्देश्यलक्षणम्

साधर्म्यदृष्टान्त वाक्य में जो पहले निर्दिष्ट हो एवं 'यत्' प्रत्ययान्त शब्दघटित वाक्य के द्वारा जो उपस्थित किया जाय वही 'उद्देश्य' है।

तद्वृत्तमेवकारश्च''''उपादेयलक्षणम्

डतर-डतमान्त 'तत्' शब्द और 'एव' शब्द इन दोनों से युक्त वाक्य के द्वारा जिसका पश्चात् उपादान हो वही साधर्म्यदृष्टान्तवाक्य में 'विधेय' होता है।

जैसे कि 'यत् कृतकं तदनित्यमेव' इस साधर्म्यदृष्टान्तवाक्य में 'यत्कृतकम्' यह अंश उद्देश्य का बोधक है। एवं 'तदनित्यमेव' यह अंश 'विधेय' का बोधक है। एवं 'यतः शब्दः कृतकः' 'ततोऽनित्यमेव' इस साधर्म्यदृष्टान्तवाक्य में 'यतः कृतकः' यह अंश 'उद्देश्य' का बोधक है। एवं 'ततोऽनित्यः' यह अंश 'विधेय' का बोधक है।

वक्त्रर्थं स्वशक्त्या''''अनुरोधतः

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि दृष्टान्तवाक्य के प्रयोग के लिए यह नियम का बन्धन क्यों, क्योंकि जिस किसी प्रकार से उच्चरितवाक्य के द्वारा वक्ता के अभिमत अर्थ का ही बोध होगा ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि शब्द अपनी शक्ति के अनुसार ही अर्थ के बोध को उत्पन्न कर सकता है। उसको वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा नहीं है। अतः विशेष प्रकार की दृष्टान्तवाक्य की रचना आवश्यक है जिससे कि धूमादि अर्थों में 'हेतुता' एवं 'वह्न्यादि' अर्थों में 'साध्यता' की प्राप्ति हो सके। इसके लिये सपक्ष (दृष्टान्त) में साध्य की सत्ता और हेतु की सत्ता इन दोनों का बोध दृष्टान्तवाक्य से आवश्यक है। तदनुसार ही दृष्टान्तवाक्य की रचना अपेक्षित है। अतः 'यत्कृतकं तदनित्यमेव' एवं 'यः कृतकः स अनित्य एव' इत्यादि आकारों के ही दृष्टान्तवाक्यों का प्रयोग किया जाता है ॥१०७–१११ क–ख॥

तत्राज्ञानाद् यदा वक्ता सहचारविवक्षया ॥ १११ ॥
विपर्ययेण वा हेतौ न व्याप्तत्वं विवक्षति।
विवक्षन्नपि वा शब्दं तद्योग्यं न वदेद् यदि ॥ ११२ ॥
घटे कृतकनाशित्वे नाशिव्याप्तं कृतेन वा।
न तदेष्टस्य हेतुत्वम् स्यादनिष्टस्य चैव तत् ॥ ११३ ॥
तस्माद् व्याप्यत्वरूपेण वाच्यो हेतुत्वसम्मतः।
यदा सम्यक् प्रयुक्तेऽपि वाक्येऽर्थो न तथा भवेत् ॥११४॥
साध्यहेतूभयव्याप्तिशून्यत्वात् परमार्थतः।
नित्यो ध्वनिरमूर्त्तत्वात् कर्मवत् परमाणुवत् ॥ ११५ ॥

घटवद् व्योमवच्चापि तदसद्भाविनं प्रति।
धर्म्यसिद्धावपि ह्येवं दृष्टान्ताभासता भवेत् ॥ ११६ ॥

तत्राज्ञानाद्....विपर्ययेण वा हेतौ....विवक्षयापि वा....हेतुत्वसम्मतः

उक्त वस्तुगति के विपरीत अज्ञानवश यदि कोई साध्य और हेतु के साहचर्य मात्र की विवक्षा से अथवा हेतु में साध्य की व्याप्ति को समझाने के लिए ही केवल हेतु और साध्य के साहित्य के वोधक 'घटे कृतकविनाशित्वे सह दृष्टे' इस प्रकार के दृष्टान्तवाक्यों का प्रयोग करता है अथवा हेतु में साध्य की विवक्षा से ही 'यदनित्यं तत्कृतकम्' इस वाक्य का प्रयोग करता है तो इन वाक्यों से 'कृतकत्व' में उस हेतुता की सिद्धि नहीं होगी जो दृष्टान्तवाक्य से इष्ट है। प्रत्युत अनित्यत्व में ही हेतुत्व का अनिष्टप्रसङ्ग हो जायगा। अतः ऐसे ही दृष्टान्तवाक्यों का प्रयोग करना चाहिये जिससे साध्य की व्याप्ति से युक्त पदार्थ में हेतुत्व का बोध हो सके, एवं हेतु की व्यापकता से युक्त पदार्थ में साध्यत्व का बोध हो सके।

यदा सम्यक् प्रयुक्तेऽपि....व्योमवच्चापि

यदि व्याकरणादि की दृष्टि से शुद्ध किन्तु हेतु में साध्य की व्याप्ति के बोध में असमर्थ वाक्य का प्रयोग कोई करे, अथवा साध्य में हेतुव्यापकत्व के बोध में असमर्थ वाक्य का कोई प्रयोग करे तो वे सभी वाक्य 'दृष्टान्ताभास' होंगे।

(१) 'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् कर्मवत्' इस प्रयोग का 'कर्म' स्वरूप दृष्टान्त में 'अमूर्त्तत्व' स्वरूप हेतु तो है, किन्तु नित्यत्व स्वरूप साध्य नहीं है, अतः यह साध्यविरोधी दृष्टान्ताभास है।

(२) 'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् परमाणुवत्' इस प्रयोग के परमाणु स्वरूप दृष्टान्त में नित्यत्व स्वरूप साध्य तो है, किन्तु अमूर्त्तत्व स्वरूप हेतु ही नहीं है, अतः यह 'हेतुविरोधी दृष्टान्ताभास' है।

(३) 'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् घटवत्' इस अनुमानप्रयोग के घटस्वरूप दृष्टान्त में न नित्यत्व स्वरूप साध्य है, न अमूर्त्तत्व स्वरूप हेतु ही है। अतः यह हेतु और साध्य एतदुभयविरोधी 'दृष्टान्ताभास' है।

(४) तदसद्भाविनम्प्रति....भवेत्

'शब्दः नित्यः अमूर्त्तत्वात् व्योमवत्' इस अनुमानवाक्य का प्रयोग यदि सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय के लोग करें तो यह 'व्योम' स्वरूप दृष्टान्त 'धर्म्यसिद्धि'-मूलक 'दृष्टान्ताभास' होगा, क्योंकि उनके मत से 'व्योम' कोई 'वस्तु' अर्थात् 'भाव-पदार्थ' नहीं है ॥ १११–११६ ॥

तत्सद्भावेऽपि च व्योम्नि द्वययुक्तेऽपि कीर्तिते।
कर्माद्यालोचनाद् व्याप्तिर्हेतोर्नास्तीति वर्जनम् ॥ ११७ ॥

यदि व्योम को वस्तु स्वरूप (भावरूप) मान भी लें तथापि उक्त न्यायप्रयोग में वह 'दृष्टान्ताभास' ही रहेगा, भले आकाश (व्योम) में नित्यत्व (साध्य) और

अमूर्त्तत्व (हेतु) दोनों साथ-साथ रहें, क्योंकि कर्म में हेतु के व्यभिचार की चिन्ता करने से हेतु में व्याप्ति का न रहना स्थिर है। अतः इस प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग विद्वान् लोग नहीं करते हैं ॥ ११७ ॥

व्याप्त्या साधर्म्ये उक्ते च न वैधर्म्यमपेक्ष्यते ।

सहभावित्वदृष्ट्या तु यदा व्याप्तिं न लक्षयेत् ॥ ११८ ॥

व्याप्त्या ··· अपेक्ष्यते

जिन अनुमितियों में अपेक्षित व्याप्ति का लाभ केवल साधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग से हो जाता है ऐसी अनुमितियों के लिए वैधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सहभावित्वदृष्ट्या ··· न लक्षयेत्

वैधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग की आवश्यकता तब होती है जब कि साधर्म्य-दृष्टान्त के प्रयोग से अपेक्षित व्याप्ति का लाभ नहीं होता है ॥ ११८ ॥

परः साधर्म्यदृष्टान्तात् तच्च नापेक्षते यदा ।

वक्ता वा सहभावित्वं शुद्धं तेन वदेद् यथा ॥ ११९ ॥

परः साधर्म्यदृष्टान्तात् ··· यदा

वैधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग निम्नलिखित तीन स्थितियों में आवश्यक होता है—

(१) यदि वादी साधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग भलीभाँति करता है, फिर भी प्रतिवादी अन्यमनस्कता के कारण उससे साध्य की व्याप्ति को न समझकर साध्य और हेतु के सहचार मात्र को समझ पाता है ऐसी स्थिति में व्याप्ति को समझाने के लिए व्यतिरेकदृष्टान्त का प्रयोग आवश्यक होता है।

(२) वक्ता वा सहभावित्वम् ··· यदा

अथवा जिस समय प्रतिवादी हेतु और साध्य के सहचार को स्वयं (बिना साधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग से ही) समझ लेता है, ऐसे स्थलों में हेतु में विपक्ष की व्यावृत्ति के लिए केवल वैधर्म्यदृष्टान्त की ही अपेक्षा रह जाती है ॥ ११९ ॥

विपरीतान्वयं वापि तत् समाधित्सया तदा ।

पूर्वज्ञानोपमर्देन वैधर्म्येणेष्टसाधनम् ॥ १२० ॥

विपरीतान्वयं वापि ··· तदा ··· इष्टसाधनम्

(३) अथवा जहाँ वादी (यद्वृत्तयोगः श्लोक १०९ से कथित) साधर्म्यदृष्टान्त का यथावत् प्रयोग न कर हेतु और साध्य के सहचारबोधमात्र के प्रयोजक 'घटे कृतकत्वविनाशित्वे सह दृष्टे' इत्यादि वाक्यों का ही प्रयोग करता है वहाँ प्राप्त व्याप्ति-विघटनबुद्धि के परिहार के लिए भी वैधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है ॥१२०॥

साहित्यमात्रं पूर्वोक्तं हेतोस्तत्रोपयुज्यते ।

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ॥ १२१ ॥

तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ।
धूमभावेऽग्निभावेन व्याप्तेऽनग्निस्ततश्च्युतः ॥ १२२ ॥
अधूम एव विद्येतेत्येवं व्याप्यत्वमश्नुते ।
तथानग्नावधूमेन व्याप्ते धूमस्ततश्च्युतः ॥ १२३ ॥
अन्यत्रानवकाशत्वाद् व्याप्यते ध्रुवमग्निना ।
व्यापकौ तु यदोच्येते भावाभावौ तदा ततः ॥ १२४ ॥
नैव व्याप्याद् विपक्षस्य प्रच्युतिः कथिता भवेत् ।
तस्माद् धूमेन साध्यत्वमग्नेः प्रार्थ्यते यदा ॥ १२५ ॥
तदानग्निरधूमेन व्याप्तो वाच्यो न चान्यथा ।
अनग्न्यधूमसाहित्ये व्याप्तेर्वापि विपर्यये ॥ १२६ ॥
न प्रस्तुतोपकारः स्यादन्यद् वापि प्रसाध्यते ।
यत्राप्यर्थस्य शून्यत्वं द्वाभ्यामेकेन वा भवेत् ॥ १२७ ॥

साहित्यमात्रम् ''' उपयुज्यते

फिर भी अयथाप्रयुक्त एवं केवल साहचर्यबोध के प्रयोजक साधर्म्यदृष्टान्त का भी प्रयोजन है, क्योंकि बिना अन्वयसहचार के केवल व्यतिरेकसहचार से प्रकृत प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः उक्त वैगुण्य से युक्त साधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग का भी कुछ सार्थक्य है।

व्याप्यव्यापकभावो हि''''विपरीतः प्रतीयते

जिस प्रकार साधर्म्यदृष्टान्तवाक्य से हेतु में साध्य की व्याप्यता (व्याप्ति) एवं साध्य में हेतु की व्यापकता का भान होता है, उसी प्रकार वैधर्म्यदृष्टान्तवाक्य के द्वारा हेतु के अभाव में साध्य के अभाव की व्यापकता एवं साध्य के अभाव में हेतु के अभाव की व्याप्यता का भान होता है।

धूमऽभावेऽग्निभावेन ''' अश्नुते

जब धूम (स्वरूप) भाव में अग्नि (स्वरूप) भाव पदार्थ की व्याप्ति आ जाती है तो 'अनग्नि' अर्थात् अग्न्यभाव धूमाधिकरण से व्यावृत्त होकर 'अधूम' में ही अर्थात् धूमाभावाधिकरण में ही नियत हो जाता है। तदनुसार भाव के विपरीत (वह्नि धूम के विपरीत) वह्नि के अभाव में ही व्याप्यता धूमाभाव में ही व्यापकता प्राप्त होती है।

तथाऽनग्नौ ''' ध्रुवमग्निना

इसी प्रकार 'अनग्नि' में अर्थात् अग्न्यभाव में 'अधूम' अर्थात् धूमाभाव की व्याप्यता निर्णीत हो जाने पर धूम (अधूमाभाव) 'ततः' अर्थात् अनग्निस्वरूप अग्न्यभावाधिकरण से 'च्युत' (व्यावृत्त) होता है। अत एव वह्नि के अधिकरण से

'अन्यत्र' अर्थात् जलादि से व्यावृत्त धूम में वह्नि की व्याप्ति (व्याप्यता) 'ध्रुव' हो जाती है। इस प्रकार वैधर्म्यदृष्टान्त का उपयोग व्याप्ति के ग्रहण में होता है।

व्यापको तु''''कथिता भवेत्

जो भाव पदार्थ जिस भाव पदार्थ का व्यापक होगा, उसी (व्यापकीभूत) भाव पदार्थ के अभाव को भी यदि उक्त व्याप्यस्वरूप भाव पदार्थ के अभाव का व्यापक मानें, अर्थात् वह्नि में धूम की व्यापकता के समान ही यदि वह्नि के अभाव को भी धूम के अभाव का व्यापक मानें, अर्थात् कथित विपरीत क्रम के अनुसार व्याप्य (धूम) के अभाव को ही व्यापकीभूत (वह्नि) के अभाव का व्यापक न मानें तो 'व्याप्य' (धूम) और 'विपक्ष' (अर्थात् वह्न्यभाव) इन दोनों का साहचर्य सम्भावित होकर हेतु में 'विपक्षव्यावृत्ति' स्वरूप व्याप्ति के बल को ही विघटित कर देगा जिससे धूम के द्वारा वह्नि की अनुमिति हो विघटित हो जायगी।

तस्मात्'''न चान्यथा

जिस समय धूम के द्वारा वह्नि की सिद्धि अभिप्रेत हो उस समय 'अनग्नि' में अर्थात् वह्न्यभाव में 'अधूम' अर्थात् धूमाभाव की व्याप्ति का अभिधान व्यतिरेक-साधर्म्यवाक्य से करना चाहिये। 'अन्यथा' केवल 'अनग्नि' और 'अधूम' के साहचर्य-बोधक वाक्य के द्वारा 'प्रस्तुतोपकार' अर्थात् 'प्रस्तुत' जो व्याप्तिबोध स्वरूप 'उपकार' वह सम्भव नहीं होगा। प्रत्युत उससे 'विपर्यय' अर्थात् विपरीत अनग्नि की ही व्याप्यता अधूम में कथित हो जायगी।

यत्राऽप्यर्थस्य'''एकेन वा भवेत्

जिस व्यतिरेकदृष्टान्त में साध्याभाव और हेत्वभाव दोनों में से कोई भी नहीं रहेगा, अथवा दोनों अभावों में से कोई एक ही अभाव रहेगा, वहाँ भी व्याप्ति-बोध स्वरूप 'प्रस्तुतोपकार' नहीं हो सकेगा ॥ १२१–१२७ ॥

यदनित्यं तु तन्मूर्तमणुवद् बुद्धिवत् खवत्।
साध्येन व्याप्तिसिद्ध्यैव व्यतिरेकोऽत्र कथ्यते ॥ १२८ ॥

(१) यदनित्यम्''''खवत्

'शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात्' इस अनुमान के लिए यदि परमाणु को व्यतिरेक-दृष्टान्त मानकर 'यदनित्यं तन्मूर्त्तम् यथा परमाणुः' इस आकार के वैधर्म्यदृष्टान्त-वाक्य का प्रयोग करें तो वह साध्याभाव (अनित्यत्व) परमाणु में नहीं है, क्योंकि वह नित्य है। मूर्त्तत्व परमाणु में है, अतः यह साध्याभाव के असत्त्वमूलक 'वैधर्म्य-दृष्टान्ताभास' होगा।

(२) यदि 'शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात्' इसी अनुमान के लिए 'बुद्धि' को 'वैधर्म्यदृष्टान्त' बनाने के अभिप्राय से 'यदनित्यं तदमूर्त्तम्, यथा बुद्धिः' इस प्रकार के उदाहरणवाक्य का प्रयोग किया जाय तो 'बुद्धि' में अनित्यत्व स्वरूप साध्याभाव के रहने पर भी मूर्त्तत्व स्वरूप हेत्वभाव के न रहने से यह हेत्वभावासत्त्वमूलक 'वैधर्म्यदृष्टान्ताभास' होगा।

साध्येन व्याप्तिः ''' कथ्यते

साध्य के साथ हेतु के व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध को दिखाने के लिए ही विपक्ष में हेतु का व्यतिरेक (अभाव) दर्शाया जाता है ॥ १२८ ॥

यस्यायं नास्त्यसौ हेतुस्तेन साध्येन नाप्यते ।
तेन दृष्टेऽपि साहित्ये न सर्वो गम्य इष्यते ॥ १२९ ॥

जिस वैधर्म्यदृष्टान्त से हेतु में साध्य की व्याप्ति प्राप्त नहीं होती है, उसके अभाव के साथ साध्य के अभाव का साहचर्य दृष्ट रहने पर भी उस हेतु को साध्य का ज्ञापक कोई नहीं मानता[1] ॥ १२९ ॥

सहदृष्टिर्न सम्बन्धो व्याप्तिर्नैव च तावता ।
मूर्तानित्यत्वयुक्तेऽपि तस्मादङ्गीकृते घटे ॥ १३० ॥
कर्मादौ व्याप्त्यभावेन न दृष्टान्तत्वमिष्यते ।
अशेषापेक्षितत्वाच्च सौकर्याच्चाप्यदर्शनात् ॥ १३१ ॥
साधने यद्यपीष्टोऽत्र व्यतिरेकोऽनुमां प्रति ।
तावता न ह्यनङ्गत्वं युक्तिः शाब्दे हि वक्ष्यते ॥ १३२ ॥

यस्यायम् ''' इष्यते ''' दृष्टान्तत्वमिष्यते

केवल साहचर्यदर्शन हेतु में साध्य की अनुमिति के प्रयोजक सम्बन्ध का उत्पादक नहीं है। एवं केवल साहचर्यदर्शन से व्याप्ति गृहीत भी नहीं होती है।

इसीलिए 'शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात्' इस स्थल में घट वैधर्म्यदृष्टान्त नहीं होता है (यद्यपि घट में अनित्यत्व स्वरूप साध्याभाव एवं मूर्त्तत्व स्वरूप हेत्वभाव दोनों ही हैं), क्योंकि कर्म में नित्यत्वस्वरूप साध्य नहीं है, किन्तु अमूर्त्तत्व हेतु है। अतः अमूर्त्तत्व हेतु में नित्यत्वस्वरूप साध्य की व्याप्ति बाधित है।

अशेषापेक्षितत्वाच्च ''' सौकर्याच्चाप्यदर्शनम्

बौद्धगण केवल 'वैधर्म्यदृष्टान्त को ही अनुमान का अंग मानते हैं। वे साधर्म्यदृष्टान्त को अनुमान का अंग नहीं मानते। उन लोगों का कहना है कि यदि सपक्ष में साध्य के साथ हेतु के अन्वय (साहचर्य) को अनुमान का अंग मानेंगे, तो वह अन्वय सभी धूमों में वह्नि का अन्वय ही होना चाहिये। एवं यदि हेत्वभाव में साध्याभाव के साहचर्य (विपक्षव्यतिरेक) को अनुमान का अंग मानें तो उसे सभी धूमों के अभावों में वह्न्यभाव के साहचर्य रूप ही होना चाहिये।

ऐसी स्थिति में धूम में वह्नि के सामनाधिकरण्य स्वरूप 'अन्वयसहचार' को अनुमान का अंग मानना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सभी धूमों का ज्ञान या सभी

---

1. इसीलिये 'शब्दो नित्यः अमूर्त्तत्वात् जातिवत्' इस प्रयोग के जातिस्वरूप दृष्टान्त के विशुद्ध होने पर भी (क्योंकि जाति में नित्यत्व और अमूर्त्तत्व दोनों हैं) कर्मादि विपक्षों से व्यावृत्ति न रहने के कारण उक्त साध्य और हेतु में ज्ञाप्यज्ञापकभाव कोई नहीं मानता।

वह्नियों का ज्ञान ही किसी 'असर्वज्ञ' पुरुष को संभव नहीं है। अतः सभी धूमों में सभी वह्नियों का सामानाधिकरण्य स्वरूप 'अन्वयसहचार' का ज्ञान ही संभव नहीं है। यदि वह्निमत्त्व (वन्हि) सामान्य के साथ धूमवत्त्व (धूम) सामान्य के सहचार की बात करें तो वह इस लिये संभव नहीं होगा कि विशेष व्यक्तियों को छोड़ कर 'सामान्य' नाम की कोई अलग वस्तु नहीं है।

यदि एक क्षण के लिये विशेषों के समूह से अतिरिक्त 'सामान्य' की अलग सत्ता को स्वीकार भी कर लें, तथापि अपेक्षित अन्वयसहचार संभव नहीं होगा, क्योंकि धूम में वह्नि के अधिकरणीभूत सभी देशों एवं सभी कालों का ज्ञान चूंकि असंभव है, अतः वह्नि के सभी देशों एवं सभी कालों में धूम का ग्रहण संभव नहीं होगा। किसी एक देश में या कुछ देशों में धूम के साथ वह्नि के साहचर्य को अनुमान का अङ्ग मानना संभव नहीं है।

'विपक्षव्यतिरेक' के प्रसङ्ग में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह तो केवल वह्निशून्य अधिकरण में धूम के अदर्शनमात्र से उपपन्न हो जाता है। जिस लिये कि वह्न्यभाव के किसी एक अधिकरण में सभी धूमों का अदर्शन हो सकता है अतः 'अनग्नि' (वह्न्यभावाधिकरण) से व्यावृत्त धूम अभावमुखी व्याप्ति के द्वारा ही वह्नि के ज्ञान स्वरूप अनुमिति को उत्पन्न करता है। अतः शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण ये दोनों 'अपोह' के ही बोधक हैं, 'स्वलक्षण' किसी 'विशेष' के नहीं। इसलिये हेतु में विपक्षव्यावृत्ति के ज्ञापक 'वैधर्म्यदृष्टान्त' का प्रयोग ही आवश्यक है, साधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग अनावश्यक है। बौद्धों के इस कथन के प्रसङ्ग में ही—

साधने यद्यपीष्टो····वक्ष्येते

इस पद्य के द्वारा कहा गया है कि बौद्धगण यद्यपि अनुमिति के लिये 'व्यतिरेक' को ही आवश्यक मानते हैं, फिर भी इससे यह नहीं कहा जा सकता कि 'अन्वय' अर्थात् अन्वयदृष्टान्त का प्रयोग अनुमिति के लिये आवश्यक नहीं है। इस प्रसङ्ग में युक्ति का उपपादन हम शाब्दप्रकरण के 'अपोहनिराकरण' प्रकरण में आगे (श्लो० ७५ अपोहवाद प्रकरण०) में करेंगे।

संक्षेपतः साधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग को मानने में युक्ति यह है कि यदि केवल वैधर्म्यदृष्टान्त का ही प्रयोग उचित हो तो धूम से निश्चयात्मिका अनुमिति न होकर उससे संशयात्मिका अनुमिति ही होगी, क्योंकि वह्न्यभावाधिकरण (विपक्ष) और वह्न्यधिकरण (सपक्ष) दोनों से व्यावृत्त धूम असाधारण हेत्वाभास हो जायगा। जैसे कि गन्धवत्त्व (गन्ध) हेतु से पृथिवी में पृथिवीत्व का संशय होता है (देखिये श्लो० ८४ अनुमानपरि)।

अन्वयदृष्टान्त के प्रसङ्ग में जो यह दोष दिया जाता है कि 'सर्वत्र अन्वय का ग्रहण असंभव है' यह दोष तो व्यतिरेकदृष्टान्त के प्रसङ्ग में भी समान रूप से लागू है, क्योंकि 'अदर्शन' मात्र से 'व्यतिरेक' भी उपपन्न नहीं होता है। उसके

लिये भी दृश्य सभी धूमों का अदर्शन आवश्यक है। किन्तु पर्वत स्वरूप 'एकदेश' में दृश्यमान धूम का 'अदर्शन' कैसे उपपन्न हो सकता है।

अतः यही कहना होगा कि सभी सपक्षों में अन्वय एवं सभी विपक्षों में व्यतिरेक के गृहीत न होने पर भी अनेकानेक अधिकरणों में सहचारों के दर्शन से ही यदि कहीं व्यभिचार उपलब्ध न हो तो अन्वय गृहीत हो जाता है॥ १२९–१३२॥

बोधप्रसङ्गो भेदानां न चाध्यामेर्भविष्यति।
अस्ति सामान्यवत्स्वेषु व्यापिता तत्र गम्यताम्॥१३३॥

बौद्धों का कहना है कि धूमसामान्य या वह्निसामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतः 'धूमभेद' अर्थात् तद्धूमस्वरूप व्यक्ति विशेष से 'वह्निभेद' अर्थात् तद्वह्निस्वरूप व्यक्ति विशेष का ही अनुमान होगा। पर्वत में रहनेवाले तद्धूम व्यक्ति एवं तद्वह्नि व्यक्ति दोनों का पर्वत से अन्यत्र सहचार(अन्वय)दर्शन संभव ही नहीं है, अतः 'अन्वय' (सहचारदर्शन) व्याप्ति का अङ्ग नहीं हो सकता। बौद्धों के इस आक्षेप का यह उत्तर है—

इसी कारण (अन्वयसहचारग्रहण की असंभावना के कारण ही) अनुमान से 'भेद' का अर्थात् कथित तत्तद्व्यक्तिविशेष का ग्रहण नहीं होता, किन्तु 'सामान्य' का ही ग्रहण होता है, क्योंकि 'व्यापिता' अर्थात् व्याप्ति सामान्यों में ही संभव है, विशेषों में नहीं॥ १३३॥

केचित् साधर्म्यदृष्टान्ते व्याप्त्यापि कथिते पुनः।
वैधर्म्योक्तिमपीच्छन्ति व्यावृत्तिनियमेच्छया॥ १३४॥
हेतौ साधर्म्यदृष्टान्तात् साध्येनैवावधारिते।
व्यावृत्तिः सर्वतः प्राप्ता साध्याभावे नियम्यते॥ १३५॥

केचित्....नियमेच्छया....नियम्यते

कोई कहते हैं कि साधर्म्यदृष्टान्त के द्वारा कथित व्याप्ति के लिये भी वैधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि उसके विना केवल साधर्म्यदृष्टान्त से 'व्यावृत्तिनियम' की उपपत्ति नहीं हो सकती। 'यो यो धूमवान् सोऽग्निमान्' इस साधर्म्यदृष्टान्त के द्वारा धूम में अग्नि की व्याप्ति कथित होती है। इस व्याप्ति स्वरूप नियम के द्वारा धूम में वह्निव्यतिरिक्त और सभी वस्तुओं की व्यावृत्ति भी प्राप्त होती है। प्राप्त इस व्यावृत्ति का नियमन 'यत्राऽग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इस वैधर्म्यदृष्टान्त द्वारा होता है॥ १३४–१३५॥

तत्तु मन्दफलं यस्मात् पक्षेऽप्येवं निरूपितम्।
व्यापकाभावमात्रं हि व्याप्याभावं नियर्तते॥ १३६॥
तस्माद् यथैव शुक्लत्वे पटस्योक्ते विरोधिनाम्।
निवृत्तिर्न तु वैध्यादिस्तथात्रापि भविष्यति॥ १३७॥

किन्तु साध्य के विरोधी साध्याभावादि की निवृत्ति के लिये वैधर्म्यदृष्टान्त-वाक्य का प्रयोग अनावश्यक है। जिस प्रकार 'पक्षवचन' (प्रतिज्ञा) से साध्य के विरोधी साध्याभाव की निवृत्ति होती है (जिसको चर्चा श्लो० ५४ में हो चुकी है) उसी प्रकार प्रकृत में भी साधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग से व्याप्य (धूम) की सत्ता के द्वारा व्यापकाभाव (वह्न्यभाव) की निवृत्ति नियमित है। इसके लिए वैधर्म्यदृष्टान्त के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार 'शुक्लः पटः' ऐसा कहने पर शुक्लत्व के विरोधी रक्तत्वादि की निवृत्ति हो समझी जाती है, पटादिगत दीर्घत्वादि धर्मों की नहीं, उसी प्रकार वह्न्व्याप्तिविशिष्ट धूम की सत्ता से तद्व्यापकीभूत वह्न के अभाव की ही निवृत्ति होगी, क्योंकि वही वह्न्व्याप्य धूमसत्ता का विरोधी है। अन्य अविरोधी पदार्थों की व्यावृत्ति अनावश्यक है ॥ १३६-१३७ ॥

द्वैविध्यं नोपपन्नं तु यथैव ह्यग्निधूमयोः।
प्रत्यक्षदृष्टः सम्बन्धो गतिप्राप्त्योस्तथैव हि[1] ॥ १३८ ॥

(पू० प०) 'तत्तु द्विविधम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा अनुमान के कथित दो भेद उचित नहीं हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध'-मूलक अनुमान का उदाहरण है धूमलिङ्गक वह्नका अनुमान। एवं देवदत्त में गतिपूर्वक देशान्तर की प्राप्ति की उपलब्धि से आदित्य में गति का अनुमान 'सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध'-मूलक अनुमान का उदाहरण है। यदि अनुमान की दोनों विधाओं में एक दूसरे का संक्रमण न हो अर्थात् दोनों विधायें परस्परासंकीर्ण हों तभी उनमें द्वैविध्य का व्यवहार उपपन्न हो सकता है। किन्तु प्रकृत में सो संभव नहीं है, क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान के उदाहरण 'गतिप्राप्तिसम्बन्ध में 'प्रत्यक्षदृष्टत्व' स्वरूप प्रथम प्रकार के अनुमान का लक्षण भी है। अतः अनुमान का कथित द्वैविध्य अनुपपन्न है ॥ १३८ ॥

आदित्येऽनुपलब्धिश्चेन्न देशेऽप्यधुनातने।
क्वचित् तत्रोपलब्धिश्चेद् देवदत्तेऽपि दृश्यताम् ॥ १३९ ॥

यदि यह कहें कि 'गतिप्राप्ति का सम्बन्ध आदित्य स्वरूप पक्ष में नहीं है', तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पक्षीभूत पर्वत में भी वह्नि-धूम का सम्बन्ध दृष्ट नहीं है।

यदि पक्ष से भिन्न कहीं अन्यत्र महानसादि में वह्न-धूम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-दृष्ट है, इसलिये वह 'प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्ध'-मूलक है तो 'गतिप्राप्ति' में भी यह

१. तत्तु द्विविधम्—प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च। तत्र प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं यथा धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम्, सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्ये गतिस्मरणम्।

शाबरभाष्य पृ० ३६-३७ आनन्दाश्रमसंस्करण

अर्थात् उक्त अनुमान के दो भेद हैं (१) प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और (२) सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध। धूम से वह्नि का अनुमान 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध'-मूलक है एवं देवदत्त की देशान्तरप्राप्ति में गतिजन्यत्व की उपलब्धि से आदित्य में गति की बुद्धि 'सामान्यतोदृष्ट'-मूलक अनुमान है।

सम्बन्ध समान है, क्योंकि देवदत्तादि में भी गतिप्राप्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्षदृष्ट है ही। देवदत्त में प्रत्यक्ष के द्वारा ही कर्म (गति) का सम्बन्ध देखा जाता है। उसके बाद ही देवदत्त में दूसरे देश के साथ सम्बन्ध की उपलब्धि होती है[1] ॥ १३९ ॥

यदि धर्म्यन्तरापेक्षा तत्र सामान्यदृष्टता।
स्यादग्निधूमयोः सैव तस्मादेवं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

यदि धर्म्यन्तरापेक्षा''''अग्निधूमयोः सैव

इसी प्रकार प्रत्यक्षतोदृष्टपूर्वक अनुमान में भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान के लक्षण का संक्रमण है। इससे भी कथित अनुमान का द्वैविध्य अनुपपन्न है। आदित्य में देशान्तर की प्राप्ति देखी जाती है, वह प्राप्ति गति से अन्वित नहीं देखी जाती है। किन्तु देवदत्त स्वरूप दूसरे धर्मी में देशान्तरप्राप्ति और गति का सामानाधिकरण्य देखकर आदित्य में भी प्राप्तिसामान्य से गतिसामान्य का अनुमान होता है।

'प्रत्यक्षदृष्टपूर्वक' धूमलिङ्गक वह्निविषयक अनुमानस्थल में भी पर्वत में धूम वह्नि के साथ नहीं देखा जाता, किन्तु महानस में ही दोनों साथ साथ देखे जाते हैं। तन्मूलक ही धूमसामान्य से वह्निसामान्य का अनुमान पर्वत में होता है। इस प्रकार धूमलिंगक वह्नि का 'प्रत्यक्षतोदृष्ट' अनुमान भी 'सामान्यतोदृष्टमूलक' है। इस रीति से भी अनुमान का द्वैविध्य अनुपपन्न है।

तस्मादेवम् प्रचक्षते

उक्त अनुपपत्ति के कारण प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमूलक अनुमान के उदाहरण की व्याख्या कोई इस प्रकार करते है ॥ १४० ॥

प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धं ययोरेव विशेषयोः।
गोमयेन्धनतज्जन्यविशेषादिमतिः कृता ॥ १४१ ॥
तद्देशस्थेन तेनैव गत्वा कालान्तरेऽपि तम्।
यदाग्निर्बुध्यते तस्य पूर्वबोधात् पुनः पुनः ॥ १४२ ॥

---

१. कोई कहते हैं कि कर्म (गति) अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, कर्म का केवल अनुमान ही होता है। कर्म 'नित्यानुमेय' है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि देवदत्त में प्रत्यक्ष के द्वारा पहले कर्म का ज्ञान होता है, उसके बाद देवदत्त में देशान्तर-सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः आदित्य में देशान्तर की प्राप्ति से गति का अनुमान 'प्रत्यक्षदृष्टपूर्वक' नहीं है। अतः कथित 'द्वैविध्य की अनुपपत्ति' का कोई अवसर नहीं है।
इसका पहला समाधान तो यह है कि 'गति' (कर्म) का अपरोक्षग्रहण ही अनुभव से सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि यदि कर्म को नित्यानुमेय मानेंगे तो 'देवदत्तस्य''' गतिस्मरणम्' यह भाष्यसन्दर्भ असङ्गत हो जायगा, क्योंकि कर्म को अतीन्द्रिय मानने पर भी देशान्तरप्राप्ति रूप हेतु से कर्म का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि देशान्तर-प्राप्ति की उपपत्ति तो प्रत्यक्षसिद्ध प्रयत्नवदात्मसंयोगादि से ही हो जायगी। तस्माद् अनुमान के उक्त द्वैविध्य की आपत्ति ठीक है।

सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना ॥ १४३ ॥

जिस समय किसी देश में गोइठे से उत्पन्न विशेष प्रकार के धूम को अन्य अग्नियों और अन्य धूमों से विलक्षण रूप में समझकर कभी किसी अन्य देश में उक्त विशेष प्रकार के धूम से उक्त विशेष प्रकार के वह्नि की अनुमिति होती है, वही अनुमिति 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धमूलक' अनुमिति है।

एवं हेतुसामान्य और साध्यसामान्य प्रत्यक्ष से इन दोनों के सम्बन्ध के गृहीत होने के बाद जो अनुमिति उत्पन्न होती है' वही 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमिति है।

तस्य पूर्वबोधात्....विन्ध्यवासिना

(इस प्रसङ्ग में आक्षेप हो सकता है कि प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमूलक अनुमान का साध्य और हेतु यदि पूर्व से ज्ञात ही रहते हैं, तो फिर वह अनुमिति ज्ञातविषयक होने से प्रमा कैसे होगी ? एवं उसका 'करण' ज्ञातज्ञापक होने से अनुमान प्रमाण ही कैसे होगा ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि) जिस समय उक्त अनुमिति उत्पन्न होती है, वह 'समय' पूर्वज्ञात नहीं है, अतः 'पूर्वकाल' स्वरूप अज्ञातविषयक होने के कारण एवं 'तद्वह्निधूमौ एतत्कालिकौ न वा' इस सन्देह की निवृत्ति के जनक होने से ही उक्त अनुमिति प्रमा होती है, एवं उसका 'करण' अनुमान प्रमाण होता है।

'विशेष' हेतु एवं 'विशेष' साध्य इन दोनों के सम्बन्ध प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने के कारण ही 'विन्ध्यवासी' नाम के आचार्य ने इस (प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमूलक अनुमान) को 'विशेषदृष्ट' नाम से अभिहित किया है। अतः भाष्यकार द्वारा अनुमान को दो प्रकार का कहना अयुक्त नहीं है ॥ १४१–१४३ ॥

आकृत्योरेव चैवेष्टा व्यवच्छेदेन केनचित्।
हेतुसाध्यव्यवस्थेति विशेषो नोपदर्शितः ॥ १४४ ॥

आकृत्योरेव....नोपदर्शितः

यदि गोइठे (गोमयेन्धन) से उत्पन्न वह्नि से जन्म लेने वाले विशेष प्रकार के धूम से उक्त 'विशेष' प्रकार के वह्नि का ही अनुमान हो तो फिर 'धूमाकृतिदर्शनाद् वह्न्याकृतिविज्ञानम्' इस भाष्यसन्दर्भ में 'आकृति' शब्द का उपादान असङ्गत हो जायगा, क्योंकि भाष्य के उस वाक्य से 'धूमसामान्य से वह्नि सामान्य का अनुमान' ही व्यक्त होता है। इसके लिये 'धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानम्' इतना लिखना ही पर्याप्त है। इस आक्षेप का यह उत्तर है—

गोमयेन्धनजन्यत्वादि विशेष धर्मों से पुरस्कृत धूमाकृति में ही हेतुता और उसी प्रकार के विशेष धर्मों से पुरस्कृत वह्नि में ही साध्यता है। अतः विशेषविषयक अनुमान के उपयुक्त 'धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानम्' इस वाक्य का प्रयोग 'प्रत्यक्षदृष्टमूलक' अनुमान के लिये भाष्यकार ने नहीं किया ॥ १४४ ॥

अग्निधूमान्तरत्वे च वाच्ये सामान्यतो मितौ।
सामान्यदृष्टमेकान्तादत्रेत्यादित्य उच्यते ॥ १४५ ॥

(यदि ऐसी बात है तो गोमयेन्धनजन्यत्वादि विशेष धर्मों से असम्बद्ध केवल वह्नि का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान का उदाहरण हो सकता है ? (अर्थात् धूमहेतुक वह्न्यनुमान स्वरूप एक ही उदाहरण दोनों अनुमानों का हो सकता है फिर 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान के उदाहरण के लिये 'आदित्य' की चर्चा क्यों ? इस प्रश्न का यह समाधान है—)

सामान्यतोदृष्ट अनुमान का असङ्कीर्ण उदाहरण दिखाने के लिये ही आदित्य-गत्यनुमान की चर्चा की गयी है। धूमहेतुक वह्न्यनुमान तो कुछ हेर-फेर के साथ दोनों अनुमानों का उदाहरण है (उभयसङ्कीर्ण उदाहरण है) ॥ १४५ ॥

प्रत्यक्षविषयत्वं च सामान्यस्य प्रसाधितम् ।
वस्तुत्वं चात्र हेतुर्वा द्वयस्याप्यभिधीयते ॥ १४६ ॥

प्रत्यक्षविषयत्वं""वस्तुत्वं च

(हेतुसामान्य और साध्यसामान्य इन दोनों के सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न अनुमान ही 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है। उक्त सम्बन्ध के लिये दोनों ही सामान्यों का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से उन दोनों सामान्यों का ग्रहण संभव ही नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल 'स्वलक्षण' स्वरूप 'विशेष' का ही ज्ञापक है। दूसरी बात यह भी है कि 'सामान्य' नाम की कोई 'वस्तु' नहीं है। 'अतद्व्या-वृत्ति' स्वरूप 'विशेष' धर्म ही केवल है। इस प्रकार 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान ही अनुपपन्न है। बौद्धों के इस आक्षेप का यह उत्तर है कि) प्रत्यक्षसूत्र के (श्लो० ११८ के द्वारा) सामान्य की सत्ता एवं उसका प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण होना दोनों उपपा-दित हो चुके हैं।

अत्र हेतुर्वा""अभिधीयते

तथापि सामान्य की सत्ता एवं उसकी प्रत्यक्षता इन दोनों की सिद्धि के लिये अनुमानों के प्रयोग कहे जाते हैं ॥ १४६ ॥

धूमादग्न्यनुमानस्य वस्त्वालम्बनता भवेत् ।
अभावान्यप्रमाणत्वात् स्वार्थे श्रोत्रादिबुद्धिवत् ॥ १४७ ॥
सामान्यस्य च वस्तुत्वं प्रत्यक्षग्राह्यतापि च ।
अभावान्यप्रमेयत्वादसाधारणवस्तुवत् ॥ १४८ ॥

(१) धूमसामान्य से उत्पन्न होने वाली वह्निसामान्य की अनुमिति चूँकि अभाव प्रमाण (अनुपलब्धि प्रमाण) से भिन्न प्रमाण से उत्पन्न होती है, अतः वह 'सामान्य' स्वरूप 'वस्तु'(भाव)विषयक ही है। यदि 'अतद्व्यावृत्ति स्वरूप अभावविषयक होती तो उसकी उत्पत्ति भी अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण से ही होती। अतः जिस प्रकार श्रोत्रादि प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न शब्दादिस्वार्थविषयक बुद्धियाँ अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण से भिन्न प्रमाण से उत्पन्न होती हैं, इसलिए श्रोत्रादिजनित ये बुद्धियाँ उक्त 'वस्तु'विषयक ही होती हैं, अभावविषयक नहीं,

उसी प्रकार वह्निसामान्य का उक्त अनुमित्यात्मक ज्ञान भी चूँकि अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण से भिन्न प्रमाण से उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह ज्ञान भी अभावस्वरूप अतद्व्यक्तित्वविषयक न होकर भावस्वरूप सामान्यविषयक ही है। (धूमादग्न्यनुमानं वस्त्वालम्बनं अभावान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् श्रोत्रादिजनितबुद्धिवत्)।

सामान्यस्य च वस्तुत्वम्

(१) 'सामान्यं वस्तु अभावान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् स्वलक्षणवत्।'

(२) 'सामान्यं प्रत्यक्षग्राह्यमभावान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् स्वलक्षणवत्।'

इन दोनों अनुमानों से सामान्य में वस्तुता एवं प्रत्यक्षग्राह्यता क्रमशः इन दोनों की सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार सामान्य में प्रत्यक्षग्राह्यता की सिद्धि से धूमाकृतिदर्शनजनित अग्न्याकृतिविज्ञान में 'प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धपूर्वकत्व' की सिद्धि निर्बाध हो जाती है॥ १४८॥

सामान्यं नानुमानेन विना यस्य प्रतीयते।
न च लिङ्गविनिर्मुक्तमनुमानं प्रवर्तते॥ १४९॥

असामान्यस्य लिङ्गत्वं न च केनचिदिष्यते।
न चानवगतं लिङ्गं किञ्चिदस्ति प्रकाशकम्॥ १५०॥

तस्य वाप्यनुमानेन स्यादन्येन गतिः पुनः।
तदुत्पत्तिश्च लिङ्गात् स्यात् सामान्यज्ञानसंहितात्॥१५१॥

तस्य चाप्यनुमानत्वाद् भवेल्लिङ्गेन चोद्भवः।
अनुमानान्तरादेव ज्ञानेनैवं च कल्पने॥ १५२॥

लिङ्गलिङ्ग्यनुमानानामानन्त्यादेकलिङ्गिनि।
गतिर्युगसहस्रेषु बहुष्वपि न विद्यते॥ १५३॥

बौद्धों का कहना है कि 'सामान्य' का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं केवल अनुमान से ही होता है। यदि उनकी यह बात मान ली जाय तो अनुमान की सत्ता ही विपन्न हो जायगी, क्योंकि अनुमिति के लिए लिंग का पक्षधर्मरूप से ज्ञान आवश्यक है (अर्थात् लिंग का ऐसा ज्ञान अपेक्षित है जिससे पक्ष में लिंग का रहना निष्पन्न हो सके)। लिंग 'सामान्य' ही होता है 'विशेष' नहीं, क्योंकि बिना विशेषों के सामान्य का अनुगम सम्भव नहीं है। अतः अनुमिति के लिए अपेक्षित सामान्यतः हेतुज्ञान के लिये दूसरी अनुमिति की अपेक्षा होगी। इस दूसरी अनुमिति के लिए भी कथित रीति के अनुसार तीसरी अनुमिति की अपेक्षा होगी जो 'अनवस्था' में परिणत हो जायगी। इस प्रकार किसी एक सामान्य की अनुमिति की व्यवस्था बहुयुगसहस्रों में भी संभव नहीं होगी। तस्मात् बौद्धों का यह सिद्धान्त ही ठीक नहीं है कि सामान्य केवल अनुमिति से ही गृहीत होता है, प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं है॥ १४९–१५३॥

अथ सामान्यभूतेऽपि लिङ्गेऽन्यस्माद् गतिर्भवेत् ।
प्रमाणादप्रमाणाद् वा तथा लिङ्गिगतिर्भवेत् ॥ १५४ ॥
एवमप्यनुमानस्य नित्योच्छेदः प्रसज्यते ।
प्रमाणान्तरमेव स्यात् सामान्यस्यावबोधकम् ॥ १५५ ॥

अथ सामान्यभूतेऽपि ''' भवेत्

बौद्धगण इस प्रसङ्ग में कहते हैं कि यद्यपि 'लिंगसामान्य' का ग्रहण प्रत्यक्ष-प्रमाण से नहीं होता है फिर भी लिंगसामान्य के 'स्वलक्षण' रूप विशेष की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूप प्रमा से सविकल्पकरूपा (प्रत्यक्षाभासस्वरूपा) लिंगसामान्यविषयक अप्रमा उत्पन्न होती है। लिंगसामान्यविषयक इसी अप्रमाज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति होती है। अतः अनुमिति के लिए लिंगसामान्य का अनुमित्यात्मक ज्ञान अपेक्षित नहीं है। अतः अनवस्था दोष के कारण अनुमित्युच्छेद की आपत्ति निराधार है।

प्रमाणादप्रमाणाद्वा''''''

बौद्धों के इस समाधानाभास के प्रसंग में सिद्धान्तियों का विकल्प है कि लिंग-सामान्य का उक्त प्रत्यक्षाभास रूप दूसरा ज्ञान प्रमाण है अथवा अप्रमाण ?

तथा लिङ्गतिर्भवेत् '' नित्योच्छेदः प्रसज्यते

यदि उक्त प्रत्यक्षस्वरूप दूसरे ज्ञान को 'प्रमा' मानेंगे तो उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता होगी, फिर लिंगग्राहक उसी प्रमाण से लिंगी (साध्य) के प्रमाज्ञान की भी उत्पत्ति हो जायगी। अनुमान का कोई विषय नहीं रह जायगा। अतः विषयाभावप्रयुक्त ही अनुमान का उच्छेद प्राप्त हो जायगा।

प्रमाणान्तरमेव ''' अवबोधकम्

एवं इस पक्ष में सामान्य का ज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष से संभव नहीं है एवं अनु-मान प्रमाण अनवस्थास्वरूप दोष से ग्रसित है, अतः सामान्य के ज्ञान के लिए बौद्धों को प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमाण मानना होगा, जो उनके लिए 'स्वसिद्धान्तविरोध' को उपस्थित करेगा।

यदि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों की सत्ता को स्वीकार भी कर ले तो भी यदि सामान्य का वह सविकल्पक ज्ञान इन्द्रियसंनिकर्ष सापेक्ष है तो प्रत्यक्षात्मक ही होगा। यदि लिंगसामान्य के ज्ञान को इन्द्रियसापेक्ष न मानकर किसी अन्य रीति से उपपन्न करेंगे तो उसी रीति से लिंगिसामान्य (साध्यसामान्य) का भी ज्ञान उपपन्न हो जायगा। उसके लिए भी अनुमान की आवश्यकता न रह जायगी। इस रीति से भी बौद्धों के पक्ष में अनुमान के उच्छेद को आपत्ति प्राप्त होगी ॥ १५५ ॥

अप्रमाणावबुद्धाद् वा लिङ्गाल्लिङ्गिनि या मतिः ।
सापि मिथ्या भवेन्नित्यं बाष्पजाताग्निबुद्धिवत् ॥१५६॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कहते हैं कि अनुमान वास्तव में प्रमाण ही नहीं है, किन्तु धूमसामान्य से वह्निसामान्य के अनुमान और धूम में वाष्पबुद्धि से उत्पन्न

वह्नि के अनुमान इन दोनों के अप्रामाण्य में अन्तर है, क्योंकि दूसरे अनुमान के हेतु-भूत धूमस्वलक्षण की उत्पत्ति वह्निस्वलक्षणस्वरूपसाध्य से होती है। उसके बाद प्रमाणभूतस्वरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। उसके बाद वह्नि की अनुमिति होती है। इस क्रम के अनुसार परम्परा से ही सही वस्तुभूत (भावस्वरूप) धूमस्वलक्षण-जन्य है। अत एव सफल व्यवहार का जनक (व्यवहाराविसंवादी) भी है। इसलिए उसमें प्रमाण का व्यवहार होता है (अर्थात् उसे प्रमाण कहा जाता है)। फलतः व्यवहाराविसंवाद स्वरूप प्रामाण्यप्रयोजक धर्म के कारण उसमें प्रमाण पद का लाक्षणिक प्रयोग होता है। धूमत्वरूप से ज्ञायमान वाष्प से जो वह्नि का अनुमान होता है, उसमें किसी भी रीति से प्रामाण्य के व्यवहार की सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रामाण्यव्यवहार के प्रयोजक वस्तुभूत हेतुजन्यत्व एवं व्यवहाराविसंवाद (सफल-प्रवृत्तिजनकत्व) इन दोनों में से कोई भी उक्त धूमत्व रूप से ज्ञायमान वाष्पजनित वह्नि की अनुमिति में नहीं है। अतः इस द्वितीय अनुमान में प्रमाण पद का गौणप्रयोग भी नहीं होता है। इसलिए वह अप्रमाण ही है।

किन्तु बौद्धों के कथित युक्ति के अनुसार तो यह भी कहा जा सकता है कि धूम स्वलक्षणविषयक प्रमाणभूत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से धूमविषयक सभी सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अत एव उन सविकल्पक ज्ञानो में प्रामाण्य का व्यवहार होता है। इसी प्रकार गवादिस्वलक्षणजनित गवयादि स्वलक्षणविषयक प्रमाणभूत निर्वि-कल्पक प्रत्यक्ष से अन्य सभी गवयादिविषयक सविकल्पक ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। एवं उनमें प्रमाण का व्यवहारमात्र होता है, वस्तुतः वे भी प्रमाण नहीं हैं। इस प्रकार वास्तव में निर्विकल्पक प्रत्यक्षस्वरूप एक ही प्रमाण बौद्धों के मत से उपपन्न होता है। भले ही व्यावहारिक प्रामाण्य अन्य सविकल्पक ज्ञानों का भी हो। इससे बौद्धों की 'प्रमाणद्वय' वादी की प्रसिद्धि व्याहत हो जाती है। तस्मात् बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है ॥ १५६ ॥

नन्वप्रमाणभूतापि सम्बन्धस्मृतिरिष्यते।
यथा लिङ्गिगतौ हेतुस्तथा लिङ्गगतिर्भवेत् ॥ १५७ ॥

बौद्धों का कहना है कि हेतु में व्याप्तिस्वरूप 'सम्बन्ध' की स्मृति को सभी (अनुमिति का) कारण मानते हैं। एवं स्मृति की अप्रमाणता भी सर्वसम्मत ही है। इस प्रकार जब अप्रमाणस्वरूपा स्मृति कारण हो सकती है तब अप्रमाणभूत लिंगज्ञान अनुमिति का कारण क्यों नहीं होगा? अतः अप्रमाणभूत सामान्यज्ञान से उत्पन्न अनुमिति के प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है ॥ १५७ ॥

तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते।
तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥ १५८ ॥

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मरण के अप्रमा होने पर भी उसका कारणीभूत पूर्वानुभव प्रमाण हो सकता है। स्मृति का इतना ही कार्य

होता है कि अपने कारणीभूत पूर्वानुभव के विषय को उपस्थित कर दे। स्मृति का प्रयोजन इतने से ही सम्पन्न हो जाता है[1] ॥ १५८ ॥

न तु लिङ्गगतौ किञ्चित् प्रमाणमुपपद्यते ।
तदभावस्मृतिश्चात्र न कथञ्चित् प्रवर्तते ॥ १५९ ॥

आप लोगों (बौद्धों) के मत से कथित लिंगसामान्यविषयक अप्रमाज्ञान के मूल में कोई दूसरा प्रमाज्ञान नहीं है जिससे उक्त लिंगज्ञान को स्मृतिस्वरूप मानकर व्याप्तिस्मरण की तरह उससे प्रमा अनुमिति का उत्पादन हो सके ॥ १५९ ॥

स्मार्तमेतदभेदेन विज्ञानमिति यो वदेत् ।
तस्य वन्ध्यासुतेऽप्यस्ति नूनं स्मरणशक्तता ॥ १६० ॥

इस प्रसंग में बौद्धों का कहना है कि धूमविषयक विकल्प (सविकल्पकप्रत्यक्ष) में तत्कारणीभूत वह स्वलक्षण ही सामान्याकार से भासित होता है, जो उक्त विकल्प के कारणीभूत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पहले भासित हो चुका है। फलतः उक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष वास्तव में धूमस्वलक्षणविषयक स्मृतिस्वरूप ही है। चूंकि वस्तुतः यह स्मृति वास्तविक धूमलक्षणविषयक ज्ञानस्वरूप होने के कारण अविसंवादि व्यवहार का प्रयोजक है, अतः उसमें भी प्रामाण्य का व्यवहार होता है। वास्तव में वह प्रमाण नहीं है। किन्तु उससे उत्पन्न होनेवाली अनुमिति प्रमा होगी जिस प्रकार स्मरणात्मक (अत एव अप्रमा) व्याप्तिज्ञान से प्रमा अनुमिति की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार बौद्धों के लिये 'प्रमाणद्वयवादी' की प्रसिद्धि भी ठीक बैठती है।

किन्तु बौद्धों का उक्त समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वानुभव में जितने विषय भासित होंगे, तज्जनित स्मृति में उन विषयों से अधिक विषयों का भान नहीं होगा (भले ही न्यून विषयों का भान हो)। तदनुसार धूमस्वलक्षणविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्षस्वरूप पूर्वाऽनुभव से उत्पन्न लिंगसामान्य का स्मृतिरूप ज्ञान कभी भी स्वलक्षणस्वरूप 'विशेष'विषयक नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो वन्ध्यासुत का भी स्मरण मानना होगा, क्योंकि वन्ध्यासुत और उक्त स्वलक्षणस्वरूप विशेष दोनों ही समान रूप से पूर्वानुभव के अविषय हैं।

दूसरी बात यह भी है कि सामान्यविषयक उक्त सविकल्पक ज्ञान कभी भी स्मरणात्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि सामान्य पूर्वाधिगत नहीं है। कारणीभूत पूर्वानुभव तो स्वलक्षणविशेषविषयक है, सामान्यविषयक नहीं है ॥ १६० ॥

---

१ कहने का तात्पर्य यह है कि अगृहीतग्राहित्व एवं यथार्थत्व (तद्वतितत्प्रकारकत्व) ये दो धर्म प्रमात्व के प्रयोजक हैं। प्रमात्मक अनुभव से जो स्मृति उत्पन्न होती है, उसमें यथार्थत्व के रहने पर भी अगृहीतग्राहित्व के न रहने के कारण ही अप्रमात्व का व्यवहार होता है। इस अप्रामाण्य के कारण स्मृति स्वतन्त्र रूप से अर्थ के परिच्छेद में अक्षम रहने पर भी अपने कारणीभूत पूर्वानुभव के विषय को यथावस्थित रूप से उपस्थित करने में पूर्ण क्षम है। अतः स्मृति अप्रमाभूता होने पर भी यदि प्रमात्मक अनुभव से उत्पन्न है, तो उससे प्रमात्मक अनुमिति के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है।

न चासाधारणोऽर्थात्मा सामान्यज्ञानकारणम् ।
यस्मात्तस्याविनाभावस्तेन दृष्टः कथञ्चन ॥ १६१ ॥

(निर्विकल्पकज्ञाने स्वरूप) विकल्प में 'सामान्य' एवं स्वलक्षण स्वरूप 'तद्व्यक्तिविशेष' दोनों ही भासित होते हैं। इनमें सामान्यांश अनुमानस्वरूप दूसरे प्रमाण के द्वारा ज्ञात है। एवं यह 'सामान्य' अप्रमा स्वरूप विकल्प ज्ञान का भी विषय है। इन दोनों युक्तियों से सामान्यांश मिथ्या सिद्ध होता है। किन्तु विकल्प में ही भासित होनेवाला स्वलक्षणस्वरूप 'विशेष' प्रत्यक्ष से पूर्वज्ञात होने के कारण स्मरणात्मक ज्ञान का विषय है। एवं स्वलक्षणके पारमार्थिक होने के कारण तद्विषयक उक्त स्मृति यथार्थ भी है। अतः लिंगसामान्यविषयक विकल्प से उत्पन्न अनुमिति को अप्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। बौद्धों का यह समाधानाभास इसलिए ठीक नहीं है कि—'लिंगस्वलक्षण' अनुमिति का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमिति में उनके मत से सामान्य ही भासित होता है। असाधारण अर्थस्वरूप स्वलक्षण के साथ साध्य-सामान्य की व्याप्ति कहीं भी गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि स्वलक्षणों का कोई अनुगमक धर्म नहीं है ॥ १६१ ॥

स्याद्वा सम्बन्धदृष्ट्यासौ सामान्यं कृतकत्ववत् ।
न ह्यसाधारणं वस्तु पूर्वत्रेह च विद्यते ॥ १६२ ॥

यदि स्वलक्षण स्वरूप विशेष को लिंग मानेंगे तो उसमें व्याप्ति के ग्रह के लिये किसी अनुगमक धर्म को स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में कृतकत्वादि की तरह वह सामान्य ही हो जायगा, स्वलक्षणस्वरूप विशेष न रह जायगा, क्योंकि कोई भी असाधारण (स्वलक्षणस्वरूप विशेष) पूर्ववर्त्ती दृष्टान्त में भी रहे एवं एतत्कालवृत्ति पक्ष में भी रहे ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती[1] ॥ १६२ ॥

न चाप्यव्यपदेशस्य विकल्परहितस्य च ।
विना पूर्वानुसन्धानाल्लिङ्गत्वमुपपद्यते ॥ १६३ ॥

यदि ऐसा कहें कि अन्यत्र जो कुछ भी हो सर्वप्रसिद्धि के कारण धूम को वह्नि का लिंग मानेंगे। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि पर्वत में रहनेवाले वह्नि का ज्ञापक वही धूम हो सकता है जिसमें पर्वतवृत्तित्व और वह्निजन्यत्व का सविकल्पक ज्ञान संभव हो। स्वलक्षण तो निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है सविकल्पक ज्ञान का नहीं। अतः उक्त समाधान भी संभव नहीं है। इसलिए 'हेतुस्वलक्षण' (विशेष) साध्यसामान्य का ज्ञापक लिंग नहीं हो सकता ॥ १६३ ॥

कल्प्यन्ते च विशेषा ये तेऽप्यलिंगमनन्वयात् ।
एतस्मादेव हेतोः स्यात् तज्ज्ञानस्याप्यलिंगता ॥ १६४ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि धूम अपने स्वलक्षणस्वरूप विशेष रूप से वह्नि का ग्राहक लिङ्ग नहीं है, क्योंकि पर्वतस्थ वह्नि के साथ महानसीय धूमस्वलक्षण का अन्वय नहीं है। एवं महानसीय धूमस्वलक्षण में पर्वतवृत्तित्व स्वरूप पक्षधर्मता नहीं है।

सविकल्पक ज्ञान में एक साथ भासित होनेवाले जो धूमादि के पर्वतमूलदेश-वृत्तित्व अथवा पर्वतशिखरवृत्तित्वादि धर्म हैं, उनमें से कोई भी चूँकि महानस में धूम के साथ गृहीत नहीं हैं, अतः उन धर्मों से युक्त धूम में भी हेतुता नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान में धूम के साथ भासित होनेवाले स्वलक्षण (तद्व्यक्तित्व) से युक्त धूम में वह्नि के हेतुत्व (लिंगता) की कोई संभावना ही नहीं है।

एतस्मादेव ''' अलिङ्गता

यदि यह कहो कि धूम का ज्ञान ही वह्नि का ज्ञापक हेतु है, धूम (विशेष) स्वलक्षण अथवा धूमसामान्य वह्नि का ज्ञापक कारण ही नहीं है, तो यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि धूम विशेष (स्वलक्षण) एवं धूम सामान्य इन दोनों में से किसी के साथ भी वह्नि का अन्वय नहीं है। अतः धूमस्वलक्षण को अथवा उसके ज्ञान को यदि वह्नि का हेतु मानना है तो अवश्य ही सभी धूमों में रहनेवाले सामान्य की कल्पना करनी होगी ॥ १६४ ॥

सामान्यरूपतायां वा तथैवानवधारणम् ।
क्वचिद् वा दृष्टसम्बन्धे सर्वः प्रत्यायको भवेत् ॥ १६५ ॥

सामान्यरूपतायाम् ''' अनवधारणम्

यदि सामान्य को स्वीकार कर लेते हैं, तो उस सामान्य का ज्ञान चूँकि बौद्ध-मत से अनुमान प्रमाण से ही संभव है, अतः तदनुसार एक अनुमिति के लिए आवश्यक जिस लिंगसामान्य का ज्ञान अपेक्षित होगा, उस सामान्यज्ञान के लिये दूसरी अनुमिति की अपेक्षा होगी। इस दूसरी अनुमिति के लिये तीसरी अनुमिति अपेक्षा होगी। इस प्रकार सामान्य को अनुमानमात्रवेद्य मानने में अनवस्था होगी।

क्वचिद्वा

स्वलक्षण असाधारण है, तथापि यदि एक स्वलक्षण के ज्ञात होने पर तत्सदृश दूसरे स्वलक्षण में व्याप्ति के गृहीत न होने पर भी उससे अनुमिति स्वीकार करेंगे तो घट से पट की अनुमिति की आपत्ति होगी ॥ १६५ ॥

[1]सम्बन्धानुभवोऽवश्यमेषितव्यश्च लिङ्गिनः ।
अनुमानप्रवृत्तेस्तु प्राग् ज्ञानं तत्र नास्ति ते ॥ १६६ ॥

लिंगसामान्य एवं लिङ्गि (साध्य) सामान्य इन दोनों के ग्रहण के बिना दोनों की व्याप्ति (अविनाभाव) का ग्रहण सम्भव नहीं है। जिस अनुमान से उक्त व्याप्ति का ग्रहण होगा, वह अनुमान अपनी व्याप्ति के लिये दूसरे अनुमान की अपेक्षा रखता है। अतः व्याप्तिग्रहण भी अनवस्था दोष से ग्रसित है ॥ १६६ ॥

---

१. गत सन्दर्भ के द्वारा पक्षधर्मताज्ञान के प्रसङ्ग में लिङ्गसामान्यज्ञान में अनुमान की-सापेक्षता के द्वारा अनवस्था का प्रदर्शन किया गया है। अब सामान्य को केवल अनुमानवेद्य मानने पर व्याप्तिग्रहण के प्रसङ्ग को लेकर अनवस्था का उद्भावन किया जाता है।

न चापि वासनामात्राल्लिगज्ञानस्य सम्भवः ।
लिङ्गिज्ञानं च तद्वत् स्यात् त्रिरूपाल्लिगतो न तत् ॥ १६७ ॥

(बौद्धगण कहते हैं कि व्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध के ग्रहण के लिए लिंग और लिङ्गी स्वरूप उसके जिन दोनों सम्बन्धियों के ज्ञान की चर्चा की गयी है वह ज्ञान, एवं पक्ष में लिङ्गज्ञान (पक्षधर्मताज्ञान) ये सभी ज्ञान 'वासना' से उत्पन्न होते हैं। उनके लिये दूसरे अनुमान की अपेक्षा नहीं है। अतः कथित अनवस्था दोष नहीं है। किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

जिस प्रकार उन सभी ज्ञानों की उत्पत्ति वासना से मानते हैं, उसी प्रकार लिङ्गि (साध्य) विषय अनुमिति की उत्पत्ति भी वासना से ही हो सकती है। उसके लिये पक्षसत्त्वादि 'त्रिरूपों' से युक्त 'लिङ्ग' स्वरूप अनुमान प्रमाण को अपेक्षा क्यों मानी जाय जिससे सभी अनुमानों का उच्छेद प्राप्त होगा ? ॥ १६७ ॥

तत्राभावस्य लिङ्गत्वं न चासावानुमानिकः ।
प्रमाणान्तरगम्यत्वात् तत्र दोषो न जायते ॥ १६८ ॥

मेघ के अभाव से जहाँ वर्षा के अभाव का अनुमान होता है वहाँ वर्षाऽभाव स्वरूप अनुपलब्धि प्रमाण से होगा। अनुपलब्धि चूँकि उपलब्ध्यभाव स्वरूप है, उसका ज्ञान भी किसी दूसरे अनुपलब्धि प्रमाण से ही होगा। इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के पक्ष में भी अनवस्था समान रूप से है। बौद्धों के द्वारा प्रदत्त इस प्रतिवन्दी का यह उत्तर है कि यह अनवस्था दोष भी बौद्धों के मत में ही है, क्योंकि अनुपलब्धि को वे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर लिङ्गविधया अनुमान का सहायक मानते हैं। अनुपलब्धिलिंगक अनुमान से ही अभाव का ज्ञान मानते हैं। उनके मत से अनुपलब्धि चूँकि लिंगविधया अनुमान का सहायक है, अतः अनुपलब्धि ज्ञात होकर ही अभावविषयक अनुमिति में सहायक होगा। हेतुभूत अनुपलब्धि का ज्ञान भी किसी अन्य अनुपलब्धिलिंगक अनुमान से ही होगा जिससे अनवस्था अनिवार्य होगी।

हम (मीमांसक गण) अनुपलब्धि को (अभाव को) एक अलग स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, जो अपनी सत्ता मात्र से (ज्ञात होकर नहीं) अभावप्रमा का उत्पादन करती है। अतः अनुपलब्धिज्ञानमूलक अनवस्था की आपत्ति मीमांसकों के पक्ष में नहीं है ॥ १६८ ॥

प्रत्यक्षावगताल्लिङ्गाद् यस्य लिङ्गिगतिर्भवेत् ।
तस्य नातोऽधिकं किञ्चित् प्रार्थनीयं प्रसज्यते ॥ १६९ ॥

सामान्य को केवल अनुमानगम्य मानने में जो अनवस्था दिखलायी गयी है, वह अनवस्था दोष सामान्य को प्रत्यक्षगम्य मानने वाले हम लोगों (मीमांसकों) के पक्ष में नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से ज्ञात हेतु के द्वारा जब 'लिंगी' (साध्य) का अनुमित्यात्मक ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो फिर लिंगज्ञान के लिये किसी अन्य प्रमाण का अन्वेषण ही अपेक्षणीय नहीं रहेगा ॥ १६९ ॥

यत्राप्यनुमिताल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ग्रहणं भवेत् ।
तत्रापि मौलिकं लिङ्गं प्रत्यक्षादेव गम्यते ॥ १७० ॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि जहाँ लिंग का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होगा वहाँ अनवस्था भले ही न हो, किन्तु जहाँ आदित्य की गति से उसके कारण का अनुमान होता है, वहाँ लिंग स्वरूप गति का अनुमान ही होगा, फलतः 'अनुमितानुमान' स्थल में अनवस्था मीमांसकों के पक्ष में भी होगी। इस आक्षेप का यह समाधान है कि उक्त कारणानुमान का मूल है देशान्तरप्राप्ति से आदित्य में गति का अनुमान। इस मूलभूत अनुमान का देशान्तरप्राप्ति स्वरूप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध ही है।

अतः यहाँ भी अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि लिंगानुमिति की परम्परा देशान्तरप्राप्ति स्वरूप लिंग में ही रुक जायगी, चूँकि वह प्रत्यक्षसिद्ध है ॥ १७० ॥

लिङ्गत्वं कृतकत्वादौ क्रियायाः कारकस्य वा ।
प्रत्यक्षत्वं च तस्येष्टमिति दूरं न गम्यते ॥ १७१ ॥

(किन्तु कृतकत्वहेतुक अनित्यत्वानुमान स्थल में कृतकत्व हेतु तो प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। उसका तो अनुमान ही करना पड़ेगा। फिर अनुमान की परम्परा चल पड़ेगी। अतः कृतकत्वहेतुक अनुमानस्थल में अनवस्था तो होगी ही। बौद्धों के इस आक्षेप का यह समाधान है कि) कृतकत्व का अनुमान उत्पत्ति स्वरूप क्रिया के आनन्तर्य स्वरूप हेतु अथवा उक्त क्रियाविशिष्ट कारकानन्तर्य हेतु से ही होता है। उक्त दोनों हेतु तो प्रत्यक्षसिद्ध ही हैं, अतः अनुमान की धारा वहीं रुक जायगी, इस लिये उक्त स्थल में भी अनवस्था की संभावना नहीं ॥ १७१ ॥

एवं शब्दोपमानादौ सामान्याश्रयता यतः ।
तद्दौस्स्थित्येन दौस्स्थित्यं सर्वत्रातः प्रसज्यते ॥ १७२ ॥

जिस प्रकार सामान्य की सत्ता को स्वीकार न करने पर एवं उसे प्रत्यक्षवेद्य न मानकर अनुमानैकगम्य मानने पर अनुमान प्रमाण की दुःस्थिति दिखलायी गयी है, उसी प्रकार उन्हीं युक्तियों से सामान्य की सत्ता को स्वीकार न करने पर अथवा उसे अनुमानैकगम्य मानने पर शब्दोपमानादि अन्य प्रमाणों की भी दुर्दशा होगी, क्योंकि वे सब भी अपने अपने कार्यों के लिये उन दोनों की अपेक्षा रखते हैं ॥ १७२ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षपूर्वत्वं प्रमाणान्तर इष्यते ।
प्रत्यक्षत्वं च सामान्ये नान्यथा हि गतिर्भवेत् ॥ १७३ ॥

तस्मात् अन्य सभी प्रमाणों में भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा को एवं सामान्य की प्रत्यक्षता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि इनको स्वीकार किये विना कोई दूसरी गति नहीं है ॥ १७३ ॥

प्रत्यक्षालम्बनत्वं च विशेषस्य कथं भवेत् ।
यदा वस्त्वन्तरापेक्षः सामान्यांशः स कीर्त्यते ॥ १७४ ॥

बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि "स्वलक्षण स्वरूप 'विशेष' ही प्रत्यक्षवेद्य है", क्योंकि गो प्रभृति 'स्वलक्षण' चूँकि अवयवी है, अतः अवयवों की अपेक्षा से वे सभी 'सामान्य' भी हैं, अतः वे सब भी केवल अनुमानैकगम्य होंगे ॥ १७४ ॥

रूपादयो हि सामान्यं सर्वे नीलाद्यपेक्षया ।
स्वविशेषानपेक्ष्याथ नीलादीनां समानता ॥ १७५ ॥
ते चापि तावत् सामान्यं यावत् स्युः परमाणवः ।
द्व्यणुकस्यापि यद्रूपं तद्धि साधारणं द्वयोः ॥ १७६ ॥

कोई कहते हैं कि रूपादि गुण ही प्रत्यक्ष के विषय हैं, क्योंकि उनसे भिन्न द्रव्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इस मत में भी 'सामान्य' की अपह्नुति नहीं की जा सकती, क्योंकि रूपादि भी नीलादि विशेष गुणों की अपेक्षा से 'सामान्य' ही हैं। एवं नीलादि विशेष गुण भी 'तापिच्छनील', 'मधुकरनीलादि' की अपेक्षा से 'नीलादि सामान्य' ही हैं। मधुकरनीलादि भी अपने अवयवों की नीलादि की अपेक्षा से 'सामान्य' ही हैं। इसी प्रकार द्व्यणुकों का रूप भी अवयवभूत दोनों परमाणुओं के रूपों की अपेक्षा 'सामान्य' ही है। इस प्रकार सभी 'विशेष' या 'स्वलक्षण' अपेक्षाकृत 'सामान्य' भी हैं। किन्तु बौद्धगण विशेष अथवा स्वलक्षण को ही प्रत्यक्षवेद्य कहते हैं। किन्तु कथित युक्ति के अनुसार 'सामान्य' में प्रत्यक्षवेद्यत्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा प्रत्यक्षवेद्यता की असिद्धि। अतः सामान्य भी प्रत्यक्ष का विषय है ॥ १७५–१७६ ॥

न चान्त्येन विशेषेण व्यवहारोऽस्ति कस्यचित् ।
न च प्रत्यक्षता तस्य सङ्घाते केवलस्य वा ॥ १७७ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि द्व्यणुक पर्यन्त के रूप 'सामान्य' होने के कारण भले ही प्रत्यक्षवेद्य न हों परमाणुओं के 'रूप' ही प्रत्यक्षवेद्य होंगे। इस 'प्रत्यक्षवेद्यता' की अप्रसिद्धि मिटायी जा सकती है। किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारों के 'अविसंवाद' से ही प्रत्यक्ष और अनुमान स्वीकृत होते हैं। 'अन्त्य विशेष' स्वरूप 'परमाणु' तो व्यवहार के विषय नहीं हैं, फिर उनका प्रत्यक्ष क्यों स्वीकार करें ?

यदि 'अन्त्यविशेष' से किसी प्रकार का व्यवहार स्वीकार भी कर लें, तथापि 'परमाणु' चूँकि 'अतीन्द्रिय' स्वभावक हैं, अतः अकेले स्वतन्त्र रूप से या अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर भी परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥ १७७ ॥

भेदेनागृह्यमाणस्य नाभेदो ग्राह्यतां व्रजेत् ।
न च भिन्नेष्वभिन्नत्वबुद्धेर्ग्राह्यत्वसम्भवः ॥ १७८ ॥
समुदायो न वाप्यस्ति भवतां न च सर्वदा ।
सर्वेषामसतार्थेन प्रत्ययोत्पत्तिसम्भवः ॥ १७९ ॥

भेदेनागृह्यमाणस्य····व्रजेत्

बौद्धगण कहते हैं कि परमाणु प्रत्येकशः अवश्य ही अतीन्द्रिय हैं, किन्तु वे ही जब संघबद्ध हो जाते हैं, उन संघबद्ध परमाणुओं का प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे कि दूरस्थ एक केश का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु संघबद्ध बहुत से केशों का दूरस्थ रहने पर भी प्रत्यक्ष होता है। बौद्धों का यह कथन इस लिये असङ्गत है कि एक भी केश समीपस्थ पुरुष को जिस लिये दीखता है, अतः केश स्वभावतः अतीन्द्रिय नहीं है। अतः दूर के एक केश का जो प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसका कारण दूरत्व दोष है। अर्थात् दूरत्व दोष स्वरूप प्रतिबन्ध वश दूर के केश का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, केश का अतीन्द्रियत्व दूरस्थ केश के प्रत्यक्ष के अनुत्पाद का प्रयोजक नहीं हैं।

केश चूंकि इन्द्रियग्राह्य (ऐन्द्रियक) है, अतः दूरत्व दोष के कारण दूरस्थ जिन केशों का प्रत्यक्ष नहीं पाता है, उन्हीं केशों का 'साहित्य' स्वरूप 'सामान्य' का सुस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। 'परमाणुभेद' अर्थात् प्रत्येक परमाणु अपने तद्व्यक्तित्व से कभी भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। ऐसा परमाणु 'अभेद' अर्थात् 'समूह'-प्रत्यक्ष के द्वारा कैसे गृहीत होगा ?

न च भिन्नेषु····संभवः

(प्रत्येकशः अगृहीत होने पर भी परमाणुओं के समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः यह कहा है कि निरन्तरपूर्वापरीभावापन्न परमाणु ही प्रत्यक्ष के विषय हैं, परमाणु उभयमत सिद्ध हैं। अतः प्रत्यक्ष का कोई विषय ही नहीं है, इस लिये प्रत्यक्षवेद्यता ही अप्रसिद्ध है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—) बौद्धों के मत से प्रत्येक से अतिरिक्त 'समुदाय' नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतः सर्वदा सर्वथा अविद्यमान 'समुदाय'विषयक प्रत्यक्ष से अनेकानेक सूक्ष्मविषयक बुद्धियों की उपपत्ति कैसे होगी ? ।। १७८–१७९ ।।

न चैकजातियोगेन विनास्ति समुदायता।
समुदायेऽपि चाणुत्वं नैतेषामपगच्छति ।। १८० ।।

(परमाणु अनेक भले ही हों, उनका 'समुदाय' तो 'एक' हो सकता है। प्रत्यक्ष से जिस 'एक वस्तु' की प्रत्यक्षात्मक बुद्धि होती है, वह एक वस्तु परमाणुओं का समूह ही है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

'समुदायी' (समुदायघटक प्रत्येक व्यक्ति) से भिन्न 'समुदाय' नाम की कोई वस्तु नहीं है। सर्वथा असत् पदार्थ किसी भी अबाधित (प्रमा) बुद्धि का विषय कैसे होगा ?

दूसरी बात यह है कि एकजातीय वस्तुओं का ही एक 'समुदाय' होता है। वृक्ष, लोष्ट, जल इन विभिन्नजातीय वस्तुओं का कोई समुदाय नहीं होता। अतः 'समुदाय' को स्वीकार करने के लिये भी जाति (सामान्य) को मानना आवश्यक होगा। इस प्रकार परमाणुओं में भी 'परमाणुत्व' जाति की सत्ता माननी होगी ।। १८० ।।

सामान्यमित्यदृश्येऽपि तेन सामान्य एव नः ।
व्यासङ्गिनी भवत्येषा धीर्विनाप्येककल्पनात् ॥ १८१ ॥

'अवयवि' द्रव्य 'अवयवों' का 'सामान्य' नहीं है, क्योंकि "सभी अवयवों में विद्यमान यह 'अवयवी' है" इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है । अतः अवयवी को अवयवों का 'सामान्य' कैसे कहते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अवयवी को अवयवों से भिन्न मानें अथवा अवयवी को अवयवों का समुदाय मानें दोनों ही स्वीकृतियों में अवयवों में अवयवी की 'व्यासक्ति' माननी ही होगी जिससे अवयवी अवयवों का सामान्य निष्पन्न हो जायगा ॥ १८१ ॥

व्यासज्य वर्तमानस्य सामान्यस्य यथेन्द्रियैः ।
ग्रहणं तद्वदेव स्यात् प्रतिव्यक्तिनिवेशिनः ॥ १८२ ॥

जिस प्रकार अवयवों में व्यासक्त, अवयवों के समुदाय के साथ ही सम्बद्ध, प्रत्येक अवयव में असम्बद्ध (व्यासज्यवृत्ति) अवयवी इन्द्रियवेद्य है, उसी प्रकार आश्रयीभूत विशेष व्यक्तियों में प्रत्येशः सम्बद्ध (अव्यासज्यवृत्ति) गोत्वादि जातियाँ भी इन्द्रियवेद्य हैं । अतः इस 'एकशेप' का आक्षेप नहीं किया जा सकता कि सभी विशेषों में व्यासक्त होने के कारण अवयवी चूंकि इन्द्रियवेद्य है, अतः अवयवी सामान्य है । किन्तु गोत्वादि प्रत्येकशः सभी विशेषों में (सभी गो व्यक्तियों में) विद्यमान रहने के कारण (अर्थात् अव्यासज्यवृत्ति होने के कारण) सामान्य नहीं है, अतः इन्द्रियवेद्य भी नहीं हैं । तस्मात् अवयवी स्वरूप व्यासक्त (व्यासज्यवृत्ति) धर्म एवं गोत्वादि अव्यासक्त धर्म (अव्यासज्यवृत्ति धर्म) दोनों ही प्रकार के धर्म सामान्य हैं ॥ १८२ ॥

मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः ।
यद्बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान् ॥ १८३ ॥

यह जो कहा गया है कि परमाणुओं का समुदाय उभयमत सिद्ध है, अतः उसके समूह स्वरूप सामान्य का तो प्रत्यक्ष होता है । किन्तु (अवयवों के समूह से भिन्न) अवयवी स्वरूप सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि अवयवी की सत्ता को दोनों पक्ष स्वीकार नहीं करते ।

इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कहना है कि हम लोग परमाणुओं की सत्ता को भी स्वीकार करना आवश्यक नहीं मानते, क्योंकि परमाणुओं की स्वीकृति से प्रत्यक्ष-दृष्ट अवयवी की ही सत्ता विपन्न हो जाती है । परमाणु तो प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं हैं । अवयवी में स्थूलता की अनुपपत्ति से अन्त्यावयव स्वरूप परमाणुओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं । यदि इस स्वीकृति से इस स्थूल अवयवी की सत्ता ही विपन्न हो जाती है, तो परमाणुओं को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ॥ १८३ ॥

समूहरूपं प्रत्यक्षमदृश्यैः परमाणुभिः ।
योऽपह्नुते शशस्यापि सोऽभावं शृङ्गतो वदेत् ॥ १८४ ॥

दृष्ट अवयवी की सत्ता को अस्वीकार कर जो कोई अदृष्ट परमाणुओं की सत्ता को स्वीकार करे, उसको शश की सत्ता को न मानकर उसके सींग की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ेगा ॥ १८४ ॥

समूहपरमार्थत्वे स्थिते तत्सिद्धिहेतुका।
यदि नामावगम्येत परमाण्वस्तिता पुनः ॥ १८५ ॥

(तो क्या आप मीमांसक गण अन्त्यावयव स्वरूप परमाणु की सत्ता को बिलकुल ही अस्वीकार करते हैं ? बौद्धों के इस प्रश्न का यह समाधान है कि—) हम लोग तो परमाणु की सत्ता को मेरु और सर्षप दोनों के साम्यप्रसङ्ग को टालने के लिए स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसके बिना मेरु और सर्षप दोनों के अवयवों की अनन्तता के कारण दोनों समान परिमाण के हो जायेंगे ॥ १८५ ॥

तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत् तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत् ॥ १८६ ॥

'तस्मात्' अवयवि द्रव्य स्वरूप व्यासज्यवृत्ति सामान्य हो अथवा गोत्वादि प्रतिव्यक्ति पर्यवसन्न अव्यासज्यवृत्ति सामान्य हो अथवा गो-घटादि स्वरूप विशेष ही हों, वे सभी अपने-अपने सामान्य रूप में तथा विशेष रूप में उसी प्रकार के हैं। एवं सामान्य एवं विशेषात्मक सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, अतः बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है कि 'सामान्य केवल अनुमान प्रमाण से ही गृहीत होता है' ॥ १८६ ॥

सत्तादिसामान्यमपेक्ष्य सर्वं गोत्वादि साधारणतामुपैति।
तस्मादसाधारणमक्षगम्यं वदन्न सामान्यमपह्नुवीत ॥ १८७ ॥

यदि 'विशेष' (स्वलक्षण तत्तद्व्यक्ति विशेष) का ही प्रत्यक्ष मानें तथापि गोत्वादि सामान्यों का प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि गोत्वादि (अवान्तर) सामान्य भी 'सत्ता' स्वरूप 'महासामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' ही हैं। अतः 'असाधारण (विशेष) ही केवल प्रत्यक्ष के विषय हैं' यह मानने पर भी गोत्वादि सामान्यों के प्रत्यक्षत्व का निवारण नहीं किया जा सकता ॥ १८७ ॥

सामान्यरूपेण न गृह्यते चेत् किं वास्त्यसाधारणबुद्धिरत्र।
यद्वस्तु लोकः प्रतिपद्यतेऽस्मिन् द्विधापि तच्छक्यत एव वक्तुम् ॥१८८॥

सामान्यरूपेण''चेत्

यदि यह कहें कि 'गोत्वादिकं सामान्यं' इस आकार का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसीसे गोत्वादि सामान्यों का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं ?

किं वा''बुद्धिरत्र

(तो इसका यह उत्तर है कि) 'गवादिकमसाधारणम्' इत्यादि आकारों के गवादि के 'असाधारण' विषयक प्रत्यक्ष भी तो नहीं होते, अतः उन्हीं को असाधारण (स्वलक्षण) कैसे माना जा सकता है ?

यद्दस्तु लोकः '''एव वक्तुम्

तस्मात् अवयव या अवयवी, सामान्य अथवा विशेष जितने भी पदार्थ प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होते हैं, वे सभी किसी की अपेक्षा 'सामान्य' एवं किसी की अपेक्षा 'विशेष' कहे जा सकते हैं। इसलिए यह अवधारण उचित नहीं है कि 'विशेष' ही प्रत्यक्षवेद्य हैं, सामान्य नहीं। अथवा सामान्य अनुमानवेद्य ही है प्रत्यक्षवेद्य नहीं ॥ १८८ ॥

इत्यनुमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥

अथ शब्दपरिच्छेदः

प्रत्यक्षादिषु वक्तव्यं शब्दमात्रस्य लक्षणम् ।
तदतित्वरितेनेह किं शास्त्रादभिधीयते ॥ १ ॥

'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' (शाबरभाष्य पृ० ३७) अर्थात् चोदनात्मक शब्दविषयक विज्ञान के द्वारा किसी भी अन्य प्रमाण से अगम्य धर्म अथवा अधर्मविषयक ज्ञान का उत्पादक शब्द ही 'शास्त्र' है।

इस भाष्यसन्दर्भ के ऊपर कोई आक्षेप करते हैं कि प्रमाणों के लक्षणक्रम के अनुसार प्रकृत 'शब्दप्रमाण' के लक्षण का ही अभिधान उचित है, 'शास्त्र' का नहीं, क्योंकि 'शास्त्र' शब्दप्रमाण सामान्य का ही एक 'विशेष' है। यदि शब्दप्रमाण विशेष स्वरूप 'शास्त्र' का लक्षण आवश्यक ही हो तथापि शब्दप्रमाण सामान्य के लक्षण के बाद ही उसका कहना उचित है। फिर भाष्यकार ने जो 'अतित्वरा' अर्थात् अत्यन्त शीघ्रतावश 'शास्त्र' का ही लक्षण कहा है, सो उचित नहीं है ॥ १ ॥

सामान्यलक्षणं त्यक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम् ।
न शक्यं केवलं वक्तुमितोऽप्यस्य न वाच्यता ॥ २ ॥

दूसरी बात यह है कि अभी शास्त्र स्वरूप शब्दप्रमाण विशेष का लक्षण कहना इसलिए भी उचित नहीं है कि 'सामान्य' को समझने के बाद ही 'विशेष' को अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसलिए भी शब्द प्रमाण सामान्य के लक्षण के बाद ही शब्दप्रमाण विशेष स्वरूप 'शास्त्र' का लक्षण कहना उचित है ॥ २ ॥

यच्चोक्तं शब्दविज्ञानादर्थे ज्ञानमितीदृशम् ।
अविशिष्टं विशिष्टस्य न तच्छास्त्रस्य लक्षणम् ॥ ३ ॥

तीसरी बात यह है कि 'शास्त्र' का जो 'शब्दविज्ञानादर्थे विज्ञानम्' यह लक्षण किया गया है, यह लक्षण शास्त्र से भिन्न 'घटमानय' इत्यादि शब्दसामान्य में भी रहने के कारण अतिव्याप्त है, अतः शास्त्र का उक्त लक्षण हो भी नहीं सकता ॥ ३ ॥

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ ४ ॥

शास्त्र का तो यह लक्षण है कि 'नित्य (वेद) अथवा पौरुषेयवाक्य (स्मृत्यादि) प्रभृति जिस किसी वाक्य से पुरुष को प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का निर्देश किया जाय वही शब्द विशेष 'शास्त्र' है ॥ ४ ॥

स्वरूपकथनं यत्तु कस्यचित् तत्र दृश्यते ।
तदङ्गत्वेन तस्यापि शास्त्रत्वमवगम्यते ॥ ५ ॥

केवल 'स्वरूप' का अर्थात् निष्पन्न वस्तु मात्र के बोधक (साक्षात् प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के अबोधक) 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्य 'शास्त्र' इसलिये कहलाते हैं कि वे प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के बोधक वाक्य के अङ्ग हैं ।। ५ ॥

भावनायां समस्तायां वाक्यादेवोपजायते ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा तच्छास्त्रं न पदाद् यतः ॥ ६ ॥

प्रवर्त्तक या निवर्त्तक 'शब्द' ही जब 'शास्त्र' कहलाता है तो केवल विधि-प्रत्यय ही शास्त्र कहला सकता है। विधिप्रत्ययघटित 'यजेत' प्रभृति पद या 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का 'स्वर्गकामः' यह अंश भी 'शास्त्र' नहीं हो सकता। एवं शास्त्र के उक्त लक्षण के अनुसार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्य तो कभी शास्त्र हो ही नहीं सकते। फिर विधि प्रत्यय से अतिरिक्त किसी शब्द में 'शास्त्र' पद का व्यवहार कैसे करते हैं ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

जिससे पुरुष में 'प्रवृत्ति' उत्पन्न हो उसको 'प्रवर्त्तक' कहते हैं। प्रवृत्ति की उत्पत्ति साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता इन तीनों ही अंशों से युक्त भावना से ही होती है। तीनों ही अंशों से युक्त इस भावना की उत्पत्ति अर्थवादवाक्य के साथ एक-वाक्यतापन्न स्वर्गकामादिपदघटित विधिवाक्य से ही हो सकती है। अतः इन सभी से युक्त विधि प्रत्यय ही प्रवर्त्तक होने के कारण 'शास्त्र' है। केवल विधिप्रत्यय या केवल पदादि 'शास्त्र' नहीं हैं ॥ ६ ॥

अपरीक्षामिषेणापि लक्षणानि ब्रवन्नयम् ।
न स्वतन्त्रोपयोगित्वनिरपेक्षाणि जल्पति ॥ ७ ॥

इन आक्षेपों का यह उत्तर है कि 'प्रमाण परीक्षणीय नहीं हैं' इस विषय के निरूपण के व्याज से ही प्रमाणों का लक्षण लिखा है। किन्तु वेदों की न्याययुक्त व्याख्या करना ही भाष्य लिखने का मुख्य उद्देश्य है। अतः वेद की न्याययुक्त व्याख्या के उपयोगी प्रमाणों का निरूपण वे कर सकते हैं। वेदों की व्याख्या में उदासीन प्रमाणों का निरूपण भाष्यकार के लिए उपयोगी नहीं है। इसीलिए प्रकृतशास्त्र रूप शब्द प्रमाण का ही लक्षण भाष्यकार ने लिखा है, क्योंकि स्वतन्त्र वेद की व्याख्या के लिए वही उपयुक्त है। शब्द प्रमाण सामान्य का लक्षण वेदों की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः शब्द प्रमाण सामान्य का लक्षण उन्होंने नहीं लिखा ॥ ७ ॥

तत्र यल्लोकवाक्यस्थं कथयेच्छब्दलक्षणम् ।
वेदं व्याख्यातुकामस्य तन्नातीवोपयुज्यते ॥ ८ ॥

यदि लौकिक वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण का वे लक्षण लिखते तो वेद की न्याययुक्त व्याख्या में उसका कुछ अधिक प्रयोग नहीं होता । इसलिए लौकिक वाक्य-साधारण शब्द प्रमाण सामान्य का लक्षण भाष्यकार ने नहीं लिखा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षाद्युपयोगं तु वर्णमात्रादितः पुरः ।
शास्त्रार्थज्ञानवेलायां मत्वा तल्लक्षणं कृतम् ॥ ९ ॥

वर्णादि स्वरूप शास्त्र के स्वरूप के अवधारण के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का भी उपयोग वेद की व्याख्या में होता है । इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणों का उपयोग विश्वजिदादियागों के स्वर्गादि फलों की कल्पना में एवं यागों के अङ्गों की 'इयत्ता' प्रभृति के अवधारणों में होता है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षणों को भी भाष्यकार ने लिखा है ॥ ९ ॥

यत्तु गामानयेत्यादिवाक्यस्थं शब्दलक्षणम् ।
तस्य नेहोपयोगोऽस्ति तस्माच्छास्त्रगतं कृतम् ॥ १० ॥

'गामानय' इत्यादि विधिप्रत्ययघटित लौकिक वाक्यों में भी शास्त्र का उक्त लक्षण उनके प्रवर्त्तक होने के कारण अतिव्याप्त सा दीखता है, फिर भी वास्तव में शास्त्र का उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित नहीं है, क्योंकि प्रवर्त्तक होने पर भी उक्त लौकिक विधिवाक्यों में 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार लोगों में नहीं होता है ।

वस्तुतः 'शास्त्र' शब्द 'पङ्कज' पद के समान 'योगरूढ' है । तदनुसार 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग चतुर्दश विद्यास्थान अथवा अष्टादश विद्यास्थानादि में ही होता है । अतः विधिप्रत्ययघटित 'गामानय' इत्यादि लौकिक वाक्यों में शास्त्रलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ॥ १० ॥

विशेषश्च न सामान्यमन्तरेणास्ति कश्चन ।
तस्मात् तमप्युदाहृत्य सामान्यं लक्षयेत् सुखम् ॥ ११ ॥

शास्त्र प्रभृति विशेष शब्दों को छोड़कर शब्द सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है । अतः शब्द प्रमाण विशेष स्वरूप 'शास्त्र' के निरूपण से शब्द प्रमाण सामान्य को आसानी से समझा जा सकता है । इस प्रकार शब्द प्रमाण सामान्य का लक्षण के निरूपण के अपेक्षित रहने पर भी साक्षात् उसकी विवक्षा नहीं है, शब्द प्रमाण विशेष स्वरूप शास्त्र की ही विवक्षा है । फलतः 'प्रवर्त्तक वाक्य' को शास्त्र का लक्षण कहने से ही केवल 'वाक्यत्व' शब्द प्रमाण सामान्य का लक्षण अर्थतः सिद्ध सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

सामान्यरूपमप्येतदधिकाराद् विशिष्यते ।
चोदना चोपदेशश्च शास्त्रमेवेत्युदाहृतम् ॥ १२ ॥

सामान्यरूपम् '' विशिष्यते

एवं 'शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' शास्त्र का यह लक्षण लौकिक वाक्यों में अतिव्याप्त भी नहीं है, क्योंकि शास्त्रलक्षण में प्रयुक्त सामान्यवाचक

'शब्द' पद से 'प्रवृत्तिजनक चोदना' स्वरूप 'शब्द विशेष' ही विवक्षित है। एवं उक्त लक्षण वाक्य के 'अर्थ' पद से 'धर्माधर्म' स्वरूप 'अर्थविशेष' ही विवक्षित हैं।

चोदना चोपदेशश्च""उदाहृतम्

प्रकृत में जिस 'शास्त्र' का लक्षण किया गया है, उस शास्त्रलक्षण का लक्ष्य या उदाहरण 'चोदना' एवं 'उपदेश' स्वरूप वाक्य ही हैं, यह बात 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इस वार्त्तिकांश के द्वारा प्रदर्शित हो चुका है (देखिये औत्पत्तिक सूत्र वार्त्तिक का ११वाँ श्लो०)। अतः प्रकृत में इस असामञ्जस्य का उद्भावन नहीं किया जा सकता कि 'प्रतिज्ञा है चोदना में प्रामाण्य की और लक्षण किया गया है 'शास्त्र' का' ॥ १२ ॥

यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते।
शब्दज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ ॥ १३ ॥

जिस प्रकार सामान्य रूप से सभी प्रवर्त्तक वाक्यों का बोधक 'चोदना' शब्द वैदिक वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण विशेष के लिये ही प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के शास्त्रलक्षणवाक्य में प्रयुक्त 'शब्दविज्ञान' पद और अर्थविज्ञान' पद ये दोनों भी क्रमशः शास्त्र स्वरूप शब्दविशेष एवं 'धर्माधर्म' स्वरूप अर्थविशेष के ही बोधक हैं ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षाद्यपरीक्ष्यत्वे तदन्तर्भावहेतुकम्।
शास्त्रस्याप्यपरीक्ष्यत्वमनयैव धियोदितम् ॥ १४ ॥

भाष्यस्थ वृत्तिकार ग्रन्थ में 'प्रसिद्धानि प्रमाणानि, तदन्तर्गतञ्च शास्त्रम्' (शाबरभाष्य पृ० २५-२६) इस सन्दर्भ के द्वारा जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण विशेष के अपरीक्ष्यत्व की बात कही गयी है, एवं शब्द प्रमाण सामान्य के अपरीक्ष्यत्व की चर्चा नहीं की गयी है, उसका भी यही हेतु है कि शास्त्रस्वरूप शब्द प्रमाण विशेष ही प्रकृत वेदविचार के लिये विशेष रूप से उपयोगी है, शब्दप्रमाण सामान्य नहीं ॥ १४ ॥

तत्रानुमानमेवेदं बौद्धैर्वैशेषिकैः श्रितम्।
भेदः सांख्यादिभिस्त्विष्टो न तूक्तं भेदकारणम् ॥ १५ ॥

तत्राऽनुमानम्""श्रितम्

प्रमाणों की संख्या के प्रसङ्ग में बौद्धों ने—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणे सदृशात्मनः।
अप्रत्यक्षस्य सम्बन्धादन्यतः प्रतिपत्तितः ॥

इस श्लोक के द्वारा एवं वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणादने 'अस्येदं कार्यं कारणं सम्बन्ध्येकार्थसमवायि विरोधि च' इस सूत्र से अनुमाननिरूपण के बाद 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' इस सूत्र के द्वारा शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण का ही एक प्रभेद माना है। अतः अनुमान प्रमाण के निरूपण से तदभिन्न शब्द प्रमाण

की भी सभी बातें निरूपित हो जातीं हैं, फिर शब्द प्रमाण के लिए अलग से लक्षण लिखने का प्रयास क्यों ? इस प्रश्न के समाधान के लिए शब्द के पृथक् प्रामाण्य की व्यवस्था एवं अनुमान में शब्द के अन्तर्भाव का खण्डन ये दोनों आवश्यक हैं।

भेदः सांख्यादिभिः''''भेदकारणम्

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण से भिन्न समझाने का काम तो सांख्यदर्शन के आचार्यों ने भी किया है। फिर उसके लिए पृथक् प्रयत्न की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का हम मीमांसकगण यह उत्तर देते हैं कि) शब्द में अनुमान से भेद की सिद्धि उन्होंने अवश्य की है, किन्तु उक्त भेद की सिद्धि के लिए उन्होंने जिन हेतुओं का प्रयोग किया है वे हेतु ठीक नहीं हैं ॥ १५ ॥

पूर्वसंस्कारयुक्तान्त्यवर्णवाक्यादिकल्पना ।
विवक्षादि च धूमादौ नास्तीत्येतेन भिन्नता ॥ १६ ॥

शब्द प्रमाण में अनुमान प्रमाण से भिन्नत्व के प्रसङ्ग में सांख्याचार्यों की दृष्टि यह है कि 'वाक्य' स्वरूप शब्द ही प्रमाण है। प्रमाणभूत इस वाक्य को मतभेद से कोई (१) अनन्त्यपद स्वरूप कोई (२) अन्त्यपद स्वरूप (३) कोई वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों के स्वरूप (४) कोई आख्यात स्वरूप (५) कोई पूर्व-पूर्ववर्णजनितसंस्कार-संयुक्त अन्त्यवर्ण स्वरूप मानते हैं। 'विवक्षाभेद' से ये सभी पक्ष उपपन्न हो सकते हैं। अनुमान प्रमाण में ये विविधकल्प नहीं हैं। एवं विवक्षाभेद से जिस प्रकार शब्द के द्वारा एक ही वाक्य से विभिन्न बोध होते हैं, उस प्रकार एक ही हेतु से एक ही साध्यविषयक अनेक अनुमिति स्वरूप बोध उत्पन्न नहीं होते। अतः शब्द अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण है।

इस दृष्टि से सांख्याचार्यों के अनुसार शाब्दबोध चूँकि अनुमिति के कारणों से भिन्न विवक्षादिघटित कारणों (सामग्री) से उत्पन्न होता है, अतः शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है। (शब्दो नाऽनुमानं विलक्षणकारणजन्यत्वात् प्रत्यक्ष-वत्) ॥ १६ ॥

यैरुक्ता तत्र वैधर्म्यविकल्पसमजातिता ।
धूमानित्यविषाण्यादिविशेषाच्च हि भिन्नता ॥ १७ ॥

बौद्धों ने शाब्दबोध में 'अन्वयव्यतिरेकाधीनत्व' हेतु से अनुमितित्वसाध्यक अनुमान का प्रयोग किया है 'शाब्दबोधोऽनुमितिः अन्वयव्यतिरेकाधीनजन्मत्वाद् धूमादग्निवत्' बौद्धों के इस अनुमान का खण्डन करते हुए सांख्याचार्यगण कहते हैं कि 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में धूमज्ञान की उत्पत्ति वाक्य से नहीं होती है। शाब्दज्ञान वाक्य से उत्पन्न होता है, इस 'वैधर्म्य' के कारण शाब्दबोध अनुमिति नहीं है।

किन्तु विना युक्ति के किञ्चिद् वैधर्म्य के कारण अन्य वैधर्म्य का आपादन 'वैधर्म्यसमाजाति' नामक असदुत्तर है (वैधर्म्यसमा जाति के लिये देखिये न्या० सू० अ० ५ आह्निक १) ।

सांख्याचार्यों की दूसरी दृष्टि इस प्रसङ्ग में यह हो सकती है कि अन्वयव्यतिरेकाधीन ही कुछ ज्ञान वाक्यजनित नहीं होते, जैसे कि धूमज्ञानजन्य वह्निज्ञान स्वरूप अनुमिति । अन्वयव्यतिरेकाधीन ही कोई ज्ञान वाक्यजनित होता है जैसे कि शाब्दबोध । अतः अन्वयव्यतिरेकाधीन ही कोई ज्ञान अनुमिति स्वरूप होगा जैसे कि धूमजनित वह्निज्ञान । अन्वयव्यतिरेकाधीन ही कोई ज्ञान अनुमिति स्वरूप नहीं भी होगा जैसे कि शाब्दबोध । किन्तु सांख्याचार्यों का यह उत्तर भी 'विकल्पसमा जाति' नामक असदुत्तर ही है। (विकल्पसमाजाति के लिए देखिये न्यायसूत्र अ० ५ आह्निक १ सू०) ।

धूमानित्य····भिन्नता

क्योंकि धूमलिङ्गक वह्नि का अनुमान, कृतकत्वहेतुक अनित्यत्व का अनुमान विषाणित्वहेतुक गोत्व का अनुमान, इन सभी अनुमानों में भी स्वरूपगत या कारणगत वैलक्षण्य है ही । फिर भी उन सभी ज्ञानों को अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं होती है । अतः सांख्याचार्यों की उक्त युक्ति शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न मानने के लिये उपयोगी नहीं है । इसलिये शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न मानने के लिये दूसरी युक्ति देनी होगी ॥ १७ ॥

त्रैलक्षण्यपरित्यागो यावन्न प्रतिपाद्यते ।
तावद् विशेषमात्रेण वदतो जातिता भवेत् ॥ १८ ॥

पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनों लक्षणों से युक्त हेतु से उत्पन्न ज्ञान ही 'अनुमिति' है। अतः जिस ज्ञान में अनुमितिभिन्नत्व की स्थापना इष्ट हो, उस ज्ञान के हेतु में उक्त 'त्रैलक्षण्य' (तीनों लक्षणों के) के अभाव की सिद्धि करनी होगी । इससे अतिरिक्त किसी वैलक्षण्य को अनुमितिभिन्नत्व की सिद्धि के लिए उपस्थित नहीं किया जा सकता । यदि ऐसा हो तो उत्तर 'जाति' स्वरूप 'असदुत्तर' होगा ॥ १८ ॥

यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिर्यापि शब्दतः ।
न धूमादेरितीहापि व्यभिचारोऽङ्गवृत्तिभिः ॥ १९ ॥

यथेष्टविनियोगेन····न धूमादेः

कुछ लोग शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न इसलिये मानते हैं कि शब्द का प्रयोग करने वाला पुरुष जिस विषय के बोध के लिये शब्द का प्रयोग करता है, वह शब्द उसी विषय के बोध को उत्पन्न करता है। इस वस्तुगति के अनुसार शब्द स्वार्थविषयक बोध के उत्पादन में प्रयोक्ता पुरुष के अभिप्राय की अपेक्षा रखता है। किन्तु धूमादि हेतुओं से जो अनुमिति की उत्पत्ति होती है, उसमें किसी पुरुष विशेष के अभिप्राय की अपेक्षा नहीं होती । वे हेतु व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनों

बलों के अनुसार ही अपनी अनुमितियों को उत्पन्न करते हैं। अतः शाब्दबोध अनुमिति नहीं है।

इहापि ''वृत्तिभिः

शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न प्रतिपन्न करने की उक्त रीति भी उचित नहीं है, क्योंकि 'पुरुषापेक्षया विभिन्नविषयकबोधजनकत्व' हेतु भी शाब्दबोध में अनुमितिभिन्नत्व का साधक नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष के सङ्केत के अनुसार अङ्ग की एक प्रकार की चेष्टा विभिन्नविषयक अनुमितियों का उत्पादन कर सकती है ॥ १९ ॥

हस्तसंज्ञादयो येऽपि यदर्थप्रतिपादने।
भवेयुः कृतसङ्केतास्ते न लिंगमिति स्थितिः ॥ २० ॥

यह ठीक है कि धूमादि हेतु जिस किसी से उत्पन्न हों अथवा जिस किसी पुरुष के द्वारा ज्ञात हों, वे सभी स्वव्यापकीभूत वह्न्यादिविषयक ज्ञानों को ही उत्पन्न करते हैं। शब्द तो अपने प्रयोक्ता पुरुष के आप्तत्व की अपेक्षा से ही किसी भी अर्थ-विषयक बोध को उत्पन्न कर सकता है। अनुमिति और शाब्दबोध में यह अन्तर आवश्यक है, किन्तु केवल इसी से शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आप्तपुरुषापेक्षया अर्थबोधजनकत्व' हेतु भी हस्तसंचालनादि हेतु विषयक अनुमिति में व्यभिचरित है, क्योंकि अनाप्तपुरुष के हस्तसंचालनादि व्यापारों से उसी प्रकार अनुमिति नहीं होती है, जिस प्रकार अनाप्त पुरुष से उच्चारित शब्द से शाब्दबोध नहीं होता। उसी प्रकार अनाप्त पुरुष के हस्तसंचालनादि संकेत से अनुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि वे गलत सङ्केत भी कर सकते हैं ॥ २० ॥

पुरुषाक्षिप्तताया्ं च तथैव व्यभिचारिता।
पदवैदिकवाक्यानां न सत्यव्यापिता भवेत् ॥ २१ ॥

शब्दजनित बोध में अनुमितिभेद का साधक यह पुरुषाप्तत्व हेतु अथवा 'पुरुषापेक्षत्व' हेतु पदजनित बोध में एवं वैदिकवाक्यजनित बोध में नहीं है। अतः दोनों ही हेतु कुछ शब्दजनित बोधों में रहने पर भी अन्ततः 'भागासिद्ध' अवश्य हैं ॥ २१ ॥

सम्बन्धानुभवश्चायं सोऽन्यत्रापि विलक्षणः।
एतस्मिन् पुरुषापेक्षा देशापेक्षाग्निधूमयोः ॥ २२ ॥
कालाद्यपेक्षया चान्य उक्ता चान्यैरभिन्नता।
आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानतः ॥ २३ ॥

सम्बन्धानुभवश्च''''विलक्षणः

यह जो कहा जाता है कि शब्दजनित बोध में पुरुषसापेक्ष शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का प्रयोजन होता है, क्योंकि आप्तपुरुषप्रणीत शब्द में ही अर्थ का अविसंवाद रहता है। किन्तु अनुमितियों में भी हेतु और साध्य के सम्बन्धों में परस्पर

भिन्नता देखी जाती है। किन्तु इससे उन ज्ञानों को अनुमिति कहलाने में कोई बाधा नहीं आती है। इसी प्रकार प्रयोजक सम्बन्ध के भेद से शाब्दबोध अनुमित्यात्मक नहीं हो सकता।

एतस्मिन् पुरुषापेक्षा""कालाद्यपेक्षया चान्ये

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है शाब्दबोधात्मक अनुमान में पुरुषसापेक्ष शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रयोजक है, क्योंकि आप्त पुरुष के द्वारा शब्दों में ही अर्थों का अविसंवाद है। अग्नि और धूम में 'देश' के द्वारा प्राप्त व्याप्ति (सम्बन्ध) प्रयोजक है "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः"। चन्द्रोदय से जो समुद्रवृद्धि का अनुमान होता है, उसमें 'यदा चन्द्रोदयस्तदा समुद्रवृद्धिः' इस प्रकार की कालमूलक व्याप्ति (सम्बन्ध) की ही अपेक्षा होती है। 'अतः प्रयोजक सम्बन्ध के भेद से शाब्दबोध को अनुमिति से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कथित रीति से विभिन्न अनुमितियों में भी देशकालादिमूलक विभिन्न सम्बन्ध प्रयोजक हैं ही।

उक्ता चान्यैः""अनुमानतः

इतना ही नहीं, जिस 'पुरुषापेक्षितत्व' हेतु को सांख्याचार्यगण शाब्दबोध में अनुमितिभेद का साधक कहते हैं, बौद्धगण उसी 'पुरुषापेक्षित्व' हेतु से शाब्दबोध में अनुमित्यभिन्नत्व का साधन करते हैं।

उन लोगों का कहना है कि आप्तवादित्व और अर्थ का अविसंवाद इन दोनों में चूँकि व्याप्ति देखी जाती है, अतः शाब्दबोध भी अनुमिति ही है। अतः जिस हेतु को बौद्धगण शाब्दबोध में अनुमित्यभेद का साधक मानते हैं, उसी हेतु को शाब्द-बोध में अनुमितिभेद के साधन के लिये उपस्थित नहीं किया जा सकता ॥ २२–२३ ॥

> न चापूर्वादिशब्दानां भेदात् सर्वत्र भिन्नता ।
> न चेहाश्वादिशब्देभ्यो भेदस्तेषां प्रतीयते ॥ २४ ॥
> न चाप्यजातसम्बन्धं पदं किञ्चित् प्रकाशकम् ।
> सम्बन्धाननुभूत्यातो न स्यादननुमानता ॥ २५ ॥

नचाऽपूर्वादि""भिन्नता

लिंगी (साध्य) के व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध से युक्त हेतु ही साध्य को अनु-मिति को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु शब्द से अपूर्व, देवता, प्रभृति ऐसे अर्थों का भी बोध होता जिनके साथ शब्द का कोई भी सम्बन्ध पहले से ज्ञात नहीं रहता है। अतः शब्द को अनुमान नहीं कहा जा सकता।" इस रीति से जो कोई शब्द में अनुमानभेद का प्रतिपादन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है. क्योंकि अपूर्व, देवता, प्रभृति कुछ शब्द बोध के उत्पादन में पूर्व सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखते, केवल इतने से ही सभी शब्दों के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे भी अर्थबोध की उत्पत्ति में सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है।

नचेहाश्वादि""प्रतीयते""अनुमानता

दूसरी बात यह है कि अपूर्व, देवता, प्रभृति शब्द भी चूँकि अश्वादि शब्दों के समान ही 'पद' हैं, अतः वे भी अश्वादि पदों के समान ही अर्थों के साथ सम्बद्ध होकर

ही अर्थों के बोधक हैं, क्योंकि कोई भी पद बिना अर्थसम्बन्ध के स्वार्थ का बोधक नहीं है। अतः इस लिये शब्द को अनुमान से भिन्न नहीं माना जा सकता कि वह सम्बन्धसापेक्ष अर्थ का बोधक नहीं है, क्योंकि अपूर्व, देवता, प्रभृति पद भी अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञात सम्बन्ध के द्वारा ही अर्थबोध के कारण हैं ॥ २४–२५ ॥

तुल्याकारतयाप्यत्र शब्दज्ञानार्थतद्धियाम् ।
अग्निधूमेष्वदृष्टत्वान्न भेदस्तन्निवारणात् ॥ २६ ॥

कोई कहते हैं कि शब्द से उत्पन्न बोध में 'शब्द' स्वयं एवं 'अर्थ' एवं शब्दार्थ-विषयक ज्ञान' ये तीनों ही 'तुल्य' रूप से भासित होते हैं। अनुमिति में ऐसी बात नहीं। अतः शाब्दबोध अनुमिति नहीं है।

किन्तु इस युक्ति से भी शाब्दज्ञान में अनुमितिभिन्नत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि शब्द में उक्त तुल्यविषयकत्व का खण्डन 'प्रत्यक्षनिरूपण' में कर चुके हैं। (देखिये प्रत्यक्षपरिच्छेद गोत्वे सास्नादिमद्रूपा इत्यादि श्लोक १८५) ॥ २६ ॥

प्रतिबिम्बेष्वनैकान्तो बिम्बं यादृग्घि दर्पणे ।
तादृङ् मुखादि बुध्यन्ते न चात्राननुमानता ॥ २७ ॥

शाब्दबोध में शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का तुल्य रूप से भान मान भी लें, तथापि यह 'तुल्याकारता' शब्द में अनुमानभिन्नत्व का नियामक नहीं हो सकती, क्योंकि बिम्ब से दर्पण में जो प्रतिबिम्ब की अनुमिति होती है, उसमें भी यह 'तुल्याकारता' है किन्तु उसमें अनुमितिभेद नहीं है। अतः 'शाब्दबोधो नानुमितिः तुल्याकारत्वात्' इस अनुमान से भी शाब्दबोध में अनुमितिभिन्नत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त तुल्याकारत्व हेतु प्रतिबिम्ब की उक्त अनुमिति में व्यभिचरित (अनेकान्त) है ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षता तथाप्यत्र तथान्यैर्व्यभिचारिता ।
यत्र पादादि बिम्बेन गतानामनुमीयते ॥ २८ ॥

कोई कहते हैं कि दर्पण के तेज से पराभूत चाक्षुष तेज के साथ संयुक्त मुख-प्रत्यक्ष ही दर्पण में होता है। अतः तुल्याकारत्व हेतु अनुमिति में अनेकान्त (व्यभिचरित) नहीं है।

यदि ऐसा मान भी लें तथापि बालुका में स्थित पाद के चिह्न से जो उसी प्रकार के चिन्ह में तद्व्यक्ति के चिन्ह होने का अनुमान होता है, उसमें उक्त 'तुल्याकारत्व' हेतु अनेकान्त होगा ही[1] ॥ २८ ॥

---

१. आचार्यवर श्री पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि दर्पण में जो प्रतिबिम्ब का ज्ञान होता है, वह अनुमित्यात्मक ही होता है। यद्यपि वह ज्ञान मुख का प्रत्यक्ष सा प्रतिभासित होता है, किन्तु वास्तव में वह मुख का प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं है। जन साधारण का जो चक्षु से प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, वह कभी तत्त्वविषयक एवं कभी अतत्त्वविषयक भी होता है। किन्तु विद्वान परीक्षक गण विशुद्धन्याय के द्वारा जिस ज्ञान का लाभ करते हैं,

एकवाक्यात् सकृच्चोक्तात्प्राप्यनेकस्य तत्क्षणम्।

स्याद् विरुद्धाविरुद्धस्य बोधादेतस्य भिन्नता ॥ २९ ॥

धूमादि कोई भी एक लिंग एक समय साध्य की एक ही अनुमिति को उत्पन्न करता है किन्तु एक वाक्य एक ही समय एक ही उच्चारण के द्वारा अनेक पुरुषों में अनेक बोधों को उत्पन्न करता है। जैसे कि 'श्वेतो धावति' इस एक ही वाक्य से 'श्वा इतो धावति' इस विवरण के अनुसार 'कुत्ता यहाँ से दौड़ रहा है', एवं 'श्वेतः पुरुषः वस्त्रशोधनं करोति' इस विवरण के अनुसार 'श्वेत पुरुष कपड़े धो रहा है' इत्यादि अनेक बोध उक्त एक ही वाक्य से उत्पन्न होते हैं। अतः 'एकदा अनेकविषयकबोध-जनकत्व' शब्द में है, किन्तु अनुमान में नहीं है। इस वैलक्षण्य के कारण भी शाब्दबोध अनुमिति से भिन्न है ॥ २९ ॥

लिङ्गस्यापि हि ताद्रूप्यं दृष्टं हेतुविरुद्धयोः।

विरोधान्नानुमानं चेत् स्यादनागमतापि ते ॥ ३० ॥

यत्र चैकार्थता वाक्ये तत्र स्यादनुमानता।

सकृदुच्चरिते चास्मिन् विवक्षैकैव दृश्यते ॥ ३१ ॥

लिङ्गस्यापि····विरुद्धयोः

किन्तु 'लिंग' में भी अर्थात् सद्धेतु में भी एवं 'तद्विरुद्ध' असद्धेतु अर्थात् हेत्वा-भास में भी यह 'एकदा अनेकविषयकबोधजनकत्व' है ही, क्योंकि धूमादिसद्धेतु भी एक ही समय स्वज्ञान के द्वारा वह्नि, आर्द्रेन्धन एवं इन दोनों के सम्बन्ध एवं उष्णता की अनुमितियों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' इस अनुमान का विरुद्ध हेत्वाभासस्वरूप कृतकत्व आपाततः हेत्वाभासत्वज्ञान से पहले शब्द में नित्यत्व की अनुमिति को उत्पन्न करता ही है। एवं अनित्यत्व के साथ अनुसन्धान होने पर वही कृतकत्व हेतु उसी शब्द में अनित्यत्व की अनुमिति को उत्पन्न करता है। अतः कथित 'अनेकविषयकबोधजनकत्व' हेतु से भी शब्दप्रमाण में अनुमानप्रमाण से भेद की सिद्धि नहीं की जा सकती।

विरोधान्नानुमानं चेत्

यदि ऐसा कहें कि नित्यत्वसाधन के लिये प्रयुक्त जिस कृतकत्व हेतु की चर्चा की गयी है, वह चूँकि अनित्यत्वस्वरूप साध्याभाव की व्याप्ति से युक्त होने के कारण 'विरोध' दोष से युक्त अर्थात् विरुद्ध हेत्वाभास है, अतः वह अनुमान प्रमाण ही नहीं है। इस प्रकार प्रमाणभूत अनुमान में 'एकदा विरुद्धोभयजनकत्वहेतु' व्यभि-चरित नहीं है।

वह कभी भी अतत्वविषयक नहीं होता। वह केवल तत्वविषयक ही होता है। इस दृष्टि से पण्डितगण मुख में केवल प्रतिबिम्ब को देखते हुये प्रत्यक्षदृष्ट केवल अङ्गुल्यादि अङ्गों में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के साम्य को देखकर मुख में भी प्रतिबिम्बसाम्य का अनुमान करते हैं। फिर भी 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से प्रतिबिम्बग्रहण को प्रत्यक्षात्मक मान लेने पर दूसरे ज्ञानों में व्यभिचार का उद्भावन किया गया है।

स्यादनागमताऽपि ते

यदि विरुद्ध दो विषयक बोधजनकत्व को प्रामाण्य का विघातक मानें तो इसी युक्ति से कथित दो विरुद्धविषयकबोधजनक 'श्वेतो धावति' इत्यादि वाक्य भी शब्द-प्रमाण न होकर 'शब्दाभास' ही होंगे। फलतः जिस प्रकार 'सद्धेतु' एक ही साध्य का बोधक है उसी प्रकार शब्द प्रमाण भी एक ही अर्थ का बोधक है।

यत्र चैकार्थता""अनुमानता

यदि 'शब्द अनेक अर्थविषयक बोध का जनक है' केवल इसीलिये अनुमान से भिन्न है तो एक ही अर्थ का बोधक जो प्रमाणभूत शब्द है, वह अनुमान से भिन्न नहीं होगा। इससे सभी शब्द प्रमाणों में अनुमानप्रमाणभिन्नता की प्रतिज्ञा व्याहत हो जायगी।

सकृदुच्चरिते ''' दृश्यते

तात्पर्य के अनुसार ही शब्द प्रमाण होते हैं। एक बार उच्चरित शब्द का तात्पर्य एक ही अर्थ में होता। अतः एकबार उच्चरित शब्द से एक ही अर्थ का बोध होता है। (तदनुसार ही 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' यह उक्ति वैयाकरणों में प्रसिद्ध है)। अतः एक शब्द में अनेकार्थबोधकत्व है ही नहीं। इसलिये 'अनेकार्थबोधकत्व' स्वरूप हेतु शब्द स्वरूप पक्ष में न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध है। इसलिये उस हेतु से शब्द में अनुमानभिन्नत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥३०-३१॥

> यस्त्वनिर्धारितार्थानामनेकप्रतिभोद्भवः ।
> स लिङ्गेऽप्यस्फुटे दृष्टस्तस्मान्नैतेन भिद्यते ॥ ३२ ॥

जहाँ कहीं तात्पर्य का निर्णय न होने के कारण किसी एक अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता है, वहाँ शब्द से अनेकार्थविषयक संशयस्वरूप ज्ञान ही होता है। किन्तु यह अनेकार्थविपयबोधजनकत्व उस संशयाकारक अनुमान प्रमाण में भी है जहाँ दूर से धूम अथवा धूलिसमूह का निश्चय न होने के कारण अग्नि और अन्धड़ (वात्या) का संशय होता है। तस्मात् अनेकार्थबोधकत्व में अनुमानभिन्नत्व की व्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनुमान में ही अनुमानभिन्नत्व नहीं है, अथ च अनेकार्थ-बोधकत्व है ॥ ३२ ॥

> दृष्टान्तानभिधानं च धूमादौ व्यभिचारितम् ।
> प्रसिद्धत्वादि तत्रापि न दृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ ३३ ॥
> अनभ्यस्ते त्वपेक्षन्ते शब्दे सम्बन्धिनः स्मृतिम् ।
> अत्र प्रत्युक्त इत्येवं बुध्यन्ते हि चिरात् क्वचित् ॥ ३४ ॥

दृष्टान्ताऽनभिधानम्''अभिधीयते

शब्द को अनुमान से भिन्न मानने में कोई यह युक्ति देते हैं कि अनुमान में दृष्टान्त का अभिधान आवश्यक होता है। किन्तु शब्दप्रमाण से अर्थविषयक बोध के

लिये दृष्टान्त का कहना अनावश्यक है, इस 'दृष्टान्तानभिधान' के द्वारा ही शब्दप्रमाण को अनुमान से भिन्न माना जा सकता है।

किन्तु यह 'दृष्टान्तानभिधान' हेतु भी उन धूमादिहेतुक वह्न्यादि के अनुमानों में व्यभिचरित है, जिन हेतुओं में साध्य की व्याप्ति बराबर गृहीत हो चुकी रहती है। जिन अनुमितियों के हेतुओं में साध्य की व्याप्ति बराबर गृहीत नहीं रहती है, उन्हीं हेतुओं में व्याप्ति की दृढ़ता के लिये दृष्टान्त का अभिधान आवश्यक होता है, दृष्टान्त की यह अपेक्षा तो जिन शब्दों का संकेत अर्थों में बार-बार गृहीत नहीं है, उन अनभ्यस्त संकेतवाले शब्दों से अर्थबोध की उत्पत्ति में भी होती है। इसलिए उक्त 'दृष्टान्तानभिधान' स्वरूप हेतु शाब्दबोधस्वरूप पक्ष में न रहने के कारण 'स्वरूपासिद्ध' भी है। अतः 'शाब्दबोधो नानुमितिः दृष्टान्तानभिधानात् प्रत्यक्षवत्' इस अनुमान से भी शाब्दबोध में अनुमितिभिन्नत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ ३३–३४ ॥

परोक्ता हेतवश्चात्र नाभेदस्य निवारिताः ।
शब्दानुमानयोरैक्यं धूमादग्न्यनुमानवत् ॥ ३५ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकप्रत्यक्षदर्शनात् ।
सम्बन्धपूर्वकत्वाच्च प्रतिपत्तिरतो यतः ॥ ३६ ॥

परोक्ता हेतवः····निवारिताः

सांख्याचार्यगण जिन हेतुओं से शब्द को अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, उन हेतुओं का खण्डन किया गया है। मीमांसकों का कहना है कि 'शब्द अवश्य ही अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है' किन्तु सांख्याचार्यों ने इसके लिए जिन हेतुओं का उपादान किया है, वे शुद्ध नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने शब्द को अनुमानविधया प्रमाण मानने में अर्थात् शब्द में अनुमानाभेद की सिद्धि में जिन हेतुओं को उपस्थित करते हैं, उनका खण्डन भी सांख्याचार्यगण नहीं कर पाये हैं। किसी वस्तु की सिद्धि के लिये साधक हेतुओं के समर्थन के समान ही बाधक हेतुओं का खण्डन भी आवश्यक है।

शब्दानुमानयोरैक्यम्····प्रतिपत्तिरतो यतः

बौद्धगण 'शब्दानुमानयोरैक्यम्' इस प्रतिज्ञा के अर्थ की सिद्धि के लिये धूमलिंगक वह्न्यनुमान को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करते हैं एवं इन तीन हेतुवाक्यों का प्रयोग करते हैं।

(१) अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्
(२) एकप्रत्यक्षदर्शनात्
(३) सम्बन्धपूर्वकत्वात्

(१) अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्

जिस प्रकार 'धूमसत्त्वे वह्निसत्त्वम्' इस 'अन्वय' एवं 'वह्न्यभावे धूमाभावः' इस व्यतिरेक से उत्पन्न 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान अनुमिति स्वरूप होता है,

उसी प्रकार 'शब्दसत्त्वे अर्थसत्त्वम्' एवं 'अर्थाभावे शब्दाभावः' इस अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा 'घटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों से 'अस्तित्ववान् घटः' इत्यादि अन्वयबोध भी उत्पन्न होते हैं, अतः यह अन्वयबोध भी अनुमिति ही है।

(२) एकप्रत्यक्षदर्शनात्

जिस प्रकार धूमस्वरूप 'एक' विषयक दर्शन से दूसरे अप्रत्यक्ष वह्नि का ज्ञान अनुमिति स्वरूप होता है, उसी प्रकार घटादि शब्द स्वरूप 'एक' विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होनेवाले घटादि अर्थविषयक ज्ञान भी अनुमिति स्वरूप ही हैं।

(३) सम्बन्धपूर्वकत्वात्

जिस प्रकार धूम से व्याप्तिस्वरूप 'सम्बन्ध' के द्वारा उत्पन्न होनेवाला वह्निविषयकज्ञान अनुमिति स्वरूप होता, उसी प्रकार घटशब्द से संकेत (शक्ति) 'सम्बन्ध' के द्वारा उत्पन्न घटस्वरूपार्थविषयक ज्ञान भी अनुमिति स्वरूप है ॥ ३६ ॥[1]

प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात् तददृष्टार्थबोधनात्।
सामान्यविषयत्वाच्च त्रैकाल्यविषयाश्रयात् ॥ ३७ ॥

शब्द में अनुमान के अभेद की सिद्धि के लिये बौद्धादि 'प्रमाणद्वयवादि' गण निम्नलिखित चार हेतु वाक्यों का भी प्रयोग करते हैं—

(१) प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात्,
(२) तददृष्टार्थबोधनात्,
(३) सामान्यविषयत्वात्,
(४) त्रैकाल्यविषयाश्रयात्।

इन हेतुवाक्यों का स्वारस्य इस प्रकार है—

(१) प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात्

चूँकि प्रत्यक्ष से भिन्न केवल अनुमान ही प्रमाण है, एवं शब्दजनित अर्थविषयक बोध प्रत्यक्षजन्य नहीं है, अतः वह बोध अवश्य ही अनुमानप्रमाणजन्य है। अतः शब्द से उत्पन्न होने वाले उक्त प्रत्यक्षात्मक बोध अवश्य ही अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होता है। इसलिये शब्दप्रमाण अनुमान प्रमाण से अभिन्न है।

(२) तददृष्टार्थबोधनात्

जिस विषय का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता, वह विषय केवल अनुमान प्रमाण से ही ज्ञात हो सकता है। शब्द से चूँकि 'अदृष्टार्थ' अर्थात् प्रत्यक्षागोचर स्वर्गादि का भी बोध होता है, अतः वे स्वर्गादि विषय अनुमान प्रमाण के विषय हैं। अतः शब्द और अनुमान अभिन्न हैं।

---

१. इस श्लोक के 'प्रतिपत्तिरतो यतः' इतने अंश का पाठ 'अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्' इत्यादि तीनों हेतुवाक्यों के बाद करना चाहिये।

(३) सामान्यविषयत्वात्

शब्द से 'सामान्य' का ही ग्रहण होता है 'स्वलक्षण' स्वरूप 'विशेष' का नहीं। विशेष का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही होता है। अतः शब्द से जिन 'सामान्य' विषयों का बोध होता है वे अवश्य ही अनुमान प्रमाण के विषय हैं। इसलिये शब्द और अनुमान अभिन्न हैं।

(४) त्रैकाल्यविषयाश्रयात्

अनुमान प्रमाण से भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों ही कालों के विषयों का ग्रहण होता है, शब्द प्रमाण से भी 'त्रैकालिक' विषयों का ग्रहण होता है। अतः शब्द और अनुमान अभिन्न हैं ॥ ३७ ॥

> कैश्चिन्मीमांसकैरुक्तो भेदोऽत्र विषयान्तरात्।
> पूर्वाभ्यां ह्यपरिच्छिन्ने शास्त्रमर्थे प्रवर्त्तते ॥ ३८ ॥

कुछ मीमांसकगण विषयभेद से शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण में भेद मानते हैं, क्योंकि 'शास्त्र' से प्रत्यक्ष और अनुमान से अगम्य 'धर्म' और 'अधर्म' का ज्ञान होता है। अतः 'शास्त्र' स्वरूप शब्द प्रमाण अवश्य ही प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाण है। जो जिन प्रमाणों से अगम्य विषयों का ज्ञापक होता है, वह उन प्रमाणों से अवश्य ही भिन्न होता है। अतः शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण अवश्य ही अनुमान से भिन्न है ॥ ३८ ॥

> तत्रापि नागमत्वं स्यात् पुरुषोक्ते तथास्तु चेत्।
> प्रत्ययः किन्निमित्तोऽर्थे वक्तृबुद्धेः कुतो न्वसौ ॥ ३९ ॥

तत्राऽपि नागमत्वं स्यात्पुरुषोक्तेः

शास्त्र स्वरूप शब्दप्रमाण भले ही अनुमान प्रमाण से अलग स्वतन्त्र प्रमाण हो किन्तु पौरुषेय वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण के विषय और अनुमान प्रमाण के विषय तो एक ही हैं। अतः पौरुषेय वाक्य स्वरूप शब्द अवश्य ही अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत है। इसलिये पौरुषेय वाक्य स्वरूप शब्द में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी, क्योंकि पौरुषेय शब्द भी तो प्रमाण हैं।

तथाऽस्तु चेत्

पौरुषेय वाक्य स्वरूप शब्द अनुमान के समानविषयक होने के कारण अनुमान से अभिन्न हैं। अतः पौरुषेय वाक्य स्वरूप शब्द को अप्रमाण मानने में क्षति ही क्या है?

प्रत्ययः किंनिमित्तोऽर्थे

अर्थ में पौरुषेय शब्द से 'प्रत्यय' की अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति किससे होती है? अर्थात् पौरुषेय शब्द के श्रवण के बाद जो श्रोता में बुद्धि की उत्पत्ति होती है, वह किस अनुमान प्रमाण से होती है?

वक्तृबुद्धेः

वक्ता की बुद्धि से श्रोता में अर्थविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है।[1]

कुतोऽन्वसौ

प्रश्न यह है कि वक्ता की उक्त बुद्धि ही किससे होगी ? अर्थात् उसकी सिद्धि ही किसी से संभव नहीं है। अतः असिद्ध वक्तृबुद्धि स्वरूप हेतु से श्रोता में शब्दार्थ-विषयक अनुमिति नहीं हो सकती ।। ३९ ।।

न शब्दार्थस्य सा लिङ्गं न शब्दोऽस्याः कथञ्चन ।
विशेषो गम्यते ताभ्यां न चैतस्यानुमेयता ।। ४० ।।

क्योंकि न वक्तृबुद्धि ही शब्दार्थ का ज्ञापक लिङ्ग है, न शब्द ही वक्तृबुद्धि का ज्ञापक हेतु है, क्योंकि अनुमान 'सामान्य' का ही ग्राहक है, 'विशेष' का ग्राहक नहीं है। वक्तृबुद्धि एवं अर्थतत्त्व ये दोनों ही चूँकि विशेष ही हैं सामान्य नहीं, अतः अनुमान के द्वारा इनका ग्रहण संभव ही नहीं है। इसलिये पौरुषेय वाक्य स्वतन्त्र रूप से ही वक्तृबुद्धि का अथवा स्वकीय अर्थ का ज्ञापक प्रमाण है, अनुमानविधया नहीं ।। ४० ।।

तेन वक्तुरभिप्राये प्रत्यक्षाद्यनिरूपिते ।
पुरुषोक्तिरपि श्रोतुरागमत्वं प्रपद्यते ।। ४१ ।।

अतः उच्चारण करने वाले जिन पुरुषों के अभिप्रेत अर्थों की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं भी हो सकती है, उन अर्थों के बोधक पौरुषेय वाक्य भी श्रोता के लिये प्रमाण हैं ही ।। ४१ ।।

न चाप्यननुमेयत्वमागमार्थस्य शक्यते ।
लिङ्गं हि शब्द एवास्य धूमोऽग्नेरिव कल्प्यते ।। ४२ ।।

(बौद्धगण शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का खण्डन इस प्रकार करते हैं कि) जिस प्रकार धूम वह्नि का ज्ञापक लिंग है, उसी प्रकार शब्द भी अर्थ का ज्ञापक लिंग है। इस दृष्टि से वेदार्थ चूंकि वाक्यस्वरूप वेदों के अर्थ हैं, अतः अपौरुषेय वेद-स्वरूप वाक्य भी वेदार्थों के ज्ञापक लिंग ही हैं। इस प्रकार पौरुषेय एवं अपौरुषेय सभी शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से अभिन्न हैं ।। ४२ ।।

---

१. अभिप्राय यह है कि शाब्दबोधस्थल में दो बुद्धियाँ होती हैं, एक वक्ता में दूसरी श्रोता में। वक्ता में जो बुद्धि रहती है तत्सदृश दूसरी बुद्धि का उत्पादन ही वह श्रोता में करना चाहता है। श्रोतृगत इस बुद्धि की उत्पत्ति के लिये वक्ता तदुपयुक्त शब्दों का उच्चारण करता है जिन्हें सुनकर श्रोता को पूर्वज्ञात सङ्केत के सहारे शब्दार्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रोता में उत्पन्न होने वाली यह बुद्धि वक्ता की बुद्धि से ही उत्पन्न होती है।

वक्ता जिस प्रकार के शब्दों का उच्चारण करता है उस शब्द से वक्ता में किस प्रकार की बुद्धि है, इसका अनुमान श्रोता को होता है। फलतः वाक्य से वक्तृगत बुद्धि का अनुमान एवं वक्तृगत बुद्धि से श्रोता में अर्थविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है।

न चाप्यननुमेयत्वात् प्रमाणान्तरगम्यता।
रूपस्याश्रावणत्वेन न ह्यप्रत्यक्षतेष्यते ॥ ४३ ॥

जैसे कि वह्नि धूम स्वरूप कार्यलिंगक अनुमान का विषय है, वैसे यदि वेदार्थ वेद वाक्य स्वरूप कार्यलिंगक अनुमान का विषय नहीं भी है, (क्योंकि वेद वाक्य वेदार्थ का कार्य नहीं है) तथापि उसे सर्वथा सभी अनुमानों का अविषय नहीं कहा जा सकता। जैसे कि रूप श्रवणेन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, केवल इसी लिये उसे सभी प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय नहीं कहा जा सकता ॥ ४३ ॥

एवं सति स्वयूथ्या न केचिन्नातिप्रपञ्चिनः।
अनुमानविशेषोऽयमीदृग् धर्मस्य बोधकः ॥ ४४ ॥

इस लिये मेरे ही सम्प्रदाय (मीमांसक सम्प्रदाय) के कुछ लोग जो शब्द के सर्वथा स्वतन्त्र प्रामाण्यसाधन के 'प्रपञ्च' में नहीं पड़ना चाहते, वे अनुमान के ही (१) अर्थलिंगक और (२) शब्दलिंगक दो भेद करते हैं, एवं अर्थलिंगक अनुमान के उदाहरण के रूप में धूमादिलिंगक वह्नि प्रभृति के अनुमानों को एवं शब्दलिंगक अनुमान के उदाहरण के रूप में 'घटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यजनित 'अस्तितावान् घटः' इत्यादि अनुमितियों को उपस्थित करते हैं।

इस दृष्टि से 'धर्म' को अनुमानागम्य इस लिये कहा जाता है कि 'धर्म' अर्थात्मक लिंगजनित अनुमान का विषय नहीं है। वेद स्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय तो धर्म है ही ॥ ४४ ॥

भविष्यत्यर्थरूपं तु लिङ्गं धर्मे निराकृतम्।
संज्ञानुमानतेच्छा तु न क्षुभ्येदागमेऽपि नः ॥ ४५ ॥

भविष्यत् होने के कारण प्रत्यक्षावेद्य धर्म को अनुमान का भी जो अविषय कहा गया है (देखिये प्रत्यक्षसूत्रभाष्य पृ० २२ पं० ६) वह कथित अर्थलिंगक अनुमान से अगम्य होने के कारण ही। अर्थात् धर्म का 'अनुमानागम्यत्व' अर्थलिंगक अनुमान से अगम्यत्व स्वरूप ही है। फलतः धर्म भी वेदस्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय है ही।

संज्ञाऽनुमानतेच्छा तु

'अनु, पश्चात् मानम् अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यदि 'ज्ञानान्तरभाविज्ञानत्व' को ही 'अनुमान' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानें और तदनुसार शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण, शाब्दबोध को भी अनुमान की संज्ञा दें तो हम लोगों को इस में कुछ आपत्ति नहीं है, क्योंकि इससे वेद स्वरूप आगम के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं आती है ॥ ४५ ॥

लक्षणेन त्वभिन्नत्वं यदि शब्दानुमानयोः।
वेदज्ञानाप्रमाणत्वं स्यादतल्लक्षणत्वतः ॥ ४६ ॥

यदि 'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' भाष्यस्थ इस अनुमानलक्षण के अनुसार शाब्दबोध को अनुमिति कहना चाहें, तो इस लक्षण के

अनुसार धर्म वेद स्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय नहीं होगा, जिससे वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। अर्थात् लक्षण के अनुसार यदि शब्द को अनुमान से अभिन्न मानें तो शब्द में अप्रामाण्य के द्वारा वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति अवश्य होगी। यदि 'शब्द' को भी शब्दव्युत्पत्ति रूप योग के अनुसार 'अनुमान' शब्द का अभिधेय मात्र मानें तो वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगी ॥ ४६ ॥

आप्तवादाविसंवादसामान्यात् नृवचस्तु हि।
लक्षणेनानुमानत्वात् प्रामाण्यं सिद्धिमृच्छति ॥ ४७ ॥
वेदे त्वाप्तनराभावात् सम्बन्धानुभवादृते।
लक्षणं नानुमानस्येत्यप्रामाण्यं प्रसज्यते ॥ ४८ ॥

आप्त पुरुष स्वरूप विशेष वक्ता की बुद्धि के विना केवल शब्द से अर्थ का अनुमान संभव नहीं है। इस लिये जो कोई शब्द को लक्षणतः अनुमान का विषय मानेंगे, उन्हें अर्थाविसंवाद के साथ आप्तोक्तत्व की व्याप्ति को आगे रखना ही होगा। इस व्याप्ति की संभावना केवल पौरुषेय वाक्य में ही है, क्योंकि अपौरुषेय वेद का जो अर्थाविसंवाद है वह आप्तोक्तत्वमूलक नहीं है। इस लिये वेद में अनुमानविधया प्रामाण्य संभव नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो वेदों में पौरुषेयत्व की आपत्ति होगी ॥ ४७–४८ ॥

नन्वेकदेशसत्यत्वे तस्य स्यादनुमानता।
वेदत्वादग्निहोत्रादौ वायुक्षेपिष्ठवाक्यवत् ॥ ४९ ॥

यदि लक्षण के अनुसार भी सभी शब्दों को अनुमानविधया प्रमाण माने तथापि वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अनुमान के द्वारा ही विधि-वाक्य से प्रतिपादित 'कार्य' स्वरूप अर्थ में वेद के प्रामाण्य का समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है कि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित वायु का क्षिप्रगामित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, क्योंकि 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्य के अर्थ में सत्यत्व की व्याप्ति उपलब्ध है। उसी को दृष्टान्त बनाकर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि अन्य वेदवाक्यों में भी प्रामाण्य का समर्थन किया जा सकता है (अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिवाक्यानि अर्थाविसंवादीनि वेदैकदेशत्वात् वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति वाक्यवत्) ॥ ४९ ॥

नादित्ययूपेऽनैकान्तात् तद्वद् वा गौणता भवेत्।
नातः प्रत्यनुमानानामेवं पूर्वोक्तया दिशा ॥ ५० ॥

नादित्ययूपेनैकान्तात्

'आदित्यो वै यूपः' इस वेद वाक्य के द्वारा प्रतिपादित यूप का आदित्य स्वरूप होना प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः उक्त अनुमान का 'वेदैकदेशत्व' हेतु उक्त वाक्य में रहने पर भी 'अर्थाविसंवाद' स्वरूप (सत्यत्व) नहीं है। अतः उक्त वेदैकदेशत्व हेतु व्यभिचारी होने के कारण 'अर्थाविसंवाद' (सत्यत्व) का साधक नहीं हो सकता।

अतः लक्षणतः शब्द को अनुमान से अभिन्न मानने पर जो वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति आती है उसका निवारण नहीं किया जा सकता।

तद्वद्वा गौणता भवेत्

(इस अनैकान्तिकत्व दोष के निवारण के लिये कहा जा सकता है कि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि वाक्यों के समान ही 'आदित्यो वै यूपः' इत्यादि वाक्यों को भी यूप की स्तुति का प्रयोजक कहा जा सकता है। अतः उसमें भी 'अर्थाविसंवाद' स्वरूप साध्य है ही। इसलिये उक्त वेदैकदेशत्व हेतु व्यभिचरित नहीं है। इस समाधानाभास का यह प्रतिसमाधान है कि) यदि 'आदित्य-वाक्य' को 'क्षेपिष्ठ-वाक्य' की तरह स्तावक मानेंगे तो उन्हीं दोनों वाक्यों की तरह 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि मुख्य विधिवाक्यों को भी 'गौण' भी मानना होगा, क्योंकि 'क्षेपिष्ठ-वाक्य' को इस लिये प्रमाण मानते हैं कि उसका प्रतिपाद्य वायु का क्षिप्रगामित्व अन्य प्रमाण से सिद्ध है। इसी दृष्टान्त के अनुसार अग्निहोत्रादि मुख्य वाक्यों को भी किसी प्रकार किसी देवता की स्तुति के द्वारा प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का ज्ञापक मानकर ही प्रमाण मानना होगा जिससे इन मुख्य वाक्यों में 'गौणता' आ जायगी। अर्थात् ये वाक्य भी विधिवाक्य न रहकर अर्थवादवाक्य हो जायँगे।

नातः प्रत्यनुमानानाम्''पूर्वोक्तया दिशा

क्षेपिष्ठादि-वाक्यों को प्रमाण मानकर प्रमाणान्तरागोचरार्थविषयक वेदवाक्यों में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त यह 'वेदैकदेशत्व' हेतु प्रत्यक्षाद्यगतार्थत्व, आप्ताप्रणीतत्वादि अनेक 'प्रतिहेतुओं' के रहने से सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रसित भी है। इसका उपपादन चोदनासूत्रवार्त्तिक के श्लो० २७–२७ में किया जा चुका है ॥ ५० ॥

तस्माल्लक्षणभेदेन यदि शब्दप्रमाणता।
समा लोके च वेदे च सिद्धा वेदप्रमाणता ॥ ५१ ॥

'तस्मात्' यदि अनुमानलक्षणाक्रान्त होने के कारण ही शब्द में अनुमानविधया प्रामाण्य मानें तो यह प्रामाण्य लौकिकवाक्यों मे और वैदिकवाक्यों में दोनों में ही समान रूप से स्वीकार करना होगा। ऐसा संभव नहीं है कि लौकिकवाक्यों को तो अनुमानविधया प्रमाण मानें किन्तु वैदिकवाक्यों को अनुमाननिरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द प्रमाण मानें ॥ ५१ ॥

तेन चाप्तोपदेशत्वं न स्यादागमलक्षणम्।
नाप्तस्य सम्भवो वेदे लोके नास्मात् प्रमाणता ॥ ५२ ॥

जिस लिये कि लौकिक वाक्य एवं वैदिक वाक्य दोनों में समान युक्ति से समानधर्मप्रयुक्त ही प्रामाण्य है, इसलिये अक्षपादोक्त 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्या० सू० अ० १–पा० सू०) यह शब्दप्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि वेद चूँकि किसी के द्वारा रचित नहीं है, अतः आप्तोक्तत्वप्रयुक्त प्रमाण्य वेदों में संभव नहीं है। एवं लौकिक शब्दों का प्रामाण्य भी उसके आप्तोक्तत्वप्रयुक्त नहीं है ॥ ५२ ॥

पुरस्ताद् वर्णितं ह्येतत् तस्माच्छब्देन या मतिः ।
तस्याः स्वतः प्रमाणत्वं न चेत् स्याद्दोषदर्शनम् ।। ५३ ।।

वैदिक वाक्यों का ही नहीं लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य भी आप्तपुरुषों के अधीन नहीं है। इस प्रसङ्ग में युक्तियाँ पहले दी जा चुकी है कि यदि दोष न जान पड़े तो लौकिक वैदिक सभी वाक्य स्वतः प्रमाण ही हैं। (देखिये चोदनासूत्र-वार्त्तिक श्लो० ६५) ।। ५३ ।।

अनुमानेन चैतस्य प्रामाण्यं केवलं समम् ।
पदे तावत् कृतो यत्नः परैरित्यत्र वर्ण्यते ।। ५४ ।

अनुमानेन ''केवलं समम्

शब्द में अनुमानभिन्नत्व के प्रतिपादन का मूल उद्देश्य चोदना स्वरूप शब्द में प्रामाण्य का प्रतिपादन करना ही है। सो हो चुका। अब शब्द प्रमाण में अनुमान-भेद के साधक युक्तियों का प्रतिपादन ही अवशिष्ट है। अनुमान के साथ शब्द की इतनी ही समता है कि दोनों भिन्न होते हुए समान रूप से प्रमाण हैं।

पदे तावत्कृतो''''वर्ण्यते

प्रमाण स्वरूप शब्द में ही अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन इष्ट है। प्रमाणभूत शब्द (१) पद और (२) वाक्यभेद से दो प्रकार के हैं। हमलोग (मीमांसकगण) यद्यपि 'पद' को प्रमाण नहीं मानते 'वाक्य' को ही प्रमाण मानते हैं। अतः पद स्वरूप शब्द में अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन हम लोगों के लिये आवश्यक नहीं है। फिर भी जो लोग शब्द को अनुमानविधया प्रमाण मानते हैं, वे 'पद' को ही प्रमाण मानते हैं, वाक्य को नहीं। अतः पहले पद स्वरूप शब्द में ही अनुमान के अभेद का खण्डन करते हैं ।। ५४ ।।

विषयोऽन्यादृशस्तावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयोः ।
सामान्यविषयत्वं च पदस्य स्थापयिष्यति ।। ५५ ।।

शब्द को अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण मानने में (१) पहली युक्ति यह है कि दोनों के ज्ञाप्य (प्रमेय) भिन्न हैं। आगे (आकृत्यधिकरण में 'गौरित्यस्य कः शब्दः' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ और उसके वार्त्तिक में) यह निर्णय करना है कि 'सामान्य' ही शब्द प्रमाण का विषय है। अनुमानप्रकरण में 'धर्मविशिष्ट धर्मि' स्वरूप 'विशेष' को ही अनुमान का विषय कहा गया है। (देखिये अनुमान परिच्छेद श्लो० २७ और श्लो० २५) अतः भिन्न विषयों के ज्ञापक होने के कारण शब्द अनुमान स्वरूप नहीं हो सकता ।। ५५ ।।

धर्माधर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् ।
न तावदनुमानं हि यावत् तद्विषयं न तत् ।। ५६ ।।

पहले (शब्दपरिच्छेद श्लो० १८) कहा जा चुका है कि शब्द स्वरूप लिङ्ग में जब तक पक्षसत्त्वादि त्रैलक्षण्य का विघटन नहीं दिखलाया जाता, तब तक अन्य

किसी वैलक्षण्य के दिखाने से उसमें अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अतः प्रकृत में 'विषयभेद' का प्रदर्शन युक्त नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अनुमान प्रमाण उन सभी विषयों का ज्ञापक नहीं है, जिन विषयों का बोध शब्द प्रमाण से होता है। एवं शब्द प्रमाण भी उन सभी विषयों का ज्ञापक नहीं है, जिनका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। अर्थात् 'एकदेशज्ञानादेकदेशान्तरे बुद्धिः' इस सन्दर्भ द्वारा भाष्यकार ने 'विशिष्टविषयकबोधजनकत्व' को भी अनुमान प्रमाण का एक लक्षण कहा है, जो लक्षण शब्द प्रमाण में नहीं है ॥ ५६ ॥

सामान्यादतिरिक्तं तु शाब्दे वाक्यस्य गोचरः।
सामर्थ्यादनुमेयत्वादश्रुतेऽपि पदान्तरे ॥ ५७ ॥
संख्यादिमान् पदार्थश्चेत् न तावत् सोऽव्ययादिषु।
यत्रापि ते प्रतीयन्ते तत्र व्यक्तेर्विशेषणम् ॥ ५८ ॥
पदान्तराभिधेयस्य तादर्थ्याच्च क्रियात्मनः।
वाक्यार्थेऽपि पदं यत्र गोमदादि प्रयुज्यते ॥ ५९ ॥
सत्यप्यत्र विशिष्टत्वे सिद्धत्वान्नैव पक्षता।
तावानेव हि तत्रार्थो यः पूर्वमवधारितः ॥ ६० ॥

सामान्यात्....गोचरः

कोई आक्षेप करते हैं कि केवल सामान्य ही शब्दप्रमाण का विषय नहीं है, 'विशेष' भी उसका विषय है। यदि कोई 'को याति ?' यह प्रश्न करता है तो 'अश्वः' केवल इसी पद के प्रयोग से भी उसका उत्तर हो जाता है। ऐसे स्थलों में केवल अश्वादि पद भी 'अश्वविशिष्टक्रिया' स्वरूप 'विशिष्ट' का बोधक होता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि पदस्वरूप शब्दप्रमाण केवल 'सामान्य' का ही बोधक है।

सामर्थ्यात्....पदान्तरे

इस आक्षेप का यह समाधान है कि उक्त स्थल में केवल 'अश्वः' इस पद से क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध नहीं होता है। किन्तु सामर्थ्य स्वरूप 'लिंगप्रमाण' से 'को याति ?' इस प्रश्नवाक्य में जो 'याति' स्वरूप क्रियापद है, उसके अनुषङ्ग के द्वारा 'अश्वः' पद के बाद 'याति' पद की कल्पना की जाती है। उसके बाद 'अश्वो याति' इस कल्पित वाक्य से क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध होता है। जैसे कि 'द्वारम्' केवल इस पद के श्रवण के बाद 'संव्रियताम्' इस पद की कल्पना की जाती है। इस कल्पित पद से 'संवरण' रूप कार्य को समझकर संवरण कार्य का संपादन करता है। इस प्रकार एक ही पद को सुनने पर भी दूसरे पद के अनुमान से विशिष्टबोधक वाक्य की कल्पना की जाती है, उस वाक्य से ही विशिष्टबोध होता है। तस्मात् केवल पद स्वरूप शब्द प्रमाण अनुमान के समान विशिष्ट का बोधक नहीं है।

संख्यादिमान् पदार्थश्चेत्

'घटः' इत्यादि पद भी तो एकत्वादिसंख्याविशिष्ट घटादि अर्थ के बोधक हैं ही, अतः कथित 'विशिष्टविषयत्व' हेतु पद स्वरूप पक्ष में न रहने के कारण

स्वरूपासिद्ध है, अतः उससे अनुमानभिन्नत्व का साधन पद (स्वरूप) पक्ष में नहीं किया जा सकता।

न तावत्तोऽव्ययादिषु

पद संख्याविशिष्ट अर्थ का बोधक नहीं है, क्योंकि 'भुक्त्वा' इत्यादि अव्यय पदों से संख्याविशिष्ट अर्थ का बोध नहीं होता है। तदनुसार ही 'अलिङ्गमसंख्यम-व्ययम्' यह अव्यय का लक्षण भी है।

यत्रापि ते'' क्रियात्मनः

'पशुना यजेत' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त 'पशुना' प्रभृति पदों से जहाँ संख्या का बोध होता भी है, वहाँ उक्त संख्या वस्तुतः पदार्थ का विशेषण नहीं होती, किन्तु उपरञ्जक मात्र है। उक्त संख्या तो वस्तुतः क्रिया का ही विशेषण है, जिसका उप-पादन 'शब्दस्तूपलभ्यते तदागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषाम्' इस सूत्र के द्वारा महर्षि जैमिनि ने स्वयं किया है (देखिये जै० सू० अ० ४ पा० १ सू० अधिकरण ७)।

वाक्यार्थेऽपि पदम्'' पूर्वमवधारितः

(यदि विशिष्टविषय का बोधक होने से ही अनुमान प्रमाण हो तो 'गोमान्, पाचकः' इत्यादि पद अन्ततः विशिष्टवाचक होने से अनुमान प्रमाण हो जायँगे। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) पूर्व में किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध धर्मी में पहिले से असिद्ध साध्य स्वरूप धर्म का बोध अनुमान से होता है। कथित 'गोमत्' प्रभृति पदों के द्वारा जिस 'विशिष्ट' का बोध होता है, वह पूरा पहले ही वक्ता की बुद्धि के द्वारा गृहीत (सिद्ध) रहता है, अतः सिद्ध्यभाव स्वरूप 'पक्षता' के अभाव से ही उक्त शाब्दबोध को अनुमिति नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त विशिष्टबोधक पद भी अनुमान नहीं है ॥ ६० ॥

भेदबुद्धेश्च वैषम्यं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः।
विशेषणविशेष्यार्थस्वातन्त्र्यग्रहणं न च ॥ ६१ ॥

भेदबुद्धिश्च'''प्रत्ययार्थयोः

दूसरी बात यह भी है कि 'गोमत्' प्रभृति पदों से जहाँ विशिष्टबोध की बात कही जाती है, उन सभी स्थलों में 'गो' प्रभृति प्रकृति एवं 'मतुप्' प्रभृति प्रत्यय पृथक्-पृथक् अपने-अपने अर्थ के बोधक होते हैं, वैशिष्ट्य का प्रत्यय तो प्रकृति एवं प्रत्यय के समभिव्याहार (स्वरूप आकांक्षा) से ही होता है। अतः वास्तव में पद 'विशिष्ट' का बोधक नहीं है।

विशेषणविशेष्यार्थ ..... न च

स्वतन्त्र रूप से गृहीत धर्मी ही स्वतन्त्र रूप से स्मृत साध्य से युक्त होकर अनुमान प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। शब्द प्रमाण स्थल में धर्मी स्वतन्त्र रूप से पूर्व में ज्ञात नहीं रहता है, इस वैषम्य के कारण भी शब्द प्रमाण अनुमान के अन्त-र्गत नहीं है ॥ ६१ ॥

विशेष्यपूर्विका तत्र बुद्धिस्त्वत्र विपर्ययः ।
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते ॥ ६२ ॥

विशेष्यपूर्विका ··· विपर्ययः

अनुमान प्रमाण से विशेष्य का ज्ञान पहले होता है, विशेषण का पीछे । शब्द-प्रमाण स्थल में विशेषण ही पहले ज्ञात होता है, विशेष्य पश्चात् ज्ञात होता है । इस वैलक्षण्य के कारण भी शब्द और अनुमान ये दोनों स्वतन्त्र अलग-अलग प्रमाण हैं ।

अथ शब्दः ··· न कल्प्यते

(पू० प०) शब्द तो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा स्वतन्त्र रूप से पहले ज्ञात रहता है । उसी में अर्थ की सिद्धि करेंगे ? अर्थात् 'घटशब्दो घटस्वरूपार्थवान् घटशब्दत्वात् शब्दत्वाद्वा' ऐसा ही क्यों न मान लें ? इस प्रकार शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है ॥ ६२ ॥

प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।
पक्षे धूमविशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते ॥ ६३ ॥

(सि० प०) इस रीति से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुमान के प्रतिज्ञावाक्य का स्वरूप 'घटशब्दो घटस्वरूपार्थवान्' इस प्रकार का होगा । इस प्रतिज्ञा का एकदेश जो 'घट शब्द' वही हेतु है । तस्मात् उक्त रीति के अनुसार भी शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

पक्षे धूमविशेषे ··· हेतुरिष्यते

(पू० प०) जिस प्रकार 'महानसीयो धूमः वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में प्रतिज्ञा का एकदेश ही हेतु होता है, उसी प्रकार प्रकृत शब्दपक्षक अर्थानुमान में भी संभव क्यों नहीं है ? ॥ ६३ ॥

शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ।
व्यक्तिरेव विशिष्यातो हेतुश्चैका प्रसज्यते ॥ ६४ ॥
भवेद् व्यञ्जकभेदाच्चेन्नत्वेवं प्रत्ययोऽस्ति नः ।
कथं चास्य विशिष्टत्वं न तावद् देशकालतः ॥ ६५ ॥

शब्दत्वं गमकम् ··· प्रसज्यते

(सि० प०) यह भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रकृत शब्दपक्षक अर्थानुमान दो ही प्रकार से संभव है (१) 'गोशब्दः सास्नाद्यर्थवान् शब्दत्वात्' (२) 'गोशब्दत्वाद्वा ।' इनमें 'शब्दत्व' स्वरूप प्रथम हेतु 'अनैकान्तिक' है, क्योंकि शब्दत्व घटादि शब्दों में भी है, वहाँ सास्नादिमत्व स्वरूप अर्थ नहीं है । गोशब्दत्व स्वरूप दूसरा हेतु वस्तुतः गोशब्द स्वरूप ही है, अतः प्रतिज्ञार्थैकदेश होने के कारण वह भी हेतु नहीं हो सकता । गोशब्दत्व नाम की कोई विशेष जाति एकमात्रव्यक्तिवृत्ति होने के कारण

नहीं है, क्योंकि हम लोगों (मीमांसकों) के मत से गकारादि एक शब्द वास्तव में एक ही है ॥ ६४ ॥

भवेद्व्यञ्जकभेदात्···अस्ति नः

यदि यह कहें कि गकारादि प्रत्येक व्यञ्जकभेद से भिन्न हैं, अतः अनेक हैं, अतः अनेक व्यक्तियों का संग्राहक होने के कारण गत्वादि जातियाँ प्रामाणिक हैं। इस लिये गोशब्दत्व हेतु में प्रतिज्ञैकदेशार्थत्व की आपत्ति नहीं है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हम (मीमांसक) लोग व्यञ्जक के भेद से एक ही वर्ण के अनेक भेदों को स्वीकार नहीं करते।

कथञ्चास्य विशिष्टत्वम्···कालतः

एक बात और भी है। शब्द में अर्थ की 'विशिष्टता' (युक्तता) किस प्रकार संभव है ? दैशिकविशिष्टता और कालिकविशिष्टता ये दोनों ही संभव नहीं है, क्योंकि घटादि अर्थ भूतलादि देशों में रहते हैं, एवं शब्द आकाश में रहता है। इसी प्रकार युधिष्ठिर शब्द की सत्ता इस काल में भी है, किन्तु युधिष्ठिर स्वरूप अर्थ की सत्ता इस काल में नहीं है। अतः शब्द न देशतः अर्थविशिष्ट हो सकता है और न कालतः ॥ ६५ ॥

> **तत्प्रतीतिविशिष्टश्चेत् परं किमनुमीयते ।**
> **न प्रत्यायनशक्तिश्च विशेषस्यानमीयते ॥ ६६ ॥**

तत्प्रतीतिविशिष्टः···अनुमीयते

यदि यह कहें कि 'शब्दोऽर्थविशिष्टः' इस प्रतीति की विषयता शब्द और अर्थ दोनों में है। अतः एकप्रतीतिविषयत्व रूप सम्बन्ध के द्वारा शब्द अर्थ से युक्त है।

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि सम्बन्धियों के ज्ञान से पहले सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होता है। इस लिये उक्त सम्बन्ध के ज्ञान से पहले ही 'शब्दः अर्थवान्' यह ज्ञान आवश्यक होगा। फिर इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बाद अनुमान किस ज्ञान के लिये प्रवृत्त होगा ? अर्थात् ज्ञातज्ञापक होने के कारण वह प्रमाण ही नहीं रह जायगा।

न प्रत्यायनशक्तिश्च···विशेषस्यानुमीयते

कोई कहते हैं कि गो शब्द में गो स्वरूप अर्थवत्ता की अनुमिति भले ही संभव न हो, किन्तु गो शब्द में गो स्वरूप अर्थविषयक बोधजनन (प्रत्यायन) शक्ति का अनुमान करेंगे। किन्तु सो भी संभव नहीं है, क्योंकि इससे प्रश्न उत्पन्न होगा कि 'शक्ति' किसकी ? यदि गो शब्द की ? तो फिर तादृश शक्तिविशिष्ट गो शब्द ही पक्ष होगा एवं तादृश गोशब्दत्व ही हेतु भी होगा। किन्तु इससे हेतु में जो प्रतिज्ञार्थैकदेशत्व की आपत्ति दी गयी है, वह ज्यों की त्यों रहेगी। इस लिये गो शब्द स्वरूप विशेष में कथित प्रत्यायन शक्ति का अनुमान भी नहीं किया जा सकता ॥ ६६ ॥

विशेषाणां न शक्तिर्हि सैकदेशेऽग्निजातिवत् ।
सामान्यस्यैव शक्तत्वं पक्षो हेतुस्तदेव च ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार सभी वह्नियों में रहने वाले वह्निसामान्य (वह्नित्व) का अन्वय महानसादि में रहने वाले सभी वह्निविशेषों में देखा जाता है, उसी प्रकार सभी शब्दों में प्रत्ययजनकत्वरूपा एक ही शक्ति (वाचकत्वशक्ति) का अन्वय सभी शब्दों से है। यदि पूर्वश्रुत शब्द पहले से ज्ञात रहता तो वर्त्तमान काल में श्रुत गोशब्द विशेष में कथित 'शक्ति' का अनुमान हो भी सकता था। अतः किसी भी प्रकार से विशेष में शक्ति की सत्ता का समर्थन नहीं किया जा सकता। फलतः गोशब्दसामान्य में ही शक्ति रहेगी। तादृशशक्तिविशिष्ट ही पक्ष भी होगा और हेतु भी वही होगा। वही सपक्ष भी होगा। अतः उक्त प्रत्यायनशक्ति का भी अनुमान नहीं हो सकता ॥६७॥

तस्मादर्थविशिष्टस्य न शब्दस्यानुमेयता ।
कथं च पक्षधर्मत्वं शब्दस्येह निरूप्यते ॥ ६८ ॥

'तस्मात्' शब्दविशिष्ट अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता। फलतः शब्दपक्षक अनुमान के द्वारा शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निराकरण नहीं हो सकता।

कथञ्च पक्षधर्मत्वम्

केवल 'विषयभेद' के कारण ही शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है, किन्तु अनुमान के प्रधान लक्षण 'त्रैरूप्य' के न रहने से भी वह अनुमान से भिन्न है। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षासत्त्व इन तीनों में से कोई भी शब्द प्रमाण में संभव नहीं है।

प्रथमतः (पक्षसत्त्व अर्थात्) पक्षधर्मता के प्रसङ्ग में ही विचार किया जाय कि जिस अनुमान में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं तो उसमें पक्षधर्मता कैसे संभव है ? ॥ ६८ ॥

न क्रियाकर्तृसम्बन्धादृते सम्बन्धनं क्वचित् ।
राजा भर्त्ता मनुष्यस्य तेन राज्ञः स उच्यते ॥ ६९ ॥
वृक्षोऽपि तिष्ठति शाखासु ता वा तत्रेति तस्य ताः ।
देशेऽग्निमति धूमस्य कर्तृत्वं भवनं प्रति ॥ ७० ॥
कार्यकारणभावादौ क्रिया सर्वत्र विद्यते ।
न चानवगताकारः सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥ ७१ ॥
न चास्त्यसति सम्बन्धे षष्ठीतत्पुरुषोऽपि वा ।
तस्मान्न पक्षधर्मोऽयमिति शक्या निरूपणा ॥ ७२ ॥

न क्रियाकर्तृ''''क्वचित्

प्रकृत अनुमान में शब्द ही हेतु है, अत वह स्वयं धर्मी (पक्ष) नहीं हो सकता। इसलिये 'अर्थ' को ही धर्मी मानना होगा। तदनुसार 'अर्थः शब्दवान्' इसी

आकार की अनुमिति होगी। किन्तु अर्थ स्वरूप 'पक्ष' की 'धर्मता' शब्द स्वरूप हेतु में नहीं आ सकती, क्योंकि 'धर्मता' है 'वृत्तिता' स्वरूप। वृत्तिता विना सम्बन्ध के संभव नहीं है। 'क्रियाकर्तृसम्बन्ध' के विना किसी के साथ किसी का सम्बन्ध संभव नहीं है।

राजा भर्त्ता ··स उच्यते

राजा चूँकि भृत्य का भरण करता है, अतः राजा में भृत्यवृत्ति भरणक्रिया का कर्तृत्व है, अर्थात् भृत्य स्वरूप अधिकरण कारकनिष्ठ जो भरण क्रिया उत्पन्न होती है, उसका कर्तृत्व राजा में है, अतः राजगत इस कर्तृत्व स्वरूप सम्बन्ध के कारण ही 'राज्ञो भृत्यः' यह व्यवहार होता है।

वृक्षस्तिष्ठति शाखासु

'वृक्षस्य शाखा' इस व्यवहार के अनुसार शाखा वृक्ष की इसलिये कहलाती है कि शाखा में वृक्ष का समवाय सम्बन्ध है, अतः शाखाधिकरणक स्थिति क्रिया का कर्तृत्व रूप सम्बन्ध वृक्ष में है।

ता वा तत्रेति तस्य ताः

'वृक्षे शाखास्तिष्ठन्ति' इत्यादि प्रयोग इसलिये होते हैं कि 'वृक्षों में शाखाये हैं' अर्थात् वृक्षाधिकरणक स्थिति क्रिया का कर्तृत्व शाखाओं में है, इसलिये वृक्ष में शाखा का सम्बन्ध मानना पड़ता है।

वेश्मेऽग्निमति ··भवनं प्रति

अग्नि का सम्बन्ध धूम में इसलिये है कि वह्नि के अधिकरण में धूम की सत्ता है। फलतः वह्न्यधिकरणनिरूपित अस्तित्व क्रिया का कर्तृत्व धूम में है, इसलिये धूम में वह्नि का सम्बन्ध है।

कार्यकारणभावादौ ··सर्वत्र विद्यते

इसी प्रकार कार्य में कारण का, अथवा कारण में कार्य का जो सम्बन्ध है, उसके मूल में भी कथित 'क्रियाकर्तृ'सम्बन्ध ही है। जैसे पटकर्तृक क्रिया का कारणत्व तन्तु प्रभृति कारणों में है, अतः वे (तन्तु प्रभृति) पट के हैं। अथवा तन्तुकारणक उत्पत्ति क्रिया का कर्तृत्व पट में है, अतः पट तन्तु का है। तदनुसार 'तन्तोः पटः' अथवा 'पटस्य तन्तवः' इत्यादि व्यवहार होते हैं। इस प्रकार का कोई सम्बन्ध शब्द और अर्थ में संभव नहीं है। अतः 'पक्षे धर्मत्वं यस्य' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध 'पक्ष-धर्मत्व' शब्द में संभव नहीं है।

न चाऽनवगताकारः····गम्यते

अर्थ के साथ शब्द के किसी भी सम्बन्ध का बोध किसी को नहीं होता। अतः यह कहना भी युक्त नहीं है कि 'शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है तो अवश्य, किन्तु ज्ञात नहीं होता है'। अतः किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने के कारण 'पक्षस्य धर्मः' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध 'पक्षधर्मता' भी शब्द में संभव नहीं है।

तस्मात्र···निरूपणा

अतः शब्द में अर्थस्वरूप पक्षनिरूपितवृत्तिता रूप पक्षधर्मता की निष्पत्ति किसी प्रकार संभव नहीं है ॥ ६९–७२ ॥

निवृत्तेऽन्यत्र सम्बन्धे येऽपि तद्विषयात्मना ।
वदेयुः पक्षधर्मत्वं शब्दस्यानुपलब्धिवत् ॥ ७३ ॥
तैरप्येतन्निरूप्यं तु शब्दस्तद्विषयः कथम् ।
न तद्देशादिसद्भावो नाभिमुख्यादि तस्य वा ॥ ७४ ॥
तस्मादुत्पादयत्येष यतोऽर्थविषयां मतिम् ।
तेन तद्विषयः शब्द इति धर्मत्वकल्पना ॥ ७५ ॥

शब्द और अर्थ में समवायादि अन्य किसी सम्बन्ध की संभावना के न रहने पर भी यदि कोई यह कह सकता है कि अर्थ शब्द का ज्ञाप्य विषय है, जैसे कि अभाव अनुपलब्धि प्रमाणगम्य होने के कारण अनुपलब्धि प्रमाण का विषय कहलाता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ का ज्ञापकत्व सम्बन्ध है, इस लिये 'अर्थ' शब्द का 'विषय' है। यही शब्द का विषयता सम्बन्ध अर्थ में है।

न तद्देशादिसद्भाव···तस्य वा

तो ऐसा कहने वालों को भी विचार करना होगा कि अर्थ और शब्द का न अधिकरणीभूत देश एक है न दोनों परस्पर एक दूसरे के सम्मुख हैं। फिर अर्थ शब्द का 'विषय' कैसे हैं ?

तस्मात्···धर्मत्वकल्पना

'तस्मात्' शब्द चूँकि अर्थविषयक बुद्धि को उत्पन्न करता है, अतः अर्थ शब्द का विषय है। एवं इस विषयता सम्बन्ध के द्वारा ही शब्द अर्थ का धर्म है ॥ ७३–७५ ॥

तत्र वाचकतायां च सिद्धायां पक्षधर्मता ।
न प्रतीत्यङ्गतां गच्छेन्न चैवमनुमानता ॥ ७६ ॥

इस वस्तुस्थिति के अनुसार मानना होगा कि शब्द में जब अर्थवाचकता (अर्थप्रत्यायनशक्ति) सिद्ध हो जायगी तब वह अर्थ स्वरूप पक्ष का धर्म होगा। किन्तु वाचकत्व की सिद्धि के बाद सिद्ध होने वाली पक्षधर्मता प्रकृत अनुमान का अङ्ग नहीं हो सकती ॥ ७६ ॥

गमकत्वाच्च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि ।
स्यादन्योन्याश्रयत्वं हि तस्मान्नैषापि कल्पना ॥ ७७ ॥

शब्द अर्थ का ज्ञापक है, इसी लिये वह अर्थ का धर्म है। शब्द चूँकि अर्थ का धर्म है, इसी लिये अर्थ का ज्ञापक है। इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। इस लिये विषयता सम्बन्ध के द्वारा पक्षधर्मत्व की कल्पना भी संभव नहीं है ॥ ७७ ॥

न चागृहीतसम्बन्धाः स्वरूपव्यतिरेकतः।
शब्दं जानन्ति येनात्र पक्षधर्ममतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥
न च स्वरूपमात्रेण धूमादेः पक्षधर्मता।
न चापि पूर्वसम्बन्धमपेक्ष्यैषा प्रसज्यते ॥ ७९ ॥
धूमवानयमित्येवमपूर्वस्यापि जायते।
पक्षधर्ममतिः तेन भिद्येतोत्तरलक्षणात् ॥ ८० ॥

नचागृहीतसम्बन्ध''मतिर्भवेत्''धूमादेः पक्षधर्मता

जिस पुरुष को शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का ज्ञान रहता है, उसी पुरुष को यह पक्षधर्मताज्ञान भी होता है। 'शब्द अर्थ का धर्म है, (अर्थात् शब्द अर्थ में विद्यमान है) जिस पुरुष को उक्त वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, उसे उक्त पक्षधर्मता का ज्ञान भी नहीं होता। फलतः पक्षधर्मता उक्त सम्बन्धज्ञानसापेक्ष है। केवल पक्ष और हेतु इन दोनों वस्तुमात्रसापेक्ष नहीं है।

धूमादि में भी यही स्थिति देखी जाती है। धूम में पर्वतसम्बन्ध के कारण ही पक्षधर्मता आती है, स्वरूपतः केवल धूम 'पक्षधर्म' नहीं है। फलतः अर्थ में शब्द की अनुमिति से पहले उक्त वाच्यवाचकभाव का ज्ञान नहीं होगा। अतः प्रकृत में इस युक्ति से भी पक्षधर्मता अनुपपन्न है। इस लिये शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है।

नचापि पूर्वसम्बन्ध''पक्षधर्ममति

कदाचित् यह कहें कि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकसम्बन्ध का जो ज्ञान था, उस ज्ञान में विषयीभूत सम्बन्ध के द्वारा ही एतत् काल में भी शब्द में अर्थ स्वरूप पक्ष के वृत्तित्व का (पक्षधर्मता) ज्ञान होगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पहले से ज्ञात न रहने पर सर्वप्रथम भी 'धूमवानयम्' इत्याकारक पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। अर्थात् जिस पुरुष को धूम में वह्नि के नियम का ज्ञान है, उसको पूर्व में महानसादि सपक्षों में पूर्व से धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है, यदि ऐसा न मानें तो 'सपक्षान्वय' स्वरूप हेतु के पूर्व-लक्षण के स्मरण से ही अनुमिति हो जाती, स्वतन्त्र रूप से 'पक्षसत्त्व' स्वरूप हेतु के उत्तर लक्षण को अनुमान का अङ्ग मानने की आवश्यकता ही न रह जाती ॥७८–८०॥

न त्वत्र पूर्वसम्बन्धावधिका पक्षधर्मता।
न चार्थप्रत्ययात् पूर्वमित्यनङ्गमियं भवेत् ॥ ८१ ॥

नत्वत्र पूर्वसम्बन्धात्'''पक्षधर्मता

धूमादि हेतुओं में 'सपक्षान्वय' स्वरूप पूर्व सम्बन्ध से ही 'पक्षान्वय' स्वरूप उत्तर सम्बन्ध पक्षधर्मता ज्ञान में भासित होता है, किन्तु 'अत्र' अर्थात् अर्थपक्षक शब्दानुमान स्थल में 'सपक्षान्वय' स्वरूप पूर्वसम्बन्ध से अधिक किसी वस्तु का भान नहीं होता है, क्योंकि प्रकृत में पक्ष और सपक्ष एक ही है।

न शार्थप्रत्ययात्'''भवेत्

सपक्षान्वय स्वरूप पूर्वसम्बन्धानधिकविषयक भी यह पक्षधर्मताज्ञान शब्द से अर्थ की प्रतीति के बाद ही उत्पन्न होता है। अतः वह 'अर्थः शब्दवान्' इस अनुमिति का कारण भी नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

न च धर्मी गृहीतोऽत्र येन तद्धर्मता भवेत्।
पर्वतादिर्यथा देशः प्राग्धर्मत्वावधारणात् ॥ ८२ ॥

यश्चात्र कथ्यते धर्मी प्रमेयोऽस्य स एव नः।
न चानवधृते तस्मिंस्तद्धर्मत्वावधारणम् ॥ ८३ ॥

प्राक् स चेत् पक्षधर्मत्वाद् गृहीतः किं ततः परम्।
पक्षधर्मादिभिर्ज्ञातैर्येन स्यादनुमानिता ॥ ८४ ॥

न च धर्मी''''अवधारणात्''''प्रमेयोऽस्य स एव नः

जिस प्रकार पर्वतादिधर्मिविषयक पूर्वज्ञान के बाद ही धूमादि में पक्षधर्मता आती है, उस प्रकार से प्रकृत में पक्षधर्मता की उपपत्ति संभव नहीं है, क्योंकि अर्थ स्वरूप धर्मी पूर्वगृहीत नहीं है। जिस शब्दार्थ स्वरूप वस्तु को आप (पूर्वपक्षवादि-गण) धर्मी कहते हैं, वही तो हम लोगों से स्वीकृत शब्द प्रमाण का प्रमेय है। वह यदि पक्षधर्मताज्ञान के द्वारा ज्ञात हो जायगा तो फिर अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जायगी ?

न चाऽनवधृते''प्राक् स चेत्'''स्यादनुमानिता

अर्थस्वरूप धर्मी (पक्ष) यदि पूर्व में ज्ञात नहीं रहेगा तो 'तद्धर्मत्वावधारण' अर्थात् 'पक्षधर्मत्वावधारण' (पक्षधर्मता का निश्चय) ही कैसे होगा ? यदि अर्थ स्वरूप पक्ष की वृत्तिता शब्द रूप हेतु में अवधारित ही है तो 'पक्षधर्मत्वावधारण' से किसी अन्य वस्तु का ज्ञान अपेक्षित ही नहीं जिसे हम अनुमिति कह सकें। अतः शब्द स्वरूप अनुमान प्रमाण से जिस अनुमिति की बात कही है उसके लिये पक्ष-धर्मता का संबलन संभव ही नहीं है ॥ ८३–८४ ॥

अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते।
व्यापारेण हि सर्वेषामन्वितत्वं प्रतीयते ॥ ८५ ॥

प्रकृत अनुमान में सपक्षसत्त्व का संबलन भी संभव नहीं है, क्योंकि शब्द रूप अनुमान प्रमाण का अपने प्रमेय अर्थ के साथ किसी सपक्ष में अन्वय का निरूपण भी संभव नहीं है, क्योंकि किसी व्यापार (सम्बन्ध) के द्वारा ही हेतु और साध्य का अन्वय सपक्ष में प्रदर्शित होता है ॥ ८५ ॥

यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः।
न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इत्यादि वाक्यों से धूम में वह्नि का अन्वय देशिकव्याप्तिस्वरूप सम्बन्ध के द्वारा प्रदर्शित होता है, प्रकृत में उस रीति से 'यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽप्यस्ति' इस प्रकार के अन्वय का प्रदर्शन नहीं है ॥ ८६ ॥

न तावत् तत्र देशेऽसौ तत्काले वावगम्यते ।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वार्थेषु च तत् समम् ॥८७॥
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् व्यतिरेकस्य चागतेः ।
सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते ॥ ८८ ॥

न तावत्''अवगम्यते

'यत्र देशे शब्दस्तत्र देशेऽर्थः' इस प्रकार का दैशिक अन्वय संभव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों विभिन्न देशों के हैं। एवं 'यस्मिन् काले शब्दः तस्मिन् कालेऽर्थः' इस प्रकार का कालिक अन्वय भी संभव नहीं है, क्योंकि युधिष्ठिर शब्द की सत्ता अभी भी है, किन्तु युधिष्ठिर नामक व्यक्ति स्वरूप अर्थ की सत्ता बहुत पहले थी, अभी नहीं है।

भवेन्नित्य''तत्समम्

यदि यह कहें कि शब्द नित्य है एवं विभु है, अतः सभी कालों में और सभी देशों में सभी शब्दों की सत्ता है, अतः सभी कालों और सभी देशों में अर्थों के साथ उसका 'अन्वय' (सामानाधिकरण्य) अक्षुण्ण है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वय तो सभी शब्दों का सभी अर्थों के साथ है। इस अन्वय का अभाव किसी शब्द का किसी भी अर्थ में नहीं है। अतः उक्त रीति से शब्द का अन्वय अर्थ में मानने से सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जाँयगे ॥ ८७-८८ ॥

अथैवं देशकालाभ्यामसत्यत्वप्रकल्पने ।
वाचकप्रत्ययं कश्चिद् ब्रूयादर्थधियान्वितम् ॥ ८९ ॥

(पू० प०) शब्द अर्थ का दैशिक वा कालिक अन्वय भले ही संभव न हो, किन्तु शब्दज्ञान और अर्थज्ञान ये दोनों ही नियमित रूप से एक ही आत्मा में रहते हैं, अतः शब्दज्ञान और अर्थज्ञान इन दोनों का अन्वय अवश्य संभव है। अतः शब्द-जनित उक्त अर्थज्ञान का अनुमितिरूप होना संभव है ॥ ८९ ॥

नैवमप्यस्ति दृष्टो हि विनाप्यर्थधिया क्वचित् ।
वाचकप्रत्ययोऽस्माभिरव्युत्पन्ननरान् प्रति ॥ ९० ॥
द्वितीयादिप्रयोगे च भवेदन्वयकल्पना ।
शतकृत्वः प्रयुक्तेऽपि न च दृष्टार्थधीः क्वचित् ॥ ९१ ॥

(सि० प०) ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि 'अव्युत्पन्न' (सङ्केतज्ञान-शून्य) पुरुष को शब्द का ज्ञान रहने पर भी अर्थ का ज्ञान उससे नहीं हो पाता।

द्वितीयादि-प्रयोगे

(यदि ऐसा कहें कि प्रथम सुने हुये शब्द से अव्युत्पन्न पुरुष को अर्थ का ज्ञान भले ही न हो सके, द्वितीयादि प्रयोगों से (अर्थात् उन्हीं शब्दों को बार बार सुनने पर) उसी शब्द के अर्थ का ज्ञान अव्युत्पन्न पुरुष को भी होता है, किन्तु

ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार सुनने पर भी 'जर्फरी, तुर्फरी' आदि शब्दों के अर्थ का ज्ञान हम लोगों को नहीं होता है ॥ ९०–९१ ॥

ननु ये ज्ञातसम्बन्धास्तेषां दृष्टोऽन्वयः स्फुटः ?
यद्येवमन्वयात् पूर्वं सम्बन्धः कोऽपि कल्पितः ॥ ९२ ॥

ननु ये ''' स्फुटः

(पू० प०) अव्युत्पन्न पुरुष को शब्द से अर्थज्ञान भले ही सम्भव न हो किन्तु जिन्हें शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान है, उन्हें तो शब्द से अर्थ का ज्ञान अवश्य होता है। अतः उन पुरुषों में तो शब्दज्ञान और अर्थज्ञान इन दोनों में अन्वयसहचार अत्यन्त परिस्फुट है।

यद्येवम् ''' कल्पितः

(सि० प०) यदि ऐसी बात है तो फिर उस अन्वयसहचार के गृहीत होने से पहले शब्द और अर्थज्ञान इन दोनों में किसी उपयुक्त सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी। वह सम्बन्ध 'शक्ति' स्वरूप ही होगा, क्योंकि वही सम्बन्ध अर्थप्रतीति का अंग हो सकता है, अर्थप्रतीति से उत्पन्न 'अन्वय' उसका अंग नहीं होगा जिससे शब्दजनित अर्थज्ञान का अनुमितित्व स्वतः व्याहत हो जायगा। अन्वयाधीन उत्पन्न ज्ञान को ही अनुमिति कहते हैं ॥ ९२ ॥

नाङ्गमर्थधियामेषा भवेदन्वयकल्पना।
अन्वयाधीनजन्मत्वमनुमानस्य च स्थितम् ॥ ९३ ॥

फिर शब्दज्ञान और अर्थज्ञान इन दोनों में कल्पित यह अन्वयसहचार अर्थ-ज्ञान का अंग नहीं होगा जिससे शब्दज्ञानजनित अर्थज्ञान का अनुमिति स्वरूप होना ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि अनुमिति को अन्वयसहचार के द्वारा लिंग से उत्पन्न होना चाहिये ॥ ९३ ॥

ज्ञाते प्रतीतिसामर्थ्ये तद्वशादेव जायते।
पश्चादन्वय इत्येष कारणं कथमुच्यते ॥ ९४ ॥

शब्द में अर्थबोधजननशक्ति के ज्ञात होने के बाद उसी से उत्पन्न होनेवाले 'अन्वय' को अर्थबोध का कारण कैसे कहते हो ? ॥ ९४ ॥

तस्मात् तन्निरपेक्षैव शब्दशक्तिः प्रतीयते।
न च धूमान्वयात् पूर्वं शक्तत्वमवगम्यते ॥ ९५ ॥

तस्मात्तन्निरपेक्षैव ''प्रतीयते

इन सभी युक्तियों से यही निष्पन्न होता है कि शब्द और अर्थ के सहचार की अथवा शब्दज्ञान और अर्थज्ञान के सहचार की कोई अपेक्षा शब्द में जो अर्थप्रत्यायन की शक्ति है, उस शक्ति के ज्ञान में नहीं है।

न च धूमान्वयात् ''अवगम्यते

किन्तु धूम में जो वह्न्यनुमिति को उत्पन्न करने की शक्ति है, उसकी प्रतीति धूम के साथ वह्नि के सहचारनिश्चय के पूर्व नहीं होती है। उक्त सहचार निश्चय के

बाद ही ज्ञात होती है। अतः अन्वयसहचारमूलक होने के कारण धूमगत शक्तिज्ञान से उत्पन्न होनेवाला वह्नि का ज्ञान अनुमित्यात्मक होता है[1] ॥ ९५ ॥

व्यतिरेकोऽप्यविज्ञातादर्थाच्छब्दधियो यदि ।

सोऽपि पश्चात् स्थितत्वेन नार्थप्रत्ययसाधनम् ॥ ९६ ॥

अन्वय के समान ही 'व्यतिरेक' भी शब्द और अर्थ में एवं शब्दज्ञान और अर्थज्ञान में सम्भव नहीं है। 'यत्र अर्थो नास्ति तत्र शब्दोऽपि नास्ति' यह 'व्यतिरेक' इसलिए सम्भव नहीं है कि इस काल में युधिष्ठिरादि शब्दों का व्यतिरेक नहीं है।

यद्यपि 'यत्र न शब्दज्ञानं तत्र नार्थज्ञानम्' यह व्यतिरेक सम्भव है, किन्तु यह व्यतिरेक चूंकि अर्थज्ञान के बाद उत्पन्न होगा, अतः यह अर्थज्ञान (अर्थानुमिति) का अङ्ग नहीं होगा। इसलिये शब्दश्रवण के बाद जो अर्थ का ज्ञान होगा वह व्यतिरेक-जन्य भी नहीं होगा। अतः वह अर्थज्ञान अनुमिति स्वरूप भी नहीं है ॥ ९६ ॥

सम्बन्धं यं तु वक्ष्यामस्तस्य निर्णयकारणम् ।

स्यादन्वयोऽतिरेकश्च न त्वर्थाधिगमस्य तौ ॥ ९७ ॥

यदि अर्थ की प्रतीति और शब्द की प्रतीति इन दोनों का व्यतिरेक अर्थज्ञान का कारण नहीं है तो फिर इस 'नियतव्यतिरेक' से किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ? इस प्रश्न का उत्तर आगे विस्तार से देगें कि उक्त अन्वय और व्यतिरेक दोनों 'शक्ति-निश्चय' के ही प्रयोजक हैं, अर्थज्ञान के प्रयोजक नहीं ॥ ९७ ॥

तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत् ।

त्रैरूप्यरहितत्वेन ताद्दग्विषयवर्जनात् ॥ ९८ ॥

---

१. 'एतस्मिन् पुरुषापेक्षा' (शब्दपरिच्छेद श्लोक २२) में पहले कहा जा चुका है कि लिङ्ग एवं लिङ्गि दोनों में सर्वत्र एक प्रकार का सम्बन्ध अनुमिति का प्रयोजक नहीं है, अतः अग्नि और धूम में दैशिक सम्बन्ध की अपेक्षा है, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में एक-पुरुषीयत्व की अपेक्षा है। यद्यपि यह बात प्रत्युदाहरण के प्रसङ्ग में कही गयी है, फिर भी तदनुसार प्रकृत में कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय होने पर भी 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्ध ही धूम से अग्निज्ञान का भी प्रयोजक है।

इस आक्षेप का यह उत्तर है कि शक्ति सम्बन्ध में धूम के द्वारा वह्नि का जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह अनुमिति स्वरूप न हो सकेगा, क्योंकि अनुमिति का उत्पादक हेतु वही है जिसमें 'अन्वयसहचार' रूप व्यापार के द्वारा ही साध्यप्रत्यायन की शक्ति हो।

शब्द में ऐसी बात नहीं है। वह तो स्वगत स्वारसिक शक्ति के द्वारा ही अर्थबोध का उत्पादक है। अतः शब्द अर्थबोध का उत्पादक लिङ्ग नहीं है। इसलिये शब्द को अनुमान नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि धूम में धूमाधिकरण महानस में वह्नि का भी संयोग सम्बन्ध अन्वयसहचार से गृहीत होता है। अतः पर्वत में वह्नि के संयोग सम्बन्ध का ही भान होता है। इसी प्रकार शब्द का अर्थ के साथ सहचार में यदि 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्ध गृहीत होगा तो शक्ति सम्बन्ध का ही भान होगा, अर्थ का नहीं।

'तस्मात्' जिस प्रकार प्रत्यक्ष त्रैरूप्य से रहित होने के कारण एवं विलक्षण-विषयक होने के कारण अनुमान प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार शब्दप्रमाण भी अनु-मान प्रमाण से (उन्हीं हेतुओं से) भिन्न है।

शब्द में अनुमानभिन्नत्व के साधक कथित अनुमानों के ये आकार हैं—

(१) 'शब्दो नाऽनुमानं त्रैरूप्यशून्यत्वात् प्रत्यक्षवत् ।'

(२) 'शब्दो नाऽनुमानं तादृग्विषयवर्ज्जनात् प्रत्यक्षवत्' ॥ ९८ ॥

सति चास्य प्रमाणत्वे भेदाभेदनिरूपणा ।
युक्ता न तु पदज्ञानात् पदार्थोऽत्र प्रमीयते ॥ ९९ ॥

शब्दगत अनुमानभिन्नता की ये सारी बातें 'पद' को प्रमाण मानकर कही गयी हैं। किन्तु पदस्वरूप शब्द (मीमांसकों के मत से) प्रमाण ही नहीं है। इस स्थिति में शब्द 'अनुमान प्रमाण से भिन्न है अथवा अभिन्न है—यह विचार अयुक्त हो जाता है। 'पद' इसलिये प्रमाण नहीं है कि पद से पदार्थ की प्रतीति उत्पन्न नहीं होती है ॥ ९९ ॥

पदं प्रयुज्यमानं हि चतुर्द्धार्थे प्रयुज्यते ।
प्रत्यक्षे च परोक्षे च ज्ञातेऽज्ञातेऽपि वा पुरा ॥ १०० ॥
तत्र यत् पूर्वविज्ञाते प्रत्यक्षे च प्रयुज्यते ।
प्रमिते च प्रयुक्तत्वादनुवादोऽधिकाद् विना ॥ १०१ ॥

(१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष (३) पूर्वज्ञात और (४) पूर्वाज्ञात इन चार प्रकार के अर्थों में से ही किसी को समझाने के लिए पद का प्रयोग किया जाता है ॥ १०० ॥

इनमें से (प्रथम और तृतीय) प्रत्यक्ष और पूर्वज्ञात अर्थ को समझाने के लिए जहाँ पद का प्रयोग किया जाता है, उन स्थलों में विषय चूँकि पूर्वज्ञात होते हैं, वहाँ पदों से उन अर्थों का 'अनुवाद' मात्र होता है। उन स्थलों में प्रयुक्त पद ज्ञातज्ञापक होने के कारण प्रमाण ही नहीं होते ॥ १०१ ॥

अदृष्टपूर्वे त्वज्ञानं सम्बन्धप्रत्ययोऽपि वा ।
सम्बन्धो न च तस्यार्थो योऽर्थः स त्वन्यगोचरः ॥१०२॥
परोक्षेननुभूते च नाभिधेये मतिर्भवेत् ।
परोक्षश्चानुभूतश्च यस्तत्र स्मृतिरिष्यते ॥ १०३ ॥

जहाँ पहले से अज्ञात अर्थ के लिये पद का प्रयोग किया जाता है वहाँ शब्द से अर्थविषयक बोध उत्पन्न ही नहीं होता। अथवा 'अयं पनसः' इत्यादि प्रयोगों से पनसादि पदों के साथ 'इदम्' पद के अर्थ का वाच्यवाचकसम्बन्ध ही केवल गृहीत होता है। ज्ञात होने वाला यह सम्बन्ध उस पद का अर्थ नहीं है। अतः सम्बन्धांश में पद का प्रामाण्य संभव नहीं है। उस पद का जो अर्थ है, वह

प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों का प्रमेय है। अतः अज्ञातार्थविषयक प्रामाण्य भी पद में संभव नहीं है ॥ १०२ ॥

'परोक्ष' अर्थ की प्रतीति भी पद से नहीं हो सकती, क्योंकि परोक्ष दो प्रकार का है (१) अनुभूत परोक्ष और (२) अननुभूत परोक्ष। इनमें अननुभूत परोक्ष का ज्ञान तो पद से हो ही नहीं सकता। अनुभूत परोक्ष का भी जो ज्ञान पद से होता है, उसे स्मृति स्वरूप ही मानना होगा। फलतः ज्ञातज्ञापक होने के कारण वहाँ भी पद का प्रामाण्य संभव नहीं है ॥ १०२-१०३ ॥

प्रमिते च प्रवृत्तत्वात् स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।
परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यमुपजायते ॥ १०४ ॥

स्मृति चूँकि प्रमाण के द्वारा पूर्वज्ञात अर्थविषयक ही होती है अतः वह प्रमाण (प्रमा) नहीं हो सकती। 'अर्थपरिच्छेद' जिसका फल हो, उसी में प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। 'अगृहीतग्रहण' को ही 'परिच्छेद' कहते हैं। इस लिये स्मृति चूँकि 'अर्थपरिच्छेदिका' नहीं है, अर्थात् अगृहीतार्थग्राहक नहीं है, अतः प्रमाण नहीं है ॥ १०४ ॥

तादात्विकपरिच्छेदफलत्वेन प्रमाणता।
प्रत्यभिज्ञानवत् कस्मात् स्मृतेरपि न कल्प्यते ॥ १०५ ॥

कोई आक्षेप करते हैं कि स्मृति अपनी उत्पत्ति के साथ अपने कारणीभूत पूर्वानुभव के विषय की परिच्छेदिका है, तो उसे प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते, जैसे कि स्मृति स्वरूप होने पर भी 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि 'प्रत्यभिज्ञा' स्वरूप ज्ञानों को प्रमाण माना जाता है? ॥ १०५ ॥

यावान् पूर्वपरिच्छिन्नस्तावानेवावधार्यते।
स्मृत्या तदनुसारेण तदासत्त्वेऽस्य नैव धीः ॥ १०६ ॥

इस आक्षेप का यह परिहार है कि केवल स्मृति स्वरूप ज्ञान से पूर्वानुभव के द्वारा जितने विषय 'परिच्छिन्न' (निश्चित) रहते हैं उनका अवधारण मात्र स्मृति से होता है। स्मृति से उन विषयों की सत्ता अवधारित नहीं होती। प्रत्यभिज्ञा से पूर्वज्ञात देवदत्तादि की इदानीं काल में सत्ता भी अवधारित होती है। इस अन्तर के कारण प्रत्यभिज्ञान के दृष्टान्त से स्मृति में प्रमात्व का समर्थन नहीं किया जा सकता ॥ १०६ ॥

पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते।
पदाधिक्यं भवेत् किञ्चित् तत्पदस्य न गोचरः ॥ १०७ ॥

जिस प्रकार स्मृति के कारणीभूत (स्मारक) एक सम्बन्धिज्ञानादि पूर्वानुभव के द्वारा ज्ञात विषयों से अधिक विषयों के ग्राहक नहीं हैं। अतः वे (एक सम्बन्धिज्ञानादि) प्रमाण नहीं होते। उसी प्रकार पद स्वरूप शब्द प्रमाण भी शक्तिज्ञान में भासित होने वाले विषयों से अधिक विषयों का ज्ञापक नहीं है। अतः 'पद' स्वरूप शब्द प्रमाण नहीं है।

पदाधिक्यं ... न गोचरः

जहाँ 'द्वारम्' इत्यादि पदों के द्वारा शक्तिज्ञान में भासित होने वाले 'द्वारादि' से 'अधिक' संवरणादि का बोध होता है, किन्तु उसका बोधक पद श्रुत नहीं है वहाँ भी 'संव्रियताम्' प्रभृति पदों के अध्याहार से निष्पन्न 'द्वारं संव्रियताम्' इत्यादि वाक्य ही उन अर्थों के बोधक हैं। अतः उक्त 'अधिक' विषय स्वरूप अज्ञात विषय का ज्ञापक होने से भी पद को प्रमाण नहीं माना जा सकता ॥ १०७ ॥

प्रमाणमनुमानं वा यद्यपि स्यात् पदान्मितिः ।
वाक्यार्थस्यागमार्थत्वाद् दोषो नागमवादिनाम् ॥१०८॥

यदि 'पद' को प्रमाण मान भी लें, पदात्मक शब्द प्रमाण को अनुमान से अभिन्न भी मान लें, तथापि वाक्यार्थ बोध के लिये वाक्यात्मक शब्द स्वरूप एक अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही होगा। फलतः पद को प्रमाण मानकर उसे अनुमान में अन्तर्भूत कर लें, तथापि वाक्यात्मक शब्द स्वरूप प्रमाण का अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रामाण्य निर्बाध है ॥ १०८ ॥

वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धानुभवादृते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तेन भिन्नाऽसावक्षबुद्धिवत् ॥ १०९ ॥

चूँकि पदार्थों के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना वाक्यार्थविषयक बोध उत्पन्न होता है अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थसम्बन्ध से निरपेक्ष होकर बुद्धि का उत्पादक होने से अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है, उसी प्रकार वाक्यात्मक शब्द भी पदार्थसम्बन्ध के साहाय्य के बिना ही वाक्यार्थविषयक बोध का उत्पादक है। अतः वह (वाक्यात्मक शब्द) भी अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण ही है (वाक्यात्मकः शब्दः अनुमानाद्भिन्नः पदार्थसम्बन्धं विनैव वाक्यार्थबोधकत्वात् प्रत्यक्षवत्) ॥ १०९ ॥

वाक्याधिकरणे चास्य हेतोः सिद्धिर्भविष्यति ।
सर्वेषां च परोक्तानां वाक्यबुद्धावसिद्धता ॥ ११० ॥

(इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि वाक्यार्थबोध के लिये वाक्य को पदार्थसम्बन्ध की अपेक्षा अवश्य होती है, अतः वाक्य स्वरूप शब्द मे (पक्ष में) पदार्थसम्बन्ध से निरपेक्ष वाक्यार्थबोधकत्व स्वरूप हेतु नहीं है, अतः उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध है। इसलिये इस हेतु से वाक्यात्मक शब्द स्वरूप प्रमाण में अनुमान प्रमाण से भिन्नत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि) आगे 'वाक्याधिकरण' में (देखिये वाक्याधिकरण के वार्तिक का श्लोक ३४१ वाला सन्दर्भ) इस हेतु की 'सिद्धता' का (पक्षधर्मता) का प्रतिपादन करेंगे। तदनुसार यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। इस लिये इस हेतु से वाक्य स्वरूप शब्द में अनुमानभिन्नत्व की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

सर्वेषां च ... असिद्धता

शब्द में अनुमानाभिन्नत्व के साधक जो (१) अन्वयव्यतिरेकजन्यत्व (२) सम्बन्धपूर्वकत्व (३) सामान्यविषयकत्व हेतु दिये जा चुके हैं (देखिये श्लो० ३६)

वे तीनों ही हेतु वाक्यजनित शाब्दबोध स्वरूप बुद्धि में (पक्ष में) न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हैं। एवं एतद्भिन्न जो (१) प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्व (२) तददृष्टार्थबोधकत्व (३) सामान्यविषयकत्व और (४) त्रैकाल्यविषयत्व ये चार हेतु शाब्दबोध में अनुमित्यभिन्नत्व के साधन के लिये दिये गये हैं (देखिये श्लोक ३७) वे सभी उपमानादि प्रमाणों में व्यभिचरित हैं। फलतः शब्द प्रमाण में अनुमान प्रमाण से अभेद के साधक सभी हेतु दुष्ट हैं। अतः शब्द अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण ही है ॥ ११० ॥

वाक्येष्वदृष्टेष्वपि सार्थकेषु पदार्थविन्मात्रतया प्रतीतिम्।
दृष्ट्वानुमानव्यतिरेकभीताः क्लिष्टाः पदाभेदविचारणायाम् ॥१११॥

पूर्व में सर्वथा अश्रुत वाक्य से केवल पदार्थ ज्ञान के द्वारा चूंकि वाक्यार्थ का ज्ञान है अतः शब्द प्रमाण में भी अनुमानभिन्न स्वतन्त्र प्रामाण्य कदाचित् सिद्ध न हो जाय—इस से डर कर हो बौद्धों ने पद को ही शब्द प्रमाण समझकर उसी पद में अनुमान के अभेद के साधन का क्लेश स्वीकार किया है ॥ १११ ॥

इति शब्दपरिच्छेदः ॥

अथ उपमानपरिच्छेदः

[1]कीदृग्गवय इत्येवं पृष्टो नागरिकैर्यदि।
ब्रवीत्यारण्यको वाक्यं 'यथा गौर्गवयस्तथा' ॥ १ ॥
एतस्मिन्नुपमानत्वं प्रसिद्धं शाबरे पुनः।
तस्यागमाद्बहिर्भावादन्यथैवोपवर्णितम् ॥ २ ॥

---

१. शाबरभाष्य में (पृ० ३७) उपमान प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है 'उपमानमपि सादृश्यम्-असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति'। इस भाष्यसन्दर्भ से यह न्यायप्रयोग अभिप्रेत है कि 'सादृश्यात्मकमुपमानप्रमाणमपि अर्थाव्यभिचारि एवंलक्षणकत्वात्'।

(१) लोक में उपमान के व्यवहार के लिये 'गौरिव गवयः' यह वाक्य प्रसिद्ध है।

(२) नैयायिकगण 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इस न्यायसूत्र के अनुसार उपमान प्रमाण का विवरण इस प्रकार देते हैं—

जिस पुरुष ने गो को अपनी आँखों से देखा है, एवं 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य को भी सुना है उस पुरुष को जङ्गल में जाने पर गवय को देखने से 'असौ गवयः' इस आकार का जो गोसादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही उपमान प्रमाण है।

इन दोनों ही मतों का खण्डन करने के लिये ही भाष्यकार ने उपमान प्रमाण का यह उदाहरण लिखा है 'यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य' (शाबरभाष्य पृ० ३७)। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात गो का जब वन में स्मरण होता है, उसके बाद गवय के देखने पर जो 'एतत्सदृशी मदीया गौः' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वही उपमान प्रमाण है। 'कीदृग्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वार्तिककार ने उन्हीं दोनों मतों का खण्डन किया है।

'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इस न्यायसूत्र के अनुसार न्याय शास्त्र में उपमान प्रमाण का यह विवरण मिलता है कि कोई नागरिक वन में आने पर अगर वहाँ के निवासियों से पूछता है कि 'कीदृग् गवयः ?' अर्थात् गवय कैसा होता है ? तो वन्य पुरुष उत्तर देता है कि 'गोसदृशो गवयः' अर्थात् गवय गो के समान होता है। सादृश्यघटित 'गोसदृशो गवयः यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है।

शाबरे पुनः''''उपवर्णितम्

किन्तु उपमान प्रमाण का यह लक्षण 'शब्दज्ञानादर्थे ज्ञानम्' (शाबरभाष्य पृ० ३७ पं० ३) भाष्यकारीय शब्द प्रमाण के इस लक्षण के अनुसार शब्द प्रमाण के ही अन्तर्गत आता है, अतः शाबरभाष्य में इसका दूसरा लक्षण किया गया है ॥ १–२ ॥

पुरुषप्रत्ययेनैव तत्रार्थः सम्प्रतीयते ।
तदीयवचनत्वेन तस्मादागम एव सः ॥ ३ ॥

'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य से भी तभी बोध होता है, जब कि उसमें आप्तोच्चरितत्व का निश्चय रहे। अतः 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्या० सू० अ० १ आ० १ सू० ७) इस न्यायसूत्र के अनुसार भी उक्त न्यायसूत्रानुयायी उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण के ही अन्तर्गत आ जाता है ॥ ३ ॥

सदृशादुपजायेत या मतिः सदृशान्तरे ।
ध्यानादिस्मृतितुल्यत्वात् सा प्रमाणं कथं भवेत् ॥४॥

(पृ० ५०) शाबरभाष्य में जो 'उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' उपमान का यह लक्षण लिखा गया है, एवं 'यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य' इस वाक्य से उदाहरण दिखलाया गया है, वे दोनों ही सङ्गत नहीं हैं, क्योंकि सादृश्य विशिष्ट गो का प्रत्यक्ष जिस गोविषयक स्मरण को उत्पन्न करता है, उसी स्मरण को उपमान कहा गया है। किन्तु स्मरणात्मक होने से वह प्रमाण हो ही नहीं सकता। इष्ट देवता का जो बार-बार स्मरण रूप ध्यान किया जाता है, उस ध्यानात्मक स्मरण से इस गोस्मरण का कोई भी अन्तर नहीं है। ध्यान यदि स्मरणात्मक होने से प्रमाण नहीं है, तो गो की उक्त स्मृति भी प्रमाण (प्रमा) नहीं है ॥ ४ ॥

देशकालादिभेदेन यथान्यत्र विशिष्यते ।
प्रमेयं नैवमस्त्यत्र नगरस्थानुसारतः ॥ ५ ॥

(जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा स्वरूप ज्ञान देवदत्तादि विषयों में ज्ञातज्ञापक स्मृति स्वरूप होने पर भी एतत्काल वा एतद्देश रूप अंश में अज्ञात-ज्ञापक होने के कारण प्रमाण है। उसी प्रकार अतिदेशवाक्यजन्य ज्ञान भी कुछ अंशों में ज्ञातज्ञापक होने पर भी कुछ अंशों में अज्ञातज्ञापक होने से प्रमाण हो सकता है। किन्तु) इस कथन में भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि कथित उपमान तो नगरस्थ व्यक्ति के अनुभव के अनुसार ही उत्पन्न होता है। अतः नगरस्थ व्यक्ति के

पूर्वानुभव में विषयीभूत वस्तु से अधिक कोई भी वस्तु विषय नहीं हो सकती। अतः यह स्मृति प्रत्यभिज्ञा के समान नहीं है ॥ ५ ॥

श्रुतातिदेशवाक्यानामारण्ये गवये मतिः।
या सोपमानं केषाञ्चिद् गोसादृश्यानुरञ्जिता ॥ ६ ॥

कुछ नैयायिकगण उपमान का स्वरूप ऐसा मानते हैं—जिस पुरुष ने गो को प्रत्यक्ष देखा है और 'गौरिव गवयः' यह अतिदेश वाक्य भी सुन रखा है वन में जाने पर उसी पुरुष को गवय को देखने पर जो गोसादृश्यविशिष्ट गो का ग्राहक 'अयं गवयः गोसादृश्यविशिष्टः' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को वे उपमान कहते हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षो गवयस्तावत् सादृश्यस्मृतिरत्र तु।
ननु सादृश्ययुक्तेऽर्थे न स्मृतिर्नेन्द्रियाद् गतिः ॥ ७ ॥
पूर्ववाक्यार्थविज्ञानान्नाधिक्यं गवये यदि।
स्मरणादविशिष्टत्वात् सङ्गत्तेर्न प्रमाणता ॥ ८ ॥
अथ त्वधिकता काचित् प्रत्यक्षादिवशाद् भवेत्।
यावद्धीन्द्रियसम्बन्धस्तत् प्रत्यक्षमिति स्थितम् ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षो""स्मृतिरत्र तु

नैयायिकों की उक्त कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि गवय तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही गृहीत होता है, उस ज्ञान में भासित होने वाला गोसादृश्य अतिदेश-वाक्य के द्वारा पूर्व में ही अनुभूत है, अतः प्रकृत में वह स्मृति का ही विषय है। इस लिये इन विषयों में किसी के ज्ञान के लिये दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

ननु सादृश्ययुक्ते""नेन्द्रियाद्गतिः

नैयायिकगण कहते हैं कि 'गोसदृशः कश्चिदस्ति' इस प्रकार से साधारण रूप से गोसादृश्य पूर्व से ज्ञात है। एवं स्मरण भी उसका अवश्य होता है। किन्तु सादृश्यविशिष्ट गवय पूर्व से ज्ञात नहीं है, न वह विशिष्ट प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञात होता है। अतः गोसादृश्यविशिष्ट गवयविषयक ज्ञान के लिये उपमान प्रमाण को आवश्यकता है।

पूर्ववाक्यार्थ""न प्रमाणता""तत्प्रत्यक्षमिति स्थितिः

तात्कालिक कारणों से जिन अवगत विषयों का ज्ञान होता है, उस ज्ञान को 'संगति' कहते हैं। इस 'संगति' के 'संवाद' और 'अनुवाद' ये दो नाम और हैं। प्रकृत में 'गोसदृशोऽयं गवयः' इस आकार के जिस ज्ञान की चर्चा है, वह ज्ञान उक्त 'संगति' स्वरूप ही है। यह 'संगति' नाम का ज्ञान चूँकि स्मृति के समान ही पूर्वा-नुभूत विषय से किसी अन्य विषय का नहीं है, अतः स्मृति के समान ही वह भी प्रमाण (प्रमा) नहीं है। अतः इसके लिये उपमान प्रमाण को आवश्यकता नहीं है।

इसलिये 'गोसदृशोऽयं गवयः' इस ज्ञान में जो अंश अतिदेश वाक्य के द्वारा ज्ञात है, वह उपमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इसी ज्ञान का जो गवय स्वरूप अंश पूर्व से ज्ञात नहीं है वह, एवं उसमें रहने वाला सादृश्यवैशिष्ट्य ये दोनों प्रत्यक्ष प्रमाण के ही विषय हैं। जैसे कि घट एवं तद्गत घटत्वादि दोनों ही प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय हैं। यह बात प्रत्यक्षपरिच्छेद के श्लो० २३४ के उत्तरार्द्ध से भी कही जा चुकी है ॥ ७–९ ॥

स्मर्यमाणस्य चांशस्य विवेकेनाप्रमाणता।
श्रुतातिदेशवाक्यत्वं न चातीवोपयुज्यते ॥ १० ॥
येऽपि ह्यश्रुततद्वाक्यास्तेषामपि भवत्ययम्।
प्रत्यक्षदृष्टगोत्वानां वने गवयदर्शिनाम् ॥ ११ ॥

स्मर्यमाणस्य···विवेकेनाप्रमाणता

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि गोसादृश्यज्ञान में विषयीभूत जो 'गो' स्वरूप अंश है, वह स्मरणात्मक है, फिर सम्पूर्ण गोसादृश्य को प्रत्यक्ष का विषय कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि प्रत्यक्षपरिच्छेद में 'विविक्ता एव तेऽर्थाः' (श्लो० २०३) इत्यादि से कहा जा चुका है कि एक ही विशिष्ट ज्ञान का कोई अंश स्मरणात्मक और कोई अंश अनुभवात्मक हो सकता है। अतः इस प्रकार के ज्ञानों के स्मरणांश में अप्रामाण्य और अनुभवांश में प्रामाण्य असंभावित नहीं है। अतः गोसादृश्यज्ञान का जो गवांश है वह चूँकि स्मरणात्मक है, इसलिये गोसादृश्यविषयक अनुभवात्मक ज्ञान के प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है।

श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्···गवयदर्शिनाम्

कथित श्लोक (६) के द्वारा जो उपमान का लक्षण उपस्थित किया गया है, उसमें 'श्रुतातिदेशवाक्यानाम्' यह विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि जिस पुरुष ने 'गोसदृशो गवयः' यह अतिदेश वाक्य नहीं भी सुना है, किन्तु गो को अपनी आँखों से देख चुका है, उस पुरुष को भी वन में गवय को देखने पर 'अयं गोसदृशः' इस प्रकार की उपमिति होती है ॥ १०–११ ॥

अथ संज्ञानुसन्धानं तेषां नास्तीति वर्ण्यते।
न नाम वस्तु तत् तावत् सर्वथा तैः प्रतीयते ॥ १२ ॥

अथ संज्ञाऽनुसन्धानम्···वर्ण्यते

अगर यह कहो कि 'अश्रुतातिदेशवाक्य' पुरुष को यद्यपि 'अयं गोसदृशः' यह ज्ञान होता है, फिर भी 'अयं गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस प्रकार का 'संज्ञानुसन्धान' नहीं होता। 'अयम्' पिण्ड में 'गवयपदवाच्यत्व' की प्रतीति ही वास्तव में उपमिति है, उसके लिये उपमानलक्षणश्लोक में 'श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' यह लिखना उचित ही है।

न नाम''''तैः प्रतीयते

गोसादृश्यविशिष्ट गवय ही प्रकृत में उपमान प्रमाण का प्रमेय है, उसका ज्ञान यदि हो जाता है तो 'गवय शब्द उसकी संज्ञा है' यह ज्ञान यदि नहीं भी होता है तो इसमें कौन सी क्षति है ?

न च शब्दार्थसम्बन्धः प्रमेयोऽत्र तदेष्यते ।
सादृश्यावधृते वाक्ये वाक्यादवगतो ह्यसौ ॥ १३ ॥

न च शब्दार्थसम्बन्धः

नैयायिकगण तो 'समाख्यासम्वन्ध' अर्थात् 'संज्ञासंज्ञिसम्वन्ध' को उपमान प्रमाण का विषय मानते हैं, इस 'सम्वन्ध' स्वरूप इस प्रमेय का ज्ञान उस पुरुष को नहीं हो सकता जिसने 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है। अतः उपमान के कथित लक्षण वाक्य में 'श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' यह विशेषण व्यर्थ नहीं है।

नैयायिकों को यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत उपमान प्रमाण का प्रमेय 'शब्दार्थसम्वन्ध' या 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' है ही नहीं, क्योंकि वह सम्बन्ध तो कथित अतिदेश वाक्य से ही ज्ञात है॥ १३ ॥

न चास्य प्रत्यभिज्ञानं पुनरुत्पद्यते वने ।
शक्त्योरतीन्द्रियत्वेन स्मृतिरेव हि सेष्यते ॥ १४ ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अतिदेश वाक्य के द्वारा ज्ञात समाख्या-सम्वन्ध की 'प्रत्यभिज्ञा' उपमान प्रमाण से ही होती है, क्योंकि अरण्य में जाने पर उक्त पुरुष को 'इसी का नाम गवय है' केवल इतना ही ज्ञात होता है, जितना कि अतिदेश वाक्य से है। न उससे अधिक न उससे कुछ न्यून विषय उसमें भासित होता है। प्रत्यभिज्ञा में पूर्वज्ञात विषय से किञ्चिदधिक विषय का भान होता है।

शक्त्योरतीन्द्रियत्वेन'''सेष्यते

प्रकृत में 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस आकार की वाच्यत्व शक्ति का जो ज्ञान होता है, अथवा 'गवयपदं गोसदृश्यवाचकम्' इस आकार का जो वाचकत्व शक्ति का ज्ञान होता है, ये दोनों ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वाच्यत्व और वाचकत्व ये दोनों ही शक्ति स्वरूप होने के कारण अतीन्द्रिय हैं। अतः उनकी प्रत्य-

---

१. अभिप्राय यह है कि 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य का यही अर्थ है कि 'गो-सादृश्योपलक्षित वस्तु का नाम गवय है'। किन्तु जब तक अरण्य में जाकर गवय पिण्ड को आँखों से नहीं देखता तब तक इतना ही जानता है कि 'गो के सदृश कोई ऐसी वस्तु है जिसका नाम 'गवय' है'। पूरी तरह अतिदेश वाक्य के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को तब तक नहीं जानता जब तक गोसदृश पिण्ड को नहीं देख लेता। देख लेने पर स्मृत उस वाक्य से ही कथित 'समाख्यासम्बन्ध' का या 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' का ज्ञान होता है। अतः यह सम्बन्ध आगम प्रमाण का ही विषय है, उपमान प्रमाण का नहीं।

भिन्ना नहीं हो सकती। अतः उक्त दोनों ही ज्ञान स्मृति स्वरूप हैं अतः प्रमा नहीं हैं। अतः उन ज्ञानों के सम्पादन के लिये भी उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

शब्दानुविद्धबोधेऽपि प्रत्यक्षमुपपादितम् ।
तस्मात् सादृश्ययुक्तार्थः प्रमेयोऽपूर्व उच्यताम् ॥ १५॥

शब्दाऽनुविद्धबोधेऽपि ''उपपादितम्

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान दो प्रकार का होता है (१) अशब्दज्ञानानुविद्ध एवं (२) शब्दज्ञानानुविद्ध। इसमें पहला ज्ञान उस व्यक्ति को होता है, जिसने अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है। दूसरा ज्ञान उस व्यक्ति को होता है जिसने अतिदेश वाक्य सुना है। इनमें पहला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है, क्योंकि उसका विषय पहले अज्ञात है। दूसरा ज्ञान अप्रत्यक्षात्मक है (अर्थात् स्मृत्यात्मक है) क्योंकि उसका विषय अतिदेश वाक्य के द्वारा पहले से ज्ञात है। इनमें अप्रत्यक्षात्मक (स्मृत्यात्मक) दूसरे ज्ञान के सम्पादन के लिये उपमान प्रमाण की आवश्यकता होगी। अतः उपमानलक्षण के बोधक श्लोक में (श्लो० ६) 'श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' इस विशेषण का प्रयोग सार्थक है।

इस कथन का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है कि शब्द प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषय का भी यदि इन्द्रियसंप्रयोगज उपयुक्त ज्ञान हो तथापि उसके प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। इसका उपपादन प्रत्यक्षपरिच्छेद (श्लो० १२३) में किया जा चुका है। अतः प्रकृत गोसादृश्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हो सकता है। उसके लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः उपमानलक्षणबोधक श्लोक के 'श्रुतातिदेशवाक्यानाम्' इस विशेषण का वैयर्थ्य यथावत् है।

तस्मात् ''अपूर्व उच्यताम्

'तस्मात्' उपमान नाम के किसी स्वतन्त्र प्रमाण को मानने की इच्छा रखने वालों को उसके लिये कोई ऐसा सादृश्यविशिष्ट असाधारण विषय चुनना होगा, जिसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा संभव न हो सके। किन्तु ऐसा कोई प्रमेय नहीं है अतः उपमान नाम के किसी प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ १५ ॥

व्यवसायात्मकत्वं तु प्रत्यक्षस्य यदेष्यते ।
जात्यादिवत् तदा तेन सादृश्यं किं न मीयते ॥ १६ ॥

(कल्पनापोढ़प्रत्यक्षवादी बौद्धों के मत से (सामानाधिकरण्य सम्बन्धेन) गोसादृश्यविशिष्ट गोत्व का ज्ञान भले ही प्रत्यक्ष रूप न हो सके, किन्तु) व्यवसायात्मक (सविकल्पक) ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के मत से जैसे कि घटत्वादि जातियों का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही गवयगत गोसादृश्य स्वरूप धर्म का

ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण से क्यों नहीं होगा ? उसके लिये उपमान नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता क्यों स्वीकार की जाय ? ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षाभासमेतत् तु निर्विकल्पकवादिनाम् ।
प्रमेयवस्त्वभावाच्च नाभिप्रेता प्रमाणता ॥ १७ ॥

निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले बौद्धों के मत से तो जिस प्रकार गवादि का भी विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्षाभास ही है, उसी प्रकार गोसादृश्य-विशिष्ट गवय का विशिष्ट ज्ञान भी प्रत्यक्षाभास ही है ।

प्रमेयवस्त्वभावाच्च''प्रमाणता

क्योंकि गवय स्वरूप धर्मी से भिन्न अथवा अभिन्न गोसादृश्य नाम की किसी वस्तु की सत्ता सम्भावित नहीं है। यदि गोसादृश्य को गवय से अतिरिक्त मानेंगे तो गवय को छोड़कर स्वतन्त्र रीति से उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि गवय रूप धर्मी से उसे अभिन्न मानेंगे तो उसमें गवयस्वरूपमात्रता की आपत्ति होगी। अतः उनके मत से उपमान प्रमाण के लिए कोई असाधारण प्रमेय ही नहीं प्रतिपन्न होता। अतः प्रमेयाभावप्रयुक्त ही उपमान प्रमाण की स्वीकृति बाधित है।

बौद्धगण सादृश्य की अतिरिक्त सत्ता को अस्वीकार करने के लिए यह युक्ति भी देते हैं कि आगे विद्यमान गवय में रहनेवाली 'सादृश्य' नाम की कोई वस्तु होती तो पूर्व से अज्ञात रहने पर भी उसके प्रतियोगी के ज्ञान के बिना भी जैसे जाति का ग्रहण होता है, वैसे ही उसका भी ग्रहण होता। किन्तु वस्तुगति इसके सर्वथा विपरीत है अर्थात् पुरःस्थित गवयादि में ही पूर्वानुभूत गोसादृश्य का ज्ञान होता है। एवं उसके लिये प्रतियोगिज्ञान की भी अपेक्षा होती है। इसलिये गोसादृश्य नाम का कोई प्रमेय नहीं है।

यदि यह कहें कि गोसादृश्य प्रतियोगिसापेक्ष है, अतः उसका ज्ञान प्रतियोगिज्ञान के बिना नहीं होता है, तो इस प्रसंग में प्रष्टव्य होता है कि सादृश्य की उत्पत्ति में प्रतियोगी की अपेक्षा है अथवा ज्ञप्ति में। सादृश्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति इन दोनों को प्रतियोगिसापेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मृत देवदत्त के सादृश्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों यज्ञदत्त में होती है। अतः 'सादृश्य' वासनाप्रसूत ही है, उसकी प्रतीति प्रमा नहीं हो सकती। इसलिए वह प्रमेय भी नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम् ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥ १८ ॥

सादृश्यस्यापि''अपबाधितुम्

(इस प्रसंग में मीमांसकों से पूछा जा सकता है कि जिन युक्तियों से बौद्धगण सादृश्य को प्रमेय न मानकर प्रमेय के अभाव से ही उपमान प्रमाण का खण्डन करते हैं एवं सादृश्य के ज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहते हैं, फिर आप उसे प्रत्यक्षगम्य मानकर

उसे उपमान प्रमाण का प्रमेय कैसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर मीमांसक यह देते। हैं कि) सादृश्य की 'वस्तुता' अर्थात् वास्तविक सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अबाधित प्रत्यक्ष प्रतीति के द्वारा ग्राह्य होने के कारण उसकी सत्ता किसी से बाधित नहीं हो सकती।

भूयोऽवयवसामान्ययोगः ...तत्

(यह जो कहा गया है कि सादृश्य यदि स्वतन्त्र प्रमेय होता तो प्रतियोगि के ग्रहण के विना उसका ग्रहण होता ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये सादृश्य के स्वरूप को जानना आवश्यक है। सादृश्य का यह स्वरूप है :—)

विभिन्न जाति की वस्तु के अवयवों के सामान्य (समानता) के साथ विभिन्न जाति की वस्तुओं का 'योग' अर्थात् सम्बन्ध ही 'सादृश्य' है। इस स्वरूप के सादृश्य का ज्ञान प्रतियोगिज्ञान के विना सम्भव नहीं है। किन्तु इस सापेक्षता से सादृश्य की वस्तुसत्ता में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि प्रतियोगी उसके स्वरूप के अन्तर्गत है।

उक्त 'योग' अथवा 'सम्बन्ध' की जिस किसी प्रकार की सत्ता सादृश्य के प्रकृत लक्षण में 'योग' शब्द से अभिप्रेत नहीं है किन्तु जात्यन्तरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट वस्तु का जात्यन्तर की वस्तु के साथ 'योग' ही विवक्षित है। प्रकृत में गोसादृश्य का गवय में इस प्रकार के 'योग' को विना गो स्वरूप प्रतीयोगी के जानना सम्भव नहीं है। इस प्रकार उक्त विशिष्ट योग अथवा विशिष्ट सम्बन्ध को जानने के लिए गो स्वरूप प्रतियोगी को जानना आवश्यक है। इसलिए प्रतियोगी को जाने विना सादृश्य को न जान सकना उचित है। किन्तु इससे सादृश्य की वास्तविकता में कोई बाधा नहीं आती है।

'सादृश्य' के उक्त लक्षण में 'अवयव' का ग्रहण भी उपलक्षण ही है, अवयव पद उसके सभी सम्बन्धियों का बोधक है एवं 'जाति' शब्द भी उसमें रहनेवाले सभी धर्मों का बोधक है।[1]

यह जो कहा गया है कि सादृश्य की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं है—सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्य की उत्पत्ति में या ज्ञप्ति में प्रतियोगी अपनी सत्ता के द्वारा भले ही अपेक्षित न रहे किन्तु स्वस्मरण के द्वारा अवश्य ही अपेक्षित है।

---

१. अभिप्रेतार्थ यह है कि जिस एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अवयवों में, गुणों में अथवा कर्मों में रहने वाले सामान्य (समानता) का 'योग' रहे, वह 'योग' ही सादृश्य है। इस प्रकार सादृश्य न 'अवस्तु' है, न द्रव्यादि स्वीकृत पदार्थों से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है, क्योंकि जहाँ कहीं भी सादृश्य की बुद्धि उत्पन्न होती है, वहाँ इन दोनों का का अन्वय और व्यतिरेक दोनों अवश्य रहते हैं। इस 'सामान्य' अथवा समानता के भूयस्त्व और अल्पत्व से ही सादृश्य में भूयस्त्व और अल्पत्व का व्यवहार होता है।

जहाँ केतकी को गन्ध और सर्प की गन्ध के समान प्रतियोगी और अनुयोगी के गुणों में समानता रहती है, ऐसे स्थलों में अवयवी के गुणों में अवयवों के गुणों की समानता के आधार पर सादृश्य का व्यवहार होता है।

इसी प्रकार यागादि क्रियाओं में भी परस्पर द्रव्य और देवता के ऐक्य के कारण सादृश्य का व्यवहार होता है ॥ १८ ॥

सदृशावयवत्वं तु यत्र पद्मदलाक्षिवत् ।
तत् स्वावयवसामान्यभूम्ना तेषां भविष्यति ॥ १९ ॥

जहाँ एक अवयवी के अवयवों के साथ दूसरे अवयवी के अवयवों में सादृश्य का व्यवहार होता है—जैसे कि कमलपत्र के साथ 'कमलपत्राक्षी' स्त्री के अवयव-भूत चक्षु में सादृश्य का व्यवहार होता है वह कैसे उपपन्न होगा ? क्योंकि जात्यन्तर-भूत अवयवों में दूसरी जाति के अवयवी के अवयवों के सामान्य (समानता) के 'योग' को सादृश्य कहा गया है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि) पद्मपत्र और चक्षु ये दोनों भी अपने अवयवों के अवयवी हैं, उन अवयवों की समानता के योग से ही ऐसे स्थलों में सादृश्य का व्यवहार जानना चाहिये ॥ १९ ॥

एवं जातिगुणद्रव्यक्रियाशक्तिस्वधर्मतः ।
एकैकद्वित्रिसामस्त्यभेदादेतस्य चित्रता ॥ २० ॥

इस प्रकार (१) जाति (२) गुण (३) द्रव्य (४) क्रिया (५) शक्ति एवं (६) स्वधर्म प्रभृति सामान्य (समानता) के 'योग' से अर्थात् कहीं एक सामान्य के योग से कहीं दो सामान्यों के योग से और कहीं तीन सामान्यों के योग से सादृश्य के विविध भेद हैं।

(१) जाति (जन्म) मूलक सादृश्य का व्यवहार अग्नि और ब्राह्मण में 'अग्निर्वै ब्राह्मणः' इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है, क्योंकि अग्नि और ब्राह्मण दोनों की उत्पत्ति एक ही ब्रह्मा के मुख से 'प्रजापतिर्मुखतस्त्रिवृतं छन्दसां निरमिमीत, अग्निं देवानाम् ब्राह्मणं मनुष्याणाम्' इस श्रुति के द्वारा कथित है।

(२) गुणसामान्य के योग से दो चित्रों में सादृश्य का व्यवहार होता है।

(३) द्रव्यसामान्यमूलक सादृश्य का व्यवहार एक प्रकार के अलङ्कार धारण करनेवालों में अथवा एक प्रकार के धनादि से युक्त पुरुषों में होता है।

(४) क्रिया सामान्य (समानता) के योग से श्येनयाग में अन्य यागों से सादृश्य का व्यवहार होता है।

(५) समान शक्ति के कारण सिंह और देवदत्त में सादृश्य का व्यवहार 'सिंहो वै देवदत्तः' इत्यादि आकारों का होता है।

(६) पञ्चावत्तनराशंस और द्वितीय प्रयाजत्वादि में स्वधर्म सामान्य के योग से सादृश्य का व्यवहार होता है।

न धर्मा एव सादृश्यं भूयस्ता वा तदाश्रया।
भूयस्त्ववद्धि जात्यादि सदृशत्वेन दृश्यते ॥ २१ ॥

(इस प्रसंग में किसी का आक्षेप हो सकता है कि अवयव सामान्य स्वरूप धर्म अथवा उक्त धर्मों के भूयस्त्व को ही सादृश्य का लक्षण कहना चाहिये। इन धर्मों के 'योग' पर्यन्त जाना व्यर्थ है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि :—)

अवयव सामान्य अथवा उन सामान्यों में रहनेवाले भूयस्त्व को सादृश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूयस्त्व से युक्त सामान्य में ही सादृश्य का व्यवहार होता है। अर्थात् गवय जाति गोजातीय अवयवी के अवयवों की समानता (सामान्य) से युक्त होने के कारण गोसदृशत्व रूप से व्यवहृत होता है। अतः 'सामान्ययोग' ही 'सादृश्य' है। सामान्य अथवा सामान्यगत भूयस्त्व सादृश्य नहीं है ॥ २१ ॥

यमयोः कथमेतच्चेद् दृष्टत्वात् किमिहोच्यते।
क्वचिद्धि भूयसामेतत् क्वचिदल्पीयसामपि ॥ २२ ॥
नैतावता विशेषेण वस्तुत्वं तस्य हीयते।
सामान्यान्यपि चैतानि नाशीन्याश्रयनाशतः ॥ २३ ॥
अनन्ताश्रययोगाच्च न नाशोऽन्यत्र विद्यते।
तेन सर्वं न सामान्यं नित्यत्वेन प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

यमयोः कथमेतच्चेत्

कोई आक्षेप करते हैं कि–'भूरिसामान्ययोग' स्वरूप सादृश्य को मानें तो 'यम' अर्थात् जुड़वे दो भाइयों में सादृश्य का व्यवहार कैसे उपपन्न होगा ? अर्थात् 'सामान्य' नित्य है, यमज दो भाई विनाशशील हैं, अतः उनके अवयवों का भी आश्रय के विनाश से विनाश अवश्य होगा। इसलिये आश्रय के अभाव से यमज दो भाइयों में सादृश्य अनुपपन्न हो जायगा।

दृष्टत्वात्किमिहोच्यत्

यमज भाइयों में भी अवयव की समानता का सम्बन्ध (योग) देखा जाता है, अतः वहाँ भी सादृश्य का व्यवहार अनुपपन्न नहीं है।

क्वचिद्धि… अल्पीयसामपि

समानता (सामान्य) का यह 'योग' कहीं बहुत से अवयवों का होता है। कहीं दो ही अवयवों का होता है, किन्तु इससे कथित 'सामान्ययोग' के 'वस्तुत्व' में (वास्तविकता में) कोई व्याघात नहीं होता है।

सामान्यान्यपि…नाशतः

यह जो कहा गया है कि यमज भाइयों के विनाश से आश्रयाभाववश अवयव 'सामान्य' अनित्य हो जायगा। फलतः सामान्य के नित्यत्व का सिद्धान्त व्याहत हो जायगा। इस कथन में भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि आश्रय के अभाव से यदि कोई सामान्य अनित्य ही होगा तो इसमें क्षति ही क्या है ?

गोत्वादि सामान्य भी इसलिये नित्य नहीं है कि वे जातिस्वरूप हैं, नित्य इसलिये है कि उनके आश्रय अनन्त हैं, अतः सभी समयों में कोई न कोई आश्रय व्यक्ति अवश्य रहती है। अतः सभी सामान्य नित्य नहीं हैं ॥ २१–२४ ॥

सामान्यानां न वा नाशः क्वचिदभ्युपगम्यते।

सर्वस्य ह्याश्रयः कश्चिदस्ति देशान्तरादिषु ॥ २५ ॥

वस्तुतः सामान्य नित्य ही हैं, क्योंकि सभी सामान्यों का कोई न कोई आश्रय विश्व में सभी समय कहीं न कहीं अवश्य रहता है ॥ २५ ॥

तेषां भूयस्तया चेदं सादृश्यमतिरिच्यते।

तानि व्यस्तानि सन्त्येवं प्रत्यक्षेऽपि क्वचित् क्वचित् ॥ २६ ॥

यमज भाइयों के इतने अधिक अंशों में अवयवों की समानता है कि कुछ न्यून अंशों में समानतावाले सादृश्यों से कुछ अतिरिक्त प्रतीत होती है। यमज भाइयों में जो परस्पर अवयवों के सादृश्य हैं, वे भी नित्य ही हैं, क्योंकि उनमें से कुछ अवयवों की समानता तो किसी न किसी वस्तु में सर्वदा अवश्य ही है। (यमज भाइयों की तरह इतने अंशों में समानता कभी न रहे) अतः आश्रय के अभाव से इस सामान्य को भी अनित्य नहीं कहा जा सकता ॥ २६ ॥

सदृशावयवत्वं तु यत्र नाम प्रतीयते।

तदप्यवयवानां स्यात् समानावयवान्तरैः ॥ २७ ॥

पद्मदल और अक्षि प्रभृति में जिस प्रकार परस्पर के अवयवों में ही समानता के कारण सादृश्य का उपपादन किया गया है, उसी प्रकार अवयव के अवयवों में परस्पर समानता के आधार पर सादृश्य का उपपादन करना चाहिये ॥ २७ ॥

एवं तावद् यतो नास्ति पराभेदप्रकल्पना।

ततः परं तु सामान्यं भवेत् सादृश्यवर्जितम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार द्व्यणुक पर्यन्त के द्रव्यों में परस्पर अवयवपरम्परामूलक समानता के आधार पर सादृश्य का उपपादन करना चाहिये। इसके आगे निरवयव परमाणुओं में जिस किसी प्रकार के सामान्य हैं, वे सादृश्यबुद्धि के प्रयोजक नहीं हैं। अर्थात् उन्हें 'समान' तो कहा जा सकता है किन्तु 'सदृश' नहीं कहा जा सकता।

प्रधानानां तु सामान्यं यत्रैकं सम्प्रतीयते।

स एवेति भवेत् तत्र तद्भेदे सदृशत्वधीः ॥ २९ ॥

अनेक गो व्यक्तियों में तद्व्यक्तित्वप्रयोजक अवयवभेदादि की प्रतीतिपूर्वक जहाँ सामान्य की प्रतीति होती है, वहाँ उनमें सादृश्य की प्रतीति होती है। किन्तु जहाँ दोनों में रहने वाले 'गोत्व' सामान्य मात्र की प्रतीति होती है, वहाँ सादृश्य की प्रतीति नहीं, किन्तु अभेद की प्रतीति होती है। इस रीति से सादृश्य भेद-मूलक है ॥ २९ ॥

चित्रादौ यत्र सादृश्यं सामान्यं तत्र किं भवेत् ।
तत्रापि पृथिवीवर्णविशेषादिसमानता ॥ ३० ॥

चित्रादौ ''तत्र किंभवेत्

चित्र में जो मनुष्य के सादृश्य की प्रतीति होती है, वह कैसे उपपन्न होगी ? मनुष्य के अवयवों के जो हस्तत्वादि धर्म हैं, वे चित्र के अवयवों में नहीं रह सकते।

तथापि ''समानता

मनुष्य के हस्तादि अवयवों में रहने वाले हस्तत्वादि धर्म चित्र भले ही न रहें, तथापि मनुष्य के संस्थान, परिमाण, वर्ण प्रभृति में सामान्यों की सत्ता है ही। उन्हीं से चित्र में मनुष्य के सादृश्य की उपपत्ति होगी ॥ ३० ॥

रूपगन्धरसानां च कस्यचित् तुल्यता क्वचित् ।
नावश्यं सर्वसामान्यात् सादृश्यमुपजायते ॥ ३१ ॥

जिन द्रव्यों के अवयवों में समानता के न रहने पर भी रूप रस गन्धादि में समानता रहती है, उन द्रव्यों में रूप-रसादिगत सामान्यमूलक भी सादृश्य का व्यवहार होता है। फलतः जिस किसी प्रकार के सामान्य (समानता) के रहने पर सादृश्य का व्यवहार होता है। यह नियम नहीं हैं कि केवल अवयवगत सामान्य के रहने पर ही सादृश्य का व्यवहार हो, अथवा रूपादिगत सामान्य के रहने पर ही सादृश्य का व्यवहार हो। सादृश्य के व्यवहार के लिये अवयवगत सभी धर्मों में समानता आवश्यक नहीं है ॥ ३१ ॥

पृथिव्यादिषु चैतेषां सतामेव स्वभावतः ।
परिणामादिभिर्व्यक्तिर्यथादृष्टमवधार्यते ॥ ३२ ॥

अथवा 'सर्वं सर्वात्मकम्' इस न्याय के अनुसार पृथिव्यादि सभी द्रव्यों में सब रूप-रसादि सर्वदा विद्यमान रहते हैं। किन्तु 'परिणाम' अथवा चित्रकार के कौशल के कारण विशेष द्रव्यों में विशेष रूप-रसादि की ही उपलब्धि होती है। एतावता जहाँ जिनकी उपलब्धि नहीं होती है वहाँ भी उनकी सत्ता को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ ३२ ॥

न हि शक्त्यात्मना किञ्चिदसज्जन्म प्रपद्यते ।
धर्माणां न च नानात्वमस्ति चावान्तरस्थितिः ॥ ३३ ॥

न हि शक्त्यात्मना''प्रपद्यते

क्योंकि पहले से अपने उपादान में सूक्ष्म रूप से अविद्यमान वस्तु की कभी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) नहीं हो सकती। जैसे कि गगन में कुसुमादि की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः सभी कार्य अपने उपादानों में अभिव्यक्ति से पूर्व भी विद्यमान रहते हैं[1]।

---

१. श्रीपार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में लिखा है कि वार्तिककार की यह उक्ति सत्कार्य-वादियों के मत के अनुसार है। मीमांसकगण सर्वथा अयुक्त होने के कारण इस मत को स्वीकार नहीं करते।

धर्माणाम्...अस्ति

(यह जो कहा गया है कि सादृश्य अपने धर्मी से भिन्न है ? या अभिन्न ? इस का यह उत्तर है कि) सादृश्य अपने आश्रयीभूत धर्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है।

अस्ति चावान्तरस्थितिः

एवं धर्म (सादृश्य) अपने आश्रयीभूत धर्मी से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। किन्तु 'धर्म' की 'अवान्तर स्थिति' है अर्थात् वह अपने धर्मी से कुछ अंशों में भिन्न भी है एवं कुछ अंशों में अभिन्न भी ॥ ३३ ॥

वस्तुत्वे सति चास्यैवं सम्बन्धस्य च चक्षुषा।
द्वयोरेकत्र वा दृष्टेः प्रत्यक्षत्वं न वार्यते ॥ ३४ ॥

(इस प्रकार सादृश्य की वस्तुसत्ता के प्रतिपादित होने पर 'प्रमेयवस्त्व-भावाच्च नाभिप्रेता प्रमाणता' इत्यादि से उपमान के प्रामाण्य पर जो आक्षेप किया गया था, उसका भी निराकरण हो जाता है। उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध से जो सादृश्य-ज्ञान के प्रत्यक्षत्व के ऊपर आक्षेप किया गया है, उसका यह समाधान है कि) वस्तु-भूत सादृश्य के साथ चक्षु का एक धर्मी में संनिकर्ष के रहने पर जो बुद्धि उत्पन्न होती है, अथवा चक्षुःसंनिकर्ष के कारण जो धर्म और धर्मी का एक ही समय बुद्धि उत्पन्न होती है, उनके प्रत्यक्षत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। तदनुसार गवय में जो गो की सादृश्यबुद्धि उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उपपन्न हो जायगी, उसके लिये अलग से उपमान प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३४ ॥

सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तस्मात् तदुपपद्यते ॥ ३५ ॥

धर्म दो प्रकार का होता है (१) व्यासज्यवृत्ति और (२) अव्यासज्यवृत्ति। 'व्यासज्यवृत्ति' वह धर्म है जो पर्याप्तितया अपने सभी आश्रयों में ही प्रतीत हो, प्रत्येक में नहीं। जैसे कि उभयत्व-त्रित्वादि। इन धर्मों की प्रतीति अपने आश्रयीभूत प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती। जैसे कि 'एकमुभयम्, एकं त्रीणि' इत्यादि प्रतीतियाँ नहीं होती हैं। यद्यपि एक व्यक्ति में भी द्वित्व-त्रित्वादि धर्मों का सम्बन्ध है। दूसरा 'अव्यासज्यवृत्ति' धर्म वह है जिसकी प्रतीति आश्रयीभूत समुदाय और तद्घटक प्रत्येक में समान रूप से होती है, जैसे कि घटत्वादि सामान्य। इनकी सत्ता सभी घटादि व्यक्तियों में समस्त और व्यस्त रूप से होती है।

यह 'सादृश्य' स्वरूप धर्म अव्यासज्यवृत्ति है। अतः गोस्वरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष न होने पर भी गवयस्वरूप दूसरे आश्रय में उसका प्रत्यक्ष हो सकता है ॥ ३५ ॥

तत्र यद्यपि गां स्मृत्वा तद्ज्ञानमुपजायते।
सन्निधेर्गवयस्थत्वाद् भवेदिन्द्रियगोचरः ॥ ३६ ॥

(चक्षु के द्वारा गवय में जो गोसादृश्य का ज्ञान होता है, उसका यह क्रम है कि पहले गवय में चक्षु के संयोग से गवयत्वविशिष्ट गवय का प्रत्यक्ष होता है। बाद में गो का स्मरण, तदन्तर उस गवय में गोसादृश्य का प्रत्यक्ष होता है। इस क्रम के अनुसार गवय में चक्षुः संयोग और गवय में गोसादृश्य के बीच में गोस्मरण के रहने से उक्त चक्षुःसंयोग गोस्मरण से व्यवहित होने के कारण गवय में गोसादृश्यविषयक प्रत्यक्ष का 'कारण' नहीं हो सकता। अतः गवय में गोसादृश्य का जो ज्ञान होता है, वह 'प्रत्यक्षाभास' ही है। अतः उक्त गोसादृश्यविषयक प्रमा के लिये ही उपमान प्रमाण आवश्यक है। नैयायिकों का यह कथन इस लिये अयुक्त है कि—)

मध्य में गो का स्मरण होने पर भी गवय में जो चक्षुःसम्बन्ध है उसमें कोई बाधा नहीं आती है। अतः नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं है कि गवयनिष्ठ गोसादृश्य के ज्ञान के लिये उपमान प्रमाण मानना चाहिये ॥ ३६ ॥

तस्माद्यत् स्मर्यतेतत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ ३७ ॥

जिस लिये कि प्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण का कोई प्रमेय नहीं है 'तस्मात्' इसी हेतु से भाष्यकार ने (१) गवयसादृश्यविशिष्ट स्मर्यमाण 'गो' को (२) अथवा स्मर्यमाण गो में रहने वाले गवय के सादृश्य को उपमान प्रमाण का प्रमेय कहा है ॥ ३७ ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ ३८ ॥

(भाष्यकार के उदाहरण के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि गवय में गोसादृश्य का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है। 'गो' स्मृति का विषय है। फिर कौन सा विषय अवशिष्ट रह जाता है जिसको प्रमा के लिये उपमान को प्रमाण माना जाय ? इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

यह ठीक है कि कथित विषयों में से प्रत्येक का ग्रहण अन्य कारणों से हो सकता है, किन्तु 'स्मर्यमाण गोनिष्ठ गवयसादृश्य' स्वरूप 'विशिष्ट' का ग्रहण किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं है। अतः यह 'विशिष्ट' ही उपमान प्रमाण का प्रमेय है। इसके लिये उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है ॥ ३८ ॥

प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके।
विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार पर्वतादि देश (पक्ष) प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात रहते हैं। वह्नि प्रभृति साध्य स्मृति के द्वारा गृहीत रहते हैं। फिर भी 'वह्निविशिष्ट पर्वत' स्वरूप 'विशिष्ट' विषय की प्रमा के लिये अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपमान के प्रसङ्ग में भी जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

यत्र स्वसदृशावेव कल्पयित्वोपजायते।
सादृश्यप्रत्ययस्तत्र तदाभासत्वकल्पना ॥ ४० ॥

(उपमान को उपमानाभास से पृथक् समझाने के लिए ही उपमान का लक्षण कहा गया है, किन्तु उपमानाभास क्या है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) जिन दो असदृश वस्तुओं में सादृश्य की कल्पना के द्वारा जिस (कल्पित) सादृश्य का प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसको ही 'उपमानाभास' कहते हैं ॥ ४० ॥

बाधकप्रत्ययाच्चैषा सादृश्याभासता मता ।
यथा पलालकूटस्य सादृश्यं कुञ्जराविना ॥ ४१ ॥

बाधबुद्धि के द्वारा 'सादृश्याभास' का निर्णय होता है । अर्थात् जहाँ सादृश्य-बुद्धि के बाद 'नेमौ सदृशौ' यह बाधबुद्धि उत्पन्न होती है, उस सादृश्य को ही सादृश्याभास समझना चाहिये । जैसे कि पुआल की ढेर की तुलना यदि हाथी से की जाय तो वह सादृश्य नहीं, 'सादृश्याभास' होगा ॥ ४१ ॥

समीपस्थोऽपि जानाति सादृश्यं नेति तत्र हि ।
न बाध्यते समीपादौ यत् तु सादृश्यमेव तत् ॥ ४२ ॥

क्योंकि सादृश्य के अनुयोगी पुआल के समीप रहनेवाला पुरुष सहज में ही उसमें हाथी के सादृश्य की असारता को समझकर उसके साधक उपमान को सहज में ही उपमानाभास समझ लेता है ।

न बाध्यते''''सादृश्यमेव तत्

इस प्रकार गवय के समीप का व्यक्ति पूर्वदृष्ट गो के सादृश्य को समझकर उसे उपमान प्रमाण का कार्य समझ लेता है, क्योंकि वह सादृश्यबुद्धि बाधित नहीं होती है ॥ ४२ ॥

न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात् ।
प्राक् प्रमेयस्य सादृश्य न धर्मत्वेन गृह्यते ॥ ४३ ॥

प्रमाणद्वयवादी बौद्ध एवं वैशेषिकगण एवं प्रमाणत्रयवादी सांख्याचार्यगण उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं । उन लोगों के मत से भी 'एतत्सदृशी मदीया गौः' इसी प्रकार का अनुमान होगा । तदनुसार एतत्सदृशत्वविशिष्ट मदीय'गो' स्वरूप पक्ष ही अनुमान प्रमाण का प्रमेय होगा । इसकी सिद्धि के प्रयोजक (१) गोगत गवयसादृश्य (२) गवयगत गोसादृश्य एवं (३) सादृश्यविशिष्ट गवय ये तीन ही हो सकते हैं । इन तीनों हेतुओं में से किसी हेतु में पक्षधर्मता की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

प्राक्प्रमेयस्य''''गृह्यते

(१) गोगत गवयसादृश्य को गोस्वरूप पक्ष का धर्म उपमान प्रमाण से ही समझा जा सकता है । अतः उपमान के प्रतिनिधिभूत अनुमान में उपमानसापेक्ष पक्षधर्मता का उपयोग नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

गवये गृह्यमाणं च न गवामनुमापकम् ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥ ४४ ॥

गवये गृह्यमाणम्''अनुमापकम्

(२) गवय में रहनेवाला गोसादृश्य गोस्वरूप पक्ष (प्रमेय) का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो गवय का धर्म है। अतः उस हेतु से गोगत गवयसादृश्य का अनुमान नहीं हो सकता।

प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात्''लिङ्गता

गोगत गवयसादृश्य को हेतु होने में दूसरी बाधा यह है कि प्रतिज्ञा का 'गौः गवयसादृश्यवान्' यह स्वरूप है। गवयसादृश्य इस प्रतिज्ञा के द्वारा कथित अर्थ का ही एक अंश है। प्रतिज्ञार्थैकदेश में हेतुता का खण्डन अनेक बार किया जा चुका है ।।४४।।

गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति।
सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ।। ४५ ।।

(३) एवं गोसादृश्यविशिष्ट गवय भी पक्षधर्म न होने के कारण हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि गवय गोस्वरूप पक्ष का धर्म नहीं है ।। ४५ ।।

सादृश्यं न च सर्वेण''तदन्वयि

(इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि गोस्वरूप पक्ष में संयोगसमवायादि (वृत्तिनियामक) सम्बन्ध से गवय भले ही न रहे, किन्तु सादृश्यादि (वृत्तनियामक) सम्बन्ध तो गो में गवय का है ही। 'पक्षधर्म' होने के लिये पक्ष में हेतु के संयोगादि सम्बन्धों का ही रहना आवश्यक नहीं है, जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध रहने से भी पक्षधर्मता की उपपत्ति हो सकती है। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि :—)

यदि किसी प्रकार 'गोसादृश्यविशिष्ट गवय को पक्ष का धर्म मान भी लें तथापि उस गवय के साथ सादृश्य सम्बन्ध से गो का 'अन्वय' (सामानाधिकरण्य) संभव नहीं है, क्योंकि गो में गवय का सादृश्य अभी ज्ञात होता है। गवयगत गोसादृश्य पहले तो गतगवय सादृश्य के साथ ज्ञात नहीं है। अतः गोसादृश्यविशिष्ट गवय भी हेतु नहीं हो सकता[1] ।। ४६ ।।

एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने।
सादृश्येन सहैवास्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ।। ४७ ।।

एवं जिस व्यक्ति ने गो और गवय दोनों को साथ-साथ एक ही समय नहीं भी देखा है, किन्तु केवल गो को देखने के बाद वन में जाने पर गवय को देखता है,

१. इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने एक ही समय गो और गवय दोनों को साथ देखा है, अथवा अन्य किन्हीं दो सदृश वस्तुओं को साथ देखा है, उस व्यक्ति को सादृश्य के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में सादृश्य सम्बन्ध से अन्वय का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि यह व्याप्ति है कि जो जिसके सदृश होता है, वह भी उसके सदृश होता है। इस आक्षेप के समाधान के लिये श्लोक में 'सर्वेण' इस अभिप्राय से दिया है कि सभी व्यक्तियों को समान काल में सदृश दो व्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। फलतः किसी व्यक्ति को उक्त समानकालिक अन्वयग्रहण सामान्य रूप से नहीं भी हो सकता है।

उसको भी गो में गवय के सादृश्य की प्रतीति होती है। यह प्रतीति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती। इसलिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है ॥४७॥

शृङ्गित्वादेरथोच्येत सम्बन्धाल्लिङ्गता गवि ?।
न तेषां गवयज्ञानव्यापारं प्रत्युपक्षयात् ॥ ४८ ॥

यदि यह कहें कि गो में गवयसादृश्य का अनुमापक दोनों में रहनेवाले 'शृङ्गित्वादि' (शृङ्गादि) धर्म हैं, किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वे शृङ्गित्वादि धर्म तो गवय में केवल गोसादृश्यज्ञान को उत्पन्न करके ही कृतकार्य (उपक्षीण) हो जाते हैं। उनसे गो में गवयसादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। शृङ्गित्वादि धर्मों से तो पहले गो में गवयसादृश्य का ज्ञान होता है। उस सादृश्य-ज्ञान से गो में गवयसादृश्य की 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस आकार की प्रतीति होती है, जो उपमान प्रमाण से ही सम्भव है। अतः शृङ्गित्वादिलिङ्गक अनुमान से भी प्रकृत में काम नहीं चल सकता ॥ ४८ ॥

यदि तेभ्यः प्रतीतिः स्यान्निःसादृश्यैव सा भवेत् ।
न गौः शृङ्गादिसदृशी सदृशी गवयेन तु ॥ ४९ ॥

यदि शृङ्गित्वादि स्वरूप लिङ्गों द्वारा प्रतीति होगी भी तो वह सादृश्य-शून्य केवल गो की ही होगी, क्योंकि 'गो' शृङ्गादि के सदृश नहीं है, किन्तु गवय के सदृश है ॥ ४९ ॥

सदृशप्रत्ययं दृष्ट्वा शृङ्गादिप्रत्ययात् परम् ।
गवयप्रत्ययादेव गोज्ञानमुपजायते ॥ ५० ॥

शृङ्गित्वादि लिंगों से भी पहले गवय में गोसादृश्य की प्रतीति ही होती है। उसके बाद उस लिंगज गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान से गो में गवयसादृश्य की प्रतीति होती है। फलतः गोनिष्ठ गवयसादृश्य की प्रतीति लिंगज नहीं है ॥ ५० ॥

सदृशावयवत्वे तु तेषामेवोपमा भवेत् ।
न च शृङ्गादयो यत्र तत्र गौरनुमीयते ॥ ५१ ॥

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि दोनों शृङ्गित्वादि धर्मों में भी तो परस्पर सादृश्य है। सादृश्य से युक्त इन धर्मों से गो में गवयसादृश्य की प्रतीति हो सकती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे शृङ्गित्वादि धर्मों में ही परस्पर सादृश्य की प्रतीति होगी। शृङ्गित्वादि धर्मों से तो सादृश्यरहित हो गवादि की प्रतीति होगी। किन्तु अनैकान्तिक होने के कारण शृङ्गित्वादि तो गो का अनुमापक लिंग भी नहीं है ॥ ५१ ॥

इत्थं चानुमिमानस्य भ्रान्तज्ञानं प्रसज्यते ।
नगरस्थे तु गोज्ञानं स्मरणान्नातिवर्तते ॥ ५२ ॥

इस प्रकार यदि सादृश्य से रहित केवल गो को ही अनुमेय मानेंगे तो प्रश्न होगा कि गो का यह अनुमान किस देश में होगा ? क्या (१) जहाँ गवय में

शृङ्गादि धर्म देखे जाते हैं, उस देश में होगा ? (२) नगर में, जहाँ गो पहले दृष्ट थी ? इन दोनों में से एक भी संभव नहीं है, क्योंकि गवयदेश में गो बाधित है। अतः उस देश में यदि गो का ज्ञान मानेंगे तो वह ज्ञान भ्रान्ति रूप ही होगा। एवं असंनिकृष्ट नगर में गो का ज्ञान स्मरण रूप ही होगा। अतः वह भ्रान्ति स्वरूप ही होगा। इस लिए अनुमानादि से भिन्न उपमान नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है ॥ ५२ ॥

भिन्नानुमानादुपमेयमुक्तम्,
सौर्यादिवाक्यैरसहायि दृष्टम्।
सादृश्यतोऽन्यादियुतं कथं नु,
प्रत्याययेदित्युपयुज्यते नः ॥ ५३ ॥

इस उपमान प्रमाण का पहला असाधारण उपयोग यह है कि 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इस वाक्य का सादृश्य आग्नेय वाक्य में भी है। अतः सौर्य चरु के निर्वाप में होने वाले क्रियाकलापों का अतिदेश आग्नेय चरु के निर्वाप में भी होता है। यह कार्य अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता। इस प्रकार उपमान प्रमाण हम आस्तिकों के लिये परम उपयोगी है ॥ ५३ ॥

प्रतिनिधिरपि चैवं व्रीहिसादृश्ययोगाद्,
भवति तदपचारे यत्र नीवारजातौ।
तदपि फलमभीष्टं लक्षणस्योपमायाः,
प्रतिकृतिरपि गौणैर्बोध्यते यत्र चान्यैः ॥ ५४ ॥
यदि सुसदृशमन्यल्लभ्यते तत्र मिथ्या
भवति विसदृशत्वान्मन्दसादृश्ययुक्तम्।
मतिरपि च तथैव द्रागिवोत्पद्यतेऽस्मि-
न्नितरविषयबोधेऽसत्यपीत्यं च बाधः ॥ ५५ ॥

प्रतिनिधिरपि''''लक्षणस्योपमायाः

उपमान प्रमाण का दूसरा उपयोग यह है कि इसी के द्वारा 'व्रीहिभिर्यजेत' से प्राप्त व्रीहि की अप्राप्ति दशा में व्रीहिसदृश नीवार नाम के अन्न से होम होता है। यह कार्य भी अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता।

प्रतिनिधिरपि च गौणैः''''मन्दसादृश्ययुक्तम्

उपमान प्रमाण का तीसरा प्रयोजन यह है कि किसी एक वस्तु का किञ्चित्सादृश्य किसी एक वस्तु में है, एवं उसी वस्तु का भूरि सादृश्य किसी दूसरी वस्तु में है। इस स्थिति में बहुतर सादृश्य से युक्त का ग्रहण एवं अल्पतर सादृश्य से युक्त वस्तु का परित्याग भी उपमान प्रमाण के द्वारा ही संभव है। इसी से अल्पतर सादृश्य से युक्त वस्तु की बुद्धि में अप्रामाण्य भी गृहीत होता है।

मतिरपि''''इत्थं च बाधः

उपमान प्रमाण का चौथा उपयोग यह है कि बहुतर अंशों में सादृश्य से युक्त वस्तु के सादृश्य की बुद्धि भी शीघ्र उत्पन्न होती है। अतः अल्प सादृश्य से युक्त वस्तु में सादृश्य की बुद्धि उत्पन्न होने पर भी पूर्वजात उक्त बुद्धि से बाधित हो जाती है जिससे उसका अनुष्ठान में उपयोग निवारित हो जाता है ॥ ५५ ॥

इत्युपमानपरिच्छेदः समाप्तः ॥

अर्थापत्तिपरिच्छेदः

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥

शाबरभाष्य में अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—

'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।' अर्थात् 'दृष्ट' एवं 'श्रुत' अर्थ जिसके विना उपपन्न न हो, उसकी 'कल्पना' ही 'अर्थापत्ति' है।

उक्त लक्षणवाक्य में प्रयुक्त 'दृश्' धातु को यदि ज्ञान सामान्य का वाचक मानें तो लक्षणवाक्य का 'श्रुतः' यह अंश व्यर्थ हो जाता है। यदि 'दृश' धातु को चाक्षुष ज्ञान का वाचक मानें तो अनुमानादिपूर्वक अर्थापत्तियों में अर्थापत्ति का उक्त लक्षण अव्याप्त हो जायगा।

दूसरी बात यह भी है कि जो प्रमाण से अवगत होगा वह 'अनुपपन्न' कैसे होगा ? उपपन्नता प्रमाणसिद्धता से भिन्न कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है।

इन सभी प्रश्नों का यह समाधान है कि 'प्रमाणषट्कविज्ञात' अर्थात् प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से व्यवस्था के अनुसार प्रमित होकर जो अर्थ अपनी अनुपपत्ति के द्वारा दूसरे अर्थ की कल्पना करे, वही 'अर्थापत्ति' है। फलतः भाष्यस्थ लक्षण में 'दृश्' धातु ज्ञान सामान्यार्थक ही है ॥ १ ॥

दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा ।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा ॥ २ ॥

दृष्टः पञ्चभिः''''श्रुतोद्भवा

किन्तु उक्त 'दृश्' धातु को ज्ञानसामान्यार्थक मान लेने से 'श्रुतः' पद व्यर्थ सा हो जाता है। अतः उक्त 'दृष्टः' पद का अर्थ है शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा ज्ञात 'विषय', क्योंकि लक्षण वाक्य में 'श्रुत' से अतिरिक्त 'दृष्ट' का उपादान किया गया है। इस उपादान से ही समझते हैं कि 'दृष्ट' पद में प्रयुक्त 'दृश्' धातु शब्द से अतिरिक्त पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण से उत्पन्न सभी ज्ञानों का बोधक है।

प्रमाणग्राहिणीत्वेन''''पूर्वविलक्षणा

ज्ञानसामान्यार्थक दृश् धातु से निष्पन्न 'दृष्ट' शब्द से यद्यपि शब्दप्रमाण-मूलक अर्थापत्ति का संग्रह भी संभव है, फिर भी कुछ 'विशेषों' के कारण शब्द-

प्रमाणमूलक अर्थापत्ति को 'श्रुतार्थापत्ति' के द्वारा विशेष रूप से अभिहित किया गया है। वह 'विशेष' यह है कि 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द से संगृहीत होने वाली सभी अर्थापत्तियाँ 'प्रमेयग्राहिणी' हैं। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके बहिरस्तित्व स्वरूप 'प्रमेय' की ही ज्ञापिका हैं। 'श्रुतार्थापत्ति' के द्वारा दिन में भोजन न करने वाले पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य स्वरूप 'प्रमाण' का ही ग्रहण होता है। बाद में 'रात्रिवाक्य' स्वरूप प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाणग्राहिणी है। इसलिये अन्य अर्थापत्तियों से विलक्षण होने के कारण उसका अलग से अभिधान किया गया है ॥ २ ॥

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद् दाहाद् दहनशक्तता।
वह्नेरनुमिताद् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोग्यता ॥ ३ ॥
श्रुतार्थापत्तिरत्रैव परस्तादभिधास्यते।
गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता ॥ ४ ॥

तत्र प्रत्यक्षतो""दहनशक्तता वह्नेः

प्रमाण चूँकि छः प्रकार के हैं, अतः तत्पूर्विका अर्थापत्ति भी (१) प्रत्यक्षपूर्विका (२) अनुमानपूर्विका (३) उपमानपूर्विका (४) शब्दपूर्विका (५) अर्थापत्तिपूर्विका एवं (६) अनुपलब्धिपूर्विका भेदों से छः प्रकार की हैं। इनके ये उदाहरण है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात दाह के द्वारा वह्नि में जो दहन शक्ति की कल्पना की जाती है, वह 'प्रत्यक्षपूर्विका' अर्थापत्ति है।

अनुमिता""योग्यता

(२) सूर्य में अनुमित गति के द्वारा सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना 'अनुमान-पूर्वक अर्थापत्ति' है।

श्रुताऽर्थापत्तिः""अभिधास्यते

(३) शब्दमूलक (श्रुत) अर्थापत्ति का उदाहरण इसी प्रकरण में आगे (श्लो० ५१) में कहेंगे।

गवयोपमिता या गौः""ग्राह्यता मता

(४) 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस उपमिति में विषयीभूत गो में उक्त गवय-ज्ञानग्राह्यत्व की कल्पना 'उपमानपूर्विका अर्थापत्ति' का उदाहरण है ॥ ३–४ ॥

अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात्।
शब्दे बोधकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् ॥ ५ ॥
अभिधा नान्यथा सिध्येदिति वाचकशक्तताम्।
अर्थापत्त्यावगम्यैवं तदनन्यगतेः पुनः ॥ ६ ॥
अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः।
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते ॥ ७ ॥

(५) अर्थापत्तिमूलक अर्थापत्ति का उदाहरण—

अभिधानप्रसिद्ध्यर्थं""प्रकल्पनम्

शब्द से अर्थ का अभिधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि शब्द में वाचकता शक्ति न मानी जाय। अतः शब्द के द्वारा अर्थ के अभिधान से शब्द में वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप 'अर्थापत्ति' निष्पन्न होती है। शब्द में यह वाचकत्व शक्ति तब तक उपपन्न नहीं होगी, जब तक कि उसे नित्य न माना जाय। तस्मात् शब्द में नित्यत्वकल्पना स्वरूप अर्थापत्ति शब्द में उक्त वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप अर्थापत्तिमूलक है।

अभिधा नान्यथा सिद्ध्येत्""अभिधास्यते

आगे 'दर्शनस्य परार्थत्वात्' (अ० १ पा० १ अधिकरण ६ सू० १८) में यह कहा जायगा कि शब्द में अभिधा की अनुपपत्ति से वाचकत्व शक्ति की कल्पना करके, इस शक्ति की अनुपपत्ति से शब्द में नित्यत्व की कल्पना की जाती है ॥ ५–७ ॥

> प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् ।
> गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ॥ ८ ॥
> तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।
> पक्षदोषेषु चान्यासामुदाहरणविस्तरः ॥ ९ ॥

प्रमाणाभाव""अर्थापत्तिमुदाहरेत्

प्रत्यक्षादि पाँचो प्रमाणों के अभाव से निर्णीत गृहवृत्ति जीवितचैत्र के अभाव से जो चैत्र के बहिः सत्त्व की कल्पना की जाती है, वही अभावप्रमाणमूलक अर्थापत्ति का उदाहरण है। अर्थापत्ति के सामान्य उदाहरण के रूप में भाष्यकार ने इसी स्थल का उपादान किया है।

पक्षेषु""विस्तरः

अर्थापत्ति के अन्य उदाहरणों का विस्तार से वर्णन अनुमानपरिच्छेद में पक्षदोष के उपपादन के प्रसङ्ग में 'श्रोत्रादिनास्तितायाञ्च' (श्लो० ६८) में किया जा चुका है ॥ ८–९ ॥

> अभावावगताच्चैत्राद् बहिर्भावस्य सूचनम् ।
> पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानतः ॥ १० ॥

अभावाऽवगतात्""बहिर्भावस्य सूचनम्

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने तो केवल अभावप्रमाणमूलक अर्थापत्ति को ही अर्थापत्ति के उदाहरण के रूप में लिखा है, फिर अन्य प्रमाणमूलक अर्थापत्तियों का यह विस्तार क्यों? इस प्रश्न का यह समाधान है कि गृहाभाव के द्वारा बहिःसत्त्व की कल्पना सभी अर्थापत्तियों का सूचक है, केवल अभावप्रमाणमूलक कल्पना में अर्थापत्तित्व का विधायक नहीं है।

पक्षधर्माद्यनङ्गत्व ''अनुमानतः

अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रभेद मानने वाले नैयायिकादि कहते हैं कि भाष्यकार ने जो गृहासत्त्व से बहिःसत्त्व को कल्पना की बात कही है, वह तो 'देवदत्तो बहिरस्ति विद्यमानत्वे सति गृहाभावात् मद्वत्' इस अनुमान से ही निष्पन्न हो जाती है। इसके लिए अर्थापत्ति नाम के अतिरिक्त प्रमाण की कौन सी आवश्यकता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि उक्त कल्पना में चूंकि अनुमान के पक्षधर्मत्वादि अङ्गों की अपेक्षा नहीं होती है, अतः वह कल्पना अनुमिति नहीं कहला सकती ॥१०॥

बहिर्देशविशिष्टेऽर्थे देशे वा तद्विशेषिते।
प्रमेये यो गृहाभावः पक्षधर्मस्त्वसौ कथम् ॥ ११ ॥
तदभावविशिष्टं तु गृहं धर्मो न कस्यचित्।
गृहाभावविशिष्टस्तु तदासौ न प्रतीयते ॥ १२ ॥
गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्रः प्रतीयते।
न चात्रादर्शनं हेतुर्यथाभावेऽभिधास्यते ॥ १३ ॥
तेन वेश्मन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते।
अदर्शनादभावे च प्रमेयस्यावधारिते ॥ १४ ॥
बहिर्भावमतिर्नासौ तेनादर्शनहेतुका।
चैत्राभावस्य हेतुत्वं गेहेऽभावश्च संस्थितः ॥ १५ ॥

चैत्र के बहिःसत्त्व की कल्पना का जिस अनुमान में अन्तर्भाव की संभावना है, उसके दो ही स्वरूप हो सकते हैं—(१) 'चैत्रो बहिर्देशविशिष्टः गृहेऽभावात्' (२) 'बहिर्देशो वा चैत्रविशिष्टः गृहेऽभावात्।' इन दोनों ही अनुमानों का गृहवृत्ति अभाव स्वरूप हेतु न गृह का धर्म है न चैत्र स्वरूप पक्ष का ही धर्म है एवं न बहिर्देश स्वरूप पक्ष का ही धर्म है।

तदभावविशिष्टं तु ''न कस्यचित्

यदि उक्त अनुमान में 'चैत्राभावविशिष्ट गृह' को ही हेतु बनावें तो उसमें भी पक्षधर्मत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वह चैत्रविशिष्ट बहिर्देश का ही धर्म है बहिर्देशविशिष्ट चैत्र का नहीं।

गृहाभावविशिष्टम् ''न प्रतीयते

एवं गृहाभावविशिष्ट चैत्र को भी पक्षधर्म (हेतु) नहीं माना जा सकता, क्योंकि पक्ष के गृह स्वरूप होने पर ही प्रकृत में पक्षधर्मता की प्रतीति हो सकती है। किन्तु चैत्र स्वरूप पक्ष में अथवा बहिर्देश स्वरूप पक्ष में गृहासत्त्व की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि गृह में चैत्रासत्त्व की प्रतीति के समय गृह की ही प्रतीति होती है चैत्र की प्रतीति नहीं होती है।

न चात्रादर्शनम्'''अभिधास्यते'''हेतुर्न कल्प्यते

गृह में चैत्र का अदर्शन भी उक्त अनुमान का हेतु नहीं हो सकता। आगे 'अभावपरिच्छेद' में इसकी युक्ति कहेंगे कि जिस प्रकार 'अभाव' किसी अनुमान के

द्वारा प्रमित नहीं हो सकता, उसी प्रकार अभाव किसी अनुमेय का साधक हेतु भी नहीं हो सकता (देखिये अभावपरिच्छेद श्लो० ५०) अतः (चैत्रो बहिरस्ति) 'वेश्मन्यदृष्टत्वात्' यह हेतु भी पक्षधर्मता के अभाव के कारण हो उपयुक्त नहीं हो सकता।

अदर्शनादभावे च····अवधारिते····अदर्शनहेतुका

कथित 'वेश्मन्यदृष्टत्व' इस कारण भी हेतु नहीं हो सकता कि 'वेश्म' (घर) में चैत्र के अदर्शन से गृह में चैत्र के अभाव का ज्ञान होगा, उसके बाद चैत्र में बहिरस्तित्व का ज्ञान होगा। पीछे उत्पन्न होने वाले ज्ञान का हेतु 'वेश्मन्यदृष्टत्व' नहीं हो सकता।

चैत्राभावस्य···संस्थितः

यह कहना भी संभव नहीं है कि गृह में अदर्शन के द्वारा निश्चित चैत्राभाव को ही उक्त अनुमिति का लिंग कहेंगे, क्योंकि उक्त चैत्राभाव गृह में है, बहिर्देश स्वरूप या चैत्र स्वरूप पक्ष में नहीं। अतः उस हेतु में पक्षधर्मता नहीं रह सकती ॥ ११–१५ ॥

पूर्वं न चागृहीतस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता।
न चात्र बाह्यदेशो वा चैत्रो वा गृह्यते पुरा ॥ १६ ॥

अनुमिति के प्रमेय (साध्यविशिष्ट) पक्ष को पहले से ज्ञात होना चाहिये। (चैत्रविशिष्ट) बाह्य देश अथवा (बाह्यदेशविशिष्ट) चैत्र पूर्व से ज्ञात न होने के कारण प्रमेय (पक्ष) नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

नदीपूरेण या वृष्टिरुपरिष्टात् प्रतीयते।
देशे कथमदृष्टे तु पक्षधर्मत्वसम्भवः ॥ १७ ॥

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि नदी की पूर्णता से ऊपर के प्रदेश में वृष्टि का अनुमान तो पूर्व से अज्ञात ऊपर के प्रदेश में ही होता है, अतः पक्ष (अनुमिति प्रमेय) के लिये पूर्व ज्ञात होना आवश्यक नहीं है ॥ १७ ॥

वृष्टिमत्परदेशत्वं नदीपूरवतोऽत्र तु।
देशस्य प्रतिपद्यन्ते यद्वार्थापत्तिरेव सा ॥ १८ ॥

वृष्टिमत्····प्रतिपद्यते

इस आक्षेप का यह उत्तर है कि उक्त स्थल में नदीपूर्णता से ऊपर के प्रदेश में वृष्टि का अनुमान नहीं होता, किन्तु पूर्ण नदी वाले प्रदेश में ही 'वृष्टिमत्परदेशत्व' का अनुमान होता है। अर्थात् उससे यही समझा जाता है कि पूर्ण नदी वाला यह देश वर्षा वाले देश के नीचे है। फलतः प्रकृत में पूर्णनदीविशिष्ट देश ही पक्ष है और यह पहले से ज्ञात नहीं है।

यद्वाऽर्थापत्तिरेव सा

यदि नदी की पूर्णता से ऊपर के देश में वर्षा का अनुमान ही अनुभवसिद्ध हो तो फिर प्रतिज्ञावाक्य का यह उलट-फेर सर्वाऽनुभवविरुद्ध है। यदि इस वस्तु-

स्थिति को स्वीकार करें तो उक्त स्थल में अर्थापत्ति से ही ऊपर के देश में वर्षा की कल्पना समझनी चाहिये, क्योंकि नदी की पूर्णता ऊपर के देश में वर्षा के विना अनुपपन्न है ॥ १८ ॥

जीवतश्च गृहाभावः पक्षधर्मोऽत्र कल्प्यते ।
सत्संवित्तिर्बहिर्भावं न चाबुद्ध्वोपजायते ॥ १९ ॥

'चैत्रो बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहेऽभावात्' इस अनुमान का हेतु 'जीवन-विशिष्ट देवदत्त में रहने वाला गेहाभाव' है । उसी में चैत्र (पक्ष) निरूपित वृत्तिता (धर्मता) का ज्ञान आवश्यक है । किन्तु जब तक चैत्र में बहिरस्तित्व ज्ञात नहीं होगा तब तक चैत्र में 'जीवित्वे सति गृहाभाव' स्वरूप हेतु ज्ञात नहीं हो सकता[1] ।

अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते ।
न तद्ग्रहणवेलायामग्न्यधीनं हि किञ्चन ॥ २० ॥

क्योंकि पर्वत में धूमवत्ता की प्रतीति स्वरूप पक्षधर्मता के ज्ञान में अग्निमत्ता की कोई अपेक्षा नहीं होती है । पर्वत में धूम का ज्ञान वह्निसापेक्ष नहीं है । फलतः पक्षधर्मता के ज्ञान में साध्य का कोई हाथ नहीं रहता । अतः प्रकृत में पक्षधर्मता-ज्ञान बहिसत्त्व के अधीन रहने के कारण अनुमिति के लिये उपयोगी नहीं हो सकता ॥ २० ॥

गेहाभावस्तु यः शुद्धो विद्यमानत्ववर्जितः ।
स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद् बहिर्वृत्तेर्न साधकः ॥ २१ ॥

वर्त्तमानत्वानपेक्ष केवल गृहवृत्तित्वाभाव (गेहाभाव) मृत चैत्र में भी है, अतः व्यभिचारी होने के कारण वह चैत्र में बहिःसत्त्व का ज्ञापक नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

विद्यमानत्वसंसृष्टगृहाभावधियानया ।
गेहादुत्कालितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥ २२ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि पक्षधर्मत्व रूप से निश्चित हेतु ही साध्य का ज्ञापक होता है । प्रकृत में जीवनविशिष्ट चैत्र में गृहाभाव निश्चित नहीं है । गृह में जीवनविशिष्ट चैत्र की संभावना भरी है, क्योंकि ऐसा वितर्क होता है कि जीवनविशिष्ट चैत्र की सत्ता कहीं अवश्य होगी, तो फिर गृह में भी चैत्र की सत्ता रह सकती है । इस प्रकार चैत्र का गृह में न रहना निश्चित न रहने के कारण चैत्र के बहिरस्तित्व का ज्ञापक लिङ्ग नहीं हो सकता । गृह में जीवित चैत्र की असत्ता (गृहाभाव) सिद्ध तभी हो सकती है जब कि चैत्र में बहिःसत्त्व सिद्ध हो । फलतः बहिसत्त्व एवं विद्यमानत्व (जीवन) एतदुभयविशिष्ट चैत्र में ही गृहाभाव रह सकता है । किन्तु विद्यमान चैत्र की बहिःसत्ता ही अनुमान प्रमाण का प्रमेय है । सो यदि पक्षधर्मताज्ञान से ही गृहीत हो जायगी, तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जायगी ?

वस्तुगति यह है कि चैत्र की वर्त्तमानता के साथ सम्बन्ध से गृहाभाव के द्वारा गृह से चैत्र की सत्ता निवृत्त होकर बहिर्देश में नियमित होती है ॥ २२ ॥

गेहाभावत्वमात्रं तु यत् स्वतन्त्रं प्रतीयते।
न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते ॥ २३ ॥

चैत्र के जीवन के साथ असम्बद्ध 'केवल' गृहाभाव का जो स्वतन्त्र रूप से ज्ञान होता है, उसके द्वारा प्राप्त होने वाली बहिःसत्ता केवल चैत्र में ही नियमित नहीं है ॥ २३ ॥

सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेहाभावधियात्र तु।
गेहादुत्कालिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ २४ ॥

चैत्र में वर्त्तमानता की सिद्धि हो जाने पर इस गृहवृत्तित्वाभाव (गेहाभाव) की बुद्धि के द्वारा देवदत्त की सत्ता गृह से हट कर बहिर्देश में स्थापित हो जाती है ॥ २४ ॥

तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना।
यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत् प्रतीयते ॥ २५ ॥

जीवित्व विशेषण से रहित (निरपेक्ष) केवल गृहवृत्तित्वाभाव (गेहाभाव) मृत चैत्र में व्यभिचारी है। अतः वह चैत्र में बहिर्वृत्तित्व का अनुमापक नहीं है। विद्यमानत्व विशिष्ट चैत्र में जो गृहवृत्तित्व का अभाव है उसी में बहिर्वृत्त्व की व्याप्ति है। एवं वही अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय भी है। तद्भिन्न कौन सी वस्तु अवशिष्ट है जिसका अनुमान प्रमाण से भान होगा। अतः अर्थापत्ति का कार्य अनुमान से नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षतो गेहे चैत्राभावे ह्यभावतः।
ज्ञाते यत् सत्त्वविज्ञानं तदेवेदं बहिः स्थितम् ॥ २६ ॥

तस्मात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गेह का ज्ञान होने पर एवं अभाव प्रमाण से उस चैत्राभाव के ज्ञात होने पर ज्योतिष शास्त्र से चैत्र में जिस विद्यमानत्व का ज्ञान होता है, वह विद्यमानत्व अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा बहिःस्थित चैत्र में व्यवस्थित होता है। यहाँ लिंगादि से बहिःसत्त्व का कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता ॥ २६ ॥

पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भावः प्रवेशितः।
तद्विशिष्टोऽनुमेयः स्यात् पक्षधर्मान्वयादिभिः ॥ २७ ॥

(फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि चैत्रनिष्ठ बहिःसत्त्व का उक्त ज्ञान अनुमिति से भिन्न क्यों है ? इस संभावित प्रश्न का यह समाधान है कि) 'जीवो चैत्रः बहिरस्ति गृहावृत्तित्वात्' यदि ऐसा अनुमान करेंगे तो 'गृहावृत्तित्व' हेतु 'जीवनविशिष्ट चैत्र' स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीवनविशिष्ट चैत्र की सत्ता सभी संभावित अधिकरणों में प्राप्त है। अतः गृह में भी प्राप्त है। फलतः केवल गृहाभाव जीवनविशिष्ट चैत्र स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकता। इस लिये

उक्त अनुमान के 'गृहावृत्तित्व' हेतु में 'बहिरस्तित्व' विशेषण देना होगा, क्योंकि बहिरस्तित्वविशिष्ट गृहाभाव जीवनविशिष्ट चैत्र स्वरूप पक्ष का धर्म हो सकता है, क्योंकि बहिरस्तित्व से उक्त विशिष्ट गृहासत्त्व की विद्यमानता बाधित नहीं है, भले केवल गृहासत्त्व की विद्यमानता बाधित रहे।

प्रकृत में चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व ही अनुमेय भी है। फलतः अनुमिति के लिये अपेक्षित पक्षधर्मताज्ञान में ही 'चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व' भासित हो जायगा। आगे ज्ञातव्य न रहने के कारण ही अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति रुक जायगी। अथवा यों कहिये कि जिसके द्वारा चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व का ज्ञान होगा, वह ज्ञान पक्षधर्मता-जन्य होकर स्वयं पक्षधर्मताज्ञान स्वरूप है। तस्मात् बहिरस्तित्व का प्रकृत ज्ञान अनुमिति स्वरूप नहीं है ॥ २७ ॥

पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिः सम्बोधतो यदि।
तैश्च तद्बोधतोऽवश्यमन्योन्याश्रयता भवेत् ॥ २८ ॥

यदि इस स्थिति में भी उक्त बहिर्वृत्तित्वज्ञान को अनुमिति स्वरूप मानेंगे तो 'अन्योन्याश्रय' दोष इस रीति से आ पड़ेगा कि बहिर्वृत्तित्वविषयक अनुमिति के द्वारा बहिर्वृत्तित्वविशिष्ट गृहाभावस्वरूप पक्षधर्म का ज्ञान अनुमितिसापेक्ष होगा, वह अनुमिति पक्षधर्मताज्ञानसापेक्ष होगी, अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता।
तादूप्येणैव विज्ञानान्न दोषः प्रतिभाति नः ॥ २९ ॥

यह 'प्रमेयानुप्रवेशिता' की आपत्ति तो अर्थापत्ति को प्रमाण मानने के पक्ष में भी समान है। कहने का तात्पर्य है कि उक्त बहिर्वृत्तित्व ज्ञान को यदि अर्थापत्ति-प्रमाणजन्य मानें, तथापि पहले ही बहिर्वृत्तित्व का ज्ञान आवश्यक होगा, क्योंकि केवल गृह में चैत्र के न रहने से ही चैत्र के बाहर रहने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि चैत्र की मृत्यु हो जाने पर भी गृहवृत्तित्वाभाव की उपपत्ति हो सकती है। इस लिये यही कहना होगा कि विद्यमानत्वविशिष्ट (जीवनविशिष्ट) चैत्र का गृह में न रहना ही उसके बहिर्भाव का ज्ञापक है। गृहाभावविशिष्ट चैत्र का वर्त्तमानत्व उसके बहिर्भाव के ज्ञात हुये विना नहीं जाना जा सकता। फलतः अर्थापत्ति प्रमाण से चैत्र के बहिर्भावविषयक ज्ञान के लिये अपेक्षित ज्ञान से ही चैत्र का बहिर्भाव ज्ञात हो जायगा। आगे अर्थापत्ति प्रमाण की कोई अपेक्षा नही रह जायगी। इस आक्षेप का यह समाधान है—

अर्थापत्ति प्रमाण में यह 'प्रमेयाऽनुप्रवेश' दोष नहीं है, क्योंकि बहिर्भाव के विना विद्यमानत्वविशिष्ट चैत्र का गृह में न रहना चूंकि उसके बाहर रहने के विना अनुपपन्न है, अतः एक के विना दूसरा प्रतिहत होता है, इस प्रतिघात से जो 'अस-म्भावना' उत्पन्न होती है, उस 'असम्भावना' को बहिःसत्त्व स्वरूप अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा मिटाना ही अर्थापत्ति प्रमाण का फल है। फलतः अर्थापत्ति की

सामग्री ही अनुमान की सामग्री से भिन्न है। अतः वह अनुमिति से सर्वथा भिन्न है[1] ॥ २९ ॥

अविनाभाविता चात्र तदैव परिकल्प्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥ ३० ॥

अर्थापत्तिस्थल में व्याप्ति का ज्ञान भी पहले नहीं रहता। इसलिये भी वह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि जिस समय अर्थापत्ति प्रमाण के बल से गृहाभाव के द्वारा वहिर्भाव की कल्पना की जाती है, उसके बाद ही गृहाभाव और बहिर्भाव में व्याप्ति भी गृहीत होती है। अर्थापत्ति प्रमाण की परिणति से पहले चूँकि व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है अतः गृहाभाव और वहिर्भाव में व्याप्ति यदि है भी तथापि व्याप्ति के गृहीत न रहने के कारण अर्थापत्तिप्रमिति में उसका उपयोग नहीं हो पाता। अतः व्याप्तिज्ञानजन्य न होने के कारण भी अर्थापत्ति अनुमिति से भिन्न है ॥ ३० ॥

गृहाभाववहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगतः ।
साहित्येऽपि प्रमाणं च तयोरन्यन्न विद्यते ॥ ३१ ॥

गृहाभाव और वहिर्भाव इन दोनों की व्याप्ति का ज्ञान सभी को नहीं होता। किन्तु जिस पुरुष को उक्त व्याप्ति का ज्ञान नहीं भी रहता है, उसे भी गृहाभाव के द्वारा वहिर्भाव की कल्पना स्वरूप प्रमिति होती है। इसलिये अर्थापत्ति नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की सत्ता अनिवार्य है।

साहित्ये ' ' न विद्यते

गृहाभाव और वहिर्भाव के नियत साहित्यस्वरूप जिस व्याप्ति की चर्चा की गयी है, वह व्याप्ति भी अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही ज्ञात होती है। अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से गृहाभाव के द्वारा वहिर्भाव की जो कल्पना की जाती है, तन्मूलक होने के कारण उसके बाद ही उक्त नियत साहित्य स्वरूप व्याप्ति का ग्रहण होता है। उसके बाद जिस पुरुष को उक्त व्याप्तिज्ञान के द्वारा वहिर्भाव का ज्ञान होगा वह भले ही अनुमिति स्वरूप हो, किन्तु उक्त व्याप्तिज्ञान का प्रयोजक बहिर्भाव का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है। अतः वहिर्भाव का प्राथमिक ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण का ही कार्य है, यह ज्ञान अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

अन्यथानुपपत्त्यैव ह्येकेनान्यत् प्रतीयते ।
तथा न कल्प्यते तच्चेत् साहित्यं न प्रतीयते ॥ ३२ ॥
तेन सम्बन्धवेलायां सम्बन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यावगन्तव्यः पश्चादस्त्यनुमानता ॥ ३३ ॥

---

१. इस प्रकार पक्षधर्मता की अनुपपत्ति के द्वारा अर्थापत्ति के स्वातन्त्र्य का समर्थन किया गया है। आगे अब व्याप्ति की अनुपपत्ति से अर्थापत्ति में अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन किया जाता है। व्याप्ति की अनुपपत्ति का यह क्रम श्लो० ३० से श्लो० ३४ पर्यन्त चलेगा।

अन्यथानुपपत्त्या ''न प्रतीयते

यदि अर्थापत्ति के द्वारा गृहाभाव से बहिर्भाव की कल्पना को न मानें तो उन दोनों में केवल 'साहित्य' (सामानाधिकरण्य) की भी प्रतीति नहीं होगी, व्याप्ति-स्वरूप नियतसाहित्य की तो चर्चा ही वृथा है ।। ३२ ।।

तेन सम्बन्धवेलायाम् ''अनुमानता

क्योंकि प्रकृत में नियतसाहित्यस्वरूप व्याप्तिसम्बन्ध के जो गृहाभाव और बहिर्भाव स्वरूप दो सम्बन्धी हैं, उनमें से बहिर्भाव स्वरूप एक सम्बन्धी का ज्ञान नियमतः अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है। इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा बहिर्भाव के गृहीत होने के बाद गृहाभाव के साथ उसको व्याप्ति गृहीत होती है। उसके बाद जो गृहाभाव से बहिर्भाव का ज्ञान होता है उसे अनुमिति भले ही कहा जा सकता हो, बहिर्भाव के उक्त प्राथमिक ज्ञान को तो अर्थापत्ति प्रमिति स्वरूप मानना ही होगा ।।३३।।

गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भावं प्रकल्पयेत् ।

यदैकस्मिन्नयं देशे न तदान्यत्र विद्यते ।। ३४ ।।

(पूर्वपक्ष) 'गृहाभाव और बहिर्भाव का व्याप्तिज्ञान नियमतः अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो पुरुष गृह के द्वार पर खड़ा होकर चैत्र को घर के बाहर देखता है, उसे भी 'जिस समय चैत्र एक स्थान पर रहता है उस समय दूसरे स्थान पर नहीं रहता' इस न्याय के अनुसार 'अभी चैत्र बाहर है अतः घर में नहीं है' इस रीति से गृहाभाव और बहिर्भाव की व्याप्ति प्रत्यक्ष के द्वारा भी गृहीत हो सकती है, इसलिये व्याप्ति को नियमतः अर्थापत्ति-प्रमाणमूलक मानकर अर्थापत्ति में अनुमानभिन्नत्व का साधन उचित नहीं है ।। ३४ ।।

तदाप्यविद्यमानत्वं न सर्वत्र प्रतीयते ।

न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिर्हेतोर्भविष्यति ।। ३५ ।।

तदापि '''प्रतीयते

(पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि) 'तदापि' जिस समय गृह के द्वार पर स्थित पुरुष विशेष के द्वारा बहिर्वृत्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा उत्पन्न होकर गृहाभाव के साथ नियत 'साहित्य' स्वरूप व्याप्तिज्ञान को उत्पन्न करता है 'उस समय' भी अन्य पुरुषों को (अर्थात् जिन्हें बहिर्वृत्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं है, उन सभी पुरुषों को), उस समय भी अर्थापत्तिमूलक बहिर्वृत्तित्वज्ञान से ही गृहाभाव के साथ 'नियतसाहित्य' का ज्ञान होता है। फलतः स्थलविशेष में उक्त व्याप्तिज्ञान भले ही प्रत्यक्ष से सम्भव हो, अधिकांश स्थलों उक्त व्याप्तिज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से ही होगा। यदि एक भी स्थल में गृहाभाव और बहिर्भाव के व्याप्तिज्ञान के लिये अर्थापत्ति की आवश्यकता अनिवार्य हो, तो अर्थापत्ति का स्वतन्त्र प्रामाण्य अनिवार्य है।

न चैकदेशे " भविष्यति

(एक स्थान में स्थित पुरुष का अभाव उस स्थान के समीप के देशों में ज्ञात होता है, इससे यह सिद्ध होना सुलभ है कि दूरस्थ देशों में भी इस पुरुष का अभाव होगा। अतः 'गृहद्वारि' पुरुष के द्वारा जो विना अर्थापत्ति के भी गृहाभाव और बहिर्भाव की सर्वत्र व्याप्ति कही गयी है, वह उपपन्न सिद्ध होती है। इस समाधानाभास के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि :—) 'गृहद्वारि' स्थित जिस पुरुष के द्वारा गृहाभाव और बहिर्भाव का 'नियत साहित्य' गृहीत हो चुका है, उसी पुरुष को उसी समीपस्थ देश स्वरूप 'बहिर्देश' में चैत्र का अनुमान गृहाभाव से हो सकता है, अन्य देशों में अन्य पुरुषों को वह अनुमान नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

नन्वत्राविद्यमानत्वं गम्यतेऽनुपलब्धितः ।
सा चाप्रयत्नसाध्यत्वादेकस्यस्यैव सिध्यति ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार चैत्र के अधिकरणीभूत देश से भिन्न देशों में चैत्र का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, उसी प्रकार दूरस्थ देशों में भी चैत्र के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से ही हो सकता है। इसके लिये अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ॥ ३६ ॥

नैतयानुपलब्ध्यात्र वस्त्वभावः प्रतीयते ।
तद्देशागमनात् सा हि दूरस्थेष्वस्ति सत्स्वपि ॥ ३७ ॥

समीपस्थ देश में चैत्र की अनुपलब्धि से दूरस्थ देशों में चैत्र के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि 'दृश्य' अर्थात् दर्शन के योग्य वस्तु की उपलब्धि ही उसके अभावविषयक ज्ञान के उत्पादन में समर्थ है। समीपस्थ देश में यदि चैत्र की सत्ता रहती तो वह उपलब्ध होता। किन्तु उपलब्ध नहीं होता है, अतः इस अनुपलब्धि से चैत्र के अभाव की सिद्धि होती है। दूरस्थ देशों में चैत्र की अनुपलब्धि 'दृश्यानुपलब्धि' नहीं है। अतः इस अनुपलब्धि से दूरस्थ देशों में चैत्र के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि दूरस्थ देशों में चैत्र की अनुपलब्धि उस देश में चैत्र की सत्ता न रहने के कारण है अथवा दूरत्वदोषप्रयुक्त वहाँ चैत्र के रहने पर भी उपलब्धि नहीं होती है—इसका कोई निर्णायक नहीं है ॥ ३७ ॥

गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
ततोऽन्यकारणाभावादसत्त्यिवगम्यते ॥ ३८ ॥

जिन-जिन देशों में जाने के बाद उन सभी देशों में जिस वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है, उन सभी देशों में उस वस्तु की अनुपलब्धि उस वस्तु के अभाव से होती है। वह अनुपलब्धि दूरत्वादि दोषों से नहीं होती है ॥ ३८ ॥

ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम् ।
तद्देशागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिध्यति ॥ ३९ ॥

(पू० प०) यदि वस्तु के अधिकरणीभूत देशों में जाने के बाद वस्तु की अनुपलब्धि होगी, एवं इस अनुपलब्धि से ही उन अधिकरणों में वस्तु के अभाव को

सिद्धि होगी, केवल अनुपलब्धि से अभाव की सिद्धि नहीं होगी तो फिर धूमादिहेतुओं में भी व्यतिरेक व्याप्ति की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि सभी अग्निदेशों में किसी का जाना सम्भव नहीं है। किन्तु जब तक वह्न्यभाव के अधिकरणीभूत सभी देशों में कोई जायगा नहीं तब तक उन सभी देशों में वह्नि का अभाव अनुपलब्ध नहीं होगा जिससे उन देशों में वह्न्यभाव का निर्णय नही हो पायेगा। इससे आगे धूमाभाव में वह्न्यभाव के सभी अधिकरणों से व्यावृत्ति भी दुर्लभ हो जायगी ॥ ३९ ॥

यस्य वस्त्वन्तराभावः प्रमेयस्तस्य दुष्यति।
मम त्वदृष्टमात्रेण गमकः सहचारिणः ॥ ४० ॥

(समाधान) जो सभी 'वस्त्वन्तरों में' अर्थात् सभी विपक्षों में हेत्वभाव के अनुमान के बाद ही व्यतिरेकमूलक अनुमान की अभिलाषा रखते हैं, उनके मत में उक्त दोष अवश्य ही होगा। हम मीमांसक लोग तो दो चार स्थानों में वह्नि के साथ धूम का साहचर्य देखने के बाद यदि विपक्ष में धूम की उपलब्धि नहीं हुई तो धूम से वह्नि का व्यतिरेकव्याप्तिमूलक अनुमान स्वीकार कर लेते हैं। इसके लिये हम लोगों को न सभी धूमाधिकरणों में वह्नि के ज्ञान की अपेक्षा होती है न वह्न्यभाव के सभी अधिकरणों में धूमाभाव के ज्ञान की ॥ ४० ॥

नन्वेवमितरत्रापि सम्बन्धोऽनुपलब्धितः।
चैत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥ ४१ ॥

(पूर्वपक्ष) यदि विपक्षव्यावृत्ति के रहने पर भी साहचर्यदर्शनमात्र से केवल इसलिये अनुमिति मान लें कि व्यभिचार उपलब्ध नहीं है, तो फिर प्रकृत में भी एक देश में चैत्र की सत्ता के साथ ही समीपस्थ अन्य देश में चैत्राभाव की सत्ता भी उपलब्ध होती है। इसमें 'कहीं भी व्यभिचार उपलब्ध नही होता' केवल इतने भर से गृहवृत्ति चैत्राभाव एवं वहिर्वृत्ति चैत्र-भाव (सत्ता) इन दोनों में व्याप्ति गृहीत हो सकती है जिससे अनुमान प्रमाण के द्वारा ही गृहाभाव हेतु से वहिर्भाव की प्रमिति हो सकती है। इसके लिये अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती ॥ ४१ ॥

साहित्ये मितदेशत्वात् प्रसिद्धे चाग्निधूमयोः।
व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्गमकत्वं प्रकल्प्यते ॥ ४२ ॥
इह साहित्यमेवेदमेकस्य सहभाविनः।
अनन्तदेशवर्त्तित्वान्न तावदुपपद्यते ॥ ४३ ॥

साहित्ये ''प्रकल्प्यते ''तावदुपपद्यते

वह्नि और धूम दोनों ही चूँकि भाव पदार्थ हैं एवं दोनों अतिपरिचित हैं, एवं दोनों के आश्रय परिमित हैं, इसलिये दोनों के सहचार का ग्रहण संभव होता है, क्योंकि दोनों के आश्रयों का ग्रहण संभव होता है।

भाव और अभाव के साहचर्य के ग्रहण में यह सौलभ्य नहीं है, क्योंकि भाव पदार्थ के अधिकरणों के परिमित होने के कारण उनका ज्ञान संभव होने पर भी

अभावों के देश अपरिमित हैं, अतः उनके आश्रयों का ज्ञान असंभव सा है। इस प्रकार गृहाभाव और बहिर्भाव दोनों के सहचार का ज्ञान असंभव है। इसीलिये धूम से वह्नि का अनुमान संभव होने पर भी गृहाभाव से बहिर्भाव का अनुमान संभव नहीं है। अतः गृहाभाव से होने वाली बहिर्भाव की प्रमिति के लिये अर्थापत्ति प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है॥ ४२–४३॥

ननु देशान्तरं शून्यं चैत्रेणैवं प्रतीयते।
तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत्॥ ४४॥

(पू० प०) जिन सभी देशों में चैत्र का अभाव है, उन सभी देशों के साथ व्याप्ति विवक्षित नहीं है। किन्तु चैत्राधिष्ठित देश के समीप में चैत्राभाव के ज्ञान से अन्य देशों में भी चैत्राभाव का अनुमान इस हेतु से करते हैं कि वे देश भी चैत्राधिष्ठित देश से भिन्न हैं (विमत्यधिकरणभावापन्नदेशान्तरं चैत्रशून्यं चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशसमीपदेशवत्)॥ ४४॥

विरुद्धाव्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते।
समीपदेशभिन्नत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्॥ ४५॥

(सि० प०) उक्त अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से उक्त देशान्तरों में चैत्रसंयुक्तत्व का भी अनुमान किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि पूर्वपक्षवादी ने जिस अनुमान की ओर ध्यान दिलाया है, उस अनुमान का उक्त आकार नहीं हो सकता ('देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्संयुक्तदेशव्यतिरिक्तत्वात्') क्योंकि पक्षीभूत देशान्तरों में चैत्रसंयुक्तत्व (चैत्रसंयोग) चूँकि बाधित है, अतः तद्विशिष्टदेशव्यतिरिक्तत्व हेतु भी सन्दिग्ध है, क्योंकि प्रकृत में यही विचार उपस्थित है कि चक्षुःसंनिकृष्ट एवं चैत्रसंयुक्त देश के चैत्रशून्यदेशान्तर के समान ही चैत्रविप्रकृष्ट अन्य देश भी चैत्रशून्य हैं अथवा नहीं इस संशय की स्थिति में उन दूसरे देशों को चैत्रसंयुक्त देश से भिन्न कैसे समझा जाय ?

यदि यह कहें कि 'जिस प्रकोष्ठ में चैत्र अधिष्ठित है, वह देश चूँकि भिन्न है, इसलिए चैत्रशून्य है' तो सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह 'तद्व्यतिरिक्तत्व' हेतु अप्रयोजक है, क्योंकि तुल्य युक्ति से यह भी कह सकते हैं कि 'देशान्तरं चैत्रयुक्तम् तत्समीपदेशव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवत्'। तस्मात् उक्त अनुमान ठीक नहीं है॥ ४५॥

पुरुषस्य तु कार्त्स्न्येन यदेकत्रोपलम्भनम्।
तस्यान्यथा न सिद्धिः स्यादित्यन्येष्वस्य नास्तिता॥ ४६॥
तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे।
कार्यदर्शनतः शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते॥ ४७॥

पुरुषस्य''''नास्तिता''तेन''''पूर्वत्वमत्र

यदि अनुमान के द्वारा चैत्राधिष्ठितदेश से भिन्न सभी देशों में चैत्राभाव की सिद्धि नहीं हो सकती तो फिर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही उन सभी देशों में चैत्राभाव की सिद्धि क्योंकर होती है ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

मूर्त्तद्रव्यों का यह स्वभाव है कि एक समय वह एक ही स्थान में रहे। मूर्त्त-द्रव्यों का यह 'एकत्रोपलब्धि' स्वरूप स्वभाव अन्ततः सभी जनों को अपने देह में ही उपलब्ध है। मूर्त्तद्रव्यों की उक्त एकत्रोपलब्धि स्वरूप धर्म उस समय 'अन्यत्राभाव' (अथवा अन्यत्रानुलब्धि) के विना अनुपपन्न है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अन्यत्र सभी स्थानों में उसके अभाव की कल्पना करते हैं।[1]

यत्र च कारणे""संप्रतीयते

कारण के रहने पर भी जहाँ कार्य का अस्तित्व ज्ञात नही होता है, वहाँ कारण में कार्यानुकूल शक्ति के अभाव की कल्पना भी अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही की जाती है ॥ ४६-४७ ॥

> कार्यस्य ननु लिङ्गत्वं, न सम्बन्धानपेक्षणात् ।
> दृष्ट्वा सम्बन्धितां चैषा शक्तिर्गम्येत नान्यथा ॥ ४८ ॥
> तद्दर्शने तदानीं च प्रत्यक्षादेरसम्भवात् ।
> अर्थापत्तेः प्रमाणत्वं त्रैलक्षण्याद् विना भवेत् ॥ ४९ ॥

कार्यस्य ननु लिङ्गत्वम्

(पू० प०) शक्ति की कल्पना तो कार्य से कारण का अनुमान स्वरूप ही है। अर्थात् जहाँ कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ उस कार्य के 'शक्ति' स्वरूप कारण का अनुमान होता है। अतः शक्ति की सिद्धि के लिये अर्थापत्ति प्रमाण की अपेक्षा नही है।

नं, सबन्धानपेक्षणात्

(उ० प०) अर्थात् कथित 'शक्ति' की सिद्धि अनुमान प्रमाण से नहीं होती है, क्योंकि अनुमान प्रमाण व्याप्ति स्वरूप 'सम्बन्ध' की अपेक्षा रखता है। प्रकृत शक्ति की कल्पना में उसकी अपेक्षा नहीं होती है। अतः प्रकृत में कथित शक्ति की कल्पना

---

१. कहने का तात्पर्य है कि स्वशरीर के दृष्टान्त से किसी एक मूर्त्त पदार्थ में युगपत् अनेक देशों के संयोग की असंभावना अनुमान से सिद्ध है। अपने शरीर की एकत्र स्थितिकाल में अपने शरीर का अन्यत्र अभाव योग्यानुलब्धि (प्रमाण) से ही सिद्ध है। स्वशरीर स्वरूप इस दृष्टान्त के द्वारा मूर्त्त द्रव्य स्वरूप चैत्र में भी युगपत् अनेकदेशस्थिति अनुपपन्न है। चैत्र में संनिहित देश की स्थिति प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। चैत्र की कथित युगपदनवस्थिति एवं प्रत्यक्षसिद्ध संनिहित देश में स्थिति दोनों की उपपत्ति के लिये संनिहित देश से भिन्न देशों में चैत्र के अभाव की 'कल्पना' करनी पड़ती है। कथित संनिहित देश स्वरूप 'एकत्र' स्थित चैत्र की स्थिति यदि अन्यत्र भी मानें तो मूर्त्तद्रव्य में युगपदनेकदेशानवस्थिति का अनुमान बाधित हो जायगा। यदि संनिहित देश को छोड़कर चैत्र अन्यत्र रहे तो उक्त प्रत्यक्ष ही बाधित होगा। इसलिये चैत्र के अन्यत्राभाव का ज्ञान पहले अर्थापत्ति से ही मानना होगा। इसके बाद अनुमान की प्रवृत्ति भले ही हो।

अर्थात् प्रमिति अनुमान प्रमाण से नहीं मानी जा सकती। इसके लिए अर्थापत्ति प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है।[1]

दृष्ट्वा सम्बन्धिताम्... त्रैलक्षण्याद्विना भवेत्

'सम्बन्ध' ज्ञान के लिये उसके दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है। अतः 'शक्ति' की अनुमिति में अपेक्षित व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध को समझाने के लिये उसके 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्धी को भी जानना आवश्यक है। किन्तु 'शक्ति' चूँकि अतीन्द्रिय है, अतः प्रत्यक्ष के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता। अर्थापत्ति से ज्ञान की उत्पत्ति के लिये व्याप्ति सम्बन्ध के जनक 'त्रैलक्षण्य' (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व) की आवश्यकता नहीं होती है। तस्मात् अनुमान के द्वारा शक्तिज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान विना अर्थापत्ति के संभव नहीं है। अतः शक्ति का भी प्राथमिक ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से ही होगा ॥ ४८–४९ ॥

अनुमानादभिन्नत्वान्नोक्तौ जयपराजयौ।
वध्यघातकभावेन यौ सर्पनकुलादिषु ॥ ५० ॥

वध्यघातकभावेन

(जैमिनि सूत्र के किसी दूसरे वृत्तिकार ने अर्थापत्ति के उदाहरण रूप में अहि (सर्प) और नकुल (नेवला) इन दोनों में से किसी एक की जय अथवा पराजय को देख कर दूसरे की जय अथवा पराजय की कल्पना को उपस्थित किया है, उसका परित्याग भाष्यकार शबर स्वामी ने क्यों किया ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अहि और नकुल की उस जय अथवा पराजय का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही होता है, अतः भाष्यकार ने अर्थापत्ति के उदाहरण के रूप में उन्हें उपस्थित नहीं किया ॥ ५० ॥

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ ५१ ॥

'पीनो दिवा न भुंक्ते' (यह मोटा आदमी दिन में नहीं खाता) इस वाक्य से 'जो रात्रौ भुंक्ते' (यह रात में खाता है) इस आकार का ज्ञान होता है, उसे 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं ॥ ५१ ॥

तामर्थगोचरां केचिदपरे शब्दगोचराम्।
कल्पयन्त्यागमास्त्वैनामभिन्नां प्रतिजानते ॥ ५२ ॥

---

1. कहने का तात्पर्य है कि बीज के रहने पर अङ्कुर की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः बीज में अङ्कुर की कारणता प्राप्त होती है। उसी बीज को यदि भून दिया जाता है, तो उससे अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इस प्रकार बीज में अङ्कुर की अकारणता प्राप्त होती है। बीज में परस्परविरुद्ध अङ्कुरकारणत्व और अङ्कुराकारणत्व स्वरूप विरुद्ध धर्मों के दर्शन से जो 'व्याघात' उपस्थित होता है, उसके परिहार के लिये ही 'शक्ति' की कल्पना की जाती है। इसमें कहीं भी व्याप्ति सम्बन्ध' की अपेक्षा नहीं है। अतः शक्ति की कल्पना (प्रमिति) अनुमान प्रमाण से नहीं होती है।

श्रुतार्थापत्ति को कोई अर्थगोचर (प्रमेयग्राहिणी) मानते हैं। कोई इसे शब्द स्वरूप प्रमाण की ग्राहिका (प्रमाणग्राहिणी) ही मानते हैं। किन्तु श्रुतार्थापत्ति को आगम प्रमाण से अभिन्न सभी मानते[1] हैं ॥ ५२ ॥

प्रायशश्चानया वेदे व्यवहारो व्यवस्थितः ।
सोऽवैदिकः प्रसज्येत यद्येषा भिद्यते ततः ॥ ५३ ॥

क्योंकि 'प्रायः' सभी वैदिक व्यवहार श्रुतार्थापत्ति के द्वारा ही व्यवस्थित होते हैं, उसे यदि आगम प्रमाण से अभिन्न न मानें तो वे सभी व्यवहार अवैदिक हो जांयगे ॥ ५३ ॥

वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः कैश्चिदाश्रितः ।
तदर्थोपप्लुतस्यान्यैरिष्टो वाक्यान्तरस्य तु ॥ ५४ ॥

श्रुतार्थापत्ति के द्वारा कल्पित अर्थ का आगमप्रमाणवेद्य होना सभी श्रुतार्थापत्तिवादी स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में किसी का कहना है कि (१) 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य का ही 'रात्रिभोजन' 'अर्थ' है। सिद्धान्तियों का कहना है कि (२) 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के द्वारा 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना की जाती है। 'रात्रौ भुंक्ते' इस कल्पित वाक्य का ही अर्थ 'रात्रिभोजन' है।

न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसोऽर्थोऽयमिष्यते ।
न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा ॥ ५५ ॥

'पीनो दिवा न भुंक्ते' अभी सुनायी पड़ने वाले इस वाक्य का 'रात्रिभोजन' अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि (हरि प्रभृति अनेक पदों के अनेकार्थक होने पर भी) 'वाक्य' कभी भी अनेकार्थक नहीं होता। अतः पीन पुरुष के दिन में अभोजन स्वरूप अर्थ के बोधक वाक्य का कभी 'रात्रिभोजन' स्वरूप दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

यदि हरि प्रभृति पदों के समान वाक्य भी वाचक (अभिधा वृत्ति से युक्त) होता तो कदाचित् 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस एक ही वाक्य का दिवा अभोजन और 'रात्रिभोजन' दोनों ही अर्थ हो सकते थे। किन्तु वाक्य वाचक ही नहीं है। अतः रात्रिभोजन कभी 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य का अर्थ (अभिधेयार्थ) नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

---

१. (१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति इन दोनों में से पहली को 'प्रमेयग्राहिणी' और दूसरी को 'प्रमाणग्राहिणी' पहले 'प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा' (श्लो० २) से कहा जा चुका है। प्रकृत में जो 'पीनो दिवा न भुंक्ते' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण लिखा है, उससे वास्तव में 'रात्रिभोजन' स्वरूप प्रमेय को ही श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण कहा जाता है। किन्तु यह कथित 'प्रमाणग्राहिणीत्वेन' इत्यादि श्लोक के विरुद्ध है, क्योंकि उक्त श्लोक के अनुसार श्रुतार्थापत्ति को प्रमाणग्राहिणी होना चाहिये प्रमेयग्राहिणी नहीं। इसी विरोध को मिटाने के लिये प्रकृत सन्दर्भ लिखा गया है।

पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते ।
न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते ॥ ५६ ॥

तत्तत् पदों के तत्तत् अर्थ परस्पर अन्वित होकर जिस प्रतीति के विषय होते हैं वही प्रतीति वाक्यार्थ की प्रतीति कहलाती है। 'रात्रिभोजन' विषयक प्रतीति का कोई भी विषय 'दिवाऽभोजन' वाक्य के किसी पद का अर्थ नहीं है। अतः रात्रि-भोजन की प्रतीति 'दिवाऽभोजन' वाक्य से नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम् ।
न भेदो येन तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम् ॥ ५७ ॥

रात्रिभोजन दिवादि-पदार्थों का 'संसर्ग' (व्यापक) नहीं है। एवं रात्रिभोजन दिवाऽभोजन का 'भेद' अर्थात् 'विशेष' भी नहीं है जिससे 'दिवाऽभोजन' प्रतिपादक 'पीनो दिवा न भुंक्ते' यह वाक्य रात्रिभोजन का प्रतिपादक हो सके। अतः रात्रि-भोजन 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य का ही अर्थ हो सकता है ॥ ५७ ॥

अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना ।
तस्माद् वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते ॥ ५८ ॥

वाक्य को यदि अनेकार्थ मान भी लें तथापि 'दिवाऽभोजन' के बोध लिये प्रयुक्त 'पीनो दिवा न भुंक्ते' से 'दिवाऽभोजन' और 'रात्रिभोजन' इन दोनों का बोध नहीं हो सकता। रात्रिभोजन स्वरूप दूसरे अर्थ के बोध के लिये दिवाऽभोजन-वाक्य का ही पुनः उच्चारण करना पड़ेगा, क्योंकि एक अर्थ के बोध के लिये उच्चरित एक शब्द से दूसरे अर्थ का बोध संभव नहीं है।

तस्मात्....प्रतीयते

'तस्मात्' यही मानना होगा कि 'दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के द्वारा 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना की जाती है और कल्पित (बुद्धिस्थ) उस वाक्य से रात्रिभोजन का बोध होता है। श्रुत दिवाऽभोजनवाक्य से सीधे रात्रिभोजन का बोध नहीं होता। इस प्रकार रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय नहीं है, किन्तु 'रात्रौ भुंक्ते' यह आगम प्रमाण स्वरूप वाक्य ही प्रकृत में अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय है। इस रीति से रात्रिभोजन रूप अर्थ का आगमप्रमाणगम्य होना भी निष्पन्न होता है ॥ ५८ ॥

तस्य चागमिकत्वेऽपि यत् तद् वाक्यं प्रतीयते ।
प्रमाणं तस्य वक्तव्यं प्रत्यक्षादिषु यद् भवेत् ॥ ५९ ॥

(पू० प०) इस प्रकार 'रात्रिभोजन' स्वरूप अर्थ में आगमप्रमाणगम्यत्व की सिद्धि होने पर भी विचारणीय है कि उक्त 'रात्रौ भुंक्ते' यह प्रमाण स्वरूप वाक्य की सत्ता में प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से कौन सा प्रमाण है ? ॥ ५९ ॥

न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्षं तावदिष्यते ।
नानुमानं न चेवं हि दृष्टं तेन सह क्वचित् ॥ ६० ॥

न ह्यनुच्चारिते""इष्यते

प्रकृत में 'रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य उच्चारित नहीं होता। अनुच्चरित वाक्य का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण से इस वाक्य की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

नाऽनुमानम्""सह क्वचित्

अनुमान प्रमाण से भी उक्त वाक्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह ('रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य) 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के साथ नियत रूप से सम्बद्ध नहीं है जिससे दिवाऽभोजन वाक्य से उसका अनुमान हो सके॥ ६०॥

यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते।
तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमतिर्भवेत्॥ ६१॥

यदि 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य का 'व्याप्ति' स्वरूप सम्बन्ध 'दिवाऽभोजन' वाक्य के साथ ज्ञात न रहने पर भी 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य का अनुमान 'दिवा न भुंक्ते' इस श्रुत वाक्य के द्वारा स्वीकार करें तो 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य के समान तो उस दिवाऽभोजन वाक्य से सभी वाक्यों के अनुमान की आपत्ति प्राप्त होगी॥ ६१॥

न चार्थापत्तिगम्यानि सर्वैः सर्ववचांसि हि।
सम्बद्धान्युपलभ्यानि येन तेष्वनुमा भवेत्॥ ६२॥

(इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि कोई पुरुष जहाँ एक ही साथ 'पीनो दिवा न भुंक्ते' और 'रात्रौ भुंक्ते' इन दोनों वाक्यों का उच्चारण करता है, वहाँ उन दोनों वाक्यों में (साहित्य) या सहचार गृहीत होता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि दोनों वाक्यों में जब केवल सहचार का भी ग्रहण नहीं होता है तो 'नियत सहचार' स्वरूप व्याप्ति के ग्रहण की बात बहुत दूर है, किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि) किसी एक पुरुष के द्वारा या कुछ पुरुषों के द्वारा भले ही दोनों वाक्य साथ-साथ उच्चरित हों किन्तु अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञात होने वाले सभी वाक्य अपने पूर्ववर्त्ति श्रुत वाक्य के साथ ही उच्चरित नहीं होते। अतः एक वाक्य के साथ दूसरे वाक्य को व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है॥ ६२॥

न च सत्तानुमानेन विशेषो वानुमीयते।
इह वाक्यविशेषस्य सत्तैव त्ववगम्यते॥ ६३॥

यदि यह मान भी लें कि दिवाऽभोजन वाक्य से रात्रिभोजन वाक्य के सत्व का अनुमान होता है, तथापि रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ के बोध की उत्पत्ति इससे नहीं हो सकती, क्योंकि वाक्य से अर्थ विशेष के बोध की उत्पत्ति के लिये वाक्य की सत्ता मात्र अपेक्षित नहीं है, किन्तु उसके श्रावण प्रत्यक्षादि भी अपेक्षित होते हैं, जो सर्वत्र संभव नहीं हैं॥ ६३॥

पूर्वसिद्धः स्वतन्त्रोऽर्थः स्वतन्त्रेण विशेषितः।
धर्माधर्मविशिष्टोऽत्र नानुमेयः प्रतीयते॥ ६४॥

पक्ष में वृत्तित्व रूप से ज्ञात पक्षतावच्छेदकीभूत 'धर्म' एवं पक्ष में वृत्तित्व रूप से अज्ञात साध्यस्वरूप 'अधर्म' इन दोनों 'धर्म' और 'अधर्म' से युक्त पक्ष ही 'अनुमेय' है। 'धर्म' स्वरूप 'पक्षतावच्छेदक' और अधर्म स्वरूप 'साध्य' ये दोनों ही अनुमिति से पूर्व स्वतन्त्र रूप से ज्ञात रहते हैं।

इस वस्तुगति के अनुसार पूर्वसिद्ध स्वतन्त्र 'धर्म' स्वरूप पक्षतावच्छेदक एवं पूर्वसिद्ध ही स्वतन्त्र 'अधर्म' स्वरूप 'साध्य' इन दोनों से युक्त 'पक्ष' ही अनुमेय है।

अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है (अर्थापत्ति का प्रमेय) वह अर्थ उक्त अनुमेय अर्थ के समान नहीं है। अतः अनुमान प्रमाण के द्वारा अर्थापत्ति के प्रमेय का बोध नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव की बात गलत है॥ ६४॥

अथ श्रुतस्य वाक्यस्य मीयते तद्विशिष्टता।
ततः पक्षोऽभ्युपेतः स्यादप्रसिद्धविशेषणः॥ ६५॥

अथ श्रुतस्य''''तद्विशिष्टता

(पू० प०) श्रुत (अर्थात् पूर्व में ज्ञात) 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य स्वरूप पक्ष में (दिवाऽभोजनवाक्य में पहले से अज्ञात रात्रिभोजनवाक्यविशिष्टता ही अनुमेय है। तदनुसार 'दिवाऽभोजनवाक्यं रात्रौ भुंक्ते इत्येतद्वाक्यविशिष्टम्' अनुमान का यही आकार मानेंगे। 'दिवाऽभोजन वाक्य श्रोत्रेन्द्रिय स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होने के कारण 'प्रसिद्ध' है। एवं 'रात्रिभोजनवाक्य' पहले से ज्ञात न होने के कारण 'अप्रसिद्ध' है। 'रात्रौ भुंक्ते' प्रमाणभूत यह वाक्य श्रुतार्थापत्ति का प्रमेय है। अर्थापत्ति के इस प्रमेय का बोध उक्त अनुमान प्रमाण से हो सकता है। इसलिये श्रुतार्थापत्ति का तो अनुमान में अन्तर्भाव हो ही सकता है। इसलिये 'श्रुतार्थापत्ति' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

ततः''''अप्रसिद्धविशेषणः

यदि रात्रिभोजनवाक्यविशिष्ट दिवाऽभोजनवाक्य को पक्ष (अनुमेय) मानेंगे तो पक्ष 'अप्रसिद्धविशेषणक' हो जायगा जिससे अनुमान 'पक्षाप्रसिद्धि' दोष से ग्रसित हो जायगा। जिस प्रकार 'वह्निविशिष्टपक्ष' (अनुमेय) का विशेषण वह्नि (साध्य) महानस स्वरूप दृष्टान्त में व्याप्तिग्रहण के समय पूर्व से ज्ञात है (प्रसिद्ध है), रात्रिभोजन की प्रसिद्धि इस प्रकार की नहीं है॥ ६५॥

किञ्च लिङ्गान्तराभावादेतस्य यदि लिङ्गता।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं पदवत् ते प्रसज्यते॥ ६६॥

यदि 'पीनो दिवा भुंक्ते एतद्वाक्यं रात्रौ भुंक्ते एतद्वाक्यविशिष्टम्' इस अनुमान में कोई दूसरा हेतु सम्भव न होने के कारण पक्षान्तर्गत 'दिवाऽभोजनवाक्यत्व' को ही हेतु मानेंगे तो हेतु में 'प्रतिज्ञैकदेशता' की आपत्ति उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार पदपक्षक अनुमान में होती है (देखिये शब्दपरिच्छेद श्लोक ६२)॥ ६६॥

तद्वदेव निराकार्या वचसो धर्मधर्मिता।
नागृहीते हि तद्धर्मो गृहीते नानुमेयता॥ ६७॥

तद्वदेव ··· धर्मधर्मिता ।

जिस प्रकार पदार्थपक्षक पदसाध्यक पदत्वहेतुक अनुमान के द्वारा शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव की शङ्का की गयी है (देखिये शब्दपरिच्छेद श्लोक ६८) उसी प्रकार यदि प्रकृत में कोई अश्रुत 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य को पक्ष मानकर उसमें श्रुत दिवाऽभोजनवाक्य का साधन रात्रिवाक्यत्व हेतु से करे ('रात्रौ भुंक्ते एतद्वाक्यं पीनो दिवा न भुंक्ते एतद्वाक्यविशिष्टम् रात्रिवाक्यत्वात्' इस अनुमान के द्वारा श्रुतार्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयास करे) तो उसका निराकरण भी उक्त पदार्थपक्षक अनुमान के खण्डन की निम्नलिखित रीति से करना चाहिये ।

नागृहीते ··· नानुमेयता

खण्डन की युक्ति यह है कि 'रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य पहले से ज्ञात नहीं है, अतः श्रूयमाण दिवाऽभोजनवाक्य उसका धर्म (साध्य) नहीं हो सकता । यदि रात्रिवाक्य को पहले से ज्ञात मान लें तो फिर वह अनुमेय ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनुमेय को पहले अज्ञात रहना चाहिये ।। ६७ ।।

क्रियाकारकसम्बन्धाद्वते नास्ति तु धर्मता ।
अवाचकतया चैतन्न धर्मो विषयात्मना ।। ६८ ।।

क्रियाकारकसम्बन्धात् ··· धर्मता

जिस प्रकार पदार्थपक्षक पदसाध्यक अनुमान निराकृत हुआ है उसी प्रकार 'क्रियाकारकसम्बन्धस्वरूप' हेतु के रात्रिवाक्यधर्मिक दिवाऽभोजनवाक्यसाधक (रात्रौ भुंक्ते इत्येतद्वाक्यं पीनो दिवा न भुंक्ते इत्येतद्वाक्यविशिष्टं क्रियाकारकसम्बन्धात्) का भी खण्डन करना चाहिये ।[1]

अवाचकतया ··· विषयात्मना

(पूर्वपक्ष) 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के उच्चारण के बाद जब 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की प्रतीति होती है तो फिर यह मानना ही होगा कि रात्रिवाक्य दिवाऽभोजन वाक्य का ज्ञाप्य 'विषय' है । अतः दोनों वाक्यों में 'विषयविषयिभाव' फलतः वाक्यवाचकभाव सम्बन्ध को स्वीकार करना होगा । इस सम्बन्ध के द्वारा ही दोनों में पक्षसाध्यभाव की उपपत्ति हो सकती है । अतः रात्रिभोजनवाक्यधर्मिक उक्त दिवाऽभोजनवाक्य साध्यक अनुमान संभव है, भले ही उसका हेतु कुछ दूसरा हो (रात्रिभोजनवाक्यं दिवाऽभोजनवाक्यविशिष्टं वाच्यवाचकसम्बन्धात्) किन्तु

---

१. कहने का तात्पर्य है कि दो वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध क्रिया पद के द्वारा अथवा कारक पद के द्वारा ही हो सकता है । किन्तु उक्त दोनों वाक्यों में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, अत उक्त दोनों वाक्यों में 'धर्मधर्मिभाव' अर्थात् पक्षसाध्यभाव नहीं हो सकता । 'रात्रौ भुंक्त इत्येतद्वाक्यं न दिवाऽभोजनवाक्यविशिष्टं क्रियाकारकसम्बन्धाभावात्' इस प्रतिपक्षानुमान के द्वारा उक्त अनुमान को सत्प्रतिपक्षित समझना चाहिये ।

यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह उपपादन किया जा चुका है कि शब्द और अर्थ में ज्ञाप्यज्ञापकभाव विना वाच्यवाचकभाव के संभव नहीं है ॥ ६८ ॥

प्रतीतेर्वाचकत्वं चेत् प्रसक्तानेकशक्तिता ।
अनुमाविषयोत्थं तु धर्मत्वं निष्फलं भवेत् ॥ ६९ ॥

प्रतीतेर्विषयत्वं चेत्

(यदि यह कहें कि) जिस प्रकार घट पद से घट की प्रतीति होती है, इस लिये घट पद में घट की वाचकता स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार जब दिवाऽभोजन वाक्य से रात्रिभोजन की प्रतीति होती है तो अवश्य ही दिवाऽभोजन वाक्य रात्रि-भोजन वाक्य का वाचक है।

प्रसक्ताऽनेकशक्तता

(किन्तु ऐसा कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि) ऐसा मानने पर एक ही वार उच्चरित दिवाऽभोजन वाक्य में अनेक शक्तियों की कल्पना करनी होगी जिससे एक ही वार उच्चरित होकर वह दिवाऽभोजन और रात्रिभोजन दोनों के दो बोधों को उत्पन्न कर सके। किन्तु प्रकृत में वस्तुगति इसके विपरीत है। इसलिये प्रकृत में यही मानना होगा कि दिवाऽभोजन वाक्य से दिवाऽभोजन स्वरूप अर्थ की प्रतीति उक्त वाक्य की अभिधावृत्ति के द्वारा शाब्दबोध स्वरूप होती है एवं उसी वाक्य से अर्थापत्ति प्रमाण के बल से रात्रिभोजन की प्राप्ति होती है।

अनुमाविषयोत्थम्''निष्फलं भवेत्

(यदि यह कहें कि दिवाऽभोजनवाक्य रात्रिभोजनवाक्य का अनुमापक है, इसलिए धर्मधर्मिभाव (पक्षसाध्यभाव) संभव है। अतः अनुमान के द्वारा ही दिवाऽ-भोजनवाक्य से रात्रिभोजन का ज्ञान हो सकता है, इसके लिए श्रुतार्थापत्ति को स्वीकार करना अनावश्यक है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि) अनुमान की निष्पत्ति के बाद ही दिवाऽभोजनवाक्य में साध्यता रूप धर्मता आवेगी। यह धर्मता-मूलक धर्मधर्मिभावसम्बन्ध आगे उत्पन्न होने वाली अनुमिति का अङ्ग नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥

पदार्थैरपि तद्वाक्यं नासम्बन्धात् प्रतीयते ।
सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि ॥ ७० ॥

पदार्थैरपि''प्रतीयते

जिस प्रकार दिवाऽभोजनवाक्य के द्वारा रात्रिभोजनवाक्य का अनुमान नहीं हो सकता, उसी प्रकार 'दिवाऽभोजन' पदार्थ के द्वारा भी रात्रिभोजनवाक्य का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि दिवाऽभोजन पदार्थ के साथ रात्रिभोजनवाक्य का नियत सम्बन्ध नहीं है। अतः दिवाऽभोजन स्वरूप अर्थ के द्वारा भी रात्रिभोजनवाक्य का अनुमान नहीं हो सकता।

सामान्यान्यन्यथासिद्धेः'''गमयन्ति हि

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पद के द्वारा उपस्थित अर्थों (पदार्थों) के साथ वाक्यार्थ का नियत सम्बन्ध न रहने पर भी पदार्थ से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार दिवाऽभोजन पदार्थ के साथ रात्रिभोजन वाक्य का यदि नियत सम्बन्ध नहीं भी है, तथापि दिवाऽभोजन पदार्थ से रात्रिभोजन वाक्य की प्रतीति हो सकती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि) प्रकृत स्थिति पदार्थ से वाक्यार्थप्रतीति के समान नहीं है। पदार्थ है 'सामान्य' एवं वाक्यार्थ है उसका 'विशेष'। विशेषों के विना सामान्य की उपपत्ति (स्थिति) संभव नहीं है; इसलिए पदार्थ स्वरूप सामान्य के द्वारा वाक्यार्थ स्वरूप 'विशेष' का बोध होता है। दिवाऽभोजन पदार्थ न रात्रिभोजन वाक्य का 'सामान्य' है, न रात्रिभोजन दिवाऽभोजन सामान्य का विशेष ही है॥ ७०॥

न तु वाक्यान्तरेणैषां विना किञ्चिन्न सिध्यति।

न चाप्यन्यः प्रकारोऽस्ति तेन वाक्येन सङ्गतौ॥ ७१॥

प्रकृत में 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य जनित बोध में जो अनुपपत्ति उपस्थित होती है, उसका उद्धार जिस लिए कि 'रात्रौ भुंक्ते' इस दूसरे वाक्य की कल्पना के विना संभव ही नहीं इसलिये 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है।

एवं प्रमाण स्वरूप 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना को छोड़कर उक्त अनुपपत्ति को मिटाने के लिये दूसरी कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि दिवाऽभोजन वाक्य अथवा 'दिवाऽभोजन' स्वरूप अर्थ इन दोनों में से किसी के साथ भी दैशिक वा कालिक किसी प्रकार का नियत सम्बन्ध रात्रिभोजन वाक्य का संभव नहीं है॥७१॥

अथैतद् वाचि कल्प्येत वाक्यमन्यत् तथैव च।

प्रसङ्गात् तत्र दूरेऽपि नासम्बन्धात् प्रमुच्यते॥ ७२॥

ततश्च प्रथमादेव वरं ज्ञातुमसङ्गतात्।

अन्वयव्यतिरेकौ च प्रतिषेध्यौ पदे यथा॥ ७३॥

अथैतद्वाचि'''प्रसङ्गात्'''ततश्च प्रथमात्'''असङ्गतात्

(जिस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य का ज्ञान संभव नहीं है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी रात्रिवाक्य का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि) 'रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य दिवाऽभोजनवाक्य का अभिधेय नहीं है। अतः सीधे दिवाऽभोजनवाक्य रूप शब्द प्रमाण से 'रात्रौ भुंक्ते' एतद्वाक्यविषयक शाब्दबोध नहीं हो सकता। अतः प्रकृत रात्रिवाक्य में शाब्दबोध की विषयता एक प्रकार से आ सकती है कि दिवाऽभोजनवाक्य से शाब्दबोधविषय होने वाले 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य से अतिरिक्त 'रात्रौ भुंक्ते इत्येतद्वाक्य' इत्यादि आकार के दूसरे वाक्यों की कल्पना की जाय। उन कल्पित वाक्यों में से किसी वाक्य से 'रात्रौभुंक्ते' इस वाक्यविषयक शाब्दबोध होगा। किन्तु कल्पित इन वाक्यों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकता, क्योंकि वे इन प्रमाणों से ज्ञात होने योग्य नहीं हैं। इसके लिए

'दिवाऽभोजन' वाक्य से ही किन्हीं तीसरे प्रकार के वाक्यों की कल्पना करनी होगी जिनसे रात्रिभोजनवाक्यविषयक शाब्दबोध होगा। इस वाक्यान्तरकल्पना की धारा अविराम गति से चलकर अनवस्था में परिणत हो जायगी। अन्त में जाकर कोई ऐसा वाक्य स्वीकार करना होगा जिसकी कल्पना सीधे दिवाऽभोजन वाक्य से ही संभव हो, किसी अन्य प्रमाण के द्वारा उसका ज्ञात होना संभव न हो। इन झंझटों से तो अच्छा है कि 'अर्थापत्ति' प्रमाण से 'दिवाऽभोजनवाक्य' के द्वारा सीधे 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण की कल्पना कर उससे रात्रिभोजनविषयक शाब्दबोध मान लें, क्योंकि प्रथमोपात्त होने के कारण दिवाऽभोजन वाक्य से ही रात्रिभोजन वाक्य की कल्पना श्रेष्ठ है।[1]

अन्वयव्यतिरेकौ····पदे यथा

जिस प्रकार पद के साथ अर्थ का अन्वय और व्यतिरेक दोनों में से कोई भी संभव नहीं है, उसी प्रकार दिवाऽभोजनवाक्य का रात्रिभोजन वाक्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों में से कोई भी संभव नहीं है, इसलिये दिवाऽभोजनवाक्य से रात्रिभोजन की अल्पना अनुमान प्रमाण के द्वारा निष्पन्न नहीं हो सकती ॥७२-७३॥

श्रुतवाक्येन सादृश्यं नाश्रुतस्यास्ति किञ्चन।
तस्मादनुपमानत्वमर्थस्याप्यनया दिशा ॥ ७४ ॥

श्रुतवाक्येन····अनुपमानत्वम्

इसी प्रकार उपमान प्रमाण के द्वारा भी दिवाऽभोजन वाक्य से रात्रिभोजन वाक्य की कल्पना (प्रमा) नहीं हो सकती, क्योंकि 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस श्रुत वाक्य के साथ 'रात्रौ भुंक्ते' इस अश्रुत वाक्य का कोई सादृश्य नहीं है।

अर्थस्य····दिशा

इसी प्रकार दिवाऽभोजन स्वरूप अर्थ के साथ भी रात्रिभोजन वाक्य का कोई सादृश्य नहीं है। अतः अर्थगतसादृश्यमूलक उपमान प्रमाण से भी रात्रिभोजन वाक्य की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अर्थगत सादृश्य मूलक उपमान प्रमाण से भी श्रुतार्थापत्ति का काम नहीं हो सकता ॥ ७४ ॥

उपमानत्वलिङ्गेन वाक्यं प्रति निवारिते।
अर्थेऽपि चैवमेव स्यात् तस्मात् पूर्वोक्तसम्भवः ॥ ७५ ॥

उपमानत्वलिङ्गेन····एवमेव स्यात्

जिस प्रकार दिवाऽभोजन वाक्य से उपमान प्रमाण के द्वारा एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजन वाक्य की प्रतीति का निवारण किया गया है, उसी प्रकार दिवाऽभोजन स्वरूप अर्थ के द्वारा भी उपमान प्रमाण और अनुमान प्रमाण से रात्रिभोजन वाक्य के बोध का निवारण करना चाहिये।

---

१. 'प्रथमादेव वरम्' इसमें 'एवकार' भिन्नक्रम का बोधक है तदनुकूल प्रकृत में 'प्राथम्याद् रात्रिवाक्यमेव वरं ज्ञातुम्' ऐसा अन्वय समझना चाहिये।

तस्मात्'''असंभवः

तस्मात् उपपादित युक्तियों से यह सिद्ध है कि प्रत्यक्षादि 'पूर्व' प्रमाणों से दिवाऽभोजन वाक्य के द्वारा अथवा दिवाऽभोजन स्वरूप अर्थ से रात्रिबोध की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ ७५ ॥

अतः श्रुतस्य वाक्यस्य यदर्थप्रतिपादनम् ।
तदात्मलाभ एव स्याद् विना नेत्येतदिष्यते ॥ ७६ ॥

अतः 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस 'श्रुत' वाक्य के द्वारा कथित दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की स्थूलता जिस 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य के बिना उपपन्न नहीं हो सकती (आत्मलाभ नहीं कर सकती) उसकी कल्पना भी दिवाऽभोजन वाक्य से अवश्य होती है ॥ ७६ ॥

एतदर्थाद् विना नायमित्यर्थः किं न कल्प्यते ।
वाक्यार्थवच्च किं नायमागमार्थः प्रतीयते ॥ ७७ ॥

(पूर्वपक्ष) दिवाऽभोजन वाक्य से ज्ञात होने वाली देवदत्त की स्थूलता का ज्ञापक 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ ही है, 'रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य नहीं। तो फिर रात्रि-भोजन स्वरूप अर्थ की ही कल्पना दिवाऽभोजन वाक्य से क्यों नहीं मान लेते, मध्य में 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना, और इस कल्पित वाक्य से रात्रिभोजन-विषयक शाब्दबोध इस द्रविड़ प्राणायाम की क्या आवश्यकता ?

वाक्यार्थवच्च'''प्रतीयते

(इस प्रसङ्ग में सिद्धान्ती कह सकते हैं कि 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य से निष्पन्न स्वर्ग स्वरूप फल में आगमप्रमाणमूलकत्व की रक्षा के लिये जिस प्रकार 'स्वर्गकामः' पद की कल्पना आवश्यक होती है उसी प्रकार प्रकृत में भी 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य की कल्पना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना रात्रिभोजन आगमार्थ नहीं हो सकता। किन्तु सिद्धान्तियों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

जिस प्रकार पदों से अभिहित अर्थों के द्वारा ज्ञात होने वाला 'वाक्यार्थ' पद स्वरूप शब्दमूलक होने के कारण (वाक्य से प्रतिपादन न होने पर भी) आगमार्थ कहलाता है उसी प्रकार दिवाऽभोजन वाक्य स्वरूप शब्द के द्वारा कल्पित होने वाला रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ भी आगमार्थ कहला सकता है, इसके लिये मध्य में 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य स्वरूप शब्द की कल्पना आवश्यक नहीं है ॥ ७७ ॥

सविकल्पकविज्ञानैः शब्दः पूर्वं प्रतीयते ।
लब्धप्रयोजने वाक्ये परं नागमिकं च नः ॥ ७८ ॥

सविकल्पकविज्ञानैः'''पूर्वं प्रतीयते

(दिवाऽभोजन वाक्य से रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ की ही कल्पना क्यों नहीं ? इस प्रथम आक्षेप का यह समाधान है कि—) 'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के अर्थ स्वरूप दिन को न खाने से देवदत्त की स्थूलता की अनुपपत्ति रात्रिभोजनविषयक

'सविकल्पक ज्ञान' से मिटती है। सविकल्पक ज्ञान शब्द से अनुविद्ध अर्थविषयक ही होता है। इस लिये रात्रिभोजन स्वरूप अर्थविषयक जो सविकल्पक ज्ञान होता, उसमें 'रात्रौ भुंक्ते' यह वाक्य स्वरूप शब्द विशेषणविषया भासित होता। विशिष्ट ज्ञान से पहले विशेषण का ज्ञान आवश्यक होता है। इस लिये रात्रिभोजन वाक्य का ज्ञान रात्रिभोजन रूप अर्थ विषयक ज्ञान से पहले होगा। अतः प्रथम प्रतीति 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य को ही अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय मानना उचित है। आगे इस अर्थापत्ति प्रमेय स्वरूप 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य से रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ का ज्ञान नान्तरीयक शब्द प्रमाण से ही हो जायगा। अतः श्रुतार्थापत्ति को अर्थ-पर्यन्त ले जाना उचित नहीं है।

लब्धप्रयोजने ''आगमिकं च नः

'पीनो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्य के उच्चारण के बाद श्रोता को दिवाऽभोजन की जो प्रतीति होती है, उसी से दिवावाक्य का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, इसके बाद जिसे रात्रिभोजन की प्रतीति होगी, वह तो श्रुतार्थापत्ति प्रमाण के प्रमेय स्वरूप 'रात्रौ भुंक्ते' इस वाक्य का ही प्रमेय है, श्रूयमाण दिवाऽभोजन वाक्य का प्रमेय नहीं है ॥ ७८ ॥

ननु चासति सम्बन्धे सति वानवधारिते।
गम्यज्ञानमिदं वाक्यं प्रसज्येताप्रमाणकम् ॥ ७९ ॥

(पूर्वपक्ष) यदि उपपाद्य और उपपादक में कोई सम्बन्ध न रहे, रहने पर भी यदि ज्ञात न रहे तो उपपाद्य के द्वारा उपपादक ज्ञान स्वरूप अर्थापत्ति प्रमात्मक नहीं होगी। एवं दिवाऽभोजन वाक्य उस प्रमिति का कारण स्वरूप प्रमाण नहीं होगा ॥ ७९ ॥

सम्बन्धस्य प्रमाणत्वं स्थितं किञ्चेश्वराज्ञया।
प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वं कथं वा सङ्गतेर्विना ॥ ८० ॥

(सि० प०) ईश्वर की कोई ऐसी आज्ञा नहीं है कि उपपाद्य और उपपादक का सम्बन्ध प्रामाण्य का प्रयोजक है। यदि प्रमाण और प्रमेय के व्याप्ति सम्बन्ध के द्वारा ही ज्ञान में प्रमात्व हो तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण कैसे होगा ? ॥ ८० ॥

अस्तीन्द्रियार्थसम्बन्धस्तत्र चेत् नानपेक्षणात्।
न हि प्रत्यक्षवेलायां सर्वेणासौ निरूप्यते ॥ ८१ ॥

अस्तीन्द्रियार्थ''''तत्र चेत्

(पू० प०) प्रत्यक्ष प्रमाण स्थल में भी अर्थ (प्रमेय) के साथ इन्द्रिय (प्रमाण) का सम्बन्ध है ही, भले ही वह अतीन्द्रिय हो।

न, अनपेक्षणात्

(सि० प०) (पूर्वपक्षवादियों का उक्त कथन महत्त्वहीन है, क्योंकि) प्रत्यक्ष स्थल में प्रमेय के साथ प्रमाणसम्बन्ध के रहने पर भी ज्ञान के प्रमात्व में सम्बन्ध

की कोई अपेक्षा नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमिति के उत्पन्न होने के बाद ही उस सम्बन्ध का ज्ञान भी हो पाता है। प्रत्यक्ष के समय अज्ञात रहने के कारण उसकी सत्ता नहीं के बराबर है ॥ ८१ ॥

येनापि तु निरूप्येत पश्चादनुभवादसौ।
न स्यादेव प्रमाणाङ्गमसता तुल्य एव सः ॥ ८२ ॥

जिस किसी को उस सम्बन्ध का ज्ञान होता भी है तो प्रत्यक्षात्मक अनुभव के बाद ही होता है। अतः वह प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं हो सकता। इस लिये वह 'नहीं' के बराबर है ॥ ८२ ॥

अप्राप्यकारिणी येषां चक्षुःश्रोत्रे च ते यथा।
तज्ज्ञानस्य प्रमाणत्वमिच्छन्त्येवं भविष्यति ॥ ८३ ॥

उक्त सम्बन्ध की सत्ता जब प्रत्यक्ष से पूर्व निश्चित है तो फिर उसे 'असत्तुल्य' (नहीं के बराबर) कैसे कहा जाय ? क्योंकि कार्य के नियतपूर्ववृत्ति होने से वह सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमिति का कारण तो है ही। पश्चात् ज्ञात होने के कारण केवल इतना सिद्ध होता है कि वह (सम्बन्ध) व्याप्ति की तरह ज्ञात होकर कारण नहीं है। पूर्वपक्षवादियों के इस कथन का यह प्रत्युत्तर है कि—)

जिस प्रकार बौद्धगण चक्षु और श्रोत्र का विषय के साथ सम्बन्ध के विना ही उन से चाक्षुषादि ज्ञानों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में हम लोग भी स्वीकार करेंगे कि उपपादक के साथ उपपाद्य के सम्बन्ध के विना ही उपपादक से उपपाद्य की प्रमिति स्वरूप कल्पना की उत्पत्ति होती है ॥ ८३ ॥

तस्मादसत्त्वे सत्त्वे वा सम्बन्धस्य यदेव नः।
जायेताभङ्गुरं ज्ञानं तस्यैव स्यात् प्रमाणता ॥ ८४ ॥

अतः प्रमाण के साथ प्रमेय का सम्बन्ध रहे, या न रहे हम लोगों के मत से जो भी 'अभङ्गुर' (अबाधित) ज्ञान उत्पन्न होगा, उन सभी ज्ञानों को प्रमाण (प्रमात्मक) मानना ही होगा, क्योंकि हम (मीमांसक) लोग 'स्वतः प्रामाण्यवादी' हैं। उत्तर काल में बाध से अतिरिक्त किसी दूसरे को प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं मानते ॥ ८४ ॥

न चाप्यस्याः प्रमाणत्वे कश्चिद् विप्रतिपद्यते।
भेदाभेदे विसंवादः कृतस्तत्र च निर्णयः ॥ ८५ ॥

तस्मात् अर्थापत्ति के द्वारा प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी को विवाद नहीं है। केवल इतना ही विवाद है कि वह अनुमान से भिन्न है अथवा अभिन्न। इस सम्बन्ध में हम (मीमांसक) लोग अर्थापत्ति के स्वातन्त्र्य का (अनुमान-भिन्नत्व का) उपपादन कर चुके हैं ॥ ८५ ॥

कृते यत्र च सम्बन्धाद् बुद्धिरेव न जायते।
तत्र किं क्रियताम् सोऽपि प्रामाण्ये नैव कारणम् ॥८६॥

यदि प्रमाण का प्रमेय के साथ सम्बन्ध प्रमाज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है तो फिर अनुमान में ही उसके व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध को कारण क्यों मानते हैं? इस प्रश्न का यह समाधान है कि जहाँ सम्बन्ध (ज्ञान) के विना ज्ञान की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं होती है, वहाँ सम्बन्ध को ज्ञानोत्पत्ति का कारण मानते हैं। तथापि उन स्थलों में भी उक्त सम्बन्ध बुद्धि के उत्पादन के लिए ही अपेक्षित है, उन ज्ञानों के प्रमात्व (प्रामाण्य) के लिए सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है ॥ ८६ ॥

स्मृत्या श्रुतिर्या परिकल्प्यतेऽस्मिन्
लिङ्गादिभिर्या विनियोजिका च।
फलादिभिर्यत् परिपूरणं च
सम्बन्धदृक् तत्र न काचिदस्ति ॥ ८७ ॥
तत् सर्वमित्याद्यसमञ्जसं स्या-
च्चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या।
एवंस्वभावाप्यनुमानशब्दं
लभेत चेदस्ति यथेप्सितं नः ॥ ८८ ॥

स्मृत्या श्रुतिर्या ''तत्सर्वम् ''अनुमानतोऽन्या

'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि स्मृतियों के प्रामाण्य की अनुपपत्ति से जो श्रुतियों की कल्पना की जाती है एवं लिङ्ग प्रकरणादि की अनुपपत्ति से जो 'विनियोजिका' श्रुति (विनियोग विधि) की कल्पना की जाती है एवं स्वर्गादि फलों की अनुपपत्ति से जो परमापूर्व की कल्पना के द्वारा यागादि में परिपूर्णता का सम्पादन किया जाता है इन सभी स्थलों में अनुमान के प्रयोजक व्याप्ति सम्बन्ध का कोई ज्ञाता सम्भावित ही नहीं है।

यदि अर्थापत्ति को अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण न मानें तो सम्बन्धानपेक्ष ये सभी कल्पनायें असंगत हो जाँयगी।

एवं स्वभावापि ''यथेप्सितं नः

इस प्रकार की स्वतन्त्रोपयोग स्वभाव वाली 'अर्थापत्ति' को यदि अनुमान शब्द के यौगिक अर्थ के बल पर (क्योंकि जिस प्रकार अनुमान हेतुज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण 'अनुमान' कहलाता है उसी प्रकार अर्थापत्ति भी चूँकि उपपादक-ज्ञान बाद ही उत्पन्न होती है) अर्थापत्ति को भी 'अनुमान' शब्द के द्वारा अभिहित करना चाहते हैं तो इसमें हम लोगों को कोई आपत्ति नहीं है ॥ ८७–८८ ॥

इत्यर्थापत्तिपरिच्छेदः ॥

अथाऽभावप्रामाण्यवादः

'अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासंनिकृष्टस्य' (शाबरभाष्य पृ० ३९ आनन्दाश्रमसंस्करण)

'अभाव' अर्थात् प्रमाणों का अभाव, 'नास्ति' शब्द से व्यवहृत होनेवाले अभाव स्वरूप अर्थ का ज्ञापक स्वतन्त्र 'प्रमाण' ही है, क्योंकि 'नास्ति' शब्द से व्यवहृत होनेवाला वह अभाव पदार्थ प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों से 'असंनिकृष्ट' अर्थात् अगम्य है।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥

(भाष्यकार ने जो 'अभाव प्रमाण' का लक्षण 'प्रमाणाभाव' स्वरूप किया है, वह विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है, क्योंकि कोई भी प्रमाण प्रमाणाभाव स्वरूप कैसे होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

भाष्य में जो 'प्रमाणाभाव' शब्द है, उसमें प्रयुक्त 'प्रमाण' शब्द से घटादि भाव पदार्थों के ज्ञापक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण ही अभिप्रेत हैं, 'तदभाव' स्वरूपता 'अभाव' स्वरूप छठें प्रमाण के लक्षण में है ही, अतः प्रकृत में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् वस्तु की सत्ता के लिए प्रयुक्त होनेवाले ये प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाण घटादि वस्तुओं की सत्त्वविषयक प्रतीति के अन्य कारणों के न रहने पर भी उनकी प्रतीति के उत्पादन में सफल नहीं होते। अतः उन वस्तुओं की असत्ता की प्रतीति के लिए ही 'अभाव' प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ॥ १ ॥

वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया।
क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥ २ ॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥३॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥ ४ ॥

वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च ··· समाश्रया

भाष्यकार के उक्त सन्दर्भगत 'असंनिकृष्टस्य' पद का अर्थ है कि घटादि पदार्थ अपने सद्रूप से अभाव प्रमाण के प्रमेय न होने पर भी 'असङ्कर' अर्थात् असद्रूप से ही अभाव प्रमाण के प्रमेय हैं।

क्षीरे दध्यादि ···· इष्यते ···· गवि यः ···· उच्यते

(१) दूध में दही की नास्तिता की 'क्षीरे दधि नास्ति' इस आकार की प्रतीति होती है, उस 'नास्तिता' को अर्थात् दूध में दही की असद्रूपता को 'प्रागभाव' कहते हैं।

(२) दही में दूध के अभाव की 'दध्नि दुग्धं नास्ति' इस आकार की जो प्रतीति होती है, दूध की इस नास्तिता को (असद्रूपता को) 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं।

(३) 'अयं गौः नाश्वः' इस आकार की जो गो में अश्वाभाव की प्रतीति होती है, अश्व की इस नास्तिता को अर्थात् असद्रूपता को 'अन्योन्याभाव' कहते हैं, क्योंकि समान युक्ति से अश्व में गो की नास्तिता की भी प्रतीति होती है।

(४) खरहे के शिर के दोनों छोर के अवयव ऊँचे नहीं रहते (निम्न रहते हैं) एवं (वे गवादि के सींग की तरह) ठोस भी नहीं रहते। अतः शृङ्ग के असद्रूप की जो 'शशशृङ्गं नास्ति' इस आकार की प्रतीति होती है, उस प्रतीति के विषय शृङ्ग के असद्रूप को ही 'शशशृङ्ग का अत्यन्ताभाव' कहते हैं। अभाव स्वरूप भाव के इस प्रकार के 'असद्रूपों' की प्रतीति 'अभाव' प्रमाण से ही होती है। इस 'अभाव' प्रमाण को 'दृश्यादर्शन' एवं 'अनुपलब्धि' भी कहते हैं ॥ २–४ ॥

क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ ५ ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह।
व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥ ६ ॥

यदि अभाव नाम के इस प्रमाण को स्वीकार न करें तो 'क्षीरे दधि अस्ति' 'दध्नि क्षीरमस्ति' घटे पटोऽस्ति, शशे शृङ्गमस्ति, पृथिव्यादिभूतवर्गे चैतन्यमस्ति' आत्मनो मूर्त्तिरस्ति, अप्सु गन्धोऽस्ति, अग्नौ रसोऽस्ति, वायौ रूपरसगन्धाः सन्ति, व्योम्नि स्पर्शोऽस्ति' इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति होगी ॥ ५–६ ॥

न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो भिद्यते यदि ॥ ७ ॥

(जो सम्प्रदाय 'अभाव' को 'निःस्वभाव' एवं 'अवस्तु' स्वरूप 'तुच्छ' मानते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि जो दही पहले से विद्यमान नहीं था, पीछे फिर सत्ता का लाभ करता है, अतः उसे 'उपादेय' अथवा कार्य कहते हैं। 'जो क्षीर पहले से था किन्तु दधि के आविर्भाव के बाद 'नहीं' रहता है वही क्षीर दधि का उपादान कारण कहलाता है' यह कार्यकारणभाव अनुपपन्न हो जायगा यदि 'अभाव' के प्रागभाव और ध्वंस स्वरूप भेदों को स्वीकार न करें।

इसी प्रकार 'गौरश्वो न भवति' एवं 'अश्वो गौर्न भवति' यह जो गो और अश्व में परस्पर दोनों के अभाव की प्रतीति होती है वे दोनों ही प्रतीतियाँ उपपन्न नहीं होंगी यदि अभाव के अन्योन्याभाव स्वरूप प्रकार को स्वीकार न करें।

इसी प्रकार 'विषाणशून्यः शशः' यह व्यवहार भी उपपन्न नहीं होगा यदि अभाव के 'अत्यन्ताभाव' स्वरूप भेद को स्वीकार न करें। अतः अभाव 'निःस्वभाव' या 'तुच्छ' नहीं है ॥ ७ ॥

न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता।
कार्यादीनामभावः को योऽभावः कारणादितः ॥ ८ ॥

न चाऽवस्तुनः·····वस्तुता

क्योंकि 'अवस्तु' के ये प्रागभावादि अवान्तर भेद नहीं हो सकते। अतः अभाव (गगनकुसुमादि के समान) अवस्तु नहीं है। किन्तु घटादि के समान वस्तु ही है।

कार्यादीनाम्……कारणादितः

दूध में जो दही का अभाव रहता है, वह अभाव दुग्ध स्वरूप ही है क्योंकि, धर्म और धर्मी दोनों अभिन्न हैं। इस न्याय के अनुसार दही का प्रागभाव क्षीर स्वरूप 'वस्तु' का ही धर्म है। इस लिये वह प्रागभाव भी 'वस्तु' ही है, अवस्तु नहीं, क्योंकि जो स्वयं 'अवस्तु' स्वरूप होगा, वह वस्तु का धर्म नहीं हो सकता। इस युक्ति से भी 'अभाव' वस्तु ही है, अवस्तु नहीं ॥ ८ ॥

यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् ।
तस्माद् गवादिवद् वस्तु प्रमेयत्वाच्च गम्यते ॥ ९ ॥

यद्वाऽनु……गवादिवद्वस्तु

प्रागभाव, ध्वंस, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन सभी विभिन्नव्यक्तियों में 'ये अभाव हैं' इस एक आकार की प्रतीति (अनुवृत्ति प्रत्यय) होती है। प्रागभावादि प्रत्येक में 'यह प्रागभाव है ध्वंस नहीं' अथवा 'यह ध्वंस है अत्यन्ताभाव नहीं' इत्यादि आकारों की 'व्यावृत्ति प्रतीतियाँ' होती हैं। इस लिये जिस प्रकार गवादि वस्तुओं में अनुवृत्ति प्रतीति और व्यावृत्ति प्रतीति दोनों होती हैं, उसी प्रकार उक्त दोनों ही प्रतीतियाँ अभावों में भी होती हैं, अतः अभाव भी गवादि के समान 'वस्तु' ही है, गगनकुसुमादि के समान अवस्तु नहीं।

प्रमेयत्वाच्च गम्यते

कथित युक्तियों से दिखलाया जा चुका है कि अभाव भी गवादि पदार्थों की तरह प्रमाज्ञान का विषय होने के कारण 'प्रमेय' है। जब 'प्रमेय' है तो अवश्य ही 'वस्तु' भी है, क्योंकि गगनकुसुमादि 'अवस्तु' कभी भी प्रमाज्ञान के विषय (प्रमेय) नहीं होते। तस्मात् अभाव भी चूँकि गवादि वस्तुओं के समान प्रमेय है, अतः 'वस्तु' भी है ॥ ९ ॥

न चौपचारिकत्वं वा भ्रान्तिर्वापि यदृच्छया।
भवत्यतो न सामान्यविशेषात्मकता मृषा ॥ १० ॥

(कदाचित् यह कहें कि अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति के उक्त व्यवहार गौण हैं, क्योंकि वे प्रतीतियाँ भ्रान्ति स्वरूप हैं। अतः उन प्रतीतियों से अभाव में वस्तुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि—) किसी भी प्रतीति को भ्रान्ति स्वरूप मानना अथवा किसी लोकसिद्ध व्यवहार को 'गौण' कह देना किसी प्रबल युक्ति के विना संभव नहीं है। प्रकृत में ऐसी कोई प्रबल विरोधी युक्ति नहीं है। अतः अभाव की सामान्यविशेषरूपवत्ता मिथ्या नहीं है ॥ १० ॥

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनः परिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षादेः⋯उच्यते

भाष्यस्य 'प्रमाणाभाव' शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपपत्ति स्वरूप 'अभाव' ही विवक्षित है।[1]

साऽऽत्मनः परिणामो वा⋯अन्यवस्तुनि

अभाव प्रमाण स्वरूपा यह अनुत्पत्ति दो प्रकार की है (१) आत्मा के परिणाम स्वरूप प्रत्यक्षादि ज्ञानों के अभावमात्ररूप एवं (२) भूतल में उत्पन्न होने वाले घटाभावविषयक[2] ज्ञान स्वरूप ॥ ११ ॥

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद् रूपं किञ्चित् कदाचन॥ १२ ॥

(पूर्वपक्ष = कहा जा सकता है कि जिस समय भूतल में घट नहीं रहता उस समय भूतल के अतिरिक्त किसी 'अभाव' नामक वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। भाव पदार्थ की उपलब्धि तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही होती है, फिर अभाव नाम के प्रमाण की किस प्रमेय को समझने के लिए आवश्यकता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि–)

सभी वस्तु के दो स्वरूप हैं (१) सद्रूप और (२) असद्रूप। घट अपने घटत्व रूप से 'सत्' है, वही घट पटत्वरूप से असत् है। भूतल में अपनी सत्त्वदशा में वह घट सत्त्व की प्रतीति को उत्पन्न करता है, एवं भूतल से अन्यत्र वही घट असद्रूप से (पटत्वादि रूपों से) घटाभाव प्रतीति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एक वस्तु में अन्य वस्तु कभी अपने स्वरूप के द्वारा प्रतीत होती है कभी पररूप के द्वारा प्रतीत होती है। जब वह पररूप के द्वारा प्रतीत होती है, तभी उसकी प्रतीति उस वस्तु के अभाव की प्रतीति कहलाती है॥ १२ ॥

---

१. इस प्रकार इस आक्षेप का समाधान हो गया कि 'अभाव नाम का कोई प्रमाण इसलिये नहीं है कि उससे प्रमित होने वाला कोई प्रमेय नहीं है, क्योंकि अभाव प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि उक्त रीति से निर्बाध है। इस प्रकार भाष्यस्य 'प्रमाणाभाव' शब्द में प्रयुक्त प्रमाण शब्द से 'प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण विवक्षित हैं' यह दिखलाया गया है। फलतः उक्त 'प्रमाण' शब्द की व्याख्या की गयी है। अब प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के 'प्रमाणाभाव' शब्द में प्रयुक्त 'अभाव' शब्द की व्याख्या की जाती है।

२. 'अनुपपत्ति' शब्दघटक जो 'नञ्' शब्द है, उसको यदि प्रसज्यप्रतिषेधार्थक मानते हैं तो (१) उक्त प्रथम कल्प के अनुसार पर्यवसन्नार्थ होता है कि घटप्रत्यक्षादि का अभाव ही उक्त 'अनुत्पत्ति' शब्द का अर्थ है, घटाभावविषयक ज्ञान उसका अर्थ नहीं है। इस पक्ष में घटप्रत्यक्षाभाव घटाभावविषयक बुद्धि का उत्पादक होने के कारण इन्द्रियादि के समान प्रमाण हैं एवं घटाभावविषयक बुद्धि उसका फल है। (२) यदि अनुत्पत्तिशब्दघटक नञ् को पर्युदासप्रतिषेधार्थक मानते हैं तो घटाभावविषयक बुद्धि ही 'अनुत्पत्ति' अथवा 'अभाव' प्रमाण है। प्रमाणार्थक अनुत्पत्ति या अभाव शब्द की इस पक्ष में उक्त बुद्धि स्वरूप भाव पदार्थ में लक्षणा माननी होगी। इस पक्ष में हानादि बुद्धियाँ फल होंगी।

यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा वोपजायते।
वेत्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते॥ १३॥

किस समय वस्तु सद्रूप से ज्ञात होती है? एवं किस समय अपने असद्रूप से ज्ञात होती है? इन प्रश्नों का यह उत्तर है कि—

जिस समय वस्तुओं के इन दोनों रूपों में से जो रूप 'उद्भूत' रहता है, अथवा जिस रूप से वस्तु को जानने की इच्छा रहती है, उसी रूप से उस समय वस्तु का ज्ञान होता है। एवं उसी रूप से वस्तु का 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' यह व्यवहार होता है। अतः प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के जो अभाव 'नास्ति' शब्द से बोध्य अर्थ का बोधक हो वही 'अभाव' नाम का प्रमाण है॥ १३॥

तस्योपकारत्वेन वर्त्ततेऽशस्तवेतरः।
उभयोरपि संवित्तावुभयानुगमोऽस्ति हि॥ १४॥

तस्योपकारकत्वेन ... तवेतरः

क्योंकि उस समय वस्तुओं का उद्भूत रूप ही प्रतीति में सहायक होता है। फिर भी उस समय उसका 'दूसरा' अर्थात् अनद्भूत रूप भी विद्यमान रहता है।

उभयोरपि ... अस्ति हि

अथवा सद्रूप एवं असद्रूप दोनों में एक रूप से ग्रहण में भी दूसरे रूप की अनुवृत्ति बनी रहती है॥ १४॥

अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते॥ १५॥

क्योंकि किसी भाव पदार्थ का जो 'अयमेव' इस आकार का निर्णयात्मक ज्ञान होता है, वह दूसरी वस्तु के अभावविषयक ज्ञान के विना सम्भव नहीं है।[1]

---

१. (१) निर्णयकजनकत्व और (२) अनपेक्षत्व प्रमाण के ये दो स्वरूप हैं। निर्णय का यदि अभावानुविद्ध होना आवश्यक हो अर्थात् निर्णय को नियमतः अभावविषयक होना आवश्यक हो तो प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों को 'अभाव'प्रमाणसापेक्ष मानना पड़ेगा, क्योंकि इसके विना प्रत्यक्षादि प्रमाण नियमतः अभावसहित घटादिभावविषयक प्रत्यक्षादि निर्णयों का उत्पादन नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार अभावानुविद्धत्व को यदि निर्णय का लक्षण मानेंगे तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रामाण्य ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि वे अभावप्रमाणसापेक्ष हो जायेंगे, प्रमाणों का अनपेक्षत्वस्वरूप लक्षण उनमें न रह सकेगा।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि 'अभावानुविद्ध' होना निर्णय का लक्षण नहीं है, क्योंकि अभावानुविद्ध बोध संशयात्मक भी होता है। एवं सभी निर्णय भी अभावानुविद्ध नहीं होते। एवं संशय भी नियमतः अभावानुविद्ध नहीं होते। जैसे कि 'किमस्मिन् गृहे देवदत्त एव किंवा अन्योऽपि' इस ज्ञान में देवदत्त दूसरे अन्य (भाव पदार्थ) से अनुविद्ध होकर

नास्तीत्यपि च संवित्तिर्न वस्त्वनुगमाकृते।
ज्ञानं न जायते किञ्चिदुपष्टम्भनवर्जितम् ॥ १६ ॥
प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥ १७ ॥
न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥ १८ ॥

नास्तीत्यपि ''वस्त्वनुगमावृते

सद्विषयक सभी निर्णय (अवधारण) अभावविषयक भले ही न हों, किन्तु अभावविषयक 'नास्ति' इस आकार की सभी प्रतीतियाँ नियमतः 'भावानुविद्ध' अर्थात् भावविषयक अवश्य होती हैं।

ज्ञानं न जायते ''वर्जितम्

क्योंकि अभावविषयक सभी प्रतीतियाँ 'इदमिह नास्ति' अथवा 'इदमिदं न भवति' इत्यादि आकारों की ही होती हैं जिनमें अभावों के साथ-साथ भाव पदार्थ भी अवश्य ही भासित होते हैं। कोई भी अभाव की प्रतीति भावसम्बन्ध के विना नहीं होती है ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु''जिघृक्षिते

पूर्वप्रदर्शित रीति से यह स्थिर हो गया कि सभी वस्तुओं के 'सद्रूप' और 'असद्रूप' दोनों ही हैं। अर्थात् सभी 'सदसदात्मक' हैं। इनमें जिस समय प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अभाव प्रमाण' असदंश को प्रकाशित करने के लिये व्यापृत होता है, उस समय भाव के ज्ञापक (सद्रूप के प्रकाशक) प्रत्यक्षादि प्रमाण वस्तुओं के भावांश के (सद्रूप को) प्रकाशित करने के लिए व्यापृत नहीं होता।

ही भासित होता है, फिर भी यह ज्ञान संशयात्मक है। एवं 'किमस्तीह चैत्रः किं वा नास्ति' इस ज्ञान में चैत्र के भाव और अभाव दोनों भासित होते हैं, फिर भी यह निर्णयात्मक न होकर संशय रूप ही है। यदि 'अभाव प्रकाश' को 'अभावाऽनुवेद्य' को निर्णय मानेंगे तो अभावविषयक कोई संशय नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार 'किं चिन्मात्ररूप आत्मा ? किं सुखदुःखरूपोऽपि' इस प्रकार का ज्ञान अभावविषयक होकर भी संशय रूप ही है। एवं 'न चिन्मात्ररूप आत्मा किन्तु सुखादि-रूपोऽपि' इस प्रकार का ज्ञान अभावविषयक होने पर भी निर्णयस्वरूप है। इसलिए यह कहना सम्भव नहीं है कि अभावानुविद्ध (अभावविषयक) ज्ञान निर्णयस्वरूप है एवं अभावाविषयक ज्ञान अनिर्णय स्वरूप है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि अभावविषयकत्व निर्णय का लक्षण नहीं है। केवल इतना ही कहना है कि—'योऽयं देवदत्त एवात्र गृहे नान्यः' अथवा 'पुरुष एवायं न स्थाणुः' इत्यादि निर्णय 'वस्त्वन्तराभावानुविद्ध' हैं, इससे सभी निर्णयों को 'वस्त्व-न्तराभावानुविद्ध' कहना इष्ट नहीं है। तो फिर प्रश्न रहा कि सभी निर्णयों का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि सभी निर्णयों का कोई एक स्वरूप सम्भव नहीं है। अतः जिन प्रतीतियों को सभी जन निर्णय कहें उन्हीं को निर्णय कहना होगा, चाहे वह 'अभावानुविद्ध' हो अथवा न हो।

न तावत्'''इन्द्रियस्य हि

(नैयायिकगण अभावों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही मानते हैं। इसके लिये प्रत्यक्ष के प्रयोजक (१) द्रव्यग्राहक संयोग, (२) गुणकर्मग्राहक संयुक्तसमवाय, (३) गुणत्वकर्मत्व-ग्राहक संयुक्तसमवेतसमवाय (४) शब्दग्राहक समवाय (५) शब्दत्वग्राहक समवेत-समवाय इन पाँच संनिकर्षों के अतिरिक्त (६) (संयुक्त) विशेषणत्व नाम के छठे सम्बन्ध की कल्पना भी करते हैं जिससे वे लोग अभाव का ग्रहण मानते हैं। इसके उदाहरण के लिए 'अफलवती शाखा' इत्यादि आकारों की प्रतीतियों को उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। किन्तु उन लोगों की यह दृष्टि ठीक नहीं है, क्योंकि—)

'नास्ति' इस आकार की बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं उत्पन्न होती है, उससे तो भावविषयक बुद्धि ही उत्पन्न होती है जिस लिये कि इन्द्रियों का सम्बन्ध अभावों के साथ प्रकाशित होने वाले भावों के साथ ही हो सकता है ॥ १६–१८ ॥

ननु भावादभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च।
न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥ १९ ॥

ननु भावात्'''अस्ति तेन च

(पूर्वपक्ष) अभाव चूँकि भाव से अभिन्न है, अतः इन्द्रियों का सम्बन्ध यदि भाव पदार्थों के साथ है तो अभावों के साथ भी भाव पदार्थों से अभिन्न होने के कारण अवश्य है। इस प्रकार इन्द्रियों से ही अभावों का भी ग्रहण हो सकता है।

न, ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति'''इहापि नः

(समाधान) यह सत्य है कि भाव और अभाव दोनों अभिन्न हैं। फिर भी 'अत्यन्त अभिन्न' नहीं हैं। जैसे कि रूपरसादि गुण एक आश्रय में रहने के कारण अभिन्न होते हुए भी अपने रूपत्व और रसत्व रूपों से भिन्न भी हैं वैसे ही भूप्रदेश-गत अभाव भूप्रदेश रूप धर्मी से अभिन्न होते हुए भी अपने 'अभावत्व' रूप से अपने धर्मी से भिन्न भी है। अतः भूतल में इन्द्रियसंयोग है इसलिए भूतल से कथं-चिद् भिन्न अभाव में (भूतल से कथंचिद् भिन्न होने के कारण) इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। (धर्म से भिन्न धर्मी की सत्ता का प्रतिपादन प्रत्यक्षपरि-च्छेद के श्लो० १५२ में किया जा चुका है) ॥ १९ ॥

धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते।
उद्भवाभिभवात्मत्वाद् ग्रहणं चावतिष्ठते ॥ २० ॥

यदि धर्म और धर्मी सर्वथा एक हों तो कथञ्चित् उद्भूत होने के कारण एक का ग्रहण और अभिभूत (अनुद्भूत) होने के कारण दूसरे का अग्रहण उपपन्न नहीं होगा। तस्मात् हम लोगों (मीमांसकों) के मत से धर्मी और धर्म में अभेद के समान ही कथंचिद् भेद भी है ॥ २० ॥

इदमेव निमित्तं च विवेकस्य प्रतीयते।
भावाभावधियोरक्षैः सम्बन्धोऽस्त्यानपेक्षणम् ॥ २१ ॥

भाव स्वरूप धर्मी और अभाव स्वरूप धर्म इन दोनों में भेद का एक यह प्रयोजक है कि भाव पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित होता है, किन्तु अभाव पदार्थ के ज्ञान में इन्द्रिय संयोग की अपेक्षा नहीं होती है। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न होते तो नियमतः दोनों का एक ही प्रमाण से ग्रहण होता ॥ २१ ॥

रूपादेरपि भेदं च केचिद् ग्राहकभेदतः।
वर्णयन्ति यथैकस्य पुंसः पुत्रादिरूपताम् ॥ २२ ॥

कोई कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही पुरुष में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों के प्रतियोगियों में भेद रहने के कारण एकधर्मिक पितृत्व और पुत्रत्व धर्म भिन्न होते हैं, उसी प्रकार रूपरसादि के एकधर्मिक होने पर भी उनके ग्राहक भिन्न हैं, इसलिए वे एक-धर्मिक होने पर भी भिन्न ही हैं। यदि वे सर्वथा अभिन्न होते तो रूपग्राहक चक्षु से रूप से अभिन्न रस का भी ग्रहण होता, अथवा रसग्राहिका रसना से तदभिन्न रूप का भी ग्रहण होता। इसी प्रकार भूतलादिधर्मिक घटाभावादि धर्म भी भूतलादि से भिन्न हो सकते हैं ॥ २२ ॥

बुद्धिमात्रकृतो भेदो रूपादौ नित्यमेव हि।
न च देशाद्यभिन्नानां समुदायावकल्पना ॥ २३ ॥

बुद्धिमात्रकृतः···नित्यमेव हि

हम लोग (मीमांसकगण) तो रूपादि में भी बुद्धिभेदमूलक ही भेद मानते हैं। यह बुद्धिभेद भी भाव और अभाव में है ही, क्योंकि अभाव की प्रतीति नञर्थ-ग्राहिणी होती है। भूतलादिभावविषयक प्रतीतियों में कहीं नञर्थ का प्रवेश नहीं होता है। अतः बुद्धिभेदमूलक भेद भी भाव और अभाव में बराबर है ही।

न च देशादि···समुदायावकल्पना

(पूर्वपक्ष—तो फिर भाव और अभाव के समान ही जिन रूप-रसादि का आश्रय एक है, उनमें भी परस्पर भेद ही मान लें। यदि इस प्रसङ्ग में यह कहें कि दोनों की प्रतीति चूँकि एक आश्रय में होती है, अतः उन दोनों को किसी अंश में अभिन्न भी मानना पड़ना है तो इसका यह उत्तर है कि जिस प्रकार अनेक वृक्ष परस्पर भिन्न होते हुए भी समुदाय की दृष्टि से 'वनम्' इस एकविषयक प्रतीति के विषय हैं, फिर भी वे वृक्ष अभिन्न नहीं होते, उसी प्रकार रूप-रसादि अथवा भावाभावादि में परस्पर भेद मानने पर भी उक्त अभेदप्रतीति की उपपत्ति हो सकती है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

एक आश्रय में रहने के कारण किन्हीं अनेक वस्तुओं का एक समुदाय नहीं माना जा सकता (देखिये प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लो० १५२) ॥ २३ ॥

सद्गुणद्रव्यरूपेण रूपादेरेकतेष्यते।
स्वरूपापेक्षया चैषां परस्परविभिन्नता ॥ २४ ॥

धर्म और धर्मी को 'एक' एवं 'नाना' दोनों यदि मान लें तथापि कोई विरोध नहीं, क्योंकि अपेक्ष्य के भेद से आपेक्षिक एकत्व और नानात्व दोनों ही उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि उक्त रीति से दोनों में कोई विरोध नहीं है।

जैसे कि रूप और रस दोनों 'सत्' हैं इस लिये दोनों अभिन्न हैं। एवं दोनों 'गुण' हैं इस लिये भी गुणत्व रूप से दोनों अभिन्न हैं। किं वा दोनों द्रव्याश्रित हैं इस लिये भी द्रव्याश्रितत्व रूप से दोनों अभिन्न हैं। किन्तु रूप 'रूपत्व' से युक्त है और रस 'रसत्व' से। रूप में न रसत्व है न रस में रूपत्व है। इस प्रकार स्ववृत्ति असाधारण धर्म स्वरूप रूपत्वादि धर्मों के द्वारा रूप और रस दोनों भिन्न भी हैं ॥ २४ ॥

यदि तद्वदपेक्षात्र न स्याद् भेदोऽत्र नैव हि ।
सदसद्रूपता बुद्धेर्भवेदन्यतरत्र नः ॥ २५ ॥

यदि एक ही अधिकरण में एक ही वस्तु की सत्त्वप्रतीति एवं असत्त्वप्रतीति दोनों आपेक्षिक न हों तो दोनों में भेद नहीं होगा। एवं ऐसा होने से दोनों में से किसी एक के सत्त्व की ही प्रतीति होगी अथवा असत्त्व की ही प्रतीति होगी ॥ २५ ॥

तत्सम्बन्धे सदित्येवं तद्रूपत्वं प्रतीयते ।
नास्त्यत्रेदमितीदं तु तदसंयोगहेतुकम् ॥ २६ ॥

किन्तु वस्तुगति सर्वथा इसके विपरीत है, क्योंकि एक ही भूतल में यदि घट का संयोग रहता है, तो घट के सत्त्व की प्रतीति होती है। यदि घट का संयोग नहीं रहता है तो घट के असत्त्व की प्रतीति होती है[1] ॥ २६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यदि केवल भूतल में ही इन्द्रिय का संयोग रहता है तो केवल इन्द्रियसंयुक्तत्व स्वरूप 'सद्रूप' से केवल भूतल ही प्रकाशित होता है। भूतल का वही इन्द्रियसंयोग यदि घटसंयोगाभावात्मक होता है, अर्थात् घटसंयुक्तत्वेन भूतलसंयुक्त नहीं होता है तो 'घटशून्यं भूतलम्' इस आकार की प्रतीति होती है।

इसी प्रकार जिस समय घट इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध रहता है, उस समय घट की 'सद्रूप' से ही 'अस्ति घटः' इस आकार की प्रतीति होती है। जहाँ 'इह घटो नास्ति' यह प्रतीति होती है, वहाँ भूतलसंयोगाभाव स्वरूप से असत्त्वविशिष्ट घट की ही प्रतीति होती है, वहाँ भूतल की प्रतीति नहीं होती है।

घट का जो संयोग उत्पन्न नहीं रहता है, उस समय के संयोग का अभाव उसका 'प्रागभाव' कहलाता है। जिस समय वह उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है, उस समय का संयोगाभाव संयोग का प्रध्वंस कहलाता है। शश में विषाण की अविद्यमानता सदा वर्त्तमान रहती है, अतः शश में शृङ्ग का अभाव उसका अत्यन्ताभाव कहलाता है। इन तीनों ही अभावों में प्रतियोगी के संसर्ग का निषेध होता है। इस लिये इन तीनों ही अभावों को 'संसर्गाभाव' कहा जाता है। 'अन्योन्याभाव' स्थल में एक में दूसरे के तादात्म्य का निषेध होता है। जैसे कि 'गौरश्वो न भवति'।

प्रश्न होता है कि अविद्यमानत्व स्वरूप 'अभाव' कहाँ रहता है ? अगर यह कहें कि जहाँ अविद्यमानता की सत्ता रहती है वहीं अभाव रहता है, तो यह कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि जो स्वयं अविद्यमान है वह किसी का आश्रय कैसे होगा ? यदि कहें कि भूतल ही उसका आश्रय है तो फिर यह मानना होगा कि भूतल स्वयं अविद्यमान है, क्योंकि अविद्यमानत्व का आश्रय तो अविद्यमान ही होगा। यदि कहें कि उस समय भूतल घटसंयोगवत्त्व रूप से अविद्यमान ही है, भले ही भूतलत्व रूप से विद्यमान रहे, तथापि किसी भी प्रकार से अविद्यमान वस्तु किसी का आश्रय कैसे होगा ?

इन प्रश्नों का चरम समाधान यह है कि वस्तुभूत (भाव स्वरूप) अर्थ के आश्रय के लिये ही वर्त्तमानता आवश्यक है। जो स्वयं अविद्यमानत्व स्वरूप है, उसके आश्रय को तो अविद्यमान होना ही चाहिये। वस्तु की स्वनिष्ठ अविद्यमानता ही अविद्यमान रहती है। दूसरी वस्तु का अभाव भी अविद्यमान किसी तीसरी वस्तु में तो रहता ही है। जैसे कि विषाण में तीक्ष्णता का अभाव अथवा दीर्घ का अभाव आदि।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात् ॥ २७ ॥

(पूर्वपक्ष—यदि अभाव की सत्ता को स्वीकार भी कर लें तथापि उसका प्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होगा, क्योंकि रूपादि से युक्त भूतलादि में भी खुली हुई आँखों वाले पुरुष को ही 'घटो नास्ति' यह बुद्धि होती है, अन्धे को नहीं, अथवा मुंदी हुई आँखोंवाले को नहीं। एवं 'भूतले घटो नास्ति' इस आकार की प्रतीति 'साक्षात्कारात्मक' है एवं 'विशष्टज्ञान' स्वरूप है। इसकी 'विशिष्टता' और साक्षात्कारात्मकता दोनों ही तभी उपपन्न हो सकती हैं, जब अभाव की उक्त प्रतीति को इन्द्रियजन्य मानें। यदि ऐसा नहीं मानेंगे अर्थात् भूतलांश की प्रतीति प्रत्यक्ष से और 'घटनास्तित्व' की प्रतीति 'अभाव' प्रमाण से मानेंगे तो 'अभावविशिष्टभूतल' की प्रतीति 'अकारणक' हो जायगी। अतः अभाव नाम का अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

'भूतले घटो नास्ति' इस आकार का 'नास्तिता' विषयक ज्ञान मन से ही होता है। उसमें चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है। भूतलादि आश्रय स्वरूप 'वस्तु' की सत्ता का इन्द्रियजनित ज्ञान एवं अभाव के घटादि प्रतियोगियों का स्मरण इन दोनों का साहाय्य उक्त अभावप्रतीति में अवश्य ही अपेक्षित होती है[1]।

स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि ।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते ॥ २८ ॥

(प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रिय में ही भाव और अभाव दोनों के ग्रहण की शक्ति क्यों नहीं मान लेते ? भावग्रहण के लिये इन्द्रिय में शक्ति को स्वीकार करना

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'दृश्यादर्शन' (योग्यानुलब्धि) ही नास्तितता का ज्ञापक है, केवल अदर्शन नहीं। एवं अभावग्रहण के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा तो इस लिये होती है कि जिस व्यक्ति को भूतलादि आश्रयों का ग्रहण पहले से रहता है, उसी को घटादि स्वरूप प्रतियोगियों का भी ग्रहण वहाँ हो सकता है। आश्रय का यह 'ग्रहण' और प्रतियोगी की यह दृश्यता दोनों उन्मीलित चक्षु के अधीन हैं। इन्हीं सब प्रयोजनों के लिये इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेक अभाव-ग्रहण के साथ देखा जाता है। स्वतन्त्र रूप से अभावग्रहण के अन्वय में इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं है।

भूतल स्वरूप आश्रय का भान प्रत्यक्ष से एवं घटाभाव का ज्ञान 'अभाव' प्रमाण से होने पर भी प्रत्यक्ष और अभाव दोनों प्रमाणों के समाहार से 'भूतले घटो नास्ति' इस एक विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा स्वरूप एक विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति भूत और वर्त्तमान के ग्राहक विभिन्न प्रमाणों के समाहार से होती है। इसी प्रकार इन्द्रियसहित दृश्यादर्शन (अनुपलब्धि) से 'भूतले घटो नास्ति' इस 'एक विशिष्ट बुद्धि' की उत्पत्ति हो सकती है।

ही है, फिर अभावग्रहण के लिये इन्द्रिय से अन्यत्र 'दृश्यादर्शन' शक्ति मानने में गौरव दोष है। अतः 'अभाव' अथवा 'दृश्यादर्शन' नाम का कोइ प्रमाण नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जहाँ कोई पुरुष केवल 'स्वरूप' को अर्थात् आधारभूत देश मात्र को देखता है, उस देश में व्याघ्रादि हिंस्र जन्तुओं को नही देखता। इस लिये व्याघ्रादि प्रतियोगियों का स्मरण संभव न होने के कारण व्याघ्रादि के अभाव का ग्रहण भी संभव नहीं होता है।

देश मात्र को देखकर जाने के बाद यदि कोई उसे पूछता है कि "प्रातः काल जब आप वहाँ थे तो उस देश में व्याघ्रादि कोई हिंस्र जन्तु आया था' तो वह पुरुष पूर्वाधिगत देश का स्मरण करते हुये व्याघ्रादि के अभाव का उसी समय अनुभव करता है, जिसका पूर्व से अनुभव नहीं था। पहले ज्ञात न रहने के कारण अभाव का स्मरण भी नहीं हो सकता। उस समय अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध एवं वर्त्तमान विषय का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः अभाव को समझने के लिये सभी जगह इन्द्रिय से काम नहीं चल सकता। इसके लिये 'अभाव' नामक प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है[1] ॥ २८ ॥

न चाप्यत्रानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते।
भावांशो ननु लिङ्गं स्यात् तदानीं नाजिघृक्षणात् ॥२९॥
अभावावगतेर्जन्म भावांशे ह्यजिघृक्षिते।
तस्मिन् प्रतीयमाने तु नाभावे जायते मतिः ॥ ३० ॥

न चाऽप्यत्रानुमानत्वम्....प्रतीयते

यह अनुपलब्धि (अभाव) नाम का प्रमाण अनुमान स्वरूप भी नहीं हैं। अर्थात् अभाव का बोध अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के ज्ञापक उपयुक्त हेतु का संवलन संभव नहीं है।

भावांशो ननु....स्यात्

(पू० प०) अभावविषयक ज्ञान में भासित होने वाला 'भाव' पदार्थ ही अभावविषयक अनुमान का हेतु होगा ?

---

१. इस प्रसङ्ग मे पूर्वपक्षवादी कह सकते हैं कि उक्त स्थल में तो 'योग्यानुपलब्धि' की भी संभावना नहीं है, क्योंकि अभाव के प्रतियोगी की उपलब्धि किसी भी प्रकार संभव नहीं है, इस आक्षेप का यह उत्तर है कि अनुभव स्वरूप उपलब्धि की योग्यता उसमें भले ही न रहे स्मरण स्वरूप उपलब्धि की योग्यता उसमें सुलभ है। जिस प्रकार 'अनुभवयोग्यत्वे-सति अनुभवविषयत्वाभाव' योग्यानुपलब्धि है उसी प्रकार 'स्मरणयोग्यत्वे सति स्मृति-विषयत्वाभाव' भी योग्यानुपलब्धि ही है। अर्थात् योग्यानुपलब्धिघटक 'उपलब्धि' शब्द अनुभव-स्मरणसाधारण ज्ञान मात्र का बोधक है, केवल अनुभव का नहीं। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वत्र अभाव का ज्ञान संभव नहीं है।

न, अजिघृक्षणात्....तस्मिन् प्रतीयमाने....जायते मतिः

(समाधान) उक्त भाव पदार्थ भी अभावग्रहण का उपयुक्त लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि 'भूतले घटो नास्ति' इस अभावविषयक प्रतीति में भूतल और घट ये दोनों पदार्थ भासित होते हैं। यदि भाव पदार्थ को लिंग मानेंगे तो प्रकृत में ये ही दोनों भाव पदार्थ लिंग हो सकते हैं। तदनुसार प्रकृत में अनुमान के ये दो प्रयोग होंगे (१) भूतले घटो नास्ति घटवत्त्वात् (२) भूतले घटो नास्ति भूतलत्वात्। इन में घट स्वरूप भाव इस लिये हेतु नहीं हो सकता कि घटाभावप्रतीति के समय घट की प्रतीति सम्भव नहीं है। अप्रतीयमान घट हेतु हो नहीं सकता ॥ २९–३० ॥

न चैष पक्षधर्मत्वं पदवत् प्रतिपद्यते।
सह सर्वैरभावैश्च भावो नैकान्ततो गतः ॥ ३१ ॥
क्वचिद् भावेऽपि सद्भावो ज्ञातो यस्य कदाचन।
यस्याभावोऽपि तत्रैव कदाचिदवगम्यते ॥ ३२ ॥

न चैष....प्रतिपद्यते

भूप्रदेश अथवा भूतलत्व इस लिये हेतु नहीं हो सकता कि वह पक्ष में वृत्तित्व रूप से (पक्षधर्मत्व रूप से) ज्ञात नहीं है। जैसे कि पदधर्मिक पदार्थानुमान में पदत्व अथवा पद इसी लिये हेतु नहीं होता, कि दोनों पक्षधर्मत्व रूप से ज्ञात नहीं रहता (देखिये शब्दपरिच्छेद श्लोक ६२)। अर्थात् भूतल अथवा भूतलत्व हेतु जब तक अभाव के साथ गृहीत नहीं होगा तब तक तद्धर्मत्वेन गृहीत नहीं होगा। यदि अभाव गृहीत हो जायगा तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रह जायगी।

नैकान्ततो गतः...क्वचित्...कदाचिदवगम्यते

दूसरी बात यह है कि भूप्रदेश हेतु चूंकि घट के साथ भी रहता है, क्योंकि 'भूतलेन घटो नास्ति' इस प्रतीति के समान 'भूतले घटोऽस्ति' इस आकार की प्रतीति भी होती है अतः भूप्रदेशत्व हेतु घटज्ञान में व्यभिचरित होने के कारण घटाभाव का व्याप्य नहीं है। इसलिये भी वह हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि जिसकी सत्ता जिस वस्तु में कभी देखी जाती है, उसी वस्तु में उसका अभाव भी कभी देखा जाता है ॥ ३२ ॥

यत्राप्यदृष्टपूर्वत्वं यदभावस्य तत्र च।
तदभावमतिर्दृष्टा सम्बन्धेऽक्षानपेक्षया ॥ ३३ ॥

भूतल के साथ अथवा भूतलत्व के साथ अभाव का अन्वयसहचार भी नहीं है, क्योंकि जिस आश्रय में जो अभाव पहले कभी नहीं देखा गया है, वही अभाव उस आश्रय में विना चक्षु की अपेक्षा से ज्ञात होता है। फलतः उक्त स्थल में अभाव-ज्ञान की उपपत्ति विना 'अभाव प्रमाण' के (अनुपलब्धि प्रमाण के) नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में से किसी की भी संभावना वहाँ नहीं है ॥३३॥

कस्यचिद् यदि भावस्य स्यादभावेन केनचित्।
सम्बन्धदर्शनम् तत्र सर्वमानं प्रसज्यते ॥ ३४ ॥

यदि भूतलादि आश्रय स्वरूप भाव पदार्थों का सम्बन्ध किसी एक अभाव के साथ गृहीत है, केवल इसीलिए किसी अन्य अभाव का भी वह ज्ञापक लिंग हो, तो फिर सभी भाव पदार्थ सभी भाव पदार्थों के ज्ञापक लिंग होंगे ॥ ३४ ॥

गृहीतेऽपि च भावांशे नैवाभावेऽन्यवस्तुनः ।
सर्वत्र मतिरित्येवं व्यभिचारादलिङ्गता ॥ ३५ ॥

(यदि यह कहें कि भूतलादि भाव पदार्थों का व्याप्ति सम्बन्ध अभाव सामान्य के साथ गृहीत है, सामान्य का पर्यवसान विशेष में होता है, अतः भूतलादि भाव पदार्थों से घटाभावादि विशेष अभावों का अनुमान हो सकता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि) भूतलादि आश्रय स्वरूप भावांशों के गृहीत होने पर भी सभी वस्तुओं के अभाव का ज्ञान भूतल में नहीं होता। अतः भूतल स्वरूप भाव पदार्थ का व्याप्ति सम्बन्ध सभी अभावों के साथ नहीं है। (अर्थात् अभाव सामान्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है) इसलिये व्यभिचारी होने के कारण भूतलादि आश्रय स्वरूप भाव पदार्थों से भी अभाव सामान्य के बोध के द्वारा घटाभावादि विशेष अभावों का बोध नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहणं ध्रुवम् ।
तत्राभावमतिः केन प्रमाणेनोपजायते ॥ ३६ ॥

दूसरी बात यह है कि सम्बन्ध के ग्रहण में उसके अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है। प्रकृत अनुमान के प्रयोजक व्याप्तिसम्बन्ध का प्रतियोगी है 'अभाव'। अनुमान से पहले 'साध्य' स्वरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है। इस अभावज्ञान के लिये दूसरे अनुमान के अवलम्बन से 'अभाव प्रमाण' को स्वीकार करना होगा। अतः अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

तदानीं न हि लिङ्गेन सम्बन्धिग्रहणं भवेत् ।
तत्रावश्यमभावस्य प्रमाणान्तरतो गतिः ॥ ३७ ॥

तस्मात् अभाव की प्रमिति के लिये प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त एक 'अन्य' प्रमाण भी मानना होगा जिसका व्यवहार हम लोग (मीमांसकगण) अभाव, दृश्यादर्शन, अनुपलब्धि प्रभृति शब्दों से करते हैं।

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्गं भविष्यति ।
न विशेषणसम्बन्धस्तस्याः सामान्यतो भवेत् ॥ ३८ ॥
न चाप्यभावसामान्ये प्रमाणमुपजायते ।
व्यभिचाराद् विशेषास्तु प्रतीयेरन् कथं तया ॥ ३९ ॥
न चानवगतं लिङ्गं गृह्यते चेदसावपि ।
अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ ४० ॥

स चान्येन ग्रहीतव्यो नागृहीते हि लिङ्गता ।
तद्‌गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता ॥ ४१ ॥
लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यतः ।
क्व.प्यस्य स्यात् प्रमाणत्वं लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः""भविष्यति

बौद्धगण प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अनुपलब्धि' लिंग के द्वारा अभाव का अनुमान करते हैं। अर्थात् 'भाव' स्वरूप भूतलादिलिंगक अनुमान से भले ही घटाभाव का बोध संभव न हो, किन्तु 'भूतलं घटाभाववत् घटाऽनुपलब्धेः' इस अनुमान से घटाभाव का ज्ञान हो सकता है।

बौद्धों का कहना है कि देखे जाने योग्य जिस वस्तु की उपलब्धि जहाँ नहीं होती है, वहाँ उस वस्तु का अभाव रहता है। जैसे कि बुद्धि के रहने पर भी आत्मा की उपलब्धि नहीं होती हैं, अतः बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा का अभाव स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'भूतल प्रदेश में जब घट नहीं देखा जाता है तो उक्त व्याप्ति से अनुपलब्धि लिंग के द्वारा घटाभाव का अनुमान होता है।

इस प्रसंग में बौद्धों के ऊपर आक्षेप किया जा सकता है कि घटानुपलब्धि हेतु भी तो घटोपलब्धि का अभाव स्वरूप ही है, इसको समझने के लिए भी दूसरी अनुपलब्धि की आवश्यकता होगी जो अनवस्था में परिणत हो जायगी।

बौद्धगण इसका उत्तर देते हैं कि 'भूतलं घटाभाववत्' इस ज्ञान में विषय होने वाले भूतल और घटभाव इन दोनों में से अकेले भूतल की जो उपलब्धि होती है, वहीं प्रकृत में घटानुपलब्धि है। केवल भूतलोपलब्धि को छोड़कर घटानुपलब्धि नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। फलतः केवल भूतल की उपलब्धि ही घटानुपलब्धि है, जो चक्षु से ही उत्पन्न होती है। एवं स्वसंवेद्य होने के कारण उसको जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए अनवस्था दोष की कोई भी संभावना नहीं है। कथित भूतलोपलब्धि ही घटाभाव व्यवहार के योग्य होने के कारण 'घटाभाव' कहलाती है। घटाभाव नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। तस्मात् घटादि के प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति नाम की जो कथित 'अनुपलब्धि' वही भूतल में घटाभाव का ज्ञापक लिंग है।

अथवा अनुपलब्धिलिंगक उक्त अनुमान 'वीतानुमान' अर्थात् व्यापकाभावलिंगक व्याप्याभाव का अनुमान ही है, क्योंकि जो 'दृश्य' होगा, उसकी सत्ता यदि रहेगी तो उसका 'दर्शन' अवश्य होगा। इस प्रकार दृश्य की सत्ता में दर्शन की व्याप्ति अवश्य है। तदनुसार दर्शन है व्यापक और दृश्य है व्याप्य। प्रकृत में घटविषयक दर्शन स्वरूप व्यापक नहीं है, अतः उसके व्याप्य दृश्य की सत्ता भी नहीं है। इस आकारका अनुमान निष्पन्न होता है 'भूतले घटो नास्ति दृश्यभूतघटानुपलब्धेः'।

न विशेषणसम्बन्धः सामान्यतो भवेत्""विना ध्रुवम्

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन असंगत है, क्योंकि अनुमान के द्वारा सामान्य ही ज्ञात होता है, विशेष नहीं। इस नियम के अनुसार अनुपलब्धि सामान्य से अभाव

सामान्य की ही बुद्धि होगी। किन्तु प्रकृत में ज्ञेय है अभावविशेषस्वरूप 'घटाभाव' जिसकी अनुमिति घटानुपलब्धि से ही होगी, केवल अनुपलब्धि सामान्य से नहीं, क्योंकि घटसत्त्वदशा में भी अनुपलब्धि सामान्य की सत्ता रहती है।

यदि प्रकृत में 'अनुपलब्धि' शब्द से घटानुपलब्धि को ही लें, एवं उसी को घटाभाव का अनुमापक मानें एवं इस प्रकार व्यभिचार के वारण का प्रयास करें तो द्रष्टव्य होगा कि यह 'घटानुपलब्धि' क्या है ? यदि भूतलोपलब्धि स्वरूप है तो व्यभिचार का वारण नहीं होगा, क्योंकि भूतलोपलब्धि घटसत्त्वदशा में भी रहने के कारण 'साधारणी' है' अर्थात् व्यभिचारिणी है, इसलिये उससे घटाभाव की अनुमिति कैसे होगी ?

यदि घटानुपलब्धि शब्द से घटोपलब्धि के अभाव को लें तो फिर उसके साथ अन्वयग्रहण के समय इस उपलब्ध्यभावविषयक ज्ञान के लिये किसी अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा होगी जो अनवस्था में परिणत हो जायगी।

इसी प्रकार 'दर्शननिवृत्ति' से 'दृश्यनिवृत्ति' स्वरूप 'वीतानमान' में भी अनवस्था होगी, क्योंकि 'दर्शननिवृत्ति' भी अभाव स्वरूप है, उसे समझने के लिए किसी दूसरी अनुपलब्धि की अपेक्षा होगी जो फिर अनवस्था में ही परिणत हो जायगी।

तस्मात् 'प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति' स्वरूप 'अनुपलब्धि' प्रमाण से अभाव का ज्ञान कहीं मानना होगा। पीछे भले ही अनुपलब्धिलिंगक अभाव का अनुमान हो। अतः 'अभाव' नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है ॥ ३८–४२ ॥

नास्तीति धीः फलं चैषा प्रत्यक्षादेरजन्मनः।
तस्यैव च प्रमाणत्वमानन्तर्यात् प्रतीयते ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अभाव' प्रमाण का फल है 'नास्ति' इस आकार की बुद्धि। इसलिए 'अभाव' नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है, क्योंकि उसके बाद ही उक्त 'नास्ति' इस आकार की बुद्धि होती है ॥ ४३ ॥

त्रिलक्षणेन या बुद्धिर्जन्यते सानुमेष्यते।
न चानुत्पत्तिरूपस्य कारणापेक्षिता क्वचित् ॥ ४४ ॥

प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति चूंकि प्रागभाव स्वरूप है, अतः किसी भी कारण से उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। 'अनुमान' अर्थात् अनुमिति को 'त्रिलक्षण' से युक्त हेतु से उत्पन्न होना अनिवार्य है। अतः कारणाजन्य 'अनुपलब्धि' प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥

मानं कथमभावश्चेत् प्रमेयं चास्य कीदृशम्।
मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् ॥ ४५ ॥

मानम्''''चेत्

(पूर्वपक्ष) प्रमाण अभाव स्वरूप कैसे हो सकता, क्योंकि प्रमाण को भाव स्वरूप होना अनिवार्य है ?

प्रमेयं चास्य.....इष्यताम्

(समाधान) इसका प्रमेय भी अभाव स्वरूप ही है। अतः जैसा प्रमेय है वैसा ही प्रमाण भी है ॥ ४५ ॥

भावात्मके तथा मेये नाभावस्य प्रमाणता।
तथाभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ॥ ४६ ॥

जैसे कि घटादिभाव स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण अभाव स्वरूप नहीं होता, वैसे ही 'अभाव' स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण भी भाव स्वरूप नहीं हो सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाण भाव स्वरूप हैं, अतः इनसे अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती ॥४६॥

भावात्मकस्य मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम्।
परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यं स्याद् द्वयोरपि ॥ ४७ ॥

यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि 'प्रमाण' भाव स्वरूप ही हो। जिसका फल 'परिच्छेद' हो अर्थात् प्रमात्मक वुद्धि हो वही प्रमाण है। प्रमाण के इस लक्षण के अनुसार 'अभाव' भी प्रमाण है, क्योंकि उससे भी 'घटो नास्ति' इत्यादि आकारों की प्रमात्मक वुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ ४७ ॥

यदि चास्य प्रमाणत्वमभावत्वेन नेष्यते।
वस्तुनः कारणत्वं हि दृष्टमित्यभिमानिता ॥ ४८ ॥

अभाव स्वरूप अनुपलब्धि को प्रमाण न मानने का केवल एक हेतु है, वह हेतु है 'कारण केवल भाव स्वरूप ही हो' इस प्रकार का मिथ्याज्ञान ॥ ४८ ॥

न लिङ्गत्वप्रमेयत्वे भवेतां तद्वदेव हि।
तथा सति च पूर्वोक्तो व्यवहारो न सिध्यति ॥ ४९ ॥

यदि 'कारण भाव पदार्थ ही हो' यह नियम स्वीकार कर लिया जाय तो तुल्ययुक्त्या यह भी स्वीकार करना होगा कि 'अनुमापक हेतु भी भाव पदार्थ ही हो' अथवा 'प्रमेय भी भाव पदार्थ ही हो'। इन नियमों को स्वीकार करने से प्रागभावादि-मूलक कार्यकारणव्यवहारों की जो अनुपपत्ति पहले दिखलायी गयी है (देखिये श्लो० ७ अभावप्रामाण्यपरिच्छेद) वह ज्यों की त्यों रहेगी ॥ ४९ ॥

प्रमाणानामनुत्पत्तेर्नाभावस्यापि धर्मता।
यत्राभावोऽस्ति तेनास्याः सम्बन्धो नैव विद्यते ॥ ५० ॥

(प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपलब्धिलिंगक अभावसाध्यक अनुमान में कथित अनवस्था दोष ही केवल नहीं हैं, किन्तु) पक्षधर्मता की उक्त अनुमान की उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि 'अभावो भूतलवृत्तिः, अनुपलब्धेः' ऐसा अभाव स्वरूप प्रमेय-पक्षक अनुमान मानें तो हेतु में पक्षधर्मता उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि अनुपलब्धि है 'अनुत्पत्ति' स्वरूप, उसमें अभाव का न कालिक सम्बन्ध है, न देशिक सम्बन्ध। अतः वह अभाव स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अभाव स्वरूप पक्ष यदि पहले ज्ञात नहीं है तो तद्धर्मत्वेन अनुपलब्धि रूप हेतु गृहीत

नहीं हो सकता। यदि ज्ञात है तो अभाव स्वरूप पक्ष अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पहले से ही ज्ञात है। फलतः जिस पक्ष में घटादि का अभाव स्वरूप साध्य है, उसके साथ घटादि अनुपलब्धि स्वरूप हेतु का कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ ५० ॥

यो न सन्निहितस्तत्र तस्य धर्मो भवेदियम्।
न च तस्य प्रमेयत्वं धर्मधर्मित्ववर्जनात् ॥ ५१ ॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि जिस धर्मी में अभाव स्वरूप साध्य विद्यमान नहीं हैं, उसी पक्ष का यह घटानुपलब्धि धर्म होगी। इससे अनुपलब्धिलिंग में पक्षधर्मता ही विघटित होगी, क्योंकि जो स्वयं विद्यमान नहीं है, वह न किसी का 'धर्मी' हो सकता है, न किसी का धर्म ही हो सकता है ॥ ५१ ॥

अभावेन तु सम्बन्धो भवेत् तद्विषयत्वतः।
तज्ज्ञानाद् विषयत्वं च ज्ञाने मेयं न विद्यते ॥ ५२ ॥

(यदि यह कहें कि अभाव को ही पक्ष करेंगे और उसमें अनुपलब्धि हेतु से भूतलवृत्तित्व की सिद्धि करेंगे। इस दृष्टि से 'अभाव' ही अनुपलब्धि प्रमाण का 'प्रमेय' अर्थात् 'विषय' होगा जिससे अनुपलब्धि हेतु की पक्षधर्मता की कथित अनुपपत्ति मिट जायगी। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि) अनुमिति के बाद ही अभाव में कथित विषयता आवेगी। इस लिये विषयता सम्बन्ध के द्वारा पक्षधर्मता की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ ५२ ॥

संयोगसमवायादिसम्बन्धो नैव विद्यते।
नागृहीते हि धर्मत्वं गृहीते सिद्धसाधनम् ॥ ५३ ॥

संयोगसमवायादि''नैव विद्यते

अभाव स्वरूप पक्ष में अनुलब्धि स्वरूप हेतु का संयोग समवायादि सम्बन्ध भी नहीं है जिससे तन्मूलक पक्षधर्मता की उपपत्ति हो सके।

नागृहीते''''सिद्धसाधनम्

यदि अभाव में अनुपलब्धि का किसी प्रकार का सम्बन्ध मान भी लें, तथापि निस्तार नहीं है, क्योंकि अभावग्रहण से पहले सम्बन्ध नहीं होगा, अभावग्रहण के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अर्थात् अनुपलब्धि हेतु सिद्धसाधन दोष से ग्रसित हो जायगा ॥ ५३ ॥

अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते।
प्रमाणानामभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥ ५४ ॥
अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते।
प्रमेयत्वाद् यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक् ॥ ५५ ॥

तस्मात् इन उपपत्तियों से ये दो अनुमान निष्पन्न होते हैं, जिनसे प्रत्यक्षादि भावात्म प्रमाणों से अतिरिक्त 'अभाव' नाम के प्रमाण की सिद्धि होती है।

(१) प्रथम अनुमान का स्वारस्य है कि जिस प्रकार प्रत्यक्षादि भाव स्वरूप प्रमाणों के प्रमेयों का अभाव 'प्रमेयाभाव' शब्द से व्यवहृत होता है, उसी प्रकार उन प्रमेयों के अभाव का ज्ञापक प्रत्यक्षादि भाव स्वरूप का अभाव स्वरूप प्रमाणों का अभाव (अनुपलब्धि) भी अवश्य ही 'प्रमाणाभाव' शब्द से व्यवहृत होने योग्य है।

"प्रमाणभावो (अनुपलब्धि—इत्यादर्शनादिशब्दापरपर्यायः) प्रत्यक्षादेर्भिद्यते अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रमेयाभाववत्"।

(२) दूसरे अनुमान का यह आकार है—

"प्रमेयाभावो स्वजातीयेन प्रमाणेन गृह्यते प्रमेयत्वात् भावाख्यप्रमेयवत्"।

अर्थात् जिस प्रकार भाव स्वरूप प्रमेय भाव स्वरूप प्रमाण से ही गृहीत होता है, उसी प्रकार अभाव स्वरूप प्रमेय भी अभाव स्वरूप प्रमाण से ही गृहीत हो सकता है। अतः प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न अभाव नाम का (अनुपलब्धि) प्रमाण भी अवश्य है ॥ ५४–५५ ॥

कर्माणि सर्वाणि फलैः समस्तैः सर्वैर्यथावच्च यदङ्गकाण्डैः ।
न सङ्गतानीह परस्परं च नाङ्गं तदेतत् प्रभवं क्रतूनाम् ॥ ५६ ॥

कर्माणि सर्वाणि···क्रतूनाम्

इस प्रकार 'वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च' (अभावप्रामाण्यवाद श्लोक २) से पहले कह आये हैं कि वस्तुओं की सभी प्रकार की 'असंकरता' अर्थात् 'असद्रूपता' फलतः नास्तिता 'अभाव' प्रमाण से ही ज्ञात हो सकती है। तदनुसार हम (मीमांसक) लोगों के लिये इस 'अभाव' नाम के प्रमाण का असाधारण उपयोग यह है कि जिस प्रकार 'दर्शादि' यागों के कौन-कौन से अङ्ग हैं—इस प्रश्न का उत्तर 'चोदना' शब्द स्वरूप भाव प्रमाण से समझते हैं उसी प्रकार "श्रुति द्वारा कथित अङ्ग से अतिरिक्त कोई उनका अङ्ग नहीं है" यह 'अभाव' प्रमाण से अतिरिक्त और किसी प्रमाण से समझना सम्भव नहीं ॥ ५६ ॥

युक्त्यागमाभ्यामिति तर्कितोऽयं प्रमाणषट्कं प्रविभज्य भाष्ये ।
ततोऽधिकं यद् द्वयमिष्टमन्यैर्भेदो न तस्येत्यपि सिद्धमेतत् ॥ ५७ ॥

((१) संभव और (२) ऐतिह्य नाम के दो और प्रमाणों को पौराणिक लोग स्वीकार करते हैं, इन दोनों का उल्लेख भाष्यकार ने क्यों नहीं किया ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि) युक्ति के द्वारा एवं व्यासादि आप्तपुरुषों के द्वारा ये छः प्रमाण ही ज्ञात हैं। अतः भाष्यकार ने छः प्रमाणों का ही उल्लेख किया है। इन से भिन्न कथित संभव और ऐतिह्य इन दोनों प्रमाणों का अन्तर्भाव कथित प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही हो जाता है। अतः इन दोनों का उल्लेख भाष्यकार ने नहीं किया ॥ ५७ ॥

इह भवति शतादौ सम्भवाख्यासहस्रा-
न्मतिरवियुतभावात् सानुमानावभिन्ना ।
जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तं
भवति तु यदि सत्यं नागमाद् भिद्यते तत् ॥ ५८ ॥

सहस्रादि बड़ी संख्याओं के द्वारा जो शतादि अवान्तर संख्याओं का बोध होता है, अथवा प्रस्थ स्वरूप महापरिमाण से जो कुडवादि अवान्तर परिमाणों का ज्ञान होता है, वे सभी ज्ञान चूँकि व्याप्तिमूलक है, अतः वे सभी ज्ञान अनुमित्यात्मक हैं, इस लिये अनुमान प्रमाण से ही उत्पन्न होते है। अतः 'संभव' प्रमाण में ही अन्तर्भूत है।

पुरुषवचन की परम्परा को 'ऐतिह्य' कहते हैं। यथा 'वटे-वटे वैश्रवणः'। इस प्रकार वचन निर्णयजनक न होने के कारण प्रमाण ही नहीं हैं। यदि हैं तो शब्द प्रमाण के अन्तर्गत हैं।

'प्रातिभ ज्ञान' के प्रामाण्य का खण्डन 'औत्पत्तिकसूत्र' में ही किया जा चुका है। 'लोकप्रसिद्धि' भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ही अन्तर्गत हैं। अतः केवल छः प्रमाण ही हैं, न इनसे अधिक हैं, न कम हैं ॥ ५८ ॥

इत्यभावपरिच्छेदः समाप्तः ॥

अथ चित्राक्षेपः

ननु प्रत्यक्षादीन्यन्यानि सन्तु प्रमाणानि। शब्दस्तु न प्रमाणम्, कुतः 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'। 'अनिमित्तम्' अप्रमाणम् शब्दः। यो ह्युपलम्भनविषयो नोपलभ्यते, स नास्ति। यथा शशस्य विषाणम्। उपलम्भकानि चेन्द्रियाणि पश्वादीनाम्। न च पशुकामेष्ट्यनन्तरं पशव उपलभ्यन्ते, अतो नेष्टिः पशुफला। कर्मकाले च फलेन भवितव्यम्। यत्कालं हि मर्दनं तत्कालं मर्दनसुखम्। कालान्तरे फलं दास्यतीति चेत् ? न, न कालान्तरे फलमिष्टेरित्यवगच्छामः। कुतः ? यदा तावदसौ विद्यमानासीत्तदा फलं न दत्तवती। यदा फलमुत्पद्यते, तदासौ नास्ति। असती कथं दास्यति। प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यदुपलभामहे। न च दृष्टे कारणे सत्यदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात्। एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे। (शाबरभाष्य पृष्ठ ३९)

---

१. ऊपर लिखे हुए भाष्यसन्दर्भ में जो 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' यह सूत्रप्रतिम-वाक्य है, वह अविकल कोई स्वतन्त्र सूत्र नहीं है। किन्तु 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषाणाम् बुद्धि-जन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस सूत्र के ही एक अंश को लेकर वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ने जो पूर्वप्रतिज्ञात चोदनाप्रामाण्य के ऊपर आक्षेप रूप में व्याख्या की है, उसी का अनुवाद भाष्यकार ने प्रकृतसन्दर्भ में 'प्रत्यक्षादीन्यन्यानि······ विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस सन्दर्भ के द्वारा किया है।

कोई आक्षेप करते हैं कि शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि भले ही प्रमाण हों, किन्तु शब्द प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि अविद्यमान अर्थ का ज्ञापक है। जो उपलब्धि के योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं होता है, शशविषाणादि की तरह उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि ऐहिक फलों के बोधक वेदवाक्यस्वरूप शब्द के द्वारा निर्दिष्ट 'पशुकामेष्टि' के द्वारा निर्दिष्ट 'पशु' स्वरूप फल की उपलब्धि नहीं होती है यद्यपि पशु का उपलम्भक इन्द्रिय स्वरूप प्रमाण वहाँ विद्यमान रहता है। अतः पशु 'पशुकामेष्टि' का फल नहीं है। 'इष्टि' स्वरूप कर्म के समय पशु स्वरूप फल का रहना आवश्यक है, क्योंकि मालिश जब तक चलता रहता है, तभी तक मालिश का सुख मिलता है।

कदाचित् यह कहें कि 'इष्टि' अभी फल भले ही न दे तथापि बाद में वह पशु स्वरूप फल दे सकती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि कालान्तर में होनेवाला पशु 'इष्टि' का फल नहीं है। जब 'इष्टि' विद्यमान थी तब तो वह पशु स्वरूप फल दे नहीं सकी। जिस समय फल की सत्ता आप बतला रहे हैं, उस समय तो वह स्वयं नहीं है। 'अविद्यमान 'इष्टि' कोई भी फल कैसे दे सकती है ? पशु प्रभृति फलों के (मनुक्त दान, क्रय प्रभृति) कारणों का प्रत्यक्ष होता है। दृष्ट कारण को छोड़कर अदृष्ट कारण की कल्पना अप्रामाणिक होने के कारण युक्त नहीं है। इसी प्रकार दृष्ट फल देने में असमर्थ 'पशुकामेष्टि' के विधायक 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य के समान ही 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि स्वर्गादि अदृष्ट फलों के विधायक वाक्य भी अप्रमाण हैं।

परलोकफलाः पूर्वमाक्षिप्ताश्चोदनाः परैः।
इदानीमैहिकाक्षेपः सूत्रकारेण चोद्यते ॥ १ ॥

परलोकफलाः····इदानीमैहिकाक्षेपः

(पूर्वपक्ष—'प्रत्यक्षादीन्यन्यानि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा वेदों पर अप्रामाण्य का आक्षेप पुनरुक्तिदुष्ट है, क्योंकि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (अ० १ पा० १ सू० २) इस सूत्र के भाष्य में 'नन्वतथाभूतम्' (शाबरभाष्य पृ० १३ पं० ४) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वेदों पर प्रामाण्य का आक्षेप पहले भी किया जा चुका है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि वेदों के ऊपर किये गये पहले के आक्षेप और प्रकृत आक्षेप में यह अन्तर है कि पारलौकिक फल देनेवाले यागादि के विधायक वाक्यों में अप्रामाण्य का पहला आक्षेप इस दृष्टि से किया गया है कि शब्दों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के अधीन है, क्योंकि प्रत्यक्ष के विरुद्ध 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि अनाप्तवाक्य प्रमाण नहीं होते।

किन्तु पशु प्रभृति लौकिक फलों के बोधक चित्रादिवाक्यों में उक्त रीति से अप्रामाण्य का आपादान सम्भव नहीं है, क्योंकि उन वाक्यों के पशु प्रभृति फल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो सकते हैं। फलतः ऐहिक फलों के बोधक वाक्यों में अप्रामाण्य की सिद्धि प्रमाणान्तरागोचरत्व हेतु से सम्भव नहीं है। यदि पश्वादि लौकिक फल पश्वेष्टि के बाद दृष्ट न हों तो प्रत्यक्षबाध के द्वारा बहुत सुलभता से उनमें

अप्रामाण्य की सिद्धि की जा सकती है। इसके लिए सभी शब्द प्रमाणों में अन्यप्रमाण-पारतन्त्र्य तक जाने की आवश्यकता नहीं है।

तस्मात् चोदनासूत्र के भाष्य में जो अप्रामाण्य का आक्षेप किया गया है, वह पारलौकिक फलों के बोधक विधिवाक्यों के लिये है। अभी जो आक्षेप किया जाता है वह ऐहिक पश्वादि फलों के बोधक विधिवाक्यों के प्रसंग में है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

सूत्रकारेण चोद्यते

पुनरुक्ति दोष के उद्धार का दूसरा यह भी प्रकार है कि 'नन्वतथाभूतम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने धर्मलक्षणसूत्र की व्याख्या करते हुए पुनरुक्ति दोष का उद्भावन किया है। 'प्रत्यक्षादीनि' इत्यादि प्रकृत भाष्यसन्दर्भ से जिस पुनरुक्ति दोष का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः सूत्रकार के द्वारा ही उद्भावित है। यह दूसरी बात है कि सूत्र की यह पुनरुक्तिदोषोद्भाविनी व्याख्या वृत्तिकार के मत से की गयी है। अतः प्रकृत में पुनरुक्ति दोष नहीं है। सूत्रकार ने 'विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस हेतुवाक्य के द्वारा प्रत्यक्षादि के विसंवाद से ही चित्रादिवाक्यों में अप्रामाण्य का आक्षेप किया है 'नन्वतथाभूतम्' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा कथित शब्दपारतन्त्र्य के द्वारा नहीं। अतः प्रकृत में पुनरुक्ति दोष नहीं है॥ १॥

चित्रापशुफलत्वादिविषयाश्चोदना मृषा।
प्रत्यक्षाद्यधिकारेऽपि तैरर्थासङ्गतिर्यतः॥ २॥
यदीदृक् तन्मृषा दृष्टं विप्रलिप्सोर्यथा वचः।
नदीतीरे फलानीति तत्राहृश्यानि तानि चेत्॥ ३॥

चित्रापशुफलत्वादि ... यदीदृक्तन्मृषा ... तानि चेत्

'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इस वाक्य के द्वारा प्रकृत में इन अनुमानों के प्रयोग इष्ट हैं—

(१) 'चित्रया यजेत पशुकामः इत्याद्यैहिकफलानि विधिवाक्यानि अप्रमाणानि प्रत्यक्षादिगोचरप्रतिपादकस्य तैरेवासङ्गतेः विप्रलिप्सुवाक्यवत्।'

अर्थात् जिस प्रकार अनाप्तोच्चरित 'नाद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि वाक्य इसलिये अप्रमाण होते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का संवाद (समर्थन) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं होता है, उसी प्रकार प्रकृत 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि ऐहिक फलों के बोधक वैदिक वाक्य भी अप्रमाण हैं, क्योंकि पशुकामेष्टि के अनुष्ठान के बाद पशु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार पशुकामेष्टि के बोधक वाक्य के दृष्टान्त से पारलौकिक स्वर्गादि फलों के बोधक सभी वेदवाक्यों में अप्रामाण्य के अनुमान का ऊह करना चाहिये॥ २–३॥

न वा पशुफला चित्रा स्वकाले तददानतः।
स्नानभुज्यादिवत् तेऽपि तत्साध्या न भवन्ति वा॥ ४॥

तदुत्पत्तावसद्भावात् स्वर्गे तृप्तिसुखादिवत् ।
वैधर्म्येणोभयत्रापि भवेतां सुखमर्दने ॥ ५ ॥

न वा पशुफला ''स्नानभुज्यादिवत्

(२) 'चित्रा पशुफला न भवति चित्रोत्पत्तावनन्तरादर्शनात् स्नानभुज्यादिवत् ।'

अथवा चित्रायाग को पक्ष बनाकर उसमें पशुफलाजनकत्व को साध्य एवं चित्रेष्टि के बाद पशुस्वरूप फल की अनुपलब्धि को हेतु एवं स्नानभोजन को दृष्टान्त मानकर ऊपर लिखे गये इस द्वितीय अनुमान के द्वारा भी ऐहिक फलों के विधायक चित्रादि-वाक्यों में अप्रामाण्य का साधन करना चाहिये ।

तेऽपि तत्साध्या न भवन्ति ''स्वर्गतृप्तिसुखादिवत्

(३) 'पशवश्चित्रासाध्या न भवन्ति चित्रोत्पत्तावदर्शनात् स्वर्गतृप्तिसुखादिवत् ।'

अर्थात् जिस प्रकार स्वर्गसुख एवं भोजनजनिततृप्तिसुख चित्रादि यागों से इस लिये उत्पन्न नहीं माना जाता कि चित्रा याग की उत्पत्ति के बाद उन सुखों की उपलब्धि नहीं होती है उसी प्रकार पश्वादि ऐहिक फल भी चित्रादि यागों के फल नहीं हैं, क्योंकि चित्रादि यागों की उत्पत्ति के बाद पश्वादि ऐहिक फल उपलब्ध नहीं होते हैं ।

वैधर्म्येण ''' मर्दने

'यत्कालं हि मर्दनं तत्कालं हि मर्दनसुखम्' इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने मर्दन और तज्जनित सुख इन दोनों दृष्टान्तों का जो उल्लेख किया है, उनमें से पहला 'न वा पशुफला चित्रा' इत्यादि से कथित अनुमान में वैधर्म्यदृष्टान्त है । एवं 'तेऽपि तत्साध्या न भवन्ति वा' यह वाक्य अभिप्रेत अनुमान में वैधर्म्यदृष्टान्त के लिए उल्लिखित है ।

तदनुसार 'न वा पशुफला' इत्यादि से उल्लिखित न्यायवाक्य में मर्दनस्वरूप वैधर्म्योदाहरण वाक्य का प्रयोग इस प्रकार होगा—

जो जिसका साधन होता है, वह अपनी उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तर कालस्वरूप 'स्वकाल' में ही अपने कार्य का उत्पादन करता है, मर्दन (मालिश) से सुख की उत्पत्ति उसके अव्यहितोत्तरकाल में ही होती है, इसलिए मर्दन सुख का कारण है । चित्रायाग के अव्यवहित उत्तरकाल में पशु की प्राप्ति नहीं होती है, अतः चित्रायाग पशुप्राप्ति का साधन नहीं है ।

'तेऽपि तत्साध्या न भवन्ति वा' इस वाक्य के द्वारा कथित न्यायप्रयोग में 'सुख' स्वरूप वैधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग इस प्रकार होगा—

जो जिससे उत्पाद्य होता है, वह उसकी उत्पत्ति के बाद अवश्य उत्पन्न होता है । मर्दन (मालिश) की उत्पत्ति के बाद सुख की उत्पत्ति अवश्य होती है । अतः सुख मर्दन का साध्य (कार्य) है । किन्तु पशु की प्राप्ति चित्रायाग के बाद नहीं होती है, अतः पशु की प्राप्ति चित्रायाग का कार्य नहीं है ॥ ५ ॥

आनन्तर्यमयुक्तं चेत् न सामर्थ्यावबोधनात् ।
शब्दैकदेशभूतेन तेन तत् प्रतिपादितम् ॥ ६ ॥
कालान्तरानुपादानात् कर्मस्वाभाव्यतोऽपि च ।
चोद्यमानस्य चित्रादेरानन्तर्यं विशेषणम् ॥ ७ ॥

आनन्तर्यम् ''चेत्

(पू० प०) 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य के द्वारा केवल इतना ही बोध होता है कि 'चित्रायाग पशुप्राप्ति का साधन है' अर्थात् उक्त विधिवाक्य से पशुप्राप्ति और चित्रायाग इन दोनों में केवल कार्यकारणभाव ही प्रतिपादित होता है। दोनों का 'आनन्तर्य' प्रतिपादित नहीं होता। अर्थात् 'चित्रायाग की उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही पशु की प्राप्ति हो' यह प्रतिपादित नहीं होता। याग की उत्पत्ति के बाद पशु की प्राप्ति से उक्त कार्यकारण के अभिधान में कोई बाधा नहीं आती है। इसलिये 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस विधि को केवल इसलिये 'बाधितविषया' नहीं कहा जा सकता कि चित्रायाग की उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही पशु की प्राप्ति नहीं हो जाती।

न, सामर्थ्याऽवबोधनात्

उक्त प्रत्याक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि 'चित्रायाग के अनन्तर ही पशु को प्राप्ति हो' इस प्रकार के 'आनन्तर्य' का बोध साक्षात् शब्द प्रमाण से भले ही न हो (अर्थात् श्रुति प्रमाण से भले ही न हो) किन्तु 'सामर्थ्य' स्वरूप 'लिंग' प्रमाण से आनन्तर्य की प्रतिपत्ति हो सकती है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो चित्रायाग की उत्पत्ति के बहुत समय बाद भी पशु की प्राप्ति नहीं होगी। क्षणमात्र में विनाशशील याग क्रिया से अव्यवहित उत्तरक्षण में यदि पशु की प्राप्ति नहीं होगी तो 'कालान्तर' में पशु की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इसलिये 'विध्यारम्भसामर्थ्य' से आनन्तर्य का बोध मानना ही होगा। किन्तु अनन्तरकाल में पशु की प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है। इस लिये यह विधि अवश्य ही 'बाधितविषया' है।

शब्दैकदेश ''प्रतिपादनम्

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जिस 'सामर्थ्य' स्वरूप 'लिंग' प्रमाण से प्रकृत में आनन्तर्य का बोध आप स्वीकार करना चाहते हैं, उस सामर्थ्य स्वरूप लिंग प्रमाण की सत्ता ही अनुपलब्धि प्रमाण से बाधित है, क्योंकि 'सामर्थ्य' नाम का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः इसके बल से 'आनन्तर्य' के बोध का उपपादन नहीं किया जा सकता। इस प्रत्याक्षेप का यह उत्तर है कि सामर्थ्य नाम का अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई प्रमाण भले ही न हो, किन्तु शब्द प्रमाण का ही एक अंश 'सामर्थ्य' नाम का अवश्य है। यह बात 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्' (अ० १ पा० ४ सू० २५ पृ० ३६८) इस सूत्र से कही गयी है। वस्तुतः शब्द प्रमाण से ही प्रकृत मे आनन्तर्य को सिद्ध समझना चाहिये।

कालान्तरानुपादानात्''विशेषणम्

यदि चित्रायाग के बाद भी पशु की प्राप्ति किसी अन्य श्रुति वाक्य के द्वारा कही गयी होती तो कदाचित् यह कह भी सकते थे कि यतः प्रकृत याग के अनन्तरकाल में पशु की प्राप्ति नहीं होनी है, अतः पशुप्राप्ति के प्रत्यक्षबाधित होने के कारण विधि अवश्य ही 'बाधितविषया' है। किन्तु ऐसी कोई श्रुति नहीं है। अतः 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य से ही पशु की प्राप्ति माननी होगी। यह प्राप्ति केवल कथित 'अनन्तरकाल' में ही हो सकती है। किन्तु सो प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः चित्रावाक्य अवश्य बाधितविषयक होने के कारण अप्रामाणिक है॥ ६–७॥

अत्र तावदसंवादो विरोधश्चोत्तरस्य तु।
स्वर्गयानविरुद्धो हि भस्मीभावोऽत्र दृश्यते॥ ८॥

'दृष्टविरुद्धमपि किञ्चिद्वैदिकं वचनम् स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं याति।' (शाबरभाष्य पृ० ४१ पं० ४१)।

विधिवाक्यों में अप्रामाण्य के आपादन के लिये 'स एष' इत्यादि विधिवाक्य का उल्लेख उसी प्रयोजन के लिये उल्लिखित चित्रायाग के बाद इस विशेष को दिखलाने के लिये किया गया है कि—

इस वाक्य में उल्लिखित स्वर्ग स्वरूप फल की अनुपलब्धि तो है ही, उस अनुपलब्धि से अधिक यह भी है कि स्वर्ग के विरुद्ध वस्तु की उपलब्धि भी है, क्योंकि जिस 'यज्ञायुधी पुरुष' के लिये स्वर्ग का विधान किया गया है, स्वर्ग के भोक्ता उस शरीर का स्वर्ग से पहले ही विनाश देखा जाता है॥ ८॥

यज्ञायुधिवचो मिथ्या प्रत्यक्षेण विरोधतः।
साधर्म्येण शिलावाक्यं वैधर्म्येणाप्तभाषितम्॥ ९॥

इससे यह अनुमान-प्रयोग निष्पन्न होता है—

'यज्ञायुधिवचनं मिथ्या प्रयक्षविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात् ग्रावाणः प्लवन्ते इति वाक्यवत्, अथवा आप्तवाक्यवत्।'

(इनमें पहला 'शिलावाक्य' साधर्म्यदृष्टान्त है, एवं आप्तवाक्य 'वैधर्म्य-दृष्टान्त है)।

अर्थात् जिस प्रकार कथित शिलातरणवाक्य प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक होने से अप्रमाण है, उसी प्रकार पक्ष स्वरूप 'यज्ञायुधी-वाक्य' भी प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक होने से अप्रमाण है। अथवा आप्तवाक्य की तरह जो अनाप्तोच्चरित नहीं है, वह अप्रमाण नहीं है; यज्ञायुधी-वाक्य तो अनाप्तोच्चरित है अतः अप्रमाण है॥ ९॥

शरीराद् यदि चान्यः स्यात्नासौ यज्ञायुधी भवेत्।
न चास्य यजमानत्वं सद्भावोऽपि च दुर्लभः॥ १०॥

(इस प्रसंग में वेदप्रमाण्यवादी कह सकते हैं कि शरीरादि भले ही भस्म हो जायँ, किन्तु आत्मा तो रहती है, क्योंकि वह नित्य है, वही स्वर्ग का उपभोग

करेगी। अतः शरीरादि के भस्म हो जाने से यज्ञायुधी-वाक्य में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। इसके तीन प्रत्युत्तर दिये जा सकते हैं—)

(१) शरीर से भिन्न यदि आत्मा हो भी तो वह अशरीरी होने के कारण 'यज्ञायुधी' अर्थात् यज्ञ स्वरूप आयुध (शस्त्र) से युक्त नहीं हो सकता। उक्त वाक्य से तो 'यज्ञायुधी' को ही स्वर्ग का अधिकारी कहा गया है।

(२) दूसरी बात यह है कि 'यज्ञ' से 'यजमान' को स्वर्ग मिलता है, अशरीरी आत्मा 'यजमान' नहीं हो सकता, क्योंकि यज्ञ के निष्पादन के लिए शरीर आवश्यक है।

(३) तीसरी मुख्य बात यह है कि शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता ही अप्रामाणिक है। तस्मात् इन युक्तियों से भी 'यज्ञायुधी' वाक्य में प्रामाण्य का समर्थन नहीं किया जा सकता ॥ १० ॥

यदि स्याद् विधिशब्दोऽत्र नैवादर्शनतो भवेत्।
विशेषोऽस्येति भेदेन नोपात्तं स्यादिदं ततः ॥ ११ ॥

'न चैव यातीति विधिशब्दः' (शाबरभाष्य पृ० ४१ पं० ४)

इस प्रसङ्ग में सिद्धान्ती कह सकते हैं कि 'यज्ञायुधी' वाक्य तो विधिवाक्य है। विधिवाक्य स्वतः प्रमाण है। इस वाक्य के द्वारा कथित स्वर्ग की उपपत्ति यदि शरीर से भिन्न आत्मा की कल्पना के बिना नहीं होगी तो इसकी उपपत्ति के लिए शरीर से भिन्न आत्मा की कल्पना करनी होगी। फलतः अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होने के कारण शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता अप्रामाणित नहीं है। सिद्धान्तियों के इस उत्तर का यह प्रत्युत्तर है कि 'यज्ञायुधी' वाक्य विधिवाक्य नहीं है, अतः उससे किसी अन्य अर्थ का आक्षेप संभव नहीं है। यदि वह विधिवाक्य होता तो उससे शरीर से भिन्न आत्मा की कल्पना की भी जा सकती थी।

प्रश्न है कि प्रकृत आक्षेप भाष्यसन्दर्भ के 'यज्ञायुधी' वाक्य की विधिस्वरूपता के खण्डन के लिये 'न चैव यातीति विधिशब्दः' यह वाक्य लिखने की कौन सी आवश्यकता है ? क्योंकि यदि यज्ञायुधी-वाक्य को विधि स्वरूप न भी मानें, तथापि प्रत्यक्षविसंवाद के द्वारा प्रकृत वाक्य में अप्रामाण्य के आपादन में कोई बाधा नहीं होगी। वेदाप्रामाण्यवादी इसका यह उत्तर देते हैं कि वेदों के अप्रामाण्य के लिए 'चित्रया यजेत पशुकामः' एवं 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' ये दो वाक्य लिखे गये हैं। प्रथम वाक्य में अप्रामाण्य का प्रयोजक है पशु स्वरूप फल में प्रत्यक्ष का विसंवाद। द्वितीय वाक्य को यदि विधि स्वरूप मान लेंगे तो अव्यवहितोत्तर काल में फल न होने पर भी भविष्य में फल की कल्पना विधि के बल से की जा सकती है। फलतः सर्वथा प्रत्यक्ष-विसंवाद नहीं कहा जा सकता। अतः चित्रा-वाक्य के अतिरिक्त 'यज्ञायुधी' वाक्य के उपादान का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है ॥ ११ ॥

विधिशब्दे भविष्यत्त्वं फलस्य परिकल्प्य हि।
विरोधपरिहारः स्याद् वर्तमानेऽपि नास्त्यसौ ॥ १२ ॥

क्योंकि यदि वर्त्तमानापदेशक यज्ञायुधी-वाक्य को विधि स्वरूप मानेंगे तो तज्जनित फल भविष्यकालिक होगा। अतः साक्षात् प्रत्यक्ष का विरोध उपस्थित नहीं होगा। अतः चित्रा-वाक्य के समान ही यज्ञायुधी-वाक्य में भी सामर्थ्य (लिंग) से सिद्ध आनन्तर्य का बाध अनुपलब्धि प्रमाण से ही होगा। फलतः यज्ञायुधी-वाक्य को विधि स्वरूप न मानकर वर्त्तमानाभिधायी मान लेते हैं, उस समय यजमान का स्वर्गगमन शरीर के भस्मभाव-दर्शन से विसंवादित हो जाता है। इस प्रकार चित्रा-वाक्य के द्वारा वेदों में अप्रामाण्य के आक्षेप की युक्ति के द्वारा भी यज्ञायुधी-वाक्य से वेदों में अप्रामाण्य का आक्षेप होता है—यह दिखाने के लिये ही यज्ञायुधी-वाक्य में विधिवाक्यत्व का निरास भाष्य में किया गया है ॥ १२ ॥

फलं च न भवेदेवं भस्मीभावाद् विधावपि ।
तत्सामर्थ्येन या चान्या कल्पना तां निषेधति ॥ १३ ॥

यद्यपि यज्ञायुधी-वाक्य को विधि स्वरूप मान लेने पर भी शरीर के भस्मीभाव दर्शन से स्वर्ग का प्रत्यक्ष से बाधित होना सिद्ध है फिर भी विधि स्वरूप मान लेने पर विधिप्रामाण्य के बल पर शरीर से भिन्न आत्मा की स्वीकृति से उक्त प्रत्यक्ष-विरोध का परिहार किया जा सकता है। यदि यज्ञायुधी-वाक्य को अनुवाद स्वरूप वर्त्तमानापदेशी मान लेते हैं तो अनुवाद वाक्य होने के कारण उससे आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुवाद वाक्य तो स्वार्थ का भी प्रमापक नहीं है। अतः उससे अन्य विषय की कल्पना बहुत दूर की बात होगी। उससे जो स्वर्ग-गमन का बोध होगा, वह प्रत्यक्षविरुद्ध होने के कारण अप्रमात्मक होगा जिससे वेदों में अप्रामाण्य का साधन सुलभ हो जायगा ॥ १३ ॥

प्रायश्चैवम्प्रकारत्वमर्थवादेषु दृश्यते ।
मन्त्रेषु चेति ते सर्वे पक्षीकार्याः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं' 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि प्रकारों के मन्त्र एवं अर्थवादादि वाक्य उपलब्ध हैं जो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से विरुद्ध ठहरते हैं। उन सभी वाक्यों को भी पक्ष बना कर अप्रामाण्य का साधन करना चाहिये—'अदितिर्द्यौरित्यादिवाक्यानि अप्रमाणानि प्रत्यक्षादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात् शिलातरणवाक्यवत्' ॥ १४ ॥

एवं सत्यग्निहोत्रादिवाक्येष्वपि मृषार्थता ।
वेदवाक्यैकदेशत्वाच्चित्रादिवचनेष्वपि ॥ १५ ॥

चित्रादि दृष्टफलार्थक वाक्यों में अप्रामाण्यसिद्धि के बाद उन्हीं वाक्यों के दृष्टान्त से अदृष्टार्थक अग्निहोत्रादि के विधायक वाक्यों में भी अप्रामाण्य का साधन करना चाहिये। 'अग्निहोत्रादिविधायकानि वेदवाक्यानि अप्रमाणानि वेदवाक्यैक-देशत्वात् चित्रादिवाक्यवत्'।

इति चित्राक्षेपप्रकरणम् ॥

अथ सम्बन्धाक्षेपप्रकरणम्

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानम्', 'तु' शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। 'तस्य' अग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्यतथा च चोदनालक्षणः सम्यक् सम्प्रत्ययः' (शाबरभाष्य पृ० ४१)

इस प्रकार चित्रादि-वाक्यों के दृष्टान्त से सभी वेदवाक्यों में आपन्न अप्रामाण्य का निराकरण इस पूर्वकथित युक्ति से ही उक्त भाष्यसन्दर्भ से किया गया है कि शब्दों के अप्रामाण्य का कारण वक्ता पुरुष में रहने वाले भ्रम-प्रमादादि ही हैं जो अपौरुषेय वेदों में नहीं हैं। अतः समग्र वेद प्रमाण हैं। अतः वैदिक वाक्य प्रमाण हैं।

सूत्रस्थ 'औत्पत्तिक' शब्द का ही अर्थ 'अपौरुषेय' है। तदनुसार 'औत्पत्तिकस्तु·····'तस्य ज्ञानम्' सूत्र के इस अंश का यह अर्थ है कि 'जिस लिये अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधन हैं—प्रत्यक्षादि से अगम्य इस अर्थ का ज्ञापक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'अपौरुषेय' है अतः वे सभी वेद प्रमाण हैं। चूँकि भ्रम-प्रमादादि दोषों की संभावना पौरुषेय वाक्यों में ही संभावित है, अतः चोदनाजनित ज्ञान प्रमास्वरूप ही है।

स्वपक्षसाधनं तावन्न मृषा वैदिकं वचः।
स्वार्थे वक्त्रनपेक्षत्वात् पदार्थपदबुद्धिवत्॥ १॥

स्वपक्षसाधनं तावत्

(पू० प०) 'औत्पत्तिकस्तु·····'सम्यक् सम्प्रत्यः' (शाबरभाष्य पृ० ४३) भाष्य का यह सन्दर्भ असङ्गत सा है, क्योंकि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि दृष्टफलार्थक वाक्यों में अप्रामाण्य के आक्षेप का समाधान शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के उपपादन से नहीं हो सकता—जो प्रकृत भाष्यसन्दर्भ का प्रतिपाद्य है। इस आक्षेप का यह समाधन है—

अखिल वेदों में प्रामाण्य के साधन से ही चित्रादि-वाक्यों में अप्रामाण्य के आक्षेप का समाधान हो जाता है। शब्दार्थसम्बन्ध के अपौरुयेयत्व के प्रतिपादन से परिमाणतः वेदों का अपौरुयेयत्व ही प्रतिपादित होता है। वेदों के अपौरुषेय होने से चित्रादि-वाक्यों का प्रामाण्य भी निर्णीत हो जाता है।

न मृषा वैदिकं वचः···पदार्थपदबुद्धिवत्

(१) 'वैदिकवचनं न मृषा स्वार्थे वक्तृनपेक्षत्वात् पदार्थे पदबुद्धिवत्'। कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार पदजनित पदार्थ की बुद्धि वक्तृनपेक्ष होने के कारण मिथ्या नहीं होती है उसी प्रकार वैदिक वाक्य चूँकि अपने अर्थ के प्रतिपादन में अपौरुषेय होने के कारण वक्तृप्रामाण्य के अधीन नहीं है। इस लिये वैदिक वाक्य मिथ्या नहीं है॥ १॥

तत्कृतः प्रत्ययः सम्यङ् नित्यवाक्योद्भवत्वतः।
वाक्यबुद्धिवदेवात्र पूर्वोक्ताश्चापि हेतवः॥ २॥

तत्कृतः प्रत्ययः''''वाक्यबुद्धिवदेव

(१) 'वेदवाक्यजन्यः प्रत्ययः प्रमा नित्यवाक्यजन्यत्वात् आप्तोच्चारितवाक्यजन्यबुद्धिवत् ।'

अत्र पूर्वोक्ताश्चापि हेतवः

प्रथमानुमान के द्वारा वेदों में केवल सत्यता की सिद्धि होती है। इसके बाद तज्जनित ज्ञान में अनधिगतविषयत्व के द्वारा प्रामाण्य सिद्धि सा ही है, क्योंकि अनधिगतार्थविषयक ज्ञान में प्रमात्व की सिद्धि दोषाभावसहकृत कारणजन्यत्वादि से पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। अतः इस अनुमान में 'पूर्वोक्त' उन हेतुओं का भी समुच्चय समझना चाहिये। (देखिये चोदनासूत्रवार्त्तिक श्लोक ४७ का सन्दर्भ) ॥२॥

नित्यान् शब्दार्थसम्बन्धानाश्रित्योक्तेन हेतुना।
स्वतः प्रामाण्यसिद्धचर्थमप्रामाण्ये निराकृते ॥ ३ ॥
असम्बन्धोद्भवत्वेन परो मिथ्यात्वमब्रवीत्।
सम्बन्धोऽस्ति च नित्यश्चेत्युक्तमौत्पत्तिकाविना ॥४॥
मिथ्यात्वस्य निरासार्थं तत्परैर्नेष्यते द्वयम्।
नैव चास्त्यत्र सम्बन्धः कृतको वेति वक्ष्यते ॥ ५ ॥

'स्यादेतत्, नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, कुतोऽस्य पौरुषेयता अपौरुषेयता वा' (शावरभाष्य पृ० ४३) ।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में औत्पत्तिकत्व अर्थात् अपौरुषेयत्व की सिद्धि से शब्द और अर्थ की अपौरुषेयता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार शब्द, अर्थ, एवं इन दोनों के सम्बन्ध इन तीनों के नित्य सिद्ध हो जाने से वेदों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि कर्तृदोष से ही शब्दों में अप्रामाण्य की संभावना रहती है। यह संभावना शब्द, अर्थ और इन दोनों के सम्बन्ध इन तीनों की नित्यता से स्वतः मिट जाती है।

सिद्धान्तियों के इस अभिमत पर पूर्वपक्षवादियों ने आक्षेप किया है कि शब्द और अर्थ इन दोनों में किसी सम्बन्ध की संभावना ही नहीं है। परस्पर असम्बद्ध दो वस्तुओं में से किसी एक से दूसरे का प्रमात्मक बोध संभव नहीं है, अतः वेदार्थविषयक ज्ञान 'आकस्मिक' (यादृच्छिक) होने के कारण प्रमाण नहीं है।

सम्बन्धोऽस्ति''''द्वयम्

वेदों में मिथ्यात्व की आपत्ति को मिटाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों में सम्बन्ध एवं सम्बन्ध की नित्यता दोनों ही सिद्धान्ती के द्वारा स्वीकार की गयी है (जिसका निरूपण औत्पत्तिकसूत्र से की जा चुका है)। किन्तु वेदाप्रामाण्यवादी शब्द और अर्थ दोनों में न कोई सम्बन्ध मानते हैं, न उस सम्बन्ध को 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य मानते हैं।

---

१. अर्थात् अनाप्तोच्चारितवाक्यजन्य वाक्यार्थबुद्धि ही मिथ्या होती है, क्योंकि वाक्यार्थ वक्ता के अधीन है, अतः पुरुष के दोष से वह मिथ्या हो सकती है।

नैव·····वक्ष्यते

आगे यह भी कहेंगे कि शब्द और अर्थ में कृत्रिम (संयोग) सम्बन्ध भी नहीं है । फलतः दोनों में नित्य सम्बन्ध ही है ॥ ३–५ ॥

असम्भवेन शेषाणां संश्लेषः परिशिष्यते ।
अस्मिन्नेव च सम्बन्धे प्रतीतिर्लौकिकी ध्रुवा ॥ ६ ॥
तन्निषेधमतः प्राह न शब्दोऽर्थेन सङ्गतः ।
तद्देशानन्तरादृष्टेर्विन्ध्यो हिमवता यथा ॥ ७ ॥
एवमर्थो द्वयं वापि साधनीयमसङ्गतम् ।
क्षुरेत्यादि च सिद्धयर्थं हेतोरुक्तमथापरः ॥ ८ ॥
शक्तिरूपं गृहीत्वाह संश्लेषो यदि वार्यते ।
सम्बन्धसिद्धसाध्यत्वमथ सम्बन्धमात्रकम् ॥ ९ ॥
पितापुत्रादिसम्बन्धैरनेकान्तः प्रसज्यते ।
एकभूम्यादिसम्बन्धाद् दृष्टान्ते साध्यहीनता ॥ १० ॥

असंभवेन···लौकिकी ध्रुवा···हिमवता यथा

'कथम् ? स्याच्चेदर्थेन' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य (पृ० ४३ पं० २) के द्वारा शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध के खण्डन के अभिप्राय से 'स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः' इत्यादि तर्कसूचक भाष्य से पूर्वपक्षवादी ने तर्क उपस्थित किया है कि यदि दोनों में 'सम्बन्ध' अर्थात् संयोग सम्बन्ध हो तो क्षुर शब्द के उच्चारण में मुख का छेदन हो जायगा एवं 'मोदक' शब्द के उच्चारण से मुख मोदक से परिपूर्ण हो जायगा। किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं है । कार्यकारणभावादि अन्य जितने भी सम्बन्ध हैं, वे अनादि नहीं हो सकते। अतः शब्द और अर्थ में कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

सिद्धान्तियों का कहना है कि जनसाधारण 'संश्लेष' अर्थात् 'संयोग' को ही 'सम्बन्ध' कहते हैं। एवं शब्द और अर्थ में कार्यकारणभावादि कोई अन्य सम्बन्ध हो नहीं सकता । इसलिए शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध के निषेध के लिए सिद्धान्तियों ने यह अनुमान उपस्थित किया है—

'न शब्दोऽर्थेन सङ्गतः, तद्देशानन्तराऽदृष्टेः, यथा हिमवता विन्ध्यः ।'

अर्थात् जिस प्रकार विन्ध्यप्रदेश से हिमालय के अदर्शन से दोनों में संयोग का अभाव सिद्ध है, उसी प्रकार शब्दप्रदेश में अर्थ के उपलब्ध न होने से यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षियों का संयोग को शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न होने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मीमांसक भी शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं मानते ।

एवमर्थः····असङ्गतम्

इसी प्रकार 'हिमवद्विन्ध्य' दृष्टान्त से ही निम्नलिखित दो अनुमानों का ऊह करना चाहिए—

(१) 'अर्थेन सह शब्दस्य सम्बन्धो नास्ति शब्ददेशानन्तरमदर्शनात् विन्ध्यो हिमवता यथा'।

एवं

(२) 'शब्दार्थयोः परस्परं संयोगो नास्ति परस्परदेशानन्तरमदर्शनात् विन्ध्यो हिमवता यथा'।

क्षुरेत्यादि''हेतोरुक्तः

कथित 'तद्देशानन्तरमदर्शनात्' इस हेतु में पक्षधर्मता को दर्शाने के लिये ही भाष्यकार ने 'क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे' (पृ० ४३ पं० २) यह सन्दर्भ लिखा है।

अथाऽपरः शक्तिरूपं गृहीत्वाऽह

'उच्यते, योऽत्र व्यपदेश्यः, तमेकं न व्यपदिशति भवान् प्रत्याय्यस्य संज्ञासंज्ञि-लक्षणःसम्बन्धस्य' (शाबरभाष्य पृ० ४३ पं० ५)।

इस सन्दर्भ के द्वारा सिद्धान्ती ने अर्थ में शब्द का 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्ध कहा है। अर्थात् अर्थ में शब्द का संयोगादि सम्बन्ध भले हो न हो, प्रत्यायन 'शक्ति' स्वरूप सम्बन्ध अवश्य ही है जिसको 'संज्ञासंज्ञि' स्वरूप सम्बन्ध भी कहते हैं।

संश्लेषो यदि वार्यते''सम्बन्धासिद्धसाध्यत्वम्

सिद्धान्तवादी पूर्वपक्षवादियों से पूछते हैं कि यदि आप शब्द और अर्थ में 'संश्लेष' अर्थात् संयोग सम्बन्ध का खण्डन उक्त अनुमान से करना चाहते हैं तो 'सिद्धसाधन' होगा, क्योंकि हम लोग भी शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं मानते।

अथ सम्बन्धमात्रकम्''''प्रसज्यते

यदि 'एकदेशानन्तरमपरस्यादर्शनात्' इस हेतुवाक्य से शब्द और अर्थ इन दोनों में सभी प्रकार के सम्बन्धों के अभाव का साधन करें तो यह हेतु पिता-पुत्र के सम्बन्ध में अनैकान्तिक (व्यभिचरित) हो जायगा, क्योंकि पिता-पुत्र में सम्बन्ध का सर्वथा अभाव नहीं है, किन्तु एक के अनन्तर प्रदेश में दूसरे की अनुपलब्धि है।

एकभूम्यादि''साधनहीनता

एवं शब्द में अर्थ के सभी सम्बन्धों के निषेध-विषयक अनुमान के दृष्टान्त में साध्य की सत्ता भी नहीं रहेगी, क्योंकि हिम और विन्ध्य दोनों चूँकि एक ही भूमि पर अवस्थित हैं, अतः दोनों में एकाधिकरणत्व (समानाधिकरणत्व) सम्बन्ध तो अन्ततः है ही। इसलिए शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता॥ ९–१०॥

वाच्यवाचकसम्बन्धनिषेधे लोकबाधनम्।
विरोधश्च स्ववाक्येन न हि सम्बन्धवर्जितैः॥ ११॥
प्रतिज्ञार्थं पदैः शक्यः प्रतिपादयितुं परः।

यदि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का निषेध करें तो यह लोकविरुद्ध होगा, क्योंकि सभी जन उस सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

विरोधश्च

एवं यदि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को स्वीकार न करें तो प्रकृत अनुमान का प्रतिज्ञावाक्य 'स्ववचनविरुद्ध' भी होगा।

स्ववाक्येन""प्रतिज्ञार्थः""प्रतिपादयितुं""परः

क्योंकि 'अप्रत्यायक' अर्थात् अवाचक प्रतिज्ञावचन 'प्रतिज्ञातार्थ' अर्थात् पक्ष-विशिष्ट साध्यस्वरूप अर्थविषयक प्रत्यय को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः प्रतिज्ञा-वाक्यघटक शब्द को प्रतिज्ञातार्थ का अवाचक मानें एवं उससे प्रतिज्ञातार्थ का बोध भी मानें—ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं॥ ११–१२ क–ख॥

अभिधानक्रियायां हि कर्मत्वं वाच्यसंश्रितम्॥ १२॥

अभिधानक्रियायां हि""संश्रितम्

(यह वाचकत्व अथवा वाच्यत्व कौन सी वस्तु है? पदघटित वाच्यवाचक-सम्बन्ध के न मानने से 'लोकविरोध' एवं 'स्ववचनविरोध' की उक्त आपत्ति दी गयी है। इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

'अभि' पूर्वक 'धा' धातु के अर्थ अभिधान क्रिया का जो कर्मकारक हो वही 'वाच्य' है। इस प्रकार अभिधान क्रिया की कर्मता ही वाच्यता है एवं उसी अभि-धान क्रिया का जो 'करण' अथवा 'कर्त्ता' हो वही 'वाचक' है। अतः अभिधान क्रिया का (विवक्षाभेद से) कर्तृत्व अथवा करणत्व ही 'वाचकत्व' है। यह कर्तृत्व अथवा करणत्व नियमतः शब्द में ही रहता है। इसलिये शब्द ही वाचक होगा एवं उक्त कर्मत्व नियमतः जातिस्वरूप अर्थ में ही रहेगा, अतः जातिस्वरूप अर्थ ही वाच्य होगा।

'घटशब्दः घटमभिदधाति' इस प्रयोग में 'घटशब्द' कर्तृकारक है, एवं घटत्व जाति स्वरूप अर्थ कर्मकारक है। इसी प्रकार 'घटशब्देन घटोऽभिधीयते' इस प्रयोग में घटशब्द करण कारक है एवं घटत्व स्वरूप अर्थ कर्म कारक है॥ १२॥

शब्दानां करणत्वं वा कर्तृत्वं वा निरूपितम्।
प्रतिपत्तावुपादानात् साहित्ये च विवक्षिते॥ १३॥
नियम्यते यदेकस्यां सम्बन्धः सोऽर्थशब्दयोः।

प्रतिपत्तावुपादानात्""विवक्षिते""सोऽर्थशब्दयोः

(यह सत्य है कि शब्द एक ही अभिधान क्रिया का कर्त्ता और करण दोनों हैं, एवं अर्थ उस क्रिया का कर्म कारक है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्तृ-कारकीभूत अथवा करणकारकीभूत शब्द और कर्म कारक स्वरूप अर्थ इन दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

चूँकि एक ही अभिधान क्रिया के प्रसंग में गो शब्द और गोत्वस्वरूप अर्थ दोनों ही क्रमशः कर्तृकारकविधया अथवा करणकारकविधया एवं कर्मकारकविधया उपात्त हैं अतः पहले इस अभिधान क्रिया के द्वारा ही दोनों में 'एकक्रियाकारकत्व' स्वरूप सम्बन्ध स्थापित होता है।

गोत्वादि जातिस्वरूप अर्थ शब्द से अपने ज्ञान के लिये 'अभिधा' नाम के व्यापार की अपेक्षा रखता है। वह व्यापार स्वांशभूत शब्द की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही एकक्रियासापेक्ष है। अतः दोनों में एकक्रिया-नियम के द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों परस्पर सम्बन्ध से युक्त हैं ॥ १३–१४ क–ख ॥

तत्र यद्यप्यसम्बन्धः कारकाणां परस्परम् ॥ १४ ॥
तथापि यत्क्रिया तस्यामुपकार्योपकारिता।
स क्रियासङ्गतेः पश्चात् सम्बन्धः कीर्त्यते तयोः ॥ १५ ॥

तत्र यद्यपि···परस्परम्

यद्यपि यह सत्य है कि शब्द और अर्थ ये दोनों एक ही अभिधान क्रिया के साथ सम्बद्ध होने पर भी दोनों परस्पर किसी साक्षात् सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं हैं तथापि एक क्रिया में दो कारकों के सम्बद्ध होने के बाद उस क्रिया के द्वारा उन कारकों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। शब्द और अर्थ के इसी सम्बन्ध का अभिधान औत्पत्तिकसूत्र (१ अ० पा० १ सू० ४) से हुआ है[1] ॥१४-१५॥

न चात्राप्यविनाभाव उपयोगीति साधितम्।
संज्ञेति गमकत्वं चेन्न तदङ्गमियं भवेत् ॥ १६ ॥
गमयन्तीं श्रुतिं दृष्ट्वा कल्प्यते व्यवहारतः।
न चैषा गमयत्यर्थं सम्बन्धेऽनवधारिते ॥ १७ ॥
तस्माद् गमकता पश्चाद् धूमादेरिव जायते।
सानङ्गं तद्वदेव स्यान्नेयं धूमादिभिः समा ॥ १८ ॥

न चात्र···साधितम्

(इस प्रसंग में आक्षेप हो सकता है कि यदि शब्द और अर्थ का उक्त सम्बन्ध वाच्यवाचक 'नियम' स्वरूप है, तो तज्जनित ज्ञान अनुमिति स्वरूप ही होगा, फिर शब्द प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। इस आक्षेप का यह समाधान है—

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार एक ही भावना में अन्वित साध्य और साधन परस्पर अन्वित होते हैं। अथवा साधन और इतिकर्तव्यता इन दोनों में इसलिए सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि याग (साधन) स्वर्ग का उपकारक है एवं इति-कर्तव्यता (अनुष्ठानक्रम) याग की उपकारिका है उसी प्रकार व्यवहार के लिए अर्थ में प्रतिपत्ति स्वरूप व्यापार को उत्पन्न करके शब्द अर्थ का उपकारक है, एवं अर्थ शब्द का उपकार्य है। इस प्रकार अभिधान क्रिया के द्वारा शब्द अर्थ में जो उपकार्योपकारक-भाव सम्बन्ध है उसी का 'वाच्यवाचकभावनियम' प्रभृति शब्दों से व्यवहार किया गया है।

शाब्दबोधस्थल में यह 'नियम' शाब्दबोध के बाद ज्ञात होता है, अतः उसका उपयोग शाब्दबोध की उत्पत्ति में नहीं हो सकता। अनुमिति में जिस नियम (व्याप्ति) का उपयोग होता है, वह पक्ष में अनुमिति होने के पहले ही दृष्टान्त में ज्ञात रहता है, जिसका उपयोग पश्चाद्वर्त्ति अनुमिति में हो सकता है।

संज्ञेति गमकत्वं चेत्''''गमयन्तीं श्रुतिम्''''अनङ्गं तद्वदेव स्यात्

वाचकत्व स्वरूप संज्ञात्व वस्तुतः 'गमकत्व' स्वरूप (ज्ञानजनकत्व स्वरूप) ही है। यह गमकत्व ज्ञानोत्पत्ति के बाद उत्पन्न होगा। अतः संज्ञात्वरूप गमकत्व शाब्दबोध स्वरूप ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। अतः शब्द और अर्थ इन दोनों में शाब्दबोधोपयोगी कोई दूसरा सम्बन्ध मानना होगा, क्योंकि बिना सम्बन्ध के 'संज्ञा' अपने 'संज्ञी' के ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती।

जिस प्रकार धूम के साथ वह्नि के अन्वयव्यतिरेक से उत्पन्न वह्नि के अनुमित्यात्मक ज्ञान के बाद ही धूम में उस ज्ञान की अज्ञना आती है, उसी प्रकार शब्द में जो अर्थ की गमकता है, वह शाब्दबोध के बाद ही आती है। अतः इस गमकता के द्वारा शब्द से अर्थबोध की उपपत्ति नहीं हो सकती।

नेयं धूमादिभिः समा

समाधान—यह वाचकता धूमादि लिंगों के समान नहीं है ॥ १६–१८ ॥

निरूपितेऽविनाभावे तत्र तत्कारिता ह्यसौ।
गमकत्वेन पूर्वं च तत्र नोत्पद्यते मतिः ॥ १९ ॥

इह वाचकतायाः प्राङ् नाविनाभावितामतिः।
यदैव चेह सम्बन्धं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

तदैव गमकोऽस्यायमिति नान्यस्वरूपतः।

निरूपिते''''नोत्पद्यते मतिः''''इह वाचकतायाः प्रतिपद्यते''''स्वरूपतः

क्योंकि धूमादि हेतुओं में देशकालादि के द्वारा वह्नि प्रभृति साध्यों के अविनाभाव सम्बन्ध के ज्ञात होने के बाद ही साध्य की गमकता आती है, हेतुओं में साध्य की गमकता अनुमिति से पहले ज्ञात नहीं रहती है। किन्तु शब्द में शाब्द-बोध से पहले ही वृद्धों के व्यवहार से साध्य की गमकता विद्यमान रहती है। शब्द और अर्थ में कोई दूसरा सम्बन्ध शाब्दबोध से पहले ज्ञात नहीं रहता ॥१९-२१ क-ख॥

कथयन्ति क्वचित् तावद् बोद्धव्योऽस्मादयं त्विति ॥ २१ ॥

क्वचिद् वाचक इत्येवं वाच्योऽयमिति चोच्यते।
क्वचिदुच्चरिताच्छब्दाद् दृष्ट्वार्थविषयां क्रियाम् ॥ २२ ॥

केषाञ्चित् तत्र बोद्धृत्वमनुमानात् प्रतीयते।
एतेनास्माद् यतः शब्दादर्थोऽयमवधारितः ॥ २३ ॥

तेन नूनमिमौ सिद्धौ वाच्यवाचकशक्तिकौ।
इत्थं वाचकता सिद्धा सङ्कीर्णापि ततः परम् ॥ २४ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निष्कृष्टेऽर्थे नियम्यते।

कथयन्ति''''वाचकशक्तिको

वृद्धों के व्यवहार से ज्ञात होने वाले जिस 'गमकता' अथवा 'वाच्यता' सम्बन्ध की चर्चा की गयी है, उसके तीन स्वरूप हैं। प्रथम है (१) अस्मादयं बोद्धव्यः, द्वितीय है (२) अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचकः, तीसरा है (३) अयमर्थोऽस्य शब्दस्य वाच्यः। घटादि अर्थ विषयक आनयनादि क्रियाओं को देखकर कहीं अनुमान के द्वारा भी इस वाचकता स्वरूप गमकता का बोध होता है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि चूँकि इस शब्द से यह अर्थ निश्चित होता है अतः लोक में यह प्रसिद्ध है कि (१) शब्द में अर्थ का वाचकत्व सम्बन्ध है, एवं (२) अर्थ में शब्द का वाच्यत्व सम्बन्ध है।

इत्थं वाचकता' 'नियम्यते

(इस प्रसङ्ग में आक्षेप हो सकता है कि वृद्धव्यवहार से तो वाक्य के बाद वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः उससे वाक्य एवं वाक्यार्थ इन दोनों में ही सम्बन्ध को सिद्धि हो सकती है, पद और पदार्थ में नहीं। इस आक्षेप का यह समाधान है कि) इस प्रकार जाति व्यक्ति प्रभृति अनेक अर्थों की वाचकता यद्यपि शब्दों में प्राप्त होती है, तथापि 'अन्वयव्यतिरेक' के द्वारा जाति स्वरूप निष्कृष्ट अर्थ में ही वाचकता निर्णीत होती है ॥ २२–२५ क–ख ॥

> **बहुजातिगुणद्रव्यकर्मभेदावलम्बिनः ॥ २५ ॥**
> **प्रत्ययात् सहसा जाता शीतलाक्षणिकात्मकात् ।**
> **न लोकः कारणाभावान्निर्धारयितुमिच्छति ॥ २६ ॥**

(कहा जा सकता है कि गोशब्द से वस्तुतः द्रव्यत्व, गोत्वादि अनेक जातियों, रूपस्पर्शादि अनेक गुणों, शाबलेयादि अनेक गो व्यक्ति द्रव्यों, गमनादि अनेक क्रियाओं से युक्त गो व्यक्ति की ही प्रतीति लोगों को होती है। प्रतीत उन सभी वस्तुओं को लोग गोशब्द का अर्थ मानते हैं, फिर कैसे कहते हैं कि 'गोत्व जाति ही गोशब्द का निष्कृष्ट अर्थ है' इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

यह सत्य है कि गोशब्द से कथित अनेक जाति, अनेक गुणादि, अनेक धर्मों से संमूर्च्छित अर्थ की प्रतीति लोगों को होती है। किन्तु उनमें से अभिधा वृत्ति के द्वारा जाति की ही प्रतीति होती है, अन्य सभी अर्थ उस शब्द से ही लक्षणा वृत्ति के द्वारा प्रतीत होने हैं। किन्तु लोग यह निर्द्धारण नहीं कर पाते कि कौन सा अर्थ अभिधेय है एवं कौन सा अर्थ लक्ष्य है। किन्तु लोगों के इस अनिर्द्धारण से यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द का कोई निर्द्धारित वाच्यार्थ नहीं है ॥ २५–२६ ॥

> **बलाबलादिसिद्ध्यर्थं वाक्यज्ञास्तु विविञ्चते ।**
> **कक्षान्तरितसामान्यविशेषेषु हि दुर्बलः ॥ २७ ॥**
> **सामान्यवचनः शब्दो जायते लक्षणाबलात् ।**
> **तेनावश्यं विवेक्तव्यं शब्देन कियदुच्यते ॥ २८ ॥**

कियद् वा नित्यसम्बन्धादभिधेयेन लक्ष्यते ।
तत्र प्रयोगबाहुल्यात् तद्विशेषेष्वसत्स्वपि ॥ २९ ॥
प्रयोगात् परसामान्ये सति वाच्यप्रयोगतः ।
सास्नाद्यनेकसम्बन्धिगोत्वमात्रस्य वाचकः ॥ ३० ॥
गोशब्द इति विज्ञानमन्वयव्यतिरेकजम् ।
तस्माद् गमकतैवादावभिधायकता पुनः ॥ ३१ ॥
तन्निमित्तेति सम्बन्धः संज्ञासंज्ञित्वलक्षणः ।
सम्बन्धनियमोऽयं तु याऽविनाभाविताोच्यते ॥ ३२ ॥

बलाबलादि ''दुर्बलः

किन्तु वाक्यों के विशेषज्ञ मीमांसक गण शब्द से ज्ञात होने वाले अर्थों में कौन सा अर्थ बलवान् होने के कारण विवक्षित है, एवं कौन सा अर्थ लाक्षणिक होने के कारण अविवक्षित है, इसको समझने के लिये शब्दों के मुख्यार्थ और गौणार्थ करते हैं। इसके लिये शब्द के सही वाच्यार्थ का निर्द्धारण आवश्यक है।

कक्षान्तरित''''सामान्यवचनः''''अभिधेयेन लक्ष्यते

'वस्तुत्व' पर सामान्य है, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, प्राणित्व, गोत्व, पशुत्व प्रभृति सभी अपर सामान्य हैं। इनमें द्रव्यत्व वस्तुत्वापेक्षया विशेष धर्म है, किन्तु पृथिवीत्वादि धर्मों की अपेक्षा से सामान्य धर्म है। इसी प्रकार पृथिवीत्वादि धर्म भी अपने अपने पूर्ववर्ति धर्मों की अपेक्षा से विशेष धर्म हैं एवं उत्तरवर्ति धर्मों की अपेक्षा सामान्य धर्म हैं। इनमें जिस सामान्य का जो वाचक है, वह शब्द अपने अभिधेयभूत सामान्य धर्म के कुछ कक्षाओं के बाद स्थित विशेष धर्म के बोध के लिये लाक्षणिक है। अतः लाक्षणिक अर्थ का विभाग न हो तो उक्त 'बलाबल' का निर्णय नहीं हो पायगा जिससे यह समझना असंभव हो जायगा कि कौन वाच्यार्थ होने के कारण सबल है एवं कौन वाच्य अर्थ के सम्बन्ध से युक्त होने के कारण दुर्बल है, अर्थात् वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ दुर्बल है।

तत्र प्रयोगबाहुल्यात्

शब्द का कौन सा अर्थ मुख्य है एवं कौन सा अर्थ गौण है—इसको समझने के लिये अन्वय और व्यतिरेक को पहले ही संक्षेप में (श्लोक २५) में कहा जा चुका है। उसका विशदार्थ यह है कि वास्तव में 'प्रयोगबाहुल्य' ही उसका नियामक है, क्योंकि गो शब्द का अधिक प्रयोग गोत्व जाति में ही होता है।

असत्स्वपि''गोत्वमात्रस्य वाचकः

गोत्व सामान्य के 'बाहुलेय'[1] स्वरूप एक विशेष के न रहने पर भी उसके दूसरे विशेष 'शाबलेय' गो में गो शब्द का प्रयोग होता है। अतः यह समझना सुलभ

---

१. पुराणों में 'शबला' और 'बहुला' नाम की दो गायों की कथा प्रसिद्ध है। उन्हीं दोनों में से 'शबला' का अपत्य गोसमुदाय 'शाबलेय' नाम से एवं 'बहुला' का अपत्य गोसमुदाय 'बाहुलेय' नाम से प्रसिद्ध हुये।

है कि गोत्व जाति के 'अन्वय' स्थल में ही गो शब्द का प्रयोग होता है। द्रव्यत्वादि सामान्यों के रहने पर भी गोत्व के न रहने के कारण अश्वादि में गो शब्द का प्रयोग नहीं होता है। इस गोत्व सामान्य के व्यतिरेक और गोशब्दप्रयोग के व्यतिरेक से यह स्पष्ट है कि 'गोत्व' ही गो शब्द का वाच्य है एवं गोशब्द ही गोत्व जाति का वाचक है (गमक) है, भले ही गो शब्द से सास्नादि से युक्त गो व्यक्तियों का भी बोध होता हो। इस रीति से गो शब्द और गोत्व जाति में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध स्थापित होता है।

तस्माद्...संज्ञासंज्ञिलक्षणः

तस्मात् पहले शब्द में अर्थ की 'गमकता' मात्र की प्रतीति होती है।

अभिधायकता पुनः...संज्ञासंज्ञिलक्षणः

इस गमकत्व सामान्य का विशेष 'अभिधायकत्व' बाद में प्रतीत होता है[1]।

सम्बन्धनियमः...अविनाभावितोच्यते

(पूर्वपक्ष—व्याप्ति है अन्वय-व्यतिरेकमूलक सम्बन्ध। अभिधायकत्व भी अन्वय-व्यतिरेकमूलक सम्बन्ध ही है। फिर भी शब्द से अर्थ की प्रतीति का अङ्ग भी व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध ही क्यों नहीं है? तदतिरिक्त शब्द में अर्थ का अभिधायकत्व स्वरूप अतिरिक्त सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है? फलतः अनुमान से अतिरिक्त शब्द प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

इन्द्रिय-लिङ्गादि सभी में रहने वाले (सङ्कीर्ण) 'गमकत्व' का ही ज्ञान पहले शब्द में होता है। अन्वयव्यतिरेक के द्वारा इस सङ्कीर्णता को हटाकर 'विषय का नियम' ही इस प्रकार ज्ञात होता है कि 'अस्यार्थस्यायं शब्दो गमकः' अथवा 'अस्य शब्दस्यायमर्थो गम्यः'। पहले शब्द और अर्थ का सम्बन्ध देशतः अथवा कालतः अन्वयव्यतिरेकगम्य नहीं है अतः शब्द से होने वाली अर्थविषयक प्रतीति का अन्वयव्यतिरेक अङ्ग नहीं है। केवल गमकत्व ही इस विवेक का अङ्ग है, क्योंकि शब्द केवल गमकत्व सम्बन्ध से ही अर्थबोध का जनक है, इसके लिये इन्द्रियसम्बन्ध अथवा व्याप्तिसम्बन्ध की अपेक्षा शब्द को नहीं होती है ॥२७–३२॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'गमकत्व' सामान्य के आश्रयीभूत ये तीन 'विशेष' हैं (१) इन्द्रिय (२) लिङ्ग एवं (३) अभिधायक शब्द। इनमें जो केवल अपनी सत्ता से ज्ञान का उत्पादन करता है वह 'इन्द्रिय' है, जो 'व्याप्यत्व' रूप से ज्ञात होकर ज्ञान उत्पन्न करता है वह है 'लिङ्ग' है और जो केवल अभिधायकत्व रूप से ज्ञात होकर ज्ञान को उत्पन्न करता है वही है 'शब्द'। शब्द में केवल 'गमकत्व' के गृहीत होने के बाद केवल इस गमकत्व के सम्बन्ध से ही इन्द्रिय-लिङ्गादि के न रहने पर भी शब्द अर्थ का बोध जिस पुरुष को होता है, उस पुरुष को लिङ्गत्वादि से विलक्षण अभिधायकत्व स्वरूप गमकत्व का ज्ञान शब्दों में होता है। इस गमकत्व रूप अभिधायकत्व का नाम ही संज्ञा एवं उक्त सम्बन्ध का नाम ही 'संज्ञासंज्ञित्व' है।

सम्बन्धग्रहणात् पूर्वं यस्मान्न गमयत्यतः ।
गवादेर्नाभिधाशक्तिर्देवदत्तपदे यथा ॥ ३३ ॥

पूर्वपक्षभाष्य:—

'आह—यदि प्रत्यायकः शब्दः प्रथमः श्रुतः किं न प्रत्याययति ?' (शाबरभाष्य पृ० ४४ पं० १)

अर्थात् यदि गोशब्द में गोत्व की वाचकशक्ति होती तो सुनते ही वह शक्ति गोत्वविषयक प्रत्यय को उत्पन्न करती, किन्तु गो शब्द को सुनते ही उससे गोत्व-विषयक प्रतोति उत्पन्न नहीं होती है। अतः गो शब्द में गोत्व की वाचकता शक्ति नहीं है।

इस पूर्वपक्ष भाष्यसन्दर्भ से अभिप्रेत अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—

'गोशब्दो न गोत्ववाचकशक्तिमान् सम्बन्धग्रहणात्पूर्वमप्रतिपादकत्वात् देव-दत्तादिपदवत् ।'

अर्थात् देवदत्तादि पद पुरुष के द्वारा जहाँ संकेतित रहता है, उसी अर्थ का बोध देवदत्तादि पदों से होता है, अतः शब्दों की किसी अर्थ में स्वाभाविक शक्ति नहीं है, पुरुषसंकेतमूलक शक्ति ही शब्दों में है। अतः शब्द में अर्थबोधजनक शक्ति नित्य नहीं है ॥ ३३ ॥

यथैव गमकः शब्दो व्यवहारात् प्रतीयते ।
तथैव शक्तिविज्ञानं तस्योपायोऽवगम्यते ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार लोकव्यवहार से शब्द में गमकता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार लोकव्यवहार से ही यह भी सिद्ध है कि शब्द से अर्थबोध की उत्पत्ति में 'शक्तिज्ञान' उपायस्वरूप है। अतः 'इतिकर्त्तव्यता'-रूप शक्तिज्ञान के न रहने से प्रथम शब्दश्रवण के बाद ही अर्थबोध की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः शक्तिज्ञान की सापेक्षता से शब्द के करणत्व में कोई व्याघात नहीं होता ॥ ३४ ॥

स्वरूपग्रहणं चास्य यथा व्याप्रियते फले ।
तथा सम्बन्धिविज्ञानं नाशक्तिस्तत्कृता भवेत् ॥ ३५ ॥

शब्द का स्वरूपग्रहण (श्रावणप्रत्यक्ष) जिस प्रकार अर्थज्ञान स्वरूप फल के लिये उपयोगी है, उसी प्रकार 'सम्बन्धविज्ञान' भी अर्थात् शब्द और अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान भी उक्त फल के लिये उपयोगी है। इससे शब्द में जो अर्थज्ञान की कारणता है उसका व्याघात नहीं होता ॥ ३५ ॥

यत्साधकतमत्वेन कस्यचित् किञ्चिदुच्यते ।
तस्यानुग्राहकापेक्षा न स्वशक्तिविघातिनी ॥ ३६ ॥

जिस कार्य का जो 'साधकतम' करण होता है, उन सभी करणों को 'अनुग्राहक' अर्थात् सहकारिकारण स्वरूप व्यापार की अपेक्षा अवश्य होती है। अनुग्राहक की इस सापेक्षता से 'करण' की स्वाभाविक शक्ति में व्याघात नही समझा जाता ॥३६॥

न हि तत् करणं लोके वेदे वा किञ्चिदीदृशम् ।

इतिकर्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता ॥ ३७ ॥

लोक में अथवा वेद में ऐसा कोई भी करण नहीं है, जिसे इतिकर्त्तव्यता अर्थात् व्यापार अथवा सहकारिकारण की अपेक्षा न हो ॥ ३७ ॥

प्रत्यात्मनियतत्वाच्च तथैव करणं भवेत् ।

बाह्यान्तरविभागेन क्वचित् स्याद् वा विवक्षया ॥ ३८ ॥

प्रत्यात्मनियतत्वात्

चक्षुरादि सभी करणों को प्रदीपादि सभी उपकरणों के साहाय्य की अपेक्षा नियमित रूप से देखी जाती है । अतः उपकरणों की इस साहाय्य की अपेक्षा से करण में अशक्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती है । प्रत्युत यही कहिये कि 'करण' स्वरूप 'कारण' है जिसे 'इतिकर्त्तव्यता' स्वरूप उपकरण का साहाय्य अपेक्षित हो । फलतः उपकरण के साहाय्य के विना 'करणता' की सिद्धि ही नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक करण में उपकरण की अपेक्षा नियमित रूप से देखी जाती है ।

बाह्यान्तरविभागेन

(यह प्रश्न हो सकता कि जब कार्य के लिए समान रूप से 'करण' की तरह इतिकर्त्तव्यता (उपकरण) की भी अपेक्षा होती है तो इसका विभाग कैसे किया जाय कि कौन करण है और कौन उपकरण है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—) मुख्य फल का जो प्रत्यासन्न कारण हो उसे करण कहते हैं, जैसे कि चक्षुरादि । तद-पेक्षया जो बाह्य कारण हो उसे 'इतिकर्त्तव्यता' या 'व्यापार' अथवा 'उपकरण' कहते हैं, जैसे कि दीपादि ।

क्वचिद्वा स्याद्विवक्षया

विवक्षा के भेद से कभी कहीं बाह्य कारण में भी 'करणता' मानी जाती है ॥ ३८ ॥

उद्विग्नो ह्यन्धकारेण कश्चिदेवं ब्रवीत्यपि ।

किं चक्षुषा ममैतेन दृष्टं दीपेन यन्मया ॥ ३९ ॥

जैसे कि अंधेरे से हैरान कोई ऐसा भी कहते सुना जाता है कि मेरी इन आँखों से क्या काम जो विना दीप के कुछ देख ही नहीं सकतीं । (ऐसे स्थलों में आंखों की अपेक्षा वहिरङ्ग दीप में ही 'करणता' अभीष्ट है) ॥ ३९ ॥

नित्यवृत्तौ तु नान्धानां दृष्टिर्दीपशतैरपि ।

रूपादिदर्शने यस्मात् तस्माच्चक्षुः प्रकाशकम् ॥ ४० ॥

किन्तु स्वरसतः अन्तरंग कारण को ही 'करण' कहते हैं, क्योंकि अन्ध पुरुष सैकड़ों दीपों के साहाय्य से भी कोई वस्तु नहीं देख सकता ॥ ४० ॥

शरीरात्ममनोयोगादसाधारणताबलात् ।

विज्ञानासत्तियोगाच्च चक्षुः करणमिष्यते ॥ ४१ ॥

(यदि प्रत्यासन्न कारण ही 'करण' है तो आत्मा और मन का संयोग, अथवा शरीर और आत्मा का संयोग ये दोनों चक्षुरादि की अपेक्षा भी चाक्षुष ज्ञान के अति प्रत्यासन्न हैं। फिर ये 'करण' क्यों नहीं है, चक्षुरादि ही करण क्यों है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

कथित आत्ममनःसंयोग सभी ज्ञानों का साधारण कारण है, इसलिये चाक्षुष ज्ञानों का भी कारण है। चक्षु तो चाक्षुष ज्ञान के लिये शरीरात्ममनःसंयोगादि की अपेक्षा अभ्यर्हित है, एवं दीपादि की अपेक्षा प्रत्यासन्न है। इसलिए चाक्षुष ज्ञान का चक्षु ही 'करण' है। आत्ममनःसंयोगादि या दीपादि 'करण' नहीं हैं, किन्तु 'कारण' मात्र हैं। फलतः 'करणता' के लिये कार्य को प्रत्यासत्ति एवं असाधारण्य दोनों ही अपेक्षित हैं। अर्थात् कार्य का प्रत्यासन्न और असाधारण कारण ही 'करण' है ॥ ४१ ॥

तथैवेहापि सम्बन्धज्ञानमङ्गं प्रसिद्धितः।
गौरवात् करणत्वेन मतं चेत् केन वार्यते ॥ ४२ ॥

तथैवेहापि....प्रसिद्धितः

प्रकृत में भी प्रत्यासन्न होने से शब्द ही शाब्दबोध का 'करण' है एवं शक्ति-ज्ञान उसका 'अंग' अथवा 'इतिकर्त्तव्यता' है, क्योंकि 'लोकप्रसिद्धि' ऐसी है। अर्थात् जनसाधारण शब्द को शाब्दबोध का करण (प्रमाण) और शक्तिज्ञान को उसका व्यापार ही कहते हैं।

गौरवात्....केन वार्यते

यदि किसी कारणवश शक्तिज्ञान को ही अत्यन्त आदरणीय समझकर (क्योंकि उसके बिना शब्द निरर्थक हो जाता है) करण समझ लेते हैं तो इस प्रसंग में हम लोग विरोध प्रकट नहीं करेंगे। तदनुसार करणत्व-व्यवहार के दो प्रयोजक हैं। (१) प्रत्या-सन्नत्व और व्यापारवत्त्वे सति असाधारणत्व। इनमें प्रथम प्रयोजक के अनुसार व्यापार ही करण है। दूसरे प्रयोजक के अनुसार व्यापारी ही करण है ॥ ४२ ॥

यथा चक्षुरितीदं तु व्यभिचारित्वमुच्यते।
देवदत्तेऽपि चाव्यक्तां शक्तिमिच्छन्ति युक्तितः ॥ ४३ ॥

'यथा चक्षुर्द्रष्टृ न वाह्येन प्रकाशेन विना प्रकाशयतीत्यद्रष्टृ न भवति' (शावर-भाष्य पृ० ४४)।

अर्थात् जैसे चक्षु द्रष्टा होने पर भी वाह्य प्रकाश के विना घटादि द्रव्यों को प्रकाशित नहीं करता, फिर भी दीपादि के साहाय्य के कारण वह 'अद्रष्टा' नहीं हो जाता।

यथा चक्षुरितीदं तु

'यथा चक्षुर्द्रष्टृ' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा 'गोशब्दो न गोवाचकशक्ति-मान् सम्बन्धग्रहणात्पूर्वमप्रतिपादनात् देवदत्तादिपदवत्' (देखिये श्लो० ३३ की व्याख्या) इस अनुमान के 'सम्बन्धग्रहणात्पूर्वमप्रतिपादनात्' इस हेतु में व्यभिचार

का उद्भावन इस अभिप्राय से किया गया है कि चक्षु भी दीपप्रकाश के विना ज्ञान का उत्पादन नहीं करता है, फिर भी उसमें करणता है ही। अतः शक्तिज्ञान के विना यदि सुनते ही यदि शब्द से अर्थ का बोध नहीं होता है, तो केवल इसलिये शब्द में शाब्दबोध की जो करणता है, उसमें कोई क्षति नहीं होगी।

देवदत्तेऽपि···युक्तितः

प्रकृत अनुमान में जो आधुनिक देवदत्त शब्द को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'देवदत्त' शब्द में भी उस पिण्ड की 'औत्पत्तिक' (नित्य) शक्ति ही है। किन्तु वह 'अव्यक्त' है। पुरुषकृत सङ्केत से उसका अभिव्यक्तिमात्र होता है। युक्ति के द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन प्रत्यक्षसूत्र में किया जा चुका है। (देखिये प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लो० १३२, १३३)॥ ४३॥

प्रकाशेऽवस्थिते बाह्ये नान्धो रूपं प्रतीयते।
फलानन्तर्यतश्चापि चक्षुः करणमिष्यते॥ ४४॥

प्रकाशेऽवस्थिते···प्रतीयते

(प्रश्न—भाष्यकार ने चक्षु को ही द्रव्य का प्रकाशक कहा है एवं बाह्य प्रकाश को उसका सहायक माना है। ऐसा क्यों? अर्थात् चक्षु में क्या विशेष है कि वह 'मुख्य' है और बाह्य प्रकाश गौण है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

बाह्य प्रकाश के रहने पर भी अन्ध को रूप का ज्ञान नहीं होता है। इससे समझते हैं कि रूपज्ञान का चक्षु ही मुख्य कारण है एवं बाह्य प्रकाश उसका सहायक मात्र है।

फलानन्तर्यतश्चापि

चक्षु की सत्ता के बाद ही चाक्षुषज्ञान उत्पन्न होता है, इस हेतु से भी समझते हैं कि चक्षु उक्त ज्ञान का करण है॥ ४४॥

पुरुषाधीनविज्ञानस्तेभ्यः प्रागनिरूपितः।
यः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः स चेष्टश्चेद् ध्रुवं कृतः॥ ४५॥

इस प्रकार "शब्द और अर्थ इन दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य है" यह प्रतिपादित होने के बाद 'वह सम्बन्ध नित्य है अथवा पुरुषकृत (पौरुषेय) है'—यह विचार करते हुए भाष्यकार ने 'यदि प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति' इत्यादि सन्दर्भ से पूर्वपक्ष उपस्थित किया है कि शब्द और अर्थ इन दोनों में 'संज्ञासज्ञि' सम्बन्ध ही हो सकता है। पहले कहा जा चुका है कि लोक में 'संज्ञात्व' का ज्ञान पुरुषों के द्वारा ही होता। अतः वैदिक शब्द और अर्थ इन दोनों में जो सम्बन्ध है, वह भी पौरुषेय ही है, नित्य नहीं॥ ४५॥

भिन्नदेशाद्यधिष्ठानाद् यथा रज्जुघटादिषु।
समं नास्त्यनयोः किञ्चित् तेनासङ्गतता स्वतः॥ ४६॥

क्योंकि भिन्न देशों में रहनेवाले रज्जु और घट का सम्बन्ध पुरुष के प्रयत्न से ही किसी देशकालादि के द्वारा देखा जाता है। विभिन्न देशों में रहनेवाले शब्द और अर्थ इन दोनों में सम्बन्ध के प्रयोजक देशकालादि नहीं जान पड़ते और न दोनों को सम्बद्ध करनेवाला कोई पुरुष ही जान पड़ता है। अतः पहली बात तो यह है कि शब्द और अर्थ इन दोनों में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यदि संज्ञासंज्ञि-प्रभृति कोई सम्बन्ध मान भी लें तो वह सम्बन्ध 'पौरुषेय' ही होगा, 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य नहीं ॥ ४६ ॥

इति सम्बन्धाक्षेपपरिच्छेदः ॥

अथ स्फोटवादः

'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्ज्जनीया इति भगवानुपवर्षः। श्रोत्र-ग्रहणे ह्यर्थे लोके 'शब्द'शब्दः प्रसिद्धः। ते च श्रोत्रग्रहणाः।' (शाबरभाष्य पृ० ४५)

सभी सम्बन्धों के दो आधार होते हैं, अतः सम्बन्ध के आधार स्वरूप दोनों सम्बन्धियों के निरूपण के विना किसी भी सम्बन्ध का निरूपण सम्भव नहीं है। प्रकृत 'शब्दार्थसम्बन्ध' के भी तदनुसार दो आधार हैं, उनमें जातिस्वरूप 'अर्थ' (सम्बन्धी) का आगे 'आकृतिवाद' और 'अपोहवाद' में निरूपण करेंगे। उक्त सम्बन्ध के द्वितीय सम्बन्धी 'शब्द' का निरूपण अभी प्रस्तुत है।

इस प्रसंग में स्फोटवादी वैयाकरण लोग श्रूयमाण 'ग'कार 'औ'कार और 'विसर्जनीय' इन तीनों ही वर्णों से अतिरिक्त अथ च इन तीनों ही वर्णों से ही अभि-व्यक्त होनेवाले किसी पदार्थ को ही प्रकृत 'गोशब्द' कहते हैं। किन्तु सिद्धान्ती मीमांसकगण 'ग'कार 'औ'कार और विसर्जनीय इन तीनों वर्णों को ही 'गोशब्द' की संज्ञा देते हैं। इस प्रसंग में अपने पक्ष के समर्थन के लिये भाष्यकार ने वृद्धमीमांसक भगवान् उपवर्ष की सम्मति को 'गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः' इस वाक्य से उपस्थित किया है।

"गकारादि वर्ण ही 'शब्द' हैं, तदतिरिक्त कोई 'स्फोट' नाम की वस्तु नहीं है" अपने इस पक्ष का मीमांसकों ने दो युक्तियों से समर्थन किया है—(१) प्रत्यक्ष के द्वारा एवं (२) अर्थप्रत्यायकत्व के द्वारा। इनमें प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द स्वरूप का प्रतिपादन 'श्रोत्रग्रहणे हि' इत्यादि सन्दर्भ से किया है। एवं 'यद्येवमर्थप्रत्ययो नोपपद्यते' (शाबरभाष्य पृ० ४५ पं०) इस सन्दर्भ से 'अर्थप्रत्यायकत्व' के द्वारा वर्णों में शब्दत्व का समर्थन किया गया है (फलतः स्फोट का खण्डन किया गया है)।

श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले अर्थ को ही 'शब्द' इस नाम से प्रसिद्धि है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले 'शब्द' को ही लोग 'वाचक' मानते हैं। कथित गकार, औकार और विसर्जनीय ही श्रोत्रग्राह्य हैं। तदतिरिक्त एवं इन तीनों वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाली कोई वस्तु प्रकृत में श्रोत्रग्राह्य नहीं है।

आधारात्मनि विज्ञाते सुखमाधेयबोधनम्।
तस्यैव तावत् प्रस्तावादय गौरित्यतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

(शब्द और अर्थ में जो 'सम्बन्ध' है वह नित्य है अथवा अनित्य—यह विचार प्रस्तुत है। इस विचार के चलते मध्य में शब्द के स्वरूप का निर्णायक 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?' यह भाष्यसन्दर्भ असंगत और अप्रयोजनीय है। अतः भाष्यकार ने मध्य में यह सन्दर्भ क्यों लिखा ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

सम्बन्ध किन्हीं दो वस्तुओं में ही होता है, अतः सम्बन्ध के अन्ततः दो आधार अवश्य होते हैं। अतः प्रस्तुत वाच्यवाचकसम्बन्ध के भी दो आधार अवश्य होते हैं। आधार को समझने के बाद आधेय को समझना सुलभ होता है। अतः आधार के निरूपण के बिना आधेय का निरूपण नहीं हो सकता। यदि वर्णों से अतिरिक्त शब्द नाम की कोई वस्तु ही न हो तो उसका सम्बन्ध और सम्बन्ध की नित्यता इनमें से किसी का भी निरूपण नहीं हो सकता। अतः प्रस्तुत शब्दार्थसम्बन्ध के प्रसंग में शब्द स्वरूप का निरूपण न अप्रस्तुत ही है और न अप्रयोजनीय ही। इसीलिए भाष्यकार ने 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा है।

'अथ गौः' इत्यादि से सिद्धान्ती कहते हैं कि पहले शब्द के स्वरूप का ही विचार करें कि वह क्या है ? अभी शब्दार्थसम्बन्ध का विचार स्थगित रखा जाय ॥ १ ॥

प्रत्यक्षेऽपि विसंवादो येषां कः स्वयमुत्तरम्।
तेभ्यो दद्यादिति ज्ञात्वा वृद्धानां मतमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैयाकरणों का जो सम्प्रदाय अपने श्रोत्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष में भी 'विसंवाद' अर्थात् भ्रमत्व का आरोप करते हैं, उन्हें स्वयं उत्तर देना व्यर्थ समझ कर ही भाष्यकार ने 'अथ गौः'''भगवानुपवर्षः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वृद्धतम आचार्य भगवान् उपवर्ष के मत का उल्लेख अपने मत के समर्थन के लिये किया है। अर्थात् भगवान् उपवर्ष के मत का उल्लेख परमतस्थापन के लिये नहीं है, किन्तु स्वमत स्थापन के लिये ही है ॥ २ ॥

तत्रार्थप्रत्ययद्वारं कृतं शब्दनिरूपणम्।
यैरासतां तु ते तावत् प्रत्यक्षेण परीक्ष्यते ॥ ३ ॥

(स्फोटवादी वैयाकरणों ने श्रूयमाण वर्णों द्वारा अर्थप्रत्यय का होना असम्भव जानकर ही वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाले (वर्णाभिव्यङ्ग्य) स्फोट को अर्थप्रत्ययजनक 'शब्द' माना है एवं वर्णात्मक शब्द में अर्थप्रत्यायकत्व का खण्डन किया है। अतः भाष्यकार को चाहिये कि वर्णात्मक शब्द में अर्थप्रत्यायकत्व की उपपत्ति दिखलाकर बाद में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा स्फोट का खण्डन करें। किन्तु भाष्यकार ने 'श्रोत्रग्रहणे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्णात्मक शब्द की आपत्ति दिखलाकर बाद में अर्थप्रत्यायन के द्वारा वर्णों में शब्दत्व की उपपत्ति दिखलायी है। भाष्यकार का ऐसा करना क्रमविरुद्ध होने कारण अनुचित है। इस आक्षेप का भाष्यकार यह उत्तर देते हैं कि—)

जो वैयाकरण अर्थप्रत्यय के द्वारा स्फोटात्मक शब्द का निरूपण करते हैं, उनकी बात अभी स्थगित रहे। पहले यही देख लिया जाय कि सर्वसम्मत प्रमाण के

द्वारा वर्णों में शब्दत्व किस प्रकार उपपन्न होता है। अतः पहले प्रत्यक्ष के द्वारा भाष्यकार ने वर्णों में शब्दत्व की परीक्षा की है ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षं नासमर्थं नस्तेन चार्थेऽवधारिते।
न हेतुर्बलवानन्यः परीक्ष्येत यतस्ततः ॥ ४ ॥

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण वर्णों के शब्दत्व के समर्थन में अक्षम होता अथवा इससे कोई दूसरा हेतु इसके लिये अधिक उपयुक्त होता तो प्रत्यक्ष से भिन्न किसी अन्य हेतु का उपयोग करते। किन्तु सो जब नहीं है तब सर्वप्रमाणज्येष्ठ प्रत्यक्ष का परित्याग उचित नहीं है ॥ ४ ॥

तस्माच्छ्रोत्रपरिच्छिन्नो यद्यर्थं गमयेन्न वा।
सर्वथा तस्य शब्दत्वं लोकसिद्धं न हीयते ॥ ५ ॥

'तस्मात्' 'श्रोत्रपरिच्छिन्न अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजनित प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने वाले वर्णों से अर्थ की प्रतीति हो या न हो किन्तु उनके शब्दत्व में कोई व्याघात नहीं होता, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत वस्तु को ही लोग 'शब्द' कहते हैं। अर्थ-प्रत्ययजनकत्व शब्द का लक्षण नहीं है ॥ ५ ॥

यदि त्वर्थगतौ शक्तिर्न स्यादस्य ततः पुनः।
वस्त्वन्तरं प्रकल्प्येत विना शब्दप्रसिद्धितः ॥ ६ ॥

इसलिये श्रोत्रग्राह्य वस्तु में अर्थप्रत्यय की सामर्थ्य न रहने के कारण यदि किसी में स्फोटादि वस्तुओं की कल्पना की भी जाय, तथापि उसे 'शब्द' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थप्रत्ययजनकत्व 'शब्द' का लक्षण नहीं है। श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व ही शब्द का लक्षण है ॥ ६ ॥

अग्न्यादीन् गमयन्तोऽपि शब्दा धूमादयो न हि।
न वाऽप्रत्यायकत्वात् स्यादेकवर्णेष्वशब्दता ॥ ७ ॥

यदि 'अर्थप्रत्ययजनकत्व' ही शब्द का लक्षण हो तो वह्नि का ज्ञान चूँकि धूम से उत्पन्न होता है, अतः धूम में शब्दलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। एवं घटादि पदों के घटक 'घ' प्रभृति किसी एक वर्ण में घटादि अर्थों के प्रत्यय की जनकता नहीं है फिर भी वे वर्ण शब्द हैं। अर्थात् अर्थप्रत्यय के अजनक प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्ययजनक-त्वरूप शब्द का लक्षण अव्याप्त भी है ॥ ७ ॥

न च प्रागर्थविज्ञानाच्छ्रोत्रग्राह्ये न शब्दधीः।
न चार्थज्ञानतः पश्चादश्रौत्रेऽपि च शब्दता ॥ ८ ॥

अर्थप्रतीति के बाद ही शब्द में उक्त प्रतीति की जनकता आवेगी। फलतः अर्थप्रतीति के पहले वह श्रोत्रग्राह्य होने पर भी 'शब्द' नहीं कहलायगा, क्योंकि अर्थप्रत्ययजनकत्व के न रहने से उसमें शब्द की बुद्धि नहीं होगी। एवं अर्थज्ञान के बाद श्रोत्रग्राह्य न होने पर भी घटादि शब्दों में शब्दत्व नहीं रहेगा। फलतः अर्थ-प्रत्यय के समय ही शब्दत्व रहेगा। इसलिये अर्थप्रत्ययजनकत्व यदि शब्द का लक्षण

हो तो एक ही वस्तु कभी 'शब्द' होगी कभी 'अशब्द'। जैसे कि एक ही पुरुष समय के भेद से कभी अनुष्ठाता और कभी भोक्ता होता है ॥ ८ ॥

परस्परानपेक्षाश्च श्रोत्रबुद्ध्या स्वरूपतः।
वर्णा एवावगम्यन्ते न पूर्वापरवस्तुनी ॥ ९ ॥

श्रोत्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष के द्वारा परस्परानपेक्ष केवल गकारादिवर्ण ही गृहीत होते हैं, 'पूर्ववस्तु' अर्थात् गकारादि वर्णों के अवयव गृहीत नहीं होते। इसलिये गकारादि वर्णों के अवयव नहीं हैं। एवं 'अपरवस्तु' अर्थात् गत्व, अत्व, अवयवी, गोशब्दत्व, समुदायत्व एवं स्फोट ये सभी भी श्रोत्र के द्वारा गृहीत नहीं होते। अतः श्रोत्र से केवल वर्णों का ही ग्रहण होता है। (यही बात भाष्यकार ने 'ते च श्रोत्र-ग्रहणाः' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त की है)॥ ९॥

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चरितं मतिः।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ १० ॥

अल्पीयसापि""मतिः

शब्द के अवयव स्वरूप 'पूर्ववस्तु' की सत्ता नहीं है, क्योंकि थोड़े से प्रयत्न से भी उच्चारण करने पर सम्पूर्ण वर्ण की ही उपलब्धि होती है। ऐसा नहीं होता कि थोड़े से प्रयत्न से उच्चारण करने पर वर्ण के किसी अंश मात्र का ग्रहण होता है, एवं पूर्ण प्रयत्न से उच्चारण करने पर पूर्णवर्ण का ग्रहण होता है। अतः शब्द के अवयव की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती।

यदि वा नैव""स्फुटम्

यदि किसी प्रतिबन्धकवश वर्ण का ग्रहण नहीं होता, तो फिर सम्पूर्ण वर्ण का ही ग्रहण नहीं हो पाता ॥ १० ॥

पृथङ् न चोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित्।
न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत् पटे ॥ ११ ॥

अवयवों की प्रतीति अवयवियों से अलग भी होती है एवं अवयवी अवयवों से अनुस्यूत देखे जाते हैं। ये दोनों बातें पटस्वरूप अवयवी और तन्तु स्वरूप अवयवों में स्पष्ट देखी जाती हैं। पट से अलग भी तन्तुओं की प्रतीति होती है एवं पट तन्तुओं से अनुस्यूत भी देखा जाता है। वर्णों का न कोई अवयव ही अलग से सुना जाता है, न वर्ण किसी अवयव से अनुस्यूत ही देखा जाता है। अतः वर्ण का कोई अवयव नहीं है ॥ ११ ॥

तेषामनुपलब्धेश्च न ज्ञाता लिङ्गसङ्गतिः।
नागमस्तत्परश्चास्ति नादृष्टे चोपमा क्वचित् ॥ १२ ॥

चूँकि प्रत्यक्ष के द्वारा अवयवों का ग्रहण संभव नहीं है, अतः प्रत्यक्षागृहीत अवयवों की व्याप्ति भी किसी लिङ्ग (हेतु) में संभव नहीं है। अतः अनुमान प्रमाण से भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती।

नागमः""अस्ति

वर्णों में सावयवत्व का साधक कोई आगम प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। अतः आगम प्रमाण से भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती।

नादृष्टे""क्वचित्

उपमान प्रमाण के द्वारा भी वर्ण के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अज्ञात वस्तु में किसी की उपमा नहीं दी जा सकती ॥ १२ ॥

न चाप्यनुपपत्तिः स्याद् वर्णस्यावयवैर्विना।
यथान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः ॥ १३ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार विना अवयवों के ही अन्त्यावयव स्वरूप परमाणुओं की सत्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार विना वर्णावयवों के ही वर्णों की सत्ता की उपपत्ति हो सकती है। अतः वर्णावयवों के विना वर्णों की सत्ता अनुपपन्न नहीं है। इसलिये अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जितः।
किं न स्याद् व्योमवच्चात्र लिङ्गं तद्रहिता मतिः ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धश्च"'किं न स्यात्

(पूर्वपक्ष) प्रत्यक्ष के विषय घटादि सावयव ही होते हैं, वर्णों का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रत्यक्ष के विषय वर्णों में भी सावयवत्व की सिद्धि इस अनुमान से ही हो सकती है—'वर्णः सावयवः प्रत्यक्षविषयत्वात् घटादिवत्'।

(समाधान) यह अनुमान शुद्ध नहीं है, क्योंकि रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वे सावयव नहीं हैं, अतः कथित प्रत्यक्षविषयत्व हेतु गुण में व्यभिचरित है। अतः प्रत्यक्षविषयत्व हेतु से सावयवत्व का अनुमान नहीं हो सकता।

व्योमवत्""मतिः

प्रत्युत व्योम को दृष्टान्त बनाकर 'सावयवत्वेनाज्ञायमानत्व' हेतु के द्वारा वर्णों में निरवयत्व का प्रत्यनुमान भी हो सकता है। अर्थात् जिस प्रकार सावयवत्वेन अज्ञायमान होने के कारण व्योम निरवयव है, उसी प्रकार वर्णों में भी चूँकि सावयवत्व की बुद्धि नहीं होती है, अतः वे भी निरवयव हैं। (वर्णाः निरवयवाः सावयवत्वेनाज्ञायमानत्वाद् व्योमवत्)।

तद्वच्चास्यैकबुद्धित्वाद् देशभेदेऽप्यभिन्नता।
ननु भेदमतिर्न स्यात् तवाप्येकत्वधीः कुतः ॥ १५ ॥

तद्वच्चास्य"'अभिन्नता

(शब्द के कारणीभूत अवयवस्वरूप 'पूर्ववस्तु' का निराकरण करने के बाद अब कथित 'अपरवस्तु' स्वरूप सभी गकारों में रहने वाली एक 'गत्व' जाति का

निराकरण इस दृष्टि से किया जाता है कि 'ग' कार एक ही है, यदि अनेक होते तो सभी में एक समानाकारप्रतीति रूप अनुवृत्ति प्रत्यय के लिए गत्वादि सामान्यों को स्वीकार किया जाता। किन्तु सो जब नहीं है, तो फिर तद्वृत्ति तत्तद्वर्णत्व स्वरूप सामान्य की चर्चा ही व्यर्थ है)।

जिस प्रकार घटाकाश पटाकाशादि अनेक प्रतीतियों में भासित होने वाला आकाश एक ही है, उसी प्रकार गो, गोपाल, गणेश प्रभृति शब्दों में अनेकशः प्रतीयमान 'ग' कार भी एक ही है। 'गकारो देशभेदेऽभिन्नः एकबुद्धिग्राह्यत्वात् आकाशवत्' अर्थात् विभिन्न देशों में प्रतीत होने वाले सभी गकारों में 'स एवायम्' उस प्रकार की एक आकार की बुद्धि से ग्राह्य होने के कारण गकार वास्तव में एक ही है।

ननु भेदमतिर्न स्यात्

(पूर्वपक्ष) यदि गकार एक ही हो तो द्रुत, मध्य, विलम्बितत्वादि जो गकार के अनेक भेद हैं, उन भेदों का प्रतिभास नहीं हो सकेगा, यदि गकार को एक ही मानेंगे। अतः गकारादि प्रत्येक वर्ण अनेक हैं, एक नहीं।

तथाऽप्येकत्वधीः कुतः

इस पर सिद्धान्तियों का कहना है कि द्रुत-मध्यादि भेद से भिन्न प्रतीत होने पर भी यदि गकार वास्तव में एक नहीं हो तो फिर 'स एवायम्' इस आकार की प्रतीति के द्वारा जो सभी गकारों में एकत्व की 'धी' उत्पन्न होती है उसकी उपपत्ति तुम्हारे मत से कैसे होगी ? ॥ १५ ॥

> सामान्येषु ममैका धीस्तद्व्यक्तिषु च भेदधीः।
> न हीष्टं भेदमात्रं हि न स्यादेकत्वधीर्यतः ॥ १६ ॥

सामान्येषु ममैका धीः

गकार द्रुत-मध्यादि भेद से वास्तव में अनेक ही हैं। अतः सभी गकारों में रहने वाली गत्व जाति गोत्व जाति के समान अवश्य है। इस एकजातीयता के कारण ही 'स एवायम् गकारः' इस एकत्वबुद्धि की उत्पत्ति हम लोग मानते हैं। जैसे कि शाबलेयादि गणों में परस्पर भेदों में रहने पर भी 'अयं गौः अयमपि गौः' इत्यादि गोत्वजातिमूलक एकत्व की प्रतीति आप लोग भी मानते हैं।

व्यक्तिषु च भेदधीः

द्रुत गकार व्यक्ति एवं मध्य गकार व्यक्ति इन दोनों भिन्न गकार व्यक्तियों में 'अयं द्रुतगकारः अयञ्च मध्यो गकारः' इस आकार की भेदप्रतीति होती है। इस प्रकार गत्व को जाति मानने वाले एवं अनेक गकार व्यक्तियों की सत्ता मानने वाले हम लोगों के मत में एकत्वबुद्धि एवं भेदबुद्धि दोनों की उपपत्ति होती है।

न होष्टम्...एकत्वधीर्यतः

क्योंकि हमलोग गकार व्यक्तियों में केवल भेद ही नहीं मानते किन्तु सभी गकार व्यक्तियों में एक गत्व जाति की सत्ता के कारण सभी गकारों को अभिन्न भी

मानते हैं। अत हम लोगों के मत में 'सोऽयं गकारः' इस बुद्धि की अनुपपत्ति नहीं होती है ॥ १६ ॥

व्यक्तेस्तावन्न सामान्यं भिन्नरूपं प्रतीयते।
वर्णेष्वन्यत्र शब्दत्वान्नान्यच्चेद् वर्ण एव सः ॥ १७ ॥

व्यक्तेस्तावत्'''अन्यत्र शब्दत्वात्

सिद्धान्तपक्ष गकारादि व्यक्तियों में गकारादि वर्णों से अतिरिक्त गत्वादि जातियों कीप्रतीति नहीं होती है, केवल शब्दत्व की ही प्रतीति होती है अर्थात् गकारादि को द्रुतमध्यादि भेद से भिन्न मानने पर शब्दत्वव्याप्य गत्वादि जिन जातियों की परिकल्पना की जाती है वे व्यक्तियों से भिन्न (१) जातिस्वरूप होंगी ? अथवा (२) सादृश्यस्वरूप ? किं वा (३) अपोहस्वरूप ?

इन में प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नही है कि गकारादि वर्णों से भिन्न केवल शब्दत्व जाति की ही प्रतीति गकारादि वर्णों में होती है, शब्दत्वात्रान्तर किसी अन्य जाति की उपलब्धि नहीं होती है।

नान्यच्चेत्'''सः

यदि गत्व गवर्ण से अभिन्न है, तो फिर वह वर्ण में नहीं है, क्योंकि स्व में स्व की सत्ता नहीं रहती है ॥ १७ ॥

स एवेति मतिर्नापि सादृश्यं न च तत् क्वचित्।
विनावयवसामान्याद् वर्णेष्ववयवा न च ॥ १८ ॥

स एवेति'''सादृश्यम्

'स एवायं गकारः' यह एकत्व की प्रतीति पूर्वापर गकारों में 'सादृश्य' स्वरूप जातिविषयक भी नहीं है।

नच तत्'''अवयवा न च

क्योंकि कहीं भी अवयवों में सादृश्य के विना अवयवी में सादृश्य की प्रतीति नहीं होती है। वर्णों के अवयव नहीं होते। यह पहले ही श्लोक ९ से श्लोक ११ पर्यन्त प्रतिपादन किया जा चुका है ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षविषयत्वाच्च नान्यापोहोऽपि युज्यते।
वाचकश्चात्र लिङ्गं वा न तदानीं प्रतीयते ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षविषयत्वाच्च'''युज्यते

'स एवायं गकारः' यह प्रतीति चूँकि प्रत्यक्ष रूप है, अतः इस प्रतीति में भासित होने वाला एकत्व 'अपोह' स्वरूप जाति भी नहीं है, क्योंकि अपोह है अभाव रूप। अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण का विषय है।

वाचकश्चात्र ''तदानीं प्रतीयते

गकार की प्रतीति के समय कथित 'अपोह' का वाचक न कोई शब्द उपस्थित है, न कोई अनुमापक लिङ्ग ही उपस्थित है। अतः शब्द प्रमाण से अथवा अनुमान प्रमाण से उक्त प्रतीति में अपोह का भान नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

गकारादिषु सामान्यं शब्दत्वं कल्प्यते यथा।
गोत्वं च शाबलेयादौ तथैतत् किं न कल्प्यते ॥ २० ॥

(पूर्वपक्ष) गत्वजाति अपने आश्रयीभूत व्यक्ति से भिन्न है अथवा अभिन्न ? इस विकल्प के द्वारा भावस्वरूप जाति की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार करनेवाले बौद्ध ही गत्वादि सामान्यों का खण्डन कर सकते हैं। आप (मीमांसक) लोग तो शाबलेय गो एवं बाहुलेय गो इन दोनों में पशुत्व से अतिरिक्त गोत्व नाम की जाति इसलिये स्वीकार करते हैं कि दोनों में 'अयं गौः' इस एक आकार की बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार गकारों में भी शब्दत्वावान्तर गत्व जाति की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि सभी गकारों में 'अयं गकारः, अयमपि गकारः' इस एक आकार की प्रतीति होती है ॥ २० ॥

शाबलेयगकारादीन् निष्पन्नान् व्यक्तिरूपतः।
सामान्यधीर्न गृह्णातीत्यतो जातिरपोष्यते ॥ २१ ॥
न तु द्रुतादिभेदेऽपि निष्पन्ना सम्प्रतीयते।
गव्यक्त्यन्तरव्यावृत्ता गव्यक्तिरपरा स्फुटा ॥ २२ ॥
तेनैकत्वेन वर्णस्य बुद्धिरेकोपजायते।
विशेषबुद्धिसद्भावो भवेद् व्यञ्जकभेदतः ॥ २३ ॥

शाबलेयगकारादीन् ''उपजायते

(समाधान) जिस प्रकार बौद्धगण व्यक्तिभिन्नत्व एवं व्यक्त्यभिन्नत्व के विकल्प से भावस्वरूप सभी जातियों का खण्डन करते हैं, हम (मीमांसक) लोग उस रीति से गत्व सामान्य का खण्डन नहीं करते। हम लोगों का कहना है कि 'ग' वर्ण में शब्दत्व सामान्य से अतिरिक्त गत्व नाम के किसी सामान्य की उपलब्धि नहीं होती है, अतः शब्दत्वव्याप्य गत्व नाम की कोई जाति नहीं है।

'अयं गकारः शब्दः, अयमपि गकारः शब्द एव' इन आकारों की प्रतीतियाँ होती हैं, अतः गकार में शब्दत्व जाति को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार 'शाबलेयो गौः, बाहुलेयो गौः' इत्यादि एक आकार की प्रतीति सभी गोव्यक्तियों में होती है अतः सभी गोव्यक्तियों में गोत्व नाम की जाति को स्वीकार करते हैं। अतः शब्दत्व सामान्य एवं गोत्व सामान्य को स्वीकार करना आवश्यक है।

द्रुत गकार, मध्य गकार एवं विलम्बित गकार ये तीनों ही भिन्न गकार व्यक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु वे सभी गकार एक ही हैं। अतः यहाँ गत्व सामान्य की स्वीकृति आवश्यक नहीं है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार की प्रतीति का प्रयोजक ही 'सामान्य' है।

विशेषबुद्धि''व्यञ्जकभेदतः

यदि एक ही गकार हो, अनेक गकार न हों तो 'द्रुतो गकारः, मध्यो गकारः विलम्बितो गकारः' इत्यादि विशिष्ट प्रतीतियों की उपपत्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

व्यञ्जक के भेद से उक्त विशिष्ट प्रतीतियों की उपपत्ति होगी[1] ॥ २३ ॥

यथैव तव गत्वादि गम्यमानं द्रुतादिभिः ।
विशेषैरपि नानेकमेवं वर्णोऽपि नो भवेत् ॥ २४ ॥

('द्रुतो गकारः, मध्यो गकारः' इत्यादि विशेषविषयक प्रतीतियों से अनेक गकार व्यक्तियों को सत्ता ही क्यों न स्वीकार कर लें, उन प्रतीतियों को व्यञ्जक-भेदमूलक क्यों मानें ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जिस प्रकार गत्वजाति को माननेवालों के पक्ष में द्रुतत्वादि विशेषों के द्वारा विभिन्न रूपों में गकारादि के भासित होने पर भी 'गत्व' सामान्य में अनेकत्व नहीं होता वह एक ही रहता है, उसी प्रकार हम मीमांसकों के मत से भी द्रुतत्वादि विशेष रूपों से विभिन्न रूपों में भासित होने पर भी गकारादि प्रत्येक वर्ण विभिन्न नहीं होंगे ॥ २४ ॥

त्वयापि व्यञ्जकव्यक्तिभेदाद् भेदोऽभ्युपेयते ।
ममापि व्यञ्जकैर्नादैर्भेदबुद्धिर्भविष्यति ॥ २५ ॥

अन्तर इतना ही होगा कि आपके मत में (गत्व को जाति मानकर गकार व्यक्ति को अनेक मानने वालों के पक्ष में) व्यञ्जक के भेद से सामान्य में भेदावभास होगा जबकि हम (मीमांसक) लोगों के मत से प्रकृत में नाद स्वरूप व्यञ्जक के भेद से वर्णों में भेदावभास होगा। अर्थात् जिस प्रकार भेदावभास से गत्व सामान्य अनेक नहीं होता, उसी प्रकार भिन्न रूपों में अवभासित होने पर भी गकार वर्ण भी अनेक नहीं होगा ॥ २५ ॥

तेन यत् प्रार्थ्यते जातेस्तद् वर्णादेव लभ्यते ।
व्यक्तिलभ्यं च नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ॥ २६ ॥

---

१. अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि आकारों की अनेक गो व्यक्तियों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'अयं द्रुतो गकारः, अयं मध्यो गकारः' इत्यादि प्रतीतियों में अनेक गकार व्यक्तियों का भान नहीं होता है। किन्तु उच्चारण में द्रुतत्व विलम्बितत्वादि का भान ही उन प्रतीतियों में होता है। जिस प्रकार एक देवदत्त में शौर्यादि अनेक अवस्थाओं के कारण देवदत्त के एक होते हुये भी 'अयं शूरः, अयं कातरः, अयं पण्डितः' इत्यादि आकार की अनेक प्रतीतियाँ होती हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये। फलतः उक्त प्रतीतियों से अनेक गकार व्यक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। इससे एक ही गकार की द्रुतत्व विलम्बितत्वादि अनेक अवस्थाओं की ही सिद्धि होती है, जिसकी उपपत्ति व्यञ्जक ध्वनियों के भेद से भी हो सकती है।

तस्मात् गत्व जाति की कल्पना के द्वारा जो "अयं गकारः' अयमपि गकारः' इत्यादि आकारों की 'अभेद' प्रतीतियाँ प्रार्थनीय हैं, वे सभी गकार को एक ही व्यक्ति मानकर भी उपपन्न हो सकती हैं। एवं गकार व्यक्तियों को भिन्न मानने से भी 'अयं द्रुतो गकारः' अयं मध्यो गकारः' इत्यादि आकारों की जो 'भेद' प्रतीतियाँ प्रार्थनीय हैं, वे सभी 'नाद' प्रभृति विभिन्न व्यञ्जकों से हो उपपन्न होंगी। इनके लिये न अनेक गकारों की आवश्यकता है न एक गत्व सामान्य की ही आवश्यकता है॥ २६॥

कल्पयित्वापि तत्पश्चाद् विभुत्वैकत्वनित्यता।
प्रत्येकवृत्तिता चास्य भवेयुर्महतः श्रमात्॥ २७॥

प्रत्येक वर्ण में रहने वाली गत्वादि जातियों की कल्पना में 'गौरव' दोष भी है, क्योंकि जातिकल्पना के बाद उनमें से प्रत्येक जाति में (१) विभुत्व (२) एकत्व एवं (३) नित्यत्व इन तीनों धर्मों की कल्पना करली होगी। एवं गत्वादि प्रत्येक जाति में गकारादि व्यक्तिवृत्तित्व की कल्पना भी करनी होगी। इस प्रकार अनेक गकार व्यक्ति की कल्पना कर यदि उनमें रहने वाली गत्व जाति की कल्पना करते हैं तो इसमें कल्पनागौरव दोष भी है॥ २७॥

द्वयसिद्धस्तु वर्णात्मा नित्यत्वादि यथैव च।
कल्पितस्येष्यते तद्वत् सिद्धस्यैवाभ्युपेयताम्॥ २८॥

हम (मीमांसक) लोगों के मत में उक्त गौरव की अपेक्षा इस कल्पना में लाघव भी है, क्योंकि गकार वर्ण की कल्पना उभयमतसिद्ध है। उस वर्ण में ही नित्यत्व, एकत्व, विभुत्व प्रभृति धर्मों की कल्पना करनी पड़ती है। फलतः गत्व जाति स्वरूप धर्मी की कल्पना एवं उसमें विभुत्वादि धर्मों की कल्पना के पक्ष में जाति स्वरूप धर्मी की कल्पना अधिक है॥ २८॥

प्रत्येकसमवाये च क्लेशो नैव भविष्यति।
व्यञ्जनेषु च धीभेदो नैव तादृक् प्रतीयते॥ २९॥

प्रत्येकसमवाये च····भविष्यति

एवं इस पक्ष में गत्वादि जातियों का गकारादि प्रत्येक वर्णवृत्तित्व का 'श्रम' भी स्वीकार करना पड़ता है जो, 'श्रम' एक ही गकारादि वर्णों की कल्पना के पक्ष में नहीं करनी पड़ती है।

व्यञ्जनेषु च···प्रतीयते

द्रुतत्वादिमूलक जिन विभिन्न प्रतीतियों की चर्चा की गयी है, वे भी स्वर वर्णों में ही देखी जाती हैं। व्यञ्जन वर्णों में वस्तुतः द्रुतत्व ही केवल है। अतः व्यञ्जन वर्णों में केवल द्रुतत्व की प्रतीति ही वास्तविक है॥ २९॥

दृश्यतेऽजनुरागेण भेदो यो नाम तत्र नः।
विवेकोऽस्त्येव न ह्येष केवलानां प्रतीयते॥ ३०॥

व्यञ्जन वर्णों में जो द्रुतत्व मध्यत्वादि विभिन्न धर्मों की प्रतीतियाँ होती हैं, उनमें हम लोग यह विभाग करते हैं कि व्यञ्जन वर्णों में प्रतीतियों की यह विभिन्नता स्वर वर्णों के सम्बन्ध से ही होती है। केवल व्यञ्जन वर्णों में विभिन्नता की यह प्रतीति वास्तविक नहीं है ॥ ३० ॥

अक्ष्वप्येवं परोपाधिर्द्रुतादिप्रत्ययो यथा।
वर्णाऽऽश्रितत्वाद् वर्णत्वव्यञ्जनप्रत्ययो यथा ॥ ३१ ॥

कथित रीति से उक्त व्यञ्जन प्रत्ययों में द्रुतत्वादि प्रत्ययों के दृष्टान्त से ही 'अच्' वर्णों में द्रुतत्वादिप्रतीतियों को भी परोपाधिमूलकत्व अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। "अक्ष्वपि द्रुतत्वादिप्रत्ययः परोपाधिजन्यः वर्णाश्रितत्वात् वर्णत्व-प्रत्ययवत् व्यञ्जनप्रत्ययवद्वा" ॥ ३१ ॥

गकारोऽत्यन्तनिष्कृष्टगत्वाधारो न गम्यते।
गान्यबुद्ध्यनिरूप्यत्वात् परैः कल्पितगत्ववत् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार गत्व परमतसिद्ध (अवास्तविक) गत्व का आधार नहीं होता है, क्योंकि वह (गत्व) गकार से अन्य स्तम्भादिविषयक प्रत्ययों के द्वारा निरूपित नहीं हो सकता उसी प्रकार गवर्ण भी उक्त गत्व जाति का आधार नहीं है, क्योंकि वह भी गकार से अन्य स्तम्भादिविषयक प्रत्यय के द्वारा निरूपित नहीं हो सकता।

(अत्यन्तनिकृष्टः गकारः गत्वाधारो न भवति गान्यस्तम्भादिबुद्ध्यनिरूप्यत्वात् परकल्पितगत्ववत्) ॥ ३२ ॥

अवस्तुत्वेन साध्यत्वान्निषेधाद्धेतुसाध्ययोः।
सपक्षेऽन्यतरासिद्धिर्न बोधायात्र जायते ॥ ३३ ॥

मीमांसकगण 'गत्व' जाति नहीं मानते। किन्तु दृष्टान्त को उभयमतसिद्ध होना आवश्यक है। अतः केवल स्वमत से सिद्ध गत्व को दृष्टान्त रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। अतः उक्त अनुमान का दृष्टान्त अन्यतरासिद्धि दोष से ग्रसित है। इस आक्षेप का यह समाधान है—

प्रकृत अनुमान के साध्य और हेतु दोनों नञ्घटित हैं। अतः अवस्तुभूत गत्व रूप दृष्टान्त में गत्वाधारत्व और 'अन्यबुद्ध्यनिरूप्यत्व' इन दोनों की अविद्यमानता दिखानी है। जिस प्रकार अविद्यमान शशविषाणादि में तीक्ष्णता की अविद्य-मानता दीखलायी जा सकती है, उसी प्रकार प्रकृत में अवस्तुभूत गत्व स्वरूप दृष्टान्त में भी 'गत्वाधारत्व' एवं 'अन्यबुद्ध्यनिरूप्यत्व दोनों' की अविद्यमानता दिखलायी जा सकती है। अतः प्रकृत अनुमान का दृष्टान्त 'अन्यतरासिद्ध' नहीं है ॥ ३३ ॥

वर्णत्वाच्चापि साध्योऽयं यकारादिवदेव च।
व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्नात्र दृष्टं निवर्तकम् ॥ ३४ ॥

अथवा उक्तपक्षक उक्तसाध्यक अनुमान में ही कथित हेतु के स्थान में वर्णत्व को हेतु रूप में एवं 'य'कारादि वर्णों को दृष्टान्त रूप में उपस्थित कर 'अत्यन्तनिष्कृष्टो

गकारः गत्वाधारो न भवति वर्णत्वात् 'घ'कारादिवर्णवत्' इस आकार का अनुमान भी हो सकता है।

व्यतिरेकस्य ''दृष्टं निवर्त्तकम्

(यह अनुमान तो उसी प्रकार दृष्टविरुद्ध है जिस प्रकार गोत्वाभाव का अनुमान। अर्थात् जिस प्रकार 'अयं गौः गोत्वाधारो न भवति एकाकारानुभवात् घटत्ववत्' यह अनुमान दृष्टविरुद्ध है उसी प्रकार उक्त अनुमान भी दृष्ट विरुद्ध है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

गकारमात्र की प्रतीति होती है, उससे भिन्न गत्व सामान्य का बोध नहीं होता है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है। (देखिये श्लो० २१–२३ का सन्दर्भ) ॥ ३४ ॥

> **गोत्वादिवारणे त्वेव दृष्टबाधः स्फुटो भवेत्।**
> **नान्यथा हि मतिस्तत्र स्यात् सामान्यविशेषयोः ॥ ३५ ॥**

गोत्वादिवारणे ''स्फुटो भवेत्

यदि शाबलेयादि गो व्यक्तियों में उक्त रीति से गोत्वाभाव का अनुमान किया जाय तो स्पष्ट ही उक्त 'दृष्टविरोध' दोष हो सकता है।

नान्यथा ''सामान्यविशेषयोः

क्योंकि गोत्व जाति के बिना अनेक विभिन्न गो व्यक्तियों में 'अयं गौः' इस आकार की एकाकारक बुद्धि (अनुवृत्तिप्रत्यय) नहीं हो सकती। एवं शाबलेय बाहुलेयादि अनेक गो व्यक्तियों की सत्ता माने बिना 'अयं शाबलेयो गौः' एवं 'अयं बाहुलेयो गौः' इन विशेष बुद्धियों की भी उपपत्ति नहीं होगी ॥ ३५ ॥

> **न चाप्यत्रैकवस्तुत्वे भेदो व्यञ्जकभेदतः।**
> **न पिण्डव्यतिरेकेण व्यञ्जकोऽत्र च नियंता ॥ ३६ ॥**

न चाप्यत्रैक''''व्यञ्जकभेदतः

(इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक ही 'ग'कार व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करने पर भी 'अयं गकारः, अयमपि गकारः' इस आकार की 'सामान्य' बुद्धि को स्वीकार करते हैं, एवं 'अयं गकारः गोशब्दघटकः' एवं 'अयं च गकारः गोपालशब्दघटकः' इस प्रकार की अनेकत्व की (भेद की) बुद्धि भी मानी गयी है, इसके लिये गत्व जाति की कल्पना आवश्यक नहीं होती उसी प्रकार गोत्व जाति को माने बिना भी गोविषयक कथित सामान्य बुद्धि की एवं अनेक गोविषयक उक्त विशेषबुद्धि की उपपत्ति व्यञ्जकभेद से ही हो सकती है। इसके लिये भी गोत्व-जाति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

प्रकृत में एक ही गो व्यक्ति को मानकर व्यञ्जकभेद से विभिन्न गोविषयक बुद्धियों की उपपत्ति नहीं हो सकती।

न पिण्डव्यतिरेकेण ''' ध्वनिर्यथा

क्योंकि जिस प्रकार 'ग'कार स्थल में 'ध्वनि' स्वरूप विभिन्न व्यञ्जक हैं, इसी लिए एक ही गकार के रहते विभिन्न गकारविषयक विभिन्न प्रतीतियों की उपपत्ति होती है उस प्रकार गोत्वजाति के विभिन्न व्यञ्जक नहीं हैं, किन्तु गो पिण्डस्वरूप व्यक्ति को छोड़कर दूसरा कोई व्यञ्जक नहीं है जिससे उक्त गोविषयक विभिन्न ज्ञान की उपपत्ति हो सके ॥ ३६ ॥

पिण्डव्यङ्ग्यैव गोत्वादिर्जातिर्नित्यं प्रतीयते ।
तेन भिन्नेषु पिण्डेषु जातिरेका प्रतीयते ॥ ३७ ॥

पिण्डव्यङ्ग्यैव ''' नित्यं प्रतीयते

गोपिण्डस्वरूप व्यक्तियाँ ही केवल गोत्वजाति की व्यञ्जिका हैं। ध्वन्यादि के समान उसका कोई अन्य व्यञ्जक नहीं है। इसलिये सर्वदा गोत्वादि जातियों की प्रतीति व्यक्ति स्वरूप व्यञ्जकों के साहाय्य से ही होती है।

तेन ''' एका प्रतीयते

अतः विभिन्न व्यक्तियों में एक गोत्व जाति की ही प्रतीति होती है ॥ ३७ ॥

ननु यस्य द्वयं श्रोत्रं तस्य बुद्धिद्वयं भवेत् ।
भवतोऽतीन्द्रियत्वात् तु कथं नादैर्विशेषधीः ॥ ३८ ॥

प्रकृत में विचार उपस्थित है कि मीमांसक गकारादि वर्णों की अनेकता को स्वीकार नहीं करते। अतः गत्वादि जातियों को भी अस्वीकार करते हैं। किन्तु गकारादि प्रत्येक वर्ण में 'ये सभी गकार हैं' इस आकार की अनुवृत्ति प्रतीति एवं 'यह गकार उस गकार से भिन्न है' इस आकार की व्यावृत्ति प्रतीति इन दोनों को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु कथित अनुवृत्ति प्रत्यय को जातिमूलक न मानकर व्यक्ति के एकत्वमूलक ही मानते हैं एवं उक्त व्यावृत्ति प्रत्यय को 'नाद' अथवा 'ध्वनि' स्वरूप व्यञ्जकों की विभिन्नता से स्वीकार करते हैं। वह 'ध्वनि' अथवा 'नाद' वायु का गुण है, एवं वर्णात्मक शब्द आकाश का गुण है।

गोत्वजाति और अनेक गोव्यक्तियों की स्थिति सर्वथा भिन्न है, क्योंकि इस प्रकार के स्थलों में अनुवृत्ति प्रत्यय जातिमूलक और व्यावृत्ति प्रत्यय व्यक्त्यनेकत्व-मूलक है। ऐसी स्थिति में जो गकारादि प्रत्येक वर्ण को अनेक एवं गत्वादि जातियों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे मीमांसकों से पूछ सकते हैं कि—

वैशेषिकादि के मतों में 'ग' व्यक्ति और 'गत्व' जाति दोनों का ही श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, अत एव दोनों 'श्रौत्र' हैं अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य हैं। उन लोगों के मत से कथित 'बुद्धिद्वय' अर्थात् गकार की कथित अनुवृत्ति प्रत्यय और व्यावृत्ति प्रत्यय स्वरूप दोनों बुद्धियाँ हो सकती हैं। आप (मीमांसकों) के मत से 'नाद' अतीन्द्रिय है, अतः अश्रौत्र व्यञ्जक के द्वारा 'विशेषधी' अर्थात् गकारविषयक व्यावृत्ति बुद्धि की उपपत्ति कैसे होगी ? ॥ ३८ ॥

नादेन संस्कृताच्छ्रोत्राद् यदा शब्दः प्रतीयते ।
तदुपश्लेषतस्तस्य बोधं केचित् प्रचक्षते ॥ ३९ ॥

इस प्रश्न का समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि 'नाद' से युक्त वायु का कर्ण में प्रवेश होने पर श्रोत्र में एक 'संस्कार' उत्पन्न होता है अथवा यह कहिये कि उक्त वायु का कर्ण में प्रवेश ही उसका संस्कार है (नाद का श्रोत्र में संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है)। संस्कार से युक्त (संस्कृत) इस श्रोत्र के द्वारा (१) कभी वर्णरहित केवल 'नाद' का ग्रहण होता है, जैसे कि शंख के घोष का ग्रहण होता है। (२) कभी वही नाद गकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति करता हुआ स्वयं भी उन वर्णों के साथ (तदुपश्लिष्ट) ही प्रतीत होता है। जैसे प्रभा का रूप कभी घटादि को अभिव्यक्त करता हुआ उन्हीं के साथ प्रतीत होता है और कभी स्वतन्त्र रूप से भी प्रतीत होता है। वर्णों का उच्चारण करने पर भी ध्वनि की उपलब्धि दूर के वर्णों की अनुपलब्धि और ध्वनि की उपलब्धि से सिद्ध है। अतः 'ग' कार के एक होने पर भी एवं गत्व जाति के न मानने पर भी 'बुद्धिद्वय' की अर्थात् गकारादि विषयक 'सामान्य' बुद्धि (अनुवृत्ति प्रत्यय) और विशेष बुद्धि (व्यावृत्ति प्रत्यय) इन दोनों बुद्धियों की उपपत्ति हो सकती है ॥ ३९ ॥[1]

नैव वा ग्रहणं तेषां शब्दे बुद्धिस्तु तद्वशात् ।
संस्कारानुकृतेः सोऽपि महत्त्वाद्यवबुध्यते ॥ ४० ॥

नैव वा ग्रहणम्.....तद्वशात्

अथवा ध्वनि अथवा नाद चूँकि अतीन्द्रिय है, अतः उसका ग्रहण नहीं होता है। किन्तु उससे वर्णात्मक शब्दों का ज्ञान होता है। अर्थात् नाद अथवा ध्वनि वर्णों के व्यञ्जक मात्र हैं, किसी से व्यंग्य नहीं हैं।

संस्कारानुकृतेः....अवबुध्यते

इस ध्वनि के व्यंग्यत्व स्वरूप 'संस्कार' के कारण ही ध्वनिगत द्रुतत्व विलम्बितत्वादि की अनुकृति से ही वर्णात्मक शब्दों में द्रुतत्वादि का बोध होता है। जैसे वैशेषिक लोगों के मत से शब्द में महत्त्व अल्पत्वादि गुणों के न रहने पर भी ध्वनिगत संस्कार के अनुसार वे गृहीत होते हैं। फलतः नाद स्वरूप व्यञ्जक में जो द्रुतत्व विलम्बितत्वादि धर्म हैं उन्हीं का भ्रमवश तद्व्यंग्य गकारादि वर्णों में आरोप किया जाता है ॥ ४० ॥

---

१. प्रकृत सन्दर्भ को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिये कि 'नाद' वायु स्वरूप अथवा वायु के संयोग स्वरूप कि वा वायु के विभाग स्वरूप नहीं है, किन्तु विशेष शब्द ही नाद है, जो वायु का गुण है। वायु के गुणभूत इस विशेष प्रकार के शब्द को ही 'नाद' अथवा 'ध्वनि' कहते हैं। इस दृष्टि से शब्द दो प्रकार का है (१) वर्ण स्वरूप (२) एवं 'नाद' अथवा 'ध्वनि' स्वरूप। शब्दत्व जाति इन दोनों ही प्रकार के शब्दों में है। वर्णत्व और ध्वनित्व ये दोनों शब्दत्व की व्याप्य जातियाँ हैं। 'ग' कार 'प' कारादि हैं वर्णात्मक शब्द एवं शंखघोषादि हैं ध्वन्यात्मक अथवा नादात्मक शब्द।

मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया तथा।
गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषयं भ्रान्तचेतसः ॥ ४१ ॥

तथा वेगेन धावन्तो नाव्यारूढाश्च गच्छतः।
पर्वतादीन् विजानन्ति भ्रमेण भ्रमतश्च तान् ॥ ४२ ॥

मण्डूकवसयाक्ताक्षा वंशानुरगबुद्धिभिः।
व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वाभ्यां सामान्यं च तदाश्रयम् ॥ ४३ ॥

गृह्णन्ति यद्वदेतानि निमित्तग्रहणाद् विना।
व्यञ्जकस्थमबुध्वैव व्यङ्ग्ये भ्रान्तिर्भविष्यति ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार पित्त दोष से भ्रान्त चित्त वाले पुरुष को गुणादि में कभी ज्ञात न होने वाली तिक्तता का भान होता है, किं वा श्वेत कमलादि में कभी ज्ञात न होने वाली पीतिमा का भान होता है अथवा वेग से दौड़ते हुए पुरुष को अथवा नाव पर चलते हुए मानव को भ्रमवश पर्वतादि स्थिर पदार्थ भी चलते हुए दीख पड़ते हैं एवं मण्डूकवसाञ्जन से अञ्जित चक्षुवाले पुरुष को बाँस के गाछ में साँप की बुद्धि होती है उसी प्रकार ध्वनि अथवा नाद स्वरूप व्यञ्जक में ज्ञात न होने पर भी ध्वनि से व्यञ्जित होने वाले गकारादि वर्णों में द्रुतत्व विलम्बितत्वादि की भ्रान्ति हो सकती है ॥ ४१–४४ ॥

वर्णान्तरत्वमेवाहुः केचिद् दीर्घप्लुतादिषु।
न हि द्रुतादिवत् तत्र प्रयोगो नान्तरीयकः ॥ ४५ ॥

[1]कोई कहते हैं कि ह्रस्व 'अ' एवं दीर्घ 'अ' (आ) एवं प्लुत 'अ' ये तीनों ही विभिन्न तीन स्वतन्त्र स्वर वर्ण हैं, क्योंकि 'ग' कारादि व्यञ्जन वर्णों में जिस प्रकार द्रुतत्वादि प्रत्ययों को भ्रान्ति स्वरूप मान लेते हैं, उसी प्रकार 'अ' कार 'आ' कारादि स्वरवर्णों में दीर्घत्वादि प्रत्ययों को भ्रान्ति स्वरूप मानना संभव नहीं है, क्योंकि आकारादिगत दीर्घत्वादि बुद्धियाँ विभिन्न विषय के अर्थबोध के कारण हैं। ऐसा नहीं मानने पर 'अगमन' शब्द और 'आगमन' शब्द इन दोनों से होने वाली विभिन्न प्रतीतियों में से किसी को उसी प्रकार भ्रान्ति स्वरूप मानना होगा, जैसे कि बाष्प-ज्ञानजनित वह्निज्ञान को भ्रान्ति स्वरूप मानना पड़ता है। अकारादि स्वरवर्णों में ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि की प्रतीतियाँ वास्तविक ही हैं। फलतः ह्रस्व 'अ' कार एवं दीर्घ 'अकार' और प्लुत अकार ये तीनों ही स्वतन्त्र तीन प्रकार के 'अ' वर्ण हैं ॥४५॥

---

१. गकारादि पकारादि व्यञ्जन वर्णों में संभावित गत्व पत्वादि जातियों के निराकरण से यह धारणा हो सकती है कि अकारादि स्वरवर्णों में रहने वाली 'अत्व, इत्व' प्रभृति जातियाँ भी नहीं हैं। किन्तु अत्वादि स्वरवर्णगत जातियों को स्वीकार करना आवश्यक है। यह दिखलाने के लिए ही अत्वादि स्वरवर्णगत जातियों की सत्ता प्रदर्शित की गयी है।

तथा च सति सामान्यं त्रिष्वत्वं कैश्चिदिष्यते।
सामान्यकल्पना त्वन्यैर्न युक्तेत्यभिधीयते ॥ ४६ ॥

तथा च सति…इष्यते

किसी सम्प्रदाय के लोग तीनों ही प्रकार के अकारों में एक ही 'अत्व' जाति की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

सामान्यकल्पना…अभिधीयते

किसी दूसरे सम्प्रदाय के लोग ह्रस्व दीर्घादि अनेक 'अ' कारों की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उनमें 'अत्व' नाम को किसी जाति को स्वीकार नहीं करते ॥ ४६ ॥

अत्वमित्युच्यमानं हि न दीर्घप्लुतयोर्भवेत्।
आत्वं न ह्रस्वप्लुतयोस्त्रैमात्र्यं न च पूर्वयोः ॥ ४७ ॥
सर्वसाधारणत्वेन तद् विज्ञातुं न शक्यते।
प्रत्येकं शाबलेयादिरूपे गोत्वं यथा स्फुटम् ॥ ४८ ॥

अत्वमित्युच्यमानं हि…पूर्वयोः

(जिस प्रकार गोत्व नाम का सामान्य शाबलेयादि अनेक गो व्यक्तियों में रहता है, उसी प्रकार की स्थिति प्रकृत में नहीं है, क्योंकि—)

यदि प्रकृत में 'अत्व' को जाति मानेंगे तो वह दीर्घ 'अ' अर्थात् 'आ' कार और प्लुत त्रैमात्रिक 'अ' कार में नहीं रहेगी। यदि 'आत्व' को जाति मानेंगे तो वह ह्रस्व अकार और प्लुत अकार इन दोनों में नहीं रहेगी। यदि 'त्रैमात्र्य' अर्थात् प्लुतत्व को जाति मानेंगे तो वह ह्रस्व अकार और दीर्घ अकार में नहीं रहेगी। इस प्रकार अत्वादि प्रत्येक केवल एकमात्रवृत्ति होने के कारण जाति नहीं हो सकता।

सर्वसाधारणत्वेन…यथा स्फुटम्

जिस प्रकार शाबलेयादि व्यक्तियों में प्रत्येकशः गोत्व की स्फुट प्रतीति होती है, उसी प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सभी अकारादि स्वरवर्णों में अत्वादि किसी धर्म की प्रतीति नहीं होती है। अतः अकारों में रहने वाली कोई 'अत्व' नाम की जाति नहीं है ॥ ४८ ॥

अवर्णकुलशब्दोऽपि स्थानसाम्याद् वनादिवत्।
समुदायार्थवाचीति न जातिवचनो भवेत् ॥ ४९ ॥

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सभी प्रकार के अकारों में 'ये सभी अकारकुल के हैं' इस एकाकारता की प्रतीति होती है, इसका हेतु स्थान प्रयत्नादि की एकता से उत्पन्न 'अकार' समुदाय है। अर्थात् 'अकारकुल' शब्द 'अकारों के समूह' का वाचक है, अत्व-जातीय सभी व्यक्तियों का बोधक नहीं है। जैसे कि एक स्थान के अनेक वृक्षों में 'वन' शब्द के प्रयोग से वनत्वजातीय वृक्ष व्यक्तियों का बोध नहीं होता है, किन्तु

एकदेशस्थित वृक्ष समुदाय का ही बोध होता है। तस्मात् 'अकारकुल' शब्द अकार-समुदाय का वाचक है, अत्वजातीय व्यक्तियों का नहीं। 'कुल' शब्द का 'समुदाय' अर्थ में प्रयोग 'ब्राह्मणकुलम्' इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि ह्रस्वादि अनेक अकार व्यक्ति तो हैं, किन्तु सभी व्यक्तियों में रहने वाला को 'अत्व' नाम का सामान्य नही है ॥ ४९ ॥

स्वतो ह्रस्वादिभेदस्तु नित्यवादे विरुध्यते ।

सर्वदा यस्य सद्भावः स कथं मात्रिकं स्वयम् ॥ ५० ॥

अकारादि वर्णों के ह्रस्वादि भेद मीमांसकों के 'वर्णनित्यत्व'वाद के विरुद्ध हैं, क्योंकि जो स्वयं सर्वदा विद्यमान है, वह 'मात्रिक' कैसे होगा ? ॥ ५० ॥

तस्मादुच्चारणं तस्य मात्राकालं प्रतीयते ।

द्विमात्रं वा त्रिमात्रं वा न वर्णो मात्रिकः स्वयम् ॥५१॥

अकारादि वर्णों में जो मात्रिकत्व की प्रतीति होती है, वह उनके उच्चारण काल की ही प्रतीति है। अतः उच्चारण ही 'द्विमात्रिक' अथवा 'त्रिमात्रिक' होता है। वर्ण स्वयं द्विमात्रिक अथवा त्रिमात्रिक नहीं हैं। वर्णों में उच्चारणगत द्विमात्रि-कत्व या त्रिमात्रिकत्व का ही भ्रम होता है ॥ ५१ ॥

दीर्घादिर्नन्वनङ्गत्वं वाचकाधर्मतो भवेत् ।

इत्थं प्रतीयमानाः स्युर्वर्णा न प्रतिपादकाः ॥ ५२ ॥

यादृशात् पूर्वदृष्टोऽसावर्थो गम्येत तादृशात् ।

भ्रान्त्या कथं प्रतीतिश्चेन्नासावर्थमिति प्रति ॥ ५३ ॥

(पूर्वपक्ष) दीर्घत्वादि अकारादि वर्णों के वास्तविक धर्म ही हैं, द्रुतत्वादि की तरह समारोपित धर्म नहीं हैं। यदि उन्हें काल्पनिक मानेंगे तो 'अगमन, आगमनादि' स्थलों में जो दीर्घत्वादिप्रयुक्त विशेष अर्थ की वाचकता सिद्ध है, वह अनुपपन्न हो जायगी। इस प्रकार काल्पनिक दीर्घत्वादि विशेष अर्थ की प्रतीति के अङ्ग न हो सकेंगे।

इत्थं प्रतीयमानाः''तादृशात्

(समाधान) उच्चारण में रहने वाले मात्रिकत्वादि धर्म अकारादि वर्णों में भ्रान्ति के द्वारा गृहीत होकर ही विशेषार्थप्रतीति के अङ्ग हैं, क्योंकि पूर्व में वृद्ध-व्यवहार के द्वारा जिस प्रकार से शब्द में अर्थ की वाचकता गृहीत रहती है, उसी प्रकार के शब्द विशेष से अर्थ विशेष की प्रतीति होती है। फलतः अकारादिगत दीर्घत्वादि में अर्थविशेषप्रतीति की अङ्गता के लिए अकारादि वर्णों में उनका भ्रम-प्रमासाधारण ज्ञानमात्र अपेक्षित है, अकारादि वर्णों में उनकी सत्ता अपेक्षित नहीं है।

भ्रान्त्या कथं प्रतीतिश्चेत्

(पूर्वपक्ष) भ्रान्ति स्वरूप ज्ञान से अर्थ की प्रमात्मक प्रतीति कैसे होगी ? अर्थात् दीर्घत्वेन ज्ञायमान 'आ'वर्णघटित आगमनादि शब्दों से आगमनादि स्वरूप अर्थ विशेष की प्रमात्मक प्रतीति कैसे होगी ?

नासावर्थमिति प्रति

(सिद्धान्तपक्ष) अकारादि वर्णों में दीर्घत्वादि यद्यपि कल्पित ही हैं, किन्तु अकारादिधर्मिक दीर्घत्वादि का जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह भ्रान्ति स्वरूप न होकर प्रमा रूप ही होगा। 'असौ' अर्थात् अकारादिधर्मिक दीर्घत्वादिप्रकारक ज्ञानगत 'भ्रमत्व' अर्थमिति पर्यन्त (अर्थात् दीर्घत्वेन ज्ञायमान अकारादि जन्य अर्थविषयक ज्ञान पर्यन्त) संक्रमित नहीं होता। जैसे कि स्फटिकधर्मिक आरुण्य के आरोप (भ्रम) से उत्पन्न स्फटिकधर्मिक जपाकुसुम के सांनिध्य का ज्ञान प्रमा रूप ही होता है॥ ५३॥[1]

यथाश्वादिजवः पुंसां कार्याङ्गत्वं प्रकल्पयेत्।
परधर्मोऽपि वर्णानां ध्वनिधर्मास्तथैव नः॥ ५४॥

यह आक्षेप भी नहीं किया जा सकता कि ध्वनिगत मात्रिकत्व धर्म शब्द से अर्थप्रतीति का अङ्ग कैसे होगा ? क्योंकि जिस प्रकार अश्वादि वाहनों की शीघ्र चलने की क्षमता देवदत्तादि की शीघ्र देशान्तरप्राप्ति का साधन होती है, उसी प्रकार शब्द से भिन्न ध्वनिगत दीर्घत्वादि धर्म भी शब्दजनित अर्थ विशेषप्रतीति का अङ्ग हो सकता है॥ ५४॥

ननु दीर्घाद्यनित्यत्वादनित्यो वाचको भवेत्।
आनुपूर्वीवदेवास्य परिहारो भविष्यति॥ ५५॥

१. यद्यपि वाष्प में धूम की भ्रांति से उत्पन्न वह्निविषयक अनुमिति भ्रान्ति स्वरूप ही होती है, किन्तु अकारादिविशेष्यक ज्ञान से आगमनादिविषयक ज्ञान किं वा स्फटिक में कल्पित आरुण्य के ज्ञान से (भ्रम से) उत्पन्न जपाकुसुमसांनिध्य का ज्ञान भ्रम स्वरूप नहीं होता, क्योंकि धूमत्व स्वरूप धूमनिष्ठ वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान ही वह्नि की अनुमिति का कारण है। अतः वाष्प में धूम के ज्ञान से उत्पन्न अनुमिति प्रमा स्वरूप न होकर भ्रम स्वरूप ही होती है। किन्तु आगमनविषयक प्रमिति में जिस किसी प्रकार से वाचकता का ज्ञान ही कारण है, एवं कथित जपाकुसुम के सांनिध्य की अनुमिति प्रमा के प्रति स्फटिक में आरुण्य के जिस किसी प्रकार का ज्ञान ही कारण है। अतः स्फटिक में ज्ञायमान आरुण्य से स्फटिक में जपाकुसुम के सांनिध्य की अनुमिति प्रमा स्वरूप ही उत्पन्न होती है। कहने का तात्पर्य है कि फलीभूत ज्ञान में प्रमात्व का प्रयोजक साधनीभूत ज्ञानगत प्रमात्व नहीं है, किन्तु स्वगत तद्वति तत्प्रकारकत्व ही है।

एवं ह्रस्व अकार एवं दीर्घ अकार दोनों में ही 'यह अकार ही है' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है, ह्रस्व दीर्घादि भेद से अकार भिन्न नहीं हैं, किन्तु एक ही है। अन्तर इतना ही है कि जो प्रयत्न ह्रस्व स्वरवर्ण के उच्चारण के लिये किया जाता है, वही यदि निरन्तर कुछ क्षणों तक बिना विराम के किया जाता है, तो उसी प्रयत्न से दीर्घत्व अथवा प्लुतत्व की अभिव्यक्ति होती है। ह्रस्व दीर्घादि सभी स्वर वर्णों की यह एकता भले ही साधारणजन न समझ पायें किन्तु विवेकी विद्वान् इस सूक्ष्म एकता की परख रखते हैं।

ननु ··· वाचको भवेत्

(पूर्वपक्ष) दीर्घत्वादि धर्म यदि अनित्य (अनियत) हों तो फिर अकारादि घटित शब्दों में तत्प्रयुक्त वाचकता स्वरूप सम्बन्ध भी अनित्य हो जायगा। किन्तु अर्थ के साथ शब्द के वाचकत्व सम्बन्ध को मीमांसकगण नित्य मानते हैं। अतः दीर्घत्वादि धर्मों की अनित्यता मीमांसकों के सिद्धान्त से विरुद्ध है।

आनुपूर्वीवत् ··· परिहारो भविष्यति

(सि० प०) जिस प्रकार प्रत्येक आनुपूर्वी के अनित्य होने पर भी उसी प्रकार की दूसरी आनुपूर्वी की सर्वदा उपलब्धि से आनुपूर्वी में भी अन्ततः 'प्रवाहनित्यता' स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार की नित्यता मीमांसकगण दीर्घत्वादि धर्मों में भी स्वीकार करते हैं।। ५५ ।।

तथोदात्तादिभेदानां संस्कारवशगा मतिः।
तेषां दीर्घादिवद् भेदो न कदाचित् प्रतीयते ।। ५६ ।।

इसी प्रकार उदात्तत्व और स्वरितत्व भी दीर्घत्वादि के समान ही वर्णों के धर्म नहीं हैं, किन्तु ध्वनियों के ही धर्म हैं। भले ही उनसे विशेष अर्थों की प्रतीति होती हो।

तेषां ··· प्रतीयते

दीर्घादि वर्णों में कदाचित् भेद की प्रतीति संभव भी है, किन्तु उदात्तादि भेदों से वर्णों के भेद की तो शङ्का भी नहीं की जा सकती ।। ५६ ।।

तत्रैकवर्णरूपत्वे भेदोऽपि स्याद् द्रुतादिवत्।
नात्र वर्णान्तरव्यक्तिरिव ध्वन्यन्तरोद्भवः ।। ५७ ।।

तत्रैकवर्णरूपत्वे....द्रुतादिवत्

उदात्तत्व, अनुदात्तत्वादि विभिन्न प्रतीतियों की उपपत्ति वर्ण को एक मान कर उसी प्रकार हो सकती है, जिस प्रकार एक ही वर्ण में द्रुतत्व विलम्बितत्वादि अनेक धर्मों की प्रतीति संभव है।

नात्र वर्णान्तरव्यक्तिः ··· ध्वन्यन्तरोद्भवः

प्रश्न = द्रुतवर्ण अथवा विलम्बित वर्ण अथवा ह्रस्ववर्ण अथवा दीर्घवर्ण किंवा उदात्तवर्ण एवं अनुदात्तवर्ण इनमें भेद की प्रतीति की उपपत्ति के लिए यदि वर्णों में भेद को स्वीकार नहीं करेंगे तो अकारादि विभिन्न ध्वनियों की कल्पना करनी होगी, फिर वर्णों में ही यदि भेद मान लें तो इसमें कौन सी अपत्ति है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

एक ही वर्ण में द्रुतत्वादि की विभिन्न प्रतीतियों के लिए जिस प्रकार (वर्णभेद पक्ष में) विभिन्न वर्णों की अभिव्यक्ति आवश्यक है, उसी प्रकार इस पक्ष में (ध्वनिभेद पक्ष में) एक ही वर्ण में अनेक ध्वनियों की अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं है। अर्थात् एकजातीय वर्णों की ध्वनियाँ एकजातीय ही होती हैं, उन एकजातीय

ध्वनियों में ही मृदुत्व तीव्रत्वादि अवान्तर जातियाँ रहती हैं, उसी से प्रतीतियों में मृदुत्व तीव्रत्वादिविषयकत्व की उपपत्ति होती है ॥ ५७ ॥

त एव मृदुतीव्रत्वशीघ्रत्वादिसमन्विताः ।
अभेदे चापि वर्णस्य ध्वनीनां द्विप्रकारता ॥ ५८ ॥
केचित् स्वरूपबोधार्थाः केचिद् बोधानुवर्तिनः ।
युगपत्क्रमरूपेण संस्कारोत्पादहेतवः ॥ ५९ ॥

अभेदे चापि····बोधानुवर्तिनः

दीर्घ ह्रस्वादि भेदों से अभिव्यक्त होने पर भी वर्ण यद्यपि एक ही रहता है, फिर भी ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं, (१) कुछ तो वर्णों के स्वरूपविषयक बोधमात्र में उपयोगी होतीं हैं, एवं (२) कुछ ध्वनियाँ विशिष्ट वर्णजनित विशिष्ट बोध पर्यन्त रहतीं हैं ।

युगपत्क्रमरूपेण···हेतवः

इनमें जितनी ध्वनियाँ एक ही समय श्रोत्र के साथ सम्बद्ध होती हैं वे (१) वर्ण स्वरूप बोधिका है एवं जितनी ध्वनियाँ क्रमशः श्रोत्र के साथ सम्बद्ध होती हैं, वे (२) 'बोधानुवर्तिनो' कहलातीं हैं ॥ ५८–५९ ॥

तत्र दीर्घादिबोधः स्यात् पूर्वेषां प्रचयो यदा ।
वर्णात्मैव हि कालेन तावता तैः प्रतीयते ॥ ६० ॥
युगपत्प्रचितैस्तैश्च स्यादुदात्तादिकल्पना ।
प्रचये त्वितरेषां स्याद् वृत्तिभेदो द्रुतादिकः ॥ ६१ ॥

तत्र दीर्घादिबोधः···प्रचयो यदा

इनमें वर्ण स्वरूप को उत्पन्न करने वाली जो ध्वनियाँ है, उनमें जब 'प्रचय' अर्थात् बाहुल्य होता है, तब 'दीर्घादि' अर्थात् दीर्घ और प्लुत का बोध होता है ।

वर्णात्मैव···प्रतीयते

वे ही ध्वनियाँ वर्ण में पर्यवसन्न होकर 'स्वात्मानुकारिणी' वर्णविषयक भ्रान्ति को उत्पन्न करने के कारण 'वर्णस्वरूपबोधार्था' कहलाती हैं ॥ ६० ॥

युगपत्प्रचितैः···कल्पना

वे ध्वनियाँ यद्यपि क्रमशः अनेक क्षणों में तब तक उत्पन्न होतीं रहतीं हैं, जब तक वर्ण की उपलब्धि नहीं हो जाती । किन्तु ध्वनियों की उत्पत्ति की प्रथमक्षण से लेकर वर्णोपलब्धि पर्यन्त के क्षणों के समूह स्वरूप काल को 'एक' अणु काल मानकर उनमें युगपत् संस्कार हेतु' का व्यवहार होता है । इस प्रकार युगपत् बाहुल्य को प्राप्त बहुत सी व्यञ्जक ध्वनियों से वर्ण 'उदात्त' कहलाता है । एवं युगपत्प्रचित वे ही 'बोधार्थ ध्वनियाँ' जब अल्प होती हैं तो वर्ण 'अनुदात्त' कहलाता है, एवं यदि वे अल्पतर होती है तो वर्ण 'स्वरित' कहलाता है ।

प्रचये त्वितरेषां स्यात्

इसी प्रकार 'बोधानुवर्त्तिनी' जो दूसरे प्रकार की ध्वनियाँ हैं जब 'अल्पतर' प्रचय को प्राप्त होती हैं तो वर्णों से द्रुतत्व की प्रतीति होती है। एवं जब अल्पत्व को प्राप्त होतीं हैं तो वर्ण 'मध्यम' कहलाती हैं। एवं जब वे ही ध्वनियाँ बाहुल्य को प्राप्त होती हैं तो विलम्बित कहलाती हैं। अर्थात् उदात्तादि भेद से अथवा द्रुत मध्यादि भेद से वर्ण भिन्न नहीं हैं॥ ६१॥

वर्णात्मन्यवबुद्धेऽपि तद्रूपामेव ते मतिम्।
शनैरुत्पादयन्तीति नान्यो वर्णः प्रतीयते॥ ६२॥

वर्णात्मन्यवबुद्धेऽपि""उत्पादयन्ति

(प्रश्न—बोध क्षणिक हैं, अतः ध्वनियों की अनुवृत्ति वर्णों की अभिव्यक्ति पर्यन्त नहीं रह सकती। फिर ध्वनियों को 'बोधानुवर्त्तिनी' कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

यह ठीक है कि ध्वनियाँ किसी एकवर्णविषयक बोधानुवर्त्तिनी नहीं हैं। किन्तु ह्रस्व रूप किं वा दीर्घ रूप वर्णात्मक ध्वनियाँ जब एकबार ज्ञात होती है तो फिर आगे धीरे-धीरे उसी प्रकार की बुद्धियों को उत्पन्न करने के कारण ध्वनियों को 'बोधानुवर्त्तिनी' कहा जाता है।

नान्यो वर्णः प्रतीयते

इस प्रकार वर्णों से भिन्न ध्वनियों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः स्वरगत 'अत्व' प्रभृति जातियाँ नहीं हैं॥ ६२॥

व्यक्त्याकृतिकृतो भेदो यद्यप्येकान्ततो भवेत्।
वर्णेषु जैमिनेः पक्षस्तथापि न विरुध्यते॥ ६३॥

(पूर्वपक्ष—"गकारादि वर्ण प्रत्येकशः एक एक ही है। अतः गत्वादि जातियाँ नहीं हैं" इस पक्ष का समर्थन आप मीमांसक गण प्रौढ़िवश अपने पक्ष में विशेष अनुराग के कारण ही करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त न्यायानुगत नहीं है। अतः उक्त पक्ष ठीक नहीं है। इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

गकारादि प्रत्येक वर्ण को यदि भिन्न-भिन्न ही मानें, एवं उन व्यक्तियों में अनुगत गत्वादि जातियों को स्वीकार भी कर लें, तथापि 'जैमिनि' के सिद्धान्त में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। अतः प्रत्येक वर्ण की अनेकता एवं तद्गत गत्वादि जातियों का खण्डन हम लोग 'स्वपक्षानुराग' वश नहीं करते। किन्तु यह पक्ष न्यायानुगत नहीं है, इस लिये उन मतों का खण्डन करते हैं॥ ६३॥

नित्यत्वयत्नः सर्वोऽपि गत्वादिषु भविष्यति।
गकारादिवचश्चैतत् तेष्वेव न विरोत्स्यते॥ ६४॥

क्योंकि गकारादि वर्णों को नित्य मानने के लिये जितने भी उपाय किये गये हैं, उन्हें गत्वजातिपरक मान लेंगे। एवं 'गकारवचन' को अर्थात् भाष्य में जो

'गकारौकारविसर्जनीयाः' यह सन्दर्भ है उसको भी गत्वजातिपरक ही मानें। अतः मीमांसकों के मत से गकारादि वर्णों को अनित्य एवं अनेक मानने से किं वा गत्वादि जातियों को स्वीकार करने से भी मीमांसकों को किसी 'विरोध' का सामना नहीं करना पड़ेगा ॥ ६४ ॥

विच्छिन्नयत्नव्यङ्ग्यैश्च नित्यैः सर्वगतैरपि।
व्यतिरिक्तपदारम्भो वर्णैर्नात्रोपपद्यते ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार गो शब्द गकार एवं औकार इन दोनों अवयवों से आरब्ध अवयवी भी नहीं है, क्योंकि एक ही समय (युगपत्) अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति होती है। यह यौगपद्य (एककालावस्थिति) दो तरह से प्रकृत में हो सकती है (१) अभिव्यक्ति के द्वारा एवं (२) सत्ता के द्वारा। वर्णों में प्रथम प्रकार का अभिव्यक्तिमूलक यौगपद्य संभव नहीं है, क्योकि विभिन्न वर्ण स्वरूप अवयव प्रयत्न एवं विभिन्न स्थानों के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण एक समय अभिव्यक्त नहीं हो सकते। अतः अभिव्यक्तिमूलक कथित प्रथम प्रकार का यौगपद्य प्रकृत में संभव नहीं है।

एवं सत्तामूलक द्वितीय प्रकार के यौगपद्य से सभी गो शब्दादि अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अवयव स्वरूप शब्द नित्य एवं विभु है। अतः सभी देशों में एवं सभी कालों में सभी वर्णों की सत्ता बनी रहती है। इसलिये शब्दों के सभी अवयव सभी शब्दावयवियों के उत्पादन में समर्थ हो जायगे। अतः विभिन्न शब्दावयवों से विभिन्न शब्दावयवियों की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ६५ ॥

अनारब्धे च गोशब्दे गोशब्दत्वं कथं भवेत्।
वर्णसामान्यवच्चापि न तत्कल्पनमर्हति ॥ ६६ ॥

जब 'गोशब्द' नाम का कोई शब्दावयवी ही नहीं है, तो फिर जिस प्रकार वर्णगत गत्व जाति नहीं है, उसी प्रकार 'गोशब्दत्व' नाम को भी कोई जाति नहीं है। यदि गोशब्द स्वरूप अवयवी को मान भी लें, तथापि 'गोशब्दत्व' नाम की जाति उसी प्रकार स्वीकार नहीं की जा सकती जिस प्रकार गकारादि वर्णों के स्वीकार करने पर भी गत्वादि जातियाँ स्वीकार नहीं की जाती ॥ ६६ ॥

वर्णात्मनामभेदाच्च सिद्धा सामान्यधीरपि।
समुदायोऽपि तेभ्योऽन्यो वारणीयोऽनया दिशा ॥ ६७ ॥
अभेदसमुदायस्तु तेषां धर्मो न दुष्यति।
तेषामस्ति हि सामर्थ्यमर्थप्रत्यायनं प्रति ॥ ६८ ॥

वर्णात्मनाम्""सामान्यधीरपि

(पूर्वपक्ष—यह ठीक है कि 'ग' वर्ण चूँकि एक है, अतः 'गत्व' नाम की किसी जाति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु गो शब्द उच्चारणभेद से भिन्न होने के कारण अनेक हैं, अतः उन विभिन्न गो शब्द व्यक्तियों में समानजातीयता की प्रतीति (अनुवृत्ति प्रत्यय) भी होती है जो 'गोशब्दत्व' नाम की जाति को माने बिना

संभव नहीं है। अतः वर्णगत गत्व जाति भले ही न रहे किन्तु 'गोशब्दत्व' स्वरूप जाति को स्वीकार करना ही होगा। इस पूर्वपक्ष का यह समधान है कि—)

आज उच्चरित गोशब्द में जो वर्ण क्रम है वही क्रम कल उच्चरित गोशब्द में भी था, क्योंकि इस अभेद और क्रम के सभी गोशब्दों में समानाकारक प्रतीति होती है। इसके लिये किसी 'गोशब्दत्व' नाम की किसी जाति की कल्पना अनावश्यक है।

समुदायोऽपि''अनया दिशा''''अभेदसमुदायस्तु''प्रत्यायनं प्रति

जिस युक्ति से वर्णों से गोशब्द का अवयविस्वरूपता निराकृत हुई है, उसी युक्ति से वर्ण से भिन्न वर्णसमुदाय स्वरूप गोशब्द का भी निराकरण करना चाहिये। अर्थात् गकार, औकार, विसर्जनीय प्रभृति वर्ण ही गोस्वरूप एक अर्थ का प्रतिपादक होने के नाते इस एकार्थविषयक बोधकजनकत्व रूप उपाधि के कारण 'समुदाय' कहलाते हैं। वर्णों से भिन्न (अर्थात् अनेकवर्ण स्वरूप) समुदायों से भिन्न कोई अतिरिक्त 'समुदाय' नहीं। अभिन्न वर्णों का एक समुदाय मान भी लें तथापि कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि अभिन्न वर्णों में एकार्थप्रतीतिजनकत्व रूप उपाधि है ही। अतः उनका एक समुदाय हो सकता है॥ ६७–६८॥

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ ६९॥

प्रश्न=फिर वर्णों में अर्थप्रत्यय की सामर्थ्य किस प्रकार की है? यदि वर्णों में 'स्वतः' अर्थप्रत्यय की शक्ति मानें तो सभी वर्णों से सभी अर्थों की प्रतीति माननी होगी, क्योंकि सभी समान रूप वर्ण हैं?

अन्य विकल्प ये भी हैं कि (१) कई वर्ण मिलकर किसी अर्थविषयक बोध को उत्पन्न करते हैं? (२) अथवा स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक वर्ण अर्थबोध के उत्पादन में समर्थ हैं? इनमें प्रथम पक्ष तो इसलिये संभव नहीं है कि क्रमशः उच्चारित होनेवाले वर्ण 'संहत' हो ही नहीं सकते। दूसरा पक्ष अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण से अर्थ की प्रतीति उपलब्ध नहीं होती है।

वर्णों से अर्थ की प्रतीति मानने में और भी तीन दोष होंगे—(१) न्यूनाधिक वर्णों से अर्थविषयक प्रतीति की आपत्ति (२) व्युत्क्रमबद्ध वर्णों से अर्थप्रतीति की आपत्ति एवं (३) अनेक पुरुषों से उच्चरित वर्णों से एक विशेष पदार्थ के बोध की आपत्ति।

इन सभी दोषों के समाधान में यह कहना है—

जितने जिस प्रकार के जिन वर्णों में जिस अर्थ की प्रतीति की सामर्थ्य वृद्ध-व्यवहारादि से ज्ञात है, उतने ही उसी प्रकार के वर्णों में उस अर्थ के बोध की सामर्थ्य स्वीकृत होती है। अर्थात् वर्णों में अर्थ की वाचकता वृद्धव्यवहार के अधीन है, हम लोगों की इच्छा के अधीन नहीं है। अतः यथास्थिति और यथादृष्टि के अनुसार वाचकता को स्वीकार कर लेने से कथित कोई अतिप्रसक्ति नहीं रहती है॥ ६९॥

तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति ।
साहित्यमेककर्त्रीविक्रमश्चापि विवक्षितः ॥ ७० ॥

केवल वर्ण अर्थप्रतीति के 'गौण' कारण हैं। (१) साहित्य (२) एककर्तृकत्व (३) अन्यूनानधिकत्व और (४) क्रमविशेष इन चार विशेषणों से युक्त वर्ण ही अर्थ-प्रतीति के मुख्य कारण हैं ॥ ७० ॥

कर्त्रेकत्वे निमित्ते च क्रमे सति नियामकम् ।
प्रयुञ्जानस्य यत् पूर्वं वृद्धेभ्यः क्रमदर्शनम् ॥ ७१ ॥

कोई भी वक्ता एक हो क्षण में अनेक वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकता, क्रमशः ही अनेक वर्णों का उच्चारण कर सकता है, अतः 'क्रम' को स्वीकार करना आवश्यक है। वृद्धव्यवहार से जिस प्रकार का क्रम जिन वर्णों में अर्थबोध के लिए उपलब्ध होता है, उसी क्रम में तदर्थबोधजनकत्व नियमित हो जाता है ॥ ७१ ॥

यौगपद्यं त्वशक्यत्वान्नैव तेषामिहाश्रितम् ।
कर्तृभेदश्च तत्र स्यात् न चैवं दृश्यतेऽभिधा ॥ ७२ ॥

(पूर्वपक्ष='साहित्य' है यौगपद्य (एककालवृत्तित्व) स्वरूप, एवं 'क्रम' है 'अनेकालवृत्तित्वघटित'। अतः 'साहित्य' और 'क्रम' ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एकत्र नहीं रह सकते। इसलिए क्रम को छोड़कर 'यौगपद्य' को ही अर्थप्रतीति की कारणता का विशेषण (अवच्छेदक) मानना चाहिये। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

यह सत्य है कि क्रम और यौगपद्य दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एकत्र नहीं रह सकते। इसलिए दोनों में से किसी एक को ही वर्णनिष्ठ कारणता का अवच्छे-दक मानना होगा। किन्तु अनेक वर्णों का युगपत् उच्चारण चूँकि संभव नहीं है, अतः क्रम को ही प्रकृत में कारणता का अवच्छेदक मानते हैं।

यद्यपि अनेक पुरुषों के द्वारा एक ही समय अनेक वर्णों का उच्चारण संभव है, किन्तु अनेक पुरुषों के द्वारा उच्चरित वर्णों में एक अर्थविषयक बोध की सामर्थ्य कहीं उपलब्ध नहीं है। इसलिये 'एककर्तृकत्व' भी वर्णनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक है ॥ ७२ ॥

युगपद् दृष्टसामर्थ्या नैव शक्ताः क्रमे यथा ।
भावास्तथा क्रमे शक्ता यौगपद्ये न शक्नुयुः ॥ ७३ ॥

(प्रश्न=एक ही वक्ता के द्वारा उच्चारित होने का निश्चय न रहने पर भी अर्थ की प्रतीति जनसमूह के 'कलकल' शब्दों से होती है। अतः एक ही वक्ता से उच्चा-रित होना वर्णों से अर्थप्रतीति का अङ्ग नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

(१) वर्णों का विशेष प्रकार का नैरन्तर्य (आनुपूर्वी-पूर्वापरीभाव) एवं (२) स्वरविशेष ये दोनों ही वर्णों से होनेवाली प्रतीति के अङ्ग हैं। इन दोनों की निष्पत्ति एक कर्त्ता के द्वारा उच्चारित वर्णों में ही संभव है। इसीलिए 'वक्त्रेकत्व'

को अर्थप्रतीति का अङ्ग कहा जाता है। 'कलकल' शब्द में इन दोनों की निष्पत्ति देखी जाती है। अतः वक्त्रैकत्व का निर्णय न होने पर भी 'कलकल' शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है।

दूसरी बात यह है कि यदि एक ही वक्ता के द्वारा एक ही समय (युगपत्) अनेक वर्णों का उच्चारण मान भी लें, तथापि विशेष प्रकार के क्रम से युक्त वर्णों में अर्थबोध की शक्ति उपलब्ध होती है, अतः यौगपद्य में अर्थबोध की शक्ति नहीं मानी जा सकती[1] ॥ ७३ ॥

दृष्टश्च पूर्णमासादेः क्रमः संहत्यकारिणः।
अभ्यासानां च लोकेऽपि स्वाध्यायग्रहणादिषु ॥ ७४ ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्रमशः उत्पन्न होने वाले पदार्थ परस्पर मिलकर किसी एक कार्य को कर ही नहीं सकते, क्योंकि क्रमशः निष्पन्न होने वाले आग्नेयादि छः यागों से 'दर्शपौर्णमास' नाम के एक याग की निष्पत्ति होती है। लोक में भी देखा जाता है कि क्रमशः उत्पन्न होनेवाले अभ्यास से स्वाध्याय एवं विषय-ग्रहण की दृढ़ता उत्पन्न होती है ॥ ७४ ॥

साधनादित्रयाणां च व्यापारस्यैककालता।
सर्वत्रास्तीति नेह स्यादुपालम्भः क्रमं प्रति ॥ ७५ ॥

केवल क्रमशः उत्पन्न होनेवाले स्वर्ग अथवा अपूर्व के साधनीभूत आग्नेयादि छः याग ही 'संहत्यकारी' अर्थात् मिलकर काम करने वाले नहीं हैं, किन्तु साध्य-साधन-इतिकर्त्तव्यता ये तीनों अयुगपद्भावी (क्रमशः उत्पत्तिशील) होते हुए भी एक कार्य के लिये एक काल में व्यापृत होते हैं। यह बात लोक में एवं वेद में सर्वत्र समान रूप से देखी जाती है।

जिस समय स्वर्ग अथवा अपूर्व स्वरूप 'साध्य' भवन क्रिया के लिए व्यापृत होता है, उसी समय 'करण' (यागादि साधन) उन्हें उत्पन्न करते हैं एवं 'इति-कर्त्तव्यता' स्वरूप करण उनके प्रोत्साहन रूप उपकार का संपादन करता है। इस लिये यह आक्षेप उचित नहीं है कि वर्ण चूँकि संहत्यकारी हैं अर्थात् मिलकर अर्थ प्रत्यय स्वरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं, अतः अयुगपद्भावी नहीं हो सकते ॥ ७५ ॥

निष्पन्ना एव दृश्यन्ते व्यापाराः सर्व एव हि।
सूक्ष्मा व्यापारभेदास्तु दृश्यन्ते न कदाचन ॥ ७६ ॥

(इस प्रसंग में यह आक्षेप किया जा सकता है कि आग्नेयादि छः याग यद्यपि क्रमशः उत्पन्न होते हैं, फिर भी उनसे उत्पन्न होनेवाले सभी अपूर्व याग-निष्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में एकत्र रहते हैं। इस प्रकार अपूर्वों के द्वारा आग्ने-

१. इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार है—
भावाः यथा क्रमे शक्ताः, तथा न युगपद्दृष्टसामर्थ्याः, तथा क्रमे शक्ताः यौगपद्ये न शक्नुयुः।

यादि छः यागों में 'साहित्य' की उपपत्ति हो सकती है। किन्तु वर्णों से तो किसी भी अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः आग्नेयादि छः यागों के समान उनमें 'साहित्य' की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस आक्षेप का यह समान है कि—)

अनुभव भावनादि सभी व्यापार 'निष्पन्न' ही देखे जाते हैं अर्थात् कार्य की निष्पत्ति से ही उनकी सत्ता ज्ञात होती है। क्रमशः वर्णों से अर्थप्रत्यय स्वरूप कार्य की निष्पत्ति यदि व्यापार के बिना अनुपपन्न है, तो वर्णों के भी अर्थप्रत्ययजनकत्व के सम्पादक व्यापार की कल्पना करनी होगी। सभी व्यापार चूंकि 'सूक्ष्म' होते हैं अर्थात् अतीन्द्रिय होते हैं, अतः प्रत्यक्ष से उनकी सत्ता ज्ञात नहीं हो सकती। अतः अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा उसकी कल्पना करनी होगी। इसलिये वर्णों के जो व्यापार दृष्टिगोचर नहीं हैं, उसकी सत्ता में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होगा ॥ ७६ ॥

एकसाधनसंस्थाश्च व्यापारावयवा यदा।
स्वरूपतो निरीक्ष्यन्ते यौगपद्यमसत् तदा ॥ ७७ ॥
किं पुनर्बहवो भिन्ना भिन्नसाधनसंश्रिताः।
भवेयुर्यौगपद्येन व्यापाराः क्रमवर्तिनः ॥ ७८ ॥

(आग्नेयादि छः यागों में स्वरूपतः ही 'साहित्य' क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? साहित्य के लिये 'अदृष्ट' को मध्यस्थ मानने की क्या आवश्यकता ? इस पूर्व-पक्ष का यह उत्तर है कि—)

स्वर्गादि के यागस्वरूप अथवा होमस्वरूप एक ही साधन के भी जो (१) उद्देश (२) त्याग एवं (३) प्रक्षेप स्वरूप तीन अवयव हैं (अंश हैं) उनमें भी स्वरूपतः साहित्य संभव है। वहाँ भी पूर्वपूर्व अवयव से किसी अदृष्ट की उत्पत्ति मानकर तत्-सहित अन्तिम अवयव को कारण मानना पड़ता है। उनमें भी स्वरूपतः साहित्य की उपपत्ति नहीं हो पाती है, तो फिर दर्श पौर्णमास के जो आग्नेयादि परस्परभिन्न साधन हैं, उनमें अदृष्ट स्वरूप व्यापार के बिना स्वरूपतः साहित्य कैसे होगा ? ॥ ७७-७८ ॥

यदा त्वाद्यपरिस्पन्दात् प्रभृत्या फललाभतः।
क्रिया पूर्वापरीभूता लक्ष्यते वर्त्तते तदा ॥ ७९ ॥

(यदि दर्श स्वरूप आग्नेयादि याग युगपत् उत्पन्न नहीं होते हैं, क्रमशः उत्पन्न होते हैं तो फिर 'दर्शो वर्त्तते' इत्यादि वर्त्तमानबोधक प्रयोग 'वर्त्तमानापदेश' कैसे होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जिस प्रकार 'घटो वर्त्तते' इत्यादि स्थलों में निष्पन्न एवं अविनष्ट व्यापारों में वर्त्तमानापदेश होता है उस प्रकार का वर्त्तमानापदेश 'दर्शो वर्त्तते' इत्यादि स्थलों में संभव नहीं है। इन स्थलों में तो 'वर्त्तमान क्रिया' शब्द से आद्यपरिस्पन्द स्वरूप प्रथम क्रिया से लेकर 'फलनिष्पत्ति' पर्यन्त पूर्वापरीभावापन्न क्रियाओं का समूह ही विवक्षित है। भले ही अतीतक्षणघटित उक्त खण्डकाल में 'वर्त्तमान शब्द' की लक्षणा ही करनी पड़े। पूर्वापरीभावापन्न क्रियाओं के उक्त समूह में ही 'दर्शो वर्त्तते' इस आकार का वर्त्तमानापदेश होता है ॥ ७९ ॥

तेनात्रापि विवक्षातः प्रभृत्याऽर्थावबोधनात् ।
साकल्येनेक्ष्यमाणे स्याद् व्यापारे वर्त्तमानता ॥ ८० ॥

इसी प्रकार 'देवदत्तो गामभिधत्ते' इत्यादि स्थलों में भी विवक्षा से लेकर अर्थप्रतीति पर्यन्त जितने भी क्षण हैं, उन क्षणों में होने वाले सभी व्यापार व्यञ्जकत्व स्वरूप एक धर्म के द्वारा गृहीत होते हैं, तो उन सभी व्यापारों में वर्त्तमानता का अभिधान होता है ॥ ८० ॥

प्रत्येकं ये पुनस्तत्र व्यापारास्तन्निरूपणम् ।
फलानिष्पत्तितो न स्यान्नास्तित्वं न च तावता ॥ ८१ ॥

अर्थप्रत्यय स्वरूप 'फल' की 'निष्पत्ति' से पहले वर्णों में 'अभिधा' स्वरूप व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है—केवल इसी से फलनिष्पत्ति से पहले वर्णों में अभिधा व्यापार की असत्ता नहीं सिद्ध हो सकती। अर्थात् अर्थप्रत्यय रूप फल की निष्पत्ति से पहले वर्णों में अभिधा स्वरूप व्यापार है ही ॥ ८१ ॥

फलानुमेयतायां च व्यापारस्य फलं प्रति ।
कारकाणां यथास्थानं व्यापारे वर्तमानता ॥ ८२ ॥

(फलनिष्पत्ति के समय वर्णों का अभिधा स्वरूप व्यापार विद्यमान नहीं रहता है, अतीत हो सकता है। फिर बाद में उसमें वर्त्तमानता का व्यवहार कैसे होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

अवश्य ही यह व्यापार फलानुमेय है, तथा पहले यथावस्थित वर्णों से अर्थ की प्रतीति को देखकर पहले व्यापार की अनुमिति जिस पुरुष को हुई थी वही पुरुष जब वर्णों की उसी प्रकार की अवस्थिति को सुनता है तो उस प्रकार से अवस्थित वर्णों से 'यथास्थान' व्यापार में वर्त्तमानता का अनुमान करता है ॥ ८२ ॥

अवश्यम्भाविनी नित्यं प्रत्यासत्तिश्च कस्यचित् ।
न तावता व्यपेतत्वादितरेषामनङ्गता ॥ ८३ ॥

यह सत्य है कि वर्णों के विशेष प्रकार के समुदाय घटक अन्तिम वर्ण में ही अर्थप्रत्यय स्वरूप फल की अव्यवहित पूर्वत्व स्वरूप 'प्रत्यासत्ति' अर्थात् निकट सम्बन्ध है। अन्य वर्ण दूर होने के कारण प्रत्यासन्न नहीं है। किन्तु दूरत्व स्वरूप इस व्यवधान के कारण अन्य वर्णों को अर्थप्रतीति का 'अनङ्ग' नहीं कहा जा सकता। यदि पूर्व वर्ण अर्थप्रतीति के अङ्ग न हों तो फिर केवल अन्तिम वर्ण से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः वे भी अर्थप्रतीति के अङ्ग अवश्य हैं ॥ ८३ ॥

द्व्यन्तरैकान्तरत्वेन गकारौकारयोर्ध्रुवम् ।
अर्थप्रत्यायने शक्तिस्तत्रस्थौ गमकौ यतः ॥ ८४ ॥

पूर्व-पूर्व के वर्णों में उत्तरोत्तर वर्णों का व्यवधान आवश्यक भी है, क्योंकि विसर्जनीय एवं औकार इन दोनों से व्यवहित 'ग' वर्ण में ही गो स्वरूप अर्थविषयक

प्रतीति को उत्पन्न करने की शक्ति है। इसी प्रकार विसर्जनीयव्यवहित औकार में ही उक्त शक्ति है। तस्मात् गौः इस वर्णसमुदाय के विसर्जनीय स्वरूप केवल अन्तिम वर्ण में ही गो स्वरूप अर्थ की प्रत्यायन शक्ति नहीं है। किन्तु 'ग' कार एवं औकार ये दोनों भी अर्थ के 'गमक' अर्थात् ज्ञापक हैं। अतः उनमें भी अर्थप्रतीति को उत्पन्न करने की 'अभिधा' शक्ति है ॥ ८४ ॥

यथा विसर्जनीयस्य व्यवधाने न शक्तता।
तथैवेतरयोः शक्तिरानन्तर्ये न विद्यते ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार 'गौः' इस पद के विसर्ग में जो अर्थप्रत्यायन की शक्ति है, उसका अवच्छेदक व्यवहित नहीं है, उसी प्रकार गकार एवं औकार इन दोनों में रहनेवाली जो अर्थप्रत्यायन शक्ति है उसका अवच्छेदक भी 'आनन्तर्य' अर्थात् अव्यवहितोत्तरत्व से विशिष्ट नहीं। अर्थात् अव्यवहित विसर्ज्जनीय में एवं व्यवहित गकार और औकार में भी शक्ति है ॥ ८५ ॥

न च यत्रैकशोऽशक्तिस्तत्र सर्वेष्वशक्तता।
तथा ह्यङ्गानि दृश्यन्ते शाल्यादिवहनादिषु ॥ ८६ ॥

जैसे गाड़ी के अलग-अलग प्रत्येक अवयव में धान्यादि के उगाहने की शक्ति नहीं है, फिर भी उन अवयवों के अवयवी स्वरूप पूरी गाड़ी में उक्त शक्ति का अभाव नहीं होता, उसी प्रकार यदि प्रत्येक वर्ण से अर्थप्रत्यय की उत्पत्ति नहीं भी होती है तो इसी लिये संपूर्ण गो शब्द में शक्ति के अभाव की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥ ८६ ॥

शक्तिस्तत्रास्ति काचिद्धि वहने सा समृद्धयते।
सङ्घातेन तु वर्णानां प्रत्येकं काचिदीक्ष्यते ॥ ८७ ॥
न ह्यर्थावयवः कश्चित् प्रत्येकं तैः प्रतीयते।
समस्तस्याथ वा कश्चिद् बोधलेशोऽत्र जायते ॥ ८८ ॥

पूर्वपक्ष—रथ (गाड़ी) के प्रत्येक अवयव धान्यवाहनादि की किंचित् शक्ति से युक्त है। प्रत्येक अवयव की वे ही शक्तियाँ एकत्र मिलकर धान्यवाहनादि कार्य को पूर्ण करती हैं। प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्यायन की इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं है जो मिलकर अर्थप्रत्यय स्वरूप कार्य को सम्पन्न कर सके ॥ ८७–८८ ॥

रथस्यापि तु यत् कार्यं शाल्यादिवहनं न तत्।
प्रत्येकं दृश्यते किञ्चिन्मनागपि यथेहितम् ॥ ८९ ॥

समाधान—सम्पूर्ण रथ से होने वाले धान्यदिवाहन की थोड़ी सी भी शक्ति रथ के अवयवों में नहीं है। अतः जिस प्रकार रथ के प्रत्येक अवयव में शक्ति के न रहने पर भी उन अवयवों से निर्मित रथ में धान्यवहन की शक्ति है, उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण में अर्थप्रत्यय की थोड़ी सी भी शक्ति के न रहने पर भी उन वर्णों से निर्मित पद में अर्थप्रत्यय की पूरी शक्ति को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ॥ ८९ ॥

अथ यत्किञ्चिदुच्येत वहने तदिहापि नः ।
स्वात्मप्रत्ययहेतुत्वं वर्णेष्वर्थेऽपि वा क्वचित् ॥ ९० ॥

यदि रथ के अङ्गों में भी थोड़ी सी धान्यवहन की शक्ति के स्वीकार का आप आग्रह रखें तो यह भी मानने में कोई बाधा नहीं है कि वर्णों में भी 'स्व' स्वरूप विषय के बोध की शक्ति तो अन्ततः है ही, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में विषय भी कारण है। कुछ लोग प्रत्येक वर्ण में अभिधा स्वरूप व्यापार के द्वारा भी शक्ति को स्वीकार करते हैं। जैसे 'क' कार से परदेवता की प्रतीति में उपलब्ध होती है ॥९०॥

यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते ॥ ९१ ॥

वैयाकरणों का जो सम्प्रदाय वर्णों के प्रत्यक्ष से अनयव अर्थात् अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति मानते हैं, उनके मत में भी यह विकल्प समान रूप से उदित होता है कि प्रत्येक वर्णविषयक बोध से अथवा नाद से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है अथवा वर्णसमुदायविषयक बोध से अथवा नाद से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है ॥ ९१ ॥

तत्रापि प्रतिवर्णं हि पदस्फोटो न गम्यते ।
न चावयवशो व्यक्तिस्तदभावान्न चात्र धीः ॥ ९२ ॥

स्फोटवादियों के मत में भी प्रत्येक पद से स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं है। पद के अवयव स्वरूप वर्णों की उपलब्धि के द्वारा पद स्वरूप वर्ण समुदाय में भी स्फोट की अभिव्यञ्जकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पद निरवयव एवं अखण्ड हैं। एवं इस प्रकार की कोई उपलब्धि भी नहीं होती है ॥ ९२ ॥

प्रत्येकं चाप्यशक्तानां समुदायेऽप्यशक्तता ।
तत्र यः परिहारस्ते स नोऽत्रापि भविष्यति ॥ ९३ ॥

प्रत्येक वर्ण या प्रत्येक पद जब स्फोट की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है, तो फिर वर्णसमुदाय अथवा पदसमुदाय स्वरूप वाक्य इन दोनों में स्फोट की अभिव्यञ्जकता स्वतः निराकृत हो जाती है। इसलिये स्फोट की अभिव्यक्ति के लिये वर्णों में या पदों में कोई 'विशेष' मानना होगा, किन्तु उसी विशेष को हम लोग अर्थ की अभिव्यक्ति का जनक मानकर बिना स्फोट के ही अर्थप्रत्यय की उपपत्ति कर सकते हैं[1] ॥ ९३ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि वर्णों के ही समान ध्वनियों में भी साहित्य को एककर्तृकत्व और क्रम स्वरूप मानना होगा। क्रमवर्ति ध्वनियों में स्वरूपतः एकत्र एककालवृत्तित्व स्वरूप साहित्य के संभव न होने पर वर्णों के साहित्य के समान ही ध्वनियों में भी साहित्य का संपादन 'संस्कार' के द्वारा ही मानना होगा जिसके द्वारा क्रमवर्त्ति ध्वनियों में भी साहित्य का संपादन हो सके। जैसा कि भाष्यकार ने लिखा है कि 'शब्दकल्पनायां सा च शब्दकल्पना च, (शाबरभाष्य पृ० ४८ पं० ११)।

सद्भावव्यतिरेकौ च तथावयववर्जनम् ।
तवाधिकं भवेत् तस्माद् यत्नोऽसावर्थबुद्धिषु ॥ ९४ ॥

(१) स्फोटाभ्युपगम पक्ष एवं (२) वर्णों से ही अर्थप्रत्यय का अभ्युगम पक्ष दोनों समान दोष ग्रस्त ही नहीं हैं, प्रत्युत स्फोट को स्वीकार करने से (१) स्फोट की सत्ता (२) उसमें वर्णों का भेद एवं (३) ज्ञायमान सावयव पद से अतिरिक्त निरवयव स्फोट की कल्पना ये तीन कल्पनाएँ अधिक हैं। तस्मात् संस्कार की कल्पना—जो ध्वनिपक्ष में आवश्यक है—और उसी संस्कार को वर्णों में भी अर्थप्रत्यय के लिए मान लेने से सभी आपत्तियाँ ठीक हो जाती हैं। अतः स्फोट का मानना व्यर्थ है ॥९४॥

नान्यथानुपपत्तिश्च भवेदर्थमतिं प्रति ।
तदेवास्या निमित्तं स्याज्जायते यदनन्तरम् ॥ ९५ ॥

अथवा वर्णों से ही अर्थ की प्रतीति को स्वीकार कर लेने के पक्ष में 'संस्कार' की कल्पना भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि वर्णों के विना अर्थप्रतीति की अनुपपत्ति (अन्यथानुपपत्ति) स्वरूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही वर्णों में अर्थप्रतीति की कारणता सिद्ध है, क्योंकि अर्थप्रतीति का वही कारण है, जिसके बाद अर्थ की प्रतीति हो, वर्णों को सुनने के बाद ही अर्थ की प्रतीति होती है ॥ ९५ ॥

यह जो आक्षेप किया गया है कि प्रत्येक वर्ण में अर्थबोधजनक शक्ति नहीं है, इसलिये वर्णसमुदाय स्वरूप पद में भी शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। यह दोष स्फोटवादियों के पक्ष में भी समान रूप से लागू होता है, क्योंकि ध्वनियों में से यदि प्रत्येक ध्वनि को स्फोट का अभिव्यञ्जक मानेंगे तो एक ध्वनि को स्फोट का अभिव्यञ्जक मानने से ही काम चल जायगा, अन्य ध्वनियाँ (नाद) व्यर्थ हो जायँगी। यदि यह कहें कि पूर्व-पूर्व ध्वनियों से स्फोट को अस्पष्ट अभिव्यक्ति होती है तथा अन्तिम ध्वनि स्पष्ट रूप से स्फोट की अभिव्यक्ति को उत्पन्न करती है, तो स्पष्टाभिव्यक्तिजनक इस अन्तिम ध्वनि को ही स्फोट की अभिव्यक्ति का जनक मानिये। किन्तु ऐसा मानने से पूर्ववर्ति ध्वनियाँ व्यर्थ हो जायँगी। यदि यह कहें कि पूर्व ध्वनियों से जो स्फोट का अस्पष्ट प्रकाश होता है, उस अस्पष्ठ प्रकाशस्वरूप संस्कार से युक्त अन्तिम ध्वनि ही स्फोट को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करती है, तो फिर उस एक ही नाद में उन सभी विशिष्टताओं को स्वीकार कर लें, विलक्षणनाद में अभिव्यञ्जकता मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। एवं व्युत्क्रान्त वर्णों से भी उक्त संस्कार के बल से ही अर्थप्रत्यय की उपपत्ति हो जायगी, क्रमविशेष का अवलम्बन व्यर्थ हो जायगा। सो अनुभव के विरुद्ध है। अतः प्रत्येक वर्ण में शक्ति के न रहने से जितने भी दोष आते हैं, वे सभी दोष प्रत्येक ध्वनि में शक्ति के न मानने में समान रूप से लागू होंगे। इस प्रकार जब वर्ण से अर्थ प्रतीति के लिये जिस संस्कार का अवलम्बन करना पड़ता है, उसी का अवलम्बन जब ध्वनि से वर्णाभिव्यक्ति पक्ष में भी स्वीकार करना पड़ता है तो स्फोट को स्वीकार करना व्यर्थ है।

सा च वर्णद्वयज्ञानेऽतीतेऽन्त्यज्ञानतः परा।
भवतीतीदृगेवास्या निमित्तमवकल्पते ॥ ९६ ॥

अर्थ की प्रतीति तो 'ग'कार 'औकार' इन दोनों वर्णों के ज्ञानों के बीत जाने पर जो विसर्जनीयस्वरूप अन्तिम वर्ण का ज्ञान होता है, उसी के बाद होती है, अतः आदि के दोनों वर्णों के बाद उत्पन्न विसर्जनीय के ज्ञान में ही अर्थप्रत्यय की कारणता कल्पित होती है ॥ ९६ ॥

विना संस्कारकल्पेन तदनन्तरवृत्तितः।
कृतानुग्रहसामर्थ्यो वर्णोऽन्त्यः प्रतिपादकः ॥ ९७ ॥

पूर्ववर्णों के बाद अन्तिमवर्ण उत्पन्न होता है। अन्तिम वर्ण में जो 'पूर्व-वर्णानन्तरवृत्तित्व' है, तत्स्वरूप अनुग्रह के (बल) के द्वारा वर्ण अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसके लिए किसी अतीन्द्रिय संस्कार की कल्पना आवश्यक नहीं है ॥ ९७ ॥

एष एव तु संस्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अदृष्टकल्पनातीतं तावन्मात्रं हि दृश्यते ॥ ९८ ॥

किसी सम्प्रदाय का कहना है कि अन्तिम वर्ण में जो पूर्वपूर्ववर्ण का आनन्तर्य है, वही उसका 'संस्कार' है, क्योंकि अदृष्ट संस्कार से विनिर्मुक्त केवल वर्ण ही सुने जाते हैं। भाष्य में जो 'अक्षरेभ्यः संस्काराः संस्कारादर्थप्रतिपत्तिः' यह सन्दर्भ (शाबरभाष्य पृ० ४८) लिखा गया है, वह इस आनन्तर्य स्वरूप संस्कार का ही बोधक है ॥ ९८ ॥

अथ वा वासनैवास्तु संस्कारः सर्व एव हि।
वृद्धज्ञानगृहीतेऽर्थे संस्कारोऽस्तीति मन्वते ॥ ९९ ॥
तस्यार्थबुद्धिहेतुत्वे विसंवादोऽस्य निर्णये।
तद्भावभाविताहेतुरन्यत्रैव प्रतीयते ॥ १०० ॥

अथवा प्रकृत में 'संस्कार' शब्द से भावनाख्य मुख्य संस्कार को ही समझ सकते हैं। इस मुख्य संस्कार के बल से ही विना 'स्फोट' को स्वीकार किये ही पूर्व-पूर्ववर्णविषयक संस्कार से युक्त अन्त्यवर्ण के ज्ञान से अर्थप्रत्यय की उत्पत्ति हो सकती है। 'वासना' स्वरूप उक्त संस्कार को सभी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सर्वसंप्रतिपन्न संस्कार में केवल उक्त अर्थप्रत्यय रूप अनुभवात्मक ज्ञान की जनकता ही विवादास्पद रह जाती है। इस विवाद को इस प्रकार मिटाया जा सकता है कि जिस प्रकार नियत अन्वयव्यतिरेक से स्मृति स्वरूप ज्ञान की जनकता संस्कार में सभी स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार नियत अन्वयव्यतिरेक से ही अर्थप्रत्यय (स्वरूप अनुभव) की जनकता भी भावनाख्य संस्कार में मानी जा सकती है ॥ ९९-१०० ॥

संस्कारे निष्प्रमाणे तु पूर्ववृत्तत्वकल्पनम्।
निष्प्रमाणकमेवेति नानुग्रहफलं भवेत् ॥ १०१ ॥

पूर्व में अविद्यमान किसी वस्तु से अनुग्रह या उपकार उत्तरवर्त्ति कार्य को तभी मिल सकता है जबकि पूर्ववर्त्ति उस उपकारक से उत्पन्न किसी अवान्तर व्यापार की कल्पना करें। प्रकृत में यह अवान्तर व्यापार है 'संस्कार'। ध्वनियों से वर्णों की अभिव्यक्ति अथवा वर्णों से अर्थ की प्रतीति इन दोनों ही पक्षों में अवान्तर व्यापार स्वरूप इस संस्कार की आवश्यकता होगी ॥ १०१ ॥

यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम्।
कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते ॥ १०२ ॥

'भावनाख्य संस्कार में स्मृति की हेतुता है' केवल इसलिये किसी अन्य कार्य की कारणता का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। अतः संस्कार से स्मृति के समान ही अर्थप्रत्यय स्वरूप अनुभवात्मक ज्ञान भी हो सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो वस्तु की कारणता कर्म में संयोग और विभाग को उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट है ॥ १०२ ॥

तेन संस्कारसद्भावो नानेनैवं प्रकल्प्यते।
तस्यार्थबुद्धिहेतुत्वमदृष्टं केवलं कृतम् ॥ १०३ ॥

वर्णों से अर्थप्रत्यय के लिये संस्कार की कल्पना नहीं करते हैं, किन्तु अन्यत्र स्वीकृत संस्कार में ही अर्थप्रत्ययजनकत्व की कल्पना करते हैं। यह विशेष प्रकार की पहले से अस्वीकृत कारणता ही केवल संस्कार में स्वीकृत करनी पड़ती है ॥ १०३ ॥

शब्दपक्षेऽपि तच्चैतददृष्टत्वान्न मुच्यते।
कार्यबोधनशक्तत्वं तुल्यं संस्कारशब्दयोः ॥ १०४ ॥

शब्दपक्षेऽपि ... मुच्यते

'स्फोट' को ही शब्द प्रमाण मानने वालों को भी वर्णों की अभिव्यक्ति के लिये एक विलक्षण संस्कार स्वरूप 'अदृष्ट' की कल्पना करनी होगी। अथवा स्मृति के हेतुभूत भावनाख्य संस्कार में ही वर्णाभिव्यञ्जकत्व स्वरूप अदृष्ट की कल्पना करनी होगी। उसी के स्थान में हम (मीमांसक) लोग स्मृतिहेतु संस्कार में अर्थप्रत्यय स्वरूप अनुभवजनकता की कल्पना करते हैं ॥ १०४ ॥

क्षीणार्थापत्तिरेवं च न स्फोटं परिकल्पयेत्।
संस्कारकल्पना पूर्वमवश्यम्भाविनी हि ते ॥ १०५ ॥

स्फोट के विना अर्थप्रत्यय की अनुपपत्ति से ही स्फोट की कल्पना संभव होती है। किन्तु स्फोटवादियों के मत से भी जब संस्कार को स्वीकार करना आवश्यक है तो उसी से अर्थप्रतीति की भी उपपत्ति हो जायगी। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से स्फोट की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ १०५ ॥

ध्वनिभ्योऽप्यपरस्तावन्नेष्येतार्थमतिं प्रति।
ते वा यद्युपलभ्येरन् वर्णाः प्रत्यक्षतो न च ॥ १०६ ॥

(पूर्वपक्ष—यदि स्फोट के अभिव्यञ्जक संस्कार से ही अर्थ की प्रतीति को स्वीकार कर स्फोट की सत्ता को ही अस्वीकार करें तो तुल्ययुक्त्या वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति को स्वीकार कर वर्णों की सत्ता को ही क्यों न अस्वीकार करें ? इसका यह उत्तर है कि—)

जो कोई ध्वनि के विना अर्थ की प्रतीति का अनुमान मानते हैं, वे ही उक्त अनुपपत्ति से ध्वनि की कल्पना करते हैं। इस प्रकार ध्वनि अर्थापत्तिगम्य है। वर्ण तो श्रवणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। उससे यदि अर्थ की प्रतीति न भी हो, तथापि उसकी सत्ता को झुठलाया नहीं जा सकता। किन्तु अर्थ की प्रतीति जब ध्वनि के विना भी केवल वर्णों से ही उपपन्न है तो ध्वनि को स्वीकार करना ही व्यर्थ है। वर्ण तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः उसे तो मानना ही होगा, चाहे उससे अर्थ की प्रतीति मानें चाहे न मानें ॥ १०६ ॥

वर्णानां यौगपद्येन यदि चावश्यमर्थिता।
नित्यत्वात् सर्वदा तद् स्यान्न तु कारणता तथा ॥ १०७ ॥

यदि कोई वर्णों में संस्कार के विना ही स्वरूपतः यौगपद्य मानने पर ही आग्रहशील हों तो वे वैसा कर सकते हैं, क्योंकि सभी वर्ण नित्य हैं, अतः स्वरूपतः यौगपद्य में कोई बाधा नहीं है। किन्तु स्वरूपतः यौगपद्य से युक्त वर्णों से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी लिये स्वरूपतः यौगपद्यविशिष्ट वर्ण अर्थप्रतीति के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि अज्ञात वर्ण अर्थप्रतीति के कारण नहीं हैं ॥ १०७ ॥

इत्थं क्रमगृहीतानां युगपद् याथ वा परा।
स्थितिः सा कारणं तु स्यान्नित्यमर्थधियं प्रति ॥ १०८ ॥

किं वा यौगपद्यविशिष्ट वर्णों से अर्थ की प्रतीति यदि होगी भी तो वह प्रतीति नित्य होगी। किन्तु इस पक्ष में भी संस्कार की कल्पना आवश्यक होगी, क्योंकि क्रमशः गृहीत वर्णों से उत्पन्न संस्कार से युक्त तदनन्तर वर्णों का यौगपद्य ही अर्थप्रतीति का कारण होगा ॥ १०८ ॥

यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं क्रमज्ञानेषु यत् परम्।
समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानकारणम् ॥ १०९ ॥

अथवा पहले प्रत्यक्ष प्रमाण से (श्रवणेन्द्रिय से) क्रमशः ज्ञात सभी वर्णों का जो ज्ञान (समस्तवर्णविज्ञान) होता है, वह तदर्थविषयक ज्ञान का कारण है। इस पक्ष में स्मृति से भिन्न किसी भी ज्ञान की जनकता किसी भी संस्कार में स्वीकार नहीं करनी पड़ती है ॥ १०९ ॥

तत्र ज्ञाने च वर्णानां यौगपद्यं प्रतीयते।
नावश्यं यौगपद्येन प्रत्यक्षस्थेन तद् भवेत् ॥ ११० ॥

उन समस्त वर्णविषयक ज्ञान में वर्णों का स्वरूपतः यौगपद्य है ही। (आकाश स्वरूप) श्रवणेन्द्रिय में वर्णों का यौगपद्य अवश्य असम्भावित है ॥ ११० ॥

चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम् ।

केचिदाहुर्यथा वर्णो गृह्यतेऽन्त्यः पदे पदे ॥ १११ ॥

अन्त्यवर्णेऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्कारकारितम् ।

स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥ ११२ ॥

चित्ररूपाञ्च ···· वर्णो गृह्यते

कथित 'समस्तवर्णविज्ञान' प्रत्यक्ष एवं स्मृति एतदुभयाकारक होने के कारण 'चित्रात्मिका' है ।

अर्थात् आगे-आगे के वर्णों की उपलब्धि के समय भी पूर्व-पूर्व वर्णों का स्मृति के द्वारा अनुसन्धान रहता है । अतः अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष के समय भी पूर्व-पूर्व वर्णों का स्मरण होता है । इनमें अन्तिम वर्णविषयक उपलब्धि (सद्विषयिका) है, क्योंकि विषय अन्तिम वर्ण उस समय 'सत्' अर्थात् विद्यमान रहता है । पूर्व-पूर्व वर्ण चूँकि अतीत रहते हैं, अतः उस समय तद्विषयक (असद्विषयक) स्मृति ही हो सकती है । इसीलिये 'सदसद्गोचरा' इस बुद्धि को 'चित्रात्मिका' कहते हैं ।

अन्त्यः पदे पदे ''अन्त्यवर्णोऽपि ''प्रचक्षते

अथवा प्रत्येक वर्ण के प्रत्यक्ष के बाद पूर्वपूर्वानुभवजनित संस्कार से सभी वर्णों की स्मृति ही होती है । उसीसे अर्थप्रत्यय उत्पन्न होता है (यह भी किसी आचार्य का मत है) । इस मत में उन सभी वर्णविषयस्मृति में सभी वर्णों का सम्बन्ध स्वरूप यौगपद्य ही अभिप्रेत है ॥ १११-११२ ॥

सर्वेषु चैवमर्थेषु मानसं सर्ववादिनाम् ।

इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ ११३ ॥

क्रमशः गृहीत एक ही समूहालम्बनात्मक स्मृतिस्वरूप (मानस) ज्ञान सर्वसम्मत है ॥ ११३ ॥

न चेत् तदाभ्युपेयेत क्रमदृष्टेषु नैव हि ।

शतादिरूपं जायेत तत्समुच्चयदर्शनम् ॥ ११४ ॥

यदि क्रमशः गृहीत वर्णों का एक समूहालम्बनात्मक स्मृतिस्वरूप मानसज्ञान न स्वीकार करें तो एक-एक कर गृहीत सौ वस्तुओं में 'ये सौ हैं' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह अनुपपन्न हो जायगा ॥ ११४ ॥

तेन श्रोत्रमनोभ्यां स्यात् क्रमाद् वर्णेषु यद्यपि ।

पूर्वज्ञानं परस्तात् तु युगपत् स्मरणं भवेत् ॥ ११५ ॥

तस्मात् श्रोत्र से वर्णों का प्रत्यक्ष रूप ज्ञान एवं मन से वर्णों का स्मृति रूप ज्ञान पहले क्रमशः ही होता है । किन्तु बाद में उन सभी वर्णों का युगत् समूहालम्बन स्वरूप स्मरण हो सकता है ॥ ११५ ॥

तदारूढास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थविबोधनात् ।

शब्दादर्थमस्तिस्तेन लौकिकैरभिधीयते ॥ ११६ ॥

वर्ण यद्यपि नित्य होने के कारण क्रमिक नहीं हैं, फिर भी उच्चारणक्रम से युक्त वर्ण चूँकि क्रमशः उपलब्ध होते हैं अतः वर्ण भी क्रमिक जैसे प्रतीत होते हैं। अन्त में यद्यपि सभी वर्णों का युगपत् (एक ही समय) स्मरण होता है, तथापि उनका स्मरण भी पहले क्रमशः ही होता है। इसलिये 'व्युत्क्रम' से उच्चारित वर्णों से अर्थ-प्रतीति की आपत्ति नहीं होती है ('ट' के उच्चारण के बाद 'घ' वर्ण के उच्चारण से 'घट' की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु 'घ' के उच्चारण के बाद उच्चरित 'ट' के उच्चारण से ही घट की प्रतीति होती है)।

इस प्रकार स्मृति में आरूढ़ (विषयीभूत) वर्ण पूर्ववर्त्ती होने पर भी अर्थबोध से दूर नहीं रहते, अर्थात् अव्यवहित पूर्ववर्त्ती हो सकते हैं। इस दृष्टि से 'शब्दादर्थ-प्रतीतिः' अर्थात् 'शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है' ऐसा व्यवहार लोग करते हैं। यदि ध्वनि से अर्थ की प्रतीति मानेंगे तो उक्त व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा ॥११६॥

चित्रबुद्ध्यानया भ्रान्त्या वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः।
पश्चाद् गौरिति विज्ञानं प्रत्यक्षं कैश्चिदिष्यते ॥ ११७ ॥

वैयाकरणों का मत है कि 'ग'कार 'औ'कार एवं विसर्जनीय इन तीनों ही वर्णों से विलक्षण 'गौः' इस आकार के शब्द का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु उन लोगों की यह भ्रान्ति ही है। इस भ्रान्ति का मूल उक्त चित्राकारा बुद्धि ही है। पूर्व-पूर्व वर्णों में स्मृतिविषयत्व के बाद जो अन्तिमवर्ण का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उसी से यह भ्रम वैयाकरणों को होता है कि 'स्फोट' प्रत्यक्ष से सिद्ध है। जिस प्रकार चित्रपट में कोई एक ही रङ्ग नहीं रहता, अनेक रङ्ग रहते हैं, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व वर्णसहित अन्त्यवर्ण का जो समूहालम्बन ज्ञान होता है, वह पूर्ववर्णांशों में स्मृत्यात्मक एवं अन्त्यवर्णांश में प्रत्यक्षात्मक होता है। इसीलिये (स्मृति एवं अनुभव एतदुभयात्मक होने के कारण) वर्णों के इस ज्ञान को 'चित्राकारा' बुद्धि कहा गया है ॥ ११७ ॥

वैलक्षण्यं तु तस्येष्टमेकैकज्ञानतः स्फुटम्।
वर्णरूपावबोधात् तु न तदर्थान्तरं भवेत् ॥ ११८ ॥

चित्राकारा यह बुद्धि पूर्व-पूर्व में उत्पन्न एक-एक वर्णविषयक ज्ञानों से स्पष्टतः भिन्न है। किन्तु इससे चित्राकारा बुद्धि में भासित होनेवाले किसी 'गौः' इस आकार के शब्दस्वरूप पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है। चित्राकारा बुद्धि के भी वे ही वर्ण विषय हैं ॥ ११८ ॥

यदि चार्थान्तरत्वं स्यादेकैकस्माद् त्रयस्य तत्।
वर्णत्रयपरित्यागे बुद्धिर्नान्यत्र जायते ॥ ११९ ॥

यदि 'गौः' इस शब्दविषयक प्रत्यक्ष का गकारादि कोई अन्य शब्द विषय है, तो प्रत्येक वर्ण से भिन्न वह गकार, औकार और विसर्ग इन तीनों वर्णों का 'समुदाय' ही वह भिन्न वस्तु है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष में भासित होनेवाले वर्णों से अतिरिक्त

किसी अन्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। अतः उक्त समुदाय से भिन्न कोई दूसरा 'अर्थ' वहाँ अनुपलब्धि से ही बाधित है ॥ ११९ ॥

गौरित्येकमतित्वं तु नैवास्माभिर्निवार्यते ।

तद्ग्राह्यैकार्थताभ्यां च शब्दे स्यादेकतामतिः ॥ १२० ॥

'गौः' इस आकार के श्रावण प्रत्यक्ष में हम (सिद्धान्ती) भी 'एकशब्दावभास' मानते ही हैं। किन्तु इसका हेतु उक्त प्रत्यक्ष में भासित होनेवाले विषय का विषयीभूत वर्णों से भिन्न होना नहीं है। उक्त 'एकशब्दावभास' के अन्य दो कारण भी हो सकते हैं—(१) एकबुद्धिविषयत्व अथवा (२) एकार्थबोधकत्व। अर्थात् 'गौः' इस आकार के एक ही श्रावण प्रत्यक्ष रूप विषयी में तीनों ही वर्ण विषय होते हैं, अतः उन वर्णों को 'एक शब्द' कहा जाता है। कि वा 'गो' स्वरूप 'एक' ही अर्थ के वे सभी प्रत्यक्षविषय वर्ण ज्ञापक हैं, अतः उन्हें 'एकशब्द' कहा जाता है ॥ १२० ॥

शैघ्र्यादल्पान्तरत्वाच्च गोशब्दे सा भवेदपि ।

देवदत्तादिशब्देषु स्फुटो भेदः प्रतीयते ॥ १२१ ॥

'गौः' इस वर्णसमुदाय में जो एकशब्दत्व की भ्रान्ति होती है, उसका प्रयोजक है ओकार स्वरूप अच् और गकार स्वरूप हल् इन दोनों का संश्लेष। इस संश्लेष के कारण ही गकार, औकार और विसर्जनीय इन तीनों वर्णों की विभिन्नता की प्रतीति गौः इस वर्ण समुदाय में नहीं हो पाती। देवदत्तादि अनेक अच् और अनेक हल् वाले शब्दों में अनेक वर्णों की स्पष्ट प्रतीति होती है। इन शब्दों में एकशब्दत्व की प्रतीति किसी को भी नहीं होती ॥ १२१ ॥

न गौणः शब्द इत्येवं ग्रन्थसम्बन्धनं भवेत् ।

अस्त्यक्षरेषु हेतुत्वं तत्परं वचनं हि तत् ॥ १२२ ॥

पूर्वपक्ष—यदि 'गौः' इस अखण्ड शब्द से गो स्वरूप अर्थ की प्रतीति न हो तो 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस प्रतीति के द्वारा 'शब्द' में जो अर्थप्रतीति के द्वारा अर्थबोध की कारणता प्राप्त होती है, वह 'गौण' हो जायगी, क्योंकि अर्थबोध की मुख्यकारणता अक्षरों में ही स्वीकार करते हैं—जिसके लिये भगवान् भाष्यकार ने लिखा है कि 'न गौणः अक्षरेषु निमित्तभावः' (शाबरभाष्य पृ० ४८ पं० ३) अर्थात् 'शब्दात्' इस पञ्चमी विभक्ति के द्वारा अक्षरों में निमित्तता का ही अभिधान किया गया है[1] ॥ १२२ ॥

शब्दादिति च हेतुत्वं पञ्चम्यात्राभिधीयते ।

भवत्पक्षेऽपि चैकान्ताज्ज्ञानेन व्यवधिर्भवेत् ॥ १२३ ॥

---

१. 'गौण एव शब्द इति चेत्, न गौणः अक्षरेषु निमित्तभावात्' (शाबरभाष्य पृ० ४८ पं० २) इस भाष्यसन्दर्भ में 'न गौणः' इसके बाद पूर्वपठित 'शब्दः' पद का पुनः पाठ कर 'न गौणः शब्दः' इस प्रकार के अन्वय की कल्पना करनी चाहिये।

'अक्षरों में भी अर्थज्ञान की कारणता है ही' इसको समझाने के लिये ही उक्त भाष्यवचन लिखा गया है।

शब्दादिति च''''अभिधीयते

क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त 'शब्दात्' इस पद में पञ्चमी विभक्ति 'हेतुत्व' का ही बोधक है। किञ्चित् व्यवधान रहने पर भी केवल 'हेतुता' में कोई बाधा नहीं आती है।

भवत्पक्षेऽपि''''व्यवधिर्भवेत्

आप (वैयाकरणों) के पक्ष में भी अखण्ड 'गो' शब्द से अर्थप्रत्यय की उत्पत्ति में अन्ततः ज्ञान स्वरूप व्यापार का व्यवधान तो होगा ही। इसलिये व्यापार से व्यवहित होने के कारण हेतुता का व्याघात नहीं होता। इस प्रकार व्यवहित होने पर भी जब हेतुता की संभावना है तो 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस व्यवहार से जो शब्द में हेतुता कही गयी है, वह 'गौण' नहीं है ॥ १२३ ॥

गौणोऽन्यथा प्रसिद्धो वा प्रयुज्येतान्यथा यदि।

न चान्यादृङ्निमित्तत्वं कस्यचित् सम्प्रतीयते ॥ १२४ ॥

लोक में जिस प्रकार की 'निमित्तता' प्रसिद्ध है, उसी निमित्तता का यदि उससे भिन्न रूप में व्यवहार किया जाय तो निमित्तता के उस व्यवहार को 'गौण' कहा जायगा। किन्तु व्यवहार के व्यवधान से युक्त निमित्तता का व्यवहार ही सर्वत्र देखा जाता है। अतः अक्षर स्वरूप शब्द में यदि व्यवधानपूर्वक निमित्तता है, तो उसे 'गौण निमित्तता' की संज्ञा नहीं दी जा सकती ॥ १२४ ॥

स्वव्यापारव्यवायो हि सर्वस्मिन्नेव कारके।

दृष्टो व्यापार ईदृक् तु शब्दस्येत्यव्यवेतता ॥ १२५ ॥

कारक कारक में ही नहीं, किन्तु सभी कारकों में अपने व्यापार के व्यवधान से युक्त निमित्तता ही देखी जाती है। अतः 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस वाक्य से जो शब्द में निमित्तता की प्रतीति होती है, उसमें भी उसी प्रकार की निमित्तता विवक्षित है। अतः शब्द में जो अर्थज्ञान की कारणता है, उसमें कोई व्यवधान नहीं है ॥ १२५ ॥

गकारादेर्यदा चान्यो न लोके शब्द उच्यते।

तदा तस्मात् प्रतीतेऽर्थे शब्दादिति कथं भवेत् ॥ १२६ ॥

लोक में निर्णीत है कि गकारादि वर्णों के अतिरिक्त 'शब्द' नाम की कोई वस्तु नहीं है। तो स्फोट से अर्थ की प्रतीति मानने वालों के पक्ष में 'शब्द' में अर्थ-प्रतीति की उक्त निमित्तता कैसे उपपन्न होगी जो 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस वाक्य से प्रतीत होती है ? ॥ १२६ ॥

शब्दज्ञानादिसंस्कारव्यक्तस्फोटकृतेऽथ वा।

प्रत्यये शब्दजन्यत्वमिति गौणं प्रसज्यते ॥ १२७ ॥

यदि स्फोटवादी ऐसा कहें कि अर्थप्रत्यय चूँकि उस स्फोट से उत्पन्न होता है, जिसकी अभिव्यक्ति शब्द जनित संस्कार से होती है—इसीलिये अर्थप्रत्यय को शब्दजन्य कहा जाता है एवं इसीसे 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस वाक्य में 'शब्दात्'

यह पञ्चम्यन्त प्रयोग है। किन्तु स्फोटवादियों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से उक्त व्यवहार से शब्द में अर्थप्रत्यय की मुख्यकारणता की जो प्रतीति होती है, वह न हो सकेगी, क्योंकि शब्द की कारणता संस्कार, स्फोट, स्फोटाभिव्यक्ति प्रभृति अनेक व्यापारों से व्यवहित होने के कारण गौण हो जायगी। अतः स्फोटवादियों के मत में शब्द में अर्थप्रत्यय की मुख्यकारणतामूलक उक्त व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा ॥ १२७ ॥

संस्कारजननार्थं च न शब्दोच्चारणं मतम्।
अर्थप्रतीतिमुद्दिश्य प्रयुक्तस्य क्रमादयम् ॥ १२८ ॥
तस्मात् तादर्थ्यतः शब्दः फलेन व्यपदिश्यते।
समुच्चयावबोधे तु व्यवधानं न केनचित् ॥ १२९ ॥

(पृ० ५०) यदि कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहने पर भी (अर्थात् मध्य में व्यवधान के रहने पर भी) कारणता हो तो जिस प्रकार 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' यह स्वारसिक प्रयोग होता है, उसी प्रकार 'शब्दात्संस्कारमुत्पद्यते' यह स्वारसिक प्रयोग भी क्यों नहीं होता, क्योंकि संस्कार में भी ज्ञान के द्वारा शब्द की जन्यता है ही, अथवा शब्द में संस्कार की कारणता है ही ? इस आक्षेप का यह समाधान है:—

संस्कार को उत्पन्न करने के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता किन्तु अर्थप्रतीति के उद्देश्य से ही शब्द का उच्चारण किया जाता है। शब्द से अर्थप्रत्यय के उत्पादनक्रम में यह (अयम्) संस्कार भी उत्पन्न हो जाता है। इसीसे लोग शब्द में संस्कार की कारणता का व्यवहार नहीं करते।

'तस्मात्' तादर्थ्यवश अर्थात् जिस लिये शब्द का उच्चारण अर्थप्रतीति रूप 'अर्थ' (प्रयोजन) के संपादन के लिये ही किया जाता है, अतः अर्थप्रत्यय रूप 'फल' की जनकता का व्यवहार ही शब्द में होता है, संस्कार की जनकता का व्यवहार नहीं होता।

यदि वर्णों के 'समुच्चय' स्वरूप स्मरणात्मक ज्ञान से ही अर्थ की प्रतीति को स्वीकार कर लेते हैं (स्फोट को स्वीकार नहीं करते) तो मध्य में किसी अन्य व्यापार की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। अतः इस पक्ष में व्यवधान का झंझट ही मिट जाता है ॥ १२८–१२९ ॥

यदि चापूर्वसंस्कार इतिकर्तव्यतेष्यते।
वर्णोऽन्त्यो गमकस्तस्य शब्दत्वान्मुख्यता भवेत् ॥ १३० ॥

"[1]पूर्वपूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण ही अर्थ का बोधक है' (देखिये शावरभाष्य पृ० ४६ पं० १) भाष्यकारीय इस पक्ष में अन्त्यवर्ण स्वरूप शब्द को कारण मानने के लिए किसी के व्यवधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में

---

१. पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः (शाबरभाष्य पृ० ४६ पं १)।

'अपूर्व' अथवा 'संस्कार' को शब्द स्वरूप साधन से अर्थप्रत्यय स्वरूप 'साध्य' के उत्पादन में 'इतिकर्त्तव्यता' स्वरूप मानते हैं। जिस प्रकार कुठार से छेदन क्रिया की उत्पत्ति में उपयुक्त उद्यम-निपातनादि को मानते हैं। इतिकर्त्तव्यता से साधन में कोई व्यवधान नहीं होता है ॥ १३० ॥

वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः ॥ १३१ ॥
सत्त्वाद् घटादिवच्चेति साधनानि यथारुचि।
लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥ १३२ ॥

इसलिये यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार दीपप्रभादि घटादि को अभिव्यक्त करती हैं, उसी प्रकार पद अथवा वाक्य में रहने वाले वर्ण 'स्फोट' को अभिव्यक्त नही करते, क्योंकि वर्ण सत्त्व से युक्त है। अथवा जिस प्रकार सत्त्व से युक्त होने के कारण घटादि पदार्थ स्फोट को अभिव्यक्त नहीं करते, उसी प्रकार वर्ण भी चूँकि सत्त्व से युक्त है, अतः स्फोट के अभिव्यञ्जक नहीं हैं।

(१) पदवाक्ययोर्वर्तमाना वर्णाः न स्फोटमभिव्ञ्जन्ति यन्नैवं तन्नैवम् यथा दीपप्रभादयः।

(२) पदवाक्ययोर्वर्त्तमाना वर्णा न स्फोटमभिव्यञ्जन्ति सत्त्वाद् घटादिवत्।

इस अनुमान में अपनी रुचि के अनुसार सत्त्वादि किसी को भी हेतु एवं घटादि किसी वस्तु को दृष्टान्त बनाया जा सकता है, क्योंकि लोक में सर्वथा अप्रसिद्ध एवं कल्पित अर्थ के निषेध में कोई भी हेतु अथवा दृष्टान्त हो सकता है[1] ॥१३१-१३२॥

नार्थस्य वाचकः स्फोटो वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः।
घटादिवन्न दृष्टेन विरोधो धर्मसिद्धितः ॥ १३३ ॥

---

१. इस अनुमान के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि जब स्फोट सर्वथा अप्रसिद्ध वस्तु है तो वह पक्ष ही कैसे होगा? हठात् ऐसा करने पर वह अनुमान 'अप्रसिद्धविशेष्यक' हो जायगा। इस आक्षेप का समाधान—'अवस्तुत्वेन साध्यत्वात्' (श्लो० ३३) इस श्लोक की व्याख्या में पहले दिया जा चुका है कि सर्वथा अप्रसिद्ध शशविषाणादिपक्षक अनुमान भी होता है।

इस अनुमान के ऊपर कोई यह आक्षेप भी करते हैं कि स्फोट जब सर्वथा अप्रसिद्ध है तो उसका किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। बुद्धि का सर्वथा अविषय पदार्थ किसी अभाव का भी विशेष्य नहीं हो सकता। अतः स्फोटपक्षक उक्त वाचकत्वाभाव-साध्यक उक्त अनुमान संभव नहीं है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि स्फोट सर्वथा बुद्धि का अविषय नहीं है, क्योंकि वैयाकरणों ने वर्ण से अतिरिक्त जिसको अर्थ का वाचक माना है वही 'स्फोट' है। अतः वह अभाव का विशेष्य हो सकता है।

नार्थस्य""घटादिवत्

अथवा अर्थपक्षक यह अनुमान भी किया जा सकता है कि स्फोट नाम की कोई भी वस्तु अर्थ का वाचक नहीं है, क्योंकि वह वर्ण से भिन्न है। जैसे कि घटादि वस्तु किसी का वाचक नहीं है (स्फोटो नार्थवाचकः वर्णभिन्नत्वाद् घटादिवत्)।

न दृष्टेन विरोधः""सिद्धितः

इस अनुमान में कोई 'दृष्टविरोध' भी नहीं है, क्योंकि स्फोट स्वयं सिद्ध नहीं है, अतः उसकी अर्थवाचकता कहीं भी दृष्ट नहीं है॥ १३३॥

प्रतिषेधेत्तु यो वर्णान् तज्ज्ञानानन्तरोद्भवान्।
दृष्टबाधो भवेत् तस्य शशिचन्द्रनिषेधवत्॥ १३४॥

यदि कोई वर्णों की उपलब्धि के अनन्तर अर्थ की उपलब्धि होने पर भी आग्रहवश यह प्रत्यनुमान उपस्थित करें कि 'वर्णा नार्थवाचकाः सत्त्वात् घटादिवत्' तो इस अनुमान में 'दृष्टविरोध' दोष लगेगा, क्योंकि वर्णोपलब्धि से अर्थ की उपलब्धि दृष्ट है। जैसे कि 'शशी न चन्द्रशब्दवाच्यः सत्त्वात् घटादिवत्' इस अनुमान में 'दृष्ट-विरोध' दोष होता है, क्योंकि शशी में चन्द्र शब्द की वाच्यता सर्वजनसिद्ध है॥ १३४॥

वर्णोत्था वार्थधीरेषा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा।
यैदृशी सा तदुत्था हि धूमादेरिव वह्निधीः॥ १३५॥

अथवा अर्थविषयक बुद्धि को ही पक्ष मानकर उसमें वर्णजन्यत्व का साधन 'वर्णज्ञानानन्तरजायमानत्व' हेतु से किया जा सकता है, क्योंकि जो ज्ञान जिस विषय के ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का वह विषय भी कारण अवश्य है। जैसे कि धूमज्ञान के बाद उत्पन्न होने वाला वह्निविषयक ज्ञान अवश्य ही धूमजन्य होता है (अर्थधीः वर्णजन्या वर्णज्ञानानन्तरोत्पन्नत्वात् धूमज्ञानानन्तरोत्पन्नवह्नि-ज्ञानवत्)॥ १३५॥

दीपवद्वा गकारादिर्गवादेः प्रतिपादकः।
ध्रुवं प्रतीयमानत्वात् तत्पूर्वं प्रतिपादनात्॥ १३६॥

दीपवद्वा""प्रतीयमानत्वात्

अथवा गकारादि वर्णों को ही पक्ष मानकर गवादि अर्थों के प्रतिपादकत्व का अनुमान 'ध्रुवप्रतीयमानत्व' हेतु से किया जा सकता है। इस अनुमान के लिये घटादि के प्रकाशक दीप स्वरूप दृष्टान्त सुलभ होगा, क्योंकि जिसके ज्ञान के लिये जिस वस्तु का ज्ञान नियमित रूप से (ध्रुव) अपेक्षित होता है, उस ज्ञान के लिये वह वस्तु अवश्य ही कारण होती है। जैसे कि रात को घटज्ञान के लिये पहले दीपा-रोपण आवश्यक होता है, उसी प्रकार शाब्दबोध स्वरूप अर्थप्रत्यय में वर्णविषयक ज्ञान नियमित रूप से आवश्यक होता है। अतः वर्ण अवश्य ही अर्थ का प्रतिपादक है। (अर्थप्रत्ययो वर्णजन्यः वर्णप्रतिपत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानत्वात् धूमादग्न्यनुमानवत्)।

तत्पूर्वं प्रतिपादनात्

किं वा उसी अनुमान में 'पूर्वप्रतिपादितत्व' को भी हेतु रूप से उपस्थित कर सकते हैं, क्योंकि जिसके ज्ञान के लिये जिसका 'प्रतिपादन' अर्थात् ज्ञान पूर्व में अपेक्षित होता है, वह अवश्य ही उस ज्ञान का कारण होता है। अर्थप्रत्यय के लिये वर्णों का ज्ञान पूर्व में अवश्य अपेक्षित होता है। अतः अवश्य ही वर्ण अर्थों के वाचक हैं।

'गकारौकारविसर्ज्जनीयाः गवार्थप्रतिपादकाः गोत्वप्रतिपादनात् रूपप्रकाशकप्रदीपवत्' ॥ १३६ ॥

वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः
पदेषु मन्दं फलमादधाति।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि
सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः ॥ १३७ ॥

वर्णातिरिक्तः""फलमादधाति

पूर्वपक्ष—"वर्णों से अतिरिक्त स्फोट नाम की कोई वस्तु नहीं है" इस प्रकार स्फोट के प्रतिषेध का उपपादन प्रकृत में उपयोगी न होने के कारण असङ्गत है, क्योंकि पदों और पदार्थों के सम्बन्ध का उपपादन ही 'प्रकृत' है। उसके लिये उक्त सम्बन्ध के अनुयोगी स्वरूप 'पद' का प्रतिपादन ही यथेष्ट है। तदतिरिक्त स्फोट का खण्डन 'प्रकृतानुपयोगी' है।

कार्याणि"'एव यत्नः

सिद्धान्त पक्ष—स्फोटवादियों के पक्ष में पद और वाक्य दोनों ही अखण्ड (निरवयव) हैं। वाक्य के अवयव पद और पद के अवयव वर्ण ये सभी मिथ्या हैं—काल्पनिक हैं। इसलिए इस पक्ष में 'ऊह' संभव नहीं होगा, क्योंकि वह पदमूलक (पदाश्रित) है। एवं 'प्रसङ्ग' एवं 'तन्त्र' ये सभी महावाक्य एवं अवान्तर वाक्य की अपेक्षा रखते हैं। ये ऊह-प्रसंगादि सभी मिथ्या हो जाँयगे, यदि निरवयव स्फोट की सत्ता सिद्ध हो जाय। इसीलिये स्फोट का खण्डन किया गया है। अतः स्फोट के प्रतिषेध का प्रतिपादन प्रकृतानुपयोगी नहीं है ॥ १३७ ॥

इति स्फोटवादः समाप्तः ॥

अथाऽऽकृतिवादः

आकृतिव्यतिरिक्तेऽर्थे सम्बन्धो नित्यतास्य च।
न सिध्येतामिति ज्ञात्वा तद्वाच्यत्वमिहोच्यते ॥ १ ॥

शब्द और अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध की नित्यता के निरूपण के लिये जिस प्रकार 'शब्द' का निरूपण आवश्यक है, उसी प्रकार अर्थ का निरूपण भी आवश्यक

है। इसीलिये शब्द के स्वरूप के निरूपण के बाद शब्द का वाच्य कौन सा अर्थ है इसका निरूपण किया जाता है[1] ॥ १ ॥

तत्सद्भावप्रसिद्ध्यर्थमत्र तावत् प्रयत्यते।
वाच्यत्वे वक्ष्यते युक्तिर्व्यक्त्या सह बलाबले ॥ २ ॥

पूर्वपक्ष—महर्षि जैमिनि ने 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' (अ० ६ पा० ३ सू० २३) इस सूत्र के द्वारा 'आकृति में ही शब्द की वाच्यता है—इस पक्ष का प्रतिपादन किया है। अतः पृथक् रूप से इसके प्रतिपादन का प्रयास व्यर्थ है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

आकृति में शब्द की वाच्यता के सिद्धान्त पर कई तरफ से प्रहार किया जाता है। जैसे कि—(१) आकृति (जाति) की सत्ता ही नहीं है, अतः उसमें वाच्यता की चर्चा ही नहीं की जा सकती। (२) जाति चूँकि किसी भी क्रिया के लिये उपयोगी नहीं है अतः उसे वाच्य नहीं माना जा सकता। प्रकृत में जाति (आकृति) की सत्ता के प्रतिपादन से उक्त प्रथम आक्षेप का समाधान किया गया है। सूत्रकार ने कथित 'आकृतिस्तु' इस सूत्र के द्वारा उक्त द्वितीय पक्ष का समाधान किया है। सूत्रकार का अभिप्राय है कि यदि जाति को शब्द का वाच्य मानते हैं तो जातिबोधक शास्त्र और व्यक्तिबोधक शास्त्र इन दोनों में बलाबल का निर्णय सुगम होता है। यदि व्यक्ति को भी शब्द का वाच्य मानें तो दोनों शास्त्र के समानबल होने के कारण दोनों में बलाबल का निर्णय नहीं हो पायगा। यही बात पहले 'कक्षान्तरित-सामान्य' (सम्बन्धाक्षेप प्र० श्लोक २७) से भी कह चुके हैं ॥ २ ॥

जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

(पूर्वपक्ष—आकृति तो अवयवों के विशेष प्रकार से व्यवस्थान स्वरूप 'संस्थान' को कहते हैं। यह संस्थान प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है। अतः इस संस्थान-स्वरूप आकृति में यदि वाच्यता को स्वीकार भी करेंगे तो इससे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सिद्धि में अथवा इस सम्बन्ध को नित्यता की सिद्धि में कोई भी उपकार नहीं होगा। अतः प्रकृत में 'आकृति' का निरूपण व्यर्थ सा ही है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

प्रकृत में 'आकृति' शब्द से जाति ही विवक्षित है, अवयवों का उक्त विशेष-विन्यास स्वरूप 'संस्थान' नहीं। तदनुसार 'आकृति' शब्द प्रकृत में 'यया व्यक्तिरा-

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'आकृति' (जाति) से भिन्न केवल सभी व्यक्तियाँ ही शब्द का वाच्य हों तो व्यभिचरित होने के कारण न उनमें वाच्यता की सिद्धि हो सकती है, न शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की ही सिद्धि हो सकती है। यदि आकृति (जाति) में शब्द की वाच्यता को स्वीकार करते हैं तो कहीं आकृति के साथ ही शब्द के वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध की सिद्धि होगी। उसके समय सम्बन्ध में नित्यता की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। अतः आकृति में शब्द की वाच्यता का (अर्थात्—आकृति ही शब्द का वाच्य अर्थ है—यह) प्रतिपादन प्रयोजनीय एवं प्रकृतोपयोगी दोनों ही है।

क्रियते' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न है। व्यक्तियों का यह 'आक्रियमाणत्व' एकाकारक बुद्धि (अनुवृत्ति प्रत्यय) विषयत्व रूप है। समानाकारक विभिन्न व्यक्तियों में इस 'एकविषयत्व' का संपादन चूँकि 'सामान्य' या 'जाति' से ही होता है, अतः वही 'आकृति' शब्द का मुख्यार्थ है, संस्थान नहीं, क्योंकि 'गौरयम्' इत्यादि आकारों से द्रव्यों का निरूपण उसी से होता है। प्रतिव्यक्ति भिन्न 'संस्थान' के समान धर्मों के द्वारा उक्त एककारकबुद्धिविषयत्व रूप 'आक्रियमाणत्व' का संपादन नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

तन्निमित्तं च यत्किञ्चित् सामान्यं शब्दगोचरम् ।
सर्व एवेच्छतीत्येवमविरोधोऽत्र वादिनम् ॥ ४ ॥

सभी विचारक एकाकारकबुद्धिविषयत्व के संपादक इस सामान्य को, एवं इस सामान्य में शब्द की वाच्यता को स्वीकार करते हैं। इसमें किसी का विरोध नहीं है, भले ही इसके स्वरूप के प्रसङ्ग में विवाद हो कि यह सामान्य 'सारूप्य' हैअथवा 'अपोह' स्वरूप है ॥ ४ ॥

सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति ॥ ५ ॥

सभी वस्तुओं में एकाकारप्रतीति स्वरूप 'अनुगमात्मिका बुद्धि' एवं, 'स्वभिन्न-भिन्नत्व' बुद्धि स्वरूपा व्यावृत्ति ये दोनों ही क्रमशः सामान्य एवं विशेष इन दोनों को स्वीकार किये विना संभव नहीं हैं। अतः 'सामान्य' और विशेष दोनों ही धर्म हैं ॥ ५ ॥

विशेषमात्र इष्टे च न सामान्यमतिर्भवेत् ।
सामान्यमात्रबोधे तु निर्निमित्ता विशेषधीः ॥ ६ ॥

यदि केवल 'विशेष' को ही स्वीकार करें तो 'सामान्यमति' अर्थात् अनुवृत्ति प्रत्यय अथवा 'एकाकारक बुद्धि' नहीं हो सकेगी। यदि केवल सामान्य को ही स्वीकार करें तो विशेष बुद्धि अर्थात् व्यावृत्ति बुद्धि निष्कारणक हो जायगी[1] ॥ ६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि बौद्धों के कथन के अनुसार यदि केवल असाधारण (विशेष) स्वलक्षण स्वरूप ही वस्तु हों और उन सभी वस्तुओं में जो एकाकार बुद्धि (अनुवृत्तिप्रत्यय) होती है उसका जनक कोई न हो तो 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि आकारों की सामान्य बुद्धियाँ उत्पन्न नहीं होंगी। अतः गोत्वादि सामान्य अवश्य हैं।

यदि वेदान्तियों की तरह सामान्य एवं विशेष एतदुभयात्मक गोत्वादि धर्मों की सत्ता को स्वीकार न करें 'सत्ता' स्वरूप 'विशेषानात्मक' केवल 'महासामान्य' को ही स्वीकार करें तो 'अयं शाबलेयो गौः, अयञ्च बाहुलेयो गौः' इत्यादि विभिन्न आकारों की गोविषयक बुद्धियाँ उत्पन्न नहीं होंगी। अतः सामान्य और विशेष दोनों ही हैं।

यद्यपि प्रकृत में केवल 'सामान्य' का ही प्रतिपादन अभिप्रेत है, फिर भी सामान्य और विशेष दोनों की सत्ता समान युक्ति से निष्पन्न है। अतः सामान्य के साथ-साथ विशेष की भी चर्चा की गयी है।

न चाप्यन्यतरा भ्रान्तिरुपचारेण चेष्यते।
दृढत्वात् सर्वदा बुद्धेर्भ्रान्तिस्तद्भ्रान्तिवादिनाम् ॥ ७ ॥

(पूर्वपक्ष—कोई एक ही वस्तु सामान्य और विशेष एतदुभयात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इस लिये जहाँ दोनों की प्रतीति होती है, वहाँ दोनों में से किसी एक को भ्रान्त अथवा औपचारिक मानना होगा। अतः कोई भी पदार्थ सामान्य एवं विशेष एतदुभयात्मक नहीं हो सकता। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

उन दोनों प्रतीतियों में न कोई भ्रान्ति स्वरूप है न कोई औपचारिक (गौण) है। भ्रान्ति इस लिए नहीं है कि 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि आकारों की सामान्य बुद्धियाँ 'दृढ़' हैं अर्थात् उत्तरकाल में किसी भी बुद्धि का 'नेयं तथा' इस विरोधी बुद्धि से बाध नहीं होता। भ्रान्ति उसीको कहा जाता है, जिसमें उक्त प्रकार को बाध बुद्धि से भ्रमत्व की धारणा हो। अतः उक्त ज्ञान भ्रम स्वरूप नहीं है ॥ ७ ॥

मुख्ययोश्चाप्यदृष्टत्वान्नोपचारेण कल्पना।
बाह्यार्थविषयत्वं च बुद्धीनां प्रतिपादितम् ॥ ८ ॥

मुख्ययोश्चापि···कल्पना

सामान्यविषयक बुद्धि विशेषविषयक बुद्धि इन दोनों में किसी को 'औपचारिक' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि औपचारिक बुद्धि उसी की होती है, जिसकी कहीं मुख्य बुद्धि हो अर्थात् उपचार मुख्यसापेक्ष है। बौद्धों के मत से बहुत सी अर्थक्रियाओं में सरूपता नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि उनके मत से सभी अर्थक्रियायें व्यावृत्ति स्वभाव की हैं, अनुवृत्ति स्वभाव की कोई भी नहीं। सामान्य को वे लोग स्वीकार नहीं करते। जब विज्ञान से अतिरिक्त किसी 'क्रिया' की ही सत्ता नहीं है, तो फिर उन सभी क्रियाओं में रहने वाले सामान्य की बात तो बहुत दूर की हो जाती है। अतः उन सामान्यविषयक या विशेषविषयक बुद्धियों को औपचारिक भी नहीं कहा जा सकता।

बाह्यार्थविषयत्वञ्च···प्रतिपादितम्

यदि यह कहें कि 'सामान्य' और 'विशेष' दोनों की बाह्यसत्ता भले ही न रहे, किन्तु 'सामान्यज्ञान' एवं 'विशेषज्ञान' रूप से दोनों की सत्ता रह सकती है और उसी से अनुवृत्ति प्रतीति और व्यावृत्ति प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है। इसके लिए 'सामान्य' और 'विशेष' इन दोनों की स्वतन्त्रता एवं वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है—

यह पहले ही उपपादन किया जा चुका है कि बाह्यवस्तुओं की वास्तविक सत्ता के विना बाह्यविषयक ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः सामान्य-ज्ञान और विशेषज्ञान इन दोनों के लिये सामान्य और विशेष दोनों की स्वतन्त्र सत्ता आवश्यक है ॥ ८ ॥

अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात् सामान्यविशेषयोः ।
विशेषाणां च सामान्यं ते च तस्य भवन्ति हि ॥ ९ ॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि 'सामान्य' और 'विशेष' इन दोनों में से किसी एक को स्वीकार करेंगे तो दूसरे का आक्षेप अवश्य होगा, क्योंकि विशेषों का ही सामान्य होता है एवं सामान्य के ही विशेष होते हैं। फलतः यदि विशेष को स्वीकार करेंगे तो सामान्य को स्वीकार करना आवश्यक होगा[1] ॥ ९ ॥

निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १० ॥

इस प्रकार प्रकृत में ये दो अनुमान निष्पन्न होते हैं—

(१) 'विशेषापरिकल्पितं सामान्यं नास्ति विशेषरहितत्वात् शशविषाणवत् ।'

(२) 'निःसामान्यत्वेन परिकल्पिता विशेषा न भवन्ति सामान्यरहितत्वात् शशविषाणवत्' ।

कहने का तात्पर्य है कि विशेषशून्य सामान्य एवं सामान्य से रहित विशेष ये दोनों ही शशविषाणवत् असत् हैं ॥ १० ॥

तदनात्मकरूपेण हेतू वाच्याविमौ पुनः ।
तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः ॥ ११ ॥

तदनात्मकरूपेण''पुनः

कथित 'विशेषरहितत्व' हेतु को 'विशेषानात्मकत्व' रूप में एवं 'सामान्यशून्यत्व' हेतु को 'सामान्यानात्मकत्व' रूप में भी उपस्थित करना चाहिये। तदनुसार ये दो अनुमान निष्पन्न होते हैं—

(१) 'विशेषानात्मकत्वेन परिकल्पितं सामान्यं नास्ति, विशेषानात्मकत्वात् शशविषाणवत्' ।

(२) 'सामान्यानात्मकत्वेन परिकल्पिता विशेषा न भवन्ति सामान्यानात्मकत्वात् शशविषाणवत्' ।

अर्थात् विशेषरहित अथवा विशेषानात्मक सामान्य शशविषाण के समान ही असत् है। इसी प्रकार सामान्यरहित अथवा सामान्यानात्मक विशेष भी शशविषाण के समान ही असत् है। फलतः सामान्य विशेषयुक्त अथवा विशेषात्मक ही है एवं विशेष सामान्य से युक्त अथवा सामान्यात्मक ही है।

१. कहने का तात्पर्य है कि 'समानानां भावः सामान्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्य धर्म वाले बहुत सारे विशेष व्यक्तियों में रहने वाले किसी एक धर्म को ही 'सामान्य' कहा जाता है। यह 'सामान्य' बहुत सारे विशेषों के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार इन 'विशेषों' का यही 'विशेषत्व' है कि कथित सामान्य धर्म से युक्त अन्य विशेष व्यक्तियों से अपने आश्रय को भिन्न रूप में समझावे। अतः सामान्य और विशेष इनमें से कोई भी एक दूसरे के बिना उपपन्न नहीं है।

तेन…सामान्यविशेषयोः

विशेषरहितत्व एवं सामान्यरहितत्व इन दोनों हेतुओं को विशेषानात्मकत्व एवं सामान्यानात्मकत्व में परिवर्त्तित कर देने से जो सम्प्रदाय सामान्य और विशेष दोनों की पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हुए उन दोनों को गोमहिषवत् अत्यन्तभिन्न मानते हैं उनका मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब सामान्यविशेषानात्मक वस्तु की अविद्यमानता सिद्ध हो जाती है, तो फिर यह स्वभावतः सिद्ध हो जाता है कि जो विद्यमान है वह अवश्य ही सामान्यविशेषात्मक है ।। ११ ।।

सामान्यबुद्धिशक्तत्वं विशेषेष्वेव यो भवेत् ।
विना वस्त्वन्तरात् तेन वाच्या शक्तिस्तु कीदृशी ।। १२ ।।
ग्राह्या किं वाप्यसम्बोध्या भिन्नैका वा तथैव च ।
गृह्यते यदि सैका च जातिरेवान्यशब्दिका ।। १३ ।।

सामान्यबुद्धि…वस्त्वन्तरात्

बौद्धों का कहना है कि 'विशेष' हम और आप (मीमांसक) दोनों ही स्वीकार करते हैं । यदि आप सामान्य को स्वीकार भी करते हैं (जिसे मैं नहीं मानता) तथापि आपको तुल्याकार बुद्धि (अनुवृत्तिप्रत्यय)जनक शक्ति सामान्य में माननी ही होगी । इससे तो अच्छा है कि उभयमतसिद्ध 'विशेष' में ही अनुवृत्तिप्रत्ययजनक शक्ति को भी स्वीकार करें । अतः 'सामान्य' की कल्पना अनावश्यक है ।

तेन वाच्यस्तु कीदृशी…ग्राह्या किं…तथैव च

इस प्रसंग में बौद्धों को निरूपण करना चाहिये कि यह शक्ति सभी व्यक्तियों में गृहीत होती है, अथवा गृहीत होती ही नहीं, अथवा सभी व्यक्तियों में यह 'शक्ति' एक ही है, अथवा प्रति व्यक्ति भिन्न-भिन्न है, इसी प्रकार यह शक्ति व्यक्तियों से भिन्न है, अथवा अभिन्न ।

भवेन्निर्विषया…न गृह्यते

यदि सभी व्यक्तियों में एक ही शक्ति है एवं उसका ग्रहण भी होता है तो वह शक्ति 'जाति' ही होगी, भले ही उसके लिए 'जाति शब्द' का प्रयोग (बौद्धगण) न करें, उसे 'शक्ति' कहें ।। १२–१३ ।।

भवेन्निर्विषया बुद्धिर्यदि शक्तिर्न गृह्यते ।
न हि सद्भावमात्रेण विषयः कश्चिदिष्यते ।। १४ ।।

यदि एक होने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता है तो उससे होनेवाली अनुवृत्तिप्रत्यय रूप बुद्धि 'निर्विषया' हो जायगी । अर्थात् वह शक्ति उस बुद्धि की विषय नहीं होगी, क्योंकि सत्ता मात्र से विषयता नहीं आती है, प्रतीयमान होने से ही विषयता आती है । अर्थात् प्रतीयमानत्व ही विषयत्व है ।। १४ ।।

परस्परविभिन्नत्वाद् विशेषा नैकबुद्धिभिः ।
गृह्यन्ते विषयासत्त्वाच्छक्तिश्चैषां न विद्यते ।। १५ ।।

बौद्धों का कहना है कि हम लोग अनुवृत्तिप्रत्ययजननशक्ति को उक्त प्रत्यय का विषय नहीं मानते। उक्त प्रत्यय का विषय तो स्वलक्षण व्यक्तियाँ ही हैं। नानाभूत उन व्यक्तियों में एकाकारकबुद्धिजननशक्ति के द्वारा उक्त प्रत्यय की विषयता का समर्थन करते हैं। वह शक्ति अनुगतैकप्रत्यय का विषय नहीं है। बौद्धों का यह कथन इसलिये असंगत है कि विभिन्न व्यक्तियों में एकाकारक प्रत्यक्षात्मक अबाधित बुद्धि के द्वारा जिस एकत्व का ग्रहण होता है, उस एकत्वविषयक बुद्धि की विषय विभिन्न व्यक्तियाँ नहीं हो सकतीं। इसलिये उक्त एकाकारक प्रतीति की विषयता कथित स्वलक्षण अनेक व्यक्तियों में नहीं रह सकती। यदि ऐसा मानेंगे तो उन व्यक्तियों की विभिन्नता ही लुप्त हो जायगी। शक्तिग्रहण ही चूँकि नहीं मानते, अतः उसमें विषयता नहीं रह सकती। तस्मात् यह पक्ष भी असंगत है कि 'व्यक्तियों में शक्ति का ग्रहण नहीं होता है' ॥ १५ ॥

भिन्नत्वे वापि शक्तीनामेकबुद्धिर्न लभ्यते।

विशेषशक्त्यभेदे च तावन्मात्रमतिर्भवेत् ॥ १६ ॥

भिन्नत्वे वापि ''न लभ्यते

यदि इस पक्ष को स्वीकार करें कि अनुगतप्रत्ययजननशक्ति का ग्रहण होता है, एवं प्रति व्यक्ति अलग-अलग हैं, तो सो भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि यदि वे प्रति व्यक्ति भिन्न हैं तो उनसे सभी व्यक्तियों की एकाकारक प्रतीति नहीं हो सकती।

विशेषव्यक्त्यभेदे''''मतिर्भवेत्

यदि कथित अनुवृत्तिप्रत्ययजननशक्ति को व्यक्तियों से अभिन्न पक्ष को स्वीकार करें तो उससे केवल उसी व्यक्ति का बोध हो सकता है, जिस व्यक्ति में वह शक्ति रहेगी। उससे भी विभिन्न व्यक्तियों में एकाकारक प्रतीति नहीं हो सकती। अतः इस पक्ष में भी 'एकाकारकप्रतीति' की अनुपपत्ति रूप दोष है ही ॥१६॥

भिन्ना विशेषशक्तिभ्यः सर्वत्रानुगतापि च।

प्रत्येकं समवेता च तस्माज्जातिरपीष्यताम् ॥ १७ ॥

अतः प्रति व्यक्ति में जो व्यावृत्तिजननशक्ति है, उससे भिन्न सभी व्यक्तियों में प्रत्येकशः रहनेवाली विभिन्न व्यक्तियों में एकाकारकप्रतीतिजनिका एक 'जाति' को भी स्वीकार करिये, उसका व्यवहार चाहे जिस शब्द के द्वारा भी करें ॥ १७ ॥

तेनात्मधर्मो भेदानामेकधीविषयोऽस्ति नः।

सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम् ॥ १८ ॥

किन्तु विभिन्न स्वलक्षणों से 'अनतिभिन्न' (अर्थात् अत्यन्त भिन्न भी नहीं अत्यन्त अभिन्न भी नहीं) सभी स्वलक्षणों का एक सामान्य धर्म अवश्य है। उसको सामान्य, आकृति, जाति, (अनुवृत्तिप्रत्ययजनन) शक्ति इनमें से जो भी इच्छा हो कह लीजिये ॥ १८ ॥

ननु भिन्नेऽपि सत्तादौ सामान्यमिति जायते।

बुद्धिर्विनापि सामान्यादन्यस्मात् सा कथं भवेत् ॥ १९ ॥

पूर्वपक्ष– सत्तादि विभिन्न सामान्यों में रहने वाली किसी जाति को स्वीकार करना इसलिये सम्भव नहीं होता कि इससे 'अनवस्था' होती है। फिर भी (सत्तादि सामान्यों में किसी अन्य सामान्यों के न रहने पर भी) 'सत्वं सामान्यं द्रव्यत्वमपि सामान्यम्' इस आकार की एकाकार प्रतीति होती है। अतः विभिन्न व्यक्तियों में अनुवृत्ति प्रत्यय के लिए उनमें रहनेवाली किसी जाति का मानना आवश्यक नहीं है।

अतः सामान्यों में उक्त अनुवृत्ति प्रत्यय को भ्रान्तिस्वरूप ही मानना होगा। इसी प्रकार गवादि में एकाकारक बुद्धि को भी भ्रान्ति स्वरूप मानकर बिना गोत्वादि जातियों के भी उक्त बुद्धि की उपपत्ति की जा सकती है॥ १९॥

वनोपन्यासतुल्योऽयमुपन्यासः कृतस्त्वया।
भ्रान्तित्वेन हि नैतस्या भ्रान्तिर्गोत्वादिधीरपि॥ २०॥

सि० प०—जिस प्रकार वृक्षों के समूह में 'वनम्' इत्यादि आकारों के भ्रान्ति स्वरूप होने पर भी 'इमे वृक्षाः' इस आकार की बुद्धि भ्रान्ति स्वरूप नहीं होती है, उसी प्रकार सत्त्वादि सामान्यों में अनुवृत्ति प्रत्यय के भ्रम रूप होने पर भी गवादि में अनुवृत्ति प्रत्यय को भ्रान्ति स्वरूप नहीं कहा जा सकता॥ २०॥

शब्दात् पूर्वं हि सर्वेषु गवादाविव नैकधीः।
वस्तुत्वं चात्र सामान्यं धर्मं केचित् प्रचक्षते॥ २१॥

शब्दात्पूर्वम्''गवादाविव नैकधीः

दूसरी बात यह है कि गोत्वादि सामान्यों में जो अनुवृत्ति प्रत्यय होता है, उसका मूल है 'शब्दैक्य' अर्थात् एक ही सामान्य शब्द से दोनों का बोध होना। जिस पुरुष को गोत्व में और अश्वत्व में एक ही 'सामान्य' शब्द से अभिहित होने की योग्यता का ज्ञान नहीं है, वह पुरुष यदि गोत्व और अश्वत्व के ज्ञान से युक्त भी है तथापि उन दोनों में 'इमे सामान्ये' इस अकार की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। अतः सामान्यों में एकाकारक बुद्धि को भ्रम स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त प्रतीति का मूल जो 'सामान्य' स्वरूप एक शब्द से बोध्य होना (एकशब्दबोध्यत्व) है वह सभी सामान्यों में विद्यमान है[1]।

वस्तुत्वं चात्र''''प्रचक्षते

पूर्वपक्ष—कोई कहते हैं कि 'वस्तुत्व' नाम का धर्म सभी वस्तुओं में समान रूप से विद्यमान है। अतः सभी सामान्यों में भी है। इसी वस्तुत्व धर्म के कारण

---

१. कहने का तात्पर्य है कि शाबलेयादि सभी गायों में एक सा अवयवविन्यास देखकर 'इयं गौः' इयमपि गौः' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। गोत्व और अश्वत्व में 'गोत्वं सामान्यम्, अश्वत्वमपि सामान्यम्' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा में 'सामान्य' शब्द-बोध्यत्व को छोड़कर कोई दूसरा प्रयोजक नहीं है। इसलिये 'सामान्य'शब्दबोध्यत्व के ज्ञान से रहित पुरुष की 'गोत्वं सामान्यमश्वत्वमपि सामान्यम्' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति स्वरूप होगी। गवादि में जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसमें यह बात नहीं है। अतः उन प्रत्यभिज्ञाओं को भ्रान्तिस्वरूप नहीं कहा जा सकता।

सभी सामान्यों में 'इमानि सामान्यानि' इस आकार का अनुवृत्ति प्रत्यय उत्पन्न हो सकता है। अतः इस प्रत्यय को भ्रम मानने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१ ॥

एवं तु कल्प्यमाने स्यात् सामान्यानामनन्तता।
पुनस्तेन सहान्येषु सामान्यमतिरस्ति हि ॥ २२ ॥

सिद्धान्तपक्ष—वस्तुत्व जाति के द्वारा सामान्यों में अनुवृत्तिप्रत्यय की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि इससे अनन्त सामान्यों की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि जिस प्रकार सामान्यों में वस्तुत्व सामान्य है, उसी प्रकार सामान्य (जाति) एवं कोई दूसरी द्रव्यादि वस्तु इन में भी वस्तुत्व की सत्ता समान रूप से है। अतः 'सामान्यं वस्तु द्रव्यमपि वस्तु' इत्यादि आकारों की एकाकारक अनन्त प्रतीतियाँ होंगी जिसके लिये सामान्यसहित अन्यवस्तुगत वस्तुत्व की कल्पना करनी होगी। अतः विशेषों से व्यावृत्त एवं सभी सामान्यों में अनुगत कोई 'सामान्य' नहीं है ॥ २२ ॥

विशेषेष्वपि वस्तुत्वात् सामान्यमिति धीर्भवेत्।
सत्तादिष्विव तेनैतत् सामान्यं नोपपद्यते ॥ २३ ॥

विशेषेष्वपि""सत्तादिष्विव

यदि द्रव्यत्वादि सभी अवान्तर सामान्यों में जो अनुगत 'वस्तुत्व' नाम का अवान्तर सामान्य है, उसी से सत्ता गोत्वादि सभी सामान्यों में 'एक सामान्य' बुद्धि मानेंगे तो विशेषों में भी 'एक सामान्य बुद्धि' होगी, क्योंकि विशेषों में भी तो वस्तुत्व है ही।

तेन""नोपपद्यते

अतः वस्तुत्व के द्वारा कथित 'एक सामान्य बुद्धि' नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

तस्मादेकस्य भिन्नेषु या वृत्तिस्तन्निबन्धनः।
सामान्यशब्दः सत्तादावेकधीकरणेन वा ॥ २४ ॥

'तस्मात्' भिन्न व्यक्तियों में किसी एक धर्म की वृत्तिता ही उस धर्म का 'सामान्य' शब्द से प्रयोग का प्रयोजक है। अर्थात् जो एक धर्म अनेक व्यक्तियों में रहे, उसे 'सामान्य' कहते हैं। तदनुसार ही गोत्व-द्रव्यत्वादि सामान्य हैं। सत्तादि सभी सामान्यों में रहने वाले जिस धर्म में 'सामान्य' शब्द का प्रयोग होता है, उसका प्रयोजक है 'एकधीकरणत्व' अर्थात् एकाकारकबुद्धिजनकत्व[1] ॥ २४ ॥

पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः।
न ह्याकाशवदिच्छन्ति सामान्यं नाम किञ्चन ॥ २५ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'सामान्य' शब्द के दो प्रवृत्तिनिमित्त हैं (१) अनेकसमवेतत्व और (२) एकाकारकधीजनकत्व। इनमें प्रथम के अनुसार केवल गवादि व्यक्तियों में रहने वाले गोत्वादि धर्मों में 'सामान्य' शब्द का प्रयोग होता है। यही 'सामान्य' शब्द का मुख्य प्रयोग है। द्वितीय के अनुसार गोत्वादि जातियों में भी एकाकारधीजनकत्व से सामान्य शब्द की प्रवृत्ति होती है। सामान्य शब्द की यह प्रवृत्ति 'गौण' है।

कोई कहते हैं कि यह 'सामान्य' व्यक्ति स्वरूप पिण्डों में ही रहता है, क्योंकि व्यक्तियों को छोड़कर सामान्य की प्रतीति नहीं होती है। आकाशादि की तरह 'सामान्य' नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो सर्वत्र रहे ॥ २५ ॥

यद्वा सर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः ।
शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका ॥ २६ ॥

यद्वा""अनुरोधतः

अथवा वैशेषिक लोगों के इस सिद्धान्त को मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं कि 'सामान्य' आकाशादि की तरह सर्वगत वस्तु ही है। उसके सर्वगत होने पर भी जो सर्वत्र उसको प्रतीति नहीं होती है, उसका यह कारण है कि व्यक्तियों में ही सामान्य को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। अतः व्यक्तियों में ही उसका ग्रहण होता है।[1]

शक्तिः कार्यानुमेया""हेतुका

कार्य से ही शक्ति का अनुमान होता है। सामान्य की अभिव्यक्ति चूँकि व्यक्तियों में ही देखी जाती है, अतः समझते हैं कि व्यक्तियों में ही सामान्य को अभिव्यक्त करने की शक्ति (सामर्थ्य) है ॥ २६ ॥

तेन यत्रैव दृश्येत व्यक्तिः शक्तं तदेव तु ।
तेनैव च न सर्वासु व्यक्तिष्वेतत् प्रतीयते ॥ २७ ॥

तेन तत्रैव""तदेव तु

प्रकृत में अभिव्यक्ति स्वरूप कार्य से 'शक्ति' का अनुमान होता है। शक्ति को समझने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः जिस व्यक्ति में जाति की अभिव्यक्ति देखी जाती है, उसी व्यक्ति में जाति को अभिव्यक्त करने की शक्ति है।

तेनैव च""एतत्प्रतीयते

इसी शक्ति के कारण सभी जातियों का सभी व्यक्तियों के साथ रहने पर भी सभी व्यक्तियों में सभी जातियों की प्रतीति नहीं होती है ॥ २७ ॥

भिन्नत्वेऽपि हि कासाञ्चिच्छक्तिः काश्चिदशक्तिकाः ।
न च पर्यनुयोगोऽस्ति वस्तुशक्तेः कदाचन ॥ २८ ॥

यद्यपि सभी व्यक्तियाँ सभी सामान्यों से भिन्न हैं, फिर भी कुछ ही व्यक्तियाँ कुछ ही सामान्यों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। सभी व्यक्तियाँ सभी सामान्यों को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वस्तु की शक्ति के ऊपर यह अभियोग नहीं किया जा सकता कि 'यही शक्ति इसी में क्यों है' अथवा 'अमुक शक्ति इसमें क्यों नहीं है' ॥ २८ ॥

---

१. 'यद्वा सर्वगतत्वेऽपि' इस श्लोकार्द्ध के आगे पहिले के २५ वें श्लोक के 'नान्तरा गृह्यते' इस वाक्य का सम्बन्ध ही यहाँ समझना चाहिये। तदनुसार 'सर्वगतत्वेऽपि शक्त्यनुरोधतः नान्तरा गृह्यते' इस प्रकार अन्वय समझना चाहिये।

वह्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ।
न चान्या मृग्यते युक्तिर्यया सन्दृश्यते तथा ॥ २९ ॥

वह्निर्दहति ''पर्यनुयोज्यताम्

चूँकि वह्नि से यह दाह उत्पन्न होता है, इसलिये वह्नि में दाह की शक्ति मानते हैं। आकाश से दाह उत्पन्न नहीं होता है, अतः आकाश में दाहक शक्ति को स्वीकार नहीं करते। किन्तु इसके लिये यह अभियोग नहीं किया जा सकता कि वह्नि में ही दाहजनन शक्ति क्यों है, आकाश में वह्नि के समान ही दाहजनन शक्ति क्यों नहीं है। इसी प्रकार यह अभियोग भी नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार घट पद में घटबोधजनन शक्ति है उसी प्रकार पट पद में भी घटबोधजनन शक्ति क्यों नहीं है।

न चान्या''''संदृश्यते तथा

(प्रश्न—किन्तु विना किसी युक्ति के यह स्वीकार भी तो नहीं किया जा सकता कि अग्नि में ही दाहजनन शक्ति है, आकाश में दाहजनन शक्ति नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि :—)

प्रत्यक्ष के द्वारा असिद्ध वस्तु में ही 'युक्ति' (अनुमान) की अपेक्षा होती है। प्रत्यक्षदृष्ट वस्तु के लिये अन्य युक्तियों का अन्वेषण नहीं किया जाता। अर्थात् सामान्य प्रत्यक्षसिद्ध है। एवं उससे अनुवृत्ति प्रत्यय भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अतः सामान्य की सिद्धि के लिये एवं उसमें अनुवृत्ति प्रत्यय जनन शक्ति की सिद्धि के लिये अनुमान की आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

न हि युक्त्यन्तरं नास्तीत्येतज्ज्ञानमनर्थकम् ।
धर्मश्चाव्यभिचार्यस्य न मृग्य उपलक्षणे ॥ ३० ॥
नानुमानावगम्यं तत् प्रत्यक्षे लक्षणेन किम् ।
स्वाभाविकश्च सम्बन्धो जातिव्यक्त्योर्न हेतुमान् ॥ ३१ ॥

न हि युक्त्यन्तरम्'''लक्षणेन किम्

जैसा कि 'नचाऽनुमानतः साध्या' (चोदनासूत्रवार्तिक श्लो० ८१) से उपपादन किया जा चुका है कि एक प्रमाण से सिद्ध वस्तु में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। इसलिये सामान्य के ज्ञापक अव्यभिचारी 'उपलक्षण' अर्थात् हेतु की खोज अनावश्यक है, क्योंकि सामान्य तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

स्वाभाविकश्च'''हेतुमान्

(पूर्वपक्ष—सामान्य यद्यपि सर्वगत है, फिर भी व्यक्ति विशेष के साथ ही उसका सम्बन्ध देखा जाता है, क्योंकि व्यक्ति विशेष में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः जाति और व्यक्ति इन दोनों के 'सम्बन्ध' के लिये किसी 'हेतु' की कल्पना करनी होगी। व्यक्ति चूँकि नाना प्रकार की है, अतः एक रूप सामान्य के सम्बन्ध का कारण नहीं हो सकती। अतः सम्बन्ध के लिये किसी दूसरे 'सामान्य' की कल्पना

करनी होगी। कल्पित इस दूसरे सामान्य में भी विना सम्बन्ध के कारणता नहीं आ सकती। इसके लिये किसी तीसरे सामान्य की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार अनवस्था की आपत्ति होगी। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि :—)

स्वाभाविकश्च····हेतुमान्

जिस प्रकार व्यक्तियों में सामान्य को अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार सामान्य का सम्बन्ध भी स्वाभाविक है। अर्थात् जिस प्रकार कुछ व्यक्तियाँ अपने स्वभाव के बल से ही कुछ सामान्यों को अभिव्यक्त करती हैं उसी प्रकार कुछ व्यक्तियाँ अपने स्वभाव के बल से ही कुछ सामान्यों को ही अपने साथ सम्बद्ध करती हैं। इसके लिये किसी दूसरे हेतु की अपेक्षा नहीं है ॥ ३०–३१ ॥

तेनैतस्य प्रसिद्धयर्थं नान्यत् सामान्यमिष्यते।
शक्तिसिद्धिवदेतस्य स्वभावोऽत्र न वार्यते ॥ ३२ ॥

अतः व्यक्तियों के सम्बन्ध की सिद्धि के लिए उसी प्रकार दूसरे सामान्य की आवश्यकता नहीं है, जिस प्रकार व्यक्तियों में सामान्य की अभिव्यञ्जन शक्ति के लिये 'स्वभाव' को छोड़कर अन्य किसी की आवश्यकता नहीं होती है। अतः जिस प्रकार व्यक्तियों में सामान्य के अभिव्यञ्जन की शक्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार सामान्य के साथ सम्बद्ध होने की शक्ति भी स्वाभाविक ही है ॥ ३२ ॥

यद्वा नैमित्तिकत्वेऽपि तावन्मात्रप्रतीक्षणात्।
विशेषेष्वेव लब्धेषु केषुचिन्नान्यवाञ्छनम् ॥ ३३ ॥

(पूर्वपक्ष) वह सम्बन्ध नित्य नहीं है, किन्तु 'कदाचित्क' है। अतः अवश्य उसका कोई निमित्त होना चाहिये। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

जिन विशेषों में सामान्य की अभिव्यक्ति होती है उनमें से कुछ विशेष उस सम्बन्ध के हेतु हैं। तदतिरिक्त और किसी की अपेक्षा उस सम्बन्ध के लिये नहीं है ॥ ३३ ॥

न व्यञ्जन्त्यपरे कस्माद् यतस्तेषु न दृश्यते।
तेभ्योऽपि न निवृत्यर्थं मृग्यो हेतुः स्वभावतः ॥ ३४ ॥

न व्यञ्जन्त्यपरे कस्मात्

(पूर्वपक्ष) कुछ विशेष व्यक्तियाँ सम्बन्ध के निमित्त क्यों हैं ? व्यक्तियाँ तो सभी विशेष हैं। इसलिये सभी विशेषों को सभी सामान्यों के सम्बन्ध का निमित्त होना चाहिये। एवञ्च कर्कट (केंकड़ा) भी गोत्व जाति के सम्बन्ध का हेतु हो ?

यतस्तेषु न दृश्यते

उक्त पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि गोत्व की अभिव्यक्ति कर्कट में नहीं होती है। अतः समझते हैं कि गोत्वजाति के सम्बन्ध की निमित्तता कर्कटादि में नहीं है, कर्कटादि गोत्वजाति के अभिव्यञ्जक नहीं हैं।

तेभ्योऽपि····स्वभावतः

ककर्दि में जो गोत्व जाति की 'अनभिव्यञ्जकता है, वह भी स्वाभाविक ही है। एवं ककर्दि से गोत्वादि जातियों की निवृत्ति का भी स्वभाव को छोड़कर दूसरा कारण नहीं खोजना है। एवं ककर्दि में गोत्वादि की निवृत्ति भी अभाव स्वरूप नहीं है, किन्तु गोत्वादि का असम्बन्ध मात्र है। चूँकि सामान्य सर्वगत है, अतः उसका अभाव कहीं संभव नहीं है।

वैशेषिकों यह सिद्धान्त है कि सभी सामान्य यद्यपि सर्वगत हैं, फिर भी उनका समवाय सम्बन्ध कुछ ही व्यक्तियों में रहता है। उन्हीं व्यक्तियों में (विशेषों) में उन सामान्यों की अभिव्यक्ति होती है॥ ३४॥

सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् तस्य वृत्तेर्नियामकम्।
गोत्वेनापि विना कस्माद् गोबुद्धिर्न नियम्यते॥ ३५॥

सामान्यं नान्यत्···न नियम्यते

(पूर्वपक्ष) यदि गोत्वादि जातियों के नियमन के लिये उन जातियों से भिन्न किसी सामान्य की आवश्यकता नहीं होती है, तो फिर विना गोत्वादि सामान्य के ही गवादि व्यक्तियों में ही अनुवृत्ति प्रत्यय हो और ककर्दि में उक्त अनुवृत्ति प्रत्यय न हों—इस प्रकार के नियमों को ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते? अर्थात् व्यक्तियों में सामान्यों के सम्बन्ध के समान ही अनुवृत्ति प्रत्ययों को स्वाभाविक ही मान लीजिये॥ ३५॥

यथा तुल्येऽपि भिन्नत्वे केषुचिद् वृत्त्यपेक्षिता।
गोत्वादेरनिमित्तेऽपि तथा बुद्धिर्भविष्यति॥ ३६॥

जिस प्रकार गोत्वादि सामान्यों का भेद गो ककर्दि व्यक्तियों में समान रूप से रहने पर भी सभी गो व्यक्तियों में ही उसका सम्बन्ध अभिप्रेत होता है, उसी प्रकार विना गोत्वादि जातियों की अपेक्षा के ही गवादि कुछ ही व्यक्तियों में एकाकारप्रतीति हो सकती है॥ ३६॥

विषयेण हि बुद्धीनां विना नोत्पत्तिरिष्यते।
विशेषादन्यदिच्छन्ति सामान्यं तेन तद् ध्रुवम्॥३७॥

(सिद्धान्तपक्ष) बुद्धि विना विषय के नहीं होती है, गवादि में जो अनुवृत्ति प्रत्यक्ष स्वरूप बुद्धि होती है गोत्वादि जातियाँ उस बुद्धि की विषय हैं। अर्थात् जातियाँ अनुवृत्ति प्रत्यय की विषयविधया कारण हैं। अतः अनुवृत्ति प्रत्यय में जाति और व्यक्ति दोनों का भान होता है। इसीलिये व्यक्तियों से भिन्न जाति की कल्पना करते हैं॥ ३७॥

ता हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषयादृते।
न त्वन्येन विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति॥ ३८॥

यदि गवादि व्यक्तियों में विना गोत्वादि जातियों के ही एकाकारक प्रतीतियाँ होंगी, तो फिर वे मिथ्या ही होंगी, अर्थात् अप्रमा ही होंगी, क्योंकि विना विषय के ज्ञान अप्रमात्मक ही होता है।[1]

न त्वन्येन ''इह बुध्यति

यदि व्यक्तियों में सामान्य की 'वृत्ति' अर्थात् सम्बन्ध के लिये किसी सामान्य की कल्पना नहीं भी करते हैं, तो इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं होती है ॥ ३८ ॥

अनिष्यमाणे सामान्ये वृत्तिः शब्दानुमानयोः ।
नैव स्यान्न हि सम्बन्धो भेदेरानन्त्यतो भवेत् ॥ ३९ ॥

यदि सामान्य को स्वीकार नहीं करेंगे तो अनुमान और शब्द इन दोनों प्रमाणों से होने वाली प्रतीतियाँ मिथ्या हो जायगी, क्योंकि अनन्त हेतु व्यक्तियों के साथ अनन्त साध्य व्यक्तियों की 'वृत्ति' अर्थात् व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध संभव नहीं होगा। एवं अनन्त व्यक्तियों के साथ किसी एक शब्द का शक्ति स्वरूप 'वृत्ति' अर्थात् सम्बन्ध का ग्रहण भी संभव नहीं होगा। इसलिये भी सामान्य का स्वीकार करना आवश्यक है।

यदि सामान्य को स्वीकार कर लेते हैं तो धूमादि हेतु सामान्य में वह्नि प्रभृति साध्य सामान्य की 'वृत्ति' अर्थात् व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध का ग्रहण संभव होता है। एवं घट सामान्य में घट पद की अभिधा स्वरूप वृत्ति का ग्रहण भी संभव होता है। अतः सामान्य का स्वीकार करना आवश्यक है ॥ ३९ ॥

अनुभूततया चासौ पुरुषस्योपयुज्यते ।
जातिव्यक्त्योस्तु सम्बन्धे नानुभूत्या प्रयोजनम् ॥ ४० ॥

(पूर्वपक्ष—'विशेष' अर्थात् व्यक्तियाँ भी तो अनन्त हैं, उन सभी व्यक्तियों के साथ सामान्य का ग्रहण संभव नहीं है, तो फिर आनन्त्य के कारण विषयों से सामान्य का ग्रहण ही कैसे संभव है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होकर शाब्दबोध का कारण है, एवं साध्य और हेतु का व्याप्ति सम्बन्ध भी ज्ञात होकर ही अनुमिति का उत्पादक है। अतः आनन्त्यप्रयुक्त यदि सम्बन्ध का ग्रहण संभव नहीं होगा तो शाब्दबोधादि अनुपपन्न होंगे। जाति और व्यक्ति के साथ सम्बन्ध ज्ञात होकर जाति की अभिव्यक्ति का प्रयोजक नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ही जाति की अभिव्यक्ति का वह कारण है।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यदि गोत्वादि सामान्यों की सत्ता ही नहीं रहेगी तो फिर गवादि व्यक्तियों में भी उनकी सत्ता नहीं रहेगी। गवादि में जो अनुवृत्ति प्रत्यय होती हैं उनमें गवादि व्यक्तियाँ विशेष्यविधया और गोत्वादि जातियाँ विशेषणविधया भासित होती हैं। जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता नहीं रहती है, वह ज्ञान शुक्ति में रजत के ज्ञान की तरह अप्रमात्मक होता है।

अतः व्यक्तियों के आनन्त्य से यदि व्यक्ति के साथ जाति का ग्रहण संभव नहीं है, तथापि जाति की अभिव्यक्ति में कोई बाधा नहीं है ॥ ४० ॥

सिद्धे विषयरूपे च गोत्वादाविन्द्रियैः पुनः ।
अर्थापत्त्युपलब्धा स्याच्छक्तिरेका नियामिका ॥ ४१ ॥
न चात्महेतुमेवासौ सिद्धं बाधितुमर्हति ।
शक्तिश्च नैतया बुद्ध्या नेन्द्रियैः सा हि गृह्यते ॥ ४२ ॥

सिद्धे विषयरूपे''अर्थापत्त्युपलब्धा''बाधितुमर्हति

(पूर्वपक्ष) यदि विभिन्न स्वभाव वाले विषयों में एक ही सामान्य के पीछे चलने की शक्ति हो तो फिर उन व्यक्तियों में ही एक बुद्धि के अनुवर्त्तन की शक्ति क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? एक बुद्धि (अनुवृत्ति प्रत्यय) के लिये जाति को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

उक्त अनुवृत्ति प्रत्यय स्वरूप ऐक्य बुद्धि सामान्यविषयक है। इन्द्रियों के द्वारा जब गोत्वादि जातियाँ सिद्ध हो जाती हैं तो सामान्यबुद्धिजनिका एक शक्ति की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से की जाती है। यदि सामान्य को ही अस्वीकार कर देते हैं तो फिर जिस शक्ति की अपनी सत्ता सामान्य के अधीन है, वह सामान्य को कैसे बाधित कर सकती है।

शक्तिश्च नैतया''''सा हि गृह्यते

(यदि ऐसा कहें कि उक्त ऐक्यबुद्धि की विषयता भी कथित शक्ति में ही स्वीकार करेंगे तो सो भी संभव नहीं है, क्योंकि) उन ऐक्यबुद्धि के द्वारा शक्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति अतीन्द्रिय है। इसलिये इन्द्रियजनित ऐक्य-बुद्धि की विषयता उसमें नहीं मानी जा सकती ॥ ४१-४२ ॥

सामान्यान्तरयोगानामनिष्ठा या च वर्ण्यते ।
तथा सामान्यनाशः स्यात् स च दृष्टेन बाध्यते ॥४३॥

व्यक्तियों के साथ सामान्य के सम्बन्ध के लिये जो सामान्यान्तर की कल्पना के द्वारा अनवस्था की आपत्ति देते हैं, उससे यदि सामान्य के नाश की आपत्ति देना अभिप्रेत हो तो यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि सामान्य का नाश प्रत्यक्ष से बाधित है ॥ ४३ ॥

सम्बन्धस्तस्य हेतुर्वा तद्ग्रहे न च कारणम् ।
स्वरूपतो गृहीतेऽर्थे पश्चादेतद् विकल्प्यते ॥ ४४ ॥

कथित सामान्यान्तर की कल्पना से जनित अनवस्था के द्वारा सामान्य के नाश की कल्पना तभी सफल हो सकती थी यदि जाति व्यक्ति का सम्बन्ध का अथवा उस सम्बन्ध हेतु सामान्य ग्रहण के लिये अपेक्षित होता, किन्तु ऐसा नहीं है। स्वरूपतः गृहीत अर्थ में ये विकल्पनायें उपस्थित होती हैं ॥ ४४ ॥

सास्नाद्येकार्थसम्बन्धि गोत्वमित्युपलक्षणम् ।
न च स्वसमवाय्येव केवलं चिह्नमिष्यते ॥ ४५ ॥

(पूर्वपक्ष) भाष्यकार ने जाति स्वरूप आकृति का 'सास्नादिविशिष्टाऽऽकृतिः' (शाबरभाष्य पृ० ५० पं० १) ऐसा लक्षण लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि गोत्वादि सामान्यों का ग्रहण सास्नादि के ग्रहण की अपेक्षा रखता है, क्योंकि गोत्वादि यदि सास्नादि विषयों से युक्त हैं तो फिर विशेषणज्ञान के विना विशिष्ट ज्ञान संभव ही नहीं है, 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामति' ऐसा नियम है। गोत्वादि सामान्यों का ग्रहण अनपेक्ष कैसे है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि गो स्वरूप एक अर्थ में गोत्वादि जातियाँ सास्नादि के साथ हैं। इस प्रकार गोत्वादि सामान्यों का सास्नादि के साथ 'एकार्थसमवाय' सम्बन्ध उत्पन्न होता है।

तदनुसार गो शब्द के अर्थ को समझाने के लिये सास्नादि अर्थों के सामानाधिकरण्य का उल्लेख भाष्य में किया गया है। इसलिये सास्नादि गोत्वादि जातियों के उपलक्षण हैं, विशेषण नहीं। व्यावर्त्तक होने पर भी विशेष्य में जिसकी सत्ता नियमित न रहे, उसे 'उपलक्षण' कहते हैं। कुरुक्षेत्र, गुरुटीका इत्यादि स्थलों में क्षेत्र में कुरु का स्वामित्व वर्त्तमान काल में न रहने पर भी अन्य क्षेत्रों से अविद्यमान कुरुसम्बन्ध यथेष्ट है। गुरुटीका (बृहती) को भी अन्य टीकाओं से व्यावृत्ति की बुद्धि अविद्यमान गुरुसम्बन्ध से होती है। अतः गोत्वादि सामान्य सास्नादि सापेक्ष नहीं हैं। तस्मात् केवल 'स्वसमवायी' अर्थात् वर्त्तमान काल में (एकार्थ) समवाय सम्बन्ध से विद्यमान वस्तु ही 'चिह्न' अर्थात् व्यावर्त्तक हो—यह नियम नहीं है ॥४५॥

सास्नादिभ्यस्तु पिण्डस्य भेदो नात्यन्ततो यदा ।
सामान्यस्य च पिण्डेभ्यस्तदा स्यादेतदुत्तरम् ॥ ४६ ॥

गोपिण्ड और सास्ना ये दोनों भी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। एवं गोत्व सामान्य एवं गोपिण्ड ये दोनों भी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। इसी तरह सास्ना और गोत्व जाति अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, फलतः अभिन्न है। इसलिये सास्ना के द्वारा गोत्व के ग्रहण से सामान्य की निरपेक्षता में कोई बाधा नहीं आती है ॥४६ ॥

कस्मात् सास्नादिमत्स्वेव गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यकस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ॥ ४७ ॥
उपलब्ध्यनुसारेण व्यवस्थासिद्धिरीदृशी ।
स्वतो गोत्वादिभेदस्तु न तु व्यञ्जकभेदतः ॥ ४८ ॥
मा भूद् द्रुताविवन्मिथ्या व्यञ्जकस्य तु किंकृतः ।
भेदो हस्त्यादिपिण्डेभ्यः स्वतश्चेदिह तत्समम् ॥ ४९ ॥

कस्मात्' 'गम्यताम्

सास्नादि से युत वस्तु में ही गोत्व का सम्बन्ध क्यों है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जिस लिये कि गोत्व सास्नादि से अभिन्न है। तादात्म्य ही सास्नादि

का गोत्व में क्यों है ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि 'स्वभाव' ही इसका कारण है, अर्थात् सास्नादि और गोत्व का तादात्म्य स्वाभाविक है ।। ४७ ।।

उपलब्ध्यनुसारेण''''ईदृशी

कुछ व्यक्तियाँ ऐसी होती हैं कि वे अपने कारणों के द्वारा जाति के अभेद के साथ ही उत्पन्न होतीं हैं, क्योंकि उन व्यक्तियों की उपलब्धि कभी जाति के अभेद को छोड़ कर नहीं होती है ।

स्वतो''व्यञ्जकभेदतः''मिथ्या

(पू० प०—कोई कहते हैं सामान्य और विशेष ये दो वस्तु अवश्य हैं । किन्तु इन में सामान्य एक ही है जिसे 'महासामान्य' कहा जाता है । वस्तुत्व स्वरूप उस महासामान्य की पृथिवीत्व द्रव्यत्वादि अवान्तर जातियाँ नहीं हैं । किन्तु वस्तुत्व स्वरूप वही महासामान्य गो घटादि व्यञ्जकों के भेद से गोत्व घटत्वादि विभिन्न रूपों से प्रतिभात होता है । जैसे कि आदर्श (दर्पण) के भेद से एक ही मुख भिन्न रूपों में प्रतिभात होता है अथवा ध्वनि के भेद से एक ही वर्ण उच्च मन्द्रादि भेदों से भिन्न रूपों में भासित होता है । किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि :—)

गोत्व घटत्वादि व्यक्तियों में जो भेद है, वह स्वाभाविक है, व्यञ्जकभेदमूलक नहीं है । यदि ऐसा मानेंगे तो जिस प्रकार वर्णों में द्रुतत्वादि की प्रतीतियाँ प्रमा नहीं होतीं मिथ्या होतीं हैं उसी प्रकार गोत्व घटत्वादि में भेद की प्रतीति भी मिथ्या होगी । किन्तु सो उचित नहीं है, क्योंकि उन प्रतीतियों को सभी प्रमा मानते हैं ।

व्यञ्जकस्य''पिण्डेभ्यः

गोत्व के शाबलेयादि अभिव्यञ्जकों में हस्तित्वादि के अभिव्यञ्जक हस्ति प्रभृति के पिण्डों के जो भेद हैं, उनका प्रयोजक कौन है ?

स्वतः

यदि इस प्रश्न का यह उत्तर दें कि दोनों जातियों के दोनों अभिव्यञ्जक पिण्डों में भेद स्वतः है अर्थात् स्वाभाविक है ।

तत्समम्

तो फिर उन व्यञ्जकों के व्यङ्ग्य गोत्व हस्तित्वादि जातियों में भी जो भेद हैं, उन्हें भी 'स्वतः' अर्थात् स्वभावसिद्ध कहा जा सकता है[1] ।। ४७–४९ ।।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यदि गो हस्ति प्रभृति स्वभावसिद्ध भेदवाले पिण्डों में एक ही वस्तुत्व स्वरूप महासामान्य गोत्व हस्तित्वादि विभिन्न सामान्यों के रूप में देखा जाता है तो फिर शाबलेय गो एवं बाहुलेय गो इन दो विभिन्न गो व्यक्तियों में भी वस्तुत्वावान्तर अनेक गोत्व जातियों की प्रतीति होती । किन्तु सो नहीं होती है, अतः यह मानना होगा कि हस्त्यादि पिण्डों से शाबलेयादि गो पिण्डों में कोई विलक्षणता अनुस्यूत है, जिससे वस्तुत्वान्तर गोत्व हस्तित्वादि जातियों की वास्तविक सत्ता सिद्ध होती है ।

व्यङ्ग्यजातिविशेषाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम् ।
तस्मात् स्वाभाविको भेदो जातिव्यक्त्योः प्रतीयते ॥५०॥

व्यङ्ग्यजातिविशेषाच्चेत्

पूर्वपक्ष—गोत्व हस्तित्वादि व्यङ्ग्यजातियों में जो परस्पर भेद है, उसी से व्यक्तियों में भी भेद मानेंगे ?

प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम्

तो फिर यह 'अन्योन्याश्रय' दोष उपस्थित होगा कि गोत्व हस्तित्वादि जातियाँ परस्पर भिन्न इसलिये हैं कि उनकी गो हस्ति प्रभृति व्यक्तियाँ भिन्न हैं और गो हस्ति प्रभृति व्यक्तियाँ परस्पर भिन्न इसलिये हैं कि उनसे अभिव्यक्त होनेवाली गोत्व हस्तित्वादि जातियाँ परस्पर भिन्न हैं।

तस्मात्''प्रतीयते

'तस्मात्' यही स्वीकार करना उचित है कि गोत्वादि जातियों में एवं गो हस्ति प्रभृति व्यक्तियों में स्वभावसिद्ध भेद की ही प्रतीति होती है, अर्थात् दोनों में स्वभावसिद्ध भेद ही हैं ॥ ५० ॥

अनेकानन्यवृत्तित्वात्त सामान्यविशेषयोः ।
एकवस्त्वात्मता युक्ता वरं तेनौपचारिकम् ॥ ५१ ॥

बौद्धों का पूर्वपक्ष है कि वैशेषिक लोगों की तरह जाति और व्यक्ति इन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि समवाय सम्बन्ध की प्रतीति में आधार आधेय दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे कि 'इह तन्तुषु पटः, इह कपालेषु घटः' इत्यादि स्थलों में होता है। किन्तु जाति और व्यक्ति की प्रतीति इस प्रकार की नहीं होती है, किन्तु 'अयं गौः' इत्यादि आकारों को अभेदविषयिणी होती है। अतः आप (मीमांसक) लोग जो सामान्य और विशेष इन दोनों को उभयात्मक मानते हैं, सो युक्त नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं का एक होना (एकात्मता) संभव नहीं है। सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि सामान्य है 'अनेकवृत्ति' और विशेष है 'एकमात्रवृत्ति।

तस्मात् सामान्य ज्ञान का ही एक विशेष आकार है। इसलिये सामान्य और विशेष 'एकात्मक' ही हैं। सामान्य के साथ साथ 'स्वलक्षण' व्यक्ति भी उसी प्रकार भासित होती है, जैसे कि 'शब्द' के साथ 'प्रतिशब्द' भी भासित होता है। तस्मात् कथित जाति और व्यक्ति दोनों के भेद की प्रतीति और अभेद की प्रतीति इन दोनों में से एक को भ्रान्ति स्वरूप अथवा औपचारिक (गौण) मानना होगा ॥ ५१ ॥

भिन्नेभ्यश्चाप्यभिन्नत्वाद् भेदस्तत् स्वात्मवद् भवेत् ।
एकस्माद् वाप्यभिन्नत्वाद् व्यक्त्येकत्वं प्रतीयते ॥ ५२ ॥

भिन्नेभ्यश्चाप्यभिन्नत्वात्

यदि सामान्य और विशेष इन दोनो को अभिन्न मानें तो उनकी 'द्विरूपता' अर्थात् सामान्यविशेषरूपता ही भङ्ग हो जायगी, क्योंकि इन निरूपणों से यह

अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार शाबलेयादि प्रत्येक पिण्ड परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार गोत्व सामान्य पिण्ड के भेद से भिन्न है, क्योंकि सामान्य परस्पर भिन्न व्यक्ति से अभिन्न है (सामान्यं प्रतिपिण्डं भिन्नं भिन्नेभ्योऽनन्यत्वात् गवादिपिण्डस्वरूपवत्) इससे सामान्य का परस्पर विभिन्न व्यक्तियों में आनुगत्य स्वरूप असाधारण्य ही भङ्ग हो जायगा।

इसी प्रकार सामान्य और विशेष (जाति और व्यक्ति) इन दोनों को यदि अभिन्न मानेंगे तो व्यक्तियों का विभिन्न स्वरूप अर्थात् 'विशेषत्व' ही भंग हो जायगा, क्योंकि व्यक्तियाँ सामान्य से अभिन्न हैं, अतः सर्वत्र एक स्वरूप की ही हैं (व्यक्तयः सर्वत्रैकरूपाः सामान्यादनन्यत्वात् सामान्यरूपवत्) ॥ ५२ ॥

एकानेकत्वमेकस्य तथान्यानन्यता कथम्।
तत् सामान्यं विशेषश्चेत्येवमादि च दुष्करम् ॥ ५३ ॥

एकाऽनेकत्वमेकस्य

सामान्य और विशेष इन दोनों को यदि अभिन्न मानें तो और भी कई प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ेगा। गोत्व सामान्य एक है, गो व्यक्तियाँ अनेक हैं। यदि दोनों को अभिन्न मानें तो एकात्मक सामान्य को भी अनेकात्मक, और अनेकात्मक विशेष को भी एकात्मक मानना होगा।

तथाऽन्यानन्यता कथम्.....दुष्करम्

सामान्य और विशेष (जाति और व्यक्ति) इन दोनों को यदि अभिन्न मानें तो एक ही सामान्य को 'स्व' स्वरूप से अभिन्न और व्यक्ति स्वरूप से अभिन्न मानना होगा। एक ही वस्तु किसी दूसरी वस्तु से भिन्न और अभिन्न दोनों ही नहीं हो सकता। तस्मात् सामान्य और विशेष इत्यादि प्रकार का विभाग युक्त नहीं है ॥ ५३ ॥

विरोधस्तावदेकान्ताद् वक्तुमत्र न युज्यते।
सामान्यानन्यविज्ञाते विशेषे, नैकवृत्तिता ॥ ५४ ॥
सामान्यानन्यवृत्तित्वं विशेषात्मैकभावतः।
एवञ्च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना ॥ ५५ ॥

विरोधस्तावत्...नैकवृत्तिता...सामान्या...एकभावतः

(सि० प०) सामान्य और विशेष इन दोनों को अभिन्न मानते हुये भी हम लोग (मीमांसकगण) उन दोनों को गो महिषवत् अत्यन्त भिन्न मानते। इसलिए एकान्त विरोध का उद्भावन यहाँ उचित नहीं है। आप (बौद्धगण) भी सामान्यविषयक और विशेषविषयक दो स्वतन्त्र बुद्धियाँ स्वीकार करते हैं। इनमें प्रथम में सामानाधिकरण्य स्वरूप एकत्व एवं द्वितीय में नानात्व का जो अबाधित प्रतिभास होता है उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सामान्य यदि केवल अनेकवृत्ति होता, किं वा विशेष केवल अनन्यव्यक्तिवृत्ति होता तो ये विरोध कदाचित् संभव भी होते। किन्तु विशेष चूँकि सामान्य

भी है, अतः सामान्य स्वरूप से वह अनेकवृत्ति भी है। इसी प्रकार सामान्य यदि विशेष से अभिन्न है तो वह अपने विशेष स्वरूप के बल से अनन्यवृत्ति भी है। अतः कथित विरोधों की कोई संभावना नहीं।

एवञ्च कल्पना

इसी प्रकार भिन्नाऽभिन्नकल्पना को भी निरस्त करना चाहिए, क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों न एकान्ततः भिन्न ही हैं न एकान्ततः परस्पर अभिन्न ही हैं ॥ ५४–५५ ॥

केनचिद्व्यात्मनेकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्।
सामान्यस्य तु यो भेदं ब्रूते तस्य विशेषतः ॥ ५६ ॥

दर्शयित्वाभ्युपेतव्यम् विशेषैक्यं च जातितः।
यथा कल्माषवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः ॥ ५७ ॥

चित्रत्वाद् वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम्।
सामान्यांशे तु निष्कृष्य भेदो येन प्रसाध्यते ॥ ५८ ॥

तस्य हेतोरसिद्धत्वं सिद्धश्चेत् सिद्धसाधनम्।
भेदेभ्योऽनन्यरूपेण सामान्यं गृह्यते यदा ॥ ५९ ॥

तदा विशेषमात्रेण वस्तु प्रत्यवभासते।
तदुद्भूत्या च सामान्यं तद्भावानुगुणं स्थितम् ॥ ६० ॥

केनचित्''केनचित्

गोत्व जाति में शाबलेय गो का भी अभेद है, एवं बाहुलेय गाय का भी। शाबलेय गो से अभिन्नता जिस समय गोत्व में प्रतिभासित होती है, उस समय उसमें बाहुलेय गाय से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूपतः गोत्व में कोई अन्तर नहीं आता। गो व्यक्ति भी जब स्वगत गुण, क्रिया, या द्रव्यत्वादि अन्य जातियों से पुरस्कृत होकर प्रतिभासित होती है तो गोत्व जाति से भिन्न ही प्रतीत होती है। किन्तु स्वरूपतः कोई प्रतिभासित नहीं होता। इसी प्रकार शाबलेय गो व्यक्ति भी बाहुलेय गो से गोत्व रूप से भिन्न नहीं है, क्योंकि शाबलेय गो भी 'गो' है एवं बाहुलेय गो भी 'गो' है। किन्तु स्वरूपतः अर्थात् शाबलेयत्व रूप से एवं बाहुलेयत्व रूप से दोनों भिन्न ही हैं[1]।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जाति और व्यक्ति दोनों में भेद और अभेद दोनों आपेक्षिक है। आपेक्षिक धर्मों में अत्यन्त विरोध नहीं होता, क्योंकि अपेक्ष्य के भेद से विरुद्ध धर्मों का भी एकत्र समावेश होता है। जैसे कि एक ही वस्तु किसी की अपेक्षा ह्रस्व और किसी की अपेक्षा दीर्घ होता है। इस प्रकार एक ही चैत्र चैत्र-मैत्र-एतदुभय से भिन्न होने के कारण केवल चैत्र से भिन्न है किन्तु 'स्वरूपतः' अर्थात् केवल चैत्र से अभिन्न भी है। 'पृथिवीजलयोर्न गन्धः' इत्यादि प्रतीतियों के अनुरोध से व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक एवं एकदेशधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद मानना आवश्यक है। इसी प्रकार 'एकानेकत्व' विरोध का भी परिहार करना चाहिये।

सामान्यस्य''''विशेषैक्यं च जातितः

श्लो० ५२ मे जो दो अनुमानों के द्वारा जातियों को अनेक मानने पर एवं एक व्यक्ति को 'एक' मानने पर जो एकानेकत्वविरोध एवं अन्यानन्यत्वादिविरोधों का उद्भावन किया गया है, उन दोनों ही अनुमानों के हेतुओं में 'सिद्धसाधन' दोष समझना चाहिये ।

यथा कल्माषवर्णस्य'''चित्रत्वाद्वस्तुनः

जिस प्रकार अनेक प्रकार के नीलपीतादि वर्णों से युक्त अर्थात् चित्र रूप से युक्त द्रव्य में यद्यपि सभी रूप समान रूप से रहते हैं, उनमें यदि 'कल्माष' (चित्ररूप) वर्ण सभी वर्णों में से परिस्फुट रहता है तो कल्माष वर्ण को अन्य रूपों से अलग कर समझाया जा सकता है । इसी प्रकार नाना स्वरूप के जो वस्तु हैं, उनके किसी स्वरूप को सामग्रीभेद से स्वतन्त्र रूप से समझाया जा सकता है ।

इसलिये 'सामान्यं प्रतिव्यक्ति भिन्नं भिन्नेभ्योऽनन्यत्वात्' एवं 'व्यक्तय एकरूपाः सामान्यानन्यत्वात्' इन दोनों अनुमानों के हेतुओं में क्रमशः 'असिद्ध' एवं सिद्धसाधन' दोष समझना चाहिये, क्योंकि यदि हेतुओं की अर्थात् 'भिन्नेभ्योऽनन्यत्वात्' एवं 'सामान्यादनन्यत्वात्' इन दोनों हेतुओं की सत्ता क्रमशः 'सामान्य' एवं 'विशेष' स्वरूप पक्ष में स्वीकार नहीं करेंगे तो हेतु 'असिद्ध' हो जायगा एवं यदि सत्ता को स्वीकार करेंगे तो 'सिद्धसाधन' दोष होगा ।

भेदेभ्योऽनन्यरूपेण''''यदा

(पू० प०) यदि सामान्य और विशेष अभिन्न हैं और भिन्न भी हैं, यदि सामान्य 'सामान्य विशेष एतदुभयात्मक' है अथवा विशेष और सामान्य एतदुभयात्मक हैं, तो फिर सामान्य अपने 'स्वरूप' अनुवृत्तत्व और विशेष के 'स्वरूप' व्यावृत्तत्व के द्वारा सर्वदा प्रकाशित क्यों नहीं होता ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

जिस प्रकार नाना स्वरूप की वस्तुओं में अनेक स्वरूपों में से जो स्वरूप जिस समय प्रकट रहता है, उस समय वह वस्तु नानात्मक होते हुये भी उसी एक (प्रकट) रूप में प्रकाशित होती है । वस्तुओं के अनेक स्वरूप के वास्तविक होते हुये भी सर्वदा उन सभी रूपों में वे प्रकाशित नहीं होतीं ।

तदा विशेषमात्रेण''''स्थितम्

इस वस्तुगति के अनुसार 'भेदों' से अर्थात् विशेषों से अभिन्न रूप में जिस समय सामान्य का ग्रहण होता है, उस समय वह 'सामान्य' अपने अनुवृत्तत्व रूप से प्रकाशित न होकर 'विशेष' के 'व्यावृत्तत्व' रूप से ही प्रतिभासित होता है। अर्थात् उस समय सामान्य विशेषों से अभिन्न रूप में प्रकाशित होता है ॥ ५६–६० ॥

सदप्यग्राह्यरूपत्वादसद्वत् प्रतिभाति नः ।
विशेषानपि सामान्याद् यदा भेदेन बुद्ध्यते ॥ ६१ ॥

तदा सामान्यमात्रत्वमेवमेव प्रतीयते।
यदा तु शबलं वस्तु युगपत् प्रतिपद्यते॥ ६२॥
तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते।
न च तत् तादृशं कश्चिच्छब्दः शक्नोति भाषितुम्॥ ६३॥
सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्त्तते।
समस्तवस्त्वपेक्षां च पदार्थानामपोद्धृतिम्॥ ६४॥
केचिदाहुरसद्रूपमंशत्वं तु न वार्यते।
सारूप्यमेव सामान्यं पिण्डानां येन कल्प्यते॥ ६५॥

सदप्यग्राह्यरूपत्वात् ''प्रतिभाति नः

सामान्य का विशेष रूप से प्रतिभास के समय उसका अपना अनुवृत्तत्व स्वरूप भी विद्यमान ही रहता है। किन्तु अप्रतिभासित होने के कारण अविद्यमान सा प्रतीत होता है।

विशेषाणामपि''''एवमेव प्रतीयते

इसी प्रकार विशेषों की प्रतीति जब सामान्य से अभिन्न रूप में होती है, तो कथित रीति से विशेषों में केवल अनुवृत्तत्व स्वरूप सामान्य की ही प्रतीति होती है, विशेषों के व्यावृत्तत्व स्वरूप असाधारण धर्म की प्रतीति नहीं होती है। ये प्रधान-गौणभाव से सामान्य की व्यावृत्तत्व रूप से प्रतीति एवं विशेष की अनुवृत्तत्व रूप से प्रतीति की बातें केवल सविकल्पक प्रत्यक्षात्मक ही जाननी चाहिये।

यदा तु शबलं वस्तु''''प्रतीयते

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के समय तो सभी पदार्थ अन्य-अनन्य, भेद-अभेद प्रभृति विकल्पों से रहित केवल 'संमुग्ध' रूप में ही भासित होते हैं। उस समय कोई भी प्रधान नहीं, कोई भी गौण नहीं।

न च तत्तादृशम् '' भाषितुम्

(पूर्वपक्ष) यदि सभी पदार्थ 'एकाऽनेकाकारक' हैं, तो शब्दों से सभी पदार्थों का 'एकाऽनेकाकारक' ही बोध होना उचित है। इस प्रकार केवल जातिवाचक कोई शब्द नहीं रहेगा। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

इस प्रकार के शब्दों का कोई प्रयोग नहीं कर सकता। केवल सभी वस्तुओं के सामान्यांश को आगे कर उसको समझाने के लिये सभी शब्द प्रवृत्त होते हैं। इसी लिये सभी शब्दों को जातिवाचक कहा जाता है।

समस्तवस्त्वपेक्षां च''''अपोद्धृतिम् '' केचिदाहुरसद्रूपम्

इसीलिये किसी का कहना है सभी शब्द 'अर्थासंस्पर्शी' हैं। अर्थात् पदार्थ में जो एकानेकत्वादि विरुद्ध धर्म हैं, उनमें से एक का 'आवाप' (ग्रहण) और 'अन्यों'

को 'अपोद्धृति' (तिरस्कृति) ये दो ही काम शब्दों के हैं। इस लिये शब्द कथित 'आवाप' और कथित 'अपोद्धृति' इन दोनों का ही वाचक है, 'अर्थ' विशेष का नहीं। इस लिये शब्द 'अर्थासंस्पर्शी' है।

अंशत्वं तु न वार्यते

किन्तु यह 'अर्थासंस्पर्शत्व' वाला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थों के जिस अंश का 'आवाप' होगा—वह चाहे अनुवृत्तत्व स्वरूप सामान्यांश हो, अथवा व्यावृत्तत्व स्वरूप विशेषांश हो वह शब्द का 'अर्थ' अवश्य रहेगा। अर्थात् उसमें शब्दसंस्पर्श (वाच्यत्वस्वरूप सम्बन्ध) अवश्य रहेगा। कथित 'अपोद्धृति' से उसमें शब्दवाच्यत्व (अर्थसंस्पर्श) का निराकरण नहीं किया जा सकता।

सारूप्यमेव प्रतिपद्यते

इसी प्रकार जो सम्प्रदाय पिण्डों में (व्यक्तियों में) 'सारूप्य' अर्थात् 'सादृश्य' को ही 'सामान्य' कहते हैं (सामान्य को अनुवृत्ति प्रत्ययकारणत्व रूप नहीं मानते) ॥ ६५ ॥

तेन सारूप्यशब्देन किं पुनः प्रतिपद्यते।
समानरूपभावश्चेज्जातिः सास्माभिरिष्यते ॥ ६६ ॥

तेन सारूप्यशब्देन ''प्रतिपद्यते

उन्हें पूछना चाहिये कि आप लोग प्रकृत में 'सारूप्य' शब्द से क्या समझते हैं?

समानरूपभावश्चेत्

यदि 'सामानरूपभाव' अर्थात् विभिन्न पिण्डों में समानरूपता ही 'सारूप्य' है, तो हमलोग (मीमांसकगण) इस बात को स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हमलोग उसे 'जाति' कहते हैं, 'सारूप्य' नहीं ॥ ६६ ॥

सादृश्यमथ सारूप्यं कस्य केनेति कथ्यताम्।
न तावच्छाबलेयेन बाहुलेयादयः समाः ॥ ६७ ॥
विशेषरूपतो येऽपि तत्संस्थानादिभिः समाः।
शाबलेय इवेति स्यात् तत्र बुद्धिर्न गौरिव ॥ ६८ ॥

सादृश्यमथ सारूप्यम्

यदि यह कहो कि कथित सारूप्य 'सादृश्य' स्वरूप है?

कस्य केन

तो फिर यह निरूपण करना होगा कि किसके साथ किसका सादृश्य प्रकृत में सारूप्य है?

न तावत् शाबलेयेन''विशेषरूपतः

बाहुलेय प्रभृति 'गो' शाबलेय गाय के विशेष रूप (तद्व्यक्तित्व) से सदृश तो नहीं हैं।

येऽपि तत्संस्थादिभिः''न गौरिव

बाहुलेयादि सभी गो में शाबलेय 'गो' के संस्थानादिगत साम्य हैं, उनसे 'बाहुलेयादि गो भी शाबलेय गो के समान हैं' (बाहुलेयादयः शाबलेय इव) इस आकार की सादृश्यबुद्धि होगी किन्तु 'यथा शाबलेयो गौः तथा बाहुलेयादिकमपि गौः' (बाहुलेयादि गो भी शाबलेय गो के समान ही 'गो' हैं) इस आकार की सादृश्यबुद्धि नहीं होगी जिससे शाबलेय गो सहित बाहुलेयादि सभी गो में समान रूप से गोत्व की बुद्धि नहीं होगी ॥ ६७–६८ ॥

> **शाबलेयोऽयमिति वा भ्रान्त्या गौरिति नास्ति धीः ।**
> **शाबलेयस्वरूपं च न गौरित्यवतिष्ठते ॥ ६९ ॥**

शाबलेयोऽयम्''न गौरित्यवतिष्ठते

बाहुलेय प्रभृति गो एवं शाबलेय गो इन दोनों में 'यथा शाबलेयो गौः तथा बाहुलेयादिकमपि गौः' इस आकार की गोत्वविषयक बुद्धि वास्तविक न होकर भ्रान्ति स्वरूप हो जायगी ।

शाबलेयस्वरूपं च

किन्तु सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि गोत्व और शाबलेयत्व एक नहीं हैं। गोत्व शाबलेयत्व का व्यापक है, क्योंकि शाबलेय गो से भिन्न बाहुलेयादि गो में भी है ॥ ६९ ॥

> **तदन्येषु हि गोबुद्धिर्न स्यात् सुसदृशेष्वपि ।**
> **दृश्यते सा न चान्यत्र गोरूपं तत्र विद्यते ॥ ७० ॥**

गोत्व और शाबलेयत्व दोनों समनियत धर्म भी नहीं हैं, क्योंकि शाबलेय-भिन्न जितने भी बाहुलेयादि गो हैं, उनमें किसी भी अभ्रान्त पुरुष को 'ये सभी शाबलेय गो हैं' इस आकार की भ्रमभिन्न प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि 'नेमे शाबलेयाः' इस आकार की बाधबुद्धि बाद में होती है ।

इस प्रकार बाहुलेयादि सभी गो में गोत्व की जो 'इमे सर्वे गावः' इस आकार की प्रमा प्रतीति होती है, वह भी न हो सकेगी, किन्तु सभी गायों में गोत्व की अभ्रान्त प्रतीति को सभी स्वीकार करते हैं । किन्तु आप के मत में शाबलेयादि सभी गो में प्रत्येकशः रहने वाले तत्तद्व्यक्तित्व को छोड़कर सभी गो व्यक्तियों में अनुस्यूत गोत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥ ७० ॥

> **न चान्यो गौः प्रसिद्धोऽस्ति तत्सादृश्येन धीर्भवेत् ।**
> **न चापि स इति ज्ञानं सदृशेष्वस्ति सर्वदा ॥ ७१ ॥**
> **सर्वपुंसामतो भ्रान्तिर्नैषा बाधकवर्जनात् ।**
> **सर्वज्ञानानि मिथ्या च प्रसज्यन्तेऽत्र कल्पने ॥ ७२ ॥**

न चान्यो गौः'''धीर्भवेत्

यदि 'गौः' इस आकार से प्रतिभासित होने वाला (एवं शाबलेयत्व रूप से प्रतिभासित होने वाला) कोई होता तो उस गो में रहने वाले 'गोत्व' की भ्रान्ति

अन्यत्र भी होती जिससे वे गोबुद्धि के द्वारा प्रतिभासित होते। अतः गोत्व से युक्त शावलेय गो के साहश्य से अन्य गो में साहश्य स्वरूप 'सामान्य' बुद्धि की उपपत्ति नहीं हो सकती।

न चापि''''सर्वदा

यह वस्तुगति के विरुद्ध भी है कि शावलेय गोसदृश वाहुलेयादि गो में 'ये वही हैं' अर्थात् शावलेय ही हैं, इस आकार की वुद्धि भी नहीं होती है जिससे उस सामान्य बुद्धि को नियमतः भ्रान्ति रूप मानें।

सर्वपुसाम्''वर्ज्जनात्

शावलये गो में गोत्व की बुद्धि की तरह वाहुलेयादि अन्य गो में जो 'इमे अपि गावः' (ये भी गो हैं) इस आकार की बुद्धि सभी लोगों में होती है—उसको मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके वाद 'नेमे गावः' इस आकार की बाधक बुद्धि का उदय नहीं होता है।

सर्वज्ञानानि''अत्र कल्पने

आगे बाधक बुद्धि के होने पर भी ज्ञानों को यदि मिथ्या मानें तो फिर सभी ज्ञानों में मिथ्यात्व की आपत्ति होगी ॥ ७१–७२ ॥

विशेषग्रहणाभावादेव गौः कश्च कथ्यताम्।
बभूव यद्यसौ पूर्वमस्मदादेस्तदग्रहात् ॥ ७३ ॥

दूसरी बात यह है कि जिस एक व्यक्ति में गोत्व के रहने से अन्य गो व्यक्तियों में साहश्यवश गोत्व की भ्रान्ति होगी, उस गो व्यक्ति का निर्द्धारण कैसे होगा? गोत्व से युक्त गोव्यक्ति का विशेष धर्म गृहीत नहीं है जिससे अन्य गोव्यक्तियों से उसे अलग समझा जाय। किन्तु उसमें उस गोत्व रूप सामान्य धर्म से अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं होती है।

बभूव यद्यसो''''तदग्रहात्

(पू० प०) यदि यह कहें कि जगत् की सृष्टि की आदि में ब्रह्मा ने एक गो की सृष्टि की। उसी गो में मुख्यतः गोत्व की सत्ता है। आज वर्त्तमानकाल में जिन गो व्यक्तियों की सृष्टि होती है, उनमें कथित आदिकालिक गो व्यक्ति का साहश्य है, अतः इनमें गोत्व की भ्रान्ति होती है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

आदि काल में जिस गो व्यक्ति की सृष्टि हुई, उस गो व्यक्ति का ग्रहण अभी हम लोगों को सम्भव नहीं है। अतः उसमें गृहीत गोत्व का आरोप भी वर्त्तमानकाल के गो व्यक्तियों में नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

सादृश्यावधृतिर्नास्तीत्यतो गोधीर्न लभ्यते।
न चावयवसामान्यैर्विना सादृश्यकल्पना ॥ ७४ ॥

दूसरी बात यह है कि यदि जातिस्वरूप सामान्य को स्वीकार न करें तो साहश्य की भी उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि साहश्य के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों

के अवयवों में रहनेवाले सामान्यों के बिना उनके अवयवियों में सादृश्य की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ ७४ ॥

सामान्यप्रत्ययोत्पादो न विशेषेषु जायते ।
व्यक्तितश्चातिरेकोऽस्य स्यान्न वेति विचारिते ।
ग्रन्थे विन्ध्यनिवासेन भ्रान्तेः सादृश्यमुच्यते ॥ ७५ ॥

सामान्यप्रत्ययोत्पादः''जायते

(यदि यह कहें कि अवयवों में किसी सामान्य के न रहने पर भी वे सामान्य रूप से गृहीत हो सकते हैं जैसे कि रजत के न रहने पर भी केवल विद्यमान रङ्ग (रांगा) रजतत्व रूप से गृहीत हो सकता है) इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा गृहीत अवयवों के सामान्य से ही प्रथम सृष्ट गो एवं अन्य गो व्यक्तियों में सादृश्य की बुद्धि हो सकती है । इस आक्षेप का यह समाधान है—)

अनेक व्यक्तियों में ही सामान्य की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि अनेक व्यक्तियों में समानाकारकबुद्धिविषयत्व ही 'सामान्य' है । इसलिये किसी एक शावलेय गो व्यक्ति में गृहीत गोत्व के द्वारा बाहुलेयादि सभी गो व्यक्तियों में गोत्व की प्रतीति नहीं हो सकती ।

व्यक्तितश्चातिरेकः''विचारिते

(यदि यह कहें कि सादृश्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है, अवयवों की समानता सादृश्य नहीं है । अतः सामान्य के बिना सादृश्य की अनुपपत्ति नहीं है । इसका यह प्रत्युत्तर है कि—)

जाति (सामान्य) व्यक्तियों से भिन्न है अथवा अभिन्न यह विचार उपस्थित होने के बाद यह अवान्तर विचारान्तर उपस्थित होता है कि 'सामान्य सादृश्यस्वरूप है, अथवा व्यक्तिस्वरूप है । इसी प्रसंग में हम लोगों ने (मीमांसकों ने) कहा है कि 'सारूप्य' अर्थात् सामान्य व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न नहीं है । आचार्य विन्ध्यवासी ने भ्रान्ति के वशीभूत होकर ही सामान्य को सादृश्य स्वरूप कहा है ॥ ७५ ॥

इत्याकृतिवादः समाप्तः ॥

अथ अपोहवादः

अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम् ॥ १ ॥

जिन (बौद्ध) लोगों ने 'अगोनिवृत्ति' स्वरूप 'अपोह' नाम के सामान्य को ही गोपद का वाच्य[1] कहा है, उन्होंने वस्तुतः 'अपोह' शब्द से 'गोत्व' नामक जाति (स्वरूप भावपदार्थ) में ही गोपद की शक्ति को स्वीकार किया है ॥ १ ॥

---

१. शब्द का वाच्य कौन है ? यही प्रकृत प्रश्न है । मीमांसकगण सामान्य अथवा जाति को ही शब्द का वाच्य मानते हैं । व्यक्तियों को शब्द का वाच्य मानने में 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' इन दो दोषों का उद्भावन वे लोग करते हैं ।

भावान्तरमभावो हि पुरस्तात् प्रतिपादितः ।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम् ॥ २ ॥
नेष्टोऽसाधारणस्तावद् विषयो निर्विकल्पनात् ।
तथा च शाबलेयादेरसामान्यप्रसङ्गतः ॥ ३ ॥

भावान्तरमभावो हि···प्रतिपादितः

क्योंकि यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि दूसरे भाव पदार्थ का ही नाम 'अभाव' है (देखिये निरालम्बनवाद श्लोक ११८)

तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा···कथ्यताम्

'दूसरे भाव का ही नाम अभाव है' इस प्रतिपादित लक्षण के अनुसार बौद्धगण यदि इस प्रश्न का यह उत्तर दें कि गोभिन्न अश्वादि की व्यावृत्ति स्वरूप अभाव (अपोह) किस दूसरे भाव का स्वरूप है ? फलतः प्रश्न यह है कि 'अगोनिवृत्ति' में जो गोशब्द की शक्ति मानते हैं, उससे किस व्यक्ति स्वरूप भाव पदार्थ का शाब्द-बोध होगा, क्योंकि शब्द की शक्ति जाति में मानिये अथवा व्यक्ति में मानिये, व्यक्ति का भान शाब्दबोध में अवश्य मानना होगा ?

व्यक्तियों में शक्ति स्वीकार करनेवाले नैयायिकादि से जातिशक्तिवादी मीमांसक और अपोहशक्तिवादी बौद्धगण दोनों ही समान रूप से पूछते हैं कि—(१) क्या सभी गो व्यक्तियों में गोपद की शक्ति का ज्ञान गोपद से होनेवाले शाब्दबोध स्वरूप 'व्यवहार' का अंग है ? (२) अथवा किसी एक गोव्यक्ति में गोपद की शक्ति के ग्रहण से ही उक्त शाब्दबोध स्वरूप 'व्यवहार' उपपन्न हो जाता है । इनमें प्रथम पक्ष को स्वीकार करने में 'आनन्त्य' दोष और द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने में 'व्यभिचार' दोष का उद्भावन मीमांसक और बौद्ध दोनों करते हैं ।

(१) 'आनन्त्य' दोष इस प्रकार लगता है कि गो व्यक्तियाँ असंख्य हैं, उन सभी व्यक्तियों की उपस्थिति एक ही समय सम्भव नहीं है । अतः व्यवहार के द्वारा उन सभी गो व्यक्तियों में संकेत ग्रहण स्वरूप शक्ति ग्रहण ही सम्भव नहीं है । गो व्यक्तियों के 'आनन्त्य' के कारण 'शक्ति ग्रहण की यह असम्भावना' स्वरूप दोष ही प्रकृत में संक्षेप से केवल 'आनन्त्य' दोष के नाम से प्रसिद्ध है ।

(२) प्रकृत 'व्यभिचार' को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूपों से लगाया है ।—

(क) जिस गो व्यक्ति में गोपद की शक्ति गृहीत है, उस गो व्यक्ति से अतिरिक्त गो व्यक्ति स्वरूप अर्थ का गो पद से भान नहीं होना ।

(ख) जिस गो में गो पद की शक्ति गृहीत नहीं है किन्तु उसका भी भान होता है । इस प्रकार व्यक्ति में शक्ति मानने से शक्तिज्ञान स्वरूप कारण के न रहने से भी कार्य की उत्पत्ति (रूप व्यभिचार) का होना ।

(ग) अथवा शक्तिज्ञान के अविषय गो व्यक्ति का यदि भान मानेंगे तो तुल्ययुक्त्या अश्वादि का भान मानना होगा, उसमें शक्ति का न रहना शाब्दबोध में भान का बाधक न होना ।

नेष्टोऽसाधारणस्तत्र····निर्विकल्पनात्

जिस असाधारण वस्तु का भान निर्विकल्पक ज्ञान में भाव स्वरूप जाति पदार्थ के द्वारा भी संभव है, उस असाधारण वस्तु का अतद्व्यावृत्ति स्वरूप अभाव पदार्थ रूप शाब्दबोध में भान कैसे होगा ?

तथा च···प्रसङ्गतः

क्योंकि ये शावलेय बाहुलेय प्रभृति जो गो विशेष हैं वे अगोनिवृत्ति रूप अपोह के द्वारा गोविकल्प के आलम्बन नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर यह अगोनिवृत्ति रूप अपोह सभी गो व्यक्तियों में रहने वाला सामान्य धर्म नहीं रह जायगा, शावलेयादि विशेषों का विशेष धर्म हो जायगा ॥ २–३ ॥

(घ) जिसमें शक्ति गृहीत हो, केवल उसी का शाब्दबोध में भान हो इस नियम का भंग हो जाता।

बौद्धगण स्वलक्षण सभी व्यक्तियों में किसी एक भाव का स्वरूप जाति को स्वीकार नहीं करते। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में जो स्वभिन्नभिन्नत्व रूप 'अतद्व्यावृत्ति' है, इस अतद्व्यावृत्तत्व धर्म के कारण सभी व्यक्तियों में सादृश्य के वश ऐक्य की प्रतीति अर्थात् अनुवृत्तित्व की प्रतीति को स्वीकार करते हैं। अतः बौद्धों के मत में यह अतद्व्यावृत्ति स्वरूप 'अपोह' ही शब्दों का 'वाच्य' अर्थ है।

बौद्ध का अभिप्राय है कि गो, अश्व, हस्ति प्रभृति अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं में भी ऊँट से विलक्षणता समान रूप से है। 'अनुष्ट्रत्व' रूप इस साधारण धर्म के कारण ही गो, हस्ति प्रभृति अत्यन्त विलक्षण वस्तु उष्ट्रभिन्नत्व (अनुष्ट्रत्व) रूप से सदृश प्रतीत होते हैं। अतः किंचिद्विलक्षण शाबलेय बाहुलेय प्रभृति गो व्यक्तियों में एकाकारकबुद्धि-विषयत्व रूप सादृश्य का नियामक गोभिन्न सभी पदार्थों से सभी गोव्यक्तियों का भिन्नत्व ही है। अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्तविलक्षण गो, अश्व, हाथी प्रभृति विलक्षण जीव उष्ट्राभिन्नत्व (अनुष्ट्रत्व) रूप से 'इमे जीवाः अनुष्ट्राः' इस एक आकार की प्रतीति (सादृश्य प्रतीति) के विषय होते हैं उसी प्रकार शावलेय गो बाहुलेय गो प्रभृति सभी गो व्यक्तियों के 'इमाः गावः' इस आकार की प्रतीति इसलिए होती है कि सभी व्यक्तियों से भिन्न जितनी भी अश्वादि व्यक्तियाँ हैं, सभी गो व्यक्तियाँ उनसे भिन्न हैं। इसलिए सभी गो व्यक्तियों में एकाकारक प्रतीति (अनुवृत्ति प्रतीति) इसलिये नहीं होती कि सभी गो व्यक्तियों में गोत्व जातिस्वरूप कोई एक भाव पदार्थात्मक धर्म है। अपि तु 'अगोनिवृत्ति' हीं वह सामान्य है। इसी प्रकार के अभाव स्वरूप सामान्यों से सभी एकाकारक प्रतीतियों की उत्पत्ति होती है। इसके लिये सामान्य अथवा जाति नामक एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। तस्मात् 'भेद' स्वरूप स्वीकृत पदार्थ से ही निर्वाह हो जायगा। यही है 'अपोह' सिद्धान्त का स्वारसिक संक्षिप्त सार।

यह ध्यान रखना चाहिये कि विभिन्न व्यक्तियों में एकाकारक प्रतीति को अपोहवादी बौद्ध एवं जातिवादी मीमांसकादि सभी स्वीकार करते हैं। इस प्रतीति का निर्वाह बौद्धगण 'अतद्व्यावृत्ति' स्वरूप 'भेद' पदार्थ से करते हैं। 'भेद' पदार्थ उभयसम्मत है।

शावलेयादिरूपं हि न सामान्यं परस्परम् ।
न वैकमितरेषां यस्तत्रानन्तार्थता भवेत् ॥ ४ ॥

शावलेयादि सभी गो व्यक्तियों में रहने वाला धर्म ही गो शब्द का वाच्य अर्थ है, वह भाव रूप गोत्व जाति स्वरूप हो ? अथवा अतद्व्यावृत्तत्व (अपोह) स्वरूप अभावात्मक हो ? शावलेय बाहुलेय गो प्रभृति गो व्यक्तियों के जो असाधारण स्वलक्षण धर्म हैं वे परस्पर एक दूसरे व्यक्तियों में अनुस्यूत नहीं हैं। एवं उन सभी व्यक्तियों में कोई एक असाधारण स्वलक्षण धर्म भी अनुस्यूत नहीं है। अतः यदि इन असाधारण विविध रूपों को गो शब्द का वाच्य मानेंगे तो गो शब्द 'हरि' शब्द के समान ही अनेकार्थक हो जायगा, क्योंकि अनेक प्रवृत्तनिमित्तों के द्वारा अनेक अर्थ का बोधक शब्द ही अनेकार्थक होता है ॥ ४ ॥

न च साक्षाद् विशेषस्य तेऽपोह्या इति युक्तिमत् ।
न शावलेयविज्ञानम् अगोव्यावृत्तिबन्धनम् ॥ ५ ॥

न च साक्षाद्विशेषस्य''इति युक्तिमत्

गो शब्द के अभिधेय अगोनिवृत्तिरूप अपोह के द्वारा शावलेयादि विशेष व्यक्तियों का शाब्दबोध उचित नहीं है, क्योंकि शावलेयादि अगोनिवृत्ति रूप अपोह के अपोह्य (व्यावर्त्य) नहीं हैं, अशावलेयादि व्यावृत्ति रूप अपोहों के अपोह्य हैं।

न शावलेयविज्ञानम्''व्यावृत्तिनिबन्धनम्

'अयं शावलेयो गौः अयं च बाहुलेयो गौः' इत्यादि आकार के शाब्दबोधों में शावलेयादि विशेष व्यक्तियों का भान अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा नहीं होता है किन्तु अशावलेयादि व्यावृत्ति स्वरूप अपोहों के द्वारा होता है, क्योंकि अशावलेय

इस 'भेद' में अनुवृत्तिप्रत्ययजनकता में ही विवाद है कि उक्त भेदस्वरूप उभयस्वीकृत अतद्व्यावृत्ति स्वरूप 'अपोह' उक्त एकाकारक प्रतीति का जनक है अथवा इस प्रतीति के लिये गोत्व नाम का अतिरिक्त एक भाव पदार्थ ही उसका जनक है। बौद्धों के पक्ष में यह लाघव है कि सामान्य नाम का एक अतिरिक्त पदार्थ नहीं स्वीकार करना पड़ता है।

मीमांसकादि जातिवादियों का कहना है कि अतद्व्यावृत्ति रूप अपोह नाम के अभाव पदार्थ से उक्त अनुवृत्ति प्रत्यय की उपपत्ति जब नहीं होती तब सामान्य पदार्थ को स्वीकार करने का गौरव स्वीकार करना ही होगा। स्वारसिक प्रतीति की उपपत्ति ही मुख्य है। यदि स्वारसिक प्रतीति की उपपत्ति को प्रधान न मानें तो सभी पदार्थों को अस्वीकार कर परम लाघव का लाभ उठाया जा सकता है।

'व्यक्तियों में शब्द की शक्ति नहीं है' इस सिद्धान्त पर बौद्ध और मीमांसक दोनों समानतावलम्बी हैं। नैयायिकादि इस सिद्धान्त के प्रतिपक्षी हैं। 'व्यक्ति' शक्तिपक्ष में कथित 'आनन्त्य' और व्यभिचार दोषों का उद्भावन नैयायिकादि के ऊपर बौद्ध और मीमांसक दोनों करते हैं। शब्द की शक्ति व्यक्ति में न मानकर बौद्ध कथित 'अपोह' में शक्ति मानते हैं एवं मीमांसकादि जाति रूप एक भाव पदार्थ में ही शक्ति मानते हैं, क्योंकि 'अपोह' में शक्ति को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

व्यावृत्तिरूप अपोह के अपोह्य बाहुलेय प्रभृति अन्य गो व्यक्तियाँ भी हैं। 'शाबलेयो गौः' इस शब्द से उत्पन्न बोध में शाबलेय गोभिन्नभिन्नत्व रूप अशाबलेयव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा ही शाबलेय गो का भान होता है, अगोव्यावृत्तिरूप अपोह (अगोऽपोह) के द्वारा नहीं। अशावलेय गो व्यावृत्ति स्वरूप अपोह के अपोह्यों में शावलेय गो से भिन्न बाहुलेयादि सभी गो व्यक्तियाँ एवं अश्वादि अन्य व्यक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के अपोह्यों में कोई भी गो व्यक्ति नहीं है। केवल सभी गो व्यक्तियों से भिन्न अश्वादि व्यक्तियाँ ही गो शब्द के अपोह्य हैं ॥ ५ ॥

निवृत्त्या बाहुलेयादेस्तद्विज्ञानं प्रवर्तते ।
कुर्यादगोनिवृत्तिं चेन्नापोहेतात्मवद्धि तान् ॥ ६ ॥

कुर्यादगोनिवृत्तिं चेत्

(पू० प०) यदि शावलेय गो का बोध अशाबलेय व्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा ही मान भी लें, तथापि 'शावलेयो गौः' इस शब्द से यदि अगोव्यावृत्ति (अगो-पोह) का भी भान शावलेय गो में स्वीकार करें तो इसमें कौन सी आपत्ति है ?

नापोहेतात्मवद्धि तान्

(सि० प०) 'शावलेयो गौः' इस शब्द से अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का भान नहीं हो सकता। प्रकृत में शावलेय गो का बोध शावलेय गो से भिन्न बाहुले-यादि गो व्यक्तियों के भेद स्वरूप अपोह अर्थात् भेद के द्वारा होता है अर्थात् वाहुलेयादि गो व्यक्तियाँ ही प्रकृत में अपोह्य हैं। यदि अगोव्यावृत्ति रूप अपोह में शक्ति के द्वारा शावलेय गो का भान मानें तो 'शावलेयो गौः' इस वाक्य से अगो-व्यावृत्ति (स्वरूप अपोह) के द्वारा शावलेय गो का बोध होगा। (इससे यह आपत्ति होगी कि) जिस प्रकार उक्त वाक्य से शावलेय गो का अपोहन (व्यावृत्ति) नहीं होता है, उसी प्रकार बाहुलेयादि गो व्यक्तियों की व्यावृत्ति भी नहीं होगी। किन्तु उक्त वाक्य से तो शावलेय गो की अव्यावृत्ति के समान ही बाहुलेयादि गो व्यक्तियों की व्यावृत्ति का भी बोध होता है, अर्थात् उक्त अव्यावृत्ति और इस व्यावृत्ति दोनों का बोध होता है। तस्मात् 'शावलेयो गौः' इस वाक्य के द्वारा अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह रूप से शावलेय गो का बोध नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

तेनांशेनानपोहश्च स्वरूपेणाप्यपोहनम् ।
कल्प्यते चेद् विरोधः स्यात् सममाक्षेपवारणे ॥ ७ ॥

बौद्धों का कहना है कि अगोव्यावृत्ति स्वरूप (अगोऽपोह) से बाहुलेयादि व्यक्तियों की व्यावृत्ति भले ही संभव न हो किन्तु अशावलेय व्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा बहुलेयादि गो व्यक्तियों की व्यावृत्ति संभव है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि बौद्धगण शावलेय गो का बोध…(?) ॥ ७ ॥

तस्मात् प्रात्यात्मिकै रूपैरगोऽपोहो न युज्यते ।
समुदायेऽपि नैतेषामगोव्यावृत्तिसम्भवः ॥ ८ ॥

तस्मात्......न युज्यते

'तस्मात्' अगोऽपोह (अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह) शावलेयत्वादि प्रत्येक गो व्यक्ति विषयक 'विकल्प' अर्थात् विशिष्टज्ञान का प्रयोजक नहीं हो सकता ।

समुदायेऽपि......संभवः

(पू० प०) शावलेयादि गो व्यक्तियों के समुदाय का ही बोध अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा होता है। शावलेयादि प्रत्येक व्यक्ति का बोध अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा नहीं होता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि—

सर्वोपलब्धौ तद्बुद्धिर्व्यासज्यैवं प्रवर्तते ।
न प्रत्येकं भवेदेषा न समस्तेष्वशक्तितः ॥ ९ ॥

सर्वोपलब्धौ......भवेदेषा

यदि ऐसा मानेंगे तो गो समुदाय को समझाने के लिये ही गोशब्द की प्रवृत्ति माननी होगी। प्रत्येक गो व्यक्ति को समझाने के लिये जो गो शब्द की प्रवृत्ति होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी।

न समस्तेष्वशक्तिः

एवं गो समुदाय को समझाने की शक्ति गो शब्द में है भी नहीं[1] ।

तस्मात् सर्वेषु यद् रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् ।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् ॥ १० ॥

'तस्मात्' यही स्वीकार करना होगा कि सभी गो व्यक्तियों में प्रत्येकशः अनुस्यूत 'धर्म' में ही गोशब्द की प्रवृत्ति होती है। वह धर्म गोत्व सामान्य को छोड़कर कोई दूसरा नहीं हो सकता[2] ॥१० ॥

ननु च प्रागभावादौ सामान्यं वस्तु नेष्यते ।
सत्तैव ह्यत्र सामान्यमनुत्पत्त्यादिरूषिता ॥ ११ ॥

---

१. अर्थात् आनयनादि क्रियाओं के कर्मीभूत कुछ गो व्यक्तियों में ही शक्ति गृहीत होती है, गो समुदाय में आनयनादि किसी भी क्रिया की कर्मता संभव नहीं है। इस लिये समुदाय में शक्ति का ग्रहण ही संभव नहीं है।

२. अनेक व्यक्तियों में रहनेवाले धर्म दो प्रकार के होते हैं (१) व्यासज्यवृत्ति एवं (२) अव्यासज्यवृत्ति। व्यासज्यवृत्ति धर्म अपने आश्रयीभूत प्रत्येक में नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में उसकी प्रतीति नहीं होती है। जैसे कि समुदायत्व, द्वित्व प्रभृति। अव्यासज्यवृत्ति धर्म की सत्ता आश्रयीभूत प्रत्येक व्यक्ति में होती है। जैसे कि गोत्व बहित्वादि। गोसमुदायत्व और गोत्व दोनों यद्यपि समान रूप से अनेकवृत्ति हैं, किन्तु समुदायत्व का अधिकरण प्रत्येक व्यक्ति नहीं है। गोत्व की अधिकरणता प्रत्येक व्यक्ति में है। अतः गोसमुदायत्व व्यासज्यवृत्ति है एवं गोत्व अव्यासज्यवृत्ति है।

वस्तु···नेष्यते

(पू० प०) प्रागभाव, ध्वंस अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इन चार प्रकार के अभावों में भी 'इमे अभावाः' इस आकार का अनुवृत्तिप्रत्यय होता है। अतः सभी अभावों में अनुस्यूत अभावत्व नाम का सामान्य भी स्वीकार करना होगा। किन्तु भाव स्वरूप किसी सामान्य की सत्ता उनमें स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण भाव स्वरूप सामान्य ही हो सकता है। अभाव स्वरूप अपोह से यह कार्य नही हो सकता, क्योंकि अपोह अतद्व्यावृत्ति स्वरूप होने के कारण अभाव रूप है।

सत्तैव···अनुत्पत्त्यादिरूषिता

(सि० प०) प्रागभावादि चारो ही प्रकार के अभावों में ऐक्य बुद्धि का प्रयोजक भी 'सत्ता' अर्थात् भाव स्वरूप 'सामान्य' ही है। अन्तर इतना ही है कि अभावों का संग्राहक यह भाव अनुत्पत्ति, ध्वंस प्रभृति से युक्त है ॥ ११ ॥

तामुत्पत्त्याद्यनुस्यूतां सत्तेति प्रतिजानते।
अन्यापोहानुविद्धा तु सैवाभावः प्रतीयते ॥ १२ ॥

इस प्रसङ्ग में प्रश्न हो सकता है कि यदि भाव स्वरूप सामान्य ही अभावों का भी संग्राहक है तो फिर 'इमे अभावाः' इस प्रतीति का विषय भी भाव पदार्थ को ही मानना होगा। किन्तु 'अभावाऽलम्बना' बुद्धि का विषय भाव क्यों कर होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

पहले (अभावपरिच्छेद श्लोक १२) ही 'स्वरूपपररूपाभ्याम्' इत्यादि कहा जा चुका है कि सभी पदार्थ स्वरूपतः सद्रूप हैं (भावस्वरूप हैं)। घट घटत्व रूप स्वधर्म से सद्रूप (भाव) रूप है। वही घट स्वभिन्न पट में रहनेवाले पटत्व रूप से असद्रूप (अभावरूप) है।

इस सिद्धान्त के अनुसार दूध के विनाश से पूर्व दूध की उत्पत्ति वृद्ध्यादि क्रियाओं के द्वारा अदुग्धव्यावृत्ति रूप अपोह से अनुस्यूता सत्ता ही दूध की सत्ता कहलाती है। दूध जब विनष्ट होकर दही बन जाता है तो अदधिव्यावृत्ति रूप अपोह से अनुस्यूता वही भावरूपा सत्ता अभावबुद्धि का विषय होती है। इस रीति से अभाव सामान्य की बुद्धि में सत्ता की विषयता जाननी चाहिये ॥ १२ ॥

अनित्यत्वं विनाशाख्यक्रियासामान्यमुच्यते।
अब्राह्मणत्वं किन्तु स्याद् भिन्नेषु क्षत्रियादिषु ॥ १३ ॥
पुरुषत्वं चतुःसंस्थम् विशेषेषु च नास्तिधीः।
सामान्यप्रत्ययश्चैषु प्रत्येकमुपजायते ॥ १४ ॥

इसी प्रकार विनाश रूपा क्रिया से अनुविद्धा भाव रूपा सत्ता ही ऐक्यबुद्धि का प्रयोजक है। 'बुद्धिरनित्या' इस शब्द के द्वारा बुद्धिध्वंसविशिष्टा बुद्धि की सत्ता ही प्रतिपादित होती है। फलतः बुद्धिध्वंस से युक्त आत्मा की सत्ता बुद्धि को

अनित्यता है। इसी प्रकार बुद्धि की अनुत्पत्ति से युक्त जो आत्मा की सत्ता वही बुद्धि का प्रागभाव है।

इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कह सकते हैं कि—बाहुलेयादि गो व्यक्तियों के अभाव से अनुविद्धा सत्ता ही सभी शाबलेय गो व्यक्तियों में अनुस्यूता अगो पोह स्वरूप सामान्य है। किन्तु वे लोग ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उन लोगों के मत से 'सत्ता' नाम का कोई भाव पदार्थ नहीं है। यदि सत्ता सामान्य स्वरूप भाव पदार्थ को वे स्वीकार कर लें तो फिर गोत्व सामान्य भाव पदार्थ को स्वीकार करने में ही कौन सी बाधा है? अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह तक जाने की क्या आवश्यकता है?

अब्राह्मणत्वं''''क्षत्रियादिषु

(पूर्वपक्ष) क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों में 'एते अब्राह्मणाः' इस आकार की सामान्यबुद्धि (ऐक्यबुद्धि) होती है। किन्तु क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में रहनेवाला कोई भाव स्वरूप सामान्य धर्म नहीं है। अतः यदि नियमतः भाव रूप सामान्य धर्म को ही अनुगत ऐक्यबुद्धि (अनुवृत्तिप्रत्यय) का प्रयोजक मानें तो उक्त स्थल में जो ऐक्य की बुद्धि होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी।

पुरुषत्वे चतुःसंस्थम्'''

यदि क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में समान रूप से रहनेवाले 'पुरुषत्व' धर्म को उक्त अब्राह्मणत्वविषयक ऐक्यबुद्धि का प्रयोजक मानें तो ब्राह्मणों में भी उक्त अब्राह्मणत्व की बुद्धि होगी, क्यों कि पुरुषत्व तो वहाँ भी है। अतः पुरुषत्व को भी क्षत्रियादि तीनों वर्णों में अब्राह्मण्यबुद्धि का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

विशेषेषु च नास्ति धीः''''प्रत्येकमुपजायते

क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्वादि विशेष धर्म भी कथित अब्राह्मण्य के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि अब्राह्मण्य की बुद्धि क्षत्रियादि तीनों वर्णों में ही समान रूप से होती है। किन्तु क्षत्रियत्वादि धर्मों में से कोई भी क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में समान रूप से नहीं है ॥ १३–१४ ॥

तेनात्र ब्राह्मणाभावः सामान्यं स्यादवस्तु तत्।
गोत्वादावपि तेनैव सामान्यप्रत्ययो भवेत् ॥ १५ ॥

अतः यही मानना होगा कि 'ब्राह्मणाभाव' अर्थात् ब्राह्मणों का भेद ही क्षत्रियादि में अब्राह्मणत्वबुद्धि का प्रयोजक है। अतः गवादि में भी 'अगोऽपोह' अथवा 'अगोव्यावृत्ति' स्वरूप अभाव को ही ऐक्यबुद्धि का नियामक मानिये। एक स्थान में अभाव को दूसरे स्थान में भाव को ऐक्यबुद्धि मानने की अर्द्धजरती क्यों स्वीकार की जाय?

कैश्चित् त्वत्रैकशब्दत्वमक्षादाविव कल्पितम्।
जातित्रयस्य नैवं तु सम्भवत्यघटादिषु ॥ १६ ॥
नात्र ह्यनन्तके भेदे साधारण्यं निरूप्यते।
तस्मात् क्रियागुणाः केचिद्धेतवोऽनन्यवर्तिनः ॥ १७ ॥

इस 'अर्द्धजरती' दोष का समाधान कुछ लोग इस प्रकार करते हैं कि क्षत्रियादि तीनों वर्णों के लोगों में जो अब्राह्मण्य की बुद्धि होती है, वह 'सामान्यालम्बना' अर्थात् सामान्यविषयिणी नहीं है किन्तु क्षत्रियत्वादि विशेषविषयणी ही वह प्रतीति है। अर्थात् उन में एक ही अब्राह्मण शब्द का प्रयोग होता है, इससे केवल तीनों में केवल एक अब्राह्मणशब्दबोध्यत्व ही सिद्ध होता है। इस से उन में किसी एक जाति की सिद्धि नहीं होती है। जैसे कि इन्द्रिय, द्यूत और विदेवन (मेला) इन तीनों में 'इमानि अक्षाणि' इस प्रयोग से उन सभी में केवल एक 'अक्ष' शब्द से उत्पन्न ज्ञान की विषयता की प्रतीति होती है, इसलिये इन्द्रियादि में किसी सामान्य धर्म की सिद्धि नहीं होती है।

नैवं सम्भवत्यघटादिषु''''नात्र''''निरूप्यते

किन्तु 'अघटम्' इस पद के द्वारा घट को छोड़कर संसार के सारे पदार्थों में जो घटभिन्नत्व का बोध होता है, वह कथित रीति से उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि घट से भिन्न सारे पदार्थों का किसी विशेष रूप से ज्ञान संभव नहीं है जैसे कि क्षत्रियादि तीनों वर्णों का क्षत्रियत्वादि रूपों से भान संभव है[1]।

तस्मात्''''अनन्यवर्त्तिनः

तस्मात् बोध्य वस्तुओं से प्रत्येक-प्रत्येक में रहनेवाली (शस्त्रधारणादि) क्रियायें किंवा कृषि वाणिज्य प्रभृति गुणादि ही ऐक्यबुद्धि के प्रयोजक हो सकते हैं ॥१६–१७॥

पुरुषत्वं नञा चैतद् ब्राह्मणेभ्यो निर्वर्तितम्।
चातुर्वर्ण्यप्रसक्तं सद् गम्यतेऽर्थादिभिर्यथा ॥ १८ ॥
यद्यप्यवान्तरा नास्ति त्रिषु जातिर्व्यवस्थिता।
नञ्सामर्थ्यान्नरत्वं तु त्र्याधारं सम्प्रतीयते ॥ १९ ॥

(किन्तु इस समाधान से भी 'अघट' शब्द से होनेवाले बोध का समाधान नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार ब्राह्मणों में न रहनेवाली शस्त्रधारणादि क्रियायें संभव हैं, वैसे ही घटों में न रहनेवाली एवं वृक्षादि सभी व्यक्तियों में रहनेवाली किसी साधारण क्रिया की संभावना नहीं है। अतः 'अब्राह्मण' शब्द के लिये यह समाधान करना चाहिये कि :—)

ब्राह्मणों में न रहनेवाला क्षत्रियादि तीनों वर्णों में रहनेवाला पुरुषत्व ही 'अब्राह्मण' शब्द से ज्ञात होता है। अर्थात् ब्राह्मणवृत्तित्वाभावविशिष्ट पुरुषत्व की ही प्रतीति क्षत्रियादि में अब्राह्मण शब्द से होती है।

अर्थादिभिर्यथा''''यद्यप्यवान्तरा''''संप्रतीयत

जैसे कि 'पुरुषमानय सुरां विवोढुम्' अर्थात् मद्य ढोने के लिये पुरुष को ले आओ इस वाक्य में प्रयुक्त 'पुरुष' शब्द से मद्य ढोने योग्य शूद्र में रहने वाले पुरुषत्व

१. कहने का तात्पर्य है कि क्षत्रियादि कुछ थोड़े से व्यक्तियों के लिये अब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया भी जा सकता है, किन्तु वृक्षादि अनन्त पदार्थों को 'अघट' शब्द के द्वारा साधारण रूप से समझाना दुष्कर है।

का ही बोध होता है, यद्यपि ब्राह्मणादि सभी वर्णों के पुरुषों में पुरुषत्व समान रूप से है इसी प्रकार 'अब्राह्मण' शब्द में प्रयुक्त 'नञ्' शब्द की सामर्थ्य से अब्राह्मण शब्द के द्वारा ब्राह्मणवृत्तित्वाभावविशिष्ट पुरुषत्व का बोध क्षत्रियादि में होता है। यह 'विशिष्टपुरुषत्व' ब्राह्मणों में नहीं है अथ च क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में है, भले ही क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में अनुगत किसी अलग धर्म की सत्ता न रहे ॥ ९१ ॥

शब्दसामर्थ्यभेदेन वर्णेषु मतिभिन्नता।
पुंस्त्वे त्रिचतुराधारे पर्युदासस्वरूपतः ॥ २० ॥

(पू० प०) मान लिया कि 'अब्राह्मण' शब्दघटक 'ब्राह्मण' शब्द को नञ् का समीप्य (समवधान) प्राप्त है, फिर भी यदि उस ब्राह्मण शब्द से पुंस्त्व की उपस्थिति होगी, एवं पुंस्त्व चूँकि ब्राह्मणादि चारो ही वर्णों में है, अतः चारो ही वर्णों में समान रूप से अब्राह्मण्य को प्रतीति क्यों नहीं होती? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

अवश्य ही पुंस्त्व 'चतुराधार' है अर्थात् ब्राह्मणादि चारो वर्ण उसके आधार हैं। किन्तु 'अब्राह्मण' शब्द में चूँकि 'नञ्' शब्द है, उसके द्वारा ब्राह्मण का 'पर्युदास' होता है। अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न एवं पुंस्त्व रूप से ब्राह्मण का सजातीय क्षत्रियादि का बोध होता है। इसलिये 'अब्राह्मण' शब्द से और केवल 'पुरुष' शब्द से विभिन्न प्रकार की 'मति' होती है ॥ २० ॥

दूरान्तिके क्षणे शक्तिर्गृध्रवायसचक्षुषोः।
यथा रूपे तथा पुंस्त्वे पुमब्राह्मणशब्दयोः ॥ २१ ॥

गीध और कौआ दोनों ही के चक्षु यद्यपि 'चक्षुष्ट्व' रूप से एकजातीय हैं, फिर भी गीध के चक्षु में जितने दूर की वस्तु को दिखाने की शक्ति है, कौओं की आखों में उससे निकट की वस्तुओं को ही दिखाने की शक्ति है। एकजातीय वस्तुओं में विभिन्न प्रकार की शक्ति के इस दृष्टान्त से प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि 'अब्राह्मण' शब्द से जो पुंस्त्व की उपस्थिति होगी, उसके द्वारा ब्राह्मण्य से रहित क्षत्रियादि तीनों वर्णों में ही पुंस्त्व की प्रतीति होगी। केवल 'पुम्' शब्द से या 'पुरुष' शब्द से जो केवल (ब्राह्मण के पर्युदास से रहित) केवल पुंस्त्व की उपस्थिति होगी उससे ब्राह्मणादि चारो ही वर्णों में पुंस्त्व की प्रतीति होगी। अतः इस वैषम्य में कोई भी अनौचित्य नहीं है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणव्यतिरिक्तार्थवृत्ति पुंस्त्वमितीदृशम्।
वाक्यं यत्र प्रवर्तेत तत्राब्राह्मणधीपदे ॥ २२ ॥

(प्रश्न है कि एक ही वार उच्चरित 'अब्राह्मण' शब्द से ब्राह्मण का पर्युदास और पुंस्त्व का प्रतिपादन ये दोनों कार्य कैसे होंगे? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) समासवाक्य और व्यासवाक्य इन दोनों का समार्थक होना नैसर्गिक है। इसलिये 'ब्राह्मण्याभावयुक्तः पुमान्' और 'अब्राह्मणः' इन दोनों वाक्यों से समान अर्थ का ही बोध मानना होगा। अतः 'अब्राह्मण' पद में जो 'नञ्' है वह 'ब्राह्मण' पद के

सामीप्य के कारण अपनो 'अभिधा' वृत्ति के द्वारा ब्राह्मण्य के अभाव का बोध एवं लक्षणावृत्ति के द्वारा पुंस्त्वविषयक बोध दोनों का उत्पादन कर सकता है ॥ २२ ॥

पार्थिवत्वादिसामान्यमेवमेवाघटादिषु ।
घटत्वादिविनिर्मुक्तं विषयः सम्प्रतीयते ॥ २३ ॥

इसी प्रकार 'अघटम्' इस शब्द से भी घटत्वशून्य पटादि अधिकरणों में रहने वाले पार्थिवत्वादि धर्मों का ही बोध होता है ॥ २३ ॥

असाधारणभावाच्च नञा शब्दो विशेषितः ।
तावन्मात्रेण रहिते सामान्ये व्यवतिष्ठते ॥ २४ ॥

(क्षत्रियादि वर्णों के मनुष्यों में ब्राह्मण्याभाव के साथ जिस प्रकार पुंस्त्व है, उसी प्रकार सत्ता; द्रव्यत्वादि धर्म भी हैं। अतः 'अब्राह्मण' शब्द से ब्राह्मण्याभाव से युक्त (समानाधिकरण) पुंस्त्व ही लक्षित हो ? ब्राह्मण्याभाव से युक्त वस्तुत्वादि लक्षित न हों ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—) अब्राह्मणशब्दघटक ब्राह्मण शब्द से अभिधा वृत्ति के द्वारा पहले ब्राह्मणत्व प्रतिपादित होता है। पुंस्त्व, प्राणित्व, धर्मों के 'विना' चूँकि ब्राह्मण्य की सत्ता, 'भाव' अर्थात् अस्तित्व नहीं रहता है अर्थात् ब्राह्मणत्व पुंसत्वादि को छोड़कर नहीं रहता, अतः वे ब्राह्मणत्व के अविनाभावी हैं। अर्थात् व्याप्ति से युक्त होने के कारण व्याप्य हैं। इस व्याप्यत्व के कारण ही ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणत्व की प्रतीति के बाद पुंस्त्व प्राणित्वादि धर्मों की आनुमानिकी प्रतीति होती है। इसलिये ब्राह्मण पद का ब्राह्मणत्व ही मुख्य प्रतिपाद्य है (मुख्यार्थ है) मुख्यार्थ ब्राह्मणत्व का अभाव जब अब्राह्मणशब्दघटक 'नञ्' शब्द से प्रतिपादित हो जाता है तो उक्त ब्राह्मण पद केवल ब्राह्मणत्वाभाव से युक्त सामान्य का ही बोधक रह जाता है। इसलिये 'अब्राह्मण' शब्द का नञ् के द्वारा ब्राह्मण्य धर्म का त्याग ही कर्त्तव्य रह जाता है। पुंस्त्व, प्राणित्वादि धर्म अब्राह्मण पद के द्वारा त्याज्य नहीं है, क्योंकि क्षत्रियादि पदों से भी ब्राह्मण्य से भिन्न पुंस्त्वादि सभी धर्मों का बोध होता है। यदि पुंस्त्व प्राणित्वादि धर्मों के भी व्यापक वस्तुत्वादि सामान्यों का ग्रहण उक्त अब्राह्मण शब्द से मानें तो पुंस्त्वादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। इसलिये अब्राह्मण शब्द से पुंस्त्वादि धर्मों का ही प्रतिपादन होता है, वस्तुत्वादि धर्मों का नहीं ॥ २४ ॥

विशेषे प्रतिषिद्धे हि सामान्यं यदनन्तरम् ।
सामान्याकाङ्क्षिणं शब्दं निरुणद्धि तदात्मनि ॥ २५ ॥

इससे निष्पन्न होता है कि अब्राह्मण पद से ब्राह्मण्याभाव एवं पुंस्त्व इन दोनों से युक्त क्षत्रियादि का ही बोध अभिप्रेत है। ब्राह्मण्याभाव एवं वस्तुत्व इन दोनों से युक्त घटादि का बोध अभिप्रेत नहीं है। अर्थात् अब्राह्मण पद से ब्राह्मण्याभाव-

युक्त घटादि का बोध नहीं होता किन्तु ब्राह्मण्याभाव से युक्त क्षत्रियादि पुरुषों का ही बोध अभिप्रेत है[1] ॥ २५ ॥

प्रथमातिक्रमे तस्य कारणं नैव विद्यते।
ब्राह्मणत्वादतोऽपेतं नरत्वमवशिष्यते ॥ २६ ॥

चूँकि सबसे पहले उपस्थित पुंस्त्व को छोड़ देने और बाद में उपस्थित होने वाले वस्तुत्वादि धर्मों के ग्रहण करने का कोई कारण नहीं है। अतः अब्राह्मण पद से ब्राह्मणत्वाभाव से युक्त नरत्व (पुंस्त्व) ही 'अब्राह्मण' पद का बोध्य अवशिष्ट रह जाता है ॥ २६ ॥

श्रुतस्य ब्राह्मणत्वं च नञि जाते विशेषणे।
नरत्वोदसनं यत्तु कल्पेताश्रुतमेव तत् ॥ २७ ॥

(माना कि ब्राह्मण शब्द के द्वारा अभिधा वृत्ति से ब्राह्मणत्व का भान होता है, अर्थात् ब्राह्मणत्व ब्राह्मण शब्द से श्रुत्यवगत है एवं पुंस्त्व 'अर्थावगत' है अर्थात् लक्षणावृत्ति के द्वारा अवगत है। फिर भी अब्राह्मणशब्दघटक नञ् से ब्राह्मण्य का ही प्रतिषेध क्यों होता है ? पुंस्त्व का प्रतिषेध क्यों नहीं होता ? अर्थात् अब्राह्मण शब्द से अब्राह्मण क्षत्रियादि पुरुषों का ही बोध क्यों होता है ? ब्राह्मण्य एवं पुंस्त्व दोनों से भिन्न वृक्षादि का बोध क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

'एक बार उच्चरित एक शब्द से एक ही अर्थ का बोध होता है (सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति) इस नियम के अनुसार अब्राह्मणशब्दघटक एक ही 'नञ्' पद से ब्राह्मण पद के 'श्रौत' (मुख्य) अर्थ ब्राह्मण्य के निषेधविषयक बोध

---

1. अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण पुरुष में सत्ता, द्रव्यत्व, पार्थिवत्व, प्राणित्व, पुंस्त्व ब्राह्मणत्वादि अनेक सामान्य हैं, इनमें पूर्व पूर्व सामान्य की अपेक्षा उत्तरोत्तर सामान्य उन सामान्यों के 'विशेष' हैं। सत्ता रूप सामान्य का विशेष द्रव्यत्व (किन्तु अपने उत्तरवर्ति पार्थिवत्व रूप विशेष की अपेक्षा सामान्य ही है) द्रव्यत्व सामान्य का विशेष पार्थिवत्व–पार्थिवत्व सामान्य का विशेष है 'प्राणित्व'। प्राणित्व सामान्य के विशेष हैं ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्वादि।

इसी प्रकार विलोम क्रम से ब्राह्मणत्व विशेष का सामान्य है प्राणित्व–प्राणित्व विशेष का सामान्य है पार्थिवत्व–पार्थिवत्व विशेष का सामान्य है द्रव्यत्व एवं द्रव्यत्व विशेष का सामान्य है 'सत्ता'। इस प्रकार पूर्व-पूर्व सामान्यों की अपेक्षा उत्तरोत्तर धर्म 'विशेष' हैं। प्रकृत में पुंस्त्व सामान्य का विशेष है 'ब्राह्मण्य'। इसका जब नञ् के द्वारा पर्युदास हो जाता है तो ब्राह्मण्याभावविशिष्ट सामान्य की अपेक्षा रखने वाला 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मणत्व सामान्य के अव्यवहित पूर्ववर्ती पुंस्त्व सामान्य की ही तरफ उन्मुख होता है, पुंस्त्व से व्यवहित प्राणित्वादि सामान्यों की तरह नहीं, क्योंकि ब्राह्मण सामान्य को छोड़कर जिन सामान्यों की प्रतीति क्षत्रियादि सभी वर्णों के लोगों में होती है, उनमें पुंस्त्व ही सर्वप्रथम प्रतीत होता है। अतः 'अब्राह्मण' शब्द से ब्राह्मण्याभाव से युक्त पुंस्त्व की ही प्रतीति होती है, वस्तुत्वादि की नहीं।

के बाद पुनः ब्राह्मण पद के अश्रुत (अमुख्य) अर्थ स्वरूप पुंस्त्व के निषेध का बोध नहीं हो सकता । अगर होगा भी तो वह बोध शाब्दबोधस्वरूप नहीं होगा ॥ २७ ॥

तस्माद् यस्यैव ते भेदा निषिद्धयेरंस्तदर्थतः ।
भेदान्तरस्थं सामान्यं लोकेप्येवं प्रतीयते ॥ २८ ॥

तस्माद्यस्यैव ··· तदर्थतः ··· सामान्यम्

'तस्मात्' जिस पुंस्त्व स्वरूप सामान्य धर्म का साक्षात् 'विशेषधर्म' ब्राह्मण्य का निषेध अब्राह्मणशब्दघटक 'नञ्' से होता है, उस पुंस्त्व का ही बोध अब्राह्मण शब्द से होता है । पुंस्त्व चूँकि ब्राह्मणत्वादि चारो ही विशेष धर्मों का 'सामान्यधर्म' है, एवं ब्राह्मणत्व नञ् के द्वारा निराकृत है—इसलिये सामान्य धर्म विशेष धर्म के साथ ही प्रतीत होता है । अतः अब्राह्मण शब्द से 'भेदान्तरस्थ' ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि तीनों ही वर्णों में रहने वाले पुंस्त्व की ही प्रतीति होती है ।

लोकेप्येवं प्रतीयते

साधारण जन भी अब्राह्मण शब्द से पुंस्त्व से युक्त क्षत्रियादि को ही समझते हैं, ब्राह्मण से भिन्न (वृक्षादि) सभी वस्तुओं को नहीं समझते ॥ २८ ॥

प्रसज्ज्यिन्यां च तद्बुद्धौ निषेधोऽर्थादपीष्यते ।
तन्मात्ररहिते चार्थे सादृश्यात् तन्मतिर्भवेत् ॥ २९ ॥

प्रश्न हो सकता है कि ब्राह्मणभेदविशिष्ट क्षत्रियादिगत पुंस्त्व की ही प्रतीति 'अब्राह्मण' शब्द से क्यों होती है ? ब्राह्मणगत पुंस्त्व की प्रतीति अब्राह्मण शब्द से क्यों नहीं होती है ? इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दें कि नञ् के द्वारा ब्राह्मण्य चूँकि निषिद्ध है अतः ब्राह्मणगत पुंस्त्व की प्रतीति नहीं होती है । किन्तु यह उत्तर भी युक्त नहीं होगा, क्योंकि पर्युदास नञ् का वाच्य निषेध नहीं है । अब्राह्मण शब्द में जो 'नञ्' है वह निषेधार्थक नहीं है किन्तु पर्युदास अर्थ का बोधक है । तस्मात् उक्त मूल प्रश्न का यह उत्तर है—

पर्युदास नञ् भी परिणामतः निषेध का ही बोधक है, क्योंकि अब्राह्मण शब्द से क्षत्रियादि में ब्राह्मण्य का अभाव ही मुख्य में प्रतिपादित होता है । अतः 'प्रसज्ज्यिनो' प्रकृत में आक्षिप्त पुंस्त्वविषयिका जो बुद्धि है, उसमें फलतः ब्राह्मण्य के अभाव का भी भान अवश्य होता है ।

तन्मात्ररहिते चार्थे····तन्मतिर्भवेत्

ब्राह्मण्य का अभाव यद्यपि क्षत्रियादि में एवं वृक्षादि में समान रूप से है फिर भी अब्राह्मण शब्द से पुरुषत्व रूप से ब्राह्मण के सदृश क्षत्रियादि पुरुषों में रहनेवाले ब्राह्मण्याभाव की प्रतीति होती है, ब्राह्मण्याभाव से युक्त किन्तु ब्राह्मण से विसदृश वृक्षादि में रहने वाले ब्राह्मण्याभाव की प्रतीति नहीं होती है ।

इस प्रकार पर्युदास नञ् को अभाव का वाचक मान कर भी सब वस्तुओं में अब्राह्मण पद की प्रवृत्ति का निराकरण किया जा सकता है ॥ २९ ॥

साद‍ृश्यमेव वा वाच्यमिष्टमब्राह्मणादिषु ।
तच्चावयवसामान्याद् विनाप्येतेन लक्ष्यते ॥ ३० ॥

साद‍ृश्यमेव वा····ब्राह्मणादिषु

यदि इससे भी मनःपूत न हो तो फिर अभाव के साथ साद‍ृश्य को भी नञ् शब्द का वाच्य ही मान लीजिये[1] ।

तच्चाऽवयवसामान्यात्

जिन क्षत्रियादि व्यक्तियों में अब्राह्मण्य की प्रतीति कही गयी है, उनमें ब्राह्मण पुरुषों के समान हस्तपादादि अवयवों की समानता हो वह साद‍ृश्य है जिसके बल से क्षत्रियादि अब्राह्मण पद से समझे जाते हैं । वृक्षादि में वह साद‍ृश्य नहीं है, अतः ब्राह्मणभेद के रहते हुये भी अब्राह्मण शब्द से वृक्षादि की उक्त प्रतीति नहीं होती है ।

विनाऽप्येतेन लक्ष्यते

यह नियम भी नहीं है कि अवयवों की समानता से ही साद‍ृश्य की प्रतीति हो । जिस किसी सम्बन्ध के कारण साद‍ृश्य का उपपादन उपमान प्रकरण में किया जा चुका है (देखिये उपमानप्रकरण श्लो० २१–२२) । अतः 'अघट' शब्द से शराव (सिकोरा) की प्रतीति घट और मृत्तिका दोनों के मृत्तिका से बनने के कारण होती है ॥ ३० ॥

क्वचिद् विनापि साद‍ृश्यात् साहचर्यादिहेतुका ।
नञ्युक्तशब्दवृत्तिः स्याद् यथा वक्ष्यत्यनीक्षणे ॥ ३१ ॥

साद‍ृश्य से भिन्न साहचर्यादि सम्बन्धियों में भी नञ् पद की शक्ति उपलब्ध होती है । जैसे कि—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥
(मनुस्मृति अ० ४ श्लो० ३७)

यह 'मनुवचन' चूँकि स्नातकों के लिये विहित संकल्प के प्रकरण में पठित है, अतः व्रतप्रकरण के 'साहचर्य' के बल से उगते हुये सूर्य को न देखने का संकल्प रूप व्रत का विधान ही उक्त वाक्य से निर्णीत है । उगते हुए सूर्य को देखने का निषेध उक्त वाक्य का अर्थ नहीं है ॥ ३१ ॥

---

१. अर्थात् साद‍ृश्य और अभाव दोनों में पर्युदासार्थक नञ् की 'खण्डशः' शक्ति है । यह ध्यान रखना चाहिये कि खण्डशः शक्ति और पृथक् शक्ति दोनों एक वस्तु नहीं है । पृथक् शक्तिवाले पद से अनेक अर्थों का उच्चारणभेद या आवृत्ति से स्वतन्त्र बोध होता है । एक ही शब्द से खण्डशः शक्ति युक्त अर्थों का परस्पर सम्बद्ध होकर ही भान होता है । तदनुसार प्रकृत अब्राह्मणशब्दघटक नञ् से ब्राह्मण्याभाव से युक्त अथ च ब्राह्मणसद‍ृश क्षत्रियादि का ही बोध होता है । ब्राह्मण्याभाव से युक्त होने पर भी ब्राह्मणसद‍ृश न होने के कारण वृक्षादि सभी वस्तुओं का बोध नहीं होता है ।

ईक्षणव्यतिरिक्ता हि क्रिया तत्राप्यपेक्षिता ।
प्रत्यासत्तेर्न सङ्कल्पमतिक्रम्य प्रतीयते ॥ ३२ ॥

'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस स्थल में उक्त पर्युदास नञ् से 'ईक्षण' क्रिया से भिन्न तत्सम्बन्धिनी अन्य क्रिया का ही बोध अपेक्षित है। प्रकरणपाठात्मक प्रत्यासत्ति के कारण वह क्रिया 'संकल्प' रूपा क्रिया को छोड़कर दूसरी क्रिया नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥

नामधात्वर्थयोगी च नैव नञ् प्रतिषेधकः ।
वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ ३३ ॥

नामधात्वर्थयोगी च····प्रतिषेधकः

(नञ् का अर्थ है 'निषेध' फिर नञ् शब्द से पुंस्त्वादि धर्मों का बोध कैसे होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

सभी नञ् निषेध के बोधक नहीं हैं। आख्यात के साथ अन्वित नञ् पद ही निषेध का वाचक है। नाम के साथ अथवा धात्वर्थ के साथ अन्वित नञ् निषेध का वाचक नहीं है।

वदतोऽब्राह्मणाधर्मा···विरोधिनौ

क्योंकि 'अब्राह्मण' शब्द से और 'अधर्म' शब्द से क्रमशः ब्राह्मणत्व के विरोधी क्षत्रियत्वादि, एवं धर्म के विरोधी पाप की प्रतीति होती है। अतः क्षत्रियत्वादि विरोधी धर्मों की प्रतीति नञ् शब्द से होती है ॥ ३३ ॥

यत्राप्याख्यातसम्बन्धात् प्रतिषेधः प्रतीयते ।
तत्रौदासीन्यवस्त्वेव प्रतिपत्ताऽवलम्बते ॥ ३४ ॥

(प्रश्न—तो फिर 'न पिबेत्' इत्यादि प्रकार के केवल आख्यात में अन्वित नञ् पद का केवल अभाव ही अर्थ होगा। अतः नञ्जन्य प्रतीति को नियमतः भावविषयक नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

आख्यात में अन्वित नञ् से भी क्रियाराहित्य स्वरूप उदासीनता की ही प्रतीति आत्मा में होती है, आत्मा तो भाव स्वरूप है ही ॥ ३४ ॥

तस्माद् वस्तुन्यपोहाः स्युरपि चावस्तुकल्पने ।
प्रागन्त्येभ्यो विशेषेभ्यो न किञ्चिद्वस्तु लभ्यते ॥ ३५ ॥

तस्माद्वस्तुन्यपोहाः स्युः

'तस्मात्' अर्थात् जिसलिये कि पर्युदास नञ् का अभावविशिष्ट वस्तु (भाव पदार्थ) ही विषय है, केवल अभाव पर्युदास नञ् का विषय नहीं है—इसलिये 'अगोऽपोह' अर्थात् अगोव्यावृत्ति गो से भिन्न जो अश्वादि तद्भेदव्यापक 'गोत्व' स्वरूप साधारण (सामान्य) धर्म ही होगा। शाबलेयत्वादि स्वरूप गो विशेष का धर्म

स्वरूप नहीं। अतः 'गोत्व' स्वरूप भावपदार्थात्मक 'सामान्य' को स्वीकार करना आवश्यक है।[1]

अपि चावस्तु ... किञ्चिद्वस्तु लभ्यते

सभी सामान्यों को अवस्तु (अपोह) स्वरूप मानने में दूसरा दोष यह है कि द्व्यणुक पर्यन्त सभी वस्तुओं को अभाव स्वरूप मानना होगा, क्योंकि द्व्यणुक पर्यन्त सभी पदार्थ अपने अवयवों के सामान्य स्वरूप हैं। केवल 'अन्त्य' अर्थात् परमाणु ही भाव रूप रह जायेंगे, क्योंकि उनका कोई अवयव नहीं है। अतः वे अवयव सामान्य स्वरूप नहीं हैं ॥ ३५ ॥

न चान्त्यैर्व्यवहारोऽस्ति शक्यं नैषां निरूपणम्।
अपोहशब्दवाच्याय शून्यतान्यप्रकारिका ॥ ३६ ॥

न चान्त्यैर्व्यवहारोऽस्ति

इससे सभी प्रकार के व्यवहार अनुपपन्न हो जायेंगे, क्योंकि अप्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय) वस्तु का व्यवहार नहीं होता है। द्व्यणुकादि भाव स्वरूप स्थूल अवयवी की सत्ता अपोह को स्वीकार करने से खण्डित हो चुकी है।

शक्यं नैषां निरूपणम्

यदि द्व्यणुकादि भाव पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं करेंगे तो परमाणुओं की सत्ता भी विपन्न हो जायगी, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध द्व्यणुकादि स्थूल अवयवियों की सत्ता चूँकि परमाणुओं के बिना अनुपपन्न होती है, अतः अर्थापत्ति प्रमाण से अन्त्य परमाणुओं की सत्ता माननी पड़ती है। जब द्व्यणुकादि स्थूल भाव पदार्थों की सत्ता ही नहीं है तो किसकी अनुपपत्ति से परमाणुओं की सत्ता स्वीकृत होगी ?

अपोहशब्दवाच्या ... प्रकारिका

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बौद्धों के द्वारा अपोह की स्वीकृति के लिये जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है, उन युक्तियों से केवल शून्यता ही बुद्धि का अवलम्ब सिद्ध होती है। फलतः उन युक्तियों से 'बाह्यार्थशून्यता' में ही शब्द की शक्ति का पर्यवसान होता है ॥ ३६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'अगोऽपोह' शब्द का अर्थ है गो से भिन्न जो अश्वादि तद्भिन्न 'अनश्वत्वादि'। जिस प्रकार अब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणाभाव से युक्त क्षत्रियादिवृत्ति त्रित्व का बोध होता है, केवल क्षत्रियत्व का नहीं, उसी प्रकार 'अनश्व' शब्द से अश्व से भिन्न सभी गो व्यक्ति स्वरूप अधिकरणों में रहने वाले साधारण (सामान्य) धर्म स्वरूप 'गोत्व' की ही प्रतीति होगी, किसी गोविशेष में रहने वाले शाबलेय गोत्व की नहीं। अतः 'अगोऽपोह' वस्तुतः गोत्व नामक भाव रूप 'सामान्य' ही है। 'अगोऽपोह' को जो गो शब्द का वाच्य कहा जाता है, उससे वस्तुतः उक्त गोत्व में ही गो शब्द की वाच्यता कही जाती है।

तस्यां चाश्वादिबुद्धीनात्मांशग्रहणं भवेत् ।
तत्रान्यापोहवाच्यत्वं मुधैवाभ्युपगम्यते ॥ ३७ ॥

इस (बाह्यार्थविषयकत्वशून्य विज्ञानवाद) पक्ष में अश्वादि शब्दों से जिस बुद्धि की उत्पत्ति होगी, उसमें 'आत्मांश' अर्थात् विज्ञान ही विषय होगा, क्योंकि उस मत के अनुसार विज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। इस पक्ष में 'अपोह' की कल्पना ही मिथ्या (व्यर्थ) है ॥ ३७ ॥

सामान्यं वस्तुरूपं हि बुद्ध्याकारो भविष्यति ।
शब्दार्थोऽर्थानपेक्षो हि वृथापोहः प्रकल्पितः ॥ ३८ ॥

विज्ञानवाद में अपोह की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि इस पक्ष में वस्तु स्वरूप (भाव स्वरूप) सामान्य भी विज्ञान का ही आकार है। शब्दजनित बोध में भी यह बुद्ध्याकारक सामान्य ही विषय होगा। शब्द अपने बोध के लिये वाच्य बाह्यार्थ वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि शब्द से बाह्यार्थविषयक ज्ञान नहीं होता है किन्तु विज्ञानांशविषयक ज्ञान ही होता है। इस पक्ष में अपोह की कल्पना सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि इस पक्ष में विज्ञान से अतिरिक्त कोई भी शाब्द-ज्ञान का विषय नहीं है ॥ ३८ ॥

वस्तुरूपा च सा बुद्धिः शब्दार्थेषूपजायते ।
तेन वस्त्वेव कल्पेत वाच्यं बुद्ध्यनपोहकम् ॥ ३९ ॥

(यदि मान भी लें कि बुद्धि का आकार ही शब्द का वाच्य अर्थ है, कोई बाह्य वस्तु शब्द का वाच्य नहीं है। किन्तु बुद्धि के आकार विशेष उस वाच्यार्थ को भी 'अपोह' स्वरूप क्यों न मानें ? उसे भाव रूप ही क्यों मानें ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

बौद्धगण वाच्यार्थ को भाव सामान्य (जाति) स्वरूप इसलिये नहीं मानते हैं कि उनके मत के अनुसार गोत्वादि भाव स्वरूप सामान्यों के प्रसङ्ग में निम्न-लिखित कोई भी विकल्प उपपन्न नहीं होता है। ये विकल्प हैं—

सामान्य व्यक्तियों से भिन्न हैं ?

अथवा

अभिन्न हैं ?

इस विकल्प के विषय सामान्य को यदि बाह्य भाव स्वरूप मानते हैं, तो अपोह की कल्पना किसी प्रकार उपपन्न भी हो सकती है। यदि बुद्धि के आकार विशेष स्वरूप वस्तु को शब्द का वाच्य मानते हैं तो वह बुद्धि 'गौः' इस आकार की ही होगी। इस लिये वह वस्तु (भाव) स्वरूप होगी। (बुद्ध्यन्तरानात्मक) अपोह स्वरूप नहीं होगी ॥ ३९ ॥

असत्यपि च बाह्येऽर्थे वाक्यार्थप्रतिभा तथा ।
पदार्थेऽपि तथैव स्यात् किमपोहः प्रकल्प्यते ॥ ४० ॥

जिस प्रकार वाक्यार्थ स्वरूप स्वतन्त्र बाह्य किसी वस्तु के न रहने पर भी बुद्धिमात्रकल्पित भाव स्वरूप (अपोहानात्मक) वस्तु को वाक्यार्थ मानते हैं उसी प्रकार पद का वाच्य भी बुद्धि मात्र से कल्पित अपोहानात्मक वस्तु को ही मानने में कोई बाधा नहीं है। अपोह को पद का वाच्य मानना अनावश्यक है। वाक्यात्मक शब्द के वाच्य अर्थ को अपोहानात्मक भाव रूप मानें एवं पदात्मक शब्द के ही वाच्य को अपोहानात्मक भाव स्वरूप मानें इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं है ॥ ४० ॥

बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न च बुद्धेः प्रतीयते।
स्वरूपोत्पादमात्राच्च नान्यमंशं बिभर्ति सा ॥ ४१ ॥

यदि गो शब्द से उत्पन्न होने वाली बुद्धि 'अगौर्न भवति' इस आकार की गोभिन्नव्यवच्छेद स्वरूपा होती तो कदाचित् गो शब्द के वाच्य को अभावात्मक अपोह स्वरूप स्वीकार भी किया जा सकता था। किन्तु गो शब्द से तो 'गौः' इस आकार की ही बुद्धि उत्पन्न होती है। यह बुद्धि अभावविषयक उत्पन्न नहीं होती है ॥ ४१ ॥

भिन्नसामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये।
सर्वे भवेयुः पर्यायाः यद्यपोहस्य वाच्यता ॥ ४२ ॥

यदि सभी पद अपोह के वाचक हों तो 'सामान्य' के वाचक गो घटादि सभी शब्द एवं 'विशेष' के वाचक शाबलेय बाहुलेयादि सभी शब्द समान रूप से अभाव के वाचक होने के कारण समानार्थक (पर्याय) हो जायेंगे। किन्तु सो इष्ट नहीं है ॥ ४२ ॥

ननु भेदादपोहानां प्रसङ्गोऽयं न युज्यते।
सामान्यापोहकल्प्या चेद् वस्तुमात्रे समं तव ॥ ४३ ॥

ननु भेदादपोहानाम्...न युज्यते

(बौद्धों का कहना है कि) घटपद का वाच्य अघटव्यावृत्ति स्वरूप अपोह एवं गोपद का वाच्य 'अगोव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह ये दोनों भिन्न हैं। अतः घट पद और गो पद दोनों विभिन्न अपोहों के वाचक हैं। अतः उनमें समानार्थता (पर्यायता) की आपत्ति नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार शाबलेय शब्द का वाच्य है 'अशाबलेयव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह एवं बाहुलेय शब्द का वाच्य है 'अबाहुलेयव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह। अत' गो विशेषों के वाचक ये दोनों पद भी विभिन्न अपोहों के वाचक होने से पर्याय नहीं हैं।

सामान्यापोहकल्प्या...परस्परम्

यदि सभी अपोहों को अपोह होने के कारण (अपोहत्व रूप सामान्य से) एक होने से सभी शब्दों में पर्यायत्व की आपत्ति हो तो गोत्व घटत्वादि भाव रूप सामान्य भी 'वस्तु' होने के कारण (वस्तु रूप से) एक हैं, अतः सामान्य को स्वतंत्र भाव रूप मानने वाले तुम्हारे (मीमांसकों के) पक्ष में भी गो घटादि सभी पदों में पर्यायत्व की आपत्ति समान रूप से होगी ॥ ४३ ॥

भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात् सामान्यानि परस्परम् ।
असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्वं वितन्वते ॥ ४४ ॥

(सिद्धान्ती मीमांसक इसका यह उत्तर देते हैं कि) मेरे मत के अनुसार गोत्व अश्वत्वादि सामान्य चूँकि वस्तु (भाव) स्वरूप हैं, अतः वे परस्पर भिन्न हैं, एवं 'असङ्कीर्णस्वभाव' के हैं, अर्थात् सभी सामान्यों का स्वरूप और कार्य करने की शक्ति नियत है। अतः वे अपने व्यक्तियों में एकत्वबुद्धि के उत्पादक भी हैं ॥ ४४ ॥

संसृष्टैकत्वनानात्वविकल्परहितात्मनाम् ।
अवस्तुत्वादपोहानां तव स्याद् भिन्नता कथम् ॥ ४५ ॥

किन्तु अपोह 'अवस्तु' स्वरूप अर्थात् अभाव स्वरूप हैं एवं 'संकीर्णस्वभाव' के हैं। जैसे कि गो और हाथी दोनों ही अनश्व स्वभाव के हैं। एवं एकत्व एवं नानात्व के विकल्प से रहित हैं। अतः अपोहों में परस्पर भेद संभव नहीं है। अर्थात् भेदभाव पदार्थों का ही धर्म है। अतः अभाव पदार्थ स्वरूप अपोह परस्पर भिन्न नहीं हो सकते। इसलिये अपोह को यदि शब्द का वाच्य मानते हैं, तो सभी शब्दों में पर्यायत्व की आपत्ति अवश्य होगी ॥ ४५ ॥

यदि वा भिद्यमानत्वाद् वस्त्वसाधारणांशवत् ।
अवस्तुत्वे त्वनानात्वात् पर्यायत्वान्न मुच्यते ॥ ४६ ॥

यदि 'अगोऽपोह' को शाबलेयादि प्रत्येक वृत्ति शाबलेयत्वादि असाधारण धर्मों के समान परस्पर भिन्न मानोगे तो इस भेद के कारण ही अपोहों को भाव (वस्तु) स्वरूप भी मानना होगा। किन्तु अपोह चूँकि अभाव स्वरूप है, अतः वह नाना नहीं हो सकता। इस अनानात्व (एकत्व) के कारण ही सभी शब्दों में पर्यायता की आपत्ति अवश्य होगी ॥ ४६ ॥

ननु चापोह्यभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति ।
न विशेषः स्वतस्तस्य परतश्चौपचारिकः ॥ ४७ ॥

(बौद्धगण कहते हैं कि) अपोहों में (अभावों में) स्वतः भेद भले ही न हो, किन्तु अपोह्य के भेद से अपोहों में भी भेद हो सकता है, क्योंकि 'अगोऽपोह' के 'अपोह्य' हैं अश्वादि, एवं 'अश्वापोह' के अपोह्य हैं गवादि। इसलिये सभी गो व्यक्तियों में एकत्वबुद्धि के प्रयोजक 'अगोऽपोह' से सभी अश्वों में ऐक्यबुद्धि के प्रयोजक 'अश्वापोह' भिन्न हैं। अतः गो शब्द और अश्व शब्द में पर्यायता की आपत्ति नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार सभी शब्दों में पर्यायता की आपत्ति का निवारण किया जा सकता है।[1]

---

१. अपने इस समाधान को बौद्धों ने इस श्लोक से व्यक्त किया है—

तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥

अर्थात् एक वस्तु जिन जिन वस्तुओं से भिन्न हैं (वे ही सभी वस्तु उस अपोह के अपोह्य हैं) तन्मूलक ही अपोह स्वरूप जातियों में भी परस्पर भेद की कल्पना करते हैं, जिससे तत्तत् शब्द से तत्तदर्थविषयक प्रतीति होती है। इस प्रकार सभी शब्दों में एकार्थता का निवारण किया जा सकता है।

तेनैवाधारभेदेनाप्यस्य भेदो न युज्यते ।
न हि सम्बन्धिभेदेन भेदो वस्तुन्यपीष्यते ॥ ४८ ॥

तेनैव ''न युज्यते

(मीमांसक इसका यह उत्तर देते हैं कि) अपोहों में यदि स्वतः परस्पर भेद नहीं है, अपोह्यों के भेद से ही उनमें भेद मानते हैं, तो उनका यह भेद वास्तविक न होकर माणवक के सिंहत्व की तरह 'औपचारिक' अर्थात् गौण है। अपोहों में यह औपचारिक (अवास्तविक) भेद ही है, इससे सभी शब्दों में पर्यायतापत्ति का निवारण नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार आधारों के भेद से अपोहों में भेद मानकर भी कथित पर्यायत्व का निवारण नहीं किया जा सकता ।[1]

न हि सम्बन्धभेदेन '' वस्तुन्यपीष्यते

क्योंकि सम्बन्धियों की भिन्नता आधेयों में भेद की नियामिका नहीं है, क्योंकि गृह भी घट का आधार है एवं उद्यान भी घट का आधार है। किन्तु गृह और उद्यान की भिन्नता से घटों में परस्पर भिन्नता नहीं आ सकती ॥ ४८ ॥

किमुतावस्त्वसंसृष्टम् अन्यतश्चानिर्वर्तितम् ।
अनवाप्तविशेषांशं यत् किमप्यनिरूपितम् ॥ ४९ ॥

जब आधार के भेद से भावस्वरूप वस्तुओं में ही भेद सम्भव नहीं है, तो फिर जो अपोह स्वयं अवस्तु स्वरूप हैं, किसी भी रूप से जिनका निरूपण सम्भव नहीं है, जिनमें 'सम्बन्ध' (अनुवृत्ति) अथवा व्यावृत्ति कोई भी सम्भव नहीं है वे अपोह परस्पर भिन्न कैसे हो सकते हैं ॥ ४९ ॥

तस्माद् यथैव भेदेऽपि पिण्डानां नैव भिद्यते ।
तथैवापोह्यभेदेऽपि नानेकोऽयं भविष्यति ॥ ५० ॥

इसलिये जिस प्रकार घटादि पिण्ड (अवयवी) व्यक्तिशः भिन्न होते हुए भी जातितः भिन्न (अनेक) नहीं होते, उसी प्रकार अपोह अपोह्य भेद से भिन्न होते हुये भी 'स्वरूपतः' (जातितः) अनेक नहीं होंगे ॥ ५० ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यदि बौद्धगण यह कहें कि 'अगोव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह के आश्रय 'गो' हैं, एवं 'अनश्वव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह के आश्रय अश्व हैं। गो एवं अश्व इन दोनों की भिन्नता के कारण उनमें रहने वाले अपोह भी भिन्न हैं। इसलिये सभी शब्द एक ही अपोह के वाचक नहीं हैं। गो शब्द अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का वाचक है, एवं अश्व शब्द अनश्वव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का वाचक है।

किन्तु अपोह को वाच्य मानने से सभी शब्दों में पर्यायता की जो आपत्ति आती है, उसके वारण का यह प्रयास भी व्यर्थ ही है। यदि अपोहों के आश्रय का भेद है, स्वतः उनमें कोई भेद नहीं है, तो उस भेद को औपचारिक ही मानना होगा। औपचारिक भेद से पर्यायत्वापत्ति का वारण नहीं हो सकता।

भेदे वा प्रतिपिण्डं स्यादगोऽपोहः तथा सति ।
सामान्यं शाबलेयादेरिति नेष्टं प्रसिध्यति ॥ ५१ ॥

भेदो वा ''अगोऽपोहः

यदि अपोह्यों के भेद से अपोहों में परस्पर भेद को स्वीकार न करेंगे तो पिण्ड (गवादि व्यक्ति) के भेद से भी अपोह भिन्न नहीं होंगे। इससे अपोह की सामान्य-रूपता (भिन्न व्यक्तियों में एकाकारकप्रतीतिजनकता) ही भङ्ग हो जायगी।

तथा सति ''नेष्टं प्रसिद्धयति

जिससे 'अगोऽपोह शाबलेयादि गो व्यक्ति स्वरूप विशेषों का सामान्य है' यह प्रतीति भंग हो जायगी ॥ ५१ ॥

संसर्गिणोऽपि चाधारा यं न भिन्दन्ति रूपतः ।
अपोह्यैः स बहिर्भूतैर्भिद्यतेत्यतिकल्पना ॥ ५२ ॥

अपोह के संसर्गी आधार भी जिनमें परस्पर भेदों का संपादन नहीं कर सकते, अपोहों से सर्वथा असंबद्ध अपोह्य पदार्थ उनमें भेदों का सम्पादन करेंगे—यह कल्पना के बाहर की बात है ॥ ५२ ॥

अगव्यश्वातिरेकः स्यादनश्वश्च गवाधिकः ।
शेषं हस्त्याद्यपोह्यं तु द्वयोरपि न भिद्यते ॥ ५३ ॥
तत्रैकभेदाद् भेदोऽस्तु बह्वभेदादभिन्नता ।
भूयसां स्यात् सधर्मत्वमित्यभेदः प्रसज्यते ॥ ५४ ॥

अपोह्यों के भेद से भी अपोहों में भेद नहीं हो सकता, क्योंकि अपोह्यों में भी परस्पर एकान्त भेद अनुपपन्न है। अगोव्यावृत्ति स्वरूप 'अगोऽपोह' के अपोह्य हैं गो से भिन्न अश्वादि। एवं अनश्वव्यावृत्ति स्वरूप अनश्वापोह के अपोह्य हैं गवादि। फलतः अगोऽपोह्य के समुदाय में 'गो' नहीं है एवं अनश्वापोह के समुदाय में अश्व नहीं है। किन्तु गो से भिन्न हाथी प्रभृति सभी जीव दोनों ही अपोहों के समान रूप से फिर अपोह्य हैं। यदि एक-एक अपोह्य के भेद से अपोहों में भेद हो तो फिर असंख्य अपोह्यों की समानता के कारण दोनों अपोह अभिन्न क्यों न हों ? इस प्रकार दोनों अपोहों के अपोहों में भेद के प्रयोजक से अभेद के ही प्रयोजक अधिक हैं ॥ ५३–५४ ॥

गौश्च हस्त्याद्यपोहेन नाश्वरूपाद् विशेष्यते ।
करोति तदपोहं चेदैकरूप्यं विरुध्यते ॥ ५५ ॥

यह जो कहा है कि अगोव्यावृत्ति के अपोह्यों में अश्व अधिक है एवं अनश्व-व्यावृत्ति के अपोह्यों में गो अधिक है। वास्तव में सो भी नहीं है, दोनों अपोहों के अपोह्यों में यह भी विषमता नहीं है, क्योंकि शाबलेय बाहुलेय प्रभृति गो व्यक्तियों में अपोह्यों की एकता के कारण ही एकजातीयता है। अपोह्यों की एकरूपता को छोड़कर उक्त एकजातीयता का प्रयोजक दूसरा नहीं है। किन्तु तुल्ययुक्त्या

गो और अश्व इन दोनों के भी हाथी समान रूप से अपोह्य हैं। अपोह्यों की इस एकरूपता के कारण गो और अश्व भी एक होंगे, एवं समानजातीय होंगे। अब यदि गो से अश्व का अपोहन या अश्व से गो का अपोहन स्वीकार करेंगे तो गो और अश्व की यह अभिन्नता एवं समानजातीयता भङ्ग हो जायगी। इस प्रकार कथित रीति से जैसे कि एक गो से दूसरे गो का अपोहन नहीं होता है, वैसे ही गो से अश्व का या अश्व से गो का अपोहन नहीं होगा।

अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि अश्व से गो का एक अश्व रूप अपोह्य अधिक है अथवा गो से अश्व का एक अपोह्य अधिक। तस्मात् अपोह्यों के भेद से भी अपोहों में भेद नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

सर्वशब्देषु चैकैकम् अपोह्यमतिरिच्यते।
तत्रासाधारणत्वेन तन्मात्रापोह्यता भवेत् ॥ ५६ ॥

(पू० प०) सभी शब्दों में से किसी एक शब्द को दूसरे प्रतिपक्षी शब्द के साथ यदि विचार करें एवं दृष्टान्त रूप में यदि गो शब्द और अश्व शब्द इन दोनों शब्दों के वाच्य अर्थों के प्रसङ्ग को लें तो गो शब्द के वाच्य अपोह के अपोह्यों से अश्व शब्द के वाच्य अपोह के अपोह्यों में एक-एक का अन्तर होता है। अर्थात् गो शब्द के वाच्य अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के अपोह्य हैं, गो से भिन्न अश्वप्रभृति एवं अश्व शब्द के वाच्य अनश्वव्यावृत्ति रूप अपोह के अपोह्य हैं गो हस्ति प्रभृति। फलतः दोनों ही अपोहों के हस्तिप्रभृति अपोह्य यद्यपि समान हैं, फिर भी गोशब्दार्थ अपोह के अपोह्यसमुदाय में अश्व भी है जो अश्वशब्दार्थ अपोह के अपोह्यसमुदाय में नहीं है। फिर भी हस्ति प्रभृति जीव दोनों ही अपोहों के लिये समान रूप से अपोह्य हैं। किन्तु 'असाधारण' के द्वारा ही 'व्यपदेश' अर्थात् व्यवहार होता है (असाधारणेन हि व्यपदेशा भवन्ति) इस न्याय के अनुसार यही कहा जा सकता है कि अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के अश्व स्वरूप अपोह्य से अनश्वव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के गो स्वरूप भिन्न हैं, अतः दोनों ही अपोह भिन्न हैं। इसलिये गो शब्द और अश्व शब्द विभिन्न अपोहों के वाचक होने से पर्याय नहीं हैं ॥ ५६ ॥

ततोऽश्वापोहरूपत्वात् सिंहादिः सर्व एव ते।
तन्निमित्तमगोऽपोहं बिभ्रदुच्येत गौरिति ॥ ५७ ॥

(सि० प०) यदि 'अगोऽपोहघटक 'अगो' शब्द से केवल अश्व ही अभिप्रेत हो तो फिर हस्ति प्रभृति जितने भी जीवों से अश्व भिन्न है, वे सभी अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह से युक्त होने के कारण 'गो' हो जायँगे, क्योंकि गो से भिन्न केवल अश्व ही अपोह्य होने के कारण अगोव्यावृत्ति स्वरूप का 'निमित्त' है। इसी प्रकार गो शब्द के ही समान सिंह शब्द के वाच्य असिंहव्यावृत्ति रूप अपोह की आलोचना करने से यह ज्ञात होता है कि सिंह और गो एक हैं, क्योंकि गोशब्द के वाच्य अपोह का अपोह्य भी अश्व है, और सिंह शब्द के वाच्य अपोह का अपोह्य भी अश्व है। इस प्रकार अपोह्यों में अभेद के कारण दोनों अपोह (अगोऽपोह और असिंहापोह) एक

हो जायगे। इसलिये किसी एक अपोह का कोई दूसरा पदार्थ असाधारण अपोह्य नहीं है। अतः असाधारण अपोह्य के भेद से भी अपोहों में भेद का उपपादन नहीं किया जा सकता ॥ ५७ ॥

सर्वापोहो यदीष्येत स वक्तव्यः कथं पुनः।
यदि प्रत्येकरूपेण नापोह्यानन्तता भवेत् ॥ ५८ ॥

सर्वापोहो यदीष्येत

(इस पर अगर बौद्धगण यह कहें कि—)

केवल असाधारण होने के कारण अश्व ही गो का अपोह्य नहीं है, गो से भिन्न सिंहादि सभी गो के अपोह्य हैं। एवं अश्व के भी अश्वातिरिक्त जितने भी जीव हैं वे सभी अपोह्य हैं। यद्यपि गो और अश्व दोनों के अपोह्यों में .सिंहादि समान हैं फिर भी गो के अपोह्यों में अश्व एक ऐसा अपोह्य है जो अश्वापोह्य के समुदाय में नहीं है। एवं गवापोह्य समुदाय में यद्यपि सिंहादि समान हैं, फिर भी गो उसमें नहीं हैं जो अश्वापोह्यों में है। दोनों अपोह्यसमुदायों में से प्रत्येक में एक व्यक्ति ऐसी है जो दूसरे में नहीं है। इससे अश्वापोह्यसमुदाय और गवापोह्यसमुदाय चूंकि भिन्न हैं, अतः शब्दों के वाच्य अपोह भी भिन्न हैं, इस लिये दोनों पदों में पर्यायता की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

स वक्तव्यः कथं पुनः

(सि० प०) बौद्धों से पूछना चाहिये कि क्या गो से भिन्न सभी व्यक्तियों के समुदाय में से प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से गो शब्द का अपोह्य है ?

यदि प्रत्येकरूपेण''''अनन्तता भवेत्

यदि प्रत्येकशः अपोह्यता मानें तो प्रत्येक शब्द के अनन्त अपोह्य होंगे ॥५८॥

भिन्नत्वाच्चाप्यपोह्यानां भिन्नोऽपोहः प्रसज्यते।
तत्रैकस्मिन् भवेत् पिण्डेऽनन्तजातिसमन्वयः ॥ ५९ ॥

एवं अपोह्य के भेद से ही अपोहों में भेद होता है, अतः एक अपोह के अनन्त अपोह्य हैं। इस प्रकार गो में गोभिन्न अश्वव्यावृत्ति प्रभृति अनेक जातियों का समुच्चय स्वीकार करना होगा। एक ही व्यक्ति में अन्यूनानतिप्रसक्त अनेक जातियों की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। एक व्यक्ति में रहनेवाली जातियों में परापरभाव अवश्य होगा ॥ ५९ ॥

ततो गौरिति सामान्यं वाच्यमेकं न सिध्यति।
जात्यन्तरमतिश्चैषु भवेज्जात्यन्तरेष्विव ॥ ६० ॥

ततो गौरिति''न सिद्धयति

इससे यह आपत्ति होगी कि सभी गोव्यक्तियों में जो 'गौः' इस आकार की बुद्धि गोपद से होती है, वह न हो सकेगी, क्योंकि कोई एक अपोह गोपद का वाच्य नहीं है।

जात्यन्तरमतिः""जात्यन्तरेष्विव

इससे दूसरा दोष यह होगा कि जिस प्रकार गो घटादि विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न जातियों की प्रतीति मानते हैं, उसी प्रकार एक ही गो व्यक्ति में गोभिन्न अश्वव्यावृत्ति, गोभिन्न हस्तिव्यावृत्ति प्रभृति अनेक अपोहात्मक जातियों की प्रतीति माननी होगी। किन्तु सो इष्ट नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों में अन्यूनानतिप्रसक्त अनेक जातियों की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती ॥ ६० ॥

समुदायात्मना नापि भवेदेषामपोह्यता।
समुदायो हि नैकेन विना धर्मेण जायते ॥ ६१ ॥

गो से भिन्न अश्वादिसमुदाय में रहनेवाले समुदायत्व रूप से अश्वादिसमुदाय को भी गवापोह्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि समुदायघटक प्रत्येक व्यक्ति में न रहनेवाले धर्म की सत्ता समुदाय में नहीं मानी जा सकती। प्रत्येक को छोड़कर समुदाय नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥ ६१ ॥

नाप्येकदेशता तेषामस्ति नाप्येककालता।
व्यतिरिक्तश्च सङ्घातस्तेषां कश्चिन्न विद्यते ॥ ६२ ॥

नाप्येकदेशता""एककालता

दूसरी बात यह है कि गो से भिन्न इतने विभिन्नकालिक विभिन्नदेशवृत्ति पदार्थ हैं कि उनका एक 'समुदाय' भी नहीं बन सकता, क्योंकि समुदाय एककालिकत्व एकदेशिकत्व प्रभृति किसी एक धर्म के कारण ही होता है। परस्परासम्बद्ध इतस्ततः विक्षिप्त अनेक वस्तुओं का कोई समुदाय नहीं होता।

व्यतिरिक्तश्च "" न विद्यते

एवं बौद्धों के मत से व्यक्तियों से अलग व्यक्तियों के संघात नाम की कोई वस्तु नहीं है। फलतः संघात को अपोह्य मानने से व्यक्तियों की अनन्तता से शक्ति की अनन्तता की आपत्ति उनके मत में बनी रहेगी ॥ ६२ ॥

यदि त्वव्यतिरिक्तः स्यादानन्त्यं तदवस्थितम्।
यदि [1]सामान्यरूपेण तेऽपोह्यं ते न वस्तुता ॥ ६३ ॥
कथं वा वस्त्वपोह्येत नाभावो भावमृच्छति।
अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यते ॥ ६४ ॥

यदि सामान्य रूप से तुम गो को अपोह्य मानते हो तो वह सामान्य रूप से गोभेद ही होगा, जो अभाव स्वरूप है। फिर वह अपोह्य 'वस्तु' (भाव) स्वरूप नहीं हो सकती। अभाव का न कोई अपोह्य है, न कोई अपोह है। 'इह भूतले घटो नास्तीति न' इस आकार की जो अभावापोहन की प्रतीति होती है, वह वस्तुतः भाव

---

१. श्लोक ६३ में दो 'ते' पद हैं, जिनमें से एक 'ते' पद का अर्थ है 'तव' और दूसरे 'ते' पद का अर्थ है 'अपोह्याः'।

की ही प्रतीति है। घटाभाव से भिन्न अभाव की प्रतीति नहीं होती है जिस लिये कि उक्त रीति से कि अगोऽपोह्य के द्वारा किसी अभाव का अपोहन नहीं होता है, इसलिये 'गौर्नास्तीति न' अपोह की इस प्रतीति में गोत्व ही भासित होता है। इसलिये प्रकरण के आदि में ही कह चुके हैं कि 'गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्' (श्लो० पा० श्लो० १) अर्थात् बौद्धों ने अगोऽपोह शब्द से वास्तव में गोत्व का ही प्रतिपादन किया है ॥ ६३–६४ ॥

अपोह्यभेदवद्भिन्नश्च नाभावाभेदतो भवेत् ।
तद्भेदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम् ॥ ६५ ॥

अपोह्यभेद···भवेत्

अपोह चूँकि अभावस्वरूप है, एवं सभी अभाव स्वरूपतः एक हैं, अतः उनमें कोई भेद नहीं है। इसलिये सभी अभावों में ऐक्यबुद्धि का प्रयोजक कोई अभावापोह नहीं है। फलतः सभी अभाव यदि अभिन्न हैं तो फिर अपोह्यों में भी परस्पर भेद मानने का प्रयोजन नहीं रह जाता।

तद्भेदोऽपोह्यभेदाच्चेत्···संश्रयम्

यदि अपोह्यों के भेद से अपोह में भेद मानने का आग्रह करें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा ॥ ६५ ॥

गोसामान्यस्य भिन्नत्वादगौरित्येष भिद्यते ।
अगौरित्यस्य भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥ ६६ ॥

क्योंकि गोत्व सामान्य चूँकि गोभिन्न अश्वव्यावृत्ति, हस्तिव्यावृत्ति प्रभृति अनेक हैं, एवं परस्पर भिन्न हैं। एवं गो सामान्य स्वरूप अपोह इसलिये भिन्न हैं कि उसके अपोह्य अश्वहस्ति प्रभृति परस्पर भिन्न हैं ॥ ६६ ॥

अगावोऽश्वादयश्च स्युस्तेऽप्यभावात्मकाः पुनः ।
कर्काद्यपेक्षया तेऽपि तथेत्येवं न गम्यते ॥ ६७ ॥
किमपोह्यम् क्व चापोहो गोपिण्डेष्वेवमेव च ।
तत्र स्याद् द्वयमप्येतदन्त्येषु परमाणुषु ॥ ६८ ॥

अगावोऽश्वादयः···तेऽपि तथा

यदि गोत्व सामान्य स्वरूप अपोह को अखण्ड और एक मान लें तथापि अश्व प्रभृति भाव उस अपोह के अपोह्य नहीं होंगे, क्योंकि अश्वादि चूँकि 'अगो' हैं, इसीलिये गोत्व सामान्य स्वरूप अपोह के अपोह्य हैं, अश्वत्वादि भाव रूप से अपोह्य नहीं हैं। इसलिए अपोह्य स्वरूप अश्वादि अभाव स्वरूप हो जायंगे।

दूसरी बात यह भी है कि अश्वादि कर्क प्रभृति अन्य जीवों की अपेक्षा से भी भिन्न हैं, इसलिये भी अश्वादि अभाव स्वरूप हैं।

इत्येवं न गम्यते

किन्तु अश्वादि की प्रतीति वस्तु (भाव) रूप से ही होती है, अभाव रूप से नहीं। अर्थात् 'अश्वोऽयम्' इसी आकार की प्रतीति होती है, 'अकर्कोऽयम्' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती।

किमपोह्यम् ?···अश्वत्वसिंहत्वादि

अपोह स्वरूप सामान्यों के विशेष हैं अश्व सिंहादि व्यक्ति, अर्थात् सामान्य चूँकि विशेषसापेक्ष है (कुछ विशेषों का ही कोई एक सामान्य होता है) अतः अश्व सिंहादि व्यक्ति स्वरूप विशेषों की अपेक्षा अश्वत्व सिंहत्वादि सामान्य हैं। ये व्यक्तियाँ अपने अपने अवयव स्वरूप व्यक्तियों-की अपेक्षा सामान्य है। एवं वे अवयव स्वरूप विशेष भी अपने अपने अवयव (अवयवावयव) विशेषों की अपेक्षा सामान्य ही हैं। इस प्रकार द्व्यणुक पर्यन्त सामान्य की यह परम्परा चलेगी (क्योंकि द्व्यणुक हो वह अन्तिम अवयवी है जिसके अवयव परमाणुओं के अवयव नहीं होते) फलतः विशेष केवल परमाणु ही होंगे। (अन्य सभी सावयव पदार्थ सामान्यविशेष-एतदुभयात्मक होंगे)। अन्य सभी अवयवी चूँकि किसी अन्य अवयवी के अवयव स्वरूप हैं, अतः अवयव सामान्य स्वरूप होने के कारण 'सामान्य' हैं। फलतः परमाणुओं को छोड़कर कोई भी अपोह्य नहीं बचता। सभी सामान्य सामान्य स्वरूप होने के कारण 'अपोह' स्वरूप ही ठहरते हैं।

क्व चापोहो··एवमेव च

इसी प्रकार कोई भी भाव पदार्थ अपोह का आधार भी नहीं हो सकता।

गोपिण्डेष्वेवमेव च

क्योंकि गो स्वरूप अवयवी (पिण्ड) एवं द्व्यणुक पर्यन्त उसकी सभी अवयव-परम्परायें चूँकि अपने-अपने अवयवों की अपेक्षा सामान्य (अपोह) स्वरूप हैं, अतः अपोह सामान्य का कोई भी अधार (परमाणुओं को छोड़कर) नहीं बच जाता। इस प्रकार अपोह का न कोई अपोह्य हो सकता है, न कोई आधार।

तत्र स्यात्····परमाणुषु

फलतः परमाणु ही अन्तिम अवयव होने के कारण अपोह्य और अपोह दोनों के लिए हो आधार हैं ॥ ६७–६८ ॥

> **न चान्त्येषु द्वयोरस्ति व्यवहारो धियां प्रति।**
> **गवाश्वपरमाणूनां विशेषश्च न विद्यते ॥ ६९ ॥**
> **स्वरूपजातिसंस्थानपरिमाणादिलक्षणः ।**
> **किमपोह्यं क्व चापोहस्तत्रापि न विशिष्यते ॥ ७० ॥**

नचान्त्येषु··धियां प्रति

किन्तु शब्दजनित व्यवहार में अर्थात् शाब्दबोध में अभिधावृत्ति के द्वारा एक परमाणु से भिन्न रूप में अन्य परमाणुओं का बोध नहीं होता है। इस प्रकार

परमाणुओं को भी अपोह्य और अपोह इन दोनों में से किसी का आधार नहीं माना जा सकता।

गवाश्वपरमाणूनाम्...न विद्यते

परमाणुओं को ही अपोह्य एवं अपोहाधार दोनों मानने की स्थिति में 'अगोऽपोह' के आधार होंगे गवारम्भक परमाणु एवं अपोह्य होंगे हस्त्यादि के आरम्भक परमाणु। किन्तु गवारम्भक परमाणुओं में एवं हस्त्यादि के आरम्भक परमाणुओं में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही प्रकार के परमाणु केवल पार्थिव परमाणु मात्र हैं (गवारम्भक परमाणु एवं हस्त्यादि के आरम्भक परमाणु दोनों विजातीय नहीं हैं, क्योंकि परमाणुओं में द्रव्यत्व की व्याप्य जाति नहीं मानी जाती), क्योंकि स्वरूप जाति, संस्थान और परिमाण इन्हीं सबों से द्रव्यों में भेद होता है, गवारम्भक परमाणु एवं हस्त्यादि के आरम्भक परमाणु इन दोनों में ये सभी भिन्न नहीं हैं। 'अगोऽपोह' के द्वारा 'गवारम्भक परमाणुओं से भिन्न हैं 'अश्वारम्भक परमाणु' एवं 'तद्भिन्न हैं गवारम्भक परमाणु' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये परमाणु न अपोह्य ही हो सकते हैं न अपोह के आधार ही हो सकते हैं। अतः अपोह्य कौन है? एवं अपोह का आधार कौन है? इसमें कोई अन्तर दिखलाना दुष्कर है।

अपोह्यापोहक व्यवस्था की यह अनुपपत्ति परमाणुओं में ही अनुपपन्न नहीं है, किन्तु भावस्वरूप सामान्य को स्वीकार न करने पर स्थूल अवयवि द्रव्यों में भी यह अनुपपन्न है, क्योंकि परस्पर सजातीय शाबलेय गो एवं बाहुलेय गो इन दोनों में भी कुछ भेद है। गो एवं अश्व में तो भेद है ही। इनमें जो अपोह के आधार होंगे उनमें कुछ सारूप्य का रहना आवश्यक है, क्योंकि सारूप्य के विना अपोहाधारता की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो अश्वादि अपोह्य होंगे, उनमें अपोहाधार व्यक्तियों से कुछ वैरूप्य का रहना भी आवश्यक है। इन सभी विषयों को जाने विना अपोह्यापोहक भाव की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः अपोह की सिद्धि के लिए भी भावस्वरूप जाति की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है ॥६९-७०॥

> न चाप्रसिद्धसारूप्यानपोहविषयात्मना।
> शक्तः कश्चिदपि ज्ञातुं गवादीनविशेषतः ॥ ७१ ॥
> अपोह्यानपि चाश्वादीनेकधर्मान्वयावृते।
> न निरूपयितुं शक्तिस्तत्रापोहो न सिद्ध्यति ॥ ७२ ॥

(बौद्धगण कह सकते हैं कि अपोह के लिये आवश्यक कुछ पिण्डों में जिस सारूप्य की चर्चा की गयी है, वह सारूप्य भी अपोह रूप ही होगा। इसके लिये भावरूप सामान्य की कल्पना आवश्यक नहीं है। इसका यह उत्तर है—)

जातिभावस्वरूप है, अतः उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना जा सकता है, इस लिये यह निश्चय करना सुलभ है कि जिन व्यक्तियों से जाति का प्रत्यक्ष हो वे सभी व्यक्तियाँ समानजातीय हैं। 'अपोह' से यह काम नहीं हो सकता, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है, जिस लिये कि वह अभाव स्वरूप है। अपोह को तो शब्द और अनुमान

इन्हीं दोनों प्रमाणों से समझा जा सकता है। इन दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति 'अन्वय' के अधीन है। असाधारण धर्म के साथ अन्वय का ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि साधारण धर्म ही अन्वय के विषय हैं। अपोह का अन्वय किसी ऐसे साधारण सारूप्य के साथ संभव नहीं है जिससे अपोह का अनुमान हो सके। सुतराम् भाव स्वरूप सारूप्य के द्वारा ज्ञात होने पर किसी अपोह के विषय रूप में केवल ज्ञात होने से ही सभी गो व्यक्तियों में ऐक्य की बुद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार अश्वादि अपोह्यों को भी किसी एक सारूप्य के द्वारा ज्ञात न होने पर उन सभी व्यक्तियों में अपोह्य की बुद्धि नहीं हो सकती ॥ ७१–७२ ॥

न चान्वयविनिर्मुक्ते प्रवृत्तिर्लिङ्गशब्दयोः ।
ताभ्यां च न विनापोहो न चासाधारणेऽन्वयः ॥ ७३ ॥
अपोहश्चाप्यनिष्पन्नः साहचर्यं क्व दृश्यताम् ।
तस्मिन्नदृश्यमाने च न तयोःस्यात् प्रमाणता ॥ ७४ ॥
न चादर्शनमात्रेण ताभ्यां प्रत्यायनं भवेत् ।
सर्वत्रैव ह्यदृष्टत्वात् प्रत्याय्यं नात्रशिष्यते ॥ ७५ ॥

(बौद्धगण कह सकते हैं कि अनुमान और शब्द इन दोनों को अपनी प्रवृत्ति के लिये 'अन्वय' की अपेक्षा नहीं है। केवल 'विपक्षादर्शन' स्वरूप व्यतिरेक से भी वे अपना कार्य कर सकते हैं। अतः अन्वयग्रहण की असंभावना से जो अपोह्यापोहक-भाव का खण्डन किया गया है वह ठीक नहीं है। बौद्धों के इस समाधानाभास का यह प्रतिसमाधान है—)

अन्वय से विनिर्मुक्त केवल व्यतिरेकयुक्त वस्तु को समझाने की सामर्थ्य अनुमान और शब्द इन दोनों प्रमाणों में नहीं है। एवं अनुमान और शब्द इन दोनों प्रमाणों के विना अपोह की सिद्धि नहीं हो सकती। व्यक्ति के असाधारण धर्म के साथ अन्वय संभव नहीं है।

इस प्रकार 'अनिष्पन्न' अर्थात् असिद्ध अपोह का साहचर्य किस हेतु के साथ देखा जाय? अर्थात् सर्वथा अज्ञात अपोह का साहचर्य किसी भी हेतु के साथ नहीं देखा जा सकता। अपोह का किसी हेतु के साथ साहचर्य के न दीखने पर अनुमान और शब्द ये दोनों प्रमाणों का प्रामाण्य ही अनुपपन्न होगा।

न चादर्शनमात्रेण ''प्रत्यायनं भवेत्

केवल विपक्षादर्शन से ही अनुमान और शब्द इन दोनों प्रमाणों से 'अर्थ' (अपोह) की प्रतीति नहीं हो सकती।

सर्वत्रैव

क्योंकि सपक्ष में यदि अपोह का किसी हेतु के साथ अन्वय नहीं देखा जाता है तो विपक्ष में देखा जाना तो संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी हेतु से अथवा किसी शब्द से अपोह का प्रतिपादन कैसे संभव है? यदि शब्द प्रमाण गो से

भिन्न अश्वादि का प्रतिपादन करते हुये नहीं देखे जाते हैं केवल इसीलिये 'अगो-व्यावृत्ति' स्वरूप अपोह के प्रतिपादक हों तो गो स्वरूप अर्थ का प्रतिपादन करते हुये भी गो शब्द पूर्वश्रुत नहीं है, इसीलिये गो शब्द अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का प्रतिपादन नहीं कर पायेगा। इस प्रकार गो और अगो दोनों का अप्रतिपादक होने से गो पद अवाचक हो जायगा। इसी प्रकार सभी पद अवाचक हो जायेंगे॥ ७३–७५॥

अथासत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना।
गवाश्वयोरयं कस्मादगोऽपोहो न कल्प्यते॥ ७६॥

यदि कुछ वस्तुओं में कुछ वस्तुओं का सारूप्य (समानता) न रहने पर भी उनमें से किसी को अपोह्य और किसी को अपोह का आधार मान लें तो 'व्यवस्था' नहीं रह पायेगी, क्योंकि जिस प्रकार अगो स्वरूप अश्वादि अपोह्य हैं, एवं गो अपोह के आधार हैं, इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अगोऽपोह (अगोव्यावृत्ति) का आश्रय गो और अश्व दोनों ही हैं। अतः जिस प्रकार एक अपोह से सभी गो व्यक्तियों में समान बुद्धि होती है, उसी प्रकार गो और अश्व में भी किसी अपोह के के द्वारा समान बुद्धि होगी। इसलिये अपोह्यापोहकभाव के लिये भी भाव स्वरूप सामान्य की आवश्यकता है[1]॥ ७६॥

शाबलेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः समम्।
सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् क्वागोऽपोहः प्रवर्ततताम्॥ ७७॥

यदि किसी प्रकार अपोह्य और अपोह का ज्ञान संभव भी हो, तथापि भाव स्वरूप सामान्य को स्वीकार किये विना कौन किसका सजातीय है एवं कौन किसका विजातीय है, इसकी व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि बाहुलेय गो और अश्व इन दोनों में शाबलेय गो का भेद समान रूप से है।

कहने का तात्पर्य है कि शाबलेय बाहुलेय प्रभृति सभी गो व्यक्तियों में एवं कर्कादि अन्य व्यक्तियों में व्यक्तिशः परस्पर भेद समान रूप से विद्यमान है। जिस प्रकार शाबलेय गो बाहुलेय से भिन्न है, उसी प्रकार कर्कादि से भी भिन्न है। एक कर्कादि भी प्रत्येकशः एक दूसरे कर्कादि से भिन्न हैं। एवं अश्वादि अन्य जीवों से भी भिन्न हैं। सभी शाबलेयादि व्यक्तियों में रहने वाला एवं कर्कादि व्यक्तियों में न रहने वाला कोई सामान्य न हो तो जिस प्रकार शाबलेय गो और बाहुलेय गो इन दोनों गो व्यक्तियों में कर्कादिव्यावृत्ति समान है एवं इसी समानता के कारण कथित दोनों व्यक्तियों में ऐक्यबुद्धि हो तो फिर बाहुलेय गो एवं कर्क इन दोनों में

---

१. इस प्रसङ्ग की आलोचना करते हुये श्रीपार्थसारथि मिश्र ने इस श्लोक की न्यायरत्नाकर व्याख्या में लिखा है कि अपोह्यत्व और अपोहत्व दोनों चूंकि अभाव स्वरूप हैं, अतः अनुपलब्धि प्रमाण से उनके ग्रहण का उपपादन हम मीमांसक गण भली भाँति कर सकते हैं। किन्तु बौद्धों के लिये यह मार्ग अपनाना संभव नहीं है, क्योंकि वे अनुपलब्धि (अभाव) को प्रमाण नहीं मानते।

भी चूँकि शाबलेय गो की व्यावृत्ति समान है, अतः बाहुलेय गो एवं कर्क इन दोनों में भी ऐक्यबुद्धि होने लगेगी। इस लिये भाव रूप सामान्य के न रहने पर किसी 'विशेष' के कारण कुछ वस्तुओं को अपोह्य कोटि में एवं कुछ व्यक्तियों को अपोहाधार कोटि में रखेंगे? सभी सब के अपोह्य और सभी व्यक्तियाँ सभी अपोहों की आधार होंगी।

यदि व्यावृत्ति (भेद) मात्र से व्यक्तियों में साम्य को स्वीकार करें तो अत्यन्त व्यावृत्त (विलक्षण) सर्षप (सरसों), वृक्ष, सिंह प्रभृति में अश्वव्यावृत्ति चूँकि समान है अतः उनमें भी समानजातीयता स्वीकार करनी होगी ॥ ७७ ॥

इन्द्रियैर्नाप्यगोऽपोहः प्रथमं व्यवसीयते।
नान्यत्र शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम्[1] ॥ ७८ ॥

गवादि अर्थों का साधारण धर्म है अपोह। अपोह चूँकि अभाव रूप है, अतः उसमें इन्द्रिय का उपयुक्त सम्बन्ध संभव नहीं है। शब्द का प्रयोग करने वाला पुरुष अभिधेय अर्थ को देखकर ही शब्द का प्रयोग करता है। उपयुक्त इन्द्रिय-सम्बन्ध के न रहने के कारण अपोह का देखा जाना संभव नहीं है। अतः उसको समझाने के लिये कोई भी प्रयोक्ता किसी शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता। अर्थों के जो असाधारण धर्म हैं, वे शब्द के द्वारा बोध्य हो नहीं हैं। इस लिये अर्थों के अपोह स्वरूप साधारण धर्म और शाबलेयत्वादि असाधारण धर्म इन दोनों में से किसी को भी समझाने के लिये शब्द का प्रयोग संभव नहीं हैं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तेन प्रबन्धेन नानुमाप्यत्र विद्यते।
सम्बन्धानुभवोऽप्यस्य तेन नैवोपपद्यते ॥ ७९ ॥

पूर्वोक्तेन""अत्र न विद्यते

यह कहना संभव नहीं है कि 'गोपदम् अगोव्यावृत्तवाचकम्, अन्यत्र प्रवृत्त्यनुपलब्धेः' इस अनुमान के द्वारा अपोह को समझकर शब्दप्रयोग का उपपादन करेंगे, क्योंकि दृश्यादर्शन स्वरूप अनुपलब्धि को ही बौद्धगण अभावों का ग्राहक हेतु मानते हैं। यह दृश्यादर्शन हेतु चूँकि स्वयं अभाव स्वरूप है, अतः उसके ज्ञान के लिये दूसरे अभाव स्वरूप दृश्यादर्शन को समझने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनुपलब्धि स्वरूप लिङ्ग से अभावज्ञान की अनुपपत्ति का उपपादन अभाववाद में (३८–४० श्लोक) किया जा चुका है।

---

१. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से यह कहा गया है कि गो शब्द का प्रयोग अगोव्यावृत्ति को समझाने के लिये संभव तो है, किन्तु अगोव्यावृत्ति में चूँकि गो शब्द का शक्ति रूप सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकता, अतः गोपद से अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का बोध नहीं हो सकता।

अब यह कहा जाता है कि अपोह के लिये शब्द का प्रयोग ही संभव नहीं है। अर्थात् पहिले प्रयोग से श्रोता में बोध की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है। अब वक्ता के द्वारा प्रयोग की ही अनुपपत्ति दिखलायी जाती है।

सम्बन्धाऽनु''''उपद्यते

यदि यह कहें कि अपोह चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं है, अतः अपोह में जो 'प्रत्यक्षानुमानागम्यत्व' हेतु है, उसी से अपोह में शब्दवाच्यत्व का अनुमान करेंगे (अपोहः शब्दाभिधेयः प्रत्यक्षानुमानागम्यत्वात्) किन्तु सो भी संभव नहीं है, क्योंकि उक्त अनवगम्यत्व भी चूँकि अभाव स्वरूप है, अतः उसके ज्ञान के लिये भी दूसरे अनुपलब्धि स्वरूप हेतु के ज्ञान की आवश्यकता होगी, जो अनवस्था में परिणत हो जायगी ॥ ७९ ॥

निवृत्तिवाचिनः शब्दा न प्रसिद्धाश्च यान् प्रति।
तेषामगोरसिद्धत्वान्न सामान्यनिराक्रिया ॥ ८० ॥

दूसरी बात यह है कि गो से भिन्न जितनी अश्वादि व्यक्तियाँ हैं, वे अनन्त होने के कारण प्रत्येकशः अज्ञेय हैं। अतः प्रत्येकशः वे अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के अपोह्य नहीं हो सकते (अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्व अपोह्यतावच्छेदक नहीं हो सकता) अतः 'अगो' रूप से ही उनमें अपोह्यता माननी होगी। 'अगो' है गोनिवृत्तिस्वरूप। निवृत्ति चूँकि अभाव रूप है, अतः अतीन्द्रिय है। इसलिये शब्द से ही उक्त निवृत्ति (अभाव) का बोध मानना होगा। अभाव के वाचक 'नञ्' प्रभृति शब्द ही हैं। अतः नञादि शब्द से निवृत्ति के बोध के लिये उनमें नञादि पदों की शक्ति का ज्ञान आवश्यक है।

इस स्थिति में जिस पुरुष को नञादि शब्दों की शक्ति अभाव में गृहीत नहीं है, उस पुरुष को अगो स्वरूप अपोह्य का ज्ञान नहीं होने से गो पद से उस (नञ् पद की शक्ति से अनभिज्ञ) पुरुष को अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का ज्ञान नहीं हो सकेगा। फलतः गो पद से उस व्यक्ति का बोध ही न हो सकेगा। इसलिये सभी गो व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाले भाव स्वरूप एक (गोत्व) सामान्य को मानना आवश्यक है। इसका खण्डन नहीं किया जा सकता ॥ ८० ॥

अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः।
न दृष्टो यत्र गोशब्दः सम्बन्धानुभवक्षणे ॥ ८१ ॥

अगोशब्दाभिधेयत्वम्''''कथं पुनः

यह 'अगो' कौन सी वस्तु है जिसके 'अपोह' अर्थात् व्यावृत्ति की प्रतीति सभी गो व्यक्तियों में होती है ? यदि यह कहो कि गोशब्द का जो अनभिधेय है वही 'अगो' पदार्थ है, तो फिर यह समझना कठिन हो जाता है कि गो शब्द का अनभिधेय ही कौन है ? इस प्रकार अगो स्वरूप अपोह्य का निरूपण संभव न होने से अगोव्यावृत्ति रूप अपोह अनिरूप्य ही रह जाता है।

न दृष्टो यत्र गोशब्दः

(पू० प०) गोशब्द की शक्ति के ज्ञान के क्षण में जिनको समझाने के लिये गो शब्द का प्रयोग उपयुक्त न हो वे ही 'अगो' पदार्थ हैं।

एकस्मात् तर्हि गोपिण्डाद् यदन्यत् सर्वमेव तत् ।
भवेदपोह्यमित्येवं न सामान्यस्य वाच्यता ॥ ८२ ॥

(सि० प०) यदि 'अगो' पद की इस परिभाषा को स्वीकार करें तो जिस गो व्यक्ति में शक्ति का ग्रहण होगा, उस एक गो व्यक्ति से भिन्न जितनी भी गो व्यक्तियाँ हैं, तत्सहित सभी अश्वादि व्यक्तियाँ 'गवापोह' के अपोह्य होंगे । अतः जिस प्रकार अश्वादि अपोह्यों में गोपद की प्रवृत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार उक्त अन्य व्यक्तियों में भी गोपद की प्रवृत्ति नहीं होगी । फलतः उनका गोपद से बोध न हो सकेगा । इस प्रकार अगोव्यावृत्ति रूप सामान्य में गोपद की वाचकता अनुपपन्न हो जायगी ॥ ८२ ॥

सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः ।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते ॥ ८३ ॥
स चेदगोनिवृत्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः ।
सिद्धश्चेद् गौरपोह्यार्थं वृथापोहप्रकल्पना ॥ ८४ ॥

सिद्धश्च ''यः प्रतिषिद्धयते''''अन्योन्यसंश्रयः

'सिद्ध' अर्थात् पहले से ज्ञात 'अगो' पदार्थ ही 'गवापोह' का अपोह्य है । 'अगो' चूँकि गोका अभाव रूप है, अतः 'अगो' शब्दघटक नञ् से जो प्रतिषिद्ध होता है, वही गोपद के द्वारा अभिहित होता है ।[1]

सिद्धश्चेत्''''वृथाऽपोहप्रकल्पना

यदि अगो स्वरूप अपोह्य की सिद्धि के लिये गोत्व सामान्य स्वरूप भाव को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर सभी गोव्यक्तियों में ऐक्यबुद्धि की उपपत्ति भी उसीसे होगी । अतः ऐक्यबुद्धि के लिये अपोह की कल्पना अनावश्यक है । अथवा यों कहिये कि अपोह में ऐक्यबुद्धि की कल्पना व्यर्थ है ॥ ८३-८४ ॥

गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावे च गौः कुतः ।
नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयोः ॥ ८५ ॥

जिस लिये कि 'अगो' के अभिधान के विना गो शब्द से अगोव्यावृत्ति रूप अपोह का अभिधान नहीं हो सकता । अतः पहले 'अगो' का अभिधान आवश्यक है । 'अगो' चूँकि गोनिषेध स्वरूप है अतः गो के अभिधान के विना अगो का अभिधान सम्भव नहीं है । इसलिये गोत्वस्वरूप भावात्मक सामान्य के अभिधान का प्रतिपादन अगोव्यावृत्तिस्वरूप अपोह के प्रतिपादन के पहले आवश्यक है । इसी अभिप्राय से इस प्रकरण के प्रथम श्लोक में ही कहा गया है कि 'गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तम्' ।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि अगो शब्द से अश्वादि में गोत्व का प्रतिषेध होता है । इस प्रतिषेध का प्रतियोगी 'गोत्व' रूप भावात्मक सामान्य ही गो पद का प्रतिपाद्य है । फलतः अगोव्यावृत्ति स्वरूप अपोह गोपद का शक्य नहीं है ।

'साधाराधेय' 'अभावयोः

मीमांसकगण केवल जाति में पद की शक्ति इसलिये मानते कि जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से गौरव होता है। इस पक्ष को स्वीकार करने में अन्य कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं है। किन्तु बौद्धों के लिये ओपहविशिष्ट किसी व्यक्ति में शब्द की शक्ति स्वीकार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अपोहविशिष्ट भी कोई दूसरा अपोह ही होगा। सभी अपोह चूँकि अभाव स्वरूप हैं, अतः सामान्य रूप अपोह एवं व्यक्ति स्वरूप अपोह दोनों में कोई आधाराधेयभावादि सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सम्बन्ध के न रहने से अपोह रूप सामान्य और व्यक्ति रूप अपोह दोनों में विशेष्यविशेषणभाव नहीं हो सकता। फलतः पद से सामान्यविशेषणक एवं व्यक्ति-विशेष्यक जो बोध होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा ॥ ८५ ॥

न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽपोहवत् तया।
कथं वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनोः ॥ ८६ ॥

न चासाधारणम् 'अपोहवत्तया

शब्द प्रमाण साधारण धर्म का ही ज्ञापक है असाधारण धर्म का नहीं है। अतः पद से असाधारणधर्मविशिष्ट व्यक्ति का बोध तो सम्भव नहीं है।

कथं वा 'वस्त्ववस्तुनोः

असाधारण्य है 'वस्तु' स्वरूप भाव पदार्थ, उसके साथ अभाव स्वरूप अपोह का सम्बन्ध सम्भव नहीं है ॥ ८६ ॥

स्वरूपसत्त्वमात्रेण न च किञ्चिद् विशेषणम्।
स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्यं तद् विशेषणम् ॥ ८७ ॥

स्वरूपसत्त्व 'विशेषणम्

अपोह का यदि व्यक्ति में भान नहीं होता है, तो फिर वह व्यक्ति का विशेषण नहीं हो सकेगा।

स्वबुद्ध्या 'तद्विशेषणम्

क्योंकि जो अपने ज्ञान के द्वारा विशेष्य को अलंकृत करे वही 'विशेषण' है। किसी एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु की सत्ता है—केवल इतने से ही वह (दूसरी वस्तु) विशेषण नहीं हो सकता। फलतः जिससे अनुरक्त होकर जिस (विशेष्य) का भान हो, वही उसका विशेषण है ॥ ८७ ॥

---

१. केवल जाति में शब्द की शक्ति मानने से, अथवा जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने कि वा जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध में शक्ति मानने से बौद्धों ने जिन दोषों का उद्भावन किया है, उनका निराकरण इसी प्रकरण के श्लो० ११९ में आगे किया जायगा। अभी अपोहविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से अन्य दोषों को दिखलाया गया है।

न चाप्यभावशब्देभ्यो जायतेऽपोहबोधनम् ।
विशिष्टबुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥ ८८ ॥

विशेषण के उक्त लक्षण के अनुसार अभाव रूप अपोह भाव स्वरूप अश्वादि व्यक्तियों का विशेषण हो ही नहीं सकता। अतः अश्वादि पदों से अपोहविशिष्ट अश्वादि भाव रूप व्यक्तियों का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि पदों से विशेषणविशिष्ट विशेष्य का ही बोध होता है। यह विशिष्ट बोध विशेषण को पहले से जाने विना संभव नहीं है। अतः पदों से अपोहविशिष्ट व्यक्ति का बोध संभव नहीं है जैसे कि भाव स्वरूप सामान्य को स्वीकार करने से हो सकता है ॥ ८८ ॥

न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज्ज्ञानं विशेषणम् ।
कथं चान्यादृशे ज्ञाते तदुच्येत विशेषणम् ॥ ८९ ॥

दूसरी बात यह है कि अश्वादि पदों से 'अश्वोऽयम्' इत्यादि आकारों की बुद्धियाँ ही उत्पन्न होती हैं, 'अभावोऽयम्' इस आकार की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती हैं। अपोह चूँकि अभाव स्वरूप है अतः तद्विशेष्यक बुद्धि 'अभावोऽयम्' इसी आकार की होगी, किन्तु अश्वादि पदों से अभावाकारक बुद्धियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं। अतः अपोह भाव स्वरूप व्यक्तियों का विशेषण नहीं हो सकता। जो जिस रूप से ज्ञात न हो वह उसका विशेषण कैसे होगा ? ॥ ८९ ॥

अथान्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना ।
तथा सति हि यत्किञ्चित् प्रसज्येत विशेषणम् ॥ ९० ॥

जो जिस रूप से ज्ञात ही न हो, वह भी यदि उसका विशेषण हो तो फिर कोई भी किसी का विशेषण हो सकता है—अश्वत्व भी गो का विशेषण हो सकता है ॥ ९० ॥

अभावरूपगम्ये च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः ॥ ९१ ॥

जो विशेष्य अभाव रूप विशेषण के साथ गृहीत होगा, वह 'वस्तु' रूप अर्थात् भाव स्वरूप नहीं हो सकता।[1]

इसलिये अपोहविशिष्ट 'वस्तु' अर्थात् अपोह से युक्त भाव पदार्थ कभी भी बौद्धों के मत से पद का वाच्य नहीं हो सकता ॥ ९१ ॥

यद्यप्यपोहनिर्मुक्ते न वृत्तिः शब्दलिङ्गयोः ।
युक्ता तथापि बुद्धिस्तु ज्ञातुर्वस्त्ववलम्बते ॥ ९२ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि विशेष्य में असाधारण्य का संपादन ही विशेषण का कार्य है, अतः अपोह यदि अश्वादि भावों का विशेषण होगा तो उनमें अभावत्व रूप असाधारण्य का ही संपादन करेगा।

(अपोह को पद का वाच्य मानने में बौद्धों की एक युक्ति यह भी है कि भाव स्वरूप वस्तुओं का चूँकि कोई भाग नहीं होता, अतः वह सर्वांश में प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात हो सकता है। प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात वस्तु को समझाने के लिये अनुमान और शब्द इन दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि इनकी भी प्रवृत्ति मानें तो उनसे जो ज्ञान होंगे वे पुनरुक्ति अर्थात् ज्ञातज्ञापन मात्र होंगे। अतः पदों से अभाव रूप अपोह का ही बोध होता है, भाव स्वरूप सामान्य का नहीं। अतः अभाव रूप अपोह में ही पद की शक्ति है, भाव रूप सामान्य में नहीं। बौद्धों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वांश में ज्ञात वस्तु में पुनरुक्ति (ज्ञातज्ञापन) के कारण अनुमान और शब्द की प्रवृत्ति ठीक नहीं है, क्यों कि सर्वांश में ज्ञात होने के कारण तद्विषयक ज्ञान अप्रयोजनीय हैं। किन्तु ज्ञान प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखता, वह तो सामग्रीमात्रसापेक्ष है। यदि ऐसा न हो तो अनिष्टविषयक ज्ञान कभी भी नहीं होगा।

अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि "प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होने वाले के अनुवृत्तिप्रत्यय का कारणीभूत सामान्य भाव रूप न होकर अभाव रूप अर्थात् अपोह रूप है।" अतः कथित पुनरुक्ति स्वरूप दोष को सहकर भी वस्तुगति के अनुसार सामान्य को हमलोग (मीमांसकगण) भाव रूप ही मानते हैं॥ ९२॥

न चासाधारणं वस्तु बुद्धौ विपरिवर्त्तते।

न चापि निर्विकल्पत्वात् तस्य युक्ता विशेष्यता॥ ९३॥

(बौद्धों का कहना है कि अभावात्मक अपोह से युक्त स्वलक्षण व्यक्ति स्वरूप 'असाधारण' ही केवल अपोह शब्द का वाच्य नहीं है। अतः भाव रूप असाधारण वस्तु के साथ ज्ञात होने के कारण ही अपोहात्मक सामान्य अभाव रूप होने पर भी 'वस्तु' (भाव) रूप में भासित होता है। फलतः भाव रूप से भासित होने के कारण यह सर्वथा अभाव रूप नहीं है। किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

सभी असाधारण व्यक्तियों में अनुवृत्त (अनुस्यूत) साधारण धर्म का ही भान शब्द से होता है। असाधारण वस्तु का बोध शब्द प्रमाण से नहीं होता है।

न चापि''''विशेष्यता

असाधारण वस्तु चूँकि आप (बौद्धों) के मत से निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है अतः वह शब्द का वाच्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाच्यता है विशेष्यता रूप। निर्विकल्पक ज्ञान का विषय न विशेष्य रूप है न विशेषण रूप। अतः निर्विकल्पकज्ञानीय विषयता विशेष्यता और विशेषणता (प्रकारता) इन दोनों से भिन्न है॥ ९३॥

शब्देनागम्यमानं च विशेष्यमिति साहसम्।

तेन सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धिशब्दयोः॥ ९४॥

शब्देन ''साहसम्

बौद्धगण अगर यह कहें कि असाधारण (स्वलक्षण) वस्तु शब्द के द्वारा भले ही ज्ञात न हो, तथापि उसमें 'विशेष्यता' अर्थात् शक्तिज्ञानीय विशेष्यतारूप वाच्यता है। किन्तु उनका यह कहना 'साहस' मात्र होगा, क्योंकि शब्द से ज्ञात होने के कारण ही अर्थात् शब्द के बिना ज्ञान की अनुपपत्ति से ही शब्द में वाचकता एवं अर्थ में वाच्यता को स्वीकार करते हैं। जब असाधारण वस्तु का शब्द से भान नहीं होता, तो फिर उसमें किसी शब्द की वाच्यता कि वा किसी शब्द में अर्थ की वाच्यता इन दोनों को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तेन सामान्यम् ''बुद्धिशब्दयोः

अतः 'बुद्धि' के अर्थात् अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण इन दोनों से उत्पन्न होनेवाले अनुवृत्ति प्रत्यय के विषय सामान्य को भाव रूप मानना ही होगा ॥ ९४ ॥

यदा चाशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता।
तदापोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता ॥ ९५ ॥

शब्दों के वाच्य को इसलिये 'वस्तु' स्वरूप (भाव स्वरूप) मानना आवश्यक है कि व्यक्तियाँ स्वलक्षण होने के कारण 'विकल्पबुद्धि' अर्थात् सविकल्पक ज्ञान के विषय नहीं हो सकतीं। अतः व्यक्तियाँ निर्विकल्पकग्राह्य ही हैं। शब्दाभिलाप की योग्यता (शब्द से व्यवहृत होने की क्षमता) उसी में होती है जो सविकल्पक ज्ञान के द्वारा गृहीत होने की क्षमता रखता हो। अश्वादि व्यक्तियाँ गवापोह के अपोह्य नहीं हैं, किन्तु अश्वत्वादि सामान्य ही गवापोह के अपोह्य हैं। इसलिये अश्वत्वादि सामान्य अपोह्य होने के कारण ही भावस्वरूप हैं (गवापोह्यमश्वत्वादि सामान्यं 'वस्तु'-स्वरूपम् अपोह्यत्वात्) ॥ ९५ ॥

नापोह्यत्वमभावानामभावाभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुनः ॥ ९६ ॥

नापोह्यत्वम् ''वर्ज्जनात्

'अपोह' चूँकि अभाव स्वरूप है, अतः उसका विरोधी अपोह्य भाव स्वरूप ही होगा। अभाव पदार्थ कभी भी अपोह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव का कभी भी अभावाभावस्वरूप होना सम्भव नहीं है।

अर्थात् अपोह अभावस्वरूप है, अतः उसके विरोधी अभाव को अभावाभाव के वर्जन स्वरूप फलतः तृतीय भावस्वरूप नहीं होना चाहिये, द्वितीय भावस्वरूप ही होना चाहिये। अतः यह द्वितीय भावस्वरूप ही होता है।

व्यक्तोऽपोहान्तरे'''सामान्यवस्तुनः

सामान्य ही चूँकि अपोह्य है, अतः सामान्य को वस्तुस्वरूप होना ही चाहिये। यह स्थिर हो जाने पर कहा जा सकता है कि 'अगोनिवृत्ति' स्वरूप एक (सामान्यान्तर) सामान्य को, एक अपोह को, समझने के लिये आवश्यक वस्तु स्वरूप अश्व-

त्वादि सामान्य ही 'अपोह' अर्थात् अपोह्य हैं। इस प्रकार सभी सामान्य चूँकि किसी अपोहस्वरूप सामान्य के अपोह्य हैं, अतः सभी सामान्य भावस्वरूप हैं॥ ९६॥

अभावस्य च योऽभावः स चेत् तस्माद्विलक्षणः।
भाव एव भवेत्सो चेद् गौरगौस्ते प्रसज्यते॥ ९७॥

अपोह्य को यदि अभाव स्वरूप मानेंगे तो 'अपोह्यव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह को अभावाभाव स्वरूप मानना ही होगा। इससे अपोह भावस्वरूप हो जायगा। अपोह (सामान्य) को भावस्वरूप मानने के लिये अपोह्य को भावस्वरूप मानना अनिवार्य है। तस्मात् अभाव का अभाव यदि अभाव से विलक्षण है तो वह 'भाव' स्वरूप ही होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'गो' और 'अगो' दोनों में अभेद की आपत्ति होगी, क्योंकि दोनों ही अभाव स्वरूप हैं॥ ९७॥

यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुनः स्यादपोह्यता।
सच्छब्दस्य त्वभावाख्यान्नापोह्यं भिन्नमिष्यते॥ ९८॥

यद्यपि गो शब्द के वाच्य अपोह के अश्वादि अपोह्यों को साधारण दृष्टि से भाव स्वरूप माना भी जा सकता है। किन्तु 'सत्ता' सामान्य स्वरूप अपोह के अपोह्य तो नियमतः असद्रूप होने के कारण नियमतः अभाव रूप ही होंगे। इस असत् स्वरूप अभाव को प्रतिपक्ष 'सत्ता' (सामान्य) तो वस्तु स्वरूप ही होगी। अर्थात् गोत्वादि सामान्यों को किसी प्रकार असत् स्वरूप माना जा सकता है किन्तु 'सत्ता' स्वरूप 'महासामान्य' को किसी प्रकार अभाव स्वरूप नहीं माना जा सकता। किन्तु सत्ता सामान्य को भाव स्वरूप मानें एवं गोत्वादि सामान्यों को अभाव स्वरूप मानें—इस अर्द्धजरती को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? अतः सभी सामान्य भाव रूप ही हैं॥ ९८॥

तत्रासतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो महान् भवेत्।
तदसिद्धौ न सत्तास्ति न चासत्ता प्रसिध्यति॥ ९९॥

तत्राऽसतोऽपि''भवेत्

यदि सत्ता सामान्य (अपोह) के अपोह्य 'असत्' को भी 'भाव' स्वरूप मानें तो यह कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट होगी, क्योंकि 'असत्' शब्द से अभाव का ही बोध होता है।

तदसिद्धौ''प्रसिध्यति

दूसरी बात यह है कि यदि सत्ता सामान्य को अखण्ड भाव स्वरूप न मानकर असन्निवृत्ति स्वरूप अपोहात्मक मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि असन्निवृत्ति स्वरूप अपोह असत्त्व की सिद्धि के विना सिद्ध नहीं हो सकता। 'असत्ता' चूँकि सत् का ही निषेध स्वरूप अभाव है, अतः सत्ता के विना सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार असन्निवृत्ति स्वरूप अपोह की सिद्धि असद्रूप अपोह्य की सिद्धि की अपेक्षा रखती एवं असद्रूप अपोह्य भी स्वप्रतियोगिभूत सत्ता-सिद्धिसापेक्ष है। यदि सत्ता

को भाव स्वरूप सामान्य न मानकर असन्निवृत्ति रूप अपोह मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥ ९९ ॥

न चापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि वा ।
अपोहानां प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ १०० ॥

(बौद्धों का कहना है कि—)

'सत्ता' शब्द से अथवा 'गो' शब्द से भावत्व रूप से ही सामान्यों का बोध होता है, असन्निवृत्ति रूप से, अगोनिवृत्ति रूप से नहीं। अर्थात् गवादि शब्दों से साधारण जनों को गोत्वादि स्वरूप भाव सामान्य की ही प्रतीति होती है। किन्तु प्रमाणदक्ष परीक्षकगण समीक्षा करने पर यह कहने के लिए मजबूर होते हैं कि जो विभिन्न व्यक्तियों में अनुगत है, वह सामान्य भाव रूप नहीं हो सकता। तब रही प्रतीति की बात—वह तो अनादि 'वासना' वश हो सकती है। जो जिस प्रकार का नहीं है वह भी अनादि वासनावश उस प्रकार से प्रतिभासित होता है। प्रकृत में भी वस्तुतः असन्निवृत्ति स्वरूप (अपोहात्मक) अभाव का ही भान भावात्मक सत्त्व रूप में होता है। अथवा 'अगोनिवृत्ति' स्वरूप अभाव का ही बोध गोत्व स्वरूप भाव सामान्य के रूप में होता है। अतः सभी पदों में जो पर्यायता की आपत्ति सभी पदों से अभावबोध के कारण दी गयी है, अथवा सत्ता जाति को असन्निवृत्ति स्वरूप मानने में जो अन्योन्याश्रय दोष दिया गया है, वे सभी गलत हैं।

न ह्यवस्तुनि वासना

किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अवस्तु' विषयक वासना भी नहीं हो सकती[1] ॥ १०० ॥

स्मृतिं मुक्त्वा न चास्त्यस्याः शक्तियोगः क्रियान्तरे ।
तस्मान्नान्यादृशे सार्थे करोत्यन्यादृशीं मतिम् ॥ १०१ ॥

वासना में स्मृतिस्वरूप ज्ञान को ही उत्पन्न करने की शक्ति है, शब्द से जो गोत्वादि विषयक अनुभव स्वरूप 'मति' उत्पन्न होती है, उस मति की उत्पत्ति वासना से नहीं हो सकती। वस्तुतः असन्निवृत्ति सामान्य को सत्त्व रूप में (भाव रूप में) अनुभूत कराने की क्षमता वासना में नहीं है ॥ १०१ ॥

भवद्भिः शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते ।
न ह्यसाधारणः शब्दो वाचकः प्रागवस्थितः ॥ १०२ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'वासना' अनुभवजनित स्मृति स्वरूप है, भाव स्वरूप स्वलक्षण व्यक्ति का ही अनुभव होता है। अतः स्मृतिस्वरूपा वासना भी भाव स्वरूप स्वलक्षण व्यक्तिविषयक ही हो सकती है। अभावविषयक वासना नहीं हो सकती। अतः अगोनिवृत्ति रूप गोत्व का वासनावश भान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

[1]भवद्भिः ''न लभ्यते

'घट' शब्द और 'पट' शब्द इन दोनों के वाच्य अर्थ चूँकि भिन्न हैं, इसलिये भी दोनों शब्दों में भेद स्वीकार किया जाता है। किन्तु अपोह स्वरूप सामान्य को यदि शब्द का वाच्य अर्थ मानते हैं तो वाच्य के भेद से वाचक पदों में जो भेद होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि सभी अपोह सामान्यतः अभाव रूप होने के कारण एक ही पदार्थ हैं। इसलिये सभी शब्दों के वाच्य भी एक ही होंगे। सुतराम् शब्दों में वासनाभेदमूलक भेद ही मानना होगा। किन्तु जिस प्रकार वाच्य अर्थों में वासना से परस्पर भेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार वाचक शब्दों में वासना से भेद की उपपत्ति नहीं की जा सकती।[2]

न ह्यासाधारणः''''प्रागदृष्टितः

(यह भी नहीं कह सकते कि शब्दों में वाच्य अर्थों के भेद से भेद नहीं होता। अर्थात् शब्द विभिन्न अर्थों के वाचक होने से भिन्न नहीं होते, किन्तु वे स्वभाव से ही भिन्न होते हैं, जैसे घट और पट दोनों स्वभाव से ही भिन्न हैं। किन्तु बौद्धों के लिये यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

'वस्तुओं' में ही अर्थात् भाव पदार्थों में ही स्वभावतः भेद होता है। अतः 'भेद' भाव पदार्थ स्वरूप 'वस्तुओं' का ही धर्म है। वह 'अवस्तु' स्वरूप अभाव में नहीं रह सकता।

प्रकृत में जिन वाचक शब्दों की चर्चा प्रारम्भ की गयी है वे वाचक शब्द अपोह रूप होने के कारण अभाव रूप हैं। वस्तु स्वरूप शब्द (असाधारण) स्वलक्षण होने के कारण वाचक ही नहीं हैं, क्योंकि उसमें शाब्दबोध से पहले शक्ति का ग्रहण संभव ही नहीं है जिस लिये कि वह शब्द पहले था ही नहीं। अतः वाचकभेद

---

१. ध्यान रखना चाहिये कि 'गो' स्वरूप सास्नादिमान् एक वस्तु है, एवं गकार, औकार, विसर्जनीय इन तीनों वर्णों का विशिष्ट समुदाय रूप 'गौः' इस आनुपूर्वी का एक शब्द भी है जिससे उक्त सास्नादिमान् अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के भेद से 'गौः' यह दो प्रकार का है। इसी द्वैविध्य के कारण 'गौरस्ति' एवं 'गौरित्ययमाह' ये क्रमशः दो प्रयोग होते हैं।

इस प्रकार गो शब्द के शब्द और अर्थ ये दो वाच्य होने के कारण 'अगोनिवृत्ति' स्वरूप अपोह भी (१) सास्नादिमान् गो रूप अर्थ से भिन्न जो केसरादिमान् अश्वादि अर्थ तद्व्यावृत्ति रूप एवं (२) उक्त आनुपूर्वीक 'गौः' इस शब्द से भिन्न जो अश्वादि शब्द तद्व्यावृत्ति रूप है। संक्षेप में इस दृष्टि से मूलतः (१) शब्दापोह और (२) अर्थापोह ये दो अपोह उपपन्न होते हैं। इस वस्तुगति के अनुसार ही यह विचार प्रारम्भ होता है।

२. पदों में भेद दो प्रकार से होता है (१) आनुपूर्वी के भेद से और (२) वाच्य के भेद से। प्रथम रीति से घट पद और कलश पद एकार्थवाचक होने पर भी भिन्न हैं। दूसरी रीति के अनुसार विष्णुवाचक 'हरि' पद से इन्द्रवाचक 'हरि' पद समानानुपूर्वीक होने पर भी भिन्न हैं।

से अथवा स्वभावतः शब्दों में भेद की उपपत्ति शब्दापोह पक्ष में नहीं हो सकती ॥ १०२ ॥

भिन्नत्वाच्चापि नैवैका वासना तैः प्रकल्प्यते ।

न चास्ति शब्दवस्त्वेकं वासनां यत् करिष्यति ॥ १०३ ॥

भिन्नत्वाच्चापि'''प्रकल्प्यते

वासना के भेद से भी शब्दों में भेद की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिक्षण उत्पन्न अत एव विभिन्न स्वलक्षण शब्द व्यक्तियों से विभिन्न तत्तच्छब्द-विषयक वासनाओं की ही उत्पत्ति हो सकती है, उन सभी शब्दों में ऐक्यबुद्धि की जनिका किसी सामान्याकारा वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती जिससे किसी एक सामान्य के आश्रयीभूत शब्दों में परस्पर भेद की उपपत्ति हो सके।

न चास्ति'''यत्करिष्यति

आप लोगों (बौद्धों) के मत से 'गोशब्दत्व' नाम का कोई ऐसा सामान्य भी नहीं है, जो सभी गो शब्दों में रहे, एवं जिससे गोसामान्याकार वासना (स्मृति) की उत्पत्ति हो सके ॥ १०३ ॥

तत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते ।

तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते ॥ १०४ ॥

इस प्रकार गकार, औकार और विसर्जनीय से युक्त 'गौः' पद की वाच्यता यदि 'अगोशब्दाऽपोह' में मानें अर्थात् गो शब्द को अगोशब्दापोह का वाचक मानें तो जिस प्रकार 'अगोऽपोह' स्वरूप वाच्य अर्थों में परस्पर भेद संभव नहीं है (जिसका उपपादन किया जा चुका है) उसी प्रकार गो शब्दादि में भी परस्पर भेद संभव नहीं होगा, क्योंकि सभी शब्दापोह अभाव रूप होने के कारण भेदों से रहित होंगे ॥ १०४ ॥

वाचकानां यथा चैवं वाच्यवाचकयोर्मिथः ।

न चाप्यपोह्यभेदेन भेदोऽस्तीत्युपपादितम् ॥ १०५ ॥

वाचकानाम्'''वाच्यवाचकयोर्मिथः

जिस प्रकार अपोहवाद में वाचक शब्दों में परस्पर भेद की असंभावना दिखलायी गयी है, उसी प्रकार वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) शब्द में भी भेद का निराकरण इस रीति से समझना चाहिये।[1]

न चाऽप्यपोह्यभेदेन''''उपपादितम्

(यदि यह कहें कि अगोनिवृत्ति रूप अर्थापोह के अपोह्य हैं अश्वादि अर्थ, एवं अगोशब्दनिवृत्ति रूप शब्दापोह के अपोह्य हैं अश्वादि शब्द, इस प्रकार अपोह्य

---

१. कहने का तात्पर्य है कि अगोनिवृत्ति रूप 'अर्थ' एवं 'अगोशब्दनिवृत्ति' शब्द (वाचक) दोनों ही चूंकि अभाव रूप हैं, अतः वाचक और वाच्य भी अभिन्न हैं। दोनों में भेद संभव नहीं है।

के भेद से वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में भेद होगा। अतः वाच्यवाचक में भेद की अनुपपत्ति नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—) अपोह्यों के भेद से अपोहों में भेद का निराकरण किया जा चुका है॥ १०५॥

नागृहीतश्च गमकः शब्दापोहः कथञ्चन।
प्रत्यक्षं न च तच्छक्तं न च स्तो लिङ्गवाचकौ ॥१०६॥
यतः स्याद् ग्रहणं तस्य लिङ्गादीनां च कल्पने।
न व्यवस्थेति वाच्यैवं विना प्रत्यक्षमूलतः॥ १०७॥

नागृहीतश्च ... कथञ्चन ... लिङ्गवाचकौ ... ग्रहणं तस्य

'अगोशब्दनिवृत्ति' रूप 'गोशब्दापोह' में अगोनिवृत्ति स्वरूप गो की वाचकता संभव नहीं है, क्योंकि शब्द स्वनिष्ठ वाचकत्वज्ञान के द्वारा अर्थविषयक बोध को उत्पन्न करता है। किन्तु शब्द में उक्त वाचकता स्वरूप शक्ति का ज्ञान अपोहवाद में संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा वाचकत्व रूप शक्ति का ज्ञान संभावित नहीं है, क्योंकि शक्ति अतीन्द्रिय है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। शक्ति का ज्ञापक न कोई अनुमान ही है न शब्द ही जिनसे वाचकत्व का ज्ञान हो सके।

लिङ्गादीनाञ्च ... प्रत्यक्षमूलतः

यदि वाचकत्व रूप शक्ति के ज्ञापक अनुमान और शब्द प्रमाण की सत्ता को स्वीकार भी कर लें, तथापि अनवस्था होगी, क्योंकि लिङ्ग और शब्द ये दोनों ही ज्ञात होकर ही अनुमिति एवं शाब्दबोध के उत्पादक हैं। अतः लिङ्गज्ञान और शब्द-ज्ञान के लिये भी दूसरे शब्द और अनुमान की अपेक्षा होगी, जो सभी अपोह रूप होंगे। इस प्रकार अपेक्षित अपोहों की अनन्त परम्परा चलेगी जो अनवस्था में परिणत हो जायगी। कोई व्यवस्था न हो सकेगी[1]॥ १०६–१०७॥

[2]न गम्यगमकत्वं स्यादवस्तुत्वादपोहयोः।
अवस्तुपक्षे यथा लोके खपुष्पशशशृङ्गयोः॥ १०८॥

---

१. प्रकृत श्लोक के 'न व्यवस्थेति वाच्या' इस अंश का 'व्यवस्था नेत्येवं वाच्या' ऐसा अन्वय समझना चाहिए। अर्थात् 'न' का अन्वय अव्यवहितोत्तरवर्ति 'व्यवस्था' के साथ नहीं है। किन्तु 'इति न' घटक 'इति' शब्द के साथ है। प्रकृत में व्यवस्थानुपपत्ति अनवस्था रूप है।

२. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से यह दिखलाया गया है कि अपोहवाद में सभी पदार्थ 'अवस्तु' रूप हैं, अभाव रूप हैं। अतः उनमें गम्यगमकभाव या प्रमाणप्रमेयभाव संभव नहीं है। अर्थात् कोई किसी का ज्ञाप्य या ज्ञापक नहीं हो सकता। इस वस्तुगति के अनुसार अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—

अपोहौ न परस्परं गम्यगमकभावापन्नौ अवस्तुत्वात् यथा खपुष्पशशशृङ्गे न परस्परं लोके गम्यगमके।

अनुमानप्रयोग (वाक्य) का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आकाशकुसुम और शशशृङ्ग इन दोनों में से कोई किसी का न गम्य है न गमक है, क्योंकि दोनों ही 'अवस्तु' हैं। इसी प्रकार सभी 'अपोह' चूँकि 'तुच्छ' हैं, अवस्तु हैं एवं सभी (वाच्य और वाचक) पदार्थ अपोह रूप हैं, सभी साध्य और हेतु अपोह रूप होने के कारण अभाव रूप हैं, अतः कोई भी पदार्थ (लिङ्गविधया अथवा वाचकविधया) न किसी का ज्ञापक हो सकता है, न कोई किसी का ज्ञाप्य (वाच्य अथवा साध्य) ही हो सकता है ॥ १०८ ॥

वृष्टिमेघासतोर्दृष्ट्वा यद्यनैकान्तिकं भवेत् ।
वस्त्वेवात्रापि मत्पक्षे भवत्पक्षेऽप्यदः कुतः ॥ १०९ ॥

बौद्धगण कह सकते हैं कि मेघ के न रहने से वृष्टि के अभाव का अनुमान होता है। अतः सत्पदार्थों में लिङ्ग-साध्यभाव का नियम स्वीकार किया जा सकता है। अतः उक्त अनुमान का 'असत्त्व' हेतु 'गम्यगमकाभाव' का व्यभिचारी है। इसलिये उक्त अनुमान से अपोहों में वाच्यवाचकभाव का निराकरण ठीक नहीं है। बौद्धों का यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं है कि हम लोगों के (मीमांसकों के) पक्ष में अभाव भी 'तुच्छ' नहीं है अर्थात् गगनकुसुमादिवत् सर्वथा अप्रसिद्ध नहीं है। किन्तु 'वस्तु' स्वरूप अर्थात् 'पदार्थ' स्वरूप ही है। अतः मेघ की असत्ता से वर्षा के अभाव का अनुमान अनुपपन्न नहीं है।

'भवत्पक्षे' आप लोग (बौद्धगण) चूँकि 'तुच्छाभाववादी' हैं अर्थात् अभाव को गगनकुसुमादि के समान अलीक मानते हैं, अतः आप के मत से मेघ की सत्ता से वृष्टि के अभाव का अनुमान ही कैसे होगा ? फलतः इस अनुमान के द्वारा व्यभिचार का उद्भावन नहीं किया जा सकता ॥ १०९ ॥

विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते ।
न भवेद् व्यतिरेकोऽपि तस्य तत्पूर्वको ह्यसौ ॥ ११० ॥

जिस प्रकार वाच्य अर्थ को विधि (भाव) स्वरूप नहीं मानते उसी प्रकार यदि शब्द स्वरूप (वाचक) अर्थ को भी 'विधि' स्वरूप अर्थात् भाव स्वरूप न मानें तो 'परस्पराश्रयापत्ति' होगी, क्योंकि 'गोशब्द' भाव की सिद्धि होने के बाद ही 'अगोशब्द' की सिद्धि होगी। अगोशब्द की सिद्धि के विना 'अगोशब्दव्यावृत्ति' की सिद्धि नहीं होगी। गोशब्द अगोशब्दव्यावृत्ति रूप अपोह के अधीन है। इस प्रकार 'शब्दापोह' पक्ष में 'अन्योन्याश्रय' दोष अनिवार्य है[1] ॥ ११० ॥

निषेधद्वयसयोगित्वादसतो याप्यभावता ।
सवस्तुके भवेत् सापि न तुच्छे बुद्ध्यसम्भवात् ॥ १११ ॥

---

१. इस श्लोक में जो 'शब्दार्थ' पद है, वह 'शब्दस्य-अर्थः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुषनिष्पन्न नहीं है, किन्तु 'शब्दश्चासौ अर्थश्च' इस प्रकार के कर्मधारय समास से निष्पन्न है। तदनुसार 'शब्दाभिन्न जो अर्थ' ऐसा उक्त 'शब्दार्थः' पद से अभिप्रेत है।

दो निषेधों से युक्त 'अगौर्न भवति' इत्यादि शब्दों से भाव पदार्थ की ही प्रतीति का उपपादन जिस प्रकार 'अपोह्यमाने चाभावे' (अपोहवाद श्लोक ६४) इस श्लोक के द्वारा कर आये हैं, उसी प्रकार 'अगोशब्दव्यावृत्ति' स्वरूप शब्दापोह के प्रसङ्ग में यह जानना चाहिये कि 'अगोशब्दव्यावृत्ति' की प्रतीति 'गोशब्द' स्वरूप भाव के बिना नहीं हो सकती है। वस्तुओं (भावों) में ही 'अभावाभावत्व' की प्रतीति हो सकती है। 'अवस्तु' में अर्थात् अभाव में अभावाभावत्व की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अर्थात् जो अभाव नहीं है (जो भाव है) उसी को अभावाभाव कहा जा सकता है। जो स्वयं अभाव रूप है उसे अभावाभाव कैसे कहा जा सकता है ? अतः अगोशब्दाभाव रूप शब्दापोह भी वस्तुतः 'गोशब्द' स्वरूप ही है ॥ १११ ॥

ननु युक्त्याऽनयैवायं वस्तुनापि न भिद्यते।
अपोहस्तेन दोषोऽत्र पूर्वोक्तो न भविष्यति ॥ ११२ ॥

पूर्वपक्ष—कथित युक्ति के अनुसार तो 'अपोह' भाव से भी भिन्न नहीं होगा। अपोह के अभाव के कारण जो आपने पहले अर्थापोह पक्ष में सभी शब्दों में पर्यायत्व की आपत्ति दी है, वह भी दूर हो जायगी[1] ॥ ११२ ॥

सिद्धमेवं मदिष्टं स्यान्नैवान्या गतिरस्ति हि।
अभावे वस्तुबुद्धिर्वा यद्वा वस्तुन्यभावधीः ॥ ११३ ॥

सिद्धमेवं मदिष्टं स्यात्

(सि० प०) इससे तो मेरी ही इच्छा पूर्ण होगी।

नैवान्या गतिरस्ति हि

क्योंकि सभी शब्दों में पर्यायापत्ति के वारण के लिये वस्तु (भाव) स्वरूप सामान्य की स्वीकृति को छोड़कर कोई गति नहीं है, जिससे कि अपोह को वस्तु स्वरूप माना जाय, क्योंकि अपोह के आश्रयीभूत स्वलक्षण (असाधारण) व्यक्तियों के भेद से अपोहों में भेद का उपपादन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा मानेंगे तो प्रत्येक गो व्यक्ति को अलग-अलग 'अगोव्यावृत्ति' स्वरूप मानना होगा जिस से अपोह की सामान्यरूपता भङ्ग हो जायगी। वस्तुतः सभी अपोह असाधारण (स्वलक्षण) स्वरूप हो जायँगे।

अभावे ''अभावधीः

इस प्रकार अपोह में प्रतिव्यक्ति भिन्नता के निराकरण से अर्थात् सामान्य रूपता के समर्थन से एक ही विवाद अवशिष्ट रहता है कि सामान्य अपोह स्वरूप

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'अगोनिवृत्ति' स्वरूप अपोह एवं अनश्वव्यावृत्ति स्वरूप अपोह दोनों ही चूँकि अवस्तु हैं, अर्थात् अभाव स्वरूप हैं, अतः दोनों भिन्न नहीं हो सकते। 'वस्तु' चूँकि असाधारण (स्वलक्षण) हैं, अतः परस्पर भिन्न हैं, किन्तु 'वस्तु' चूँकि अपोहात्मक हैं, अतः वस्त्वभिन्न अपोह भी भिन्न होंगे, अतः प्रत्येक शब्द का वाच्य अपोह भिन्न-भिन्न होगा। इसलिये गो अश्वादि शब्द भिन्नार्थक होने से पर्याय नहीं होंगे।

होने के कारण अभावात्मक ही है, उसमें जो वस्तुत्व (भावत्व) की प्रतीति होती है वह भ्रान्ति है कि वा गोत्वादि सामान्य भाव रूप ही हैं, उसमें जो 'अश्वो न भवति' इत्यादि प्रतीतियों की विषयता है वही भ्रान्तिज्ञानीय है ॥ ११३ ॥

तत्राभावात्मकत्वे स्यान्निर्निमित्तैव वस्तुधीः ।
वस्तुन्यभावबोधस्तु सिध्यत्यन्यमपेक्ष्य तु ॥ ११४ ॥

यदि अभाव रूप (अपोह) सामान्य में भावत्व की प्रतीति को भ्रान्ति स्वरूप मानें तो वह भ्रान्ति अहेतुक होगी । किन्तु भ्रान्ति के लिये भी कोई निमित्त चाहिये । वासना से भी उक्त भ्रान्ति की उपपत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वासना में कारणता खण्डित हो चुकी है ।

'वस्तु' चूँकि अन्य की अपेक्षा 'अवस्तु' भी है, अतः अभावात्मकता भी वस्तु का धर्म ही है । इसलिये यदि गोत्वादि भाव स्वरूप सामान्यों में अभावत्व की (अगोव्यावृत्ति की) प्रतीति होती भी है, तो उस प्रतीति को भ्रमस्वरूप नहीं कहा जा सकता । अतः गोत्वादि सामान्य भावरूप ही हैं ॥ ११४ ॥

अपोहमात्रवाच्यत्वं यदि चाभ्युपगम्यते ।
नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु ॥ ११५ ॥
विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्योः ।
न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलच्युतिः ॥ ११६ ॥
नापि तत्रेतरस्तस्मान्न विशेष्यविशेषणे ।
शब्दयोर्नापि ते स्यातानभिधेयानपेक्षयोः ॥ ११७ ॥

अपोहमात्रवाच्यत्वम्'''अभिधायिषु' न सिद्धिः

सामान्य को अभाव स्वरूप मानने से बौद्धों के पक्ष में भी उक्त विशेष्यत्व और सामानाधिकरण्य दोनों को अनुपपत्ति होगी ।[1]

---

१. बौद्धों ने—

न जातिशब्दो भेदानामानन्त्यव्यभिचारतः ।
वाचको योगजात्योर्वा भेदार्थैरपृथक्श्रुतेः ॥

इस श्लोक के द्वारा जातिबोधक गवादि शब्दों में व्यक्तिवाचकत्व रूप शक्ति का निराकरण आनन्त्य और व्यभिचार दोष से किया है । एवं उसके बाद 'योग' अर्थात् जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध का भी इस युक्ति से निराकरण किया है कि जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को यदि पद का वाच्य मानें तो 'नीलोत्पलम्' इस शब्द के द्वारा जो उत्पल में नीलनिष्ठ विशेषणतानिरूपित विशेष्यता अथवा नील शब्द और उत्पल शब्द दोनों के साथ उच्चरित होने के कारण (अपृथक्श्रुत होने के कारण) जो 'सामानाधिकरण्य' या 'अभेद' की प्रतीति होती है, ये (विशेष्यत्व और सामानाधिकरण्य) दोनों ही अनुपपन्न हो जायेंगे । अतः अपोह स्वरूप जाति ही वाच्य है ।

न ह्यनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलव्युतिः'''नापि तत्रेतरः'''विशेष्यविशेषणे

क्योंकि अपोहवाद के अनुसार विशेषणबोधक नील शब्द का अर्थ है 'अनील-व्यावृत्ति' स्वरूप अपोह। 'अनील' हैं सभी प्रकार के अनील द्रव्य जिनमें अनील अर्थात् रक्तादि उत्पल भी हैं। अनुत्पल हैं उत्पल से भिन्न सभी द्रव्य, जिनमें नील घटादि भी हैं। इस प्रकार 'अनील' और 'अनुत्पल' इन दोनों की व्यावृत्ति स्वरूप दोनों अपोह एक दूसरे के अधिकरण में नियमित रूप से नहीं हैं, क्योंकि अनीलव्यावृत्ति है नीलघट में जहाँ अनुत्पलव्यावृत्ति नहीं है, क्योंकि नीलघट उत्पल नहीं है। इसी प्रकार अनुत्पलव्यावृत्ति यद्यपि (अनीलव्यावृत्ति के अधिकरण) नीलोत्पल में है, किन्तु नीलघटादि में नहीं है (सभी नीलद्रव्य अनीलव्यावृत्ति के अधिकरण हैं) इस प्रकार नीलत्व (अनीलव्यावृत्ति स्वरूप अपोह) एवं उत्पलत्व (अनुत्पलव्यावृत्ति स्वरूप अपोह) नीलोत्पल स्वरूप एक अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से साथ रहते हुये भी एक अपोह के किसी स्वतन्त्र असाधारण अधिकरण में अन्य अपोह का समवाय नहीं है। इस प्रकार दोनों में विशेष्यविशेषणभाव संभव नहीं है।

शब्दयोर्नापि'''अनपेक्षयोः

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि नील स्वरूप अर्थ एवं उत्पल रूप अर्थ इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव उक्त रीति से भले ही उपपन्न न हो, फिर भी नील शब्द और उत्पल शब्द इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव हो सकता है। तन्मूलक ही 'नीलोत्पलम्' इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

अर्थों के द्वारा ही शब्दों में सम्बन्ध होते हैं। अतः यदि अर्थों में विशेष्य-विशेषणभाव रहेगा तभी तद्वाचक शब्दों में भी विशेष्यविशेषणभाव हो सकता है। यदि अर्थों में वह नहीं है तो शब्दों में विशेष्यविशेषणभाव की कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ११७ ॥

सामानाधिकरण्यं च न भिन्नत्वादपोहयोः।
अर्थतश्चेत्तदिष्येत कीदृश्याधेयता तयोः ॥ ११८ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि अनीलव्यावृत्ति स्वरूप अपोह एवं अनुत्पलव्यावृत्ति स्वरूप अपोह दोनों ही अपोहों का नीलोत्पल स्वरूप एक अधिकरण निश्चित है। इस प्रकार नीलोत्पल स्वरूप एक अधिकरण के आधेय दोनों ही अपोह हैं। दोनों ही अपोहों की समान अधिकरणता के ही कारण दोनों ही अपोहों के वाचक नील शब्द और उत्पल शब्द दोनों में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सकती है। किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

अपोह चूँकि 'तुच्छ' है 'अवस्तु' है (अर्थात् गगनकुसुमादि के समान ही अलीक है) अतः उसमें किसी की अधिकरणता अथवा आधेयता स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिये तन्मूलक सामानाधिकरण्य की उपपत्ति युक्त नहीं है ॥ ११८ ॥

न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते।
अगम्यमानमैकार्थ्यं शब्दयोः क्वोपयुज्यते ॥ ११९ ॥

न चासाधारणं वस्तु ''नास्ति ते

'नीलोत्पलम्' प्रभृति स्थलों में जिन अपोहों की चर्चा की गयी है, उन दोनों अपोहों का कौन सा आधार है ? असाधारण (स्वलक्षण) व्यक्ति का चूंकि शब्द से बोध नहीं होता है अतः असाधारण स्वलक्षण व्यक्ति उन दोनों अपोहों के आधार नहीं हो सकते। असाधारण स्वलक्षण व्यक्तियों से भिन्न तुम्हारे (बौद्धों के) मत से कोई वस्तु है ही नहीं। अतः उन दोनों अपोहों से नील और उत्पल में विशेष्य-विशेषणभाव की अथवा दोनों में सामानाधिकरण्य स्वरूप अभेदान्वय की उपपत्ति नहीं हो सकती।

अगम्यमान''''क्वोपयुज्यते

(इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि कथित दोनों अपोहों के एक आधार की अवगति शब्द से भले ही संभव न हो, किसी ऐसे असाधारण स्वलक्षण व्यक्ति को ही उन दोनों अपोहों का आधार मान लेंगे। उसी से 'नीलोत्पलम्' इत्यादि स्थलों में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायगी। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

अभिधा (श्रुति) अथवा लक्षणा इन दोनों वृत्तियों में से किसी एक वृत्ति के द्वारा एक अर्थ को समझाने वाले दो शब्दों में ही सामानाधिकरण्य (अभेदान्वय) होता है। तदनुसार ही लक्षणावृत्ति के द्वारा नीलविशिष्ट उत्पल के ही बोधक 'नील' शब्द एवं अभिधा वृत्ति के द्वारा उत्पल के ही बोधक उत्पल शब्द दोनों में सामानाधिकरण्य अर्थात् अभेदान्वय होता है। वस्तुतः एक अधिकरण में दो वस्तुओं का रहना ही उन दो वस्तुओं के बोधक शब्दों में अभेदान्वयबोध का प्रयोजक नहीं होता।

इसीलिये एक ही द्रव्य में रहने वाले रूप और रस इन दोनों के वाचक 'रूप शब्द' और 'रस शब्द' इन दोनों में सामानाधिकरण्य अथवा अभेदान्वय नहीं होता। अतः अभेदान्वय के लिये यह आवश्यक है कि जिन दो पदों में अभेदान्वय होगा उन दोनों ही पदों से किसी एक ही अर्थ का बोध हो। फलतः उस एक अर्थ को समझाने वाले दो पदों में ही अभेदान्वय होता है। इसलिये दोनों अपोहों के अज्ञात किसी एक अधिकरण के रहने पर भी जिस लिये कि उनका बोध दोनों पदों से संभव नहीं है, अतः अज्ञात एक अधिकरण के द्वारा नील पद और उत्पल पद दोनों में अभेदान्वय की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ ११९ ॥

अथान्यापोहवद् वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते।
तत्रापि परतन्त्रत्वाद् व्याप्तिः शब्देन दुर्बला ॥ १२० ॥

बौद्धों ने 'तद्वतो नास्वतन्त्रत्वात्' इत्यादि श्लोक के द्वारा जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति माननेवाले नैयायिकों के पक्ष में सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति

दिखलायी है, वह उनके अपोहविशिष्ट व्यक्ति को वाच्य मानने के पक्ष में भी समान है।

शब्दापोह और अर्थापोह को चर्चा की जा चुकी है। प्रकृत में प्रश्न है कि 'घट शब्द' क्या स्वतन्त्र रूप से अर्थात् 'अघटशब्दव्यावृत्ति' स्वरूप शब्दापोह धर्म से निरपेक्ष होकर 'घट' स्वरूप 'अर्थ' का बोधक है? अथवा उक्त शब्दापोह से नियन्त्रित होकर? यदि इनमें से प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो 'सन् घटः' इत्यादि अभेदान्वय वाले प्रयोगों की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि प्रकृत सत् शब्द से जिस द्रव्य का अभिधान स्वतन्त्र रूप से होता है, ठीक उसी द्रव्य का घट शब्द से भी होता है। अतः उक्त सामानाधिकरण्य की (अभेदान्वय) उपपत्ति होती है।

यदि घट शब्द से घटशब्दापोह (अघटशब्दव्यावृत्ति) से पुरस्कृत घट का बोध मानें तो घटशब्दापोह से अघटव्यावृत्त्यवच्छिन्न घट का बोध होगा। एवं 'सच्छब्दापोह (असच्छब्दव्यावृत्ति) से असद्व्यावृत्त्यवच्छिन्न घट का बोध होगा। इस प्रकार घट शब्द और सत् शब्द दोनों विभिन्नार्थक हो जायँगे। इससे 'सन् घटः' इत्यादि स्थलों में अभेदान्वय की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि घट शब्द में असद्व्यावृत्ति की व्याप्ति (अभिधायकता) नहीं है। एवं सत् शब्द में अघटव्यावृत्ति की व्याप्ति (अभिधायकता) नहीं है। अतः अपोह में शब्द की अभिधावृत्ति नहीं मानी जा सकती ॥ १२० ॥

> खण्डे भिन्नव्यपोह्यत्वाद् यथैव मधुरादिभिः।
> शुक्लादिव्याप्त्यभावेन नाक्षेपो न विशेषणम् ॥ १२१ ॥
> तथैवासद्व्यपोहांशावच्छिन्नार्थावधारणे ।
> नाघटादिनिवृत्त्यंशव्याप्तिः शब्दात् प्रतीयते ॥ १२२ ॥

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि 'सन् घटः' इत्यादि स्थलों में भले ही सत् शब्द से असद्व्यावृत्त्यवच्छिन्न घट का बोध हो, एवं घट शब्द से अघटव्यावृत्त्यवच्छिन्न घट का बोध हो, किन्तु इस प्रकार अभिधा में अन्तर होने पर भी अभिधेय घट स्वरूप द्रव्य तो दोनों में समान है (एक है)। इस ऐक्य से ही सामानाधिकरण्य, अभेदान्वय की उपपत्ति होगी। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—

जिस प्रकार केवल जातिवाचक 'खण्ड' (खांड) शब्द और गुणवाचक 'मधुर' शब्द दोनों में अभेदान्वयमूलक 'मधुरः खण्डः' इस आकार का प्रयोग होता है अथवा 'शुक्लः खण्डः' इस प्रकार का प्रयोग (उसी स्थिति में) होता है, उसी प्रकार 'शुक्लो मधुरः' इत्यादि प्रयोगों को भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस वाक्य में गुणवाचक शुक्ल और मधुर दोनों ही शब्दों से लक्षणावृत्ति के द्वारा शुक्ल रूप और मधुर रस से युक्त एक ही खण्ड स्वरूप द्रव्य अभिप्रेत है। इस प्रकार का अभेदान्वयमूलक प्रयोग नहीं होता, क्योंकि उक्त प्रकार की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार 'सन् घटः' इस अभेदान्वयमूलक प्रयोग की

अनुपपत्ति भी होगी, क्योंकि 'सत्' शब्द से असद्व्यावृत्त सभी पदार्थ व्याप्त हैं, किन्तु घट शब्द की व्याप्ति अघटव्यावृत्त घटात्मक द्रव्य तक सीमित है।

जिस प्रकार जातिमान् व्यक्ति को वाच्य मानने वाला नैयायिकपक्ष दूषित है, उसी प्रकार अपोविशिष्ट व्यक्ति में वाच्यता स्वीकार करने वाला बौद्धों का पक्ष भी दूषित ही है।

इस प्रकार अपोह को स्वीकार करने पर अथवा भावरूप सामान्य को स्वीकार न करने पर जो 'नीलोत्पलम्' इत्यादि स्थलों में विशेष्यविशेषणभाव की अनुपपत्ति और अभेदान्वय (सामानाधिकरण्य) की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है, वे दोनों ही यथावद् विद्यमान हैं ॥ १२१–१२२ ॥

व्याप्तिश्चेदर्थरूपेण सत्तयैवं हि सा भवेत्।
न घटत्वादिमानर्थः कश्चिन्न व्याप्यते तथा ॥ १२३ ॥

व्याप्तिश्चेत्...सा भवेत्

(यदि यह स्वीकार कर लें कि गुणवाचक 'मधुर' शब्द और गुणवाचक ही 'शुक्ल' शब्द इन दोनों में कथित सामानाधिकरण्य नहीं है। एवं यह भी मान लें कि जातिवाचक ही दो शब्दों में अथवा गुणवाचक ही दो शब्दों में परस्पर अर्थ की पूरी व्याप्ति नहीं है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक शब्द का अर्थ यथाकथंचित् दूसरे शब्द का भी अर्थ है। जैसे कि 'सत्' शब्द से जो असद्रूपापोह-विशिष्ट अर्थ अभिहित होता है, उसकी व्याप्ति अघटव्यावृत्ति स्वरूप अपोह पर्यन्त है। अर्थात् अघटव्यावृत्ति असद्व्यावृत्ति के अन्तर्गत है। इस प्रकार सत् शब्द के साथ घट शब्द के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सकती है। तदनुसार 'सन् घटः' यह प्रयोग भी उपपन्न हो सकता है। बौद्धों की इस उक्ति पर कहा जा सकता है कि—)

यदि भावस्वरूप जाति को ही शब्द का वाच्य मानते हैं, तथापि उक्त रीति से सामानाधिकरण्य तथा विशेष्यविशेषणभाव की उपपत्ति हो सकती है।

न घटत्वादिमान्...व्याप्यते तथा

अर्थात् 'सत्' शब्द के वाच्य सत्ता स्वरूप अर्थ की व्याप्ति घटादि में केवल इसलिये खण्डित नहीं हो सकती कि 'सत्ता भावस्वरूप है'। अर्थात् घट सत् शब्द की अभिधेयता सत्ता भाव सामान्य स्वरूप मानने से भी अक्षुण्ण है। इसे (जाति-सामान्य को) भावस्वरूप मानने से भी सामानाधिकरण्य की अथवा विशेष्यविशेषणभाव की अनुपपत्ति नहीं है ॥ १२३ ॥

न च वस्तुतया व्याप्तिस्तया शब्दस्य वार्यते।
प्रतीतिं प्रति तुल्यस्तु व्यापारो वस्त्ववस्तुनोः ॥ १२४ ॥

यदि बौद्धगण यह कहें कि तुम्हारे (मीमांसकों) के मत में सत्ता वस्तु-स्वरूपा (भावस्वरूपा) है, मेरे मत में वह अपोह (अभाव) स्वरूप–यह कोई उत्तर

नहीं है, क्योंकि सत्ता में जो वस्तुता अर्थात् भावत्व धर्म है, उससे घटादि पदार्थों में उसकी व्याप्ति में कोई बाधा नहीं आती है।

प्रतीतिं प्रति''''वस्त्ववस्तुनोः

बौद्धगण कह सकते हैं कि आप (मीमांसकों) के मत से वस्तुओं के कई भाग होते हैं। तदनुसार वस्तुओं के किसी एक भाग के ज्ञात होने पर भी दूसरे भाग अज्ञात रह सकते हैं। हम लोग तो वस्तुओं को निर्भाग मानते हैं, अतः कोई वस्तु अगर ज्ञात हो जाती है, तो उसके सभी अंश ज्ञात हो जाते हैं।

अतः 'सत्' शब्द से असद्व्यावृत्त रूप से ज्ञात होने पर (घटत्व रूप से ज्ञात न होने पर भी) घट अपने सभी रूपों से ज्ञात हो ही जाता है। अतः अपोहवाद में कथित विशेष्यविशेषणभाव या अभेदान्वय की अनुपपत्ति नहीं है ॥ १२४ ॥

निर्भागोऽपि हि वस्त्वात्मा शब्दैर्भागेन गम्यते।
न हि सच्छब्दविज्ञानाद् घटाद्यर्थः प्रतीयते ॥ १२५ ॥

बौद्धों के इस कथन का प्रतिवाद इस प्रकार किया जा सकता है—

वस्तुओं को यदि वास्तव मे निर्भाग मान भी लें तथापि शब्द से अर्थ का अभिधान भाग का आरोप कर भी एक अंश के द्वारा ही होता है।

न हि सच्छब्द''''प्रतीयते

क्योंकि 'सत्' शब्द से जो सत्त्वविशिष्ट अर्थविषयक ज्ञान होता है, उसमें सत्त्व-रूप से घट के भासित होने पर भी घटत्वरूप से घट भासित नहीं होता ॥ १२५ ॥

तेनानाक्षेपदोषोऽस्ति भाक्तदोषश्च विद्यते।
विशेषणत्वान्मुख्यत्वमपोहस्य हि जातिवत् ॥ १२६ ॥

अतः भावस्वरूप जाति को शब्द का वाच्य मानने से किसी प्रकार का 'अनाक्षेप' अर्थात् अप्रतीति की आपत्ति नहीं दी जा सकती अर्थात् अपोह को शब्द का वाच्य मानने से जिन विषयों की प्रतीति होती है, उन सभी विषयों की प्रतीत्ति भाव स्वरूप जाति को भी शब्द का वाच्य मानने में समान रूप से होगी।

भाक्तदोषश्च विद्यते

बौद्धगण जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से जो विशेषणीभूत जाति में मुख्यता के कारण जातिविशिष्ट व्यक्ति में वाच्यत्व के भाक्त होने (गौण होने) का दोष देते हैं, यह गौणत्व दोष तो अपोहविशिष्ट व्यक्ति में भी शक्ति मानने के पक्ष में समान है।

विशेषणत्वात्''''जातिवत्

क्योंकि जिस प्रकार जाति विशेषण होने के नाते मुख्य है, उसी प्रकार अपोह भी विशेषण होने के नाते मुख्य होगा। फलतः जिस प्रकार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से व्यक्ति के गौण हो जाने का दोष दिया जाता है, उसी प्रकार अपोह-विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से भी व्यक्ति के गौण हो जाने का दोष समान है ॥१२६॥

तस्मात् तद्वति गौणत्वान्नाभिधेयत्वसम्भवः ।

अवस्तुत्वान्न मुख्यश्चेन्न स्यादेवं विशेषणम् ॥ १२७ ॥

'तस्मात्' जिसलिये कि अपोहविशिष्ट व्यक्ति को पद का वाच्य मानने से व्यक्ति में अमुख्यता आ जायगी, अतः अपोहविशिष्ट व्यक्ति में भी पद की वाच्यता स्वीकार नहीं की जा सकती ।

अवस्तुत्वान्न मुख्यश्चेत्

(पू० प०) अपोह चूँकि अभावस्वरूप (अवस्तुस्वरूप) है, अतः उसे मुख्य नहीं माना जा सकता । फलतः व्यक्ति में अमुख्यता की आपत्ति इसीसे टल जायगी ।

न स्यादेवं विशेषणम्

(सि० प०) किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अपोह अभाव स्वरूप होने के कारण यदि 'मुख्य' नहीं हो सकता तो फिर उसी हेतु से 'विशेषण' भी नहीं हो सकता । अपोह के विशेषण न होने से अपोहविशिष्ट व्यक्ति में वाच्यता स्वतः निरस्त हो जाती है ॥ १२७ ॥

भेदाश्चापोहवन्तः स्युस्तेषां चावाच्यतोदिता ।

आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामन्यो नास्ति त्वपोहवान् ॥१२८॥

भेदश्च ... अवाच्यतोदिता ... व्यभिचाराभ्याम्

बौद्धों ने जो—

तद्वांस्तु भेद एवेष्टः स तु पूर्वं निराकृतः ।

इस वाक्य के द्वारा पूर्वकथित आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण 'तद्विशिष्ट' अर्थात् जातिशिष्ट व्यक्ति में वाच्यता का खण्डन किया है उन्हीं की रीति से अपोहविशिष्ट व्यक्ति को वाच्य मानने के पक्ष में भी कहा जा सकता है कि 'भेद' अर्थात् व्यक्तियाँ चूँकि अनन्त हैं, अतः इस आनन्त्य के कारण एवं कथित व्यभिचार दोष के कारण अपोहविशिष्ट व्यक्तियों में भी पद की वाच्यता को स्वीकार करना उचित नहीं है ।

अन्यो नास्ति त्वपोहवान्

क्योंकि अनन्त व्यक्तियों में शक्ति का ग्रहण ही सम्भव नहीं है । शक्तिज्ञान के बिना शाब्दबोध मानने से घट पद से पटविषयक बोध की आपत्ति होगी । सभी व्यक्तियों में रहनेवाली अपोहवत्त्व नाम की कोई वस्तु है नहीं जिसे शब्द का वाच्य माना जाय ॥ १२८ ॥

नापोहवत्त्वमन्यद्धि भेदापोहान्तरेऽस्ति ते ।

तच्चापि कल्प्यमानं स्यादभावो भाव एव वा ॥ १२९ ॥

नापोह ... अस्ति ते

अर्थात् यदि यह कहो कि आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण अपोहविशिष्ट व्यक्तियों में (अपोहवत्) में भले ही वाच्यता सम्भव न हो किन्तु अपोहवद् सभी

व्यक्तियों में जो 'अपोहवत्त्व' नाम का एक धर्म है, उसी में वाच्यता मानेंगे। किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'भेद' अर्थात् व्यक्ति एवं अपोह इन दोनों के 'अन्तर' में अर्थात् इन दोनों को छोड़कर 'अपोहवत्त्व' नाम की कोई वस्तु बौद्धों के मत में नहीं है।

तच्चापि''भाव एव वा

यदि 'अपोहवत्त्व' नाम की किसी वस्तु की सत्ता अपोह और अपोहवान् इन दोनों के मध्य में मान भी लें तो वह या तो भाव रूप होगा अथवा अभावस्वरूप ही होगा। भाव और अभाव इन दोनों से भिन्न तीसरा कोई प्रकार संभव नहीं है ॥१२९॥

वस्तु चेज्जातिरेव स्यादवस्तुत्वेऽपि पूर्ववत्।
सम्बन्धो वैष कल्प्येत तस्य चेष्टा न वाच्यता॥ १३०॥

वस्तु चेत्''' पूर्ववत्

यदि कथित 'अपोहवत्त्व' को 'वस्तु' स्वरूप मानेंगे तो वह भावस्वरूप जाति ही होगी। ऐसा मानने पर 'अपोह' के सभी आडम्बर व्यर्थ हो जायेंगे। यदि उसे अभाव रूप मानेंगे तो अपोह को पद का वाच्य मानने में जितनी भी आपत्तियाँ दी गयी हैं, वे सभी अपोहवत्त्व को वाच्य मानने में भी आ जायँगी।

सम्बन्धो वैष''''न वाच्यता

यदि उक्त 'अपोहवत्व' को व्यक्ति और अपोह इन दोनों का सम्बन्ध रूप मानेंगे[1] तो उसका भी खण्डन बौद्धों के—

तद्वन्मात्रेऽपि सम्बन्धः सत्ता वेति विचारितम्।

इस वचन में कथित युक्ति से ही हो जाता है (जो उन्होंने जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध में वाच्यता के लिये दी है) ॥ १३० ॥

न चैकोऽपोहवानर्थो वर्त्ततेऽर्थान्तरे क्वचित्।
तस्मादपि न सामान्यं वाच्यं न च विशेषणम्॥ १३१॥

न चैकोपोहवानर्थः'''क्वचित्

तद्वानर्थो घटादिश्चेन्न घटादिषु वर्त्तते।
सामान्यमर्थः स कथमिति तद्वदवाच्यता॥

इस श्लोक के द्वारा बौद्धों ने जो यह कहा है कि 'सन् घटः' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त सत् शब्द का वाच्य अपोह केवल घट शब्द से बोध्य घट व्यक्ति में ही है, सत्त्वविशिष्ट पटादि अर्थों में नहीं, फलतः सत् शब्द का वाच्य अपोह (असद्व्यावृत्ति) से युक्त घट ही उक्त स्थल में 'सत्' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार अपोहवत् में शक्ति

---

१. क्योंकि 'कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' वैयाकरणों की इस युक्ति के अनुसार उक्त सम्बन्ध ही त्वल् प्रत्यय से निष्पन्न अपोहवत्त्व शब्द का अर्थ हो सकता है।

मानने से जिस प्रकार व्यक्ति में शक्ति के मानने से आनन्त्य और व्यभिचार ये दोनों दोष होते हैं, उस प्रकार ये दोनों दोष अपोहवत् में शक्ति मानने से नहीं है।

किन्तु बौद्धों की यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार एकव्यक्तिमात्र-वृत्ति होने के कारण अपोह सामान्य रूप न हो सकेगा। उसको तद्व्यक्ति के समान 'विशेष' रूप ही मानना होगा। एवं 'सन् घटः' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त घट शब्द से जो सत्ता में विशेषणत्व की सिद्धि होती है, वह न हो सकेगी। फलतः उक्त वाक्य से सत्त्वविशेषणक (प्रकारक) घटादिविशेष्यक जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह अनुप-पन्न हो जायगी, क्योंकि प्रकृत सत्त्व में और घटनिष्ठ तद्व्यक्तित्व में एकव्यक्ति-वृत्तित्वांश में कोई अन्तर नहीं है। अतः अपोह को एकव्यक्तिमात्रवृत्ति नहीं माना जा सकता।

तस्मात्……न च विशेषणम्

अतः 'तद्वानर्थो घटादिश्चेत्' इत्यादि श्लोक के द्वारा जिस युक्ति से जाति-विशिष्ट व्यक्ति को अवाच्य मानने के पक्ष का उपपादन किया गया है, वह युक्ति अपोहविशिष्ट व्यक्ति को अवाच्य मानने के पक्ष में भी समान रूप से लागू है ॥ १३१ ॥

नात्मन्यविद्यमानत्वाद् विशेषोऽपोहसूचकः।
तस्माच्च तैर्विशेष्यत्वं प्रकृष्टत्वेन नीलवत् ॥ १३२ ॥

बौद्धों ने 'सन् घटः' इत्यादि स्थलों में तद्घटवृत्तित्वविशिष्ट सत्त्व को एक-मात्रवृत्ति मानने पर भी विशेषणत्व की उपपत्ति इस प्रकार से भी की है कि सत्त्व (असद्व्यावृत्ति रूप अपोह) भले ही एक घटव्यक्तिमात्रवृत्ति होने के कारण अन्य घटों में न रहे, फिर भी उस सत्त्व में विशेषाकांक्षावश घटशब्दबोध्य अन्य घटादि-वृत्तित्व रूप विशेषणत्व की प्रतीति भी हो सकती है, जैसे कि साधारण नील रूप से वैशिष्ट्य दिखाने के लिये 'नीलतरः, नीलतमः' इत्यादि प्रयोग होते हैं। अपने इस पक्ष को—

मा भूदर्थान्तरे वृत्तिर्यथैकत्रासितादिवत्।
प्रकर्षादिविशिष्टत्वम्, नैवं जातेरजातितः ॥

इस श्लोक के तीन चरणों में उपपादन कर अन्तिम चरण द्वारा 'जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने के पक्ष में उक्त समाधान संभव नहीं है' यह समझाते हुये कहा है कि नील का नीलतर या नीलतम के साथ प्रकर्ष सम्बन्ध है, अतः नीलतरः नीलतमः इत्यादि स्थलों में विशेष्यविशेषणभाव होता है। किन्तु असद्व्यावृत्ति रूप जाति का गोत्वादि जातियों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अतः गोत्वादि जातियों के द्वारा सत्त्वजाति विशेषित नहीं हो सकती। फलतः सत्त्व जाति में गोत्वादि जातियों की विशेषणता नहीं आ सकती, क्योंकि गोत्वादिजातिविशिष्ट सत्त्व की विद्यमानता गवादि द्रव्यों में नहीं है। सत्त्व जाति तो केवल ही गवादि द्रव्यों में रहती है।

बौद्धों के द्वारा प्रदत्त यह दोष भी अपोहविशिष्ट व्यक्ति को शक्य मानने के उनके पक्ष में समान है, क्योंकि अघटव्यावृत्त्यादि स्वरूप अपोह असद्व्यावृत्ति स्वरूप असत्त्वापोह के अन्तर्गत नहीं है ! अतः असद्व्यावृत्ति स्वरूप अपोह से अघट-व्यावृत्ति रूप सूचित नहीं हो सकता। अतः अघटव्यावृत्ति स्वरूप अपोह के द्वारा असद्व्यावृत्ति स्वरूप अपोह विशेषित नहीं हो सकता। फलतः 'सन् घटः' इत्यादि स्थलों में जातिविशिष्ट व्यक्ति को शक्य मानने के पक्ष में जो सत्त्व की विशेषणता की अनुपपत्ति है, वह अपोहविशिष्ट पक्ष को भी शक्य मानने के पक्ष में समान है ॥ १३२ ॥

अर्थाक्षेपोऽपि नास्त्येव सन्देहाल्लिङ्गलिङ्गिवत् ।
न सामान्यात्मनापोहस्तैर्विना न च सिद्धयति ॥ १३३ ॥

अर्थाक्षेपोऽपि नास्त्येव

मीमांसकगण 'सन् घटः' इस स्थल में विशेष्यविशेषणभाव का उपपादन इस प्रकार करते हैं कि घटत्वजाति के साथ सत्ता जाति का कोई सम्बन्ध भले ही न रहे, किन्तु 'एकार्थसमवाय' स्वरूप परम्परा सम्बन्ध दोनों जातियों में है, क्योंकि घटस्वरूप 'एक' अर्थ में सत्ता और घटत्व ये दोनों ही जातियाँ समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। इस एकार्थसमवाय सम्बन्ध के कारण सत्ता जाति के द्वारा घटत्वादि अवान्तर जातियों का आक्षेप हो सकता है। फलतः घटपदसमभिव्याहृत सत् पद से घट-वृत्तित्वविशिष्ट सत्ता जाति का ही बोध होगा। इस प्रकार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने से 'सन् घटः' इत्यादि स्थलों में विशेष्यविशेषणभाव की अनुपपत्ति नहीं है।

सन्देहाल्लिङ्गलिङ्गिवत्.... न च सिद्धयति

मीमांसकों के इस कथन का 'अर्थाक्षेपेऽप्यनैकान्तः' इस वाक्य के द्वारा बौद्धों ने इस अभिप्राय से खण्डन किया है कि जिस प्रकार सत्ता का सम्बन्ध घट में है, उसी प्रकार पट में भी उसका सम्बन्ध है, अतः सत्ता का सम्बन्ध 'एकान्ततः' घटत्व के साथ ही नहीं है, पटत्वादि जातियों के साथ भी है। इसलिये सत्ता से जिस प्रकार घटत्व का आक्षेप होगा उसी प्रकार पटत्वादि अन्य जातियों का भी आक्षेप होगा। अतः केवल सत्ता से घटवृत्तित्वविशिष्ट सत्ता का (फलतः एकार्थसमवाय सम्बन्ध से घटत्ववृत्तित्व सत्ता का) आक्षेप नहीं हो सकता।

(किन्तु अपोहविशिष्ट व्यक्ति में सम्बन्ध मानने से भी यह दोष समान है)।

लिङ्गलिङ्गिवत्.... न च सिद्धयति

जिस प्रकार लिङ्ग से लिङ्गी का (साध्य का) निश्चय स्वरूप आक्षेप होता है, उसी प्रकार सत्त्वप्रतियोगिक एकार्थसमवाय सम्बन्ध से घटत्व का निश्चय स्वरूप आक्षेप नहीं हो सकता। उक्त एकार्थसमवाय से घटत्व का सन्देह भर हो सकता है। अर्थात् सत्त्व में चूंकि घटत्वादि अनेक अपोहों का एकार्थसमवाय है, अतः यह सन्देह ही हो सकता है कि—यह 'सत्' शब्द घटगत सत्ता का बोधक है ? अथवा पटादि-गत सत्ता का भी[1] ? ॥ १३३ ॥

१. 'लिङ्गलिङ्गिवत्' इस वाक्य से व्यतिरेक दृष्टान्त का प्रयोग किया गया है।

एवमेव त्वनाक्षेपः स्यादपोहेन वस्तुनः ।
यतः शशविषाणेऽपि तदपोहस्य सम्भवः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार अपोहविशिष्ट में शक्ति मानने से (असद्व्यावृत्ति रूप अपोह-विशिष्ट में सत् शब्द की शक्ति मानने से) अघटव्यावृत्ति अन्य अपोहों का आक्षेप नहीं हो सकता । यदि केवल अपोह में ही पद की शक्ति मानें तो अपोह के आधार-भूत व्यक्ति का आक्षेप नहीं हो सकता । केवल अपोह में शक्ति मानने से दूसरे अपोहों का आक्षेप तो हो ही नहीं सकता ।

जाति चूंकि वस्तु है, अतः उससे वस्तु स्वरूप व्यक्ति का आक्षेप होता है । अपोह तो 'तुच्छ' है, अवस्तु है, अतः उससे वस्तु स्वरूप घटादि व्यक्तियों का आक्षेप कैसे हो सकता है ? क्योंकि वस्तु के साथ अवस्तु का कोई भी सम्बन्ध संभव नहीं है । यदि विना सम्बन्ध के भी आक्षेप को स्वीकार करें तो अघटव्यावृत्त्यादि अपोहों से शशविषाणादि व्यक्तियों का भी आक्षेप स्वीकार करना होगा । किन्तु सो उचित नहीं है ॥ १३४ ॥

लिङ्गसंख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्यते ।
व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात् तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ ॥ १३५ ॥

(अपोह को शब्द का वाच्य मानने में विशेष्यविशेषणभाव की अनुपपत्ति एवं सामानाधिकरण्य (अभेदान्वय) की अनुपपत्ति दिखलायी जा चुकी है । इस पक्ष में एक दोष यह भी है कि—

शब्द के अर्थ में लिङ्ग और संख्या का अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि लिङ्ग और संख्या का अन्वय शब्द के वाच्य अर्थ में ही होता है । व्यक्ति यदि शब्द का वाच्य नहीं है तो फिर व्यक्ति के द्वारा अपोह में लिङ्ग और संख्या का अन्वय नहीं होगा । इसलिये पदवाच्य अपोह में लिङ्ग और संख्या का अन्वय बाधित है ॥ १३५ ॥

न ह्यसाधारणत्वेन सापोहेनापि गम्यते ।
न चाप्यगम्यमानस्य वस्तुनः स्याद् विशेष्यता ॥ १३६ ॥

न ह्यसाधारणत्वेन……गम्यते

(बौद्धगण कह सकते हैं कि जिस प्रकार मीमांसकों के पक्ष में व्यक्ति में पद की शक्ति के न रहने पर भी जाति के द्वारा आक्षिप्त व्यक्ति में अन्वय के द्वारा ही जाति में लिङ्ग और संख्या का अन्वय होता है उसी प्रकार मेरे मत से भी पद-वाच्य अपोह से आक्षिप्त व्यक्ति के द्वारा लिङ्ग और संख्या का अन्वय अपोह के साथ होगा ? बौद्धों के इस कथन का यह उत्तर है कि—)

मेरे (मीमांसक) मत से जाति और व्यक्ति दोनों ही सविकल्पक ज्ञान के द्वारा गृहीत होने की क्षमता रखते हैं । अतः विकल्पक्षमा व्यक्ति का आक्षेप विकल्पक्षमा जाति से ही हो सकता है । आप (बौद्धों) के मत से व्यक्ति स्वलक्षण है । अतः सभी सविकल्पक ज्ञानों का अविषय है, अतः अपोह के द्वारा भी उसका

आक्षेप कैसे हो सकता है ? (क्योंकि आक्षेप अनुमिति स्वरूप होने के कारण सविकल्पक ज्ञान रूप है)। यदि अपोह का आक्षेप मानेंगे तो व्यक्ति को अभिलाप-संसर्गयोग्य मानना होगा जिससे उसका स्वलक्षणत्व ही विघटित हो जायगा। किन्तु व्यक्ति तो बौद्धों के मत से न विकल्पक्षम (सविकल्पज्ञान का विषय) है, न अभिलापसंसर्गयोग्य है। अतः बौद्धों के मत से अपोह के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप संभव नहीं है।

न चाप्यगम्यमानस्य"'स्याद्विशेष्यता

यह कहना भी संभव नहीं है कि शब्द का साक्षात् अभिधेय न होने पर भी अथवा अपोह के द्वारा न होने पर भी फलतः सर्वथा अगम्यमान होने पर भी व्यक्ति में लिंग और संख्या का अन्वय होगा, क्योंकि लिंग और संख्या का अन्वय है लिंग और संख्या स्वरूप विशेषण की विशेष्यता रूप। विशेष्यता सर्वथा अज्ञात अर्थ में नहीं मानी जा सकती ॥ १३६ ॥

लिङ्गसंख्याद्यपोहानां नोपकारः स्वरूपतः।
वस्तुनश्चोपकार्यत्वं कथं शब्दैः प्रतीयते ॥ १३७ ॥

जिस प्रकार व्यक्ति का लिङ्ग एवं संख्या स्वरूप विशेषण का विशेष्य होना संभव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञात हुये विना लिङ्ग और संख्या इन दोनों को व्यक्ति का विशेषण होना भी संभव नहीं है, क्योंकि स्वरूपतः अर्थात् ज्ञात हुये विना लिंग और संख्या का विशेषणत्व स्वरूप उपकार का संपादन अपोह में नहीं कर सकते। फलतः 'असाधारण' अर्थात् स्वलक्षण व्यक्तियों में लिंग संख्यादि की विशेष्यता किस शब्द से ज्ञात होगी ?[1] ॥ १३७ ॥

न विनानुपलब्ध्या च स्यादभावमतिः क्वचित्।
न चाभावप्रमेयत्वं गोत्वादेरिह गम्यते ॥ १३८ ॥

अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से ही हो सकता है। गोत्वादि सामान्यों को यदि भाव स्वरूप न मानकर अभाव रूप मानें, अतद्व्यावृत्ति स्वरूप अपोहात्मक मानें, तो गोत्वादि सामान्यों की भी प्रतीति अनुपलब्धि प्रमाण से ही माननी होगी। किन्तु गोत्वादि जातियों को कोई भी अभाव प्रमाण का प्रमेय नहीं मानता। अतः गोत्वादि सामान्य भाव रूप ही हैं, अभावात्मक अपोह स्वरूप नहीं ॥ १३८ ॥

आख्यातेषु च नान्यस्य निवृत्तिः सम्प्रतीयते।
न पर्युदासरूपं हि निषेध्यं तत्र विद्यते ॥ १३९ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि शब्द से व्यक्ति में लिङ्ग-संख्यादि का विशेषणविधया ज्ञान सर्वसम्मत है। लिङ्ग-संख्यादि में उक्त विशेषणता व्यक्ति में विशेष्यता के अधीन है। शब्द के द्वारा ज्ञात होने पर अथवा आक्षिप्त होने पर ही व्यक्ति में विशेष्यता आ सकती है। सो जब संभव नहीं है तो अपोह को वाच्य मानने के पक्ष में लिङ्ग-संख्या का अनन्वय रूप दोष अनिवार्य है।

आख्यातेषु""संप्रतीयते

अपोह को यदि पद का वाच्य मानें तो 'पचति' पद से किसी का भी बोध नहीं होगा, क्योंकि वहाँ अन्यव्यावृत्ति की प्रतीति नहीं होती है।

न पर्युदासरूपम्""तत्र विद्यते

क्योंकि 'पचति' पद से किसी 'अपचति' क्रिया का अपोहन नहीं होता है। इसका यह हेतु है कि 'न पचति' इस पद में प्रयुक्त नञ् पर्युदासबोधक नहीं है। अतः 'न' घटित पचति पद से पाक क्रिया से भिन्न किसी भाव रूप क्रिया का बोध नहीं होता है। फलतः पचति पद से अपाकव्यावृत्ति रूप अपोह का बोध संभव नहीं है। इसलिये अपोह को शब्द का वाच्य नहीं माना जा सकता। 'नाम' के साथ नञ् ही पर्युदास का बोधक होता है। आख्यात में अन्वित नञ् (जिसे प्रसज्यप्रतिषेध कहते हैं) केवल प्रतिषेध (निषेध) का ही बोधक है ॥ १३९ ॥

न नेति ह्युच्यमानेऽपि निषेधस्य निषेधनम्।
पचतीत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ १४० ॥

यदि 'पचति' पद से प्रतिषेध स्वरूप नञर्थ का ही प्रतिषेध मानें अर्थात् पचति से अपाकव्यावृत्ति का बोध न मानकर पाकप्रतिषेध स्वरूप अपोह को ही पचति पद का वाच्य मानें तो उससे 'पचति' स्वरूप अर्थात् भाव स्वरूप पाक ही बोध्य रह जाता है, क्योंकि 'न पचति' इस प्रतिषेधवाक्य से केवल पाक के अभाव का ही बोध होता है। जिस प्रकार 'अगो' शब्द से गोभिन्न अश्वादि का बोध होता है, उस प्रकार 'न पचति' शब्द से पाक क्रिया से भिन्न किसी दूसरी क्रिया का बोध नहीं होता। इसलिये पाकप्रतिषेध स्वरूप प्रथम प्रतिषेधात्मक अभाव का ही प्रतिषेध अपोह स्वरूप दूसरे प्रतिषेध से होगा जो पाक क्रिया स्वरूप ही होगा ॥ १४० ॥

साध्यत्वप्रत्ययश्चात्र तथाभूतादिरूपणम्।
निष्पन्नत्वादपोहस्य निर्निमित्तं प्रसज्यते ॥ १४१ ॥

यदि 'पचति' पद से अपाकप्रतिषेध का ही बोध मानें तो उससे 'साध्यावस्था' का जो बोध होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि अभाव 'सिद्ध' है, वह साध्य नहीं है। 'पचति' प्रभृति आख्यात पदों से तो साध्यावस्थापन्न क्रिया का ही बोध होता है, सिद्धावस्थापन्न क्रिया का नहीं। फलतः 'पचति' पद से साध्यावस्था स्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त का जो बोध होता है, वह न हो सकेगा ॥ १४१ ॥

विध्यादावर्थराशौ च नान्यापोहनिदर्शनम्।
नञश्चापि नञा युक्तादपोहः कीदृशो भवेत् ॥ १४२ ॥

चादीनामपि नञ्योगो नैवास्तीत्यनपोहनम्।
वाक्यार्थोऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते ॥ १४३ ॥

अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते।
प्रमेयज्ञेयशब्दादेरपोह्यं कुत एव तु ॥ १४४ ॥

विध्यादौ…निदर्शनम्

'आगच्छेत्' प्रभृति पदों में प्रयुक्त विधि प्रत्यय के द्वारा जो निमन्त्रणादि अर्थों का बोध होता है एवं 'घटम्, घटेन' इत्यादि पदों में प्रयुक्त विभक्तियों से जो कर्मत्व करणत्वादि अर्थों का बोध होता है, वे सभी बोध अनुपपन्न हो जायंगे, क्योंकि उन सभी अर्थों का कोई अपोह्य (प्रतिषेध्य) नहीं है। समूह (अर्थराशि) वाचक 'वन, यूथ' प्रभृति शब्दों से भी किसी प्रतिषेध्य (अपोह्य) के अभाव की प्रतीति संभव नहीं है। अतः समूहवाचक 'यूथादि' शब्दों की शक्ति भी अपोह में नहीं मानी जा सकती।

नञश्चापि…कीदृशो भवेत्

एवं 'न न' इत्यादि वाक्यों से भी किसी अपोह का बोध संभव नहीं है।

चादीनामपि…अनपोहनम्

'च' प्रभृति शब्दों से 'समुच्चय' स्वरूप भाव का ही बोध होता है, किसी अपोह्य के अपोह का (प्रतिषेध) का बोध नहीं होता।

वाक्यार्थो…न शक्यते

क्योंकि 'च'शब्दघटित वाक्य से 'अन्यनिवृत्ति' का व्यपदेश (व्यवहार) संभव ही नहीं है।

अनन्यापोह…न च निरूप्यते

यदि सभी शब्दों की शक्ति अपोह में स्वीकार करें तो 'अनन्य' शब्द एवं 'अपोह' शब्द के वाच्य अर्थों का बोध दुष्कर हो जायगा।

प्रमेयज्ञेय…कुत एव तु

इसी प्रकार 'प्रमेय' शब्द से एवं 'ज्ञेय' शब्द से उसके 'अभिधेय' अर्थों का बोध संभव नहीं होगा (यदि अपोह में ही शब्द की वाच्यता स्वीकार करें), क्योंकि सभी के 'प्रमेय' होने के कारण एवं सभी के 'ज्ञेय' होने के कारण इन शब्दों का कोई 'अपोह्य' प्रतिषेध्य ही प्रसिद्ध नहीं है॥ १४२–१४४॥

> अपोह्यकल्पनायां तु वरं वस्त्वेव कल्पितम्।
> ज्ञानाकारनिषेधाच्च नान्तरार्थाभिधेयता॥ १४५॥
> न चाप्यपोह्यता तस्मान्नापोहस्तेषु सिध्यति।
> एवमित्यादिशब्दानां न चापोह्यं निरूप्यते॥ १४६॥

अपोह्यकल्पनायाम्…कल्पितम्

(प्रमेयादि शब्दों के अपोह्य की प्रसिद्धि के लिये जो दिङ्नाग ने "अज्ञेय-कल्पितं कृत्वा ज्ञेयः शब्दः प्रवर्त्तते" इस श्लोकार्द्ध के द्वारा कहा है कि काल्पनिक अपोह्य के द्वारा (अप्रमेय) अप्रमेयव्यावृत्ति रूप अपोह की उपपत्ति करेंगे। दिङ्नाग का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

यदि कल्पना ही करनी है तो विधि (भाव) स्वरूप प्रमेयत्व की ही कल्पना कीजिये, एवं उसी को प्रमेय पद का अभिधेय मानिये (क्योंकि यही कल्पना सार्व-जनिक प्रतीति के अधिक अनुकूल है) ।

ज्ञानाकार···अर्थाभिधेयता···न चाप्यपोह्यता

(यदि बौद्धगण यह कहें कि 'अपचति' इस आकार का ज्ञान ही 'पचति' पद का अपोह्य है, उसके द्वारा 'पचति' इस आकार का अपोहात्मक ज्ञान 'पचति' पद का अभिधेय है । किन्तु उनका यह कहना भी ठीक नहीं होगा—)

क्योंकि वस्तुओं की ज्ञानाकारता खण्डित हो चुकी है ।

तस्मात्····सिद्ध्यति

'तस्मात्' पचति प्रभृति पदों की अभिधेयता अपोहों में संभव नहीं है ।

एवमित्यादि···निरूप्यते

इसी प्रकार 'एवम्' प्रभृति शब्दों का भी कोई अपोह्य प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ 'एवम्प्रकार' के हैं, अर्थात् सभी वस्तुओं का कोई न कोई प्रकार अवश्य है । 'अनेवम्प्रकार' की कोई वस्तु नहीं है । 'एवम्' शब्द प्रकारवाची है । तदनुसार 'एवम्' शब्द का अर्थ है 'इस प्रकार' ।। १४६ ।।

विरोधित्वेन भेदानामपोहो यदि कल्प्यते ।
विरोधोऽपोहतस्तत्र विरोधाच्चाप्यपोहनम् ।। १४७ ।।

अपोहविशिष्ट व्यक्ति को पद का अभिधेय मानने से शिंशपा और पलाश इन विभिन्नार्थक शब्दों में सामानाधिकरण्य (अभेदान्वय) की उपपत्ति का उद्धार करते हुये—

भेदं भेदान्तरार्थं तु विरोधित्वादपोह्यते ।

बौद्धों ने इस श्लोक के द्वारा अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित किया है कि विभिन्न वृक्षों के बोधक शिंशपा शब्द और पलाश शब्द ये दोनों ही दोनों में रहने वाले वृक्षत्व सामान्य (अवृक्षव्यावृत्ति) स्वापोह के द्वारा विशेष रूप में उपस्थित करते हुये अपने अपने अपोह में परस्पर विरोध का संपादन करते हैं । अर्थात् शिंशपात्वविशिष्ट वृक्षत्व चूंकि पलाश में नहीं है, एवं पलाशत्वविशिष्ट वृक्षत्व चूंकि शिंशपा में नहीं है, अतः शिंशपा और पलाश दोनों के वृक्ष होते हुये भी दोनों में रहने वाले शिंशपात्व और पलाशत्व दोनों परस्पर विरोधी हैं, परस्परप्रतिक्षेप स्वभाव के हैं । इतरेतराभाव ही अपोह है—एक दूसरे का अभाव ही अपोह है । इसलिये परस्पर विरोधी दो अपोहों के वाचक पलाश शब्द और शिंशपा शब्द दोनों में सामानाधिकरण्य या अभेदान्वय नहीं होता है ।

किन्तु इससे बौद्धों को अपने इस कथन से अन्योन्याश्रय दोष का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि विभिन्न शब्द विरोधिवाचक इसलिये हैं कि परस्पर प्रतिषेधात्मक अपोहों के वाचक हैं । दोनों ही अपोहों के कारण ही दोनों शब्दों में विरोध

है एवं विरोध के कारण ही दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध अपोह्यों का अपोहन करते हैं ॥ १४७ ॥

न सामान्यापहारित्वं विधिरूपेण तत्र ते ।
पलाशादीनपोह्यातो वृक्षं हरति शिंशपा ॥ १४८ ॥

(बौद्धगण कहते हैं कि शिंशपा शब्द और पलाश शब्द अपोहों के कारण परस्पर विरोधी नहीं हैं, वे तो 'सामान्यापहार' के द्वारा परस्पर विरोधी हैं, अतः प्रकृत में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। किन्तु बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—)

'शिंशपा' शब्द अपने बोध्य अर्थ स्वरूप शिंशपा वृक्ष में वृक्षत्व सामान्य के विशेष शिंशपात्व का संपादन करते हुये अपने अर्थ में शिंशपात्ववैशिष्ट्य के द्वारा पलाशवृक्ष से वृक्षत्व के ही विशेष उक्त पलाशत्व अर्थात् पलाशत्वविशिष्ट वृक्षत्व का अपहरण करता है। इसी प्रकार पलाश शब्द से भी शिंशपा वृक्ष में पलाशत्व-विशिष्ट वृक्षत्व का भी अपहरण होता है। अतः शिंशपा शब्द से शिंशपात्व स्वरूप भावात्मक सामान्य के द्वारा पलाश वृक्ष से शिंशपात्वविशिष्ट वृक्षत्व का अपहरण नहीं होता है। किन्तु अशिंशपा स्वरूप पलाशादि के अपोहन से ही पलाशवृक्ष में शिंशपात्वविशिष्ट वृक्षत्व का अपहरण होता है। अतः विरोध के कारण अपोह, एवं अपोह के कारण विरोध यह अन्योन्याश्रय दोष इस 'सामान्यापहार पक्ष में भी समान है ॥ १४८ ॥

सामान्याद्यनपोहश्च नाविरोधेन कल्प्यते ।
न हि शब्दस्वरूपाणां स्याद् विरुद्धाविरुद्धता ॥ १४९ ॥

(बौद्धों ने कहा है कि 'अन्यत्वेऽपि न सामान्यभेदपर्यायवाचिनाम्' इस श्लोकार्द्ध के द्वारा वृक्ष सामान्य के वाचक 'वृक्ष' शब्द एवं वृक्ष विशेष के वाचक 'शिंशपा' शब्द अथवा उसके पर्यायवाची तरु वृक्षादि शब्दों के अर्थ चूंकि परस्पर विरोधी अर्थों के बोधक नहीं हैं, अतः उनमें एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द का अपोह्य नहीं है। इसी लिये वृक्ष शब्द से शिंशपा का भी बोध होता है एवं शिंशपा शब्द से भी शिंशपा अर्थ का बोध होता है। पर्यायवाची शब्दों में से एक शब्द के अर्थ का बोध दूसरे शब्दों से तो सर्वसम्मत है ही। किन्तु बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

कोई भी दो शब्द स्वरूपतः परस्पर विरोधी नहीं है। अतः यदि वृक्ष शब्द से शिंशपा का अपोहन नहीं होता है, तो फिर यह कह सकते हैं कि गो शब्द से अश्वत्व का अपोहन नहीं होता है। अतः यदि अपोह में शक्ति मानेंगे तो वृक्ष शब्द से शिंशपा का बोध अथवा शिंशपा शब्द से वृक्ष का बोध नहीं होगा, क्योंकि शिंशपा वृक्षशब्दवाच्य वृक्षत्व का अपोह्य है, चूंकि अशिंशपाव्यावृत्ति स्वरूप शिंशपात्वं (अपोह) वृक्ष शब्द से भिन्न शिंशपा शब्द का वाच्य है। इसी प्रकार पर्यायवाची शब्दों में भी शब्दों के भेद से अपोह्यों के भेद की आपत्ति होगी ॥ १४९ ॥

न च वस्तुस्वरूपेण तस्य शब्दैरसङ्गतेः।
प्राक् शब्दव्यापृतेर्नापि सापोहानां प्रतीयते ॥ १५० ॥

न च वस्तुरूपेण···असङ्गतेः

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि जिन शब्दों की प्रवृत्ति एक अर्थ में हो सकती है, वे दोनों शब्द अविरोधी हैं। जैसे कि 'तरु' शब्द और 'वृक्ष' शब्द। जिन दो शब्दों की प्रवृत्ति किसी एक अर्थ में संभव नहीं है, वे दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। जैसे कि 'शिंशपा' शब्द और 'पलाश' शब्द। इस प्रकार वस्तुओं के विरोध से ही शब्दों में विरोध की उपपत्ति हो सकती हैं। बौद्धों के इस कथन का यह प्रत्युत्तर है कि—

आप के (बौद्धों के) मत से 'वस्तु' असाधारण एवं स्वलक्षण हैं, उनमें तो शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः वस्तुओं के द्वारा शब्दों में विरोधाविरोध की व्यवस्था अन्ततः उनके मत से नहीं हो सकती। उनके मत से शब्दों को प्रवृत्ति तो अपोहों में होती है और अपोहों के द्वारा शब्दों में विरोधाविरोध की व्यवस्था का खण्डन हमलोग कर चुके है।

प्राक्शब्दव्यापृते···प्रतीयते

(अपोहवादी कह सकते हैं कि वृक्षापोह एवं शिंशपापोह ये दोनों अर्थापोह चूँकि अविरोधी हैं, इस लिये अविरुद्ध दोनों अपोहों के वाचक वृक्ष शब्द और शिंशपा शब्द ये दोनों भी अविरुद्ध हैं। एवं पलाशापोह एवं शिंशपापोह ये दोनों अर्थापोह भी चूँकि परस्पर विरुद्ध हैं अतः दोनों के वाचक पलाश शब्द और शिंशपा शब्द ये दोनों भी विरुद्ध हैं। इस प्रकार अर्थापोह के विरोधाविरोध से ही शब्दों में विरोधा-विरोध का व्यवहार होता है। किन्तु बौद्ध का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

शब्द की प्रवृत्ति से पहले तो अर्थापोह का ज्ञान नहीं होता है। अतः शब्द की प्रवृत्ति से पहले अर्थापोहों के परस्पर विरोधाविरोध का ज्ञान ही संभव नहीं है ॥ १५० ॥

अन्येनानवबुद्धेऽर्थे सदा शब्दः प्रवर्तते।
सामान्यात्मकता तस्य केन रूपेण गम्यते ॥ १५१ ॥

(यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्दों से ही अपोहों के स्वरूप एवं उनके परस्पर विरोध का ज्ञान भी होगा, क्योंकि—)

शब्द की अभिधा शक्ति के बिना अपोहों का ज्ञान ही संभव नहीं है। इसी लिये अपोहों में सामान्यविशेषभाव का ज्ञान पहले संभव नहीं है। जैसे कि अपलाशव्यावृत्ति स्वरूप विशेषापोह का अवृक्षव्यावृत्ति स्वरूप सामान्यापोह है। एवं अपलाशव्यावृत्ति अवृक्षव्यावृत्ति स्वरूप सामान्यापोह की अपेक्षा विशेषा-पोह है ॥ १५१ ॥

शब्दानुरूपतश्चेत् स्यादन्यापोहनिरूपणम्।
भिन्नत्वाद् वृक्षतर्वादेरपोहः केन वार्यते ॥ १५२ ॥

इस प्रकार अर्थापोह के द्वारा शब्दों में विरोध के ज्ञान की संभावना के न रहने पर भी यदि शिंशपा शब्द और पलाश शब्द इन दोनों के विभिन्न वर्णों के द्वारा गठित होने के कारण ही दोनों शब्दों में विरोध मानें तो 'तरु' शब्द और 'वृक्ष' शब्द इन दोनों पर्यायवाची शब्दों में भी विरोध की आपत्ति होगी, क्योंकि इन दोनों के घटक वर्ण भी भिन्न-भिन्न हैं ॥ १५२ ॥

शब्दस्पृष्टेर्विनापोहो न च लिङ्गेन गम्यते ।
न विरुद्धाविरुद्धत्वं तस्य लिङ्गाच्च सिध्यति ॥ १५३ ॥

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि शब्द की प्रवृत्ति से पहिले ही अनुमान के द्वारा अपोहों के स्वरूप, उनके परस्पर सामान्यविशेषभाव अथवा विरोधाविरोध का ज्ञान होगा। उसी से शब्दों में विरोधाविरोध के ज्ञान की उपपत्ति होगी, तदनुसार शब्दों में ही भेदान्वय एवं अभेदान्वय (सामानाधिकरण्य एवं असामानाधिकरण्य) की व्यवस्था भी होगी। किन्तु बौद्धों का उपाय भी सफल नहीं होगा, क्योंकि—जिस प्रकार अर्थ में गृहीत सम्बन्ध से युक्त शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार लिंग (हेतु) भी साध्य के साथ (सामानाधिकरण्य स्वरूप) अन्वय सम्बन्ध की प्रतीति के बाद ही साध्य की अनुमिति को उत्पन्न कर सकता है। साध्य के इस अन्वयविषयक ज्ञान के लिए साध्य का ज्ञान पहले आवश्यक है। अपोहस्वरूप साध्य का ज्ञान शब्द से ही हो सकता है। अतः शब्द की प्रवृत्ति से पहले अनुमान से भी अपोह को नहीं समझा जा सकता। इसीलिये अपोहों के विरोधाविरोध को भी अनुमान से नहीं समझा जा सकता ॥ १५३ ॥

अदृष्टत्वाद् व्युदासस्तु पुरस्तादेव वारितः ।
सामान्यशब्दो भेदेन नेष्यते वाचकात्मना ॥ १५४ ॥
व्युदासस्तत्र दुर्वारः कथञ्चिद् दृष्टता पुनः ।
ब्राह्मणे क्षत्रियस्यापि पर्युदासः प्रसज्यते ॥ १५५ ॥

अदृष्टत्वाद्.....वारितः

'बौद्धों ने 'अदृष्टत्वाद्व्युदासो वा भेदानामितरेतरम्' इस श्लोकार्द्ध के द्वारा यह उपपादन करने का प्रयास किया है कि शिंशपाशब्द का प्रयोग चूँकि पलाश (अपलाशव्यावृत्ति) को समझाने के लिये दृष्ट नहीं है अतः इस 'प्रयोगादृष्टि' से ही यह समझते हैं कि शिंशपाशब्द 'अशिंशपाव्यावृत्ति' स्वरूप अपोह का वाचक है।

बौद्धों की उक्ति का प्रतिवाद 'सर्वत्रैव ह्यदृष्टत्वात्प्रत्याय्यं नावशिष्यते' (श्लो० ७५ अपोहवाद) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा पहले ही किया जा चुका है।[1]

1. अर्थात् 'शिंशपाशब्दो अशिंशपाव्यावृत्तिरूपस्यापोहस्य वाचकः शिंशपाभिन्ने पलाशादौ अदृष्टत्वात्' इस अनुमान के द्वारा भी शब्द की प्रवृत्ति से पहले अपोह का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृत में अपोहघटित साध्य के साथ उक्त अदृष्टत्व (अदृष्टि) हेतु कहीं दृष्ट नहीं है। हेतु से साध्यज्ञान के लिए कथित अन्वय का ज्ञान आवश्यक है। यदि अन्वय के बिना भी अपोह का बोध मानें तो शिंशपा शब्द से जिस प्रकार पलाश का अपोहन होता है (पलाशव्यावृत्ति का बोध होता है) उसी प्रकार शिंशपा का भी अपोहन होना चाहिये (शिंशपाव्यावृत्ति का भी बोध होना चाहिये)।

सामान्यशब्दः'' 'वाचकात्मना''' दुर्वारः

बौद्धों ने 'सामान्यं स्याद्विशेषापोहात्' इस सन्दर्भ के द्वारा यह आक्षेप किया है कि वृक्षसामान्य का वाचक वृक्ष शब्द शिंशपा स्वरूप वृक्ष विशेष को समझाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता है, अतः इस 'प्रयोगादृष्टि' के द्वारा यह सिद्ध होता है कि वृक्ष शब्द से वृक्ष विशेष स्वरूप शिंशपा का भी अपोहन होना चाहिये।

कथंचित्''''प्रसज्यते

(बौद्धों ने इस आक्षेप का 'नान्ययुक्तस्य दृष्टत्वात्' इस सन्दर्भ के द्वारा यह समाधान किया है कि केवल वृक्ष शब्द का प्रयोग शिंशपा को समझाने के लिये भले ही दृष्ट न हो किन्तु शिंशपा शब्द के साथ 'शिंशपा वृक्षः' इस स्वरूप में वृक्ष शब्द को शिंशपा को समझाने के लिये प्रवृत्त देखा जाता है। इसीलिये वृक्ष शब्द से शिंशपा का अपोहन नहीं होता है। बौद्धों का यह समाधान उपयुक्त नहीं है, क्योंकि :—)

वृक्षादि सामान्य शब्दों की अभिधा रूपा मुख्यवृत्ति शिंशपादि वृक्ष विशेषों में नहीं है। प्रकरणादि के सांनिध्य से जो सामान्य शब्द के द्वारा विशेष व्यक्ति का बोध होता है उसमें लक्षणा स्वरूप अमुख्य वृत्ति का ही साथ रहता है। गौण-वृत्ति से तो शूरवीर ब्राह्मण के लिए भी 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग होता है। यदि अमुख्य वृत्ति से बोध होने पर भी अपोहन स्वीकार न करें तो 'ब्राह्मण' शब्द से भी क्षत्रिय का अपोहन नहीं होगा। अतः मुख्य वृत्ति के द्वारा सामान्य शब्द का विशेष में प्रयोग दृष्ट नहीं है, इसलिये सामान्य शब्द से विशेषापोह के बोध की आपत्ति यथावत् विद्यमान है ॥ १५४–१५५ ॥

आकाङ्क्षणादयात्यागस्तुल्यो द्रव्यक्रियादिषु ।
वृक्षेणातोऽनपोहः स्यात् तिष्ठत्यादेरसंशयम् ॥ १५६ ॥

('तन्मात्राकांक्षणाद् भेदस्तत्सामान्येन नोज्झितः' इस श्लोकार्द्ध के द्वारा बौद्धों ने जो यह कहा है कि सामान्य विशेषाकांक्षी है, अतः उसे विशेषों की आकांक्षा बनी रहती है। इसलिये सामान्य अपने सभी विशेषों के साथ सम्बद्ध रहता है। अतः सामान्य रूप से विशेषों का बोध सामान्य शब्द से होता है, अतः विशेष का अपोहन नहीं होता। अर्थात् विशेष सामान्य शब्द का अपोह्य नहीं होता। किन्तु बौद्धों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि :—)

यदि ऐसा हो तो द्रव्य पद से गुण का अपोहन नहीं होगा, क्योंकि सभी द्रव्य गुणाकांक्षी हैं। इसी प्रकार गुण पद से द्रव्यव्यावृत्ति का बोध नहीं होगा, क्योंकि गुण के द्रव्याकांक्षी होने के कारण गुण पद से द्रव्य का अपोहन नहीं होगा।

इसी प्रकार ''वृक्षे तिष्ठति' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त वृक्ष पद से तिष्ठति (स्थिति) क्रिया से भिन्न क्रियाओं का अपोहन नहीं होगा[1] ॥ १५६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि क्रिया और कारक भी परस्पर साकांक्ष हैं, अतः दोनों परस्पर सापेक्ष भी हैं। 'वृक्षे तिष्ठति' इस स्थल में वृक्ष रूप अधिकरणकारक तिष्ठति (स्थिति)

पुरुषस्य तथा राज्ञो व्युदासे न विशेष्यता ।
अव्युदासत्वपक्षे च स्यान्नीलोत्पलतुल्यता ॥ १५७ ॥

यदि परस्पर साकांक्षता अपोहन का बाधक हो तो 'राज्ञः पुरुषः' इस वाक्य में प्रयुक्त षष्ठ्यन्त राजपद से यदि पुरुष का अपोहन करें तो मानना होगा कि उक्त दोनों पद परस्पर साकांक्ष नहीं हैं। यदि 'पुरुषः' इस पद में 'राज्ञः' पद की साकांक्षता न रहे तो पुरुष का विशेष्यविधया उक्त वाक्यार्थबोध में भान नहीं होगा, क्योंकि अनाकांक्षित पदार्थ विशेष्य नहीं होते। यदि अपोहन न मानें तो दोनों पदों को एकार्थबोधक मानना होगा, जिससे 'राजा पुरुषः' यह समानाधिकरण्यबोधक प्रयोग होगा। जैसे 'नीलोत्पलम्' इत्यादि प्रयोग होते हैं। 'राज्ञः पुरुषः' यह वैयधिकरण्य-मूलक प्रयोग न हो सकेगा। अतः परम्पराकांक्षता अपोहन का बाधक नहीं है ॥१५७॥

वृक्षत्वपार्थिवद्रव्यसंज्ञेयेषु यदुच्यते ।
प्रातिलोम्यानुलोम्येन विधौ सर्वार्थबोधनम् ॥ १५८ ॥

बौद्धों ने—

वृक्षत्वपार्थिवद्रव्यसंज्ञेयाः प्रातिलोम्यतः ।
चतुस्त्रिद्व्येकसंदेहे निमित्तं निश्चयेऽन्यथा ॥

इस श्लोक के द्वारा अपोह को शब्द का वाच्य न मानने के पक्ष में एवं भाव रूप सामान्य (जाति) में शब्दों की अभिधा वृत्ति मानने के पक्ष में यह दोष दिखलाया है कि 'वस्तु' चूँकि भावशून्य हैं (अखण्ड हैं) अतः सभी शब्दों से वस्तुओं में रहने वाले सभी अर्थों के बोध की आपत्ति होगी। जैसे कि वृक्ष, पार्थिव, द्रव्य और सत् इन चार शब्दों में से जब वृक्ष शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उससे होने वाले बोध में वृक्षत्व के साथ साथ पार्थिवत्व द्रव्यत्व और सत्त्व इन तीनों ही धर्मों का बोध अनुलोम क्रम से हो जाता है। इसी प्रकार यदि भाव रूप सामान्य को शब्द का वाच्य मानें तो कथित क्रम के विपरीत (प्रतिलोम क्रम से) सत् शब्द से भी सत्त्व के अतिरिक्त द्रव्यत्व, पार्थिवत्व और वृक्षत्व इन सामान्यों का भी बोध मानना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है। इसलिये शब्द भाव रूप सामान्य के वाचक नहीं हैं किन्तु अभाव स्वरूप अपोह के ही वाचक हैं ॥ १५८ ॥

तदयुक्तम् न सर्वो हि शब्दः सर्वत्र दृश्यते ।
देशाविभागतो वृत्तिर्नेत्रस्यापि रसादिषु ॥ १५९ ॥
ग्राहकत्वेन वृत्तिस्तु प्रतिजाति व्यवस्थिता ।
चक्षुरादिवदेवात्र सङ्करो न भविष्यति ॥ १६० ॥

क्रियासापेक्ष है। यह क्रिया भी अधिकरणकारकसापेक्ष है। इस प्रकार परस्पर सापेक्ष होने के कारण परस्पर अपोहन न कर सकेंगे। किन्तु ऐसे स्थलों में परस्परापोहन होता है। यदि ऐसा न होता तो 'वृक्षे तिष्ठति' इस वाक्य में वैयधिकरण्यान्वय अनुपपन्न हो जायगा। एवं उसी अर्थ में 'वृक्षस्तिष्ठति' इस सामानाधिकरण्यान्वयबोधक (अभेदा-न्वयबोधक) प्रयोग की आपत्ति होगी।

तदयुक्तम्''''सर्वत्र दृश्यते

बौद्धों का उक्त कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वस्तु' अखण्ड या भागशून्य नहीं है, एक ही वस्तु के अनेक अंश होते हैं। इसका उपपादन अनेक बार किया जा चुका है। प्रत्येक भाग के बोध के लिये अलग अलग शब्द हैं। वृक्ष के वृक्षत्व स्वरूप अंश के बोध के लिये चूँकि वृक्ष तरुप्रभृति शब्द ही उपयुक्त हैं, अतः वृक्ष शब्द से वृक्षत्व का ही शाब्दबोध होता है, वृक्ष में रहने वाले पार्थिवत्वादि धर्मों का नहीं।

देशाविभागतो''रसादिषु''''व्यवस्थिता

यदि यह कहें कि वृक्ष के वृक्षत्व पार्थिवत्वादि सभी अंश चूँकि वृक्ष स्वरूप एक ही देश में रहते हैं, अतः वृक्षत्व के लिये उपयोगी वृक्ष शब्द से उक्त पार्थिवत्वादि धर्मों के ज्ञान में कौन सी बाधा है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि वृक्ष शब्द में वृक्षत्व से भिन्न उसके साथ रहने वाले पार्थिवत्वादि धर्मों को समझाने की अक्षमता ही वह 'बाधा' है। जिस प्रकार एक ही आम में रहने वाले रूप और रस इन दोनों के ग्रहण की सामर्थ्य न चक्षु में है न रसनेन्द्रिय में ही है एवं इसका हेतु दोनों ही इन्द्रियों में से किसी में भी रूप और रस दोनों के ग्रहण की असामर्थ्य है इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये।

चक्षुरादिवत्''न भविष्यति

अर्थात् जिस प्रकार यह 'व्यवस्था' है कि चक्षु रूप का ही ग्रहण करे एवं रसना रस का ही ग्रहण करे दोनों में 'साङ्कर्य' अर्थात् कभी कभी चक्षु से रूपग्रहण के अतिरिक्त रस का भी ग्रहण नहीं होता है। उसी प्रकार प्रकृत वृक्षादि शब्दों में भी यह 'व्यवस्था' जाननी चाहिये कि 'वृक्ष' शब्द से वृक्षत्व का ही ग्रहण होता है, किंवा 'पार्थिव' शब्द से पार्थिवत्व का ही ग्रहण होता है, वृक्ष शब्द से पार्थिवत्व का नहीं, अथवा पार्थिव शब्द से द्रव्यत्व का नहीं ॥ १५९–१६० ॥

निवृत्तचेष्टे शब्दे च व्याप्त्यव्याप्तिकृतं पुनः।
सत्त्वादेर्बोधकत्वं स्यादेकन्यूनातिरेकतः ॥ १६१ ॥

(यदि ऐसी बात है तो फिर अनुलोम क्रम से वृक्ष शब्द के द्वारा जो पार्थिवत्व द्रव्यत्वादि का ग्रहण होता है, वह न हो सकेगा। किन्तु यह आक्षेप भी वृथा है, क्योंकि—)

अनुलोम क्रम से वृक्ष शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा वृक्षत्व का बोध हो जाने पर वृक्षत्व की व्याप्ति से युक्त अर्थात् वृक्षत्व के साथ अवश्य रहने वाले पार्थिवत्व, द्रव्यत्व, एवं सत्ता इन तीनों धर्मों का बोध होता है। एवं पार्थिव शब्द से अभिधा वृत्ति के द्वारा पार्थिवत्वविषयक बोध के बाद पृथिवी में अवश्य रहने वाले द्रव्यत्व और सत्ता इन दो द्रव्यों का भी बोध होता है। किन्तु पार्थिवत्व चूँकि घटादि में भी है किन्तु घटादि व्यक्तियों में वृक्षत्व नहीं है, अतः पार्थिव शब्द से वृक्षत्व का बोध नहीं होता। इसी प्रकार 'अव्याप्तिवश' द्रव्य शब्द से अभिधा वृत्ति के द्वारा द्रव्यत्वविषयक बोध के बाद केवल सत्ता जाति का ही बोध होता है, पार्थिवत्व

एवं वृक्षत्व का नहीं। इसी रीति से 'सत्' शब्द से केवल सत्ता जाति का ही बोध होता है, द्रव्यत्वादि का नहीं, क्योंकि सत्ता गुण और कर्म में भी है अथवा जलादि द्रव्यों में है, वहाँ उक्त पार्थिवत्वादि जातियाँ नहीं हैं। अतः अनुलोम क्रम से जिस प्रकार वृक्षादि शब्दों से स्वाभिधेय वृक्षत्वादि धर्मों से अतिरिक्त पार्थिवत्वादि धर्मों का बोध होता है, उसी प्रकार विलोम क्रम से सत्तादि शब्दों से द्रव्यत्वादि धर्मों का बोध संभव नहीं है ॥ १६१ ॥

तवैव दोषः स्यादेष विशेषे यस्य वर्त्तते।

सामान्यशब्दो वाच्यानां भेदो नाप्यस्ति वस्तुनः ॥१६२॥

तवैव दोषः ''सामान्यशब्दः

प्रतिलोम क्रम के अनुसार 'सत्' प्रभृति सामान्य शब्दों से द्रव्यत्वादि विशेष धर्मों के बोध की जो आपत्ति तुमने (बौद्धों ने) भाव स्वरूप सामान्य को वाच्य मानने के मेरे पक्ष में दी है, वह आपत्ति अपोह को वाच्य मानने वाले तुम लोगों (बौद्धों) के पक्ष में ही है, क्योंकि तुम लोग सामान्यवाचक शब्द की अभिधा ही विशेष में मानते हो। अर्थात् बौद्धों के पक्ष में असाधारण स्वलक्षण ही शब्द का मुख्य वाच्य है। यह 'स्वलक्षणता' सभी व्यक्तियों में समान है। अतः जिस प्रकार 'सत्' शब्द के द्वारा असद्व्यावृत्ति रूप से सभी सत् पदार्थों का बोध होता है, उसी प्रकार वृक्षादि व्यक्तियों का सत् शब्द के द्वारा अवृक्षव्यावृत्ति प्रभृति रूपों से बोध की आपत्ति होगी।

वाच्यानां भेदो नाप्यस्ति वस्तुनः

इस प्रसंग में बौद्धगण कह सकते हैं कि 'स्वलक्षण' तो अव्यपदेश्य अर्थात् शब्द प्रमाण के द्वारा अबोध्य है। शब्द प्रमाण के द्वारा तो व्यावृत्ति स्वरूप अपोहों को ही बोध्य मानते हैं। वे तो परस्पर भिन्न हैं, इसलिये सत् शब्द और वृक्ष शब्द एकार्थक नहीं हैं। फलतः सभी शब्दों में पर्यायता की आपत्ति नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पहले उपपादन किया जा चुका है कि भेद वस्तुओं में ही हो सकता है 'तुच्छ' (अभाव स्वरूप) व्यावृत्तियों में नहीं ॥ १६२ ॥

अपि चैकत्वनित्यत्वप्रत्येकसमवायिताः।

निरुपाख्येष्वपोहेषु कुर्वतोऽसूत्रकः पटः ॥ १६३ ॥

(बौद्धों ने 'जातिधर्मव्यवस्थितेः' इस पद्यांश के द्वारा अपोह में ही सामान्यों के धर्मों का जो अतिदेश माना है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

भाव स्वरूप द्रव्यत्वादि सामान्यों में से प्रत्येक में एकत्व नित्यत्व और प्रत्येक-व्यक्तिसमवायित्व की प्रतीति होती है। तुच्छ (अभाव स्वरूप) अपोह के ये धर्म नहीं हो सकते। जो धर्म अभाव स्वरूप अपोह के हो ही नहीं सकते, उनका अतिदेश भाव स्वरूप सामान्य में कैसे होगा? यदि ऐसा मानें तो यह भी मानना होगा कि पट बिना सूत्र के ही उत्पन्न होता है ॥ १६३ ॥

तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगस्तेषु केवलम्।

भवेदन्यनिवृत्त्यंशः स्वात्मैवान्यत्र गम्यते ॥ १६४ ॥

'तस्मात्' जिन 'अब्राह्मण' प्रभृति शब्दों में नञ् का सम्बन्ध है उन्हीं शब्दों में अन्यव्यावृत्ति (अभाव) का बोध होता है। नञ्रहित जितने भी गो वृक्षादि शब्द हैं, उनसे गोत्व वृक्षादि सामान्य स्वरूप भावात्मक जाति की ही प्रतीति होती है। तस्मात् ये ही जातियाँ गो वृक्षादि शब्दों के वाच्य हैं, अन्यव्यावृत्ति स्वरूप अपोह नहीं ॥ १६४ ॥

ज्ञेयार्थान्यानपोहत्वं प्रमाङ्गत्वात् त्वगादिवत् ।
येनोक्तं तस्य नञ्युक्तैः शब्दैः स्याद् व्यभिचारिता ॥ १६५ ॥

नैयायिकगण अनुमान के द्वारा शब्दों में अपोहवाचकता का खण्डन करते हैं। इसके लिये वे इस अनुमान का प्रयोग करते हैं 'शब्दो न ज्ञेयार्थान्यापोहवाचकः प्रमाङ्गत्वात् त्वगादिवत्'। अर्थात् जिस प्रकार त्वगादि प्रमाकरणों (प्रमाणों) के द्वारा घटस्पर्शादि भाव पदार्थों का ही ग्रहण होता है, किसी अन्यव्यावृत्तिस्वरूप अपोह का बोध नहीं होता है, उसी प्रकार शब्द भी प्रमा का करण (प्रमाण) है, अतः उससे भी गो घटादि अर्थों (भावों) का ही बोध मानना होगा, अगोव्यावृत्ति अथवा अघटव्यावृत्ति प्रभृति अपोहों का नहीं।

किन्तु नैयायिकों का यह प्रयास ठीक नहीं है, क्योंकि—

येनोक्तम्''''व्यभिचारिता

नञ् से युक्त अब्राह्मणादि शब्दों में यह प्रमाङ्गत्व (प्रमाकरणत्व) हेतु व्यभिचरित है। 'अब्राह्मण' प्रभृति नञ् से युक्त शब्दों से ब्राह्मणत्वादि का ही बोध होता है, अतः अन्यव्यावृत्ति रूप अपोह के वाचकत्व का अभाव स्वरूप साध्य नहीं है (अर्थात् अपोहवाचकत्व है) किन्तु प्रमाङ्गत्व हेतु है ॥ १६५ ॥

पक्षीकुर्याद् यदा सर्वांस्तदाथावीतहेतुभिः ।
अनैकान्तो विरोधश्च सर्वलोकप्रसिद्धितः ॥ १६६ ॥

यदि नञ् से युक्त अब्राह्मणादि शब्द सहित सभी शब्दों को पक्ष करें अर्थात् अब्राह्मणादि शब्दों से भी पर्युदस्त क्षत्रियादि भाव सामान्यों को ही मानें तो उक्त व्यभिचार दोष यद्यपि नहीं होगा, तथापि अवीत हेतु में अर्थात् केवलव्यतिरेकी हेतु में व्यभिचार होगा, क्योंकि 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्' इस अनुमान के प्राणादिमत्त्व हेतु से निरात्मक घटादि जड़ पदार्थों के अपोहन के द्वारा ही जीवित शरीर में सात्मकत्व (आत्मसम्बन्ध) का अनुमान होता है। अर्थात् इस अवीत हेतु से जीवित शरीर में आत्मसम्बन्ध के बोध के साथ-साथ घटादि जड़ वस्तुओं में आत्म-सम्बन्ध के अपोह का भी बोध होता है। अतः अवीत हेतु स्वरूप प्रमाकरण में प्रमाङ्गत्व स्वरूप हेतु तो है किन्तु अपोहज्ञापकत्व रूप साध्य नहीं है।

विरोधश्च'''सर्वलोकप्रसिद्धितः

एवं अब्राह्मणादि सभी नञ्युक्त शब्दों से ब्राह्मणत्वादिविषयक बोध को सभी स्वीकार करते हैं। यदि अब्राह्मणादि सभी शब्दों को व्यावृत्ति (अपोह) का अवाचक मानेंगे तो उक्त प्रमाकरणत्व हेतु सर्वलोकप्रसिद्धि के विरुद्ध भी होगा ॥ १६६ ॥

नापोहत इतीदं च कारकत्वेन चेद् भवेत् ।

केवलापोहबुद्धेर्वा ततः स्यात् सिद्धसाध्यता ॥ १६७ ॥

दूसरा प्रश्न यह है कि 'ज्ञेयार्थानपोहनत्वम्' इस साध्यबोधक पद से यदि 'अन्यापोहकारकत्व' विवक्षित हो तो सिद्धसाधन होगा, क्योंकि कोई भी (बौद्ध भी) वृक्षादि शब्दों को अपोहों का उत्पादक नहीं मानता। वे भी शब्दों को अपोहों के ज्ञापक ही मानते हैं।

केवलापोहबुद्धेर्वा

यदि 'ज्ञेयार्थानपोहत्व' स्वरूप साध्यबोधक पद का ऐसा अर्थ करें कि शब्द 'केवल' अपोह का अर्थात् निराश्रित अपोह का 'अबोधक' है तथापि सिद्धसाधन होगा, क्योंकि बौद्ध भी वृक्ष शब्द से वृक्षाश्रित अवृक्षव्यावृत्ति का ही बोध मानते हैं, केवल अन्यव्यावृत्ति का नहीं ॥ १६७ ॥

अथान्यापोहवत्यर्थे वृत्तिर्नास्तीति साध्यते ।

ततः प्राक् पक्षबाधः स्याद् गोत्वेऽप्यश्वाद्यभावतः ॥ १६८ ॥

यदि 'शब्दो 'ज्ञेयाऽर्थान्यानपोहत्ववान्' इस प्रतिज्ञा से शब्द स्वरूप पक्ष में 'अन्यापोहविशिष्ट अर्थ में शब्द की अभिधावृत्ति नहीं है' इसका साधन करें (अर्थात् 'अन्यापोहविशिष्टेऽर्थे शब्दस्य वृत्तिर्नास्ति' यदि ऐसा प्रतिज्ञावाक्य मानें) तो 'बाध' दोष होगा, क्योंकि गोत्व स्वरूप भाव सामान्य में भी अश्वादि अन्य वस्तुओं का अभाव है ही। अर्थात् यदि गोत्व रूप भाव सामान्य में गोपद की अभिधा मानते हैं तो वह भी वास्तव में अन्यापोहविशिष्ट में ही गोपद की अभिधा को स्वीकार करना है। इसलिये गोपद में आप के मत से भी अन्यापोहविशिष्ट अर्थवाचकत्वाभाव स्वरूप साध्य नहीं है ॥ १६८ ॥

साध्यहीनश्च दृष्टान्तश्चक्षुराद्यपि तस्य हि ।

वर्त्ततेऽपोहवत्येव तं यद्यपि न बुध्यते ॥ १६९ ॥

उक्त अनुमान में दूसरा दोष यह भी है कि त्वक् चक्षुरादि इन्द्रियों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह भी साध्यशून्य है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से जिन वस्तुओं का ग्रहण होता है, उनमें भी वस्तुतः इतराभाव स्वरूप अन्यापोह तो है ही, भले ही चक्षुरादि से उसका बोध न होता हो। ऐसा नहीं है कि चक्षु से गृहीत होने वाले रूप में रस का अभाव नहीं है ॥ १६९ ॥

अथान्यापोहनिर्भासा न बुद्धिः सिद्धसाधनम् ।

अपोहरूपमप्येतद् वस्त्वित्येव हि गम्यते ॥ १७० ॥

यदि प्रतिज्ञावाक्य का यह अर्थ करें कि 'शब्द प्रमाण से अन्यापोहत्व रूप से वस्तुओं का बोध नहीं होता है' (शब्दोऽन्यापोहत्वेन वस्तुविषयकबुद्ध्यजनकः प्रमाणत्वात्) तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि बौद्धगण भी गोपद से अनादिवासनावश भावात्मक गोत्व रूप से ही गो का बोध मानते हैं, वे भी व्यवहार में अन्यव्यावृत्ति (अभावरूप) रूप से गो का बोध नहीं मानते ॥ १७० ॥

अथापोहनिमित्तास्य वृत्तिरर्थे निषिध्यते ।

व्यतिरेकाङ्गतेष्टत्वात् पुनः प्राक् पक्षबाधनम् ॥ १७१ ॥

यदि नैयायिकगण उक्त अनुमान के द्वारा यह सिद्ध करना चाहें कि अर्थ में शब्द की अभिधावृत्ति का प्रयोजक अपोह (स्वरूप अभाव) नहीं है, क्योंकि अन्वय के समान ही व्यतिरेक (अभाव) भी कारणता का ग्राहक है। शब्द में जो घट की ज्ञापकता रूप कारणता है, वह भी अवश्य ही अभावप्रयोज्य है, क्योंकि घट शब्द से घटविषयक बोध की अनुत्पत्ति स्वरूप अभाव भी घट पद में घट पद की वाच्यता का प्रयोजक है। अतः इस पक्ष में भी सिद्धसाधन दोष अनिवार्य हो जायगा ॥१७१॥

अनुमाने तथा चैतदित्यनैकान्तिको भवेत् ।

सन्देहबाधजातेन प्रत्यक्षेणापि चेतसा ॥ १७२ ॥

यदि साध्यबोधक पद का उक्त अर्थ करें तो कथित प्रमांगत्व हेतु अनुमान में व्यभिचरित भी होगा, क्योंकि विपक्षव्यावृत्ति स्वरूप अभाव हेतु में भी साध्यज्ञापकता का प्रयोजक है ही।

सन्देहबाधजातेन'''चेतसा

एवं 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इस सन्देह के बाद जो समीप जाने वाले पुरुष को पुरुषानुपलब्धि (अभाव) के साहाय्य से 'स्थाणुरेवायम्' इस आकार का प्रत्यक्ष होता है, उसके प्रयोजक प्रत्यक्ष प्रमाण में भी उक्त प्रमाणत्व अनैकान्तिक होगा, क्योंकि इस प्रत्यक्ष प्रमाण में भी अभाव स्वरूप अनुपलब्धि प्रमाणप्रयोज्य ही प्रमा-की जनकता है ॥ १७२ ॥

विरुद्धता च हेतोः स्यात् शब्दः श्रोत्रादिवद् यतः ।

आत्मान्तःकरणाकाशैः स्ववाचित्वं जहाति वः ॥ १७३ ॥

नैयायिकों के उक्त अनुमान में 'इष्टविघातकारित्व' विरोध दोष भी है, क्योंकि जिस प्रकार प्रमांगभूत श्रोत्रादि इन्द्रियों में लोकप्रसिद्धि रूप प्रमाण इन्द्रिय पद की वाच्यता सापेक्ष है, प्रत्यक्ष प्रमाण का सहयोग उसमें नहीं है उसी प्रकार आत्मा, अन्तःकरण, आकाश प्रभृति शब्दों की वाच्यता आत्मादि पदार्थों में लोकप्रसिद्धि के कारण ही है। घटादि अर्थों में घटपदवाच्यता के समान आत्मादि शब्दों की वाच्यता में प्रत्यक्षादि का सहयोग नहीं है, क्योंकि घटादि के आनयनादि के प्रत्यक्ष से ही घटादि शब्दों की वाच्यता घटादि में प्रतीत होती है। आत्मा प्रभृति शब्दों की वाच्यता जिन अर्थों में प्रसिद्ध है उन अर्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इस वस्तुगति के अनुसार लोकप्रसिद्धि की उपेक्षा कर यदि नञ्घटित अब्राह्मणादि शब्दों से भी अपोह (अभाव) की प्रतीति न मानें तो आत्मा, अन्तः-करण, आकाश प्रभृति शब्दों की लोकप्रसिद्धिमात्रमूलक वाच्यता भी आत्मा, अन्तः-करण प्रभृति अर्थों में नहीं मानी जा सकेगी, किन्तु सो इष्ट नहीं है। अतः इष्टविघात-कारी होने के कारण उक्त अनुमान का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है ॥ १७३ ॥

विधिरूपप्रवृत्तिर्वा शब्दोऽपोहेन वर्त्तते ।
अनुमानाङ्गभूतत्वाद् यथैव प्रतिषेधकः ॥ १७४ ॥

नैयायिकों के प्रकृत अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' दोष भी है, क्योंकि जिस शब्द स्वरूप पक्ष में आप (नैयायिकगण) भावत्व रूप से अर्थप्रतीतिजनकत्व की सिद्धि प्रमाङ्गत्व हेतु से कहना चाहते हैं, उसी शब्द स्वरूप पक्ष में अभाव के साहाय्य से प्रतीति के उत्पादकत्व की सिद्धि,भी अनुमानाङ्गत्व हेतु से की जा सकती है। इस विरोधी अनुमान में अवीत (केवलव्यतिरेकी) हेतु को दृष्टान्त बनाया जा सकता है। अवीत हेतु से अनुमिति की उत्पत्ति में विपक्षव्यावृत्ति स्वरूप अभाव के साहाय्य का उपपादन किया जा चुका है। (नैयायिकाभिमतो यो यो विधिरूपाभिधायित्वेनाभिमतः स सोऽपोहमुखेन स्वप्रत्यये वर्त्तते अनुमानाङ्गत्वाद् अवीतहेतुवत्)। अतः सत्प्रतिपक्षित होने के कारण उक्तहेतुक अनुमान के द्वारा अपोह में शब्द की वाच्यता का निराकरण नहीं हो सकता ॥ १७४ ॥

जातिं वा न ब्रवीत्येष व्यक्तिं वा तद्विशेषिताम् ।
प्रमायामङ्गभूतत्वात् त्वक्श्रोत्रादि यथैव च ॥ १७५ ॥

उक्त अनुमान का प्रमाङ्गत्व हेतु अन्य रीति से भी विरोध दोष से युक्त है, क्योंकि यह अनुमान भी किया जा सकता है कि (१) शब्दो न जातिवाचकः प्रमाङ्गत्वात् त्वक्श्रोत्रादिवत् । (२) अथवा शब्दो न जातिविशिष्टव्यक्तिवाचकः प्रमाङ्गत्वात् त्वक्श्रोत्रादिवत् । अर्थात् जिस प्रकार त्वक्श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्रमाङ्ग होने के कारण जाति को अथवा जातिविशिष्ट व्यक्ति की बोधिका नहीं है, उसी प्रकार शब्द भी चूँकि प्रमा का अङ्ग है, अतः उससे अभिधा वृत्ति के द्वारा जाति का अथवा जातिविशिष्ट व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता। यह प्रमाङ्गत्व हेतु चूँकि अपोह-वाचकत्व के समान ही तद्विरुद्धजातिवाचकत्व अथवा जातिविशिष्टव्यक्तिवाचकत्व का साधन है, अतः वह हेतु न होकर विरुद्ध हेत्वाभास है, इसलिये उससे किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १७५ ॥

एवं साधनमार्गेण वाच्यावाच्यनिरूपणा ।
नावतिष्ठत इत्यत्र कथ्यते लोकवर्त्मना ॥ १७६ ॥

अतः लोकावगति ही गवादि शब्दों में भाव (वस्तु) पदार्थ के अभिधायकत्व की कसौटी है। 'साधनमार्ग' से अर्थात् अनुमान के द्वारा कौन किसका वाच्य है कौन किसका वाच्य नहीं है इन प्रश्नों का समाधान नहीं किया जा सकता ॥ १७६ ॥

इत्यापोहवादः समाप्तः ॥

अथ वनवादः

[1]सास्नादिभिर्विशिष्टत्वमाकृतेरुच्यते कथम् ।
यदावयवसम्बन्धि गोत्वं नावयवे स्थितम् ॥ १ ॥

(पू० प०) भाष्यकार ने (शब्द के) अर्थ का लक्षण लिखते हुये जो 'सास्नादिविशिष्टाऽऽकृतिः' (शाबरभाष्य पृ० ५० पं० १) (अर्थात् सास्नादि से युक्त आकृति ही गोप्रभृति शब्दों का अर्थ है) यह सन्दर्भ लिखा है वह अयुक्त सा लगता है, क्योंकि सास्नादि गोप्रभृति अवयवों के अवयव हैं। गोत्वादि आकृतियाँ अवयवियों में रहती हैं। अवयवी चूँकि अवयवों से भिन्न हैं, अतः अवयवियों में रहने वाली गोत्वादि जातियों में (आकृतियों में) सास्नादि अवयवों का सम्बन्ध कैसे रह सकता है ? अतः गोत्वादि जातियाँ (आकृतियाँ) सास्नादिविशिष्ट नहीं हो सकतीं ॥ १ ॥

एकावयविसम्बन्धस्तेषां गोत्वेन विद्यते ।
तेनासाधारणत्वात् ते स्युर्गोत्वस्योपलक्षणम् ॥ २ ॥

(सि० प०) गो शब्द के अभिधेय सामान्य (जाति) को विशेष रूप से समझाने के लिये ही भाष्यकार ने उक्त भाष्यसन्दर्भ में 'सास्नादि' का उपादान किया है। गोत्व को समझाने की सामर्थ्य सास्नादि अवयवों में है, क्योंकि सास्नादि अवयवों से उत्पन्न गो स्वरूप अवयवी के साथ गोत्व जाति का सम्बन्ध है, अतः अवयवी के द्वारा इन सास्नादि अवयवों का सम्बन्ध चूँकि अश्वत्वादि जातियों में नहीं है अतः गोत्व जाति का यह सास्नादिसम्बन्ध असाधारण धर्म है। इसलिये इसके द्वारा गोत्व जाति को विशेष रूप से समझाया जा सकता है। अतः सास्नादि का उपादान भाष्य में उचित है ॥ २ ॥

पिण्डे सत्तादिजातीनां बह्वीनां समवेतताम् ।
ताभ्यो विशिष्यते गोत्वं सास्नादिभिरसंशयम् ॥३॥

गोत्व जाति के सास्नादि उपलक्षणों की इसलिये आवश्यकता है कि गोपिण्ड में सत्ता द्रव्यत्वादि अन्य बहुत सी अश्वादिसाधारण जातियों की भी सत्ता है। वे

---

१. शब्द और अर्थ में कौन सा सम्बन्ध है ? वह सम्बन्ध नित्य है ? अथवा अनित्य ? ये ही विचार मूलतः प्रकरणप्राप्त हैं। किन्तु सम्बन्ध किन्हीं दो या दो से अधिक व्यक्तियों में हो सकता है, एवं सम्बन्धियों के ज्ञान के द्वारा ही उक्त शब्दार्थसम्बन्ध को समझा जा सकता है। प्रकृत शब्दार्थसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हैं (१) शब्द और (२) अर्थ। इनमें 'शब्द' का निरूपण भाष्यकार ने 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इत्यादि सन्दर्भ (पृ० ४५ पं० ७) से प्रारम्भ कर 'तस्मादक्षराण्येव पदम्' (पृ० ४८ पं० ११) इत्यादि सन्दर्भ से समाप्त किया है। शब्दनिरूपणपरक इस भाष्यसन्दर्भ की ही व्याख्या स्फोटवादान्त इस वार्त्तिकसन्दर्भ से की गयी है।

'आकृतिवाद' के वार्त्तिक से अर्थनिरूपण के लिये भूमिका तैयार की गयी है। 'अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः' इस भाष्यसन्दर्भ से प्रारब्ध अर्थनिरूपण के 'सिद्धान्तभाष्य-सन्दर्भ' का विचार इस प्रकरण में किया गया है।

साधारण जातियाँ गो शब्द की अभिधेय नहीं हैं। किन्तु सभी गो व्यक्तियों में ही रहने वाली जाति ही गो शब्द का अभिधेय है। गोत्व जाति की इस विशेषता को उसके उपलक्षण सास्नादि ही समझा सकते हैं। अतः सास्नादि उपलक्षणों का उपादान उचित है ॥ ३ ॥

न चैते व्यञ्जकास्तस्य गुणवद् वा विशेषणम् ।
तथा हि नागृहीतेषु तेषु स्याद् गोत्वबोधनम् ॥ ४ ॥

न चैते⋯विशेषणम्

वैशेषिकगण 'सास्नालाङ्गूलादि गोत्वे लिंगम्' इस कणाद सूत्र के अनुसार (१) सास्नादि को गोत्व की अभिव्यक्ति का कारण (अभिव्यञ्जक) मानते हैं। (२) कोई सास्नादि को गोत्व के गुणों का विशेषण मानते हैं एवं इसके लिये प्रकृत भाष्यसन्दर्भ के अक्षरक्रम को ही प्रमाण मानते हैं। अर्थात् सास्नादि चूँकि गोत्व के विशेषण हैं, इसीलिये 'सास्नादिविशिष्टा आकृतिः' शाबरभाष्य के इस वाक्य में 'विशिष्ट' पद का प्रयोग किया गया है।

तथा हि⋯गोत्वबोधनम्

किन्तु ये दोनों ही मत ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों ही मतों में सास्नादि-ज्ञान के बिना गोत्व जाति की बुद्धि अनुपपन्न हो जायगी ॥ ४ ॥

तेषां च व्यञ्जकैः स्वैः स्यात् पुनर्ग्रहणकल्पना ।
तथा सत्यनवस्था स्यान्न स्याद् गोत्वावधारणम् ॥ ५ ॥

गोत्व को यदि सास्नादिव्यञ्जक सामान्यापेक्ष मानें तो इस व्यञ्जक सामान्य को भी दूसरे व्यञ्जक सामान्य की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनन्त व्यञ्जक सामान्यों की कल्पना से अनवस्था दोष उपस्थित होगा जिससे गोत्व का अवधारण ही दुर्लभ हो जायगा ॥ ५ ॥

सर्वेषु च गृहीतेषु सास्नादिषु भवेन्मतिः ।
गोत्वे न चैषु सर्वेषु युगपद् बुद्धिसम्भवः ॥ ६ ॥

दूसरी रीति से भी गोत्वज्ञान को सास्नादिज्ञानसापेक्ष मानने से गोत्वज्ञान की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि सास्नालाङ्गूलादि सभी व्यञ्जकों के ज्ञान के बाद ही गोत्व का ज्ञान होगा। किन्तु एक ही समय सास्नालाङ्गूलादि सभी व्यञ्जकों का ज्ञान संभव नहीं है ॥ ६ ॥

तस्मात् सद्भावमात्रेण महत्त्वादौ यथैव धीः ।
क्रियतेऽवयवैः पिण्डे तथा जातिगुणादिषु ॥ ७ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार अवयवों की सत्ता मात्र से (अर्थात् ज्ञान के बिना ही) अवयवी के महत्त्व का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अवयवों की सत्तामात्र से अवयवी के स्वरूप अवयविगत गोत्वादि जातियों का ज्ञान भी होता है। इसके लिये अवयवों के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् सास्नालाङ्गूलादि अवयव स्वरूपतः ही गोत्वादि

जातियों के अभिव्यञ्जक हैं (अभिव्यक्ति के अर्थात् ज्ञान के कारण हैं), सास्नालाङ्गू-लादि का ज्ञान गोत्वादि जातियों की अभिव्यक्ति के कारण नहीं है ॥ ७ ॥

यद्येवमगृहीतेषु तेषु किं सा न जायते ।
तद्देशव्यतिरेकेण ग्राह्यं येन न विद्यते ॥ ८ ॥

यद्येवम्''सा न जायते

(पू० प०) यदि सास्नादि अवयवों का ज्ञान गोत्वादि जातियों की अभि-व्यक्ति के कारण नहीं हैं, केवल सास्नादि अवयव स्वयं ही गोत्वादि जातियों के अभिव्यञ्जक हैं, तो फिर दूरत्व के कारण जिस गो व्यक्ति के अवयव ज्ञात नहीं होते, उस गो व्यक्ति में गोत्व जाति की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है ? अर्थात् उस गो पिण्ड में 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति क्यों नहीं होती है ? फलतः जिस व्यक्ति के अवयव दूरत्वादि के कारण गृहीत नहीं होते, उस गो व्यक्ति में भी गोत्वविषयक बुद्धि की आपत्ति होगी ।

तद्देशव्यतिरेकेण''न विद्यते

इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि जिस देश में गोत्वप्रतीति का विशेष्य गो पिण्ड स्वरूप अवयवी है, उस देश से भिन्न देशों में गो पिण्ड के अवयवादि गृहीत नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

गृह्यमाणे तु गोत्वादौ नान्तरीयकहेतुकः ।
सास्नादेः कस्यचिद् बोधस्तद्देशत्वेन जायते ॥ ९ ॥

गो स्वरूप अवयवी एवं गो के सभी अवयव और अवयव में रहने वाला सामान्य ये सभी समान देश में (एक ही देश में) रहते हैं (भले ही एकदेशवृत्तित्व के नियामक सम्बन्ध भिन्न हों) । इस लिये गोत्व सामान्य का जब ग्रहण होता है, तो उसके समान ही उपलम्भ के योग्य कुछ अवयवों का भी ग्रहण हो जाता है । फलतः गोत्वग्रहण समय कुछ अवयवों का ग्रहण अनिवार्यतः हो जाता है, क्योंकि गोग्रहण के जितने भी कारण (सामग्री) हैं, गोग्रहण की सामग्री उसके अन्तर्गत है । अतः जब भी गोत्व का ग्रहण होगा तो गो के अवयवों के ग्रहण के साथ ही होगा । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अवयवों का ग्रहण अवयविगत जातिग्रहण का कारण है ॥ ९ ॥

तदनत्यन्तभेदाद् वा तद्विशिष्टेति कीर्त्यते ।
बाधः परानुमानस्य न प्रत्यक्षेति बोध्यते ॥ १० ॥

तदनत्यन्त''कीर्त्यते

अथवा 'सास्नादिविशिष्टा आकृतिः' इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा गोत्व जाति के सास्नादि उपलक्षणों में व्यवच्छेदस्वरूप विशेषणात्मक धर्म के कारण 'विशेषण' शब्द का गौण प्रयोग न मानकर सास्नादि को 'विशेषण' शब्द का मुख्यार्थ ही इस अभिप्राय से माना जा सकता है कि सास्नादि और गोत्व जाति अत्यन्त भिन्न नहीं हैं ।

बाधः परानुमानस्य' 'बोध्यते

'न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति, रुचकः स्वस्तिको वर्द्धमानक इति ह प्रत्यक्षं दृश्यते' (शाबरभाष्य पृ० ५० पं० ३) ।

इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा जाति को व्यक्तियों से अभिन्न सिद्ध करने वाले प्रतिपक्षी के अनुमान में प्रत्यक्षबाध का उद्भावन किया गया है । इस विरोधी अनुमान की सूचना 'नन्वाकृतिः साध्या न वा' (शाबरभाष्य पृ० ५० पं० १) इस भाष्य-सन्दर्भ के द्वारा दी गयी है ॥ १० ॥

परेषां साधनं ह्यत्र नाकृतिः पिण्डतः पृथक् ।

तद्धीहानावविज्ञानात् पङ्क्तियूथवनादिवत् ॥ ११ ॥

उक्त विरोधी अनुमान के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वृक्षव्यक्तियों के न रहने पर 'वन' की प्रतीति नहीं होती है, अथवा सैनिकों के न रहने पर सैनिकों के 'यूथ' की प्रतीति नहीं होती है एवं ब्राह्मणों के विना 'ब्राह्मण-पंक्ति' की प्रतीति नहीं होती है । प्रतीतियों की इन अनुपपत्तियों से यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वृक्षों से भिन्न 'वन' नाम की, सैनिक पुरुषों से भिन्न 'यूथ' नाम की, एवं विशेष विन्यास से स्थित ब्राह्मणों से भिन्न 'ब्राह्मणपंक्ति' नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं होती है, उसी प्रकार गोत्व जाति की प्रतीति गो व्यक्तियों के विना नहीं होती है, अतः गोत्व जाति भी गो व्यक्तियों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है (जातिः व्यक्तिभ्यो न भिन्ना व्यक्तिं विना अप्रतीयमानत्वात् पंक्तियूथवना-दिवत्) ॥ ११ ॥

सर्वत्र लोकसिद्धत्वान्न वाच्यं साधनं स्वयम् ।

निषेधतां परेषां तु विरोधं लोकतो वदेत् ॥ १२ ॥

उस प्रसंग में मीमांसकों से पूछा जा सकता है कि वस्तु की सिद्धि के लिये साधक अनुमान आवश्यक है । केवल विरोधी प्रमाणों में दोष दिखलाने मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः प्रकृत में भी जाति को व्यक्ति से भिन्न सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रदर्शन आवश्यक था । ऐसा न करके जाति से व्यक्ति को अपृथक् सिद्ध करने वाले अनुमान में पहले प्रत्यक्षविरोध का उद्भावन उचित नहीं है । इस आक्षेप का समाधान हम (मीमांसकगण यह देते हैं कि—)

हमलोग प्रसिद्ध पदार्थों का व्यवहार करते हैं । अतः लोकप्रसिद्धि से अतिरिक्त किसी प्रमाण के द्वारा वस्तुओं को सिद्ध करने की आवश्यकता हम लोगों को नहीं होती है । अतः असत्तर्कों के द्वारा जो लोकप्रसिद्धि से अर्थों के विपरीत अर्थ की सिद्धि करना चाहते हैं, उन तर्कों का लोकप्रसिद्धि के बल से विरोध करना ही हम लोगों के लिये केवल शेष रहता है ॥ १२ ॥

विसंवादो न दृश्येत यदि प्रत्यक्षताकृतेः ।

प्रमाणेऽपि विसंवादात् तार्किकेषु कुतो न्वियम् ॥१३॥

रूपादावपि तेषां हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मते ।

विवादो नैव लोकस्तु जातो विप्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

विसंवादः……प्रत्यक्षताऽऽकृतेः

(पू० प०) मीमांसकों का उक्त कथन तभी सत्य कहा जा सकता है, यदि आकृति (जाति) की प्रत्यक्षता में कोई 'विसंवाद' अर्थात् 'विरोध' न रहे। किन्तु 'विसंवाद' तो है, क्योंकि जाति लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

प्रमाणेऽपि च……प्रत्यक्षत्वेन संमते……विवादः

(सि० प०) तार्किकों को तो सर्वसाधारण लोगों में प्रसिद्ध अर्थों में भी 'विसंवाद' दीखता है। जैसे कि निरालम्बनवादी बौद्ध गण सभी लोगों को दीखने वाले नीलादि रूपों की सत्ता का भी अपलाप करते हैं। अतः ऐसे विसंवाद अनादरणीय हैं।

नैव लोकवस्तु जातौ विप्रतिपद्यते

शिष्टजनों को जाति के प्रत्यक्ष में कोई विसंवाद या विप्रतिपत्ति नहीं है ॥ १३–१४ ॥

व्यवहारा हि दृश्यन्ते सामान्यार्थनिबन्धनाः ।
दधितक्रादिदानादौ कौण्डिन्यब्राह्मणादिषु ॥ १५ ॥

जाति के स्वतन्त्र अस्तित्व के सम्बन्ध में शिष्टजनों का अविसंवाद 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय' इत्यादि व्यवहारों से समझा जा सकता है[1] ॥ १५ ॥

आकृतिर्जातिरेवात्र संस्थानं न प्रकल्प्यते ।
न हि वाय्वग्निशब्दादौ किञ्चित् संस्थानमिष्यते ॥१६॥

कुछ लोग कथित स्थल में विशेष से सामान्य के बाध से 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्' इत्यादि वाक्यघटक ब्राह्मण पद का जो ब्राह्मणत्वजाति का वाचक मानते हैं, एवं 'संस्थान' को ही आकृति कहते हैं उन लोगों का कहना है कि जिस प्रकार एक ही जाति के सुवर्ण से रुचक, स्वस्तिक, वर्द्धमानक आदि अनेक आभूषण बनते हैं, किन्तु सुवर्णत्वव्याप्य रुचकत्वादि जातियों की कल्पना नहीं की जाती है। रुचकत्वादि

---

१. 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्' इस सामान्य वाक्य से ब्राह्मणत्व जाति के सभी व्यक्तियों को दधिदान का संप्रदानत्व प्राप्त है, तदनुसार 'कौण्डिन्य' नाम के ब्राह्मण में भी दधिदान की सम्प्रदानता प्राप्त है। किन्तु 'तक्रं कौण्डिन्याय' इस विशेषवाक्य के द्वारा कौण्डिन्य में सामान्यवचन के द्वारा प्राप्त दधिदान का बाध होता है।

यदि जाति को (आकृति को) एक स्वतन्त्र 'वस्तु' न मानें तो उक्त सामान्यवचन से जिन ब्राह्मण व्यक्तियों को दधिदान की संप्रादनता प्राप्त है, उनमें कौण्डिन्य की गणना न करने से ही उसमें दधिदान अप्राप्त हो जायगा। प्राप्ति के रहने पर ही बाध होता है। जब दधिदान प्राप्त ही नहीं है तो फिर 'तक्रं कौण्डिन्याय' इस वचन से बाध किसका होगा? अतः शिष्टजन जाति को व्यक्तियों से भिन्न एक स्वतन्त्र वस्तु ही मानते हैं।

की सत्ता सुवर्ण से बने विशेष संस्थान (अवयवविन्यास) में ही स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार सभी जातियों को संस्थानगत ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यह द्वितीय मत ठीक नहीं है, क्योंकि, जाति ही आकृति है, वह संस्थानगत नहीं है। संस्थान में न रहनेवाला एवं सभी व्यक्तियों में रहनेवाला स्वतन्त्र भाव पदार्थ स्वरूप सामान्य ही शब्द का वाच्य हैं, क्योंकि 'वायु' 'अग्नि' प्रभृति शब्दों से किसी विशेष संस्थान की प्रतीति नहीं होती है, अनेक प्रकार के संस्थानों में उन शब्दों का प्रयोग होता है ॥ १६ ॥

अन्यदन्यच्च संस्थानं प्रतिपिण्डं प्रतीयते ।
संयोगात्मकतायां तु विभागेषु विनश्यति ॥ १७ ॥
अथ संस्थानसामान्यमश्वादावपि तत्समम् ।
न गोत्वेन विना ह्येतद् व्यवच्छिन्नं प्रतीयते ॥ १८ ॥

अन्यदन्यच्च""प्रतीयते

शाबलेय गो एवं बाहुलेय गो इन दोनों के संस्थान भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु 'अयं गौः, अयमपि गौः' इस प्रकार की प्रतीति दोनों में ही होती है। यदि गो शब्द का वाच्य संस्थान हो तो दोनों में एक आकार की प्रतीति नहीं होगी। अतः शब्द का वाच्य 'सामान्य' नाम का स्वतन्त्र पदार्थ ही है। वह संस्थान स्वरूप नहीं है।

संयोगात्मकतायाम्""विनश्यति

यदि संस्थान को अवयवों का विशेष संयोग रूप मानें तो विभाग से उसका विनाश मानना होगा। फिर एक संस्थान के विनष्ट होने पर आगे गो प्रभृति शब्दों का प्रयोग ही अनुपपन्न हो जायगा।

अथ संस्थानसामान्यम्

(पू० प०) संस्थान उक्त संयोग स्वरूप नहीं है, किन्तु गोत्व के ही समान एक तदन्य स्वतन्त्र सामान्य रूप ही है। अतः गोत्वादि के समान ही नित्य है। अतः एक संयोग के विनष्ट होने पर आगे जो गो प्रभृति शब्दों के प्रयोग की अनुपपत्ति दिखलायी गयी है, वह ठीक नहीं है।

अश्वादावपि तत्समम्

(सि० प०) यदि संस्थान को सामान्य स्वरूप मानें तो वह सभी अवयवियों में समान रूप से रहेगा। फलतः गोशब्दवाच्य संस्थान की सत्ता अश्व में भी माननी होगी जिससे अश्व में गो शब्द के प्रयोग की आपत्ति होगी।

न गोत्वेन""प्रतीयते

गोत्व सामान्य के बिना गो शब्द के द्वारा अश्वादि संस्थानों से विलक्षण संस्थान की प्रतीति नहीं होती है। अतः विलक्षण संस्थान की प्रतीति के लिये भी स्वतन्त्र गोत्व सामान्य को स्वीकार करना आवश्यक है ॥ १७–१८ ॥

सर्वप्रतिकृतीनां च संस्थाने सत्यपीदृशे ।
न गोत्वादिमतिर्दृष्टा तस्माज्जातिः पृथक् ततः ॥ १९ ॥

सर्वप्रति ''मतिर्दृष्टा

मनुष्य गो प्रभृति के संस्थान तो चित्रों में भी अङ्कित रहते हैं, किन्तु उनमें मनुष्य गो प्रभृति शब्दों का मुख्य व्यवहार नहीं होता है। यदि संस्थान को शब्द का वाच्य मानेंगे तो चित्रगत मनुष्यादि में भी मनुष्यादि शब्दों का मुख्य व्यवहार मानना होगा।

तस्मात्'''पृथक् ततः

अतः संस्थान से अलग जाति एक स्वतन्त्र वस्तु ही है। उसी को आकृति भी कहते हैं ॥ १९ ॥

रुचकादिषु सामान्यं रुचकत्वाद्युदाहृतम् ।
भिन्नेषु चैषु सामान्यं सुवर्णत्वं प्रतीयते ॥ २० ॥

रुचकादिषु'''उदाहृतम्

रुचकादि उदाहरणों का भी उल्लेख इसी अभिप्राय से किया गया है कि भिन्न सुवर्ण से निर्मित रुचकादि सभी आभूषणों में संस्थान से अतिरिक्त एक सामान्य की सत्ता सिद्ध हो।

भिन्नेषु ''सुवर्णत्वं प्रतीयते

अथवा रुचकादि उदाहरणों का उल्लेख यह समझाने के लिये भी किया जा सकता है कि सुवर्णनिर्मित रुचकादि सभी आभूषणों में उनके विभिन्न संस्थानों से भिन्न सुवर्णत्व नाम के एक स्वतन्त्र सामान्य की सत्ता ज्ञात हो। इससे सुवर्णरुचकादि विभिन्न संस्थानों में जो एक सुवर्णत्व जाति है उसकी संस्थानस्वरूपता खण्डित हो जाती है ॥ २० ॥

वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ २१ ॥

स्वर्णनिर्मित रुचक, वर्द्धमानक प्रभृति सभी सुवर्णाभूषणों में एक ही सुवर्णत्व जाति है यह इन शोक, हर्ष एवं माध्यस्थ्यादि से भी सिद्ध होता है, क्योंकि वर्द्धमानक नाम के आभूषण को तोड़कर उसी सुवर्ण से जब रुचक नाम के आभूषण का निर्माण होता है तो जिस पुरुष को पूर्ववर्त्ति वर्द्धमानक प्रिय था उसे वर्द्धमानक के विनाश से शोक उत्पन्न होता है एवं उत्तरकाल में बननेवाले रुचक की जिस पुरुष को अभिलाषा है उसको हर्ष होता है ॥ २१ ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥ २२ ॥

हेमार्थिनस्तु'''त्रयात्मकम्

जिस पुरुष को केवल सुवर्णप्राप्ति की अभिलाषा है उसको न वर्द्धमान के विनाश से शोक ही होता है, न रुचक की उत्पत्ति से हर्ष ही होता है। वह तो किसी

भी स्वरूप में सुवर्ण की प्राप्ति से कृतार्थ है। अतः वह वर्द्धमानक के विनाश एवं रुचक की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में हर्षशोक से मुक्त 'मध्यस्थ' अर्थात् उदासीन रह जाता है। 'तस्मात्' वस्तु (१) उत्पत्ति (२) स्थिति एवं (३) विनाश एतत्त्रितयात्मक है।

नोत्पादस्थिति····स्यान्मतित्रयम्

यदि एक ही वस्तु के उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीन स्वरूप नहीं होते तो उक्त हर्ष शोकादि विभिन्न बुद्धियों की उत्पत्ति एक ही सुवर्ण में नही होती ॥२२॥

न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यम् तेन सामान्यनित्यता ॥ २३ ॥

न नाशेन विना···विना सुखम्···न माध्यस्थ्यम्

क्योंकि अभीष्ट वस्तु के विनाश (जनितवियोग) के विना शोक नहीं होता, एवं अभीष्ट वस्तु की ही उत्पत्ति (जनित प्राप्ति) के विना हर्ष नहीं होता। एवं 'स्थिति' के विना अर्थात् सुवर्णादि अभीष्ट वस्तुओं की जिस किसी प्रकार की 'स्थिति' के विना 'माध्यस्थ्य' नहीं होता।

तेन सामान्यनित्यता

जिस लिये कि संस्थान के उत्पन्न और विनष्ट होने पर (सुवर्णत्व) सामान्य उत्पन्न या ध्वस्त नहीं होता एवं सामान्य की उत्पत्ति एवं विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः सामान्य की नित्यता सुलभता से सिद्ध हो जाती है। संस्थान की अनित्यता का प्रतिपादन किया जा चुका है। अतः सामान्य नित्य होने के कारण अनित्य संस्थान स्वरूप नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

मुद्गमाषतिलादौ च यत्र भेदो न लक्ष्यते ।
तत्रैकबुद्धिनिर्ग्राह्या जातिरिन्द्रियगोचरः ॥ २४ ॥

सामान्य को संस्थान स्वरूप न मानने का दूसरा हेतु यह है कि मूंग, उड़द, तिल प्रभृति अनेक द्रव्य जहाँ एकत्र रहते हैं, वहाँ उनके विभिन्न आकारों (संस्थानों) को दूर से न देखने पर भी दूरस्थ पुरुष मुद्गत्व, माषत्व, तिलत्वादि एक-एक जाति को ही इन्द्रिय से देखते हैं ॥ २४ ॥

आराद् दृष्टे च पुरुषे सन्देहो ब्राह्मणादिषु ।
न स्याद् यदि न गृह्येत सामान्यं चक्षुरादिना ॥ २५ ॥

(संस्थान से भिन्न एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध सामान्य को इस लिये भी मानना होगा कि—) दूर से किसी पुरुष को देखने पर उसमें नरत्व के अवान्तर ब्राह्मणत्वादि साधारण कोई नरत्व नाम का सामान्य इन्द्रिय से नहीं देखा जाता, केवल वस्तुत्वादि साधारण धर्म ही देखे जाते तो उक्त दूरस्थ पुरुष में गवादि का भी सन्देह होता। इस लिये यह मानना होगा कि गो प्रभृति जीवों में न रहने वाला (व्यावृत) एवं ब्राह्मणादि सभी वर्णों के नरों में रहने वाला

एक 'नरत्व' नाम का सामान्य है जिसके प्रत्यक्ष से उक्त स्थल में नरत्वव्याप्य ब्राह्मणत्वादि का ही सन्देह होता है, वस्तुत्वव्याप्य गोत्वादि का नहीं ॥ २५ ॥

तस्योपलक्षणं चापि क्वचित् केनचिदिष्यते ।
रूपादीनां विशेषेण देशकालाद्यपेक्षया[1] ॥ २६ ॥

विभिन्न देश कालादि के अनुसार जाति के 'रूपादि' अनेक प्रकार के उपलक्षण हैं। इन उपलक्षणों की अभिव्यक्ति से ही तत्तज्जाति की अभिव्यक्ति होती है ॥ २६ ॥

सुवर्णं भिद्यते रूपात् ताम्रत्वादेरसंशयम् ।
तैलाद् घृतं विलीनं च गन्धेन च रसेन च ॥ २७ ॥

जैसे कि सुवर्ण अपने रूप के कारण तांवा प्रभृति अन्य धातुओं से भिन्न रूप में निश्चित रूप से ज्ञात होता है। पक्वान्नादि में विलीन घृत का तैलादि से भिन्न रूप में निःसंशयात्मक ज्ञान गन्ध और रस से होता है ॥ २७ ॥

भस्मप्रच्छादितो वह्निः स्पर्शनेनोपलभ्यते ।
अश्वत्वादौ च दूरस्थे निश्चयो जायते स्वनैः ॥ २८ ॥

छाई से ढँकी हुई आग में वह्नित्व जाति को स्पर्श से समझते हैं। दूरस्थ अश्व में अश्वत्व सामान्य की बुद्धि उसकी हिनहिनाहट (शब्द) से होती है ॥ २८ ॥

संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि योनितः ।
क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग् राजानुपालितात् ॥ २९ ॥

किसी देश के राजा को यदि ब्राह्मणों के असाधारण आचारों का निष्ठा और नियमपूर्वक पालन करते हुये देखा जाता है, तो उस राजा में ब्राह्मणत्व का प्रत्यक्ष आचार और देश विशेष के साहाय्य से होता है।

कालसापेक्ष ब्राह्मण्य का प्रत्यक्ष वसन्तकाल में अग्नि का आधान करते हुये पुरुष में होता है, क्योंकि 'वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीनादधीत' इस वचन के अनुसार वसन्त ऋतु स्वरूप काल में अग्नि का आधान केवल ब्राह्मणों के लिये ही विहित है।

इन सभी स्थलों में जाति का चूंकि अपरोक्षावभास होता है, अतः कथित सुवर्णत्वादि जातियों का निश्चय तो इन्द्रियों से ही होता है, कथित रूप रस गन्धादि उसके सहायक मात्र हैं ॥ २९ ॥

प्रत्येकसमवेतत्वं दृष्टत्वान्न विरोत्स्यते ।
तथा सत्यपि नानात्वं नैकबुद्धेर्भविष्यति ॥ ३० ॥

---

१. (पू० प०) यदि घटादि के समान जाति प्रत्यक्षसिद्ध ही है तो फिर उक्त स्थल में जिस प्रकार इन्द्रियसम्बन्ध के बाद ही नरत्व सामान्य का ज्ञान होता है, वैसे ही उस दूरस्थ पुरुष में ब्राह्मणत्वादि का भी ज्ञान तत्क्षण ही बिना किसी वस्तु की अपेक्षा किये क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? इस प्रश्न का उत्तर श्लो० २९ पर्यन्त के ४ श्लोकों से दिया गया है।

नहि सम्बन्धिभेदेन स्वरूपैकत्वबाधनम्।
विभुत्वावयवाभावौ प्रतिपाद्यौ च शब्दवत् ॥ ३१ ॥

प्रत्येकसमवेतत्वम्....विरोत्स्यते

जाति नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु को मान भी लें, तथापि प्रश्न होता है कि यह जाति (१) क्या सभी व्यक्तियों में प्रत्येकशः है ? (२) अथवा सभी व्यक्तियों में व्यासक्त होकर है ? व्यासक्त होकर रहने का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति में परस्पर सापेक्ष होकर रहना (व्यासक्त होकर रहना ही व्यासज्यवृत्तित्व है)।

इनमें प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि एक ही वस्तु स्वतन्त्र रूप से एक ही समय अनेक व्यक्तियों में रहे यह संभव नहीं है।

दूसरा पक्ष इसलिये स्वीकार के योग्य नहीं है कि अतीत, अनागत, वर्त्तमान अनन्त पिण्डों में कोई एक पदार्थ परस्पर सापेक्ष होकर नहीं रह सकता।

व्यासज्यवृत्तित्ववाले पक्ष में एक दोष यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति में जाति की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इन प्रश्नों का यह समाधान है कि—

प्रत्येक व्यक्ति में जाति की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति 'इयं गौः, इयमपि गौः' इत्यादि आकारों की होती है। अतः प्रत्येकशः व्यक्तियों में जाति की सत्ता माननी ही होगी। प्रत्यक्ष सभी परोक्ष विरोधों से प्रबल है। प्रत्यक्ष के अनुसार ही अन्य सभी कल्पनाओं में अविरोध की कल्पना करनी होगी।

तथा सत्यपि...भविष्यति...बाधनम्

प्रत्येकशः अनेक व्यक्तियों में प्रतीत होने पर भी जाति की एकता में कोई आंच नहीं आती है, क्योंकि सम्बन्धि (आधार) के भिन्न होने पर भी आधेय के एकत्व में कोई भी बाधा नहीं आती है।

विभुत्वावयवाभावौ...शब्दवत्

जिस प्रकार शब्द में विभुत्व का प्रतिपादन शब्दाधिकरण में किया गया है एवं शब्द का अनवयत्व (अवयव युक्त न होना) स्फोट प्रकरण में कहा गया है उसी प्रकार उन्हीं युक्तियों से जाति को भी अनवय (अवयवों से रहित) और विभु समझना चाहिये। इन सभी स्थलों में 'विभुत्व' आकाशादि के विभुत्व की तरह 'सर्वदेशसंयोग' स्वरूप नहीं है किन्तु 'देशानवच्छिन्नत्व' स्वरूप है। अतः सम्बन्धि-भेद से जातियाँ भिन्न नहीं हैं ॥ ३१ ॥

यथा च व्यक्तिरेकैव दृश्यमाना पुनः पुनः।
कालभेदेऽप्यभिन्नैव जातिर्भिन्नाश्रया सती ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार व्यक्तियाँ बार बार विभिन्न रूपों में विभिन्न समयों में दीखने पर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हो जाती, उसी प्रकार विभिन्न आश्रयों में रहने पर भी जाति एक ही रहती है ॥ ३२ ॥

कात्स्न्यावयवशो वृत्तिः प्रष्टुं जातौ न युज्यते ।
न हि भेदविनिर्मुक्ते कात्स्न्यंभागविकल्पनम् ॥ ३३ ॥

जाति के प्रसङ्ग में जो पूछा जाता है कि "वह अवयवियों में 'कात्स्र्न्येन' अर्थात् उसके सभी अवयों में व्याप्त होकर रहता है, जैसे कि कण्ठ में हार रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में उसकी अलग अलग विद्यमानता रहती है, जैसे कि माला के धागे में फूल लगा रहता है" यह पूछना ही गलत है, क्योंकि रहने वाले आधेयों के स्वरूप जहाँ भिन्न होते हैं अर्थात् आधेय जातितः एक होने पर भी स्वरूपतः भिन्न होते हैं, अथवा आधेयों के अवयव ही भिन्न होते हैं, वहीं 'कात्स्न्यंवृत्तित्व' अथवा 'एकदेशवृत्तित्व' की चर्चा हो सकती है। प्रकृत में जाति स्वरूप आधेय के तो अवयव ही नहीं हैं, अतः अखण्ड एक ही जाति के प्रसङ्ग में उक्त चर्चा का कोई अवसर नहीं है ॥ ३३ ॥

तस्माद् व्यक्तिषु जातीनां वृत्तिरस्तीति गम्यते ।
विशेषावसराभावात् तन्मात्रेवावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

इसलिये 'व्यक्तियों में जाति की सत्ता है' केवल इतना ही जाना जाता है, उसके 'विशेष' की अर्थात् 'जाति कात्स्र्न्येन विद्यमान है अथवा अवयवशः विद्यमान रहती है' इस 'विशेष' की जिज्ञासा ही उदित नहीं होती। अर्थात् प्रकृत मे व्यक्तियों में जाति की वृत्तिता मात्र प्रमाण से सिद्ध है, इसके आगे वृत्तित्व के प्रसंग में कोई 'विशेष' प्रमाणिक नहीं है। अतः उसकी जिज्ञासा ही नहीं होती ॥ ३४ ॥

या चावयवशो वृत्तिः स्रक्सूत्रादिषु दृश्यते ।
भूतकण्ठगुणावेश्च प्रतिपिण्डं समाश्रितः ॥ ३५ ॥
तत्रावयवयोगित्वमविभुत्वं च कारणम् ।
आकृतेस्तदभावेन न प्रसक्तमदो द्वयम् ॥ ३६ ॥

माला के धागे में फूलों के अवयवशः रहने की, अथवा हार (आभूषण) का कण्ठ के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहने की जो बातें की जाती हैं, उसका हेतु है, फूलों की माला का, अथवा हार का 'अविभु' एवं 'सावयव' होना। जाति तो 'विभु' एवं 'अनवयव' (अखण्ड) है, अतः वह तो अपने आश्रयीभूत एक व्यक्ति में जिस प्रकार 'अविकल' विद्यमान रहती है, उसी प्रकार अपने दूसरे आश्रयों में भी अविकल विद्यमान रहती है। उसे एक आश्रय में रहने के लिए दूसरे आश्रय की अपेक्षा नहीं होती है। आश्रयान्तर निरपेक्ष होकर प्रत्येक आश्रय में रहना ही जाति का विभुत्व है ॥ ३५–३६ ॥

न च द्वैविध्यमेवेति वृत्तेरस्ति नियामकम् ।
त्रिविधापि हि दृष्टत्वात् सम्भवेद् द्विविधा यथा ॥ ३७ ॥

(पू० प०) कोई भी वस्तु 'कात्स्न्र्येन' अथवा 'अवयवशः' इन दो ही रीतियों से कहीं रहती है। फलतः 'वृत्तिता' द्वैविध्य का व्याप्य है, एवं द्वैविध्य वृत्तिता का

व्यापक है। जिस प्रकार व्यापकीभूत वह्नि के अभाव से व्याप्यस्वरूप धूम के अभाव की सिद्धि होती है, उसी प्रकार 'व्यापकाभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि' की रीति से जाति में सभी प्रकार की वृत्तितायें निषिद्ध होकर जाति की सत्ता को उखाड़ फेंकेगी। अर्थात् जाति अब उक्त दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नहीं रहती है, तो वह कहीं रहती ही नहीं। फलतः वह स्वयं नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—

वृत्तिता के इस द्वैविध्य के नियम में कोई प्रमाण नहीं है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जैसे वृत्तिता के वे दो प्रकार स्वीकार्य है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से वृत्तिता का यदि तीसरा प्रकार भी स्वीकार्य होगा ॥ ३७ ॥

इतरत्र न दृष्टं चेत् स्रगादिष्वपि तत्समम्।
नैव ह्यन्योन्यतुल्यत्वं तयोर्नाप्यनया सह ॥ ३८ ॥

इतरत्र न दृष्टं चेत्

(पृ० १०) जाति से भिन्न वृत्तिता का कोई तीसरा प्रकार कहीं देखा नहीं जाता है, अतः जाति की तीसरी प्रकार की वृत्तिता स्वीकार नहीं की जा सकती।

स्रगादिष्वपि''अनया सह

पुष्पमाला अथवा कण्ठाभरण की जो अवयवशः एवं कृत्स्नशः वृत्तिता है, ये दोनों भी तो कहीं अन्यत्र नहीं देखी जातीं, क्योंकि ये दोनों ही वृत्तितायें एक दूसरे के समान नहीं हैं। अथवा ये दोनों ही वृत्तितायें जाति की वृत्तिता के समान नहीं हैं ॥ ३८ ॥

न ह्यन्यस्मिन्नदृष्टत्वाद् वह्नेरौष्ण्यं प्रणश्यति।
न चानुमानगम्येयं वाञ्छेद् येन निदर्शनम् ॥ ३९ ॥

न ह्यन्यस्मिन्''प्रणश्यति

घटादि द्रव्यों में वह्नि के समान उष्णता नहीं देखी जाती है, इसलिये वह्नि में प्रत्यक्ष सिद्ध उष्णता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

न चानुमान''निदर्शनम्

दूसरी युक्ति यह भी है कि जाति की उक्त तीसरी प्रकार की वृत्तिता प्रत्यक्ष प्रमाण से जानी जाती है, अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं। अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान के लिये ही अन्यत्रदर्शनस्वरूप (निदर्शन) की अपेक्षा होती है ॥ ३९ ॥

स्वरूपतश्च दृष्टाया वृत्तेर्न पररूपतः।
निराक्रियोपपद्येत तद्विशेषमपश्यताम् ॥ ४० ॥

वस्तु का जो 'स्वरूप' अर्थात् असाधारण धर्म है, उस धर्म से युक्त जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होगा, उस ज्ञान की 'निराक्रिया' अर्थात् खण्डन दूसरी वस्तु के असाधारण रूप से ज्ञात न होने के कारण नहीं किया जा सकता।

तदनुसार जो अपनी कृत्स्नशः और अवयवशः इन दो प्रकारों से भिन्न तीसरी प्रकार की वृत्तिता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, उसका निराकरण जाति में कृत्स्नशः

वृत्तिता और अवयवशः वृत्तिता इन दोनों के अदर्शन मात्र से नहीं किया जा सकता ॥ ४० ॥

अङ्गाङ्गासम्भवाच्चापि या प्रधाननिराक्रिया।
साऽयुक्तैवानुमानेन प्रत्यक्षज्ञानबाधनात् ॥ ४१ ॥

अङ्गाङ्गासंभवात्……सा युक्तैव

अवान्तर धर्म के अभाव से प्रधान धर्म का निराकरण नहीं किया जा सकता। अतः जाति में जो वृत्तित्वस्वरूप प्रधान धर्म है उसके अंग अर्थात् व्याप्य अवयवशः वृत्तित्व और कृत्स्नशः वृत्तित्वस्वरूप दोनों अङ्गों के अभाव से सभी वृत्तित्वों का निराकरण नहीं किया जा सकता।

प्रत्यक्षज्ञानबाधनात्

सभी अङ्गों के अभाव से जो अङ्गीभूत प्रधान धर्म के अभाव की सिद्धि होती है, वह अनुमिति रूपा सिद्धि है। तदनुसार ही 'वृत्तिता' स्वरूप अङ्गी के 'कृत्स्नशः वृत्तित्व' और 'अवयवशः वृत्तित्व' स्वरूप अङ्ग हैं, उनके अभाव से वृत्तित्व सामान्य के अभाव की सिद्धि अनुमिति रूप ही होगी (जातिः न क्वचिदस्ति कृत्स्नशोवृत्तित्वा-वयवशोवृत्तित्वयोरेकतररूपेणाप्यवृत्तित्वात्)। जाति में वृत्तित्व सामान्य की प्रतीति प्रत्यक्षात्मक है। अनुमान से प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

तस्मादसम्भवो यस्य तन्मात्रस्यैव बाधनम्।
युक्तं न तावतान्योऽपि सम्भवन् बाधमर्हति ॥ ४२ ॥

तस्मात्……युक्तम्……बाधमर्हति

तस्मात् जाति में जिन अवयवशः वृत्तित्व या कृत्स्नशः वृत्तित्व रूप दोनों धर्मों की संभावना नहीं है। उन्हीं दोनों धर्मों का बाध युक्त है। इन असंभावित धर्मों की बाध से संभावित वृत्तित्व सामान्य धर्म के बाध की बात करना उचित नहीं है ॥४२॥

तेन वैशेषिकोक्तापि जातिः सर्वगता सती।
व्यज्यते यत्र पिण्डेन वर्णवत् तत्र गृह्यते ॥ ४३ ॥

(इस प्रकार मीमांसक मत के अनुसार सामान्य का व्यक्ति स्वरूप देश में ही कृत्स्नशः वृत्तित्व एवं अवयवशः वृत्तित्व के अभाव से वृत्तित्व मात्र के निराकरण-स्वरूप आक्षेप का समाधान किया गया है। किन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुयायीगण सामान्य को आश्रयीभूत पिण्डस्वरूप देश मात्र में न मानकर आकाशादिवत् सर्वगत मानते हैं। तत्तदनुयोगिक समवाय के द्वारा तत्तद्व्यक्तियों में तत्तत्सामान्य की अभि-व्यक्ति मानते हैं। उनके मत से भी जाति के ऊपर उक्त वृत्तित्व के निराकरण का आक्षेप समाहित हो सकता है :—)

जिस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा वृत्तित्व के विभिन्न प्रकार कण्ठाभूषण में एवं पुष्पमाला प्रभृति में माना जाता है, उसी प्रकार उक्त वैशेषिकमत से भी किसी विशेष व्यक्ति में तद्व्यक्त्यनुयोगिक समवाय के बल से उक्त कृत्स्नशः एवं अवयवशः

वृत्तित्व की कल्पना से रहित केवल वृत्तित्व मात्र की उपपत्ति की जा सकती है। जैसे कि गकारादि वर्ण सर्वगत होते हुये भी कण्ठताल्वादि अभिव्यञ्जक के बल से तत्तद्देशों में ही उपलब्ध होते हैं ॥ ४३ ॥

तस्मात् पिण्डेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना।
गवाभासैकरूप्याभ्याम् एकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥ ४४ ॥

इन निरूपणों से प्रकृत में सामान्य के साधक दो अनुमान निष्पन्न होते हैं :—

(१) जिस प्रकार एक व्यक्ति में 'अयं गौः' इस आकार का ज्ञान गोत्वमूलक होता है, क्योंकि वह ज्ञान गो का अवभास स्वरूप है, उसी प्रकार अन्य गोपिण्डों में भी जो 'अयमपि गौः' इस आकार के अवभास (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं, वे सभी ज्ञान उक्त गोत्व सामान्यमूलक ही हैं। (शावलेयाद्यनेकगोपिण्डेषु उत्पद्यमाना गोबुद्धिः एकालम्बना गवावभासत्वात् एकस्मिन् गोपिण्डे गोबुद्धिवत्)।

(२) जिस प्रकार एक गोपिण्ड में विशेष्यता सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली 'अयं गौः' इस आकार की बुद्धि गोत्वजन्य है, क्योंकि गोत्वस्वरूप एकधर्मक है, उसी प्रकार बाहुलेयादि सभी अन्य गो व्यक्तियों में उत्पन्न होनेवाली 'अयमपि गौः' इस आकार की गोबुद्धि भी गोत्वविषयक ही है, क्योंकि सभी आकार की गोबुद्धियाँ एक ही आकार की हैं (पिण्डेषु उत्पद्यमाना गोबुद्धिः गोत्वविषयिका एकरूपत्वात् एकस्मिन् पिण्डे गोबुद्धिवत्) ॥ ४४ ॥

न शावलेयाद् गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा।
तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत् ॥ ४५ ॥

कथित उपपादनों से ये दो अनुमान भी सभी व्यक्तियों में रहनेवाली एक जाति के साधन के लिए निष्पन्न होते हैं—

(१) शावलेय गो व्यक्ति में जो 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति होती है, वह शावलेय गोव्यक्तिमूलक नहीं है, क्योंकि शावलेय गो के न रहने पर भी बाहुलेय गो व्यक्ति में 'अयमपि गौः' इस समान आकार की प्रतीति होती है। फलतः उक्त गोत्व जातिमूलक ही है। जैसे कि पटस्वरूप पार्थिव द्रव्य के न रहने पर भी 'घटः पार्थिवः' इस आकार की प्रतीति होती है (शाबलेयो गौः इत्याकारिका बुद्धिः न शाबलेयगोव्यक्तिजन्या शाबलेयगवाभावेऽपि अयमपि गौः इत्याकारकसमाकारकप्रतीति-सत्त्वात् पटाऽसत्वेऽपि घटे पार्थिवत्वप्रत्ययवत्)।

(२) अथवा जिस प्रकार 'घटः पार्थिवः' यह ज्ञान पार्थिवत्व से भिन्न किसी भी व्यक्तिमूलक नहीं है, क्योंकि घट के न रहने पर भी 'पटः पार्थिवः' इत्यादि बुद्धियों में पार्थिवत्व की सत्ता (विषयिता सम्बन्ध से) बनी रहती है उसी प्रकार शाबलेय गो में 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति गोत्वान्यविषयक नहीं है, क्योंकि शाबलेय गो के न रहने पर भी बाहुलेय गो में 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति होती है (शाबलेयो गौः इत्याकारिका प्रतीतिः गोत्वान्यविषयिका न भवति शाबलेय-गवाऽसत्त्वेपि बाहुलेये गवि अयं गौः इत्याकारकप्रतीतेः सत्त्वात् घटाऽसत्त्वेऽपि पटः पार्थिवः इत्याकारकप्रतीतिवत्) ॥ ४५ ॥

प्रत्येकसमवेतार्थविषया वापि गोमतिः ।
प्रत्येकं कृत्स्नबुद्धित्वात् प्रत्येकव्यक्तिबुद्धिवत् ॥ ४६ ॥

अथवा इन निरूपणों से यह अनुमान भी निष्पन्न हो सकता है कि प्रत्येक गो में अयं गौः इस आकार की 'गोमति' चूँकि प्रत्येक व्यक्ति में साकल्यतः विद्यमान गोत्वविषयक बुद्धि के समान ही प्रत्येक में कृत्स्न बुद्धि है अतः उक्त गोमति प्रत्येक गो व्यक्ति में समवाय सन्बन्ध से रहनेवाले गोत्वविषयक ही है (गोमतिः प्रत्येकसमवेतार्थविषया प्रत्येकं कृत्स्नबुद्धित्वात् प्रत्येकव्यक्तिवुद्धिवत्) इस अनुमान के द्वारा जाति में प्रत्येक व्यक्ति के समवाय की सिद्धि जाननी चाहिये ॥ ४६ ॥

प्रत्येकसमवेतापि जातिरेकैकबुद्धितः ।
नञ्युक्तेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मणादिनिवर्तनम् ॥ ४७ ॥

प्रत्येकशः प्रतिव्यक्ति में विद्यमान होते हुये भी सामान्य वस्तुतः एक ही है, क्योंकि सभी व्यक्तियों में जाति की एक ही आकार की प्रतीति होती है (प्रत्येकसमवेतापि जातिः एकैव एकबुद्धित्वात्) क्योंकि नञ् से युक्त अब्राह्मणादि शब्दों से भी सभी ब्राह्मणों की निवृत्ति का बोध होता है । सभी ब्राह्मणों की निवृत्ति का उक्त बोध सभी ब्राह्मणों में प्रत्येकशः रहनेवाली एक ब्राह्मणत्व जाति के बिना उपपन्न नहीं हो सकता ॥ ४७ ॥

न च सादृश्यविषया गोधीस्ताद्रूप्यजन्मतः ।
प्रामाण्ये सति यद्वद्धि प्रत्यभिज्ञैकवस्तुनि ॥ ४८ ॥

'सामान्य सादृश्य स्वरूप नहीं है' इसका उपपादन आकृतिवाद के ६७ श्लोक से श्लोक ७१ पर्यन्त के सन्दर्भ से किया जा चुका है, तन्मूलक अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है :—

'अयं गौः इत्याकारिका गोधीः न सादृश्यविषया प्रामाण्ये सति ताद्रूप्यजन्मतः प्रत्यभिज्ञाभूतैकवस्तुविशेष्यकधीवत्' । अर्थात् 'अयं गौः' इस आकार की बुद्धि अन्यगोसादृश्यविषयक इसलिये नहीं है कि वह प्रमा होने के साथ साथ ताद्रूप्य (सारूप्य) विषयक (सारूप्य सादृश्य नहीं है इसके लिये देखिये आकृतिवाद श्लो० ६६) जैसे कि पूर्वज्ञान गोत्वविषयकज्ञान से उत्पन्न 'स एवायं गौः' यह प्रत्यभिज्ञा स्वरूपज्ञान पूर्वज्ञान में विषयीभूत गोत्वविषयक होने के साथ-साथ प्रमा रूप भी है ॥ ४८ ॥

नैकरूपमतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते ।
नात्र कारणदोषोऽस्ति बाधकप्रत्ययोऽपि वा ॥ ४९ ॥

(इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि उक्त अनुमिति को यदि प्रमा रूप न मानें तो उससे गोत्व में सादृश्यरूपता का खण्डन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुक्ति में रजतत्व का भान होने पर भी वह (शुक्ति) रजत नहीं हो जाता, इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

प्रकृत में 'अयं गौः, अयमपि गौः' गोत्वविषयक इन दोनों बुद्धियों को मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मिथ्यात्व का प्रयोजक न कारण का कोई दोष ही है, न कोई अप्रमात्व (मिथ्यात्व) का साधक विरोधी निश्चय ही विद्यमान है ॥ ४९ ॥

[1]यथा व्यक्त्यतिरेकेण ग्राह्यत्वादन्यताकृतेः ।
वनवन्नास्त्यनैकान्तात् तत्रासम्बद्धता कथम् ॥ ५० ॥

'असत्यर्थान्तरे' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य के द्वारा जो यह आक्षेप किया गया है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्ति से भिन्न रूप में जाति का ग्रहण होता है, अतः जाति व्यक्ति से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है, क्योंकि व्यक्तियों से भिन्न रूप में प्रतीयमान वन, यूथ, पंक्ति प्रभृति समुदाय का बोध होता है, फिर भी वृक्षादि समुदायों से भिन्न वन, यूथ, पंक्ति प्रभृति नामों की स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता को कोई भी स्वीकार नहीं करता, अर्थात् व्यक्तियों से भिन्न स्वतन्त्र सत्व का व्यभिचारी है।

इस आशय के पूर्वपक्ष भाष्य को 'न, असम्बद्धवचनमिदमुपन्यस्तम्' इत्यादि सिद्धान्त भाष्य के द्वारा 'असम्बद्ध कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जाति की स्वतन्त्रता का व्यक्तियों से प्रतीयमानत्व हेतु अनेकान्तिक होने के कारण वास्तव में साधक नहीं है। अतः 'असत्यर्थान्तरे' इत्यादि पूर्वपक्ष भाष्य को असम्बद्ध कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह 'सम्बद्ध' ही है ॥ ५० ॥

साधनं चेन्मयोच्येत युज्येत व्यभिचारिता ।
दूषणत्वधिया त्वेतदसम्बद्धत्वमुच्यते ॥ ५१ ॥

(सि० प०) हमलोगों (मीमांसकों) ने व्यक्तियों से भिन्न रूप में प्रतीयमानत्व जाति की स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञापक हेतु नहीं कहा है। हमलोगों ने जाति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने के विपक्ष में यह 'प्रयत्यविरोध' रूप दोष उपस्थित किया है कि प्रत्यक्ष के लिये 'अव्यभिचार' की अपेक्षा नहीं है ॥ ५१ ॥

नास्तित्वहेतोरुक्तैषा प्रत्यक्षेण विरुद्धता ।
परस्य साधनं ह्यत्र यत् तत् पूर्वमुदाहृतम् ॥ ५२ ॥

'व्यक्तियों से भिन्न जाति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस पक्ष का साधक अर्थात् जाति के नास्तित्व के साधन के लिये जो हेतु पहले प्रयुक्त हुआ है, उसको दुष्ट करार देने के लिये ही उक्त 'प्रत्ययविरोध' रूप दोष दिया गया है ॥ ५२ ॥

प्रत्यक्षाभासता चात्र नैवास्ति वनबुद्धिवत् ।
कस्यचिन्न हि मिथ्यात्वात् सर्वं मिथ्येत्यसङ्गतिः ॥५३॥

अर्थात् व्यक्तियों से भिन्न जाति की सत्ता की सिद्धि व्यक्तियों से भिन्न जाति की जिस प्रत्यक्ष प्रतीति से होती है, वह वन, यूथ, पंक्ति प्रभृति प्रत्यक्षप्रतीति के समान मिथ्या नहीं है, क्योंकि 'वनादिप्रत्यक्ष मिथ्या हैं' इसी लिये सभी प्रतीतियों को मिथ्या नहीं कह सकते ॥ ५३ ॥

---

१. 'असत्यर्थान्तरे एवंजातीयको भवति प्रत्ययः पंक्तिः, यूथम्, वनमिति यथेति चेत् ? न, असम्बद्धवचनमिदमुपन्यस्तम्' (शाबरभाष्य पृ० ५०-५१) इस भाष्यसन्दर्भ का 'यथेति चेत्' पर्यन्त का अंश आक्षेप का बोधक है। एवं 'असम्बद्धमिदं वचनमुपन्यस्तम्' यह सन्दर्भ समाधान का ज्ञापक है।

यथा वनादिबुद्धीनां मिथ्यात्वान्न रसादिधीः ।
मिथ्यैवं जातिबुद्धिः स्याद् विशेषो वाभिधीयताम् ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार वृक्षादि से भिन्न वन यूथादि की प्रत्यक्ष प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार रसादि की प्रत्यक्ष प्रतीति को मिथ्या नहीं कह सकते, अतः उक्त वनादि प्रत्यक्ष के मिथ्या होने से जाति की प्रत्यक्ष प्रतीति को मिथ्या नहीं कह सकते। इसके लिये रसादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की अपेक्षा जाति की प्रत्यक्ष प्रतीति में 'विशेष' अर्थात् अन्तर दिखलाना होगा कि रसादि की प्रत्यक्ष प्रतीति मिथ्या नहीं है और जाति की प्रत्यक्ष प्रतीति मिथ्या है ॥ ५४ ॥

वृक्षेभ्यो व्यतिरेकेण वने यैकमतिर्भवेत् ।
दूरत्वदोषात् तत्र स्यादाकृतौ तु न विद्यते ॥ ५५ ॥

किन्तु वृक्षों से वनबुद्धि की अपेक्षा जाति की जो व्यक्तियों से भिन्न रूप में प्रतीति होती है, इन दोनों में यह अन्तर है कि वृक्षों में भिन्न रूप में जो वन की प्रतीति होती है वह दूरत्व दोष के कारण होती है, क्योंकि समीपस्थ व्यक्ति को उन्हीं वृक्षों में वन की प्रतीति नहीं होती है। किन्तु व्यक्तियों से भिन्न रूप में जो 'आकृति' अर्थात् जाति की प्रतीति होती है, उसके कारणों को दोष का संनिधान प्राप्त नहीं है। इस लिये 'वनम्' इस आकार की प्रतीति के समान आकृति की प्रतीति को मिथ्या नहीं कह सकते ॥ ५५ ॥

सन्निकृष्टस्य वृक्षेषु बुद्धयेकत्वं निवर्तते ।
केनचित् तु प्रकारेण जातिबुद्धिर्न नश्यति ॥ ५६ ॥

क्योंकि जिन दूरस्थ पुरुषों को वृक्षों में 'वन' स्वरूप एक वस्तु की प्रतीति होती है समीप जाने पर उसी पुरुष को वृक्षों के समूह में 'वन' स्वरूप एक बुद्धि छूट जाती है। किन्तु व्यक्तियों से भिन्न जाति (आकृति) की जो प्रतीति होती है, वह किसी भी प्रकार नहीं मिटती ॥ ५६ ॥

यैकत्वधीर्विना शब्दात् सैवं तावन्निराकृता ।
वनशब्दानुरक्ता तु मध्यस्थस्यापि जायते ॥ ५७ ॥
मिथ्यात्वकल्पना त्वस्याः प्रत्यक्षादेरसम्भवात् ।
जातिः सर्वप्रमाणैस्तु तद्रूपैवावगम्यते ॥ ५८ ॥

(पू० प०—वनविषयक प्रत्यक्ष प्रतीति को दूरत्व दोष के कारण मिथ्या कहा जा सकता है, किन्तु वृक्षों के अत्यन्त समीप रहने वाले या वनों के बीच रहने वाले पुरुष को जो 'वन शब्द' के द्वारा विभिन्न वृक्षों में 'यह वन है' इस आकार की प्रतीति होती है, उस प्रतीति को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि उसको मिथ्या मानने का कोई हेतु नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—) दूरस्थ पुरुष को अनेक वृक्षों में जो 'वनम्' इस आकार की बुद्धि इन्द्रिय से होती है, उसी को कथित युक्तियों से 'मिथ्या' सिद्ध किया गया है। वन में रहने वाले समीपस्थ

व्यक्ति को जो 'वन' शब्द के द्वारा विभिन्न वृक्षों में 'वनम्' इस एक आकार की प्रतीति होती है, उसको मिथ्या इसलिये मानते हैं कि उस शाब्दबोध का संवाद प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है। किन्तु 'जाति' शब्द से जो जाति-विषयक प्रतीति होती है, उसका संवाद जातिविषयक प्रत्यक्षात्मक प्रतीति से होती है। अतः जाति का शाब्दबोध भी मिथ्या नहीं है ॥ ५७–५८ ॥

प्रमाणान्तरदृष्टे च पदमर्थे प्रयुज्यते ।
तस्माद् दृष्टे प्रयुक्तस्य मिथ्यात्वं स्याद् वनादिषु ॥५९॥

शब्द प्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने योग्य विषय में ही शब्द प्रमाण स्वरूप पद का प्रयोग होता है। तस्मात् प्रत्यक्षादि से ज्ञात होने वाले वृक्ष स्वरूप अर्थ में ही प्रयुक्त होने वाले शब्द से वनादि अर्थों का ज्ञान अवश्य ही मिथ्या है ॥ ५९ ॥

केचिन्नित्यं वनेकत्वं शब्दगम्यं समाश्रिताः ।
अन्यैः सङ्गत्यभावेऽपि सत्यं तत् स्याद् रसादिवत् ॥ ६० ॥

केचित् समाश्रिताः

कोई कहते हैं कि वन शब्द से विभिन्न वृक्षों में एक आकार की प्रतीति यथार्थ ही है। अर्थात् वृक्षसमुदाय से भिन्न ही 'वन' नाम का समुदायी एक स्वतन्त्र वस्तु है। अतः वनादि सत्य वस्तुओं के दृष्टान्त से आकृति (जाति) को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

अन्यैः सङ्गति' ' 'रसादिवत्

कोई कहते हैं कि वनशब्दजनित ज्ञान के विषयीभूत वन में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए वनशब्दजनित ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जैसे कि रस में चक्षु की अप्रवृत्ति से रसनेन्द्रिय से होनेवाला प्रत्यक्ष मिथ्या नहीं होता ॥ ६० ॥

मिथ्यात्वं यदसङ्गत्या तदज्ञाने प्रसज्यते ।
ज्ञायमानस्य दोषस्तु न तु कश्चिदसङ्गतेः ॥ ६१ ॥

'अन्यैः' इत्यादि से सूचित सिद्धान्त के प्रसंग में आपत्ति हो सकती है कि इन्द्रियादि (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों के समान पद (शब्द प्रमाण) में बिना किसी दूसरे प्रमाण के संवाद के प्रामाण्य सम्भव नहीं हैं, अतः वनशब्दजनित एक वनविषयक ज्ञान को मिथ्या मानना ही होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से उसका संवाद नहीं होता है। इस आपत्ति का समाधान वे लोग इस प्रकार करते हैं—

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होनेवाले अर्थों की प्रतीति के लिये प्रवृत्त शब्द में प्रामाण्य इसलिये माना जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनवगत अर्थ में पद की शक्ति ही गृहीत नहीं हो सकती। किन्तु पूर्व में शक्ति के गृहीत न रहने पर भी शब्द से बोध होता है, अतः शब्द स्वतः प्रमाण है। शब्दों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि

अन्य प्रमाणों के अधीन नहीं है। सुतराम् 'वन' शब्द से जो 'एक वन' की प्रतीति होती है, उस प्रतीति का संवाद प्रत्यक्ष से न होने के कारण उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता ॥ ६१ ॥

प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे पदं नित्यं प्रयुज्यते ।
धर्मोऽयं न च सर्वेषां पदानामभ्युपेयते ॥ ६२ ॥

यह जो सिद्धान्त है कि 'शब्द प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने योग्य विषयों का ही ज्ञापक है' यह सभी शब्द प्रमाण के लिये नहीं है। कुछ शब्द प्रत्यक्षादि से अनवगत अर्थ का भी ज्ञापन कर सकता है ॥ ६२ ॥

अस्त्येव सङ्गतिश्चात्र वृक्षा हि बहवो वनम् ।
ते प्रमाणान्तराज्ज्ञाताः संख्या चैवान्यवस्तुनि ॥६३॥

अस्त्येव संगतिः""प्रमाणान्तराज्ज्ञाताः

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि 'वन' शब्द से शक्तिज्ञान के विना यदि अर्थ की प्रतीति मानें तो 'वन' शब्द के सुनते ही विना संगति के ही इन्द्रियसंनिकर्ष की तरह 'एकवन' की प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है। अतः 'वन' शब्द को स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस आपत्ति के समाधान में कहा जा सकता है कि—

'वृक्षा हि बहवो वनम्' इत्यादि कोशवाक्य ही बहुत से वृक्षों में 'वन' शब्द की शक्ति की सत्ता में प्रमाण है। वृक्षादि तो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात होने योग्य हैं।

संख्या चैवान्यवस्तुनि

बहुत से वृक्षों में 'वनम्' इस शब्द में प्रयुक्त 'सु' प्रत्यय स्वरूप एकवचन से जिस एकत्व संख्या का बोध होता है, वह भी घटादि वस्तुओं में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा पूर्वज्ञात ही है, अतः संख्या में भी शक्तिज्ञान की कोई कठिनाई नहीं है। तस्मात् 'वनम्' इस शब्द से होने वाली बहुत से वृक्षों में 'एकवन' की प्रतीति मिथ्या नहीं है ॥ ६३ ॥

नानेकस्यैकशब्दत्वं चेदेकशेषवदिष्यताम् ।
तत्र संख्याविवृद्धिश्चेदस्तु तन्मात्रवर्जनम् ॥ ६४ ॥

नानेकस्य""चेत्

(पू० प०) एक ही बार उच्चरित एक प्रातिपदिक से अनेक वस्तुओं का अभिधान नहीं हो सकता। अतः एक ही बार उच्चरित 'वन' शब्द से अनेक वृक्षों का अभिधान उचित नहीं है। इसलिये 'वन' शब्द से अनेक वृक्षों का बोध नहीं हो सकता।

एकशेषवदिष्यताम्

(सि० प०) जिस प्रकार अक्षं च, अक्षं च, अक्षं च, अक्षाणि इस एकशेष समास के द्वारा निष्पन्न 'अक्ष' शब्द से एक ही बार उच्चरित होने पर इन्द्रिय, जुए

का पाश विदेवन (भेला औषधि विशेष) प्रभृति अनेक वस्तुओं का बोध होता है, उसी प्रकार एक ही बार उच्चरित वन शब्द के द्वारा अनेक वृक्षों की प्रतीति हो सकती है।

तत्र संख्याविवृद्धिश्चेत्

(पू० प०) अनेकार्थबोधक शब्द जो एकशेष समास के द्वारा निष्पन्न होते हैं, उनसे नियमतः द्विवचन अथवा बहुवचन ही होते हैं, जैसे अनेकार्थक 'अक्ष' शब्द से कथित एकशेष समास से निष्पन्न 'अक्ष' शब्द का अक्षाणि यह बहुवचनान्त प्रयोग ही होता है। तदनुसार उससे बहुत्व संख्या का ही बोध होता है। प्रकृत में भी यदि वन शब्द से अनेक वृक्षों का बोध इष्ट हो तो 'वनानि' यह प्रयोग ही नियमतः होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। 'वनम्, वने' इत्यादि एकवचनान्त या द्विवचनान्त प्रयोग भी होता है।

अस्तु तन्मात्रवर्ज्जनम्

(सि० प०) एकवचन से एकत्व की ही प्रतीति होती है, बहुत से वृक्षों में एकत्व बाधित है। अतः 'वनम्' पद में जो एकवचन है, उसके एकत्व स्वरूप अर्थ का वर्ज्जन करेंगे। अर्थात् 'वनम्' में जो एकवचन है, उसको अविवक्षित मानेंगे, फलतः साधुत्वमात्रार्थक मानेंगे। जैसे कि 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यादि स्थलों में 'ग्रहम्' पद में प्रयुक्त एकवचन को अविवक्षितार्थक मानते हैं, फलतः साधुत्वमात्रार्थक मानते हैं॥ ६४॥

तस्मात् सामान्यदृष्टेन सिद्धैकत्वस्य सङ्गतिः।
तेनान्यानवगम्यापि संख्या स्यात् सूर्ययानवत्॥ ६५॥

तस्मात्''संख्या स्यात्

अथवा अनेकवृक्षों में भी एकत्व है ही, बाधित नहीं है, 'तस्मात्' वनम् इस पद में प्रयुक्त एकवचनत्व स्वरूप 'सामान्यतो दृष्ट' हेतु के द्वारा अनेकवृक्षों में भी एकत्व की सिद्धि (अनुमान प्रमाण से) हो सकती है। (वनशब्दाऽभिधेयेषु वृक्षेषु एकत्वमस्ति एकवचनान्तत्वेन 'वनम्' इत्येतदानुपूर्वीकेण पदेन अभिधीयमानत्वात्) अर्थात् एकार्थवाचक शब्द से एकवचन होता है। 'वन' शब्द का भी 'वनम्' यह एकवचनान्त प्रयोग उपलब्ध होता है। अतः वन शब्द के अभिधेय वृक्षों में भी एकत्व है ही।

सूर्ययानवत्

केवल सामान्यतो दृष्ट हेतु से भी अनुमान होता है, जैसे कि सूर्य में गति का अनुमान देशान्तर की स्थिति से होता है॥ ६५॥

केचिद् बहुत्वसामान्यमाहुर्वृक्षस्थितं वनम्।
तत्र चैकत्वमस्त्येव वनत्वं वापि विद्यते॥ ६६॥

केचिद्बहुत्व···एकत्वमस्त्येव

(किन्तु बहुत सारे वृक्षों में एकत्व चूँकि प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः उनमें एकत्व की अनुमिति प्रत्यक्षबाधित होने के कारण अप्रमा ही होगी । अतः उक्त अनुमान के द्वारा वृक्षों में एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः इस प्रसंग में कोई दूसरा उत्तर देते हैं कि :—)

वृक्षों में रहनेवाला वनत्व सामान्य ही वन शब्द का अर्थ है, उसमें एकत्व बाधित नहीं है । अथवा बहुत से वृक्षों में वृक्षत्व सामान्य ही 'वन शब्द' का अर्थ है । वह वृक्षत्व एक है । अतः उसमें एकत्व का अन्वय बाधित नहीं है । इसलिये 'वनम्' शब्द में एकवचन अनुपपन्न नहीं है ।

वनत्वं वापि विद्यते

अथवा एक प्रदेश में उगे हुये बहुत से वृक्षों में रहने वाली एक वनत्व नाम की जाति ही है, वह जाति एक ही है । अतः 'वनम्' पद में प्रयुक्त 'सु' विभक्ति स्वरूप एकवचन के अर्थ एकत्व का अन्वय बाधित नहीं है ॥ ६६ ॥

विनाप्येकाश्रयत्वेन यथैवावयवी तथा ।
असंयुक्तैरभिव्यक्तिर्दृष्टत्वान्न विरोत्स्यते ॥ ६७ ॥

विनापि···तथा

(इस प्रसङ्ग में पूछा जा सकता है कि सामान्य का यह स्वभाव गोत्वादि में देखा जाता है कि प्रत्येकशः प्रत्येक व्यक्ति में रहे । तदनुसार वनत्व सामान्य भी प्रत्येक वृक्ष में रहेगा । अतः जिस प्रकार प्रत्येक गो व्यक्ति में 'अयं गौः' इस आकार की गोत्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार एक वृक्ष में भी 'इदं वनम्' इस आकार की 'एकविषयक प्रतीति होगी । किन्तु सो युक्त नहीं है । अतः वनत्व नाम की कोई जाति नहीं है । इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जिस प्रकार प्रत्येक अवयव में अवयवी की अलग अलग आश्रयता न रहने पर भी अवयवों के समुदाय में अवयवी की सत्ता का व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रत्येक वृक्ष में वनत्व जाति की सत्ता न रहने पर भी एकदेश स्थित वृक्षों के समुदाय में वनत्व की सत्ता रह सकती है ।

असंयुक्तैः···विरोत्स्यते

(पू० प०—परस्पर संयुक्त अवयवों में ही अवयवी की प्रतीति होती है, किन्तु वनत्व की प्रतीति परस्पर असंयुक्त वृक्षों के समुदाय में होती है । अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अन्तर है । इसलिये अवयवी के दृष्टान्त से वनत्व जाति का प्रत्येक वृक्ष में रहने का समर्थन नहीं किया जा सकता । इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

इसमें कोई विरोध नहीं है, परस्पर असंयुक्त वृक्षों में ही वनत्व की अभिव्यक्ति होती है, इसलिये परस्पर असंयुक्त प्रत्येक वृक्ष में वनत्व सामान्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं । परस्पर असंयुक्त अवयवों में अवयवी की सत्ता का व्यवहार (अभिव्यक्ति)

नहीं होती है। अतः असंयुक्त अवयवों में ही अवयवी की सत्ता एवं तन्मूलक व्यवहार को स्वीकार करते हैं। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ६७ ॥

अन्यत्रापि च तद्बुद्धेः सामान्यं तद् भविष्यति।
यथा च भ्रमणत्वादिर्भङ्गिष्ववयवेष्वपि ॥ ६८ ॥
व्यक्तं नानाश्रयत्वेऽपि गृह्यते वनता तथा।
यद्वैककार्यहेतुत्वादेकगोशब्दवद् वनम् ॥ ६९ ॥

अन्यत्रापि''''वनता तथा

परस्पर असंयुक्त प्रत्येक वृक्ष में रहने पर भी यह वनत्व स्वरूप धर्म 'जाति' इसलिये है कि वृक्षों के एक समूह के समान ही वृक्षों के ही अन्य समूहों में भी 'इदं वनम्, इदमपि वनम्' इन आकारों के वनत्वप्रत्यक्ष होते हैं।

यथा च''''अवयवेष्वपि

जैसे कि प्रतिक्षण विनाशशील फलतः एक ही समय (युगपत्) अनुत्पत्तिशील क्रियाओं के समूह के घटक प्रत्येक क्रिया में 'भ्रमणत्व' की अभिव्यक्ति होती है। जब प्रतिक्षण विनाशशील क्रियाओं में भ्रमणत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है, तो फिर 'अभङ्गि' अर्थात् स्थिर परम्परा संयुक्त नाना वृक्षों में से प्रत्येक वृक्ष में वनत्व जाति की भी अभिव्यक्ति क्यों नहीं हो सकती ?

यद्वैककार्यहेतुत्वात्

(जो सम्प्रदाय यह कहते हैं कि 'इदं वनम्' यह व्यवहार चूँकि एक स्थान में विद्यमान बहुत से वृक्षों में ही होता है, अतः यह प्रतीति वृक्षों के बहुत्व स्वरूप 'उपाधि' मूलक है, स्वाभाविक नहीं है। इसलिये इस प्रतीति से 'वनत्व' नाम की जाति की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः 'वनत्व' जाति प्रामाणिक नहीं है। उन लोगों को वनत्व जाति की सत्ता इस युक्ति से भी समझायी जा सकती है कि—)

जिस प्रकार गोविषयक बोध स्वरूप (अर्थ प्रतिपत्ति स्वरूप) एक विशेष कार्य का सम्पादक होने के नाते गकारादि वर्णसमूह के वाचक 'गोपद' के द्वारा गो स्वरूप अर्थ अभिहित होते हैं, एवं वर्णों के प्रत्येकशः अनेक होने पर भी एक संघात(समूह)भावापन्न होने के कारण 'पद' इस प्रातिपदिक का एकवचनान्त 'पदम्' प्रयोग ही होता है उसी प्रकार बहुत सारे वृक्ष भी मिलकर 'इमे वृक्षाः' इस आकार के नानावृक्षविषयक 'एकज्ञान' स्वरूप कार्य के उत्पादक होने के नाते समूहवाचक एवं एकवचनान्त 'वनम्' पद के द्वारा अभिहित हो सकते हैं। एवं कथित कार्योत्पादकत्व के समान ही वृक्षों की एकदेशस्थिति भी उन्हें एकवचनान्त 'वनम्' शब्द के द्वारा अभिहित करा सकती है।

इससे यह निष्पन्न होता है कि अनेक वृक्षों में से प्रत्येक वृक्ष अर्थात् 'समुदायी' जब एक बुद्धि में भासित होता है तो उन समुदायियों में कृत्स्नशः (साकल्येन) विद्यमान रहने वाला (व्यासज्यवृत्ति) 'समुदाय' नाम का एक धर्म (गुणविशेष) उत्पन्न होता है ॥ ६९ ॥

नित्यं ये व्यस्तविज्ञाता वृक्षा नेष्टा हि ते वनम् ।
यद्वा लक्षणयैकत्वं देशकालक्रियादिभिः ॥ ७० ॥
द्रव्यैकत्वाद् विनापीष्टं पङ्क्तियूथवनादिषु ।
वृक्षाणां समुदाये च वनधीर्जायते यथा ॥ ७१ ॥
नैवं गोसमुदायेऽपि गोत्वधीरुपजायते ।
यादृशी वृक्षधीस्तत्र गोत्वधीरपि तादृशी ॥ ७२ ॥
वनवत्त्वापृथक्सिद्धेः समुदायत्वकल्पना ।
न च सास्नादिसङ्घातस्तद्बुद्ध्यालम्बनं भवेत् ॥ ७३ ॥
क्षीणेषु पिण्डबुद्ध्यैषु तत्सामान्ये हि गोत्वधीः ।
तेनावयवप्रभावेऽपि सामान्यं व्यतिरिच्यते ॥ ७४ ॥

नित्यं ये ''ते वनम्

यह ठीक भी है, क्योंकि 'व्यस्त विज्ञान' अर्थात् विभिन्न विज्ञानों के हेतुभूत (एवं एकप्रदेश में न रहने वाले, विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले, विभिन्न समयों में उत्पन्न होनेवाले) वृक्षों में 'वन' शब्द का व्यवहार नहीं होता है।

यद्वा ''क्रियादिभिः '' द्रव्यैकत्वात्''''वनादिषु

(जिस प्रकार 'वन' शब्द को समुदायवाचक मानकर कथित रूप से समाधान किया जा सकता है, उसी प्रकार प्रत्येक वृक्ष स्वरूप समुदायी का 'वन' शब्द को वाचक मानने पर भी इस प्रकार समाधान किया जा सकता है कि—)

वृक्षों का समुदाय स्वरूप अथवा वक्षों की पंक्ति, या सैनिकों का यूथ, ये सभी अवयवी स्वरूप एक स्वतन्त्र द्रव्य न भी हों, तथापि जिन एककार्योत्पादकत्व, एकदेश-स्थिति, अथवा एककालस्थितियों को 'समुदाय' की उत्पत्ति का कारण कहा गया है, उन्हीं एककार्योत्पादकत्वविशिष्ट वृक्षों में, अथवा एककालस्थितिविशिष्ट वृक्षों में कि वा एकदेशस्थितिविशिष्ट वृक्षों में 'वन' पद लाक्षणिक हो सकता है। इन लक्ष्यार्थों के लक्ष्यतावच्छेदक जो एककार्योत्पादकत्व, अथवा एककालस्थिति कि वा एकदेश-स्थिति प्रभृति धर्म है, इनमें से किसी में भी एकत्व बाधित नहीं है, अतः 'वनम्' यह एकवचनान्त प्रयोग हो सकता है कि वा 'पंक्ति, यूथम्' इत्यादि एकवचनान्त प्रयोग हो सकते हैं।

वृक्षाणां समुदाये ''यथा नैवम्''''उपजायते

वृक्षों के समुदाय में ही जिस प्रकार वनत्व की बुद्धि होती है, उसी प्रकार गोसमुदाय में ही गोत्व की बुद्धि नहीं होती है। अतः वनत्व को बुद्धि जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार गोत्व की बुद्धि गोसमुदाय में ही नहीं होती है।

यादृशी वृक्षधीः''''तादृशी''''समुदायत्वकल्पना

किन्तु जिस प्रकार वृक्षों में वृक्षत्व की बुद्धि होती है, उसी प्रकार गो व्यक्तियों में गोत्व की बुद्धि होती है। अर्थात् जिस प्रकार 'वन'बुद्धि चूंकि परस्पर सम्बद्ध

वृक्षों में ही होती है अतः 'वन' की बुद्धि को समुदायविषयक कहा जाता है। गोत्व की बुद्धि में यह बात नहीं है, क्योंकि गोत्व की बुद्धि परस्परासम्बद्ध प्रत्येक गो व्यक्ति में होती है।

न च सास्नादि''''आलम्बनं भवेत्''''गोत्वधीः

(यदि यह कहें कि सास्नादि अवयवों का समुदाय ही गोबुद्धि का आलम्बन है। अर्थात् 'अयं गौः' इस आकार की बुद्धि सास्नादिसमुदायविषयक है, गोत्व-सामान्यविषयक नहीं। फलतः गोत्व नाम की कोई जाति ही नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सास्नादि अवयव संघबद्ध होकर (समुदायभावापन्न होकर) गो में 'पिण्डबुद्धि' अर्थात् एक अवयविविषयक बुद्धि ही उत्पन्न करते हैं, 'अयं गौः' इस बुद्धि को नहीं। "अयं गौः' यह बुद्धि अनेक गो पिण्डों में अनुगत (समानरूप से रहने वाले) गोत्व नामक जाति को ही अपना विषय बनाती है।

सास्नादि अवयवों की पृथक् सत्वबुद्धि जब अवयवी स्वरूप पिण्ड की बुद्धि से क्षीण हो जाती है, तब जाकर गो पिण्ड सामान्य में गोत्व की बुद्धि होती है। अर्थात् संघबद्ध सास्नादि अवयवों से उत्पन्न पिण्डज्ञान के विषयीभूत पिण्डों में गोत्व की बुद्धि होती है। अतः गोत्वबुद्धि को सास्नादि अवयवों के समुदायविषयक नहीं मानी जा सकती।

तेनाऽवयव्यभावेऽपि''''व्यतिरिच्यते

इस लिये गोत्वबुद्धि को यदि समुदायविषयक मानना है तो पहले सास्नादि अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता की ही अपह्नुति (अपलाप) करिये। अवयवी की सत्ता को मिटा देने पर भी अर्थात् अवयवों के समुदाय को ही अवयवी मान लेने पर भी अनेक अवयवों के अनेक समुदाय रूप गो व्यक्ति में अनुगत गोत्व सामान्य तो 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि बुद्धियों के कारण निरबाध रहेगा। इस प्रकार अवयवी की पृथक् सत्ता के न मानने पर भी अवयव समुदायों में ही रहने वाले गोत्वादि सामान्यों की सत्ता बनी रहेगी। अतः सामान्य (आकृति) नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु अवश्य है॥ ७०–७४॥

पूर्वोक्तादेव तु न्यायात् सिध्येदत्रावयव्यपि।
तस्याप्यत्यन्तभिन्नत्वं न स्यादवयवैः सह॥ ७५॥

पूर्वोक्तादेव''''अवयव्यपि

वास्तव में तो अवयवी की अपह्नुति की ही नहीं जा सकती, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि घटादि विभिन्न वस्तु में 'अयं गौः' इस एक आकार की बुद्धि से जिस प्रकार व्यक्तियों से भिन्न सामान्य की सिद्धि होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न अवयवों में 'घटोऽयम्' इस एक आकार की बुद्धि से अवयवों से पृथक् अवयवी की सिद्धि अनिवार्य है।

तथाप्यत्यन्तभिन्नत्वम्'''सह

इस प्रकार से सिद्ध अवयवी को अवयवों से गो से महिष के समान अत्यन्त भिन्न भी नहीं माना जा सकता ॥ ७५ ॥

व्यक्तिभ्यो जातिवच्चैव न निष्कृष्टः प्रतीयते ।
केश्चिदव्यतिरिक्तत्वं केश्चिच्च व्यतिरिक्तता ॥ ७६ ॥

व्यक्तिभ्यः'''प्रतीयते

क्योंकि जिस प्रकार व्यक्तियों से भिन्न रूप में जाति की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अवयवों से भिन्न अवयवी की प्रतीति नहीं होती[1] ।

केश्चिदव्यतिरिक्तत्वम्'''व्यतिरिक्तता

कुछ लोग (सांख्याचार्यगण) अवयवों से अवयवी को अत्यन्त अभिन्न मानते हैं ।

दूसरे कुछ लोग (वैशेषिकादि) अवयवी को अवयवों से गो से महिष के समान अत्यन्त भिन्न मानते हैं ॥ ७६ ॥

दूषिता साधिता वापि न च तत्र बलाबलम् ।
कदाचिन्निश्चितं कैश्चित् तस्मान्मध्यस्थता वरम् ॥ ७७ ॥
ततोऽन्यानन्यते तस्य स्तो न स्तश्चेति कीर्त्यते ।
तस्माच्चित्रवदेवास्य मृषा स्यादेकरूपता ॥ ७८ ॥
वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धाऽप्रमाणता ।
ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥ ७९ ॥
इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।
निष्कृष्यावयवान् बुद्ध्या यावयव्यप्रतीतता ॥ ८० ॥
बुद्धिस्थत्वाद् विनाशस्य सौलूक्यस्यापि युज्यते ।
वृत्तिश्चावयवेष्वस्य व्यासज्यैव प्रतीयते ॥ ८१ ॥

दूषिता'''बलाबलम्'''वरम्'''एकरूपता

दोनों पक्षों की युक्तियाँ समान बलशालिनी हैं । अतः कोई भी युक्ति किसी से पराभूत होनेवाली नहीं है । अतः अवयवी को अवयव से भिन्न भी कहा जा सकता है,

---

१. कहने का तात्पर्य है कि अनेक तन्तु स्वरूप अवयव ही परस्पर विशेष प्रकार के संयोग से युक्त होकर 'एक द्रव्यत्व' को प्राप्त करने के बाद 'पटोऽयम्' इस प्रतीति के द्वारा गृहीत होते हैं । अतः अवयवों से अवयवी में अवस्था का ही भेद है । परस्पर संयोग विशेषभावापन्न तन्तु ही पट कहलाते हैं । एवं उक्त प्रकार के विशेष संयोग से रहित विश्लिष्ट 'तन्तु' ही 'तन्तु' कहलाते हैं ।

अभिन्न भी। इस प्रकार ये 'एकान्तवादी' लोग ही 'अनेकान्त' बाद को जन्म देते हैं। अतः इस प्रसङ्ग में 'मध्यस्थ' रहना ही ठीक है।

अर्थात् अवयवी की अवयवों से भिन्नता और अभिन्नता दोनों में से किसी की सत्ता या असत्ता को अलग कर नहीं दिखलाया का सकता। इसलिये जिस प्रकार अनेक वर्णों वाले चित्रपट में अनेक रूपों की सत्ता रहते हुये भी पट को किसी एक वर्ण का नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार यह कहा जाता है कि अवयवी अवयवों से न अत्यन्त भिन्न ही हैं, न अत्यन्त अभिन्न ही है।

वस्त्वनेकत्ववादाच्च···प्रमाणता····सुनिश्चतम्

(यदि कथित युक्ति से अवयवी में अवयवों का भेद और अभेद दोनों में से किसी का अवधारण न हो तो जिस प्रकार स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों में से किसी एक का अवधारण न रहने से 'स्थाणुर्वा पुरुषः ?' यह सन्देह ही होता है, 'स्थाणुरेवायम्' अथवा 'पुरुष एवायम्' इनमें से कोई भी अवधारण न होने से पुरोवस्थित वस्तु में न स्थाणुत्व की सिद्धि होती है न पुरुषत्व की उसी प्रकार अवयवी में अवयवभिन्नत्व अथवा अवयवाभिन्नत्व इन दोनों में से किसी की भी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से एक को बाधित किये विना दूसरे को सिद्धि नहीं हो सकती। फलतः अवयवी न अवयवों से भिन्न ही कहलायगा न अभिन्न ही। किन्तु दोनों में से कोई एक ही धर्म प्रमाणित होगा। अतः अवयवी अवयवों से भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं हो सकता। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

अवयवी में अवयवों से भिन्नाभिन्नत्व स्वरूप जो 'अनेकान्तवाद' है, वह 'वस्तु' विषयक है, अर्थात् अवयवी अवयवात्मक भी है एवं अवयवानात्मक भी। इस प्रकार अवयवी स्वरूप 'वस्तुनिष्ठ' है, ज्ञाननिष्ठ नहीं। जहाँ अवस्तु स्वरूप (अर्थात् विषय से भिन्न विषयी रूप) अनेक ज्ञान ही 'अयं स्थाणुः पुरुषो वा' इस रूप में अवभासित होते हैं अर्थात् जहाँ 'स्थाणुः' इस आकार का ज्ञान प्रामाणिक है अथवा 'पुरुषः' इस आकार का ज्ञान प्रामाणिक है—इस प्रामाण्यसंशय से 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषः ? यह विषयसंशय उत्पन्न होता है वहाँ इस संशय के कारण कोई भी कोटि प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती। प्रकृत में 'अवयवी तो स्वात्मक तथा अवयवात्मक दोनो प्रकार का है' इस आकार का वस्तुविषयक निर्णय ही होता है। अतः अवयवी की उभयात्मकता में अप्रामाणिकत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

निष्कृष्याऽवयवान्····औलूक्यस्यापि युज्यते

अवयवी को अवयवों से एकान्त अभिन्न मानने वाले सांख्याचार्यगण अवयवी को अवयवों से अत्यन्त भिन्न मानने वाले 'औलूक्य' दर्शनानुगामी 'वैशेषिकाचार्यों' के ऊपर यह आक्षेप करते हैं कि जिस समय तन्तु प्रभृति अवयवों को पट से पृथक् रूप से देखा जाता है, उस समय पटादि अवयवी नाम की किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। अतः अवयवी में अवयवों का भेद नहीं है।

किन्तु अभेदवादियों का यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवी में अवयवों के भेद को मानने वाले औलूक्यों के पक्ष में भी बुद्धि के द्वारा अवयवों को अलग रूप

में देखने की स्थिति में अवयवी की अप्रतीति समान रूप से उपपन्न होती है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा अवयवी में से अवयवों के निकल जाने पर (अलग अलग रूप में देखने के समय) अवयवी का विनाश भी बुद्धिस्थ हो जाता है। अतः 'असत्' होने के कारण अवयवी की प्रतीति उस समय नहीं होती है।

वृत्तिश्च ''प्रतीयते

अवयवों में अवयवी की वृत्तिता व्यासज्यवर्त्तिनी है। परस्पर सापेक्ष अनेक वस्तुओं में वृत्तिता ही व्यासज्यवृत्तिता है। अतः किसी एक ही अवयव में अवयवी की प्रतीति नहीं होती है॥ ७८–८१ ॥

ततः कार्त्स्न्यादिसम्प्रश्नः प्रत्याख्येयोऽत्र जातिवत्।
सास्नादिगुणहेतुश्चेन्नान्यस्मिन् गोत्वधीर्भवेत्॥ ८२ ॥

जिन अवयवों में अवयवी की प्रतीति होती है, उन अवयवों में से (परमाणुओं को छोड़कर) प्रत्येक अवयव भी तो सावयव हैं अर्थात् अवयवी हैं। इस लिये प्रश्न होता है कि घटादि अवयवी कपालादि अवयवी स्वरूप अपने अवयवों में अवयवशः विद्यमान रहते हैं? अथवा अवयविस्वरूप कपालादि अपने अवयवों में ही 'कृत्स्नशः' विद्यमान रहते हैं? अवयवी के प्रसङ्ग में कार्त्स्न्य एवं अवयवशः विद्यमानता के प्रश्न के समाधानार्थ जाति के प्रसंग में इस प्रश्न का जो समाधान किया गया है—उसका अनुसन्धान करना चाहिये (देखिये वनवाद 'न हि भेदविनिर्मुक्ते कार्त्स्न्यभागविकल्पनम्' इत्यादि श्लोक ३३) अर्थात् अवयवी को अपने अवयवों में रहने के लिये अवयवायनों की अपेक्षा नहीं है।

सास्नादिगुणहेतुश्चेत्

(पू० प०) सभी गो व्यक्तियो में चूँकि सास्नादि अवयव स्वरूप 'गुण' (अर्थात् अवयव स्वरूप धर्म) समान रूप से हैं अतः सभी गो व्यक्तियों में 'अयं गौः' इस एक आकार की प्रतीति होती है। फलतः सास्नादि अवयव ही 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि आकारों के अनुवृत्ति प्रत्ययों के कारण हैं। इसके लिये अलग से 'गोत्व' जाति की कल्पना आवश्यक नहीं है। अतः जाति नाम की कोई वस्तु नहीं है।

न, अन्यस्मिन् गोत्वधीर्भवेत्

(सि० प०) यदि सास्नादि अवयव रूप धर्मों को ही (गुणों को ही) 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि अनुवृत्ति प्रत्ययों का कारण मानें तो जिस प्रकार एक व्यक्ति में 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति में 'अयमपि गौः' इस आकार की प्रतीति नहीं होगी॥ ८२ ॥

भिन्न एव हि सास्नादिः पिण्डात् पिण्डान्तरे यतः।
न चावयवसामान्यं परेषामुपपद्यते॥ ८३ ॥

भिन्न एव हि''यतः

क्योंकि सभी गोपिण्डों (अवयवी) के सास्नादि अवयव स्वरूप धर्म (गुण) भिन्न भिन्न हैं।

नचाऽवयवसामान्यम्'''उपपद्यते

(पू० प०) सास्नादि समान अवयवों के समुदाय को ही सभी गो व्यक्तियों में 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि आकारों के अनुवृत्ति प्रत्ययों का (एकाकारक) प्रतीतियों का) कारण मानेंगे। सभी गोव्यक्तियों के सास्नादि गुण (धर्म) समान हैं। अतः सभी गोव्यक्तियों में प्रत्येकशः 'अयं गौः' इस आकार का अनुवृत्ति प्रत्यय होता है। इसके लिये जाति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

जिस प्रकार जिन व्यक्तियों से सभी गो व्यक्तियों में गोत्व सामान्य स्वरूप 'समानता' नाम की कोई वस्तु जातिविरोधियों के मत में नहीं है उसी प्रकार सास्नादिसमानता नाम की भी कोई वस्तु उनके मत में नहीं है। अतः सास्नादि की समानता से 'अयं गौः' इत्यादि प्रकार के अनुवृत्ति प्रत्ययों की उपपत्ति नहीं की जा सकती ॥ ८३ ॥

तस्मात् सास्नादितोऽन्येन गोत्वधीरुपजन्यते।
वनान्तरेषु या बुद्धिर्वनमित्युपजायते ॥ ८४ ॥
तस्यास्त्वेव वृक्षत्वं ग्राह्यं बह्वाश्रयं विदुः।
एकत्वेऽप्याकृतेर्यद्वद् बहुत्वं व्यक्त्यपेक्षया ॥ ८५ ॥
बहुत्वे हि तथा व्यक्तेरेकत्वं जात्यपेक्षया।
एकानेकाभिधाने च शब्दा नियतशक्तयः ॥ ८६ ॥

तस्मात्'''उपजन्यते

अतः सास्नादि अवयवों से भिन्न किसी गोत्व नाम की जाति से ही 'गोत्वधी' अर्थात् 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि प्रकार के अनुवृत्ति प्रत्यय होते हैं।

वनान्तरेषु'''बह्वाश्रयं विदुः

(पू० प०) हिमालय के वृक्षों में जिस प्रकार 'वनम्' इस आकार की बुद्धि होती है, उसी प्रकार विन्ध्य के वृक्षों में भी 'वनम्' इस आकार की प्रतीति होती है। तो फिर 'वन' की प्रतीति को क्यों समूहविषयक मानते हो, वनत्व-जातिविषयक क्यों नहीं मानते, क्योंकि जैसे कि सास्नादि अवयवों के समूह अनेक हैं, वैसे वृक्षों के समूह भी तो अनेक हैं ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

हम लोग (वनत्व जाति को अस्वीकार करने वाले मीमांसकगण) वृक्षों के समूह में रहने वाले तीन धर्मों को स्वीकार करते हैं—(१) वृक्षत्व, (२) बहुत्व और (३) समूह या समुदाय। अतः वृक्षों के सभी समूहों में या समुदायों में वृक्षगत बहुत्व से वृक्षों के समुदाय में 'वन' की प्रतीति होगी। फलतः वृक्षत्व, बहुत्व और समुदाय इन तीनों में से किसी भी प्रवृत्तिनिमित्त के बल से वृक्षों के सभी समुदायों में 'वन' शब्द की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार वृक्षों में रहने वाला 'बहुत्व' अथवा बहुत से वृक्षों में रहने वाला वृक्षत्व (सामानाधिकरण्य-सम्बन्धेन बहुत्वविशिष्ट वृक्षत्व) कि वा वृक्षों का समुदाय इनमें से कोई भी 'वन' शब्द का अभिधेय होगा।

एकत्वेऽप्याकृतेः···व्यक्त्यपेक्षया···जात्यपेक्षया

(पू० प०) तीनों ही अभिधेयों में से किसी बोध की इच्छा से 'वन' शब्द से एकवचन की उपपत्ति तो हो सकती है, क्योंकि उन तीनों ही अभिधेयों में से प्रत्येक तो एक ही है। किन्तु 'वृक्षा हि बहवो वनम्' इस कोश के अनुसार यदि बहुत से वृक्षों को 'वन' शब्द का अभिधेय मानें तो उनके बोध के लिये प्रयुक्त वन शब्द से एकवचन कैसे होगा, क्योंकि बहुत से वृक्षों में तो एकत्व बाधित है ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

जाति चूँकि व्यक्तियों से अभिन्न है, अतः व्यक्ति स्वरूप में वह बहुत है। इसी प्रकार जाति स्वरूप में व्यक्तियाँ भी एक हैं। इसी प्रकार एकदेश एककालादि के द्वारा भी जाति में बहुत्व एवं व्यक्तियों में एकत्व का उपपादन करना चाहिये।

एकाऽनेकाभिधाने च···शक्तयः

(पू० प०) तथापि वन स्वरूप अनेक वृक्षों में रहनेवाली अपनी अपनी जो बहुत्व संख्या है, तदनुसार एक वन के बोध के लिए प्रयुक्त वन शब्द से भी बहुवचन क्यों नहीं होता ? अर्थात् एक ही वन के बोध के लिए 'वनानि' यह बहुवचनान्त प्रयोग क्यों नहीं होता ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

'एकाभिधान' और 'अनेकाभिधान' ये दोनों ही प्रत्येक शब्द में नियमित हैं। तदनुसार (१) कुछ शब्द एकत्वसंख्यावच्छिन्न अर्थ के ही बोधक होते हैं और (२) कुछ शब्द बहुत्वसंख्यावच्छिन्न अर्थ के ही बोधक हैं। (३) अधिकतर शब्द प्रयोग के भेद से ही कभी एकत्वसंख्यावच्छिन्न अर्थों के भी बोधक होते हैं, कभी बहुत्वसंख्यावच्छिन्न अर्थों के भी, क्योंकि शक्ति के ऊपर कोई अभियोग नहीं किया जा सकता ॥ ८४–८६ ॥

केचिद् व्यक्तिं त्वसंख्याकां गमयन्त्यम्बरादिषु।
एको व्रीहिः सुनिष्पन्न इति जातिं स्वसंख्यया॥ ८७ ॥

केचिद्व्यक्तिम्···अम्बरादिषु

(शब्दों में अनियत शक्तियों के ये उदाहरण हैं—)

(१) 'अम्बर' प्रभृति कुछ शब्द ऐसे हैं, जो बिना संख्या के ही आकाशादि व्यक्तियों को अभिव्यक्त करते हैं, क्योंकि 'घनमम्बरम्' इत्यादि स्थलों में न जाति का बोध होता है न संख्या का। जाति और संख्या से रहित केवल आकाश का ही बोध होता है।

एको व्रीहिः···स्वसंख्यया

(२) 'व्रीहिः सुनिष्पन्नः' (धान की उपज अच्छी है) वाक्य के 'व्रीहिः' पद में जो एकवचन है, उसके अर्थ एकत्व का अन्वय प्रकृत व्रीहि शब्द के अर्थ व्रीहि व्यक्तियों में बाधित है, क्योंकि बहुत्व संख्या से युक्त व्रीहि ही 'सम्पन्न' होंगे। एक व्रीहि व्यक्ति 'सुनिष्पन्न' नहीं कहला सकती। अतः एकवचनान्त 'व्रीहिः' पद से एकत्वविशिष्ट जाति का ही बोध होता है ॥ ८७ ॥

पत्नीसन्नहनादौ तु व्यक्तिमाकृतिसंख्यया ।
कपिञ्जलादिजातेस्तु प्रतीतिर्व्यक्तिसंख्यया ॥ ८८ ॥

पत्नीसंहनादौ ''संख्यया

(३) 'पत्नीः संनह्य' पद में प्रयुक्त 'पत्नी' शब्द 'यज्ञस्वामिनी' का बोधक होने के कारण यद्यपि व्यक्तिबोधक है, तथापि पत्नीशरीर के अवयवों की बहुत्वसंख्या की दृष्टि से बहुवचनान्त 'पत्नी' शब्द का प्रयोग उक्त मन्त्र में किया गया है ।

कपिञ्जलादेस्तु ''व्यक्तिसंख्यया

(४) 'कपिञ्जलान् आलभेत' इस वाक्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त कपिञ्जल शब्द से अर्थात् 'कपिञ्जलान्' इस शब्द से व्यक्तियों में रहने वाली बहुत्व संख्या से अनुरक्त कपिञ्जलत्व जाति का बोध होता है, क्योंकि कपिञ्जल शब्द की अभिधा शक्ति कपिञ्जलत्व जाति में है । उसके एक होने के कारण बहुत्व बाधित है, इसलिये बहुत्व संख्या उसका धर्म नहीं हो सकती ॥ ८८ ॥

व्यक्तिजातौ वदन्त्यन्ये द्रव्यावयवसंख्यया ।
अस्मानिति यथैकस्मिन् पाशानदितिरित्यपि ॥ ८९ ॥

व्यक्तिजातौ '' संख्यया''''अस्मानिति

(५) कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो द्रव्य और उसके अवयव इन दोनों की संख्या से अनुरक्त व्यक्ति और जाति दोनों के ही बोधक होते हैं । जैसे बहुवचनान्त अस्मद् शब्द से अर्थात् 'अस्मान्' शब्द से स्वकीय आत्मा और तत्सम्बन्धी परिवार, देशवासी प्रभृति अर्थों का बोध होता है ।

पाशानदितिरित्यपि

(६) 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पाश' शब्द जाति का वाचक है । अतः स्वभावतः एकत्वसंख्यावच्छिन्न अर्थ का बोधक होने पर भी 'पाशान्' यह प्रकृत बहुवचनान्त 'पाश' शब्द यद्यपि जाति का ही वाचक है, किन्तु प्रकृत में अनेक पाश व्यक्तियों में रहने वाली बहुत्वसंख्यावच्छिन्न जाति का ही बोधक है ॥ ८९ ॥

तत्र व्रीह्यादिशब्दानां संख्यायोगो यथारुचि ।
वनदारादिशब्दास्तु प्रवर्तन्ते व्यवस्थया ॥ ९० ॥

'व्रीहिः सुनिष्पन्नः' इत्यादि स्थलों में व्रीहि प्रभृति अनियत संख्या के जो पद हैं, उनका प्रयोग वक्ता अपनी 'रुचि' अर्थात् विवक्षा के अनुसार कर सकते हैं, किन्तु वन दार प्रभृति कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो व्यवस्थित रूप से तत्तद्वचनों में ही प्रयुक्त होते हैं । जैसे कि 'वन' शब्द का प्रयोग एकवचनान्त ही होता है एवं 'दार' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग ही होता है ॥ ९० ॥

जङ्गमे स्थावरे चार्थे यथा यूथवनादयः ।
तत्र व्यक्तौ च जातौ च वाराविश्येत् प्रयुज्यते ॥ ९१ ॥

व्यक्तेरवयवानां च संख्यामादाय वर्त्तते ।
वनशब्दः पुनर्व्यक्तीर्जातिसंख्याविशेषिताः ॥ ९२ ॥
बह्वीराहाथ वा जातिं बहुव्यक्तिसमाश्रयाम् ।
एवं पङ्क्त्यादिशब्दानां संयोगादि विशेषणम् ॥ ९३ ॥

जङ्गमे ··· वनादयः

एवं जङ्गम (गतिशील) प्राणियों के समूह के लिये 'यूथ' शब्द का एवं स्थावर (वृक्ष) के समूह के लिये 'वन' शब्द का एकवचनान्त ही प्रयोग होता है।

तत्र व्यक्तौ ··· प्रयुज्यते ···· संख्यामादाय वर्त्तते

नियत बहुवचनान्त जो 'दार' प्रभृति शब्द हैं, उनके प्रसंग में यह व्यवस्था जाननी चाहिये कि जब 'दार' शब्द का प्रयोग किसी एक व्यक्ति को समझाने के लिये किया जाता है, उस समय व्यक्ति के अवयवों में जो बहुत्व संख्या है (मुख्यार्थ एक दार स्वरूप अवयवी में बहुत्व बाधित है) उस बहुत्व से अनुरक्त व्यक्ति का ही बोध 'दार' शब्द से होता है। जहाँ व्यक्ति विवक्षित नहीं रहती है—साधारण रूप से दार सामान्य का ही बोध इष्ट रहता है, वहाँ प्रयुक्त बहुवचनान्त दार शब्द से अनेक दार व्यक्तियों में जो बहुत्व संख्या है, तदनुरक्त सभी दार व्यक्तियों का ही बोध होता है।

वनशब्दः ··· विशेषिताः ··· समाश्रयाम्

साधारणतः वन शब्द का 'वनम्' इस आकार का एकवचनान्त प्रयोग ही होता है। जहाँ विभिन्न वनों के लिये 'वनानि' यह प्रयोग होता है, वहाँ वृक्षत्व जाति में देशबहुत्व का आरोप करके ही होता है। जहाँ द्रव्यसमुदाय के लिये अथवा लक्षित देश के अभिप्राय से 'वन' शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ द्रव्यों के भेद अथवा देशों के भेद से बहुवचन की उपपत्ति जाननी चाहिये। इस प्रकार 'वनानि' यह बहुवचनान्त वन शब्द भी कभी बहुत से वृक्ष व्यक्तियों के लिये कभी वृक्षों में रहने वाली बहुत्व जाति (संख्या) के लिये प्रयुक्त होता है।

एवं पंक्त्यादिशब्दानाम्

विशेष प्रकार के संयोगों से युक्त समुदाय में 'पंक्ति' शब्द का प्रयोग होता है। अतः उक्त संयोग से युक्त समुदायगत एकत्व संख्या की दृष्टि से ही 'पंक्ति' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'यूथ' प्रभृति शब्दों में भी समझना चाहिये ॥ ९१–९३ ॥

सर्वेषां किञ्चिदस्तीति न निरालम्बनैकधीः ।
तुल्यं प्रत्यक्षयाऽऽकृत्या वने यत् तदसद् यदि ॥ ९४ ॥
वृक्षास्तत्र तया तुल्या इति शून्यत्ववादिता ।
प्रत्यक्षाभासगम्यत्वाद् वृक्षेभ्योऽन्यत् तु तद्वनम् ॥९५॥

सर्वेषाम् ··· निरालम्बनैकधीः

इस प्रकार सभी पदों से होने वाले बोधों में एकत्वादि संख्यायें किसी न किसी प्रकार किसी विशेष युक्ति से अवश्य ही विषय होती हैं। अतः संख्या का बोध 'निरालम्ब' अर्थात् निर्युक्तिक नहीं है।

तुल्यम्......असद्धि......शून्यवादिता

[1]'असत्यप्यर्थान्तरे' यहाँ से लेकर 'इति चेन्न' इतने पर्यन्त से भाष्यसन्दर्भ से निरालम्बनवादी बौद्धों के पक्ष से यह (१) आक्षेप किया गया है कि जिस प्रकार 'इदं वनम्' यह प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास होने के कारण वृक्षसमूह से भिन्न 'वन' नाम की किसी स्वतन्त्र वस्तु का साधक नहीं होता है, उसी प्रकार आकृति (जाति) की प्रतीति भी प्रत्यक्षाभास ही है, अतः 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि प्रतीतियों से गोत्वादि जातियों की सिद्धि नहीं हो सकती।

अथवा जातिवादी मीमांसकों के ऊपर उक्त आक्षेप भाष्यसन्दर्भ से यह आक्षेप किया गया है कि यदि 'अयं गौः, अयमपि गौः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों से जाति की सत्ता मानेंगे तो 'वनम्' इस आकार की प्रत्यक्ष प्रतीति के अनुसार वृक्षों से भिन्न 'वन' नाम की वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता भी माननी होगी, जो आप (मीमांसकों) के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

सिद्धान्तवादी मीमांसक इस आक्षेप का खण्डन करने के लिये यह कहते हैं कि आक्षेप के दो ही विकल्प हो सकते हैं। इन दोनों में से पहला विकल्प 'असम्बद्ध' होने के कारण ठीक नहीं है, क्योंकि पहले विकल्प के अनुसार यदि 'महायानी' शून्यवादियों के अनुसार यह आक्षेप करते हो कि 'प्रत्यक्ष चूँकि' निरालम्बन होता है (ज्ञान-भिन्न कोई बाह्यवस्तुविषय नहीं होता) अतः उससे किसी विषय की सिद्धि नहीं हो सकती। सुतराम् 'वनम्' इस आकार के प्रत्यक्ष से वृक्षों के समूह की सिद्धि नहीं हो सकती (जिससे तुम बौद्धगण) मानते हो। तदतिरिक्त 'वन' नाम की स्वतन्त्र वस्तु की तो बात ही छोड़ो। यदि दूषणपक्ष का यह विकल्प मानते हो तो इसका खण्डन निरालम्बनवाद और शून्यवाद के प्रकरणों में विस्तार से किया जा चुका है।

प्रत्यक्षाभास......प्रत्यक्षगम्यया

'यदि वनेऽन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः प्रत्यय उपपद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्यय इति। ततो वनं नास्तीत्यवगच्छामः। न च गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति। अतो वैधर्म्यम्'। (शाबरभाष्य पृ० ५१–५२)।

यदि यह कहो कि लोकानुभव के अनुसार 'वनम्' इस प्रत्यय का बोधक 'वृक्षाः' इस आकार का प्रत्यय विद्यमान है, इसलिये 'वनम्' इस प्रत्यय को 'मिथ्या' मानते हैं। 'वनम्' इस आकार का प्रत्यय चूँकि मिथ्या है, इस लिये यह समझते हैं कि वृक्षों से भिन्न 'वन' नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है।

---

१. शाबरभाष्य का उक्त सन्दर्भ इस प्रकार है—

असत्यप्यर्थान्तरे एवंजातीयको भवति प्रत्ययः पंक्तिः, यूथम्, वनमिति चेन्न, असम्बद्धवचनमिदमुपन्यस्तम् 'किमसति वने वनप्रत्ययो भवतीति प्रत्यक्षमेवाक्षिप्यते-? वृक्षा अपि न सन्तीति' यद्येवं प्रयुक्तः स 'महायानिकः पक्षः' (शाबरभाष्य पं० ५१ पं० २ आनन्दाश्रमसंस्करण)।

यदि आक्षेप का यह अर्थ करो तो मोमांसकों को इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वृक्षों से भिन्न वन की स्वतन्त्र सत्ता को हम भी नहीं मानते।

किन्तु इससे आकृति (जाति) की सत्ता में कोई वाधा नहीं आती है, क्योंकि वन के समान आकृतिप्रत्यय किसी से विपर्यस्त नहीं होता। अतः 'अयं गौः' इत्यादि जातिविषयक अबाधित प्रत्ययों से आकृति (जाति) की सिद्धि होगी ॥ ९४–९५ ॥

अथाऽऽकृत्या वनं तुल्यं सद्भावेन प्रसज्यते।
जातिपक्षविमोकेन वनसिद्धान्तदूषणम् ॥ ९६ ॥

'अथ किमाकृतिसद्भाववाद्युपलभ्यते सद्धान्तरंते दुष्यसीति। वनेऽप्यसति वनप्रत्ययः प्राप्नोतीति। एवमपि न प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तव सिद्धान्तान्तरदूषणे निग्रहस्थानमापद्यते, असाधकत्वात्। स हि वक्ष्यति 'दुष्यतु यदि दुष्यति। किं तेन दुष्टेन अदुष्टेन वा प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयः पक्षो दूषितो भवतीति न च वृक्षव्यतिरिक्तं वनम् यस्मान्नोपलभ्यते अतो वनं नास्तीत्युपगम्यते।'

शावरभाष्य पृ० ५१ पं ४।

अर्थात् जातिसद्भाववादियों के ऊपर यह आक्षेप करना तुम लोगों को (बौद्धों को) इष्ट हो कि 'अयं गौः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति के बल से आकृति (जाति) की सत्ता को यदि स्वीकार करते हो तो वनप्रत्यय के अनुसार वन की भी सत्ता माननी होगी। इससे 'वृक्षा हि बहवो वनम्' यह कोश विरुद्ध हो जायगा।

ऐसी स्थिति में आक्षेपकर्त्ता बौद्धों को 'निग्रहस्थान' प्राप्त हो जायगा। जाति-सत्ता स्वरूप सिद्धान्त का खण्डन .करके वन स्वरूप दूसरे प्रसङ्ग में बोलने लगे हो। दूसरे सिद्धान्त के दूषण से प्रकृत सिद्धान्त दूषित नहीं होता।

क्योंकि सिद्धान्तवादी (मीमांसक) इस पर कह सकते हैं कि वनसिद्धान्त के दुष्ट होने से या अदुष्ट होने से आकृतिसिद्धान्त के ऊपर कोई आंच नहीं आती है। इससे न तुम (बौद्धगण) किसी सिद्धान्त की पुष्टि कर सकते हो—न मेरे (मीमांसकों के) किसी सिद्धान्त को दूषित ही कर सकते हो। (हम लोगों का कहना है कि) वृक्षों से भिन्न वन नाम की किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। अतः यह समझते हैं कि वन नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ॥ ९६ ॥

इति निगदितमेतल्लोकसिद्धैः पदार्थै-
र्व्यवहृतिरिह शास्त्रे न स्वतन्त्राभ्युपेतैः।
भवति च वनदृष्ट्या जातिपङ्क्त्यादिभेदो
यदि तु न घटतेऽसौ नैव बाधोऽस्ति कश्चित् ॥ ९७ ॥

भाष्यकार ने पहले बाधकप्रत्यय के द्वारा वृक्षों से भिन्न 'वन' की सत्ता का खण्डन किया है। फिर 'अथ वनादिषु नैव विपर्येति' (शावरभाष्य पृ० ५२) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा जो वन की सत्ता का उपपादन किया है उसका यह अभिप्राय है—

हम (मीमांसक गण) त्रिलोक में प्रसिद्ध जितने भी पदार्थ है, तदनुसार ही व्यवहार करते हैं, हम लोगों ने स्वतन्त्र रूप से पदार्थ की सत्ता की कल्पना नहीं की है

जैसे कि वैशेषिक गण पृथिव्यादि पदार्थों की कल्पना करते हैं अथवा बौद्धगण 'द्वादशायतनादि' की कल्पना करते हैं।

'वन' का खण्डन हम लोगों ने इस लिये किया है कि वृक्षों से भिन्न 'वन' की सत्ता को जन साधारण स्वीकार नहीं करता। जाति की सत्ता और वन, पंक्ति, प्रभृति की असत्यता का उपपादन पहले 'यदि वनेऽन्येन' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से किया जा चुका है।

यदि किसी को जाति की सत्यता एवं वनादि की असत्यता में कोई अन्तर न दीख पड़े तो उसके लिये भाष्यकार ने 'अथ वनादिषु' इत्यादि सन्दर्भ से यह कहा है कि वृक्षों से भिन्न वन की सत्ता को यदि स्वीकार भी कर लें, तथापि हम लोगों को कोई आपत्ति नहीं है॥ ९७ ॥

इति वनवादः ॥

अथ सम्बन्धाक्षेपपरिहारः

भवेतां नाम शब्दार्थौ यावेतावुदितौ त्वया।
यदर्थस्तु प्रयासोऽयं स सम्बन्धो निरूप्यताम् ॥ १ ॥

वेदों के अर्थ को समझने के लिये शब्द और अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। सम्बन्धज्ञान के लिये शब्द और अर्थ इन दोनों को भी सम्बन्ध के समान ही जानना आवश्यक है। इसलिये भाष्यकार ने 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? (शावरभाष्य पृ० ४५ पं० ७) एवं 'गौरित्यस्य कोऽर्थः ?' (शाबरभाष्य पृ० ४९)। एवं 'अथ कः सम्बन्धः ? (शाबरभाष्य पृ० ५२) ये तीन प्रश्न वाच्य, वाचक और इन दोनों के सम्बन्ध के प्रसङ्ग में किये गये हैं। इनमें प्रथम प्रश्न का समाधान 'स्फोटवाद' से, द्वितीय प्रश्न का समाधान आकृतिवाद, अपोहवाद और वनवाद इन प्रकरणों से पूरा किया गया है।

वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को समझाने के लिये लिखित 'अथ कः सम्बन्धः' इस भाष्यवाक्य का यह अभिप्राय है कि जिस सम्बन्ध को समझने के लिये शब्द और अर्थ का निरूपण कर चुके हैं, उस 'सम्बन्ध' का ही निरूपण करिये कि वह क्या है, क्योंकि उसी के निरूपण का अभी 'अवसर' है॥ १ ॥

पूर्वमेवोपदिष्टः सन् सम्बन्धः किन्नु पृच्छ्यते।
स्वरूपाकथनाच्चैतदुत्तरं नोपपद्यते ॥ २ ॥
किमौषधं ज्वरस्येति पृष्टो यदि वदेदिदम्।
येनासौ नश्यतीत्येवं किं तेन कथितं भवेत् ॥ ३ ॥

पूर्वमेवोपदिष्टः""किं नु पृच्छ्यते

(पृ० प०) 'यः संज्ञासंज्ञिलक्षणः' (पृ० ४२) इस भाष्य के द्वारा तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का परिचय दिया जा चुका है, फिर उसके सम्बन्ध में प्रश्न क्यों ?

स्वरूपाकथनात्''''''नोपपद्यते''कथं भवेत्

(सि० प०) 'संज्ञासंज्ञिलक्षणः शब्दार्थयोः सम्बन्धः' इतना कह देने से ही प्रकृत सम्बन्ध के स्वरूप का परिचय पूर्ण नहीं हो जाता। उससे 'कः सम्बन्धः ?' इस प्रश्न का यह उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिये फिर से प्रश्न किया गया है। एवं 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति' इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा जो 'सम्बन्ध' का यह लक्षण किया गया है कि 'येन सम्बन्धेन शब्दे ज्ञातेऽर्थो विज्ञायते स एव प्रकृतः शब्दार्थयोः सम्बन्धः' इससे भी प्रकृत प्रश्न का समाधान नहीं होता, क्योंकि 'प्रकृतयोः शब्दार्थयोः सम्बन्धः कीदृग्रूपः ?' इस प्रश्न का यह उत्तर ठीक नहीं है कि 'शब्द से अर्थ का ज्ञान जिसके द्वारा हो वही शब्द और अर्थ का प्रकृत सम्बन्ध है', क्योंकि इससे भी प्रकृत सम्बन्ध के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता।

जैसे 'ज्वर का कौन सा औषध है ?' इस प्रश्न का यह उत्तर नहीं हो सकता कि जिससे ज्वर का शमन हो वही ज्वर का औषध है ॥ २–३ ॥

तत्र केचिद् वदन्त्येव पूर्वत्रापरितोषतः।
प्रश्नः पुनरुपक्रान्तः सम्बन्धान्तरमिच्छता ॥ ४ ॥

इस प्रश्न का कुछ लोग यह उत्तर देते हैं कि भाष्यकार ने शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में जो पहिले 'संज्ञासंज्ञिलक्षणः शब्दार्थयोः सम्बन्धः' इस वाक्य के द्वारा शब्दार्थलक्षण सम्बन्ध का लक्षण कहा—उससे उन्हें पूर्ण परितोष नहीं हुआ। अतः शब्द और अर्थ के 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' से भिन्न दूसरे प्रकार का सम्बन्ध बतलाने के लिये 'अथ कः सम्बन्धः' इत्यादि से पुनः उपक्रम किया है ॥ ४ ॥

यः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः स प्रतीत्युत्तरो यतः।
सा चान्यपूर्विका तस्मान्नास्य प्रत्यायनाङ्गता ॥ ५ ॥

भाष्य के अपरितोष का यह भी कारण है कि शब्द और अर्थ का वही सम्बन्ध जिज्ञास्य है, जो शब्द से उत्पन्न होने वाले अर्थबोध का सहायक हो। पहले जो 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' कहा गया है, वह शाब्दबोध उत्पन्न होने के बाद ज्ञात होता है। इसलिये शाब्दबोध का अङ्ग न होने से वह जिज्ञास्य नहीं है ॥ ५ ॥

अजानानोऽपि संज्ञात्वं सम्बन्धान्तरदर्शनात्।
बुध्यतेऽर्थं ततः पश्चात् कश्चित् संज्ञेति मन्यते ॥ ६ ॥

शब्द और अर्थ का संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध शाब्दबोध के बाद इसलिये है कि जिस पुरुष को जिस शब्द में जिस अर्थ के संज्ञात्व का ज्ञान नहीं भी है (अर्थात् जो पुरुष जिस शब्द को जिस अर्थ की संज्ञा नही भी समझता है) उस पुरुष को भी शब्द और अर्थ के संकेतादि दूसरे सम्बन्धों के ज्ञान से शाब्दबोध होता है। इस प्रकार के शाब्द-बोध वाले बहुत से पुरुषों में कोई जिज्ञासु ही उस शब्द और उस अर्थ के संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध को जान पाता है। बहुत से पुरुष तो बाद में भी संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध को नहीं जान पाते ॥ ६ ॥

तमेवान्योऽविनाभावमत्र सम्बन्धमिच्छति ।
न हि तस्माद् विना शब्दे ज्ञाते स्यादर्थबोधनम् ॥ ७ ॥

संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध से भिन्न शब्द और अर्थ के जिस सम्बन्ध को जानने के लिये भाष्यकार ने 'अथ कः सम्बन्धः ?' इस वाक्य के द्वारा प्रश्न किया है, उस सम्बन्ध को कुछ लोग (वैशेषिक और बौद्ध) अविनाभाव स्वरूप मानते हैं, क्योंकि एक वस्तु के ज्ञान से दूसरी वस्तु का ज्ञान 'अविनाभाव' (व्याप्ति) सम्बन्ध से ही होता है । अतः शब्द स्वरूप एक वस्तु के ज्ञान से अर्थ स्वरूप अपर वस्तु का ज्ञान अविनाभाव सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

तत्त्वयुक्तम् न भाष्येऽस्ति तादृक्सम्बन्धकीर्तनम् ।
यदि ह्येतावतोच्येत किं नानुक्तः प्रतीयते ॥ ८ ॥

तत्त्वयुक्तम् ''कीर्तनम्

किन्तु वैशेषिकों और बौद्धों का यह अविनाभाव वाला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्य में जो 'यच्छब्दे विज्ञाते' यह सन्दर्भ है, उससे शब्द और अर्थ के अविनाभाव सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, अतः पूर्वभाष्य से शब्द और अर्थ के अविनाभाव सम्बन्ध का अभिधान नहीं हुआ है ।

यदि ह्येतावता ''प्रतीयते

यदि उक्त भाष्य के द्वारा शब्द और अर्थ का अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध ही कथित होता तो फिर उच्चारण के बिना भी शब्द का अर्थ के साथ व्याप्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं होता ? ॥ ८ ॥

प्रत्युक्तश्चाविनाभावसंज्ञा लोकात् तु गम्यते ।
संज्ञेत्यगम्यमानेऽपि गमकत्वं प्रतीयते ॥ ९ ॥

प्रत्युक्तश्च ''गम्यते

यदि अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति संभव होती, एवं शाब्दबोध से पहले संज्ञात्व का ज्ञान शब्द में संभव न होने के कारण संज्ञात्व शाब्द-बोध का अङ्ग न होता तो यह कह सकते थे कि 'यच्छब्दे विज्ञाते' इत्यादि भाष्य से शब्द और अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध की सूचनामात्र दी गयी है । शब्द और अर्थ के उसी अविनाभाव सम्बन्ध को विशेष रूप से जानने के लिये पुनः 'अथ कः सम्बन्धः' इस प्रश्नभाष्य का लिखना सङ्गत है ।

किन्तु उन दोनों बातों में से एक भी बात ठीक नहीं है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा शब्द से न अर्थ की प्रतीति ही संभव है, न शाब्दबोध से पहले शब्द में संज्ञात्व का ज्ञान ही असंभव है ।

संज्ञेत्यगम्यमानेऽपि ''प्रतीयते

क्योंकि शाब्दबोध से पहले शब्द में संज्ञात्व की बुद्धि अर्थात् 'यह शब्द इस अर्थ की संज्ञा है' इस आकार की बुद्धि भले ही संभव न हो सके, किन्तु शाब्दबोध से

पहले ही वृद्धों के व्यवहार के द्वारा शब्द में अर्थ की प्रतीति की जनकता का (अर्थ-गमकत्व का) ज्ञान अवश्य होता है। इन्द्रियादि से विलक्षण शब्द में रहने वाली यह 'अर्थगमकता' ही 'संज्ञात्व' है। फलतः उक्त गमकत्व यदि पहले अवगत होता है, तो तदभिन्न संज्ञात्व भी पूर्व में अवगत हो ही जाता है। इसलिये शब्दार्थसम्बन्ध से अपरितोष का कोई हेतु नहीं है।

इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध से भिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध से भिन्न शब्द और अर्थ के किसी सम्बन्ध को जानने के लिये 'अथ कः सम्बन्धः ?' इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने सम्बन्ध के लिये पुनः प्रश्न उठाया है ॥ ९ ॥

तस्मात् स एव शब्दार्थचिन्ताव्यवहितोऽधुना।
नित्यानित्यविचारार्थं सम्बन्धः स्मार्यते पुनः ॥ १० ॥

'तस्मात्' शब्द और अर्थ के पूर्वकथित संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ही मध्यवर्ती शब्द और अर्थ के विचार से व्यवहित हो जाने के कारण भाष्यकार ने पुनः स्मरण किया है जिसका प्रधान उद्देश्य है उस सम्बन्ध के प्रसंग में नित्यत्व और अनित्यत्व का विचार करना ॥ १० ॥

यच्छब्दे ज्ञात इत्येवं शक्तिरेवात्र कीर्त्यते।
कर्तृत्वं करणत्वं वा यत् तस्यार्थाभिधां प्रति ॥ ११ ॥

यच्छब्दे ज्ञाते''कीर्त्यते

जो कोई यह कहते हैं कि 'यच्छब्दे विज्ञाते यदर्थविज्ञानम्' इस भाष्य के द्वारा जो शब्दार्थसम्बन्ध का लक्षण कहा गया है, वह सम्बन्ध के स्वरूप का परिचायक नहीं है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध का प्रकृत परिचय देने के लिये ही पुनः 'अथ कः सम्बन्धः ?' इत्यादि से प्रश्न उठाया गया है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'यच्छब्दे विज्ञाते' इस भाष्य के द्वारा शब्द में जो 'अर्थाभिधायिका शक्ति' है, वही कही गयी है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का परिचायक शक्तिमूलक इस वाच्यवाचकभाव से बढ़कर अन्य कोई भी नहीं है। अतः पूर्व भाष्यसन्दर्भ को शब्दार्थसम्बन्ध का अपरिचायक कहना ठीक नहीं है।

कर्तृत्वं करणत्वं वा''अभिधां प्रति

'शब्देनार्थोऽभिधीयते—शब्दोऽर्थमभिदधाति' इत्यादि वाक्यों से अर्थाभिधान क्रिया (धात्वर्थ) का करणत्व अथवा कर्तृत्व ही शब्द में रहने वाली 'अर्थाऽभिधायिका शक्ति' है (सम्बन्धाक्षेपवाद श्लो० १३)। इसी शक्ति का 'संज्ञा', 'गमकत्व' प्रभृति शब्दों से व्यवहार किया जाता है। अर्थात् शक्ति, संज्ञा, गमकत्व प्रभृति सभी शब्द पर्यायवाची हैं। 'यच्छब्दे विज्ञाते' इस भाष्य के द्वारा शब्दार्थसम्बन्ध के ये ही स्वरूप कहे गये हैं। फलतः शब्द और अर्थ इन दोनों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध ही है। 'पृथग्भूतयोश्च यः सम्बन्धः स कृतको दृष्टः' इस भाष्यसन्दर्भ

(शाबरभाष्य पृ० ४५ पं० ५) के द्वारा भाष्यकार ने पूर्व में शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध को 'कृतक' अर्थात् पुरुषसङ्केतमूलक कहा है। अभी 'स तु कृतक इत्युपपादितम्' (शाबरभाष्य पृ० ५२) इस वाक्य से उसी बात को फिर से कहा है। इस 'अनुभाषण'[1] से यह स्पष्ट है कि भाष्य में शब्द और अर्थ के 'संज्ञासंज्ञि' स्वरूप जिस सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है, उसी का 'अथ कः सम्बन्धः ?' (पृ० ५२) इस वाक्य के द्वारा पुनः उल्लेख किया गया है, क्योंकि शब्द और अर्थ के किसी दूसरे सम्बन्ध को पहले 'कृतक' नहीं कहा गया है ॥ ११ ॥

स्वतो नैवास्ति शक्तत्वं वाच्यवाचकयोर्मिथः।
प्रतीतिः समयात् पुंसां भवेदक्षिनिकोचवत् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार 'आँख मीच देने से चार संख्या को समझना' व्यापारियों के संकेत से चार संख्या का बोध उस संकेत से अभिज्ञ पुरुष को ही होता है, उसी प्रकार शब्द से अर्थ का ज्ञान पुरुषकृत संकेत रूप 'समय' से ही होता है। अतः यह 'समय' ही दोनों का वह 'कृतक सम्बन्ध' है, शब्दार्थ का सम्बन्ध 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य नहीं है[2] ॥ १२ ॥

समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा।
क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित् ॥ १३ ॥
प्रत्येकं वापि सम्बन्धो भिद्येतैकोऽथ वा भवेत्।
एकत्वे कृतको न स्याद् भिन्नश्चेद् भेदधीर्भवेत् ॥ १४ ॥

समयः प्रति''अथवा भवेत्

शब्दार्थसम्बन्ध को यदि 'पौरुषेय' मानें तो इस प्रसंग में पहले तीन विकल्प संभावित हैं—

(१) सङ्केत रूप यह 'समय' क्या प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग है ?

(२) अथवा प्रत्येक पुरुष के प्रत्येक उच्चारण में अलग-अलग है ?

(३) कि वा सृष्टि के आदि में ही किसी 'पुरुष' अर्थात् किसी एक के द्वारा इस संकेत स्वरूप 'समय' का निर्माण हुआ ?

---

१. 'पुनः कथन' को 'अनुभाषण' कहते हैं।

२. यह ध्यान रखना चाहिये कि मीमांसक गण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, जिसका निर्देश महर्षि जैमिनि ने औत्पत्तिक सूत्र (अ० १ पा० १ सू० ५) में किया है। नैयायिकगण शब्दार्थसम्बन्ध को पुरुषकृत संकेत रूप मानते हैं, अतः उनके मत से यह सम्बन्ध अनित्य है। सम्बन्ध के इस अनित्यत्व का खण्डन करना स्वमत-स्थापन के लिये मीमांसकों को आवश्यक है। इसीलिये आगे श्लो० १३ एवं श्लो० १४ के पूर्वार्द्ध से पुरुषकृत संकेत स्वरूप सम्बन्ध के प्रसङ्ग में विकल्प उपस्थित किया गया है।

प्रत्येकं वा भवेत्

इनमें जो 'प्रतिमर्त्यं' पक्ष है, उसके भी दो विकल्प हो सकते हैं—

(१) क्या सभी पुरुषों के द्वारा एक ही संकेत का निर्माण होता है ?

अथवा

(२) पुरुषभेद से भिन्न-भिन्न संकेत निर्मित होते हैं ?

एकत्वे कृतको न स्यात्

यदि सभी पुरुषों में एक ही संकेत को स्वीकार करें तो उसकी 'कृतकता' भंग हो जायगी, क्योंकि बहुत से पुरुषों के द्वारा किसी एक संकेत का निर्माण संभव नहीं है।

भिन्नश्चेद् भिन्नधीर्भवत्

प्रत्येक पुरुष में प्रत्येक शब्द को इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इससे एक शब्द से भिन्न पुरुषों में विभिन्नविषयक ही बोध होंगे, यह 'संविद्' (सर्वानुभव) के विरुद्ध हैं, क्योंकि एक ही घट शब्द से अनेकानेक पुरुषों को एक घटविषयक समान बोध ही होता है ॥ १३–१४ ॥

भिन्नत्वे प्रतिसम्बन्धं शक्तिः कल्प्याभिधां प्रति ।

एकस्मिन् ज्ञातशक्तौ वा नान्येनार्थमतिर्भवेत् ॥ १५ ॥

भिन्नत्वे···प्रति

प्रतिमर्त्यं (प्रतिपुरुष) के अनुसार प्रति शब्द को भिन्न-भिन्न मानने से यह दोष भी होगा कि प्रत्येक सम्बन्ध में एक शब्द की अभिधा शक्ति की कल्पना करनी होगी। फलतः सभी शब्दों को अनेकार्थक मानना होगा।

एकस्मिन् मतिर्भवेत्

इस पक्ष में एक और दोष यह भी है कि जिस किसी व्यक्ति ने किसी एक शब्द का किसी एक अर्थ में संकेत किया है, उसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि एक अर्थ की शक्ति स्वरूप सम्बन्ध के ज्ञात रहने पर अज्ञातशक्तिक दूसरे शब्द से अर्थ की प्रतीति नही होती है ॥ १५ ॥

अथ यो यस्य पुंसः स्यात् स तेन प्रतिपद्यते ? ।

यस्यानेकेन सम्बन्धः कुतस्तस्य कथं भवेत् ! ॥ १६ ॥

अथ यः···प्रतिपद्यते

(पू० प०) एक पुरुष द्वारा प्रयुक्त शब्द से उसी पुरुष के द्वारा किये गये संकेत के अनुसार अर्थ का ग्रहण दूसरे पुरुष को होता है।

यस्यानेकेन···कथं भवेत्

(सि० प०) यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा मानें तो जिस किसी एक शब्द का अनेक पुरुषों ने अनेक अर्थों में सङ्केत किया है, उस शब्द से सङ्केतकर्त्ताओं से भिन्न किसी पुरुष को बोध न हो सकेगा ॥ १६ ॥

एकार्थानां विकल्पश्चेन्नेतरात्यन्तबाधनात् ।
समुच्चयोऽपि नैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते ॥ १७ ॥
किञ्चिदेवैकमादाय व्यवहारो हि दृश्यते ।
बहुभिः कृतसम्बन्धे न चैको गमको भवेत् ॥ १८ ॥

एकार्थानां विकल्पश्चेत्

(पू० प०) अनेक अर्थों में संकेत वाले पद से भी विकल्प से प्रकरणादि के साहाय्य से किसी एक अर्थ का बोध अन्य पुरुष को हो सकता है ।

न, इतरात्यन्तबाधनात्

(सि० प०) उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष को किसी 'पिलु' प्रभृति शब्दों में से किसी एक शब्द का संकेत आप्त आर्यगण ने वृक्ष में किया है, एवं अनाप्त म्लेच्छगण ने उसी 'पिलु' शब्द का संकेत हाथी में किया है वहाँ म्लेच्छकृत संकेत का अत्यन्त बाध होता है । बाद में आर्यकृत संकेत के अनुसार 'पिलु' शब्द से विकल्पतः कभी वृक्ष का एवं कभी हाथी का बोध होगा । यह 'विकल्पपक्ष' भी ठीक नहीं है ।

समुच्चयोऽपि.....अवगम्यते

इन अनेकपुरुषकृत अनेक संकेत वाले पदों से सभी संकेतितार्थों का एक साथ ही (समुच्चय से) भी बोध नहीं होता है । यदि ऐसा मानें तो कथित 'पिलु' शब्द से वृक्ष और हस्ति इन दोनों का 'समुच्चय' अर्थात् समूहालम्बनात्मक बोध मानना होगा । किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि किसी एक संकेत के द्वारा ही शब्दों का व्यवहार होता है ।

बहुभिः कृतसम्बन्धे.....गमको भवेत्

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में दो मत हैं (१) नित्यत्वपक्ष मीमांसकों का है । इस पक्ष को सम्बन्ध का 'यथाऽवस्थित' पक्ष कहते हैं । अर्थात् पूर्व से सर्वदा विद्यमान शब्दार्थसम्बन्ध के द्वारा ही शब्द से अर्थ का बोध होता है । इस 'यथाऽवस्थित' पक्ष के अनुसार जो शब्द का प्रयोग करते हैं, उन्हें 'आप्त' कहा जाता है । जो तद्विपरीत अपने संकेत के अनुसार शब्द का प्रयोग करते हैं, उन्हें 'अनाप्त' कहा जाता है । इस प्रकार शब्दार्थसम्बन्ध के 'यथाऽवस्थिति'पक्ष से आप्तानाप्तविभाग उत्पन्न होता है ।

यदि बहुत से आधुनिक पुरुषों के द्वारा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध निश्चित किये जाँय, तो फिर सभी संकेतों के समान होने के कारण उक्त आप्तानाप्तविभाग ही अनुपपन्न हो जायगा जिससे अनाप्तसंकेत को बाधित कर आप्तसंकेत के अनुसार जो 'पिलु' शब्द से वृक्ष का ही बोध हो, हाथी का नहीं—यह निर्धारण उपपन्न नहीं होगा ॥ १७–१८ ॥

शब्दार्थयोरभेदेऽपि पुम्बहुत्वेऽपि कर्तरि ।
नायं वेति मतिर्दृष्टा विकल्पोऽस्तो न युज्यते ।। १९ ।।

कथित विकल्पपक्ष (द्रष्टव्य श्लो० १७) लोकानुभव के भी विरुद्ध है, क्योंकि जहाँ एक ही शब्द का एक ही अर्थ में अनेक पुरुषों ने संकेत किया है, वहाँ भी व्यवहार करने वाले को इतना ही निश्चित रहता है कि 'अमुक शब्द अमुक संकेत के अनुसार प्रयुक्त हुआ है' । व्रीहि यवादि के समान यह संशय नहीं होता कि अमुक पुरुषकृत संकेत के अनुसार व्यवहार करना चाहिये अथवा किसी दूसरे पुरुष के संकेत के अनुसार व्यवहार करना चाहिये । अतः विकल्पपक्ष लोकानुभव के भी विरुद्ध है ।। १९ ।।

गोशब्दे सकृदुक्ते च भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
विकल्प्यमाने सम्बन्धे कश्चिद् बुध्येत नेतरे ।। २० ।।

कथित 'विकल्पपक्ष' इसलिये भी ठीक नहीं है कि एक वार उच्चरित गो शब्द को सुननेवालों में से शाब्दबोध किसी एक ही व्यक्ति को होगा, अन्य सुननेवाले शाब्द-बोध से वञ्चित रह जायेंगे । किन्तु सो उचित नहीं है, क्योंकि एक वार उच्चरित गो शब्द को जितने भी लोग सुनते हैं, उन सभी पुरुषों को शाब्दबोध होता है ।। २० ।।

समुच्चयो नृभेदाच्चेन्न वक्त्रैक्याद्यसम्भवात् ।
वक्तृश्रोतृधियोर्भेदाद् व्यवहारश्च दुष्यति ।। २१ ।।
वक्तुरन्यो हि सम्बन्धो बुद्धौ श्रोतुस्तथापरः ।
श्रोतुः कर्तुं च सम्बन्धं वक्ता कं प्रतिपद्यताम् ।। २२ ।।

समुच्चयो नृभेदाच्चेत्

(पू० प०) जहाँ एक शब्द का अनेक अर्थों में संकेत है वहाँ यदि सुननेवाला एक है तो प्रकरणादिवश तो अवश्य ही किसी भी एकविषयक शाब्दबोध रूप विकल्प ही होगा । किन्तु जहाँ सुननेवाले अनेक हैं वहाँ बोद्धाओं के भेद से अनेक संकेत वश अनेकबोध स्वरूप समुच्चय ही होगा । इस प्रकार की व्यवस्था हो सकती है ।

न, वक्त्रैक्याद्यसंभवात्

(सि० प०) यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि वक्ता सो किसी एक ही अर्थ में संकेत को ध्यान में रखकर शब्द का प्रयोग करता है । सुननेवालों में से जो उस संकेत को समझ सकेगा केवल वही उस शब्द से उस अर्थ को समझ सकेगा । दूसरे श्रोता उसे कैसे समझ सकेंगे ? अर्थात् अन्य श्रोताओं को शाब्दबोध नहीं होगा ।

वक्तृश्रोत्रधियोः''''वक्तुः''''अपरः

(यदि यह कहो कि 'वक्ता भले ही एक शब्द का एक ही अर्थ के बोध की इच्छा से प्रयोग करे, किन्तु उस शब्द के अनेक श्रोताओं में से जिन्हें उस शब्द के

जिस अर्थ में संकेत का ज्ञान है, तदनुसार ही उन्हें बोध होगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

जैसे आर्य और म्लेच्छ से स्वीकृत अनेक सङ्केतों में से 'पिलु' शब्द के द्वारा आर्यानुयायीगण वृक्ष को ही समझते हैं और म्लेच्छानुयायी हस्ति को इस प्रकार विभिन्न संकेतों वाले पिलु शब्द के द्वारा व्यवहार की सम्यगुपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि वक्ता की बुद्धि में एक संकेत है, और बोद्धा की बुद्धि में दूसरा।

(यदि यह कहो कि सम्बन्ध के भिन्न होने पर भी चूँकि उससे बोध्य अर्थ एक है, अतः कथित सम्यग् व्यवहार की उपपत्ति नहीं होती है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

शब्द का अर्थ में अनेक स्वतन्त्र संकेत हों किन्तु उस शब्द का अर्थ एक ही हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् एक शब्द के यदि अनेक स्वतन्त्र सम्बन्ध होंगे तो उन सम्बन्धों के अनुयोगी अर्थ भी भिन्न-भिन्न अवश्य होंगे। इस प्रकार यदि सम्बन्धों को अर्थपरतन्त्र मानेंगे तो उसका पौरुषेयत्व ही भङ्ग हो जायगा, क्योंकि पुरुष के द्वारा होना ही 'पौरुषेयत्व' है।

श्रोतुः कर्त्तु···करोति तम्

शब्द और अर्थ के अनेक सम्बन्धों में से वक्ता श्रोता के लिये किस सम्बन्ध का प्रतिपादन करेगा ? ॥ २१–२२ ॥

पूर्वदृष्टो हि यस्तेन श्रोतुर्नैव करोति तम्।
यं करोति नवं सोऽपि न दृष्टः प्रतिपादकः ॥ २३ ॥

क्योंकि शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध 'पूर्वदृष्ट' अर्थात् पूर्वकृत है श्रोता के लिये उसी को फिर से नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'कृत' अर्थात् एक बार उत्पादित कार्य का पुनरुत्पादन स्वरूप 'पुनःकरण' असंभव है। नवीन जो सम्बन्ध वक्ता के द्वारा उत्पन्न किया जायगा उससे श्रोता को शाब्दबोध ही नहीं होगा, क्योंकि श्रोता को उस नवीन संकेत (सम्बन्ध) का ज्ञान ही नहीं है ॥ २३ ॥

सर्वथा श्रोतृसिद्धिश्चेदसिद्धं नेतरो वदेत्।
घटादावपि तुल्यं चेन्न सामान्यप्रसिद्धितः ॥ २४ ॥

सर्वथा श्रोतृसिद्धिश्चेत्

(पू० प०) पूर्वदृष्ट किसी भी सम्बन्ध से श्रोता को अर्थविषयक (शाब्दबोध) होगा, इसके लिये यह विकल्प व्यर्थ है कि वह सम्बन्ध नया है अथवा पुराना।

असिद्धं नेतरो वदेत्

(सि० प०) कोई पुरुष यह जान कर ही किसी संकेत का निर्माण करता है कि 'इस शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो'। किसी भी शब्द में सर्वथा पहले से अज्ञात नवीन सम्बन्ध का निर्माण कोई कर ही नहीं सकता। एवं कृत कार्य का पुनःकरण चूँकि संभव नहीं है, अतः पूर्वदृष्ट (पूर्वकृत) सम्बन्ध का भी निर्माण

नहीं कर सकता। तस्मात् सभी वक्ता पूर्व से विद्यमान सम्बन्ध से युक्त शब्द का ही प्रयोग करते हैं।

घटाद्यापि तुल्यं चेत्

(पू० प०) तो फिर सर्वप्रसिद्ध घटादि शब्दों का भी प्रयोग कैसे होता है, क्योंकि सम्बन्ध के पूर्वदृष्ट एवं नवीन होने का विकल्प तो वहाँ भी होगा ?

न, सामान्यप्रसिद्धितः

(सि० प०) तद्घटव्यक्तिविषयक बोध एवं तद्घट शब्द इनमें कथित 'पूर्वदृष्ट' और 'सर्वथा नवीन' का विकल्प भले ही बाधक हो, किन्तु सामान्य कार्यकारणभाव से घटादि सर्वप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। अतः सर्वप्रसिद्ध घटादि शब्दों से श्रोता के बोध की अनुपत्ति नहीं है ॥ २४ ॥

यद्यपि ज्ञातसामर्थ्या व्यक्तिः कर्तुं न शक्यते।

क्रियते या न तस्याश्च शक्तिः कार्येऽवधारिता ॥ २५ ॥

तथाप्याकृतितः सिद्धा शक्तिरुत्पादनादिषु।

तस्या न चादिमत्तास्ति सम्बन्धस्त्वाविर्मास्तव ॥२६॥

(सि० प०) (विशदार्थ यह है कि) यह सत्य है कि जिस अर्थ के साथ ज्ञापन स्वरूप सम्बन्ध पहले ज्ञात है, उसका पुनः कभी निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि वह पहले से ही निष्पन्न है। निष्पन्न वस्तु की पुनः निष्पत्ति नहीं हो सकती। जिस नवीन संकेत का निर्माण होगा, उसका ज्ञान पहले से श्रोता को नहीं है। अतः श्रोता को उससे बोध नहीं हो सकता।

फिर भी 'व्यक्तिशः' गृहीत न होने पर भी 'जातितः' घटपदोच्चारण सामान्य में घटत्व सामान्य को समझाने की शक्ति का ज्ञान पूर्व में गृहीत हो सकता है, क्योंकि 'आकृति' (जाति) नित्य है, अतः तद्गत संकेत भी नित्य है। प्रतिमर्त्य (प्रतिपुरुष) सम्बन्ध के निर्माण के पक्ष में तो 'संकेत' सादि है, अतः उक्त विकल्प उपस्थित होता है। आकृति (जाति) चूँकि 'अनादि' है, अतः उसके सम्बन्ध में विकल्प का अवसर नहीं है ॥ २५–२६ ॥

यदि तत्रापि सामान्यं नित्यमभ्युपगम्यते।

तथाप्यस्मन्मतं सिद्धं न तु ह्याकारसम्भवः ॥ २७ ॥

यदि तत्रापि ''अभ्युपगम्यते

(पू० प०) जिस प्रकार घटत्वादि सामान्य हैं, वैसे ही सम्बन्ध सामान्य में सम्बन्धत्व नाम का भी तो सामान्य है। अतः तन्मूलक ही शाब्दबोध मानेंगे। सम्बन्धत्व सामान्य की नित्यता के कारण अभिनव एवं पूर्वदृष्ट का विकल्प यहाँ भी उपस्थित नहीं होगा।

तथाऽप्यस्मन्मतम् ''ह्याकारसंभवः

(सि० प०) यदि सम्बन्धों में भी जाति की सत्ता मानें तो मेरे ही मत की पुष्टि होगी। किन्तु शब्द और अर्थ के सम्बन्धों में किसी जाति की संभावना नहीं है,

क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध 'द्वयाकार' अर्थात् अनेकाकारक नहीं हो सकता। अनेक वस्तुओं में ही जाति की सत्ता संभावित है ॥ २७ ॥

शक्तिरेव हि सम्बन्धो भेदश्चास्या न विद्यते।
सा हि कार्यानुमेयत्वात् तद्भेदमनुवर्तते ॥ २८ ॥

शब्द-अर्थ में जो अर्थबोधजनक सम्बन्ध है, वह 'शक्ति' रूप है। शक्ति भिन्न प्रकारों की नहीं होती, क्योंकि शक्ति की सत्ता तो उसके कार्य स्वरूप हेतु से ही जानी जा सकती है (शक्ति कार्यानुमेय है)। इस प्रकार कार्यानुमेय शक्तियाँ भेद की अनुगामिनी नहीं है, अर्थात् कार्यानुमेय शक्ति विभिन्न नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

अन्यथानुपपत्त्या च शक्तिसद्भावकल्पनम्।
न चैकयैव सिद्धेऽर्थे बह्वीनां कल्पनेष्यते ॥ २९ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण से भी शक्ति की सत्ता मानी जाती है। अतः एक ही अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध शक्ति में बहुत्व की कल्पना नहीं की जा सकती ॥ २९ ॥

सम्बन्धाख्यानकाले च गोशब्दादावुदीरिते।
केचित् सम्बन्धबुद्धयार्थं बुद्ध्यन्ते नापरे तथा ॥ ३० ॥
तत्र सम्बन्धनास्तित्वे सर्वोऽर्थं नावधारयेत्।
अस्तित्वे सर्वबोधश्चेन्न कैश्चिदनुपग्रहात् ॥ ३१ ॥

सम्बन्धाख्यानकाले ''उदीरिते''''नावधारयेत्

यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उच्चारण से पूर्व में भी विद्यमान न हो तो गो शब्द का सम्बन्ध गो रूप अर्थ में समझाने के लिये उच्चरित गो शब्द से कुछ व्यक्तियों को गो शब्द और गो रूप अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, एवं उस ज्ञान से रहित पुरुष को गो शब्द के सुनने पर भी गो स्वरूप अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। यदि पहले से सम्बन्ध की सत्ता न रहे तो किसी को भी गो शब्द से गो रूप अर्थ का ज्ञान नहीं होगा।

अस्तित्वे सर्वबोधश्चेत्

(पू० प०) यदि गो शब्द के उच्चारण के पहले भी गो शब्द का गो रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध की सत्ता रहे, तो सभी को अर्थात् सम्बन्ध ज्ञान से युक्त एवं सम्बन्ध ज्ञान से रहित सभी पुरुषों को घटशब्द से घटस्वरूप अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं होता? तस्मात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध पहले से विद्यमान नहीं है।

न, कैश्चिदनुपग्रहात्

(सि० प०) यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व से विद्यमान शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान कुछ लोगों को होता है, कुछ लोगों को नहीं। इसलिये कुछ लोगों को घटशब्द से घटस्वरूप अर्थ का बोध होता है, कुछ लोगों को नहीं होता है ॥३१॥

ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः स्वात्मज्ञानमपेक्षते।
तेनासौ विद्यमानोऽपि नागृहीतः प्रकाशकः ॥ ३२ ॥

क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञात होकर ही अर्थज्ञान का उत्पादक है। स्वरूपतः अर्थात् अपनी अवस्थिति मात्र से अर्थज्ञान का उत्पादक नहीं है। इसलिये जिन्हें सम्बन्ध का ज्ञान रहता है, उन्हीं को अर्थ का ज्ञान होता है, सभी को नहीं ॥ ३२ ॥

विद्यमानस्य चार्थस्य दृष्टमग्रहणं क्वचित्।
न त्वत्यन्तासतोऽस्तित्वं कांश्चित् प्रत्युपपद्यते ॥ ३३ ॥

विद्यमान वस्तुओं में से किसी के ग्रहण के समान ही किसी का अग्रहण अनुपपन्न नहीं है। किन्तु सर्वथा अविद्यमान किसी भी वस्तु का ज्ञान किसी को भी संभव नहीं है ॥ ३३ ॥

विरुद्धौ सदसद्भावौ न स्यातामेकवस्तुनि।
ननु तुल्यं विरोधित्वं ज्ञाताज्ञातत्वयोरपि ॥ ३४ ॥

चूंकि सत्त्व और असत्त्व दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः कुछ पुरुषों के द्वारा गृहीत होने के कारण जिस प्रकार सम्बन्ध में सत्त्व की संभावना है, उसी प्रकार कुछ पुरुषों के द्वारा अगृहीत होने के कारण सम्बन्ध में असत्त्व की भी संभावना है, क्योंकि परस्पर विरोधी दो धर्मों की सत्ता एक आश्रय में संभव नहीं है।

ननु तुल्यं विरोधित्वम्

(पू० प०) जिस प्रकार सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरोधी होने के कारण सम्बन्ध स्वरूप एक आश्रय में नहीं रह सकते, उसी प्रकार ज्ञातत्व और अज्ञातत्व दोनों परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही सम्बन्ध में नहीं रह सकते। फिर कैसे कहते हैं कि पूर्व से विद्यमान ही सम्बन्ध किसी के द्वारा ज्ञात होकर शाब्दबोध का कारण होता है एवं किसी के द्वारा ज्ञात न होने के कारण कुछ पुरुषों में शाब्दबोध का उत्पादन नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञातत्व और अज्ञातत्व ये दोनों भी तो परस्पर विरोधी हैं ॥ ३४ ॥

ज्ञानं हि पुरुषाधारं तद्भेदान्न विरोत्स्यते।
पुरुषान्तरसंस्थं च नाज्ञानं तेन बाध्यते ॥ ३५ ॥

(सि० प०) ज्ञातत्व एवं अज्ञातत्व ये दोनों चूंकि पुरुषसापेक्ष हैं, अतः एक ही वस्तु एक पुरुष से ज्ञात और दूसरे पुरुष से अज्ञात हो सकती है। इसलिये ज्ञातत्व और अज्ञातत्व ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। अतः एक पुरुषगत ज्ञान (ज्ञातत्व ज्ञान स्वरूप ही है, फलतः विषयता सम्बन्ध से ज्ञानयुक्तत्व ही ज्ञातत्व है) अन्य पुरुषगत अज्ञान से बाधित नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

सम्बन्धाधारतायां च विरोधः सदसत्त्वयोः।
प्रत्युक्तत्वाच्च भेदस्य तद्वशान्नाविरोधिता ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार शब्दार्थसम्बन्ध में ज्ञातत्व और अज्ञातत्व दोनों अविरोधी हैं, उसी प्रकार उक्त सम्बन्ध में सत्त्व और असत्त्व दोनों में अविरोध का सम्पादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि पुरुषभेद से सम्बन्ध की भिन्नता का खण्डन किया जा

चुका है (देखिये श्लो० २८)। अर्थात् एक ही सम्बन्ध पुरुषभेद से ज्ञात और अज्ञात दोनों हो सकता है। किन्तु एक ही सम्बन्ध सत् और असत् दोनों नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

अन्धानन्धसमीपस्थः शुक्लोऽन्धैर्नावगम्यते ।
गम्यते चेतरैस्तस्य सदसत्त्वेन तावता ॥ ३७ ॥
शक्त्यशक्त्योर्नराणां तु भेदात् तत्राविरोधिता ।
न ह्यन्यो दर्शनस्यास्ति सम्बन्धाद्धेतुरत्र हि ॥ ३८ ॥

अन्धानन्ध'' तावता

अन्ध और अनन्ध दोनों पुरुषों के समीप रहनेवाले द्रव्य की शुक्लता (शुक्ल रूप) को अन्ध नहीं देखता, किन्तु अनन्ध उसी को देखता है। किन्तु इससे उक्त शुक्ल रूप के सत्त्वासत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता। अर्थात् अन्ध के द्वारा ज्ञात न होने पर भी वह शुक्ल रूप असत् नहीं हो जाता ॥ ३७ ॥

शक्त्यशक्त्योः''''अविरोधिता

उक्त स्थल में देखने की अनन्ध पुरुष की शक्ति एवं देखने की ही अन्ध पुरुष की अशक्ति इन दोनों से शुक्ल रूप में ज्ञातत्व और अज्ञातत्व दोनों के अविरोध की उपपत्ति होती है।

न ह्यन्यो दर्शनस्य''''अत्र हि

(पू० प०) सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व इन दोनों धर्मों की सत्ता भले ही न मानें, केवल असत्त्व धर्म की ही सत्ता मानिये, क्योंकि सम्बन्ध का ग्रहण कुछ लोगों को नहीं होता है।

(सि० प०) किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्धग्रहण का विषय रूप सम्बन्ध को छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है, अतः विषय स्वरूप सम्बन्ध में सत्त्व धर्म को स्वीकार करना ही होगा। इसलिये कुछ लोगों के अग्रहण से शब्दार्थसम्बन्ध की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ ३८ ॥

एवमेवेन्द्रियैस्तुल्यं व्यवहारोपलम्भनम् ।
येषां स्यात् तेऽवभोत्स्यन्ते ततोऽर्थं नेतरेऽन्धवत् ॥ ३९ ॥

(पू० प०) (रूप से ग्रहण का कारण चक्षु, चक्षु स्वरूप कारण, चूँकि नहीं है, अतः सामीप्य के रहने पर भी अन्ध पुरुष शुक्ल रूप को नहीं देख पाता। अतः शुक्ल रूप में अज्ञातत्व उपपन्न है। शब्दार्थग्रहण का कौन सा उपाय है, जिसके रहने से किसी को सम्बन्ध का ज्ञान होता है, एवं जिसके न रहने से अन्य व्यक्ति को सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

जिस प्रकार इन्द्रिय शुक्लरूपोपलब्धि का कारण है, उसी प्रकार 'व्यवहारोपलम्भन' अर्थात् आनयनादि व्यवहारों का ज्ञान ही शब्दार्थसम्बन्ध के ज्ञान का कारण है। जिन्हें 'घटमानय' इत्यादि प्रयोगानन्तर घटादिपदजनित घटादि अर्थों के व्यवहार

का ज्ञान होगा, उन्हीं पुरुषों को घट शब्द और घटस्वरूप अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होगा, जिन्हें उक्त व्यवहार स्वरूप साधन का ज्ञान नहीं रहेगा, उन्हें घट पद और घटस्वरूप अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान उसी प्रकार नहीं होगा, जिस प्रकार चक्षु से रहित (अन्ध) पुरुष को शुक्ल रूप का ज्ञान नहीं होता है ॥ ३९ ॥

आधानवत् सकृच्चैतत् तन्त्रेणोपकरिष्यति ।
स्मरणं भेत्स्यते चास्य वह्निप्रणयनादिवत् ॥ ४० ॥

(यदि शक्तिग्रहण शाब्दबोध स्वरूप अर्थप्रतीति का अङ्ग (कारण) नहीं है, तो फिर प्रत्येक उच्चारण से अर्थज्ञान के समय व्यवहारोपलम्भन से होनेवाले सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होगा । किन्तु ऐसा तो होता नहीं, अतः सवम्बन्ध सभी शाब्द-बोधों के लिये अपेक्षित नहीं है । इस आक्षेप का यह समाधान है—)

जिस प्रकार 'अग्न्याधान' प्रत्येक याग के लिये आवश्यक होने पर भी प्रत्येक याग से पूर्व आवश्यक नहीं होता, 'तन्त्रतः' अर्थात् एक ही बार अग्निहोत्र के समय अनुष्ठित हो जाने से सभी यागों में सहायक होता है उसी प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहणात्मक ज्ञान आनयनादि व्यवहारों से उत्पन्न होकर अन्य सभी प्रयोगों से होनेवाले सभी शाब्दबोधों में 'तन्त्रतः' सहायक होता है । प्रति प्रयोग में व्यवहार-ज्ञान के समय का ग्रहणात्मक ज्ञान का सम्पादन आवश्यक नहीं होता ! द्वितीयादि प्रयोगों में सम्बन्ध के स्मरण से ही शाब्दबोध हो जाता है । अतः द्वितीयादि प्रयोगों में से प्रत्येक में इस स्मरण का सम्पादन आवश्यक होता है । जैसे कि वह्नि का 'प्रणयन' प्रत्येक याग में पृथक्-पृथक् आवश्यक होता है ॥ ४० ॥

सर्वेषामनभिज्ञानां पूर्वपूर्वप्रसिद्धितः ।
सिद्धः सम्बन्ध इत्येवं सम्बन्धादिर्न विद्यते ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार वर्त्तमान काल में आज के अनभिज्ञों को समझाने के लिये जो शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस शब्द से आज के अनभिज्ञ पुरुषों को प्रयोगकर्त्ता पुरुष के 'समय' (संकेत) के ज्ञान से ही अर्थविषयक बुद्धि (शाब्दबोध) उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आज के ये समयाभिज्ञ पुरुष पूर्व में जिस समय संकेत (समय) से अनभिज्ञ थे, उस समय पूर्ववर्त्ती समयाभिज्ञों के संकेत के ज्ञान से ही उन्हें अर्थविषयक ज्ञान होता था । इस प्रकार शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध 'अनादिसिद्ध' है । सिद्ध वस्तु का कोई कारण नहीं होता ॥ ४१ ॥

प्रत्युच्चारणनिर्वृत्तिर्भाष्य एव निराकृता ।
[1]सर्गादौ च क्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते ॥ ४२ ॥

---

१. कथित प्रथम विकल्प के अत्यन्त नगण्य दो अनुविकल्पों का संभावनामात्र से (श्लोक १४) उल्लेख कर उनका खण्डन भी कर दिया गया है । फलतः जगत् के आदि और अन्त दोनों माननेवालों का पक्ष ही (श्लोक १३ का उत्तरार्द्ध) अवशिष्ट रह जाता है जिसका खण्डन 'सर्गादौ च' इत्यादि से किया जाता है ।

पदों के प्रत्येक उच्चारण में अलग-अलग संकेतनिर्माणपक्ष का खण्डन भाष्य-कार ने स्वयम्—

'नैकोच्चारणयत्नेन स्वार्थसम्बन्धः संव्यवहारश्च शक्यते कर्त्तुम्' (शाबरभाष्य पृ० ८६ पं० ३)

इस सन्दर्भ से किया है। अतः इस पक्ष के खण्डन का अलग से प्रयोग यहाँ छोड़ दिया गया है।

(सृष्टि के आदि में किसी पुरुष ने शब्द का अर्थ के साथ संकेत का निर्माण किया जिसके अनुसार अन्य लोग व्यवहार करने लगे, किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

सर्ग (सृष्टि) के आदि में कोई क्रिया सम्भव नहीं है।

तादृक्कालो हि नेष्यते

सृष्टि के आदि स्वरूप काल को ही हम लोग (मीमांसकगण) स्वीकार नहीं करते। हम लोगों के मत से यह सृष्टि अनादिकाल से यों ही चली आ रही है, और अनन्तकाल तक यों ही चलेगी ॥ ४२ ॥

यदि त्वादौ जगत् सृष्ट्वा धर्माधर्मौ ससाधनौ।
यथा शब्दार्थसम्बन्धान् वेदान् कश्चित् प्रवर्तयेत् ॥ ४३ ॥
जगद्धिताय वेदस्य तथा किञ्चिन्न दुष्यति।
सर्वज्ञवत् तु दुस्साधमित्यत्रैतन्न संश्रितम् ॥ ४४ ॥

यदि त्वादौ ''प्रवर्त्तयेत् ''न दुष्यति

(पू० प०) जिस प्रकार सृष्टि के आदि में जगत्, धर्माधर्म, इनके साधन याग, हिंसादि की रचना प्रजापति करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध (संकेत) की रचना कर वेदों का प्रवर्त्तन किसी पुरुष ने किया—ऐसा स्वीकार करने पर कथित दोषों में से किसी भी दोष की सम्भावना नहीं है।[1]

सर्वज्ञवत् ''संश्रितम्

जिस प्रकार सभी विषयों की जानकारी कारणों के अभाव से किसी एक पुरुष में सम्भव नहीं है (देखिये चोदनासूत्रवार्त्तिक) उसी प्रकार सृष्टि के आदि में

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आसीत्, प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि अर्थवादात्मक वेदवाक्यों के द्वारा एवं पुराणों के कतिपय वचनों के द्वारा कथित रीति से सृष्टि के आरम्भ की प्रक्रिया जब वर्णित है, तो तदनुसारिणी सृष्टि की प्रक्रिया को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

तदनुसार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनादि मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उक्त संकेत को वेदकर्त्ता स्वरूप पुरुष से निर्मित मानने पर भी काम चल सकता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य एवं अपौरुषेय नहीं है (सृष्टि और प्रलय की इस प्रक्रिया को विशद रूप से वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में एवं संक्षिप्त रूप से इसी प्रकरण के श्लोक ६७ की मेरी व्याख्या में देखिये)।

कार्यों का कोई कर्त्ता भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय कार्य की उत्पत्ति के कारणों का संवलन ही सम्भव नहीं है। इसीलिये इस पक्ष का अवलम्बन हम लोगों (मीमांसकों) ने छोड़ दिया ॥ ४४ ॥

यदा सर्वमिदं नासीत् क्वावस्था तत्र गम्यताम् ।
प्रजापतेः क्व वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ॥ ४५ ॥

क्योंकि सृष्टि के आदि में जगत् की कैसी अवस्था थी ? यदि बुद्धि से इसका आकलन भी नहीं कर सकते, तो फिर उस अवस्था का निर्णय तो और भी असंभव है।

सृष्टिकर्त्ता जिस 'प्रजापति' की बात की जाती है, वे उस समय कहाँ रहते हैं ? क्योंकि उस समय पृथिव्यादि द्रव्य नही रहते जो उनका आधार हो सकते हैं। उनकी आकृत्ति का भी निर्णय नहीं हो सकता। यदि उनका शरीर न मानें तो उनमें सृष्टिकर्तृत्व ही अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि कर्तृत्व के लिये अर्थात् कर्त्ता होने के लिये ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न इन तीनों की आवश्यकता होती है, किन्तु विना शरीर के ज्ञानादि की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः अशरीर पुरुष से सृष्टि नहीं हो सकती। सृष्टिकर्त्ता प्रजापति को शरीर से युक्त माना भी नहीं जा सकता, क्योंकि उस समय पृथिव्यादि भूतवर्ग नही रहते। फलतः पाञ्चभौतिक शरीर ही उस समय संभव नहीं है ॥ ४५ ॥

ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति ।
उपलब्धेर्विना चैतत् कथमध्यवसीयताम् ॥ ४६ ॥

ज्ञाता कः*बोधयिष्यति**

सृष्टि के आदि में किसी भी वस्तु के न रहने से न कोई ज्ञाता रहता है, न कोई ज्ञेय। फिर कौन किस वस्तु को दूसरों को समझावेगा ?

उपलब्धेर्विना*अध्यवसीयताम्**

क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय को उपलब्धि के विना शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को ही कैसे जाना जा सकता है ? ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते ।
शरीरादेर्विना चास्य कथमिच्छापि सर्जने ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तिः कथम्*संप्रतीयते**

यदि सृष्टि के पूर्व किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं थी तो फिर सृष्टिरचना की पहिली प्रवृत्ति ही कैसे उत्पन्न हुई, क्योंकि प्रवृत्ति के कारणों को प्रवृत्ति से पहिले रहना आवश्यक है ?

शरीरादेः*सर्जने**

(यदि यह कहो कि प्रजापति की इच्छा से ही सृष्टि होती है, इसके लिये उन्हें प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—) इच्छा के लिये भी शरीर की आवश्यकता है ही ॥ ४७ ॥

शरीराद्यथ तस्य स्यात् तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता।
तद्वदन्यप्रसङ्गोऽपि नित्यं यदि तदिष्यते ॥ ४८ ॥
पृथिव्यादावनुत्पन्ने किम्मयं तत्पुनर्भवेत्।
प्राणिनां प्रायदुःखा च सिसृक्षास्य न युज्यते ॥ ४९ ॥

शरीराद्यथ''''तत्कृता

यदि अनित्य वस्तुओं की तरह सृष्टिकर्त्ता प्रजापति के शरीर का भी निर्माण स्वीकार करो, तो फिर उस शरीर की उत्पत्ति प्रजापति से नहीं हो सकती, क्योंकि स्वशरीर के निर्माण से पहले वे अशरीर थे। अशरीर से शरीर का निर्माण संभव नहीं है।

तद्वदन्यप्रसङ्गोऽपि

यदि प्रजापति के शरीर के उत्पादन के लिये किसी दूसरे शरीर की कल्पना करो तो उस दूसरे शरीर के उत्पादन के लिये भी तीसरे शरीर की कल्पना आवश्यक होगी जो अनवस्था में परिणत हो जायगी।

नित्यं यदि तदिष्यते

यदि प्रजापति के शरीर को नित्य मानो ?

पृथिव्यादा''''तत्पुनर्भवेत्

तो यह असमाधेय प्रश्न उपस्थित होगा कि वह नित्य शरीर 'किम्मय' होगा। अर्थात् पृथिव्यादि पाँच भूतों में से किसी की प्रधानता उस शरीर में रहेगी ? क्योंकि उस समय पृथिव्यादि द्रव्यों में से कोई भी उत्पन्न हुआ नहीं रहेगा।

प्राणिनाम्''''न युज्यते

दूसरी बात यह भी है कि जगत् में दुःख का ही बाहुल्य देखा जाता है, किन्तु प्रजापति जैसे पुरुष को दुःखमय शरीर के निर्माण की इच्छा भी उचित नहीं है ॥४९॥

साधनं चास्य धर्मादि तदा किञ्चिन्न विद्यते।
न च निस्साधनः कर्ता कश्चित् सृजति किञ्चन ॥ ५० ॥

सृष्टि स्वरूप कार्य केवल इच्छा से हो भी नहीं सकता। उस समय धर्माधर्म प्रभृति अन्य साधनों का संवलन भी संभव नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ जीव ही धर्माधर्म के आश्रय हैं। क्षेत्र (शरीर) के विना क्षेत्रज्ञ जीव की सत्ता संभव नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति के समय शरीर की सत्ता संभव नहीं है। फलतः सृष्टि के धर्माधर्मादि साधनों के असंवलन से भी सृष्टि की प्रथम उत्पत्ति संभव नहीं है।

कोई भी कर्ता विना साधन के किसी वस्तु का सृजन नहीं कर सकता ॥५०॥

नाधारेण विना सृष्टिरूर्णनाभेरपीष्यते।
प्राणिनां भक्षणाच्चापि तस्य लाला प्रवर्तते ॥ ५१ ॥

(पू० प०) जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ा) विना किसी अन्य साधनों के ही 'जाल' (कोश) की रचना करता है, उसी प्रकार प्रजापति भी विना धर्माधर्मादि साधनों के ही सृष्टि की रचना कर सकते हैं। किन्तु इस कथन में भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि :—

मकड़ा (ऊर्णनाभि) भी दिवाल प्रभृति विना किसी अन्य साधनों के जाल की रचना नहीं करता। छोटे-छोटे कीड़ों के खाने से मकड़े के मुँह में 'लाला' (लार) बनता है, वह भी जाल की रचना में अन्य साधन के रूप में मकड़ों को प्राप्त है ॥५१॥

अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य जायते।
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥ ५२ ॥

अभावाच्च''जायते

सृष्टि की रचना को उसके कुछ समर्थक ईश्वर (प्रजापति) की अनुकम्पा से मानते हैं, किन्तु सृष्टि के आदि में कोई ऐसा पुरुष नहीं रहता जिसके उपकार के लिये सृष्टि की रचना की जाय। अतः इस दृष्टि से भी सृष्टि की रचना अनुपपन्न है।

सृजेच्च''''प्रयोजितः

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि में दुःख की सत्ता न रहने से उसकी निवृत्ति की इच्छा स्वरूप अनुकम्पा से सृष्टि की रचना भले ही सम्भव न हो, किन्तु उस समय कोई सुख भी तो नहीं है, अतः सुख के लिये ही सृष्टि की रचना की जा सकती है। अर्थात् जिस प्रकार दुःख से छुड़ाना अनुकम्पा है, उसी प्रकार सुख के साथ जोड़ना भी अनुकम्पा ही है। पहली अनुकम्पा भले ही सम्भव न हो, दूसरी अनुकम्पा से वशीभूत होकर ही ईश्वर सृष्टि की रचना कर सकते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, यदि ऐसा होता तो ईश्वर 'शुभ' अर्थात् सुखमय जगत् की ही सृष्टि करते। जगत् में दुःख नहीं दीख पड़ता ॥ ५२ ॥

अथाऽशुभाद् विना सृष्टिः स्थितिर्वा नोपपद्यते।
आत्माधीनाभ्युपाये हि भवेत् किं नाम दुष्करम् ॥ ५३ ॥
तथा चापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते।
जगच्चासृजतस्तस्य किं नामेष्टं न सिध्यति ॥ ५४ ॥

अथाऽशुभाद्विना''नोपपद्यते''प्रतिहन्यते

यदि यह कहो कि दुःख के विना केवल सुख से परिपूर्ण सृष्टि की रचना चूँकि सम्भव नहीं है, अतः दुःख की भी सृष्टि की जाती है। अतः सुखमयी सृष्टि के लिये दुःख की रचना भी आवश्यक है।

किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर के स्वातन्त्र्य में बाधा आवेगी, क्योंकि सृष्टि की रचना यदि ईश्वर के अपने अधीन है तो फिर दुःख के विना उनसे सुखमयी सृष्टि क्यों नहीं होगी ? किन्तु यदि ऐसा मानें (अर्थात् ईश्वर से सुखमयी सृष्टि के लिये दुःख की अपेक्षा को स्वीकार करें) तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य में बाधा आवेगी।

जगच्चासृजतः""न सिद्धयति

प्रजापति अथवा परमेश्वर किस प्रयोजन से सृष्टि की रचना करेंगे ? उनका कौन सा प्रयोजन सृष्टि की रचना के विना सिद्ध नहीं होगा ? ॥ ५३–५४ ॥

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ॥ ५५ ॥

विना प्रयोजन के तो 'मन्द' अर्थात् साधारण जन भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, सो फिर सर्वज्ञ परमेश्वर जैसे व्यक्ति विना प्रयोजन के सृष्टि जैसे कार्य में कैसे प्रवृत्त होंगे ?

एवमेव""भवेत्

यदि यों ही विना प्रयोजन के ही सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर की प्रवृत्ति को स्वीकार करें तो फिर उन्हें 'चेतन' मानने से क्या लाभ ? ॥ ५५ ॥

क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ।
बहुव्यापारतायां च क्लेशो बहुतरो भवेत् ॥ ५६ ॥

यदि ईश्वर की सृष्टिरचना को उनकी क्रीड़ा या खेल मानें तो उनकी कृतार्थता (निजलाभपरिपूर्णता) भंग हो जायगी, क्योंकि सृष्टिरचनाजनितस्वरूप क्रीड़ा की अप्राप्ति की दशा में ही वे सृष्टि की रचना करेंगे। एवं क्रीड़ाजनित अल्प सुख के लिये सृष्टिरचना स्वरूप बड़े कार्य के अनुरूप श्रम का क्लेश भी ईश्वर में स्वीकार करना होगा। अतः सृष्टिरचना के ईश्वर की प्रवृत्ति को क्रीड़ार्था भी नहीं कह सकते ॥ ५६ ॥

संहारेच्छापि चैतस्य भवेदप्रत्ययात् पुनः ।
न च कैश्चिदसौ ज्ञातुं कदाचिदपि शक्यते ॥ ५७ ॥

संहारेच्छा""अप्रत्ययात् पुनः

सृष्टि के साथ प्रलय की बात जुड़ी हुई है, इसलिये 'सिसृक्षा' अर्थात् सृष्टि-निर्माण करने की इच्छा को यदि अनुकम्पामूलक मानें तो एक ही अनुकम्पा स्वरूप हेतु में सिसृक्षा और संहारेच्छा इन दोनों विरुद्ध कार्यों की जनकता माननी होगी। किन्तु सो उचित नहीं है।

न च कश्चिदसौ""शक्यते

पहले (श्लो० ४६) कहा जा चुका है कि सृष्टि के समय उन्हें कोई नहीं जान सकता। अब यह कहते हैं कि सृष्टि के बाद भी उन्हें कोई नहीं जान सकता। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उन्हें कोई जान ही नहीं सकता ॥ ५७ ॥

स्वरूपेणोपलब्धेऽपि स्रष्टृत्वं नावगम्यते ।
सृष्ट्याद्याः प्राणिनो ये च बुध्यन्तां किं नु ते तदा ॥ ५८ ॥

स्वरूपेण'''नावगम्यते

जिस प्रकार अन्य पुरुषों को देखा जाता है, उसी प्रकार कदाचित् सृष्टिकर्त्ता पुरुष को भी देखा जा सके, किन्तु उनमें जो सृष्टिकर्तृत्व है, उसे नहीं देखा जा सकता। अर्थात् पुरुषत्व रूप से 'अयं पुरुषः' इस आकार का ज्ञान उनका कदाचित् हो भी सके किन्तु सृष्टिकर्तृत्व रूप से 'अयमेव सृष्टिकर्त्ता पुरुषः' इस आकार का ज्ञान ईश्वर का नहीं हो सकता।

सृष्ट्याद्याः'''किं नु ते तदा

(यदि यह कहो कि आज के मनुष्य उन्हें सृष्टिकर्त्ता के रूप में न भी जान सकें, किन्तु सृष्टि के आदिकाल के पुरुष उन्हें सृष्टिकर्त्ता के रूप में जान सकते हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

सृष्टि के आदिकालिक पुरुष में आधुनिक पुरुषों से ऐसा कोई विशेष नहीं है, जिसके बल से वे हो उन्हें सृष्टिकर्त्ता के रूप में जान सकें ॥ ५८ ॥

कुतो वयमिहोत्पन्ना इति तावन्न जानते।
प्रागवस्थां च जगतः स्रष्टृत्वं च प्रजापतेः ॥ ५९ ॥

क्योंकि सृष्टि के आदि के लोग भी यह नहीं जानते कि 'हमलोग कहाँ से उत्पन्न हुये।' जब प्रजापति से अपनी उत्पत्ति को ही वे नहीं जानते तो फिर प्रजापति से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति को कैसे जानेंगे ?

प्रथम सृष्टि के बाद जिनकी उत्पत्ति हुई है, वे लोग असत्त्वावस्था में जगत् को देखने के बाद यदि प्रजापति के व्यापार से समुद्भूत जगत् को सद्रूप में देखते तो वे कदाचित् प्रजापति के सृष्टिकर्तृत्व को समझ भी सकते थे। किन्तु ऐसी स्थिति में सृष्टि के बाद के लोग प्रजापति को सृष्टिकर्त्ता के रूप में नहीं समझ सकते ॥ ५९ ॥

न च तद्वचनेनैषां प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता।
असृष्ट्वापि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्यप्रकाशनात् ॥ ६० ॥

यदि सृष्टिकर्त्ता के ही 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' इत्यादि वचनों के द्वारा प्रजापति से सृष्टि का ज्ञान सृष्टिकाल के पुरुषों में मानें अर्थात् हेतु के द्वारा उस ज्ञान को अनुमिति स्वरूप न मानें तो वह भी संभव नहीं होगा, क्योंकि सृष्टिकर्त्ता के वचन से ही सृष्टिकर्तृत्व का ज्ञान 'सुनिश्चित' अर्थात् अप्रामाण्यज्ञान के संस्पर्श से शून्य संभव नहीं होगा, क्योंकि स्वयं सृष्टि न करके भी अपने ऐश्वर्य के प्रकाश के लिये उन प्रकार के वचनों का प्रयोग वे कर सकते हैं ॥ ६० ॥

एवं वेदोऽपि तत्पूर्वस्तत्सद्भावादिबोधने।
साशङ्को न प्रमाणं स्यान्नित्यस्य व्यापृतिः कुतः ॥ ६१ ॥

एवं वेदोऽपि'''न प्रमाणं स्यात्

(पू० प०—कथित स्मृति वचनों से उत्पन्न उक्त ज्ञान भले ही अप्रामाण्यज्ञाना-स्कन्दित हो, किन्तु 'प्राजापतिर्वा इदमेक एवासीत्, सोऽकामयत, प्रजाः पशून् सृजेय''''

ततो वै प्रजाः पशूनसृजत्' इत्यादि वेदवचनों से प्रजापति की सृष्टिरचना का ज्ञान होगा। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—) वेद भी तो (उन लोगों के मत से) प्रजापति के द्वारा ही निर्मित है। अतः प्रजापति में वेदजनित सृष्टिकर्तृत्व का ज्ञान स्वकीय ऐश्वर्य के प्रकाशन की संभावना से अप्रामाण्यशङ्कास्पद ही होगा।

नित्यस्य व्यापृतिः कुतः

यदि वेद को नित्य मानें तो उससे तदुत्तरकालिक वेदविषयक ज्ञान स्वरूप व्यापार उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

यदि प्रागप्यसौ तस्मादर्थादासीन्न तेन सः।
सम्बद्ध इति तस्यान्यस्तदर्थोऽन्यप्ररोचना ॥ ६२ ॥

यदि सृष्टि से पहले ही वेद था तो उक्त वेदवाक्य के यथाश्रुत अर्थ के साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? अतः वेदवाक्य यथाश्रुतार्थक नहीं है, किन्तु विधिवाक्यार्थ का प्ररोचक कोई दूसरा ही उक्त वेदवाक्य का अर्थ है। अर्थात् उक्त वेदवाक्य विधिस्तावक होने के कारण यथाश्रुतार्थक नहीं है। अतः उस वाक्य से प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ६२ ॥

स्तुतिवाक्यकृतश्चैष जनानां मतिविभ्रमः।
पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम् ॥ ६३ ॥

उक्त स्मृतिवाक्य के यथाश्रुत अक्षरक्रमानुसारी अर्थ के ऊपर दृष्टि रखने से ही लोगों को उक्त वाक्य से प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व का भ्रम होता है, क्योंकि वाक्यों के पौर्वापर्य का पर्यालोचन न करने से शब्दों के अप्रकृत अर्थ को भ्रमात्मक मति उत्पन्न होती है ॥ ६३ ॥

उपाख्यानादिरूपेण वृत्तिर्वेदवदेव नः ।
धर्मादौ भारतादीनां भ्रान्तिस्तेभ्योऽप्यतो भवेत् ॥ ६४ ॥

उक्त वेदवाक्य से प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व की भ्रान्ति का एक कारण यह भी है कि पुराण एवं महाभारतादि ग्रन्थों में प्रजापति के द्वारा सृष्टिक्रम से ही उपाख्यानादि के द्वारा धर्मादि का उपदेश दिया गया है ॥ ६४ ॥

आख्यानानुपयोगित्वात् तेषु सर्वेषु विद्यते।
स्तुतिनिन्दाश्रयः कश्चिद् वेदस्तच्चोदितोऽपि वा ॥ ६५ ॥

(पू० प०) वेदों के ही समान स्मृतियों में और महाभारतादि इतिहासों में जो प्रजापति के द्वारा सृष्टिरचना की बातें कही गयीं हैं, उनसे प्रजापति में होनेवाले सृष्टिकर्तृत्व के ज्ञान को यथार्थ ही क्यों न मानें ? उस ज्ञान को भ्रम स्वरूप क्यों मानें ? इन प्रश्नों का यह उत्तर है—

जिस प्रकार वेदों का अध्ययन 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि से विहित है, उसी प्रकार स्मृति, पुराण, इतिहासादि ग्रन्थों के अध्ययन के लिये भी

'विधिवाक्य' हैं। जैसे कि महाभारत को सुनाने के लिये 'श्रावयेच्चतुरो वेदान् महाभारतपञ्चमान्' इत्यादि विधिवाक्य हैं। इसलिये पुराणमहाभारतादि भी वेदों के समान किसी प्रयोजनीय अर्थ के ज्ञापक हैं। केवल उपाख्यान प्रयोजनीय अर्थ के ज्ञापक नहीं हैं। अतः पुराणमहाभारतादि में भी विधिवाक्य और निषेधवाक्य इन दोनों से भिन्न जितने भी प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्वादि के बोधक उपाख्यान वाक्य हैं, वे सभी विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों की स्तुति के लिये ही लिखे गये हैं। स्मृति ग्रन्थों में तो वेदों के द्वारा कथित विधि का ही पुनः विधान किया गया है। कुछ वेदों में अनुपलब्ध विधियाँ भी हैं। तस्मात् स्मृति ग्रन्थों के जिन वाक्यों से प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व का बोध होता है, वे गौणार्थक हैं। उनसे प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ६५ ॥

वेदस्यादिप्रवृत्तौ च नाकृतत्वमतिर्भवेत्।
प्रलयेषु स्थितिश्चास्य साशङ्का स्यात् प्रजापतौ ॥ ६६ ॥

वेदस्यादिप्रवृत्तौ च ''मतिर्भवेत्

यदि वेदों को सादि मानें तो वेदों की नित्यता भङ्ग हो जायगी।

प्रलयेषु ''प्रजापतौ

(पू० प०) प्रजापति तो सृष्टि से पहले भी थे। सृष्टि से पहले वेद प्रजापति में ही विद्यमान थे। अतः सृष्टि को प्रजापतिनिर्मित मानने से वेदों की अनादिता भङ्ग नहीं होती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

प्रलयकाल में प्रजापति में वेदों की स्थिति शङ्कास्पद है। अर्थात् सृष्टि से पहले प्रजापति में वेदों की सत्ता कदाचित् रहे भी तथापि प्रजापति में वेदों की सत्ता शङ्कास्पद है। अर्थात् यह शङ्का रह जाती है कि सृष्टि के समान ही अवश्य-स्वीकर्त्तव्य प्रलयकाल में वेदों का विनाश क्यों नहीं होता? यह बात पहले भी चोदनासूत्र के वार्त्तिक में 'न हि तत्रापि विश्रामः' इत्यादि (श्लो० ४१३) से कही जा चुकी है ॥ ६६ ॥

कर्तृसर्गविनाशानाम् अथानादित्वकल्पना।
सैवं युक्ता यथेदानीं भूतानां दृश्यते क्रमात् ॥६७॥

यदि वैशेषिकमत के अनुसार सृष्टिकर्त्ता, सृष्टि (जगत्) एवं जगत् के विनाश स्वरूप प्रलय इन तीनों को प्रवाह रूप से 'अनादि' मानें तो सो भी युक्त नहीं होगा, क्योंकि यह कल्पना 'दृष्टानुगुण' नहीं होगी, क्योंकि किसी एक ही समय प्रजापति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हो एवं एक ही समय सम्पूर्ण जगत् का विनाश हो यह कल्पना सर्वजनविरुद्ध है, क्योंकि जिस प्रकार वर्त्तमान काल में क्रमशः ही वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है उसी तरह भूत काल और

भविष्यत् काल इन दोनों कालों भी वस्तुओं की क्रमशः ही उत्पत्ति और विनाश को स्वीकार करना लोकमत के अनुकूल है[1] ॥ ६७ ॥

प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वोच्छेदात्मके न हि।
न च प्रयोजनं तेन स्यात् प्रजापतिकर्मणा ॥ ६८ ॥

---

१. श्लोक ६७ से वैशेषिकों के सर्गप्रलयविषयक सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। इस प्रसङ्ग में वैशेषिकों की यह दृष्टि है—

सृष्टि और प्रलय का यह 'प्रवाह' अनादि है। ब्रह्मामान के अनुसार एक सौ वर्ष बीत जाने पर 'भगवान् महेश्वर' को समस्त संसार के संहार की इच्छा होती है, संहारेच्छा से युक्त ईश्वर और जीवात्मा के संयोग से परमाणुओं में विभागजनक क्रिया की उत्पत्ति होती है, उस क्रिया से परमाणुओं में विभाग उत्पन्न होता है। विभाग से द्वयणुक पर्यन्त सभी अवयविद्रव्यों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार सभी अवयवि द्रव्यों के विनष्ट हो जाने पर केवल पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय परमाणु और आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन एवं ईश्वर की इच्छा से उतने कालतक फल देने में असमर्थ धर्माधर्मों से युक्त जीव इतनी वस्तुयें पुनः सृष्टि होने से पहले भी (प्रलयकाल में) रहते हैं।

जब कथित सौ वर्षों का समय बीत जाता है तो कर्मोपभोग से रहित उन्हीं जीवों को देखकर भगवान् महेश्वर में जीवों के प्रति अनुकम्पा उत्पन्न होती है। इस अनुकम्पा से ईश्वर में सृष्टि करने की इच्छा (सिसृक्षा) उत्पन्न होती है। इसके बाद उक्त सिसृक्षा से युक्त ईश्वर और जीवों के संयोग से परमाणुओं में आरम्भक संयोगों की उत्पत्ति होती है। उन परस्पर संयुक्त परमाणुओं से उन स्थूल पृथिव्यादि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। उसके बाद उन महेश्वर की इच्छा से ही धर्माधर्मों से कार्योत्पत्ति के प्रतिरोधक शक्तियों का तिरोधान हो जाता है। उसके बाद अभिव्यक्त सामर्थ्य वाले विविध धर्माधर्मों के साहाय्य से अनेक प्रकार के नर, पशु, प्रभृति भूतों (प्राणियों) की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर वे महेश्वर ही धर्म और अधर्म के प्रतिपादन के लिये वेदों की रचना करते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि के लिये अलग-अलग वेद हैं। सृष्टियों का एवं वेदों का यह 'प्रवाह' कभी नहीं टूटता है। अतः प्रवाह की दृष्टि से सृष्टि और वेद दोनों ही अनादि हैं। इस मत के अनुसार परमाणु ही सृष्टि के उपादान कारण हैं। इस लिये सृष्टि में 'अनुपादानत्व' की बात दूर हो जाती है।

वैशेषिक दर्शनोक्त सृष्टिसंहारक्रम का यह विवरण श्लोकवार्तिक की पार्थसारथि मिश्र कृत न्यायरत्नाकर व्याख्योक्त रीति के अनुसार लिखी गयी है। श्लोकवार्तिक में वैशेषिकों के सृष्टिसंहार के प्रसङ्ग में जिन विषयों पर प्रहार किया गया है, उन्हीं को स्पष्ट किया गया है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में सृष्टि-संहार का मनोहर वर्णन है, वह इस प्रकार है—

प्रलयेऽपि''न हि

जिस प्रकार प्रजापति के द्वारा सृष्टि के निर्माण में कोई प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार प्रजापति के द्वारा सर्वविच्छेदात्मक प्रलय की उत्पत्ति में भी कोई प्रमाण हम लोग नहीं देखते, क्योंकि प्रजापति के कथित वचन इस प्रसंग में विश्वासयोग्य नहीं हैं। एवं वेदों से भी प्रजापति के द्वारा प्रलय की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वेद भी प्रजापतिनिर्मित ही हैं।

इहवानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टिसंहारविधिरुच्यते। ब्राह्मेण मानेन वर्षशतस्यान्ते वर्त्तमानस्य ब्राह्मणोऽपवर्गकाले खिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रमार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानामदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यस्तत्संयोगनिवृत्तौ तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः। तथा पृथिव्युदकज्वलनपवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिंश्च सति पूर्वपूर्वस्य विनाशः। ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते, धर्माधर्मानुविद्धाश्चात्मानस्तावन्तमेव कालम्।

ततः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरस्य सिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति। तदन्तरं तस्मिन्नेवाप्येभ्यः परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान् सलिलनिधिरुत्पन्नः पोप्लूयमानस्तिष्ठति। तदनन्तरं तस्मिन्नेव जलनिधौ पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महापृथिवी समुत्पन्ना संहतावतिष्ठते तदन्तरं तस्मिन्नेव महोदधौ तैजसेभ्यो द्व्यऽणुभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेणोत्पन्नो महांस्तेजोराशिर्देदीप्यमानस्तिष्ठति।

एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमुत्पद्यते। तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुंक्ते।

स महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मातिशयज्ञानवैराग्यसंपन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कालानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णान्यानि चोच्चावचानि भूतानि सृष्ट्वाऽऽशयानुरूपैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति। प्रशस्तपादभाष्य पृ० ९७ किरणावली।

ब्राह्मेण मानेन

क्षणद्वयं लवः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्।
अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठास्त्रिंशत्तु ताः कलाः॥
त्रिंशत्कालो मुहूर्तः स्यात् त्रिंशद्रात्र्यहनी च ते।
अहोरात्राः पञ्चदश पक्षो मासस्तु तावुभौ॥
ऋतुर्मासद्वयं प्रोक्तमयनं तु ऋतुत्रयम्।
अयनद्वितयं वर्षो मानुषोऽयमुदाहृतः॥
एष दैवस्त्वहोरात्रस्तैः पक्षादि च पूर्ववत्।
देववर्षसहस्राणि द्वादशैव चतुर्युगम्॥
चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
रात्रिश्चैतावती तस्य ताभ्यां पक्षादिकल्पना।

न च प्रयोजनम्'''कर्मणा

एवं बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाले परमेश्वर से 'प्रलय' जैसे अप्रयोजनीय कार्य करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती ॥ ६८ ॥

> न च कर्मवतां युक्ता स्थितिस्तद्भोगवर्जिता ।
> कर्मान्तरनिरुद्धं हि फलं न स्यात् क्रियान्तरात् ॥ ६९ ॥
> सर्वेषां तु फलापेतं न स्यानमुपपद्यते ।
> न चाप्यनुपभोगोऽसौ कस्यचित् कर्मणः फलम् ॥ ७० ॥

न च कर्मवताम्'''भोगवर्ज्जिता

(वैशेषिकों ने यह जो कहा है कि प्रलयकाल में कर्म (धर्माधर्म) तो रहते हैं, किन्तु उनसे सुखदुःखादि फल नहीं होते, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि :—)

जीव भी रहें, उनमें धर्माधर्म भी रहें, किन्तु उन धर्माधर्मों से उन जीवों को सुख-दुःख न मिले यह कल्पना युक्त नहीं है ।

कर्मान्तरनिरुद्धं'''क्रियान्तरात्'''सर्वेषाम्'''उपपद्यते

(वैशेषिकों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्रलयकाल में ईश्वरेच्छावश कर्म फल देने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि :—)

फल देने में उन्मुख एक कर्म से दूसरे कुछ कर्मों की फल देने की शक्ति का अवरोध कदाचित् स्वीकार भी किया जा सकता है, किन्तु केवल ईश्वर की इच्छा से फल देने को शक्ति से रहित सभी कर्मों की अवस्थिति को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि इसके लिये कोई उपयुक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।

न चाऽप्यनुपभोगोऽसौ'''फलम्

प्रलयकाल में जो जीवों को किसी कर्म के फल का उपभोग नहीं होता है, इस 'सर्वफलानुपभोग' को किसी अन्य प्रमाण का फल भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के 'सर्वफलानुपभोगजनक' कर्म की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है ॥६९-७०॥

> अशेषकर्मनाशे वा पुनः सृष्टिर्न युज्यते ।
> कर्मणां चाप्यभिव्यक्तौ किं निमित्तं तदा भवेत् ॥ ७१ ॥

(यदि यह कहो कि सभी जीवों के सभी कर्म जिस समय विनष्ट हो जाते हैं, उसी समय प्रलय होता है, अतः प्रलयकाल में सभी जीवों में अनुपभोग की उपपत्ति हो सकती है । किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि :—)

ऐसा मानने पर आगे सृष्टि रुक जायगी ।

(यदि यह कहो कि 'अभिव्यक्त' अर्थात् प्रलयकाल के बाद जब जीवों के कर्म 'फलोन्मुख' होते हैं, तो उन्हीं कर्मों से पुनः सृष्टि होती है, किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि :—)

उन कर्मों में फलोन्मुखता की उत्पत्ति में कोई विशेष कारण नहीं है ॥ ७१ ॥

ईश्वरेच्छा यदीष्येत सैव स्याल्लोककारणम् ।
ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फला कर्मकल्पना ।। ७२ ।।

यदि कर्मों की अभिव्यक्ति (फलोन्मुखता) का कारण ईश्वर की इच्छा को मानें तो फिर सर्वसामर्थ्यवती उस ईश्वरेच्छा से ही सृष्टि क्यों न मानें ? भूतों की सृष्टि के लिये अन्य कारणों को स्वीकार करने की कौन सी आवश्यकता है ? इस प्रकार सृष्टि को ईश्वरेच्छामूलक मानने से धर्माधर्म स्वरूप कर्म की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है ।। ७२ ।।

न चानिमित्तया युक्तमुत्पत्तुं हीश्वरेच्छया ।
यद्वा तस्या निमित्तं यत्तद् भूतानां भविष्यति ।। ७३ ।।

न चाऽनिमित्तया ''ईश्वरेच्छया

ईश्वर की इच्छा यदि उत्पत्तिशील है, तो फिर केवल ईश्वर स्वरूप उपादान कारण से ही किसी दूसरे निमित्त कारण के विना उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि केवल ईश्वर से ही ईश्वर की सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) की उत्पत्ति मानें तो प्रलयकाल में भी उस इच्छा की उत्पत्ति होगी । अतः जीवों के धर्माधर्म स्वरूप कर्म ईश्वरेच्छा के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ईश्वरेच्छा से पहले उनकी कार्य करने की शक्ति ही प्रतिरुद्ध है ।

यदि ईश्वर की इच्छा को कर्मों की फलोन्मुखता का कारण मानें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा, क्योंकि ईश्वरेच्छा से कर्मों की फलोन्मुखता की उत्पत्ति एवं फलोन्मुख कर्मों से ईश्वरेच्छा की उत्पत्ति होना स्वीकार किया गया है । अतः ईश्वरेच्छा की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है ।

यद्वा निमित्तम् ''भूतानां भविष्यति

यदि ईश्वर की इच्छा का निमित्त कारण किसी को मान भी लें, तो उस निमित्त कारण के प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह नित्य है अथवा अनित्य । यदि नित्य मानें तो पहले भी सृष्टि की आपत्ति होगी । यदि उस निमित्त को अनित्य मानें तो उसके कारण के अन्वेषण से अनवस्था हो जायगी । किसी को इच्छा का निमित्त मानने में यह आपत्ति भी होगी कि उसीसे भूतों की सृष्टि स्वीकार कर ली जाय, मध्य में ईश्वरेच्छा को लाने की क्या आवश्यकता ? ।। ७३ ।।

सन्निवेशविशिष्टानामुत्पत्तिं यो गृहादिवत् ।
साधयेच्चेतनाधिष्ठां देहानां तस्य चोत्तरम् ।। ७४ ।।

(पृ० ५०) अनुमान प्रमाण के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को सर्वज्ञ चेतन पुरुष से उत्पन्न कहनेवालों (नैयायिकों) का अभिप्राय है कि जिस प्रकार गृह घटादि की उत्पत्ति उनके सावयव होने के कारण कुलालादि कर्त्ताओं से होती है, उसी प्रकार नदी, पर्वत, देह, दूर्वाङ्कुरादि जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी भी चेतन (ज्ञान से युक्त) कर्ता से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे भी सावयव (विशेष सन्निवेश से युक्त) हैं

(भूधरदेहदूर्वाङ्कुरादयः सर्वे पदार्थाः चेतनाधिष्ठानोत्पत्तयः सावयवत्वात् गृह-घटादिवत्) ॥ ७४ ॥[1]

कस्यचिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातृतेष्यते ।
कर्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम् ॥ ७५ ॥

(मीमांसकों का प्रत्युत्तर)

प्रकृत में एक ही चेतन कर्त्ता के द्वारा एक ही समय सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति स्वरूप 'सृष्टि' की सिद्धि ही पूर्वपक्षवादियों को अभिप्रेत है, किन्तु इस अभिप्रेतार्थ की सिद्धि संभव नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान के साध्यघटक 'अधिष्ठातृत्व' को यदि 'किञ्चिद्धेतुकत्व' स्वरूप मानें अर्थात् जिस किसी हेतु से उत्पन्न होना ही मान लें तो उक्त अनुमान में 'सिद्धसाधन' दोष होगा, क्योंकि अपने कर्मों के द्वारा क्षेत्रज्ञ जीव भी सभी कार्यों के कारण हैं ही। कर्म के द्वारा संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति में क्षेत्रज्ञ जीवों का अधिष्ठान तो हम (मीमांसक) लोग भी स्वीकार करते हैं ॥ ७५ ॥

इच्छापूर्वकपक्षेऽपि तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम् ।
इच्छानन्तरसिद्धिस्तु दृष्टान्तेऽपि न विद्यते ॥ ७६ ॥

इच्छापूर्वक' ' 'कर्मणाम्

(यदि यह कहें कि इच्छा के द्वारा चेतन का सम्बन्ध ही 'चेतनाधिष्ठान' है। जीवों का सम्बन्ध पृथिव्यादि की उत्पत्ति में इच्छा के द्वारा नहीं है, क्योंकि जीवों की इच्छा से उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। एवं भोगादृष्ट (कर्म) जन्यत्व भी पृथिव्यादि की उत्पत्ति में नहीं है। अतः सिद्धसाधन दोष नहीं है। वैशेषिकों के इस समाधान के प्रसङ्ग में पूछना है—

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये कि गृहघटादिदृष्टान्त भूधरदेहदूर्वाङ्कुरादि पक्ष ये सभी सावयव होने के कारण उत्पत्तिशील हैं। उनमें से घटादि पदार्थों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से चेतन कुलालादि कर्त्ताओं से देखी जाती है, अतः उनकी उत्पत्ति में चेतनाधिष्ठान भी प्रत्यक्षसिद्ध है। कथित पक्षभूत भूधरदेहादि पदार्थों में से देहादि का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अतः प्रकृत अनुमान से पक्षान्तर्गत देहादि पदार्थों में 'चेतनाधिष्ठान' मात्र ही साध्य है। भूधरादि पदार्थों का किसी से भी उत्पन्न होना प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं है, अतः उनमें 'चेतनाधिष्ठानविशिष्ट उत्पत्ति' ही साध्य है। इसी प्रकार गुण कर्मादि जितने भी क्रमशः उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं उन सभी पदार्थों में उत्पत्ति-मत्त्व हेतु के द्वारा घटादि दृष्टान्तों के बल से 'चेतनाधिष्ठितत्व का साधन करना चाहिए' 'क्रमोत्पत्तिकं कर्मादि सर्वज्ञचेतनाधिष्ठितमुत्पत्तिमत्त्वाद् गृहघटादिवत्)।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व को सर्वज्ञ ईश्वर स्वरूप कर्त्ता से जो उत्पन्न मानते हैं, उनके लिए यह प्रत्युत्तर है।

इस श्लोक में 'यः' पद के बाद 'वदति' पद को अध्याहृत समझना चाहिए।

प्रकृत श्लोकार्द्ध में पूर्व श्लोक में पठित 'सिद्धसाधनम्' पद का अनुषङ्ग समझना चाहिए।

(१) जिस किसी प्रकार सृष्टि से पहले इच्छा का रहना आवश्यक है ? a सृष्टि में इच्छा का आनन्तर्य विवक्षित है ? अर्थात् सृष्टि के अव्यवहित पूर्वक्ष इच्छा का रहना आवश्यक है ? इनमें पहले पक्ष का अवलम्बन करने से 'सिद्धस दोष पूर्ववत् विद्यमान है, क्योंकि जीवों के कर्म (धर्माधर्म) भी तो जीवों को से ही उत्पन्न होते हैं। अतः जीवों के कर्म से जिनकी उत्पत्ति होगी, उससे जीवों की इच्छा को भी तो हम (मीमांसकगण) स्वीकार करते हैं। प्रकृत श्ले में पूर्व श्लोक में पठित 'सिद्धसाधनम्' पद का अनुषङ्ग समझना चाहिये।

इच्छानन्तरसिद्धिस्तु""न विद्यते

(२) यदि कथित 'इच्छानन्तर्य' रूप द्वितीय पक्ष को स्वीकार करें तो द ही साध्यविकल हो जायगा, क्योंकि कुलालादि की इच्छा घटादि के अव्य पूर्वक्षण में नहीं रहती। कुलालादि की इच्छा के बाद प्रयत्न, प्रयत्न के बाद कानयनादि अनेक व्यापारों के बाद घटादि की उत्पत्ति होती है। अतः कथित पक्ष भी नहीं स्वीकार किया जा सकता ॥ ७६ ॥

अनेकान्तश्च हेतुस्ते तच्छरीराद्विना भवेत्।
उत्पत्तिमांश्च तद्देहो देहत्वादस्मदादिवत् ॥ ७७ ॥

अनेकान्तः""भवेत्

(१) विश्व के चेतन स्वरूप अधिष्ठाता को शरीर है ? अथवा (२) न अर्थात् वे शरीरी हैं ? अथवा नहीं ? इनमें यदि पहला पक्ष स्वीकार करें a परमेश्वर के शरीर को स्वीकार करें तो ईश्वर के शरीर में ही उक्त 'संनिवेशा ष्टत्व' हेतु 'अनेकान्त' अर्थात् व्यभिचरित हो जायगा, क्योंकि ईश्वरशरीर चे धिष्ठित नहीं है। उस शरीर का कोई दूसरा चेतन अधिष्ठाता नहीं है। अर्थात् ई शरीर में चेतनाधिष्ठितत्व स्वरूप साध्य नहीं है, अतः 'विपक्ष' है। उक्त विप 'संनिवेशविशिष्टत्व' हेतु है। विपक्ष में रहनेवाला हेतु अनेकान्तिक हेत्वाभास होत

उत्पत्तिमांश्च""अस्मदादिवत्

यदि यह कहो कि केवल 'संनिवेशविशिष्टत्व' (संनिवेश) ही हेतु न किन्तु 'उत्पत्तिमत्त्वे सति' इस विशेषण से युक्त 'संनिवेश' ही हेतु है। ईश्वर शरीर उत्पत्तिशील नहीं है किन्तु नित्य है। अतः 'उत्पत्तिमत्त्वविशिष्ट संनिवेश' स हेतु ईश्वर के शरीर में नहीं है, अतः ईश्वर के शरीर में साध्य नहीं है तो हे नहीं है। अतः प्रकृत में 'अनैकान्तिक' दोष नहीं है। किन्तु अनेकान्तिक दो यह परिहार भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

वैशेषिकादिमतों के अनुसार ही सामान्य रूप से ईश्वर के शरीर मे संनिवेशविशिष्टत्व (संनिवेश) हेतु से उत्पत्तिमत्त्व सिद्ध है। (ईश्वरशरीरमुत्प संनिवेशविशिष्टत्वाद् भूधरादिवत्)।

एवं शरीरत्व स्वरूप विशेष हेतु से भी ईश्वर के शरीर में अस्मदादि श के दृष्टान्त से उत्पत्तिमत्त्व की सिद्धि की जा सकती है (ईश्वरशरीरमुत्पत्तिमद् श

त्वादस्मादिशरीरवत्) अर्थात् ईश्वर का शरीर भी चूँकि अस्मदादि शरीरों के समान शरीर ही है अतः अस्मदादि के शरीरों के समान ही उत्पत्तिशील भी है। अतः कथित रीति से अनैकान्तिक दोष का परिहार ठीक नहीं है ॥ ७७ ॥

अथ तस्याप्यधिष्ठानं तेनैवेत्यविपक्षता।
अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवद् भवेत् ॥ ७८ ॥

अथ तस्याप्यधिष्ठानम्...अविपक्षता

(पूर्वपक्ष) विपक्ष में (साध्यशून्य आश्रय में) विद्यमान हेतु ही अनैकान्तिक हेत्वाभास है। ईश्वर का शरीर भी चूँकि भूधरादि के समान ही ईश्वराधिष्ठित है, अतः ईश्वराधिष्ठितत्व (ईश्वाराधिष्ठान) स्वरूप साध्य का अभाव उसमें निश्चित नहीं है। इसलिये विपक्ष न होने के कारण हेतु का उसमें रहना व्यभिचार का प्रयोजक नहीं है। इस प्रकार प्रकृत में अनैकान्तिकत्व दोष का परिहार किया जा सकता है।

अशरीरो हि...मुक्तात्मवद्भवेत्

उक्त परिहार भी उचित नहीं है, क्योंकि घटादि के कुलालादि निर्माताओं में 'प्रयत्न' के बल से ही अधिष्ठातृत्व देखा जाता है। आत्मा में प्रयत्न की उत्पत्ति शरीर-सम्बन्ध के रहने पर ही (शरीरावच्छेदेनैव) देखी जाती है। यदि ईश्वर को ही ईश्वरशरीर का अधिष्ठाता मानेंगे तो शरीररहित अशरीरी में भी अधिष्ठातृत्व स्वीकार करना होगा। किन्तु सो युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मुक्तात्माओं में शरीरसम्बन्ध न रहने के कारण किसी कार्य का अधीष्ठातृत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शरीररहित ईश्वर में भी अधिष्ठातृत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अधिष्ठातृत्व प्रयत्न के विना नहीं होता एवं प्रयत्न शरीर के विना नहीं होता। इस प्रकार अधिष्ठातृत्व शरीर के विना अनुपपन्न है।

ईश्वर के प्रयत्न को नित्य मानकर भी शरीरसम्बन्ध के विना अधिष्ठातृत्व का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अस्मदादि के जितने भी प्रयत्न दृष्ट हैं, वे सभी अनित्य ही हैं। अतः 'ईश्वरप्रयत्नोऽप्यनित्यः प्रयत्नत्वाद् अस्मदादिप्रयत्नवत्' इस अनुमान के द्वारा ईश्वर का प्रयत्न भी अनित्य ही सिद्ध होता है।

इससे ये अनुमान निष्पन्न होते हैं :—

(१) जिस प्रकार आकाश शरीरकर्तृक न होने के कारण चेतनकर्तृक नहीं है, उसी प्रकार देहादि भी चूँकि शरीरकर्तृक नहीं हैं, अतः चेतनकर्तृक भी नहीं है (देहादयो न चेतनाधिष्ठिताः शरीरकर्तृकत्वविरहात्)।

(२) देहादि भी चूँकि आकाशादि वस्तुओं के समान ही वस्तु हैं, अतः आकाशादि के समान ही उनका भी कोई अशरीरी अधिष्ठाता नहीं है। (देहादयो न अशरीर्यधिष्ठातृकाः वस्तुत्वाद् व्योमवत्)।

(३) जिस प्रकार आकाशादि वस्तुओं का नित्य प्रयत्न से युक्त कोई अधि-ष्ठाता नहीं है, उसी प्रकार देहादि का भी कोई नित्यप्रयत्न से युक्त अधिष्ठाता नहीं है। (देहादयो न नित्यप्रयत्नाधिष्ठातृकाः वस्तुत्वाद् व्योमवत्)।

इन अनुमानों का यह निष्कर्ष है कि ईश्वर को यदि देहभूधरादि कार्यों का अधिष्ठाता मानें तो उनको शरीरी मानना होगा। किन्तु दूर्वाङ्कुरादि अवयवियों में किसी शरीरी अधिष्ठाता का अधिष्ठातृत्व योग्यानुपलब्धि से बाधित है। अतः देहादि के शरीरी अथवा अशरीरी किसी प्रकार के चेतन अधिष्ठाता का अनुमान नहीं किया जा सकता ॥ ७८ ॥

कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि चेष्यते।
नेश्वराधिष्ठितत्वं स्यादस्ति चेत् साध्यहीनता ॥ ७९ ॥

कुम्भकाराद्यधिष्ठानम्……स्यात्

देह भूधरादि पक्षों में जिस चेतनाधिष्ठितत्व के साधन के लिये आप (वैशेषिकादि) उद्यत हैं, वह चेतनाधिष्ठितत्व क्या गृहघटादि दृष्टान्तों में जिस प्रकार कुम्हार आदि का अधिष्ठातृत्व है—उसी प्रकार का है ? अथवा ईश्वराधिष्ठितत्व के अभिप्राय से चेतनाधिष्ठितत्व की सिद्धि करना चाहते हैं ? इनमें यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो उक्त अनुमान से भूधरादि पक्षों में ईश्वराधिष्ठितत्व की सिद्धि नहीं होगी, किन्तु कुम्भकारादि के समान किसी जीव के ही अधिष्ठितत्व की सिद्धि होगी।

अस्ति चेत् साध्यहीनता

कथित दूसरे पक्ष में घटादि दृष्टान्तों में ही साध्य की सत्ता नहीं रहेगी, क्योंकि घटादि ईश्वराधिष्ठित नहीं हैं। इस प्रकार दृष्टान्त में विकल्प के द्वारा भी कथित अनुमान दूषणीय हैं ॥ ७९ ॥

यथासिद्धे च दृष्टान्ते भवेद्धेतोर्विरुद्धता।
अनीश्वरविनाश्यादिकर्तृमत्त्वं प्रसज्यते ॥ ८० ॥

यदि ईश्वरानीश्वरसाधारण सामान्य चेतनाधिष्ठान को साध्य करेंगे, तो घटादि की दृष्टान्तता यद्यपि अनुपपन्न नहीं होगी, क्योंकि घटादि ईश्वराधिष्ठत न होने पर भी कुम्भकारादि चेतनाधिष्ठित तो हैं ही। फिर भी इस साध्य के अनुसार हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास हो जायगा, क्योंकि जिस प्रकार घटादि चेतनकर्तृक होने पर भी ईश्वरकर्तृक नहीं हैं, उसी प्रकार देहादि भी चेतनकर्तृक होने पर भी ईश्वरकर्तृक नहीं हैं। यदि घटादि को कुलालादि चेतनों से अधिष्ठित होने के साथ-साथ ईश्वराधिष्ठित भी मानें तो देहभूधरादि पक्षों में चेतनाधिष्ठितत्व की सिद्धि का पर्यवसान ईश्वर की सिद्धि में न होने से 'एक ईश्वर' की सिद्धि ही बाधित हो जायगी ॥ ८० ॥

कुलालवच्च नैतस्य व्यापारो यदि कल्प्यते।
अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुरुध्यते ॥ ८१ ॥

पहिले कहा जा चुका है कि देहादि के शरीरी कर्त्ता के योग्यानुपलब्धि के द्वारा बाधित होने के कारण देहादि के अधिष्ठाता को अशरीरी ही मानना होगा। किन्तु विना प्रयत्न के कोई भी अधिष्ठाता नहीं होता। केवल इच्छा से ही अधिष्ठातृत्व मानने से भी अशरीर आत्मा में अधिष्ठातृत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रयत्न

के समान इच्छा भी बिना शरीर के उत्पन्न नहीं होगी। इसी लिये मुक्तात्माओं को इच्छा नहीं होती है। यदि केवल इच्छा से अधिष्ठातृत्व मान भी लें, तथापि अचेतन परमाणु की प्रवृत्ति केवल किसी चेतन की इच्छा से नहीं हो सकती। चेतन राजपुरुष ही राजा की इच्छा मात्र से प्रवृत्त होते हैं, अचेतन हिरण्यादि नहीं ॥ ८१ ॥

तस्मान्न परमाण्वादेरारम्भः स्यात् तदिच्छया।
पुरुषस्य च शुद्धस्य नाशुद्धा विकृतिर्भवेत् ॥ ८२ ॥

तस्मान्न""तदिच्छया

'तस्मात्' ईश्वर की इच्छा मात्र से परमाण्वादि में सृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः ईश्वर के द्वारा सृष्टिरचना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नैयायिकों और वैशेषिकों का ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण स्वीकार करने वाला ईश्वरकर्तृत्वपक्ष अनुपपन्न है।

वेदान्तियों के ब्रह्मपरिणामवाद का खण्डन

पुरुषस्य च""विकृतिर्भवेत्

(सृष्टि के प्रसङ्ग में भास्करानुयायी वेदान्तियों का कहना है कि सृष्टि के आदि में केवल आत्मा ही है। यह केवल अपनी इच्छा से ही आकाश, वायु, जल और पृथिवी के स्वरूपों में अपने को परिणत करते हुये इस प्रपञ्चात्मक विश्व की रचना करती है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

ज्ञान एवं आनन्द स्वभाव की आत्मा बिना किसी कारण के जड़ स्वरूप विकार के रूप में अपने को कैसे परिणत करेगी ? ॥ ८२ ॥

स्वाधीनत्वाच्च धर्मादिस्तेन क्लेशो न युज्यते।
तद्वशेन प्रवृत्तौ वा व्यतिरेकः प्रसज्यते ॥ ८३ ॥

स्वाधीनत्वाच्च""न युज्यते

(यदि यह कहो कि धर्म और अधर्म के वशीभूत होकर ही आत्मा अपने को जगत् के स्वरूप में परिणत करती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

आत्मा सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण अत्यन्त स्वतन्त्र है, वह धर्म और अधर्म के वश में कैसे हो सकती है ? प्रत्युत धर्माधर्म उसके वश में है। अतः धर्माधर्म हेतु से उसमें संसार रूप क्लेश का अनुभव कैसे माना जा सकता है ?

तद्वशेन प्रसज्यते

दूसरी बात यह भी है कि सृष्टि के समय आत्मा से भिन्न कोई भी वस्तु नहीं रहती। अतः उस समय धर्माधर्म भी नहीं रहते। फिर उनके साहाय्य से प्रपञ्च स्वरूप क्लेश की उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि उस समय धर्माधर्म की सत्ता मानें तो 'व्यतिरेकापत्ति' होगी, अर्थात् 'सृष्टि के समय केवल आत्मा ही रहती है' इस 'सिद्धान्त की हानि' होगी ॥ ८३ ॥

विवर्त्तवाद का खण्डन

स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्वाच्चान्यवस्तुनः ।
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता ॥ ८४ ॥

स्वयं च ...तस्य किंकृता

कोई (विवर्त्तवादी वेदान्ती) कहते हैं कि जगत् ब्रह्म (आत्मा) का परिणाम नहीं है। किन्तु अपरिणत (अविकृत) आत्मा ही अविद्या के कारण स्वप्न के समान अपने को प्रपञ्च के रूप में अनुभव करती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—) अविद्या है भ्रान्ति रूप। भ्रान्ति किसी कारण से होती है। शुद्ध विद्या स्वरूप (अर्थात् सर्वथा प्रमा स्वरूप) आत्मा (पुरुष) भ्रान्ति स्वरूप अविद्या का कारण कैसे हो सकता है ? आत्मा से भिन्न किसी वस्तु की (वास्तविक) सत्ता नहीं है। इस लिये अविद्या आत्मा में प्रवृत्ति को उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये अविद्या के साहाय्य से सृष्टि की रचना असंभव है। अर्थात् आत्मा स्वयं शुद्ध बुद्ध स्वभाव की है। सृष्टि के समय दूसरी वस्तु की सत्ता नहीं है। अविद्या स्वप्न के समान भ्रान्ति स्वरूप है। अतः आत्मा में सृष्टि के लिये प्रवृत्ति ही किस से उत्पन्न होगी ? ॥ ८४ ॥

अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते ।
स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ॥ ८५ ॥

अन्येन ...प्रसज्यते

ब्रह्म से भिन्न यदि किसी वस्तु के साहाय्य को स्वीकार करें तो द्वैतवाद की आपत्ति होगी।

स्वाभाविकीम् ...कश्चिदर्हति

(यदि यह कहो कि अविद्या को ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति मान लें, एवं उस शक्ति को अनादि मान लें। इस स्थिति में आत्मा से सृष्टि की रचना में किसी अन्य के साहाय्य की कोई बात नहीं रह जाती। किन्तु तथापि निस्तार नहीं है, क्योंकि—)

ब्रह्म तो सत्त्वज्ञान स्वरूप (स्वभाव का) है। भ्रान्ति स्वरूप अविद्या उसका स्वभाव नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही ब्रह्म विद्या और अविद्या इन दो विरुद्ध स्वभावों का नहीं हो सकता। अविद्या यदि अनादि ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति हो, तो उसका उच्छेद संभव न होने के कारण 'अनिर्मोक्ष'प्रसङ्ग भी उपस्थित होगा ॥ ८५ ॥

विलक्षणोपपाते हि नश्येत् स्वाभाविकी क्वचित् ।
न त्वेकात्माभ्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः ॥ ८६ ॥

(यदि यह कहो कि जिस प्रकार पार्थिव परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता (श्याम रूप) का विनाश विलक्षण तेजःसंयोग से होता है, उसी प्रकार ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति रूपा अविद्या का भी विनाश ध्यान-धारणादि से हो सकता है।

अतः अविद्या का उच्छेद स्वरूप मोक्ष असंभव नहीं है। किन्तु अद्वैतवादियों के लिये यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि—) अद्वैतवादियों के मत में कथित अग्निसंयोगादि के समान किसी ध्यानधारणादि स्वरूप कारणों की सत्ता ही नहीं है (क्योंकि विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं है) जिससे अविद्या का उच्छेद हो सके। विज्ञानवाद (निरालम्बनवाद) का खण्डन विशेष रूप से किया जा चुका है ॥ ८६ ॥

सांख्यमत का खण्डन

पुमानकर्ता येषां तु तेषामपि गुणैः क्रिया।
कथमादौ भवेत् तत्र कर्म तावन्न विद्यते ॥ ८७ ॥
मिथ्याज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोऽपि वा।
मनोवृत्तिर्हि सर्वेषां न चोत्पन्नं तदा मनः ॥ ८८ ॥

पुमानकर्ता····भवेत्

(सांख्यदर्शन के अनुयायियों के मत से चेतन पुरुष (जीव) किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है। वह तो केवल भोक्ता है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था स्वरूप 'प्रकृति' ही (या अव्यक्त ही) महदादि रूप से परिणत होकर महाभूत पर्यन्त इस विश्वप्रपञ्च की रचना करती है। सांख्याचार्यों का यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

उन लोगों को इस प्रश्न का उत्तर देना संभव नहीं है कि सृष्टि से पूर्व जड़रूपा विकारशून्या प्रकृति में 'विकार' (क्षोभ) कैसे उत्पन्न हुआ।

(१) कर्म तावन्न विद्यते···(२) मिथ्याज्ञानम्····रागद्वेषादयोऽपि वा

(यदि यह कहें कि प्रकृति से भिन्न धर्माधर्म, अविद्या (मिथ्याज्ञान) एवं रागद्वेष ये भी सृष्टि के कारण हैं। इनसे ही प्रकृति में क्षोभ (विकार) उत्पन्न होता है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

(१) उस समय 'कर्म' अर्थात् धर्माधर्म नहीं रहते। एवं (२) उस समय 'अविद्या' अर्थात् मिथ्याज्ञान भी नहीं रहता। एवं (३) रागद्वेष भी नहीं रहते।

मनोवृत्तिर्हि····तदा मनः

क्योंकि धर्माधर्म, अविद्या अथवा रागद्वेष ये सभी सांख्यसिद्धान्त के अनुसार 'मन' स्वरूप अन्तःकरण के ही 'वृत्ति' विशेष हैं। सृष्टि से पूर्व उस मन की ही सत्ता नहीं रहती, क्योंकि इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रायें 'अहङ्कार' से उत्पन्न होती हैं। मन भी इन्द्रिय है। अहङ्कार महत्तत्त्व का विकार है। महत्तत्व (बुद्धितत्त्व) ही प्रकृति की प्रथम विकृति है। अतः प्रकृति जब तक महदादि विकारों को उत्पन्न (अभिव्यक्त) नहीं करती, तब तक (अर्थात् सृष्टि से पहले) धर्माधर्मादि की सत्ता ही नहीं रहती। अतः धर्माधर्म 'आदि' सृष्टि के कारण नहीं हो सकते[1] ॥ ८७–८८ ॥

---

१. श्लो० ८८ में जो 'मनोवृत्ति' शब्द है, तद्घटक 'वृत्ति' शब्द 'वर्तन्ते अत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्थान' अथवा 'आश्रय' का बोधक है। फलतः इस 'मनोवृत्ति' शब्द का अर्थ है 'मन' स्वरूप आश्रय। अर्थात् मन ही धर्माधर्मादि का आश्रय है।

कर्मणा शक्त्यवस्थानां यैवक्ता बन्धहेतुता।
सा न युक्ता न कार्यं हि शक्तिस्थात् कारणाद् भवेत् ॥ ८९ ॥

(किसी सांख्याचार्य का मत है कि सृष्टि से पूर्व स्थूल रूप से धर्माधर्मादि यद्यपि नहीं रहते, फिर भी सूक्ष्म रूप से शक्त्यवस्था में (कारणावस्था में) वे उस समय भी रहते हैं। अतः शक्त्यवस्थ धर्माधर्मादि से ही उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न हो सकता है। अतः सांख्य के मत से सृष्टि अनुपपन्न नहीं है। इसी सृष्टि से 'अधिकार' को बन्ध का हेतु कहा गया है। धर्माधर्मादि की शक्त्यवस्था अर्थात् कारण रूप में विद्यमानता ही 'अधिकार' है। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

शक्त्यवस्थ अर्थात् अव्यक्तावस्थापन्न कारणों से कार्य की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) संभव नहीं है ॥ ८९ ॥

दधिशक्तिर्न हि क्षीरे दाधिकारम्भमर्हति।
दध्यारम्भस्य सा हेतुस्ततोऽन्या दाधिकस्य तु ॥ ९० ॥
कारणाच्छक्त्यवस्थाच्च यदि कार्यं प्रजायते।
बन्धः पुनः प्रसज्येत फले दत्तेऽपि कर्मणा ॥ ९१ ॥
शक्त्यवस्थत्वमेवेष्टं विनाशेऽपि हि कर्मणाम्।
प्राक्चापि शक्तिसद्भावादनुष्ठानं वृथा भवेत् ॥ ९२ ॥

क्योंकि दूध में जो दही को उत्पन्न करने की शक्ति है, उसके द्वारा 'दाधिक' अर्थात् दही से उत्पन्न होनेवाले छांछ प्रभृति की उपपत्ति नहीं होती है। यद्यपि दूध में दही शक्त्यवस्था (कारणावस्था) में सर्वदा ही विद्यमान है, तथापि क्षीर में दधि की जो अव्यक्तावस्था रूपा शक्ति है, उससे दही की ही उत्पत्ति हो सकती है, दही से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को नहीं। उनकी उत्पत्ति तो दधि में जो 'दाधिक' (छांछ प्रभृति) की अव्यक्तावस्था (शक्त्यवस्था में) विद्यमानता है, उसीसे होती है ॥ ९० ॥

कारणाच्छक्त्यवस्थात्……कर्मणा……कर्मणाम्

यदि शक्त्यवस्थ (अव्यक्त) कारणों से भी कार्य उत्पन्न हों तो मोक्ष प्राप्त जीवों को पुनः प्रदत्त फल के कर्मों से 'बन्ध' संसार की प्राप्ति माननी होगी, क्योंकि मुक्तात्माओं के धर्माधर्मादि अव्यक्तावस्था में मुक्ति के बाद भी रहते ही हैं, क्योंकि सांख्यमत के अनुसार जिस प्रकार अनुपपन्न पदार्थ अपनी शक्त्यवस्था में रहते हैं, उसी प्रकार विनष्ट पदार्थ भी शक्त्यवस्था में रहते ही हैं।

प्राक्चापि……वृथा भवेत्

यदि अव्यक्तावस्थ (शक्त्यवस्थ) कारण से भी कार्य हो तो संसारावस्था में भी विवेकज्ञान अव्यक्तावस्था में विद्यमान है ही। उसी से मोक्ष की उत्पत्ति हो जायगी। फिर मोक्ष की प्राप्ति के लिये 'अनुष्ठान', विवेकज्ञानार्थ अनुष्ठान, व्यर्थ हो जायगा ॥९०-९२॥

शक्त्यवस्थं च रागादि किं नेष्टं बन्धकारणम् ।

कर्मादत्तफलत्वाच्चेत् नाव्यक्तिमपि तद् व्रजेत् ॥ ९३ ॥

शक्त्यवस्थं बन्धकारणम्

यदि शक्त्यवस्थ विवेकज्ञान से मोक्ष हो तो फिर उस समय बन्ध के कारणीभूत रागादि भी तो अव्यक्तावस्था में विद्यमान ही हैं। फिर उन अव्यक्तावस्थ मोक्ष के कारणों से मोक्ष के बजाय बन्ध की ही उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ?

कर्मादत्तफलत्वाच्चेत्

(यदि यह कहो कि) जिन कर्मों से फल (संसार) की उत्पत्ति नहीं हुई है, ऐसे 'अदत्तफल' वाले कर्म ही बन्ध के कारण हैं, अर्थात् पूर्वसृष्टि में अनुष्ठित जिन कर्मों से फल का उत्पादन नहीं हुआ है, और वे किसी रूप में विद्यमान हैं, वे ही बन्ध के कारण हैं।

नाव्यक्तिमपि तद् व्रजेत्

कर्मों का अनुष्ठान ही उनकी व्यक्तावस्था है। अतः अनुष्ठित कर्मों का 'अव्यक्ति' अर्थात् शक्त्यवस्था में रहना नहीं हो सकता एवं अनुष्ठित कर्म से फल की उत्पत्ति रुक भी नहीं सकती ॥ ९३ ॥

तच्छक्त्यप्रतियोगित्वान्न ज्ञानं मोक्षकारणम् ।

कर्मशक्त्या न हि ज्ञानं विरोधमुपगच्छति ॥ ९४ ॥

तच्छक्त्यप्रतियोगित्वात्...मोक्षकारणम्...उपगच्छति

यदि शक्त्यवस्थ (अव्यक्तावस्थ) धर्माधर्मादि भी बन्ध के कारण हों तो विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता ही अनुपपन्न हो जायगी, क्योंकि कर्मशक्ति के साथ रहनेवाला विवेकज्ञान परस्पर अविरोधी है। अतः विवेकज्ञान से अविवेकज्ञान का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि अव्यक्त कर्म के साथ विवेकज्ञान का कोई विरोध नहीं है ॥ ९४ ॥

यद्यप्यज्ञानजन्यत्वं कर्मणामवगम्यते ।

रागादिवत् तथाप्येषां न ज्ञानेन निराक्रिया ॥ ९५ ॥

यद्यप्यज्ञान....अवगम्यते....रागादिवत्

जिस प्रकार अज्ञान रागद्वेष का कारण है, उसी प्रकार अज्ञान ही कर्म (धर्माधर्म) का भी कारण है। अतः विवेकज्ञान के प्राप्त हो जाने पर रागद्वेष की तरह कर्म का भी विरोध अवश्य होगा। अतः विवेकज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा संभव है।

तथापि....निराक्रिया

यद्यपि यह ठीक है कि ज्ञान की प्राप्ति के बाद कर्मों का अनुष्ठान नहीं होगा, अर्थात् व्यक्तावस्थ कर्म ज्ञान होने पर नहीं रहते, फिर भी ज्ञान के होने पर भी अव्यक्तावस्थ कर्म तो रहते ही हैं, अतः विवेकज्ञान के बाद भी बन्ध की उत्पत्ति अनिवार्य होगी ॥ ९५ ॥

कर्मक्षयो हि विज्ञानादित्येतच्चाप्रमाणवत् ।
फलस्याल्पस्य वा दानं राजपुत्रापराधवत् ॥ ९६ ॥

(पू० प०—विवेकज्ञान से व्यक्तावस्थ कर्मों के समान ही अव्यक्तावस्थ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। अतः विवेकज्ञान के बाद पुनः बन्ध की आपत्ति नहीं दी जा सकती। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

विवेकज्ञान से अव्यक्तावस्थ कर्म का विनाश सांख्यमत के अनुसार असम्भव है, क्योंकि सांख्यमत के अनुसार वस्तुओं की अव्यक्तावस्था में स्थिति ही विनाश है। निरन्वय विनाश (जड़मूल से विनाश) सांख्यमत के अनुसार किसी का भी नहीं होता है। फलतः व्यक्तावस्था के समान अव्यक्तावस्था भी वस्तुओं का स्वभाव ही है। किसी भी वस्तु में वस्तुओं के स्वभाव को उलटने की शक्ति नहीं है। अतः विवेकज्ञान से भी कर्मों की अव्यक्तावस्था में स्थिति स्वरूप स्वभाव का विनाश नहीं हो सकता। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गीता) यह भगवद्वाक्य व्यक्तावस्था के स्थूल कर्मों के अभिप्राय से ही है।

फलस्याल्पस्य' ' 'अपराधवत्

(पू० प०) विवेकज्ञान से युक्त पुरुषों के कर्म कुछ थोड़ा सा ही फल देकर निवृत्त हो जाते हैं। उनसे अज्ञानियों को जितना फल मिलता है उतना ज्ञानियों को नहीं मिलता। जैसे कि राजपुत्र को अपराध करने पर अन्य पुरुषों के समान दण्ड नहीं मिलता। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि :—)

(१) अव्यक्तावस्था के कर्म फल दे ही नहीं सकते। (२) दूसरी बात यह भी है कि कर्म यदि थोड़ा सा फल दे भी दें तथापि उनकी अव्यक्तावस्था नष्ट नहीं होती, अर्थात् उनका निरन्वय विनाश नहीं होता ॥ ९६ ॥

अव्यक्तत्वेऽपि हि शक्तिस्थं यदि स्यात् कर्म कारणम् ।
ततः प्रधानकालेऽपि युज्यते कारणाभिधा ॥ ९७ ॥

यदि अभी (प्रधान की अव्यक्तावस्था में) अव्यक्तावस्थ कर्म को बन्ध का कारण मानें तो जिस समय सम्पूर्ण विश्व प्रधानावस्थ हो जाता है अर्थात् केवल प्रकृति ही रह जाती है उस (प्रलय) काल में या सृष्टि के पूर्वकाल में भी कर्मों में बन्ध की कारणता माननी होगी। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अव्यक्तावस्थ वस्तुओं से कार्यों की उपपत्ति या अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती ॥ ९७ ॥

मनोवृत्तिरिदानीं तु हेतुर्नास्ति च सा तदा।
मनसां सङ्कराच्चापि तदा स्यात् कर्मसङ्करः ॥ ९८ ॥

जिस प्रकार अपूर्व के द्वारा ही याग में स्वर्ग को उत्पन्न करने की क्षमता है उसी प्रकार 'मनोवृत्ति' के द्वारा ही कर्म बन्ध को उत्पन्न करने में समर्थ है। मोक्षावस्था में कर्म के रहने पर भी मनोवृत्ति के न रहने से पुनः बन्ध नहीं होता है। मोक्ष के समय मन की सत्ता (व्यक्तावस्था में स्थिति) नहीं रहती। अतः उस समय मनोवृत्ति का रहना सम्भव नहीं है।

मनसां संकराच्चापि''''कर्मसंकरः

यदि मुक्तावस्था में कर्म को स्वीकार भी कर लें तथापि शरीर और कर्मों से रहित मुक्तात्माओं में से किस मुक्तात्मा का कौन सा मन है यह अलग करके (विवेकपूर्वक) नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शरीरों की विभिन्नता से ही किस आत्मा का कौन सा मन है—यह समझा जाता है। अतः मुक्तात्माओं के मन में बद्धात्माओं के मन का सांकर्य उपस्थित होगा जिससे मनोगत कर्मों में भी सांकर्य होगा, अर्थात् किस कर्म से किस जीव को बन्ध होगा––इसका नियमन नहीं हो सकेगा। फलतः वे सभी पूर्व सृष्टियों में मुक्त और बद्ध सभी आत्माओं में समान रूप से बन्ध को उत्पन्न करेंगे ॥ ९८ ॥

तस्मान्नैषोऽधिकाराख्यो बन्धहेतुः प्रकल्पते।
योग्यत्वेऽप्यधिकाराख्ये विप्रयोगो न युज्यते ॥ ९९ ॥

यस्मात्''प्रकल्पते

तस्मात् 'अधिकार' शब्द से अभिहित होनेवाली कर्मों की अव्यक्तावस्था बन्ध का कारण नहीं है।

योग्यत्वेऽपि''''न युज्यते

(पू० प०) कुछ सांख्यानुयायियों का कहना है कि 'अधिकारो बन्धहेतुः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'अधिकार' शब्द से 'अधिकार की योग्यता' विवक्षित है। विवेकज्ञानी पुरुष में कर्म (अधिकार) की अव्यक्त सत्ता के रहने पर भी उनमें 'योग्यता' अर्थात् बन्ध की योग्यता नहीं है। अतः विवेकी पुरुष में मोक्ष की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती। किन्तु उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

इस 'योग्यत्वपक्ष' में भी मोक्ष की अनुपपत्ति यथावत् विद्यमान है, क्योंकि योग्यत्व के विवक्षापक्ष में भी 'अधिकार' की सत्ता बनी रहेगी ॥ ९९ ॥

चैतन्यं योग्यता पुंसः प्रकृतेस्तदनात्मता।
भोक्तृभोग्यत्वयोस्ते च न ताभ्यामपगच्छतः ॥ १०० ॥

कहने का तात्पर्य है कि 'चैतन्य' ही पुरुष के भोग की (भोक्तृत्व) 'योग्यता' है। पुरुष इस योग्यता से कभी भी वियुक्त नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष के 'स्वरूप' के अन्तर्गत है। एवं प्रकृति का 'अचैतन्य' ही उसके भोग होने (भोग्यत्व) की योग्यता है। प्रकृति भी कभी उससे अलग नहीं होगी। चूँकि पुरुष अथवा प्रकृति कभी भी अपनी-अपनी उक्त योग्यता से रहित नहीं होती अतः तत्त्वज्ञान (प्रकृति-पुरुष-विवेकज्ञान) के बाद भी पुन बन्ध की आपत्ति यथावत् है ॥ १०० ॥

उत्पत्तौ कर्मणां चेष्टमज्ञानं कारणं यदि।
तन्नाशात् स्यादनुत्पत्तिस्तेषां न फलवर्जनम् ॥ १०१ ॥

(सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि कर्म से बन्ध होता है, कर्म अज्ञान से उत्पन्न होता है। विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है। इस

प्रकार विवेकज्ञान से नष्ट कर्म के न रहने पर बन्ध स्वरूप संसार का होना संभव नहीं है। अतः विवेकज्ञान के बाद मोक्ष की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। किन्तु सांख्यशास्त्रियों का यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि —)

विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर कर्म की ही उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होगी। किन्तु कर्म से बन्ध का अभाव क्यों होगा ?

अर्थात् यदि कर्म से बन्ध होता तो कर्म की निवृत्ति से बन्ध की निवृत्ति होती। किन्तु बन्ध को योग्यतामूलक मानते हैं, यह योग्यता तो विवेकज्ञान के उत्पन्न होने के बाद भी है ही। अतः आत्मज्ञान के बाद भी बन्ध की आपत्ति का अवसर है ही।

यदि यह कहें कि इस रीति से विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता की अनुपपत्ति से कर्म की योग्यता के रहने पर भी विवेकज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, तो यह कहना सत्य होगा, किन्तु इससे कर्म की योग्यता में बन्ध की कारणता खण्डित होकर कर्म में ही बन्ध की कारणता को ले आवेगी। अतः कर्म ही बन्ध का कारण है, कर्म की योग्यता बन्ध का कारण नहीं है ॥ १०१ ॥

ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च गम्यते नेन्द्रियादिना ।
न च साङ्ख्यादिविज्ञानान्मोक्षो वेदेन चोद्यते ॥ १०२ ॥

सांख्याचार्यगण विवेकज्ञान में जो मोक्ष की कारणता की बात करते हैं, वह भी अप्रामाणिक है, क्योंकि इन्द्रियादि प्रमाणों के द्वारा विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता को सिद्ध नहीं की जा सकती। एवं वेदों से भी सांख्योक्त विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता ज्ञात नहीं होती है[1] ॥ १०२ ॥

आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् ।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥ १०३ ॥

(पू० प०) 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादि वेदवाक्यों द्वारा जिस आत्मज्ञान का उपदेश किया गया है उसका फल 'अपुनरावृत्ति' स्वरूप मोक्ष को ही कहा गया है। प्रकृति के 'विवेक' से अर्थात् 'भेद' से युक्त आत्मा का 'आत्मा प्रकृतितत्संघातेभ्यो भिन्नः' इस आकार का ज्ञान भी 'आत्मज्ञान' ही है। अतः वह 'आत्मा ज्ञातव्यः' इस वेदवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट है, इसलिये सांख्योक्त विवेकज्ञान भी वेद के द्वारा ही मोक्ष के लिये साधन है। सांख्याचार्यों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

१. कहने का तात्पर्य है कि उपनिषदों में मोक्ष के लिये दो प्रकार के आत्मज्ञानों का उपदेश उपलब्ध है—(१) 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा देहेन्द्रियादि से भिन्न (विविक्त) आत्मा अविनाशी है, इस आकार के देहादि के विवेक से युक्त आत्मा का ज्ञान और (२) 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि उपनिषदों के द्वारा जिस आत्मज्ञान का उपदेश किया गया है वह। प्राणायामादि इस आत्मज्ञान के अङ्ग हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिये सांख्याचार्यों में प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञान स्वरूप आत्मज्ञान का विधान किया है, वह मोक्षोपायभूत वेदोक्त दोनों ही ज्ञानों से सर्वथा भिन्न है। अतः सांख्योक्त आत्मज्ञान को वेदों के द्वारा निर्दिष्ट भी नहीं कहा जा सकता।

'आत्मा ज्ञातव्यः' इस वेदवाक्य से मोक्ष के लिये आत्मज्ञान का उपदेश नहीं किया गया है। किन्तु परलोकफलक ज्योतिष्टोमादि कर्मों में प्रवृत्ति के लिए ही आत्मा के उक्त ज्ञान का विधान किया गया है, क्योंकि परलोकफलक ज्योतिष्टोमादि में 'आत्मा शरीरादि से भिन्न है' इस आकार के आत्मज्ञान के बिना प्रवृत्ति संभव नहीं है।

अतः जिस प्रकार अध्ययनविधि दृष्टार्थक है, उसी प्रकार आत्मज्ञानविधि भी दृष्टार्थक ही है। इसलिये 'आत्मा ज्ञातव्यः' इस वाक्य को मोक्ष स्वरूप सर्वथा अदृष्ट प्रयोजन के सम्पादक विवेक ज्ञान का विधायक नहीं माना जा सकता ॥१०३॥

विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये यापि नाम फलश्रुतिः।
सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से विहित आत्मज्ञान के द्वारा ज्योतिष्टोमादि स्वरूप कर्मों में प्रवृत्ति के रास्ते ज्योतिष्टोमादि के स्वर्गादि फल ही (आत्मज्ञान से भी) उत्पन्न होते हैं। 'अपुनरावृत्ति' स्वरूप श्रुत फल उससे उत्पन्न नहीं होता। वह वाक्य (न स पुनरावर्त्तते) तो आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिये लिखा गया है। अतः अर्थवादमात्र है। इस अर्थवादवाक्य से उत्पन्न आत्मज्ञान से स्वर्गादि फलों से भिन्न मोक्ष फल की उपपत्ति नहीं मानी जा सकती।

इसी प्रकार 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा विहित आत्मा के उपासनात्मक ज्ञानों का न किसी यागादि स्वरूप क्रतुओं में कोई उपयोग है, न पुरुषों के लिये स्वतः प्रयोजन स्वरूप हैं (अर्थात् आत्मा का उपासनात्मक ज्ञान न क्रत्वर्थ है, न पुरुषार्थ है), अतः उन ज्ञानों से किसी अदृष्ट की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि यह सम्भावना भी किसी फल के बोधक स्मृति के न रहने से मिट जाती है। अतः 'रात्रिसत्रन्याय' से वे उपासनात्मक ज्ञान भी अभ्युदयार्थक ही हैं, मोक्षार्थक नहीं (देखिये तन्त्रवार्त्तिक व्याकरणाधिकरण अ० १ पा० ३ अधिकरण ८ पृ० २८८ पं० ७ आनन्दाश्रम सं०) ॥ १०४ ॥

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः[1] ॥ १०५ ॥

यदि विवेक ज्ञान से होने वाले 'मोक्ष' को सुख स्वरूप मानें तो सर्वांश में वह 'स्वर्ग' के समान ही होगा, किन्तु स्वर्ग तो क्षयशील है ॥ १०५ ॥

न हि कारणवत् किञ्चिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावे न मुच्यते ॥ १०६ ॥

न हि कारणवत्''''गम्यते

क्योंकि जिन वस्तुओं के कारण होते हैं, अर्थात् जो कारण से उत्पन्न होते हैं, वे अवश्य ही विनष्ट होते हैं। उत्पत्तिशील सभी घटादि पदार्थ विनाशशील

---

१. इस प्रकार सांख्योक्त तत्त्वज्ञान में मोक्षसाधनत्व के खण्डन के बाद सांख्यस्वीकृत मोक्ष के स्वरूप में अनुपपत्ति दिखलायी जाती है।

ही होते हैं। अतः सुख स्वरूप भावपदार्थात्मक मोक्ष की उत्पत्ति आत्मज्ञान से नही मानी जा सकती।

तस्माद् ''न मुच्यते

इसलिये मानना होगा कि चूँकि आत्मा मे शरीर का सम्बन्ध ही उसका बन्ध है अतः शरीरादिसम्बन्धों का अभाव मोक्ष है। फलतः निष्पन्न देहों का ध्वंस एवं भावी देहों की अनुत्पत्ति ही मोक्ष है। शरीरादि चूँकि कर्मजन्य हैं, अतः कर्मों के क्षय से ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है, ज्ञान से नहीं॥ १०६॥

न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्।
न च क्रियायाः कस्याश्चिदभावः फलमिष्यते॥ १०७॥

मोक्ष को (देहों के प्रागभाव और विनाश स्वरूप) अभावात्मक मानने से ही मोक्ष की नित्यता उपपन्न होती है (उसको आनन्द स्वरूप भावात्मक मानें तो मोक्ष को नित्य नहीं माना जा सकेगा), क्योंकि अभाव को किसी क्रिया (धात्वर्थ) का फल नहीं माना जा सकता। अतः ज्ञान (क्रिया) से मोक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती॥ १०७॥

तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः॥ १०८॥

(यदि अभावात्मक मोक्ष ज्ञान स्वरूप क्रिया (ज्ञाधात्वर्थ) का फल नहीं है तो उसकी उत्पत्ति किससे होती है ? यदि 'कर्मक्षय' से मुक्ति की उत्पत्ति स्वीकार करें तो यह प्रश्न होगा—वह कर्मक्षय ही किस प्रकार किससे उत्पन्न होता है ? इन प्रश्नों का यह उत्तर है कि—)

जो पुरुष अजर, अमर, अनन्त, अदुःख स्वरूप आत्मा को देहादि से भिन्न (विविक्त) रूप से देखता है (समझता) है, उस पुरुष को देह के सम्बन्ध से विरक्ति हो जाती है। उस पुरुष का वर्त्तमान शरीर पूर्वकृत कर्मों से होने वाले फलों के उपभोग से विनष्ट हो जाता है। उसके बाद अनागत कर्मों के अनुष्ठित न होने के कारण दूसरे शरीर की उत्पत्ति नही होती है। इस प्रकार विवेकज्ञानी पुरुष को देह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। इस रीति से विवेकज्ञान से युक्त पुरुष को देहसम्बन्ध का अत्यन्ताभाव स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है॥ १०८॥

कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते॥ १०९॥

हम (अज्ञानी) लोगों के शरीर की उत्पत्ति कर्म (धर्माधर्म) से होने वाले सुख दुःख के उपभोग के लिये ही होती है, अतः शरीर के प्रधान कारण हैं धर्माधर्म स्वरूप कर्म। इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष के धर्माधर्म जब विनष्ट हो जाते हैं तो अन्य कारणों के रहने पर भी उन्हें पुनः शरीर का परिग्रह नहीं करना पड़ता॥ १०९॥

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥ ११०॥

इसलिये मोक्ष चाहने वाले को केवल उक्त आत्मज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये किन्तु काम्य और निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से सर्वथा विरत रहकर (क्योंकि काम्य और निषिद्ध कर्म ही अपने फलों के उपभोग के लिये शरीर को उत्पन्न करते हैं) नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिये, क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पूर्वकृत धर्मों का क्षय होता है। 'उपासनात्मक इस आत्मज्ञान से कर्मों का नाश होता है' इस वस्तुगति को समझाने के लिये भगवान् वासुदेव ने गीता में 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' यह वाक्य कहा है। सांख्योक्त प्रकृतिपुरुष के विवेक 'ज्ञान' के अभिप्राय से उक्त वाक्य में भगवान् ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अतः सांख्योक्त विवेकज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है ॥ ११० ॥

प्रार्थ्यमानं फलं ज्ञातं न चानिच्छोर्भविष्यति ।
आत्मज्ञे चैतदस्तीति तज्ज्ञानमुपयुज्यते ॥ १११ ॥

प्रार्थ्यमानम्…भविष्यति

(पू० प०) अग्निहोत्रादि नित्य कर्म प्रत्यवायपरिहारजनक होने के साथ-साथ स्वर्गजनक भी तो हैं, फिर नित्यकर्मानुष्ठान से युक्त आत्मज्ञानी को मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

नित्यनैमित्तिक कर्म जब स्वर्गादि फलों की अभिसन्धि के साथ अनुष्ठित होते हैं, तभी वे स्वर्गादि फलों के उत्पादक होने के कारण पुरुषों को संसार में बाँधते हैं। फलाभिसन्धि से रहित होकर अनुष्ठित होने पर वे स्वर्गादि फलों को उत्पन्न नहीं करते। फलाभिसन्धिरहित इन कर्मों के अनुष्ठान के अभिप्राय से ही भगवान् वासुदेव ने 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' गीता में यह वाक्य लिखा है। मोक्षार्थी व्यक्ति को 'फलाभिसन्धि' नहीं रहती। अतः नित्यनैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान उन्हें आत्मज्ञान में सहायक ही होता है।

आत्मज्ञे…उपयुज्यते

शरीरसम्बन्ध का यह अभाव आत्मज्ञानी पुरुष को ही होता है। इसीलिये 'आत्मोपासनविधि' ('आत्मानमुपासीत' इस विधि) के बाद 'न स पुनरावर्त्तते' यह वाक्य आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिए लिखा गया है। फलतः यह अपुनरावृत्तिबोधक वाक्य चूँकि अर्थवाद रूप है, अतः इससे सीधे आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति की बात स्वीकार नहीं की जा सकती ॥ १११ ॥

सर्गप्रलयविज्ञानं समस्तजगदाश्रयम् ।
स्वशरीरविदां पुंसां नाधिक्येनोपयुज्यते ॥ ११२ ॥

जिस प्रकार आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण बतलानेवाले वाक्य अर्थवाद स्वरूप हैं, उसी प्रकार "समूचे विश्व का सर्ग-प्रलय (सृष्टि और विनाश) एक ही समय होता है" यह बतलानेवाले वाक्य भी अर्थवाद स्वरूप ही हैं, क्योंकि मोक्षार्थी पुरुष यदि केवल इतना ही समझ ले कि 'शरीर उत्पत्तिविनाशशील हैं, अतः नित्य आत्मा उससे

भिन्न है' तो इतना ही समझने से स्वर्ग मोक्ष प्रभृति की सिद्धि हो जायगी। इसके लिये समस्त विश्व की सृष्टि और प्रलय के ज्ञान का कोई बहुत बड़ा प्रयोजन नहीं है ॥११२॥

तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना ।
समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिध्यत्यप्रमाणिका ॥ ११३ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार सम्प्रति जगत् की वस्तुओं का क्रमशः उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है, उसी प्रकार क्रमशः उत्पत्ति और विनाश का यह सिलसिला जारी रहेगा। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कभी समस्त विश्व की एक ही समय उत्पत्ति हुई होगी अथवा समस्त विश्व का एक ही समय कभी विनाश हो जायगा। अतः सृष्टि और प्रलय प्रमाणसिद्ध नहीं हैं ॥ ११३ ॥

सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना ।
न च धर्मादृते तस्य भवेल्लोकाद् विशिष्टता ॥ ११४ ॥
न चाननुष्ठितो धर्मो नानुष्ठानम् ऋते मतेः ।
न च वेदादृते सा स्याद् वेदो न च पदादिभिः ॥ ११५ ॥
तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदादयः ।
स्यात् तत्पूर्वकता चास्य चैतन्यादस्मदादिवत् ॥ ११६ ॥

सर्वज्ञवन्निषेध्या च···कल्पना

जिस प्रकार 'बुद्धो न सर्वज्ञः पुरुषत्वादस्मदादिवत्' इस अनुमान के द्वारा बुद्ध में सर्वज्ञत्व का खण्डन किया गया है, उसी प्रकार प्रजापति में भी सृष्टिकर्तृत्व का खण्डन 'प्रजापतिर्न सृष्टिकर्त्ता पुरुषत्वादस्मदादिवत्' इस अनुमान से करना चाहिये।

न च धर्मादृते···विशिष्टता···न च पदादिभिः····पदादयः···अस्मदादिवत्

प्रजापति में साधारणजनों से विशिष्टता धर्म के द्वारा ही आ सकती है। अनुष्ठित होने पर यागादि ही धर्म कहलाते हैं। यागादि धर्मों का अनुष्ठान यागादि के ज्ञान के विना संभव नहीं है। यागादि का ज्ञान विना वेदों के नहीं हो सकता। वेद पदादि के विना नहीं हो सकते। अतः यह स्वीकार करना होगा कि सृष्टि करने वाले प्रजापति से पहिले से ही पदादि विद्यमान थे।

इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'स्रष्टा प्रजापतिः वेदपूर्वकः (वेदादनन्तरोत्पन्नः) चेतनत्वादस्मदादिवत्' ॥ ११४–११६ ॥

एवं ये युक्तिभिः प्राहुस्तेषां दुर्लभमुत्तरम् ।
अन्वेष्यो व्यवहारोऽयमनादिर्वेदवादिभिः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा सृष्टि करने वाले प्रजापति से पूर्व वेदों की सत्ता का जो प्रतिपादन करते हैं, उनके विरुद्ध उत्तर देना कठिन है।

इसलिये 'वेदवादियों' को अर्थात् सृष्टि से पहिले भी वेदों की सत्ता माननेवालों को वेदव्यवहार को अनादि ही मानना होगा। जिस प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष पूर्व से विद्यमान घटादि का ही पुनः व्यवहार करता है, उसी प्रकार पूर्व से विद्यमान

वेदों का ही व्यवहार सृष्टि के बाद प्रजापति के द्वारा किया जाता है—(सुप्तप्रबुद्ध-न्याय से) यही स्वीकार करना होगा ॥ ११७ ॥

प्रत्यक्षादावुपक्षीणे योऽनुमानेन डित्थवत् ।
सम्बन्धित्वान्नियोक्तारं गवादावपि कल्पयेत् ॥ ११८ ॥

(इस प्रकार शब्द और अर्थ के किसी संकेत के किसी आदि कर्त्ता की सत्ता में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के निरस्त हो जाने पर पुनः पूर्वपक्षवादी दूसरा अनुमान उपस्थित करते हैं कि—)

जिस प्रकार 'डित्थ' पद की नियुक्ति काठ के बने हाथी के बोध के लिए किसी पुरुष के द्वारा की जाती है, उसी प्रकार सास्नादि से युक्त अर्थों के बोध के लिए गवादि पदों की नियुक्ति भी किसी पुरुष के द्वारा ही होती है, क्योंकि जिस प्रकार डित्थ शब्द 'स्व' एवं 'तदर्थ' इन दोनों के सम्बन्ध का एक 'सम्बन्धी' है, उसी प्रकार गवादि पद भी 'स्व' और 'तदर्थ' इन दोनों के सम्बन्ध का एक सम्बन्धी है (गो पदं सास्नादिमति केनचिन्नियुक्तम् शब्दार्थसम्बन्धित्वात् डित्थादिपदवत्) ॥ ११८ ॥

गवादिशब्दसम्बन्धं सर्वोऽन्यस्मात् प्रपद्यते ।
मद्वत् तद्व्यवहारित्वात् तस्यैतत् प्रतिसाधनम् ॥ ११९ ॥

किन्तु यह अनुमान भी 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से ग्रसित है । सत्प्रतिपक्ष दोष का प्रयोजक अनुमान इस प्रकार है—'सर्वे जनाः सास्नादिमति गवादिसम्बन्धमन्यस्मादेव प्रपद्यन्ते व्यवहारित्वात् मद्वत्' । अर्थात् जिस प्रकार मैं अर्थों में शब्दों के सम्बन्ध दूसरे के द्वारा ही समझता हूँ, उसी प्रकार प्रजापति सहित सभी जन शब्दार्थसम्बन्ध को किसी दूसरे के द्वारा ही समझते हैं, क्योंकि वे सभी मेरे ही समान 'व्यवहारी' हैं अर्थात् अर्थ में शब्द का व्यवहार करते हैं । अतः सत्प्रतिपक्ष दोष से युक्त इस अनुमान से 'अर्थों में शब्दों के संकेत का कोई मूलकर्त्ता है' ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः शब्दार्थ का सम्बन्ध अनादि है ॥ ११९ ॥

देवदत्तादिशब्देऽपि प्रसक्तैवमनादिता ।
सम्बन्धस्य बलीयस्त्वाद् दृष्टबाधान्निवर्तते ॥ १२० ॥

देवदत्तादि""अनादिता

(पू० प०) कोई पिता अपने पुत्र का देवदत्तादि नाम रखता है, एवं की भ्रांति का कोई कारण नहीं है, अतः उन सम्बन्धों में अनित्यत्व का व्यवहार नहीं होता है । उन सम्बन्धों के नियोग भी अनादि ही हैं, क्योंकि जिन पुरुषों को गवादि पदों और गवादि अर्थों के सम्बन्धों का ग्रहण होता है, वे सभी ग्रहण पहिले सम्बन्ध-ग्रहण के द्वारा ही होते हैं । अतः उन सम्बन्धों में अनित्यत्व का व्यवहार भी नहीं होता । अतः शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध 'सिद्ध' ही हैं, उनका कोई आदि कर्त्ता नहीं है ।

भाष्यकार ने 'कथं सम्बद्धा नास्ति ?' इस वाक्य के द्वारा प्रश्न उठाया है कि "यह कैसे समझते हैं कि पद और अर्थ के सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं है ?" इस

पूर्वपक्ष भाष्य के उत्तर में सिद्धान्तभाष्य है कि 'प्रत्यक्षप्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्' अर्थात् जो वस्तु देखने के योग्य है, अन्य कारणों के रहते हुए भी यदि उसे नहीं देखते हैं तो समझते हैं कि वह नहीं है। जैसे कि नरश्रृङ्गादि नहीं हैं, अर्थात् सम्बन्धकर्त्ता पुरुष का साधक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, एवं अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक हैं, इसी से समझते हैं कि 'सम्बन्ध' का कोई कर्त्ता नहीं है।

इसके आगे 'ननु चिरवृत्तित्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम्' इस सन्दर्भ से पूर्वपक्षवादियों का यह अभिमत भाष्यकार ने व्यक्त किया है कि पद और अर्थ के सम्बन्ध का कर्त्ता बहुत दिन पहले बीत गये, अतः वे आज के पुरुषों को नहीं दीख पड़ते। किन्तु इसीलिए उनका अभाव नहीं माना जा सकता। पूर्वपक्षवादियों के इस अभिप्राय का भाष्यकार ने 'न हि चिरवृत्तः सन्न स्मर्येत' (शाबरभाष्य पृ० ३३) इस वाक्य के द्वारा यह उत्तर दिया है कि चिरवृत्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष भले ही न हो सके, किन्तु उन वस्तुओं के स्मरण को नहीं रोका जा सकता।

'न हि चिरवृत्तः सन्न स्मर्येत' इस भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि यदि यह स्वीकार करें कि पदों का उनके अर्थों के साथ संकेत उसके रखे हुये नाम से सभी जन उस पुरुष में जो देवदत्तादि पदों का व्यवहार करते हैं, इस पितृकृत संकेत को अर्थात् आधुनिक संकेत को सभी (मीमांसक भी) पुरुषकृत मानते हैं। यदि सभी शब्दों और सभी अर्थों के सम्बन्ध को अनादि मानोगे तो इन सम्बन्धों को भी अनादि मानना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है, इसलिये सभी शब्दार्थसम्बन्धों को पुरुषकृत ही मानना उचित है।

सम्बन्धस्य ''निवर्त्तते

(सि० प०) उक्त आक्षेप भी ठीक नहीं है, देवदत्तादि पदों के आधुनिक संकेतों का पिता के द्वारा उत्पन्न होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतः सामान्य रूप से अनुमान के द्वारा प्राप्त अनादित्व का बाधक है। इस प्रत्यक्षबाध के कारण देवदत्तादि पदों में और उनके अर्थों में जो सम्बन्ध है, उसे अनादि नहीं माना जा सकता ॥ १२० ॥

तत्रापि शक्तिनित्यत्वम् नियोगस्य त्वनित्यता।
तद्गताच्चाप्यनित्यत्वाच्छक्तौ भ्रान्तिः प्रवर्त्तते ॥ १२१ ॥

अथवा जिन देवदत्तादि पदों के सम्बन्ध पिता के द्वारा नियुक्त होते हैं, वे सभी सम्बन्ध भी अनादि ही हैं। किन्तु पिता का यह 'नियोग' अनित्य (सादि) है। इसलिये नियोग की अनित्यता से सम्बन्ध में भी अनित्यता की भ्रान्ति होती है ॥१२१॥

गवादिषु तु न भ्रान्तिर्नियोगानादिता यतः।
यो यो गृहीतः सर्वस्मात् पूर्वं सम्बन्धदर्शनात् ॥ १२२ ॥
सिद्धः सम्बन्ध इत्येवं सम्बन्धादिर्न विद्यते।
यदा चाप्तप्रणीतत्वाच्छब्दोऽर्थं प्रतिपादयेत् ॥ १२३ ॥
न स्वशक्त्या तथात्वं मितौ न स्मर्यते कथम्।
यथा बौद्धादयो यावद् बुद्धाद्युक्तं न जानते ॥ १२४ ॥

न तावत् प्रतिपद्यन्ते बोधे वाक्येन सत्यपि।
समये कथ्यमानेऽन्यैरस्मरन्तोऽपि पाणिनिम् ॥ १२५ ॥
आदैचः प्रतिपद्यन्ते वृद्धिं कर्तुं स्मृतिर्वृथा।
सूत्रस्थः पाणिनिस्तत्र स्वसंज्ञां प्रतिपादयेत् ॥ १२६ ॥

गवादिषु तु''सम्बन्धदर्शनात्''न विद्यते

गवादि पदों और सास्नादिमान् अर्थों के सम्बन्धों में अनित्यत्व करके धर्म और अधर्म के प्रतिपादन के लिये वेदों की रचना की तो उस पुरुष को शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का कर्त्ता (निर्माता) अवश्य मानना होगा। एवं यह भी मानना होगा कि सम्बन्ध का वह कर्त्ता (समयकर्त्ता) है। अतः 'कर्त्ता' के जिस स्मरण की बात भाष्य में उठायी गयी है, वह 'स्मरण' प्रतिपत्ता (बोद्धा को अर्थात् वेदवाक्य से वेदार्थ का भी पुरुष को) 'एक ही पुरुष उक्त 'सम्बन्ध' एवं उक्त 'व्यवहार' इन दोनों का कर्त्ता है' इस आकार का एककर्तृकत्व का स्मरण रूप ही होगा।

एवं वाक्य से अर्थ की निश्चयात्मिका प्रतीति के लिए वक्ता के आप्तत्व का स्मरण भी बोद्धा के लिए इस पक्ष में आवश्यक होगा। किन्तु वेदों से अर्थ की निश्चयात्मक प्रतीति के लिये बोद्धा को पदों के संकेत और व्यवहार (वाक्यरचना) दोनों के एक व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न होने (एककर्तृकत्व) का निश्चय और वक्ता के आप्तत्व का निश्चय इन दोनों निश्चयों की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि इन दोनों निश्चयों के न रहने पर भी वेदों से उनके अर्थों का निश्चयात्मक बोध होता है।

यथा बौद्धादयः''न जानते—वाक्येन सत्यपि

जैसे कि बौद्ध सम्प्रदाय के लोग जब तक यह न समझते कि 'इस वाक्य में प्रयुक्त पदों के समय (संकेत) और व्यवहार (वाक्यरचना) दोनों के कर्त्ता बुद्ध ही हैं, एवं बुद्ध परम आप्त हैं' तब तक उन लोगों को बुद्धवाक्यों से तदर्थविषयक निश्चय नहीं होता है।

समये''''पाणिनिम्''''स्मृतिर्वृथा

(पू० प०) 'न हि विस्मृते वृद्धिरादैजिति सूत्रस्य कर्त्तरि वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धमिति किंचित्प्रतिपद्यते' (शाबरभाष्य पृ० ५४ पं० ७) भाष्यकार ने उक्त सन्दर्भ के द्वारा शब्द में समय (संकेत) और व्यवहार इन दोनों को एक कर्त्ता के द्वारा उत्पन्न होने की स्मृति के प्रसंग में दृष्टान्त उपस्थित किया है कि जिस प्रकार 'वृद्धिरादैच्' (पाणिनिसू० १–१–१) इस सूत्र की रचना का स्मरण किये बिना किसी को आदि अच् (अकार) का ही नाम 'वृद्ध' है—यह समझ नहीं पड़ता है।

किन्तु भाष्यकार का यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रकर्त्ता पाणिनि का स्मरण न रहने पर भी 'वृद्धिरादैच्' इस सूत्रात्मक संकेत के अनुसार ही 'वृद्धिर्यस्याचामादिः' यह सूत्र (रचनास्वरूप) व्यवहार होता है। यह बात किसी अन्य पुरुष के द्वारा कहे जाने पर भी 'आत्' (आ) ऐच् 'ऐ' और 'औ' इन दोनों को वृद्धिसंज्ञक समझ लेता है। अतः समय (संकेत) और व्यवहार इन दोनों के एककर्तृक होने का ज्ञान शाब्दबोध के लिये आवश्यक नहीं है।

सूत्रस्थः प्रतिपादयेत्

(सि० प०) 'वृद्धिरादैच्' इस संकेत और 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' यह व्यवहार इन दोनों के कर्त्ता पाणिनि ही थे इस आकार का एक कर्तृकत्व का स्मरण भले ही न हो, किन्तु 'जो उक्त संकेत के कर्त्ता थे, वही उक्त व्यवहार के भी कर्त्ता थे' इस आकार का सामान्य स्मरण उक्त स्थल में भी अवश्य होता है ॥ १२६ ॥

गौः सास्नादिमतीत्येवं वाक्यं त्वत्र न विद्यते ।
असम्बन्धाच्च सर्वेषामेवं कर्तुमसम्भवः ॥ १२७ ॥

जिस प्रकार 'आत्' और 'ऐच्' में 'वृद्धि' के बोध के लिये 'वृद्धिरादैच्' यह सूत्रात्मक संकेतवाक्य है, उसी प्रकार 'सास्नादिमती गौः' इस आकार का कोई संकेत-वाक्य नहीं है जिसके स्मरण के विना 'गामानय' इत्यादि लौकिक व्यवहार एवं 'गामालभेत' इत्यादि वेदव्यवहार इन दोनों प्रकार के व्यवहारों की उपपत्ति नहीं होगी ॥ १२७ ॥

तस्मान्न प्रतिपत्तिः स्यात् कथञ्चित् कर्तृवर्जिता ।
दृष्टार्थव्यवहारत्वाद् वृद्धयादौ सम्भवेदपि ॥ १२८ ॥

धर्माय नियमोऽत्रापि न विना पाणिनेर्भवेत् ।
आकारानुगमो यो हि वृद्धया स्यादाश्वलायने ॥ १२९ ॥

नासावपाणिनीयत्वे साधुरित्यवगम्यते ।
दृष्टे भवतु मा वा भूत् कर्तृसम्प्रतिपन्नता ॥ १३० ॥

वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणाद् ऋते ।
दुर्गेषु गवि गोशब्दप्रयोगो गम्यते कथम् ॥ १३१ ॥

तस्मात्……कर्तृवर्जिता

'तस्मात्' शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को पुरुषकर्तृक मानने के पक्ष में कर्तृ-स्मरण के विना वेदवाक्यों से शाब्दबोध रूप 'प्रतिपत्ति' (निश्चयात्मक ज्ञान) सम्भव नहीं है ।

दृष्टार्थव्यवहारत्वात्……सम्भवेदपि……पाणिनेर्भवेत्……गम्यते

व्याकरण के निष्पन्न शब्दों के दो प्रयोजन हैं (१) शाब्दबोध और (२) पुण्य । इनमें 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इत्यादि संज्ञापरिभाषात्मक जितने सूत्र हैं, उनसे होनेवाले व्यवहारों में एवं अर्थप्रतिपत्तियों में इन दोनों में कदाचित् एककर्तृकत्व एवं आप्तोक्तत्व इन दोनों का स्मरण भले ही आवश्यक न हो, किन्तु पुण्य के लिये जो शब्दों का नियम है, उसकी उपपत्ति पाणिनि के स्मरण के विना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'यही शब्द पाणिनि के नियम के अनुसार प्रयोगार्ह है' यह बुद्धि धर्मस्वरूप उक्त प्रयोजन के सम्पादन के लिये आवश्यक है ।

आकारानुगमो ··· इत्यवगम्यते

जैसे कि 'आश्वलायन' शब्द 'किति च' इस पाणिनिसूत्र के द्वारा आदि 'अ' कार को वृद्धि होने से निष्पन्न होता है, अत एव यह साधु है। इसलिये आश्वलायन शब्द का प्रयोग पुण्यजनक है। यह बोध पाणिनि के स्मरण के बिना संभव नहीं है।

दृष्टे भवतु मा वा ··स्मरणादृते

'गामानय' इत्यादि लौकिक वाक्यों से अर्थ की प्रतिपत्ति अथवा आनयनादि व्यवहारों के लिए संकेतकर्त्ता एवं व्यवहारकर्त्ता पुरुष की स्मृति की आवश्यकता (संकेत को सादि मानने के पक्ष में भी) भले ही न हो तथापि अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान स्वरूप जो अदृष्टार्थक एवं वाक्यमात्र प्रमाणक व्यवहार हैं, उनकी उपपत्ति वाक्यकर्त्ता पुरुष में आप्तत्वस्मरण के बिना नहीं हो सकती। किन्तु वेदों के कर्त्ता एवं वेदों में प्रयुक्त पदों के संकेत का कर्त्ता पुरुष चूँकि अनुपलब्धि प्रमाण से बाधित हैं, फिर भी वेदों से अग्निहोत्रादि का बोध एवं अनुष्ठान दोनों होते हैं, इस लिये वेद और उनमें प्रयुक्त पदों का अर्थों के साथ सम्बन्ध अनादि हैं।

दुर्गेषु गवि··गम्यते कथम्

(प्रकृत औत्पत्तिकसूत्र के द्वारा शब्दार्थसम्बन्ध की अनादिता की सिद्धि के लिये शब्द, अर्थ इन दोनों में 'व्याप्ति' (अव्यतिरेक) का उपादान 'अव्यतिरेकश्च' इस अंश के द्वारा किया गया है। सूत्र के इस अंश की व्याख्या भाष्यकार ने दो प्रकार से की है। इनमें पहली व्याख्या का प्रतिपादक भाष्यांश इस प्रकार है 'अव्यतिरेकश्च यथाऽस्मिन् देशे' इत्यादि। एवं दूसरी व्याख्या 'अपर आह, अव्यतिरेकश्च, न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः' इत्यादि (शाबरभाष्य पृ० ५६–५७)।

इनमें पहली व्याख्या 'देशाव्यतिरेक' के अनुसार है और दूसरी व्याख्या 'काला-व्यतिरेक' के अनुसार है।

(१) देशाव्यतिरेकी भाष्य का तात्पर्य है कि जिस प्रकार इस देश में सास्नादि से युक्त अर्थों में गवादि शब्दों का प्रयोग अभी होता है, उसी प्रकार अत्यन्त दुर्गम देशों में भी सास्नादि से युक्त अर्थों में ही गवादि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है।

कोई एक ही पुरुष इस देश में और अत्यन्त दुर्गम देशों में उक्त प्रयोग के उपयुक्त शब्दार्थसम्बन्ध का निर्माण नहीं कर सकता।

एवं अनेक पुरुष मिलकर भी उक्त सम्बन्ध का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि अत्यन्त दुर्गम देश में इस प्रकार अनेक पुरुषों का समवधान एकत्र सम्भव नहीं है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध पुरुषकृत नहीं है।

(२) कालाव्यतिरेकपक्षीय दूसरे भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि कोई ऐसा काल उपलब्ध नहीं है, जिस समय गवादि शब्दों का सास्नादि से युक्त अर्थों में सम्बन्ध की सत्ता न हो, क्योंकि सभी समयों में उक्त अर्थ में गवादि शब्दों का प्रयोग होता है। जिसलिये कि कोई भी काल सास्नादि अर्थों में गवादि शब्दों के सम्बन्धों-से रहित नहीं है, अतः उक्त सम्बन्ध अनादि हैं।

इनमें पहली व्याख्या इस युक्ति से ठीक नहीं है कि यह जानना सम्भव नहीं है कि अत्यन्त दुर्गम देशों में गवादि शब्दों का प्रयोग सास्नादि से युक्त अर्थों में ही होता है ॥ १२९–१३१ ॥

गत्वा चेत् केनचिद् दृष्टः सम्बद्धा किं न गच्छति ।
ईश्वरत्वाद् गतिश्चास्य न क्वचित् प्रतिबध्यते ॥ १३२ ॥

गत्वा चेत्केनचिद् दृष्टः

यदि यह कहें कि यहाँ से कोई उक्त दुर्गम देश में जाकर उन प्रयोगों को समझ आता है ।

सम्बन्धः किं न गच्छति····ईश्वरत्वात्प्रतिबध्यते

इस प्रसंग में पूछा जा सकता है कि उस पुरुष के साथ ही (अर्थात् उस पुरुष के द्वारा ही) वह सम्बन्ध उन दुर्गम देशों में क्यों नहीं जाता ? विशेष रूप से यही सम्भावना अधिक है कि ईश्वर जैसे सर्वशक्तिमान् पुरुष को शब्दार्थसम्बन्ध का कर्त्ता मान लिया जाय, क्योंकि वे सभी देशों में जा सकते हैं । अतः देशाव्यतिरेक वाली युक्ति ठीक नहीं है ॥ १३२ ॥

बहूनां कार्यतश्चापि सङ्गानं केन वार्यते ।
एकत्र कथितं चापि लोकेनान्यत्र नीयते ॥ १३३ ॥
वृद्धयादिवदतो व्याख्या द्वितीयैवात्र शोभना ।
कांश्चित् प्रसिद्धसम्बन्धानभ्युपेत्य वदेद् यदि ॥ १३४ ॥
सम्बन्धकरणं तत्र के सिद्धा इति दुर्वचम् ।
न तावदन्य एवासन् शब्दा इति हि युक्तिमत् ॥ १३५ ॥
विशेषोऽद्यतनानां च गवादीनां न दृश्यते ।
शब्दार्थानादितां मुक्त्वा सम्बन्धानादिकारणम् ॥ १३६ ॥
न स्यादन्यदतो वेदे सम्बन्धादिर्न विद्यते ।
उपायरहितत्वेन सम्बन्धकरणानुमा ॥ १३७ ॥
अनाख्यानानुमानं तु दृष्टेनैव विरुद्धयते ।
वृद्धानां दृश्यमाना च प्रतिपत्तिः पुनः पुनः ॥ १३८ ॥
उपाय इति तद्धानिरसिद्धावगतिं प्रति ।
हस्तसंज्ञाद्युपायो हि सिद्धो नाद्यक्रियासु नः ॥ १३९ ॥
न ह्यसौ ज्ञातसामर्थ्यो विनान्यैर्व्यवहर्तृभिः ।
शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ॥ १४० ॥
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ।
अन्यथाऽनुपपत्त्या च बुध्येच्छक्तिं द्वयाश्रिताम् ।
अर्थापत्त्यावबुद्धयन्ते सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ १४१ ॥

बहूनाम्...केन वार्यते

'देशाव्यतिरेक' पक्ष में 'शब्दार्थसम्बन्ध की रचना करनेवाले अनेक पुरुष थे' इस पक्ष की सिद्धि के लिये जो 'बहवः सम्बन्धकाराः कथं संगस्यन्ते' (शाबरभाष्य पृ० ५७ पं० १) इस भाष्यसन्दर्भ से यह युक्ति दी गयी है कि बहुत से सम्बन्ध-रचयिताओं का दुर्गम स्थलों में एकत्र सम्मिलन संभव नहीं है, अतः इस देश के समान ही अन्य दुर्गम देशों में गवादि शब्दों का सास्नादि से युक्त अर्थों में व्यवहार उत्पन्न नहीं होगा। भाष्योक्त यह युक्ति भी बहुत संगत नहीं है, क्योंकि जब इस देश के समान ही गवादि शब्दों का व्यवहार सास्नादि से युक्त अर्थों में ही देखा जाता है तो इसीसे बहुत से सम्बन्धरचयिता पुरुषों का एकत्र संमिलन का दुर्गम देशों में अनुमान करना होगा।

एकत्र कथितं चापि...वृद्धयादि

(यदि बहुत से पुरुषों का दुर्ग देशों में सम्मिलन को संभव न भी मानें तथापि इस देश के समान ही अन्य दुर्गम देशों में गवादि शब्दों का सास्नादि-मान् अर्थों में समान प्रयोग की उपपत्ति इस दृष्टान्त से की जा सकती है कि 'जिस प्रकार एकदेशस्थ पाणिनि के द्वारा 'आत्' और 'ऐच्' (आ एवं ऐ औ) में 'वृद्धि' पद का व्यवहार सभी देशों में होता है, उसी प्रकार इस देश के भी किसी एक पुरुष के द्वारा गवादि शब्दों के सास्नादि से युक्त अर्थों में व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है।

अतो द्वितीयैव ... शोभना

तस्मात् 'अव्यतिरेकश्च' इस सूत्रांश की कालाव्यतिरेकानुयायिनी द्वितीय व्याख्या ही युक्त है।

कांश्चित् .... यद्येवादि .... सम्बन्धकारणम्

(कालाव्यतिरेकपक्षीय भाष्यग्रन्थ में 'सम्बन्धक्रिययैव नोपपद्यते' (शाबर-भाष्य पृ० ५७ पं० ४) इस वाक्य के द्वारा जो सम्बन्धकरण के विपक्ष में) यह युक्ति दी गयी है कि यदि किसी पुरुष के द्वारा गवादि शब्दों के सास्नादि से युक्त अर्थों में सम्बन्ध का निर्माण मान भी लें तथापि इस सम्बन्धनिर्माण के लिए भी इस निर्माण से पहले गवादि कुछ शब्दों का सास्नादि से युक्त कुछ अर्थों में वृद्ध पुरुषों के द्वारा व्यवहार अवश्य होता था। अन्यथा अद्यतन पुरुष ने उस शब्द का उस अर्थ में निर्माण ही कैसे किया ? अतः शब्दार्थ का कभी अभाव नहीं था (अर्थात् कालाव्यतिरेक था) अतः शब्दार्थसम्बन्ध अनादि है।

(भाष्यकार के इस कथन के प्रसंग में पूछना है कि) यदि कुछ सम्बन्ध के निर्माण के समय शब्द ऐसे थे जिनका कुछ अर्थों में सम्बन्ध प्रसिद्ध था तो वे गवादि शब्द आज प्रसिद्ध गवादि से भिन्न थे अथवा अभिन्न। 'भिन्न थे' ऐसा स्वीकार करने की कोई युक्ति नहीं है।

विशेषो .... न दृश्यते

यदि ऐसा कहो कि आज के जो शब्द हैं, उन्हीं शब्दों में से कुछ शब्दों का कुछ अर्थों में संकेत (सम्बन्ध) प्रसिद्ध था। उसी से अन्य शब्दों के सम्बन्ध का निर्माण अभी किया है। किन्तु ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि—

यह अन्तर समझना ही कठिन है कि आज प्रयुक्त शब्दों में से किन शब्दों के सम्बन्ध पहले प्रसिद्ध थे एवं किन शब्दों के सम्बन्ध पूर्वप्रसिद्ध नहीं थे।

शब्दार्थानादिताम्''अनादिकारणम्''न स्यादन्यत्

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का एक हेतु यह भी है कि शब्द नित्य है (जिसका उपपादन आगे शब्दनित्यत्वाधिकरण में करेंगे) एवं शब्द का अर्थ है जाति (आकृति) वह भी नित्य है जिसका उपपादन आकृत्यधिकरण में किया जा चुका है। बिना अर्थ के शब्द का प्रयोग (अनर्थक शब्द का प्रयोग) चूँकि संभव नहीं है, अतः नित्य शब्द और नित्य अर्थ दोनों संज्ञासंज्ञी का सम्बन्ध भी नित्य (अनादि) ही है।

अतो वेदे सम्बन्धादिर्न विद्यते

(अतः अपभ्रंश 'गावी' शब्दादि का अथवा आधुनिक पित्रादिसंकेतित देवदत्तादि शब्दों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध कदाचित् पुरुषकृत हो भी सके, किन्तु) वेदों में प्रयुक्त गवादि शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध अनादि ही है।

उपायरहितत्वेन''कारणानुमा-विरुद्धचते

'स्यादेतत् असिद्धसम्बन्धा बाला वृद्धेभ्यः कथं प्रतिपद्यन्ते' (शाबरभाष्य पृ० ५८) इस पूर्वपक्ष भाष्य के द्वारा आक्षेप किया गया है कि सम्बन्धकरण के समय वक्ता चूँकि शब्दार्थसम्बन्ध से अभिज्ञ रहते हैं, इसलिये अर्थबोध की इच्छा से भले ही वे शब्द का प्रयोग कर लें तथापि श्रोता (शब्दार्थसम्बन्ध से अनभिज्ञ) बालकगण वाक्य के साथ उन शब्दों के सम्बन्ध का ग्रहण कैसे करेंगे ?

इस प्रश्न का उत्तर 'नास्ति दृष्टेऽनुपपन्नम् नाम तस्माद्वैपम्यम्' (शाबरभाष्य पृ० ५८) इस भाष्यसन्दर्भ से दिया गया है। अर्थात् संबन्धानभिज्ञ बालकों को वृद्धों के द्वारा जब संबन्ध का ग्रहण करते हुए देखा जाता है तो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस सिद्धान्तभाष्य का तात्पर्य है कि आज के (अद्यतन) पुरुषों को पहले संबन्ध से अनभिज्ञ रहने पर भी जब वृद्धों के कहने पर शब्दार्थों के परस्पर संबन्ध का ज्ञान देखा जाता है तो बालकों के इस दूसरे ज्ञान का कोई कारण न रहने पर किसी पुरुष के द्वारा संबन्धकरण का अनुमान उचित है।

किन्तु 'अनाख्यान' का अनुमान अर्थात् किसी ने पहले संबन्ध का अभिधान किया ही नहीं—यह अनुमान 'दृष्टविरुद्ध' है, क्योंकि अप्रसिद्ध संबन्ध के बालकों को वृद्धों के कथन से अर्थ की प्रतीति देखी जाती है।

वृद्धानां दृश्यमाना ''' पुनःपुनः '''' उपाय इति ''' अवगतिं प्रति

इस प्रकार यह उपपादित हो चुका है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अवगति का उपाय अवश्य है (अनुपपन्न नहीं है)। वह उपाय सम्बन्धकर्ता के 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इत्यादि वाक्य ही हैं। प्रयोजक वृद्धों में शब्दों से उस सम्बन्ध के ग्रहण के द्वारा अर्थ की प्रतीति बराबर देखी जाती है। उन वृद्धों में देखी जानेवाली

उक्त शब्दार्थप्रतीति सभी प्रयोज्य वृद्धों के लिये शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान का उपाय (कारण) 'अस्माच्छब्दात्' इत्यादि वाक्य ही हैं।

हस्तसंज्ञा''अथ क्रियासु नः'''नह्यसौ'''व्यवहर्तृभिः

प्रश्न—'अस्माच्छब्दात्' इत्यादि वाक्य ही केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि हस्तनिर्देशादि से भी उक्त सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि हस्तनिर्देशादि भी पहले ज्ञात संकेत वाले अर्थों का ही निर्देश करते हैं। अतः सृष्टि के उत्तरकाल में हस्तसंज्ञादि से काम चल सकता है, किन्तु सृष्टि के आदि में नहीं, क्योंकि सृष्टि के आदि में अर्थ में शब्द का इस प्रकार का व्यवहार करने वाला कोई नहीं रहता।

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च'''पश्यति

वृद्धव्यवहार से शक्तिग्रहण के प्रमाणों की रीति इस प्रकार है—

संकेत से अनभिज्ञ पुरुष शब्द, अर्थ और प्रयोजक वृद्ध इन तीनों को प्रत्यक्ष प्रमाण से एवं श्रोता (प्रयोज्यवृद्ध) के संकेतज्ञान को चेष्टालिङ्गक अनुमान प्रमाण से जानने के बाद 'अन्यथाऽनुपपत्ति' के द्वारा शब्द और अर्थ इन दोनों के संकेत को समझता है। इस प्रकार शक्तिज्ञान में (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान और (३) अर्थापत्ति इन तीनों ही प्रमाणों का उपयोग होता है। अतः शक्तिज्ञान 'त्रिप्रमाणक' है।

अर्थापत्त्याऽवबुद्धयन्ते'''त्रिप्रमाणकम्

किन्तु इन तीनों में संकेत (शक्ति) ज्ञान का अर्थापत्ति ही साक्षात् कारण है, प्रत्यक्ष और अनुमान परम्परया कारण हैं॥ १३३–१४१॥

इति सम्बन्धाक्षेपपरिहारः समाप्तः॥

अथ चित्राक्षेपपरिहारः

चित्रादिनिष्फलत्वेऽपि यदुक्तं साधनद्वयम्।
तत्र हेतोरसिद्धत्वमानन्तर्यं ह्यचोदितम्॥ १॥

पहले 'अनिमित्तं प्रमाणं शब्दः'[1] (शा० भाष्य पृ० ३९ पं० ५) इत्यादि भाष्यसन्दर्भ से यह आक्षेप किया गया है—(जो 'चित्राक्षेप' के नाम से प्रसिद्ध है)—

(१) 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि विधायक वाक्य (चोदना) प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि उस वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट पशु स्वरूप फल चित्रायाग के बाद प्रत्यक्ष से नहीं देखा जाता है। उक्त प्रकार के विधिवाक्यों का समर्थन (संवाद) चूँकि प्रत्यक्ष

---

१. अथ यदुक्तमनिमित्तं शब्दः कर्मकाले फलादर्शनात्, कालान्तरे च कर्माभावात् प्रमाणं नास्तीति - तदुच्यते, न स्यात्प्रमाणं यदि पश्चैव प्रमाणान्यभविष्यन्'''किन्तु कर्मणः फलं प्राप्यत इति (शाबरभाष्य पृ० ५८ पं० ९)।

से नहीं होता है, अतः उक्त प्रकार के वाक्य 'प्रत्यक्षविसंवादी' होने के कारण प्रमाण नहीं है।

(२) दूसरा आक्षेप यह है कि उक्त विधिवाक्य के द्वारा कथित 'चित्रायाग' निष्फल है, क्योंकि यागानुष्ठान के तुरत बाद (अव्यवहितोत्तरकाल में) पशु की प्राप्ति नहीं होती है।

इस प्रकार (१) चित्रानुष्ठानाव्यवहितोत्तरकाल में पशु की अप्राप्ति (स्वकाले फलादानात्) स्वरूप दूसरे हेतु का उपादान जो पूर्वपक्षवादियों ने किया है, वह हेतु 'असिद्ध' है, क्योंकि उक्त विधिवाक्य के द्वारा यागानुष्ठान के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही पशुप्राप्ति का विधान नहीं किया गया है। किन्तु उस याग के अनुष्ठान से पशु-प्राप्ति मात्र का विधान किया गया है। पशु की सामान्य (साधारण) प्राप्ति अव्यवहितोत्तरकाल में सम्पन्न न होने से बाधित नहीं होती। अतः चित्रायाग स्वरूप पक्ष में उक्त फलादानत्व हेतु 'सिद्ध' नहीं है। इसलिये उक्त हेतु असिद्ध नाम का हेत्वाभास है। अतः उसके द्वारा चित्रायाग में निष्फलत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

(२) चित्रायाग के विधायक वाक्य में अप्रामाण्य की सिद्धि के लिये जिस 'प्रत्यक्षादिविसंवाद' स्वरूप हेतु का उल्लेख किया गया है, वह भी असिद्ध ही है, क्योंकि यागानुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल में पशु स्वरूप फल की सिद्धि चूँकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं होती है, इसीलिये तो कथित प्रत्यक्षादिविसंवाद का हेतु रूप में उल्लेख करते हैं, किन्तु अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल में फलप्राप्ति का विधान ही प्रकृत विधिवाक्य से नहीं किया गया है, यागानुष्ठान के बाद जिस किसी काल में पशु की प्राप्ति ही उस वाक्य के द्वारा अभिहित है।

इस प्रकार उक्त दोनों ही हेतु इसीलिये असिद्ध हैं कि उक्त विधिवाक्य से अव्यवहितोत्तर काल में पशु स्वरूप फल की प्राप्ति का निर्देश नहीं किया गया है ॥१॥

आनन्तर्यश्रुतिश्चात्र सामर्थ्यादपि नेष्यते।
नाविशेषा फलोत्पत्तिः कर्मणा नोपपद्यते ॥ २ ॥

(पू० प०) विधिवाक्य स्वरूप 'श्रुति' प्रमाण से अनन्तर काल में फल की सिद्धि भले ही न हो किन्तु 'सामर्थ्य' रूप लिङ्ग प्रमाण से उक्त वाक्य के द्वारा परम्परया अव्यवहितोत्तरकाल में ही फल का निर्देश समझा जा सकता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

'अविशेषा फलोत्पत्तिः' अर्थात् अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तोर काल के समान ही याग के अनन्तर (बहुतकाल के बाद) भी याग से फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती— ऐसी बात नहीं है। अर्थात् उक्त विधिवाक्य के द्वारा लिङ्ग प्रमाण से भी 'आनन्तर्य' का (यागानुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल में ही फलोत्पत्ति का) विधान नहीं किया गया है, क्योंकि खेती आदि ऐसे भी कार्य हैं, जिनसे बहुत समय बाद ही फल की उत्पत्ति होती है (यागाद्यनुष्ठानमव्यवहितोत्तरकालानन्तरमपि फलजनकं यागानुष्ठानत्वात् कृष्याद्यनुष्ठानवत्) ॥ २ ॥

कर्मणां चापि वैचित्र्याद् देशकालाद्यपेक्षणात् ।
कस्यचिच्चार्द्धभुक्तत्वात् कर्मान्यत् प्रतिबध्यते ॥ ३ ॥
तेनानन्तर्यनिष्पत्तिः फलस्येहाप्रमाणिका ।
प्रत्यक्षादिविसंवादो न शब्दे दोषमासजेत् ॥ ४ ॥
आनन्तर्यविसंवादो नाविशेषप्रवर्तिनीम् ।
चोदनां बाधितुं शक्तः स्फुटाद् विषयभेदतः ॥ ५ ॥

कर्मणां चापि''''प्रतिबद्धयते'''अप्रमाणिका

(पू० प०) जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल में ही फल की प्राप्ति हो, उसी प्रकार यह भी तो नियम नहीं है कि अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल के बाद ही फल की उत्पत्ति हो, क्योंकि पाक से तो अव्यवहितोत्तर काल में ही फल की उत्पत्ति होती है। अतः चित्रायाग के अनुष्ठान से फल की प्राप्ति पाकादि की तरह अनुष्ठान के अव्यवहित उत्तरकाल में न होकर कृष्यादि की तरह बाद में ही हो—इसका कौन सा हेतु है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

कर्म्मणां चापि वैचित्र्यात्

(१) कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो स्वभावतः विप्रकृष्ट समय में ही (अर्थात् अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तरकाल के बहुत समय बाद ही) फल देते हैं, जैसे कि कृषि।

देशकालाद्यपेक्षणात्

(२) कुछ कर्मों को फल देने में विशेष देश अथवा विशेष काल की अपेक्षा होती है। वे कर्म भिन्न देशों में अथवा विभिन्न कालों में यदि अनुष्ठित होते हैं तो वे अपने अनुष्ठान के अव्यवहितोत्तरकाल में फल नहीं दे सकते।

कस्यचिच्चार्द्धभुक्तत्वात्

(३) कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनसे अव्यवहितोत्तर काल में कर्त्ता को फल की प्राप्ति इसलिये नहीं होती कि उस समय कुछ दूसरे कर्म फल देने को उत्सुक रहते हैं और उन कर्मों के फल का आधा भोग करना अवशिष्ट रहता है। फलतः कर्मान्तर के प्रतिरोध के कारण भी कुछ कर्म अपने अनुष्ठान के अव्यवहित उत्तरकाल में फल देने में असमर्थ होते हैं। अतः सभी अनुष्ठानों के अव्यवहितोत्तर काल में फलनिष्पत्ति को स्वीकार करना अप्रामाणिक है, क्योंकि कर्मों में फलानन्तर्य अवश्यम्भावी नहीं है।

प्रत्यक्षादिविसंवादः'''आनन्तर्यविसंवादः'''विषयभेदतः

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि विधिवाक्य स्वरूप शब्दों में प्रत्यक्ष का विसंवाद किसी दोष का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि 'अविशेषप्रवर्त्तिनी' चोदना को (अर्थात् अव्यवहितोत्तर काल एवं तदुत्तर रूप काल इन दोनों कालों में 'अविशेष' रूप से अर्थात् समान रूप से फलोत्पत्ति के बोध में समर्थ विधिवाक्य को) बाधित करने की क्षमता प्रत्यक्षादि के विसंवादों में नहीं है, क्योंकि दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। विधिवाक्य 'अविशेष' रूप से (समान रूप से) अनुष्ठान के अव्य-

वहितोत्तर कालवर्त्ति एवं तदुत्तरकालवर्त्ति दोनों ही प्रकार की फलप्रतीतियों के बोधक हैं। प्रत्यक्षविसंवाद केवल अव्यवहितोत्तरकालवर्त्ति फल का ही बाधक है। अतः 'प्रत्यक्षादि का विसंवाद' हेतु 'असिद्ध' है। इसलिये 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि ऐहिक फल के विधायक वाक्यों में उक्त विसंवाद हेतु से अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ ३–५ ॥

या तु मर्दनसाधर्म्यादानन्तर्याऽनुमा कृता।
बाध्यतेऽनुपलब्ध्यासौ समानविषया यतः ॥ ६ ॥

मर्दन क्रिया (मालिश) जिस प्रकार जब तक होती रहती है उतने समय तक ही उसका सुख मिलता है उसी प्रकार चित्रादि यागों के अनुष्ठान भी अव्यवहित उत्तरकाल में ही फल दे सकते हैं (चित्राद्यनुष्ठानमनन्तरमेव फलं ददाति क्रियात्वात् मर्दनक्रियावत्)।

इस प्रकार जो चित्रादि यागों में अनन्तरफलत्व की सिद्धि की जाती है, उसका बाध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, क्योंकि उक्त अनुमान अव्यवहितोत्तर-कालवृत्तित्व स्वरूप 'आनन्तर्य' का साधक है, एवं उक्त अनुपलब्धि भी अन्तरकाल में फलप्राप्ति का ही बाधक है, इसलिये समानविषयक होने से दोनों में बाध्यबाधक-भाव युक्त है ॥ ६ ॥

दृष्टार्थस्यापि सेवादेरायातमपि सत्फलम्।
उत्पद्यते चिरेणैव प्रतिबन्धेन केनचित् ॥ ७ ॥

विरोधी दूसरे कर्म के प्रतिबन्ध से दृष्टार्थक राजसेवादि के द्वारा भी फल की निष्पत्ति राजाज्ञा के हो जाने पर भी किसी दृष्ट या अदृष्टवश विलम्ब से होती है। (कर्मान्तर के प्रति बाध से फलविलम्ब का यह उदाहरण है) ॥ ७ ॥

उप्तमात्रे न हि व्रीहौ फलमुत्पद्यते क्वचित्।
अथाङ्कुरोऽपि तत्र स्यात् स्वर्गोऽप्यस्तीति गम्यताम् ॥ ८ ॥

(कर्म के स्वाभाविक वैचित्र्यवश फलविलम्ब के कारण ही) खेत में बीज बोने के तत्क्षण बाद ही व्रीहि (साठी धान) की प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि बीज बोने की क्रिया का यही स्वभाव है कि कुछ विलम्ब से ही फल का निष्पादन करे ॥ ८ ॥

स्थूलीभूतश्चिरेणैव भोग्यत्वं प्रतिपद्यते।
सर्वस्योत्पद्यमानस्य क्रमः स्वाभाविकः स्थितः ॥ ९ ॥

बीज बोने के अव्यवहित उत्तर में अङ्कुर स्वरूप फल की निष्पत्ति होने से भी उसका उपभोग स्वरूप फल तत्काल इसलिये नहीं होता कि वह फल कुछ काल के बाद व्रीहि स्वरूपता प्राप्त करने पर ही उपभोग में आने की क्षमता रखता है। उत्पत्तिशील सभी पदार्थों के उपभोग में आने का विलम्ब एवं क्षिप्रता का स्वाभाविक अपना अपना क्रम है। तदनुसार ही वे उपभोग में आते हैं ॥ ९ ॥

अनन्तरफलत्वं तु चित्रादेर्यदि साध्यते ।
ततः स्यात् सिद्धसाध्यत्वमन्यथा न फलं भवेत् ॥ १० ॥

यदि चित्रादि यागों के अव्यवहित उत्तर काल में पशु प्रभृति फलों की अनुपलब्धि से चित्रादि यागों में 'अनन्तरफलत्व' की सिद्धि करें (चित्रायागः स्वानुष्ठानाव्यवहितोत्तरकाले फलं न ददाति तत्काले फलानुपलब्धेः) तो 'सिद्ध-साधन' होगा, क्योंकि अव्यवहितोत्तर काल में फल का अभाव तो सिद्ध ही है। किन्तु बिलम्ब से फल की प्राप्ति का इससे निषेध नहीं होता। अतः चित्रा याग में सर्वथा निष्फलत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती ॥ १० ॥

व्यभिचाराच्च सेवादेः पश्वादेः साधनान्तरम् ।
किमप्यदृष्टमस्त्येव तत्रान्यन्निष्प्रमाणकम् ॥ ११ ॥

'यच्च'[1]......कारणमस्तीति' इस पूर्वपक्ष के भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि चित्रादि यागों से कालान्तर में माने जाने वाले फलों के राजसेवादि कारण प्रत्यक्षसिद्ध हैं। अतः कालान्तर में होनेवाले उन फलों की हेतुता चित्रादिजनित अदृष्ट में मानना व्यर्थ है। इस प्रकार चित्रादि यागों में 'अविशेषा फलोत्पत्ति' की कारणता निरस्त हो जाती है।

'नैष दोषः......शब्दश्चेति' भाष्यकार ने इस सन्दर्भ के द्वारा उक्त पूर्वपक्ष का यह सिद्धान्तभूत उत्तर दिया है कि 'तत्र' अर्थात् कालान्तर में अव्यवहितोत्तर काल के वाद कभी भी उत्पन्न होने वाले पश्वादि फलों में भी 'तत्' अर्थात् चित्रादि यागजनित अदृष्ट कारण हैं ही, क्योंकि—

व्यभिचाराच्च...निष्प्रमाणकम्

राजसेवादि में उन फलों की कारणता अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक-व्यभिचार दोनों से दूषित है, क्योंकि राजसेवादि दृष्ट कारणों के रहने पर भी पश्वादि फलों की प्राप्ति कदाचित् नहीं भी होती है। एवं राजसेवादि दृष्ट कारणों के रहने पर भी कदाचित् गवादि फलों की प्राप्ति होती है। इसलिये राजसेवादि दृष्ट कारणों से भिन्न पश्वादि फलों की प्राप्ति के 'अदृष्ट' कारण अवश्य हैं। उन अदृष्टों की हेतुता चित्रादि यागों से भिन्न किसी अन्य में स्वीकार करना अप्रामाणिक है ॥ ११ ॥

ईश्वरेच्छाधिकारादिशब्दलिङ्गादिवर्जनात् ।
कृतं कदाचिच्चित्रादिशब्देन त्ववगम्यते ॥ १२ ॥

(नैयायिकों के अभिमत) ईश्वरेच्छा अथवा (सांख्याचार्यों के अभिमत) 'अधिकार' प्रभृति को पश्वादि फलों का साधन मानना शब्द और अनुमान दोनों ही

१. यच्च फलस्यान्यत् प्रत्यक्षं कारणमस्तीति (पू० प० भाष्य) नैष दोषः, सच्चैव हि तत्र कारणम् शब्दश्चेति (शाबरभाष्य पृ० ५९ पं० ७)।

प्रमाणों से बहिर्भूत है। शास्त्रों में कहीं कहीं जो उनमें पश्वादि फलों की हेतुता के बोधक शब्द प्रयुक्त हैं, उन शब्दों से भी लक्षणादि वृत्तियों के द्वारा यागादि को ही समझना चाहिये ॥ १२ ॥

निर्निमित्ता न चोत्पत्तिर्न हि सर्वाप्रमाणता।
बोधयन् न च शब्दोऽत्र प्रमाण्यादतिवर्त्तते ॥ १३ ॥

(पू० प०) 'स्वभाव' से ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं, कार्यों का कोई भी दृष्ट अथवा अदृष्ट कारण नहीं है। अतः चित्रादि याग भी पश्वादि फलों के कारण नहीं हैं। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

कार्यकारणभाव सभी प्रमाणों से सिद्ध है। मर्दन-सुखादि के कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। अन्य वस्तुओं के कार्यकारणभाव अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध हैं। उन सभी को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

अतः चित्रादि यागों में पश्वादि फलों की कारणता के बोधक 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस शब्द को अप्रामाण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अव्यवहितोत्तर काल में फल का प्रत्यक्ष न होने पर भी चित्रादि यागों में पश्वादि फलों की कारणता का समर्थन किया जा सकता है ॥ १३ ॥

येषां त्विहफलान्येव चित्रादीनीति कल्पना।
निर्निमित्तं फलं तेषां स्यादिहाकृतकर्मणाम् ॥ १४ ॥

(अब विचारणीय है—(१) चित्रादि यागों के पश्वादि फल अनुष्ठाताओं को क्या इसी जन्म में प्राप्त हो जाते हैं ? अथवा (२) इस जन्म में मिले, या अन्य जन्मों में मिले इसका अनियम है ?

इस प्रसङ्ग में 'भर्तृमित्र' प्रभृति आचार्यों का मत है कि चित्रादि यागों के पश्वादि फल अनुष्ठाताओं को इसी जन्म में प्राप्त हो जाते हैं। इसके लिये 'योग-सिद्ध्यधिकरण' के सिद्धान्त को उपस्थित करते हैं। (देखिये अ० ४ पा० ३ सू० २६–२७) उनके मत में इस जन्म में जिन लोगों ने चित्रादि यागों का अनुष्ठान नहीं किया है, किन्तु उन लोगों को उन यागों के पश्वादि फल उन्हें प्राप्त हैं उन पश्वादि फलों को बिना कारण के ही स्वीकार करना होगा। किन्तु बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति स्वीकार नही की जा सकती ॥ १४ ॥

चित्रादीनां फलं तावत् क्षीणं तत्रैव जन्मनि।
न च स्वर्गफलस्येह कश्चिदंशोऽनुवर्तते ॥ १५ ॥

(निर्निमित्तता की आपत्ति इसलिये होगी कि) उस पुरुष के द्वारा पूर्व जन्म में अनुष्ठित चित्रादि यागों के फल तो उस जन्म में प्राप्त हो चुके हैं।

न च स्वर्गफलस्य···अनुवर्त्तते

(पू० प०) महर्षि गौतम ने अपने 'धर्मसूत्र' में 'स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म-फलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टजात्यादिमन्तो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इस वाक्य के द्वारा

यह उपपादन किया है कि पूर्व जन्म में अनुष्ठित ज्योतिष्टोमादि सत्कर्मों के स्वर्गादि फलों में से जो भोगने से बच जाते हैं, उनके प्रभाव से ही इस जन्म में ब्राह्मणत्वादि विशेष जातियों में जन्म की प्राप्ति होती है। एतदनुसार जिन लोगों ने चित्रादि यागों का इस जन्म में अनुष्ठान नहीं किया है उन लोगों की पश्वादि फलों की प्राप्ति को अन्य जन्मों के भुक्तावशिष्ट कर्मों का फल मानकर उक्त 'निर्निमित्तता' की आपत्ति को मिटायी जा सकती है।

किन्तु गौतमोक्त वचन के अनुसार प्रकृत में 'निर्निमित्तता' की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस जन्म में पूर्वकृत स्वर्गफलक ज्योतिष्टोमादि कर्मों की अनुवृत्ति नहीं होती है ॥ १५ ॥

नैव ह्यन्यफलं कर्म साधयेन्नः फलान्तरम्।
गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तस्माच्चित्राद्यपेक्षया ॥ १६ ॥

नैव''''फलान्तरम्

स्वर्गादि के जनक जो ज्योतिष्टोमादि हैं, उनसे पश्वादि फलों की उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि अन्य फलों के कारणों से अन्य फलों की उत्पत्ति संभव नहीं है।

गौतमीयेऽपि''

कथित महर्षि गौतम के वचन के अनुसार भी पूर्व जन्म में अनुष्ठित अथ च अभुक्त चित्रादि कर्मों से पश्वादि की प्राप्ति उन्हीं पुरुषों को होती है, जिन्होंने इस जन्म में चित्रादि यागों का अनुष्ठान नहीं किया है। अतः निर्निमित्तता की उक्त आपत्ति ठीक नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो जिन पुरुषों ने यागादि का अनुष्ठान नहीं किया है, उन लोगों की इस जन्म की पश्वादि की प्राप्ति 'अकारण' हो जायगी ॥ १६ ॥

स्वाभाविकत्वे सिद्धे च कर्मानन्तरभाव्यपि।
फलं क्रियानिमित्तत्वं न कथञ्चित् प्रपद्यते ॥ १७ ॥
तत्र म्लेच्छादिवत् सर्वे कर्माकृत्वापि वैदिकम्।
फलं लभन्त इत्येवं नष्टा वेदप्रमाणता ॥ १८ ॥

यदि फलों को निर्निमित्तक मानें तो फलों की उत्पत्ति 'स्वभाव' से माननी होगी। स्वभाववाद के अनुसार कर्मानुष्ठान के अव्यवहितोत्तर काल में ही फलों की जो उत्पत्ति होती है, उन फलोत्पत्तियों को भी 'स्वभाव'हेतुक ही मानना होगा। ऐसा मानने पर वेदों से फलोत्पत्ति के बोधक जो वाक्य हैं वे सभी अप्रमाण हो जायँगे, क्योंकि जिस प्रकार म्लेच्छ लोग कहते हैं कि चित्रादि यागों के अनुष्ठान के बिना ही पश्वादि फलों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार वेदप्रामाण्यवादी आस्तिकों के लिये भी कहना संभव हो जायगा। इस प्रकार वेदों का प्रामाण्य खतरे में पड़ जायगा ॥ १७–१८ ॥

अनन्तरं नियोगेन पश्वादि च भवेद् यदि।
प्रत्यक्षफलतैव स्यात् त्रिवृत्पानविरेकवत् ॥ १९ ॥

पश्वादि फलों को यदि नियमतः 'ऐहिक' अर्थात् इसी जन्म में (जिस जन्म में चित्रादि यागों का अनुष्ठान होता है) मानें तो जिस प्रकार 'त्रिवृत्' अर्थात् त्रिफला के रस का पान विरेचन का दृष्ट कारण होता है उसी प्रकार चित्रादि यागों को भी पश्वादि फलों का दृष्ट कारण ही मानना होगा। इसलिये चित्रादि यागों के विधायक वाक्य व्यर्थ होकर वेदाप्रामाण्य के कारण हो जायँगे ॥ १९ ॥

जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यंत इतीदृशम्।
न भाष्यं न च सूत्रं स्यादप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् ॥ २० ॥

भाष्यकार ने स्मृत्यधिकरण में 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यंत इति' (शावर-भाष्य पृ० १३५ पं० ३ अ० १ पा० ३ सू० २) इस वाक्य के द्वारा इस प्रकार के पश्वादि फलों के ऐहिकत्व का अनियम दिखाया है। एवं 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस सूत्र के द्वारा महर्षि जैमिनि ने भी यागों के फलों की प्राप्ति के प्रसङ्ग में ऐहिकत्व के नियम का विरोध किया है। अतः चित्रादि यागों के पश्वादि फलों को नियमतः ऐहिक मानने से उक्त सूत्र का विरोध भी होगा ॥ २० ॥

तस्मात् कालाविशेषेण चोदनार्थो यथा स्थितः।
स तथैवानुगन्तव्यो नाधिको निष्प्रमाणकः ॥ २१ ॥

'तस्मात्' विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट फल (अर्थ) जिस प्रकार के हों अर्थात् जिन विधेयार्थों को इह जन्म में ही प्राप्ति उपपन्न हों उनमें ऐहिकत्व का नियम (जैसे कि वर्षादि) एवं जिन पश्वादि अर्थों को इह जन्म के समान ही परजन्म में भी भोगने की संभावना हो उनके ऐहिकत्व और आमुष्मिकत्व (इस जन्म में होने में और परजन्म में ही होने में) का अनियम समझना चाहिये ॥ २१ ॥

सर्वेषां कर्मवैगुण्यात् फलाभावं वदन्ति ये।
आनन्तर्यमुपेत्यैव ते स्वाभाविकवादिनः ॥ २२ ॥

[1]नैयायिकगण चित्रादि यागों के पश्वादि फलों को ऐहिक ही मानते हैं। ऐहिक मानने पर कहीं-कहीं फल की अप्राप्ति से विधिवाक्यों में जो अप्रामाण्य की आपत्ति आती है, उसका समाधान 'कर्त्ता और साधन के वैगुण्य' से मानते हैं (अर्थात् याग-कर्त्ता में अथवा याग के अन्य साधनों में कुछ दोष होगा ऐसा स्वीकार करते हैं)।

वे भी वस्तुतः 'स्वभाववादी' ही हैं। अर्थात् उन लोगों को भी पूर्ववत् (देखिये श्लो० १०–११) यही स्वीकार करना होगा कि जिन लोगों ने इस जन्म में चित्रादि यागों का अनुष्ठान नहीं किया है, उन लोगों को पश्वादि फलों की प्राप्ति को 'स्वभाव' मूलक ही मानना होगा। इससे 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि वाक्यों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी जिसका पर्यवसान समस्त वेदों के अप्रामाण्य में होगा ॥ २२ ॥

स्वर्गस्यामुष्मिकत्वं तु षष्ठाद्ये स्थापयिष्यते।
पश्वादेर्नियमाभावो योगसिद्धिरितीह तु ॥ २३ ॥

---

१. देखिये—'न, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' (न्यायसूत्र अ० २ आ० १ सू० ५८)।

(पश्वादि फलों में ऐहिकत्व और आमुष्मिकत्व का अनियम है किन्तु स्वर्ग स्वरूप फल नियमतः अन्य शरीरों से ही भोगे जाने की क्षमता रखता है, अर्थात् आमुष्मिक ही है—इसका उपपादन छठे अध्याय के पहले ही अधिकरण में किया गया है। कथित 'योगसिद्धयधिकरण (अ० ४ पा० ३ सू० २५, २६) में तो पश्वादि फलों में ऐहिकत्व और आमुष्मिकत्व का अनियम ही कहा गया है, ऐहिकत्व का नियम नहीं ॥ २३ ॥

यदा कदाचिद् भवदेतदिष्यते
फलं हि पश्वादि न साम्परायिकम् ।
तथा स्थितस्यैव हि तस्य साधनं
विधीयते योऽपि भृशं त्वरान्वितः ॥ २४ ॥

योगसिद्धयधिकरण में यह पूर्वपक्ष किया गया है कि 'क्या पश्वादि फल स्वर्गादि फलों के समान नियमतः 'साम्परायिक' (अर्थात् आमुष्मिक अर्थात् नियमतः परजन्म में ही भोगने योग्य) हैं। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये सिद्धान्त किया गया है कि 'पश्वादि फलों में पारलौकिकत्व' का 'नियम' नहीं है। किन्तु ऐहिकत्व और पारलौकिकत्व इन दोनों का अनियम है[1]।

तथा स्थितस्यैव''त्वरान्वितः

इस प्रसङ्ग में कोई कहते हैं कि जिस अनुष्ठाता को यह कामना रहती है कि 'मैं जिस चित्रायाग का अनुष्ठान कर रहा हूँ, उसका फल मुझे इसी जन्म में मिले' इस प्रकार के 'त्वरान्वित' अनुष्ठाता को इस जन्म में ही फल मिल जाता है। अर्थात् इस प्रकार के त्वरान्वित पुरुष से अनुष्ठित चित्रादि यागों के फल नियमतः 'ऐहिक' हैं। एवं अन्य प्रकार के चित्रादि यागों के फलों में ऐहिकत्व और पारलौकिकत्व का अनियम है। किन्तु यह विभाग भी उचित नहीं है, क्योंकि—

'कारण' अपने स्वाभाविक नियम का परित्याग नहीं कर सकता। अतः जिन चित्रादि यागों का यह 'अनियम' स्वभाव है कि वे ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार के फलों का विकल्प से उत्पादन करें, उन्हीं चित्रादि यागों में से कुछ यागों का नियम से इह जन्म में फल देने का स्वभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता ॥ २४ ॥

साधारणं यत्तु फलं बहूनां
स्वभावतस्तादृशमेव चेष्टम् ।
सर्वस्य वाऽऽसन्नतयैव काम्यं
वृष्ट्यादि तच्चैहिकमेव युक्तम् ॥ २५ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि वाक्यों में 'अनियम' का बोधक कोई शब्द नहीं है, फिर भी 'सांपरायिकत्वनियम' (आमुष्मिकत्व का नियम) के निराकरण के द्वारा इह जन्म में या परजन्म में पश्वादि फलों का 'अनियम' ही उक्त वाक्यों द्वारा विवक्षित है। यही बात 'योगसिद्धयधिकरण' में कही गयी है। उक्त अधिकरण के द्वारा पश्वादि फलों के ऐहिकत्व के नियम का सिद्धान्त नहीं किया गया है।

इससे यह नियम भी समझना चाहिये कि स्वर्ग से भिन्न जितने भी आमुष्मिक फल के जनक यागादि हैं, वे सभी के सभी इह जन्म में या परजन्म में विकल्प से ही फल देने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि वर्षा प्रभृति कुछ फल बहुत से लोगों को नियमतः इसी जन्म में प्राप्त होते हैं। उन फलों के प्रापक 'कारीरी' प्रभृति याग अनुष्ठाता को इसी जीवनकाल में फल देने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि 'कारीरी' याग का अनुष्ठान कोई इस कामना से नहीं करता कि मेरे किसी जन्म जन्मान्तर में वर्षा हो। तस्मात् इस प्रकार के बहुजनसाधारण वर्षादि फल नियमतः 'ऐहिक' ही हैं॥ २५॥

कमिपदमविशिष्टं यद्यपि श्रूयते वा
भवति फलविशेषो नान्यथा काम्यते हि।
फलति यदि न सर्वं तत् कदाचित्तदैव
ध्रुवमपरमभुक्तं कर्म शास्त्रीयमास्ते॥ २६॥

कमिपदमविशिष्टम्''काम्यते हि

(पू० प०) जिस प्रकार 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य में 'कम्' धातु से निष्पन्न 'काम' पद प्रयुक्त है उसी प्रकार 'वृष्टिकामः कारीरीं यजेत' इस वाक्य में भी उक्त 'काम' पद है। किन्तु इन दोनों विधिवाक्यों के अर्थों में से एक चित्रायाग में तो इस जन्म और परजन्म दोनों में से किसी में भी फल देने की क्षमता मान लें, किन्तु 'कारीरी' याग में नियमतः इसी जन्म में फल देने की क्षमता मानें, यह 'अर्द्धजरती' क्यों? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

कर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार विधिवाक्य से फल के साधन का विधान किया जाता है। कारीरी याग के सभी अनुष्ठाता 'संनिहित' (इसी जन्म में) वृष्टि की कामना करते हैं। पश्वादि फलों में संनिधान का यह नियम नहीं है। अतः चित्रायाग का अनुष्ठाता पशु स्वरूप फल की कामना इस जन्म में पशुफल की प्राप्ति के लिये भी कर सकता है, परजन्म में पशुफल की प्राप्ति के लिये भी कर सकता है। अतः वृष्टि, अभिचार, उपद्रवशमनादि के लिये अनुष्ठित यागादि इस जन्म में फल देने की ही सामर्थ्य रखते हैं।

फलति यदि''शास्त्रीयमास्ते

(पू० प०) तो फिर जितने भी कारीरी याग अनुष्ठित होते हैं, उन सभी यागों के अनुष्ठान के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही वृष्टि क्यों नहीं होती है? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

जहाँ कारीरी याग के अव्यवहित उत्तरक्षण में वृष्टि नहीं होती है, वहाँ जन्मान्तर में अनुष्ठित शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध वृष्टिविरोधी किसी कर्मान्तर को प्रतिबन्धक मान लेते हैं। प्रतिबन्धक के द्वारा कार्य की अनुत्पत्ति से कारणत्व का विघटन नहीं होता। अतः कारीरी याग के उक्त वैफल्य से शास्त्र के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं आती है।

यदि स्वर्ग से अतिरिक्त सभी कर्मफलों को नियमतः ऐहिक मानें तो वृष्ट्यादि कार्यों के 'प्रतिबन्ध' भी तो स्वर्ग से भिन्न होने के कारण ऐहिक ही होंगे। उसके प्रयोजक कर्म का अनुष्ठान तो पूर्वजन्म में हुआ है। उसका 'प्रतिबन्ध' स्वरूप फल तो इस जन्म में हो नहीं सकता। अतः कारीरी प्रभृति सभी यागों से अव्यवहित उत्तरक्षण में फल की उत्पत्ति होगी जिससे ऐहिक फलों के जनक सभी यागादि विरेचनादि के जनक त्रिफलारसादि के सेवन के समान दृष्टार्थक हो जायेंगे। अतः स्वर्ग से भिन्न सभी फलों को नियमतः ऐहिक ही नहीं माना जा सकता।

यदि ऐसी बात है तो फिर जिन लोगों ने कारीरी याग का अनुष्ठान नहीं किया है, उनके लिये वर्षा की उत्पत्ति क्योंकर होती है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना है—

अन्य जन्मों में अनुष्ठित जो अन्नादि फलों के प्रापक अभुक्त शास्त्रीय कर्म हैं, उन्हीं कर्मों से इस जन्म में उन लोगों के लिये वृष्टि होती है ॥ २६ ॥

इति चित्राक्षेपपरिहारः समाप्तः ॥

अथ आत्मवादः

साक्षाद् यद्यपि सम्बन्धो नात्मनो यज्ञसाधनैः।
तथापि लक्षणावृत्त्या शरीरद्वारको भवेत् ॥ १ ॥

('तस्य एष' इत्यादि जिस वचन को प्रत्यक्षविरोध दिखलाने के लिये उपस्थित किया गया है, उस प्रत्यक्षविरोध के परिहार के प्रसङ्ग में हम सिद्धान्ती कहते हैं—)

'तस्य एष' इत्यादि वाक्य के द्वारा शरीर के स्वर्ग जाने का बोध अभिप्रेत नहीं है। किन्तु आत्मा के स्वर्ग जाने का बोध ही अभिप्रेत है, जिस आत्मा का 'एषः' शब्द वाच्य यह शरीर (भोगायतन) है। शरीर और शरीरी को एक मान कर शरीर के साथ सम्बद्ध अप्रत्यक्ष आत्मा को भी 'एष' शब्द से एवं 'यज्ञायुधी' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। एवं इस आत्मा को सर्वगत होने पर भी अपने ज्ञान प्रयत्नादि के द्वारा यज्ञ का साक्षात् कर्त्ता भी कहा जा सकता है।

यद्यपि स्वर्ग के यज्ञ स्वरूप साधन के साथ आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी शरीर के द्वारा आत्मा का भी यज्ञों के साथ सम्बन्ध है। अतः लक्षणावृत्ति के द्वारा शरीरस्थ आत्मा को 'यज्ञायुधी' शब्द से लिया जा सकता है। अतः 'तस्य एष' इत्यादि वाक्य में 'प्रत्यक्षविरोध' नहीं है ॥ १ ॥

प्रत्यक्षत्वं च देहस्थं भाक्तमात्मनि कल्पितम्।
आत्मनः स्वर्गयानं वा शरीरस्योपचर्य्यते ॥ २ ॥

---

१. यत्तु दृष्टविरुद्धं वचनमुपन्यस्तम् 'तस्य एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति। उच्यते—शरीरसम्बन्धात्तस्य तच्छरीरम् सोऽपि तैर्यज्ञायुधैर्यज्ञायुधी' (शाबर-भाष्य पृ० ९०)

प्रत्यक्षत्वम्''कल्पितम्

इसी प्रकार उक्त वाक्य में 'एष' शब्द के द्वारा देह में रहने वाले 'प्रत्यक्षत्व' का 'उपचार' भी आत्मा में होता है। अतः अप्रत्यक्ष आत्मा का भी (प्रत्यक्षविषय के बोधक 'एतत्' शब्द के एकवचनान्त) 'एषः' शब्द से बोध हो सकता है ॥ २ ॥

नैरात्म्येनात्र चाक्षिप्ताः सर्वा एव हि चोदनाः।
साध्यसाधनसम्बन्धस्तदुक्तो न हि सिद्धयति ॥ ३ ॥
ता हि कर्तुः फलेनाहुः सम्बन्धं क्वापि जन्मनि।
न च विज्ञानमात्रत्वे भोक्तृकर्तृत्वसम्भवः ॥ ४ ॥
शरीरविनिपाताच्च परं नान्यद् यदेष्यते।
अदृष्टफलइष्ट्यादौ तदा तद्वचनं मृषा ॥ ५ ॥

नैरात्म्येनात्र'''न हि सिद्धयति'''क्वापि जन्मनि

(पू० प०) 'कोसाऽवन्यो नैनमुपलभामहे, प्राणादिभिरेनमुपलभामहे' (शाबर-भाष्य पृ० ६० पं० ४) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा ज्ञान से भिन्न आत्मा का जो प्रतिपादन किया गया है वह व्यर्थ है, क्योंकि 'तत्स एष यज्ञायुधी' इत्यादि वाक्यों को 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों के समान अर्थवाद भी माना जा सकता है। अतः उक्त वाक्य में प्रत्यक्षविरोध के परिहार के लिये आत्मा का यह निरूपण व्यर्थ है। इस आक्षेप का यह परिहार है—

भाष्यकार ने केवल 'यज्ञायुधी' वाक्य में प्रत्यक्षविरोध के परिहार के लिये ही आत्मा का निरूपण 'कोसावन्यः' इत्यादि सन्दर्भ से नहीं किया है। किन्तु शरीरादि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध न होने पर सभी विधिवाक्यों के ऊपर अप्रामाण्य का जो आक्षेप आ जाता है उसके परिहार के लिए भी, क्योंकि उन वाक्यों से कथित स्वर्गादि साध्यों एवं यज्ञ, अपूर्वादि साधनों का सम्बन्ध शरीरात्मक आत्मा के साथ उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि वे सभी विधिवाक्य जन्म-जन्मान्तर में फलों के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं, जो शरीर को ही आत्मा मान लेने से अनुपपन्न हो जाता है[1]।

न च विज्ञान''शरीरविनिपातात्''तद्वचनं मृषा

यदि आत्मा को विज्ञान मात्र मानें तो उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों विशेष रूप से अनुपपन्न हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। यदि कर्त्ता को ही भोक्ता भी मानना है तो यह क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानने के पक्ष में दुर्घट है।

शरीर को यदि आत्मा (चेतन) मानें तो यागों के बोधक वाक्य अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि शरीरपात के बाद किसी भी भोक्ता का रहना सम्भव नहीं है। एवं यागादि के फल इस शरीर के समय अप्राप्त हैं ॥ ३–५ ॥

१. कहने का तात्पर्य है कि स्वर्ग नियमतः 'आमुष्मिक' है। 'स्वर्गकाम'घटित सभी विधिवाक्यों के द्वारा किसी अन्य जन्म में ही स्वर्गोपभोग का बोध होता है, सो भी यज्ञकर्ता को ही। इस लिये शरीर से भिन्न आत्मा की यदि सिद्धि न की जाय तो स्वर्गकामनायुक्त सभी विधिवाक्य व्यर्थ हो जायेंगे।

तस्माद् वेदप्रमाणार्थमात्मात्र प्रतिपाद्यते ।
यद्यपि प्रकृतं वाक्यं व्याख्यायेतार्थवादतः ॥ ६ ॥
शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तत्वमात्मनः ।
नित्यत्वं चेष्यते शेषं शरीरादि विनश्यति ॥ ७ ॥

तस्माद्वेदप्रमाणार्थम्''अर्थवादतः''नित्यत्वं चेष्यते

'तस्मात्' वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि के लिये ही भाष्यकार ने 'आत्मा' का प्रतिपादन किया है । अतः वेदव्याख्यान के बीच में आत्मा का निरूपण अप्रासङ्गिक नहीं है, भले ही 'यज्ञायुधी' प्रभृति वाक्यों को अर्थवाद मानकर उनके प्रामाण्य का समर्थन किया जा सके । अर्थात् वाक्य के प्रामाण्य के समर्थन के व्याज से सम्पूर्ण वेद के प्रामाण्य का समर्थन ही भाष्यकार को आत्मनिरूपण से भी अभिप्रेत है ।

आत्मा के प्रसंग में संक्षेपतः हम लोगों का सिद्धान्त है कि 'आत्मा' शरीर, इंद्रिय और बुद्धि इन तीनों से ही भिन्न है । 'आत्मा' नित्य है एवं शरीर, इंद्रिय और बुद्धि ये सभी विनाशी हैं । 'तान्येवाऽनुविनश्यति' इत्यादि उपनिषदों के द्वारा आत्मा के विनाश का प्रतिपादन इष्ट नहीं है किन्तु शरीरादि का विनाश ही उन वाक्यों का अर्थ है ॥ ६–७ ॥

नित्यः कर्तृत्वभोक्तृत्वे प्रतिपन्नोऽपि सन् यदा ।
न कर्मफलसम्बन्धं भोगकालेऽवबुध्यते ॥ ८ ॥
मया यत्तु कृतं कर्म तस्येदं भुज्यते फलम् ।
शुभाशुभं मयैवेति तदा कोऽस्य रसो भवेत् ॥ ९ ॥

आत्मा को नित्य मानने पर आक्षेप

पहली बात तो यह है कि आत्मा को यदि 'नित्य' मानें तो उसमें क्रिया का रहना सम्भव नहीं होगा । क्रियाओं से सर्वदा रहित पदार्थ में कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये दो भी नहीं रह सकते, अर्थात् क्रियाशून्य पदार्थ कर्ता और भोक्ता नहीं हो सकता । यदि क्रियाशून्य पदार्थ को कर्ता और भोक्ता मान भी लें तथापि फलोपभोग के समय 'मैं अपने किये हुए अमुक कर्म का यह फल भोग रहा हूँ' (मत्कृतस्यामुककर्मणः फलमिदमुपभुज्यते) इस आकार का 'परामर्श' (अनुसन्धानात्मक ज्ञान) सम्भव न होने से उक्त कर्मों में 'रस' अर्थात् अनुराग उत्पन्न नहीं होगा । अनुराग के न रहने से आगे तत्सजातीय कर्मों का अनुष्ठान ही अनुपपन्न हो जायगा ॥ ८–९ ॥

अपरामृश्यमाने हि स्वकर्मप्रत्यये फले ।
न विशेषो भवेत् कश्चित् स्वपरात्मोपभोगयोः ॥ १० ॥

'यह मेरे अनुष्ठानों का फल है' फलोपभोग के समय जिन्हें उक्त आकार का परामर्श (अनुसन्धान) नहीं रहता है, उनके लिए अपने भोग में और परोपभोग में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि स्वोपभोग्य फल में अनुराग के द्वारा उक्त फल के कारणीभूत यज्ञादि का पुनरनुष्ठान ही स्वोपभोग से परोपभोग में अन्तर है । परोप-

भोग्य फलों में अनुराग नहीं होता। अतः परोपभोग्य फलों के कारणीभूत यज्ञों का अनुष्ठान वह नहीं करता। इसलिये इस पक्ष में स्वोपभोग और परोपभोग में कोई अन्तर नहीं है ॥ १० ॥

कुर्वन्नप्यशुभं कर्म तेनैवं चिन्तयेन्नरः।
न स्मरिष्यामि भोगेऽहमिति नैतद् विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार फलपरामर्श के बिना निषिद्ध कर्म का परित्याग भी नहीं होगा, क्योंकि वह सोचेगा कि भोग के समय मुझे यह याद थोड़े ही रहेगा कि 'अमुक अशुभ कर्म का यह कड़ुआ फल है, अतः आगे इस प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान से बचना चाहिये' ॥ ११ ॥

तत्र नित्यत्वपक्षेऽपि कृतनाशाकृतागमौ।
फलतस्तुल्यरूपौ चेद् वृथा तत्प्रतिपादनम् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार आत्मा को अनित्य मानने में 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोनों दोष होते हैं, उसी प्रकार आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में भी ये दोनों ही दोष होंगे, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में कर्मों के अनुष्ठानों से विरति (कर्मा-ननुष्ठान) समान है। कर्म करने पर भी कर्त्ता का नाश 'कृतनाश' कहलाता है, एवं कर्म न करने पर भी फल की प्राप्ति 'अकृताभ्यागम' दोष कहलाता है'[1] ॥ १२ ॥

नैष दोषो न भोगे हि स्मृतिर्न उपयुज्यते।
न प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा भोगकाले स्मृतेर्भवेत् ॥ १३ ॥

आत्मनित्यत्वपक्ष में दोषों का परिहार

आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में कथित 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोष नहीं हैं, क्योंकि 'अमुक कर्म के फल का उपभोग मैं कर रहा हूँ' इस आकार के अनुसन्धान (परामर्श) का भी कोई उपयोग स्मृति में नहीं है, क्योंकि भोग के समय स्मृति से न अनुकूल वस्तुओं में प्रवृत्ति ही होती है, न प्रतिकूल वस्तुओं से निवृत्ति ही होती है (अर्थात् भोग प्रवृत्ति के बाद उत्पन्न होता है, अतः भोग का परामर्श प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता) ॥ १३ ॥

तदङ्गं यः परामर्शस्तदस्तित्वं च मृग्यते।
प्राक् प्रवृत्तेस्तु सोऽस्त्येव विदुषां शास्त्रतः स्फुटः ॥ १४ ॥

प्रवृत्ति का कारण है 'समीहितसाधनत्व' का परामर्श (अर्थात् याग में अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति के साधनत्व—इष्टसाधनत्व का परामर्श)। विद्वानों को यह परामर्श तो शास्त्र के द्वारा ही प्राप्त रहता है ॥ १४ ॥

---

१. (१) कर्तुः कृतेऽपि कर्मणि नाशः 'कृतनाशः'।
(२) भोक्तुश्चाकृते कर्मणि आगमः 'अकृतागमः'।
न्यायरत्नाकर—उक्त श्लोक की व्याख्या

पश्चादपि च शास्त्रज्ञा विमृशन्त्येव केचन ।
तेषामेवाधिकारश्च मा भूदविदुषां तु सः ॥ १५ ॥

यदि भोग से पूर्व की तरह भोग के समय भी यागादि में कथित समीहित-साधनत्व का परामर्शात्मक ज्ञान कुछ विद्वानों को है, और कुछ अविद्वज्जनों को यह ज्ञान नहीं है, तथापि कोई दोष नहीं है, क्योंकि यागादि में उन अविद्वानों का कोई अधिकार नहीं है ॥ १५ ॥

परामर्शश्च सर्वत्र नास्ति सर्वप्रमाणकः ।
न चान्येनापरामृष्टे स्यादन्यस्याप्रमाणता ॥ १६ ॥

कथित समीहितसाधनत्व (इष्टसाधनत्व) का ज्ञान यदि केवल शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण से ही होता है तो इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि सभी प्रमाणों के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। एवं एक प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने पर प्रमा (ज्ञान) के अन्य 'करण' अप्रमाण नहीं हो जाते ॥ १६ ॥

नावबुध्येत यस्त्वेवं ममास्मात् कर्मणः फलम् ।
भविष्यतीत्यविद्वत्त्वाद् दैवादेवात्र न क्रिया ॥ १७ ॥

इस प्रकार यह निश्चित है कि भोग के समय याग में समीहितसाधनत्व (इष्टसाधनत्व) का ज्ञान प्रवृत्ति के लिये उपयोगी नहीं है, अनुष्ठान काल में ही याग में इष्टसाधनत्व का ज्ञान अपेक्षित है। यह ज्ञान विद्वानों को है ही। जो पुरुष अनुष्ठान के समय याग को समीहित का साधन नहीं समझता, उसे 'अविद्वान्' होने के कारण याग करने का अधिकार ही नहीं है ॥ १७ ॥

अपरामृश्यमानेऽपि स्वापकाले सुखाश्रये ।
सम्भोगे मृदुशय्यादौ प्राक्प्रवृत्तिश्च दृश्यते ॥ १८ ॥

स्वाप (निद्रा) सुख के साधनीभूत कोमलशय्यादि में 'संभोगवेला में' अर्थात् निद्रा के समय इष्टसाधनत्व का परामर्श न रहने पर भी निद्रा से पहले प्रवृत्ति होती है। अतः भोगकालिक उक्त परामर्श प्रवृत्ति का कारण हो नहीं है। अथवा ऐसा कहिये कि भोगकाल से उक्त परामर्श संभव नहीं है ॥ १८ ॥

भोगकालेऽनुसन्धध्यात् फलं यदि तु कश्चन ।
रथादिकर्मवद् यागे शास्त्रं स्यादप्रकल्पकम् ॥ १९ ॥

भोग से पूर्व यागादि में वेदादि शास्त्रों के द्वारा परामर्श ही वस्तुतः वेदों का प्रामाण्य है, क्योंकि भोगकाल में उत्पन्न यागादिविशेष्यक इष्टसाधनत्व-प्रकारक बुद्धि की सफलता अन्वयव्यतिरेक से उसी प्रकार ज्ञात होगी, जिस प्रकार लोक में रथकर्मों की कारणता सारथि में अन्वयव्यतिरेक से ज्ञात होती है। इस प्रकार याग में इष्टसाधनत्व का ज्ञान शास्त्रीय न होकर लौकिक हो जायगा जिससे वेदों का प्रामाण्य व्याहत होगा ॥ १९ ॥

तव नित्यविभुत्वाभ्यामात्मनो निष्क्रिया यदि ।
सुखदुःखादिकार्याश्च कोदृशी कर्तृभोक्तृता ॥ २० ॥

अथ कर्तृत्ववेलायां दुःखावेश्चापि जन्मनि।
प्राग्रूपादन्यथात्वं स्यान्नित्यतास्य विरुध्यते ॥ २१ ॥

(पू० प०) आत्मा को यदि 'विभु' मानेंगे तो उसे कर्त्ता नहीं माना जा सकेगा। कर्त्ता के लिये अभिमत देशों के साथ संयोग एवं विरुद्ध देशों के साथ वियोग ये दोनों ही आवश्यक हैं। विभु पदार्थ चूंकि निष्क्रिय होता है, अतः उसमें क्रियासापेक्ष संयोग और वियोग दोनों ही नहीं हो सकते। आत्मा को यदि नित्य मानेंगे तो उसमें भोग की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि नित्य पदार्थ अविकारी होता है। अतः आत्मा नित्य होने के कारण अविकारी होगा। अतः नित्य 'अविकारी' आत्मा अपनी पुरानी असुखावस्था को छोड़ कर सुखावस्था अथवा दुःखावस्था में कैसे परिणत होगी। यदि क्रियावस्था में (कर्त्तृत्वावस्था में) अथवा सुखादि अवस्थाओं में (भोक्तृत्वावस्था में) अपनी वह अकर्त्तृत्वावस्था एवं अभोक्तृत्वावस्था को छोड़कर आती है तो आत्मा को क्रिया के समान ही अनित्य मानना होगा ॥ २०–२१ ॥

नानित्यशब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते।
विक्रियामात्रवाचित्वे न ह्युच्छेदोऽस्य तावता ॥ २२ ॥

(सि० प०) (विभु पदार्थ में कर्त्तृत्व का उपपादन आगे करेंगे। नित्य पदार्थ में कर्त्तृत्व की उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है कि—)

अनित्यता दो प्रकार की होती है (१) विकार स्वरूप एवं (२) स्वरूपोच्छेद स्वरूप। आत्मा में इन में प्रथम प्रकार की अनित्यता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि पूर्व की अपनी उदासीनावस्था को छोड़ कर ही कर्त्तृत्वावस्था और भोक्तृत्वावस्था को प्राप्त होता है। किन्तु उस समय भी उसके 'स्वरूप' का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। अतः आत्मा को 'विकारी' रूप अनित्य तो मानते हैं, किन्तु 'विनाशी' स्वरूप अनित्य नहीं मानते ॥ २२ ॥

स्यातामत्यन्तनाशेऽस्य कृतनाशाकृतागमौ।
न त्ववस्थान्तरप्राप्तौ लोके बाल्ययुवादिवत् ॥ २३ ॥

यदि आत्मा का अत्यन्त विनाश मानें अर्थात् आत्मा का कथित स्वरूपोच्छेद स्वरूप अनित्यता मानें तभी कथित 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' इन दोनों दोषों की आपत्ति होगी। अवस्थान्तरप्राप्ति स्वरूप अनित्यता को स्वीकार करने पर जिस प्रकार लोक में एक शरीर में बाल्य और यौवन दोनों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार एक ही आत्मा में स्वरूपोच्छेदाभाव रूप 'नित्यत्व' एवं अवस्थान्तरप्राप्ति स्वरूप अनित्यत्व दोनों की प्रभा प्रतीति हो सकती है ॥ २३ ॥

अवस्थान्तरमाप्स्येतत् फलं मम शुभाशुभम्।
इति ज्ञात्वानुतिष्ठंश्च विजहच्चेष्टते जनः ॥ २४ ॥
अनवस्थान्तरप्राप्तिर्हश्यते न च कस्यचित्।
अनुच्छेदात्तु नान्यत्वं भोक्तुर्लोकोऽवगच्छति ॥ २५ ॥

अवस्थान्तरभावि'''चेष्टते जनः'''न च कस्यचित्

'मेरे ये सुख-दुःख आत्मा को विभिन्न अवस्थायें हैं' यह जानकर लोग सुख-प्रयोजक पाकादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, एवं अपथ्य भोजनादि से निवृत्त होते हैं, इन सुख-दुःखादि की अवस्थाओं से विनिर्मुक्त लोक में कोई नहीं देखा जाता।

अनुच्छेदात्तु'''अवगच्छति

फिर भी अवस्थाओं के विनाशी होने पर अवस्थावान् आत्मा को विनाशी नहीं कहा जा सकता। अतः लोग सभी अवस्थाओं में एक ही भोक्ता मानते है ॥२४-२५॥

सुखःदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति ॥ २६ ॥

सुख-दुःखादि अनेक उत्पत्ति-विनाशशील अवस्थाओं से गुजरते हुये भी पुरुष चैतन्य, द्रव्य, सत्तादि स्वरूपों को नहीं छोड़ता ॥ २६ ॥

दुःखिनः सुखयवस्थायां नश्येयुः सर्व एव ते।
दुःखित्वं चानुवर्तेत विनाशे विक्रियात्मके ॥ २७ ॥

जो कोई किसी पदार्थ की दूसरी अवस्था की प्राप्ति को उस अवस्था वाले पदार्थ का विनाश मानते हैं (अर्थात् निरन्वय विनाश मानते हैं) उनके मत से दुखी पुरुष जब सुखावस्था को प्राप्त होता है, उस समय उस पुरुष का अत्यन्त विनाश ही मानना होगा।

जो कोई आत्मा की सत्ता को सदा स्वीकार करते हैं, एवं उनमें सभी अवस्थाओं की अनुवृत्ति मानते हैं, उन्हें सुख के समय भी दुःख की सत्ता माननी होगी ॥ २७ ॥

तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु स्वर्णवत् ॥ २८ ॥

'तस्मात्' आत्मा न अपनी अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न ही है, न सर्वथा अभिन्न ही। कथञ्चिद् भिन्न भी है कथञ्चिद् अभिन्न भी। जैसे कि कुण्डल स्वर्ण से न सर्वथा भिन्न है न सर्वथा अभिन्न ही। अथवा रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प न रस्सी से सर्वथा भिन्न है न सर्वथा अभिन्न। अतः आत्मा को नित्य मानने से 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोष नहीं हैं ॥ २८ ॥

न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थासमाश्रिते।
तेनावस्थावतस्तत्त्वात् कर्त्तैवाप्नोति तत्फलम् ॥ २९ ॥

यदि आत्मा में सुखदुःखादि अवस्थाओं में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानते तो कथित 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' की आपत्ति हो सकती थी। हम तो उन अवस्थाओं से युक्त आत्मा को (अवस्थावान् को) कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं। अतः इस पक्ष में (कृतनाश और अकृताभ्यागम) इन दोनों दोषों का कोई अवसर नहीं है ॥ २९ ॥

न ह्यवस्थान्तरोत्पादे पूर्वात्यन्तं विनश्यति।
उत्तरानुगुणत्वात् तु सामान्यात्मनि लीयते ॥ ३० ॥

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अवस्थाओं का अत्यन्त विनाश नहीं होता। पहली अवस्था के रहते दूसरी अवस्था नहीं आ सकती। इसलिये उत्तरावस्था की अनुकूलता के लिये दोनों ही अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा में पहली अवस्था विलीन हो जाती है ॥ ३० ॥

स्वरूपेण ह्यवस्थानामन्योन्यस्य विरोधिता।
अविरुद्धस्तु सर्वासु सामान्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

(पू० प०) आत्मा की औदासीन्यावस्था और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अवस्थायें परस्पर विरोधिनी हैं। अतः एक अवस्था के धर्मी स्वरूप आत्मा में दूसरी अवस्था की निष्पत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

उक्त विभिन्न अवस्थायें अपने अपने व्यक्तिगत रूप से (तद्व्यक्तित्वादि विशेष रूप से) परस्पर विरोधिनी हैं। किन्तु उन सभी अवस्थाओं में जो एक 'आत्मा-वस्थात्व' रूप सामान्य धर्म है, उसके द्वारा आत्मा की सभी अवस्थायें परस्पर अविरोधिनी हैं, क्योंकि औदासीन्य एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सभी अवस्थाओं में 'आत्मवृत्तित्व' समान है ॥ ३१ ॥

नैरात्म्यवादपक्षे तु पूर्वमेवावबुध्यते।
मद्विनाशात् फलं न स्यान्मत्तोऽन्यस्याथ वा भवेत् ॥ ३२ ॥
इति नैव प्रवृत्तिः स्यान्न च वेदप्रमाणता।
जन्मान्तरेऽभ्युपेतेऽपि ज्ञानमात्रात्मवादिनाम् ॥ ३३ ॥
ज्ञानानां क्षणिकत्वाद्धि कर्तृभोक्त्रन्यता भवेत्।
निष्क्रियत्वाविभुत्वाभ्यां न च देहान्तराश्रितिः ॥ ३४ ॥

नैरात्म्यवादपक्षे तु'''वेदाप्रमाणता

कथित रीति से आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में वेदप्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया है। यदि शरीर को ही आत्मा मानें, अथवा आत्मा को ज्ञानमात्र स्वरूप मानें इन दोनों ही पक्षों में (अर्थात् आत्मा को अनित्य मानने वाले नैरात्म्यवादियों के पक्ष में) अनुष्ठानकर्त्ता यह पहले ही समझ लेता है कि "फलप्राप्ति के समय मैं विनष्ट हो जाऊँगा, अतः मुझे फल नहीं मिलेगा। अथवा किसी दूसरे (शरीर अथवा विज्ञान) को फल मिलेगा"। अर्थात् शरीर को आत्मा मानने के पक्ष में फलप्राप्ति के समय शरीर की सत्ता नहीं रहेगी। विज्ञान को आत्मा मानने के पक्ष में फलप्राप्ति के समय कोई दूसरा विज्ञान ही रहेगा। इस प्रकार आत्मा को अनित्य मानने के पक्ष में वेदप्रामाण्य की सिद्धि नहीं होगी।

जन्मान्तराभ्युपेते'''कर्तृभोक्त्रन्यता भवेत्

(जन्मान्तर की उपपत्ति के लिए ही तो आत्मा को नित्य मानते हैं। क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानने में भी जन्मान्तर स्वीकार करते हैं। अतः आत्मा को

अनित्य मानने पर भी तन्मूलक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति और वेदों का प्रामाण्य इन दोनों की उपपत्ति होगी। इसके लिये आत्मा को नित्य मानने की कौन सी आवश्यकता है? इस आक्षेप का यह उत्तर है—)

विज्ञानमात्र को आत्मा माननेवाले भले ही दूसरा जन्म मानें, किन्तु इससे एक ही पुरुष में यागादि का कर्तृत्व और तत्फलभोक्तृत्व दोनों की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। अतः यागादि कर्म करनेवाले विज्ञान की सत्ता भोग के समय नहीं रह सकती। फलतः 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' की आपत्ति रहेगी।

निष्क्रियत्वात् ''देहान्तरस्थितिः

वस्तुतः क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर देहान्तरप्राप्ति स्वरूप जन्मान्तर ही उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि 'अविभु' होने के कारण एक साथ ही विभिन्नकालिक विभिन्न देशिक दो देशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। एवं 'निष्क्रिय' होने के कारण एक देह से दूसरे देहों में जा भी नहीं सकता ॥ ३२–३४ ॥

कर्ता य एव सन्तानो ननु भोक्ता स एव नः।
विज्ञानक्षणभेदस्तु त्वदवस्यान्तरैः समः ॥ ३५ ॥

(पू० प०) कुछ ज्ञानों का सन्तान (समूह) ही 'आत्मा' है। जो 'विज्ञान-सन्तान' यागादि कर्मों का अनुष्ठान करता है, वही 'सन्तान' उसके फल को भी भोगता है। प्रत्येक क्षण में विज्ञानभेद सन्तान के एक रहने पर भी उसी प्रकार उपपन्न हो सकता है, जिस प्रकार आप (मीमांसकों) के मत में एक ही नित्य आत्मा की अनेक अवस्थायें हो सकती हैं। अतः विज्ञान को आत्मा मानने पर भी एक ही विज्ञान स्वरूप आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों की उपपत्ति हो सकती है। 'तस्मात्' इस पक्ष में भी कृतनाश और अकृताभ्यागम की आपत्ति नहीं है ॥ ३५ ॥

कर्तृत्वमेव दुःसाधं दीर्घकालेषु कर्मसु।
सत्सु ज्ञानसहस्रेषु कुलकल्पोपमं हि तत् ॥ ३६ ॥

(सि० प०) अनन्त ज्ञानों के समूह स्वरूप एक आत्मा का दीर्घकालसाध्य किसी कर्म का कर्ता होना सम्भव नहीं है। अनन्त ज्ञानों के एक समूह में किसी एक कर्मकर्तृत्व 'कुलकल्पोपम' है, अर्थात् जिस प्रकार एक ही दीर्घ प्रासाद का निर्माण कुल के अनेक पुत्र-पित्रादि के द्वारा हो—उसी प्रकार का है ॥ ३६ ॥

व्यतिरिक्तो हि सन्तानो यदि नाभ्युपगम्यते।
सन्तानिनामनित्यत्वात् कर्ता कश्चिन्न लभ्यते ॥ ३७ ॥

(पू० प०) प्रत्येक विज्ञान स्वरूप सन्तानी या समुदायी भले ही कर्ता न हो सके किन्तु विज्ञानों का एक समूह (या सन्तान) तो कर्ता हो सकता है, एवं वही भोक्ता भी होगा। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

यदि (अनित्य) सन्तानी विज्ञानों से भिन्न एक नित्य सन्तान को स्वीकार न करेंगे तो उक्त रीति से एक सन्तान स्वरूप आत्मा में कर्तृत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वह सन्तान क्षणिक विज्ञान स्वरूप सन्तानियों से अभिन्न होने के

कारण कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि अनित्य सन्तानियों से अर्थात् प्रत्येक विज्ञान व्यक्तियों से सन्तान को भिन्न मानेंगे तो विज्ञान से भिन्न नित्य आत्मा की ही सिद्धि हो जायगी। उसके लिये 'भले' ही 'सन्तान' नाम की कल्पना कर ली जाय किन्तु इससे वस्तुगति में कोई अन्तर नहीं आता है॥ ३७॥

भोक्तुरत्यन्तभेदाच्च प्रसज्येताकृतागमः।
कृतनाशं तु न ब्रूमः कृतं नैव हि केनचित्॥ ३८॥

यदि सन्तान को आत्मा मानेंगे तो भोक्तृसन्तान और कर्तृसन्तान दोनों के अत्यन्त भिन्न होने से 'अकृताभ्यागम' स्वरूप दोष अनिवार्य होगा[1]॥ ३८॥

सन्तानानन्यतायां तु वाच्चोयुक्त्यन्तरेण ते।
तत्र चोक्तम् न चावस्तु सन्तानः कर्तृतां व्रजेत्॥ ३९॥
सन्तानक्षणिकत्वे च तदेवाक्षणिकस्त्वथ।
सिद्धान्तहानिरेवं च सोऽपि द्रव्यान्तरं भवेत्॥ ४०॥

सन्तानाऽनन्यतायां तु''''तत्र चोक्तम्

यदि यह कहें कि प्रत्येक विज्ञान स्वरूप सन्तानी क्षणिक होने के कारण कर्त्ता या भोक्ता भले ही न हो सके किन्तु उन सन्तानियों का सन्तान या समूह तो है, जो कर्त्ता और भोक्ता हो सकता है। किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

कथित युक्ति के अनुसार यदि सन्तानी (प्रत्येक विज्ञान) सन्तान (विज्ञान-समुदाय) से अभिन्न है तो सन्तान भी प्रत्येक विज्ञान से अभिन्न होने के कारण क्षणिक ही होगा। इस पक्ष में 'अकृताभ्यागम' दोष का उपपादन (श्लोक ३८) किया जा चुका है।

न चावस्तु सन्तानः कर्तृतां व्रजेत्

सन्तानी से यदि सन्तान को अतिरिक्त मानेंगे एवं क्षणिक न मानकर स्थायी मानेंगे तो यद्यपि 'अकृताभ्यागम' का परिहार हो जायगा किन्तु कर्तृत्व की अनुपपत्ति रहेगी ही, क्योंकि बौद्धों के मत में 'वस्तु' (भावपदार्थ) क्षणिक ही होती है। संसार यदि क्षणिक नहीं है तो बौद्धों के मत से वस्तु स्वरूप न होकर गगनकुसुमादि की तरह अवस्तु ही होगा। अवस्तु में किसी कार्य का कर्तृत्व संभव नहीं है।

सन्तानक्षणिकत्वे च तदेव

यदि क्षणिक विज्ञान स्वरूप सन्तानियों को परस्पर भिन्न मानने पर भी क्षणिक मानें तो अवस्तुत्वापत्तिमूलक कर्तृत्वानुपपत्ति का तो उद्धार होगा, किन्तु दीर्घ-कालसाध्य किसी कर्म का कर्तृत्व क्षणिक सन्तान में सम्भव नहीं होगा। एवं भोग

---

१. कहने का तात्पर्य है कि इस पक्ष में 'कृतनाश' स्वरूप दोष हम लोग नहीं देते, क्योंकि किसी के द्वारा कर्म 'कृत' ही नहीं है। कर्म करने के बाद कर्त्ता का नाश ही 'कृतनाश' है, किन्तु यह नहीं है, क्योंकि किसी से कर्म की उपपत्ति नहीं हुई है।

का सम्पादन अन्य क्षणिक सन्तान के द्वारा होने के कारण कथित 'अकृताभ्यागम' दोष भी होगा। ये दोनों ही दोष दिखाये जा चुके हैं।

अक्षणिकस्त्वथ सिद्धान्तहानिः

यदि उक्त दोनों दोषों के परिहार के लिये सन्तान को अक्षणिक वस्तु मान लें तो अपने सिद्धान्त (बौद्धसिद्धान्त) की हानि होगी, क्योंकि बौद्धगण वस्तुओं को क्षणिक ही मानते हैं। अतः 'वस्तु' भी हो एवं 'अक्षिणक' भी हो ये दोनों बातें बौद्धसिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

एवं च सोऽपि द्रव्यान्तरं व्रजेत्

विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदाय के पक्ष में एक यह भी दोष होगा कि क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञानसन्तान नाम के एक द्रव्य (वस्तु) की सत्ता माननी होगी। किन्तु उनके मत में विज्ञान से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं है ॥ ४० ॥

एका चाव्यतिरिक्ता च सन्तानिभ्योऽथ सन्ततिः।
भेदाभेदौ प्रसङ्क्तव्यौ ग्राह्यग्राहकयोर्यथा ॥ ४१ ॥

यदि सन्तानियों से (समूहघटक प्रत्येक विज्ञान व्यक्ति से) एक सन्तति को अभिन्न मानें तो ग्राह्य और ग्राहक दोनों को ज्ञान स्वरूप मानने में यह आपत्ति दी गयी है कि ग्राह्य और ग्राहक दोनों चूँकि ज्ञान स्वरूप हैं, अतः दोनों को अभिन्न मानना होगा। ग्राह्य और ग्राहक दोनों को यदि भिन्न मानें तो ग्राह्य ज्ञान और ग्राहक ज्ञान इन दोनों को भी भिन्न मानना होगा। किन्तु बौद्धों के पक्ष में सभी ज्ञान निरालम्बन होने के कारण—निर्विषयक होने के कारण अभिन्न हैं।

इसी प्रकार प्रकृत में भी सन्तान को यदि सन्तानियों से अभिन्न मानें तो एक सन्तान अनेक सन्तानियों से अभिन्न होने के कारण अनेक होगा। इसी प्रकार सन्तानी भी एक सन्तान से अभिन्न होने के कारण अनेक न होकर 'एक' ही होंगे। इसलिये यह पक्ष भी ठीक नहीं है ॥ ४१ ॥

तस्मादत्यन्तभेदो वा कथञ्चिद्वापि भिन्नता।
सन्तानस्येत्ययं चात्मा स्याद् वैशेषिकसांख्ययोः ॥ ४२ ॥

'तस्मात्' सन्तान रूप आत्मा को सन्तानियों से अत्यन्त भिन्न मानें अथवा कुछ अंशों में ही भिन्न मानें, दोनों ही पक्षों में सांख्य और वैशेषिकसम्मत आत्मा से वह किसी भी अंश में भिन्न नहीं होगा ॥ ४२ ॥

सन्तानोऽयं स एवेति न स्वभेदाद् विना भवेत्।
वायुदीपादिसन्ताने वायुत्वादिर्न भिद्यते ॥ ४३ ॥

यदि विज्ञानसन्तान को सन्तानी विज्ञानों से अभिन्न न मानें तो वह समूह 'सन्तान' ही नहीं कहला पायगा, क्योंकि वायु, दीप प्रभृति का एक समूह

वायु व्यक्तियों का या दीप व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न समूह नहीं कहलाता, सन्तानियों से अभिन्न समूह ही एक सन्तान कहलाता है ॥ ४३ ॥

ज्ञानत्वेनाप्यभिन्नत्वं शून्यवादे निराकृतम् ।
तथैव कर्मभिर्वेष्टा फलार्थं चित्रवासना ॥ ४४ ॥

ज्ञानत्वेनापि""निराकृतम्

(पू० प०) सन्तान भी विज्ञान है, सन्तानी भी विज्ञान स्वरूप है। इस प्रकार सन्तान और सन्तानी दोनों विज्ञान स्वरूप होने के कारण अभिन्न हैं। बौद्धों के इस सिद्धान्त का खण्डन पहले ही 'शून्यवाद' में किया जा चुका है। इस प्रकार यह उपपादन किया गया है कि आत्मा को नित्य माने विना उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति नहीं हो सकती।

तथैव कर्मभिर्वेष्टा""चित्रवासना

इसी प्रकार नित्य आत्मा को स्वीकार किये विना बौद्धों के मत से विहित चैत्यवन्दनादि कर्मों से दूसरे समय में फल की प्राप्ति नहीं होगी। जिस प्रकार हमलोग फल की सिद्धि के लिये 'अपूर्व' को स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार बौद्धों के मत से स्वीकृत चित्तधारा स्वरूपा वासना से भी कालान्तर में फल की निष्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि क्षणिक चित्तों से न कोई वासित हो सकता है, न कोई किसी को वासित कर सकता है। इसी रीति से कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निराकरण 'निरालम्बनवाद' में किया जा चुका है ॥ ४४ ॥

न चात्र वासनाकालं किञ्चिच्चित्तमवस्थितम् ।
अवस्तुत्वाच्च सन्तानः कर्मभिर्नैव वास्यते ॥ ४५ ॥

बौद्धगण वासना को तो इसलिये स्वीकार करते हैं कि मीमांसकों की तरह क्रिया न रहने पर भी अपूर्व की तरह कर्त्ता में फल का संपादन हो सके। किन्तु फलकालपर्यन्त विज्ञान स्वरूप कर्त्ता की सत्ता ही जब संभावित नहीं है तो उक्त वासना से कौन वासित होगा ? अतः 'वासना' की कल्पना ही व्यर्थ है।

अवस्तुत्वाच्च""वास्यते

यदि यह कहो कि वासना से विज्ञानों का सन्तान वासित होगा तो फिर प्रश्न होगा कि वह सन्तान नित्य है, अथवा क्षणिक है। यदि नित्य मानोगे तो क्रिया के न रहने से वह 'अर्थक्रियाकारी' नहीं होगा। अर्थक्रियाकारित्व के न रहने से वह 'अवस्तु' हो जायगा। अवस्तु किसी से वासित कैसे होगा, क्योंकि वस्तु ही वासित होता है ? यदि सन्तान को क्षणिक मानोगे तो फल के समय तक उसकी सत्ता ही नहीं रहेगी जिससे उसका भोक्तृत्व ही अनुपपन्न हो जायगा ॥ ४५ ॥

तत्पारम्पर्यजातेऽपि भुञ्जाने कर्मणः फलम् ।
तादात्म्येन विना स्पष्टौ कृतनाशाकृतागमौ ॥ ४६ ॥

यदि यह कहो कि क्षणिक विज्ञान में रहने वाली वासना यद्यपि अपने आधार-भूत विज्ञान के नष्ट होते ही विनष्ट हो जाती है, फिर भी तज्जनित दूसरा विज्ञान

स्व सजातीय दूसरी वासना को उत्पन्न करके ही विनष्ट होता है। इस प्रकार वासनाओं से युक्त विज्ञानों की जो धारा चलती है, उस धारा का अन्तिम विज्ञान ही भोक्तृत्व रूप वासना से युक्त विज्ञान है, अर्थात् भोक्ता है। किन्तु ऐसी कल्पना करने पर 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' इन दोनों ही दोषों की आपत्ति होगी, क्योंकि इस पक्ष में कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान दोनों भिन्न भिन्न ही होंगे। विभिन्नकालिक होने के कारण इन दोनों में तादात्म्य नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

सन्तानान्तरजेभ्यश्च यो हेतुफलभावतः।
विशेषः सोऽपि दुस्साधः परिहारो न चानयोः ॥ ४७ ॥

(पू० प०) देवदत्त स्वरूप कर्तृविज्ञान एवं देवदत्त स्वरूप ही भोक्तृविज्ञान दोनों यद्यपि उसी प्रकार भिन्न हैं, जिस प्रकार देवदत्तविज्ञान से विष्णुमित्रविज्ञान भिन्न है, फिर भी दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि देवदत्त स्वरूप कर्तृविज्ञान से भिन्न होने पर भी भोक्तृविज्ञान उक्त कर्तृविज्ञान से उत्पन्न होता है। फलतः कथित कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान भिन्न होने पर भी परस्पर 'हेतुफलभावापन्न' हैं। इसलिये यह नियम किया जा सकता है कि कारणविज्ञान (कर्तृविज्ञान) के द्वारा अनुष्ठित कर्म का फल कार्य विज्ञान (भोक्तृविज्ञान) को प्राप्त होता है।

किन्तु बौद्धों का यह 'हेतुफलभाव' वाला पक्ष ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों ही विज्ञानों के क्षणिक होने के कारण दोनों में कार्यकारणभाव हो ही नहीं सकता।

परिहारो नचानयोः

यदि किसी प्रकार दोनों विज्ञानों में 'हेतुफलभाव' अर्थात् एक को हेतु दूसरे को उसका फल मान भी लें तथापि 'कृतनाश' एवं 'अकृताभ्यागम' इन दोनों दोषों का परिहार नहीं होता, क्योंकि फलभोग के समय कर्तृविज्ञान का नाश हो जाता है, एवं भोक्तृविज्ञान के द्वारा कर्म अनुष्ठित ही नहीं है ॥ ४७ ॥

तस्मिन्नसत्यपि ब्रूयाः परिहारं त्वमन्यथा।
समानपृथिवीवासज्ञानत्वाद्यविशेषतः ॥ ४८ ॥

यदि कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान इन दोनों को 'विज्ञान' होने के कारण 'एक' मानेंगे, अथवा दोनों को एक ही पृथिवी पर वास करने के कारण 'एक' मानेंगे और इसी एकता के आधार पर कृतनाश और अकृताभ्यागम का परिहार करेंगे तो एकता के ये विज्ञानत्व और एक पृथिवी पर वास रूप हेतु तो यज्ञदत्तविज्ञान और विष्णुमित्रविज्ञान इन दोनों में भी समान रूप से हैं। अतः देवदत्त के द्वारा कृत कर्म का फल विष्णुमित्र को मिलना चाहिये। अतः यह समाधान भी बौद्धों का ठीक नहीं है ॥ ४८ ॥

समान इति नाप्येतदेकत्वानुगमाद् विना।
तेन यच्चित्तजं तस्य सन्तान इति वो मृषा ॥ ४९ ॥

न हि यच्छब्दतच्छब्दौ वर्तेते भिन्नवस्तुनि।
तेनैकात्मकतेष्टव्या तत्सन्तानाभ्यवादिभिः ॥ ५० ॥

समाप्त इति""अनुगमाद्विना

वस्तुतः बौद्धों के मत से कर्तृविज्ञानाश्रय पृथिवी और भोक्तृविज्ञानाश्रय पृथिवी एक ही नहीं हैं। एवं दोनों में अनुस्यूत तत्काल पर्यन्त स्थायी कोई विज्ञानत्व भी नहीं है, क्योंकि उनके मत से सभी पदार्थ क्षणिक हैं।

तेन यच्चित्तजम्""इति वो मृषा

(पू० प०) जिस विज्ञानसन्तति से कर्तृविज्ञान उत्पन्न होता है, भोक्तृविज्ञान भी उसी सन्तति के अन्तर्गत है। इसलिये कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान साक्षात् या परम्परा से एक ही विज्ञान के द्वारा निष्पन्न होने के कारण 'एक' हैं। अतः उक्त दोनों दोष नहीं हैं। किन्तु बौद्धों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'यच्चित्तजत्व' नाम की कोई एक वस्तु बौद्धों के पक्ष में संभव नहीं है। कर्त्ता और भोक्ता में 'एकचित्तजत्व' के न रहने से दोनों 'यत्' और 'तत्' शब्द के अर्थ नहीं हो सकते। अतः 'यच्चित्तजं कर्तृविज्ञानम्' तच्चित्तजमेव भोक्तृविज्ञानम्' इस प्रकार का प्रयोग संभव नहीं है, क्योंकि भिन्न वस्तुओं का परामर्श यत् और तत् शब्द से संभव नहीं है।

तेनैकात्मकतेव""वादिभिः

इसलिये विज्ञानसन्तान को आत्मा मानने वाले बौद्धों को भी कथित 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' स्वरूप दोनों दोषों से बचने के लिये कर्त्ता और भोक्ता दोनों को एक मानना ही होगा ॥ ४९–५० ॥

नन्वन्यत्वं विदन्तोऽपि पुत्रादिफलसिद्धये ।
प्रवर्तन्ते यथा तद्वज्ज्ञानसन्तानिनोऽपि नः ॥ ५१ ॥

(पू० प०) यह अव्यभिचरित नियम नहीं है कि कर्त्ता और भोक्ता को एक होना ही चाहिये, क्योंकि पिता अपने पुत्र को अपने से भिन्न जानते हुये भी उसकी फलप्राप्ति के लिये कर्म करता है। अतः भोक्ता यदि कर्त्ता से भिन्न भी है, तथापि उसे फल प्राप्त हो सकता है। अतः कथित दोनों दोष नहीं हैं ॥ ५१ ॥

अन्यत्वे च समानेऽपि यथा वंशान्तरोद्भवाः ।
न लभन्ते फलं तद्वत् सन्तानान्तरजाः क्षणाः ॥ ५२ ॥

(पू० प०) एवं यह दोष भी नहीं है कि यदि कर्तृविज्ञान के द्वारा किये गये कर्म का फल उससे भिन्न भोक्तृविज्ञान में मानें तो देवदत्तविज्ञान के द्वारा किये गये कर्म के फल का भोग यज्ञदत्तविज्ञान में भी आपन्न होगा, क्योंकि एक पुरुषविज्ञान के द्वारा उपार्जित धन उसी पुरुष के वंशजों को मिलता है, अन्य पुरुषों के वंशजों को नहीं। यद्यपि स्ववंशज और परवंशज दोनों ही समान रूप से उपार्जन करने वाले पुरुष से भिन्न हैं फिर भी जिस प्रकार स्ववंशज ही उस पुरुष के द्वारा उपार्जित धन के अधिकारी होते हैं उसी प्रकार सन्तान के अन्तर्गत कर्तृविज्ञान के द्वारा अनुष्ठित कर्म का अधिकारी उक्त सन्तान के अन्तर्गत भोक्तृविज्ञान ही होगा, भले ही भोक्तृविज्ञान और अन्य (उक्त सन्तानानन्तर्गत) विज्ञान दोनों ही समान रूप से कर्तृविज्ञान से भिन्न हों ॥ ५२ ॥

न तावद्बुद्धिरत्रैवमपि चात्मफलेच्छया।
पुत्रादिभरणे वृत्तिः स्यात् तदप्यत्र नास्ति ते ॥ ५३ ॥

न तावद्बुद्धिरत्रैवम्

(सि० प०) बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्ववंशज पुत्रपौत्रादि में आत्मीयत्व की अर्थात् अभेद की बुद्धि होती है, उसी प्रकार कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान दोनों एक सन्तानान्तर्गत होने पर भी दोनों में आत्मीयत्व की (अभेद की) बुद्धि नहीं होती है।

अपि च ''आत्मफलेच्छया ''नास्ति ते

दूसरी बात यह है कि पिता-पुत्र का दृष्टान्त ही उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पुत्र का भरण पिता केवल उसी के फल की इच्छा से नहीं करता है, किन्तु वृद्धावस्था में 'यह मेरा भी भरण करेगा' इस आत्मफलेच्छा से प्रेरित होकर भी पिता पुत्र का भरण करता है। आत्मफलमूलक पुत्र के भरण की पिता की प्रवृत्ति आप लोगों (बौद्धों) के मत से उपपन्न नहीं होगी (न वाऽरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति–बृहदारण्यक)। इस दृष्टान्तासिद्धि के कारण भी बौद्धों का उक्त समाधान ठीक नहीं है ॥ ५३ ॥

फलान्तरमनुद्दिश्य न च पुत्रादि बिभ्रति।
विनष्टस्य तु नात्मीयसन्तानभरणात् फलम् ॥ ५४ ॥

पुत्र के भरण से भिन्न वार्द्धक्य में पिता के स्वभरण की इच्छा को छोड़कर भी पुत्र के भरण का समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि मनु ने—

वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत् ॥

इस वचन के अनुसार पुत्र का भरण स्वगत पुण्य स्वरूप फल के लिये भी किया जा सकता है। अर्थात् केवल पुत्र के उपकार के लिये ही पुत्र का भरण नहीं किया जाता[1]।

विनष्टस्य तु ''भरणात् फलम्

जो पिता वृद्ध होने के पहिले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उस पिता को तो पुत्र के भरण से प्राप्त होने वाला स्वभरण स्वरूप फल भी प्राप्त नहीं होता है ॥ ५४ ॥

यस्त्वनेनैव मार्गेण फलान्तरपीच्छति।
स्वसन्तान्यन्तरैर्भोग्यं तत्सन्तान्युपकारकम् ॥ ५५ ॥
अनवस्थेदृशी तस्य स्वोपभोगादृते भवेत्।
नैव ह्यन्योऽपि सन्तानी कश्चित् तस्यात्मवन्मतः ॥ ५६ ॥

---

१. मनु ने कहा है कि वृद्ध माता पिता, साध्वी पत्नी, एवं शिशु पुत्र इन सबों का पालन सौ अकर्त्तव्य करके भी करना चाहिये।

(पू० प०) जिस प्रकार पिता के भरण का फल पुत्र प्राप्त करता है, उसी प्रकार कर्तृविज्ञान स्वरूप सन्तानी (विज्ञान व्यक्ति) के द्वारा कृत कर्म के उपकार का फल उसी सन्तानी के सन्तान का घटक आगे का भविष्यत्संतानी अर्थात् विज्ञान-व्यक्ति भोगेगा, भले ही कर्तृविज्ञान रूप सन्तानी स्वकृत उपकार का स्वयं भोग न करे। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'अनवस्था' होगी, क्योंकि जिस कर्तृविज्ञान से भिन्न सन्तानी के द्वारा फलोपभोग मानेंगे, उस फलोपभोग का प्रयोजक कर्तृभिन्नत्व के साथ साथ स्वसन्तानान्तर्गतत्व को भी मानना होगा। अर्थात् यही मानना होगा कि उक्त सन्तानी फल का उपभोग इस लिये करता है कि कर्तृविज्ञान से भिन्न होने के साथ ही जिस सन्तान के अन्तर्गत कर्तृविज्ञान है, उसी सन्तान के अन्तर्गत वह भोक्तृविज्ञान भी है।

किन्तु यह 'कर्तृविज्ञानभिन्नत्वे सति स्वसन्तानान्तर्गतत्व' तो आगे के सन्तानियों में (स्वसन्तानघटक आगे के विज्ञानव्यक्तियों में) भी है। उनके लिये भी कर्तृविज्ञान से कृत कर्म का कोई दूसरा उपकार स्वरूप फल मानना होगा जो अनवस्था में परिणत हो जायगा। कोई दूरवर्त्ती भी सन्तानी ठीक कर्तृविज्ञान के समान नहीं होता, जिससे उसी में फलोपभोग की कल्पना करेंगे ॥ ५५–५६ ॥

यावद् यावच्च दूरस्थे सन्तानिनि फलं भवेत्।
तावत् तावच्च तन्नश्येत् सुतरां विप्रकर्षतः ॥ ५७ ॥

कर्तृविज्ञान की धारा में जो विज्ञान जितना दूर होगा, उसमें कर्तृविज्ञान का सादृश्य उतना ही विनष्ट होता चला जायगा। इसलिये सादृश्यवश उनमें फलोत्पत्ति उतनी ही विषम होती चली जायगी ॥ ५७ ॥

भरणं यदपत्यानां तिर्यगादिषु दृश्यते।
अज्ञानं शरणं तत्र प्राज्ञानां तु न युज्यते ॥ ५८ ॥
देहान्तरे च बुद्धीनां सञ्चारो नोपपद्यते।
पूर्वदेहाद् बहिर्भावो न च तासां प्रतीयते ॥ ५९ ॥

(पू० प०) तिर्यग् योनि के जीव तो वृद्धावस्था में पुत्र के भरण से फल प्राप्त नहीं करते, किन्तु वे भी सन्तान का पोषण करते हैं। अतः स्वयं अपने को फल न मिलने से भी कर्म किया जा सकता है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

तिर्यग् योनि के जीव अज्ञानवश ऐसा करते हैं, समझबूझ वालों से ऐसा होना संभव नहीं है कि स्वयं अपने को किसी फल मिलने की संभावना के न रहने पर भी कर्म वह करे[1] ॥ ५८ ॥

(आत्मा को क्षणिक विज्ञान स्वरूप मानने से 'निष्क्रियत्वाविभुत्वाभ्यां न च देहान्तरागतिः' (श्लो० ३४) के उत्तरार्द्ध के द्वारा जिस दोष की सूचना संक्षेप में

१. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से 'ज्ञानानां क्षणिकत्वादि' (श्लो० ३४) इत्यादि सन्दर्भ से आत्मा को क्षणिकविज्ञान स्वरूप मानने से कर्त्ता और भोक्ता में भिन्नता की आपत्ति संक्षेप में दी गयी थी, उसी का आगे विवरण दिया गया है।

दी गयी है उसका विशदार्थ यह है कि—) एक देह से दूसरे देह में बुद्धि का 'सञ्चरण' भी युक्ति से सिद्ध नहीं है।

पूर्वदेहात्''''प्रतीयते

एवं पूर्वदेह से बुद्धि का बाहर निकलना भी प्रतीत नहीं होता ॥ ५९ ॥

> वायुना प्रेर्यमाणं हि ज्वालाद्यन्यत्र सञ्चरेत्।
> बुद्धेः कारणदेशात् तु प्रेरणं नास्ति केनचित् ॥ ६० ॥
> अमूर्त्तत्वात् स्वयं नासावुत्प्लुत्याऽन्यत्र गच्छति।
> जीवद्देहेऽपि तेनास्या गमनं नोपपद्यते ॥ ६१ ॥
> अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।
> तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते ॥ ६२ ॥

वायुना प्रेर्यमाणम्''''अन्यत्र गच्छति

बुद्धि चूंकि अमूर्त्त है, अतः स्वयं कूद कर मेढ़क की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सकती अथवा वायु से संचालित अग्नि की तरह दूसरे स्थान को नहीं जा सकती, क्योंकि स्वयं या दूसरे मूर्त्त द्रव्य के द्वारा दूसरे स्थान को जाना मूर्त्त द्रव्यों का ही स्वभाव है।

जीवद्देहेऽपि''नोपपद्यते

एवं शरीर में जीवनसम्बन्ध के रहने पर भी बुद्धि का अन्यत्र जाना संभव नहीं है ॥ ६०–६१ ॥

अन्तराभवदेहस्तु''''अवगम्यते

(पाट्कौशिक) पूर्वदेह के त्याग के बाद उसमें रहने वाले बुद्ध्यादि पदार्थों को धारण करने के लिये दूसरे पाट्कौशिक शरीर की उत्पत्ति के पहले मध्य में जो कोई 'आतिवाहिक' नाम के 'अन्तराभव' अर्थात् मध्यवर्ती शरीर की कल्पना करते हैं, उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण न रहने के कारण 'विन्ध्यवासी' नाम के आचार्य ने उस शरीर का खण्डन किया है ॥ ६२ ॥

> सहसा जायते तच्च सहसैव विनश्यति।
> सूक्ष्मरूपादियुक्तं चेत्युत्प्रेक्षामात्रमेव तत् ॥ ६३ ॥

सहसा जायते''विनश्यति

क्योंकि आतिवाहिक नाम के शरीर की उत्पत्ति का कोई कारण उपलब्ध नहीं है। अतः 'सहसा' बिना कारण के ही उसकी उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। एवं उसके विनाश का भी कोई कारण उपलब्ध नहीं है, अतः 'सहसा' विना कारण के ही उसके विनाश को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूक्ष्मरूपादि''तत्

यदि यह कहें कि 'आतिवाहिक' शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः उसके उत्पाद और विनाश के कारण भी सूक्ष्म होंगे, इसलिये उत्पाद और विनाश के कारणों की उपलब्धि नहीं होती है।

किन्तु यह कथन भी प्रमाणशून्य होने के कारण 'उत्प्रेक्षा' मात्र है ॥ ६३ ॥

सत्यपि ज्ञानसञ्चारस्तत्र स्यान्निष्प्रमाणकः ।
तेन चान्यशरीरेषु पुनर्निक्षेपकल्पना ॥ ६४ ॥

यदि कथित 'आतिवाहिक शरीर' को स्वीकार भी कर लें तथापि उसमें पूर्व-देहस्थ ज्ञानादि का संक्रमण, एवं उससे उत्तर देह में पुनः ज्ञानादि का संक्रमण ये दोनों ज्ञानादि के अमूर्त होने के कारण असंभव ही रहेंगे ॥ ६४ ॥

कललादिषु विज्ञानमस्तीत्येच्च साहसम् ।
असञ्जातेन्द्रियत्वाद्धि न तत्रार्थोऽवगम्यते ॥ ६५ ॥

यदि उत्तरदेह में ज्ञान का संचार मानें तो 'कलल, बुद्बुद' जो शरीर की अवस्थायें हैं, उनमें ज्ञान का संचार मानना होगा, क्योंकि शरीर की उन अवस्थाओं में इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उन अवस्थाओं में ज्ञान की कल्पना साहस मात्र है ॥ ६५ ॥

न चार्थावगतेरन्यद् रूपं ज्ञानस्य युज्यते ।
मूर्च्छादावपि तेनास्य सद्भावो नोपपद्यते ॥ ६६ ॥

यह कहना भी संभव नहीं है कि 'कललादि जो शरीर की अचैतन्यावस्थायें हैं, उनमें अर्थाविभास स्वरूप ज्ञान की प्रकट सत्ता भले ही न रहे, किन्तु ज्ञान की 'संवित्' स्वरूपा जो अप्रकटावस्था है, उस अवस्था का ज्ञान (संवित्) कललादि अचैतन्यावस्थाओं में भी रहता है' क्योंकि अर्थाविभास को छोड़कर ज्ञान को कोई अन्य अवस्था नहीं है। इसीलिये मूर्च्छा, सषुप्ति, समाधि प्रभृति अवस्थाओं में शरीर के रहने पर भी ज्ञान की सत्ता को हमलोग स्वीकार नहीं करते ॥ ६६ ॥

न चापि शक्तिरूपेण तवा धीरवतिष्ठते ।
निराश्रयत्वाच्छक्तीनां स्थितिर्न ह्यवकल्पते ॥ ६७ ॥

(पू० प०) मूर्च्छादि अवस्थाओं में भी 'स्वरूपतः' प्रकट रूप से ज्ञान के न रहने पर भी 'शक्ति' रूप से अर्थात् अव्यक्तावस्था में ज्ञान अवश्य रहता है। किन्तु बौद्धों का यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

बौद्धों के मत से आत्मा नाम का कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, फिर वह शक्ति विना आधार के कहाँ रहेगी ? विना आधार के शक्ति की सत्ता ही संभव नहीं है ॥ ६७ ॥

यदि भूतेन्द्रियाधारा ज्ञानशक्तिर्भवेत् ततः ।
तच्चैतन्यं प्रसज्येत न च जन्मान्तरं भवेत् ॥ ६८ ॥

यदि उक्त 'ज्ञानशक्ति' का आधार शरीर अथवा इन्द्रिय रूप भौतिक पदार्थों को मानें तो उन्हें भी 'चेतन' मानना होगा। (फलतः उन्हीं को आत्मा कहना होगा) किन्तु वे तो इसी जन्म के अन्त में विनष्ट हो जाते हैं, फिर जन्मान्तर किसका होगा ? अतः इस पक्ष में जन्मान्तर की अनुपपत्ति होगी ॥ ६८ ॥

परिणामविवेकाद्यैः शक्त्यभिव्यक्त्यनुग्रहात् ।
तेभ्य एव भवेद् बुद्धिर्न बुद्धयन्तरपूर्विका ॥ ६९ ॥

यदि शरीरादि भूत पदार्थों में ही चैतन्य मानें तो बौद्धों का 'बुद्धि में समानन्तरप्रत्ययजन्यत्व' का सिद्धान्त ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि शरीरादि भूतों में ही यदि चिच्छक्ति का योग मानेंगे तो घटादि अचेतन भूताकार परिणामों से विविक्त (पृथक् रूप में ज्ञायमान) भूतों का जो ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति रूप अनुग्रह प्राप्त शरीराकार परिणाम है उसी से बुद्धि की उत्पत्ति होगी, भले ही उससे इन्द्रियादि का साहाय्य अपेक्षित हो । इसलिये इस पक्ष में समनन्तर प्रत्यय से बुद्धि की उत्पत्ति का सिद्धान्त ही व्याहत हो जायगा ॥ ६९ ॥

तथैवोत्तरकालेऽपि पूर्वबुद्धेर्यदुच्यते ।
बुद्धयन्तरप्रसूतत्वं दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते ॥ ७० ॥

यदि बौद्धगण 'समनन्तर प्रत्यय' स्वरूप दूसरी बुद्धि से बुद्धि की उत्पत्ति न मानकर शरीरादि भूत पदार्थों से ही बुद्धि की उत्पत्ति मानें तो कलल, बुद्बुद एवं मूर्च्छादि अवस्थाओं में भी ज्ञान की सिद्धि के लिये जो अनुमान वे लोग उपस्थित करते हैं, उस अनुमानकाल में कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा ।

बौद्धों के उक्त अनुमान का स्वारस्य है कि मूर्च्छादि अवस्थाओं के बाद उत्पन्न प्रथम बुद्धि भी स्वाव्यवहित पूर्ववर्ती किसी बुद्धि से ही उत्पन्न होती है । अतः मूर्च्छादि अवस्थाओं में भी बुद्धि रहती है भले ही वह अव्यक्तावस्था में रहे । (मूर्च्छाद्यवस्थानन्तरमुत्पन्ना प्रथमा बुद्धिः बुद्धयन्तरजन्या बुद्धित्वात् मूर्च्छाद्यवस्थानन्तरजातद्वितीयादिबुद्धिवत्) ।

इस अनुमान में जिन द्वितीयादि बुद्धियों को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है वे यदि शरीर से ही उत्पन्न होती हैं, तो उनमें बुद्धन्तरपूर्वकत्व स्वरूप हेतु ही नहीं है, अतः वे दृष्टान्त कैसे हो सकती हैं ? इसलिए बौद्धगण शरीर को चैतन्य का आश्रय नहीं मान सकते ॥ ७० ॥

अथाधारविनिर्मुक्ता शक्तिः स्यात् कललादिषु ।
पश्चाद्विज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मा शक्त्यभिधो भवेत् ॥ ७१ ॥

यदि उक्त ज्ञान की स्थिति को विना आधार के ही मान लें तो फिर वह 'शक्ति' आत्मस्वरूप ही होगी, भले ही उसे आत्मा शब्द से अभिहित न कर 'शक्ति' नाम से ही पुकारें, क्योंकि उसकी सत्ता तो आगे की दूसरी बुद्धियों की उत्पत्ति के लिए मानना आवश्यक है ॥ ७१ ॥

शक्त्याधारप्रक्लृप्तौ वा नात्मनोऽन्यः प्रकल्प्यते ।
ज्वालाबुद्बुदवद् वृत्तिर्नचाधाराद् विना धियाम् ॥ ७२ ॥

शक्त्याधार''प्रकल्प्यते

यदि मूर्च्छादि अवस्थाओं में रहनेवाली ज्ञान की अव्यक्तावस्थारूपा शक्ति का आधार किसी को मानेंगे तो वह आधार ही आत्मा होगी ।

ज्वालाबुद्बुदवद्.....धियाम्

'बुद्धि चूँकि अमूर्त्त है, अतः उसमें क्रिया नहीं होती, निष्क्रिय वस्तुओं में सञ्चार नहीं होता। इसलिये एकदेहस्थ बुद्धि का सञ्चार दूसरे देहों में नहीं हो सकता' मीमांसकों के इस कथन पर बौद्धों का आक्षेप है कि मूर्त्त पदार्थों का भी क्रियावश दूसरे देहों में गमन सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्षणिक पदार्थों में क्रिया नहीं हो सकती। इसलिये एक क्षण के समान ही दूसरे क्षणों में क्रियाओं की भी परम्परा ही चलती है। जैसे जल के एक बुद्बुद से तत्सदृश दूसरे बुद्बुद की उत्पत्ति होती है अथवा दीप की एक ही ज्वाला से अन्य ज्वालाओं की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक बुद्धि से दूसरी बुद्धियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार बुद्धि का देहान्तरसंचार अनुपपन्न नहीं है।

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस जलबुद्बुद और और ज्वाला का दृष्टान्त दिया गया है, वे भी निराधार नहीं हैं, क्योंकि बुद्बुद का आधार भी जल है एवं ज्वाला दृष्टान्त का भी आधार दीप है ही। किन्तु बुद्धि का कोई इस प्रकार का आधार नहीं है ॥ ७२ ॥

ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ॥ ७३ ॥

अतः 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' इन दोनों ही दोषों के परिहार के लिये 'नित्यपुरुष' (आत्मा) की कल्पना आवश्यक है। चूँकि वह भोक्ता है, इसलिये वह 'चेतन' भी है। दूसरे देहों के साथ सम्बद्ध होने के लिये उसको 'विभु' (सर्वगत) भी मानना ही होगा, क्योंकि 'विभु' पदार्थ विना क्रिया के भी अनेक वस्तुओं के साथ सम्बद्ध हो सकता है। देह के साथ आत्मा का 'आयतनत्व' रूप सम्बन्ध है। देहस्वरूप आयतन में आत्मा भोग करता है। जैसे 'विचाराधिकरण' में ही राजा विचार करता है ॥ ७३ ॥

यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ॥ ७४ ॥

आत्मा यदि विभु है तो उसे निष्क्रिय मानना होगा। निष्क्रिय व्यक्ति कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वह कर्त्ता नहीं होगा तो कर्तृवाचक 'यजमान' शब्द से अर्थात् 'एष यज्ञायुधी यजमानः' इत्यादि वेदवाक्यों में प्रयुक्त यजमान शब्द से उसका बोध ही कैसे होगा ? यह आक्षेप जो 'नचास्य यजमानत्वम्' (चित्राक्षेप श्लोक १०) इत्यादि से उठाया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा सक्रिय है, निष्क्रिय नहीं। यह सत्य है कि परिस्पन्द रूपा क्रिया उसमें नहीं है, क्योंकि वह विभु है, मूर्त्त नहीं। किन्तु कणाद ऋषि के अनुयायी वैशेषिकों की तरह हम (मीमांसक) लोग उत्क्षेपणादि पाँच प्रकार के परिस्पन्दों को ही क्रिया नहीं मानते ॥ ७४ ॥

न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया।
क्रिया धात्वर्थमात्रं स्यादन्याधारेऽपि कर्तृता ॥ ७५ ॥

न च स्वसमवेतैव'' 'क्रिया

यह नियम नहीं है कि कर्त्ताओं से स्वसमवेता क्रिया का ही सम्पादन हो, क्योंकि (प्रधान) कर्त्ता अन्य (सहायक) कर्त्ताओं में भी धात्वर्थ स्वरूप क्रिया का सम्पादन करता है।

क्रिया धात्वर्थमात्रम्'' 'कर्तृता

धातु के जितने भी अर्थ हैं, वे सभी 'क्रिया' हैं। अर्थात् धात्वर्थ ही क्रिया है। वह 'परिस्पन्द' रूप भी हो सकती है, अन्य स्वरूप भी हो सकती है। यह भी नियम नहीं है कि कर्त्ता कर्म (परिस्पन्द) का अवश्य ही आधार हो। कर्त्ता से भिन्न वस्तुओं में क्रिया (परिस्पन्द) के रहने पर भी कर्तृत्व का सम्पादन हो सकता है॥ ७५॥

सत्ताज्ञानादिरूपाणां कर्ता तावत् स्वयं पुमान्।
योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राधिष्ठानतो भवेत्॥ ७६॥
तदुद्देशप्रवृत्तेश्च या या देहेन्द्रियैः क्रिया।
क्रियते पुरुषेणैव सा सा सर्वा कृतोच्यते॥ ७७॥

सत्ताज्ञानादि''''पुमान्

अस्पन्द स्वरूप (धात्वर्थ रूप) सत्ता, ज्ञान, यागादि क्रियाओं का आत्मा साक्षात् ही आधार है।

योऽपि''''अधिष्ठानतो भवेत्

यदि स्पन्द रूप क्रिया मात्र से कर्तृत्व को स्वीकार करें और स्पन्द रूपा क्रिया केवल मूर्त द्रव्य में ही रहे, तथापि आत्मा को कर्त्ता होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्माधिष्ठित द्रव्य में ही कर्तृत्व के अनुकूल चेष्टा रूपा क्रिया की उत्पत्ति होती है। मृत देहादि जो आत्माधिष्ठित नहीं है, उनमें उक्त क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यही युक्त है कि आत्मा ही परिस्पन्द रूपा क्रिया का भी प्रयोजक है, भले ही उन क्रियाओं का स्वतन्त्र कर्त्ता भौतिक पदार्थ ही हो।

तदुद्देशप्रवृत्तेश्च''''कृतोच्यते

अथवा आत्मा में जब भूत में क्रिया को उत्पन्न करने का उद्देश्य रहता है, तभी देह इन्द्रिय प्रभृति भूत पदार्थ क्रियाशील होते हैं। अतः भूत पदार्थों में क्रिया की उद्देश्यता ही आत्मा का कर्तृत्व है। इसलिये देहादि भौतिक पदार्थों में जितनी भी क्रियायें होती हैं, वे सभी आत्मा से ही उत्पन्न हुई कही जाती हैं॥ ७६–७७॥

नैव ह्येषां प्रवृत्तिः स्यात् पुरुषेणापरिग्रहे।
अस्वातन्त्र्यादतो नैषां परिस्पन्देऽपि कर्तृता॥ ७८॥

किं वा क्रिया का स्वतन्त्र कर्तृत्व भी आत्मा में ही है, (क्रिया) का स्वतन्त्र कर्त्ता भी आत्मा ही है, क्योंकि भौतिक पदार्थ आत्मपरिग्रह के विना क्रिया के उत्पादन में अक्षम होने के कारण अस्वतन्त्र हैं। अतः आत्मा ही भूतगत परिस्पन्द रूपा क्रिया का भी स्वतन्त्र कर्त्ता है॥ ७८॥

तत्कर्मोपार्जितैश्चैतैः क्रियमाणेषु कर्मसु।
कर्तृता यजमानानाम् ऋत्विक्परशुकर्मवत् ॥ ७९ ॥

अथवा आत्मा धर्म और अधर्म के द्वारा क्रियाशील जिन देहेन्द्रियादि भौतिक पदार्थों का अर्ज्जन करता है, वह 'अर्जन' ही आत्मा में कर्तृत्व का प्रयोजक व्यापार है, क्योंकि देहेन्द्रियादि के अर्जन स्वरूप व्यापार के विना आत्मा में किसी क्रिया की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। इस प्रकार ऋत्विजों के द्वारा परशु (कुल्हाड़ी) में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया का कर्तृत्व यजमान में ही माना जाता है ॥ ७९ ॥

यथा परिक्रयाम्नानाद् ऋत्विग्द्वारा क्रियेष्यते।
गमनादिविधेस्तद्वद् भूतद्वारत्वमाश्रितम् ॥ ८० ॥

जिस प्रकार ऋत्विक् के द्वारा सोमपरिक्रय विहित होने के कारण ऋत्विक् के द्वारा की गयी सोमपरिक्रय (धात्वर्थ) रूपा क्रिया का कर्तृत्व यजमान में मानते हैं, उसी प्रकार भूत में उत्पन्न क्रिया के द्वारा ही आत्मा में कर्तृत्व माना जा सकता है ॥ ८० ॥

क्रयो यथात्मनो नास्ति गमनादि तथैव हि।
विधीयते च तेनात्र परद्वारास्य कर्तृता ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार धात्वर्थ स्वरूपा अपरिस्पन्दात्मिका क्रिया यजमान में नहीं रहती है किन्तु ऋत्विक् में रहती है, फिर भी सोमक्रय रूप धात्वर्थात्मक क्रिया का कर्त्ता यजमान होता है, उसी प्रकार देहादि में रहने वाली परिस्पन्दात्मक गमनादि क्रियाओं का कर्तृत्व भी आत्मा में स्वीकार किया जा सकता है ॥ ८१ ॥

यथा वा देवदत्तस्य च्छेदने काष्ठसंश्रिते।
कर्तृत्वमेव पुंसः स्याच्छरीरगमनादिषु ॥ ८२ ॥

अथवा जिस प्रकार लकड़ी में रहने वाली छिद्-धात्वर्थ रूपा छेदन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त होता है (तदनुसार ही 'देवदत्तः काष्ठं छिनत्ति' इत्यादि प्रयोग होते हैं) उसी प्रकार शरीर में रहने वाली धात्वर्थ रूपा परिस्पन्दात्मिका गमनादि क्रियाओं का भी कर्त्ता आत्मा हो सकता है अर्थात् अन्यसमवेत क्रिया से भी कर्तृत्व का निष्पादन हो सकता है[1] ॥ ८२ ॥

---

1. इस प्रसङ्ग में आक्षेप हो सकता है कि कुल्हाड़ी का उठाना और गिराना (उद्यमनिपातनादि) यदि 'छेदन' क्रिया हो तो उसका कर्त्ता अवश्य ही देवदत्त है। काठ का केवल दो टुकड़े हो जाना ही यदि 'छेदन' क्रिया है तो वह क्रिया काठ में ही रहती है, तदनुसार काठ ही छेदन क्रिया का कर्त्ता है। किन्तु छेदन क्रिया के ये दोनों स्वरूप इष्ट नहीं हैं। किन्तु जिन उद्यमनिपातनादि क्रियाओं से द्विधाभवन स्वरूप छेदन क्रिया की उत्पत्ति होती है वह विशेष प्रकार का उद्यमनिपातनादि ही छेदन क्रिया है।

व्यापारान्तरतस्तत्र कर्तृत्वं चेदिहापि नः।
सङ्कल्पसत्त्ववत्त्वाभ्यां पुमानिष्टः प्रयोजकः ॥ ८३ ॥
साधारण्येन कर्तृत्वं सत्त्ववत्त्वेन कर्मसु।
सङ्कल्पनैः पुनर्भेदात् प्रतिकर्मास्य कर्तृता ॥ ८४ ॥

(पू० प०–यह ठीक है कि द्वैधीभाव स्वरूप फल को उत्पन्न करने वाले उद्यम-निपातनादि व्यापारों के 'योग' (सम्बन्ध) से देवदत्त में काष्ठगत छेदन क्रिया की कर्तृता है। किन्तु आत्मा में शरीरगत गमनादि क्रियाओं का कर्तृत्व किस सम्बन्ध के कारण रहेगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि—)

यदि धात्वर्थ स्वरूप व्यापार से भिन्न व्यापार के द्वारा भी कर्तृत्व की उपपत्ति 'देवदत्तः काष्ठं छिनत्ति' इत्यादि स्थलों में देवदत्त में हो सकती है तो शरीरनिष्ठ गमन क्रिया के तदनुकूल प्रयत्न स्वरूप कर्तृत्व की उपपत्ति भी आत्मा में स्वीकार की जा सकती है।

इनमें 'सत्ता' स्वरूप व्यापार के द्वारा सभी क्रियाओं का कर्तृत्व आत्मा में है। एवं सङ्कल्प, प्रयत्न प्रभृति व्यापारों के द्वारा आत्मा विभिन्न क्रियाओं का कर्त्ता है,

---

इस रीति के अनुसार जिस प्रकार घटपदबोध्य घट में विशेषणीभूत घटत्व जाति (आकृति) में ही घटपद की शक्ति है, उसी प्रकार छिद् धातु से बोध्य द्विधाभवन स्वरूप फल से युक्त (विशिष्ट) उद्यमनिपातनादि में विशेषणीभूत जो 'द्विधाभवन' है उसमें ही छिद् धातु की अभिधाशक्ति है। यह द्विधाभवन काष्ठ में आश्रित है। तदनुसार धातुवाच्य व्यापाराश्रय न होने के कारण देवदत्त में कर्तृत्व अनुपपन्न है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि धातु के अभिधेय व्यापार की आधारता ही कर्तृत्व नहीं है। किन्तु आख्यातप्रत्ययवाच्य जो 'भावना' उसका समवाय ही कर्तृत्व है। 'यस्य व्यापारं धातुराह' इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि आख्यात से उसी व्यापार का बोध होता है जो व्यापार धातु के द्वारा उपस्थित व्यापार को अन्य सजातीय व्यापारों से अलग समझाता है। अर्थात् आख्यात धात्वर्थावच्छिन्न व्यापार का ही वाचक है।

प्रकृत में छिद् धातु का मुख्य अर्थ है 'द्विधाकरण' एवं आख्यात का अर्थ है 'उद्यम-निपातनादि व्यापार'। अतः 'छिनत्ति' पद में प्रयुक्त 'तिप्' प्रत्यय के द्वारा उसी उद्यम-निपातनादि व्यापारों का बोध होता है जो काष्ठ के द्विधाकरण के लिये उपयुक्त हो। (इसी को द्विधाकरण रूप फलावच्छिन्न व्यापार कहते हैं)।

आख्यात से तीन प्रकार के व्यापारों का बोध होता है—

(१) धात्वर्थ के साथ रहने वाले व्यापार का। जैसे 'विक्लिद्यन्ति तण्डुलाः' इस स्थल में विक्लित्ति और आख्यातार्थ दोनों का बोध तण्डुल में ही होता है।

(२) कुछ आख्यात के अर्थ स्वरूप व्यापार का बोध धात्वर्थ के अन्वयी से भिन्न में ही होता है। जैसे कि 'रोचन्ते मोदकाः' इत्यादि स्थलों में इच्छा स्वरूप धात्वर्थ का बोध देवदत्तादि में एवं आख्यातार्थ तद्विषयत्व का बोध मोदकादि में होता है।

अर्थात् कुछ क्रियाओं में सङ्कल्प के द्वारा एवं कुछ क्रियाओं में प्रयत्नादि के द्वारा आत्मा सहायक है ॥ ८३–८४ ॥

न च सर्वत्र तुल्यत्वं स्यात् प्रयोजककर्मणाम् ।
चलनेन ह्यसिं योद्धा प्रयुङ्क्ते छेदनं प्रति ॥ ८५ ॥
सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः ।
राजा सन्निधिमात्रेण विनियुङ्क्ते कदाचन ॥ ८६ ॥

(जिस प्रकार देवदत्त में परिस्पन्द रूपा क्रिया होती है, उस प्रकार आत्मा में परिस्पन्दनात्मक क्रिया के न रहने से कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि) कर्तृत्व के लिये अपेक्षित धर्म सर्वत्र एक ही प्रकार के नहीं होते । छेदन स्वरूप एक ही क्रिया को सैनिक तलवार चलाकर निष्पन्न करता है, सेनापति उसी छेदन क्रिया में सैनिक को अपने वचनमात्र से नियुक्त करता है जब कि राजा तो अपनी सत्ता मात्र से बिना एक शब्द निकाले ही उस छेदन क्रिया का प्रयोजक होता है ॥ ८५–८६ ॥

तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तृतात्मनः ।
यथैवाभिद्यमानस्य देवदत्तस्य भेत्तृता ॥ ८७ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार देवदत्त में द्विधाभवन स्वरूप भेत्तृत्व के न रहने पर भी तदनुकूल उद्यमनिपातनादि के द्वारा भेत्तृत्व (भेदनक्रियाकर्तृत्व) की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मा में चलन क्रिया के न रहने पर भी तदनुकूल सङ्कल्प, प्रयत्नादि के द्वारा कर्तृत्व की उपपत्ति हो सकती है ॥ ८७ ॥

कर्मान्तरैर्यथा दानं स्वव्यापारः स एव वा ।
भूतक्रियासु पुंसः स्यात् तानि भूतान्तरैः पुनः ॥ ८८ ॥
तानि भूतान्तरेभ्यश्चेत्येवमादिर्न विद्यते ।
कर्मक्षयात् त्वनात्मीयैः कृतं कर्म न लिम्पति ॥ ८९ ॥

---

(१) कुछ आख्यातार्थ स्थलभेद से धात्वर्थ के आश्रय एवं अनाश्रय दोनों में ही स्वार्थविषयक बोध को उत्पन्न करते हैं । जैसे कि 'पचति' पदघटक आख्यात का अर्थ । 'पचति तण्डुलः' इत्यादि स्थलों में पाक के आश्रय तण्डुल में ही तदनुकूल व्यापार स्वरूप तिबर्थ का भी बोध होता है । किन्तु 'देवदत्तः पचति' इत्यादि प्रयोगों के पचति पद-घटक आख्यात पाक के अनाश्रय देवदत्त में ही तदनुकूल व्यापार स्वरूप स्वार्थविषयक बोध का जनक होता है ।

प्रकृत में 'देवदत्तः काष्ठं छिनत्ति' इस स्थल में छिद्-धात्वर्थ द्विधाकरण के आश्रयीभूत काष्ठ से अतिरिक्त देवदत्त में ही उद्यमनिपातनादि स्वरूप व्यापार की प्रतीति होती है । अतः काष्ठ में रहने वाले छेदन का कर्तृत्व जिस प्रकार देवदत्त में होता है, उसी प्रकार शरीर में रहने वाली गमनादि क्रियाओं का कर्तृत्व आत्मा में मानने से किसी प्रकार दोष नहीं होगा ।

कर्मान्तरैः''' पुंसः स्यात्

यदि यही आग्रह हो कि कर्त्ता में चलनात्मक कर्म को रहना ही है तो इसकी भी उपपत्ति आत्मा में इस प्रकार की जा सकती है कि पूर्वजन्म के शरीरादि भूत पदार्थों में रहनेवाले जो याग-हिंसादि परिस्पन्दनात्मक कर्म थे, उनके द्वारा प्राप्त इस जन्म के शरीरादि भूत पदार्थों में विद्यमान उन परिस्पन्दनात्मक कर्मों के द्वारा ही आत्मा में कर्तृत्व है।

तानि भूतान्तरैः'' न विद्यते

इसी प्रकार उस जन्म में भी उससे भी पूर्वजन्मों के कर्मों के द्वारा आत्मा में क्रिया के कर्तृत्व की उपपत्ति की जा सकती है। संसार चूँकि अनादि है, अतः इस प्रकार की कर्मपरम्परा को स्वीकार कर लेने से अनवस्था की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

कर्मक्षयात्त्वनात्मीयैः''''न लिम्पति

(पू० प०) यदि स्व से भिन्न शरीरादि भूत पदार्थों के द्वारा किये गये कर्म से पुरुष (आत्मा) बद्ध होता है तो फिर जिस आत्मा के अपने कर्म क्षीण (विनष्ट) हो चुके हैं, उसे दूसरी आत्मा से किये गये अप्रक्षीण कर्मों से भी बन्ध की आपत्ति होगी, क्योंकि अनात्मीयत्व तो सभी कर्मों में समान हैं। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

आत्मा के अपने शरीर से किये गये कर्मों का जब विनाश हो जाता है, तो दूसरी आत्माओं के शरीरों से किये गये अप्रक्षीण कर्मों से भी वह बद्ध नहीं होता ॥८९॥

अन्वारम्भणमानावायौदुम्बर्यादिवर्त्तिनि ।
स्वरूपासम्भवाद् यष्टुः शरीरेणैव कर्तृता ॥ ९० ॥

चूँकि नियमतः 'उदुम्बर(गूलर) की लकड़ी से बने 'यूप' में ही 'उद्गाता' के द्वारा 'अन्वारम्भण' (स्पर्शविशेष) क्रिया होती है अतः (यूप का निर्माण चूँकि नियमतः उदुम्बर काष्ठ से ही होता है, इसलिए) उक्त अन्वारम्भण क्रिया नियमतः यजमानकर्तृक होने पर भी उदुम्बरकर्तृक भी कहलाती है। तदनुसार ही 'औदुम्बरो यूपः' इस श्रौतवाक्य में 'औदुम्बरः' यह कर्तृप्रत्ययान्त पद प्रयुक्त है। किन्तु काष्ठ तो अचेतन है, अतः उसमें कृतिमूलक कर्तृत्व का मुख्य व्यवहार सम्भव नहीं है। इसलिये इस स्थल में यजमान के शरीर के द्वारा ही काष्ठ में कर्तृता माननी होगी ॥ ९० ॥

तस्माद् यथाकृतौ शास्त्रं प्रवृत्तं व्यक्तिमाश्रयेत्।
तथा पुंसि प्रवृत्तस्य भूतेन्द्रियसमाश्रयः ॥ ९१ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार आकृति (जाति) में ही शास्त्र (शब्द) की अभिधेयता युक्तियों से सिद्ध है फिर भी व्यक्ति के द्वारा ही वह निष्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा में ही यद्यपि मुख्य कर्तृत्व है, किन्तु उसकी निष्पत्ति शरीर के द्वारा ही होती है ॥ ९१ ॥

परैरभिगतान् पूर्वमात्महेतून् निरस्यति ।
नेत्येतावदवच्छेद्यम् विधर्माण इमे यतः ॥ ९२ ॥

परैरभिमतान् ''निरस्यति

·· 'आह कोऽसावन्यो नैनमुपलभामहे ? 'प्राणादिभिरेनमुपलभामहे ।' (शाबर-भाष्य पृ० ६० पंक्ति ४)

इस भाष्यसन्दर्भ के 'प्राणादिभिरेनमुपलभामहे' इस समाधानवाक्य के द्वारा आत्मा के ज्ञापक जिन प्राणादि हेतुओं का उल्लेख किया गया है, वे सभी हेतु आत्मा की सिद्धि के लिये वैशेषिकों के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। इन हेतुओं में आत्म-ज्ञापकत्व के निराश के लिये ही भाष्यकार ने इन हेतुओं का उल्लेख किया है। यदि हेतुओं का निरास न किया जाय तो मीमांसकों के शिष्य उन हेतुओं में और उनसे उत्पन्न आत्मज्ञान में वैशेषिकों के समान ही आदरदृष्टि रखेंगे। किन्तु सो उचित नहीं है। अतः भाष्यकार ने वैशेषिकसम्मत आत्मज्ञापक हेतुओं का उल्लेख किया है।

नेत्येतावत्''**इमे यतः**

'ननु शरीरमेव प्राणित्यपानिति च' इस आक्षेप का उत्तर **'न, प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणः'** इस भाष्यसन्दर्भ से दिया गया है। इस भाष्यसन्दर्भ में जो **'न प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणः, अयावच्छरीरभावित्वात्'** यह सिद्धान्तप्रतिपादक अंश है, उसकी व्याख्या 'न' को अलग करके इस प्रकार करनी चाहिये कि 'प्राणनादि' (प्रयत्न) शरीर के गुण नहीं है। अतः शरीर प्राणनादि प्रयत्नों का आश्रय नहीं है। इसलिये 'ननु शरीरमेव' इत्यादि सन्दर्भ से जो आक्षेप किया गया है वह ठीक नहीं है ॥ ९२ ॥

> अयावद् देहभावित्वं कार्श्यादेरपि दृश्यते।
> अथावस्थान्तरं तत्र तथा मृत्युरपीष्यताम् ॥ ९३ ॥

अयावद्देहभावित्वम्''**दृश्यते**

(पू० प०) प्राणादि (प्राणनादि क्रियाओं के उत्पादक प्रयत्न) शरीर के धर्म नही हैं (अर्थात् शरीरविधर्मी है)। इसकी सिद्धि के लिये भाष्यकार ने जो 'अयावच्छरीरभावित्वात्' इस हेतुवाक्य का प्रयोग किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के ही जो कृशता प्रभृति धर्म हैं, वे भी जब तक शरीर रहता है तब तक नहीं रहते, क्योंकि शरीर के रहते ही उसमें स्थूलता आदि विरोधी गुण देखे जाते हैं। अतः 'अयावच्छरीरभावी' होने से ही प्राणादि को शरीर का 'विधर्म' नहीं कहा जा सकता।

अथाऽवस्थान्तरं तत्र

यदि यह कहो कि शरीर से जो कृशता हटती है और स्थूलता आती है, वह स्थूलता पूर्ववर्त्तिनी कृशता की ही दूसरी अवस्था है। अतः कृशता प्रभृति शरीर की स्थिति पर्यन्त रहनेवाले 'यावच्छरीरभावी' धर्म ही हैं।

तथा मृत्युरपीष्यताम्

(अथवा यदि यह कहो कि कृशता के मिटने पर भी स्थूलता स्वरूप दूसरी अवस्था शरीर में अवश्य रहती है। इस प्रकार 'अवस्था' स्वरूप सामान्य धर्म तो

शरीर की स्थिति पर्यन्त रहने वाला धर्म ही है। अतः उसे 'अयावच्छरीरभावी' नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

इस प्रकार तो प्राणादि भी शरीर के यावत् पर्यन्त रहने वाले धर्म ही हैं, क्योंकि जिस प्रकार कृशता की विनाशावस्था ही स्थूलता है उसी प्रकार प्राणादि की दूसरी अवस्था का नाम ही मृत्यु है। इस दृष्टि से यदि कशता आदि शरीर के यावत् सत्ता पर्यन्त स्थायी हैं तो प्राणादि भी शरीर के यावत् पर्यन्त स्थायी धर्म ही हैं॥ ९३॥

एतावानिह भेदः स्याच्छरीरे दृढ एव या।
प्राणाद्यपगतिस्तत्र निमित्तं न प्रतीयते ॥ ९४॥

इस आक्षेप का यह उत्तर है कि 'दृढ़ावस्था' में अर्थात् जीवन काल में भी यदि दृढ़ावस्था के ही परिणाम होने के कारण तदभिन्न मृत्यु की सत्ता को भी स्वीकार करेंगे तो उस मृत्यु स्वरूप 'प्राणों के निर्गमन' को 'निष्कारणक' मानना होगा, क्योंकि उस समय अर्थात् जीवन काल में शरीर में मृत्यु के किसी भी कारण की प्रतीति योग्य चिकित्सक को भी नहीं होती॥ ९४॥

गुणो द्रव्यविनाशाद् वा विनाशमुपगच्छति।
गुणान्तरोपपाताद् वा तस्मादुत्कृत्य नाश्यते ॥ ९५॥

द्रव्य में गुण का नाश दो प्रकार से होता है—

(१) आश्रयीभूत द्रव्य के नाश से एवं

(२) दूसरे विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से।

इनमें से पहले प्रकार में गुणनाश से पूर्व अथवा समकाल में द्रव्य का नाश अवश्य हो जाता है। दूसरे प्रकार में आश्रयीभूत द्रव्य की सत्ता तो रहती है, किन्तु विरोधी गुण अपने प्रादुर्भाव के बल से आश्रयभूत द्रव्य के रहते ही उससे खींचकर (उत्कृत्य) पहले के गुण को विनष्ट कर देता है॥ ९५॥

न तावत्तद् द्वयं मृत्यौ सर्वस्यैवोपलभ्यते।
अविनष्टशरीरस्य प्राणादिश्चापगच्छति ॥ ९६॥

जीवनावस्था में प्राणादिविनाश (मृत्यु) के गुण नाश के उक्त दोनों प्रकार के कारणों में से किसी प्रकार के कारण की उपलब्धि नहीं होती है। शरीर के रहते ही प्रणादि विनष्ट हो जाते हैं, प्रणादि के इस विनाश के किसी विरोधी गुण के प्रादुर्भाव कारण भी उपलब्ध नहीं हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणादि शरीर के ही धर्म हैं। शरीर के रहते ही जो प्राणादि का विनाश हो जाता है, इससे प्राणादि में शरीरधर्मत्व का खण्डन भी नहीं होता, क्योंकि पाक से पूर्व के श्यामादि रूपों का विनाश उनके पृथिवी स्वरूप आश्रय के रहते ही हो जाता है, फिर भी उक्त श्यामादि रूप पार्थिव गुण ही कहलाते हैं। अतः प्राणादि (प्राणनादि क्रियाओं के प्रयोजक प्रयत्नादि) शरीर के गुण नहीं है॥ ९६॥

तस्मान्न देहधर्मत्वं प्राणादेरिति गम्यते।
तस्मिन् दृष्टेप्यसद्भावात् स्रग्विलेपनगन्धवत् ॥ ९७॥

इस यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार माला, चन्दन या अन्य सुगन्धित द्रव्यों की उपलब्धि शरीर में होने पर भी उन्हें शरीर का धर्म इस लिये नहीं माना जा सकता कि कदाचित् शरीर के रहने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं होती है उसी प्रकार प्राणादि (प्राणनादि क्रियाओं के प्रयोजक प्रयत्नादि भी) शरीर के धर्म नहीं है, क्योंकि शरीर के रहते हुये भी कदाचित् उक्त प्रयत्नादि गुणों की उपलब्धि नहीं होती है (प्राणादिर्न देहधर्मः तस्मिन् दृष्टेऽपि असद्भावात् स्रग्विलेपनगन्धवत्[1]) ॥ ९७ ॥

बहिर्वृत्तित्वमप्यस्ति प्राणादेरिति गम्यते ।
परेन्द्रियैः सुखादिस्तु नान्तरत्वात् प्रतीयते ॥ ९८ ॥

सुखादयश्च स्वयमुपलभ्यन्ते, न रूपादय इव शरीरगुणाः परेणापीति । तस्माच्छरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीराद्यज्ञायुधीति । (शा० भा० पृ० ६१ पं० ५)

'सुखादयः' इत्यादि ऊपर लिखे गये सन्दर्भ से भाष्यकार ने आत्मा के ज्ञापक अन्य हेतुओं का उल्लेख किया है। इस भाष्यसन्दर्भ का अक्षरार्थ यह है कि शरीर के जो रूपादि गुण हैं, उनकी उपलब्धि स्वयं शरीर वाले को भी होती है, एवं दूसरे को भी होती है। किन्तु सुखादि की उपलब्धि दूसरों को इन्द्रिय से नहीं होती है। अतः सुखादि शरीर के गुण नहीं हैं। तस्मात् शरीरादि से भिन्न ही आत्मा का अनुमान सुखादि हेतुओं से करना चाहिये। शरीरादि से भिन्न यह आत्मा ही प्रकृत में 'यज्ञायुधी' शब्द से अभिप्रेत हैं।

(इस प्रसङ्ग में भाष्यकार के ऊपर आक्षेप हो सकता है कि भाष्यकार ने 'प्राणादिभिरेनमुपलभामहे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा गुण से गुणी के अनुमान की रीति से ही शरीरादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि दिखलायी है। 'सुखादयश्च' इस प्रकृत सन्दर्भ से भी उसी रीति से आत्मा की सिद्धि दिखलायी गयी है। अतः सन्दर्भ पुनरुक्ति दोष से ग्रसित है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

प्राणादि के बहिर्गमन (बहिर्वृत्तित्व) को कुछ लोग परेन्द्रियग्राह्य मानते हैं, सुखादि को कोई भी परेन्द्रियग्राह्य नहीं मानता, अतः सुखादि जिस प्रकार का आन्तर पदार्थ है, प्राणनादि क्रियायें उसी प्रकार सर्वथा आन्तर नहीं हैं। इसलिये सुखादि जिस प्रकार सर्वथा आन्तर होने के कारण सर्वथा दूसरे को इन्द्रिय से अनुपलभ्य हैं,

---

१. तथापि यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणादि (प्रयत्नादि) भले ही शरीर के धर्म न हों, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग (हेतु) हैं, क्योंकि वायु की जो ऊर्ध्वगति क्रिया एवं अधोगति रूपा क्रिया वे ही दोनों क्रमशः 'प्राण' और 'अपान' शब्द से अभिहित होती हैं। इस लिये 'प्राणादि' जो वायु के धर्म हैं, उन्हें आत्मा का ज्ञापक लिङ्ग नहीं माना जा सकता। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—

वायु स्वभावतः तिर्यग्गमन स्वभाव का है, टेढ़े-मेढ़े रास्ते चलना ही उसका स्वभाव है, अतः बिना किसी कारण के उसमें ऊर्ध्वगति या अधोगति नहीं हो सकती। अतः वायु की ऊर्ध्वगति और अधोगति के विशेष कारणीभूत 'प्रयत्न' का पहले अनुमान होता है। प्रयत्न चूँकि गुण है, अतः उससे गुणी का अनुमान होता है। प्रयत्न स्वरूप गुण शरीरादि में बाधित है। इस प्रकार प्राणादि भी आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हैं।

उस प्रकार प्राणनादि क्रियायें सर्वथा परेन्द्रिय से अनुपलभ्य नहीं हैं। प्राणनादि क्रियाओं में एवं सुखादि गुणों में यह जो अन्तर है, उसी के कारण भाष्यकार ने आत्मा के ज्ञापक सुखादि लिङ्गों का अलग से उल्लेख किया है ॥ ९८ ॥

प्रहृष्टवदनत्वादिलिङ्गगम्यं सदैव हि।
अन्तःस्थितेर्न दृष्टिश्चेत् पाटितेऽप्यनुपग्रहात् ॥ ९९ ॥
अन्तःशरीरे रूपादि पाटितस्योपलभ्यते।
न सुखादिरतोऽस्यासौ न मनोबुद्धिवद् गुणः ॥ १०० ॥

प्रहृष्टवदनत्वादि"""सदैव हि

(सुखादि यदि इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं तो दूसरे के सुखादि का ज्ञान दूसरों को कैसे होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) मुख की प्रसन्नता (प्रसाद) प्रभृति लिङ्गों से दूसरों के सुख का अनुमान ही दूसरे को होता है, प्रत्यक्ष नहीं।

अन्तःस्थितेर्न दृष्टिश्चेत्

(पू० प०) सुखादि चूँकि शरीर के अन्तःप्रदेश में रहते हैं, अतः उनमें इन्द्रियों का उचित सम्प्रयोग संभव नहीं है, इसीलिये सुखादि का प्रत्यक्ष दूसरे को नहीं हो पाता। अर्थात् जिस प्रकार कुड्यादि से व्यवहित राजदारादि का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु इस अप्रत्यक्ष से राजदारादि अतीन्द्रिय नहीं हो जातीं, क्योंकि अन्तःपुरस्थित मनुष्यों को राजदारादि का प्रत्यक्ष होता है। अतः सुखादि का प्रत्यक्ष भी किसी अन्य पुरुष को हो सकता है। अतः दूसरों की इन्द्रिय के द्वारा उपलभ्य न होने से (परेन्द्रियानुपलभ्यमानत्व हेतु से) यह सिद्ध नहीं होता कि 'सुखादि शरीर के गुण नहीं हैं'।

पाटितेऽप्यनुपग्रहात्"""न सुखादिः"""गुणः

इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि शरीर को खण्डित कर देने से भी शरीर के अन्तःप्रदेश में रूपादि गुणों की उपलब्धि होती है, किन्तु सुखादि की उपलब्धि नहीं होती है। अतः जिस प्रकार (मनोबुद्ध्यादि) शरीर के गुण नहीं हैं, उसी प्रकार सुखादि भी शरीर के गुण नहीं हैं ॥ ९९–१०० ॥

गुणत्वादाश्रितत्वं हि सुखादेः स्याद् रसादिवत्।
य आश्रितः स आत्मेति ब्रुवाणस्यैतदुत्तरम् ॥ १०१ ॥

गुणत्वात्"""स आत्मा

('सुखादि शरीर के गुण नहीं हैं' केवल इतने से ही 'सुखादि आत्मा के गुण हैं' यह निष्पन्न नही हो जाता। इसके लिये स्वतन्त्र प्रमाण चाहिये। इस औत्सुक्य का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि—)

सुखादि चूँकि गुण हैं, अतः रसादि के समान ही उनका कोई आश्रय अवश्य है। शरीर उनका आश्रय नहीं है। सुतराम् शरीर से भिन्न सुखादि का जो आश्रय है, वही है 'आत्मा'। इस प्रकार सुखादि में शरीरगुणत्व के निराकरण का आत्मा की सिद्धि में उपयोग समझना चाहिये। इस प्रसङ्ग में निष्पन्न अनुमानों के प्रयोग (श्लोक ९७ की व्याख्या में) लिखे जा चुके हैं।

इति ब्रुवाणस्यैतदुत्तरम्

इस प्रकार वैशेषिक मत के अनुसार 'सुखादि शरीरादि के गुण नहीं हैं' इस निष्पत्ति के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन करने के बाद 'ज्ञानमात्र' को आत्मा माननेवाले बौद्धों के मत का उपपादन करने लिये भाष्यकार ने—

आह, कुत एष सम्प्रत्ययः 'सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वान्' (शाबरभाष्य पृ०६२पं० १) यह सन्दर्भ लिखा है।

इस पूर्वपक्ष भाष्य का आशय है कि सुखादि ज्ञानों के ही एक प्रकार हैं, ज्ञानों से भिन्न सुखादि कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, न वे किसी अन्य वस्तु के गुण हैं। इस लिये विज्ञान से भिन्न सुखादिमान् कोई पदार्थ नहीं है (जिसको 'आत्मा' कहा जा सके)। अतः शरीर में आत्मा की असिद्धि से 'आत्मा' की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१०१॥

गुणानां परतन्त्रत्वाद् गुणवाननुमीयते।
सिद्धे गुणत्वे तत् त्वस्मान् प्रत्यसिद्धं सुखादिषु ॥ १०२ ॥

(क्षणिकविज्ञानात्मवादियों का कहना है कि—)

गुण चूँकि पराश्रित हैं, इसलिये सुखादि गुणों के आश्रय आत्मा का आप (वैशेषिक गण) अनुमान करते हैं। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि यह सिद्ध हो कि 'सुखादि गुण हैं'। हम लोग (क्षणिकविज्ञानात्मवादी बौद्धगण) सुखादि को गुण मानते ही कहाँ हैं ? ॥ १०२ ॥[1]

---

१. इस प्रकार 'सुखादि आत्मा के ज्ञापक लिंग है' इस पक्ष के खण्डन के बाद 'इच्छा ही आत्मा का ज्ञापक लिङ्ग है' इस पक्ष का उपपादन 'उच्यते, इच्छयात्मानमुपलभामहे' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ (पृ० ६३ पं० ७) से किया गया है कि किसी अन्य पुरुष के द्वारा देखी गयी वस्तु की अथवा सर्वथा अज्ञात वस्तु की इच्छा नहीं होती। यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो अपने से अज्ञात अथवा दूसरों से ज्ञात अथवा अज्ञात वस्तु की भी इच्छा माननी होगी। किन्तु ऐसा स्वीकार करना वस्तुस्थिति के सर्वथा विपरीत होगा।

अतः यह स्वीकार करना होगा कि इच्छा उसी व्यक्ति को उसी वस्तु की होती है, जो वस्तु उसे पहले से ज्ञात रहती है। ज्ञान और इच्छा का यह 'एककर्तृकत्व' ही ज्ञान से अतिरिक्त स्थायी आत्मा का साधक है। (इच्छा स्थायिपुरुषाश्रिता स्वसमान-कर्तृकोपलब्धिपूर्वकत्वनियतत्वात्)।

वैशेषिकों और बौद्धों की इस उक्ति-प्रत्युक्ति में 'अनुपपन्नमिति नः क्व सम्प्रत्ययः' (शाबरभाष्य पृ० ६४ पं० ३) विज्ञानवादी बौद्धों के पक्ष के समर्थक भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि स्थिर विज्ञाता जब कोई नहीं है तो आपने जो अनुपपत्ति दिखाने के लिये 'इतरथाहीच्छा नोपपन्ना स्यात्' (पृ० ६४) इस वाक्य का प्रयोग भाष्य में किया है, वह असङ्गत है, क्योंकि जब कोई स्थिर आत्मा सिद्ध नहीं है तो वस्तुगति के अनुसार यह कल्पना करनी होगी कि 'वासना'वश एक सन्तति के एक विज्ञान व्यक्ति के द्वारा ज्ञात वस्तु की इच्छा उसी सन्तति के अन्य विज्ञान व्यक्ति को होती है, अन्य सन्तति के विज्ञान व्यक्ति को नहीं। अतः देवदत्त के द्वारा ज्ञात वस्तु की इच्छा यज्ञदत्त को नहीं होती है।

भेदेन किमुपन्यस्ता तुल्यन्यायेच्छया स्मृतिः।
उभयं न ह्यदृष्टेऽर्थे वासनातश्च सिद्धयति ॥ १०३ ॥

(पू० प०) जिस युक्ति के द्वारा इच्छा से स्थिर आत्मा का अनुमान वैशेषिक-गण करते हैं, एवं जिस युक्ति से बौद्धगण उसका खण्डन करते हैं, उसी युक्ति से जब स्मृति से स्थिर आत्मा का अनुमान और वासना के द्वारा उस अनुमान का बौद्धों के द्वारा खण्डन ये दोनों ही होते हैं, तो फिर इच्छा स्वरूप लिङ्ग के अभिधान के बाद स्मृति स्वरूप लिंग का भाष्यकार के द्वारा उपादान व्यर्थ है ॥ १०३ ॥[1]

उपलब्धिमनाश्रित्य स्मृत्यैवेच्छोपजायते ।
उपलब्धिसमानोऽस्याः कर्ता नैकान्ततो भवेत् ॥ १०४ ॥
उपलब्ध्यनुसारेण स्मृत्यात्मा पुनरिष्यते ।
समानस्तेन कर्तास्ति तदर्थं पुनरुच्यते ॥ १०५ ॥

१. इच्छा स्वरूप लिङ्ग से स्थिर आत्मा के साधक वैशेषिकों के अनुमान का खण्डन किये किये जाने पर वैशेषिकगण पुनः कह सकते हैं कि इच्छा स्वरूप लिङ्ग से स्थिर आत्मा की सिद्धि भले ही न हो सके किन्तु स्मृति स्वरूप लिंग के द्वारा स्थिर आत्मा की सिद्धि इस युक्ति से की जा सकती है कि स्मृति के बिना अथवा बिना पूर्वदर्शन के इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'स्मृतिः स्थायिपुरुषाश्रया स्वसमानकर्तृकदर्शनपूर्वकत्वनियतत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटादिः'। वैशेषिकों के इसी मत का प्रतिपादन भाष्यकार ने निम्नलिखित सन्दर्भ से किया है—

अत्रोच्यते, न ह्यस्मर्तार इच्छन्तीत्युपपद्यते। न चाऽदृष्टपूर्वे स्मृतिर्भवति, तस्मात्क्षणिकविज्ञानस्कन्धमात्रे स्मृतिरनुपपन्नेति। (भा० भा० पृ० ६५ पं० ३)

वैशेषिकों की इस प्रत्युक्ति के बौद्धसम्मत परिहार का प्रतिपादन निम्नलिखित भाष्य-सन्दर्भ से किया गया है—

अत्राह—स्मृतिरपीच्छावत् पूर्वविज्ञानसदृशं विज्ञानं पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते। तच्च द्रष्टरि विनष्टेऽप्यपरेषुत्पद्यमानं नानुपपन्नम्, प्रत्यक्षा-वगतत्वादेव। अन्यस्मिन् स्कन्धघने स्कन्धघनेन यज्ज्ञानं तत्सन्ततिजेनान्ये-नोपलभ्यते नातत्सन्ततिजेनाऽन्येन।

बौद्धमतप्रतिपादक इस भाष्यसन्दर्भ का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक सन्ततिजनित एक पुरुष (विज्ञान) को उसी सन्तन्तिजनित अन्य पुरुष विज्ञान के द्वारा ज्ञातविषयिणी इच्छा की उपपत्ति 'वासना' के द्वारा होती है, अन्य सन्ततिजन्य पुरुष विज्ञान को नहीं होती है उसी प्रकार 'वासना' के ही द्वारा स्मृति भी एक सन्ततिजन्य एक पुरुषविज्ञान को उसी सन्ततिजन्य अन्य पुरुष के द्वारा अनुभूत विषय की ही हो सकती है, अन्य सन्ततिजनित पुरुषविज्ञान को नहीं हो सकती, क्योंकि तद-नुकूल वासना अन्यसन्ततिजन्य उस पुरुष विज्ञान में नहीं है। यह कल्पना वस्तुगति के अनुसार की जा सकती है।

उपलब्धिमनाश्रित्य""पुनरिष्यते

(भाष्यकार के ऊपर आये हुये आक्षेप का यह उत्तर है कि जिस विषय की इच्छा होती है, पूर्व में उस विषय की स्मृति अवश्य ही रहती है, अतः स्मृति के साथ इच्छा का नैयत्य साक्षात् ही सिद्ध है। इसके लिए अनुभव के साथ इच्छा की समान-कर्तृता की व्यवस्था अपेक्षित नहीं है। इच्छा से स्थिर आत्मा के अनुमान में इच्छा और अनुमान की समानकर्तृता का नियम अपेक्षित नहीं है, किन्तु स्मृति के साथ ही समानकर्तृता का नियम अपेक्षित है। अतः स्मृति स्वरूप हेतु से जो स्थिर आत्मा का अनुमान होता है, उसमें स्मृति और अनुभव के समानकर्तृक होने के नियम की साक्षात् अपेक्षा होती है। इसी अन्तर की दृष्टि से 'इच्छा' स्वरूप लिङ्ग के बाद 'स्मृति' स्वरूप लिङ्ग का उपादान भाष्यकार ने किया है ॥ १०४–१०५ ॥

तत्रापि तु समानायां सन्ततौ वासना यतः।

तस्मात् सत्यपि भिन्नत्वे स्मरणं व्यवतिष्ठते ॥ १०६ ॥

इच्छा और स्मृति दोनों ही हेतुओं से होनेवाले स्थिर आत्मा के अनुमान में यद्यपि कुछ अन्तर है, फिर भी दोनों ही अनुमानों के खण्डन में बौद्धों की वासना के द्वारा कर्त्ता से भिन्न होने पर भी स्मृति की व्यवस्था समान है ॥ १०६ ॥

हेतुष्वेवं परोक्तेषु प्रतिषिद्धेषु सम्प्रति।

अहम्प्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपपाद्यते ॥ १०७ ॥

इस प्रकार आत्मा के प्रतिपादक वैशेषिकोक्त इच्छा, स्मृति प्रभृति हेतुओं का बौद्धों के खण्डन की युक्तियों के उपपादन के बाद—

'नैतदेवम्, अन्येद्युर्दृष्टेऽपरेद्युरहमिदमदर्शमिति भवति सम्प्रत्ययः'''यत्राऽयमहं शब्दः।' (शा० भा० पृ० ६६ पं० ३)

इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने नित्य आत्मा को मानने में मीमांसकों को अपनी दृष्टि का उपपादन किया है।

प्रकृत सिद्धान्तभाष्य का संक्षिप्त आशय यह है कि 'योऽहं पूर्वेद्युरिदमद्राक्षं सोऽहमद्य स्मरामि' (अर्थात् जो मैंने कल उसको देखा था, वही मैं आज उसे याद कर रहा हूँ) इस 'प्रत्यभिज्ञा' स्वरूप ज्ञान की सत्ता सर्वसम्मत है। एवं यह भी सर्वानुभवसिद्ध ही है कि 'योऽहम्' शब्द से और 'सोऽहम' शब्द से बोध्य एक ही पूर्वापरकालवृत्ति 'ज्ञाता' उस प्रत्यभिज्ञा का विषय है। अब यदि उक्त प्रत्यभिज्ञा स्वरूप 'प्रत्यय' में विषयीभूत ज्ञाता को 'क्षणिक विज्ञान' स्वरूप मानेंगे तो उसी को 'ज्ञाता' मानना होगा। किन्तु यह विज्ञान स्वरूप ज्ञाता क्षणिक होने के कारण कथित प्रत्यभिज्ञा स्वरूप ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः उस प्रत्यभिज्ञा स्वरूप प्रत्यय के अनुरोध से क्षणिक 'विज्ञान से भिन्न ज्ञान के आधार एक स्थिर विज्ञाता को उक्त प्रत्यभिज्ञा स्वरूप प्रत्यय का विषय मानना होगा ॥ १०७ ॥

अहं यामीत्यहंशब्दः शरीरार्थः प्रयुज्यते।

गन्तृत्वात् तस्य न ह्यात्मा गमनं प्रतिपद्यते ॥ १०८ ॥

उक्त प्रत्यभिज्ञा के बोधक 'योऽहम्' और 'सोऽहम्' इन दोनों वाक्यों में प्रयुक्त 'अहम्' शब्द के प्रयोग से जो शरीर से भिन्न स्थिर आत्मा का प्रतिपादन किया गया है, उस पर बौद्धों के आक्षेप का उपपादन भाष्यकार ने—

'परत्राऽप्यहं शब्दो भक्त्या दृश्यते। यथाऽहमेव पुत्रोऽहमेव देवदत्तोऽहमेव गच्छामीति' (शाबरभाष्य पृ० ६६ पं० ३) इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

इस पूर्वपक्षभाष्य का आशय है कि 'अहम्' शब्द का प्रयोग 'अहं यामि' इत्यादि वाक्यों में आत्मा से भिन्न शरीर के लिये भी होता है, क्योंकि शरीर में ही गमन क्रिया संभव है, आत्मा में नहीं। इसलिये अनुभविता और स्मर्त्ता दोनों के लिये प्रयुक्त अहमंश से शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १०८ ॥

स्मरणप्रत्यभिज्ञाने भवेतां वासनावशात्।
अन्यार्थविषये ज्ञातुः प्रत्यभिज्ञा तु दुर्लभा ॥ १०९ ॥

(बौद्धों ने प्रत्यभिज्ञावोधक वाक्य में प्रयुक्त दोनों ही 'अहम्' शब्द को स्थिर आत्मा का साधक कहा है—यह मानकर उक्त आक्षेप किया गया है। इस आक्षेप के समाधान के लिये भाष्यकार ने—

"न वयम् 'अहम्' इति शब्दं प्रयुज्यमानमन्यस्मिन्नर्थे
हेतुत्वेनोपदिशामः। किं तर्हि ? शब्दाद्व्यतिरिक्तं प्रत्ययम्।"
(शाबरभाष्य पृ० ६६ पं० ७)

अर्थात् हम (सिद्धान्तीगण) ने अहम् शब्द को शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि के लिये उपस्थित नहीं किया है, किन्तु 'अहम्' शब्द से भिन्न उक्त प्रत्यय को ही उसके लिये उपस्थित किया है ॥ १०९ ॥

अहं वेद्मीत्यहं बुद्धिर्ज्ञातारमधिगच्छति।
तत्र स्याद् ज्ञातृविज्ञानं तदाधारोऽथ वा पुमान् ॥ ११० ॥

(सिद्धान्तियों की इस युक्ति के ऊपर बौद्धों को इस आक्षेप का पुनः अवसर है कि स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये दोनों हो ज्ञान एक ही सन्तान (समुदाय) के विभिन्न दो व्यक्तियों को 'वासना' के प्रभाव से हो सकते हैं, इससे कोई अव्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि यज्ञदत्त भवदत्तादि एक विज्ञानसन्तान के अन्तर्गत नहीं हैं। बौद्धों के इस आक्षेप का यह उत्तर है कि:—)

यदि अर्थान्तरविषया स्मृति एवं अर्थान्तरविषया प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति (अर्थापत्ति प्रमाण) से एक स्थिर विज्ञाता की कल्पना हम (मीमांसकगण) करते तो वासनामूलक अन्यथोपपत्ति की कल्पना से उक्त स्थिर आत्मा की कल्पना का खण्डन हो सकता था जिसका उल्लेख भाष्यकार ने 'न वयम्' इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

भाष्यकार ने उक्त सन्दर्भ के द्वारा ज्ञातृप्रत्यभिज्ञा के द्वारा स्थिर आत्मा का समर्थन इस दृष्टि से किया है कि—'जो मैंने जिसको पहले देखा था, सो ही मैं उसी को पुनः देख रहा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा स्वरूप स्मृति एवं अनुभव एतदुभयात्मक

ज्ञान का स्मृति स्वरूप ज्ञान के 'यत्' शब्दार्थ कर्त्ता (स्मरण करने वाला) एवं 'तत्' शब्दार्थ अनुभवात्मक ज्ञान के कर्त्ता दोनों को एक ही व्यक्ति होना चाहिये। इस रीति से की जाने वाली स्थिर आत्मा की सिद्धि में उक्त वासनावाली बौद्धों की बात गलत है।

सिद्धान्तियों का कहना है कि ज्ञाता ही 'अहम्' प्रत्यय का विषय है, इस स्थिति में यदि 'ज्ञान' को ही 'अहम् प्रत्यय' का विषय मानें तो वही ज्ञाता भी होगा। यदि अहंप्रत्यय के विषयभूत ज्ञान का आधार ज्ञान से भिन्न हो तो वही ज्ञाता होगा। इन दोनों ही पक्षों में ज्ञान को ज्ञाता मानने वाला पक्ष ज्ञान के क्षणिक होने के कारण अनुपपन्न है। अतः ज्ञान से अतिरिक्त स्थिर ज्ञाता ही 'अहंप्रत्यय' का विषय है—यही पक्ष उपपन्न होता है। इस प्रकार ज्ञाता के स्थायित्व की सिद्धि होती है ॥ ११० ॥

कृतं भूतेन्द्रियाणां च चैतन्यप्रतिषेधनम् ।
समस्तव्यस्तसङ्गतविवेकपरिणामिनाम् ॥ १११ ॥
साङ्ख्याविभिरशुद्धत्वात् सङ्गतात् सन्निवेशतः ।
मृतवच्च शरीरत्वाद् भूतत्वाद् बाह्यभूतवत् ॥ ११२ ॥

(पू० प०) 'अहं स्थूलः, अहं कृशः' इत्यादि स्थलों में चूंकि स्थौल्य कार्श्यादि से युक्त शरीर ही 'अहंप्रत्यय' का विषय होता है, अतः कथित प्रत्यभिज्ञा स्वरूप 'अहंप्रत्यय' का विषय भी शरीर को ही क्यों नहीं मान लेते ? उसके लिये शरीर से भिन्न अन्य ज्ञाता को अहंप्रत्यय का विषय क्यों मानें ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि:—)

अवयवों के संघात स्वरूप देह, एवं इन्द्रियादि में प्रत्येकावयव साक्षेप चैतन्य की सत्ता एवं अन्य परस्परानपेक्ष अवयवों के संघात में चैतन्य की सत्ता—इन सभी पक्षों का निराकरण किया जा चुका है।

इसी प्रकार अन्य जड़ भूतों से भिन्न (विविक्त) रूप में परिणत देह में चैतन्य मानने वाला पक्ष भी निराकृत हो चुका है।

इन पक्षों में से (१) अखण्ड शरीर में चैतन्य मानने से मृत शरीर में भी चैतन्य स्वीकार करने की आपत्ति होगी।

(२) परस्पर निरपेक्ष अवयवों के समुदाय में (३) अथवा परस्पर सापेक्ष अवयवों के समुदाय में किं वा (४) इन्द्रियों में इस लिये चैतन्य स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे सभी घटादि साधारण भूतों के समय हैं, अतः उसमें से किसी में भी चैतन्य स्वीकार करने पर घटादि भौतिक द्रव्यों में भी चैतन्य स्वीकार करना होगा। अतः शरीर एवं इन्द्रिय 'अहंप्रत्यय' के विषय नहीं हो सकते ॥ १११–११२ ॥

चेतनत्वे हि सर्वेषां न सम्बन्धः परस्परम् ।
समत्वादेकचैतन्येऽन्यस्याङ्गत्वं विरुध्यते ॥ ११३ ॥

चेतनत्वे हि····समत्वात्

इस प्रसङ्ग में भूतचैतन्यवादियों से पूछा जा सकता है कि शरीरादि भूतों से संलग्न पृथवी जलादि प्रत्येक अवयव चेतन है ? अथवा उन अवयवों का समुदाय ही चेतन है ? इनमें प्रथम पक्ष इसलिये अनुपपन्न है कि प्रत्येक अवयव चूँकि समान हैं, अतः उनमें से किसी को भी किसी का सहायक नहीं माना जा सकता है ।

एकचैतन्येऽन्यस्याङ्गत्वं विरुद्ध्यते

यदि शरीर के किसी एक ही अवयव को अन्य अवयवों से निरपेक्ष होकर चेतन मानें तो फिर लोष्ट (ढेला) प्रभृति भूतों में भी चूँकि अन्यानपेक्षता समान है, अतः उन्हें भी चेतन मानना होगा ।

इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि शरीर में जो अन्य भूतों के साथ सम्बद्ध पृथिवी है, वह चेतन नहीं है, क्योंकि लोष्टादि पृथिवी के समान ही वह भी पृथिवी है (येयं शरीरगता भूतान्तरसंसृष्टा पृथिवी सा न चेतयते भूतत्वाल्लोष्टवत्) इस प्रकार शरीर के जलादि भूतों में भी अचैतन्य के अनुमान का ऊह करना चाहिये ॥ ११३ ॥

सङ्घातसन्निवेशौ च न स्तः पारार्थ्यवर्जितौ ।
भोक्ता च चेतनः कश्चिदस्तीत्यत्राविरुद्धता ॥ ११४ ॥

(इसी प्रकार सांख्यमत के अनुसार शरीरात्मवाद का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है कि:—)

अवयवों का संघात हो अथवा अवयवों का संनिवेश (विशेष विन्यास) हो, प्रकृति का कोई भी परिणाम 'पारार्थ्य' से वर्जित नहीं देखा जाता । सभी शय्यासनादि की तरह दूसरे के भोग के लिये (परार्थं) ही बनाये गये हैं । अतः शरीर को संघात रूप मानें या संनिवेश रूप मानें दोनों ही दृष्टियों से शरीर को परार्थ मानना होगा, अत भोक्ता को शरीर से भिन्न मानना अनिवार्य है ।

वस्तुतः कोई भी चेतन भोक्ता है ही नही, अचेतन को भोक्ता मानने में कोई भी विरोध नहीं है ॥ ११४ ॥

यदि स्याज्ज्ञानमात्रं च क्षणिकं ज्ञातृ तत्र वः ।
न भवेत् प्रत्यभिज्ञानं पूर्वज्ञातरि सम्प्रति ॥ ११५ ॥
ज्ञातवानहमेवेदं पुरेदानीं च वेद्म्यहम् ।
अस्य ज्ञानक्षणः को नु विषयः परिकल्प्यताम् ॥ ११६ ॥
पूर्ववृत्ते हि विषये ज्ञातवानिति सम्भवेत् ।
जानामीति न सत्यं स्यान्नेदानीं वेत्त्यसौ ततः ॥ ११७ ॥
यथेदानीन्तनो ग्राह्यो जानामीत्युपपद्यते ।
ज्ञातवानित्यदोऽसत्यं नैवाज्ञासीदयं यतः ॥ ११८ ॥
उभयग्राह्यतायां तु द्वयमप्यनृतं भवेत् ।
न ह्येतौ ज्ञातवन्तौ वा जानीतो वाधुना पुनः ॥ ११९ ॥

यदि स्यात्""ज्ञातवानहम्""वेद्म्यहम्

(इस प्रकार शरीरचैतन्यवाद के निरस्त होने पर अब ज्ञानचैतन्यवाद का निराकरण किया जाता है) ।

यदि ज्ञान को चेतन मानें तो ज्ञान के क्षणिक होने के कारण चेतन ज्ञान स्वरूप ज्ञाता भी आप (बौद्धों) के मत से क्षणिक होगा। ज्ञाता के क्षणिक होने पर कथित प्रत्यभिज्ञा के द्वारा पूर्वज्ञाता संप्रति नहीं हो सकेगा। इस प्रकार इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति दोष है, क्योंकि 'जो मैंने पहले इसको देखा था, वही मैं अभी इसको देख रहा हूँ' यह 'प्रत्यभिज्ञा' इस क्षणिकविज्ञानवाद मे संभव नही है ।

तस्य ज्ञानक्षणः""वेत्त्यसौ यतः"'अज्ञासीदयं यतः"'अधुना पुनः

उक्त प्रत्यभिज्ञा का विषय यदि किसी विज्ञान व्यक्ति (ज्ञानक्षण) को मानें तो पहले यह निर्णय करना पड़ेगा कि कौन सी विज्ञान व्यक्ति ? (१) 'योऽहम्' इस आकार से ग्राह्य विज्ञान व्यक्ति ? अथवा (२) 'सोऽहम्' इस अकार से ग्राह्य विज्ञान व्यक्ति ? यदि पूर्ववर्त्ति विज्ञान व्यक्ति को अहं प्रत्यय का विषय मानें तो 'ज्ञातवान्' इस आकार की प्रतीति होगी। उसके विषय में 'जानामि' यह वर्त्तमानकालविषयक प्रतीति सत्य नहीं होगी, क्योंकि पूर्ववर्त्तिविज्ञान अभी किसी विषय का ज्ञाता नहीं है।

जिस वर्त्तमानक्षण स्वरूप विज्ञान व्यक्ति में अभी 'जानामि' इस आकार को प्रतीति होती है, उसको तद्विषयक 'ज्ञातवान्' इस आकार की प्रतीति ही 'असत्य' हो जायगी, क्योंकि यह ज्ञानक्षण उस समय विद्यमान ही नहीं था ।

यदि वर्त्तमानक्षण स्वरूप विज्ञान व्यक्ति एवं अतीतक्षण स्वरूप विज्ञान व्यक्ति दोनों को ही प्रत्यभिज्ञा के विषय घटादि का ग्राहक मानें तो उक्त दोनों के ही ज्ञान असत्य हो जायेंगे, क्योंकि इन दोनों विज्ञानों में से कोई अनुभविता और स्मर्त्ता दोनों नहीं है ॥ ११५–११९ ॥

सन्तानो न च तद्ग्राह्यो द्वैरूप्यस्यासम्भवात् ।
ज्ञातवान् न ह्यसौ पूर्वमवस्तुत्वान्न चाधुना ॥ १२० ॥

अनुभव करने वाले विज्ञान से लेकर स्मरण करने वाले विज्ञान पर्यन्त के सन्तान (समूह) को भी अहं प्रत्यय का विषय नहीं मान सकते, क्योंकि उस सन्तान को यदि स्थायी मानेंगे तो वह अक्षणिक होने के कारण 'अवस्तु' हो जायगा। 'अवस्तु' से कोई कार्य नहीं हो सकता, अतः प्रत्यभिज्ञा स्वरूप कार्य भी नहीं हो सकता। यदि उक्त सन्तान को क्षणिक मानें तो प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति बनी बनायी है ॥ १२० ॥

सामान्यं न च किञ्चित् ते ज्ञातृ पूर्वापरक्षणे ।
सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा चेन्न स्यादसदृशेषु सा ॥ १२१ ॥

गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः ।
अथ ज्ञातृत्वसामान्यं तत् स्याद् देहान्तरेष्वपि ॥ १२२ ॥

सामान्यं न च…पूर्वापरक्षणे

यदि यह कहो कि सभी विज्ञानों में रहने वाला 'ज्ञानत्व' ही उक्त प्रत्यभिज्ञा का विषय है, वह तो अनुभविता स्वरूप पूर्ववर्त्ति विज्ञान एवं स्मर्त्ता स्वरूप वर्त्तमान-कालिक विज्ञान दोनों में समान है। अतः कोई अव्यवस्था नहीं होगी।

किन्तु ऐसा कहना आप (बौद्धों) के लिये संभव नहीं है, क्योंकि आपके सिद्धान्त में 'ज्ञानत्व' नाम की कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे सभी ज्ञानों में रहने वाला 'सामान्य' कहा जा सके। अतः 'ज्ञानत्व सामान्य' वाली युक्ति से भी ज्ञान में आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञा चेत्

(पू० प०) पूर्ववर्ति अनुभव करने वाला विज्ञान एवं वर्त्तमानकालिक स्मरण करने वाला विज्ञान दोनों एक ही विषय के ग्राहक होने के कारण अत्यन्त सदृश हैं। अतः दोनों में प्रत्यभिज्ञा के द्वारा एकत्व की प्रतीति 'योऽहम्' एवं 'सोऽहम्' इन दोनों शब्दों के द्वारा होती है। अतः विज्ञान को ही यदि अहं प्रत्यय का विषय मान लें तो कोई अव्यवस्था नहीं रहेगी।

न स्यादसदृशेषु सा''ज्ञानान्यहं पुनः

(सि० प०) 'विषयसादृश्य' मूलक यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करें तो परस्पर सादृश्य से रहित (विसदृश) 'गो' और 'अश्व' विषयक 'जो मैंने पहले गो को देखा था, वही मैं अभी अश्व को देख रहा हूँ' (योऽहं पूर्व गामवगतवान् सोऽहमिदानीमश्वं पश्यामि' इस प्रकार की विभिन्नविषयक एवं एक-ज्ञातृविषयक प्रत्यभिज्ञा उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि दोनों ज्ञातृविज्ञान विभिन्नविषय के ग्राहक होने के कारण सदृश नहीं हैं।

अथ ज्ञातृत्वसामान्यम्…देहान्तरेष्वपि

यदि यह कहो कि विभिन्नविषयक उक्त प्रत्यभिज्ञा में भासित होने वाले ज्ञाताओं में 'समानविषयकग्राहकत्व' रूप सादृश्य भले ही न रहे, किन्तु अहं प्रत्यय के विषय 'यत्'शब्दबोध्य 'योऽहम्' विज्ञान एवं तत्शब्दबोध्य 'सोऽहम्' विज्ञान दोनों ही चूँकि 'विज्ञान' हैं, अतः 'विज्ञानशब्दवाच्यत्व' रूप सादृश्य के बल से ही उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होगी। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि यदि 'एकशब्दवाच्यत्व' रूप सादृश्य के बल से उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति मानें तो एक देह से अनुभूत वस्तु की स्मृति दूसरे देह की प्राप्ति होने पर भी माननी होगी, क्योंकि इन देहों में भी 'एकदेहशब्दवाच्यत्व' रूप सादृश्य तो है ही। अतः इस रीति से भी उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं होगी ॥ १२१–१२२ ॥

तत्र सर्वेण विज्ञाते भवेदहमिति स्मृतिः।
एकसन्तानजे चापि स इति स्यात् क्षणे मतिः ॥ १२३ ॥
यथा देहान्तरज्ञाने घटादौ वा बहिः स्थिते।
ज्ञातरि प्रत्यभिज्ञां च वासना कर्त्तुमर्हति ॥ १२४ ॥

तत्र सर्वेण''''बहिःस्थिते

यदि यज्ञदत्तविज्ञान और विष्णुमित्रविज्ञान इन दोनों में ज्ञातृत्व रूप सादृश्य के रहने पर भी दोनों चूँकि विभिन्न विज्ञान के सन्तानी (व्यक्ति) हैं, इसलिये उनमें 'तत्' शब्द का ही प्रयोग होगा 'अहम्' शब्द का नहीं, तो फिर एकसन्तानजनित, विभिन्न 'अहम्' शब्द बोध्य, भूतकालिक विज्ञान और 'अहम्' शब्द बोध्य ही वर्त्तमानकालिक विज्ञान दोनो में ही 'तत्' शब्द का ही प्रयोग होगा, 'अहम्' शब्द का नहीं। जैसे कि अन्य सन्तान स्वरूप यज्ञदत्तसन्तान में एवं घटादि बाह्य रूप विज्ञान में 'अहम्' शब्द का प्रयोग न होकर 'तत्' शब्द का ही प्रयोग होता है।

ज्ञातरि''''कर्त्तुमर्हति

(पू० प०) यदि विज्ञान को आत्मा मान लेते हैं, एवं अनुभव करने वाले विज्ञान से स्मरण करने वाले विज्ञान को भिन्न भी मानते हैं, तथापि 'वासना' (संस्कार) के द्वारा दोनों में ऐक्यमूलक प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति स्वरूप ही होगी ।। १२३-१२४ ।।

नातस्मिन् स इति ज्ञानं न ह्यसौ भ्रान्तिकारणम्।
न चाहम्प्रत्ययो भ्रान्तिरिष्टो बाधकवर्जनात् ।। १२५ ।।

नाऽतस्मिन्''''भ्रान्तिकारणम्

(सि० प०) किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'वासना' है 'संस्कार' स्वरूप। वह केवल 'स्मृति' के उत्पादन में ही समर्थ है। किन्तु वह स्मृति भ्रम रूप हो अथवा प्रमा रूप इसका कोई नियम नहीं है। फलतः वासना भ्रान्ति का कारण नहीं है। इसलिये 'प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति स्वरूप है' इसकी उपपत्ति उसके वासना से उत्पन्न होने के कारण नहीं हो सकती।

न चाऽहम्प्रत्ययः''''वर्ज्जनात्

वस्तुतः उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति स्वरूप है ही नहीं, क्योंकि जिस ज्ञान के बाद 'नेदं तथा' इस प्रकार की बाधक बुद्धि होती है, उसी ज्ञान को भ्रान्ति स्वरूप माना जाता है। उक्त प्रत्यभिज्ञा के बाद उक्त प्रकार की किसी बाधक प्रतीति की उपलब्धि नहीं होती है, अतः उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रम रूप है ही नहीं ।। १२५ ।।

ज्ञातुरन्यश्च विषयस्तस्य न स्यात् स्वभावतः।
अहंप्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता नः सर्वदैव हि ।। १२६ ।।

ज्ञातुरन्यश्च''''सर्वदैव हि

(पू० प०) 'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्' इत्यादि प्रतीतियों से तो यही ज्ञात होता है कि स्थूलता एवं कृशता का आश्रयीभूत शरीर ही 'अहम् प्रत्यय' का विषय है। फिर 'अहं प्रत्यय' के विषय के रूप में शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि क्यों कर होगी ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि:—)

'अहं प्रत्यय' का यह स्वभाव है कि वह 'ज्ञातृ'विषयक हो, क्योंकि अहं प्रत्यय में सर्वदा ज्ञाता ही प्रतिभासित होता है। ज्ञातृत्व की संभावना देह में नहीं है। अतः 'देह' अहं प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता ॥ १२६ ॥

गुरुः स्थूलः कृशो वाहमिति देहेऽपि या मतिः।
भ्रान्तिः सा भेदरूपं हि गुरु मे तदितीष्यते ॥ १२७ ॥

गुरुः स्थूलः…या मतिः…भ्रान्तिः सा

(पू० प०—यदि ऐसी बात है तो फिर अहंप्रत्यय के विषय में कृशता स्थूलता प्रभृति के सामानाधिकरण्य (अभेद) की प्रतीति कैसे होती है ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि:—)

देह और आत्मा में जो अभेद की भ्रान्ति है, उससे ही अहं प्रत्यय के विषय आत्मा में कृशता प्रभृति धर्मों की भ्रान्ति होती है। अतः अहं प्रत्यय के विषय में कृशता आदि के सामानाधिकरण्य (अभेद) की प्रतीति भ्रान्ति रूप ही है।

भेदरूपं हि…तदितीष्यते

(प्रश्न—तो फिर अहंप्रत्ययबोध्य में कृशता, स्थूलता प्रभृति देहधर्मों के सामानाधिकरण्य(अभेद)मूलक 'अहं कृशः, अहं स्थूलः' इत्यादि प्रतीतियाँ कैसे होती हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि:—)

देह और आत्मा दोनों को अभिन्न समझने की भूल से ही कृशता और स्थूलता का अध्यास (भ्रम) अहं पद बोध्य आत्मा में होता है। अहं पद बोध्य में कृशता और गुरुता की प्रतीति को भ्रम इसलिये मानते हैं कि 'मेरा शरीर 'गुरु' (स्थूल) है, मेरा शरीर कृश (दुबला) है' इत्यादि आकारों के प्रत्यय अहं पद बोध्य के सम्बन्ध से युक्त अत एव उससे भिन्न शरीर में ही होते हैं। अर्थात् इन बाधक प्रतीतियों से आत्मा में देह का अभेद बाधित होकर आत्मा में देह के कृशता प्रभृति धर्मों की प्रतीतियों को भ्रान्ति स्वरूप करार देता है ॥ १२७ ॥

इदं ममेदृशं चक्षुर्मनो मे भ्रान्तमित्यपि।
इन्द्रियेष्वपि भेदेन व्यवहारश्च दृश्यते ॥ १२८ ॥

इसी प्रकार 'इदं मम इन्द्रियम् ईदृशं तस्य चक्षुः, मे मनः भ्रान्तम्' (यह मेरी इन्द्रिय है, उसकी आँख इस तरह की है, मेरा मन भ्रान्त है') इत्यादि आकारों की प्रतीतियों से चूँकि चक्षु, मन प्रभृति इन्द्रियों में अहं प्रत्यय बोध्य आत्मा का भेद सिद्ध है, अतः इन्द्रियों में अज्ञातृत्व की भी सिद्धि जाननी चाहिये। अतः 'ज्ञाता' जैसे देह से भिन्न है, उसी प्रकार इन्द्रियों से भी भिन्न है ॥ १२८ ॥

अज्ञातृत्वस्य सिद्धत्वाद् विरोधाद् भेदवत्यपि।
प्रत्यासत्तिनिमित्तस्तु स्यादभेदमतिर्भ्रमः ॥ १२९ ॥

(प्रश्न—'कृशोऽहम्, स्थूलोऽहम्', इत्यादि प्रतीतियों की तरह 'कृशं मे शरीरम्, स्थूलं मे शरीरम्' इत्यादि प्रतीतियाँ भी होतीं हैं। इनमें देह में आत्मा के

अभेद की पर्यवसायिनी प्रथम प्रकार की दोनों प्रतीतियों को भ्रम मानने में एवं देहादि में आत्मा के 'भेदपर्यवसायिनी' अन्य दोनों प्रतीतियों को प्रमा मानने में कौन सी विशेष युक्ति है ? समान युक्ति से उलटा भी तो कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

पहिले से यह सिद्ध है कि 'शरीर ज्ञाता नहीं है'। अतः शरीर में ज्ञातृत्व-पर्यवसायिनी 'कृशोऽहम्' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रम मानते हैं। ज्ञाता से भिन्न होने पर भी शरीर से चूँकि उसका घनिष्ठ सम्बद्ध है, अतः तत्सम्बन्धमूलक शरीर और आत्मा में अभेदपर्यवसायिनी 'अहं कृशः' इत्यादि प्रतीतियाँ होती हैं ॥ १२९ ॥

ममात्मेति मतिर्भेदव्यपदेशेन यात्मनः ।
तत्रावस्थात्मना भेदं ज्ञानस्याश्रित्य कल्पना ॥ १३० ॥

(प्रश्न—जिस प्रकार 'मम शरीरम्, ममेन्द्रियाणि' (यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं) शरीरादि में अहं पद बोध्य आत्मा का व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'ममात्मना नायमर्थो ज्ञातः' (मेरी आत्मा इस विषय को नहीं जानती) इत्यादि प्रकार के अहं पद बोध्य आत्मा से भिन्न एक आत्मा का भी व्यवहार होता है। इस व्यवहार के द्वारा अहं पद बोध्य आत्मा से भिन्न एक आत्मा की भी सिद्धि होगी। किन्तु सो अयुक्त है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि:—)

उक्त व्यवहार आत्मा की एक प्रकार की दूसरी अवस्था को स्वीकार करके किया जाता है। 'मम' शब्द के अर्थ एवं आत्मा इन दोनों को अभिन्न समझकर उक्त व्यवहार नहीं किया जाता। अतः दूसरी आत्मा की आपत्ति इससे नहीं होती है ॥ १३० ॥

ममेत्येतस्य मुख्यार्थो नात्मनोऽन्यः प्रतीयते ।
तेनासौ भेदहेतुः स्याद् भेदश्च ज्ञानहेतुकः ॥ १३१ ॥

कोई कहते हैं कि जहाँ कहीं आत्मा शब्द के साथ 'मम' शब्द का व्यवहार होता है, उन सभी स्थलों में 'आत्मा' शब्द से शरीर का ही बोध इष्ट है। अतः आत्मान्तर की कथित आपत्ति नहीं है। किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'मम' शब्द मुख्यतः ज्ञाता का ही वाचक है। आत्मा ही ज्ञाता है। अतः आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ 'मम' शब्द का मुख्यार्थ नहीं हो सकता। इसलिये अवस्थान्तर के द्वारा वही 'ममात्मा' इत्यादि भेदमूलक व्यवहारों का हेतु हो सकता है।

भेदश्च ज्ञानहेतुकः

ज्ञान के भेद से ही वस्तुओं में भेद होता है 'ममात्मना नायमर्थो ज्ञातः' इत्यादि स्थलों में एक आत्मा से भिन्न किसी दूसरी आत्मा की प्रतीति नहीं होती है। अतः उक्त स्थलों में दूसरी आत्मा की प्रतीति स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिये शरीर में आत्मा की प्रतीति भ्रान्ति स्वरूप ही है ॥ १३१ ॥

ये चेहाज्ञातनानात्वास्तेषां देहेष्वहं मतिः ।
तत्राप्यात्माभिमानेनेत्यहम्बुद्धिर्ध्रुवात्मनि ॥ १३२ ॥

ये देहात्मात ''अहं मतिः

जिन्हें 'आत्मा और शरीर 'नाना' हैं, अर्थात् भिन्न हैं' इस प्रकार की बुद्धि नहीं है (फलतः जिन्हें देह को ही आत्मा समझने की भ्रान्ति है) उन्हीं को देह में अहम् बुद्धि होती है।

तत्रापि ''आत्मनि

उन (देहात्मवादियों) को भी देह को ज्ञाता समझने के कारण ही देह में 'अहम्' प्रत्यय होता है। फलतः देह को आत्मा समझने का मूल है देह को ज्ञाता समझना। तस्मात् अहं प्रत्यय ज्ञातविषयक ही है। इसलिए शरीर को आत्मा समझना भूल ही है॥ १३२॥

ये तु विज्ञातनानात्वास्ते देहेष्वनहंकृताः।
जानाम्यहमितीदं तु ज्ञानं नैव निवर्त्तते॥ १३३॥

येतु''''अनहंकृताः

जिन लोगों को श्रवण मननादि के द्वारा शरीर और आत्मा में नानात्व (भेद) का ज्ञान ध्रुव है, उन्हें कभी भी देह में आत्मा की बुद्धि अर्थात् 'अहं प्रत्यय' नहीं होता।

जानामि''''निवर्त्तते

योगियों को ज्ञाता में जो अहं प्रत्यय की निवृत्ति की बात कही जाती है, वह भी प्रशंसामूलक ही है, क्योंकि उस समय भी 'अहं जानामि' इस प्रकार की प्रतीति की अनुवृत्ति अवश्य रहती है॥ १३३॥

तन्निवृत्तौ न तेषां स्याद् ध्यानं शिष्योपदेशने।
प्रवृत्तिर्दृश्यते सा च तेनात्मा तैः प्रतीयते॥ १३४॥

यदि योगियों को अहं प्रत्यय न हो तो योगाङ्ग 'ध्यान' ही अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि समानविषयक आत्मबुद्धि की अविच्छिन्न धारा को ही 'ध्यान' अथवा 'उपासना' कहा जाता है। अपनी आत्मा का ज्ञान 'अहम्' इसी आकार का हो सकता है। यह अहं प्रत्यय योगियों को भी रहता है।

योगियों में यदि अहं प्रत्यय की सत्ता न मानें तो शिष्यों को उनका उपदेश भी अनुपपन्न हो जायगा। अत योगियों को भी आत्मा का ज्ञान अवश्य होता है॥ १३४॥

शास्त्रावाक्यार्थविज्ञाते यद्यहं ज्ञातवानिति।
नावगच्छेत् ततः सर्वः प्रवर्तेताविदः पुनः॥ १३५॥

केवल 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' इत्यादि आकारों की स्वात्मविषयक प्रत्यभिज्ञाओं से ही आत्मा में अहंप्रत्ययविषयत्व का उपपादन नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरों की आत्मा में भी अहंप्रत्ययविषयत्व की प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है।

यदि कोई पुरुष किसी शास्त्र के उत्तरार्द्ध के अध्ययन में प्रवृत्त दीखता है तो उसकी इस प्रवृत्ति से उस पुरुष में यह अनुमान अवश्य होता है (अयं पुरुषः 'अहं पूर्वार्द्धशास्त्रार्थज्ञानवान्'—इत्तज्ज्ञानवान् एतज्ज्ञानं विना उत्तरार्द्धप्रवृत्त्यनुपपत्तेः' अर्थात्) पुरुष अनुमान करता है कि इस पुरुष को 'मुझे शास्त्र के पूर्वार्द्ध का ज्ञान है' इस आकार का अहंकारात्मक ज्ञान अवश्य है। अन्यथा यह पुरुष शास्त्र को आदि से ही समझता, बीच से नहीं जैसे कि शास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति आदि से ही शास्त्र को पढ़ता है। अतः अनुमान से भी आत्मा में अहंप्रत्ययविषयत्व का अनुमान होता है ॥ १३५ ॥

तेनास्मात् प्रत्यभिज्ञानात् सर्वलोकावधारितात् ।
नैरात्म्यवादबाधः स्यादेते च प्रतिहेतवः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार सार्वजनीन आत्मा की उन प्रत्यभिज्ञाओं से नैरात्म्यवादियों का यह अनुमान 'जीवच्छरीरं निरात्मकं शरीरत्वान्मृतशरीरवत्' (जीवन से युक्त शरीर भी चूँकि मृत शरीर के समान शरीर ही है, अतः उसी के समान आत्मा से रहित भी है—यह अनुमान बाधित हो जाता है।

एते च प्रतिहेतवः

एवं नैरात्म्यवाद के साधक उक्त अनुमान को दूषित करने वाले 'ये' प्रतिहेतु भी हैं ॥ १३६ ॥

ह्यस्तनाहम्मतिग्राह्यो ज्ञाताद्याप्यनुवर्त्तते ।
अहंप्रत्ययगम्यत्वादिदानीन्तनबोद्धृवत् ॥ १३७ ॥

(१) जो आत्मा कल अहं प्रत्यय के द्वारा गृहीत हुआ था, उस आत्मा की अनुवृत्ति (सत्ता) आज भी है, क्योंकि आज की प्रत्यभिज्ञा में विषयीभूत बोद्धा की तरह वह भी अहं प्रत्यय का विषय है ॥ १३७ ॥

एष वा ह्यो भवेज्ज्ञाता ज्ञातृत्वात् तत एव वा ।
ह्यस्तनज्ञातृवत् तेषां प्रत्ययानां च साध्यता ॥ १३८ ॥

(२) किं वा यह प्रतिपक्षानुमान भी हो सकता है कि आज की प्रत्यभिज्ञा में विषय होनेवाली आत्मा कल होनेवाली प्रत्यभिज्ञा का भी विषय होगी, क्योंकि दोनों ही दिनों में वह ज्ञातृत्व से युक्त रहेगी।

(३) अथवा इस प्रतिज्ञानुमान में ज्ञातृत्व के समान ही 'अहंप्रत्ययगम्यत्व' को भी प्रतिहेतु किया जा सकता है। तदनुसार यह प्रत्यनुमान होगा—

कल होनेवाली प्रत्यभिज्ञा का भी विषयीभूत आत्मा उसी प्रकार आज की प्रत्यभिज्ञा का भी विषय है, क्योंकि दोनों ही दिनों में वह अहं प्रत्यय का विषय है ॥ १३८ ॥

एकसन्तानसम्बन्धिज्ञात्रहम्प्रत्ययत्वतः ।
ह्यस्तनाद्यतनाः सर्वे तुल्यार्थाद्यैकबुद्धिवत् ॥ १३९ ॥

(४) किं वा यह प्रतिपक्षानुमान भी किया जा सकता है कि 'एक सन्तान-सम्बन्धिनोऽहंप्रत्ययाः एकज्ञातृविषयाः अहंप्रत्ययत्वात्' अर्थात् अतीत (कल) और आज (वर्तमान) के एकसन्तानवर्ती जितने भी अहंप्रत्यय हैं, वे सभी चूँकि अहं प्रत्यय हैं, अतः उन सभी प्रत्ययों में एक ही 'ज्ञाता' विषय है ॥ १३९ ॥

वेदादेवाऽऽत्मनास्तित्वं यो नाम प्रतिपद्यते ।
विरोधं वाऽऽत्मना ब्रूयात्तं प्रति ब्राह्मणाभिधा ॥ १४० ॥

वेदों को प्रमाण माननेवाले जो प्रतिवादी अथवा शिष्य 'यो वा विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृहदारण्यक उपनिषद् ६–५) इस वेदवाक्य के द्वारा ही नैरात्म्यवाद का समर्थन करते हैं उन्हीं को समझाने के लिए भाष्यकार ने 'अविनाशी वाऽरे आत्मा' (बृहदारण्यक ६–५) इस ब्राह्मणवाक्य का उल्लेख किया है ॥ १४० ॥

अन्यथानुपपत्तेश्च विधिनात्मन्यपेक्षिते ।
अस्तित्वद्योतनात्वैतैरर्थाक्षिप्तसमर्थनम् ॥ १४१ ॥

केवल उपनिषद् के वचनों से ही शरीरादि से भिन्न नित्य आत्मा का अस्तित्व प्रतिपन्न नहीं होता है किन्तु 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य भी नित्य आत्मा के बिना अनुपपन्न होकर उसके अस्तित्व का आक्षेप करते हैं। आत्मा को समझना चूँकि अति गहन है, अतः विधिवाक्यों के द्वारा आक्षिप्त आत्मा का ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन उपनिषदों के द्वारा किया गया है ॥ १४१ ॥

शान्तायां वाच्यशक्तायामात्मा केन प्रकाश्यते ।
आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम् ॥ १४२ ॥

भाष्यकार ने 'यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ विज्ञानमपास्य तन्निदर्श्यताम्' (शाबरभाष्य पृ० ६७ पं० १२ अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त यदि कोई ज्ञाता है तो उसे ज्ञान से अलग करके दिखलाइये)। यह पूर्वपक्ष उपस्थित कर 'स्वसंवेद्यः स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्, अशक्यत्वाच्च नासावपि शक्यते निदर्शयितुम्' (शाबर-भाष्य पृ० ६७ अर्थात् आत्मा स्वसंवेद्य है, अतः उसे दूसरे को दिखलाया नहीं जा जा सकता, क्योंकि एक की आत्मा को देखने की शक्ति दूसरी आत्मा में नहीं है)। इस सन्दर्भ के द्वारा समाधान करते हुये जो 'शान्तायां वाचि किं ज्योतिरयं पुरुषः ? आत्मज्योतिः सम्राडिद्विति होवाच' (बृहदारण्यक अ० ५ ब्रा० ६) इस ब्राह्मणवाक्य का उल्लेख किया है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि आत्मा को समझाने की शक्ति जब 'वचन' में समाप्त हो जाती है तो यह आत्मा किस 'ज्योति' के द्वारा अर्थात् किस प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होता है, क्योंकि वह 'सम्राट्' है अर्थात् वह सभी सामर्थ्यों से युक्त है ॥ १४२ ॥

अग्राह्य इति सामान्यात् सर्वेणेति प्रतीयते ।
आत्मज्योतिष्ट्ववचनात् परैरित्यवतिष्ठते ॥ १४३ ॥

(भाष्यकार ने जो 'परेण न गृह्यते इत्यभिप्रायमेतत्' यह वाक्य लिखा है, वह अयुक्त सा लगता है, क्योंकि 'अगृह्यो न हि गृह्यते' इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा आत्मा को सामान्य रूप से अग्राह्य (अवेद्य) कहा है। अतः आत्मा जिस प्रकार परग्राह्य नहीं है, उसी प्रकार स्वग्राह्य भी नहीं है। अतः भाष्यकार का उक्त वाक्य का लिखना ठीक नहीं है। इस आक्षेप का यह उत्तर है—)

'अपोह्य न गृह्यते' इस ब्राह्मणवाक्य से यद्यपि सामान्य रूप से 'सर्वाग्राह्यता' की ही प्रतीति होती है किन्तु उसका अर्थ वास्तव में 'पराग्राह्यता' ही है, क्योंकि आगे बृहदारण्यक के छठे अध्याय के ३ ब्राह्मण में 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' इस वाक्य के द्वारा आत्मा को 'स्वयंज्योति' अर्थात् स्वप्रकाश कहा है। अतः उक्त आक्षेप वृथा है ॥ १४३ ॥

अर्थादेवार्थबुद्धिर्या सा शुद्धैवोपमोच्यते ।
साहश्यबोधनं शब्दैरुपमानागमौ पुनः ॥ १४४ ॥

('केन पुनरुपायेनायमन्यस्मै कथ्यत इति' (शाबरभाष्य पृ० ६९ पं० २) इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने किस उपाय के द्वारा आत्मा की सत्ता दूसरे को समझायी जा सकती है—इस प्रश्न के उत्तर में 'स एष नेति नेति' (बृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ३) इस उपनिषद् वाक्य का उल्लेख कर 'यत्तु परः पश्यति' (शाबरभाष्य पृ० ६९ पं० ५) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसकी व्याख्या करने के बाद जो 'उपमाना-द्वोपदिश्यते, यादृशं भवानात्मानमुलभते तमहमपि तादृशं पश्यामि' (शाबरभाष्य पृ० ६९ पं० १३) आत्मा को समझाने के लिये उपमान प्रमाण का निर्देश किया है सो अयुक्त है, क्योंकि 'पर' को उसकी आत्मा के साहश्य से अपनी आत्मा को समझाना तो नैयायिकसम्मत 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्' (न्यायसू० अ० १ आ० १ सू०) इस प्रकार के उपमान प्रमाण के अनुसार ही हो सकता है, किन्तु इस उप-मान प्रमाण के अतिदेश वाक्य स्वरूप होने के कारण 'आगम' (शब्द) प्रमाण ही मानते हैं। अतः प्रकृत में जो उपमान प्रमाण के द्वारा आत्मा के ज्ञान की बात कही गयी है, वह मीमांसकों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

यद्यपि यह सत्य है कि यहाँ जिस 'उपमान' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह मीमांसकसम्मत मुख्य उपमान प्रमाण का वाचक नहीं है। किन्तु अतिदेश-वाक्यात्मक आगम प्रमाण स्वरूप यह उपमान भी चूँकि साहश्यविषयक है, अतः इसे भी लक्षणावृत्ति से 'उपमान' कहा जा सकता है ॥ १४४ ॥

आत्मज्ञानाविनाभूतदृष्टचेष्टानिरूपणात् ।
परेषामात्मविज्ञानमनुमानादुदाहृतम् ॥ १४५ ॥

प्रश्न—परात्मा की अवगति से जो स्वात्मा की उक्त 'अवगति' बतायी गयी है, यह 'परात्माऽवगति' ही किस प्रकार होगी? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'यदाऽसौ पुरुषः' (शाबरभाष्य पृ० ६९) इस भाष्य के द्वारा यह उपपादन किया जा चुका है कि अविनाभूत (व्याप्ति से युक्त) चेष्टा से दूसरे की आत्मा का अनुमान होता है। अनुमान का प्रयोग श्लो० १३५ की व्याख्या में लिखा जा चुका है ॥ १४५ ॥

सर्वसम्भाव्यनाशात्मपरिकीर्तनमूढया ।
चोदितः पूर्वपक्षोऽयमिति सिद्धान्तमब्रवीत् ॥ १४६ ॥

पूर्वपक्षभाष्य (पृ० ६६) में भूतचैतन्यवाद के लिये जो 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' (बृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ५) इस उपनिषद् वाक्य का उल्लेख किया गया है, यह वाक्य 'शरीरादि भूत ही आत्मा है' इस पक्ष का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी को पहले तो आत्मा के अजर, अमर होने का उपदेश किया। फिर 'विज्ञानघन' इत्यादि वाक्य के द्वारा आत्मा को विनाशशील कहा। बाद में एक बार आत्मा को 'असद्रूप' भी कहा, फिर सद्रूप भी कहा। इन नाना प्रकार के विरुद्ध मतवादों से विमूढ़ होकर मैत्रेयी ने प्रार्थना की कि 'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपदत्' (बृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ५) अर्थात् 'भगवान्' मुझे इस प्रकार के नाना मतों के मोह में न डालें। मैत्रेयी की इस प्रार्थना से पसीज कर महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'न वा अरे ! मोहं ब्रवीमि अविनाशी वा अरे ! अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा, मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ५) इस वाक्य के द्वारा यह चरम उपदेश किया है कि मेरा अभिप्राय तुझे विभ्रम में डालने का नहीं है, मुझे तो इन मतभेदों से दूर अजर, अमर आत्मा के विशुद्ध तत्त्व को समझाने का है' ॥ १४६ ॥

अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो या तु नाशिता ।
मात्राणां साऽधिकाराणाम् भूतादीनामसंज्ञिता ॥ १४७ ॥

अविनाशी ''साधिकाराणाम्

सिद्धान्तप्रतिपादक उक्त उपनिषद् वाक्य का यह अभिप्राय है कि 'आत्मा' तो स्वरूपतः अविनाशी 'नित्य' ही है। किन्तु उसी नित्य आत्मा को जब विनाशी 'मात्रा' का संसर्ग प्राप्त होता है तो 'मात्रा' के विनाश से तत्सम्बद्ध पुरुष (आत्मा) में भी विनाशित्व का व्यवहार कुछ लोग करते हैं। उन लोगों के मत का ही प्रतिपादन 'तान्येवानुविश्यति' इस वाक्य से किया गया है।[1]

भूतादीनामसंज्ञिता

तस्मात् 'भूतादि' अर्थात् शरीर इन्द्रिय प्रभृति भूत पदार्थ और विज्ञान ये सभी 'अचेतन' हैं, आत्मा तो इन सभी अनित्य अचेतन पदार्थों से विपरीत नित्य और चेतन ही है ॥ १४७ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि कथित वाक्य में 'विज्ञानघन' शब्द से 'ज्ञानस्वभाव' का 'आत्मा' अभिप्रेत है, केवल 'ज्ञान' नहीं। 'ज्ञानस्वभाव' का वह आत्मा 'भूतेभ्यः समुत्थितः' अर्थात् शरीरादि भूत पदार्थों से मुक्त होकर (असम्बद्ध होकर) 'तानि अनुविनश्यति' अर्थात् मोक्ष के समय 'मात्राओं' (इन्द्रियों) के साथ, एवं 'अधिकारों' (धर्माधर्म) के साथ उसके सभी सम्बन्ध विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये 'विशेषणनाशाद्विशिष्टनाशः' इस नियम के अनुसार ही संसारावस्था में विशेषणीभूत मात्राओं और अधिकारों के साथ सम्बन्ध स्वरूप विशेषण के नाश से उस सम्बन्ध से युक्त पुरुष के नाश का अभिधान प्रकृत वाक्य के 'अनुविनश्यति' पद से किया गया है। केवल आत्मा तो 'अविनाशी' ही है।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु-
रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥ १४८ ॥

इस प्रकार प्रतिपादित होने पर भी 'आत्मा शरीरादि से भिन्न है' इस प्रकार का बोध स्थिर नहीं रहता, क्योंकि, अहं स्थूलः, अहं गच्छामि, इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा शरीर में अहं प्रत्यय विद्यमान रहता है।

फिर कौन सा ऐसा उपाय है जिससे 'आत्मा शरीरादि विनाशी पदार्थों से भिन्न है' आत्मा का इस आकार का ज्ञान अविचल एवं दृढ़ हो ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

वेदों के प्रामाण्य की सिद्धि ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। यह काम 'आत्मा नित्य है' केवल इतने के प्रतिपादन से सम्पन्न हो जाता है। 'आत्मा शरीरादि पदार्थों से भिन्न एवं नित्य है' इस ज्ञान के दृढ़ होने के उपाय इस शास्त्र में नहीं कहे गये हैं। यही ज्ञान दृढ़ होने पर मोक्ष का उत्पादक होता है। मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान की दृढ़ता उपनिषद् की सेवा से प्राप्त होती है। अतः मोक्षोपयोगी आत्म-ज्ञान की जिन्हें अभिलाषा हो वे 'वेदान्त' (उपनिषद्) का सेवन करें ॥ १४७ ॥

इत्यात्मवादः समाप्तः ॥

शब्दनित्यत्वाधिकरणम्

यद्यनित्यत्वपक्षेऽपि शब्दादर्थोऽवगम्यते ।
अनादिर्व्यवहारश्च नित्यत्वं किं नु साध्यते ॥ १ ॥

(पू० प०) शब्द नित्य रहे अथवा अनित्य, वेदों के प्रामाण्य की सिद्धि में शब्द की नित्यता अथवा अनित्यता इन दोनों का कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिक-वैशेषिकादि भी अपने-अपने ढङ्ग से वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करते ही हैं।

यदि शब्द को नित्य माने बिना शब्द से अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती तो प्रकृत में शब्द के नित्यत्व के समर्थन को सार्थक कहा जा सकता था। अथवा शब्द

---

१. औत्पत्तिक सूत्र (अ० १ पा० १ सू० ५) के द्वारा महर्षि जैमिनि ने शब्द और अर्थ के नित्यत्व का प्रतिपादन किया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता से शब्द की नित्यता 'अर्थतः' सिद्ध हो जाती है। अर्थाक्षिप्त शब्दगत इस नित्यता को और दृढ़ करने के लिये महर्षि ने सू० ६ से लेकर सू० २३ (अ० १ पा० १) पर्यन्त के १८ सूत्रों का यह 'शब्दनित्यत्वाधिकरण' लिखा है। इन १८ सूत्रों में से आदि के ६ सूत्र पूर्वपक्ष स्वरूप शब्दानित्यत्व के समर्थक हैं। शेष १२ सूत्रों से शब्द के नित्यत्व का समर्थन और उक्त शब्दानित्यत्व पक्ष का खण्डन किया गया है।

से अर्थ की प्रतीति यदि 'समय' अर्थात् पुरुषकृतसङ्केतमूलक होती तो सङ्केत के पुरुषमूलक होने के कारण वेद स्वरूप शब्दों से अर्थविषयक बोध के पुरुषसापेक्ष होने से वेदों का प्रामाण्य विपन्न होता। ऐसी ही स्थिति में यह शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व का प्रतिपादन के द्वारा प्रकृत शब्दनित्यत्व का प्रतिपादन सार्थक हो सकता था। शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिकादि की तरह यदि अनित्य शब्द से भी अर्थ की प्रतीति हो सकती है, किं वा शब्द व्यवहार की अनादिता से पुरुष के स्वातन्त्र्य का निरास कर शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व के विना भी वेदों का स्वतन्त्र प्रामाण्य अव्याहत रह सकता है तो फिर शब्द के नित्यत्व का यह निरूपण ही व्यर्थ है॥ १॥

सत्यमिच्छन्ति तेऽप्येवं न्यायस्तत्र परीक्ष्यते।
न पराभ्युपगत्यैव प्रामाण्यमवतिष्ठते॥ २॥

(सि० प०) यह सत्य है कि नैयायिकादि भी अपनी-अपनी रीति से शब्द के द्वारा अर्थबोध की इच्छा रखते हैं। किन्तु उन लोगों की इच्छा मात्र से तो वह होगा नहीं। अतः उनकी जो इस प्रसङ्ग में रीति (न्याय) है, उसके द्वारा अर्थ-विषयक बोध हो सकता है अथवा नहीं—इसका निरूपण आवश्यक है॥ २॥

यदा हि क्षणिकः शब्दो न शक्तोऽर्थावधारणे।
युक्त्यावधार्यते तत्र निर्मला वेदधीर्भवेत्॥ ३॥

नैयायिकादि शब्द को क्षणिक मानते हैं, अतः अर्थ के साथ उसका किसी स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान संभव नहीं है। अतः संकेत के विना केवल शब्दार्थ-सम्बन्ध से शाब्दबोध की उपपत्ति इन मतों से नहीं हो सकती। यदि अर्थ में शब्द के किसी सम्बन्ध के न रहने पर भी शब्द से अर्थ का बोध मानें तो वह पुरुषकृत संकेत के द्वारा ही हो सकता है। यदि शब्द से अर्थविषयक बोध की उत्पत्ति को संकेतद्वारक न मानकर साक्षात् ही मानें तो जिस प्रकार आँख पड़ते ही घटादि का बोध होता है, उसी प्रकार शब्द को सुनते ही अर्थविषयक बोध को स्वीकार करना होगा। किन्तु यह वस्तुगति के विरुद्ध होगा। इस प्रकार शब्द को नित्य माने विना वेदों से अर्थ की प्रतीति 'निर्मूलक' (आकस्मिक) होगी॥ ३॥

निर्मूलैरपि विज्ञानैर्दृष्टार्थेषु भवेद् गतिः।
श्रुतिमात्राश्रयत्वात्तु धर्मो दौःस्थित्यमाश्रितः॥ ४॥

घटादि लौकिक (दृष्ट) अर्थों का ज्ञान यदि घटादि शब्दों में विना मूल के (न्यायानुमोदित अन्वयव्यतिरेकादि से) मान भी लें, तथापि कोई विशेष क्षति नहीं होगी। किन्तु इससे वेद मात्र से ज्ञेय 'धर्म' स्वरूप 'अदृष्ट' शब्दनित्यत्वमूलक न्याय के विना दुःस्थिति में पड़ जायगा॥ ४॥

अनादिव्यवहारत्वमादिमद् यस्तुसंश्रयम्।
प्रत्याख्येयं घटत्वादिजातौ व्यक्तिभ्रमो हि सः॥ ५॥

अनादिव्यवहारत्वम्''''प्रत्याख्येयम्

सादि घट प्रभृति वस्तुओं का भी व्यवहार तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि शब्द की नित्यता स्वीकृत न हो। अर्थात् सादि घटादि वस्तुओं के अनादि व्यवहार भी शब्दनित्यत्वमूलक हो हैं।

घटत्वादिजातौ व्यक्तिभ्रमो हि सः

सादि घट प्रभृति वस्तुओं से जो जलाहरणादि के अनादि व्यवहार होते हैं, वे भी वास्तव में घटत्वादि जातियों से ही होते हैं, क्योंकि जाति नित्य है। घटत्वादि जातियों में घटादि व्यक्तियों के अभेदभ्रम से ही उन जलाहरणादि अनादि व्यवहारों में सादि घटादिमूलकत्व की भ्रान्ति होती है ॥ ५ ॥

स्थिते कूटस्थनित्यत्वे व्यवहारस्य नित्यता।
कूटस्थेन विनैतेन न तस्यालम्बनं भवेत् ॥ ६ ॥

शब्द के कूटस्थ नित्य होने से ही नित्य व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है, अतः शब्द की कूटस्थ नित्यता के विना कोई भी पदार्थ अनादि व्यवहार का विषय नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

प्रसिद्धत्वाद् ऋते सर्वो व्यवहारो हि नेष्यते।
तस्माद् वेदप्रमाणार्थं नित्यत्वमिह साध्यते ॥ ७ ॥

क्योंकि कोई भी व्यवहार पूर्व प्रसिद्धि के विना होता[1]। 'तस्मात्' वेदों के प्रामाण्य के लिये ही औत्पत्तिक सूत्र के बाद महर्षि ने यह शब्दनित्यत्वाधिकरण प्रारम्भ किया है ॥ ७ ॥

परस्पराविनाभावादनित्यकृतकत्वयोः ।
कारणं ह्यसिद्धयर्थं किञ्चित् कस्यचिदुच्यते ॥ ८ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जल लाने के लिये जल्दी से घट लाने के लिये इच्छुक पुरुष को घट में जलाहरण की शक्ति को समझना आवश्यक है। अभिनव घट में जलाहरण शक्ति का ज्ञान संभव नहीं है। अतः यही मानना होगा कि एतद् घटसजातीय जिस घट व्यक्ति में जलाहरण की शक्ति पहिले से ज्ञात है, तज्जातीयत्व को देखकर अभिनव घट में भी जलाहरण की शक्ति का अनुमित्यात्मक ज्ञान ही होता है एवं इस ज्ञान से ही जलाहरण का व्यवहार होता है।

इस रीति से सास्नादि से युक्त अर्थ के प्रतिपादन के लिये शब्द के उच्चारयिता पुरुष में गो शब्द में सास्नादि अर्थों का ज्ञान किसी 'उपलक्षण' के द्वारा ही मानना होगा, केवल शब्दत्व यह उपलक्षण नहीं हो सकता। अगर ऐसा मानेंगे तो शब्दत्वाक्रान्त 'अश्व' शब्द के उच्चारण से भी सास्नादि से उक्त अर्थ का भान मानना होगा। पहिले ही उपपादन किया जा चुका है कि 'गोशब्दत्व' नाम का कोई सामान्य धर्म नहीं है। अतः व्यवहार के लिये पूर्वप्रसिद्धि आवश्यक है। एवं व्यवहार के लिये अपेक्षित पूर्व-प्रसिद्धि के लिये शब्द को नित्य मानना आवश्यक है।

'कर्म्मैके तत्र दर्शनात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० ६) शब्दनित्यत्वाधिकरण का शब्दानित्यत्व स्वरूप पूर्वपक्ष का प्रतिपादक यह पहला सूत्र है। इस सूत्र में इससे पहले सूत्र के 'शब्दस्य' पद को 'शब्दः' इस प्रथमान्त में विपरणत करके इस सूत्र में अनुषङ्ग समझना चाहिए। एवं इस सूत्र के 'कर्म' शब्द को 'क्रियते इति कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'कार्य' अर्थात् 'अनित्यत्व' का बोधक समझना चाहिये। तद-नुसार 'शब्दः अनित्यः' यह प्रतिपक्ष 'एके' शब्द से अभिप्रेत शब्दानित्यत्ववादी नैया-यिकादि का समझना चाहिये।

इस सूत्र का 'तत्र दर्शनात्' यह उक्त प्रतिज्ञातार्थ का साधक 'हेतु' वाक्य है। 'तत्र' अर्थात् 'तस्मिन् प्रयत्नोत्तरकाले, दर्शनात्'। अर्थात् जिसलिये कि शब्द का दर्शन (प्रत्यक्ष) प्रयत्न करने के बाद ही होता है, अतः शब्द में प्रयत्नजन्यत्व निश्चित है। अतः शब्द अनित्य है (शब्दः अनित्यः प्रयत्नजन्यत्वात् घटादिवत्)।

'अस्थानात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० ७) 'अस्थान' अर्थात् उच्चारण के बाद अधिक समय तक शब्द की स्थिति चूँकि उपलब्ध नहीं होती है इसलिये भी शब्द कृतिजन्य (कृतक) है।

यहाँ प्रश्न होता है कि सूत्रकार ने पूर्वपक्षियों की प्रतिज्ञा का उपादान इस अधिकरण के पहले सूत्र में प्रयुक्त कृतकत्वार्थक 'कर्म' शब्द घटित वाक्य से किया है। तदनन्तर (१) तत्र दर्शनात् (२) अस्थानात् प्रभृति हेतु वाक्यों का प्रयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सभी हेतु वाक्य एक ही प्रतिज्ञातार्थ की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हैं, क्योंकि 'अस्थानात्' यह 'हेतु' विनाश रूप अनित्यत्व का साधक होने पर भी 'कर्म' शब्द बोध्य 'कृतकत्व' का साधक नहीं है। अनित्यत्व है विनाशित्व (विनाशप्रतियोगित्व) रूप, एवं कृतकत्व है 'कृतिजन्यत्व' रूप, अतः एक हेतु दोनों का साधक कैसे होगा ?

इस असङ्गति के परिहार के लिये 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इस सूत्र के भाष्य में जो प्रतिज्ञावाक्य का 'कथं पुनरनित्यः शब्दः' यह स्वरूप लिखा है, वह सूत्र के कृत-कत्वार्थक 'कर्म' शब्द के विपरीत हो जाता है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

'तत्र दर्शन' (प्रयत्नजन्यत्व का निश्चय) एवं 'अस्थान' (उच्चारण के बाद चिरकाल तक न रहना) इन दोनों में जो कोई भी एक हेतु 'अनित्यत्व' अथवा 'कृतकत्व' इन दोनों में से जिस किसी एक साध्य के साधन के लिए प्रयुक्त होगा, वह दूसरे साध्य के साधन के लिए भी पर्याप्त होगा, क्योंकि दोनों हेतुओं में से प्रत्येक की व्याप्ति अनित्यत्व और कृतकत्व इन दोनों ही साध्यों से समान रूप से है। अतः उक्त आक्षेप वृथा है ॥ ८ ॥

नानादेशावगम्यत्वाद् युगपत् तुल्यबुद्धिभिः।
अस्माभिः कृतकः शब्दो भवेदक्षरलेख्यवत् ॥ ९ ॥

'सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० ९) इस सूत्र से निर्दिष्ट हेतु के द्वारा यह अनुमान अभिप्रेत है कि शब्द इसलिये भी कृतक (कृतिजन्य) है कि एक ही समय (युगपत्) अनेक प्राणियों (सत्त्वों) के द्वारा उसकी उपलब्धि

होती है। (शब्दः कृतकः तुल्यबुद्धिभिरस्माभिर्युगपन्नानादेशे अवगम्यमानत्वात् अक्षर-लेख्यवत्—अर्थात् जिस प्रकार ककारादि अक्षरों की लेख्य की प्रतीति एक ही समय नाना देशों में नाना प्राणियों को होती है, उसी प्रकार एक शब्द की भी उपलब्धि एक ही समय नाना देशों में नाना पुरुषों को होती है ॥ ९ ॥

यौगपद्योपलम्भाद् वा भेदो भेदाच्च कार्यता।
अविभुत्वे हि युगपन्नैको नानावगम्यते ॥ १० ॥

यौगपद्योपलम्भात्……कार्यता

अथवा 'सत्त्वान्तरे यौगपद्यात्' यह हेतु गकारादि वर्णों में अनेकत्व (भेद) साधन के द्वारा शब्दों में कृतकत्व (कार्यता) के अनुमान का प्रयोजक है, साक्षात् नहीं।

(१) गकारादिवर्णाः नाना सत्त्वान्तरे यौगपद्यात्।
(२) गकारादिवर्णाः कृतिजन्याः नानात्वात् अक्षरलेख्यवत्।

अविभुत्वे हि……अवगम्यते

एक ही समय उपलब्ध होना विषय की अनेकता का साधक नहीं है, क्योंकि एक ही समय उपलब्ध होने वाले आकाशादि अथवा गोत्वादि सामान्य अनेक नहीं होते। अयः 'यौगपद्येनोपलभ्यमानत्व' हेतु में 'अविभुत्व' विशेषण देना होगा। अर्थात् 'युगपत् उपलभ्यमान 'अविभु' पदार्थ नाना ही होता है' ऐसा नियम अभीष्ट है। तद-नुसार 'अविभुत्वे सति युगपदुपलभ्यमानत्वात्' ऐसा हेतुवाक्य समझना चाहिये ॥१०॥

कार्त्स्न्येन चावगम्यत्वादेकदेशे घटादिवत्।
शब्दस्याविभुता तस्मादन्यताऽस्य मुखान्तरे ॥ ११ ॥

कार्त्स्न्येन……शब्दस्याविभुता

'आकाश विभु है' क्योंकि उसका सम्पूर्ण रूप से (कार्त्स्न्येन) ग्रहण नहीं होता। उपाध्यवच्छिन्न आकाश का ही ग्रहण होता है। अखण्ड आकाश का ग्रहण नहीं होता। घटत्वादि सामान्यों का ग्रहण भी संपूर्णतः (कार्त्स्न्येन) नहीं होता, क्योंकि वे भी अपने आश्रयीभूत कुछ व्यक्तियों के साथ ही प्रतीत होते हैं, अपने आश्रयीभूत सभी व्यक्तियों के साथ नहीं।

इसलिये आकाश और सामान्य इन दोनों को विभु मानते हैं, किन्तु शब्द का अपने आश्रयीभूत प्रत्येक व्यक्ति में ग्रहण होता है। अतः शब्द घटादि पदार्थों के समान ही 'अविभु' है।

तस्मादन्यताऽस्य मुखान्तरे

'तस्मात्' एक ही समय अनेक वक्ताओं के मुख से उच्चरित 'ग' कार 'नाना' है, क्योंकि वह 'अविभु' होने के साथ-साथ एक ही समय नाना देशों में ज्ञात होता है (युगपदनेकवक्त्रोच्चरितो 'ग' कारो नाना अविभुत्वे सति युगपन्नानादेशेऽवगमाद् घटवत्) इस प्रकार गकारादि प्रत्येक वर्ण में अविभुता के द्वारा नानात्व की सिद्धि एवं नानात्व से अनित्यत्व की सिद्धि जाननी चाहिये ॥ ११ ॥

एकः सन्नेकदेशस्थो तदैकेन प्रयुज्यते ।
तदा वक्त्रन्तरे न स्यादेकवक्तृमुखादिवत् ॥ १२ ॥

गकारादि प्रत्येक वर्ण यदि एक एक ही हों तो एक ही समय नाना देशों में एक ही वर्ण की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि एक वस्तु एक समय एक ही स्थान में रह सकती है। अतः एक मुख से उच्चरित 'ग' कार उसी मुख स्वरूप एकदेश में ही (किसी दूसरे उच्चारयिता पुरुष के मुख में नहीं) रह सकता, अर्थात् नाना देशों में नहीं रह सकता, जिस प्रकार एक वक्ता का मुख उस वक्ता के शरीर में ही रहता है, अन्य किसी वक्ता के शरीर में नहीं ॥ १२ ॥

कार्यत्वे स्यात् क्रियाभेदात् फलभेदः प्रतिक्रियम् ।
तेनैकबुद्धिः सादृश्यात् स्फुटेऽन्यत्वेऽवकल्पते ॥ १३ ॥

कार्यत्वे''''प्रतिक्रियम्

यदि शब्द को 'कार्य' मान लेते हैं तो नाना देशों में एक ही समय प्रत्येक वर्ण की उपलब्धि उपपन्न हो सकती है, क्योंकि उच्चारण क्रिया के भेद से गकारादि वर्ण स्वरूप फल का भेद स्वाभाविक है। अतः यदि शब्द को कार्य मान लेते हैं तो एक ही समय नाना देशों में नाना गकारों की उपलब्धि उपपन्न होती है।

तेनैकबुद्धिः'''अवकल्पते

इस प्रकार नानात्व के (परस्पर भेद के) सिद्ध हो जाने पर 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा जो एकत्व की प्रतीति होती है, वह सभी गकारों के एक समान होने के कारण होती है। अतः ज्वालाओं में एकत्व की प्रतीति की तरह वह भ्रान्ति स्वरूप ही है ॥ १३ ॥

नित्यत्वे त्वेकबुद्धेः स्यान्न किञ्चिद् भ्रान्तिकारणम् ।
कामं देशा इति न्यायात् तच्चैकत्वं विरुध्यते ॥ १४ ॥

(प्रश्न—एक ही समय नाना पुरुषों को गकार की उपलब्धि होती है, अतः गकार नाना भले ही हो, किन्तु गकार के नाना होने से उसमें कार्यता (कृतिजन्यत्व-कृतकत्व) कैसे हो सकती है ? क्योंकि गकार परस्पर भिन्न अनेक होने पर भी नित्य भी हो सकते हैं। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

गकार यदि परस्पर भिन्न हों (अर्थात् अनेक हों) तो वे नित्य नहीं हो सकते। यदि गकार को नाना मानें तो 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञामूलक एकत्व की प्रतीति सादृश्यमूलक भ्रान्तिस्वरूप होगी। यदि नित्य मानेंगे तो 'सोऽयं गकारः' इस एकत्वपर्यवसायिनी प्रतीति को भ्रान्ति स्वरूप मानने का कोई कारण नहीं रहेगा। यदि उस प्रतीति को भ्रान्तिस्वरूप मानेंगे तो गकार का नित्यत्व ही भंग हो जायगा जैसा कि भाष्यकार आगे कहेंगे—

'अपि च ऐक्यरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्नाः स्युः न तु शब्दः' (शाबरभाष्य अ० १ पा० १ सू० १२४ पृ० ८२ पं० ४)।

(अर्थात् गकार को यदि एक मान भी लें तो देशभेद से भिन्न प्रतीति के द्वारा देश की भिन्नता भले ही मान सकते हैं किन्तु इससे शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता)। अर्थात् 'स एवायं गकारः' इस प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा के द्वारा गकार की एकता निर्णीत है। अतः देशभेद स्वरूप हेतु से उक्त प्रत्यक्षविरोध के कारण गकारके नानात्व का अनुमान नहीं हो सकता।

इसलिये गकार को यदि नित्य मानेंगे तो उसे 'एक' मानना ही होगा। किन्तु गकार की यह एकता उसके नाना देशों में एक ही साथ को उपलब्धि के विरुद्ध है। 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा गकार के नाना मानने पर सादृश्य के कारण भी उपपन्न हो सकती है।

तस्मात् एक ही साथ नाना देशों में उपलब्धि के कारण गकार अनेक एवं परस्पर भिन्न ही हैं। चूँकि वे भिन्न-भिन्न हैं, अतः एकत्वपर्यवसायिनी प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति स्वरूप है। चूँकि गकार में एकत्व की प्रतीति भ्रान्ति रूप है, अतः शब्द कार्य (कृतक) ही है नित्य नहीं। शब्दानित्यत्ववादियों का यही स्वरस भाष्यकार ने—

नानादेशेषु युगपच्छब्दमुपलभामहे, तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नमसति विशेषे नित्यकस्य नानकेत्वम्।

(शाबरभाष्य अ० १ पा० १ अधि० ६ सू० ९ पृ० ७४ पं० ७)

इस सन्दर्भ के द्वारा व्यक्त किया है।

इस भाष्यसन्दर्भ में 'तत् नित्यस्य अनुपपन्नम्' यह वाक्यांश प्रतिज्ञा का बोधक है। एवं 'एकस्य' यह पद हेतु का बोधक है। अर्थात् गकार यदि नित्य होगा तो 'एक' ही होगा। यदि 'एक' होगा तो 'युगपत्' (एक ही समय) नाना देशों में उसकी उपलब्धि अनुपपन्न होगी।

नित्य होने से गकार एक ही क्यों होगा, नित्य होने पर भी अनेक गकार हो सकते हैं—इसी प्रश्न के उत्तर में उक्त भाष्यसन्दर्भ का 'असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्' यह वाक्य है। अर्थात् गकार को यदि नित्य मानें तो उसमें नानागत्व स्वरूप विशेष को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा मानने का हठ करेंगे तो 'सोऽयं गकारः' यह 'अविशेष' बुद्धि अर्थात् एकत्व की प्रतीति अप्रमा हो जायगी। इस अप्रामाण्य से गकार का नित्यत्व व्याहृत हो जायगा ॥ १४ ॥

न च व्यञ्जकभेदेन देशभेदोपलम्भनम्।
प्रदीपैर्भिन्नदेशस्थैर्न भिन्नो व्यज्यते घटः ॥ १५ ॥

(यदि ऐसा कहें कि गकार एक ही है, नाना देशों में एक साथ उसकी उपलब्धि इसलिये होती है कि उसके व्यञ्जक ध्वनियों के देश भिन्न हैं, इसलिये नाना देशों में एक ही साथ उसकी उपलब्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि :—)

प्रदीप स्वरूप व्यञ्जक के अनेक होने पर भी एक ही घट की एक ही समय नाना देशों में उपलब्धि नहीं होती है ॥ १५ ॥

व्योमानवयवं येषां ध्वनीनामाश्रयो मतम् ।
सव्यङ्ग्यानामतः सर्वैर्व्यक्तिरेकत्र ते भवेत् ॥ १६ ॥

व्योमानवयवम्……मतम्

अभिव्यङ्ग्य है गकार स्वरूप शब्द और अभिव्यञ्जक है ध्वनि। आकाश ही उन दोनों का देश है जो एक ही है। आकाश न स्वरूपतः अनेक है, न अवयवशः अनेक है। अतः व्यञ्जकीभूत ध्वनियों की भिन्नता से भी एक ही गकार की युगपत् (एक ही समय) नाना देश में उपलब्धि स्वीकार नहीं जा सकती।

सव्यङ्ग्यानाम्……ते भवेत्

क्योंकि (शब्दनित्यत्ववादी) तुम्हारे मत से व्यञ्जकीभूत ध्वनियों और व्यङ्ग्य गकारादि शब्दों के देश भिन्न-भिन्न नहीं है। दोनों का एक ही आकाश रूप एक देश है। इसीलिये सभी को (तुम्हारे मत से भी) आकाशावच्छेदेनैव सभी शब्दों की अभिव्यक्ति होती है। यदि गोत्वादि जातियों के समान ध्वनि और शब्द ये दोनो एकाश्रयी होते तो कदाचित् शब्द को मानने पर भी एक ही समय (युगपत्) नाना देशों में उपलब्धि स्वीकृत भी हो सकती थी। किन्तु बात इससे बिलकुल विपरीत है।

मेरे मत से (शब्द को अनित्य मानने वालों के मत से) शब्द सावयव वायु का धर्म है, निरवयव आकाश का नहीं। अतः वायु के भिन्न अवयव होने के कारण एक शब्द के भिन्न-भिन्न देश हो सकते हैं ॥ १६ ॥

वस्त्वन्तरविकार्यत्वात् स्मृतिसादृश्यसाधितात् ।
एकारादेरनित्यत्वं दधिक्षीरगुणादिवत् ॥ १७ ॥

प्रकृतिविकृत्योश्च (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १०)

शब्द को अनित्य मानने में एक युक्ति यह भी है कि 'दध्यत्र' पद के दधि शब्द का घटक इकार है प्रकृति एवं 'य' कार है विकृति। इन दोनों का यह प्रकृति-विकृति-भाव 'इको यणचि' इस पाणिनिसूत्र स्वरूप 'स्मृतिवचन' एवं इकार और यकार इन दोनों का एक ही तालु स्थान से उत्पन्नत्व स्वरूप सादृश्य इन दोनों प्रमाणों (शब्द और उपमान) से सिद्ध है। इन दोनों ही युक्तियों से इकार का यकार में परिणत होना प्रमाणों से सिद्ध है। दधि प्रभृति विकृत पदार्थों का अनित्य होना सर्वसिद्ध है। अतः विकारी इकारादि वर्ण भी अनित्य हैं।

वस्त्वन्तर……दधिक्षीरगुडादिवत्

उक्त सूत्र से अभिमत अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है :—

इकारादिवर्णाः अनित्याः वस्त्वन्तरविकार्यत्वात् दध्यादिवत् ॥ १७ ॥

हेतुवृद्ध्यनुसारित्वात् कार्यतास्य घटादिवत् ।
न हि दीपसहस्रेऽपि व्यञ्जके वर्द्धते घटः ॥ १८ ॥

हेतुवृद्धि''''घटादिवत्

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य (जै० सू० अ० १ पा० सू० ११)

इस सूत्र के द्वारा शब्दानित्यत्ववादियों की यह युक्ति उपपादित हुई है कि 'कर्तृभूम्ना' अर्थात् उच्चारणकर्त्ताओं के बाहुल्य से 'अस्य' अर्थात् शब्द की 'वृद्धि' अर्थात् 'महत्त्व' देखा जाता है। अतः जैसे कि अधिक परिमाण वाले मृत्पिण्ड से उत्पन्न अधिक परिमाण वाले घटादि अनित्य ही देखे जाते हैं उसी प्रकार कारणों के बाहुल्य से अधिक परिमाण से युक्त होने के कारण शब्द भी अनित्य है। (शब्दः कृतकः हेतुवृद्ध्यनुसारित्वात् मृत्पिडादिकारणमहत्त्वानुसारिघटादिवत्)।

न हि दीपसहस्रेऽपि'''घटः

(कर्तृबाहुल्य के कारण शब्दवृद्धि के प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि उच्चारणकर्त्ता शब्द के उत्पादक नहीं है। पहले से विद्यमान शब्द की ही अभिव्यक्ति पुरुष के उच्चारण से होती है। तदनुसार पुरुष अभिव्यञ्जक ही है, उत्पादक नहीं। अतः व्यञ्जक की वृद्धि से शब्द में महत्त्व की अभिवृद्धि होती है। अतः इससे शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि हो सकती है। इस समाधानाभास का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है—)

व्यञ्जक से व्यङ्ग्य की अभिवृद्धि नहीं होती है। हजारों दीपों के जलाने से प्रकाश्य घट में कोई वृद्धि नहीं होती है ॥ १८ ॥

अनैकान्तिकता तावद्धेतूनामिह कथ्यते।
प्रयत्नानन्तरादृष्टिर्नित्येऽपि न विरुद्ध्यते ॥ १९ ॥

(शब्द की अनित्यता की सिद्धि के लिये 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इस छठे सूत्र से लेकर 'वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य' (अ० १ पा० १ सूत्र ६, ७, ८, ९, १०, ११) पर्यन्त के छः सूत्रों से जिन हेतुओं का उल्लेख किया गया है, उनमें 'समं तु तत्र दर्शनम्' इस बारहवें सूत्र से लेकर 'नादवृद्धिपरा' इस सत्रहवें सूत्र पर्यन्त के छः सूत्रों से सिद्धान्तियों ने दोष दिखलाये हैं।

दोषप्रदर्शक इन छः सूत्रों का संक्षिप्त तात्पर्य अनित्यत्वसाधक हेतुओं में 'अनैकान्तिकता' और 'असिद्धता' का प्रदर्शन करना ही है। वार्त्तिकस्थ 'तावत्' शब्द से असिद्ध दोष का समुच्चय समझना चाहिये।

प्रयत्नानन्तरा दृष्टिः'''विरुद्ध्यते

'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इस सूत्र के 'तत्र दर्शन' हेतु का फलितार्थ 'प्रयत्नानन्तर-दर्शन' समझना चाहिये। यह 'प्रयत्नानन्तरदर्शन' हेतु शब्द में साधनीय कृतकत्व-स्वरूप साध्य का व्यभिचारी है, क्योंकि शब्द को यदि नित्य मान भी लेते हैं, तथापि प्रयत्न के बाद ही उसकी उपलब्धि हो सकती है ॥ १९ ॥

तस्मात् तत्रैव दृष्टत्वादन्यत्रादृष्टकल्पना।
प्रागूर्ध्वानुपलब्धी चेद्धेतुत्वेन विवक्षिते ॥ २० ॥

तस्मात्...अदृष्टकल्पना

(प्रश्न—कालान्तर में अर्थात् भूतकाल में अथवा भविष्यत् काल में गकार का निषेध भले ही सम्भव न हो, किन्तु उन कालों में शब्द का सत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

जिसलिये कि प्रयत्नानन्तर वर्त्तमान काल में शब्द की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता, अतः उसी काल में (तत्रैव) अर्थात् अनन्तरकाल स्वरूप वर्त्तमान काल में ही 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द की सत्ता निश्चित है। अतः अन्य कालों में भी प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात न होने पर भी शब्द की सत्ता की कल्पना की जा सकती है।

प्रागूर्ध्वाऽनुपलब्धी चेत्...विवक्षिते

(पूर्वपक्ष) 'तत्र दर्शनात्' इस हेतुवाक्य के द्वारा प्रयत्नानन्तर काल स्वरूप वर्त्तमान काल से 'प्राक्' अर्थात् पहले 'भूतकाल' में एवं 'तदूर्ध्व' में अर्थात् उस वर्त्तमान काल के आगे आनेवाले भविष्यत् काल में शब्द की अनुपलब्धि ही इष्ट है। फलतः उक्त दोनों अनुपलब्धियाँ इष्ट हैं। इसलिये उक्त दोनों ही अनुपलब्धियाँ शब्द में कृतकत्व या अनित्यत्व के हेतु हैं। प्रकृत में शब्द में अनित्यत्व साधन के लिये ये दो अनुमान अभिप्रेत हैं—

(१) शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरपूर्वकालेऽनुपलब्धेः।

(२) शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरकालोत्तरकालेऽनुपलब्धेः ॥ २० ॥

जात्यौलूक्यस्य सांख्यस्य चैतन्येनात्मवर्तिना।
शाक्यस्यापि त्वनैकान्तः क्षणिकव्यतिरेकिभिः ॥ २१ ॥
प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधव्योमभिस्त्रिभिः ।
बुद्धिपूर्वं विनाशे हि प्रतिसंख्यानिरोधधीः ॥ २२ ॥
अबुद्धिपूर्वकस्तेषां निरोधोऽप्रतिसंख्यया।
तौ च द्वावप्यनाशित्वादिष्टावकृतकावपि ॥ २३ ॥

(सि० प०) उक्त दोनों अनुपलब्धि स्वरूप हेतुओं में भी व्यभिचार दोष है ही—

जात्यौलूक्यस्य

(१) शब्दानित्यत्ववादी वैशेषिकों के मत से उक्त दोनों ही अनुपलब्धि स्वरूप हेतु 'जाति' में व्यभिचरित होंगे, क्योंकि घटस्थितिकालस्वरूप वर्त्तमानकाल से पहले

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जिस समय जिसका दर्शन होगा, उस दर्शन (प्रत्यक्ष) से उस समय उस विषय की सत्ता ही नियमित होती है, कालान्तर में उस विषय का निषेध वर्तमान काल के प्रत्यक्ष से नहीं होता। अतः प्रयत्नानन्तर काल में शब्द की उपलब्धि से उस काल में शब्द की सत्ता मात्र प्रतिपादित होती है 'विपक्ष' में अर्थात् भविष्यत् अथवा भूतकाल में शब्द की सत्ता का निषेध उस हेतु से नहीं होता, अतः कथित 'तत्र-दर्शन' हेतु (प्रयत्नानन्तरदर्शन हेतु) अनैकान्तिक है।

या बाद में घटत्वजाति की उपलब्धि नहीं होती है। फिर भी घटत्व जाति को वे नित्य मानते हैं।

सांख्यस्य चैतन्येनात्मवर्त्तिना

(२) शब्दानित्यवादी सांख्याचार्यों के मत के अनुसार उक्त दोनों ही अनुपलब्धि स्वरूप हेतु आत्मचैतन्य में व्यभिचरित हैं, क्योंकि चक्षुरादि के उन्मीलन अथवा शब्दों के उच्चारण के बाद प्रकाश स्वरूप बुद्धितत्त्व में चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा आत्मचैतन्य ही अभिव्यक्त होता है। बुद्धितत्त्व की रूपादि आकारों में परिणति से पूर्व या बाद में आत्मचैतन्य उपलब्ध नहीं होता है। फिर भी वह नित्य है। अतः सांख्यमत के अनुसार उक्त दोनों ही उपलब्धियाँ आत्मचैतन्य में व्यभिचरित हैं।

शाक्यस्यापि त्वनैकान्त ···व्योमभिस्त्रिभिः

(२) बौद्धों के मत के अनुसार (१) प्रतिसंख्यानिरोध (२) अप्रतिसंख्यानिरोध एवं (३) व्योम इन तीनों ही विपक्षों में उक्त दोनों ही अनुपलब्धियाँ व्यभिचरित होंगी। (व्योम में व्यभिचार का उपपादन आगे श्लोक ३० में किया जायगा)।

बुद्धिपूर्वम्···निरोधधीः···अप्रतिसंख्यया

(१) बुद्धिपूर्वक मुद्गरादि के प्रहार से अभिव्यक्त होनेवाले घटादि के विनाश (निरोध) को 'प्रतिसंख्यानिरोध' एवं (२) अबुद्धिपूर्वक बिना सोचे-समझे दिवाल आदि के गिरने से जो घटादि का विनाश अभिव्यक्त होता है उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं।

तौ च···अकृतकावपि

ये दोनों ही प्रकार के विनाश चूँकि विनाशी नहीं हैं (विनाश का विनाश नहीं होता) अतः अविनाशी होने के कारण ये कृतक (कृतिजन्य) भी नहीं हैं। इन विनाशों में नित्यत्व नहीं है, किन्तु उक्त दोनों ही अनुपलब्धियाँ हैं, क्योंकि विनाशक्षण से पहले या पश्चात् विनाश की उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि घटादि में कृतकत्व नियमतः विनाशित्व के साथ ही देखा जाता है, इसलिये कृतकत्व विनाशित्व का व्याप्य है। व्याप्याभाव व्यापकाभाव का ज्ञापक है। अतः उक्त निरोधों में चूँकि विनाशित्व नहीं है, अतः उसमें कृतकत्व भी नहीं है ॥ २१–२३ ॥

> **आहुः स्वभावसिद्धं हि ते विनाशमहेतुकम्।**
> **हेतुर्यस्य विनाशोऽपि तस्य दृष्टोऽङ्कुरादिवत् ॥ २४ ॥**
> **विनाशस्य विनाशस्तु नास्ति तस्मादकृत्रिमः।**
> **भवति ह्यग्निसम्बन्धात् काष्ठादङ्गारसन्ततिः ॥ २५ ॥**
> **मुद्गरादिहताच्चापि कपालं जायते घटात्।**
> **स्वाभाविको विनाशस्तु जातमात्रप्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥**

आहुः····अङ्कुरादिवत्

बौद्धगण कहते हैं कि जिस प्रकार घटादि कपालादि कारणों से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार घटादि के विनाश किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते। घटादि का

विनाश स्वाभाविक है। घटादि अपने कारणों से विनश्वर (विनाशस्वभाव के) ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाते हैं। विनाश के लिये कारण की कल्पना व्यर्थ है। अतः विनाश का कोई कारण नहीं है।

जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उस उत्पत्ति का कोई कारण होता है, एवं उत्पत्तिशील वस्तु का विनाश भी अवश्य होता है। अङ्कुरादि के विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं है। अतः विनाश का विनाश नहीं होता। इसलिये विनाश 'अकृत्रिम' है। इसलिये श्लोक २३ में उल्लिखित 'अनाशित्वात्' यह हेतु ठीक है।

भवति हि""सन्ततिः

प्रश्न—तो क्या घटादिविनाश में मुद्गरादि के प्रहारों के कुछ भी नहीं होता ? इस प्रश्न का बौद्धगण यह उत्तर देते हैं :—

जितने भी कारण हैं, वे स्वरसतः 'सदृशकार्यजननस्वभाव' के ही हैं। इसलिये इस क्षण में उत्पन्न घट से अपर क्षण में तत्सदृश घट की ही उत्पत्ति होती है। किन्तु जिस क्षण को मुद्गर प्रहारादि विलक्षण कारणों का सहयोग प्राप्त हो जाता है, उस घटक्षण से घट से विलक्षण कपाल स्वरूप विसदृश कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् मुद्गरादि के प्रहार से घट के फूटने पर जो उसके टुकड़ों (कपालों) को उत्पत्ति होती है, मुद्गरादिप्रहार उस कपाल के ही कारण हैं, घटविनाश के नहीं।

अतः जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि के संयोग से अङ्गार की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुद्गरादिसहकृत घट से कपाल की ही उत्पत्ति होती है, घटविनाश की नहीं। विनाश तो स्वाभाविक है, वह तो घट के उत्पन्न होते ही उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है। उसे मुद्गरादिप्रहार की अपेक्षा नहीं है॥ २४-२६॥

सूक्ष्मः सदृशसन्तानवृत्तेरनुपलक्षितः।
यदा विलक्षणो हेतुः पतेत् सदृशसन्ततौ॥ २७॥
विलक्षणेन कार्येण स्थूलोऽभिव्यज्यते तदा।
तेनासदृशसन्तानो हेतोः सञ्जायते यतः॥ २८॥

सूक्ष्मः""सदृशसन्ततौ""अभिव्यज्यते तदा

(प्रश्न—यदि घट का नाश स्वाभाविक है तो मुद्गरादि की उसे आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। तो फिर मुद्गरादि के प्रहार के पहले घट के विनाश की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

विनाश स्वभाव के घट से दो प्रकार के 'सन्तान' उत्पन्न होते हैं (१) सदृश सन्तान और (२) विसदृश सन्तान। इनमें सदृश सन्तानगत 'विनाश' सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होता। मुद्गरादिप्रहार स्वरूप विलक्षण कारणों से जब घट के द्वारा कपाल सन्तान स्वरूप विसदृश सन्तान की उत्पत्ति होती है तो उसमें रहने वाला 'विनाश' स्वरूप कार्य उस विसदृशता से अभिव्यक्त हो जाता है। अर्थात् मुद्गरादिप्रहार घटादिविनाशों के अभिव्यञ्जक हैं, उत्पादक नहीं। अतः मुद्गरादि के प्रहार की अपेक्षा विनाश की अभिव्यक्ति के लिये ही होती है, विनाश की

उत्पत्ति के लिये नहीं। विनाश तो स्वाभाविक होने के कारण अनुत्पत्तिशील ही है। तस्मात् मुद्गरादिप्रहार स्वरूप हेतु से कपालादि विसदृश सन्तानों की ही उत्पत्ति होती है, विनाश की नहीं ॥ २७–२८ ॥

तेनैवाक्रियमाणोऽपि नाशोऽभिव्यज्यते स्फुटः।
स मुद्गरप्रहारादिप्रयत्नानन्तरीयकः ॥ २९ ॥

यस्मादकृतको दृष्टो हेतुः स्याद् व्यभिचार्यतः।
आकाशमपि नित्यं सद् यदा भूमिजलावृतम् ॥ ३० ॥

व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः।
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते ॥ ३१ ॥

तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनात्।
अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते ॥ ३२ ॥

शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते।
कूपपूरणयत्नेन खं तिरोधीयते यदा ॥ ३३ ॥

अस्थानादित्ययं हेतुस्तदानैकान्तिको भवेत्।
आकाशधीप्रबन्धो हि तदा तस्मिन्न तिष्ठति ॥ ३४ ॥

तिरोहितानभिव्यक्तेः शब्दबुद्धिप्रबन्धवत्।
शब्दस्यैवानवस्थानादिति हेतुं वदेद् यदि ॥ ३५ ॥

असिद्ध एव वक्तव्यस्ततोऽभिव्यक्तिवादिना।
तद्व्यापारकृतत्वेऽपि व्यञ्जकैर्मूलोदकादिभिः ॥ ३६ ॥

तेनैवाक्रियमाणोऽपि ''प्रयत्नाऽनन्तरीयकः'' 'व्यभिचार्यतः

इसलिये 'प्रयत्नानन्तरनिश्चीयमानत्व' (तत्र दर्शनात्) हेतु विनाश में व्यभिचरित है, क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न न होने पर भी विनाश का ज्ञान मुद्गरप्रहारादि-जनक प्रयत्न के बाद ही होता है। अतः विनाश में कृतकत्व रूप साध्य नहीं है किन्तु प्रयत्नानन्तरज्ञायमानत्व (तत्र दर्शन) हेतु है।

आकाशमपि ''उत्सेचनादिभिः'' तत्रापि दृश्यते'' 'तत्र दर्शनात्

एवं आकाश में भी यह 'तत्र दर्शन' (प्रयत्नानन्तरज्ञायमानत्व) हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि आकाश नित्य एवं विभु है। किन्तु भूमि और जल से आवृत होने के कारण सर्वदा आकाश की उपलब्धि नहीं होती है। भूमि के खोदने से भूमि में, एवं उछालने से जल में आवरण के हट जाने से आकाश की उपलब्धि होती है। अतः आकाश में प्रयत्नानन्तरनिश्चीयमानत्व हेतु है, किन्तु अनित्यत्व स्वरूप साध्य नहीं है। अतः 'तत्र दर्शनात्' यह हेतु (प्रयत्नानन्तरनिश्चीयमानत्व हेतु) आकाश में अनैकान्तिक है। अतः उससे शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

अथ स्थगितमपि'''अनुमीयते

(पू० प०) 'स्थगित' अर्थात् भूमि और जल से आवृत आकाश की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि भले ही न हो, किन्तु अनुमान से उसकी उपलब्धि तो हो सकती है,

क्योंकि सर्वगत वस्तु का कहीं अभाव नहीं हो सकता। आकाश चूँकि अणु न होने पर भी काल के समान ही नित्य भी है, अतः वह अवश्य ही सर्वगत (विभु) है।

शब्दोऽपि ''अवगम्यते

(सि० प०) इसी प्रकार 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञान से यह भी समझते हैं कि वर्तमानकाल में इस उपलब्धि से पहले भी वह अवश्य था, क्योंकि पूर्वकाल में सत्ता के बिना यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न नहीं हो सकती है।

कूपपूरणयत्नेन''यदा''अस्थानादित्ययम्''अनैकान्तिकः

'सतः परमदर्शनं विषयानवगमात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १३) इस सूत्र के द्वारा शब्द में अनित्यत्व के साधक 'अस्थानात्' इस हेतु में व्यभिचार दोष का उद्भावन किया गया है।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि 'अस्थानात्' इस हेतु के द्वारा जो शब्दोपलब्धि के पूर्व और पश्चात् शब्द की 'अस्थिति' अर्थात् अविद्यमानता से यह उपपादन किया गया है कि शब्द उत्पन्न होने के बाद ही विनष्ट हो जाता है यह हेतु भी 'व्यभिचारी' है, क्योंकि 'अस्थिति' अर्थात् अधिक समय तक शब्द की अनुपलब्धि शब्द की सत्ता के रहते हुए भी शब्द रूप 'विषय' के देश में 'अभिव्यञ्जक' के 'अनागमन' अर्थात् न रहने से भी सम्भव है।

'कूपपूरणप्रयत्न' से अर्थात् कूप को पाटने के प्रयत्न से कूपवर्ति आकाश जिस समय तिरोहित हो जाता है, उस समय यह 'अस्थानात्' हेतु अनैकान्तिक होगा, क्योंकि उस समय भी आकाश की सत्ता रहती है, किन्तु आकाश की बुद्धिपरम्परा नहीं चलती है।

इसी प्रकार शब्दोपलब्धि के पहले या पीछे शब्द तिरोहित होने के कारण ही अनुपलब्ध रहता है, इसीलिए शब्दबुद्धि की परम्परा उस समय नहीं चलती है। किन्तु इससे शब्द की असत्ता सिद्ध नहीं होती।[1]

---

१. इस प्रसंग में विचारणीय है कि वर्तमान अथ च प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का अप्रत्यक्ष ही तिरोधान कहलाता है। आकाश तो प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर कूपपूरणप्रयत्न से जो आकाश के तिरोधान की बात कही गई है, उसका क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

आकाश अतीन्द्रिय नहीं है, उसका भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि आकाश का भी 'अपरोक्षावभास' (साक्षात्कारात्मिका प्रतीति) होता है। यदि ऐसा न हो तो आकाश की सत्ता अप्रामाणिक हो जायगी।

शब्द स्वरूप गुण से जो उसके आश्रय स्वरूप आकाश के अनुमान की बात कही जाती है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द में गुणत्व ही सिद्ध नहीं है।

यदि शब्द को गुण मान भी लें तथापि उसे प्रसिद्ध वायु में आश्रित मान लेने से भी काम चल सकता है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय का वायु के साथ सम्बन्ध होने से ही शब्द की उपलब्धि होती है। अतः जिस प्रकार घ्राणेन्द्रिय के साथ चम्पा फूल का सम्बन्ध होने से

शब्दस्यैवानवस्थानात् ''अभिव्यक्तिवादिका

यदि प्रयत्न के पहले और पीछे शब्द की अनुपलब्धि को हेतु न मानकर उक्त दोनों ही कालों में शब्द के 'अनवस्थान' अर्थात् असत्ता से शब्द में कृतकत्व की सिद्धि से शब्द को कृतक मानने वालों का अभिप्रेत मानें तो 'अभिव्यक्तिवादियों' को (शब्द को नित्य मानकर प्रयत्न से शब्द की उत्पत्ति न मानकर अभिव्यक्ति मानने वाले मीमांसकों को) इस अनुमान में 'असिद्ध' दोष का उद्भावन करना चाहिये, क्योंकि पूर्वापर काल में 'अस्थिति' स्वरूप हेतु अभी शब्द में सिद्ध नहीं है।

तद्व्यापारकृतत्वेऽपि ''मूलोदकादिभिः

यह विचारणीय है कि प्रकृत में 'कृतकत्व' क्या है। (१) जिस किसी प्रकार किसी कारण से उत्पन्न होना ही कृतकत्व है ? (२) अथवा व्यापार के द्वारा उत्पन्न होना ही कृतकत्व है ? इनमें यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करें तो 'प्रयत्नानन्तर्य' हेतु यत्किञ्चित्कारणजन्यत्व स्वरूप साध्य से अभिन्न होने के कारण अप्रयोजक हो जायगा।

गृहीत होनेवाले गन्ध के साथ-साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह गन्ध स्वरूप गुण चम्पक द्रव्य का ही है उसी प्रकार वायुसंनिकृष्ट श्रोत्र से शब्दग्रहण के साथ-साथ यह भी गृहीत होगा कि 'शब्द वायु का गुण है'।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कण्ठताल्वादि स्थानों से शब्दगुणविशिष्ट ही वायु की उत्पत्ति होती है। यह शब्दगुणविशिष्ट वायु जब श्रोत्र के साथ संयुक्त होता है तो श्रोत्र का शब्द के साथ भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध हो जाता है। अतः इस पक्ष में संयुक्तसमवाय सम्बन्ध के द्वारा श्रोत्र से शब्द का ग्रहण होगा।

इस पक्ष में यह आपत्ति भी नहीं दी जा सकती कि चूँकि 'वायु अनित्य है, अतः अनित्य वायु का गुण शब्द भी अनित्य ही होगा, इससे शब्द का नित्यत्व ही विघटित हो जायगा। अतः शब्द को यदि नित्य मानना है तो उसे नित्य आकाश का ही गुण मानना चाहिये," क्योंकि अनित्य वस्तु का धर्म नित्य भी हो सकता है, जैसे कि अनित्य गो का गोत्व स्वरूप धर्म नित्य होता है। उसी प्रकार अनित्य वायु का भी शब्द स्वरूप धर्म (गुण) नित्य हो सकता है। अर्थात् धर्म की नित्यता के लिए धर्मी की नित्यता आवश्यक नहीं है।

अतः अनुमान प्रमाण से आकाश की सिद्धि नहीं हो सकती। आकाश में रूप के न रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि आकाश की प्रतीति साक्षात्कारात्मिका होती है। साक्षात्कारीय विषयता ही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, रूपवत्त्व प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं है।

आकाश की प्रत्यक्षता की रीति से ही दिक् और काल की प्रत्यक्षता का भी समर्थन करना चाहिये, क्योंकि उनका भी अपरोक्षावभास होता है। एवं उनका ज्ञापक कोई अन्य प्रमाण नहीं है। अतः कूपपूरणप्रयत्नादि से आकाश के तिरोधान की बात अयुक्त नहीं है।

यदि दूसरा पक्ष मानें तो 'मूलोदक' अर्थात् पृथिवीतल के अनुपलब्ध जल में प्रयत्नानन्तर्य हेतु व्यभिचरित होगा, क्योंकि मूलोदक में व्यापारजन्यत्व स्वरूप साध्य (कृतकत्व) नहीं है किन्तु प्रयत्नानन्तर्य हेतु है, क्योंकि प्रयत्न करने पर मूलोदक की भी उपलब्धि होती है ॥ २९–३६ ॥

कृतकत्वेऽपि तेषां हि नोत्पत्तिः खननादिना ।
न चोच्चारणतोऽन्यास्ति शब्दस्योत्पादिका क्रिया ॥ ३७ ॥

क्योंकि खननादि व्यापारों से मूलोदकादि की अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं। इस रीति के अनुसार उच्चारण के द्वारा पूर्व से विद्यमान शब्द की भी अभिव्यक्ति ही होती है उत्पत्ति नहीं। अतः शब्द में कृतकत्व नहीं है, फलतः शब्द कृतिजन्य है ही नहीं ॥ ३७ ॥

निबन्धर्यसतोरेवं विशिष्टेऽपि तथैव नः ।
अबन्धाः स्युर्यदैतेषामबोधो हेत्वभावतः ॥ ३८ ॥

(पू० प०) शब्द में कृतकत्व के साधन के लिये जो 'प्रागूर्ध्वमनुपलम्भात्' यह हेतु है, उसमें 'प्रतिबन्धकाभावेऽपि' यह विशेषण और देना है। मूलोदक की अनुपलब्धि इस लिये नहीं होती कि उपलब्धि से पूर्व एवं बाद में उसको सत्ता नहीं है किन्तु उसकी उपलब्धि इसलिये नहीं होती है कि भूमि से आवृत्त रहना उपलब्धि का प्रतिबन्धक विद्यमान है। अतः उक्त हेतु मूलोदक में व्यभिचरित नहीं है। पूर्वपक्षवादी का यह समाधान इस लिये अयुक्त है कि—)

मूलोदक जब खननादि के द्वारा बाहर आ भी जाता है, तथापि दीपादि कारणों के न रहने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः कृतिजन्य के रहने पर भी 'प्रागूर्ध्वाऽनुपलब्धि' हेतु तो है ही, भले हो यह अनुपलब्धि दीपादि के अभाव हेतु से प्रयोज्य हो ॥ ३८ ॥

व्यञ्जकाभावतः शब्देऽप्यबोधो बधिरादिवत् ।
तस्यैव वा निबन्धृत्वे भवेद्धेतोरसिद्धता ॥ ३९ ॥
अथ पूर्वापरासत्त्वं हेतुस्तत्राप्यसिद्धता ।
सन्नेव साधनाभावाच्छब्दो नैवोपलभ्यते ॥ ४० ॥

व्यञ्जकाभावतः""बधिरादिवत्

प्रश्न—भूमिगत मूलोदक गुरुत्वादि की तरह स्वभाव से ही अतीन्द्रिय है, अतः सभी समयों में उनकी अनुपलब्धि होती है। पूर्वापर काल में शब्द की जो अनुपलब्धि होती है, उसकी उपपत्ति तो पूर्वापर काल में शब्द के असत्त्व स्वरूप शब्द की अनित्यता से ही हो सकती है। अतः शब्द की पूर्वापरानुपलब्धि अवश्य ही शब्द के अनित्यत्व का ज्ञापक है। इस प्रश्न का यह उत्तर है—

कथित 'प्रागूर्ध्वकाल' में शब्द की अनुपलब्धि भी व्यञ्जक के अभाव से ही होती है, शब्द की असत्ता से नहीं। जैसे कि बधिर को विद्यमान भी शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

तस्यैव वा' 'नैवोपलम्भते

अथवा व्यञ्जकाभाव को ही प्रतिबन्धक मान लें तो 'प्रतिबन्धाभावे सति अनुपलम्भात्' यह हेतु ही असिद्ध हो जायगा, क्योंकि पूर्वापर काल में शब्द की अनुपलब्धि के रहने पर भी प्रतिबन्धकाभाव सहकृत अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि शब्द की उक्त अनुपलब्धि शब्दोपलब्धि के किसी प्रतिबन्ध के रहने से नहीं होती, किन्तु व्यञ्जक की असत्ता प्रयुक्त होती है। उन पूर्वापर कालों में भी शब्द की सत्ता तो अवश्य ही रहती है, व्यञ्जक के अभाव से उपलब्धि नहीं हो पाती ॥ ३९-४० ॥

क्षणिकं साधनं चास्य बुद्धिरप्यनुवर्तते।
मेघान्धकारशर्वर्यां विद्युज्जनितदृष्टिवत् ॥ ४१ ॥

(पू० प०—जिस समय शब्द को व्यञ्जक का सांनिध्य प्राप्त हो जाता है, उसके बाद चिरकाल तक शब्द की उपलब्धि क्यों नहीं होती रहती है ? व्यञ्जकप्रयत्न के तत्काल बाद ही शब्द पुनः क्यों नहीं उपलब्ध होता ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

जिस प्रकार अंधेरी रात में बिजली की चमक से होने वाली घटादि की उपलब्धि बिजली के समान ही चिरस्थायिनी नहीं होती, उसी प्रकार वायवीय ध्वनि श्रोत्र के साथ सम्बद्ध होने के बाद ही अन्यत्र चली जाती है। अतः शब्द की उपलब्धि चिरस्थायिनी नहीं होती ॥ ४१ ॥[1]

यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतेः ॥ ४२ ॥

---

१. अन्धकार के पर्याय 'तम' के सम्बन्ध में वैशेषिकों का कहना है कि तम चूँकि द्रव्य, गुण एवं कर्म के समान नहीं है, अतः तम तेज का अभाव ही है।

किन्तु वैशेषिकों का उक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो 'नीलं तमः' इस आकार की 'नीलबुद्धि' निर्धर्मिक हो जायगी, क्योंकि नीलरूप द्रव्य का धर्म है, अभाव का नहीं। तेज के अभाव में रहनेवाली नीलिमा का अनुभावक अथवा स्मारक वहाँ नहीं है। अतः वायु के समान ही 'तम' भी एक स्वतन्त्र द्रव्य ही है। दोनों में इतना ही अन्तर है कि वायु रूपरहित होने के साथ स्पर्श से युक्त है किन्तु तम स्पर्श से रहित होने के साथ-साथ रूप से युक्त है।

अथवा यह भी कह सकते हैं कि खिड़कियों के छेद से पार्थिव त्रसरेणु के जो पुञ्ज दीख पड़ते हैं, उनमें जो नील रूप से युक्त त्रसरेणु हैं, उनके नील रूप का ही भ्रम तम में होता है। बीच के दूसरे द्रव्य या दूसरे गुण प्रतिभात नहीं होते। अतः उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में केवल नील रूप ही व्याप्त दीखता है। प्रतीति के बल से यह मानने को बाध्य होते हैं कि अन्य रूपों के समान आलोकसहकृत चक्षु से इसका ग्रहण नहीं होता किन्तु आलोकनिरपेक्ष चक्षु से ही इसका ग्रहण होता है। अतः 'तम' द्रव्य ही है, तेज का अभाव नहीं।

वायवीय ध्वनियों में शब्द को अभिव्यक्त करने की शक्ति (अभिव्यञ्जकता) उसी प्रकार है जिस प्रकार दीप में घटादि की अभिव्यञ्जकता है। अर्थात् जिस प्रकार घट के साथ चाक्षुष तेज के उपयुक्त सम्बन्ध के सम्पादन द्वारा दीप चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य घटादि का व्यञ्जक होता है, उसी प्रकार ध्वनि भी श्रोत्र से शब्दग्रहण के उपयुक्त संस्कार का उत्पादक होने से शब्द का व्यञ्जक है ॥ ४२ ॥

न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संस्कृतिः ।
उत्पत्तावपि तुल्यत्वाच्छक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥ ४३ ॥

यह प्रश्न ही उचित नहीं है कि ध्वनि में श्रोत्रसंस्कार का 'अनुग्रह' करने वाली कौन सी वस्तु है जिसके द्वारा ध्वनि को श्रोत्रसंस्कारकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि जो सम्प्रदाय शब्द को उत्पत्तिशील मानते हैं (नित्य नहीं मानते) उनके मत से भी शब्द के उत्पादक कारणों में अतीन्द्रिय 'शक्ति' स्वरूप उत्पादकत्व ही मानना होगा। इसी प्रकार हम लोग (शब्दनित्यत्ववादी) भी कह सकते हैं कि ध्वनि में शब्द को अभिव्यक्त करने की एक अतीन्द्रिय शक्ति है जिससे ध्वनि के द्वारा शब्द अभिव्यक्त होते हैं ॥ ४३ ॥

नित्यं कार्यानुमेया च शक्तिः किमनुयुज्यते ।
तद्भावभावितामात्रं प्रमाणं तत्र गम्यते ॥ ४४ ॥

शक्ति का तो सर्वत्र कार्य से अनुमान ही होता है, अतः कार्य में जो शक्तिजन्यत्व है, वही उसका ज्ञापक प्रमाण है। तदनुसार ध्वनियों में भी शब्द को अभिव्यक्त करने की शक्ति है ॥ ४४ ॥

अतोऽतीन्द्रिययैवैते शक्त्या शक्तिमतीन्द्रियम् ।
इन्द्रियस्यादधानाः स्युः शब्दाभिव्यक्तिहेतवः ॥ ४५ ॥

तस्मात् ध्वनियाँ अपनी अतीन्द्रिय शक्ति के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय में शब्दग्रहण की अतीन्द्रिय शक्ति को उत्पन्न करने के कारण ही शब्द की अभिव्यञ्जिका हैं ॥ ४५ ॥

व्यञ्जको नान्यजातिश्चेत् श्रोत्रं शब्दस्य ते कथम् ।
पार्थिवानां घटादीनां प्रदीपादिश्च तैजसः ॥ ४६ ॥

व्यञ्जको नान्यजाश्चेत्

(पू० प०) पार्थिवेन्द्रिय घ्राण स्वगत गन्ध के साहाय्य से ही अन्य गन्धों को अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार रसना स्वरूप जलीय इन्द्रिय भी स्वगत रस के द्वारा अन्य रसों को, तैजस चक्षु भी स्वगत रूप के साहाय्य से अन्य रूपों को, एवं वायवीय त्वगिन्द्रिय भी स्वगत स्पर्श के साहाय्य से ही अन्य स्पर्शों को अभिव्यक्त करतीं हैं।

इससे यह निष्पन्न होता है कि व्यञ्जक और व्यङ्ग्य दोनों को समानजातीय होना चाहिये। इस नियम के अनुसार वायवीय ध्वनियाँ शब्दों की अभिव्यञ्जिका नहीं हो सकतीं, क्योंकि ध्वनि और शब्द दोनों एकजातीय नहीं हैं। शब्द ध्वनि का

गुण भी नहीं है, जिससे घ्राणादिगत गन्धादि के समान ध्वनि से अभिव्यक्त होगा। तस्मात् ध्वनि से शब्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

श्रोत्रं शब्दस्य ते कथम्

(सि० प०) इस आक्षेप का यह उत्तर है कि यह नियम ही अव्यभिचरित नहीं है कि अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जक दोनों समानजातीय हों। यदि ऐसा हो तो तुम लोगों (वैशेषिकों) के मत से आकाश स्वरूप (द्रव्यजातीय) श्रोत्रेन्द्रिय गुणत्व-जातीय शब्द का अभिव्यञ्जक कैसे होगा ?

विभिन्न जातीय वस्तुओं के व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। जैसे कि पार्थिव घटादि की अभिव्यक्ति तैजस दीपादि से होती है ॥ ४६ ॥

आत्मादिसम्प्रयोगे च कार्यैः स्यात् तुल्यजातिता।
जातिर्या काचिदिष्टा चेत् सा नोऽत्रापि भविष्यति ॥ ४७ ॥

आत्मादिसम्प्रयोगे""तुल्यजातिता

जिस प्रकार व्यङ्ग्य और व्यञ्जक में समानजातीयता का नियम नहीं है, उसी प्रकार विभिन्नजातीयता का भी नियम नहीं है, क्योंकि आत्मा और मन का विभिन्नजातीय संयोग (सम्प्रयोग) गुणत्वजातीय ज्ञान का ही अभिव्यञ्जक है।

जातिर्या""भविष्यति

यदि जिस किसी प्रकार व्यञ्जक और व्यङ्ग्य में एकजातीयता के संपादन का आग्रह हो तो वह भी वायवीय ध्वनि और शब्द इन दोनों में है ही, क्योंकि दोनों एक ही सत्ता जाति के हैं। सत्ता जाति के द्वारा दोनों समानजातीय हैं ही ॥ ४७ ॥

उपलब्धिनिमित्ताच्च नान्यद् व्यञ्जकमुच्यते।
तस्माद् यथोपलब्धत्वात् स जातिव्यञ्जको भवेत् ॥ ४८ ॥
तथा तदविनाभावाद् विजातीयो भविष्यति।
वायवीयानभिज्ञत्वात् ताल्वादिस्थाभिमानतः ॥ ४९ ॥

उपलब्धि""भविष्यति

उपलब्धि का हेतु होने से ही कोई 'व्यञ्जक' कहलाता है। अर्थात् उपलब्धि-निमित्तत्व ही व्यञ्जकत्व है। 'तस्मात्' उपलब्धि का यह हेतु उपलभ्य विषय का सजातीय हो, अथवा विजातीय—इसका कोई नियम आवश्यक नहीं है।

वायवीया""अभिमानतः

'सतः परमदर्शनं विषयानवगमात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १३) इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है कि पहले से विद्यमान शब्द की ही अभिव्यक्ति 'संयोग' और 'विभाग' से होती है। अतः संयोग और विभाग ही शब्द के अभिव्यञ्जक हैं। (देखिये शाबरभाष्य पृ० ७६) इस पर भाष्य में ही 'उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयते इति चेत् ?' (शाबरभाष्य पृ० ७७) इस वाक्य के द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि संयोग और विभाग के 'उपरत' होने पर अर्थात् विनष्ट होने पर जब शब्द

की उपलब्धि होती है तो संयोग और विभाग को शब्द का अभिव्यञ्जक कैसे कहा जा सकता है ?[1] ॥ ४८–४९ ॥

अनभिव्यञ्जकत्वार्थमाहोपरतयोरपि ।
वायवीयधियैवोक्तं न नूनमिति चोत्तरम् ॥ ५० ॥

वायवीयधियैव ''चोत्तरम्

'न नूनमुपरमन्ति संयोगविभागाः' (पृ० ७७ पं० २) यह सन्दर्भ भाष्यकार ने वायवीय संयोग विभाग के प्रसंग में अत्यन्त 'गूढ़' अभिप्राय से लिखा है। अर्थात् वायवीय संयोग विभाग शब्दोपलब्धि से पूर्व उपरत नहीं होते। अतः वायवीय संयोग विभागों में शब्द की अभिव्यक्तिजनकता अव्यभिचरित है ॥ ५० ॥

अभिघातवचस्तः प्रागेवं गूढधियावुभौ ।
यदि शब्दमितीहापि त्रेधाभिव्यक्तिसम्भवः ॥ ५१ ॥

अभिघात'' उभौ

एवं 'यदि संयोगविभागा एव अभिव्यञ्जन्ति' (पृ० ७७ पं० ५) और 'अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः' (पृ० ७९ पं० ५) पूर्वपक्षवादी और उत्तरपक्षवादी क्रमशः दोनों के मतों के प्रतिपादक ये दोनों सन्दर्भ 'गूढ़ाभिप्रायक' हो हैं, तो 'अप्राप्ताश्चेत् संयोगविभागाः' (पृ० ७९ पं० १) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा पूर्वपक्षवादी ने जो उत्तरपक्षवादो के ऊपर दोषोद्भावन किया है वह असंगत हो जायगा, क्योंकि संयोग और विभाग दोनों यदि वायवीय होते तो पूर्वपक्षवादो को आक्षेप करने का कोई अवसर नहीं होता।

इस प्रकार उत्तरपक्षवादी के लिये भी कहा जा सकता है कि संयोग और विभाग का उपरम होने पर शब्दोपलब्धि को विस्पष्ट 'अभिघातवाक्य' (पृ० ७९ पं० ५) में ही कर दिया गया है। तस्मात् प्रकृत पूर्वपक्षभाष्य और सिद्धान्तभाष्य दोनों हो 'गूढ़ाभिप्रायक' ही हैं (साधारण रूप से समझे जानेवाले अर्थ के बोधक नहीं हैं)।

---

१. यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि वैशेषिकादि कण्ठताल्वादि के संयोग और विभाग को शब्द का अभिव्यञ्जक मानते हैं। सिद्धान्ती मीमांसक श्रोत्र के साथ वायु के संयोग को वायु का अभिव्यञ्जक मानते हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त आक्षेप के समाधान में जो "नैतदेवम्''''''यत उपलभ्यते शब्दः''''''न हि ते'''(पृ० ७७ पं० २) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा आक्षेप का समाधान किया है, वह अयुक्त-सा लगता है, क्योंकि वायवीय संयोग विभाग के उपरम के बाद तो शब्द का श्रवण मीमांसकों के मत से नहीं होता है। इस असामञ्जस्य का परिहार इस प्रकार समझना चाहिये कि वायवीय संयोग विभाग में शब्द की अभिव्यञ्जकता को दृष्टि में न रखकर ही कण्ठताल्वादि के संयोग विभाग को शब्द का अभिव्यञ्जक मानकर भाष्यकार ने उक्त सन्दर्भ लिखा है। एवं कण्ठताल्वादि के संयोग में अनभिव्यञ्जकत्व की सिद्धि के लिए उपर्युक्त 'उपरतयोः' इत्यादि सन्दर्भ भाष्यकार ने लिखा है।

यदि शब्दम्''''अभिव्यक्तिसंभवः

'यदि शब्दं संयोगविभागा एव कुर्वन्ति' (शाबरभाष्य पृ० ७७ पं० ५) इस पूर्वपक्ष भाष्यसन्दर्भ में जो संयोग और विभाग के द्वारा शब्दाभिव्यक्ति की चर्चा की गयी है, वह शब्दाभिव्यक्ति तीन प्रकार से सम्भव है ॥ ५१ ॥

सा हि स्याच्छब्दसंस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।
तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि ॥ ५२ ॥

वे संभावित तीन प्रकार ये हैं—

(१) शब्द में संस्कार के उत्पादन द्वारा,

(२) श्रोत्रेन्द्रिय में संस्कार के आधान के द्वारा एवं

(३) दोनों में ही संस्कारों के आधान के द्वारा ।

इनमें से प्रथम प्रकार इसलिये संभव नहीं है कि शब्द को नित्य मानने वालों को उसे विभु भी मानना ही पड़ता है। विभु एवं (सर्वव्यापी) शब्द यदि संस्कृत होता तो उसे सभी पुरुष समान रूप से सुन पाते। अतः शब्दगत संस्कार के उत्पादन द्वारा शब्द को अभिव्यक्त नहीं माना जा सकता ।

यदि हम (शब्दानित्यत्ववादी) शब्द को कृतक (कृतिजन्य) मान लेते हैं, तो वह जिन पुरुषों के सुनने के उपयुक्त संनिहित देश में उत्पन्न होगा, उन्हीं लोगों से सुना जायगा, सभी पुरुषों से नहीं। अतः पूर्व से अविद्यमान शब्द की उत्पत्ति ही होती है, अभिव्यक्ति नहीं ॥ ५२ ॥

निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशे हि संस्क्रिया ।

(पू० प०) जिस शब्द के जो प्रदेश ध्वनियों के द्वारा संस्कृत होते हैं दूरवर्त्ती पुरुष के श्रोत्र के साथ उस शब्द का कोई भी सम्बन्ध संभव नहीं है। इसलिये दूर के लोग उस शब्द को नहीं सुन पाते। अतः 'शब्दसंस्कार' पक्ष में कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षवादियों के इस कथन का यह उत्तर है कि—)

नित्यत्ववादियों के मत से शब्द चूँकि विभु है, अतः उसका कोई भाग (अंश) नहीं हो सकता। इसलिये शब्द के एक देश में संस्कार की कोई बात ही नहीं उठती ॥ ५३ ॥

न चास्याधारभेदेन संस्कारनियमो भवेत् ॥ ५३ ॥
यतः शब्दो निराधारो व्योमात्मादिवदेव च ।
अथाप्याकाशमाधारस्तत्रानवयवेऽसति ॥ ५४ ॥
न स्यात् प्रदेशसंस्कारः कृत्स्नशब्दमतेरपि ।
न हि सामस्त्यरूपेण यावद् व्योम व्यवस्थितः ॥ ५५ ॥
शक्यते सकलो बोद्धुमेकदेशेन संस्कृतः ।
आकाशश्रोत्रपक्षे च विभुत्वात् प्राप्तितुल्यता ॥ ५६ ॥
दूरभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते ।
श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत् ॥ ५७ ॥
तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते ।
तस्यानवयवत्वाच्च न धर्माधर्मसंस्कृतः ॥ ५८ ॥

नभोदेशो भवेच्छ्रोत्रं व्यवस्थाद्वयसिद्धये ।
वैशेषिकादिसिद्धान्तेष्वेवं तावत् प्रसज्यते ॥ ५९ ॥

न ह्यस्याधारभेदेन''आत्मादिवदेव च

(पू० प०) निरवच्छिन्न आकाश शब्द का आधार नहीं है, प्रदेशावच्छिन्न आकाश ही शब्द का आधार है। ध्वनि के द्वारा आधार के विशेषणीभूत जो प्रदेश संस्कृत होगा, उसी प्रदेश के लोग उस शब्द को सुन सकेंगे। अतः 'शब्दसंस्कार' पक्ष में अति दूरस्थ लोग के द्वारा शब्दश्रवण की आपत्ति नहीं दी जा सकती। शब्दानित्यत्व वादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

जिस प्रकार नित्य एवं विभु आकाश का अथवा आत्मा का कोई आधार नहीं हो सकता, उसी प्रकार शब्द भी नित्य एवं विभु है, अतः शब्द का भी कोई आधार नहीं हो सकता। अतः आधार में संस्कार के द्वारा दूरस्थ पुरुष में शब्द-ग्रहण की आपत्ति समाहित नहीं हो सकती।

अथाऽप्याकाशमाधारः''प्रदेशसंस्कारः

यदि आकाश को शब्द का आधार मान भी लें तथापि समाधान नहीं हो सकता। आकाश चूँकि विभु है अतः उसका कोई प्रदेश नहीं हो सकता। अतः आकाश यदि शब्द का आधार है तो सम्पूर्ण आकाश ही शब्द का आधार है। आकाश के प्रसङ्ग में किसी प्रदेश की बात नहीं की जा सकती। अतः यह बात नहीं की जा सकती कि आकाश का कोई प्रदेश संस्कृत है, कोई नहीं। आकाश या तो सम्पूर्ण ही संस्कृत है अथवा सम्पूर्ण ही असंस्कृत है।

कृत्स्नशब्दमतेरपि

चूँकि संपूर्ण आकाश में ही शब्द की प्रतीति होती है, अतः आकाश के किसी प्रदेश विशेष को शब्द का आधार माना ही नहीं जा सकता।

न हि सामस्त्यरूपेण''''एकदेशेन संस्कृतः

समस्त व्योम में व्यवस्थित शब्द का श्रवण संस्कृत किसी एक प्रदेश में विद्यमान पुरुष के द्वारा नहीं हो सकता[1]।

आकाशश्रोत्रपक्षे च''प्रसज्यते

शब्दसंस्कार के द्वारा शब्दोपलब्धि की व्यवस्था के प्रसङ्ग में दूरस्थ व्यक्ति के शब्दश्रवण की आपत्ति प्रभृति जितने भी दोष दिये गये हैं, वे सभी के सभी यदि श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश स्वरूप मानेंगे तो आकाश के नित्य एवं विभु होने के उस पक्ष में भी उन सभी दोषों की आपत्ति होगी[2]।

---

१. इतने पर्यन्त के ग्रन्थ से यह उपपादित हुआ है कि शब्द में यदि संस्कार स्वीकार करें तो अतिदूरस्थ पुरुष को भी शब्द का श्रवण मानना होगा, अतः 'शब्दसंस्कार' पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. 'दूरभावेऽपि शब्दानामिति' (श्लोक ५७) में जो 'इति' शब्द है, वह 'हेतु' का बोधक है। तदनुसार प्रकृत में 'इति' शब्द का अर्थ है 'अतो हेतोः'।

श्रोत्रस्य चैव ''शृणुयुः सर्व एव ते

श्रोत्र को यदि आकाश स्वरूप मानें तो आकाश चूँकि 'एक' है, अतः सभी पुरुषों के श्रोत्रों को 'एक' मानना होगा। जिस से एक व्यक्ति के शब्द को सुनने से सभी व्यक्तियों में शब्द का सुनना स्वीकार होगा, किन्तु सो अयुक्त है।

तस्याऽनवयवत्वाच्च''''व्यवस्थाद्वयसिद्धये

(यदि यह कहें कि शब्दोपभोग के प्रापक धर्माधर्म से सम्बद्ध आकाश का 'भाग' ही 'श्रोत्र' है। सम्पूर्ण आकाश का श्रोत्र नहीं है। अतः शब्दसंस्कार मानने से उपयुक्त दूरी में अवस्थित व्यक्ति में ही शब्दश्रवण की व्यवस्था (एवं एक के श्रवण से सभी व्यक्तियों में शब्दश्रवण का परिहार ये सभी) उपपन्न होंगे। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

आकाश के अवयव नहीं होते, आकाश तो निरवयव है, अतः आकाश के प्रसंग में यह कहना संगत नहीं होगा कि उसका कोई अंश धर्माधर्म से संस्कृत है, एवं कोई अंश धर्माधर्म से संस्कृत नहीं है।

वैशेषिकादि''तावत् प्रसज्यते

श्रोत्र को आकाश स्वरूप मानने वाले वैशेषिकादि के मतों में इस प्रकार की आपत्तियाँ हैं ॥ ५४–५९ ॥

कापिलेऽपि विभुत्वेन श्रोत्रादेरियमेव दिक्।
सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत् ॥ ६० ॥

सांख्यदर्शन के अनुयायियों के इस प्रसंग के सिद्धान्त में भी वे सभी दोष आ पड़ेंगे जो वैशेषिकों के पक्ष में दिखाये जा चुके हैं, क्योंकि वे लोग इन्द्रियों की उत्पत्ति (या अभिव्यक्ति) 'अहंकार' से मानते हैं, उन लोगों के मत से केवल श्रोत्र ही नहीं किन्तु सभी इन्द्रियाँ विभु हैं। अतः एक वार यदि ध्वनि से श्रोत्र में संस्कार उत्पन्न हो गया तो उसी से सभी शब्दों के श्रवण की आपत्ति होगी, क्योंकि संस्कार के द्वारा ही श्रोत्र को शब्द का उपयुक्त सांनिध्य प्राप्त होता है। श्रोत्र इन्द्रिय होने के नाते ही नित्य है, एवं सर्वगत (विभु) है। इसलिये सभी शब्द सभी श्रोत्रों के समीप में ही हैं।

यदि शब्द को कृतक मान लेते हैं तो एक शब्द की उत्पत्ति के समय दूसरे शब्द की सत्ता ही नहीं रहती है, इसलिये अन्य शब्दों के अश्रवण की उपपत्ति होती है। इस प्रकार वैशेषिकों के मत में एक शब्द के श्रवण से सभी शब्दों के श्रवण की आपत्ति नहीं होती ॥ ६० ॥

घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते।
एतदेव प्रसङ्क्तव्यं विषयस्यापि संस्कृतौ ॥ ६१ ॥

घटायोन्मीलितम्''बुध्यते

(यदि सांख्यदर्शन के अनुयायी यह कहें कि जिस शब्द के श्रवण की इच्छा से श्रोत्र शब्दज्ञान के लिये उन्मुख होगा, उसी शब्द को वह सुनेगा, अन्य शब्दों को

नहीं। इस प्रकार शब्दश्रवण की 'व्यवस्था' हो सकती है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

यदि ऐसा मानेंगे तो घट को देखने के लिये खोली गयी आखों से आगे रखा हुआ पट नहीं दीख पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि एक वस्तु को देखने के लिये खोली गयी आँखों से अन्य वस्तुओं की भी उपलब्धि होती है।

एतदेव''''संस्कृतौ

शब्द स्वरूप विषय में संस्कार को स्वीकार कर शब्दोपलब्धि की सम्यक् उपपत्ति मानने के पक्ष में भी इन्हीं दोषों का उद्भावन करना चाहिये ॥ ६१ ॥

समानदेशवर्तित्वात् संस्कारोऽप्यविशेषतः ।
स्थिरत्वाव्यपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत् ॥ ६२ ॥
दृष्टं चावरणापाये तद्देशान्योपलम्भनम् ।
संस्कृतासंस्कृतत्वे च शब्दैकत्वे न सिद्धयतः ॥ ६३ ॥
एकावस्थाभ्युपेतौ वा सर्वैर्ज्ञायेत वा न वा ।
प्रत्येकाभिहिता दोषाः स्युर्द्वयोरपि संस्कृतौ ॥ ६४ ॥

समानदेश'''अविशेषतः

क्योंकि शब्द भी (मीमांसकों के मत से) नित्य एवं विभु होने से 'एक' है एवं समानदेशवर्त्ती भी है। इसलिये समान रूप से सभी देशों में रहने वाले एक ही शब्द के संस्कृत हो जाने से दूरस्थ पुरुषों के द्वारा शब्दग्रहण की आपत्ति समान रूप से होगी जिससे शब्दश्रवण की 'व्यवस्था' अनुपपन्न हो जायगी।

संस्कृतासंस्कृतत्वे च'''सिद्धयतः

यदि शब्द को विभिन्न मान लेते हैं तो शब्दश्रवण की 'व्यवस्था' किसी प्रकार उपपन्न भी हो सकती है। किन्तु शब्द को एक मानने के पक्ष में शब्दसंस्कार के द्वारा व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही शब्द संस्कृत और असंस्कृत दोनों नहीं हो सकता।

एकावस्थाभ्युपेतौ वा''''वा न वा

यदि शब्द की एक ही अवस्था स्वीकार करें, (अर्थात् शब्द को एक ही मानें) तो सभी पुरुषों के द्वारा वह ज्ञात ही होगा। अथवा किसी के द्वारा भी ज्ञात नहीं होगा। अमुक के द्वारा ज्ञात हो अमुक के द्वारा नहीं ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

प्रत्येकाभिहिता दोषाः'''संस्कृतौ

शब्द और श्रोत्र इन दोनों में से प्रत्येक में वायु के संयोग और विभाग से संस्कार की उत्पत्ति मानने के पक्ष में जितने भी दोष (पुरुषभेद के अनुसार शब्दश्रवण की अव्यवस्था एवं देशभेद के अनुसार शब्दश्रवण की अव्यवस्था प्रभृति) कहे गये हैं, उन सभी दोषों का अतिदेश शब्द और श्रोत्र दोनों में सम्मिलित रूप से संस्कार मानने के पक्ष में करना चाहिये ॥ ६४ ॥

तेन प्रादेशिकं ज्ञानं न कृतत्वाद् विना भवेद् ।
उत्तरं श्रोत्रसंस्काराद् भाष्यकारेण वर्णितम् ॥ ६५ ॥

तस्मात् प्रदेश के अनुसार शब्दज्ञान का भेद शब्द को कृतिजन्य माने विना (कृतकत्व के विना) संभव नहीं है। अर्थात् 'कहीं किसी विशेष शब्द का श्रवण होता है' यह व्यवस्था शब्द को अनित्य माने विना संभव नहीं है। अतः शब्द कृतिजन्य ही है।[1]

उत्तरं श्रोत्रसंस्कारात्'''वर्णितम्

शब्दनित्यत्व पक्ष में वैशेषिकादि के द्वारा दिये गये दोषों के परिहार का उपक्रम भाष्यकार ने 'यस्याप्यभिव्यञ्जन्ति तस्याप्येष न दोषः' (शावरभाष्य पृ० ७८ पं ६) इस सन्दर्भ से किया है। अर्थात् जिन लोगों के मत से पूर्व से विद्यमान ही शब्द अभिव्यक्त होता है उन लोगों के मत में अर्थात् अभिव्यक्ति पक्ष में फलतः शब्दनित्यत्व पक्ष में शब्दश्रवणादि के जो दोष दिखलाये गये हैं वे वास्तव में नहीं हैं ॥ ६५ ॥

तद्भेदात् श्रुतिभेदश्च प्रतिश्रोतृ व्यवस्थितः ।
नावश्यं श्रोत्रमाकाशमस्माभिश्चाभ्युपेयते ॥ ६६ ॥

तद्भेदात्'''व्यवस्थितः

प्रतिपुरुष श्रवणेन्द्रिय को भिन्न मानकर प्रतिश्रोत्र में वायवीय संयोग विभागों में संस्कार की स्वीकृति से कथित अव्यवस्था का परिहार हो सकता है, अर्थात् श्रवणव्यवस्था की उपपत्ति हो सकती है।

नावश्यम्'''अभ्युपेयते

यह कहना भी ठीक नहीं है कि श्रवणेन्द्रिय आकाश रूप ही है, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय को आकाश स्वरूप मानना आवश्यक नहीं है ॥ ६६ ॥

न चानवयवं व्योम जैनसांख्यनिषेधतः ।
तेनाकाशैकदेशो वा यद्वा वस्त्वन्तरं भवेत् ॥ ६७ ॥
कार्यार्थापत्तिगम्यं नः श्रोत्रं प्रतिनरं स्थिरम् ।
यद्यपि व्यापि चैकं च तथापि ध्वनिसंस्कृतिः ॥ ६८ ॥

न चाऽनवयवम्'''निषेधतः

इस प्रकार आकाश को भी निरवयव मानना सर्वसम्मत न होने के कारण आवश्यक नहीं है, क्योंकि जैन संप्रदाय के लोग एवं सांख्यसिद्धान्त के अनुयायीगण आकाश को सावयव ही मानते हैं। फिर भी वे दोनों ही श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश स्वरूप मानते ही हैं।

---

१. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से वैशेषिकों एवं नैयायिकों के शब्दानित्यत्व पक्ष का समर्थन किया गया है। आगे के 'उत्तरं श्रोत्रसंस्कारात्' इस पंक्ति से शब्दनित्यत्ववाद का समर्थन प्रारम्भ किया गया है।

तेनाकाशैकदेशो वा···श्रोत्रं प्रतिनरं स्थिरम्

'तस्मात्' श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश का ही एक अंश मानें कि वा पदार्थान्तर ही मानें दोनों ही स्थितियों में 'कर्णशष्कुली' (शिर के दोनों भागों में रोटी के समान बने हुये अंश को 'कर्णशष्कुली' कहते हैं) में शब्दश्रवण की एक 'शक्ति' की कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि इसके बिना शब्दश्रवण की उपपत्ति संभव नहीं है। यदि श्रोत्र को आकाश स्वरूप मानते हैं तथापि कर्णशष्कुली में ही उस शक्ति की कल्पना करनी होगी, क्योंकि यह कर्णशष्कुली जब वायु के दोष से ग्रसित हो जाती है (अर्थात् आदमी बहरा हो जाता है) तो उससे आकाश के रहने पर भी शब्द नहीं सुने जाते।

यद्यपि व्यापि····ध्वनिसंस्कृतिः

यदि अनवयव एवं विभु (सर्वगत) आकाश को ही श्रोत्रेन्द्रिय मान लें तो श्रोत्रेन्द्रिय में ध्वनि से संस्कार की उत्पत्ति कर्णशष्कुली स्वरूप अधिष्ठान के द्वारा ही होगी, यह कर्णशष्कुली स्वरूप अधिष्ठान प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग है। अतः श्रोत्रसंस्कार पक्ष में प्रतिपुरुष शब्दश्रवण की व्यवस्था की उपपत्ति हो सकती है ॥ ६७-६८ ॥

अधिष्ठानेषु सा तस्य तच्छब्दं प्रतिपत्स्यते।
अथापीन्द्रियसंस्कारः सोऽप्यधिष्ठानदेशतः ॥ ६९ ॥
शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनासंस्कृतशष्कुलि।
अप्राप्तकर्णदेशत्वाद् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया ॥ ७० ॥
अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमस्थितिः।
नन्वेकस्मिन्नधिष्ठाने लब्धसंस्कारमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥
बोधकं सर्वदेहेषु स्यादेकेन्द्रियवादिनः।
पुंसां देहप्रदेशेषु विज्ञानोत्पत्तिरिष्यते ॥ ७२ ॥
तेन प्रधानवैदेश्याद् विगुणा सा तु संस्कृतिः।
निष्प्रदेशोऽपि चात्मा नः कार्त्स्न्येन क्व विदन्नपि ॥ ७३ ॥

अधिष्ठानेषु····अधिष्ठानदेशतः···तेनासंस्कृतशष्कुलि

(पू० प०—इससे तो कर्णशष्कुली स्वरूप अधिष्ठान में ही संस्कार स्वीकृत होता है, श्रोत्रसंस्कार पक्ष का समर्थन नहीं होता। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

अधिष्ठान के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय स्वरूप अधिष्ठेय ही संस्कृत होता है, क्योंकि असंस्कृत कर्णशष्कुली वाले पुरुष को शब्द की उपलब्धि नहीं होती है।

अप्राप्तकर्णदेशत्वात्···संस्कारनियमस्थितिः

ध्वनि से अधिष्ठान के द्वारा उत्पन्न यह संस्कार दूरस्थ पुरुष के श्रोत्र को इसलिये संस्कार से युक्त नहीं करता कि ध्वनि कर्णशष्कुली स्वरूप अधिष्ठान के साथ

संनिकृष्ट होकर ही उपयुक्त संस्कार को उत्पन्न करती है। दूरस्थ पुरुष की कर्णशष्कुली के साथ ध्वनि का सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये दूरस्थ पुरुष की श्रवणेन्द्रिय संस्कृत नहीं होती। अतः दूरस्थ पुरुष को शब्द की उपलब्धि नहीं होती। 'अतः' अधिष्ठान के भेद से श्रोत्रसंस्कार का नियम मानने में कोई बाधा नहीं है।

नन्वेकस्मिन्...एकेन्द्रियवादिनः

(पू० प०) यदि श्रोत्र को आकाश स्वरूप मानें तो सभी पुरुषों की इन्द्रियाँ एक होंगी, क्योंकि आकाश एक है। अतः किसी एक ही पुरुष की कर्णशष्कुली के संस्कृत होने पर सभी पुरुषों की श्रवणेन्द्रियाँ संस्कृत हो जायेंगी। इसलिए एक देश में उत्पन्न शब्द का श्रवण सभी देशों के पुरुषों को होगा। इस युक्ति से इस पक्ष में शब्दश्रवण की व्यवस्था अनुपपन्न ही रहेगी।

पुंसां देहप्रदेशेषु...इष्यते...सा तु संस्कृतिः

(इस प्रकार दी गयी व्यवस्थानुपपत्ति का यह परिहार है कि—)

पुरुषों के देहप्रदेश में ही ज्ञानों की उत्पत्ति मानते हैं[1] ॥ ६९–७३ ॥

शरीर एव गृह्णातीत्येवमुक्ते न दुष्यति।
एकत्वेऽपि यथाकाशं द्रव्यैः सावयवैः पृथक् ॥ ७४ ॥
संसर्गभेदं लभते संस्कारासंस्कृती तथा।
व्योम्नोऽनवयवव्याप्तिसद्भावेऽपि भुवि स्थितान् ॥ ७५ ॥
दृष्टाश्रयत्वं न संसर्गो घटादीननुरुध्यते।

निष्प्रदेशोऽपि...विदन्नपि...उक्ते न दुष्यति

इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि आत्मा चूँकि अनवयव है, अतः सम्पूर्ण आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, फिर भी शरीर स्वरूप आयतन में ही वह वस्तु का ग्रहण करता है, अपने किसी अवयव के द्वारा नहीं। शरीर में भी सम्पूर्ण आत्मा का ही सम्बन्ध है उसके किसी एक अंश का नहीं। इस प्रकार

---

१. कहने का तात्पर्य है कि ध्वनि के द्वारा संस्कार की उत्पत्ति जहाँ कहीं भी मानें, किन्तु वह संस्कार ज्ञान का ही अङ्ग होता है, क्योंकि ज्ञान ही प्रधान है। प्रधान के 'देश' में ही अंगों का रहना स्वाभाविक है। 'प्रधानसादेश्यता' अर्थात् प्रधान के समान देश में रहना अंगों का स्वभाव है। एवं यह भी स्वभावसिद्ध है कि स्वदेहावच्छेदेनैव आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः एक देह (कर्णशष्कुली) में उत्पन्न संस्कार अन्य देहावच्छेदेन ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक नहीं हो सकता। एक देह में रहने वाला संस्कार अन्य देहों में उत्पन्न होनेवाले ज्ञानों का 'विगुण' है, अर्थात् अनुगुण नहीं है, क्योंकि 'प्रधानसादेश्यत्व' ही अंगों का 'साद्गुण्य' है।

प्रधानसादेश्यत्व को अंगत्व का ज्ञापक इसलिये मानते हैं कि प्रधानभूत ज्ञान जिस देश में उत्पन्न होता है, उसी देश में संस्कार के रहने पर वह उत्पन्न होता है, अन्य देशों में (अन्य अधिष्ठानों में) नहीं।

कर्णशष्कुली स्वरूप अधिष्ठान में संस्कार के द्वारा अधिष्ठान के भेद से शब्दश्रवण को व्यवस्था का प्रतिपादन किया जा सकता है।

एकत्वेऽपि''''संस्कारासंस्कृती तथा

आकाश में ही ध्वनि के द्वारा संस्कार को कल्पना से शब्द श्रवण की व्यवस्था उपपन्न हो सकती है। जिस प्रकार सावयव घटादि द्रव्यों के साथ ही आकाश के भिन्न संयोग होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न कर्णशष्कुलियों में आकाश के विभिन्न संयोग हैं, फलतः किसी कर्णशष्कुली में आकाशसंयोग है, किसी में नहीं—यह अनुपपन्न नहीं है। जिस कर्णशष्कुली से संयोग है, तदवच्छिन्न आकाश ही संस्कृत होने के कारण शब्दश्रवण का प्रयोजक होगा। अतः उस श्रवणेन्द्रिय से युक्त पुरुष को ही शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होगा, अन्य पुरुषों को नहीं। इस प्रकार शब्द-ग्रहण की व्यवस्था और एक ही आकाश में संस्कार और असंस्कार दोनों का समावेश अनुपपन्न नहीं होगा।

व्योम्नोऽनवयवव्याप्ति'''स्थितान्'''अनुरुध्यते

इस प्रसङ्ग में पूछा जा सकता है कि घटादि भले सावयव हों किन्तु अनवयव आकाश का घट के साथ संयोग तो आकाश में भी रहेगा। वह आकाशनिष्ठ संयोग अव्यापक कैसे होगा? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

उस संयोग का एक सम्बन्धी आकाश यद्यपि व्यापक है, किन्तु उसी संयोग के घटादि दूसरे सम्बन्धी तो अव्यापक हैं। सभी आगत अनागत मूर्त्त द्रव्यों के साथ आकाश की 'व्याप्ति' है। इसीलिये आकाश 'व्यापी' है। किन्तु घटादि के साथ उसके सम्बन्धों में दो धर्म हैं। (१) घटादिवृत्तित्व एवं (२) आकाशवृत्तित्व। इसलिये एक ही संयोग अपने घटवृत्तित्व धर्म के कारण 'अव्यापक' है, एवं अपने आकाशवृत्तित्व धर्म के कारण 'व्यापक' भी है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है॥ ७४–७६॥

बाधिर्यादिव्यवस्थानमनेनैव च हेतुना॥ ७६॥
तवेवाभोग्यमन्यस्य धर्माधर्मवशीकृतम्।
यथा तत्र वसन्नेव स्वामित्वादवरोपितः॥ ७७॥
न भोगं लभते तद्वद् बधिरोऽन्यत्र शृण्वति।
श्रोत्रशब्दाश्रयाणां च न नामावयवाः स्वयम्॥ ७८॥
न चैकदेशवृत्तित्वं तथाप्येतन्न दुष्यति।
व्यञ्जकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता॥ ७९॥

बाधिर्यादि''वशीकृतम्

(यह आक्षेप किया जा सकता है कि श्रोत्र को यदि आकाश स्वरूप मानेंगे तो कोई बधिर नहीं रह जायगा, क्योंकि सभी जनों का श्रोत्रेन्द्रिय आकाश स्वरूप होने के कारण 'एक' है। किन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि—)

केवल आकाश श्रोत्र नहीं है, किन्तु शब्दश्रवणजनित सुखदुःखानुभव स्वरूप उपभोग के सम्पादक जो धर्माधर्म हैं उनसे अनुगृहीत कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है। अतः जिस पुरुष की कर्णशष्कुली ऐसी नहीं है, उपर्युक्त धर्माधर्म के न रहने से उसकी कर्णशष्कुली वात रोग से उपहत हो जाती है, इसलिये शब्दोपभोग के सम्पादन में असमर्थ हो जाती है। अतः वह व्यक्ति बधिर हो जाता है।

यथा तत्र""अवरोपितः""अन्यत्र शृण्वति

(जिसके देह की कर्णशष्कुली वात से उपहत नहीं है, अर्थात् जो बधिर नहीं है, उसके देह में बसने वाली आत्मा सर्वगत होने के कारण बधिर के शरीर में भी है, अतः बधिर भी अबधिर के समान ही शब्द को क्यों नहीं सुनता ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

किसी भी देह में निवास करने से ही उस शरीर के द्वारा आत्मा को भोग प्राप्त नहीं हो जाता ? उपभोग के लिये आत्मा को उस शरीर का स्वामी होना चाहिये। ग्राम का स्वामी जब ग्राम के स्वामित्व से वञ्चित हो जाता है तो उस ग्राम में रहते हुये भी ग्रामस्वामित्वप्रयोज्य सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर पाता। अतः बधिर में शब्दश्रवण की आपत्ति नहीं है।

'श्रोत्रशब्दाश्रयाणां च'''भिन्नावयवदेशता

आकाश स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय, एवं शब्दात्मक विषय ये दोनों ही नित्य एवं विभु होने के कारण निरवयव हैं। फिर भी ध्वनियाँ सावयव हैं, क्योंकि वे सावयव वायु से उत्पन्न होती हैं। वायु प्रादेशिक हैं। अतः प्रदेशभेद से भिन्न भी है। इसी हेतु से ध्वनियों में रहने वाला संस्कार भी प्रादेशिक है। इस युक्ति से श्रोत्र, शब्द एवं तदाश्रयीभूत आकाश इन सभी वस्तुओं में होने वाला संस्कार भी प्रादेशिक हो सकता है। इसलिये दूरस्थ पुरुष के द्वारा शब्दश्रवण की अव्यवस्था का परिहार ध्वनि में संस्कार को स्वीकार करने से भी हो सकता है[2] ॥ ७७–७९ ॥

> जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते।
> अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथाऽन्यं न करोति वः ॥ ८० ॥

---

१. उपर्युक्त सन्दर्भ के द्वारा शब्द में संस्कार को स्वीकार कर अधिष्ठानभेद से शब्दश्रवण की व्यवस्था का उपपादन किया गया है। अब ध्वनि स्वरूप व्यञ्जक के भेद से शब्दश्रवण की व्यवस्था का उपपादन किया जाता है।

२. यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त समाधान श्रोत्र में संस्कार मानने से दूरस्थ व्यक्ति के द्वारा शब्दश्रवण रूप अव्यवस्था की जो आपत्ति होती है—उसका है। किन्तु सावयव ध्वनि में संस्कार करने का यह समाधान 'शब्द' एवं 'तदाश्रय' आकाश इन दोनों में संस्कार मानने से जो अव्यवस्था की आपत्ति आती है, इसमें भी उपयोगी हो सकता है। अतः 'श्रोत्रशब्दाश्रयाणाम्' इस वाक्य में श्रोत्र के साथ साथ शब्द एवं तदाश्रय आकाश का भी उपादान किया गया है। अतः उक्त दोनों पदों का उपादान दोषावह नहीं है।

जातिभेदश्च""व्यवतिष्ठते

('एकवार श्रोत्रेन्द्रिय के संस्कृत होने पर (श्रोत्रसंस्कार पक्ष में) सभी शब्दों के श्रवण की आपत्ति होगी, इस आपत्ति का यह समाधान है कि—)

शब्द की उपलब्धि जिस प्रकार से होगी, तदनुकूल ही विभिन्नजातीय ध्वनियों की कल्पना करेंगे। इन विभिन्नजातीय ध्वनियों के संयोग से ही श्रोत्र में संस्कार की उत्पत्ति मानेंगे। स्थिर वायु का 'अपनय' (हटना) श्रोत्रसंस्कार का कारण नहीं है जिससे सर्वत्र वायु के अपनय की समानता के कारण शब्दश्रवण की अव्यवस्था की आपत्ति होगी, क्योंकि एक पुरुष के उद्देश्य से व्यजनादि द्वारा उत्पन्न वायु दूसरे को संस्कृत (आश्वस्त) नहीं करता।

अन्यार्थम्""करोति वः

शब्द को कार्य मानने वाले वैशेषिकादि के मत से भी ध्वनियों में भी यह जातिभेद मानना ही होगा, क्योंकि उनके मत से भी एक वर्ण के लिये प्रेरित वायु अन्यवर्णानुगुण संस्कार को उत्पन्न नहीं करता ॥ ८० ॥

तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति।
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्वर्णो नान्यो यथैव ते ॥ ८१ ॥
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः।
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः ॥ ८२ ॥
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात् प्रयत्नविवक्षयोः।
विषयस्यापि संस्कारे तेनैकस्यैव संस्कृतिः ॥ ८३ ॥

तथाऽन्यवर्ण""यथैव ते""ध्वन्यन्तरसारिभिः

यदि यह कहो कि तालु आदि के संयोग विभाग ही शब्दों के कारण हैं, वायवीय ध्वनियाँ शब्द के कारण नहीं हैं, तथापि 'समाधान' में कोई वैषम्य नहीं होगा, क्योंकि इस पक्ष में भी कहा जा सकता है कि तालु आदि के जो संयोग या विभाग एक एक वर्ण के अनुगुण श्रोत्र में संस्कार को उत्पन्न करने वाले ध्वनियों के प्रेरण में समर्थ हैं, वे दूसरे वर्ण के अनुगुण संस्कारजनक ध्वनियों के प्रेरण करने में समर्थ नहीं हैं।

तस्मात् शब्द को 'कार्य' मानिये अथवा 'अभिव्यङ्ग्य' मानिये, दोनों ही पक्षों में शब्दश्रवण स्वरूप कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति का भेद 'सर्वत्र' अर्थात् (१) श्रोत्र के संस्कारक ध्वनि के पक्ष में अथवा (२) ताल्वादि ही श्रोत्र के संस्कारक हैं—इस पक्ष में अर्थात् सभी मतों में स्वीकार करना होगा।

स्यात् प्रयत्नविवक्षयोः

इसी प्रकार 'शब्द' स्वरूप विषयगत संस्कार के द्वारा शब्दश्रवण की व्यवस्था की उपपत्ति में शब्द के 'उत्पत्ति पक्ष' और 'अभिव्यक्ति' पक्ष दोनों में समानता इस प्रकार दिखानी चाहिये कि जिस प्रकार 'उत्पत्ति पक्ष' में ताल्वादि संयोग के कारणीभूत विशेष प्रकार के प्रयत्न और प्रयत्न के कारणीभूत 'विवक्षा' के विभिन्न सामर्थ्य की कल्पना के द्वारा दूरस्थ व्यक्ति के शब्दश्रवण की 'अव्य-

वस्था' को दूर किया जा सकता है अर्थात् शब्दश्रवण की व्यवस्था उपपन्न की जा सकती है. उसी प्रकार 'अभिव्यक्ति' पक्ष में अभिव्यक्ति के हेतुभूत प्रयत्न एवं तद्धेतुभूत विवक्षा में सामर्थ्यभेद की कल्पना के द्वारा नित्य शब्दसंस्कार की उत्पत्ति स्वीकार कर भी शब्दश्रवण की व्यवस्थित उपपत्ति की जा सकती है।

विषयस्यापि संस्कारे''''संस्कृतिः

एवं 'एतदेव प्रसङ्क्तव्यं विषयस्यापि संस्कृतो' (श्लो० ६१) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा जो श्रोत्रसंस्कार पक्ष में आने वाले दोषों का अतिदेश शब्द (विषय) के पक्ष में किया गया है, उन दोषों का परिहार भी अभिव्यक्ति पक्ष में अभिव्यञ्जक ध्वनियों में विभिन्न सामर्थ्यों की कल्पना के द्वारा किया जा सकता है, जिससे एक पुरुष के द्वारा श्रूयमाण शब्द से अन्य पुरुषों में शाब्दबोध की आपत्ति का निवारण किया जा सकता है, क्योंकि पुरुषों को शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं ॥८२-८३॥

नरैः सामर्थ्यभेदाच्च न सर्वैरवगम्यते।
यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते ॥ ८४ ॥
दिग्देशादिविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि।
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः ॥ ८५ ॥
तैरेव श्रूयते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन।
द्वयसंस्कारपक्षे तु मृषा दोषद्वये वचः ॥ ८६ ॥

नरैः सामर्थ्य''''अवगम्यते

(वैशेषिकों ने शब्दसंस्कार पक्ष में यह आपत्ति दी है कि संस्कार से युक्त शब्द चूँकि सर्वगत है, अतः उसे सभी पुरुषों के द्वारा सुना जाना चाहिये, अतः शब्द-संस्कार पक्ष अयुक्त है। वैशेषिकों की इस आपत्ति का भी यह समाधान है कि—)

पुरुषों की ग्रहण शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की हैं, अतः एक शब्द का कुछ पुरुषों के द्वारा ग्रहण होता है, कुछ पुरुषों के द्वारा नहीं।

यथैवोत्पद्यमानोऽयम्''''भवन्नपि''''संस्कृतिः''''कथञ्चन

जिस प्रकार (शब्दोत्पत्ति पक्ष में) दिग्देशादि विभागों से उत्पन्न होने वाला शब्द सभी पुरुषों के लिये समान होने पर भी सभी पुरुषों के द्वारा गृहीत नहीं होता उसी प्रकार अभिव्यक्ति पक्ष में भी कहा जा सकता है कि जिस पुरुष के समीप के नाद के द्वारा (ध्वनि के द्वारा) जो शब्द संस्कारापन्न होगा, वह शब्द उसी पुरुष के द्वारा गृहीत होगा। अतः अभिव्यक्ति पक्ष में भी अव्यवस्था की आपत्ति नहीं होगी।[1]

---

1. कहने का तात्पर्य है कि 'उत्पत्तिपक्ष' में जिस प्रकार शब्द प्रादेशिक है, उसी प्रकार 'अभिव्यक्ति' पक्ष में 'नाद' (ध्वनि) प्रादेशिक है। अतः विभु (व्यापक) शब्द का भी संस्कार व्यापक न होकर अव्यापक ही होता है। इसलिये समीपस्थ श्रोत्र के साथ ही संस्कृत शब्दप्रदेश का सम्बन्ध हो पाता है। इसलिये कोई अव्यवस्था नहीं है। अर्थात् जिस पुरुष के समीप के नादों के द्वारा (ध्वनियों के द्वारा) जो शब्दप्रदेश संस्कृत होता है, उस प्रदेश के पुरुष के द्वारा ही वह शब्द गृहीत होता है, दूरस्थ पुरुषों के द्वारा नहीं।

द्वयसंस्कारपक्षे तु·····वचः

इस प्रकार श्रोत्र और शब्द (विषय) दोनों में संस्कार के द्वारा शब्दश्रवण की व्यवस्था को स्वीकार करने में दोषों के उद्भावन की बात भी मिथ्या ही है ॥ ८४–८६ ॥

येनान्यतरवैकल्यात् सर्वैः सर्वो न गृह्यते।
सर्वलोकप्रसिद्धां च विवक्षानुसृतां श्रुतिम् ॥ ८७ ॥
अनुगच्छद्भिरेकान्तात् कार्यो मार्गः परीक्षकैः।
तत्र ये तावदिच्छन्ति प्राक्संयोगविभागतः ॥ ८८ ॥
शब्द उत्पद्यते तस्मादन्यस्तत्सदृशः पुनः।
तदनन्तरदेशेऽन्यस्तादृगन्यस्ततः परः ॥ ८९ ॥
वीचीतरङ्गवृत्त्यैवम् अन्त्यः श्रोत्रेण गृह्यते।
अदृष्टकल्पना तस्मिन् पक्षे बह्वी प्रसज्यते ॥ ९० ॥

येनान्यतरवैकल्यात्·····न गृह्यते

क्योंकि उक्त उभयसंस्कार पक्ष में भी कहा जा सकता है कि जिसलिए श्रोत्र-संस्कार और शब्दसंस्कार दोनों मिलकर शब्दश्रवण रूप कार्य को करते हैं अतः सभी पुरुषों के द्वारा शब्दश्रवण को आपत्ति का परिहार इसलिये हो जाता है कि अन्य पुरुषों के पास संस्कृत श्रोत्र नहीं होता। एक शब्द के साथ सभी शब्दों के श्रवण की आपत्ति इसलिए नहीं होती है कि सभी शब्द संस्कार से युक्त नहीं होते। यदि दोनों संस्कारों को कारण न मानकर किसी एक ही संस्कार को शब्दश्रवण का कारण मानें तो केवल श्रोत्रसंस्कार पक्ष में सभी शब्दों के श्रवण की आपत्ति होगी एवं यदि केवल 'शब्दसंस्कार' को स्वीकार करें तो सभी पुरुषों के द्वारा शब्दश्रवण की आपत्ति होगी। अतः सम्मिलित रूप से दोनों ही संस्कारों को शब्दश्रवण का कारण (उभयसंस्कारवादी) मानते हैं।

सर्वलोकप्रसिद्धां च···श्रुतिम्···परीक्षकैः

'अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्ति यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते' (शाबरभाष्य पृष्ठ ८० पं० ५)।

---

१. अर्थात् उच्चारणजनक प्रयत्न से अभिहत कोष्ठ का वायु 'स्तिमित' 'अन्य' अनेक वायुओं के द्वारा प्रतिहत होकर स्तिमित सभी वायु के साथ अपने और अपने अवयवों के सभी दिशाओं से संयोगों और विभागों को उत्पन्न करता है। कोष्ठ का वह वायु इन संयोगों और विभागों को उत्पन्न करते हुये स्वगत वेग पर्यन्त चलता रहता है। चलकर जब श्रोत्र प्रदेश में पहुँचता है तो शब्दश्रवण के अनुकूल संस्कार को उत्पन्न कर उसके द्वारा शब्दोपलब्धि का कारण होता है।

इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने शब्दश्रवण का पक्ष दिखलाया है। वैशेषिकादि ने शब्दश्रवण के दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है। इन दोनों में भाष्यकार का अपनाया गया मार्ग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वक्ता की बोलने की इच्छा (विवक्षा) और 'श्रुति' अर्थात् श्रोता का श्रवण दोनों का विषय एक ही शब्द को होना चाहिये। ऐसा नहीं होता कि वक्ता को जिस शब्द को बोलने को इच्छा रहती है, श्रोता तद्भिन्न शब्द को सुनता है, क्योंकि वक्ता विवक्षित शब्द को ही बोलता है, एवं श्रोता वक्ता के द्वारा बोले गये शब्द को ही सुनता है। मीमांसकों का मार्ग चूँकि कथित विवक्षा और श्रुति दोनों की एकविषयता की तरफ जाती है, अतः वही श्रेष्ठ है, क्योंकि 'एकविषयता' को उपपत्ति शब्द को नित्य मानने से ही हो सकती है।

वैशेषिकगण तो एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति के क्रम से (वीचीतरंग न्याय से) शब्द का श्रवण मानते हैं। इस मत के अनुसार वक्ता की विवक्षा का विषयीभूत शब्द श्रोता के सुनने तक विनष्ट हो गया रहता है। उत्पत्ति विनाश के इस क्रम के अनुसार श्रोत्र में जिस शब्द की उत्पत्ति होती है, श्रोता उसी को सुनता है। वैशेषिकों के इस 'उत्पत्तिपक्ष' में विवक्षा और श्रुति (शब्दश्रवण) इन दोनों की एकविषयता अनुपपन्न हो जाती है।

तत्र ये तावद्""विभागतः""शब्द उत्पद्यते""श्रोत्रेण गृह्यते

शब्दश्रवण के प्रसंग में वैशेषिकों का कहना है कि पहले शब्द की उत्पत्ति संयोग या विभाग से ही होती है। संयोग या विभाग से उत्पन्न इन शब्दों से ही तत्सदृश अन्य शब्दों की उत्पत्ति उससे आगे के प्रदेशों में 'वीचीतरंग' न्याय से होती चलती है। इस प्रकार अन्तिम शब्द की उत्पत्ति जब श्रोत्रप्रदेश में होती है, तो उसी अन्तिम शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है।

अदृष्टकल्पना""प्रसज्यते

किन्तु वैशेषिकों के इस मत में बहुत सी ऐसी कल्पना करनी पड़ती है जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध होती है (प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना को ही अदृष्टकल्पना कहते हैं) ॥ ८७–९० ॥

> शब्दभेदे न तावन्नः प्रज्ञाभेदः प्रवर्त्तते।
> आरम्भकत्वं शब्दस्य निष्क्रियस्याप्रमाणकम् ॥ ९१ ॥

शब्दभेदे""प्रवर्त्तते

(१) सबसे पहले तो ताल्वादि संयोगों से उत्पन्न वर्णों में या वंश के विभागों से उत्पन्न शब्दों में 'प्रज्ञाभेद' अर्थात् अनेक बुद्धियों की प्रतीति ही प्रत्यक्षविरुद्ध है (अदृष्टकल्पना है), क्योंकि किसी को भी उनमें से किसी शब्द में अनेकत्व की प्रतीति नहीं होती है।

आरम्भकत्वम्""अप्रमाणकम्

(२) दूसरा दृष्टविरोध (अदृष्टकल्पना) है शब्द से शब्द की उत्पत्ति को स्वीकार करना, क्योंकि शब्द से शब्द की उत्पत्ति अप्रामाणिक है। अर्थात् गकारादि

प्रत्येक वर्ण की अनेकता तो केवल दृष्टविरुद्ध ही है। किन्तु शब्द का आरम्भकत्व अर्थात् शब्द से शब्द की उत्पत्ति तो 'दृष्टविरुद्ध' एवं 'अन्यप्रमाणासिद्ध' दोनों है ॥९१॥

देशान्तरगतं कार्यं नामूर्तस्यानभिघ्नतः।
वैशेयत्तानिमित्तं च नारम्भनियमं प्रति ॥ ९२ ॥

देशान्तरगतं कार्यं नामूर्त्तस्य

क्योंकि निष्क्रिय वस्तु से (अमूर्त्तवस्तु से) कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द क्रिया से रहित है। अतः उससे दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अभिनिघ्न :'''आरम्भनियमं प्रति

एवं देशान्तर में विना अभिघात को उत्पन्न किये अमूर्त्तपदार्थ से कार्य की उत्पत्ति अप्रामाणिक है।

वैशेयत्तानिमित्तं च''''नियमं प्रति

यदि देशान्तर में शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति मान भी लें तथापि प्रदेश के सम्बन्ध में इस 'इयत्ता' का अवधारण सम्भव नहीं होगा कि अमुक शब्द अमुक श्रोत्र पर्यन्त ही शब्द का उत्पादन कर सकता है। इस अनिर्द्धारण से अतिदूर में विद्यमान पुरुष में भी शब्द का श्रवण मानना होगा, किन्तु सो असंगत है॥ ९२ ॥

न च दिङ्नियमे हेतुरनुवातगतेस्तथा।
सदृशं वा सजातिं वा करोतीति च दुष्करम् ॥ ९३ ॥

न च दिङ्नियमे''''अनुवातगतेस्तथा

वैशेषिकों का यह नियम भी ठीक नहीं है कि नियमतः चारो ही दिशाओं के लोगों को शब्द का श्रवण नहीं होता। एवं उन लोगों का यह नियम भी ठीक नहीं है कि ऊपर के प्रदेशों एवं नीचे के प्रदेशों में शब्दों का श्रवण नहीं होता। वैशेषिकों का इस प्रकार 'दिङ्नियम' इसलिये ठीक नहीं है कि इन नियमों का कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता।

इसी प्रकार वैशेषिकों के इस कथन में भी कोई युक्ति उपलब्ध नहीं होती कि 'अनुवात' अर्थात् अनुकूल प्रेरक वायु के रहने पर अतिदूर में भी शब्द का श्रवण होता है।

सदृशं वा सजातिं वा

कारण से स्वविसदृश अथवा स्वविजातीय कार्यों की उत्पत्ति उपलब्ध होती है, स्वसजातीय या स्वसदृश कार्यों की नहीं। अतः एक शब्द से स्वसदृश या स्वसजातीय दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती (ये सभी भी अदृष्टकल्पना के समान हैं) ॥ ९३ ॥

आरम्भसर्वविकत्वे न च हेतुः प्रतीयते।
निरन्वयैर्विनश्यद्भिर्न चात्यन्तासतां क्रिया ॥ ९४ ॥

आरम्भसर्वदिक्कत्वे""प्रतीयते

जिस प्रकार बीचियों का सन्तान्त (बुल्बुलों का समूह) एक ही दिशा में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शब्दों का सन्तान भी एक ही दिशा में उत्पन्न होगा, सभी दिशाओं में नहीं, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर सभी दिशाओं के लोगों को शब्द का श्रवण नहीं होगा।

निरन्वये:""असतां क्रिया

कपालादि कारणों से घटादि कार्यों की उत्पत्ति होने पर भी मृत्तिकादि रूपों में कपालादि को सत्ता बनी रहती है। अतः निरन्वय विनष्ट हो जाने वाले (जड़ मूल से विनष्ट हो जाने वाले) शब्दों से शब्दान्तरों को उत्पत्ति कैसे होगी ? ॥ ९४ ॥

ज्ञानसन्तानवच्चैषां सन्तानो नावकल्पते।
वेगवत्सक्रियत्वाभ्यां तरङ्गाणां तु युज्यते ॥ ९५ ॥
कार्यदेशान्तरारम्भो यावद्वेगं च तत्क्रिया।
आरम्भप्रतिबन्धोऽस्य न च कुड्यादिभिर्भवेत् ॥ ९६ ॥
न ह्यमूर्त्तस्य सद्भावो मूर्तमध्ये विहन्यते।
न च कुड्यादिभिर्व्योम नाश्यते सार्यतेऽपि वा ॥ ९७ ॥
न तिरोधीयते तस्मात् कुड्यमध्येऽपि सद् ध्रुवम्।
आकाशं तत्र न स्याच्चेत् कुड्यस्थानं विरुध्यते ॥ ९८ ॥
तन्मध्यावयवानां च न हि तिष्ठति ते घने।
अयावृत्यात्मकद्रव्यसंयोगरहितं नभः ॥ ९९ ॥
शब्दोत्पादं बिभर्तीति तत्र न्यायो न कश्चन।
अन्यथाप्युपपन्नत्वात् नार्थापत्त्यैतदिष्यते ॥ १०० ॥

ज्ञानसन्तानवत्""नावकल्पते

(यदि यह कहो कि ज्ञानों के 'सन्तान' की तरह प्रत्येक शब्द का एक सन्तान होता है। एक शब्दसन्तान के अन्तर्गत पूर्ववर्ती शब्द तत्सदृश ही अन्यसन्तानवर्ती दूसरे शब्द का उत्पादक होता है। अतः एक व्यक्ति के विनष्ट होने पर भी चरम शब्द पर्यन्त शब्दों की परम्परा बनी रहती है। अतः शब्द 'निरन्वय' विनाशी नहीं हैं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

निरालम्बनवाद में ज्ञानसन्तान का निरास किया जा चुका है। उसी युक्ति से शब्दसन्तान को भी निरस्त समझना चाहिये।

वेगवत्""युज्यते

वीचिसन्तान के समान जो शब्दसन्तान की बात कही गयी है, यह भी ठीक नहीं है, वीचि (तरङ्ग) वेग और क्रिया से युक्त है, अतः क्रिया की स्थिति पर्यन्त

वीचिओं की उत्पत्ति हो सकती है। शब्द तो वेग एवं क्रियाधर्मक नहीं, अतः एक तरङ्ग से दूसरे तरङ्ग के समान एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

आरम्भप्रतिबोध''न तिरोधीयते''''तद्‌ध्रुवम्

यदि एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति हो तो दिवाल से उसका प्रतिरोध न हो सकेगा, क्योंकि अमूर्त्त वस्तु का प्रतिरोध मध्य में मूर्त्त वस्तु के रहने से नहीं होता। चूँकि कुड्यादि व्यवधानों से आकाश न विनष्ट ही होता है न उसे स्थानान्तरित ही किया जा सकता है अतः आकाश का विनाश और अपसारण दोनों ही संभव नहीं है। अतः कुड्य के रहने से आकाश की सत्ता में कोई फरक नहीं पड़ता। अतः कुड्य से शब्द का प्रतिरोध अनुपपन्न हो जायगा।

आकाशं तत्र''तन्मध्यावयवानां च''''ते घने

(यदि यह कहो कि कुड्य की उत्पत्ति से पहले भी वहाँ आकाश नहीं था, किन्तु कोई दूसरा मूर्त्त द्रव्य ही था। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

ऐसा स्वीकार करने पर वह स्थान न कुड्य का हो सकेगा न कुड्य के अवयवों का, क्योंकि निविड़स्थान में अर्थात् किसी ठोस दूसरे द्रव्य से आवृत प्रदेश में कुड्य या उसके अवयव नहीं रह सकते। अवकाशयुत स्थानों में ही वे रह सकते हैं। अतः कुड्य के स्थान में भी आकाश की सत्ता है ही। इसलिये उस प्रदेश में भी शब्द की उत्पत्ति अनिवार्य होगी जिससे कुड्यादि से शब्द का सर्वानुभवसिद्ध प्रतिरोध ही अनुपपन्न हो जायगा।

अथाऽवृत्यात्मक''नभः''न्यायो न कश्चन

वस्तुतः शब्द से शब्द की उत्पत्ति को स्वीकार करने का कोई हेतु नहीं है।

(यदि यह कहो कि शब्द से शब्द की उत्पत्ति के विना शब्द का श्रवण ही अनुपपन्न है, अतः इस अनुपपत्ति स्वरूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं, किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—) शब्द से शब्द की उत्पत्ति माने विना भी शब्दश्रवण की यौक्तिकता का उपपादन हम आगे करेंगे॥ ९९–१०० ॥

न प्रमाणान्तरं चेयं प्रमाणद्वयवादिनाम्।
सम्बन्धानुपलब्धेश्च नानुमानेन कल्पना ॥ १०१ ॥

दूसरी बात यह भी है कि वैशेषिकगण (और बौद्धगण) प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। अतः तदतिरिक्त अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वे एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति की बात नहीं कर सकते, क्योंकि अर्थापत्ति नाम का अतिरिक्त कोई प्रमाण उनके मत से नहीं है।

सम्बन्धानुपलब्धेश्च''कल्पना

शब्द से शब्द की उत्पत्ति में अनुमान प्रमाण को भी उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अप्रत्यक्ष शब्द के साथ विषयीभूत आरम्भक शब्द का व्याप्ति स्वरूप 'सम्बन्ध' उपलब्ध नहीं है॥ १०१ ॥

ब्रूयात् सामान्यदृष्टं चेद् भवेद्धेतोर्विरुद्धता।
सजातीयकरः शब्दो गुणत्वाच्चेन्द्रियादिवत् ॥ १०२ ॥

यदि शब्द चूँकि गुण है, अतः अपने सजातीय दूसरे शब्द का उत्पादक है (शब्दः स्वसजातीयशब्दान्तरारम्भकः गुणत्वात्) इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति को सिद्ध करना चाहें तो उक्त अनुमान का हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होगा ॥ १०२ ॥

अशब्दारम्भकस्तद्वत् स्याद्देशान्तरे तथा।
यत्र ह्यवयवा देशे पटादीनां व्यवस्थिताः ॥ १०३ ॥
तत्रैव तद्गुणाः सर्वे तदारब्धोऽवयव्यपि।
तद्गुणाश्चापि तद्देशास्तेनैषामेकदेशता ॥ १०४ ॥
तद्वदाद्याऽपृथग्देशाः शब्दाः सर्वे भवन्ति हि।
शब्दं नारभते शब्दः शब्दत्वादन्त्यशब्दवत् ॥ १०५ ॥

इन्द्रियादिवत्''''अशब्दारम्भकः

उक्त 'गुणत्व' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास इसलिये होगा कि गुणत्व हेतु इन्द्रियादि के दृष्टान्त के द्वारा शब्द में 'अशब्दारम्भकत्व' का ही साधक है (शब्दो न शब्दान्तरारम्भकः गुणत्वात् इन्द्रियादिवत्)।[1]

यत्र ह्यवयवाः''''अवयव्यपि''''एकदेशता

पटादि के अवयव नियमतः जिस देश में रहते हैं, उन अवयवों से बने सभी अवयवी भी तद्गुण से युक्त होकर नियमतः उसी देश में उत्पन्न होते हैं। इससे यह नियम उपपन्न होता है कि अवयव और उसके गुण नियमतः स्वदेश स्वरूप एक देश में ही कार्य को उत्पन्न करते हैं।

तदनुसार सभी शब्द 'आद्य' शब्द से 'अपृथग्देश' में ही अर्थात् आद्य शब्द के देश में ही उत्पन्न हो सकते हैं, पृथग् देशों में नहीं। इसलिये आद्य शब्द में दूसरे प्रदेशों में स्थित दूसरे शब्द के आरम्भकत्व का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

शब्दं नारभते''''अन्त्यशब्दवत्

एवं 'शब्दः सजातीयारम्भकः शब्दत्वात्' इस अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' दोष भी है, क्योंकि शब्द स्वरूप पक्ष में ही यह विरोधी अनुमान भी हो सकता है कि जिस प्रकार (वैशेषिकमत में) अन्तिम शब्द से आगे किसी दूसरे शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार अन्तिम शब्द से भिन्न मध्यवर्ति शब्द कि वा आद्य

---

१. वैशेषिकगण जो तन्तु के रक्त रूपात्मक गुण से पट में तत्सजातीय रक्त रूप स्वरूप गुण की उत्पत्ति की बात कहते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बार-बार कहा जा चुका है कि तन्तु का गुण ही तन्तु से अभिन्न पट का भी गुण कहलाता है, क्योंकि पट में किसी दूसरे गुण की उपलब्धि नहीं होती है।

शब्द इन सबों से भी शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि सभी शब्द समान हैं। (अन्तिमशब्दभिन्नाः सर्वे शब्दाः शब्दानारम्भकाः शब्दत्वात् अन्तिम-शब्दवत्) ॥ १०३–१०५ ॥

एवं विभागसंयोगौ तद्भावावन्त्ययोगवत्।
जैनकापिलनिर्दिष्टं शब्दश्रोत्रादिसर्पणम् ॥ १०६ ॥
साधीयोऽस्मात् तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते।
शब्दस्यागमनं तावददृष्टं परिकल्पितम् ॥ १०७ ॥
मूर्तिस्पर्शादिमत्त्वं च तेषामभिभवः सताम्।
त्वगग्राह्यत्वमन्ये च भागाः सूक्ष्माः प्रकीर्तिताः ॥ १०८ ॥

जैनकापिलनिर्दिष्टम्''साधीयोऽस्मात्

शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति वाले इस वैशेषिकसिद्धान्त से तो 'जैनों' और 'कापिलों' का 'श्रोत्रसर्पण' वाला सिद्धान्त ही कुछ अंशों में श्रेष्ठ है, क्योंकि इन दोनों ही मतों में सर्वमतसिद्ध शब्द धर्मी में 'गमनशीलत्व' स्वरूप धर्म मात्र की कल्पना करनी पड़ती है। वैशेषिकों के मत से तो दूसरे शब्द स्वरूप धर्मी की ही कल्पना करनी पड़ती है। धर्मी की कल्पना से धर्ममात्र की कल्पना में लाघव है।

तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते

किन्तु उन लोगों का 'शब्दसर्पण' सिद्धान्त या 'श्रोत्रसर्पण' सिद्धान्त भी हम लोगों के मत से (मीमांसकों के मत से) ठीक नहीं है।

इस प्रसङ्ग में जैनियों का मत इसलिये ठीक नहीं है कि उन्होंने शब्द में (१) गमनशीलता (२) परिमाण (३) स्पर्श एवं इन सबों का अभिभव (४) स्पर्श के रहने पर भी त्वगिन्द्रिय से अग्राह्यता एवं (६) शब्दों के सूक्ष्म पुद्गलभाग, ये छः कल्पनायें की हैं। किन्तु ये सभी कल्पनायें प्रत्यक्ष के विरुद्ध हैं (अतः अदृष्टकल्पना स्वरूप हैं)। इसलिये जैनों का उक्त सिद्धान्त भी ठीक नहीं है ॥ १०६–१०८ ॥

तेषामदृश्यमानानां कथं च रचनाक्रमः।
कीदृशाद् रचनाभेदाद् वर्णभेदश्च जायते ॥ १०९ ॥
द्रवत्वेन विना चैषां संश्लेषः कथ्यते कथम्।
आगच्छतां च विश्लेषो न भवेद् वायुना कथम् ॥ ११० ॥
लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित्।
वृक्षाद्यभिहतानां च विश्लेषो लोष्टवद्भवेत् ॥ १११ ॥

क्योंकि शब्दों के जो उत्सर्पणादि (गमनादि) छः धर्म गिनाये गये हैं, उनकी उत्पत्ति किन कारणों से होगी ? उत्पादकों के किस भेद से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होगी ? १०९ ॥

यदि शब्द को गमनधर्मक मान भी लें तो श्रोत्र के साथ उसका 'संश्लेष' सम्बन्ध द्रवत्व के विना कैसे होगा ? ॥ ११० ॥

(यदि सत्तू के समान बिना द्रवत्व के भी संश्लेष को स्वीकार भी कर लें, तथापि) वायु से उसका विभाग सत्तू की मुष्टि के समान ही क्यों नहीं हो जायगा ? किन्तु अत्यन्त लघु ये शब्द किसी दृढ़ वस्तु से बँधे हुये नहीं हैं। जैसे वृक्ष से टकरा कर ढेला उससे अलग हो जाता है उसी प्रकार श्रोत्र से टकराकर शब्द अलग हो जायगा ॥ १११ ॥

एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां स्यात् पुनः श्रुतिः।
न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम् ॥ ११२ ॥

एकश्रोत्रप्रवेशे····पुनःश्रुतिः

एवं शब्द जब एक श्रोत्र में पहुँच जायगा, तो दूसरे उसे नहीं सुन सकेंगे, क्योंकि दूसरे श्रोत्र में उसका जाना सम्भव नहीं है। किन्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा उच्चरित एक ही शब्द को अनेक पुरुष सुनते हैं।

न चावाऽन्तरवर्णानाम्···अस्ति कारणम्

(पू० प०) एक ही उच्चारण से अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं, अतः एक पुरुष से उच्चरित अनेक वर्णों का अनेक व्यक्तियों के द्वारा सुना जाना असम्भव नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

एक ही उच्चारण से गौणमुख्य भाव के द्वारा एक सजातीय अनेक वर्णों के उत्पादन में कोई युक्ति नहीं है ॥ ११२ ॥

न चैकस्यैव सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते।
श्रोत्रागमनपक्षे च तत्र वृत्तिश्च गच्छति ॥ ११३ ॥
तददृष्टद्वयं तस्य दूरस्थेन च विक्रिया।
प्राप्तिः सर्वगतत्वाच्चेत् तुल्या दूरगतेष्वपि ॥ ११४ ॥

न चैकस्यैव····दिक्षु युज्यते

(पू० प०) एक ही शब्द अनेक देशों में जाता है, जाकर अनेक श्रोत्रों के साथ सम्बद्ध होता है, अतः एक ही उच्चारण से निष्पन्न एक ही शब्द का अनेक पुरुषों के द्वारा श्रवण असम्भव नहीं है। किन्तु ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही समय (युगपत्) एक ही शब्द का अनेक देशों में गमन तो सम्भव ही नहीं है। क्रमशः गमन सम्भव है, किन्तु ऐसा मानने पर समान देश में स्थित अनेक पुरुषों के द्वारा एक ही शब्द का जो युगपद् ग्रहण होता है सो नहीं हो सकेगा। अतः 'शब्द श्रोत्र में जाकर गृहीत होता है' यह जैनों का पक्ष ठीक नहीं है।

श्रोत्रागमनपक्षे च गच्छति तददृष्टद्वयं तस्य

सांख्यशास्त्रियों का यह पक्ष भी ठीक नहीं है कि "श्रोत्र ही शब्द स्वरूप विषय के देश में जाकर शब्द को ग्रहण करता है", क्योंकि इस पक्ष में श्रोत्र की (१) वृत्ति और उस (२) वृत्ति का गमन इन दो ऐसे पदार्थों की कल्पना करनी पड़ती है जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

'तस्य' इस रीति से शब्दश्रवण की उपपत्ति माननेवाले सांख्याचार्यों को दो 'अदृष्ट' (प्रत्यक्षविरुद्ध) विषयों को स्वीकार करना पड़ता है—एक श्रोत्र की 'वृत्ति' की सत्ता दूसरा उस वृत्ति का विषयों के देश में गमन।

दूरस्थेन च विक्रिया

विषय इन्द्रिय से दूर रहता है, अतः विषय के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध ही संभव नहीं है। इसलिये असम्बद्ध विषय से इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति संभव नहीं है। जल में, आलोक में जो तत्तदाकार में परिणति स्वरूप विकार की बात कही गयी है, वह यहाँ लागू नहीं होती है, क्योंकि उन दोनों ही क्षेत्रों में तत्तद्देश में जाकर ही जल या आलोक विकृति को प्राप्त करता है।

प्राप्तिः सर्वगतत्वाच्चेत्

(पू० प०) अहङ्कार विभु है, अतः अहङ्कारमयी इन्द्रियाँ भी विभु हैं। विभु होने के कारण विषयों के साथ वे सदा सम्बद्ध रहतीं हैं। अतः असम्बद्ध होने के कारण इन्द्रियों की विषयाकार में परिणति स्वरूप विकार अनुपपन्न नहीं है।

तुल्या दूरगतेष्वपि

(सि० प०) विषयों के साथ इन्द्रियों का जो विभुत्वमूलक सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध तो इन्द्रियों से न देखने योग्य अत्यन्त दूर के विषयों के साथ भी है। अतः विभूत्वमूलक सम्बन्ध से इन्द्रियों की विषयाकार परिणति मानकर भी प्रकृत काम नहीं चलाया जा सकता ॥ ११४ ॥

विक्रियाविक्रिये तत्र सर्वैः स्यातां न भेवतः।
असम्बद्धविकारित्वमपोष्टं तत्र पूर्ववत् ॥ ११५ ॥
असम्बन्धसमानत्वे नासन्नो हि विशिष्यते।
अमूर्ता श्रोत्रवृत्तिश्च न मूर्तेन विहन्यते ॥ ११६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि कर्णशष्कुली तो श्रोता के शरीर को छोड़कर शब्द के साथ सम्बद्ध होने के लिए कहीं जाती नहीं है। रही श्रोत्र की 'वृत्ति' के 'गमन' की बात—इसको समझने के लिये पहले यह समझना आवश्यक है कि श्रोत्र की (अर्थात् इन्द्रियों की) यह 'वृत्ति' क्या वस्तु है।

जिस प्रकार चतुष्कोण क्षेत्र में जल चतुष्कोण एवं त्रिकोण क्षेत्र में त्रिकोण हो जाता है, किं वा आलोक विविध आकार के प्रकोष्ठों में जाकर विविध आकारों को धारण करता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्बद्ध होने पर विषयों के आकारों में परिणत होती हैं। इन्द्रियों की यह विषयाकार में परिणति ही इन्द्रियों की 'वृत्ति' या 'विकार' अथवा 'आलोचन' (निर्विकल्पकज्ञान) प्रभृति शब्दों से अभिहित होती है। इन्द्रियों की ये वृत्तियाँ विषयों के देशों में जाकर विषयाकार में परिणत उस प्रकाश को महत्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व में ले जाती हैं। उस बुद्धि में उसके बाद चैतन्य का अव-भास होता है।

तत्र व्यवहितः शब्दः किमर्थं नोपलभ्यते ।
श्रोत्रस्य विक्रियायां च नेयत्ताया नियामकम् ॥ ११७ ॥

विक्रियाविक्रिये तत्र.... न भेदतः

यदि इन्द्रियों के विभुत्वमूलक सम्बन्ध के द्वारा इन्द्रियों को विषयाकार में परिणति की उपपत्ति करेंगे तो सभी इन्द्रियाँ सभी विषयों के रूप में सदा परिणत ही रहेंगी। अर्थात् सभी इन्द्रियों की विषयों के रूप में परिणति रूपा क्रिया 'विक्रिया' (विकृति, अर्थात् 'वृत्ति') ही माननी होगी। अथवा सम्बन्ध के रहने पर भी किसी विषय के रूप में परिणति को अस्वीकार करेंगे तो समान युक्ति के कारण इन्द्रियों में सभी विषयों में परिणति को अस्वीकार करना होगा। किन्तु ये दोनों स्थितियाँ अवाञ्छनीय हैं।

असम्बद्धविकारित्वम्...विशिष्यते

यदि विषयों के साथ विना किसी सम्बन्ध के ही इन्द्रियों की विषयाकार में परिणति (वृत्ति) स्वीकार करेंगे तो 'पूर्ववत्' अर्थात् 'विक्रियाविक्रिये तत्र' इत्यादि से जो अभी अभी सर्वविषयाकार में परिणति अथवा किसी भी विषय के आकार में परिणति न होने की आपत्ति गयी है, वे दोनों ही आपत्तियाँ समान रूप से होंगी, क्योंकि सभी विषयों के साथ इन्द्रियों का 'सम्बन्ध' अथवा 'असम्बन्ध' बराबर है।

अमूर्त्ता....मूर्त्तेन विहन्यते...नोपलभ्यते

श्रोत्र की विषयाकार में परिणति रूपा वृत्ति चूँकि 'अमूर्त्त' है अतः कुड्य (दिवाल) प्रभृति उसका प्रतिरोध नहीं कर सकता। इसलिए इस पक्ष में यह पूछा जा सकता है कि 'व्यवहित' शब्द का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता, अर्थात् इस पक्ष में व्यवहित शब्द के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।

श्रोत्रस्य विक्रियायां च...नियामकम्

एवं कितनी दूर के विषय के रूप में इन्द्रियों की परिणति स्वरूप वृत्ति उत्पन्न हो इसकी कोई 'इयत्ता' नहीं की जा सकती। फलतः अतिदूर के शब्द के श्रवण की भी आपत्ति होगी॥ ११७ ॥

नानुवातादिभिस्तस्य वृत्तेश्च प्रेरणं भवेत् ।
अनुवातं विहन्येत प्रतिवातं च सा व्रजेत् ॥ ११८ ॥
तद्गतं ह्यनुवातत्वं स्यान्न शब्दगतं तदा ।
येषां त्वप्राप्त एवायं शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते ॥ ११९ ॥
तेषामप्राप्तितुल्यत्वं दूरव्यवहितादिषु ।
तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे ॥ १२० ॥
स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः ।
तस्माच्छ्रोत्रियदृष्टापि कल्पनेयं परीक्ष्यताम् ॥ १२१ ॥

नानुवातादिभिः······प्रेरणं भवेत्······विहन्येत······शब्दगतम्

यह कहना भी संभव नहीं है कि 'अनुवात' के द्वारा (अनुकूल वायु के द्वारा) श्रोत्र अथवा श्रोत्र की वृत्ति विषयदेश में जा सकती है।

प्रत्युत यह आपत्ति ही दी जा सकती है कि शब्दगत 'अनुवात' के द्वारा श्रोत्र की वृत्ति का ही विघात हो जायगा। अर्थात् प्रतिवात (प्रतिकूल वायु) से विक्षिप्त होकर वृत्तियाँ शब्द के देश से और दूर चली जायँगी। वृत्तिगत वायु ही वृत्ति का अनुकूल वायु होगा। शब्दगत वायु तो प्रतिवात (प्रतिकूल) वायु ही होगा।

येषां त्व प्राप्त एवास्यम्

बौद्धगण विषय के साथ बिना सम्बन्ध के ही इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण मानते हैं। उनके मत से श्रोत्र के साथ असम्बद्ध शब्द ही गृहीत होता है।

तेषामप्राप्तितुल्यत्वम्······ग्रहणाग्रहणे समे······स्याताम्······संभवः

उनके मत से ग्रहणयोग्य शब्द के समान ही ग्रहण योग्य दूरस्थ एवं व्यवहित शब्दों के साथ जब श्रोत्र का सम्बन्ध समान है तो दूरस्थ एवं व्यवहित शब्दों का ग्रहण भी स्वीकार करना होगा।

एवं शब्दों के ग्रहण में कोई क्रम नहीं रह जायगा। अर्थात् सभी शब्दों के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध और असम्बन्ध दोनों बराबर रहने के कारण शब्दग्रहण के क्रम का कोई नियामक नहीं रह जायगा। फलतः सभी शब्दों का युगपद्ग्रहण का प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायगा।

एवं इस पक्ष में शब्द में जो तीव्रत्व एवं मन्दत्व का स्वाभाविक अन्तर उपलब्ध होता है, वह भी अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि श्रोत्र के साथ दूर का सम्बन्ध होने से ही शब्द में मन्दता की और समीप का सम्बन्ध होने से ही शब्द में तीव्रता की प्रतीति होती है। यदि विषयेन्द्रियसम्बन्ध को विषयग्रहण का व्यापार नहीं मानेंगे तो शब्द में तीव्रत्व और मन्दत्व के जो स्वाभाविक अन्तर की उपलब्धि होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी।

तस्मात् 'श्रोत्रियों' का पक्ष ही ठीक है जिसका उपपादन भाष्यकार ने 'अभिघातेन प्रेरिता वायवः' इत्यादि सन्दर्भ से किया है।

'तस्मात्' अर्थात् मीमांसक से अतिरिक्त वैशेषिकादि सभी दार्शनिकों के मतों का खण्डन करने के बाद अब 'श्रोत्रिय' (मीमांसक) के मत की ही परीक्षा करिये कि इस पक्ष में कौन सी 'अदृष्टकल्पना' (प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना) करनी पड़ती है ॥ ११८–१२१ ॥

प्रयत्नाभिहतो वायुः कोष्ठ्यो यातीत्यसंशयम्।
स संयोगविभागौ च ताल्वादेरनुरुध्यते ॥ १२२ ॥

प्रयत्नाऽभिहतः······असंशयम्

भाष्यकार ने उक्त सन्दर्भ के 'अभिघातेन प्रेरिता वायवः' इस अंश के द्वारा जो प्रतिपादन किया है कि यह निःसन्दिग्ध है कि कोष्ठ का वायु अभिघात के द्वारा,

अभिघात को प्राप्त करने पर, ताल्वादि स्थानों को जाता है। यह चूँकि सर्वानुभव सिद्ध है, अतः इसमें कोई प्रत्यक्षविरोध नहीं है।

स संयोगविभागौ···अनुरुध्यते

उक्त अभिहृत वायु के द्वारा ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है। उसमें वायु को ताल्वादि स्थानों के संयोगों एवं ओष्ठादि के विभागों की भी अपेक्षा होती है। यह 'अपेक्षा' भी ताल्वादि स्थान विशेष के द्वारा शब्द की उपलब्धि से स्पष्ट है। अतः इसमें भी कोई विरोध (अदृष्टकल्पना) नहीं है ॥ १२२ ॥

> वेगवत्त्वाच्च सोऽवश्यं यावद् वेगं प्रतिष्ठते।
> तस्यात्मावयवानां च स्तिमितेन च वायुना ॥ १२३ ॥
> संयोगा विप्रयोगाश्च जायन्ते गमनाद् ध्रुवम्।
> कर्णव्योमनि स प्राप्तः शक्तिं श्रोत्रे नियच्छति ॥ १२४ ॥

वेगवत्त्वाच्च···प्रतिष्ठते

उक्त भाष्यसन्दर्भ में ही जो 'यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते' यह वाक्य है उसके द्वारा प्रतिपादित वेग की स्थिति पर्यन्त वायु की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है, उसमें भी कोई 'दृष्टविरोध' नहीं है (अदृष्टकल्पना नहीं है), क्योंकि वेग पर्यन्त द्रव्य की स्थिति प्रक्षिप्त शरादि में स्वीकृत है।

तस्यात्मावयवानां च···ध्रुवम्

उक्त भाष्यसन्दर्भ के ही 'स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतो दिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्ति' इस वाक्य के द्वारा जो यह प्रतिपादन किया है कि कोष्ठ का उक्त वायु प्रयत्न से अभिहृत होकर जब आगे चलता है तो तत्तद्दशा में स्थित 'स्तिमित' अर्थात् 'स्थिर'[1] वायुओं से प्रतिहृत होने के कारण कोष्ठ्य वायु और उसके अवयवों का ताल्वादि देशों के साथ संयोगों और विभागों की उत्पत्ति होती है। यह भी वायु की गतिशीलता के कारण अनुपपन्न नहीं है। अतः इस दृष्टि से भी मीमांसकों को कोई 'अदृष्टकल्पना' (दृष्टविरोध) नहीं करनी पड़ती है।

कर्णव्योमनि···नियच्छति

श्रोत्रियों (मीमांसकों) के पक्ष में इतनी सी अदृष्टकल्पना करनी पड़ती है कि वह वायु 'कर्णव्योम' (कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश) में शब्द को सुनने की शक्ति का आधान करता है ॥ १२३–१२४ ॥

> तद्भावे शाब्दबोधाच्च संस्कारोऽदृष्ट इष्यते।
> उत्पत्तिशक्तिवत् सोऽपीत्यधिकं नो न किञ्चन ॥ १२५ ॥

---

१. अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह वायु किसी का सञ्चालन नहीं कर सकता। इस वायु को 'स्तिमित' कहा जाता है, अर्थात् 'स्थिर' कहा जाता है। वास्तव में यह वायु भी सर्वथा स्थिर नहीं है, क्योंकि वायु सदा गतिशील है।

तद्भावे····इष्यते

क्योंकि 'कर्णव्योम' के रहने पर ही शब्द की उपलब्धि होती है, एवं कर्ण-व्योम के रहने पर भी बधिरों को शब्द की उपलब्धि नहीं होती है अतः श्रोत्र में 'शक्ति' स्वरूप अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है।

उत्पत्तिशक्तिवत्···न किञ्चन

कर्णशष्कुली में सुनने की शक्ति स्वरूप अदृष्ट की कल्पना भी हम लोगों (मीमांसकों) के लिए अधिक नहीं है, क्योंकि यह वैशेषिकों की शब्द से शब्द की उत्पत्ति के समान है। अर्थात् वैशेषिकगण शब्द में शब्दान्तरोत्पादनशक्ति की कल्पना करते हैं, उसके स्थान पर हम लोग (मीमांसकगण) शब्द में सुने जाने की योग्यता स्वरूप 'संस्कार' की कल्पना करते हैं। अतः इस संस्कार की कल्पना मेरे पक्ष में अधिक नहीं है[1] ॥ १२५ ॥

तथैव तद्विशेषोऽपि विशिष्टग्रहणाद् भवेत्।
शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वादन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥

तथैव···भवेत्

(यदि वैशेषिकगण यह कहें कि सुने जानेवाले प्रत्येक शब्द में मीमांसकों को अलग-अलग शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी जब कि हम लोगों को शब्द में केवल शब्दोत्पादन की एक ही शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। अतः दोनों पक्ष समान नहीं हैं। इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

वैशेषिकों को भी संयोगविभागादि से उत्पन्न होनेवाले शब्दों की जो धारा श्रोत्र पर्यन्त उत्पन्न होती है, उस धारा के प्रत्येक पूर्ववर्त्ति शब्द में उत्तर शब्द की उत्पादक शक्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः इस रीति से भी मीमासकों के पक्ष में कुछ अधिक कल्पना नहीं करनी पड़ती है।

शब्दोत्पत्तेः ··· अनुपपत्तितः

(यदि दोनों पक्ष समान हैं तथापि यह अनिर्णीत ही रह जाता है कि शब्द से शब्द की उत्पत्ति को स्वीकार करें किम्वा शब्द में संस्कारपक्ष को मानें ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

पहले कहा जा चुका है कि जो शब्द पहले से नहीं था और पीछे उत्पन्न होता है, उसका ग्रहण सम्भव नहीं है। शब्दग्रहण की इस अनुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाण से किसी 'वस्तु' की कल्पना के आवश्यक होने पर एवं किसी प्रत्यक्ष शक्ति के द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति के निषिद्ध हो जाने पर शब्द में संस्कार वाला हम लोगों का पक्ष वैशेषिकों के शब्द में शब्दोत्पादकतावाले शक्तिपक्ष से प्रबल हो जाता है ॥ १२६ ॥

---

१. सभी देशों में जिस 'स्तिमित' वायु की बात कही गयी है, उसको स्वीकार करने में यह युक्ति है कि यदि सभी देशों में यह वायु न हो तो पंखा आदि के चलने से जो वायु की उपलब्धि होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी, क्योंकि पंखा आदि तो पार्थिव हैं, अतः उनसे वायु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये यही मानना होगा कि इधर-उधर जो सूक्ष्म (स्तिमित) वायु फैले हुये हैं वे ही पंखा आदि के वेगों से ही सिमट कर संबद्ध हो जाते हैं। सम्बद्ध होने पर उनकी सूक्ष्मता हट जाती है अतः उनका प्रत्यक्ष होता है।

विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्योऽध्यवसीयते ।
तद्भावभाविता चात्र शक्त्यस्तित्वाऽवबोधिनी ॥ १२७ ॥

(पू० प०—यदि मान भी लें कि विषय स्वरूप शब्द से श्रोत्र स्वरूप इन्द्रिय में संस्कार उत्पन्न होता है, किन्तु वह संस्कार ध्वनि से उत्पन्न होता है—इसमें क्या प्रमाण है ? अर्थात् ध्वनि में जो संस्कार को उत्पादकता शक्ति की कल्पना करते हैं, वह अदृष्ट कल्पना क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जिस प्रकार वैशेषिकगण श्रोत्र में शक्ति इसलिये मानते हैं कि श्रोत्र के रहने से ही शब्द का ग्रहण होता है, न रहने से नहीं होता है, उसी प्रकार 'तद्भाव-भावित्व' स्वरूप अन्वय (और तदभावे सति तदभावः-स्वरूप व्यतिरेक) से ही ध्वनियों में संस्कारजनन शक्ति की कल्पना करते हैं, अतः ध्वनि में संस्कारजनकत्व की कल्पना अदृष्टकल्पना नहीं है ॥ १२७ ॥

श्रोत्रशक्तिवदेवेष्टा बुद्धिस्तत्र हि संहृता ।
कुड्यादिप्रतिबन्धोऽपि युज्यते मातरिश्वनः ॥ १२८ ॥
श्रोत्रदेशाभिघातेऽपि तेन तीव्रप्रवर्तिना ।
तस्य च क्रमवर्तित्वात् क्षयि वेगात्मसंपदः ॥ १२९ ॥
संस्कारक्रमतीव्रत्वमन्दतादिनिमित्तता ।
इममेव च संस्कारं शब्दग्रहणकारणम् ॥ १३० ॥
केचित् तु पण्डितम्मन्याः श्रोत्रमित्यभिमन्वते ।
संज्ञासञ्चारणाच्चैषां बहुमानः स्वचेतसि ॥ १३१ ॥

श्रोत्रशक्ति''' संहृता

श्रवणशक्ति की कल्पना में प्रवृत्त बुद्धि का विश्राम जिस प्रकार श्रोत्र में होता है, उसी प्रकार संस्कार के कारण के अन्वेषण में प्रवृत्त बुद्धि ध्वनियों में संस्कार की कारणता को स्वीकार कर श्रान्ति का लाभ करती है ।

कुड्यादि''''मातरिश्वनः''''आत्मसंपदः''''मन्वतादिनिमित्तता

ध्वनि से श्रोत्र में संस्कार वाला यह पक्ष लोकप्रतीति के अनुकूल भी है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि कुड्यादि के व्यवधान से शब्द को सुनने में बाधा होती है । एवं कुछ दूर तक दूरी के तारतम्य से मन्द और तीव्र शब्दों का श्रवण होता है, एवं कुछ अतिदूर के शब्द का श्रवण होता ही नहीं ।

इन सभी लोकसिद्ध स्थितियों का निर्वाह इस पक्ष में सुगमता से हो सकता है, क्योंकि श्रोत्र से अभिहत होने पर भी तीव्रगामी होने पर वायु का प्रतिरोध

१. कहने का तात्पर्य है कि शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति के द्वारा शब्दग्रहण की उपपत्ति शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति के खण्डन से बाधित है । एवं पहले से अविद्यमान एवं संयोगादि से उत्पन्न शब्द का ग्रहण सम्भव भी नहीं है । इन दोनों ही युक्तियों से शब्द में संस्कार की कल्पना वाला पक्ष प्रबल है ।

सर्वसिद्ध है। एवं वायु की 'वेगसम्पत्ति' अर्थात् वेग नाम का संस्कार स्वरूप धर्म एवं 'आत्मसम्पत्ति' अर्थात् आत्मसत्ता स्वरूप स्वकीय स्थिति काल ये दोनों ही क्रमशः क्षयिष्णु हैं।

वेग की तीव्रता और मन्दता के अनुसार एक ही शब्द कुछ दूर तक लोगों को तीव्र (स्पष्ट) सुनायी देता है। उससे दूर के लोगों को 'मन्द' अर्थात् अस्पष्ट सुनायी देता है। अतिदूर जाने पर वायु 'आत्मसम्पत्ति' अर्थात् अपनी ही सत्ता खो बैठती है। इसलिए अतिदूर के लोग उसी शब्द को बिल्कुल ही नहीं सुन पाते।

इममेव च ''श्रोत्रमित्यभिमन्यते

भाष्य के एक व्याख्याता श्री भर्तृमित्र कहते हैं कि श्रोत्र के जिस 'संस्कार' की अभी चर्चा हो रही है वह 'संस्कार' ही श्रोत्र है। उनका अभिप्राय है कि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश में श्रोत्रत्व की कल्पना एवं उस श्रोत्र में शब्दग्रहणयोग्य संस्कार की कल्पना इन दोनों कल्पनाओं की अपेक्षा उस संस्कार में श्रोत्रत्व की कल्पना में ही लाघव है।

'पण्डितम्मन्य' भर्तृमित्र को अपने चित्त में यह अभिमान केवल इसलिये है कि वे कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश के लिये प्रयुक्त होने वाली 'श्रोत्र' स्वरूप संज्ञा को 'संस्कार' में संचारित करते हैं। अर्थात् श्रोत्र शब्द से कर्णष्शकुल्यवच्छिन्न आकाश के बदले उक्त संस्कार के बोध की ही इच्छा रखते हैं ॥ १२८–१३१ ॥

मुधैषां बहुमानोऽयं वस्त्वनुत्पाद्य किञ्चन।
ध्वनिजन्याद्धि संस्काराच्छ्रोत्रं नान्यत् प्रदर्शितम् ॥ १३२ ॥

किन्तु किसी विलक्षण वस्तु को स्वीकार किये बिना (अर्थात् पहले से हम लोगों ने जिन वस्तुओं को देखा है, उनमें से ही कुछ के नामों के हेर फेर मात्र से) उनका यह 'अहङ्कार' मिथ्या मालुम पड़ता है, क्योंकि ध्वनि से जिस संस्कार की उत्पत्ति हम लोग मानते हैं, भाष्यकार ने भी उससे भिन्न श्रोत्र नाम के किसी पदार्थ की 'श्रोत्र' संज्ञा नहीं दी है ॥ १३२ ॥

तं मुक्त्वा श्रोत्रशब्देन किं दृष्टमधिकं च तैः।
एवञ्जातीयकानर्थान् फलेन प्रतिपादितान् ॥ १३३ ॥
लोकः संस्कारशब्देन सामान्येनैव जल्पति।
श्रोत्रशब्दो विशेषेण तत्राविज्ञातसङ्गतिः ॥ १३४ ॥
सिद्धं स्वार्थं परित्यज्य नाभिधानेन वर्तते।
आदावपरिभाष्यत्वं भाष्यकारो यदब्रवीत् ॥ १३५ ॥
पदार्थेषु भवेत् तेषां तदतिक्रमणं फलम्।
संस्कारव्यतिरिक्ते च सर्वलोकस्य वस्तुनि ॥ १३६ ॥
श्रोत्रशब्दः प्रसिद्धः सन् स्वाच्छन्द्येनापनीयते।
इन्द्रियाणामभिव्यक्तिर्गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ १३७ ॥

प्राक्कार्यावागमैः सिद्धा तत्प्रद्वेषेण लङ्घ्यते ।
न च शब्दार्थसम्बन्धः कर्तुं योग्यः कथञ्चन ॥ १३८ ॥
क्षणिकश्रोत्रपक्षे च सोऽवश्यं कृतको भवेत् ।
संस्कारे तुल्यमेतच्चेत् न संस्कारान्तरस्थितेः ॥ १३९ ॥
संस्कारशब्दवाच्या हि केचिद् वर्षशतान्यपि ।
ध्रियन्ते तेन तच्छब्दसम्बन्धो न विनश्यति ॥ १४० ॥

तं मुक्त्वा''अधिकं च तैः

उन लोगों ने (मर्तृमित्र और उनके अनुगामियों ने) श्रोत्र शब्द से हम लोगों के द्वारा कल्पित वस्तुओं से भिन्न किसी अन्य वस्तु को कल्पना नहीं की है। वस्तुतः उन लोगों ने नामभेद की ही कल्पना की है।

एवं जातीयकान्''''सामान्येनैव जल्पति

'संस्कार' शब्द के द्वारा ज्योतिष्टोमादि से स्वर्गादि के उत्पादन में नाम 'अपूर्व' अथवा अनुभव से उत्पन्न होनेवाले 'स्मरण' की उपपत्ति के लिये कल्पित 'भावना' नाम के 'व्यापार' में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग साधारणतः लोक में देखा जाता है। किसी भी विशेष प्रकार के 'संस्कार' के लिये 'श्रोत्रादि' शब्दों के समान कोई अन्य शब्द नहीं हैं। अतः 'श्रोत्र' शब्द से किसी भी 'संस्कार' का अभिधान उचित नहीं है।

श्रोत्रशब्दो विशेषेण नाभिधानेन वर्त्तते

'श्रोत्र' शब्द 'संस्कार' का अभिधायक इसलिये भी नहीं हो सकता कि 'श्रोत्र' शब्द की शक्ति संस्कार सामान्य में गृहीत नहीं है। यदि ऐसा होता तो भावनाख्य संस्कार या वेगाख्य संस्कार में भी श्रोत्र शब्द का प्रयोग होता। अतः श्रोत्र शब्द चूँकि कर्णशष्कुली अथवा तदवच्छिन्न आकाश को छोड़कर कहीं उपलब्ध नहीं है, अतः श्रोत्र शब्द संस्कार का वाचक नहीं हो सकता।

आवावपरिभाष्यत्वम्''यदब्रवीत्''''अतिक्रमणं फलम्

श्रोत्र शब्द को स्वाभाविक (अभिधा) शक्ति संस्कार में न रहने से श्रोत्र शब्द की 'परिभाषा' ही संस्कार में माननी होगी। किन्तु यह 'लोके येष्वर्थेषु'''' परिभाषितव्यो वा' भाष्यकार के इस आदि वाक्य के विरुद्ध होगा। अतः भाष्य के अनुयायियों के लिये संस्कार में श्रोत्र शब्द की परिभाषा भी नहीं मानी जा सकती।

संस्कारव्यतिरिक्ते च '''' अपनीयते

श्रोत्र पद को यदि संस्कार का वाचक मानते हैं तो कथित रीति से 'अप्रसिद्धार्थ-कल्पना' के अतिरिक्त 'प्रसिद्धि की हानि भी होगी, क्योंकि संस्कार से अतिरिक्त कर्णशष्कुली अथवा तदवच्छिन्न आकाश में ही श्रोत्र शब्द का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है। इस लोकप्रसिद्धि को 'स्वाच्छन्द्य' से अर्थात् विना किसी विशेष युक्ति के केवल अपनी इच्छा से ही वे लोग छोड़ते हैं।

इन्द्रियाणाम्'' वेहि नः'''लङ्घ्यते

इस पक्ष में 'आगमविरोध' दोष भी है, क्योंकि शब्दोपलब्धि स्वरूप 'कार्य' से पहले ही गर्भ के पाँचवें महीने में ही गर्भस्थ शिशु के इन्द्रियों की उत्पत्ति की बात 'गर्भस्थस्य पञ्चमे मासि इन्द्रियाणि जायन्ते' इत्यादि वेद वाक्य में प्रसिद्ध है। उस समय उस जीव में शब्दोपलब्धिजनक संस्कार की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः श्रोत्र पद को संस्कार का वाचक मानते हैं तो उसको 'तत्प्रद्वेष' अर्थात् श्रुतिविरोधमूलक ही मानना होगा।

न च शब्दार्थसम्बन्धः''' क्षणिकश्रोत्रपक्षे च'''कृतको भवेत्

ध्वनिजनित जिस संस्कार को श्रोत्र पद का अभिधेय मानना चाहते हैं, वह ध्वनिजनित संस्कार अतीन्द्रिय एवं क्षणिक है। उसके साथ श्रोत्रपद का अकृत्रिम सम्बन्ध तो संभव ही नहीं है। यदि संस्कार स्वरूप क्षणिक पदार्थ के साथ श्रोत्र शब्द का सङ्केत स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं तो वह सम्बन्ध कृत्रिम होगा। शब्द और अर्थ की कृत्रिमता मीमांसाशास्त्र के विरुद्ध है। उसे भर्तृमित्र प्रभृति मीमांसकों को भी मानना होगा। अतः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की कृत्रिमता मीमांसा शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है।

संस्कारे तुल्यमेतच्चेत्

(पू० प०) जिस प्रकार अतीन्द्रिय होने के कारण 'संस्कार' में श्रोत्र पद के सम्बन्ध का ग्रहण संभव नहीं है, उसी प्रकार संस्कार पद के मुख्यार्थ भावना वेगादि में भी संस्कार पद के सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ स्वरूप संस्कार की अतीन्द्रियता दोनों शब्दों के साथ सम्बन्ध के ग्रहण में समान रूप से बाधक है।

न, संस्कारस्थितेः''''संस्कारशब्दवाच्याः'''तत्सम्बन्धो न विनश्यति

(सि० प०) 'संस्कार' पद और 'श्रोत्र' पद दोनों की स्थिति समान नहीं है, क्योंकि जिस समय एक संस्कार स्वरूप अर्थ के लिये 'संस्कार' पद का प्रयोग होता है, उस समय भी अन्य कई संस्कार रहते हैं जिनमें से कुछ सौ वर्षों से भी विद्यमान रहते हैं। फलतः उनमें गृहीत शक्ति के द्वारा ही विद्यमान संस्कार पद के द्वारा भी संस्कार स्वरूप अर्थ का बोध होगा[1] ॥ १३४–१४० ॥

---

१. कोई यहाँ आक्षेप करते हैं कि वार्तिकस्थ 'वर्षशतानि' पद के द्वारा संस्कार की सत्ता सौ वर्षों तक ज्ञात होने पर भी उसके साथ संस्कार पद का वाच्यत्व स्वरूप सम्बन्ध 'नित्य' (औत्पत्तिक) नहीं हो सकता। मीमांसकों के मत से अर्थों के साथ शब्दों का नित्य सम्बन्ध ही शाब्दबोध के लिये उपयोगी है। फलतः वार्तिक में 'वर्षशतानि' पद का प्रयोग व्यर्थ सा है।

इस आक्षेप का यह समाधान है कि प्रकृत 'शतवर्ष' शब्द से अर्थ का स्थायित्व मात्र विवक्षित है। यह 'स्थायित्व' कार्य की योग्यता स्वरूप है, जो सभी संस्कारों में बराबर समान रूप से विद्यमान है। उसके साथ संस्कार पद का नित्य (औत्पत्तिक) सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि किसी भी संस्कार में रहने वाली कार्योत्पादन की योग्यता कभी विनष्ट नहीं होती। कोई न कोई 'कार्ययोग्यता' अवश्य रहेगी। वह संस्कार पद के साथ अपने सम्बन्ध को बनाये रख सकती है।

श्रोत्रशब्दः पुनः पूर्वं संस्कारादुत्तरत्र तु ।
एकदेशनिबद्धे हि सर्वदार्थे प्रतिष्ठितः ॥ १४१ ॥

(पू० प०—जिस प्रकार 'संस्कार' शब्द का संस्कार स्वरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य उपपन्न किया गया है, उसी प्रकार श्रोत्र शब्द का संस्कार के साथ सम्बन्ध के नित्यत्व का भी उपपादन किया जा सकता है । अतः उस सम्बन्ध की कृत्रिमता प्रयुक्त श्रोत्र शब्द से संस्कार का बोध अनुपपन्न नहीं है । इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

ध्वनि से उत्पन्न होने वाले संस्कार से पहले और बाद में भी शरीर के एक देश स्वरूप 'कर्ण' में श्रोत्र पद का प्रयोग लोग करते आये हैं । अतः श्रोत्र पद को यदि क्षणिक 'संस्कार' का वाचक मानेंगे तो यह सम्बन्ध लोक से अनुमोदित न होने के कारण अवश्य ही कृत्रिम होगा ॥ १४१ ॥[1]

शक्यं च क्रियमाणत्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत् ।
वक्तुं श्रोत्रस्य तेनात्र क्षणिकोत्पत्त्यसम्भवः ॥ १४२ ॥

जिस प्रकार त्वगादि इन्द्रिय होने के कारण ही 'क्रियमाण' अर्थात् स्थायी हैं (अक्षणिक हैं) उसी प्रकार श्रोत्र भी चूँकि इन्द्रिय है, अतः वह भी क्षणिक नहीं है (श्रोत्रमक्षणिकमिन्द्रियत्वात्त्वगादिवत्) । अतः क्षणिक श्रोत्र की उत्पत्ति ही संभव नहीं है ॥ १४२ ॥

यदि च ध्वनिसम्पर्काच्छ्रोत्रमेवोपजायते ।
बधिरस्यापि तज्जन्म किमर्थं नोपलभ्यते ॥ १४३ ॥

(पू० प०—फिर भी संस्कार को श्रोत्र मानने में वस्तुगत लाघव तो है ही, क्योंकि यदि कर्ण को श्रोत्र मानते हैं तो स्थिर कर्ण में स्थिर श्रवण शक्ति और क्षणिक

---

१. इस प्रसङ्ग में पूछा जा सकता है कि श्रोत्र पद का संस्कार के साथ सम्बन्ध कृत्रिम (कृतिजन्य) सिद्ध करने के लिये लोक में उसकी अप्रसिद्धि ही पर्याप्त है । अतः क्षणिकत्व को उसका प्रयोजक मानने की आवश्यकता नहीं है । इसलिये 'क्षणिकश्रोत्रपक्षे च' (श्लो० १३९ का उत्तरार्द्ध) इत्यादि से जो क्षणिकत्व को उक्त सम्बन्ध की कृत्रिमता का प्रयोजक माना गया है, वह व्यर्थ है । इस प्रश्न का यह उत्तर है—

यदि कर्णगत संस्कार क्षणिक न होकर स्थायी हो तो जिस समय उसकी सत्ता रहेगी उस समय उसमें श्रोत्र पद का प्रयोग हो सकता है । इसलिये विवेकपूर्वक यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उस समय प्रयुज्यमान श्रोत्र पद कर्ण का वाचक है अथवा संस्कार का वाचक है ।

यदि संस्कार का क्षणिकत्व निर्णीत हो जाता है तो संस्कार की उत्पत्ति से पहले और बाद में संस्कार शब्द के प्रयोग से यह विवेकपूर्ण निर्णय हो सकता है कि श्रोत्र शब्द कर्ण का ही वाचक है, संस्कार का वाचक नहीं है । इस निर्णय से श्रोत्र पद की संस्कार-वाचकता में कृत्रिमत्व का भान परिस्फुट हो जाता है । तस्मात् 'क्षणिकश्रोत्रपक्षे च सोऽवश्यं कृतको भवेत्' (श्लो० १३९) यह श्लोकार्द्ध ठीक है ।

संस्कार इन दोनों की कल्पना करनी पड़ती है। मुझे (भर्तृमित्र को) केवल ध्वनि से संस्कार मात्र की कल्पना करनी पड़ती है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि–)

यदि श्रोत्रपदवाच्य कर्ण में श्रवणशक्ति की कल्पना न करें, केवल ध्वनिजन्य संस्कारात्मक श्रोत्र मात्र की कल्पना करें तो बधिर में भी शब्द की उपलब्धि माननी होगी। अतः शक्ति और संस्कार दोनों की कल्पना करनी पड़ती है ॥१४३॥

यद् यस्य नास्ति तत् तस्य सुतरां जननक्षमम्।
तस्मादपेक्षितं श्रोत्रं बधिरस्यापि जायताम् ॥ १४४ ॥

(यदि यह कहो कि बधिर को यह संस्कार रूप श्रोत्र नहीं रहता है, अतः उससे शब्द नहीं सुने जाते। किन्तु इस कथन से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि—)

कारणों के द्वारा पहिले से अविद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति होती है। अतः बधिर में भी ध्वनि से संस्कारात्मक श्रोत्र की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये ध्वनि से बधिर में संस्कारात्मक श्रोत्र की उत्पत्ति की आपत्ति दी जा सकती है ॥ १४४ ॥

संस्कारेऽप्यविशिष्टं चेन्नासावुपहतेन्द्रिये।
श्रोत्रमाच्छादितं दोषैः संस्कर्तुं ध्वनयोऽक्षमाः ॥ १४५ ॥

संस्कारेऽप्यविशिष्टं चेत्

(पू० प०) यदि शक्तिविशिष्ट कर्णादि को ही श्रोत्र मानें एवं ध्वनिजन्य संस्कार के द्वारा शब्द का श्रवण मानें तथापि बधिर से शब्दश्रवण की आपत्ति दोनों पक्षों में समान है।

नासावुपहतेन्द्रिये ' ध्वनयोऽक्षमाः

इस आक्षेप का यह समाधान है कि दोनों स्थितियाँ समान नहीं हैं, क्योंकि शक्ति से युक्त कर्ण में ही ध्वनि से संस्कार की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि शक्ति का उद्बोधन ही संस्कार है। यदि श्रोत्र में शक्ति ही नहीं रहेगी तो ध्वनि से किसका उद्बोधन होगा ? बधिर के श्रोत्र तो दोषों से अच्छादित रहते हैं। दोषाच्छदित श्रोत्र में ध्वनियाँ संस्कार के उत्पादन में अक्षम हैं। अतः इस पक्ष में बधिर में शब्दश्रवण की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥ १४५ ॥

उत्पद्यमानपक्षे तु न किञ्चित् प्रतिबन्धनम्।
श्रोत्रमाकाशदेशं च भौतिकेन्द्रियवादिनः ॥ १४६ ॥
यस्माद्वस्तस्य सद्भावः प्राग्ध्वनेः केन वार्यते।
सिद्धस्य च पदार्थस्य यात्यतः कार्ययोग्यता ॥ १४७ ॥
संस्कारशब्दवाच्यत्वात् सा युक्त्या वार्यते कथा।
लोकागमप्रसिद्धेषु पदार्थेष्वन्यथा वचः ॥ १४८ ॥
तन्मुधाखेदकारि स्याद् गोविषाणाशनोपमम्।
यदि त्ववश्यं कर्तव्यस्तार्किकोक्तिविपर्ययः ॥ १४९ ॥

ततो वेदानुसारेण कार्या दिक्श्रोत्रतामतिः ।
दिशः श्रोत्रमिति ह्येतद् प्रलयेष्वभिधीयते ॥ १५० ॥

उत्पद्यमानपक्षे''प्रतिबन्धनम्

आप (भर्तृमित्र) तो ध्वनि से संस्कारात्मक श्रोत्र की उत्पत्ति मानते हैं। अतः बधिर में भी ध्वनि से संस्कात्मक श्रोत्र की उत्पत्ति में (इस पक्ष में) कोई प्रतिबन्धक नहीं है। यदि बधिर में उक्त श्रोत्र को उत्पत्ति में किसी प्रतिबन्धक को मानें तो वह अदृष्टकल्पना स्वरूप ही होगी।

श्रोत्रमाकाशदेशं च''बाधते

संस्कार को ही श्रोत्र मानने का पक्ष वैशेषिकादि अन्य दार्शनिकों के भी विरुद्ध है, क्योंकि वे लोग इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। तदनुसार वे कर्णशष्कुल्य-वच्छिन्न आकाश को ही श्रोत्र मानते हैं, जो सर्वदा विद्यमान ही रहता है। इस पक्ष में ध्वनि से पूर्व नित्य श्रोत्र की सत्ता को कौन हटा सकता है। अतः संस्कार को श्रोत्र मानना अन्य दार्शनिकों के भी अनुकूल नहीं है।

सिद्धस्य''बाध्यते कथा

सिद्धपदार्थ में जिस किसी अन्य पदार्थ के द्वारा कार्य के उत्पादन की योग्यता संपादित होना ही संस्कार शब्द का मुख्यार्थ है। जैसे कि पूर्वानुभव में स्मृति स्वरूप कार्य का संपादन होने से 'भावना' को 'संस्कार' कहा जाता है। इस लोकप्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर सीधे श्रोत्र स्वरूप सिद्ध वस्तु में संस्कार पद की अभिधा शक्ति को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

लोकागमप्रसिद्धेषु''''गोविषाणाशनोपमम्

यह कहना भी ठीक नहीं है कि वैशेषिकादि अन्य तन्त्रों के (दर्शनों) विरुद्ध कहना दोषावह नहीं है, क्योंकि लोक और न्याय इन दोनों से अविरुद्ध जो बातें अन्य दर्शनों में भी कही गयीं हैं, उनका केवल दर्शनान्तर में कथित होने से विरोधकथन गोविषाण के भोजन की उक्ति की तरह वृथा है।

यदि त्ववश्यम्''''दिक्श्रोत्रता मतिः'''अभिधीयते

यदि वैशेषिकादि तार्किकों के विरुद्ध कुछ कहने का आग्रह ही हो तो फिर श्रोत्र को दिक् पदार्थ में ही अन्तर्भूत मानकर शक्ति की ही बात कहिये जिसमें आप लोगों (भर्तृमित्रादि) को वेद का समर्थन भी प्राप्त होगा। 'अध्रिगुप्रैष' में जिन पशुओं का संज्ञपन (वध) होता है उन पशुओं के अङ्गों के लय का प्रतिपादन करते हुये 'दिशः श्रोत्रम्' इस वाक्य के द्वारा दिशाओं में श्रोत्रेन्द्रिय का लय कहा गया है ॥ १५० ॥

तच्च प्रकृतिगामित्ववचनं चक्षुरादिवत् ।
सूर्यमस्य यथा चक्षुरुक्तं गमयतादिति ॥ १५१ ॥
तेजः प्रकृतिविज्ञानं तथा श्रोत्रं दिगात्मकम् ।
दिक् च सर्वगतैका च यावद् व्योम व्यवस्थिता ॥ १५२ ॥

कर्णच्छिद्रपरिच्छिन्ना   श्रोत्रमाकाशदेशवत् ।
यावांश्च   कणभुग्न्यायो   नभोभागप्रकल्पने ॥ १५३ ॥
दिग्भागे तु समस्तोऽसावागमात् तु विशिष्यते ।
तस्माद् दिग्द्रव्यभागो यः पुण्यापुण्यवशीकृतः ॥ १५४ ॥
कर्णच्छिद्रपरिच्छिन्नः श्रोत्रं संस्क्रियते च सः ।
तस्मात् स्वतोऽनवस्थानं परस्तादित्यसिद्धता ॥ १५५ ॥
प्रत्ययस्यानवस्थानं व्योम्न्यपि स्थगितेऽस्ति नः ।
न च तस्मिन् विनाशित्वं द्रव्येऽद्रव्यात्मके सति ॥ १५६ ॥

तच्च प्रकृतिगामित्वम्""गमयतादिति""श्रोत्रं दिगात्मकम्

'दिशः श्रोत्रम्' यह वाक्य 'सूर्यमस्य चक्षुर्गमयतात्' इत्यादि वाक्यों के समान ही प्रकृति में (उपादान कारण में) विकृति के (उपादेय कार्य के) विलय का ही बोधक है। फलतः जिस प्रकार 'सूर्यमस्य चक्षुर्गमयतात्' इस वाक्य के द्वारा यह ज्ञात होता है कि चक्षु की प्रकृति अर्थात् कारण तेज है, अतः चक्षु तैजस है, उसी प्रकार 'दिशः श्रोत्रम्' यह वाक्य भी प्रकृति में विकृति के लय का बोधक ही है। इससे श्रोत्र की 'दिङ्मयता' (दिक्स्वरूपता) ही 'दिशः श्रोत्रम्' इस वाक्य का प्रतिपाद्य है।

दिक् च""व्यवस्थिता""श्रोत्रमाकाशदेशवत्

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश को इन्द्रिय मानने के पक्ष में दूरवर्त्ति पुरुषों के द्वारा शब्दश्रवण की आपत्ति का निवारण 'कर्णपरिच्छिन्न' आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मानकर वैशेषिक गण करते हैं, उसी प्रकार व्योम के ही समान श्रोत्र को सर्वदेश-व्यापी दिक् स्वरूप मानने पर भी सभी पुरुषों के द्वारा शब्दश्रवण की आपत्ति का परिहार 'कर्णपरिच्छिन्न दिक्' को ही श्रोत्र मानकर मीमांसकों के पक्ष में भी किया जा सकता है।

यावांश्च""समस्तोऽसौ""आगमात्तु विशिष्यते

व्यापकीभूत आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मानने के पक्ष में कणादऋषि के अनुयायी गण जिन युक्तियों का अवलम्बन करते हैं श्रोत्र को व्यापकीभूत दिक् स्वरूप मानने में वे सभी युक्तियाँ बराबर हैं। 'दिक्श्रोत्रे' पक्ष में इतना 'विशेष' (अधिक) है कि 'दिशः श्रोत्रम्' यह वेद स्वरूप आगम प्रमाण भी उसका अनुमोदन करता है।

तस्मात्""परिच्छिन्नः श्रोत्रम्""संस्क्रियते च सः

'तस्मात्' पुण्य और अपुण्य (पाप) के द्वारा नियन्त्रित देह स्वरूप द्रव्य के कर्ण स्वरूप भाग से परिच्छिन्न 'दिक्' ही 'श्रोत्र' है। यही श्रोत्र ध्वनि के द्वारा संस्कृत होता है। अर्थात् इसी श्रोत्र में ध्वनि से संस्कार उत्पन्न होता है।

तस्मात् स्वतोऽनवस्थानम्""इत्यसिद्धता

'तस्मात्' श्रवणानन्तर जो शब्द की उपलब्धि नहीं होती है, उसका कारण है संस्कारादि व्यञ्जकों का अभाव। उस समय शब्दों को 'अनवस्थिति' (असत्ता)

'स्वतः' अर्थात् उसके विनाशित्व स्वभाव के कारण नहीं रहती है किन्तु अनुपलब्धि के कारण रहती है। अतः 'शब्दः कृतकः अस्थानात्' इस अनुमान का 'अस्थानात्' यह हेतु ही असिद्ध है।

प्रत्ययस्यानवस्थानम्''''स्थगितेऽस्ति नः

क्योंकि आकाश के तिरोधान से भी शब्द की अनुपलब्धि हो सकती है।

न च तस्मिन्''''अद्रव्यात्मके सति

शब्द की उक्त अनुपलब्धि आकाश के विनाश से नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'अद्रव्यात्मक' अर्थात् द्रव्य स्वरूप उपादान कारण से अनुत्पन्न, किं वा अनवयव द्रव्य का विनाश नहीं होता। आकाश चूँकि अवयवों से रहित है अतः उसका विनाश ही संभव नहीं है। जैसे कि परमात्मा का विनाश संभव नहीं है॥ १५१–१५६॥

तत्रानुमानबुद्धिश्चेत् शब्देऽप्यस्तीति गम्यताम्।
करोतेर्यच्च कर्मत्वात् कृतकत्वमुदाहृतम्॥ १५७॥
अर्थस्तावदसिद्धोऽयम् अभिधानमथोच्यते।
तत्रापि व्यभिचारित्वं तत्क्रियाजन्मवादिनः॥ १५८॥
गोमयाद्यावतज्जन्येऽप्येष शब्दो हि दृश्यते।
यथा कथञ्चिदिष्टं चेत् कार्यत्वं गोमयादिषु॥ १५९॥
तथाप्याकाशमात्रत्वं कुरुष्वेत्यत्र दृश्यते।
वरणाभावमात्रत्वात् कार्यमेवेति चेन्न तत्॥ १६०॥
बौद्धानामपि नाभावः स्वयंसिद्धो हि जन्यते।
भुवां देशान्तरप्राप्तिर्व्यापारफलमत्र हि॥ १६१॥
अनावृत्यात्मकं व्योम नित्यमेव व्यवस्थितम्।
नित्यस्य करणाभावात् प्रयोगेऽस्मिन्नथोच्यते॥ १६२॥
भ्रान्तत्वं गौणता वेति शब्देऽप्येवं भविष्यति।
प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः॥ १६३॥
प्राग्भागः पुनरेतेषां तेषामुत्तरतः स्थितः।
तेन सूर्योदितेर्देशौ भिन्नावुभयवासिनाम्॥ १६४॥
दृष्टो सवितुरेकत्वेऽप्यतोऽनैकान्तिको भवेत्।
पश्यन्त्येके च यद्देशावुदयास्तमयौ रवेः॥ १६५॥
तावत्येवाभिमन्यन्ते परस्तात् तन्निवासिनः।
न च भिन्ना निरीक्ष्यन्ते तेन नादित्यभिन्नता॥ १६६॥

तत्रानुमानबुद्धिश्चेत्

(पू० प०) आकाश की सत्ता चूँकि शब्दोपलब्धि के बाद भी अनुमान से सिद्ध है, अतः आकाश की अनुपलब्धि से उसके विनाश की सिद्धि नहीं हो सकती। शब्दोपलब्धि को छोड़कर शब्द की सिद्धि का कोई दूसरा साधन नहीं है। अतः उपलब्धि के बाद भी शब्द की सत्ता को स्वीकार करने का कोई तुक नहीं है।

शब्देऽप्यस्तीति गम्यताम्

'स एवायं गकारः' (यह वही गकार है) इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा शब्दोपलब्धि के बाद भी शब्द की सत्ता का अनुमान हो सकता है (उपलब्ध्यनन्तरमपि गकारोऽस्ति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् सोऽयं देवदत्तः इति प्रत्यभिज्ञाविषयीभूतदेवदत्तवत्)।

करोतेर्यच्च ... अभिधानमथोच्यते ... गोमयादौ ... दृश्यते

'करोति शब्दात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १४) इस सूत्र के द्वारा शब्द में कृतकत्वसाधन के लिये जो 'करोति' पद के साथ 'शब्दम्' इस कर्मत्वबोधक शब्द के प्रयोग (शब्दं करोति) की चर्चा की गयी है, उसका खण्डन 'प्रयोगस्य परम्' (जै० सू० अ० १ पा० १) इस सूत्र से किया गया है। इस सिद्धान्तसूत्र को समझने के लिये पहले यह प्रश्न करना चाहिये कि (१) 'करोति' पद से कर्मता या कार्यता स्वरूप अर्थ विवक्षित है ? अथवा (२) 'करोति' पद घटित 'शब्दं करोति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'शब्दम्' पद से बोध्य कर्मत्व (कारकत्व) मात्र विवक्षित है ? इनमें यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करें अर्थात् कार्यत्वहेतुक 'शब्दः कृतकः कार्यत्वात्' इस अनुमान को उपस्थित करें तो यह 'कार्यत्व' हेतु शब्द स्वरूप पक्ष में उभयमत से सिद्ध न होने के कारण असिद्ध नाम का हेत्वाभास ही होगा।

यदि दूसरा पक्ष मानें तो गोबर (गोमय) में यह करोति क्रिया का कर्मत्व हेतु शब्द को कृतिजन्य मानने वालों के लिये व्यभिचरित हो जायगा, क्योंकि 'गोमयानि कुरु' (गोबर की करसी बनाओ) इस प्रकार के 'करोति' पद का प्रयोग समाहरण अर्थ में भी होता है। अर्थात् गोमय में करोति क्रिया पद के अनुसार प्रयुक्त 'गोमयम्' इस कर्मपद की बोध्यता रूप हेतु है, किन्तु कृतिजन्यत्व रूप हेतु नहीं है।

यथा कथञ्चित् ... इत्यत्र दृश्यते

यदि जिस किसी प्रकार की गौण कार्यता गोमयादि में मानकर ही 'गोमयानि कुरु' इत्यादि प्रयोग को स्वीकार करें तो 'आकाशं कुरु' इत्यादि प्रयोग होने के कारण आकाश में 'करोति' शब्द प्रयोग रूप हेतु व्यभिचरित हो जायगा, क्योंकि आकाश में करोति-पदघटित (अर्थात् कृधातुघटित) प्रयोगविषयत्व है किन्तु कृतिजन्यत्व रूप साध्य नहीं है। इस प्रकार आकाश स्वरूप विपक्ष में उक्त कृतिजन्यत्व हेतु व्यभिचरित हो जायगा।

करणाभावमात्रत्वात्कार्यमेवेति चेत्

(पू० प०) आकाश तो 'आवरण' का अभाव मात्र है, कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, अभाव तो कार्य है ही—इस रीति से आवरणाभाव स्वरूप आकाश भी कार्य

है (कृतिजन्य है) । अतः कृतिजन्यत्व स्वरूप साध्य के अभाव का अधिकरण न होने से आकाश विपक्ष नहीं है । इसलिये आकाश के विषय में यदि कृधातु का प्रयोग होता भी है तो व्यभिचार की आपत्ति नहीं है ।

न, तत्‌ ''बौद्धानामपि'' 'स्वयं सिद्धः

आकाश को यदि आवरणाभाव मात्र मानते हैं, तथापि कथित व्यभिचार दोष का उद्धार नहीं होता, क्योंकि "आवरण का अभाव ही आकाश है" यह सिद्धान्त बौद्धों का है । वे लोग 'अभाव' को 'कार्य' अर्थात्‌ कृतिजन्य नहीं मानते । इसलिये आवरणाभाव रूप आकाश कृतिजन्यत्व स्वरूप साध्य का 'विपक्ष' है ही । यदि आवरणाभाव को आकाश से भिन्न कोई वस्तु मानते हैं, तब तो उसको विपक्षता और भी स्पष्ट है, क्योंकि कोई भी 'वस्तु' कृतिजन्य नहीं है, सभी पदार्थ क्षणिक पूर्ववर्त्ती स्वसजातीय पदार्थजन्य ही है । अतः उस वस्त्वन्तर में कृतिजन्यत्व के न रहने से आवरणाभाव रूप दूसरी वस्तु की विपक्षता स्पष्ट है ।

जन्यते''''मृदाम्‌''''अत्र हि''''व्यवस्थितम्‌ कारणाभावात्‌

(प्रश्न हो सकता है कि यदि आवरणाभाव स्वरूप आकाश कृतिजन्य नहीं है तो फिर कूप से मिट्टी हटाने का जो व्यापार होता है, वह व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि आवरण के हटाने में उसका कोई उपयोग नहीं है । इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

अनावरणात्मक होने पर भी आकाश नित्य है, अतः उसकी स्थिति के लिये किसी व्यापार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नित्य वस्तु की स्थिति के लिये किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती है । अतः मिट्टी हटाने के लिये जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनका फल मिट्टी को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना मात्र है ।

प्रयोगोऽस्मिन्‌''''भ्रान्तत्वं गौणता वा

(यदि यह कहो कि 'शब्दः कृतकः करोतिपदप्रयोगविषयत्वात्‌' इस अनुमान में 'करोति' पद का मुख्यार्थ ही (कार्यत्व हो) विवक्षित है । तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि—)

वास्तव में वह नित्य है, अतः करोति पद का मुख्य प्रयोगविषयत्व हेतु शब्द स्वरूप पक्ष में नहीं रह सकेगा, क्योंकि 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के द्वारा शब्द में वास्तविक नित्यता सिद्ध है, इस प्रकार शब्द में 'करोति' पद का मुख्यविषयत्व स्वरूप हेतु शब्द में सिद्ध न रहने के कारण असिद्ध नाम का हेत्वाभास हो जायगा ।

प्राग्‌ भागो यः''''उत्तरतः स्थितः''अनैकान्तिको भवेत्‌

'सत्त्वान्तरे यौगपद्यात्‌' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १५) इस सूत्र के शब्द में कृतकत्व के साधन के लिये पूर्वपक्षवादियों का चौथा हेतु प्रदर्शित हुआ है । उसका खण्डन 'आदित्यवद्यौगपद्यम्‌' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १५) इस सूत्र के द्वारा किया गया है ।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि 'युगपत्' अर्थात् एक ही समय 'सत्त्वान्तर' में अर्थात् अनेक प्राणियों में जो शब्द की उपलब्धि होती है, उससे गकारादि प्रत्येक वर्ण की अनेकता की सिद्धि के द्वारा गकारादि प्रत्येक वर्ण की अनित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सत्त्वान्तर में उक्त युगपदुपलब्धि की उपपत्ति तो एक ही आदित्य की अनेक पुरुषों के द्वारा युगपदुपलब्धि के समान गकारादि प्रत्येक वर्ण को एक मानकर भी की जा सकती है।

'आदित्यवद्यौगपद्यम्' इस समाधानसूत्र का विशदार्थ यह है कि भौगोलिक दृष्टि से 'सुराष्ट्र' में बसने वालों के लिये जो 'विन्दु' पूर्वदिशा कहलायगी, वही 'विन्दु' मालव देशवासियों के लिये 'दक्षिण' होगी एवं वही 'विन्दु' कुछ अन्य देश वासियों के लिये उत्तर दिशा भी होगी। इस प्रकार इन विभिन्न देशवासियों के लिए जिन विन्दुओं पर सूर्य का उदय होगा वे सभी दिशायें व्यवहार की दृष्टि से विभिन्न हैं। इस प्रकार एक ही आदित्य की प्रतीति भिन्न देशवासियों को विभिन्न दिशाओं में होती है। इसलिये नानात्व स्वरूप साध्य के न रहने से एवं 'सत्त्वान्तरे युगपदुपलब्धि' स्वरूप हेतु के रहने से यह 'सत्त्वान्तरे युगपदुपलब्धि' स्वरूप हेतु 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' है।

पश्यन्त्येके च ''रवेः ''तावत्येव ''तन्निवासिनः

एक ही सूर्य को नाना देशों में उपलब्धि के ये अन्य कारण भी हैं—

(१) जिस देश के मनुष्य जिस वृक्ष अथवा जिस पर्वत के सामने सूर्य को उदित होते हुये या अस्तमित होते हुये देखते हैं, उन देशों के जन उसी समय उन उदयास्त देशों के आगे उतने ही दूर के देशों में सूर्य को उदित होते हुये अथवा अस्तमित होते हुये देखते हैं। इस प्रकार एक ही सूर्य की एक ही समय नाना देशों में नाना जनों को उपलब्धि होती है। फिर भी सूर्य अनेक नहीं होता।

न च भिन्ना ''नादित्यभिन्नता

उक्त रीति से सूर्य की भिन्न देशों में भिन्न जनों की उपलब्धि के द्वारा सूर्य में नानात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि सूर्य में नानात्व योग्यानुपलब्धि से बाधित है। किसी को भी नाना सूर्यों के दर्शन नहीं होते ॥ १५७–१६६ ॥

मध्याह्ने सर्वपुंसां स्यादेकं चोपरि दर्शनम्।
यो यो गृहीतः सर्वस्मात् पुरतः सवितेक्ष्यते ॥ १६७ ॥
तदन्तराधिकात्मा च भाति तेनाग्रतः स्थितः।
विप्रकृष्टान्तराणां च स्तोकदेशोऽपि दृश्यते ॥ १६८ ॥
सिद्धभिन्नाग्रदेशानां दूरदेशसमानता।
तत्रापि विप्रकृष्टस्य सन्निध्यध्यासकारिता ॥ १६९ ॥
देशभ्रान्तिर्भवेत् पुंसां तत्तद्देशमपश्यताम्।
शब्दे तु किंनिमित्तैषा तत्रापि ख्यापिता कृता ॥ १७० ॥

मध्याह्ने ... दर्शनम्

(२) 'एक ही सूर्य की नाना देशों में उपलब्धि होती है' इसमें यह भी प्रमाण है कि मध्याह्न के समय सभी अपने शिर के ऊपर ही सूर्य देखते हैं, यद्यपि सभी जनों के शिर के ऊपर के भाग भिन्न भिन्न हैं[1] ।

यो यो गृहीत ... सवितेक्ष्यते

'एक ही सविता नाना देशों में देखा जाता है' इसमें हेतु यह भी है कि आदित्य से बहुत दूर में विद्यमान पुरुष को अपेक्षाकृत समीप देश में सूर्य की भ्रमात्मक प्रतीति होती है[2] ।

तदन्तराऽधिकात्मा च ... तेनाग्रतः स्थितः

पहले सामने के किसी पर्वत को सूर्य का उदय देश समझा किन्तु सूर्य और पर्वत के मध्य में जो व्यवधान है, उसको नहीं समझ पाये । ऐसे पर्वत प्रदेश के जो मनुष्य हैं, वे भी दृष्ट सूर्य के देश को अपने से उतनी ही दूरी पर या उससे भी अधिक दूरी पर समझते हैं ।

विप्रकृष्टान्तराणां च ... दृश्यते ... सिद्धभिन्नाग्रदेशानाम् ... समानता

दूर देश के एक ही वस्तु को समीपता की भ्रान्ति से नाना प्रदेशों में रहने का भ्रम सूर्य से अन्यत्र भी होता है । जैसे कि किसी पर्वत को उससे दश योजन दूरवाले पुरुष जितनी दूरी पर देखते हैं, बारह योजन दूर पर स्थित पुरुष भी उस पर्वत को

---

१. कहने का तात्पर्य है कि भिन्न देशों के लोग सूर्य के उदय और अस्त को भिन्न देशों में देखते हैं एवं यह प्रत्यभिज्ञा भी नहीं होती है कि जिस प्रदेश में जिस सूर्य को देख रहा हूँ, उसी सूर्य को भिन्न प्रदेशों के लोग भिन्न प्रदेशों में देख रहे हैं । किन्तु एक प्रदेश के विभिन्न जनों के शिरः प्रदेशों की विभिन्नता निश्चित है । उन सभी व्यक्तियों को यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि जिस सूर्य को मैं अपने शिर के ऊपर देख रहा हूँ उसी सूर्य को दूसरे भी अपने शिर के ऊपर देख रहे हैं । चूँकि एक ही सूर्य का एक ही समय नाना प्रदेशों में दर्शन होता है, अतः 'सत्त्वान्तरदर्शन' स्वरूप हेतु भी नानात्व स्वरूप साध्य का व्यभिचारी है, अतः नानात्व अनैकान्तिक हेत्वाभास है, हेतु नहीं ।

२. कहने का तात्पर्य है कि इस प्रदेश में स्थित हम लोग जितने दूर के पर्वतादि को सूर्य के उदय का देश समझते हैं, हमलोग ही जब पूर्वगृहीत उस पर्वत प्रदेश में जाते हैं तो उतने ही प्रदेश को उदय का स्थान पाते हैं । इस द्वितीय स्थान से जब सूर्य के उदय-स्थान का अवलोकन करते हैं तो वहाँ से भी तो वह स्थान उतना ही दूर मालूम पड़ता है ।

इससे यह प्रतिपन्न होता है कि जितने दूर के प्रदेश में सूर्य ज्ञात होता है उससे बहुत दूर के प्रदेश में वास्तव में वह विद्यमान रहता है । हम लोग भ्रान्तिवश उसे अपेक्षाकृत समीप में समझ लेते हैं । समीपता की इस भ्रान्ति के कारण ही एक ही सूर्य का नाना देशों में भान होता है ।

उतनी ही दूरी पर समझते हैं। अतः सूर्य से भिन्न इन पर्वतादि में भी युगपन्नानादेश-दर्शन स्वरूप हेतु है, किन्तु नानात्व स्वरूप साध्य नहीं है। इसलिये इन पर्वतादि में भी उक्त हेतु व्यभिचरित है।

तत्रापि विप्रकृष्टस्य''''देशभ्रान्तिः अपश्यताम्'''शब्दे तु किंनिमित्तैषा ।

(पू० प०) यह तो ठीक है कि पर्वत से दश योजन दूर के पुरुषों को एवं बारह योजन दूर के पुरुषों को पर्वत में समानदेशता की जो भ्रान्ति होती है, वह समीपता की भ्रान्ति से होती है। किन्तु एक ही शब्द की नानादेशोपलब्धि का कौन सा कारण है, क्योंकि एक पुरुष के लिये शब्द के अन्य देश उपलब्ध ही नहीं हैं जिससे शब्द को सुनने वालों को देश की समीपता या अन्य किसी की भ्रान्ति हो सके?

तत्रापि व्यापिता कृता

(सि० प०) एक ही शब्द के नाना देशों में रहने की प्रतीति शब्द की व्यापिता अर्थात् व्यापकत्व से होती है ॥ १६७–१७० ॥

यो यो गृहीतः सर्वस्मिन् देशे शब्दोऽपि दृश्यते ।
न चास्यावयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः ॥ १७१ ॥

यो यो गृहीतः''''दृश्यते

ऐसा नहीं देखा जाता कि किसी विशेष देश में ही कोई शब्द उच्चरित होने पर सुना जाय। अतः यह ज्ञात होता है कि शब्द किसी देश विशेष से नियन्त्रित नहीं है। इसलिये समझते हैं कि शब्द 'व्यापी' (विभु) है।

न चाऽवयवाः'''भागशः

'कार्त्स्न्येन चाऽवगम्यत्वादेकदेशे घटादिवच्छब्दस्याविभुता' (शा० भा०) इस भाष्य सन्दर्भ के द्वारा शब्द की विभुता पर जो यह आक्षेप किया गया है कि शब्द चूँकि किसी एक देश में 'कार्त्स्न्येन' अर्थात् सम्पूर्णतः ज्ञात नहीं होता है अतः घटादि के समान ही शब्द 'अविभु' है। इस आक्षेप का यह उत्तर है—

यदि शब्द कई भागों से युक्त कोई सावयव पदार्थ होता तो वह अवयवशः कई भागों में फैला होता। अतः किसी एक प्रदेश में 'कार्त्स्न्येन' उसकी उपलब्धि नहीं होती। किन्तु भाग (अवयव) शून्य होने के कारण अवयवशः किसी प्रदेश में उसकी सत्ता नहीं है ॥ १७१ ॥

शब्दो वर्त्तत इत्येवम् तत्र सर्वात्मकश्च सः ।
व्यञ्जकध्वन्यधीनत्वात् तद्देशे तु स गृह्यते ॥ १७२ ॥

शब्दो वर्त्तत इत्येवम्

किन्तु शब्द किसी भी प्रदेश में हो उसकी सम्पूर्णोपलब्धि ही आकाश में होती है। 'शब्द का अमुक अंश अमुक प्रदेश में है' इस प्रकार की उपलब्धि शब्द की नहीं होती है। इसलिये यह निष्पन्न होता है कि सभी स्थानों में उसकी सम्पूर्ण सत्ता ही है, भागशः सत्ता नहीं है।

तत्र सर्वात्मकश्च सः

जहाँ कहीं भी शब्द की प्रतीति होती है, उसी प्रतीति के अभिलापक शब्द में 'शब्दं शृणोमि' इस प्रकार से अखण्ड शब्द का ही प्रयोग होता है, उसके किसी एक देश का अभिलाप नहीं होता। अतः सर्वत्र शब्द की 'कात्स्न्येंन' प्रतीति ही होती है। इसलिये शब्द विभु है।

व्यञ्जकध्वनि ''स गृह्यते

शब्द के विभु होने पर भी उसकी यह 'विभुता' इसलिये ज्ञात नहीं हो पाती कि सभी देशों में शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ नहीं होतीं। अतः जिस प्रकार किसी देश में घट के रहने पर भी अभिव्यञ्जक आलोक के न रहने से उस देश में घट की प्रतीति नहीं होती है किन्तु घट की इस अप्रतीति से उस प्रदेश में घट की असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती उसी प्रकार जिस देश में शब्द की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ उसका प्रयोजक अभिव्यञ्जक ध्वनि का अभाव ही है। इससे उस देश में शब्द की असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ १७२ ॥

न च ध्वनीनां सामर्थ्यं व्याप्तुं व्योम निरन्तरम्।
तेनाविच्छिन्नरूपेण नासौ सर्वत्र गृह्यते ॥ १७३ ॥

क्योंकि ध्वनियों में यह शक्ति नहीं है कि सम्पूर्ण आकाश में विना किसी व्यवधान के व्याप्त हो। इसी से ध्वनियों से व्यञ्जित होने वाले शब्द भी विना व्यवधान के आकाश में सर्वत्र रहने पर भी ज्ञात नहीं हो पाते, किसी विशेष प्रदेश में ही ज्ञात होते हैं ॥ १७३ ॥

ध्वनीनां भिन्नदेशत्वं श्रुतिस्तत्रानुरुध्यते।
अपूरितान्तरालत्वाद् विच्छेदश्चावसीयते ॥ १७४ ॥

(पू० प०—ध्वनियों के प्रादेशिक होने के कारण शब्द भी प्रदेश विशेष में ही उपलब्ध हों, सर्वत्र उपलब्ध न हों—इसे यदि मान भी लें, तथापि इस प्रश्न का समाधान अवशिष्ट रह जाता है कि शब्द यदि सर्वव्यापी है, अतः भिन्न-भिन्न देशों में उसकी अभिव्यक्ति की भ्रान्ति कैसे होती है ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि–)

शब्द यद्यपि व्यापक है, किन्तु उसकी विभिन्न अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ एक ही समय इधर उधर अनेक देशों में उत्पन्न होतीं हैं, उनमें कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये शब्दों की उपलब्धि बिखरी ध्वनियों के प्रदेशों में ही होती है। इसलिये कुछ दूर देशों में भी शब्द की उपलब्धि होती है। इस प्रकार नाना देशों में शब्द की उपलब्धि से शब्द के सर्वव्यापित्व में कोई बाधा नहीं आती है ॥ १७४ ॥

तेषां चाल्पकदेशत्वाच्छब्दस्याविभुतामतिः।
गतिमद्वेगवत्त्वाभ्यां ते चायान्ति यतो यतः ॥ १७५ ॥
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते।
सूर्यस्य भिन्नदेशत्वं नन्वेकेन न गृह्यते ॥ १७६ ॥

तेषाम्''''अविभुतामतिः

ध्वनियाँ चूँकि अल्पदेशव्यापिनी हैं, अतः उनसे अभिव्यक्त होने वाले शब्दों में भी अल्पदेशव्यापित्व स्वरूप 'अविभुता' की भ्रान्ति होती है।

गतिमद्''यतो यतः''इव मन्यते

'इधर से शब्द आ रहा है' इस प्रकार की प्रतीति व्यञ्जक ध्वनियों में वेग और गति की सत्ता से ही होती है, क्योंकि विभु पदार्थों में वेग और गति की सत्ता नहीं रहती। अर्थात् गति और वेग से युक्त ध्वनियाँ जिन देशों से गुजरती हैं, उन्हीं देशों से शब्द के आने की भी प्रतीति होती है। शब्द में वस्तुतः गति और वेग नहीं है।

सूर्यस्य''''एकेन न गृह्यते

(पू० प०) अनेक पुरुषों के द्वारा अनेक देशों में सूर्य भले ही न देखे जायँ किन्तु किसी एक पुरुष को सूर्य में अनेकदेशता की प्रतीति नहीं होती है ॥१७५-१७६॥

न नाम सर्वथा तावद् दृष्टास्यानेकदेशता।
सविशेषणहेतुश्चेत् तथापि व्यभिचारिता ॥ १७७ ॥

न नाम सर्वथा''''अनेकदेशता

(सि० प०) 'सर्वथा' (अर्थात् एक पुरुष के द्वारा अथवा अनेक पुरुषों के द्वारा दोनों ही प्रकारों से) सूर्य में अनेकदेशता की प्रतीति भले ही न हो, तथापि केवल अनेक पुरुषों के द्वारा अनेकदेशता की प्रतीति मात्र से 'युगदनेकदेशप्रतीति-विषयत्व' के व्यभिचरित होने में कोई बाधा नहीं आती है।

सविशेषणहेतुश्चेत्

(पू० प०) यदि 'युगपदनेकदेशप्रतीतिविषयत्व' हेतु में 'एकपुरुषनिष्ठत्व' को विशेषण दें तो सूर्य में व्यभिचार को प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि सूर्य अनेक पुरुषों के द्वारा ही अनेक देशों में देखा जाता है, किसी एक पुरुष के द्वारा नहीं। अतः सूर्य में नानात्व रूप साध्य नहीं है, तो 'एकपुरुषनिष्ठ-अनेकदेशप्रतीतिविषयत्व' रूप हेतु भी नहीं है।

तथापि व्यभिचारिता

(सि० प०) हेतु में 'एकपुरुषनिष्ठत्व' विशेषण देने पर भी व्यभिचार होगा ॥ १७७ ॥

दृश्यते भिन्नदेशोऽयमित्येकोऽपि हि बुद्ध्यते।
जलपात्रेषु चैकेन नानेकः सवितेक्ष्यते ॥ १७८ ॥
युगपन्न च भेदस्य प्रमाणं तुल्यवेदनात्।
आहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रं पृथक् पृथक् ॥ १७९ ॥
भिन्नानि प्रतिबिम्बानि जायन्ते युगपन्मम।
अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौरेण तेजसा ॥ १८० ॥

स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तितम् ।
स्वदेश एव गृह्णाति सवितारमनेकधा ।। १८१ ।।
भिन्नमूर्ति यथा पात्रं, तदास्यानेकता कुतः ।
ईषन्निमीलितेऽङ्गुल्या यथा चक्षुषि दृश्यते ।। १८२ ।।
पृथगेकोऽपि भिन्नत्वाच्चक्षुर्वृत्तेस्तथैव नः ।
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिणः ।। १८३ ।।
स एव चेत् प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते ।
कूपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत् ।। १८४ ।।
प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्चेत् प्रत्यङ्मुखः कथम् ।
तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्यातं यदिन्द्रियम् ।। १८५ ।।
तत एतद् भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम् ।
अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं चक्षुर्द्वेधा प्रवर्त्तते ।। १८६ ।।
एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तत्रोर्ध्वांशप्रकाशितम् ।
अधिष्ठानानृजुस्थत्वान्नात्मा सूर्यं प्रपद्यते ।। १८७ ।।
पारम्पर्यार्पितं सन्तमवाग्वृत्त्या तु बुध्यते ।
ऊर्ध्ववृत्तेस्तदेकत्वादवागिव च मन्यते ।। १८८ ।।
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ।

दृश्यते ''बुद्धयते

एक पुरुष को भी सूर्य की 'नभोदेश' में उपलब्धि होती है, क्योंकि एक ही पुरुष जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो दोनों ही स्थानों में सूर्य को देखकर यह समझता है कि एक सूर्य को ही नाना देशों के लोग नाना स्थानों में देखते हैं। इस प्रकार एक पुरुष को भी सूर्य में अनेकदेशता की उपलब्धि होती है।

जलपात्रेषु ''सवितेक्ष्यते युगपत्

(पृ० ५०) 'दृश्यते भिन्नदेशोऽयम्' (श्लोक १७८) इत्यादि श्लोकों से एक ही पुरुष में सूर्य की जो नानादेशोपलब्धि की बात कही गयी है वे सभी उपलब्धियाँ इन्द्रिय जनित नहीं हैं, कुछ ही उपलब्धियाँ इन्द्रियजनित हैं, कुछ देशों में सूर्य की उपलब्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अतः उक्त हेतुवाक्य को यदि 'इन्द्रियेण युगपद् एकेन पुरुषेण युगपन्नानादेशोपलम्भात्' इस प्रकार पढ़ें, अर्थात् इन्द्रिय से एक पुरुष के द्वारा सूर्य की युगपन्नानादेशोपलब्धि को हेतु मानें तो सूर्य में जो अनैकान्तिकत्व का उद्भावन किया गया है, वह नहीं उपपन्न होगा। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

एक इन्द्रिय से एक समय जल में एक पुरुष का इन्द्रिय एक ही 'सविता' को देखता है। अर्थात् नाना पात्रों में एक ही सविता का इन्द्रिय के द्वारा एक ही पुरुष को नानात्व की उपलब्धि होती है।

न च भेदस्य····तुल्यवेदनात्

यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्येक पात्र में भिन्न-भिन्न सूर्य की ही उपलब्धि होती है, क्योंकि 'जिस सूर्य को मैं आकाश में देखता हूँ, उसी को पात्रस्थ जल में भी देख रहा हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा से जब प्रतिबिम्बभूत सूर्य में मुख्य सूर्य की भिन्नता ही बाधित है, तो फिर पात्रों में प्रतिभासित सूर्यों में परस्पर भिन्नता की चर्चा ही व्यर्थ है, क्योंकि जिस सूर्य को मैंने उस पात्र में देखा था उसी सूर्य को मैं इस पात्र में भी देखता हूँ इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है।

बाह्येकेन निमित्तेन····युगपन्मम

प्रत्येक पात्र में विभिन्न प्रतिबिम्ब को स्वीकार करने वालों का कहना है कि किसी एक ही कारण से एक ही समय अलग-अलग अनेक प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं।

अत्र ब्रूमो यथा····प्रवर्त्तितम्····स्वदेश एव····अनेकता पुनः

इस प्रसङ्ग में 'एकप्रतिबिम्बवादी' हम सिद्धान्तियों का कहना है कि जिस समय चमकते हुये सूर्य के तेज से प्रतिहत चाक्षुष तेज अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगामिता के विपरीत नीचे की तरफ जल के साथ सम्बद्ध होता है, वह जल ही उस समय चक्षु का अपना देश (स्वदेश) है, उसी में वह सूर्य के अनेक रूपों में प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, 'यथापात्र' अर्थात् पात्रों के भेद से एक सूर्य अनेक से प्रतीत होते हैं, अतः प्रतिबिम्ब वास्तव में 'अनेक' नहीं हो सकता। अर्थात् इस प्रकार जब एक ही बिम्ब का अनेक प्रतिबिम्बों के रूप में ग्रहण संभव है, तो फिर अनेक प्रतिबिम्ब स्वरूप पदार्थान्तर की कल्पना में कोई प्रमाण ही नहीं है।

ईषन्निमीलिताङ्गुल्या····वृत्तिस्तथैव नः

जिस प्रकार उँगली के द्वारा निपीड़ित होने के कारण दो भागों में विभक्त नेत्र की रश्मियों से एक ही चन्द्र दो दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही सूर्य भी नाना प्रतीत हो सकता है। नाना प्रतीत होने से ही वह नाना नहीं हो सकता।

अन्ये तु····प्रतिबिम्बोदयैषिणः····दृश्यते····कूपादिषु····प्रत्यङ्मुखः कथम्

प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अलग पदार्थ माननेवालों का कहना है कि यदि जलादि में आकाशस्थ बिम्ब का ही ग्रहण हो तो उसे नियमतः अपने ऊर्ध्व देश में ही गृहीत होना चाहिये। किन्तु ऐसा स्वीकार करने से नीचे कूप के अन्दर जो सूर्य का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, वह न देखा जाता।

इसी प्रकार पूरब की तरफ मुँह करके स्थित पुरुष दर्पण में अपने मुख को पश्चिमाभिमुख देखता है। अतः जल में या दर्पण में दीखने वाला प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ ही है।

तत्रैव बोधयेत्····शरीरे तस्तु बोधकम्

प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु मानने वालों के विरुद्ध यह कहना है कि आत्मा के शरीर स्वरूप प्रदेशावच्छेदेनैव ज्ञानों की उत्पत्ति होती है,

बाहर के प्रदेशों में नहीं। इस वस्तुगति के अनुसार चक्षु का कथित बहिर्गत तेज भी शरीरप्रदेशावच्छेदेनेव आत्मा में ज्ञान को उत्पन्न करेगा, किसी बहिर्देशावच्छेदेन नहीं। देहावच्छेदेन आत्मा में जो ज्ञान चक्षु से उत्पन्न होगा वह देहाभिमुख विषय का ही होगा, अन्याभिमुख विषयों का नहीं। इस लिये कूपादि में जो सूर्य-प्रतिबिम्ब का ज्ञान होता है, वह भी आकाशस्थ सूर्य स्वरूप बिम्बविषयक ही है, प्रतिबिम्ब नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु है ही नहीं।

अप्सूर्यदर्शिनाम्····ऊर्ध्वांशप्रकाशितम्····सूर्यं प्रपद्यते····प्रतीयते

कहने का तात्पर्य है कि कूप में सूर्य को झाँकने वाले पुरुष के चक्षु की एक वृत्ति (अंश) स्वभावतः ऊर्ध्वगामिनी होती है, उत्कण्ठा वश उसी चक्षु का एक दूसरा अंश (वृत्ति) कूप की तरफ अधोगामिनी भी होता है। इसमें ऊर्ध्ववृत्ति के द्वारा प्रकाशित होनेवाले आकाशस्थ सूर्य का भान इस लिये नही होता है कि ज्ञान का अवच्छेदक उसके सामने नहीं होता। किन्तु चक्षु अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के द्वारा सूर्य के भान को अपने से भिन्न चक्षु की उक्त अधोगामिनी वृत्ति को समर्पित कर देता है। फलतः चक्षु की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के द्वारा ज्ञायमान सूर्य का ही कूपस्थत्व रूप से भान होता है। इसलिये सूर्य नीचे की तरफ कूप में विद्यमान सा दिखाई देता है ॥ १८८½ ॥

एवं प्राग्भूतया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् ॥ १८९ ॥
बुध्यमानो मुखं भ्रान्त्या प्रत्यगित्यवगच्छति।
अनेकदेशवृत्तौ वा सत्यपि प्रतिबिम्बके ॥ १९० ॥

एवं प्राग्भूतया समानबुद्धि····समर्पितम्····प्रत्यगित्यवगच्छति

(यह जो प्रश्न किया गया है कि पूरब की तरफ मुँह करके खड़ा आदमी दर्पण में अपने मुँह को पश्चिमाभिमुख क्यों देखता है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

ज्ञान का अधिष्ठान शरीर चूँकि पूरब तरफ है, अतः सीधा पश्चिम की तरफ फैली हुई जो चक्षु की रश्मि है, उससे मुख का प्रकाशन संभव नहीं है। अतः दर्पण-स्थल में भी यही स्वीकार करना होगा कि चक्षु की जो पश्चिमाभिमुखी वृत्ति है, वही अपने से अभिन्न चक्षु की पूर्वाभिमुखी वृत्ति को समर्पित होती है। इसी से दर्पणस्थ मुख पश्चिमाभिमुख दीख पड़ता है।

अनेकदेशवृत्तौ वा···प्रतिबिम्बके····नैव विद्यते

सूर्य के प्रतिबिम्ब की सत्ता को अनेकदेशवृत्ति मान भी लें, तथापि बिम्बभूत मुख्य सूर्य को नाना मानने का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि 'स एवाऽयं सूर्यः' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा स्वरूप 'समानबुद्धि' बराबर बनी रहती है। अतः कथित 'युग-पदनेकदेशवृत्तिज्ञानविषयत्व' हेतु में नानात्व के व्यभिचार में कोई अन्तर नहीं आता है ॥ १८९–१९० ॥

समानबुद्धिगम्यत्वात्नानात्वं नैव विद्यते ।
वक्तृवक्त्रप्रदेशानां भिन्नत्वाद् भिन्नदेशता ॥ १९१ ॥
श्रोत्रागमनपक्षे स्यात् तद्देशे त्वेकदेशता ।
अधिष्ठानाबहिर्वृत्तेरन्यस्मिन् सत्यपीन्द्रिये ॥ १९२ ॥
तद्देशाः कर्णशष्कुल्यो गृह्येरन् गमने सति ।
इयं तु वक्त्रनेकत्वे श्रोत्रैकत्वे च कल्पना ॥ १९३ ॥
वक्तर्येकत्र भिन्नेषु श्रोतृषु स्याद् विपर्ययः ।
यत्र हि श्रोत्रदेशानां भिन्नत्वाद्भिन्नदेशता ॥ १९४ ॥
तदागमे तु वक्त्रैक्यादेकदेशत्वसम्भवः ।
ध्वन्यागत्या यदि भ्रान्तिरितरत्रापि सा समा ॥ १९५ ॥
भिन्नव्यञ्जकताल्वादिदेशभेदाद् भविष्यति ।
सूत्रेण युगपद्भावः श्रोत्रैकत्वादुदाहृतः ॥ १९६ ॥
अतस्तदनुसारेण यद्यपीत्यादिकीर्तनम् ।
देशभेदेन भिन्नत्वमित्येतच्चानुमानिकम् ॥ १९७ ॥
प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तेन बाधकः ।
पर्यायेण यथा चैको भिन्नान् देशान् व्रजन्नपि ॥ १९८ ॥
देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते ।
कालैकत्वो यथैवासौ दृश्यमानः पुनः पुनः ॥ १९९ ॥
न भिन्नः कालभेदेन तथा शब्दो न देशतः ।
पर्यायादविरोधश्चेद् व्यापित्वादपि दृश्यताम् ॥ २०० ॥

वक्तृवक्त्रप्रदेशानाम्⋯तद्देशे त्वेकदेशता

'दूरत्वादादित्यस्य देशो नाऽवधार्यते, अतो व्यामोहाद्देशभेदावगतिरेव शब्देऽपि व्यामोहादनवधारणं देशस्य' (शा० भा० पृ० ८१ पं० ४) ।

अर्थात् आदित्य के अतिदूर रहने के कारण उसके निश्चित स्थान का पता नहीं चलता । इस अनवगति स्वरूप 'व्यामोह' के कारण ही सूर्य नाना स्थलों में जान पड़ता है । इस प्रकार के व्यामोह के कारण ही शब्दों में भी नानादेशता की प्रतीति होती है ।

इसी 'व्यामोह' स्वरूप हेतु का प्रदर्शन भाष्यकार ने 'यदि श्रोत्रं संयोगविभाग-देशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तेनैकदेशता कदाचिदवगम्येत, न तु तत्संयोगदेशमागच्छति प्रत्यक्षा हि कर्णशष्कुली तद्देशस्था गृह्यते' (शा० भा० पृ० ८१) इस सन्दर्भ से किया है ।

अर्थात् श्रोत्र यदि शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग अथवा विभाग के देशों में शब्द का ग्रहण करता तो 'कदाचित्' शब्द की एकदेशता प्रतीत भी होती । किन्तु ऐसा

नहीं होता, क्योंकि शरीर के कर्णशष्कुली प्रदेश में श्रोत्र से शब्द का ग्रहण प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

उक्त भाष्यसन्दर्भ का यह तात्पर्य है कि यदि नियमतः श्रोत्र प्रदेश में ही शब्द का प्रत्यक्ष होता तो यह निश्चित कर सकते थे कि वास्तव में शब्द का ग्रहण एक ही प्रदेश में होता है। शब्दश्रवण के उस प्रदेश को पूर्ण रूप से न समझने के कारण ही वक्ता के प्रदेश को ही शब्दग्रहण का भी प्रदेश भूल से समझ लिया जाता है। वक्ताओं के प्रदेश अनेकानेक हैं। अतः शब्दों में अनेकदेशता की प्रतीति होती है।

अधिष्ठानाऽबहिर्वृत्तेः···गमने सति

(पू० प०—संयोगविभागादि अभिव्यञ्जकदेशों में श्रोत्र के न आने का जो यह कारण दिखलाया गया है कि प्रत्यक्ष के द्वारा कर्णशष्कुली का शरीर में स्थान नियत है सो ठीक नहीं है। किन्तु कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश 'श्रोत्र' है। अतः कर्णशष्कुली के अन्यत्र जाने एवं न जाने से शब्दग्रहण के स्थाननानात्व का कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

श्रोत्रेन्द्रिय कर्णशष्कुली से भिन्न भले ही हो, किन्तु वे सभी देश (जिनमें शब्द की उपलब्धि कही जाती है) अधिष्ठानभूत कर्णशष्कुली के वहाँ जाने पर ही उपलब्ध हो सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि 'शब्द' वास्तव में एक ही है। नाना देशों में उसकी उपलब्धि भ्रान्ति है। इस रीति से एक ही शब्द की नाना देशों में उपलब्धि को भ्रम साबित करने का प्रयोजन है शब्द की एकता का 'प्रतिपादन'। अर्थात् एक वस्तु का अनेक देशों से साथ सम्बन्ध संभव नहीं है। अतः शब्द चूँकि एक है, इसलिये नाना स्थानों में उसकी उपलब्धि भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति असंभावित नहीं है। जैसे कि एक ही आदित्य की नाना स्थानों के उपलब्धि स्वरूप भ्रान्ति होती है। इसलिये शब्द की नाना देशों में उपलब्धि से शब्द में नानात्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

इयं तु···कल्पना···वक्तर्यत्र···विपर्ययः

(पू० प०) 'एक ही शब्द की नाना देशों में प्रतीति भ्रान्ति है, एवं एक देश में (श्रोत्र देश में) शब्द की प्रतीति ही वास्तविक है—इस अवधारण को श्रोत्र के विषय देश में अनागमन (न जाने) से वहीं ठीक माना जा सकता है जहाँ श्रोता एक हो और वक्ता अनेक हों। किन्तु जहाँ वक्ता ही एक एवं श्रोता अनेक हों, वहाँ श्रोता का विषय देश में न जाना ही शब्द की एकदेशता की प्रतीति को भ्रान्ति और शब्द की नानादेशता की प्रतीति को वास्तविक प्रतिपन्न करेगा। अर्थात् एक वक्ता और अनेक श्रोताओं के स्थल में अनेक वक्ता और एक श्रोता के स्थल से 'विपर्यय' (ठीक उलटा) होगा।

तत्र हि श्रोत्रदेशानाम्···भिन्नदेशता···एकदेशत्वसंभवः

क्योंकि उक्त स्थल में बहुत से श्रोता अपने अपने श्रोत्र प्रदेश में ही यदि शब्द को सुनेंगे तो श्रोत्र प्रदेश के भिन्न होने के कारण उन लोगों को एक ही शब्द का

प्रदेशों में ही ग्रहण होगा, जो वास्तविक होगा, इस दूसरी स्थिति में शब्द का एक-देशग्रहण तभी वास्तविक हो सकता है जब कि सभी श्रोताओं के श्रोत्र विषय-देश में आ जांय। फलतः इस स्थल में श्रोत्र का विषयदेश में आगमन ही शब्द में एकदेशता की प्रतीति को वास्तविक प्रतिपन्न कर सकता है। अतः इस द्वितीय स्थल में शब्द में एकदेशता की प्रतीति ही भ्रान्ति हो जायगी।

ध्वन्यागत्या ''सा समा''''भिन्नव्यञ्जक''भविष्यति

शब्द चूँकि विभु है, सर्वगत है, अतः इसकी किसी एक देश में प्रतीति भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि सर्वगत होने के कारण शब्द किसी विशेष प्रदेश से बँधा नहीं रह सकता। किन्तु शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ प्रादेशिक हैं, वक्तृप्रदेश से आनेवाली ध्वनियों से शब्द चूँकि अभिव्यक्त होता है अतः शब्द भी भ्रान्तिवश उसी प्रदेश में अभिव्यक्त होता सा जान पड़ता है।

सिद्धान्तवादियों के इस समाधान के प्रसंग में कहा जा सकता है कि यह बात जहाँ वक्ता बहुत हैं और श्रोता एक है, वहाँ भी समान रूप से इस प्रकार कही जा सकती है कि इस स्थल में भी शब्द में एकदेशता की भ्रान्ति इसलिये होती है कि भिन्न-भिन्न जो अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ हैं, उनके ताल्वादि देश चूँकि भिन्न-भिन्न हैं, अतः शब्द भी भिन्न प्रदेशों में प्रतीत होता सा जान पड़ता है। अतः श्रोत्र के विषय देश में अनागमन को शब्द में नानादेशता की भ्रमात्मक प्रतीति का कारण कहना व्यर्थ है।

सूत्रेण युगपद्भावः''उदाहृतः''अतस्तदनुसारेण''कीर्त्तनम्

(सि० प०) यह ठीक है कि शब्द में एकदेशता और नानादेशता की दोनों ही प्रतीतियाँ भ्रान्ति ही हैं। किन्तु शब्द में एकदेशता की प्रतीति के भ्रमत्व का उपपादन प्रकृतोपयोगी नहीं है। सूत्रकार ने नानादेशोपलब्धि को शब्द के नानात्व स्वरूप पूर्वपक्ष के हेतु रूप में लिखा है। इसीलिये भाष्यकार ने 'यदि श्रोत्रं संयोग-विभागदेशम्' (शा० भा० पृ० ८१ पं० ५) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा शब्द में नाना-देशता की प्रतीति में ही भ्रमत्व का उपपादन किया है।

इस प्रसङ्ग में फिर भी विचारणीय है कि श्रोत्र का विषयदेश में अनागमन का उल्लेख न कर ध्वनि के आगमन का ही उल्लेख क्यों नहीं किया गया है। इस प्रश्न का यह उत्तर है—

ध्वनि का वक्तृदेश में आगमन शब्द में नानादेशताविषयक भ्रमात्मक ज्ञान का ही कारण है, वह उक्त ज्ञान में भ्रमत्व का ज्ञापक प्रमाण नहीं है।

'शब्द की विभुता ही शब्द में नानादेशता की प्रतीति में भ्रमत्व का ज्ञापक प्रमाण है' यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी (वैशेषिक) शब्द को 'विभु' नहीं मानते, इसलिये उक्त भ्रम ज्ञान के प्रमाण के रूप में श्रोत्र का विषय देश में न आने को इस आशय से उपस्थित करते हैं कि शरीरावयव (कर्णशष्कुली) स्वरूप अपने देश में विद्यमान श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को नानादेशों में ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये ऐसा निर्णय करना पड़ता है कि शब्द की नाना-

देशता काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। शब्द की काल्पनिक नानादेशता शब्द के नानात्व का साधक नहीं हो सकता। अतः शब्द अनेक नहीं है।

यह हुई अनेक वक्ता और एक श्रोता के स्थल की बात। जहाँ वक्ता एक ही हो, श्रोता ही अनेक हों, वहाँ जो शब्द में एकदेशता की प्रतीति होती है, उस प्रतीति में भ्रमत्व का ज्ञापक प्रमाण श्रोत्र का विषय देश में अनागमन ही है। इस भ्रमत्व की चर्चा अप्रासङ्गिक होने के कारण छोड़कर भाष्यकार ने शब्द में अनेकदेशावगति के भ्रमत्व का ही उल्लेख किया है।

देशभेदेन''''आनुमानिकम्''प्रत्यक्षस्तु''तेन बाधकः

(पू० प०) वक्ता जहाँ बहुत से हों, एवं श्रोता एक ही हो वहाँ शब्द में अनेकदेशता की प्रतीति भले ही भ्रम स्वरूप हो अर्थात् शब्द की अनेकता काल्पनिक ही हो, किन्तु जहाँ वक्ता एक हो और श्रोता बहुत से हों वहाँ श्रोत्र प्रदेश की वास्तविक अनेकता के कारण गृहीत होने वाले शब्द भी घटपटादिवत् वास्तव में परस्पर भिन्न ही हैं। यदि आकाश को ही श्रोत्र मानें तथापि आकाश स्वरूप होने के कारण श्रोत्र के एक होने पर भी उसके कर्णशष्कुली प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। अतः शब्द की नानादेशता अनुपपन्न नहीं है। फलतः शब्द अनेक हैं। इस पूर्वपक्ष के समाधान के लिये ही भाष्यकार ने 'अपि चैकरूपत्वे सति' (शाबरभाष्य पृ० ८२ पं० ४) यह सन्दर्भ लिखा है।

इस सन्दर्भ का अभिप्राय है कि देश के भेद से शब्द में अनेकत्व (अर्थात् परस्पर भेद) का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सोऽयं गकारः' इस प्रकार की एकत्वपर्यवसायिनी प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा से शब्द का नानात्व बाधित है।

पर्यायेण''देवदत्तः''ज्ञातैकत्व''शब्दो न देशतः

एक ही वस्तु का अनेक देशों के साथ सम्बन्ध हो सकता है (अर्थात् शब्द को यदि एक ही मानते हैं तथापि नानादेशों के साथ उसका सम्बन्ध हो सकता है)। अतः अनेक देशों के साथ सम्बन्ध के द्वारा शब्द में नानात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

जैसे कि 'पर्याय' से (क्रमशः) भिन्न भिन्न प्रदेशों में जाते हुये देवदत्त की एकता में कोई बाधा नहीं आती है, उसी प्रकार एक ही गकार का अनेक देशों के साथ सम्बन्ध रहने पर भी उसे एक मानने में कोई बाधा नहीं है।

एवं जिस प्रकार 'स एवाऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा के द्वारा देवदत्त में एकत्व के निर्णीत रहने के कारण बार बार भिन्न देशों में देखे जाने पर भी काल के भेद से देवदत्त की एकता में कोई बाधा नहीं आती है, उसी प्रकार एक ही शब्द के भिन्न भिन्न देशों में बार बार प्रतीत होने पर भी उसकी एकता में कोई बाधा नहीं आती है।

पर्यायादविरोधश्चेत्

यदि यह कहो कि देवदत्त का 'पर्याय' से अर्थात् क्रम से अनेक देशों के साथ सम्बन्ध होता है, अतः देवदत्त स्वरूप एक वस्तु का अनेक देशों के साथ सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं है।

व्यापित्वादपि दृश्यताम्

तो फिर जिस प्रकार देवदत्त में क्रमशः (पर्यायतः) अनेक देशों का सम्बन्ध संभव है, उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि शब्द भी चूँकि 'व्यापी' है अर्थात् व्यापक है, अतः एक होने पर भी अनेक देशों के साथ सम्बद्ध हो सकता है। अर्थात् परिच्छिन्न मूर्त्त वस्तु का हो एक समय अनेक देशों के साथ सम्बन्ध भले ही संभव न हो किन्तु विभु (व्यापकीभूत) वस्तु का एक ही समय अनेक वस्तुओं के साथ सम्बन्ध सर्वथा संभव है, क्योंकि सभी मूर्त्त वस्तुओं के साथ सम्बन्ध का रहना ही 'विभुत्व' है ॥ २०० ॥

दृष्टसिद्धौ हि यो धर्मः सर्वथा सोऽभ्युपेयते।
वर्णान्तरविकार्यत्वादिति योक्ता विनाशिता ॥ २०१ ॥
उक्ते च हेतुसिद्ध्यर्थं सादृश्यस्मरणे पुनः।
तत्र स्मृतेरसिद्धत्वम् न ह्येवं पाणिनेर्वचः ॥ २०२ ॥
इकारपरिणामेन यकारः क्रियतामिति।
सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे तच्छास्त्रं हि प्रवर्त्तते ॥ २०३ ॥
प्रयोगनियमार्थाय न चैवं सिद्धता भवेत्।
भिन्नप्रसिद्ध्योस्तेन दधि दध्येति शब्दयोः ॥ २०४ ॥
आचक्षाणेन साधुत्वं दधीत्यौत्सर्गिकः कृतः।
अन्वाख्यातं स्वरूपेण दध्यशब्दं च वेदितुम् ॥ २०५ ॥

दृष्टसिद्धौ ...सोऽभ्युपेयते

दृष्ट अर्थात् शब्द में 'अवगत' 'युगपदनेकदेशसम्बन्धित्व' और 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा प्राप्त 'एकत्व' इन दोनों धर्मों की सिद्धि के लिये शब्द को 'व्यापी' अर्थात् 'व्यापक' मानते हैं।[1]

---

१. इस प्रकार यह उपपन्न है कि शब्द के एक होने पर भी उसके एक ही समय अनेक देशों के साथ सम्बद्ध होने में कोई बाधा नहीं है।

इस प्रसङ्ग में वैशेषिकगण यह कहते हैं कि 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक है। अतः इसके द्वारा प्राप्त शब्द की 'एकता' वास्तविक नहीं है, किन्तु काल्पनिक है। अतः सुतराम् एकत्व की सिद्धि के लिये शब्द में व्यापित्व (व्यापकत्व) की कल्पना नहीं की जा सकती।

किन्तु वैशेषिकों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि विना किसी विशेष हेतु के किसी स्वारसिक प्रत्यय को भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत शब्द को अनित्य मानने वाले वैशेषिकों के पक्ष में किसी एक शब्द का बहुत से पुरुषों के द्वारा श्रवण अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि श्रोत्र के साथ सम्बन्ध के विना शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो समीप के और दूर के शब्दों का एक ही समय ग्रहण की आपत्ति होगी। इसलिये यह मानना होगा कि श्रोत्र के साथ सम्बद्ध शब्द का ही

वर्णान्तरविकार्यत्वात्···सादृश्यस्मरणे पुनः···पाणिनेर्वचः···क्रियतामिति

शब्द को अनित्य मानने से 'इ' कारादि का 'य' कारादि रूप में विकृत होने का जो हेतु रूप में उल्लेख किया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस 'विक्रियमाणत्व' की सिद्धि के लिये जो (१) सादृश्य एवं (२) इको यणचि इत्यादि स्मृति को प्रयोजक रूप में उपस्थित किया गया है, उसमें से यह दूसरा 'स्मृति' स्वरूप हेतु 'असिद्ध' है, क्योंकि उक्त स्मृतिवाक्य के द्वारा "इ' कार' को ही "य' कार' रूप में करना चाहिये" यह व्याकरणस्मृतिकार पाणिनि का अभिप्राय नहीं है।

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे··सिद्धता भवेत्

क्योंकि व्याकरणशास्त्र के आदि में ही 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे नियमार्थं व्याकरणम्' (महाभाष्य···) अर्थात् पहले से सिद्ध जो (१) शब्द और (२) अर्थ एवं इन दोनों के (३) सम्बन्ध इन तीनों के नियमन के लिये ही व्याकरण शास्त्र की रचना हुई है। अर्थात् शब्द, अर्थ एवं इन दोनों के सम्बन्ध की सिद्धि के लिये व्याकरण शास्त्र की रचना नहीं हुई। यदि 'इको यणचि' (पाणिनिसू०) के द्वारा 'इ' और 'य' इन दोनों में प्रकृतिविकृतिभाव का विधान मानें तो इसके द्वारा पूर्व से असिद्ध 'दध्य' पद का ही साधन होगा। अतः व्याकरणशास्त्र के द्वारा प्रकृतिविकृति का विधान पाणिनि ऋषि को इष्ट नहीं है।

भिन्नप्रसिद्धयोः··आचक्षाणेन··वेदितुम्

'दधि' पद और 'दध्य' पद पूर्वप्रसिद्ध स्वतन्त्र ही दो शब्द हैं। यद्यपि ये दोनों ही साधु हैं किन्तु दोनों की साधुता में इतना अन्तर है कि दधि पद की साधुता 'औत्सर्गिक' (स्वाभाविक या निरपेक्ष) है। इसके लिये 'नामपारायण' (कोश) में दधि पद का ही पाठ है, तदर्थक होने पर भी दध्य पद का पाठ कोश में नहीं है, अतः 'दध्य' पद की साधुता 'अपवाद' है। वह अपवाद है 'अच् की परता'। तदनुसार 'अच्' वर्ण के पर में (आगे में) रहने से संहिता के विकल्प में ही 'दध्य' शब्द की साधुता को समझाने के लिये महर्षि पाणिनि ने 'इको यणचि' इस सूत्र स्वरूप स्मृति की रचना की है ॥ २०१–२०५ ॥

ग्रहण होता है। किन्तु एक वक्ता के द्वारा उच्चरित एक शब्द का अनेक श्रोत्रों के साथ एक ही समय सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

यदि शब्दों का सन्तान स्वीकार करें, तथापि दूसरे प्रदेशों में कार्य की अप्रामाणिक उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी, क्योंकि रूपादि के प्रसङ्ग में ऐसा नहीं देखा जाता।

इन कुकल्पनाओं से अच्छा है कि शब्द को नित्य मान लें एवं ध्वनि प्रभृति अभिव्यञ्जकों के द्वारा शब्द के कादाचित्क श्रवण की उत्पत्ति की उपपत्ति करें। भले ही यह 'अभिव्यञ्जक' की 'व्यवस्था' घटादि के प्रत्यक्षों में दृष्ट न हो। इससे 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के प्रमात्व की भी उपपत्ति होती है।

तस्मात् शब्द सर्वगत (विभु) है, नित्य है, ध्वनि स्वरूप अभिव्यञ्जक के द्वारा उसके कदाचित् ग्रहण की उपपत्ति होती है।

स्वशास्त्रे लघुबोधार्थमेकत्वमिव दर्शितम् ।
तत्रापि परतः सिद्धं दध्यशब्दं निवर्त्तयन् ॥ २०६ ॥
दधीति शास्त्रतः प्राप्तः सोऽयं तेनैव वार्यते ।
इक्प्रयोगप्रसङ्गे तु यण् साधुरिति गम्यते ॥ २०७ ॥
परमार्थस्तु नैवास्मिन् विकारोऽभूत् कदाचन ।
केवलं यत्तु सादृश्यं तदनैकान्तिकीकृतम् ॥ २०८ ॥
कुन्दे दध्यविकारेऽपि तत्सादृश्यं हि दृश्यते ।
नास्ति सर्वात्मना तच्चेच्छब्देऽपि स्थानमात्रकम् ॥ २०९ ॥

स्वशास्त्रे ''दर्शितम्

(पू० प०—यदि 'दधि' पद के समान ही 'दध्य' पद भी स्वतन्त्र हो हो तो फिर कोश (नामपारायण) में 'दधि' पद के समान ही 'दध्य' पद का भी पाठ उचित है, किन्तु ऐसा पाठ उपलब्ध नहीं होता। इसलिये चूँकि 'दध्य' पद 'दधि' पद का ही अपवाद है, अतः ऐसा जान पड़ता है कि 'दधि' पद का ही दूसरा विकृत स्वरूप 'दध्य' पद है। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

यदि स्वतन्त्र रूप से इगन्त 'दधि' पद और यणन्त 'दध्य' पद इन दोनों पदों का कोश में कोशकार पाठ करते तो गौरव होता। ए / प्रयोग की यह अव्यवस्था भी होती कि कहाँ इगन्त 'दधि' पद का प्रयोग हो एवं कहाँ यणन्त 'दध्य' पद का प्रयोग हो। फलतः सर्वत्र दोनों पदों की साधुता माननी पड़ती जिससे 'दधि आनी-यताम्' इसके बदले 'दध्यमानीयताम्' इस प्रयोग को करने के लिये लोग स्वतन्त्र होते। किन्तु दोनों प्रयोगों का यह स्वातन्त्र्य शिष्टसम्मत नहीं है। अतः लाघव के लिये अच्परता रहने पर संहिता में ही यणन्त 'दध्य' पद साधु है, तद्भिन्न स्थलों में इगन्त दधि पद का प्रयोग ही साधु है—यह दिखलाने के लिये ही दधि और दध्य दोनों स्वतन्त्र पदों को प्रकृतिविकृतिभावापन्न सा दिखलाया गया है।

तत्राऽपि ''निवर्त्तयन्'' तेनैव वार्यते

उक्त वस्तुगति के अनुसार 'इको यणचि' इसी सूत्र से अच्परता की दशा में पूर्वसिद्ध जो दुग्धविकारार्थक 'दध्य' शब्द है, उसके प्रयोग का विधान और 'दधि' शब्द के प्रयोग का निषेध दोनों ही होते हैं जिससे यह निर्णय होता है कि अच्-परता की दशा में यण् का प्रयोग ही साधु है।

परमार्थस्तु ''कदाचन

वस्तुतः इक् कभी भी यण् रूप में विकृत नहीं होता।

केवलं यत्तु ''दृश्यते

इस प्रकार 'इको यणचि' इस व्याकरण स्मृति के द्वारा विकारसाधन खण्डित हो जाने पर 'केवल' ताल्वादि स्थानों के सादृश्य से जो यण् में इकार के विकारत्व की सिद्धि की जाती है, वह 'सादृश्य' हेतु स्मृतिनिरपेक्ष दधि का विकार न होने पर

भी कुन्द पुष्प में भी है, अतः सादृश्य दधिविकारत्व का व्यभिचारी है, क्योंकि कुन्द दधिसदृश तो है किन्तु दधि का विकार नहीं है।

नास्ति सर्वात्मना तच्चेत्

यदि यह कहो कि कुन्द में दधि का सर्वांश में सादृश्य नहीं है, अतः दधि का विकार नहीं है। अर्थात् सर्वात्मना सादृश्य ही विकारत्व का साधक है। यह हेतु विकारत्व का व्यभिचारी नहीं है।

शब्देऽपि स्थानमात्रकम्

किन्तु सर्वात्मना सादृश्य हेतु विकारत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि 'य' कार में भी तो 'इ' कार का सर्वांश में सादृश्य नहीं है। केवल तालु स्थान का ही सादृश्य है। इस प्रकार सर्वांश में सादृश्य स्वरूप हेतु तो 'य' कार स्वरूप पक्ष में भी नहीं है। अतः यह सर्वांश में सादृश्य स्वरूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास है ॥ २०७–२०८ ॥

तेनैतयोरसिद्धत्वान्मूलहेतोरसिद्धता ।
कारणानुविधायित्वं यच्चाल्पत्वमहत्त्वयोः ॥ २१० ॥
तदसिद्धं न वर्णो हि वर्धते न पदं क्वचित् ।
वर्णान्तरजनौ तावत् तत्पदत्वं विहन्यते ॥ २११ ॥
अपदं हि भवेदेतद् यदि वा स्यात् पदान्तरम् ।
वर्णोऽनवयवत्वात् तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति ॥ २१२ ॥
व्योमादिवदतोऽसिद्धा वृद्धिरस्य स्वरूपतः ।
अथ ताद्रूप्यविज्ञानं हेतुरित्यभिधीयते ॥ २१३ ॥
तथापि व्यभिचारित्वं शब्दस्थेऽपि हि तन्मतिः ।
व्यक्त्यल्पमहत्त्वे च यद् यथानुविधीयते ॥ २१४ ॥
तथैवानुविधानार्थं ध्वन्यल्पत्वमहत्त्वयोः ।
व्यङ्ग्यानां चैतदस्तीति लोकेऽप्यैकान्तिकं न तत् ॥ २१५ ॥
दर्पणाल्पमहत्त्वेऽपि दृश्यतेऽनुपतन्मुखम् ।
न स्याद्व्यङ्ग्यता तस्य तत्क्रियाजन्यताऽपि वा ॥ २१६ ॥

तेनैतयोः····हेतोरसद्धिता

शब्द के अनित्यत्व के साधन के लिये यकार और इकार में प्रकृतिविकृतिभाव को हेतु रूप में उपस्थित किया गया है। इस प्रकृतिविकृतिभाव का साधक हेतु है व्याकरण स्मृति और इकार-यकार मे सादृश्य। इन दोनों हेतुओं में कथित असिद्ध दोष के द्वारा शब्द में अनित्यत्व का साधक प्रकृतिविकृतिभाव हेतु भी असिद्ध हो जाता है।

कारणानुविधायित्वम्'''तदसिद्धम्

'वृद्धिश्च कर्तृभूम्ना' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० ११) इस सूत्र के द्वारा उच्चारण कर्त्ताओं के भूयस्त्व (अधिकता) से शब्द में वृद्धि एवं उच्चारण कर्त्ताओं की न्यूनता से शब्द में न्यूनता और इस न्यूनता और अधिकता से शब्द में जो अनित्यत्व की सिद्धि की गयी है वह भी ठीक नही है, क्योंकि शब्द की न्यूनता और शब्द के महत्त्व में उच्चारणकर्त्ताओं की न्यूनता का 'अनुविधान' अर्थात् व्याप्ति सिद्ध नहीं है।

न वर्णो न'''क्वचित्

क्योंकि न कहीं वर्णात्मक शब्द में ही वृद्धि होती है, न कहीं पदात्मक शब्द ही वृद्धि को प्राप्त होता है, क्योंकि न्यून उच्चारणकर्त्ता से उच्चारित दूसरे वर्ण की उत्पत्ति मानेंगे तो उसको (पूर्वपद को) 'पदता' ही व्याहत हो जायगी, क्योंकि न्यूनवर्ण से उत्पन्न होनेवाला महान् शब्द तो पदात्मक होगा ही नहीं, यदि होगा भी तो वह महान् शब्द कोई दूसरा ही पद होगा। किन्तु ये दोनों ही स्थितियाँ वाञ्छनीय नही हैं।

वर्णोऽनवयवत्वात्'''व्योमादिवत्

इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार आकाश में उसके अनवयव होने के कारण कोई ह्रास या वृद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार शब्द चूँकि अवयवों से रहित है, अतः उसकी भी ह्रासवृद्धि नहीं होती (शब्दो वृद्धिह्रासौ न गच्छति अनवयवत्वात् व्योमवत्)।

अतो'''स्वरूपतः

अतः शब्द में स्वरूपतः (स्वभावतः) कोई भी ह्रास या वृद्धि नहीं होती। अर्थात् शब्द कोई छोटा या बड़ा नहीं होता।

अथ ताद्रूप्य'''अभिधीयते

यदि यह कहो कि शब्द का स्वभावतः वास्तविक ह्रास या वृद्धि भले ही न हो, किन्तु शब्द महान् अथवा न्यून तो मालुम पड़ता है। शब्द में महत्त्वादि का जो यह ज्ञान होता है, उसी से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करेंगे (शब्दोऽनित्यः महत्त्वेन ज्ञायमानत्वाद् घटादिवत्)।

तथापि'''तन्मतिः

इस ज्ञान स्वरूप हेतु से भी अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यह ज्ञान तो शब्दत्व जाति में भी है (क्योंकि 'महान् शब्दः' यह ज्ञान विषयता सम्बन्ध से शब्दत्व में भी है, क्योंकि शब्दत्व भी उक्त ज्ञान का विषय है) किन्तु अनित्यत्व रूप साध्य शब्दत्व में नहीं है।

व्यस्तयल्पत्व'''महत्त्वयोः

जिस प्रकार शब्दानित्यत्ववादी उच्चारणकर्त्ता की न्यूनता और अधिकता से शब्द में न्यूनता और अधिकता की प्रतीति मानते हैं उसी प्रकार शब्द की न्यूनता

और अधिकता की प्रतीति भी अपने व्यञ्जक ध्वनि की न्यूनता और अधिकता का अनुगमन करती है। अर्थात् शब्द में न्यूनता और अधिकता की प्रतीति चूँकि व्यञ्जकों की न्यूनता और अधिकता मूलक भ्रान्ति स्वरूप है अतः शब्द में न्यूनाधिकभाव वास्तविक नहीं है।

व्यङ्ग्यानाम्''अनुपतन्मुखम्''जन्यताऽपि वा

जिस प्रकार 'लोक' में यह देखा जाता है कि बड़े दर्पण में मुँह बड़ा दीखता है, एवं छोटे दर्पण में छोटा। इसके लिये मुँह का छोटा होना या बड़ा होना आवश्यक नहीं होता। अर्थात् दर्पण में देखने की क्रिया से मुख की महत्ता या अल्पता की उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार शब्द में प्रतीत होने वाली न्यूनता और महत्ता अभिव्यञ्जय ध्वनि की न्यूनता और अधिकता से ही प्रतीत होती है। इससे शब्द में प्रतीत होने वाली न्यूनता या अधिकता को वास्तविक नहीं माना जा सकता। अतः न्यूनत्व की प्रतीति अथवा महत्त्व की प्रतीति में वास्तविक न्यूनता और महत्ता के साथ 'ऐकान्तिक' सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है॥ २१०–२१६ ॥

न चास्योच्चारणादन्या विद्यते जनिका क्रिया।
यथा महत्यां खातायां भुवि व्योम्नि महत्त्वधीः॥ २१७ ॥
अल्पायामल्पधीरेवमत्यन्ताकृतके सति।
तेनात्रैवं परोपाधिः शब्दवृद्धौ मतिभ्रमः॥ २१८ ॥

न चाऽस्योच्चारणादन्या''क्रिया

(पू० प०—जिस प्रकार दर्पणस्थ मुख दर्पणदर्शन स्वरूप क्रियाजन्य नहीं है, उसी प्रकार शब्द भी उच्चारणक्रियाजन्य नहीं है। जिस प्रकार दर्पणस्थ मुख किसी अन्य क्रिया से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शब्द को भी उच्चारण क्रिया से भिन्न किसी क्रिया से उत्पन्न मानना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है। इस पूर्वपक्ष का का यह उत्तर है कि—)

उच्चारण क्रिया से भिन्न कोई अन्य क्रिया चूँकि शब्द को अभिव्यक्त नहीं करती है, अतः उच्चारण क्रिया को ही शब्द का जनक भी मानना पड़ता है। तस्मात् व्यञ्जक ध्वनियों की महत्ता और न्यूनता से ही शब्द में महत्ता और न्यूनता की प्रतीति होती है।

यथा महत्याम्''''अल्पायाम्''''मतिभ्रमः

जिस प्रकार 'अत्यन्ताकृतक' (कृति से सर्वथा असम्पृक्त) आकाश में भी खात (गड्ढे) की महत्ता से महत्त्व की प्रतीति एवं अल्पता से अल्पत्व की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, उसी प्रकार शब्द में भी ह्रासवृद्धि की प्रतीति परोपाधिमूलक भ्रान्ति रूप ही है॥ २१७–२१८ ॥

न च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवर्त्तिनी।
बुद्धितीव्रत्वमन्दत्वे महत्त्वाल्पत्वकल्पना॥ २१९ ॥

वस्तुतः शब्द में स्थूलता और सूक्ष्मता की प्रतीति ही नहीं होती है किन्तु तीव्रता और मन्दता की ही प्रतीति होती है। उसी को महत्त्व और अल्पत्व की कल्पना कही जाती है॥ २१९॥[1]

सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते।
मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादावपि सर्वदा॥ २२०॥

घटादि की प्रतीतियों में मन्दप्रकाश में मन्दता का और तीव्रप्रकाश में तीव्रता का भान सर्वसिद्ध है। अतः शब्द में तीव्रता और मन्दता की प्रतीति से शब्द में कृतकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती॥ २२०॥

एवं दीर्घादयः सर्वे ध्वनिधर्मा इति स्थितम्।
नादो वायुगुणस्तद्वान् वायुर्वा यदि कल्प्यते॥ २२१॥
वर्णानां श्रोत्रगम्यत्वान्न च ये श्रोत्रगोचराः।
तत्रावर्णात्मकः शब्दः शङ्खादेः श्रूयते कथम्॥ २२२॥

इसी प्रकार नित्य एवं विभु शब्द में दीर्घत्व-ह्रस्वत्वादि की कल्पनाओं के भी कथित तीव्रत्व-मन्दत्वबुद्धिमूलक होने का उपपादन **स्फोटनिरूपण** (श्लो० ६०) में किया जा चुका है।

नादो वायुगुणः····श्रूयते कथम्

'वायवीयाः संयोगविभागाः शब्दमभिव्यञ्जयन्तो नादशब्दवाच्याः' (शाबर-भाष्य)। अर्थात् शब्द को अभिव्यक्त करते हुये वायु के संयोग और विभाग को ही 'नाद' कहते हैं।

(पू० प०) भाष्यकार का उक्त कथन अयुक्त सा लगता है, क्योंकि यदि वायवीय संयोग विभागों को अथवा संयोग और विभाग से युक्त वायु को ही 'नाद' कहें अर्थात् 'नाद' को शब्द का ही एक भेद न मानें तो शंखादि के नादों का श्रवण नहीं हो सकेगा। केवल वर्णात्मक शब्दों का ही श्रवण होगा, क्योंकि नाद को वायवीय धर्म या वायु स्वरूप मानने से उसकी उपलब्धि श्रोत्र के द्वारा संभव ही नहीं है, क्योंकि वायु श्रवणग्रहण योग्य नहीं है। किन्तु (१) वर्ण और (२) शब्दों के ये दोनों प्रकारों का श्रोत्र के द्वारा श्रवण सर्वप्रसिद्ध है॥ २२१–२२२॥

ध्वनीनां श्रोत्रगम्यत्वं तस्मात् केचित् प्रचक्षते।
मारुतप्रेरितास्ते च कुर्वन्ति श्रोत्रसंस्कृतिम्॥ २२३॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि बहुत से पुरुषों के द्वारा उच्चरित होने पर शब्दों की साधारण एवं असाधारण सभी धर्मों के साथ जो प्रतीति होती है, उसी प्रतीति को शब्द की 'तीव्रप्रतीति' कहते हैं। इसी प्रकार थोड़े से पुरुषों के द्वारा उच्चरित शब्द की प्रतीति उक्त सभी धर्मों के साथ नहीं होती है, अतः शब्द की उस प्रतीति को 'मन्दप्रतीति' कहते हैं। तीव्रता और मन्दता की इन्हीं प्रतीतियों को भ्रमवश शब्द की महत्ता और अल्पता की प्रतीति कहते हैं।

वर्णव्यक्तौ च दृष्टत्वात् तेषां नादृष्टकल्पना ।
अन्ये तु वर्णयन्त्यत्र पूर्वोक्तध्वनिवादिनः ॥ २२४ ॥
मरुतामेव नानात्वाद् घोषश्रुत्युपपादनम् ।
तत्र ताल्वादिसंयोगविभागैः प्रेरिताः स्फुटम् ॥ २२५ ॥
व्यञ्जन्ति वर्णमन्ये तु शब्दत्वं सर्ववर्णभाक् ।
वर्णसर्वगतत्वात् तु नापद्येत निराश्रयम् ॥ २२६ ॥
न च पर्यनुयोगः स्यात् क्व वर्णे व्यक्तिरित्ययम् ।
एत एव च ते पूर्वमुक्ता बोधानुवर्त्तिनः ॥ २२७ ॥
येषां प्रचयनानात्वाद् वृत्तिभेदः प्रतीयते ।
यद्वा जात्यन्तरं सन्तु सर्वथा कार्यहेतुकम् ॥ २२८ ॥
त्वत्पक्षवद् ध्वनीनां नः शक्तिभेदप्रकल्पनम् ।
दर्शनस्य परार्थत्वं यदि नाम प्रतीयते ॥ २२९ ॥
शब्दस्य किमिहायातं येन नित्योऽभ्युपेयते ।
अनित्येष्वपि दृष्टत्वाद् दीपज्वालाघटादिषु ॥ २३० ॥
परार्थदर्शनत्वस्य धर्मत्वेऽपि न हेतुता ।
विना साधर्म्यदृष्टान्ताद् विरुद्धो वा भवेदयम् ॥ २३१ ॥
नित्यानामप्रयोगित्वमणूनामपि दृश्यते ।
अर्थप्रत्यायनं चैष जन्मनैव करिष्यति ॥ २३२ ॥
विनापि स्यात्स्वनुरूपेण संयोगादीन् यथा क्रिया ।
पूर्वालोचनमेतस्य भूतस्मृत्या च कर्मवत् ॥ २३३ ॥

ध्वनीनाम्'''श्रोत्रसंस्कृतिम्'''नादृष्टकल्पना

किसी सम्प्रदाय के लोग 'ध्वनि' को भी श्रोत्रगम्य ही मानते हैं। वायु की गुणभूता यह ध्वनि ताल्वादि के साथ प्रेरित होकर श्रोत्र में शब्दश्रवण के उपयुक्त संस्कार को उत्पन्न करती है। इस प्रकार संस्कृत (संस्कारयुक्त) श्रोत्र से ही नादात्मक शब्द का श्रवण होता है। अतः वायु की गुणभूता ध्वनि ही शब्द की अभिव्यञ्जिका है, वायु स्वयं शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है।

वर्णों के साथ ध्वनियों का श्रवण सर्वजनसिद्ध है। दूर में उच्चारित वर्णों की ध्वनियाँ ही सुनीं जाती हैं। दूर से वर्ण नहीं सुने जाते। उन्हीं ध्वनियों को जब ताल्वादि का संयोग स्वरूप विशेष सहकारी का सहयोग प्राप्त हो जाता है तो वे वर्णों को भी अभिव्यक्त करतीं हैं, एवं स्वयं भी उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार ध्वनि को श्रोत्रगम्य मानने से किसी अदृष्ट वस्तु की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। एवं ध्वनियों का श्रोत्रसम्बन्धविशेष के कारण वर्णों के द्रुतत्वादि भेद भी सुलभता से उपपन्न होते हैं।

अन्ये तु""पूर्वोक्तध्वनिवादिनः

भाष्य में ध्वनि को वायु स्वरूप मानने वाले जिस सम्प्रदाय का उल्लेख है, वे लोग ध्वनि को शब्द का भेद नहीं मानते। अर्थात् शब्दों को वर्णात्मक और नादात्मक (ध्वन्यात्मक) भेद से दो प्रकारों का नहीं मानते। वे केवल वर्णों को ही शब्द मानते हैं। एवं वायु के एक प्रकार को ध्वनि (नाद) मानते हैं। शंखादि से इसी वाय्वात्मक नाद का श्रवण होता है।

मरुतामेव'''वर्णम्

वायु के ही कई प्रकार हैं, उनमें से कुछ प्रकार के वायु तो शंखादिजनित 'नाद' अथवा ध्वनि को ही अभिव्यक्त करते हैं। कुछ वायु ऐसे भी हैं जो ताल्वादि के संयोगों और विभागों का सहयोग प्राप्त करने के कारण स्फुट गकारादि वर्णों को भी अभिव्यक्त करते हैं।

अन्ये तु'''निराश्रयम्'''व्यक्तिरित्ययम्

कुछ वायु ऐसे भी होते हैं जो सभी वर्णों में रहने वाले शब्दत्व सामान्य को ही नादों में अभिव्यक्त करते हैं। अर्थात् इनसे वर्ण विशेष का बोध नहीं होता। वर्ण चूँकि नित्य है एवं विभु है, अतः सभी स्थानों में सभी समयों में विद्यमान रहता है। अतः शब्दत्व को अपनी अभिव्यक्ति के लिये कहीं आश्रय की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती है। इसलिये नाद में शब्दत्व की उपलब्धि में वर्ण स्वरूप आश्रय के अभाव से कोई बाधा नहीं आती है। अतः यह प्रत्यभियोग नहीं किया जा सकता कि वर्णों की अभिव्यक्ति कहाँ होती है।

एत एव च'''बोधानुवर्तिनः'''प्रतीयते

(पृ० ५०) ध्वनि चूँकि वायु का धर्म है, अतः आकाश स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय में उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। सुतराम् ध्वनियाँ अश्रोत्र हैं। फिर श्रोत्र में न रहनेवाली ध्वनियों से एक ही वर्ण में द्रुतत्व-मध्यमत्वादि की यह अभिव्यक्ति क्योंकर होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर पहले ही (स्फोटवाद श्लो० ६०–६१ में) दिया जा चुका है कि वायु के 'प्रचयभेद' से अर्थात् अवयवों के विलक्षण संयोग से एक ही वर्ण में द्रुतत्वादि विभिन्न प्रकारों की उपलब्धि होती है !

यद्वा जात्यन्तरम्'''शक्तिभेदप्रकल्पनम्

यह जो कहा गया है कि वीणा, मृदङ्ग प्रभृति सभी वाद्यों के विलक्षण नादों में वर्णगत एक शब्दत्व की प्रतीति होती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे वीणाजनितनाद (ध्वनि) और मृदङ्गजनितनाद इन दोनों में जो वैलक्षण्य की प्रतीति होती है, वह अनुपपन्न हो जायगी।

यदि सभी ध्वनियों को एक मानने पर भी व्यञ्जक के भेद से उक्त वैलक्षण्य की उपपत्ति करेंगे तो 'ग' कार 'उ' कार प्रभृति वर्णों में भी वैलक्षण्य का निर्वाह व्यञ्जकों के भेद से मानकर नाना वर्णों की सत्ता ही विपन्न हो जायगी। फलतः वे भी सभी 'नाद' हो जायेंगे। उनकी वर्णात्मकता ही अनुपपन्न हो जायगी।

यदि गकार उकारादि विभिन्न वर्णों की विभिन्न प्रतीतियाँ स्वारसिक हैं, इस लिये उन्हें उपाधिमूलक नहीं माना जा सकता, इसी हेतु से गकार उकारादि वर्णों में विभेद भी करेंगे तो तुल्यन्याय से मृदङ्ग-वीणादि से उत्पन्न होनेवाली प्रतीतियाँ भी स्वारसिक हैं, अतः उन्हें भी उपाधिमूलक नहीं माना जा सकता। इसलिये ध्वनियों को भी वर्णों के समान ही वास्तव में विभिन्न मानना होगा। अतः सभी नादों में केवल एक ही शब्दत्व सामान्य की प्रतीति नहीं स्वीकार की जा सकती।

अतः इस प्रसङ्ग में यह दूसरा समाधान ही उपयुक्त जान पड़ता है कि जिस प्रकार वैशेषिकों के मत में नादत्व और वर्णत्व इन दोनों को शब्दत्व सामान्य का विशेष मानते हैं अर्थात् शब्द के ही नाद और वर्ण ये दो भेद मानते हैं। एवं ध्वनियों में भी वर्णों के समान ही परस्पर भेद वास्तविक मानते हैं। एवं नाद के शब्दात्मक होने से उसके स्वाभाविक श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्ध के कारण जिस प्रकार सानुनासिक, निरनुनासिक, उदात्त, अनुदात्तादि विभिन्न भेदों को स्वीकार करते हैं। इस रीति से वैशेषिकों के मत में सारी अनुपपत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

किन्तु हम (मीमांसकगण नादों में विभिन्न शक्तियों को स्वीकार करते हैं, जिससे किसी नाद से वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। एवं किसी से नाद मात्र की उपलब्धि होती है। ध्वनि को वायु स्वरूप मानें अथवा शब्द का एक भेद मानें (अर्थात् शब्द स्वरूप मानें) इसमें हम लोगों का विशेष आग्रह नहीं है।

ध्वनि को यदि शब्द स्वरूप मानते हैं, वायवीय नहीं मानते, तो नाद अमूर्त्त हो जायगा। इसलिये उसकी वृद्धि अनुपपन्न होगी। अतः 'नादवृद्धि' सूत्र (जै० सू० अ० १ पा० सू० १८) के 'नाद' पद से ध्वनि को वायवीय नाद का ही बोधक मान कर भाष्यकार ने 'संयोगविभागाश्च नादशब्दवाच्याः' (शा० भा० पृ० ८४ पं० २) यह सन्दर्भ लिखा है।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् (सिद्धान्तसूत्र अ० १ पा० १ सू० १८)

इससे पहले शब्द में अनित्यत्व के साधक हेतुओं में दोष दिखलाये गये हैं। इस सूत्र से आरम्भ कर २३वें सूत्र पर्यन्त के ६ सूत्रों से महर्षि ने शब्द में नित्यत्व के साधक युक्तियों का प्रदर्शन किया है।

इस सूत्र का 'दर्शन' शब्द 'दृश्यते ज्ञायते शब्दः अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'उच्चारण' का बोधक है। एवं 'परार्थत्व' शब्द का अर्थ है 'परप्रत्ययजनकत्व'। एदनुसार प्रकृत सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि शब्द चूँकि दूसरों को समझाने के लिये ही उच्चरित होते हैं अतः 'शब्द नित्य हैं' (शब्दो नित्यः उच्चारणस्य परार्थत्वात्)।

दर्शनस्य परार्थत्वम्'' शब्दस्य'' 'घटादिषु'' 'साधर्म्यदृष्टान्तात्

(पू० प०) शब्द के उच्चारण को यदि परप्रत्ययार्थ मान भी लें तथापि शब्द के नित्यत्व के साथ उसका क्या सम्बन्ध ? अर्थात् शब्द का उच्चारण यदि परप्रत्ययार्थ ही हो, तथापि इसलिये शब्द को नित्य क्यों मानें ? क्योंकि दीप की ज्वाला एवं घटपटादि में 'परार्थदर्शनत्व' हेतु है, किन्तु वे सभी अनित्य हैं। इस प्रकार 'परार्थदर्शनत्व' हेतु नित्यत्व स्वरूप साध्य का व्यभिचारी है। अतः उससे शब्द में

नित्यता को सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार 'परार्थदर्शनत्व' हेतु यद्यपि शब्द में है तथापि उससे शब्द में नित्यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

यदि उच्चरित शब्द में जो परप्रत्ययजनकत्व है, उसी को हेतु मानें एवं घटादि में उसके न रहते से व्यभिचार का वारण करें तो वह हेतु केवल पक्षीभूत शब्द में ही रहने के कारण 'असाधारण' हेत्वाभास हो जायगा, क्योंकि उसका कोई 'साधर्म्यदृष्टान्त' नहीं रहेगा।

विरुद्धो वा ''अणूनामपि दृश्यते

अथवा कथित 'परप्रत्ययजनकत्व' हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास ही है, क्योंकि वह अनित्य घटादि में ही है, नित्य परमाण्वादि में वह नहीं है। फलतः वह हेतु नित्यत्व के अभाव स्वरूप अनित्यत्व के साथ ही रहता है। अतः 'विरुद्ध' हेत्वाभास है।

अर्थप्रत्यायनम्''''करिष्यति'''यथा क्रिया

हम लोगों से (वैशेषिकों से) यह जो पूछा जाता है कि शब्द को यदि क्षणिक मानते हैं, तो उसमें किसी व्यापार की संभावना नहीं है। विना व्यापार के उससे अर्थविषयक बोध कैसे उत्पन्न होगा ? इसका यह उत्तर है—

जिस प्रकार 'अस्थायी' क्षणिक क्रिया से संयोगविभागादि उत्पन्न होते हैं, उसके लिये क्रिया में किसी व्यापार की अपेक्षा नहीं होती है, क्रिया केवल अपने जन्म से ही संयोगादि को उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार 'विना स्थास्नु' अर्थात् स्थितिशील स्वरूप के क्षणिक होने पर भी विना किसी व्यापार के शब्द से भी अर्थ-विषयक बोध होगा।

पूर्वालोचनमेतस्य'''कर्मवत्

(पू० प०) हम लोगों (वैशेषिकों) से यह जो पूछा जाता है कि जिस क्रिया में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति पहले 'आलोचित' रहती है, उसी को कार्य के लिये व्यापृत किया जाता है। शब्द में यदि पहले से अर्थबोधजनन की शक्ति ज्ञात नहीं है तो फिर तदर्थ व्यापार कैसे उपपन्न होगा ? इस प्रश्न का हम वैशेषिकगण यह उत्तर देते हैं—

जिस प्रकार पूर्वघट में जलाहरण शक्ति को समझकर अभिनव घट का निर्माण होता है, अथवा एक क्रिया में संयोगादि को उत्पादन शक्ति की स्मृति से अपर क्रिया उत्पन्न की जाती है, उसी प्रकार जिस शब्द में जिस अर्थबोध की शक्ति पूर्व से ज्ञात है, उसकी स्मृति से ही आगे शब्द में व्यापार होंगे ॥ २३३ ॥

> तस्मान्न विनियोज्यत्वात् प्रागस्तित्वं घटादिवत् ।
> प्रकाशितं यथा चार्थं तेजसा केनचित् पुरा ॥ २३४ ॥
> न वा भूयोपि बुद्ध्यन्ते शब्दादपि तथा भवेत् ।
> दर्शनस्य परार्थत्वे यदसिद्ध्यादि चोद्यते ॥ २३५ ॥
> तत्काष्ठदहनो वह्निरम्ब्वाहार्थं नियुज्यते ।
> अनुमानप्रयोगे हि यक्तुमित्यादि युज्यते ॥ २३६ ॥

तस्माद्‌ ''घटादिवत्‌

'तस्मात्' पहले से विद्यमान घट का ही जैसे जलाहरण के लिये उपयोग होता है, उसी प्रकार दूसरों को समझाने (परप्रत्यायन) के लिये शब्द का पहले से रहना आवश्यक नहीं है।

प्रकाशितम्‌ ''भूयोऽपि बुध्यन्ते

घटादि अर्थ कभी प्रकाश (आलोक) के द्वारा ज्ञात होते हैं, इसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वदा घटादि का ज्ञान तेज से ही हो। इसी प्रकार शब्द के प्रसङ्ग में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम शब्द की अभिव्यक्ति यदि उच्चारण से होती है तो सभी समय सभी शब्दों की अभिव्यक्ति उच्चारण से ही हो। शब्द से भी शब्दान्तर की अभिव्यक्ति हो सकती है। अतः श्रोत्रदेश में शब्द से उत्पन्न होनेवाली शब्द की प्रतीति में कोई बाधा नहीं है।

दर्शनस्य परार्थत्वे''अब्दाहार्थं नियुज्यते

(सि० प०) हम लोगों ने (मीमांसकों ने) शब्द में नित्यत्व को प्रमाणित करने के लिये 'दर्शन' के 'परार्थत्व' का जो उल्लेख किया है, उसका खण्डन करने के लिये शब्दानित्यत्ववादियों के द्वारा असिद्धि, व्यभिचार प्रभृति हेत्वाभासों का उद्भावन काष्ठ दग्ध करने की शक्ति से युक्त अग्नि का जल के दाह के लिये उपयोग के समान ही (व्यर्थ) किया गया है।

अनुमानप्रयोगे हि''युज्यते

क्योंकि वादी जब अनुमान प्रमाण के द्वारा अपने पक्ष को प्रतिपन्न करना चाहता है, तभी प्रतिवादी के द्वारा असिद्धि, व्यभिचार प्रभृति दोषों का उद्भावन उचित है॥ २३४-२३६॥

> **अर्थापत्तिरियं चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता।**
> **यदि नाशिनि नित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत्॥ २३७॥**
> **शब्दे वाचकसामर्थ्यम्‌ ततो दूषणमुच्यताम्‌।**
> **फलवद्‌ व्यवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता॥ २३८॥**
> **निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवधार्यते।**
> **परीक्ष्यमाणस्तेनास्य युक्त्या नित्यविनाशयोः॥ २३९॥**

अर्थापत्तिरियम्‌''''पक्षधर्मादिवर्ज्जिता

हम (मीमांसकों) ने 'दर्शनपारार्थ्य' का उल्लेख अनुमान प्रमाण को उपस्थित करने के अभिप्राय से नहीं किया है, किन्तु उसके द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण को उपस्थित करना ही अभिप्रेत है। अर्थात्‌ 'दर्शनस्य परार्थत्वात्‌' इस सौत्रवाक्य के द्वारा शब्द में नित्यत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से इष्ट नहीं है। उस वाक्य के द्वारा तो शब्द में नित्यत्व के साधक अर्थापत्ति प्रमाण की सूचना ही दी गयी है। असिद्धि, व्यभिचार प्रभृति दोष तो अनुमान के लिये आवश्यक पक्षधर्मत्वादि के विघटन के

द्वारा अनुमान के प्रतिरोधक हैं। अर्थापत्ति प्रमाण के लिये पक्षधर्मत्वादि की आवश्यकता नहीं होती है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण को दूषित करने के लिये असिद्धि, व्यभिचारादि दोषों का उद्भावन उचित नहीं है।

यदि नाशिनि ''ततो दूषणमुच्यताम्

अर्थापत्ति प्रमाण के दो ही दोष हैं (१) अन्यथाऽप्युपपत्ति एवं (२) अन्यथैवोपपत्ति। तदनुसार प्रकृत में (१) शब्द यदि अनित्य भी है तथापि उसमें यदि अर्थप्रत्यायकत्व हो अथवा (२) शब्द को अनित्य मानने पर ही उसमें अर्थप्रत्यापकता मानी जा सके। इन दो ही स्थितियों में अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा शब्द में नित्यत्व पक्ष खण्डित हो सकता है। इस वस्तुगति को ध्यान में रखकर ही आपलोग (वैशेषिकगण) दोषों का उद्भावन करें।

फलवद् ''अवधार्यते

(पू० प०—वैशेषिकों का आक्षेप है कि शब्द से अर्थ की प्रतीति भले ही उत्पन्न न हो फिर भी इससे शब्द को अनित्य क्यों न मानें ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

गवादि अर्थों की प्रतीतियाँ इसलिये सफल कहलातीं हैं कि उनसे होनेवाले गवाद्य नयनादि व्यापार सफल होते हैं। अर्थात् स्वजनित व्यापार के द्वारा ज्ञानों में फलों का सम्बन्ध है।

तदनुसार शब्द चूँकि स्वयं फलशून्य है अतः उच्चारण स्वरूप संस्कार के द्वारा ही उसमें सफल प्रत्यय की अङ्गता प्राप्त होती है, अर्थात् परप्रत्यय रूप सफल कार्य के उत्पादन द्वारा ही शब्दों में सफलता आ सकती है। किन्तु शब्द से परप्रत्यायन का उत्पादन उच्चारण स्वरूप संस्कार के विना संभव नहीं है।

शब्द यदि नित्य नहीं होगा तो उसकी परप्रत्यायकता उपपन्न नहीं होगी। इसलिये शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों में से कौन सा धर्म संभावित है—इसका निर्णय ही इस परीक्षा के द्वारा अपेक्षित है। इस परीक्षा के द्वारा शब्द में नित्यत्व धर्म के रहने की स्वीकृति अभीष्ट है, क्योंकि वही परप्रत्ययजनकत्वात्मक साफल्य रूप प्रधान धर्म का प्रयोजक है ॥ २३७–२३९ ॥

स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते।
न ह्यङ्गाङ्गानुरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥ २४० ॥
युज्यते नाशिपक्षे च तदेकान्तात् प्रसज्यते।
न ह्यदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥ २४१ ॥

स धर्मो ''फलबाधनम् ''युज्यते

शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों धर्मों में उसी धर्म को स्वीकार करना उचित है, जो उसके परप्रत्यायकत्व स्वरूप मुख्य धर्म का बाधक न हो, क्योंकि अङ्गीभूत धर्म के अनुरोध से प्रधान धर्म का बाध उचित नहीं है। अर्थात् अङ्गीभूत अनित्यत्व के लिये प्रधानीभूत परप्रत्यायकत्व का बाध नहीं हो सकता।

नाशिपक्षे च' ''प्रसज्यते

शब्द को यदि विनाशशील मानें तो एकक्षणमात्रवृत्ति शब्द से अर्थबोध मानना होगा।

न ह्यदृष्टार्थ''''वाचकः

किन्तु एकक्षणमात्रवृत्ति शब्द से अर्थ का बोध संभव नहीं है, क्योंकि शब्द के द्वारा अर्थ के बोध में शब्द और अर्थ में जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है, उसका ज्ञान आवश्यक है। किन्तु क्षणिक शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान संभव ही नहीं है ॥ २४०–२४१ ॥

तथा चेत् स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत्।
सम्बन्धदर्शनं चास्य नानित्यस्योपपद्यते ॥ २४२ ॥

यदि अर्थ के साथ सम्बन्ध के विना भी शब्द से अर्थ का बोध मानें तो अपूर्व शब्द से अर्थात् अर्थ के साथ अज्ञातशक्तिक शब्द से भी अर्थ का बोध मानना होगा। इससे सभी शब्दों के द्वारा सभी अर्थों के बोध की आपत्ति होगी। किन्तु शब्द को अनित्य मानने से उसके साथ अर्थ का अवश्यस्वीकार्य सम्बन्ध संभव नहीं है ॥ २४२ ॥

सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् ध्रुवं कालान्तरस्थितिः।
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥ २४३ ॥
गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः।
अथान्योऽपि स्वभावेन कश्चिदेवावबोधकः ॥ २४४ ॥

सम्बन्धज्ञानसिद्धिः''''कालान्तरस्थितिः

(पू० प०—शब्द को क्षणिक मानने से अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध भले ही संभव न हो, तथापि उसको नित्य क्यों मानें? घटादि पदार्थों की तरह क्षणिक न होने पर भी कुछ समय तक ही स्थायी मानें (क्योंकि पदार्थों के नित्यत्व और क्षणिकत्व ये दो ही पक्ष नहीं हैं)। अर्थात् जितने समय तक स्थायी मानने से अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध संभव हो, एवं उस सम्बन्ध का ग्रहण संभव हो, उतने समय तक ही शब्दों की सत्ता मानें। प्रलय पर्यन्त उसकी सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

अर्थ के साथ सम्बन्ध के लिये यदि क्षण मात्र से अधिक समय तक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो तो उस 'अधिक समय' का कोई प्रयोजक नहीं होगा। अतः समय के अधिकत्व का अन्तिम पर्यवसान शब्द की नित्यता में ही स्वीकार करना उचित है।

अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्धविषयक ज्ञान की सिद्धि यदि शाब्दबोध से पहले आवश्यक है तो फिर अभिव्यक्ति से पहले और पश्चात् शब्द की स्थिति माननी

होगी। रही बात शब्द के विनाश की। उसका जवाब आगे 'अनपेक्षित्वात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २१) इस सूत्र के द्वारा दिया गया है[1]।

अन्यस्मिन्'''वाचको भवेत्''अश्वशब्दो हि वाचकः

(पू० प०—एक गो शब्द में गृहीत शक्ति के द्वारा ही अन्य गो शब्द से अर्थ-प्रत्यय होगा। इसके लिये गृहीतशक्तिक शब्द को स्थायी मानना आवश्यक नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

एक शब्द की शक्ति के ज्ञान से अन्य शब्द में वाचकता नहीं मानी जा सकती। यदि ऐसा मानेंगे तो गो शब्द में ज्ञात शक्ति के द्वारा अश्व शब्द में वाचकता को स्वीकार करने की अव्यवस्था माननी होगी। अतः प्रकृत पूर्वपक्ष ठीक नहीं है।

अथान्योऽपि''अवबोधकः

(पू० प०) एक शब्द की शक्ति के गृहीत होने पर सभी अन्य शब्दों से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् गो पद में शक्ति के गृहीत होने पर गोपद से भिन्न अश्व पद से गो रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतः अश्व शब्द में गोवाचकत्व को स्वीकार नहीं करते। किन्तु जिस अन्य शब्द से गो रूप अर्थ को प्रतीति स्वभाव-सिद्ध है उसमें वाचकत्व मानना होगा। इस स्वभाव के द्वारा उक्त अव्यवस्था का परिहार किया जा सकता है ॥ २४३–२४४ ॥

तत्रानिबन्धने न स्यात् कोऽसाविति विनिश्चयः।
यतः प्रत्यय इत्येवं व्यवहारोऽवकल्पते ॥ २४५ ॥

(सि० प०) तथापि यह निश्चय नहीं हो सकता कि कथित 'अन्य' शब्दों में से कौन सा वह गो शब्द है जिसको गो रूप अर्थ का वाचक मानें।

यतः प्रत्ययः''''अवकल्पते

(पू० प०) जिस गो शब्द से गो स्वरूप अर्थ का प्रत्यय हो, वही गो शब्द गो स्वरूप अर्थ का वाचक है, तद्भिन्न गो शब्द गो रूप अर्थ का वाचक नहीं है। इस प्रकार सामान्य निर्णय किया जा सकता है ॥ २४५ ॥

श्रोतॄणां स्यादपीत्यं तु वक्तॄणां नावकल्पते।
अज्ञात्वा क्रमशो शब्दमादावेव विवक्षति ॥ २४६ ॥
जानाति चेदवश्यं स पूर्वं तेनावधारितः।
तेजः प्रत्यक्षशेषत्वात्स तस्येऽपि प्रकाशकम् ॥ २४७ ॥

---

१. उक्त सूत्र का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार घटादि कार्य उत्पत्ति के लिये समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण इन तीनों की अपेक्षा रखते हैं, एवं समवायिकारण अथवा असमवायिकारण के विनष्ट होने से वे विनिष्ट होते हैं, उसी प्रकार यदि शब्द अपनी उत्पत्ति के लिये समवायिकारणादि की अपेक्षा नहीं रखता तो विनाश के कारणों के अभाव से शब्द का विनाश भी नहीं हो सकता। अनुत्पत्तिशील एवं अविनाशी भाव पदार्थ नित्य ही होता है। अतः शब्द भी नित्य ही है।

श्रोतॄणाम्....आवापेव विवक्षति

(सि० प०) उक्त प्रकार से वाचकत्व का सामान्य निर्णय भी श्रोताओं को ही हो सकता है, वक्ताओं का इस सामान्य निर्णय से काम नहीं चल सकता, क्योंकि अर्थप्रत्यय से पहले किस चिह्न के द्वारा वक्ता उस 'अन्य' वाचक विशेष शब्द को समझेंगे जिससे उस विशेष शब्द को बोलने की उन्हें इच्छा होगी। फलतः विवक्षा की अनुपपत्ति से शब्द का उच्चारण ही अनुपपन्न हो जायगा।

जानाति चेत्...अवधारितः

यदि वक्ता पहले से यह जानता है कि 'यह शब्द इस अर्थ के बोध को उत्पन्न करेगा' तो यह स्वीकार करना होगा कि वक्ता को शब्दोच्चारण से पहले शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विशेष निर्णयात्मक ज्ञान था। इस निर्णय के द्वारा शब्द की पूर्वसत्ता सिद्ध होती है जिससे शब्द का अनित्यत्व बाधित हो जाता है।

तेजः प्रत्यक्षशेषत्वात्...प्रकाशकम्

'प्रकाशितं यथा चार्थम्' (श्लोक २३४) इत्यादि से जो यह कहा है कि किसी विशेष तेज (आलोक) से एक बार घट का बोध होता है, इससे बार-बार उसी तेज से घट का बोध नहीं होता सो कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आलोक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए 'स्वरूपतः' उपयोगी है, ज्ञात होकर नहीं। शब्द में यह बात नहीं है, वह तो अर्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान के द्वारा ही अर्थबोध का कारण है। अतः एक बार अर्थबोध के बाद भी यदि शब्दार्थसम्बन्धज्ञानयुक्त पुरुष उस शब्द को सुनेगा तो उससे उसे अर्थ की प्रतीति अवश्य होगी। शब्दार्थसम्बन्ध के ज्ञान से रहित पुरुष को प्रथम श्रवण से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। आलोक की तरह यदि शब्द को स्वरूपतः अर्थबोध का कारण मानेंगे तो शब्दार्थसम्बन्धविषयक ज्ञान से रहित पुरुष को भी अर्थ की प्रतीति होगी, अतः आलोक का दृष्टान्त प्रकृत में उपयोगी नहीं है ॥ २४७ ॥

सदृशत्वात् प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः।
कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यतां वाचकोऽपरः ॥ २४८ ॥
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यतः।
अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत् तस्य तावान् कुतः क्षणः ॥ २४९ ॥
द्वित्रिर्वानुपलब्धो हि नार्थवान् सम्प्रतीयते।
अप्रतीतान्यशब्दानां तत्कालेऽस्तावनर्थकः ॥ २५० ॥
स एवान्यश्रुतीनां स्यादर्थवानिति विस्मयः।
अथास्य विद्यमानोऽपि कैश्चिदर्थो न गम्यते ॥ २५१ ॥
तत्तुल्यमुत्तरस्येति किं सादृश्येन वाचकः।
अनर्थकत्वमस्य स्यादयानन्यश्रुतीन् प्रति ॥ २५२ ॥

पूर्वस्मिन्नपि तत्सत्त्वात् सर्वानर्थकता भवेत् ।
अर्थवत्सदृशत्वेन यो वा श्रुतवतां मतः ॥ २५३ ॥
मुख्योऽसावश्रुतीनां स्यात् तदेकत्वे न युज्यते ।
सम्बन्धाकरणे युक्तिस्तदुक्तमिति कथ्यते ॥ २५४ ॥

सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत्

'अर्थवत्साहश्यादर्थावगम इति चेत्' (शाबरभाष्य पृ० ८५ पं० २) इस पूर्वपक्ष-भाष्य का अभिप्राय है कि असदृश जो 'अन्य' शब्द उससे भले ही अर्थबोध संभव न हो (गो शब्द में शक्ति के गृहीत रहने पर भी उसके सादृश्य से रहित अश्व शब्द से गोस्वरूप अर्थ का बोध भले ही सम्भव न हो) किन्तु गृहीतसम्बन्ध गो शब्द के अर्थबोधजनकत्व रूप सादृश्य से युक्त जो दूसरा गो शब्द है, वह अन्य होने पर भी अर्थविषयक बोध को उत्पन्न कर सकता है । फलतः 'अन्य' शब्द में तदर्थबोधकत्व की भ्रान्ति से ही अर्थ की प्रतीति होती है ।

तद्द्वारेणाऽप्यवाचकः

तत् शब्द के सादृश्य के द्वारा भी 'अन्य' शब्द में वाचकता की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

कस्य चैकस्य····तुल्यता यतः

(सि० प०) क्योंकि शब्द की नित्यता के विना जब किसी शब्द में अर्थ-प्रतीतिजनन की शक्ति गृहीत नहीं हो सकती तो फिर कौन सा गृहीतशक्तिक 'एक शब्द' है, जिसके सादृश्य से 'अन्य शब्द' वाचक होगा, क्योंकि शब्द को जिसलिये अनित्य मानते हैं, एवं शब्दानित्यत्व पक्ष में किसी भी शब्द में शक्ति का ग्रहण असम्भव है अतः सभी शब्द में 'अदृष्टसंगतित्व' (अज्ञातशक्तिकत्व) समान है ।

अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत्

यदि पहले ज्ञात शब्द में अर्थवत्ता (अर्थग्रहणशक्ति) है तो उसके ग्रहण के लिए उस क्षण तक उसकी ही सत्ता हो कैसे है ? क्योंकि सभी शब्दों को वैशेषिकगण क्षणिक मानते हैं । यही बात 'न हि कश्चिदर्थवान्' (शाबरभाष्य पृ० ८५) इस भाष्यसन्दर्भ से कही गयी है ।

द्विस्त्रिर्वा···संप्रतीयते

क्योंकि दो या तीन बार ज्ञात हुए विना शब्द में अर्थवत्ता की सम्यक् प्रतीति नहीं होती है ।

अप्रतीतान्यशब्दानाम्···अनर्थकः····स एव···विस्मयः

(पू० प०) यद्यपि एक ही बार श्रुत शब्द में अर्थवत्ता (शब्दार्थसम्बन्ध) की प्रतीति नहीं होती है तथापि जिस पुरुष ने शब्दार्थसम्बन्ध स्वरूप व्युत्पत्ति के ग्रहण के समय ही 'अन्य' गो शब्द को ही सुना है, उस पुरुष को सुनी हुई अन्य शब्दों

की परम्परा का जो अन्तिम शब्द है, वही उस पुरुष के लिये 'अर्थवान्' है। उसके बाद जो अन्य गो शब्द सुने जाते हैं, उनमें उक्त अर्थवान् चरम शब्द के सादृश्य से ही अर्थवत्ता की प्रतीति होती है।

(सि० प०) किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक पुरुष के द्वारा श्रुत जो चरम शब्द 'अर्थवान्' है, उसी शब्द को जिस अन्य पुरुष ने प्रथम ही सुना है, उसके लिये वही शब्द प्रथम होने के कारण अर्थवान् नहीं हो सकता। इस प्रकार एक ही शब्द में एक ही समय 'अर्थवत्व' एवं 'अर्थरहितत्व' स्वरूप विरुद्ध दो धर्मों की आपत्ति होगी।

अथाऽस्य विद्यमानोऽपि''कि सादृश्येन वाचकः

यदि यह कहो कि वह अन्य शब्द भी अर्थवान् है ही, किन्तु सभी शब्दों से उसकी अप्रतीति अन्य कारणों का संवलन न होने से होती है। किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा मानेंगे तो प्रतीतिकालिक शब्द में भी मुख्य अर्थवत्ता ही सम्भव है अर्थात् स्वरूपतः मुख्य वाचकता ही सम्भव है। फिर उसमें वाचकता को सादृश्यमूलक क्यों मानें ? एवं जिस शब्द को हम प्रथम कहते हैं किसी के व्युत्पत्तिग्रहण के समय वह चरम भी हो सकता है।

अनर्थकत्वमप्यस्य'''सर्वानर्थकता भवेत्

यदि यह कहो कि चरमश्रुत शब्द के समान ही पूर्ववर्त्ति शब्द भी चूँकि अपने पूर्ववर्त्ति सदृश दूसरे पदों के सादृश्य के द्वारा अर्थवत्त्व रूप से ज्ञात नहीं है, अतः वह (चरम) शब्द भी अनर्थक ही है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

इस पक्ष में अर्थवत्ता किसी शब्द में सम्भव नहीं होगी।

यदि यह कहो कि 'उससे पूर्ववर्त्ति शब्दों में अर्थवत्ता रहेगी' किन्तु सो भी उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि पूर्ववर्त्ति शब्दों में भी स्वपूर्ववर्त्ति अर्थवत् शब्दों के सादृश्य से अर्थवत्ता गृहीत नहीं है। इस प्रकार किसी भी शब्द में मुख्य अर्थवत्ता नहीं रहेगी। मुख्य अर्थवत्ता के अभाव से सादृश्यमूलक गौण अर्थवत्ता का भी लोप हो जायगा जिससे सभी शब्द अनर्थक हो जायँगे।

अर्थवत्सदृशत्वेन''''तदेकत्वे न युज्यते

(पू० प०) जिस समय जिस शब्द में अर्थग्रहण की शक्ति गृहीत होती है, उसी शब्द में अर्थबोधजनन की मुख्य शक्ति है। जिस शब्द से अर्थ का बोध होता है, वह शब्द भी चूँकि उस शब्द के समान है अतः उस शब्द में भी अर्थबोधजनन की गौण शक्ति है, क्योंकि यह शक्ति सादृश्यमूलक है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

ऐसा मानने से एक ही शब्द में मुख्य शक्ति और गौण शक्ति इन विरुद्ध धर्मों की आपत्ति होगी। किन्तु एक ही शब्द में मुख्य शक्ति और गौण शक्ति दोनों को मानना उचित नहीं है।

सम्बन्धाकरणे""तदुक्तमिति कथ्यते

'कस्यचित् पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्' (शबरभाष्य पृ० ८५ पं० ३) इस भाष्योक्त पूर्वपक्ष का समाधान 'तदुक्तम्' (शबरभाष्य पृ० ८५ पं० ३) इस एक ही वाक्य से दे दिया गया है ॥ २४८–२५४ ॥

शब्दानित्यत्वपक्षेऽपि विशेषेण स दुष्करः ।
शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्धकरणं कुतः ॥ २५५ ॥
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ।
तेनासम्बद्धय नष्टत्वात् पूर्वस्तावदनर्थकः ॥ २५६ ॥

शब्दानित्यत्वपक्षेऽपि""तावदनर्थकः

शब्द को क्षणिक मानने के पक्ष में यह 'सादृश्यमूलक सम्बन्धकरण' विशेष रूप से असंभव है, क्योंकि उच्चारण के विना सम्बन्ध का 'करण' किसके द्वारा होगा ? उच्चारण के बाद तत्क्षण नष्ट हो जाने वाले शब्द में अर्थ के साथ सम्बन्ध-करण से अर्थबोध स्वरूप प्रयोजन ही कौन सा होगा ? (संयोगविभागादि से उत्पन्न) जो 'पूर्व' शब्द है, वह अर्थ के साथ बोध के शक्तिस्वरूप सम्बन्ध को अपने सादृश्य से उत्पन्न किये विना ही विनष्ट हो चुका है । इसलिये 'पूर्व' शब्द अनर्थक है ॥ २५५–२५६ ॥

उत्तरोऽकृतसम्बन्धो विज्ञायेतार्थवान् कथम् ।
शब्दोच्चारणसम्बन्धकरणव्यावहारिकाः ॥ २५७ ॥
क्रियाः क्रमस्वभावत्वात् कः कुर्याद् युगपत् क्वचित् ।
देशकालादिभेदानां पुंसां शब्दान्तरश्रुतेः ॥ २५८ ॥
पूर्वं कृत्रिमसम्बन्धेऽप्येकः शब्दो न सिध्यति ।
सम्बन्धकथनेऽप्यस्य स्यादेवैषा निराकृतिः ॥ २५९ ॥
नष्टासद्वर्त्तमानेषु नाख्यानस्य हि सम्भवः ।
अर्थवान् कतरः शब्दः श्रोतुर्वक्त्रा च कथ्यताम् ॥ २६० ॥

---

१. 'कस्यचित्' इत्यादि पूर्वपक्षभाष्य का यह आशय है कि अन्य शब्दों में मुख्यार्थवत्ता के न रहने से सादृश्य का प्रतियोगित्व भले ही न रहे, तथापि सृष्टि के आदि के किसी शब्द में प्रजापति प्रभृति आदि पुरुषों के द्वारा अर्थ के कृत्रिम सम्बन्ध की उपपत्ति हो सकती है । उस कृत्रिम सम्बन्ध से युक्त शब्द के सादृश्य से ही अन्य शब्दों में गौण अर्थवत्त्व माना जा सकता है ।

इस पूर्वपक्ष के परिहार के लिए जो 'तदुक्तम्' यह संक्षिप्त वाक्य भाष्य में है, उसका यह तात्पर्य है कि अप्रसिद्धार्थक जितने शब्द हैं, उन सभी शब्दों में उक्त पुरुषों के द्वारा अर्थों के साथ सम्बन्धकरण सम्भव नहीं है । इसके लिए जिन युक्तियों का प्रदर्शन (सम्बन्धाक्षेपप्रकरण) में किया गया है, उन्हीं युक्तियों का अनुसन्धान यहाँ भी करना चाहिये (देखिये श्लो० वा० सम्बन्धाक्षेपपरिहारप्रकरण १३५ श्लो० का सन्दर्भ) ।

यदा पूर्वश्रुतं शब्दं नासौ शक्नोति भाषितुम् ।
न तावदर्थवन्तं स ब्रवीति सदृशं ब्रवेत् ॥ २६१ ॥
नार्थवत्सदृशः शब्दः श्रोतुस्तत्रोपपद्यते ।
अर्थवद्ग्रहणाभावात् न चासावर्थवान् स्वयम् ॥ २६२ ॥

उत्तरोऽकृतसम्बन्धः···कथम्

संयोगविभागादिजनित 'पूर्वशब्द' के बाद के शब्दों का सम्बन्ध अर्थों के साथ नहीं हो पाया है, क्योंकि उनमें 'अर्थवत्' शब्द का सादृश्य नहीं है। अतः उनमें अर्थवत्ता सुतराम् अनुपपन्न है।

शब्दोच्चारण···युगपत् क्वचित्

(पूर्वपक्ष—उच्चरित शब्द में अथवा उच्चारण के बाद विनष्ट हुये शब्दों में उक्त 'सम्बन्धकरण' भले ही संभव न हो, किन्तु केवल 'उच्चार्यमाण' शब्द में उक्त 'सम्बन्धकरण' सर्वथा संभव है, क्योंकि व्यवहार भी उच्चारण के समय ही होता है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

शब्द का उच्चारण, सम्बन्धकरण और व्यवहार ये सभी क्रियायें परस्पर कार्यकारणभावापन्न होने से चूँकि क्रमशः ही उत्पन्न हो सकती हैं, अतः 'क्रमस्थभाव' की ये क्रियायें 'युगपत्' नहीं हो सकतीं।

देशकालादिभेदानाम्····शब्दो न सिद्ध्यति

यद्यपि सृष्टि के आदि में किसी शब्द में 'सम्बन्धकरण' संभव हो भी सकता है, किन्तु विभिन्न देशों में एवं विभिन्न कालों में उत्पन्न पुरुषों को उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। अतः सादृश्य के द्वारा उन पुरुषों को अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वे पुरुष सृष्टि के आदि के शब्द को नहीं सुनते किन्तु सम्बन्धकरण से रहित अन्य शब्दों को ही सुनते हैं।

सम्बन्धकरणे···निराकृतिः ⁝ नष्टासत्···संभवः

जिस प्रकार क्षणिक शब्दों में सम्बन्धकरण संभव नहीं है, उसी प्रकार कृत सम्बन्ध का कथन भी संभव नहीं है। इस दृष्टि से भी सादृश्यमूलक अर्थबोध संभव नहीं है, क्योंकि विनष्ट, भावी एवं वर्त्तमान सभी शब्दों के 'कृत सम्बन्ध' का युगपत् अभिधान (आख्यान) संभव नहीं है।

अर्थवान्····कथ्यताम्···यदा···भाषितुम्

पुरुष ने जिस शब्द को अर्थवान् समझा था, वह कथन के समय 'अतीत' हो जाता है, अतः उसका अभिधान ही संभव नहीं है। इसलिये उस समय श्रोता को अर्थ समझाने के लिये वक्ता किस शब्द का उच्चारण करेगा (१) अर्थवत् शब्द का? अथवा (२) अर्थवत्शब्दसदृश अन्य शब्द का?

न तावत्···ब्रवेत्···अर्थवद्ग्रहणाभावात्

इनमें 'पूर्वश्रुत' पहला जो 'अर्थवत्' शब्द है, उसका अतीत हो जाने के कारण उच्चारण ही संभव नहीं है। दूसरा जो 'पूर्वसदृश' शब्द है, उसमें अर्थवत्त्व स्वरूप

सादृश्य नहीं है (समानवर्णत्व रूप से भले ही पूर्वशब्दसदृश हो) । इसलिये श्रोता को अर्थवत्त्व रूप से उस अन्य सदृश शब्द का ज्ञान ही नहीं होगा । फलतः श्रोता को उस शब्द से अर्थ का बोध ही नहीं होगा ।

न चाऽसावर्थवान् स्वयम्

यह भी कहना संभव नहीं है कि वक्ता दूसरे ही अभिनव अर्थवत् शब्द का उच्चारण करे, क्योंकि अभिनव शब्द के उच्चरित होने पर भी श्रोत्र को वह शब्द अर्थवत्त्व के साथ गृहीत नहीं होगा, क्योंकि वह स्वयं अर्थवान् नहीं है । अर्थवत् शब्द के सादृश्य से उसमें अर्थवत्त्व का गौण व्यवहार मात्र होता है ॥ २५७–२६२ ॥

वक्तुः श्रोतृत्ववेलायामेतदेव प्रसज्यते ।
एवं च सर्ववक्तॄणां न शब्दः क्वचिदर्थवान् ॥ २६३ ॥

अभी के वक्ता जिस समय श्रोता थे तब जिस शब्द को उन्होंने सुना था, उस समय के उस शब्द में भी अर्थवत्त्व की यह अनुपपत्ति समान रूप से है । फलतः किसी भी वक्ता के किसी भी शब्द में अर्थवत्ता संभव ही नहीं है ॥ २६३ ॥

भवेद् यद्यपि सम्बन्धः सर्गादौ कस्यचित् कृतः ।
तस्मिन्नबुद्धे नैव स्यादेकस्मात् सदृशे मतिः ॥ २६४ ॥

सृष्टि के आदि के प्रथम शब्द में प्रजापति के द्वारा अर्थ में कृत सम्बन्ध से वह आदिभूत शब्द अर्थवान् हो सकता है । किन्तु आज के मनुष्य आज के शब्दों में अर्थवत्त्व रूप से उस शब्द के सादृश्य को नहीं समझ सकता । अतः आज के मनुष्यों को शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होगी ॥ २६४ ॥

अथ तत्कालजैः पुम्भिस्तस्मिन् शब्देऽवधारिते ।
प्रवृत्तेरनुमीयेत तत्सादृश्यपरम्परा ॥ २६५ ॥

(पू० प०) सृष्टि के आदि के पुरुषगण ने अर्थवत् उस प्रथम शब्द को सुनने के बाद तत्सदृश दूसरे शब्द को सुनकर उनके अर्थों को समझा । उसके बाद के लोगों ने तत्सदृश अन्य शब्दों से शब्दार्थों को समझा । हम लोगों को भी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । किन्तु सादृश्य की उक्त परम्परा के बिना हम लोगों की उक्त क्षणिक शब्द से होने वाली उक्त प्रतीति अनुपपन्न है । अतः हम लोगों को इस 'अनुपपत्ति' से उक्त सादृश्य की परम्परा का अनुमिति (अर्थापत्ति) रूप ज्ञान होता है । अतः शब्द को क्षणिक मानने के पक्ष में शब्द से अर्थविषयक बोध की अनुपपत्ति नहीं है ॥ २६५ ॥

तत्र सम्बन्धमार्गेण पूर्वोक्तेन प्रसज्यते ।
स्मार्यं तन्मूलसादृश्यं तदधीनार्थनिश्चयात् ॥ २६६ ॥

(सि० प०) शब्द को क्षणिक मानने के पक्ष में उक्त रीति से भी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आधुनिक ज्ञाता पुरुषों को सादृश्यपरम्परा का यदि स्मरण हो तभी अर्थबोध की उक्त उपपत्ति ठीक हो सकती है । किन्तु आधुनिक पुरुषों को

सादृश्य की उक्त परम्परा का स्मरण होना संभव नहीं है, क्योंकि स्मरण पूर्वानुभव-मूलक है। किन्तु अर्थवत्सादृश्यविषयक पूर्वानुभव आधुनिक पुरुषों को संभव नहीं है ॥ २६६ ॥

वस्तुन्युत्पत्तिभिन्ने च दूरादारभ्य कल्पितम्।
स्तोकस्तोकविशेषेण सादृश्यं विप्रकृष्यते ॥ २६७ ॥
स्वरव्यञ्जनमात्राविभेदाच्छब्दे विशेषतः।
शालामालाऽबलावेलाशीलेत्यादिप्रकल्पनात् ॥ २६८ ॥

वस्तुनि⋯स्वरव्यञ्जनतः⋯विशेषतः

वस्तुओं में परस्पर सादृश्य के रहते हुये भी अपना-अपना असाधारण धर्म अलग-अलग होता है। एक समान व्यक्तिओं की परम्परा में थोड़ा-थोड़ा (स्तोक-स्तोक) भेद रहने पर भी प्रथम के साथ अन्तिम (दूरस्थ) का भेद अत्यन्त परिस्फुट होने के कारण प्रथम व्यक्ति का अन्तिम व्यक्ति के साथ सादृश्य नहीं रह जाता। यह स्वभावभेद (स्वभावों में परस्पर भेद) शब्द में अत्यन्त परिस्फुट है। स्वरव्यञ्जनादि के थोड़े से ही हेर-फेर से अर्थों में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। व्यञ्जन वर्ण का भेद न रहने पर भी केवल स्वर के भेद से भी अर्थों में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। ('इन्द्रशत्रु' प्रभृति शब्दों में स्वर के भेद से अर्थभेद का वर्णन 'यदेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है)।

शाला-माला⋯प्रकल्पनात्

जैसे कि शाला, माला, अवला, वेला, शीला प्रभृति शब्दों में थोड़े से ही स्वर-व्यञ्जन के भेद से विभिन्न अर्थों की प्रतीति होती है ॥ २६७–२६८ ॥

सादृश्यात् प्रतिपत्तौ च भ्रान्तिज्ञानं प्रसज्यते।
धूमे दृष्टेऽग्निसम्बन्धे बाष्पादिव कृशानुधीः ॥ २६९ ॥

शब्द में पूर्ववर्ती अर्थवत् शब्द के सादृश्य से जो अर्थ की प्रतीति होगी, वह उसी प्रकार भ्रान्ति होगी, जिस प्रकार बाष्प में धूम के सादृश्य से उत्पन्न धूमज्ञान से वह्नि की अनुमिति भ्रमात्मक हो जाती है ॥ २६९ ॥

एवमस्त्विति चेद् ब्रूयान्नैतद्बाधकवर्जनात्।
तावता सिद्धमिति चेत् शब्दाभेदोऽपि सिध्यति ॥ २७० ॥

एवमस्त्विति चेद् ब्रूयात्

इस प्रसंग में यदि यह कहो कि 'एवमस्तु' अर्थात् शब्दजनित ज्ञान भ्रान्ति-स्वरूप ही रहे।

न, एतद्बाधकवर्ज्जनात्

किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्दजनित सभी अर्थविषयक ज्ञानों में 'नैतदेवम्' (यह इस प्रकार का नहीं है) इस आकार का बाधक ज्ञान चूँकि उत्पन्न नहीं होता है, अतः उन सभी ज्ञानों को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता।

तावता सिद्धमिति चेत्

(पू० प०) शब्द में सादृश्यमूलक जो अर्थवत्त्व का ज्ञान होता है, उस ज्ञान के बाद तज्ज्ञानधर्मिक 'नैतदेवम्' इस आकार का बाधक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, अतः उस ज्ञान को भ्रान्तिरूप नहीं कहा जा सकता। उसके भ्रान्तिरूप न होने से तज्जनित अर्थविषयक ज्ञान भी भ्रमरूप नहीं होगा।

शब्दाऽभेदोऽपि सिद्धयति

(सि० प०) हम लोग (मीमांसकगण) भी कहते हैं कि शब्दजनित अर्थ-विषयक ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं है, किन्तु साथ-साथ हम यह भी कहते हैं कि पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती शब्दों की एकता चूँकि 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रमात्मक प्रत्यभिज्ञाओं से समर्थित है, अतः वह 'एकता' भी वास्तविक ही (अभ्रान्त) है। यदि इसको भ्रान्त कहेंगे तो तुल्ययुक्त्या शब्दजनित कथित अर्थज्ञान को भी सादृश्यज्ञान स्वरूप दोषजनित होने के कारण भ्रान्ति स्वरूप मानना ही होगा॥ २७०॥

तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत्।
एवमेकमनेकं वा नित्यं वानित्यमेव वा॥ २७१॥

एवं यह भी विचारणीय है कि प्रकृत में जिस सादृश्य की चर्चा हो रही है, वह सादृश्य आश्रयीभूत व्यक्तियों से (१) भिन्न है अथवा (२) अभिन्न है अथवा (१) एक ही सादृश्य दोनों धर्मियों में है (२) अथवा धर्मी के भेद से सादृश्य अनेक हैं अथवा (१) यह सादृश्य नित्य है अथवा (२) अनित्य है।

भिन्नत्वैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते।
अभेदानित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव तुल्यता॥ २७२॥

इनमें प्रथम विकल्प के 'भिन्नत्वपक्ष', द्वितीय विकल्प के 'एकत्वपक्ष' एवं तृतीय विकल्प के 'नित्यत्वपक्ष' को यदि स्वीकार करें तो उक्त सादृश्य की कल्पना वस्तुतः शब्दत्वावान्तर जाति की कल्पना के समान ही होगी। किन्तु शब्दत्वावान्तर गत्वादि जातियों का निराकरण पहले ही (स्फोटवाद में) किया जा चुका है। तदनुसार शब्दत्वावान्तर धर्म स्वरूप इस सादृश्य को भी निराकृत समझना चाहिये।

अभेदाऽनित्य""तुल्यता

यदि उक्त तीनों विकल्पों के अभेद, अनित्यत्व और नानात्व को स्वीकार करें अर्थात् उक्त सादृश्य को व्यक्तियों से अभिन्न, अनित्य एवं नाना मानें तो वे भी पूर्व-कथित क्षणिक शब्द के समान ही होंगे। अतः शब्द को क्षणिक मानने के पक्ष में जितने भी दोष कहे गये हैं, वे सभी दोष इन पक्षों में भी आपन्न होंगे॥ २७२॥

व्यक्त्यनन्यत् तथैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते।
व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम्॥ २७३॥

यदि उच्चरित शब्द, तथा अन्य श्रूयमाण शब्द दोनो के सादृश्य को व्यक्तियों से (आश्रयीभूत दोनों ही प्रकार के शब्दों से) अभिन्न (अनन्य) एक, तथा नित्य मानें तो आश्रयीभूत दोनों शब्द व्यक्तियाँ भी नित्य होंगी। इससे शब्दनित्यत्व स्वरूप मेरे ही पक्ष को पुष्टि होगी॥ २७३॥

न सावयवसामान्यरूपा सदृशता तव।
वर्णभेदे हि सा सिध्येन्न चाभेदस्त्वयेष्यते ॥ २७४ ॥
गोशब्दत्वादिगत्वादि पूर्वमेव निराकृतम्।
वर्णव्यक्तय एव स्युर्नित्यास्तेनावबोधकाः ॥ २७५ ॥

गोशब्दत्वादि···निराकृतम्

(पू० प०) श्रूयमाण शब्द में उच्चरित शब्द का सादृश्य संभव न होने से गो शब्द में गोत्वजाति की वाचकता भले ही संभव न हो, तथापि उसमें 'गोशब्दत्व' किं वा 'गोत्व' प्रभृति वर्ण वृत्ति एवं शब्दत्वव्याप्य अवान्तर जातियों की वाचकता तो हो ही सकती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

(सि० प०) 'गोशब्दत्व' अथवा 'गत्व' नाम की किसी जाति के अस्तित्व का खण्डन पहले ही (स्फोटवाद श्लोक ६४, ६५, ६६) में किया जा चुका है।

वर्णव्यक्तय एव···अवबोधकाः

'तस्मात्' नित्य गकारादि वर्ण ही अर्थों के बोधक हैं ॥ २७४–२७५ ॥

गोशब्देऽवस्थितेऽस्माकं तदशक्तिजकारिता।
गाव्यादेरपि गोबुद्धिर्मूलशब्दानुसारिणी ॥ २७६ ॥

गोशब्दे गाव्यादिरपि····शब्दानुसारिणी

'यथा गावीशब्दात् सास्नादिमिति प्रत्ययस्यानिवृत्तिः तद्वद्भविष्यतीति चेत्' (शाबरभाष्य पृ० ८६ पं० १)।

(पू० प०) जिस प्रकार गोशब्द के सदृश 'गावो' शब्द के श्रवण से 'गो' स्वरूप अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार उच्चरित गो शब्द के सदृश ही 'अन्य गोशब्द' के श्रवण से भी गो स्वरूप अर्थ की प्रतीति होगी।

'न हि, गोशब्दं न चोच्चारयितुमिच्छा' (शाबरभाष्य ८६ पं० १)।

(सि० प०) 'न हि' अर्थात् उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उक्त 'गावी' शब्द से गो स्वरूप अर्थविषयक बोध उत्पन्न होता है, वह गावी शब्द में गोशब्द के सादृश्य से नहीं किन्तु 'गावी' शब्द के द्वारा उपस्थित मूलभूत गोशब्द से ही उत्पन्न होता है। उच्चारणकर्ता मूलभूत गोशब्द के उच्चारण में असमर्थ है। इसी लिये वह 'गावी' शब्द का उच्चारण करता है[1] ॥ २७६ ॥

---

१. 'न हि 'गोशब्दम्' इत्यादि सिद्धान्तभाष्य का यह आशय है कि हम लोगों के मत से (मीमांसकों के मत से) गोशब्द सदा विद्यमान तथा नित्य है, क्षणिक नहीं। मूलभूत यह गोशब्द चूँकि अर्थवान् है, अतः तन्मूलक गोस्वरूप अर्थ के बोधक शक्ति से रहित गावी शब्द से जो गोस्वरूप अर्थविषयक बोध होता है, वह मूलभूत उक्त अर्थवत् गो शब्द के अनुसन्धान से ही होता है। गावी शब्द की अपनी सहज शक्ति से उक्त गो स्वरूप अर्थविषयक बोध नहीं होता है, इसीलिये गावी शब्द से गोविषयक बोध को सादृश्यमूलक कहा जाता है, वस्तुतः वह सादृश्यमूलक नहीं है।

स्यात् सादृश्यनिमित्ता चेद् गौरशब्दादपि ध्रुवम् ।
तेनाव्याप्तिरिष्टात्र गोशब्दादेव सा हि धीः ॥ २७७ ॥

गावी शब्द को सुनने के बाद जो गोविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है "वह बुद्धि गावी शब्द की अभिधा वृत्ति से उत्पन्न नहीं है" इस धारणा के बाद यह दूसरी अनुमिति उत्पन्न होती है कि 'गावी शब्द के उच्चारण का कर्त्ता चूँकि गो शब्द के उच्चारण में असमर्थ है, अतः वह गावी शब्द का उच्चारण करता है।' किन्तु विवक्षा गो शब्द के उच्चारण की हो है। अर्थवत् गो शब्द के उच्चारण से प्रकृत में गोरूप अर्थ का बोध नहीं होता है। गोशब्द के उच्चारण की इच्छा से अशक्तिवश उच्चरित गावी शब्द से ही गोशब्द का स्मरण होता है। गोशब्द के इस स्मरणात्मक ज्ञान से ही गो स्वरूप अर्थ का बोध होता है ॥ २७७ ॥

नन्वानुपूर्व्यनित्यत्वादनित्यो वाचको भवेत् ।
पदं वाचकमिष्टं हि क्रमाधीना च तन्मतिः ॥ २७८ ॥

(पू० प०) मीमांसकों के मत से भी वर्णों के नित्य होने पर भी वर्णों की आनुपूर्वी (वर्णों का पूर्वापरीभाव) तो अनित्य ही है। अर्थ की वाचकता आनुपूर्वी से युक्त वर्णों में ही है। आनुपूर्वी से युक्त वर्णों से ही अर्थ की 'मति' (प्रतीति) होती है। आनुपूर्वी है क्रम स्वरूप। पुरुष निर्मित होने के कारण वर्णों का क्रम स्वरूप पद अनित्य है। फलतः जो आनुपूर्वीबद्ध पदात्मक वाचक शब्द है वह अनित्य ही है ॥ २७८ ॥

वर्णाः सर्वगतत्वाद् वो न स्वतः क्रमवृत्तयः ।
अनित्यध्वनिकार्यत्वात् क्रमस्यातो विनाशिता ॥ २७९ ॥

(पू० प०) आप लोगों के (मीमांसकों के) मत से वर्ण चूँकि सर्वगत (विभु) हैं, अतः उनमें स्वतः क्रमबद्धता नहीं आ सकती। इसलिये नित्य वर्णों के भी क्रम को पुरुषबुद्धि से उत्पन्न होने के कारण अनित्य मानना ही होगा।

एवं 'क्रम' स्वरूप आनुपूर्वी का कारण ध्वनि चूँकि अनित्य है, अतः अनित्य ध्वनि का कार्य आनुपूर्वी भी अनित्य ही होगी। ध्वनियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं, अतः क्रमशः ही वर्णों को अभिव्यक्त भी करती हैं। फलतः ध्वनि ही अपने क्रम को वर्णों में अभिव्यक्त करती हैं। सुतराम् वर्णों को नित्य मानने पर भी उनका क्रम अनित्य ही है। क्रमबद्ध वर्णों से ही अर्थ का बोध होता है ॥ २७९ ॥

पुरुषाधीनता चास्य तद्विवक्षावशाद् भवेत् ।
वर्णानां नित्यता तेन निष्फला परमाणुवत् ॥ २८० ॥

(इस प्रसंग में मीमांसकगण कह सकते हैं कि आनुपूर्वी भले ही अनित्य हो किन्तु उसके निर्माण में पुरुष चूँकि स्वतन्त्र नहीं है, अतः अनित्य होने पर भी आनुपूर्वी में भी अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु मीमांसकों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

पू० प०—आनुपूर्वी इसलिये पुरुष के अधीन है कि उसकी उत्पत्ति पुरुष की विवक्षा से होती है। अतः यदि आनुपूर्वीरहित केवल वर्ण को अनित्य मानते भी हैं, तथापि यह परमाणुओं की नित्यता की तरह व्यर्थ है[1] ॥ २८० ॥

यथा सत्यणुनित्यत्वे घटे तद्वचनात्मके।
न नित्यतैवं वर्णेषु नित्येषु पदनाशिता ॥ २८१ ॥

पू० प०—जिस प्रकार परमाणुओं के नित्य होने पर भी तज्जनित घटादि नित्य नहीं होते उसी प्रकार वर्णों के नित्य होने पर भी तज्जनित उनका क्रम (आनुपूर्वी) अनित्य हो सकता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वर्ण यद्यपि नित्य हैं, तथापि उनसे निर्मित आनुपूर्वी अनित्य ही है। अतः सुतराम् वर्णों के नित्य होने पर भी पद विनाशी हो सकते हैं ॥ २८१ ॥

न च क्रमाद् विना वर्णा विज्ञाताः प्रतिपादकाः।
क्रमस्यैव पदत्वं वस्तस्मादेवं प्रसज्यते ॥ २८२ ॥

जिसलिये कि क्रमशः ज्ञात हुए विना वर्णों से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, इसलिये आप लोगों (मीमांसकों) के पक्ष में वर्णों की आनुपूर्वी ही पद है। इसलिये आनुपूर्वी से अभिन्न पद में अनित्यत्व की आपत्ति ठीक है ॥ २८२ ॥

पदं वर्णातिरिक्तं तु येषां स्यात् क्रमवर्जितम्।
तेषामेवार्थवत्येषा शब्दनित्यत्वकल्पना ॥ २८३ ॥

सि० प०—जो सम्प्रदाय (स्फोटवादी) पद को क्रम से रहित (आनुपूर्वी से रहित) एवं वर्णों से भी भिन्न एक अतिरिक्त वस्तु ही मानते हैं, एवं उक्त लक्षणों से युक्त पद में अर्थवत्त्व (अर्थबोधजननशक्ति) को स्वीकार करते हैं, उनके मत में ही आनुपूर्वी से युक्त वर्णों में अनित्यत्व की उक्त आपत्ति दी जा सकती है ॥ २८३ ॥

न तावदानुपूर्व्यस्य पदत्वं नः प्रसज्यते।
न हि वस्त्वन्तराधारमेतद् दृष्टं प्रकाशकम् ॥ २८४ ॥

हम लोगों (मीमांसकों) के मत में पद आनुपूर्वी स्वरूप नहीं है, क्योंकि पद को अर्थों का प्रकाशक होना चाहिये। वर्ण स्वरूप दूसरे पदार्थ का आधार यह क्रम (आनुपूर्वी) अर्थ का प्रकाशक नहीं हो सकता ॥ २८४ ॥

द्वये सत्यपि तेनात्र विज्ञेयोऽर्थस्य वाचकः।
वर्णाः किं नु क्रमोपेताः किं नु वर्णाश्रयः क्रमः ॥ २८५ ॥

इस प्रसङ्ग में दो ही पक्ष हो सकते हैं—(१) क्रमोपेत वर्ण ही अर्थ के वाचक हैं ? अथवा (२) वर्णाश्रित क्रम ही अर्थ का वाचक है ? इन दोनों में प्रथम पक्ष के

१. अर्थात् जिस प्रकार परमाणुओं के नित्य होने पर भी उनके नित्यत्व का प्रतिसंक्रमण तज्जनित जलादिव्यवहारयोग्य घटादि द्रव्यों में नहीं होता है, उसी प्रकार वर्णों के नित्य होने पर भी उनके नित्यत्व का प्रतिसंक्रमण अर्थबोध के जनक वाचक शब्दों में नहीं होगा। फलतः परमाणुओं की नित्यता के समान ही वर्णों की नित्यता निरर्थक है।

अनुसार 'वर्ण' प्रधान है, एवं 'क्रम' विशेषण होने से गौण है। द्वितीय पक्ष के अनुसार 'क्रम' प्रधान है एवं वर्ण विशेषण होने से गौण है ॥ २८५ ॥

क्रमः क्रमवतामङ्गमिति किं युक्तिसाध्यता।
धर्ममात्रमसौ तेषां न वस्त्वन्तरमिष्यते ॥ २८६ ॥

'क्रम' धर्म है, अतः अङ्ग है। वर्ण धर्मी है, इसलिये अङ्गी है। इस अङ्गाङ्गिभाव को समझने के लिये विशेष युक्ति की आवश्यकता नहीं है ॥ २८६ ॥

इत्थं प्रतीयमानाः स्युर्वर्णास्तेनावबोधकाः।
न च क्रमस्य कार्यत्वं पूर्वसिद्धपरिग्रहात् ॥ २८७ ॥

इत्थम्''अवबोधकाः

इस प्रकार कथित युक्ति से यह निष्पन्न होता है कि क्रम से युक्त वर्ण ही अर्थ के बोधक हैं। वर्णों का क्रम अर्थ का बोधक नहीं है। क्रम वर्णों के द्वारा अर्थ के बोध में सहायक मात्र है।

न च क्रमस्य''परिग्रहात्

(पू० प०—विशेषण होने पर भी जिसलिये कि क्रम पुरुषकृत है, अतः क्रम से युक्त घटादि अर्थों के वाचक पद भी पौरुषेय हैं। अतः पौरुषेय होने के कारण वाचक पद अनित्य होगा। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

पूर्व से सिद्ध का ही 'परिग्रह' पुरुष के द्वारा किया जाता है। क्रम पुरुष के द्वारा उत्पन्न कार्य नहीं है। अतः विशेषणीभूत क्रम के कार्यत्व से तद्विशिष्ट पद में अनित्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥ २८७ ॥

वक्ता न हि क्रमं कञ्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते।
यथैवास्य परैरुक्तिस्तथैवैनं विवक्षति ॥ २८८ ॥
परोऽप्येवमतश्चास्य सम्बन्धवदनित्यता।
तेनैवं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता ॥ २८९ ॥

वक्ता न हि''विवक्षति''परोऽप्येवम्

'क्रम' वक्तृजन्य इसलिये नहीं है कि वक्ता स्वतन्त्र रूप से क्रम का निर्माण नहीं करता। पहले के वक्ताओं के द्वारा जिस प्रकार के क्रमों का व्यवहार होता आया है, वर्त्तमान काल के वक्तागण भी उसी क्रम का व्यवहार करते हैं। भूतकाल के वक्तागण भी अपने से पूर्व के वक्ताओं द्वारा अपनाये गये क्रमों का ही व्यवहार करते थे।

सम्बन्धवदनित्यता

जिस प्रकार शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव 'सम्बन्ध' कभी किसी कर्त्ता के द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्मित न होने के कारण 'अनादि होने से नित्य है (फिर भी कूटस्थ नित्य नहीं है)। उसी प्रकार अर्थवाचक वर्णों का क्रम भी किसी वक्ता के

द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्मित न होने के कारण 'अनादि' है, अत एव नित्य है (कूटस्थनित्य भले ही न रहे)।

तेनैवं व्यवहारात्''''नित्यता

(पू० प०) क्रम के निर्माण में पुरुष स्वतन्त्र भले ही न रहे तथापि क्रम पुरुष का कार्य तो है ही, क्योंकि बिना पुरुष के अभिप्राय से उसका प्रयोग नहीं होता। इसलिये क्रम से युक्त वाचक पद अनित्य क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

(सि० प०) इस प्रकार के अनादि व्यवहार के कारण ही वाचक एवं वर्णों की आनुपूर्वी से युक्त पदों को भी 'नित्य' कहा जाता है, वर्णों के समान वह कूटस्थ नित्य' भले ही न रहे[1] ॥ २८८–२८९ ॥

यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।
वर्णानामपि नन्वेवमकौटस्थ्येऽपि सेत्स्यति ॥ २९० ॥

यत्नतः'''स्वतन्त्रता

(पू० प०) फिर भी जिस किसी प्रकार पदों में पुरुषनिष्ठकारणतानिरूपित कार्यता अवश्य है, फलतः पदों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानों के प्रामाण्य के पुरुषप्रामाण्य के अधीन होने के कारण शाब्दज्ञान का स्वतन्त्र प्रामाण्य ही व्याहत हो जायगा। इस आक्षेप का यह उत्तर है—

(सि० प०) पुरुष जिसके निर्माण में स्वतन्त्र होता है, उसका प्रामाण्य ही पुरुषप्रामाण्य के अधीन है। पुरुष यदि निर्माण में परतन्त्र है, तो उसका प्रामाण्य पुरुषप्रामाण्य के अधीन नहीं है। यदि हम लोग 'मनु' अथवा 'बुद्ध' के वाक्यों का उच्चारण करें भी तथापि उन लोगों के वाक्य हम लोगों के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य से अछूते रहते हैं। हम लोगों के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के अनुसार वे वाक्य प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं होते।

वर्णानामपि''''सेत्स्यति

(पू० प०) इस रीति से (अर्थात् व्यवहारमात्र से) पदों के समान ही वर्णों को भी कूटस्थ नित्य न मानने से भी प्रवाहनित्यता (अनिदम्प्रथमता) को सिद्धि होगी ॥ २९० ॥

---

१. नित्यत्व दो प्रकार का होता है (१) कूटस्थनित्यत्व और (२) प्रवाहनित्यत्व। इनमें प्रथम प्रकार का नित्यत्व ही मुख्य नित्यत्व है। यह मुख्यनित्यत्व 'जन्यधर्मानाश्रयत्व' रूप है जो वर्णों में ही है, क्रमयुक्त पदों में नहीं। दूसरा गौण नित्यत्व 'अनिदम्प्रथमता' रूप है। यह गौणनित्यत्व गकार, औकार और विसर्जनीय के क्रम से युक्त एवं गो स्वरूप अर्थ के वाचक 'गौः' इस पद में है। यह पद 'अनिदम्प्रथम' इसलिये है कि इसके प्रयोग का कोई 'प्रथम' काल नहीं है। 'गौः' इस पद के सभी प्रयोगों के पहले से ही 'गौः' पद का प्रयोग होता आया है। वाचक एवं क्रम से युक्त 'गौः' इत्यादि पदों में 'अनिदम्प्रथमता' रूप यह गौण नित्यत्व ही है, वर्णों में रहनेवाला मुख्य नित्यत्व नहीं है।

नित्येषु सत्सु वर्णेषु व्यवहारात् क्रमोदयः।
घटादिरचना यद्वन्नित्येषु परमाणुषु ॥ २९१ ॥

नित्येषु···परमाणुषु

(सि० प०) जिस प्रकार घटनिर्माण से पहले विद्यमान परमाणुओं के द्वारा ही घट का निर्माण होता है, उसी प्रकार पहले से विद्यमान वर्णों के द्वारा ही क्रम-रचना स्वरूप व्यवहार का निर्माण हो सकता है ॥ २९१ ॥

तदभावे हि निर्मूला रचना नावधार्यते।
अणुकल्पाश्च वर्णांशा न सन्तीत्युपपादितम् ॥ २९२ ॥

तदभावे····नावधार्यते

वर्णों के न रहने पर क्रम की (आनुपूर्वी की) रचना ही अनुपपन्न हो जायगी।

अणुकल्पाश्च··उपपादितम्

'जिस प्रकार पार्थिव परमाणु स्वरूप अवयवों से घटादि की रचना होती है, उसी प्रकार वर्णों के अवयवों के द्वारा वर्णक्रमस्वरूप पद की रचना होगी' इस उक्ति का खण्डन 'वर्णों के अवयव नहीं होते' इस उक्ति के द्वारा पहले ही (स्फोटवाद श्लोक १८) किया जा चुका है ॥ २९२ ॥

परैरुक्तान् ब्रवीमीति विवक्षा चेदृशी ध्रुवम्।
तथा च नित्यतापत्तिर्न चान्यच्चिह्नमस्ति वः ॥ २९३ ॥

(पू० प०) तालुप्रभृति स्थानों के संयोगों अथवा विभागों से ही (वर्णों के अवयवों को स्वीकार किये बिना भी) वर्णों की रचना हो सकती है, फिर वर्णों को नित्य क्यों माना जाय ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

(सि० प०) ताल्वादि स्थानों के संयोगों अथवा विभागों से वर्णों की रचना अवश्य हो सकती है, किन्तु 'अपूर्व' अर्थात् पहले से सर्वथा अविद्यमान वर्णों की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि वक्ताओं की विवक्षा 'मैं पूर्ववर्त्ति पुरुषों के द्वारा कहे हुए वर्णों का ही उच्चारण कर रहा हूँ' इस प्रकार की उपलब्ध होती है। एवं श्रोतागण भी यही कहते सुने जाते हैं कि 'पहले सुने हुए शब्दों को ही मैं सुन रहा हूँ'। इस प्रकार वक्ताओं और श्रोताओं की इन प्रत्यभिज्ञाओं से ज्ञात होता है कि सभी कथनों और श्रवणों से पहले वर्ण विद्यमान रहते हैं। अतः 'अपूर्व' (पहले से सर्वथा अविद्यमान) वर्ण की रचना नहीं हो सकती।

न चान्यच्चिह्नमस्ति वः

(वर्णों में कूटस्थनित्यता है, एवं वर्णों के क्रम से निष्पन्न पदों में 'प्रवाह-नित्यता' है, इस द्वैविध्य का क्या प्रयोजन ? क्योंकि जिस प्रकार 'सोऽयं गकारः' इस प्रकार की वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी प्रकार 'तदेवेदं घटपदम्' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। फिर प्रकृत में दो प्रकार का नित्यत्व क्यों माना जाय ? इस प्रश्न का यह समाधान है—

वर्णों को जब कूटस्थ नित्य मानते हैं, तभी वर्णों के क्रम से घटित पदों में भी इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है कि पहले के 'गौः' इस पद में गकार, औकार और विसर्ग (विसर्ज्जनीय) ये तीन वर्ण थे, वे ही तीन वर्ण श्रूयमाण 'गौः' पद में भी हैं। वर्णों की एकता ही पदों में ऐक्य का प्रयोजक है। वैसे तो सभी पद स्वरूपतः भिन्न-भिन्न ही हैं। इस प्रकार गकारादि वर्णों में नित्यता का प्रयोजक उसका नित्यत्व ही है। एवं 'गौः' इत्यादि पदों में प्रत्यभिज्ञा का प्रयोजक वर्णों की एकता है। इसलिये वर्णों और पदों के नित्यत्वों में भी 'कौटस्थ्य' एवं 'अनिदम्प्रथमत्व' का अन्तर है॥ २९३॥

तज्जातीयत्वसादृश्ये निषिद्धे यत्तु सम्भवेत्।
शब्दत्वेन सजातित्वं तुल्यं शब्दान्तरेषु तत्॥ २९४॥

तज्जातीयत्वसादृश्ये निषिद्धे

गकारादि वर्णों में जो गत्वादि जातियाँ हैं, किं वा वर्णों में जो सादृश्य है, इन दोनों के द्वारा भी प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति मानकर वर्णों के नित्यत्व को 'अन्यथासिद्ध' नहीं माना जा सकता, क्योंकि वर्णगत गत्वादि जातियों का खण्डन पहले ही स्फोटवाद में (श्लो० २०) किया जा चुका है। वर्णों के सादृश्य का खण्डन तो अभी अभी इसी प्रकरण में (श्लो० २४८) किया जा चुका है। अतः वर्णों में प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति गत्वादि जातियों के द्वारा किं वा सादृश्य के द्वारा नहीं की जा सकती।

यत्तु संभवेत्'''शब्दान्तरेषु तत्

सभी 'ग' वर्णों में जिस शब्दत्व जाति की सम्भावना है, वह तो 'ट'कारादि अन्य वर्णों में भी समान रूप से है। अतः शब्दत्व के सादृश्य से 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं हो सकती॥ २९४॥

जात्या यथा घटादीनां व्यवहारोपलक्षणम्।
तथैव चानुपूर्व्यादेर्जातिद्वारेण सेत्स्यति॥ २९५॥

(पू० प०) एकजातीय कारणों से निर्मित होने से ही कार्य एकजातीय होते हैं। जैसे कि एक ही मृत्तिकाजातीय कारण से उत्पन्न होने से ही सभी घट एकजातीय कहलाते हैं, किं वा एक ही तन्तुजातीय कारणों से उत्पन्न होने के कारण तन्तुओं से उत्पन्न कार्य पटजातीय कहलाते हैं।

प्रकृत में भी यह विचारणीय है कि विभिन्न पुरुषों के द्वारा रचित वर्णों के एकजातीय क्रम (एकजातीय घटादिरूपा आनुपूर्वी) के एकजातीयत्व का नियामक कारणों की कौन सी एकजातीयता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि आनुपूर्वियों में एकजातीयता का व्यवहार भी कारणों की एकजातीयता से ही होता है॥ २९५॥

ताल्वादिजातयस्तावत् सर्वपुंसां व्यवस्थिता।
वक्ता तावद् ध्वनींस्ताभिरुपलक्ष्य निरस्यति॥ २९६॥

वर्णों की अभिव्यञ्जिका है ध्वनि। ध्वनिके प्रेरक हैं ताल्वादि स्थान। वे अपनी अपनी जातियों से पुरस्कृत होकर सभी वक्ता पुरुषों में व्यवस्थित हैं। विभिन्न जातीय इन ताल्वादि स्थानों से प्रेरित होने के कारण ध्वनियों की एकजातीयता व्यवस्थित होती है, अर्थात् तालु स्थान से प्रेरित सभी ध्वनियाँ एक जाति की हैं।

अतः तालु स्थान से प्रेरित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त वर्ण एक जाति के होते हैं। तद्भिन्न ओष्ठ स्थान से प्रेरित ध्वनि के द्वारा निर्मित क्रम उससे दूसरी जाति के होते हैं। इस प्रकार क्रमों (आनुपूर्वीनिर्मित पदों) को एकजातीयता व्यवस्थित होती है ॥ २९६ ॥

तेषां च जातयो भिन्नाः शब्दाभिव्यक्तिहेतवः ।
यावद्वर्णं प्रवर्तन्ते व्यक्तयो वा तदन्विताः ॥ २९७ ॥

वर्णों को विभिन्नजातीयता के प्रयोजक वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनियों में रहनेवाली विभिन्न जातियाँ ही हैं। किं वा विभिन्न जातियों से युक्त विभिन्न ध्वनि व्यक्तियाँ ही वर्णों में रहनेवाली जातियों को अभिव्यञ्जिका हैं ॥ २९७ ॥

तत्र तात्वादिसंयोगविभागक्रमपूर्वकम् ।
ध्वनीनामानुपूर्व्यं स्याज्जात्या चोभयनित्यता ॥ २९८ ॥

उक्त वस्तुगति के अनुसार ताल्वादि स्थानों के संयोग विभाग जिस क्रम से उत्पन्न होंगे, वही क्रम स्थानों से प्रेरित ध्वनियों का भी होगा। ताल्वादि में रहनेवाली जातियाँ और ध्वनियों में रहने वाली जातियाँ दोनों ही नित्य हैं। जब कोई पहले 'ग' कार, तदन्तर 'औ' कार, एवं उसके बाद विसर्ग (विसर्जनीय) इस क्रम से 'गौः' इस आनुपूर्वी (क्रम) के पद को बोलने की इच्छा करेगा, तो उसे उन गकारादि वर्णों के व्यञ्जक ध्वनियों का भी उसी क्रम से प्रेरणा की इच्छा करनी होगी। इस दूसरी इच्छा की पूर्ति के लिये ताल्वादिजातीय स्थानों के संयोग और विभाग इन दोनों का क्रमशः आरम्भ करना आवश्यक होगा ॥ २९८ ॥

यथैव भ्रमणादीनां भागैर्जात्या च लक्षितैः ।
क्रमानुवृत्तिरेवं स्यात् ताल्वादिध्वनिवर्णभाक् ॥ २९९ ॥

इस प्रसङ्ग में पूछा जा सकता है कि जातियों का यह स्वभाव है कि अपने आश्रयों को ही विशेष रूप से (अनुवृत्तत्व या व्यावृत्तत्व रूप से) समझावें। तदनुसार ताल्वादि स्थानों में रहनेवाली जातियों से उन्हीं में एकजातीयता स्वरूप अनुवृत्ति या अन्यव्यावृत्ति (अपोह) का बोध हो सकता है। ताल्वादि स्थानों में रहनेवाली जातियों से उन जातियों के अनाश्रयीभूत क्रम (आनुपूर्वी) में अनुवृत्ति या व्यावृत्ति की प्रतीति कैसे होगी ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

जिस प्रकार भ्रमणादि विशेष प्रकार की क्रियाओं का जात्युपलक्षित भ्रमण के एक अंश के द्वारा 'क्रम' का विशेषज्ञान (उपलक्षण) होता है उसी प्रकार ताल्वादि से रहनेवाली जातियों से वर्णों के क्रमों का भी 'उपलक्षण' अर्थात् व्यावृत्ति-विषयक ज्ञान होगा[1] ॥ २९९ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि एक विशेष प्रकार के विन्यास से युक्त पूर्वापरीभावापन्न बहुत से क्रियाक्षणों को ही 'भ्रमण' कहते हैं। इन क्षणों के क्रम को उक्त भ्रमण स्वरूप क्रियाओं के एक अंशात्मक क्षण में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली क्रियात्व जाति के द्वारा जिस प्रकार उन क्रियाओं के क्रम का 'उपलक्षण' होता है, उसी प्रकार ताल्वादि से प्रेरित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त वर्णों का भी 'उपलक्षण' अर्थात् इतरव्यावृत्तत्वज्ञान ताल्वादिगत जातियों से ही हो सकता है।

व्यक्तीनामेव वा सौक्ष्म्याज्जातिधर्मावधारणम् ।
तद्वशेन च वर्णानां व्यापित्वेऽपि क्रमग्रहः ॥ ३०० ॥

अथवा ध्वनि के जनक ताल्वादि स्थानों में किसी जाति विशेष की स्वीकार न भी करें, तथापि प्रत्येक वर्ण की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ तो भिन्न-भिन्न हैं, एवं जाति के समान ही नित्य भी है। उनमें से किसी विशेष ध्वनि की प्रेरणा किसी विशेष वर्ण के लिये होती है। अतः वर्णों के व्यापक होने पर भी उनमें विभिन्न क्रमों (आनुपूर्वी स्वरूप पदों) की उपलब्धि होती है ॥ ३०० ॥

एवं ध्वनिगुणान् सर्वान्नित्यत्वेन व्यवस्थितान् ।
वर्णा अनुपतन्तः स्युरर्थभेदावबोधिनः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनियों में सभी क्रम वर्णों में रहनेवाले एवं नित्य समझे जानेवाले धर्मों का अनुसरण करते हुये वर्ण क्रम एवं दीर्घत्वादि धर्मों से युक्त सा प्रतीत होकर विभिन्न अर्थों के बोधक होते हैं ॥ ३०१ ॥

आनुपूर्वी च वर्णानां ह्रस्वदीर्घप्लुताश्च ये ।
कालस्य प्रविभागास्तैर्जायन्ते ध्वन्युपाधयः ॥ ३०२ ॥

किसी सम्प्रदाय के मत से क्रम या आनुपूर्वी भी वर्णों के समान ही 'कूटस्थ' नित्य ही है, 'प्रवाह' नित्य नहीं। क्योंकि—

वर्णों की आनुपूर्वी ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि धर्म ये सभी उच्चारणकाल के ही एक अंश हैं, क्योंकि जिस वर्ण के उच्चारण में 'चिर' समय की अपेक्षा हो उसी वर्ण को 'दीर्घ' कहते हैं एवं जिसका उच्चारण तदपेक्षया कम समय में क्षिप्रता के साथ हो, उस वर्ण को 'ह्रस्व' कहते हैं। वर्णों का नियमित पूर्वापरीभाव ही 'आनुपूर्वी' अथवा 'क्रम' है। इसलिये ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि ये सभी प्रतीतियाँ विविधकालविषयक ही हैं। अतः ध्वनियों से अभिव्यक्त होनेवाला पूर्वापरकाल ही 'क्रम' है ॥ ३०२ ॥

कालश्चैको विभुर्नित्यः प्रविभक्तोऽपि गम्यते ।
वर्णवत् सर्वभावेषु व्यज्यते केनचित् क्वचित् ॥ ३०३ ॥

कालश्चैकः···वर्णवत्

काल चूँकि 'एक' ही है एवं सर्वगत और नित्य भी है (अर्थात् कूटस्थ नित्य है) अतः तदभिन्न क्रम या वर्णों का प्रत्येक धर्म ही कूटस्थ नित्य ही है। फलतः एक, विभु, एवं नित्य ही है। जिस प्रकार एक ही कूटस्थ नित्य वर्ण ध्वनि स्वरूप उपाधि के भेद से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं उसी प्रकार काल यद्यपि एक ही है एवं वर्ण के समान ही कूटस्थ नित्य है, तथापि सूर्य की गति स्वरूप क्रियारूपी उपाधियों के भेद से पूर्व, पर, पश्चात् प्रभृति भेदों से युक्त सा प्रतीत होता है।

सर्वभावेषु···क्वचित्

प्रश्न—जब पूर्वापरादि से भिन्न काल की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है तो उसे नित्य एवं विभु किस प्रमाण से स्वीकार करें ? पूर्वत्व अपरत्वादि विभिन्न रूपों में ही

अवगत होनेवाले विषयों को 'एक' कैसे मानें ? अर्थात् पूर्वापरादि विभिन्न प्रतीतियों को एककालविषयक ही क्योंकर मानें ? इन प्रश्नों का यह उत्तर है—

पूर्वापरादि से भिन्न स्वतन्त्र रूप से कोई भी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु प्रतीत होने वाले घटपटादि भावों में किसी का पूर्वत्व रूप से एवं किसी का परत्व रूप से काल का इस प्रकार का भान होता है कि 'यह पहले उत्पन्न हुआ' या 'यह पीछे उत्पन्न हुआ' इत्यादि।

किन्तु घटपटादि भावों के साथ प्रतीत होने वाले पूर्वत्व परत्वादि की ये प्रतीतियाँ केवल घटपटादि भावविषयक ही नहीं हैं, किसी 'अन्य' विषयक भी हैं। वही 'अन्य' विषय है काल।

यह 'काल' चूँकि व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत, एवं वर्त्तमान प्रभृति रूपों में से किसी रूप में सभी विषयों के साथ अभिव्यक्त होता है, अतः काल को 'विभु' मानते हैं। पूर्वत्व, परत्व, अतीतत्व, अनागतत्व प्रभृति विभिन्न रूपों के ज्ञानों के साथ 'यथा पूर्वोऽपि कालः तथा परोऽपि काल एव' इत्यादि आकारों की प्रत्य-भिज्ञायें होतीं हैं, अतः काल को 'एक' भी मानते हैं।

एक होने पर जो पूर्वत्वादि अनेक रूपों में भान होता है, उन्हें औपाधिक भी माना जा सकता है। अतः काल में अनेकत्व की प्रतीति वास्तविक नहीं है।

काल की अभिव्यञ्जिका सूर्य की गति चूँकि विनाश, वर्त्तमानत्व, अनागतत्व से युक्त है अतः काल में भी भूतत्व, वर्त्तमानत्व तथा अनागतत्व की प्रतीतियाँ होतीं हैं।

जिसकी सत्ता के लिये अपेक्षित काल में सूर्य की क्रियायें अल्प हों, उसे 'क्षिप्र' कहते हैं एवं जिसकी सत्ता के लिये अपेक्षित काल में सूर्य की क्रियायें अधिक हों, उस काल को 'चिर' कहते हैं। इस प्रकार एक ही काल की अनेक विभिन्न प्रतीतियाँ उपाधिभेद से हो सकतीं हैं ॥ ३०३ ॥

वर्णेषु व्यज्यमानस्य तस्य प्रत्यायनाङ्गता ।
अन्यत्रापि तु सद्भावात् तत्स्वरूपस्य नित्यता ॥ ३०४ ॥

वर्णों में ही अभिव्यक्ति'काल' (क्रम, ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि विषयक) अर्थबोध का 'अङ्ग' अर्थात् कारण है। किन्तु वर्णों से अन्यत्र भी काल की अभिव्यक्ति अती-तत्व अनागतत्वादि रूपों से होती है। अतः 'स्वरूपतः' उसे नित्य मानते हैं, किन्तु अन्यत्र प्रतीत क्रमस्वरूप काल से अर्थ की प्रतीति नहीं मानते हैं ॥ ३०४ ॥

तस्मान्न पदधर्मोऽस्ति विनाशी कश्चिदीदृशः ।
तेन नित्यं पदं सिद्धं वर्णनित्यत्ववादिनाम् ॥ ३०५ ॥

तस्मात् वर्णों के क्रम से युक्त पदों में 'ईदृश' अर्थात् अर्थप्रत्यय का अङ्गभूत कोइ ऐसा धर्म नहीं है, जिसे विनाशी कहा जाय। इसलिये जो समुदाय वर्णों को नित्य मानते हैं, उनके मत से नित्य काल स्वरूप क्रम से युक्त वर्णों से अभिन्न होने के कारण पद भी वर्णों के समान नित्य ही हैं। इससे 'वर्णानां नित्यता तेन' (श्लो०

२८०) इस श्लोक से वर्णों के निष्फलत्व का जो आक्षेप किया गया है, उसका भी समाधान हो जाता है ॥ ३०५ ॥

परधर्मेऽपि चाङ्गत्वमुक्तमश्वगजादिवत् ।
नित्यतायां च सर्वेषामर्थापत्तेः प्रमाणता ॥ ३०६ ॥

परधर्मेऽपि""अश्वगजादिवत्

(पू० प०) क्रम अथवा ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि सभी ध्वनि के धर्म हैं, वर्णों के नहीं। फिर वर्णों से होने वाले अर्थप्रत्यय के 'अंग' कैसे हैं, क्योंकि कारणगत धर्म ही 'अंग' होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

पहले ही कहा जा चुका है कि जिस प्रकार अश्व गजादि यद्यपि गति के धर्म नहीं हैं फिर भी गति से देशान्तरप्राप्तिज्ञान स्वरूप कार्य के सहायक होते हैं इसी प्रकार ध्वनियों के धर्म न होने पर भी वर्णों से अर्थप्रत्यय के उत्पादक ये क्रम (दीर्घत्वादि) अंग हो सकते हैं।

नित्यतायां च""प्रमाणता

वर्णों से अर्थप्रतीति स्वरूप कार्य की अनुपपत्ति (रूप अर्थापत्ति) प्रमाण के द्वारा जो वर्णों में नित्यता की सिद्धि की गयी है (अर्थात् वर्णों को नित्य माने बिना उनसे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है) नित्यत्व की यह सिद्धि वाचक वर्णों में ही की गयी है। क्रमयुक्त वर्ण ही चूँकि वाचक हैं, अतः नित्यत्व की उक्त सिद्धि वास्तव में पदों में ही गयी है। अतः अर्थापत्ति ही पद के नित्यत्व का साधक प्रमाण भी है ॥ ३०६ ॥

पदेऽनवयवे चापि व्यञ्जकैः क्रमवृत्तिभिः ।
पुरुषाधीनतायां च न प्रामाण्यं प्रसज्यते ॥ ३०७ ॥

(पू० प०) वर्णों या पदों को नित्य मानने का यह प्रयोजन है कि शब्दों का प्रामाण्य पुरुषों के प्रामाण्य के अधीन न हो, एवं वक्ता पुरुष के अप्रामाण्य से शब्दों में अप्रामाण्य की शङ्का न हो जिससे शब्द स्वरूप वेदराशि का प्रामाण्य सदा सर्वदा निःशङ्क रहे। इस प्रकार शब्द का नित्यत्व 'अर्थवत्' अर्थात् सप्रयोजन है।

पदों की यह नित्यता तभी 'अर्थवती' हो सकती है जबकि पदों को वर्णातिरिक्त निरवयव अखण्ड शब्द (स्फोट) स्वरूप मानें। पदों को यदि क्रमयुक्त वर्ण स्वरूप कि वा वर्णक्रम स्वरूप मानें, दोनों ही प्रकार से उसे पुरुषनिर्मित मानना होगा। किन्तु ऐसा स्वीकार करने से उसमें प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य नित्यत्व के अधीन होगा। फलतः पदों को नित्य मानने का अर्थप्रत्यय में कोई उपयोग नहीं होगा। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

स्फोटवादियों के पक्ष में भी पद क्रम से युक्त ध्वनि से ही अभिव्यक्त होते हैं। क्रम पुरुषाधीन है। इसलिये इस पक्ष में भी शब्दों का प्रामाण्य नित्यत्व के अधीन मानने से ही उपपन्न हो सकता है। अतः पद की नित्यता अवश्य ही प्रयोजन से युक्त है ॥ ३०७ ॥

वाक्येषु दृष्टमेतच्च तन्निर्भागत्ववादिनाम् ।
अन्यथानुपपत्त्या तत् सर्वथा पदनित्यता ॥ ३०८ ॥

वाक्येषु""निर्भागत्ववादिनाम्

वाक्य को भी जो निर्भाग (निरवयन-स्फोट) स्वरूप मानते हैं, उनके मत से भी पुरुषाधीन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही देखे जाते हैं। अतः पदक्रम युक्त वाक्य को यदि नित्य नहीं मानेंगे तो वाक्य स्वरूप वेदों का प्रामाण्य निःशङ्क नहीं हो पायगा। इसके लिये वाक्य स्वरूप शब्द को भी नित्य मानना होगा। इस प्रकार पदों का नित्यत्व भी सप्रयोजन है।

अन्यथाऽनुपपत्त्या""पदनित्यता

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से सोचें, पद की नित्यता अर्थप्रत्यय की अनुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाण से सिद्ध है ॥ ३०८ ॥

परार्थदर्शनार्थत्वं येनायं प्रतिपद्यते ।
स धर्मो ह्यनुमानाय सम्बन्धापेक्षितोच्यते ॥ ३०९ ॥

'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १८) सूत्र की व्याख्या इस दृष्टि से की गयी है—

'यह सूत्र अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा शब्द में नित्यत्व का प्रतिपादक है, शब्दनित्यत्व के साधक अनुमान का प्रदर्शक यह सूत्र नहीं है।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि इस सूत्र को शब्द में नित्यत्व के अनुमान के प्रयोजक युक्तियों का उपपादक भी माना जा सकता है।

शब्द की स्थिरता का अनुमान शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से हो सकता है। यही सूचित करने के लिये प्रकृत सूत्र में 'परार्थदर्शनत्व' का उपादान किया गया है ॥ ३०९ ॥

न साधनप्रयोगोऽयं सूत्रकारेण रच्यते ।
वृत्तिकारेण चार्थस्तु योग्यो द्वाभ्यां निरूपितः ॥ ३१० ॥

अर्थात् सूत्रकार ने 'परार्थदर्शनात्' इस सौत्रवाक्य के द्वारा शब्द में नित्यत्व-साधक अनुमान की रचना नहीं की है। किन्तु जिस 'शब्दार्थसम्बन्ध' हेतु से शब्द-नित्यत्व का अनुमान अभिप्रेत है, उसकी सूचना मात्र सूत्रकार (और भाष्यकार) ने दी है। सूत्रकार और भाष्यकार (वृत्तिकार) इन दोनों ने शब्द में नित्यत्वसाधक अनुमान का सीधा प्रयोग नहीं लिखा है ॥ ३१० ॥

अत्रोच्यते स्थिरः शब्दो धूमगोत्वादिजातिवत् ।
सम्बन्धानुभवापेक्षसामान्यार्थावबोधनात् ॥ ३११ ॥

शब्द में नित्यत्वसाधक अनुमान का सीधा प्रयोग मैं कहता हूँ—"शब्दो नित्यः सामान्यानुभवापेक्षसामान्यार्थाऽवबोधनात् धूमत्ववत् गोत्ववद्वा"। अर्थात् जिस प्रकार धूमत्व या गोत्व नित्य है उसी प्रकार शब्द भी नित्य है, क्योंकि 'शब्द' पद को वाच्य

नित्य जाति का बोध शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, अतः शब्द नित्य है, क्योंकि शब्द की नित्यता के बिना नित्य शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान संभव नहीं है। किन्तु दूसरों को समझाने के लिये शब्द का उच्चारण अवश्य किया जाता है। इस अनुमान में दृष्टान्त है वह्नि का ज्ञापक धूमत्व हेतु अथवा विषाणित्व का (विषाण) का ज्ञापक गोत्व हेतु[1] ॥ ३११ ॥

अन्यापोहनसारूप्यजातिलिङ्गत्वकल्पने ।
विशेषाणामलिङ्गत्वात् सर्वसामान्यनित्यता ॥ ३१२ ॥

जो बौद्धगण धूमत्वादि जातियों को भाव स्वरूप न मानकर 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) स्वरूप मानते हैं, एवं अनित्य मानते हैं, वे भी जातियों में जो (अनुवृत्तिप्रत्ययजनकत्व के समान ही) व्यावृत्तिप्रत्ययजनकत्व है, उस सारूप्य (सादृश्य) को लेकर ही अनित्य अपोह की कल्पना करते हैं, किन्तु 'अपोह' अर्थात् तत्तद्धूमादि गत 'स्वरूप विशेष' वह्नि का ज्ञापक लिङ्ग नहीं हो सकता। अतः धूमत्वादि सभी सामान्य नित्य ही हैं ॥ ३१२ ॥

स्ववाक्यादिविरोधो वा परार्थत्वेन कथ्यते।
प्रतिज्ञोच्चार्यते सर्वा साध्यार्थप्रतिपत्तये ॥ ३१३ ॥
न चानित्या ब्रवीत्येषा स्वार्थमित्युपपादितम्।
तेनार्थप्रत्ययापेक्षान्नित्यत्वान्नाशबाधनम् ॥ ३१४ ॥

स्ववाक्यादिविरोधो वा ''नाशबाधनम्

अथवा 'नित्यः स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्' यह सूत्र वैशेषिकों के 'अनित्यः शब्दः जातिमत्त्वे सति ऐन्द्रियकत्वात् पटादिवत्' इस शब्दपक्षक अनित्यत्वसाध्यक अनुमान में 'स्ववाक्यविरोध' दोष का सूचक है, क्योंकि सभी प्रतिज्ञायें (वाक्यात्मक शब्द स्वरूप होने के कारण) अपने अभीष्ट साध्य (साध्यविशिष्ट पक्ष) की प्रतिपत्ति के लिये ही पुरुषों से प्रयुक्त होती हैं। यदि शब्द स्वरूपा यह प्रतिज्ञा अनित्य हो तो वक्ता के अभीष्ट स्वार्थ का प्रतिपादन ही नहीं कर सकती, क्योंकि पहले बारबार कहा जा चुका है कि शब्द को नित्य मानें तो शब्द से उसके अर्थ का बोध नहीं हो पायगा। एवं सम्बन्ध की प्रतिपत्ति स्वार्थप्रत्यय के बिना नहीं होगी। अतः शब्द को नित्य मानें तो उससे अर्थ का बोध नहीं हो सकता।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यह निर्णय किया जा चुका है कि शब्द 'सामान्य' (जाति) का वाचक है। अतः शब्द से मुख्यतः जाति की ही प्रतीति होती है। शब्द से होनेवाला यह 'सामान्यार्थविषयक बोध' सामान्य स्वरूप 'अर्थ' और 'शब्द' इन दोनों के वाच्यवाचकभाव स्वरूप सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। सम्बन्ध का ज्ञान अनुयोगी और प्रतियोगी स्वरूप अपने दोनों सम्बन्धियों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। अतः शब्दार्थज्ञान से पहले शब्द और अर्थ की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है जो शब्द की नित्यता के बिना अनुपपन्न है। अतः शब्द नित्य है।

इस प्रकार यदि उक्त प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा 'अनित्यत्वविशिष्ट शब्द' स्वरूप पक्ष की प्रतिपत्ति होती है तो 'अर्थतः' शब्द में नित्यत्व की सिद्धि भी हो जाती है, क्योंकि शब्द को क्षणिक (अनित्य) माने विना उससे अर्थ का प्रत्यय सम्भव नहीं है। फलतः प्रतिज्ञा के स्वाभिधान से ही शब्द में अनित्यत्व स्वरूप साध्य बाधित हो जाता है। इस बाध का ही फलतः 'स्ववाक्यविरोध' का ही उद्भावन प्रकृत में 'परप्रत्ययसूत्र' से किया गया है ॥ ३१३–३१४ ॥

अर्थाभिधानसामर्थ्यमभ्युपेत्य च साधयेत् ।
पूर्वाभ्युपगतेनापि नाशित्वं बाधते परः ॥ ३१५ ॥

अथवा वैशेषिकों के शब्दपक्षक अनित्यत्वसाध्यक अनुमान में 'पूर्वाऽभ्युपगमविरोध' का उद्भावन ही प्रकृत परप्रत्यय से अभिप्रेत है, क्योंकि वैशेषिकगण शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए जो 'जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात्' इस हेतुवाक्य का प्रयोग किया है वह वाक्य में अर्थप्रत्ययजनकत्व को स्वीकार करके ही किया जा सकता है। शब्द में अर्थप्रत्यय की उत्पादकता शब्द को नित्य माने विना सम्भव नहीं है। अतः वैशेषिकों का यह शब्दानित्यत्व पूर्व से स्वीकृत (पूर्वाभ्युगत) शब्द के नित्यत्व से ही बाधित हो जाता है ॥ ३१५ ॥

अर्थप्रतीतिसामर्थ्यैः प्रतिशास्त्रमुपाश्रितैः ।
आगमेनापि नाशित्वं बाध्यते सर्ववादिनाम् ॥ ३१६ ॥

अथवा इस 'परार्थदर्शन' सूत्र के द्वारा 'अभ्युपगतागमविरोध' का उद्भावन भी शब्द के अनित्यत्वानुमान में सूत्रकार का अभीष्ट समझा जा सकता है। शब्द से अर्थबोध के लिए शब्द की नित्यता को स्वीकार करना चूँकि आवश्यक है अतः जो कोई अपने-अपने शास्त्र स्वरूप शब्द से अर्थ का बोध मानते हैं, अथ च शब्द को अनित्य मानते हैं, उनके इस अनित्यत्व का बाध कथित रीति से स्वीकृत शब्द के नित्यत्व से ही हो जायगा ॥ ३१६ ॥

सर्वलोकप्रसिद्ध्या च बाधः पूर्वोक्तया दिशा ।
अनुमानविरोधोऽपि प्रागुक्तेनैव हेतुना ॥ ३१७ ॥

सर्वलोक''दिशा

शब्दों का अनित्यत्व पक्ष सर्वलोकप्रसिद्धि के भी विरुद्ध है, क्योंकि शब्द को अनित्य मानेंगे तो कथित शब्द से उत्पन्न अर्थविषयक सर्वलोकप्रसिद्ध बोध ही अनुपपन्न हो जायगा। इस प्रकार प्रकृत 'परार्थदर्शन' सूत्र को शब्दपक्षक अनित्यत्व के अनुमान में 'सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध' का उद्भावक भी माना जा सकता है।

अनुमानविरोधोऽपि''हेतुना

अथवा इस 'परार्थदर्शन' सूत्र के द्वारा कथित शब्दपक्षक अनित्यत्व के अनुमान में शब्द में नित्यत्वसाधक कथित (श्लो० ३११) अनुमान से बाध दोष की सूचना भी मानी जा सकती है ॥ ३१७ ॥

प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वं सङ्ख्याभावेऽभिधास्यते ।
वक्तव्यश्चैष कः शब्दो नाशित्वेन प्रसाध्यते ॥ ३१८ ॥

प्रत्यक्षेण""अभिधास्यते

शब्द के अनित्यत्वानुमान में 'प्रत्यक्षविरोध' का उद्भावन आगे 'संख्याभाव' सूत्र (अ० १ पा० १ सू० २०) से करेंगे।

वक्तव्यश्चैष""प्रसाध्यते

आप लोग (वैशेषिकगण) विनाशित्व का साधन जिस शब्द स्वरूप पक्ष में करना चाहते हैं, वह 'शब्द' कौन सी वस्तु है ?[1] ॥ ३१८ ॥

त्रिगुणः पौद्गलो वाऽयमाकाशस्याथ वा गुणः ।
वर्णादन्योऽथ नादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः ॥ ३१९ ॥
पदवाक्यात्मकः स्फोटः सारूप्यान्यनिवर्त्तने ।
एतेषामस्त्वनित्यत्वं नास्माकं तेषु नित्यता ॥ ३२० ॥

त्रिगुणः"'सारूप्यान्यनिवर्त्तने

(१) सांख्याचार्यों का मत है कि शब्द सत्त्व, रज, तम इन स्वभावों से युक्त है, अतः त्रिगुणात्मक है।

(२) जैनों (आर्हतों) के मत से शब्द पुद्गल से उत्पन्न होने वाला एक पदार्थ है।

(३) वैशेषिकों के मत से शब्द आकाश का गुण है जो नाद स्वरूप है एवं शङ्खादि से उत्पन्न होता है।

(४) 'शिक्षाकार' के मत से वायु स्वरूप शब्द ही अर्थ का वाचक है। अर्थात् अर्थवाचक रूप में परिणत वायु को ही 'शब्द' कहते हैं।

(५) वैयाकरणों के मत से (क) पदस्फोट और (ख) वाक्यस्फोट स्वरूप द्वितीय शब्द ही अर्थ का वाचक है।

(६) सारूप्य पक्ष सांख्यशास्त्रियों का है एवं

(७) अन्यनिवृत्ति पक्ष बौद्धों का है।

एतेषां"'नित्यता

इन विविध स्वरूपों में से किसी भी स्वरूप के शब्द को हम (मीमांसकगण) नित्य नहीं मानते। अतः इस प्रकार के शब्द में अनित्यत्व के साधक अनुमान का हेतु अन्ततः 'सिद्धसाधन' दोष से ग्रसित अवश्य होगा ॥ ३१९-३२० ॥

---

१. इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से शब्दपक्षक अनित्यत्व के अनुमान में 'परार्थदर्शन' सूत्र के द्वारा सूत्रकार के अभिमत दोषों का उपपादन किया गया है। वार्त्तिककार भट्टकुमारिल कहते हैं कि अब मैं 'शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात् पटादिवत्' इस वैशेषिकों के अनुमान में स्वतन्त्र रूप से दोष देने के लिए पक्षीभूत 'शब्द' के स्वरूप के प्रसङ्ग में विकल्प के अभिप्राय से पूछता हूँ कि "वह शब्द कौन सा पदार्थ है ?"

अप्रसिद्धविशेष्यत्वम् आश्रयासिद्धहेतुता ।
अथास्मदिष्टः पक्षः स्याद् द्वयमेतत् समं तव ॥ ३२१ ॥

अप्रसिद्ध....हेतुता

शब्द में अनित्यत्व के साधक इन सभी विविध पक्षों में अन्ततः (१) अप्रसिद्ध-विशेष्यत्व एवं (२) आश्रयासिद्धि ये दो दोष होंगे, क्योंकि शब्द के इन लक्षणों में से किसी भी लक्षण से युक्त शब्द स्वरूप 'विशेष्य' (पक्ष) कहीं प्रसिद्ध नहीं है। फलतः गगनकुसुमादि की तरह अप्रसिद्ध है। इसलिए ये सभी अनुमान 'अप्रसिद्धविशेष्यक' होंगे, क्योंकि सर्वथा अप्रसिद्ध पक्ष में किसी भी साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। इस प्रकार के शब्दों में अनित्यत्व के साधक सभी हेतु अपने आश्रय में इसलिए अप्रसिद्ध होंगे कि कथित रीति से उनकी अपनी ही सत्ता सिद्ध नहीं है। प्रमाण से पक्ष में सिद्ध हेतु ही किसी साध्य का साधक हो सकता है।

अस्मदिष्टः....समं तव

हम (मीमांसकगण) शब्द के जिस अखण्ड स्वरूप को स्वीकार करते हैं, उस लक्षण (स्वरूप) से युक्त शब्द को यदि पक्ष करोगे एवं उसी में अनित्यत्व का अनुमान करोगे तो तुम लोगों (शब्दानित्यत्ववादियों) के अनुसार ही उस अनुमान में उक्त (१) अप्रसिद्धविशेष्यत्व एवं (२) आश्रयासिद्धि ये दोनों दोष आ पड़ेंगे, क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार उन स्वरूपों से युक्त शब्द नाम का कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। अप्रसिद्ध पक्ष में कोई साध्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३२१ ॥

शब्दमात्रमथोच्येत शब्दत्वं च तथा सति ।
अनित्यं तच्च सर्वेषां नित्यमिष्टं विरुद्ध्यते ॥ ३२२ ॥

यदि शब्द 'मात्र' को पक्ष मानकर उसमें अनित्यत्व का अनुमान करोगे तो 'स्वाभ्युपगमविरोध' दोष होगा, क्योंकि 'मात्र' शब्द का अर्थ है 'सामान्य' तदनुसार 'शब्दमात्र' पद का अभिधेय 'शब्दत्वसामान्य' ही हो सकता है। सामान्य को तुम लोग (वैशेषिकगण) नित्य मानते हो। अतः उसमें यदि 'अनित्यत्व' का साधन करोगे तो पूर्व में अभ्युगत पक्ष का विरोध होगा ॥ ३२२ ॥

यत्किञ्चिदिह सामान्यं नित्यं सर्वेण कल्प्यते ।
अनित्यत्वे हि नैतत् स्याद् व्यापि व्यक्तिषु कासुचित् ॥ ३२३ ॥

अनेक व्यक्तियों के संग्राहक जिस किसी स्वरूप की जो कोई भी कल्पना करे (चाहे सांख्यसम्मत 'सारूप्य' स्वरूप हो अथवा बौद्धाभिमत 'अपोह' स्वरूप हो) उसको नित्य मानना ही होगा, क्योंकि उसको नित्य माने विना अतीतानागत सभी व्यक्तियों में उसकी आवश्यक अनुवृत्ति ही अनुपपन्न हो जायगी ॥ ३२३ ॥

व्यक्तयः शब्दशब्देन न शक्यन्ते च भाषितुम् ।
तासां जात्यतिरेके च पूर्वोक्ते एव दूषणे ॥ ३२४ ॥

व्यक्तयः....भाषितुम्

इस अनित्यत्वानुमान में यह भी विचारणीय है कि (१) शब्दत्वसामान्य ही पक्ष है अथवा (२) शब्दत्वसामान्य के आश्रयीभूत 'शब्द' व्यक्तियाँ ही पक्ष हैं।

शब्दत्व को यदि पक्ष मानेंगे तो श्लोक ३२३ में कथित 'स्वाभ्युपगमविरोध' स्वरूप दोष इस पक्ष में भी होगा। यदि दूसरा पक्ष मानेंगे तो शब्द व्यक्तियाँ 'शब्द' पद से अभिहित ही नहीं होंगी, क्योंकि पदों की अभिधा शक्ति जाति में ही है, व्यक्तियों में नहीं। अतः 'शब्दोऽनित्यः' इस प्रतिज्ञावाक्य के घटक शब्द पद से शब्द व्यक्तियों का ग्रहण ही सम्भव नहीं होगा।

तासां जात्यतिरेके च

यदि उक्त प्रतिज्ञावाक्यघटक 'शब्द' पद से लक्षणावृत्ति के द्वारा शब्दव्यक्तियों का उपादान मान भी लें, तथापि प्रश्न होगा कि (१) जाति से अत्यन्त भिन्न व्यक्तियों को उक्त अनुमान का पक्ष मानोगे ? (२) अथवा शब्दत्व जाति से अभिन्न ही शब्द व्यक्तियों को पक्ष मानोगे। इनमें से प्रथम पक्ष को स्वीकार करने से तो हम लोगों (मीमांसकों) के मत से पूर्वकथित (क) पक्ष में 'अप्रसिद्धविशेषणता' और (ख) आश्रयासिद्धि ये दोनों दोष आ पड़ेंगे, क्योंकि हम लोगों के मत से जाति से अत्यन्त भिन्न व्यक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है॥ ३२४॥

> **आश्रयानतिरेके तु जाताविव विरोधिता।**
> **अप्रसिद्धविशेष्यत्वं स्यात् परेषां च पूर्ववत्॥ ३२५॥**

आश्रयाऽनतिरेके च'''एव दूषणे

यदि व्यक्तियों को जातियों से अत्यन्त अभिन्न मानेंगे तो शब्दत्व जाति को पक्ष मानने में पहले जो 'स्वाभ्युपगमविरोध' दोष दिखला आये हैं, उसकी आपत्ति इस पक्ष में भी होगी, क्योंकि नित्य शब्दत्व जाति से अत्यन्त अभिन्न शब्द व्यक्तियों को भी नित्य ही मानना होगा।

अप्रसिद्धविशेष्यत्वम्'''पूर्ववत्

यदि पक्षीभूत शब्द व्यक्तियों को शब्दत्व जाति से कुछ अंशों में भिन्न एवं कुछ अंशों में अभिन्न मानें अर्थात् 'भिन्नाऽभिन्न' मानें तो आप (वैशेषिकों) के मत से कथित 'अप्रसिद्धविशेष्यत्व' एवं 'आश्रयासिद्धि' ये दोनों ही दोष आ पड़ेंगे, क्योंकि आपके मत से जाति से अभिन्न व्यक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है जैसा कि 'अथाऽस्मदिष्टः' इत्यादि (श्लो० ३२१) में दिखलाया जा चुका है॥ ३२५॥

> **अनित्यत्वं च नाशित्वं यद्यात्यन्तिकमुच्यते।**
> **ततोऽस्मान् प्रति पक्षः स्यादप्रसिद्धविशेषणः॥ ३२६॥**

इसी प्रकार 'अनित्यः शब्दः' इस प्रतिज्ञावाक्य के 'अनित्यत्व' पद का अर्थ भी विचारणीय है। यदि साध्य के बोधक 'अनित्य' पद से आत्यन्तिक (निरन्वय) विनाश अभिप्रेत हो तो हम लोगों (मीमांसकों) के मत से 'अनित्यत्वविशिष्ट शब्द' स्वरूप पक्ष का विशेषणीभूत 'साध्य' अप्रसिद्ध हो जायगा, क्योंकि हम लोग किसी भी वस्तु का अत्यन्त विनाश नहीं मानते॥ ३२६॥

> **यथा कथञ्चिदिष्टा चेदनित्यव्यपदेश्यता।**
> **अनभिव्यक्त्यवस्थातः साभिव्यक्त्यात्मनेष्यते॥ ३२७॥**

यदि कथित 'अनित्यः' पद से जिस किसी प्रकार का विनाश (सान्वय विनाश) ही अभिप्रेत हो तो हम लोगों के मत से सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि शब्द का अनभिव्यक्ति स्वरूप विनाश तो हम लोग भी स्वीकार करते ही हैं, क्योंकि नित्य शब्द की भी अनभिव्यक्तावस्था तो है ही ॥ ३२७ ॥

ऐकान्तिकविकल्पे च व्यतिरेकविनाशयोः ।
पूर्वाभ्युपगमेनापि विरोधः सांख्यजैनयोः ॥ ३२८ ॥

'अनित्य शब्दः' इस वाक्यघटक 'अनित्य' शब्द में यदि शब्द का निरन्वय विनाश (ऐकान्तिक विनाश) रूप अर्थ मानें तो सांख्य और जैन इन दोनों ही मतों से 'स्वाऽभ्युपगमविरोध' दोष होगा, क्योंकि सांख्याचार्यगण विनाश को वस्तु की एक दूसरी अवस्थामात्र मानते हैं एवं जैनगण किसी वस्तु की ऐकान्तिक सत्ता को स्वीकार नहीं करते । वे लोग तो 'अनेकान्तिक' वादी हैं । अतः इन दोनों ही मतों में 'ऐकान्तिक' विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥ ३२८ ॥

प्रत्यक्षैन्द्रियकत्वादेरौलूक्यानामसिद्धता ।
अनेकशब्दकल्प्यत्वादाद्यमध्यभवेषु च ॥ ३२९ ॥

वैशेषिकगण अनेक शब्दों के 'सन्तान' की कल्पना करते हैं । इनमें 'आद्य' शब्द और 'मध्य' शब्द इनमें से किसी शब्द को पक्ष मानेंगे तो 'ऐन्द्रियकत्व' घटित अनित्यत्व का उक्त साधक हेतु पक्ष में नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही शब्द 'ऐन्द्रियक' (प्रत्यक्षविषय) नहीं हैं । अतः ऐन्द्रियकत्वघटित उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा ॥ ३२९ ॥

अन्त्यशब्देऽपि पक्षे स्यादाश्रयासिद्धता मम ।
सर्वशब्देषु साध्येषु हेतुरव्यापकस्तव ॥ ३३० ॥

अन्त्यशब्देऽपि⋯मम

यदि कर्णविवरवर्त्ति शब्द को पक्ष मानेंगे तो हम लोगों (मीमांसकों) के मत से कथित 'विशेष्याप्रसिद्धि' और 'आश्रयासिद्धि' ये दोनों दोष आ पड़ेंगे, क्योंकि हम लोगों के मत से उक्त प्रकार का कोई अन्तिम शब्द नहीं है ।

सर्वशब्देषु⋯तव

यदि सभी शब्दों को पक्ष करें तो तुम्हारे (वैशेषिकों के) मत से भागासिद्धि होगी, क्योंकि पक्षान्तर्गत अन्तिम शब्द में ऐन्द्रियकत्व के रहने पर भी सर्वान्तर्गत आद्य और मध्य के शब्दों में तुम्हारे मत से ऐन्द्रियकत्व (प्रत्यक्षत्व) नहीं है । अतः ऐन्द्रियकत्वघटित हेतु 'भागासिद्ध' होगा ॥ ३३० ॥[1]

---

१. सभी पक्ष व्यक्तियों में न रहने से हेतु 'स्वरूपासिद्ध' होता है । पक्षान्तर्गत कुछ व्यक्तियों में न रहने से हेतु 'भागासिद्ध' होता है । भागासिद्ध को 'पक्षतावच्छेदकाव्यापक' एवं संक्षिप्त शब्द में 'अव्यापक' कहते हैं ।

सामान्यैर्व्यभिचारश्च जातिमत्त्वे सतीति चेत् ।
तथाप्यसिद्धमस्माकं तद्वत्त्वं व्यतिरिक्तया ।। ३३१ ।।
अनन्यया तु तद्वत्ता तथासिद्धेत्यहेतुता ।
अथानुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुना युज्यते मतुप् ।। ३३२ ।।

सामान्यैर्व्यभिचारश्च

'शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात्' इस अनुमान का हेतु सामान्य (जाति) में व्यभिचरित है, क्योंकि अनित्यत्व रूप साध्य जाति में नहीं है, किन्तु ऐन्द्रियकत्व हेतु है। एवं सत्ता स्वरूप जाति भी सभी सामान्यों में है ही। इसलिये 'जातिमत्त्वे सति' इस विशेषण से युक्त ऐन्द्रियकत्व हेतु भी सामान्य में व्यभिचरित है। केवल ऐन्द्रियकत्व हेतु तो अवश्य ही सामान्य में व्यभिचरित है।[1]

तथापि ''व्यतिरिक्तया''''तथाऽप्यसिद्ध''''अहेतुता

हेतु में जो 'जातिमत्त्वे सति' यह विशेषण है, यह विशेषणीभूत 'जातिमत्त्व' फलतः जाति (१) व्यक्तियों से भिन्न है ? अथवा (२) अभिन्न है ? यदि प्रथम पक्ष मानें अर्थात् जाति से व्यक्तियों को 'व्यतिरिक्त' अर्थात् भिन्न मानें तो हम लोगों के मत से 'हेत्वसिद्धि' दोष होगा, क्योंकि मीमांसकों के मत से जाति से अत्यन्त भिन्न ऐन्द्रियक कोई व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करें तो 'अनन्य' अर्थात् अभिन्न व्यक्तियों में 'जातिमत्ता' तुम्हारे (वैशेषिकों के) मत से भी असिद्ध होगी, क्योंकि 'तद्वत्ता' आधाराधेयभावमूलक है, एवं आधारआधेयभाव भेदमूलक है। अत्यन्त अभिन्न वस्तुओं में से न कोई किसी का आधार हो सकता है न आधेय ही हो सकता है।

अथानुवृत्ति''मतुप्

(पू० प०) 'जातिमत्त्वे सति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जाति' पद का अर्थ है अनुवृत्तिप्रत्यय एवं व्यावृत्तिप्रत्यय के विषय। उन प्रतीतियों के विषयीभूत वस्तुओं से ही मतुप् प्रत्यय (जातिमत् शब्द में) किया गया है। तदनुसार प्रकृत में अनुमान-वाक्य इस प्रकार का होगा—'अनित्यः शब्दः अनुवृत्तिप्रत्ययव्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वे सति ऐन्द्रियकत्वात् घटवत्'।

इस प्रकार से वाक्य को परिष्कृत कर देने से गोत्वादि सामान्यों में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि गोत्वादि सामान्यों में जिस सत्ता जाति के रहने की बात कही जाती है, वह 'सत्ता' केवल अनुवृत्तिप्रत्यय का ही कारण है व्यावृत्तिप्रत्यय का नहीं। अर्थात् हेतु में विशेषणीभूत जाति शब्द को अनुवृत्तिप्रत्यय और व्यावृत्ति-

---

१. 'सामान्यैर्व्यभिचारश्च' इस प्रथम चरण की व्याख्या में 'दोषोऽस्ति' इस वाक्य का अध्याहार करके 'अस्ति अत्र व्यभिचारो दोषः' ऐसा वाक्य निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'जातिमत्त्वे सतीति चेत्' इस वाक्य के आगे 'जातिमत्त्वे सतीति विशेषणेऽप्यस्त्येव व्यभिचारो दोषः' इस प्रकार पूर्वचरण की व्याख्या के लिए अध्याहृत पद का ही अनुषङ्ग कर व्याख्या करनी चाहिये।

प्रत्यय इन दोनों के प्रयोजकीभूत धर्म को संग्राहक और व्यावर्त्तक दोनों ही होना चाहिये ॥ ३३२ ॥

> तथाप्यस्त्येव तद्वत्ता तेषां सामान्यबुद्धितः ।
> गोत्वादिष्वपि सामान्यं सामान्यमिति नो मतिः ॥ ३३३ ॥
> व्यावर्त्तते विशेषेभ्यः सेति शब्देन तुल्यता ।
> नित्यत्वं चानुगाम्येषामनित्येभ्यो निवर्त्तितम् ॥ ३३४ ॥

यदि हेतुघटक 'जाति' पद को नियमतः अनुवृत्तिप्रत्ययजनकत्व एवं व्यावृत्ति-प्रत्ययजनकत्व एतदुभय स्वरूप मानें तथापि गोत्व जाति में व्यभिचार अवश्य होगा, क्योंकि 'गोत्वं सामान्यम्, अश्वत्वमपि सामान्यम्' इस अनुवृत्तिप्रत्यय के समान ही सभी सामान्यों में अनित्य घटादि व्यक्तियों से व्यावृत्तिबुद्धि भी होती है। इस प्रकार पक्षीभूत शब्द व्यक्ति में जैसे कि जातिमत्त्व और ऐन्द्रियकत्व दोनों ही हैं, उसी प्रकार नित्य गोत्वादि जातियों में भी जातिमत्त्व और ऐन्द्रियकत्व दोनों ही हैं। अतः व्यभिचार निश्चित है ॥ ३३३–३३४ ॥

> अथात्र गौणमिथ्यात्वे स्यातां वर्णेषु ते समे ।
> योगीन्द्रियावगम्यैश्च व्यभिचारोऽणुभिस्तव ॥ ३३५ ॥
> नित्यानामपि तेषां हि प्रत्यक्षत्वादिसम्भवः ।
> अथ स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमस्मदादिविशेषणम् ॥ ३३६ ॥

अथाऽत्र''''ते समे

(पू० प०) यदि यह कहो कि जातियों में जातिमत्त्व की गौण प्रतीति ही होती है, या मिथ्या प्रतीति होती है, अतः जाति में जातिमत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिये जाति में व्यभिचार दोष नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

(सि० प०) ऐसा भी कहा जा सकता है कि वर्णों में भी जातिमत्त्व और ऐन्द्रियकत्व की प्रतीति भी गौण या मिथ्या ही है। अतः 'जातिमत्त्वे सति ऐन्द्रिय-कत्व' हेतु स्वरूपासिद्ध है।

योगीन्द्रियावगम्यैश्च''अणुभिस्तव

वैशेषिकों के मत से योगिगण परमाणुओं को आखों से देखते हैं। अतः उनके मत से 'जातिमत्त्वे सति ऐन्द्रियकत्व' हेतु परमाणुओं में व्यभिचरित हो जायगा।

अथ स्यात्'''विशेषणम्

(पू० प०) हेतुघटक ऐन्द्रियकत्व का अर्थ सामान्य रूप से इन्द्रियसम्बन्ध नहीं है, किन्तु 'अस्मदादि के इन्द्रियादि का सम्बन्ध' है। इन्द्रिय का यह सम्बन्ध परमाणुओं में नहीं है। अतः परमाणुओं में व्यभिचार दोष नहीं है ॥ ३३५–३३ ॥

अहंप्रत्ययविज्ञेयैरात्मभिर्व्यभिचारिता ।
लिङ्गशब्दाद्यभावेन मनस्संयोगहेतुकम् ॥ ३३७ ॥
प्रत्यक्षं चैतदेकान्तात् सुखादाविव कल्प्यते ।
बाह्येन्द्रियावगम्यत्वमथ कुर्याद् विशेषणम् ॥ ३३८ ॥

अहंप्रत्यविज्ञेयैः""सुखादाविव कल्पते

(यदि 'ऐन्द्रियकत्व' को अस्मदादि के इन्द्रियसम्बन्ध स्वरूप मानें तो परमाणुओं में व्यभिचार का वारण होगा। तथापि) 'अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के विषय आत्मा में उक्त हेतु व्यभिचरित होगा, क्योंकि आत्मा में अनित्यत्व स्वरूप साध्य नहीं है, किन्तु ऐन्द्रियकत्व रूप हेतु है, क्योंकि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष अस्मदादि जन साधारण को भो होता है। अतः आत्मा के साथ मनः स्वरूप इन्द्रिय का सम्बन्ध है। 'आत्मवाद' में यह उपपादन किया जा चुका है कि आत्मा अहंप्रत्ययवेद्य है (देखिये आत्मवाद श्लोक ९७)।

आत्मा के सभी ज्ञानों से पहले ज्ञापक हेतु का अनुसन्धान नहीं रहता। अतः आत्मा केवल 'लिङ्गगम्य' अर्थात् अनुमेय ही नहीं है। एवं प्राणादि आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हो भी नहीं सकते। 'अविनाशी वाऽरे' इत्यादि शब्द प्रमाण भी आत्मा के शरीरादिविवेक का ही ज्ञापक प्रमाण है। तस्मात् मनः स्वरूप इन्द्रियात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही आत्मा का ज्ञान होता है। अतः ऐन्द्रियकत्व हेतु आत्मा में व्यभिचरित है।

बाह्येन्द्रियाऽवगम्यत्वम्""विशेषणम्

(पू० प०) आत्मा में उक्त व्यभिचार के वारण के लिये इन्द्रियसम्बन्धघटक 'इन्द्रिय' में 'बाह्यत्व' विशेषण देंगे। अर्थात् ऐन्द्रियकत्व को 'बाह्येन्द्रियसम्बन्ध' स्वरूप मानेंगे। आत्मा में मनः स्वरूप अन्तरिन्द्रिय का सम्बन्ध है, चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों का नहीं। आत्मा में यदि अनित्यत्व रूप साध्य नहीं है, तो कथित ऐन्द्रियकत्व हेतु भी नहीं है। अतः आत्मा में ऐन्द्रियकत्व हेतु व्यभिचरित नहीं है ॥ ३३७–३३८ ॥

तथापि व्यभिचार्येव जातीनां जातिमत्तया ।
एकार्थसमवायेन जातिर्जातिमती हि वः ॥ ३३९ ॥

(सि० प०) 'तथापि' गोत्वादि जातियों में व्यभिचार दोष है ही, क्योंकि गोत्वादि जातियों में बाह्येन्द्रियसम्बन्ध के साथ जातिमत्त्व है ही, क्योंकि तुम लोगों (वैशेषिकों) के मत से गोत्वादि जातियाँ पृथिवीत्वादिव्यापक जातियों के साथ गवादि 'एक' अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। अतः व्याप्य जाति और व्यापकीभूत जाति इन दोनों में 'एकार्थसमवाय' सम्बन्ध है। फलतः गोत्वादि जातियों में समवाय सम्बन्ध से जाति भले ही न रहे, 'एकार्थसमवाय' सम्बन्ध से जाति अवश्य है ॥ ३३९ ॥

आधारत्वमथोच्येत नामूर्ताऽऽश्रीयते ह्यसौ ।
समवायं यदि ब्रूयाः त्वदीयः सोऽपि वारितः ॥ ३४० ॥

आधारत्वमथोच्येत

(पू० प०) प्रकृत में 'जातिमत्त्वे सति' यह विशेषण है । इसका अर्थ है जाति की 'आधारता' अर्थात् 'अधिकरणता' । गकारादि वर्ण शब्दत्व की अवान्तर जातियों के आधार हैं । गोत्वादि जातियों में पृथिवीत्वादि व्यापक जातियों का एकार्थसमवाय सम्बन्ध रहने पर भी गोत्वादि जातियों में पृथिवीत्वादि जातियों की 'आधारता' या अधिकरणता नहीं है, क्योंकि 'एकार्थसमवाय' सम्बन्ध चूँकि परम्परा सम्बन्ध है अतः वह सम्बन्ध गोत्वादि जातियों में पृथिवीत्वादि जातियों की आधारता का नियामक नहीं हो सकता । अतः गोत्वादि जातियों में हेतु व्यभिचरित नहीं है ।

नामूर्त्ताऽश्रीयते ह्यसौ

घटादि मूर्त्त पदार्थ ही किसी के आधार हो सकते हैं । गकारादि वर्ण चूँकि अमूर्त्त हैं, अतः वे जातियों के आधार नहीं हो सकते । इसलिये 'जात्याधारत्व' स्वरूप जातिमत्त्व के न रहने से जातिमत्त्वघटित हेतु शब्द स्वरूप पक्ष में ही नहीं रहेगा । फलतः 'जातिमत्त्व' पद का जात्याधारत्व अर्थ करने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा । पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धि दोष होता है ।

समवायं यदि ब्रूयाः

(पू० प०) प्रकृत में 'जातिमत्त्व' का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से जाति-सम्बन्धित्व है । गोत्व जाति में पृथिवीत्वादि जातियों का एकार्थसमवाय सम्बन्ध ही है, केवल समवाय नहीं । अतः जातिमत्त्व के न रहने से गोत्वादि जातियों में व्यभिचार नहीं है ।

त्वदीयः सोऽपि वारितः

(सि० प०) तुम्हारा (वैशेषिकों का) यह समवाय सम्बन्ध खण्डित हो चुका है ॥ ३४० ॥

अभेदवृत्तिं ब्रूयाश्चेज्जातीनामपि सेष्यते ।
क्लेशश्च नित्यवैधर्म्ये कृतो बहुविशेषणैः ॥ ३४१ ॥
स्वशब्देनैव तान्युक्त्वा तेभ्योऽन्यत्वं वरं कृतम् ।
एवं च शक्यते वक्तुं नित्यताऽप्यम्बरादिवत् ॥ ३४२ ॥
तद्बुद्धाऽनित्यवृक्षादिव्यतिरिक्तत्वहेतुका ।
केवलेन्द्रियकत्वेऽपि सांख्यबौद्धप्रकल्पिते ॥ ३४३ ॥
जात्या साधितयेदानीं व्यभिचारः प्रतीयते ।
असिद्धे पक्षधर्मत्वे यथैव प्रतिवादिनः ॥ ३४४ ॥
न हेतुर्लभ्यते तद्वदन्वयव्यतिरेकयोः ।
तत्र यद्यप्यसिद्धा स्याज्जातिः साधनवादिनः ॥ ३४५ ॥

तावत् तथाप्यहेतुत्वं यावत् सा न निराकृता ।
कार्या चैन्द्रियकत्वेऽपि किं वस्त्विति निरूपणा ॥ ३४६ ॥

अभेदवृत्तिं ब्रूयाच्चेत्

(पू० प०) जातिमत्त्व को जाति की 'अभेदवृत्ति' अर्थात् अभेद सम्बन्ध स्वरूप मानते हैं। गोत्वादि जातियों में व्यापकीभूत पृथिवीत्वादि जातियों का अभेद सम्बन्ध नहीं है। अतः गोत्वादि जातियों में व्यभिचार नहीं है।

जातीनामपि सेष्यते

(सि० प०) व्याप्य जातियों से व्यापकीभूत जातियों की 'अभेदवृत्ति' अभेद सम्बन्ध इष्ट ही है, क्योंकि वृक्षत्व और शिशपात्व ये दोनों भी सत्त्व रूप से अथवा द्रव्य (वृत्तित्व) रूप से अभिन्न ही हैं। अतः जातिमत्त्व का अर्थ यदि जाति का अभेद करें तथापि व्यभिचार दोष है ही।

क्लेशश्च''''बहुविशेषणैः''''स्वशब्देनैव''वरं कृतम्

इस प्रकार 'जातिमत्वे सति ऐन्द्रियकत्वात्' इस हेतु में अनेक विशेषणों के देने पर 'नित्यवैधर्म्य' (अनित्यत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। इस द्रविडप्राणायाम से तो यही अच्छा है कि आकाशादि नित्यपदार्थों का 'स्वशब्द' से अर्थात् अपने-अपने वाचक आकाशादि शब्दों से उपादान कर तदभिन्नत्व को हेतु करें, एवं इसी से शब्द में अनित्यत्व का साधन करें। अर्थात् 'अनित्यः शब्दः जातिमत्त्वे सति ऐन्द्रियकत्वात्' इस अनुमान वाक्य के बदले 'अनित्यः शब्दः उभयमतसिद्धनित्यव्योमादिभिन्नत्वात्' इसी स्थापनावाक्य का प्रयोग शब्दानित्यत्ववादी वैशेषिकादि करें।

एवञ्च शक्यते''अम्बरादिवत्''व्यतिरिक्तत्वहेतुका

यदि शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए उक्त अनुमान का प्रयोग करें तो तुल्य युक्ति से शब्द में नित्यत्वसाधन के लिए भी 'अनित्यवृक्षादिव्यतिरेक' (भेद) का भी हेतु रूप में प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् यह विरोधी अनुमान भी किया जा सकता है कि 'नित्यः शब्दः अनित्यवृक्षादिभिन्नत्वात् व्योमवत्'। इस नित्यत्वानुमान के रहते अनित्यत्वसाधक दूसरे विरोधी अनुमान का प्रयोग 'प्रकरणसमा' जाति नाम का असदुत्तर होगा (प्रकरणसमा जाति के लिए देखिये न्या० सू० अ० ५ आ० १ सू० १६)।

केवलैन्द्रियकत्वेऽपि''प्रकल्प्यते''''व्यभिचारः प्रतीयते

(पू० प०) सांख्याचार्यगण 'सामान्य' को 'सादृश्य' रूप मानते हैं। बौद्धगण 'सामान्य' को 'अपोह' रूप मानते हैं। फलतः इन दोनों के मत से 'जाति' नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतः उन दोनों ही मतों से 'जाति' में व्यभिचार को कोई प्रसक्ति नहीं है। अतः हेतुघटक ऐन्द्रियकत्व में किसी विशेषण के देने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में हम 'मीमांसकों' का मत है—

आकृतिवाद में (श्लोक ६७) में सादृश्य और अपोह इन दोनों में भी जाति की सिद्धि की गयी है। अतः सादृश्य और अपोह इन दोनों में भी जाति के रहने से व्यभिचार दोष है ही।

असिद्धे···प्रतिवादिनः····न हेतुर्लभ्यते····साधनवादिनः···निराकृता

(पू० प०) आप (मीमांसकगण) यदि जाति पदार्थ को मानते भी हैं, तथापि वे दोनों जाति पदार्थ को स्वीकार नहीं करते । अतः उनके मतों के अनुसार गोत्वादि जातियों में व्यभिचार दोष नहीं है । इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

बौद्ध और सांख्याचार्यगण इन दोनों की सहमति जाति पदार्थ की सत्ता में भले ही न रहे, हम लोगों (मीमांसकों) की सम्मति तो जाति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने में है । एवं हम लोग जाति का प्रत्यक्ष भी नहीं मानते हैं । अतः जाति में व्यभिचार दोष है ही, क्योंकि उसमें जातिमत्त्व भी है एवं ऐन्द्रियकत्व भी है।

जाति में व्यभिचार दोष के लिए इतना ही पर्याप्त है कि हम लोग जाति की सत्ता को स्वीकार करते हुए इसे ऐन्द्रियक भी मानें, क्योंकि प्रतिवादी को समझाने के लिए ही 'साधन' का प्रयोग किया जाता है ।

साधन में जो (१) पक्षसत्त्व (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्षासत्त्व ये तीन आवश्यक साध्यसाधकत्व के प्रयोजक अंग हैं उनमें जिस प्रकार प्रतिवादी के मत के अनुसार हेतु में पक्षधर्मता की सिद्धि सम्भव न होने पर हेतु 'असिद्धि' दोष से ग्रसित समझा जाता है उसी प्रकार प्रतिवादी के मतानुसार जब तक सपक्ष-सत्त्व और विपक्षव्यतिरेक (विपक्षासत्त्व) की सिद्धि नहीं हो जाती, तब तक वह हेतु साध्य के साधन में समर्थ नहीं होता । इस वस्तुगति के अनुसार बौद्ध और सांख्याचार्यगण मीमांसकसम्मत जाति पदार्थ का जब तक खण्डन नहीं कर देते तब तक 'जाति' उक्त हेतु का विपक्ष रहेगी ही । अतः जाति में व्यभिचार दोष अनिवार्य रहेगा ।

कार्या चैन्द्रियकत्वेऽपि···निरूपणा

इसी प्रकार हेतु में जो ऐन्द्रियकत्व स्वरूप जो विशेषणांश है, उसका भी निरूपण करना चाहिये कि वह कौन सी वस्तु है ? ॥ ३४१–३४६ ॥

व्यक्त्यनन्यत्वनानात्वभेदाभेदेषु च स्फुटा ।
तत्रासाधारणासिद्धसाध्यहीनसपक्षताः ॥ ३४७ ॥
विकल्पितानुसारेण वक्तव्या बाह्यपेक्षया ।
विरुद्धाव्यभिचारित्वं वक्ष्यमाणैश्च हेतुभिः ॥ ३४८ ॥

व्यक्त्यनन्यत्व···साध्यहीनसपक्षताः···बाह्यपेक्षया

इस प्रसंग में सबसे पहले यह विकल्प उपस्थित होता है कि 'ऐन्द्रियकत्व' अर्थात् (१) इन्द्रियसम्बन्ध (इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्व) अपने आश्रयों से भिन्न है (२) अथवा अभिन्न है, एवं (१) अपने प्रत्येक आश्रय में एक ही है (२) अथवा प्रत्येक आश्रय में अलग-अलग है, (३) अथवा सर्वत्र एक रूप है ।

इन विकल्पों में जो वादी कथित विकल्पों के प्रथम पक्ष का ग्रहण करेंगे, उनके मत में प्रत्येक विकल्प में (१) असाधारण्य (२) असिद्धि और (३) दृष्टान्त की साध्यविकलता इन तीन दोषों का उद्भावन करना चाहिये, क्योंकि यदि ऐन्द्रियकत्व

को अपने आश्रय से अभिन्न एवं प्रतिव्यक्ति में अधिकरणता को अलग-अलग मानते हैं तो वह (ऐन्द्रियकत्व) पक्षीभूत शब्द से अभिन्न होगा। फलतः पक्षीभूत शब्द से अन्यत्र कहीं हेतु की सत्ता के न रहने के कारण (पक्षमात्रवृत्ति होने के कारण) 'असाधारण' हेत्वाभास हो जायगा। यदि 'ऐन्द्रियकत्व' को अपने आश्रय से अभिन्न मानते हैं तो मेरे (मीमांसक के) मत से 'असिद्धि' दोष होगा, क्योंकि आप (वैशेषिकों) के मत से वह अन्यत्र कहीं सिद्ध नहीं है। यदि ऐन्द्रियकत्व को अपने आश्रयों से अभिन्न एवं एक रूप से रहने वाला मानें तो पूर्वमत के अनुसार वह ऐन्द्रियकत्व चूँकि नित्य है, अतः तदभिन्न घटादि भी नित्य होंगे। फलतः घटादि दृष्टान्त ही अनित्यत्व स्वरूप साध्य से 'विकल' अर्थात् रहित हो जायेंगे।

विरुद्धाव्यभिचारित्वम्……हेतुभिः

एवं वक्ष्यमाण हेतुओं के द्वारा यह 'ऐन्द्रियकत्व' हेतु 'विरुद्धाव्यभिचारी' भी ठहरता है। 'विरुद्धाऽव्यभिचारी' शब्द और 'सत्प्रतिपक्ष' शब्द दोनों समानार्थक हैं ॥ ३४७–३४८ ॥

> **केवलाकाशवर्तित्वाद् औलूक्यस्य विभुत्ववत्।**
> **तथा च श्रोत्रगम्यत्वाच्छब्दत्ववदिति स्थितिः ॥ ३४९ ॥**
> **प्रागुक्तेन विभुत्वेन व्योमवच्चास्य नित्यता।**
> **सपक्षोऽपि विकल्प्योऽत्र श्रुत्यर्थे साध्यहीनता ॥ ३५० ॥**

केवलाकाशवर्तित्वात्……स्थितिः……नित्यता

एवं 'शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात् घटवत्' इस अनुमान का हेतु निम्नलिखित इन प्रतिहेतुओं के द्वारा 'विरुद्धाऽव्यभिचारी भी है।

जैसे कि हमलोग (मीमांसकगण) (१) शब्दो नित्यः केवलाकाशवृत्तित्वाद् विभुत्ववत्। अथवा (२) शब्दः नित्यः श्रोत्रगम्यत्वात् शब्दत्ववत्, किं वा (३) शब्दः नित्यः विभुत्वात् व्योमवत्' इन अनुमानों का प्रयोग शब्द में नित्यत्व के साधन के लिये करें तो वैशेषिक गण इन हेतुओं को जिस प्रकार शब्द में अनित्यत्व के साधक 'जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात्' इस हेतु के द्वारा 'विरुद्धाव्यभिचारी' ठहरायेंगे उसी प्रकार वैशेषिकों का प्रकृत हेतु इन प्रतिहेतुओं के द्वारा 'विरुद्धाव्यभिचारी' (सत्प्रतिपक्ष) हो जायेगा।

(१) 'शब्दः नित्यः केवलाकाशवृत्तित्वाद् आकाशगतविभुत्ववत्' इस प्रथम प्रत्यनुमान वाक्य का यह आशय है कि शब्द चूँकि केवल आकाश में ही रहता है, कहीं अन्यत्र नहीं रहता, अतः आकाशमात्र में रहनेवाले विभुत्व के समान ही नित्य है[1]।

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये कि उक्त हेतुवाक्य में यदि केवल पद का प्रयोग नहीं करेंगे तो यह हेतु घट में व्यभिचरित हो जायगा, क्योंकि घटाकाशसंयोग आकाश के ही समान घट में भी है, किन्तु वहाँ अनित्यत्व स्वरूप साध्य नहीं है।

(२) 'नित्यः शब्दः श्रोत्रगम्यत्वात् शब्दत्ववत्' इस दूसरे प्रत्यनुमानवाक्य का आशय है कि जिस प्रकार श्रोत्रगम्य शब्दत्व नित्य है, उसी प्रकार श्रोत्रगम्य होने के कारण शब्द भी नित्य है।

(३) 'नित्यः शब्दो विभुत्वाद् आकाशवृत्तिविभुत्ववत्' इस तीसरे प्रत्यनुमान-वाक्य का अभिप्राय है कि शब्द चूंकि आकाश के समान ही विभुत्व से युक्त है, अतः आकाश के समान ही शब्द नित्य भी है।

सपक्षोऽपि विकल्पः

इसी प्रकार 'अनित्यः शब्दः जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात् घटवत्' इस अनुमान का घट स्वरूप 'सपक्ष' (दृष्टान्त) के प्रसङ्ग में विकल्प उपस्थित करना चाहिये कि घट शब्द का श्रुत्यर्थ (वाच्यार्थ) घटत्व जाति दृष्टान्त है अथवा घटशब्द घटव्यक्तियों में लाक्षणिक है।

श्रुत्यर्थे साध्यहीनता

यदि दृष्टान्त के बोधक घटशब्द का श्रुत्यर्थ (वाच्यार्थ) विवक्षित रहे तो दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा, क्योंकि शब्दों की अभिधा शक्ति चूंकि जातियों में ही है, और जातियाँ नित्य हैं, अतः घटत्व में अनित्यत्व स्वरूप साध्य के न रहने से दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा ॥ ३४९–३५० ॥

व्यक्तिलक्षणपक्षेऽपि जात्यन्यानन्यकल्पना।
अन्यत्वे धर्म्यसिद्धिर्नोऽनन्यत्वेऽपि परान् प्रति ॥ ३५१ ॥

यदि शब्द में अनित्यत्वानुमानवाक्यघटक दृष्टान्तवाक्य के घट पद को घट-व्यक्तियों में लाक्षणिक ही मानें तो दृष्टान्त में अनित्यत्व रूप साध्य का संबलन साधारणतः होगा। किन्तु इस पक्ष में भी यह अवान्तर विकल्प उपस्थित होगा कि ये लक्ष्यार्थ व्यक्तियाँ जातियों से भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

इनमें से यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करेंगे अर्थात् जाति से भिन्न घट व्यक्ति को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करेंगे तो हमलोगों (मीमांसकों) के मत से घटत्व जाति से भिन्न घट स्वरूप धर्मी की सत्ता न रहने से 'धर्म्यसिद्धि' अर्थात् दृष्टान्त ही असिद्ध हो जायगा (अर्थात् दृष्टान्तासिद्धि दोष होगा)।

यदि दूसरा पक्ष मानें अर्थात् घटत्व जाति से अभिन्न घट व्यक्ति को ही दृष्टान्त मानें तो आप लोगों (वैशेषिकों) के मत से ही 'दृष्टान्तासिद्धि' दोष होगा, क्योंकि आप के मत से घटत्व जाति से अभिन्न घट व्यक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥ ३५१ ॥

अविशेषेऽपि नानित्यं न नित्यं वस्तु तन्मम।
अंशो ह्येतस्य जात्याख्यो नित्यो ध्वंसीतरो मतः ॥ ३५२ ॥

यदि श्रौतार्थ (वाच्यार्थ) अथवा लाक्षणिक इन दोनों का त्याग कर उन विशेषों से रहित 'केवल' अर्थात् संमुग्ध घट को ही मानें तो इस संमुग्ध घट स्वरूप दृष्टान्त के द्वारा शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि ही नहीं होगी, क्योंकि इस प्रकार का

संमुग्ध घट न एकान्ततः नित्य ही होगा, न एकान्ततः अनित्य ही, क्योंकि उसका जाति स्वरूप अंश नित्य होगा, 'इतर' अर्थात् जातीतर व्यक्त्यंश 'ध्वंसी' अर्थात् अनित्य होगा। फलतः नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों से युक्त दृष्टान्त के द्वारा केवल अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ३५२ ॥

अनित्यता विकल्प्यात्र नाशश्चेत् साध्यहीनता।

ममान्यथा तु भवतामित्येषा दूषणोक्तिदिक् ॥ ३५३ ॥

प्रकृत अनुमान के 'अनित्यत्व' रूप साध्य के प्रसङ्ग में यह विकल्प उपस्थित करना चाहिये कि उक्त अनित्यत्व (१) अत्यन्त विनाश (निरन्वय विनाश) रूप है अथवा (२) यथाकथञ्चिद्विनाश स्वरूप (अर्थात् अनभिव्यक्त्यादि स्वरूप) है।

इनमें यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार करें, अर्थात् अनित्यत्व को अत्यन्त विनाश स्वरूप मानें तो मेरे (मीमांसकों के) मत के अनुसार घटादि दृष्टान्त साध्यविकल हो जाँयगे, क्योंकि मेरे मत से घटादि भी अत्यन्त विनष्ट नहीं होते, कपालादि रूपों में उनकी सत्ता रहती ही है।

यदि 'अन्यथा' अर्थात् द्वितीय कल्प को स्वीकार करें तो आप (वैशेषिकों) के मत से दृष्टान्त असिद्ध होगा, क्योंकि इस प्रकार की अनित्यता को आप स्वीकार नहीं करते।

इस रीति से 'शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वात्' इस अनुमान में दूषण की परम्परा जाननी चाहिये ॥ ३५३ ॥

सर्वेण शब्दरूपं च वाचकं नित्यमिष्यते।

तत्स्वरूपे विवादस्तु वर्णास्तत्र च साधिताः ॥ ३५४ ॥

वैशेषिकादि प्रतिवादियों के द्वारा शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिये जिन हेतुओं का प्रयोग किया गया है, उन हेतुओं में दोषों का उद्भावन कर शब्द में नित्यत्व की सिद्धि को निर्विघ्न करने के लिये शब्द में अनित्यत्व की आपत्ति का परिहार ही इस (शब्दनित्यत्व) अधिकरण का प्रधान उद्देश्य है। शब्द में नित्यत्व का साधन इसका प्रधान उद्देश्य नहीं है, क्योंकि अर्थों के वाचक शब्दों की नित्यता सर्वसम्मत है। किन्तु कौन सा शब्द वाचक है—इसी में भिन्न-भिन्न मत हैं। (१) कोई वर्ण को ही वाचक मानते हैं (२) कोई पद को ही वाचक मानते हैं और (३) कुछ लोग स्फोट को ही अर्थों का अभिधायक कहते हैं। इनमें अन्य सभी पक्षों का खण्डन कर 'वर्णस्वरूप शब्द ही वाचक है' यही पक्ष मीमांसकों का अपना है। वर्णात्मक शब्द की नित्यता तो सर्वसिद्ध है। अतः नित्यत्वसाधन इस अधिकरण का प्रयोजन नहीं है ॥ ३५४ ॥

सम्बन्धनित्यतायाः किं शब्दाधिकरणेऽभिधा।

तादर्थ्याच्छब्दचिन्तायाः सैव ह्यत्राधिकारिकी ॥ ३५५ ॥

'गोशब्द उच्चरिते' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ का तात्पर्य शब्द और उसके आकृतिस्वरूप अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध की नित्यता के प्रतिपादन में ही है। किन्तु 'शब्द-

नित्यत्वाधिकरण' में शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन असम्बद्ध सा लगता है।[1]

तावर्म्याच्छब्द''''आधिकारिकी

कोई इस असंगति का परिहार इस प्रकार करते हैं कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता ही 'महाप्रकरण' के अनुसार 'प्रकृत' है, अर्थात् प्रकृत में मूल विचार का विषय है। उसी के अंग रूप में शब्दनित्यत्व की भी चिन्ता की गयी है। अंगीभूत शब्दनित्यत्व की इस चिन्ता की समाप्ति के बाद ही जो प्रकृत शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता का विचार है, उसकी दृढ़सिद्धि के लिये दूसरी युक्ति 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इस सूत्र और 'गोशब्द उच्चरिते' इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा प्रतिपादित हुई है ॥ ३५५ ॥

> यद्वा सम्बन्धनित्यत्वद्वारेयं शब्दनित्यता।
> साध्यते न विनष्टे हि शब्दे तन्नित्यता भवेत् ॥ ३५६ ॥

(किन्तु 'शब्दनित्यत्वाधिकरण' के मध्य में 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इस सूत्र को शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व का प्रतिपादक मानना उचित नहीं है, क्योंकि अभी शब्द-नित्यत्व का विचार निष्पन्न नहीं हुआ है। अभी वह चल ही रहा है, अतः मध्य में शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता के लिये दूसरी युक्ति का अभिधान संगत नहीं है। इस असंगति का यह परिहार है—)

इस सूत्र के द्वारा शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व के अभिधान का मूल उद्देश्य शब्द में नित्यता की सिद्धि ही है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता के द्वारा शब्द की नित्यता इस युक्ति से उपपादित हुई है कि शब्द को यदि नित्य नहीं मानेंगे तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता अनुपपन्न हो जायगी। अतः शब्द नित्य है ॥ ३५६ ॥

> अनित्यानां हि नित्यात्मा यः सम्बन्धः प्रतीयते।
> आश्रयाणामनुच्छेदान्न क्वचित् स विरुध्यते ॥ ३५७ ॥

(पू० प०) विनाशशील अनित्य घटादि व्यक्तियों के साथ घटत्व जाति के (समवाय) सम्बन्ध को नित्य माना जाता है। अतः सम्बन्ध की नित्यता के लिये उसके दोनों ही सम्बन्धियों की अर्थात् प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों की नित्यता आवश्यक नहीं है। इसलिये शब्द को अनित्य मानने पर भी नित्य आकृति (जाति) के साथ उसके सम्बन्ध में कोई अड़चन नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

---

1. 'सर्वत्र यौगपद्यात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० १९) इस सूत्र के भाष्य में ही कहा गया है—'गोशब्द उच्चरिते सर्वगवीषु युगपत्प्रत्ययो भवति। अत आकृतिवचनः शब्दः, न चाकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्' (शाबरभाष्य पृ० ८९ पं० ६)।

उक्त सूत्र का तात्पर्य है कि गो शब्द के उच्चारण मात्र से सभी गो व्यक्तियों की प्रतीति एक ही समय (युगपत्) हो जाती है। अतः आकृति ही गो शब्द का वाच्य है। आकृति नित्य है। अतः उसके साथ अनित्य शब्द का सम्बन्ध ही संभव नहीं है। इस लिये भी शब्द नित्य है।

व्यक्तियों के साथ जातियों का सम्बन्ध इसलिये उपपन्न होता है कि व्यक्तियों में से कोई न कोई सर्वदा विद्यमान रहता है। इस प्रकार जाति के आश्रयीभूत व्यक्तियों का सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता। फलतः व्यक्तियों का प्रवाह बना रहता है। व्यक्तियों की यह जो 'प्रवाहनित्यता' है, तन्मूलक ही कूटस्थ नित्य जाति के साथ व्यक्तियों का नित्य सम्बन्ध कहीं अनुपपन्न नहीं होता ॥ ३५७ ॥

न चानुच्छेदरूपेण गोशब्दानामिह स्थितिः।
न चैषां गम्यते भेदस्तेनैकस्यैव नित्यता ॥ ३५८ ॥

किन्तु गवादि शब्दों में घटादि व्यक्तियों की तरह यह 'अनुच्छेदरूपा' प्रवाहनित्यता सम्भव नहीं है, क्योंकि अनेक गो शब्दों की प्रतीति, फलतः विभिन्न गो शब्दों की प्रतीति, नहीं होती है। इसलिए अनेक गो शब्द व्यक्तियाँ नहीं हैं कि एक के विनष्ट होने पर दूसरी व्यक्ति बनी रहे, क्योंकि गो शब्द व्यक्ति 'एक ही है। इसलिये नित्य गोत्व जाति स्वरूप अभिधेय के साथ उसका नित्य सम्बन्ध तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि गो शब्द को 'एक' एवं जाति की तरह कूटस्थ नित्य भी मान लें। तस्मात् शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता शब्द की (कूटस्थ) नित्यता के अधीन है ॥ ३५८ ॥

कृत्रिमत्वे च सम्बन्धस्तत्प्रयोगापवर्जनात्।
तदेकव्यक्तिनिष्ठत्वान्नैव सार्वत्रिको भवेत् ॥ ३५९ ॥

शब्दनित्यता के प्रयोजक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को यदि अस्वीकार करेंगे, अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को 'कृत्रिम' अर्थात् पुरुषकृत मानेंगे तो अङ्गुली से निर्दिष्ट वस्तु के ही समान व्यक्तिविशेषनिष्ठ होने के कारण उसका प्रयोग 'अपवृक्त' हो जायगा। अङ्गुली का निर्देश किसी एक ही व्यक्ति के लिए होता है। इसी से शब्द का सार्वत्रिक प्रयोग (सभी व्यक्तियों के लिए प्रयोग) ही अनुपपन्न हो जायगा ॥ ३५९ ॥

पार्थिवद्रव्यसत्तादिलाङ्गूलत्वादिसङ्करात् ।
विना प्रयोगभूयस्त्वं न स्याद् गोत्वावधारणा ॥ ३६० ॥

(पू० प०) शब्द का वाच्यत्व सम्बन्ध यद्यपि जाति में ही है तथापि जातिनिष्ठ शब्द का यह वाच्यत्व सम्बन्ध भी पुरुषकृत ही है। किन्तु ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि—

(सि० प०) गो व्यक्तियों में पार्थिवत्व, द्रव्यत्व, सत्ता, लांगूलत्वादि अनेक जातियों का समावेश है। अतः एक बार के प्रयोग से यह निर्द्धारण नहीं किया जा सकता कि कौन सी जाति शब्द के द्वारा अवधारणीय है। अतः गो शब्द से गोत्व जाति के निर्द्धारण के लिए (गोत्वविषयक बोध के लिए) गो शब्द का भूरि प्रयोग आवश्यक है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध कृत्रिम नहीं है, नित्य है ॥ ३६० ॥

तस्मादकृत्रिमः शब्दो न कदाचिद् विनश्यति।
नित्येन नित्यसम्बन्धादाकाशपरमाणुवत् ॥ ३६१ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार नित्य परमाणुओं के साथ नित्य आकाश का सम्बन्ध अकृत्रिम होने के कारण नित्य है, कभी विनष्ट नहीं होता उसी प्रकार नित्य गो शब्द का नित्य गोत्व जाति के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध भी अकृत्रिम ही है, कभी विनष्ट नहीं होता ॥ ३६१ ॥

यद्वा सम्बन्धनित्यत्वं सूत्रेऽस्मिन्नैव वर्ण्यते ।
शब्दनित्यत्वमात्रेऽपि भाष्यं ह्येतस्य युज्यते ॥ ३६२ ॥

अथवा 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इस सूत्र के द्वारा शब्द की नित्यता ही प्रतिपादित हुई है। शब्द एवं अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध की नित्यता इस सूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है—यह इस सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है, क्योंकि इस सूत्र के भाष्य को शब्द की नित्यता का प्रतिपादक मानना ही उचित है (देखिये श्लोक ३५५ की व्याख्या उपोद्घात) ॥ ३६२ ॥

सम्मुग्धानेकसामान्यविषयो हि सकृच्छ्रुतः ।
निष्कृष्टस्वार्थवाचित्वं शब्दो न प्रतिपद्यते ॥ ३६३ ॥

'न चाकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्त्तुम्' (शाबरभाष्य पृ० ८६) इस भाष्यसन्दर्भ में जो 'कर्त्तुम्' शब्द है, उसका अर्थ है 'कथन' अथवा ग्रहण। तदनुसार उक्त भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि बिना भूरि प्रयोग के किसी शब्द को केवल एक बार सुनने पर व्यक्तियों में रहने वाली अनेक जातियों में से निकाल कर किसी एक अभिप्रेत जाति की वाचकता उस शब्द में नहीं मानी जा सकती, अथवा गृहीत नहीं हो सकती ॥ ३६३ ॥

बहुभिः श्रवणैरेष प्राणित्वादीनि वर्जयेत् ।
शुक्लादिगमनादीनि सास्नालाङ्गूलतादि च ॥ ३६४ ॥
शाबलेयादिखण्डादिव्यक्तीश्च स्वनिबन्धनाः ।
निष्कृष्टगोत्ववाचित्वं चिरेण प्रतिपद्यते ॥ ३६५ ॥

गो शब्द से सभी व्यक्तियों में रहनेवाले एवं शावलेयादि व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति में न रहनेवाले शुक्ल रूप अथवा गमनादि कर्म अथवा सास्नालाङ्गूलादि धर्मों से भिन्न एवं अश्वादि अन्यप्राणिसाधारण प्राणित्वादि धर्मों से भिन्न केवल सभी गो व्यक्तियों में रहनेवाले एवं किसी एक ही गो व्यक्ति में न रहनेवाले एवं गो से भिन्न अश्वादि प्राणियों में न रहनेवाले गोत्व की प्रतीति गो शब्द को बार-बार सुनने से ही होती है।

व्यक्तियों को शब्दों का अभिधेय इसलिये नहीं मानते कि व्यक्तिवाचक पदों की अभिधा शक्ति व्यक्तियों में न मानने पर भी जाति के नियत सम्बन्ध के कारण ही उनकी प्रतीति हो जायगी ॥ ३६४–३६५ ॥

तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति ।
अनपेक्षत्वसूत्रेण तच्चैतत् साधयिष्यते ॥ ३६६ ॥

इस प्रकार शब्द में अक्षणिकत्व की सिद्धि से स्थायित्व की जो 'अर्थतः' सिद्धि होती है, उस स्थायित्व को गगनादिगत नित्यत्व के समान इसलिए मानते हैं कि उसका कोई नाशक उपलब्ध नहीं होता है। शब्द में नित्यत्व की सिद्धि आगे 'अनपेक्षत्व' सूत्र (अ० १ पा० १ सू० २१) से की जायगी ॥ ३६६ ॥

क्रियावतामभेदे हि क्रियावृत्तिषु कृत्वसुच्।
तत्प्रयोगाद् ध्रुवं तस्य शब्दस्यावर्त्तते क्रिया ॥ ३६७ ॥

'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग क्रियाओं की आवृत्ति को गिनने में किया जाता है। क्रिया की यह आवृत्ति (पौनःपुन्य, बार-बार होना) उन क्रियाओं के अभिन्न होने पर ही सम्भव है। इस कृत्वसुच् प्रत्यय से युक्त 'अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः' इस प्रयोग से समझते हैं कि एक ही गो शब्द का उच्चारण किया जाता है[1] ॥ ३६७ ॥

पुनःप्रयोगविज्ञानं न हि शब्दान्तरे भवेत्।
तस्यां च शब्दसंख्यायामष्टाविति भवेच्छ्रुतिः ॥ ३६८ ॥

उच्चारणों की इस आवृत्ति से सभी उच्चारणों के विषय सभी गो शब्दों में अभेद की प्रतीति इसलिए होती है कि उक्त वाक्य के द्वारा गो शब्द के उच्चारण की आवृत्ति कही गयी है। यह आवृत्ति गो शब्दों को विभिन्न (अनेन) मानने से उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि यदि गो शब्दों को ही विभिन्न मानें तो 'अष्टौ गोशब्दाः' यही प्रयोग होगा। किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता ॥ ३६८ ॥

भुक्तवन्तोऽष्टकृत्वोऽद्य ब्राह्मणा इति दृश्यते।
द्रव्यभेदेऽप्यनेकान्तं मत्वाऽऽह किमतो यदि ॥ ३६९ ॥

(पूर्वपक्षभाष्य) 'किमतो यद्येवम्' (शा० भा० पृ० ८७ पं० ६) इस भाष्य के द्वारा इस पूर्वपक्ष की सूचना दी गयी है—

जहाँ विभिन्न आठ ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वहाँ भी 'भुक्तवन्तोऽष्टकृत्वो ब्राह्मणा अद्य' यह प्रयोग होता है। अतः क्रियावान् के अभिन्न होने पर ही 'क्रियाभ्यावृत्ति' सूचक 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता, किन्तु क्रियाश्रय के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग होता है। अतः कृत्वसुच् प्रत्यय के प्रयोग से क्रियाश्रयों के अभेद की व्याप्ति नहीं है, किन्तु कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग उक्त अभेद का व्यभिचारी है ॥ ३६९ ॥

तस्मात् तत्परिहाराय प्रमाणान्तरमुच्यते।
प्रत्यभिज्ञानमेतेन प्रयोगेणोपलक्षितम् ॥ ३७० ॥

'अनेन वचनेन गम्यते प्रत्यभिजानन्तीति' (शाबरभाष्य पृ० ८० पं० ७) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा उक्त पूर्वपक्ष का यह समाधान किया गया है—

---

1. 'संख्याभावात्' अ० १ पा० १ सू० २० के शाबरभाष्य में उक्त 'अष्टकृत्वो हि गोशब्द उच्चरित इति हि वदन्ति, नाष्टौ गोशब्दाः' इसी सन्दर्भ की व्याख्या इस ३६७ वें श्लोक से की गयी है।

'कृत्वसुच्' प्रत्यय का यह प्रयोग साक्षात् शब्दाभेदसाधक हेतु के रूप में उपस्थित नहीं किया गया है। अतः शब्दाभेद स्वरूप साध्य के साथ उसके व्यभिचार की कोई बात ही नहीं उठती। अतः 'अष्टकृत्व उच्चरिता गोशब्दाः अभिन्नाः कृत्वसुच्-प्रत्ययविषयत्वात् अष्टकृत्वो ब्राह्मणाः अद्य भुक्ताः इत्येतत्प्रयोगविषयीभूतब्राह्मणाभेदवत्' इस आकार का अनुमान अभिप्रेत नहीं है।

किन्तु 'कृत्वसुच्' प्रत्यय के प्रयोग के विषयीभूत संख्या के आश्रयों में प्रायः यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'सोऽयं गोशब्दो यः पूर्वमुच्चरितः'। यह प्रत्यभिज्ञा ही कृत्वसुच् प्रत्यय के प्रयोग के द्वारा शब्दाभेद के साधक हेतु के रूप में उल्लिखित हुई है।

'अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्ताः' इत्यादि कृत्वसुच्-प्रयोग के विषयीभूत संख्या के आश्रय में प्रत्यभिज्ञा के न रहने पर भी जहाँ प्रत्यभिज्ञा अबाधित है, वहाँ उसकी उपस्थिति हो सकती है। शब्द प्रमाण से ज्ञान को उत्पत्ति के लिये व्याप्ति की अपेक्षा नहीं होती है। अतः कथित व्यभिचार से प्रकृत में कोई हानि नहीं होगी ॥ ३७० ॥

कृत्वसुच्चापि नैवायं व्यभिचारीति गम्यते।
यतः प्रयुज्यते चैकब्राह्मणत्वविवक्षया ॥ ३७१ ॥

वस्तुतः कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग स्वसंख्येय के भेद का व्यभिचारी है ही नहीं। 'अष्टकृत्वो ब्राह्मणा अद्य भुक्ताः' इस प्रकार का प्रयोग जहाँ विभिन्न आठ ब्राह्मण भोजन करते हैं, वहाँ नहीं होता। वहाँ तो 'अष्टौ ब्राह्मणाः भुक्ताः' यही प्रयोग होता है। जहाँ एक ही ब्राह्मण भोजन के लिये उपलब्ध होता है, किन्तु आठ ब्राह्मणों का भोजन इष्ट होता है, वहाँ उसी एक ब्राह्मण को आठ बार खिलाये जाने पर ही 'अष्टकृत्वोऽद्य ब्राह्मणा भुक्ताः' यह कृत्वसुच्-प्रत्ययान्त प्रयोग होता है। अतः कृत्वसुच प्रत्यय का प्रयोग सीधे ही शब्दाभेद का साधक है, क्योंकि संख्येय के अभेद के साथ व्याप्ति में कोई बाधा नहीं है ॥ ३७१ ॥

प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृढेन्द्रियतयोच्यते।
इतरोऽसिद्धतामाह सादृश्याद् ग्राह्यदूषणात् ॥ ३७२ ॥

प्रमाणम्''''उच्यते

(पू० प०—प्रत्यभिज्ञान तो सर्वसंवेद्य है (मानसप्रत्यक्षवेद्य है), उसके लिये 'कृत्वसुच्' प्रत्ययान्त पद का प्रयोग क्यों ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

(सि० प०) प्रत्यभिज्ञा अवश्य ही स्वसंवेद्य है, किन्तु उसमें कारणदोष की शङ्का के निवारण के लिये 'कृत्वसुच्'-प्रत्ययान्त पद के द्वारा प्रत्यभिज्ञा को दृढ़ कर सार्वजनीनता की सिद्धि की जाती है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने—

'न वयं तावत्प्रत्यभिजानीमः, न नः करणदौर्बल्यमेवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति' (शाबरभाष्य पृ० ८७ पं० ६)

अर्थात् जिस प्रकार 'सोयं गोशब्दः' इत्यादि आकारों की प्रत्यभिज्ञायें हमलोगों को होतीं हैं, वैसे ही दूसरों को को भी होतीं हैं। अतः मेरी प्रत्यभिज्ञा को करणदोष-मूलक अप्रामाण्य की शङ्का से दूषित नहीं समझना चाहिये।

इतरोऽसिद्धतामाह···ग्राह्यदूषणात्

'अथ मतम्, अन्यत्वेऽपि सति सादृश्येन व्यामूढाः 'स' इति वक्ष्यन्ति' (शाबर-भाष्य पृ० ८८ पं २)

इस पूर्वपक्षभाष्य का आशय है कि इन्द्रियदोष से जो भ्रान्ति उत्पन्न होगी, उसका निराकरण कृत्वसुच्प्रयोगजनित प्रत्यभिज्ञान की सार्वजनीनता से किया जा सकता है। किन्तु सादृश्यादि विषयनिष्ठ दोषों से जो विभिन्न विषयों में 'स एवायम्' यह भ्रान्ति (स्वरूप प्रत्यभिज्ञा) होगी, उसके अप्रामाण्य का निराकरण कृत्वसुच्-प्रत्ययान्त प्रयोगजनित बुद्धि से संभव नहीं है। अतः प्रत्यभिज्ञाविषयक हेतु से दश संख्या से युक्त गो शब्दों में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अत्यन्तसदृश विभिन्न वस्तुओं में भी 'स एवायम्' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, जिसे सभी लोग भ्रम स्वरूप मानते हैं ॥ ३७२ ॥

> नित्यं सदृश एवेति यत्र रूढा मतिर्भवेत् ।
> स इति प्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तिस्तत्रावकल्पते ॥ ३७३ ॥
> इह नित्यं स एवेति विज्ञानं जायते दृढम् ।
> तदास्तित्वाधिकत्वाच्च प्रामाण्यं तस्य साधितम् ॥ ३७४ ॥

नित्यम्···तत्राऽवकल्पते···दृढम्

'तन्न, न हि ते सदृश इति प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ? स एवायमिति' (शाबरभाष्य पृ० ८८ पं० ३) इस सिद्धान्तभाष्य के द्वारा उक्त आक्षेप का समाधान इस अभिप्राय से किया गया है कि जिन वस्तुओं में 'नित्य' अर्थात् बराबर 'अयमेतत्सदृशः' (यह इसके समान है) इस आकार की 'दृढ़' (अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित) बुद्धियाँ ही उत्पन्न होतीं हैं, कभी कभी 'स एवायम्' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, ऐसे ही स्थलों की प्रत्यभिज्ञाओं में भ्रमत्व की कल्पना की जाती है।

प्रकृत में गो शब्द में ठीक उक्त स्थिति के विपरीत यह स्थिति है कि 'नित्य' अर्थात् बराबर 'स एवायं गकारः' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा ही होती है। कदाचित् ही दोषवश 'अयं गकारस्तत्सदृशः' इस आकार की सादृश्यबुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिये यह सादृश्यबुद्धि ही भ्रान्ति स्वरूप है। अतः 'स एवायं गकारः' इस प्रत्य-भिज्ञा में प्रामाण्य असिद्ध नहीं है।

तदाऽस्तित्वाधिकत्वाच्च···साधितम्

(पू० प०—कथित रीति के अनुसार प्रत्यभिज्ञा में अप्रामाण्य भले ही न हो, किन्तु पूर्वगृहीत गकार का ही ग्रहण प्रत्यभिज्ञा में होता है, अतः गृहीतग्राही होने के कारण ही (ज्ञातज्ञापक होने के कारण ही) प्रत्यभिज्ञा में अप्रामाण्य सिद्ध है। अतः प्रत्यभिज्ञा के द्वारा गकारों में अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं जा सकती। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

(सि० प०) 'स एवायं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा में पूर्वकालवर्त्तित्वादि अवश्य ही पूर्वज्ञात हैं। किन्तु 'अयम्' पद से जो वर्त्तमानकालवर्त्तित्व स्वरूप 'अस्तित्व'

ज्ञात होता है, वह पूर्व ज्ञान के द्वारा पहले से गृहीत नहीं है। इस प्रकार अस्तित्व-स्वरूप अज्ञातविषयक होने के कारण प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य अनेक बार साधित हो चुका है ॥ ३७३–३७४ ॥

नित्यप्रसङ्गद्वारेण स्पष्टयोरप्यनित्ययोः ।
प्रत्यभिज्ञानसद्भावादनैकान्तिकतोच्यते ॥ ३७५ ॥

'स्यादेतत्, बुद्धिकर्म्मणी अपि हि ते प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि हि नित्ये प्राप्नुतः' (शाबरभाष्य पृ० ८८ पं० ५)।

इस पूर्वपक्षभाष्य का यह आशय है कि यदि 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा शब्द में नित्यता की सिद्धि होगी तो फिर 'सेयं बुद्धिः, तदेव कर्म' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के विषयीभूत बुद्धि एवं क्रिया आदि में भी नित्यत्व की सिद्धि होगी। किन्तु बुद्धि एवं क्रिया इन दोनों को कोई भी नित्य नहीं मानते। सभी उन्हें अनित्य ही मानते हैं। इसलिये प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी है।

इस पूर्वपक्षभाष्य पर कोई असंबद्धता का आक्षेप इस दृष्टि से करते हैं कि बुद्धि और कर्म में नित्यत्व की आपत्ति से शब्द में नित्यत्व न साधित ही होता है न दूषित ही होता है। इस प्रकार यह बुद्धि और कर्म के अनित्यत्व के सिद्धान्त के ऊपर दूषणोद्भावन स्वरूप होने के कारण प्रकृतानुपयोगी है। इसलिये यह 'अर्थान्तर' नाम का निग्रहस्थान है (अर्थान्तर निग्रहस्थान के लिये देखिये—न्यायसूत्र–अ० ५ आ० २ सू० ७)।

प्रकृत पूर्वपक्षभाष्य पर असङ्गति के इस आक्षेप का यह परिहार है—

प्रकृत पूर्वपक्षभाष्य के द्वारा बुद्धि और कर्म में नित्यत्व की आपत्ति देना अभिप्रेत नहीं है, किन्तु प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु में नित्यत्व के व्यभिचार की आपत्ति का उद्भावन ही अभिप्रेत है जिससे प्रकृत में शब्द में नित्यत्व की सिद्धि विपन्न होती है। अतः पूर्वपक्षवादी को निग्रहस्थान के द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता ॥ ३७५ ॥

न प्रत्यक्षे इति त्वेतदसम्बद्धमिवोत्तरम् ।
यतो नात्र परेणोक्ता प्रत्यक्षत्वेन नित्यता ॥ ३७६ ॥

(पृ० ५०) 'न हि ते प्रत्यक्षे' (शाबरभाष्य पृ० ८८ पं० ६) भाष्य की यह पंक्ति उक्त पूर्वपक्षभाष्य के समाधान में इस अभिप्राय से लिखी गयी है—

केवल 'प्रत्यभिज्ञायमानत्व' नित्यत्व का साधक हेतु नहीं है, किन्तु 'प्रत्यक्षत्व' विशेषण से युक्त ही उक्त हेतु नित्यत्व का साधक है। तदनुसार 'प्रत्यक्षत्वे सति प्रत्यभिज्ञायमानत्व' ही हेतु है। बुद्धि और कर्म चूँकि प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उनमें प्रत्यभिज्ञायमानत्व के रहने पर भी प्रत्यक्षत्व के न रहने से उक्त विशिष्ट हेतु नहीं है। अतः उक्त विशिष्ट हेतु अनैकान्तिक नहीं है।

इस सिद्धान्तभाष्य के ऊपर कोई आक्षेप करते हैं कि 'न हि ते प्रत्यक्षे' यह सिद्धान्तभाष्य असंगत सा है, क्योंकि पूर्वपक्षवादियों ने प्रत्यक्षत्व हेतु से शब्द में

नित्यत्व की सिद्धि के लिए उद्यत ही नहीं है। इसलिये बुद्धि और धर्म के अनित्यत्व की बात ही असङ्गत है ॥ ३७६ ॥

प्रत्यक्षत्वाद् घटादीनां मा प्रसाङ्क्षीद्धि नित्यता।
अतीन्द्रियत्वान्मा भूच्च व्योमादेरप्यनित्यता ॥ ३७७ ॥

बात केवल इतनी ही नहीं है कि सिद्धान्तवादियों ने प्रत्यक्षत्व को शब्द में नित्यत्व के साधन के लिए हेतु रूप में उपस्थित नहीं किया है। किन्तु नित्यत्व के साधन के लिए प्रत्यक्ष हेतु का उपादान सम्भव ही नहीं है, क्योंकि घटादि में प्रत्यक्षत्व है किन्तु नित्यत्व नहीं है। अतः प्रत्यक्षत्व हेतु नित्यत्व साध्य का व्यभिचारी है।

दूसरी बात यह भी है कि [यदि अप्रत्यक्षत्व में अनित्यत्व की व्याप्ति भी रहती तथापि] नित्यत्व की सिद्धि के लिए प्रत्यक्षत्व हेतु भले ही उपयुक्त न हो, फिर भी नित्यत्व की सम्भावना के लिए तो उसका प्रयोग किया ही जा सकता है, क्योंकि आकाश (व्योम) के अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) रहने पर उसमें अनित्यत्व की सम्भावना माननी पड़ेगी। अतः प्रत्यक्षत्व नित्यत्व का साधक नहीं हो सकता ॥ ३७७ ॥

न च नित्ये स्वरूपेण तेनोक्ते बुद्धिकर्मणी।
या त्वनैकान्तिकत्वोक्तिः सा तथैवावतिष्ठते ॥ ३७८ ॥

तीसरी बात यह भी है कि यदि पूर्वपक्षवादी का बुद्धि और कर्म में अनित्यत्व का साधन ही प्रधान उद्देश्य होता तो उनके मत का खण्डन उपयुक्त होता। किन्तु उन्होंने तो प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु में नित्यत्व के व्यभिचार का उद्भावन मात्र किया है। यह व्यभिचार और भी प्रतिष्ठित हो जाता है यदि बुद्धि और कर्म में नित्यत्व का खण्डन कर देते है, क्योंकि अनित्य बुद्धि और अनित्य कर्म की भी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिये 'न हि ते प्रत्यक्षे' यह समाधानभाष्य अयुक्त नहीं है ॥ ३७८ ॥

न तयोः प्रत्यभिज्ञानमेतदेव किलोच्यते।
प्रत्यक्षत्वनिषेधेन प्रत्यक्षेण हि तद् भवेत् ॥ ३७९ ॥
तेन हेतोरभावोऽयं विपक्षाननुज्ञयोच्यते।
हेतुं चाप्यभ्यनुज्ञाय विपक्षो नेति कथ्यते ॥ ३८० ॥

इस प्रसंग में किसी 'एकदेशी' का कहना है कि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षमूलक है। अतः बुद्धि और क्रिया में जब प्रत्यक्षत्व का निषेध करते हैं, तो इन दोनों की प्रत्यक्षमूलक प्रत्यभिज्ञा भी निषिद्ध हो जाती है। फलतः प्रत्यक्षनिषेध के द्वारा प्रत्यभिज्ञा का निषेध ही प्रधानतया अभिप्रेत है। यदि प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु बुद्धि और क्रिया में निषिद्ध हो जाती है तो इस हेतु में विपक्षावृत्तित्व के कारण अर्थात् बुद्धि और क्रिया स्वरूप विपक्ष में नहीं रहने के कारण व्यभिचार दोष भी मिट जाता है। यही बात 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस सिद्धान्तभाष्य से कही गयी है ॥ ३७९-३८० ॥

साध्यं नित्यस्वरूपं चेदेतयोः प्रत्यभिज्ञया।
तत्रासम्बद्धता वाच्या योक्ता पङ्क्तिवने प्रति ॥ ३८१ ॥

'अथ ते प्रत्यक्षे नित्य एव' (शाबरभाष्य पृ० ८८ पं० ६) इस भाष्यसन्दर्भ का यह आशय है कि यदि यह कहो कि जिसका प्रत्यक्ष होता है, वह 'नित्य' ही होता है। इसी आकार की व्याप्ति इष्ट है। तदनुसार शब्द का चूँकि प्रत्यक्ष होता है, अतः वह नित्य है। बुद्धि और कर्म इन दोनों में नित्यत्व का साधक यह प्रत्यक्षत्व हेतु व्यभिचरित नहीं है, क्योंकि बुद्धि अप्रत्यक्ष ही है (देखिये शून्यवाद)। इसलिये बुद्धि में नित्यत्व के न रहने पर भी प्रत्यक्षत्व हेतु ही नहीं है। नित्य द्रव्य में रहने वाली क्रिया नित्य भी है, एवं उसका प्रत्यक्ष भी होता है। अतः विपक्ष ही नहीं है। इसलिए 'शब्दो नित्यः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्' इस अनुमान के हेतु में अनैकान्तिकत्व दोष नहीं है।

यदि बुद्धि और कर्म इन दोनों में प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु से नित्यत्व के साधन का प्रयास कोई करे तो 'पंक्ति' में या 'वन' में जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु के द्वारा एकत्व के साधन में दोष दिखलाया गया है, उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये (देखिये वनवाद श्लोक ८५) ॥ ३८१ ॥

> प्रत्यभिज्ञाननित्यत्वे याप्येषानवधारणा।
> अनादराय न ह्यस्मात् प्रकृतं मम दुष्यति ॥ ३८२ ॥

प्रत्यभिज्ञान...अनादराय

'न हि ते प्रत्यक्षे, यदि ते प्रत्यक्षे नित्ये एव' यह 'अव्यवस्था'—सूचक भाष्य-सन्दर्भ का तात्पर्य इस प्रसंग में 'अनादर' का ज्ञापन है।

न हि...दुष्यति

क्योंकि बुद्धि और कर्म के प्रत्यक्षत्व या अप्रत्यक्षत्व से शब्द में नित्यत्वसाधन स्वरूप हमारे (मीमांसकों के) पक्ष में कोई दोष उपस्थित नहीं होता है ॥ ३८२ ॥

> व्यक्तिरूपेण वा येन नाशित्वं बुद्धिकर्मणोः।
> न तत्र प्रत्यभिज्ञानं घटबुद्धौ हि नाश्वधीः ॥ ३८३ ॥
> येन तु प्रत्यभिज्ञानं शक्तिजात्यात्मनानयोः।
> तेन नित्यत्वमेवेष्टं कथञ्चित् सर्ववादिनाम् ॥ ३८४ ॥

व्यक्तिशः बुद्धि और कर्म ये दोनों ही क्षणविनाशी हैं। अतः व्यक्तिशः उनमें प्रत्यभिज्ञा उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार घटबुद्धि में अश्वबुद्धि की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है।

जाति के द्वारा जो 'घटबुद्धिरपि बुद्धिः पटबुद्धिरपि बुद्धिरेव' अथवा 'यथैवोत्क्षेपणं कर्म तथैवापक्षेपणमपि कर्म' इत्यादि आकार की प्रत्यभिज्ञायें होतीं हैं, जाति-मूलक इन प्रत्यभिज्ञाओं के द्वारा जिस नित्यत्व की सिद्धि होती है उस नित्यत्व की सत्ता बुद्धि और कर्म में भी सभी लोग मानते हैं ॥ ३८३-३८४ ॥

> एवं तु प्रत्यभिज्ञानं वाचोक्तं विलष्टयानया।
> न च शक्यं निराकर्तुं सर्वलोकप्रसिद्धितः ॥ ३८५ ॥

एवं तु""अनया

'न तयोः प्रत्यभिज्ञानम्' (श्लो० ३७९) इत्यादि से मीमांसकैकदेशी ने 'न हि ते प्रत्यक्षे' इत्यादि भाष्य की जो यह व्याख्या की है कि बुद्धि और कर्म में प्रत्यभिज्ञा के निषेध के लिये ही बुद्धि और कर्म को भाष्यकार ने 'अप्रत्यक्ष' कहा है।

किन्तु यह व्याख्या भाष्यग्रन्थ के अनुगुण नहीं है। यदि बुद्धि और कर्म में प्रत्यभिज्ञा का निषेध ही भाष्यकार का अभिप्रेत होता तो उसके लिये 'ते न प्रत्यभिज्ञायेते' यह सीधा सा वाक्य ही भाष्यकार लिखते। 'प्रत्यक्ष' शब्द के द्वारा प्रत्यभिज्ञा का अभिधान क्लिष्ट कल्पना जैसी है। अतः 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यसन्दर्भ से बुद्धि और कर्म में प्रत्यभिज्ञा का निराकरण मानना उचित नहीं है।

न च शक्यम्""प्रसिद्धितः

वस्तुतः बुद्धि और कर्म में प्रत्यभिज्ञा का निराकरण संभव ही नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार 'अयमपि गौः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी प्रकार 'अयमपि वेद' एवं 'अयमपि चलति' इत्यादि बुद्धिविषयक और क्रियाविषयक प्रत्यभिज्ञायें भी होतीं हैं॥ ३८५॥

येन नाम प्रमाणेन ग्रहणं बुद्धिकर्मणोः।
तेनैव प्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वं किं न सिद्ध्यति॥ ३८६॥

किस प्रमाण के द्वारा बुद्धि और कर्म इन दोनों के प्रत्यभिज्ञा स्वरूप प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है? इस प्रश्न का यह सीधा सा उत्तर है—

जिस प्रमाण के द्वारा बुद्धि और कर्म का ग्रहण होता है, उसी प्रमाण के द्वारा तद्विषयक प्रत्यभिज्ञाओं की भी उत्पत्ति होती है। अतः नित्यत्व का साधक प्रत्यभिज्ञायमानत्व जब कर्म और बुद्धि में है तो फिर उन दोनों में नित्यत्व की सिद्धि क्यों नहीं होगी?॥ ३८६॥

वाङ्मात्रात् प्रत्यभिज्ञानं शक्यं शब्देऽपभाषितुम्।
प्रत्यभिज्ञानपेक्षेण न प्रत्यक्षेण किञ्चन॥ ३८७॥

वाङ्मात्रात्""भाषितुम्

इस प्रकार बुद्धि और कर्म की भी प्रत्यभिज्ञा उपपन्न है, तथापि यदि वचनमात्र से उनमें प्रत्यभिज्ञायमानत्व का निषेध करें तो शब्द में भी युक्तिनिरपेक्ष केवल शब्द के द्वारा प्रत्यभिज्ञायमानत्व का निषेध किया ही जा सकता है। इससे शब्द में नित्यत्व के साधक प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु में पक्षवृत्तित्व का (पक्षधर्मता का) विघटन हो जायगा।

प्रत्यभिज्ञाऽनपेक्षेण""किञ्चन

यदि 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा बुद्धि और कर्म इन दोनों में सामान्य रूप से प्रत्यक्षत्व का ही निषेध करते हैं—प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष 'विशेषविषयत्व' का नहीं, तो फिर वह निषेध अनर्थक होगा, क्योंकि सामान्यतः

प्रत्यक्षाविषयत्व प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु में अनेकान्तिकत्व का प्रयोजक ही नहीं है ॥ ३८७ ॥

रूपशब्दाविभागाच्चेत्यत्रैतत् साधयिष्यते ।
प्रत्यक्षनित्यं कर्मेति तेनैषात्रोपवर्णना ॥ ३८८ ॥

रूपशब्दाविभागाच्च ''कर्मेति

कर्म में विशेष रूप से प्रत्यक्षत्व और नित्यत्व का खण्डन उचित भी नहीं है, क्योंकि आगे 'रूपशब्दाविभागाच्च' इस वक्तव्य द्वारा हम इसका साधन करेंगे ।

तेनैषात्रोपवर्णना

इसलिये 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये ॥ ३८८ ॥

नास्माभिः प्रत्यभिज्ञानं नित्यसाधनमिष्यते ।
अनित्यवादिनस्त्वेषा प्रत्यक्षेण विरुद्धता ॥ ३८९ ॥
तेनानैकान्तिको नायं सिद्धान्तान्तरदूषणम् ।
धीकर्मस्वपि किं नैवमनित्यत्वं निवार्यते ॥ ३९० ॥
तदुच्यते विनाशित्वमनुमानात् प्रतीयते ।
शब्दे प्रत्यक्षगम्ये च तेन बाधो बलीयसा ॥ ३९१ ॥
धीकर्मप्रत्यभिज्ञानान्नित्यता त्वानुमानिकी ।
तादृशी नाशितापीति न स्यात् तत्र बलाबलम् ॥ ३९२ ॥
न हि ते इति तेनाह यद्वा हेतोर्विशेषणम् ।
प्रत्यक्षं श्रोत्रता चेयं हेतुः शब्दत्ववत् कृतः ॥ ३९३ ॥

नास्माभिः विरुद्ध''''निवार्यते''''बलीयसा ' बलाबलम्'''तेनाह

प्रत्यभिज्ञा के द्वारा बुद्धि और कर्म में नित्यत्व की जो आपत्ति दी गयी है, वह शब्द में नित्यत्व के साधक प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु के अनैकान्तिकत्व का प्रयोजक नहीं हो सकता । यतः हमलोग (मीमांसकगण) शब्द में नित्यत्व के अनुमान के लिये 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा को हेतु रूप में उपस्थित नहीं करते इसलिये प्रत्यभिज्ञायमानत्व में अनेकान्तिकत्व की चर्चा ही व्यर्थ है ।

शब्द को जो लोग अनित्य कहते हैं, उनके लिये पक्ष में प्रत्यभिज्ञा के द्वारा प्रत्यक्षविरोध का उद्भावन ही 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यसन्दर्भ से इष्ट है । उनके मत से प्रत्यक्ष में अनैकान्तिकत्व नाम का कोई दोष नहीं है । यह 'सिद्धान्तान्तर' दोष अवश्य हो सकता है कि यदि प्रत्यभिज्ञायमान होने से ही कोई नित्य हो तो बुद्धि और कर्म ये दोनों ही नित्य हो सकते हैं । इस 'सिद्धान्तान्तर' (अर्थान्तर) निग्रहस्थान को स्वीकार करके भी कहा जा सकता है कि शब्द को तरह बुद्धि और कर्म इन दोनों को नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा शब्द की अनुमानसिद्ध नित्यता का निराकरण कर प्रत्यक्षसिद्ध नित्यता का समर्थन किया है ।

बुद्धि और कर्म ये दोनों स्वयं आनुमानिक हैं। अतः इनका अनित्यत्व या नित्यत्व जो कोई भी धर्म हो—उन्हें आनुमानिक ही मानना होगा। इसलिये बुद्धि और कर्म इन दोनों को न 'एकान्ततः' नित्य ही कहा जा सकता है न अनित्य ही। इसी अभिप्राय से 'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यसन्दर्भ को लेना चाहिये।

यद्वा हेतोर्विशेषणम् ······

अथवा यदि प्रत्यभिज्ञा को शब्द में नित्यत्व का अनुमापक लिङ्ग ही मानें, तथापि बुद्धि और कर्म में उसके व्यभिचार दोष का हेतु में प्रत्यक्षत्व विशेषण देकर वारण किया जा सकता है। अर्थात् केवल प्रत्यभिज्ञायमानत्व को हेतु न मानकर 'प्रत्यक्षत्वे सति प्रत्यभिज्ञायमानत्व' को मानें तथापि व्यभिचार का वारण हो सकता है, क्योंकि बुद्धि और क्रिया में प्रत्यक्षत्व के न रहने से विशिष्ट हेतु की सत्ता निवारित हो जायगी।

यद्यपि यह 'प्रत्यक्षत्वे सति प्रत्यभिज्ञायमानत्व' हेतु भी घटादि में व्यभिचरित है, क्योंकि अनित्य घटादि में प्रत्यभिज्ञायमानत्व और प्रत्यक्षत्व दोनों ही हैं। किन्तु नित्यत्व साध्य का यह व्यभिचार दोषावह नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु से शब्द में नित्यत्व का साधन अभिप्रेत ही नहीं है। केवल क्षणिकत्व के विरुद्ध स्थायित्व मात्र का साधन करना है। अक्षणिक घटादि में भी यह स्थायित्व है ही। अतः प्रकृत में व्यभिचार दोष नहीं है।

शब्द में इस प्रकार के स्थायित्व के सिद्ध हो जाने पर विनाशकारण की अनुपलब्धि से नित्यत्व की सिद्धि आगे 'अनपेक्षत्व' सूत्र (अ० १ पा० सू० २१) से करेंगे।

श्रोत्रता चेयं हेतुः शब्दत्ववत्कृतः

अथवा शब्द में नित्यत्व का साधन श्रोत्रेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षविषयत्व हेतु के द्वारा ही अभिप्रेत है। इसमें दृष्टान्त होगा 'शब्दत्व' (शब्दो नित्यः श्रोत्रेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षत्वात् शब्दत्ववत्)।

यद्यपि यह हेतु भी वायु के धर्म स्वरूप ध्वनियों में व्यभिचरित है ही, क्योंकि ध्वनियाँ अनित्य हैं, एवं श्रोत्रेन्द्रिय से उनका प्रत्यक्ष भी होता है, तथापि इस व्यभिचार का वारण हेतु में ध्वनिभिन्नत्व को भी विशेषण देकर किया जा सकता है ॥ ३८९–३९३ ॥

यत्कर्मातीन्द्रियाधारं तदप्रत्यक्षमुच्यते।
अप्रत्यक्षेति बुद्धिश्च शून्यवादे निरूपिता ॥ ३९४ ॥

यत्कर्म······उच्यते

'न हि ते प्रत्यक्षे' इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा जो क्रिया की अप्रत्यक्षता कही गयी है, उससे अतीन्द्रिय परमाणुओं में रहनेवाली क्रिया ही अभिप्रेत है। प्रत्यक्ष दीखने वाले घटादि पदार्थों में रहने वाली क्रिया की प्रत्यक्षता से उक्त भाष्यसन्दर्भ के अर्थ में कोई बाधा नहीं आती है।

अप्रत्यक्षे ' 'निरूपिता

'बुद्धि स्वयं अप्रत्यक्ष है' इसका उपपादन शून्यवाद में कर आये हैं । अतः बुद्धि में भी प्रत्यक्षत्व हेतु के न रहने से नित्यत्व साध्य के न रहने पर भी व्यभिचार दोष नहीं है ॥ ३९४ ॥

प्रत्यक्षद्रव्यवर्त्तिन्यो दृश्यन्ते याः पुनः क्रियाः ।
तासां वर्णवदेवेष्टं नित्यत्वं प्रत्यभिज्ञया ॥ ३९५ ॥

प्रत्यक्ष के विषय घटादि द्रव्यों में रहनेवाली 'क्रिया' शब्द के समान ही नित्य (अक्षणिक=स्थायी) भी है, क्योंकि उसकी भी प्रत्यभिज्ञा होती है, एवं उसका प्रत्यक्ष भी होता है। इसी दृष्टि से 'अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव' (पृ० ८८) यह पंक्ति लिखी है ॥ ३९५ ॥

व्यञ्जकाभावतश्चासां सन्ततानुपलब्धिता ।
यदेवोत्पादकं वः स्यात् तदेव व्यञ्जकं मम ॥ ३९६ ॥

(पू० प०) क्रियायें यदि नित्य हैं तो सतत (सर्वदा) उनकी अभिव्यक्ति क्योंकि नहीं होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अभिव्यक्ति के कारण सर्वदा उपस्थित नहीं रहते। अतः क्रियाओं को नित्य मानने से उनकी सततोपब्धि की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

क्रियाओं को अनित्य माननेवाले जिन अभिघात-नोदनादि को क्रियाओं का उत्पादक मानते हैं, वे ही अभिघात-नोदनादि मेरे (मीमांसकों के) मत से क्रियाओं की अभिव्यक्ति के ही कारण हैं ॥ ३९६ ॥

तव शब्दत्वकर्तृत्वे नित्ये अपि सती यथा ।
न नित्यमुपलभ्येते तथा मे बुद्धिकर्मणी ॥ ३९७ ॥

जिस प्रकार तुम्हारे (शब्दानित्यत्ववादी वैशेषिकादि के) मत से शब्दत्व और कर्तृत्व ये दोनों धर्म नित्य हैं फिर भी सदा इनकी उपलब्धि नहीं होती (शब्द और देवदत्तादि के साथ ही उपलब्धि होती है) उसी प्रकार मेरे (मीमांसकों के) मत से भी कहा जा सकता है कि बुद्धि और कर्म ये दोनों ही नित्य हैं, किन्तु अभिव्यञ्जक के अभाव से सर्वथा उनकी उपलब्धि नहीं होती ॥ ३९७ ॥

यथा वा शक्तिसद्भावे कुतश्चित् कारणादृते ।
न कार्याण्युपजायन्ते तथाभिव्यक्तिरिष्यताम् ॥ ३९८ ॥

अथवा जिस प्रकार कारणों में कार्योत्पति की शक्ति की सत्ता सर्वदा रहने पर भी सहकारी के अभाव से सर्वदा कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक के सर्वदा रहने पर भी उसके सहकारी के अभाव से नित्य होने पर भी बुद्धि और क्रिया की सर्वदा उपलब्धि नहीं होती है ॥ ३९८ ॥

व्यक्तिभ्योऽन्यतया तावत् कर्म क्लेशेन कल्प्यते ।
पुनर्जातिसहस्राणां तद्भेदे क्लिष्टकल्पना ॥ ३९९ ॥

तत एकत्वनित्यत्वप्रत्येकसमवायिता ।
वृत्तिश्च विप्रकीर्णेषु कर्मभागेषु नाशिषु ॥ ४०० ॥

(पू० प०—क्रिया और बुद्धि को नित्य इसलिये मानते हैं कि दोनों की प्रत्यभिज्ञायें उपपन्न हों, किन्तु इन प्रत्यभिज्ञाओं की उपपत्ति व्यक्तियों को नित्य और नाना मानने से भी जाति की एकता के द्वारा उपपन्न हो सकती है। इस प्रकार उत्पत्तिपक्ष (अर्थात् अनित्यत्वपक्ष) एवं अभिव्यक्तिपक्ष (नित्यत्वपक्ष) दोनों में जब समान युक्तियाँ हैं तो फिर बुद्धि और क्रिया को अनित्य ही क्यों नहीं मानते ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

एक तो द्रव्यादि आश्रयों से भिन्न क्रियाओं की स्वतन्त्र सत्ता ही बौद्धादि विरोधियों के रहते दुःसाध्य है। फिर उन क्रियाओं में उत्क्षेपणत्वादि जातियों की कल्पना एवं विनाशशील प्रत्येक क्रिया व्यक्ति में उत्क्षेपणत्वादि जातियों की 'वृत्ति' (सम्बन्ध) की कल्पना ये सभी और भी कल्पनागौरव में वृद्धि करेंगे ॥ ३९९–४०० ॥

एकत्वाच्चलनादीनां तस्मादेकात्मिका मतिः ।
प्रयत्नाश्रयनानात्वाद् बुद्धिभेदः प्रवर्त्तते ॥ ४०१ ॥

एकत्वात्''''एकात्मतामितिः

अतः चलनादि सभी क्रियायें वस्तुतः एक ही हैं। इस एकत्व से ही उनमें 'एकात्मतामति' अर्थात् प्रत्यभिज्ञा होती है।

प्रयत्नाश्रय''''प्रवर्त्तते

आश्रयीभूत देवदत्तादि की क्रिया की अभिव्यक्ति के लिये जो विभिन्न प्रकार के प्रयत्न हैं, उन प्रयत्नों से विभिन्न क्रियाओं की प्रतीति होती है। अर्थात् एक ही क्रिया में विभिन्नता की प्रतीति होती है ॥ ४०१ ॥

नैव ह्यत्रापि विच्छिन्नाः शाबलेयादिपिण्डवत् ।
कर्मव्यक्तीर्विजानीमः कल्पयेम द्वयं यतः ॥ ४०२ ॥

जिस प्रकार शाबलेय बाहुलेयादि परस्पर विच्छिन्न विभिन्न व्यक्तियों की प्रतीति होती है उस प्रकार परस्पर विच्छिन्न दो क्रिया व्यक्तियों की प्रतीति नहीं होती है। अतः एक ही क्रिया को स्वीकार करते हैं, दो क्रिया व्यक्तियों को स्वीकार नहीं करते ॥ ४०२ ॥

शीघ्रमन्दाविभेदेऽपि स्यात् प्रयत्नादिभेदतः ।
व्यक्तिद्वारो यथा जातेः व्यक्तेर्वा जनने यथा ॥ ४०३ ॥

शीघ्रमन्दावि'''भेदतः

अभिव्यञ्जक प्रयत्नों के भेद से एक ही क्रिया में शीघ्रता और मन्दता इन दोनों की ही प्रतीति हो सकती है। इसके लिये शीघ्र-मन्दादि भेद से विभिन्न क्रियाओं की कल्पना अनावश्यक है।

स्वरूपेण यथा वह्निर्नित्यं दहनकर्मकः।
उपनीतं दहत्यर्थं दाह्ये नान्यन्न चान्यथा ॥ ४०५ ॥
यथा वा दर्पणः स्वच्छो यथा च स्फटिकोऽमलः।
यद्यन्निधीयते योग्यं तच्छायां प्रतिपद्यते ॥ ४०६ ॥
तथैव नित्यचैतन्याः पुमांसो देहवृत्तयः।
गृह्णन्ति करणानीतान् रूपादीन् धीरसौ मता ॥ ४०७ ॥

व्यक्तिद्वारो''''जनने यथा

जो सम्प्रदाय विभिन्न क्रिया व्यक्तियों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे व्यक्ति की अभिव्यक्ति से ही जाति को अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हैं। वे फलतः व्यक्ति को उत्पत्ति से जाति को उत्पत्ति को ही स्वीकार करते हैं ॥ ४०३ ॥[1]

बुद्धीनामपि चैतन्यस्वाभाव्यात् पुरुषस्य नः।
नित्यत्वमेकता चेष्टा भेदस्तु विषयाश्रयः ॥ ४०४ ॥

बुद्धीनामपि''''एकता चेष्टा

चैतन्य ही 'बुद्धि' है। यह चैतन्य पुरुष को स्वाभाविको शक्ति है। इस प्रकार बुद्धि पुरुष से अभिन्न है। आत्मा स्वरूप पुरुष चूँकि 'नित्य' है एवं 'एक' है, अतः तदभिन्ना बुद्धि भी 'नित्य' एवं 'एक' है। इस प्रकार बुद्धि को भी नित्य एवं एक मानना उचित है।

भेदस्तु'''विषयाश्रयः

'विषय' के भेद से ही गोबुद्धि-अश्वबुद्धि प्रभृति विभिन्न बुद्धियाँ प्रतिभात होतीं हैं ॥ ४०४ ॥[2]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य के साथ क्रिया का 'सम्बन्धन' ही क्रिया की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार जाति जिस द्रव्य में समवाय अथवा अभेद सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, उसी में वह गृहीत भी होती है उसी प्रकार क्रिया भी जिस द्रव्य के साथ समवाय या अभेद सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, उसी में गृहीत भी होती है। अतः द्रव्य के साथ समवाय या अभेद सम्बन्ध का होना ही 'क्रिया की अभिव्यक्ति' है। आश्रयीभूत द्रव्य का उत्पादक कारण ही क्रिया का अभिव्यञ्जक है। संयोग या विभाग जिसको भी क्रिया का विनाशक कहा जाता है, वह भी द्रव्य के साथ क्रिया के उक्त सम्बन्ध को ही विनष्ट करता है। इसीसे उसे क्रिया का विनाशक कहा जाता है। वस्तुतः क्रिया तो नित्य है, अतः उसके स्वरूप का विनाश नहीं हो सकता।

२. यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रकृत में 'विषय' शब्द से गो अश्वादि विषयों के भेद से अनुमीयमान एवं कथित चितिशक्ति से उत्पन्न पुरुष का 'ज्ञान' नाम का 'विकार' ही विवक्षित है। इस ज्ञान स्वरूप विकार की अनुमेयता का वर्णन शून्यवाद में किया जा चुका है। इस ज्ञानाख्य विकार के भेद से ही एक ही बुद्धि में विभिन्नता का प्रतिभास होता है।

जिस प्रकार वह्नि में स्वरूपतः दाह करने की शक्ति नित्य है, फिर भी दहन-योग्य वस्तुओं को ही एवं उससे सम्बद्ध होने पर ही जलाती है;

अथवा स्वच्छ दर्पण या स्वच्छ स्फटिक में प्रतिविम्बित होने योग्य जिन वस्तुओं का सम्बन्ध होता है, उन्हीं वस्तुओं को प्रतिविम्बित करती है;

उसी प्रकार देहावच्छिन्न नित्य चैतन्यस्वरूपा चिति शक्ति को चक्षुरादि करणों के द्वारा रूपादि विषयों में से जिन विषयों का सांनिध्य प्राप्त होता है, वही रूपादिविषयक 'धी' अर्थात् बुद्धि कहलाती है ।। ४०५–४०७ ।।[1]

तेनोपनेतृसम्बन्धभङ्गित्वाद् भङ्गिनी मतिः ।
न नित्यं दाहको वह्निर्दाह्यासन्निधिना यथा ।। ४०८ ।।

इसलिये बुद्धि में जो 'भङ्गिनी' मति अर्थात् 'यह विनाशशील है' इस आकार की बुद्धि होती है, उसका कारण उस 'आत्मविकार' स्वरूप चितिशक्ति से चक्षुरादि से उत्पन्न ज्ञान की विनाशिता ही है। चितिशक्ति स्वरूप बुद्धि की विनाशशीलता उसका कारण नहीं है, वह तो नित्य है। जैसे वह्नि को दाहिका शक्ति के नित्य होने पर भी दाह्य काष्ठादि के न रहने पर उससे दाह की उत्पत्ति नहीं होती है फिर भी उक्त शक्ति की नित्यता में कोई आँच नहीं आती है ।। ४०८ ।।

तत्र बोधात्मकत्वेन प्रत्यभिज्ञायते मतिः ।
घटहस्त्यादिबुद्धित्वं तद्भेदाल्लोकसम्मतम् ।। ४०९ ।।

तत्र बोधात्मकत्वेन''''मतिः

(पू० प०) बुद्धि की यह नित्यता और एकता तो प्रत्यभिज्ञा के ऊपर निर्भर है, किन्तु घटबुद्धि में पटबुद्धि की 'सैवेयम्' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। अतः बुद्धि एक और नित्य किस युक्ति से है ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

'इयम् घटविषयिका बुद्धिः यथा बुद्धिः तथैव पटविपयिकाऽपि बुद्धिः बुद्धिरेव' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा दोनों बुद्धियों में होती है। अर्थात् बुद्धित्व रूप से सभी बुद्धियाँ एक हैं। फलतः विषयसम्बन्ध को त्याग देने पर दोनों केवल बोधस्वरूप रह जाते हैं। अतः बुद्धियों में एकत्वसाधिका एवं नित्यत्वस्थापिका प्रत्यभिज्ञा अनुपपन्न है।

घटहस्त्यादि''लोकसंमतम्

'इयं घटबुद्धिः इयञ्च ततो भिन्ना हस्तिबुद्धिः' इस प्रकार का बुद्धियों में जो भेदप्रतिभास लोक में होता है, वह विषयों की विभिन्नता से होती है। अर्थात्

१. कहने का तात्पर्य है कि शक्ति की सत्ता सर्वत्र है। केवल इतने से ही सर्वदा कार्य क' उत्पत्ति नहीं होती। शक्ति से युक्त कारण से भी कार्य की उत्पत्ति तभी होती है, जब उसे सहकारि कारण का सांनिध्य प्राप्त होता है। अतः 'शक्त' कारण से भी क्रमशः ही कार्य उत्पन्न होते हैं। भाष्य में 'अथ ते नित्ये' इत्यादि सन्दर्भ से चितिशक्ति रूपा बुद्धि की ही नित्यता प्रतिपादित हुई है। अर्थात् उक्त भाष्य में 'बुद्धि' शब्द से चैतन्य ही अभिप्रेत है।

बुद्धियों में भेद का प्रतिभास औपाधिक है। इससे बुद्धि की एकता अथवा नित्यता में कोई बाधा नहीं आती है ॥ ४०९ ॥

सैवेति नोच्यते बुद्धिरर्थभेदानुसारिभिः।
न चास्याः प्रत्यभिज्ञानमर्थभेदेऽनुपाश्रिते ॥ ४१० ॥

सैवेति···अनुसारिभिः

जो विषयीभूत अर्थ के भेद से बुद्धियों में भेद मानते हैं, उनके मत से भी 'सैव घटविषयिणी बुद्धिः सैव पटविषयिणी बुद्धिः' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। किन्तु 'घटविषयक-बुद्धिरपि बोध एव' एवं 'पटविषयकबुद्धिरपि बोध एव' इस प्रकार की 'बोधरूपता' की प्रत्यभिज्ञा ही होती है।

न चास्याः···अनुपाश्रिते

विषयभेद के द्वारा जिस पुरुष को ज्ञानों का औपाधिक भेद ज्ञात है, उसे ज्ञानों में रहनेवाला अभेद प्रतिभासित नहीं होता। अतः ज्ञानों के अभेद के अभिप्राय से 'तदेवेदं ज्ञानम्' इस प्रकार का व्यवहार वह नहीं करता। जिन लोगों के ज्ञानों का अभेद विषयभेद के द्वारा अभिभूत होता है, उन लोगों के ज्ञानों में व्यक्तिशः प्रत्यभिज्ञा भी अवश्य होती है ॥ ४१० ॥

एतन्मनसि कृत्वाऽह नित्ये एवेति भाष्यकृत्।
एतयैव दिशा वाच्या शुक्लादेरपि नित्यता ॥ ४११ ॥

एतन्मनसि···भाष्यकृत्

इन उपपादनों से यह निष्पन्न होता है कि प्रत्यक्षविषयीभूत द्रव्य में रहनेवाली 'क्रिया' एवं कथित चैतन्यरूपा बुद्धि को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव' (शाबरभाष्य पृ० ८८ पं० ६) यह पंक्ति लिखी है।

इस प्रसंग में आक्षेप हो सकता है कि 'चैतन्य' तो अतीन्द्रिय है, फिर भाष्यकार ने 'अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव' इस वाक्य के द्वारा बुद्धि में प्रत्यक्षत्व का अभिधान कैसे किया ? इस आक्षेप का यह उत्तर है—

यह सत्य है कि 'चितिशक्ति' अतीन्द्रिय है। किन्तु यहाँ लक्षणावृत्ति के द्वारा बुद्धि शब्द से 'चैतन्यस्वभाव का प्रमाता' ही अभिप्रेत है। प्रमाता का तो प्रत्यक्ष भी होता है एवं वह नित्य भी है। किन्तु उसका ज्ञान नाम का विकार अतीन्द्रिय भी है एवं अनित्य भी है। प्रमाता के विकृतिभूत इस ज्ञान को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'न हि ते प्रत्यक्षे' (पृ० ८८ पं० ६) यह पूर्वपक्षसन्दर्भ लिखा है।

उक्त पूर्वपक्षभाष्य और समाधानभाष्य इन दोनों का निर्गलितार्थ यह है कि पूर्वपक्षवादी ने बुद्धि और कर्म इन दोनों में जो 'नित्यत्व' की आपत्ति दी है, उसमें बुद्धि शब्द से यदि चैतन्य का ज्ञान रूप विकार अभिप्रेत हो तो यह अयुक्त होगा, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। यदि चितिशक्तिस्वभाव का पुरुष ही बुद्धि शब्द से अभिप्रेत हो तो उसमें नित्यत्व इष्ट ही है।

एतयैव''नित्यता

जिस दृष्टि से बुद्धि और कर्म में नित्यत्व और एकत्व का किया है, उसी दृष्टि से शुक्लादि गुणों में भी नित्यत्व और एकत्व का प्रतिपादन करना चाहिये ॥४११॥

संसर्गमात्रभेदेन स्यात् तत्रापि हि भेदधीः ।
स्वरूपं तु तदेवेति को जातिं कथयिष्यति ॥ ४१२ ॥

शुक्ल रूप के एक होने पर भी 'अयं शुक्लोऽयमपि शुक्लः' इत्यादि आकारों की जो विभिन्न शुक्लरूपावगाहिनी अनुवृत्तिप्रतीतियाँ होती हैं, उनका प्रयोजक है आश्रयों की विभिन्नता। इसके लिए शुक्ल रूप को विभिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्यक्ति की एकता के द्वारा ही 'स एवायं शुक्लः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं की उपपत्ति होगी। इसके लिए गुणत्व की व्याप्य शुक्लत्व नाम की किसी जाति की कल्पना भी अनावश्यक है ॥ ४१२ ॥

क्वचिद् द्रव्येण संसर्गः क्वचिच्च स्याद् गुणान्तरैः ।
शुक्लादेस्तेन भिन्नत्वं सिद्धं भासुरधूसरैः ॥ ४१३ ॥

'अयमतिशुक्लः' (यह बहुत सफेद है) 'अयमीषच्छुक्लः' (यह कम सफेद है) शुक्ल रूप की जो ये अनेक प्रतीतियाँ होती हैं, उनका प्रयोजक विभिन्न प्रकार का संसर्ग ही है। द्रव्य में केवल शुक्ल रूप के रहने पर द्रव्य में 'अतिशुक्ल' रूप की प्रतीति होती है। वही शुक्ल रूप जब नील रूप के साथ किसी द्रव्य में रहता है तो उसमें 'ईषत् श्वेत' रूप की प्रतीति होती है।

पृथिवी में 'धूसरशुक्ल', जल में 'अभास्वरशुक्ल' की जो विभिन्न शुक्लरूप-विषयिणी प्रतीतियाँ होती हैं, उनका प्रयोजक है पार्थिवादि विभिन्न द्रव्यों का संसर्ग। वस्तुतः सभी में एक ही शुक्ल रूप भासित होता है। पार्थिवादि विभिन्न द्रव्यों में विभिन्न स्वरूप से भासित होने वाला शुक्ल रूप एक ही है। इन विभिन्न प्रतीतियों के लिए विभिन्न शुक्ल रूपों की सत्ता का स्वीकार करना अनावश्यक है ॥ ४१३ ॥

ज्वालादेः क्षणिकत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञेति चेन्न तत् ।
तत्रापि प्रत्यभिज्ञेयं सामान्यं नित्यमेव नः ॥ ४१४ ॥

ज्वालादेः''प्रत्यभिज्ञेति चेत्

(पू० प०) 'सैवेयं दीपज्वाला' इस प्रकार की क्षणिक ज्वालाविषयक प्रत्यभिज्ञा होती है। किन्तु इससे एक ही ज्वाला व्यक्ति को कोई स्थायी नहीं मानता। अतः 'अयं शुक्लः, अयमपि शुक्लः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं से शुक्ल रूप की एकता सिद्ध नहीं हो सकती। शुक्ल रूप को अनेक मानने पर भी शुक्लत्व जाति के द्वारा उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो सकती है।

न, तत्''''तथापि''नित्यमेव नः

(सि० प०) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्वालादिस्थलों में भी प्रत्यभिज्ञाओं में भासित होने वाला 'ज्वालात्व' सामान्य को हम (मीमांसक) नित्य ही मानते

हैं। इस एक नित्य सामान्य के कारण ही वह विभिन्न व्यक्तियों में एकताविषयिणी कही जाती है ॥ ४१४ ॥

भेदबुद्धिस्तु यत्रांशे स्यात् केनचिदुपाधिना ।
तत्र नः प्रत्यभिज्ञानं भेदबुद्धयेव वारितम् ॥ ४१५ ॥

जहाँ कहीं व्यक्तियों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है, वह भेदप्रतीति एकत्वपर्यवासियिनी प्रत्यभिज्ञा से बाधित होने के कारण गौण ही होती है। प्रत्यभिज्ञा से ही व्यक्तियों में वास्तविक भेद का वारण हो जाता है ॥ ४१५ ॥

ह्यस्तनोच्चारितस्तस्माद् गोशब्दोऽद्यापि विद्यते ।
गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद् यथोक्तोऽद्यैष गौरिति ॥ ४१६ ॥

भाष्यकार ने शब्दभेद की सिद्धि के लिये लिखित सन्दर्भ का उपसंहार करते हुये 'ह्यस्तनस्य शब्दस्य विनाशात्' यहाँ से लेकर 'तद्वदेवमपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति' इतने पर्यन्त (पृ० ८८ से ९० पर्यन्त) का सन्दर्भ लिखा है। इससे शब्दों में अभेद-साधक इन अनुमानों का प्रयोग उन्हें अभीष्ट है—

(१) 'ह्यस्तनोच्चारितो गोशब्दोऽद्यापि विद्यते, गोशब्दज्ञानगम्यत्वात्, यथा अद्योक्तः 'एष गौः' इति शब्दः ।'

अर्थात् जिस प्रकार आज अभी उच्चरित 'एष गौः' इस शब्द के ज्ञान से ज्ञाप्य गो शब्द आज भी विद्यमान है, उसी प्रकार बीते हुये कल का उच्चारित गो शब्द भी चूँकि गोशब्दज्ञान का विषय है, अतः वह भी आज विद्यमान है। फलतः जिस गोशब्द का कल उच्चारण हुआ था वही आज भी उच्चरित हुआ है। अतः गोशब्द स्थायी है, क्षणिक नहीं ॥ ४१६ ॥

ह्यो वासीदेष गोशब्दः पूर्वोक्तेनैव हेतुना ।
यद्वा गोत्वाभिधायित्वं वाच्यो हेतुर्द्वयोरपि ॥ ४१७ ॥

ह्यो वा···हेतुना

(२) अथवा यह अनुमान भी हो सकता है—'अद्योच्चारितो गोशब्दो ह्योऽपि आसीत् गोशब्दज्ञानगम्यत्वात् अद्योच्चरितगोशब्दवत्' ।

अर्थात् आज जिस गोशब्द का उच्चारण किया जाता है, वही गोशब्द कल भी था, क्योंकि दोनों ही गोशब्द 'एष गौः' इस आकार के गोशब्दविषयक ज्ञान के विषय हैं।

यद्वा···द्वयोरपि

अथवा उन दोनों ही अनुमानों में 'गोशब्दज्ञानगम्यत्व' के बदले 'गोत्वाभिधायित्व' को हेतु बनाकर ये दोनों अनुमान हो सकते हैं—

(३) 'ह्यस्तनोच्चरितो गोशब्दोऽद्याऽपि वर्त्तते उभयोरपि गोत्वाभिधायित्वात् ।'

(४) 'अद्योच्चरितो गोशब्दो ह्योऽपि आसीत् उभयोरपि गोत्वाभिधायित्वात्' ॥ ४१७ ॥

गोशब्दबुद्धया ह्यस्तन्या गोशब्दोऽयं प्रकाशितः ।
गोशब्दविषयत्वेन यथैवाद्यप्रसूतया ॥ ४१८ ॥

अथवा अनुमान का यह आकार भी हो सकता है—

(५) जिस प्रकार आज उत्पन्न गोशब्दविषयक बुद्धि के द्वारा यह (अद्यश्रूयमाण) गोशब्द प्रकाशित होता है, उसी प्रकार आज श्रूयमाण यह गोशब्द कल उत्पन्न हुई गोशब्दविषयक बुद्धि से भी प्रकाश्य है, क्योंकि (साध्य और दृष्टान्त) दोनों ही गोशब्दविषयक बुद्धि की विषयता से युक्त हैं । (अयमद्य श्रूयमाणो गोशब्दो ह्यस्तन्या गोशब्दबुद्धया प्रकाशितः गोशब्दविषयकबुद्धिविषयत्वात् अद्य प्रसूतया गोशब्दबुद्धया प्रकाशितगोशब्दवत्) ॥ ४१८ ॥

इयं वा तं विजानाति तद्धेतोः पूर्वबुद्धिवत् ।
उभे वाप्येकविषये भवेतामेकबुद्धिवत् ॥ ४१९ ॥

इयं वा...पूर्वबुद्धिवत्

अथवा (६) यह अनुमान भी किया जा सकता है कि 'इयमद्य प्रसूता गोशब्दविषयिणीबुद्धिः तम् (गोशब्दम्) गृह्णाति गोशब्दविषयत्वात् ह्यस्तनगोशब्दबुद्धिवत् ।' अर्थात् जिस प्रकार गोशब्द केवल गोशब्दनिष्ठ विषयताशाली होने के कारण ही आज उत्पन्न गोशब्दविषयिणी बुद्धि का विषय है उसी प्रकार गो शब्द अतीत काल में उत्पन्न (ह्यस्तनी) गोशब्दविषयक बुद्धि का भी विषय है ।

उभे वा...एकबुद्धिवत्

(७) अथवा यह अनुमान भी हो सकता है कि 'अद्य प्रसूता एवं ह्यस्तनी एते द्वे अपि गोशब्दविषयिण्यौ बुद्धी गोशब्दस्वरूपकविषयिण्यौ भवेताम् शब्दैकविषयत्वात् अद्यप्रसूतह्यस्तनप्रसूतैकघटबुद्धिवत् ।'

अर्थात् जिस प्रकार आज की घटबुद्धि और कल की घटबुद्धि दोनों ही एकविषयक हैं, उसी प्रकार आज की और कल की दोनों ही गोशब्दविषयिणी बुद्धियाँ एकविषयक ही हैं ॥ ४१९ ॥

देशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोत्वबुद्धयः ।
एकगोशब्दजन्याः स्युर्गोधीत्वादेकबुद्धिवत् ॥ ४२० ॥

(८) अथवा विभिन्न देशों में एवं विभिन्न कालों में उत्पन्न जितनी भी गोत्वविषयक बुद्धियाँ हैं, वे सभी 'एक' ही 'गोशब्द' से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि सभी गोत्वविषयक बुद्धि हैं, जैसे कि एक घटविषयक सभी घटबुद्धियाँ (देशकालादिभिन्नाः समस्ता गोबुद्धयः एकगोशब्दजन्याः गोबुद्धित्वात् एकबुद्धिवत्) ॥ ४२० ॥

गोशब्दबुद्धयोऽप्येवम् एकगोशब्दगोचराः ।
गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यन्तामेकबुद्धिवत् ॥ ४२१ ॥

(९) अथवा यह अनुमान भी किया जा सकता है कि 'सर्वा गोशब्दबुद्धयः एकविषयिण्यः गोशब्दविषयत्वात् एकगोशब्दविषयकबुद्धिवत् ।' अर्थात् गोशब्द-विषयिणी सभी बुद्धियाँ एक ही गोशब्दविषयिणी हैं, क्योंकि वे सभी बुद्धियाँ गोशब्द-विषयक हैं, जैसे कि एक गोशब्दविषयक प्रतीति ॥ ४२१ ॥[1]

> गोशब्दत्वनिषेधाच्च नात्र स्यात् सिद्धसाध्यता ।
> घटादेरेकतापत्तौ जात्येष्टं सिद्धसाधनम् ॥ ४२२ ॥
> व्यक्तीनामेकतापत्तिं कुर्याच्चेदनया दिशा ।
> तस्य दृष्टविरुद्धत्वं वाच्यं सर्वप्रमाणकम् ॥ ४२३ ॥

गोशब्दत्व ... सिद्धसाध्यता

(पू० प०) सभी गोशब्दों में रहने वाली जो 'गोशब्दत्व' नाम की जाति है, उस गोशब्दत्व रूप से सभी गोशब्द एक हैं। किन्तु जातिमूलक इस अभेद से व्यक्तियों की एकता सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार गोशब्दों में एकता के ज्ञापक जितने भी अनुमान हैं, वे सभी सिद्धसाध्यक हैं। फलतः उक्त अनुमानों के सभी हेतु सिद्धसाधक हैं। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

'गोशब्दत्व' नाम की कोई स्वतन्त्र जाति नहीं है—इसका उपपादन आगे स्फोटवाद में (श्लो० ६६) किया जा चुका है।

घटादेरेकतापत्तौ ... सिद्धसाधनम्

(पू० प०) जिस रीति से गोशब्द में एकत्व और नित्यत्व की सिद्धि की गयी है, उसी रीति से 'ह्यस्तनो घटोऽद्याप्यनुवर्त्तते घटबुद्धिगम्यत्वात् अद्यतनघटवत्' इस अनुमान के द्वारा घट में भी नित्यत्व और एकत्व की सिद्धि की जा सकती है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

यदि घटत्व जाति के द्वारा घटों में एकता की सिद्धि उक्त अनुमान से करना चाहें तो उक्त अनुमान 'सिद्धसाध्यक' होगा, क्योंकि घटत्व रूप से सभी घटों की एकता को सभी स्वीकार करते हैं।

यदि व्यक्त्यंश में एकता इष्ट हो तो वह सभी प्रमाणों के विरुद्ध होगी, क्योंकि सभी व्यक्तियों में परस्पर भेद प्रमाणित है। अतः व्यक्तिपक्ष में उक्त अनुमान 'दृष्टविरुद्ध' फलतः 'सर्वप्रमाणविरुद्ध' होगा ॥ ४२२–४२३ ॥

> येऽपि स्थूलविनाशानामन्यथानुपपत्तितः ।
> कल्पयन्त्यन्तरा सूक्ष्मं विनाशित्वं प्रतिक्षणम् ॥ ४२४ ॥
> तेऽपि क्षणिकनाशित्वावधिकां स्थूलनाशिताम् ।
> शब्दानामविजानन्तो न शक्ता नाशिसाधने ॥ ४२५ ॥

---

१. उदयनाचार्य ने भी ईश्वरसाधन के लिये ९ अनुमानों का ही प्रयोग न्यायकुसुमाञ्जलि के पाँचवें स्तवक के 'कार्यायोजनधृत्यादेः' इत्यादि प्रथम श्लोक के द्वारा उपस्थित किया है।

'येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमिच्छन्ति तेऽपि शब्दे न शक्नुवन्ति वदितुम्, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तो नापि क्षयो लक्ष्यते' (शाबरभाष्य पृ० ८९ पं० १२)।

इस भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि घटादि के स्थूल विनाश के स्थूलविनाश की अनुपपत्ति के द्वारा घटादि भावों के प्रतिक्षण विनाश को जो (बौद्ध) सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, वे भी शब्द के प्रसंग में ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मुद्गरादि के प्रहार के विना भी घट का विनाश होता है। अतः मुद्गरप्रहारादि से अनपेक्ष घट का यह विनाश उसके प्रतिक्षण विनाश के विना अनुपपन्न है। इसलिए इस युक्ति से घटादि भावों के प्रतिक्षण विनाश को किसी हद तक स्वीकार भी किया जा सकता है किन्तु शब्द का तो किसी प्रकार का विनाश ही उपलब्ध नहीं है, तो फिर किस की अनुपपत्ति के कारण उनकी प्रतिक्षण विनाशिता को स्वीकार करेंगे ? स्थूलनाश की सिद्धि से सूक्ष्म प्रतिक्षण विनाश की सिद्धि का उपपादन 'विनाशस्य विनाशस्तु' (श्लोक २५ शब्दनित्यत्वाधिकरण) इत्यादि से दिखलाया जा चुका है ॥४२४-४२५॥

क्षणभङ्गे घटादीनां वार्यस्तैरेव साधनैः।
तथैव प्रत्यभिज्ञानाद् यावद् दृष्टं न बाधते ॥ ४२६ ॥

क्षणभङ्गः''साधनैः

(पू० प०) तो क्या स्थूलविनाशी घटादि पदार्थों का क्षणिकत्व आप (मीमांसकों) को इष्ट ही है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'नहीं'। शब्द के लिए कथित क्षणभङ्गनिवारक हेतुओं का ही प्रयोग घटादि के क्षणभङ्गनिवारण के लिए भी करना चाहिये। जैसे—'ह्यस्तनघटोऽद्याप्यस्ति घटत्वात् अद्यतनघटवत्'।

तथैव प्रत्यभिज्ञानात्

एवं 'कल जिस घट को मैंने देखा था उसी को आज भी देख रहा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा भी घट में क्षणभङ्ग को निराकृत समझना चाहिये।

यावद्दृष्टं न बाधते

(पू० प०) घट में स्थायित्व की सिद्धि के लिए उसका घटत्व हेतु मुद्गर के द्वारा विनष्ट घट में व्यभिचरित है, क्योंकि घटत्व की सत्ता उस घट में भी है किन्तु 'अद्यास्तित्व' रूप साध्य उसमें नहीं है ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

इस व्यभिचार से घट के स्थायित्वसाध्यक अनुमान का परिष्कार इस प्रकार करना चाहिए कि 'ह्यस्तनो घटोऽद्याप्यस्ति निष्प्रयत्नत्वे अवयवविश्लेषाभावे च सति अद्ययावत् स्थूलनाशानाक्रान्तत्वात् दृश्यमानघटवत्।'

अर्थात् कल विद्यमान रहनेवाला घट ही आज भी है, क्योंकि विना प्रयत्न के अवयवों के विभाग के न रहने पर भी स्थूलविनाश से वह आक्रान्त नहीं है, जैसे कि आज का दृश्यमान घट ॥ ४२६ ॥

साधनं तु ब्रुवाणस्य दीपज्वालादिदर्शनात्।
पूर्वोक्तेनैव मार्गेण प्रत्यक्षादिविरुद्धता ॥ ४२७ ॥

बौद्ध सम्प्रदाय के लोग 'घटादिभावाः क्षणिकाः सत्त्वात् ज्वालावत्' इस अनु-मान के द्वारा घटादि सभी भावपदार्थों में क्षणिकत्व का साधन करना चाहते हैं, उनके मत में उक्त अनुमान मे 'सोऽयं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष का विरोध होगा (एवं श्लो० ४२६ में सूचित अनुमान विरोध भी होगा) ॥ ४२७ ॥

पूर्वक्षणविनाशे च कल्प्यमाने निरन्वये।
उत्तरस्यानिमित्तत्वाद् उत्पत्तिर्नोपपद्यते ॥ ४२८ ॥

सौगत सम्प्रदाय के लोग यह कहते हैं कि भाव पदार्थों को क्षणिक माने विना उन में 'अर्थक्रियाकारित्व' अर्थात् उनसे किसी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं होगी। उन लोगों का यह कथन सत्य से ठीक विपरीत है, क्योंकि यदि सभी भाव पदार्थ क्षणमात्रस्थायी हों तो पूर्वक्षण में निरन्वय विनष्ट (जड़ मूल से नाश प्राप्त) हो जाने पर उत्तर क्षण में दूसरे घट को उत्पत्ति अव्यवहित पूर्वक्षण में किसी उपादान के न रहने से संभव नहीं होगी ॥ ४२८ ॥

अत्यन्तासन्नसौ तस्मिन्न तावद् व्यापृतिक्षमः।
स्वयं चाभावदृष्टत्वात् कस्मिन् काले करिष्यते ॥ ४२९ ॥

(इस प्रसङ्ग में बौद्धगण कहते हैं कि हम लोगों के मत से 'कोई वस्तु निरन्वयविनष्ट है' केवल इसीलिये उसको उपादानता में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि निरन्वय विनष्ट ही तन्तु प्रभृति पदार्थ पटादि भाव पदार्थों के उपादान होते हैं। बौद्धों की इस उक्ति पर हम लोगों (मीमांसकों) का कहना है कि—)

पूर्व में किसी भी प्रकार से अनुपपन्न अत्यन्त असत् पदार्थ में उत्तर काल में किसी पदार्थ के उत्पादन के अनुकूल व्यापार की क्षमता संभव नहीं है। वर्तमान-क्षणवर्तिपदार्थ भी अभावग्रस्त होने के कारण किसी भी भाव पदार्थ को उत्पन्न करने के अनुकूल व्यापार के सर्वथा अयोग्य हैं। फिर क्षणिक पदार्थ किस समय कार्य को उत्पन्न करेगा ? ॥ ४२९ ॥

नाशोत्पादसमत्वेऽपि नैरपेक्ष्यात् परस्परम्।
न कार्यकारणत्वे स्तः तद्व्यापाराननुग्रहात् ॥ ४३० ॥

नाशोत्पादसमत्वेऽपि····कारणत्वे स्तः

(यदि यह कहो कि उत्पत्तिक्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में पहले का विनाश ही उत्तर कार्य की उत्पत्ति है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

पहले का नाश एवं दूसरे की उत्पत्ति ये दोनों ही परस्पर निरपेक्ष होने के कारण समान हैं। अतः इन दोनों में कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तद्व्यापाराऽननुग्रहात्

दोनों परस्पर निरपेक्ष इसलिये हैं कि दोनों में से कोई अपनी स्थिति के लिये दूसरे के किसो व्यापार की अपेक्षा नहीं रखता है ॥ ४३० ॥

न ह्यलब्धात्मकं वस्तु पराङ्गत्वाय कल्पते।
न विनष्टं न च स्थानं तस्य कार्यकृतिक्षमम् ॥ ४३१ ॥

जब कोई पदार्थ 'आत्मलाभ' अर्थात् अपनी स्थिति में होता है, तभी वह दूसरे का 'अङ्ग' अर्थात् कारण हो सकता है। अतः अनुत्पन्न पदार्थ एवं विनष्ट पदार्थ किसी के उत्पादक नहीं हो सकते। वस्तुओं की 'अलब्धात्मकता' का पर्यवसान अनुत्पत्ति और विनाश इन्हीं दोनों में होता है। एवं एक ही क्षण में उत्पन्न होने के बाद उसके आनन्तर क्षण में ही विनष्ट होनेवाले पदार्थों में कार्योत्पादन के अनुकूल 'स्थान' अर्थात् स्थितिकाल संभव ही नहीं है। अतः इस प्रकार के क्षणिक अतः व्यापारशून्य पदार्थ से कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है ॥ ४३१ ॥

जायमानं च गन्धादि घटरूपे विनश्यति।

तत्कार्यं नेष्यते तद्वत् तथा रूपान्तराण्यपि ॥ ४३२ ॥

कारणता व्यापार के अधीन है, केवल पूर्ववर्त्तिता मात्र से कारणता नहीं होती है, क्योंकि घट का स्वगत स्वरूप ही स्व में स्वसदृश रूप का उत्पादक (बौद्धों के मत से भी) होता है, उसी घट में उत्पद्यमान गन्ध का नहीं। किन्तु विनष्ट रूप में तो उत्पद्यमान रूप की तरह घट में उत्पद्यमान गन्धादि की भी पूर्ववृत्तिता है ही। अतः यह क्षणभङ्गवाद ठीक नहीं है ॥ ४३२ ॥

तस्मात् प्राक्कार्यनिष्पत्तेर्व्यापारो यत्र दृश्यते।

तदेव कारणं तस्य न त्वानन्तर्यमात्रकम् ॥ ४३३ ॥

'तस्मात्' कार्योत्पत्ति के पूर्व जिसमें अनुकूल व्यापार देखा जाता है, उस व्यापार से विशिष्ट पूर्ववर्ति वस्तु ही उस कार्य का कारण है। केवल जिसके अनन्तर जिस की उत्पत्ति हो, वही उसका कारण नहीं होता है। अर्थात् आनन्तर्य और व्यापारवत्त्व दोनों ही कारणत्व के प्रयोजक हैं।

'तस्मात्' बौद्धगण जो क्षणिकत्व के विना कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति देते हैं, ठीक इसके विपरीत क्षणभङ्गपक्ष में कार्यकारणभाव की सर्वथा असंभावना दोष ही है ॥ ४३३ ॥

ज्वालादेरपि नाशित्वं नैव सिद्धं प्रतिक्षणम्।

लघवोऽवयवास्तत्र यान्ति देशान्तरं लघु ॥ ४३४ ॥

(मीमांसकों से पूछा जा सकता है कि दीपज्वाला को क्षणिक वे भी मानते हैं, दीपज्वाला से 'प्रभा' की उत्पत्ति को सभी मानते हैं, । फिर क्षणिक पदार्थों से कार्यों की अनुत्पत्ति की बात वे कैसे करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर मीमांसकगण इस प्रकार देते हैं कि—)

ज्वाला को भी हम लोग उस प्रकार का क्षणिक नहीं मानते, जिस प्रकार बौद्धगण सभी भाव पदार्थों को क्षणिक कहते हैं। हम लोग तो एक ही ज्वाला की सत्ता को तीन चार क्षणों तक स्वीकार करते हैं। बौद्धगण तो उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही वस्तुओं का विनाश मानते हैं।

अतः हमलोगों के मत से ज्वाला से 'प्रभा' की उत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है कि ज्वाला के 'लघुभूत' (शीघ्रगामी) अवयव दूसरे देशों में जाकर 'प्रभा' को उत्पन्न करते हैं। व्यापार के लिये अपेक्षित सत्ता ज्वाला की है ही ॥ ४३४ ॥

प्रभूतं वर्त्तिदेशे हि तेजस्तिष्ठति पिण्डितम् ।
तत्र यावद् व्रजत्यूर्ध्वं तावज्ज्वालेति गम्यते ॥ ४३५ ॥

दीप के वर्त्तिकाप्रदेश में तेज 'प्रभूत' अर्थात् प्रचुर रहता है। यह (अनेक अवयवों से युक्त) 'पिण्डित' तेज जितने दूर तक जाता है, उतने दूर तक 'यह ज्वाला है' इस आकार की प्रतीति होती है, अर्थात् उतने दूर तक ज्वाला की ही प्रतीति होती है ॥ ४३५ ॥

ततोऽपि यदतिक्रम्य याति तत् स्यात् प्रभात्मकम् ।
ततः परं तु यद् याति तत् सौक्ष्म्यान्नावधार्यते ॥ ४३६ ॥

जहाँ तक ज्वाला की प्रतीति होती है, उससे आगे जो उस पिण्डित तेज के अवयव जाते हैं, उसी को 'प्रभा' कहते हैं।

ततः परं तु···नावधार्यते

जहाँ तक प्रभा की प्रतीति होती है, उससे आगे भी उक्त पिण्डित तेज के अवयव अवश्य जाते हैं। तेज के अवयव अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अतः प्रभा के आगे उनका भान नहीं होता। इसलिये आगे प्रभा की प्रतीति नहीं होती है ॥ ४३६ ॥

उत्तरावयवै रुद्धे मार्गे पूर्वे न यान्ति च ।
यथोत्तरे विमुञ्चन्ति पूर्वे यान्ति तथा तथा ॥ ४३७ ॥

(पू० प०—मान लिया कि ज्वाला प्रतिक्षण विनाशशील नहीं है, तीन या चार क्षणों तक उसकी स्थिति रहती है। किन्तु इसलिये वह चलती क्यों है जिससे आगे प्रभा की सृष्टि होती है ? वह जहाँ को तहाँ क्यों नहीं रहती ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

'उत्तर' अर्थात् दीपज्वाला के ऊर्ध्वगत अवयवों से 'पूर्व' अर्थात् दीपज्वाला के अधोगत (नीचेवाले) अवयवों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। कथित ऊपरवाले अवयव जिस क्रम से राह छोड़ते जाते हैं, उसी क्रम से नीचेवाले अवयव से 'प्रभा' की सृष्टि होती चलती है ॥ ४३७ ॥

संक्रान्तावपि तेनैषां तृणादौ वृद्ध्यसम्भवः ।
शब्दे वृद्ध्याद्यभावोऽपि ध्वनिशैघ्र्येण जायते ॥ ४३८ ॥

संक्रान्तावपि···वृद्ध्यसंभवः

(पू० प०—तेज (दीप) के जिन अवयवों से 'प्रभा' बनती है, वे अवयव बिखरे से रहते हैं, अर्थात् आने वाले अन्य अवयवों के साथ संयुक्त होने का गुञ्जाइश रहती है। फिर यह कल्पना क्यों करते हैं कि अधःस्थित दीपशिखा के अवयव ऊर्ध्वस्थित दीपशिखा के अवयवों के हटने पर आगे की ओर बढ़ते हैं ? उन अवयवों के साथ संयुक्त होकर ठहर ही क्यों नहीं जाते ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

ऐसी सम्भावना अवश्य है, किन्तु ऐसा मानने पर 'पूर्व' और 'उत्तर' दोनों दीपशिखाओं के अवयवों के संयुक्त होने पर जो ज्वाला उत्पन्न होगी, वह काष्ठादि

की ज्वालाओं की तरह निविड़ होगी जिससे तृणादि के नाश की आपत्ति आ पड़ेगी। किन्तु इस प्रकार के प्रभा रूप तेज से तृणादि के जल जाने की कल्पना 'दृष्ट-विरुद्ध' है।

दूसरी बात यह भी है कि तेज गतिशील द्रव्य है, वह एक स्थान पर विना किसी प्रयत्न के ठहर नहीं सकता।

शब्दे वृद्ध्याद्यभावोऽपि

तेज द्रव्य के समान ही ध्वनियाँ भी शीघ्रगामिनी हैं, अतः बार-बार शब्दों के उच्चारित होने पर भी शब्दों में वृद्धि का अवभास नहीं होता, क्योंकि 'पूर्व' ध्वनियों के श्रोत्र से निकलने पर 'उत्तर' ध्वनियाँ उस स्थान पर आती हैं। अतः पूर्वोत्तर दोनों ध्वनियाँ किसी स्थान पर एकत्र नहीं होतीं। इसलिए शब्द में वृद्धि का अव-भास नहीं होता है ॥ ४३८ ॥

शरीरे यौवनाद्याप्तिः परिणामाच्च सेत्स्यति।
तथा हि सन्निवेशादि प्रत्यभिज्ञायते जनैः ॥ ४३९ ॥

शरीरे यौवनाद्याप्तिः''सेत्स्यति

(बौद्धों का कहना है कि 'सोऽयं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं की उपपत्ति वस्तुओं को क्षणिक मानने पर भी हो सकती है। प्रत्यभिज्ञा के लिए वस्तु का स्थायी होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शरीर को क्षणिक मानना इसलिए आवश्यक है कि उसकी बाल्य-यौवनादि अवस्थायें देखी जाती हैं। उन अवस्थाओं को शरीर से अभिन्न मानना ही ही होगा। यदि भिन्न मानेंगे तो जिस प्रकार घट को छोड़कर अलग भी पट को प्रतीति होती है, उसी प्रकार शरीर को छोड़कर अलग स्वतन्त्र रीति से भी यौवनादि अवस्थाओं की प्रतीति माननी होगी। किन्तु सो लोकविरुद्ध है।

इन यौवनादि अवस्थाओं को यदि शरीर से अभिन्न मानेंगे, तो शरीर भी इन यौवनादि अवस्थाओं के समान ही क्षणिक होगा।

इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि 'घटादयः सर्वे भावाः क्षणिकाः अव-स्थात्वात् शरीरवत्'। बौद्धों के इस कथन का यह उत्तर है—

शरीर की यौवनादि अवस्थाओं को शरीर के ही परिणतिविशेष रूप मान लेने से ही शरीर की विभिन्न अवस्थाओं की प्रतीति उत्पन्न हो जायगी। इसके लिये नाना अवस्थाओं के आश्रयीभूत शरीर को भिन्न मानना आवश्यक नहीं है। अव-स्थाओं से भिन्न मानना आवश्यक न हो पर शरीर को क्षणिक मानना भी आव-श्यक नहीं। इसलिए शरीर भी प्रत्यभिज्ञायमान घटादि की तरह 'एक' है, प्रतिक्षण भिन्न नहीं।

तथा हि संनिवेशादि''जनैः

जो कोई अवस्था के भेद से अवस्थावाले शरीर को भी भिन्न मानेंगे, अर्थात् बाल्यादि अवस्थाओं के भेद से एकत्व रूप से प्रत्यभिज्ञायमान शरीर को भी भिन्न

मानेंगे, उन्हें लोकसिद्ध 'तदेवेदं शरीरम्' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध का सामना करना पड़ेगा ।। ४३९ ।।

तत्रान्यानन्यवृत्तीनाम् अनेकान्तस्वभावतः ।
उत्पत्तिस्थितिनाशानां विरोधः प्राङ्निराकृतः ।। ४४० ।।

बौद्धों का जो यह कहना है कि शरीर और उसकी बाल्य-यौवनादि अवस्थायें चूँकि अभिन्न हैं, अतः अवस्थाओं से अभिन्न होने के कारण अवस्थावान् शरीर भी अवस्थाओं के समान ही विनाशशील है। किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

पहले बार-बार इस बात का प्रतिपादन किया जा चुका है कि कदाचित् 'अन्य' प्रतिभात होनेवाले एवं कदाचित् 'अनन्य' प्रतिभात होनेवाले पदार्थ चूँकि 'एकान्त' स्वभाव के नहीं होते, अतः प्रतिक्षण उत्पत्ति-विनाशशील अवस्थाओं से कभी भिन्न प्रतीत होनेवाले एवं कभी अभिन्न प्रतीत होनेवाले शरीर को नियमतः (एकान्ततः) प्रतिक्षण उत्पत्तिविनाशशील नहीं स्वीकार किया जा सकता ।। ४४० ।।

एकसन्तानसम्बन्धात् प्रत्यभिज्ञानकल्पना ।
ज्ञानसन्ततिमार्गेण कार्यान्यत्वाद्यसम्भवात् ।। ४४१ ।।

बौद्धों ने जो 'सोऽयं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं की उपपत्ति अनेक क्षण में उत्पन्न अनेक घटों के एकसन्तान (समूह) में रहने के कारण कहा है, उसका भी खण्डन अनेक बार 'सन्तान सन्तानी से भिन्न है अथवा अभिन्न' इस विकल्प में किसी कल्प की उपपत्ति सम्भव न होने से किया जा चुका है ।। ४४१ ।।

एवं स्थितस्य शब्दस्य श्रुतिकालात् क्षणान्तरे ।
सम्भाव्यते विनाशित्वं न भूयोऽन्येन हेतुना ।। ४४२ ।।

जब 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के द्वारा श्रवणकाल में शब्द की प्रतिक्षण उत्पत्ति निराकृत हो जाती है तो शब्द को नित्य मानना आवश्यक न होने पर भी यह घटादिवत् स्थायी हो जाता है। किन्तु शब्द का चूँकि स्वारसिक विनाश स्वभाव, मुद्गरादि सहकारणजनित विनाश का स्वभाव, इन दोनों में से कोई भी उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये शब्द को नित्य ही मानना होगा। यही बात 'अनपेक्षत्वात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २१) और उसके भाष्य के द्वारा कही गयी है।

इस सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि जो घटादि पदार्थ अपनी सत्ता के लिये कपालादि समवायिकारणों, कपालसंयोगादि असमवायिकारणों एवं दण्ड-कुलालादि निमित्तकारणों की अपेक्षा रखते हैं, उन समवायिकारणादि के अभावों से घटादि कार्यों का अभाव मानना पड़ता है। फलतः घटादि पदार्थ अनित्य होते हैं। शब्द की सत्ता के लिये घटादि पदार्थों की सत्ता की तरह किन्हीं समवायादि कारणों की अपेक्षा नहीं है। शब्द में जो कारणों की यह 'अनपेक्षा' है उससे समझते हैं कि 'शब्द नित्य है' ।। ४४२ ।।

यथा शस्त्रादिभिर्भेदाज्जरया वा पटादयः ।
नश्यन्तीत्यवगम्यन्ते नैवं शब्देऽस्ति कारणम् ॥ ४४३ ॥

जिस प्रकार चाकू आदि शस्त्रों से कट जाने पर अथवा पुराना पड़ जाने पर शस्त्रों से या पुरानेपन से पटादि द्रव्यों का विनाश ज्ञात होता है, उस प्रकार से शब्द के विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं है । अतः शब्द अविनाशी है ॥ ४४३ ॥

शब्दो यथा पौद्गलिको निषिद्धः,
स्याद् वायवीयस्य स एव मार्गः ।
तस्मादनिर्धारितहेतुमार्गः
सर्वत्र साक्षाद् भवतीति नित्यः ॥ ४४४ ॥

शब्दो यथा…स एव मार्गः

'प्रख्याभावाच्च' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २२) इस सूत्र के द्वारा शिक्षाकार के इस मत का खण्डन किया गया है कि 'शब्द वायवीय है, एवं सावयव (अवयवी) है' ।

शिक्षाकार ने 'वायुरापद्यते शब्दताम्' इस वेदवाक्य को ध्यान में रखकर ही शब्द को 'वायूपादानक द्रव्य' कहा है । शिक्षाकार के इस मत को ही पूर्वपक्ष मानकर उक्त सूत्र से समाधान किया गया है । इस सिद्धान्तसूत्र की व्याख्या करने से पहले उक्त पूर्वपक्ष का उद्भावन कर लेना चाहिये ।

सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि जिस प्रकार घटादि में कपालादि स्वरूप पार्थिव अवयव उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार शब्द में वायवीय अवयवों की 'प्रख्या' अर्थात् प्रमात्मक उपलब्धि नहीं होती है । अतः शब्द वायूपादानक द्रव्य नहीं है । इसलिये शब्द को वायूपादानक द्रव्य मानकर अनित्य नहीं कहा जा सकता ।

शब्दो यथा…स एव मार्गः

'प्रख्याभावाच्च' इस सूत्र का तात्पर्य है कि (१) उच्चारण शब्द का अभिव्यञ्जक ही है, उत्पादक नहीं है । (२) एवं जिस लिये कि शब्द के 'भाग' अर्थात् अवयव उपलब्ध नहीं होते (३) एवं शब्द की सत्ता सभी देशों में है (४) एवं शब्द का अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः इन चार हेतुओं से समझते हैं कि शब्द सर्वगत अर्थात् व्यापक भी है । तस्मात् शब्द आकाशादिवत् व्यापक और नित्य है ॥ ४४४ ॥

इति शब्दनित्यत्वाधिकरणम् ॥

अथ वाक्याधिकरणम्

[1]पदार्थपदसम्बन्धनित्यत्वे साधितेऽपि वः।
नैव वेदप्रमाणत्वं वाक्यार्थं प्रति सिध्यति ॥ १ ॥

(पू० प०) पद, पदार्थ और इन दोनों के सम्बन्ध इन तीनों की नित्यता का प्रतिपादन यद्यपि शब्दनित्यत्वाधिकरण, आकृत्यधिकरण एवं सम्बन्धाक्षेपपरिहार-प्रकरण में किया जा चुका है है, तथापि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के द्वारा जो धर्म का ज्ञापक प्रमाण कहा गया है, वह उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि आगे कथनीय युक्ति के द्वारा पद, पदार्थ और वाक्यार्थ इनमें से किसी में भी वाक्यार्थ-

---

१. इस अधिकरण का विषय है 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि 'चोदना' स्वरूप 'वाक्य'। इसलिए इस अधिकरण को 'वाक्याधिकरण' कहते हैं। चोदनास्वरूप वेदवाक्य धर्म और अधर्म के ज्ञापक प्रमाण हैं, अथवा नहीं—यही संशय प्रकृत अधिकरण का प्रयोजक 'अंग' है। 'अवश्य ही धर्म और अधर्म के बोधक वाक्य प्रमाण हैं' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस अधिकरण का प्रधान उद्देश्य है। इस सिद्धान्त के प्रतिपक्षभूत पूर्वपक्ष का उपपादक यह सूत्र है—

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २४)

इस सूत्र का सप्तम्यन्त 'उत्पत्ति' शब्द नित्यत्व के वाचक 'औत्पत्तिक' अर्थ में लाक्षणिक है, जैसे कि आगे 'द्यावोस्तथेति चेत्' (अ० ९ पा० ३ सू० १८) इस सूत्र के 'द्यावोः' शब्द को द्यावा और पृथिवी इन दोनों में लाक्षणिक मानकर आगे भाष्यकार ने व्याख्या की है (देखिये पृ० १७५४ पं० १६ आनन्दाश्रम संस्करण) तदनुसार प्रकृत पूर्वपक्षसूत्र का अक्षरार्थ यह है—

(१) शब्द, (जातिस्वरूप) (२) अर्थ एवं इन दोनों के (३) वाच्यवाचक सम्बन्ध इन तीनों के 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य होने पर भी धर्म के ज्ञापन में वेदवाक्य 'अवचन' अप्रमाण ही ठहरते हैं, क्योंकि (१) वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक वर्ण वाक्यार्थ स्वरूप 'धर्म' के वाचक हैं ? अथवा (२) वाक्य में प्रयुक्त विशेषवर्णसमूहात्मक प्रत्येक पद वाक्यार्थ का प्रमापक है ? किं वा (३) पदसमूहात्मक संपूर्ण वाक्य ही वाक्यार्थ का ज्ञापक है ? इन विकल्पों के किसी पक्ष को स्वीकार करने से वाक्यार्थबोध और वाक्य इन दोनों में कार्यकारणभाव की निष्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार 'पदार्थ' में भी वाक्यार्थबोध की कारणता निष्पन्न नहीं होती है, क्योंकि पदार्थों के साथ वाक्यार्थबोध का 'सम्बन्ध' ही निष्पन्न नहीं होता है। इसी वस्तुगति को समझाने के लिए 'अर्थस्यातन्निमित्तत्वात्' वाक्य है। सूत्रस्थ 'अर्थ' पद के द्वारा 'तन्त्र' से 'पदार्थ' और 'वाक्यार्थ' दोनों को समझना चाहिए। तदनुसार 'अर्थस्य' पद का 'पदार्थवाक्यार्थयोः' ऐसा विवरण समझना चाहिये।

इसी दृष्टि से भाष्यकार ने 'यद्यप्यौत्पत्तिको नित्यः शब्दः, सम्बन्धश्च। तथापि न चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह वाक्य उक्त सूत्र की व्याख्या के लिए लिखा है (शाबर-भाष्य पृ० ९१ पं० १०)।

इस प्रकरण के वार्तिक के ११० वें श्लोक के पूर्वार्द्धपर्यन्त इस अधिकरण के पूर्वपक्ष का उपपादन है, इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध से अन्त तक इस अधिकरण के सिद्धान्त का उपपादन किया गया है।

प्रमा की कारणता उपपन्न नहीं होती है। विना प्रमाण के उत्पन्न प्रतीति 'प्रातिभज्ञान'[1] की तरह अप्रमा होने से अविश्वसनीय होगी। अतः शब्द के नित्यत्व के लिए किया गया यह सारा प्रयास व्यर्थ ही है[2] ॥ १ ॥

पदानि गमयेयुस्तं प्रत्येकं संहतानि वा।
व्यतिरिक्तोऽथ वा शब्दः पदार्था वापि पूर्ववत् ॥ २ ॥
तत् प्रमाणं स्मृतीनां च तथा सम्बन्धतद्धियाम्।
प्रत्येकं संहतत्वेन तद्वदेव विकल्पनम् ॥ ३ ॥
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषामनिमित्तता।
अन्यः प्रतीतो न ह्यन्यं गमयिष्यत्यसङ्गतम् ॥ ४ ॥

पदानि ... पूर्ववत् ... तत्प्रमाणम् ... विकल्पनम् ... अनिमित्तता

(पू० प०) वाक्य से वाक्यार्थबोध का उपपादन निम्नलिखित रीतियों में से किसी रीति से संभव है। वाक्य में प्रयुक्त पदों से हो वाक्यार्थबोध होता है तो क्या—

(१) वाक्यघटक प्रत्येक पद वाक्यार्थबोध का उत्पादन करता है ?

(२) अथवा वाक्यघटक सभी पद मिलकर वाक्यार्थविषयक बोध को उत्पन्न करते हैं ?

---

१. प्रातिभज्ञान के लिए देखिये प्रशस्तपादभाष्य का यह वाक्य—'आम्नायविधातॄणां यत् प्रथममर्थनिवेदनम् ... आर्षम् (पृ० ६२७ संस्कृतविश्वविद्यालय संस्करण)।

२. इस प्रसङ्ग में विचारणीय है कि जाति की नित्यता का प्रतिपादन तो नहीं किया गया है। 'आकृत्यधिकरण' के वार्तिक में भी आकृति (जाति) की सत्ता का ही प्रतिपादन किया गया है, आकृति की नित्यता का नहीं। भाष्यकार ने भी 'यद्यप्यौत्पत्तिक' इत्यादि सन्दर्भ से शब्द एवं शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का ही प्रतिपादन किया है, पदार्थ की नित्यता का नहीं। फिर वार्तिककार ने पदार्थ की नित्यता का 'अनुभाषण' कैसे किया ?

इस आक्षेप के उत्तर में पार्थसारथि मिश्र ने वार्तिक की अपनी न्यायरत्नाकर व्याख्या में लिखा है कि जिस न्याय के द्वारा शब्द की नित्यता प्रतिपादित हुई है, उसी न्याय से 'आकृति' स्वरूप 'पदार्थ' की नित्यता को प्रतिपादित ही समझना चाहिए, क्योंकि 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं के द्वारा शब्द की नित्यता प्रतिपादित हुई है, यह प्रत्यभिज्ञा आकृति स्वरूप विषय में भी समान है, क्योंकि किसी एक व्यक्ति के देखने के बाद तत्सजातीय दूसरे व्यक्ति को देखने पर इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। तस्मात् जिस प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आकृति का प्रतिपादन किया गया है उसी समय उसी प्रत्यक्ष से आकृति की सत्ता के समान ही उसको नित्यता भी प्रतिपादित (भासित) हो गयी। इसलिए पदार्थनित्यत्व का वार्तिककार ने 'अनुभाषण' किया है। अतः वार्तिककार का यह अनुभाषण असङ्गत नहीं है।

(३) अथवा वाक्य में प्रयुक्त पदों से भिन्न तदभिव्यक्त 'स्फोट' स्वरूप शब्द ही वाक्यार्थबोध को उत्पन्न करता है ?

(४) किं वा पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थ ही पूर्वकथित न्याय से वाक्यार्थ-बोध को उत्पन्न करते हैं ?

इनमें से जिसके द्वारा वाक्यार्थप्रमा की उपपत्ति होगी वही वाक्यार्थ का ज्ञापक प्रमाण होगा।

एवं इनमें जो कोई भी वाक्यार्थ प्रमा का 'करण' स्वरूप 'प्रमाण' होगा, वह अपने द्वारा उपस्थित (१) स्मृतियों के अथवा (२) 'स्व' (अर्थात् पदादि) एवं 'अर्थ' अर्थात् वाक्यार्थ इन दोनों के सम्बन्धविषयक ज्ञान के द्वारा ही वाक्यार्थ-प्रमा का 'करण' होगा। अर्थात् कथित स्मृति एवं तदर्थविषयक ज्ञान इन दोनों में से ही कोई करणत्व का संपादक व्यापार होगा।

'करण' को 'व्यापार' से युक्त होना आवश्यक है। इस स्थिति में व्यापार के प्रसङ्ग में भी यह विकल्प उपस्थित होता है—(१) क्या प्रत्येक पदजन्य वाक्यार्थ की उपस्थिति (स्मृति) व्यापार है ? (२) अथवा सभी पदों से मिलकर ही वाक्यार्थ-स्मृति रूप व्यापार उत्पन्न होगा ? (३) अथवा स्फोटात्मक विलक्षण शब्द के द्वारा वाक्यार्थस्मृति रूप व्यापार उत्पन्न होगा ? किं वा (४) पदार्थ स्वकीय स्मृति स्वरूप व्यापार को उत्पन्न करेगा ?

इसी प्रकार 'तदर्थबोध' को यदि व्यापार मानेंगे तो कथित रीति से वे सभी विकल्प यहाँ भी इस प्रकार उपस्थित होंगे—(१) तदर्थबोधस्वरूप व्यापार क्या प्रत्येक पद से उत्पन्न होता है ? (२) अथवा सभी पद मिलकर उक्त तदर्थविषयक बोध रूप व्यापार को उत्पन्न करते हैं ? किं वा (३) स्फोटात्मक विशेष प्रकार के शब्द से ही उक्त तदर्थ स्वरूप व्यापार उत्पन्न होता है। (४) अथवा 'पदार्थ' से ही तदर्थविषयक बोध रूप व्यापार उत्पन्न होता है ?

(१) प्रत्येक पद (२) संघबद्ध पदसमुदाय (३) स्फोट और (४) पदों से उप-स्थित पदार्थ इन सभी में वाक्यार्थप्रमा का कारणत्व स्वरूप प्रामाण्य इस एक ही बात से खण्डित हो जाता है कि उनमें से किसी का भी वाक्यार्थ (स्वरूप प्रमेय) के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नहीं है।

अन्यः प्रतीतः·····असङ्गतम्

(जिस प्रकार चक्षुरादि करण रूपादि के साथ सङ्गतिज्ञान से रहित होने पर भी रूपादि की प्रत्यक्षात्मक प्रमा का उत्पादक होने से प्रमाण होते हैं उसी प्रकार पदादि का अर्थ के साथ सङ्गतिज्ञान के न रहने पर उनसे वाक्यार्थ-बोध नहीं हो सकता, क्योंकि चक्षुरादि 'स्वरूपसत्' ही अर्थात् केवल अपनी सत्ता से ही रूपादि प्रमाओं के उत्पादक हैं, किन्तु पदादि धूमादि हेतुओं के समान ज्ञात होकर ही अर्थविषयक प्रमा के उत्पादक हैं। अतः जिस प्रकार धूमादि हेतुओं का जब तक वह्नि प्रभृति साध्यों के साथ व्याप्तिसम्बन्ध गृहीत नहीं होता तब तक उनसे वह्निप्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञात होकर प्रमा के उत्पादक

पदादि भी जब तक ज्ञेय अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ज्ञात नहीं हो जाते तब तक उनसे वाक्यार्थ की प्रमात्मक प्रतीति नहीं हो सकती। पदादि का वाक्यार्थ के साथ वाच्यवाचकसम्बन्ध गृहीत नहीं है, अतः उनसे वाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकता ॥२-४॥

अप्रतीतश्च सम्बन्धो नाप्यसत्त्वाद् विशिष्यते।
न चाविज्ञायमानस्य सद्भावोऽपि प्रमाणवान् ॥ ५ ॥

अप्रतीतश्च ....विशिष्यते

'पदादि का वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध है' केवल इतने से ही बिना ज्ञात हुये उस सम्बन्ध से अर्थप्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञात सम्बन्ध तो अविद्यमान के ही समान है।

न च ....प्रमाणवान्

दूसरी बात यह भी है कि जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ज्ञात नहीं है, उसकी सत्ता भी अप्रामाणिक ही है ॥ ५ ॥

वाक्यवाक्यार्थयोर्नापि वस्तुत्वमुपपद्यते।
स्पष्टं पदतदर्थाभ्यामन्यानन्यानिरूपणात् ॥ ६ ॥

वस्तुतः 'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' इन दोनों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि (१) पदों से वाक्य भिन्न है अथवा अभिन्न एवं पदार्थों से वाक्यार्थ भिन्न है अथवा अभिन्न इन विकल्पों का कोई भी पक्ष स्थिर नहीं है।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि चोदना स्वरूप वाक्य ही वाक्यार्थप्रतीति का कारण है। अतः पदादि अन्य पदार्थों में वाक्यार्थबोधजनकता का निराकरण व्यर्थ है, क्योंकि कथित युक्ति के अनुसार वाक्यार्थ नाम का कोई स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं है। अतः चोदना स्वरूप वाक्य नाम का कोई वाक्य नहीं है ॥ ६ ॥

न तावदगम्येते कैश्चित् तद्व्यतिरेकतः।
यौगपद्यागृहीतेश्च समुदायौ न सिध्यतः ॥ ७ ॥

न तावत् ....व्यतिरेकतः

यदि वाक्य को पदों से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) मानें कि वा वाक्यार्थ को पदों के अर्थों से अभिन्न मानें तो वाक्य पदस्वरूप ही हो जायगा एवं वाक्यार्थ भी पदों के अर्थ स्वरूप ही होगा। फिर वाक्य और पदों की स्वतन्त्र सत्ता अनुपपन्न हो जायगी।

यदि वाक्य में पदों का 'व्यतिरेक' अर्थात् भेद मानें एवं वाक्यार्थ में पदों के अर्थों का भेद मानें तो वाक्य और वाक्यार्थ इन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सकती है, किन्तु ऐसा स्वीकार करना भी संभव नहीं है, क्योंकि पदों से भिन्न वाक्य की कोई प्रतीति नहीं होती है, एवं पदों के अर्थों से भिन्न वाक्यार्थ नाम की किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार वाक्यार्थबोध का प्रामाण्य ही खण्डित हो जाता है।

यौगपद्याऽगृहीतेश्च'''न सिद्ध्यति

(पू० प०—चूँकि 'पदों का समुदाय ही वाक्य है, एवं पदार्थों का समूह ही वाक्यार्थ है' इस प्रकार वाक्य में भिन्नत्व की एवं वाक्यार्थ में पदार्थ की प्रतीति होती है। अतः कैसे कहते हैं कि वाक्य में और वाक्यार्थ में क्रमशः पद और पदार्थ के भेद की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि समुदाय से समुदायी (प्रत्येक) भिन्न ही होता है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

पदों का वाक्य नाम का कोई समुदाय एवं पदार्थों से पदार्थसमूह नाम का कोई समुदाय ही उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि 'युगपद् गृहीत' अर्थात् एक ही समय ज्ञात वस्तुओं का एक 'समुदाय' होता है। क्रमशः उच्चरित पद क्रमशः ही ज्ञात होते हैं एवं उनके अर्थ भी क्रमशः ही ज्ञात होते हैं। अतः 'युगपदगृहीत' गो-घटादि का जैसे कोई एक समुदाय नहीं होता, वैसे युगपदगृहीत पदों और पदार्थों का भी कोई समुदाय नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

न सत्तायौगपद्यस्य व्यवहाराङ्गतेष्यते ।
सर्वनित्यतया मा भूद् विशेषानवधारणम् ॥ ८ ॥

न सत्ता'''इष्यते

पदों या पदार्थों का युगपद्ग्रहण भले ही संभव न हो, दोनों की युगपत्सत्ता तो है। इस युगपत्सत्त्व से ही पदों के समुदाय एवं पदार्थों के समुदाय की उपपत्ति होगी। किन्तु ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि—

सत्ता के यौगपद्य से समुदाय का व्यवहार नहीं होता। इस लिये सत्ता के यौगपद्यको समुदाय के व्यवहार का 'अंग' अर्थात् कारण नहीं माना जा सकता।

सर्वनित्यता''अनवधारणम्

यदि 'सत्तायौगपद्य' अर्थात् व्यक्तियों की एक समय स्थिति के कारण ही 'समुदाय' का व्यवहार मानें तो सभी पद नित्य होने के कारण एक समय वर्त्तमान रहते हैं। एवं सभी आकृतियाँ (जातियाँ) भी नित्य होने के कारण एक ही समय वर्त्तमान हैं। उनकी इस 'एकसमयवर्त्तिता' स्वरूप 'सत्तायौगपद्य' के कारण घटादि सभी पदों से वाक्य एवं घटत्व पटत्वादि सभी जातियों से वाक्यार्थ का व्यवहार मानना होगा। किन्तु सो अनुचित है। अतः सत्तायौगपद्य को समुदायव्यवहार का नियामक नहीं माना जा सकता ॥ ८ ॥

ज्ञानानां क्रमवर्त्तित्वाद् यौगपद्येऽप्यसम्भवः ।
तेन तत्समुदायोऽपि न वाक्यार्थः प्रतीयते ॥ ९ ॥

इसलिये 'ज्ञानयौगपद्य' को ही समुदायव्यवहार का कारण मानना होगा। किन्तु एक ही समय में प्रयुक्त सभी पदों का ज्ञान चूँकि संभव नहीं है, एवं सभी पदार्थों का ज्ञान भी संभव नहीं है, इसलिये न पदों का समुदाय वाक्य है, न पदार्थों का समुदाय 'वाक्यार्थ' है ॥ ९ ॥

सम्बन्धपूर्वकत्वं च वाक्यवाक्यार्थयोः स्थितम् ।
स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १० ॥

दूसरी बात यह है कि इतस्ततः विक्षिप्त विश्लिष्ट पदों का समूह 'वाक्य' हो भी नहीं सकता, एवं जिस किसी पदार्थों का समूह भी वाक्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा मानें तो 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती' इन पदों के समूह को भी वाक्य मानना होगा, एवं घटत्व पटत्वादि आकृतियों के समूह को भी 'वाक्यार्थ' कहना होगा। किन्तु ऐसा कहना वस्तुगति के विरुद्ध है।

अतः परस्पर सम्बद्ध पदों के समूह को, अथवा पदों के परस्पर सम्बन्ध को ही 'वाक्य' मानना होगा। इसी प्रकार पदों का परस्पर सम्बद्ध अर्थ ही 'वाक्यार्थ' है, किं वा पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध ही वाक्यार्थ है। यही 'समूहवादियों' का कहना है ॥ १० ॥

सम्बन्धश्चानपेक्षत्वात् कस्यचिन्नावकल्पते।
पदानि तावद् वर्णा वा स्वरूपेणं कदाचन ॥ ११ ॥
अनर्थकेष्वदृष्टत्वादपेक्षन्ते परस्परम्।
न चानुच्चारितः शब्दः शक्नोत्यन्यमपेक्षितुम् ॥ १२ ॥
यौगपद्यं तु नास्त्येव न चोच्चार्य तिरोहितः।
अपेक्षणेऽपि सम्बन्धो नैव कश्चिन प्रतीयते ॥ १३ ॥

सम्बन्धश्च'''अवकल्पते

किन्तु पदों में या पदार्थों में उपयुक्त सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता।

पदानि तावत्'''अपेक्षितुम्

जिस प्रकार एक पद के अनेक वर्ण स्वरूपतः परस्पर सापेक्ष नही होते, उसी प्रकार वाक्य के घटक पदों में भी स्वरूपतः परस्पर सापेक्षता संभव नहीं है, क्योंकि दोनों को यदि परस्पर सापेक्ष मानें तो अनर्थक पदों में अथवा अज्ञात सम्बन्ध वाले पदों के प्रथम श्रवण में परस्पर अपेक्षा माननी होगी, जो नहीं देखी जाती है।

नचाऽनुच्चारित'''अपेक्षितुम्

दूसरी बात यह भी है कि अनुच्चारित शब्दों में परस्पर सापेक्षता संभव ही नहीं है। पदों में भी यौगपद्य संभव नहीं है, क्योंकि यौगपद्य एककालवृत्तित्व रूप है। अतः उनमें भी परस्परापेक्षा संभव नहीं है, क्योंकि उच्चारण के बाद वे तुरत तिरोहित भी नहीं हो जाते।

अपेक्षणेऽपि'''प्रतीयते

यदि पदों में या पदार्थों में परस्पर सापेक्षता को स्वीकार भी कर लें, तथापि उन में परस्पर किसी सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है जिसके बल से पदों का या पदार्थों का समुदाय माना जा सके ॥ ११–१३ ॥

कार्यकारणसंयोगसमवायाविलक्षणः।
एकार्थसमवायेऽपि सर्वेषां व्योम्नि तुल्यता ॥ १४ ॥

तत्रोक्तानुक्तयोग्यादेर्न विशेष्येण सङ्गतिः ।
एककार्यनियोगोऽपि व्यङ्ग्ये जन्येऽथ वा भवेत् ॥ १५ ॥

कार्यकारण""समवायाविलक्षणः

पदों में या पदार्थों में परस्पर कार्यत्व, कारणत्व, संयोग, एवं समवाय प्रभृति साक्षात् सम्बन्धों में से किसी सम्बन्ध की संभावना नहीं है।

एकार्थसमवायेऽपि"'सङ्गतिः

रही सामानाधिकरण्यस्वरूप एकार्थसम्बन्ध की बात—किन्तु वह सम्बन्ध आकाश में सभी वस्तुओं के सम्बन्ध के समान अव्यावर्त्तक है। उस सम्बन्ध के द्वारा एक वाक्य में प्रयुक्त पदों में ही वह सम्बन्ध इष्ट है, सभी पदों के साथ सभी पदों का जो सम्बन्ध है, वह प्रकृतोपयोगी न होने से इष्ट नहीं है।

अथवा पदों से उपस्थित योग्य अर्थों में ही उक्त सम्बन्ध इष्ट है। अयोग्य अर्थों में जो एकार्थसमवाय है वह इष्ट नहीं है। इस प्रकार की व्यावृत्तिबुद्धि उस (एकार्थसमवाय) सम्बन्ध से संभव नहीं है। अतः एकार्थसमवाय सम्बन्ध न रहने के बराबर है।

एककार्यनियोगोऽपि"'भवेत्

यदि यह कहो कि वाक्यजन्य शाब्दबोध स्वरूप एक कार्य की जनकता वाक्य-घटक प्रत्येक पद में है, अथवा पदों से उपस्थित प्रत्येक पदार्थ में है। इस प्रकार इस वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पदों में एवं पदार्थों में परस्पर एककार्यकारित्व स्वरूप सम्बन्ध की सम्भावना है।

किन्तु इस प्रसंग में यह विकल्प उपस्थित होगा कि उक्त एककारित्व क्या (१) एक ज्ञान स्वरूप कार्य का उत्पादकत्व रूप है अथवा (२) पदार्थों का अभि-व्यञ्जकत्व रूप है। कथित 'एकार्थकारित्व' इन दोनों में से किसी रूप का हो सकता है ॥ १५ ॥

व्यङ्ग्यास्तावत् पृथग्भूताः पदार्थाः पदभेदतः ।
तथा तद्विषयाप्येतैर्बुद्धिर्नैकापि जायते ॥ १६ ॥

व्यङ्ग्यास्तावत्"'पदभेदतः

वाक्यघटक प्रत्येक पद से प्रत्येक अर्थ की अलग-अलग अभिव्यक्ति होती है। सभी पदों से किसी 'एक' अभिव्यक्ति स्वरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः वाक्यघटक प्रत्येक पद के अभिव्यङ्ग्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति पक्ष में एककार्यकारित्व की उपपत्ति नहीं हो सकती।

तथा तद्विषया" नैकाऽपि जायते

इस प्रकार सभी पदों या सभी पदार्थों में से प्रत्येक से किसी एक वाक्यार्थ-विषयक बुद्धिस्वरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः पदों में या पदार्थों में एककार्योत्पादकत्वस्वरूप 'एककार्यकारित्व' सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

या तु स्वविषया बुद्धिः प्रतिशब्दमसावपि ।
न चैकज्ञानजननं भिन्नैस्तैः क्रमवर्त्तिभिः ॥ १७ ॥

पदों से या पदार्थों से जो 'स्वविषयक' अर्थात् पद अथवा पदार्थविषयक बुद्धि होती है, उन्हें भी प्रकृत में 'एककार्य' शब्द से नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि तत्तत्पदों से या तत्तत्पदार्थों से अलग-अलग ज्ञान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि क्रमशः उत्पत्तिशील (या अभिव्यक्तिशील) पदों से या पदार्थों से मिलकर किसी वाक्य-विषयक या वाक्यार्थविषयक एक ज्ञान का उत्पादन ही सम्भव नहीं है। अर्थात् अयुगपद्भावी (क्रमशः उत्पत्तिशील) अनेक वस्तुओं से किसी एक कार्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि पदों से अतिरिक्त जब वाक्य नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं है, तो फिर 'वाक्यज्ञान' नाम के किसी 'एक' कार्य की उत्पत्ति पदों से कैसे सम्भव होगी ? इसी प्रकार जब वाक्य नाम की कोई वस्तु नहीं है तो फिर 'वाक्यार्थ' नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु स्वतः निराकृत हो जाती है। अतः वाक्यार्थ स्वरूप एकवस्तूत्पादकत्व रूप सम्बन्ध पदार्थों में भी संभव नहीं है ॥ १७ ॥

न चावयवशो बोधादैक्यं वाक्यतदर्थयोः ।
न चावयवबुद्धीनां भ्रान्तित्वं बाधकादृ ऋते ॥ १८ ॥

एकनिर्भागताबुद्धेरसत्याः सत्यता कथम् ।
अनुरागव्यवच्छेदौ बुद्धीनां न च सिद्धयतः ॥ १९ ॥

क्षणिकत्वादतोऽर्थस्थं नेष्टं संसर्गभेदयोः ।
यदि भ्रियेत गोबुद्धिः शुक्लबुद्धिजनिक्षणे ॥ २० ॥

ततोऽन्याभ्यो निवर्त्तेत संसृज्येत तथानया ।
संसर्गो न च बुद्धीनां संयोगादेरसम्भवात् ॥ २१ ॥

न चाऽवयवशः'''वाक्यतदर्थयोः

(पू० प०) 'वाक्य' एवं 'वाक्यार्थ' दोनों ही अखण्ड दो पदार्थ हैं। पद स्वरूप अवयवों से निर्मित 'वाक्य' नाम का कोई सखण्ड पदार्थ नहीं है। एवं 'वाक्यार्थ' भी अखण्ड ही है, परस्पर सम्बद्ध सखण्ड पदार्थ स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार पद भी अखण्ड (अनवयवी) वस्तु स्वरूप ही है, पूर्वापरीभावापन्न वर्णों का समूह रूप कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। इस स्थिति में वाक्य के लिए पदों का या वाक्यार्थ के लिए पदार्थों का परस्पर सम्बद्ध होना आवश्यक ही नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

पदों में वर्णस्वरूप अवयवों का बोध होता है। इसी प्रकार वाक्य में पदों का एवं वाक्यार्थ में पदार्थों का भी बोध होता है, अतः पद, वाक्य एवं पदार्थ और वाक्यार्थ इनमें से किसी को 'अखण्ड' पदार्थ नहीं माना जा सकता।

न चाऽवयव'''बाधकादृते

(पू० प०) पद में जो वर्णस्वरूप अवयवों की प्रतीति होती है, किं वा वाक्य में जो पदस्वरूप अवयवों की प्रतीति होती है, अथवा वाक्यार्थ में पदार्थस्वरूप

अवयवों की प्रतीति होती है, सभी प्रतीतियाँ भ्रान्तिस्वरूप हैं। अतः इन प्रतीतियों से पद, वाक्य या वाक्यार्थ को अनवयव या अखण्ड नहीं माना जा सकता। इस पूर्व-पक्ष का यह उत्तर है—

किसी बाधक के बिना सावयवत्व की उन प्रतीतियों को भ्रान्तिस्वरूप नहीं माना जा सकता। अतः वाक्य या वाक्यार्थ अवश्य अखण्ड है, निरवयव नहीं है।

अतः जब 'निर्भाग' अर्थात् अखण्ड निरवयव पद या वाक्य की कोई प्रमा प्रतीति ही नहीं होती है, तो फिर तद्विषयक बुद्धि ही अनुपपन्न है। उस अविद्यमान वस्तुविषयक बुद्धि की सत्यता ही कैसे उपपन्न होगी ?

अनुरागव्यवच्छेदौ''संसर्गभेदयोः

जिस प्रकार असम्बद्ध पदों से वाक्य नहीं बन सकता, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी अनुपपन्न है, क्योंकि वाक्यस्वरूप विशेषण से युक्त अर्थविशेष्यक 'विशिष्ट' बुद्धि ही वाक्यार्थबुद्धि होगी।

विशेषणबुद्धि के दो उद्देश्य होते हैं (१) विशेष्य में स्वसत्ता स्वरूप 'अनुराग' को समझाना और (२) स्वभिन्न से व्यवच्छेद (भिन्नत्व) को प्रकाशित करना।

'शुक्लो गौः' इस वाक्य से गो में शुक्लता (सफेदी) स्वरूप 'अनुराग' और कृष्णादि वर्णों के अभाव की दो ही प्रतीतियाँ हो सकतीं हैं। किन्तु ये दोनों संभव नहीं हैं। पदों के अर्थों में उक्त 'अनुराग' और 'व्यवच्छेद' ये दो ही ऐसे सम्बन्ध हो सकते हैं जिससे वाक्यार्थ की उपपत्ति हो सके।

पदार्थों की बुद्धियों में परस्पर सम्बन्ध इसलिये संभव नहीं है कि बुद्धियाँ क्षणिक हैं। अतः परस्पर अनुराग से युक्त अर्थों में वाक्यार्थता संभव नहीं है।

यदि ध्रियेत''क्षणे तथाऽनया

'गौः शुक्लः' इस वाक्य के गो पद से शुक्लकृष्णादि सभी गो व्यक्तियों में जो वास्तविक गोबुद्धि होती है, वह गोबुद्धि यदि 'शुक्लः' इस पद से उत्पन्न होनेवाली शुक्लबुद्धि के उत्पन्न होने तक विद्यमान रहती तो उससे शुक्लबुद्धि और गोबुद्धि ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो सकती थीं, या कृष्णादि व्यक्तियों से व्यवच्छेद की बुद्धि हो सकती थी। किन्तु क्षणिक होने के कारण दोनों तब तक एक साथ नहीं रह सकतीं।

संसर्गो न च बुद्धीनाम्''असंभवात्

यदि दोनों की सत्ता किसी एक क्षण में मान भी लें, तथापि दो बुद्धियों में संयोग इसलिये नहीं हो सकता कि संयोग सम्बन्ध द्रव्यों में ही होता है। समवाय सम्बन्ध इसलिये संभव नहीं है कि दोनों बुद्धियाँ आत्मा में ही समवाय सम्बन्ध से रहती हैं, आत्मसमवेत दो पदार्थों में परस्पर समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १८–२१ ॥

> एकात्मवृत्तिता तुल्या घटहस्त्यादिधीष्वपि।
> तथा निरन्तरोत्पत्तिर्नाकाङ्क्षा वात्र शब्दवत् ॥ २२ ॥

एकात्मवृत्तिता....ध्रौव्यपि

यदि विशेष्यबुद्धि में और विशेषणबुद्धि में 'एकात्मवृत्तित्व' सम्बन्ध (अर्थात् एकार्थसमवाय सम्बन्ध) मानकर बुद्धियों में एकवाक्यार्थता मानें तो देवदत्त की घटबुद्धि और हस्तिबुद्धि इन दोनों में 'एकवाक्यार्थता' माननी होगी जिससे घटः, हस्ती इन दो पदों का भी एक वाक्य मानना होगा।

तथा निरन्तरोत्पत्तिः

यदि विशेष्यबुद्धि और विशेषणबुद्धि इन दोनों के बीच किसी तीसरी बुद्धि का व्यवधान नहीं रहता है तो दोनों में यह जो अन्तरशून्यता स्वरूप 'नैरन्तर्य' है, उसी को दोनों बुद्धियों में एकवाक्यार्थता का प्रयोजक मानें, तथापि घटः, हस्ती इन दोनों पदों से कथित एक वाक्य की उत्पत्ति रूप आपत्ति पूर्ववत् रहेगी, क्योंकि कदाचित् देवदत्त को ही 'घटः' इस बुद्धि के बाद ही 'हस्ती' यह बुद्धि भी होती है। इसलिये दोनों बुद्धियों में नैरन्तर्य स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा भी एकवाक्यार्थता की उपपत्ति नहीं हो सकती।

नाकांक्षा वाऽत्र शब्दवत्

जिस प्रकार निराकांक्ष पदों में कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार निराकांक्ष (निरपेक्ष) दो बुद्धियों में भी किसी सम्बन्ध की संभावना नहीं है ॥ २२ ॥

क्षणिकाऽयुगपद्भावे का बुद्धिः कामपेक्षते।
अत एव विशिष्टा धीस्ताभिर्नैकोपजन्यते ॥ २३ ॥
यतः कल्प्येत सर्वासां संसर्गस्तदपेक्षया।
न च संसर्गविच्छेदनिर्भासोऽन्त्यः प्रकल्पितः ॥ २४ ॥
बाह्याभासोऽथ रूपेण प्रमाणं स्वप्नवद् भवेत्।
न च कालत्रयोपेतबाह्यार्थासम्भवे सति ॥ २५ ॥
प्रवर्ततापि विज्ञानं न चास्मिन् बाह्यसम्भवः।
अनुत्पन्नेऽपि तेनास्मिन्नुत्पन्नपरिकल्पना ॥ २६ ॥

क्षणिकाऽयुगपद्भावे...कामपेक्षते

क्योंकि बुद्धियाँ क्षणिक हैं, एवं एक समय अनेक बुद्धियों की स्थिति संभव नहीं है अतः कौन सी बुद्धि किसी दूसरी बुद्धि की अपेक्षा करेगी ? अतः वाक्यार्थ-घटक पदार्थविषयक बुद्धियों में परस्परापेक्षत्व रूप सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता।

अत एव....नैकोपजन्यते...तदपेक्षया

(पू० प०) वाक्यार्थघटक जितने भी पदार्थ हैं, उन पदार्थों की तत्तद्विषयिणी सभी बुद्धियों से अन्त में परस्पर विशिष्ट (सम्बद्ध) सभी पदार्थों की एक विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है। तत्तत्पदार्थ की बुद्धियों में उक्त पदार्थविषयक विशिष्ट

बुद्धि का जनकत्व ही परस्पर सम्बन्ध है। इस विशिष्टजनकत्व से ही उन पदार्थ-बुद्धियों में परस्पर आकांक्षा की भी उत्पत्ति होगी।

(इस पूर्वपक्ष का भी निरास) बुद्धियों को क्षणिकता अयुगपद्भाव से ही हो जाता है, क्योंकि क्षणिक और अयुगपद्भावी पदार्थ परस्पर मिलकर किसी एक कार्य का संपादन नहीं कर सकते। एक काल में स्थित एवं अनेककालस्थायी पदार्थ ही मिलकर किसी एक कार्य को कर सकते हैं। अतः विशिष्ट स्वरूप एक कार्य के सम्पादन के लिये भी पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती।

न च संसर्गविच्छेद···स्वप्नवद्भवेत्

(पू० प०) 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से गोत्व एवं शुक्ल रूप इन दोनों के संसर्ग की प्रतीति एवं अश्वादि एवं कृष्णादि रूपों से व्यवच्छेद की प्रतीति दोनों ही अनुभवसिद्ध हैं। यदि पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध न मानें तो उन दोनों ही बुद्धियों का अपलाप करना होगा। किन्तु सो अनुचित है। अतः पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

'शुक्लो गौः' इस वाक्य से गोत्व शुक्लादि की बुद्धियाँ अवश्य होती हैं। किन्तु ये बुद्धियाँ स्वप्नवत् भ्रान्तिस्वरूप हैं, क्योंकि 'अन्तःकल्पित' हैं, अर्थात् अन्तःकल्पित 'ज्ञानांशावलम्बिनी' हैं[1]।

न च कालत्रयोपेत···बाह्यसंभवः

'विज्ञानवाद में 'ज्ञान' ज्ञानांशविषयक ही होता है' इस मत का खण्डन इस युक्ति से किया जा चुका है कि सभी ज्ञान देशान्तरस्थित एवं कालान्तरस्थित बाह्य-विषयक ही होते हैं। इसलिये बाह्य पादर्थों में परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। शुक्ल, गोत्वादि जितने भी बाह्य विषय हैं उनकी स्वतन्त्र सत्ता विज्ञानवाद में संभव नहीं है।

इसलिये विज्ञानवाद के अनुसार पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध संभव नहीं है। एवं 'कालत्रयोपेता' शुक्लादिविषयक बुद्धियों में भी परस्पर सम्बन्ध संभव नहीं है। इस प्रकार शुक्लादि पदार्थों का सम्बन्ध न स्वतः संभव है, न ज्ञान के द्वारा संभव है। अतः पदार्थज्ञानजनित वाक्यार्थज्ञान से किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव ही नहीं है।

अनुत्पन्नेऽपि····परिकल्पना

इसलिए अनुपपन्न बुद्धिसंसर्गविषयक ज्ञान में उत्पत्ति की कल्पना को भ्रान्ति स्वरूप ही मानना होगा॥ २६॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि 'शुक्लो गौः' इस वाक्य के द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसमें गोत्व और शुक्ल रूप ये दोनों ही बाह्य वस्तुओं के समान अर्थात् ज्ञान भिन्न वस्तुओं के समान ही प्रतिभात से होते हैं, फिर भी बुद्धियों में कथित युक्ति से 'संसर्ग' और 'व्यवच्छेद' ये दोनों ही संभव नहीं हैं। इसलिये 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से होनेवाली प्रतीति ज्ञानविषयक होने के कारण संसर्ग और व्यवच्छेद की प्रमापिका नहीं है।

अर्थसंसर्गदृष्ट्या वा संसर्गोऽत्र प्रकल्प्यते।
बुद्धयोर्न तावदेवं स्याद् विशेषणविशेष्यता ॥ २७ ॥

अर्थसंसर्ग······प्रकल्प्यते

यदि यह कहो कि 'बुद्धिसंसर्ग के ज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है, अतः बुद्धियों में परस्पर संसर्ग के अवभास को झुठलाया नहीं जा सकता' तो इसकी उपपत्ति इस प्रकार भी हो सकती है कि गो शुक्लादि वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। प्रत्यक्षसिद्ध इस संसर्ग की ही कल्पना गो-शुक्लादि-विषयक बुद्धियों में करके गो-शुक्लादि की पृथक् बुद्धियों में भी संसर्ग के अवभास की प्रवृत्ति होती है।

बुद्धयोर्न······विशेष्यता

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पदार्थविषयक बुद्धियों में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव सम्भव नहीं है। इसलिए तन्मूलक वाक्यार्थबोध की कल्पना ही निराधार है ॥ २७ ॥

तथैव शब्दतद्बुद्धयोर्विशेषोत्पत्त्यसम्भवात्।
तावानेव हि गोशब्दः शुक्लशब्देऽपि कीर्तिते ॥ २८ ॥
पूर्वसत्त्वेऽपि तावत्ता तस्यैवं तद्धियोरपि।
विशेषणविशेष्यत्वं न स्याच्छुक्लत्वगोत्वयोः ॥ २९ ॥

तथैव······उत्पत्त्यसंभवात्

जिस प्रकार गोत्व शुक्लादि में एवं तत्तद्विषयक बुद्धियों में परस्पर संसर्ग के द्वारा गो पद के अर्थ और शुक्ल पद के अर्थ इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गो शब्द और शुक्ल शब्द इन दोनों के सम्बन्ध से भी पदार्थों में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार गोशब्दविषयक बुद्धि और शुक्लशब्दविषयक बुद्धि इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव के द्वारा भी पदार्थों में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव को स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि 'विशेष्य' में किसी 'विशेष' का उत्पादक ही 'विशेषण' होता है। किन्तु गो शब्द और शुक्ल शब्द इन दोनों में से परस्पर न किसी से किसी में 'विशेष' की उत्पत्ति हो सकती है, न गोशब्दविषयक बुद्धि और शुक्ल-शब्दविषयक बुद्धि इन दोनों में से किसी से किसी में 'विशेष' की उत्पत्ति हो सकती है।

तावानेव हि······कीर्तिते······तद्धियोरपि

क्योंकि शुक्ल शब्द के साथ रहने पर भी गो शब्द से उतने ही अर्थ का बोध होता है जितना कि केवल गो शब्द से होता है।[1]

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये कि पहले पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होने के कारण 'वाक्य' का खण्डन किया गया है। 'तथैव' इस (२८ वें) श्लोक के द्वारा पदार्थों में से कोई भी परस्पर किसी में 'विशेष' का आधायक नहीं हो सकता—इस युक्ति से 'वाक्य' का खण्डन किया गया है।

विशेषणविशेष्यत्वम्...**गोत्वयोः**

जिस प्रकार पदार्थविषयक बुद्धियों में 'संसर्ग' और 'व्यवच्छेद' सम्भव न होने के कारण उन दोनों बुद्धियों में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गो पद के अर्थ 'गोत्व' में और शुक्ल पद के अर्थ 'शुक्लत्व' में भी परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अर्थात् पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध के द्वारा भी वाक्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ २८-२९ ॥

न तयोरनुरागो हि नावच्छेदः परस्परम् ।
गोत्वेन न हि शुक्लत्वं गोत्वं वा तेन रज्यते ॥ ३० ॥
अन्योन्यात्मन्यसद्भावाद् व्यक्त्यङ्गत्वाद् द्वयोरपि ।
व्यक्तिश्चेदनुरज्येत ताभ्यां तत्रापि शब्दयोः ॥ ३१ ॥
न परस्परसम्बन्धः स्यादतद्गोचरौ हि तौ ।
शब्दैरनुच्यमाने हि सत्यप्येकाश्रयेऽर्थतः ॥ ३२ ॥
शब्दानां नैव सम्बन्धः पृथिवीस्थगवाश्ववत् ।
एकार्थसमवायेऽपि रूपादेर्नैव सङ्गतिः ॥ ३३ ॥
न चैकव्यक्तिवृत्तित्वे प्रमाणं गोत्वशुक्लयोः ।
सम्बन्धादेतयोस्तत्र स्यादेकव्यक्तिकल्पना ॥ ३४ ॥
तदेकत्वाच्च सम्बन्ध एवमन्योन्यसंश्रयम् ।
न चात्र पदमस्त्यन्यद् येनैकव्यक्तिधीर्भवेत् ॥ ३५ ॥

न तयोरनुरागः...**परस्परम्**

क्योंकि शुक्लत्व और गोत्व इन दोनों में से किसी में किसी का अनुराग सत्त्व-बुद्धि स्वरूप सम्भव नहीं है एवं किसी के द्वारा किसी में व्यावृत्तिबुद्धि स्वरूप व्यवच्छेद भी सम्भव नहीं है।[1]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जिस पक्ष में जाति को ही पद का अभिधेय मानते हैं, उस पक्ष में (अर्थात् जाति पदार्थ पक्ष में) 'शुक्लो गौः' इस वाक्य के गो पद से गोत्व ही केवल अभिहित होता है। गो पद के साथ एकवाक्यतापन्न 'शुक्ल' पद से गो पद के अर्थ गोत्व में शुक्लगुण का 'अनुराग' अर्थात् सत्त्व ही प्रतिपादित होता है। इसलिए गो पदार्थ में शुक्ल पदार्थ का सम्बन्ध ही 'शुक्लो गौः' इस वाक्य का अर्थ होगा। वाक्यार्थ स्वरूप इस अर्थ की एकता के कारण ही गो पद और शुक्ल पद में एकवाक्यता होती है।

जो सम्प्रदाय गो व्यक्तियों को ही गो पद का अभिधेय मानते हैं, उनके पक्ष में भी अर्थात् 'व्यक्तिपदार्थ' पक्ष में भी गो शब्द से सभी गो व्यक्तियाँ प्रतिपादित होंगी, प्रतिपादित उन सभी गो व्यक्तियों में शुक्ल पद से शुक्ल स्वरूप अर्थ का प्रतिपादन होगा।

इस पक्ष में भी गो और शुक्ल इन दोनों के सम्बन्ध को वाक्य का अर्थ कहा जा सकता है, किन्तु सो अनर्थक होगा; क्योंकि शुक्ल कृष्णादि सभी गो व्यक्तियों का प्रति-

गोत्वेन…रज्यते…द्वयोरपि

इस प्रकार न गोत्व से शुक्लत्व अनुरक्त हो सकता है, न शुक्लत्व से गोत्व, क्योंकि दोनों में से किसी को भी सत्ता एक दूसरे में नहीं है। गोत्व जाति और शुक्ल रूप दोनों गो व्यक्तियों के ही अङ्ग (धर्म) हैं।

व्यक्तिश्चेदनुरज्येत…शब्दयोः…तद्‌गोचरौ हि तौ

(पू० प०) गोत्व और शुक्लत्व इन दोनों में परस्पर सत्त्व स्वरूप अनुराग भले ही न रहे किन्तु इन दोनों से अनुरक्त गोव्यक्ति स्वरूप एक वस्तु तो है। उसी को वाक्य का अर्थ कहेंगे ? किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि—

वाक्यार्थ को शब्द का साक्षात् प्रतिपाद्य होना आवश्यक है। व्यक्ति चूँकि शब्द का प्रतिपाद्य नहीं है, जाति ही शब्द का साक्षात् प्रतिपाद्य है अतः व्यक्ति को वाक्य का अर्थ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वाक्यार्थ का कोई निर्वचन संभव न होने से गो शब्द और शुक्ल शब्द इन दोनों में भी एकवाक्यता नहीं मानी जा सकती।

शब्दैरनुच्यमाने…गवाश्ववत्

(पू० प०) व्यक्ति नाम की एक वस्तु शब्दप्रतिपाद्य भले ही न रहे, किन्तु शब्दप्रतिपाद्य गोत्व जाति और शुक्ल गुण इन दोनों से अनुरक्त 'एक' व्यक्ति तो है, उसी के द्वारा 'वाक्यार्थ' और पदों में 'एकवाक्यता' इन दोनों की उत्पत्ति होगी। किन्तु ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि—

शब्द के द्वारा 'अनुच्यमान' एक अर्थ और शब्द से 'उच्यमान' दूसरे अर्थ का सम्बन्ध रहने पर भी दोनों शब्दों में विशेष्यविशेषणभाव के उपयुक्त सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानेंगे तो एक ही पृथिवी पर रहने के कारण गो और अश्व में भी परस्पर सम्बन्ध मानना पड़ेगा। फलतः उन दोनों में भी विशेष्यविशेषणभाव स्वीकार करना होगा।

एकार्थसमवायेऽपि…नैव सङ्गतिः

गोत्व और शुक्लत्व दोनों एक ही गो व्यक्ति में समवेत हैं, अतः दोनों में जो 'एकार्थसमवाय' (समानाधिकरण्य) स्वरूप सम्बन्ध है उस सम्बन्ध के द्वारा भी दोनों में विशेष्यविशेषणभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूप और रस दोनों में

पादन केवल गो शब्द से ही हो चुका है। फलतः गो पद से गो पदार्थ में शुक्ल के सम्बन्ध का प्रतिपादन भी हो चुका है। इसलिए इस पक्ष में 'गौः शुक्लः' इस वाक्य से प्रकृत गो पदार्थ में कृष्णादि के व्यवच्छेद के द्वारा ही शुक्ल पद विशेषण हो सकता है।

इनमें जातिपदार्थ पक्ष में कृष्णादि का व्यच्छेद आक्षेपलभ्य (आर्थिक) है।

किन्तु विशेष्यविशेषणभाव के इन दोनों ही प्रकारों अनुराग और व्यवच्छेद के सम्भव न होने के कारण अनुपपन्न हैं। शुक्ल रूप और गोत्व जाति इन दोनों में से चूँकि कोई किसी में नहीं है, अतः दोनों में से किसी में किसी का 'अनुराग' सम्भव नहीं है। अनुराग के सम्भव न होने से तन्मूलक व्यवच्छेद भी सम्भव नहीं है।

एकार्थसमवाय के रहने पर भी दोनों में विशेष्यविशेषणभाव नहीं स्वीकार किया जाता। फलतः विशेष्यविशेषणभाव का नियामक एकार्थसमवाय सम्बन्ध नहीं है।

न चैकव्यक्तिवृत्तित्वे'''धीर्भवेत्

इसमें कोई निश्चित प्रमाण भी नहीं है कि गोत्व और शुक्लत्व दोनों एक ही व्यक्ति में साथ रहते हैं। दोनों में पहले एकार्थसमवाय मानकर उसकी उपपत्ति के लिये ही दोनों के एक व्यक्ति में रहने की कल्पना की जाती है। इस प्रकार एकार्थ-समवाय सम्बन्ध के द्वारा गोत्व और शुक्लत्व के विशेष्यविशेषणभाव की कल्पना में (विशेष्यविशेषणभाव से एकार्थसमवाय की कल्पना और एकार्थसमवाय के द्वारा विशेष्यविशेषणभाव की कल्पना में) अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी।

गोत्व के वाचक गो शब्द और शुक्लत्व के वाचक शुक्ल पद से भिन्न कोई शाबलेय (शबला के अपत्य) बाहुलेय (बहुला के अपत्य) प्रभृति कोई तीसरा शब्द नहीं है जिससे शुक्लत्व और गोत्व इन दोनों के आश्रयीभूत एक व्यक्ति का बोध हो सके ॥ ३०–३५ ॥

> न चास्याः पदवाच्यत्वम् वाच्यत्वेऽपि न चैकता।
> गम्यमानस्य चैकत्वात् सम्बन्धो यदि कल्प्यते ॥ ३६ ॥
> पार्थिवत्वाद्यभेदेन किं न स्याद् घटवृक्षयोः।
> शुक्लश्रुत्या न गोत्वादिः कृष्णादिभ्यो निवर्त्यते ॥ ३७ ॥

न चाऽस्याः पदवाच्यत्वम्

जातिवाचक गो शब्द से भिन्न 'शाबलेय बाहुलेय' प्रभृति जो गोवाचक शब्द हैं, वे भी गो व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं। 'शबला' के अपत्यभूत गो में अथवा 'बहुला' नाम की गो के अपत्यभूत गो में जो एक विशेष प्रकार का 'आकार' होता है उन आकारविशेष के वाचक हो शाबलेयादि शब्द हैं।

वाच्यत्वेऽपि नचैकता

यदि शाबलेयादि शब्दों को गो व्यक्ति का वाचक मान भी लें तो भी उन शब्दों में किसी एक गो व्यक्ति की वाचकता निश्चित नहीं है, क्योंकि शबला या बहुला के दो चार अपत्य भी हो सकते हैं, जिन सभी गो व्यक्तियों में शाबलेयादि पदों की वाच्यता माननी होगी।

गम्यमानस्य'''घटवृक्षयोः

(इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से यह कहा जा सकता है कि गोत्व और शुक्लत्व 'एकाश्रय' नहीं हैं। अतः शुक्ल पद और गो पद दोनों में एकवाक्यता नहीं हो सकती। यदि दोनों को एकाश्रय मान भी लेते हैं, तथापि उससे दो पदों में एक-वाक्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। अब प्रश्न होता है कि दोनों में एकाश्रयत्व-मूलक एकवाक्यता भले ही संभव न हो, किन्तु दोनों ही पदों से एक ही गो व्यक्ति का बोध होता है। अतः गम्यमान वस्तु की इस एकता के द्वारा दोनों पदों में एक-वाक्यता हो सकती है, क्योंकि गो शब्द से भी गोशब्दाभिधेय गोत्व के द्वारा जिस

गो व्यक्ति का बोध होता है, शुक्ल पद से भी स्वाभिधेय शुक्लत्व के द्वारा उसी गो व्यक्ति का बोध होता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

उक्त गो शब्द से अथवा शुक्ल पद से स्व-स्व अभिधेय के द्वारा अनेक गो व्यक्तियों का भी बोध हो सकता है।

यदि दोनों को एक ही व्यक्ति का वाचक मान भी लें तथापि दोनों में एकवाक्यता नहीं हो सकती, क्योंकि जिस प्रकार घट शब्द के अभिधेय पार्थिवत्व द्रव्यत्वादि हैं, उसी प्रकार वे 'वृक्ष' शब्द के भी अभिधेय हैं। किन्तु इस 'एकाभिधान' (एकशब्दाभिधान) के कारण 'घटशब्द' और 'वृक्षशब्द' इन दोनों में एकवाक्यता नहीं हो सकती।

शुक्लश्रुत्या……निवर्त्यते

(कथित युक्ति से अनुराग (परस्पर सम्बन्ध) एवं तन्मूलक 'व्यवच्छेद' अर्थात् व्यावृत्तिबुद्धि का निराकरण कर अब यह कहा जाता है कि यदि शुक्लत्व और गोत्व इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध को स्वीकार भी कर लें तथापि 'व्यवच्छेद' अर्थात् गो में कृष्णादि रूपों की निवृत्ति का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि शुक्ल पद के साथ श्रुत होने पर भी कृष्णादि वर्णों के गो व्यक्तियों में गोत्व की निवृत्ति नहीं होती है ॥ ३६–३७ ॥

> **स्वभावतोऽवबोधश्च तद्वशान्नापसर्पति।**
> **कृष्णाद्यपोहनं वाच्यं शुक्लशब्दस्य यद्यपि ॥ ३८ ॥**
> **तथापि गोगतत्वेऽस्य प्रमाणं नैव सन्निधिः।**
> **एतद्विषय एवेति यावच्छब्देन नोच्यते ॥ ३९ ॥**
> **तावत् सर्वमशाब्दं स्यात् स्वातन्त्र्येणाध्यवस्यतः।**
> **सन्निधेरनुमीयेत तादृशं वचनं यदि ॥ ४० ॥**
> **पुनः सन्निध्यधीनैव तस्यैतद्विषयार्थता।**
> **तत्रापि शब्दवत्त्वमिश्चेवनवस्था भवेदियम् ॥ ४१ ॥**

स्वभावतोऽवबोधश्च……नापसर्पति

यदि यह कहो कि प्रकृत में अर्थ की निवृत्ति 'व्यवच्छेद' नहीं है, किन्तु अर्थविषयक बुद्धि की निवृत्ति ही 'व्यवच्छेद' शब्द का अर्थ है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—अर्थ की निवृत्ति के विना बुद्धि की निवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि शुक्ल पद के साथ गो पद के सुने जाने पर भी कृष्णादि गोव्यक्तियों में गोबुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है[1]।

---

१. 'नन्वेवम्………कथमिव गौरिति वाक्य इति वा……कृष्णादिनिवृत्तिः शब्दार्थः' (शाबरभाष्य पृ० ९४ पं० ९) इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने यही बात कही है।

पार्थसारथि मिश्र ने इस स्थल के वार्तिक की अपनी 'न्यायरत्नाकर' व्याख्या में भाष्य के इस सन्दर्भ को दूसरे प्रकार से भी लगाया है। इस दूसरी व्याख्या का

कृष्णाद्यपोहनम्···संनिधिः

यदि कृष्णादि के अपोह (व्यावृत्ति) को शुक्ल पद का श्रुत्यर्थ मान लें, एवं उस व्यावृत्ति की गोवृत्तिता गोपदसांनिध्य स्वरूप वाक्यलभ्य मानें तो श्रुति से वाक्य की दुर्बलता के कारण वह प्रमाण नहीं होगा। फलतः सांनिध्य रूप वाक्यलभ्य होने के कारण वाक्यार्थ में शब्द के प्रामाण्य की असंभावना बनी रहेगी।

एतद्विषय एवेति····अध्यवस्यतः

यदि गोविषयक कृष्णादि का जो अपोहन है, उसीका अभिधायक कोई शब्द हो तो कदाचित् कृष्णाद्यपोहनविषयकत्व शुक्लादि पद जनित ज्ञान में हो भी सकता है। किन्तु ऐसा कोई पद 'शुक्लो गौः' इस वाक्य के अन्तर्गत नहीं है, अतः शब्दनिरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से यदि कृष्णादिव्यावृत्ति में गोवृत्तित्व का ज्ञान मानें तो वह ज्ञान शाब्दबोध स्वरूप नहीं होगा।

संनिधेरनुमीयेत···तादृशं वचनं यदि

यदि गोपद के साथ जो शुक्लपद की संनिधि है उस संनिधि से कृष्णादि-वाचक शब्द का अनुमान करें एवं उस शब्द के अनुमितिग्राह्य होने के कारण कथित गोवृत्तित्वज्ञान में शाब्दत्व का संपादन करें ?

पुनः संनिध्यधीनैव····विषयार्थता

तो सो भी संभव नहीं होगा, क्योंकि कृष्णादिव्यावृत्ति में जो गोगतत्व है, वह भी रक्तादि गोसाधारण ही है। अतः शुक्ल गोरूप विशेष में गोगतत्व का बोध पुनः शुक्लपद और गोपद इन दोनों की संनिधि के अधीन ही रहेगा। इस प्रकार इस शुक्ल गोगतत्व बुद्धि में शब्दत्व संपादन के लिये पुनः संनिधि से वाचक शब्द का अनुमान करना होगा, जो अनवस्था में परिणत हो जायगा॥ ३८–४१॥

> **षट्प्रमाणातिरिक्तत्वात् तस्मात् संनिध्यनाश्रयः।**
> **सम्बन्धकारणं नापि षष्ठी गव्युपलभ्यते॥ ४२॥**

षट्प्रमाण···अनाश्रयः

अनेक पदों की संनिधि स्वरूप 'वाक्य' के द्वारा शब्द का अभिधेय स्वरूप 'सामान्य' चूंकि विशेष में पर्यवसित नहीं होता है, अतः संनिधि का शब्द प्रमाण में

अभिप्राय है कि शुक्ल पद से 'श्रुतिस्वभाव' (निरपेक्षशब्द स्वभाव) के कारण 'शुक्लानुराग' अर्थात् शुक्लविषयक बुद्धि ही उत्पन्न हो सकती है। श्रुतिस्वभाव से कृष्णादि की व्यावृत्तिबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि कृष्णादि की व्यावृत्तिबुद्धियाँ वाक्यलभ्य हैं। वाक्य से श्रुति बलवती है। यदि शुक्ल पद को कृष्णादिव्यावृत्ति का अभिधायक मानें तो कृष्णादिव्यावृत्तिबुद्धि को भी शुक्लपद से श्रुतिप्रमाणगम्य ही मानना होगा। किन्तु यह वस्तुगति के विपरीत है। इसलिये शुक्ल पद से श्रुतिप्रमाण-जनित जो गो में शुक्ल स्वरूप गुण की बुद्धि उत्पन्न होगी। उससे गो में अश्वादि-व्यावृत्ति (भिन्नत्व) का बोध नहीं होगा। इस प्रकार उक्त स्थल में व्यावृत्ति की प्रतीति न होने से वाक्यार्थ में शब्द का प्रामाण्य ही विघटित हो जायगा।

अन्तर्भाव नहीं हो सकता। शेष प्रत्यक्षादि पाँचो प्रमाणों में तो संनिधि का अन्तर्भाव संभव ही नहीं है। इसलिये 'संनिधि' स्वरूप 'वाक्य' चूँकि प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से अतिरिक्त है, अतः वह प्रमाण ही नहीं है।

अतः 'धर्म' स्वरूप वाक्यार्थ में वाक्य का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। वाक्य के समान ही लिंगपाठादि को भी धर्म का ज्ञापक प्रमाण नहीं माना जा सकता। संनिधि रूप वाक्य के प्रामाण्य के निराकरण से जिस प्रकार कृष्णादि का गोगतत्व अप्रमाणिक हो जाता है, उसी प्रकार शुक्लादि का गोगतत्व भी अप्रामाणिक हो जाता है।

सम्बन्धकारणम्...गव्युपलभ्यते

यदि गो का सम्बन्ध शुक्लगुण के साथ अभीष्ट होता तो 'गोः शुक्लः' इस प्रकार गो शब्द से षष्ठी विभक्ति श्रुत होती। 'शुक्लो गौः' इत्यादि स्थलों में गोशब्द प्रथमाविभक्त्यन्त हो श्रुत है। अतः गो और शुक्ल के सम्बन्ध को 'शुक्लो गौः' इस वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता ॥ ४२ ॥

> **सत्यामपि तु सम्बन्धः श्रौतस्तावन्निराकृतः।**
> **गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम् ॥ ४३ ॥**
> **शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत्।**
> **संसर्गे चापि भेदे वा वाक्यार्थे परिकल्पिते ॥ ४४ ॥**
> **तस्य यावत् पदार्थत्वात्सैकवाक्यत्वसम्भवः।**
> **पदार्थव्यतिरेकश्च नास्ति संसर्गभेदयोः ॥ ४५ ॥**

सत्यामपि...निराकृतः

(पू० प०—यदि षष्ठी विभक्ति के न रहने से 'शुक्लो गौः' इस स्थल में गो में शुक्ल के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, तो फिर जहाँ षष्ठी विभक्ति श्रुत है, उन 'गोः शुक्लः' इत्यादि स्थलों में सम्बन्ध का बोध होना चाहिये। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

षष्ठी विभक्ति के रहने पर भी 'सम्बन्ध' का बोध नहीं होगा, क्योंकि पहले ही इस बात का उपपादन किया जा चुका है कि श्रुतिप्रमाणलभ्य जाति और गुण में अथवा श्रुतिप्रमाणलभ्य दो व्यावृत्तियों में परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता।

गम्यमानस्य...दृष्टं विशेषणम्...ज्वलतीतिवत्

(यदि यह कहो कि अभिधा के न रहने पर भी (अश्रुत) व्यक्ति का भी बोध होता है, अतः शाब्दबोधविषयीभूत उस व्यक्ति में ही षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध और शुक्ल गुण इन दोनों का प्रतिपादन होगा। किन्तु ऐसा कहा भी संभव नहीं होगा, क्योंकि—) .

'गम्यमान' अर्थात् साक्षात् श्रुति के द्वारा अगम्यमान एवं आक्षेपादि से गम्यमान वस्तु में 'अर्थ' अर्थात् साक्षात् शब्द से अभिधा वृत्ति के द्वारा उपस्थित

'अर्थ' विशेषण नहीं हो सकता। जैसे कि 'अग्नेः धूमोऽयं ज्वलति' इस वाक्य के द्वारा वह्नि में 'धूमः' पदोत्तर सुविभक्त्यर्थ एकत्व अथवा 'ज्वलति' शब्दार्थ ज्वलन क्रिया ये दोनों विशेषणविधया शाब्दबोध में भासित नहीं होते।

संसर्गे चापि···नैकवाक्यत्वसंभवः

यदि गो में शुक्ल का 'संसर्ग' और कृष्णरूप की व्यावृत्ति इन दोनों को 'गौः शुक्लः' इस वाक्य का अर्थ मानें तो दूसरा दोष यह होगा कि चूंकि वे सभी अर्थ वाक्य में प्रयुक्त परस्पर निरपेक्ष सभी पदों के द्वारा ही प्रतिपाद्य हैं, अतः उनमें एकवाक्यता ही अनुपपन्न हो जायगी।

पदार्थव्यतिरेकश्च···संसर्गभेदयोः

जिस 'संसर्ग' और 'भेद' (अर्थात् अनुराग और व्यावृत्ति) को 'वाक्यार्थ' कहा गया है, वह पदों के अर्थों से भिन्न है अथवा अभिन्न—इस विकल्प का कोई भी पक्ष उपपन्न नहीं होता। अतः इन दोनों में से किसी को भी वाक्य का अर्थ नहीं माना जा सकता।

इनमें 'पदार्थव्यतिरेकपक्ष' अर्थात् उक्त संसर्ग और व्यावृत्ति रूप वाक्यार्थ ये दोनों पदार्थों से अव्यतिरिक्त हैं—अभिन्न हैं–यह पक्ष इसलिये मानना संभव नहीं है कि संसर्ग और व्यावृत्ति इन दोनों में से कोई भी न शुक्ल पद का अर्थ है न गो पद का ॥ ४२–४५ ॥

न च वस्त्वन्तरारम्भः पदार्थैस्तदनुग्रहात्।
न हि जातिगुणैः किञ्चित् कार्यमारभ्यते बहिः ॥ ४६ ॥

(पू० प०—पद के अर्थों से ही 'संसर्ग' और 'व्यावृत्ति' इन दोनों के उत्पादन के द्वारा 'वाक्यार्थ' नाम के एक अतिरिक्त पदार्थ की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

गोपद के अर्थ गोत्व जाति और शुक्ल पद के अर्थ गुण इन दोनों से ऐसे किसी बाह्यपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है, जिसे 'वाक्यार्थ' कहा जाय ॥ ४६ ॥

तदभावेऽवबोधश्च जातोऽपि स्वप्नवन्मृषा।
सतामेव विशेषाणां सन्निधेर्योऽपि मन्यते ॥ ४७ ॥
वाक्यार्थत्वमभिव्यक्तौ तस्यापि तदनेकता।
प्राक्सत्त्वे च कुतस्तेषां प्रमाणं प्रत्ययैर्विना ॥ ४८ ॥

तदभावेऽवबोधश्च···मृषा

'वाक्यार्थ' नाम की जिस वस्तु की सत्ता ही नहीं है, तद्विषयक ज्ञान स्वप्न-ज्ञान के समान ही 'मिथ्या' है। अतः उस वाक्यार्थज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि बलवत् विरोधी प्रमाणों से वाक्यार्थ की सत्ता बाधित है।

सतामेव""तदनेकता

(एक सम्प्रदाय यह कहते हैं कि पदों के अभिधेय जाति एवं गुणादि पदार्थों में व्यक्ति के द्वारा सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, अर्थात् दोनों ही अभिधेय चूँकि आक्षेपलभ्य व्यक्तियों में साथ रहते है, अतः उन दोनों पदों के अभिधेयों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। किन्तु सीधे ही दोनों का दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। पदार्थों में यह परस्पर सम्बन्ध वाक्य के प्रयोग से पहले से ही विद्यमान है, अतः किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञात होने योग्य नहीं है। पदों की संनिधि स्वरूप वाक्य से अभिव्यक्त मात्र होते हैं। वाक्यजनित इस अभिव्यक्ति के कारण ही वह सम्बन्ध 'वाक्यार्थ' कहलता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि—)

वाक्य में अनेक पद होते हैं। उन सभी पदों के अर्थों का अपने अव्यवहितोत्तरवर्त्ति पदों के अर्थों के साथ अलग-अलग सम्बन्ध है। इस प्रकार इस पक्ष में एक ही वाक्य के अनेक अर्थ होंगे। एक वाक्य का अनेक अर्थ उचित नहीं है 'अन्यायश्चानेकार्थः'।

प्राक् सत्त्वे च""प्रत्ययैर्विना

वस्तुतः संनिधिजनित प्रतीति से पहले 'वाक्यार्थ' की सत्ता ही अप्रामाणिक है, क्योंकि 'प्रत्यय' (प्रतीति) के विना वस्तु की सत्ता का कोई नियामक नहीं है ॥ ४७–४८ ॥

न चैषां वस्तुसत्त्वं च तत्पदेऽस्तित्वकारणम् ।
एवमाद्यान्त्यसर्वेषां पृथक्सङ्घातकल्पने ॥ ४९ ॥
अन्योन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता ।
आद्यं यदि पदं सर्वैः संस्क्रियेत विशेषतः ॥ ५० ॥
ततस्तदेव वाक्यं स्यादन्यस्य द्योतको गणः ।
एवमन्त्येषु सर्वेषु पृथग्भूतेष्ववस्थितम् ॥ ५१ ॥

न चैषाम्""अस्तित्वकारणम्

(पू० प०) वाक्य ही वाक्यार्थ की सत्ता का ज्ञापक प्रमाण है, क्योंकि विना सत्ता के वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। वाक्य का उसका उत्पादक होना संभव नहीं है, अतः वाक्य वाक्यार्थ का ज्ञापक भर हो सकता है। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर पद के प्रयोग से पहले वाक्यार्थ की केवल सत्ता के रहने पर भी (अर्थात् ज्ञात न रहने पर भी) उसके बोध के लिये पद का प्रयोग संभव ही नहीं है।

एवमाद्यान्त्यवर्णानाम्""नास्ति वाक्यता

वैयाकरणों ने सम्प्रदायभेद से वाक्य के इन लक्षणों को स्वीकार किया है—

आख्यातं, पदसंघातो, जातिः संघातवर्त्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः, क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः ॥
पदमाद्यं, पृथक् सर्वं पदं सापेक्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायदर्शिनाम् ॥

वैयाकरणों के द्वारा उपस्थापित 'वाक्य' के इन लक्षणों से अतिरिक्त 'अन्त्य-पदत्व' भी वाक्य का एक लक्षण संभावित है, क्योंकि अन्तिम पद के श्रवण के बाद ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस विवरण सहित वाक्य के ये सात लक्षण संभावित है—

(१) आख्यात (२) शब्दसंघात (३) पदों के संघात में रहने वाली जाति (४) अखण्ड शब्द (५) बुद्धयनुसंहितक्रम (६) आद्य पद और (७) अन्तिम पद।

इनमें (१) आदिपद को वाक्य मानें अथवा (२) अन्त्यपद को ही वाक्य मानें (३) अथवा सभी पदों को वाक्य का लक्षण स्वीकार करें (४) किं वा परस्पर सापेक्ष पदसंघात को ही वाक्य का लक्षण कहें, इन चारो पक्षों में से कोई भी पक्ष इसलिये उपपन्न नहीं है कि ये सभी लक्षण वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों में परस्पर अनुग्रह (साहाय्य) से ही अभीष्ट वाक्यार्थबोध को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु पदों में यह परस्परानुग्रह ही संभव नहीं है।

आद्यं पदम्''पृथग्भूतेष्ववस्थितम्

(विशदार्थ यह है कि) यदि 'आद्य पद' को ही वाक्य मानें तो अन्य सभी पदों से उसी में 'संस्कारविशेष' स्वरूप 'अनुग्रह' मानना होगा। तदनुसार अन्य सभी पदों से उत्पन्न संस्कार से विशिष्ट 'आद्य पद' ही वाक्य होगा। उसीसे वाक्यार्थबोध उत्पन्न होगा। अवशिष्ट सभी पद केवल द्योतक होने के कारण गौण हो जायेंगे।

पहली बात यह है कि कथित 'आदि' पद में अन्य पदों से उत्पन्न वास्तव में किसी संस्कार की उपलब्धि नहीं होती है। दूसरी बात यह भी है कि आदि पद में उसके बाद उत्पन्न अन्य पदों से कोई संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि आदि और पश्चाद्वर्त्ति अन्य पद किसी एक समय विद्यमान ही नहीं रह सकते।

'अनुग्रह' की यह अनुपपत्ति 'अन्त्यवर्ण' (पद) को वाक्य का लक्षण मानने के पक्ष में, पदसमूह को वाक्य का लक्षण मानने के पक्ष में, अथवा प्रत्येक पद को वाक्य का लक्षण मानने के पक्ष में भी समान रूप से लागू है॥ ४९–५१॥

स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्वं कथंचिन्नोपलक्षितम्।
स्फोटजातिनिषेधश्च स्याद् पदस्फोटजातिवत्॥ ५२॥

स्वतन्त्रेषु हि''नोपलक्षितम्

बिना 'परस्परानुग्रह' के आदिपद या अन्त्यपदादि कथित पक्षों में से किसी पक्ष के अवलम्बन के द्वारा वाक्य का लक्षण करने से स्वतन्त्र पद में भी वाक्यत्व की आपत्ति होगी। किन्तु स्वतन्त्र (परस्परानुग्रहानपेक्ष) किसी पद में वाक्यत्व का व्यवहार नहीं देखा जाता, क्योंकि ऐसा मानने से अलग-अलग उच्चरित गौः, अश्वः इत्यादि पदों में वाक्यत्व की आपत्ति होगी।

स्फोटजातिनिषेधश्च''जातिवत्

"पदों से उत्पन्न होने वाला 'स्फोट' ही 'वाक्य' है" यह वाक्य का लक्षण स्फोट पदार्थ के निराकरण से ही तिरस्कृत हो जाता है। एवं 'क्रमबद्ध पदों में रहने

वाली विशेष प्रकार की जाति ही वाक्य है' यह वाक्य का लक्षण पदत्व नाम की जाति के खण्डन से ही निराकृत हो जाता है। स्फोट और पदवृत्ति जाति का निराकरण पहले ही किया जा चुका है ॥ ५२ ॥

वार्यः पदक्रमो वाक्यं यथा वर्णक्रमः पदम्।
बुद्ध्या न चोपसंहर्तुः क्रमो निष्कृष्य शक्यते ॥ ५३ ॥

(५) बुद्ध्यनुसंहित क्रम से युक्त पद ही वाक्य है इस पांचवें लक्षण का उसी युक्ति से खण्डन करना चाहिये जिस युक्ति के अनुसार 'क्रम विशेष से युक्त वर्ण ही पद है' यह पद का लक्षण खण्डित होता है।

दूसरी बात यह भी है कि वाक्य में प्रयुक्त क्रमों का बुद्धि द्वारा अनुसन्धान संभव नहीं है, क्योंकि क्रम का बुद्धि के द्वारा पदों से भिन्न रूप में निर्वचन संभव नहीं है ॥ ५३ ॥

पदान्येव हि तद्वन्ति वर्तन्ते श्रोत्रबुद्धिवत्।
तावत्स्वेव पदेष्वन्यः क्रमोऽन्यश्च प्रतीयते ॥ ५४ ॥
तत्र यावत् क्रमं भेदो वाक्यार्थस्य प्रसज्यते।
पदान्तरस्य पारार्थ्यादाख्यातं योऽपि मन्यते ॥ ५५ ॥
वाक्यं प्राधान्ययोगेन वाक्यार्थं चापि भावनाम्।
तत्रापि न बहिर्वस्तु क्रियाकारकसङ्गतिः ॥ ५६ ॥
न कारकाणामन्योन्यं न क्रियाणां प्रतीयते।
उखायामोदनं काष्ठैर्देवदत्तः पचेदिति ॥ ५७ ॥

पदान्येव''श्रोत्रबुद्धिवत्

जिस प्रकार श्रोत्र से प्रत्येक वर्ण की प्रतीति होती हैं, उसी प्रकार पदों में क्रम से युक्त वर्णों की भी प्रतीति होती है।

तावत्स्वेव''प्रतीयते''प्रसज्यते

यद्यपि वर्णों के क्रम को 'पद' का लक्षण किसी प्रकार माना भी जा सकता है, क्योंकि वर्णों का क्रम अर्थप्रतीति का सहायक है। 'घ' के बाद 'ट' के रहने से ही घटपदार्थ की प्रतीति होती है, इसके विपरीत 'ट' के उच्चारण के पश्चात् 'घ' के उच्चारण से घट पदार्थ की प्रतीति नहीं होती है।

तथापि वाक्य में पदों का जो क्रम रहता है, उसका कोई भी उपयोग तज्जनित अर्थ की प्रतीति में मानना संभव नहीं है, क्योंकि 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इस क्रम से युक्त पदों के द्वारा जिस प्रकार का बोध होता है, उसी प्रकार का बोध 'पचति तण्डुलं देवदत्तः' इस क्रम से युक्त पदों के द्वारा भी होगा अथवा 'तण्डुलं देवदत्तः पचति' इस क्रम से युक्त पदों के द्वारा भी होगा। अतः पदों के क्रम को अर्थप्रतीति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

यदि पदक्रम को वाक्यार्थबोध का अङ्ग मानेंगे तो पदों के एक समुदाय से जितने भी क्रम बन सकते हैं, उतनीं संख्या के पदार्थों को स्वीकार करना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है[1]।

पदान्तरस्य भावानाम्

जो सम्प्रदाय 'आख्यात को ही वाक्य' मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है कि 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इत्यादि पदों के समुदाय में 'पचति' यह आख्यात पद ही प्रधान है, अन्य सभी देवदत्तादि पद गौण हैं। अतः 'आख्यात' ही 'वाक्य' है एवं देवदत्तादि अन्य पदों से अनुरक्त भावना ही उक्त पदसमुदाय का मुख्य अर्थ है। इस लिये पदान्तरों से अनुरक्त भावना ही 'वाक्यार्थ' है।

तत्रापि न बहिर्वस्तु''पचेदिति

किन्तु वाक्य का यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिन अनेक वस्तुओं में गुणप्रधानभाव होता है, उनमें किसी प्रकार की 'संगति' अर्थात् परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है। किन्तु उक्त संगति नाम की किसी बाह्य वस्तु की सत्ता प्रमाण से सिद्ध नहीं है, भले ही उनमें किसी सम्बन्ध का भान हो।

उक्त सम्बन्ध के न रहने से 'आख्यात ही वाक्य है' एवं 'पदार्थान्तरानुरक्ता भावना ही वाक्यार्थ है' ये दोनों ही वाक्य और वाक्यार्थ के लक्षण अनुपपन्न हो जाते हैं।

दृष्टान्त के रूप में 'उखायामोदनं काष्ठैः देवदत्तः पचति' इस वाक्य को लिया जा सकता है ॥ ५५–५७ ॥

> **द्रव्याणां तावदेतस्मिन्न सम्बन्धः परस्परम्।**
> **अत्यन्तभेदनिष्पन्नषष्ठ्यभावानपेक्षणैः ॥ ५८ ॥**

द्रव्याणाम्''''परस्परम्

जैसे कि उखा, (स्थाली-बटलोही) ओदन, काष्ठ और देवदत्त इन चारो द्रव्यों में कोई सम्बन्ध संभव नहीं है।

अत्यन्तमेव''अनपेक्षणैः

इन द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध के ये तीन प्रतिबन्धक हैं—

---

१. वाक्य में जितने पद रहेंगे, उनमें से पहले को दूसरे की संख्या २ दो से गुणित करके पुनः उसके गुणनफल को तीसरे की संख्या ३ से गुणित करके जो गुणनफल होगा उतने ही वाक्यार्थ होंगे। फलतः प्रकृत में (१) देवदत्तः (२) तण्डुलम् (३) पचति इन पदों से १×२×३=६ वाक्यार्थ बनेंगे। इसी प्रकार (१) देवदत्तः (२) अग्निना (३) तण्डुलं (४) पचति इस वाक्य से १×२×३×४=२४ वाक्यार्थ और वाक्य बनेंगे। स्वनामधन्य बच्चा झा जी ने व्युत्पत्तिवाद की अपने गूढार्थतत्त्वालोक के 'राजपुरुषः' स्थल की व्याख्या में विशेषण-विशेष्य के उलट-फेर से कार्यकारणभाव के प्रसङ्ग में इस रीति का अवलम्बन किया है।

(१) अत्यन्तभेद (२) उनकी निष्पन्नता (सिद्धरूपता) एवं (३) षष्ठीविभक्ति की अनपेक्षा ॥ ५८ ॥[1]

तृतीयाद्यपहारेण सन्निधेरपि बाधनात् ।
काष्ठादीनां च सम्बन्धः क्रियया न स्वरूपतः ॥ ५९ ॥

तृतीयाद्यपहारेण.....बाधनात्

यदि यह कहो कि षष्ठी विभक्ति के न रहने पर भी परस्पर के संनिधान से दो पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध होगा। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि तृतीयादि कारक विभक्तियों से संनिधि के व्याहृत रहने पर भी उसके अनुसन्धान से सम्बन्ध का बोध होता है। अतः व्यभिचरित होने से संनिधि में परस्पर सम्बन्धबोध की कारणता नही मानी जा सकती।

काष्ठादीनाञ्च...स्वरूपतः

(यदि यह कहो कि पाक क्रिया के निष्पादक काष्ठादि सभी पदार्थ हैं, अतः एक क्रिया के निष्पादक होने से काष्ठादि परस्पर असम्बद्ध नहीं है। इसलिये 'एकक्रियानिष्पादकत्व' सम्बन्ध अन्ततः उन सभी वस्तुओं में है ही। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

काष्ठादि द्रव्यों का पाकक्रिया के साथ 'स्वरूपतः' स्वतन्त्र रूप से निष्पादकत्व सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् काष्ठ केवल काष्ठ है इसलिये (काष्ठत्व रूप से) पाकक्रिया का उत्पादक नही है। यदि काष्ठादि द्रव्यों में पाकक्रिया का साक्षात् निष्पादकत्व होगा, तभी क्रिया के उन साक्षात् निष्पादकों में 'एकक्रियानिष्पादकत्व' रूप परम्परा सम्बन्ध की स्थापना हो सकती है ॥ ५९ ॥

आर्द्रादिधर्मिकैः पाकस्तैः कृतो न हि दृश्यते ।
शक्तिः कारणमिष्टा चेदमूर्ता सापि निष्क्रिया ॥ ६० ॥

आर्द्रादि...दृश्यते

यदि स्वतन्त्र रूप से काष्ठ पाक क्रिया का उत्पादक होता तो गीली लकड़ी से भी पाक निष्पन्न होता, किन्तु गीली लकड़ी से पाक की निष्पत्ति नही देखी जाती।

---

1. कहने का तात्पर्य है कि (१) ये स्थाली-काष्ठादि पदार्थ चूँकि अत्यन्त भिन्न हैं, अतः इनमें परस्पर अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। (२) उक्त सभी द्रव्य चूँकि पूर्व से ही निष्पन्न हैं, अतः इनमें 'कार्यकारणभाव' सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। अनिष्पन्न वस्तुओं में ही कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है।

(३) यद्यपि इनमें 'एकक्रियाजनकत्वादि' सम्बन्ध हो सकते हैं, किन्तु उन सम्बन्धों का वाक्य से प्रतिपादन संभव नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में सम्बन्ध का बोधक षष्ठी विभक्ति श्रुत नहीं है। ये स्थाली प्रभृति अर्थ चूँकि निष्पन्न हैं, अतः इनमें परस्पर आकांक्षा संभव नहीं है। अर्थों में आकांक्षा के न रहने से ही उनके वाचक स्थाली प्रभृति शब्दों में भी आकांक्षा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि शब्दों की आकांक्षा अर्थों की आकांक्षा की अपेक्षा रखती है। अतः निराकांक्ष शब्दों का एक वाक्य नहीं हो सकता एवं निराकांक्ष कुछ अर्थों में एकवाक्यार्थता नहीं हो सकती।

शक्तिः कारणमिष्टा चेत्

(पू० प०) पाकानुकूलशक्तिविशिष्ट काष्ठ में पाक की कारणता मानते हैं, केवल काष्ठ में नहीं। तदनुसार काष्ठ में जो पाक की कारणता है, उसका 'अव-च्छेदक' पाकानुकूल 'शक्ति' ही है, काष्ठत्व नहीं। अतः गीली लकड़ी में काष्ठत्व के रहने पर भी कारणतावच्छेदकीभूत उक्त शक्ति के अभाव से पाक की निष्पत्ति नहीं होती है। अतः पाक और काष्ठादि द्रव्यों के कार्यकारणभाव में कोई व्यभिचार दोष नहीं है।

अमूर्त्ता सापि निष्क्रिया

किन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि शक्ति अमूर्त्त है, अतः शक्ति क्रिया का सहायक कारण भी नहीं हो सकती ॥ ६० ॥

शक्तैरपि च तैः पाकस्तिष्ठद्भिर्नैव साध्यते।
ज्वलनादिमुखेनाथ तेषां पाकेन सङ्गतिः ॥ ६१ ॥

(पू० प०—शक्ति स्वयं साक्षात् कारण नहीं है, किन्तु कारणीभूत काष्ठादि द्रव्यों का विशेषण है। अर्थात् शक्तिविशिष्ट काष्ठादि द्रव्य पाक के कारण हैं। वे चूँकि मूर्त्त हैं, अतः उनमें आर्द्रताप्रयुक्त व्यभिचार दोष एवं शक्ति के अमूर्त्तत्व दोष की कारणता की अनुपपत्ति नहीं दी जा सकती। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

शक्ति से युक्त काष्ठादि अपनी सत्ता मात्र से पाक का उत्पादन नहीं कर सकते।

ज्वलनादि''सङ्गतिः

यदि यह कहो कि जलती हुई सूखी लकड़ी से पाक की निष्पत्ति होती है, अतः जलती हुई सूखी लकड़ी ही पाक का कारण है। इस प्रकार ज्वलन क्रिया के द्वारा ही काष्ठ में पाक का कारणत्व सम्बन्ध है ॥ ६१ ॥

तथापि कर्मणा कर्म न साध्यमिति दुर्लभम्।
भिन्नार्थसमवेतत्वान्न च सम्बन्धसम्भवः ॥ ६२ ॥

तथापि''दुर्लभम्

(सि० प०) किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्वलन (जलना) भी पाक के समान ही एक स्वतन्त्र धात्वर्थ रूपा क्रिया है। एक क्रिया (धात्वर्थ) से दूसरी क्रिया (धात्वर्थ) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः इस रीति से भी काष्ठ में पाकक्रियाकारणत्व सम्बन्ध सुलभ नहीं है[1]।

---

1. कहने का तात्पर्य है कि यदि ज्वलन क्रिया पाक क्रिया का कारण होती तो उसके द्वारा काष्ठ भी पाक क्रिया का कारण हो सकता था। किन्तु ज्वलन क्रिया में पाक की किसी प्रकार की कारणता संभव नहीं है। ज्वलन क्रिया पाक क्रिया का समवायिकारण इसलिये नहीं हो सकती कि उसमें पाक क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है। ज्वलन क्रिया पाक क्रिया का असमवायिकारण भी नहीं हो सकती, क्योंकि असमवायिकारण को समवायिकारण के साथ एक अर्थ में रहना आवश्यक है।

भिन्नार्थ ''संभवः

चूँकि ज्वलन क्रिया काष्ठ में हैं, और पाक क्रिया तण्डुल में, इस प्रकार दोनों क्रियायें भिन्न अर्थों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं (भिन्नार्थसमवेत) अतः ज्वलन क्रिया पाक क्रिया का असमवायिकारण भी नहीं हो सकती। असमवायिकारण को कार्य के साथ एक अधिकरण में रहना आवश्यक है।

पट और उसका असमवायिकारण तन्तुओं का संयोग दोनों ही तन्तु स्वरूप एक अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

इसलिये ज्वलन क्रिया चूँकि पाक क्रिया का न समवायिकारण है न असमवायिकारण, इसलिये ज्वलन क्रिया के द्वारा भी पाक का काष्ठ में कारणत्व सम्बन्ध संभव नहीं है ॥ ६२ ॥

न चान्यकारकोत्पाद्यं कारकं कारकान्तरम्।
ज्वलनादीनि कुर्वन्ति न च स्युः पाकसाधनम् ॥ ६३ ॥

काष्ठादि में पाक की निमित्तकारणता यद्यपि हो सकती है, तथापि इस सम्बन्ध से काष्ठादि पाक क्रिया के 'कारक' नहीं हो सकते, क्योंकि एक क्रिया का निष्पादक 'कारक' दूसरी क्रिया का 'कारक' नहीं हो सकता। काष्ठादि तो पाक क्रिया से भिन्न ज्वलनादि क्रियाओं के कारक हैं, अतः पाक क्रिया के कारक नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

अपाकसाधनानां च कुतस्तेनैकवाक्यता।
ज्वलनादिगता पाके शक्तिश्चेदुपचर्यते ॥ ६४ ॥
कर्तृत्वात् तत्र काष्ठादेः करणत्वादि दुर्लभम्।
मुख्यं कारकवैचित्र्यमलब्धं ज्वलनादिषु ॥ ६५ ॥
कथं तु पाकवेलायामुपचारेण लभ्यते।
स्वव्यापारे च काष्ठादेः करणत्वाद्यसम्भवः ॥ ६६ ॥
विच्छिद्यन्ति ज्वलन्तीति बिभ्रतीति च दर्शनात्।
न चैषां पाकवेलायां व्यापारान्तरमिष्यते ॥ ६७ ॥
एकप्रयोगवत् तेन कर्तृतैव प्रसज्यते।
पचिना चानुपात्तेषु ज्वलनादिष्वसङ्गतिः ॥ ६८ ॥

अपाक ''एकवाक्यता

जब काष्ठादि एक क्रिया के साधन ही नहीं हैं, तो तत्तद्वाचक काष्ठादि पदों की 'पचति' पद के साथ एकवाक्यता कैसे हो सकती है ? किं वा 'पचति' पद सहित उन पदों के अर्थ 'एकवाक्यार्थ' कैसे हो सकते हैं !

ज्वलानदिगता ''उपचर्यते

यदि यह कहो कि 'काष्ठादि में जो ज्वलनादि क्रियाओं का मुख्यकारकत्व है, उसी के बल से ज्वलनादि क्रियाओं से उत्पन्न पाक क्रिया के कारकत्व का भी गौण प्रयोग (उपचार) काष्ठादि में होता है।

कर्तृत्वात्तत्र ''दुर्लभम्

किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि काष्ठ तो ज्वलन क्रिया का कर्तृकारक है। उसमें पाक क्रिया के करणत्व का व्यवहार होता है, इस वैचित्र्य की उपपत्ति 'उपचार' से कैसे हो सकती है ?

मुख्यं कारकवैचित्र्यम् '' ज्वलनादिषु

क्योंकि उपचार (गौणत्व) मुख्यसापेक्ष है। काष्ठादि कारकों के जो ज्वलन-भरणादि हैं, उन व्यापारों के करणकारकत्व या अधिकरणकारकत्वादि तो उन काष्ठादि में नहीं है। फिर उनमें पाक क्रिया के करणत्वादि की उपचार से उपपत्ति कैसे हो सकती है।[1]

स्वव्यापारे च''' करणत्वाद्यसंभवः

काष्ठादि कारकों के ज्वलनादि जो अपने-अपने व्यापार हैं, तत्तन्निरूपित कर्तृकारकत्व ही उनमें है, करणत्व अधिकरणत्वादि विभिन्न कारकत्व उनमें नहीं हैं, क्योंकि देवदत्त से तण्डुल में विक्लित्ति क्रिया ही देखी जाती है, एवं काष्ठ से ज्वलन क्रिया ही देखी जाती है। इसी प्रकार स्थाली (बटलोही) से भरण क्रिया ही उपलब्ध होती है।

न चैषाम् ''एकप्रयोगवत्

(पू० प०) काष्ठादि के ज्वलनादि व्यापारों की विभिन्न कारकता काष्ठादि में भले ही सम्भव न हो, पाक के समय ज्वलनादि अन्य व्यापारों की उत्पत्ति भले ही सम्भव न हो, तथापि काष्ठादि कारकों में मुख्य वैचित्र्य ही स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् एक ही काष्ठ पाक के समय ही ज्वलन क्रिया का कर्त्ता और पाक क्रिया का करण दोनों हो सकता है। अतः काष्ठादि में पाक के समय विचित्र कारकों के प्रयोग के लिए औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

पाक के समय पाकस्वरूप एक ही व्यापार (प्रयोग) के समान ही काष्ठादि के ज्वलनादि विभिन्न व्यापार स्वीकार नहीं किये जा सकते।

तेन कर्तृतैव प्रसज्यते

अतः पाक के समय भी यदि काष्ठादि को कारक मानना है तो ज्वलनादि क्रियाओं के वे कर्तृकारक ही हो सकते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि केवल ज्वलनादि के समय वे कर्तृकारक हों और पाक के समय कर्त्ता और करण दोनों ही

---

1. कहने का तात्पर्य है कि 'उखायामोदनं काष्ठैः पचति' इस स्थल में काष्ठ ज्वलन क्रिया का कर्तृकारक है, किन्तु पाक क्रिया का करण कारक है। 'उखा' (स्थाली—बटलोही) पाक क्रिया का अधिकरण कारक है, किन्तु भरण क्रिया का कर्तृकारक ही है। कारकों के इस वैचित्र्य से विविध प्रकार के कारकों में पाकक्रियानिरूपितत्व का उपचार एक साथ कैसे हो सकता है ?

हों। अतः काष्ठादि चूंकि ज्वलनादि व्यापारों के कर्तृकारक हैं, अतः पाक के भी कर्तृकारकत्व का ही गौण व्यवहार उनमें हो सकता है।

पचिना ''असङ्गतिः

यदि यह मान भी लें कि काष्ठ से ज्वलन उत्पन्न होता है, एवं ज्वलन से पाक उत्पन्न होता है, इस प्रकार ज्वलन के द्वारा काष्ठ के साथ पाक का सम्बन्ध है, अतः 'पचति' पद के साथ काष्ठ पद की एकवाक्यता असम्बद्धत्व प्रयुक्त अनुपपन्न नहीं है, तथापि पाक के साथ काष्ठ का यह सम्बन्ध शब्द का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृत में ज्वलन क्रिया 'ज्वलति' प्रभृति किसी पद का प्रतिपाद्य नहीं है ॥६८॥

न हि सद्भावमात्रेण तानि सम्बन्धकारणम्।
न च शब्दान्तरैरेषामुपादानमतः पचिः ॥ ६९ ॥
देवदत्तक्रियावाची न स्यात् काष्ठादिसङ्गतः।
सर्वव्यापारवाची चेत् पचिरिष्टस्तथा सति ॥ ७० ॥
कर्तृत्वमेव काष्ठादेरापन्नं देवदत्तवत्।
धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते ॥ ७१ ॥

न हि सद्भावमात्रेण ''सम्बन्धकारणम्

शब्द के द्वारा जब तक ज्वलन क्रिया ज्ञात नहीं हो जाती, तब तक उसके द्वारा पाक के साथ काष्ठ के सम्बन्ध को समझाने की योग्यता उसमें नहीं मानी जा सकती। अर्थात् केवल अपनी सत्ता से काष्ठादि ज्वलनादि क्रियाओं के द्वारा पाकादि के साथ सम्बन्धभान के प्रयोजक नहीं हो सकते।

न च शब्दान्तरैः''कर्तृतेष्यते

'उखायामोदनं काष्ठैः देवदत्तः पचति' इस वाक्य के काष्ठादि पदों से भी ज्वलन-भरणादि व्यापारों का उपादान नहीं होता है। अतः देवदत्तनिष्ठ व्यापार के वाची पच् धातु के साथ उन काष्ठादि शब्दों की एकवाक्यता नहीं हो सकती, जिनके अर्थ के साथ पच् धातु के अर्थ के सम्बन्ध का प्रतिपादन नहीं होता है।

यदि प्रकृत में ज्वलनादि व्यापारों का भी पच् धातु के द्वारा ही अभिधान मानें तो फिर काष्ठादि भी पच्-धात्वर्थ के कर्तृकारक ही होंगे, करणादि कारक नहीं, क्योंकि धातु के द्वारा प्रतिपाद्य क्रिया का जनक कर्तृकारक ही होता है ॥ ६९–७१ ॥

सर्वेषां भावनासाम्ये न ह्यन्यत् कर्तृलक्षणम्।
काष्ठादीनि पचन्तीति विवक्षा या च दृश्यते ॥ ७२ ॥
सापि नैवोपपद्येत यद्यन्यत् कर्तृलक्षणम्।
एकधातुगृहीतानां न चास्त्यङ्गप्रधानता ॥ ७३ ॥
न कारकं ततः कर्ता प्राधान्याभिहितक्रियम्।
अतः समप्रधानानामभिधा सदसत्त्वयोः ॥ ७४ ॥

क्वचित् कारकवैचित्र्यं क्वचिदैक्यं न युज्यते।
प्रत्ययेनापि नैवात्र ज्वलनादिपरिग्रहः॥ ७५॥
कर्तृमात्रं त्वसौ ब्रूयादथ वा तद्गतां क्रियाम्।
तस्मान्न पचतीत्यत्र काष्ठादेरस्ति सङ्गतिः॥ ७६॥

सर्वेषां भावनासाम्ये''''कर्तृलक्षणम्

(पू० प०) धातुप्रतिपाद्य व्यापारजनकत्व ही कर्त्ता का लक्षण नहीं है, जिससे कि काष्ठादि में पाककर्तृत्व की अतिव्याप्ति हो। किन्तु प्रत्ययोपात्त भावना-सम्बन्धित्व ही 'कर्तृत्व' का लक्षण है। 'पचति' पदघटक तिप्-प्रत्ययवाच्य भावना-जनकत्व चूँकि देवदत्त में ही है, काष्ठादि में नहीं; अतः काष्ठादि में पाककर्तृत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

प्रत्ययवाच्य भावना का सम्बन्ध कर्तृकारक के समान ही करणादि अन्य कारकों में भी है। अतः कर्तृत्व का 'धातूक्तव्यापारत्व' ही लक्षण है। इससे भिन्न 'प्रत्ययोपात्तभावनासम्बन्धित्वं कर्तृत्वम्' यह कर्तृत्व का लक्षण नहीं है।

काष्ठादीनि''''कर्तृलक्षणम्

(यदि यह कहो कि प्रत्ययोपात्तभावना का जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध ही कर्तृकारक का लक्षण नहीं है, किन्तु प्रत्ययोपात्त भावना का समवाय सम्बन्ध ही कर्तृकारक का लक्षण है। भावना का जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध सभी कारकों के साथ रहने पर भी समवाय सम्बन्ध कर्तृकारक के साथ ही है। अतः प्रकृत स्थल में देवदत्त ही कर्त्ता है, काष्ठादि नहीं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' इस न्याय के अनुसार काष्ठादि में ही (उनकी उत्कृष्टता के कारण) कर्तृत्व की विवक्षा से 'काष्ठानि पचन्ति' इत्यादि आकारों के जो प्रयोग होते हैं वे अनुपपन्न हो जायेंगे, यदि प्रत्ययोपात्तभावना-समवायित्व को कर्तृकारक का लक्षण मानें।

एकधातुगृहीतानाम्''''अभिहितक्रियम्

(पू० प०) 'जिसका व्यापार धातुप्रतिपाद्य हो वही कर्त्ता है' किन्तु कर्त्ता के इस लक्षण में प्राधान्य विशेषण देने से सभी अनुपपत्तियाँ दूर हो जायँगी। फलतः पच् धातु का प्रधान व्यापार है पाक, जिसका सम्बन्ध देवदत्त के साथ है, अतः वही मुख्य कर्त्ता है।

उसी धातु के दूसरे गौण व्यापार हैं ज्वलन-भरणादि, जिनके सम्बन्ध से काष्ठादि में भी पच्-धात्वर्थ व्यापार का गौण सम्बन्ध है। तदनुसार 'काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोग भी होते हैं, इसलिये कोई अनुपपत्ति नहीं है। किन्तु यह समाधान भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

कोई शब्द अपने एक ही उच्चारण के द्वारा एक ही समय प्रधान और गौण दोनों अर्थों का बोधक नहीं हो सकता। अतः कर्तृकारक का उक्त प्राधान्यघटित लक्षण भी नहीं हो सकता।

अतः समप्रधानानाम्……न युज्यते

चूँकि ज्वलन-भरणादि से लेकर पाकक्रिया तक सभी क्रियाओं का प्राधान्य समान है (अर्थात् सभी क्रियायें समान रूप से प्रधान हैं—'समप्रधान' हैं), कोई भी उनमें से किसी की अपेक्षा गौण नहीं हैं इसलिये यदि उन सभी क्रियाओं को पच् धातु के द्वारा अभिहित मानें तो 'काष्ठैः स्थाल्यां देवदत्तः पचति' इत्यादि जो कारक-वैचित्र्यमूलक विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा। यदि पच् धातु से ज्वलनादि सभी क्रियाओं का अभिधान न मानें तो 'काष्ठानि पचन्ति' इत्यादि प्रयोगों से जो कारकैक्य की प्रतीति होती है, वह अनुपपन्न होगी। फलतः 'काष्ठैः' इत्यादि पदों में एकवाक्यता ही अनुपपन्न हो जायगी। इस प्रकार पच् धातु से सभी क्रियाओं का अभिधान मानें, या न मानें, किसी भी प्रकार सामञ्जस्य नहीं होता है।

प्रत्ययेनापि……तद्गतां क्रियाम्……सङ्गतिः

(पू० प०—विवक्षा के भेद से कभी तो पच् धातु के द्वारा देवदत्त के व्यापार स्वरूप पाकक्रिया का ही अभिधान होता है और कभी विवक्षावश ज्वलन-भरणादि सभी क्रियाओं का ग्रहण होता है। इनमें से प्रथम पक्ष में देवदत्त में कर्तृत्व, काष्ठों में करणत्व, एवं स्थाली में अधिकरणत्व प्रभृति विभिन्न कारकों की प्रतीतियाँ होती हैं। द्वितीय पक्ष में समान रूप से देवदत्त में, काष्ठों में, स्थाली में, सर्वत्र कर्तृत्व की ही प्रतीति होती है।

इस स्थिति में जिस समय पच् धातु देवदत्त के व्यापार स्वरूप पाक का अभिधायक होता है, उस समय ज्वलन-भरणादि व्यापारों का अभिधान आख्यात प्रत्यय से होता है। इस रीति से काष्ठादि के साथ एकवाक्यता का प्रयोजक सम्बन्ध संभव है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

आख्यात प्रत्यय किसी भी मत से व्यापार का वाचक नहीं है। वैयाकरणगण उसे कर्तृवाचक मानते हैं। मीमांसक सम्प्रदाय उसे 'भावना' का वाचक मानते हैं। फिर भी दोनों ही मतों से आख्यात प्रत्यय में व्यापारों की अवाचकता समान है। अतः आख्यात प्रत्यय से कर्त्ता का अथवा कर्तृगत भावना का ही बोध हो सकता है।

'तस्मात्' 'काष्ठैः स्थाल्यामोदनं देवदत्तः पचति' इत्यादि स्थलों में किन्तु ज्वलन-भरणादि क्रियाओं का अभिधान संभव नहीं है, अतः काष्ठादि के साथ पाक क्रिया का कोई भी सम्बन्ध संभव नहीं है। इसलिये उक्त पदों से किसी 'एकवाक्य' की कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ७२–७६ ॥

> **सर्वत्र न च धात्वर्थः प्रत्ययार्थेन युज्यते।**
> **भावना प्रत्ययार्थो हि धात्वर्थानां च तां प्रति ॥ ७७ ॥**
> **साध्यसाधनयोग्यानाम् उपादानं च धातुभिः।**
> **साध्यत्वं पाकमित्येवं पाकेनैव च साधनम् ॥ ७८ ॥**
> **पचिस्येतेन रूपेण नैकोऽप्यंशः प्रतीयते।**
> **विधिभावनयोश्चैकप्रत्ययग्राह्यताकृतः ॥ ७९ ॥**

धात्वर्थात् प्रथमं तावत् सम्बन्धोऽव्यवसीयते।
विधावनवसिते तत्र केवले भावनात्मनि ॥ ८० ॥
पश्चात् सम्बध्यमानोऽपि न धात्वर्थो विधीयते।
विध्यहीनप्रवृत्तेश्च न स कार्यः श्रुतोऽपि सन् ॥ ८१ ॥

सर्वत्र न च''युज्यते

(कथित रीति से जिस प्रकार क्रिया और कारक इन दोनों में एवं विभिन्न कारकों में परस्पर सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, उसी प्रकार धातुवाच्य क्रिया और प्रत्ययवाच्य क्रिया इन दोनों में भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—)

सर्वत्र प्रत्ययार्थ 'भावना' का अन्वय धात्वर्थ के साथ ही नहीं होता।

भावनाप्रत्ययार्थो हि''अंशः प्रतीयते

प्रत्ययार्थ भावना के साथ धात्वर्थ का अन्वय साध्य रूप से ही होगा या साधन रूप से, किन्तु दोनों रूपों से नहीं हो सकता। साध्य रूप से अन्वय के लिये पाक शब्द में द्वितीया विभक्ति आवश्यक है, एवं साधन रूप से अन्वय के लिये तृतीया विभक्ति की अपेक्षा है। किन्तु 'पचति' पद में इनमें से कोई भी विभक्ति उपलब्ध नहीं है।

चूँकि इस प्रकार 'पचति' पदघटक पच् धातु से पाक में साध्यत्व या साधनत्व इन दोनों में से किसी एक की भी प्रतीति सम्भव नहीं है, अतः धात्वर्थ और आख्यातार्थ इन दोनों में भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

विधिभावनयोश्चैक''श्रुतोऽपि सन्

'यजेत' प्रभृति पदों में विधि लिङ् रूप जो आख्यात है, उसके दो अर्थ हैं—(१) शाब्दीभावना और (२) आर्थीभावना। सभी आख्यातों में रहनेवाले अपने आख्यातत्व रूप सामान्य धर्म के बल से वह एक ही विधि प्रत्यय पुरुषप्रयत्नस्वरूप आर्थीभावना का अभिधायक है एवं वही विधि प्रत्यय अपने अनन्यसाधारण 'विधित्व' धर्म के बल से उसी आर्थीभावना के जनक शाब्दीभावना का भी अभिधायक है।

मीमांसकों का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही बार उच्चरित विधिप्रत्यय स्वरूप शब्द से दो अभिधा व्यापारों के द्वारा दो अर्थों का बोध सम्भव नहीं है।

अतः यदि पहली विध्यर्थ भावना का अन्वय धात्वर्थ में मानें अर्थात् विधि प्रत्यय से धात्वर्थ में अन्वित भावना का विधान मानें तो धात्वर्थ के साथ अन्वित होने के पहले ही केवल भावना के विधान से भी धातु पद के संनिधि के कारण धातु-समन्वित भावना का बोध हो जायगा। अतः किसी अनुपपत्ति के न होने से धात्वर्थ-विशिष्ट भावना का विधान विधि प्रत्यय से व्यर्थ हो जायगा। 'पश्चात्' अर्थात् भावना के विधान के बाद यद्यपि विधिप्रत्ययार्थ भावना का अन्वय धात्वर्थ के साथ सम्भव है, फिर भी धात्वर्थान्वित भावना का विधान अनावश्यक होने से सम्भव ही

नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति की उत्पत्ति विधि प्रत्यय के द्वारा ज्ञात अर्थों में ही होती है, जिस किसी प्रकार ज्ञात अर्थों में नहीं ॥ ७७–८१ ॥

एवं कारकविध्यन्तविधानस्याप्यसम्भवः ।
विध्यन्तत्वं प्रयाजादेर्निषेद्धव्यमसङ्गतम् ॥ ८२ ॥
असम्बद्धत्वमेतेषां वाच्यं शुक्लगवादिवत् ।
तत्रार्थलक्षणा काचित् सम्भवेदपि सङ्गतिः ॥ ८३ ॥
वाक्यैरेव त्वसम्बद्धैः सम्बन्धो न प्रकल्प्यते ।
अतोऽन्योन्याश्रयत्वं स्यादेकमूलाप्रसिद्धितः ॥ ८४ ॥

एवं कारकविध्यन्त···असंभवः

इस प्रकार समान(एक) पदोपात्त केवल 'यजेत' इस पद में प्रयुक्त यज् धातु के अर्थ का विधान ही जब संभव नहीं है, तो फिर विधिवाक्य (सोमेन यजेत इत्यादि कारकविध्यन्तवाक्य) के द्वारा (जहाँ कि सोमादि के विज्ञापक अन्य पद हैं) सोमविशिष्ट याग का विधान अवश्य ही सम्भव नहीं है ।

विध्यन्तत्वं प्रयाजादेः···असङ्गतम्

इस रीति से 'प्रयाजान् यजेत' इस दूसरे वाक्य में कथित प्रयाजादि का विधान सुतराम् असंगत हो जाता है । इस रीति से भावना के साथ सम्बद्ध होने के कारण (१) साध्य, (२) साधन और (३) इतिकर्त्तव्यता भावना के इन तीनों अंशों के साथ विधि का सम्बन्ध निरस्त हो जाता है ।

असम्बद्धत्वमेतेषाम्···शुक्लगवादिवत्

जिस प्रकार 'शुक्लो गौः' इत्यादि स्थलों में गोपद के अर्थ और शुक्लपद के अर्थ दोनों में सम्बन्ध की सम्भावना का खण्डन किया गया है, उसी प्रकार भावना के साथ उसके साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीनों अंगों में भी सम्बन्ध की असम्भावना दिखलायी जा सकती है ।[1]

तत्रार्थलक्षणा···सम्बन्धो न प्रकल्प्यते

दूसरी बात यह भी है कि 'शुक्लो गौः' इत्यादि लौकिक वाक्य स्थलों में विशेष प्रकार के उच्चारण में 'शुक्लविशिष्टार्थबोधपरत्व' के अनुमान के बाद वक्ता

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'सोमेन यजेत' इस वाक्य के 'सोमेन' पद की तृतीया विभक्ति से 'करणत्व' (साधनत्व) का ही बोध होता है । 'यह करणता या साधनता याग-निरूपित ही है' इस अवधारण का बोधक कोई पद नहीं है, फलतः 'सोमेन यागं भावयेत्' इस साधनाकांक्षा की निवृत्ति का जनक बोध उक्त वाक्य से नहीं हो सकता । जब अपनी प्रकृति के अर्थ सोम में ही तृतीयाविभक्त्यर्थ साधनत्व का अन्वय नहीं हो सकता, तो फिर याग में तो उस साधनत्व का अन्वय और भी असम्भावित है, जिससे 'यागेनेष्टं भावयेत्' यह बोध हो सके ।

के अभिप्राय के द्वारा शुक्लविशिष्ट गो स्वरूप अर्थ के अशाब्द होने पर भी किसी प्रकार वाक्य से सिद्धि का उपपादन किया भी जा सकता है, किन्तु अपौरुषेय वेदवाक्य स्थल में जहाँ उच्चारणकर्त्ता पुरुष के अभिप्राय की कोई चर्चा नहीं है, एवं जहाँ प्रयाजादिबोधक वाक्य और आग्नेयादिबोधक वाक्यों के अर्थों में सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, वह तो सर्वथा असंभव ही है।

अतोऽन्योन्याश्रयत्वम्''''अप्रसिद्धितः

(पू० प०—प्रयाजादि के विधायक वाक्य और आग्नेयादि के विधायक वाक्य परस्पर सम्बद्ध ही हैं, क्योंकि वे मिलकर एक विशिष्ट बोध के जनक हैं। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

यदि वाक्यार्थ की चर्चा छोड़ दी जाय तो प्रयाजादिबोधक वाक्य स्वरूप शब्द और आग्नेयादिबोधक वाक्य स्वरूप शब्द में 'स्वरूपतः' कोई सम्बन्ध नहीं है।

अर्थमूलक जिस सम्बन्ध की चर्चा की गयी है, वह शब्दों में परस्पर सम्बन्ध के द्वारा ही उपपन्न हो सकता है। इस प्रकार इस पक्ष में 'अन्योन्याश्रय' दोष अनिवार्य है, क्योंकि प्रकृत दोनों वाक्य स्वरूप शब्दों में एवं दोनों शब्दों के अर्थों में सम्बन्ध की सिद्धि किसी अन्य प्रमाण से संभावित नहीं है॥ ८२–८४॥

एवमंशत्रयासत्त्वाज्जातो निर्विषयो विधिः।
धात्वर्थकारकाणां तु साक्षान्नैवैष सिध्यति॥ ८५॥
विधेर्भावनया रोधात् कर्तुस्तेष्वप्रवर्तनात्।
क्रियाकारकसम्बन्धमूलत्वात् सर्वसङ्गतिः॥ ८६॥
निषेध्या तन्निषेधेन स्वस्वामिपितृबन्धुषु।
उपसर्गनिपातानां केनचिन्न च सङ्गतिः॥ ८७॥
परस्परं स्वसिद्धेव स्वातन्त्र्येण च नामभिः।
क्रियाविशेषणत्वाच्च विना नैवोपसर्गता॥ ८८॥
वाक्यार्थोऽसत्त्वभूतत्वादेतैर्न च विशिष्यते।
क्रियाद्वाराऽप्य कल्प्येत सापि नाकारकात्मनः॥ ८९॥
असत्त्वभूतमर्थं च नाध्यवस्यति कारकम्।
विशेषणत्वमप्येषां नैवार्थाननुरञ्जनात्॥ ९०॥
आनर्थक्यान्यथाबित्वविपरीतप्रसाधनात् ।
प्रलम्बतेऽयमित्यादौ तेषां कश्चिदनर्थकः॥ ९१॥
प्रासादादिषु चान्योऽर्थो विपरीतः प्रतिष्ठते।
येन स्वार्थाविरोधेन विशेष उपजन्यते॥ ९२॥
विशेषणं तदेवेष्टं न तु यत् स्वार्थनाशकम्।
आभिमुख्योर्ध्वगत्यादिविशेषो योऽवगम्यते॥ ९३॥

तस्यापि कर्तृधर्मत्वान्न धात्वर्थाङ्गतेष्यते ।
कर्त्रा च सह सम्बन्धो नोपसर्गस्य विद्यते ॥ ९४ ॥

एवमंशत्रयाऽसत्त्वात्……निर्विषयो विधिः

इस प्रकार जब भावना का साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीनों अंशों में ही परस्पर सम्बन्ध अनुपपन्न है, तो फिर प्रत्यय से केवल भावना का बोध होगा। किन्तु केवल भावना से पुरुष की प्रवृत्ति अनुपपन्न है। अतः पुरुषप्रवृत्तिमात्र-प्रयोजनक भावना के साथ भी धात्वर्थ का अन्वय नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने तीनों ही अंशों से बिछुड़ी हुई भावना से भी असम्बद्ध होने के कारण विधि प्रत्यय का कोई विषय ही नहीं रह जाता।

धात्वर्थकारकाणां तु……अप्रवर्त्तनात्

(पू० प०—भावना के द्वारा साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता इन तीनों का विधान भले ही संभव न हो, साक्षात् ही तीनों अंशों का विधान होगा। किन्तु सो भी संभव नहीं है, क्योंकि—)

समान (एक) प्रत्यय से उपात्त भावना से सम्बद्ध विधि का अन्वय 'अन्यत्र' अर्थात् उक्त तीनों अंशों में नहीं हो सकता। अन्वित होने पर भी उनका विधान संभव नहीं है, क्योंकि विधान उसी का होता है, जो पुरुषव्यापार का विषय हो सके। किन्तु साध्य-साधनादि पुरुषव्यापार के विषय नहीं हैं।

क्रियाकारक……सर्वसङ्गतिः

सभी पदों के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध चूँकि क्रिया और कारक के सम्बन्ध के अधीन है अतः क्रिया और कारक के सम्बन्ध के खण्डन से 'देवदत्तस्य गौः' इत्यादि स्थलों में भी देवदत्तादि के गवादि के साथ स्वत्वादि सम्बन्धों को निराकृत समझना चाहिये। तदनुसार स्वस्वामिभाव, पितापुत्रभावादि सभी सम्बन्धों को खण्डित समझना चाहिये।

उपसर्गनिपातानाम्……न सङ्गतिः

उपसर्ग और निपात इन दोनों की भी किसी के साथ 'सङ्गति' उपपन्न नहीं हो सकती[1]।

परस्परं स्वसिद्धेव……नामभिः

उपसर्ग और निपात इन दोनों में से भी एक दूसरे का परस्पर सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता, एवं नामों के साथ भी इन दोनों की कोई सङ्गति नहीं है।

क्रियाविशेषणत्वाच्च……नैवोपसर्गता

क्योंकि नामों के साथ अथवा दूसरे उपसर्गों के साथ परस्पर सम्बन्ध मानने से उनका उपसर्गत्व ही विनष्ट हो जायगा, क्योंकि 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार क्रिया के साथ सम्बद्ध 'प्र' प्रभृति शब्दों का ही उपसर्ग नाम है।

---

१. नाम और आख्यात इन दोनों की सङ्गति के निराकरण के बाद अब उपसर्ग और निपात इन दोनों की सङ्गति का निराकरण दिखाया जाता है।

वाक्यार्थोऽसत्वभूतत्वात् ''विशिष्यते

'वाक्यार्थ' नाम की किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। अतः वाक्यार्थ नाम के असत्, पदार्थ उपसर्ग-निपातादि शब्दों के अर्थों से युक्त (विशिष्ट) नहीं हो सकता। अर्थात् वाक्यार्थ के साथ भी उपसर्ग-निपातादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

क्रियाद्वाराऽस्य ''नाध्यवस्यति परस्परम्

यदि यह कहो कि धात्वर्थ स्वरूप क्रिया के द्वारा उपसर्ग-निपातादि अर्थों का सम्बन्ध वाक्यार्थ के साथ होगा। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

कारक का ही सम्बन्ध धात्वर्थ स्वरूप क्रिया के द्वारा होता है, उपसर्गार्थ या निपातार्थ कारक नहीं है।

असत्त्वभूतमर्थं च''''कारकम्

क्योंकि कारक से किसी असत्पदार्थ का बोध नहीं होता है।

विशेषणत्वमपि''''अननुरञ्जनात्

उपसर्ग और निपात किसी के विशेषण भी नहीं हो सकते, क्योंकि उनसे किसी विशेष्य का 'अनुरञ्जन' नहीं होता है, अर्थात् उनसे किसी विशेष्य में किसी 'विशेष' की उत्पत्ति नहीं होती।

आनर्थक्यान्यवाचित्व''प्रसाधनात्

क्योंकि कुछ उपसर्ग (१) अनर्थक होते हैं, कुछ उपसर्ग (२) विशेष्यवाचक पद के अर्थ से भिन्न अर्थ के बोधक होते हैं एवं कुछ उपसर्ग (३) विपरीतार्थबोधक भी होते हैं।

प्रलम्बतेऽयम्''प्रतिष्ठते

(१) अनर्थक उपसर्ग के उदाहरण के रूप में 'प्रलम्बतेऽयम्' इस वाक्यघटक 'प्र' शब्द को लिया जा सकता है, क्योंकि 'लम्बते' इस पद से जैसा बोध होता है 'प्रलम्बते' शब्द से तदपेक्षया कुछ अधिक विषय का बोध नहीं होता है।

प्रासादादिषु चान्योऽर्थः

(२) 'प्र' और 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से निष्पन्न 'प्रासाद' शब्द के द्वारा 'सद्' धातु से निष्पन्न केवल सदनादि शब्द के अर्थ से भिन्न 'देवगृह' का बोध होता है।

विपरीतः प्रतिष्ठते

(३) 'प्रतिष्ठते' पद में उपसर्ग से प्रकृत स्था धातु के अर्थ गतिनिवृत्ति (स्थिति) के विपरीत चलन रूप अर्थ का ही बोध होता है।

येन स्वार्थाविरोधेन ''स्वार्थनाशनम्

'विशेषण' वही है जो विशेष्य में बिना किसी विरोध के किसी 'विशेष' को उत्पन्न करे। वह विशेषण नहीं है जो विशेष्य रूप अपने अर्थ का ही विरोध करे।

आभिमुख्योर्ध्वगत्यादि'''नोपसर्गस्य विद्यते

जिस प्रकार 'नीलोत्पलम्' इत्यादि स्थलों में उत्पल स्वरूप स्वार्थ (विशेष्यार्थ) के अविरोध से ही उसमें नीलगुण स्वरूप विशेष के अभिधान से 'नील' शब्द विशेषण होता है, उसी प्रकार यद्यपि 'अभिमुखम्' पद से अथवा 'उद्गच्छति' पद से स्वार्था-विरोध से उपसर्ग के द्वारा आभिमुख्य एवं ऊर्ध्वगति प्रभृति विशेष का बोध होता है, किन्तु वे सभी 'विशेष' चूंकि कर्तृनिष्ठ होते हैं, अतः उपसर्ग के वे अर्थ धात्वर्थ क्रिया के अङ्ग नहीं हो सकते। इसलिये क्रियाङ्ग न होने के कारण वे उपसर्ग ही नहीं रह जायेंगे। उपसर्ग का सम्बन्ध धातु के साथ ही है, कर्त्ता के साथ नहीं ॥ ८५–९४ ॥

अंशत्रयातिरिक्तत्वान्नापि भावनया सह।
प्रतिषेधविकल्पादेः सम्बन्धश्च विरुध्यते ॥ ९५ ॥
अन्यरूपपरिच्छेदाद् बाह्यवस्त्वर्थवादिनाम्।
स्वश्रुतेः प्रथमं वस्तु सद्भावेन निरूपितम् ॥ ९६ ॥
कथं नञादिभिः पश्चादभावमुपनीयते।
विरोधश्च तयोः श्रुत्योरस्ति नास्तीति शब्दवत् ॥ ९७ ॥

अंशत्रयातिरिक्तत्वात्'''भावनया सह

उपसर्ग के अर्थ एवं निपात के अर्थ इन दोनों का अन्वय आख्यात के अर्थ भावना के साथ भी नहीं हो सकता, क्योंकि भावना के साथ उसके साध्य, साधन और इति-कर्त्तव्यता इन तीनों अंशों का ही अन्वय हो सकता है। उपसर्गार्थ या निपातार्थ चूंकि भावना के कथित तीनों अंशों में से कोई भी नहीं है, अतः भावना के साथ भी उनका अन्वय नहीं हो सकता।

[1]प्रतिषेधविकल्पादेः''''अन्यरूपपरिच्छेदात्

प्रतिषेधार्थक नञ् एवं विकल्पार्थक 'वा' का किसी के भी साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि वे अपने अन्वयी के विपरीत धर्मों के ही ज्ञापक होते हैं।

बाह्यवस्त्वर्थवादिनाम्

जो सम्प्रदाय घटादि बाह्यवस्तुओं को ही घटादि शब्दों का अर्थ मानते हैं, उनके मत से नञ् शब्द में अन्वित घटादि शब्दों से जिस सत्त्वविशिष्ट घटादि बाह्य-वस्तुओं का प्रतिपादन होता है, असत्त्वविशिष्ट उन्हीं घटादि बाह्यपदार्थों का प्रति-पादन नञ् शब्द से भी होता है। अतः सत्त्व और असत्त्व दोनों में विरोध के कारण नञ् शब्द के कहीं भी अन्वित होने की सम्भावना नहीं है।

किन्तु जो (बौद्ध) सम्प्रदाय 'ज्ञानमात्र' को शब्दों का अर्थ मानते हैं, उनके मत से नञ् प्रभृति निपातों के सम्बन्ध में यह 'विरोध' नहीं है, क्योंकि ज्ञानों में

---

१. पहले उपसर्गसामान्य और निपातसामान्य के कहीं भी सम्बन्ध न होने की बात कही गयी है। अब 'नञ्' और 'वा' स्वरूप दोनों निपातविशेषों के असम्बन्ध की बात कही जाती है।

विरोध विषयीभूत अर्थों में विरोध के कारण होता है। केवल ज्ञानों में कोई विरोध सम्भव नहीं है।[1]

स्वश्रुतेः…उपनीयते

घटादि अर्थ अपने वाचक घटादि पदों के द्वारा सत्त्व रूप में उपस्थित होते हैं। फिर वे ही सत्त्वविशिष्ट घटादि नञ् प्रभृति निषेधार्थक शब्दों के द्वारा असत्त्व रूप में कैसे उपस्थित हो सकते हैं ?

विरोधश्च…शब्दवत्

सत्त्वविशिष्ट घट स्वरूप अर्थ असत्त्वविशिष्ट घट स्वरूप अर्थ इन दोनों अर्थों में विरोध के कारण उनके वाचक घट शब्द और नञ् शब्द इन दोनों में विरोध उसी प्रकार स्फुट है, जिस प्रकार 'अस्ति' शब्द और 'नास्ति' शब्द इन दोनों शब्दों में विरोध स्फुट है ॥ ९५–९७ ॥

विकल्पे पुनरेकस्य शब्दस्यैषा विरोधिता।
गवादिवच्च नैतेषां स्वतन्त्रार्थावधारणम् ॥ ९८ ॥
येन तत्पूर्वकं सन्तं वाक्यार्थं ययुरात्मना।
समुदायेऽप्यसिद्धत्वाद् येन वक्ष्यत्यहेतुताम् ॥ ९९ ॥
गम्यते चेद् यतोऽवोचत् प्रत्येकाशक्तिसिद्धये।
असम्बन्धात् पदार्थानामिति पूर्वोक्तया दिशा ॥ १०० ॥
सत्स्वप्यज्ञायमानत्वाद् असन्नित्यभिधीयते।
एकैकशः पदार्थानां वाक्यार्थे व्यभिचारिता ॥ १०१ ॥
प्रागसिद्धेः समस्तानामसाधारणवृत्तता।
पदार्थानेव वाक्यार्थं यः सामस्त्येन मन्यते ॥ १०२ ॥
गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यत्राप्यस्य प्रसज्यते।
व्यस्तस्य योऽर्थः शब्दस्य न सामस्त्ये जहाति तम् ॥१०३॥
तं चोज्झति न विश्रम्भः पदार्थं प्रति लभ्यते।
तत्र द्वित्र्यादिसामान्यविज्ञानं केवलं भवेत् ॥ १०४ ॥
अनेकशब्दविज्ञानाच्च विशेषावधारणम्।
पदार्थासङ्गतेऽर्थे चेद् वाक्यं साक्षात् प्रवर्त्तते ॥ १०५ ॥
पदार्थसंविदस्तत्र न स्याद् दृष्टोपकारिता।
तेनाज्ञातपदार्थोऽपि बुध्येतैव स्वभावतः ॥ १०६ ॥
तान् चानुरुध्यमानस्य कारणं स्युस्त एव ते।
तत्र चोक्तमतो नास्ति वाक्यधीमूलसम्भवः ॥ १०७ ॥

---

१. इसीलिए श्लोक में 'बाह्य' पद का उपादान किया गया है।

विकल्पे···विरोधिता

नञ् प्रभृति निषेधार्थक शब्दों में तो 'विरोध' के लिये प्रतियोगि-वाचक घटादि पदों की भी अपेक्षा होती है, किन्तु विकल्पार्थक 'वा' शब्द के अर्थ में विरोध के लिये तो दूसरे शब्द को भी आवश्यकता नहीं होती है।

गवादिवच्च···यथुरात्मना

दूसरी बात यह भी है कि वाक्यार्थ पदार्थपूर्वक होता है। उपसर्ग-निपातादि पदों का गवादि पदों के समान कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, जिसके द्वारा वे वाक्यार्थ के साथ अन्वित हो सकें।

समुदायेऽप्यसिद्धत्वात्···अशक्तिसिद्धये

'न ह्यग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यतो वाक्यादन्यतमादग्निहोत्रात् पदादग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति गम्यते। गम्यते तु पदत्रय उच्चरिते।' (शावरभाष्य पृ० ९२ पं० १)

वाक्यघटक (१) प्रत्येक पद से वाक्यार्थबोध होता है, अथवा (२) श्रूयमाण पदों के संघात से भिन्न किसी विलक्षण शब्दसंघात स्वरूप 'वाक्य' से वाक्यार्थ का बोध होता है ? कि वा (३) पदों के ज्ञायमान अर्थों से ही वाक्यार्थ का बोध होता है ? इनमें से प्रथम पक्ष का खण्डन उक्त भाष्यसन्दर्भ से किया गया है।

उक्त भाष्यसन्दर्भ का अक्षरार्थक्रम से ऐसा अर्थ भासित होता है—

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्यघटक 'अग्निहोत्र' इस एक ही पद से 'अग्निहोत्रहोम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है' इस वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है, किन्तु (१) अग्निहोत्रम् (२) जहुयात् एवं (३) स्वर्गकामः इन तीनों ही पदों के उच्चारण से ही उक्त वाक्यार्थ का बोध होता है।

इस विवरण से ऐसा भासित होता है कि 'गम्यते तु पदत्रय उच्चरिते' यह भाष्यसन्दर्भ वाक्यघटक पदों के समुदाय में ही वाक्यार्थबोधजनकता का उपपादक है। किन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि आगे पदों के समुदाय में वाक्यार्थबोधजनकता का खण्डन 'न चायं समुदायोऽस्ति' (शा० भा० पृ० ९२ पं० ४) इत्यादि सन्दर्भ से भाष्यकार ने किया है।

अतः 'गम्यते तु पदत्रय उच्चरिते' इस भाष्य के वाक्य का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि वाक्यघटक पद प्रत्येकशः वाक्यार्थबोध के जनक नहीं हैं।

असम्बन्धात्पदार्थानाम्····असन्नित्यभिधीयते

(भाष्य के गत सन्दर्भ में जो 'अग्निहोत्रं जहुयात् स्वर्गकामः' इस वैदिक वाक्य का उल्लेख किया गया है, उसके आगे 'न चाऽयं समुदायोऽस्ति' (शा० भा० पृ० ९२ पं० ४) यह भाष्य की पंक्ति है। इसमें प्रयुक्त 'समुदाय' शब्द से स्वभावतः वैदिक पदों के समुदाय का ही भान होता है; किन्तु वास्तव में यह समझना ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक हो या वैदिक—कोई भी पद किसी वाक्य का मूल नहीं हो सकता—सामान्य रूप से यह प्रतिपादन करना ही प्रकृत में इष्ट है।

इससे उक्त भाष्यसन्दर्भ का यह अर्थ प्राप्त होता है कि 'पदों का ऐसा कोई समुदाय नहीं है, जिसे वाक्य कहा जा सके'।

किन्तु भाष्यकार का यह कथन असंगत सा लगता है, क्योंकि लोक में 'गामानय' पदों का इस प्रकार का समुदाय प्रसिद्ध है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

जिन पदों के अर्थ परस्पर किसी विशेष सम्बन्ध से युक्त होते हैं, उन्हीं पदों का एक समुदाय होता है। जिन पदों के अर्थों में कोई सम्बन्ध नहीं होता, उनका कोई समुदाय नहीं होता। जैसे कि 'गौः, अश्वः' इन दोनों पदों का कोई समुदाय नहीं होता। पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का खण्डन किया जा चुका है। अतः 'गामानय' इत्यादि पदों का यदि एक समुदाय प्रतिभात भी होता है, तथापि वह प्रतिभान वास्तविक नहीं है। अतः वह समुदाय भी अवास्तविक ही है।

एकैकस्ये''''असाधारणदुष्टता

'न च पदार्थाद्वाक्यार्थाऽवगतिः, असम्बन्धात्' (शा० भा० पृ० ९३ पं० २) यह भाष्यसन्दर्भ 'ज्ञायमान पदार्थों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, इसके लिये अलग से वाक्य नाम के किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है' इस पक्ष के खण्डन के लिये ही लिखा गया है।

इस भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि ज्ञायमान पदार्थों से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त पदार्थ के साथ वाक्यार्थज्ञान का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

पदार्थों का वाक्यार्थबोध के साथ ज्ञापकत्व सम्बन्ध दो ही प्रकार से संभव है (१) पदार्थ एकैकशः (इतरनिरपेक्ष होकर) वाक्यार्थ के ज्ञापक हों ? (२) या फिर एक साथ प्रयुक्त होने वाले सभी पदों के अर्थ मिलकर किसी एक वाक्यार्थ का ज्ञापन करें ?

इनमें से प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नही है कि 'गामानय' इस वाक्य में प्रयुक्त गो पद के अर्थ 'गो' 'गां बधान' इस वाक्य के अर्थ के साथ भी सम्बद्ध है। इसलिये एक साथ प्रयुक्त होने पर भी किसी भी पद का अर्थ नियमतः एक ही वाक्यार्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता।

द्वितीय पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि एक साथ सम्बद्ध अनेक पदों के अर्थ सङ्घबद्ध होकर प्रकृत एक ही वाक्यार्थ के साथ सम्बद्ध हैं, किसी दूसरे वाक्यार्थज्ञान के साथ उनका सम्बन्ध गृहीत नहीं है। अतः वे 'असाधारण' होने के कारण उसी प्रकार ज्ञापक नहीं हो सकते, जिस प्रकार गन्धवत्त्व हेतु पृथिवीमात्र में नित्यत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि गन्धवत्त्व हेतु केवल पृथिवी में रहने के कारण कहीं अन्यत्र नित्यत्व के साधन के लिये समर्थ नहीं है।

पदार्थानेव वाक्यार्थः''''अस्य प्रसज्यते

'गामानय' इस वाक्य में प्रयुक्त 'गाम्' पद और 'आनय' पद इन दोनों ही पदों के अर्थ ही 'गामनय' इस वाक्य के अर्थ हैं, इन पदों के अर्थों से अतिरिक्त वाक्यार्थ

नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर ही भाष्यकार ने—'न च पदार्था एव वाक्यार्थः' (शाबरभाष्य पृ० ९२ पं० ६) इस वाक्य से दिया है।

इस भाष्यसन्दर्भ का अभिप्राय है कि केवल पदों के अर्थ ही 'वाक्यार्थ' नहीं है, क्योंकि पद सामान्य अर्थ का ज्ञापक है, वाक्य दूसरे अर्थ में अन्वित विशेष अर्थ का बोधक है। इस स्थिति में कहीं यदि अनेक पदों का साथ-साथ उच्चारण भी होगा, तथापि उन पदों के अर्थ स्वरूप अनेक सामान्य अर्थों का ज्ञान ही उन पदों से होगा। वाक्य से जो दूसरे अर्थों में अन्वित अर्थ स्वरूप 'विशेष' का बोध होता है सो नहीं होगा। अतः केवल पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है।

यदि केवल पदार्थ ही वाक्यार्थ हो तो फिर 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि व्यस्त पदों के अर्थों को भी वाक्यार्थ कहना होगा। किन्तु सो उचित नहीं है। अतः केवल पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है।

व्यस्तस्य योऽर्थः''''पदार्थ प्रतिलभ्यते

(पू० प०) दूसरे अर्थ में अन्वितत्व स्वरूप विशेष से युक्त जिस पदार्थ के वाक्यार्थ होने की चर्चा की गयी है, उस प्रसंग में कहा जा सकता है कि पदार्थ ही सर्वत्र वाक्यार्थबोध का कारण है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ एक ही पद का उच्चारण होता है, वहाँ केवल पदार्थ के स्वरूप का ही अभिधान होता है। जहाँ वही पद दूसरे पद के साथ उच्चरित होता है वहाँ उस दूसरे पद के अर्थ के साथ अन्वित अर्थ का अभिधान उसी पद से होता है। अतः पदार्थ को ही वाक्यार्थबोध का कारण मानने में कोई बाधा नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

यदि एक ही गोपद कभी गो स्वरूप स्वार्थ का अभिधायक हो, कभी आनयनान्वित उसी अर्थ का अभिधायक हो, कभी उन्हें भी छोड़कर बन्धनान्वित स्वार्थ का ही अभिधायक हो तो उस गोपद का किसी भी अर्थ में 'आश्वास' नहीं रह जायगा, अर्थात् यह निर्णय ही नहीं हो सकेगा कि कौन सा पद किस अर्थ का अभिधायक है।

तत्र द्वित्रादिसामान्यम्'' 'विशेषावधारणम्

इस प्रकार जब पद सामान्य अर्थ का ही ज्ञापक है, तो फिर जिन दो या तीन पदों का उच्चारण साथ होगा, तो उन पदों से परस्परासम्बद्ध दो या तीन सामान्यों का ही बोध होगा, किसी एक विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध उन पदों से नहीं होगा। किन्तु सो अनुभव के विरुद्ध है। अतः केवल पदार्थ ही वाक्यार्थबोध के कारण नहीं हैं।

'स्यादेतत्। अप्रयुक्तादपि वाक्यात्''''तस्मान्नैतदेवम्''''(शाबरभाष्य पृ० ९३-९४) इस सन्दर्भ से आगे जो 'ननु पदार्थविद्भिः द्वितीयादिश्रवणेन' इत्यादि सन्दर्भ से भाष्य में पूर्वपक्ष किया गया है, उसी का उत्तर 'यदि वाक्योऽन्त्यो वर्णः''''न पदार्थद्वारेण सम्भवति वाक्यार्थज्ञानमिति' (शाबरभाष्य पृ० ९३–९४) इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है।

पदार्थाऽसङ्गतेऽर्थे'' 'स्वभावतः

उस भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि पदों के अनभिधेय अर्थों को समझाने के लिए यदि वाक्य स्वयं (साक्षात् ही) प्रवृत्त हो तो फिर वाक्यार्थ के प्रति जो

पदार्थज्ञान में कारणता सर्वजनसिद्ध है, वह व्याहत हो जायगी, क्योंकि वाक्य जब साक्षात् ही पदार्थज्ञान का उत्पादक है, तो फिर जिस पुरुष को पदार्थ का ज्ञान नहीं भी है, उसे भी वाक्यार्थज्ञान मानना होगा।

तान् वाऽनुरुध्यमानस्य ..... वाक्यधीमूलसंभवः

यदि वाक्य से पदार्थज्ञान के उत्पादन में पदार्थों की अपेक्षा भी स्वीकार करें, तो फिर वे पदार्थ ही पदार्थबोध से भिन्न वाक्यार्थबोध के कारण होंगे। किन्तु पदार्थों में वाक्यार्थबोध की कारणता पहले ही खण्डित हो चुकी है।

अतो नास्ति ..... संभवः

अतः वाक्यार्थबोध की उपपत्ति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है ॥९८-१०७॥

ततश्चार्थाद् भवेल्लोके वेदार्थस्त्वप्रमाणकः।
समयात् पुरुषाणां वा गुणवृद्ध्यादिवन्मतः॥ १०८॥

ततश्चार्थाद्भवेल्लोके

'गामानय' इत्यादि लौकिक वाक्यों से जो गोकर्मकानयन स्वरूप वाक्यार्थ का बोध लोगों को होता है, उसे किसी प्रकार वक्ता के अभिप्राय को जानकर उसके द्वारा किसी प्रकार उपपन्न माना भी जा सकता है, भले ही वह ज्ञान शाब्दबोध स्वरूप न हो।

वेदार्थस्त्वप्रमाणकः

किन्तु वेद अपौरुषेय हैं, अतः वेदवाक्यों से वक्ता के अभिप्राय को जानकर लौकिक वाक्यों की तरह बोध नहीं हो सकता। वह तो वाक्य में वाक्यार्थबोध की स्वाभाविक शक्ति से ही हो सकता है।

समयात् ... वृद्ध्यादिवन्मतः

या फिर यही मानिये कि जिस प्रकार पाणिनि ने गुणवृद्ध्यादि पदों से किसी विशेष अर्थ का सङ्केत किया और उसी सङ्केत के अनुसार आज भी लोग गुण-वृद्ध्यादि पदों को बोलते-समझते हैं, उसी प्रकार किसी पुरुष ने वेदों की रचना कर उन वाक्यों को किसी वाक्यार्थबोध के लिये सङ्केतबद्ध किया, तदनुसार ही आज भी लोग वेदवाक्यों से वेदवाक्यार्थ को समझते हैं। यही बात 'कृत्रिमो वाक्यार्थ-प्रत्ययः' (शा० भा० पृ० ९४ पं० ६) इस पूर्वपक्षभाष्य के उपसंहारवाक्य से भी कही गयी है ॥ १०८॥

निष्कारणोऽपि सम्बन्धो याज्ञिकैः परिभाषितः।
तत्र चोक्तं कथावत् तु सङ्गतात् पौरुषेयता॥ १०९॥
न चाप्तः पुरुषोऽस्त्यस्ति तेन वेदाप्रमाणता।

निष्कारणेऽपि ..... परिभाषितः

'व्यामोहो वा' (शाबरभाष्य पृ० ९४ पं० ६) इस पूर्वपक्ष से कहा गया है कि अथवा वाक्यार्थ निर्मूलक ही है। याज्ञिकों ने अपनी परिभाषा के बल से उसका

'व्यामोह' (अर्थात् भ्रमात्मक निश्चय) फैला रखा है। इससे वाक्यार्थ की यथार्थ सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती।

तत्र चोक्तम्'''पौरुषेयता

इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने 'पदसंघाताः खल्वेते''''अतो वैदिका अपि पुरुषकृताः' (शाबरभाष्य पृ० पं० ५) इस सन्दर्भ के द्वारा पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हुये कहा है कि वेदों में पौरुषेयत्व के साधक वेदों में अप्रामाण्य का साधन करनेवालों के अनुमान का भी प्रदर्शन किया है। अभीष्ट अनुमान का प्रयोग इस प्रकार जानना चाहिये—"वैदिकाः पदसंघाताः पुरुषकृताः पदसंघातत्वात् नीलोत्पलादिकथनवत्, महाभारतवद्वा"।

न चाप्तः''वेदाप्रमाणता

पौरुषेय वाक्यों में प्रामाण्य पुरुष की आप्तता के ऊपर निर्भर है, वेदवाक्यों के द्वारा जिन अलौकिक अर्थों का अभिधान किया गया है, उन अर्थों को समझाने वाला कोई 'आप्तपुरुष' संभव नहीं है। अतः वेद प्रमाण नहीं हैं॥ १०९॥

इत्याक्षेपवार्त्तिकम्॥

अथ सिद्धान्तवार्त्तिकम्

अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न नः॥ ११०॥
पदार्थानां तु मूलत्वं दृष्टं तद्भावभावतः।
सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते॥ १११॥
अन्यथाऽप्युपपन्नत्वाच्छक्तिस्तत्राप्रमाणिका।
पद एव हि वर्णानां शक्तिः क्लेशेन कल्पिता॥ ११२॥
तिरोभावादिह त्वेषां भवेत् क्लेशतरेण सा।
बहवश्चानुसन्धेया वर्णाश्चिरतिरोहिताः॥ ११३॥

अत्राभिधीयते''तद्भावभावतः

वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के द्वारा वेदों के अप्रामाण्याक्षेप के प्रसङ्ग में हम मीमांसकगण यह कहते हैं कि प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से या संघबद्ध होकर साक्षात् वाक्यार्थबोध का कारण नहीं है।

इस प्रकार पदों के समुदाय में विशेष प्रकार की 'जाति', अथवा पदार्थों एवं पदों के सम्बन्ध का ज्ञान भी वाक्यार्थज्ञान के उत्पादक नहीं हैं।

तथापि यह मानना होगा कि पदों से ज्ञात पदार्थों को जब 'प्रत्यासत्ति' (संनिधि) 'अपेक्षा' (आकांक्षा) और 'योग्यता' इन तीनों का साहाय्य प्राप्त होता है तो उन पदों से वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है, क्योंकि उक्त साहाय्य-प्राप्त पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थों के रहने से ही वाक्यार्थ का बोध होता है।

सत्यं न वाचकम्''' तत्राऽप्रमाणिका

वर्णसमूहात्मक है 'पद' और पदसमूहात्मक है 'वाक्य'। वस्तुतः वाक्य के मूल अवयव वर्ण ही हैं। पदों में वर्णगत शक्ति का ही आधान होता है एवं पदों में आहित शक्ति का आधान वाक्यों में होता है। इस प्रकार यदि वाक्य में शक्ति मानेंगे तो वर्णों में जो शक्ति है उसी का आधान पदों के द्वारा वाक्य में होगा। किन्तु वर्णों के तिरोहित हो जाने के बाद ही पदों में वर्णगत शक्ति का आधान ही, 'क्लेशसाध्य' होगा, क्योंकि उस समय तक वर्ण तिरोहित हो चुके होंगे। इस रीति से वाक्य में जो वर्णगत शक्ति का आधान पदों के द्वारा होगा, वह अतिक्लेशसाध्य होगा, क्योंकि इस समय वर्ण तो 'चिरतरतिरोहित' हो चुके रहेंगे। अतः वाक्य में वाक्यार्थबोध-जनक अभिधाशक्ति नहीं मानी जा सकती ॥ ११०-११३ ॥

पदार्थेषूपयुक्तानां पुनर्व्यापारकल्पना ।
पदार्थानां च सामर्थ्यं गम्यमानमपह्नुतम् ॥ ११४ ॥

पदार्थेषु'''कल्पना

वाक्य में वाक्यार्थबोधजनक शक्ति की कल्पना में गौरव दोष भी है, क्योंकि पद और वाक्य दोनों ही मूलतः वर्णों से ही गठित होते हैं। पहले वर्णों से पदों का गठन होता है, फिर वर्णात्मक उन्हीं पदों से वाक्य का गठन होता है। इस प्रकार वाक्य में यदि शक्ति मानेंगे तो उससे पहले पदों में शक्ति माननी होगी। अतः पदों में शक्ति के आधान के लिये व्यापृत वर्णों में ही पुनः वाक्य में शक्ति के आधान के लिये दूसरे व्यापार की कल्पना करनी होगी। इसकी अपेक्षा इस कल्पना में ही लाघव है कि पदों में ही वाक्यार्थबोधजनक शक्ति की कल्पना की जाय। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वाक्य में वाक्यार्थबोधजनक शक्ति की कल्पना 'अदृष्टकल्पना' स्वरूप हो जायगी।

पदार्थानां च''''अपह्नुतम्

वाक्य में शक्ति की कल्पना को अदृष्टकल्पना स्वरूप मानने से अतिरिक्त वाक्य में वाक्यार्थबोधजनक शक्ति की कल्पना के पक्ष में दूसरा दोष यह भी है कि पदार्थों में जो वाक्यार्थबोधजनक शक्ति गृहीत है, उसकी हानि भी होगी ॥ ११४ ॥

आनन्तर्याद्धि वाक्यार्थस्तद्धेतुत्वं न मुञ्चति ।
एकयैव हि संस्कृत्या कथं कार्यद्वयं भवेत् ॥ ११५ ॥
न चैषां पूर्वसंस्कारादन्योऽस्तीति प्रतीयते ।

क्योंकि वर्णों के द्वारा पदार्थों की प्रतीति के बाद ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः पदार्थ की प्रतीति में वाक्यार्थप्रतीति की कारणता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर वाक्य में उसी के लिये शक्ति की कल्पना अनावश्यक है।

एकयैव हि'''कार्यद्वयं भवेत्

पदों में अपने अर्थों की वाचकता की यह रीति है कि पूर्व-पूर्ववर्णजनित संस्कारसहित अन्त्य वर्ण ही वाचक है। इस रीति को वाक्य के प्रसङ्ग में लागू करने

से दो संस्कारों की कल्पना करनी होगी—(१) वर्णों में पदार्थबोधजनक संस्कार (२) एवं पदों में वाक्यार्थबोधजनक संस्कार, क्योंकि एक ही संस्कार के द्वारा पदार्थबोध और वाक्यार्थबोध इन दो कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

न चैवाम्''''प्रतीयते

(पू० प०—कार्यों के अनुसार एक ही वस्तु में अनेक संस्कारों (शक्तियों) की कल्पना की जा सकती है। अतः वर्णों में ही पदार्थबोधजनक एक शक्ति, एवं वाक्यार्थबोधजनक दूसरी शक्ति की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

इस प्रकार की दूसरी शक्ति या दूसरे संस्कार को स्वीकार किये विना भी जब वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है तब वर्णों में दो शक्तियों की कल्पना अनावश्यक है। एवं वर्णों में पदार्थबोधजनक पहले संस्कार के अतिरिक्त वाक्यार्थबोधजनक दूसरे संस्कार की उपलब्धि भी नहीं होती है ॥ ११५ ॥

न चान्त्यवर्णवेलायां तेष्वालोचनसम्भवः ॥ ११६ ॥
पदतद्वाच्यसम्बन्धबुद्धिव्यवधिबाधनात् ।
प्रत्यक्षस्मृतिरूपातो न तेष्वेकास्ति वाक्यधीः ॥ ११७ ॥

न चान्त्यवर्णवेलायाम्''''वाक्यधीः

जिस प्रकार अनेक नीलपीतादि रङ्गों के चित्र में रामादि किसी एक व्यक्ति की प्रतिकृति की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अनेक वर्णों से युक्त पदों में 'एकवाक्य' की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वाक्य में मध्यवर्त्ती पद और उनके अर्थों के साथ सम्बन्धों की बुद्धि के कारण सभी वर्णों का अनुसन्धान अत्यन्त व्यवहित होने से संभव नहीं है। पदप्रत्यक्ष के समय वर्णों का प्रत्यक्ष यद्यपि सुलभ है, किन्तु अत्यन्त दीर्घ वाक्य के प्रत्यक्ष के समय तो उसके घटक सभी वर्णों का स्मरण भी सर्वथा असंभव है।

किन्तु वाक्य के प्रत्यक्ष के समय वर्णों का स्मरण न रहने पर भी पद और पदार्थ के स्मरण से वाक्यार्थबोध की उत्पत्ति सभी मानते हैं।

अतः वाक्य साक्षात् वाक्यार्थबोध का कारण नहीं है। तद्घटक पदसमूह भी वाक्यार्थबोध का कारण नहीं है। पदों के द्वारा स्मारित पदार्थ ही वाक्यार्थबोध के उत्पादक हैं।

इस के द्वारा शब्द 'वाक्य' शब्द से व्यवहृत होनेवाले पदों के समूह में वाक्यार्थ-बोध की कारणता का हम (मीमांसकगण) भी समर्थन करते हैं ॥ ११६–११७ ॥

तस्माच्च वाक्यनिर्भासा वाक्यं सा धीर्न कल्पते।
वाक्यमित्यनया बुद्धया न चात्मांशः प्रतीयते ॥ ११८ ॥
न च वाक्यार्थबुद्धयेदं शून्यवादे निरूपितम् ।

विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि न वर्णों से अतिरिक्त पद नाम की कोई वस्तु है, एवं न पदों से अतिरिक्त वाक्य नाम की कोई स्वतन्त्र बाह्य वस्तु है। किन्तु

'इदं वाक्यम्' इस आकार की जो 'बुद्धि' होती है, यह बुद्धि ही वाक्य है। उस प्रतीति के बाद जो जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया और उनके सम्बन्धों की प्रतीति होती है, यह प्रतीतिरूपा बुद्धि ही वाक्यार्थ है। इस प्रकार वाक्य एवं वाक्यार्थ नाम की कोई स्वतन्त्र बाह्य वस्तु नहीं है।

बौद्धों का यह पक्ष भी पदों की प्रतीति से अतिरिक्त वाक्याकारक किसी बुद्धि की असत्ता से खण्डित हो जाता है।

वाक्य नाम की किसी बाह्यवस्तु के न रहने पर भी 'इदं वाक्यम्' इस आकार की केवल ज्ञानविषयिणी प्रतीति से उक्त बौद्धमत की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बाह्य अर्थाविषयिणी केवल ज्ञानमात्रविषयिणी बुद्धि का खण्डन शून्यवाद में किया जा चुका है ॥ ११८–११९ क-ख ॥

वाक्यवाक्यार्थयोरैक्ये बाह्याभ्यन्तरवादिनाम् ॥ ११९ ॥
विच्छिन्नभागबुद्धीनां मृषात्वं निष्प्रमाणकम् ।
कल्प्यमानेऽपि नैवं च वस्तुबुद्धिर्निवर्त्तते ॥ १२० ॥

वाक्यवाक्यार्थ....बुद्धिर्निवर्त्तते

वैयाकरणों का एक सम्प्रदाय वाक्य को बाह्य पदार्थ मानते हुये भी वाक्य को अवयवशून्य 'अखण्ड' पदार्थ मानता है, उसके मत से और वाक्य को वाक्याकारक बुद्धि स्वरूप मानने वाले बौद्धों के मत से क्रमशः पदों में वाक्य के अवयवों की प्रतीति और वर्णों में वाक्य के अवयवावयवों की जो प्रतीति होती है, उन प्रतीतियों को विना किसी प्रमाण के भ्रमस्वरूप मानना होगा।

यदि हठपूर्वक उन बुद्धियों को मिथ्या भी मान लें तथापि जिन लोगों को क्वचित् कदाचित् उक्त अवयव की बुद्धियाँ होती हैं उन्हें विना प्रमाण के ही निर्विषयक मानना होगा, जो उचित नहीं है ॥ ११९–१२० ॥

तेष्वेव च पदार्थेषु प्रक्लृप्तस्तोकशक्तिषु ।
आवापोद्वापरचनाभेदाद् वाक्येष्वनन्तता ॥ १२१ ॥
स्तोकशक्त्युपपन्नेऽर्थे बहुशक्त्यप्रमाणता ।
वाक्यतच्छक्त्यनन्तत्वे नार्थापत्तिस्ततो भवेत् ॥ १२२ ॥

तेष्वेव च पदार्थेषु...बहुशक्त्यप्रमाणता

निर्भाग (अखण्ड) वाक्य को यदि वाक्यार्थ का वाचक मानेंगे तो कल्पनागत गौरव दोष भी होगा, क्योंकि एक ही वाक्यार्थबोध की कारणता पदों के हेर-फेर से अनेक अखण्ड वाक्यों में माननी होगी। जैसे कि 'देवदत्तकर्तृकतण्डुलकर्मकपाक' स्वरूप वाक्यार्थ का बोध 'तण्डुलं देवदत्तः पचति, देवदत्तः तण्डुलं पचति, पचति तण्डुलं देवदत्तः' इत्यादि अनेक अखण्ड वाक्यों से होगा, क्योंकि इस प्रकार के सभी वाक्यों को अखण्ड मानना होगा। इन अनेकानेक अखण्ड वाक्यों में एक ही वाक्यार्थ-बोध की अनेकानेक शक्तियाँ स्वीकार करनी होगी।

जब अनन्त वाक्यों में एक ही वाक्यार्थ के बोध की शक्ति मानेंगे तो फिर यह कहना संभव नहीं होगा कि उक्त वाक्यार्थबोध किसी एक अखण्ड वाक्यनिष्ठ शक्ति के बिना अनुपपन्न है, क्योंकि दूसरे अखण्ड वाक्यनिष्ठ शक्ति से उक्त वाक्यार्थ का बोध होगा। अतः बहुत से अखण्ड वाक्यों में एक वाक्यार्थबोधजनक अनेक शक्तियों की कल्पना अप्रामाणिक है। अतः अखण्ड वाक्य में वाक्यार्थबोधजनक शक्ति की कल्पना गौरवास्पद होने के साथ-साथ अप्रामाणिक भी है॥ १२२॥

न चावयवबुद्धीनां सादृश्याद् भ्रान्तिकल्पना।
न प्रसिद्धाः पृथग्भूता मुख्या ह्यवयवाः क्वचित्॥ १२३॥
नावयव्यन्तरे यस्मात् सर्ववाक्येष्वभागता।
सतामवयवानां हि स्याद्वा सदृशता न वा॥ १२४॥

न चाऽवयवबुद्धीनाम्‌......भ्रान्तिकल्पना

वैयाकरण वाक्य को निर्भाग और अखण्ड मानने पर भी वाक्य में पद-वर्णादि अवयवों का प्रतिभास मानते हैं एवं यह भी स्वीकार करते हैं कि अनेक अखण्ड वाक्यों में एक वाक्यार्थबुद्धिजनकता की प्रत्यभिज्ञा भी होती है।

वे (वैयाकरण) वाक्यों के विभिन्न ध्वनियों में सादृश्य को भी स्वीकार करते हैं। अर्थात्‌ 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इस अखण्ड वाक्य की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ 'तण्डुलं पचति देवदत्तः' इस अखण्ड वाक्य की अभिव्यञ्जक ध्वनियों के समान हैं। अभिव्यञ्जक ध्वनियों के इस सादृश्य से ही अभिव्यङ्ग्य उक्त अखण्ड वाक्यों में भी सादृश्य का प्रतिभान होता है।

जैसे कि श्री नरसिंह भगवान्‌ का शरीर कुछ अंशों में 'नर' के सादृश्य से युक्त है, एवं कुछ अंशों में सिंह के सादृश्य से युक्त है इसी प्रकार उक्त दोनों वाक्यों में सादृश्य स्वरूप उपाधि के भेद से अवयवभेद की प्रतीति होती है एवं ध्वनियों के सादृश्य से ही उक्त वाक्यों के अवयवों में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। इस प्रकार वाक्य को अखण्ड मानने पर भी वाक्य में सावयवत्व की भ्रान्ति और प्रत्यभिज्ञा स्वरूप भ्रान्ति दोनों ही हो सकती हैं (ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य कारणम्‌)।

किन्तु वैयाकरणों की यह उपपत्ति भी ठीक नहीं है।

न प्रसिद्धाः...क्वचित्‌...सदृशता न वा

क्योंकि जब सभी वाक्य अखण्ड ही हैं, किसी वाक्य के पद स्वरूप अवयव या वर्णस्वरूप अवयव हैं ही नहीं, या कोई भी वाक्य वर्णघटित या पदघटित नहीं है तो फिर किसी वाक्य में किसी भी वाक्य के अवयवों का एक भी सादृश्य कैसे रह सकता है? इसलिये बहुत से सादृश्यों के कारण कोई भी वाक्य बहुत से अवयवों से युक्त सा नहीं समझा जा सकता, किं वा किसी भी वाक्य में दूसरे किसी वाक्य की प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती, क्योंकि विद्यमान किसी वस्तु में विद्यमान ही किसी दूसरी वस्तु की प्रत्यभिज्ञा होती है॥ १२३–१२४॥

साहश्यं नरसिंहादौ युक्तं जात्यन्तरे सति ।
तत्र ह्यवयवाः सिद्धाः प्राक्संयोगविभागिनः ॥ १२५ ॥

'नरसिंह' में नर और सिंह दोनों के साहश्य की जो चर्चा की गयी है, वह ठीक ही है, क्योंकि नरसिंह भगवान् में नरत्व जाति और सिंहत्व जाति दोनों ही हैं। नरत्वजातीय जीव के हाथ पैर और सिंहत्वजातीय जीव के हाथ पैर अलग-अलग प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ नरसिंह भगवान् में हैं, कुछ नहीं हैं। अतः उनमें नर और सिंह दोनों का साहश्य ठीक ही है ॥ १२५ ॥

पाण्यादयो हि विच्छिन्ना दृश्यन्ते नृशरीरतः ।
देहेषु च पृथग्बुद्धिस्तेषु सर्वेषु जायते ॥ १२६ ॥

मनुष्य शरीर के करादि अवयवों से नरसिंह भगवान् के करादि अवयव कुछ भिन्न प्रकार के दीखते हैं। इसलिये नर के शरीरों से नृसिंह का शरीर भिन्न मालुम पड़ता है ॥ १२६ ॥

तत्र तत्सदृशत्वाद् वा तत्सामान्येन वैकता ।
हस्तादिषूपपन्नेति प्रत्यभिज्ञानसम्भवः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार नरसिंह के शरीर में नरों के अवयवों के सहश अवयवों के रहने के कारण भ्रमवश 'यह नरशरीर है' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। भ्रम से उत्पन्न होने पर भी प्रत्यभिज्ञान यथार्थ ही है ॥ १२७ ॥

तद्वदत्रापि सादृश्यं यदि नामावधार्यते ।
सिद्धेऽवयवसत्यत्वे मृषा निर्भागकल्पना ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार नरसिंह भगवान् के शरीरावयवों में नरशरीरावयवों का साहश्य है, उसी प्रकार यदि 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' एवं 'तण्डुलं पचति देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों के अवयवों में भी साहश्य रहे तो फिर वाक्यों के वे अवयव वास्तविक होंगे। इससे वैयाकरणों की वाक्यों के अखण्ड होने की कल्पना ही मिथ्या हो जायगी ॥१२८॥

असता यत्तु सादृश्यमसतः परिकल्प्यते ।
ध्रुवं शशविषाणेन खरशृङ्गस्य तद् भवेत् ॥ १२९ ॥

(पू० प०—'वाक्यों के अवयवों में साहश्य है' इसलिये वे अवयव वास्तविक ही हैं—इस में क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

यदि दो असत् पदार्थों में भी साहश्य का व्यवहार मानें तो फिर 'शशविषाण' (खरहे की सींग) और 'खरविषाण' (गदहे की सींग) इन दोनों में भी साहश्य का व्यवहार मानना होगा। अतः दो वास्तविक पदार्थों में ही साहश्य का व्यवहार होना उचित है ॥ १२९ ॥

अथासत्त्वेन सादृश्यमत्राप्यस्तीति मन्यते ।
सर्वत्रैवं समानत्वात् कश्चिन्नासहशो भवेत् ॥ १३० ॥

यदि यह कहो कि खरविषाण और शशविषाण दोनों में 'असत्त्व' धर्म है, उसी धर्म के कारण दोनों में सादृश्य का व्यवहार करेंगे तो सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओं के सादृश्य का व्यवहार स्वीकार करना होगा, कोई भी किसी के सादृश्य से रहित नहीं रह जायगा ॥ १३० ॥

भागश्चित्रेऽपि कृष्णादिर्दृष्ट एव सदृक्तया ।
एकदेशश्च मद्येऽपि सम्यक्तिक्तरसेषु च ॥ १३१ ॥

भागश्चित्रेऽपि''सदृक्तया

(पू० प०—चित्र में मनुष्य के हाथ पैर प्रभृति अवयवों की वास्तविक सत्ता न रहने पर भी उनमें एक दूसरे चित्र के अवयवों में सादृश्य है ही । इसी प्रकार वाक्यों के अविद्यमान वर्णादि अवयवों में भी सादृश्य रह सकता है । किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

चित्राङ्कित मनुष्यों के हाथ पैर प्रभृति अवयवों की वास्तविकता के न रहने पर भी चित्रों में हाथ-पैरों का संनिवेश प्रत्यक्ष दीख पड़ता है । अतः कृष्णादि वर्णों का परस्पर सादृश्य युक्त ही है ।

एकदेशश्च''''तिक्तरसेषु च

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जैसे मदिरा स्वयं केवल मधुर रस से युक्त है, उसमें तिक्त रस के विद्यमान न रहने पर भी दूसरे द्रव्यों में विद्यमान तिक्त रस के द्वारा सादृश्य का बोध होता हैं, उसी प्रकार वाक्य के अवयवों में भी सादृश्य का व्यवहार हो सकता है । किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

मदिरा केवल मधुर रस से युक्त है ही नहीं, उसमें तो तिक्त रस भी है । इस लिये तिक्त रस वाले द्रव्य के साथ मदिरा का सादृश्य युक्त ही है ॥ १३१ ॥

चित्रबुद्धेस्तु नैवास्ति प्रतीतिर्भागशो मम ।
आकाराभावतोऽर्थोऽत्र चित्रः सावयवः स च ॥ १३२ ॥

चित्रबुद्धेस्तु''आकाराभावतः

(यह जो दिखलाया गया है कि 'चित्रबुद्धि' अखण्ड होने पर भी जिस प्रकार सखण्ड प्रतीत होती है, उसी प्रकार वाक्य में भी भाग की कल्पना के द्वारा सादृश्य की उपपत्ति की जा सकती है । किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—)

बुद्धि का कोई आकार नहीं होता । चित्रबुद्धि में सावयवत्व की प्रतीति भी हमलोगों को नहीं होती है ।

अर्थोऽत्र''सावयवः स च

भाग के न रहने पर भी बुद्धि में जो चित्रता की प्रतीति होती है, उसका यह कारण है कि बुद्धि में भासित होने वाला 'अर्थ' अनेक रङ्गों से युक्त होने के कारण 'चित्र' होता है । अतः 'चित्र'विषयक होने के कारण बुद्धि भी चित्र कहलाती है ॥ १३२ ॥

तस्मान्न पदवर्णानामसत्त्वात् सदृशो गतिः।
वाक्यस्यापि न सादृश्यं तत्रावयववर्जनात् ॥ १३३ ॥

तस्मान्न '' सदृशी गतिः

'तस्मात्' वाक्य के पद-वर्णादि अवयव चूँकि वास्तविक नहीं है, अतः सादृश्य नहीं माना जा सकता, एवं उनके सादृश्य के द्वारा वाक्यों में भी सादृश्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वाक्यस्यापि ''' अवयववर्ज्जनात्

वाक्यों के अवयव चूँकि वास्तविक नहीं हैं, अतः सावयवत्व धर्म के द्वारा भी वाक्यों में परस्पर सादृश्य की कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १३३॥

स्याद् वर्णपदनिष्कृष्टिर्न च वाक्यसवृत्तया।
तेन न स्यादपोद्धारस्तेषामालम्बनादृते ॥ १३४ ॥

स्याद् वर्णपद '' सद्वृत्तया

वाक्यों को यदि निरवय मान भी लेते हैं, तो उनमें किसी प्रकार किसी अन्य धर्म से सादृश्य की उपपत्ति हो भी सकती है। किन्तु यदि वाक्यों को वर्णों और पदों से युक्त नहीं मानेंगे तो वाक्यों और पदों का जो निष्कर्ष देखा जाता है कि 'इस वाक्य का यह पहला पद है' एवं 'यह दूसरा पद है', 'यह दो पदों का सूत्र है', 'इस सूत्र में अमुक सूत्र की अनुवृत्ति होती है'—ये सभी व्यवहार (निष्कर्ष) अनुपपन्न हो जायेंगे।

तेन न स्यात् ''' आलम्बनादृते

वैयाकरणों का कहना है कि एक ही अर्थ के वाचक अनेक पुरुषों के द्वारा उच्चरित अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं, वे सभी के सभी वाक्य अखण्ड ही हैं, किन्तु अखण्ड वाक्यों का अन्वाख्यान (विवरण) चूँकि अवयवावयविभाव की कल्पना के विना संभव नहीं है, इसीलिये 'प्रकृतिप्रत्ययविभाग' स्वरूप 'व्याकरणप्रक्रिया' का अवलम्बन करना पड़ता है। किन्तु वह प्रकृतिप्रत्ययविभाग वास्तविक नहीं है, सभी वाक्य अखण्ड ही हैं।

किन्तु वैयाकरणों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याकरणशास्त्र में जो 'आवाप' अर्थात् आगम एवं 'उद्धार' अर्थात् लोप आदि की बातें कही गयी हैं, वह वाक्यों को या पदों को सावयव माने विना सम्भव नहीं है, क्योंकि आवाप 'आवाप्य' की अपेक्षा रखता है, एवं उद्धार भी अपने प्रतियोगिभूत 'उद्धार्य' की अपेक्षा रखता है। ये सभी वाक्यों और पदों को सावयव मानने से ही सम्भव है। अतः वैयाकरणों का वाक्यों और पदों को अखण्ड मानने का उक्त पक्ष ठीक नहीं है ॥ १३४ ॥

न च व्यञ्जकभेदोऽपि पदवर्णादृतेऽस्ति ते।
सूक्ष्मत्वादणुकल्पानां ध्वनीनां परिकल्पनात् ॥ १३५ ॥

न च ... अस्ति ते ... सूक्ष्मत्वात्

(यह जो कहा गया है कि वाक्यों की व्यञ्जक ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हैं, एवं क्रमबद्ध भी हैं। इसलिये निर्भाग (अखण्ड) वाक्य भी क्रम से युक्त पदों और वर्णों की प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

भिन्न-भिन्न व्यञ्जकों की कल्पना ही निराधार है, क्योंकि ध्वनियाँ अतीन्द्रिय हैं, उनमें जो अन्तर है उसको प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं समझा जा सकता।

अणुकल्पानाम् ... परिकल्पनात्

(यदि यह कहो कि ध्वनियों के भेद का प्रत्यक्ष भले हो न हो, तथापि उसकी कल्पना तो की जा सकती है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि—)

व्यङ्ग्य के अनुसार ही व्यञ्जक की कल्पना की जाती है। व्यङ्ग्य है वाक्य, जिसे 'एक' और 'निर्भाग' होने के कारण सूक्ष्म मानते हैं। अतः उसका व्यञ्जक भी एक और अखण्ड के समान हो होगा। उसको क्रमबद्ध और अनेक नहीं मान सकते ॥ १३५ ॥

न च कार्यान्तरारम्भस्तैस्तादृगुपपद्यते।
तेनाणुमात्रशब्दांशगृहीतिः केवला भवेत् ॥ १३६ ॥

इस प्रकार जब ध्वनियाँ 'अणुकल्प' अर्थात् परमाणुओं के समान अप्रत्यक्षसिद्ध होतीं हैं, तो फिर उनसे नाना पद और नाना वर्ण रूप से अभिव्यक्ति रूप कार्य की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है। उन सूक्ष्म ध्वनियों से तो 'अणुमात्र' अत्यन्त सूक्ष्म शब्द की ही उत्पत्ति हो सकती है ॥ १३६ ॥

सतोरपि च नादानां पृथक्त्वक्रमवत्त्वयोः।
व्यङ्ग्याभावेन नैवैषामभिव्यक्तिः प्रसिध्यति ॥ १३७ ॥

यदि क्रमशः प्रेरक प्रयत्नों के भेद से ध्वनियों में भेद और क्रम अवश्यम्भावी हैं, तो भले ही ध्वनियों का प्रत्यक्ष न हो, फिर भी उनसे अभिव्यक्त होनेवाले वाक्य चूँकि अखण्ड हैं, अतः अक्रमशील भी हैं, इसलिए नाना पद और नाना वर्ण रूप से उनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ॥ १३७ ॥

कृत्स्नस्य यौगपद्येन भवेद् वावगतिर्न वा।
नैव प्राक्सकलाद् वाक्याद् ग्राह्यं किञ्चित् तवास्ति हि ॥१३८॥

कृत्स्नस्य ... अवगतिर्न वा

नाना पदों और नाना वर्णों के साथ वाक्य की अभिव्यक्ति या तो एक साथ ही होगी या फिर होगी ही नहीं।

नैव प्राक् ... किंचित्तवाऽस्ति हि

जिस प्रकार एक ही 'ग'कार का बार-बार उच्चारण करने पर भी सभी गकारों की एक ही आकार की सभी प्रतीतियाँ होती हैं, विभिन्न आकारों की नहीं,

उसी प्रकार सभी वाक्यों की भी प्रतीति होती, नाना वर्णों एवं नाना पदों के साथ विभिन्न आकार की प्रतीतियाँ नहीं होतीं ॥ १३८ ॥

तदेव सकलं वाक्यं न्यूनमन्यदपेक्ष्य च ।
तद्विरुद्धम् न चाभिन्ने न्यूनसाकल्यकल्पना ॥ १३९ ॥

तदेव सकलम्''तद्विरुद्धम्

'पटो भवति' इस वाक्य को निर्भाग मानने में यह दोष भी है कि एक ही वाक्य जो कभी सम्पूर्ण और कभी असम्पूर्ण होता है, सो नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'रक्तः पटो भवति' इस वाक्य की अपेक्षा केवल 'पटो भवति' यह वाक्य असम्पूर्ण प्रतीत होता है, एवं केवल 'पटो भवति' यह वाक्य अपने आप में सम्पूर्ण भी प्रतीत होता है।

चूँकि दोनों वाक्य अखण्ड हैं, अतः न्यूनाधिकभाव से रहित हैं। इसलिए दोनों में सम्पूर्णता और असम्पूर्णता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

न चाभिन्ने''''कल्पना

क्योंकि 'अभिन्न' अर्थात् भाग से रहित वस्तुओं में न्यूनत्व और सम्पूर्णता की चर्चा नहीं की जा सकती। न्यूनत्व और सम्पूर्णता का व्यवहार तो अवयवसापेक्ष है ॥ १३९ ॥

पृथक्प्रसिद्धसङ्घातं त्रिपदं च चतुष्पदे ।
नास्तीति यदि कल्प्येत वृक्षो न स्यात् तदा वने ॥ १४० ॥

वाक्य को अखण्ड (निरवयव) मानने में यह दोष भी है कि जिस प्रकार 'वने वृक्षः' इस आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'देवदत्त ! गामानय शुक्लाम् इत्येद्वाक्यं गामानय इत्येद्वाक्यघटितम्' यह प्रतीति भी होती है, सो नहीं हो सकेगी, क्योंकि दोनों ही वाक्य जब अखण्ड हैं, उनमें कौन किसका घटक होगा ? अथवा कौन किससे घटित होगा ? पट न घट से घटित होता है, न घट पट का घटक होता है ॥ १४० ॥

पृथक्प्रसिद्धधर्मिप्यात्वात् स्याद् वाक्यान्तरता यदि ।
वाक्याच्छब्दान्तरत्वं स्यात् तथैव पदवर्णयोः ॥ १४१ ॥

पृथक्''''यदि

पूर्वपक्ष—(१) देवदत्त ! (२) गाम् (३) आनय (४) शुक्लाम् इन चार पदों से युक्त 'देवदत्त ! गामानय शुक्लाम्' यह वाक्य (१) गाम् (२) आनय (३) शुक्लाम् इन तीन पदों से युक्त है, क्योंकि 'देवदत्त' को छोड़कर भी शेष तीन पदों के वाक्य का प्रयोग होता है। अतः न्यून वाक्य का (महावाक्यान्तर्गत अवान्तर वाक्य का) अस्तित्व सिद्ध है।

वाक्याच्छब्दान्तरम्'''पदवर्णयोः

(सि० प०) जिस प्रकार उक्त चार पदों के वाक्य से तद्घटक तीन पदों का वाक्य केवल 'घटक' होने के नाते भिन्न है, उसी प्रकार पद और वर्ण भी स्वघटित वाक्य से भिन्न होंगे, क्योंकि वाक्य वर्णों और पदों से घटित है ॥ १४१ ॥

तस्माद् यथा महावाक्ये लघूनामनिराक्रिया ।
तथैव पदवर्णानां नासत्त्वं वाक्यबुद्धिषु ॥ १४२ ॥

'तस्मात्' जिस प्रकार 'महावाक्य' (बड़े वाक्य) में अवान्तर लघुवाक्य की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अनेक वर्णों और अनेक पदों से घटित वाक्य में उन वर्णों और पदों की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः वाक्य अखण्ड नहीं है ॥ १४२ ॥

केवलस्याप्रयोगाच्चेत् महदर्थे लघोरपि ।
अल्पार्थे तत्प्रयुक्तं चेत् स्वार्थे तद्वत् पदानि नः ॥ १४३ ॥

अल्पार्थे तत्प्रयुक्तं चेत्

(पू० प०) केवल पद या केवल वर्ण प्रयुक्त नहीं होता । अतः इस दृष्टान्त से महावाक्य में अवान्तर वाक्य की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती । इससे अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार प्रकृतिप्रत्ययविभाग भी उनके 'केवलाप्रयोग' (अर्थात् अकेला प्रयोग न होने) के कारण मिथ्या है, उसी प्रकार पदवर्णविभाग भी मिथ्या है (पदवर्णविभागो मृषा केवलाप्रयोगात् प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्) ।

(सि० प०) केवल अवयव के अप्रयोग से अवयवी और अवयव की असत्ता के लिये जिस अनुमान का प्रयोग किया गया है, उस अनुमान के हेतुभूत 'केवला-प्रयोग' शब्दार्थ के प्रसङ्ग में यह विकल्प उपस्थित होता है कि यह केवलाप्रयोग (१) समुदायापेक्षया अभीष्ट है ? अथवा (२) स्वार्थापेक्षया ?

यदि प्रथमपक्ष अभीष्ट रहे, अर्थात् यदि पद का वर्णसमूह स्वरूप समुदायापेक्षया 'केवलाप्रयोग' विवक्षित रहे (संपूर्णवाक्य को छोड़कर तद्घटक पदों और वर्णों का अप्रयोग विवक्षित रहे) तो इस प्रकार का 'केवलाप्रयोग अनैकान्तिक' (व्यभिचारी) होगा । (इस व्यभिचार का उपपादन श्लो० १४५ में किया गया है) ।

अल्पार्थे''तद्वत्पदानि नः

यदि पदों और वर्णों का उक्त अप्रयोगघटक प्रयोग स्वार्थापेक्षया विवक्षित हो अर्थात् केवल वर्ण के अर्थ या केवल पद के अर्थ के बोध की इच्छा से अप्रयोग विवक्षित हो, तो उक्त 'केवलाप्रयोग' हेतु 'असिद्ध' हो जायगा, क्योंकि केवल वर्णार्थ-विषयक बोध के अभिप्राय से एवं केवल पदार्थबोध की इच्छा से पदों और वर्णों का प्रयोग हम लोगों (मीमांसकों) के मत से होता है ।

प्रतिपक्ष में इस आपत्ति के प्रदर्शन के द्वारा वस्तुतः महावाक्य में अवान्तर वाक्यों की सत्ता का प्रतिपादन ही किया गया है । वाक्य को अखण्ड मानने वाले वैयाकरणों के मत से महावाक्य के अन्तर्गत कोई भी अवान्तर वाक्य नहीं है । यदि वे ऐसा मानेंगे तो उनके मत से महावाक्य और अवान्तरवाक्य सभी अलग-अलग अखण्ड वाक्य ही होंगे, जिनसे अलग-अलग स्वतन्त्र वाक्यार्थों का ही बोध होगा, किसी एक विशिष्टवाक्यार्थ का बोध नहीं होगा । उनके मत से कोई भी अवान्तर वाक्य

किसी भी महावाक्य का अङ्ग नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो वाक्य की अखण्डता ही विघटित हो जायगी। तस्मात् वाक्य अखण्ड नहीं है ॥ १४३ ॥

यद्यपि व्यवहाराङ्गं न पूर्णं पदवर्णयोः।
तथाप्यस्त्येव सद्भावस्तन्मात्रे प्रयुयुक्षिते ॥ १४४ ॥

(पू० प०—व्यवहार के अंग जो वर्ण और पद हैं, उनका कदाचित् स्वतन्त्र रूप से 'केवल' प्रयोग हो भी सकता है किन्तु व्यवहार के अनंगीभूत जो वर्ण या पद हैं, 'केवल' उनका स्वार्थबोध के लिये प्रयोग संभव नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

यह ठीक है कि व्यवहार के अनङ्गीभूत वर्णों का या पदों का 'केवलप्रयोग' नहीं होता है, क्योंकि उसके लिये साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीनों अंशों से युक्त भावना का ज्ञान आवश्यक है, जो आख्यात से युक्त पदों और वर्णों से ही हो सकता है, केवल किसी एक पद या एक वर्ण से नहीं। तथापि पदों और वर्णों के कुछ 'केवलप्रयोग' होते हैं ॥ १४४ ॥

पदार्थमात्रमेवेष्टं विशेषेऽवगते क्वचित्।
पदं प्रयुञ्जते केचिद् वर्णं वार्थसमन्वितम् ॥ १४५ ॥

केवल पद से या केवल वर्ण से सभी अर्थों का बोध भी कुछ स्थितियों में अवश्य होता है।

(१) केवल पद का प्रयोग

जहाँ यह प्रश्न होता है कि 'कोऽत्र स्थितः ?' वहाँ केवल 'देवदत्तः' इसी पद के प्रयोग से 'यहाँ देवदत्त है' इस वाक्यार्थ का बोध होता है।

(२) केवल वर्ण का प्रयोग

जहाँ एक प्रश्न किया जाता है कि 'का परा देवता' अर्थात् 'परा देवता कौन हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर केवल 'अ' वर्ण के प्रयोग से दिया जा सकता है, क्योंकि अभिज्ञ व्यक्ति को इस उत्तर से सन्तोष हो जाता है। यह इसलिये कि 'अ' कार का अर्थ विष्णु है ॥ १४५ ॥

ग्रन्थाध्ययनवेलायां स्वरूपेणावधारणम्।
प्रधानं पदवर्णानां विच्छिन्नानामुपाश्रितम् ॥ १४६ ॥

दूसरी बात यह भी है कि प्रयोग के लिये पदों या वर्णों की सत्तामात्र पर्याप्त है, उनसे किसी विशेष बोध की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अध्ययन के समय वर्णों को या पदों को वाक्य से अलग कर ही उच्चारण करना सिखलाया जाता है ॥ १४६ ॥

तत्र प्रसिद्धसस्थानां श्रोतरत्रास्ति साधनम्।
न हि वाक्यार्थबुद्धयैषां रूपं किञ्चिद्विरुद्धयते ॥ १४७ ॥

(पू० प०—यद्यपि पदों और वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता उक्त 'केवल' प्रयोगों से सिद्ध हो सकती है फिर भी वाक्यार्थबोध के समय पदों में और वर्णों में उक्त बोधजकता की सिद्धि नहीं की जा सकती। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

'वाक्यार्थबोध में पदों और वर्णों का कोई स्वतन्त्र उपयोग नहीं है' केवल इसीलिये उनके स्वतन्त्र स्वरूप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ॥ १४७ ॥

यद्यप्येषां न सामर्थ्यं केवलानां तदुद्गमे।
अविरुद्धस्तु सद्भावः कार्याशक्तरथाङ्गवत् ॥ १४८ ॥

यद्यपि केवल वर्ण या केवल पद वाक्यार्थबोध में किसी उपयोग में नहीं आते फिर भी उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि रथ के टूटे हुये पहिये अथवा अन्य अंश रथ के चलने में सहायक नहीं होते फिर भी उनकी सत्ता में कोई बाधा नहीं आती है ॥ १४८ ॥

केवलस्याप्रयोगित्वं तेनानैकान्तिकीकृतम्।
कार्याद् ऋतेऽपि दृष्टिर्या सा शब्देऽप्युपपादिता ॥ १४९ ॥

केवलस्य····ऐकान्तिकीकृतम्

'तेन' इस रथाङ्ग के उल्लेख से 'पदवर्णविभागो मृषा केवलाप्रयोगात् प्रकृति-प्रत्ययविभागवत्' इस अनुमान के 'केवलाप्रयोग' हेतु में व्यभिचार दोष का उद्भावन किया गया है।

कार्यावृतेऽपि····शब्देऽप्युपपादिता

विना किसी कार्योत्पादन के भी वस्तु की सत्ता का उपपादन पदवर्णादि शब्दों में भी अध्ययन के समय केवल पद और वर्ण के उच्चारण की शिक्षा के द्वारा दिखलाया जा चुका है (देखिये श्लो० १४६) ॥ १४९ ॥

सद्भावे पदवर्णानां भेदो यः परमाणुवत्।
सर्वाभावस्ततश्चेति सेयं बालविभीषिका ॥ १५० ॥

निरवय परमाणुओं से सृष्टि के प्रसङ्ग में वैशेषिकों के मत में बौद्धों ने जो यह आपत्ति दी है कि परमाणुओं का यदि अवयव मानेंगे तो उनके भी अवयवों की कल्पना के द्वारा 'सर्वाभाव' की आपत्ति होगी। इसी दोष के दृष्टान्त से वाक्य के भी वर्ण और पद स्वरूप अवयवों के अवयवों की परम्परा मानकर पद, वर्ण और वाक्य इन सभी के अभाव (सर्वाभाव) की जो आपत्ति दी जाती है, वह 'बालविभी-षिका' जैसी है, अर्थात् बालकों को डराने जैसी है ॥ १५० ॥

यथा तन्त्वादयः सिद्धाः परमाणुषु सत्स्वपि।
तथा सत्स्वपि भागेषु न वर्णादि विरोत्स्यते ॥ १५१ ॥

(उक्त आपत्ति बालविभीषिका जैसी इसलिये है कि—)

जिस प्रकार का उत्तर परमाणुओं में सावयवत्व की आपत्ति के द्वारा 'सर्वा-भाव' की आपत्ति देने वाले शून्यवादियों को इस प्रसङ्ग में दिया गया है कि

परमाणुओं को निरवय मानने पर भी सावयव तन्तु प्रभृति अवयवों से पटादि कार्यों की उत्पत्ति में कोई विरोधी नहीं होता है, उसी प्रकार का उत्तर प्रकृत में भी दिया जा सकता है कि वाक्य के वर्णादि अवयवों को निरंश मानने पर भी उन वाक्य स्वरूप कार्य की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं होगा। अतः इस प्रसङ्ग में वाक्य, पद और वर्ण सभी के अभाव (सर्वाभाव) की जो आपत्ति दी गयी है, वह ठीक नहीं है ॥ १५१ ॥

किञ्चित् सावयवं दृष्ट्वा न च सर्वं प्रसज्यते।
घटसावयवत्वेऽपि न भागः परमाणुषु ॥ १५२ ॥

क्योंकि कुछ तन्तु प्रभृति अवयव सावयव हैं, अतः परमाणु स्वरूप अवयवों को भी सावयव ही मानें—इसमें कोई युक्ति नहीं है। अतः जिस प्रकार घट किसी का अवयव नहीं है (अन्त्यावयवी है) किन्तु स्वयं सावयव है, उसी प्रकार परमाणु के प्रसंग में भी कहा जा सकता है कि वे यद्यपि स्वयं निरवय हैं, किन्तु अन्य द्रव्यों के अवयव हो सकते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार घट का सावयवत्व उसमें किसी अन्य द्रव्य के अवयव होने का प्रयोजक नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमाणुओं की निरवयवता उनको अन्य द्रव्य के अवयव होने में बाधक नहीं हो सकती ॥ १५२ ॥

तवत्र पदवर्णानां भेदं प्रत्यक्षसाधितम्।
वर्णांशानुपपत्त्या कः शक्नुयादपबाधितुम् ॥ १५३ ॥

तस्मात् जिस प्रकार तन्तु प्रभृति द्रव्यों में पटादि का अवयवत्व (भेद) प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, उसी प्रकार वाक्य के भी वर्ण और पद स्वरूप अवयव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हैं। उसका खण्डन केवल इसलिये नहीं किया जा सकता कि वर्ण और पद के अवयव नहीं हैं ॥ १५३ ॥

असत्त्वे ये च दृष्टान्ताः प्रकृतिप्रत्ययादयः।
असिद्धास्ते यतो लोके तत्सद्भावः प्रतीयते ॥ १५४ ॥

असत्त्वे ये च''असिद्धास्ते

'पदवर्णविभागो मृषा केवलाप्रयोगात् प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्' इस अनुमान में जो 'प्रकृतिप्रत्ययविभाग' को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है, वह दृष्टान्त ही 'असिद्ध' है। (मृषात्व) साध्य उक्त दृष्टान्त में नहीं है, क्योंकि प्रकृतिप्रत्यय-विभाग मिथ्या नहीं है।

यतो लोके''प्रतीयते

जिस लिए कि लोक में पद और वर्णस्वरूप अवयवों की प्रतीति के समान ही प्रकृति और प्रत्यय की पृथक् प्रतीति होती है ॥ १५४ ॥

नैव हि प्रक्रियामात्रं शास्त्रतः परिकल्प्यते।
प्रत्यक्षं ह्येव तद्रूपं वाच्यमप्यन्यवाच्यवत् ॥ १५५ ॥

नैव हि ··· परिकल्प्यते

यह जो कहा गया है कि 'संमुग्ध' अखण्ड पद ही पदार्थ का वाचक है, पद में प्रकृति और प्रत्यय स्वरूप अवान्तर भेद नहीं है, प्रकृति प्रत्यय का भेद की तो प्रक्रिया समझने और समझाने के लिए वैयाकरणों ने कल्पना की है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

प्रकृति-प्रत्यय का भेद व्याकरणशास्त्र की कल्पना मात्र नहीं है, क्योंकि अन्य शब्दों की तरह प्रकृति-प्रत्यय के अलग-अलग वाच्य अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है ॥ १५५ ॥

क्रमेण हि प्रतीयेते प्रकृतिप्रत्ययौ पदे।
तदागमे तदर्थोऽपि स्वसंवेद्यः क्रमेण नः ॥ १५६ ॥

क्योंकि पद में प्रकृति और प्रत्यय की अलग-अलग प्रतीति होती है। अतः 'वृक्ष' स्वरूप प्रकृति से शाखादिमान् अर्थ की प्रतीति एवं 'सु' प्रत्यय के आने पर संख्या और कारक की प्रतीति होती है। अतः प्रकृति और प्रत्यय दोनों का अपने-अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध स्वीकार करना ही होगा ॥ १५६ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामप्यर्थौ गम्यते तयोः।
अमाद्युपजनापाये वृक्षार्थो ह्यनुगम्यते ॥ १५७ ॥
वृक्षं वृक्षेण चेत्यत्र वृक्षत्वं तावदेव हि।
कर्मत्वं हीयते पूर्वं करणत्वं च जायते ॥ १५८ ॥
तथा वृक्षं घटं चेति कर्मत्वमनुगम्यते।
वृक्षत्वं हीयतेऽन्या च घटधीरुपजायते ॥ १५९ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् ··· तयोः

वृक्ष शब्द के रहने से ही शाखादिमान् अर्थ की प्रतीति होती है, वृक्ष शब्द के नहीं रहने से नहीं होती है। एवं उसके बाद 'अम्' इस द्वितीया एकवचन स्वरूप प्रत्यय के रहने से ही कर्मत्व एवं एकत्व संख्या की प्रतीति होती है, तृतीयादि विभक्तियों के रहने से अथवा द्वितीया के भी द्विवचनादि के रहने से नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से भी प्रकृति और प्रत्यय की अलग-अलग सत्ता की प्रतीति होती है।

अमाद्युपजनापाये ··· घटधीरुपजायते

अम्, टा प्रभृति प्रत्ययों के रहने और न रहने से वृक्षम्, वृक्षेण इत्यादि सभी वृक्ष-प्रकृतिक प्रयोगों से वृक्षत्व सामान्य का बोध साधारण रूप से होता है। अन्तर इतना ही होता है कि 'वृक्षम्' इस पद से जो वृक्षनिष्ठ कर्मत्व का बोध होता था, वह न होकर वृक्षेण पद से वृक्षनिष्ठकरणत्व का बोध होता है। इसी प्रकार 'वृक्षं घटं च' इन शब्दों से होनेवाली दोनों प्रतीतियों में कर्मत्व समान रूप से भासित होता है।

यहाँ पहले पद से होनेवाले वृक्षनिष्ठ कर्मत्वबोध का विषय 'वृक्षत्व' घटम् इस पद से होने वाले घटनिष्ठ कर्मत्वविषयक बोध में भासित नहीं होता है, यद्यपि दोनों ही बोधों में कर्मत्व समान रूप से भासित होता है ॥ १५७–१५९ ॥

तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ।
अन्यथानुपपत्त्या हि शक्तिस्तत्रावतिष्ठते ॥ १६० ॥

इससे यह निष्कर्ष होता है कि इन स्थलों में जिस शब्द के रहने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह अर्थ उसी शब्द का अभिधेय है, क्योंकि 'अन्यथाऽनुपपत्ति' (अर्थापत्ति प्रमाण) से यही निष्पन्न होता है कि तत्तदर्थविषयक बोध की उत्पादिका अभिधा शक्ति तत्तत् शब्दों में ही है ॥ १६० ॥

यत् कूपयूपसूपादौ समानेऽप्युपबन्धने।
नास्त्यर्थानुगमः कश्चित् तत्र शब्दोऽपराध्यति ॥ १६१ ॥

(पू० प०—'वृक्षम्, वृक्षेण' इत्यादि दोनों स्थलों में वृक्षत्व की अनुस्यूति बराबर है, एवं 'अम्' प्रत्यय और 'टा' प्रत्यय विभिन्नार्थक हैं। अथवा 'वृक्षम्, घटम्' इन दोनों में अनुस्यूत कर्मत्वार्थक 'अम्' अंश के समान रहने पर भी घट पद और वृक्ष पद से ही वे दोनों पद पृथक् अर्थ के बोधक हैं।

यदि ऐसा हो तो फिर कूप, यूप, सूप प्रभृति पदों में 'ऊप' यह अंश समान है, अतः कूपादि पदों के अर्थों में विभिन्नता के रहने पर भी किसी एक अर्थ की अनुस्यूति उन सभी अर्थों में अवश्य चाहिये। किन्तु उन पदों के अर्थों में किसी एक अर्थ की अनुस्यूति को कोई भी स्वीकार नहीं करता। अतः कथित उपपादन के द्वारा प्रकृतिप्रत्ययविभाग को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

कथित यूप-कूपादि पदों में 'ऊप' शब्द की समान अनुवृत्ति के रहने पर भी जो किसी एक अर्थ की अनुस्यूति नहीं देखी जाती है, उसमें उन शब्दों का कोई अपराध नहीं है ॥ १६१ ॥

नान्वयव्यतिरेकाभ्यामपूर्वार्थावधारणम् ।
संसृष्टेऽधगतेऽर्थे हि ताभ्यां शक्तिर्नियम्यते ॥ १६२ ॥

यदि शब्द के अन्वय और व्यतिरेक से ही अर्थ का अन्वय और व्यतिरेक होता तो कदाचित् शब्द से उक्त स्थलों में एक अर्थ की अनुस्यूति में शब्द को अपराधी ठहराया भी जा सकता था। किन्तु बात ऐसी नहीं है। शब्द के अन्वय और व्यतिरेक किसी अपूर्व अर्थ के कल्पक नहीं हैं किन्तु अनेक अर्थों के साथ सम्बद्ध अर्थों में से अभिमत अर्थ का निष्कर्ष ही शब्द के अन्वय और व्यतिरेक से होता है ॥ १६२ ॥

तेनानेकात्मकाच्छब्दादनेकार्थावबोधने ।
सिद्धे पदागमे योऽर्थः स तस्यैवावधार्यते ॥ १६३ ॥

अतः प्रकृति-प्रत्यय से युक्त जो पद है, उससे अनेक अर्थों के बोध का यही हेतु है कि जिसके आगमन से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसी शब्द का वह अर्थ होता है[1] ॥ १६३ ॥

एवं पिपीलिकापङ्क्ते रेणुचक्रान्वये सति।
गजाश्वोपजनापायेऽप्यतादर्थ्यमशक्तितः ॥ १६४ ॥

इसी प्रकार गो और अश्व के चलने से जो आकाश में धूलि का चक्र बन जाता है, एवं उसी समय अकस्मात् चीटी की पंक्ति यदि वहाँ जमीन पर चलती है, तो भी आकाशस्थ गोलाकार उस धूलिचक्र की कारणता चींटी के पंक्ति में नहीं मानी जाती, अर्थात् केवल अन्वय-व्यतिरेक ही कारणता का ग्राहक नहीं है ॥१६४॥[2]

अस्त्येव च गजाश्वेषु सामान्यं रेणुकारणम्।
दृढप्राणिविशेषत्वं समस्तव्यस्तलक्षितम् ॥ १६५ ॥

आकाश में धूलिचक्र का बनना कभी गायों और घोड़ों के चलने से भी होता है और कभी अकेले हाथी के चलने से भी होता है। किन्तु इससे किसी एक में धूलि-चक्र की कारणता खण्डित नहीं हो सकती, क्योंकि धूलिचक्र के निर्माण में किसी विशेष प्राणी का चलना कारण नहीं है। किन्तु भूमिस्थ धूलिराशि को ऊपर उछालने की शक्ति रखनेवाले सभी दृढ़ प्राणियों में उसकी कारणता है। अतः कारणतावच्छेदकी-भूत 'दृढ़प्राणिविशेषत्व' 'गवाश्व' में भी है और अकेले हाथी में भी है। अतः एक से दूसरी की कारणता खण्डित नहीं हो सकती ॥ १६५ ॥

दृष्टा पिपीलिकापङ्क्तिः केवला रेणुवर्जिता।
हस्त्याद्यन्वयिनो तेन न हेतुत्वं प्रपद्यते ॥ १६६ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'वृक्षम्' इत्यादि पद के द्वारा शाखादिमान् और कर्मत्व इन दो अर्थों की प्रतीति होती है। 'वृक्षेण' इस पद के द्वारा वृक्ष स्वरूप शाखादिमान् पदार्थ का बोध तो 'वृक्षम्' इस पद के रहने के समान ही होता है, किन्तु 'अम्' स्वरूप द्वितीया विभक्ति के न रहने से कर्मत्व का बोध नहीं होता है, अर्थात् कर्मत्व इस बोध से हट जाता है, एवं तृतीया विभक्ति के रहने से उस बोध में 'करणत्व' विषय हो जाता है।

इसलिये हम लोग ऐसा मानते हैं कि जिस शब्द के रहने से जिस अर्थ का अन्वय (अनुस्यूति) रहे, एवं जिसके न रहने से जिस अर्थ का अन्वय न रहे (जिसका व्यतिरेक रहे) पुनः जिस (तृतीयादि विभक्ति) के आ आने से (उपजन से) जिस अर्थ का उपजन (अन्वय) हो वही शब्द उस अर्थ का वाचक है। केवल कुछ वर्णों के समान अन्वय से समान अर्थ की अनुस्यूति नहीं मानी जा सकती। अतः कूप-यूपादि शब्दों में 'ऊप' शब्द की समान अनुस्यूति रहने पर भी किसी समान अर्थ की अनुस्यूति का न रहना दोषावह नहीं है ॥ १६३ ॥

२. इस श्लोक के 'अपायेऽपि' में जो 'अपि' शब्द है, उसका अन्वय 'चक्रान्वये' के घटक 'अन्वये' के साथ समझना चाहिये।

कथित गवाश्वादि अथवा केवल हाथी प्रभृति दृढ़ प्राणियों के न चलने की स्थिति में अगर चींटी की पंक्ति चलती भी है, तो उससे आकाश में धूलि की पंक्ति नहीं बनती। अतः पीपिलिका की पंक्ति में आकाशस्थ धूलिचक्र की कारणता नहीं मानी जा सकती ॥ १६६ ॥

प्रकृतिप्रत्ययादीनां केवलाविनियोगतः।
यथैवार्था न दृश्यन्ते तथा चानर्थमत्ययः ॥ १६७ ॥

(पू० प०) जिस प्रकार चींटी की पंक्ति में धूलिचक्र की कारणता नहीं मानी जाती, क्योंकि उसके बिना भी धूलिचक्र की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार केवल प्रकृति और प्रत्यय से किसी को भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतः उन दोनों में भी अर्थप्रतीति की कारणता नहीं है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

जिस प्रकार चींटी की पंक्ति धूलिचक्र के बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवल प्रकृति का या केवल प्रत्यय का प्रयोग कहीं दृष्ट नहीं है जिससे उनमें अर्थ-बोध का असामर्थ्य भी समझते। अर्थात् असामर्थ्य के समझने के लिये भी धर्मीस्वरूप केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का कहीं प्रयोग देखना आवश्यक है। सो कहीं नहीं देखा जाता। अतः उनमें अर्थबोध की अशक्ति भी नहीं समझी जा सकती। किन्तु एक साथ दोनों के प्रयोग से अर्थ की प्रतीति उपलब्ध है, अतः प्रकृति और प्रत्यय में अर्थ-बोधजनिका शक्ति माननी पड़ती है ॥ १६७ ॥

नामाख्यातादिसाकल्यवैकल्यानुगमे सति।
तदर्थासम्भवो दृष्टः पदवाक्यान्तराश्रयः ॥ १६८ ॥

नामाख्यातादि'''असंभवो दृष्टः

(प्रकृति और प्रत्यय में शक्ति का खण्डन स्फोटवादी इस प्रकार करते हैं कि) नामपद, आख्यातपद प्रभृति अनेक विभिन्न प्रकार के पदों से ही एक वाक्य की रचना होती है। अर्थबोध के अव्यवहित पूर्वक्षण में इनकी सत्ता संभव नहीं है। एवं इनकी सत्ता के न रहने पर भी 'स्फोट' से अर्थ की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों के अभाव से नाम, आख्यात प्रभृति सम्पूर्ण पदों में ही अर्थबोध की कारणता संभव नहीं है, तो फिर तद्घटक प्रकृति और प्रत्यय में स्वतन्त्र रूप से अर्थबोधक शक्ति की कोई संभावना नहीं है ॥ १६८ ॥

विप्राश्वः पचते यातं राजहस्तिन्यगादिति।
तथान्यरूपमन्यादृग् राज्ञा दध्यत्र गामिति ॥ १६९ ॥

अन्वयाभाव के ये छः उदाहरण हैं—

(१) विप्रः (२) अश्वः (३) पचते (४) यातम् (५) राजहस्तिनि और (६) अगात्।

जहाँ एक ही अर्थ के बोध के लिये विभिन्न प्रकार के वर्णों वाले पदों के प्रयोग होते हैं, किन्तु पूर्वानुपूर्वी के न रहने पर भी अर्थ की अनुस्यूति रहती है, उनके भी कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) राज्ञा (२) दध्यत्र (३) गाम् ॥ १६९ ॥

विप्रशब्दौ क्वचिद् दृष्टावुपसर्गार्थवाचिनौ।
समुदायस्तथान्यत्र ब्राह्मणत्वावबोधकः ॥ १७० ॥
अश्व इत्यपि नामेदमाख्यातं लुङि चेदृशम्।
आख्यातं पचतेशब्दः पच ते इति वा द्वयम् ॥ १७१ ॥
स्त्रीद्वित्वं पुंबहुत्वं वा ते षष्ठ्यथ चतुर्थ्यथ।
पचते इति सर्वं वा चतुर्थ्यन्तं शतुः पदम् ॥ १७२ ॥

विप्रशब्दौ ' ' ब्राह्मणत्वावबोधकः

अभिप्राय यह है कि किसी पद के अन्तर्गत यदि अवान्तर किसी पद की अनुस्यूति नियम से रहती भी है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उस महापद से जन्य बोध में उक्त अवान्तर पद के अर्थ भी अवश्य ही विषय हों।

इस प्रकार व्यतिरेकव्यभिचार के घटक पदों के जो अर्थ महापदजनित बोध में भासित भी होते हैं, उस बोध की कारणता उक्त महावाक्य के घटक अवान्तर पदों में नहीं मानी जा सकती है।

अतः प्रकृति और प्रत्यय अलग-अलग अर्थ के वाचक नहीं हैं, किन्तु प्रकृति-प्रत्ययविशिष्ट महापद ही एक विशिष्ट अर्थ का बोधक है। इस न्याय के अनुसार अखण्ड वाक्य ही वाक्यार्थ का बोधक है। फलतः अखण्ड वाक्य की ही शक्ति अखण्ड वाक्यार्थ में हैं। तद्घटक पदों की जो अभिधा शक्ति पदार्थों में मानते हैं, उसका कोई उपयोग वाक्यार्थ में नहीं है।

महापद में अवान्तर पदों की अनुस्यूति रहने पर भी महापदजनित बोध में अवान्तर पदों के अर्थों की अनुस्यूति न रहने के ये उदाहरण हैं—

(१) विप्रः यह महापद 'वि' और 'प्र' स्वरूप उपसर्गात्मक दो खण्ड पदों से घटित है। इन दोनों ही उपसर्गों के 'प्रकर्षादि' और 'विशेषादि' अलग-अलग अर्थ हैं। किन्तु 'वि' और 'प्र' इन दोनों को मिलाकर जो 'विप्र' शब्द बनता है, उससे ब्राह्मणत्व जाति का बोध होता है। इस ब्राह्मणत्व रूप अर्थ में 'वि' और 'प्र' शब्द के अलग-अलग जितने भी अर्थ हैं, उनमें से किसी की अनुस्यूति नहीं है।

(२) 'अश्वः' यह शब्द अपनी समुदाय शक्ति से घोड़े का वाचक है। किन्तु 'श्व' एक धातु भी है, जिसके लुङ् लकार में 'अश्वः' यह प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'अश्वः' यह आख्यात पद भी है। कथित पहले 'अश्वः' शब्द के अर्थ में इस दूसरे 'अश्वः' शब्द की अनुस्यूति नहीं है।[1]

(३) 'पचते' यह पद आत्मनेपदीय पच् धातु से लट् लकार में निष्पन्न आख्यात पद है। किन्तु 'पच' और 'ते' ऐसा विभाग करने पर यह परस्मैपदीय पच् धातु के लोट्लकार के मध्यमपुरुष में 'पच' यह दूसरा आख्यात पद है एवं 'ते' यह एक दूसरा नाम ही है।

---

१. भूते लुङि च्लौ जुस्तम्भ्वित्यादिना च्लेरङादेशः 'श्वयतेः' इत्यादिव्याकरणस्मृत्य-व्याख्यानवशेन लुङि मध्यमैकवचनं निर्णीतमाख्यातं निर्णीयते। (न्यायरत्नाकर)

'ते' यह नाम भी तत् शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रथमाद्विवचनान्त होने से स्त्री-निष्ठ द्वित्व का बोधक है और पुंल्लिङ्ग के बहुवचन में भी निष्पन्न होने से पुरुषनिष्ठ बहुत्व का भी बोधक है, क्योंकि स्त्रीलिंग 'तत्' शब्द की प्रथमा के द्विवचन में 'ते' ऐसा रूप होता है एवं पुंल्लिंग 'तत्' शब्द की प्रथमाविभक्ति के बहुवचन में भी 'ते' यही प्रयोग होता है।

किं वा 'युष्मद्' शब्द की षष्ठी विभक्ति के एकवचन में और चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में भी 'ते' इस आकार का एक रूप होता है। इन विभिन्न अर्थों की अनु-स्यूति उक्त पदों के विभिन्न अर्थों के अभिप्राय से उच्चारणजन्य बोध में नहीं रहती है।

पचते इति वा ' 'शतुः पदम्

अथवा 'पचते' इस शब्द को शतृप्रत्ययान्त 'पचत्' शब्द की चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में निष्पन्न प्रयोग भी कह सकते हैं॥ १७२॥

यातं लोण्मध्यमद्वित्वमयातं लङि वा भवेत्।
कर्तृनिष्ठाद्वितीयान्तं प्रथमान्तं नपुंसकम्[1]॥ १७३॥

'यातम्' शब्द 'या' धातु के लोट्लकार के मध्यम पुरुष के द्विवचन में निष्पन्न क्रिया पद है। इस धातु से ही लङ्लकार में 'अयातम्' भी बन सकता है। एवं 'या' धातु से कर्तृबोधक निष्ठा प्रत्यय से निष्पन्न 'यात' इस पुंल्लिंग प्रातिपदिक की द्वितीया विभक्ति के एकवचन में भी 'यातम्' हो सकता है। इसी प्रकार इसी 'यात' शब्द से नपुंसक लिंग में प्रथमा के एकवचन में भी 'यातम्' यह प्रयोग हो सकता है॥ १७३॥

राजहस्ती समासो वा राजलोण्मध्यमोऽपि वा।
हस्तिनीत्यथ सप्तम्यामथ स्त्रीप्रत्ययान्तरम्॥ १७४॥

'राजहस्ती' यह शब्द 'राज्ञः हस्ती' इस षष्ठीतत्पुरुष समास से निष्पन्न एक पद है। एवं 'राज्' धातु से लोट्लकार के मध्यम पुरुष के एकवचन में 'राज' यह आख्यात पद भी हो सकता है। इस पक्ष में 'राज' और 'हस्ती' दो पृथक् पदों में से पहला आख्यात और दूसरा नाम पद हो सकता है।

इसी प्रकार 'हस्तिनि' यह शब्द पुंल्लिंग 'हस्तिन्' शब्द की सप्तमी विभक्ति के एकवचन में भी निष्पन्न हो सकता है, एवं 'हस्तिनी' इस स्त्रीलिंग के सम्बोधन में भी हो सकता है॥ १७४॥

अगादिति लुङन्तं स्यादगो वा पञ्चमीपरः।
तानत्तीत्यथ वाप्येवं क्विबन्तोऽयं समासभाक्॥ १७५॥

---

1. श्लोक १७१ में जो 'पचते, यातम्' वाला अंश है, उसे एक बार यथावत् और दूसरी बार 'अ' का छेद मानकर 'पचतेऽयातम्' ऐसे पाठ मानना चाहिये। इस पाठ के अनु-सार 'यातम्' और 'अयातम्' इन पदों को विचारणीय समझा जाना चाहिये। तद-नुसार इस श्लोक के द्वारा दोनों पदों का उल्लेख कर विचार किया गया है।

'अगात्' यह पद गम् धातु से लुङ्लकार में निष्पन्न क्रियापद भी हो सकता है। एवं 'न गच्छतीति' 'अग' इस प्रातिपदिक से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में भी 'अगात्' यह प्रयोग हो सकता है। अथवा 'सानन्तीति अक्' इस व्युत्पत्ति से 'अक्' शब्द को पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में भी 'अगात्' यह प्रयोग हो सकता है ॥१७५॥

एवमर्थविकल्पेन भेदेऽर्थो नावतिष्ठते।
निर्भागे वाचके वाक्ये समस्तादस्ति निर्णयः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार व्युत्पत्तियों के भेद से अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक शब्द के सभी अर्थ प्रत्येक उच्चारण से होने वाले बोध में विषय नहीं होते।

किन्तु वाक्य को यदि निर्भाग (अखण्ड) मान लेते हैं तो (खण्डशः बोध की आवश्यकता न रहने के कारण) संपूर्ण वाक्य से अभिलषित एवं उचित अर्थ का निर्णय (निश्चय) संभव हो जाता है ॥ १७६ ॥

तस्मान्न यो यमन्वेति सर्वदा तेन सोऽर्थवान्।
अनर्थकत्वविज्ञानात् तद्रूपेऽपि पदान्तरे ॥ १७७ ॥

इन अन्वयव्यभिचारों के देखते हुये यही निर्णय करना पड़ता है कि यदि किसी महापद में किसी अवान्तर पद की अनुस्यूति रहती भी है, तथापि सर्वदा महापद-जनित अर्थबोध में तद्घटक अवान्तर पद का अर्थ नियमतः भासित नहीं होता, क्योंकि उस समय महापदघटक दूसरे पद में अथवा दूसरे अर्थ के बोधक समान आनुपूर्वी के दूसरे शब्द में तत्तदर्थबोधकत्व का ज्ञान नहीं रहता ॥ १७७ ॥

तथा राजार्थवान् दृष्टो राज्ञेत्यत्र च नास्त्यसौ।
दधि गौरिति नापीमौ विद्यो दध्यत्र गामिति ॥ १७८ ॥

(अन्वयव्यभिचार के बाद इस प्रसङ्ग में अब व्यतिरेकव्यभिचार को भी देखें—)

ऐसे भी पद हैं, जिनके अर्थ का बोध तो महापद से होता है, किन्तु तद्वाचक अवान्तर पद की अनुस्यूति उस महापद में नहीं रहती।

जैसे कि (१) 'राज्ञा' इस तृतीयान्त 'राजन्' शब्द से जो बोध होता है, उसमें 'राजा' स्वरूप अर्थ भासित तो होता है, किन्तु 'राजन्' इस आनुपूर्वी के शब्द की अनुस्यूति 'राज्ञा' पद में नहीं रहती।

(२) इसी प्रकार 'दध्यत्र' इस पद से 'दधि' स्वरूप अर्थ का बोध तो होता है, किन्तु 'दधि' इस इकारान्त शब्द की अनुवृत्ति उसमें नहीं रहती।

(३) एवं 'गाम्' इस द्वितीयैकवचनान्त शब्द से गो का बोध तो होता है, किन्तु ओकारान्त तद्वाचक 'गो' शब्द की अनुवृत्ति वहाँ नहीं रहती ॥ १७८ ॥

अन्यस्मिञ्ज्ञातसम्बन्धे निषिद्धोऽन्यश्च वाचकः।
न च सर्वविकाराणामानन्त्यात् सङ्गतीक्षणम् ॥ १७९ ॥

(पू० प०) कथित अन्वयव्यभिचार के कारण यह कल्पना की जा सकती है, किन्तु उस अनुस्यूत पद के अर्थ की वाचकता महापद में नहीं है। अगर होता तो सभी कारणों का संवलन रहने से उस अवान्तरपदवाच्य अर्थ का भी बोध अवश्य होता।

किन्तु राज्ञा, दध्यत्र, गाम् इत्यादि स्थलों में जो व्यतिरेकव्यभिचार दिखलाया गया है, उन स्थलों में संभावित व्यभिचार दोष का निवारण तो केवल इसी से हो जाता है कि 'गाम्' इस पद में यदि गो पद की अनुवृत्ति नहीं भी है, तथापि 'गाम्' इस समुदाय में ही 'गोनिष्ठ कर्मता' के बोध की शक्ति को स्वीकार कर बोध की उपपत्ति की जा सकती है। जैसे कि वृक्ष शब्द के न रहने से भी 'तरु' शब्द से वृक्ष का बोध होता है।

(सि० प०) किन्तु ऐसा यदि स्वीकार करेंगे तो जिस पुरुष को 'दधि' इस शब्द में ही दधि स्वरूप अर्थविषयकबोध की शक्ति गृहीत है, उस पुरुष को 'दध्यत्र' शब्द सुनने पर 'एतद्देशवृत्ति दधि' का बोध नहीं होगा।

एवं एक शब्द की जितनी विकृतियाँ सम्भव हैं, उन सभी विकृतियों का किसी एक अर्थ के साथ सङ्केत का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वे विकृतियाँ अनन्त हैं ॥ १७९ ॥

तस्मादनर्थकैरेव विना जातिगुणान्वयात् ।
प्रकृतिप्रत्ययाद्यन्तपदभागविवर्जितैः ॥ १८० ॥
वाक्यैरेव विशिष्टोऽर्थः स्वतन्त्रैः प्रतिपाद्यते ।
भागशः कथितोपायैरश्वकर्णाजकर्णवत् ॥ १८१ ॥

'तस्मात्' कथित युक्तियों से पद और उसकी सभी एकताएँ और अनेकताएँ काल्पनिक हैं, पारमार्थिक नहीं। फलतः सभी पदपदार्थविभाग काल्पनिक हैं, पारमार्थिक नहीं। वाक्य एक 'अखण्ड' स्वतन्त्र ही वस्तु है, वह प्रकृति-प्रत्ययात्मक पदों और वर्णों से बना हुआ कोई सावयव पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार अखण्डवाक्य जाति, गुण, क्रिया प्रभृति वस्तुओं का परस्पर अन्वित रूप में भी बोधक नहीं है। अतः वाक्य की तरह वाक्यार्थ भी परस्परान्वित जाति, गुण, क्रिया स्वरूप नहीं है, किन्तु अखण्ड ही है।

जैसे कि 'अश्वकर्ण' और 'अजकर्ण' जैसे पदों से अश्वादि अर्थों से अतिरिक्त ही विशेष वृक्षों का बोध होता है, उसी प्रकार वाक्य भी स्वघटक पदों के अर्थों से सर्वथा विलक्षण ही किसी एक अखण्ड अर्थ का वाचक है।

तब बात रही उस अखण्ड वाक्यार्थ के साथ अखण्ड वाक्य के सङ्केत-ग्रहण की। उसका यह समाधान है—

जिस उपाय से कल्पित (असत्) एवं काल्पनिक एकत्व से युक्त दधि प्रभृति शब्दों के संकेतों का ग्रहण वाक्य को सावयव माननेवाले (मीमांसकादि) करते हैं, उसी प्रकार गृहीत पदों के सम्बन्ध से ही अखण्ड वाक्यार्थ में अखण्ड वाक्य की शक्ति

के ग्रहण की भी उपपत्ति होगी। असदुपाय से भी सत्कार्य की उत्पत्ति हो सकती है ॥ १८०–१८१ ॥

अत्र ब्रूमः पदात्मा न सर्वेष्वेतेषु भिद्यते।
केनचिद् धर्मभेदेन जरा राजेतिवत् क्रमात् ॥ १८२ ॥

हम (सिद्धान्ती मीमांसकगण) वाक्य को अखण्ड माननेवाले वैयाकरणों से इस प्रसंग के उत्तर में यह कहते हैं—

जिन 'विप्र' प्रभृति पदों की चर्चा की गयी है, उन सभी पदों में 'पदात्मक' ही किसी दूसरे शब्द की अनुस्यूति नहीं है। जिन शब्दों की अनुस्यूति उन पदों में है वे सभी शब्द किसी न किसी विशेष धर्म से युक्त होने के कारण परस्पर भिन्न जातियाँ अवश्य हैं। जैसे कि 'राज' शब्द और 'जरा' शब्द दोनों ही 'ज' और 'रा' शब्दों से समान रूप से युक्त हैं, फिर भी दोनों ही शब्दों में दोनों ही वर्णों का विन्यास-क्रम भिन्न होने के कारण ये दोनों शब्द भिन्न हैं ॥ १८२ ॥[1]

पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यस्मृतिश्रुतीः ॥ १८३ ॥

(पू० प०—कौन सा ऐसा उपाय है, जिससे उन विभिन्न धर्मों का ज्ञान हो जिससे पदों के नाम आख्यातादि भेदों का अवधारण हो सके? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

(१) क्रमभेद (२) न्यूनत्व (३) अतिरिक्तत्व (४) स्वर (५) वाक्य (६) स्मृति और (७) श्रुति ये सात धर्म ऐसे हैं, जिनके द्वारा पद की नामाख्यातत्वादि त्रिभिन्नताओं का अवधारण होता है ॥ १८३ ॥

शेषानर्थान् परिच्छिद्य स्वरूपैर्वाक्यगोचरान्।
तत्सम्बन्धानुरूपार्थवाचित्वेनान्यनिर्णयः ॥ १८४ ॥
तत्रावधृतनामर्थैराख्यातापेक्षणेन सत्।
आख्याते सति नामत्वं भवेदुभयसम्भवे ॥ १८५ ॥

(१) क्रमभेद के द्वारा 'राज' पद और 'जरा' पद के समान रूप से प्रातिपदिक एवं समान वर्णों से घटित होने पर भी चूँकि इनमें 'रा' और 'ज' दोनों वर्णों के क्रम भिन्न हैं, अतः ऐसे स्थलों में क्रमभेद ही पदभेद का ज्ञापक होता है।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि कथित 'विप्र' शब्द अथवा 'अश्व' शब्द से जो कथित 'वि' और 'प्र' शब्दों के अर्थ का बोध नहीं होता है, कि वा 'अश्वः' इस शब्द से 'भूतकालिक' गमन क्रिया का बोध नहीं होता है, उसका हेतु है उन शब्दों का भिन्नजातीय होना। जैसे कि 'विप्र' शब्द 'नाम' है, किन्तु तद्घटक 'वि' और 'प्र' शब्द उपसर्ग हैं। घोड़े का बोधक 'अश्वः' शब्द 'नाम' है एवं भूतकालिक क्रिया का बोधक 'अश्वः' शब्द 'आख्यात' है।

(२) न्यूनत्व भी कुछ पदों में भेद का ज्ञापक है। जैसे कि 'नय' पद और 'नयन' पद दोनों के आदि दो वर्ण समान हैं, किन्तु 'नय' पद में 'नयन' पद की अपेक्षा से 'न' स्वरूप एक वर्ण 'न्यून' है। इस न्यूनता के द्वारा ही 'नय' पद को 'नयन' पद से भिन्न समझते हैं।

(३) अतिरिक्तत्वमूलक पदभेद का उदाहरण आगे 'अवध्यन्तरतस्तत्र' (श्लो० २२२) के द्वारा इसी प्रकरण में दिखलाया जायेगा।

(४) स्वर की विभिन्नता से भी पदभेद का ज्ञान होता है। जैसे कि 'बहुव्रीहिस्वर' के कारण ही बहुव्रीहि समास से निष्पन्न 'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' अर्थ के वाचक 'इन्द्रशत्रु' शब्द से 'इन्द्र एव शत्रुः' इस कर्मधारय समास से निष्पन्न अत एव कर्मधारयसमासस्वर से युक्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द भिन्न समझा जाता है।

(शेष जो वाक्य, स्मृति और श्रुति रूप पदभेद के बोधक उपाय हैं, उनमें से 'वाक्य' से पदभेद के अवधारण का वर्णन इस श्लोक के द्वारा किया गया है)।

(५) जहाँ एक ही आनुपूर्वी से युक्त पद से घटित दो वाक्य संभव हों, उन वाक्यों से होने वाले बोधों में जिस आनुपूर्वी के जिस विभाग के द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध संभावित हो, उस विभाग से युक्त मानकर नामत्व-आख्यातत्वादि जिस किसी की उपपत्ति हो सके, तदनुसार ही पद का निर्णय कर लेना चाहिये।

एक ही पद का दो प्रकारों से वाक्य में प्रयोग हो सकता है। जैसे कि 'भोक्तुकामः पचते' एवं 'पचते दक्षिणां देहि' इन दोनों वाक्यों में से पहले वाक्य में 'पचते' पद को आख्यात माना जाता है और दूसरे वाक्य में समानानुपूर्वीक 'पचते' पद को ही नाम माना जाता है, क्योंकि ऐसा मानने से ही अभीष्ट दोनों बोधों की उपपत्ति हो सकती है। वाक्य की इस आलोचना से ही 'पचते' पद में नामत्व और आख्यातत्व का निर्णय होता है ॥ १८४–१८५ ॥

यथा च पुरुषाकारे समानेऽप्यवगम्यते।
स्मरणाद् ब्राह्मणत्वादि प्रकृतिप्रत्ययान्वयात् ॥ १८६ ॥
तथान्वाख्यानभेदेन प्रकृतिप्रत्ययादिभिः।
नामाख्यातव्यवस्थानं स्मरणेनोपलक्ष्यते ॥ १८७ ॥

(६) 'स्मृति' के द्वारा पदावधारण के प्रसंग में जानना चाहिये कि जिस प्रकार दो मनुष्यों को साथ देखने पर उन दोनों में से एक में ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने की स्मृति से ब्राह्मणत्व का निश्चय होता है, उसी प्रकार कोई व्याकरण शास्त्र में पारङ्गत विद्वान् यदि 'अश्वस्त्वं देवदत्त' ऐसा प्रयोग करते हैं तो इस 'अश्वः' शब्द को आख्यात पद भी माना जा सकता है, क्योंकि वैयाकरण के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उस शब्द को भौवादिक गत्यर्थक 'श्वि' धातु के लुङ्लकार के एकवचन में निष्पन्न मानने में कोई बाधा नहीं है[1] यद्यपि साधारण जन घोड़े को समझाने के लिए ही 'अश्वः' इस नाम पद का प्रयोग करते हैं।

---

१. भूते लुङि जुस्तम्भ्वित्यादिना च्लेरङादेशः 'श्वयतेरः' इत्यादि व्याकरणस्मृत्यान्वाख्यानवशेन लुङि मध्यमैकवचनं निर्णीतम्। (न्यायरत्नाकर)

इस प्रकार कहने के प्रकारभेद से स्मरण के द्वारा उपलक्षित प्रकृति और और प्रत्यय की विभिन्नता से 'नाम' और 'आख्यात' वचनों की व्यवस्था होती है, अर्थात् एक ही आनुपूर्वी का कौन सा शब्द नाम है और कौन सा आख्यात—यह निर्णीत होता है ॥ १८६-१८७ ॥

अप्राप्तस्मृत्युपायानां विवेकोऽयं न जायते ।
अज्ञाते पितृसम्बन्धे तुल्योऽसौ ब्राह्मणादिषु ॥ १८८ ॥

अप्राप्तस्मृति''न जायते

(पू० प०) जिन पुरुषों को प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के द्वारा उक्त स्मरण स्वरूप अवधारणोपाय का ज्ञान नहीं है, उन्हें कथित नाम या आख्यात का अवधारण कैसे होगा ?

अज्ञाते पितृसम्बन्धे''ब्राह्मणादिषु

(उ० प०) जिन्हें उक्त उपाय प्राप्त नहीं है, उन्हें नाम और आख्यात का उक्त अवधारण नहीं होगा। जैसे कि वास्तव में ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने पर भी जो उस पुरुष को ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न नहीं जानता, उस पुरुष को उस व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु उसके इस न समझने से उस व्यक्ति के ब्राह्मणत्व में कोई अन्तर नहीं होता है। फलतः ज्ञात होने के अभाव से वस्तु के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं होता है ॥ १८८ ॥

तथा श्रुत्यैव सन्दिग्धं किञ्चिन्निर्णीयते पदम् ।
सामानाधिकरण्येन प्रसिद्धाख्यातनामभिः ॥ १८९ ॥

(७) नाम और आख्यात के कुछ सन्दिग्ध स्थलों में सामानाधिकरण्य (सह-प्रयोग) स्वरूप 'श्रुति' के द्वारा नाम और आख्यात इन दोनों में से किसी एक का निर्णय होता है।

जैसे कि 'यातः पुनरायाति' इस वाक्य में 'आयाति' इस प्रसिद्ध आख्यात पद के साथ प्रयुक्त होने के कारण यह निर्णय सुलभ हो जाता है कि प्रकृत 'यातः' पद कर्त्ता में निष्ठा प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'नाम' पद ही है।

इसी प्रकार 'यातो देवदत्तयज्ञदत्तौ' इस वाक्य में प्रयुक्त द्विवचनान्त 'देवदत्त-यज्ञदत्तौ' इस प्रसिद्ध नाम पद के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'यातः' इस पद को आख्यात समझना सुलभ हो जाता है ॥ १८९ ॥

नन्वयं न विभागः स्यात् पदजातिमनिच्छतः ।
नामाख्यातमतिग्राह्याः कथं वर्णास्त एव ते ॥ १९० ॥

(पू० प०) पदों का नाम-आख्यातादि भेद से जो यह विभाग दिखलाया गया है, वह तो गोपदत्वादि जातियों के खण्डन से ही खण्डित हो चुका है। अतः जब पदत्व जाति ही नहीं है तो फिर तद्व्याप्य नामत्व-आख्यातत्वादि की सत्ता स्वतः मिट जाती है।

दूसरी बात यह भी है कि 'अक्षराण्येव पदम्' (शावरभाष्य पृ० ४८ पं० ९) इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने पदों को स्वघटक अक्षरों से अभिन्न बतलाया है। अतः वर्णों से भिन्न ये नामाख्यातादि की प्रतीतियाँ यथार्थ कैसे होंगी ? अतः नामाख्यातादि भेदों की चर्चा ही असङ्गत है ॥ १९० ॥

केन वा नेष्यते जातिः पदजातचतुष्टये।

सुप्तिङ्कृत्तद्धिताः सन्ति तथा धात्वादिजातयः ॥ १९१ ॥

(सि० प०) नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात इन चार प्रकार के पदों में क्रमशः पदत्वव्याप्य नामत्व, आख्यातत्व, उपसर्गत्व एवं निपातत्व जातियों को कौन अस्वीकार कर सकता है ? अतः पदत्वव्याप्य इन नामत्वादि जातियों का अस्तित्व अवश्य है।

इतना ही नहीं, पदत्वव्याप्य और भी अवान्तर जातियाँ हैं। जैसे पद के जो प्रकृति स्वरूप अंश हैं उनमें धातुत्व एवं प्रातिपदिकत्व जातियाँ हैं एवं उसी के जो प्रत्ययांश हैं, उनमें सुप्त्व, तिङ्त्व, कृत्त्व एवं तद्धितत्व जातियाँ हैं ॥१९१॥

पदैक्येऽप्यविरुद्धेयमत्यन्तानतिरेकिणी ।

वर्णा एवेति च ग्रन्थे निषिद्धात्यन्तभिन्नता ॥ १९२ ॥

'अक्षराण्येव पदम्' (शा० भा० पृ० ४८ पं० ९) इस सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने जो वर्णों के साथ पद के ऐक्य का प्रतिपादन करते हुये वर्ण से अतिरिक्त वाक्यादि का खण्डन किया है, उसका अभिप्राय केवल पदवाक्यादि से अत्यन्त भिन्न 'पदस्फोट, वाक्यस्फोटादि' का खण्डन करना है। अतः शब्द स्वरूप आश्रय से अभिन्न शब्दत्व जाति की तरह आश्रय से अभिन्न नामत्व-आख्यातत्व प्रभृति जातियाँ भी अवश्य हैं ॥ १९२ ॥

भ्रमणत्वादिवच्चासौ व्यज्यते क्रमवर्त्तिभिः।

अन्त्यवर्णेऽथ वा व्यक्तिः पूर्वसंस्कृत्यपेक्षिणि ॥ १९३ ॥

भ्रमणत्वादि' ' 'क्रमवर्त्तिभिः

(पू० प०—पदत्व और उसके व्याप्य नामत्व-आख्यातत्वादि जातियों का आश्रय कौन है, क्योंकि सभी केवल वर्ण रूप हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

जिस प्रकार क्रियामात्र में रहने वाली भ्रमणत्वादि जातियाँ क्रमशः विशेष प्रकार से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं में ही अभिव्यक्त होने के कारण कुछ क्रियाओं के समूह में ही रहती हैं, उसी प्रकार पद, नाम, आख्यातादि सभी के समानरूप वर्ण स्वरूप होने पर भी पदत्व-नामत्वादि जातियों की अभिव्यक्ति किसी विशेष आनुपूर्वी से युक्त वर्णों के समुदाय में ही होती है, सभी वर्णों में नहीं। अतः आश्रय की अनुपपत्ति से नामत्वादि जातियों की अनुपपत्ति नहीं स्वीकार की जा सकती।

अन्त्यवर्णेऽथवा' ' 'पूर्वसंस्कृत्यपेक्षिणि

अथवा पूर्व-पूर्व वर्णों से उत्पन्न संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण को ही पदत्वादि जातियों का आश्रय कहा जा सकता है। गोशब्दत्व नाम की जाति इसलिये नहीं मानते कि वह अप्रामाणिक है। आश्रय की अनुपपत्ति से उसे अस्वीकार नहीं करते।

इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है—

वर्णसामान्यवच्चापि न तत्कल्पनमर्हति ।
वर्णात्मनामभेदाच्च सिद्धा सामान्यधीरपि ॥

अर्थात् वर्णों में रहने वाले गत्वादि सामान्यों की तरह वर्णों से अभिन्न होने के कारण गोशब्दत्वादि जातियों की कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १९३ ॥

यद्वा येनैव धर्मेण व्यङ्क्तुं जात्यन्तरं क्षमाः ।
वर्णाः स्वरूपसाम्येऽपि तेनाख्यातादिबुद्धिषु ॥ १९४ ॥

अथवा नामत्व-आख्यातत्वादि स्वतन्त्र जातियाँ न भी हों तथापि एक ही प्रकार के वर्णों से घटित 'पचते' प्रभृति पदों में जब आख्यातबुद्धि और नामबुद्धि दोनों ही स्थलभेद से होतीं हैं, तो फिर उन बुद्धियों को 'निरालम्बन' नहीं माना सकता, भले ही उन बुद्धियों के आलम्बन आख्यातत्वादि न होकर बुद्धिविशेष-विषयत्वादि ही हों, क्योंकि एक ही आनुपूर्वी के उन पदों से अलग-अलग विशेष आकार की बुद्धियाँ तो होती हैं ॥ १९४ ॥

वनपङ्क्त्यादिवच्चैषु समुदायेष्वसत्स्वपि ।
भिन्नाख्यातादिसामान्यव्यवहारो भविष्यति ॥ १९५ ॥

अतः 'पचते, पातम्' इत्यादि पदों में एक ही समान वर्णों के समुदाय के रहने पर विशेष अर्थबोधजनक होने के कारण नामत्व-आख्यातत्वादि विभिन्न व्यवहार होते हैं, भले ही वर्णों के उन समुदायों में चेतनसमुदाय के बोधक 'पंक्ति' और अचेतनसमुदाय के बोधक 'वन' की तरह समुदायों में कोई अन्तर न हो ॥ १९५ ॥

धातुप्रत्ययतद्वाच्यसामान्यानामियं गतिः ।
तद्धिताख्यातकृद्रूपं नित्यं हि स्मर्यते जनैः ॥ १९६ ॥

इसी प्रकार 'धातु' शब्द से या 'प्रत्यय' शब्द से जो प्रतीतियाँ होती हैं, वे भी 'क्रियावाचित्व' प्रभृति उपाधिमूलक ही हैं, भले ही धात्वादि नाम की स्वतन्त्र जातियाँ न हों, क्योंकि 'तद्धित, आख्यात, कृत्प्रत्यय प्रभृति का अलग-अलग व्यवहार लोग बराबर करते आये हैं ॥ १९६ ॥

न चान्वाख्यानमात्रेण कल्पितं शप्छ्वादिवत् ।
प्रयुज्यते हि यद्रूपं तदुपाये न तिष्ठति ॥ १९७ ॥

ये जो धातु-प्रत्ययादि-व्यवहार हैं, उन्हें सर्वथा कल्पनामूलक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'नामकरण' संस्कार के प्रसङ्ग में 'कृदन्त का ग्रहण' और 'तद्धित' का परिहार गृह्यसूत्रादि में पाये जाते हैं। वेदों में साक्षात् भी 'विभक्तिमुक्त्वा प्रयाजेन वषट् करोति' इत्यादि स्थलों में 'विभक्ति' का व्यवहार उपलब्ध होता है। अतः धातु-प्रत्ययादि व्यवहारों को 'शप्' आदि विकरणों की तरह सर्वथा कृत्रिम या अवास्तविक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शप्' प्रभृति विकरण के शकार-पकारादि के 'अ'-कारादि मात्र अवशिष्ट रहते हैं, भवति-प्रभृति प्रयोगों में उनकी भी उपलब्धि नहीं होती है (?) ॥ १९७ ॥

अवध्यग्रहणं यत् तु प्रकृतिप्रत्ययौ प्रति।
अन्वाख्यानविसंवादादित्येतच्च न दुष्यति॥ १९८॥

(पू० प०—यदि प्रकृतिप्रत्ययविभाग वास्तविक हो तो फिर प्रकृतिप्रत्यय के प्रति जो विवाद उपलब्ध होते हैं, वे उपलब्ध न होते। जैसे कि यत्, तत्, एतत् प्रभृति प्रकृतियों से कोई 'डवत्' प्रत्यय के द्वारा यावत्, तावत्, एतावत् इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि मानते हैं। उन्हीं प्रकृतियों से भी किसी अन्य सम्प्रदाय के वैयाकरण 'वतुप्' प्रत्यय एवं आकारादेश द्वारा यावत्, तावत्, एतावत् प्रभृति प्रयोगों को सिद्ध मानते हैं। इसी प्रकार 'इदम्' इस पूरी प्रकृति के ऊपर कोई 'अधुना' प्रत्यय का विधान मानते हैं। कोई उसी 'इदम्' शब्द के 'दम्' मात्र के स्थान में 'दानीम्' प्रत्यय का विधान करते हैं। इस प्रकार कितना अंश प्रकृति है और कितना अंश प्रत्यय है—इस प्रसंग में एकरूपता नहीं देखी जाती है। अतः प्रकृतिप्रत्यय का विभाग काल्पनिक है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

प्रकृति और प्रत्यय के प्रसंग में जो एकरूपता का यह 'अग्रहण' देखा गया है उसका मूल व्यवहार की प्रामाणिक विभिन्नता ही है। अतः इसमें कोई दोष नहीं है॥ १९८॥

तत्र ह्याप्तनरोक्तीनां प्रामाण्यमुपपद्यते।
यद्वा तुल्यबलत्वेन विकल्पेन मतान्तरम्॥ १९९॥

तत्र ह्याप्तनरोक्तीनाम्····प्रामाण्यमुपपद्यते

क्योंकि आप्तपुरुषों के द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार के व्यवहारों में से प्रत्येक व्यवहार का प्रामाण्य निश्चित है।

यद्वा तुल्यबलत्वेन····मतान्तरम्

अथवा उक्त प्रकृति-प्रत्यय के सभी विभाग के आप्तजनों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण उन्हें व्रीहियवादि के विधान की तरह वैकल्पिक भी माना जा सकता है॥ १९९॥

प्रकृतिः प्रत्ययांशो वा कश्चित् तावन्न भिद्यते।
शिष्टे विकरणादौ तु यथेष्टाङ्गाङ्गिकल्पना॥ २००॥

यदि विकल्प को गर्हित ही मानें तो यह समाधान भी किया जा सकता है कि कुछ प्रत्यय प्रकृति से पहले भी आते हैं, जैसे कि बहुच् प्रत्यय। कुछ प्रत्यय प्रकृति के बाद के लिये विहित होते हैं, जैसे कि क्त्वा आदि प्रत्यय। इन प्रत्ययों में स्थान निश्चित होने के कारण प्रकृति की अङ्गता निर्णीत है। किन्तु शब्-विकरणादि जो भू धातु स्वरूप प्रकृति और तिप् प्रत्यय इन दोनों के मध्य में आते हैं, उनको दोनों में से किसी भी एक का अंग मानने में कोई आपत्ति नहीं है॥ २००॥

धूमादावपि वह्न्यंशे कश्चिदंशोऽनुमापकः।
अन्यः साधारणो यद्वत् तद्वदत्र भविष्यति॥ २०१॥

जिस प्रकार धूमादि हेतुओं में वह्निजन्यत्वादि कोई अंश ही वह्नि की अनुमिति का प्रयोजक है, उसी प्रकार शबादि विकरणों में जो विशेषबोधजनकत्व रूप धर्म है, उसी में विशेष शाब्दबोध की प्रयोजकता है। इस विशेषबोधजनकत्वविशिष्ट विकरण को चाहे प्रकृति का अंग मानिये चाहे प्रत्यय का—कोई फर्क नहीं पड़ता ॥ २०१ ॥

यथा च नित्यरूपत्वान्न तत्रांशान्तरोद्धृतिः ।
तथात्रागमकोऽप्यंशो नित्यत्वे न व्यवस्थितः ॥ २०२ ॥

(पू० प०) यदि शबादि विकरण भी अत्यन्त स्वतन्त्र ही हों, तो फिर 'भवति' प्रभृति प्रयोगों से स्वतन्त्र होकर भी उनका प्रयोग क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय अलग-अलग होने पर भी नियमतः साथ ही प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार शबादि विकरण स्वरूप 'आगम' भी नित्य ही हैं, अर्थात् नियमतः प्रकृति प्रत्यय के साथ ही प्रयुक्त होते हैं, अलग से उनका प्रयोग नहीं होता। किन्तु इससे उनके स्वातन्त्र्य में कोई बाधा नहीं आती ॥ १०२ ॥

यत्र प्रत्ययलोपेन प्रकृतिः स्यात् क्विबन्तवत् ।
शुद्धः प्रकृतिलोपेन प्रत्ययो वाधुनादिवत् ॥ २०३ ॥
तन्मात्रस्य द्विशक्तित्वं तत्र शब्दस्वभावतः ।
वाक्यार्थे तद्धितान्तादिपदसामर्थ्यभेदवत् ॥ २०४ ॥

(पू० प०) यदि प्रकृति और प्रत्ययादि विभिन्न हैं, तो फिर 'शप्' प्रभृति विकरणादि का निष्पन्न 'भवति' प्रभृति शब्दों से अलग करके स्वतन्त्र प्रयोग क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

शब्दों के अर्थविषयक प्रतीति को उत्पन्न करने के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। स्वभाव के ऊपर कोई अभियोग नहीं किया जा सकता। अतः जिन 'क्विप्' प्रभृति प्रत्ययों का सर्वथा लोप (सर्वापहार) हो जाता है, उन प्रत्ययों के अर्थों सहित प्रकृत्यर्थबोध की सामर्थ्य प्रत्ययनिष्पन्न केवल प्रकृति में ही स्वीकार करते हैं, जैसे कि [1]'अग्निचित्' प्रभृति शब्दों में।

तत्सङ्कुरे च····निर्णयः

जिन शब्दों की निष्पत्ति के लिए प्रकृति का लोप ही विहित है (जैसे कि इदम् शब्द से निष्पन्न 'अधुना' प्रभृति शब्दों में) वहाँ श्रूयमाण केवल (अधुना-

---

१. (१) अग्निचित् अग्नौ चेः (३।२।९१) अग्निचित् ।
(२) कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (३।२।९२) कर्मण्युपपदे कर्मण्येव कारके चिनोतेः क्विप् स्यात् । अग्न्याधारस्थलविशेषस्याख्यायाम् । श्येन इव चितः श्येनचित् । अग्नौ चेः—अग्नौ कर्मण्युपपदे भूतार्थवृत्तेश्चिनोतेः क्विप् स्यादित्यर्थः । (बालमनोरमा)
अग्निचिदिति—अग्न्याख्यं स्थण्डिलविशेषमिष्टकाभिश्चितवानित्यर्थः ।

स्वरूप) प्रत्यय में प्रकृत्यर्थसहित प्रत्ययार्थ की प्रतीति की शक्ति मानते हैं। जैसे कि तद्धितान्त की शक्ति वाक्यार्थ में है, अन्य पदों में नहीं उसी प्रकार बोध की विचित्रता से कार्यकारणभाव में उक्त वैचित्र्य को समझना चाहिए ॥ २०३–२०४ ॥

एकदेशानुमानेन केचिदाहुर्द्वयार्थताम् ।
अपरेऽर्थैकदेशेन ब्रुवतेऽन्यार्थलक्षणाम् ॥ २०५ ॥

एकदेशाऽनुमानेन''''द्वयार्थताम्

(१) किसी सम्प्रदाय का कहना है कि प्रत्यय या प्रकृति इन दोनों में किसी का सर्वथा लोप हो जाता है, क्रमशः प्रकृति स्वरूप एकदेश में उस प्रत्यय का अनुमान होता है, अथवा प्रत्यय में प्रकृति का अनुमान होता है। इस प्रकार अनुमित प्रकृति और प्रत्यय से ही उन स्थलों में प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ इन दोनों का विशिष्ट बोध होता है।

अपरे'''अन्यार्थलक्षणाम्

(२) किसी दूसरे सम्प्रदाय का इसी प्रसङ्ग में कहना है कि उन प्रकृति और प्रत्यय के लोप के स्थलों में प्रकृति से स्वार्थ का अभिधा (मुख्य) वृत्ति से एवं प्रकृति से ही प्रत्ययार्थ का लक्षणावृत्ति से बोध होता है ॥ २०५ ॥

तत्त्वयुक्तं यतो नास्ति लक्षणारूपता मतेः ।
मुख्यत्वेनैव बुद्धिर्न क्विबन्तादिषु जायते ॥ २०६ ॥
लक्षणाविप्रवृत्तिश्च न शास्त्रेणानुगम्यते ।
तत्सङ्करे च तेनैव वाच्यवाचकनिर्णयः ॥ २०७ ॥

तत्त्वयुक्तम्'''जायते''''अभ्युगम्यते

कथित पक्षों में से द्वितीय (लक्षणावाला) पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि शास्त्रों में लक्षणा का यथासम्भव परिहार किया गया है। एवं 'क्विप्' प्रभृति सर्वापहारी प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों से भी मुख्य (अभिधा) वृत्ति के द्वारा ही बोध को सभी स्वीकार करते हैं। अतः द्वितीय पक्ष अनुभव के विरुद्ध है।

तत्सङ्करे च''''निर्णयः

दूसरी बात यह भी है कि शब्दों में यह संशय उपस्थित होता है कि कौन सा शब्द मुख्य (अभिधा) वृत्ति के द्वारा अर्थ का बोधक है एवं कौन सा शब्द लक्षणावृत्ति के द्वारा अर्थबोध का कारण है। इस संशय की निवृत्ति के लिये व्याकरण शास्त्र का अवलम्बन किया जाता है। अतः उक्त संशय की निवृत्ति के लिये प्रवृत्त व्याकरणशास्त्र से लक्षणावृत्ति के अनुमोदन की बात नहीं मानी जा सकती ॥ २०६–२०७ ॥

न च तेन सहैतस्य विज्ञाता सहवाचिता ।
लोकप्रयुक्तशब्दार्थो नोपायत्वाच्च मुच्यते ॥ २०८ ॥

न च तेन'''बाधिता

प्रकृति अथवा प्रत्यय स्वरूप 'एकदेश' से जो दूसरे 'एकदेश' (प्रत्यय या प्रकृति) के अनुमान की बात कही गयी है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय यदि अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से कभी किसी अर्थ में प्रयुक्त होता तो पूर्व से ज्ञात उन दोनों के साहचर्य के ज्ञान से एक दूसरे का अनुमापक हो भी सकता था जिससे कि 'अग्निचित्' शब्दघटक 'चिञ्' धातु स्वरूप प्रकृति से 'क्विप्' प्रत्यय का अनुमान होता, या 'अधुना' शब्द स्वरूप प्रत्यय से इदम् शब्द स्वरूप प्रकृति का अनुमान होता। जब अधुना शब्द का प्रयोग बराबर 'इदम्' शब्द को छोड़कर ही होता है, तो फिर 'अधुना' शब्द स्वरूप प्रत्यय से 'इदम्' शब्द स्वरूप प्रकृति का अनुमान कैसे होगा ? या 'अग्निचित्' शब्दघटक 'चिञ्' धातु से क्विप् प्रत्यय का अनुमान क्योंकर होगा ?

लोकप्रयुक्तशब्दार्थः''''मुच्यते

(पू० प०—केवल प्रत्यय का प्रयोग लोक में भले ही न हो, 'अन्वाख्यान' (अर्थात् उस प्रत्यय के विधायक सूत्र) से तो प्रत्यय का अर्थ ज्ञात रहता है। अतः 'अग्निचित्' शब्दघटक चिञ् धातु से अनुमित क्विप् प्रत्यय के द्वारा अर्थ का बोध हो सकता है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

लोक में प्रयुक्त शब्द का अर्थ ही वाक्यार्थ का सम्पादक होता है। 'अन्वाख्यान' गत (विधायकसूत्रादिगत) पद का अर्थ वाक्यार्थ का सम्पादक नहीं होता, क्योंकि अन्वाख्यानगत शब्द 'स्वशब्द' परक होता है, अर्थपरक नहीं ॥ २०८ ॥

आख्यातप्रत्ययेनापि सहासावुपलक्षितः ।
कामं तदीयमप्यर्थं गमयेदनुमानतः ॥ २०९ ॥

दूसरी बात यह भी है कि चिञ् धातु का सम्बन्ध जिस प्रकार अग्निचित् शब्द के लुप्त क्विप् प्रत्यय के साथ है, उसी प्रकार 'चिन्वन्ति' प्रभृति स्थलों के आख्यात प्रत्ययों के साथ भी है। अतः अग्निचित् शब्द से भी आख्यातार्थविषयक बोध की आपत्ति होगी ॥ २०९ ॥

तावत्यंशे न कल्प्यौ च प्रकृतिप्रत्ययौ पुनः ।
स एवार्थद्विशक्तिस्त्वे वरं क्लेशः समाश्रितः ॥ २१० ॥

(कोई कहते हैं कि 'अधुना' प्रभृति जितने भी शब्द हैं वे सभी दो-दो हैं, एक प्रकृत्यात्मक दूसरा प्रत्ययात्मक। इनमें प्रकृत्यात्मक 'अधुना' शब्द 'इदम्' शब्द का पर्यायवाची है। दूसरा प्रत्ययात्मक अधुना शब्द वर्त्तमानकाल का वाचक है। एक ही अधुना शब्द से यहाँ काम नहीं चल सकता। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

एक ही आनुपूर्वी के दो शब्दों की कल्पना की अपेक्षा इसी में लाघव है कि एक ही शब्द के दो अर्थ स्वीकार कर लिये जायें ॥ २१० ॥

निर्ज्ञातपरिमाणस्य स्मरणानुगमाद् विना ।
नानात्वं कल्पयित्वास्य कः शक्तिं कल्पयिष्यति ॥ २११ ॥

शब्दों के घटक वर्णों के भेद के स्मरण के बिना शब्दों में भेद की कल्पना संभव नहीं है। इस प्रकार समान आनुपूर्वी के एक ही शब्द में नाना शक्ति की कल्पना कौन कर सकता है[1]? ॥ २११ ॥

वध्यत्रेति तदन्यादृक्पदं पूर्वावधारितात् ।
केचिदाहुस्तदेवेदम् अजानन्तर्यदूषितम् ॥ २१२ ॥

'दध्यत्र' इस पद में इकारान्त दधि शब्द के न रहने पर भी जो दधि स्वरूप अर्थविषयक बोध की उत्पत्ति से व्यतिरेकव्यभिचार दिखा है, उसके परिहार के प्रसंग में किसी आचार्य का कहना है कि—

उक्त व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि पूर्वनिश्चित दधि पद ही 'दध्यत्र' पद में भी है, उससे भिन्न दध्य पद नहीं है। किन्तु उसके बाद जो 'अत्र' पद है, वह चूंकि 'अच्' प्रत्याहारान्तर्गत है, अतः प्रकृत में दोष स्वरूप है। इस दोष के कारण ही 'दध्यत्र' शब्द में 'दधि' शब्द का भान नहीं होता है। 'दोष' के रहने पर विद्यमान वस्तु का अभान चित्तदोष से युक्त पुरुष में शंख में विद्यमान श्वैत्य के अभान में प्रसिद्ध है ॥ २१२ ॥

प्रत्यभिज्ञायते तद्धि स चार्थः सम्प्रतीयते ।
इकारे तु यविज्ञानमकारपरसंहिते ॥ २१३ ॥

'दध्यत्र' पद में भी 'यह वही दधि पद है' इस आकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। अतः दध्यत्र में दधिशब्दघटक इकार का ही यकार रूप में जो भ्रमात्मक ज्ञान होता है, उसका हेतु है संहिता में इकार के बाद अकार का रहना। इस संहिता स्वरूप दोष के कारण ही 'इ' कार में 'य' कार का भ्रम होता है ॥ २१३ ॥

अथ वाऽऽत्मीयसिद्धान्ताद् यकारत्वेऽस्य सत्यपि ।
दधिवाच्यार्थसामर्थ्यं लक्षणादवगम्यते ॥ २१४ ॥

अथवा हम लोगों (मीमांसकों) के मत से तो 'दधि' घटक इकार के स्थान पर वास्तविक ही 'य' का विधान किया गया है। तदनुसार दधि स्वरूप अर्थ के वाचक दधि शब्द के ही समान एक 'दध्य' नाम का दूसरा शब्द भी (दधि-वाचक ही) निष्पन्न होता है, 'दधि' शब्द ही 'दध्य' शब्द के समान प्रतीत नहीं होता। 'इको यणचि' इस पाणिनिकृत विधान के बल से हो यह निष्पन्न होता है कि दधि शब्द का पर्याय एक 'दध्य' शब्द भी है ॥ २१४ ॥

तथा ह्यश्रुतदध्यत्रो लक्षणानुगमाद् विना ।
अव्युत्पन्नदधिशब्दोऽपि दध्यत्रेति न बुद्धयते ॥ २१५ ॥

---

१. कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति और प्रत्यय को भिन्न मानें अथवा प्रकृतिविशिष्ट प्रत्यय को एक ही मानें— दोनों ही स्थितियों में नाना शक्ति की कल्पना आवश्यक है। अतः इसी में लाघव है कि प्रकृतिविशिष्ट प्रत्यय स्वरूप एक ही शब्द मानें, एवं उसी एक शब्द में प्रकृत्यर्थबोधकत्व और प्रत्ययार्थबोधकत्व स्वरूप नाना शक्ति मानें।

'दध्य' शब्द में जो 'दधि' शब्द की प्रत्यभिज्ञा की बात कही गयी है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसे ठीक मान लें तो जिस पुरुष को 'इको यणचि' इस लक्षणात्मक विधान का ज्ञान नहीं है, एवं 'दधि' शब्द में दधिस्वरूप अर्थवाचकता का ज्ञान है उसे भी दध्य शब्द से दधि के समान ही दधिस्वरूप अर्थ का बोध होता किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः कथित प्रत्यभिज्ञा की वह बात ही गलत है। दध्य शब्द से जो दधि स्वरूप अर्थ का ज्ञान होता है, वह पाणिनि के उक्त विधान के अनुसार दध्य शब्द का दधिस्वरूप अर्थ के साथ संकेत के ग्रहण से ही होता है। इसके लिए दधि शब्द और दध्य शब्द इन दोनों में काल्पनिक एकता की आवश्यकता नहीं है ॥ २१५ ॥

विकारानन्त्यतो यस्तु सम्बन्धज्ञप्त्यसम्भवः।
लक्षणात् तद्विदुक्तेर्वा नातिक्लेशो भविष्यति ॥ २१६ ॥

यह जो कहा गया है कि दधि शब्द की दध्यत्र, दध्यानय प्रभृति प्रयोगों के अनुसार अनन्त विकृतियाँ हैं। उन सभी विकृतियों का दधिस्वरूप अर्थ के साथ संकेत स्वरूप सम्बन्ध का ग्रहण ही असम्भव है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

'इको यणचि' इस लक्षण के द्वारा अथवा उस विधान को जाननेवाले आप्त वृद्धों के द्वारा उन सभी विकृतियों का ज्ञान हो सकता है ॥ २१६ ॥

कियत् पदमिति ज्ञानं यत्तु तत्र न जायते।
स्वरान्तं व्यञ्जनान्तं वा न चाज्ञातेऽर्थनिर्णयः ॥ २१७ ॥

'दध्यत्र' इस वाक्य में से कितना अंश दधिस्वरूप अर्थ का बोधक है, अर्थात् स्वरान्त दधि शब्द ही दधिस्वरूप अर्थ का बोधक है—अथवा व्यञ्जनान्त 'दध्य' शब्द ही दधिस्वरूप अर्थ का बोधक है, इसको जाने बिना अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं है। इसलिए 'दध्यत्र' यह पूरा ही दधि का बोधक एक वाक्य है, उसका कोई एक अंश नहीं है ॥ २१७ ॥

तदुच्यते पदच्छेदे तदपभ्रंशतां व्रजेत्।
संहिताविषये चास्य स्मर्यते साधुशब्दता ॥ २१८ ॥

यदि 'दध्यत्र' शब्द के किसी 'दध्य' प्रभृति अंश को दधि शब्द का सूचक मानेंगे तो वह दधि शब्द का अपभ्रंश हो जायगा। किन्तु अकार पर में रहने से संहिता की दशा में सभी प्रयोगों को साधु ही मानते हैं ॥ २१८ ॥

एतस्मिंस्तु प्रतीमोऽर्थमगृहीतावधावपि।
तेन सत्यपि विच्छेदे पदे भेदोऽर्थभेदतः ॥ २१९ ॥

(पू० प०—यदि 'दध्यत्र' यह सम्पूर्ण शब्द ही दधि स्वरूप अर्थ का वाचक है, जिसका अवधि स्वरूप खण्ड ज्ञात नहीं है तो उसमें दधि का वाचकत्व कैसे समझते हैं ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि—)

यद्यपि खण्ड (अवधि) स्वतः ज्ञात नहीं होता है, किन्तु जिस लिये दधि पद के समान ही दध्यत्र इस दूसरे पद से भी दधि का बोध होता है अतः इस बोध से ही दधि शब्द स्वरूप अवधि (खण्ड) का भी ज्ञान हो सकता है ॥ ११९ ॥

ज्ञायते चावधिस्तत्र व्यञ्जनान्तो न तूच्यते ।
दधिशब्दार्थबोध्यत्वात्स्थितिरियं नित्यसमासवत् ॥ २२० ॥

'दध्यत्र' में जो व्यञ्जनान्त 'दध्य' शब्द स्वरूप अवधि है, उसका ज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु दधि स्वरूप अर्थविषयक बोध के लिये 'अत्र' शब्द से पृथक् कर उसका प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि संहिता (सन्ध्यवस्था) में ही अर्थात् 'अत्र' शब्द के साथ सम्बद्ध होकर ही वह साधु होता है, अलग से उसका प्रयोग करने पर वह असाधु हो जाता है ।

जैसे कि 'कुम्भकारः' इत्यादि नित्यसमासस्थलों में कभी भी 'कुम्भ' और 'कार' शब्द का अलग-अलग प्रयोग नहीं होता है । व्यास-वाक्य में भी नहीं, क्योंकि व्यास वाक्य में 'कुम्भं करोति' इस प्रकार दूसरे पद के साहाय्य से ही समस्तार्थ का विवरण दिया जाता है ।

'दध्यत्र' इस स्थल में भी संहिता के न रहने पर बराबर दधि शब्द का ही प्रयोग किया जाता है । दध्य शब्द से दधि की प्रतीति होती है, इससे संधि से पूर्ववर्त्ती जो दधि शब्द है उसमें दधिवाचकता को कोई हानि नहीं होती है, क्योंकि एक अर्थ के वाचक अनेक तरु-वृक्षादि शब्द हैं । व्रीहि-यवादिवत् विकल्प से उनमें अर्थबोधकता की उपपत्ति होगी ॥ २२० ॥

एतेन राजराज्ञादिशब्दानां दत्तमुत्तरम् ।
किञ्चिदंशसमानं हि सदर्थं तत्पदान्तरम् ॥ २२१ ॥

जो समाधान 'दधि' पद और 'दध्यत्र' पद में दिखलाया गया है, वही समाधान 'राजहस्तो, राज्ञा, राजा इत्यादि राजन् शब्द की विभिन्न विकृतियों के प्रसंग में भी जानना चाहिये, अर्थात् राज, राजन्, राज्ञा प्रभृति सभी शब्द कुछ अंशों में समान होने से 'राजा' के वाचक हैं ॥ २२१ ॥

यत्तु ब्राह्मणवस्त्रादौ ब्राह्मणार्थो न गम्यते ।
अवध्यन्तरतस्तत्र तत्पदान्तरजृम्भितम् ॥ २२२ ॥

(पू० प०—यदि दध्य शब्द और तद्घटक दधि शब्द दोनों ही मुख्य रूप से दधि स्वरूप अर्थ के वाचक हैं तो फिर उसी प्रकार 'ब्राह्मणवस्त्र' शब्द घटक 'ब्राह्मण' शब्द से भी मुख्य रूप से ब्राह्मण का बोध क्यों नहीं होता, वहाँ तो केवल वस्त्र के विशेषण रूप से (अमुख्यरूप से) ब्राह्मण का भान क्यों होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

आगे का जो 'वस्त्र' शब्द है, उसी के कारण तत्पूर्ववर्त्ती ब्राह्मण पद से मुख्य रूप से ब्राह्मण का बोध नहीं होता है ॥ २२२ ॥

उत्सर्गस्यापवादेन बाधः कस्य न सम्मतः ।
तद् ब्राह्मणमुत्सृष्टं बाध्यतेऽन्यावधौ पदे ॥ २२३ ॥

उत्सर्ग (सामान्य नियम) का अपवाद (विशेष नियम) से बाधित होने की बात को स्वीकार करते हैं। तदनुसार 'ब्राह्मणवस्त्रम्' इत्यादि स्थलों में ब्राह्मण पद से ब्राह्मण स्वरूप अर्थ का मुख्य रूप से बोध है 'उत्सर्ग' एवं बाद में समस्त दूसरे पद के रहने से ब्राह्मण पद से 'ब्राह्मण' का मुख्य रूप से 'अबोध' है अपवाद। इसीलिये उक्त स्थल में ब्राह्मण पद से ब्राह्मण का मुख्य रूप से बोध नहीं होता है ॥ २२३ ॥

तत्त्वेनावधिमुत्कृष्य यद्युच्येत पदान्तरम्।
केन स्वार्थोऽस्य वार्येत देवदत्तादिशब्दवत् ॥ २२४ ॥

इसीलिये यदि 'ब्राह्मणवस्त्रम्' इस समुदाय से अलग कर केवल ब्राह्मण पद का प्रयोग किया जाय तो उससे मुख्य रूप से ब्राह्मण का बोध उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से होगा, जिस प्रकार केवल देवदत्त शब्द से देवदत्त का मुख्य रूप से होता है। इसको कोई रोक नहीं सकता ॥ २२४ ॥

एवमेवाश्वकर्णादौ समुदायप्रसिद्धितः।
वार्यतेऽवयवस्यार्थो वृक्षाद्यर्थावधारणात् ॥ २२५ ॥

इसी प्रकार अश्वकर्णादि शब्दों से समुदायप्रसिद्धि के अनुसार अवयवार्थ से असम्पृक्त सालवृक्षादि अर्थों का बोध होता है। यहाँ भी अवयवशक्ति चूँकि 'उत्सर्ग' है, एवं समुदायशक्ति 'अपवाद' है, अतः समुदायशक्ति से अवयवशक्ति का बाध होता है। इसलिये अश्वकर्णादि शब्दों से वृक्षादि का ही अवधारण होता है ॥२२५॥

अर्थप्रकरणाधीनबाधितस्वार्थयोरपि ।
समस्तव्यस्तयोर्भूयः स एवार्थः प्रतीयते ॥ २२६ ॥

(पू० प०—यदि सर्वदा समुदायशक्ति से अवयवशक्ति का बाध ही हो तो फिर 'अश्वमानयति, कर्णं विध्यति' इत्यादि स्थलों में केवल घोड़ा और कान का बोध नहीं होगा। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

समुदायशक्ति और प्रकरण इन दोनों से 'अश्वकर्णादि' शब्दों के अवयवार्थ अश्व और कर्ण इन दोनों के बाध का ज्ञान श्रोता को रहने पर ही अवयवार्थ का भान नहीं होता है। अन्यथा 'अश्वमानय, कर्णं विध्यति' इत्यादि स्थलों में अलग-अलग ही असमस्त अश्व शब्द से घोड़े का और असमस्त कर्ण शब्द से कान का बोध होता है।

इतना ही नहीं, समस्त अश्वकर्ण शब्द से भी 'अश्वकर्णं परिमार्ष्टि' इत्यादि स्थलों में अन्य प्रमाण के बल पर घोड़े के कान का ही बोध होता है। फलतः इस समस्त अश्वकर्ण शब्द से जो बोध होता है, उसमें अवयवार्थ का भी भान होता है ॥ २२६ ॥

गोशुक्लादिपदानां तु समस्तव्यस्तभाविनाम्।
स्वार्थहानिर्न दृष्टेति क्वानर्थक्यं भविष्यति ॥ २२७ ॥

जिन वाक्यों के अवयवभूत शब्दों के रहने पर भी अवयवार्थ का भान नहीं होता है, वे अवयवीभूत अश्वादि शब्द या कर्णादि शब्द भी जब सर्वथा अनर्थक नहीं हैं तो फिर 'गौः शुक्लः' इत्यादि वाक्यघटक जो गो-शुक्लादि पद हैं, जिनसे समास में भी अवयवार्थ का भान होता है, एवं असमस्त रहने पर भी अवयवार्थ का भान होता है, उन को वाक्यभावापन्न होने पर भी अनर्थक नहीं कहा जा सकता। अतः वाक्य अखण्ड नहीं है ॥ २२७ ॥

पदार्थानुगतश्चैव वाक्यार्थो गम्यते सदा।
न विशिष्टार्थता तस्माद् वाक्यस्वातन्त्र्यसाधिनी ॥ २२८ ॥

(पू० प०) वाक्यघटक पदों को यदि सार्थक मान भी लें, तथापि पदों से पदार्थों का ही बोध होगा, पदों से परस्पर सम्बद्ध विशिष्ट पदार्थ स्वरूप वाक्यार्थ का बोध नहीं होगा। अतः पदों से अतिरिक्त स्वतन्त्र अखण्ड वाक्य की कल्पना आवश्यक है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

वाक्य से जिस 'विशिष्ट अर्थ' का बोध होता है, वह 'विशिष्ट अर्थ' परस्पर सम्बन्ध से युक्त पदार्थों से अतिरिक्त कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। अतः वाक्यार्थ भी पदार्थघटित ही है। इसलिये विशिष्टार्थबोधकत्व के बल से स्वतन्त्र अखण्ड वाक्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि पदार्थों से अतिरिक्त वाक्यार्थ नाम का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं है ॥ २२८ ॥

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेषु पदानि नः।
तन्मात्रावसितेष्वेषु पदार्थेभ्यः स गम्यते ॥ २२९ ॥

(पू० प०) वाक्य अखण्ड भले ही न हो, उसको यदि अखण्ड मान भी लें, तथापि पदों से उपस्थित अर्थों के ज्ञान के साहाय्य से ही जो परस्पर सम्बद्ध पदार्थ-विषयक 'अन्वयबोध' होता है, तद्विषयीभूत 'अन्वय' की वाचकता वाक्य में माननी होगी। अतः पदों से अतिरिक्त वाक्य की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। भले ही वह वाक्य पदों से निर्मित होने के कारण 'सखण्ड' हो। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

कथित 'अन्वय' स्वरूप 'वाक्यार्थ' में भी पद की ही शक्ति है। इसके लिए वाक्य में अतिरिक्त शक्ति की कल्पना अनावश्यक है ॥ २२९ ॥

अशाब्दे चापि वाक्यार्थे न पदार्थेऽनशाब्दता।
वाक्यार्थस्यैव नैतेषां निमित्तान्तरसम्भवः ॥ २३० ॥

(पू० प०) पद अपने अर्थों को अपनी अभिधा शक्तिस्वरूप व्यापार के द्वारा समझा कर अपने व्यापार से निवृत्त हो जायगा। उसके बाद उन ज्ञात पदार्थों से होनेवाला पदार्थों का परस्परान्वय बोध 'अशाब्द' हो जायगा। अतः सीधे वाक्य स्वरूप शब्द से वाक्यार्थबोध स्वीकार करना चाहिये, इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

वाक्यार्थबोध साक्षात् शब्दजन्य भले ही न हो तथापि वह 'अशाब्द' नहीं है, क्योंकि उसका उत्पादक पदार्थविषयक बोध 'शाब्द' है। अर्थात् शब्दजन्य होने

के नाते वाक्यार्थबोध शाब्द नहीं है, किन्तु शाब्दबोध रूप पदार्थबोध से उत्पन्न होने के कारण वह भी शाब्दबोध है ॥ २३० ॥[1]

सम्बद्धमेव चैतेऽर्थं गमयन्त्यविनाभुवम् ।
सामान्यं स्वविशेषेण विना न ह्युपपद्यते ॥ २३१ ॥

(पू० प०—अन्यः प्रतीतो न ह्यन्यम् गमयिष्यत्यसंशयम् (वाक्याधिकरण श्लो० ४) इस श्लोक के द्वारा जो यह आपत्ति दी गई है कि चूँकि विना किसी सम्बन्ध के एक वस्तु से अन्य वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता इसलिये ज्ञात पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ स्वरूप अन्य वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता । किन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

एक वस्तु के द्वारा व्याप्ति स्वरूप (अविनाभाव) सम्बन्ध से युक्त वस्तु का ग्रहण होता है, जैसे कि धूम से वह्नि का ग्रहण होता है । इसी प्रकार पदार्थ चूँकि विशेष है एवं वाक्यार्थ सामान्य है, एवं विशेष के विना सामान्य अनुपपन्न है, अतः विशेष का अविनाभाव सम्बन्ध सामान्य में है । इसलिये पदार्थ स्वरूप विशेष के द्वारा तदविनाभूत वाक्यार्थ स्वरूप सामान्य का ज्ञान असंगत नहीं है । यही बात 'पदानि ह्यमूनि' यहाँ से लेकर 'विशिष्टसम्प्रत्ययश्च वाक्यार्थः' इतने पर्यन्त के भाष्य-सन्दर्भ से कही गयी है (देखिये शा० भा० पृ० ९७ पं० ४ में) ॥ २३१ ॥

न चानुमानमेषा धीस्तन्मात्रेण प्रसज्यते ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् पदार्थानां ह्यलिङ्गता ॥ २३२ ॥

(पू० प०—यदि वाक्यार्थबोध पदार्थों के अविनाभाव से होता है तो फिर वह अनुमान क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

यदि 'पदार्थाः वाक्यार्थविशिष्टाः पदार्थत्वात्' इस प्रकार का अनुमान का प्रयोग मानेंगे तो 'पदार्थ' स्वरूप हेतु प्रतिज्ञार्थ का ही एक अंश हो जायगा । प्रतिज्ञा का ही एक अंश हेतु नहीं हो सकता ॥ २३२ ॥

पदार्थैरनुरक्तोऽसौ वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
नात्मना गमयन्त्येनं विना धूमोऽग्निमत्त्ववत् ॥ २३३ ॥

---

१. कहने का अभिप्राय है कि 'अभिधा' के समान ही 'तात्पर्य' नाम की भी शब्दों की एक 'वृत्ति' है । अभिधावृत्ति स्वरूप व्यापार के द्वारा वह पदार्थ का बोधक है, तात्पर्य वृत्ति स्वरूप वृत्ति के द्वारा वही शब्द वाक्यार्थ का बोधक है, क्योंकि शब्दों का तात्पर्य वाक्यार्थों में ही है पदार्थों में नहीं, क्योंकि पदार्थ अनन्यलभ्य नहीं हैं, दूसरे प्रमाणों से वे सिद्ध हैं । वाक्यार्थ ही अनन्यलभ्य है । अतः वाक्यार्थबोध में अशाब्दत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती ।

अर्थात् पदों की (१) अभिधा और (२) तात्पर्य ये दोनों मुख्य वृत्तियाँ ही हैं । पद इनमें से अभिधा के द्वारा पदार्थविषयकबोध को उत्पन्न करते हैं । वे ही पद अपनी तात्पर्यवृत्ति के द्वारा वाक्यार्थविषयकबोध को उत्पन्न करते हैं । अतः पदार्थविषयक-बोध और वाक्यार्थविषयकबोध दोनों ही शाब्द हैं ।

जिस प्रकार 'अयं धूमः वह्निविशिष्टः धूमत्वात्' इस अनुमान में प्रतिज्ञैकदेश होने पर भी 'धूमसामान्य' हेतु होता है उसी प्रकार प्रकृत अनुमान में प्रतिज्ञैकदेश 'पदार्थत्व' हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि धूमसामान्य से जो वह्नि का अनुमान होता है, उसमें हेतुभूत 'धूमसामान्य' धूमविशेषों से घटित नहीं होता, क्योंकि धूमत्व सामान्य एक अखण्ड जाति स्वरूप धर्म है। किन्तु पदार्थत्व कोई अखण्ड जाति नहीं है किन्तु विशेषों से घटित 'सखण्ड सामान्य' है। इसलिये स्वघटक विशेष से युक्त वाक्यार्थ का ही अनुमान होता है। इसलिये धूमत्व सामान्य की तरह पदार्थत्व सामान्य हेतु नहीं हो सकता ॥ २३३ ॥

पक्षधर्मत्वमेतेषां वाक्यार्थे न च गम्यते।
न हि देशादिवत् पूर्वं निष्पन्नः स प्रतीयते ॥ २३४ ॥

असत्त्वभूतमेनं हि प्रतिपद्यामहे ततः।
क्रियाकारकसंसर्गविशिष्टः प्रागसौ कुतः ॥ २३५ ॥

धर्मिण्यनवबुद्धे च न तद्धर्मावधारणम्।
न च प्राग्बोधकं किञ्चिद् वाक्यार्थस्योपपद्यते ॥ २३६ ॥

पक्षधर्मत्व···न च गम्यते

यदि ऐसा अनुमान करें कि 'वाक्यार्थः पदार्थविशिष्टः पदार्थवत्त्वात्' अर्थात् वाक्यार्थ को ही पक्ष बनाकर उस पदार्थवत्त्व हेतु से पदार्थविशिष्टत्व का साधन करें तो सो भी संभव नहीं है, क्योंकि इस पदार्थवत्त्व (पदार्थ) हेतु में पक्षधर्मता का ज्ञान इस अनुमान से पहले नहीं होता है जब कि अनुमान से पहले पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है।

न हि देशादिवत्···प्रागसौ कुतः·····वाक्यार्थस्योपपद्यते

क्योंकि वाक्यार्थ परस्पर सम्बद्ध पदार्थस्वरूप है। अतः पदार्थज्ञान से पहले वाक्यार्थस्वरूप पक्ष का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए पक्षधर्मता का ज्ञान अनुमिति से पहले सम्भव नहीं है, अर्थात् पक्षीभूत पर्वतादि देश पहले निष्पन्न होने के कारण अनुमिति से पहले ज्ञात हो सकते हैं, किन्तु क्रियाकारकविशिष्ट पदार्थ स्वरूप पक्ष का ज्ञान वाक्यार्थज्ञान से पहले सम्भव नहीं है ॥ २३४–२३६ ॥

अवबुद्धे तु वाक्यार्थे यदि तद्धर्मता भवेत्।
विज्ञातेऽर्थे ततः किं नु प्रमेयमवशिष्यते ॥ २३७ ॥

यदि वाक्यार्थ स्वरूप पक्ष का ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त करें तो उस ज्ञात पक्ष का धर्मत्व ही पदार्थों में ज्ञात होगा। किन्तु इस पक्षधर्मताज्ञान का कोई उपयोग वाक्यार्थज्ञान में नहीं होगा, क्योंकि वाक्यार्थ ही प्रकृत अनुमान का प्रमेय है। वह यदि कथित अन्य प्रमाण से ही ज्ञात हो जायगा तो फिर अनुमान का कोई अन्य प्रमेय ही नहीं बचता ॥ २३७ ॥

अन्वयश्च पदार्थानां न वाक्यार्थैरपेक्ष्यते।
सर्वस्मिन्नेव सुज्ञानो भूतभावितिरोहिते ॥ २३८ ॥

अन्वयश्च····अपेक्ष्यते

वाक्यार्थों को अपने बोधों के लिए स्वघटक पदों के अर्थों की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि पदार्थों से सर्वथा भिन्न भी अपूर्व वाक्यार्थ का बोध होता है।

सर्वस्मिन्नेव····भूतभावितिरोहिते

सभी वाक्यार्थों में पदार्थों का अन्वय (सत्ता) सम्भव नहीं है, क्योंकि भूत और भावि पदार्थों से होनेवाले वाक्यार्थ के समय पदार्थों की सत्ता नहीं रहती ॥२३८॥

अन्यवाक्यार्थसम्बन्धज्ञानाच्चान्यो न गम्यते।
अन्यत्वाच्च पदार्थानाम् ते चेन्नान्यार्थधीर्भवेत् ॥ २३९ ॥

अन्यवाक्यार्थ····न गम्यते

किसी एक वाक्यार्थ के साथ पदार्थों के सम्बन्ध के ग्रहण से दूसरे वाक्यार्थ का अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से घट पदार्थ से पटविषयक वाक्यार्थबोध का अतिप्रसंग होगा।

अन्यत्वाच्च पदार्थानाम्

दूसरी बात यह भी है कि जिन पदार्थों से अभी अपूर्व वाक्यार्थ का बोध होता है, उनका सम्बन्ध अन्य वाक्यार्थ के साथ गृहीत ही नहीं है। उनके साथ तो किसी दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध ही गृहीत है। अतः पदार्थों से वाक्यार्थ का अनुमान भी नहीं हो सकता।

ते चेन्नान्यार्थधीर्भवेत्

यदि दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वित पदार्थ ही इस वाक्यार्थ में अन्वित हैं, तो फिर इस वाक्यार्थ से वह वाक्यार्थ अन्य ही नहीं है। इसलिए अन्य वाक्यार्थ के साथ अन्वय के द्वारा प्रकृत वाक्यार्थबोध के सम्पादन की बात ही गलत है ॥ २३९ ॥

सामान्यदृष्टकल्पमौ वा लभ्यते न विशेषधीः।
वाक्यार्थावगतिः सर्वा त्वसाधारणगोचरा ॥ २४० ॥

(पू० प०—पदार्थों के दो रूप हैं (१) सामान्य और (२) विशेष। पदार्थों के सामान्य रूप के द्वारा वाक्यार्थ की अनुमिति होगी। इस रीति से हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों की उपपत्ति ठीक बैठेगी। हेतु में प्रतिज्ञैकदेशता की जो आपत्ति दी गयी है, वह भी इससे मिट जायगी, क्योंकि हेतु है पदार्थत्वसामान्य किन्तु पक्ष के अन्तर्गत पदार्थ का विशेष रूप है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

वाक्यार्थ सदा विशेष ही होता है, एवं सामान्य से विशेष का अनुमान नहीं होता। वाक्यार्थविशेष के साथ पदार्थत्व सामान्य का अन्वय भी सम्भव नहीं है ॥ २४० ॥

असम्बन्धप्रतीतेश्च प्रामाण्यमुपपादितम् ।
सर्वलोकप्रसिद्धा च प्रतिपत्तिरिह स्फुटा ॥ २४१ ॥

असम्बन्ध''''प्रामाण्यमुपपादितम्

(पू० प०—वाक्यार्थ के साथ पदार्थों का अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध यदि न रहे तो उन असम्बद्ध पदार्थों से जो वाक्यार्थबोध होगा, वह 'प्रमाण' नहीं होगा । इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

'सम्बन्धस्य प्रमाणत्वं स्थितं किं वेश्वराज्ञया (अर्थापत्ति श्लोक ६०) के द्वारा यह कहा जा चुका है कि व्याप्ति सम्बन्ध से रहित साध्य की प्रतीति भी प्रमा होती है, अर्थात् हेतु में साध्य का व्याप्ति सम्बन्ध ही प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है ।

सर्वलोकप्रसिद्धा''''स्फुटा

(पू० प०—प्रतीति के उत्पन्न होने के बाद ही उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार होगा । पदार्थों के अविनाभूत वाक्यार्थ की तो प्रतीति ही उत्पन्न नहीं होगी, अर्थात् उक्त 'सम्बन्ध' उत्पन्न प्रतीति के प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है, किन्तु उसका वह उत्पादक कारण ही है । इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

पदार्थों से वाक्यार्थ की प्रतीति को सभी स्वीकार करते हैं । केवल असम्बन्ध के कारण उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ २४१ ॥

यत्र क्वचन विज्ञातान् पदार्थान् प्रतिपद्य हि ।
दूरदेशादिवार्तासु नाप्तोक्ते धीर्विहन्यते ॥ २४२ ॥

दृष्टान्त रूप में यह सहज ही कहा जा सकता है कि कोई आप्त पुरुष यदि किसी दूरदेश की बात करता है तो उससे अवश्य ही वाक्यार्थबोध होता है, एवं उस बोध को कोई अप्रमाण नहीं कहता ॥ २४२ ॥

आप्तवादाविसंवादाद् अत्र चेदनुमानता ।
निर्णयस्तावता सिध्येद् बुद्ध्युत्पत्तिर्न तत्कृता ॥ २४३ ॥

आप्तवादावि''''अनुमानता

पू० प०—आप्तपुरुष के द्वारा दूरादि देशों की उक्त वार्ता से उत्पन्न ज्ञान यदि 'आप्तवादाविसंवाद' हेतु से उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान अनुमान ही होगा, अन्वय-बोध नहीं । अतः उसे प्रकृत में दृष्टान्त रूप से उपस्थित नहीं किया जा सकता ।

निर्णयस्तावता''''तत्कृता

सि० प०—जिस किसी प्रकार विज्ञात पदार्थों से जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उस ज्ञान में प्रमात्व का बोध आप्ताविसंवाद हेतु से उत्पन्न होगा । उस धर्मिभूत ज्ञान की उत्पत्ति आप्ताविसंवाद हेतु से नहीं होती है, क्योंकि आप्तानाप्त-साधारण सभी पुरुषों के द्वारा उच्चरित वाक्य से शाब्दबोध की उत्पत्ति होती ही है ॥ २४३ ॥

अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्वहेतुकम् ।
वाक्यार्थश्चान्य एवेति ज्ञातः पूर्वतरं ततः ॥ २४४ ॥

पूर्ववर्त्तिपदार्थजन्य वाक्यार्थबोध एवं उसके बाद होने वाला उक्त वाक्यार्थ-बोधधर्मिक आप्ताविसंवाद हेतु से उत्पन्न सत्यत्व ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं ॥ २४४ ॥

तत्र चेदाप्तवादेन सत्यत्वमनुमीयते ।
वाक्यार्थप्रत्ययस्यात्र कथं स्यादनुमानता ॥ २४५ ॥

इनमें यदि आप्तवादत्व हेतु से वाक्यार्थज्ञान में प्रमात्व (सत्यत्व)का अनुमान होता है, तो फिर वाक्यार्थप्रत्यय अनुमान स्वरूप कैसे होगा ? अतःपदार्थों से वाक्यार्थविषयक शाब्दबोध ही उत्पन्न होता है और उसमें प्रमात्व का अनुमान तो आप्तवादित्व हेतु से ही होता है ॥ २४५ ॥

जन्म तुल्यं हि बुद्धीनामाप्तानाप्तगिरां श्रुतौ ।
जन्माधिकोपयोगी च नानुमायास्त्रिलक्षणः ॥ २४६ ॥

आप्तोच्चरित शब्द एवं अनाप्तोच्चरित शब्द दोनों में से किसी को भी सुनने से शाब्दबोध की उत्पत्ति समान रूप से होती है । अतः शाब्दबोध की उत्पत्ति के लिये आप्तसंवाद आवश्यक नहीं है । अनुमान के लिये जो शाब्दबोध से अधिक पक्षसत्त्वादि तीन रूपों से युक्त हेतु की अपेक्षा होती है, वह वाक्यार्थस्थल में नही होती है । अतः वाक्यार्थबोध अविनाभाव से युक्त पदार्थों से उत्पन्न होने पर भी अनुमान नहीं है ॥ २४६ ॥

शब्दप्रामाण्यनिर्णीत्यै पदार्थेभ्यो यथेष्यते ।
अत्यन्तादृष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिस्तथोच्यते ॥ २४७ ॥

पूर्व में सर्वथा अदृष्ट पदार्थों से वाक्यार्थबोध होता है । इसीलिये शब्द पृथक् प्रमाण है ।

इस प्रसङ्ग में शब्द के इस पृथक् प्रामाण्य की रीति का वर्णन करते हैं ॥ २४७ ॥

भावनावचनस्तावत् तां स्मारयति लोकवत् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययार्थस्तु सेष्यते ॥ २४८ ॥
कैश्चिद्, अन्यैस्तु धात्वर्थस्तत्सामीप्योपकारतः ।
अपरैः समुदायार्थस्तत एव हि गम्यते ॥ २४९ ॥

भावनावचनः ' 'प्रत्ययार्थस्तु' ' 'कैश्चित्

जिस प्रकार लोक में एक सम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है, उसी प्रकार भावना का वाचक शब्द भावना स्वरूप अर्थ का स्मारक है ।

कौन सा शब्द भावना का वाचक है ? इस प्रसंग में कोई कहते हैं कि (१) भावना आख्यात प्रत्यय का ही अर्थ है, अर्थात् भावना आख्यातप्रत्ययवाच्य है ।

अन्येस्तु⋯उपकारतः

(२) कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि भावना धातु का ही अर्थ है, किन्तु इतना सत्य है कि धातु से आख्यात के बोध में धातु के उत्तर में विद्यमान आख्यात प्रत्यय भी सहायक है।

अपरैः⋯गम्यते

(३) उन दोनों से भिन्न किसी तीसरे सम्प्रदाय का कहना है कि धातु और प्रत्यय इन दोनों का समुदाय ही 'भावना' का वाचक है, क्योंकि इस समुदाय से ही भावना का बोध होता है, केवल प्रत्यय से नहीं, केवल धातु से भी नहीं ॥ २४९ ॥

पाकादौ यत्र दृष्टासौ भवत्यादौ तथैव च।
विवेकफलमन्दत्वात् पचत्यादौ यथेष्टता ॥ २५० ॥

पाकादौ यत्र⋯तथैव च

जिस प्रकार 'पाकः' इस पद में 'पच्' धातु के रहने पर भी भावना का बोध नहीं होता है, उसी प्रकार अस्ति, भवति, विद्यति प्रभृति पदों में आख्यात प्रत्यय के रहने पर भी पच् प्रभृति धातुओं के न रहने से भावना का बोध नहीं होता है। इस लिये कुछ विशेष प्रकार के धातु और कुछ विशेष प्रकार के प्रत्यय इन दोनों का समुदाय ही भावना का वाचक है।

विवेकफलमन्दत्वात्⋯यथेष्टता

किन्तु 'पचति' प्रभृति जिन पदों से भावना का बोध होता है, उन स्थलों में यह अवधारण स्वरूप विवेक व्यर्थ है कि पचति-प्रभृति-पदघटक पच् धातु ही भावना का वाचक है, अथवा तद्घटक प्रत्यय ही भावना का वाचक है, क्योंकि इच्छा के अनुसार किसी भी एक को भावना का वाचक माना जा सकता है ॥ २५० ॥

सा साध्यसाधनोपायसामान्यार्थावधारणात्।
अन्यलभ्यं विशेषांशं यं कञ्चिदभिकाङ्क्षति ॥ २५१ ॥

इस प्रकार सामान्य रूप से भावना के साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीनों अंशों का ज्ञान होने पर अन्य जितने भी विशेष अंश आकांक्षित हों, उनका ज्ञान जिस किसी प्रमाण से हो सकता है ॥ २५१ ॥

कामावगतसाध्यत्वः स्वर्गः काङ्क्षति भावनाम्।
तत्र सन्निधियोग्यत्वाद् सम्बन्धः कल्प्यते तयोः ॥ २५२ ॥

'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में जो 'काम' शब्द है, उसके समभिव्याहार से स्वर्ग में भावना का 'साध्यत्व' स्वरूप अंश ज्ञात होता है, अर्थात् यह ज्ञात होता है कि याग-भावना के द्वारा स्वर्ग ही 'साध्य' अर्थात् निष्पाद्य है। इस प्रकार संनिधि और योग्यतावश भावना के साथ स्वर्गनिष्ठ साध्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना होती है ॥ २५२ ॥

ततः सा फलसम्बन्धा साधनांशमपेक्षते ।
धात्वर्थासाधनं किञ्चिन्नानुष्ठानं हि सिद्ध्यति ॥ २५३ ॥

इसी प्रकार 'किं भावयेत्' इस आकांक्षा के अनुरोध से भावना में स्वर्गादि-सम्बन्धों के सिद्ध हो जाने पर स्वभावतः यह साधनाकांक्षा उदित होती है कि 'तत् साध्यं केन भावयेत् ?' अर्थात् उस साध्य का (अभीष्ट का) उत्पादन किस साधन के द्वारा करना चाहिये ? यह निश्चय है कि 'धात्वर्थ' स्वरूप साधन के द्वारा अनुष्ठान की (भावना की) उत्पत्ति होती है। अतः याग स्वरूप धात्वर्थ का ही भावना के साथ अन्वय साधन रूप से होता है। तदनुसार साधन-प्रश्न का यह उत्तर निष्पन्न होता है कि 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् याग स्वरूप साधन के द्वारा स्वर्ग का उत्पादन करना चाहिये ॥ २५३ ॥

धातुवाच्यश्च यागादिरतृतीयापरोऽपि सन् ।
स्वभावाद् भावनासक्तः साध्यं किञ्चिदपेक्षते ॥ २५४ ॥

यद्यपि यह ठीक है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में याग में करणत्व का बोधक 'यागेन' यह तृतीयान्त पद प्रयुक्त नहीं है फिर भी स्वभाव के अनुसार, वस्तुस्थिति के अनुसार भावना के साथ सम्बद्ध याग स्वरूप साधन किसी निष्पाद्य (साध्य) की अपेक्षा रखता है। वह साध्य 'स्वर्ग' ही है, अर्थात् तृतीया विभक्ति के न रहने पर भी उक्त वाक्य के द्वारा याग में भावना को साधनता को प्रतीति अवश्य होती है ॥ २५४ ॥

प्रत्यासत्तिनिमित्तोऽयं सम्बन्धः कल्प्यतेऽनयोः ।
तं च विस्पष्टमाख्यातुं यागेनेति प्रयुज्यते ॥ २५५ ॥

इस प्रकार भावना की साधनापेक्षिता के द्वारा एवं साधन की साध्याकांक्षा और साध्य की साधनाकांक्षा के द्वारा भावना और याग में सम्बन्ध की कल्पना की जाती है। इस सम्बन्ध को समझाने के लिये ही 'यागेनेष्टं भावयेत्' यह तृतीयान्त-यागपदघटित विवरणवाक्य का प्रयोग किया जाता है ॥ २५५ ॥

यथौपगवशब्दार्थं तस्यापत्यमितीदृशात् ।
कथयन्ति न चैतस्मिन् षष्ठ्यन्तोपगुसम्भवः ॥ २५६ ॥

जैसे कि 'औपगवम्' इस पद का विवरण 'गोरपत्यम्' इस वाक्य के द्वारा किया जाता है; किन्तु 'उपगवम्' इस पद में विवरणघटक षष्ठ्यन्त 'गोः' यह पद नहीं रहता है, उसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में तृतीयान्त याग पद के न रहने पर भी 'यागेनेष्टं भावयेत्' इस तृतीयान्तपदघटित वाक्य से उसका विवरण किया जा सकता है ॥ २५६ ॥

न केवलं तृतीयैव करणत्वं नियच्छति ।
प्रमाणान्तरगम्येऽपि न किञ्चिद् विरुणद्धि सा ॥ २५७ ॥

यह कोई नियम नहीं है कि तृतीया विभक्ति के द्वारा ही करणत्व का बोध हो। यदि अन्य प्रमाण के द्वारा कारणत्व निर्णीत है तो अन्य प्रत्यय के प्रकृतिभूत

शब्द के अर्थ में भी करणत्व का बोध हो सकता है। अतः 'यजेत' पद से उपस्थित याग में भावना की करणता को स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥ २५७ ॥

प्रज्ञातकरणत्वे वा धातौ सत्यपि नेष्यते।
अप्रातिपदिकत्वेन तृतीया यागशब्दवत् ॥ २५८ ॥

अथवा जैसे 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' इस विवरणवाक्य में याग शब्द से तृतीया विभक्ति होती है उसी प्रकार याग में भावना की करणता का निश्चय रहते हुये भी यजेत पद में जो तृतीया विभक्ति नहीं होती है, उसका हेतु है 'यज्' स्वरूप प्रकृति का धातु (अप्रातिपदिक) स्वरूप होना। इसीसे वहाँ तृतीया विभक्ति नहीं होती है, क्योंकि ये विभक्तियाँ प्रातिपदिक शब्दों से ही विहित हैं। अर्थात् यजेत पद से भी याग में करणत्वबोध के लिये तृतीया विभक्ति प्राप्त है ही किन्तु 'यज्' शब्द से धातुत्व स्वरूप प्रतिबन्धकवश ही तृतीया विभक्ति नहीं हो पाती है, क्योंकि वह धातु से विहित नहीं है ॥ २५८ ॥

अतो या शब्दसामर्थ्यलभ्या करणता यजेः।
केवलस्याप्रयोगित्वात् सा यागेनेति कथ्यते ॥ २५९ ॥

अतः शब्द की सामर्थ्य से (लिंग प्रमाण से) याग में कारणता प्राप्त है। वह 'यज्' धातु के द्वारा अथवा 'यजेत' पद के द्वारा कही नहीं जा सकती। अतः 'यागेन' पद से घटित 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' इस वाक्य से उसका विवरण किया जाता है ॥ २५९ ॥

तथोत्पन्नकर्थभावा भावनोपायमात्रके।
उपायोऽपि च कर्तव्यमात्राकाङ्क्षी नियम्यते ॥ २६० ॥
योग्यत्वसंनिधानाभ्याम् अन्यथानुपपत्तितः।
स च स्ववाक्यलभ्यो वा वाक्यान्तरगतोऽपि वा ॥ २६१ ॥

साधन के सत्तामात्र से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, करण से कार्य-सम्पादन की भी एक विशेष रीति होती है, उस रीति को ही 'इतिकर्तव्यता' कहते हैं। 'प्रयाजान् यजति' इत्यादि श्रुतियाँ इतिकर्तव्यता की विधायिका हैं। इनसे निर्दिष्ट इतिकर्तव्यतायें भाव्यों (उत्पाद्यों) की अपेक्षा रखती है, अर्थात् इनसे किस अभीष्ट का उत्पादन किया जाय—इस आकांक्षा की अपेक्षा रखती हैं। योग्यता, संनिधि और अन्यथाऽनुपपत्ति इन तीनों के साहाय्य से यह इतिकर्तव्यता 'करण' के सहायक 'उपकरण' के रूप में भावना के साथ सम्बद्ध होती है।

इतिकर्तव्यता की यह यागाङ्गता कहीं भावना के विधायक वाक्य के द्वारा अभिहित होती है, कहीं दूसरे वाक्यों से भी अभिहित होती है। जैसे कि 'प्रयाजान् यजति' इत्यादि वाक्यों से ॥ २६०–२६१ ॥

प्रकृतिप्रत्ययौ यद्वदपेक्षेते परस्परम्।
पदं पदान्तरं यद्वद् वाक्यं वाक्यान्तरं तथा ॥ २६२ ॥

जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय ये दोनों अपने-अपने बोधों में परस्पर सापेक्ष हैं, अथवा एक पद अपने बोध के लिये दूसरे पद की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार भावना का बोधक वाक्य भी इतिकर्तव्यता के बोधक दूसरे वाक्य की अपेक्षा रखता है ॥ २६२ ॥

करणैः साध्यते किञ्चिन्नोपायरहितैः फलम् ।
प्रयाजादिविधानं च न च स्यान्निष्प्रयोजनम् ॥ २६३ ॥

क्योंकि करण से उपाय (इतिकर्तव्यता) के विना फल की उत्पत्ति नहीं होती है। एवं जिन प्रयाजादि वाक्यों में फलों का निर्देश नहीं है, वे भी निष्फल नहीं हो सकते। इन दोनों से यह निष्पन्न होता है कि 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि फलसहित यागों के विधायक वाक्यों द्वारा जो याग स्वरूप करण से स्वर्गोत्पादक भावना का विधान किया गया है, उस याग स्वरूप करण को साहाय्य पहुँचाना ही प्रयाजादि वाक्यों का अर्थ है। इससे दर्शपौर्णमास याग की अनुग्राहक की आकांक्षा एवं प्रयाजादिवाक्यों की प्रयोजनाकांक्षा दोनों ही उपशमित हो जाती हैं ॥ २६३ ॥

प्रयोजनान्तरात् तत्र प्रत्यासत्तेरपेक्षितः ।
फलवद्भावनांशस्थकरणानुग्रहो वरम् ॥ २६४ ॥

(पू० प०—जिस प्रकार 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य के द्वारा (देखिये विश्वजिदधिकरण अ० ४ पा० ३ सू० १५–१६) किसी फल का निर्देश न रहने पर भी सर्वातिशायी स्वर्ग फल की कल्पना की जाती है उसी प्रकार 'प्रयाजान् यजेत' इस वाक्य से किसी फल का निर्देश न रहने पर भी स्वर्ग स्वरूप फल की कल्पना की जा सकती है। उक्त वाक्य में किसी फल का निर्देश नहीं है, इसलिये उसे दर्श-पौर्णमासीय भावना का इतिकर्तव्यता स्वरूप अंग का उपपादक नहीं माना जा सकता। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

दर्शपौर्ण स्वरूप 'क्रतु' (यज्ञ) का 'उपकार' अपेक्षित है। स्वर्ग स्वरूप फल संनिहित नहीं है, याग संनिहित है। इसलिये सफल भावना के करण स्वरूप अंश का 'अनुग्रह' ही प्रयाजादि के फल हैं (देखिये प्रकरणाधिकरण अ० ३ पा० ३ सू० १०)। यदि ऐसा नहीं मानें तो प्रयाजादि के अश्रुत फल की कल्पना करनी होगी एवं दर्शपौर्णमासादि के लिये भी किसी दूसरे 'अनुग्राहक' (इतिकर्तव्यता) की कल्पना करनी होगी। इसकी अपेक्षा यही युक्त है कि प्रयाजादि अश्रुतफलक यागों को दर्शपौर्णमास का 'उपकारक' मान लिया जाय ॥ २६४ ॥

एकभावनयोपात्तास्त्रयोऽप्यंशाः परस्परम् ।
उपकार्योपकारित्वं पश्चादनुभवन्ति ते ॥ २६५ ॥

(पू० प०—भावना के जो साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता स्वरूप तीन अंग हैं, उनमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है। यदि उनमें परस्पर सम्बन्ध मानेंगे तो उनका भावना के साथ ही सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। यदि उनमें परस्पर सम्बन्ध और

उनका अङ्गभावना के साथ सम्बन्ध दोनों मानेंगे तो 'वाक्यभेद' दोष होगा। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

तीनों अंशों से युक्त भावना ही वाक्यार्थ है। वस्तुस्थिति के अनुसार 'करण' (साधन) चूँकि साध्य की उत्पत्ति में सहायक है और 'इतिकर्त्तव्यता' साधनगत साध्य की उत्पादिका शक्तिस्वरूप है अतः उन अङ्गों में परस्पर सम्बन्ध भी मानना पड़ता है ॥ २६५ ॥

भावनापेक्षमाणा हि साधनं किं फलस्य मे।
साधनानुग्रहः को वेत्यनुस्यूतमपेक्षते ॥ २६६ ॥

क्योंकि साध्यान्विता भावना अपने इस 'साध्यान्वितत्व' रूप से ही साधन की अपेक्षा रखती है, क्योंकि 'केन साधनेन स्वर्गस्वरूपं साधनमुत्पादनीयम्' यह आकांक्षा उदित होती है। साध्यान्वितत्व को छोड़कर केवल आकांक्षा उदित नहीं होती है। इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा से भी 'साधनानुस्यूत' किस 'व्यापार' के द्वारा साधन फल के द्वारा उत्पादन में सहायक होगा (साधनस्य केन रूपेणेदं फलमुत्पादयेत् ?)—यह साधनाकांक्षा भी उदित होती है। अतः वाक्यभेददोष का कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि साधन और इतिकर्त्तव्यता इन दोनों से युक्त साध्यान्विता भावना ही वाक्यार्थ है ॥ २६६ ॥

आकाङ्क्षैवमविच्छेदसिद्धा शुक्लगवादिषु।
एकक्रियागृहीतेषु सम्बन्धश्च परस्परम् ॥ २६७ ॥

आकांक्षैव' ''गवादिषु

'गामानय शुक्लाम्' इत्यादि स्थलों में चूँकि गोत्वजाति के सम्बन्ध से युक्त 'गो' में गुण की आकांक्षा होती है, एवं शुक्लरूपविशिष्ट में हो जाति की आकांक्षा होती है, जिसकी निवृत्ति गो पद और शुक्ल पद से होती है।

एकक्रिया''''परस्परम्

अतः जिस प्रकार एक 'क्रियापद' से गृहीत भावना के तीनों ही अंग परस्पर सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी 'आनय' स्वरूप एक ही क्रिया के कर्मस्वरूप गो में विशेषणीभूत गोत्व और शुक्ल रूप इन दोनों में भी परस्पर सम्बन्ध दर्शाना चाहिये ॥ २६७ ॥

द्रव्यद्वारेण चैतेषां विशेषणविशेष्यता।
इतरोपकृतिद्रव्यपर्यवसित्वात् तत्र कर्मणि ॥ २६८ ॥

द्रव्यद्वारेण' 'विशेषणविशेष्यता

(श्लो० ३० के द्वारा यह जो कहा गया है कि 'गोत्व और शुक्ल इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध रूप अनुराग नहीं हो सकता' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

एक गो स्वरूप द्रव्य के द्वारा गोत्व और शुक्लत्व इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव हो सकता है।

इतरोपकृति'''कर्मणि

क्योंकि जिस द्रव्य में इतरव्यवच्छेदवुद्धि की उत्पत्ति के द्वारा जाति आनयन क्रिया का अंग होती है, उसी द्रव्य की अन्य रूप के द्रव्यों से व्यवच्छेदवुद्धि को शुक्ल रूप भी उत्पन्न करता है उसी प्रकार एक ही द्रव्य के परिच्छेद के कारण दोनों के परस्परानुराग स्वरूप सम्बन्ध में कोई बाधक नहीं है ॥ २६८ ॥

द्रव्यान्तरमनिच्छन्त्या क्रियया च परिग्रहात् ।
एकद्रव्याश्रयप्राप्तिरिति नान्योन्यसंश्रयम् ॥ २६९ ॥

(पू० प०—जिस एक द्रव्य में (गोत्वानाश्रय एवं शुक्लरूपानाश्रय) दोनों से व्यवच्छेदवुद्धि उत्पन्न होगी, 'वह गोत्वाश्रयोभूत एवं शुक्लरूपाश्रयोभूत द्रव्य एक ही है' इसके सिद्ध हो जाने पर ही गोत्व और शुक्ल रूप दोनों में परस्पर सम्बन्ध रूप अनुराग हो सकता है। उस 'एकता' की सिद्धि को यदि परस्पर सम्बन्ध रूप अनुरागसापेक्ष मानेंगे तो 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

क्रिया ही प्रधान है। वह गोत्व और शुक्लत्व दोनों से अवरुद्ध होने के कारण अन्य द्रव्यों को सहन नहीं करती। अतः 'शुक्लाम्' और 'गाम्' इन दोनों पदों के उच्चारण के साथ ही गोत्व जाति एवं शुक्लरूपात्मक गुण दोनों को एक ही 'स्व'-(आनयन) क्रियाकर्मीभूत द्रव्य में नियमित कर देती है (देखिये अरुणाधिकरण अ० ३ पा० १ सू० १२)।

दूसरी बात यह भी है कि कर्मीभूत एक ही द्रव्य के द्वारा जब दोनों का एक क्रिया में अन्वय प्राप्त है, तो फिर शुक्ल पद से गो से भिन्न शुक्ल अश्वादि का एवं गोत्व जाति से कृष्णादि गो का ग्रहण अप्रामाणिक भी है। तस्मात् एक ही द्रव्य के परिच्छेद के द्वारा परस्पर अन्वय उचित है ॥ २६९ ॥

परस्परानुरागश्च सुतरामुपकारकः ।
अर्थाच्चान्यव्यवच्छेदः सम्बन्धोऽतो न बुध्यति ॥ २७० ॥

परस्पराऽनुरागश्च'''उपकारकः

'शुक्लां गाम्' इस स्थल में गोत्व जाति और शुक्लरूपात्मक गुण इनमें नियमित सम्बन्ध को स्वीकार करने का यह हेतु भी है कि जाति के अन्वित होने पर स्वभावतः यही आकांक्षा उदित होती है कि किस गुण से युक्त इस जाति के द्रव्य का परिच्छेद करना है। (अनया किंगुणकं द्रव्यं परिच्छेत्तव्यम् ?)। एवं गुण के अन्वित होने पर समान रूप से यही आकांक्षा उदित होती है कि इस शुक्लरूपात्मक गुण के द्वारा किस जाति के द्रव्य का परिच्छेद करना है। इस प्रकार की परस्परापेक्षा रूप आकांक्षा की निवृत्ति उन दोनों में नियमित सम्बन्ध को स्वीकार करने से ही हो सकती है। अतः यह सम्बन्ध महान् उपकारक है।

अर्थाच्च'''न बुध्यति

यद्यपि यह ठीक है कि जिस प्रकार गोत्व शुक्ल रूप के साथ है, उसी प्रकार कृष्ण रूप के साथ भी है, अतः गोत्व से कृष्णरूप की व्यावृत्ति का बोध नहीं हो

सकता। तथापि 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से जिस शुक्लरूपानुगत गोत्व का बोध होता है, उनके द्वारा शब्दतः (श्रौत) न सही, अर्थतः कृष्णरूप की व्यावृत्ति का बोध अवश्य होगा।

वस्तुतः गो में शुक्लरूपानुगत गोत्व का रहना ही कृष्णरूप की व्यावृत्ति है। अतः गोत्व और शुक्लरूप इन दोनों के सम्बन्ध को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। जब अर्थों में इस प्रकार के सम्बन्ध की सिद्धि होगी तो इससे परस्पर सम्बद्ध पदों में एकवाक्यता की सिद्धि होगी ॥ २७० ॥

तत्रानैकान्तिकानेकवाक्यार्थोपप्लवे सति।
अन्योन्यात्मव्यवच्छेदादेकत्र स्थाप्यते मतिः ॥ २७१ ॥

शुक्ल पद से यदि अशुक्लव्यवच्छेद का बोध होगा तो गोत्व चूँकि अशुक्ल (कृष्णादि) गायों में हैं, अतः गोत्व शुक्लरूप का व्यभिचारी होगा। एवं शुक्लरूप शुक्ल अश्वादि में भी है, इसलिए शुक्ल रूप गोत्व का व्यभिचारी है। अर्थात् दोनों के सम्बन्ध नियत नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों ही एक दूसरे को छोड़कर रह सकते हैं। फलतः शुक्ल रूप को छोड़कर भी कृष्ण गो में गोत्व की प्रतीति हो सकती है एवं गोत्व को छोड़कर शुक्ल रूप की प्रतीति भी शुक्ल अश्वादि में हो सकती है। वाक्यार्थ के इस 'उपप्लव' से अनेक 'उपप्लुत' वाक्य होंगे।

फिर भी गोत्व और शुक्ल रूप दोनों जब नियत रूप से एक ही गो व्यक्ति में भासित होते हैं तो 'शुक्लो गौः' इस वाक्यार्थ का बोध होता है। यह कार्य वे स्वेतर-व्यवच्छेद के बल से ही करते हैं ॥ २७१ ॥[1]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'गामानय शुक्लाम्' इस वाक्य में जो 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु है, उससे अभिधावृत्ति के द्वारा 'आनयनत्व' जाति के अभिधान के बाद उसी 'आ' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से लक्षणावृत्ति के द्वारा गवाश्वसाधारण शुक्लरूपविशिष्टकर्मक आनयन व्यक्ति का भी बोध होता है, क्योंकि जिस प्रकार 'गामानयति शुक्लाम्' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार 'शुक्लमश्वमानयति' इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

एवं 'गाम्' शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा जिस प्रकार गोनिष्ठ कर्मता के अभिधान के बाद उसीसे लक्षणावृत्ति के द्वारा गोकर्मक आनयन क्रिया के समान ही नयन-बन्धनादि सभी संभूत क्रियायें लक्षित होती हैं उसी रीति से 'शुक्लाम्' पद से अभिधा-वृत्ति के द्वारा शुक्लरूपत्व की उपस्थिति के बाद लक्षणावृत्ति से गवाश्वादिसाधारण सभी शुक्ल रूपों की उपस्थिति होती है। किन्तु शुक्लाम्, गाम्, आनयति ये तीनों ही पद जब परस्पर समभिव्याहार को लाभ करते हैं तो उस समभिव्याहार रूप सामर्थ्य से उक्त आनयति पद से जो आनयनजातीया क्रिया लक्षित होती है, उसी क्रिया का द्वितीयान्त गोपद से भी गोकर्मकत्वविशिष्ट रूप में प्रतिपादन होता है।

इसी प्रकार द्वितीयान्त 'शुक्लाम्' पद से भी शुक्लरूपविशिष्ट गोकर्मक क्रिया लक्षित होती है।

इसी प्रकार अन्यक्रियाव्यवच्छिन्न, अन्यकर्मव्यवच्छिन्न, अन्यगुणव्यवच्छिन्न शुक्ल-रूपविशिष्ट गोकर्मक आनयन क्रिया का बोध होता है। अतः 'गामानय शुक्लाम्' इस वाक्य से एक विशिष्टवाक्यार्थ का नियमतः बोध उत्पन्न होता है।

अतोऽन्वयातिरेकाभ्यामनुमा नेयमिष्यते ।
एकार्थैकान्तिकत्वं तदन्ययैवात्र लभ्यते ॥ २७२ ॥

एकैकश्ये पदार्थानां वाक्यार्थे व्यभिचारिता (श्लो० १९१) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा वाक्यघटक प्रत्येक पद का अर्थ में व्यभिचार के कारण वाक्य में जो अप्रामाण्य का आक्षेप किया गया है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान में अव्यभिचार (व्याप्ति) की अपेक्षा होती है। वाक्य स्वरूप शब्द प्रमाण में एक एक पद के अर्थ में परस्पर व्यभिचार के रहने पर भी पदों की संनिधि रूप जो अनुमानादि से भिन्न वाक्यात्मक शब्द प्रमाण है उसी से अव्यभिचरित एवं परस्पर सम्बद्ध एक अर्थ की प्रतीति होती है। इससे जो पदार्थों की अव्यभिचारिता की प्रतीति होती है, इसके लिये इसे (वाक्यात्मक शब्द प्रमाण को) अनुमान से 'अन्यथा' अर्थात् भिन्न मानने में भी कोई अड़चन नहीं है ॥ २७२ ॥

एवं पदार्थवाक्यार्थसङ्घातैरुपकल्पिताम् ।
विशिष्टां भावनां प्राप्य वृत्तिर्विधिनिषेधयोः ॥ २७३ ॥

धात्वर्थकारकाणां तु साक्षान्नैवेष सिद्ध्यति (श्लो० ८५) इस आधे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'भावना ही विधि प्रत्यय का अर्थ है' इसको हम सिद्धान्ती स्वीकार करते हैं।

किन्तु विधि प्रत्यय से भी केवल भावना विहित नहीं होती, यागविशिष्ट भावना ही विहित होती है। अतः धात्वर्थ यागादि एवं तद्विशेषणीभूत कारकादि में भी विधेयता आती है। विधि प्रत्यय साक्षात् यागादि का विधायक नहीं है। इसी प्रकार निषेध स्थल में भी जानना चाहिये ॥ २७३ ॥

यद्यप्यन्यैरसंस्पृष्टां विधिः स्पृशति भावनाम् ।
तथाप्यशक्तितो नासौ तन्मात्रे पर्यवस्यति ॥ २७४ ॥

यद्यपि धात्वर्थ यागादि से असम्पृक्त केवल भावना ही विधि प्रत्यय का अर्थ है किन्तु केवल भावना से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः कारकधात्वर्थादिविशिष्ट भावना को ही प्रत्यय का अर्थ मानते हैं ॥ २७४ ॥

अनुष्ठेये हि विषये विधिः पुंसां प्रवर्तकः ।
अंशत्रयेण चापूर्णां नानुतिष्ठति भावनाम् ॥ २७५ ॥

अनुष्ठान के विषय में पुरुष को प्रवृत्त कराना ही विधि का प्रधान कार्य है। किन्तु साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीन अंशों से रहित भावना से यागादि में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः अंशत्रयविशिष्ट भावना को ही अगत्या विधि प्रत्यय का अर्थ मानते हैं। तदनुसार धात्वर्थ कारकादि में भी विधेयत्व है ॥ २७५ ॥

तस्मात् प्रक्रान्तरूपोऽपि विधिस्तावत् प्रतीक्षते ।
यावद् योग्यत्वमापन्ना भावनान्यानपेक्षिणी ॥ २७६ ॥

यह सत्य है कि विधि मूलतः केवल भावना का ही वाचक है, किन्तु जब तक साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता स्वरूप तीनों ही अंशों से वह परिपूर्ण नहीं हो जाती, तब तक वह भावना पुरुषप्रवृत्तिस्वरूप अपने मुख्य कार्य का संपादन नहीं कर पाती है। अतः भावना को प्रवृत्ति के उत्पादन में अन्य किसी की अपेक्षा भले ही न रहे, साध्यादि तीनों ही अंशों की अपेक्षा तो अवश्य रहती है। तस्मात् पर्यवसान में धातु-कारकादि के समभिव्याहार से विधि तीनों ही अंशों से युक्त भावना का ही विधान करती है॥ २७६॥

उपसर्गनिपातानां प्रयोगनियमे सति।
अर्थस्तदागमन्यायात् स्यात् समासपदेष्विव[1]॥ २७७॥

(गवादिवच्च नैतेषां स्वतन्त्राऽर्थाऽवधारणा (श्लो० ९८) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा जो उपसर्ग और निपात में नाम की तरह अर्थावधारणशक्ति के अभाव का आक्षेप किया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

उपसर्ग और निपात इन दोनों का स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण उन्हें 'अनर्थक' नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार 'सुप्' प्रभृति प्रत्ययों का केवल प्रयोग नहीं होता है, फिर भी उन्हें सार्थक मानते हैं एवं 'कुम्भकारः' इत्यादि नित्यसमास के 'कार' प्रभृति उत्तर पदों का केवल प्रयोग न होने पर भी उन्हें अर्थहीन नहीं मानते, क्योंकि 'तदागम' न्याय से (अर्थात् उन पदों के आने से ही उक्त समुदाय में विशिष्ट अर्थ की बोधकता आती है, इसलिये) उन्हें भी सार्थक मानना उचित है, क्योंकि 'घटः पटश्च' इत्यादि स्थलों में 'च' कार के प्रयोग के बिना 'समुच्चय' का बोध नहीं होता है ?॥ २७७॥

वाचकद्योतकत्वं तु नातीवात्रोपयुज्यते।
तद्भावाद् वाचकत्वं वा परस्यानुग्रहोऽस्तु वा॥ २७८॥

कोई उपसर्ग और निपातादि के स्वतन्त्र अर्थ को स्वीकार कर उन्हें 'वाचक' मानते हैं। कोई कहते है कि नामादि के साथ वे प्रयुक्त होते हैं, उनमें से विशिष्ट अर्थ का बोध उपसर्ग-निपातादि के रहने से होता है, अन्यथा नहीं होता है। उसका हेतु उपसर्ग-निपातादि का उन अर्थों की जो शक्ति मूल नामादि में है, उसका प्रकाशक (द्योतक) होना है। फलतः उपसर्ग-निपातादि द्योतक ही हैं, वाचक नही।

किन्तु इस विवाद का इस 'वाक्यार्थोपयोगित्व' के सम्बन्ध में कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि 'वाचकता' पक्ष में एवं परानुग्रह स्वरूप 'द्योतकता' पक्ष में वाक्यार्थ-बोध में उनको उपयोगिता समान है। उसमें किसी एक पक्ष के अवलम्बन से कोई अन्तर नहीं होता है॥ २७८॥

---

१. इस प्रकार नाम और आख्यात इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध की सत्ता के प्रतिपादन के बाद अब उपसर्ग और निपात इन दोनों का आख्यात के साथ सम्बन्ध का उपपादन किया जाता है।

ईषदर्थाविषयस्तावत् साक्षान्नाम्नैव सङ्गताः ।
अप्रयुक्तक्रियाद्वारा विशेषाधानतोऽपरे ॥ २७९ ॥
आपिङ्गः प्रवयाश्चेति द्वयस्यैतन्निदर्शनम् ।
क्वचित् प्रकृष्टतादीनां भावनोपनिपातिनाम् ॥ २८० ॥

ईषदर्थाविषयः""अपरे""निदर्शनम्

(यह जो कहा गया है कि उपसर्गों और निपातों का नाम के साथ अथवा क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः वाक्यार्थ में उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता । किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

'ईषद्' अर्थ के बोधक जो उपसर्गादि हैं, वे तो सीधे ही नामों के साथ सम्बद्ध हैं । कुछ उपसर्गादि अप्रयुक्त क्रिया के द्वारा नामार्थ में विशिष्टता का सम्पादन करते हैं, अर्थात् नामों के साथ सम्बद्ध होते हैं ।

आपिङ्ग""निदर्शनम्

इनमें पहला उदाहरण है 'आपिङ्ग' । यहाँ 'पिङ्ग' स्वरूप नाम के अर्थ में 'आ' उपसर्ग के अर्थ ईषद् का सम्बन्ध स्पष्ट है ।

दूसरा उदाहरण है 'प्रवयाः' । प्रगतवयाः प्रवयाः इस व्युत्पत्ति से उक्त शब्द में प्रयुक्त 'प्र' शब्द अप्रयुक्त गति के द्वारा वृक्ष में अन्वित होता है ।

क्वचिच्च""उपनिपातिनाम्""प्रतिपत्तिपरिग्रहौ

कुछ उपसर्ग और निपात ऐसे भी हैं जो भावना में इतिकर्त्तव्यता रूप से अन्वित होते हैं । जैसे कि 'प्रवयसे दक्षिणां दद्यात्' अथवा 'अभिक्रामं जुहोति' इत्यादि ।

पहले प्रयोग में 'प्रवयसे' का घटक 'प्र' दक्षिणा के सम्प्रदानीभूत पुरुष में वृद्धत्व का बोधक है । दूसरे में 'अभि' उपसर्ग 'होता' में आभिमुख्य का बोधक है । इससे अनुष्ठान स्वरूप वाक्यार्थ में विशिष्टता का बोध होता है ॥ २७९-२८० ॥

इतिकर्तव्यतात्वेन प्रतिपत्तिपरिग्रहौ ।
एकार्थसमवायत्वात् कर्तृधर्मोऽपि भावनाम् ॥ २८१ ॥
गमिष्यति न कर्तृणां स्वरूपे स हि कीर्त्यते ।
ये त्वन्यार्थविरुद्धार्थधातुशक्त्यवलोपिनः ॥ २८२ ॥
तेषां तदङ्गतैवेष्टा धातुभागसमा हि ते ।
प्रशब्देनोपसृष्टस्य तिष्ठतेर्गतिशक्तता ॥ २८३ ॥
न हि प्रशब्दवेलायां गमने जायते मतिः ।
सामान्यतः क्रियाशक्तिः क्लृप्ता धातोः पुरैव तु ॥ २८४ ॥
विशेष एव तत्र स्यादितरस्य द्वये पुनः ।
या च शक्त्यन्तरोद्भूतिरियमेव विशेष्यता ॥ २८५ ॥

एकार्थसमवायित्वात्…कोर्स्यते

(पू० प०—'अभिक्रामं जुहोति' इस वाक्य में जो 'अभिक्रम' शब्द है, तद्बोध्य अभिमुखता तो कर्त्ता का धर्म है, उसका अन्वय क्रिया के साथ कैसे होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

उक्त अभिक्रमण कर्त्ता का धर्म होने पर भी उसका अंग नहीं हो सकता, क्यों कि कर्त्ता से क्रिया के निष्पादन में 'अभिमुखता' सहायक नहीं है। 'अभिक्रमण' शब्द 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'क्रम्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय से बनता है। धातु से ही 'णमुल्' प्रत्यय का विधान है, इसलिये यह अभिमुखता धात्वर्थ क्रिया का ही अंग है। किन्तु 'अंगता' एकार्थसमवाय स्वरूप परम्परा सम्बन्ध से है, साक्षात् सम्बन्ध से नहीं, क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध से यह अभिमुखता कर्त्ता में ही है, किन्तु वहाँ क्रिया (भावना) भी है। इसलिये कर्त्ता स्वरूप एक 'अर्थ' में समवाय सम्बन्ध से दोनों के रहने से दोनों 'एकार्थसमवायी' हैं।

ये त्वन्यार्थ…अवलोपिनः…समा हि ते

(पू० प०—'प्रासादादिषु चान्याऽर्थो विपरीतः प्रतिष्ठते' (श्लो० ९२) इस श्लोकार्द्ध से जो 'प्रासादः, प्रतिष्ठते' इत्यादि स्थलों की चर्चा इस अभिप्राय से की गयी है कि 'प्रासादः' में 'प्र' यह उपसर्ग अन्यार्थक है, स्वसम्बद्ध सद् धातु के अर्थ के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं, क्योंकि 'प्र' उपसर्गपूर्वक सद् धातु से निष्पन्न 'प्रासाद' शब्द से जिन 'देवसदनादि' रूप अर्थों का बोध होता है, वे 'सद्' धातु के अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

एवं 'प्रतिष्ठते' का अर्थ होता है 'गच्छति' जो 'तिष्ठति' शब्द के अर्थ से सर्वथा विपरीत है। इसी प्रकार 'अन्य' अर्थ के बोधक एवं 'विपरीत' अर्थ के बोधक जो उपसर्ग हैं, उनका वाक्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

इस प्रकार के जो अन्यार्थक या विपरीतार्थक हैं वे विशेषण हैं ही नहीं, वे तो स्वसमभिव्याहृत धातु के ही एक अंश हैं।

अर्थात् 'प्र' पूर्वक सद् धातु से 'प्रासाद' शब्द नहीं बनता है किन्तु 'प्रसद्' धातु से ही 'प्रासाद' शब्द बनता है। जैसे कि 'सद्' धातु है, वैसे ही 'प्रसद्' धातु भी है।

इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक स्था धातु से 'प्रतिष्ठते' यह शब्द नहीं बनता, किन्तु 'प्रस्था' या 'प्रतिष्ठ' नाम का एक धातु ही है, जिससे 'प्रतिष्ठते' शब्द बनता है। इन विशिष्ट धातुओं में उक्त अन्यार्थवाचकता या विपरीतार्थवाचकता स्वीकार करनी होगी, क्योंकि केवल 'प्र' शब्द के प्रयोग से गमन का बोध नहीं होता है, किन्तु 'प्र' शब्द के साथ 'तिष्ठते' शब्द के प्रयोग से उसका बोध होता है।

फलतः 'स्था' धातु के समान ही 'प्रतिस्था' भी एक अलग धातु ही है। वह 'प्र' पूर्वक 'स्था' धातु नहीं है। तदनुसार 'अश्वकर्णादि' शब्दों के समान ही वह भी समुदायशक्ति से स्था धातु के अर्थ से विपरीत अर्थ का बोधक है।

'प्रतिष्ठते' शब्द की निष्पत्ति जो 'प्र' पूर्वक स्था धातु से बतलायी जाती है, वह 'प्रातिष्ठत्, प्रातिष्ठिपत्' इत्यादि प्रयोगों में 'अट्' के आगम की सुविधा के लिये, क्योंकि 'प्र' शब्द के बाद अडागम संभव नहीं है। इसी प्रकार 'प्रलम्बते' यह शब्द भी लम्ब धातु से निष्पन्न न होकर एक अलग ही समानार्थक प्रलम्ब धातु से निष्पन्न होता है। यहाँ भी 'प्र' विशेषण नहीं है।

प्रशब्देनोपसृष्टस्य……शक्तता

उपसर्ग को द्योतक मानने वालों का कहना है कि 'प्र' शब्द का समभिव्याहार करने पर 'स्था' धातु से ही 'गति' का बोध होता है, अर्थात् 'स्था' धातु 'गति' और 'गतिनिवृत्ति' दोनों का वाचक है। किस स्थिति में वह 'गति' का बोधक है, एवं किस स्थिति में वह 'गतिनिवृत्ति' का बोधक है—इन प्रश्नों का यह उत्तर है कि 'प्र' शब्द के समभिव्याहार की स्थिति में वह 'गति' का बोधक है एवं उसके अभाव की स्थिति में केवल 'स्था' धातु गतिनिवृत्ति का बोधक है।

चूँकि केवल 'प्र' शब्द के उच्चारण से 'गति' का बोध नहीं होता है, अतः केवल 'प्रतिष्ठते' का घटक 'प्र' शब्द 'गति' का वाचक नहीं है। 'प्र' का समभिव्याहार न रहने पर केवल स्था धातु से गतिनिवृत्ति का बोध होता है। इससे यह निष्पन्न होता है कि 'प्र' प्रभृति उपसर्ग के स्वसमभिव्याहृत जो अनेक अर्थ हैं, उनमें से प्रकृत में ये प्रकृतिबोध्य अर्थ के प्रकाशक (द्योतक) हैं।

न हि प्रशब्द……जायते

'प्र' शब्द के उच्चारण के बाद तब तक 'गति' का बोध नहीं होता, जब तक कि 'स्था' धातु के 'तिष्ठते' पद का प्रयोग नहीं होता। इससे यह निष्पन्न होता है कि 'स्था' धातु ही गतिनिवृत्ति के समान गति का भी वाचक है।

सामान्यतः क्रियाशक्तिः……पुरैव तु……इतरस्य द्वये पुनः

(पू० प०—जैसे कि केवल 'प्र' शब्द से 'गति' का बोध होता है, वैसे ही केवल 'स्था' धातु के 'तिष्ठति' पद से भी गति का बोध नहीं होता है। इसलिये इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं मालुम होती कि 'प्रतिष्ठते' पद में जो 'स्था' धातु है, वही गति का वाचक है, एवं 'प्र' उपसर्ग उस अर्थ का द्योतक है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

सभी धातुओं की क्रिया सामान्य में शक्ति स्वीकृत है, एवं सभी धातुओं में से प्रत्येक की तत्तक्रिया विशेष में भी शक्ति स्वीकृत है। तदनुसार स्था धातु की शक्ति क्रिया सामान्य में निर्णीत है। अतः बोध के अनुसार 'प्र' शब्द के समभिव्याहार-स्थल में 'स्था' धातु की गति स्वरूप विशेष (क्रिया) में शक्ति कल्पनीय है।

यदि 'प्र' उपसर्ग की शक्ति 'गति' स्वरूप विशेष में मानेंगे तो उससे पहले क्रिया सामान्य में भी उसकी शक्ति कल्पनीय होगी, क्योंकि उपसर्ग की शक्ति क्रिया सामान्य में पहले से स्वीकृत नहीं है। इस प्रकार 'प्र' शब्द में क्रिया सामान्य की बोधिका शक्ति एवं गति स्वरूप क्रिया विशेष की बोधिका शक्ति दोनों ही कल्प-

नीय होगी। अतः लाघव की दृष्टि से भी स्था धातु में ही गतिवाचकता को भी स्वीकार करना उचित है।

या च ''विशेष्यता

पू० प०—विशेषण वही है जो अपनी सत्ता के द्वारा विशेष्य को दूसरों से व्यावृत्त करे। 'प्र' प्रभृति उपसर्ग अगर द्योतक मात्र हैं, तो उनका कोई अपना अर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में वे धात्वर्थ स्वरूप विशेष्य के विशेषण कैसा होंगे ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

स्था धातु में गति स्वरूप अर्थ को समझाने की शक्ति अनुद्भूत है (जिससे 'तिष्ठति' शब्द के द्वारा गति का बोध न होकर तद्विरुद्ध गतिनिवृत्ति का ही बोध होता है)। 'प्रतिष्ठते' शब्द का 'प्र' शब्द अपनी सत्ता के द्वारा गतिबोधजनक उस शक्ति को ही उद्भूत करता है। यह उद्भूतिजनकता ही प्रादि द्योतक उपसर्गों की विशेषणता है। इसी के चलते प्रादि द्योतक उपसर्ग धातु के विशेषण हैं। एवं धातु में प्रादि उपसर्गों के समभिव्याहार से शक्ति की उद्भूति ही उन उपसर्गों की विशेष्यता है ॥ २८१–२८५ ॥

न सामान्यापरित्यागी केवलोऽन्यैर्विशेष्यते।
उक्तैर्विशेषणं किञ्चिदुच्यमानविशेषणम् ॥ २८६ ॥

न सामान्य''''अन्यैर्विशेष्यते

पू० प०—विशेषण होने की यह रीति 'नीलोत्पलम्' इस प्रसिद्ध विशेष्य-विशेषणभावस्थल में नहीं देखी जाती। वहाँ तो उत्पल शब्द के अर्थ कमल का त्याग नहीं किया जाता। किन्तु उस सामान्यार्थ के साथ ही 'नील' शब्द के द्वारा उसकी विशेष अवस्था कही जाती है। इस प्रकार नील उत्पल का विशेषण होता है।

किन्तु 'प्रतिष्ठते' इत्यादि स्थलों में तो 'स्था' धातु के सामान्य अर्थ गतिनिवृत्ति (ठहराव) का लोप ही हो जाता है। अतः प्रादि उपसर्ग विशेषण नहीं हो सकते।

उक्तैर्विशेषणम् ''विशेषणम्

सि० प० विशेषणता कई प्रकार की होती है। एक प्रकार की विशेषणता तो 'नीलोत्पलम्' इत्यादि स्थलों में दिखलायी जा चुकी है। दूसरी प्रकार की विशेषणता 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यादि स्थलों में है। इस स्थल में जो 'वैश्वदेवी' आमिक्षा का विशेषण है, वह 'नीलोत्पलम्' के समान नहीं है, क्योंकि वैश्वदेवी पद केवल तद्धित प्रत्यय से निष्पन्न होने के कारण ही आमिक्षा का विशेषण होता है। फलतः कोई अर्थ की दृष्टि से विशेषण होता है और कोई केवल शब्द मात्र के द्वारा विशेषण होता है ॥ २८६ ॥

तेन शब्दापवादोऽयं भवेदर्थापवादवत्।
तथैव ज्वलनादीनां पाकसम्बन्धितेष्यते ॥ २८७ ॥
इतिकर्तव्यतांशत्वात् पाके वा तत्फलेऽपि वा।
ओदने साध्यमाने हि पाकः करणमिष्यते ॥ २८८ ॥

अकृतः सोऽपि नास्तीति पुनः करणवाञ्छनम् ।
करणं ज्वलनादीनि तस्य काष्ठादि वा तथा ॥ २८९ ॥

प्रादि उपसर्गों को द्योतक माननेवालों का कहना है कि जिस प्रकार वस्तुगति के अनुसार विशेषणों के दो स्वरूप एक 'नीलोत्पलम्' इत्यादि स्थलों के लिए और दूसरा 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यादि स्थलों के लिए स्वीकृत हैं, उसी प्रकार 'प्रतिष्ठते, अभिदधाति इत्यादि स्थलों के लिए 'शक्त्यपवाद' स्वरूप तृतीय प्रकार की विशेषणता भी स्वीकार करनी होगी ।[1]

तथैव ज्वलनादीनाम्''''तत्फलेऽपि वा

('तथापि कर्मणा कर्म न साध्यमिति दुर्लभम्' (श्लोक ६२) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा जो यह आक्षेप किया गया है कि क्रिया चूँकि क्रियाजन्य नहीं होती, अतः 'काष्ठेन पचति' इत्यादि वाक्यों में ज्वलन क्रिया के द्वारा काष्ठ का सम्बन्ध पाक के साथ नहीं हो सकता । इस आक्षेप का यह समाधान है—)

विशेषणों के कथित अनियत स्वरूप के समान ही काष्ठादि का पाक में सम्बन्ध का (फलतः तदधीन विशेषणत्व का) उपपादन करना चाहिये ।[2]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'स्था' धातु के गति और गतिनिवृत्ति दोनों अर्थ अभिधेय ही हैं । एवं 'धा' धातु के भी 'धारण' और अभिधान दोनों अर्थ वाच्य ही हैं । इनमें जब 'स्था' धातु को 'प्र' शब्द का सांनिध्य नहीं रहता तो स्था धातु की जो गतिनिवृत्ति-बोधिका शक्ति रहती है, वही आविर्भूत होती है । अतः 'तिष्ठति' पद से गतिनिवृत्ति का ही बोध होता है ।

इसी प्रकार 'धा' धातु को जब 'अभि' उपसर्ग का सांनिध्य नहीं प्राप्त होता तो केवल 'दधाति' शब्द से धारण का ही बोध होता है । किन्तु दोनों धातुओं को जब क्रमशः 'प्र' और 'अभि' उपसर्ग का सांनिध्य प्राप्त होता है, तो उन दोनों ही उपसर्गों से कथित 'गतिनिवृत्ति' और धारण की शक्ति का अपोहन कर (अर्थात् उन शक्तियों को हटाकर) उन दोनों धातुओं की जो क्रमशः गति और अभिधान में शक्ति है, उन दोनों शक्तियों को आविर्भूत होती है । तदनुसार ही बोधों की व्यवस्था जाननी चाहिये ।

'प्र' प्रभृति उपसर्गों को वाचक माननेवालों के मत में तो 'प्रतिष्ठते' यह वर्णसमुदाय ही 'गति' का वाचक है एवं 'अभिदधाति' यह वर्णसमुदाय ही अभिधान का वाचक है । इसी प्रकार 'तिष्ठति' यह वर्णसमुदाय ही 'गतिनिवृत्ति' का और 'दधाति' यह वर्णसमुदाय धारण का वाचक है ।

२. कहने का तात्पर्य है कि 'काष्ठेन ओदनं पचति' इस वाक्य से दो भावनाओं का बोध होता है (१) ओदन की भावना और (२) पाक की भावना (पाकेन ओदनं भावयेत् एवं काष्ठेन पाकं भावयेत्) इनमें पाकस्वरूपा भावना चूँकि स्वयं अनिष्पन्न है, अतः उसकी निष्पत्ति के 'उपाय' (इतिकर्त्तव्यता) के रूप में ज्वलनादि से अन्वित होती है ।

ज्वलन भी काष्ठादि के बिना अनुपपन्न है, अतः उसके द्वारा काष्ठादि भी अन्वित होते हैं, अर्थात् 'काष्ठेन ज्वलनाद्युपायेन पाकं भावयेत्' यह वाक्यार्थ निष्पन्न होता है । फलतः ज्वलन क्रिया पाकभावना की 'इतिकर्त्तव्यता' रूप है, साधन रूप नहीं ।

ओदने साध्यमा ने ... इष्यते ... करणवाञ्छनम् ... तथा

पाकभावना का साध्य है 'ओदन'। अतः पाक ही ओदनभावना का करण है। किन्तु 'अकृत' अर्थात् अनिष्पन्न पाक ओदन का सहायक नहीं हो सकता। इसलिए पुनः करण की आकांक्षा उत्पन्न होती है जिसकी निवृत्ति ज्वलनादि के सम्बन्ध से होती है। 'ज्वलनेन पाकं भावयेत्'—किन्तु अनिष्पन्न ज्वलन से पाक की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये काष्ठ ज्वलन में करणतया अन्वित होता है अथवा ज्वलन रूप व्यापार के द्वारा सीधे करण रूप से काष्ठ का ही अन्वय पाक के साथ हो सकता है ॥ २८९ ॥

इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा यावत्करणसंश्रया।
इतिकर्तव्यताप्यन्यदपेक्ष्य करणं भवेत् ॥ २९० ॥
ज्वलनादिनिमित्ताऽतः काष्ठादेः पाकसङ्गतिः।
कर्मणः कर्मसाध्यत्वं नास्मत्पक्षे विरुद्ध्यते ॥ २९१ ॥
अनात्मसमवेतस्य निमित्तं कर्म हीष्यते।
ज्वलनादिस्वरूपं च न काष्ठादिभिरीप्सितम् ॥ २९२ ॥
पाकप्रयोजितानां हि तद्वृत्तिर्नान्तरीयकी।
कर्तृत्वेऽपि च काष्ठादेः पाके स्यात् करणादिता ॥ २९३ ॥
आविर्भूतान्यशक्तित्वादेकत्वे व्याप्यपेक्षया।
ज्वलनादिषु सर्वेषां स्वातन्त्र्यात् कर्तृतेष्यते ॥ २९४ ॥
तत्स्वातन्त्र्यावगत्यैव प्रयुङ्क्ते हि प्रयोजकः।
नियुक्तानां तु तेनैषां करणत्वादिवाच्यता ॥ २९५ ॥

इतिकर्त्तव्यता ... करणं भवेत्

करण निष्पन्न हों या अनिष्पन्न, सभी करणों में 'इतिकर्त्तव्यता की (फलतः व्यापार की) आकांक्षा अवश्य उत्पन्न होगी। अतः इतिकर्त्तव्यता भी कभी करण हो सकती है। अतः इतिकर्त्तव्यतात्व और करणत्व ये दोनों अविरोधी धर्म हैं।

तदनुसार पाककरणिका जो ओदनभावना है, उसकी इतिकर्त्तव्यता काष्ठों में है, किन्तु काष्ठकरणिका जो पाकभावना है, उसकी करणता तो काष्ठ में ही है और इतिकर्त्तव्यता ज्वलनादि में ॥ २९० ॥

ज्वलनादिनिमित्ता ... पाकसङ्गतिः

इस प्रकार ज्वलनादि क्रियाओं के साक्षात् करणीभूत काष्ठादि का भी पाक के साथ सम्बन्ध उपपन्न होता है।

कर्मणः कर्मसाध्यत्वम् ... कर्म हीष्यते

(तथापि कर्मणा कर्म न साध्यमिति दुर्लभम् (श्लो० ६२) इस श्लोकार्द्ध से जो यह आक्षेप किया गया है कि कर्म चूंकि कर्म का साधन नहीं हो सकता, अतः

पाक क्रिया की साधनता ज्वलनादि क्रियाओं में नहीं आ सकती। किन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

ज्वलनादि क्रियाओं में पाकादि क्रियाओं की समवायिकारणता हमलोग भी नहीं मानते। एक कर्म में दूसरे कर्म की यथाकथञ्चिदपेक्षा स्वरूप निमित्तकारणता तो 'पदार्थचिन्तक' वैशेषिकगण भी मानते हैं। अतः तण्डुलादि में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान फलतः द्रव्यसमवायिकारणक पाक की निमित्तकारणता ज्वलनादि कार्यों में स्वीकार करने से वैशेषिकों के साथ इस प्रसङ्ग में कोई विरोध नहीं है।

ज्वलनादिस्वरूपं च···नान्तरीयको

(पू० प०—माना कि ज्वलन क्रिया के द्वारा काष्ठ भी पाक का साधन है। किन्तु पाक का तो वह परम्परा साधन ही है। अतः पाक भी काष्ठ का परम्परया साध्य ही है। ज्वलनक्रिया का तो काष्ठ साक्षात् साधन है। तदनुसार ज्वलनक्रिया में तो साक्षात् साध्यता है, तो फिर पाक में ही साध्यता का व्यवहार क्यों होता है? ज्वलन क्रिया में साध्यत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

पाक ही मुख्य साध्य है, क्योंकि वही काष्ठ ज्वलनादि सभी साधनों से ईप्सित है। पाक के लिये प्रयुक्त काष्ठादि साधनों की साध्यता जो ज्वलन क्रिया में है, वह तो काष्ठों से ज्वलन के बिना पाक की उत्पत्ति संभव न होने के कारण 'नान्तरीयक' है। अतः पाक में ही काष्ठादि के साध्यत्व का व्यवहार होता है और काष्ठ से उत्पन्न होने पर भी ज्वलनादि क्रियाओं में साध्यत्व का व्यवहार नहीं होता।

ज्वलनादिषु···कर्तृतेष्यते

जिस प्रकार काष्ठ में ज्वलन क्रिया का कर्तृत्व है, उसी प्रकार पाक का भी कर्तृत्व क्यों नहीं है? यह विभेद क्यों कि काष्ठ ज्वलन क्रिया का कर्तृकारक है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—

काष्ठ ज्वलनक्रिया का कर्तृकारक होने के साथ साथ पाकक्रिया का करण-कारक भी हो सकता है, क्योंकि काष्ठ के होने पर भी उसमें ज्वलन की अपेक्षा कर्तृत्व (शक्ति) और पाक की अपेक्षा करणत्व (शक्ति) दोनों को मानने में कोई विरोध नहीं है।

तत्स्वातन्त्र्यावगत्यैव···करणत्वादिविवक्षता

'स्वातन्त्र्य' ही 'कर्तृत्व' है। धात्वर्थ व्यापार का समवाय सम्बन्ध से रहना ही 'स्वातन्त्र्य' है। ज्वलन क्रिया समवाय सम्बन्ध से काष्ठों में रहती है, अतः काष्ठ ज्वलन क्रिया का कर्त्ता है, एवं स्थाली (बटलोही) संभरण क्रिया का कर्त्ता है।

पाक का कर्त्ता देवदत्त काष्ठ, स्थाली प्रभृति के अपने-अपने व्यापारों के स्वा-तन्त्र्य को समझकर ही उन्हें ज्वलन संभरणादि क्रियाओं में नियुक्त करता है। यह नियुक्ति ही काष्ठादि में करणत्वादि विभिन्न कारकों का प्रयोजक है॥ २९०-२९५॥

उद्भूतदेवदत्तादिव्यापाराभिभवाद् भवेत् ।
यत्र त्वभिभवस्तेषां नैकेनापि विवक्ष्यते ॥ २९६ ॥
काष्ठादीनि पचन्तीति प्रयोगस्तत्र जायते ।
एकशब्दगृहीतेऽपि गुणप्राधान्यमिष्यते ॥ २९७ ॥
आख्यातप्रत्ययोपात्तभावनाकर्तृसंख्यवत् ।
तस्माद् यस्य विवक्ष्येत प्रधानं धातुभिः क्रिया ॥ २९८ ॥
स कर्ता गुणभूतान्यव्यापारे करणादिता ।
इतिकर्तव्यतांशेन सर्वेषां तेन सङ्गतिः ॥ २९९ ॥
अवान्तरक्रियायोगात् प्रधानक्रियया सह ।
विकल्पप्रतिषेधाद्यैर्विरोधो न च वस्तुना ॥ ३०० ॥

उद्भूतदेवदत्तादि····अभिभवाद् भवेत्

'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति' इस स्थल में 'पचति' पद के तिप् प्रत्यय का अर्थ स्वरूप जो देवदत्तनिष्ठ व्यापार है, वही केवल 'उद्भूत' रहता है। काष्ठों में रहने वाले या स्थाली में रहने वाले ज्वलन-संभरणादि व्यापार शब्दों के द्वारा उपस्थित न रहने के कारण 'अनुद्भूत' हो रहते हैं। इस शब्दों के द्वारा उपस्थित (उपात्त) हाने के कारण उद्भूत व्यापार से युक्त देवदत्त में ही कर्तृत्व माना जाता है। अनुद्भूत ज्वलन संभरणादि व्यापारों से युक्त काष्ठ, स्थाली प्रभृति में कर्तृत्व का व्यवहार नहीं होता अपितु करणत्व अधिकरणत्वादि का ही व्यवहार होता है। अनुद्भूत रहने के कारण कर्तृत्व के रहने पर भी उसका व्यवहार नहीं होता है।[1]

यत्र त्वभिभवः···तत्र जायते

(पू० प०—यदि काष्ठ 'पचति' क्रिया का करण ही है, या स्थाली अधिकरण कारक ही है, तो फिर 'काष्ठानि पचन्ति', 'स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोग किस हेतु से होते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

आख्यात के द्वारा उपात्त भावना का जो समवायी होगा, वही कर्तृकारक होगा। तदनुसार 'आख्यातोपात्तभावनासमवायित्वम् कर्तृत्वम्' यही कर्ता का

---

१. प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्वलन, संभरणादि की शब्दों की अभिधादि वृत्तियों से उपस्थिति नहीं है, तो फिर उनके द्वारा काष्ठादि का पाक के साथ सम्बन्ध ही कैसे होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—

शाब्दबोध में जितने पदार्थों का उपयोग हो, उन सभी पदार्थों की शब्द के द्वारा वृत्त्यधीन उपस्थिति आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा हो तो फिर अप्रज्वलित काष्ठ के समान अनाहृत काष्ठ का पाक के लिए उपयोग होने से आहरणक्रिया का भी पाकक्रिया में सम्बन्ध सिद्ध होने के कारण आहरणक्रिया की भी शब्द के द्वारा वृत्त्यधीन उपस्थिति माननी होगी। किन्तु ऐसा कोई भी नहीं मानता। अतः उक्त आक्षेप वृथा है।

लक्षण निष्पन्न होता है। आख्यात से व्यापार का उपादान दो रीतियों से होता है—(१) कभी तो आख्यात से धात्वर्थसमानाश्रय व्यापार का उपादान होता है और (२) कभी आख्यात से अनित्य व्यापार भी उपस्थित होते हैं। विक्लित्ति के पर्याय पच् धातु से तिप् प्रत्यय स्वरूप आख्यात के द्वारा 'प्रायः' विक्लित्तिविषयक देवदत्तनिष्ठ जो व्यापार है, उसी का उपादान होता है। इस पक्ष में देवदत्त ही कर्त्ता होता है, एवं काष्ठादि करणादि कारक होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि पचति-पदघटक उसी तिप् प्रत्यय से देवदत्तनिष्ठ उक्त व्यापार से लेकर काष्ठ-स्थाल्यादि के सभी ज्वलन-संभरणादि व्यापार उपस्थित होते हैं। ऐसी स्थिति में आख्यातोपात्त पाक, ज्वलन-संभरणादि सभी व्यापार किसी से अभिभूत न होने के कारण देवदत्त, काष्ठ, स्थाली ये सभी तत्तद्व्यापार के क्रमानुसार कर्तृकारक हो सकते हैं। तदनुसार ही 'देवदत्तः पचति' इस प्रयोग के समान ही 'काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोग भी कभी-कभी होते हैं।

एकशब्दगृहीतेऽपि''कर्तृसंख्यवत्

(यह तो हुई आख्यात से उपात्त होने या अनुपात्त होने के कारण कारकैक्य या कारकवैचित्र्य की बात। अब गौणप्रधान की बात सुनिये)

एक ही शब्द से उपात्त होने पर भी उनमें से कोई अर्थ प्रधान और कोई अर्थ अप्रधान (गौण) होता है। जैसे कि एक ही आख्यात से उपात्त भावना, कर्त्ता और संख्या इन तीनों में से भावना ही प्रधान होती है और उसकी अपेक्षा शेष दोनों ही गौण होते हैं। शेष दोनों में भी कर्त्ता प्रधान होता है, एवं संख्या उससे गौण होती है।

इसी प्रकार पाक, ज्वलन संभरण प्रभृति सभी व्यापार पचति-पदघटक तिप् प्रत्यय के द्वारा ही उपात्त हैं, किन्तु उनमें पाक ही मुख्य है, तदनुकूल व्यापार का आश्रय देवदत्त ही प्रधान कर्त्ता है। ज्वलनादि भी गौण व्यापार हैं ही। तदनुसार काष्ठ, स्थाली प्रभृति में भी कभी कभी कर्तृत्व का व्यवहार होता है। तन्मूलक ही 'काष्ठानि पचन्ति', 'स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

तस्माद्यस्य''करणादिता

'तस्मात्' धातुओं से या आख्यातों से प्रधानतः जो क्रिया विवक्षित होती है, उस क्रिया का आश्रय ही 'प्रधानकर्त्ता' होता है। एवं गौण क्रियाओं के आश्रय करण-अधिकरणादि कारक होते हैं। यदि सभी क्रियाओं का प्राधान्य सामान्य रूप से विवक्षित हो तो 'काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

इतिकर्त्तव्यतांशेन''''प्रधानक्रियया सह

इसलिये यह ठीक ही कहा गया है कि प्रधान क्रिया (भावना) के साथ अवान्तर सभी ज्वलन-संभरणादि क्रियाओं का अन्वय 'इतिकर्त्तव्यता' रूप से ही होता है।

प्रतिषेधविकल्पादेः""न च वस्तुना

('प्रतिषेधविकल्पादेः सम्बन्धश्च विरुद्धयते' (श्लो० ९५) इस आधे श्लोक से यह आक्षेप किया गया है कि 'नञ्' प्रभृति निपात जिसके साथ सम्बद्ध होते हैं, उसी अर्थ के विरुद्ध पदार्थ का अभिधान करते हैं। अतः नञ् प्रभृति निपातों का किसी के साथ सम्बन्ध संभव नहीं है। किन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

विकल्पार्थक 'वा' अथवा अभावार्थक 'नञ्' प्रभृति निपात जिस शब्द के साथ प्रयुक्त रहते हैं, उस शब्दार्थ से उनके अर्थों का कोई विरोध नहीं है ॥ २९९–३०० ॥

अभावमेव नञ् प्राह वर्तमानादिकालिकम् ।
नामधात्वर्थयोगी च निषेधोऽन्यार्थभाग् भवेत् ॥ ३०१ ॥
तत्र वस्त्वन्तरोन्मुक्तं वस्त्वेवानुगुणं च तत् ।
आख्यातप्रत्ययैर्योगे निवृत्त्यर्थः प्रतीयते ॥ ३०२ ॥
तत्र चाज्ञातसन्दिग्धविपरीतार्थवारणम् ।
अस्ति नास्तीति सन्देहे पाक्षिकास्तित्वबोधनम् ॥ ३०३ ॥
निवर्त्यते नञा यद्वा नास्तितैवोच्यते सती ।
अव्युत्पन्नस्य तत्रैव जायते नास्तितामतिः ॥ ३०४ ॥
अस्तित्वमानिनः सैव वार्यते विपरीतधीः ।
अपूर्वाभावविज्ञानविरोधात् स्वयमेव तु ॥ ३०५ ॥
निवर्ततेऽस्तिताबुद्धिर्मृगतृष्णाविबुद्धिवत् ।
तच्चैतदनिषेधेऽपि स्याण्वादावीदृगेव नः ॥ ३०६ ॥
यत्राप्यज्ञातसन्दिग्धविपरीतार्थबाधनात् ।
अभावस्य च वस्तुत्वे पुरस्तात् प्रतिपादिते ॥ ३०७ ॥
घटादितुल्यता तस्य प्रतिषेधो न चाप्ययम् ।
विधायकैरसंयुक्तो न हि नञ् प्रतिषेधकः ॥ ३०८ ॥

अभावमेव""वर्तमानकालिकम्

क्योंकि 'नञ्' पद वर्तमानकालिक अभाव मात्र का वाचक है (स्वसम्बद्ध घटादि शब्दों के अर्थ घटादि के अभाव का वाचक नहीं है[1])।

---

१. कहने का तात्पर्य है कि 'स्वभूतेः प्रथमं वस्तु सद्भावेन निरूपितम् । कथं नञादिभिः पश्चादभावमुपनीयते ।' (श्लो० ९६) इस श्लोक के द्वारा जो यह आक्षेप किया गया है कि नञ् पद अभाव का चूँकि उत्पादक कारण नहीं है, अतः प्रतियोगिभूत घटादि वस्तुओं के साथ उसका कोई विरोध नहीं है, किन्तु पहले से ही विद्यमान अभाव—चाहे वर्तमान हो अथवा अतीत या अनागत ही हो—नञ् पद के द्वारा होने वाले बोध का विषय होता है। अतः घटादि प्रतियोगियों के साथ नञ् पद का कोई विरोध नहीं है।

नामधात्वर्थयोगी च''''अन्यार्थभाग् भवेत्'''अनुगुणं च तत्

नामार्थ और धात्वर्थ इन दोनों के साथ नञर्थ (१) पर्युदास (२) अभाव और (३) प्रतिषेध इन तीनों में से किसी रूप से सम्बद्ध होता है।

पर्युदास सम्बन्ध के द्वारा ब्राह्मण स्वरूप नामार्थ के साथ सम्बद्ध नञ् से ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि भाव पदार्थों का ही बोध होता है।

एवं ईक्षण स्वरूप धात्वर्थ के साथ सम्बद्ध नञ् शब्द से इक्षणाभावविषयक संकल्प स्वरूप भाव पदार्थ का ही बोध 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि मनुवचनों के द्वारा होता है। अर्थात् पर्युदास नञ् से भाव पदार्थ का ही बोध होता है, चाहे वह नामयोगी हो अथवा धातुयोगी हो।

यह 'वस्त्वन्तर'-पर्युदास वस्त्वन्तर का धर्म रूप है। फलतः इतरेतराभावात्मक है (अर्थात् ब्राह्मणनिष्ठ क्षत्रियादिभेद स्वरूप अथवा क्षत्रियादिनिष्ठ ब्राह्मण-प्रतियोगिक भेद स्वरूप है)।

आख्यातप्रत्ययैः'''प्रतीयते''''विपरीतार्थवारणम्

नास्ति घटः, नासीद् घटः, न भविष्यति घटः इन स्थलों में आख्यात के साथ जो नञ् पद का सम्बन्ध है, उससे भी नञ् पद के द्वारा 'वस्त्वभाव' की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु पूर्वसिद्ध घटाभाव के प्रसंग में अज्ञान, संशय, विपर्यय स्वरूप जितने भी भ्रम हैं उनका निवारण मात्र होता है।

अस्ति नास्तीति'''अवबोधनम्''''नञा

'घटोऽस्ति न वा' इस सन्देह की स्थिति में 'घटो नास्ति' इस धातुयोगी नञ् के द्वारा 'अस्ति' घटित उक्त वाक्य से प्राप्त घट की अस्तित्वबुद्धि का निवारण मात्र होता है।

यद्वा नास्तितैवोच्यते सती

अथवा कथित 'पाक्षिक अस्तित्वबुद्धि' का निवारण भी साक्षात् नञ् पद से नहीं होता है। किन्तु नञ् के द्वारा पहले से विद्यमान नास्तित्व की उपस्थिति से अस्तित्व का ज्ञान विरोधिविषयक होने के कारण स्वतः निवृत्त हो जाता है।

अव्युत्पन्नस्य'''नास्तितामतिः'''विपरीतधीः

''''नञ् पद से अज्ञान की निवृत्ति इस प्रकार होती है—जिस व्यक्ति को घट की असत्त्वदशा में घट के नास्तित्व का ज्ञान नहीं है (यही घटनास्तित्व का अज्ञान है) उस व्यक्ति को 'घटो नास्ति' इस नञ्घटित वाक्य के द्वारा घटनास्तित्व के ज्ञान से कथित घटनास्तित्वविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है।

एवं घटनास्तित्वदशा में जिस व्यक्ति को 'घटोऽस्ति' यह विपर्ययस्वरूप बुद्धि है, उसकी निवृत्ति भी 'घटो नास्ति' इस नञ्घटित वाक्य से होती है, क्योंकि घटा-स्तित्वबुद्धि के साथ पहले से सर्वथा अज्ञात रहने पर भी घटास्तित्व के साथ घटना-स्तित्व का स्वाभाविक विरोध है। अतः घटनास्तित्वविषयक ज्ञान से स्वभावतः

घटास्तित्वविषयक विपर्यय निवृत्त हो जाता है। जैसे कि मृगतृष्णिका (मरीचिका) में जल का विपर्यय मृगतृष्णिका की बुद्धि से स्वभावतः निवृत्त हो जाता है।

तच्चैतत्''''ईदृगेव न'' 'विपरीतार्थबाधनात्

अन्य प्रमाणों से भी अज्ञान, संशय, विपर्यय का निरास होता है। जैसे कि 'अयं पुरुष एव' इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से पुरुषत्व के अज्ञान, 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषः' इस संशय एवं 'अयं स्थाणुरेव' इस विपर्यय का निरास देखा जाता है। अतः नञ् शब्द से कथित अज्ञान, संशय एवं विपर्यय की निवृत्ति की बात कोई नयी नहीं है।

अभावस्य च वस्तुत्वे'''प्रतिपादिते''''घटादितुल्यता तस्य

अभाव नाम की किसी वस्तु की सत्ता न रहने के कारण नञ् पद में अनर्थकत्व का आक्षेप कर उसके सभी पदार्थों के साथ सम्बन्ध की असम्भावना की जो आपत्ति दी गयी है, उसका निराकरण—

'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।'

वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किञ्चित्कदाचन। (अभावपरिच्छेद श्लोक १२) इस श्लोक के द्वारा अभाव की सत्ता के प्रतिपादन से ही हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अभाव भी घटादि पदार्थों के समान ही 'अस्तित्ववान्' पदार्थ है। अतः घटादि पदों से घटादि पदार्थों की तरह 'नञ्' शब्द से अभाव पदार्थ के प्रतिपादन में कोई बाधा नहीं है।

प्रतिषेधो न वाच्ययम्

(पू० प०—प्राप्त किसी वस्तु का ही प्रतिषेध किया जाता है। यदि घट के प्रतिषेधविषयीभूत घट की सत्ता का प्रतिषेध पहले से ही प्राप्त है, तो फिर उसका प्रतिषेध ही कैसे किया जा सकता है, क्योंकि विद्यमान वस्तु की अविद्यमानता सम्भव ही नहीं है ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—

नञ् स्वयं प्रतिषेध का वाचक नहीं है।

विधायकैः' 'प्रतिषेधकः

क्योंकि 'विधायक' अर्थात् भावबोधक शब्दों के साथ असम्बद्ध नञ् से अभाव का बोध नहीं होता। अर्थात् भाव के बोधक घटादि शब्द ही अपने अर्थों के सद्रूप और असद्रूप दोनों के वाचक हैं। कब वे असद्रूप से भाव के बोधक होते हैं, इसका द्योतक ही 'नञ्' शब्द है ॥ ३०१–३०८॥

अभावकथनं ह्येतन्नावश्यं प्राप्तिपूर्वकम्।
न च शब्देन सद्भावस्तस्य चार्थस्य बोधितः॥ ३०९॥

क्योंकि यह नियम नहीं है कि अभाव अपने प्राप्त प्रतियोगी के अभाव का ही प्रतिपादन करे, क्योंकि घटादि प्रतियोगिबोधक पदों से घटादि प्रतियोगियों की सत्ता प्रतिपादित नहीं होती अपितु (सत्त्वासत्त्व से असम्पृक्त) केवल प्रतियोगी ही उन शब्दों से प्रतिपादित होते हैं ॥ ३०९॥

अस्तित्वाद्यनपेक्षं हि सामान्यं तेन गम्यते ।
अस्तिशब्दप्रयोगोऽपि तेनैवात्रोपपद्यते ॥ ३१० ॥

घटास्तित्व के बोध के लिए 'घटः' शब्द से अतिरिक्त अस्ति, विद्यते प्रभृति अस्तित्व के बोधक अन्य शब्दों की भी अपेक्षा होती है । इससे यह निष्पन्न होता है कि घटादि शब्द सत्त्वासत्त्वानपेक्ष केवल घटत्वादि सामान्यों के ही बोधक हैं । यदि ऐसा न होता तो घटसत्त्वविषयक बोध के लिए अस्ति, विद्यते प्रभृति पदों की अपेक्षा नहीं होती ॥ ३१० ॥

जातेरस्तित्वनास्तित्वे न च कश्चिद् विवक्षति ।
नित्यत्वाल्लक्ष्यमाणाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे ॥ ३११ ॥

जातेरस्तित्व'''नित्यत्वात्

पदों की अभिधावृत्ति केवल जाति में ही है । जाति चूँकि नित्य है, अतः उसके अस्तित्व अथवा नास्तित्व के लिये किसी शब्द के प्रयोग की अपेक्षा नहीं है । अतः जातिगत अस्तित्व अथवा नास्तित्व किसी पुरुष की विवक्षा का विषय हो ही नहीं सकता ।

लक्ष्यमाणायाः'''ते हि विशेषणे

इसलिये अस्ति और नास्ति पद से उपस्थित अस्तित्व और नास्तित्व घटादि पदों से लक्षणावृत्ति के द्वारा उपस्थित घटादि व्यक्तियों के ही विशेषण हो सकते हैं ॥ ३११ ॥

तेनात्र न विरोधित्वं श्रुत्या पूर्वोक्तया नञः ।
यत्राप्यस्तीत्युपादाय प्रयुज्येरन्नभावयः ॥ ३१२ ॥
तत्र तस्यापवादत्वात् पूर्वज्ञानोपमर्दनम् ।
अस्तित्वं वा सदेवात्र स्मर्यते पूर्वलक्षितम् ॥ ३१३ ॥
अभावोत्तरकालं स्याद् विशेषे तद्विवक्षिते ।
विधिना युज्यते यत्र न हन्यान्न पिबेदिति ॥ ३१४ ॥
तत्राभावार्थता नैव स्वयं पुंसो रुणद्धि हि ।
अन्यथैव प्रवर्त्तन्ते भावाभावधियोऽपराः ॥ ३१५ ॥

तेनात्र न'''पूर्वोक्तया नञः

अतः पद की अभिधावृत्ति से अनुपस्थित घटादि व्यक्तियों का ही नास्तित्व विशेषण होता है, घटादि पदों से अभिधावृत्ति के द्वारा उपस्थित घटत्वादि जातियों का नहीं । अतः पूर्वश्रुत घटादि पदों के साथ नञ् पद का कोई विरोध नहीं है ।

यत्राऽप्यस्ति'''पूर्वज्ञानोपमर्द्दनम्'' पूर्वलक्षितम्'''तद्विवक्षिते

(पू० प०—यदि घटादि पदों के लक्ष्यार्थ में अन्वित होने के कारण ही नञ् पद का घटादि पदों के साथ कोई विरोध नहीं है, तो फिर जहाँ घटादि के अस्तित्व

का भी पद के द्वारा ही अभिधान कर पश्चात् उसमें अन्वय के अभिप्राय से 'नास्ति' पद का प्रयोग होता है, जैसे कि 'अस्ति घटो नास्ति' (अर्थात् अस्तित्व से युक्त घट नहीं है) उस प्रकार के स्थलों में नञ् के अन्वय का विरोध हो सकता है। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

उक्त वाक्य के तीन अर्थ हो सकते हैं—

तत्र तस्यापवादत्वात्'' 'उपमर्दनम्

(१) उक्त महावाक्य के अन्तर्गत जो 'अस्ति घटः' यह खण्ड वाक्य है उससे घट की सत्ता प्रतिपादित होती है, उसी में जो 'नास्ति घटः' यह खण्ड वाक्य है उससे घट का नास्तित्व प्रतिपादित होता है। यहाँ वस्तुतः एकवाक्यता है ही नहीं। 'अस्ति घटः' एवं 'नास्ति घटः' ये अलग-अलग दो वाक्य ही है। इनमें पहले वाक्य से प्रतिपादित घटास्तित्व का 'उपमर्दन' अर्थात् बाध दूसरे वाक्य से प्रतिपादित 'घटनास्तित्व' के द्वारा होता है। एक ज्ञान का बाध दूसरे विरोधिविषयक ज्ञान से 'रजतमिदम्, ।न रजतम्' इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। अतः कोई विरोध नहीं है।

(२) अस्तित्वं वा'' 'पूर्वलक्षितम्

उक्त स्थल में घट की नास्तिता वास्तविक है, एवं घट का अस्तित्व अवास्तविक है। अतः 'घटोऽस्ति' इस वाक्य से जो घट में अस्तित्व का ज्ञान होगा, वह भ्रान्ति स्वरूप होगा। भ्रान्तिप्रतिपन्न घट के सत्त्व का ही प्रतिपादन 'घटोऽस्ति' इस वाक्य से होता है। उस भ्रान्ति स्वरूप ज्ञान को बाधित करने के लिये ही 'घटो नास्ति' इस वाक्य का प्रयोग होता है जिससे यह बोध होता है कि अस्तित्व रूप से ज्ञात जो घट है, वह वास्तव में नहीं है। इस स्थिति में कोई विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि पारमार्थिक नास्तित्व का काल्पनिक अस्तित्व के साथ विरोध संभव नहीं है।[1]

(३) अभावोत्तरकालं स्यात्

अथवा 'अस्ति घटः' इस वाक्य से प्रतिपादित घट का अस्तित्व 'पूर्वकालिक' है, एवं 'घटो नास्ति' इस वाक्य से प्रतिपादित घट का नास्तित्व 'उत्तरकालिक' है। इस प्रकार विभिन्नकालिक घटास्तित्व और घटनास्तित्व दोनों विषयों का इस प्रकार का बोध 'अस्ति घटो नास्ति' इस वाक्य से उत्पन्न होता है 'प्रागवस्थितो यो घटः स इदानीं नास्ति'। इस बोध में पूर्वकालिक अस्तित्व का स्मरण (उपस्थिति) 'अस्ति' शब्द से होता है। स्मारित यह अस्तित्व ही 'घटो नास्ति' इस वाक्य के द्वारा उत्तरकाल में बाधित हो जाता है।[2]

---

१. इन दोन व्याख्याओं की सूचना श्लोक २११ के पूर्वार्द्धगत 'तत्र तस्यापवादत्वात्' इस वाक्य के द्वारा दी गयी है।

२. इसकी व्युत्पत्ति प्रकृत में इस प्रकार है 'उत्तरकाले सम्बन्धितया यस्य अस्तित्वस्य न विद्यते 'तदविद्यमानकालोत्तरम्'।

'विशेषे तद्विवक्षिते

'सत्' अर्थात् उक्त रीति से 'अस्ति' पद के द्वारा स्मारित अस्तित्व कालभेद की विवक्षा के अनुसार 'उत्तरकाल' हो जाता है।[1]

विधिना युज्यते''रुणद्धि हि

(पू० प०—फिर भी 'न हन्यात्, न पिबेत्' इत्यादि विधिप्रत्ययों के साथ प्रयुक्त होनेवाले 'नञ्' के प्रयोग में 'विरोध' अनिवार्य होगा, क्योंकि किसी प्रकार से प्राप्त वस्तु का ही निषेध किया जाता है, सर्वथा अप्राप्त वस्तु का नहीं। अतः राग से प्राप्त प्राणहनन का ही निषेध उक्त वाक्य से मानना होगा, अथवा रागप्राप्त सुरापान का ही निषेध मानना होगा। यदि उक्त प्राणहननादि राग से प्राप्त हैं, तो फिर उनका निषेध ही कैसे प्रतिपादित हो सकता है, क्योंकि राग से प्राणहनन व्यापार अनुष्ठित होने पर अवश्यंभावी प्राणहनन का निषेध नहीं किया जा सकता।

यदि प्राणहरण के अनुकूल व्यापार ही अनुष्ठित नहीं होगा, तो फिर प्राणहरण प्राप्त ही नहीं है, अतः उसका प्रतिषेध ही अनुपपन्न है। इन दोनों ही स्थितियों में विधिप्रत्यय से सम्बद्ध नञ् के प्रयोग में विरोध अनिवार्य है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

'ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादि प्रतिषेधवाक्यगत विधिप्रत्ययान्वित 'नञ्' अभावार्थक है ही नहीं। उक्त प्रतिषेधवाक्यस्थ नञ् को यदि केवल अभावार्थक मानें तो भी केवल अभाव के अभिधान मात्र से उसका अभिधान चरितार्थ नहीं हो सकता। अतः यह मानना होगा कि प्रतिषेधवाक्यस्थ नञ् केवल अभाव के अभिधान से कुछ अधिक काम करता है।

प्रतिषेधवाक्यस्थ नञ् शब्द 'स्वयम्' पुरुष को प्रतिषिद्धाचरण से बलात् केश पकड़ कर निवृत्त कर अभाव का व्यवस्थापन करता है।

यदि केवल 'न पास्यते, न हनिष्यते' इत्यादि वाक्यों के समान 'न पिबेत्, न हन्यात्' इत्यादि वाक्यों से भी प्राणहननाभाव या सुरापानाभाव मात्र का अभिधान होता तो राग से अनुष्ठित सुरापान या ब्राह्मणहननादि की सत्ता के संभावित होने से उसके अभाव का अभिधान असत्याभिधान होता। इससे ये प्रतिषेधवाक्य असदर्थ के बोधक होने के कारण अप्रमाण हो जाते।

तस्मात् यही मानना होगा कि सुरापान में या ब्राह्मणहनन में प्रवृत्त पुरुष को उन कार्यों से निरुद्ध करते हुए उस पुरुष में सुरापानादि के अभाव को नञ् शब्द इसलिये व्यवस्थित करता है कि उस व्यक्ति को इन प्रतिषिद्ध सुरापानादि के आचरणों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, जिससे वह आगे प्रतिषिद्धाचरण न कर सके।

अतः प्रतिषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् शब्द प्रतिषिद्ध आचरण की इच्छा रखने वालों में उस आचरण से वैराग्य उत्पादन करता हुआ ही अभाव का व्यवस्थापक

---

१. 'सत्' स्मारितमस्तित्वं कालविशेषे विवक्षिते सति उत्तरकालं भवति' इस प्रकार का अन्वय 'अभावोत्तरकालं स्यात्' इस वाक्य में समझना चाहिये।

है, केवल अभाव का वाचक नहीं है। अतः प्रतिषेधवाक्यों में नञ् के प्रयोग में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

अन्यथैव''अपराः

विधिप्रत्ययघटित निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् से होनेवाली अभावप्रतीति से भिन्न जितनी भी अभावप्रतीतियाँ हैं—चाहे वे शब्दप्रमाणजन्य हों या शब्देतर-प्रमाणजन्य हों—एवं जितनी भी विधिप्रत्ययाघटित वाक्यजन्य प्रतीतियाँ हैं—चाहे वे शब्दप्रमाणजन्य हों या अन्यप्रमाणजन्य हों—वे सभी अपनी सत्ता के अनुसार ही प्रमा या अप्रमा होती हैं।

जैसे कि अपाक्षीत्, नापाक्षीत्, पचति, न पचति, पक्ष्यति, न पक्ष्यति, अस्ति, नास्ति, इत्यादिवाक्यजन्य भूतकालिक पाक, या पाकाभाव, अथवा वर्त्तमानकालिक पाक या पाकाभाव, किं वा भविष्यत्कालिक पाक या पाकाभाव की जितनी भी अस्तित्व या नास्तित्वविषयक प्रतीतियाँ होती हैं, उनका प्रामाण्य केवल इस बात पर निर्भर करता है कि उक्त भाव और अभाव की वास्तविक सत्ता है या नहीं। यदि वास्तविक सत्ता है तो प्रतीति प्रमा होगी, यदि नहीं तो प्रतीति अप्रमा होगी ॥ ३१२–३१५ ॥

> व्यवस्थितबहिर्वस्तुपरिच्छेदफलात्मिकाः ।
> अन्यथानागतोत्पाद्यभावप्रेरणवारिकाः ॥ ३१६ ॥
> अन्तःसङ्कल्पमूलात्मा वृत्तिर्विधिनिषेधयोः ।
> विकल्पोऽप्यनयोरेव विषयेषु प्रवर्त्तते ॥ ३१७ ॥

व्यवस्थित''''प्रेरणवारिकाः''विधिनिषेधयोः

विधिवाक्य और निषेधवाक्य इन दोनों की प्रवृत्ति कुछ दूसरे प्रकार की होती है, क्योंकि ये 'अनागत' अर्थात् अनुत्पाद्य, एवं 'उत्पाद्य' अर्थात् उत्पादनयोग्य जो 'भाव' अर्थात् व्यापार, उनको प्रेरिका या निवारिका हैं।

इस दृष्टि से विधि और निषेध की 'प्रवृत्ति' मूलतः 'अन्तः संकल्प' रूप है। तदनुसार विधिवाक्य विधेय सन्ध्यावन्दनादिविषयक प्रमाज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से पुरुष में तद्विषयक अनुष्ठानसंकल्प को उत्पन्न करता है। फिर पुरुष में उस संकल्प के अनुरूप व्यापार को उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'विधि' ज्ञापक और उत्पादक दोनों ही प्रकार का कारण है।

इसी प्रकार निषेधवाक्य से भी निषिद्ध प्राणिहिंसादि में अनिष्टसाधनत्व-विषयक प्रमात्मक बोध के द्वारा तद्विषयक 'अननुष्ठान' विषयक संकल्प का उदय होता है जिससे निषिद्धविषयक अनुष्ठान के अभाव का, फलतः निवारण का, व्यव-स्थापन होता है। इस प्रकार प्रतिषेधवाक्यघटक लिङ् प्रत्यय से प्राप्त कर्त्तव्यताविषयक कर्त्तव्यता रूप जो विध्यर्थ है, उसका अनुवाद कर तद्घटक नञ् से उसका निषेध मानें, अथवा नञ् से अनुष्ठान के अभाव स्वरूप वर्जन का विधान ही मानें, दोनों ही स्थितियों में प्राणिहिंसादि में अनिष्टसाधनत्वसंकल्प की उत्पत्ति होगी। इस रीति

से अनुष्ठानसंकल्प का उदय होता है। अतः निषेधस्थ नञ् के प्रयोग में कोई विरोध नहीं है।

विकल्पोऽपि""प्रवर्त्तते

(प्रतिषेधविकल्पादेः सम्बन्धस्य विरुद्धयते (श्लोक ९५) के द्वारा जो विकल्पार्थक 'वा' प्रभृति निपातों के विकल्पादिसम्बन्ध (अन्वय) में विरोध की चर्चा की गयी है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—)

विकल्प की भी विधि और प्रतिषेध इन्हीं दोनों विषयों में प्रवृत्ति होती है। फलतः विधि और निषेध में जब कोई विरोध नहीं, तो उन्हीं विषयों में प्रवृत्त होने वाले विकल्पार्थक 'वा' प्रभृति निपातों के अन्वय में भी किसी विरोध की सम्भावना नहीं है॥ ३१६–३१७॥

प्राप्तेषु प्रतिषेधार्थमप्राप्तेषु विधित्सया।
युगपच्च विरुद्धार्थप्रतिपत्तेरसम्भवः॥ ३१८॥

विकल्प के ये दो भेद हैं—प्राप्त विषयों का प्रतिषेध (पाक्षिकनिषेधार्थ) एवं अप्राप्त विषयों में प्रवृत्ति (पाक्षिकविध्यर्थ)। 'दीर्घात्' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार तुगागम नित्य प्राप्त है। 'पदान्ताद्वा' इस पाणिनिसूत्र से जो तुगागम के विकल्प का विधान किया गया है वह प्राप्तप्रतिषेधार्थक है। एवं 'ईरितो वा' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार अप्राप्त विषय का विकल्प से विधान पाक्षिकविध्यर्थ है।

एक ही समय एक ही वाक्य से क्रमशः एकविषयक विधान एवं तदनन्तर तद्विरुद्धविषयक विधान सम्भव नहीं है॥ ३१८॥

पर्यायेण कदाचित्तु काचिद् वृत्तिर्भविष्यति।
प्राप्ताप्राप्तविकल्पस्तु नैवेष्टो लोकवेदयोः॥ ३१९॥

किन्तु क्रमशः एक ही विकल्पबोधक वाक्य में क्रमशः एकविषयक विधान एवं तद्विरुद्धविषयक विधान असंभव नहीं है।

नियमतः प्राप्त विषयों में एवं सर्वथा अप्राप्त विषयों में विकल्प लोक या वेद कहीं भी दृष्ट नहीं है। फलतः पाक्षिक प्राप्त का एवं पाक्षिक अप्राप्त का ही विकल्प होता है। ये दोनों ही प्रकार के विकल्प समयभेद से उपपन्न होने के कारण परस्पर-विरुद्ध नहीं हैं॥ ३१९॥

न विकल्पार्थवाची तु वाशब्दो विषयान्तरे।
स्थाणुर्वा पुरुषो वेति याति तिष्ठति वेत्ययम्॥ ३२०॥
सन्देहकथनार्थः स्यान्न हि वस्तु विकल्पते।
विषये बाह्य एवैवं प्रतिषेधादिसम्भवः॥ ३२१॥
न हि तत्सम्भवः कश्चिद् ज्ञाने स्वरसभङ्गिनि।
ज्ञानं यद् तावदुत्पन्नं नानुत्पन्नं तदिष्यते॥ ३२२॥

विनाशेऽपि समानत्वं सत्यमिथ्यावबोधयोः।
बाह्यार्थवाविनस्त्वर्थे यज्ज्ञानं जायतेऽन्यथा॥ ३२३॥
तन्मिथ्यात्वोपसंख्यानात् पूर्वबाधाविसम्भवः।
तत्रापि तु न तद्रूपं बाध्यते न च बोध्यते॥ ३२४॥
अर्थज्ञानादिरूपास्तु फलतो विप्रयुज्यते।
प्रतिभानेकधा पुंसां यद्यप्यर्थेषु जायते॥ ३२५॥
तथापि बाह्य एवार्थस्तस्य वाक्यस्य चेष्यते।
वाक्यप्रयोजनत्वेन अन्यत्वेनाथ वा यदि॥ ३२६॥
उच्यते प्रतिभाप्यर्थो न नः किञ्चिद् विरुध्यते।
शब्दाद्युत्थापितैर्ज्ञानैरात्मांशग्रहणाक्षमैः ॥ ३२७॥
यद् बाह्यमाप्यते वस्तु स स्वर्थः पारमार्थिकः।
प्रत्यक्षव्यतिरिक्तं तु विज्ञानमुपवर्णितम्॥ ३२८॥
त्रिकालविषयं यस्मादसन्निधिरदूषणम्।
अनेकाकारता यापि शूरभीरुधियं प्रति॥ ३२९॥
वासनानुग्रहात् सोक्ता कुणपादिमतेरिव।
भावनैव च वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया॥ ३३०॥

न विकल्पार्थवाची''''वस्तु विकल्पते

(पृ० ५०—समय के भेद से विरोध का परिहार उक्त रीति से अनुष्ठान के प्रसंग में ही हो सकता है, सिद्ध वस्तु के प्रसंग में नहीं, क्योंकि सिद्ध वस्तु तो सभी समय एक ही रूप का रहता है। अतः सिद्धवस्तुविषयक जो 'स्थाणुर्वा पुरुषः' अथवा 'अयं याति तिष्ठति वा' इत्यादि वैकल्पिक प्रयोग होते हैं, उन स्थलों में विरोध का परिहार कैसे होगा ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—) इस स्थलों में 'वा' शब्द सन्देह का सूचक है, विकल्प का नहीं। इन स्थलों में 'वा' शब्द विकल्पार्थक है ही नहीं, किन्तु सन्देहार्थक है, क्योंकि सिद्ध वस्तु का विकल्प (विविध कल्प) संभव नहीं है।

विषये बाह्य एवैवम्''''स्वरसभङ्गिनि

(अन्यरूपपरिच्छेदाद्बाह्यवस्त्वर्थवादिनाम् (श्लो० ९६) के द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि—'नञ्' निपातादि के प्रसङ्ग में यह विरोध 'बाह्यार्थवादी' मीमांसकादि के पक्ष में ही है, विज्ञानवादी बौद्धों के पक्ष में नहीं। यह कथन वस्तुगति के विपरीत है, क्योंकि—)

उक्त प्रतिषेध या सन्देह बाह्य वस्तुओं में ही संभव है, विज्ञान स्वरूप आन्तरिक वस्तुओं में नहीं।

एवं 'अस्तित्वं वा सदेवान स्मर्यते पूर्वलक्षितम्' (श्लो० ३१३) इस श्लोकार्द्ध के द्वारा आख्यात के साथ अन्वित नञ् के द्वारा भ्रान्ति से प्राप्त अस्तित्वविषयक ज्ञान

एवं कर्त्तव्यताज्ञान इन दोनों का जो बाध कहा गया है, वह भी बाह्यार्थवादियों के प्रसंग में ही संभव है, प्रतिक्षण विनाश स्वभाववाली वस्तु में ये संभव नहीं हैं।

ज्ञानं यत्तावत्'' तदिष्यते

क्योंकि जो अस्तित्व का ज्ञान या कर्त्तव्यता का ज्ञान उत्पन्न हो चुका है उसे अनुत्पन्न नहीं कहा जा सकता।

विनाशेऽपि'''अवबोधयोः

यदि पूर्वज्ञान से उत्तरज्ञान का विनाश ही विकल्प से होता हो तो यथार्थज्ञान में भी यह बाध्यता रहेगी ही, अर्थात् यथार्थज्ञान बाधक होता है और अयथार्थज्ञान बाध्य होता है—यह व्यवस्था लुप्त हो जायगी। विनाशपक्ष में पूर्वज्ञान ही बाध्य होगा चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, एवं उत्तरज्ञान बाधक ही होगा।

बाह्यार्थवादिनः'''पूर्वबाधादिसंभवः

बाह्यार्थवादीगण 'मिथ्याज्ञान' उसे कहते हैं, जो विशेष्य में अविद्यमान वस्तु (विशेषण) का प्रकाशक हो (अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारक हो)। इस प्रकार का ज्ञान चाहे पूर्ववर्त्ति हो चाहे उत्तरवर्त्ति हो, अपने विरोधी यथार्थज्ञान (तद्वति तत्प्रकारकज्ञान) से बाधित होगा।

फलतः यथार्थज्ञान ही बाधक होता है, एवं अयथार्थज्ञान ही बाध्य होता है। पूर्ववर्त्ति या उत्तरवर्त्ति होने से ही कोई बाध्य या बाधक नहीं होता।

तत्रापि तु न तद्रूपम्'''फलतो विप्रयुज्यते

(पू० प०—फिर भी 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इत्यादि स्थलों में बाध की चर्चा क्यों, क्योंकि स्थाणुत्व एवं पुरुषत्व इन दोनों में से कोई किसी का बाधक या बाध्य नहीं है? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि—)

स्थाणुर्वा पुरुषः, याति तिष्ठति वा इत्यादि स्थलों में भी कोई भी एक रूप न किसी से बाधित होता है, न किसी एक से दूसरे का बाधक ही होता है।[1]

---

१. कहने का तात्पर्य है कि जिस विरोधिज्ञान से दूसरे विरोधिज्ञान में अयथार्थत्व की स्थापना होती है, वही 'बाध्य' होता है और जिससे अयथार्थत्व की स्थापना होती है, वही 'बाधक' होता है। अतः यथार्थ पूर्वज्ञान से भी उत्तरवर्त्ति अयथार्थज्ञान का बाध होता है। प्रमाभूत उत्तरज्ञान से भी जो अप्रमाभूत पूर्वज्ञान का बाध होता है, उसमें भी उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान का विनष्ट होना कारण नहीं है, क्योंकि जहाँ परस्पर निरपेक्ष दो प्रमाज्ञान ही निरन्तर उत्पन्न होते हैं, वहाँ भी उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान का विनाश अवश्य होता है।

तदनुसार बाध दो प्रकार का है (१) विनाश स्वरूप और (२) अयथार्थत्वस्थापन स्वरूप। इनमें प्रथम बाध का प्रयोजक है 'उत्तरवर्त्तित्व' एवं दूसरे बाध का प्रयोजक है 'अयथार्थत्वस्थापकत्व'। किन्तु जिस प्रकार विनष्ट ज्ञान से कोई कार्य नहीं होता है, उसी प्रकार अयथार्थत्वकवलित (अप्रमाण्याज्ञानास्कन्दित) ज्ञान से भी कोई कार्य नहीं होता। अतः उभयसाधारण 'बाध' है 'फलहेतुत्व का अपहरण'। इनमें 'अपहर्त्ता' बाधक है, एवं अपहृत्य 'बाध्य' है।

प्रतिभाऽनेकधा⋯वाक्यस्य नेष्यते

(पू० प०—यदि बाह्य पदार्थ को वाक्यार्थ मानेंगे तो एक ही वाक्य से जो अनेक प्रकार का प्रतिमान स्वरूप 'प्रतिभा' रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, जैसे कि स्वर्गकामो यागं कुर्यात्' अथवा 'यागेन स्वर्गं कुर्यात्' इत्यादि वह न हो सकेगा यदि वाक्यार्थ को विज्ञान स्वरूप आन्तर पदार्थ मानते हैं तो 'वासना' के बल से एक ही वाक्य से अनेक प्रकार का प्रतिमान स्वरूप 'प्रतिभा' की उपपत्ति हो सकती है। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि—)

यह सत्य है कि एक ही वाक्य से विभिन्न पुरुषों को अनेक प्रकार के प्रतिभान होते हैं, तथापि उस एक वाक्य के उन अनेक अर्थों को हमलोग बाह्य पदार्थ ही मानते हैं। अनेक प्रकारक प्रतिभान स्वरूप प्रतिभा के बाह्यविषयकत्व का प्रतिपादन शून्यवाद में किया जा चुका है।

वाक्यप्रयोजनत्वेन⋯किञ्चिद्विरुध्यते

अनेकाकारक प्रतिभास स्वरूप प्रतिभा को वाक्य का प्रयोजन मानें कि वा वाक्यजन्य मानें, तथापि 'प्रतिभा' भी 'अर्थ' अर्थात् बाह्यार्थविषयक ही है, आन्तर विज्ञानविषयक नहीं है—ऐसा स्वीकार करने पर भी हम लोगों (मीमांसकों) के पक्ष में कोई विरोध नहीं है।

शब्दाद्युत्थापितेः⋯पारमार्थिकः

शब्द या प्रत्यक्षादि तदन्य प्रमाणों से जितने भी ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनमें से कोई भी ज्ञान स्वांशज्ञान के ग्रहण में क्षम नहीं है। अतः उन प्रमाणों से बाह्यविषयक ज्ञान रूप प्रमा ही उत्पन्न होती है। उसका विषय बाह्य पदार्थ ही है, एवं वह पारमार्थिक भी है।

प्रत्यक्षव्यतिरिक्तम्⋯असंनिधिरदूषणम्

प्रत्यक्ष ही केवल ऐसा ज्ञान है, जिसके विषय का वर्त्तमानकालवृत्तित्व आवश्यक है। प्रत्यक्ष से भिन्न जितने भी शब्द या अनुमानादि प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान हैं, वे सभी भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालों के विषयों के ग्राहक हैं। अतः शब्द प्रमाण स्वरूप वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के असंनिहित अर्थात् भूतादिकालिक होने में कोई हानि नहीं है।

अनेकाकारता⋯कुणपादिमतेरिव

(पू० प०—वाक्यार्थबुद्धि का प्रमेय यदि बाह्य पदार्थ हो तो वह नियत स्वभाव के कारण अनेक कार्यों का जनक नहीं हो सकता। किन्तु वीर अर्जुन के चरित्र के श्रवण से शूरों को हर्ष और भीरुओं को भय उत्पन्न होता है। अतः बाह्य वस्तु नहीं है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि—)

वासना के अनुग्रह से एक वस्तु में अनेक आकारों की बुद्धियों का उपपादन शून्यवाद के (श्लो० २१५) में किया जा चुका है। अतः यह आपत्ति भी व्यर्थ है।

भावनैव च वाक्यार्थः""आख्यातवत्तया

यदि घटादि के समान कोई 'बाह्य' वस्तु वाक्यार्थ नहीं है, क्योंकि पदार्थों से भिन्न वाक्यार्थ नाम की किसी वस्तु का निर्वचन संभव नहीं है, तो फिर वाक्यार्थ कौन है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'भावना' ही वाक्यार्थ है, क्योंकि कोई भी वाक्य आख्यात से रहित नहीं होता। 'शुक्लो गौः' इत्यादि स्थलों में भी आख्यात का अध्याहार अवश्य होता है, क्योंकि आख्यात (क्रियापद) के विना वाक्य परिपूर्ण नहीं होता ॥ ३१९-३२० ॥

> अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता ।
> एकयैव तु बुद्ध्यासौ गृह्यते चित्ररूपया ॥ ३२१ ॥
> पदार्थाऽऽहितसंस्कारचित्रपिण्डप्रसूतया ।
> पदार्थपदबुद्धीनां संसर्गस्तदपेक्षया ॥ ३२२ ॥

अनेकगुणजात्यादि""चित्ररूपया""पिण्डप्रसूतया

(पू० प०—वाक्यार्थबोध में अनेक पदों के अर्थ सम्मिलित रहते हैं। 'भावना' आख्यात प्रत्ययमात्र का अभिधेय है। फिर 'भावना' को वाक्यार्थ कैसे कहते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है—)

केवल 'भावना' वाक्यार्थ नहीं है, किन्तु अनेक पदों के जाति गुणादि अनेक अर्थों से अनुरक्त 'भावना' ही वाक्यार्थ है, क्योंकि वह जाति गुणादि अनेकविषयक चित्रसदृश एक ही बुद्धि के द्वारा गृहीत होती है।

पदार्थपद""तदपेक्षया

(पू० प०—जाति गुण सहित अनेक विषयों सहित भावना की बुद्धि 'वाक्य' से उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि वाक्य उस विशिष्ट भावना का वाचक नहीं है। केवल भावना का वाचक तो आख्यात प्रत्ययमात्र है। वाक्य में जितने भी पद होते हैं, उनमें से प्रत्येक पद का अर्थ एवं तदर्थविषयक बुद्धि इन सबों से अलग तत्तत्पदार्थ-विशिष्ट भावनाओं के विशिष्ट बोध होते हैं, सभी पदार्थों से विशिष्ट भावना का एक 'विशिष्टबोध' नहीं होता। एवं क्रमशः विद्यमान पदों की एक क्षण में स्थिति सम्भव भी नहीं है, जिससे वे मिलकर एक विशिष्टबोध को उत्पन्न कर सकें। यह बात 'अत एव विशिष्ट धीस्तामिर्नैकोपजायते' इस श्लोकार्द्ध के द्वारा कही जा चुकी है। इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

वाक्यघटक प्रत्येक पद से उत्पन्न तत्तदर्थविषयक अनेक बुद्धियों से जो अनेकानेक संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन सभी संस्कारों से सभी पदार्थों से अनुरञ्जित एक विशिष्ट स्मृति उत्पन्न होती है। उस विशिष्ट स्मृति स्वरूप उपस्थिति से जातिगुणादि-विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होता है। क्रमशः उत्पन्न बुद्धियों से अवगत सभी पदार्थों की एक स्मृति की संभावना का उपपादन स्फोटवाद के श्लोक ११२ में किया जा चुका है।

पदार्थपदबुद्धीनाम् ' 'तदपेक्षया

इस प्रकार विशिष्टवाक्यार्थविषयक बुद्धि स्वरूप एक कार्य सम्पादक होने के के नाते वाक्यघटक प्रत्येक पद के अर्थ में भी (एककार्यकारित्वस्वरूप) सम्बन्ध स्थापित होता है ॥ ३३१–३३२ ॥

पदव्यवधिना चैषां नासंसर्गो भविष्यति ।
तुल्यकक्षो ह्यसम्बन्धी व्यवधातेति कीर्त्यते ॥ ३३३ ॥

(पू० प०—पदार्थ चूँकि पदघटित है, अतः एक पदार्थ और दूसरे पदार्थ के बीच में पद अवश्य रहेगा। इसलिए एक पदार्थ और दूसरे पदार्थ के बीच पद का व्यवधान होने के कारण पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की जो बात कही गयी है, वह अयुक्त सी लगती है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

पद के व्यवधान से (बीच में रहने से) पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि 'तुल्यकक्ष' समान स्थिति की दूसरी वस्तु के मध्य में रहने से ही 'व्यवधान' होता है। फलतः समानस्थिति वाला दूसरा पदार्थ ही 'व्यवधाता' कहलाता है ॥ ३३३ ॥

अङ्गत्वात् तु पदैर्न स्यादङ्गिव्यवधिकल्पना ।
एकस्मिश्च गृहीतेऽर्थे सोपायोऽन्योऽप्यपेक्ष्यते ॥ ३३४ ॥

पदार्थ चूँकि शाब्दबोध के अंग हैं, एवं वस्तुओं में पदार्थता के उपाय पद ही हैं, अतः पदसहित अर्थ स्वरूप पदार्थ ही शाब्दबोध का अंग है। पद को छोड़कर केवल अर्थ शाब्दबोध का अंग नहीं हो सकता। इसलिए शाब्दबोध के उपायस्वरूप पद के बीच में रहने से पदार्थों के अव्यवधान में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥३३४॥

अपेक्षया च सर्वोऽसौ सम्बन्धं प्रतिपद्यते ।
पदानामपि सम्बन्ध एवं वाक्येषु सिध्यति ॥ ३३५ ॥
पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।
अर्थरूपमिवापन्नं वाक्यं वाक्यस्य गोचरः ॥ ३३६ ॥
नेष्यते न ह्यभेदेन वृत्तिरस्तीति साधितम् ।
प्रासङ्गिकादि यत् कार्यं पदार्थोपनिबन्धनम् ॥ ३३७ ॥
आकाङ्क्षाविदितप्रश्नौ यौ च दृष्टौ पिकादिषु ।
असत्यं तद् अपोद्धृत्य न चैवं कल्पयिष्यति ॥ ३३८ ॥
शशशृङ्गाद्यपोद्धृत्य वाक्यार्थो न हि दृश्यते ।
असत्यैर्गम्यमानेऽर्थे सत्यता नेत्युदाहृतम् ॥ ३३९ ॥
स्वरूपेणासतो दृष्टं नोपायत्वं हि कस्यचित् ।
अवाचकत्वं वाक्यस्य तद्भूतानाम् इतीरितम् ॥ ३४० ॥
हेतुः स्यात् तन्निमित्तत्वम् मूलं वार्थस्य कथ्यते ।
पदार्थमूलको ह्येष न भ्रान्तिरिति गम्यताम् ॥ ३४१ ॥

अपेक्षया च''''वाक्यार्थोऽयमवस्थितः

इस प्रकार पदार्थों के सम्बन्ध चूँकि पदों की अपेक्षा रखते हैं, अतः यह मानना होगा कि वाक्यों में प्रयुक्त पदों में भी परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। अतः पदार्थों से घटित वाक्यार्थ भी अवश्य है।

अर्थरूपमिवापन्नम्''''वाक्यस्य गोचरः''''नेष्यते

('प्रतिभा' वाक्यार्थ नहीं है, किन्तु 'भावना' ही वाक्यार्थ है' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से यही उपपादित हुआ है। अब शब्दविवर्त्तवादी सम्प्रदाय के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। वे लोग कहते हैं वाक्य एक अखण्ड शब्द है। वही अखण्ड वाक्य अखण्ड अर्थ रूप में विवर्त्तित (ज्ञात) होता है। अखण्डवाक्य से ज्ञायमान (विवर्त्तमान) मूलतः अखण्डवाक्य से अभिन्न अर्थ ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए हम लोग (मीमांसक) कहते हैं—)

हम लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते कि शब्द ही अर्थ के समान प्रतीत होता है।

न ह्यभेदेन''''साधितम्

प्रत्यक्षसूत्र के वार्तिक में इसका उपपादन किया जा चुका है कि शाब्दबोध में भासित होनेवाले अर्थों में 'शब्दाभेद' का भान नहीं होता है (देखिये प्रत्यक्षसूत्र-वार्तिक २०५ श्लोक का सन्दर्भ)।

यदि वाक्य को अखण्ड मानेंगे, तो तद्विवर्त्त स्वरूप अर्थ (वाक्यार्थ) भी अखण्ड ही होगा, अर्थात् वाक्यार्थ पदार्थघटित नहीं होगा। किन्तु ऐसा मानने से पदार्थमूलक जो 'प्रासङ्गिकादि' कार्य हैं अर्थात् प्रसंग, तन्त्र बाध प्रभृति वैदिक व्यवहार हैं, वे सभी अनुपपन्न हो जायँगे।

एवं 'लोक' में भी जो 'द्वारम्, द्वारम्' यह कहने पर 'विधान' स्वरूप अर्थान्तर की आकांक्षा होती है एवं 'पिकमानय' यह कहने पर जो अव्युत्पन्न का 'कः पिकः' यह प्रश्न होता है, ये आकांक्षा-प्रश्नादि लौकिक व्यवहार भी वाक्य को अखण्ड मानने से अनुपपन्न होंगे। अतः वाक्यार्थ पदार्थघटित सखण्ड विशिष्ट भावना स्वरूप वस्तु ही है, अखण्ड कोई वस्तु नहीं।

असत्यम्''''न हि दृश्यते

(पू० प०—अखण्ड वाक्य में पदार्थों की असत् कल्पना कर उस कल्पित पदार्थों में से अपेक्षित पदार्थों को निकाल कर उन्हीं से इन प्रसङ्गादि की उपपत्ति की जा सकती है ? इस आक्षेप का यह समाधान है—)

असत्पदार्थों से व्यवहार की उपपत्ति नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानेंगे तो 'शशशृङ्गधनुर्धरः' इत्यादि वाक्यों से असदंश को निकालकर व्यवहार किया जा सकता है। अतः उक्त आक्षेप उचित नहीं है।

असत्यैर्गम्यमानार्थैः……नेत्युदाहृतम्

दूसरी बात यह भी है कि असत् पदार्थ से ज्ञात होनेवाली वस्तु भी असत् ही होगी। इससे पदार्थ स्वरूप असत् वस्तु से ज्ञात होनेवाले 'प्रसंग-तन्त्रादि' सभी 'असत्' हो जायँगे जिससे उनके बल से अनुष्ठानों में परिवर्त्तन नहीं लाया जा सकेगा।

स्वरूपेणासतः……कस्यचित्

यह जो कहा जाता है कि वर्ण रूप से असत् रेखाओं से ककारादि पारमार्थिक वस्तुविषयक ज्ञान को उत्पत्ति होती है—वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

स्वरूपतः असत् पदार्थ किसी का 'उपाय' (कारण) हो ही नहीं सकता। स्वरूपसत् विद्यमान पदार्थ ही कारण होता है। रेखायें असत् नहीं हैं।

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्[1]।

जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २५ वाक्याधिकरण का सिद्धान्तसूत्र।

अवाचकत्वम्……इतीरितम्

उक्त सूत्र के 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इतने अंश से पहले वाक्य में वाचकत्व का खण्डन इस अभिप्राय से किया गया है कि लोकसिद्ध घटादि पदार्थों के वाचक घटादि पदार्थों से ही वाक्यार्थज्ञान की उपपत्ति हो जायगी। इसके लिये वाक्य को वाचक मानने की आवश्यकता नहीं है।

इससे जो सम्प्रदाय (१) सखण्ड या अखण्ड वाक्य को ही वाक्यार्थ का वाचक मानते हैं, एवं (२) जो सम्प्रदाय वाक्यार्थज्ञान को प्रतिभादिवत् निर्मूल ही मानते हैं उन दोनों सम्प्रदायों के मतों को निरस्त समझना चाहिये।

तन्निमित्तत्वम्

'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' इस सूत्रांश का तात्पर्य है कि पदार्थों में वाक्यबोध की कारणता मानने से ही वाक्यार्थबोध उपपन्न हो जायगा। अतः वाक्य में वाक्यार्थ की पृथग् वाचकता को स्वीकार करना अप्रामाणिक है।

मूलं वाऽर्थस्य कथ्यते

अथवा 'तद्भूतानाम्' इस सूत्र के द्वारा 'अर्थ' का अर्थात् 'वाक्यार्थ' का 'मूल' (कारण) ही कहा गया है।

पदार्थमूलकः……गम्यताम्

तदनुसार इस सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि यह अभ्रान्त सत्य है कि 'एषः' यह 'वाक्यार्थ' पदार्थमूलक ही है॥ ३३५–३४१॥

---

१. अर्थात् सिद्ध पदार्थों के वाचक घटादि पदों का 'क्रियार्थेन' अर्थात् भावनार्थक (आख्यातान्त) पद के साथ 'समाम्नाय' अर्थात् पाठ देखा जाता है। अतः पदार्थ हो—'विशिष्ट क्रिया' स्वरूप वाक्यार्थ ज्ञान के कारण हैं। अलग से वाक्य में उक्त वाक्यार्थ की वाचकता मानने की आवश्यकता न रहने पर भी वाक्यार्थबोध प्रतिभादिवत् निर्मूल नहीं है।

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ ३४२ ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥ ३४३ ॥

(पू० प०—यदि वर्णात्मक पदों से पदार्थों की उपस्थिति होती है, एवं उपस्थित पदार्थ ही विशिष्ट भावना स्वरूप क्रियाविषयक बोध के निमित्त हैं, तो फिर सिद्धार्थबोधक पदों का क्रियार्थक आख्यात पदों के साथ 'समाम्नाय' अर्थात् प्रयोग क्यों होता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—

वर्ण (अर्थात् पद) साक्षात् पदार्थों के ही प्रतिपादक हैं, 'तथापि' पदार्थों का प्रतिपादन उनके प्रयोग का प्रधान उद्देश्य नहीं है, क्योंकि पदार्थ अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध हैं, शाब्दबोध के विषय को तो अनन्यलभ्य होना चाहिये ।

अतः जिस प्रकार पाक ही काष्ठों का प्रधान उद्देश्य है, ज्वलन क्रिया नान्तरीयकतया उनसे उत्पन्न होती है, अर्थात् काष्ठों से ज्वलन क्रिया के विना पाक का निष्पादन नहीं हो सकता इसलिये काष्ठ से ज्वलन क्रिया उत्पन्न की जाती है उसी प्रकार वाक्यार्थबोध ही पदप्रयोग का प्रधान उद्देश्य है, किन्तु यह बोध पदार्थोपस्थिति के विना नहीं हो सकता । अतः पहले पदों से पदार्थों की उपस्थिति होती है, एवं उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थबोध होता है । अतः कथित 'समाम्नाय' अर्थात् सहप्रयोग असंगत नहीं है ॥ ३४२–३४३ ॥

प्रयोजनतया चैषामर्थमिच्छन्ति भावनाम् ।
क्रियार्थेनेति तेनाह समाम्नायप्रयोजनम् ॥ ३४४ ॥

(पू० प०—जिस पद की अभिधा वृत्ति से जिस वस्तु का प्रतिपादन होता है, वही उस पद का 'अर्थ' होता है । इस नियम के अनुसार 'वाक्य' की अभिधा वृत्ति से 'भावना' का प्रतिपादन नहीं होता, क्योंकि वाक्य की कोई अभिधा वृत्ति नहीं है । इसलिये 'भावना' को 'वाक्य' का अर्थ नहीं कहा जा सकता । फिर 'भावनैव च वाक्यार्थः' (श्लो० ३३०) यह कहना उचित नहीं है । इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

भावनाविषयक बोध वाक्यप्रयोग का 'प्रयोजन' है—इस उद्देश्य से ही भावना को वाक्य का 'अर्थ' कहा गया है, अर्थात् उक्त श्लोक में 'अर्थ' शब्द 'अभिधेय' के लिये प्रयुक्त नहीं है, किन्तु 'प्रयोजन' के लिये प्रयुक्त है । इसी दृष्टि से सूत्र में क्रियार्थक पद के साथ सिद्धार्थक पदों के समाम्नाय को वाक्यार्थबोध का प्रयोजक कहा गया है ॥ ३४४ ॥

शुक्लो गौरिति वाक्यार्थवाक्ययोर्यदुदाहृतम् ।
सम्बन्धकथनार्थं तन्न ज्ञेयं पारमार्थिकम् ॥ ३४५ ॥
न हि प्रयोजनापेतं वाक्यमुच्चार्यते क्वचित् ।
प्रयोजनक्षमं नापि पदमाख्यातवर्जितम् ॥ ३४६ ॥

(पू० प०—'यदि पदों का प्रयोग नियमतः क्रियापदों के साथ ही हो' तो फिर भाष्यकार ने 'शुक्लो गौः' यह जो वाक्य और वाक्यार्थ का उदाहरण दिया है वह असङ्गत हो जायगा। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वाक्य में क्रियापद का साहचर्य अवश्य हो। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—)

भाष्यकार ने वाक्य और वाक्यार्थ का उदाहरण दिखाने के लिए 'शुक्लो गौः' इत्यादि सन्दर्भ नहीं लिखा है। भाष्यकार का यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि वाक्य-घटक पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध है, वे परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं॥ ३४५॥

चूँकि विना प्रयोजन के कोई भी वाक्य का उच्चारण नहीं करता एवं आख्यात के विना कोई वाक्य किसी प्रयोजन का सम्पादक नहीं हो सकता इसलिये 'शुक्लो गौः' यह आख्यातपदरहित पदों का समुदाय वाक्य नहीं है। यदि यह वाक्य है तो 'आनीयताम्' इस आख्यात पद के अध्याहार के द्वारा ही वह पूर्ण हो सकता है॥ ३४६॥

गौरश्व इति वा श्रुत्वा यद् गोत्वाद्यवबोधितम्।
विशेषे यदि तत्र स्यात् तत्र स्याच्छ्रुतिबाधनम्॥ ३४७॥
जातिव्यक्ती गृहीत्वैव वयं तु श्रुतिलक्षिते।
कृष्णादि यदि मुञ्चामः का श्रुतिस्तत्र बाध्यते॥ ३४८॥

पू० प०—'यत्तु श्रौतः पदार्थो न वाक्याऽनुरोधेन कुतश्चिद् विशेषादपवर्तितु-मर्हतीति' (शाबरभाष्य पृ० ९८) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा इस पूर्वपक्ष का अनुवाद किया गया है कि 'गौरश्वः' इन सामान्यवाचक शब्दों से सामान्यतः सभी गोविषयक अथवा सभी अश्वविषयक जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह निरपेक्ष शब्द स्वरूप 'गौः' इत्यादि पदात्मक श्रुतिप्रमाणलभ्य है। 'शुक्लः' पद के समभिव्याहार रूप वाक्य के द्वारा जो कृष्णादिव्यावृत्ति का बोध होता है, वह वाक्यप्रमाणलभ्य है। वाक्य-प्रमाण से श्रुतिप्रमाण बलवान् है, अतः कृष्णादिव्यावृत्ति का लाभ नहीं हो सकता।

भाष्यकार ने श्रुतिवाक्य के उक्त 'विरोध' को स्वीकार करते हुए उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के लिये यह सन्दर्भ लिखा—

'सत्यमेवैतत्, केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावादनर्थकः संजायते इत्यवगतं भवति तत्र वाक्यार्थोऽपि तावद् भवत्विति विशिष्टार्थताऽवगम्यते' (शाबर-भाष्य पृ० ९८ पं० ४)

अर्थात् उक्त विरोध अवश्य ही है। तथापि 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से यदि कृष्णादिव्यावृत्ति स्वरूप विशिष्ट अर्थ का बोध नहीं मानेंगे तो केवल पदार्थ के प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्य होने से उनका श्रुतिप्रमाण स्वरूप शब्द से भी प्रतिपादन 'अनर्थक' हो जायगा। 'आनर्थक्यप्रतिहतं विपरीतं बलाबलम्' अर्थात् जहाँ वाक्य प्रमाण व्यर्थ होता हो वहाँ श्रुतिप्रमाण ही दुर्बल होता है, एवं वाक्य ही बलवान् होता है। इस न्याय के अनुसार 'शुक्लो गौः' इत्यादि स्थलों में चूँकि वाक्य ही बलवान् है अतः 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से कृष्णादिव्यावृत्ति का बोध होता है।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने 'गौः' इस श्रुति का 'शुक्लो गौः' इस वाक्य से विरोध को स्वीकार करके ही समाधान किया है। किन्तु इस प्रसंग में मैं (वार्तिककार) कहता हूँ—

'गौरश्वः' इत्यादि स्थलों में श्रुति प्रमाण से गोत्वादि सामान्य का ज्ञान होने के बाद यदि शुक्लादि विशेष का बोध लक्षणावृत्ति से नहीं होता तो वाक्य से श्रुति का बाध हो सकता था। किन्तु यहाँ तो गवादि पदों से ही श्रुति प्रमाण रूप पदों से अभिधावृत्ति के द्वारा गोत्वादि सामान्यों का एवं उसी पद से लक्षणावृत्ति के द्वारा शुक्लादि गो विशेषों का बोध होता है। अतः 'श्रुतिवाक्यविरोध' की कोई प्रसक्ति ही नहीं है। ऐसी स्थिति में श्रुति प्रमाण से ही कृष्णादिव्यावृत्ति का भी यदि हम लोग बोध मान लेते हैं तो कौन सी श्रुति बाधित होगी ? ॥ ३४७–३४८ ॥

लक्षणातोऽपि परतो यः सन्देहः प्रवर्त्तते।
का नाम पीड्यते तत्र शुक्लश्रुत्या निवर्तते ॥ ३४९ ॥

गो पद से लक्षणावृत्ति के द्वारा सकल गोव्यक्तियों के अन्तर्गत शुक्ल-कृष्णादि सभी गोव्यक्तियों के बोध के बाद भी जो यह सन्देह रहता है कि 'कीदृग् गौरानेतव्यः' उसी सन्देह का अपनयन शुक्लपदसमभिव्याहार रूप वाक्य से होता है ॥ ३४९ ॥

अगृह्णतस्तु शुक्लत्वं श्रुतिस्ते बाध्यतेतराम्।
अस्य वाक्यमसम्बद्धं सर्वमेवाप्रयोजनम् ॥ ३५० ॥
वाक्यार्थोऽपीति भाष्येण सोल्लुण्ठमभिधीयते।
न सर्वत्रेत्यनेनापि क्वचित् सा नेत्यवोचत ॥ ३५१ ॥
प्रकृत्यर्थानुरक्तायां बुद्धौ निपतता ध्रुवम्।
कर्मादीनां विशेष्यत्वमिति का वा श्रुतिर्भवेत् ॥ ३५२ ॥
प्रकृतिप्रत्ययौ नापि प्रयुज्येते च केवलौ।
येन युष्मदभिप्रेता श्रुतिर्लभ्येत कर्हिचित् ॥ ३५३ ॥

अगृह्णतस्तु*'***अप्रयोजनम्**

प्रत्युत असम्बन्धवादियों के मत में ही शुक्ल पद स्वरूप श्रुति अनर्थक होने के कारण बाधित होगी, क्योंकि उसका अभिधेय शुक्लत्व पदार्थ तो अन्य प्रमाण से भी प्राप्त है। अतः केवल उसके बोध के लिये शुक्ल पद का उच्चारण व्यर्थ है। इस प्रकार सभी वाक्य स्वघटक पदों और उनके अर्थों में परस्पर असम्बन्ध के कारण अप्रयोजनीय होने के कारण बाधित होंगे। अतः 'वाक्यार्थोऽपीति तावद् भवतु' भाष्यकार की यह उक्ति अतिशयोक्ति मात्र है।

न सर्वत्रेत्यनेनापि'''नेत्यवोचत्

'न सर्वत्र' (शा० भा० पृ० ९८) अर्थात् सामान्यविषयक बोध के लिये प्रवृत्त श्रुति प्रमाण पद की विशेष में व्यवस्था भी 'सर्वत्र' नहीं होती है, क्योंकि कहीं-कहीं श्रुत्यवस्था में ही विशेष का बोध हो जाता है, वाक्य प्रमाण तक जाने की आव-

श्यकता ही नहीं होती है। उन स्थलों में तो श्रुतिवाक्यविरोध की प्रसक्ति बिलकुल ही नहीं है।

प्रकृत्यर्थाऽनुरक्तायाम् ''श्रुतिर्भवेत्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ'''कर्हिचित्

'श्रुति और वाक्य का यह विरोध कहाँ नहीं होता है ?' इसका उदाहरण देते हुये भाष्यकार ने लिखा है कि 'प्रातिपदिकादुच्चरन्ती द्वितीयादिविभक्तिः श्रुतिः प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह, सा च विशेषश्रुतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत' (शाबरभाष्य पृ० ९९)। इस भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि 'गाम्' इस द्वितीयाविभक्त्यन्त गोपद का जहाँ प्रयोग होता है, वहाँ द्वितीया विभक्ति से अभिधावृत्ति के द्वारा गोनिष्ठ कर्मत्व स्वरूप 'विशेष' का ही बोध होता है, क्योंकि प्रत्ययों की शक्ति प्रकृत्यर्थ में अन्वित स्वार्थ में ही है, केवल स्वार्थ में नहीं। 'गाम्' इत्यादि स्थलों में ऐसा नहीं होता कि 'अम्' इस द्वितीया विभक्ति से पहले सामान्यतः कर्मत्व का बोध होता हो और बाद में गोपद स्वरूप प्रातिपदिक के बल से गोनिष्ठत्व का बोध। अतः यहाँ श्रुति-वाक्यविरोध की कोई प्रसक्ति नहीं है।

अर्थात् गोशब्दादि के समान केवल प्रत्यय का प्रयोग होता, तभी यह कहा जा सकता था कि प्रातिपदिक के अर्थ से अविशेषित कर्मत्व का लाभ सामान्य रूप से द्वितीया विभक्ति से होता है। ऐसी स्थिति में ही कदाचित् यह कहा जा सकता है कि कर्मत्व सामान्य की बुद्धि प्रत्यय से होती है, एवं उसमें प्रातिपदिकविशिष्टता का लाभ प्रातिपदिकविशिष्टता रूप समभिव्याहार से होता है। किन्तु बात इसके विपरीत है ॥ ३५०–३५३ ॥

यत्रापि नाम दृश्येते केवलावधुनाविवत् ।
तत्राप्यन्यार्थसंयुक्ताविति पूर्वं निरूपितम् ॥ ३५४ ॥

यह पहले ही (वाक्यार्थाधिकरण श्लो० २०३ का सन्दर्भ) कहा जा चुका है है कि विववन्त प्रकृति, एवं 'अधुना' प्रभृति जिन प्रत्ययों का 'केवल' प्रयोग होता है उन स्थलों में प्रकृति से ही प्रकृत्यन्वित प्रत्ययार्थ का एवं प्रत्ययार्थान्वित प्रकृत्यर्थ का बोध मानते हैं ॥ ३५४ ॥

अयमेव विशेषश्च कथ्यते पदवाक्ययोः ।
अर्थवद्भागतुल्यत्वे प्रकृतिप्रत्ययार्थतः ॥ ३५५ ॥
दृष्टा यथा हि साकाङ्क्षाः पदार्थाः केवलाः क्वचित् ।
स्वातन्त्र्येण गृहीताश्च विशिष्टार्थावबोधकाः ॥ ३५६ ॥
प्रकृतिप्रत्ययौ नैवं कदाचिदपि लक्षितौ ।
प्रकृत्यर्थानुरक्तो हि प्रत्ययार्थः सवेप्यते ॥ ३५७ ॥

(पू० प०—तो क्या पद के जो प्रकृति और प्रत्यय भाग हैं, उनकी शक्ति 'अन्वितत्वविशिष्ट अर्थ' में ही है, अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय में 'अन्विताभिधान' को ही आप (भट्ट) भी स्वीकार करते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

प्रकृति और प्रत्यय की भी शक्ति अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार अलग-अलग अपने-अपने अर्थों में ही है। पद और पदार्थ एवं वाक्य और वाक्यार्थ की शक्ति में समानता के रहने पर भी इतना ही अन्तर है कि जिस प्रकार परस्पर साकांक्ष (वाक्याभावापन्न) पद स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग गृहीत होने पर भी विशिष्ट वाक्यार्थबोध को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार केवल प्रतीयमान भी प्रत्ययार्थ अथवा केवल प्रतीयमान प्रकृत्यर्थ सदा एक दूसरे के अर्थ से सम्बद्ध होकर ही विशिष्टबोध में विषय होते हैं। इसके लिए परस्पर विशिष्ट में (अन्विताभिधान) शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

अर्थात् पदार्थ कभी दूसरे पदार्थ के साथ सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ रूप में भी प्रतीत होते हैं, कभी स्वतन्त्र रूप से भी। प्रकृति और प्रत्यय ये दोनों कभी भी स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ की प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते, पृथक्-पृथक् शक्ति के रहने पर भी परस्पर सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को ही उत्पन्न करते हैं॥ ३५५–३५७॥

पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषाशब्दं च शृण्वतः।
खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः॥ ३५८॥
दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित्।
मानसावित्यतो नास्य वाक्याग्रहणमुत्तरम्॥ ३५९॥

वाक्य में पदों से अतिरिक्त वाक्यार्थबोधिका शक्ति नहीं है। पदार्थ ही वाक्यार्थ बोध के कारण हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—

'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते, मानसापचाराद्रुच्चरितेभ्योऽपि पदेभ्यो यदा पदार्था नावसीयन्ते तदा वाक्यार्थोऽनवगम्यते, तेन वाक्यान्वयेऽपि पदार्थाद्व्यतिरिच्यमानो वाक्यार्थः पदार्थनिमित्त इति निश्चीयते। (शाबरभाष्य न्यायरत्नाकर में उद्धृत, आनन्दाश्रम से मुद्रित मूल शाबरभाष्य का सन्दर्भ कुछ दूसरे प्रकार का है, देखिये आनन्दाश्रम पृ० ९७ पं० ६, एवं चौखम्बा से मुद्रित न्यायरत्नाकर के साथ मुद्रित श्लोकवार्तिक पृ० सं० ९४६)।

अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक से भी यह सिद्ध हो जाता है कि पदों के द्वारा ज्ञात पदार्थ ही वाक्यार्थबोध के कारण हैं। वाक्यार्थ अभिधेय नहीं हैं, क्योंकि मन दूसरी तरफ लगे रहने के कारण जिस समय पदों से पदार्थों का ज्ञान नहीं होता उस समय वाक्य के रहने पर भी वाक्यार्थबोध नहीं होता है। इससे यह निश्चित होता है कि वाक्य के रहने पर भी वाक्यार्थ और पदार्थ में भेद के रहने पर भी वाक्यार्थबोध का निमित्त पदार्थ ही है। इस आक्षेप के समाधान के लिये ही भाष्यकार ने यह सन्दर्भ लिखा है—'अपि च, अन्तरेणापि पदोच्चारणं यः शौक्ल्यमवगच्छति, अवगच्छत्येवासौ शुक्लगुणकम्। तस्मात् पदार्थप्रत्यय एव वाक्यार्थो नास्य पदसमुदायेन सम्बन्धः' (शा० भा० पृ० ९८)।

पश्यतः श्वेतिमारूपम्""अनुग्रहणमुत्तरम्

जिस पुरुष ने श्वेत (सफेद) गो अथवा अश्वादि किसी वस्तु को देखा, फिर उसी प्रदेश में 'ह्रेषा' (हिनहिनाहट) से अश्वत्व जाति और खुर के शब्द (टाप) को

सुनकर उससे विशेष प्रकार की गति का अनुमान किया एवं उस प्रदेश में उस पुरुष को किसी दूसरी वस्तु की उपलब्धि नहीं हुई उस प्रदेश में उस पुरुष को श्वेत रूप के प्रत्यक्ष, अश्वत्व जाति एवं विशेष प्रकार की क्रिया के अनुमान एवं दूसरी वस्तु की अनुपलब्धि से 'श्वेतोऽश्वो धावति' इस आकार का वाक्यार्थबोध उत्पन्न होता है। इस व्यतिरेक-व्यभिचार से यह स्पष्ट है कि कथित 'मानसापचार' स्थल में वाक्यार्थ-बोध की अनुत्पत्ति वाक्य की अनवगति से नहीं किन्तु पदार्थों के अभाव से ही होती है। तस्मात् वाक्यार्थबोध वाक्यग्रहण से नहीं किन्तु अवगम्यमान पदार्थों से ही होता है ॥ ३५८–३५९ ॥

मानसेनापराधेन पदार्थान् ये न गृह्णते।

ते तद्वाक्यं गृहीत्वापि नार्थं गृह्णन्ति कर्हिचित् ॥ ३६० ॥

कथित 'मानसापचार' से जिस पुरुष को पदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता, उस व्यक्ति को यदि वाक्य का ज्ञान होता भी है, तथापि वाक्यार्थ का ग्रहण उससे नहीं हो पाता। इससे भी समझते हैं कि मानसापचारस्थल में वाक्यार्थ की अनवगति का मूल वाक्य का अग्रहण नहीं, किन्तु पदार्थों की अनवगति ही है ॥ ३६० ॥

वाक्येन तेन नोच्येत वाक्यार्थोऽन्यैर्निरूपणात्।

तच्छ्रुतावप्यबोधाद् वा पलाशेनेव वृक्षता ॥ ३६१ ॥

वाक्य वाचक नहीं है, वाक्यार्थबोध पदार्थों से ही होता है—इनके साधक ये दो अनुमान भी हैं—

(१) वाक्यार्थो वाक्येन नोच्यते अन्यैः (पदार्थैः) निरूपणात्, यथा पलाश-शब्देन वृक्षत्ता नावगम्यते।

(२) वाक्यार्थो वाक्येन नोच्यते वाक्यश्रवणानन्तरमपि अबोधात् पलाशशब्देन वृक्षत्वाऽवोधवत्।

(१) प्रथम अनुमानवाक्य का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार पलाशशब्द से वृक्षत्व का बोध नहीं होता, वृक्ष शब्द से ही वृक्षत्व का बोध होता है, उसी प्रकार वाक्य से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, क्योंकि पदार्थों से ही वाक्यार्थबोध हो जाता है।

(२) दूसरे अनुमानवाक्य का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार पलाशशब्द के उच्चारित होने पर भी वृक्षत्व का बोध नहीं होता है, इसलिये वृक्षत्व पलाश-शब्दबोध्य नहीं है, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी वाक्यश्रवण के बाद भी (पदार्थों) की अज्ञानदशा में ज्ञात नहीं होता है, अतः वाक्य वाक्यार्थ का वाचक नहीं है ॥ ३६१ ॥

वर्णा वा न ब्रुवन्त्येनं तत्सम्बन्ध्यर्थबोधनात्।

सत्त्वेऽप्यगमकत्वाद् वा वृक्षत्वमिव शिंशपा ॥ ३६२ ॥

(जो सम्प्रदाय वाक्य को सखण्ड मानते हैं, उनके मत से पूर्व-पूर्व संस्कार से युक्त वाक्य का अन्तिमवर्ण ही वाचक है, उन लोगों के विरुद्ध ये दो अनुमान हैं)।

(१) वर्णाः वाक्यार्थं न ब्रुवन्ति तत्सम्बन्ध्यर्थबोधनात् शिंशपाशब्देन वृक्षत्वबोधवत् ।

(२) वर्णाः वाक्यार्थं न ब्रुवन्ति सत्त्वेऽप्यगमकत्वात् शिंशपावत् ।

पहले अनुमानवाक्य का यह आशय है कि जिस प्रकार शिंशपा शब्द से वृक्षत्व का बोध नहीं होता है, उसी प्रकार वर्णों से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है, क्योंकि वर्णों से भिन्न पदार्थों से ही वाक्यार्थ का बोध होता है ।

दूसरे अनुमानवाक्य में भी पक्ष और साध्य दोनों समान हैं, किन्तु हेतु में अन्तर है । दूसरे अनुमान का हेतु है 'तत्सत्त्वेऽप्यगमकत्व' अर्थात् वर्णों के रहते हुये भी वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है । यदि वर्ण वाक्यार्थबोध का कारण होता तो 'सर्वदा' (केवल अन्तिम वर्ण की सत्त्वदशा में भी) वर्ण से वाक्यार्थ का बोध होता । किन्तु यह वस्तुगति के विरुद्ध है । तस्मात् अन्तिम वर्ण वाक्यार्थबोध का कारण नहीं है ॥ ३६२ ॥

पदार्था गमयन्त्येतं प्रत्येकं संशये सति ।
सामस्त्ये निर्णयोत्पादात् स्थाणुमूर्द्धस्थकाकवत् ॥ ३६३ ॥

'पदार्थ वाक्यार्थबोधक हैं' इसके साधक ये दो अनुमान हैं—

(१) पदार्था वाक्यार्थं गमयन्ति, प्रत्येकं संशये सति सामस्त्ये निर्णयोत्पादात् स्थाणुमूर्द्धस्थकाकवत् ।

इस अनुमानवाक्य का स्वारस्य यह है कि केवल 'गाम्' पद से गो की जो उपस्थिति होती है, उस उपस्थिति के विषयीभूत गो पदार्थ से गोविशिष्ट आनयन का बोध होगा अथवा गोकर्मक बन्धन का बोध होगा—यह संशय उसी प्रकार होता है जैसे कि केवल स्थाणु के देखने से 'यह स्थाणु है ? अथवा पुरुष है ? यह संशय होता है । किन्तु जिस प्रकार स्थाणु के ऊपर काक के देखने से यह निश्चय हो जाता है कि 'यह स्थाणु ही है' ।

उसी प्रकार 'गाम्' पद के बाद 'आनय' पद के प्रयोग रूप 'सामस्त्य' से संपूर्ण प्रयोग से 'इस वाक्य से गोकर्मकानयन का ही निश्चय होता है । तस्मात् गो पदार्थ और आनयन पदार्थ ये ही दोनों गोकर्मकानयन रूप वाक्यार्थबोध के कारण हैं ॥ ३६३ ॥

तदभावाप्रतीतेर्वा तद्गम्योऽयं भविष्यति ।
श्रोत्राभावाप्रतीतेर्हि श्रौत्रं शब्दं प्रचक्षते ॥ ३६४ ॥

(२) वाक्यार्थः पदार्थगम्यः तदभावाप्रतीतेः श्रोत्राभावाप्रतीतशब्दनिष्ठ-श्रौत्रतावत् ।

पदार्थों में वाक्यार्थबोधजनकत्व के साधक इस दूसरे अनुमानवाक्य का आशय है कि जिस प्रकार श्रोत्र के न रहने पर शब्द की प्रतीति नहीं होती है इसीलिये श्रोत्र शब्द का कारण कहलाता है, उसी प्रकार पदार्थों के न रहने से चूँकि वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतः पदार्थ वाक्यार्थबोध के कारण हैं ॥ ३६४ ॥

सम्बन्धाकरणन्यायाद् वक्तव्या वाक्यनित्यता।
सङ्घातत्वस्य वक्तव्यमीदृशं प्रतिसाधनम् ॥ ३६५ ॥
वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥ ३६६ ॥

सम्बन्धाकरण.....वाक्यनित्यता

'यच्चोक्तमेतत्पदसंघाताः पुरुषकृता दृश्यन्त इति' (शा० भा० पृ० ९९ पं० २) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा 'पदसंघातात्मको वेदः पुरुषकृतः पदसंघातरूपत्वात् नीलोत्पलादिवाक्यवत्' (पृ० ९५ में कथित) इस अनुमान के द्वारा वेदों में पौरुषेयत्व की आपत्ति का परिहार जो 'परिहृतं तदस्मरणादिभिः' (शा० भा० पृ० ९९) इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा किया गया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि कर्त्ता के अस्मरण के द्वारा तो शब्द और अर्थ में जो वाच्यवाचक 'सम्बन्ध' है, उसमें पुरुषकृतत्व का परिहार किया गया है, उससे वेदों में उक्त अनुमान के द्वारा आपन्न पौरुषेयत्वानुमान का परिहार नहीं किया गया है। इस आक्षेप का यह परिहार है—

जिस युक्ति के द्वारा कर्त्ता के अस्मरण से शब्दार्थसम्बन्ध में अपौरुषेयत्व की स्थापना की गयी है, उसी युक्ति से कर्त्ता के अस्मरण स्वरूप हेतु से ही वेदों में भी पौरुषेयत्वापत्ति का परिहार समझना चाहिये।

संघातत्वस्य.....प्रतिसाधनम्.....अध्ययनं यथा

एवं वेदों में पौरुषेयत्व के साधक कथित संघातत्वहेतुक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष भी है, अतः उक्त अनुमान पौरुषेयत्व की सिद्धि में अक्षम है।

सर्वं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनवाच्यत्वात् अधुनाध्ययनवत्।

अर्थात् जिस प्रकार वर्त्तमानकाल का वेदाध्ययन किसी गुरु से ही किया जाता है, उसी प्रकार भूतकालिक सभी वेदाध्ययन गुरु के द्वारा होते थे, या भविष्यत्कालिक वेदाध्ययन गुरु के द्वारा ही होंगे, किसी ने अर्थात् कभी अभूतपूर्व वेदों की रचना कर उसके अध्ययन की परम्परा नहीं चलाई ॥ ३६६ ॥

भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते।
वेदेऽपि तत्स्मृतिर्या तु सार्थवादनिबन्धना ॥ ३६७ ॥
पारम्पर्येण कर्तारं नाध्येतारः स्मरन्ति हि।
तेषामनेवमात्मत्वाद् भ्रान्तिः सेति च वक्ष्यते ॥ ३६८ ॥

भारतेऽपि भवेदेवम्

(पू० प०) इस प्रकार महाभारतादि में भी गुर्वध्ययनपूर्वकत्व हेतु से पौरुषेयत्व का अनुमान खण्डित हो सकता है, अर्थात् महाभारतादि भी अपौरुषेय कहला सकते हैं।

कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते

(सि० प०) अवश्य ही उक्त रीति से महाभारतादि में अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो सकती है किन्तु वह इसलिये संभव नहीं है कि भारतादि ग्रन्थों में उक्त ग्रन्थ के

कर्त्ता का उल्लेख है। फलतः बलवान् कर्तृस्मरण से महाभारतादि में कर्तृत्व बाधित है।

वेदेऽपि तत्स्मृतिः""अर्थवादनिबन्धना""स्मरन्ति हि

(पू० प०) इस प्रकार का कर्तृस्मरण तो 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि वाक्यों से वेदों में भी उपलब्ध होता है, अतः वेदों में अकर्तृकत्व की सिद्धि भी उक्त कर्तृस्मरण से बाधित होगी ? किन्तु इस प्रकार कर्तृस्मरण से वेदों में पौरुषेयत्व का आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि—

'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि वाक्यों से वेदकर्त्ता का जो स्मरण होता है, वह अनुभव 'परम्परा'मूलक नहीं है। जैसे कि 'मनु' प्रभृति को किसी ने प्रत्यक्ष से अनुभव कर किसी दूसरे को कहा, फिर तीसरे ने उसे लिपिबद्ध किया, अतः मनु प्रभृति के स्मरण पारम्पर्यक्रम प्राप्त होने के कारण प्रमाण हैं, उसप्रकार का प्रजापति का वेदकर्त्ता के रूप में स्मरण नहीं है। वह केवल अर्थवादवाक्यमूलक है। अतः यही मानना होगा कि उन अर्थवादवाक्यों से पारम्पर्यक्रमप्राप्त वेदकर्त्ता का स्मरण नहीं होता है, वेदों के अध्येताओं का ही स्मरण होता है।

तेषामनेवमात्मत्वात्""वक्ष्यते

(पू० प०) 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि कर्तृस्मरणजनक वाक्य अर्थवाद स्वरूप होने पर भी 'वेद' ही हैं, अतः उन्हें भी प्रमाण मानना आवश्यक है। इसलिये तज्जनित कर्तृस्मरण को भी प्रमाण मानना उचित है। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

आगे अर्थवादाधिकरण (जै० सू० अ० १ पा० २ अधि० १ सू० १ से १८ सू० पर्यन्त) में सूत्रकार ने कहा है कि अर्थवादवाक्य विधिवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट यागादि की स्तुति के लिये ही लिखे गये हैं। उन वाक्यों के अक्षरार्थक्रम से जो अर्थ आपाततः ज्ञात होते हैं, अर्थवादवाक्य उन अर्थों के ज्ञापक प्रमाण नहीं हैं। अतः 'प्रजापतिर्वेदा-नसृजत्' यह अर्थवादवाक्य 'अनेवमात्मक' है अर्थात् स्वार्थ का ज्ञापक प्रमाण नहीं है। इसलिये उससे जो वेदों के कर्त्ता का स्मरण होता है, वह भ्रान्ति स्वरूप है॥ ३६७–३६८॥

तेषु च ध्रियमाणेषु न मूलान्तरकल्पना।
तथा ह्यद्यतनस्यापि ते कुर्वन्तीदृशीं मतिम्॥ ३६९॥

तेषु च ध्रियमाणेषु""मूलान्तरकल्पना

पू० प०—वेदों के कर्त्ता के स्मरण का मूल किसी अन्यप्रमाणजनित प्रमात्मक अनुभव को ही मानेंगे, जिसके बल से उक्त स्मरण भी प्रमात्मक होगा। इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है—

जो स्मरण उक्त पारम्पर्यमूलक नहीं है, उसको अनुभवमूलक नहीं माना जा सकता। अतः कथित अर्थवादवाक्यों को ही वेदों के कर्त्ता के स्मरण का मूल मानना होगा। किसी ऐसे दूसरे मूल की कल्पना नहीं की जा सकती जिसके बल से उक्त कर्तृस्मरण प्रमा हो सके।

तथा ह्यद्यतनस्यापि ... मतिम्

(पू० प०—'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' यह वाक्य जब वेदकर्त्ता का बोधक नहीं है, तो फिर वेदकर्त्ता के भ्रमात्मक स्मरण का भी मूल कैसे हो सकता है ? इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है—)

वर्त्तमान काल में भी यह देखा जाता है कि वक्ता जिस तात्पर्य से वाक्य का उच्चारण करता है, श्रोता को उसी वाक्य से अन्यविषयक भ्रमात्मक का ज्ञान भी होता है ॥ ३६९ ॥

इति मीमांसाश्लोकवार्त्तिके वाक्याधिकरणं सम्पूर्णम् ॥

वेदनित्यताऽधिकरणम्

वचनान्तरसाधर्म्यात् कर्तुः सामान्यसम्प्लवे ।
समाख्यया विशेषोऽयं कठादिरवधार्यते ॥ १ ॥

वेदवाक्यों से अतिरिक्त भारतादिवाक्यों में सकर्तृकत्व के दृष्टान्त से सामान्य रूप से वेदसहित सभी शब्दों में सकर्तृकत्वसामान्य के आक्षेप से काठकादि वेदशाखाओं में 'कठ' नामक विशेषकर्तृजन्यत्व का आक्षेप 'कठेन रचितं काठकम्' इस समाख्या के बल से अयुक्त नहीं है ॥ १ ॥

अनपेक्षत्वसूत्रे या रूपात् कृतकतोदिता ।
वेदे सा दृश्यते स्पष्टा कृतकार्थाभिधायिनी ॥ २ ॥

वेदों में पौरुषेयत्व के आक्षेप की दूसरी युक्ति यह है कि 'अनपेक्षत्वात्' (जै० सू० अ० १ पा० १ सू० २१) इस सूत्र के द्वारा पटादि द्रव्यों के स्वरूप दर्शन मात्र से पटादि में अनित्यत्व की तरह शब्दों में स्वरूप श्रवणमात्र से कृतकत्व का जो आक्षेप किया गया है, उसी से शब्द विशेष स्वरूप वेदों में भी कृतिजन्यत्व सामान्य का आक्षेप हो सकता है ।

अतः 'बबरः प्रावाहृणिः' इत्यादि प्रयोगों के द्वारा प्रवाह के अपत्य प्रावाहृणि के प्रयोग से यह समझना सुलभ है कि अनित्य 'बबर प्रावाहृणि' से पहले वेद की सत्ता नहीं थी। बाद में किसी पुरुष ने उसकी रचना की। इसलिये वेद पौरुषेय हैं ॥ २ ॥

स्मृतिप्रयोजनाभावात् कर्तृमात्रेऽनपेक्षिते ।
सामन्यसिद्धयपेक्षत्वान्न समाख्या नियामिका ॥ ३ ॥

(वेदों मे इस पौरुषेयत्व के आक्षेप का यह समाधान है—)

वेदों के कर्त्ता का स्मरण उन वाक्यों से नहीं किया गया है, क्योंकि कर्तृस्मरण का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये वेदों में सामान्यतः कर्तृजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः तन्मूलक 'समाख्या' के द्वारा वेदों में 'कठ' प्रभृति कर्तृविशेषजन्यत्व के द्वारा सम्पूर्ण वेदों में पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ३ ॥

अन्यथाप्युपपन्नत्वादियं प्रवचनादिना ।
न शक्ता कर्तृमूलाय प्रोक्ते च स्मरणं स्थितम् ॥ ४ ॥

'काठकादि' समाख्याओं से यह नियम नहीं किया जा सकता कि काठकादि शाखायें 'कठ' नामक पुरुष विशेष के द्वारा निर्मित है, क्योंकि पूर्व से स्थित वेदों का भी उनके विशेष अध्ययन का ही 'कठ' प्रभृति पुरुषों के द्वारा स्मरण किया जा सकता है। इसलिये 'काठकादि' समाख्यायें सम्पूर्ण वेदों में कर्तृजन्यत्व (पौरुषेयत्व) की सिद्धि में सहायक नहीं हो सकती।

काठकादि शब्दों के द्वारा कठादि पुरुषों का स्मरण उक्त शाखाओं के कठादि नाम के पुरुषों के द्वारा उक्त शाखाओं की विशेष उक्ति के द्वारा भी उपपन्न हो सकता है। अतः काठकादि समाख्याओं के द्वारा वेदों में पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

श्रुत्याद्यैर्दुर्बला चासौ न शक्ता तानि बाधितुम् ।

अङ्गभूयांसमेकेयं शब्दराशिं न बाधते ॥ ५ ॥

यह 'समाख्या' स्वरूप प्रमाण श्रुति-लिङ्गादि पाँच प्रमाणों से दुर्बल है। अतः वेदों के अधिकांश में अपौरुषेयत्व के ज्ञापक श्रुत्यादि प्रमाणों को वेदों के किसी एक ही अंश को प्रभावित करनेवाली यह समाख्या बाधित नहीं कर सकती ॥ ५ ॥

कामं वा निर्निमित्तेयं शाखामेकां वदिष्यति ।

श्रुतिसामान्यमात्रं हि नात्र दण्डेन वार्यते ॥ ६ ॥

अथवा 'काठकादि' शब्द 'अश्वकर्णादि' शब्दों के समान उन वेदशाखाओं में रूढ़ ही हैं। अतः काठकादि शब्दों से अभिधावृत्ति के द्वारा ही तत्तत् शाखाओं का बोध होगा (कठ नामक व्यक्ति के निर्मित होने के कारण नहीं)। इसलिए काठकादि शब्दों से श्रुतिसामान्य के बोध को हठात् निवृत्त नहीं किया जा सकता ॥ ६ ॥

सति साधारणत्वे वा सम्भवेन विशेषणम् ।

यथा वैरूपसामेति सत्तयैव प्रतीयते ॥ ७ ॥

सभी वेदशाखाओं के समान होने पर भी कठादि कुछ विशेष शाखाओं के विशेषण उन शाखाओं के विना कठादि पुरुषों से उत्पन्न होने पर भी केवल सत्ता मात्र से हो सकते हैं। जैसे कि 'वैरूपसामाक्रतुसंयोगात्त्रिवृद्वदेकसामा स्यात्' (जै० सू० अ० १० पा० ६ सू० १५ अधि० ६) इस सूत्र के द्वारा वैरूपादि अपनी सत्तामात्र से क्रतु के विशेषण होते हैं ॥ ७ ॥

अव्यासङ्गि च सर्वेषु प्रवक्तृत्वं कठादिषु ।

तेनैकव्यपदेश्यत्वं लक्ष्यते डित्थमातृवत् ॥ ८ ॥

काठकादि शाखाओं की 'कठ' नामक पुरुष के द्वारा प्रसिद्धि होने पर भी उन शाखाओं का प्रवक्तृत्व अन्य पुरुषों से निवृत्त नहीं समझा जा सकता, क्योंकि प्रवक्तृत्व धर्म व्यासज्यवृत्ति (अनेकपर्याप्त) नहीं, किन्तु प्रत्येकपर्याप्त है। इसलिए जिस प्रकार डित्थ और डवित्थ नामक पुरुषों की एक ही माता केवल 'डित्थमाता' के नाम से पुकारी जाती है, उसी प्रकार कठसहित अनेक पुरुषों के द्वारा कही गयी शाखा भी केवल कठ के सम्बन्ध के द्वारा 'काठक' नाम से प्रसिद्ध हो सकती है। इस प्रसिद्धि के

बल से उस शाखा को कठनिर्मित नहीं कहा जा सकता, एवं इससे सम्पूर्ण वेद में अनित्यता की आपत्ति नहीं दी जा सकती ॥ ८ ॥

अन्यैस्तुल्येऽपि सम्बन्धे यत् तैर्न व्यपदिश्यते ।
न ह्येष कर्तृसंस्कारः पारार्थ्ये चैक इष्यते ॥ ९ ॥

यदि "काठक नाम से प्रसिद्ध वेदशाखा के कितने विशेष अध्येता थे ?" यह ज्ञातव्य होता, तो उस शाखा के सभी प्रवक्ताओं का शाखा के साथ उल्लेख आवश्यक होता । किन्तु जिज्ञासा तो उस शाखा की प्रसिद्धि किस प्रवक्ता के नाम से है—इसकी है । उसकी निवृत्ति उसके किसी एक प्रवक्ता के नाम से भी हो सकती है, उस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये कठ स्वरूप एक प्रवक्ता के नाम से युक्त 'काठक' नाम से भी की जा सकती है । अतः उक्त जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये उस शाखा के सभी वक्ताओं के नाम का उल्लेख आवश्यक नहीं है ॥ ९ ॥

विद्यमाननिमित्तं च कथ्यते नासतः क्रिया ।
साधारणं च तीर्थादि केनचिद् व्यपदिश्यते ॥ १० ॥

(पू० प०—उस शाखा के कठ नामक पुरुष के समान अन्य भी प्रवक्ता थे तो फिर 'कठ' के नाम से ही (काठक समाख्या से ही) उस शाखा का उल्लेख क्यों, अन्य किसी प्रवक्ता के नाम से (अन्य किसी समाख्या) शाखा का उल्लेख क्यों नहीं ? इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है कि—)

'निमित्त' अर्थात् शाखा की प्रसिद्धि की निमित्तभूत 'समाख्या' हम लोगों के अधीन में नहीं है, जो उसकी हम कल्पना करें, वह तो पुरुषपरम्परा के अधीन है । पुरुष की परम्परा से 'काठक' नाम की समाख्या ही अभी विद्यमान है । उसके बल से काठक नाम के प्रवक्ता का ही उल्लेख किया जा सकता है, क्योंकि विद्यमान 'निमित्त' का ही उल्लेख किया जा सकता है । 'असत्' अर्थात् अविद्यमान समाख्या की कल्पना के द्वारा किसी पुरुष विशेष की उल्लेखक्रिया संपादित नहीं हो सकती ।

एक ही तीर्थ अनेक महात्माओं से सेवित होने पर भी अगस्त्य प्रभृति किसी एक महात्मा के नाम से ही अभी भी प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

यदि चापौरुषेय्येषा नानित्यप्रतिपादिनी ।
पौरुषेय्यास्तु सत्यत्वं कथमध्यवसीयते ॥ ११ ॥

दूसरी बात यह है कि यह 'काठक' नाम की 'समाख्या' नित्य है ? अथवा पौरुषेयी है ? नित्य समाख्या कठादि अनित्य पुरुषों की ज्ञापिका नहीं हो सकती । यदि उक्त समाख्या को पौरुषेयी मानेंगे तो उस पुरुष में आप्तत्व के प्रमाणसिद्ध न होने के कारण 'स्वयं' 'असत्य' ठहरती है । फिर उसके बल से वेदों में पौरुषेयत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ ११ ॥

नित्यमेव निमित्तं वा कठत्वं जातिरस्ति नः ।
काठकादिप्रवृत्त्यर्थं व्यावृत्तं चरणान्तरात् ॥ १२ ॥

अथवा हम लोग (मीमांसक लोग) काठकादि समाख्याओं को पौरुषेय नहीं मानते। किन्तु एक प्रकार के ब्राह्मणों के समुदाय में रहने वाली कठत्व नाम की ब्राह्मणत्वव्याप्य एक जाति है, तज्जातीय पुरुषों की परम्परा के द्वारा सेवित होने के कारण काठकादि समाख्यायें नित्य ही हैं। अतः नित्य समाख्याओं से प्रतिपादित होने के कारण वेदों को अनित्य नहीं कहा जा सकता। उन नित्य समाख्याओं का इतना ही कार्य है कि एक शाखा को दूसरी शाखाओं से भिन्न रूप से उपस्थित करें ॥ १२ ॥

अनित्यार्थाभिधायित्वं स्वयमेवैष मुञ्चति।
नित्यानित्यविकल्पेन वेदस्तादर्थ्यवर्जनात् ॥ १३ ॥
नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता।
उन्मत्तवचनत्वं तु पूर्वमेव निराकृतम् ॥ १४ ॥

वेदों की नित्यता से ही कठ-प्राबाहणि प्रभृति अनित्य पुरुषों की अभिधायकता स्वतः निवृत्त हो जाती है, क्योंकि वेद नित्य है, या अनित्य है—इस विकल्प को उपस्थित कर वेदों की नित्यता का स्थापन के द्वारा वेदों में अनित्य पदार्थ के बोध की जनकता खण्डित हो जाती है। अतः नित्य वेदों का नित्य पदार्थ ही अभिधेय हो सकता है। 'कृतक' अर्थात् पौरुषेय शब्द तो अप्रमाण ही है। 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि वेदवचनों के उन्मत्तवचनों के समान अप्रामाण्य का आक्षेप उन्हें स्तुतिपरक अर्थवाद मानकर पहिले ही निराकृत हो चुका है ॥ १३-१४ ॥

इति प्रमाणत्वमिदं प्रसिद्धं युक्त्येह धर्मं प्रति चोदनायाः।
अतः परं तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति तस्य योऽर्थः ॥ १५ ॥

(पू० प०—प्रथम अध्याय के इस प्रथम पाद में ही 'प्रमाणलक्षण' की व्याख्या समाप्त हो गयी है। आगे 'भेदलक्षण' द्वितीयाध्याय का ही प्रारम्भ अपेक्षित है। फिर प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के आगे शेष तीन पादों से क्या कहना अपेक्षित है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—)

प्रमाणलक्षण का निरूपण इस प्रथम पाद में ही समाप्त नहीं हो जाता। इस पाद में तो 'चोदना' स्वरूप वेदवाक्य का प्रामाण्य ही प्रधानतः प्रतिपादित हुआ है। अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार प्रभृति के प्रामाण्य का प्रतिपादन अभी शेष है। अतः चोदना में प्रामाण्य के निरूपण के बाद प्रमाणभूत वेदों को (१) विधि, (२) अर्थवाद, (३) मन्त्र इन तीन भागों में विभक्त कर अर्थवादादि प्रमाणों के स्तुत्यादि के द्वारा धर्म के प्रयोजन का प्रतिपादन अवसरप्राप्त है एवं तन्मूलक स्मृति और आचार में भी धर्म के प्रति प्रामाण्य का निरूपण अवशिष्ट है। ये ही सारे कार्य प्रथमाध्याय के शेष तीन पादों से किया जायगा ॥

इति वेदनित्यत्वाधिकरणम् ॥

इति मीमांसाश्लोकवार्त्तिकव्याख्या समाप्ता।

श्लोकवार्त्तिकस्थश्लोकाद्यचरणानां वर्णक्रमेण

सूची

श्लोकाद्यपादाः	पृष्ठे

इतिवर्णक्रमानुसारिसूचीपत्रम् समाप्तम् ।

शुद्धाशुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२९	प्रयुक्त	प्रयोग
११	११	यही	यहाँ
११	२५	भाष्यकार	भाष्यकार ने
१५	१०	धर्मप्राक	धर्मप्रमापक
९	९	भाष्यसमय	भाष्यसन्दर्भ
२५	६	किसी किसी	किसी
३६	३२	विना भी	विना भी धर्मजिज्ञासा
३७	८	प्रागपीति हि	प्रागपीति न
४२	१४	परिग्रहादि	दारपरिग्रहादि
५५	३३	वेदार्थ	वेदार्थज्ञान
५९	२२	इण्	इष्
६२	७	कथं लक्षणम्	कथं लक्षणः
७५	२५	अपादान	आपादन
७५	२७	ही नहीं है	है, किन्तु वेदों में प्रामाण्य की संभावना नहीं है
८२	५	धर्म रूप	धर्म रूप विषय
८८	६	लभ्यते	लक्ष्यते
९१	२९	किन्तु	क्योंकि
९७	१५	दृष्टान्त	वैदिक दृष्टान्त
९७	२१	५ पा० ६ अधि० वर्णक २ सू०	४–१–२–२
१००	२३	यथार्थता	अयथार्थता
१०२	६	होता है	होता है वहाँ
१००	१२	तदा तु	तदा न
१०५	३२	सङ्गतें	सङ्गतेः
१०७	३३	साहाय्य	साहाय्य विना ही
११२	१५	भ्यनुज्ञा	भ्यनुज्ञा
१२२	८	विषकम्वा	विषयकम्वा
१४६	११	अतीन्द्रिय नहीं है	अतीन्द्रिय है
१६०	३	न तु	ननु
१६०	४	न तु	ननु
१६७	५	व्यभिचारी (अर्थात् सप्रतिपक्षित)	व्यभिचारी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७०	२२	दृष्ट	दुष्ट
१८१	१७	फल का	वाक्य का
१८४	२६	निवृत्तिनक	निवृत्तिजनक
१८६	८	आक्षेप	आक्षेप में
१९३	१३	अर्थ	उत्तर
१९६	३३	प्रत्यक्ष	[illegible]
२३३	२७	धर्मे निमित्तता	धर्मेऽनिमित्तता
२५३	९	वीपप्रभा	दीपप्रभा
२५२	२८	पुरुषप्रयत्न में	पुरुषप्रयत्न से
२५३	३०	मान	भान
२६४	२१	उतेक्षात्मक	उपेक्षात्मक
२७७	६	आश्रयों में	आश्रयों में रहनेवाले
३१२	२३	परीक्ष्योपसंहृता	परीक्षोपसंहृता
३२१	१०	भावांशे	भावोंऽशे
३२२	१२	प्रत्यक्ष	प्रत्यय
३२५	२२	दिशेष्ययोः	विशेष्ययोः
३२५	२८	यद्वयतिरेकादी	तद्वयतिरेकादौ
३२९	१८	प्रत्यक्ष	प्रत्यय
३२१	३१	विशेषण	विशेषण के
३४६	४	कहते हैं	करते हैं
३४८	१७	नदभावाप्रवृत्तेश्च	तदभावादवृत्तेश्च
३५०	४	प्रत्यक्षता का	प्रत्यक्षता के
३५७	२१	हेतुता	हेतुता न
३८३	२०	परं प्रति हि	परं प्रति न
३८८	९	'अनित्यता'	'अनित्यता' अवयवों का विभाग स्वरूप है, एवं बुद्धयादि पदार्थों की अनित्यता
३८७	५	रहती	रहती है
३९८	११	किसी वस्तु के रहने	किसी वस्तु के न रहने
४०५	१	एक	एक की
४०५	६	ज्ञान	[illegible]
४०५	१४	ही	ही हो
४०७	३३	उद्भूव	उद्भूत
४११	८	विषयाकारक	स्वाकारक
४१२	२७	ज्ञानन्तरेण	ज्ञानान्तरेण
४२३	२१	वृक्षोक्तस्य	वृथोक्तस्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२३	२७	मूके	मूचे
४२५	३३	कभी कभी	कभी भी
४२७	१०	व्यस्थायाम्	व्यवस्थायाम्
४२७	२२	घट	पट
४२७	३०	होता	होता है
४३२	२२	व्याप्योस्य	व्याप्यस्य
४३५	११	वर्ष्या	वर्ज्या
४३५	२४	कृत्तिवत्	कर्त्रक्षिवत्
४४०	३०	नान्तरीकतया	नान्तरीयकतया
४४५	२२	तज्ज्ञान	तज्ज्ञानकाल
४४५	१६	अग्नेः पूर्वरतम्	अग्नेः पूर्वसरम्
४४६	२३	पक्ष	हेतु
४४७	४	प्रतिति	प्रमिति
४४९	[illegible]	प्रत्याक्षादेव	प्रत्यक्षादेव
४४९	३३	व्रीहि	व्रीहि
४५१	२	प्रमाणित	बाधित
४५१	२६	अश्रावणत्वानुमान	अश्रावणत्वानुमान
४५५	१५	[illegible]	साथ उल्लेख
४६१	२६	दोनों	दोनों के
४६१	२९	साध्य	साध्य के अभाव
४६२	११	कर्म	कर्म में
४६९	६	यत् प्रत्ययान्त	यत्
४६९	२६	तत्राज्ञानाद् यदा वक्ता सहचार विवक्षया	साध्यहेतुत्वमर्थानां व्याप्तिशक्त्यनुरोधतः तत्राज्ञानाद् यदा वक्ता सहचारविवक्षया
४७३	२०	साध्याभाय	साध्याभाव
४८७	१४	वहाँ	वहाँ वह अनुमान
४८९	२	प्रतक्ष	प्रत्यक्ष
५००	२३	न चाप्यजात	न चाप्यज्ञात
५०३	१३	होता	होता है
५१०	१०	गौण भी	गौण ही
५१९	२६	लक्षण	[illegible]
५२२	१७	धियामेषा	धियामेषां
५२७	११	ज्ञान है	ज्ञान होता है
५३५	८	जसाँ	जहाँ
५३८	[illegible]	चित्र	चित्र में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४०	९	मध्य	मध्य
५४०	३०	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्ष के
५४१	२१	सादृश्य	सादृश्यं
५५१	२६	लिङ्गादि	लिङ्गादि
५५३	४	प्रागवभृता	प्रागवधृता
५६३	७	[illegible]	बोध
५६५	१७	प्राप्ति	प्रतीति
५६८	२	रात्रिबोध	रात्रिभोजनबोध
५७०	२५	[illegible]	अप्रामाण्य
५७१	२८	[illegible]	ज्ञान के
५७३	२५	गही	होंगी
५८०	३७	दीर्घ	दीर्घता
५९८	२६	परिमाण	परिणाम
६०६	१३	गौणार्थ	गौणार्थ का
६०९	१०	स्वरूप	स्वरूप वह
६१३	३०	आपत्ति	उपपत्ति
६२४	१५	श्रोत्र	श्रोत्र
६२५	४	अथवा	अथवा
६३७	२०	संभव है	संभव नहीं है
६६३	१०	[illegible]	[illegible]
६७३	७	रसद्रूप	रसद्रूपा
६७६	१४	मिथ्या	मिथ्या न
६७९	२५	सभी	सभी गौ
६८३	३२	सत्ता ही	सत्ता ही सभी प्रध्वंसाभावों में
६८४	२१	अब्राह्मण्य	अब्राह्मण्य बुद्धि के
६८८	३२	तरह	तरफ
७०५	२४	एक	एवं
७०४	२७	ये	इन
७१२	७	वाच्यता	वाचकता
७१४	१	असन्निवृत्ति	असन्निवृत्ति
७२२	१९	[illegible]	उत्पल
७२३	२१	[illegible]	द्व्यणुकयदा
७३२	१५	पाकप्रतिषेध	पाकप्रतिषेध का प्रतिषेध
६३८	२९	अर्थप्रतीति नहीं होती	अर्थ की प्रतीति होती
६४८	१९	[illegible]	करण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५०	१४	अभिव्यञ्जन्ति	अभिव्यञ्जन्ति, सङ्गात्
६६०	३३	गोत्वादि जातियों में	वस्तुत्वादि जातियों में
६७०	२९	भिन्न	भिन्न नहीं
६७७	५	स्यान्नवेति विचारिते	स्यान्नवेति विचारिते । ७५ ॥ सामान्यमेव सादृश्यं भवेद्वा व्यक्तिमात्रकम् । तेन नात्यन्तभिन्नोऽर्थः सारूप्यमिति वर्णितम् ॥ ७६ ॥
६८४	२७	अब्राह्मण्य	अब्राह्मण्यबुद्धि
६८८	३२	तरह	तरफ
६९१	४	दोनों का ग्रहण होता ॥ १७७ ॥	अनन्तधर्मके धर्मिण्येकधर्मावधारणे । शब्दोऽभ्युपायमात्रं स्यान्नात्माध्यारोपकारणम् ॥ १७८ ॥

● ● ●